

THE
YOGAVĀSIṢṬHA

OF
VĀLMĪKI

With the commentary Vāsiṣṭhamahārāmāyaṇa-
tātparyaprakāś'a.

Part II.

(Containing Nirvāṇa—Pūrvārdha and Uttarārdha.)



EDITED BY
WĀSUDEV LAXMAN ŚĀSTRĪ PAṆŚĪKAR

Third Edition.

REVISED AND RE-EDITED BY
NĀRĀYAN RĀM ĀCHĀRYA "KĀVYATĪRTHA"

With the co-operation of S'āstrīmaṇḍal.

PUBLISHED BY
PĀṆḌURANG JĀWAJĪ,
PROPRIETOR OF THE "NIRṆAYA-SĀGAR" PRESS,
BOMBAY.

1937.

[All rights reserved by the publisher.]

Printer:-Ramchandra Yesu Shedge, }
Publisher:-Pandurang Jawaji, }

'Nirnaya-sagar' Press, }
20-28, Kolbhat Street, Bombay 2, }



श्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिप्रणीतः

योगवासिष्ठः ।

श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहितः ।

(द्वितीयो भागः २)

अन्तिमषष्ठ-निर्वाणप्रकरणपूर्वार्धोत्तरार्धयुतः ।

पणशीकरोपाह्वलक्ष्मणशर्मतनुजनुषा वासुदेवशर्मणा

पूर्वसंस्कृतस्यास्य

तृतीयं संस्करणं

“काव्यतीर्थ” इत्युपाध्यलङ्कृत-आचार्येत्युपाभिध-

रामात्मजनारायणशर्मणा

शास्त्रिमण्डलसाहाय्येन सुपरिष्कृतम् ।

मुम्बय्यां

पाण्डुरङ्ग जावजी इत्येतैः

स्वीये निर्णयसागराख्यमुद्रणालये मुद्रापयित्वा च प्रकाशितम् ।

अथ योगवासिष्ठसंस्कृतस्य विषयानुक्रमः ।

| सर्गः | विषयः | पृष्ठांकाः | सर्गः | विषयः | पृष्ठांकाः |
|--|---|------------|-------|------------------------------------|------------|
| निर्वाणप्रकरणम् ॥ ६ ॥ (पूर्वार्धम्) | | | ४२ | शिवपूजोपाख्याने परमात्माभिधानम् | ८७३ |
| १ | दिवसन्यवहारवर्णनम् | ७७३ | ४३ | विश्रान्तिवर्णनम् | ८७५ |
| २ | विश्रान्तिसुदृढीकरणम् | ७७५ | ४४ | चित्तसत्तासूचनम् | ८७७ |
| ३ | ब्रह्मक्यप्रतिपादनम् | ७७८ | ४५ | वित्तोपाख्यानम् | ८७९ |
| ४ | चित्ताभावप्रतिपादनम् | ७८० | ४६ | शिलाकोशोपदेशः | ८८० |
| ५ | राघवविश्रान्तिवर्णनम् | ७८० | ४७ | चिद्धनोपदेशः | ८८३ |
| ६ | मोहमाहात्म्यम् | ७८१ | ४८ | ब्रह्मकात्मप्रतिपादनम् | ८८५ |
| ७ | अज्ञानमाहात्म्यम् | ७८५ | ४९ | संस्तुतिविचारयोगः | ८८६ |
| ८ | अविद्यालताविलासोपदेशः | ७८९ | ५० | अक्षसंवेदनविचारयोगोपदेशः | ८८८ |
| ९ | विद्यानिराकरणम् | ७९१ | ५१ | इन्द्रियार्थोपलम्भविचारः | ८९१ |
| १० | अविद्याचिकित्सावर्णनम् | ७९३ | ५२ | अर्जुनोपाख्याने नरनारायणावतारकथनम् | ८९६ |
| ११ | जीवन्मुक्तनिश्चययोगोपदेशवर्णनम् | ७९५ | ५३ | अर्जुनोपदेशः | ८९८ |
| १२ | जीवन्मुक्तसंशयनिरूपणम् | ८०० | ५४ | आत्मज्ञानोपदेशः | ९०२ |
| १३ | ज्ञानविचारयोगोपदेशः | ८०१ | ५५ | जीवतत्त्वनिर्णयः | ९०३ |
| १४ | भुशुण्डोपाख्याने मेरुशिखरवर्णनम् | ८०२ | ५६ | चित्तवर्णनम् | ९०७ |
| १५ | भुशुण्डदर्शनम् | ८०४ | ५७ | अर्जुनविश्रान्तिवर्णनम् | ९०९ |
| १६ | वसिष्ठभुशुण्डसमायोगः | ८०५ | ५८ | अर्जुनकृतार्थतावर्णनम् | ९१० |
| १७ | भुशुण्डस्वरूपवर्णनम् | ८०७ | ५९ | प्रत्यगात्माबोधः | ९११ |
| १८ | मातृव्यवहारवर्णनम् | ८०७ | ६० | विभूतियोगोपदेशः | ९१४ |
| १९ | आलयलाभः | ८०९ | ६१ | जगत्स्वप्नकथनम् | ९१६ |
| २० | भुशुण्डस्वरूपनिरूपणम् | ८११ | ६२ | जीवटोपाख्याने स्वप्नशतरुद्वये | |
| २१ | चिरजीवितवृत्तान्तकथनम् | ८१३ | | भिक्षुकसंसारोदाहरणम् | ९१७ |
| २२ | चिरजीवितवर्णनम् | ८१६ | ६३ | स्वप्नशतरुद्वयकथनम् | ९१९ |
| २३ | समाधानसंकल्पनिराकरणम् | ८१९ | ६४ | गणत्वप्राप्तिवर्णनम् | ९२३ |
| २४ | प्राणविचारणम् | ८२१ | ६५ | विद्योत्तरविस्मयवर्णनम् | ९२६ |
| २५ | समाधिवर्णनम् | ८२३ | ६६ | भिक्षुसंस्तुतिकथनम् | ९२७ |
| २६ | चिरजीवतहेतुकथनम् | ८२६ | ६७ | ब्रह्मक्यप्रतिपादनम् | ९२८ |
| २७ | भुशुण्डोपाख्यानसमाप्तिः | ८२८ | ६८ | महामौनयनोपदेशः | ९३० |
| २८ | परमार्थयोगोपदेशः | ८२९ | ६९ | प्राणमनःसंयोगविचारणम् | ९३३ |
| २९ | जगतः परमात्ममयत्ववर्णनम् | ८३३ | ७० | वेतालप्रश्नः | ९३६ |
| ३० | शिवपूजोपाख्याने चेलोन्मुखचिद्विचारवर्णनम् | ८४० | ७१ | वेतालप्रथमप्रश्नोत्तरवर्णनम् | ९३७ |
| ३१ | मनःप्रतिपादनम् | ८४५ | ७२ | वेतालप्रश्नमेदः | ९३८ |
| ३२ | देहपातविचारः | ८४८ | ७३ | वेतालाख्यानसमाप्तिः | ९३९ |
| ३३ | द्वैतक्यप्रतिपादनम् | ८५१ | ७४ | भगीरथोपदेशः | ९४० |
| ३४ | श्रीपरमेश्वरोपदेशः | ८५५ | ७५ | भगीरथनिर्वाणम् | ९४२ |
| ३५ | महादेवस्य पूज्यसीमान्तत्वकथनम् | ८५७ | ७६ | गङ्गावतरणम् | ९४३ |
| ३६ | परमेश्वरवर्णनम् | ८५९ | ७७ | चूडालोपाख्याने शिखिध्वजविलासकथनम् | ९४४ |
| ३७ | नियतिनृत्यवर्णनम् | ८६० | ७८ | चूडालाप्रबोधः | ९४६ |
| ३८ | बाणपूजनम् | ८६३ | ७९ | चूडालात्मलाभः | ९४९ |
| ३९ | देवार्चनविधिवर्णनम् | ८६५ | ८० | पञ्चकविलासः | ९५१ |
| ४० | देवतातत्त्वविचारः | ८६८ | ८१ | अमीषोमविचारणम् | ९५६ |
| ४१ | अग्निमह्यात्वप्रतिपादनम् | ८६९ | ८२ | अग्निमादित्यभयोपदेशः | ९६४ |

| सर्गाः | विषयाः | पृष्ठांकाः | सर्गाः | विषयाः | पृष्ठांकाः |
|--------|---|------------|--|--|------------|
| ८३ | चूडालोपाख्याने किरादोपाख्यानम् | ९६६ | १२७ | कन्नोपाख्याने भारद्वाजाश्रमनम् | १०५६ |
| ८४ | शिखिध्वजप्रवर्णनम् | ९६८ | १२८ | रामव्युत्थानम् | १०६० |
| ८५ | सुखविचारयोगोपदेशः | ९७० | | | |
| ८६ | कुम्भजननकथनम् | ९७७ | निर्वाणप्रकरणम् ॥ ६ ॥ (उत्तरार्धम्) | | |
| ८७ | शिखिध्वजावबोधवर्णनम् | ९७९ | १ | इच्छाचिकित्सायोगोपदेशः | १०६९ |
| ८८ | मणिक्काचोपाख्यानम् | ९८१ | २ | कर्मबीजदाहयोगोपदेशः | १०७१ |
| ८९ | इक्षिपकोपाख्यानम् | ९८३ | ३ | इन्द्रोपशमयोगोपदेशः | १०७४ |
| ९० | चिन्तामणिसाधकवृत्तान्तविवरणम् | ९८४ | ४ | अहंतानिरासः... .. | १०७६ |
| ९१ | इक्षिपकाख्यानतात्पर्यविवरणम् | ९८६ | ५ | विद्याधरोपाख्याने विद्याधरप्रश्नः | १०७९ |
| ९२ | सर्वत्यागकरणम् | ९८७ | ६ | वैराग्यवर्णनम् | १०८० |
| ९३ | शिखिध्वजावबोधनम् | ९८९ | ७ | जगद्धस्वीनवर्णनम् | १०८३ |
| ९४ | शिखिध्वजावबोधनम् | ९९२ | ८ | मायामण्डपवर्णनम् | १०८४ |
| ९५ | शिखिध्वजविश्रान्तिवर्णनम् | ९९६ | ९ | चित्कचनयोगोपदेशः | १०८६ |
| ९६ | शिखिध्वजावबोधनम् | ९९८ | १० | सर्गापवर्गप्रतिपत्तिग्रोगोपदेशः | १०८७ |
| ९७ | शिखिध्वजप्रबोधनम् | १००१ | ११ | व्यामूर्तार्थवेदनम् | १०८८ |
| ९८ | शिखिध्वजावबोधनम् | १००३ | १२ | संकल्पसर्गयोरेक्यप्रतिपत्तिः | १०८९ |
| ९९ | शिखिध्वजावबोधनम् | १००५ | १३ | इन्द्रोपाख्याने त्रसरणस्तसर्गसंधवर्णनम् | १०९२ |
| १०० | शिखिध्वजपरमानन्दबोधनम् | १००७ | १४ | इन्द्राणाखाख्याने सर्गसंकल्पयोरेक्यप्रतिपादनम् | १०९४ |
| १०१ | शिखिध्वजबोधनम् | १००८ | १५ | विद्याधरनिर्वाणम् | १०९५ |
| १०२ | शिखिध्वजसमाधानम् | १०१२ | १६ | | १०९६ |
| १०३ | कुम्भपुनरागमनम् | १०१२ | १७ | अहत्वासत्तायोगोपदेशः | १०९७ |
| १०४ | जीवनमुक्त्यवहारप्रतिपादनम् | १०१५ | १८ | जगज्जालक्रोशसाधर्म्ययोगोपदेशः | १०९८ |
| १०५ | कुम्भस्य स्त्रीत्वलाभः | १०१७ | १९ | विराडात्मवर्णनम् | ११०१ |
| १०६ | लीलाविवाहवर्णनम् | १०२० | २० | जीवनिर्वाणयोगोपदेशः | ११०४ |
| १०७ | शक्रगमनम् | १०२२ | २१ | ज्ञानविचारः | ११०५ |
| १०८ | चूडालास्वरूपदर्शनम् | १०२४ | २२ | सुखयोगोपदेशः | ११०६ |
| १०९ | चूडालाप्रकटीभवनम् | १०२६ | २३ | मङ्ग्युपाख्याने मङ्गिनिर्वाणम् | १११० |
| ११० | शिखिध्वजनिर्वाणम् | १०२९ | २४ | मङ्गिवैराग्यम् | १११२ |
| १११ | कन्नोपाख्याने कचप्रबोधः | १०३१ | २५ | मङ्गियोधनम् | १११४ |
| ११२ | मिथ्यापुरुषोपाख्याने आकाशरक्षणम् | १०३३ | २६ | मङ्गिनिर्वाणसमाप्तिवर्णनम्... .. | १११६ |
| ११३ | मिथ्यापुरुषोपाख्यानम् | १०३४ | २७ | सुखयोगोपदेशः | १११८ |
| ११४ | परमार्थोपदेशः | १०३६ | २८ | शङ्कातत्त्वसिद्धान्तप्रतिपादनम् | १११९ |
| ११५ | व्रतत्रयनिरूपणम् | १०३७ | २९ | भावनाप्रतिपादनम् | ११२१ |
| ११६ | गलितचित्तलक्षणकथनम् | १०३९ | ३० | परमार्थोपन्यासयोगः... .. | ११२६ |
| ११७ | इक्ष्वाकुमनुसंवादः | १०४० | ३१ | निर्वाणयुत्तुपदेशवर्णनम् | ११२७ |
| ११८ | ,, ,, ,, | १०४१ | ३२ | सत्यावबोधनोपदेशः | ११२९ |
| ११९ | ,, ,, ,, | १०४२ | ३३ | सत्यार्थोपन्यासयोगः... .. | ११३१ |
| १२० | सप्तभूमिकाविभागः | १०४३ | ३४ | परमार्थयोगोपदेशः | ११३३ |
| १२१ | इक्ष्वाकुमनुसंवादः | १०४४ | ३५ | परब्रह्मस्वरूपवर्णनम्... .. | ११३६ |
| १२२ | इक्ष्वाकुप्रबोधनम् | १०४५ | ३६ | संसारबीजकथनम् | ११३८ |
| १२३ | अज्ञादेर्ज्ञस्य विशेषकथनम् | १०४७ | ३७ | इन्द्रोपदेशयोगः | ११४० |
| १२४ | मृगन्याधीयम्... .. | १०४७ | ३८ | निर्वाणवर्णनम् | ११४४ |
| १२५ | तुर्ये स्थैर्योपायकथनम् | १०४९ | ३९ | वसिष्ठगीतासु स्वभावविश्रान्तियोगोपदेशः | ११४७ |
| १२६ | परमार्थस्वरूपवर्णनम् | १०५० | ४० | ,, ,, ,, आत्मविश्रान्तिकथनम्... .. | ११४९ |

विषयानुक्रमः ।

| सर्गाः | विषयाः | पृष्ठांकाः | सर्गाः | विषयाः | पृष्ठांकाः |
|--------|---|------------|--------|---|------------|
| ४१ | स्वरूपविश्रान्त्यर्थमुपदेशकरणम् | ११५० | ८७ | पाषाणोपाख्याने पार्थिवधात्वन्तर्गतजगदान- | |
| ४२ | निर्वाणोपदेशः | ११५१ | | न्यप्रतिपादनम् | १२६१ |
| ४३ | ब्रह्मैकतानतोपदेशः | ११५४ | ८८ | „ „ | १२६४ |
| ४४ | मनोमृगविपद्वर्णनम् | ११५८ | ८९ | „ दृश्यमनोमात्रत्वप्रतिपादनम् | १२६६ |
| ४५ | मनोहरिणकोपाख्यानम् | ११६१ | ९० | „ जलजगद्वर्णनम् | १२६७ |
| ४६ | साम्यावबोधनम् | ११६४ | ९१ | „ तैजसजगद्वर्णनम् | १२६९ |
| ४७ | मुमुक्षुप्रथमकोपक्रमः | ११६६ | ९२ | „ परमार्थसर्गयोरैक्यप्रतिपादनम् | १२७३ |
| ४८ | विवेकमाहात्म्यम् | ११६८ | ९३ | „ आकाशमण्डपसिद्धसमागमगाथावर्णनम् | १२७६ |
| ४९ | सर्वोपशान्तिवर्णनम् | ११७० | ९४ | „ पिशाचवर्णनप्रसंगेन जगद्ब्रह्मणोरैक्य- | |
| ५० | जीवसप्तकप्रकारवर्णनम् | ११७४ | | प्रतिपादनम् | १२८० |
| ५१ | विश्रान्तियोगोपदेशः | ११७५ | ९५ | „ वसिष्ठशरीरवर्णनम् | १२८५ |
| ५२ | ब्रह्मस्वरूपवर्णनम् | ११७८ | ९६ | „ अमरत्वप्रतिपादनम् | १२८६ |
| ५३ | निर्वाणवर्णनम् | ११८१ | ९७ | „ विवेकिविरलत्ववर्णनम् | १२८८ |
| ५४ | अद्वैतैक्यप्रतिपादनम् | ११८२ | ९८ | „ सच्चनसमागमप्रशंसावर्णनम् | १२९१ |
| ५५ | जगतः परमार्थमयत्ववर्णनम् | ११८४ | ९९ | „ परमार्थनिरूपणम् | १२९३ |
| ५६ | पाषाणोपाख्याने आकाशमन्दिरे वसिष्ठ- | | १०० | „ नास्तिक्यनिरूपणम् | १२९६ |
| | समाधानवर्णनम् | ११८७ | १०१ | „ परमोपदेशः | १२९९ |
| ५७ | „ विदितवैद्याहंकारविचारः | ११८७ | १०२ | „ मरणाद्यभावोपदेशः | १३०१ |
| ५८ | „ सर्गब्रह्मत्वप्रतिपादनम् | ११८९ | १०३ | „ सकलभावामावोपदेशेन परमार्थैकताप्रति० | १३०५ |
| ५९ | „ जगज्जालवर्णनम् | ११९० | १०४ | „ जगदसत्ताप्रतिपादनम् | १३१० |
| ६० | „ जगज्जालवर्णनम् | ११९३ | १०५ | „ जाग्रत्स्वप्नैक्यप्रतिपादनम् | १३११ |
| ६१ | „ जगदाकाशैकबोधः | ११९७ | १०६ | „ कार्यकारणनिरासः | १३१३ |
| ६२ | „ त्रिदैक्यवर्णनम् | ११९९ | १०७ | „ अविद्याभावप्रतिपादनम् | १३१७ |
| ६३ | „ जगत्तत्त्वैक्यप्रतिपादनम् | १२०२ | १०८ | „ अविद्याक्षेपणे पार्थिवसंरम्भवर्णनम् | १३१८ |
| ६४ | „ विद्याधरीव्यसनवर्णनम् | १२०४ | १०९ | „ विपश्चिदुपाख्याने अग्निप्रवेशाद्देहलाभः | १३२० |
| ६५ | „ विद्याधरीजन्मव्यवहारवर्णनम् | १२०७ | ११० | „ विप० संग्रामवर्णनम् | १३२२ |
| ६६ | „ शिलान्तरवर्णनम् | १२०८ | १११ | „ विप० चतुर्दिगगतबलद्रावणम् | १३२५ |
| ६७ | „ अभ्यासप्रशंसा | १२१० | ११२ | „ विप० बलपरिभ्रंशः | १३२७ |
| ६८ | „ प्रमाणाप्रति सिद्ध्या दृश्यानुपपत्तिवर्णनम् | १२१२ | ११३ | „ विप० समुद्रवर्णनम् | १३२९ |
| ६९ | „ सर्गप्राप्तिः | १२१४ | ११४ | „ विप० दिग्दर्शनम् | १३३१ |
| ७० | „ शिलान्तर्जगत्पितामहवाक्यानि | १२१६ | ११५ | „ विप० विपश्चिदनुचरकृतपदार्थवर्णनम् | १३३३ |
| ७१ | „ कल्पशोभवर्णनम् | १२१८ | ११६ | „ विप० विपश्चिदनुचरकृतश्वकाककोकि- | |
| ७२ | „ निर्वाणवर्णनम् | १२२१ | | लान्योक्तिवर्णनम् | १३३९ |
| ७३ | „ विराडात्मवर्णनम् | १२२३ | ११७ | „ विप० पद्मभ्रमरहंसवर्णनम् | १३४७ |
| ७४ | „ विराडात्मवर्णनम् | १२२६ | ११८ | „ विप० हरिणबकमयूरमुग्धादिवर्णनम् | १३५० |
| ७५ | „ महाकल्पान्ताग्निवर्णनम् | १२२८ | ११९ | „ विप० पथिकाविरहवृत्तवर्णनम् | १३५३ |
| ७६ | „ पुष्करावर्ताढम्बरवर्णनम् | १२३१ | १२० | „ विप० दिगन्तरवृत्तिवाद्यादिवर्णनम् | १३५६ |
| ७७ | „ पुष्करावर्तवृष्टिविस्तृलजगद्वर्णनम् | १२३३ | १२१ | „ विप० विपश्चिन्निर्णयः | १३५७ |
| ७८ | „ एकार्णववर्णनम् | १२३६ | १२२ | „ अविद्योपाख्यानान्तर्गतविपश्चिदुपा- | |
| ७९ | „ धासनाभावप्रतिपादनम् | १२३७ | | ख्याने अर्णवपरिक्रमणम् | १३५८ |
| ८० | „ भ्रान्तिमात्रत्वप्रतिपादनम् | १२४१ | १२३ | „ दिग्विहरणम् | १३६० |
| ८१ | „ कालरात्रिवर्णनम् | १२४४ | १२४ | „ द्वीपेषु विपश्चिद्व्यवहारः | १३६१ |
| ८२ | „ शिवस्वरूपवर्णनम् | १२५० | १२५ | „ जीवन्मुक्तकलनम् | १३६२ |
| ८३ | „ विश्वरूपदर्शनम् | १२५२ | १२६ | „ विपश्चिज्जन्मान्तराचरणम् | १३६७ |
| ८४ | „ शिवशक्तिवर्णनम् | १२५४ | १२७ | „ भूगोलकनिर्णयः | १३६९ |
| ८५ | „ प्रकृतिपुरुषक्रमवर्णनम् | १२५७ | १२८ | „ ब्रह्माकाशविपश्चिज्जगच्चन्द्रदर्शनम् | १३७१ |
| ८६ | „ जगदन्यान्यत्ववर्णनम् | १२५८ | १२९ | „ विपश्चिन्मृगलाभः | १३७३ |

| सर्गाः | विषयाः | श्रुतिकाः | सर्गाः | विषयाः | श्रुतिकाः |
|--------|---------------------------------------|-----------|--------|--|-----------|
| १३० | विषयविदुषाख्याने, मृगवह्निप्रवेशः ... | १३७६ | १७४ | ब्रह्मगीतास्तु निर्वाणोपदेशः ... | १४७६ |
| १३१ | ,, भाससंसारवर्णनम् ... | १३७८ | १७५ | ,, परमार्थगीतास्त्वैतयुक्तिवर्णनम् ... | १४८२ |
| १३२ | ,, भासवर्णितस्वजन्मपरंपरा ... | १३८३ | १७६ | ,, ब्रह्माण्डोपाख्यानम् ... | १४८२ |
| १३३ | ,, शबोपाख्याने महाशिववर्णनम् ... | १३८४ | १७७ | ,, सत्यवर्णनम् ... | १४८४ |
| १३४ | ,, देवपरिदेवनवर्णनम् ... | १३८६ | १७८ | ,, ऐन्दवोपाख्यानम् ... | १४८५ |
| १३५ | ,, शबोपशमवर्णनम् ... | १३९० | १७९ | ,, ब्रह्मभयत्वप्रतिपादनम् ... | १४९० |
| १३६ | ,, महाकन्याधवोधनम् ... | १३९० | १८० | ,, तापसोपाख्यानम् ... | १४९२ |
| १३७ | ,, जाग्रत्सुषुप्ततुरीयवर्णनम् ... | १३९२ | १८१ | ,, तापसोपाख्यानम् ... | १४९३ |
| १३८ | ,, चित्तसर्वात्मकताप्रतिपादनम् ... | १३९६ | १८२ | तापसोपाख्यानान्तर्गतसप्तद्वीपेश्वरो- पाख्याने सप्तद्वीपेश्वरवर्णनम् ... | १४९५ |
| १३९ | ,, जगन्नाशवर्णनम् ... | १३९८ | १८३ | ,, द्वीपसप्तकांष्टकवर्णनम् ... | १४९८ |
| १४० | ,, हृदयकल्पनावर्णनम् ... | १४०२ | १८४ | ,, कुन्ददन्तोपदेशः ... | १५०१ |
| १४१ | ,, कल्पान्तवर्णनम् ... | १४०४ | १८५ | ,, कुन्ददन्तप्रबोधः ... | १५०३ |
| १४२ | ,, जगद्गतकर्मनिर्णयः ... | १४०५ | १८६ | ,, सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रतिपादनम् ... | १५०५ |
| १४३ | ,, निर्वाणबोधोपदेशः ... | १४०८ | १८७ | ,, जीवस्य संसृतिप्रतिपादनम् ... | १५०९ |
| १४४ | ,, पदार्थविचारः ... | १४१३ | १८८ | ,, जीवरूपवर्णनम् ... | १५१३ |
| १४५ | ,, जाग्रत्सुषुप्तसुषुप्तवर्णनम् ... | १४१६ | १८९ | ,, ब्रह्मेकताप्रतिपादनम् ... | १५१५ |
| १४६ | ,, सुषुप्तविचारः ... | १४१९ | १९० | ,, रामविश्रान्तिः ... | १५१६ |
| १४७ | ,, स्वप्नोपलम्भनम् ... | १४२१ | १९१ | ,, महाबादबोधनम् (तत्त्वानुसंधानम्) ... | १५२२ |
| १४८ | ,, स्वप्ननिर्णयः ... | १४२२ | १९२ | ,, विश्रान्त्युपगमवर्णनम् ... | १५२३ |
| १४९ | ,, कारणविचारः ... | १४२५ | १९३ | ,, विश्रान्तिकथनम् ... | १५२४ |
| १५० | ,, परमोपदेशः ... | १४२७ | १९४ | ,, रामविश्रान्त्युपगमः ... | १५२५ |
| १५१ | ,, अभावदर्शनम् ... | १४३० | १९५ | ,, बोधप्रकाशीकरणयोगोपदेशः ... | १५२८ |
| १५२ | ,, मुनिरात्रिसंकेतावर्णनम् ... | १४३० | १९६ | ,, काष्ठवैवधिकोपाख्याने चिन्तामणिः ... | १५३१ |
| १५३ | ,, सर्वैकात्म्यप्रतिपादनम् ... | १४३२ | १९७ | ,, शास्त्रमाहात्म्यम् ... | १५३२ |
| १५४ | ,, यथाभूतार्थवर्णनम् ... | १४३३ | १९८ | ,, समदृष्टिप्रशंसावर्णनम् ... | १५३४ |
| १५५ | ,, भाविसप्ततिवर्णनम् ... | १४३४ | १९९ | ,, मुक्तपुरुषस्थितिवर्णनम् ... | १५३६ |
| १५६ | ,, सिन्धुसंवेदनम् ... | १४३६ | २०० | ,, लाधुवादसपर्यादिवर्णनम् ... | १५३८ |
| १५७ | ,, सिन्धुनिर्वाणम् ... | १४३८ | २०१ | ,, विधान्तिप्रकटीकरणम् ... | १५४२ |
| १५८ | ,, शवनिर्णयः ... | १४४० | २०२ | ,, आत्मविश्रामाङ्गीकरणम् ... | १५४३ |
| १५९ | ,, विषयित्संसारभ्रमवर्णनम् ... | १४४१ | २०३ | ,, निर्वाणवर्णनम् ... | १५४४ |
| १६० | ,, स्वर्गनरकोपलम्भवर्णनम् ... | १४४४ | २०४ | ,, चिदाकाशैकताप्रतिपादनम् ... | १५४६ |
| १६१ | ,, निर्वाणवर्णनम् ... | १४४७ | २०५ | ,, सर्गकारणनिरासः ... | १५४८ |
| १६२ | ,, भविष्यनिरसनम् ... | १४४९ | २०६ | ,, ब्रह्मविषयमहाप्रश्नः ... | १५५० |
| १६३ | ,, इन्द्रियजयोपायशास्त्रवर्णनम् ... | १४५१ | २०७ | ,, महाप्रश्नोत्तरवर्णनम् ... | १५५२ |
| १६४ | ,, जगत्परमात्मनोरैक्यप्रतिपादनम् ... | १४५३ | २०८ | ,, महाप्रश्नोत्तरमोक्षणम् ... | १५५४ |
| १६५ | ,, जाग्रत्सुषुप्तसुषुप्तवर्णनम् ... | १४५५ | २०९ | ,, महाप्रश्नोत्तरे सर्वास्तित्वानुभूतिदर्शनम् ... | १५५६ |
| १६६ | ,, शिलोपाख्यानम् ... | १४५६ | २१० | ,, महाप्रश्नोत्तरवाक्यसमाप्तिः ... | १५५८ |
| १६७ | ,, जाग्रत्सुषुप्तसुषुप्तवर्णनम् ... | १४५९ | २११ | ,, परमार्थोपदेशः ... | १५६० |
| १६८ | ,, शालमञ्जिकोपदेशः ... | १४६१ | २१२ | ,, परमार्थनिरूपणम् ... | १५६२ |
| १६९ | ,, विश्रान्तचित्तवर्णनम् ... | १४६४ | २१३ | ,, आपन्नरामशिष्यत्वोपाख्यानम् ... | १५६३ |
| १७० | ,, तत्त्वज्ञानव्यवहारवर्णनम् ... | १४६७ | २१४ | ,, उपदेशमहोत्सववर्णनम् ... | १५६६ |
| १७१ | ,, द्वैतैक्यनिरामययोगोपदेशः ... | १४६८ | २१५ | ,, ग्रन्थप्रशंसातद्वाचनादिविधिः ... | १५६९ |
| १७२ | ,, जगत्तो ब्रह्मत्वप्रतिपादनम् ... | १४७१ | २१६ | ,, गुरुभ्यः शिष्यैरात्मनिवेदनम् ... | १५७१ |
| १७३ | ,, ब्रह्मगीतास्तु परमार्थोपदेशः ... | १४७३ | | | |

इति निर्वाणप्रकरणपूर्वार्धोत्तरार्धविषयानुक्रमः ।

श्रीः ।

योगवाणिष्ठः ।



श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासंवलितः ।

निर्वाणप्रकरणस्य पूर्वार्धम् ६ ।

प्रथमः सर्गः १

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

उपशमप्रकरणादनन्तरमिदं शृणु ।

त्वं निर्वाणप्रकरणं ज्ञातं निर्वाणदायि यत् ॥

कथयत्येवमुद्दामवचने मुनिनायके ।

श्रवणैकरसे मौनस्थिते राजकुमारके ॥

मुनिवागर्थनिक्षिप्तमनस्यस्ततपःक्रिये ।

राजलोके गतस्पन्दे चित्रार्पित इव स्थिते ॥

१

२

३

वसिष्ठवचसामर्थं विचारयति सादरम् ।

लसदङ्गुलिभङ्गेन मुनिसार्थं स्फुरद्भुवि ॥

विस्मयालोकनोल्लासप्रोत्फुल्लनयनालिनि ।

पुरन्ध्रवर्गे गम्भीरतरुमञ्जरितां गते ॥

खे वासरचतुर्भागदेशे दिनकरे स्थिते ।

किञ्चिज्ज्ञानोदयात्सौम्ये किञ्चिच्छममुपेयुषि ॥

४

५

६

शिवमभयमनाद्यनन्तमध्यं परमसुखाद्वयबोधसात्रसारम् ।

उत्तरतस्तत्कलभ्रमं विशुद्धं निजमहसा स्फुरदात्मतत्त्वमीडे ॥ १ ॥

उत्पत्तिस्थित्युपशमाख्यैस्त्रिभिः प्रकरणैर्जगज्जन्मस्थितिल-
यबोधकानां 'अथात आदेशो नेतिनेति' इत्यादिसर्वप्रपञ्चनिषे-
धकानां च वेदान्तवाक्यानामध्यारोपापवादव्यायेनात्मतत्त्वव्यु-
त्पादकतया वासनाक्षयमनोनाशपर्यन्तज्ञानेन परमपुरुषार्थं ता-
त्पर्यपर्यवसानं दर्शितम् । अथेदानीं 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्य-
च्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा यो वै भूमा तत्सुखम्'
'यतो ब्राह्मो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' 'आनन्दं ब्रह्मणो
विद्वाञ्ज विभेति कुतश्चन' 'तदेतद्ब्रह्मा पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्य-
सयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवयं
निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्' इत्यादि-
श्रुतितात्पर्यसिद्धं प्रागुक्तसर्वसाधनसाध्यसाक्षात्कारज्ञानफलं नि-
र्वाणं व्युत्पादयितुं निर्वाणाख्यमिदं प्रकरणं श्रावयितुं भगवान्
श्रीवाल्मीकिरुवाच—तत्राद्यसर्गे ।

मुनिवाक्यादिहोत्थानं श्रोतृणामाह्निकी क्रिया ।

श्रुतार्थचिन्तानिद्राभ्यां रात्रिवापनमीर्यते ॥ १ ॥

तत्रादौ पूर्वोत्तरप्रकरणयोर्द्वैततासंगतिं सूचयन् वक्तव्यं प्रति-
जानीते—उपशमेति । जगज्जन्मस्थितिमज्ञहेतुलक्षणश्रुत्युक्तत-
दस्थलक्षणस्य सुलोहविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तैः 'वाचा रम्भणं विकारो
नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इति श्रुतिप्रदर्शितन्यायेनैव
यो० वा० ९८

'अचेन सौम्य शुक्लेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सौम्य शुक्लेन तेजो-
मूलमन्विच्छ तेजसा सौम्य शुक्लेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः
सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः स य एषोऽ-
णिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा' इति श्रुतितात्पर्यवि-
षये ऐकात्म्ये पर्यवसानव्युत्पादनपरप्रकरणत्रयानन्तरं तत्फ-
लीभूतस्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'
'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादिश्रुतिदर्शितस्वरूपलक्षणस्य
'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' इत्यादिमहा-
वाक्यार्थस्य तद्बोधफलनिर्वाणस्वरूपस्य च व्युत्पादकत्वाच्चिर्वा-
णाख्यं प्रकरणं शृण्वित्यर्थः ॥ १ ॥ प्रतिज्ञातमर्थं प्रस्तुतकथा-
मेवावलम्ब्य वर्णयिष्यन्नुपशमप्रकरणोपदेशान्ते दशरथसभायां
यदुक्तं तदाह—कथयतीत्यादिना । सर्वेषां सप्तम्यन्तानां 'भेरी-
पटहशङ्खानां ध्वनिरासी'दिति षोडशस्थेनान्वयः । मुनिनायके
वसिष्ठे । राजकुमारके रामे ॥ २ ॥ अस्ता त्यक्ता तपो मानसं
बाह्यार्थालोचनं क्रिया शरीरचेष्टा च येन । तदेवाह—गत-
स्पन्दे इति ॥ ३ ॥ अङ्गुलिभङ्गेन उत्क्षिप्ततर्जनीचेष्टाभिनयेन ।
स्फुरद्भुवि । सद्भूमिभूति यावत् ॥ ४ ॥ विस्मयः परमाश्चर्यरूपः
प्रत्यगात्मा तदालोकनोल्लासेन गम्भीरा मकरन्दास्त्रादनासक्त-
भ्रमरैर्निष्कम्पशब्दा या तरुमञ्जरी तद्भावसिव गते ॥ ५ ॥
यत्र वासरस्य चतुर्थभागमात्रावशेषो लक्ष्यते तस्मिन्देसे प्रदेशे
श्रवणायेव स्थिते । अतएव किञ्चिज्ज्ञानोदयादिव सौम्ये दृष्टि-

१ तद्बोधकफल इति पाठः.

श्रवणायेव संशान्ते वितानस्पन्दमालिते ।
 मौनं मरुति मन्दारमधुरामोददायिनि ॥ ७ ॥
 पुष्पवामसुषुप्तासु महाभ्रमरपङ्क्तिषु ।
 ज्ञातव्यतया नूनं सम्यग्ध्यानवतीष्विव ॥ ८ ॥
 मुक्ताजालकलापान्तर्गतास्वन्तरभूमिषु ।
 कचत्पपगतस्पन्दं तोये श्रोतुमिवास्थिते ॥ ९ ॥
 गृहान्तरं प्रविष्टेषु गवाक्षे दूरमंशुषु ।
 विश्रामार्थमिवादीर्घं नभःपान्थेषु शीतलम् ॥ १० ॥
 मुक्ताजालप्रभाजालमस्सनोद्धृलितात्मनि ।
 शंसतीव शमं शाम्यद्दिनदेहे दिवातपे ॥ ११ ॥
 करे लीलासरोजेषु शेखरेषु च भूभृताम् ।
 श्रुत्वा सुरसमामोदादवृत्तिषु मनस्विषु ॥ १२ ॥
 बालकेष्वल्लोकेषु लीलापक्षिषु सादरम् ।
 भोजनार्थं वधूलोकमुपरुन्धत्स्वनारतम् ॥ १३ ॥
 भ्रमरभ्रमरपक्षोत्थवातधूतरजस्यलम् ।
 कौमुदे परिविश्रान्ते चामरेष्वक्षिपक्ष्मसु ॥ १४ ॥
 रश्मिष्वगगुहोन्मुक्ताच्छायाजालभयादिव ।
 गवाक्षादिष्विवोद्गीय प्रविष्टेषु गृहान्तरम् ॥ १५ ॥
 आसीद्दिनचतुर्भागसत्तावेदनतत्परः ।
 भेरीपटदृशङ्गानां दिङ्मुखापूरको ध्वनिः ॥ १६ ॥
 तेन तत्तारमप्याशु वचोऽन्तर्धानमाययौ ।
 मौनं जलदनादेन मायूर इव निखनः ॥ १७ ॥
 आक्षुब्धा क्षुब्धपक्षालिः पञ्जरस्था खगावली ।

भूकम्पे तरसाऽऽतालीपल्लवेव वनावली ॥ १८ ॥
 आययुर्भयवित्रस्ता बाला घात्रीकुचान्तरम् ।
 सारवं प्रावृषीवाब्दाः प्रोन्नतं शृङ्गकोटरम् ॥ १९ ॥
 उत्तस्थुरवतंसेभ्यो भूभृतां भ्रमरस्रजः ।
 ईषत्करालवाहाभ्यः सरिद्धयोऽम्बुकणा इव ॥ २० ॥
 एवं प्रक्षुभिते तस्मिन्गृहे दाशरथे तदा ।
 प्राप्ते वासरवृद्धत्वे शान्तशङ्खस्वने शनैः ॥ २१ ॥
 संहरन्प्रस्तुतं वस्तु वचो मधुरवृत्तिमत् ।
 उवाच मुनिशार्दूलः सभामध्ये रघूद्वहम् ॥ २२ ॥
 राघवानघ बाणजालं मयैतत्प्रविसारितम् ।
 तेन चित्तखणं वद्धा कोडीकृत्यात्मतां नय ॥ २३ ॥
 कचिद्गृहीतो भवता मदिरामर्थ ईदृशः ।
 त्यक्त्वा दुर्वोधमक्षीणो हंसेनेवाम्भसः पयः ॥ २४ ॥
 विचार्यैतदशेषेण स्वधियैवं पुनःपुनः ।
 अनेनैव पथा साधो गन्तव्यं भवताधुना ॥ २५ ॥
 अनयैव धिया राम विहरन्नैव वध्यसे ।
 अन्यथाघः पतस्याशु विन्ध्यखाते यथा गजः ॥ २६ ॥
 सुगृहीतं धिया राम मद्बचो न करोषि चेत् ।
 तत्पतस्यवटे त्यक्तदीपो बान्धो निशास्त्रिव ॥ २७ ॥
 असङ्गेन यथाप्राप्तो व्यवहारोऽस्य सिद्ध्ये ।
 इत्येव शास्त्रसिद्धान्तमादायोदारवान्भव ॥ २८ ॥
 हे सभ्या हे महाराज रामलक्ष्मणभूमिपाः ।
 सर्वे एव भवन्तोऽद्य तावद्वापारमाह्निकम् ॥ २९ ॥

प्रिये किञ्चित्तापोपशममुपेयुषीवेत्युत्तरादनुकृष्यान्वयः ॥ ६ ॥
 श्रवणायेव संशान्ते इत्येतद्देहलीलीपन्यायेन मरुतीत्यत्रापि
 संबध्यते । कुसुमवितानस्पन्देन मालिते स्तम्बिणि । अतएव
 मन्दारमधुरामोददायिनि ॥ ७ ॥ ८ ॥ मुक्ताभयानां जालक-
 लापानां जालकरवापीवरणानां अन्तर्गतासु अन्तरभूमिषु म-
 ध्यस्थवापीप्रदेशेषु श्रोतुमास्थिते सौत्कण्ठ इव अपगतस्पन्दं
 निश्चलं कचति मुक्तादिप्रभामिदीप्यमाने सति ॥ ९ ॥ अंशुषु
 रेविरश्मिषु शीतलं गृहान्तरं श्रवणशालामध्यं विश्रामार्थमिव
 प्रविष्टेषु । देशतः कालतश्च आदीर्घं नमसि पान्थेषु । चिर-
 रप्रचारश्रान्तेष्विति यावत् ॥ १० ॥ शाम्यतो दिनस्य देहभूते
 मुक्ताजालकानां प्रभाजाललक्षणेन मस्सना उद्धृलितात्मनि
 तदन्तःप्रविष्टे दिवातपे तपस्विलक्षणे स्वात्मनि शमं शान्ति-
 गुणं शंसति सूचयतीव सति ॥ ११ ॥ भूभृता राजां करे पाणौ
 शेखरेषु शिरस्तु च स्थितेषु लीलासरोजेषु शोभना रसा यस्मि-
 न्स्तत्सुरसं वसिष्ठोपदेशं श्रुत्वा आमोदादानन्दाविर्भावलेपां मन-
 स्स्विव भवृत्तिषु निमीलितोन्मुखेषु सत्सु ॥ १२ ॥ लीलापक्षिषु
 पञ्जरस्थशुक्रादिषु उपरुन्धत्सु । त्वरयत्स्विति यावत् ॥ १३ ॥
 कौमुदे ईषद्विकासोन्मुखकुमुदसंवन्धिनि भ्रमरभ्रमराणां पक्षो-

त्यैर्वातैरुद्धूते रजसि चामरेष्वक्षिपक्ष्मसु च परितो विश्रान्ते
 सति ॥ १४ ॥ सूर्यरश्मिषु अगानां मेवादिपर्वतानां गुहाभ्य-
 उन्मुक्ताच्छायासमूहात्मकात्मसो भयादिव उद्गीय पलाय्य गवा-
 क्षादिषु द्वारेषु निलयनाय गृहान्तरं गृहमध्यं प्रविष्टेष्विव ॥ १५ ॥
 दिनचतुर्थभागस्य सत्ता परिशेषस्तथावेदने तत्परः ॥ १६ ॥
 तेन ध्वनिना तत्तारमपि मुनेरिदं मौनं चातिष्ठं वचः अन्तर्धान-
 माययौ ॥ १७ ॥ तरसा जैवेन आक्षुब्धा संचलिता जातेत्य-
 र्थः । आतालीपल्लवा आकम्पिततालीदला वनावलीव ॥ १८ ॥
 सारवं रोदनशब्दसहितं यथा स्यात्तथा शृङ्गकोटरं शृङ्गद्वयमध्य-
 निव ॥ १९ ॥ ईषत्करालः क्षुब्धो वाहः प्रवाहो शासां ताभ्यः ।
 भ्रमराणां रजोगौरत्वद्योतनायाम्बुकणदृष्टान्तः ॥ २० ॥ वास-
 रस्य वृद्धत्वे चतुर्थे वयसि प्राप्ते सति ॥ २१ ॥ प्रस्तुतं वस्तु
 वक्तव्यार्थं संहरन्मुपसंहरन् ॥ २२ ॥ कोडीकृत्य हृदि कक्षेति
 यावत् ॥ २३ ॥ अक्षीणः अक्षयो मदिरामर्थः । हंसेन अम्भसः ।
 अम्भः परित्यज्येति त्यज्जलोपे पक्ष्मनी ॥ २४ ॥ अनेन वासना-
 क्षयमनोनाशप्राणसंरोधज्ञानाभ्यासपथा ॥ २५ ॥ २६ ॥ यथा
 अन्धरस्यक्तदीपो वा पुरुषोऽवटे गते पतति तद्वत् ॥ २७ ॥ अस्म-
 मदुक्तार्थस्य सिद्ध्ये यथाप्राप्तो व्यवहारः असङ्गेन कार्य इत्येवं
 सर्वशास्त्रपरमतात्पर्यमिषयं सिद्धान्तमादाय मनसिकृत्य उदार-

कुर्वन्त्वयं हि दिवसः प्रायः परिणताकृतिः ।
 शेषं विचारयिष्यामो विचार्यं प्रातरागताः ॥ ३०
 श्रीवाल्मीकिरवाच ।
 इत्युक्ता मुनिना तेन सा सर्वैव तदा सभा ।
 प्रोत्तस्थौ पद्मवदना सविकासेव पद्मिनी ॥ ३१
 राजानः स्तुतराजानः कृतराघववन्दनाः ।
 परिष्ठुते वसिष्ठे ते जग्मुरात्मनिवेशनम् ॥ ३२
 विश्वामित्रेण सहितो वसिष्ठो गन्तुमाश्रमम् ।
 उत्तस्थावासनाच्छ्रीमान्नमस्कृतनभश्चरः ॥ ३३
 दशरथप्रभृतयो राजानो मुनयस्तथा ।
 यथानुरूपं वक्तारमनुगम्य मुनिं चिरम् ॥ ३४
 आपृच्छथ केचिद्गगनं ययुः केचिद्वनान्तरम् ।
 केचिद्राजगृहं सन्तो भृङ्गाः पद्मोत्थिता इव ॥ ३५
 वसिष्ठपादयोस्त्यक्त्वा पुष्पाञ्जलिमनाविलम् ।
 दारैरनुगतो राजा प्रविवेश गृहान्तरम् ॥ ३६
 रामलक्ष्मणशत्रुघ्नाः प्राप्तस्य स्वाश्रमं गुरोः ।
 अभ्यर्च्य चरणौ भक्त्या त्वाजग्मुर्नृपमन्दिरम् ॥ ३७
 सदनानि समासाद्य श्रोतारः सर्वे एव ते ।
 सत्सुरानर्चुरभ्येयुर्देवान्विप्रान्पितृस्तथा ॥ ३८

यथाक्रमं स्वभृत्यान्तैर्विप्राद्यैश्च परिच्छदैः ।
 समं बुभुजिरे भोज्यं वर्णधर्मक्रमोदितम् ॥ ३९
 अस्तं गते दिनकरे समं दिवसकर्मभिः ।
 अभ्यागते रात्रिकरे समं रजनिकर्मभिः ॥ ४०
 स्थित्वा तल्पेषु कौशेयशयनेष्वासनेषु च ।
 भूचरा मुनिराजानो राजपुत्रा महर्षयः ॥ ४१
 संसारोत्तरणोपायं वसिष्ठवदनेरितम् ।
 यथावदेकाग्रधियश्चिन्तयामासुरादृताः ॥ ४२
 ततः प्रहरमात्रेण निद्रामामुद्रिताननाः ।
 उत्स्वप्नसुन्दरीमीयुः पद्मा इव दिनार्थिनः ॥ ४३
 रामलक्ष्मणशत्रुघ्नाः प्रहरत्रयमेव तत् ।
 वासिष्ठमुपदेशं ते चिन्तयामासुरक्षतम् ॥ ४४
 प्रहरस्यार्धमात्रं ते तत आमुद्रितेक्षणाः ।
 उत्स्वप्नमाययुर्निद्रां क्षणाद्विद्रावितश्रमाम् ॥ ४५
 इति शुभमनसां विवेकभाजा-
 मधिगतसारतयोदिताशयानाम् ।
 अभजत विरतिं तदा त्रियामा
 मलिननिशाकरवक्रतां जगाम ॥ ४६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे दिवसव्यवहारवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

द्वितीयः सर्गः २

श्रीवाल्मीकिरवाच ।
 ततः क्लिप्तेन्दुवदना पर्याकुलतमःपदा ।
 क्षीयमाणा बभौ श्यामा विवेक इव घासना ॥ १
 पूर्वं ध्वस्ततयालोकं दृश्यमाने परेऽचले ।

वान् अपरिच्छिन्नात्मबोधवान्भवेत्यर्थः ॥ २८ ॥ २९ ॥ प्रातः
 श्वः सभायामागताः सन्तः । 'धातुसंबन्धे प्रत्ययाः' इति भवि-
 ष्यति क्तः ॥ ३० ॥ इति उक्ता आज्ञता । पद्मानीव पद्मान्येव
 च वदनानि यस्याः ॥ ३१ ॥ स्तुतो राजा दशरथो यैस्ते
 स्तुतराजानः । वसिष्ठे परिष्ठुते सर्वैः प्रणम्य प्रशंसिते सति
 ॥ ३२ ॥ नमस्कृता नभश्चरा देवा येन ॥ ३३ ॥ वक्तारमु-
 पदेशारम् । चिरमाश्रमान्तमनुगम्य ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ अनाविलं
 निर्मलम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ देवान्पितृंश्च आनर्तुः । विप्रान्
 अतिथीन् अभ्येयुः अभिमुखं आ ईयुः । अभिगमनादिना पूज-
 नाय स्वीचक्रुरित्यर्थः । 'अभ्येतुः' इति पाठे तु अभ्येतुरतिथि-
 वर्गस्य मध्ये विप्रानानर्तुरित्येवं योज्यम् ॥ ३८ ॥ परिच्छदैः
 परिवारैः सह ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ आविशुभसू-
 चकत्वादुल्लुख्यैः सुन्दरीं रमणीयाम् । तथाच श्रुतिः 'अथ
 यत्र देव इव राजेव अहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य
 परमो लोकः' इति स्वाप्नसार्वात्म्यदर्शनस्य भाविमोक्षफलसूचकतां
 दर्शयति । दिनार्थिनो रात्र्यतिक्रमणकामा इति यावत् ॥ ४३ ॥

श्यालीकावतंसाभं तापको निकरो दधौ ॥ २
 अवश्यायकणाकर्षी परामृष्टेन्दुमण्डलः ।
 ज्योत्स्नाकवलनालोको बभौ प्राभातिकोऽनिलः ॥ ३

॥ ४४ ॥ ४५ ॥ अधिगतसारतया आत्मतत्त्वप्रबोधेन उदितः
 सविकास आशयो येषां रामादीनाम् । त्रियामा रात्रिः । वि-
 रतिमुपरमं अभजत आप । अतएवावर्णकिरणव्याप्त्या मलिनो
 निशाकर एव वर्कं यस्यास्तद्भावं जगाम ॥ ४६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे दिवसव्यवहार-
 वर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इह रामादिभिः प्रातर्वसिष्ठस्य सभानयः ।

उक्तार्थस्मरणान्तत्वे विश्रामश्चोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

क्लिप्ते म्लान इन्दुरेव वदनं यस्याः । क्षीयमाणा मरणो-
 न्मुखी ॥ १ ॥ ततो निकरो निर्गच्छत्किरणस्तापकः सूर्यः प्रा-
 ष्णुर्लैर्जनैर्दृश्यमाने पूर्वं पूर्वदिक्स्थे अचले शङ्कमेदैर्ध्वस्ततया
 प्रतिबद्धतया तत्तदन्तरालनिर्गतमालोकं शयाः प्रसारितहस्ता-
 स्तदामं दधौ । प्रत्यङ्मुखैर्जनैर्दृश्यमाने परे पश्चिमदिक्स्थे
 अचले तु अलीको मिथ्याकल्पितो अवतंसः किरीटादिशिरो-
 भूषणं तदाममालोकं दधाविति द्वन्द्वे विभज्यान्वयः
 ॥ २ ॥ ज्योत्स्नानां कवलनाय आलोकश्चक्षुःप्रसार इव
 सौरालोको यस्येति सूर्यस्य तदीयचक्षुःप्रापदियमुक्तिः ।

रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना उत्थायानुचरैः सह ।
 यदुच्येन्दितसंध्यास्ते पुण्यं वासिष्ठमाश्रमम् ॥ ४
 तत्र धनितसंध्यस्य निर्गतस्यापि सन्नतः ।
 मुनेर्वचन्दिरे पादौ पदोर्दत्तार्घ्यसंततिम् ॥ ५
 क्षणात्तत्सदनं मौनं मुनिब्राह्मणराजभिः ।
 हस्त्यश्वरथयानैश्च शनैर्नीरन्ध्रतां ययौ ॥ ६
 यथासां मुनिशार्दूलस्तथैव सह सैन्या ।
 गृहं दाशरथं काले रामाद्यनुगतो ययौ ॥ ७
 तत्रैनं पूर्वसंवन्धः कृतसंध्यो महीपतिः ।
 दूरमार्गं विनिर्गत्य पूजयामास सादरम् ॥ ८
 पुष्पमुक्तामणिवातैर्भूयोऽत्यधिकभूषिताम् ।
 सभां प्रविश्य ते सर्वे विविशुर्विष्टरालिपु ॥ ९
 यथ तस्मिन्नवसरे ह्यस्तनाः सर्वे एव ते ।
 श्रोतारः समुपाजग्मुर्नभश्चरमहीचराः ॥ १०
 विवेश सा सभा सौम्या कृतान्योन्याभिवन्दनां ।
 वभौ राजसमाभोगा शान्तवातेव पद्मिनी ॥ ११
 यथाप्रदेशमेवाशु निविष्टेषु यथासुखम् ।
 तेषु तद्देशयोगेषु विप्रर्षिमुनिराजसु ॥ १२
 मृदुनि स्वागतरवे शनैः शममुपागते ।
 सभाकोणोपविष्टेषु शान्तशब्देषु बन्दिषु ॥ १३
 तरसैवोदितेष्वशु श्रोतुमभ्यागतेष्विव ।
 गवाक्षादिव जालेषु प्रविष्टेष्वर्करश्मिषु ॥ १४
 सत्वरप्रतिशच्छ्रोत्रहस्तस्पर्शघटोद्भवे ।
 मुक्ताजालझणत्कारे निद्रायामिव शाम्यति ॥ १५
 कुमारः शंकरस्येव कचो देवगुरोरिव ।
 प्रह्लाद इव शुक्रस्य सुपर्ण इव शार्ङ्गिणः ॥ १६

अनेन ध्रुतुपातं इत्युत्प्रेक्षा गम्यते ॥ ३ ॥ अस्मा-
 तानां श्रवणानिर्विकारात्मात्वा धनितसंध्याः । एवमप्रैऽपि
 ॥ ४ ॥ निर्गतस्य निर्गमिष्यतः ॥ ५ ॥ नीरन्ध्रतां निरवकाश-
 ताम् ॥ ६ ॥ ७ ॥ गृहप्रवेशात्पूर्वमेव संवधाति मेलयतीति
 पूर्वसंवन्धस्त्वरोत्साहो यस्य तथाविधो महीपतिर्दशरथः ॥ ८ ॥
 विष्टरालिपु आसनपद्मिषु । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति पत्रम्
 ॥ ९ ॥ अस्तनाः पूर्वधुर्भवाः ॥ १० ॥ राजा सप्त आभोगः
 संस्थानस्थितिर्व्यासः । राजानं यतवाक्यायचेष्टं दृष्ट्वा सर्वेऽपि तथा
 आसमिति भावः ॥ ११ ॥ तद्देशयोगेषु सभाप्रदेशप्रविष्टेषु वि-
 प्रादिषु यथाप्रदेशं प्रात्यहिककृतप्रदेशानुक्रमेण निविष्टेषूपविष्टेषु
 षट्सु ॥ १२ ॥ मृदुनि परस्परस्वागतप्रक्षरवे ॥ १३ ॥ उदि-
 तेष्वर्करश्मिषु श्रोतुमिव तरसैवाभ्यागतेषु गवाक्षादुवाक्यं प्राप्ये-
 त तत्रालिपिषु प्रविष्टेषु सत्सु ॥ १४ ॥ सत्वरं सभा प्रविशतां
 श्रोतुर्णां हस्तस्पर्शरश्मघटनश्चोद्भवो यस्य तथाविधे मुक्ताजाल-
 षट्पुष्पादिझणत्कारे निद्रायामिव निस्पन्दभावाच्छान्त्यति सति
 ॥ १५ ॥ दृष्टेर्भक्तिगौरवोत्कण्ठायतिशयश्रोतनाय बहून्पुप-

वासिष्ठस्यानने रामः शनैर्दृष्टिं न्यवेशयत् ।
 भ्रमन्तीमम्बरोपान्ते कुल्लपद्य इवालिनीम् ॥ १७
 मुनिस्त्वनुज्झितेनाथ तेनैव रंघुनन्दनम् ।
 क्रमेणोवाच वाक्यज्ञो वाक्यं वाक्यार्थकोविदम् ॥ १८
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 कञ्चित्स्वरसि यत्प्रोक्तं ह्यो मया रंघुनन्दन ।
 वाक्यमत्यन्तगुर्वर्थ परमार्थावबोधनम् ॥ १९
 इदानीमवबोधार्थमन्यच्च रिपुमर्दन ।
 उच्यमानं मयेदं च शृणु शाश्वतसिद्धये ॥ २०
 वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वावबोधनात् ।
 संसारस्तीर्यते तेन तेष्वेवाभ्यासमाहरं ॥ २१
 सम्यक्तत्त्वावबोधेन दुर्बोधे क्षयमागते ।
 गोलिते वासनान्वेशे विशोकं प्राप्यते पदम् ॥ २२
 दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमहंष्टोभयकोटिकम् ।
 एकं ब्रह्मैव हि अगतिस्थितं द्वित्वमुपागतम् ॥ २३
 सर्वमाचारवच्छिन्नं यत्रै ब्रह्मैव विद्यते ।
 शान्तं समसमाभासं तत्रान्यत्वं कथं भवेत् ॥ २४
 इति मत्वाहमित्यन्तर्मुक्त्वा मुक्तवपुर्महान् ।
 एकरूपः प्रशान्तात्मा साक्षात्स्वात्मसुखो भव ॥ २५
 नास्ति चित्तं न चाविद्या न मनो न च जीवकः ।
 एताः स्वकलना राम कृता ब्रह्मण एव ताः ॥ २६
 याः संपदो याश्च इशो याश्चित्तो यास्तद्देशणाः ।
 ब्रह्मैव तदनाद्यन्तमन्धितप्रविजृम्भते ॥ २७
 पाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेऽपि च ।
 दृश्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नान्यदस्ति हि ॥ २८
 उपेक्ष्यहेयोपादेयबन्धवो विभवा वपुः ।

मानानि ॥ १६ ॥ अम्बरे भ्रमन्तीमलिनी भ्रमरी कुल्ले पद्मे उद-
 थादिकालो निवेशयति तद्वत् ॥ १७ ॥ तेनः प्रागनुभूतान्तेनैव
 क्रमेण ॥ १८ ॥ ह्यः पूर्वेषु ॥ १९ ॥ २० ॥ प्रायुक्तक्रमेण
 बालुकम्ब दर्शयति—वैराग्येत्यादिना ॥ २१ ॥ २२ ॥ दिक्काल-
 लाद्यनवच्छिन्नं त्रिविधपरिच्छेदशून्यम् । तस्यैव विवरणं अह-
 र्येते । न हृष्टे देशतः कालतो वा उभे कोटी पूर्वापरवधी द्वैतं च
 यस्य । उभयानन्दस्य समासे द्वित्रयचतुर्कि 'उभयोऽन्यत्र' इत्ययम्
 ॥ २३ ॥ समेषु साधारणेषु गोत्वादिव्यनुगतत्वात्समसमाभासतां
 तत्परिक्षेपेण प्रयमानम् ॥ २४ ॥ इति उक्तब्रह्मसमाधौ भर्त्वा
 निश्चिन्ना अहमित्यभिमानं मुक्त्वा स्वात्मैव शु शोभनं समाकाश-
 मानन्दो वा यस्य तथाविधो भव ॥ २५ ॥ स्वाः कलनाः कल्पनाः
 ॥ २६ ॥ संपदो भोग्याः । दृशस्तद्भोगवृत्तयः । चित्तसंश्रुति-
 फलितचिदाभासाः स्मृतयो वा । तेषां भोगानामेषणाः स्मृदाः
 ॥ २७ ॥ पातालादिदेशभेदे तृणादिवस्तुभेदे चकाराद्वृत्तादि-
 कालभेदे च तदेव सर्वदृश्यात्मना दृश्यते नान्यदित्यर्थः ॥ २८ ॥
 उपेक्षाः हेया उपादेया इति सामान्यतः । तत्राप्युत्तरोत्तर-

ब्रह्मैव विगताद्यन्तमब्धिवत्प्रविजृम्भते ॥ २९
 यावदज्ञानकलना यावदब्रह्मभावना ।
 यावदास्था जगज्जाले तावच्चित्तादिकल्पना ॥ ३०
 देहे यावदहंभावो दृश्येऽस्मिन्यावदात्मना ।
 यावन्ममेदमित्यास्था तावच्चित्तादिविभ्रमः ॥ ३१
 यावन्नोदितमुच्चैस्त्वं सज्जनासङ्गसङ्गतः ।
 यावन्मौख्यं न संक्षीणं तावच्चित्तादिनिघ्नतां ॥ ३२
 यावच्छिथिलतां यातं नेदं भुवनभावनम् ।
 सम्यग्दर्शनशक्त्यान्तस्तावच्चित्तादयः स्फुटाः ॥ ३३
 यावदज्ञत्वमन्धत्वं वैवश्यं विषयाशया ।
 मौख्यान्मोहसमुच्छ्रायस्तावच्चित्तादिकल्पना ॥ ३४
 यावदाशाविषामोदः परिस्फुरति हृदने ।
 प्रविचारचकोरोऽन्तर्न तावत्प्रविशत्यलम् ॥ ३५
 भोगेष्वनास्थमनसः शीतलामलनिर्वृतेः ।
 छिन्नाशापाशजालस्य क्षीयते चित्तविभ्रमः ॥ ३६
 तृष्णामोहपरित्यागाच्चित्तशीतलसंविदः ।
 पुंसः प्रशान्तचित्तस्य प्रबुद्धा त्यक्तचित्तभूः ॥ ३७
 असंस्तुतमिद्वानास्थमवस्तु परिपश्यतः ।
 दूरस्थमिव देहं स्वमसन्तं चित्तभूः कुतः ॥ ३८
 भावितानन्तचित्तत्वरूपरूपान्तरात्मनः ।
 स्वान्तावलीनजगतः शान्तो जीवादिविभ्रमः ॥ ३९
 असम्यग्दर्शने शान्ते मिथ्याभ्रमकरात्मनि ।
 उदिते परमादित्ये परमार्थैकदर्शने ॥ ४०

सुपादेयतमा बन्धवो विभवाः वपुरित्येवंप्रकारेणेत्यर्थः ॥ २९ ॥
 किं सदैव तथा विजृम्भते, नेत्याह—यावदित्यादिना ॥ ३० ॥
 आत्मनो स्वेन ममेदमित्यास्था । कियत इति शेषः ॥ ३१ ॥
 उच्चैस्त्वं पूर्णतां । चित्तादिप्रयुक्ता निघ्नता नीचता ॥ ३२ ॥
 अज्ञत्वरूपमन्धत्वम् ॥ ३४ ॥ आशालक्षणो विषगन्धः । तावत्
 प्रकृष्टोत्तमविचारलक्षणचकोरोऽन्तर्न प्रविशति ॥ ३५ ॥
 अनास्थ्याः स्वेना चित्तभूः प्रबुद्धा प्रबोधफलवती भवति नात्य-
 क्तैत्यर्थः ॥ ३७ ॥ चित्तानुदय एव तत्त्याग इत्याशयेनाह—
 असंस्तुतमिति । असंस्तुतमनुपयुक्तं दूरस्थमवस्तु अतएवासं-
 न्तमप्रपुरुषाकारमिव स्वं देहमनास्थं परिपश्यतश्चित्तस्य भवनं
 चित्तभूः कुतः ॥ ३८ ॥ भावितं श्रवणमनननिदिध्यासनसा-
 क्षात्कारैः परिष्कृतमनन्तचिन्मात्ररूपं संसारप्रसिद्धरूपादूपान्त-
 रमात्मा च यस्य । स्वान्तं मनसि अवलीनं जगदस्य ॥ ३९ ॥
 असम्यग्दर्शने सम्यग्दर्शनविरोधिनि अज्ञाने मिथ्याभ्रमान्करोति
 तथाविधस्वभावे नष्टे सति ॥ ४० ॥ ४१ ॥ चित्ताभावे कथं
 व्यवहारस्तत्राह—जीवन्मुक्ता इत्यादिना । चित्तपदवी जले
 शुष्के सिकतासु जलरेखेव चित्तप्रचाररेखा ॥ ४२ ॥ ४३ ॥
 प्रभ्रमन्ति व्यवहरन्ति । सत्त्वसंस्थितिप्रयुक्तया हेल्या अना-

अपुनर्दर्शनायैव दग्धसंशुष्कपर्णवत् ।
 चित्तं विगलितं विद्धि बहौ घृतलवं यथा ॥ ४१
 जीवन्मुक्ता महात्मानो ये परावरदर्शिनः ।
 तेषां यां चित्तपदवीं सां सत्त्वमिति कथ्यते ॥ ४२
 जीवन्मुक्तशरीरेषु वासना व्यवहारिणी ।
 न चित्तनाम्नी भवति सा हि सत्त्वपदं गता ॥ ४३
 निश्चेतसो हि तत्त्वज्ञां नित्यं संपदे स्थिताः ।
 लीलया प्रभ्रमन्तीह सत्त्वसंस्थितिहेलया ॥ ४४
 शान्ता व्यवहरन्तोऽपि सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
 नित्यं पश्यन्ति तज्ज्योतिर्न द्वैतैक्येन वासना ॥ ४५
 अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्वह्नौ त्रिजगच्छणम् ।
 जुह्वतोऽन्तर्निवर्तन्ते मुनेश्चित्तादिविभ्रमाः ॥ ४६
 विवेकविशदं चेतः सत्त्वमित्यभिधीयते ।
 भूयः फलति नो मोहं दग्धबीजमिवाङ्कुरम् ॥ ४७
 यावत्सत्त्वं विमूढान्तः पुनर्जननधर्मिणी ।
 चित्तशब्दाभिधानोक्ता विपर्यस्यति बोधतः ॥ ४८
 प्रोक्षप्राप्यो भवोक्तोऽसत्त्वभावमुपागतम् ।
 चित्तं ज्ञानाग्निना दग्धं न भूयः परिरोहति ॥ ४९
 संरोहतीषणाविद्धं यथा परशुनाग्निना ।
 न तु ज्ञानाग्निर्दग्धं प्रबोधविशदं मनः ॥ ५०
 ब्रह्मबृंहैव हि जगज्जगच्च ब्रह्मबृंहणम् ।
 विद्यते नानयोर्भेदश्चिद्धनब्रह्मणोरिव ॥ ५१
 चिदन्तरस्ति त्रिजगन्मरिचे तीक्ष्णता यथा ।

स्थया ॥ ४४ ॥ तर्हि किं तेषां वासनया व्यवहारपरमार्थोभयद-
 र्शनाद्वैतैक्येनेत्याह—शान्ता इति । तद्वयं ज्योतिर्नित्यं पश्य-
 न्ति तद्वाधिते द्वैतैक्ये तद्वासना वा न संभवतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥
 तदेव स्पष्टमाह—अन्तर्मुखतयेति ॥ ४६ ॥ अतएवाज्ञचित्ता-
 त्सत्त्वस्य वैलक्षण्यमित्याशयेनाह—विवेकेति ॥ ४७ ॥ वि-
 मूढानां जनानामन्तश्चित्तशब्दाभिधानोक्ता सा भवति ताव-
 देव पुनर्जननधर्मिणी । बोधतस्तु सा सत्त्वं सती विपर्यस्यति ।
 जन्मनिवृत्तिलक्षणं विपरीतकार्यं करोतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ चित्तं
 तवेति शेषः ॥ ४९ ॥ कीदृशं तर्हि भूयः संरोहति तदाह—
 संरोहतीति । ईषणा एषणा चित्तपुत्रलोकविषयास्तामिराविद्धं
 खचितम् । यथा परशुना छिन्नमग्निना दग्धमपि तृणादि
 अन्तर्बीजशक्त्या विद्धं भूयः प्ररोहति तद्वत् । निर्दग्धं निर्दग्ध-
 षणाबीजशक्तिकम् ॥ ५० ॥ ज्ञानाग्निना कुतो जगद्बीजशक्ति-
 दाहस्तत्राह—ब्रह्मेति । हि यस्माज्जगद्ब्रह्मण एव मोहाद्बृंह-
 आरोपितरूपेण वृद्धिः । यस्माच्च ज्ञानाज्जगदपि वास्तवब्रह्मस्व-
 भावाभिप्रेतकं, यतश्च अनयोर्ब्रह्मजगतोरज्ञानमात्रकृतो भेदस्त-
 त्राशे न विद्यते अतो न प्ररोहतीत्यर्थः ॥ ५१ ॥ त्रिजगच्चिद-
 न्तश्चिद्वेषेणैवास्ति यथा तीक्ष्णतैकरसे मरिचे तीक्ष्णता तद्वत् ।

नातश्चिज्जगती भिन्ने तस्मात्सदसती मुधा ॥ ५२ ॥
 शब्दशब्दार्थसंकेतवासनेह न संविदा ।
 चिद्योमत्वादुमे भातस्यजातः सदसन्मती ॥ ५३ ॥
 अचिन्मयत्वाद्भासि त्वं स्वात्मा किमिव रोदिषि ।
 अचिन्मयत्वे जगतामभावे कल्पनं कुतः ॥ ५४ ॥
 चिन्मयं चेत्सदा सर्वं तच्चित्तं प्रविचारय ।
 शुद्धं सत्त्वमनाद्यन्तं तत्राङ्गं कलना कुतः ॥ ५५ ॥
 चिदात्मासि निरंशोऽसि पारावारविवर्जितः ।
 रूपं सर निजं स्फारं माऽस्मृत्या संमितो भव ॥ ५६ ॥
 तां स्वसत्तां गतः सर्वमसर्वं भावयोदयी ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० विभ्रान्तिसुदृढीकरणं नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः ३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

भाविभूरितरङ्गणां पयोवृन्दमिषाम्बुधौ ।
 या चिद्वद्व्यनन्तानि जगन्त्यनघ सो भवान् ॥ १ ॥
 भव भावनया मुक्तो भावाभावविवर्जितः ।

अतस्तत्त्वदशा विजगती न भिन्ने । तस्मात्सदसती वस्तुप्ररोह-
 प्रलयौ मुधा मायाप्रयुक्तान्तिरेवेत्यर्थः ॥ ५२ ॥ तर्हि 'असदा
 इदमप्र आसीत्ततो वै सदनायत' इत्यादिश्रौताः, षटोऽस्ति
 षटो नास्तीत्यादिलौकिकाश्च सदसच्छब्दाः किं निरर्थकाः, ने-
 त्याह—शब्देति । इह श्रौतलौकिकव्यवहारे परस्परव्यावृत्ता-
 शब्दा व्यावृत्तेष्वर्थेषु संकेतिता इति वक्तुश्रोतवासनेव व्यावृ-
 त्त्याकारेण भासते । तैदंशब्दकृता संविदा प्रमा न । अवस्तु-
 भूताया व्यावृत्तेः शब्दार्थत्वाभावात् । एवं व्यावृत्त्यपगमे उमे
 सदसच्छब्दवाच्ये अव्यावृत्तानुगतचिद्योमत्वादेव परमार्थतो
 भात इति तदेव परमार्थवस्तुशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ एवं
 सदसद्विकल्पस्यागेन चिन्मात्रदर्शने देहाद्यात्मताभ्रमप्रयुक्तजनन-
 मरणाद्यनर्थप्राप्तिप्रयुक्तारोदनस्यापि न प्रसक्तिरित्याह—अचिन्म-
 यत्वादिति । त्वं त्वमिति व्यनहियमाणं रामनिधं सदसत्त्वभावं
 शरीरमात्मा स्वयं नासि अचिन्मयत्वात् । सर्वस्य जगतः अचिन्म-
 यत्वे अभावे भावगते देहादिकल्पनैव तव कुत इत्यर्थः ॥ ५४ ॥
 यदि तु चिद्व्यावृत्तिलक्षणजाज्यमात्रपरित्यागाच्चिन्मयमेव जगदि-
 ति मन्यसे तदा चित्तं चित्स्वभावं प्रविचारय । तच्च सम्यग्
 विचार्यमाणं शुद्धं त्रिविधपरिच्छेदशून्यमेकरसम् । तत्र देहाद्य-
 नर्थकलना कुत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥ अस्तृष्टा चित्स्वरूपविसरणेन
 समितः परिच्छिन्नः ॥ ५६ ॥ ता सत्तां पूर्णचित्स्वभावस्थितिं
 गतः सन् उदयी निरतिशयानन्दलाभाद्युदयवान् भूत्वा असर्वं
 परिच्छिन्नं जगत्सर्वं पूर्णस्वभावं भाषय सपादय ॥ ५७ ॥
 नानासि नानाभावेन आस्ते तच्छीलः नासि अथापि तद्वाचाव-
 धित्वादसि परिशिष्यसे । तत्र सर्ववाङ्मनसप्रवृत्तिनिमित्तापगमा-

तादृश्रूपोऽसि शान्तोऽसि चिदसि ब्रह्मरूप्यसि ॥ ५७ ॥
 चिच्छिलोदरमेवासि नासि नानास्यथाप्यसि ।
 योसि सोसि न सोसीव सदस्यसदसि स्वभाः ॥ ५८ ॥
 यः पदार्थविशेषोऽन्तर्न त्वं न ह्येव सोऽस्ति ते ।
 तदस्यतदसि स्वस्थश्चिदनात्मन्ममोऽस्तु ते ॥ ५९ ॥
 आद्यन्तवर्जितविशालशिलान्तराल-
 संपीडचिद्वनवपुर्गगनामलस्त्वम् ।
 स्वस्थो भवाजठरपल्लवकोशलेखा
 लीलास्थिताखिलजगज्जय ते नमस्ते ॥ ६० ॥

लीलास्थिताखिलजगज्जय ते नमस्ते ॥ ६० ॥

चिदात्मन्संस्थिताः केव वद ते वासनादयः ॥ २ ॥
 जीवोऽयं वासनादीदमिति चित्कचति स्वतः ।
 इतरोक्त्यर्थयोरत्र कः प्रसङ्गोऽङ्ग कथ्यताम् ॥ ३ ॥

योसि सोसि । तर्हि किमत्यन्तपरोक्षो नेत्याह—नेति । न सः
 परोक्षोऽसीव यतः स्वभाः स्वप्रकाशः ॥ ५८ ॥ सदस्यसदसीत्यंशं
 विवृणोति—य इति । यः सर्वपदार्थानां विशेषो व्यावृत्तिलक्ष-
 णोऽन्तःपरिच्छेदः स एव अलीकत्वादसच्छब्दार्थः । स त्वं न
 भवसीति सदसीत्यस्यार्थः । स एव तद्यावृत्तसदमत्वेन कल्प्य-
 मानो व्यावहारिकैः सत्तेति व्यपदिश्यते स ते नास्त्येवेत्यसदसी-
 त्यस्यार्थः । इत्याशयेन सदस्यसदसीत्युक्त इत्यर्थः ॥ ५९ ॥
 आद्यन्तवर्जितं विशालं स्फटिकशिलान्तरालमिव 'संपीडं नि-
 बिडं यच्चिद्वनं तद्वपुस्तत्त्वभावस्त्वं न दुःखादिविक्रियाभासिति
 मत्वा स्वस्थो भव । आसमन्ताद्विस्तीर्णे त्वदीयचिच्छिलाजठरे
 प्रतिबिम्बितपल्लवकोश इव कल्पिताया मायाया रेखासदशवास-
 नाभेदेषु मनोलीलया स्थितान्यखिलानि जगन्ति यस्मिन्स्थथा-
 विध हे राम, ते तादृशाय नम इत्यर्थः ॥ ६० ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे विभ्रान्ति-
 सुदृढीकरणं नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

महाजीवमनोदेहजगतामैक्यदर्शनात् ।

सर्वद्वैतभ्रमे शान्ते पूर्णैकस्थितिरुच्यते ॥ १ ॥

तत्रादौ सर्वकल्पनाप्रतिभासनिमित्तं चित्स्वरूपमात्मेति परि-
 चाययति—भावीति । अम्बुधौ भाविनां जायमानानां भूरितरङ्ग-
 भेदकल्पनानामास्पदं पयोवृन्दं जलमामान्यमिव या चित् अन-
 न्तानि जगन्ति वहति सा । उ इति सभावनायाम् । सैवात्मेति
 संभावयेत्यर्थः ॥ १ ॥ तत्सभावनोत्तरं द्वैतभावनात्यागमात्रेण
 निष्प्रपञ्चं निर्वासनं च तत्स्वरूपमनुभावयति—भवेति ॥ २ ॥
 तत्स्वरूपे परिचिते जीववासनाजगद्विभागाश्चित एव कवन-
 भेदकल्पना न पृथक्सन्तीत्यनुभवितुं शक्यत इत्याह—जीव

महातरङ्गगम्भीरभासुरात्मचिदर्णवः ।
 रामाभिधोर्मिस्तिमितः सम सौम्योऽसि व्योमवत् ४
 यथा न भिन्नमनलादौष्ण्यं सौगन्ध्यमम्बुजात् ।
 काष्ण्यं कज्जलतः शौक्ल्यं हिमान्माधुर्यमिक्षुतः ॥ ५
 आलोकश्च प्रकाशाङ्गादनुभूतिस्तथा चितेः ।
 जलाद्वीचिर्यथाऽभिघ्ना चित्स्वभावात्तथा जगत् ॥ ६
 चितो न भिन्नोऽनुभवो भिन्नो नानुभवादहम् ।
 न मत्तो भिद्यते जीवो न जीवाद्भिद्यते मनः ॥ ७
 मनसो नेन्द्रियं भिन्नं पृथग्देहश्च नेन्द्रियात् ।
 न शरीराज्जगद्भिन्नं जगतो नान्यदस्ति हि ॥ ८
 एवं प्रवर्तितमिदं महच्चक्रमिदं चिरम् ।
 नच प्रवर्तितं किञ्चिन्न च शीघ्रं च नो चिरम् ॥ ९
 स्ववेदनमनन्तं च सर्वमेवमखण्डितम् ।
 विद्यते व्योमनि व्योम न कस्मिंश्चिन्न किञ्चन ॥ १०
 शून्यं शून्ये समुच्छ्रुतं ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहितम् ।
 सत्यं विजृम्भते सत्ये पूर्णं पूर्णमिव स्थितम् ॥ ११
 रूपालोकमनस्कारान्कुर्वन्नपि न किञ्चन ।
 ज्ञः करोत्यनुपादेयान्न ज्ञस्यैव हि कर्तृता ॥ १२
 यदुपादेयबुद्ध्या च तदुःखाय सुखाय ते ।
 भावाभावेन नादेयमकर्तुं सुखदुःखयोः ॥ १३

यथा नानाप्यनानैव खं खे खानीति योगिनिः ।
 सार्थकोऽप्यतिशून्यात्मा तथात्मजगतोः क्रमः ॥ १४
 अन्तर्व्योमामलो बाह्ये सम्यगाचारचञ्चुरः ।
 हर्षामर्षविकारेषु काष्ठलोष्टसमस्थितिः ॥ १५
 य एवातितरां शत्रुः सत्वरं मारणोद्यतः ।
 तमेवाकृत्रिमं मित्रं यः पश्यति स पश्यति ॥ १६
 समूलकां कषति नदीतट इव द्रुमम् ।
 यः सौहृदं मत्सरं च स हर्षामर्षदोषहा ॥ १७
 रागद्वेषविकाराणां स्वरूपं चेन्न भाव्यते ।
 ततः सन्तोऽप्यसद्रूपाः सेविता अप्यसेविताः ॥ १८
 यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
 हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १९
 यन्नास्ति तस्य सद्भावप्रतिपत्तिरुदाहृता ।
 मायेति सा परिज्ञानादेव नश्यत्यसंशयम् ॥ २०
 निःस्नेहदीपवच्छान्तो यस्यान्तर्वासनाभरः ।
 तेन चित्रकृतेनेव जितं हेनाविकारिणा ॥ २१
 यस्यानुपादेयमिदं समस्तं
 पदार्थजातं सदसदृशासु ।
 न दुःखदाहाय सुखाय नैव
 विमुक्त एवेह सजीव एव ॥ २२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० भोक्तोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० ब्रह्मैक्यप्रतिपादनं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इति । इतरोक्तेरचिदर्णवशब्दस्य तदर्थस्य च । अत्र एवंप्र-
 चिद्वस्तुनि ॥ ३ ॥ 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यानन्दे चिदा-
 त्मानि । इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥' इति व्युत्पादि-
 तान्वर्थरामाभिधानः ॥ ४ ॥ तत्र दृश्यस्य दृगव्यतिरेकं दृग्ध-
 र्मेत्वोपपादकदृष्टान्तैः साधयति—यथेत्यादिना ॥ ५ ॥ प्रकाशा-
 ज्ञातेजसः । अनुभूतिवृत्तिप्रतिबिम्बचैतन्यम् । तथाशब्दः पूर्व-
 दृष्टान्तसमुच्चये । यथा अभिज्ञेति च्छेदः ॥ ६ ॥ उक्तमेवार्थम-
 ध्यासक्रमोद्धाटनेन स्फुटं दर्शयति—चित इत्यादिना । चितो
 मूलाधिष्ठानब्रह्मचितः । अनुभवो मायावृत्त्या रूढचिदाभासः ।
 अहं व्यष्टिसमष्ट्याहंकारः । एवमप्रेऽपि शरीरान्ते बोध्यम् ॥ ७ ॥
 न शरीरादिति । समष्टिशरीरे जगतोऽन्तर्भावादित्याशयः ॥ ८ ॥
 इदं प्रस्तुतमिदं दृश्यमानं जगच्चक्रं चितैव स्वरूपमोहादध्यास-
 परम्परया प्रवर्तितमित्यर्थः । परमार्थदशा तु न किञ्चिदपि
 प्रवर्तितम् ॥ ९ ॥ १० ॥ तस्य निरतिशयपूर्णतामेव भक्ति-
 भेदैर्वर्णयति—शून्यमिति ॥ ११ ॥ ज्ञस्य कर्तृता नैव ॥ १२ ॥
 यत् उपादेयबुद्ध्या विषयजातमादीयते तदेव ते दुःखाय सु-
 खाय च भवति । भाव उपादेयताबुद्धिस्त्वदभावेन तु न किञ्चि-
 दादेयं नाम भवति । अनात्तं च सुखदुःखयोरकर्तुं प्रसिद्ध-
 मिति न दुःखादिप्रसक्तिरित्यर्थः । अथवा भावानां दृश्यानाम-
 भावेन असत्त्वेन नादेयं किञ्चिदस्तीति तत् सुखदुःखयोरकर्त्रि-
 त्यर्थः ॥ १३ ॥ नानात्वेन प्रतीयमानानां भावानां कथमभाव-

स्तत्राह—यथेति ॥ १४ ॥ काष्ठलोष्टसमस्थितिर्भवेति शेषः ॥ १५ ॥
 शत्रुशरीरेऽपि स्वस्यैवात्मत्वात्स्वशरीर इव तत्राप्यकृत्रिमप्रीति-
 रात्मदर्शिनो भवतीत्याह—य एवेति । मित्रं प्रियतमम् ॥ १६ ॥
 तत एव हर्षामर्षदोषनिवृत्तिरित्याह—समूलेति । यो नदी स्व-
 तटे विद्यमानं द्रुममिव सौहृदं मत्सरं च समूलकां कषति
 समूलमुन्मूलयति स एव हर्षामर्षदोषाणां हन्ता भवतीत्यर्थः ।
 समूलोपपदात्कर्षेणमुलि कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः ॥ १७ ॥
 रागद्वेषयोस्तत्कार्यविकाराणां च स्वरूपं तत्त्वं चेन्न भाव्यते न
 विचार्यते ततस्तर्हि सन्तः अरागद्वेषत्वेन प्रसिद्धा अपि जना
 असद्रूपाः । रागद्वेषतत्त्वापरिज्ञाने तन्मूलोच्छेदासंभवेन पुनस्तेषां
 रागद्वेषप्ररोहापरिहारात् । अतस्ते सेविता अपि वृथेत्यर्थः
 ॥ १८ ॥ किं तर्हि तत्त्वं तयोरिति चेदहंकार एव । अत-
 स्तत्परित्यागे आत्यन्तिकरागद्वेषनिवृत्तिरित्याशयेन गीतावाक्य-
 मुदाहरति—यस्येति ॥ १९ ॥ अहंकारस्य तु तत्त्वमज्ञानमेव,
 तन्निवृत्तिस्तु स्वात्मपरिज्ञानादित्याशयेन तत्र मायाशब्दार्थप्र-
 सिद्धिं दर्शयन्नाह—यदिति ॥ २० ॥ यस्य वासनाभरः
 शान्तस्तेन जितम् । स किं जयः सत्यः, नेत्याह—चि-
 त्रकृतेनेति । यथा चित्रकृतेन राज्ञा चित्रलिखितशत्रुशि-
 रश्छिन्दता जितमिव तथा नित्यनिरस्तसंसारनिरासबोधा-
 न्नित्यसिद्धाद्वितीयपूर्णात्मना जितमित्यर्थः ॥ २१ ॥ यस्य
 पुरुषधौरेयस्य इदं समस्तं भोग्यपदार्थजातं सदसदृशासु

चतुर्थः सर्गः ४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

मनो बुद्धिरहंकार इन्द्रियादि तथानघ ।
अचेत्यचिन्मयं सर्वं क्व से जीवादयः स्थिताः ॥ १
एकेनैवात्मना दत्ता नानातेयं महात्मना ।
यथैकेनैव चन्द्रेण तिमिराण्यपार्दपणैः ॥ २
भोगतृष्णाविषावेशो यदैवोपशमं गतः ।
तदैवमस्तमज्ञानमान्ध्र्यं ज्वान्तक्षयादिव ॥ ३
अध्यात्मशास्त्रमन्त्रेण तृष्णाविषविषूचिका ।
क्षीयते भावितेनान्तः शरदा मिहिका यथा ॥ ४
मौख्ये क्षीणे क्षतं विद्धि चित्तं राम सदान्धवम् ।
विलीनाम्बुधरे व्योम्नि जाड्यं शाम्यत्यविन्नतः ॥ ५
अचित्तत्वं गते चित्ते क्षीयते वासनाभ्रमः ।
हारमुक्तासमावेशश्छिन्ने तन्ताविवानघ ॥ ६
रघुनाथ विघाताय शास्त्रार्थं भावयन्ति ये ।
कृमिक्रीडत्वयोग्याय चेतसा संमिलन्ति ते ॥ ७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे ब्रह्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चित्ताभावप्रतिपादनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः ५

श्रीराम उवाच ।

अहो अहं गतश्चित्त्वं भवद्वाक्यार्थमावगात् ।

आविर्भावविरोभाववस्थामु वैभवदारिद्र्यदशासु आरोपापवा-
ददशासु वा सिध्यावात्तत्त्वत आत्मतया नित्यलब्धत्वाद्वा ज-
ज्ञपादेयं सत्तद्वियोगसंयोगप्रयुक्तय दुःखदाहाय सुखाय च न
भवति किंतु इह सजीवो जीवन्नपि मुक्त एवेत्यर्थः ॥ २२ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
अष्टौष्यप्रतिपादनं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

निरस्यान्याः परमगृहीतसिद्धेनेह राघवः ।

प्रत्यगृह्ये स्थिरीकृत्य पृष्ठः संशयशान्तये ॥ १ ॥

रामस्य प्रत्यगृह्यमुद्रादयिष्यन्वत्तिष्ठः प्रथममाध्यात्मिकेषु
मनआदिभेदेष्वनुगतखण्डविदैक्यं दर्शयन् जीवादिभेदवाधम-
नुभावयति—मन इति ॥ १ ॥ तत्रोपपत्तिमाह—एकैनेति ।
दत्ता स्वसत्तासर्गाध्यासेन प्रापिता ॥ २ ॥ मनआद्यनुगतप्र-
त्यक्षत्वदर्शनादेव तत्र विभ्रान्तस्य बाह्यार्थभोगतृष्णाक्षये बाह्य-
सर्ववस्तुवस्तुगतसन्मात्रस्यापि प्रत्यगृह्येन स्वत एव आत्मह्याह्या-
ध्यासनिमित्तमप्यज्ञानं क्षीयत इत्याशयेनाह—भोगेति । एव-
मुक्तरीत्या प्रत्यक्षत्वदर्शनेन भोगतृष्णाविषावेशो यदैवोपशमं
गतस्तदैवाज्ञानमस्तं निरस्तमित्यर्थः । आन्ध्र्यं चक्षुषो विषयप्र-
यनासामर्थ्यम् ॥ ३ ॥ अन्तर्भावितेन सम्यग्विचारितेन ॥ ४ ॥
मौख्यमज्ञानम् । जाड्यं शैलम् ॥ ५ ॥ ६ ॥ एवं सर्ववेदान्त-
शास्त्ररहस्यभूतां प्रत्यगृह्ये सम्यगुद्राव्य तद्विपरीतदर्शनं

१ तिमिर नेत्ररोगविशेषः

नवतामरसाकारकान्तलोचनलोलता ।

शान्ते मौख्येऽक्षताः प्राप्ते चलता सरसो यथा ॥ ८

स्थिरतामुपग्रातोऽसि भावाभावविवर्जितः ।

पदे परमविस्तारे नभसीव प्रभञ्जनः ॥ ९

मन्ये मद्भजनैर्बोधमागतोऽसि रघूद्वह ।

विगताज्ञाननिद्रोऽन्तर्नृपतिः पटहैरिव ॥ १०

सामान्ये च लग्न्येव जने कुलगुरोर्गिरः ।

अत्युदारमतौ राम न लगन्ति कथं त्वयि ॥ ११

यत्रोपादेयवाक्यत्वं भावितं स्वेन चेतसा ।

मद्भजोऽन्तर्विशत्युच्चैस्तप्ते क्षेत्रे यथा पयः ॥ १२

वयमिह हि महाबुभाव नित्यं

कुलगुरवो भवतां रघूद्वहानाम् ।

मदुदितमिदमाशु धार्यमार्यं

शुभचचनं हृदि हारवत्त्वयेति ॥ १३

शान्तं जगज्जालमिदमग्रस्थमपि नाथ मे ॥ १

परासन्तः प्रयातोऽसि परमात्मनि निर्वृतिम् ।

शास्त्रार्थविघातकं निन्दति—रघुनाथेति । दर्शितं शास्त्रार्थं शा-
स्त्ररहस्यं उपेक्ष्येति शेषः । ये तद्विघातायान्यथा भावयन्ति ते
कृमिक्रीडत्वयोग्याय पापाय चेतसा रागादिहेतुदुर्बुद्ध्या मिलन्ति
॥ ७ ॥ तां दुर्बुद्धिं व्यवहितसर्गे प्रपन्नयिष्यमाणां प्रतीकेनो-
दाहरन् मौख्यक्षयात्तत्क्षयं दर्शयति—नवेति । क्षयादिपिण्डेषु
दुर्बुद्धिकल्पितेति शेषः ॥ ८ ॥ इदानीं रामस्य दर्शितप्रत्यगृह्यो
स्थिरीभावं लिङ्गैरुपलक्ष्याह—स्थिरतामिति । प्रमञ्जनो वायुः
॥ ९ ॥ पटहैवैतालिकानां प्रबोधनवाद्यभेदेः ॥ १० ॥ इदानीं
सकृत्स्योपदेशस्य साफल्यदर्शनाश्रयं स्वं च प्रशंसन्नाह—सा-
माप्त्ये इति । वृगन्ति बोधजननफलेन युज्यन्ते ॥ ११ ॥ यत्र
मयि त्वया उपादेयवाक्यत्वमाप्तमयत्वं भावितं चिन्तितमतो मह-
चस्तवान्तर्हृदि विधाति ॥ १२ ॥ इदानीं फलपर्यवसितस्वोप्-
दिष्टार्थस्यापि स्मरणेन धारणं स्वस्य कुलगुर्यत्वात्माननीयशा-
सनत्वख्यापनेन विधत्ते—वयमिति । भवता सर्वेषामिक्ष्वाकूणां
विशेषतश्च रघूद्वहानां वयं कुलगुरव इति हेतोस्तत्त्वया मदुदित-
मिदं शुभं वचनं धार्य पुनः पुनश्चिन्तनेन रङ्गीकृत्येत्यर्थः ॥ १३ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
चित्ताभावप्रतिपादनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इह प्रबुद्धः श्रीरामो विभ्रान्ता परमे सुखे ।

गुरोः पुरः स्वाशुभं वर्णयामास विस्तरात् ॥ १ ॥

चिद्वत् चिद्रेकरसपूर्णमाश्रयम् ॥ १ ॥ दीर्घेण चिरकाले

दीर्घावग्रहसंतप्तं वृष्ट्येव वसुधातलम् ॥ २
 शाम्यामि शीतलाकारः सुखं तिष्ठामि केवलम् ।
 प्रसादमनुयातोऽहं सरो निर्वाणं यथा ॥ ३
 सम्यक्प्रसन्नमखिलं दिङ्मण्डलमिदं मुने ।
 यथाभूतं प्रपश्यामि निर्नीहारमिवाधुना ॥ ४
 जातोऽस्मि गतसंदेहः शान्ताशामृगतृष्णिकः ।
 रागनीरागनिर्मुक्तो मृष्टजङ्गलशीतलः ॥ ५
 आत्मनैवान्तरानन्दं तत्प्राप्तोऽस्म्यन्तवर्जितम् ।
 रसायनरसास्वादो यत्र नाथ तृणायते ॥ ६
 अद्याहं प्रकृतिस्थोऽस्मि स्वस्थोऽस्मि मुदितोऽस्मि च ।
 लोकारामोऽस्मि रामोऽस्मि नमो मह्यं नमोस्तु ते ॥ ७
 ते संशयास्ताः कलनाः सर्वमस्तं गतं मम ।
 रात्रिवेनालसंसारः प्रभात इव भास्करे ॥ ८
 निर्मले हृदि विस्तीर्णे संपन्ने हिमशीतले ।
 मनो निर्वृतिमायातं सरसी शरदीव मे ॥ ९
 कलङ्क आत्मनः कस्मात्कथं चेत्यादिसंशयः ।

नूनं निर्मूलतां यातो मृगाङ्गाग्रे यथा तमः ॥ १०
 सर्वमात्मैव सर्वत्र सर्वदा भाविताकृतिः ।
 इदमन्यदिदं चान्यदित्यसत्कलना कुतः ॥ ११
 कोऽभवं प्रागहं तादृक्कृष्णानिगडयन्त्रितः ।
 अन्तरात्मानमेवेति विद्वसामि विकासवान् ॥ १२
 आ इदानीं स्मृतं सम्यग्यथैष सकलोऽस्म्यसौ ।
 यस्त्वद्वागमृतापूरस्वातेनायमहं स्थितः ॥ १३
 अहो नु विततां भूमिमधिरूढोऽस्मि पावनीम् ।
 इहस्थ एव यत्राहो न पातालमिव स्थितः ॥ १४
 मह्यं सत्तामुपेताय भावाभावभवार्णवात् ।
 नमो नित्यं नमस्याय जयाम्यात्मात्मनात्मनि ॥ १५
 अनुभववशतो हृदङ्गकोशे
 स्फुटमलितां समुपागतेन नाथ ।
 तव वरवचसेह वीतशोकां
 चिरमुदितां च दशामुपागतोऽस्मि ॥ १६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० राघवविश्रान्तिवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः ६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

नुवृत्तेनावग्रहेण वृष्टिप्रतिबन्धेन संतप्तम् ॥ २ ॥ निर्वाणं निर्गतजम् । निर्विक्षोभनिमित्तमिति यावत् ॥ ३ ॥ यथाभूतं यथार्थ-
 भूतसन्मानस्वभावम् ॥ ४ ॥ रागैर्विषयरञ्जनैर्नीरागैस्तद्विरोधि-
 नैराग्यादिवृत्तिभिश्च निर्मुक्तः । मृष्टं निर्मृष्टनीहाररजस्कं शर-
 त्कालजङ्गलमिव शीतलः ॥ ५ ॥ रसायनममृतं तद्रसास्वादोऽपि
 यत्र यस्मिन्नानन्दे तृणायते तृणवल्लीरसीभवति, उपेक्ष्यो भवति
 वा ॥ ६ ॥ प्रकृतिः पारमार्थिकस्वभावस्तत्स्थः । लोका आर-
 मन्ते विश्राम्यन्ति यस्मिन्सुखे तदहमस्मि । 'एतस्यैवानन्दस्या-
 न्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः । अतएव रमन्ते
 योगिनो यत्रेति प्राग्दर्शितन्युत्पत्त्या रामोऽस्मि । स्वनामसा-
 र्थक्यं ममाद्य संपन्नमित्यर्थः । तादृशाय मह्यं, तत्प्रदर्शकाय
 ते तुभ्यं च नमः ॥ ७ ॥ कलना अमाः । रात्रौ बालभ्रान्ति-
 कल्पितो वेतालस्य संसारः संचारः, कुटुम्बं वा ॥ ८ ॥ मनः
 शरदि सरसी महासर इव निर्वृतिं निर्विक्षेपविश्रान्तिमायातं
 प्राप्तम् ॥ ९ ॥ चिदेकरसस्यात्मनः अज्ञानादिकलङ्कः कस्मान्नि-
 मित्तादागतः, कथं स्वप्रकाशे तिष्ठति, सः असङ्गमपरिच्छिन्नं
 च तं कथमाच्छादयति, कथं च कूटस्थस्य सांसारिकविकारा-
 शुभव इत्यादिसंशयः सर्वसंशयमूलभूताज्ञानापगमाभिर्मूलतां
 यातः ॥ १० ॥ भाविताकृतिः स्फुरदाकारः ॥ ११ ॥ अहं
 सांप्रतं विकासवान्सञ्जनुभूयमानमश्नान्यायतीतमात्मानमन्तरा
 विनैव प्राक्कृष्णानिगडयन्त्रितः कः अभवमिति विद्वसामि

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १

॥ १२ ॥ आ इति स्मरणद्योतको निपातः । 'निपात एका-
 जनाङ्' इति प्रगृह्यत्वादसंधिः । त्वद्वागमृतापूरस्वातेन मया
 अयमहं यो यथा परमार्थतः स्थित एष सकलश्चास्मि तथा
 इदानीं स्मृतमित्यन्वयः ॥ १३ ॥ अहमिहस्थ एव सन् काचि-
 द्रिततामपरिच्छिन्नां ब्रह्मलोकभूमिमधिरूढोऽस्मि । यत्र यस्यां
 भूमावर्कः सूर्यः पातालमास्थित इवात्यन्तमधोदेशस्थितोऽपि न
 भवति । कार्यब्रह्मलोकादि सोऽधःस्थितो न परब्रह्मलोकात् । 'न
 तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ १४ ॥
 भावाभावभवार्णवात् । त्यब्बलोपे पञ्चमी । भावाभावलक्षणं भ-
 वार्णवं निस्तीर्य तत्पारभूतां तदधिष्ठानसन्मात्रतामुपेतायेत्यर्थः ।
 यतोऽहमात्मना आत्मनि स्वे महिम्नि जयामि सर्वोत्कर्षेण वर्ते,
 अतः सर्वैर्नित्यं सर्वदा नमस्याय । नमस्कर्तुमर्हायेत्यर्थः ॥ १५ ॥
 हे नाथ, अहं हृदङ्गकोशे स्फुटमलितां अमरवतिस्थिरतामुपाग-
 तेन तव वरवचसा इह अस्मिन्देहे काले च स्वानुभववशतो
 वीतशोकां चिरं सदैवोदितां मुदितां वा जीवन्मुक्तदशामुपा-
 गतोऽस्मीत्यर्थः ॥ १६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे पू० राघवविश्रान्तिवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

देहात्मप्रविवेकोऽत्र दुःखं देहात्मदर्शनात् ।

मूढानामङ्गनासङ्गान्मोहवृद्धिश्च वर्ण्यते ॥ १ ॥

इत्थं श्रीरामे सम्यक्प्रबुद्धेऽप्यन्येषां श्रोतॄणां तथैव प्रबोध-
 जननाय प्रवर्तमानो भगवान्वसिष्ठो वक्ष्यमाणदेहात्मविवेकादि-

१ यातोऽस्मि इति पाठः. २ रागनीहार इति पाठः.

मेदमभ्युपगम्यापि शृणु बुद्धिविवृद्धये ।
 भवेदल्पप्रबुद्धानामपि नो दुःखिता यथा ॥ २ ॥
 यस्याज्ञानात्मनोऽज्ञस्य देह एवात्मभावना ।
 उदितेति ह्येवाक्षरिपदोऽभिभवन्ति तम् ॥ ३ ॥
 यस्य ज्ञानात्मनो ह्यस्य सत्येवात्मनि संस्थितिः ।
 संतुष्ट्यैवाक्षसुहृदो न भ्रान्ति तमनिन्दितम् ॥ ४ ॥
 पदार्थे स्फुरतो यस्य न स्तुतिर्निन्दनादृते ।
 स देहं देहदुःखार्थमादत्ते केन हेतुना ॥ ५ ॥
 नात्मा शरीरसंवन्धी शरीरमपि नात्मनि ।
 मिथो विलक्षणावेतां प्रकाशतमसी यथा ॥ ६ ॥
 सर्वैर्भावविकारेस्तु नित्योन्मुक्तस्त्वलेपकः ।
 नात्मास्तमेति भगवान्न चोदति सदोदितः ॥ ७ ॥
 जडस्याज्ञस्य तुच्छस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
 शरीरकोपलस्यास्य यद्भवत्यस्तु तत्तथा ॥ ८ ॥
 आदत्ते तत्कथं नित्यं चिन्मयत्वं सदोदितम् ।
 ययोरेकपरिज्ञाने जडतैवाऽपरस्थिता ॥ ९ ॥

श्रवणे राममप्यनुकूल्यभाह—भूय एवेत्यादिना । प्रीयमाणाय
 उपदेशतात्पर्यगोचरनिरतिशयानन्दतामानुभवलक्षणप्रीतिभाज-
 नाय ते सर्वजनहितकाम्यया यद्वक्ष्यामि तच्छृण्वित्यर्थः ॥ १ ॥
 ननु श्रोतृश्रावयितृश्रोतव्यादिभेदानां बाधितत्वात्कथं मे श्रवणे
 प्रवृत्तिः किंवा तत्फलं तत्राह—भेदमिति । बाधितानुवृत्त्या
 भेदाभ्युपगमेन श्रवणे प्रवृत्तिसिद्धिस्तव बोधामिवृद्धिरल्पप्रबुद्धो-
 द्धारश्च तत्फलमित्यर्थः ॥ २ ॥ तत्रादौ श्रोतृणामिन्द्रियकयासा-
 मर्थ्यात्तैराकृत्यमाणस्य मनसः पूर्णात्मनि प्रतिष्ठा कथं स्यादिति
 जिज्ञासां लिङ्गिरूपलक्ष्य 'यस्त्वविज्ञानवान्मभवत्युक्तेन मनसा
 सदा । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि पुष्टाश्च इव सारथेः । यस्तु विज्ञा-
 नवान्भवति युक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाणि पश्यानि सदश्वा
 इव सारथेः' इति श्रुतिद्वयोक्तद्विधैव ता क्रमेण परिहरति
 —यस्येति द्वाभ्याम् । इत्येतस्मादेवासदात्मभावेनापराधादति-
 रुपा अक्षाणि रिपवः शत्रवो भूत्वा तमज्जमभिभवन्ति परमाव-
 यन्ति ॥ ३ ॥ सतुष्ट्या सत्यात्मदर्शनोपकारजनितसंतोषेणैव
 अक्षाणि सुहृदो मित्राणि भूत्वा न भ्रान्ति किंतु ज्ञानाभिवृद्ध्यानु-
 कूलाचरणेन पालयन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥ स्फुरतो व्यवहरतो यस्य
 पुंसो भोग्यपदार्थे सदैव दोषदर्शनाग्निन्दनादृते कुत्सनं विना
 स्तुतिः प्रशस्तताबुद्धिर्न भवत्येव स पुमान्देहसबन्धिर्दुःखार्थ
 देहं केन हेतुना आत्मतया आदत्ते । तत्र हेतुनोऽस्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥
 इदानीं देहात्मैक्यप्रमत्तवारणाय युक्तीः प्रस्ताति—नात्मेत्या-
 दिना । जडवित्त्वाभ्यां विरुद्धयोर्देहात्मनोराधाराधेयभावादिसब-
 न्धोऽपि दुर्लभस्तादात्म्यं तु दूरे निरस्तमित्याशयः ॥ ६ ॥ एवं
 निर्विकारत्वसविकारत्वादिकृतविरोधादपि न तत्प्रसक्तिरित्याह
 —सर्वैरिति ॥ ७ ॥ आत्माधीनं स्वप्रथोपकारे प्राप्यात्मन एव

तयोः कीदृग्विधा भूता समानसुखदुःखता ।
 यौ समौ समधर्माणौ न कदाचन तौ कथम् ॥ १० ॥
 यावप्यसक्तावन्योन्यं मिथः संनमितौ कथम् ।
 कथं स्थूलोऽणुरूपः स्यादणुः स्थूलः कथं भवेत् ॥ ११ ॥
 एकोदये द्वितीयस्य न सत्ता दिनरात्रयोः ।
 ज्ञानं नाज्ञानतामेति च्छाया नायाति तापताम् ॥ १२ ॥
 सद्ब्रह्म नासद्भवति विचित्रास्त्रपि दृष्टिषु ।
 मनागपि न संश्लेषः सर्वगस्यापि देहिनः ॥ १३ ॥
 देहेन देहगस्यापि कमलस्येव वारिणा ।
 मनागपि न संश्लेषो ब्रह्माणो देहसत्तया ॥ १४ ॥
 तद्गतस्याप्यतद्वत्तेरम्बरस्येव वायुतः ।
 जरा मरणमापञ्च सुखदुःखे भवामवौ ॥ १५ ॥
 मनागपि न सन्तीह तस्मात्त्वं निर्वृतो भव ।
 स्थितो देहतयाप्युच्चैः पातोत्पातमयो भ्रमः ॥ १६ ॥
 दृश्यते केषलं ब्रह्मण्यप्सु वीचिचयो यथा ।
 आत्मसत्तोपजीवित्वादात्मानुभवतीह हि ॥ १७ ॥

दुःखभोजकत्वात्कृतघ्नस्य ॥ ८ ॥ ननु चिन्मयत्वमपि देहस्यैव
 धर्मोऽस्तु, तथाच न कोऽपि विरोध इत्याशङ्क्याह—आदत्ते
 इति । जडव्यावृत्तं नित्यस्वरूपमपरिचीय न देहस्य चिन्मयत्वं शङ्कं
 शक्यं तत्परिचये च जडतैव अपरस्य देहस्य स्थितेति तत्स-
 भावविरुद्धं चिन्मयत्वं कथमादत्ते इत्यर्थः ॥ ९ ॥ नन्वात्मनो
 मानसदुःखभोगेन देहे कार्यं जायमानं दृश्यते देहे च ताड-
 नादिना आत्मनो दुःखभोग इति तयोः समानसुखदुःख-
 तादर्शनात्तादात्म्यं किं न स्यात्तत्राह—तयोरिति । यौ
 आत्मदेहौ बह्वप्यःपिण्डाविव समौ अविविक्तौ परस्परधर्म-
 विनिमयात्समधर्माणौ भासेते, विविक्तौ तु तौ न कदाचन
 तथा भासेते तयोः कीदृग्विधा कथं च समानसुखदुःखता भूता
 परमार्थसत्या वस्तु शक्येत्यर्थः ॥ १० ॥ किंच असङ्गेन परम-
 सूक्ष्मेण आत्मना स्थूलस्य देहस्य सगम एव दुर्लभो दूरे ऐक्य-
 मित्याह—यावपीति ॥ ११ ॥ परस्पोपघातिस्मावत्वादपि
 नेक्यप्रसक्तिरित्याह—यकेति ॥ १२ ॥ सद्ब्रह्म असदेहादिरूपं
 न भवति । सतश्च देहिनो देहाधिष्ठानप्रतीचः स्वाभ्यस्तेन देहा-
 दिना मनागपि न संश्लेषः ॥ १३ ॥ उक्तमेव दृष्टान्तोपदर्श-
 नाय पुनराह—देहेनेति । कुतो न संश्लेषस्तत्राह—देहस-
 त्तयेति । देहकल्पनाधिष्ठानसन्मात्रस्वरूपतयेत्यर्थः । तथानोर्कं
 भगवत्पादैः 'यत्र हि यदभ्यासस्तत्कृतेन गुणेन दोषेण वा अणु-
 मात्रेणापि स न संबध्यते' इति ॥ १४ ॥ अतद्वृत्तेः अलेपक-
 त्वात्तद्विलक्षणस्वभावस्याम्बरस्य वायुतो यथा शोषकम्परजोले-
 पादयो दोषा न सन्ति तद्वद्देहादिव आत्मनो जरादयो मनागपि
 न सन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥ देहतया देहात्मदृष्ट्या स्थितोऽपि
 मरणजन्मादिभ्रमो ब्रह्मात्मदृष्ट्या ब्रह्मणि अप्सु वीचिचय इव

१ दुःखार्त इत्युभयत्र पाठः. २ सगमिता इति पाठः. ३ दे-
 दिनः कापि इति पाठः. ४ यत्तदमे "जगत्यात्मनिकः किञ्चित्तासतो

देहकस्य च । तदा तच्च सुधैवैव सुखदुःखकमः कुतः" ॥ इति प्र-
 क्षिप्तः श्लोको मुदितपुस्तके लभ्यते. ५ महाप्रभा इति पाठः.

देहेयत्वं पयःसत्तामात्रादूर्ध्वमिव स्थितम् ।
 आधारस्पन्दनेनाङ्गं यथा क्षोभो न चा भवः ॥ १८
 सूर्यादेः प्रतिबिम्बस्य तथा देहेन देहिनः ।
 सम्यग्दृष्टे यथाभूते वस्तुन्येवामिजायते ॥ १९
 स्थितिर्देहमयो ज्ञानविभ्रमो लयमेति च ।
 देहदेहवतोर्ज्ञानाद्यथाभूतार्थयोः स्थितिः ॥ २०
 सत्तासत्तात्मिकोदेति दीपादीपपदार्थयोः ।
 असम्यग्दर्शिनो देहस्यावर्तपरिवर्तनैः ॥ २१
 अन्तःशून्याः स्फुरन्तीह ते मोहार्जुनपादपाः ।
 अपर्यालोचितात्मार्था अपरामृष्टसंविदः ॥ २२
 स्पन्दन्ते चेति तोन्मुक्तास्त्वृणवन्मूढबुद्धयः ।
 अनास्वादितचित्तत्वाज्जडाः सर्वे खवायुभिः ॥ २३
 यत्र तत्रोदिताक्रान्ता रटन्ति प्रस्फुरन्ति च ।
 तृणकाष्ठादिकं सर्वमाहरन्ति त्यजन्ति च ॥ २४
 सशब्दस्पर्शरूपाख्यास्तरङ्गतरलाङ्गकाः ।
 जडाः सन्तः स्फुरद्रूपा भृशं स्फाररसासवाः ॥ २५
 सविहारागमापाया महौघा इव दुर्धियः ।
 सर्वेषामेव चैतेषां स्थितैवैषां चिदव्यया ॥ २६
 किंत्वबोधवशादस्याः परां कृपणतां गता ।
 श्वाससंततयो ह्यज्ञालोदकारदृतेर्यथा ॥ २७
 स्पन्दमात्रार्थमेवाशु दृश्यन्ते नार्थकारिणः ।

ब्रह्ममात्रो दृश्यत इत्यर्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥ यथा पयः स्वसत्तयैव
 स्थितमूर्ध्वमिव भवतीति तद्वत् । यथा प्रतिबिम्बस्य आधार-
 स्पन्दनेन हेतुना क्षोभे सति सूर्यादेर्मनागपि क्षोभो नास्ति तथा
 देहेन चिदाभासक्षोभेऽपि देहिनो देहसाक्षिण इत्यर्थः ॥ १८ ॥
 सम्यग्दृष्टे तु वस्तुन्येव स्थितिर्भिजायते । देहमयोऽज्ञानवि-
 भ्रमश्च लयमेति ॥ १९ ॥ यथाभूतार्थयोर्विमर्शं निष्कृष्टपरमार्थ-
 स्वभावयोर्देहतत्साक्षिणोर्ज्ञानादेहस्यासत्तात्मिका तत्साक्षिणश्च स-
 त्तात्मिका स्थितिर्देति प्रकटीभवति ॥ २० ॥ दीपेनाद्यते प्रस्यत
 इति दीपात् तमः प्रदीपश्च तादृशयोः । परस्परोत्थितस्वभाव-
 पदार्थभूतयोरित्यर्थः । इदानीमज्ञस्य जगद्दर्शनप्रकारं निन्दितुं
 प्रपञ्चयति—असम्यग्दर्शिन इत्यादिना ॥ २१ ॥ २२ ॥ चे-
 तिता चेतनया तयोन्मुक्ताः । भावे घबन्ताचित्तेर्मत्वर्थे इनि-
 स्ततस्तत् । न ह्यचेतनदेहात्मभूताचेतना इति वक्तुं योग्या
 इति भावः । यदि ते अचेतनास्तर्हि कथं वदन्ति तृणकाष्ठाह-
 रणादिना व्यवहरन्ति च तत्राह—अनास्वादितेत्यादिना । ते
 सर्वे जडा अपि खैर्मुखनासिकादिच्छिन्नैस्तत्संचारिभिर्वायुभिश्च
 यत्र यत्र प्रदेशे कीचकबुद्धितेन नोदनेन आक्रान्तास्तत्र रटन्ति
 प्रस्फुरन्ति संचरन्ति चेति परेणान्वयः ॥ २३ ॥ २४ ॥ शब्द-
 स्पर्शसहितरूपादिविषयलाभेनैव आत्माः कृतार्थमन्याः । स्फारो
 रसो भोगाभिनिवेश एव आसवमिचोन्मादको येषाम् ॥ २५ ॥

तर्जनं गर्जनं मूढाद्वनुर्दण्डगुणादिव ॥ २८
 श्रूयते मरणायैव चिद्वोधपरिवर्जितम् ।
 फलभोगोऽपि यो मूढात्तदरण्यतरोरिव ॥ २९
 तस्मिन्विभ्रमणं यत्तच्छिलाफलहके यथा ।
 तेन यत्संगमः स स्यात्स्थाणुना भुवि जङ्गले ॥ ३०
 तदर्थं यत्कृतं किञ्चित्तद्योम लकुटैर्दृतम् ।
 तस्मिन्वदधमे दत्तं तस्यकं किं न कर्दमे ॥ ३१
 तेन सार्धं कथा यत्तत्कौलेयाद्धानमम्बरे ।
 अज्ञानमापदां निष्ठा का हि नापदजानतः ॥ ३२
 इयं संसारसरणिर्विहृत्यज्ञप्रमादतः ।
 अज्ञस्योग्राणि दुःखानि सुखान्यपि दृढानि च ॥ ३३
 पुनःपुनर्निवर्तन्ते युगं प्रत्यचला इव ।
 शरीरघनदारादावास्थां समनुबध्नतः ॥ ३४
 ईदं दुर्दुःखमज्ञस्य न कदाचन शाम्यति ।
 अनात्मनि शठे देहे आत्मभावमुपेयुषि ॥ ३५
 असद्वोधमयी माया कथं नामापि नश्यति ।
 दुर्भावस्त्वञ्जितधियो वस्तुन्यन्धस्य दुर्मतेः ॥ ३६
 अवस्तुनि सनेत्रस्य लुठतश्च पदे पदे ।
 विषमुत्पद्यते चन्द्रादामोदः कुसुमादिव ॥ ३७
 कण्टकश्चेति पयसो दूर्वाङ्कुर इव स्थलात् ।
 देहशाल्मलिभोगिन्यो मनोमातङ्गशृङ्खलाः ॥ ३८

यथा नद्यादिमहौघा अचेतना अपि विहारागमापायादिचेष्टासहि-
 तास्तद्वदुर्ध्वयोऽपि किमेषामात्मचिन्तास्येव न किंतु विद्यमानाप्य-
 बोधाद्यर्थोऽसंप्रज्ञेत्याह—सर्वेषामिति ॥ २६ ॥ अज्ञान्मूर्खात् ।
 निःसरन्त्य इति शेषः ॥ २७ ॥ जठराग्निस्पन्दमात्रार्थम् । एवं
 मूढाग्निष्यमानं परतर्जनं गर्जनं च न चेतनतालिङ्गं मरणाद्यन-
 र्थमात्रहेतुत्वाच्चतुर्गुणविस्फारवदित्याह—तर्जनमिति ॥ २८ ॥
 फलभोगः फलभ्रमः ॥ २९ ॥ शिलाफलहके तप्तशिलाफलके
 यथा तथा । स्थाणुना छिन्नतरुमूलेन ॥ ३० ॥ कृन्मुपकृतं
 स्वेन तत् । लकुटैर्दण्डैः । हतं ताडितम् ॥ ३१ ॥ कौलेयः श्वा ।
 'कुङ्कुक्षी'त्यादिना विहितस्य ढकनः कलोपश्छान्दसः । इदम-
 जनिन्दनमज्ञानस्य हेयताप्रदर्शनार्थं दयया न त्वज्ञेषु द्वेषादित्या-
 शयेनाह—अज्ञानमिति ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ युगं युगोपलक्षितं
 लाङ्गलं रथं वा प्रति अचला इव दृढानि दुरुल्लङ्घनानि च ॥ ३४ ॥
 ॥ ३५ ॥ दुष्टैर्भावैः सुष्ठु अभिता व्याप्ता धीर्यस्य ॥ ३६ ॥
 अवस्तुन्यसद्वस्तुनि सनेत्रस्य पश्यत इति यावत् ॥ ३७ ॥
 पयसः क्षीरात्कण्टकश्च एति आगच्छति । उत्पद्यत इति यावत् ।
 देहलक्षणस्य शाल्मलेः कोटरे निवसन्त्यो भोगिन्यः सर्पिणीभूता
 आशाः प्रसूयन्ते रागलोभदेव्यादिसर्पान् । अथवा मनोमात-
 ङ्गस्य शृङ्खलाभूता आशा दुःखानि प्रसूयन्ते इति आन्तरबाह्य-
 विषयभेदेनाशामेदं प्रकल्प्य रूपकद्वयं योज्यम् ॥ ३८ ॥

अद्याप्यग्राः प्रसृज्यन्ते सुकृष्टादिव शालयः ।
 नरकश्रीरिहाशनं दुष्कृतव्यालवेष्टितम् ॥ ३९ ॥
 परिपालयति प्रीता मयूरी वारिदं यथा ।
 नेत्रलोलालिनीलोला स्फुरिताधरपल्लवा ॥ ४० ॥
 मूर्गार्थमेव विकसत्यद्रवा विपयल्लरी ।
 अग्रास्य हृदि संद्रुमावेव पेलवपल्लवा ॥ ४१ ॥
 विद्यते पतगच्छायो रागविद्रुमदुर्दुमः ।
 तरुच्छदलसद्रुमः शल्यजालरदोल्मुकः ॥ ४२ ॥
 ज्वलति द्वेपदावाग्निर्हन्मरौ कायतापदः ।
 अग्रमात्सर्यमनसि परापवदनच्छदा ॥ ४३ ॥
 ईर्ष्याकमलिनी चिन्तापट्टपदा विलसत्यलम् ।
 प्रतिजन्मप्रमृष्टोप्रदुःखकल्लोलविभ्रमम् ॥ ४४ ॥
 जडमेव समभ्येति पुनर्मरणवाडवः ।
 जन्म चाल्यं यजलेतयौवनं युवता जराम् ॥ ४५ ॥
 जरा मरणमभ्येति मूढस्यैव पुनःपुनः ।
 जगज्जीर्णारघ्टेऽस्मिन्नज्ज्वा संसृतिरूपया ॥ ४६ ॥
 मलानोन्मलनैरशो यन्नो कलशतां गतः ।
 यदेव गोष्पदापूरं क्षधियः पेलवं जगत् ॥ ४७ ॥
 तदेवापारपर्यन्तमगाधममहात्मनः ।
 धियोऽदृश इवाशस्य दीर्घं जठरकोटरात् ॥ ४८ ॥
 न प्रयान्त्यपरं पारं विद्वद्भ्यः पञ्जरादिव ।

सुकृष्टाक्षेत्रात् । न विद्यते ज्ञानं यस्य सः अज्ञानसं नरकश्रीः
 परिपालयति प्रतीक्षते ॥ ३९ ॥ ४० ॥ इति मनोलक्षणायां
 सद्रुमौ ॥ ४१ ॥ तरुच्छदः पल्लवस्तत्स्थानापन्नयोः स्फुरदोष्ठयो-
 र्लमन्तो निःश्वासधूमा यस्य । शल्यजालमिव कटकटायमाना
 रदा दन्ता एवोल्मुका यस्य । द्वेप एव दावाग्निर्यस्य । हन्मन-
 साहस्ये मरौ निर्जलारणे ज्वलति भस्मीभवतीव ॥ ४२ ॥
 गात्रार्थजलपूर्णं मनसि मानसे । 'मात्सर्यमानसेऽज्ञस्ये'ति पाठः
 शाशुः ॥ ४३ ॥ प्रमृष्टा नानाप्रतीकारोपायवेलोपसर्पणेन मा-
 गिता उग्रदुःखकल्लोलविभ्रमा यत्र तं जडमज्ञं जलमयं समुद्रं
 च मरणलक्षणो वाटवो बडवानलः ॥ ४४ ॥ जन्मादीनामु-
 पारोत्तरगन्धर्वापकल्पमेवेत्याह—जन्मेति ॥ ४५ ॥ आरघ्टे
 चन्द्रे गटीयन्त्रे ॥ ४६ ॥ गोष्पदमापूरयतीति गोष्पदापूरम् ।
 अल्पजलप्रायमित्यर्थः ॥ ४७ ॥ अमहात्मनः परिच्छिन्नदेहा-
 त्मदाशिनः अपारपर्यन्तमगाधं च भवति । अतः अदृशः अन्ध-
 स्येव अग्रा धियो जठरकोटरादुदरभरणासक्तिवन्धनवशादपरं
 दीर्घं संघाराब्धिपारं न प्रयान्तीत्यन्वयः ॥ ४८ ॥ कुतो न
 प्रयान्ति तन्नाद—भावेत्यादिना । 'पराधि खाति व्यतृणत्स्वयं-
 भूक्तस्मात्पराद् पश्यति नान्तरात्मन्' इति श्रुतेर्वाक्येषु विपय-
 भाधेषु परवृत्तगणनाभारान्तरात्मनोऽदयनाभयः सत्यो विपयपक्षे
 मग्ना जन्मवक्रस्य नेमयो नेमिस्थानीयेन्द्रियगणा लङ्कृत्य स्पष्टी-
 कर्तुं शोधयितुं न शक्यन्ते ॥ ४९ ॥ मृगपदेन मृगयोपयोगिनः

१ सद्रुमाविष पेलवपल्लवः इति पाठः.

भावमात्रपरावृत्तवासनाभारनाभयः ॥ ४९ ॥
 स्पष्टीकर्तुं न शक्यन्ते जन्मचक्रस्य नेमयः ।
 अज्ञेनेन्द्रियगृध्राय रागान्मृगयुणा तनुः ॥ ५० ॥
 संसारारण्य आस्तीर्णा दूरादामिषपिण्डवत् ।
 भूतशैलमयी दृष्टिर्मृन्मांसलवमात्रिका ॥ ५१ ॥
 मोहात्संलक्ष्यते चित्रपदार्थानन्तरक्षणः ।
 जयत्यनल्पसंकल्पकल्पनाकल्पपादपः ॥ ५२ ॥
 अज्ञानात्प्रसृता यस्माज्जगत्पर्णपरम्पराः ।
 यस्मिंस्तिष्ठन्ति राजन्ते विशन्ति विलसन्ति च ॥ ५३ ॥
 विचित्ररचनोपेता भूरिमोगिविहङ्गमाः ।
 यत्र जन्मानि पर्णानि कर्मजालं च कोरकम् ॥ ५४ ॥
 फलानि पुण्यपापानि मज्जर्यो विभवश्रियः ।
 अज्ञानेन्दूदये नैता योषिदोषधयः स्फुटम् ॥ ५५ ॥
 संसारवनखण्डेऽसिन्परां शोभासुपागताः ।
 जन्मजालकलापूर्णस्तमःकालकृतोदयः ॥ ५६ ॥
 शून्योदितात्मा दोषेशो जयत्यज्ञानचन्द्रमाः ।
 अज्ञानेन्दोः प्रसादेन वासनामृतशालिना ॥ ५७ ॥
 तर्पिताशाचकोरेण चित्तरत्नरसैषिणा ।
 राजहंसविलासिन्यः प्रालेयशिशिराङ्गिकाः ॥ ५८ ॥
 भान्ति कान्ताकुमुद्वत्यो लोललोचनषट्पदाः ।
 धम्मिल्लतिमिरोल्लासा लसत्पाण्डुपयोधराः ॥ ५९ ॥

श्वेता प्राणाः । तनुः स्वदेहपरम्परा । दूरादूरदेशकालयोरपि
 सर्वदा सर्वत्रेति यावत् । रागान्मृगयाव्यसनात् ॥ ५० ॥ आमि-
 षपिण्डवदिति वतिप्रयोगो भ्रान्तिदृशा भेदाभावे सादृश्याभा-
 वादित्याशयेनाह—भूतेति । भूतमयी मनुष्यपश्यादिप्राणिप्र-
 चुरा हिमवान्विन्ध्यो मलय इत्यादिशैलप्रचुरा च दृष्टिर्वस्तुतो
 मांसलवमात्रिका मृद्वलवमात्रिका चेति विभज्य व्युत्क्रमेण सं-
 वन्धः । मोहात्तत्त्वापर्यालोचनादेव गौरवः पुरुषो माता आता
 हिमवान्मलय इत्यादिकल्पनया संलक्ष्यते इत्यर्थः ॥ ५१ ॥
 अतएव चित्रैः पदैर्यैश्च अनन्तानि रक्षणानि यस्य तद्याविधो-
 ऽनल्पसंकल्पकलनालक्षणः कल्पपादपो जयति । अस्यन्तास-
 द्विरपि पदायैः सर्वकामपूरणसमर्थत्वात्सर्वोत्कर्षेण वर्तत
 इत्यर्थः ॥ ५२ ॥ इदानीं तादृशकल्पवृक्षकोटिन्यातं संसार-
 वनखण्डं वर्णयति—अज्ञानादित्यादिना ॥ ५३ ॥ पर्णानि
 पल्लवाः । कोरकं कलिका । छान्दसी क्रीवता ॥ ५४ ॥ योषि-
 लक्षणा ओषधयो लता अस्मिन्वर्गितलक्षणे संसारवनखण्डे ।
 परां शोभासुपागताः ॥ ५५ ॥ अज्ञानसेन्दुत्वमुक्तमुपपाद-
 यति—जन्मेति । तमःकाले विवेकसूर्यास्तमयकाले । शून्ये
 निष्प्रपञ्चे ब्रह्मणि नमसि च वदितात्मा प्रकाशमानः । दोषाया
 रात्रेर्दोषाणां चेशः ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ तर्पिताः पोषिता आशा-
 लक्षणाश्चकोरा येन । चित्तलक्षणं यद्रजं धुमनिस्तदीयो रसो
 विपयास्वादनामृतं तदेषिणा । सूर्यमण्डलान्तर्गतैर्नैवामृतेन

२ अज्ञानेन्द्रिय इति पाठः.

रामारजन्यो राजन्ते तन्मौख्येण विजृम्भितम् ॥ ६०
आपातमात्रमधुरत्वमनर्थसत्त्व-
माद्यन्तवत्त्वमखिलस्थितिभङ्गुरत्वम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० मोहमाहात्म्यं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः ७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यन्मुक्तावलिता रत्नभूषिता भान्ति योषितः ।
मदेन्दाबुदिते क्षुब्धकामक्षीरार्णवोर्मयः ॥ १
सौवर्णाम्भोजकोशस्थलोलालिपटलश्रियम् ।
धारयन्ति दशः स्त्रीणां कपोलतलदोलिताः ॥ २
उद्यानवनखण्डेषु भूमौ कृतमदा मधौ ।
हृद्याः सुमनसो भान्ति दासा इव मनोभुवः ॥ ३
क्रव्यादगृध्रगोमायुकौलेयकवलाङ्गिकाः ।
स्त्रियः समुपमीयन्ते चन्द्रचन्दनपङ्कजैः ॥ ४
सौवर्णकलशाम्भोजकलिकामातुलुङ्गवत् ।
दृश्यते स्त्रीस्तनश्रेणी रक्तपूतिसुगन्धिका ॥ ५

शुक्लपक्षे चन्द्रपूर्तेरिति भावः ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ रामालक्षणा
रजन्यो रात्रयो यद्राजन्ते तद्रष्टृणां मौख्येणैव विजृम्भितम् ।
तच्छोभाकारेण परिणतं न तत्र शोभनं किञ्चिद्वस्तुतोऽस्तीति
भावः ॥ ६० ॥ अज्ञानमेव सर्वानर्थहेतुरिति दर्शयन्नुपसंहर-
ति—आपातेति । हे राम, यद्विषयेषु प्रसिद्धमापातमात्रमधुर-
त्वमनर्थपर्यवसानत्वमाद्यन्तवत्त्वं देशतः परिच्छिन्नत्वमखिल-
स्थितिषु भङ्गुरत्वं नश्वरत्वं च तत्सर्वमज्ञानलक्षणस्य शाखिनो
वृक्षस्य इति एवंविधानि नानाकृतीनि फलानि बीजाङ्कुरपरम्परया
जगदाकारेण प्रसृतानि । तस्मादज्ञानमेव तन्मूलमुच्छेद्यमिति
भावः ॥ ६१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे मोहमाहात्म्यं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

कामादिभिरनर्थादिष्वर्थता रम्यतावहाः ।

विस्तरेणात्र वर्ण्यन्ते अज्ञानस्य विभूतयः ॥ १ ॥

तत्र सर्वविवेकापहारिण्यः सद्योनर्थगर्तपातिन्यः प्रसृताः स्त्रिय
एवाज्ञानस्य कामस्य च महाविभूतय इत्याशयेन ता एव प्रथमं
वर्णयति—यदित्यादिना । अस्य यच्छब्दस्य सर्वेषु श्लोकेषु प्रति-
वाक्यं संबध्यमानस्य सप्तषष्ठितमसर्गोपान्त्यश्लोकार्धे तदज्ञानवि-
जृम्भितमित्यत्र संबन्धः । मदलक्षणे इन्दो उदिते सति योषितः
क्षुब्धस्य कामक्षीरार्णवस्योर्मय इव यद्भान्ति तदज्ञानस्य विजृ-
म्भितं विभूतिरिति प्रतिवाक्यं योज्यम् ॥ १ ॥ यद्धारयन्ति त-
दप्यज्ञानविजृम्भितम् ॥ २ ॥ मधौ वसन्ते वनखण्डेषु तरुषु
भूमौ च मनोभुवो दासा आज्ञाप्या इव कृतमदाः कामिनां
जनितोन्मादाः ॥ ३ ॥ क्रव्यादाः क्रव्यमात्राहारा व्याघ्रादयः ।

१ वदूरभिस्तथा भृता इति पाठः.

अज्ञानशाखिन इति प्रसृतानि राम

नानाकृतीनि विपुलानि फलानि तानि ॥ ६१

रसायनेन्दुनिस्यन्दमधुविम्बासवद्रवैः ।
ओष्ठाभिधो मांसलवो लालाक्त उपमीयते ॥ ६
अल्पाल्पाष्ठीवदाकारा भुजाकूरास्थिशङ्खवः ।
महाबाहुलताशब्दैर्वर्ण्यन्ते कविभिः शुभैः ॥ ७
कदलीस्तम्भसम्भारसुन्दरीभिस्तथा भृता ।
कुचशोभोचितानन्दा तोरणालिर्विराजते ॥ ८
आपातमन्दमधुरा मध्ये इन्द्रानुबन्धिनी ।
शीघ्रावसानविरला लक्ष्मीरप्यभिवाञ्छयते ॥ ९
समुपैति मतिर्दुःखं सुखं च शतशाखताम् ।
दुःखशाखास्तु जायन्ते नानाकर्मफलाः श्रियः ॥ १०
बद्धजालघनाकाराः कारार्थमिव रज्जवः ।
दृच्छदःसदृशा वाचः प्रतानगहने स्थिताः ॥ ११

गृध्रगोमाय्वादयस्तु लामे अज्ञायप्यश्नन्तीति पुनर्ग्रहणम् ॥ ४ ॥
रक्तपूतिगन्ध एव सुगन्धो यस्यास्तथाविधा स्त्रीणां स्तनश्रेणिः
सौवर्णकलशादिवद्यदृश्यते तदज्ञानविजृम्भितम् ॥ ५ ॥ इन्दु-
निस्यन्दोऽमृतम् ॥ ६ ॥ प्रत्येकं विभज्य दर्शने अल्पाल्पा
अष्ठीवन्तः पर्वाणि तदाकाराश्च भुजाशब्दवाच्याः कूरा अस्थि-
शङ्खवः ॥ ७ ॥ तथा कदलीस्तम्भावेव संभार उरुसामग्री यासां
तथाविधाभिः सुन्दरीभिर्भृता, कुचकलशशोभाया उचितो
द्रष्टृनेत्रानन्दो यस्याः सकाशात्तथाविधा तोरणालिर्मन्मथागार-
तोरणस्रग्भृता काञ्ची यद्विराजते तदप्यज्ञानविजृम्भितमिति
प्राग्वत् ॥ ८ ॥ आपाते आरम्भे मन्दानां मधुरा, आपाततो-
ऽल्पमधुरा वा । मध्ये व्ययकाले रागद्वेषादिद्वन्द्वानुपातिनी ।
शीघ्रमवसानं क्षयो यस्याः । कतिपयजनेषु दृश्यत्वाद्विरला,
ईदृशी लक्ष्मीरपि यदभिवाञ्छयते तदिति प्राग्वत् ॥ ९ ॥ यन्म-
तिर्दुःखं समुपैति, यच्च सुखं शतशाखतां समुपैति यच्च नाना-
कर्मफलाः श्रियो दुःखान्येव शाखा यासां तथाविधा जायन्ते
तदपीति प्राग्वत् ॥ १० ॥ श्रीणामज्ञानविजृम्भितत्वे तत्फल-
ककाम्यकर्मसु प्रवर्तकानां कर्मकाण्डवचसां सुतरां तथात्वमित्या-
शयेनाह—अद्वेति । प्रतानानि काम्यकर्मविस्तारास्तलक्षणे गहने
अरण्ये स्थिता लता इव बद्धैर्नानाफलकामजालैर्घनाकारा निवि-
डाकारा अतएव देवादिकृणिना कर्मिणां कारागृहक्षणार्था रज्जव
इव स्थिताः । दतां दन्तानां छदावोष्ठौ तत्सदृशाः । रागचापल-
प्रधाना इति यावत् । ईदृशाः कर्मकाण्डवाचोऽप्यविद्याविजृम्भित-
मित्यर्थः । छदशब्दस्य समासे विभक्तेरलुग्विसर्गश्च च्छान्दसः ।
इदं च 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादिना भगवता गीतासु

संतता मोहमिहिका कार्यासारविसारिणी ।
 यमुना प्रावृषीवैति तिमिरश्यामला चिरम् ॥ १२
 कटुकतान्तःकरणो नानासुखविशारदः ।
 वर्धते हि गतस्नेहं जन्मप्रतिविषारसः ॥ १३
 व्याधृतजर्जराकीर्णजनतापर्णराजयः ।
 स्वकर्मपवना धान्ति नानावकरेणवः ॥ १४
 कालः कवलितानन्तजगत्पक्वफलोऽप्ययम् ।
 घसरावारजठरः कल्पपरि न तृप्यति ॥ १५
 मोहमारुतमापीय त्वचा विषमचारिणः ।
 स्फुरन्तीद्वाहयश्चित्राः शीतलाचलदीप्तयः ॥ १६
 चिन्तापिशाचोपहता विवेकेन्दुदयं विना ।
 तमसेव निरालोका याति यौवनयामिनी ॥ १७
 जिह्वा जर्जरतामेति प्राकृतानुनयज्वरैः ।
 पञ्चकोटरकोणस्थमपि सूत्रं हिमैरिव ॥ १८
 दुःखशोकमहाघ्नीलः कष्टकण्टकसंकटः ।
 सहस्रशाखतां याति दारिद्र्यदृढशाल्मलिः ॥ १९
 अन्तःशून्योन्नतिध्वस्तचित्तचैत्यकृतालयः ।

स्फुटीकृतम् ॥ ११ ॥ मोहवशात्स्वत एव काम्येषु प्रवृत्तानां पुनः
 शांत्राणां प्रवर्तनमन्धोन्मत्तस्य स्वतः कूपे पततो बलात्पा-
 तनमिबानुचितमित्याशयेन मोहात्स्वतः प्रवृत्तिं दर्शयति—संत-
 तेति । कार्याणि प्रवृत्तयस्तल्लक्षणैरामरैर्विसारिणी विस्तीर्णा मोह-
 लक्षणा मिहिका स्वतः श्यामला प्रावृषि रजसा च कलुषा तत्रा-
 पि निधि तिमिरेणान्तःश्यामला यमुना यथा एति प्रवहति
 तद्वत्स्वत एवेति । पुत्रपुत्रमन्दीकृत्य विषयेषु प्रवर्तयतीत्यर्थः ॥ १२ ॥
 भोगे प्रवृत्तस्य च विषयेषु पुत्रपौत्रादिषु च रागोऽभिवर्धत
 इत्याह—कटुति । आपाततो नानासुखविशारदः परिणामे
 दुःखपर्यवसानाद्देवमात्सर्यचिन्तादिजननाच्च गतस्नेहं यथा
 स्यात्तथा कटुकतान्तःकरणो जन्मलक्षणायाः प्रतिविषया
 विषवल्लीया रस इव पक्वोपचयप्रदो रागो वर्धते ॥ १३ ॥
 कमात्पुत्रादीनां मरणे तद्विषयेषु स्वपरम्परा भवतीत्या-
 शयेनाह—व्याधृतेति । व्याधृताः पातितः व्याध्यादिजर्जरा
 आकीर्णजनता पुत्रादिपरिजनसमूहा एव पर्णराजयो यैस्तथा-
 विधा नानाविधा अवकरेणव इव विवेकदृष्टिहारिणो विक्षेपमेदा-
 येषु तथाविधाः स्वदुष्कर्मपरिपाकलक्षणाः पवना धान्ति ॥ १४ ॥
 ततः स्वस्यापि मृत्युरिति भवेद्वैवं जन्मपरम्परया मृत्युमुखे प्र-
 वेश इत्याह—काल इति ॥ १५ ॥ एवं परिवर्तमानानक्षजीवान्
 अहिचैनोप्रेक्षते—मोहेति । शीतलस्य त्रिविधतापशून्यस्याच-
 लस्य च ब्रह्मणे दीप्तयः प्रकाशयमाना जीवा इह ससारे चित्रा
 अदृश्य सर्पा एव । तत्कृतः । यत एते मोहलक्षणं मारुतमापी-
 यान्तः पूरयित्वा स्थिताः पुनर्वियुज्यमानया नानादेहलक्षणा
 एव च चोपलक्षिता विषमचारिणः कुटिलगतयः स्फुरन्ति । सच-
 लन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥ तैः प्रतिजन्म प्राप्यमाण यौवनमपि

मायाबहुलयामिन्यां लोभोलूको चिचलति ॥ २०
 पूर्वं गृहीत्वा कर्णाभ्यां स्फुरन्ती परिनिश्चयम् ।
 जराजर्जरमाजरी यौवनार्तुं निरुन्तति ॥ २१
 निःसारा क्रमशः क्रान्तधराधरसमुन्नतिः ।
 डिण्डीरपिण्डिकेवैवं सृष्टिरयाति पुष्टताम् ॥ २२
 आभासपुष्पधवलजगत्पल्लवशालिनी ।
 सत्तालता विकसिता धर्मार्थफलधारिणी ॥ २३
 सुराचलमहास्थूणं चन्द्रसूर्यगवाक्षकम् ।
 गगनाच्छादनं धारु धियते त्रिजगद्गृहम् ॥ २४
 संसारसरसि स्फारे चरन्ति प्राणपदपदाः ।
 शरीरपुष्करेष्वन्तश्चिद्रूपरसपायिनः ॥ २५
 नभोमार्गमहानीलकुट्टिमैकान्तशालिनी ।
 भुवनोदररम्यान्तः स्फुरत्यादित्यदीपिका ॥ २६
 आशातन्तुनिबद्धाङ्गी जागती जीर्णपक्षिणी ।
 स्ववासनाशलाकेऽन्तर्निवद्धेन्द्रियपञ्जरे ॥ २७
 अनारतपतजालभूतपर्णपरम्परा ।
 स्पन्दते मयताऽऽमृष्टा संसृतिव्रततिश्चिरम् ॥ २८

मोक्षसाधनेषु विवेकवैराग्यभ्रवणादिध्वनुपयोजनाद्वैवेत्याशयेना-
 ह—चिन्तेति । याति सेषामिति शेषः ॥ १७ ॥ एवं तदीयजि-
 ह्वादीनामपि वैयर्थ्यानर्थते दर्शयति—जिह्वेत्यादिना । प्राकृ-
 तानां पामराणां स्त्रीपुत्रादीनामनुनयः कोपापनयनं तत्प्रयुक्तै-
 र्ज्वरैः संतापैः । जिह्वोपमानत्वोपपत्तये सूत्रपदेन तद्गुहावष्टब्ध-
 मन्तर्दलं लक्ष्यते । उक्तो न्यायश्चक्षुरायोज्येवपि ज्ञेयः ॥ १८ ॥
 अङ्गीला ग्रन्थवः ॥ १९ ॥ सख्यस्त्वनवलम्बनादन्तःशून्यः
 सकोटरश्च खोन्नतिभारेण भुग्नश्चित्तलक्षणश्चैत्यवृक्षस्तत्र कृतालयः
 मायालक्षणायां बहुलयामिन्या कृष्णपक्षनिशायाम् ॥ २० ॥
 पूर्वमारम्भकाले कर्णाभ्यां कर्णसनिहितकपोलयोर्गृहीत्वा ॥ २१ ॥
 अज्ञानादेव पुनः सृष्टिप्रसरं दर्शयति—निःसारेत्यादिना । क्रमशः
 क्रान्ता रचयितुमुपक्रान्ता धराधराणां धराधर इव च समुन्नति-
 र्यथा । डिण्डीरस्य केनस्य पिण्डिका तादृशी प्रसिद्धा सृष्टिर्जगद्गृ-
 ष्ठिः ॥ २२ ॥ आभासश्चिदाभासप्रकाशस्तल्लक्षणपुष्पधवलज उ-
 ल्लवला सत्ता व्यावहारिकसत्यतालक्षणा लता ॥ २३ ॥ सुराचलो-
 पलक्षितपर्वता एव महान्तः स्थूणाः स्वम्भा यस्य । गगनमेवा-
 च्छादनं च्छादिर्यस्य ॥ २४ ॥ स्फारे विस्तीर्णे संसारसरसि जातेषु
 शरीरपुष्करेषु अन्तःस्थविद्रूपरसपानशीलाः प्राणपदपदाश्चरन्ति
 'एतस्यैवानन्दस्मान्यानि भूतानि मात्राभ्युपजीवन्ति' 'आनन्देन
 जातानि जीवन्ति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ २५ ॥ नभोमार्गलक्ष-
 णे महति नीलमणिनिर्मिते कुट्टिमे कृत्रिमभूमाले एकान्तं शा-
 लिनी शोभमाना भुवनोदरे रमणीयतरा आदित्यदीपिका स्फुर-
 ति दीप्यते यत्तदप्यविद्याविजृम्भितमिति सर्वत्र ॥ २६ ॥ जागती
 जगदन्तर्गतजीवराशिलक्षणा जीर्णपक्षिणी स्ववासनाशलाके इ-
 न्द्रियपञ्जरे देहे यजिवद्धा तदपि ॥ २७ ॥ मयता प्राणेन

सृष्टेः कतिपयं कालं प्रहृष्टाः कुलशालिनः ।
 अधःकृतोन्नरकपङ्काः शङ्कोज्झिताः क्षणम् ॥ २९
 भुक्तेन्दुखण्डकणिकानीलनीरदशैवले ।
 स्वर्गमार्गसरस्यन्तः स्फुरन्ति सुरसा रसाः ॥ ३०
 नानाफलालिमलिना वासनाजालमालिता ।
 स्पन्दामोदमयी स्फीता क्रियाविकसिताब्जिनी ॥ ३१
 वराकी सृष्टिशफरी स्फुरन्ती भवपत्वले ।
 कृतान्तवृद्धगृध्रेण शठेन विनिर्गृह्यते ॥ ३२
 तरङ्गफेनमालेव सैवान्येव च भङ्गुरा ।
 श्वःश्वोऽपरेन्दुलेखेव समुदेति विचित्रता ॥ ३३
 भूरिभूतशरावाणि क्षणमङ्गानि कुर्वता ।
 इदं कालकुलालेन चक्रं संपरिवर्त्यते ॥ ३४
 असंख्यातानि कल्पानि संजातान्यचले पदे ।
 जगज्जलजालानि दग्धानि युगवह्निना ॥ ३५
 भावाभावैरपर्यन्तैः सुखदुःखदशाशतैः ।
 वैपरीत्यं प्रयात्येवमजस्रं जागती स्थितिः ॥ ३६
 ध्रुब्धैर्युगपरावर्तैर्वासनाभृङ्गलोम्भिता ।
 महाशनिनिपातैश्च न भग्नाऽबुद्धधीरता ॥ ३७

आमृष्टा कम्पिता ॥ २८ ॥ अधः पाताले स्पष्टं प्रदर्शनाय
 धात्रा कृतोन्नरकपङ्काः सन्तोऽपि तत्पतनशङ्कोज्झिताः सन्तो
 यत्प्रहृष्टास्तदपीति प्राग्वत् । अथवा स्वात्मतादात्म्याभ्यासेन
 अधःकृतास्तिरस्कृता इव उग्रा रक्तमांसमलमूत्रादिदेहनरकपङ्का
 यैस्तथाविधास्तच्छङ्कोज्झिताः सन्तो वयं कुलशालिनो महा-
 शया इत्याद्यभिमानैर्यत्प्रहृष्टास्तदित्यर्थः ॥ २९ ॥ स्वर्ग-
 लक्षणेऽन्नमार्गस्थसरसि सुरा देवास्तद्रूपाः सारसपक्षिणो य-
 त्स्फुरन्ति तदपि ॥ ३० ॥ यच्च नानाकाम्यफललक्षणैरलिभिर्म-
 लिना क्रियालक्षणा अब्जिनी विकसिता तदपि ॥ ३१ ॥ शफरी
 प्रोष्ठ्याख्या ध्रुवमत्स्यजातिः ॥ ३२ ॥ श्वः श्वः अपरा प्रतिदिनं
 भिन्नपरिमाणा इन्दुलेखेव ॥ ३३ ॥ क्षणमङ्गानि अचिरनश्वरा-
 णि ॥ ३४ ॥ कल्पानि सर्वव्यवहारसमर्थानि । अचले पदे ब्रह्म-
 णि । युगवह्निना युगान्ताग्निना ॥ ३५ ॥ वैपरीत्यं विपरिणामम्
 ॥ ३६ ॥ एतादृशानर्थपरम्परदर्शनेऽप्यज्ञानां कृतो न निर्वेदो-
 दयस्तत्राह—ध्रुब्धैरिति । वासनाभृङ्गलाभिः उम्भिता पूरिता
 अबुद्धानां मौर्ख्यदार्ढ्यलक्षणा धीरता यतो न कैश्चिदपि भग्ने-
 त्यर्थः ॥ ३७ ॥ या वासना ज्ञानेनाज्ञानबाधेऽप्यधिकारप्रारब्ध-
 बलादिन्द्रादिशरीरं मन्वन्तरकालपर्यन्तं धत्ते तस्याः केनान्येन
 भग्नप्रसक्तिरित्याशयेनोदाहरति—शतश इति । स्वपराक्रमेण
 शतशो विद्वतानप्यरीन् पुनःपुनर्युद्धाभिकाङ्क्षया धारयन्ति पालय-
 न्तीति विद्वतारिध्रास्तथाविधैर्देतुपुत्रैरप्यभिष्टुता भवे पुनर्जन्मा-
 दिविषये भग्नस्तयो वेगो यस्यास्तथाविधामपि ऐन्द्रीं तनुं वासना
 यद्वहति यावदधिकारं धारयति तदपीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ भूतसर्ग
 एव पांसुपरम्परा यस्यां तथाविधा नियतिलक्षणा वात्या काल-

शतशो विद्वतारिध्रैर्देतुपुत्रैरभिष्टुताम् ।
 भवभग्नतयैर्माैन्द्रीं तनुं वहति वासना ॥ ३८
 विशत्यविरतं भूतसर्गपांसुपरम्परा ।
 नित्यं नियतिवात्येयं कालव्यालगलान्तरम् ॥ ३९
 पदार्थाम्भसि सर्वाणि फलफेनानि सर्वतः ।
 पतन्त्यविरतापातमभाववडवामुखे ॥ ४०
 स्फुरन्त्याकस्मिकोद्धृता विचित्रद्रव्यशक्तयः ।
 स्वभावमात्रसंपन्नाः स्पन्दश्रिय इवाम्भसः ॥ ४१
 भूतमौक्तिकसंपूर्णान्वृद्धतः सुब्रह्मनपि ।
 जगत्कलभकानत्ति कृतान्तोद्विक्तकेसरी ॥ ४२
 कुलशैलफला मेघपक्षपुङ्गाः फलामृजः ।
 जायन्ते च म्रियन्ते च म्रियन्ते च जगत्खगाः ॥ ४३
 चिद्भित्तौ स्पन्दशुभ्रायां रङ्गैः पञ्चभिरिन्द्रियैः ।
 उन्मीलयति संसारचित्राणि विधिचित्रकृत् ॥ ४४
 अजस्रगत्वरिं सर्वपरिवर्तविधायिनीम् ।
 निमेषशतभागाङ्गीमसदुःसाधिताङ्कुराम् ॥ ४५
 सूक्ष्मां कालस्य कलनां स्वसमुत्थानकारिणीम् ।
 ध्यानेनैवान्ववेक्ष्येताः स्थिताः स्थावरजातयः ॥ ४६

लक्षणस्य व्यालस्य गलान्तरं यद्विशति तदपि । सर्पाणां वायुभ-
 क्षकत्वप्रसिद्धेरुत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥ अभावो नाशस्तल्लक्षणे वडवामि-
 मुखे यत्पतन्ति तदपि ॥ ४० ॥ स्वस्य भावः अधिष्ठानसत्ता ताव-
 न्मात्रेण संपन्ना लब्धस्वरूपा आकस्मिकेनातर्क्येण वासनावैचि-
 न्येणोद्धृताश्चालिता यत्स्फुरन्ति प्रसरन्ति तदपि ॥ ४१ ॥ कल-
 भकान् मत्तगजान्यदत्ति तदपि ॥ ४२ ॥ कुलशैला हिमवदादय
 उपभोग्यत्वान्महर्षवाच फलानि येषाम् । मेघा एव नभोगत्या-
 कारसादृश्याभ्यां पक्षपुङ्गा येषाम् । फलानि आमृजन्ति सर्वतः
 परिशोधयन्ति विचिन्वन्तीति फलामृजः । मृजेर्बाहुलकात्कः ।
 गच्छन्ति उत्तरायणदक्षिणायनादिमार्गेण सदा भ्रमन्तीति जग-
 न्ति जीवास्तल्लक्षणाः खगाः पक्षिणो यज्जायन्ते यन्म्रियन्ते यत्
 म्रियन्ते, यावन्मरणं जीवन्ति तदप्यज्ञानविजृम्भितमित्यर्थः ।
 अत्र कुलाचलानां मूलमध्याग्रभागानां नागमर्त्यदेवैरुपभोग्यत्वा-
 त्फलत्वोत्प्रेक्षा, मेघानां च दक्षिणायनमार्गपर्वसु धूमत्वेनाभ्रमेघ-
 त्वादिना चोर्ध्वाधोगतिनिर्वाहकत्वात्पक्षत्वोत्प्रेक्षा बोध्या ॥ ४३ ॥
 दृष्टिसृष्टिपक्षमवलम्ब्याह—चिदिति । स्पन्दैश्चाक्षुषादिवृत्ति-
 व्याप्तिभिर्निर्स्तावरणस्पष्टत्वाच्छुभ्रायाम् । रङ्गै रङ्गद्रव्यस्थानीयैः
 पञ्चभिर्बहिरिन्द्रियैर्विदधाति दृष्टिमात्रेण सृजतीति विधिर्द्रष्टा
 स एव चित्रकृत् ॥ ४४ ॥ तस्यां दृष्टिसृष्टौ स्थावरजग्नमयो-
 रनुभवे यो विशेषस्तं प्रथमं स्थावरेषु दर्शयति—अजस्रेति
 द्वाभ्याम् । स्थावरजातयः स्वस्यात्मनः समुत्थानं जगदाकारेण
 विवर्तस्तत्कारिणीमजस्रगत्वरत्वादिविशेषणविशिष्टां सूक्ष्मां का-
 लस्य कलनां ध्यानेनैवान्तरेण बहिः स्फुटव्यवहाराक्षमेणानु-
 भवेन अन्ववेक्ष्य स्थिता इति द्वयोरर्थः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

रागद्वेषसमुत्थेन भावामावमयेन च ।
 जरामरणरोगेण जीर्णा जङ्गमजातयः ॥ ४७
 सुदुष्कृतोत्तमध्यानचारिण्यो धरणीतले ।
 नियत्या नियतं कालं पीड्यन्ते कीटपङ्क्तयः ॥ ४८
 क्षणेनादृश्य एवेदं निगिरत्यखिलं सुखी ।
 सुदुर्लभ्यविलः कालव्यालो विपुलभोगवान् ॥ ४९
 कालेन किञ्चिदालक्ष्य स्वशरीराकुलीकृताः ।
 शीतवातातपप्रौढाः प्रोल्लसत्पुष्पदीप्तयः ॥ ५०
 फलप्रदाश्चरन्तीह शीलिनः श्वभ्रविग्रहाः ।
 पयःपटलविश्रान्तवैलोक्याम्भोजकोटरे ॥ ५१
 करोति घुंघुमं भूरि भूतभ्रमरपेटिका ।
 ब्रह्माण्डमैक्ष्यमाण्डेयं काली भगवती क्रिया ॥ ५२
 स्वयं दत्त्वैव दत्त्वैव भूतभिक्षां जिघृक्षति ।
 तिमिरालीकफवरी इन्द्रकंचपलेक्षणा ॥ ५३
 ब्रह्मोपेन्द्रमहेन्द्रादिधरागिरिवरादिका ।
 ब्रह्मतत्त्वैकपिटका लम्बमानपयोधरा ॥ ५४
 चिच्छक्तिमादृका स्थूला तरला घनचापला ।
 तारकाजालदशना संख्याहणतरा घरा ॥ ५५
 समस्तपद्मिनीहस्ता शतक्रतुपुरानना ।

ततो जङ्गमेषु विशेषं दर्शयति—रामेति ॥४७॥ तेष्वपि कुमिकी-
 दादीनां दुःखानुभवातिशयं सनिमित्तं दर्शयति—सुदुष्कृतेति ।
 सुदुष्कृतोत्तमध्यानचारिण्यो धरणीतले । सुदुष्कृतोत्तमैस्तत्फलभोगानुसारिध्यानान्येष्वपि धरितुं
 शीलं यासा तथाविधाः ॥ ४८ ॥ 'स यद्यदेवास्मज्जत तत्तदनु-
 मध्रियत' इति श्रुतेः कालकवलनीयत्वं स्थावरजङ्गमानां समा-
 नमिसाह—क्षणेनेति ॥ ४९ ॥ एवं स्थावरेषु नियतकालं
 फलपुष्पादिपरिणामशालित्वमनिवार्यशीतवातातपप्रादिसहत्वं च वि-
 शेष इति दर्शयति—कालेनेति सार्धेन । श्वभ्र भूविलं तत्र प्रविष्टो
 विग्रह शरीरमूलभागो येषा तथाविधाः स्थावराः किञ्चिद्भोजकं
 खापरादृष्टमालक्ष्य निमित्तीकृत्य भुज्यपक्षिसर्पादिभिः स्वशरीरे
 आकुलीकृताः पीडिता वसन्तादिकालभेदेन प्रोल्लसत्पुष्पदीप्तयः
 फलप्रदाश्च अतएव शीलिनस्तपःशमदमतिविश्रान्तार्यादिशील-
 धन्त इव चरन्ति कालं नयन्ति ॥ ५० ॥ इदानीं लोकत्रयमम्भो-
 जत्रयत्वेन कल्पयित्वा तत्रत्यचरप्राणिनिकार्यं भ्रमरसमूहत्वेनो-
 त्प्रेक्षते—पय इत्यर्धाम्भ्याम् । यद्यपि पृथिव्येव पदापत्रवज्जले
 प्रतिष्ठिता पुराणादिप्रसिद्धा नान्तरिक्षशुलोकौ तथापि तयोरपि
 त्रिवृत्तजलकार्यत्वाजलभागप्रतिष्ठितत्वमस्येवेति सूचनाय
 पटलपदम् ॥ ५१ ॥ घुंघुमं गुञ्जध्वनिम् । भ्रमरपेटिका
 भ्रमरसमूहः । इदानीं फलनियता प्राणिक्रिया कालीत्वेन
 ब्रह्माण्डं च तदीयभिक्षापात्रत्वेन चतुर्विधभूतग्रामं च
 तदीयभैक्ष्यभावेनोत्प्रेक्षते—ब्रह्माण्डेति । कालस्य श्री काली
 पूर्ववृद्धीतां भूतभिक्षां स्वमंत्रे कालाय दत्त्वैव दत्त्वैव पुनः
 पुनर्दत्त्वा अन्यामन्यां भूतभिक्षां जिघृक्षतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥
 इदानीं क्रियाफलभूता त्रिलोकी वृद्धकामिनीत्वेन वर्णयति—

सप्ताब्धिमुत्कालतिका नीलाम्बरपरीवृता ॥ ५६
 जम्बूद्वीपमहानाभिर्वनश्रीरोमराजिका ।
 भूत्वा भूत्वा विनश्यन्ती त्रिलोकीवृद्धकामिनी ॥ ५७
 असकृज्जायते नष्टा भूरिविभ्रमकारिणी ।
 मग्नमन्यैरथोन्मग्नं भीमे कालमहार्णवे ॥ ५८
 प्रतिकल्पक्षणं क्षीणैर्ब्रह्माण्डस्फुटघुट्टदैः ।
 कालेऽगाधरसस्यन्दे स्थित्वा स्थित्वा पुनःपुनः ॥ ५९
 कल्पमात्रनिमेषेणोद्गीनाः कारणसारसाः ।
 उत्पत्योत्पत्य नाशिन्यः संतप्ताः सृष्टिविद्युतः ॥ ६०
 कालमेघे स्फुरन्त्येताश्चित्प्रकाशवनोद्यमाः ।
 प्रपतद्भूतविहगाः पतन्त्यविरतभ्रमाः ॥ ६१
 कालतालात्किलोत्तालाद्ब्रह्माण्डफलपालयः ।
 उन्मेषकृतवैरिश्चसृष्टयो देवनायकाः ॥ ६२
 निमेषकृतसंहाराः सन्ति केचन कुत्रचित् ।
 निमेषोन्मेषसंक्षीणकल्पजालाः सहस्रशः ॥ ६३
 रुद्राः केचन विद्यन्ते तस्मिंश्चित्परमे पुनः ।
 तेऽपि यस्य निमेषेण भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६४
 तादृशोऽप्यस्ति देवेशो ह्यनन्तेयं क्रियास्थितिः ।
 अनन्तसंकल्पमये शून्ये च ब्रह्मणः पदे ॥ ६५

तिमिरेत्यादिना । अलीकपदं व्याजार्थं ॥५३॥ ब्रह्मोपेन्द्रमहे-
 न्द्रादिका भ्रान्तरचेतनस्वभावेन, धरागिरिवरादिका बाह्यस्थू-
 लदेहस्थानीयजडस्वभावेन । ब्रह्मतत्त्वमेवैकं हृदि विस्फोट
 इव बन्धनैः पिधानं सदा गोप्यं यस्याः ॥ ५४ ॥ चिच्छक्ति-
 श्चिदाभासः सैव भातेव पोषयित्री यस्याः । अतएव स्थूल
 ॥५५॥ समस्ताः पद्मिन्यो विसलता हस्ता यस्याः । नीलमम्बरं
 नभस्तदेवाम्बरमुत्तरीयं तेन परीवृता । वृज. किपि 'नहिष्टुति-
 वृधि' इत्यादिना परेर्दीर्घः । 'आपं चैव हलन्तानाम्' इति
 मागुरिमते टाए ॥५६॥ ५७ ॥ इदानीं कालं महार्णवत्त्वेन वर्ण-
 यति—मग्नमिति । विष्टाद्वयं भावे ॥ ५८ ॥ कल्पा एव क्षणाः ।
 वीप्सायामव्ययीमानः । अगाधः रसस्यन्दो भ्रान्तिसहस्रतृष्णा-
 जलस्यन्दो यस्मिन् ॥ ५९ ॥ कारणभूतहिरण्यगर्भसारसाः ।
 सारससंघातात्कालस्य नदत्वकल्पना गम्यते । मेघत्वेन तं
 कल्पयति—उत्पत्योत्पत्येति ॥ ६० ॥ चित्प्रकाशस्य वननं वनः
 संभजनं तेन उद्यमः प्रकाशशक्तिर्यासात् । 'तस्य भासा सर्व-
 मिदं विभाति' इति श्रुतेः ॥ ६१ ॥ उत्तालादत्युन्नतात्काल-
 क्षणात्तालवृक्षात्प्रपतन्तो भूतानि प्राणिनस्तलक्षणा विहगाः
 काका येभ्यस्तथाविधाः । ब्रह्माण्डलक्षणानां फलानां पालयः
 पङ्क्तयः प्रपतन्ति । अतर्कितहेतुकत्वसूचनात्काकतालीयन्यायोऽ-
 प्रोत्प्रेक्षितः । देवनायका विष्णुरुद्रेश्चरसदाशिवाख्याः ॥ ६२ ॥
 ॥ ६३ ॥ चित्रूपे परमे परमकारणे । ते रुद्रा अपि ॥ ६४ ॥
 इयं रुद्रान्ता क्रियास्थितिः कर्मोपासनफलभावस्थितिर-
 नन्ता असंख्याता । नन्विदं कथं संभाव्यत इति चेन्मायायां
 सर्वसंभवात्रासंभावना युक्त्याशयेनाह—अनन्तेति ॥ ६५ ॥

न संभवन्ति का नाम शक्तयश्चित्रपूरकाः ।
एवमक्षीणसंकल्पलब्धार्थभरभासुरा ।
जागती कल्पना येयं तदज्ञानविजृम्भितम् ॥ ६६

याः संपदो यदुत संततमपिदश्च
यद्वालययौवनजराभरणोपतापाः ।
यन्मज्जनं च सुखदुःखपरम्पराभि-
रज्ञानतीव्रतिमिरस्य विभूतयस्ताः ॥ ६७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० अज्ञानमाहात्म्यं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः ८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
संसारचक्रखण्डेऽस्मिंश्चित्पर्वततटे स्थिता ।
कीदृशी सृष्ट्यविद्याख्या लता विकसिता कदा ॥ १
बृहत्पर्वतपर्वाद्या ब्रह्माण्डत्वकसमावृता ।
देहयष्टिरियं यस्याल्लिलोकी लोककासिनी ॥ २
सुखं दुःखं भवो भावो ज्ञानमज्ञानमेव च ।
अत्रैतान्युरुवृत्तानि मूलानि च फलानि च ॥ ३
सुखादविद्योदेत्युच्चैस्तदेवान्ते प्रयच्छति ।
दुःखादविद्योदेत्युच्चैस्तदेवैषा फलत्यलम् ॥ ४
भवादविद्योदेत्येषा तमेव फलति स्फुटम् ।
भावात्सत्तामवाप्नोति तमेव फलति क्षणम् ॥ ५
अज्ञानाद्बुद्धिमायाति तदेव स्यात्फलं स्फुटम् ।
ज्ञानेनायाति संवित्तिस्तामेवान्ते प्रयच्छति ॥ ६

नानाविधोल्लासवती वासना मोदशालिनी ।
घनप्रवालतरला तनुरस्या विजृम्भते ॥ ७
दिवसव्यूहकुसुमा यामिनीलोलषट्पदा ।
अजस्रं स्पन्दमानैषा प्रपतद्भूतपल्लवा ॥ ८
आगत्यागत्य पतति विवेककरिणीं क्वचित् ।
विधूयते धूतरजाः प्रसक्तिं पुनरेति च ॥ ९
जायमानप्रवालाद्या संजाताङ्कुरदन्तुरा ।
सर्वर्तुकुसुमोपेता समग्ररसशालिनी ॥ १०
जन्मपर्वाहिनीरन्ध्रा विनाशच्छिद्रचञ्चुरा ।
भोगाभोगरसापूर्णा विचारैकघुणक्षता ॥ ११
विकसन्त्यः प्रतिदिनं चन्द्रार्कावलयोऽभितः ।
व्योम्नि वातविलोलानि पुष्पाण्यस्याः किल ग्रहाः ॥ १२

चित्रस्य आश्चर्यसहस्रस्य पूरकाः । अज्ञानविभूतिप्रपञ्चनमुपसं-
हरति—एवमिति ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ उक्तमेवार्थं संक्षिप्य स्पष्ट-
माह—याः संपद इति । ताः सर्वा अज्ञानलक्षणस्य तीव्रस्य
गाढस्य तिमिरस्य विभूतयः । एतद्विशेषणत्वादेव ता इति पदे 'न-
पुंसकमनपुंसकेन' इति नपुंसकैकशेषस्याप्रवृत्तिः । 'अद्वन्द्वतत्पुरु-
षविशेषणानामिति वाच्यम्' इति तज्जिषेधात् ॥ ६८ ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे अज्ञा-
नमाहात्म्यं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

वर्णिता कारणाविद्या जगद्यस्या विभूतयः ।

कार्याविद्या भवारण्ये लतात्वेनेह वर्ण्यते ॥ १ ॥

तत्रादौ विषयं निर्दिश्य वर्णनप्रकारं प्रस्तौति—संसारेति ।
कूटस्थत्वाच्चिदेव पर्वतस्तत्तटे स्थिता । कारणाविद्याव्यावृत्तये
सृष्ट्यविद्याख्येति । कदा कीदृशीति कालभेदेन विकासवैचित्र्य-
द्योतनार्थम् । तद्वर्णयामः श्रूयतामिति शेषः ॥ १ ॥ बृहन्तो
मेवादयः पर्वता एव पर्वाणि काण्डसंघयसैराख्या । ब्रह्माण्ड-
पदेन तदावरणानि गृह्यन्ते तल्लक्षणत्वग्भिः समावृता । लोकै-
र्जनैः कासिनी पत्राङ्कुरादिकवासवती । इयं त्रिलोकी यस्या
देहयष्टिः संस्थोनम् ॥ २ ॥ भवो जन्म । भावः स्थितिः । अत्र
अविद्यालतायाम् । उरुवृत्तानि प्रतिदिनं वृद्धिस्वभावानि ॥ ३ ॥
मूलत्वं फलत्वं च सुखादेरुपपादयति—सुखादित्यादिना ।

भुज्यमानात्संपत्त्यादिसुखादपि मे इतोऽधिका संपद्भूयादिति
रागलक्षणा अविद्योदेति सा च यज्ञदानादिधर्मद्वारा सुखं फलति ।
दारिद्र्यादिदुःखाच्च धनतृष्णादिलक्षणा अविद्योदेति । सा च पाप-
वासनया दुष्प्रतिग्रहचौर्याद्यधर्मप्रवृत्तिद्वारा पुनस्ततोऽधिकं दुःखं
फलतीत्यादि सर्वत्रोक्तम् । एवकारः सर्वत्र भिन्नक्रमः । फल-
त्येवेति योज्यम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ज्ञानेन प्रत्यक्तत्त्वविमर्शेन संवि-
तिरुत्तरोत्तरभूमिकाधिरोहलक्षणा ज्ञानवृद्धिः । अन्ते सप्तमभू-
मिकायाम् ॥ ६ ॥ प्रासक्तिकमुपपाद्य प्रस्तुतां लतामेव वर्ण-
यति—नानाविधेति ॥ ७ ॥ नानाविधोल्लासवतीत्येतत्प्रपञ्च-
यति—दिवसेत्यादिना । रागादिना प्रपतन्ति प्रधावमानानि
भूतानि प्राणिन एव पल्लवा यस्याः ॥ ८ ॥ आगत्यागत्य कर्म-
वायुना पुनःपुनर्भूमित्वा क्वचित्कस्मिंश्चिदधिकारिभूतपल्लवांशे
विवेकलक्षणां करिणीं प्रति पतति । तथा च कदाचिद्विचारशुण्डा-
ग्रेण तदालम्बनविषयतरुविक्षेपणेन विधूयते कम्प्यते । धूत-
रजाः निरस्तदुर्वासनापरागापि दैवात्तत्कराच्युता पुनर्विषयत-
रुणा प्रसक्तिमेति ॥ ९ ॥ जायमानैर्मित्रपश्वादिप्रवालैराख्या ।
संजातैः पुत्रपौत्राद्यङ्कुरैश्च दन्तुरा आनन्दस्मिताया ॥ १० ॥
जन्मलक्षणेऽपि पर्वसु दुःखरोगाद्यहिभिर्नारन्ध्रा निरवकाशा ।
विनाशा मरणानि तल्लक्षणेऽपि शाखासंधिच्छिद्रेषु बलाद्विदीर्य-
माणेव चञ्चुरा व्याकुला । भोगानां विषयाणामाभोगोऽनुभव-
स्त्वद्विषयेण रसेन रागमकरन्देनापूर्णा ॥ ११ ॥ सर्वर्तुकुसुमोपेते-

अस्याः प्रस्फुरिताकाराः कोरकत्वमुपागताः ।
 पूरिताकाशकोशायास्तारका रघुनन्दन ॥ १३
 चन्द्रार्कदहनालोका यस्यास्तत्कौसुमं रजः ।
 अनेनैयं हि शौराङ्गी स्त्री चैतांसि कर्षति ॥ १४
 मनोमातङ्गविधुता संकल्पकलकोकिला ।
 इन्द्रियव्यालसंवाधा तृष्णात्वगुपरञ्जिता ॥ १५
 नीलाकाशतमालाङ्गसंश्रयेणोन्नतिं गता ।
 रोदसीजानुसुस्तम्भा भुवनोद्यानभूषिता ॥ १६
 अधोब्रह्माण्डखण्डेषु खालवालेन जालिता ।
 विधुताशेषजलधिजलक्षीरादिसेचना ॥ १७
 त्रयीविलोलभ्रमरा रमणीपुष्पपुञ्जिका ।
 चित्स्पन्दवातचलिता क्रियाविपुलपुत्तिका ॥ १८
 कुकर्माजगरव्याप्ता स्वर्गश्रीपुष्पमण्डपा ।
 जीवजीवननीरन्ध्रा नानामोदमदप्रदा ॥ १९
 नानोपशमवैचित्र्यनानाकुसुमभासिनी ।
 नानाफलावलीव्याप्ता नानावर्षविकासिनी ॥ २०
 नानालवालवल्या नानाविहगधारिणी ।
 नानापरागपक्ष्पा नानाभूधरजालिका ॥ २१
 नानाकलाकुड्मलिनी नानावर्णगणोत्थिता ।
 नानागिरितटारूढा नानादलनिरन्तरा ॥ २२
 जाता च जायमाना च भ्रियमाणा तथा मृता ।

अर्धच्छिन्ना तथाऽच्छिन्ना नित्यमच्छेदिनी तथा ॥ २३
 अतीता वर्तमाना च सत्येवासत्यवत्सदा ।
 नित्यमत्यन्ततरुणी नित्यं शोषमुपेयुषी ॥ २४
 महाविषलतैषा हि संसारविषमूच्छन्ताम् ।
 ददाति रमसाश्लिष्यं परामृष्टा विनश्यति ॥ २५
 स्फीतेऽन्तर्गलिता तस्य अक्षेऽन्तः संस्थितान्विता ।
 इतो जलमितः शैला इतो नागाः सुरा इतः ॥ २६
 इतः पृथ्वीत्वमायाता तथेतो द्युतया स्थिता ।
 इतश्चन्द्रार्कतां प्राप्ता तथेतस्तारकाकृतिः ॥ २७
 इतस्तम इतस्तेज इतः खमितं उर्वरा ।
 इतः शास्त्रमितो वेदा इतो द्वयविवर्जिता ॥ २८
 कचित्स्वर्गतयोद्गीना कचिद्देवतधीर्त्थिता ।
 कचित्स्थानुतया रूढा कचित्पवनतां गता ॥ २९
 कचिन्नरकसंलीना कचित्स्वर्गविलासिनी ।
 कचित्सुरपदं प्राप्ता कचित्कृतमिता स्थिता ॥ ३०
 कचिद्विष्णुः कचिद्ब्रह्मा कचिद्बुधः कचिद्रविः ।
 कचिदग्निः कचिद्राज्यः कचिच्चन्द्रः कचिद्यमः ॥ ३१
 यत्किञ्चनाङ्ग भुवनेषु महामहिम्ना-
 व्याप्तं जरत्तुल्यत्वमुपागतं वा ।
 दृश्यं स्फुरन्ननु हराद्यपि तामविद्यां
 विद्धि क्षयाय तदतीततैर्यात्मलामः ॥ ३२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० श्रीकोषायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० अविद्यालताविलासोपदेशो नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

तेति शङ्कं तद्विशृणोति—विकसन्त्य इति । प्रहा नवप्रहरूपाः
 चन्द्रार्कसहिता आवलयो ज्योतिःपङ्क्तयः ॥ १२ ॥ १३ ॥ चन्द्रार्क-
 दहनातामालोकाः प्रकाशा यस्यास्तत् प्रसिद्धं कौसुमं कुसुमसं-
 वन्धि रजः । अनेन रजसा चैतांसि कर्षति । मनोहरा आतीति
 भावत् ॥ १४ ॥ १५ ॥ नीलाकाशलक्षणस्य तमालवृक्षस्याङ्गसं-
 श्रयेणोन्नतिं विस्तारं गता । रोदस्यौ धावापृथिव्यौ ते एव संकुचि-
 तजान्वाकाराः सुस्तम्भाः परितो मूलावष्टम्भा यस्याः ॥ १६ ॥
 समाधिश्चातलक्षणेन शोभनेनालवालेन विधुताशेषजलधिजल-
 क्षीरादिसेचना सती अधोभुवनखण्डेषु मूलसंज्ञैर्जालिता ॥ १७ ॥
 त्रयी काम्यकर्मकाण्डलक्षणा वेदत्रयी तथा विलोला राशि-
 जना एव भ्रमरा यस्याः । अतएव तदुपभोग्या रमण्यः स्त्रियः
 पुष्पपुञ्जानि यस्याः । क्रियाशब्देन स्वामाविकप्रवृत्तिपरा जना
 लक्ष्यन्ते । त एव विपुला बहुला मूलप्रकाण्डादिषु त्रैमन्यः
 पुत्तिकाः सूक्ष्मक्रीडजातयो यस्याम् ॥ १८ ॥ कुकर्म शास्त्रनि-
 विद्धक्रिया । जीवानां जीवनेर्जीवनोपायैर्नीरन्ध्रा पूर्णा । तस्याः
 प्रसिद्धलताविलक्षणान्यपि बहुविधवैचित्र्याणि दर्शयति—नाने-

त्यादिना । नानाविधैरामोदैर्विषयवासनागन्धैर्मदप्रदां मूढानाम्
 ॥ १९ ॥ विवेकिना तु नानोपशमवैचित्र्यलक्षणनानाकुसुमभा-
 सिनी । वर्षेण पुष्पफलमकरन्दरजोवर्षेण विकासिनी ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ २२ ॥ नित्यं प्रवाहकूपेणाच्छेदिनी ॥ २३ ॥ नित्य-
 मनीक्षणम् । तरुणी पल्लविता ॥ २४ ॥ परामृष्टा विचारिता
 सती विनश्यति ॥ २५ ॥ तस्य विचारयितुः स्फीते पूर्णोत्पत्ति
 अन्तर्गलिता बाधिता । अक्षे तु अन्तः अन्विता सर्वतोऽनुवृत्तैव
 संस्थिता । तदनुवृत्तिमेव प्रपद्यति—इतं इत्यादिना ॥ २६ ॥
 ॥ २७ ॥ उर्वरा सस्याद्या भूः । इतः प्रलयसुषुप्त्योर्द्वयविवे-
 र्जिता ॥ २८ ॥ २९ ॥ नरकात्मना पातालकुहरे संलीना
 ॥ ३० ॥ ३१ ॥ महामहिम्ना प्रभावोत्कर्षेणाव्याप्तं हरादिसर्वसं-
 हार्यव्याकृतान्तं प्रमावालपतया जरत्तुल्यत्वमुपागतं वा यत्कि-
 च्चन दृश्यं स्फुरदस्ति तां सर्वामविद्यां तत्त्वबोधेन क्षयाय बाधाय
 विद्धि । तदतीततया तद्भावेन आत्मनो कामो भोक्ता इत्यर्थः
 ॥ ३२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रक-
 रणे पूर्वार्धे अविद्यालताविलासोपदेशो नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः ९

श्रीराम उवाच ।

आकारजातमुदितं शुद्धं हरिहराद्यपि ।
अविद्यैवेत्यहं श्रुत्वा ब्रह्मन्भ्रममिवागतः ॥ १
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
संवेद्येनापरामृष्टं शान्तं सर्वात्मकं च यत् ।
तत्सच्चिदाभासमयमस्तीह कलनोज्झितम् ॥ २
समुदेति स्वतस्तस्मात्कला कलनरूपिणी ।
जलादावर्तलेखेव स्फुरज्जलतयोदिता ॥ ३
सूक्ष्मा मध्या तथा स्थूला चेति सा कल्प्यते त्रिधा ।
पञ्चान्मनस्तया तेन ज्ञातैव वपुषा पुनः ॥ ४
तिष्ठत्येतास्त्रयस्थास्तु मेदतः कल्प्यते त्रिधा ।
सत्त्वं रजस्तम इति एषैव प्रकृतिः स्मृता ॥ ५
अविद्यां प्रकृतिं विद्धि गुणत्रितयधर्मिणीम् ।

गुणत्रयविभागोऽत्र हरादेः शुद्धसत्त्वता ।

विद्याविद्यास्वरूपं च तदतीतं च वर्ण्यते ॥ १ ॥

‘दृश्यं स्फुरज्जलं हर्यापि तामविद्यां विद्धि’ इति यदुक्तं तत्र हरादिशरीरस्य ‘ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् । ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमो नमः’ ‘घृतरीतिघनीभूतसच्चिदानन्दविग्रह’ इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु परब्रह्मत्वसच्चिदानन्दरूपत्वप्रसिद्धेः ‘ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम्’ इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धसर्वविद्याधिपत्यविरोधाद्वास्तुदेवमूर्तेः पुराणेषु तुरीयत्वपरब्रह्मत्वादिप्रसिद्धेश्चाविद्यात्वमसंभावयन्प्रसङ्गात्तद्ब्रह्मस्यमपि जिज्ञासमानो रामः पृच्छति—आकारेति । उदितं त्वया उक्तम् । भ्रममिव मिथ्याभ्रान्तिमागतस्त्वमपनयेति शेषः ॥ १ ॥ तत्र निर्विकारशुद्धचित्तो घृतवत्स्वतो घनीभावस्य मूर्ताकारस्य चाघटनान्मायाधीनविवर्तप्रयुक्तत्वे सिद्धे श्रुतस्य परब्रह्मत्वस्याविरोधाय तत्प्रयोजको मायाशः स्वच्छसूक्ष्मतमस्वरूपानावरकः कल्प्यः स एव शुद्धसत्त्वमित्युच्यते । तस्य च स्वच्छतमत्वाच्चिदप्रतिबिम्बग्राहितया सर्वविद्योदीपकत्वात्स्वरूपानावरकत्वाच्च न सर्वविद्याधिपत्यविरोधः । ‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्’ । ‘भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः’ इत्यादिश्रुत्या अस्मदीयतत्त्वज्ञानबाध्यत्वाच्चाविद्यात्वमिति नात्रासंभावना युक्त्याशयेनोत्तरं वक्तुकामो वसिष्ठस्तत्कल्पनाक्रममनुक्रमिष्यन्नधिष्ठानं प्रथमं दर्शयति—संवेद्येनेति । संवेद्येन जगदाकारेण अपरामृष्टं सर्वजगत्संस्कारसंभूतमायाशबलत्वात्सर्वात्मकमतएव सच्चिदप्रकाशप्रचुरं सन्मात्रमस्ति सर्गात्प्रागित्यर्थः ॥ २ ॥ कलनं जगत्संस्कारोद्बोधस्तद्वक्षणा कला चिदाभासस्फूर्तिः सर्गादिकाले समुदेति स्वसत्तया स्थितैव ईषत् पृथगिव गुणिगुणमेदव्यवहारयोग्यतया भाविर्भवति । अतएव तदनु रूपो दृष्टान्त आवर्तलेखेवेति ॥ ३ ॥ सा च कला सूर्यादृष्टकः श्रौढातपमन्दातप-

एषैव संसृतिर्जन्तोरस्याः पारं परं पदम् ॥ ६
अत्र ते ये त्रयः प्रोक्ता गुणास्तेऽपि त्रिधा स्मृताः ।
सत्त्वं रजस्तम इति प्रत्येकं भिद्यते गुणः ॥ ७
नवधैवं विभक्तेयमविद्या गुणमेदतः ।
यावार्त्किंचिदिदं दृश्यमनयैव तदाश्रितम् ॥ ८
ऋषयो मुनयः सिद्धा नागा विद्याधराः सुराः ।
इति भागमविद्यायाः सात्त्विकं विद्धि राघव ॥ ९
सात्त्विकस्यास्य भागस्य नागविद्याधरास्तमः ।
रजस्तु मुनयः सिद्धाः सत्त्वं देवा हरादयः ॥ १०
सत्त्वजातौ देवयोनावविद्या प्राकृतैर्गुणैः ।
निर्मलं पदमायाताः सत्त्वं हरिहरादयः ॥ ११
सात्त्विकः प्राकृतो भागो राम तज्ज्ञो हि यो भवेत् ।
न समुत्पद्यते भूयस्तेनासौ मुक्त उच्यते ॥ १२

च्छायामेदेषु तेजोपकर्ष इव सूक्ष्मा मध्या स्थूला चेति त्रिधा कल्प्यत इत्यर्थः । सूक्ष्मकल्पनात्पश्चात्तेन कल्पयित्वा मनस्तया हिरण्यगर्भतया मध्या ज्ञाता पुनस्तदनन्तरं वपुषा स्थूलविराडाकारेण ज्ञाता तथैव तिष्ठतीति परेणान्वयः ॥ ४ ॥ यत एषा अव्याकृतोपाधिप्रकृतिरेव त्रिधा स्थिता अतएवास्तु सूक्ष्माद्यवस्थास्वपि त्रिधा कल्प्यत इत्यन्वयः ॥ ५ ॥ प्रश्नोत्तरानुगुण्याय प्रकृतेरविद्यात्वमाह—अविद्यामिति ॥ ६ ॥ कार्यकारणाविद्यासाधारण्येनैकैकस्य गुणस्यावान्तरत्रैविध्यमाह—अत्रेति ॥ ७ ॥ ॥ ८ ॥ तत्र प्रथमविभागे सत्त्वांशमुदाहरति—ऋषय इति ॥ ९ ॥ तदवान्तरविभागे त्रीनप्युदाहरति—सात्त्विकस्येति ॥ १० ॥ हरादीनां सत्त्वगुणान्तर्गतशुद्धसत्त्वदेहत्वे उपपत्तिमाह—सत्त्वजाताविति । निर्मलं कदाप्यविद्यावरणशून्यं स्वात्मपदं स्वाभाविक्यैव विद्यया सदैवायाता अतस्ते शुद्धसत्त्वमित्यर्थः । एतेन विधिहरयो राजसतामसशरीरत्वेन मूढजनप्रसिद्धिर्निरस्ता । ‘सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते । स्थित्यादये हरिर्विरिञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्दृणां स्युः ॥’ इति भागवतादिवाक्यानि । ‘तथा यस्य तमः साक्षाच्छरीरं सात्त्विको गुणः । पालनाय त्रिमूर्तीनां स विष्णुः स्यान्न चापरः ॥’ इति स्कान्दवचनं च सृष्ट्याद्युपकरणे शरीरत्वोपचारेण द्वाभ्यामेकस्य वरगोष्ठीन्यायेन अशंसार्थानि नेतरयोरपकृष्टतापरणि । सर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पतास्वभक्तप्रबोधकत्वनिःश्रेयसहेतुत्वानां त्रिमूर्तिष्वपि श्रुतिस्मृतिपुराणेषु प्रसिद्धतमत्वात् । ‘अयं परस्त्वयं नेति संरम्भाभिनिवेशिनः । यातुधानाश्च जायन्ते पिशाचाश्च न संशयः ॥’ इत्यपकर्षदर्शनस्य निन्दितत्वात् त्रिमूर्तीनामीश्वरकोटित्वेनैकतया अपकर्षायोग्यत्वात्सर्वोत्कर्षप्रयोजकशुद्धसत्त्वशरीरत्वमेवोचितमिति भावः ॥ ११ ॥ अतएव तदुपासकानामपि ज्ञानप्राप्त्या पुनर्जन्मनिवृत्तिः प्रसिद्धे-

तेन रुद्रादयो ह्येते सत्त्वभागा महामते ।
 तिष्ठन्ति मुक्ताः पुनरा यावदेहं जगत्स्थितौ ॥ १३
 यावदेहं महात्मानो जीवन्मुक्ता व्यवस्थिताः ।
 विदेहमुक्ता देहान्ते स्थास्यन्ति परमेश्वरे ॥ १४
 भाग एष त्वविद्याया एवं विद्यात्वमागतः ।
 बीजं फलत्वमायाति फलमायाति बीजताम् ॥ १५
 उदेत्यविद्या विद्यायाः सलिलादिव बुद्बुदः ।
 विद्यायां लीयतेऽविद्या पयसीव हि बुद्बुदः ॥ १६
 पयस्तरङ्गयोर्द्वित्वमावनादेव मिश्रता ।
 विद्याविद्यादशोभेदभावनादेव मिश्रता ॥ १७
 पयस्तरङ्गयोरैक्यं यथैव परमार्थतः ।
 नाविद्यात्वं न विद्यात्वमिह किञ्चन विद्यते ॥ १८
 विद्याविद्यादशौ त्यक्त्वा यदस्तीह तदस्ति हि ।
 प्रतियोगिव्यवच्छेदवशादेतद्रघूद्वह ॥ १९
 विद्याविद्यादशौ न स्तः शेषे बद्धपदो भव ।
 नाविद्यास्ति न विद्यास्ति कृतं कल्पनयानया ॥ २०
 किञ्चिदस्ति न किञ्चिच्चित्संविदिति तत्स्थितम् ।
 तदेवाविदिताभासं सदविद्येत्युदाहृतम् ॥ २१
 विदितं सत्तदेवेदमविद्याक्षयसंक्षितम् ।
 विद्याभावादविद्याख्यामिथैवोदेति कल्पना ॥ २२
 मिथः स्वान्ते तयोरन्तश्छायातपनयोरिव ।

आह—सात्त्विक इति । त्रिमूर्त्यात्मकः प्राकृतो भाग सात्त्विकः ।
 अतस्तज्ज्ञस्तदुपासकः अतएव त्रिमूर्तीनामावरणाभावादानाग-
 न्तुर्ध्वं जीवन्मुक्तयेत्याह—तेनेति । असौ हरिहरादि ॥ १२ ॥
 ॥ १३ ॥ परमेश्वरे शुद्धब्रह्मसभावे ॥ १४ ॥ प्रश्नसमाधानमुपसङ्गस्य
 प्रस्तुतमेव प्रतीति—भाग इति । कार्याविद्या फलं तत्प्रलये
 बीजता चरणाविद्यात्वमायाति ॥ १५ ॥ कार्याविद्योदयलया-
 धारत्वादपि विद्याशरीराणां तेषामविद्यात्वमेवेत्याह—उदे-
 तीति । कारणविद्यान्तर्गतशुद्धसत्त्वभागो विद्या तस्याः सका-
 शात्कार्याविद्यालक्षणसृष्टिरेति तत्रैव प्रलये लीयते ॥ १६ ॥
 एवं च विद्याविद्याभेदोऽपि कल्पित एवेति सिद्धमित्याह—एव
 इति ॥ १७ ॥ किञ्च विद्यादशा विद्याविद्योभयभावे सुतरा
 तद्भेदप्रसक्तिर्नास्तीत्याशयेनाह—नाविद्यात्वमिति ॥ १८ ॥
 विद्याविद्यादशौ तद्भेदविरोधादिदृष्टी । ननु अविद्यादशौ बाध्य-
 त्वादस्तु त्यागः, विद्यादशस्तु बाधिकायाः केन त्यागस्तत्राह—
 प्रतियोगीति । बाधेनाविद्याया असत्त्वापत्तौ तन्निरूपितबाधक-
 ताया असिद्धेर्व्यावृत्तिप्रसिद्धेर्व्यावर्त्यप्रतियोगिप्रसिध्यधीनत्वाच्चै-
 त्यर्थः ॥ १९ ॥ शेषे परिशिष्टचिन्मात्रे ॥ २० ॥ कोऽसौ शेषस्तं
 दर्शयंस्तदेव आम्बोधादविद्येति कल्पितमित्याह—किञ्चिदिति ।
 नास्ति किञ्चित्स्वातिरिक्तं यत्र तत्रकिञ्चित् ॥ २१ ॥ २२ ॥
 स्वान्ते मनसि मिथः अन्धोऽन्धं छायातपनयोरिव विरुद्धयोस्त-
 बोर्विद्याविद्ययोर्मेध्ये अविद्यायामन्तः अन्तरे चिति बाधेन
 विलीनायां सत्ताम् ॥ २३ ॥ अवाप्यं विद्याफलमभिव्यक्तं

अविद्यायां विलीनायां क्षीणे द्वे एव कल्पने ॥ २३
 एते राघव लीयेते अवाप्यं परिशिष्यते ।
 अविद्यासंक्षयात्क्षीणो विद्यापक्षोऽपि राघव ॥ २४
 यच्छिष्टं तत्र किञ्चिद्वा किञ्चिद्वापीदमाततम् ।
 तत्रैवं दृश्यते सर्वं न किञ्चन च दृश्यते ॥ २५
 वटश्च वटधानायामिव पुष्पफलादिमान् ।
 सर्वशक्तिर्हि किञ्चित्त्वं सर्वशक्तिसमुद्भूतम् ॥ २६
 नभसोऽप्यधिकं शून्यं न च शून्यं चिदात्मकम् ।
 सूर्यकान्ते यथा बहिर्यथा क्षीरे घृतं तथा ॥ २७
 तत्रेदं संस्थितं सर्वं देशकालक्रमोदये ।
 यथा स्फुलिङ्गा अनलाद्यथा भासो दिवाकरात् ॥ २८
 तस्मात्तथेमा निर्यान्ति स्फुरन्त्याः संविदश्चितः ।
 यथाभ्योधिस्तरङ्गाणां यथामलमणिस्त्वियमा ॥ २९
 कोशो नित्यमनन्तानां तथा तत्संविदां त्वियमा ।
 सबाह्याभ्यन्तरे सर्वं वस्तुन्यस्येव वस्तुसत् ॥ ३०
 सर्वदैवाविनाशात्म कुम्भानां गगनं यथा ।
 यथा मणेरयःस्पन्दे अयस्कान्तस्य कर्तृता ॥ ३१
 अकर्तुरेव हि तथा कर्तृता तस्य कथ्यते ।
 मणिसंनिधिमात्रेण यथायः स्पन्दते जडम् ।
 तत्सत्तया तथैवायं देहश्चेतत्यचिद्वपुः ॥ ३२

पूर्णानन्दरूपम् । ननु विद्यापि निराबाधत्वात्कुतो न परिशिष्यते
 तत्राह—अविद्यासंक्षयादिति । इन्धनसंक्षयादग्निरिवेति भावः
 ॥ २४ ॥ सर्वबाधात्मकत्वाच्च किञ्चित्परमार्थसद्रूपत्वात्किञ्चिद् ।
 अतएव तद्दर्शनमेव तत्त्वतः सर्वदर्शनं सर्वबाधदर्शनं चेत्याह
 —तत्रैवमिति । एवमुक्तेन सात्त्विकरूपेण । मायिकरूपेण तु न
 किञ्चिदपि दृश्यते ॥ २५ ॥ अज्ञानादृतदशायामपि तस्यैवाकि-
 चित्त्वेऽपि वटबीजवद्याकृताभ्याकृतावस्थयोः स्थूलसूक्ष्मीभूत-
 सर्वात्मकतालक्षणं किञ्चित्त्वं प्रसिद्धमित्याह—वटश्चेत्यादिना
 ॥ २६ ॥ २७ ॥ तत्र सत्त्वादेव देशकालक्रमोदये तस्मान्नि-
 र्यान्तीति परेणान्वयः । अतएवाग्निविस्फुलिङ्गादिन्यायेन जी-
 वानामुपाधिभिः सह ततो निर्गमनं श्रुतिषु प्रसिद्धमित्याशये-
 नाह—यथेत्यादिना ॥ २८ ॥ तस्मात्तत्र स्थितत्वादेव ब्रह्मसं-
 विदः सकाशादिमाः प्रसिद्धा जीवचितो निर्यान्ति । अतएव
 तद्ब्रह्म सर्वजीवसंविदां कोश इत्याह—यथेति ॥ २९ ॥ त्विषां
 अमस्थानीयानाम् । निर्गमनावधित्योक्तैर्मणिप्रसादघ्नान्ताच्च जी-
 वजगतोर्ब्रह्मणो बहिरवस्थानप्रसक्तिं वारयन्नाह—सबाह्याभ्य-
 न्तरमिति । वस्तुन्येवास्तीति संबन्धः । यतो वस्तुघटं व-
 स्त्वधीनसत्ताकम् ॥ ३० ॥ वस्तु च सर्वदैव अविनाशात्म-
 निविधपरिच्छेदरहितमिति यावत् । तथाच जीवनिर्गमनं कुम्भा-
 काशोदरे कुम्भनिर्गमनात्कुम्भाकाशनिर्गमनमिवौपचारिकं स-
 पञ्चमित्याशयेनाह—कुम्भानामिति । एवं जीवस्य कर्तृत्वम-

तत्र स्थितं जगदिदं जगदेकबीजे
चिन्नाग्निं संविदितकल्पितकल्पनेन ।

लोलोर्मिजालमिव वारिणि चित्ररूपं
खादप्यरूपवति यत्र न किञ्चिदस्ति ॥ ३३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० विद्यानिराकरणं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः १०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

तस्मान्नकिञ्चिदेवेदं जगत्स्थावरजंगमम् ।
न किञ्चिद्भूततां प्राप्तं यत्किञ्चिदिति विद्धि हे ॥ १
यत्र काचिन्न कलना भावाभावमयात्मिका ।
तदिदं राम जीवादि सर्वं व्यर्थं किमीहसे ॥ २
संबन्धोऽयमसावन्तर्हृदि यो व्यपदिश्यते ।
न तं लभामहे सर्पं रज्जुसर्पभ्रमादिव ॥ ३
अपरिज्ञात आत्मैव भ्रमतां समुपागतः ।
ज्ञात आत्मत्वमायाति सीमान्तः सर्वसंविदाम् ॥ ४
अविद्येत्युच्यते लोके चिच्चैत्यमलमाश्रिता ।
चेत्यातीतात्मतामेति सर्वोपाधिविवर्जिता ॥ ५
चित्तमात्रं हि पुरुषस्तस्मिन्नेष्टे च नश्यति ।
स्थिते तिष्ठति चात्मायं घटे सति घटाम्बरम् ॥ ६
गच्छन्पश्यति गच्छन्तं स्थितं तिष्ठञ्छिद्यथा ।
भ्रान्तमेवमिदं चेतः पश्यत्यात्मानमाकुलम् ॥ ७
कोशकारवदात्मानं वासनातनुतन्तुभिः ।

प्यौपचारिकमेवेत्याह—यथेति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ उक्तमर्थं संक्षिप्यो-
पसंहरति—तत्रेति । तत्र अज्ञाते ब्रह्मणि पूर्वपूर्वसंविदितजग-
त्कल्पितवासनाप्रयुक्तोत्तरोत्तरकल्पनेनेदं जगत्स्थितम् । यत्र
यस्मिन् ज्ञाते खादाकाशादप्यरूपिणि मूर्तामूर्तरूपशून्ये नान्यत्कि-
ञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे विद्यानिराकरणं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

अविद्याबन्धविभ्रान्तिः स्थावरेषु मनःस्थितिः ।

बुद्धिपूर्वादिचाराच्च बन्धमोक्षः प्रपद्यते ॥ १ ॥

तस्माज्जगज्जीवमेदस्याज्ञातब्रह्ममात्रत्वाज्ज्ञाते तस्मिन्निदं न-
किञ्चिदेवेत्यर्थः ॥ १ ॥ इदं जीवादि सर्वं यत्र भावाभावम-
यात्मिका काचित्कलना नास्ति तत्तादृशं ब्रह्मैव । एवं च व्यर्थं
किमीहसे इच्छसि ॥ २ ॥ संबन्धो देहे बाह्यभोग्ये चाहमम-
तालक्षणः । न तं लभामहे निमर्शनेति शेषः ॥ ३ ॥ भ्रमतां
जगद्भ्रान्तिम् ॥ ४ ॥ चेत्यबीजभूतं मलं स्वसत्तारोपेणाश्रिता ।
एति विद्येति शेषः ॥ ५ ॥ एवमविद्यास्वरूपमुक्त्वा तत्कार्यो-
पाधिना आत्मनो बन्धभ्रमं दर्शयति—चित्तमात्रमित्यादिना ।
चित्तमात्रं चित्ततादात्म्याध्यासाच्चित्तप्रायः । अतएव चित्ते नष्टे
नश्यतीव । 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति
विनाशमेवापीतो भवति' इत्यादिश्रुतेः । घटाम्बरं यथेति शेषः
॥ ६ ॥ एवं गत्यादिकमपि चित्तधर्मं स्वात्मन्यारोपयतीत्याह—
गच्छन्निति । अयमात्मा एवं भ्रान्तमिदं चेतश्चित्तमेव आकुल-

वेष्टयन्नेव चेतोऽन्तर्बालत्वान्नावबुध्यते ॥

श्रीराम उवाच ।

मौर्ख्यमत्यन्तघनतामागतं समवस्थितम् ।
स्थावरादि तनु प्राप्तं कीदृशं भवति प्रभो ॥ ९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अमनस्त्वमसंप्राप्तं मनस्त्वादपि च व्युत्तम् ।
तदस्थं रूपमाश्रित्य स्थितेषा स्थावरेषु चित् ॥ १०

तत्र दूरस्थिता मुक्तिर्मन्ये वेद्यविदां वर ।
सुप्तपुर्यष्टका यत्र चित्स्थिता दुःखदायिनी ।

मूकान्धजडवत्तत्र सत्तामात्रेण तिष्ठति ॥ ११

श्रीराम उवाच ।

सत्ताद्वैततया यत्र संस्थिता स्थावरेषु चित् ।
तत्रादूरस्थिता मुक्तिर्मन्ये वेद्यविदां वर ॥ १२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

बुद्धिपूर्वं विचार्येदं यथावत्स्त्ववलोकनात् ।
सत्तासामान्यबोधो यः स मोक्षश्चेदनन्तकः ॥ १३

मात्मानं पश्यति ॥ ७ ॥ अतएव तद्वत्तवासनाभिः स्वं बभ्राती-
त्याह—कोशेति । कोशकारः कृमिविशेषः । बालत्वाद्विवेकशू-
न्यत्वात् ॥ ८ ॥ बालपदोक्ताविवेकप्रसङ्गादविवेकपरमावधीनां
स्थावराणां चित्तस्थितिं जिज्ञासुः श्रीरामः पृच्छति—मौर्ख्य-
मिति । समवस्थितमवलम्बितम् ॥ ९ ॥ अमनस्त्वं सुषुप्ताविव
सुखदुःखसंवेदनायोग्यतापादकं मनोलयम् । पूर्वापरपरामर्श-
क्षममननयोग्यतालक्षणमनस्त्वादपि व्युत्तम् । तदस्थं मुग्धता-
लक्षणं रूपमाश्रित्य । चित् जीवचित् ॥ १० ॥ सुप्तं विवेका-
क्षमम् । पुर्यष्टकपदेन तदन्तर्गतं बाह्यान्तःकरणजातं लक्ष्यते ।
अतएव दुःखप्रतीकाराक्षमत्वाद्दुःखदायिनी । मूकपदेन कर्मे-
न्द्रियशून्यता । अन्धपदेन ज्ञानेन्द्रियप्रचारशून्यता । जडपदेन
मानसप्रसारणशून्यतोपलक्ष्यते ॥ ११ ॥ ज्ञानकर्मेन्द्रियव्यापार-
शून्यतया सत्तामात्रेण चित् स्थिता चेत्तादृशस्थितौ योगिनामिव
शीघ्रमेव वासनाक्षयमनोनाशसंभवाददूरस्थिता मुक्तिरुचितेति
दूरस्थिता मुक्तिरिति वदतस्तव कोऽभिप्राय इत्याशयेन रामः
पृच्छति—सत्तेति ॥ १२ ॥ शास्त्रविहितकर्मानुष्ठानकृतचित्तशु-
द्धिसाधनचतुष्टयसंपत्तिसहकृतश्रवणमनननिदिध्यासनजन्यतत्त्व-
साक्षात्कारकृतसमूलवासनाक्षयमनोनाशाभ्यां सत्तासामान्यस्थि-
तिर्हि मोक्षः स चानन्तदुष्कृतदुर्वासनाबीजसंभूतानां नारकिप्रा-
याणां स्थावराणां शास्त्राधिकारिजन्मदौर्लभ्यादुर्लभतर इति श्रीव-
सिष्ठः स्वोक्तेरभिप्रायं वर्णयति—बुद्धिपूर्वमित्यादिना ॥ १३ ॥

परिहाय परित्यागो वासनानां य उच्चमः ।
 सत्तासामान्यरूपत्वं तत्कैवल्यपदं विदुः ॥ १४
 विचार्यायः सहालोक्य शास्त्राण्यध्यात्मभावनान् ।
 सत्तासामान्यनिष्ठत्वं यच्चद्वय परं विदुः ॥ १५
 अन्तः सुप्ता स्थिता मन्दा यत्र बीज इवाङ्कुरः ।
 वासना तत्सुप्तत्वं विद्धि जन्मप्रदं पुनः ॥ १६
 अन्तः संलीनमननं परितः सुप्तवासनम् ।
 सुपुप्तं जडधर्मापि जन्म दुःखशतप्रदम् ॥ १७
 स्थावरादय एते हि समस्ता जडधर्मिणः ।
 सुपुप्तपदमारुढा जन्मयोग्याः पुनःपुनः ॥ १८
 यथा बीजेषु पुष्पादि मृदो राशौ घटो यथा ।
 तथान्तः संस्थिता साधो स्थावरेषु स्ववासना ॥ १९
 यत्रास्ति घातनाबीजं तत्सुपुप्तं न सिद्ध्ये ।
 निर्बीजा वासना यत्र तत्तुल्यं सिद्धिदं स्मृतम् ॥ २०
 वासनायास्तथा बहैर्कणव्याधिद्विषामपि ।
 स्नेहचैरविषाणां यः शेषः स्वल्पोऽपि बाधते ॥ २१
 निर्दग्धवासनाबीजसत्तासामान्यरूपवान् ।
 सदेहो वा विदेहो वा न भूयो दुःखभाग्भवेत् ॥ २२
 चिच्छक्तिर्वासनाबीजरूपिणी स्वापधर्मिणी ।
 स्थिता रसतया नित्यं स्थावरादिषु वस्तुषु ॥ २३
 बीजेषूलासरूपेण जाड्येन जडरूपिषु ।
 द्रव्येषु द्रव्यभावेन काठिन्येनेतरेषु च ॥ २४
 भस्मन्यथानित्यरूपा पांसुष्वप्यणुरूपिणी ।
 असितेष्वसितस्थित्या सितधारतयासिषु ॥ २५

परिहायामतस्त्वमिति शेषः ॥ १४ ॥ शास्त्राणि आर्यैर्गुरुसती-
 र्थादिभिः सह विचार्य अध्यात्मभावनान्मननपूर्वकनिदिध्यास-
 नात्तत्त्वमालोक्य ॥ १५ ॥ स्थावरेषु तदूर्तरमित्युपपादयति—
 अन्तरित्यादिना । सुपुप्तत्वमिव सुपुप्तत्वम् ॥ १६ ॥ जडधर्मापि
 पापाणादिभाववदुत्तिग्न्यमपि ॥ १७ ॥ १८ ॥ स्थावरेषु वास-
 नं न गच्छीति मन्दावाङ्मा परिहरति—यथेति । पुष्पादीति
 व्युत्क्रमादुक्तिः । अङ्कुरादिपुष्पान्तमित्यर्थः ॥ १९ ॥ निर्बीजा
 ज्ञानानिर्भजितबीजशक्तिः ॥ २० ॥ अतएवात्मापि वासना परि-
 धिष्य बह्वादिशेषपक्षमादमिश्रया महानर्थहेतुर्भवतीति निःशेषं
 तत्त्वम् । कार्य इत्याशयेनाह—वासनाया इति ॥ २१ ॥ २२ ॥
 चिच्छक्तिरावृत्तचिद्रूपा वासना बीजशक्तिः रसतया बीजे भङ्ग-
 राकिलक्षणो भर्जननाशयो रस इव ॥ २३ ॥ सैव बीजादिस-
 र्वकारणेषु नानाहूपेण स्थितेत्याह—बीजेष्वित्यादिना । उल्लासो
 भूजलयोगादुत्फुल्लता तेन लिङ्गेन रूप्यते अनुभूयते इत्युल्लास-
 रूपमदुरजननशक्तित्वादामना द्रव्येषु धनरत्नादिषु द्रव्यभावेन
 स्पृहणीयताप्रयोजकभ्रमभावेन । 'द्रव्यं च भव्ये' इत्यनुशास-
 नात् । इतरेषु जिलादिषु धातेन कुलमिति वदमेवान्वयः ॥ २४ ॥
 भस्मनि पांसुष्वप्यनित्यरूपा पूर्वतनकाष्ठलोष्टादिध्वंसरूपा ।

१ पापेन इति पाठः,

आत्मा शक्तिः पदार्थेषु तथा घटपटादिषु ।
 सर्वत्र सत्तासामान्यरूपमाश्रित्य तिष्ठति ॥ २६
 इतीयमखिला दृश्यदशामापुर्य संस्थिता ।
 यथा घटापटा प्रावृडम्बरात्मिनी तथा ॥ २७
 स्वरूपमस्याधैवैतत्कथितं प्रविचारितम् ।
 असर्वं सर्वतो व्यापि सदिवान्मयात्मकम् ॥ २८
 आत्मदृष्टिरदृष्टेया संसारध्रुमदायिनी ।
 दृष्टा सती समग्राणां दुःखानां क्षयकारिणी ॥ २९
 अस्यास्त्वदर्शनं यत्तदविद्येत्युच्यते बुधैः ।
 अविद्या हि जगद्धेतुस्ततः सर्वं प्रवर्तते ॥ ३०
 अविद्या रूपरहिता यावदेवावलोक्यते ।
 तावदेव गलत्याशु तुहिनाणुर्यथातपे ॥ ३१
 यथा नरो गलत्रिद्रो यावत्कलनया मनाक् ।
 विमृशत्याशयं तावन्निद्रा तस्य विलीयते ॥ ३२
 यथा कीदृगवस्त्वेतदिति यावद्विकल्प्यते ।
 अविद्या क्षीयते तावदालोक्येनान्धता यथा ॥ ३३
 दीपद्वस्तो यथाभ्येति तमोरूपदिदृक्षया ।
 तथा विलीयते सर्वं तमस्तापैर्घृतं यथा ॥ ३४
 नच संलक्ष्यते दीपे तमसो रूपनिश्चयः ।
 उवेति केवलं ध्वान्तध्वंसो विमलमूर्तिमान् ॥ ३५
 पञ्चमालोक्यमानेषा कापि याति पलायते ।
 असद्रूपा ह्यवस्तुत्वादृश्यते ह्यविचारणात् ॥ ३६
 आलोक आगते यावत्कमस्तदृश्यते तथा ।
 याऽवस्तुत्वे त्वविद्यायास्त्ववस्तुत्वं प्रतीयते ॥ ३७

अणुरूपिण्यप्यतितेषु मलिनेष्वक्षाधारे वासितस्थित्या मालिन्य-
 मार्दवरूपया स्थित्या । असिषु स्रग्गादिषु सितधारतया तीक्ष्ण-
 धारतया ॥ २५ ॥ घटपटादिषु सर्वत्र सर्ववस्तुत्वात्मेव सत्ता-
 सामान्यरूपं गृहीत्वा जलाद्वरणशीतनिवारणादिनानाशक्तिः
 संतिष्ठतीत्यर्थः ॥ २६ ॥ घटा मेघजालमेव घट आच्छादको
 यस्यास्तथाविधा प्रावृड् वर्षतुः ॥ २७ ॥ अस्या अज्ञानावृत्त-
 चिच्छक्तेः । असन्मयात्मकमसममायाविकारतादात्म्यापन्नम्
 ॥ २८ ॥ २९ ॥ अस्या आत्मदृष्टेर्दर्शनं दर्शनविरोध्यावरण-
 रूपम् ॥ ३० ॥ रूपरहिता स्वरूपशून्या ॥ ३१ ॥ दृष्टान्तान्त-
 राण्यप्याह—यथेत्यादिना । आशयं स्वचित्तवृत्तान्तम् ॥ ३२ ॥
 तत्त्वपर्यालोचने सर्पादिभ्रमनिवृत्तिरप्यत्र दृष्टान्त इत्याशयेनाह,
 —यथेति । अवस्तु सर्पादि कीदृक् । किं, वास्तवमुत मद्भा-
 न्तिकल्पितमिति यावद्विकल्प्यते विमृश्यते । अन्धता तमः-
 कृतदर्शनशक्तिप्रतिबन्धः ॥ ३३ ॥ अभ्येति, चेदिति शेषः ।
 यथा तमो विलीयते तथा सर्वं साविधं जगत् ॥ ३४ ॥ तमो-
 रूपदर्शननिदर्शनं विवृणोति—नचेति । दीपे आनीयमाने
 सतीति शेषः ॥ ३५ ॥ मन्दमालोक्यमाना मन्दं याति
 सम्यगालोक्यमाना पलायते ॥ ३६ ॥ कृतज्ञस्या अवस्तुत्व-
 मिति चेत्प्रतीतिवलादेवेत्याह—आलोक इति । आलोकं

यावन्नालोक्यते तावन्न किञ्चिदपि दृश्यते ।
 आलोकिते यथाऽविद्या तत्तथा प्रतिपद्यते ॥ ३८
 रक्तमांसास्थियन्त्रेऽस्मिन्कः स्यामहमिति स्वयम् ।
 यावद्विचार्यते तावत्सर्वमोक्षं विलीयते ॥ ३९
 आद्यन्तयोरसद्रूपे नूनं परिहृते हृदा ।
 सर्वस्मिन्नेव यः शेषस्तमविद्याक्षयं विदुः ॥ ४०
 तत्र किञ्चिच्च किञ्चिद्वा तत्सद्ब्रह्मैव शाश्वतम् ।
 तद्वस्तु तदुपादेयं यदविद्यां निवर्तते ॥ ४१
 रूपं स्वनाम्न एवास्यां ज्ञायते निःस्वभावकम् ।

नहि जिह्वागतस्वाद्यस्वादिऽन्यस्याप्रतीयते ॥ ४२
 नाविद्यां कञ्चिदप्यस्ति ब्रह्मब्रह्मण्डितम् ।
 सदसत्कलनास्फारमंशेषं येन मण्डितम् ॥ ४३
 एतावदेवाविद्याया नैदं ब्रह्मेति निश्चयः ।
 एतदेव क्षयो यस्या ब्रह्मेदमिति निश्चयः ॥ ४४
 घटपटशकटावर्मासजालं
 न विभुरितीत्युदितेह सा त्वविद्या ।
 घटपटशकटावर्मासजालं
 विभुरिति चेद्वलितैव सा त्वविद्या ॥ ४५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणै वाल्मीकीये देव० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० अविद्याविकित्सा नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः ११

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

पुनःपुनरिदं राम प्रबोधार्थं मयोच्यते ।
 अभ्यासेन विना साधो नाभ्युदेत्यात्मभावना ॥ १
 अज्ञानमेतद्वलवदविद्येतरनामकम् ।
 जन्मान्तरसहस्रोत्थं घनं स्थितिमुपागतम् ॥ २
 सबाह्याभ्यन्तरं सर्वैरिन्द्रियैरनुभूयते ।
 भावाभावेषु देहस्य तेनातिघनतां गतम् ॥ ३
 आत्मज्ञानं तु सर्वेषामिन्द्रियाणामगोचरम् ।

सत्तां केवलमायाति मनःषष्ठेन्द्रियक्षये ॥ ४
 प्रोलङ्घयेन्द्रियंजां वृत्तिं यत्स्थितं तत्कथं किल ।
 याति प्रत्यक्षतां जन्तोः प्रत्यक्षोतीतवृत्तिमत् ॥ ५
 त्वमविद्यालतामेतां प्ररूढां हृदयद्रुमे ।
 ज्ञानाभ्यासविलासासिपातैश्छिन्धि स्वसिद्धये ॥ ६
 यथा विहरति ज्ञातज्ञेयो जनकभूपतिः ।
 आत्मज्ञानाभ्यासपरस्तथा विहर संघं ॥ ७

आगते सति तत्तमो यादृक् असद्रूपं दृश्यते तथा या अविद्या-
 प्यसती दृश्यते । ननु न तमस आलोकेन बाधः । त्रैकालि-
 कत्वाप्रतीतेः । किंतु औष्ण्येन जलशैत्यस्येव तिरोभावमात्रम् ।
 आलोकापगमे पुनस्तद्दर्शनादिति । तमसोऽवस्तुत्वे तु अस्तु
 तत्तथा । अविद्यायास्त्ववस्तुत्वं त्रैकालिकबाधानुभवेन प्रतीयत
 एवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥ किञ्चिच्छुक्तिरन्वाद्यपि वा रजतसर्पाद्यपि
 वा यावद्विचार्य नालोक्यते तावत्तत्त्वतो न दृश्यते । आलोकिते
 तु यथा यावत्स्वभावा अविद्या यथा च वस्तुतत्त्वं वर्तते तत्त-
 थैव प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥ कथं विमृश्यालोकनं कार्यं
 तदाह—रक्तं ॥ ३९ ॥ एवं विचार्यता हृदा मनसा आद्यन्त-
 योरसद्रूपे सर्वस्मिन् दृश्ये परिहृते सति यः शिष्यते इति शेष-
 क्षिदात्मा । अद्यस्तबाधस्याधिष्ठानाव्यतिरेकादिति भावः ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ बाध्यस्य निःस्वरूपत्वे तद्बाधस्यात्ममात्रत्वे वा न
 प्रमाणान्तरं गृह्यम् । भाया अविद्यादिनाम्रस्तादृशस्वाप्ताद्यर्थ-
 ष्वेव रूढत्वादित्याह—रूपमिति ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ एवं सति
 फलितं निष्कृष्टमविद्यातत्क्षययोः स्वरूपमाह—एतावदिति ।
 अविद्यायाः स्वरूपमिति शेषः ॥ ४४ ॥ तदेव विभृण्वनुपसंह-
 रति—घटेति । घटः पटः शकटं चेत्याद्यवमासमानं जगज्जालं
 विभुरपरिच्छिन्नसच्चिदात्मा न कित्वन्यदित्यादिरारोपितदृष्टिरेवा-
 विद्या तदपवादेनापरिच्छिन्नसन्मात्रदृष्टिरेव तत्क्षय इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 अविद्याविकित्सा नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

जीवनमुक्ता यथा दृष्ट्या स्थिता हरिहरादयः ।

सर्वं ब्रह्मेति सा दृष्टी रामायान्नोपदिश्यते ॥ १ ॥

उपदिष्टसैवार्थस्य पुनःपुनर्ब्रह्मन्तरेणोपदेश उपदेशार्थ-
 व्युत्पत्तिर्दाढ्यार्थः । दृष्टफला हि श्रवणादयोऽवघातादिवद्याव-
 त्फलोदयमावर्तनीयाः । तथा हि भगवतो बादरायणस्य
 सूत्रम् 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इति । इति रहस्यं जामितादो-
 षपरिहारेणोत्साहजननायोद्घाटयन्प्रकृतामविद्याक्षये परिशिष्टां
 दृष्टिं श्रोतुं राममभिमुखीकरोति—पुनःपुनरिति ॥ १ ॥ कुतो
 नाभ्युदिति तत्राह—अज्ञानमिति । सहस्रपदमानन्त्यपरम् ।
 तथा चानन्तकोटिजन्माभ्यस्तद्वैतवासनास्थिरीकृतत्वाज सकृदुप-
 देशात्सूच्छेदमित्यर्थः ॥ २ ॥ चक्षुरादिप्रबलतरबाह्याभ्यन्तर-
 बह्वुप्रमाणैर्ग्राह्यद्वैतरूपत्वाच्च प्राबल्यमित्याह—संवाह्याभ्यन्त-
 रमिति । देहस्य भावे जीवनजोगराद्यवस्थासु इन्द्रियैः । अभावे
 मरणप्रलयाद्यवस्थासु साक्षिणां सदांनुभूयते । अतिघनतामति-
 प्राबल्यम् ॥ ३ ॥ ज्ञानस्य च समिध्या दीर्घमयं दर्शयति—
 आत्मेति द्वौभ्याम् ॥ ४ ॥ प्रोलङ्घ्य अतिक्रम्य ॥ ५ ॥ अत-
 एवं पुनःपुनरुपदेशस्य मननाद्यभ्यासस्य चाविद्यालतानानाप्रता-
 नच्छेदनेन सार्थक्यमित्याशयेनोपसंहरति—त्वमिति ॥ ६ ॥ ७ ॥

निश्चयोऽयमभूत्तस्य कार्यकार्यविहारिणः ।
जायतस्तिष्ठतो वापि तज्ज्ञानां तेन सत्यता ॥
निश्चयेन हरियेन विविधाचारकारिणा ।
योनिष्ववतरत्युर्व्यां तत्तज्ज्ञत्वमुदाहृतम् ॥
निश्चयो यस्मिन्नेत्रस्य कान्तया सह तिष्ठतः ।
ब्रह्मणो वाप्यरागस्य स ते भवतु राघव ॥
यो निश्चयः सुरगुरोर्वाक्पतेर्भार्गवस्य च ।
दिवाकरस्य शशिः पवनस्यानलस्य च ॥
नारदस्य पुलस्त्यस्य मम चाङ्गिरसस्तथा ।
प्रचेतसो भृगोश्चैव क्रतोरत्रेः शुक्रस्य च ॥
अन्येषामेव विप्रेन्द्र राजर्षीणां च राघव ।
यो निश्चयो विमुक्तानां जीवतां ते भवत्वसौ ॥

श्रीराम उवाच ।

येनैते भगवन्धीरा निश्चयेन महाधियः ।
विशोकाः संस्थितास्तन्मे ब्रह्मन्प्रब्रूहि तत्त्वतः ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

राजपुत्र महाबाहो विदिताखिलवेद्य हे ।
स्फुटं शृणु यथा पृष्टमयमेषां हि निश्चयः ॥
यद्विदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते ।
तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतच्चवस्थितम् ॥
ब्रह्म चिद्ब्रह्म भुवनं ब्रह्म भूतपरम्पराः ।
ब्रह्माहं ब्रह्म मच्छत्रुर्ब्रह्म सन्मित्रबान्धवाः ॥
ब्रह्म कालत्रयं तच्च ब्रह्मण्येव व्यवस्थितम् ।
तरङ्गमालयाम्भोधिर्धियात्मनि विवर्धते ॥
तथा पदार्थलक्ष्म्येत्यस्मिदं ब्रह्म विवर्धते ।
गृह्यते ब्रह्मणा ब्रह्म भुज्यते ब्रह्म ब्रह्मणा ॥
ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहामिर्ब्रह्मशक्त्येव बृंहति ।
ब्रह्म मच्छत्रुरूपं मे ब्रह्मणोऽग्रियकृद्यदि ॥

अयं मदनुमवाप्तुसारी निश्चयः कार्येण बहिर्व्यवहारेण अकार्येण समाधिना च विहारिणस्तस्याभूत् । तदेवाभ्यासफलं ज्ञानं तेन ज्ञानेनैवाभिव्यक्तस्य स्वरूपस्य सत्यता नापातज्ञानेनेत्यर्थः ॥ ८ ॥ योनिषु गर्भवासादिकृच्छ्रेष्ववतरति । अवतरन्नापि न तत्प्रयुक्तदुःखैः स्तुदयत इत्यर्थः । एवमुत्तरेष्वप्युक्तम् ॥ ९ ॥ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ एवकारो जीवतामित्यनेन संबध्यते ॥ १३ ॥ प्रश्नः स्पष्टः ॥ १४ ॥ अयं ब्रह्ममाणप्रकारः ॥ १५ ॥ तमेवाह—यदिदमित्यादिना । व्यवस्थितं भाषिकव्यवस्थितरूपप्रत्यगेन पारमार्थिकस्वरूपे स्थितम् ॥ १६ ॥ संक्षिप्तोक्तमेव विस्तराद्विशिष्य दर्शयति—ब्रह्मेति ॥ १७ ॥ विवर्धते विजृम्भते ॥ १८ ॥ सर्वकियाकारकफलनां ब्रह्मतैवेत्याशयेनाह—गृह्यत इति ॥ १९ ॥ ब्रह्मशक्त्या मायया । बृंहामिर्विवर्तैः । बृंहति वर्धत इव । अनया दृष्ट्या न क्वचिद्वैषाद्यादिप्रसक्तिरित्याशयेनाह—ब्रह्मेति । अग्रियकृदनिष्टकर्तृ ॥ २० ॥ तत्तद्वि ॥ २१ ॥ अत्र ब्रह्मणि । सर्वस्मिन् पूर्णे । चरणस्पन्दनं गमनं

तद्ब्रह्मणि ब्रह्मनिष्ठं किमन्यत्कस्यचित्कृतम् ।
रागादीनामवस्थानं कल्पितानां खट्वक्षवत् ॥ २१ ॥
असंकल्पेन नष्टानां कः प्रसङ्गोऽत्र वर्धते ।
ब्रह्मण्येव हि सर्वस्मिन्चरणस्पन्दनादिकम् ॥ २२ ॥
स्फुरति ब्रह्म सकलं सुखितादुःखिते कुतः ।
ब्रह्म ब्रह्मणि संतुप्तं ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ २३ ॥
स्फुरति ब्रह्मणि ब्रह्म नाहमस्मीतरात्मकः ।
घटो ब्रह्म पटो ब्रह्म ब्रह्माहमिदमात्मतम् ॥ २४ ॥
अतो रागविरागाणां मृपेव कलनेह का ।
मरणब्रह्मणि स्वैरं देहब्रह्मणि संगते ॥ २५ ॥
दुःखितानाम कैव स्याद्भुजसर्पभ्रमोपमा ।
संभोगादौ सुखं ब्रह्मण्यास्थिते देहब्रह्मणि ॥ २६ ॥
संपन्नमेतन्म इति मुद्या स्यात्कलना कृतः ।
वीर्य्यमसोः स्पन्दवतोर्न त्वन्यदम्बुनो यथा ॥ २७ ॥
त्वत्तामचे तथा न स्तो ब्रह्मणि स्पन्दरूपिणि ।
यथावर्तमृते तोये न किञ्चिन्निप्रयते कचित् ॥ २८ ॥
मृतिब्रह्मत्वमायाते देहब्रह्मणि वै तथा ।
यथा चलाचले तोये त्वत्तामचे न तिष्ठतः ॥ २९ ॥
तथा जडाजडे रूपे न स्थिते परमात्मनि ।
कटकत्वं यथा हेम्नो यथावर्तो जलस्य च ॥ ३० ॥
तदतद्भावरूपेयं तथा प्रकृतिरात्मनः ।
इदं हि जीवभूतात्म जडरूपमिदं भवेत् ॥ ३१ ॥
इत्यज्ञानात्मनो मोहो न च ज्ञानात्मनः कचित् ।
अज्ञस्य दुःखौघमयं हस्यानन्दमयं जगत् ॥ ३२ ॥
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सच्चक्षुषः ।
जगदेकात्मकं ह्यस्य मूर्खस्यातीव दुःखदम् ॥ ३३ ॥
शिशोरिव स्फुरद्यक्षा निशा पुंसस्तु केचला ।
अस्मिन्ब्रह्मघटे नित्यमेकस्मिन्सर्वतः स्थिते ॥ ३४ ॥

तदादिकम् ॥ २९ ॥ यतः सकलं ब्रह्म सुखैकरसं स्फुरत्यतो दुःखितादि कुतः ॥ २३ ॥ २४ ॥ अनया दृष्ट्या आत्यन्तिकी-मभयप्राप्तिमाह—मरणेति ॥ २५ ॥ एवमात्यन्तिकी भोगरागनिवृत्तिरपि सिध्यतीत्याह—संभोगेति ॥ २६ ॥ कलना इच्छा । स्पन्दवतोः सतोरम्बुनोऽन्यथा किञ्चिदपि नास्ति तथेत्यर्थः ॥ २७ ॥ स्पन्दो रागद्वेषादिना चलनं तद्रूपिणि । तत्प्रयोजके इति यावत् । आवर्तस्य मृदे नाशे ॥ २८ ॥ तथा देहब्रह्मणि मृतिब्रह्मत्वमायातेऽपि न किञ्चिन्निप्रयते इत्यर्थः । जडरूपापरित्यागेनैव सर्वपर्यायेषु ब्रह्मता मा ग्राहीति तन्निषेधति—यथेति । चलाचले च घटे चले अचले चेति वा ॥ २९ ॥ जडरूपाभावे प्रतियोग्यप्रसिद्धाजडमिति तद्यावृत्तरूपस्याप्यप्रसक्तेरिति भावः ॥ ३० ॥ तस्यैव अतदिव भावो यथा तथा-रूपा प्रकृतिर्मायिकः स्वभावस्तद्गुहादेव जीवजडरूपमेककल्पनेत्याह—इदमिति ॥ ३१ ॥ अतएव तत्त्वविदः सर्वं जगदानन्दैकरसमेवेत्याह—अज्ञस्येति ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ यथा निशा रात्रिः

न किञ्चिन्म्रियते नाम न च किञ्चन जीवति ।
 यथोल्लासविलासेषु न नश्यति न जायते ॥ ३५
 तरङ्गादिमहाम्भोधौ भूतवृन्दं तथात्मनि ।
 इदं नास्तीदमस्तीति भ्रान्तिर्नामात्मनात्मनि ॥ ३६
 शक्तिर्निर्हेतुकैवान्तः स्फुरति स्फटिकांशुवत् ।
 जगच्छत्तयात्मनात्मैव ब्रह्म स्वात्मनि संस्थितम् ॥ ३७
 तरङ्गकणजालेन पयसीव पयो घनम् ।
 शरीरनाशेन कथं ब्रह्मणो मृतधीर्भवेत् ॥ ३८
 ब्रह्मणो व्यतिरेकं हि न शरीरादि विद्यते ।
 पयसो व्यतिरेकेण तरङ्गादि महार्णवे ॥ ३९
 यः कणो या च कणिका या वीचिर्यस्तरङ्गकः ।
 यः फेनो या च लहरी तद्यथा वारि वारिणि ॥ ४०
 यो देहो या च कलना यद्दृश्यं यौ क्षयाक्षयौ ।
 या भावरचना योऽर्थस्तथा तद्ब्रह्म ब्रह्मणि ॥ ४१
 संस्थानरचना चित्रा ब्रह्मणः कनकादिव ।
 नान्यरूपा विमूढानां मृषैव द्वित्वभावना ॥ ४२
 मनो बुद्धिरहंकारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
 ब्रह्मैव सर्वं नानात्म सुखं दुःखं न विद्यते ॥ ४३
 अयं सोऽहमिदं चित्तमित्याद्यर्थोत्थया गिरा ।
 शब्दप्रतिश्रवेणाद्राविवात्मात्मनि जृम्भते ॥ ४४
 ब्रह्मैवाज्ञातमज्ञत्वमभ्यागतमिव स्थितम् ।
 तथा हि दृश्यते स्वप्ने चेतसात्मात्मनात्मनः ॥ ४५
 अभावितं ब्रह्मतया ब्रह्माज्ञानमलं भवेत् ।

शिशोर्बालस्य दृशा स्फुरन्स्वप्नान्तिपरिकल्पितो यक्षो यस्यां
 तथाविधा । पुंसो युववृद्धपुरुषस्य केवला निर्यक्षा । ब्रह्मलक्षणे
 पूर्णामृतघटे ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ शक्तिर्मायास्फटिकास्यांशुरने-
 कप्रतिबिम्बग्रहणयोग्यतापादकखच्छता सैव यथा नानाप्रतिबि-
 म्बतत्तद्रुणक्रियादिवैचित्र्यात्मना अन्तः स्फुरति तद्वत्सा जगदा-
 त्मना तत्तत्पदार्थशक्त्यात्मना च स्फुरति प्रथते । सा च प्रथा
 आत्मैव तच्च ब्रह्म स्वात्मन्येवाद्वाये संस्थितम् ॥ ३७ ॥ अतएव
 शरीरनाशेन नात्मनाश इति दृष्टान्तेनोपपादयति चतुर्भिः ॥ ३८ ॥
 ॥ ३९ ॥ ४० ॥ कलना इन्द्रियव्यापारः । दृश्यं भोग्यम् ।
 क्षयाक्षयौ विपत्संपदौ । भावा हर्षविषादादयस्तद्वचना । अर्थः
 पुरुषार्थभोगः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ यथा एक एव शब्दः अद्वौ
 पर्वतसंनिधौ प्रतिश्रवेण प्रतिध्वन्यात्मना द्विरुक्त इव जृम्भते
 तथा देहचित्तबाह्यार्थादिरूपनाममेदेनात्मैव जृम्भत इत्यर्थः
 ॥ ४४ ॥ अज्ञत्वं जीवजगद्भावम् । तत्र 'आत्मनि चैव विचित्राश्च
 हि' इति बादरायणोक्तं रूप्रदृष्टान्तमाह—तथाहीति ॥ ४५ ॥
 अज्ञानस्यात्यन्तविरुद्धासंभावितकारिता लोके प्रसिद्धैवेत्याह—
 अभावितमिति ॥ ४६ ॥ अतएव तदज्ञशैवाज्ञानरूपं न तत्त्व-
 शब्दशैवाह—स्वयंप्रभुरिति ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ आत्मा स्वयं ब्रह्म
 यथा जीवजगद्रूपेण तात्त्विकब्रह्मरूपेण वा भावयति ॥ ४९ ॥
 यो० वा० १०१

अभावितं हेमतया यथा हेम च मृद्भवेत् ॥ ४६
 स्वयं प्रभुर्महात्मैव ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ।
 अपरिज्ञातमज्ञानमज्ञानमिति कथ्यते ॥ ४७
 ज्ञातं ब्रह्मतया ब्रह्म ब्रह्मैव भवति क्षणात् ।
 ज्ञातं हेमतया हेम हेमैव भवति क्षणात् ॥ ४८
 ब्रह्मात्मा सर्वशक्तिर्हि तद्यथा भावयत्यलम् ।
 निर्हेतुकः स्वयं शक्त्या तत्तथाशु प्रपश्यति ॥ ४९
 अकर्मकर्तृकरणमकारणमनामयम् ।
 स्वयंप्रभुं महात्मानं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ ५०
 अपरिज्ञातमज्ञानमज्ञानमिति कथ्यते ।
 परिज्ञातं भवेज्ज्ञानमज्ञानपरिनाशनम् ॥ ५१
 बन्धुरेवापरिज्ञातो ह्यबन्धुरिति कथ्यते ।
 परिज्ञातो भवेद्बन्धुरबन्धुभ्रमनाशनात् ॥ ५२
 इदं त्वयुक्तमित्यन्तर्ज्ञाते सोदेति भावना ।
 यस्मादयुक्ताद्वैरस्याद्यया किल विरज्यते ॥ ५३
 द्वैतं त्वसत्यमित्यन्तर्ज्ञाते सोदेति भावना ।
 तस्माद्वैताच्च वैरस्याद्यया किल विरज्यते ॥ ५४
 अयं नाहमिति ज्ञाते स्फुटे सोदेति भावना ।
 मिथ्याहंकारता तस्माद्यया नूनं विरज्यते ॥ ५५
 ब्रह्मैवाहमिति ज्ञाने सत्ये सोदेति भावना ।
 तस्मिन्सत्ये निजे रूपे यथान्तः परिलीयते ॥ ५६
 सति विस्तारजे तस्मिन्ब्रह्मेदमिति वेद्यहम् ।
 त्वमहंत्वादिबाधे तत्सदित्यादि जगद्गतम् ॥ ५७

अतएव तत्त्वविदो न जीवजगद्भावेन पश्यन्तीत्याह—अक-
 र्मेति । खबोधात्स्वभावे स्वयं प्रभवतीति स्वयंप्रभुस्तम् ॥ ५० ॥
 ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ तर्हि जीवजगतोर्ब्रह्ममात्रताभावना सहसैव
 सर्वेषां कुतो नोदेति वैराग्याभावादिति चेत्तद्वैतव एव तर्ह्यु-
 च्यन्तां तत्राह—इदं त्वित्यादिना । इदं जीवजगद्रूपमयुक्तं
 विचारसहमिति ज्ञाते सति सा ब्रह्मभावना उदेति । यस्माद्वै-
 तोरयुक्ताच्छुचिरजतादैवैरस्यप्रसिद्धेर्यया विचारणया जगत इव
 भोग्यवर्गादपि विरज्यते पुरुष इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ उक्ता विचा-
 रणा जगद्विषये तत्पदार्थशोधनतया पर्यवस्यतीत्याशयेन जग-
 दंशे उक्तमेव स्फुटमाह—द्वैतमिति ॥ ५४ ॥ जीवांशेऽपि सा
 त्वंपदार्थशोधनतया पर्यवस्यतीत्याशयेन तदंशेऽप्युक्तं स्फुटयति
 —अयमिति । अयं देहादिकार्यकारणसंघातो नाहमिति ज्ञाते सति
 ॥ ५५ ॥ पदार्थशोधफलभूताखण्डवाक्यार्थबोधतयापि सा पर्य-
 वस्यतीत्याशयेन तस्मिन् जीवजगद्भावयोर्वाधलक्षणं लयं स्फुट-
 यति—ब्रह्मैवेति ॥ ५६ ॥ अखण्डाकारबोधे सति स्थितमपि
 जगत्सदेकरसं ब्रह्मैव न पूर्वबहुःस्वरूपमित्याशयेनाह—सतीति
 द्वाभ्याम् । तस्मिन्खण्डवाक्यार्थे विस्तारजे अपरिच्छिन्नस्वभा-
 वेनाविर्भूते सति त्वंत्वमहंत्वमादिपदादिदत्तं च तेषां बाधे सति
 तत् प्राक् प्रसिद्धं सत् आदिपदाज्ञाति प्रियं नाम रूपमिति

सत्यं सर्वप्रकाराख्यं ब्रह्मेदमिति वेदयद्दम् ॥
 न मे दुःखं न कर्माणि न मे मोहो न वाञ्छितम् ५८
 समः स्वस्थो विशोकोऽसि ब्रह्माहमिति सत्यता ।
 कलाकलङ्कमुक्तोऽसि सर्वमसि निरामयः ॥ ५९
 न त्यजामि न वाञ्छामि ब्रह्माहमिति सत्यता ।
 अहं रक्तमहं मांसमहमस्थीन्यहं वपुः ॥ ६०
 चिदहं चेतनं चाहं ब्रह्माहमिति सत्यता ।
 घोरहं खमहं सार्कमहमाशा भुवोऽप्यहम् ॥ ६१
 अहं घटपटाकारो ब्रह्माहमिति सत्यता ।
 अहं घृणमहं धोर्ध्वं शुद्धमोऽहं काननाद्यहम् ॥ ६२
 शैलसागरसार्थोऽहं ब्रह्मैकत्वं किल स्थितम् ।
 आदानदानसंकोचपूर्विका भूतशक्तयः ॥ ६३
 सर्वमेव चिदात्मासि ब्रह्मण्याततरूपधृक् ।
 लतागुल्माङ्कुरादीनामहंसंभवनैषिणाम् ॥ ६४
 चिदात्मान्तर्गतं शान्तं परं ब्रह्म रसात्मकम् ।
 यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ॥ ६५
 यो मतः सर्वैकतात्मा परं ब्रह्मेति निश्चयः ।
 चिदात्मा ब्रह्म सत्सत्यमृतं ह्य इति नामभिः ॥ ६६
 प्रोच्यते सर्वगं तत्त्वं चिन्मात्रं चैत्यवर्जितम् ।
 आभासमात्रममलं सर्वभूतात्मबोधकम् ॥ ६७
 सर्वत्रावस्थितं शान्तं चिद्ब्रह्मेत्यनुभूयते ।

पद्मरूपमिदं जगद्गतं वस्तुजातं ब्रह्मैवेति वेदनीयार्थः ॥ ५७ ॥
 ॥ ५८ ॥ तत्स्वभावस्थितमेव परमपुरुषार्थतया वर्णयति—सम
 इत्यादिना ॥ ५९ ॥ त्वत्पदार्थशोधनमपि परिच्छेदपारोक्ष्य-
 निरासायैव, तन्निरासेन सार्वात्म्यकामे तु रक्तमांसादिरूपदेहा-
 दिरप्यात्मैवेति न निरासार्हमित्याशयेनाह—अहं रक्तमित्या-
 दिना ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ शैल सागर सार्थः प्राणिसङ्घ-
 आहम् । भूतशक्तयः प्राणिधर्माः ॥ ६३ ॥ संभवनमङ्कुरकाण्ड-
 प्रतानशाखायादिर्भावस्वदेविणाम् ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥
 ॥ ६७ ॥ अनुभूयते । ब्रह्माविद्भिरिति शेषः । ननु प्रतिपुरुषं
 मनोबुद्धीन्द्रियवृत्तिभेदेन चित्ति मेदानुभवात्कथं सा ब्रह्म स्यात्-
 ब्राह्—मन इत्यादिना । समस्तासु कलनासु वृत्तिष्वन्वितमनु-
 गतम् ॥ ६८ ॥ स्वं प्रत्यक्स्वरूपमेव सा प्रमा तदाभासं स्वप्र-
 काशम् । शब्दादीनां तत्कारणानामाकाशदीनां तत्कृतजगत्स्थि-
 तेष्व तत्त्वावकाशकं सत्ताप्रधास्वरूपम् ॥ ६९ ॥ समस्तकलना-
 न्वितत्वमुपपादयन्मुक्तमेव स्फुटमाह—अनारतेति । अग्निवि-
 स्फुलिङ्गधारवद्वत्युपाधिवारामिरनारतं गलन्त्यो निःसंरन्त्यो या-
 श्विद्धारास्तासां गहनात्मकमाकरस्थानीयं प्रत्यगात्मरूपम् ॥ ७० ॥
 सुमनसां योगिनां मौनमनुभूयमानमप्यभिलपितुमशक्यम् ।
 अमृतं परं निरतिशयानन्दरूपम् । एतदपि पूर्ववदुपपादयन्मुक्त-
 मेवाह—अनारतेति । अहंकारलक्षणानि निःशेषाणि समस्तानि
 भोक्तृवक्त्राणि प्रति तत्तद्भोगवृत्तिधारोपाधिभिर्मनुष्यधारवदनारत-
 गलद्रूपं कूटस्थमित्यानुभवानन्दैकरसं चिद्ब्रह्माहमित्यन्वयः ॥ ७१ ॥

मनोबुद्धीन्द्रियव्रातसमस्तकलनान्वितम् ॥ ६८
 मेदं त्यक्त्वा स्वमाभासं चिद्ब्रह्माहमनामयम् ।
 शब्दादीनामशेषाणां कारणानां जगत्स्थितेः ॥ ६९
 तत्त्वावकाशकं स्वच्छं चिद्ब्रह्मासि न मे क्षयः ।
 अनारतगलत्वच्छचिद्धारागहनात्मकम् ॥ ७०
 आलोकः सुमनोमौनं चिद्ब्रह्मास्म्यमृतं परम् ।
 अनारतगलद्रूपं नित्यं चानुभवामृतम् ॥ ७१
 अहंनिःशेषवक्त्राणि चिद्ब्रह्माहमलेपकम् ।
 सुषुप्तसदृशं शान्तमालोकविमलात्मकम् ॥ ७२
 संभोगोत्तममाभासं चिद्ब्रह्मास्म्यपवासनम् ।
 खण्डादिस्वादुसंवित्तिरीपन्मात्रा तु तिष्ठति ॥ ७३
 चित्तादिष्ववबुद्धेषु तद्धि ब्रह्माहमच्युतः ।
 कान्तासंसक्तचित्तस्य चन्द्रे समुदिते सति ॥ ७४
 चन्द्रप्रत्ययसत्त्वात्म चिद्ब्रह्माहमनामयम् ।
 भूमिघ्नरदृष्टीनां लग्नानां खे निशाकरे ॥ ७५
 या खस्था ननु चिच्छक्तिस्तच्चिद्ब्रह्मासि निर्मलम् ।
 सुखदुःखादिकलनाविकलो निर्मलस्तथा ॥ ७६
 सत्यानुभवरूपात्म चिद्ब्रह्मात्मासि शाश्वतः ।
 असंस्तुताध्वगालोके मनस्यन्यत्र संस्थिते ॥ ७७
 या प्रतीतिरनागस्का तच्चिद्ब्रह्मासि सर्वगः ।
 भूवार्यनिलवीजानां संवन्धेऽङ्कुरकर्मसु ॥ ७८

नित्यं चानुभवामृतमित्येतत्समाधिनिष्ठानुभवेनोपपादयन्ब्राह्—
 सुषुप्तेति ॥ ७२ ॥ संभोगा मानुषानन्दादिहैरण्यगर्भान्तविषय-
 सुखानि तेभ्योऽप्युत्तमम् । आभासं सर्वतः प्रकाशमानम् ।
 संभोगोत्तममिति यदुक्तं तदुपपाद्यानुभावयति—खण्डादीति ।
 रसनादिभिरिन्द्रियैः खण्डशर्करादिस्वादुसंवित्तिरीपन्मात्राखण्ड-
 रसस्य जिह्वतः कण्ठोपसर्पणपर्यन्तात्पतरदेशकालपरिच्छिन्ना
 तिष्ठति, सैव तु स्वपरिच्छेदहेतुषु चित्तचेलचैतयितृषु स्वप्रका-
 शानन्दैकरसतायावबुद्धेषु सत्सु परिच्छेदोपाधिच्युतावपि च्युति-
 रहितात्मा तदेव निरतिशयानन्दं ब्रह्माहमित्यन्वयः ॥ ७३ ॥
 ननु ज्ञानस्य विषयोपाधिनिर्मुक्ता स्थितिरेवाप्रसिद्धेयाशङ्क्य
 तत्प्रसिद्धिं दर्शयति—कान्तेति । निशि कान्तासंसक्तचित्तस्य
 चन्द्रोदये सति चन्द्रकान्तोभयदर्शने अन्तराले देशे चित्तो
 विच्छेदानुभवाच्चन्द्राकारप्रत्ययपर्यन्तमवित्छिन्नसत्तात्मकं नि-
 र्विषयं चिद्ब्रह्म प्रसिद्धं तदेवाहमित्यर्थः ॥ ७४ ॥ भूमिष्ठेति
 तस्यैव स्फुटीकरणम् ॥ ७५ ॥ खस्था आन्तरालिकनमःप्रदे-
 शस्था । वदासीनानां सुखदुःखाद्याकारवृत्त्यन्तरस्य तादशायां
 निर्विषयस्वात्मप्रथा प्रसिद्धैवेत्याशयेनाह—सुखेति ॥ ७६ ॥
 एवमिहस्थस्य पुंसोऽन्यत्र दूरस्थे विषये न सत्सुतः संपादि-
 तोऽध्वगानामन्तरालमार्गस्थानां पदार्थानामालोको येन तथा-
 विधे भनसि संस्थिते सति अन्तराले देशे अनागस्का विषयसं-
 स्पर्शापराधशून्या या प्रतीतिश्चिन्मात्रं तदित्यर्थः ॥ ७७ ॥
 संवन्धे मेलने सति अङ्कुरलक्षणेऽङ्कुरकर्मसु कार्येषु उद्गमनीया

शक्तिरुद्गमनीयान्तस्तच्चिद्ब्रह्माहमाततम् ।
 खर्जूरनिम्बविम्बानां स्वयमात्मनि तिष्ठताम् ॥ ७९
 या स्वादसत्ता लीनान्तस्तद्ब्रह्म चिदहं समः ।
 खेदानन्दविमुक्तान्तः संवित्तिर्मननोदया ॥ ८०
 लाभालाभविधौ तुल्या चिद्ब्रह्मासि निरामयम् ।
 यावद्भूम्यर्कमेतावद्दृष्टिसूत्रं यदाततम् ॥ ८१
 तन्मध्यसदृशं शान्तं निर्मलं चिदहं ततम् ।
 जाग्रत्यपि सुषुप्तेऽपि तत्स्वप्नेऽपि तथोदितम् ॥ ८२
 तुर्यं रूपमनाद्यन्तं चिद्ब्रह्माहमनामयम् ।
 पुंसां क्षेत्रशतोत्थानामिक्षूणां स्वादुवत्स्थितम् ॥ ८३
 सर्वेषामेकरूपं तच्चिद्ब्रह्मासि समः स्थितः ।
 सर्वगा प्रकृता खच्छरूपा भानोरिव प्रभा ॥ ८४
 आलोककारिणी कान्ता चिद्ब्रह्मेदमहं ततम् ।
 संभोगानन्दलववदमृतास्वादशक्तिवत् ॥ ८५
 खानुभूत्यैकमात्रं यच्चिद्ब्रह्मासि तदव्ययम् ।
 प्रोताङ्गमपि मुक्तास्यं देहे तन्तुर्विसे यथा ॥ ८६
 छेदे भेदे स्फुरद्रूपं चिद्ब्रह्माहमनामयम् ।
 आक्रान्तभुवनान्यभ्रमालेव स्पन्दशालिनी ॥ ८७
 दुर्लक्ष्याणुमयांकारा चिच्छक्तिरहमातता ।
 अनुभूतिमयान्तस्था स्नेहमात्रोपलक्षिता ॥ ८८
 क्षीरादृतस्य सत्तेव चिदहं क्षयवर्जिता ।
 कटकाङ्गदकेयूररचना तदतन्मयी ॥ ८९
 हेम्नीव संस्थिता देहे चिद्ब्रह्मात्मासि संवैगः ।
 पदार्थौघस्य शैलादेर्बहिरन्तश्च सर्वदा ॥ ९०
 सत्तासामान्यरूपेण या चित्सोऽहमलेपकः ।

बहिर्निर्गमनानुकूल या चिच्छक्तिस्तद्ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ७८ ॥ खर्जू-
 रादीनां फलानामात्मनि स्वीये जडस्वभावे तिष्ठतां रसभेदानां
 स्वयमन्तर्लीना रासनादिवृत्त्यभिव्यक्ता प्रथारूपा या स्वादसत्ता
 तदेव ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ७९ ॥ किंच यैवं संवित्तिरिष्टलाभालाभयोः
 खेदानन्दवती प्रसिद्धा सैव शास्त्रानुसारिमननोदयविशोधिता
 सती खेदानन्दविनिर्मुक्ता चेतदेव ब्रह्मेत्याह—खेदेति ॥ ८० ॥
 भूमिष्ठस्यादित्यं पश्यतः पुंसो यावद्भूम्यर्कं भूमिमारभ्यार्कपर्यन्तं
 यत्र दृष्टिश्चक्षुस्तलक्षणं सूत्रमाततं विस्तीर्णमस्ति तस्य यन्मध्यं
 नेत्रसूर्योभयासंलग्नभागस्तत्सदृशं विषयप्रकाशनसमर्थमपि तद्वि-
 निर्मुक्तमित्यर्थः ॥ ८१ ॥ एवमवस्थात्रयसाक्षिरूपमेव तत्परि-
 त्यागे तुर्यभूतं ब्रह्मेत्याह—जाग्रतीति ॥ ८२ ॥ सर्वेषां पुंसा-
 मन्तः एकरूपं स्थितम् ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ तस्य आनखा-
 प्रसर्वाङ्गव्याप्तिं देहच्छेदादावच्छेद्यतां चाह—प्रोताङ्गमपीति ।
 विसतन्नुपक्षे स्पष्टोऽन्वयः ॥ ८६ ॥ भुवनानि लोका जलानि
 च । वृत्तिवायूपाधिस्पन्दास्पन्दशालिनि ॥ ८७ ॥ दुर्लक्ष्या
 अणवः सूक्ष्मा जीवा जलकणाश्च तन्मयः कल्पिताकारो

सर्वासामनुभूतीनामादर्शो यो ह्यकृत्रिमः ॥ ९१
 अगम्यो मललेखानां तच्चित्तरवमहं महत् ।
 सर्वसंकल्पफलदं सर्वतेजःप्रकाशकम् ॥ ९२
 सर्वोपादेयसीमान्तं चिदात्मानमुपासहे ।
 सर्वावयवविश्रान्तं समस्तावयवातिगम् ॥ ९३
 अनारतकचद्रूपं चिदात्मानमुपासहे ।
 घटे पटे तटे कूपे स्पन्दमानं सदा तनौ ॥ ९४
 जाग्रत्यपि सुषुप्तस्थं चिदात्मानमुपासहे ।
 उष्णमग्नौ हिमे शीतं मृष्टमग्ने शितं धुरे ॥ ९५
 कृष्णं ध्वान्ते सितं चन्द्रे चिदात्मानमुपासहे ।
 आलोकं बहिरन्तस्थं स्थितं च स्वात्मवस्तुनि ॥ ९६
 अदूरमपि दूरस्थं चिदात्मानमुपासहे ।
 माधुर्यादिषु माधुर्यं तीक्ष्णादिषु च तीक्ष्णताम् ॥ ९७
 गतं पदार्थजातेषु चिदात्मानमुपासहे ।
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तुर्यातुर्यातिगे पदे ॥ ९८
 समं सदैव सर्वत्र चिदात्मानमुपासहे ।
 प्रशान्तसर्वसंकल्पं विगताखिलकौतुकम् ॥ ९९
 विगताशेषसंरम्भं चिदात्मानमुपासहे ।
 निष्कौतुकं निरारम्भं निरीहं सर्वमेव च ॥ १००
 निरंशं निरहंकारं चिदात्मानमुपासहे ।
 सर्वस्यान्तःस्थितं सर्वमप्यपारैकरूपिणम् ॥ १०१
 अपर्यन्तचिदारम्भं चिदात्मानमुपागतः ।
 त्रैलोक्यदेहमुक्तानां तन्तुमुन्नतमाततम् ॥ १०२
 प्रचारसंकोचकरं चिदात्मानमुपागतः ।
 लीनमन्तर्बहिःस्वाप्तान्क्रोडीकृत्य जगत्खगान् ॥ १०३

यस्याः । अनुभूतिमयोऽनुभवमात्रगम्योऽन्तस्थः सारो यस्याः ।
 जेदधिक्रणता परमेमा च तन्मात्रोपलक्षिता ॥ ९८ ॥
 तदतन्मयी हेमि हेमसत्तेवेति शेषः ॥ ९९ ॥ १०० ॥
 अनुभूतीनामनुभववृत्तिभेदानाम् ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ सर्व-
 षामुपादेयानामुपादानस्यात्मार्यत्वात्तत्सीमान्तम् ॥ ९३ ॥
 घटपटादौ सद्रूपेण स्थितम् । तनौ चतुर्विधदेहे स्पन्दमानं स्फुर-
 द्रूपं चेष्टानिमित्तभूतं वा । जाग्रदवस्थायामपि सुषुप्तमिव परमा-
 र्थतो निर्विशेषतया स्थितम् ॥ ९४ ॥ अग्नौष्ण्यादिसत्ता-
 त्मनामपि चित एव स्फुरणात्परमार्थतः सैव तानीत्याशयेनाह
 —उष्णमिति । मृष्टं माधुर्यम् । शितं निशितम् । तीक्ष्णमित्यर्थः
 ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ प्रत्यगात्मत्वाददूरमप्यज्ञानादूरस्थम् ॥ ९७ ॥
 गतमिति पूर्वान्वयि ॥ ९८ ॥ कौतुकं कामः ॥ ९९ ॥ संरम्भः
 क्रोधः । कौतुकं भोगोत्कण्ठः । आरम्भो यत्नः । ईहा चेष्टा ।
 सर्वं निरवशेषम् ॥ १०० ॥ १०१ ॥ अपर्यन्तानां प्रतिविम्ब-
 चित्ता आरम्भा यस्यात्तम् । त्रैलोक्यस्थानां देहलक्षणां
 मुक्तानां तन्तुम् ॥ १०२ ॥ प्रचाराचारौ जाग्रत्स्वप्नौ संकोचः

दन्द्रस्तेन प्रचारशब्दाज्जाग्रत्स्वप्नयोर्लभः । अत्राचारग्रहणं न्वित्यम् ।

१ अत्र प्रचाराविवेकापेक्षितम् । कृतैकशेषद्विवचनान्तप्रचारशब्देन

चित्रं बृहज्जालमिव चिदात्मानमुपागतः ।
 सर्वं यत्रेदमस्त्येव नास्त्येव च मनागपि ॥ १०४
 सदसद्रूपमेकं तं चिदात्मानमुपागतः ।
 परमप्रत्ययं पूर्णमास्पदं सर्वसंपदाम् ॥ १०५
 सर्वाकारविहारस्थं चिदात्मानमुपागतः ।
 स्नेहाधारमथोऽशान्तं जडवाताहतिभ्रमैः ॥ १०६
 शुक्तं मुक्तं च चिद्वीपं बहिरन्तरुपासहे ।
 हृत्सरःपद्मिनीकन्दं तन्तुं सर्वाङ्गसुन्दरम् ॥ १०७
 जनताजीवनोपायं चिदात्मानमुपागतः ।
 अक्षीरार्णवसंभूतमशशाङ्कमुपस्थितम् ॥ १०८
 अहार्यममृतं सत्यं चिदात्मानमुपासहे ।

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धैराभासमागतम् ॥ १०९
 तैरेव रहितं शान्तं चिदात्मानमुपागतः ।
 आकाशकोशविशदं सर्वलोकस्य रञ्जनम् ॥ ११०
 न रञ्जनं न चाकाशं चिदात्मानमुपागतः ।
 महामहिम्ना सहितं रहितं सर्वभूतिभिः ।
 कर्तृत्वे धाप्यकर्तारं चिदात्मानमुपागतः ॥ १११
 अखिलमिदमहं ममैव सर्वं
 त्वहमपि नाहमथेतरेष्व नाहम् ।
 इति विदितवतो जगत्कृतं मे
 स्थिरमथवास्तु गतज्वरो भवामि ॥ ११२

इत्यार्षे श्रीवा० रामायणे वाल्मीकीये देव० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० जीवन्मुक्तनिश्चययोगोपदेशो नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः १२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति निश्चयवन्तस्ते महान्तो विगतैनसः ।
 सत्याः सत्ये पदे शान्ते सप्ते सुखमवस्थिताः ॥ १
 इति पूर्णधियो धीराः समनीरागचेतसः ।
 न निन्दन्ति न नन्दन्ति जीवितं मरणं तथा ॥ २
 इत्यलक्ष्यचमत्कारा नारायणमुजा इव ।
 अजवः स्वलिताकारा अपरा इव मेखः ॥ ३
 रेमिरे वनखण्डेषु द्वीपेषु नगरेषु च ।
 देवोपवनमालासु स्वर्गेषु च सुरा इव ॥ ४

सुषुप्तिस्त्वक्त्वरम् । अन्तर्वह्निश्च स्वेन आत्मान्यासान् जगत्क्षणा-
 न्खगान्पक्षिणः क्रोडीकृत्यान्तर्भाव्य लीनं प्रच्छन्नतया स्थितम्
 ॥ १०३ ॥ १०४ ॥ सर्गे सर्वसत्तानिर्वाहकत्वात्सद्रूपं, प्रलये
 सर्वासत्तानिर्वाहकत्वादसद्रूपमिति भावः । परमप्रत्ययमत्यन्त-
 विश्वासाहं चिदेकरसः वा । सर्वासां संपदां सुखलवानामास्पदं
 प्रतिष्ठाम् ॥ १०५ ॥ सेहस्तैलं निरुपाधिप्रेसा च तदाधारम् ।
 जडानां देहदीनां घातानां प्राणानां वृष्टिवातानां चाहतिरप्यासोऽमि-
 घातश्च तत्प्रयुक्तैर्भवेरशान्तमवितष्टम् । आन्तदृशा तैर्युक्तं तत्त्व-
 दृशं तु मुक्तं च ॥ १०६ ॥ हृत्सरसि पद्मिनीकन्दवज्रिगूढम् ।
 सर्वेषां हृत्स्पादायत्तानां सुन्दरं दृढविष्टम्भकं तन्तुं रञ्जयदाधा-
 रम् ॥ १०७ ॥ प्रतिष्ठाप्यतवैलक्ष्ण्यमाह—अक्षीरार्णवेति
 ॥ १०८ ॥ अहार्यं गच्छादिभिरपहर्तुमशक्यम् । आभावं अभि-
 व्यक्तिम् ॥ १०९ ॥ रञ्जनं स्वव्याप्त्या अभिव्यञ्जकम् ॥ ११० ॥
 ॥ १११ ॥ तादात्म्याप्यारोपदृशा अखिलमहम् । संसर्गाध्या-
 रोपदृशा तु ममैव सर्वम् । अपवाददृशा तु अहंत्वारोपनिमित्त-
 महंकारोऽपि नाहम् । इतस्तु सुतरां नाहं इत्यध्यारोपापवा-
 दान्यां तत्त्वं विदितवतो मे मम जगत्कृतं कृत्रिमं भावामयं

ध्रेमुः कुसुमपूर्णसु दोलान्दोलचलासु च ।
 विचित्रवनलेखामु मेरुशृङ्गशिखासु च ॥ ५
 चक्रुर्विजितशश्रूणि धामरच्छत्रवन्ति च ।
 विचित्रार्थानि राज्यानि चित्राचारमथानि च ॥ ६
 अनुजग्मुरिमान्सर्वाधानाचारविचेष्टितान् ।
 श्रुतिस्मृत्युदितारम्भामितिकर्तव्यतामिति ॥ ७
 ईदृशीरमणीयेषु ललनाहास्यहारिषु ।
 विहाराहाररम्येषु भोगाभोगेषु भूषिताः ॥ ८
 विविशुश्चारुचूतासु मन्दारवलितासु च ।

वा अस्तु अथवा स्थिरमकृत्रिममात्रैव वास्तु उभयथाप्यहं गत-
 ज्वरो भवामीत्यर्थः ॥ ११२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे जीवन्मुक्तनिश्चययोगोपदेशो नामै-
 कादशः सर्गः ॥ ११ ॥

वर्तिनोरागनिःसङ्गामन्तःस्वच्छात्मभास्वराम् ।

जनकादिस्थितिं रामो गुरुप्रोक्तमिहाग्रहीत् ॥ १ ॥

ते जनकादयो जीवन्मुक्ताः अन्तः सत्ये पदे शोभिततत्प-
 दार्थे व्यवस्थिताः ॥ १ ॥ बहिः पूर्णा धीः शोभिततत्त्वपदार्थो
 येषाम् । अतएवान्तर्वह्निश्च समनीरागचेतसः ॥ २ ॥ अलक्ष्ये
 सूक्ष्मतमेषु लक्ष्ये वेधनचमत्कारो येषाम् । अतएव नारायण-
 मुजा इव स्थिताः । स्वलिताकारा नम्रस्वभावाः अपरा मेख
 इव स्थिराः ॥ ३ ॥ तेषां समदृष्ट्या विहारं प्रपन्नयति—रेमिरे
 इत्यादिना ॥ ४ ॥ दोलानामान्दोलनैश्चलासु ॥ ५ ॥ विचित्रा
 अर्थास्त्रिवर्गा येषु तानि ॥ ६ ॥ नानाचारा बहुविधशि-
 ष्टाचारस्तैर्विचेष्टिताननुष्ठितान्धर्माननुजग्मूः । स्वयमप्यनुष्ठि-
 तवन्त इत्यर्थः । इति इत्थमेव श्रुतिस्मृत्युदिता आरम्भाः
 प्रयत्ना यस्यास्तथाविधामितिकर्तव्यताम् । सात्रं यागादीति या-
 वत् । अनुजग्मूः ॥ ७ ॥ ईदृशीभिर्दृष्टादृष्टाधनसंपद्भिः
 रमणीयेषु भोगानामाभोगेषु कलापेषु ॥ ८ ॥ विविशुर्नि-

अप्सरोगीतपूर्णासु नन्दनोद्यानभूमिषु ॥
 सचराचरभूतेषु विश्रान्ताखिलजन्तुषु ।
 यज्ञक्रियाकलापेषु गार्हस्थ्येषु यथाक्रमम् ॥
 तेरुर्हतगजेन्द्रासु भ्रान्तभूरिशिवासु च ।
 मेरीभांकारभीमासु संग्रामार्णवबीथिषु ॥
 तस्थुः परुषचित्तासु हतवित्तोद्धतासु च ।
 संरम्भक्षोभरौद्रीषु सर्वासु द्वन्द्वरीतिषु ॥
 मनस्तेषां तु नीरागमनुपाधि गतध्रमम् ।
 असक्तं मुक्तमाशान्तं परं सत्त्वपदं गतम् ॥
 न ममज्जुः क्वचिदपि संकटेषु महत्त्वपि ।
 महदप्युपयातेषु कुलशैलाः सरस्विव ॥
 नोल्लास विलासिन्या श्रिया परमकान्तया ।
 परिपूर्णन्दुलक्ष्म्येव जलराशी रघूद्वह ॥
 न ममलौ दुःखशोकेन ग्रीष्मेणेव वनस्थलम् ।
 जहर्ष च न भोगौघैरवश्यायैरिवौषधीः ॥
 ते हि केवलमव्यग्राः कुर्वन्तः काममञ्जरीः ।
 इष्टानिष्टफलं राम नाभिलेषुर्न तत्यजुः ॥
 नोदगुः कार्यसंपत्तावाक्रान्ता नास्तमाययुः ।
 जहृषुर्न सुखप्राप्तौ मम्लुर्नैव च संकटे ॥
 मुमुहुर्न विमोहेषु न ममज्जुर्विपत्क्रमैः ।
 न जहर्षुः शुभैः शोकै रुदुर्न भवानिव ॥
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे जीवन्मुक्तसंशयनिरूपणं नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥

९ प्राकृताचारसंप्राप्ते कुर्वन्तः कर्म केवलम् ।
 स्थिता विगतसंरम्भमपरा इव मेरवः ॥ २०
 १० तां त्वं दृष्टिमवष्टभ्य राघवाऽघविनाशिनीम् ।
 अनहंकृत्यहंकारो विहरस्व यथाक्रमम् ॥ २१
 ११ यथाभूतामिमामेव पश्यन्सर्गपरम्पराम् ।
 मेरुस्थितोऽब्धिगम्भीरः सममास्व गतध्रमः ॥ २२
 १२ चिन्मात्रं सर्वमेवेदमित्थमाभासतां गतम् ।
 नेह सत्यमसत्यं वा क्वचिदस्ति न किञ्चन ॥ २३
 १३ महत्तामलमालम्ब्य त्यक्त्वेदमवहेलया ।
 असक्तबुद्धिः सर्वत्र भव भव्य भवक्षयी ॥ २४
 १४ किं रोदिषि घनोद्रेगं मूढवच्चानुशोचसि ।
 भ्रमस्युद्भ्रान्तचित्तश्च सौम्यावर्ते तृणं यथा ॥ २५
 श्रीराम उवाच ।
 अहो न भगवन्नूनं सम्यग्ज्ञातमलक्षयः ।
 त्वत्प्रसादात्प्रबुद्धोऽसि सूर्यसङ्गादिबाम्बुजम् ॥ २६
 भ्रान्तिरस्तं गता नूनं मिहिका शरदीव मे ।
 संशान्ताखिलसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ २७
 व्यपगतमदमोहो मानमात्सर्यमुक्तः
 श्रिरतरमुदितात्मा शान्तशोकश्चिरेण ।
 पुनरसुखमगच्छन्स्वच्छयैकान्तबुद्ध्या
 यदिह वदसि साधो तत्करिष्येऽविशङ्कं ॥ २८
 १२॥

त्रयोदशः सर्गः १३

श्रीराम उवाच ।
 सम्यग्ज्ञानविलासेन वासनाविलयोदये ।
 जीवन्मुक्तपदे ब्रह्मभूतं विश्रान्तवानहम् ॥

विविधः ॥ ९ ॥ चराचरभूतैः सहितेषु सर्वभुवनेषु ।
 विश्रान्ताः सुखिता अखिला जन्तवो यैस्तथाविधेषु । यज्ञक्रियाक-
 लापेषु गार्हस्थ्येषु च । 'अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः' ।
 'यथैव क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते । एवं सर्वाणि भूतान्य-
 मिहोत्रमुपासते' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ १० ॥ तेरुर्नस्तेरुः
 ॥ ११ ॥ परुषाणि कूपाणि क्लेशसहानि चित्तानि यासु हत-
 वित्तैः शत्रुभिरुद्धतासु परिभूतासु । द्वन्द्वरीतिषु विपत्तिवति या-
 वत् ॥ १२ ॥ १३ ॥ महदपि ऐश्वर्यमिति शेषः । कुलशैला
 हिमवदादयः ॥ १४ ॥ जलराशिरिति व्यतिरेके दृष्टान्तः ।
 'दूलेपे' इति दीर्घः ॥ १५ ॥ १६ ॥ अव्यग्राः कर्तृत्वामिनि-
 वेशरहिताः । काम्यन्त इति कामा भोगास्तल्लक्षणा मञ्जरीः कुर्व-
 न्तोऽनुभवन्तः ॥ १७ ॥ शत्रुजयादिकार्यसंपत्तौ सत्यां न उद-
 गुरुत्कर्षं प्रापुः । शत्रुभिराक्रान्ताश्च अस्तमपकर्षं नाययुः ॥ १८ ॥
 विमोहेषु विमोहहेतुषु कृच्छ्रेषु । विपदां क्रमैराक्रमणैः ॥ १९ ॥
 प्रकृत एव प्राकृतः स्वस्ववर्णोचित आचारस्तेन संप्राप्ते विषये

प्राणस्पन्दनिरोधेन वासनाविलयोदये ।

जीवन्मुक्तपदे ब्रह्मन्वद विश्रम्यते कथम् ॥ २

॥ २० ॥ अनहंकृतौ अहंकारनिष्कृष्टशुद्धचिन्मात्रे अहंकार
 आत्मबुद्धिर्यस्य तथाविधः सन् ॥ २१ ॥ यथाभूता यथास्थि-
 ताम् । मेरुरिव स्थितः स्थिरः ॥ २२ ॥ कीदृशं तद्यथाभूतदर्शनं
 तदाह—चिन्मात्रमिति ॥ २३ ॥ महतां ब्रह्माताम् ॥ २४ ॥
 ॥ २५ ॥ रामवाक्यानि स्पष्टानि ॥ २६ ॥ २७ ॥ न विद्यते
 सुखं यस्मात्तदसुखं बद्धात्मताभ्रमम् । एकान्तबुद्ध्या निश्चित-
 बुद्ध्या यत् इह अस्मिन्नपदिष्टार्थविषये दार्ढ्यसाधनं अन्यद्वा राज्य-
 परिपालनादिकर्तव्यतया वदसि तत् अविशङ्कं करिष्ये ॥ २८ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 जीवन्मुक्तसंशयनिरूपणं नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

वर्णितस्त्वबोधेन वासनाविलयक्रमः ।

प्राणरोधेन तं वक्तुं पीठिकात्रोपरच्यते ॥ ५ ॥

उपशमप्रकरणे दर्शितयोर्वासनाक्षयहेत्वोर्ज्ञानयोगक्रमयोर्मध्ये
 उत्तमाधिकारिविषयेण ज्ञानविलासेन वासनाविलयफलं प्राप्य
 कृतार्थोऽपि रामो मन्दमभ्यमाधिकारिणमुपकाराय योगक्रमे-

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

संसारोत्तरणे युक्तियोगशब्देन कथ्यते ।
तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तोपशमधर्मिणीम् ॥ ३
आत्मज्ञानं प्रकारोऽस्याः एकः प्रकटितो भुवि ।
द्वितीयः प्राणसंरोधः शृणु योऽयं मयोच्यते ॥ ४

श्रीराम उवाच ।

सुलभत्वाददुःखत्वात्कतरः शोभनोऽनयोः ।
येनावगतमात्रेण भूयः शोभो न बाधते ॥ ५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

प्रकारौ द्वावपि प्रोक्तौ योगशब्देन यद्यपि ।
तथापि रूढिमायातः प्राणयुक्तावसौ भृशम् ॥ ६
एको योगस्तथा ज्ञानं संसारोत्तरणक्रमे ।
समाधुपायौ द्वावेव प्रोक्तावेकफलप्रदौ ॥ ७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० ज्ञानविचारयोगोपदेशो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः १४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अस्ति तावदनन्तस्य तस्य कचिदयं क्लिष्टं ।
जगद्रूपः परिस्पन्दो मृगवृष्णा मराविव ॥ १

णापि वासनानाशप्रकारं जिज्ञासमानः पृच्छति—सम्यगिति
द्वाभ्याम् ॥ १ ॥ २ ॥ पृष्ठस्योत्तरं वक्तुं वसिष्ठोऽपि उपशमप्रक-
रणोक्तमेव राजयोगहठयोगप्रकारद्वयं स्मारयन्प्रतिजानीते—सं-
सारं त्रैविध्यं ॥ ३ ॥ ४ ॥ तत्र प्रथमं तयोः कतरस्य
शुकरत्वमिति विशेषं पृच्छति—सुलभत्वादिति । शोभो वि-
क्षेपः ॥ ५ ॥ प्राणयुक्तौ प्राणनिरोधे । असौ योगशब्दः ॥ ६ ॥
॥ ७ ॥ कस्यचित्सुकुमारचित्तस्य प्राणसंरोधदुःखासहिष्णोर्ह-
ठयोगोऽसाध्यः । कठोरचित्तस्य विचारकुशलस्य ज्ञाननिश्च-
योऽसाध्यः । मम शुद्धचित्तस्य विचारकुशलस्य ज्ञाननिश्चयः
सुसाध्योऽमिमत इत्यर्थः ॥ ८ ॥ विचारकुशलता हि ज्ञानाज्ञा-
नस्वरूपविवेकासामर्थ्यं स्यात् । तत्तु प्रमाणकुशलस्य स्वप्नेऽप्यसं-
भानितनित्याशयेनाह—अज्ञानमिति । प्रवर्तते स्वत एव प्रपते ।
तथाचाज्ञानस्य सदैव साक्षिणा प्रसिद्धत्वाज्ज्ञानस्य च स्वप्रकाश-
तया स्वतः प्रसिद्धेर्वैधर्म्यस्य चानुभवादेव प्रसिद्धेर्विवेकस-
म्भवाज्ज्ञानं शुकर योगस्तु न त्वेति शुकर इति भावः ॥ ९ ॥
प्रशस्तदेशकालविषयादिबाधहेतुतापेक्षत्वादपि योगो शुकर
इत्याह—धारणेति । धारणादेशो बाधो गिरिकूटचन्द्रतारा-
दिर्हृदयकण्ठतालमूलधूमध्यादिश्च । आसनदेशस्तु 'समे शुचौ
शर्कराद्विचालुमविजले शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोमुकुले
न तु चक्षुषीदने शुशानिरुद्धाश्रये प्रयोजयेत् ॥' इति श्रुति-
स्मृतिशास्त्रप्रतिद्वलत्वात्साध्यत्वेन योगः सुसाध्यतां नायाति ।
निस्त्याजाना मन्दमतीनां मूर्खाणां पुष्पापसदानामिव न धीरस्य

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।
मम त्वमिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः ॥ ८
अज्ञानं पुनरज्ञानं स्वप्नेऽपि न तद्भवेत् ।
ज्ञानं सर्वोत्पत्त्यासु नित्यमेव प्रवर्तते ॥ ९
धारणासनदेशादिसाध्यत्वेन सुसाध्यताम् ।
नायाति योगो ह्यथवा विकल्पो नैव शोभनः ॥ १०
द्वावेव क्लिष्टाश्लोकौ ज्ञानयोगौ रघूद्विद ।
तत्रोक्तं भवते ज्ञानमन्तस्थं हेयनिर्मलम् ॥ ११
प्राणापानतया रूढो दृढदेहशुहाशयः ।
अनन्तसिद्धिदः साधो योगोऽयं बुद्धिदः शृणु ॥ १२
मुखासिलस्फुरणनिरोधसंभव-
स्थितिं गतो नृपसुत चेतसाऽक्षये ।
समाहितस्थितिरिदं योगयुक्तितः
पदे पदे प्रगलितगीर्निवत्स्यसि ॥ १३

तत्र कारणतां यातो ब्रह्मा कमलसंभवः ।
स्थितः पितामहत्वेन सृष्टभूतभरभ्रमः ॥ २
तस्याहं मानसः पुत्रो वसिष्ठः श्रेष्ठचेष्टितः ।

समर्थस्य यतमानस्याधिकारिणः शास्त्रीये साधने सुसाध्यत्वक-
ष्टसाध्यत्वविकल्पचिन्ता युक्त्याह—अथचेति ॥ १० ॥ एवम-
वान्तरप्रश्नं निरस्य पूर्वप्रश्नोत्तरं वक्तुमुपक्रमते—द्वावित्यादिना
॥ ११ ॥ प्राणापानतया प्राणापानयोः समतासपत्तिरूपेण
रूढः प्रसिद्धः सिद्धिकामानां खेचरत्वाद्यनन्तसिद्धिदः । ज्ञान-
कामानां तु बुद्धिदः साक्षात्कारहेतुः । अतस्तं शृण्वित्यर्थः
॥ १२ ॥ तमेव समाधिसुखविश्रान्तिफलकीर्तनेनापि प्ररोचय-
त्वाह—मुखेति । हे नृपसुत, त्वं चेतसा उद्युक्तचित्तेन मुखानि-
लस्य प्राणस्य यत्स्फुरणं संवरणं तच्चिरोधेन संभवति सिद्ध्यति
तथाविधां स्थितिं प्रतिष्ठां गतः सन् इह प्रलम्बे अक्षये पदे
पदे योगश्चित्तवृत्तिनिरोधस्तदभ्यासयुक्तितः समाहितस्थितिः
सन् विगलितगीर्वाणगोचरनिरतिशयानन्दरूपो भूत्वा निवत्स्यसि
स्यास्यसि ॥ १३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे ज्ञानविचारयोगोपदेशो नाम त्रयोदशः
सर्गः ॥ १३ ॥

सुरसंसृष्टवस्त्रात्र भुञ्जुग्धस्य दिदक्षया ।

वसिष्ठगमनं मेरुस्तच्छृङ्गं चात्र वपर्थते ॥ १ ॥

प्रसृतं प्राणायामादियोगकर्मं मुमुक्षुदोकिप्रपद्यनेन विस्तार-
दर्शयिष्यन् मुमुक्षुणाख्यायिकामारभते—अस्तीत्यादिना । तस्य
योगविश्रान्तिस्थानत्वेन वर्णितस्य परमपदस्य कचिदविद्यावृत्त-
प्रदेशे 'पद्मोऽस्य विष्वा भूतानि' इति श्रुतेर्जगद्रूपो ब्रह्माण्डाकारः
परिस्पन्दो विवर्तः ॥ १ ॥ तत्र ब्रह्माण्डे मनुप्रजापतिप्रभृतीनां
कारणतां यातः ॥ २ ॥ ऋक्षत्रके नक्षत्रके सप्तर्षिलोके ।

क्रक्षचक्रे ध्रुवधृते निवसामि युगं प्रति ॥ ३ ॥
 सोऽहं कदाचिदास्थाने स्वर्गे तिष्ठञ्छतक्रतोः ।
 श्रुतवाग्धारदादिभ्यः कथां सुचिरजीविनाम् ॥ ४ ॥
 कथाप्रसङ्गे कस्मिंश्चिदथ तत्राभ्युवाच ह ।
 शातातपो नाम मुनिर्मौनी मानी महामतिः ॥ ५ ॥
 मेरोरीशानकोणस्थे पद्मरागमये दिवि ।
 अस्ति कल्पतरुः श्रीमाञ्छुङ्गे चूत इति श्रुतः ॥ ६ ॥
 तस्य कल्पतरोर्मूर्ध्नि दक्षिणस्कन्धकोटरे ।
 कलधौतलताप्रोते विद्यते विहगालयः ॥ ७ ॥
 तस्मिन्निवसति श्रीमान्भुशुण्डो नाम वायसः ।
 वीतरागो बृहत्कोशे ब्रह्मेव निजपङ्कजे ॥ ८ ॥
 स यथा जगतां कोशे जीवतीह सुराश्विरम् ।
 चिरंजीवी तथा स्वर्गे न भूतो न भविष्यति ॥ ९ ॥
 स दीर्घायुः स नीरागः स श्रीमान्स महामतिः ।
 स विश्रान्तमतिः शान्तः स कान्तः कालकोविदः ॥ १० ॥
 स यथा जीवति खगस्तथेह यदि जीव्यते ।
 तद्भवेज्जीवितं पुण्यं दीर्घं चोदयमेव च ॥ ११ ॥
 इति तेन भुशुण्डोऽसौ भूयः पृष्टेन वर्णितः ।
 यथावदेव देवानां सभायां सत्यमुक्तवान् ॥ १२ ॥
 कथावसरसंशान्तावथ याते सुरपञ्चजे ।
 भुशुण्डं विहगं द्रष्टुमहं यातः कुतूहलात् ॥ १३ ॥
 भुशुण्डः संस्थितो यत्र मेरोः शृङ्गं तदुत्तमम् ।
 संप्राप्तवान्क्षणेनाहं पद्मरागमयं बृहत् ॥ १४ ॥
 रत्नगैरिककान्तेन तेजसा वह्निर्वर्चसा ।

मध्वासवरसेनेव रञ्जयत्ककुभां गणम् ॥ १५ ॥
 कल्पान्तज्वलनोज्ज्वालापिण्डाद्रिमिव संचितम् ।
 इन्द्रनीलशिखाधूममालोकारुणिताम्बरम् ॥ १६ ॥
 सर्वेषामेव रागाणां राशिमद्राविव स्थितम् ।
 सर्वसंध्याभ्रजालानां घनमेकसिवाकरम् ॥ १७ ॥
 उत्क्रान्तिं कुर्वतो मेरोर्ब्रह्मनाड्येव निर्गतम् ।
 मूर्धानमागतं कान्तं वाडवं जठरानलम् ॥ १८ ॥
 सुमेरुवनदेव्येव नवालक्तकरञ्जितम् ।
 लीलयाऽऽदातुमिन्दुं खे नीतं हस्तशिखाङ्गुलिम् ॥ १९ ॥
 ज्वालाभिरिव मालाभिररुणाभिः पयोमुखम् ।
 खं गन्तुमिव सस्पन्दं शैलस्थमिव वाडवम् ॥ २० ॥
 ताराः स्पष्टमिवाकाशमङ्गुलीभिरिव त्रिभिः ।
 कचदंशुनखाग्राभिः परिचुम्बदिवोज्ञतम् ॥ २१ ॥
 गर्जजीमूतमुरजं भूभूतानां तु मण्डपम् ।
 हस्तकुसुमगुच्छाढ्यं ध्वनत्पदपदपेटकम् ॥ २२ ॥
 दन्ततालदलावल्या परिहासादिव स्फुरत् ।
 दोलालोलाप्लसरोवृन्दमुदारमदमन्मथम् ॥ २३ ॥
 शिलाविश्रान्तविबुधमिथुनाश्रितकन्दरम् ।
 वराम्बराजिनं शुभ्रगङ्गायज्ञोपवीति च ॥ २४ ॥
 तापसं पिङ्गलमिव वेणुदण्डधरं स्थितम् ।
 गङ्गानिर्झरनिर्होदि लतागृहगतामरम् ॥ २५ ॥
 गन्धर्वगीतसुभगमामोदमधुरानिलम् ।
 फुल्लहेमाम्बुजोत्तंसं तारारत्नविभूषितम् ।
 व्योम्नः पारमिव प्राप्तं पिङ्गलं मैरवं शिरः ॥ २६ ॥

युगशब्देन युगसमूहो वैवस्वतमन्वन्तरं लक्ष्यते ॥ ३ ॥ शत-
 क्रतोरिन्द्रस्य आस्थाने समायाम् ॥ ४ ॥ मौनी अल्पभाषिता ।
 मानी माननार्हः प्रमाणकुशलश्च ॥ ५ ॥ यदुवाच तदाह—
 मेरोरित्यादिना । पद्मरागमये शृङ्गे दिवि नभोदेशे चूत इति
 श्रुतो विश्रुतः कल्पतरुस्ति ॥ ६ ॥ कलधौते हेमरूप्ये तन्म-
 यीभिः कल्पलताभिः प्रोते ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ यतो विश्रान्त-
 मतिरत एव शान्तः ॥ १० ॥ तत्तथाविधं दीर्घं जीवितं सा-
 धनदशायां पुण्यं फलदशायामुदयं परमपुरुषार्थाभ्युदययुक्तं च
 भवेत् । संभावनायां लिङ् ॥ ११ ॥ भूयोऽपि मया पृष्टेन तेन
 शातातपेन इति उक्तप्रकारेणैव भुशुण्डो वर्णितः । तदुक्तेः
 प्रशंसामात्रत्वशङ्कां कारयति—सत्यमुक्तवानिति ॥ १२ ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥ तदेव शृङ्गं वर्णयति—रत्नेत्यादिना । रत्नगैरिकैश्च का-
 न्तेन । मध्वासवरप्रयुक्तेन रसेन मदेनेव ककुभां दिशां गणं रञ्जयत्
 लोहितीकुर्वत् । क्षीवा हि लोहितायमानाः प्रसिद्धाः ॥ १५ ॥
 कल्पान्तज्वलनादुद्गतानां ज्वालानां पिण्ड एवाद्रिः संपन्न इवे-
 त्युपेक्षा । संचितं शोभोपचितम् । इन्द्रनीलानां शिखा इव
 ऊर्ध्वप्रसृताः प्रभा एव धूमा यत्येत्युपेक्षायामुपपत्तिः ॥ १६ ॥
 सर्वेषां रागाणां लौहित्यानां सर्वेषां प्राणिनां रागाणां दर्शने-

च्छानां वा ॥ १७ ॥ ब्रह्मनाड्या सुषुम्नया उत्क्रान्तियोगेन
 ब्रह्मरन्ध्रं भित्त्वा निर्गमनं कुर्वतश्चिकीर्षतो मेरोर्जठराभिर्गतं
 मूर्धानं शिरःप्रदेशमागतं वाडवं वडवाभिकल्पं जठरानलमिव
 स्थितमित्युपेक्षा ॥ १८ ॥ सुमेरुवनदेव्या लीलया क्रीडा-
 कौतुकेन इन्दुमादातुं प्रहीतुं खे नीतं प्रसारितमलक्तकरसर-
 जितं हस्तस्य शिखावत्संहतमङ्गुलिजातमिव ॥ १९ ॥ माला-
 भिरिव प्रथिताभिर्ज्वालाभिः खं गन्तुमिव सस्पन्दं चलितमत
 एव शैलस्थं पर्वतमारुढं हव्यवाहकत्वादभिहोत्राद्याहुतिपयो
 मुखे यस्य तथाविधं वाडवं ब्राह्मणसंबन्धिनमध्वराभिमिव स्थि-
 तम् । शृङ्गपक्षे पयो निर्झरोदकं मुखे अग्रभागे यस्य ॥ २० ॥
 कचद्रजांशुनखाग्राभिस्त्रिभिः शृङ्गाग्राङ्गुलिभिस्तारा अश्विन्यादीः
 स्पष्टं स्पष्टा गणयितुमिव आकाशं परिचुम्बत् व्यामुवदित्र उच्च-
 तम् ॥ २१ ॥ मुरजा वाद्यभेदाः । भुजा वनभूम्या मृतानां
 पुष्टानां वनलक्ष्मीणां नृत्यमण्डपमिव स्थितम् । ध्वनत्पदपदपेटकं
 भ्रमरसमूहो यस्मिन् ॥ २२ ॥ दन्तपङ्क्तिवद्विकसन्त्या तालप-
 त्राणामावल्या पङ्क्त्या । उदारौ मदमन्मथौ सर्वप्राणिनां यस्मिन्
 ॥ २३ ॥ तापसत्वेनोत्प्रेक्षते—वरेति ॥ २४ ॥ २५ ॥ पारं

सितहरितपीतपाटल-

धवलैर्वनकुसुमराशिनवरङ्गैः ।

दिवि विहितामलचित्रं

लीलाचलममरयुवतिवर्गस्य ॥

२७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकि-मोक्षो-निर्वाणप्र- पू- भुशुण्डोपाख्याने मेरुशिखरवर्णनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

पञ्चदशः सर्गः १५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

कुसुमापूर्णकल्पाभ्रकुन्तले तस्य मूर्धनि ।
 कल्पाङ्गमहमद्राक्षं शाखाचक्रमिव स्थितम् ॥ १
 पुष्परेणवभ्रवलितं रत्नस्तवकदन्तुरम् ।
 उत्सेधनिर्जिताकाशं शृङ्गे शृङ्गमिवापितम् ॥ २
 ताराद्विगुणपुष्पौघं मेघद्विगुणपल्लवम् ।
 रश्मिद्विगुणरेणवभ्रं तडिद्विगुणमञ्जरीम् ॥ ३
 स्कन्धेषु किन्नरीगीतद्विगुणध्रमरस्वनम् ।
 दोलालोलाप्सरोलोकद्विगुणीकृतपल्लवम् ॥ ४
 सिद्धगन्धर्वसंघातद्विगुणोत्थविहंगमम् ।
 रत्नकान्त्यच्छनीहारद्विगुणत्वग्भृतांशुकम् ॥ ५
 चन्द्रविम्बसमाश्लेषद्विगुणाङ्गवृद्धफलम् ।
 मूलसंलीनकल्पाभ्रद्विगुणीकृतपर्वकम् ॥ ६
 सुरसंवलितस्कन्धं पत्रविश्रान्तकिन्नरम् ।
 निकुञ्जकुञ्जजीमूतं कच्छसुप्तसुरादिकम् ॥ ७
 स्वाकारविपुलं भृङ्गानुत्सार्य वलयस्वनैः ।
 अप्सरोभ्रमरीभिश्च गृहीतकुसुमान्तरम् ॥ ८

अर्धवधिम ॥ २६ ॥ सितहरितादिवर्णैर्वनकुसुमराशिलक्षणेः
 प्रतिदिनं नवे रङ्गे रत्नकद्रव्यैर्दिवि व्योम्नि विहितानि लिखितानीव
 अमलानि चित्राणि येन तथाविधममरयुवतिवर्गस्य लीलाचलं
 क्रीडापर्वतभूतं मेरुं शिरः शृङ्गमहं सप्राप्तवानिति प्राक्तनचतु-
 र्दशश्लोकेन सर्वेषामन्वयः ॥ २७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे मेरुशिखरवर्णनं नाम चतु-
 र्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

शृङ्गे कल्पतरुश्रूतः पुष्पपक्ष्यादिसंपदः ।

स्कन्धे काककुलं तत्र भुशुण्डश्चेह वर्ण्यते ॥ १ ॥

कुसुमापूर्णानि कल्पाभ्राण्येव कुन्तलाः केशा यस्मिन्तथाविधे
 तस्य शृङ्गस्य मूर्धनि शिरोदेशे प्राणिनामभिलषितार्थपूरणाव-
 कल्पन्त इति कल्पान्यङ्गानि शाखाचक्रमिव स्थितम् । परं वैचित्र्यमा-
 गतमित्यन्तद्वादशश्लोकविशेषणविशिष्टमर्थात् शातावपोक्तं चू-
 ततरुमहमद्राक्षमिति संवन्धः ॥ १ ॥ पुष्परेणुलक्षणेऽर्धवलितं
 व्याप्तम् । उत्सेध औग्रस्यम् । शृङ्गे प्रावर्णितमेरुशृङ्गे ॥ २ ॥
 न केवलमुत्सेधेनैव निर्जिताकाशं किन्तु ताराद्विगुणपुष्पौघा-
 दिनापीत्याह—तारेति । तडिद्विगुणमञ्जरीमिति 'नशृतश्च' इति
 कपि 'न कपि' इति हस्तिनिषेधश्चन्द्रस्य कपो लोपः ॥ ३ ॥ दो-
 लालोलाप्सरोलोकनामोष्ठरपदपल्लवैर्द्विगुणीकृतपल्लवम् ॥ ४ ॥

सुरकिन्नरगन्धर्वविद्याधरवरान्वितम् ।
 जगज्जालमिवानन्तदशाशाकाशपूरकम् ॥ ९
 नीरन्ध्रकलिकाज्जालं नीरन्ध्रमुदुपल्लवम् ।
 नीरन्ध्रविकसत्पुष्पं नीरन्ध्रवनमालितम् ॥ १०
 नीरन्ध्रमञ्जरीपुष्पं नीरन्ध्रमणिगुच्छकम् ।
 नीरन्ध्रांशुकरज्जाड्यं लताविलसनाकुलम् ॥ ११
 सर्वत्र कुसुमापूरैः सर्वत्र फलपल्लवैः ।
 सर्वामोदरजःपुञ्जैः परं वैचित्र्यमागतम् ॥ १२
 तस्य कक्षेषु कुञ्जेषु लतापत्रेषु पर्वसु ।
 पुष्पेष्वालयसंलीनान्विहगान्दृष्टवानहम् ॥ १३
 निशानाथकलाखण्डमृणालशकलैर्धितान् ।
 अर्जुनाभ्मोजिनीकन्दकवलान्ब्रह्मसारसान् ॥ १४
 विरंचेरथ हंसानां पोतकान्सामगायिनः ।
 अकारवेदसुहृदो ब्रह्मविद्यानुशासनान् ॥ १५
 उद्गीर्णमन्त्रनिचयान्स्वाहाकारनिमस्वनान् ।
 अस्थिनैकतडित्पुञ्जनीलमेघसमोपमान् ॥ १६

कामरूपत्वात्सैरविहारार्थं कृतविहङ्गमवेषैः सिद्धगन्धर्वसंघातै-
 र्द्विगुणं यथा स्यात्तथा सन्धा निष्पन्ना विहङ्गमा यस्मिन् । रत्न-
 कान्तिलक्षणया अच्छनीहारद्विगुणया त्वचा वृतांशुकं परिहित-
 वस्त्रमिव स्थितम् ॥ ५ ॥ औग्रस्यतिशयेन चन्द्रविम्बसमाश्ले-
 षादमृतरसपूर्णेव द्विगुणाङ्गानि अतएव वृहन्ति फलानि यस्य ।
 स्कन्धमूलेषु संलीनैः कल्पाभ्रैर्द्विगुणीकृतानीव पर्वणि यस्य
 ॥ ६ ॥ ७ ॥ अप्सरोलक्षणभ्रमरीभिर्वलयस्वनैः कटककणितै-
 र्भृङ्गानुत्सार्य गृहीताः कुसुमानामान्तरा मकरन्दाः यस्य । चकारः
 प्राक्तनविशेषणैरस्य समुच्चयार्थः ॥ ८ ॥ जगज्जालं ब्रह्माण्ड-
 मिव स्थितम् । अनन्तानामनवधीनां दशानामाशानां दिशां
 परिपूरकम् ॥ ९ ॥ १० ॥ अंशुकैर्दिव्यवस्त्रै रत्नैश्चाड्यमिवा-
 र्थिकामप्रपूरकम् । लतानां विलसनं लास्यम् ॥ ११ ॥ १२ ॥
 कक्षेषु स्कन्धशाखासंधिषु कुञ्जेषु लतावृत्तशाखाप्रेषु ॥ १३ ॥
 विहङ्गेषु विशेषमाह—निशानाथेति । निशाकरकलानां खण्डा
 मृणालशकलानीव तैरेधितान्वर्धितान् तथा अर्जुनाः शुभ्रा
 अभ्मोजिनीकन्दा अपि कवलानि आसा येषां तथाविधान् ब्रह्म-
 वाहनभूतान्तरसान् हंसान् ॥ १४ ॥ अकारस्य वेदानां च
 रहस्यार्थालोचनसहायत्वात्सुहृदो मित्रभूतान् परापरब्रह्मविद्यास्व-
 नुशासनं शुभमुखाद्विधिनाध्ययनं येषाम् ॥ १५ ॥ अग्निवाहन-
 शुक्रांस्तत्र वर्णयति—उद्गीर्णैस्तादिना । अस्थि शङ्खः नैकान्येन-

देवैर्निरीक्षितान्नित्यं यज्ञवेदिलतादलान् ।
 शुक्रान्काशानवाञ्छयामाञ्छिशूञ्छिखिशिखा-
 शिखान् ॥ १७
 गौरीरक्षितबह्वैधान्कौमारान्वरबर्हिणः ।
 स्कन्दोपन्यस्तनिःशेषशैवविज्ञानकोविदान् ॥ १८
 व्योम्नैव जातनष्टानां महतां व्योमपक्षिणाम् ।
 बन्धूनाबद्धनिलयाञ्छरदध्रसमाकृतीन् ॥ १९
 विरंचिहंसजानन्यानन्यानग्निशुकोद्भवान् ।
 कौमारबर्हिजानन्यानन्यानम्बरपक्षिजान् ॥ २०
 द्वितुण्डांश्च भरद्वाजान्हेमचूडान्विहंगमान् ।
 कलविङ्कबलान्गृध्रान्कोकिलान्कौञ्चकुक्कुटान् ॥ २१
 भासचाषबलाकादीन्बहूनन्यांश्च राघव ।
 भूतौघं जगतीवाहं दृष्ट्वांस्तत्र पक्षिणः ॥ २२
 दक्षिणस्कन्धशाखायां स्थितायां वै दवीयसि ।
 अथाहं दृष्ट्वान्पुष्टपत्रायामम्बरस्थितः ॥ २३
 काले काकोलवलयं मञ्जरीजालमालितम् ।
 लोकालोकाचलेऽरण्ये कल्पाभ्रौघमिव स्थितम् ॥ २४
 तत्र पश्याम्यहं यावदेकान्ते स्कन्धकोटरे ।
 विचित्रकुसुमास्तीर्णे विविधामोदशालिनि ॥ २५
 पुण्यकृत्योषितां स्वर्गे प्रियस्तवकवासिताः ।

अपरिश्रुभिताकाराः सभायां वायसां स्थिताः ॥ २६
 विमेद्यमेघा घातेन समेनेवापसारिताः ।
 तेषां मध्ये स्थितः श्रीमान्भुशुण्डः प्रोक्षताकृतिः ॥ २७
 मध्ये च काचखण्डानामिन्द्रनील इवोन्नतः ।
 परिपूर्णमना मानी समः सर्वाङ्गसुन्दरः ॥ २८
 प्राणस्पन्दावधानेन नित्यमन्तर्मुखः सुखी ।
 चिरंजीवीति विख्यातश्चिरजीवितया तया ॥ २९
 जगद्विदितदीर्घायुर्भुशुण्ड इति विश्रुतः ।
 युगागमापायदशादर्शनप्रौढमानसः ॥ ३०
 प्रतिकल्पं च गणयन्निखलश्चक्रपरम्पराम् ।
 जन्मनां लोकपालानां शर्वशक्रमरुत्वताम् ॥ ३१
 संसर्ता समतीतानां सुरासुरमहीभृताम् ।
 प्रसन्नगम्भीरमनाः पेशलः स्निग्धमुग्धवाक् ॥ ३२
 अव्यक्तवक्ता विज्ञाता निर्ममो निरहंकृतिः ।
 सुहृद्वन्धुस्तथा मित्रं मृत्युपुत्रो गुरुप्रभुः ।
 सर्वदा सर्वथा सत्यं सर्वं सर्वस्य संस्तवे ॥ ३३
 सौम्यः प्रसन्नमधुरो रसवान्महात्मा
 हृद्यः सरोवर इवान्तरखण्डशैत्यः ।
 हृत्पुण्डरीककुहरं व्यवहारवेत्ता
 गाम्भीर्यमच्छमजहात्प्रकटाशयश्रीः ॥ ३४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे ५० भुशुण्डोपाख्याने भुशुण्डदर्शनं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः १६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ तस्याहमपतं दीप्यमानवपुः पुरः ।

कानि तद्विपुञ्जानि नीलमेघाश्च वर्णतः समा उपमा येषाम् ॥ १६ ॥ यज्ञवेदिषु आस्तीर्णानां हरितकुशलतानां दलानीव
 श्यामान् हरितान् कृशानुरभिस्तद्वाहनभूतान् शुक्रानहं दृष्ट्वा-
 निति सर्वत्रानुषज्यते । मयूरपोतान्वर्णयति—शिशूनिलयादिना ।
 शिखिनः अग्नेः शिखेव भास्वराः शिखा येषाम् ॥ १७ ॥ १८ ॥
 व्योम्नैव जातानां तत्रैव नष्टानां मरणपर्यन्तं भूमावनवतरतां
 अत एव बलाधिक्यान्महतामत एव व्योमपक्षिणाश्च प्रसिद्धानां
 पक्षिजातिभेदानां निलं क्रीडासहायत्वाद्बन्धून् भावद्वनिलयान्
 कृतनीडान् ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ भूतौघं प्राणिजातम् ।
 तत्र तस्मिन्नुक्षे ॥ २२ ॥ पुष्टानि घनानि पत्राणि यस्याः
 ॥ २३ ॥ काले दक्षिणशाखादर्शनानन्तरकाले काकोला द्रोणका-
 काख्याः काकजातिभेदास्तेषां वलयं मण्डलम् । कल्पाभ्राणि
 संवर्तमेघास्त्वदोघमिव स्थितम् ॥ २४ ॥ २५ ॥ पुण्यकृतां
 जनानां योषितां योग्यानामप्सरसां स्वर्गे रतिसुखभोगयोग्ये
 स्कन्धकोटरे इति पूर्वेणान्वयः । शान्त्यादिगुणशालित्वादपरिश्रु-
 भिताकाराः ॥ २६ ॥ मेघा घातेन, वायुना समेन समभागेन
 विभेद्य छित्त्वा अपसारिताः कोटरे प्रवेष्टिता इव ॥ २७ ॥
 मानी मान्यः ॥ २८ ॥ प्राणस्पन्दस्यावधानेन निरोधेन । तया
 यो० वा० १०२

किञ्चिद्विक्षोभितसमः खान्नक्षत्रमिवाचले ॥ १

प्रसिद्धतमया ॥ २९ ॥ ३० ॥ लोकपालप्रायपाठात् शर्वा
 ईशानाः शक्रा इन्द्राः मरुत्वन्तो मरुत्सखा अभयस्तेषां जन्मनां
 चक्रपरम्परां गणयन् खिन्नो निर्विण्णः ॥ ३१ ॥ पेशलश्चतुरः
 ॥ ३२ ॥ अव्यक्तानामस्फुटानां सूक्ष्मतत्त्वार्थानां, स्फुटीकृत्य
 वक्ता । यतस्तेषां विज्ञाता मूलोः पुत्र इव परमप्रियः । बुद्ध्या गुरो-
 र्बृहस्पतेरपि प्रभुः समर्थः । कुतोऽयं सर्वेषां सुहृदादिस्तत्राह—
 सर्वदेति । यतोऽयं सर्वस्य प्राणिजातस्य सर्वारोपाधिष्ठानत्वा-
 त्सर्वथा सर्वप्रकारेणापि सर्वदा सत्यं सर्वस्य संस्तवे वर्णनप्रसङ्गे
 च सर्वमत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ पक्षद्वयेऽपि विशेषणानि स्पष्टानि ।
 हृत्पुण्डरीकस्य कुहरं । दहराकाशरूप इत्यर्थः । तस्य भूताकाश-
 शङ्कावारणायाह—व्यवहारवेत्तेति । सरःपक्षे हृदि मध्ये पुण्ड-
 रीकाणामाधारभूतं कुहरं निखातं यस्य । वयः पक्षिणस्तेषामव-
 हारो विश्रान्तिस्तद्वेत्ता । निर्मलतमत्वात्प्रकटाशयश्रीः ॥ ३४ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 भुशुण्डदर्शनं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

पुरःप्रासवसिष्ठेन पूजितेनासनादिभिः ।

भुशुण्डजन्मकर्मादेः कृतः प्रश्नोऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

अथ अहं तस्य भुशुण्डस्य पुरः खातु अचले नक्षत्रमिव अपतं

क्षुक्षोभ वायसास्थानं नीलोत्पलसरःसमम् ।
 मत्पातमन्दवातेन भूकम्पेनेव सागरः ॥ २
 अशङ्कितमपि प्राप्तं दर्शनान्मामनन्तरम् ।
 भुशुण्डस्तु वसिष्ठोऽयं प्राप्त इत्यवबुद्धवान् ॥ ३
 यत्रपुञ्जात्समुत्तस्थौ मेघशाव इवाचलात् ।
 हे मुने स्वागतमिति प्रोवाच मधुराक्षरम् ॥ ४
 संकल्पमात्रजाताभ्यां कराभ्यां कुसुमाञ्जलिम् ।
 महामाशु तदैवादान्मेघो हैमसिवोत्करम् ॥ ५
 इदमासनमित्युक्त्वा नवं कल्पतरुच्छदम् ।
 उपानीतवति त्यक्तभृत्ये वायसनायके ॥ ६
 भुशुण्ड उत्थिते स्वीयकलापक्षेषु पक्षिषु ।
 उपविष्टं मुनिं दृष्ट्वा स्वासनोन्मुखदृष्टिषु ॥ ७
 समन्तात्खगवृन्देन भुशुण्डेन समं ततः ।
 तस्मिन्कल्पलतापुञ्जे ह्युपविष्टोऽहमासने ॥ ८
 अर्धपाद्यादि संपाद्य भुशुण्डस्तुष्टमानसः ।
 प्रामुखाच्च महातेजाः सौहृदान्मधुराक्षरम् ॥ ९
 भुशुण्ड उवाच ।

अहो भगवताऽस्माकं प्रसादो दर्शितश्चिरात् ।
 दर्शनामृतसेकेन यत्सिक्ताः सद्गुमा वयम् ॥ १०
 मत्पुण्यचिरंभारप्रेरितेन त्वयाधुना ।
 मुने मान्यैकमान्येन कुतश्चागमने कृतम् ॥ ११
 कश्चिदस्मिन्महामोहे चिरं विहरतस्तव ।
 अखण्डितैव समता स्थिता चेतसि पावने ॥ १२
 किमर्थमथागमनकेशेनात्मा कदर्थितः ।
 वचनश्रवणोत्कानामाहां नो चकुर्महसि ॥ १३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे०/मोक्षोपनिषु निर्वाणप्रकरणे पू० वसिष्ठभुशुण्डसमायोगो नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

त्वत्पाददर्शनादेव सर्वं ज्ञातं मया मुने ।
 त्वदागमनपुण्येन वयमायोजितास्तवया ॥ १४
 चिरंजीवितचर्चाभिर्वैयं वः स्मृतिमागताः ।
 तेनेदमास्पदं पादैस्त्वं पवित्रितवानयम् ॥ १५
 ज्ञातत्त्वदागमोऽप्येवं त्वां पृच्छामीह यन्मुने ।
 भवद्वाक्यामृतास्वादवाञ्छितं प्रविजृम्भते ॥ १६
 इत्युक्तवानसौ पक्षी भुशुण्डश्चिरजीवितः ।
 त्रिकालामलसंवेदी तत्र प्रोक्तमिदं मया ॥ १७
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।

विहंगम महाराज सत्यमेतत्त्वयोच्यते ।
 द्रष्टुमभ्यागतोऽस्म्यद्य त्वामेव चिरजीवितम् ॥ १८
 आशीतलान्तःकरणो दिष्ट्या कुशलवानसि ।
 पतितोऽसि न बुद्धात्मा भीषणां भवचागुराम् ॥ १९
 तदेतं संशयं छिन्धि भगवन्मम सत्यतः ।
 कस्मिन्कुले भवाज्जातो ज्ञातव्येयः कथं भवान् ॥ २०
 कियदायुश्च ते साधो वृत्तं सरसि किंच वा ।
 केनायं वा निवासस्ते निर्दिष्टो दीर्घदर्शिनः ॥ २१

भुशुण्ड उवाच ।
 यत्पृच्छसि मुने सर्वं तदिदं वर्णयाम्यहम् ।
 अनुद्वेगितया यत्तात्कथा श्राव्या महात्मना ॥ २२
 युष्मद्विधास्त्रिभुवनप्रभुपूज्यरूपा
 आकर्णयन्ति यमुदारधियो महान्तः ।
 तेनाशुभं प्रकथितेन विनाशमेति
 मेघास्पदेन विभवेन यथार्कतापः ॥ २३

अवातरम् ॥ १ ॥ किञ्चिद्विशोभितसम इत्येतद्विशृणोति—
 क्षुक्षोमेति । वायसानामास्थानं सभा ॥ २ ॥ अशङ्कितमवितर्कि-
 तासंभावितागमनमपि मां प्राप्तम् । अवबुद्धवान् त्रिकालदर्शि-
 त्वादेवेति भावः ॥ ३ ॥ मेघशावः सूक्ष्मो मेघ इवेति यावत्
 ॥ ४ ॥ तदैव स्वागतोक्तिक्कल एव । हिमनेव हैमं शिशिरमा-
 सारोत्करमेव ॥ ५ ॥ त्यक्तभृत्ये । मूलद्वारा आसनानयनमकृत्वा
 स्वयमेवासनमादरादुपानीतवदीत्यर्थः ॥ ६ ॥ उत्थितान्तं पूर्वा-
 न्वयि । स्वीयाः कलाः कान्ताय इव प्रसरन्तः पक्षा येषां तथा-
 विधेषु पक्षिषु तत्संभावायसेषु ॥ ७ ॥ ततस्तदनन्तरमहं
 भुशुण्डेन सममुपविष्टः ॥ ८ ॥ ९ ॥ प्रसादोऽनुग्रहः ।
 सद्गुमाः पुण्यवृक्षायमणाः कल्पवृक्षसहिता वा । वयमिति
 नेकदृष्टान्तिताद्योतनाय 'आसाख्यायाम्-' इति बहुवचनम्
 ॥ १० ॥ कुतः कस्मादप्रदेशात् ॥ ११ ॥ महामोहे
 ल्लक्षणकार्ये जगति ॥ १२ ॥ आज्ञापनवचनश्रवणे

उत्कानामुत्कण्ठितानां तः । आज्ञां आज्ञाप्यमर्थम् ॥ १३ ॥
 १४ ॥ सर्वं ज्ञातमिति यदुक्तं तदैव स्फुटयति—चिरमिति ।
 चिरं जीवितं येषां तद्विषयाभिधर्चाभिर्विचारणामिन्द्रसभायां
 जाताभिः ॥ १५ ॥ यदि ज्ञातस्तर्हि किमर्थं पृच्छसि तत्राह—
 भवद्वाक्येति ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ पतितः प्रविष्टः ॥ १९ ॥
 भगवन् 'उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् । चेत्ति
 विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥' इत्युक्तज्ञानसंपन्नः
 ॥ २० ॥ वृत्तमतिक्रान्तकल्पान्तचरित्रम् । अयं एतद्वक्षरूपो
 निवसत्यस्मिन्निति निवासः ॥ २१ ॥ श्राव्या श्रोतव्या ॥ २२ ॥
 यं वृत्तान्तं युष्मद्विधा आकर्णयन्ति तेन वृत्तान्तेन प्रकथितेन
 वक्तृणामन्येषां च श्रोतृणामशुभं विनाशमेति । यथा मेघा-
 स्पदेन वृष्टिच्छायावनादिविभवेनार्कतापो विनाशमेति तद्वत्
 ॥ २३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्र-
 करणे पूर्वार्धे वसिष्ठभुशुण्डसमायोगो नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

सप्तदशः सर्गः १७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ राम भुशुण्डोऽसौ न प्रहृष्टो न वक्रधीः ।

सर्वाङ्गसुन्दरः श्यामः प्रावृषीव पयोधरः ॥ १

स्निग्धगम्भीरवचनः स्मितपूर्वाभिभाषणः ।

करस्थविल्वफलवत्प्रतोलितजगत्त्रयः ॥ २

तृणवद्दृष्टसकलः प्रमेयीकृतसंसृतिः ।

लोकाजवं जवीभावे दृष्टज्ञानपरावरः ॥ ३

धीरस्थिरमहाकारो विश्रान्ति गतमन्दरः ।

परिपूर्णमनाः शुद्धः क्षीरार्णव इवागतः ॥ ४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० भुशुण्डोपाख्याने भुशुण्डस्वरूपवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

परिविश्रान्तधीः शान्तः परमानन्दधूर्णितः ।

आविर्भावतिरोभावतज्ज्ञः संसारजन्मनाम् ॥ ५

सरभसवदनाभिरामरूपः

प्रियमधुरोचितगानहृद्यवाक्यः ।

स्वयमिव नवमाश्रितः शरीरं

सकलभयापहरं प्रहर्षयुक्तः ॥ ६

इदंममलगिरा समाह शुद्ध-

ममृतमनुज्झितसंभ्रमक्रमेण ।

कथयितुमखिलं निजं स्वरूपं

मधुपमिव स्तनितेन मुग्धमेघः ॥ ७

अष्टादशः सर्गः १८

भुशुण्ड उवाच ।

अस्त्यस्मिञ्जगति श्रेष्ठः सर्वनाकनिवासिनाम् ।

देवदेवो हरो नाम देवदेवाभिवन्दितः ॥ १

षट्पदश्रेणिनयना यस्योच्चस्तबकस्तनी ।

विलासिनी शरीरार्धे लतां चूततरोरिव ॥ २

हिमहारसिता यस्य लहरीस्तबकोम्भिता ।

आवेष्टितजटाजूटा गङ्गाकुसुममालिका ॥ ३

उपवर्ण्य भुशुण्डोऽत्र जीवन्मुक्तोचितैर्गुणैः ।

पृथार्थं विस्तराद्वक्तुं प्रवृत्त इति कथ्यते ॥ १ ॥

अथ भुशुण्ड इदमाहेति सर्गान्त्यश्लोकेन संबध्यते । दृष्ट इष्ट-

लामप्रयुक्तहर्षवान् । वक्रधीः अनृजुबुद्धिः ॥ १ ॥ प्रतोलितं तुल-

येव इयत्तया निश्चितं जगत्त्रयं येन ॥ २ ॥ तृणवद्दृष्टं सकलं भोगवृन्दं

येन । लोकानां आजवं जवीभावे कामानुधावने विषये सम्यग्वि-

चार्यं प्रमेयीकृता फलत्वेन निश्चिता जन्ममरणादिसंसृतिर्येन । दृष्टं

ज्ञानेन परमवरं च ब्रह्म येन ॥ ३ ॥ अमृतोत्पादनानन्तरं गतो

मन्दरो यस्मात्तथाविधः क्षीरार्णव इव विश्रान्तिमागतः ॥ ४ ॥

बहिः परिविश्रान्तधीः अन्तः परमानन्दधूर्णितः । संसारे जन्म

येषां तथाविधानां सर्ववस्तूनामाविर्भावतिरोभावौ तत् सन्निमित्तं

मायातत्त्वभात्मतत्त्वं च जानातीति आविर्भावतिरोभावतज्ज्ञः ॥ ५ ॥

प्रियं मधुरं च श्रवणोचितं धीणागानमिव हृद्यं वाक्यं यस्य सा-

क्षात्कारमात्रात्सकलभयापहरं स्वयं ब्रह्मैव जगदुद्धाराय नवं शरी-

रमाश्रितः । अत एव सहजानन्दप्रहर्षयुक्तो भुशुण्डः प्रश्नोत्तर-

कथनाय सरभसेन सोद्योगेन वदनेनाभिरामरूपः सन्निदमाहेति

परेणान्वयः ॥ ६ ॥ स भुशुण्डो मा मां प्रति शुद्धममृतमखिलं नि-

जस्वरूपमनुज्झितसंभ्रमेणात्यक्तविनयोपचारोत्साहादिपरिष्कारेण

क्रमेण कथयितुममलगिरा इदं वक्ष्यमाणवृत्तान्तमाह । यथा मुखः

सुन्दरो मेघः स्तनितेन स्वगर्जितरवेण मधुपं मकरन्दपानरुसिकं

क्षीरसागरसंभूतः प्रसृतामृतनिर्झरः ।

प्रतिबिम्बकरः श्रीमान्यस्य चूडामणिः शशी ॥ ४

अनारतशिरश्चन्द्रप्रस्रवेणामृतीकृतः ।

यस्येन्द्रनीलवत्कालकूटः कण्ठे विभूषणम् ॥ ५

धूलिलेखामहावर्तं स्वच्छपावकसंभवम् ।

परमाणुमयं भस्म यस्य ज्ञानजलं सितम् ॥ ६

अमरं प्रति तदेवाह तद्वत् । तथा च प्रागेव प्रबुद्धब्रह्मानन्दरसिके

मयि तदुक्तिर्नोपदेशः किलनुवादमात्रमिति भावः ॥ ७ ॥ इति

श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे भुशु-

ण्डस्वरूपवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

स्वजन्म वक्तुमत्रादौ हरस्तद्वर्णनादुक्ताः ।

तासां पानोत्सवोन्मादा भुशुण्डेनात्र वर्णिताः ॥ १ ॥

तत्र 'कस्मिन्कुले भवान्जात' इति प्रथमप्रश्नस्योत्तरं वक्तुं भूमिकां

रचयति—अस्तीत्यादिना । सर्वेषां नाकनिवासिनां मध्ये श्रेष्ठो

ज्ञानैश्वर्यबलादिगुणैरुत्कृष्टतमो देवानामपि देव इज्य उपास्यश्च

देवानां देवैर्ब्रह्मादिभिरप्यभितः सर्वतः सदा च वन्दितो नमस्कृ-

तः स्तुतश्चेति त्रिभिर्विशेषणैः सर्वांशेऽपि तस्यैवोत्कर्षपरमावधि-

त्वमिति दर्शितम् । अनेनार्थाद्वक्ष्यमाणब्रह्मविद्यारम्भे मङ्गलमपि

कृतं बोध्यम् ॥ १ ॥ षट्पदानां श्रेणिरिव नयनानि यस्याः ॥ २ ॥

हिममिव हार इव च सिता लहरीलक्षणैः स्तबकैरुम्भिता पूरिता ।

गुम्फितेति यावत् ॥ ३ ॥ प्रतिबिम्बकरो दर्पणभूतश्चूडामणिः ॥ ४ ॥

अनारतं शिरश्चन्द्रस्यामृतप्रस्रवेण निरस्तविषशक्तिराहितसंजीव-

नशक्तिश्चेत्यमृतीकृतः ॥ ५ ॥ तथा यस्य स्वच्छात्स्वाक्षिपाव-

काजगत्प्रलयहेतोः संभवतीति तथाविधं धूलिलेखा धूलिश्रेणि-

रूपा महान्तः प्रलयवात्यावर्ता यस्मात्तथाविधं स्थूलभूतानां

सूक्ष्मसूक्ष्मप्रवेशक्रमेण परमसूक्ष्माव्यक्तमात्रपरिशेषात्परमाणुमयं

निर्मलानि जितेन्द्रानि मृष्टानि घटितानि च ।
 यस्यास्थीन्येव रत्नानि देहकान्तमयानि च ॥ ७
 सुधाकरसुधाधौतं नीलनीरदपल्लवम् ।
 तारकाविन्दुशबलं यस्य चाम्बरसम्बरम् ॥ ८
 भ्रमच्छिवाङ्गनापकमहामांसौदनाकुलम् ।
 बहिर्भूतं गृहं यस्य श्मशानं हिमपाण्डुरम् ॥ ९
 कपालमालाभरणाः पीतरक्तवसासवाः ।
 आञ्जल्यदामवलिता बन्धवो यस्य मातरः ॥ १०
 प्रस्फुरन्मूर्धमणयश्चरन्तो मखुणाङ्गकाः ।
 भुजगा वलया यस्य प्रकचत्कनकत्विषः ॥ ११
 हृक्पातदग्धशैलेन्द्रं जगत्कललालसम् ।
 भैरवाचरितं यस्य लीलासंज्ञासिताक्षुरम् ॥ १२
 स्वस्थीकृतजगज्जातस्वव्यापारस्थचेतसः ।
 यदृच्छया करस्पन्दो यस्यासुरपुरक्षयः ॥ १३
 यकाग्रमूर्तयः स्नेहरागद्वेषविवर्जिताः ।
 स्वशना यस्य ते शैलाः सरसा अपि नीरसाः ॥ १४
 शिरःखुराः खुरकराः करदन्तमुखोदराः ।
 क्रोशोष्ठाजाहिबक्राश्च प्रमथा यस्य लालकाः ॥ १५
 तस्य नेत्रत्रयोद्गासिबदनस्यामलप्रभाः ।

सितं शुभ्रं तत्साक्षिन्मात्रलक्षणजलप्रावितत्वाज्ज्ञानजलं भा-
 यालक्षणं भस्म यस्य सायाशबलव्रजगो विभूषणमित्युपज्यते ।
 'हरः संक्षुभ्यैनं भजति भसितोद्बलनविधि' इति मगवत्पादाः ॥ १५ ॥
 मृष्टानि शानोल्लेखनेन मणिवच्छोषितानि । अत एव माला-
 धाकारेण घटितानि । देहेषु कान्तावि मनोरमाणि व्रज्यादिशरी-
 राणि तन्मयानि तद्विकारभूतानीत्यर्थः ॥ ७ ॥ नीला चीरदा मेघा
 एष पल्लवानि दशा यस्य । अम्बरमाकाशं दिश इति यावत् ।
 अम्बरं वक्ष्यम् ॥ ८ ॥ भ्रमन्तीभिः शिवाभिः कल्याणवेषाभिरङ्गनाभिः पद्मै-
 र्बह्मिर्नृष्टतमत्वाभ्रस्यैर्मांसौदनादिभोज्यैश्चाकुलं व्याप्तं सर्वदो-
 षेभ्यो बहिर्भूतमित्यपि श्लेषादारोप्यते ॥ ९ ॥ मातरो वक्ष्यमाणाः ।
 अस्मा भ्रमन्तीति बन्धवः सदा क्रीडासहायाः ॥ १० ॥ चरन्तः
 पर्यायेण तत्तदङ्गभूषणाय प्रसर्पन्तः । मखुणाङ्गकाः क्षिप्रवर्णाः
 दीप्यमानस्वर्णकान्तयः ॥ ११ ॥ यस्य भैरवं भीषणमाचरितं परि-
 भ्रम् । तदेवावयुसोदाहरति—हृक्पातैत्यादिविशेषणैः ॥ १२ ॥
 तस्यैकपत्वात्कल्याणचिन्तनेनैव स्वस्थीकृतं जगज्जातं येन त-
 थाविधमत एव स्वव्यापारः समाधिस्तत्स्थं चेतो यस्य तथाविधस्य
 यस्य यदृच्छया समाधिभक्ते यः करस्पन्दः सोऽप्यासुराणि पुराणि
 क्षिणीसञ्चरैः सह नाधयतीत्यासुरपुरक्षयस्तथाविधो भवतीति वि-
 शेषः ॥ १३ ॥ यस्य समाधिकाले प्रसिद्धमेकाग्र्यं श्रुतिवीक्षक-
 रूपतन्मूर्तिषु प्रत्यक्षं दृश्यत इत्याशयेनाह—यकाग्र्येति । स्नेहरा-
 गद्वेषादिसर्वदोषविवर्जिताः रसा श्रुतिवी रसो जलं च तत्सहिता

यथा गणास्तथैवान्याः परिवारो हि मातरः ॥ १६
 नृत्यन्ति मातरस्तस्य पुरो भूतगणानताः ।
 चतुर्दशविधानन्तभूतजातैकभोजनाः ॥ १७
 खरोष्ठाकारवदना रक्तमेदोवसासवाः ।
 दिगन्तरविहारिण्यः शरीरावयवस्रजः ॥ १८
 वसन्तगिरिकूटेषु व्योम्नि लोकान्तरेषु च ।
 अवतेषु श्मशानेषु शरीरेषु च देहिनाम् ॥ १९
 जया च विजया चैव जयन्ती चापराजिता ।
 सिद्धा रक्तालम्बुसा च उत्पला चेति देवताः ॥ २०
 सर्वासामेव मातृणामष्टावेतास्तु नायिकाः ।
 आसामनुगतास्त्वन्यास्तासामनुगताः पराः ॥ २१
 तासां मध्ये महार्हाणां मातृणां मुनिनायक ।
 अलम्बुसेति विख्याता माता मानद विद्यते ॥ २२
 वज्रास्थितुण्डश्चण्डाख्य इन्द्रनीलाचलोपमः ।
 तस्यास्तु बाह्वनं काको वैष्णव्या गरुडो यथा ॥ २३
 इत्यष्टैश्वर्ययुक्तास्ता मातरो रौद्रचेष्टिताः ।
 कदाचिन्मिलिता व्योम्नि सर्वाः केनापि हेतुना ॥ २४
 उत्सवं परमं चक्रुः परमार्थप्रकाशकम् ।
 वामस्रोतो गता पतास्तुम्बुर्ग रुद्रमाश्रिताः ॥ २५

इति सरसा अपि स्वशना शोभनाशनतृप्ता इव नीरसा भक्षना-
 यापिषासादितृष्णाशून्यास्ते प्रतिष्ठा नेहहिमवदादयः शैला यस्य
 हरस्य एकाग्रभूता ध्यानमूर्तयः प्रसिद्धा इत्यर्थः ॥ १४ ॥ इदानीं
 तस्य गणान्तर्वाजेषु सर्वशक्तिमतो वर्णयति—शिर इति ।
 शिरांसि खुरा धावनखण्डनादिखुरशक्तिमन्ति येषाम् । तथा
 खुराश्च कुरा विचित्रशिल्पादिकरशक्तिमन्तो येषाम् । तथा कराश्च
 दन्तमुखोदरं चर्वणमक्षणावपनादिशक्तिमन्तो येषाम् । व्रज्या
 भाङ्गाः व्रज्या भजाः अहयः सर्पास्तेषामिव वक्राणि येषां तथा-
 विधाः प्रमथा यस्य लालकाः क्रीडासहाया इत्यर्थः ॥ १५ ॥ यथा
 गणास्तथैव सर्वाङ्गेषु सर्वशक्तिमत्सो नानाकाराननाश्च मातरस्तस्य
 परिवारः ॥ १६ ॥ भुवनसंख्यया चतुर्दशविधानि स्वसंख्यया
 अनन्तानि भूतजातान्येकं मुख्यभोजनमङ्गं यासाम् ॥ १७ ॥
 रक्तमेदोवसाः आसव इव सदा पेया यासाम् । शरीरावयवाः
 शवहस्तपादादयः स्रजो यासाम् ॥ १८ ॥ १९ ॥ तत्कल्प-
 स्थाना तासां नामान्याह—जया चैत्यादिना । देवता मातृ-
 देव्यः ॥ २० ॥ ननु 'शतकोट्यस्तु चामुण्डाः' इत्यादिवहुसं-
 ख्यत्वे तासां प्रसिद्धे कथमष्टावित्युच्यते तत्राह—सर्वासामे-
 वेति ॥ २१ ॥ तासां मध्ये सप्तमी या विद्यते तस्यास्तु बाह्वनं
 चण्डाख्यः काको विद्यत इति परेणान्वयः ॥ २२ ॥ २३ ॥
 इति उक्त्वलक्षणा मातरः । केनापि विहरहेतुता ॥ २४ ॥
 नितैकाम्यद्वारा समाधौ परमार्थभूतस्वात्मतत्त्वप्रकाशकं पानो-
 त्सवम् । वामस्रोतो वाममार्गेण परशक्त्याराधनप्रकारस्तद्गता-
 स्तुम्बुक्तामानं रुद्रमूर्तिमेदमाप्यध्वत्वेनाश्रिताः । तुम्बुर्ग रुद्रं

पूजयित्वा जगत्पूज्यौ देवौ तुम्बुरुभैरवौ ।
विचित्रार्थाः कथाश्चकुर्मैदिरामदतोषिताः ॥ २६
अथेयमाययौ तासां कथावसरतः कथा ।
अस्मानुमापतिर्देवः किं पश्यत्यवहेलया ॥ २७
प्रभावं दर्शयामोऽस्य पुनर्नासांस्त्वसौ यथा ।
दृष्टमात्रमहाशक्तिः करिष्यत्यवधीरणम् ॥ २८
इति निश्चित्य ता देव्यो विवर्णवदनाङ्गिकाम् ।
उमामेव वशीकृत्य प्रोक्षयामासुरादृताः ॥ २९
माययापहृतां भर्तुरङ्गाद्रङ्गमुपागताम् ।
तामालोलकचां देव्यः शेपुरोदनतां गताम् ॥ ३०
पार्वतीप्रोक्षणदिने तस्मिंस्तत्र महोत्सवः ।
बभूव तासां सर्वासां नृत्यगेयमनोहरः ॥ ३१

अत्यानन्दमनुहामरवमेवाभ्यरं बभौ ।
दीर्घावयवविक्षेपविकासिजघनोदराः ॥ ३२
अन्या जहसुरुहामतालक्ष्वेडाघनारवम् ।
लसदङ्गविकारं च ध्वनत्सगिरिकाननाः ॥ ३३
अन्या जगुर्ध्वनच्छैलगृहमापानतोषिताः ।
वारीव रवचद्रज्जगन्मण्डलकोटरे ॥ ३४
अन्याः पानं पपुः पुष्टचर्चिताङ्गशिरःखुरम् ।
लीलाघुरघुरारावरणदाकाशकोटरे ॥ ३५
पपुरुदगुत्थोच्चैः सत्त्वरा जग्मुरुच्च-
जहसुरपुरहौषुः पेतुरुच्चैर्ववल्गुः ।
ननृतुरनिशमादुः स्वादु मांसं च देव्य-
स्त्रिभुवनमपवृत्तं चक्रुर्नमत्तवृत्ताः ॥ ३६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० भु० मातृव्यवहारवर्णनं नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः १९

भुशुण्ड उवाच ।

इत्युत्सवे वर्तमाने तासां वादास्त उत्तमाः ।
तथैव मत्ता जहसुर्ननुतुः पपुरप्यसृक ॥ १
तत्रैकत्रासवोन्मत्ताः काश्चिन्ननुरम्बरे ।
रथहंस्यः स्थिता ब्राह्म्यः काकश्चालम्बुसारथः ॥ २
नृत्यन्तीनां च हंसीनां पियन्तीनामथासवम् ।
तले चाब्धितटानां तु रतिः सम्यगजायत ॥ ३
संजातरतयो मत्ताः सर्वा हंस्यः क्रमेण ताः ।

वामक्षोतो वामभागस्तद्रताः सत्य आभिता इति वा ॥ २५ ॥
॥ २६ ॥ कथावसरतः परस्परसंवादकथाप्रयुक्तसद्वृत्तमात्रव-
हेलनप्रसङ्गेन कथा वाक् आययौ । तामेव दर्शयति—अस्मा-
निति ॥ २७ ॥ अथासौ उमापतिर्दृष्टमात्रा महती शक्तिरस्म-
त्प्रभावो येन तथाभूतः सन् अस्मानुद्दिश्य यथा पुनः अवधीर-
णमवहेलनां न करिष्यति तथा अस्य प्रभावं दर्शयाम इत्य-
न्वयः ॥ २८ ॥ उमां रुद्रशक्तिं वशीकृत्य स्वमूर्त्यन्तरत्वा-
त्स्वाधीनां कृत्वा यज्ञे पशुमिव समन्त्रेणाम्भसा प्रोक्षयामासुः ।
विवर्णवदनाङ्गिकामित्यनेन वदनाङ्गानां वर्णान्तरापादनेन सहसा
पत्या उमा प्रोक्षितेति परिज्ञातुमशक्यत्वापादनं सूच्यते
॥ २९ ॥ रङ्गं मातृमण्डलमभ्यम् । ओदनतां गतां कर्तुं
शेपुरिव । मातृणामुमामूर्त्यन्तरत्वेन स्वात्मनि मुख्यशपायो-
गात्परिहासक्रीडात्वाच्च न स्वमूर्त्यवहेलनादोषोऽपि । ओद-
नतां ओदनादिसर्वमक्षयमोज्यलेह्यपेयाभतां गतां कर्तुमिति
शेषः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ तालः करतालः क्ष्वेडा
सिंहनादस्ताभ्यां घनारवं यथा स्यात्तथा जहसुः ॥ ३३ ॥
ध्वनन्तः शैला गृहाश्च यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा ।
चन्द्रोदयशोणेन रज्जत् रववत् ध्वनश्च समुद्रवारीव जगर्जुः ॥ ३४ ॥
चन्दनादिना रक्तवसासवादिना वा चर्चितान्यनुलितानि पुष्टा-

रेमिरे सह काकेनाप्यथ मत्तास्तदा किल ॥ ३
सप्तानां कुलहंसीनां दयितो वायसस्त्वसो ।
क्रमेणारमतेकत्र यावदन्योन्यमीप्सितम् ॥ ५
अथ ता गर्भधारिण्यो बभूवुरतितोषिताः ।
देव्यश्च कृतनृत्यास्ताः सुप्रशान्तमथाययुः ॥ ६
ददुरोदनतां यातमीश्वराय प्रियामुमाम् ।
भोजनाय महामायां देव्यस्ताः शूलपाणये ॥ ७
प्रिया मे भोजने दत्तेत्येवं च शशिशेखरः ।

न्यङ्गानि शिरआदिद्वरपर्यन्तानि यथा द्युस्तथा पानं पपुः ॥ ३५ ॥
तासामुन्मत्तवृत्तान्येव कानिचिदमिलपन्नुपसंहरति—पपुरिति ।
पपुः पेयानि । अपुः परस्परं ररक्षुः । परस्परमुखे अभौ वा
अहौषुः । अपवृत्तं प्रवृत्तं स्वाचारशिक्षया अपगतसद्वृत्तं वा
॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे पूर्वार्धे मातृव्यवहारवर्णनं नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

ब्राह्मी हंस्यां चण्डयोगास्त्वजन्म भ्रातृभिः सह ।

ब्राह्म्याः प्रसादाज्ज्ञानाक्षिः पितुः स्थानाक्षिरुच्यते ॥ १ ॥

तासां मातृणाम् । वाहा वाहनभूताश्चण्डादयः ॥ १ ॥ तत्र
तस्मिन्नुत्सवे ब्राह्म्यो ब्रह्माणीसंबन्धिन्यो रथहंस्यः अलम्बुसाया
रथो वाहनभूतश्चण्डाख्यः काकश्च एकत्र स्थिता ननृतुः ॥ २ ॥
अब्धितटानां वेलानां तले समभूतप्रदेशे इति उद्दीपनविभा-
चोक्तिः । रतिरनुरागः ॥ ३ ॥ मत्तत्वादेवोत्कृष्टजातीनामपि
हंसीनां निकृष्टजातीयेनापि काकेन सह रतिरनुचितापि संप-
त्तेति सूचनायापिशब्दः ॥ ४ ॥ एकत्रेति वीप्सितम् । एकैकस्यां
हंस्यां यावदन्योन्यमीप्सितमिच्छापूर्तिस्तावदरमतेत्यर्थः ॥ ५ ॥
अथ कृतोत्सवकृत्यास्ता देव्यो मातरश्च स्वमायाचेष्टाविमर्शा-
त्सुप्रशान्तमकुप्यन्तं रुदं ययुः ॥ ६ ॥ अत एव ओदनतां
यातामुमां तस्मै ईश्वराय भोजनाय ददुः ॥ ७ ॥ यदा शशि-

बुद्धा बभूव रयितो यदा मातृगणं प्रति ॥ ८
तदा तासां समुत्पाद्य स्वाङ्गदानेन वै पुनः ।
ददुर्भूयो विवाहेन पार्वतीमिन्दुमौलये ॥ ९
ततो देवयो हरश्चैव परिवारस्तथैतयोः ।
सर्वे संतुष्टमनसः स्वां स्वामुपययुर्दिशम् ॥ १०
अन्तर्वन्द्यो बभूवुस्ता ब्राह्म्यो हंसो मुनीश्वर ।
वृत्तान्तं कथयामासुर्ब्राह्म्या देव्या यथास्थितम् ॥ ११
ब्राह्म्युवाच ।

हे वत्स्यः सांप्रतं वत्सवत्यो मे रथकर्मणि ।
न समर्था भवन्त्यो हि स्वैरं चरत सांप्रतम् ॥ १२
इति गर्भालसा हंसीरुक्त्वा देवी दयापरा ।
निर्विकल्पसमाधाने ब्राह्मी तस्थौ यथासुखम् ॥ १३
अजनाभिसरोजान्तवैरिश्चकमलाकरे ।
गर्भालसा विचेरुक्ता राजहंसो मुनीश्वर ॥ १४
एवं विपकगर्भास्ता नाभीकमलपल्लवे ।
सुयते सा मृदून्यण्डान्यथ बल्लव इवाङ्कुरान् ॥ १५
तानि कालं समासाद्य ततोऽण्डान्येकविंशतिः ।
गर्भकान्त्या द्विधा जग्मुर्ब्रह्माण्डानीव सारवत् ॥ १६
अण्डैश्चस्तेभ्य एवं हि जाता वयमिमे मुने ।
भ्रातरश्चण्डतनया वायसा एकविंशतिः ॥ १७
ते संजाता गता वृद्धिं तस्मिन्कमलपल्लवे ।
संजातपक्षाः संपन्ना गगनोद्भूयते क्षमाः ॥ १८
मातृभिः सह हंसीभिर्ब्राह्मी भगवती ततः ।
चिरमाराधिता सम्यक्समाधिचिरता सती ॥ १९
प्रसादपरया काले भगवत्या ततः स्वयम् ।

शेगरो मे प्रिया भोजने दत्तेति बुद्धा मातृगणं प्रति कथितो
बभूव तदा सा मातरस्ता पार्वती स्वाङ्गदानेन स्वाङ्गैः शिर-
आयेकैः कावयकल्पनेन पुनरुत्पाद्य भूयो विवाहेन पाणिग्रहण-
विधिना ददुरिति द्वयोरुच्यते ॥ ८ ॥ ९ ॥ एतयोर्देवीहरयोः ।
मातृनां देवप्रसादेनैकीकारादेकशेषे द्विवचनम् ॥ १० ॥ अन्त-
र्षणो गभिष्य ॥ ११ ॥ वत्सवत्यो गभिष्य ॥ १२ ॥ इति
उक्त्वा तदनुप्रशय सचारे विहाय निर्विकल्पाख्ये समाधाने
समाधाः ॥ १३ ॥ अजस्य पिण्णोर्नाभिसरोजस्थान्ते मूले वैरि-
ण्यस्य कमलस्याकरे उत्पत्तिस्थाने विचेरु ॥ १४ ॥ नाभिकम-
लस्य प्राये किमलयप्रदेने ॥ १५ ॥ गर्भकान्त्या परिपक्वगर्भ-
प्राणाङ्गेषु द्विधा जग्मुः अभियन्त । यथा सारवत् सार-
गन्ति, व्यस्येनैकवचनम् । ब्रह्माण्डानि स्वर्णरजतवर्षाभ्याम-
भियन्त तद्वत् ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ 'जातहेयः कथं भवान्'
इत्यस्य प्रश्नोत्तरं वक्तुमुपक्रमते—मातृभिरिति । मातृभिः
सह चिरमाराधिता अल्पाभिरिति शेषः ॥ १९ ॥ तथा सादृशेन
तत्त्वसाक्षात्कारपट्टेन अनुगृहीताः स्मः ॥ २० ॥ तिष्ठामः
स्थास्याम इति निश्चित्य पितुः पार्श्वे विन्ध्यकच्छे ॥ २१ ॥

तथाङ्गानुगृहीता स्मो येन मुक्ता वयं स्थिताः ॥ २०
संशान्तमनसः शान्ता एकान्ते ध्यानसंस्थिता ।
तिष्ठाम इति निश्चित्य पितुः पार्श्वे धर्मं गताः ॥ २१
आलिङ्गितास्ततः पित्रा पूजितालम्बुसा वयम् ।
तथा दृष्टाः प्रसादेन संस्थितास्तत्र संयताः ॥ २२
चण्ड उवाच ।

पुत्राः कचिदपर्यन्तवासनातन्तुगुण्ठितात् ।
भवन्तो निर्गता नूनमस्मात्संसारजालकात् ॥ २३
नो चेद्वयं भगवती तदिमां भृत्यवत्सलाम् ।
प्रार्थयामो यथा यूयं भवथ ज्ञानपारगाः ॥ २४
काका ऊचुः ।

तात ज्ञातमलं ज्ञेयं ब्राह्म्या देव्याः प्रसादतः ।
किंत्वेकान्तस्थितेः स्थानमभिवाञ्छाम उत्तमम् ॥ २५
चण्ड उवाच ।

सर्वैरत्नगणाधारः समस्तसुरसंश्रयः ।
अस्ति ह्येव महोत्सेधो मेरुर्नाम महीधरः ॥ २६
लसच्चन्द्रार्कदीपस्य भूतवृन्दकलत्रिणः ।
ब्रह्माण्डमण्डपस्यान्तःस्तम्भः कनकनिर्मितः ॥ २७
सौवर्णचन्द्रपीठाढ्यो रत्नाढ्यशिखराङ्गुलिः ।
ध्वनद्वीपाब्धिवलयो भुवेषोन्नमिता भुजः ॥ २८
धृतः कुलाद्रिसामन्तैर्जम्बूद्वीपासने स्थितः ।
राजा चन्द्रार्कनयने भ्रमयच्छैलसंसदि ॥ २९
तारौघमालतीमाल्यो दिग्दशैकाम्बराम्बरः ।
नागजातिद्वयस्थात्मा नाकनायकभूषणः ॥ ३०

पूजिता अलम्बुसा यैः । संयता विनयादिगुणयन्त्रिताः ॥ २२ ॥
ससारलक्षणाजालकात्पञ्चिधनानायाचिर्गताः कच्चिदितीष्टप्रश्ने
॥ २३ ॥ तत्तदर्थम् । भवथ भविष्यथ ॥ २४ ॥ एकान्ते
स्थितेरवस्थानस्य शोभं स्थानं निवासमभिवाञ्छामः ॥ २५ ॥
॥ २६ ॥ मेरुमेव वर्णयति—लसदित्यादिना । भूतवृन्दैः प्राणि-
समूहैः कलत्रिणः कुटुम्बिनो ब्रह्माण्डलक्षणस्य मण्डपस्य गृहस्य
अन्तःस्तम्भो मध्यस्तम्भः ॥ २७ ॥ सौवर्णेन चन्द्राकारेण पीठेन
मूलधन्याप्रसङ्गशेन किंपुरुषादिवर्णनेन आढ्यः संपन्नः रत्नमयैर-
ङ्गुलीयकैरङ्गुल्यैः शिखराण्येकाङ्गुल्यो यस्य ध्वनन्तो द्वीपा अध्वयश्च
बलमा यस्य । ईदृशो भुवा उन्नमितः कूर्चोऽङ्गुतो भुज इव स्थितः
॥ २८ ॥ तमेव राजत्वेन वर्णयति—धृत इत्यादिभिः । जम्बूद्वी-
पलक्षणे आसने सिंहासने राजा शैलनामिति शेषः । अत एव
शैलसंसदि चन्द्रार्कलक्षणे नयने भ्रमयन् ॥ २९ ॥ तारौघा एव
मालतीमाल्यानि यस्य । दिश एव दशा यस्य तथाविधमेक-
मम्बरमाश्रयमेवाम्बरं वस्त्रं यस्य । नागशब्दार्थभूतस्य सर्पगज-
जातिद्वयस्य आधारः । नाकनायका इन्द्रादय एव भूषणानि
यस्येति समाप्ते कलितोऽयमर्थः । स्यादित्यत्र भावे किप्.

दिगङ्गनाभिरभितो रम्याभिः पुरभूषणैः ।
 एष निस्यन्दिभिः शीतैर्वीजितो घनचामरैः ॥ ३१
 षोडशास्य सहस्राणि योजनानामधः क्षितौ ।
 स्थिताः पादाः प्रपूज्यन्ते नागासुरमहोरगैः ॥ ३२
 अशीतिश्च सहस्राणि देहोऽस्यार्केन्दुलोचनः ।
 पूज्यते नाकसदने सुरगन्धर्वकिन्नरैः ॥ ३३
 चतुर्दशविधान्येन गृहस्थमिव बान्धवाः ।
 उपजीवन्ति भूतानि मिथो दृष्टपुरास्पदम् ॥ ३४
 अस्य त्वीशानदिग्भागे पद्मरागमयं बृहत् ।
 विद्यते शृङ्गमपरो दिवाकर इवोदितः ॥ ३५
 अस्यास्ति पृष्ठे भूतौघवृतः कल्पतरुर्महान् ।
 जगतः शिखरादर्शं प्रतिबिम्बमिव स्थितः ॥ ३६
 तस्यास्ति दक्षिणस्कन्धे शाखा कनकपल्लवा ।
 रत्नस्तवकनीरन्ध्रा चन्द्रबिम्बोल्लसत्फला ॥ ३७
 तत्र पूर्वं मया नीडं कृतमासीत्स्फुरन्मणि ।
 देव्यां ध्याननिषण्णायां यस्मिन्किल रमे सुताः ॥ ३८
 रत्नपुष्पदलच्छन्नं रसायनफलान्वितम् ।
 चिन्तामणिशलाकामिर्विहितालिन्दसंस्थिति ॥ ३९
 बुद्धिपूर्वसमाचारैः संपूर्णं काकपुत्रकैः ।
 शीतलाभ्यन्तरं हृद्यं पुरितं कुसुमोत्करैः ॥ ४०
 तद्गच्छत सुता नीडं दुर्गं नाकवतामपि ।

भोगं मोक्षं च तत्रस्था निर्विघ्नमलमाप्स्यथ ॥ ४१
 इत्युक्त्वास्मान्पिता तत्र चुचुम्बाभ्यालिलिङ्ग च ।
 ददौ देव्यां यदानीतमस्मभ्यं च तदामिषम् ॥ ४२
 तद्भुक्त्वा चरणौ देव्याः पितुश्चैवाभिवाद्य च ।
 विन्ध्यकच्छादयं तस्मात्स्थानादालम्बुसात्प्लुताः ॥ ४३
 क्रमेणाकाशमुल्लङ्घ्य निर्गत्याम्बुदकोटरैः ।
 पवनस्कन्धमासाद्य वन्दितव्योमचारिणः ॥ ४४
 परिहृत्य दिनाधीशं लोकान्तरपुरं गताः ।
 स्वर्गमुल्लङ्घ्य याताः सो ब्रह्मलोकं मुनीश्वर ॥ ४५
 प्रणामपूर्वं तत्रैतद्यथावत्तत्पितुर्वचः ।
 मात्रे च भगवत्यै च ब्राह्म्यै चाशु निवेदितम् ॥ ४६
 ताभ्यां सस्नेहमालिङ्ग्य गच्छतेत्याह्वयैधिताः ।
 वयं कृतनमस्कारा ब्रह्मलोकाद्विनिर्गताः ॥ ४७
 उल्लङ्घ्य लोकपालानां पुरीस्तपनभास्वराः ।
 आकाशगामिनो लोलाः पवनस्कन्धचारिणः ॥ ४८
 इमं कल्पतरुं प्राप्य निजं नीडं प्रविश्य च ।
 दूरस्थबाधास्तिष्ठामो मुने मौनमवस्थिताः ॥ ४९
 जाता यथा वयमिमे स्थितिमागताश्च
 संप्राप्य बोधमुपशान्तधियो यथावत् ।
 एतच्चतुक्तमविखण्डमलं मया ते
 शेषेण मां समनुशाधि महानुभाव ॥ ५०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्र० पू० भुञ्जुः आलम्बलाभो नामैकोनविंशतितमः सर्गः ॥१९॥

विंशः सर्गः २०

भुशुण्ड उवाच ।

आसीत्किंचित्पुरा कल्पे जगद्यच्चिरमास्थितम् ।

यस्य ॥ ३० ॥ घना मेघास्तल्लक्षणैर्नीलश्वेतादिचामरैः ॥ ३१ ॥
 ॥ ३२ ॥ पूज्यते सेव्यते ॥ ३३ ॥ ब्रह्मर्षयो देवर्षयो राज-
 र्षयो देवाः पितरो गन्धर्वाः किन्नरा अप्सरसो विद्याधरा यक्षा
 रक्षांसि प्रमथा गुह्यका नागाश्चेति चतुर्दशविधानि भूतान्यति-
 विस्तीर्णत्वान्मिथो न दृष्टानि पुराणि आस्पदानि स्थानानि च
 यत्र तद्यथा स्यात्तथा उपजीवन्ति ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ शिखर-
 लक्षणे विदुमादर्शं जगतः प्रतिबिम्बमिव स्थितः कल्पतरुः
 ॥ ३६ ॥ चन्द्रबिम्बानीबोल्लसन्ति फलानि यस्याम् ॥ ३७ ॥
 स्फुरन्तो मणयो यास्मिन्स्थिताविद्यं नीडम् ॥ ३८ ॥ चिन्तामणि-
 शलाकामिर्विहिता अलिन्दसंस्थितिर्बहिर्द्वारप्रकोष्ठरचना यस्मिन्
 ॥ ३९ ॥ बुद्धिपूर्वसमाचारैर्विचारपूर्वव्यवहारशीलैः ॥ ४० ॥
 नाकवतां देवानामपि दुर्गम् ॥ ४१ ॥ आमिषं मांसम् ॥ ४२ ॥
 आलम्बुसादलम्बुसानिवासात् ॥ ४३ ॥ वन्दिता व्योमचारिणो
 देवा यैः ॥ ४४ ॥ अस्माल्लोकालोकान्तरं स्वर्गस्तत्पुरममराव-
 तीम् ॥ ४५ ॥ तत्र-ब्रह्मलोके-॥ ४६ ॥ गच्छतेति आज्ञया
 आज्ञादानेनाशिषा च एधिता वर्धिताः ॥ ४७ ॥ तपनव-

संनिवेशेन चैतद्वदद्यापि च न दूरगम् ॥ १

द्भास्वराः ॥ ४८ ॥ मौनं यथा स्यात्तथा अवस्थिताः । सदा समा-
 धिपरा इति यावत् ॥ ४९ ॥ उक्तमुपसंहरति—जाता इति ।
 हे महानुभाव, वयं जाताः । यथा च यथावद्बोधं संप्राप्य
 स्थितिमेतत्स्थाननिवासमागताश्चेत्येतत्प्रश्नत्रयोत्तरं सर्वमविखण्डं
 यथा स्यात्तथा ते तुभ्यमुक्तम् । अतः परं शेषेणावशिष्टेन 'किंदा-
 युश्च ते साधो वृत्तं स्मरसि किंच वा' इति प्रश्नद्वयोत्तरेणान्येन वक्त-
 व्यनिमित्तेन मां सम्यगनुशाधि आज्ञापय तदपि तुभ्यं वदिष्यामी-
 त्यर्थः ॥ ५० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे पूर्वार्धे आलम्बलाभो नामैकोनविंशतितमः सर्गः ॥१९॥

प्रतिकल्पं जगत्साम्यं भ्रातृणां निधनं तथा ।

प्रलयेऽपि भुशुण्डोऽत्र स्वचित्तस्थैर्यमुक्तवान् ॥ १ ॥

तत्र 'वृत्तं स्मरसि किंच वा' इति प्रश्नस्य विस्तरेणोत्तरं वक्तु-
 कामो वक्ष्यमाणबहुकल्पसंजीवनोक्तेः 'इमं कल्पतरुं प्राप्य
 निजनीडं प्रविश्य च' इत्याद्युक्तेष्व पूर्वोत्तरविरोधाशङ्का मा भू-
 दिति कल्पवृक्षमेवादीनां प्रतिकल्पं संस्थानसाम्यादेव्यवाद्
 इत्याशयं दर्शयति—आसीदित्यादिना । पुरा अस्रजन्महेतौ

तदेतद्वृत्तमभ्यासाद्वर्तमानेन वर्णितम् ।
मया मुनीन्द्र बोधाय प्राग्जन्मसास्यदर्शना ॥ २
अथ मे फलितं पुण्यैश्चिरकालोपसंभृतैः ।
निर्विघ्नमेव पश्यामि यद्भवन्तं मुने ततः ॥ ३
इदं नीडमिमां शाखामहं चायमयं वृक्षः ।
अथ पावनतां प्राप्तान्येतानि तव दर्शनात् ॥ ४
इदमर्घ्यमिदं पाद्यं गृहीत्वा विद्वगर्पितम् ।
नूनं पावनतां नीत्वा शेषेणादिश चाशु भोः ॥ ५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इदमर्घ्यं च पाद्यं च भूयो दत्तवति स्वयम् ।
भुशुण्डविद्वगे तस्मिन्निदं समाहमुक्तवान् ॥
भ्रातरस्ते विद्वद्देश तावत्सत्त्वा महाधियः ।
इह कस्मात् इदयन्ते त्वमेवैको हि इदम्यसे ॥

भुशुण्ड उवाच ।

तिष्ठतामिह नः कालो महानतिगतो मुने ।
शुगानां पङ्क्तयः क्षीणा दिवस्त्रानामिवानघ ॥
एतावताथ कालेन सर्वं एव समानुजाः ।
तनूस्तृणमिव त्यक्त्वा शिवे परिणताः पदे ॥ ९
दीर्घायुषो महान्तोऽपि सन्तोऽपि बलिनोऽपि च ।
सर्वं एव निगीर्यन्ते कालेनाकलितात्मना ॥ १०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

स्कन्धव्यूढार्कशशिषु बहत्स्वविरतं जवात् ।
घातस्कन्धातिवातेषु कञ्चित्तात न खिद्यसे ॥ ११
दग्धोदयास्तशैलेन्द्रवनव्यूहै रवेः करैः ।
चिरमत्यन्तमासन्नैः कञ्चित्तात न खिद्यसे ॥ १२

कल्पे यत् किञ्चिन्नपत् पदार्थवृन्दं चिरमास्थित तत्प्रनिवेशेन
अवयवसंस्थानाकृत्यादिना एतद्वत् एतत्कल्पीयपदार्थवदेव
आसीत् । अतस्तदद्यापि न दूरं अभेदारोपासन्नहितमेवेति
बुद्ध्या इमं कल्पतरुमित्यादिनिर्देश इत्यर्थः ॥ १ ॥ तत्तस्मा-
द्वृत्तमतीतसपि जगन्मान्यभ्यासाद्वर्तमानेन जगता ऐक्येन
वर्णितम् ॥ २ ॥ तत्र दीर्घकथाप्रस्तावे पूजाविलम्बो मा भू-
दिति प्रथमं पूजास्वीकारं प्रार्थयितुं स्तुत्या अभिमुखीकरोति—
अद्येति हाभ्याम् ॥ ३ ॥ इमा शाखामनुगतमिदं नीडम् ।
एतानीति 'नपुंसकमनपुसकेन' इति नपुसकैकशेषः ॥ ४ ॥
शेषेणादिशेषेवाविषयेन निमित्तेन आदिश प्रश्नान्वक्तुमि-
त्यर्थः ॥ ५ ॥ भूयः द्वितीयवारम् । लकवान् पृष्ठवान् ॥ ६ ॥
॥ ७ ॥ ८ ॥ तनूः शरीराणि ॥ ९ ॥ अकलितात्मना अल-
क्षितस्वरूपेण ॥ १० ॥ स्कन्धेषु मातेन व्यूढा अर्का द्वादशा-
दित्याः शशिनश्च येस्तथाविधेषु घातस्कन्धप्रवाहादिमरुदतिक्र-
मिषु प्रलयवायुमेदेषु ॥ ११ ॥ १२ ॥ पाषाणवद्नीकृतानि
वारीणि येस्तथाविधैरिन्द्रोः करैरासन्नप्रलयाभ्युदकरकापातैश्च
॥ १३ ॥ इह मेरुशिखरे विश्रान्तैः परशूनपि छिन्दन्ति
क्षतवारान्कुर्वन्ति शिलीभूता नीहारा येभ्यस्तैः ॥ १४ ॥ १५ ॥

इन्दोरथ करैः शीतैः पाषाणीकृतवारिभिः ।
आसन्नकरकापातैः कञ्चित्तात न खिद्यसे ॥ १३
अजस्रमिह विश्रान्तैः कल्पजीमूतमण्डलैः ।
परशुच्छेदनीहारैः कञ्चित्तात न खिद्यसे ॥ १४
विषमैर्जागतैः क्षोभैश्चैस्तरपदस्थितः ।
कथं न क्षोभमायाति कल्पवृक्षोऽयमुन्नतः ॥ १५
भुशुण्ड उवाच ।

निरालम्बास्पदा ब्रह्मन्सर्वलोकावहेलिता ।
तुच्छेयं सर्वभूतानां मध्ये विद्वगजीविका ॥ १६
ईदृशेषु च भूतेषु निर्जनेषु घनेषु च ।
कल्पितास्थास्थितिर्धात्रा शून्ये वा व्योमचर्मनि ॥ १७
कथमस्यां प्रभो जातौ जातस्य चिरजीविनः ।
आशापाशनिबद्धस्य विद्वगस्य विशोकिता ॥ १८
ययं तु भगवन्नित्यमात्मसंतोषमास्थिताः ।
न कदाचन नीरूपे मुह्यामो जातविभ्रमैः ॥ १९
स्वभावमात्रसंतुष्टाः कष्टैर्मुक्ता विचेष्टितैः ।
क्षिपामः केवलं कालमस्मिन्ब्रह्मजिजालये ॥ २०
न जीवितान्न मरणात्कर्मदेहस्य रोधनम् ।
यथा स्थितेन तिष्ठामस्तथैवास्तंगतेहिताः ॥ २१
आलोकिता लोकदशा दृष्टा दृष्टान्तदृष्टयः ।
नूनं संत्यक्तमस्माकं मनसा चञ्चलं वपुः ॥ २२
अनारतनिजालोके नित्यं चापरितापिनि ।
कल्पागस्योपरि सदा वेदि कालकलागतिम् ॥ २३
रत्नगुच्छप्रकाशाद्ये ब्रह्मन्कलरलतागृहे ।
प्राणापानप्रवाहेण वेदि कल्पमखण्डितम् ॥ २४

कुच्छकालेषु महतामपि खेदः संभावितः किं पुनर्विद्वगधमयो-
निजगतस्य भगवतापि विवेकप्रभावात् खेदप्रसक्तिरिति वक्तुं
स्वयोनिजीविकाया इतरजीविकापेक्षया फल्युतामाह—निरा-
लम्बेति । निरालम्ब आशाशस्तदास्पदा ॥ १६ ॥ ईदृशेषु फल्यु-
ष्वपि भूतेषु योनिषु । धात्रा आस्थया प्रीत्या स्थितिर्जीविका
कल्पिता तच्चित्रमित्यर्थः । इवार्थे वाच्यः ॥ १७ ॥ १८ ॥
नीरूपे निःस्वरूपे ॥ १९ ॥ कष्टैः क्लेशफलैः परपीडादिविचेष्टि-
तैर्मुक्ताः ॥ २० ॥ जीविताजीवनात् । देहस्य कर्म ऐहिकामु-
ष्मिकफलार्था क्रियाम् । नापि मरणादेहस्य रोधनं नाशं वाञ्छा-
मेत्युभयत्र शेषः । यथा इदानीं स्थितेन नित्यसिद्धतिरति-
शयानन्दात्मस्वभावेन तिष्ठामस्तथैवाग्रेऽपि तेनैवास्तंगतेहिताः
पूर्वकामाः स्थास्याम इत्यर्थः ॥ २१ ॥ लोकानां दशा जन्म-
मरणाद्यनर्थदशा । मिथ्यात्वनिर्णायिकाः स्वप्रादिदृष्टान्तदृष्टयो
दृष्टाः ॥ २२ ॥ तत्र तावत्कल्पान्तपर्यन्तं कल्पवृक्षप्रभावादेव
नास्माकं खेदप्रसक्तिरित्याह—अनारतेत्यादिना । कल्पागस्य
कल्पवृक्षस्य ॥ २३ ॥ प्रकाशबहुलत्वादविज्ञेयदिनरात्रिविभा-
गेऽत्र कथं कालकलागतिं वेदित तत्राह—रत्नेति । प्राणापानप्र-

१ निर्जनेषु इति पाठः.

अविज्ञातदिवारात्रौ ह्यसिन्धुचैः शिलोच्चये ।
 जानामि निजया बुद्ध्या लोककालक्रमस्थितिम् ॥ २५ ॥
 सारासारपरिच्छेदि बोधाद्विश्रान्तिमागतम् ।
 निरस्तचापलं शान्तं सुस्थिरं मे मुने मनः ॥ २६ ॥
 संसारव्यवहारोत्थैराशापाशैरसन्मयैः ।
 उद्गारैरिव भूकाको न वैवश्यं ब्रजाम्यहम् ॥ २७ ॥
 परोपशमधर्मिण्या वयमालोकशीतया ।
 पश्यन्तो जागतीं मायां धिया धैर्यमुपागताः ॥ २८ ॥
 भीमास्वपि महाबुद्धे दशास्वचलबुद्धयः ।
 विनिर्मलोपलाकाराः संप्राप्तासु यथाक्रमम् ॥ २९ ॥
 इयमारम्भसुभगा तरला जागती स्थितिः ।
 भूयो भूयः परामृष्टा न च किंच न बाधते ॥ ३० ॥
 सर्वाण्येव प्रयान्त्येव समायान्ति च वा न वा ।
 भगवन्भूतजालानि भयमस्माकमत्र किम् ॥ ३१ ॥
 भूतजालतरङ्गिण्या विशन्त्याः कालसागरे ।
 घयं संसारसरितस्तटस्था अप्यनादताः ॥ ३२ ॥
 नोज्झामो न च गृहीमस्तिष्ठामो नेह च स्थिताः ।
 मृदुपादा दशा क्रूरा वयमसिन्धुमे स्थिताः ॥ ३३ ॥

वीतशोकभयायासैस्त्वादृशैः पुरुषोत्तमैः ।
 तुष्टैरनुगृहीताः स्मः संस्थिता विगतामयाः ॥ ३४ ॥
 ततस्ततश्च पर्यस्तं लुठितं न च वृत्तिषु ।
 नापरामृष्टतत्त्वार्थमस्माकं भगवन्मनः ॥ ३५ ॥
 निर्विकारे गतक्षोभे चात्मन्युपशमं गते ।
 चित्तरङ्गाः प्रबुद्धाः स्मः पर्वणीव महाब्धयः ॥ ३६ ॥
 भवदागमनाद्ब्रह्मनिदानीं मुदिताशयाः ।
 मन्दरोद्भूतसर्वाङ्गः क्षीरोदो येन तन्यते ॥ ३७ ॥
 नातः परतरं किञ्चिन्मन्ये कुशलमात्मनः ।
 सन्तो यदनुगम्यन्ते संत्यक्तसकलैषणाः ॥ ३८ ॥
 आपातमात्ररम्येभ्यो भोगेभ्यः किमवाप्यते ।
 सत्सङ्गचिन्तामणितः सर्वसारमवाप्यते ॥ ३९ ॥
 स्निग्धगम्भीरमसृणमधुरोदारधीरवाक् ।
 त्रैलोक्यपद्मकोशेऽस्मिंस्त्वमेकः पट्टपदायसे ॥ ४० ॥
 अधिगतपरमात्मनोऽपि मन्ये
 भवदवलोकनशान्तदुष्कृतस्य ।
 मम सफलमिहाद्य जन्म साधो
 सकलभयापहरो हि साधुसङ्गः ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० भुशुण्डोपाख्याने भुशुण्डस्वरूपनिरूपणं नाम विंशः सर्गः ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः २१

भुशुण्ड उवाच ।

युगक्षोभेषु घोरेषु चाक्यासु विषमासु च ।
 सुस्थिरः कल्पवृक्षोऽयं न कदाचन कम्पते ॥ १ ॥
 अगम्योऽयं समग्राणां लोकान्तरविहारिणाम् ।

वाहेण स्वरोदयशस्त्रप्रसिद्धोपायेनेत्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥ मनः-
 स्थैर्यबलादपि न मे खेदप्रसक्तिरित्याशयेनाह—सारेति ॥ २६ ॥
 उद्गारध्वनिप्रयैरल्पध्वनिभिः प्राकृतो भूकाक इव नाहं वैवश्यं
 भयं ब्रजामि ॥ २७ ॥ धीरत्वादपि नास्माकं खेदप्रसक्तिरि-
 त्याह—परेति ॥ २८ ॥ दशाक्रममनुसृत्य भीमास्वपि दशासु
 संप्राप्तासु विनिर्मलोपलः स्फटिकादिस्तदाकारस्तत्सदृशाः ॥ २९ ॥
 जगत्तत्त्वस्य भूयो विमर्शबलादपि न खेदप्रसक्तिरित्याह—इय-
 मिति ॥ ३० ॥ 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति
 भगवद्वर्णितदिशा सर्वसाधारणे दुःखे अपरिहार्यतानिश्चयाद्वा न
 भयप्रसक्तिरित्याह—सर्वाणीति । वा अथवा न वा प्रयान्ति न वा
 समायान्ति । परमार्थदृशेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ तत्त्वज्ञस्य स्वस्य तटस्थ-
 तया सर्वभूतसंसारद्रष्टृत्वात्प्रादराभावाच्च न भयप्रसक्तिरि-
 त्याह—भूतेति ॥ ३२ ॥ व्यवहारमात्रसिद्धये सकण्टकभुवीव
 सावधानतया संसारे क्रमणान्मृदुपादाः । तत्त्वदृशा संसारोच्छे-
 दित्वात्क्रूराः ॥ ३३ ॥ महतामनुग्रहादपि न नः खेदप्रसक्ति-
 रित्याह—वीतेति ॥ ३४ ॥ व्यवहारमात्रसिद्धये तत्त्वज्ञतः पर्य-
 स्तमपि रागादिवृत्तिषु न लुठितम् ॥ ३५ ॥ चितः सर्वतो
 यो० ज० १०३

भूतानां तेन तिष्ठाम इह साधो सुखेन वै ॥ २ ॥
 हिरण्याक्षो घरापीठं द्वीपसप्तकवेष्टितम् ।
 यदा जह्वा र तरसा नाकम्पत तदा तरुः ॥ ३ ॥
 यदा लोलायितवपुर्बभूवामरपर्वतः ।

ब्रह्माकारवृत्तिचन्द्रोदयोद्विजबोधा एव तरङ्गा येषां तथाविधाः
 सन्तः पर्वणि महाब्धय इव प्रबुद्धाः स्मः ॥ ३६ ॥ तादृशा
 वयं इदानीं भवदागमनाद्देतोः । येनोद्देशेन क्षीरोदः क्षीरसा-
 गरो मन्दरोद्भूतसर्वाङ्गो निर्मेध्यमानस्तन्यते तेनामृतेन मुदिता-
 शयाः संपन्ना इत्यर्थः । 'खन्यते' इति पाठेऽप्यवधार्यते मध्यत
 इत्येवार्थः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ सर्वसारं ज्ञानम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥
 भवदवलोकनेन शान्तं दुष्कृतं दुष्टप्रारब्धं यस्य तथाविधस्य
 मम जन्म अद्य सफलं निरतिशयानन्दफलयुक्तमभूदित्यर्थः
 ॥ ४१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रक-
 रणे पूर्वार्धे भुशुण्डस्वरूपनिर्वाणं नाम विंशः सर्गः ॥ २० ॥

कल्पवृक्षस्य माहात्म्यं प्रलये धारणास्थितिः ।

नियतिर्भूरिचित्रार्थस्मृतिश्चात्रोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

स्वाश्रयकल्पवृक्षमाहात्म्योपवर्णने युगान्तोत्पातादिषु स्वस्य
 खेदाप्रसक्तिप्रपञ्चनमुखेन 'वृत्तं सरसि किंच वै'ति प्रश्नोत्तरं
 वक्तुमुपक्रमते—युगक्षोभेष्वित्यादिना ॥ १ ॥ २ ॥ यद्यपि
 धरया सह कल्पवृक्षस्यापि हरणं निवृत्य एव तथापि
 दिव्यप्रभावबलाभाकम्पतेत्याशयः ॥ ३ ॥ सर्वतो दत्ताः

सर्वतो दत्तसाम्याद्रिस्तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ४
 भुजावष्टम्भविनमन्मेरुर्नारायणो यदा ।
 मन्दरं प्रोद्धाराद्रिं तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ५
 यदा सुरासुरक्षोभपतच्चन्द्रार्कमण्डलम् ।
 आसीजगदतिक्षुब्धं तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ६
 जन्मूलिताद्रीन्द्रशिला यदोत्पातानिला वज्रः ।
 आधूतमेरुतरचस्तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ७
 यदा क्षीरोदलोलाद्रिकन्दरानिलकम्पिताः ।
 कल्पाध्रपङ्क्तयश्चेरुस्तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ८
 यदा समन्ततो मेरुः कालनेमिभुजान्तरे ।
 किञ्चिदुन्मूलितोऽतिष्ठत्तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ९
 पक्षीशपक्षपवना अमृताक्रान्तिसंगरे ।
 यदा वज्रः पतत्सिद्धास्तदायं नापतद्रुमः ॥ १०
 यदा शेषाकृतिं रुद्रो नसमाप्तैकचेष्टिताम् ।
 ययौ गरुत्मान्ब्रह्माण्डं तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ ११
 यदा कल्पानलशिखाः शैलान्धिसकलोत्त्वणः ।
 शेषः फणाभिस्तत्याज तदा नाकम्पत द्रुमः ॥ १२
 एवंरूपे द्रुमवरे तिष्ठतामापदः कुतः ।
 अस्माकं मुनिशार्दूल दौःस्थित्येन किलापदः ॥ १३

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

कल्पान्तेषु महाबुद्धे बहत्सुत्पातवायुषु ।
 प्रपतत्स्विन्दुभाकेषु कथं तिष्ठसि विज्वरः ॥ १४

साम्याय तन्मोपष्टम्भशिलावद्वयो यस्य तथाविधोऽमर-
 पर्वतः । अर्थाद्वराहेण पुनर्भूमिप्रतिष्ठापनदद्यामिति गम्यते
 ॥ ४ ॥ भुजेति । अत्रापि चतुर्भुजो द्वाभ्यां भुजाभ्यां
 मेरुपवष्टम्भेतराभ्यां मन्दरं प्रोद्धारेति गम्यते ॥ ५ ॥ सुरा-
 सुरयोः क्षोभस्त्रीत्रसंग्रामस्तेन पतच्चन्द्रार्कमण्डलम् ॥ ६ ॥ ७ ॥
 क्षीराब्धौ लोलस्य मन्दरादेः कन्दरानिलैरिव कम्पिताः ॥ ८ ॥
 कालनेमिभुजान्तरे प्रकम्पितस्तारकामये सप्राने प्रतिद्वः ॥ ९ ॥
 अमृताक्रान्तिरमृताहरणं तदर्थं संगरे । पतन्तः सिद्धा येभ्यः
 ॥ १० ॥ 'गरुडस्य जातमानस्य सर्वे लोकाः प्रकम्पिताः ।
 प्रकम्पिता मही सर्वा सप्तद्वीपाश्च कम्पिताः ॥ तदुत्पाताजिम-
 जन्तीं भुवं नापमिवाम्भति । दधौ सहस्रैः चिरसां संकषेणव-
 पुर्हरः ॥' इति कथामनुसृत्याह—यदेति । रुद्रः सकर्षणरुद्रः ।
 अद्यापि न समाप्तं एकं भूमिधारणलक्षणं चेष्टितं चरित्रं
 यस्यास्तथाविधां शेषाकृतिं यदा ययौ, यदा चोत्सुस्य गरुत्मान्
 ब्रह्माण्डं ययौ तदापि नाकम्पतेत्यर्थः ॥ ११ ॥ शैलानाम-
 ष्वीना सकलानां प्राणिनां चोत्त्वणा दुःसहाः कल्पानलशिखाः
 फणामिर्मुचैस्त्वत्याज उज्जगार । संकषेणमुखाग्निनैवान्ते प्रलयस्य
 पुराणेषु प्रसिद्धेः ॥ १२ ॥ दौःस्थित्येन दुष्टस्थाननिवासेन
 ॥ १३ ॥ इन्दो मेघे नक्षत्रेष्वेकेषु च प्रपतत्सु । तथा च तदानीं
 प्रलये भूलोकान्तस्य दाहान्न मेरुकल्पवृक्षादिभिस्त्राणप्रत्याशेति
 भावः ॥ १४ ॥ कल्पान्ते सहस्रमहायुगपर्यन्ते ॥ १५ ॥

भुशुण्ड उवाच ।

यदा पपात कल्पान्ते व्यवहारो जगत्स्थितौ ।
 कृतघ्न इव सन्मित्रं तदा नीडं त्यजाम्यहम् ॥ १५
 आकाश एव तिष्ठामि विगताखिलकम्पनः ।
 स्तब्धप्रकृतिसर्वाङ्गो मनो निर्वासनं यथा ॥ १६
 प्रतपन्ति यदादित्याः शकलीकृतभूधराः ।
 वारुणीं धारणां बद्धा तदा तिष्ठामि धीरधीः ॥ १७
 यदा शकलिताद्रीन्द्रा वान्ति प्रलयवायवः ।
 पार्वतीं धारणां बद्धा खे तिष्ठाम्यचलं तदा ॥ १८
 जगद्गलितमेवादि यान्येकार्णवतां यदा ।
 वायवीं धारणां बद्धा संप्लवेऽचलधीस्तदा ॥ १९
 ब्रह्माण्डपारमासाद्य तत्त्वान्ते विमले पदे ।
 सुषुप्तावस्थया तावत्तिष्ठाम्यचलरूपया ॥ २०
 यावत्पुनः कमलजः सृष्टिकर्मणि तिष्ठति ।
 तत्र प्रविश्य ब्रह्माण्डं तिष्ठामि विहगालये ॥ २१
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यथा तिष्ठसि पक्षीन्द्र धारणामिरस्त्रण्डितः ।
 कल्पान्तेषु तथा कस्मान्नान्ये तिष्ठन्ति योगिनः ॥ २२

भुशुण्ड उवाच ।

ब्रह्मन्नियतिरेषा हि दुर्लङ्घ्या पारमेश्वरी ।
 मयेदृशेन वै भाव्यं भाव्यमन्यैस्तु तादृशैः ॥ २३
 न शक्यते तोलयितुमवश्यं भवितव्यतः ॥ २४

स्तब्धप्रकृतीनि निखलस्वभावानि सर्वाङ्गानि यस्य ॥ १५ ॥
 सामान्यत उक्तामाकाशे स्थितिं धारणामेदैर्विशिष्य प्रपञ्चयति—
 प्रतपन्तीति । अत्यन्तशीतलसर्वैर्दिग्बलव्याप्यपरिच्छेद्यज-
 लात्मा धरुण एवाहमस्मीति चित्ते निरन्तरं धारणं वारुणीधार-
 णेत्युच्यते । तथा हि धरुणमात्मानं सदा मन्यत इति । पार्वत्या-
 दिधारणा अप्येवमेवोह्याः । पृथिव्यादिपञ्चभूतधारणाप्रकारं
 वसिष्ठः स्वयमेवोत्तरार्धे विस्तरेण वक्ष्यति ॥ १७ ॥ अचल-
 मिति क्रियाविशेषणम् ॥ १८ ॥ चले वायावेवात्मघोर्यस्य
 तथाविधः सन् नमसि संप्लवे ॥ १९ ॥ कियत्कालं तथा संप्लवसे
 तत्राह—ब्रह्माण्डेति । ब्रह्माण्डस्य स्थूलसूक्ष्मसमष्टेः पारं पर-
 मावधिभूतमव्याकृतमासाद्य तत्त्वानां चतुर्विंशतीनां वृद्धि-
 तीनां षड्विंशतीं वा नामादिप्राणान्तानां वा अन्ते भूमाख्ये
 पदे सुषुप्तवदेकरसनिर्विकल्पसमाध्यवस्थया ॥ २० ॥ किय-
 त्कालं तादृशसमाधौ स्थितिरिति चेत्तत्राह—यावदिति ।
 तत्र पुनः सृष्टिकर्मणि विहगानामस्यकमालये एतत्कल्पवृक्षस्था-
 नापने तिष्ठामि ॥ २१ ॥ अन्येऽपि योगिनस्तथा कस्माज्
 तिष्ठन्ति किमर्थमाधिकारिकशरीरान्तरं सुखं वा गच्छन्ति ।
 तेनैव शरीरेण त्वमिव कुतो न तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥
 अत्र तत्तत्प्रबलप्रारब्धानुसारिणी सत्यसंकल्परूपा ईश्वरनिय-
 तिरेव व्यवस्थाहेतुर्नान्येत्याह—ब्रह्मन्निति ॥ २३ ॥ तोलयितुं
 इदमित्यमेवेति बुद्ध्या परिच्छेत्तुम् । यथा यादृशप्रारब्धोपपत्तं

यद्यथा तत्तथैतद्धि स्वभावस्यैव निश्चयः ॥ २४
 मत्संकल्पवशेनैव कल्पे कल्पे पुनः पुनः ।
 अस्मिन्नेव गिरेः शृङ्गे तरुरित्थं भवत्ययम् ॥ २५
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 अत्यन्तमोक्षदीर्घायुर्भवान्निर्देशनायकः ।
 ज्ञानविज्ञानवान्धीरो योगयोग्यमनोगतिः ॥ २६
 दृष्टानेकविधानल्पसर्गसङ्गमगमः ।
 किं किं सरसि कल्याण चित्रमस्मिन्नगत्क्रमे ॥ २७
 भुशुण्ड उवाच ।
 बृहत्तर शिलावृक्षमजाततृणवीरुधम् ।
 अशैलवनवृक्षौघां सरामीमां धरामधः ॥ २८
 दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
 भस्सारभरापूर्णां संसरामि धरामधः ॥ २९
 अनुत्पन्नदिवाधीशमर्वातशशिमण्डलाम् ।
 अविभक्तदिवालोकां संसरामि धरामधः ॥ ३०
 मेरुरत्नतलोद्घोतैरर्धप्रकटकोटरम् ।
 लोकालोकमिवाद्याद्रिभुवनं संसराम्यहम् ॥ ३१
 प्रवृद्धासुरसंग्रामे क्षीयमाणान्तरामिह ।
 पलायमानामभितः संसरामि धरामिमाम् ॥ ३२
 चतुर्युगानि चाक्रान्तामसुरैर्मत्तकाशिभिः ।
 दैत्यान्तःपुरतां प्राप्तां संसरामि धरामिमाम् ॥ ३३
 अत्यन्तान्तरितान्तान्तसमस्तापरमण्डलाम् ।
 अजदेवत्रयीशेषां संसरामि जगत्कुटीम् ॥ ३४

चतुर्युगार्धमपरं नीरन्ध्रां वनपादपैः ।
 अदृष्टेतरनिर्माणां संसरामि धरामिमाम् ॥ ३५
 एवं चतुर्युगं साग्रं नीरन्ध्रैरचलैर्वृताम् ।
 अप्रवृत्तजनाचारां संसरामि धरामिमाम् ॥ ३६
 दशवर्षसहस्राणि मृतदैत्यास्थिपर्वतैः ।
 आंकीर्णां परितः पूर्णां संसरामि धरामिमाम् ॥ ३७
 भयादन्तर्हिताशेषवैमानिकनभश्चराम् ।
 द्यां च निर्वृक्षनिःशेषां संसरामि तमोमयीम् ॥ ३८
 अनगस्त्यामगस्त्याशामेकपर्वततां गताम् ।
 मत्ते विन्ध्यमहाशैले संसरामि जगत्कुटीम् ॥ ३९
 एतांश्चान्यांश्च वृत्तान्तान्संसरामि बहूनपि ।
 किं तेन बहूनोक्तेन सारं संक्षेपतः शृणु ॥ ४०
 असंख्यातान्मनून्ब्रह्मन्सरामि शतशो गतान् ।
 सर्वान्संरम्भबहुलांश्चतुर्युगशतानि च ॥ ४१
 एकमेव स्वयं शुद्धं पुरुषासुरवर्जितम् ।
 आलोकनिचयं चैकं कंचित्सर्गं सराम्यहम् ॥ ४२
 सुरापं ब्राह्मणं मत्तं निषिद्धसुरशुद्रकम् ।
 बहुनाथसतीकं च कंचित्सर्गं सराम्यहम् ॥ ४३
 वृक्षनीरन्ध्रभूषीठमकल्पितमहार्णवम् ।
 स्वयंसंजातपुरुषं कंचित्सर्गं सराम्यहम् ॥ ४४
 अपर्वतमभूमिं च व्योमस्थामरमानवम् ।
 अचन्द्रार्कप्रकाशाख्यं कंचित्सर्गं सराम्यहम् ॥ ४५

तत्तथैव । स्वभावस्य नियतेः ॥ २४ ॥ प्रतिकल्पमेतत्तरुनिर्माणेऽपि भोजकादृष्टमूलभूतमत्संकल्प एव निमित्तमित्याह—
 मदिति ॥ २५ ॥ मोक्ष इव दीर्घमपरिच्छेद्यमायुर्यस्य । मोक्षेण जीवन्मुक्त्या वा उपलक्षितं दीर्घमायुर्यस्य । अत एव चिरंतनार्थानां निर्देशविषये नायकः श्रेष्ठः ॥ २६ ॥ दृष्टाः प्रलेकमनेकविधा अनल्पा बहवः सर्गाणां सङ्गाः स्थितयो गमाः प्रलया आगमा उत्पत्तयश्च येन । अत्रास्मिन्स्वदृष्टे जगत्क्रमे चित्रमाश्रयभूतं किं किं सरसि तद्वदेत्यर्थः ॥ २७ ॥ हे बृहत्तर । मेरोरधः ॥ २८ ॥ २९ ॥ दिवाधीशः सूर्यः मेरुप्रभाभिरविभक्तः अपृथग्भूतः पृथगसन्निति यावत् । दिवालोको दिनहेतुः प्रकाशः ॥ ३० ॥ अर्धं प्रकटं सप्रकाशं कोटरं यस्य अत एव लोकालोकमिव स्थितम् । आख्याः कवित्प्रकाशसंपन्ना अद्भ्यो यस्मिन्स्वधाविर्धं भुवनम् ॥ ३१ ॥ पलायमानां लक्षणया पलायमानजनाकीर्णाम् ॥ ३२ ॥ चतुर्युगानीति कालवाचित्वादत्यन्तसंयोगे द्वितीया ॥ ३३ ॥ अत्यन्तमन्तरितानि समुद्रेणाच्छादितान्यन्तान्तक्रमेण समस्तान्यपरमण्डलानि मेवतिरिक्तदेशा यस्याम् । मेरौ च अजा ब्रह्मविष्णुरुद्राख्या देवत्रयी शिष्यत इति शेषो यस्याम् ॥ ३४ ॥ चतुर्युगानामर्धं युगद्वयपर्यन्तं न दृष्टं वृक्षेतरनिर्माणं यस्याम् ॥ ३५ ॥ साग्रं चतुर्युगाधिकं चतुर्युगं नीरन्ध्रैर्निर्विहैरचलैः पर्वतैर्वृताम् । पृथुचक्र-

वर्तिना हि धनुष्कोट्या पर्वतानुत्सार्य पश्चाद्भूमिः समीकृतेति पुराणेषु प्रसिद्धम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ द्यां अन्तरिक्षादिलोकान् चकारादरां निर्वृक्षनिःशेषाम् । 'निर्वृक्षे'ति पाठे दिव एव विशेषणम् । ऋक्षाणि ताराः । तमोमयीं तमःप्रचुरामित्यप्युभयविशेषणम् ॥ ३८ ॥ मलयदुर्दुरसह्याद्रिविभाजकाभावादेकपर्वततां गताम् । मत्ते मेरुस्पर्धया अभिवृद्धे सति ॥ ३९ ॥ ४० ॥ संरम्भैः प्रभावातिशयैर्बहुलान् ॥ ४१ ॥ आश्चर्यान्तरमाह—एकमेवेति । यदा विराड्ब्रह्माण्डशरीर उत्पन्नमात्रः स्वात्मतत्त्वं पर्यालोचयितुं कंचित्कालं समाहितचित्तोऽभूत्सावस्थान्त्रोच्यते । पुरुषैः सुरादिभिरसुरैश्च वर्जितम् । आलोकानां प्रकाशस्वभावानां तैजसानामेकं निचयं समष्टिं च तदात्मकं ब्रह्माण्डम् ॥ ४२ ॥ कलियुगसर्गस्थितिं सरणाह—सुरापेति । सुरापा ब्राह्मणा यस्मिन् । निषिद्धा निन्दिताः सुरा देवा यैस्तथाविधाः शुद्रका असच्छूद्रा यस्मिन् । बहुनाया अनेकमर्तृकाः सत्यः क्षियो यस्मिन् ॥ ४३ ॥ आश्चर्यान्तरमाह—वृक्षेति । समुद्रनिर्मातुः प्रियव्रतस्योत्पत्तेः प्रागवस्थांयामिदं प्रसिद्धम् । औपुंससङ्गं विना मानस्या सृष्ट्या स्वयमेव संजाता भृग्वादिपुरुषा यस्मिन् ॥ ४४ ॥ भुवि जले ममायां जनलोकादिप्रकाशबहुललोकव्यवहारमात्रोपलक्षिते काले या स्थितिस्तां सरणाह—अपर्वतमिति । व्योमस्था अमरा देवा

अनिन्द्रममहीपालममध्यस्थाधमोत्तमम् ।
 सममन्धककुपूचकं कंचित्सर्गं सराम्यहम् ॥ ४६
 सर्गप्रारम्भकलना विभागो भुवनत्रये ।
 कुलपर्वतसंस्थानं जम्बूद्वीपं पृथक्स्थितम् ॥ ४७
 वर्णधर्मधियां सृष्टिविभागो मण्डलावनेः ।
 क्रक्षत्रकसंस्थानं ध्रुवनिर्माणमेव च ॥ ४८
 जन्मेन्दुभास्करादीनामिन्द्रोपेन्द्रव्यवस्थितिम् ।
 हिरण्याक्षपहरणं चराहोद्धरणं क्षितेः ॥ ४९
 कल्पनं पार्थिवानां च वेदानयनमेव च ।

मन्दरोन्मूलनं चाध्वेरमृतार्थं च मन्थनम् ॥ ५०
 अजातपक्षो गरुडः सागराणां च संभवः ।
 इत्यादिका याः स्मृतयः स्वल्पातीतजगत्क्रमाः ।
 बालैरपि हि तास्तात स्मर्यन्ते तासु को ग्रहः ॥ ५१
 गरुडवाहनं विहगवाहनं
 विहगवाहनं वृषभवाहनम् ।
 वृषभवाहनं गरुडवाहनं
 कलितवानहं कलितजीवितः ॥ ५२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वाल्मीकीये दे० सो० निर्वाणप्रकरणे पू० भुशुण्डो० चिरजीवितवृत्तान्तकथनं नामैकविंशः सर्गः ॥२१॥

द्वाविंशः सर्गः २२

भुशुण्ड उवाच ।

ततो जगति जातेषु भगवन्पुष्पदादिषु ।
 भरद्वाजपुलस्त्यात्रिनारदेन्द्रमरीचिषु ॥ १
 पुलहोद्दालकायेषु क्रतुमृगवह्निरस्तु च ।
 सनत्कुमारभृङ्गीशस्कन्दैभवदनादिषु ॥ २
 गौरीसरस्वतीलक्ष्मीगायत्र्याद्यासु भूरिषु ।
 मेरुमन्दरकैलासहिमवद्दुर्गादिषु ॥ ३
 हयग्रीवहिरण्याक्षकालनेमिबलादिषु ।
 हिरण्यकशिपुकाशबलिप्रह्लादकादिषु ॥ ४
 शिविन्यङ्कुपृथूलाख्यचैत्यनाभागकेलिषु ।

जलमान्धातुसगरदिलीपनहुषादिषु ॥ ५
 आत्रेयव्यासवाल्मीकिशुकवात्स्यायनादिषु ।
 उपमन्युमणीसङ्कीर्णभगीरथशुकादिषु ॥ ६
 अल्पकातीतकालेषु किंचिद्वरेषु केपुचित् ।
 तथाद्यतनसर्गेषु स्मरणे गणनेव का ॥ ७
 मुने ते ब्रह्मपुत्रस्य जन्माएकमिदं किल ।
 संसाराभ्यष्टमे सर्गे तस्मिंस्त्वं मम संगतः ॥ ८
 कदाचिज्जायसे व्योमः कदाचिज्जायसे जलात् ।
 कदाचिद्वायुतः शैलात्कदाचिज्जायसेऽनलात् ॥ ९
 यादृशो यादृशाचारो यादृक्संस्थानदिगणः ।

मानवा योगसिद्धाश्च यस्मिन् ॥ ४५ ॥ न विद्यन्ते मध्यस्था
 अधमा उत्तमाश्च यस्मिन् । अत एव सर्वे अन्धानि कुकुभां
 दिशां चक्राणि यस्मिन्निति पूर्वकल्पान्मन्वन्तरान्तदशोपल-
 क्षितलेगतिस्थित्युक्तिः ॥ ४६ ॥ एतत्कल्पवृत्तान्तस्मरणं च एतत्क-
 ल्पाद्युषां बहूनामस्तीति प्रपञ्चयद्वाह—सर्गप्रारम्भेत्यादिना ।
 सर्वेषां प्रथमान्तपदानां वैष्टोकेस्थे 'बालैरपि हि तास्तात स्म-
 र्यन्ते' इत्यन्वान्वयः । आदौ सर्गप्रारम्भार्थं कलना तद्वृत्तः संकल्प-
 स्ततो भुवनत्रये द्वीपावधान्तरप्रदेशभेदानां विभजनं विभाग-
 स्ततः कुलपर्वतानां संस्थानं यथायोग्यप्रदेशकल्पनं ततः पृथक्-
 स्थितं जम्बूद्वीपं प्रविश्य ब्राह्मणादिवर्णानां तद्धर्मणां धियां
 सत्तयोग्यविद्याभेदानां च सृष्टिरिति यथायोग्यं क्रमो बोध्यः
 ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ क्षितेर्वराहेणोद्धरणम् ॥ ४९ ॥ देवदान-
 वमनुष्यादिषु प्रलेकं पार्थिवानां कल्पनम् । मत्स्यावतारे वेदान-
 यनम् ॥ ५० ॥ स्मर्यन्त इति स्मृतयः अवश्यस्मर्तव्यार्थाः
 महृष्टानेककल्पपेक्षया एतत्कल्पमात्रनिष्पन्नत्वात्स्वल्पा अती-
 तजगत्क्रमाः । बालैर्मदपेक्षया अल्पवयस्कैरेतत्कल्प-
 जैरपि भवदादिभिः स्मर्यन्त एवेत्यर्थः ॥ ५१ ॥ कल्पा-
 न्तरेषु स्वदृष्टान्याश्वर्यान्तराण्यपि वदन्नुपसंहरति—गरुड-
 वाहनमिति । कलितं प्राप्तं जीवितं कीर्त्तयुर्न तथाविधः अहं
 एतत्कल्पे प्रसिद्धं गरुडवाहनं विहगो विहगोत्तमो हंसस्त-

द्वाहनं चतुर्मुखीभूय देवदैत्यादिसर्गाधिकारं निष्पादयन्तं कलि-
 तवान्दृष्टवान् । तथा विहगवाहनं ब्रह्माणं वृषभवाहनं रुद्री-
 भूय संहाराधिकारं कुर्वाणं कल्पितवान् । एवं वृषभवाहनं
 रुद्रं च गरुडवाहनं विष्णुशरीरं शृत्वा पातनाधिकारं कुर्वाणं
 कलितवानिति महदाश्चर्यरहस्यमेतदित्यर्थः ॥ ५२ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वोर्ध्वे चिरजीवि-
 तवृत्तान्तकथनं नामैकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

वसिष्ठस्याष्टजन्मादिसमार्धसमसर्गकाः ।

श्रीरोदमथनाद्याश्च भूयो दृष्टा इहोदिताः ॥ १ ॥

ततस्तदनन्तरं किंचिद्वरेष्वतीतकालेषु तथा अद्यतनसर्गेषु
 जातेषु पुष्पदादिषु भगीरथशुकाद्यन्तेषु स्मरणे कैव गणनेति
 सप्तमे सर्वेषां सप्तम्यन्तानां संवन्धः ॥ १ ॥ सनत्कुमाराण्तेषु
 ब्रह्मर्षिषु । सुगवह्निःप्रभृतिषु सिद्धर्षिषु । स्कन्दैभवदनादिषु
 शिवपार्ष्णिदिषु ॥ २ ॥ गौर्यादिषु तच्छक्तिषु । मेर्यादिषु गिरिषु
 ॥ ३ ॥ हयग्रीवादिषु दानवेषु । हिरण्याक्षादिषु दैत्येषु ॥ ४ ॥
 शिविप्रभृतिषु राजसु ॥ ५ ॥ आत्रेयादिषु मुनिषु ॥ ६ ॥
 गणनेव केति न तत्र विस्मरणसंभावनाप्यस्तीति भावः ॥ ७ ॥
 अष्टमे सर्गे जन्मनि कल्पे वा मम संगतो मया सह मिलितः
 अभूः ॥ ८ ॥ किमष्टस्यपि जन्मसु ब्रह्मपुत्र एव नेत्याह—
 कदाचिदिति ॥ ९ ॥ सर्वेषु कल्पेषु ततदधिकारिपुरुषाणां

१ हस्तलिखितादयोऽंशु सर्गसाम्प्रतिमः श्लोकः तत्पूर्वांशुदृष्टयेन प्रायः सयोजितो वृत्तयते, स एव श्लोकाद्भक्तमोऽऽवृत्तीकारैरेवेति शुबचम्,

सर्गोऽयं तादृशानेव त्रीन्सर्गान्संस्मराम्यहम् ॥ १०
 एकरूपाखिलाचारसंनिवेशधरामरान् ।
 समकालान्स्थिरस्थैर्यान्दशसर्गान्संस्मराम्यहम् ॥ ११
 अन्तर्धानं गता धात्री वारपञ्चकमुद्धृता ।
 मुने पञ्चसु सर्गेषु कूर्मेणैव पयोनिधेः ॥ १२
 मन्दराकर्षणावेगपर्याकुलसुरासुरम् ।
 स्मरामि द्वादशं चेदममृताम्भोधिमन्थनम् ॥ १३
 सर्वौषधिरसोपेतां बलिग्राहस्तदा दिवः ।
 वारत्रयहिरण्याक्षो नीतवान्वसुधामधः ॥ १४
 रेणुकात्मजतां गत्वा पृष्ठवारमिमं हरिः ।
 बहुसर्गान्तरेणापि चकार क्षत्रियक्षयम् ॥ १५
 शतं कलियुगानां च हरेर्बुद्धदशाशतम् ।
 शौकराजतयैवाप्तं स्मरामि मुनिनायक ॥ १६
 त्रिंशत्त्रिपुरविशोभान्द्रौ दक्षाध्वरसंक्षयौ ।
 दशशक्रविघातांश्च चन्द्रमौलेः स्मराम्यहम् ॥ १७
 धाणार्थमष्टौ संग्रामाध्वरप्रमथमन्त्रकान् ।
 विशोभितसुरानीकान्समरामि हरिशर्षयोः ॥ १८
 युगंप्रति धियां पुंसां न्यूनाधिकतया मुने ।
 क्रियाङ्गपाठवैचित्र्ययुक्तान्वेदान्संस्मराम्यहम् ॥ १९
 एकार्थानि समग्राणि बहुपाठानि मेऽनघ ।
 पुराणानि प्रवर्तन्ते प्रसृतानि युगंप्रति ॥ २०
 पुनस्तानेव तानेवमन्यानपि युगे युगे ।
 वेदादिविप्ररचितानितिहासान्संस्मराम्यहम् ॥ २१
 इतिहासं महाश्चर्यमन्यं रामायणाभिधम् ।
 ग्रन्थलक्षप्रमाणं च ज्ञानशास्त्रं स्मराम्यहम् ॥ २२

समाननामरूपत्वेऽपि न सर्वेषां पदार्थानां सर्वसंनिवेशाच्चारसाम्य-
 नियमः किंतु काकतालीयन्यायेन कदाचित्साम्यमित्याशयेनाह—
 तादृश इति ॥ १० ॥ समकालान् तुल्यायुषः । स्थिराणि असुरै-
 रविचालितानि स्थैर्याणि नियतकालतत्तत्प्रदावस्थानानि देवानां
 येषु ॥ ११ ॥ आचारसाम्यमुक्त्वा तद्वैषम्यमाह—अन्तर्धान-
 मिति । अन्तर्धानं जले निमज्जनेन तिरोधानम् । धात्री भूः । कूर्मे-
 णैव न वराहेण ॥ १२ ॥ १३ ॥ दिवः स्वर्गद्वलिं करं गृह्णातीति
 बलिग्राहः । करदीकृतसर्वदेवगण इति यावत् । अधः पातालम्
 ॥ १४ ॥ बहुभिः परशुरामावतारशून्यैः सर्गैरन्तरेण व्यवधा-
 नेनापि ॥ १५ ॥ शौकः कीकटदेशविशेषस्तद्राजतया । शुद्धो-
 दनाख्यतद्राजपुत्रतयेति यावत् ॥ १६ ॥ त्रिंशत्सु कल्पेषु त्रिंश-
 त्संख्याकांश्चिपुराणां विशोभान्द्राहान् । प्रतिकल्पं स्वायंभुवेऽ-
 न्तरे चाक्षुषे च प्रविद्धौ द्वौ दक्षाध्वरसंक्षयौ । दशानां शक्राणां
 चन्द्रमौलेः कृतापराधातां पदात्प्रच्याव्य गिरिगुहासु निरोध-
 लक्षणान्सर्वभुजस्तम्भलक्षणान्वा विघातान्दण्डान् ॥ १७ ॥
 ज्वराणां माहेश्वरवैष्णवाख्यज्वरभेदानां प्रमथानां च मन्त्रकान्
 आमन्त्रयितुम् । शौर्योत्साहजननेन प्रवर्तकानिति यावत् । 'सुर-
 प्रमथमन्त्रकान्' इति पाठे ह्यसुरान् बाणविशेषान्मन्त्रन्ति

रामवद्व्यवहर्तव्यं न रावणविलासवत् ।
 इति यत्र धियां ज्ञानं हस्ते फलमिवापितम् ॥ २३
 कृतं वाल्मीकिना चैतदधुना यत्करिष्यति ।
 अन्यच्च प्रकटं लोके स्थितं ज्ञास्यसि कालतः ॥ २४
 वाल्मीकिनाम्ना जीवेन तेनैवान्येन वा कृतम् ।
 एतच्च द्वादशं वारं क्रियते विस्मृतिं गतम् ॥ २५
 द्वितीयमेतस्य समं भारतं नाम नामतः ।
 स्मरामि प्राक्तनव्यासकृतं जगति विस्मृतम् ॥ २६
 व्यासाभिधेन जीवेन तेनैवान्येन वा कृतम् ।
 एतच्च सप्तमं वारं क्रियते विस्मृतिं गतम् ॥ २७
 आख्यानकानि शास्त्राणि निवृत्तानि युगंप्रति ।
 विचित्रसंनिवेशानि संस्मरामि मुनीश्वर ॥ २८
 भूयस्तान्येव तान्येव तथान्यानि युगे युगे ।
 साधो पदार्थजालानि प्रपश्यामि स्मरामि वै ॥ २९
 राक्षसक्षतये विष्णोर्महीमवतरिष्यतः ।
 अधुनैकादशं जन्म रामनाम्नो भविष्यति ॥ ३०
 नारसिंहेन वपुषा हिरण्यकशिपुं हरिः ।
 जघान वारत्रितयं मृगेन्द्र इव वारणम् ॥ ३१
 वसुदेवगृहे विष्णोर्भुवो भारनिवृत्तये ।
 अधुना षोडशं जन्म भविष्यति मुनीश्वर ॥ ३२
 जगन्मयी भ्रान्तिरियं न कदाचन विद्यते ।
 विद्यते तु कदाचिच्च जलबुद्बुदवत्स्थिता ॥ ३३
 दृश्यभ्रान्तिरनित्येयमन्तस्था संविदात्मनि ।
 जायते लीयते चाशु लोला वीचिरिवाम्भसि ॥ ३४

छिन्दन्तीति क्षुरप्रमथास्तथाविधा मन्त्रका मन्त्रास्त्राणि येष्वि-
 त्यर्थः ॥ १८ ॥ युगंप्रति युगे युगे । कर्मप्रवचनीयेन प्रतिना
 वीप्सा शोभते । पुंसामध्येतृपुरुषाणां धियां बुद्धीनां न्यूना-
 धिकतया ब्रह्मचर्यशुश्रूषाभूमिशयनादिक्रियाणां शिक्षाद्य-
 ज्ञानां सावधानस्वरवर्णाद्युच्चारणलक्षणपाठानां च न्यूनाधिक-
 ताकृतप्रभाववैचित्र्यैर्युक्तान् ॥ १९ ॥ प्रतिद्वापरान्तनिर्मातृमे-
 दाद्बहुपाठानि ॥ २० ॥ वेदादिविद्विर्व्यासवाल्मीकिप्रमृतिभिः
 प्ररचितान् पुनः पुनस्तानेव भारतरामायणादीनि तिहासान् ॥ २१ ॥
 महारामायणाभिर्षं ब्रह्मणा वसिष्ठविश्वामित्रादिभ्यः सप्तदिष्टं
 ज्ञानशास्त्रम् ॥ २२ ॥ २३ ॥ यदन्यच्च वसिष्ठरामसंवादरूपं
 महारामायणं द्वारिंशत्सहस्रमितं करिष्यति तदपि दिव्यज्ञा-
 नबलादनुभूतं स्मरामि त्वमपि कालतो ज्ञास्यसि ॥ २४ ॥ एत-
 द्वासिष्ठरामसंवादरूपं तेन पूर्वकल्पीयेनान्येन वा वाल्मीकिनाम्ना
 जीवेन प्राकृतमेव विस्मृतिं व्यवहर्तुपरम्परोच्छेदेनोच्छेदं गतं
 सांप्रतं द्वादशानां पूरणं द्वादशं वारं क्रियते ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥
 ॥ २८ ॥ २९ ॥ अधुना संनिहितत्रेतायुगे ॥ ३० ॥ ३१ ॥
 अधुना एतच्चतुर्युगान्तर्गतद्वापरान्ते ॥ ३२ ॥ बहिरिदं जायत
 इति भ्रान्तिरेवेत्याशयेनाह—जगन्मयीति ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

समैकसंनिवेशानि बहूनि विषमाणि च ।
 तथार्धसमरूपाणि त्रिजगन्ति सराम्यहम् ॥ ३५ ॥
 तान्येव तादृक्कर्माणि तथान्याचरणानि च ।
 तत्कर्माणि तथान्यानि भूतानीह सराम्यहम् ॥ ३६ ॥
 प्रतिमन्वन्तरं ब्रह्मन्विपर्यस्ते जगत्क्रमे ।
 संनिवेशेऽन्यथाजाते प्रयाते संश्रुते जने ॥ ३७ ॥
 ममान्यान्येव मित्राणि अन्य एव च वन्धवः ।
 अन्य एव नवा भृत्या अन्य एव समाश्रयाः ॥ ३८ ॥
 कदाचिदहमेकान्ते विन्ध्यकच्छकृतालयः ।
 कदाचित्सह्यानिलयः कदाचिद्दुर्गालयः ॥ ३९ ॥
 कदाचिद्धिमवद्वासी कदाचिन्मलयाचलः ।
 कदाचित्प्राक्कनेनैव संनिवेशेन भूधरम् ॥ ४० ॥
 द्यूतवृक्षे च शाखायां प्राप्य नीडं करोम्यहम् ।
 अनाद्यन्तेषु यातेषु युगेषु मुनिनायक ॥ ४१ ॥
 प्राक्कनेनैव जातोऽयं संनिवेशेन पादपः ।
 देहं त्यक्त्वा सुखं साधो नातः परिणतिं गतः ॥ ४२ ॥
 तदीयेनैव जातोऽयं संनिवेशेन पादपः ।
 ताते जीवति यैवाभूच्छोभास्य सुतरोस्तथा ॥ ४३ ॥
 कृतप्राक्संनिवेशोऽयमहं स्थितिमिहागतः ।

नेहाभूदुत्तरा पूर्वं ककुत्थायं च भूधरः ॥ ४४ ॥
 दिगुत्तराभूदन्येयं पूर्वमेव महीधरः ।
 एकैकदेहसंस्थानवीतब्रह्मनिशागमः ॥ ४५ ॥
 ध्यानान्ते तत्रैव एवैनं सर्गमालोक्य वेद्यहम् ।
 अर्कादेर्देहसंचारान्मेवादस्थानका दिशः ॥ ४६ ॥
 संस्थानमन्यथा तस्मिन्स्थिते यान्ति दिशोऽन्यथा ।
 न सञ्ज्ञासज्जगन्मन्ये अमयन्केवलं धियः ॥ ४७ ॥
 आत्मस्पन्दचमत्कारविभवोऽयं विजृम्भते ।
 पुत्रः पितृत्वमायाति मित्रं धात्वयितां तथा ॥ ४८ ॥
 स्त्रीत्वं च शतशो यातानुंसञ्चैव सराम्यहम् ।
 कलौ कृतयुगाचारान्कृते कलियुगस्थितिम् ॥ ४९ ॥
 त्रेतायां द्वापरे चैव संस्मरामि सुनीश्वर ।
 अहंप्रवेदवेदार्थान्स्वसंकेतविहारिणः ॥ ५० ॥
 सर्गान्निर्गलाचारान्कचित्कांश्चित्सराम्यहम् ।
 ध्यातरि ब्रह्मणो ब्रह्मन्ससुरासुरमानुषम् ॥ ५१ ॥
 चतुर्युगसहस्रान्ते जगच्छून्यं सराम्यहम् ।
 मनोमनननिर्माणान्पार्थिवाकारवर्जितान् ।
 व्याप्तान्वायुमयैर्भूतैर्दश सर्गान्सराम्यहम् ॥ ५२ ॥

प्रतिसर्गं लोकादीनां संनिवेशादिसाम्यनियमोऽप्यौत्सर्गिक
 इत्याह—समेति ॥ ३५ ॥ मन्वाद्यधिकारिपुरुषसंनिवेशादि-
 श्चादिष्वपि साम्यमौत्सर्गिकमेवेत्याह—तान्येवेति ॥ ३६ ॥
 संश्रुते प्रख्याते ॥ ३७ ॥ अन्य एव समाश्रया निवासाः ॥ ३८ ॥
 समाश्रयभंदमेव प्रपश्यति—कदाचिदिल्लादिना ॥ ३९ ॥
 मलये अचलः स्थिरः ॥ ४० ॥ प्राप्येकस्य प्राक्कनेन भूधरमि-
 त्यनेनान्वयः । अनाद्यन्तेषु असंख्येयेषु ॥ ४१ ॥ अतः प्राक्कन-
 संनिवेशात्परिणतिं संनिवेशान्तरं न गतः । तर्हि त्वमिव
 पादपोऽपि किं चिरजीवी नैत्याह—देहं त्यक्त्वेति ॥ ४२ ॥
 एवं च न पादपजीवैक्येऽपि तात्पर्यं किंतु शोभासंनिवेशसाम्याद-
 भेदोपचार इति सूचयन्त्याह—तदीयेनेति । ताते चण्डे ॥ ४३ ॥
 एवं दिग्भूधरयोरेक्यप्रत्यभिज्ञापि संनिवेशसाम्यादेवेत्याह—
 नेहेति ॥ ४४ ॥ पूर्वं उत्तरा दिक् अन्यैवाभूदियमन्या । एवं
 भूधरोऽप्यन्य एवाभूदिल्लाष्टतिभिपरिणामाभ्यामन्वयः । तर्हि
 तथैव त्वमपि प्रतिकल्पमन्यः समानसंनिवेशश्च किं न स्यात्त-
 णाह—एकेति । अहं एकत्वासौ एकेनैव देहसंस्थानेन बीता
 ब्रह्मनिशागमा यस्य तथाविधः ॥ ४५ ॥ तत्कृतस्तत्राह—
 ध्यानान्त इति । अतः कल्पान्ते प्रागुक्तधारणापूर्वकं स्थिरकृ-
 तस्य ध्यानस्य निर्विकल्पकसमाधेरन्ते अवसाने पुनर्जातमेतं
 सर्गमालोक्य सं एवायं मेरुः स एवायं पादप इति प्रत्यभिज्ञायमाने
 सत्त्वे एव एनं सर्गं वेद्यः । यद्यहमन्यः स्यां तत्तावगाहिनी
 प्रत्यभिज्ञैव न स्यादिति भावः । एव पूर्वसंस्थानादन्यथा संस्थान-

ताग्रहणादपि तद्वदुत्तमं न नाश इत्याशयगर्भा 'दिगुत्तराभूद-
 न्येयम्' इत्युक्तिमुपपादयति—अर्कादेरेति । विशः प्राच्यादयः
 अर्कसोमादेर्देहाणां नक्षत्राणामुदयास्तमयादनियतसंचाराच्च
 नियतोत्तरदिक्स्थितमेवादस्थानकाः प्रसिध्यन्ति ॥ ४६ ॥ सर्गा-
 न्तरे तु ता दिशस्तस्मिन्मेरावेवान्यथा प्रकारान्तरेण स्थिते सति
 चित्रपटलिखितमेवावधीना दिशस्तत्परिवर्तन इव अन्यथा
 संस्थानं व्यत्यस्तस्थितिं यान्तीत्यर्थः । एवं दिशामनियत-
 स्थित्या मिथ्यात्वे तदनुसारिनियतावयवसंनिवेशघटितस्य सर्व-
 स्यापि जगतोऽनिर्वचनीयतालक्षणं मिथ्यात्वं प्रतिभातीत्याह—
 न सदिखादिना ॥ ४७ ॥ आत्मनः स्पन्दचमत्कारो मायिक-
 विक्षेपशक्तित्वविभवः । जागतेषु पदार्थेषु दिक्कृतव्यवस्थान्-
 व्याध इव कालकृतव्यवस्थान्वासासोऽपि इदयत इत्येतत्प्रपञ्च-
 न्दर्शयति—पुत्र इत्यादिना ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ त्रेतायां द्वापरे
 च कृतयुगाचारान्कलियुगस्थितिं चैत्यनुकृत्यान्वयः । कलियुग-
 स्थितिमेव संक्षिप्य विदुषोति—अहंप्रवेति ॥ ५० ॥ कचित्कृत-
 युगादावपि । तथाहि । कृतयुगेऽपि पुष्करेण नलस्य निकृष्टा
 द्यूते जयो विनापराधमेकवक्षेण समार्यस्य निर्वासनं च प्रसिद्धम्
 ॥ ५१ ॥ हे ब्रह्मन्, चतुर्युगसहस्रस्यान्ते अवसाने वेधति
 जगद्रूपसंहारक्रमेणाप्सु शयित्वा योगनिद्राच्छेदेन नश्यः परमा-
 त्मनो ध्यातरि सति ससुरासुरमानुषं जगच्छून्यमसत्तामिवापन्नं
 सरामीत्यर्थः । एवं प्रलीनेऽपि जगत्सैन्दवमनोमनननिर्माणान्
 प्रागुक्तान् वातमयैर्वायुमयैर्भूतैः प्राणिभिर्व्याप्तान् ॥ ५२ ॥

विचित्रसंस्थानविशेषदेशा-
न्विचित्रकार्याकुलभूतकोशान् ।

विचित्रविन्यासविलासवेष्टा-
न्सराम्यहं ब्रह्मादिनेश्वशेषान् ॥ ५३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे प्र० भुशु० चिरजीवितवर्णने नाम द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः २३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथासौ धीयसश्रेष्ठो जिज्ञासार्थमिदं मया ।
भूयः पृष्ठो महाबाहो कल्पवृक्षलताग्रके ॥
स्मरतां जगतः कोशे व्यवहारवतामपि ।
कथं विहगराजेन्द्र देहं मृत्युर्न बाधते ॥
भुशुण्ड उवाच ।
जानन्नपि हि सर्वज्ञ ब्रह्माजिज्ञासयेव माम् ।
पृच्छसि प्रभवो नित्यं भृत्यं वाचालयन्ति हि ॥
तथापि यत्पृच्छसि मां तत्ते प्रकथयाम्यहम् ।
आज्ञाचरणमेवाहुर्मुख्यमाराधनं सताम् ॥
दोषमुक्ताफलप्रोक्ता वासनातन्तुसंततिः ।
हृदि न ग्रथिता यस्य मृत्युस्तं न जिघांसति ॥
निःश्वासवृक्षककचाः सर्वदेहलताघुणाः ।
आधयो यं न भिन्दन्ति मृत्युस्तं न जिघांसति ॥
शरीरतरुसर्पौघाश्चिन्तापितशिरःफणाः ।
आशा यं न दहन्त्यन्तर्मृत्युस्तं न जिघांसति ॥
रागद्वेषविषापूरः स्वमनोबिलमन्दिरः ।
लोभव्यालो न भुङ्क्ते यं मृत्युस्तं न जिघांसति ॥
पीताशेषविवेकाम्बुः शरीराम्भोधिवाडवः ।
न निर्दहति यं कोपस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥
यन्त्रं तिलानां कठिनं राशिमुग्रमिवाकुलम् ।

यं पीडयति नानङ्गस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ १०
एकस्मिन्निर्मले येन पदे परमपावने ।
संश्रिता चित्तविश्रान्तिस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ ११
वपुःखण्डाभिरतितं शाखामृगमिवोदितम् ।
न चञ्चलं मनो यस्य तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ १२
एते ब्रह्मन्महादोषाः संसारव्याधिहेतवः ।
मनागपि न लुम्पन्ति चित्तमेकं समाहितम् ॥ १३
आधिव्याधिसमुत्थानि चलितानि महाभ्रमैः ।
न विलुम्पन्ति दुःखानि चित्तमेकं समाहितम् ॥ १४
नास्तमेति न चोदेति न संस्मृतिर्न विस्मृतिः ।
न सुप्तं न च जाग्रत्स्याच्चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १५
अन्धीकृतहृदाकाशाः कामकोपविकारजाः ।
चिन्ता न परिहिंसन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १६
न ददाति न चादत्ते न जहाति न याचते ।
कुर्वदेव च कार्याणि चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १७
ये दुरर्था दुरारम्भा दुर्गुणा दुरुदाहताः ।
दुष्कमास्ते न कुन्तन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १८
आभान्ति विपुलार्थानि महान्ति गुणवन्ति च ।
सर्वाण्येवानुधावन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १९
यदुदकहितं सत्यमनपायि गतभ्रमम् ।
दुरीहितदृशोन्मुक्तं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २०

उक्तं सर्वं संक्षिप्योपसंहरति—विचित्रेति । अहं ब्रह्मादिनेषु कल्पेषु विचित्रस्थानविशेषयुक्ता देशा येषु तथाविधान्विचित्र-कार्याकुलभूतानां कोशभूतान् अशेषान्सर्वान्सर्गान्सरामीत्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चिरजीवितवर्णने नाम द्वाविंशतितमः सर्गः ॥ २२ ॥

त्यक्तेषु येषु दोषेषु नरं मृत्युर्न बाधते ।

यत्परं च मनःकार्यं तत्सर्वमिह कीर्त्यते ॥ १ ॥

इदं वक्ष्यमाणम् । प्रच्छेद्योणे कर्मणि कः ॥ १ ॥
कथं कीदृशदोषस्यागुणार्जनप्रकारेण ॥ २ ॥ वाचालयन्ति
मुखरयन्ति । मृत्युवाक्पटुतां प्रश्नमुखेन ख्यापयन्तीति यावत्
॥ ३ ॥ ४ ॥ तत्र सर्वदोषाधारवासनानाश एव मुख्यो
मृत्युतरणोपाय इत्याह—दोषेति । यथा त्यक्तहारायाभरणं
चोरा न जिघांसति तद्वदित्यर्थाद्रम्यते ॥ ५ ॥ निःश्वास-
लक्षणा देहवृक्षच्छेदनाः ककचा येभ्यः । सर्वासां देहलतानां
देहवृक्षशाखाभूतहस्तपादादीनां घुणाः काष्ठकीटभूताः आधयो
मनोव्याधाः ॥ ६ ॥ शरीरतराः कोटरस्थसर्पौघभूताः अत एव

चिन्तालक्षणा अप्रतिताः शिरसि फणा यैः । न दहन्ति अर्था-
त्स्वविषाग्निना ॥ ७ ॥ न भुङ्क्ते न दहति ॥ ८ ॥ शरीराम्भो-
धेर्वाडवो वडवाग्निभूतः । अत एव पीताशेषविवेकाम्बुः ॥ ९ ॥
आकुलं व्यग्रम् । तिलानां राशिः कर्मयन्त्रं कर्त्रिणोऽग्रमिति
क्रियाविशेषणम् ॥ १० ॥ ब्रह्मात्मविश्रान्तिरेवात्यन्तिकमृत्युज-
योपाय इत्याशयेनाह—एकस्मिन्निति ॥ ११ ॥ वपुर्लक्षणे
पुष्पितवनखण्डे अभिपतितः शाखामृग इव उदितमूर्जितम् ।
छान्दसं क्लीबत्वम् ॥ १२ ॥ दोषानुपसंहरंस्तज्जयहेतुगुणान्वक्तुं
प्रथमं समाधानमेव मुख्यो गुण इत्याशयेन तं प्रशंसति—एते
इत्यादिना ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ कर्माणि कुर्वन्
यथाशास्त्रं व्यवहरदपि ॥ १७ ॥ दुष्टा अर्था अर्जनीयधर्मादयः
आरभ्यन्त इत्यारम्भाः कृषिगृहधर्मादयः । गुणा रागद्वेषादयः ।
उदाहृता मर्मप्रकाशनोक्तयः । क्रमा नीतयः । न कुन्तन्ति
दुष्टफलेन न परितापयन्ति ॥ १८ ॥ आभान्ति प्रकाशमानानि
विपुलार्थानि बहुलाभानि सर्वाण्येव सुखानीति शेषः ।
अनुधावन्ति अनुसरन्ति ॥ १९ ॥ उदकं औत्तरकालिकं सुखं

यददृष्टमशुद्धेन चित्तवैधुर्यदायिना ।
 अनेकत्वपिशाचेन तत्परं कारयेन्मनः ॥ २१ ॥
 आदौ मध्ये तथान्ते च चिराय परमोचितम् ।
 यच्चाह मधुरं पथ्यं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २२ ॥
 यदनन्तं मनःपथ्यं तथ्यमाद्यन्तमध्यगम् ।
 समस्तसाधुभिर्जुष्टं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २३ ॥
 यद्वृद्धेः परमालोकमाद्यं यदमृतं परम् ।
 यदनुत्तमसौभाग्यं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २४ ॥
 सामरासुरगन्धर्वं सविद्याधरकिञ्चरे ।
 ससुरस्त्रीगणे स्वर्गे न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ २५ ॥
 सतरो सनराधीशे सपर्वतपुरज्जे ।
 साम्बुधौ भूतले तात न किञ्चिच्छोभनं स्थिरम् ॥ २६ ॥
 सनागे सासुरव्यूहे सासुरस्त्रीगणे तथा ।
 समस्त एव पाताले न किञ्चिच्छोभनं स्थिरम् ॥ २७ ॥
 सस्वर्गे ससुरालोके सपाताले सदिकतटे ।
 जगत्यासिस्तु सर्वेस्मिन् किञ्चिच्छोभनं स्थिरम् ॥ २८ ॥
 आधिव्याधिविलोलासु दुःखौघवलितासु च ।
 क्रियासु नित्यतुच्छासु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ २९ ॥
 तरलीकृतचित्तासु हृदयानन्दिनीषु च ।
 चिन्तासु धीविकारासु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ ३० ॥

हृत्क्षीरोदकसंस्पन्दमन्दरेषु चलेष्वपि ।
 स्वसंकल्पविकल्पेषु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ ३१ ॥
 अनारतागमापायपरास्वस्तिशिरास्वपि ।
 चित्राकारासु चेष्टासु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ ३२ ॥
 न वरमेकमहीतलराजता
 न च वरं विद्युधामरूपता ।
 न च वरं धरणीतलनागता
 स्थितिमुपैति हि यत्र सतां मनः ॥ ३३ ॥
 न वरमाकुलशास्त्रविचारणं
 न च वरं परकार्यविवेचनम् ।
 न वरमग्र्यकथाक्रमवर्णनं
 स्थितिमुपैति हि यत्र सतां मनः ॥ ३४ ॥
 न वरमाधिमयं चिरजीवितं
 न च वरं मरणं दृढमूढता ।
 न च वरं नरको न च विष्टपं
 स्थितिमुपैति हि न कचिदाशयः ॥ ३५ ॥
 इति विविधजगत्क्रमाः समस्ताः
 खलु मतिमूढतया नरस्य रम्याः ।
 चलतरकलनाहिते पदार्थे
 कथमुपयान्ति चिरस्थितिं महान्तः ॥ ३६ ॥

इत्यर्थे श्रीवासिष्ठमहारामायणे चात्मीकीये द्वे० निर्वाण० पू० मुमुक्षो० समाधानसंकल्पनिराकरणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

तस्मै हितम् । दुरीहितदृष्ट्या भोगाभिलाषदृष्ट्या अनुसृतं स्वात्म-
 कामलक्षणं तत्परम् ॥ २० ॥ चित्तस्य वैधुर्यं पुरुषार्थविधुरता
 तदायिना । अनेकत्वं भेददृष्टिस्त्रलक्षणपिशाचेन यत्सौख्यं न दृष्टं
 तत्परम् ॥ २१ ॥ आदौ चाहसुखारम्भम्, मध्ये अर्धपरिपाकेऽपि
 मधुरम्, अन्ते पथ्यं सर्वदुःखनिवर्तकं ज्ञानं तत्परम् ॥ २२ ॥
 आद्यन्तमध्यगं सर्वावस्थास्त्रलुगतमात्मसुखम् ॥ २३ ॥ न
 विद्यते उत्तमं यस्मात्तथाविधं सौभाग्यं नित्यनिरतिशयानन्द-
 इत्यर्थः ॥ २४ ॥ अनुत्तमसौभाग्यत्वमेवेतरसुखाविलताविप्र-
 क्षनेन साधयति—सामरेत्यादिना ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ एवं
 लोकत्रयसाशुभतामुक्त्वा तद्वदितजगत एव तदाह—सस्वर्गं
 इति ॥ २८ ॥ क्रियाशब्देन तत्फलानि लक्ष्यन्ते ॥ २९ ॥
 चिन्तापदमपि मानसक्रियामात्रपरं तत्फलौपलक्षकम् ॥ ३० ॥
 हन्मनस्त्रलक्षणस्य क्षीरोदकस्य संस्पन्दे क्षोभणे मन्दरायमा-
 नेषु । इदं मानसक्रियामात्रौपलक्षणम् ॥ ३१ ॥ अतिचित्राका-
 रासु अत्यद्भुतासु । अत एवासिश्चिरास्त्रिधायासु इन्द्रिया-
 दिचेष्टासु ॥ ३२ ॥ एवमशाश्वतत्वानुच्छत्वाच्च न जागृतं किमपि
 सुखं विवेकिभिः स्पृहणीयमित्याह—न वरमित्यादिना । एका
 धनन्यराजता सर्वमहीतलराजता न वरम् । एवं विद्युधा अभिज्ञतमा
 ये अमरा इन्द्रवृद्धस्पृहादयस्त्रय्यपता स्वर्गयज्यावपीति यावत् ।

वरम्यास्तले पाताले सर्वधरणीधारणसमर्था शेषनागता पाताल-
 राज्यमपीति यावत् । यत्र सतां विवेकिनां मनः स्थितिं पूर्णकाम-
 या विश्रान्तिमुपैति तथाविधं किमपि न भवतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ एवं
 दुरुद्धत्वाद्विस्तृतत्वाच्चाकुलताहेतुनानाशास्त्राणां चतुर्दशविधास्था-
 नानां विचारणं निष्कर्षसामर्थ्यलक्षणं पाण्डित्यमपि न वरम् ।
 एवं परेषां कार्याणां बुद्धिसौष्ठवाद्विचार्य विवेचनसामर्थ्यलक्षणं
 लोकानुरजनसामर्थ्यमपि न वरम् । अध्याणां भारतादिक-
 यानां क्रमस्य वर्णनादिसामर्थ्यमपि न वरमिति पूर्ववत् ॥ ३४ ॥
 यदि आधिप्रचुरत्वाजीवितं न वरं तर्हि सर्वाधिनिवृत्तिमत्त्वान्नभरणं
 वरं स्यात्तत्राह—दृढमूढतेति । सर्वदुःखनिदानमूढतादाढ्या-
 त्तदपि न वरमित्यर्थः । तर्हि भोगेन सर्वदुःखक्षयकरत्वान्नरको
 वरमस्त्विति चेन्नैत्याह—न चेति । नरकस्यापि पुनः पापजनमा-
 वसानत्वाच्च तत्रापि सर्वदुःखक्षय इति भावः । विष्टपं सर्वभुवना-
 धिपत्यम् ॥ ३५ ॥ नरस्य विवेकिनः पुरुषस्य इति अनेन प्रकारेण
 विचार्यमाणा विविधजगत्क्रमाः समस्ताः सर्वेऽपि न रम्याः । हि
 यस्माद्देतोस्ते जगत्क्रमाश्चलतरकलनया अशाश्वतत्वबुद्ध्या आहिते
 गृहीते पदार्थे महान्तः कथं चिरस्थितिमात्यन्तिकविश्रान्तिं यान्ती-
 त्यर्थः ॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्र-
 करणे पू० समाधानसंकल्पनिराकरणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः २४

भुशुण्ड उवाच ।

एकैव केवला दृष्टिर्निरापाया गतभ्रमा ।
 विद्यते सर्ववित्तेषु सर्वश्रेष्ठा समुन्नता ॥ १
 आत्मचिन्ता समस्तानां दुःखानामन्तकारिणी ।
 चिरसंभृतदुःखप्रसंसारभ्रमहारिणी ॥ २
 निष्कलङ्कमनोमार्गविपुलाङ्गणचारिणी ।
 तथा समस्तदुःखानां चिन्तानर्थविनाशिनी ॥ ३
 ज्योत्स्नयेवान्धकाराणामलमन्तः प्रजायते ।
 सा स्वात्मचिन्ता भगवन्सर्वसंकल्पवर्जिता ॥ ४
 युष्मदादिषु सुप्रापा दुष्प्रापैवासदादिषु ।
 समस्तकलनातीतं परां कोटिमुपागतम् ॥ ५
 पदमासादयन्त्येतत्कथं सामान्यबुद्धयः ।
 आत्मचिन्ताविलासिन्यास्तस्याः सख्यो महामुने ॥ ६
 किञ्चित्साम्यमुपायाता विज्ञानशशिशीतलाः ।
 आत्मचिन्तासमानानां विविधानां मुनीश्वर ॥ ७
 आत्मचिन्तावयस्यानां मध्यादेकतमा मया ।
 सर्वदुःखक्षयकरी सर्वसौभाग्यवर्धिनी ॥ ८
 कारणं जीवितस्येह प्राणचिन्ता समाश्रिता ।

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्तवन्तं विद्वगं भुशुण्डं पुनरप्यहम् ।
 जानन्नपीदमव्यग्रः पृष्ठवान्क्रीडया मुनिम् ॥ ९

देहनाडीक्रमोपेता षट्चक्रहृदयान्विता ।

प्राणस्पन्दविभागाख्या प्राणचिन्तेह वर्ण्यते ॥ १ ॥

यदि जगति न किञ्चिच्छोभनं स्थिरं तर्हि किं तच्छोभनं
 स्थिरं च यत्र विवेकिनश्चित्तविश्रान्तिस्तदाह—एकैवेत्यादिना ।
 सर्वेषु वित्तेषु ज्ञानेषु मध्ये सर्वांशे श्रेष्ठा समुन्नता । सहसा
 दुरारोहेति यावत् ॥ १ ॥ आत्मचिन्ता साक्षात्कारपर्यन्त
 आत्मविचारः । चिरमनादिकालादारभ्य क्रमकर्मवासनासंभू-
 तस्य दुःखप्रकल्पस्य संसारभ्रमस्य हरणशीला ॥ २ ॥ निरस्त-
 मायादिकलङ्का प्रत्यक्प्रवर्णं मन एव मार्गो यत्र तथाविधे मन-
 सोऽप्यमार्गे भगव्ये वा निरतिशयभूमानन्दलक्षणे प्रत्यगात्माङ्गणे
 संचरणशीला । तथा उपस्थितसर्वदुःखानां भाविदुःखानुसंधान-
 प्रयुक्तचिन्तादिसर्वानर्थानां च विनाशिनी ॥ ३ ॥ अन्धका-
 राणां तत्कार्यभ्रान्तिभिः सह परिगणनाद्बहुवचनम् । अलमत्य-
 न्तमन्तो नाशस्तयेति शेषः ॥ ४ ॥ दुष्प्रापैवेत्यवधारणे हेतु-
 माह—समस्तेत्यादिना ॥ ५ ॥ सामान्यबुद्धयः अविशुद्धप्राकृ-
 तबुद्धयः । तर्हि सा तव कथं सुलभा जातेति चेत्तत्सखीस-
 माश्रयणादित्याशयेन प्राणचिन्तां वर्णयितुं पीठिकां रचयति—
 आत्मचिन्तेत्यादिना ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ क्रीडया कौतुकेन
 ॥ ९ ॥ किं क्रीडशी ॥ १० ॥ ११ ॥ भवतां पूज्यानां युष्म-
 यो० वा० १०४

सर्वसंशयविच्छेदिन्नत्यन्तचिरजीवित ।

यथार्थं ब्रूहि मे साधो प्राणचिन्ता किमुच्यते ॥ १०

भुशुण्ड उवाच ।

सर्ववेदान्तवेत्तासि सर्वसंशयनाशकः ।
 मामेतत्परिहासार्थं मुने पृच्छसि वायसम् ॥ ११
 अथवा भवतामेव भगवन्परिशिक्षितुम् ।
 पुनः प्रत्युत्तराणीदं का मे क्षतिरपस्थिता ॥ १२
 भुशुण्डजीवितकरं भुशुण्डस्वात्मलाभदम् ।
 शृणु प्राणसमाधानं वक्ष्यमाणमिदं मया ॥ १३
 पश्येदं भगवन्सर्वं देहगेहं मनोरमम् ।
 त्रिप्रकारमहास्थूणं नवद्वारसमावृतम् ॥ १४
 पुर्यष्टककलत्रेण तन्मात्रस्वजनेन च ।
 अहंकारगृहस्थेन सर्वतः परिपालितम् ॥ १५
 अन्तः पश्यसि सत्कर्णशङ्कुलीचन्द्रशालिकम् ।
 शिरोरुद्धाच्छादनवद्विपुलाक्षिगवाक्षकम् ॥ १६
 आस्यप्रधानसुद्वारं भुजपार्श्वोपमन्दिरम् ।
 दन्तालिकेसरस्रग्भिर्भूषितद्वारकोटरम् ॥ १७
 अनारतं रूपरसस्पर्शनद्वारपालवत् ।
 संकुलालोकवलितं तारालिन्दकृतस्थिति ॥ १८
 रक्तमांसवसादिग्धं स्नायुसंततिवेष्टितम् ।
 स्थूलास्थिकाष्ठसंबद्धं सुकुड्यं सुसमाहितम् ॥ १९

दादीनां संनिधौ इदं प्राणदर्शनं परिशिक्षितुं विशेषतः परिज्ञातुं
 पुनः प्रत्युत्तराणि । लत्रप्रश्नस्य प्रत्युत्तरं वदानि । लोडुतमः
 ॥ १२ ॥ देहगेहवर्णनक्रमेण वक्ष्यमाणम् ॥ १३ ॥ वातपित्त-
 कफलक्षणत्रिप्रकारा महान्तः स्थूणा विष्टम्भकाष्ठानि यस्य ॥ १४ ॥
 पुर्यष्टकं प्राग्व्याख्यातम् । तत्पुर्यष्टकमात्रं स्वजना बान्धवाश्च
 यस्य ॥ १५ ॥ अन्तः साक्षितया त्वं मया वर्ण्यमानं देहगेहं
 पश्यसि साक्षादनुभवसि । सत्यौ कर्णशङ्कुलीद्वयलक्षणे चन्द्रशा-
 लिके शिरोरुहे यस्मिन् । शिरोरुहैः केशैरुच्छादनवत् ॥ १६ ॥
 भुजौ पार्श्वे च उपमन्दिराणि मन्दिरपक्षभागा यस्य । दन्तालि-
 दन्तपङ्क्तिस्तल्लक्षणकेसरमालाभिर्भूषितं प्रधानद्वारत्रिलं यस्य
 ॥ १७ ॥ रूपरसग्रहणं सर्वबाह्यविषयोपलक्षणम् । तान् स्पर्श-
 यन्ति अन्तर्निवेदयन्ति यानि ज्ञानेन्द्रियाणि तल्लक्षणद्वारपाल-
 वत् । तत्र त्वचः सर्वाङ्गव्याप्त्या सर्वद्वारपालत्वमिति अधोद्वार-
 योरपि तद्वत्त्वं बोध्यम् । सर्वत्र संकुलेन लिङ्गदेहव्याप्तिद्वारा
 व्याप्तेन आत्मालोकेन वलितं व्याप्तम् । विशेषतश्च जागरे तारे
 अक्ष्णोः कनीनिके तल्लक्षणयोरलिन्दयोरुर्ध्वतमद्वारप्रकोष्ठयोः
 कृता स्वामिस्थितिर्यस्मिन् । 'इन्द्रो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणे-
 क्षन्पुरुषः' 'नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात्' इति श्रुतेरिति भावः ॥ १८ ॥
 रक्तमांसवसाभिर्वारिमृद्गोमयैरिव दिग्धमुपलेपेनोपचितम् ।

इडा च पिङ्गला चास्य देहस्य मुनिनायक ।
 सुस्थिते कोमले मध्ये पार्श्वकोष्ठे निमीलिते ॥ २० ॥
 पद्मयुग्मत्रयं यन्मस्थिमांसमयं मृदु ।
 ऊर्ध्वाधोनालमन्योन्यमिलत्कोमलसहलम् ॥ २१ ॥
 सेकेन विकसत्पत्रं सकलाकाशचारिणा ।
 चलन्ति तस्य पत्राणि मृदु व्याप्तानि वायुना ॥ २२ ॥
 चलत्सु तेषु पत्रेषु स मरुत्परिवर्धते ।
 वाताहते लतापत्रजाले बहिरिवाभितः ॥ २३ ॥
 वृद्धिं नीतः स नाडीषु कृत्वा स्थानमनेकधा ।
 ऊर्ध्वाधोवर्तमानासु देहेऽस्मिन्प्रसरत्यथ ॥ २४ ॥
 प्राणापानसमानाद्यैस्ततः स हृदयानिलः ।
 संकेतैः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्विचित्राचारचेष्टितैः ॥ २५ ॥
 हृत्पद्मयन्त्रत्रितये समस्ताः प्राणशक्तयः ।
 ऊर्ध्वाधः प्रसृता देहे चन्द्रविम्बादिवांशवः ॥ २६ ॥
 यान्त्यायान्ति विकर्षन्ति हरन्ति निहरन्ति च ।
 उत्पतन्ति पतन्त्यासु ता पताः प्राणशक्तयः ॥ २७ ॥
 स एष हृत्पद्मगतः प्राण इत्युच्यते धुधैः ।
 अस्य काचिन्मुने शक्तिः प्रस्पन्दयति लोचने ॥ २८ ॥

स्नायव. शिरास्तत्सततिभिर्वेष्टितं रुद्धम् । अत एव सुकुञ्चम् ॥ १९ ॥ अस्य देहस्य मध्ये इडा पिङ्गला चेति द्वे कोमले सूक्ष्मे नाड्यौ वामदक्षिणपार्श्वकोष्ठे निमीलिते अनभिव्यक्ते नासापुटयोः प्राणसंचारलिङ्गेनाभिव्यक्ते सुस्थिते ॥ २० ॥ तत्र सर्वप्राणशक्तीनामाश्रमभूतं द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकनाडीप्रभेदमूलजालकं पुरीत-
 ग्रामकं सपुटितसनालपद्मयुग्मत्रयाकारं हृत्पद्मयन्त्रत्रयं दर्शयति—पद्मयुग्मेति । अस्थिमहणाद्विकसिधिकीलप्रोतोर्ध्वनालता गम्यते । अन्योन्यं संपुटीभावेन मिलत्कोमलसहलमत एव यन्त्रं प्रत्येकं यन्त्राकारम् ॥ २१ ॥ नासाग्रादिपादान्तसकलदेहाकाश-
 चारिणा चन्द्राख्यापानवायवमृतसेकेन विकसन्ति पत्राणि इत्युच्यते । एवं प्राणसंचारेण पत्राणि ईषत्संकुचन्तीत्यर्थाद्गम्यते । अत एव तस्य यन्त्रस्य पत्राणि प्राणापानवायुना व्या-
 ष्णानि सन्ति मृदु चलन्ति प्रत्युच्छ्वसनि. व्यासमीपसंकुचन्ति विकसन्ति चेत्यर्थः ॥ २२ ॥ किं तत्सवत्राह—चलत्स्विति । परिवर्धते परितः प्रसारात्पुरीतत्सवत्सर्वनाडीच्छिद्रेषु प्रविश्य बहुलीभवतीत्यर्थः । यथा बहिररण्यादौ लतापत्रजाले वातेना-
 हते सति वायुः परितः प्रसरति तद्वदित्यर्थः ॥ २३ ॥ एवं वृद्धिं नीतः स हृदयवायुनाभिकण्ठसर्वाङ्गलक्षणमनेकधास्थानं कृत्वा कल्पयित्वा प्राणादिपञ्चसंज्ञः स च ऊर्ध्वाधोवर्तमानासु द्विसप्त-
 तिसहस्रप्रतिशाखासु एकोत्तरशतनाडीषु प्रविश्य देहे प्रसरती-
 त्यर्थः ॥ २४ ॥ तदेवाह—प्राणेति ॥ २५ ॥ तैः प्राणैः सह प्राणश-
 क्तीनामपि सर्वाङ्गे प्रसरं दर्शयति—हृत्पद्मेति ॥ २६ ॥ तासाम-
 न्नरसस्य देहव्यापनाय नाडीषु व्यापारसाह—यान्तीति ॥ २७ ॥
 हृदयमेव मुख्यस्थानं प्राणस्यैव मुख्यता अन्ये तद्वृत्तिमेदास्तद्वा-
 रेण प्राण एव सर्वशरीरेन्द्रियादिचेष्टाः शक्तिमेदैः करोतीत्याह—

काचित्स्पर्शमुपादत्ते काचिद्वहति नासया ।
 काचिदन्नं जरयति काचिद्वक्ति वचांसि च ॥ २९ ॥
 बहुनात्र किमुक्तेन सर्वमेव शरीरके ।
 करोति भगवान्वायुर्यन्त्रेहामिव यान्त्रिकः ॥ ३० ॥
 तत्रोर्ध्वाधोद्विसंकेतौ प्रसृतावनिलौ मुने ।
 प्राणापानाविति ख्यातौ प्रकटौ द्वौ वरानिलौ ॥ ३१ ॥
 तयोर्नुसरन्नित्यं मुने गतिमहं स्थितः ।
 शीतोष्णवपुषोर्नित्यं नित्यमम्बरपान्थयोः ॥ ३२ ॥
 कलेवरमहायन्त्रवाहयोः श्रमहीनयोः ।
 हृदाकाशार्कशशिनोस्त्वग्ग्रीवोमस्वरूपयोः ॥ ३३ ॥
 शरीरपुरपालस्य मनसो रथचक्रयोः ।
 अहंकारनृपस्यास्य प्रशस्येष्टतुरङ्गयोः ॥ ३४ ॥
 तयोर्ममानुसरतः प्राणापानाभिधानयोः ।
 गतिं शरीरमरुतोराशरीरमरुद्वयोः ॥ ३५ ॥
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु सदैव समरूपयोः ।
 सुषुप्तसंस्थितस्येव ब्रह्मन् गच्छन्ति वासराः ॥ ३६ ॥
 सहस्रविनिकृत्ताङ्गाद्विसतन्तुलवादपि ।
 दुर्लक्ष्या विद्यमानापि गतिः सूक्ष्मतराऽनयोः ॥ ३७ ॥

स एष इत्यादिना ॥ २८ ॥ २९ ॥ यन्त्रेहं प्रतिमादियन्त्रस्य
 श्रुत्यादिचेष्टाम् । यान्त्रिको यन्त्रसूत्रधारः ॥ ३० ॥ ऊर्ध्वगमन-
 मधोगमनमिति द्विविधसंकेतवन्तौ ॥ ३१ ॥ एवं सर्वग्रीवोद्धा-
 तिकमुपवर्ण्य स्वयं क्रियमाणां प्राणचिन्ता दर्शयति—तयो-
 रिति । तयोर्गैर्यनुसरणं त्वाध्यात्मिकपरिच्छेदस्यागेनाविदैविकसू-
 त्रात्मरूपतदात्मभावधारणया आसङ्गपाप्मदूषितसर्वेन्द्रियव्रतपरि-
 त्यागेन तन्मात्रव्रतान्तरणम् । वागादीन्द्रियाणां हि वचनादिस्वस्व-
 विषयव्यसनिताव्रतं तच्चासङ्गपाप्मदूषितमिति श्रमलक्षणेन मृ-
 त्युना मग्नम् । प्राणस्य तु सुखनासिकादिस्थानेषु संचरणमेव व्रतं
 तच्च न विषयासङ्गदूषितमिति न श्रमात्मना भज्यत इति प्राणं
 एवैको व्रतमग्नश्चन्द्रो मृत्युना न प्रस्यते । अतस्त्वदात्मताधारणत-
 द्रतमात्रान्तरणलक्षणात्प्राणचिन्तनात्स्वस्य जितमृत्युतेत्याशयः ।
 इयं च प्राणचिन्ता प्राणव्रतधारणसहिता बृहदारण्यके 'अथातो ब्र-
 तमीमासा' इत्यादिना 'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च
 नेत्याप्या मृत्युराहुवत्' इति 'यद्युचरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै
 देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' इत्यन्तेन ग्रन्थेन प्रपञ्चिता
 तत् एवावगन्तव्या । तयोरुपासनीयगुणान्तराण्यप्याह—शीतो-
 ष्णवपुषोरित्यादिना ॥ ३२ ॥ श्रमहीनयोरिति । 'तानि मृत्युः
 श्रमो भूद्वोपयेयै जयेयमेव नाप्रोद्योयं मध्यमः प्राणः' इति शु-
 तेरिति भावः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ आशरीरं यावज्जीवमरुद्वयोरवि-
 च्छिन्नोपासनयोः । तथाच प्राक् श्रुतिरुदाहृता 'यद्युचरेत्समापि-
 पयिषेत्' इति । न विच्छिन्त्यादिति हि तदर्थः ॥ ३५ ॥ समरू-
 पयोरिति । अभ्यासातिशयेन बहिरन्तश्च द्वादशषोडशाङ्गुलप्र-
 देशमात्रपरिमितसंचारयोरित्यर्थः ॥ ३६ ॥ प्राणायामाभ्यासात्तयोः

अविरतगतयोर्गतिं विदित्वा

हृदि मरुतोरनुसृत्य चोदितां ताम् ।

न पुनरिह हि जायते महात्म-

न्मुदितमनाः पुरुषः प्रणष्टपाशः ॥ ३८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्र० पू० भुशुण्डोपाख्याने प्राणविचारणं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः २५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्थं स कथयन्पक्षी पृष्ठस्तत्र पुनर्मया ।

कीदृशी प्राणवातस्य गतिरित्येव राघव ॥

भुशुण्ड उवाच ।

जानन्नपि मुने सर्वं किं मां पृच्छसि लीलया ।

यथापृष्ठमहं वच्मि शृणु तत्रापि मद्बचः ॥

प्राणोऽयमनिशं ब्रह्मन्स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।

सबाह्याभ्यन्तरे देहे प्राणोऽयमुपरि स्थितः ॥

अपानोऽप्यनिशं ब्रह्मन्स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।

सबाह्याभ्यन्तरे देहे त्वपानोऽयमवाक्स्थितः ॥

जाग्रतः स्वपतश्चैव प्राणायामोऽयमुत्तमः ।

प्रवर्तते यतस्तज्ज्ञ तत्तावच्छ्रेयसे शृणु ॥

बाह्योन्मुखत्वं प्राणानां यद्बुद्धम्बुजकोटरात् ।

स्वरसेनास्तयत्नानां तं धीरा रेचकं विदुः ॥

द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतामघः ।

प्राणानामङ्गसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते ॥

बाह्यात्परापतत्यन्तरपाने यत्नवर्जितः ।

योऽयं प्रपूरणः स्पर्शो विदुस्तमपि पूरकम् ॥

अपानेऽस्तंगते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि ।

तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्यानुभूयते ॥

रेचकः कुम्भकश्चैव पूरकश्च त्रिधा स्थितः ।

अपानस्योदयस्थाने द्वादशान्तादधो बहिः ॥

स्वभावाः सर्वकालस्थाः सम्यग्यत्नविवर्जिताः ।

ये प्रोक्ताः स्फारमतिभिस्ताञ्छृणु त्वं महामते ॥

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ताद्बाह्यादभ्युदितः प्रभो ।

यो घातस्तस्य तत्रैव स्वभावात्पूरकादयः ॥

मृदन्तरस्थानिष्पन्नघटवद्या स्थितिर्बहिः ।

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रसमसंमुखे ॥

व्योम्नि नित्यमपानस्य तं विदुः कुम्भकं बुधाः ।

बाह्योन्मुखस्य वायोर्वा नासिकाग्रावधिर्गतिः ॥

तं बाह्यपूरकं त्वाद्यं विदुर्योगविदो जनाः ।

नासाग्रादपि निर्गत्य द्वादशान्तावधिर्गतिः ॥

सूक्ष्मतमत्वापादनाच्च नोत्क्रमणादिप्रसक्तिरित्याशयेनाह—सह-
स्रेति । अथवा नाभ्यन्तःसंचारोऽनयोर्मुखनासिकासंचार इव
कुतो न लक्ष्यते तत्राह—सहस्रेति । 'यथा केशः सहस्रधा
भिज्जस्तावताग्निमा तिष्ठति' इति श्रुतेर्नाडीनामेवातिसूक्ष्मत्वाद्दुर्लक्ष-
त्वे तदन्तरनयोर्गतिः सुतरां दुर्लक्ष्येत्याशयः ॥ ३७ ॥ वर्णितां प्राण-
चिन्तां वर्णयिष्यमाणप्रकारप्रश्रवस्यावसरं सूचयन्नुपसंहरति—
अविरतेति । हृदि हृदयादिस्थानेष्वविरतं गतं संचारो ययोस्त-
योर्मरुतोः प्राणापानयोश्चोदितां नानाश्रुतिषु तत्तत्प्राणोपास्ति-
प्रकरणे अनेकधा विहितां निर्दोषत्वगतभ्रमत्वाभ्रव्रतत्वसंवर्गा-
यनेकगुणविशिष्टां गतिमनुसृत्य वक्ष्यमाणप्रकारेणोपास्य प्रणष्ट-
मृत्युपाशः सन् पुरुषस्तत्त्वज्ञानेन जीवन्मुक्तो भूत्वा इह
संसारे पुनर्न जायत इत्यर्थः । हिशब्दः प्राणाद्युपास्तीनामपि
निष्कामानुष्ठितानां ज्ञानद्वारा मुक्तिहेतुत्वं श्रुतिषु प्रसिद्धमिति द्योत-
नार्थः ॥ ३८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे पूर्वार्धे प्राणविचारणं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

प्राणापानगतिष्वत्र रेचकादिप्रकल्पनम् ।

प्राणापानोदयलयस्थानं ब्रह्म च वर्ण्यते ॥ १ ॥

प्रश्नावसरप्रदानसूचितचिन्तनीयप्राणगतिप्रकारभेदो मया पृष्ठ
इत्याह—इत्थमिति ॥ १ ॥ २ ॥ एकः प्राणशब्दो रुढः अपरस्तु
प्राणगतिरिति यौगिकस्तल्लक्षणपरः । लक्षणानुसारेणैवोर्ध्वस्थान-

मभिनीय दर्शयति—अयमुपरि स्थित इति ॥ ३ ॥ एवम-
पानपदमप्येकं यौगिकं पूर्ववत्सर्वम् ॥ ४ ॥ एवं लक्षणतो भेदं
प्रदर्श्य तद्वृत्तिष्वयन्नतः सदैव प्राणायामत्वसिद्धिचिन्तनं दर्श-
यति—जाग्रत इत्यादिना ॥ ५ ॥ तत्र हृदयान्मूर्धपर्यन्तं
प्रश्वासगल्यर्धमान्तररेचकत्वेन चिन्तनीयम् । मूर्धादिबहिर्द्वा-
दशाङ्गुलपर्यन्तं त्वर्धं बाह्यपूरकत्वेनेत्याह—बाह्येति द्वाभ्याम्
॥ ६ ॥ ७ ॥ एवं बाह्यादेशादपाने अन्तः परापतति
प्रविशति यो नासाग्रादिमूर्धपर्यन्तो यश्च मूर्धादिहृदयपर्यन्तो
वायोः स्पर्शस्तं द्विविधमप्यन्तःपूरकं विदुरित्यर्थः ॥ ८ ॥
इदानीमन्तःकुम्भकं कल्पिताकल्पितसाधारण्येन लक्षयति—
अपाने इति । अस्तंगते प्रशान्ते सति ॥ ९ ॥ बहिरपि
च रेचकादीन्दर्शयितुमुपक्रमते—रेचक इत्यादिना । अपान-
स्योदयस्थाने नासाग्रादिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते ॥ १० ॥ स्वत एव
भवन्तीति स्वभावा ये रेचकादयः प्रोक्ताः ॥ ११ ॥ अभ्युदितः
अभिमुखं स्थितः । तस्य वातस्य । तत्र बाह्यप्रदेश एव । बाह्य-
पूरकादयश्चिन्तनीया इति शेषः ॥ १२ ॥ तत्र बाह्यवाय्वन्तर-
पानस्यैकीभावेन निश्चलप्रायां स्थितिं कुम्भकत्वेन कल्पयति—
मृदन्तरस्थेति सार्धेन ॥ १३ ॥ तस्य पूर्वप्राणभावेन हृदया-
दारभ्य नासाग्रपर्यन्ता या गतिस्तां बाह्यपूरकत्वेनापि कल्प-
येदित्याह—बाह्योन्मुखस्येति ॥ १४ ॥ ततो बहिर्गतिं बाह्य-

या वायोस्तं विदुर्धारा अपरं बाह्यपूरकम् ।
 बहिरस्तंगते प्राणे यावत्प्रापान उद्वतः ॥ १६
 तावत्पूर्णं समावस्थं बहिष्ठं कुम्भकं विदुः ।
 यत्तदन्तर्मुखत्वं स्यादपानस्योदयं विना ॥ १७
 तं बाह्यरेचकं विद्याच्चिन्त्यमानं विमुक्तिदम् ।
 द्वादशान्ताद्यदुत्थाय रूपपीवरता परा ॥ १८
 अपानस्य बहिष्ठं तमपरं पूरकं विदुः ।
 बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैतान्कुम्भकादीनवारतम् ॥ १९
 प्राणापानस्वभावास्तांस्तुक्त्वा भूयो न जायते ।
 अष्टावेते महाबुद्धे रात्रिदिवमनुस्मृताः ॥ २०
 स्वभावा देहवायूनां कथिता मुक्तिदा मया ।
 गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ॥ २१
 एते निरोधमायान्ति प्रकृत्याऽतिचलानिलाः ।
 यत्करोति यदज्ञाति बुद्ध्यैवालमनुसरन् ॥ २२
 कुम्भकादीन्नरः स्वान्तस्तत्र कर्ता न किञ्चन ।
 अव्यग्रमसिन्ध्यापारे बाह्यं परिजहन्नमनः ॥ २३
 दिनैः कतिपयैरेव पदमाप्नोति केवलम् ।
 एतदभ्यसतः पुंसो बाह्ये विषयवृत्तिषु ॥ २४
 न वध्नाति रतिं चेतः श्वहतौ ब्राह्मणो यथा ।
 एतां दृष्टिमवष्टभ्य ये स्थिताः कृतबुद्धयः ॥ २५
 प्राप्तप्राप्तव्यमखिलं तैरखिन्नास्त एव हि ।
 तिष्ठता गच्छता नित्यं स्वपता जाग्रता तथा ॥ २६
 एषा चेत्रेक्ष्यते दृष्टिस्तत्र बन्धनमाप्यते ।
 प्राणापानानुसरणप्राप्तबोधवतामलम् ॥ २७
 संशान्तमलमोहेन स्वस्थेनान्तरिहोष्यते ।

सर्वारम्भान्सदा स्वच्छः कुर्वन्वापि बुधो जनः ॥ २८
 प्राणापानगतिं प्राप्य सुखस्थः सुखमेधते ।
 प्राणस्याभ्युदयो ब्रह्मन्पद्मपत्रादृदि स्थितात् ॥ २९
 द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते प्राणोऽस्तं यात्ययं बहिः ।
 अपानस्योदयो बाह्याद्वादशान्तान्महामुने ॥ ३०
 अस्तंगतिरथाम्मोजमध्ये हृदयसंस्थिते ।
 प्राणो यत्र समायाति द्वादशान्ते नभःपदे ॥ ३१
 पदात्तस्मादपानोऽयं खादेति समनन्तरम् ।
 बाह्याकाशोन्मुखः प्राणो बह्व्यग्रिशिखा यथा ॥ ३२
 हृदाकाशोन्मुखोऽपानो निम्ने वदति वारिवत् ।
 अपानश्चन्द्रमा देहमाप्याययति बाह्यतः ॥ ३३
 प्राणः सूर्योऽग्निरथवा पचत्यन्तरिदं वपुः ।
 प्राणो हि हृदयाकाशं तापयित्वा प्रतिक्षणम् ॥ ३४
 मुख्राग्रगगनं पश्चात्तापयत्युत्तमो रविः ।
 अपानेन्दुर्मुख्राग्रं तु प्रावयित्वा हृदम्बरम् ॥ ३५
 पश्चादाप्याययत्येव निमेषसमनन्तरम् ।
 अपानशशिनोऽन्तस्था कला प्राणविष्वक्ता ॥ ३६
 यत्र प्रस्ता तदासाद्य पदं भूयो न शोच्यते ।
 प्राणार्कस्य तथान्तस्था यत्रापानसितांशुता ॥ ३७
 प्रस्ता तत्पदमासाद्य न भूयो जन्मभाङ्गरः ।
 प्राण एवार्कतां याति सग्राह्याभ्यन्तरेऽम्बरे ॥ ३८
 आप्यायनकरीं पश्चाच्छशितामधितिष्ठति ।
 प्राण एवेन्दुतां त्यक्त्वा शरीराप्यायकारिणीम् ॥ ३९
 क्षणादायाति सूर्यत्वं संशोषणकरं पदम् ।
 अर्कतां संपरित्यज्यं न यावच्चन्द्रतां गतः ॥ ४०

पूरकान्तरतया कल्पयति—नासाग्रादिति ॥ १५ ॥ बहिरित्यादिः
 पूर्वोक्तानुवादः ॥ १६ ॥ बाह्यरेचकद्वयकल्पनप्रकारमाह—यत्त-
 दिति । उदयं प्रस्पन्दं विना । तथा च प्रस्पन्दपूर्वकणे यद-
 न्तर्मुखत्वं प्रस्पन्दोन्मुखत्वं तमित्यर्थः ॥ १७ ॥ द्वादशान्ता-
 द्वादशाङ्गुलचरमभागात् । नासाप्रपर्यन्तमपानस्य चलनेन
 स्वरूपाभिव्यक्त्या पीवरता ॥ १८ ॥ १९ ॥ बुद्धा उपास्य
 भूयो न जायत इत्यवश्यभाविज्ञानफलेन छुतिः—अष्टाविति ।
 यद्यपि बहिरन्तश्च रेचकपूरकयोः प्रत्येकं द्वैविध्यकथनात्कुम्भ-
 काभ्या सह दश भवन्ति तथापि कुम्भकयोः प्राधान्याद्द्वा-
 द्वाभिप्रायेणेयमुक्तिः ॥ २० ॥ एतदभ्यासारप्राणनिरोधोऽपि
 काले भवतीत्याह—गच्छत इति ॥ २१ ॥ कर्तृत्वमोक्तत्वा-
 भिमानोऽप्यनेन नश्यतीत्याशयेनाह—यत्करोतीति ॥ २२ ॥
 बाह्यदृष्टिपरित्यागादन्तरात्मदर्शनोदयेन परमपदप्राप्तिरप्यनेन
 सिध्यतीत्याह—अव्यग्रमिति । अस्मिन् प्राणचिन्तनव्यापारे
 संसक्तमत एव बाह्यमर्थं परिजहन्नमत् ॥ २३ ॥ २४ ॥ श्वहतौ
 श्वचर्ममस्त्रायां तद्गतक्षीरादायिति यावत् ॥ २५ ॥ २६ ॥ प्राणा-
 पानयोरनुसरणमनुसारश्चिन्तनं तेन प्राप्तबोधवतां पुंसां संशान्त-
 मलमोहेन चित्तेन अन्तर्हृदयस्थे इह प्रत्यगात्मनि ॥ २७ ॥

॥ २८ ॥ प्राणस्याभ्युदय इत्यादिः पूर्वोक्तानुवादः ॥ २९ ॥ ३० ॥
 हृदयसंस्थिते अम्मोजमध्ये अस्तंगतिरपानस्येति शेषः ।
 प्राणो यत्र अस्मिन्नभःपदे समायाति समाप्यते ॥ ३१ ॥
 तस्मात् खात् पदात् अपान एति उद्वच्छति । प्राणापानयो-
 रस्त्रीषोमात्मस्त्वं यदुक्तं तदौष्ण्यशैत्योर्ध्वाधोमुखत्वप्रदर्शनेनो-
 पपादयति—बाह्येलादिना ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ तयोः सूर्य-
 चन्द्रात्मकता वा चिन्त्येलाशयेन तामप्युपपादयति—प्राण
 इत्यादिना ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ कला चरमो मागः । यत्र यस्मि-
 न्हादे ब्रह्मणि स्थित्वा प्रस्ता तद्ब्रह्मासाद्य ॥ ३६ ॥ यत्र यस्मि-
 न्हादशाङ्गुलपर्यन्तबाह्याकाशोपलक्षिते ब्रह्मणि विद्यमानेनापा-
 नेन प्रस्ता तद्ब्रह्मपदमासाद्येत्यर्थः ॥ ३७ ॥ एकस्यैव वायोः पर्या-
 येण शक्तिद्वयोदयश्चिन्तनीय इत्याह—प्राण एवेत्यादिना ॥ ३८ ॥
 आप्यायनमाप्यायो ह्रादनम् ॥ ३९ ॥ तत्र बहिर्द्वादशाङ्गुलप-
 र्यन्ते प्रसृतः प्राणो यावदर्कतामौष्ण्यं परित्यज्य चन्द्रतां शैत्यं
 न गतः सा प्राणापानयोः संश्ववस्था । तस्यां देहाद्बहिः प्राण-
 लयादात्मनो निर्देहत्वनिष्क्रियत्वनिर्गन्तत्वादयो बाह्यस्वभावाः
 संभावयितुं शक्यत्वाद्विचार्यन्ते । तत्र बाह्यकुम्भके देहादिदेश-
 परिच्छेदाभावाच्चन्द्रसूर्यात्मकप्राणापानक्रियाप्रशुक्तायुःकालपरि-

प्राणस्तावद्विचार्यन्तेऽदेशकाले न शोच्यन्ते ।
 हृदि चन्द्रार्कयोर्ज्ञात्वा नित्यमस्तमयोदयम् ॥ ४१ ॥
 आत्मनो निजमाधारं न भूयो जायते मनः ।
 सोदयास्तमयं सैन्दुं सरश्चिमं संगमागमम् ॥ ४२ ॥
 हृदये भास्करं देवं यः पश्यति स पश्यति ।
 न क्षीणं नापरिक्षीणं बहिष्ठं सिद्धये तमः ॥ ४३ ॥
 हार्दं तु क्षपयेन्नान्तं यत्क्षये सिद्धिरुत्तमा ।
 बाह्ये तमसि संक्षीणो लोकालोकः प्रजायते ॥ ४४ ॥
 हार्दं तु तमसि क्षीणे स्वालोको जायते मुने ।
 हार्दान्धकारक्षयदं परिष्ठातं विमुक्तिदम् ॥ ४५ ॥
 सोदयास्तमयं यत्प्राणार्कमवलोकयेत् ।
 अपानेन्दुः प्रयात्यस्तं यत्र हृत्पद्मकोटरे ॥ ४६ ॥
 पदात्तस्मादुदेत्यन्तः प्राणार्को बहिरुन्मुखः ।
 अपानेऽस्तंगते प्राणः समुदेति हृदम्बुजात् ॥ ४७ ॥
 छायायां गलिताङ्गायां तत्रैवाशु यथातपः ।
 प्राणे त्वस्तंगते बाह्यादपानः प्रोदितः क्षणात् ॥ ४८ ॥
 आतपे परितो नष्टे छायेवानुपदं तथा ।
 प्राणजन्मावनौ नष्टमपानं विद्धि सन्मते ॥ ४९ ॥
 अपानजन्मभूमौ च प्राणं नष्टमवेहि हि ।
 अस्तंगतवर्ति प्राणं त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखे ॥ ५० ॥
 बहिः कुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ।
 अपानेऽस्तंगते प्राणं किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे ॥ ५१ ॥
 अन्तःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ।

प्राणरेचकमालम्ब्य अपानादूरकोटिगम् ॥ ५२ ॥
 खञ्जं कुम्भकमभ्यस्य न भूयः परितप्यते ।
 अपाने रेचकाधारं प्राणपूरान्तरास्थितम् ॥ ५३ ॥
 स्वसंस्थं पूरकं हृष्टं न भूयो जायते नरः ।
 प्राणापानाबुभावन्तर्ध्वनौ विलयं गतौ ॥ ५४ ॥
 तदालम्ब्य पदं शान्तमात्मानं नानुतप्यते ।
 प्राणभक्षोन्मुखेऽपाने देशं कालं च निष्कलम् ॥ ५५ ॥
 विचार्य बहिरन्तर्वा न भूयः परिशोच्यते ।
 अपानभक्षणपरे प्राणे हृदि तथा बहिः ॥ ५६ ॥
 देशं कालं च संप्रेक्ष्य न भूयो जायते मनः ।
 यत्र प्राणो ह्यपानेन प्राणेनापान एव च ॥ ५७ ॥
 निर्गीणो बहिरन्तश्च देशकालौ च पश्य तौ ।
 क्षणमस्तंगतप्राणमपानोदयवर्जितम् ॥ ५८ ॥
 अयत्नसिद्धबाह्यस्थं कुम्भकं तत्पदं विदुः ।
 अयत्नसिद्धो ह्यन्तस्थकुम्भकः परमं पदम् ॥ ५९ ॥
 एतत्तदात्मनो रूपं शुद्धेषा परमैव चित् ।
 एतत्तत्तत्सदाभासमेतत्प्राप्य न शोच्यते ॥ ६० ॥
 पुष्पस्यान्तरिवासीदः प्राणस्यान्तरवस्थितम् ।
 न स प्राणं न वाऽपानं चिदात्मानमुपासहे ॥ ६१ ॥
 जलस्यान्तरिवासीदमपानस्यान्तरस्थितम् ।
 न सप्राणं न वाऽप्राणं चिदात्मानमुपासहे ॥ ६२ ॥
 प्राणक्षयस्योपान्तस्थमपानक्षयकोटिगम् ।
 अपानप्राणयोर्मध्यं चिदात्मानमुपासहे ॥ ६३ ॥

छेदाभावाच्चादेशकाले स्वात्मनि प्रतिष्ठितेन योगिना न शोच्यते
 इत्यर्थः ॥ ४६ ॥ एवमन्तःकुम्भकेऽपि हृदि प्राणापानसंघौ
 प्रतिष्ठितस्य मनसो निजाधिष्ठानपरमात्मतत्त्वबोधवश्यमावाचं
 जन्माविप्रसक्तिरित्याह—हृदीति ॥ ४९ ॥ आत्मनो मनसः
 आधारमधिष्ठानं परमात्मानम् । अथवा हृदयस्थः स्वात्मैव प्राण-
 सूर्यः स एवापानात्मकचन्द्रतया उदयास्तमयतद्वदिमभूतव्याना-
 दिवृत्तिभेदाद्यात्मना विवर्तते न तद्व्यतिरिक्तः कश्चिदस्तीत्युपा-
 सनं स्वात्मदर्शने हेतुरित्याह—सोदयास्तमयमिति ॥ ४२ ॥
 ननु किं हृद्यात्मसाक्षात्कारेण बाह्यतमसा बहिरेवापरिच्छिन्न-
 स्वात्मन आधृतत्वात्तत्सयाय बाह्यज्योतिरेव किं नान्विष्यते
 तत्राह—नेति ॥ ४३ ॥ हार्दं त्विति । बाह्यध्वान्तकल्पनापि हा-
 र्दध्वान्तवशादेवेति तत्क्षये तत्क्षयोऽर्थसिद्ध इति भावः । बाह्य-
 ज्योतिषा बाह्यतमः क्षपणं तु रूपादिदर्शनहेतुरेव न बहिरात्मद-
 र्शने हेतुरित्याशयेनाह—बाह्ये इति । लीक्यत इति लोको जग-
 द्रूपम् ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ उक्ते बाह्यान्तःकुम्भकप्रतिष्ठे प्ररोचनाया
 प्रपन्नविष्यन् भूमिकां रचयति—अपानेन्दुरित्यादिना ॥ ४६ ॥
 ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ उदयोन्मुखतैव निरोद्धव्येत्याशयः
 ॥ ५० ॥ ५१ ॥ अपानादपानोदयस्थानाद्वादशाङ्गुलस्थानादूर-
 कोटिगं, षोडशाङ्गुलभागप्रसारिणमित्यर्थः ॥ ५२ ॥ निःशेषवायु-

रेचनात्खञ्जम् । नोसाविवरेणान्तः प्रविशत्यपाने बाह्यरेचका-
 धारं प्राणस्य पूरणं प्राणपूरस्तदर्थमन्तः आस्थितं प्रविष्टं स्वसंस्थं
 देहान्तर्गतं पूरकं हृष्टं उपास्य ॥ ५३ ॥ यत्र हार्दं ब्रह्मणि ॥ ५४ ॥
 इदानीम् 'अर्कतां संपरित्यज्य न यावच्चन्द्रता गतः' इत्यत्र 'अदे-
 शकाले न शोच्यते' इति यदुक्तं तद्विवृण्वन् बाह्यकुम्भकोक्तस्य देश-
 कालबाधस्यान्तःकुम्भकेऽप्यनुकर्षं दर्शयति—प्राणभक्षोन्मुख
 इत्यादिना । बहिः प्राणलयाधिष्ठानचित्ति अन्तः प्राणनिर्गमापादा-
 नचित्ति वा बाधेन देशं कालं चातदन्तर्वातेवस्तुजातं च निष्कलं
 चिन्मात्रमेवेति विचार्येत्यर्थः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ देश-
 कालौ प्राणापानाभ्यां सहैव निर्गीर्णविति पश्येत्यर्थः । तादृशा-
 वस्थाप्राणापानसंधिक्षणे सर्वप्राणिनामप्यस्ति योगिनस्तु तद्विदु-
 र्नाम्न्ये इत्याह—क्षणेमित्यादिना ॥ ५८ ॥ विदुः । योगिन इति
 शेषः ॥ ५९ ॥ ६० ॥ एवं क्रियाभेदभिन्नप्राणचिन्ताप्रकारमुक्त्वा
 तद्विदुष्यन्तरे प्राणापानाद्यान्तरतदधिष्ठानचिदात्मोपासनं कर्त-
 व्यमित्याशयेनाह—पुष्पस्यान्तरित्यादिना । स किं प्राणोपहित
 एवोपास्यो, नेत्याह—न संप्राणमिते । तर्हि किं प्राणलयोपल-
 क्षितोऽपानात्मा सः, नेत्याह—न वाऽपानमिति । तथा च तत्प-
 रिचयार्थं प्राणस्यान्तरवस्थितमित्युक्तं नतूपासनोपाधितयेति भावः
 ॥ ६१ ॥ आस्वाद्यत इत्याखादो माधुर्यमिव । सप्राणं सजीवम् ।

१ न वाऽपानं इति पाठश्चिन्त्यः.

प्राणस्य प्राणनं श्रोत्रैः परं जीवस्य जीवनम् ।
 देहस्य धारणं धुर्यं चिदात्मानमुपासहे ॥ ६४
 मनसो मननं सत्यं बुद्धेरेकावबोधनम् ।
 अहंकृतेरहंकारं चिदात्मानमुपासहे ॥ ६५
 यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
 यच्च सर्वमयं नित्यं तच्चित्तस्वमुपासहे ॥ ६६
 आलोकालोकनं पुण्यं सर्वपावनपावनम् ।
 न च भावनमन्नं तच्चित्तस्वमुपासहे ॥ ६७
 [अपानोऽस्तं गतो यत्र प्राणो नाभ्युदितः क्षणम् ।
 कलाकलङ्करहितं तच्चित्तस्वमुपासहे ॥]
 नापानोऽभ्युदितो यत्र प्राणश्चान्तमुपागतः ।
 नासाग्रगतावर्तं तच्चित्तस्वमुपासहे ॥ ६८
 यत्र प्राणोऽस्तमायाति यत्रापानोऽस्तमेति च ।
 यत्र द्वावप्यनुत्पन्नौ तच्चित्तस्वमुपासहे ॥ ६९

प्राणापानोद्भवस्थाने बाह्याभ्यन्तरमास्थिते ।
 ये द्वे योगिपदाधारस्तच्चित्तस्वमुपासहे ॥ ७०
 प्राणापानरथारूढं प्राणापानमनाततम् ।
 यच्छक्तिरूपं शक्तीनां तच्चित्तस्वमुपासहे ॥ ७१
 हृत्प्राणकुम्भकं देवं बहिष्प्राणकुम्भकम् ।
 पूरकांशविसृष्टं यत्तच्चित्तस्वमुपासहे ॥ ७२
 प्राणापानपरामर्शं सत्तावोधं विरूपकम् ।
 यत्प्राप्यं प्राणमननात्तच्चित्तस्वमुपासहे ॥ ७३
 यत्प्राणपवनस्पन्दो यत्स्पन्दानन्दकारकम् ।
 कारणं कारणानां यत्तच्चित्तस्वमुपासहे ॥ ७४
 यदखिलकलनाकलङ्कहीनं
 परिवर्तितं च सदा कलागणेन ।
 स्वनुभवविभवं पदं तदयं
 सकलसुरप्रणतं परं प्रपद्ये ॥ ७५

इत्यार्षे श्रीवा० रामायणे वात्मी० दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० भृशुण्डोपाख्याने समाधिवर्णनं नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः २६

भृशुण्ड उवाच ।

एषा हि चित्तविश्रान्तिर्मया प्राणसमाधिना ।
 क्रमेणानेन संप्राप्ता स्वयमात्मनि निर्मले ॥ १
 एतां दृष्टिमवष्टभ्य संस्थितोऽस्मि महामुने ।
 न चलामि निमेषांशमपि मेरुविचालतः ॥ २
 गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
 स्वप्नेऽपि न चलत्येष सुसमाधिसमात्मनि ॥ ३
 नित्यानित्यासु लोलासु जगत्स्थितिषु सुस्थितः ।

अप्राणं निर्जीवम् ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ प्राणस्येति । 'स उ प्राणस्य प्राणः'
 इत्यादिश्रुतेः । प्राणनादिव्यापारे निमित्तमिति सर्वपर्यायार्थः
 ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ आलोकालोकनं ज्योतिषो ज्योतिः ।
 भावैर्मनोबुद्ध्यादिविकारैर्नमत् नम्रीभवत् पूर्वस्वभावात्प्रच्यवत्
 न च । नूनमिति निश्चये ॥ ६७ ॥ नासामोपलक्षितद्वादशाङ्गलप्रदे-
 शगगनं आवर्तं प्राणापानप्रवाहसंघर्षस्य । विरुद्धप्रवाहद्वयसंघौ
 ह्यावर्ता भवन्ति ॥ ६८ ॥ इदानीं बाह्यान्तःप्रदेशोपाधिभेदसप-
 द्वाय 'यत्तच्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति । तं देवाश्चक्रिरे धर्मं
 स एवायं स उ च एतद्वै तत्' इति श्रुत्यर्थं मनसिकृत्वाह—यत्र
 प्राण इति ॥ ६९ ॥ ये द्वे प्राणापानोद्भवस्थाने योगिभिः पदेते
 गम्येते इति पदे तदाधारस्तदधिष्ठानं यच्चित्तत्वं तदित्यर्थः ॥ ७० ॥
 यत्प्राणापानोपाधिरथारूढमनाततं परिच्छिन्नं सत् प्राणापानस-
 माहारः प्राणापाननशक्तिर्भवति एवं करणान्तरशक्तीनामपि
 यच्छक्तिरूपं भवतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥ प्राणापानकुम्भकभावेन
 सत्तद्विसर्गरेचकादिभावेन च तदेव विवर्तत इति तदेवोपासमि-
 त्याह—हृदिति ॥ ७२ ॥ प्राणापानयोः परामर्शश्चालनं तस्मि-

१ मधितोऽयं कचित्पञ्चते.

अन्तर्मुखोऽस्मि तिष्ठामि स्वकामेनात्मनात्मनि ॥ ४
 अपि संरुध्यते वायुरपि वा सलिलं गतेः ।
 नैतस्मात्सुसमाधानाद्विरुद्धं संसाराभ्यहम् ॥ ५
 प्राणापानानुसरणात्परमात्मावलोकनात् ।
 अशोकमनुजातोऽस्मि पदमाद्यं महातपः ॥ ६
 आमहाप्रलयाद्ब्रह्मब्रुन्मज्जननिमज्जनम् ।
 अहमद्यापि भूतानां पश्यजीवामि धीरधीः ॥ ७
 न भूतं न भविष्यं च चिन्तयामि कदाचन ।

त्रिमित्तभूतं तत्सत्तावोधत्वं चेत्सर्थः । एवं प्राणोपास्तिफलमपि
 तदेवेत्युपासमित्याह—यत्प्राप्यमिति ॥ ७३ ॥ इन्द्रियाणां विष-
 यप्रदेशोपसर्पणं स्पन्दस्तदुपभोगश्चानन्दस्तयोः कारणम् ॥ ७४ ॥
 अखिलकलनाकलङ्कहीनं परमार्थतः । आपातदर्शित्वा तु सदा
 जीवोपाधिभूतेन प्राणादिषोडशकलागणेन परिवर्तितं चेष्टितम् ।
 सम्यग्गन्तुमर्थः स्वनुभवः स एव विभवो निरतिशयैश्वर्यं यस्य
 तथाविधं परमात्मपदमुक्तप्रकारेण प्रपद्ये उपासे इत्यर्थः ॥ ७५ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 समाधिवर्णनं नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इत्थं स्वस्यात्मविज्ञानं निरूप्य प्राणचिन्तया ।

भृशुण्डेनात्र कथ्यन्ते चिरजीवितहेतवः ॥ १ ॥

अनेनोक्तप्रकारेण ॥ १ ॥ मेरोर्विचलनं विचालस्तस्मादपि
 ॥ २ ॥ ३ ॥ जगत्स्थितिषु दृष्टानिष्टलक्षणासु सुस्थितो निर्दि-
 क्षेपः । स्वकामेन स्तब्धन्देन ॥ ४ ॥ वायुः प्रवहणायो ज्योति-
 श्चक्राधारः । सलिलं महानदीनाम् । गतेः प्रवहणात्सरुध्यते
 संरुध्यतापीत्यर्थः । विरुद्धं व्युत्थापकं विषयजातम् ॥ ५ ॥ हे
 महातपः ॥ ६ ॥ ७ ॥ वर्तमाना नित्यवर्तमानस्वभावां साधि-

दृष्टिमालम्ब्य तिष्ठामि वर्तमानामिहात्मना ॥ ८
 यथा प्राप्तेषु कार्येषु परित्यक्तफलैषणः ।
 सुषुप्तसमया बुद्ध्या परितिष्ठामि केवलम् ॥ ९
 भावाभावमयीं चिन्तामीहितानीहितान्विताम् ।
 विमृश्यात्मनि तिष्ठामि चिरं जीवाम्यनामयः ॥ १०
 प्राणापानसमायोगसमयं समनुसरन् ।
 स्वयमात्मनि तुष्यामि चिरं जीवाम्यनामयः ॥ ११
 इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्यामि सुन्दरम् ।
 इति चिन्ता न मे तेन चिरं जीवाम्यनामयः ॥ १२
 न स्तौमि न च निन्दामि क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
 आत्मनोऽन्यस्य वा साधो तेनाहं शुभमागतः ॥ १३
 न तुष्यति शुभप्राप्तौ नाशुभेष्वपि खिद्यते ।
 मनो मम समं नित्यं तेनाहं शुभमागतः ॥ १४
 परमं त्यागमालम्ब्य सर्वमेव सदैव हि ।
 जीवितादि मया त्यक्तं तेनाहं शुभमागतः ॥ १५
 प्रशान्तचापलं वीतशोकं स्वस्थं समाहितम् ।
 मनो मम मुने शान्तं तेन जीवाम्यनामयः ॥ १६
 काष्ठं विलासिनीं शैलं तृणमग्निं हिमं नभः ।
 समं सर्वत्र पश्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ १७
 किमद्य मम संपन्नं प्राप्तर्वा भविता पुनः ।
 इति चिन्ताज्वरो नास्ति तेन जीवाम्यनामयः ॥ १८
 जरामरणदुःखेषु राज्यलाभसुखेषु च ।
 न विभेमि न दृष्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ १९
 अयं बन्धुः परश्चायं ममायमयमन्यतः ।
 इति ब्रह्मज्ञ जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २०
 सर्वं सर्वपदाभासमनाद्यन्तमनामयम् ।
 अहं चिदिति जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २१

दृष्टिम् । आत्मना मनसा ॥ ८ ॥ निरभिमानत्वेन सुषुप्तसमया ॥ ९ ॥
 विमृश्य हेयतया निश्चिन्त्य । तेन चिरं जीवामि ॥ १० ॥ समा-
 योगः संधिस्तत्समयं तत्र विभातं ब्रह्मेति यावत् ॥ ११ ॥ १२ ॥
 आत्मनः स्वस्यान्यस्य वा । चेष्टितमिति शेषः ॥ १३ ॥ शुभं
 प्रस्तावाजीवनम् ॥ १४ ॥ परं सर्वद्वैतबाधलक्षणं त्यागम् ।
 जीवितं जीवनाभिनिवेशस्तदादि ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ संपन्नं
 प्राप्तम् ॥ १८ ॥ १९ ॥ अन्यतः अन्यस्य ॥ २० ॥ सर्वं चिदेव ।
 सर्वपदं नानावस्तिवभावभासत इति सर्वपदाभासम् ॥ २१ ॥
 आहरन् आददानः ॥ २२ ॥ संसारे भवं सांसारमारम्भं का-
 र्यम् ॥ २३ ॥ यथाकालं प्रारब्धोपस्थापितभोगकालानुसारे-
 णोपायातौ प्राप्तौ ॥ २४ ॥ स्वरूपाच्च परिचलतीत्यपरिचलया
 मनःस्थैर्यशक्त्या । सुदृशा सर्वभूतेष्वत्मापम्यदृश्या । ऋजु अङ्गु-
 टिलम् । तथा चोक्तं भारते—'सर्वं जिह्मं सृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः
 पदम् । एतावान् ज्ञानविषयः प्रलापः किं करिष्यति ॥' इति
 ॥ २५ ॥ २६ ॥ तत् तदभिमानं त्यक्त्वा शरीरेण तद्वतोऽपि

आहरन्विहरंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठन्नुच्चसन्स्वपन् ।
 देहोऽहमिति नो वेद्मि तेनास्मि चिरजीवितः ॥ २२
 इमं सांसारमारम्भं सुषुप्तपदवस्थितः ।
 असन्तमिव जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २३
 यथाकालमुपायातावर्थानर्थौ समौ मम ।
 हस्ताविव शरीरस्थौ तेन जीवाम्यनामयः ॥ २४
 अपरिचलया शक्त्या सुदृशा क्षिग्धमुग्धया ।
 ऋजु पश्यामि सर्वत्र तेन जीवाम्यनामयः ॥ २५
 आपादमस्तकान्तेऽस्मिन्न देहे ममता मम ।
 त्यक्त्वाहंकारपङ्क्त्य तेन जीवाम्यनामयः ॥ २६
 यत्करोमि यदश्नामि तत्त्यक्त्वा तद्वतोऽपि मे ।
 मनो नैष्कर्म्यमादत्ते तेन जीवाम्यनामयः ॥ २७
 यदा यदा मुने किञ्चिद्विजानामि तदा तदा ।
 मतिरायाति नौद्धत्यं तेन जीवाम्यनामयः ॥ २८
 करोमीशोऽपि नाक्रान्तिं परितापे न खेदवान् ।
 दरिद्रोऽपि न वाञ्छामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २९
 पश्यद्रूपे शरीरेऽस्मिन्भूतस्थात्मा चिदास्पदः ।
 भूतवृन्दमहं साम्यात्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३०
 आशापाशविनुन्नायाश्चित्तवृत्तेः समाहितः ।
 संस्पर्शं न ददाम्यन्तस्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३१
 असत्तां जगतः सत्तामात्मनः करबिल्ववत् ।
 सुप्तः प्रबुद्धः पश्यामि तेनास्मि चिरजीवितः ॥ ३२
 जीर्णं भिन्नं श्लथं क्षीणं क्षुब्धं क्षुण्णं क्षयं गतम् ।
 पश्यामि नववत्सर्वं तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३३
 सुखितोऽस्मि सुखापन्ने दुःखितो दुःखिते जने ।
 सर्वस्य प्रियमित्रं च तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३४
 आपद्यचलधीरोऽस्मि जगन्मित्रं च संपदि ।
 भावाभावेषु नैवास्मि तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३५

मे मनो नैष्कर्म्यमकर्तृभोक्तृस्वभावतामादत्ते स्वीकरोति ॥ २७ ॥
 औद्धत्यमविनीततां नायाति ॥ २८ ॥ ईशः परेषामाक्रमणसम-
 र्थोऽप्याक्रान्तिं परिभवं न करोमि । एवं परकृते परितापे सहन-
 शीलत्वाच्च खेदवान् ॥ २९ ॥ पश्यद्रूपे चेतनप्राये अस्मिन्श-
 रीरे भासमानेप्यहं चिदास्पदश्चिन्मात्रदर्शी । एवं च चिदात्मनः
 सर्वभूतेषु साम्यात्सर्वभूतस्थात्मा सन् भूतवृन्दं स्वशरीरमिव
 पश्यामीत्यध्याहृत्य योज्यम् ॥ ३० ॥ सर्वदा समाहितः सन्
 आशापाशविनुन्नायाश्चित्तवृत्तेः अन्तर्हृदि संस्पर्शं प्रवेशं न
 ददामि ॥ ३१ ॥ बाह्यदृष्टिविषये सुप्तः सन् जगतः असत्तां
 पश्यामि, अन्तर्बु प्रबुद्धः सन् आत्मनः सत्तां करबिल्ववत्प-
 श्यामीत्यन्वयः ॥ ३२ ॥ श्लथं शिथिलावयवम् । क्षीणं कृशाङ्गम् ।
 क्षुब्धं व्यापृतावयवम् । क्षुण्णं संचूर्णितावयवम् । सर्वमतीता-
 नागतवर्तमानवस्तुनित्यनिर्विकारात्ममात्रसदृशा नववत्पश्यामि
 ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ भावाः कलानामिव वित्तादीनामुपचया

नाहमस्मि न वान्यो मे नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
इति मे भावितं चित्तं तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३६
अहं जगदहं व्योम देशकालक्रमावहम् ।
अहं क्रियेति मे बुद्धिस्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३७
घटश्चिचित्पटश्चित्खं चिद्वनं शकटं च चित् ।
चित्सर्वमिति मे भावस्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३८
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० मुमु० चिरजीवितहेतुकथनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इत्यहं मुनिशार्दूल त्रिलोककमलालिकः ।
मुमुण्डो नाम काकोलः कथितश्चिरजीवितः ॥ ३९
ब्रह्मार्णवे विलुलितं त्रिजगत्तरङ्ग-
मुत्पादनाद्यभिभवेन विभिन्नरूपम् ।
आलीनमुन्नमितमाकुलदृश्यदृश्य-
मालोक्यन्प्रकलयन्श्च चिरं स्थितोऽसि ॥ ४०

सप्तविंशः सर्गः २७

भुमुण्ड उवाच ।
एतत्ते कथितं ब्रह्मन्यथासि यदिहासि च ।
त्वदाज्ञामात्रसिद्ध्यर्थं घ्राष्ट्येन हानपारम् ॥ १
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
अहो नु चित्रं भगवन्भवता भूषणं श्रुतेः ।
आत्मोदन्तः प्रकथितः परं विस्मयकारणम् ॥ २
धन्यास्ते ये महात्मानमत्यन्तचिरजीवनम् ।
भवन्तं परिपश्यन्ति द्वितीयमिव पद्मजम् ॥ ३
यावदद्य दृशो धन्याः स्वात्मोदन्तमखण्डितम् ।
यथावत्पावनं बुद्धेः सर्वं कथितवानसि ॥ ४
प्रभातं दिक्षु सर्वासु दृष्ट्वा विबुधभूतयः ।
भवानिव जगत्सिद्धं महानवलोकितः ॥ ५
कथंचित्प्राप्यते कश्चिद्भ्रान्त्येव हि महाजनः ।
न भवानिव भव्यात्मा सुलभो जगति क्वचित् ॥ ६
वंशखण्डे हि कस्मिंश्चिज्जायते मौक्तिकं यथा ।
जगत्खण्डे हि कस्मिंश्चिद्दृश्यते त्वादृशस्तथा ॥ ७
मया तु सुमहत्कार्यमद्य संपादितं शुभम् ।

पुण्यदेहविमुक्तात्मा यद्भवानवलोकितः ॥ ८
तदस्तु तव कल्याणं प्रविशात्मगुहां शुभम् ।
मध्याह्नसमयो यन्मे व्रजामि सुरमन्दिरम् ॥ ९
इत्याकर्ण्य भुमुण्डोऽसौ जग्राहोत्थाय पादपात् ।
संकरिषताभ्यां हस्ताभ्यामुपात्तं हेमपल्लवम् ॥ १०
कल्पवृक्षलतापुष्पकेसरेण हिमत्विषा ।
तत्पात्रं मौक्तिकाघ्येण पूरयामास पूर्णघीः ॥ ११
तेनार्घ्यपाद्यपुष्पेण त्रिनेत्रमिव मामसौ ।
आपादमस्तकं भक्त्या पूजयामास पूर्वजः ॥ १२
अनुव्रज्याकदर्थेन खगेन्द्रालमिति ब्रुवन् ।
विष्टरादहमुत्थाय ततः खगवदाहृतः ॥ १३
व्योम्नि योजनमात्रं तु मदनुव्रज्यया गतः ।
करं करेणावष्टभ्य बलात्संरोधितः खगः ॥ १४
मयि याते क्षणेनैव गगनाध्वन्यदृश्यताम् ।
निवृत्तोऽसौ विहंगेन्द्रो दुस्त्यजा संगतिः सताम् ॥ १५
अन्योन्यमपि कस्मिंश्चित्तरङ्गक इवाम्बुधौ ।
व्योमन्यदृश्यतां यातो खगस्मृत्या मुनीनहम् ॥ १६

अभावास्तत्क्षयाच्च तेषु नैवाभिविद्योऽसि ॥ १५ ॥ १६ ॥
॥ १७ ॥ किं सर्वत्र जाड्यमनपोक्षैवाहंबुद्धिस्ते नैत्याह—
घट इति ॥ १८ ॥ उपसंहरति—इतीति । मेरुवर्णिकावासि-
त्वात् श्यामत्वाच्च त्रिलोककमलस्य अलिरिव अलिकः ॥ १९ ॥
उत्पादनानि सर्गाः । आदिपदाद्विबिपरिणामापक्षयास्तत्त्वक्षणेना-
भिभवेन परस्परप्रतिघातेन विभिन्नानि वैचित्र्यं प्राप्नोति रूपाणि
यस्य तत् । एवरीत्या पुनः पुनरुन्नमितमालीनं चाकुलं परिभ्र-
मत्साक्षिदृश्यबुद्धिमनश्चन्द्रियाणां दृश्यं जगद्भूतानकाले आलो-
कयन् समाधिकाले प्रकलयन् विलापयन्श्च चिरं स्थितोऽस्मीत्यर्थः
॥ ४० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
पूर्वार्धे चिरजीवितहेतुकथनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

भुमुण्डस्य प्रशंसात्र विद्यालोकेन पूजनम् ।

वासिष्ठस्य नमोगत्या स्वलोकासिद्धिं वर्णयते ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण असि चिरं जीवासि । परमार्थत इह
कार्यकरणसंघाते यदसि तच्च कथितमित्यर्थः । घ्राष्ट्येन वैया-

त्येन ॥ १ ॥ आत्मोदन्तः स्ववृत्तान्तः ॥ २ ॥ ३ ॥ ये भवन्तं
परिपश्यन्ति तेषां दृशो धन्याः । यावदद्येति स्वदृशोचिरस्थिति-
सार्थक्यामिप्रायम् ॥ ४ ॥ विबुधानां देवानां विदुषां च
भूतयो ज्ञानैश्वर्यसंपदो दृष्टाः ॥ ५ ॥ भ्रान्त्वा यत्नेन चिरमन्वि-
ष्यापि महास्वत्त्वज्ञो जनः कथंचित्प्राप्यते । तत्रापि भवानिव
न सुलभः ॥ ६ ॥ वंशखण्डे वेणुवने । वेणुनामप्यष्टसु मुक्ताक-
रेषु परिगणनात् ॥ ७ ॥ ८ ॥ मध्याह्नपदेन माध्याह्निकं कर्म
लक्ष्यते । सुरमन्दिरं सप्तपिंलोकं खगदहम् ॥ ९ ॥ १० ॥
मौक्तिकलक्षणेनार्घ्येण अर्घ्यार्थजलेन ॥ ११ ॥ त्रिनेत्रमिवेत्युप-
मानाभिर्यं विवपूजापरतापि तस्य गम्यते । पूर्वजश्चिरन्तनः
॥ १२ ॥ हे खगेन्द्र, अनुव्रज्यालक्षणेन कदर्थेन श्रमेण अल-
मिति ब्रुवन्महामाहुत सङ्गीनः ॥ १३ ॥ संरोधितो निवर्तितः
॥ १४ ॥ १५ ॥ आवागम्योन्योन्यमप्यदृश्यतां यातौ । ततः
अहं खगस्य भुमुण्डस्य स्मृत्या अविच्छिन्नस्मरणेनोपलक्षितः
सन्सप्तपिंलोकं प्राप्य मुनीन्द्रवृत्तानिति शेषः ॥ १६ ॥

सप्तविंशमण्डलं प्राप्य जायया परिपूजितः ।
 याते कृतयुगस्यादौ पुरा वर्षशतद्वये ॥ १७
 संगतोऽहं भुशुण्डेन मेरोः शृङ्गद्रुमेऽभवम् ।
 अथ राम कृते क्षीणे त्रेता संप्रति वर्तते ॥ १८
 मध्ये त्रेतायुगस्यास्य जातस्त्वं रिपुमर्दन ।
 पुनरद्याष्टमे वर्षे तत्रैवोपरि भूभृतः ।
 मिलितोऽभूद्भुशुण्डो मे तथैवाजरूपवान् ॥ १९

इति संकथितं चित्रं भुशुण्डोदन्तमुत्तमम् ।
 श्रुत्वा विचार्य चैवान्तर्यद्युक्तं तत्समाचर ॥ २०
 श्रीवाल्मीकिस्वाच ।
 इति सुमतिभुशुण्डसत्कथां यो
 विमलमतिः प्रविचारयिष्यतीह ।
 भवभयबहुलाकुलास्थितां स
 प्रसभमसत्सरितं तरिष्यतीति ॥ २१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० भुशु० समाप्तिर्नाम सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः २८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवं भुशुण्डवृत्तान्तः कथितस्ते मयानघ ।
 अनया प्रज्ञया तीर्णो भुशुण्डो मोहसंकटात् ॥ १
 एतां दृष्टिमवष्टभ्य स्वप्राणाभ्यासपूर्विकाम् ।
 भुशुण्डवन्महाबाहो भव तीर्णमद्वयवर्णवः ॥ २
 यथा ज्ञानेन योगेन संतताभ्यासजन्मना ।
 भुशुण्डः प्राप्तवान्प्राप्यं तथासादय तत्पदम् ॥ ३
 असक्तबुद्धयः सर्वे भुशुण्डवदवस्थितिम् ।
 प्राप्नुवन्ति परे तत्त्वे प्राणापानावलोकितः ॥ ४
 एता विचित्रा भवता श्रुता विज्ञानद्वयः ।
 इदानीं धियमालम्ब्य यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ५

श्रीराम उवाच ।

भगवन्भवता भूमिभास्वता ज्ञानरश्मिभिः ।
 हार्दमुद्दामदौरात्म्यं प्रमृष्टमखिलं तमः ॥ ६
 प्रबुद्धाः स्मः प्रहृष्टाः स्मः प्रविष्टाः स्मः स्वमास्पदम् ।
 स्थिताः स्मो ज्ञातविज्ञेया भवन्तो ह्यपरा इव ॥ ७

जायया अरुन्धत्या । उक्ताया भुशुण्डसंगतेः कालमाह—याते
 इति ॥ १७ ॥ १८ ॥ भूभृतः मेरोः ॥ १९ ॥ उपसंहरति—
 इतीति ॥ २० ॥ इतीति । इति इमां सुमतेर्भुशुण्डस्य सत्कथां
 यः प्रविचारयिष्यति स इहास्मिन्नेव शरीरे भवा जन्मादयस्त-
 द्भयैर्बहुला अत एवाकुला ये जीवास्तैरास्थिता इति इमां प्रसि-
 द्धामसत्सरितं मायानदीं तरिष्यति । प्रसभमिति पौरुषप्राधान्य-
 द्योतनार्थम् ॥ २१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे समाप्तिर्नाम सप्तविंशतितमः सर्गः ॥ २७ ॥

आख्यायिकाभिसंयन्धो देहानियतिवर्णनम् ।

आपातभ्रान्तिमात्रत्वं देहादेश्चात्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

वर्णिताया भुशुण्डाख्यायिकायाः प्रकृतोपदेशसंबन्धं दर्श-
 यति—एवमित्यादिना ॥ १ ॥ प्राणाभ्यासोऽत्र प्राणस्य निरोध-
 उपातिर्वा तत्पूर्विकाम् । महार्णव इति विपुलः संसारो निगीर्या-
 ध्यवसितः ॥ २ ॥ ३ ॥ प्राणापानावलोकितः उक्तोपास्तिशीलः
 ॥ ४ ॥ यथेच्छसि योगपूर्विकामुपास्तिपूर्विकां वा स्वात्मप्रतिष्ठां
 तथा कुरु ॥ ५ ॥ आस्तां योगोपास्ती त्वदुपदेशश्रवणादेव स्वस्य
 यो० वा० १०५

अहो भुशुण्डचरितं परं विसयकारकम् ।
 भगवन्भवता प्रोक्तमुत्तमार्थावबोधनम् ॥ ८
 भुशुण्डचरिते ब्रह्मज्ञेतस्मिन्कथिते त्वया ।
 यच्छरीरगृहं प्रोक्तं मांसचर्मास्थिनिर्मितम् ॥ ९
 तत्केन नाम रचितं कुतो वा तत्समुत्थितम् ।
 कथं वा स्थितिमायातं को वा तत्रावतिष्ठते ॥ १०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

परमार्थावबोधाय दोषापाकरणाय च ।
 शृणु राघव तत्त्वेन वक्ष्यमाणमिदं मया ॥ ११
 अस्थिस्थूणं नवद्वारं रक्तमांसावलेपनम् ।
 शरीरसदनं राम न केनचिदिदं कृतम् ॥ १२
 आभासमात्रमेवेदमित्थमेवावभासते ।
 द्विचन्द्रविभ्रमाकारं सदसच्च व्यवस्थितम् ॥ १३
 द्विचन्द्रदर्शनविधौ चन्द्रद्वित्वं सदैव हि ।
 वस्तुतश्चैक एवेन्दुः स्थितो देहस्तथैव हि ॥ १४

तत्त्वबोधः सिद्ध इति सूचयन् रामः कथाप्रसजितदेहगेहस्वरूपमेव
 जिज्ञासमानः पृच्छति—भगवन्नित्यादिना । भूमिभास्वता भूमा-
 ववतीर्णेन सूर्येण । उद्दामानि दौरात्म्यानि अनात्मस्वात्मत्वदर्श-
 नानि तत्प्रयुक्तदुश्चेष्टितानि च यस्मात्तथाविधं हार्दं तमः ॥ ६ ॥
 अपरा द्वितीया भवन्त इव ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ कर्तुर्निमित्तस्य
 स्थितिप्रकारस्य तदन्तःस्थस्य स्वामिनश्च प्रश्नाः ॥ १० ॥ ११ ॥
 तत्राद्यस्योत्तरमाह—अस्थीति ॥ १२ ॥ नन्वीश्वरोऽस्य देहस्य
 निर्माता श्रुतिपुराणाख्यायिकाप्रसिद्धः, जीवस्तु स्वकर्मापभो-
 गायास्य निर्मापकस्तौ कथमपलप्येते तत्राह—आभासमात्र-
 मिति । इत्थमेव । विनैव निर्मातारमित्यर्थः । न हि जले चन्द्रा-
 भासो निर्मातारमपेक्षते नापि तैमिरिककल्पितद्वितीयचन्द्रवि-
 भ्रमस्तद्वदित्यर्थः । ईश्वरस्य निर्मातृत्वं तु श्रुतं न मुख्यम् ।
 पुरुषनिःश्वसितदृश्यन्तदर्शनात् । जीवस्य निर्मापयितृत्वमपि
 तथा । अबुद्धिपूर्वत्वादनिष्टनिर्माणयोगाच्चेति भावः ॥ १३ ॥
 देहस्य मिथ्यात्वं तु प्रतीतिकालमात्रस्थितिकत्वाच्चन्द्रद्वित्ववदेव
 सिद्धमित्याह—द्विचन्द्रेति । चन्द्रद्वित्वं द्विचन्द्रदर्शनस्य विधौ

देहप्रत्ययकाले हि देहोऽयं समवस्थितः ।
 असन्नेव च सत्तत्सात्प्रोक्तः सदसदात्मकः ॥ १५ ॥
 स्वप्ने स्वप्नावबोधः संस्तवन्यदा स सुधैव हि ।
 बुद्बुदो बुद्बुदविधौ सत्यो मिथ्यैव चान्यदा ॥ १६ ॥
 देहो देहविधौ सत्यो ह्यसत्य इतरद्विधौ ।
 प्रतिभासविधौ तावज्जलं सदसदन्यदा ॥ १७ ॥
 प्रतिभासविधौ देहः सन्नसंश्रान्यदा स्मृतः ।
 आभासमात्रमेवेदमित्थं संप्रति भासते ॥ १८ ॥
 अयं नामाहमित्यन्तर्गृहीतमननं स्थितम् ।
 मांसास्थिमयनिर्माणदेहोऽहमिति विभ्रमम् ॥ १९ ॥
 त्यज संकल्पनिर्माणदेहाः सन्ति सहस्रशः ।
 सुखतरुणगतो येन स्वप्नदेहेन दिक्तदान् ॥ २० ॥
 परिभ्रमसि हे राम स देहस्ते क संस्थितः ।
 जागरायां मनोराज्ये येन स्वर्गपुरान्तरम् ॥ २१ ॥
 परिभ्रमसि मेरुं वा स देहस्ते क संस्थितः ।
 स्वप्नेष्वपि च यः स्वप्नस्तत्र येन महीतदान् ॥ २२ ॥
 परिभ्रमसि हे राम स देहस्ते क संस्थितः ।
 मनोराज्यं मनोराज्ये महद्विभवभूमिषु ॥ २३ ॥
 परिभ्रमसि येनेह स देहस्ते क संस्थितः ।
 गतैर्देहेर्मनोराज्ये या विचित्रा जगत्क्रियाः ॥ २४ ॥
 प्रकरोषि महाबाहो ते देहास्ते क संस्थिताः ।
 विलासिन्यानुरागिण्या येन संकल्पकान्तया ॥ २५ ॥
 निर्वृतिं यासि देहेन स देहस्ते क संस्थितः ।
 एते राम यथा देहा मनसः सदसन्मयाः ॥ २६ ॥
 तथैव तादृशाचारो देहोऽयं मनसः स्मृतः ।

इदं धनमयं देहो देशोऽयमिति विभ्रमः ॥ २७ ॥
 तत्सर्वं चित्तवीर्यस्य संकल्पस्य विजृम्भितम् ।
 दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ॥ २८ ॥
 दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारं रघुनन्दन ।
 प्रबोधमेत्यसि यदा परमात्मेच्छया स्वया ॥ २९ ॥
 द्रक्ष्यसि त्वं तदा सम्यग्निदमर्कोदये यथा ।
 स्वप्नसंकल्पजालेन यथान्यैव जगत्स्थितिः ॥ ३० ॥
 तथैवेयं हि संकल्पकलना काचिदेव हि ।
 यथा पूर्वं मयोत्पत्तिः प्रोक्ता कमलजन्मनः ॥ ३१ ॥
 मनसः स्वयमेवान्तःसंकल्पकलनोद्भवा ।
 विचित्ररचनोपेतं मनस्तत्रात्तविभ्रमम् ॥ ३२ ॥
 संकल्पकलनामात्रं तथेदमवभासनम् ।
 यथा कल्पित आभासो मनसोऽन्नजतां गतः ॥ ३३ ॥
 देहाद्विचिन्तितो देहः स्थितोऽन्यस्तद्वदेव हि ।
 प्राक्प्रवाहचिराभ्यस्तो वासनातिशयेन यः ॥ ३४ ॥
 तथैव दृश्यते देहस्तथाऽऽकृत्युदयेन सः ।
 पौरुषेण प्रयत्नेन संकल्पो ह्ययमेव चित् ॥ ३५ ॥
 अन्यथा भाव्यते राम भूयते तदिहान्यथा ।
 अयं सोऽयं ममायं च संसार इति भाविते ॥ ३६ ॥
 सत्यो यो भाव्यते राम भावनादाढ्यसंभवः ।
 भावितं तीव्रवेगेन यदेवाशु तदेव हि ॥ ३७ ॥
 सर्वत्र दृश्यते राम कान्तेवात्यन्तवल्लभा ।
 अहर्न्यावृत्तिरभ्यस्ता यथा स्वप्नेषु दृश्यते ॥ ३८ ॥
 तथायं भावनाभ्यस्तः संसारोऽप्यवलोक्यते ।
 यथा स्वप्नावनौ क्षिप्रमहर्षदवभासते ॥ ३९ ॥

सत्येव भवति नान्यदा । देहोऽपि हि यस्मात्तथैव । वस्तुतस्तु
 सदैव होक् एवेन्दुरित्यन्वयः ॥ १४ ॥ उक्तमेव स्पष्टमाह—
 देहेति । परमार्थसदधिष्ठानकतया उपचारात्सत् ॥ १५ ॥ असत्-
 सत्त्वभ्रान्तिः क इष्टा तत्राह—स्वप्न इति । सुषा मिथ्यैव ।
 बुद्बुदविधौ बुद्बुदप्रतीतिसत्त्वे ॥ १६ ॥ इतरद्विधौ बुद्बुदात्मदर्श-
 नसत्त्वे । जलं मृगहृष्णिकोदकम् ॥ १७ ॥ प्रतिभासविधाविति
 प्रसाधितार्थनिगमनत्वात्तत्र पौनरुक्त्यम् ॥ १८ ॥ आभासमात्र-
 तामुपपादयंस्तदभिमानं त्याजयति—अयमिति । प्राग्गृहीतदे-
 हाकारं मननमेव संस्कारदाढ्योत्पन्नपुनर्देहाकारेण स्थितम्
 ॥ १९ ॥ त्यजेति पूर्वान्वयि । संकल्पनिर्माणदेहानेवोदाहृत्य
 तेषामसत्यतां दर्शयति—सुखतरुणगत इत्यादिना ॥ २० ॥
 जागरायां जागरे । छान्दसं क्रीत्वम् ॥ २१ ॥ २२ ॥ मनो-
 राज्यान्तःकल्पिते मनोराज्यान्तरे महतीषु विभवभूमिषु । 'आ-
 न्महतः समानाधिकरणजातीययोः' इत्यात्वे कर्तव्ये तदभाव-
 र्छान्दसः । महतामिन्द्रचन्द्रादीनां वा विभवभूमिषु ॥ २३ ॥
 गतैः कल्पनाविलयमनुविलीनैः ॥ २४ ॥ २५ ॥ निर्वृतिं समो-
 गच्छं यासीति योग्यतया वर्तमानकालोक्तिः । एवं भविष्य-
 त्क्षिप्रमनोराज्यदेहा अप्युदाहार्याः । तेषु मिथ्यात्वसांकेतिक-

त्वादेर्निश्चितत्वात्प्रस्तुतदेहेऽपि तथात्वं साधयति—एते इति
 ॥ २६ ॥ अहंताभ्यासविषये देहे दक्षितो न्यायो ममताभ्यास-
 गोचरे धनादावपि सम इत्याशयेनाह—इदं धनमिति ॥ २७ ॥
 या तु देहादौ स्वाप्नादिवैधर्म्यबुद्धिः सा चिरानुवृत्तिमात्रा न
 तु सत्यत्वासांकेतिकत्वादिप्रयुक्त्याशयेनाह—दीर्घेति ॥ २८ ॥
 अत एवात्य तत्त्वज्ञानेन वाच्यत्वमुपपन्नमित्याशयेनाह—प्रबो-
 धमिति ॥ २९ ॥ सम्यक् स्वात्ममात्रपरिज्ञेयेन द्रक्ष्यसि । यथा अ-
 र्कोदये प्रबुद्धः स्वप्नार्थान्पश्यति तद्वत् ॥ ३० ॥ काचिदतिर्वचनीया
 मिथ्यैवेत्यर्थः । उक्तेऽर्थे च प्रागुत्पत्तिप्रकरणे विस्तरात् संसार-
 यति—यथेति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ऐन्दवोपाख्यानोक्तमपि
 स्मर्तव्यमित्याह—यथा कल्पित इति ॥ ३३ ॥ पूर्वदेहादुत्का-
 न्तिकाले विचिन्तितो यो देहः ॥ ३४ ॥ तथाऽऽकृत्युदयेन तादृ-
 शसंस्थानसंपरया । पौरुषेण प्रयत्नेन मनः प्रत्यक्षुखीकृत्य
 स्वात्मदर्शने अयं देहजगदाकारः संकल्पक्षिदेवेत्यन्वयः
 ॥ ३५ ॥ अन्यथा भाव्यते यदीति शेषः । तत्तर्हि अन्यथा
 भूयते इति भाविते तथैवानुभूयत इति शेषः ॥ ३६ ॥
 तदेव हि दृश्यते इति परेणान्वयः ॥ ३७ ॥ अहि व्यावृत्ति-
 र्वापृतिर्यथाभ्यस्ता ॥ ३८ ॥ क्षिप्रं क्षीप्रप्रपञ्चं क्षणादिः अह-

तथेदमल्पकालस्थमपि संलक्ष्यते स्थिरम् ।
 व्योमन्येव यथा तापतप्ते संदृश्यते सरित् ॥ ४०
 धराप्यविद्यमानापि संकल्पाद्दृश्यते तथा ।
 दृश्यते दृष्टिवैरूप्याद्यथा व्योमनि पिच्छिका ॥ ४१
 तथैवेयं जगल्लक्ष्मीर्दुर्ज्ञानादवभासते ।
 दृश्यते समया दृष्ट्या न यथा व्योम्नि पिच्छिका ॥ ४२
 सम्यग्दृष्ट्या जगल्लक्ष्मीस्तथेयं नावभासते ।
 भीरुरभ्येति न यथा स्वसंकल्पेषु संभ्रमम् ॥ ४३
 स्वसंकल्पे हि संसारे न तथैति भयं सुधीः ।
 स्व एव हि स्वभावोऽयमित्थं संप्रति भासते ॥ ४४
 संसारसरणिस्थित्यां कस्मात्कोऽत्र विभेति किम् ।
 स एव किञ्चित्संशोध्यः शुद्ध्या विमलतां गते ॥ ४५
 तस्मिन् दृश्यते राम मोहोऽयं जगतः स्थितः ।
 सम्यगालोकमात्रेण स्वभावः शुद्धिमृच्छति ॥ ४६
 न गृह्णाति मलं भूयस्ताम्रतामिव काञ्चनम् ।
 आभासमात्रमेवेदं न सन्नासज्जगत्रयम् ॥ ४७
 इत्यन्यकलनात्यागः सम्यगालोकं विदुः ।
 भरणं जीवितं स्वर्गो ज्ञानमज्ञानमेव च ॥ ४८
 चिदाभासादते नास्तीत्येकता सम्यगीक्षणम् ।
 त्वमहंतादिसंसार इति मे न दिशो दश ॥ ४९
 सर्वं स्वाभासमेवेति सम्यगालोकं विदुः ।
 सदसन्मयसंसारे यथा भूतार्थदर्शनात् ॥ ५०

नास्तमेति न चोदेति सम्यगालोकनान्मनः ।
 निर्णयं सर्वभावानामसत्त्वं सत्त्वमेव च ॥ ५१
 निष्कामं शान्तिमभ्येति सम्यगालोकनान्मनः ।
 न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न शोचति ॥ ५२
 शीतलां सत्यतामेति सम्यगालोकनान्मनः ।
 अवश्यमेव मर्तव्यं सर्वैरेव हि बन्धुभिः ॥ ५३
 इति बन्धुवियोगेषु किं वृथा परितप्यसे ।
 अवश्यमेव च मया मर्तव्यमिति निश्चयः ॥ ५४
 इत्यात्ममरणप्राप्तौ किं मुधा परितप्यसे ।
 अवश्यमेव जातेन किञ्चित्सुविभवादिकम् ॥ ५५
 प्राप्तव्यं पुरुषेणेति हर्षस्यावसरो हि कः ।
 सर्वस्यैव हि संसारे नरस्य व्यवहारिणः ॥ ५६
 अर्थायाता भवत्यापच्छोकस्यावसरो हि कः ।
 बृंहत्युदेति स्फुरति बुद्धुदौघ इवार्णवे ॥ ५७
 इदं हि जगतां जालं किमत्र परिदेवना ।
 सत्सदेव सदैवैतदसदेवासदेव हि ॥ ५८
 क्रियावैचित्र्यमात्रे तु किमन्यत्परिदेव्यते ।
 नाहमस्मि न चाभूवं भविष्यामि न सोऽधुना ॥ ५९
 देहोऽयं चित्रदोषोत्थः किमन्यत्परिदेव्यते ।
 देहाच्चेदन्य एवाहं चिदाभासस्तदङ्ग हे ॥ ६०
 कौ तौ मे सदसद्भावौ यन्निष्ठं परितप्यते ।
 इति निश्चयवत्त्वान्तं सम्यग्ज्ञानात्मनो मुनेः ॥ ६१

त्रिंशद्दृष्टिकादीर्घोऽवभासते ॥ ३९ ॥ स्थिरं शाश्वतम् ।
 व्योमनि मरुभूम्याकाशे । सरित् सृगत्पृष्ठादीन् ॥ ४० ॥ धरा
 भूः । अपिशब्दादन्तरिक्षं त्रिलोकी च । पिच्छिका बर्हमुष्टिः
 ॥ ४१ ॥ दुर्ज्ञानाद्भ्रमात् ॥ ४२ ॥ भीरुरपि स्वसंकल्पेषु स्वमनोरा-
 ज्यकल्पितहस्तिव्याघ्रादिषु । संभ्रमं भयम् ॥ ४३ ॥ स्वभावः
 आत्मा । संप्रति बहिर्मुखदशायाम् ॥ ४४ ॥ यद्विभेति तदपि
 भयं किम् । न किञ्चित्स्वात्मव्यतिरिक्तमस्तीत्यर्थः । यो विभेति स
 एव किञ्चित्संशोध्यो विवेचनीयः ॥ ४५ ॥ अयं भयादिलक्षणो
 मोहः अद्वये शुद्धात्मनि न दृश्यते । तथा च श्रुतिः—‘यन्मद-
 न्यन्नास्ति कस्मान्नु विभेतीति । तत् एवास्य भयं वीर्याय । कस्मा-
 द्यभेज्यत् । द्वितीयाद्वै भयं भवति’ इति । केन तर्ह्युपायेनात्मा
 शुद्ध्यति तमाह—सम्यगिति । स्वभाव आत्मा ॥ ४६ ॥
 पुनरशुद्धिप्राप्तिशङ्कां वारयति—नेति । स्वभावतः काञ्चनं
 भ्रान्त्या ताम्रतया गृहीतं तापादिना खरूपाभिव्यक्तौ पुनस्ताम्रत्व-
 मिवेत्यर्थः । कुतोऽस्य दर्शनमात्राच्छुद्धिरिति चेद्दृश्यमलस्याभास-
 मात्रत्वादित्याह—आभासमात्रमेवेति ॥ ४७ ॥ इति अस्मा-
 द्देतोः सम्यगालोकनमेवान्यकलनायास्त्यागो निवृत्तिरिति विदु-
 रिति पूर्वेणान्वयः । सम्यगीक्षणं तर्हि कीदृशं तदाह—भरण-
 मित्यादिना ॥ ४८ ॥ चिदाभासाच्चित्प्रकाशादते विना पृथक्
 नास्तीत्येकता चिन्मात्रपरिशेषः फलतः सम्यगीक्षणमित्यर्थः ।

त्वंता स्वातिरिक्तचेतनता । अहंता स्वदेहमात्रपरिच्छिन्न-
 चेतनता आदिपदास्त्वंताहंताभिमानविषय आध्यात्मिकः
 कार्यकारणकलापः संसारयत्यात्मानं लोकान्तरेषु विषयेषु च
 भ्रमयतीति संसारो विषयकलापस्तदाधारा दश दिशश्चेति
 सर्वं दृश्यजातं मे मत्संबन्धिनः पृथक् न सन्ति किंतु
 स्वाभासं स्वप्रकाशात्मस्वरूपमेवास्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥ सम्यगा-
 लोकनफलमाह—सदसन्मयेति । सद्ब्रह्म असती माया तदु-
 भयोपादानके ॥ ५० ॥ असत्त्वं बाधम् । सत्त्वमधिष्ठानसन्मात्र-
 परिशेषम् ॥ ५१ ॥ निष्कामं आप्तकामत्वादकामम् ॥ ५२ ॥
 शीतलामुपशान्ततापत्रयाम् । स्वस्य मुक्तावपि बन्धुजनानां
 बन्धानिर्वृत्तेस्त्वदीयमरणादिदर्शनजस्तापो दुर्वारस्तत्राह—अव-
 श्यमेवेत्यादिना ॥ ५३ ॥ अज्ञतादशायाम् स्वमरणाशङ्कातापोऽप्य-
 नेनोपायेन परिहर्तुं शक्य इत्याशयेनाह—अवश्यमेवेति ॥ ५४ ॥
 ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ आपत् दारिद्र्यदुर्दशाया । अर्थादेव आयाता
 भवत्येव । बृंहति वर्धते ॥ ५७ ॥ असदपि सदैव असदेव न
 कदाचित्सत्त्वमापन्नमिति मायाविक्रियावैचित्र्यमात्रात्मके प्रपञ्चे
 किमन्यदस्ति यत्परिदेव्यते इत्यर्थः । अहं अहंकारात्मा
 नास्मि ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ चित्रात्कामकर्मवासनाविद्यादोषादुत्थः
 चिदाभासश्चित्प्रकाशः । अज्ञेति क्रोमलामन्त्रणे ॥ ६० ॥ ये
 निष्ठे उदर्कफले निमित्तभूते यस्मिन्परितापे इति क्रियाविशेषणम्

नास्तमेति न चोदेति नै शान्तं परित्यज्यते ।
 परतामेव नाशान्तामनुत्तमपदे स्थितः ॥ ६२
 आदत्ते तित्तिरी मृद्वी तृणकोटिमिवामलाम् ।
 एतदर्थमसत्येऽस्मिन्नास्था कार्या मनागपि ॥ ६३
 सुरज्ज्वेव बलीवर्दी वध्यते जन्तुरास्थया ।
 अतस्त्वया दृढमिदमिति निर्णीय बुद्धितः ॥ ६४
 आस्थारहितया बुद्ध्या विहर्तव्यमिहानघ ।
 कर्तव्यमेव कर्तव्यमकर्तव्यमुपेक्ष्यते ॥ ६५
 आस्थानास्थे परित्यज्य लीलयाैव महाधिया ।
 आभासमात्रमेवेदं यस्य च प्रतिभासते ॥ ६६
 सोऽन्तः शीतलतामेति दिनान्ते भुवनं यथा ।
 प्रतिभासं परित्यज्य पदार्थपटलव्रजे ॥ ६७
 आभासमात्रसामान्यमिदमालोकयानघ ।
 आभासमात्रकं राम चित्तामशंकलङ्कितम् ॥ ६८
 ततस्तदपि संत्यज्य निराभासो भवोत्तम ।
 चिदाकाशमयो नित्यं सर्वगः सर्ववर्जितः ॥ ६९
 आभासस्य परित्यागे भवस्यैकान्तनिर्मलः ।
 नाहमस्मि न ये भोगाः सत्या इत्यभिभाषिते ॥ ७०
 नेदमाहम्भवं व्यर्थमनर्थायावभासते ।
 अहमेव हि वा सर्वं विदित्येवं विभाषिते ॥ ७१
 नेदमाहम्भवं व्यर्थमनर्थायावभासते ।
 दर्शनद्वयमप्येतत्सत्यमत्यन्तसिद्धिदम् ॥ ७२
 यदेकमेतयोर्वैस्ति रम्यं तद्राम संश्रय ।
 द्वाभ्यामेवाथ चै ताभ्यां दर्शनाभ्यामिहानघ ॥ ७३

विहरन्कुर्व कल्याण रागद्वेषपरिक्षयम् ।
 यत्किंचिदुदितं लोके यन्नभस्यथ वा दिवि ॥ ७४
 तत्सर्वं प्राप्यते राम रागद्वेषपरिक्षयात् ।
 रागादिद्वयतया बुद्ध्या यादृशाम विचेष्टितम् ॥ ७५
 तत्तदेव प्रयात्याशु मूढानां विपरीतताम् ।
 द्वेषदोषोर्मिरुद्धासु न गुणाश्चित्तवृत्तिषु ॥ ७६
 पदं कुर्वन्ति दग्धासु स्थलीषु हरिणा इव ।
 रागो द्वेषश्च सर्पो द्वौ न विलीनौ मनोविले ॥ ७७
 यस्य कल्पतरोस्तस्मात्किं नामाङ्ग न लभ्यते ।
 ये हि प्राज्ञाः स्वनियता विदग्धाः शास्त्रशालिनः ॥ ७८
 रागद्वेषमयास्ते वै जम्बुकास्ते धिगस्तु तान् ।
 मद्भनं भुक्तमन्येन धनं त्यक्तं मयाऽन्यतः ॥ ७९
 इति संव्यवहारेद्वाः के रागद्वेषयोः क्रमाः ।
 धनानि बन्धवो मित्रं पुनरायान्ति यान्ति च ॥ ८०
 किमेतेषु नरः प्राज्ञो रज्यते वा विरज्यते ।
 भावाभावभवाभोगा भायेयं पारमेध्वरी ॥ ८१
 संसाररचना सर्वा संसक्तं पातयत्यलम् ।
 न धनं न जनो नात्मा सत्यं राघव वस्तुतः ॥ ८२
 मिथ्यैव मिथ्यावसितमितीदं परिलक्ष्यते ।
 आद्यन्तयोः सर्वमसन्मध्येऽप्यस्थिरमाधिमत् ॥ ८३
 क्व बध्नाति रतिं प्राज्ञो ह्यन्यकल्पितखट्वमे ।
 एकेन कल्पिता खे स्त्री भुङ्क्ते तां दूरगोऽपरः ॥ ८४
 इतीयमङ्ग संसाररचना तेन मा भ्रम ।
 भूताजवं जवीभावमिममाततमाकुलम् ॥ ८५

॥ ६१ ॥ अनुत्तमपदे स्थितो ब्रह्मविद् सर्वभावेषु नाशान्तां
 बाधपरिशिष्टां परता ब्रह्मतामेव आदत्ते स्वीकरोति न प्रतीति-
 कालिकीं खरताम् । यथा तित्तिरी नीलनिर्माणाय तृणानां
 मूलतः खरभागान्परित्यज्य मृद्वी तृणकोटिमेवादत्ते तद्व-
 दित्यर्थः ॥ ६२ ॥ एतदर्थं संसारस्य खरभागपरिहारार्थम्
 ॥ ६३ ॥ इदमप्रभूतं ब्रह्म इति लक्ष्ययुक्त्या निर्णीय ॥ ६४ ॥ तर्हि
 किमास्थां परित्यज्य यद्येष्टावरणं कर्तव्यं, चेत्ताह—कर्तव्य-
 मेवेति । विहितमेवेत्यर्थः ॥ ६५ ॥ लीलया अश्रमेण ॥ ६६ ॥
 दिनान्ते सौरतापोपरमे । सर्वानुगतसन्मात्रदर्शने उपायमाह—
 प्रतिभासमिति । विशेषाकारमित्यर्थः । पदार्थानां पञ्चभूतानां
 पटलं सन्तुहस्तदात्मके षट्पटादिविषयव्रजे ॥ ६७ ॥ चित्तस्य
 आमर्शेन विशेषकल्पनेन कलङ्कितमभूदिति शेषः ॥ ६८ ॥
 तत्सन्मात्ररूपमाभासमपि सत्यस्य स्वात्मव्यतिरेकबुद्ध्या त्यक्त्वा
 निराभासत्रिपुटीद्युक्त्यः । सर्वगः पूर्णः ॥ ६९ ॥ निराभासता-
 सिष्णुपायभूतं चिन्तनद्वयमाह—नाहमित्यादिना । अभितो
 भाषिते चिन्तिते सति ॥ ७० ॥ चिति सर्वबाधचिन्तनं सर्वस्य
 विदात्मभावचिन्तनं वेति द्वे चिन्तने ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ऐच्छि-
 कसमुच्चयेऽप्यनयोर्न विरोधः । फलत ऐकरूप्यादित्या-

भायेनाह—द्वाभ्यामिति ॥ ७३ ॥ रागादिदोषक्षयवत्येष चिन्त-
 नद्वयं सफलं नान्यसिन्नित्याह—कुर्वित्यादिना । रागादिक्षय-
 मेव प्रधानफलेः स्तौति—यत्किंचिदिति ॥ ७४ ॥ ७५ ॥
 ॥ ७६ ॥ पदं स्थितिम् ॥ ७७ ॥ किं नाम दुःखफलमिति शेषः
 ॥ ७८ ॥ शास्त्रशालिनोऽपि भूवेति शेषः । ते जनाः ।
 ते अरण्ये प्रसिद्धा जम्बुकाः । एवार्थे वैशब्दः । राग-
 द्वेषकर्म समूलमाह—मद्भनमिति । अन्यतः अन्यस्मादवश्य-
 प्राह्यं धनं प्रमादात्त्यक्तम् ॥ ७९ ॥ इति इत्थं लब्धनष्टधनादि-
 विषये अभिनिवेशात्तद्गुणार्थं वधवन्धनादिसंव्यवहारेहालक्षणा
 रागद्वेषयोः क्रमाः के, मुच्छा इत्यर्थः । कुतस्तुच्छास्तप्राह—
 धनानीत्यादिना ॥ ८० ॥ प्रियविषयभावेन अप्रियाभावेन च
 भवसाभोगो यस्याम् ॥ ८१ ॥ संसक्तं लम्पटम् ॥ ८२ ॥
 इति वक्ष्यमाणयुक्त्या मिथ्येत्यवसितं मिथ्यैव परिलक्ष्यते । तां
 युक्तिमाह—आद्यन्तयोरिति । आद्यन्तयोः पूर्वोत्तरकालयोः ।
 अस्थिरमुत्तरोत्तरभावविकारप्रस्तम् ॥ ८३ ॥ मुच्छे संसारे इति
 बन्धयोन्यत्वे दृष्टान्तमाह—अन्येत्यादिना ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

१ न चान्तं इति पाठः, २ प्राज्ञा विनियताः इति पाठः,

गन्धर्वपुरनिर्माणविलासेन समं विदुः ।
 स्वप्नसंकल्पपुरवदसदेवेदमुत्थितम् ॥ ८६
 सर्वत्र संस्थमेवेदं सुषुप्तमिव विच्युतम् ।
 परिपश्यसि संसारदीर्घस्वप्नपुरद्वमम् ॥ ८७
 अज्ञाननिद्रालुठनस्वभावात्मकमच्युतम् ।
 संसारस्वप्नसंभ्रान्तो भवानयमिह स्थितः ॥ ८८
 तदेनां विततां निद्रां घनाज्ञानमयात्मिकाम् ।
 त्यजालक्ष्मीमिवावाप्तनिधानः पुरुषोत्तमः ॥ ८९
 प्रबोधमेहि पश्य स्वमात्मानमुदितं सदा ।
 निर्विकल्पं चिदाभासं प्रातःपन्नं रविं यथा ॥ ९०
 प्रबुध्यस्व प्रबुध्यस्व पुनःपुनरयं मया ।

प्रबोधसे महाबाहो पश्यात्माकर्मजामयम् ॥ ९१
 मयैतेनाभिवृष्टेन शीतेन ज्ञानचरिणा ।
 सुशब्दशालिना राम ह्यनेनैवासि बोधितः ॥ ९२
 बोधमासादय परं प्रबोधोऽद्यैव राघवं ।
 सत्यमालोकयालीकं त्यक्त्वेमं जागतं भ्रमम् ॥ ९३
 न ते जन्म न ते दुःखं न दोषास्ते न ते भ्रमाः ।
 सर्वं संकल्पमुत्सृज्य तिष्ठात्मनि सुसंस्थितः ॥ ९४
 परिगलितविकल्पदोषजाल-
 स्त्वमसि सुसारसुषुप्तसौम्यदृष्टिः ।
 अतिविततमिदं सुशुद्धये त्वं
 समुपशमात्मनि तिष्ठ हे महात्मन् ॥ ९५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० परमार्थयोगोपदेशो नामाष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

एकोनविंशः सर्गः २९

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्याकर्णयति स्वस्थसमचेतसि राघवे ।
 विश्रान्ते स्वात्मनि स्वैरं परमानन्दमागते ॥ १
 तत्रस्थेषु च सर्वेषु तेषूपशमशालिषु ।
 राघवस्यात्मविश्रान्तेः स्थित्यर्थं वचनामृतम् ॥ २
 विरयम मुनेर्वारि सस्येष्वम्बुधरादिव ।
 अथ याते मुहूर्तार्धे राघवे प्रतिबोधिते ॥ ३
 पुनरपह तमेवार्थं वसिष्ठो वदतां वरः ।
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 राम सम्यक्प्रबुद्धोऽसि स्वात्मानमसि लब्धवान् ॥ ४
 एवमेवावलम्ब्यार्थं तिष्ठ नेह पदं कृथाः ।
 इदं संसारचक्रं हि नाभौ संकल्पमात्रके ॥ ५
 संरोधितायां बहनाद्रघुनन्दन रुच्यते ।

क्षोभितायां मनोनाभ्यामिदं संसारचक्रकम् ॥ ६
 प्रयत्नाद्रोधितमपि प्रबुद्धत्वेव वेगतः ।
 परं पौरुषमास्थाय बलं प्रज्ञां च युक्तितः ॥ ७
 नार्भि संसारचक्रस्य चित्तमेव निरोधयेत् ।
 प्रज्ञासौजन्ययुक्तेन शास्त्रसंवलितेन च ॥ ८
 पौरुषेण न यत्प्राप्तं न तत्कचन लभ्यते ।
 दैवैकपरतां त्यक्त्वा बालबोधोपकल्पिताम् ॥ ९
 निजं प्रयत्नमाश्रित्य चित्तमादौ निरोधयेत् ।
 आविरिञ्चात्प्रवृत्तेन भ्रमेणाज्ञानरूपिणा ॥ १०
 असदेव सदाभासमिदमालक्ष्यतेऽनघ ।
 अज्ञानभ्रमविस्तारमात्रकाकृतयोऽनघ ॥ ११
 इमे देहा भ्रमन्तीह सर्वधर्मास्समुत्थिताः ।
 संकल्पः पुनरस्त्वेव देहस्यार्थं कदाचन ॥ १२

विदुः प्राज्ञाः ॥ ८६ ॥ कल्पनायाः सर्वत्र संभवादधिष्ठानचि-
 त्सद्भावाच्च सर्वत्र संस्थम् । विच्युतं स्वप्नादिभावापन्नं सुषुप्त-
 मिव ॥ ८७ ॥ अच्युतमजज्ञानुत्पूतम् । पूर्वान्वयि । भवान्
 शुभवांस्त्वं एनां निद्रां त्यजेत्युत्तरान्वयि ॥ ८८ ॥ ८९ ॥
 चिदाभासं चित्रकाशम् ॥ ९० ॥ ९१ ॥ मया मेघस्थानी-
 येन । सुशब्दपदं श्लेषार्जनमप्याह ॥ ९२ ॥ अद्यैव प्रकृष्टो
 बोधो यस्य तथाविधः सन् सत्यं स्वतत्त्वमालोक्य ॥ ९३ ॥
 ॥ ९४ ॥ उपसंहरति—परिगलितेति । सुसारं सुषुप्तमिव
 सौम्या निर्विकल्पा दृष्टिर्यस्य तथाविधस्त्वं इदं नित्यापरोक्षमति-
 विततं ब्रह्मैवासि, अतः सुशुद्धये समुपशमात्मनि तस्मिन्नेव
 समाहितस्तिष्ठेत्यर्थः ॥ ९५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे परमार्थयोगोपदेशो नामा-
 ष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

रामस्य बोधाद्विश्रान्तिः पुनरुक्तार्थविस्तरः ।

कैलासे प्राक् शिवेनेत्यं स्वोपदेशश्च कीर्त्यते ॥ १ ॥

इत्थं सानुग्रहं श्रीवसिष्ठेनोपदेशचमत्कारैः प्रतिबोधितस्य

श्रीरामस्य अन्येषां च श्रोतॄणां तत्त्वसाक्षात्कारोदयेन मुहूर्तार्धे
 स्वरूपविश्रान्तिसमाधिना निष्कम्पस्थितिं श्रीवाल्मीकिरुवाच—
 इत्याकर्णयतीत्यादिसार्धेन ॥ १ ॥ तत्रस्थेषु स्वात्मनि विश्रान्ते-
 ष्विति विभक्तिविपरिणामेन योज्यम् । मुनेर्वचनामृतं विररा-
 मेति परेणान्वयः ॥ २ ॥ यथा कृष्टितर्पितेषु सस्येषु अम्बुध-
 राद्वारि विरमति तद्वद्वोधिते समावेष्ट्युत्थापितं अर्थाद्वसिष्ठेनैवेति
 गम्यते ॥ ३ ॥ पुनस्तमेवार्थं दृढीकारायाहेत्यर्थः ॥ ४ ॥ अर्थ
 परमार्थमात्मतत्त्वम् । इह संसारे पदं स्थितिं मा कृथाः ।
 तत्रोपायमाह—इदमिति ॥ ५ ॥ क्षोभितायां रागद्वेषादिना वि-
 क्षेपं प्रापितायाम् ॥ ६ ॥ पौरुषं अभ्यासवैराग्यदार्ढ्यलक्षणम् ॥ ७ ॥
 ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ आकृतयः दृढयजगदाकाराः ॥ ११ ॥ सर्वे
 धर्मा विकल्पा यस्मात् । सर्वधर्मा संकल्पस्तस्मात् । 'धर्मादनि-
 च्चेक्यत्वात्' इत्यादिचो विषये तदभावंश्छान्दसः । अत एव नैतदे-
 हनाशमात्रेणैष्टसिद्धिर्यतः पुनर्देहपरंपरोत्पादकः संकल्पोऽस्त्येव ।
 तर्हि संकल्पत्यागे क उपाय इति चेत्तमाह—देहस्यार्थं इत्या-

शुक्लदुःखविचारित्वं न कार्यं राम धीमता ।
 दुःखम्लानमुखः क्लेदी प्रसन्नात्क्लेशवर्जितात् ॥ १३
 अपि चित्रनरादेहनरस्तुच्छतरः स्मृतः ।
 आधिव्याधिपरिम्लाने स्वयं क्लेदिनि नाशिनि ॥ १४
 न तथा स्थिरता देहे चित्रपुंसो यथा किल ।
 विनाशितो हि चित्रस्थो देहो नश्यति नान्यथा ॥ १५
 अवश्यनाशो मांसात्मा स्वयं देहो विनश्यति ।
 पालितः सुस्थिरां शोभामादत्ते चित्रमानवः ॥ १६
 देहस्तु पालितोऽप्युच्चैर्नश्यत्येव न वर्धते ।
 तेन श्रेष्ठश्चित्रदेहो नायं संकल्पदेहकः ॥ १७
 ये गुणाश्चित्रदेहे हि न ते संकल्पदेहके ।
 चित्रदेहादपि जडाद्योऽयं तुच्छतरः किल ॥ १८
 तस्मिन्मांसमये देहे कैवाल्या भवतोऽनघ ।
 दीर्घसंकल्पदेहोऽयं तस्मिन्नास्था महामते ॥ १९
 स्वप्नसंकल्पजादेहादपि तुच्छतरो ह्ययम् ।
 अल्पसंकल्पजो दीर्घः सुखदुःखैर्न गृह्यते ॥ २०
 दीर्घसंकल्पजश्चायं दीर्घदुःखेन दुःखितः ।
 देहो हि संकल्पमयो नायमस्ति न वास्ति नः ॥ २१
 किं व्यर्थमेतदर्थं हि भूदोऽयं क्लेशभाजनम् ।
 यथा चित्रमये पुंस्ति क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २२
 तथा संकल्पपुरुषे क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
 यथा मनोराज्यमये क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २३
 यथा द्वितीये शशिनि क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
 यथा स्वप्नसमारम्भे क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २४
 यथा नद्यात्पजले क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
 संकल्पमात्ररचिते प्रकृत्यैव च नाशिनि ॥ २५
 तथा शरीरयन्त्रेऽस्मिन्क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
 दीर्घस्वप्नमये ह्यसिञ्चित्तसंकल्पकल्पिते ॥ २६
 भूयते दूयते देहे न हि किञ्चिच्चितः क्षतम् ।
 न चिदन्तमुपायाति नात्मा चलति राघव ॥ २७

दिना ॥ १२ ॥ देहसुखदुःखचिन्तापरं मरं चित्रलिखितनरादप्यध-
 मत्वेन निन्दति—सुखदुःखेलादिना । क्लेदी बाष्पखेदादः
 ॥ १३ ॥ १४ ॥ किल प्रतिदम् । निनिमित्तनश्वरत्वमप्यस्य चित्रदे-
 हादधिको दोष इत्याह—विनाशित इति ॥ १५ ॥ स्वयं विनैव
 निमित्तमित्यर्थः ॥ १६ ॥ संकल्पकृतो देहकः ॥ १७ ॥ १८ ॥
 नात्या दुक्तेति शेषः ॥ १९ ॥ इदानीं स्वाप्नमानोरधिकदे-
 हेभ्योऽप्यस्य तुच्छतरतामाह—स्वप्नेत्यादिसाधेन ॥ २० ॥
 धारं स्वप्नमेव नान्वि । अथवा नः अस्यदीयतया नास्ति ।
 आत्मनोऽसन्नादयत्वादिति भावः ॥ २१ ॥ अतश्चित्रादिदेह-
 क्षतिरिव नास्यापि क्षतिः शोच्येत्याह—यथेति । तस्यात्मनः
 क्षतिर्न ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ कृतो न क्षतं
 तत्राह—न चिदिनि ॥ २७ ॥ पूर्वस्य स्वाधिष्ठितचक्रस्य उप-
 माभूतं परितः सगोपस्थं वा महचक्रनुपचक्रं तद्वत् । स्वचक्र-

न ब्रह्म विकृतिं याति किंवा देहक्षये क्षतम् ।
 भ्रमचक्रोपरिष्ठो हि पूर्वचक्रोपचक्रवत् ॥ २८
 यथा पश्यति दिक्चक्रं भ्रमदत्तन्तमोहितः ।
 अकस्मादेव रूढेन मिथ्याज्ञानेन बलता ॥ २९
 तत्रस्थेन तथैवेदं दृश्यते देहचक्रकम् ।
 भ्रमितं च भ्रमद्रूपं पतद्रूपं प्रपातितम् ॥ ३०
 हतं च हन्यमानं च दृश्यते देहचक्रकम् ।
 धीरतामलमालम्ब्य धनभ्रममिमं त्यजेत् ॥ ३१
 संकल्पेन कृतो देहो मिथ्याज्ञानेन सन्नसन् ।
 असत्येन कृतं यस्मान्न तत्सत्यं कदाचन ॥ ३२
 असदभ्युत्थितो देहो रज्ज्वासिव भुजंगधीः ।
 असत्यामेव सत्यां च करोत्यपि जगत्क्रियाम् ॥ ३३
 जडेन राम क्रियते यन्न तत्कृतमुच्यते ।
 कुर्वन्नपि तदा देहो न कर्ता कचिदेव हि ॥ ३४
 निरीहो हि जडो देहो नात्मनोऽस्यामिवाञ्छितम् ।
 कर्ता न कश्चिदेवातो द्रष्टा केवलमस्य सः ॥ ३५
 यथा दीपो निवातस्थः स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
 साक्षिवत्सर्वभावेण तथा तिष्ठेजगत्स्थितौ ॥ ३६
 यथा दिवसकर्माणि भास्करः स्वस्थ एव सन् ।
 करोत्येवमिमां राम कुरु पार्थिवसंस्थितिम् ॥ ३७
 अस्मिन्नसन्मये देहगृहे शून्ये समुत्थिते ।
 सत्तामुपगते मिथ्याबालकल्पितयक्षवत् ॥ ३८
 कुतोऽप्यागत्य निःसारः सर्वसज्जनवर्जितः ।
 अहंकारः कुवेतालः प्रविष्टश्चित्तनामकः ॥ ३९
 अस्य मा भृत्यतां गच्छ त्वमहंकारदुर्मते ।
 अस्य भृत्यतया राम निरयः प्राप्यते फलम् ॥ ४०
 स्वसंकल्पविलासेन देहगृहे दुराकृतिः ।
 उन्मत्तचित्तवेतालः परिवर्णति लीलया ॥ ४१
 शून्यं देहगृहं प्राप्य चित्तयक्षेण तत्कृतम् ।
 भीता येन महान्तोऽपि समाधिनि यताः स्थिताः ॥ ४२

वैपरीत्येन भ्रमद्विचक्रं यथा पश्यतीत्यर्थः ॥ २८ ॥ २९ ॥
 तत्रस्थेन मिथ्याज्ञानचक्रस्थेन जीवेन ॥ ३० ॥ देहचक्रं देह-
 परम्परचक्रम् ॥ ३१ ॥ प्रतीतितः सन्नपि परमार्थतः असन् ।
 असत्येनाज्ञानादिना कृतं यस्मादेतोः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ तत्कृतं
 नैवोच्यते यदेति शेषः । चेतनवज्जडे अपराधारोपादर्शनादि-
 त्यर्थः ॥ ३४ ॥ इच्छातो हि कर्तृत्वं स्यात्, सा तु न जडे देहे
 निर्विकारे आत्मनि वा संभवतीत्याह—निरीह इति ॥ ३५ ॥
 अकर्त्रात्मनिश्चयफलमाह—यथेति ॥ ३६ ॥ तर्हि कथं राज्य-
 संस्थितिसिद्धिस्तत्राह—यथेति ॥ ३७ ॥ देहसत्यतादर्शने तु
 तदभिमानलक्षणाहंकारसावर्जनात्तद्भ्रमता स्यादेवेत्याह—अ-
 सिञ्चित्त्यादिना ॥ ३८ ॥ प्रविष्टः, स्यादिति शेषः ॥ ३९ ॥
 ॥ ४० ॥ सत्यहंकारे अनर्थान्तरमप्याह—स्वसंकल्पेत्यादिना

चित्तवेतालमुद्रास्य स्वशरीरकमन्दिरात् ।
 संसारशून्यनगरे न विमेति कदाचन ॥ ४३
 चित्तभूताभिभूतेऽस्मिन्ने शरीरगृहे रताः ।
 चित्रमद्यापि ते कस्माद्वदिता आत्मवत्स्थिताः ॥ ४४
 ग्रस्ते चित्तपिशाचेन देहसन्निधौ मृताः ।
 पिशाचस्येव या बुद्धिर्नापिशाचस्य राघव ॥ ४५
 अहंकारबृहद्यक्षगृहे दग्धशरीरके ।
 विहरन्नास्थया साधो न तु वै तत्किल स्थिरम् ॥ ४६
 अहंकारानुचरतां त्यक्त्वा विततया धिया ।
 अहंकारास्मृतिं प्राप्य स्वात्मैवाश्ववलम्ब्यताम् ॥ ४७
 अहंकारपिशाचेन ग्रस्ता ये निरयैषिणः ।
 तेषां मोहमदान्धानां न मित्राणि न बान्धवाः ॥ ४८
 अहंकारोपहतया बुद्ध्या या क्रियते क्रिया ।
 विषवह्न्या इव फलं तस्याः स्यान्मरणात्मकम् ॥ ४९
 विवेकधैर्यहीनेन स्वाहंकारमहोत्सवः ।
 मूर्खेणालम्बितो येन नष्टमेवाशु विद्धि तम् ॥ ५०
 अहंकारपिशाचेन वराका ये वशीकृताः ।
 तं पते नरकाग्नीनां राघवेन्धनतां गताः ॥ ५१
 अहंकारोरगो यस्य परिस्फूर्जति कोटरे ।
 स्वदेहपादपोऽधीरैरचिरेण निपात्यते ॥ ५२
 अहंकारपिशाचोऽस्मिन्देहे तिष्ठतु यातु वा ।
 त्वमेनमालोक्य मा मनसा महतां वर ॥ ५३
 अवधूतो ह्यवज्ञातश्चेतसैव तिरस्कृतः ।
 अहंकारपिशाचस्ते नेह किञ्चित्करिष्यति ॥ ५४

॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ देहगृहे रता आसक्तास्ते अनन्तको-
 टिदेहेषु नष्टेषु अद्यापि देहेन आत्मवत्तादात्म्येन घटिताः कस्मा-
 त्स्थिताः । सदैव तद्घटनदुःखे अनुभूयमानेऽपि तद्विघटने
 यत्नं न कुर्वन्ति तच्चित्रमित्यर्थः ॥ ४४ ॥ ये मृतास्तेषामिति
 शेषः ॥ ४५ ॥ सदैव तापत्रयवह्निदग्धे शरीरके आस्थया
 विहरन् ना पुरुषः पिशाच एवेति विभक्तिविपरिणामेनानुष-
 ज्यते । तत्रास्था कुतो न युक्ता तत्राह—न त्विति ॥ ४६ ॥
 प्रथममहंकारस्यानुचरतां मृत्युतां त्यक्त्वा ततो योगभूमिकाभ्या-
 सादहंकारस्य अस्मृतिं आत्यन्तिकविस्मृतिं प्राप्य ॥ ४७ ॥
 न मित्राणीति । अहंकारिणां विनयदौर्लभ्यादौद्धत्यावश्यंभावाच्च
 न कश्चित्स्निह्यतीति भावः ॥ ४८ ॥ फलं कलहजनवैरादिरूप-
 मत एव मरणात्मकम् ॥ ४९ ॥ ५० ॥ तस्य परलोकेऽपि
 दुःखमेवेत्याह—अहंकारेति ॥ ५१ ॥ यस्य स्वदेहपादपस्य
 कोटरे हृदि स स्वदेहपादपः । बहुष्वेकवचनं जालैक्यात् ।
 अधीरैरिति छेदः ॥ ५२ ॥ मा आलोक्य ॥ ५३ ॥ अनव-
 लोकनमात्रेण किं स्यात्तत्राह—अवधूत इति ॥ ५४ ॥ आत्म-
 नस्तदनुसरणादेवानर्थः । उपेक्षितस्तु स स्थितोऽप्यकिञ्चित्कर
 इत्याह—देहालये इति ॥ ५५ ॥ चित्तेति प्रकृताहंकारस्यैव

देहालये स्फुरत्यस्मिन् राम चित्तपिशाचके ।
 अस्यानन्तविलासस्य किमिवागतमात्मनः ॥ ५५
 चित्तयक्षाभिभूतानां याः पुंसां विततापदः ।
 शक्यन्ते परिसंख्यातुं न ता वर्षशतैरपि ॥ ५६
 हा हा मृतोऽसि दग्धोऽस्मीत्येता वै दुःखवृत्तयः ।
 अहंकारपिशाचस्य शक्तयोऽन्यस्य नानघ ॥ ५७
 सर्वगोऽपि यथाकाशः संबन्धो नेह केनचित् ।
 सर्वगोऽपि तथैवात्मा नाहंकारेण संगतः ॥ ५८
 यत्करोति यदादत्ते देहयन्त्रमिदं चलम् ।
 वातरज्जुयुतं राम तदहंकारचेष्टितम् ॥ ५९
 वृक्षोत्पत्तौ यथा हेतुरकर्त्रपि किलाम्बरम् ।
 आत्मसंस्थस्तथेहात्मा चित्तचेष्टासु कारणम् ॥ ६०
 आत्मसंनिधिमात्रेण स्फुरत्यात्तवपुर्मनः ।
 दीपसंनिधिमात्रेण कुञ्जरूपमिवामलम् ॥ ६१
 अपि विश्लिष्टयो राम नित्यमेवात्मचित्तयोः ।
 द्यावापृथिव्योरिव कः संबन्धः प्रकटान्धयोः ॥ ६२
 चपलस्पन्दनेराभिरात्मशक्तिभिरावृतम् ।
 चित्तमात्मेति मौख्येण दृश्यते रघुनन्दन ॥ ६३
 आत्मा प्रकाशरूपो हि नित्यः सर्वगतो विभुः ।
 चित्तं शठमहंकारं विद्धि हार्दं बृहत्तमः ॥ ६४
 आत्मासि वस्तुतस्त्वं हि सर्वज्ञो न मनो भृशम् ।
 दूरे कुरु मनोमोहं किमेतेनाभिसंगतः ॥ ६५
 पिशाचोऽपि मनो राम शून्यदेहगृहे स्थितः ।
 भावयत्येष दुष्टात्मा मौनमुत्तम संस्पृशन् ॥ ६६

वृत्त्यन्तरेऽप्यनर्थकारिताख्यानाय निर्देशः ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ अह-
 मित्यात्मैवानुभूयत इति नैयायिकादीनां भ्रान्तिं वारयति—
 सर्वग इति । संबध्यत इति संबन्धः । संश्लिष्ट इत्यर्थः ॥ ५८ ॥
 वातरज्जुः सूत्रात्मा प्राणः ॥ ५९ ॥ यदाहंकार एव सर्वचेष्टानि-
 मितं नात्मा तर्हि 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः
 प्रथमः प्रैति युक्तः' । 'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
 मध्ये चामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते' इत्यादिश्रुतिविरोधस्त-
 त्राह—वृक्षोत्पत्ताविति । आत्मसंस्थः स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः
 कारणं श्रुतिभिरुपचर्यत इत्यर्थः ॥ ६० ॥ उपचारे मनआ-
 दीनां सत्तास्फूर्तिप्रदत्वमेव निमित्तमित्याह—आत्मेति । आत्-
 वपुर्लब्धसत्ताकं कल्पितस्थूलदेहं च ॥ ६१ ॥ प्रकटान्धयोश्चि-
 ज्जडयोः ॥ ६२ ॥ नन्वसंबन्धे मनआदेः सत्तास्फूर्त्यसिद्धिः,
 संबन्धे त्वात्मासङ्गत्वासिद्धिरित्याशङ्क्याह—चपलेति । चपलस्प-
 न्दनानीरयन्ति प्रेरयन्तीति चपलस्पन्दनेरास्तथाविधाभिरात्मनः
 प्राणस्य शक्तिभिरावृतं वशीकृतं चित्तं तादात्म्याभ्यासलक्षणेन
 मौख्येणाज्ञानेन दृश्यते न वस्तुवृत्तेनेत्यर्थः । 'नाभिः' इति पाठे
 चित्तविशेषणम् ॥ ६३ ॥ असङ्गत्वोपपादनाय विरुद्धत्वमेव प्रप-
 न्दयति—आत्मेति । शठं वञ्चकम् ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ हे उत्तम

भवप्रदमकल्याणं धैर्यसर्वस्वहारिणम् ।
 मनःपिशाचमुत्सृज्य योऽसि स त्वं स्थिरो भव ॥ ६७
 चित्तयक्षदृढाक्रान्तं न शास्त्राणि न बान्धवाः ।
 शक्नुवन्ति परिश्रातुं गुरवो न च मानवम् ॥ ६८
 संशान्तचित्तवेतालं गुरुशास्त्रार्थबान्धवाः ।
 शक्नुवन्ति समुद्धर्तुं स्वल्पपद्मान्मृगं यथा ॥ ६९
 अस्मिञ्जगच्छून्यपुरे सर्वमेव प्रदूषितम् ।
 देहरोहं प्रमत्तेन चित्तयक्षेण वल्लता ॥ ७०
 चित्तवेतालवलिता समस्ता देहखण्डजा ।
 इयं जगदरण्यानीं शून्या कस्य न भीतये ॥ ७१
 जगन्नगर्यामस्यां तु शान्तचित्तपिशाचकम् ।
 देहरोहं कतिपयैः सेव्यते सद्भिरेव यत् ॥ ७२
 इह संश्रूयते या या दिक् सैव रघुनन्दन ।
 प्रमत्तमोहवेतालैः पूर्णा देहश्मशानकैः ॥ ७३
 अस्यां जगदरण्यान्यां मुह्यन्तं मुग्धबालवत् ।
 स्वयमाराध्य धैर्याशमात्मनात्मानमुद्धरेत् ॥ ७४
 जगज्जगदरण्यांऽसिश्चरज्जुतमृगव्रजे ।
 धृतिं तृणरसै राम मा गच्छ मृगपोतवत् ॥ ७५
 अस्मिन्महीतलारण्ये चरन्ति मृगपोतकाः ।
 त्वमज्ञानगजं भुक्त्वा सैर्हीं वृत्तिमुपाश्रय ॥ ७६
 अन्ये नरमृगा मुग्धा जग्वृद्धीपे स्वजङ्गले ।
 विहरन्ति यथा राम तथा मा विहरानघ ॥ ७७
 अत्यल्पकालशिशिरे कर्दमालेपदायिनि ।
 न मङ्गल्यं वन्धुरूपे महिषेणेव पल्लवे ॥ ७८
 भोगाभोगा वहिष्कार्या आर्यस्यानुसरेत्पदम् ।
 प्रविचार्य महार्थं स्वमेकमात्मानमाश्रयेत् ॥ ७९

मनःपिशाच आत्मानमसंसृष्टशत्रुपि मौनं तूष्णीमेव स्वसस्पृष्टं
 भावयतीत्यन्वयः ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ संशान्तेति । शुद्ध-
 नित्तमिति यावत् । मृगं मृगसदृशं वत्सम् ॥ ६९ ॥ ७० ॥
 देहलक्षणे खण्डे परिच्छिन्नभागे जाता ॥ ७१ ॥ समस्तेत्यु-
 त्तरार्धः । क्वचिदन्यथात्वमपि यतो दृष्टमित्याह—जगदिति । यत्
 यतः ॥ ७२ ॥ अत एवाज्ञादेहाः श्मशानतुल्या इति निन्दति—
 इहेति ॥ ७३ ॥ धैर्याशमाराध्य दृढमवलम्ब्य ॥ ७४ ॥ तृण-
 सदृशैरसौरैर्विषयरसैर्धृतिं कृतार्थतावुद्धिम् ॥ ७५ ॥ मृगपोतक-
 सदृशा अन्ये मूढा विषयतृणानि चरन्ति चैचरन्तु नाम ॥ ७६ ॥
 ॥ ७७ ॥ ननु वन्धुजनैः समानशीलतया सदैवावस्थानं सुखं
 दृष्टं तत्र को दोषस्तत्राह—अत्यल्पेति । विशेषणान्युभयत्र
 योज्यानि ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ न मङ्गल्यमासजिकर्दमे इति शेषः ।
 यतस्तन्मम चिन्तालक्षणा चण्डी कोपना सुदारुणा राक्षसी
 खादतीत्यर्थः ॥ ८० ॥ अन्येन कर्मणा । यक्षेणाहंकारेण ।
 अन्यस्य मनसः । अन्यो जीवः । मौर्यस्य चक्रिकापरिवर्तमाना
 परंपरा चित्रा । आश्चर्यरूपेत्यर्थः ॥ ८१ ॥ सदैकधनत्वादपि

अपवित्रस्य तुच्छस्य दुर्भगस्य दुराकृतेः ।
 देहस्यार्थे न मङ्गल्यं चिन्ताचण्डी सुदारुणा ॥ ८०
 अन्येन रचितो देहो यक्षेणान्येन संश्रितः ।
 दुःस्वमन्यस्य भोक्तान्यश्चित्रेयं मौर्यचक्रिका ॥ ८१
 यथैकरूपा घनता दृषदोऽस्त्यात्मनस्तथा ।
 सत्तामात्रैकसामान्यादितरस्याप्यसंभवात् ॥ ८२
 यथोपलस्य घनता मानसादि तथात्मनः ।
 सत्तामात्रादभिन्नत्वादभावादस्य संस्थितेः ॥ ८३
 यथोपलस्योपलता घटस्य घटता यथा ।
 सत्तामात्रादभिन्नैव मानसादि तथात्मनः ॥ ८४
 अत्रेवामपरां दृष्टिं महामोहविनाशिनीम् ।
 शृणु या कथिता पूर्वं मम कैलासकन्दरे ॥ ८५
 संसारदुःखशान्त्यर्थं देवेनार्धेन्दुमौलिना ।
 अस्तीन्दुकरसंभारभासुरः पारगो दिवः ॥ ८६
 कैलासो नाम शैलेन्द्रो गौरीरमणमन्दिरम् ।
 तत्रास्ते भगवान्देवो हरश्चन्द्रकलाधरः ॥ ८७
 तं पूजयन्महादेवं तस्मिन्नेव गिरौ पुरा ।
 कदाचिदवसं गङ्गातटे विरचिताश्रमः ॥ ८८
 तपोर्यं तापसाचारे चिराय रचितस्थितिः ।
 सिद्धसंघातवलितः कृतशास्त्रार्थसंग्रहः ॥ ८९
 पुष्पार्थं स्यूतपुटिकः पुस्तकन्यूहसंग्रही ।
 एवंगुणविशिष्टस्य कैलासवनकुञ्जके ॥ ९०
 तपः प्रवरतो राम मम कालोऽत्यवर्तत ।
 अथैकदा कदाचित्तु बहुलस्याष्टमे दिने ॥ ९१
 गते श्रावणपक्षस्य रात्र्यग्रे क्षयमागते ।
 दिक्षु संशान्तरूपासु काष्ठमौनस्थितास्त्रिव ॥ ९२

नात्मनि दुःखतद्भोगभोक्तृशरीरादिरूपान्तरावकाश इत्याक्षये-
 नाह—यथेलादित्रिभिः । इतरस्य सदूपेतररूपस्य सदितरत्व-
 स्वेव असदलीकादिपदैः प्रसिद्धेरिति भावः ॥ ८२ ॥ यथा
 उपलस्य घनता काठिन्यं नोपलात्पृथक्वसती तथा मानसं समष्टि-
 व्यष्टिमनःसमूहः । आदिपदात्तत्तत्कार्यस्थूलप्रपञ्चश्च । तत्कृतः ।
 सत्तामात्रसमावादभिन्नत्वात्पृथक् अस्य मानसादेः संस्थितेर-
 भावादित्यर्थः ॥ ८३ ॥ अयं च न्यायः प्रत्येकं घटतन्मानस-
 वृत्त्यादिष्वपि योज्य इति सदद्वैतमेव प्रतिद्वमित्याह—यथेति
 ॥ ८४ ॥ अत्रास्मिन्नर्थे इमां वक्ष्यमाणमानसशिवपूजालक्षणां
 दृष्टिं शृणु ॥ ८५ ॥ तत्रादौ कैलासवर्णनमुखेन कथां प्रसूति—
 अस्तीत्यादिना । इन्दुकराणां संभारः संघात इव भासुरः ॥ ८६ ॥
 ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ तापसैराचर्यत इति तापसाचारः कृच्छ्रचान्द्रा-
 यणादिस्तस्मिन्नियता स्थितिर्यस्य तथाविधः सन् ॥ ८९ ॥
 ॥ ९० ॥ बहुलस्य श्रावणकृष्णपक्षस्याष्टमे दिने । रात्रेरग्रे
 मुखे प्रदोषे पूजाजपध्यानादिना क्षयमागते सति ॥ ९१ ॥
 प्राणिसंचाराद्युपरमात्संशान्तरूपासु दिक्षु करादिचेष्टयाप्यर्थाणि-

खड्गच्छेद्यान्धकारेषु कुक्षेषु गहनेषु च ।
 एतस्मिन्नन्तरे तत्र यामार्धे प्रथमे गते ॥ ९३
 समार्धे तनुतां नीत्वा स्थितोऽहं बाह्यमग्नदृक् ।
 अपश्यं कानने तेजो ह्यटित्येव समुत्थितम् ॥ ९४
 शुभाभ्रशतसंकाशं चन्द्रविम्बगणोपमम् ।
 प्रकटीकृतदिक्कुञ्जं तदालोक्य मया स्मयात् ॥ ९५
 अन्तःप्रकाशशालिन्या बहिर्दृष्ट्यावलोकितम् ।
 यावत्पश्यामि तं सानुं प्राप्तश्चन्द्रकलाधरः ॥ ९६
 गौरीकरार्पितकरो नन्दिप्रोत्सारिताग्रः ।
 शिष्यान्संबोध्य तत्रस्थान्गृहीत्वाऽर्घ्यं सुसंयतः ॥ ९७
 अगमं सुमनास्तस्य दृष्टिपूतमहं पुरः ।
 तत्र पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा दूरादेव त्रिलोचनः ॥ ९८
 दत्तार्घ्येण मया देवः संप्रणम्याभिवन्दितः ।
 ततश्चन्द्रप्रभासख्या क्रज्ज्या शीतलया तथा ॥ ९९
 दृशा सर्वातिहारिण्या चिरमस्यास्पदीकृतः ।
 पुष्पसानूपविष्टाय तस्मै त्रैलोक्यसाक्षिणे ॥ १००
 अर्घ्यं पुष्पं तथा पाद्यमभ्युपेत्यार्पितं मया ।
 मन्दारपुष्पाञ्जलयो विकीर्णा बहवः पुरः ॥ १०१
 नानाविधैर्नमस्कारैः स्तोत्रैश्चाभ्यर्चितः शिवः ।
 ततो भगवती गौरी तादृश्यैव सपर्यया ॥ १०२
 संपूजिता सखीयुक्ता गणमण्डलिका तथा ।
 पूजान्ते पूर्णशीतांशुरश्मिशीतलया गिरा ॥ १०३
 तत्रोपविष्टं प्रोवाच मामर्धेन्दुकलाधरः ।
 ब्रह्मन्प्रशमशालिन्यः प्राप्तविश्रान्तयः पदे ॥ १०४
 कञ्चित्कल्याणकारिण्यः संविदस्ते स्थिताः परे ।
 कञ्चित्तपस्ते निर्विघ्नं कल्याणमनुवर्तते ॥ १०५

कञ्चित्प्राप्यमनुप्राप्तं कञ्चिच्छाम्यन्ति भीतयः ।
 एवंवादिनि देवेशे सर्वलोकैककारिणि ॥ १०६
 गिरानुनयशालिन्या मयोक्तं रघुनन्दन ।
 ज्यक्षानुस्मृतिकल्याणवतामिह महेश्वर ॥ १०७
 न किञ्चिदपि दुष्प्रापं न च काश्चन भीतयः ।
 त्वदनुसरणानन्दपरिघूर्णितचेतसाम् ॥ १०८
 न ते सन्ति जगत्कोशे प्रणमन्ति न ये पुनः ।
 ते देशास्ते जनपदास्ता दिशस्ते च पर्वताः ॥ १०९
 त्वदनुसरणैकान्तधियो यत्र स्थिता जनाः ।
 फलं भूतस्य पुण्यस्य वर्तमानस्य सेचनम् ॥ ११०
 तनोति चैष्यतो बीजं त्वदनुसरणं प्रभो ।
 ज्ञानामृतैककलशो धृतिज्योत्स्नानिशाकरः ॥ १११
 अपवर्गपुरद्वारं त्वदनुसरणं प्रभो ।
 त्वदनुसरणोदारचिन्तामणिमता मया ॥ ११२
 सर्वासामापदां मूर्ध्नि दत्तं भूतपते पदम् ।
 इत्युक्त्वा सुप्रसन्नं तं भगवन्तं महेश्वरम् ॥ ११३
 अचोचं प्रणतो भूत्वा यद्राम तदिदं शृणु ।
 भगवंस्त्वत्प्रसादेन पूर्णा मे सकला दिशः ॥ ११४
 किंतु पृच्छामि देवेश संदेहे तत्र निर्णयम् ।
 ब्रूहि प्रसन्नया बुद्ध्या त्यक्तोद्वेगमनामयम् ॥ ११५
 सर्वपापक्षयकरं सर्वकल्याणवर्धनम् ।
 देवार्चनविधानं तत्कीदृशं भवति प्रभो ॥ ११६
 ईश्वर उवाच ।
 शृणु ब्रह्मविदां श्रेष्ठ देवार्चनमनुत्तमम् ।
 वदामि मुच्यते येन कृतेन सकृदेव हि ॥ ११७
 कञ्चिद्वेत्सि महाबाहो देवः कः स्यादिति द्विज ।

वेदनं काष्ठमौनव्रतं तत्र स्थितास्त्रिव ॥ ९२ ॥ गहनेषु वनेषु
 ॥ ९३ ॥ तनुतां ईषद्बहिःप्रवणतामिति यावत् ॥ ९४ ॥ स्मयात्
 विसमयात् ॥ ९५ ॥ बहिर्दृष्ट्या अवलोकितमन्तर्विचारितमित्यर्थः ।
 विचार्य च यावत्तं पुरस्थं सानुं प्रस्यदेशं पश्यामि
 तावत्तत्र प्राप्त इत्यर्थः ॥ ९६ ॥ सुसंयतः सावधानः ॥ ९७ ॥
 सुमनाः संतुष्टमनाः । पुरः पुरोदेशम् ॥ ९८ ॥ सम्यक् साष्टाङ्गं प्रण-
 म्याभिवन्दितः स्तुतः । स्वभाग्यमहोदयं स्वस्मिन्तदनुग्रहदृष्टि-
 पातं वर्णयति—तत् इति । तथा खानुमूतालौकिकनिरतिशया-
 नन्दाविर्भावमत्कारकारिण्या ॥ ९९ ॥ १०० ॥ अभ्युपेत्य
 अभिमुखं समीपे गत्वा ॥ १०१ ॥ तादृश्या शिवपू-
 जासदृश्या सपर्यया पूजया ॥ १०२ ॥ तदाज्ञया तत्र सानावुप-
 विष्टं माम् ॥ १०३ ॥ तत्र कुशलप्रश्ने कर्तव्ये सर्वकौशल्यपरमकाष्ठां
 परमात्मनि चित्तविश्रान्तिमेव भगवान्प्रथममनुजिघृक्षया पृच्छति
 —ब्रह्मज्ञिति ॥ १०४ ॥ संविदश्चित्तवृत्तयः । परे परमात्मव-
 स्तुनि ॥ १०५ ॥ १०६ ॥ अनुनयो विनयस्तच्छालिन्या
 ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ जगत्कोशे ते प्राणिनो न सन्ति ये न प्रण-
 मन्ति । सर्वेऽपि प्रणमन्त्येवेत्यर्थः ॥ ते देशाः प्रशस्ततमा

इत्यर्थः । ‘अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः’
 इतिवत्प्राशस्त्यलभः ॥ १०९ ॥ भूतस्य प्राक्संचितस्य पुण्यस्य
 वृक्षस्थानीयस्य फलं तनोति अनन्तकोटिगुणतया विस्तारयति ।
 वर्तमानस्यैतद्देहारभ्यस्य सेचनममृतसेकेनेवाभिवर्धनं तनोति
 ॥ ११० ॥ एष्यतः करिष्यमाणस्य वृक्षार्थं बीजं तनोति
 ॥ १११ ॥ ११२ ॥ सर्वासां वर्तमानानामेव्यन्तीनां च ॥ ११३ ॥
 पूर्णा इष्टार्थैरिति शेषः ॥ ११४ ॥ त्यक्ता उद्वेगाश्चित्त-
 क्षोभहेतवो यस्मिन्स्थथाविधं देवार्चनविधानं ब्रूहीति परे-
 णान्वयः ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ पूर्णा मे सकला दिश इ-
 त्युच्यया वसिष्ठस्य विषयभोगाभिलाषशून्यताद्योतनात्सर्वपाप-
 क्षयकरं सर्वकल्याणवर्धनमिति विशेषणाभ्यां च सर्वानर्थनिवृ-
 त्त्युपलक्षितनिरतिशयानन्दरूपभोक्षसाधनविषय एवार्थं प्रश्न इति
 निश्चितवान्सर्वज्ञः परमकारुणिक ईश्वरः सर्वभावेन प्रपन्नाय
 वसिष्ठाय परमपुरुषार्थसाधनं तत्त्वज्ञानमेव सर्वदेवार्चनपरमरह-
 स्यभूतमुपदेष्टुकामः प्रतिजानीते—शृण्विति ॥ ११७ ॥ तत्र
 वक्ष्यमाणदेवार्चनानुरूपमलौकिकदेवस्वरूपमुपदेष्टुं शिष्यस्य तद्बु-
 ध्नुत्सां जनयन्पृच्छति—कञ्चिदिति । महाबाहो निरन्तरदेवार्चन-

न देवः पुण्डरीकाक्षो न च देवखिलोचनः ॥ ११८
 न देवः कमलोद्भूतो न देवखिदशेश्वरः ।
 न देवः पवनो नाफो नानलो न निशाकरः ॥ ११९
 न ब्राह्मणो नाऽचनिपो नाहं न त्वं द्विजोत्तम ।
 न देवो देहरूपो हि न देवश्चित्तरूपधृक् ॥ १२०
 न देवः कमलारूपी नापि देवो भवेन्मतिः ।
 अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं देव उच्यते ॥ १२१
 आकाशदिपरिच्छिन्ने मिते वस्तुनि तत्कुतः ।
 अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं चिच्छिवं विदुः ॥ १२२
 तदेव देवशब्देन कथ्यते तत्प्रपूजयेत् ।
 तदेवास्ति यतः सर्वं सत्तासत्तात्मरूपधृक् ॥ १२३
 अज्ञातशिवतत्त्वानामाकाराद्यर्चनं कृतम् ।
 योजनाभ्यव्ययशक्तस्य क्रोशाध्वा परिकल्प्यते ॥ १२४
 इयत्तादिपरिच्छिन्नं रुद्रादेः प्राप्यते फलम् ।
 अकृत्रिममनाद्यन्तं फलमानन्द आत्मनः ॥ १२५
 अकृत्रिमफलं त्यक्त्वा यः कृत्रिमफलं व्रजेत् ।

सफलीकृतबाहो इति बाहुसापेक्षबाह्यपूजाभात्रश्रुताद्योतनाय
 सवोचनम् । ननु प्रसिद्धा एव पुण्डरीकाक्षत्रिलोचनादयो देवाः
 किमेतावत्यपि निषेधे भगवान्नामनमिह संभावयतीति मन्य-
 मानस्य वसिष्ठस्य परिच्छिन्नेषु अज्ञाज्ज्ञं प्रथममपनेतुमाह—
 न देव इत्यादिना ॥ ११८ ॥ कमलोद्भूतो ब्रह्मा । त्रिदशेश्वर
 इन्द्रः । निशाकरप्रहृणं तत्कलाधीनशरीरकप्रयत्निशक्तोद्दिदेव-
 देहोपलक्षणम् ॥ ११९ ॥ पुनर्नाहं न त्वमिति निषेधो रुद्रवसि-
 ष्ठयोस्तत् 'यदोदयन्ति तस्माद्ग्राः' । 'यदहं वसिष्ठोऽस्मि तत्त्वं
 वसिष्ठोऽसि' इत्यादिश्रुतिषु मुख्यसमष्टिप्राणताप्रसिद्धेः 'कृतम
 एको देव इति प्राणः' इति प्राणस्यैव सर्वदेवात्मकत्वश्रुतेश्च
 प्राणभावेन प्राप्तदेवतात्वनिवारणार्थम् । एवं 'नैन्देवा आप्नुव-
 न्पूर्वमर्थत' इत्यादिश्रुतिषु आध्यात्मिकेषु चक्षुरादिषु देवशब्द-
 दर्शनात् । 'त्वचे स्वाहा लोभभ्यः स्वाहा' इत्यादिमन्त्रलिङ्गाच्च
 देहाद्याध्यात्मिकभावानामपि प्रसक्तं देवतात्वं वारयति—देह-
 रूप इति ॥ १२० ॥ आध्यात्मिकप्रस्तावात्मकत्वाच्च देहादि-
 क्षोभा । मतिप्रहृणं सर्वाध्यात्मिकभावोपलक्षणार्थम् । तत्तुल्य-
 ष्यायादाधिमौलिकेष्वपि सर्वभावेष्वदेवत्वमुक्तं बोध्यम् । क-
 स्त्वाहं देवस्तमाह—अकृत्रिममिति । इहृयो 'द्वितः किः'
 'क्रमैत्रिल्यम्' इति मप् । कृत्रिमं क्रियासाध्यं तद्विलक्षणं परमार्थ-
 देवनं निरतिशयप्रमोदशितप्रकाशो देव इत्यर्थः । पुण्डरीकाक्षा-
 दिमल्यन्ता हि चित्प्रकाशाधीनसत्तात्कृतिकत्वात्तस्मिन्मध्यस्था-
 स्तेषां चित्प्रकाशात्पृथक्करणे स्वरूपसिद्धिरिव दुर्लभा दूरे देवत्व-
 मिति तेष्वापि सत्ताप्रकाश एवानावृतः स्फुरन्तवन्नैको देवस्त-
 दभिव्यक्त्यतिशयादेव पुण्डरीकाक्षादयोऽपि अभिभूतजाज्यत्वा-
 द्द्विदशब्देन अवलद्वारा इव देवा उच्यन्ते इति न श्रुतिस्मृत्या-
 दिवादविरोधोऽपीति भावः ॥ १२१ ॥ आकाशदिना देशतो

त्यक्त्वा स मन्दारवनं कारुणं याति काननम् ॥ १२६
 बोधः साम्यं शम इति पुष्पाण्यग्राणि तत्र च ।
 शिवं चिन्मात्रममलं पूज्यं पूज्यविदो विदुः ॥ १२७
 शमबोधादिभिः पुष्पैर्देव आत्मा यदर्च्यते ।
 तत्तु देवार्चनं विद्धि नाकारार्चनमर्चनम् ॥ १२८
 आत्मसंवित्तिरूपं तु त्यक्त्वा देवार्चनं जनाः ।
 कृत्रिमार्चासु ये सक्ताश्चिरं क्लेशं भजन्ति ते ॥ १२९
 ज्ञातव्येया हि ये सन्तो बालक्रीडोपमं च ते ।
 आत्मध्यानादते ब्रह्मकुर्वन्तो देवपूजनम् ॥ १३०
 आत्मैव देवो भगवाज्जिवः परमकारणम् ।
 ज्ञानार्चनेनाचिरतं पूजनीयः स सर्वदा ॥ १३१
 त्वमेतच्चेतनाकाशमात्मानं जीवमव्ययम् ।
 स्वभावं विद्धि न त्वन्यः पूज्यः पूजात्मपूजनम् ॥ १३२
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।

चेतनाकाशमात्रात्म यथा जगदिदं प्रभो ।
 यथा तच्चेतनस्यैव जीवादित्वं तदुच्यताम् ॥ १३३

वस्तुतश्च परिच्छिन्ने मिते कालतः परिच्छिन्ने तत् देवनं कृतः ।
 अर्थ भावः । 'दिबु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमद-
 स्वप्रकान्तिगतिष्विति' दशस्वर्षेषु प्रसिद्धादीभ्यतेः पञ्चाद्यन्ति
 देवशब्दव्युत्पादनात्संकोचे मानाभावान्मायिकनिरङ्कुशैश्वर्य-
 स्वच्छन्दक्रीडाविजिगीषाव्यवहारस्तुतीनामिदमदस्वप्रेच्छा-
 गतीनां च निर्वाहकत्वाद्दशस्वर्षेषु द्युतिमोदावेव मुख्यत्वार्थं तौ
 च नित्यनिरतिशयानन्दस्वप्रकाशे ब्रह्मण्येव संभवतो न परि-
 छिन्नेषु जडेभ्यति । अतः अकृत्रिमं चिच्छिवमेव देवं तत्त्वतो
 विदुरित्यर्थः ॥ १२२ ॥ यतः सर्वं जगज्जीवतत्संसाररूपं तत्स-
 त्त्यैव सत्तात्मरूपधृक् न स्वत इति तदेवास्ति नान्यदित्यर्थः
 ॥ १२३ ॥ तर्हि किं पुण्डरीकाक्षायाकारार्चनविधिर्व्यर्थं एव
 वेत्याह—अज्ञातेति । कृतं विहितम् ॥ १२४ ॥ आत्मनस्त-
 र्वतः साक्षात्कारान्तपूजनेन प्रसज्यादित्यर्थः ॥ १२५ ॥ कृत्रि-
 मकामभोगानात्मपूजनात्सिद्ध्यन्तीति तदर्थं कृत्रिमपूजैव कार्या
 तत्राह—अकृत्रिमेति ॥ १२६ ॥ अकृत्रिमपूजने तर्हि का
 सामग्री तामाह—बोध इति । साम्यं सर्वत्रात्मौपम्येन दर्शनम्
 ॥ १२७ ॥ १२८ ॥ १२९ ॥ ज्ञातव्येया ये कदाचिदात्मध्याना-
 दुत्थिताः सन्तः साकारदेवपूजनं कुर्वन्तश्चेद्दुदयन्ते तत्ते बाल-
 क्रीडोपमं कुर्वन्ति न कृत्रिमभोगाशयेत्यर्थः ॥ १३० ॥ १३१ ॥
 त्वं जीवं स्वभावमकृत्रिमं अव्ययं चेतनाकाशं चिदाकाशं ब्रह्म
 विद्धि न त्वन्यः अनात्मा पूज्यः । यतो ज्ञानलक्षणमात्मपूजनमेव
 मुख्यपूजा नान्येत्यर्थः । यथाहुः 'देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो
 देवः सदाशिवः । त्यजेदज्ञाननिर्भार्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥'
 इति ॥ १३२ ॥ 'तदेवास्ति यतः सर्वं सत्तासत्तात्मरूपधृक्'
 इति ब्रह्मण एव जगज्जीवतत्संसारणसत्तात्मनावस्थानमुक्तं तत्रो-
 पपत्तिं जिज्ञासुर्वसिष्ठः पृच्छति—चेतनेति ॥ १३३ ॥

ईश्वर उवाच ।

चिद्योमैव किलास्तीह पारावारविवर्जितम् ।
सर्वत्रासंभवचेत्यं यत्कल्पान्तेऽवशिष्यते ॥ १३४
यद्यत्स्वयं प्रकचति तस्य स्वकचनस्य तु ।
स्वयं यत्स्पन्दितं नाम तेनेदं जगदित्यलम् ॥ १३५
इत्येवं स्वप्नपुरवज्जगद्भाति चिदात्मकम् ।
एवं चिद्योममात्रात्म जगदच्छं न भित्तिमत् ॥ १३६
अत्यन्तासंभवाचेत्यं दृश्यं चिद्योममात्रकम् ।
चित्त्वात्कचति सर्गादौ यत्तज्जगदिति स्मृतम् ॥ १३७
तस्मात्स्वप्नपुराकारं यदिदं भासते जगत् ।
तत्र चिद्योममात्रात्मन्यन्यता नाम का कुतः ॥ १३८
चिन्मात्रमेव गिर्यश्चिन्मात्रं जगदम्बरम् ।
चिन्मात्रमात्मा जीवश्च चिन्मात्रं भूतसंततिः ॥ १३९
चिद्योममात्रादितरत्सर्गादौ सर्ववेदने ।
भिन्नस्वर्गे पुरे वापि किं संभवति कथ्यताम् ॥ १४०
आकाशं परमाकाशं ब्रह्माकाशं जगच्चितिः ।
इति पर्यायनामानि तत्र पादपवृक्षवत् ॥ १४१
एवं द्वौ स्वप्नसंकल्पमायाभिः खनुभूयते ।
तदा किल चिदाकाशमेव भाति जगत्तया ॥ १४२

तत्र चित्सत्तायाश्चेत्यानधीनत्वं तावत्सर्वचेत्यप्रलयेऽप्यनपायात्प्र-
सिद्धमिति तदधीनमानस्य चेत्यस्य भानान्तरमिव न सत्तान्तर-
मपि युक्तमित्युपपत्तिमाह—चिद्योमेति । सर्वत्रेति पूर्वाधान्वयि ।
यद्यस्मादेतोः । अथवा चिद्योम सर्वत्र सर्गाकालेऽपि असंभव-
चेत्यं पारादिपरिच्छेदशून्यत्वात्प्रलयकालवदित्यनुमानलक्षणात्रो-
पपत्तिर्दर्शिता बोध्या ॥ १३४ ॥ कथं तर्हि जगद्रूपप्रतिभास-
स्तत्राह—यद्यदिति । तस्यापरिच्छिन्नत्वादेव मायावरणान्तः
असंमानान्मायिकवासनादिमार्गेण यत्स्पन्दितं स्पन्दनमिव प्र-
सिद्धं तेनेदं जगदिति अलं भाति । तथाहि—यद्यत्सूर्यचन्द्रप्र-
दीपेन्द्रियमनआदि स्वयं प्रकचति बहलीभूतप्रकाशं भवति तस्य
स्वकचनस्य स्वबिम्बे असंमानात्स्वयं यद्विम्बाद्बहिः प्रभाकारेण
स्पन्दितं स्पन्दनं नाम प्रसिद्धं तदेव नीलपीतादितद्विषयरूपं
जगदित्यलमत्यन्तं प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ १३५ ॥ इति उक्तरीत्या
एवं विचित्ररूपं जगच्चिदात्मकमेव सत्स्वप्नपुरवच्चिदिव भाति
भ्रान्त्या । एवं मदुक्तरीत्या परमार्थतो विमृष्टं तु जगज्भित्ति-
मत् अमूर्तमच्छं चिद्योममात्रामैवेत्यर्थः ॥ १३६ ॥ तर्हि किं
चिदेव चेत्याकारेण परिणतं खं पश्यति नेत्याह—अत्यन्तेति ।
अपरिणामित्वादद्वयत्वाच्चात्यन्तासंभवाच्चेत्यमप्यावृत्तचित्स्वभावा-
द्यदन्यथा कचति प्रपते तदेव दृश्यं जगदित्यर्थः ॥ १३७ ॥
॥ १३८ ॥ अत एवारोपितरूपबाधेन चिन्मात्रस्वरूपं द्रष्टव्य-
मित्याह—चिन्मात्रमेवेत्यादिना ॥ १३९ ॥ स्वर्गे जर्ध्वलोकेषु

यथैतत्संविदाकाशं स्वप्ने भाति जगद्रूपः ।
तथेदं जाग्रदाख्येऽपि स्वप्ने भाति तदेव नः ॥ १४३
यथा स्वप्नपुरे चित्त्वं वर्जयित्वेतरत्कचित् ।
न किञ्चित्संभवत्येवं जाग्रत्येवं महाचितः ॥ १४४
यतो न संभवत्यन्यचेत्यं किञ्चित्ततोऽखिलम् ।
चित्तं संचेत्यमप्येतदचेत्यं सज्जगत्स्थितम् ॥ १४५
परमाकाशकलनं त्रिजगत्स्वयमुत्थितम् ।
स्वप्नवद्विद्धि चिद्योमि न त्वेतद्वैतवत्स्थितम् ॥ १४६
यथा चिद्योममात्रात्म स्वप्ने घटपटादिकम् ।
सर्गादावेव सर्गोऽयं तथा चिद्योममात्रकम् ॥ १४७
शुद्धसंविच्छिन्नाप्रत्वाद्दतेऽन्यत्स्वप्नपत्तने ।
यथा न विद्यते किञ्चित्तथासिन्धुवनप्रये ॥ १४८
याः काश्चन दृशो ये ये भावाभावास्त्रिकालगाः ।
सदेशकालचित्तास्तत्सर्वं चिद्योममात्रकम् ॥ १४९
स एष देवः कथितो यः परः परमार्थतः ।
यस्त्वं सोऽहमशेषं वा जगदेव च योऽखिलः ॥ १५०
सर्वस्य वस्तुजातस्य जगतोऽन्यस्य ते मम ।
देहो हि चेतनाकाशं परमात्मैव नेतरत् ॥ १५१

पुरे खनगरे वा अपिशब्दात्पातालेषु वा चिद्विज्ञं किं संभवति
तत्कथ्यतां निरूपणकुशलैः । अचितः स्वतःसत्तास्फूर्तिसत्त्वे अचि-
त्त्वव्याघातात्तदभावे अलीकत्वादलीकस्य चित्ताप्युज्जीवनादर्शना-
चित्तोऽसङ्गत्वेनाचित्संबन्धाद्ययोगात्साधकान्तरस्य चाप्रसिद्धेति-
ति भावः ॥ १४० ॥ ननु 'यजति ददाति जुहोति' इत्यादिश-
ब्दान्तरात्कर्ममेद इव चित् आकाशं जगदित्यादिनामान्तराद्वे-
दोऽस्त्विति चेत्तत्राह—आकाशमिति । भूताकाशाव्याकृताका-
शाद्यर्थत्रयपरत्वेनाभिप्रेतानां त्रयाणामप्याकाशशब्दानां काश्च
दीप्ताविति धात्वर्थानुगमेन चिन्मात्रवचनत्वसंभवाद्भूमेरपि 'ये
गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था' इत्यनुशासनात् 'वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जग-
च्छतृवश्च' इति किपि द्वित्वादिनिपातनेऽपि ज्ञानार्थत्वानपाया-
चित्पर्यायनामतोपपत्तेरिति भावः ॥ १४१ ॥ तदेति दर्शनाद्य-
देल्यध्याहार्यम् । एवंरीत्या द्वौ द्वैतं स्वप्नादिभिः समं यदानुभू-
यते तत्त्वदृशा तदेत्यर्थः ॥ १४२ ॥ १४३ ॥ द्वितीय एवं-
शब्दः अपिशब्दार्थः ॥ १४४ ॥ अखिलं चित्तं संचेत्यमपि ज-
गत् अचेत्यं सन्मात्रमेव स्थितम् ॥ १४५ ॥ परमाकाशस्य
ब्रह्मणः कलनं 'बहु स्यां प्रजायेय' इति श्रुतिर्दर्शित आद्यसंकल्प
एव त्रिजगद्भूत्वा स्वयमुत्थितं द्वैतवत् द्वैतवाद्यभिमतसत्यवस्तु-
वदित्यर्थः ॥ १४६ ॥ जगत्सामान्ये उक्तं न्यायं घटपटा-
दिविशेषेऽपि दर्शयति—यथेत्यादिना । सर्गो घटपटादिः
॥ १४७ ॥ १४८ ॥ १४९ ॥ स ज्ञानेन पूज्यो देवः प्रथमप्रश्नो-
त्तरत्वेन कथितः ॥ १५० ॥ देहः पारमार्थिकस्वरूपम् ॥ १५१ ॥

संकल्पने स्वप्नपुरे शरीरं
चिद्व्योमतोऽन्यत्र यथास्ति किञ्चित् ।

तथेह सर्गे प्रथमैकसर्गा-
न्मुने प्रभृत्यस्ति न रूपमन्यत् ॥ १५२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे धात्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० जगतः परमात्ममयत्ववर्णनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥२९॥

त्रिंशः सर्गः ३०

ईश्वर उवाच ।

एवं सर्वमिदं विश्वं परमात्मैव केवलम् ।
ब्रह्मैव परमाकाशमेव देवः परः स्मृतः ॥ १
तदेतत्पूजनं श्रेयस्तस्मात्सर्वमवाप्यते ।
तदेव सर्गभूः सर्वमिदं तस्मिन्व्यवस्थितम् ॥ २
अकृत्रिममनाद्यन्तमद्वितीयमखण्डितम् ।
अवहिःसाधनासाध्यं सुखं तस्मादवाप्यते ॥ ३
प्रबुद्धस्त्वं मुनिश्रेष्ठ तेनेदं तव कथ्यते ।
नातिदेवार्चने योग्यः पुष्पधूपचयो महान् ॥ ४
अव्युत्पन्नधियो ये हि बालपेलवचेतसः ।
कृत्रिमार्चामयं तेषां देवार्चनमुदाहृतम् ॥ ५
शमवोधाद्यभावे हि पुष्पाद्यैर्वार्चयन्ति हि ।
मिथ्यैव कल्पितैरेवमाकारे कल्पितात्मके ॥ ६
स्वसंकल्पकृतैः कृत्वा क्रमैरर्चनमाहताः ।
घालाः संतोषमायान्ति पुष्पधूपलवार्चनैः ॥ ७

स्वसंकल्पकृतैरर्थैः कृत्वा देवार्चनं मुधा ।
यतः कुतश्चिन्मिथ्यात्म फलमात्रं नयन्ति ते ॥ ८
पुष्पधूपार्चनं ब्रह्मन्कल्पितं बालबुद्धिषु ।
यत्स्याद्भवाद्दशां योग्यमर्चनं तद्वदाम्यहम् ॥ ९
अस्मदादिस्त्वसौ कश्चिद्देवो मतिमतां वर ।
देवस्त्रिभुवनाधारः परमात्मैव नेतरत् ॥ १०
शिवः सर्वपदातीतः सर्वसंकल्पनातिगः ।
सर्वसंकल्पवलितो न सर्वो न च सर्वैकः ॥ ११
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नः सर्वारम्भप्रकाशकृत् ।
चिन्मात्रमूर्तिरमलो देव इत्युच्यते मुने ॥ १२
संवित्सर्वकलातीता सर्वभावान्तरस्थिता ।
सर्वसत्ताप्रदा देवी सर्वसत्तापहारिणी ॥ १३
ब्रह्म ब्रह्मन्सदसतोर्मध्यं तदेव उच्यते ।
परमात्मपराभिख्यं तत्सदोमित्युदाहृतम् ॥ १४

उक्तमनूयोपसंहरति—संकल्पन इति । प्रथमादेकस्य हिरण्य-
गर्मस्य सर्गात्प्रभृति प्रवृत्ते इहासिन्सर्गे तथा संकल्पनस्वप्नपुर-
शरीरादिवदेवान्यदूपं नास्ति ॥ १५२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारा-
मायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे जगतः परमात्ममय-
त्ववर्णनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

चितः सर्वात्मता सर्वभोक्तृभावेन संस्थितिः ।

यथा जीवदशां प्राप्ता चित्तज्ञाप्यत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

‘चेतनाकाशमात्रात्म यथा सर्वमिदं प्रभो’ इति यत्त्वया पृष्ठं
तस्येदमुत्तरं वर्णितमित्याह—एवमिति । ‘कच्चिद्वेत्ति महाबाहो
देवः कः स्यादिति द्वित्र’ इति मया त्वत्पृष्ठदेवार्चनविधानमूल-
हस्यं यत्त्वा प्रति पृष्ठं तदप्येतदेवेत्याह—एष देव इति ॥ १ ॥
परिच्छिन्नदेवार्चनं परिच्छिन्नफलमेतदर्थं तु सर्वकामावसान-
भूनिभूतानन्दप्राप्तिफलमिति सर्वोत्कृष्टमित्याह—तदेतदिति ।
सर्गभूः सर्वजगत्सर्गारोपाधिष्ठानम् ॥ २ ॥ तत्र बहुवित्तव्यथा-
याससाध्यताशङ्का परिहरति—अवहिरिति । अवहिःसाधनं च
तदसाध्यं चेति विग्रहः ॥ ३ ॥ प्रबुद्धो विवेकी मुख्याधिका-
रीति यावत् । अतिशयितो देवः अतिदेवस्तदर्थे ॥ ४ ॥
मूर्त्यादिरूपदेवार्चने तर्हि केऽधिकारिणस्तानाह—अव्युत्पन्नेति ।
अत एव तदनुत्पन्नमेव कृत्रिमप्रतिमादितत्सामग्री चेत्याह—कृ-
त्रिमिति । अर्चा प्रतिमा तत्प्रचुरम् ॥ ५ ॥ तत्र शान्त्योदना-
लाभे कोऽप्यशान्तमिवेत्याह—शमैति ॥ ६ ॥ अर्चनं कृत्वा

संतोषमायान्ति प्राप्नुवन्ति ॥ ७ ॥ यतः कुतश्चित्स्वप्नप्रायविमा-
नाप्सरःप्रभृतिसाधनान्मिथ्यात्मकमेव स्वर्गादिफलमासादयन्ती-
ति मुषेयस्योपपत्तिः ॥ ८ ॥ ९ ॥ वयं आदि- कारणं यस्य
सोऽस्मदादिरस्मत्कल्पितप्रपञ्चान्तर्गतः असौ चक्षुरादिदृश्यमूर्ति-
रूपो देवः कश्चिदनिर्वचनीयो मायामय एवेत्यर्थः । कस्तर्हि
पारमार्थिको देवस्तमाह—देव इति ॥ १० ॥ सर्वेभ्यो
ब्रह्मविष्णुरुद्रादिदेवेभ्योऽप्यतीतसंकल्पना मनोवृत्तयस्तदतिगः ।
‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह’ इति श्रुतेः । यस्तु
सर्वविषयभोगसंकल्पैर्वलितो वेष्टितो ब्रह्मविष्णवादिपदरूपः स न
साधनतोऽपि सर्वो न फलतोऽपि सर्वं कं भोगसुखं यस्मिन्स्त-
थाविधः । स्वसंकल्पमोपासनतारतम्यानुसारेणैव भोगसामग्र्यास्त-
त्फलसुखलवस्य च तत्र लाभादित्यर्थः ॥ ११ ॥ आत्मदेवस्तु
पूजनदशायां फलदशायां च नित्यनिरतिशयपरमार्थसत्यपूर्णा-
नन्दैकस्वभाव एवेति स एव देव इत्युक्तियोग्य इत्याह—दि-
क्कालेति ॥ १२ ॥ १३ ॥ सदसतोर्भावाभावयोर्वर्तमानतदन्य-
कालयोर्मूर्तामूर्तयोः कारणकार्ययोर्व्यावहारिकप्रातिभासिकयोर्वा
आन्तरालिकसाक्षिचिन्मात्ररूपत्वादधिष्ठानत्वाद्वा मध्यम् । पर-
मसूर्यचन्द्राग्निकरणज्योतिर्भ्य उत्कृष्ट आत्मैव पर सर्ववद्योतन-
क्षमा अभिरुचा प्रकाशो यस्य तत्तथाविधं सत् भोमिति पदेन
श्रुतिषु विराडादिपादत्रयात्मकसर्वप्रपञ्चप्रविलापनेन ‘शिवमद्वैतं
चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः’ इत्युदाहृतमित्यर्थः ॥ १४ ॥

महासत्तास्वभावेन सर्वत्र समतां गतम् ।
 महाचिदिति संप्रोक्तं परमार्थ इति श्रुतम् ॥ १५
 स्थितं सर्वत्र सर्वं तु लतास्वन्तर्यथा रसः ।
 सत्तासामान्यरूपेण महासत्तात्मनापि च ॥ १६
 यच्चित्तस्वमरुन्धत्या यच्चित्तत्वं तवानघ ।
 यच्चित्तत्वं च पार्वत्या यच्चित्तत्वं गणेषु च ॥ १७
 चित्तत्वं यन्ममेदं च चित्तत्वं यज्जगत्रये ।
 तदेव इति तत्त्वज्ञा विदुरुत्तमबुद्धयः ॥ १८
 पादपाण्यादिमानन्यो यो वा देवः प्रकल्प्यते ।
 संविन्मात्रादृते ब्रह्मन्किंसारः किल कथ्यताम् ॥ १९
 चिन्मात्रमेव संसारसारः सकलसारताम् ।
 गतः स देवः सर्वोऽहं तस्मात्सर्वमवाप्यते ॥ २०
 न स दूरे स्थितो ब्रह्मन्नुप्रापः स कस्यचित् ।
 संस्थितः स सदा देहे सर्वत्रैव च खे तथा ॥ २१
 स करोति स चाश्नाति स विभर्ति प्रयाति च ।
 स निःश्वसिति संवेत्ता सोऽज्ञान्यज्ञानि वेत्ति च ॥ २२
 सोऽस्यां विचित्रचेष्टायां प्रकाशिन्यां च तद्वशात् ।
 तत्स्वरूपनिबद्धायां पुर्यामास्ते मुनीश्वर ॥ २३
 शरीरावसथायां च चलायां तत्प्रसादतः ।
 सोऽस्यां गहनकोशायां हृद्गुहायां गुह्येश्वरः ॥ २४
 मनःषष्ठेन्द्रियाचारसत्तातीतामलात्मनः ।
 तस्य संव्यवहारार्थं संज्ञा चिदिति कल्पिता ॥ २५

॥ १५ ॥ व्यवहारे सर्वत्रानुगमात्सत्तासामान्यरूपेण । सर्वबाधे
 तु महासत्तात्मना ॥ १६ ॥ तस्यैव सर्वेषां देवतावीनामात्म-
 त्वादपि मुख्यं देवलमित्याह—यदित्यादिना ॥ १७ ॥ १८ ॥
 तस्यैव विमर्शो सर्वदेवतासारत्वादेवत्वमित्याह—पादेति ।
 किंसारः स इति शेषः ॥ १९ ॥ स सर्वः पूर्णो देव एवाहं न
 परिच्छिन्न इत्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥ स एव सर्वकर्ता सर्व-
 भोक्ता चेत्याह—स करोतीत्यादिना ॥ २२ ॥ पुर्यामास्ते ।
 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्नेभ्यः' इति श्रुतेरिति भावः ॥ २३ ॥
 शरीरमावसथो महागृहं यस्यास्तथाविधायाम् । गहना दुर्वि-
 वेका अन्नमयादिवहिःकोशा यस्यास्तथाविधायाम् । हृद्गुह्यः
 सैव गूह्यतीति गुहा तस्याम् । आनन्दमयकोशगुह्येश्वरः ॥ २४ ॥
 उपदेशसंव्यवहारार्थम् ॥ २५ ॥ भाष्यारोपे करोतीव, तदप-
 वादे न करोति । नित्यमानस्य कृतत्वामावादित्यर्थः ॥ २६ ॥
 रञ्जयति शोभयति । मधुर्वसन्तः ॥ २७ ॥ चमत्कारा आरोप्ये
 सत्तास्फूर्तिप्रदानरूपाः । चिति मायाशब्दे यत्स्थितं पूर्वकामक-
 मवासनानुसारेण नियतं चमत्कुर्वन्त्याविर्भावयन्ति । ताश्चिब-
 मत्कारानेव नामकल्पनया व्यपदिशति—केचिदित्यादिना ।
 सर्गभेदेन नमोबहुत्वोक्तिः ॥ २८ ॥ २९ ॥ भावविकारा 'जायतेऽ-
 स्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यति' इति यास्कोक्ताः आदि-
 पदाहुणभेदास्तेषां जाल्या वैचित्र्येण औचित्येन च विचित्रा-

स एव चिन्मयः सूक्ष्मः सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
 इमं भास्वरमाभासं करोति न करोति च ॥ २६
 सा चिदत्यन्तविमला जगदर्थं जगत्क्रियाम् ।
 इमां रञ्जयति प्राज्ञ रसेनेव मधुर्लताम् ॥ २७
 चारवो ये चमत्काराश्चितश्चिति यथास्थितम् ।
 चमत्कुर्वन्ति किल ते तेन केचिन्नमोभिधाः ॥ २८
 केचिज्जीवाभिधानाश्च केचिच्चित्ताभिधानकाः ।
 केचित्कलाभिधानाश्च केचिद्देशाभिधानकाः ॥ २९
 केचित्क्रियाभिधानाश्च केचिद्रव्याभिधानकाः ।
 केचिद्भावविकारादिजाल्यौचित्याभिधानकाः ॥ ३०
 प्रकाशाभिधानाः केचित्केचिच्छैलतमोभिधाः ।
 अर्केन्द्राद्यभिधाः केचित्केचिद्यक्षाभिधानकाः ॥ ३१
 निरिच्छस्वस्वभावेन वसन्तेन यथाङ्कुरः ।
 तन्यते तद्भदेवेयं जगल्लक्ष्मीश्चिदात्मना ॥ ३२
 चिदेवासु समग्रासु सर्वदैवैकिकैव हि ।
 त्रैलोक्यामभोधिसंस्थासु शरीरजलजालिका ॥ ३३
 शरीरपङ्कजभ्रान्तमनोभ्रमरसंभृताम् ।
 आस्वादयति संकल्पमधुसत्तां चिदीश्वरी ॥ ३४
 ससुरासुरगन्धर्वं सशैलार्णवकं जगत् ।
 चिति स्थितं प्रवहति जलावर्ते जलं यथा ॥ ३५
 बन्धचित्तमयाचारचारुचञ्चुरचक्रिकम् ।
 संसरिचक्रं चिच्चक्रे भ्राम्यति भ्रमभाजनम् ॥ ३६

भिधानकाः ॥ ३० ॥ तानेव प्रपञ्चयति—प्रकाशेति ॥ ३१ ॥
 चितः किं स्वभोगेच्छया जगत्सृष्टिर्नेत्याह—निरिच्छेति । तथा
 चोक्तं श्रीमद्गौडपादाचार्यैः—'भोगार्थं सृष्टिरित्येके क्रीडार्थमिति
 चापरे । देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥' इति ।
 नचैवं 'सोऽकामयत बहु स्या प्रजायेय' इत्यादिश्रुतिविरोधः ।
 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्देवो यजुर्वेदः' इत्यादि-
 श्रुत्यन्तरे इच्छाप्रयत्नाद्यनपेक्षनिःश्वसितप्रायत्वोक्तेः 'तदैक्षत
 बहु स्या प्रजायेय' इति समानतात्पर्यकश्रुत्यन्तरानुगुण्याय
 चाकामयतेत्युक्तेरचेतनप्रधानादिकर्तृकताशङ्कावारणमात्रतात्पर्यक-
 त्वात् । तथा च भगवतो बादरायणस्य सूत्रम् 'कामाच्च नानुमा-
 नापेक्षा' इति ॥ ३२ ॥ त्रैलोक्यलक्षणानामभोधिनां संस्थासु
 तात्त्विकस्थितिषु विचार्यमाणासु चिदेव शरीरं वास्तवतत्त्वं
 तद्रूपा जलजालिका जलसमूहस्थानीया नान्यदित्यर्थः ॥ ३३ ॥
 तस्या मनःसंकल्पकृतभोक्तादित्रिपुटीप्रकाशकत्वमेव भोक्तविवे-
 काद्भोक्तृत्वमिति कल्प्यत इत्याशयेनाह—शरीरेति । ईश्वरी
 स्वारोपितसर्वावभासनसमर्था ॥ ३४ ॥ एवं कर्तृत्वमपि तस्याः
 स्वाध्यारोपितकारकपरिभ्रमणप्रयानिमित्तत्वमेवेत्याशयेनाह—स-
 सुरासुरेति । प्रवहति परिवर्तते ॥ ३५ ॥ बभ्रातीति बन्धस्व-
 याविधौ यश्चित्तमयः कर्तृत्वभोक्तृत्वरूप आचारस्तेन चारवश्चञ्चु-
 राश्चपलाश्च व्यष्टिजीवसंसरणचक्रिका यस्मिंस्त्वयाविधं जीव-

चिच्चतुर्भुजरूपेण जघानासुरमण्डलम् ।
 कालो जलदखण्डेन सायुधेन यथाऽऽतपम् ॥ ३७
 चित्रिनेत्रतया ब्रह्मन्वृषीतांशुचिद्वया ।
 गौरीकमलिनीचक्रपञ्चषट्पदतां गता ॥ ३८
 विष्णोः पद्मालितामेत्य चिद्व्यानाधीनमानसा ।
 प्रयी नलिन्याः सरसीं धत्ते पैतामहीं स्थितिम् ॥ ३९
 चित्तो ब्रह्मन्विचित्राणि शरीराणीह भूरिशः ।
 पत्राणीव तरोर्हस्ति केयूरादिक्रियेव च ॥ ४०
 चित्समस्तसुरानीकपरिवन्दितपादया ।
 त्रैलोक्यचूडामणितां धत्ते वासवलीलया ॥ ४१
 चित्सुभास्वरतामेत्य त्रैलोक्योदरदम्बरे ।
 पतत्युदेति संयाति स्वात्मन्येवाधिवारिवत् ॥ ४२
 चिच्चन्द्रिका चतुर्दिक्षु अवभासं वितन्वती ।
 विकासयति निःशेषभूतसत्ताकुमुद्वतीम् ॥ ४३
 चिद्वर्णमहालक्ष्मीलिजगत्प्रतिविम्बितम् ।
 शुक्लात्यनुग्रहेणान्तः स्वर्गमसिच गर्भिणी ॥ ४४
 चिच्चतुर्दशभूतानां मण्डलानि महान्ति च ।
 भूतीकरोति धारित्रीः समुद्रस्वसिचाम्बुधिः ॥ ४५
 विचित्रालोककुसुमा घनसंकल्पपल्लवा ।
 व्योमकेदारिकारुढा सत्तौघफलशालिनी ॥ ४६
 जीवजालरजःपुञ्जवासनारसरञ्जिता ।
 संवेदनत्वग्वलिता चित्तेहाकलिकाकुला ॥ ४७

समष्टि संसारचक्रं मायाशब्दे चिचके भ्राम्यति ॥ ३६ ॥ वर्णि-
 तलक्षणं चित एव सर्वकर्तृभोक्तृत्वं विशिष्य वर्णयति—चिदि-
 त्यादिना । कालो वर्षर्तुः सायुधेनैन्द्रधनुर्वज्रयुक्तेन जलदखण्ड-
 वेणेनातपमिव ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ विष्णोर्नामिपद्मे अलितां त्रम-
 रत्वमिव एव प्राप्य । प्रयी वेदास्तल्लक्षणाया नलिन्याः सरसी
 महासरोभूतां स्थितिं मूर्तिम् ॥ ३९ ॥ केयूरादीनां क्रियानि-
 मितिरिव ॥ ४० ॥ चूडामणितां धन्यतामिति यावत् ॥ ४१ ॥
 सुभास्वरतां सूर्यादितेजोरूपताम् ॥ ४२ ॥ साक्षादपि तस्या
 आह्लादप्रथानिमित्ततामाह—चिच्चन्द्रिकेति ॥ ४३ ॥ महती
 लक्ष्मीः स्वच्छभास्वरतालक्षणा शोभा वैष्णवी माया वा ॥ ४४ ॥
 चतुर्दशभुवनस्थानां भूतानाम् । भूतीकरोति सत्तां संपादयति ।
 यथा धारित्रीः रसशक्तिः अम्बुविर्जलसमूहरूपा सती समुद्रस्व-
 समुद्रस्वरूपसत्तां संपादयति तद्वत् ॥ ४५ ॥ इदानीं तामेव चितं
 कृतात्वेन रूपयति—व्योमेत्यादिना । व्योमात्र मायाकाशस्तल्ल-
 क्षणायां केदारिकायां क्षेत्रभक्तौ रुढा हिरण्यगर्भात्मना अकू-
 रिता । सत्तौघाः सर्वपदार्थसत्तास्तल्लक्षणफलदायिनी ॥ ४६ ॥
 संवेदनानि सविकल्पज्ञानानि । चित्तेहाधितवृत्तयः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥
 जडाः कैलादय एव शुल्भका मूलप्ररोहा यस्याः । विग्रहाश्चतु-
 र्विधशरीराण्येव ग्रन्थयस्त्वैवलिता । आमूलाग्रं प्रवृत्तिप्रदानैः
 परिवर्तिता वेष्टिता ॥ ४९ ॥ पेलवमित्यादिविशेषणविशिष्टं

अतीतासंख्यत्रिजगत्केसरोज्ज्वलरूपिणी ।
 अनारतरूपन्दमहाविलासोल्लासहासिनी ॥ ४८
 सर्वर्तुपर्वपरुषा जडशैलादिगुल्मका ।
 विग्रहग्रन्थिवलिता मूलाग्रपरिवर्तिता ॥ ४९
 चिल्लतेयं विकसिता पेलवं सदसद्रूपः ।
 विचित्रं दृश्यकुसुमं परामर्शसहं बहु ॥ ५०
 अनयेह हि सर्वत्र छायाच्छमिव जन्यते ।
 मन्यते तन्यते यस्तु गीयते क्रियतेऽपि च ॥ ५१
 महाचित्तानया नित्यं भासन्ते भास्करादयः ।
 देहाः स्वदन्ते च मिथस्तत्सञ्चिज्जडविभ्रमैः ॥ ५२
 चिता चावर्तवर्तिन्या सिद्धान्येव प्रनृत्यति ।
 जगज्जालरजोलेखा तत्सत्ता दृश्यदेहिनी ॥ ५३
 चित्सर्वं जगदारम्भमिमं प्रकटयत्यलम् ।
 त्रैलोक्यदीपकशिखादीपो वर्णाश्रयं यथा ॥ ५४
 चिच्चन्द्रविम्बे विमले शशचन्द्रप्राप्य संगमम् ।
 सर्वत्र लक्ष्यतामेति पदार्थध्रीर्जगद्गता ॥ ५५
 चिद्रसायनसैकेन पदार्थपटलावली ।
 रूपमेति फलं चैव प्राचूडसिक्तेव सल्लता ॥ ५६
 चिच्छाययैव सर्वस्य जाट्यं सम्यगुदेति च ।
 सर्वस्यास्य शरीरस्य गृहस्येव तमस्त्वह ॥ ५७
 चिच्चमत्कृतयो देहे न भवेयुरिमा यदि ।
 त्रैलोक्यदेहास्त्यक्त्वैते न स्पृशेयुः किलाकृतिम् ॥ ५८

दृश्यकुसुमं अनया जन्यत इति परेणान्वयः । सदसद्रूपेणैव
 परामर्शसहमित्युपपत्तिः ॥ ५० ॥ छाया चन्द्रादिकान्तिरि-
 वाच्छं स्फुटं दृश्यकुसुमम् । मन्यते अभिमानविषयीक्रियते ।
 तन्यते विस्तार्यते ॥ ५१ ॥ तस्याधितः सत् सत्यं चित् चेत-
 नम् । जडं चेत्यविवेकप्रयुक्तभोक्तृभोग्यताविभ्रमैर्दम्पत्योर्देहा
 वस्तुतोऽमात्ररूपा अपि मिथः स्वदन्ते प्रीतिविषया भवन्ति
 ॥ ५२ ॥ आवर्तो बालावर्तस्तद्वर्तिन्या चितैव सिद्धा तत्सत्तयैव
 दृश्यदेहिनी दर्शनयोग्याकारवती जगज्जालरजोलेखा अन्या चिच्च-
 त्तिरिक्तेव भूत्वा प्रनृत्यति ॥ ५३ ॥ त्रैलोक्यप्रकाशनदीपकशि-
 खाभूता चित् । दीपः प्रसिद्धो वर्णाश्रयं रूपवद्भूतं यथा प्रकट-
 यति तद्वत् ॥ ५४ ॥ चिदधीनप्रकाशतामेव जगतः प्रपन्नयति—
 चिच्चन्द्रविम्बे इत्यादिना ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ननु चिचदि रसा-
 यनमिव पदार्थपटलावलीं सर्वतो व्याप्य स्फुरति तर्हि तत्र
 जाट्यं न स्यात् । न हि सर्वतो रसाद्रे शुष्कतायाः प्रसक्तिर-
 स्तीति तत्राह—चिच्छाययैवेति । यथा पद्मीकरणेन गृहस्यापि
 सर्वतस्वेजोव्याप्तिसत्त्वात्तदन्तस्तमःप्रसक्त्यभावेऽपि तेजसभास्व-
 रताया भूतान्तरभागेरभिभवाद्बहिरभिष्यक्तसौरालोकव्याप्तौ तत्र-
 युक्तच्छायाया अन्तस्तम उदेति, तथा घटाद्यधिष्ठानचिद्धा-
 स्वरताया अप्यध्यस्तेनाभिभवाद्बहिरभिष्यक्तसौरालोकव्याप्तौ तत्र-
 युक्तच्छायाया अन्तर्जाज्यमुदेतीत्यर्थः ॥ ५७ ॥
 तथा च यथा सौरालोकवशादेव गृहप्रासादायाकृतितैचिच्य-

चिदाकाशप्रकाशेऽस्मिन्संकल्पशिशुधारिणी ।
 क्रियाकुलवधूर्देहगृहे स्फुरति चञ्चला ॥ ५९
 चिदालोकं विना कस्य रसनाग्रे स्फुरन्नपि ।
 कथं कदा प्रकटतामेति दृष्टः क वा रसः ॥ ६०
 शृण्वङ्ग स्वाङ्गशाखोऽपि कुन्तलालिलतोऽप्यलम् ।
 चिन्मज्जनं विना देहवृक्षः क इव राजते ॥ ६१
 वर्धते विलुठत्यत्ति चिच्चराचरकारिणी ।
 चिदेवास्तीतरन्नास्ति चिन्मात्रमिदमुत्थितम् ॥ ६२
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्युक्तवांस्तदा त्र्यक्षः सुधांशुस्वच्छया गिरा ।
 पुनः पृष्ठो मया राम सुधांशुस्वच्छया गिरा ॥ ६३
 यदि सर्वगता देव चिदस्त्येका तदात्मकः ।
 तदयं चावनिस्फारमयान्वेव न चेतति ॥ ६४
 अयं चित्त्वानपुरा भूत्वा चिद्धीनः संप्रति स्थितः ।
 इतीयं कल्पना लोके प्रत्यक्षानुभवा कथम् ॥ ६५
 ईश्वर उवाच ।

शृण्वेतदखिलं ब्रह्मन्यदा पृष्ठं वदामि ते ।

सिद्धिस्तया देहान्तरमिव्यक्तप्रमातृचिच्चमत्कृतिवशादेव गवाश्वघ-
 टपटाद्याकृतिवैचित्र्यसिद्धिर्नान्यथेत्याह—चिच्चमत्कृतय इति ।
 'त्रैलोक्यदेहास्त्रैलोक्यान्तर्गताः साकारपदार्थाः एते छायाजाड्यो
 त्यक्त्वा आकृतिमाकारमपि न स्पृशेयुः साधकान्तराभावादित्यर्थः
 ॥ ५८ ॥ क्रिया विहितनिषिद्धेषु प्रवृत्तिः सैव कुलवधूः ॥ ५९ ॥
 उक्तमर्थमनुभावयितुं व्यतिरेकमुखेनापि प्रसिद्धोदाहरणेषु सम-
 र्थयति—चिदालोकमिति द्वाभ्याम् । स्फुरन् संचलन् व्याप्तुव-
 न्नपि प्रकटतां एति यत् दृष्टः । किंवृत्तत्रयेण प्रकारकालदेशानां
 निरासः ॥ ६० ॥ स्वाङ्गानि शाखाः यस्य । कुन्तलालिः केश-
 समूहो लता यसिन् । चिन्मज्जनं चिद्धार्थं विना ॥ ६१ ॥
 एवं च चिदधीनजन्मवृद्ध्यादिसर्वभावत्वाज्जगज्जलाधीनसर्वभाव-
 स्तरज्ञादिर्जलमिव चिदेव परमार्थत इति सिद्धमित्युपसंहरति—
 वर्धत इति ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ यथेका चिदेवास्ति तत्तर्हि तदा-
 त्मकः अयं देहो निद्रामूर्च्छामरणेषु चकारादृश्यान्तरे च अव-
 निस्फारमयी मृत् प्रचुरभूतविकारभूता अन्धा नेत्रादिहीना-
 भित्तिरिव न चेतति तत्कथमित्यर्थः ॥ ६४ ॥ तदेव स्पष्टं पुन-
 राह—अयमिति । अयं देहादिः पुरा दृश्यभावारपूर्व जीवनदशायां
 च चित्त्वान् चेतनावान् । 'तसौ मत्वर्थे' इति भत्वाज्जज्ञत्वाभावः ।
 भूत्वा संप्रति दृश्यमरणादिदशायां चिद्धीनः स्थित इतीयं क-
 ल्पना कथं चितोऽविनाशिस्वभावत्वादपरिणामित्वाच्च कथमपि
 जाज्यायोगादिति प्रश्नार्थः ॥ ६५ ॥ यथा तच्चैतनस्यैव जीवा-
 दित्वं तदुच्यतामिति प्राक्जनप्रश्नोत्तरमश्रुत्वा प्रश्नान्तरे वसिष्ठेन
 कृते द्वयोरप्युत्तरं सहैव वक्तुकाम ईश्वर उवाच—शृण्वते ।
 अखिलप्राक्जनप्रश्नोत्तरसहितं सर्वम् ॥ ६६ ॥ वक्ष्यमाणोपोद्भा-
 तेन प्रथमं विन्म्वप्रतिविम्बचिद्वैविध्यं देहे दर्शयति—चिदिति ।

महानयं त्वया प्रश्नः कृतो ब्रह्मविदां वर ॥ ६६
 चिदस्ति हि शरीरेह सर्वभूतमयात्मिका ।
 चलोन्मुखात्मिकैका तु निर्विकल्पा परा स्मृता ॥ ६७
 संकल्पबुद्धा सैवान्तः स्वयमन्येव संस्थिता ।
 संकल्पितेतरवरा दौःशील्यं स्त्री यथा गता ॥ ६८
 स एव हि पुमान्कोपाद्यथेहान्य इव क्षणात् ।
 भवत्येवं विकल्पाङ्गा चित्स्वरूपान्यतां गता ॥ ६९
 विकल्पकल्पिता ब्रह्मंश्चित्स्वरूपपरिच्युता ।
 जाड्यं क्रमाद्भावयन्ती प्रयाति कलनापदम् ॥ ७०
 चित्स्वरयं चेत्यतामेति साकाशपरमाणुताम् ।
 शब्दबीजात्मिकां पश्चाद्वाततन्मात्रगामिनी ॥ ७१
 देशकालविभागान्ता तन्मात्रवलिता क्रमात् ।
 जीवो भूत्वा भवत्याशु बुद्धिः पश्चादहं मनः ॥ ७२
 मनस्त्वं समुपायाता संसारमवलम्बते ।
 चण्डालोऽसीति मननाच्चण्डालत्वमिव द्विजः ॥ ७३
 संकल्पिताऽप्रबोधेन जाड्याऽविश्वप्रबोधिनी ।
 शबलं रूपमासाद्य संकल्पाद्यालनारतम् ॥ ७४

ह किल । चलायां व्यष्टिसमष्टिबुद्धौ उन्मुखात्मिका आसक्तस्व-
 भावा । विज्ञानमयशब्दवाच्यकर्तृभोक्तृस्वभावत्वैत्यर्थः । परा कूट-
 स्थचिन्तु निर्विकल्पा ॥ ६७ ॥ तस्याश्चलस्वभावत्वमिव भेदोऽप्यु-
 पाधिकृत एवेत्याशयेनाह—संकल्पेति । 'हन्ताहमिमास्त्रिलो-
 देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति
 श्रुतिदर्शितसंकल्पेन स्वात्मानमेव जीवात्मना बुद्धा बुद्धवती ।
 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' इति कर्तरि क्तः । यथा सुशीलैव
 स्त्री स्वप्ने संकल्पित इतरो वर उपपत्तिर्यथा तथाविधा सती
 दौःशील्यं गता सती द्वितीयेव संपन्ना तद्वत् ॥ ६८ ॥ पुमान्
 मनुष्यः अन्यो राक्षस इव क्रूरो भवति तद्वत् ॥ ६९ ॥ एवं-
 रीत्या स्वरूपात्परिच्युता चित् क्रमाज्जाड्यं जडतादात्म्यं भाव-
 यन्ती सती कलनायाः सविकल्पबुद्धेः पदं विषयतां प्रयाति
 स्वकल्पनयैवेत्यर्थः ॥ ७० ॥ आकाशसहितानि परमाणूनि सू-
 क्ष्मभूतानि तद्भावरूपां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धरूपभोग्यानां बी-
 जारिकां चेत्यतां मायोपलक्षितचिद्विषयतां एति पश्चाद्वातत-
 न्मात्रं समष्टिप्राणभावस्तद्गामिनी भवति ॥ ७१ ॥ तथाभूता-
 यास्तस्याः पक्षीकरणप्रयुक्तस्थूलभूतात्मकसमष्टिव्यष्टिस्थूलदेह-
 भावं तदन्तर्लिङ्गदेहे जीवभावं तत्र बुद्ध्यादिभावं च दर्शयति—
 देशेति । तन्मात्रैः सूक्ष्मभूतैः पक्षीकरणेन वलिता संवलिता
 सती सप्तद्वीपचतुर्दशलोकात्मकदेशविभागान्ता निमेषाद्विष-
 यार्थावधिकालविभागान्ता च क्रमाद्भवति । ततस्तत्र प्राणधार-
 णाजीवो भूत्वा बुद्धिरहंकारो मनः अर्थाच्चित्तं च भवतीत्यर्थः
 ॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ब्रह्मचिदेव अप्रबोधेनाज्ञानेन शबलं रूपमा-
 साद्य देहजीवाकारेण संकल्पिता सती तत्प्रयुक्तजाड्येन अवि-
 श्वप्रबोधिनी असर्वज्ञा भूत्वा पुनः पुनर्भोगसंकल्पादनारतं याति

अनन्तसंकल्पमयी जाल्यसंकल्पपीवरा ।
 चिज्जाड्यान्मोदमायाति पयः पाषाणतासिव ॥ ७५
 ततश्चित्तं मनोमोहो मायेति विहिताभिधा ।
 जाल्यं निपुणमाश्रित्य संसारे जायते मुने ॥ ७६
 मोहमान्धमुपायाता तृष्णानिगडपीडिता ।
 कामक्रोधभयोपेता भावाभावातिपातिनी ॥ ७७
 त्यक्तानन्तनिजाभोगा व्यवच्छेदविकारिणी ।
 दुःखदावानलातप्ता शोकाशिवकृशाशया ॥ ७८
 इयमसीति भावेन शून्येन विकलीकृता ।
 देहमात्रगृहीतास्था परं दैन्यमुपागता ॥ ७९
 मग्ना मोहमहापङ्के जीर्णैव घनदन्तिनी ।
 भावाभावलतादोला परिलोलशरीरका ॥ ८०
 अक्षरापारसंसारविकारव्यवहारिणी ।
 तापोपतप्तहृदया रागतेजोनुरञ्जिता ॥ ८१
 निजयूथपरिभ्रष्टा मृगीवावशतां गता ।
 आविर्भावोदिताकारा तिरोभावेऽस्तमागता ॥ ८२
 स्वसंकल्पोपयातासु भीता संभ्रमदृष्टिषु ।
 पलायते चाभ्यन्यासु वेतालैश्चिव बालिका ॥ ८३
 उष्ट्रीव मधुरं बिन्दुं वाञ्छते भावितं सुखम् ।
 अवान्तरपरिभ्रष्टा दोषादोषं पतत्यधः ॥ ८४
 परं वैषम्यमायाति संकटात्संकटं गता ।
 दुःखाद्दुःखं निपतिता विषदो विषदि स्थिता ॥ ८५
 नानानर्थगणोपेता चेष्टापरवशाशया ।

कष्टात्कष्टमनुप्राप्ता परितापानुतापिनी ॥ ८६
 क्रमादावद्वैदग्ध्याद्वैदग्ध्याङ्गमुपागता ।
 विचित्रवन्धनिर्माणपराक्रमपदं गता ॥ ८७
 सर्वतः शङ्कते भीता प्राणालयमुपागता ।
 क्षीणतोयेव शफरी विवर्तनपरायणा ॥ ८८
 बाल्ये विवशसर्वार्था यौवने चिन्तयाऽऽवृता ।
 वार्धकेऽप्यतिदुःखार्ता मृता कर्मवशीकृता ॥ ८९
 जायते स्वर्गनगरे नागी पातालकोटरे ।
 आसुरी वैत्यविवरे नरखी घसुधातले ॥ ९०
 राक्षसी राक्षसाधारे घानरी वनकोटरे ।
 सिंही गिरीन्द्रशिखरे किन्नरी कुलपर्वते ॥ ९१
 विद्याधरी देवगिरौ व्याली च घनगर्तके ।
 लता तरौ खगी नीडे वीरुत्तानौ वने मृगी ॥ ९२
 शेते नारायणोऽम्भोधौ ध्यानी ब्रह्मपुरेऽक्षजः ।
 कान्तागतो हरः शैले स्वर्गे सुरवरो हरिः ॥ ९३
 दिनं करोति तीक्ष्णांशुर्वर्षत्यम्बुधरो जलम् ।
 करोति श्वसनं संवित्सपर्वतमहोदधिम् ॥ ९४
 ऋतुचक्रं प्रवहति सहसा कालमण्डलम् ।
 दिनरात्रितयोपैति तेजस्तिमिरतां क्रमात् ॥ ९५
 क्वचिद्बीजरसोल्लासात्कचित्पाषाणमौनिनी ।
 क्वचिन्नदी रसवती क्वचित्कुमुदविस्तृतिः ॥ ९६
 क्वचित्फलावलीपाकैः क्वचित्काष्ठानलादिभिः ।
 क्वचिच्छैत्यहिमद्वारि क्वचित्खादि न किञ्चन ॥ ९७

संसरति ॥ ७४ ॥ पयो जलं पाषाणता करकात्वमिव मोहं
 जीवताभ्रममायाति ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ भावो विभवः । अभावो
 दारिद्र्यं तदनुपातिनी ॥ ७७ ॥ व्यवच्छेदेषु भार्यापुत्रादिवि-
 योगेषु शोकादिविकारिणी । शोकैरशिवैश्च कृशाशया कृपणा
 ॥ ७८ ॥ इयं प्रत्यक्षदुःखमोहादिस्वभावैवाहमसीति भावेन
 भ्रमेण ॥ ७९ ॥ ८० ॥ रागेण तेजसा क्रोधेन धानुरञ्जिता
 ॥ ८१ ॥ विभवानां मृतमात्राणां वा आविर्भावे उदिताकारा
 दृष्टा अभिव्यक्ता वा । अस्तं दैन्यं तिरोभाव वा ॥ ८२ ॥
 ॥ ८३ ॥ यथा उष्ट्री कण्टकनिम्बपत्रादिषु चर्वमाणेषु स्ववास-
 नाभावितं बिन्दुमल्पतर मधुरं रसं काङ्क्षते तद्वदुःखबहुलेषु
 विषयेषु सुखं काङ्क्षत इत्यर्थः । अथवा यथा उष्ट्री विषमप्राशुव-
 प्ररुद्धवृक्षाप्रसंखदसधुपटलप्रसृतमधुबिन्दुलेहनवाञ्छया वृक्ष-
 मारुतशुर्गुपत्युरपादोन्नयनमात्रात्स्वदेहभारेणान्तरपरिभ्रष्टा
 वा अधो विषमदेशे पतति तद्वत्पततीत्यर्थः ॥ ८४ ॥ ८५ ॥
 नरकादिभूमिषु कष्टात्कष्टमनुप्राप्ता ॥ ८६ ॥ क्रमान्मानुष्यत्वं
 भेषि बाल्यात्प्रसृति व्यवहारकौशलाभ्यासाद्वैदग्ध्यात्कौशलाद्वै-
 दग्ध्याङ्गं काव्यनाटककर्तृव्यासमुपागता सती विचित्रस्य स्व-
 न्धस्य घनगृहक्षेत्रपरिवारादेर्निर्माणे यः पराक्रमस्तत्पदमेव

गता न मोक्षोपयोगिविवेकपदमित्यर्थः ॥ ८७ ॥ एवं क्रमेण
 वयःपार प्राप्य प्राणालयमुपागता सती सर्वतो भीता शङ्कते ।
 विवर्तन भूमौ लुठनं तत्परायणा ॥ ८८ ॥ संक्षेपोक्तं प्रपञ्च-
 यति—बाल्ये इति । विवशाः पराधीनाः सर्वे अर्था भोग्य-
 यस्याः । चिन्तया वित्तविषयादिचिन्तया । आवृता पिहितवि-
 वेका ॥ ८९ ॥ कर्मगतीरेव प्रपञ्चयति—जायत इत्यादिना
 ॥ ९० ॥ कुलपर्वते हिमवदादौ ॥ ९१ ॥ देवगिरौ मेरौ ।
 वीरुत्तं शुक्तिनी ॥ ९२ ॥ नारायणादीनामपि जीवगतिषु प्र-
 खनं 'पदमेव हि तस्मिन्मनिलापदिनः स्मृताः' इत्यादिशिवपु-
 राणानुरोधात् । नारायणादिसाहस्यमुक्तजीवविषये वा योज्यम् ।
 अथवा इत आरभ्य न जीवगतयः प्रपञ्चयन्ते किन्तु चितेः
 सर्वव्यापारकर्तृत्वैवैलदोषः । अन्तया गतः अर्धाङ्गसंगतः ॥ ९३ ॥
 श्वसनादिपदैर्वाक्वादिवापारा लक्ष्यन्ते ॥ ९४ ॥ ऋतुघटितं सं-
 तसरचक्रम् । कालमण्डलं युगमन्वन्तरादि ॥ ९५ ॥ क्वचिद्दु-
 खादौ मीजात्मकस्तदङ्कुरताहेतु रसात्मकश्चोल्लासो यस्याः । पा-
 षाणेमौनिनी निश्चला ॥ ९६ ॥ तृतीयान्तपदद्वयानन्तरमुपल-
 क्षितेऽप्युद्धार्यम् । शैलेन हिममिवाचरत् हिमत् धारि जलं
 यस्याः । खं आकाशं आदिपदाद्वायुश्च अन्यत्र किञ्चन ॥ ९७ ॥

क्वचिदुज्ज्वलिताकारा क्वचित्कष्टा शिला क्वचित् ।
 क्वचिन्नीलाथ हरिता क्वचिदग्निः क्वचिन्मही ॥ ९८
 सर्वात्मत्वात्सर्वगतत्वात्सर्वशक्तित्वयोगतः ।
 सर्वत्वादेवंरूपैव खादप्यच्छैव सा परा ॥ ९९
 चिच्चिनोति यथात्मानं येन यत्र यदा यदा ।
 तत्तथानुभवत्यम्बु स्पन्दाद्वीच्यादितां यथा ॥ १००
 हंसी कौश्वी बकी काकी सारसी तुरगी वृकी ।
 बंकी बलाका हरिणी वानरी किन्नरी शुनी ॥ १०१
 वटीका पिङ्गली शाली मक्षिका भ्रमरी शुकी ।
 घीः श्रीर्हीः प्रीती रतिश्च शंबरी शर्वरी शशी ॥ १०२
 एतास्वन्यासु चान्यासु परिभ्रमति योनिषु ।
 विवर्तमानसंसारे जलावर्ते तृणं यथा ॥ १०३
 विभ्रेत्यथ स्वसंकल्पात्स्वशब्दादिव गर्दभी ।

नानया सहगन्यास्ति मुग्धा बाला चलाऽबला ॥ १०४
 एषा सा कथिता तुभ्यं जीवशक्तिर्महामुने ।
 प्राकृताचारविवशा घराकीं पशुघर्मिणी ॥ १०५
 कर्मात्मेत्यभिधां प्राप्ता शोच्यास्य परमात्मनः ।
 अनन्तं दुःखबहुलं स्वयं विभ्रममाश्रिता ॥ १०६
 असदेवानयाक्रान्तं विनाशि सहजं मलम् ।
 तण्डुलेनेव कञ्चूकमनन्ययाऽव्यवस्थितम् ॥ १०७
 अनन्तविभवभ्रष्टा दौर्भाग्यपरितापिनी ।
 शोचन्ती प्राप्य जीवत्वं भर्तृहीनेव नायिका ॥ १०८
 जडगतेरवलोक्य शक्ततां
 निजपदस्मरणेन विनेह चित् ।
 व्रजति कष्टमधः पतनाय या
 यदरघट्टघटीघनपीठवत् ॥ १०९

इत्यार्षे श्रीवा० रामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० शिवपूजोपाख्याने चेलोन्मुखचिद्विचारो नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

एकात्रिंशः सर्गः ३१

ईश्वर उवाच ।

चिनोत्यलीकमेवैवं सदुःखासीति भावनात् ।
 चित्स्वप्नक्षीवतामोहपतिता संभ्रमे यथा ॥ १
 अमृतापि मृतासीति विपर्यस्तमतिर्वधूः ।
 यथा रोदित्यनष्टैव नष्टासीति तथैव चित् ॥ २
 अकारणं विपर्यस्ता मतिभ्रान्तमपि स्थिरम् ।
 यथा जगत्पश्यतीदं तथाहंताभ्रमाच्चितिः ॥ ३

कष्टा कुशकण्टकादिदुर्गमा ॥ ९८ ॥ सर्वशक्तित्वं माया तद्यो-
 गतः । सर्वत्वादेवंरूपा जगद्रूपैव । सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवा-
 वदछान्दसत्वाच्च कृतः । परमार्थतस्तु खादप्यच्छैव सा चिदि-
 त्यर्थः ॥ ९९ ॥ चित् आत्मानं स्वं येन भावेन यत्र यथा
 चिनोति विवर्तेनोपचयं नयति तथा तं भावमनुभवतीत्यर्थः
 ॥ १०० ॥ तान्भावान्पुनः प्रपश्यति—हंसीत्यादिना । पुन-
 र्धकीप्रहणमतिदीर्घपादचक्षुजालन्तरसंग्रहार्थम् । एवं बलाकाप्र-
 हणमप्यतिघवलतूलकण्ठजातिप्रहणाय ॥ १०१ ॥ वटीकादयः
 पक्षिजातिभेदाः । शाली शारिका । प्रीती रतिरिति 'दूलोपे' इति
 दीर्घः । शम्बरी माया ॥ १०२ ॥ योनिषु देहभेदेषु ॥ १०३ ॥
 अबला दुर्बला ॥ १०४ ॥ १०५ ॥ कर्मात्मा कर्मानुसारस्व-
 भावा । तथा च श्रुतिः 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधु-
 कारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यो वै पुण्येन
 कर्मणा भवति पापः पापेन' इति ॥ १०६ ॥ अनन्यया
 स्वातिरिक्तसत्तास्फूर्तिशून्यया अवियया अव्यवस्थितमनियतम्
 ॥ १०७ ॥ भर्तृहीना नायिकेवानाया स्थितेति शेषः ॥ १०८ ॥
 हे राम, त्वं जडगतेरविद्यायाः शक्ततां सामर्थ्यमवलोक्य । यदा-
 स्मादेतोर्था पूर्णग्रहस्वभावापि चित् अरघट्टस्य घटीयस्त्रस्य
 घटीषु प्रविष्टं घनपीठमाकाशस्तेन तुल्यं तद्वत् निजस्य निर-
 यो० वा० १०७

चित्तं हि कारणं त्वस्याः संसारानुभवे चित्तेः ।।
 न च तत्कारणं किञ्चिच्चित्त्वान्यत्वात्यसंभवात् ॥ ४
 एवं हि कारणाभावाच्चेत्यस्यासंभवदिति ।
 नासौ चित्तं ततश्चेत्यं यत्ततश्चेत्यते यथा ॥ ५
 न दृश्यदर्शनद्रष्टृरूपं तैलमिचोपले ।
 न कर्तृकर्मकरणं दृशीन्दाविव कृष्णता ॥ ६

तिशयानन्दपूर्णभावस्य घनसमुद्रादिसकलजलोपलक्षितसर्वजग-
 दन्तर्भावनसामर्थ्यस्य च स्मरणेन विना देहमात्रपरिच्छिन्नाहं
 घटीमात्रपरिच्छिन्नमहं मोगनिमित्तपुण्यव्यये अल्पजलक्षरणे च
 मम रिक्तैव संपन्नेति मन्यमाना पुनः पुनः स्वपतनाय अधोधो
 व्रजति तत्कष्टमित्यर्थः ॥ १०९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चेलोन्मुखचिद्विचारो नाम
 त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

जीवतादिनिषेधेन सा शुद्धा चित्पददर्श्यते ।

मनःप्राणेन्द्रियद्वारा बहिरन्तःप्रथा यथा ॥ १ ॥

एवं वर्णितप्रकारं जीवजगद्भावमलीकमसदेवाज्ञानाचिनोति
 आरोपेण संचिनोति । स्वप्ने क्षीवता मदिरामदस्तत्कृते संमोहे
 पतिता ॥ १ ॥ वधूर्मुग्धा ॥ २ ॥ भ्रान्तं कुलालचक्रादि यथा स्थिरं
 निश्चलं पश्यति तथा जगदपि स्थिरं पश्यति ॥ ३ ॥ तच्चित्तं
 किञ्चिद्वस्तु न । कुतः । चित्तस्य तदन्यत्वस्य च अत्यन्तम-
 संभवात् । अचित्त्वे जगदन्तःपात्तेन तत्कल्पनाहेतुत्वायोगादि-
 त्यर्थः ॥ ४ ॥ चित्तासत्त्वादेव तच्चेत्यजगतोऽप्यसत्त्वं सिद्धमि-
 त्याह—एवमिति । यथा चित्ता चित्तं यत्ततश्चेत्यते असौ चित्
 चित्तं तदधीनं चेत्वं च न किंतु शुद्धैवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ चित्त-

१. कञ्चूकमित्यत्रार्थः दीर्घश्चन्द्रोन्मोहोपात्तः ।

न मातृमेयमानानि नभसीव नवाङ्कुरः ।
 न चिन्तनचेत्यादि नन्दने खदिरो यथा ॥ ७ ॥
 नाहंत्वत्वंत्वत्त्वादि पर्वतत्वमिवाम्बरे ।
 सदेहत्वान्यदेहत्वे शङ्कत्वमिव कज्जले ॥ ८ ॥
 नानाऽनाना न चाप्यन्तरणाविव सुमेरवः ।
 न च शब्दार्थशब्दश्रीर्महोपरलता यथा ॥ ९ ॥
 नेति नेति न चैवार्कमण्डले रजनी यथा ।
 न वस्तुतावस्तुते च तुषारे तु यथोष्णता ॥ १० ॥
 न शून्यताशून्यते वा शिलाकोश इव दुमः ।
 शून्यताशून्यता नाम महती ख इवाखता ॥ ११ ॥
 केवलं केवलीभावस्त्वच्छतैवावशिष्यते ।
 न चित्तात्कस्यचिद्विषयाज्जातयैतदवाप्यते ॥ १२ ॥
 तत्सर्वभावनामात्रेणानर्थः प्रकृतः स्थितः ।
 तज्ज्ञेऽप्यभावनामात्रेणानर्थ उपशम्यति ॥ १३ ॥
 तज्ज्ञेऽप्यभावनामात्राद्वेऽन्यत्रोपयुज्यते ।
 न तृणं न च त्रैलोक्यमिति स्वायत्ततात्र या ॥ १४ ॥
 स्वायत्त एव चैषोऽर्थो दुःसाध्यो भावनास्थितः ।

यद्यत्र साध्यते पुंसा तत्कथं केव लभ्यते ॥ १५ ॥
 निर्विकल्पाद्वितीया चिदासौ सकलगा सती ।
 परमैका परा साच्छा दीपिका तेजसामपि ॥ १६ ॥
 सैषावभासनकरी सर्वगा नित्यनिर्मला ।
 नित्योदिता निर्मनस्का निर्विकारा निरक्षना ॥ १७ ॥
 घटे पटे वटे कुड्ये शकटे वानरे खरे ।
 वसुरे सागरे भूते नरे नाने च संस्थिता ॥ १८ ॥
 साक्षियत्तिष्ठति सती स्पन्दते न च कुत्रचित् ।
 दीपः प्रकाशनायैव करोति न पुनः क्रियाम् ॥ १९ ॥
 मलिनाप्यमुनैषा साऽविकल्पाद्या विकल्पिनी ।
 जडेवाप्यजडाभासा न सर्वा सर्वगैव च ॥ २० ॥
 निर्विकल्पा परा सूक्ष्मा चिच्चिनोति स्वसंविदम् ।
 वातावाताङ्गमर्मादि यथा यन्मादिवेष्टने ॥ २१ ॥
 रूपालोकमनस्कारवलिता चिदबोधतः ।
 बोधतश्चैव भवति निद्रां सदसती यतः ॥ २२ ॥
 सा परैव चिदत्यच्छा चिन्तामायाति चेतनात् ।
 साधुरेव यथाऽसाधुर्भाविते दुर्जनैषणाः ॥ २३ ॥

निषेधादेव चिति चक्षुरादिप्रयुक्तदृश्यदर्शनदृष्टरूपत्रिपुटीनिषेधो-
 ऽपि सिद्ध इत्याह—नेत्यादिना । इति चिति ॥ ६ ॥ चित्तिवृत्ति-
 येतनस्तदाश्रयथेत्यानि तद्विषयाः । आदिपदान्मन्त्रमतिमन्त्र-
 युद्धिबोधबोद्धव्या अहंकरत्रहंकारहंकार्याणि गृह्यन्ते ॥ ७ ॥ तत्त्वं
 परोक्षवस्त्वन्तरत्वम् । आदिपदात्तदाश्रयतथाप्यतत्संबन्धा गृ-
 ह्यन्ते ॥ ८ ॥ नाना जीवभेदा अनाना प्रतिदेहमात्रभेदाद्या-
 साध्यापि न । अणो अन्तः सुमेरव इव । शब्दा नामानि, अर्थ-
 रूपाणि तेषां शब्दश्री कथापि नास्ति ॥ ९ ॥ 'अथात आदेशो
 नेति नेति' इत्यादयः शास्त्रीयसर्वदृश्यनिषेधा अपि तत्त्व-
 प्रदर्शनपर्यन्तमेव । दृष्टे तु चित्तत्वे प्रतियोग्यप्रसिद्धेऽपि न
 सम्भवन्तीत्याह—नेतीति । वस्त्वतिरिक्तौ वस्तुताऽवस्तुताद्वय-
 धर्मावपि न स्तः ॥ १० ॥ शिलायाः कोशे गर्भे । खे यथा
 प्रसिद्धा महती शून्यता अशून्यता च केवलं केवलीभावलक्षणा
 स्वरूपस्त्वच्छतैव विमर्शे अवशिष्यते नाणुमात्रमपि भिन्ना तथा
 चित्तपीति परेणान्वयः ॥ ११ ॥ ननु तर्हि हिरण्यगर्भात्मकं
 समाष्टचित्तमेवासाक्षितः सर्वानर्थहेतुर्दोषः । यस्मात्त एव
 निमित्ताच्चतुर्विधशरीरेषु जातया अनया एतत्सारदुःखमवा-
 प्यते । न च तदस्माभिरुच्छेत्तुं शक्यमित्याशङ्क्याह—न चित्ता-
 दिति । चिद्विषयचित्तो दोषभूतात् कस्य हिरण्यगर्भस्य चित्ता-
 निमित्ताज्जातया एतद्दुःखमवाप्यत इति न किंतु तेन सूत्रा ये
 देहेन्द्रियविषयास्तेषु सर्वैर्जहंममिति सत्या इति च भावनामात्रे-
 णायं प्रकृतः संसारलक्षणोऽनर्थः स्थित इत्यर्थः ॥ १२ ॥ अत
 एव तत्त्वज्ञे अभावनामात्रादुपशान्त्यतीत्याह—तज्ज्ञेऽपीति
 ॥ १३ ॥ अत एव तृणमिवापवदितुं शक्योऽपि त्रैलोक्यपदार्थो
 भावनामल्लेखवत्त्वविदा दुःसाध्यः स्थित इत्याह—न तृण-
 मिति ॥ १४ ॥ नन्वतिसुष्ठो भावनात्यागः स्वत एव कृतो

न सिध्यति तत्राह—यद्यदिति । तृणमात्रस्यापि करप्रसारण-
 यत्नं विना लाभादर्शनादिति भावः ॥ १५ ॥ भावनामात्रत्यागे
 परमपुरुषार्थरूपा परमार्थचित्सर्वत्र सुलभेत्याश्रयेन तां वर्ण-
 यति—निर्विकल्पेत्यादिना ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ यथा दीपः
 पदार्थप्रकाशनाय स्वरूपस्थित्यैव प्रभवति न तु कंचन क्रिया
 करोति तद्विदपीत्यर्थः ॥ १९ ॥ एषा एवंप्रभावापि सा चित्
 अमुना देहादिभावनेनैव अमलिनापि मलिना संपन्ना । एवमवि-
 कल्पाद्यापि विकल्पिनीति सर्वत्र योज्यम् ॥ २० ॥ इदानीं
 सर्वगतायाः सूक्ष्मतमायाश्चित् एकैकस्मिन्देह एव आनन्ताप्रं
 विशेषव्याप्तिरक्षणे उपचये युक्तिमाह—निर्विकल्पेति । निर्वि-
 कल्पा विशेषाभिमानादिविकल्पास्पर्शिनी परा सर्वगता सूक्ष्मा
 चित् वाते प्राणप्रधाने लिङ्गदेहे आवाता प्रतिबिम्बभावेनानु-
 गता सती अङ्गानि हस्तपादादीनि भर्माणि हृदयादिस्थानानि
 आदिपदादिसप्ततिसहस्रनाभीमेवं च व्याप्य सर्वगतां स्वसंविदं
 तावन्मात्रे आकृष्येव चिनोति उपचयं नयति । यथा दीर्घसू-
 क्ष्मकौशेयादितन्तुस्तर्कुवद्वादिस्त्रीवेष्टने अतिदीर्घमपि स्वं ताव-
 न्मात्रे उपसहस्रं बदराद्याकारमुपचयं नयति तद्वदित्यर्थः
 ॥ २१ ॥ अत एव जाग्रतः पुरुषस्य चिद्वही रूपाद्यालोकनैरन्त-
 र्मनस्कारैश्च वलिता सती बोधतो बोधपक्षे भवति । निद्रां
 यतो गच्छतस्तु स्वप्ने वासनाभयरूपालोकमनस्कारवलिता सती
 अन्तर्बोधतो बहिस्त्यबोधत इति पक्षद्वयेऽपि भवति । सुषुप्तौ
 त्वज्ञानमात्रसाक्षित्वाच्च किञ्चिदवेदिषमित्युत्थितस्य परामर्शाच्च
 सदसती सत्यप्यसत्प्राया अवोधपक्ष एव भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥
 सा अत्यच्छा ब्रह्मचिदेव देहाद्यात्मता चेतना तदनुकूलप्रति-
 कूलप्राप्तिपरिहारचिन्तामायाति । यथा साधुरेव दुर्जनसंगत्या
 चिरं चित्ते भाविते संस्कृते सति दुर्जनैषणाः प्राप्य असाधु-

मलेन स्वर्णमायाति ताम्रतां मलमार्जनात् ।
 पुनः कनकतामेति यथा चित्परमा तथा ॥ २४
 स्वारोपशान्त्या स्वादर्शो यथैति प्रतिमास्थितिम् ।
 तथा सर्गमिवागम्य बोधात्स्वं याति तत्पदम् ॥ २५
 अभाववेदनादस्याः संसारः संप्रवर्तते ।
 स्वभाववेदनादेष त्वसदेवोपशान्त्यति ॥ २६
 यदा चित्वाचिनोत्यन्तरन्यतामसतीं तदा ।
 अहंतामिव संप्राप्य नश्यतीवाप्यनाशिनी ॥ २७
 ईषत्स्पन्दादधो याति भृगुप्रान्तात्तरोः फलम् ।
 यथा तथैष संवित्तेरधःपातो महानिव ॥ २८
 रूपादीनां तु सत्तैषा चित् एवामलैव चित् ।
 द्वित्वैकत्वे त्वबोधोत्थे बोधेन विलयं गते ॥ २९
 सत्तामात्रेण चित्तस्य बोधश्चित्तेन्द्रियादिषु ।
 आलोकसत्तामात्रेण व्यवहारः क्रियास्त्विव ॥ ३०
 वातात्कनीनिकास्पन्दस्तदीप्तिर्दृष्टिरुच्यते ।
 तद्वाह्यवति तद्रूपरूपबोधस्तु चित्परा ॥ ३१
 त्वद्वाह्यवतौ जडौ तुच्छौ तत्सङ्गः स्पर्श उच्यते ।
 मननं स्पर्शसंवित्तिस्तत्संवित्तिस्तु चित्परा ॥ ३२

गन्धतन्मात्रपवनसंबन्धो गन्धसंविदः ।
 आसां तु मनसा हीनं वेदनं परमैव चित् ॥ ३३
 शब्दतन्मात्रश्रवणवातसङ्गान्मनो विना ।
 सुषुप्तसदृशी संवित्परमा चिदुदाहृता ॥ ३४
 क्रियोन्मुखत्वं संकल्पात्संकल्पो मननक्रमः ।
 मननं चित्तकालुष्यमात्मा चित्रिर्मला भवेत् ॥ ३५
 चित्प्रकाशात्मिका नित्या स्वात्मन्येवावसंस्थिता ।
 इदमन्तर्जगद्धत्ते सन्निवेशं यथा शिला ॥ ३६
 अद्वितीया दधानेदं विकारादिविवर्जितम् ।
 नास्तमेति न चोदेति स्पन्दते नो न वर्धते ॥ ३७
 संकल्पाज्जीवतामेत्य निःसंकल्पात्मनात्मना ।
 विज्जडं नो जडं भावं भावयन्ती स्वसंस्थिता ॥ ३८
 रथस्त्वस्याश्चित्तेर्जीवो जीवस्याहंकृती रथः ।
 अहंकृते रथो बुद्धिस्ततो बुद्धेर्मनो रथः ॥ ३९
 मनसस्तु रथः प्राणः प्राणस्याक्षगणो रथः ।
 अक्षौघस्य रथो देहो देहस्य स्पन्दनो रथः ॥ ४०
 स्पन्दनं कर्म संसारे जरामरणपञ्जरम् ।
 एवं प्रवर्तितं चक्रमिदमादिविभूतिजम् ॥ ४१

भवति तद्वदित्यर्थः ॥ २३ ॥ अत एव पुनर्ब्रह्मात्मताभाविते
 चित्ते स ब्रह्मैव भवतीत्याशयेन दृष्टान्तमाह—मलेनेति ॥ २४ ॥
 यथा शोभन आदर्शो दर्पणः स्वारोपितमलस्य मार्जनेन शान्त्या
 प्रतिमास्थितिं पुनः पुनः प्रतिविम्बाभिव्यक्तियोरयां स्थितिं स्वच्छ-
 तामेति तद्वद्विदप्यज्ञानजडजीवभावादिसर्गमिवागम्य । 'वा-
 त्यपि' इत्यनुनासिकलोपविकल्पः । आगत्य स्थिता तत्त्वबोधात्-
 त्वैवत्यपदं यातीत्यर्थः ॥ २५ ॥ अभावः असदज्ञानं तद्वेदनात्
 ॥ २६ ॥ अन्यतां मेदम् । 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य मयं
 भवति' इति श्रुतेरिति भावः ॥ २७ ॥ ईषत्स्पन्दाद्वन्तवियोज-
 कप्रच्युतिमात्रात् । भृगुर्गिरितटं तत्प्रान्तात् । एष जीवभावः
 ॥ २८ ॥ चित् एवेति । अध्यस्तस्याधिष्ठानव्यतिरिक्तसत्त्वाभा-
 वादिति भावः । द्वित्वैकत्वे मेदाभेदाभ्यासौ ॥ २९ ॥ चित्तस्य
 चित्तसाक्षिणः ॥ ३० ॥ सामान्येनोक्तं विशिष्य चक्षुरादिषु
 विभज्योपपादयंश्चित एव सर्वत्र फलीभावं दर्शयति—वाता-
 दित्यादिना । चित्संनिधिप्रेरिताद्वातात् व्यानवायोर्निमित्ताच्चक्षुः-
 कनीनिकयोः स्पन्दो भवति । तस्यां स्थिता दीप्तिस्त्वैजसमिन्द्रियं
 दृष्टिश्चक्षुरित्युच्यते । तथा कुल्याद्वारा जलमिव बाह्यं बहिःप्रा-
 पणीयं यदन्तःकरणं तद्वति तद्व्याप्ते घटादौ तद्रूपस्य तत्समाना-
 कारस्य रूपस्य नीलपीतादेर्घटाद्याकारस्य च यो बोधः सत्ता-
 प्रथा सा परा चिदेवेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ एवं स्पर्शनत्रिपुटीस्थ-
 लेऽपि त्वद्वाह्यवतौ जडौ तुच्छौ स्वतःसत्तास्फूर्तिशून्यौ । अतश्चि-
 दधीनसत्तास्फूर्तिबलादेव तयोः सङ्गः स्पर्शेन्द्रियकल्पनानिमि-
 त्तत्वात्स्पर्श उच्यते । तद्वारा तत्संयुक्तशीतोष्णादिद्रव्येषु मननं

तदाकारा मनोवृत्तिः स्पर्शसंवित्तिरित्युच्यते । तत्संवित्तिस्त्वदव-
 च्छिन्ना विषयान्तत्रिपुटीप्रथा तु परा साक्षिचिदेवेत्यर्थः ॥ ३२ ॥
 एवं घ्राणेन्द्रियात्मना गन्धात्मना च विभक्तस्य गन्धतन्मात्रस्य
 नासाप्रवेशिपवनेन कृतः संबन्धो गन्धसंविदां गन्धाकारान्तः-
 कारणवृत्तीनां निमित्तत्वाद्वन्धसंविदः । आसां त्रिपुटीनां मनसा
 हीनं विविक्तं यत्प्रथालक्षणं वेदनं सा परमा साक्षिचिदेवेत्यर्थः
 ॥ ३३ ॥ एवं शब्दतन्मात्रस्य श्रवणेन्द्रियस्य व्यानवातस्य च
 सप्ताद्रुत्पत्त्या मनोवृत्तयः शब्दसंवित्तयस्तासु मनोःशं विना विहाय
 सुषुप्तसदृशी निर्विकारा या साक्षिसंवित्सा परमा चित् ।
 एवं रासनत्रिपुटीसाक्षिचिदपि विविच्य द्रष्टव्येति भावः
 ॥ ३४ ॥ एवं कर्मेन्द्रियप्रवृत्तिनिमित्तसंकल्पात्मकमनोवृत्ति-
 तन्मालिन्यसाक्षितयाप्यात्मविद्विवेचनीयेत्याह—क्रियोन्मुख-
 त्वमिति ॥ ३५ ॥ एवं चान्तर्बहिश्च सर्वद्वैतस्फूर्तः साक्षिचिन्मा-
 त्मात्मकत्वे सर्वं द्वैतं तस्यामेवाध्यस्तमिति फलितमित्याह—चि-
 दिति । यथा स्फटिकशिला स्वान्तर्गतं वनगिरिनद्यादि प्रतिवि-
 म्बसंनिवेशं धत्ते तद्वत् ॥ ३६ ॥ विकारादिविवर्जितमिति
 क्रियाविशेषणम् । अधिष्ठानतत्त्वात्मना विकारादिविवर्जितमिति
 वा ॥ ३७ ॥ चित् जडं जगत् नो जडमजडं वास्तवभावं
 भावयन्ती सती स्वयं स्वरूपे स्थिता भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥
 इदानीं चितो बहिःसंसरणे रथपरम्परां कल्पयन्नाह—रथ इति
 द्वाभ्याम् ॥ ३९ ॥ स्पन्दनः कर्मेन्द्रियगणः ॥ ४० ॥ सर्वेषा-
 मपि रथानां संसारे स्पन्दनं भ्रमणमेव कर्म । साध्यमित्यर्थः ।
 जरामरणोपलक्षिता देहा एव पञ्जराणि यत्र तथाविधं जीवस्व-
 गदोल्लसकं आदेर्मूलकारणस्येश्वरस्य विभूत्या मायैश्वर्येण

प्रतिभासत एवात्मन्यसत्त्वम् इवाततः ।
 मनागपि न सत्यात्म मृगतृष्णाभ्रुवत्स्थितम् ॥ ४२
 रथस्त्वत्र स्मृतः प्राणः कल्पनाया मुनीश्वर ।
 यत्र प्राणमरुत्तत्र मननं परितिष्ठति ॥ ४३
 आलोकश्रीः स्थिता यत्र रूपं तत्रैव राजते ।
 प्राणो चली स्थितो यत्र तदेव परिवेषति ॥ ४४
 यत्प्रयाति घनं वात्या तदेव परिघूर्णते ।
 मनस्याकाशसंलीने न प्राणः परिवेषति ॥ ४५
 तेजस्यसत्तामायाते न रूपमिव राजते ।
 प्राणे प्रशान्ते भवति मनोन्तर्न मनागपि ॥ ४६
 वात्यायामुपशान्तायां रजो न परिकल्पते ।
 यत्र प्राणो मरुद्याति मनस्तत्रैव तिष्ठति ॥ ४७
 यत्र यत्रानुसरति रथस्तत्रैव सारथिः ।
 प्राणसंप्रेरितं चित्तं याति देशान्तरे क्षणात् ॥ ४८
 क्षेपणोन्मुक्तपाषाण इव तत्रान्यथा क्षयि ।
 यत्र पुष्पं तत्र गन्धो यत्राग्निस्तत्र सोष्णता ॥ ४९
 यत्र प्राणो मरुद्याति यत्रेन्दुस्तत्र तच्छविः ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे ब्राह्मीकीये दे० शोकोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० मनःप्राणैक्यप्रतिपादनं नामैकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

संवित्तिः पवनस्पन्दान्नाडीसंस्पर्शनश्च सः ॥ ५०
 संवित्तिस्फारता चित्तं मनस्तत्प्राणकोटरे ।
 सर्वत्र विद्यते संविद्योमस्वच्छा जडाजडे ॥ ५१
 क्षुब्धयन्तीव तु सा प्राणस्पन्दादित्यनुभूयते ।
 सत्तामात्रस्वरूपेण जडेषु समवस्थिता ॥ ५२
 प्राणसंबोधिता वेत्ति वेदनात्मतया जडे ।
 नानास्फारसमुल्लासैर्यः पूर्वं परिवर्णाति ।
 प्राणेऽतीते त्वमननः स एवाशु न वेपति ॥ ५३
 पुर्यष्टके चित्परमा स्वे मुने प्रतिविम्बति ।
 आदर्श एव प्रतिमा दृश्यते नोपलादिषु ॥ ५४
 मनः पुर्यष्टकं विद्धि सर्वकार्यैककारणम् ।
 तदैव मेदैः कथितमन्यैः स्वाशयकल्पितैः ॥ ५५
 यस्मादुदेति कलनाकुलदृश्यजालं
 यत्तत्र च स्थितवदित्यनुभूतमुच्चैः ।
 यस्मान्मनो विपरिवर्तति देहदृष्ट्या
 सर्वं तु तत्परमवस्त्विति विद्धि विश्वम् ॥ ५६
 सर्वं तु तत्परमवस्त्विति विद्धि विश्वम् ॥ ५६

द्वात्रिंशः सर्गः ३२

ईश्वर उवाच ।

मुनेऽश्रुणु कथं कार्यकारिणी स्पन्दशालिनी ।

जातम् ॥ ४१ ॥ मायिकत्वमेवोपपादयति—प्रतिभासत इति ॥ ४२ ॥ मनसस्तु रथः प्राण इति यदुक्तं तत्र वक्ष्यमाणार्थो-
 पयुक्तं विशेषं ब्रह्ममुपपत्तिमाह—रथ इति । कल्पनाया मान-
 सकल्पनाया निमित्तत्वादिति शेषः । तदेव दर्शयति—यत्रेत्या-
 दिना ॥ ४३ ॥ वली सूत्ररूपत्वात्सर्वधारणचालनसमर्थः ॥ ४४ ॥
 एवंमनसोऽपि प्राणक्रियानिमित्तत्वमस्तीति व्यतिरेकमुखेनाह—
 मनसीति । आकाशे हार्दाकाशे संलीने सति ॥ ४५ ॥ रूपं
 यथा न राजते तद्वदित्यर्थः । एवं प्राणनिरोधादपि मनो निरु-
 द्ध्यत इत्याह—प्राणे इति ॥ ४६ ॥ अत एव तस्य तद्रथत्वमु-
 क्तमित्याह—यत्रेति ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ क्षेपणं यन्त्रविशेषः ।
 अन्यथा प्राणनिरोधे मनः क्षयि । क्षीयत इत्यर्थः ॥ ४९ ॥
 प्राणः समष्टिव्यष्टिरूपः । इन्दुश्चन्द्रस्वर्दशभूतं मनश्च । छविश्च-
 न्द्रिका मनोवृत्तयश्च । अत एव चाक्षुषादिसंवेतिषु प्रत्येकं वा-
 योरपि निमित्तता प्राक्योपदर्शितेत्याशयेनाह—संवित्तिरिति ।
 सर्वाङ्गेष्वन्नरसप्रवेशार्थं सर्वनाडीसंस्पर्शनश्च स पवनः ॥ ५० ॥
 चित्तमनोघटितलिङ्गशरीरात्मके तस्मिन् प्राणकोटरे चित्तो वि-
 म्वप्रतिविम्बभावेन द्विगुणीकरणेन स्फारतापि तत्तस्मादेवोप-
 ज्ञेयाह—संवितीति ॥ ५१ ॥ तत्रोपपत्तिमाह—क्षुब्धयन्ती-
 वेति । स्फुटाभिव्यक्त्या संचलन्तीव यतो लिङ्गे चिदनुभूयते
 इत्यर्थः ॥ ५२ ॥ जडेऽपि देहे प्राणसंबोधिता सती सर्गादिवे-

चरन्ती च तनुं पुंसासुपैति परमाभिधाम् ॥ १

दनात्मतया आध्यासिकचित्तादात्म्यबलेन वेत्ति । यो देहः पूर्वं
 जीवनदशायां परिवर्णाति व्यवहरति स एव न वेपति न
 कम्पते ॥ ५३ ॥ 'भूतान्तःकरणप्राणज्ञानकर्मेन्द्रियैर्युतम् । अ-
 विद्याकामकर्माब्धं लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः ॥' तस्मिन्पुर्यष्टके ॥ ५४ ॥
 ननु प्राणनिमित्तो मनसि चित्प्रतिविम्ब उक्त इदानीं तु पुर्यष्टके
 स उच्यते तत्कथं न विरोधस्तत्राह—मन इति । अन्यैराचार्यैः
 स्वाशयकल्पितैः शिष्यबोधनोपायैः ॥ ५५ ॥ इदानीं जीवतदु-
 पाधितझोष्यलक्षणस्य विश्वस्योत्पत्तिस्थितिलयेषु चिदेकरसस-
 न्मात्रब्रह्माधीनत्वात्परमार्थतो ब्रह्मैव तदित्यनुभावयनुपसंहर-
 ति—यस्मादिति । यस्मादेतोस्तत्र चित्तेवोदेति । यद्यस्मात्
 त्रैव स्थितवत् । चकारात्तत्रैव लीयते । यस्मादेतोर्मन एव देह-
 दृष्ट्या विपरिवर्तति भ्रमति । छान्दसं परस्मैपदम् । तत्तस्मा-
 द्विश्वं परमवस्तु ब्रह्मैव नान्यदिति विद्मीत्यर्थः ॥ ५६ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 मनःप्राणैक्यप्रतिपादनं नामैकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

विचेष्टयति देहादि यथा पुर्यष्टकं गता ।

यथा देहान्तरं याति तत्सर्वमिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

परमा चित् प्राणुक्तरीत्या पुंसां तनुं पुर्यष्टकं चरन्ती प्रविष्टा
 सती कथं कथा रीत्या कार्याणि ऐहिकपारलौकिककर्माणि करोति
 तच्छीला, कथं च तदनुकूलदेहादिस्पन्दशालिनी सती अभिधां
 जडेऽपि देहः प्राणसंबोधितः सन्नित्यादिभ्यांस्वापाठस्यान्यत्र.

प्राक्तनैस्तैर्निहन्त्येव स्वमनोमननेहितैः ।
 कर्मवातैर्विचित्रैः परिपीवरतां गतैः ॥ २
 मनस्तथा गता शक्तिः सज्जडेवागता चित्तेः ।
 सा स्फुरत्यनया ब्रह्मबुचिता शक्तिभूतया ॥ ३
 अस्याः प्रसादादिह सा चित्कलङ्कवती मुने ।
 जगद्रन्धर्वनगरं करोति न करोति च ॥ ४
 चित्ताद्यसत्तया देहो मूकस्तिष्ठति कुड्यवत् ।
 तत्सत्तया हि स्फुरति नभःसंप्रेरिताश्मवत् ॥ ५
 यथा स्फुरत्यतिजडमयोऽयस्कान्तसंनिधौ ।
 तथा स्फुरति जीवोऽयं सति सर्वगते परे ॥ ६
 सर्वस्थयात्मशक्त्यैव जीव एष स्फुरत्यलम् ।
 मुकुरो बिम्बमादत्ते द्रव्यात्मन्यस्थितादपि ॥ ७
 प्रविस्मृतस्वभावत्वाज्जीवोऽयं जडतां गतः ।
 मोहाद्विस्मृतभावत्वाच्छ्रुतामिव सद्भिजः ॥ ८

चलति स्नाति मुक्ते यजते ब्राह्मणः क्षत्रियो देवदत्त इत्यादि-
 शब्दाभिलाषयोग्यतां उपैति तत्सर्वं कथयामि शृण्वित्यर्थः
 ॥ १ ॥ देहस्पन्दे चित्प्रतिबिम्बजीवचलनं हेतुस्तच्चलने
 च तदुपाधिपूर्यष्टकरूपमनस्तया परिणता वास्तवचित्स्वभावति-
 रोधात्री मायाशक्तिर्हेतुस्तस्या मनोरूपेण परिणतौ पूर्वपूर्वदेहा-
 न्तपरिणामसंचितकर्मशारेव हेतुः । बृहदारण्यके—‘कर्म हैव
 तदूचतुः कर्मैव तत्प्रशंसतुः’ इति प्रहातिप्रहरूपबन्धहेतुत्वस्य
 कर्मस्वेव व्यवस्थापनादित्याशयेनाह—प्राक्तनैरित्यादिना । शक्ति-
 रनादिमायारूपा ब्रह्मशक्तिः । स्वावरणशक्त्या स्वाश्रयं ब्रह्म-
 निहन्त्येव नास्ति न भातीति प्रतीतियोग्यतां नीत्वा प्राक्तनैर-
 नादिकालादारभ्य संचयात्परिपीवरतामतिपुष्टतां गतैर्विचित्रै-
 र्हेतुविधकामवासनान्वितैर्मनैस्त्वैर्मनसैरीहितैः कायवाक्चेष्टा-
 रूपैश्च विहितनिषिद्धकर्मवातैर्निमित्तैर्मनस्तया पुर्यष्टकात्मकमनो-
 भावेन गता परिणता सती चित्तेः स्वाधिष्ठानचित्सत्तातश्चि-
 दिव स्वस्वभावबलाज्जडेव मिश्रभावमागता भूत्वा ज्ञानकर्मव्य-
 वहारोचिता सती स्वशक्तिभूतया अनया ज्ञानकर्मेत्रियादिप्र-
 णाज्या सा मायाशक्तिरेव द्रष्टृदर्शनदृश्यादिनवविधसंसाररूपेण
 स्फुरति नृत्यति नान्यत्किंचिदिति द्वयोरर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥
 अस्या मायाशक्तैः अविचारलक्षणाद्विचारलक्षणाच्च प्रसादात्क-
 मात्करोति न करोति चेति संबन्धः ॥ ४ ॥ तर्हि ब्रह्मचित्सं-
 निधानादेह एव सर्वं करोतु किं चित्तादिकल्पनया तत्राह—
 चित्तादीति । आदिपदान्मनोबुद्ध्यहंकारपरिग्रहः ॥ ५ ॥ जीवस्य
 प्राणकर्मैन्द्रियव्यापारेषु ब्रह्म संनिधिमात्रेण साधारणं निमित्त-
 मित्याह—यथेति ॥ ६ ॥ बुद्ध्यादिप्रथायां ज्ञानेन्द्रियप्रयो-
 जनेषु च प्रतिबिम्बार्पणेनासाधारणं निमित्तमित्याशयेनाह—

प्रविस्मृतस्वभावा हि चिच्चित्तत्वमुपागता ।
 मोहापहतचित्तत्वात्सुमहानिव दीनताम् ॥ ९
 जडयाऽवशया देहो वातशक्तिसमानया ।
 संचाल्यते तदनया वारीव वीचिमालया ॥ १०
 कर्मात्मना वराकेण जीवेन मनसामुना ।
 चाल्यन्ते देहयन्त्राणि पाषाणा इव वायुना ॥ ११
 शरीरशकटानां हि कर्षणे परमात्मना ।
 मनःप्राणोदयौ ब्रह्मकृतौ कर्मकृतौ दृढौ ॥ १२
 चिज्जडं तुररीकृत्य रूपं जीवत्वमेत्य च ।
 मनोरथमुपावृह्य बहत्प्राणतुरंगमम् ॥ १३
 कचिज्जातपदार्थत्वं कचिन्नष्टपदार्थताम् ।
 कचिद्बहुपदार्थत्वं कचिदेकपदार्थताम् ॥ १४
 गतेव भिन्नेवास्येवमत्यजन्ती निजं पदम् ।
 जलतेव तरङ्गत्वं सैवासदसदोदिता ॥ १५

सर्वस्थयेति । आत्मरूपया चिच्छक्त्यैव स्फुरति स्वपरप्रथास-
 मर्थो भवति । ननु भौतिकत्वाद्ब्रह्मस्वभावे स्थितं जीवोपाधि-
 भूतं लिङ्गमद्रव्यस्वभावाद्ब्रह्मणः संकाशात्कथं प्रतिबिम्बमादत्ते
 द्रव्ये द्रव्यस्यैव प्रतिबिम्बननियमदर्शनादिति चेत्तत्राह—मुकुर
 इति । मुकुरेण द्रव्यस्वभावे अस्थितादपि गुणक्रियाजालादेः
 प्रतिबिम्बादावदर्शनात्त द्रव्यादेव प्रतिबिम्बो ग्राह्य इति नियम
 इत्यर्थः ॥ ७ ॥ यदि ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीवस्तर्हि कथं तस्य
 अज्ञाननिद्रालस्यादिजाज्यानुभवः । न हि सूर्यप्रतिबिम्बे अभा-
 खरतासंभव इत्याशङ्क्याह—प्रविस्मृतेति ॥ ८ ॥ चित्तत्वं चित्त-
 धर्मं जाड्यमालिन्यादि । सुमहान् गाधिलवणहरिधन्नादिरिव
 ॥ ९ ॥ चित्तादात्म्याभ्यासाच्चित्तधर्मदैव्यादिप्राप्तित्वप्राणतादा-
 त्म्याभ्यासात्तद्धर्मदेहसंचलनहेतुत्वमप्यस्याः सिद्धमित्याह—जड-
 येति । वातशक्तिः प्राणस्तत्तादात्म्यापत्त्या तत्समानतया
 ॥ १० ॥ कर्मात्मना उक्तरीत्या क्रियास्वभावत्वमापन्नं मनसा
 मननशक्तिमता । उपाधिपारवश्याद्वराकेणाल्यन्तदीनेन । यथा
 नौकास्तम्भनिबद्धदीर्घपटाद्युपाधिपरवशेन वायुना नौकास्थाः
 पाषाणा अभिमर्तं देशं प्रति चाल्यन्ते तद्वत् ॥ ११ ॥ मनः-
 प्राणोदयौ मनःप्राणशक्तिकर्मकृतौ श्रुतौ बलीवदौ वा ॥ १२ ॥
 स्वाप्नव्यवहारसाधारण्याय मनस एव रथत्वं कल्प्यम्, मुख्यामुख्य-
 प्राणानां तु तुरङ्गमत्वमित्याशयेनाह—चिदिति ॥ १३ ॥
 कचित् जाग्रत्स्वप्नयोर्जातपदार्थत्वमाविर्भूतपदार्थत्वं बहुपदार्थत्वं
 च । कचित्सुषुप्ते नष्टपदार्थतां तिरोभूतसर्वपदार्थतां अविद्यैकप-
 दार्थतां च गते वेति परेणान्वयः ॥ १४ ॥ किं सा दुग्धं दधि-
 भावेनेव जीवजगद्भावेन परिणामान्नष्टा नेत्याह—अस्तीति ।
 एवं परिणतापि निजं पारमार्थिकं वपुः स्वरूपमत्यजन्ती सती

निर्णयसागरीयबृहदारण्यके तृतीयाध्याये द्वितीयब्राह्मणान्ते समुप-
 लभ्यते, पूर्वसंशोधकैस्तु पञ्चमाध्यायगतेति यदुक्तं तत्प्रमादविलसित-
 मिति मन्यामहे । तृतीयटिप्पण्यां च हेतुव्यतिपदमादर्शाधारेणा-
 सद्भिर्विनिवेशितम्,] ४ प्रहाः प्राणजिह्वावाक्चक्षुःश्रोत्रमनोहस्त-
 त्वचः । अतिग्रहा अपानरसनामरूपशब्दकामकर्मस्पर्शसंज्ञाः,

१ पदमित्यत्र वपुरिति पाठो व्याख्यानगुणः स्यात्. २ बृहदार-
 ण्यके पञ्चमाध्याये द्वितीये ब्राह्मणे. ३ तत्रत्र विचारावस्थायामेकान्ते
 स्थित्वा कर्म हैवाश्रयं पुनःपुनः कार्यकरणोपादानहेतुमूचतुः । न
 केवलमूचतुरपि तु कालेश्वराद्यभ्युपगतेषु हेतुषु यत्तौ प्रशंसतुः
 कर्म हैव तत्प्रशंसतुरिति, [४ द्वितीयटिप्पणीनिर्दिष्टा छुतिस्तु

उपजीव्यात्मनो रूपं परं स्फुरति धृत्तिषु ।
 आलोकमुपजीव्येयं रूपश्रीर्दृश्यगा यथा ॥ १६
 परमात्मनि चित्तत्वे स्थिते सति निरामये ।
 जीवो जीवति सालोकं दीपे सति गृहं यथा ॥ १७
 आधयो व्याधयश्चैव प्रयान्त्यस्य प्रपीनताम् ।
 अपामिव तरङ्गत्वं बीचित्वस्येव फेनता ॥ १८
 आधिव्याधिभिराकीर्णशरीराम्भोजपट्टपदः ।
 जीवो वैषम्यमायाति तरङ्गत्वे यथा पयः ॥ १९
 चिच्छक्तिः सर्वशक्तिवान्नाहं चिदिति भावनात् ।
 अत्र सैवेति वैचक्ष्यं सूर्यो दीप्तैरिवाम्बुदैः ॥ २०
 वैचक्ष्यान्वयवती मौढ्याच्च विन्दत्यात्मसंविदम् ।
 घनजाड्यपराभूतः स्वाङ्गावदलनं यथा ॥ २१
 प्राप्य चाप्यनुसंधानमस्या मोहो विनश्यति ।
 घनमोहरतो जन्तुः स्वकार्यस्मरणं यथा ॥ २२
 यदाङ्गसंविदां वातस्पन्दशक्तिः प्रमोषतः ।
 न करोत्यनुसंधानं कुप्री स्पन्दैषणं यथा ॥ २३
 लसंविच्छस्पन्दतो देहे पद्मपत्रं हृदि स्थितम् ।
 न स्फुरत्यपरामृष्टं दारुपात्रं यथा बहिः ॥ २४
 निःस्पन्दे पद्मपत्रेऽन्तः प्राणाः शान्तिं प्रयान्त्यमी ।
 तालवृन्ते यथाऽस्पन्दे बहिः पवनशक्तयः ॥ २५

तत्त्वदशा असज्जाप्रदिष्ट व्यवहारदशाप्यसत्त्वम इव च आ-
 उदिता ईषद्विकसितेल्यर्थः ॥ १५ ॥ आत्मन्यध्यस्तत्त्वादेवात्म-
 सत्तामेवोपजीव्य मनोवृत्तिप्रतिकलितात्म चिद्वलेनैव मनोरूपं
 जीवजगत्प्रथत इत्याह—उपजीव्येति ॥ १६ ॥ चिदेव
 तत्त्वं पारमार्थिकं रूपं यस्य तथाविधे ॥ १७ ॥ एवं देहचेष्टा-
 हेतुता चित उपपादिता । इदानीं तस्या देहान्तरप्राप्तिप्रकारं वक्तुं
 वैराग्याय च देहनिमित्तदुःखानि प्रपञ्चयति—आधय इत्या-
 दिना ॥ १८ ॥ वैषम्यं दैन्यदुःखादि ॥ १९ ॥ अत्र देहे ।
 यथा सूर्यो दीप्तैः स्वप्रकाशितैरेवाम्बुदैर्मैत्रोधानम्लानिज-
 णिततत्त्वादिवैचक्ष्यं द्रष्टव्या एति तद्वत् ॥ २० ॥ च्यवती ज्ञाना-
 नधिकृतयोनिष्ववतरन्ती । 'शपश्यन्ते'पिति तुभोऽभावश्छा-
 न्दसः । यथा घनेन मदिरादिमदजाड्येन पराभूतः पुरुषः खजा-
 दिना स्वाङ्गावदलनं न विन्दति नावुसंधते तद्वत् ॥ २१ ॥
 कदा तर्हि चित्तो मोहो नश्यति तदाह—प्राप्येति । यथा मदा-
 दिघनमोहरतो जन्तुः कालेन स्वकर्मस्मरणं प्राप्य निर्मोहो
 भवति तद्वत् ॥ २२ ॥ इदानीं देहस्यागप्रकारं वक्तुमुपक्रमते—
 यदेति । यदा वातस्य प्राणस्य स्पन्दशक्तिः अङ्गसंविदां आन-
 खाप्राणश्लेष्माविद्वारा प्रविष्टजीवसंविदां हृदि लिङ्गस्योपसंहारेण
 प्रमोषतो निमित्ताद्वस्तुपादादेरनुसंधानं न करोति । यथा कुप्री
 गलितानाममहुत्यादीना स्पन्दैषणं न करोति तद्वत् । तदा हृदि
 स्थितं भुशुण्डोपाख्याने वर्णितं पद्मपत्रं प्राणसंचारादुत्कृतया
 न स्फुरति न कम्पत इति परेणान्वयः ॥ २३ ॥ यथा यद्दे-
 श्चत्विभिरपरामृष्टं दारुपात्रं न स्पन्दते तद्वत् ॥ २४ ॥

प्राणे शान्तेतरस्पदो जीवो निष्पूर्णमूकताम् ।
 याति शान्ते नभोवायौ न दृश्यत्वं यथा रजः ॥ २६
 विरजं विगताधारं मनो हि शिष्यते मुने ।
 तिष्ठत्यात्मपदं लब्ध्वा जलादितरुबीजवत् ॥ २७
 इति वैकल्यमायातैः कारणौघैः समन्ततः ।
 पुर्यष्टके शमं याति देहः पतति निश्चलः ॥ २८
 चिच्छेत्यचेतनान्मोहात्स्पन्दमायान्ति वासनाः ।
 तदीरिता स्मरत्यन्तरन्यद्विस्मरति स्वयम् ॥ २९
 हृत्पद्मपत्रस्फुरणात्स्फुटं पुर्यष्टकं भवेत् ।
 हृत्पद्मयन्त्रे वहनाद्बुद्धे पुर्यष्टकं क्षयि ॥ ३०
 देहे पुर्यष्टकं यावदस्ति तावत्स जीवति ।
 शान्ते पुर्यष्टके देहो मृत इत्युच्यते द्विज ॥ ३१
 विरुद्धमलसंवोधान्छेदमेददशावशात् ।
 न प्रस्फुरति हृत्पद्मयन्त्रमभ्यन्तरे यदा ॥ ३२
 तदा पुर्यष्टकं शान्तिमुपैति गगने शनैः ।
 संरोधिते वातयन्त्रे यथा पवनसंततिः ॥ ३३
 स्वसंवित्तिवशाज्जीवो वैचक्ष्यमुपगच्छति ।
 पद्मयन्त्रं शरीरस्थं प्रचाहं याति नित्यदा ॥ ३४
 वासना विमला येषां हृदयान्नापसर्पति ।
 स्थिरैकरूपजीवास्ते जीवन्मुक्ताश्चिरायुपः ॥ ३५

शान्तिं तेजसि विलयम् । 'मनः प्राणे प्राणस्तेजसि' इति श्रुतेः
 ॥ २५ ॥ रूपोपाधिविलयाग्निरगलं पूर्णं नामोपाधिविलयान्मू-
 कश्च यः करणात्मा तद्भावं याति ॥ २६ ॥ रजोगुणप्रधानस्वा-
 चारप्राणोपरमादेव विरजं विगताधारं च मनोपि सहैव प्राणेन
 करणात्मपदं लब्ध्वा तद्भावेनैव शिष्यते । तर्हि किं सर्वथा
 गतं नेत्याह—तिष्ठतीति । जलादिभूतमात्रोपष्टम्भपार्थिवतरुबी-
 जवत्पुनर्देहाविर्भावोन्मुखं तिष्ठतीत्यर्थः ॥ २७ ॥ स एवास्या
 देहत्याग इत्याह—इतीति ॥ २८ ॥ पुर्यष्टकस्य तर्हि केन
 हेतुनोद्भव इति चेद्धृत्पद्मस्पन्दात्तत्स्पन्दश्च पूर्वपूर्वमोकादिभाव-
 स्मृतेः । सा च वासनास्पन्दाद्वासनास्पन्दे च स्वरूपाज्ञानकृतं
 चित्तश्लेष्माकारचेतनं हेतुरिति तत्त्वोन्मुखत्वाय चित्तश्लेष्माका-
 रता प्रतिपत्तिरुक्षणा बहिर्मुखतैव प्रथमं पौरुषयत्नेन निरोद्ध-
 न्येत्याशयेनाह—चिच्छेत्यचेतनादिति ॥ २९ ॥ वहनाच्चलना-
 द्बुद्धे निश्चले सतीति यावत् ॥ ३० ॥ ३१ ॥ परस्परविरुद्धानां
 वातपित्तकफाख्यानां मलानां रागद्वेषादिवासनामलानां च संवो-
 धात् प्रकोपात्, शस्त्रादिकृतदेहच्छेदभेदादिवशाच्च । अभ्य-
 न्तरे देहमध्ये ॥ ३२ ॥ वातयन्त्रे व्यजनादौ ॥ ३३ ॥ स्वस्य
 संवित्ति संकल्पस्तद्वशात् वैचक्ष्यं मरणादिदुःखसहस्रम् । 'सर्वैक-
 न्यकियत्तदः काले दा'इति दाप्रत्ययविधानाभिलष्येति च्छान्दसम्
 ॥ ३४ ॥ अत एव भोगवासनाशून्येषु तत्सकल्पाभावान्न मृत्युव-
 श्यतेत्याह—वासनेति । विमला रागादिमलरहिता ॥ ३५ ॥

संरुद्धे पद्मयन्त्रे हि प्राणे शान्तिमुपागते ।
 देहः पतत्यधैर्योऽयं काष्ठलोष्टसमः क्षितौ ॥ ३६
 यथैव व्योम मरुति लीनं पुर्यष्टकं भवेत् ।
 तथैव तत्रैव तदा लयमेति मनो मुने ॥ ३७
 सुचिराभ्यस्तभावं तु वासनाखचितं मनः ।
 यत्र तत्र भ्रमत्स्वर्गनरकादि प्रपश्यति ॥ ३८
 शरीरं शवतामेति मनोमारुतवर्जितम् ।
 गते गृहजने दूरं गृहं संशून्यतामिव ॥ ३९
 सर्वगा चिच्छेतनतो जीवीभूय मनःस्थिता ।
 पुर्यष्टकवपुर्भूत्वा साऽऽतिवाहिकदेहिनी ॥ ४०
 तन्मात्रपञ्चकं चित्तं क्रोडीकृत्य व्यवस्थिता ।
 स्वप्नभ्रमवदाकारं भावात्स्थूलं प्रपश्यति ॥ ४१
 दृढभावनया पश्चात्तत्रैव रसशालिनी ।
 आतिवाहिकदेहत्वं विस्मरत्यखिलं क्षणात् ॥ ४२
 असत्येव शरीरेऽस्मिन्कृतकत्रिमभावना ।
 नयत्यसत्यं सत्यत्वं सत्यं चासत्यतामपि ॥ ४३
 सर्वगा हि चिदंशेन जीवीभूयाभवन्मनः ।
 मनः पुर्यष्टकरथमाक्रामति ततो जगत् ॥ ४४
 पुर्यष्टकं वातमयं देहमुत्थापयत्यलम् ।

हृत्स्पन्दिवेताल इव जीवतीत्युच्यते तदा ॥ ४५
 क्षीणे पुर्यष्टके चित्तं यदा व्योमनि लीयते ।
 तदा स्फुरति देहोऽयं मृत इत्युच्यतेऽपि च ॥ ४६
 स्वभाववशतो जीवो विस्मृत्या शक्तिमृच्छति ।
 वैवश्यात्कालवशतः पूर्णं जर्जरतामिव ॥ ४७
 जीवशक्त्या परामृष्टे निरुद्धे पद्मयन्त्रके ।
 प्राणे संरोधमायाते म्रियते मानवो मुने ॥ ४८
 यथा जातानि जातानि चान्यान्यन्यानि कालतः ।
 वृक्षात्पर्णानि शीर्यन्ते शरीराणि तथा नृणाम् ॥ ४९
 जायन्ते च म्रियन्ते च शरीराणि शरीरिणाम् ।
 पादपानां च पर्णानि का तत्र परिदेवना ॥ ५०
 चिदम्बुधौ स्फुरन्त्येता देहबुद्बुदपङ्क्तयः ।
 इतश्चान्या इतश्चान्या एतास्वास्था न धीमतः ॥ ५१
 सर्वगापि चिदेतस्मिन्नेतसि प्रतिबिम्बवति ।
 पदार्थमन्तरादत्ते नान्यो हि मुकुरादते ॥ ५२
 चिदमलनभसि प्रयत्नरूपाः
 परिवितते तदतन्मयाः स्फुरन्ति ।
 कलकलमुखराः स्फुटाभिरामा
 विविधशरीरविमोहतापनाय ॥ ५३

इत्यार्षे श्रीवा०रामायणे वाल्मीकीये दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० देहपातविचारो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः ३३

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

चन्द्रार्धशेखरधर चित्तत्त्वस्य महात्मनः ।

अनन्तस्यैकरूपस्य द्वित्वं कथमुपागतम् ॥ १

॥ ३६ ॥ व्योममरुति हव्योमवायौ प्राणे ॥ ३७ ॥ एवं लीनस्य
 मनसः पुनः स्वर्गनरकादिभोजकादृष्टप्रबोधितस्य हार्दाकाशे एव
 चक्षुषो वा मूर्ध्ना वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यो निर्गमनयम-
 लोकादिगमनस्वर्गनरकभोगादिकं स्वकल्पनैव न तु बहिः स्वर्गा-
 दयो नामान्ये सन्तीत्याशयेनाह—सुचिरेति । सुचिरमनादि-
 कालादभ्यस्तस्तत्तद्भोगयोग्यशरीरादिभावो येन । यत्र तत्रेति
 स्वर्गादेर्नियतदेशसत्त्वनिराकरणार्थम् ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ तस्या
 देहान्तरग्रहणक्रममाह—सर्वगेति । सर्वगा ब्रह्मचिदेव 'अनेन
 जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुत्युक्तचेला-
 कारानुप्रवेशचेतनतः ॥ ४० ॥ तन्मात्राणि सूक्ष्मभूतानि तेषां
 पद्मानां संघातात्मकं चित्तमातिवाहिकदेहाख्यं पुर्यष्टकम् ।
 भावात्संकल्पनात् ॥ ४१ ॥ रसशालिनी अहंताशक्तिमती
 ॥ ४२ ॥ अस्मिन् उक्तलक्षणे स्थूलदेहे । असत्यं जगत्सत्यत्वं
 नयति आरोपेण प्रापयति । सत्यं स्वीयब्रह्मभावम् । असत्यतां
 नास्ति न भातीति स्वप्रतीतियोग्यताम् ॥ ४३ ॥ चित्तसंसरणे
 क्रममाह—सर्वगेति । अंशेन बुद्धिप्रतिबिम्बितांशेन ॥ ४४ ॥
 वातमयं सूत्रभूतप्राणप्रचुरम् । यदा उत्थापयति तदा हृदि
 प्रविश्य स्पन्दी स्पन्दनशीलो वेतालो यस्य तथाविधः शव इव
 जीवतीत्युच्यते जनैरित्यर्थः ॥ ४५ ॥ व्योमनि हार्दाकाशे

ब्रह्मणि । स्फुरति काष्ठलोष्टादिवदचेतनः स्फुटो भवति ॥ ४६ ॥
 स्वस्याऽजरामरब्रह्मरूपतां विस्मृत्य जरठदेहगतामशक्तिं स्वयं
 ऋच्छति प्राप्नोति ॥ ४७ ॥ ततः पूर्ववन्म्रियत इत्याह—जीव-
 शक्त्येति । जीवसंबन्धिन्या प्रागुक्तस्मृतिशक्त्या अपरामृष्टे अत
 एव चलनाचिरुद्धे सति ॥ ४८ ॥ पुनःपुनर्नानाशरीरग्रहणं तत्र
 संसरणं जरामरणान्तमेव बोध्यमित्याशयेनाह—यथेति । नृणां
 जीवानाम् ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ उक्तमेवोपसंहर्तुमनुवदति—
 सर्वगेति ॥ ५२ ॥ परितो वितते पूर्णे चिदमलनभसि प्रयत्न-
 रूपाः पूर्वतनस्वीयशुभाशुभप्रयत्नपरिणतिरूपाः । अत एव सु-
 खदुःखफलभोगे हास्यरोदनादिकलकलैः कोलाहलैर्मुखराः ।
 तदतन्मयाश्चिदचित्प्रचुरजीवजगद्रूपाः कल्पनाः स्फुटाभिरामा
 आपातरमणीया विविधैः शरीरैर्जननमरणादिभ्रान्त्या आत्म-
 विमोहतापनाय स्फुरन्ति । प्रतिभासन्त इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे देह-
 पातविचारो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

यथा जीवजगज्जेदा मोहसंकल्पकल्पिताः ।

विचारेणैव संभाव्यास्तथा तर्कैरिहोच्यते ॥ १ ॥

सर्वगापि चिदेतस्मिन्नेतसि प्रतिबिम्बवतीति यदुक्तं यच्च दृढ-
 भावनया पश्चात्तत्रैव रसशालिनीत्याद्युक्तं तत्रोभयत्राप्यनुपपत्तिं

कथं च तन्महादेव रूढं-पर्यायसंकुलम् ।

भवेदुःखोपघाताय प्रज्ञया-विनिवारितम् ॥ २

ईश्वर उवाच ।

सर्वशक्ति हि तद्ब्रह्म सदेकं विद्यते यदा ।

तदा निर्मूल पवायं द्वित्वैकत्वकलोदयः ॥ ३

सति द्वित्वे किलैकं स्यात्सत्येकत्वे द्विरूपता ।

वसिष्ठः शङ्कते—चन्द्रार्धेति द्वाभ्याम् । धरतीति धर चन्द्रार्धस्य
शेखरे धर चन्द्रार्धशेखरधर । अर्धशब्दस्य षोडशतमभागनि-
ष्ठत्वेन समांशवाचित्वाभावेनानुसक्तत्वात् ‘अर्धं नपुंसकम्’ इत्य-
स्याप्रवृत्तेः षष्ठीतत्पुरुषः । अनन्तस्य दिक्षालवस्तुकृतपरिच्छेद-
ज्ञानस्य एकरूपस्य सजातीयविजातीयस्वगतभेदज्ञानस्य चित्त-
क्षणस्य तत्त्वस्य सजातीयजीवरूपं विजातीयजडजगद्रूपं च
द्वित्वं कथमुपागतम्, किं स्वत उत्त परतः । नाद्यः । अविका-
रत्वादनवयवत्वाच्च । नापि द्वितीय । द्वितीयस्यैवाप्रसिद्धेरिति
भावः ॥ १ ॥ यदि तु निर्निमित्तमेव तदा गतमिति ब्रूये तर्हि
संकोचे भानाभावादनन्तकोटिभिस्तत्पर्यायैर्वन्धनैः संकुलं व्याप्तं
चिरानुवृत्त्या रूढं तत् प्रज्ञया तत्त्वबोधेनैकत्वागन्तुकत्वाभ्यां
बुर्वलतमेन कथं विनिवारितं सत् आत्यन्तिकदुःखोपघाताय
भवेत् । निर्निमित्तस्यैकस्याप्युच्छेदाप्रसिद्धेः, कथंविदेकस्यो-
च्छेदेऽप्यन्येषामनन्तानां तादृशबन्धानां परिशेषात्पुनःपुनरन्या-
न्यनिर्निमित्तबन्धोपपत्तेर्निरत्वाच्च, न आगुक्तप्रज्ञाशक्तिमाया-
निमित्तं सिध्याभूतमेव सदिति न कश्चिदेष इति युक्तम् ।
सा ह्यागन्तुकी वा स्यात्सहजा वा, आद्येऽपि स्वत उत्पन्ना उत्त
परसंबन्धाधेयेति विमर्शो अनिमोक्षानवस्थादिदोषापत्तेः । सह-
जाया अग्न्यौघ्यशक्तिवत्सति ब्रह्मण्यपनेतुमशक्त्या अनिमो-
क्षतादवस्थात्, ऐकरस्यश्रुतिवैरस्यप्रसङ्गाच्च । किं च मायाश-
क्तोर्मिभ्यात्वे अत्यन्तासत्वादसतः कार्योत्पादकत्वायोगात्स एव
समुत्पत्तौ निर्हेतुकद्वैतोत्पादवादः । सत्यत्वे ज्ञानेन निवृत्त्ययो-
गादनिमोक्षदोषानिमोक्ष इत्युभयतस्याशा रज्जुः । न च निष्कर्वे
सत्त्वासत्त्वातिरिक्ता तृतीया विधा केनचिद्व्यवस्थापयितुं शक्या ।
तथैव सिध्या ज्ञानोत्तरमपि द्वैतस्यानिवार्यत्वात् । न हि तृतीया
सा ज्ञेन प्रथमा द्वितीया वा कर्तुं शक्या । ज्ञानस्याकारकत्वाद-
न्यस्यान्यात्मतायोगात्स्वरूपपरिवृत्त्यदर्शनात् । कृतस्य नश्वरत्वा-
पत्तेः पुनर्वन्धानिवारणादिति ॥ २ ॥ न वयं जीवजगदादिद्वैतं
प्रमाणरूपपादयितुं प्रवृत्ताः किंतु मोहादनादिकालादारभ्य
आन्या प्रसक्तं तदध्यारोपापवादन्यायमाश्रित्यापवदितुम् ।
तत्राध्यारोपे सर्गादौ यत्कामकर्मवासनादिनिमित्तकारणानां ब्रह्म-
विद्याद्युपादानकारणानां विषयादिकमस्य व्यष्टिसमष्टिस्थूलसू-
क्ष्मादिविभागकोशभेदादीनां कल्पनं तत् सर्वं स्वयमसत्यमपि
सत्यवस्तुपरिचयोपायतया श्रुत्या कल्पितं परमार्थसत्यप्रयोज-
नाविर्भावदितया इतरवादिकल्पनापेक्षया उत्कृष्टमिति श्रोतृणां
दिवांसजननाय लोकरुदशैवोपपत्तिभिः शास्त्रेषु समर्थ्यते । परि-

कले द्वे अपि चिद्रूपे चिद्रूपत्वात्तदप्यसत् ॥ ४

एकाभावादभावोऽत्र एकत्वद्वित्वयोर्द्वयोः ।

एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता ॥ ५

कार्यकारणयोरेकसारत्वादेकरूपता ।

फलान्तस्यापि बीजादेर्विकारादिह कल्पना ॥ ६

चित्तं चेत्यविकल्पेन स्वयं स्फुरति तन्मयम् ।

विकारादि तदेवान्तस्तत्सारत्वान्न भिद्यते ॥ ७

चित्ते तु सर्वात्मके सर्वप्रतीचि तस्याद्वितीयताबोधनाय परमा-
र्थदृष्टिमेवावलम्ब्यापोद्यत एवेति तसिधेकत्वमभ्युपेयं तद्वि-
सद्वित्वासंगमबोद्धावनं तव स्वाभ्युपगतविरुद्धं सिद्धान्तविरुद्धं
चेति कथं न पश्यसीत्याशयेन श्रीभगवान्प्रस्तापयते—सर्वशक्तीः
स्यादिना । यदा ब्रह्म व्यवहारदृशा सर्वशक्ति परमार्थदृशा तु एकं
सदेव विद्यत इति व्यवस्थितं दृष्टिद्वयमङ्गीकृतं तदा द्वित्वैकत्व-
लक्षणाया कलायाः सर्वशक्त्यैकदेशादुदयो यस्य तथाविधस्य-
दाक्षेपो निर्मूल एव । हि यस्माद्यवहारदृशा अध्यारोपः परमा-
त्मदृशाऽपवादः, न तावद्यवहारदृशा, ‘यः सर्वज्ञः सर्ववि-
द्यस्य ज्ञानमयं तपः’ इति श्रुत्योपपादितात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तिमतो
जीवजगद्वैतागमोऽनुपपन्नः । धर्मिप्रादुक्तमानेन तस्य तत्त्वभाव-
स्यैव निर्णयात् । ‘तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमवाक्षम्’ । ‘यत्र
नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा’ इति श्रु-
तिदर्शितपरमार्थदृष्टिगम्ये तु न कदाचिदपि द्वित्वं तद्विरोधैकत्वं
वा प्रसक्तमिति तत्र तदनुपपत्त्युद्भावनं निर्मूलमेवेत्यर्थः ॥ ३ ॥
ननु ‘नेह नानास्ति किंचन’, ‘न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विष-
यम्’, ‘विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्’ इत्यादिश्रुतिभिर्द्वैतमेव
निविध्यते नैकत्वमित्यविरुद्धमेकत्वं कथं द्वित्वतुल्यकक्षतया
निविध्यते तत्राह—सतीति । सति अस्तिद्वे द्वित्वे तथावृत्तये
एकत्वं कल्प्यते । सति चैकत्वे तदेवैकत्वान्तरसहितं द्वित्वमिति
कल्प्यत इति परस्परसापेक्षकल्पनत्वात्तुल्यकक्षे एव ते । तत्रै-
कत्वलक्षणधर्मस्यापि तदतिरिक्तस्य कल्पने चिदैकरस्यव्याघात-
प्रसङ्गात्तदप्यसदेवेत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥ इदानीं व्यवहारपरमार्थ-
दृष्ट्योरुपदेशादिव्यवहाराय मिश्रणेऽपि सत्ताद्वैतविध्यकल्पनात् पर-
मार्थसति व्यावहारिकसत्तया जीवजगद्वैतविरोध इत्याह—का-
र्येति । बीजादेः पुन फलान्तस्य यथा स एवायमिति प्रत्यभि-
ज्ञायमानैकत्वभावे अनुगतद्रव्ये विकाराजानात्वकल्पना तद्वदुप-
पत्तेरित्यर्थः ॥ ६ ॥ यदि तु सर्वविकाराणां परमार्थसत्ताव्यति-
रिक्ता व्यावहारिकसत्ता नाभ्युपेयते तदा सुतरां द्वैतं चिद्विकल्प
एव फलित इति राहुशिरोद्वैतविरोधोद्भावनतुल्यस्त्वदाक्षेप
इत्याशयेनाह—चित्तत्वमिति । अन्तः स एव सारः परमार्थो यस्य
तत्त्वात् । एवं च मायातत्कार्याणां पृथक्सत्त्वपक्षः अपृथक्स-
त्त्वपक्षः असत्त्वपक्षस्तृतीयविधापक्षो वा नानावादिकल्पितप्रधा-
नपरमाणुशक्तिप्रकाशकविज्ञानशून्यतादिपक्षो वा यः कश्चित्त्वया-
भ्युपगम्यता तथाप्यसद्भाद्वयचिन्मात्रास्पृशां स सर्वोऽपि विदधी-
वसिद्धिकाश्चिद्विकल्पमात्रमिति चितः कदापि बन्धप्रसक्तिरैव यत्र

विकारादिविकल्पोऽयं तत उत्थाय वस्तुषु ।
 याति सार्थकतां नानाकार्यकारणतादिभिः ॥ ८
 तरङ्गाः सलिले येऽपि तोये शैलस्य ते समाः ।
 शशशृङ्गसमः सोऽपि यस्य सत्यः शशाङ्कुरः ॥ ९
 वस्तुबोधोऽत्र संघत्ते तत्रालं वाग्विकल्पनैः ।
 व्यवच्छेदादि दुश्छेद्यं वचोवाच्यात्किल द्विज ॥ १०
 ब्रह्मणः सर्वशक्तित्वं तत्त्वतो न विभिद्यते ।
 तरङ्गकणकल्लोलजलौघ इव वारिणः ॥ ११
 पुष्पपल्लवपत्रादि लताया नेतरद्यथा ।
 द्वित्वैकत्वजगत्त्वादि त्वन्त्वाहन्त्वं तथा चित्ते ॥ १२
 देशकालविकारादिः कृतो भेदश्चित्तस्तु यः ।
 तच्चिदेतद्रसप्रोक्तं न प्रश्नोऽत्र तवोचितः ॥ १३
 देशकालक्रियासत्तानियत्याद्याश्च शक्तयः ।
 चिदात्मिका एव चितः सत्त्वात्संपत्तिताः स्वतः ॥ १४
 चित्तत्वं चित्तचेत्येहं चिद्ब्रह्माद्यभिधा स्मृता ।
 यथा वीच्याद्यभिधार्हं स्थितमम्बुतरङ्गकम् ॥ १५
 असंभवत्तरङ्गस्य चिद्विलासमहाम्बुधेः ।

दुर्लभा तत्राऽनिर्भोकोद्भावनं दूरनिरस्तमेवेति भावः ॥ ७ ॥
 तत्सारल्यमेवोपपादयति—विकारादीति । यतोऽयं षड्भाववि-
 कारलक्षणस्तदाश्रयघटादिलक्षणश्च विकल्पस्ततः सद्रस्तुनः सका-
 शादेवोत्थाय आविर्भूय जलाहरणाद्यर्थक्रियाकारणत्वादिभिः सार्थ-
 कतां भोगपर्यवसानं याति । भोगश्च चिदवधानतैवेति तन्मा-
 त्रसारतेत्यर्थः ॥ ८ ॥ एवं जगतो विकल्पनामात्रत्वे केचिज्ज-
 लतरङ्गादयो व्यावहारिकाः, भरुमरीचिकातोयतरङ्गाः प्रातिभा-
 सिकाः, बन्ध्यापुत्रशशशृङ्गादयस्त्वल्यन्तासन्त इत्यवान्तरवैल-
 क्षण्यविकल्पोऽप्यज्ञस्यैवेत्याह—तरङ्गा इति । यस्य तत्त्वविदः
 शशाङ्कुद्विजो ब्रह्मिण्याद्यङ्कुरोऽपि ब्रह्मैवेति सत्यस्तस्य ये सलिले
 प्रसिद्धास्तरङ्गास्ते शैलस्य मूर्ध्नि कल्पिते तोये ये तरङ्गास्तैः
 समाः । स शैलोऽपि शशशृङ्गसमः । स्वतोऽसत्त्वस्य ब्रह्मसत्तया
 सत्त्वकल्पनस्य च त्रिष्वपि साम्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥ यस्त्वत्र
 जगत्संबोधकृतः सर्वपदार्थानां परस्परव्यावृत्तिलक्षणो व्यवच्छे-
 दस्तं वस्तुबोधस्तत्त्वसाक्षात्कार एव संघत्ते स्फुटितशकलानि
 संधानेनेवैकतां नयति । तत्र ईदृशे विषये वाग्विकल्पनैर्युक्त्यु-
 पन्यासैः अलं सार्धं नास्ति । यतः अनपगत्य अज्ञाने वचोवा-
 च्याद्युक्तिसदृसादपि अपरोक्षभ्रमसिद्धं व्यवच्छेदादि द्वैतं दुरुच्छे-
 दमित्यर्थः ॥ १० ॥ तत्त्वदशा दर्शने तु ब्रह्मणः सर्वशक्तित्वं
 सर्वजगदाकारमायिकरूपं तन्मात्रं तत्त्वतो न विभिद्यते । तत्रैव
 तिरोभवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥ तथा च 'अपागादग्रेरमित्वं घाचार-
 म्भणं विकारो नामधेयं ग्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इति श्रुति-
 दर्शितन्यायेन लताद्यैक्यदर्शने तदीयपुष्पपल्लवादिभेदानामिव
 तत्त्वदर्शने जगद्भेदानामप्यनृतत्वे त्वत्प्रश्नोऽतिनिरालम्बन
 इत्याह—पुष्पेत्यादिना ॥ १२ ॥ यो भेदः कृतः तत्सः चित्
 त्विदेव चिद्विभवमेव नास्ति तत्र द्वित्वं कथमुपागतमित्येतत्त्वया
 यो० वा० १०८

तरङ्गितत्वमिव यत्तत्तावच्चेत्यसङ्किता ॥ १६
 तदेतत्परमं ब्रह्म सत्येश्वरशिवादिभिः ।
 शून्यैकपरमात्मादिनामभिः परिगीयते ॥ १७
 एवं रूपपदातीतं यद्रूपं परमात्मनः ।
 यत्तु नामाहममलं विषयो न गिरां च तत् ॥ १८
 यदिदं दृश्यते तस्यास्तल्लताया महाचित्तेः ।
 फलपल्लवपुष्पादि न भिन्नं तन्मयं यतः ॥ १९
 महाविद्योपनयना चिद्भवत्यभिधा सती ।
 सा जीवत्वेन बाह्यत्वं तदा द्वीन्द्रिव पश्यति ॥ २०
 स्वयमन्यैवमस्मीति भावयित्वा स्वभावतः ।
 अन्यतामिव संयाति स्वविकल्पात्मिकां स्वतः ॥ २१
 अकलङ्केन रूपेण रूपं यत्सकलङ्कवत् ।
 संसारसरितं प्राप्य चेतनेनैव चेतति ॥ २२
 चिद्वपुः स्वयमेतेन ह्येकतामेति जीवताम् ।
 चित्तत्त्वस्यावभासेन जीवो जीवति तन्मयः ॥ २३
 आतिवाहिकदेहोऽपि जीवतां समुपागतः ।
 भावनापञ्चकं भूत्वा द्रव्यमस्मीति वेत्यलम् ॥ २४

असत्प्रोक्तम् । अत्र असद्विषये तव प्रश्नो नोचित इत्यर्थः
 ॥ १३ ॥ यत्तत्त्वितः सत्त्वादेव संपत्तिताः संपन्नसत्ताका अतश्चि-
 दात्मिका एव ॥ १४ ॥ चित्तं चेत्वं तदीयाश्च तेषां समाहारो
 रूपप्रपञ्चश्चित्तत्वमेव । एवं ब्रह्मादिस्त्वन्वपर्यन्ता अभिधा नाम
 प्रपञ्चोऽपि चिदेव स्मृता । अम्बुतरङ्गकं अम्बुतरङ्गानुगतं रससा-
 मान्यं यथा वीच्याद्यभिधार्हं स्थितं तद्वत् ॥ १५ ॥ तरङ्गितत्व-
 मिव यद्विवर्तनं तदेव चेत्यसंबन्ध इत्यर्थः ॥ १६ ॥ शून्यप-
 देन 'असद्वा इदमप्र आसीत्' इति श्रुतिस्थमसत्पदं लक्ष्यते
 ॥ १७ ॥ मत्तत्त्वं परमार्थतत्त्वदेवेत्याह—एवमिति । रूपाणि
 पदानि नामानि च तदतीतं यत् अहम् । तुशब्दः पुरोद्वयमा-
 नसाकाररूपव्यावृत्त्यर्थः । तत् गिरां वाचां ध्यानमनसां च न
 विषयः ॥ १८ ॥ यदिदं दृश्यते जगत् तत् तस्याश्चित्तेऽल्लक्षणाया
 लतायाः फलपल्लवपुष्पादीत्यन्वयः ॥ १९ ॥ यदि तु अनृतमेव
 जीवजगद्भावं विवेकाय पृच्छसि तदा शृणु । सा चित् महती
 अविद्या उपनयनं विचित्रवर्णरञ्जितोपनेत्रं यस्यास्तथाविधा यदा
 भवति तदा जीवत्वेन अभिधीयत इत्यभिधा तथाविधा सती
 द्वीन्द्रिव स्वाह्यत्वं बाह्यजीवजगद्भावं पश्यतीत्यर्थः ॥ २० ॥
 अन्या अब्रह्माचिद्रूपास्ति ॥ २१ ॥ अकलङ्केनैव रूपेण स्थितापि
 सकलङ्कवद्यत्पूर्यष्टकरूपं कल्पितं तेन संसारसरितं प्राप्य औपा-
 धिकचेतनेनैव चेतति न निष्कलङ्कचेतनेनेत्यर्थः ॥ २२ ॥
 एतेन पुर्यष्टकेन एकतां तादात्म्याभ्यासलक्षणां जीवतां एति ।
 तन्मयश्चित्प्रचुरः सन् जीवति प्राणनादिक्रियां लभते ॥ २३ ॥
 इत्थं सर्वगापि चिदेतस्मिन्नेतसि प्रतिबिम्बतीत्येतदाक्षेपांशं
 समाधाय दृढभावनया पश्चात्तत्रैव रसशाखिनीत्येतदाक्षेपांशं
 समाधातुं तस्य स्थूलदेहप्राप्तिक्रममाह—आतिवाहिकेति ।
 भावनापञ्चकं पाञ्चभौतिकस्थूलदेहसंस्कारात्मकं भूत्वा देह-

तद्व्यं प्राणिना भुक्तमाशु गच्छति वीर्यताम् ।
 ततोऽहं प्राणवाक्षातो वेत्तीत्यनुभवात्मकम् ॥ २५
 अहंतादिक्रमेणाशु पञ्चकानुभवभ्रमात् ।
 स्थावरं जंगमं सर्वं वेत्ति तत्तद्भवत्यलम् ॥ २६
 काकतालीययोगेन दृढाभ्यासक्षयेण च ।
 वासनान्तरसंश्लेषात्सूक्ष्ममाकारमुज्झति ॥ २७
 द्वित्वसंविदा द्वित्वमेकस्यैव प्रवर्तते ।
 पुंसो वेतालसंकल्पाद्वेताल इव भासुरः ॥ २८
 अद्वित्ववेदनाद्वित्वमात्मनोऽपि निवर्तते ।
 न करोमीति संकल्पात्पुरुषस्यैव कर्तृता ॥ २९
 द्वित्वसंकल्पतो द्वित्वमेकस्यैव प्रवर्तते ।
 अद्वित्वसंविदा द्वित्वमनेकस्यापि नश्यति ॥ ३०
 परमात्मतया द्वित्वं न किलात्मनि विद्यते ।
 अविकारादिमत्त्वेन सर्वगत्वेन सर्वदा ॥ ३१
 यत्संसंकल्परचित्तमसंकल्पक्षयं हि तत् ।
 यथा मुने मनोराज्यं गन्धर्वनगरं यथा ॥ ३२
 तथा संकल्पने क्लेशो न संकल्पविनाशने ।
 संकल्पयक्षो गन्धर्वपुर्याः सृष्टौ न तु क्षये ॥ ३३
 पुष्टसंकल्पमात्रेण यदिदं दुःखमागतम् ।
 तदसंकल्पमात्रेण क्षयि कात्र कदर्थना ॥ ३४
 यत्किञ्चिदपि संकल्प्य तरो दुःखे निमज्जति ।
 न किञ्चिदपि संकल्प्य सुखमव्ययमश्रुते ॥ ३५
 संकल्पव्यालनिर्मुक्ता न यदा तव चेतना ।

लाभाय ग्रीहियवतिलमाषादिद्रव्यमहं संपन्नमस्मीति वेत्ति । 'त
 इह ग्रीहियवास्तिलमाषा इति जायन्ते' इति श्रुतेरित्यर्थः ।
 श्रुतो इतिशब्दो भाविदेहानुकूलद्रव्यमात्रोपलक्षणार्थः । तेन
 स्थावरसेदजादिदेहप्राप्तिस्थले तत्तद्बीजानुकूलजलादिद्रव्यभावोऽ-
 प्यस्य भवतीति श्रोतनाय द्रव्यमस्मीति वेत्तीति सामान्योक्तिः
 ॥ २४ ॥ वीर्यतां रेतस्त्वम् । वृक्षादौ तु बीजभावम् । ततः स्त्रियां
 निषेकक्रमेणाहं प्राणवान् स्थूलदेहो जातोऽस्मीति वेत्तीत्यर्थः
 ॥ २५ ॥ अनुभवात्मकं ज्ञैव सकेनाहंतादिक्रमेण पश्यानां
 सङ्घः पञ्चकं स्थूलदेहसदनुभवभ्रमाश्चक्षुरादिद्वारा बाह्यं स्थावरं
 जंगमं च वेत्ति पुनस्तद्वासनया स्वयमपि तत्तद्भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥
 ननु पूर्वमशकादिदेहस्यागे तद्देहाकारवासनात्मना सूक्ष्मतया
 स्थितस्य पुर्यष्टकस्य दृढाभ्यस्तमशकाकारस्य सूक्ष्मस्य च कथं
 निवृत्तिर्हस्ताकारस्य स्थूलस्य चानभ्यस्तस्य कथं लाभस्त-
 त्राह—काकतालीयेति । यथा आकस्मिके काकतालसंबन्धे
 काकमरणप्रयोजकं कर्मैव निमित्तं नान्यत् तथा दृढाभ्यस्तवासना-
 भिसंबन्धे विरव्यवहितहस्ताद्यहंभाववासनोद्भवे च कर्मैव निमि-
 त्तम् । उद्धृतहस्तिवासनान्तरसंश्लेषात् चिरान्म्यस्तमपि सूक्ष्म-
 मशकाकारमुज्झतीत्यर्थः ॥ २७ ॥ विरोधिवासनोद्भवेन पूर्ववा-
 सनोपमर्दे उत्तरस्याभ्यासेन दाढ्यं च दृष्टान्तानाह—द्वित्वेला-
 दिना ॥ २८ ॥ २९ ॥ अनेकस्य जगतोऽपि ॥ ३० ॥ ३१ ॥

न तदा नन्दनोद्याने त्वमुच्चैः परिराजसे ॥ ३६
 स्वविवेकानिलैः कृत्वा संकल्पजलदक्षयम् ।
 परां निर्मलतामेहि शरदीव नभोन्तरम् ॥ ३७
 संकल्पसरितं मत्तां मणिमन्त्रेण शोषय ।
 तत्रोद्यमानमात्मानं समाध्यास्य भवामनाः ॥ ३८
 संकल्पानिलनिर्धूतं भ्रान्तं पर्णतृणांशवत् ।
 भूताकाशे चिदात्मानमवलम्ब्य विलोकय ॥ ३९
 स्वसंकल्पनकालुष्यं विनिवार्यात्मनात्मनः ।
 परं प्रसादमासाद्य परमानन्दवान् भव ॥ ४०
 सर्वशक्तिमयो ह्यात्मा यद्यथा भावयत्यलम् ।
 तत्तथा पश्यति तदा स्वसंकल्पविजृम्भितम् ॥ ४१
 संकल्पमात्रमेवेदं जगन्निश्चयात्त्वमुत्थितम् ।
 असंकल्पनमात्रेण ब्रह्मन्कापि विलीयते ॥ ४२
 संकल्पचातवर्लितं जन्मजालकदम्बकम् ।
 असंकल्पानिलस्पर्शाद्विश्राम्यति परे पदे ॥ ४३
 तृष्णाकरज्जलतिकामिमां रुद्धिमुपागताम् ।
 संकल्पमूलोद्धरणात्परिशोषवतीं कुरु ॥ ४४
 प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरिक्षयम् ।
 यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः ॥ ४५
 प्रभुरस्मीति विस्मृत्य तावच्छोचति भूमिपः ।
 भूमिपोऽस्मीति संजाता यावन्नास्य हृदि स्मृतिः ॥ ४६
 नास्य तज्जातया ब्रह्मन्प्राक्स्मृतिर्वर्तमानया ।
 शरदेवोपगतया प्रावृड् जाड्यापवारिणी ॥ ४७

असंकल्पात् क्षयो यस्य तथाविधम् । हि प्रसिद्धम् ॥ ३२ ॥
 किंचेत्यर्थं तथाशब्दः । संकल्पने मानसप्रयत्नेन रचने क्लेशः
 भ्रमोऽस्ति न तु संकल्पस्य विनाशने । औदासीन्यमात्रेण स्वतः
 एव तत्सिद्धेः । प्रसिद्धश्चायमर्थ इत्याह—संकल्पयक्ष इति ।
 गन्धर्वोऽत्र मनस्तत्पुर्या मनोरथरचितपुर्याः सृष्टौ संकल्प एवा-
 संभावितरचनासमर्थत्वाद्यसो दिव्यशिल्पी प्रसिद्धः, न तु तत्क्षये
 इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ कदर्थना क्लेशः ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ उच्चैः सर्व-
 गुणोत्कृष्टे नन्दनोद्याने स्थितोऽपीति शेषः । न परिक्षीणक्लेशो
 राजसे ॥ ३६ ॥ संकल्पनाशने तर्हि क तपायस्तमाह—स्ववि-
 वेकेति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ पर्णतृणस्य अशाः खण्डास्तद्ब्रह्म-
 न्तम् । भूताकाशे सर्वभूतहृदाकाशे ॥ ३९ ॥ ४० ॥ यद्वस्तु
 ब्रह्माकारेण भोग्याकारेण वा यथा भावयति तथा पश्यति
 ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ संकल्पलक्षणेन पुरोवातेन वर्लितं कन्दलितं
 जन्मलक्षणानां जालानां जलधराणां कदम्बकं असंकल्पलक्षणस्य
 पाश्चात्त्यानिलस्य स्पर्शात्परे पदे ब्रह्माकाशे विश्राम्यति । विली-
 यत इति यावत् ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ अविद्याकामसंकल्पनाशेऽपि
 यदि जगद्भासेत तर्हि तद्विभ्रमसमात्रमिति जीवन्मुक्तानुभव-
 सिद्धो दृष्टसृष्टिपक्षः परिशिष्यत इत्याशयेनाह—प्रतिभासेति
 ॥ ४५ ॥ यावदज्ञानं तावदेव जगत्प्रतिभासा शोकहेतुर्न तदु-
 तारकालभिलाशयेनाह—प्रभुरिति ॥ ४६ ॥ ननु तत्त्वविदोऽपि

घनप्रवाहयाऽकस्माच्चित्तेहा सैव वर्धते ।
य एवोच्चैःस्वरस्तन्याः स एवाक्रामति श्रुतिम् ॥४८॥
अहमेकोऽहमात्मास्त्रीत्येकां भावय भावनाम् ।
तया भावनया युक्तः स एव त्वं भवस्यलम् ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे धात्मीकीये दे० भोक्तोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० द्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः ३४

ईश्वर उवाच ।

इत्थं स्थितमिदं विश्वं सदसदेवरूपि च ।
द्वैतैक्यपदनिर्मुक्तं युक्तं द्वैतैक्यमप्यतः ॥ १ ॥
चित्तेः कलङ्कवैरूप्यमिति संसारतां गतम् ।
अकलङ्कमसंसारि तन्नामिन्नाद्वयात्मकम् ॥ २ ॥
इयमस्मीति संप्राप्तकलङ्का चिन्निबध्यते ।
एतामेव कलां बुद्ध्या स्वकाभिन्नां विमुच्यते ॥ ३ ॥
चिदर्थाकारताभावाद्भित्वात्सत्त्वं समुज्जति ।
सुखादिमिलितां धत्ते न सत्यां सदिति क्षणात् ॥ ४ ॥

प्राक्तनचिराभ्यस्तसंसारस्मृतिपरम्परया वर्तमाना ब्रह्मास्मीति स्मृतिरान्छाद्येत तथा च पुनः संसारशोकप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—
नास्येति । अस्य भूमिपस्य तत्त्वविदश्च तस्मादाप्तोपदेशाज्जातया वर्तमानया भूपोऽस्मि ब्रह्मास्मीति स्मृत्या बाधिता प्राक्तनदुःख-
स्मृतिः स्वजाड्येन अपवारिणी आच्छादनसमर्था न । यथा उप-
गतया शरदा निरस्ता प्रावृद्ध मेघजाड्येनापवारणसमर्था न भवति
तद्वदित्यर्थः ॥ ४७ ॥ कोऽस्याः प्राबल्ये हेतुरिति चेन्मनननिदि-
ध्यासनाभ्यासलक्षणपौरुषप्रयत्नकृतघनप्रवाहतैवेत्याशयेनाह—
घनेति । द्वयोश्चित्तेहयोर्मध्ये या चित्तेहा चित्तवृत्तिरकस्माद्घन-
प्रवाहा सैव वर्धते इतराभिभवसमर्था भवति । यथा तारमन्द्रत-
न्त्रीस्वरयोर्मध्ये य एव उच्चैःस्वरः स एवान्यमभिभूय श्रुतिं श्रोत्रं
आक्रामति । श्रूयत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ सेयमहं ब्रह्मास्मीति स्मृति-
रेवाविच्छेदेन संतप्ता मुख्या मम मानसपूजा न बाह्येत्याशये-
नाह—अहमिति । एकः अद्वितीय एवाहं शिवो देवः स च अहं
त्वदहंकारोपलक्षित आत्मा नित्यापरोक्षान्विदेकरसोऽस्त्रीत्येकाम-
विच्छिन्नां भावनां स्मृतिधारां भावय । तथा एवरूपया देवपूजा-
भावनया युक्तः स शिव एव त्वं अलं नितरां भवति नान्यया
पूजयेत्यर्थः ॥ ४९ ॥ एवमुक्तरीत्या इदं बाह्यपूजनं त्वादशाना-
मसंभवदेव । हि यस्मादविरागेषु तुच्छफलरागिण्येव भास्वत्प्र-
काशमानम् । त्वद्योग्यस्तु उत्तमपदं तत्परमार्थसत्त्वं परं ब्रह्मैव
एको देवः । यत्पूजासु पूजकः पूजाद्रव्यस्वामी सुष्ठु षोडशोप-
चारैः पूजनं पूज्यं प्रतिमालिङ्गादि च किञ्चित् न किञ्चित्तुच्छमिव
भवति । यतः सा सामग्री चित्तस्य पदानि संकल्पात्सदेकमूर्ति-
र्मेनःकल्पनामात्रमित्यर्थः ॥ ५० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराय-
णतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे द्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम
त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

एवं ह्यसंभवदिदं त्वविरागभास्व-
त्तत्त्वमुत्तमपदं परमेकदेवः ।

पूजासु पूजकसुपूजनपूज्यरूपं
किञ्चिदकिञ्चिदिव चित्तपदैकमूर्तिः ॥ ५० ॥

शुद्धा निरंशा सत्या वाऽसत्या वेत्येवमादिभिः ।
विमुक्ता नामशब्दार्थैः सर्वैः सर्वात्मिकापि खम् ॥ ५ ॥
सर्वे निरुपमं शान्तं मनसैतन्निर्मागम् ।
ब्रह्मेदं बृंहितं ब्रह्म शक्त्याऽऽकाशविकासया ॥ ६ ॥
मनसा मनसि चिच्छेत्वे स्वेन्द्रियावयवात्मनि ।
सत्यालोकाज्जगज्जाले प्रच्छन्ने विलयं गते ॥ ७ ॥
छिद्यते शीर्णसंसारकलना कल्पनात्मिका ।
भृष्टबीजोपमा सत्ता जीवस्य इतिनामिका ॥ ८ ॥

सौषुप्तमिह क्षुर्यं च क्षुर्यातीतपदं तथा ।

उपदिश्येश्वरोऽन्त्येत्र विश्रान्त इति वर्ण्यते ॥ १ ॥

इत्थमनया देवपूजया पूज्यमानं विश्वं बाधदशा असत्
अधिष्ठानदशा सत् देवरूपि च युक्तम् । तत्त्वतो द्वैतैक्यपदनि-
र्मुक्तं व्यवहारे द्वैतैक्यरूपं च युक्तमिति सर्वविरोधपरिहार
इत्यर्थः ॥ १ ॥ कुतो वा द्वैतैक्यरूपि कुतो वा तन्निर्मुक्तं
तदाह—चित्तेरिति । कलङ्को मोहस्तत्कृतं वैरूप्यं जडभाव इति
कल्पनादित्यर्थः । असंसारि इति दर्शनादिति शेषः ॥ २ ॥
तदेव स्पष्टमाह—इयमिति । इयं दृश्यदेहादिरूपा । एतां दृश्य-
प्रधासमर्था नित्कलाम् ॥ ३ ॥ अर्थाकारताया अर्थाकारस्य
भावाद्भावनानिमित्तादित्वं प्राप्य स्वमखण्डसत्त्वं समुज्जति
विसरति । देहसुखदुःखादिभिर्मिलितां न सत्यामसत्यामेव
स्वस्थितिं सदिति धत्ते सेयं सकलङ्कस्थितिः ॥ ४ ॥ अकलङ्क-
स्थितिमाह—शुद्धेति । सत्या वा असत्या वा इत्येवमादिभि-
र्विकल्पनामशब्दार्थैः सर्वैर्विमुक्ता व्यवहारे सर्वनामरूपात्मि-
कापि खं ह्यन्यस्वभावा सेत्यर्थः ॥ ५ ॥ उक्तनिष्कलङ्कस्थिति-
प्रतिष्ठार्थं सुष्ठुस्यादिभूमिकाभेदान्दर्शयितुमुपक्रमते—सर्वमिति ।
सर्वं पूर्णं निरुपमं ब्रह्मैव आकाशमिव प्रथमं विकसतीत्याकाश-
विकासा तथाविधया स्वमायाशक्त्या जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिलक्षणैः
सृष्टिस्थितिसंहारलक्षणैरध्यात्माधिभूताधिदैवलक्षणैर्वा त्रिभि-
र्मार्गैः प्रवृत्तं जगन्मनसैव जृम्भितम् ॥ ६ ॥ अतो मनश्छेदे-
नैवास्य छेद इत्याह—मनसेति । सत्यस्यालोकात्साक्षात्का-
रात् ॥ ७ ॥ एवं तत्त्वबोधेन कल्पनाभिः सह मनसि चिच्छेत्वे
प्रथमं यस्यां भूमिकायां जीवन्मुक्तस्य स्थितिर्भवति तां लक्षणै-
र्नाम्ना च दर्शयति—भृष्टबीजोपमेत्यादिना । इतिनामिका 'जुष्ट'

पश्यन्ती नाम कलितोत्सृजन्ती चेत्यचर्वणाम् ।
 मनोमोहाध्रनिर्मुक्ता शरदाकाशकोशवत् ॥ ९
 शुद्धा चिद्भावमात्रस्था चेत्यचिच्चापलं गता ।
 समस्तसामान्यवती भवतीर्णभवार्णवा ॥ १०
 अपुनर्भवसौषुप्तपदपाण्डित्यपीवरी ।
 परमासाद्य विश्रान्ता विश्रान्ता वितते पदे ॥ ११
 एतत्ते मनसि क्षीणे प्रथमं कथितं पदम् ।
 द्वितीयं शृणु विप्रेन्द्र शकेरस्याः सुपावनम् ॥ १२
 एवैव मनसोन्मुक्ता चिच्छक्तिः शान्तिशालिनी ।
 सर्वज्योतिस्तमोमुक्ता वितताकाशसुन्दरी ॥ १३
 घनसौषुप्तलेखावच्छिन्नान्तःसन्निवेशवत् ।
 सैन्धवान्तस्थरसवद्वातान्तःस्पन्दशक्तिवत् ॥ १४
 कालेनायाति तत्रैव परां परिणतिं यदा ।
 शून्यशक्तिरिवाकाशे परमाकाशगा तदा ॥ १५
 चेत्यांशोन्मुखतां नूनं त्यजत्यम्बिव चापलम् ।

वातलेखेव चलनं पुष्पलेखेव सौरभम् ॥ १६
 कालताकाशते त्यक्त्वा सकले सकलाकला ।
 न जडा नाजडा स्फारा धत्ते सत्तामनामिकाम् ॥ १७
 दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमहासत्तापदं गताम् ।
 तुर्यतुर्यांशकलितामकलद्वामनामयाम् ॥ १८
 कांचिदेव विशालाक्ष साक्षिवत्समवस्थिताम् ।
 सर्वतः सर्वदा सर्वप्रकाशस्वादुतत्पराम् ॥ १९
 एषा द्वितीया पदता कथिता तव सुव्रत ।
 तृतीयं शृणु वक्ष्यामि पदं पदविदां वर ॥ २०
 एषा ह्यचेत्यवलनादनामार्थापदं गता ।
 ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दार्थादतीतोदेति केवला ॥ २१
 स्थैर्येण कालतः स्वस्था निष्कलङ्का परात्मना ।
 तुर्यातीतादिनामत्वादपि याति परं पदम् ॥ २२
 सा परा परमा काष्ठा प्रधानं शिवभावतः ।
 चित्येका निरवच्छेदा तृतीया पावनी स्थितिः ॥ २३

यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः इति चैता-
 श्वतरकाठकश्रुत्योच्छान्दोऽपि स्वपितिनामनिर्वचने स्वं अपि
 इतीति विभागे च इतिपदेन व्यवहृतत्वादितिनामिकेत्यर्थः ।
 यद्यन्यत्रसुषुप्तावपि स्वपितिनामास्ति तथापि तत्त्वबोधेनाज्ञान-
 लिङ्गादिबाधायसोपाधेर्यस्यामविद्यायां लयस्त्वयोरभावादप्ययवो-
 धकस्यापिशब्दस्य निवृत्तौ स्वरूपप्राप्त्यर्थक इतिशब्द एवावशिष्ट-
 स्तन्मात्रं संपद्यति इति भावः ॥ ८ ॥ एवं सर्वदृश्यधावेनापरो-
 क्षदब्धान्नपरिशेषात्पश्यन्ती इत्यपि तस्या नामान्तरमित्याह—
 पश्यन्तीति । चेत्यस्य चित्तविषयस्य चर्वणा पुनःपुनः प्रीत्यानु-
 स्मरणं उत्सृजन्ती त्यजन्ती ॥ ९ ॥ प्राक्चेत्यचिच्चापलं गतापि
 सांप्रतं पितृत्वभावमात्रस्था समस्तस्य सामान्यं सत्ता तद्वती
 सन्मात्रेण परिशिष्टेति यावत् । भवे जीवदृशायामेव तीर्णो भवा-
 र्णवो यस्याम् ॥ १० ॥ सौषुप्तमितिपदस्य सुषु निरतिशया-
 नन्दात्मकं सुप्तं स्वप्नभरूपमिति छान्दोग्यकृतव्युत्पत्त्यनुरूपं
 यत्पाण्डित्यं पण्डा शास्त्रजन्यं ज्ञानं ता इतः प्राप्तः पण्डित-
 स्वस्य भावः पाण्डित्यं 'यश्च श्रोत्रियोऽश्जिनोऽकामहतः' इति
 श्रुत्युपदर्शितलक्षणविद्वदनुभवसिद्धं 'स यो मनुष्याणां राज्ञः'
 इत्यादिना मानुषानन्दादिहैरण्यगर्भानन्दान्तशतशतशुणोत्तरोत्त-
 रोत्कृष्टविषयानन्दसीकरमहार्णवायितत्वेन श्रुतिदर्शितं निरतिश-
 यानन्दरूपं तेव पीवरी अतिमहती । अथवा सौषुप्तपदस्य सौ-
 पुस्तस्थानस्य यत्पाण्डित्यं निरस्तस्वाविद्यामौर्ख्यचिदेकघनपूर्णा-
 नन्दस्वप्रकाशस्वरूपं तेन पीवरी । अत एव भागवत्यागल-
 क्षणया महासुप्तपदनामिकापि सेति भावः ॥ ११ ॥
 उत्तरं स्थानं वर्णयिष्यन्वर्णितं प्रथमं स्थानमुपसंहर-
 ति—एतदिति । शकेश्चिच्छक्तेर्हृदीकाराद्वा ॥ १२ ॥
 ज्योतिर्भिः सूर्यचन्द्राग्निवाकरणरूपैस्त्वमोभिरन्धकाराज्ञानतत्का-
 रैश्च मुक्ता ॥ १३ ॥ तस्याः पूर्वापेक्षया ये विशेषास्तानाह—

घनेति । सर्वेषां परां परिणतिमित्युत्तरत्रोपमानतया संबन्ध-
 ॥ १४ ॥ यदा पूर्वभूमिकैवाभ्यासवशाद्घनसौषुप्तादिवत्परां परि-
 णतिं याति तदा आकाशे विद्यमाना शून्यशक्तिः परमाकाशं
 चिदेकघनब्रह्माकाशभावमागतेव भूत्वा चेत्यांशोन्मुखतां त्यज-
 तीति परेणान्वयः । स्वतो व्युत्पत्त्यन्यता भवतीत्यर्थं पूर्वा-
 पेक्षया फलतोऽपि विशेष इति भावः ॥ १५ ॥ १६ ॥ क्रिया
 हि कालस्य कला । परिच्छिन्नमवकाशसापेक्षं वस्त्वाकाशस्य
 कला ताभ्यां सकले कालताकाशते तत्परित्यागादेव त्यक्त्वा
 सकलं दृश्यमात्रं न कलयतीति सकलाकला । व्यावर्तनीयजडा-
 भानान्नाजडा । अनामिकां शब्दाभिलाषायोग्यां वक्ष्यमाणवि-
 शेषणा सत्तां धत्ते ॥ १७ ॥ जाग्रत्सुषुप्तसुषुप्तिभ्यस्तुर्यो यो वि-
 राडहिरण्यगर्भान्धाकृतेभ्यस्तुर्योऽशस्तेन कलितां प्रथमानाम्
 ॥ १८ ॥ अत एव सर्वनिमित्तकसार्वकालिकसर्ववस्तुगोचरेभ्यः प्र-
 काशेभ्यः प्रथाभ्यः स्वादुभ्यश्चानन्देभ्यश्च तत्परां तादृशोत्कर्ष-
 वर्ती स्पृहणीयतरां च ॥ १९ ॥ उक्तां तुर्याख्यां द्वितीयभूमि-
 कासुप्तसदृशं तृतीयामवतारयति—एषेति । पदं भूमिकाम्
 ॥ २० ॥ तस्यां पूर्वापेक्षया ये विशेषास्तानाह—एषेत्यादिना ।
 ह्य ब्रह्माकारा अवच्छिन्नवृत्तिशैत्यं तद्याप्तं ब्रह्म तयोर्वैलनात्
 क्षीरोदकवदेकीभावाद्भ्रमयति गोचरयतीति नामग्राहकांशः अ-
 र्थते गम्यते इत्यर्थो प्राद्यांशस्तदुभयशून्यतापदं गता । अत एव
 ब्रह्मात्मेत्यादिपदवाक्यार्थादतीता । तथा च संप्रज्ञातसमाधिगम्यैव
 पूर्वा भूमिका इयं त्वसंप्रज्ञातसमाधिप्रतिष्ठानाम्येति विशेष इति
 भावः ॥ २१ ॥ स्थैर्येण षड्भावविकारराहित्येन कालतोऽपि
 स्वस्था स्थिरा । तमसोऽपि परेण आत्मना स्वेनैव निरस्तक-
 लङ्का । या अतिशयितं परं पदं परमपुरुषार्थं इत्यर्थः ॥ २२ ॥
 सर्वेषां पराणां परा परमा काष्ठा अवधिः शिवभावतः परम-
 मलत्वात्सर्वभ्यो मङ्गलेभ्यः प्रधानम् । एका मुख्या निरवच्छेदा

१ सर्वेषां पदानां इति शेषः.

चिरमस्यां प्रतिष्ठायां सर्वाध्वाध्वगदूरगा ।
 सा भ्रमाप्यङ्ग वचसां न समायाति गोचरम् ॥ २४
 त्रिमार्गकलनातीतमिति ते कथितं मुने ।
 तिष्ठ तस्मिन्पदे नित्यमिति देवः सनातनः ॥ २५
 एतन्मयमिदं विश्वं मुने तन्मयवेदनात् ।
 सत्यसंवेदनाग्नेदं न च नेदं मुनीश्वर ॥ २६
 नेदं प्रवर्तते किञ्चिन्नेदं किञ्चिन्निवर्तते ।
 शान्तं समसमाभासं प्रथते स्वस्य कोशवत् ॥ २७
 अद्वैतैक्यादसंक्षोभाद्धनचेतनया तथा ।
 अविकारादिमत्त्वाच्च नित्यानित्यतया चिरम् ॥ २८

चिद्धनत्वाच्छिशुशिलाकोशानां जगतामपि ।
 मनागपि न भेदोऽस्ति सतामप्यसतामपि ॥ २९
 समस्तं सुशिवं शान्तमतीतं वाग्विलासतः ।
 ओमित्यस्य च तन्मात्रातुर्या सा परमा गतिः ॥ ३०
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्युक्तवानमलहकपरिणामतोऽस्मिन्
 पारे पदे समुपशान्तरवाभिधाने ।
 तूष्णीमतिष्ठदमुना मुनिना च सार्धं
 विश्रान्तवृत्तिरथ तत्र मुहूर्तमीशः ॥ ३१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० परमेश्वरोपदेशो नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः ३५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततो मुहूर्तेन हरो गौरीकमलिनीसरः ।
 मद्विकासोन्मुखः स्वैरं विकासं बहिराददे ॥ १
 हृक्चयो द्योतयामास मुखाकाशतलोदितः ।

विच्छित्तिरहिता चिति स्थितिस्तृतीयेत्यर्थः ॥ २३ ॥ अस्यां
 प्रतिष्ठायां भूमिकायां स्थितिः सा सर्वेभ्यः शैवशास्त्रप्रसिद्धषड-
 ध्वभ्यः श्रुतिप्रसिद्धधूमार्चिराद्यध्वभ्यस्तदध्वगेभ्यस्तैरध्वभिरुपा-
 स्तिफलमूर्ध्वलोकभेदं प्राप्तेभ्यश्च दूरगा । अतो हे अहं, भ्रमापि
 वचसां गोचरं विषयतां न समायाति किंतु स्वयमेवानुभूयत
 इत्यर्थः ॥ २४ ॥ त्रिभ्यो जाग्रदादिमार्गेभ्यः कलनायास्तत्सा-
 पेक्षतुर्यत्वसंख्यायाश्चातीत इति एवंपो देवः सनातनो नित्यो
 नाभ्यः । 'अतोऽन्यदार्त' इति श्रुतेरिति भावः ॥ २५ ॥ तन्म-
 यवेदनात्तदुपादानकत्वदर्शनात् एतन्मयम् । उपादानातीता-
 द्वितीयसत्यसंवेदनात्तु इदं नेदं च । द्विविधविकल्पातीतमित्यर्थः
 ॥ २६ ॥ तदेव स्पष्टमाह—नेदमिति । स्वस्य कोश उदरं
 तद्वत् ॥ २७ ॥ कुतस्तत्समेभ्योऽपि समामासं तत्र हेतुमाह—
 अद्वैतैक्यादिति द्वाभ्याम् । प्रलयान्धवद्वैतैक्याभावेऽपि
 स्वात्मनि संक्षोभः स्याज्जेल्याह—असंक्षोभादिति । कुतो न
 संक्षोभस्तत्राह—घनचेतनयेति । घनेऽपि सैन्धवखण्डे द्रवत्वा-
 दिविकारस्तद्वत् एव दृष्टस्तद्वत्किञ्चन स्यात्तत्राह—अविकारा-
 दिमत्त्वादिति । आदिपदादिवर्तपरिग्रहः । चिरं नित्या अपि
 कालाकाशादयो नित्या यस्मात्तादृशतया ॥ २८ ॥ सतामसतामपि
 शिशुकल्पितनभःशिलाकोशानां जगतामपि चिद्धनत्वात् मना-
 गपि भेदोऽस्तीति समसमाभासमिति सुष्ठूक्तमिति भावः ॥ २९ ॥
 उक्तमेव तुर्यातीतत्वमुपपादयन्नुपसंहरति—समस्तमिति । ओ-
 मित्यस्याक्षरस्य विराडादिभिरकारादिमात्राभेदेन कल्पितैश्चतुर्भिः
 पादैः प्रविभक्तस्य या नादविन्दुशक्तिशान्ताख्यास्वस्या अर्धमा-
 त्राया मात्रास्त्रासु तुर्या शान्ताख्या सा परमा गतिः । तस्यां हि
 ओतानुज्ञात्रुज्ञाऽनिकल्पाख्यासु स्थितिषु अविकल्पाख्या तुरीय-

बोधं समुद्रकादर्कं अंशुराशिरिवोद्गतः ॥ २
 ईश्वर उवाच ।
 मुने मननमाहूय स्वसत्तैवाशु मीयताम् ।
 त्वमर्थं माहरानर्थं पवनः स्पन्दतामिव ॥ ३

तुरीया तापनीयश्रुतो परमा गतिर्व्युत्पादितेति भावः ॥ ३० ॥
 ईशः शिव इति वर्णितप्रकारेणोक्तवानुपदिष्टवान्सन् अथ अमुना
 वसिष्ठेन मुनिना चादन्यैः स्कन्दनन्द्यादिभिश्च सार्धं सम्य-
 गुपशान्तो रवः प्रणवार्धमात्राचरमभागो यत्रेति व्युत्पत्त्या
 शान्तरवाभिधाने अस्मिन् सर्वसंसारपारे तुरीयतुरीयपदे अमला
 या दग् भूमानन्दचित् तदैकरस्येन परिणामतो विश्रान्ता
 वृत्तिर्यस्य तथाविधः संस्तत्र वसिष्ठाश्रमे मुहूर्तं तूष्णीं निश्चेष्ट एवा-
 तिष्ठत् । मनसः परमपदविश्रान्तौ तदधीनसर्वेन्द्रियचेष्टानां कुण्ठी-
 भावादिति भावः ॥ ३१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे परमेश्वरोपदेशो नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

ब्रह्मविष्णुहरादीनामत्र यः परमः पिता ।

महादेवः परात्मासौ पूज्यसीमान्त ईर्यते ॥ १ ॥

भक्तवात्सल्यातिशयान्मम विकासे प्रबोधने उन्मुखो मद्भा-
 ग्योदयेन प्रेरितः सन् बहिर्विकासं नेत्रोन्मीलनं आददे स्वीचकार
 ॥ १ ॥ हरस्य मुखलक्षणे निर्मलत्वात्त्रिपुण्ड्रशरदभरेखाद्वितत्वा-
 द्वाकाशतले उदितो हशां चन्द्रसूर्याभिलक्षणनेत्राणां चयो बोधं
 समाधेः प्रबुद्धतां द्योतयामास । यथा समुद्रकान्मेघसंपुटकाद्
 द्यावाभूमिसंपुटाद्वा उद्गतः अंशूनां राशिरर्कोऽहर्द्योतयति तद्व-
 दित्यर्थः । अर्कं अंशुराशिरित्युत्वविषये यत्वं छान्दसम् ॥ २ ॥
 तत्र भगवांस्त्वत्त्वबोधोपयोगितया उपायोपेयसारौ प्रथममाह—
 मुने इति । हे मुने, त्वया प्रथमं मननं विचारमाहूय संनि-
 धाप्य स्वस्य प्रतीचः सत्ता पारमार्थिकरूपमेवाशु मीयतां प्रमा-
 णैर्निर्धार्यताम् । तत्र प्रतीचि अनर्थं बहिर्मुखत्वापादनेन सर्वा-
 नर्थमूलं त्वमर्थं युष्मत्प्रत्यययोग्यमचिदंशं मा आहर । यथा
 अचलमेवाकाशं पवनः स्पन्दतां नयंस्तापरंजोजाभ्यादिमाज

द्रष्टव्यमिह यत्किञ्चित्दृष्टं किं स्वमं भ्रमैः ।
न हि हेयमुपादेयं चेह पश्यासि तद्विदः ॥ ४
शान्त्यशान्तिमयानेतात्त्विकल्पान्दलयन्नसिः ।
धीरोसि नान्यथाऽऽस्थित्वा त्वमेव भव चात्मदृक् ॥ ५
इमां दृश्यदशमाशु बाह्यबोधाय वा पुनः ।
समाश्रित्य मदुक्तं त्वं शृणु तूष्णीं स्थितेन किम् ॥ ६
इत्युक्त्वा बाह्यबोधस्त्वं मा भवेति निश्चलधृक् ।
प्राणेनेदं देहोहं परिस्फुरति यन्नवत् ॥ ७
प्राणहीनं परिस्पन्दं त्यक्त्वा तिष्ठति मुक्त्वत् ।
चालनी पावनी शक्तिः शक्तिः संवेदनी चितिः ॥ ८
सा मूर्ता सादपि स्वच्छा सत्सत्त्वात्र कारणम् ।
विनश्यतः प्राणदेहो वियोगान्मरुदेव च ॥ ९
चिदात्मा सादपि स्वच्छो न विनश्यति किं भ्रमैः ।
मनःप्राणमये देहे चित्त्वं परिजायते ॥ १०
मुकुरे ह्यमलाभासे प्रतिविम्बं प्रवर्तते ।
सदस्यग्रगतं वस्तु प्रतिविम्बक्रियां विना ॥ ११

करोति तादृशमिति त्वमर्थोपमा ॥ ३ ॥ ननु त्वमर्थेष्वपि द्रष्टव्यं
हेयमुपादेयं च यदस्ति तत्कृतो नादर्व्यं तत्राह—द्रष्ट-
व्यमिति । 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतसविज्ञातं विज्ञातं
भवति' इत्यादिश्रुतेरात्मदर्शनेनैव सर्वद्रष्टव्यानां सत्त्वतो दृष्ट-
त्वादृष्टैरदृष्टैर्वा भ्रमैः समं सह किं प्रयोजनम् । तद्विदस्त्वविदः ।
इह आन्तिविपये ॥ ४ ॥ उपात्ता इष्टार्थाः प्रहीणा अनिष्टाश्च
चित्ताश्वासनहेतुत्वाच्छान्तिमयास्त एव विपरीता विक्षेपहेतुत्वाद्-
शान्तिमयास्तानेतात्त्विकल्पान् दलयन्स्त्वमेव धीरः अस्तिरसि ।
अन्यथा तु न धीरोऽसि । अतः आस्थित्वा आस्थां विधाय
आत्मदृक् चादीरश्च भव । तथा च दृश्याकारानास्कन्दितचिदा-
त्मस्वभावावस्थितिरेव मुख्यः कल्प इति भावः ॥ ५ ॥ तत्र
चेत्त्वमसमर्थस्त्वं तत्प्राप्तये कंचित्कालं श्रवणाद्यनुकूलं कतिप-
यामेव बाह्यदृष्टिमवलम्ब्य निरन्तरं तत्त्वप्राप्तये यत्तत् न कदा-
चिदपि प्रमादादुपरमस्तेत्याह—इमामिति । बाह्यबोधाय
'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एक-
स्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' इति श्रुतौ
अलेपकत्वसमर्थनाय सर्वप्रपञ्चबाह्यत्वेन दर्शितस्यात्मनो बोधाय
तूष्णीमात्मलाभप्रयत्नं विना स्थितेनावस्थितेन किं । कः पुरुषार्थं
इत्यर्थः ॥ ६ ॥ बाह्याकारदर्शनानां मध्ये देहात्मतादर्शनमेव
महाननर्थः सर्वानर्थवीजं चेति तदेव मम त्याजयितुं भगवान्
प्रवृत्त इति वसिष्ठ आह—इत्युक्त्वेति । निश्चलधृक् इति प्राण-
कल्पान्तरानुक्त्वा त्वं बाह्यदेहादात्मत्वबोधो यस्य तथाविधो
मा भवेत्तादृशयेन वक्ष्यमाणदेहात्मताभ्रमनिरासोपायमाहेति पूर-
यित्वा व्याख्येयम् । वृष्टितो वा ग्रन्थोऽत्रान्वेष्यः । तत्र देहस्य
क्रियाशक्तिरिव चेतनशक्तिरपि परायतेति नात्मप्रशक्तिरिवा-
शयेन प्राणाधीना देहदेहेत्याह—प्राणेनेति ॥ ७ ॥ देहस्य
चालनी चलनानुकूलं क्रियाशक्तिः पावनी पवनप्रयुक्ता संवेदनी

यथा नास्ति मलोपेते मुकुरे मुनिनायक ।
तथा नास्ति गतप्राणे विद्यमानेऽपि देहके ॥ १२
सर्वगापि चिदुच्छन्नबोधात्स्पन्दादिकं प्रति ।
बोधात्कलङ्कविमला चिदेव परमं शिवम् ॥ १३
विदुर्देवं तदाभासं सर्वसत्तार्थदं तथा ।
स हरिः स शिवः सोऽजः स ब्रह्मा स सुरेश्वरः ॥ १४
अनिलानलचन्द्रार्कवपुः स परमेश्वरः ।
स पृथु सर्वगो ह्यात्मा चित्त्वनिश्चेतनः स्मृतः ॥ १५
देवेशो देवभृद्भाता देवदेवो दिवः पतिः ।
महाचितः समुल्लासं मुह्यन्तीव न केचन ॥ १६
ये नाम ते जगत्येते ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
परस्मात्परिनिर्गता ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥ १७
कणास्तप्तायस इव वारिधेरिव बिन्दवः ।
तेष्विव भ्रमभूतेषु जातेष्विव परात्पदात् ॥ १८
स्थितेषु भ्रमवीजेषु कल्पनाजालकर्तृषु ।
सदृशशतशाखेयमविद्योदेति पीवरी ॥ १९

शक्तिस्तु आत्मचित्तिरेवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ तत्र क्रियाशक्ते-
र्मूलमाश्रयश्च विनश्यतः । चिच्छक्तिस्तु न विनश्यतीत्याह—
विनश्यत इति ॥ ९ ॥ कुतो न विनश्यति तत्रोपपत्तिमाह—
मनःप्राणमये इति । लिङ्गदेहसंवलिते इति यावत् । परिजायते
निरावरणमविव्यज्यते ॥ १० ॥ स्थूलदेहमात्रस्य तु न चिद-
भिव्यक्तिसमर्थता मलिनत्वादिति दृष्टान्तेनोपपादयति—सदपी-
त्यादिसार्धेन ॥ ११ ॥ १२ ॥ अत एव सर्वगतापि चिन्मायाकलङ्का-
वृत्तत्वाल्लिङ्गदेहादन्यत्र बाह्यक्रियासु स्वतत्त्वबोधे चासमर्था
लिङ्गदेहे अनादृतत्वात्तद्वृत्तिद्वारा तदुभयसमर्थेत्याह—सर्वगेति ।
बाह्याकारेणोच्छन्नाद्बोधाद्बुद्धिहेतुर्निमित्तादेहचटस्पन्दादिकं प्रति
समर्था । ब्रह्माकारबोधात्तु मायाकलङ्कविमला स्वयमेव परमं
शिवं परमकल्याणं कैवल्यारूपं व्यवतिष्ठत इत्यर्थः ॥ १३ ॥ अत
एवामिव्यक्ता चिदेव सर्वसत्तास्फूर्तिनिमित्तावादीव्यति शोतत इति
व्युत्पत्त्या देव इति विद्वत्पक्ष इत्याह—विदुरिति । तस्या आमा-
समभिव्यक्तं रूपम्, तदभिव्यक्तयुक्तर्थादेव हरिहरादिविवानाम-
प्युक्तदेवत्वमित्याशयेनाह—स हरिरिति । अजो हिरण्यगर्भः ।
ब्रह्मा चतुर्मुखः ॥ १४ ॥ चित्त्वनिः सर्वचेतन्याकारः ॥ १५ ॥ ये
नाम केचन महाचितः समुल्लासं निरतिशयामभिव्यक्तिं प्राप्य न
मुह्यन्तीव मिथ्यामोहपरवशा न भवन्ति त एते जगति ब्रह्म-
विष्णुहरादयः परमदेवाः प्रसिद्धा इत्यर्थः ॥ १६ ॥ यस्तु परब्रह्म-
देवस्तद्वृत्त्या गुणैकदेशाभिमानिन एते स्रष्टादिकार्यार्थमाविर्भूता
विस्फुलिङ्गप्राया लक्ष्यन्त इत्याशयेनाह—परस्मादिति ॥ १७ ॥
उपाधुपहितप्राधान्याभ्यां क्रमादुच्यन्तौ । इदं चाशालीयव्यवहार-
दशोक्तं, विमर्शदशा तु ब्रह्मादीनामप्याविर्भावसर्गादिचेष्टानुग्रहो-
पदेशत्रयान्धाधिपत्यतिरोभावान्ता अपि व्यवहारा अविद्याकृत-
आन्तिरेव न बास्तवीत्याह—तेष्विवेत्यादिना ॥ १८ ॥ १९ ॥

वेदवेदार्थवेदादिजीवजालजटावली ।
 ततस्तस्या अनन्तायाः प्रसृतायाः पुनःपुनः ॥ २०
 संपन्नदेशकालायाः क्रमः स्याद्वर्णनासु कः ।
 ब्रह्मविष्णुहरादीनामतोऽयं परमः पिता ॥ २१
 मूलबीजं महादेवः पल्लवानामिव द्रुमः ।
 सर्वसत्त्वाभिधः सर्वः सर्वसंवेदनैककृत् ॥ २२
 सर्वसत्ताप्रदो भास्वान्वन्धोऽभ्यर्च्यश्च तद्विदः ।
 प्रत्यक्षवस्तुविषयः सर्वत्रैव सदोदितः ॥ २३
 संवेदनात्मकतया गतया सर्वगोचरम् ।
 न तस्याहानमभ्यादि किञ्चिदेवोपयुज्यते ॥ २४
 नित्याहृतः स सर्वस्थो लभ्यते सर्वतः स्वचित् ।

यां यां वस्तुदशां याति तत एव मुने शिवम् ॥ २५
 स्वरूपं समवाप्नोति रूपालोकमनोदशाम् ।
 आद्यं पूज्यं नमस्कार्यं स्तुत्यमर्घ्यं सुरेश्वरम् ॥ २६
 एनं तं विद्धि वेद्यानां सीमान्तं महतामपि ।
 एतमात्मानमालोक्य जराशोकभयापहम् ।
 संभृष्टबीजवज्जन्तुर्न भूयः परिरोहति ॥ २७
 सकलजन्तुषु यत्त्वभयप्रदं
 विदितमाद्यमुपास्यमयत्नतः ।
 त्वमजमात्मगतं परमं पदं
 भवसि किं परिमुह्यसि दृष्टिषु ॥ २८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० महादेवस्य पूज्यसीमान्तत्वकथनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥३५॥

षट्त्रिंशः सर्गः ३६

ईश्वर उवाच ।

ततश्चिद्रूपमेवैकं सर्वसत्तान्तरास्थितम् ।
 खानुभूतिमयं शुद्धं देवं रुद्रेश्वरं विदुः ॥ १
 बीजं समस्तबीजानां सारं संसारसंसृतेः ।
 कर्मणां परमं कर्म चिद्धातुं विद्धि निर्मलम् ॥ २

वेदा वेदार्थाः सर्गादिमक्रमाः साङ्गोपाङ्गक्रियाकलापा उपासन-
 भेदा ब्रह्मतत्त्वव्युत्पादनोपायभेदाश्च तदधिकारिणो जीवास्तेषां
 कामकर्मवासनाजननमरणाद्यनर्थजटाश्चेत्येतेषामावली पङ्क्ति-
 रूपा भविष्येति पूर्वत्रान्वयः । भविष्याविलासभेदास्त्वानन्त्या-
 द्रक्षुमशक्या इत्याह—तत इति ॥ २० ॥ वर्णनासु कः पुरुषः
 क्रमत इति क्रमः समर्थः स्यात् । न कश्चिदित्यर्थः । अथवा
 क्रम्यत इति क्रमः प्रयोजनम् । किं प्रयोजनं स्यान्न किञ्चिदित्यर्थः ।
 यतो ब्रह्मविष्णवादयोऽपि तदधीनशरीरोपाधिपरिग्रहा अतः
 अयं चिदात्मा महादेवस्तेषामपि पितेत्यर्थः । तथा चाथर्वशिखर-
 श्रुतिः ‘ध्यायीतेशानं प्रध्यायितव्यम् । सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुसदे-
 न्द्रास्ते संप्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सहभूतैः न कारणं कार-
 णानां घाता घ्याता कारणं तु ध्येयः सर्वैश्वर्येण संपन्नः सर्वैश्व-
 रश्च शंभुराकाशमध्ये’ इति । पुराणेष्वप्युक्तम् ‘त्रयस्ते कारणा-
 त्मानो जाताः साक्षान्महेश्वरात् । तपसा तोषयित्वा तं पितरं
 परमेश्वरम् । परस्परस्त्राज्यायन्ते परस्परजयैविणः ॥’ इति
 ॥ २१ ॥ महत्त्वपरिच्छिन्ने आत्मज्ञानयोगैश्वर्ये महीयते पूज्यते
 सर्वोत्कर्षेण वर्तते इति महादेवः । तथा च श्रुतिः ‘यः सर्वान्भा-
 वान्परित्यज्यात्मज्ञानयोगैश्वर्ये महति महीयते तस्मादुच्यते महा-
 देवः’ इति । सर्वेषां सत्त्वानां बलानि अभिधाश्च यस्य ॥ २२ ॥
 तद्विदत्त्वं परिचितवतः पुंसः प्रत्यक्षं प्रतीन्द्रियं प्रतिवस्तु च
 स्फुरद्रूपत्वात्स एव विषयो नान्यः ॥ २३ ॥ संनिधानार्थमा-
 हानं प्रकाशनार्थं च मन्त्रा उपयुज्यन्ते । सर्वगते सदा स्फूर्ति-
 रूपे तु तस्मिन्नाहानमन्त्रयोः प्रयोजनमस्तीति भावः । आदि-

कारणं कारणौघानामकारणमनाविलम् ।

भावनं भावनौघानामभाव्यमभवात्मकम् ॥ ३
 चेतनं चेतनौघानां चेतनात्मनि चेतनम् ।
 स्वं चेत्यचेतनं चेत्यपरमं भूरिभावनम् ॥ ४

पदात्प्रतिष्ठापनावगुण्ठनावरोधनादिपरिग्रहः ॥ २४ ॥ तत एव
 लभ्यते ॥ २५ ॥ रूपाणां तदालोकनानां तन्मननलक्षणानां
 मनसां तत्साक्षिदृशश्च स्वरूपं स्वयमेव आप्नोति धर्तै नान्यदि-
 त्यर्थः । अतस्तमेव सर्वपूजादिव्यवहाराणां मार्गं पुरःस्फूर्तिकं
 देवं पूजादियोग्यं विद्धि ॥ २६ ॥ एवं वेद्यानांमप्ययमेव सीमे-
 त्याह—एनमिति ॥ २७ ॥ यत् सकलजन्तुषु विदितं सत्
 अभयप्रदं यत्सर्वस्मादाद्यं यत् अयन्नत उपास्यं तदजं पदं त्वमेव
 भवसि अतः किं दाह्यदृष्टिषु परिमुह्यसीत्यर्थः ॥ २८ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे महा-
 देवस्य पूज्यसीमान्तत्वकथनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

सर्वविश्वोद्भवात्तस्य सर्वाकारेण च स्थितेः ।

सर्वास्पर्शाद्विशुद्धेश्च सर्वैश्वर्यं प्रपद्यते ॥ १ ॥

यत एतमात्मानमालोक्य न भूयः परिरोहति ततो हैतो-
 र्दृष्टमात्रः संसाररुजं द्रावयतीति रुद्रः स चासौ ईष्टे सर्वस्य
 जगत इतीश्वरः स्वामी तं विदुर्ब्रह्मविदः । तथा च श्रुतिः ‘स
 दृष्टो भृङ्याति नः’ । ‘श्रुवा अस्मिन्गोपतौ स्यात्’ इति ॥ १ ॥
 चिद्धातुं चित्तारम् ॥ २ ॥ क्रियाशक्त्याः कारणम् । स्वसत्तया
 सर्वभावानां भावनं सत्ताप्रदम्, परमार्थतस्तु अकारणमभाव्य-
 मभवात्मकं च ॥ ३ ॥ चेतनौघानां सर्वबुद्धिवृत्तीनां चेतनं
 प्रकाशकम् । चेतनात्मनि जीवेऽप्यन्तःसारभूतं चेतनं चिद्रूपम् ।
 स्वं प्रत्यग्भूतं चेत्यानां बाह्यवेद्यानामपि चेतनं बुद्धिवृत्तिव्याप्ति-
 कृताभिव्यक्त्या प्रथयितारम् । चेत्यानां परममधिष्ठानतत्त्वभू-
 तम् । भूरिभावनं आत्मानमेव मायया बहुत्वेन भावितवन्तम्

आलोकालोकममलमनालोकयमलोकजम् ।
 आलोकं धीजवीजौघं चिद्धनं विमलं विदुः ॥ ५
 असत्यं सन्मयं शान्तं सत्यासत्यविवर्जितम् ।
 महासत्तादिसत्तान्ते चिन्मात्रं विद्धि नेतरत् ॥ ६
 स्वयं भवति रागात्मा रज्जको रज्जनं रजः ।
 स्वयमाकाशमप्याशु कुड्यं भवति मण्डितम् ॥ ७
 अस्मिन्निश्चेतसि स्फारे जगन्मरुमरीचयः ।
 स्फुरिताः प्रस्फुरिष्यन्ति प्रस्फुरन्ति च कोटयः ॥ ८
 स्वसत्तामात्रसंपन्नं पदमस्मिन्स्वतेजसि ।
 न किञ्चन च संपन्नमन्यदौष्ण्यादिवानले ॥ ९
 गर्भीकृतमहामेरं परमाणुसमं विदुः ।
 आच्छादितमहामेरं परमाणुसमं विदुः ॥ १०
 गर्भीकृतमहाकल्पो निमेषोऽसावुदाहृतः ।
 आक्रान्तकल्पेनानेन न संत्यक्ता निमेषता ॥ ११
 घालाप्रकादप्यणुना व्याप्तानेनाखिला मही ।
 सप्ताब्धिबर्सेनाप्युर्वो नास्यान्तमधिगच्छति ॥ १२

अकुर्वन्नेव संसाररचनां कर्तृतां गतः ।
 कुर्वन्नेव महाकर्म न करोत्येव किञ्चन ॥ १३
 द्रव्यमप्येष निर्द्रव्यो निर्द्रव्योऽपि हि द्रव्यवान् ।
 अकायोऽपि महाकायो महाकायोऽप्यकायवान् ॥ १४
 अद्याप्येष सदा प्रातः प्रातरप्यद्यतां गतः ।
 न चाद्यमद्य न प्रातस्त्यद्य प्रातश्च वा सदा ॥ १५
 भिडिं भिडिं खिले मत्ता पुष्पिच्छिलिसालवम् ।
 विविचलितसदालोका लासो गुलुगुलुः शिखी ॥ १६
 इत्याद्यनर्थकं वाक्यं तथा सत्यं स एव च ।
 न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न येत्त्वसौ ॥ १७
 यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
 यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ १८
 यत्रान्तरालगदनेन विलासयत्या
 हेलविह्वलधनसर्जितयामलेन ।
 महेन पल्लवदलमलमालितानां
 लक्ष्मीलताऽधिरलिता चलितेय मुष्टिः ॥ १९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पृ० परमेश्वरवर्णनं नाम पदत्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः ३७

ईश्वर उवाच ।

इत्यादिकानां शब्दानामर्थश्रीः सत्यरूपिणि ।

॥ ४ ॥ आलोकानां चक्षुरादीनामादित्यादीनां चालोकं प्रका-
 शकम् । 'वच्छुडं ज्योतिषां ज्योतिः' इति श्रुतेः । अनालोक्यं
 चक्षुःसूर्याद्यप्रकाशम् । अलोकजमलौकिकम् । आलोकं प्रका-
 शम् । एकमेव धीजं धीजौघात्मना स्थितम् ॥ ५ ॥ न विद्यते
 सत् पृथिव्यतेजोवाय्वाकाशं च यत्र । सत्येन व्यावहारिके-
 णासत्येन प्रातिभासिकेन चावस्थानयेण विवर्जितम् । महारत्ता
 जगत्सत्ता आदिसत्ता कारणव्याकृतसत्ता तयोरन्ते बाधे त-
 त्साक्षि यच्चिन्मात्रं तदेव विद्वीत्यर्थः ॥ ६ ॥ रज्जनवीजाव-
 स्थायां रागात्मा विषयस्मृतौ चित्तशोभकत्वाद्वज्रकः । विषयसं-
 वन्धे रज्जनम् । तद्विद्योमे चित्तमालिन्यहेतुत्वाद्वज्रः । आकाश
 धर्मूर्तस्त्वोऽपि कुड्यं मूर्तं चित्रादिरक्षितं भवति ॥ ७ ॥ ८ ॥
 अस्मिन्स्वतेजसि स्वप्रकाशे स्वसत्तामात्रेण जगत्पदं संपन्नमपि
 किञ्चन न संपन्नं वस्त्वन्तराभावाद्यथा अनले ज्वालाद्वारविस्फु-
 लिप्रभादिवैचित्र्यं संपन्नमपि औष्ण्यैकस्वभावाद्देहन्यन्न तद्व-
 दित्यर्थः ॥ ९ ॥ अत एव 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' इति
 श्रुतिः सर्वविरुद्धधर्माणां तत्र समावेशां दर्शयतीत्याशयेनाह—
 गर्भीकृतेति । गर्भीकरणं गौणमिति शब्दाधारणायच्छादितेत्य-
 धेन तद्व्याख्यानम् ॥ १० ॥ कालतोऽप्यस्मिन्दैर्घ्यसौक्ष्म्यमवि-
 रुद्धमित्याह—गर्भीकृतेति । आक्रान्तः सर्वतोव्याप्तः कल्पो
 द्विपरार्थान्तकालो येन । अप्रापि प्राग्वदपौनस्त्यम् ॥ ११ ॥

१ बलनापीति इति पाठः,

तस्मिन्सर्वेश्वरे सर्वसत्तामणिसमुद्भवे ॥ १

उक्तं प्रपन्नयति—वालाग्रेत्यादिना ॥ १२ ॥ १३ ॥
 महाकायो ब्राह्मणश्चारीरः ॥ १४ ॥ अयदाब्दवाच्यपट्टिपट्टिका-
 त्मयोऽपि प्रातः आयात्रिमुहूर्तमात्रात्मा, परमार्थतस्तु न वा
 आर्यं मुहूर्तं न वा वाच्यं नापि प्रातः । अयप्रातरादिसत्तानां
 यदि तत्तदधिष्ठानचित्ति लक्षणा तदा सदैव स तत्तच्छब्दयोग्य
 इत्यर्थः ॥ १५ ॥ एवमुन्मत्तचालादिप्रलपितनिरर्थकापशब्दजाल-
 मपि स एवेति तेषु कांश्चिदनुकूल्य दर्शयति—भिण्डिमिति ॥ १६ ॥
 तथा सत्यं सार्थकं वेदशास्त्रादिसत्तजालमपि स एव । उक्तं
 सर्वं पिण्डीकृत्य व्यतिरेकमुत्तेनाप्याह—न तदस्तीति ॥ १७ ॥
 अयमेव प्रोदित्वापि प्राग्गृह्य प्रणत इति स्मारयन्नुपसंहरति—
 यस्मिन्निति ॥ १८ ॥ यत्रारोपादसतोऽपि सत्ता भवतीति यदुक्तं
 सासभावनाय यथा यत्रानर्थका अपि श्लोकाः सार्थका भव-
 न्तीति दृष्टान्तप्रदर्शनमभिप्रेत्यानर्थकं श्लोकमुदाहरति—यत्रेति ।
 यत्र 'इत्यादिकानां शब्दानामर्थश्रीः सत्यरूपिणी'ति उत्तरसर्गाद्ये-
 नान्वयस्तत्रैतथाख्यास्याम् ॥ १९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे परमेश्वरवर्णनं नाम पदत्रिंशः
 सर्गः ॥ ३६ ॥

सयोगादसतां सत्ता शिबस्यानन्तशक्तयः ।

प्रधानशक्तेर्नियतेनृत्यं चात्रोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

यस्मिन्निश्चरे इत्यादिकानां सर्गान्तोदाहृतश्लोकप्रवृत्तीनां
 शब्दानामर्थश्रीः सत्यरूपिणी सत्यप्राया भवति तस्मिन्सर्व-

२ न यन्मृषा इति पाठः,

का नाम विमलाभासास्तस्मिन्परमचिन्मणौ ।
न कचन्ति विचिन्वन्ति विचित्राणि जगन्ति याः ॥ २
एषा बीजकणान्तस्था चित्सत्ता स्ववपुर्मयम् ।
लब्ध्वा मृत्कालवार्यादि करोत्यङ्कुरमोदनम् ॥ ३
फेनावर्तविवर्तान्तवर्तिनी रसरूपिणी ।

जगत्सत्तालक्षणस्य मणेः समुद्रके संपुटप्राये मायाशब्दे सर्वेश्वरे का विमलाभासाः शक्तयो न कचन्तीति परेणान्वयः । तस्य श्लोकस्य लोकतः परमार्थतश्च यथा सत्यार्थता तथा वर्ण्यते । तत्र लोकतस्तत्त्ववत्कश्चिद्दृशोऽनेन वर्ण्यते । पल्लवैः किसलयैर्दलैर्हरितपत्रैश्चामलैरम्लानैर्मालितानां लतानां मलेन कान्तेन । सर्वतो लताभिरालिङ्गितेनेति यावत् । अत एवान्तरालेषु स्कन्धकोटरशाखान्तरालेषु करालेषु गहनेन दुष्प्रवेशेन । दुरारोहेणेति यावत् । स्वयं चामलेन अम्लानेनानेन तदृणा पुष्पफलपल्लवभ्रमरखगादिसमृद्ध्या विलासवत्या हेलया अवहेलनेन विलोलानि तरलितानि घनानां मेघानां विद्युत्संचलनक्षिप्रवशिशिरदयामतासौन्दर्यातिशयविभ्रमसर्जितानि यथा । 'गर्जितये'ति पाठे सौन्दर्यातिशयाभिमानप्रयुक्तगर्जनानि यथेति योज्यम् । तथाविधया स्वलक्ष्म्या वृक्षान्तरेषु वनान्तरेषु सर्वजगति वा प्रसिद्धा लक्ष्मीलता स्वात्मन्येवोपसंग्रहाद्वलिता संकोचिता मुष्टिरिवाऽविरलिता घनीकृतेत्यर्थः । अथवा भगवान् विष्णुरत्र वर्ण्यते । पल्लवैर्दलैश्चामलया वनमालया मालितानां पुरुषाणां मध्ये मलेन श्रेष्ठनामलेन परमार्थतो वसनभूषणादिना च निर्मलेन । अन्तराले जठरे चतुर्दशभुवनमरितत्वाद्गहनेन विष्णुना जगन्मोहनसौन्दर्यविलासवत्या प्राग्बदेव हेलविलोलघनगर्जितया स्वदेहलक्ष्म्या स्वमालिङ्गन्ती लक्ष्मीलक्षणा ललनापि वलिता मुष्टिरिवाविरलिता अपृथक्कृतेत्यर्थः । परमार्थतोऽप्यन्तराले विचित्रकामकर्मवासनागहनेनाज्ञानलक्षणेन मलेन पल्लवप्रायैः सूक्ष्मभूतैस्तत्कार्यैर्दलप्रायैः स्थूलभूतैर्भुवनमदृश मालितानां जगतां या लक्ष्मीलता सा हेलया लीलया नभसि विलोलानां घनानां गर्जितमिव गर्जितं यस्यास्तथाविधया महावाक्यश्रुत्या विलसनं विलासस्तद्वत्या ब्रह्मविद्याकरिण्या मोहेन प्रतिमल्लताडनाय वलिता मुष्टिरिव अविरलिता चिदेकघनीकृता । एवमर्थान्तराण्यप्यस्य श्लोकस्य सुधीभिरुच्यते । इत्यादिकानामित्यत्र आदिपदादनर्थकत्वेन प्रसिद्धतमानि जरद्वपदशदाडिमादिवाक्यानि गृह्यन्ते । 'जरद्ववः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि । तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्थः ॥' अस्यापि लौकिकः पारमार्थिको वार्थो ब्रह्मसत्तथैव कल्पयितुं शक्यते । तथाहि । लौकिकस्तावत्—कथिन्मद्रदेशजः कम्बलपादुकाभ्यामुपलक्षितो जरद्ववसादस्याज्जरद्ववो बाहीकः स्वगृहद्वारि स्थितः सन्मद्रकाणि

कठिनेन्द्रियसंबन्धे करोति स्पन्दमम्भसाम् ॥ ४
एषा कुसुमगुच्छेषु रसरूपेण संस्थिता ।
कचति घ्राणरन्ध्रेषु करोति परिफुल्लताम् ॥ ५
शिलाङ्गस्था शिलाङ्गाभामसतीं सत्यतापदम् ।
सर्गाधारदशां धत्ते गिरीन्द्रः स्थितिलीलया ॥ ६

मद्रदेशप्रसिद्धगीतानि गायति । तं काचिल्लशुनचिकित्सरोगयुक्तेन पुत्रेण सह लवणाकरं प्रति केनचिदावश्यकेन कार्येण गमिष्यन्ती तत्र पुत्रजीवनकामा ब्राह्मणी लवणाकरादयमागत इति लोकेभ्यः श्रुत्वा हे राजन्निति सबहुमानं संबोध्य रुमायां लवणाकरे लशुनस्य कोऽर्थः किं समर्थं लशुनमुत महर्धमिति पृच्छतीत्यर्थः । पारमार्थिकोऽपि—कम्बलसदस्या अविद्यया पादुकाप्रायेण लिङ्गदेहेन च चक्षुरादिद्वारि विषयभोगार्थं स्थितो जरद्ववसादशो जीवो वैषयिकाप्येव मद्रकाणि स्त्रीपुत्रादिमङ्गलगीतानि बहिर्मुखो गायति न मनागपि स्वतत्त्वं दिदृक्षते तमेतादृशमुपलभ्य पुनान्नः संसारनरकाग्रायत इति पुत्रो ब्रह्मात्मताबोधस्तत्कामा ब्राह्मणीव ब्राह्मणी श्रुतिः पृच्छति—हे राजन्, स्वयं ज्योतिष्टेन विराजमान, स्वचैतन्येन सर्वं जगद्रज्यंश्च हे आत्मन्, रुमायां सर्वाविद्याकामकर्मबीजविनाशकत्वाल्लवणाकरोपरप्राये त्वत्स्वरूपे परमशुद्धे अत्यन्तापवित्रत्वाद्ब्राह्मणाभोरयलशुनतुल्यस्य भोग्यस्य कोऽर्थो मौल्यविचारस्तव । तस्मात्परित्यज्य बाह्यदृष्टिं स्वात्मारामो भवेत्याशयेन कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे । कतरः स आत्मा, 'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः' इत्यादि पृच्छतीत्यर्थः । एवं दशदाडिमादिवाक्येष्वप्यर्थसत्ता लब्ध्वा । भिडिं भिडिमिति श्लोकस्य तु बालमत्ताद्यव्यक्तजलिपतानुकरणस्यानुकार्यैरेवार्थैरर्थवत्ता । अनुकार्यस्य त्वव्यक्तत्वादेव न वाक्यतेति ॥ १ ॥ या बीजशक्तयो जगन्ति विचिन्वन्ति आरोपयन्ति ताः शक्तयः का नाम विमलाभासाः स्फुटा भूत्वा न कचन्ति नाविर्भवन्ति ॥ २ ॥ ताः शक्तीरेव युक्तयोदाहरति—एषेत्यादिना । ब्रह्मादिवीजकणान्तस्था एषा ऐश्वरी चित्सत्ता क्षेत्रे परिष्कृतमृत्कालवार्यादिसहकारिकारणानि लब्ध्वा प्रथममङ्कुरं करोति क्रमेण तण्डुलीभूय साक्षात्पुरुषभोज्यमोदनं करोतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ फेनाः आवर्ताः विवर्ताश्च अन्तर्वर्तिनो यस्याः । तेष्वन्तर्वर्तिनी अनुगता वा रससामान्यरूपिणी ऐश्वरशक्तिः कठिनशिलातलादिसंबन्धे निम्नदेशोपसर्पणलक्षणे जिह्वेन्द्रियसंयोगे तूद्रोपसर्पणरूपं स्पन्दं करोति ॥ ४ ॥ रसरूपेण मकरन्दसंवलितगन्धरूपेण नासापुटयोः परिफुल्लताम् ॥ ५ ॥ शिलाङ्गा प्रतिमा तदाभाम् । शिलाव्यतिरेकेण पृथगसतीम् । व्यावहारिकसत्यतापदम् । सृज्यत इति सर्गः कार्यं तदाधारः शिलेति भेदविकल्पदशमविकृतैव धत्ते । यथा अविद्धतो गिरीन्द्रस्तृणवृक्षलतादिकार्याणि धत्ते तद्वदित्यर्थः

१ चित्सत्ता तु शिलाङ्गाभामिति पाठः. मूलस्यापठे तु चित्सत्तेति विशेष्यमुपक्रमेणमिति बोध्यम्.

श्री० वा० १०९

२ भुवनमोदेरित्यपि पाठः. ३ ब्राह्मणीव इति कत्रिज पठ्यते.

पवनस्पन्दकोशात्मरूपिणीव त्वग्निन्द्रियम् ।
 संसाधयत्यात्मसुतं पितृवात्मतथानया ॥ ७
 अशेषसारसंपिण्डमध्यात्मानं स्वसिद्धये ।
 भावयित्वा न किंचित्त्वमिव खत्वं करोत्यलम् ॥ ८
 स्वसत्ताप्रतिविम्बाभमाकाशमुकुरोदरे ।
 घत्ते कल्पनिमेषाङ्कं कालाख्यममलं वपुः ॥ ९
 आमहापञ्चमेशानं परिणाममया इमे ।
 इदमित्थमिदं नेति नियतिर्भवति स्वयम् ॥ १०
 साक्षिणि स्फार आभासे गृहे दीप इव क्रियाः ।
 सत्ये तस्मिन्प्रकाशन्ते जगच्चित्रपरम्पराः ॥ ११
 परमाकाशनगरनाथमण्डपभूमिषु ।
 स्वशक्तिवृत्तं संसारं पश्यन्ती साक्षिवत्स्थिता ॥ १२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

शिवस्यास्य जगन्नाथ शक्तयः काः कथं स्थिताः ।
 साक्षिता का च किं तासां वृत्तं स्यात्क्रियदेव तत् ॥ १३
 ईश्वर उवाच ।

अग्रमेयस्य शान्तस्य शिवस्य परमात्मनः ।
 सौम्य चिन्मात्ररूपस्य सर्वस्यानाकृतेरपि ॥ १४
 इच्छासत्ता व्योमसत्ता कालसत्ता तथैव च ।

॥ ६ ॥ एवं पवनलक्षणो यः स्पन्दानां सर्वक्रियाणां को-
 शात्सदात्मस्वरूपा त्वग्निन्द्रियं स्पर्शग्रहणाय संसाधयत्यनुकूल-
 यति । यथा पिता आत्मसुतं स्वकार्ये प्रवर्तयति तद्वत् । अनया
 सीत्या इन्द्रियान्तरेष्वपि प्रवृत्तिशक्तयो बोध्या इत्यर्थः ॥ ७ ॥
 यथा प्रवृत्तिशक्त्या संसरति तथा निवृत्तिशक्त्या अशेषस्य
 जगतः साराणां सत्तानां संपिण्डं एकघनमात्मानमधिकृत्य श्र-
 वणमननाद्युपायैः स्वसिद्धये मोक्षाय भावयित्वा नेतिनेतीति
 सर्वप्रतिषेधेन न किंचित्त्वं ह्यन्यत्वमिव सर्वस्य करोति ॥ ८ ॥
 ॥ ९ ॥ सर्वशक्तिभेदानेकीकृत्य तत्कार्येयत्तामवधारयति—आ-
 महेति । 'ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः' इत्युत्कर्षपर-
 म्पराया पञ्चममीशानं सदाशिवमभिव्याप्य नियतिः सर्वकार्य-
 व्यवस्थापिका मूलशक्तिः ॥ १० ॥ कथं तन्नियतिः स्वयं भव-
 तीति चेन्नियमेन सत्प्रथाहेतुत्वादित्याह—साक्षिणीति । स्फा-
 रेऽपरिच्छिन्ने । आभासे ज्योतिषि ॥ ११ ॥ आकाशनगरं
 गन्धर्वपुरं तत्रत्यनाथमण्डपभूमिप्रायजाप्रदादिषु ॥ १२ ॥ का
 इति सामान्यविषयभागप्रश्नः । कथमिति प्रातिस्निकप्रकारभे-
 दप्रश्नः ॥ १३ ॥ १४ ॥ 'सोऽकामयत बहु स्याम्' इति
 श्रुतेः प्रथममिच्छासत्ताभिव्यक्ता, ततो व्योमाभिव्यक्तौ तत्सत्ता,
 तत्र कालात्मनः सप्तसामिव्यक्तौ कालसत्ता, ततो नियतसंस्थान-
 भूतभौतिकाविर्भावे नियतिसत्ताभिव्यज्यते तासु सर्वास्तनुगता
 महासत्तेति भावः ॥ १५ ॥ ऐश्वर्यसाधारणशक्तिभेदानुक्त्वा
 जीवसाधारणास्तानाह—ज्ञानशक्तिरिति । कर्तृता प्रवृत्तिशक्ति-
 रकर्तृता निवृत्तिशक्तिश्च क्रियाशक्तैरवान्तरभेदौ । यद्यपीच्छा-

तथा नियतिसत्ता च महासत्ता च सुवत ॥ १५
 ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः कर्तृताऽकर्तृतापि च ।
 इत्यादिकानां शक्तीनामन्तो नास्ति शिवात्मनः ॥ १६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

शक्तयः कुत एवैता बहुत्वं कथमासु च ।
 उदयश्च कथं देव भेदाभेदश्च कीदृशः ॥ १७

ईश्वर उवाच ।

शिवस्यानन्तरूपस्य सैषा चिन्मात्रतात्मनः ।
 एषा हि शक्तिरित्युक्ता तस्माद्विज्ञा मनागपि ॥ १८
 ज्ञात्वकर्तृत्वभोक्तृत्वसाक्षित्वादिविभावनात् ।
 शक्तयो विविधं रूपं धारयन्ति बहूदकम् ॥ १९
 एवं जगति नृत्यन्ति ब्रह्माण्डे नृत्यमण्डपे ।
 कालेन नर्तकेनेव क्रमेण परिशिक्षिताः ॥ २०
 यैषा परपराभासा सैषा नियतिरुच्यते ।
 क्रियाश्च कृतिरिच्छा वा कालेत्यादिकृताभिधा ॥ २१
 आमहारुद्रपर्यन्तमिदमित्थमिति स्थितेः ।
 आतृणापञ्चजस्पन्दं नियमात्रियतिः स्मृता ॥ २२
 नियतिर्नित्यमुद्वेगवर्जिताऽपरिमार्जिता ।
 एषा नृत्यति वै नृत्यं जगज्जालकनाटकम् ॥ २३

शक्तिरपि जीवेऽस्ति तथापि ज्ञानेश्वरशक्त्या विना स्वविषयं साध-
 यतीति क्रियाशक्तिपरवशा तत्रैवान्तर्भूतेति भावः । इति सा-
 मान्येन परिगणिता अपि प्रातिस्निकरूपेण गणयितुमशक्या
 इत्याह—इत्यादिकानामिति । एतेन चतुर्थप्रश्नस्याप्युत्तरमुक्त-
 नेव ॥ १६ ॥ अद्वितीये शक्तिशक्तिमत्त्वभेदे एव निमित्तं दुर्वचम्,
 दूरे शक्त्यवान्तरभेदवैचित्र्यादीति मन्यमानो वसिष्ठ आक्षि-
 पति—शक्तय इति । शक्तिरित्युक्तोभेदोऽभेदश्च विरुद्धः कीदृशः ।
 किमुपपत्तिक इत्यर्थः ॥ १७ ॥ मायिकविकल्पकल्पनाप्रयुक्तवि-
 द्वेदा एव शक्तय इत्युच्यन्ते वे वस्तुतः शिवादभिन्ना एवेति
 न कश्चिद्विरोध इत्याशयेनेश्वरः समाधत्ते—शिवस्येति । अन-
 न्तरूपस्येति । माया हि स्वरूपतोऽनन्तं शिवं गुणतः शक्तिः
 कार्यतत्त्वानन्तं कुर्वाणा तस्यानन्त्यं वर्धयतीव न तु विहन्तीति
 भावः । मनागपि विकल्पनाद्विज्ञा न वस्तुत इत्यर्थः ॥ १८ ॥
 विभावनाद्विकल्पनात् । तरङ्गादिभेदविकल्पैर्वहु उदकमिव
 बहूदकम् ॥ १९ ॥ ऋतुमासादिकालनियतिक्रमेण परिशिक्षिता
 नटा इव ॥ २० ॥ परामिधाना परार्धद्वयकाला । अपरामिधाना
 अवान्तरकल्पतदवयवरूपा । सा ईश्वरस्य क्रियेति कृतिर्य-
 त्ना इति, अथवा इच्छेति कामं वादिनः कल्पयन्तु अस्माभिः क-
 लनामात्रत्वात्कालः कल्पनात्कल्प इति विकल्पपर्यायताम-
 भिरेव कृताभिधेत्यर्थः ॥ २१ ॥ तस्यां कालशक्तौ नियति-
 पदं व्युत्पादयति—आमहेति । द्विविधो हि नियमः । इदमित्थं
 संस्थानमित्याकारनियमो विकारनियमश्च । तत्राद्य आतृणं
 आमहारुद्रपर्यन्तम्, द्वितीयस्तु आतृणमापञ्चजस्पन्दमित्युभयथा

नानारसविलासाद्यं विवर्ताभिनयान्वितम् ।
 कल्पक्षणेहतानेकपुष्करावर्तघर्घरम् ॥ २४
 सर्वतुकुसुमाकीर्णं धारागोलकमन्दिरम् ।
 भूयोभूयः पतद्दर्भभूरिस्वेदजलोत्करम् ॥ २५
 पयोदपल्लवालोलनीलाम्बरकृतभ्रमम् ।
 पूर्णं संशुद्धसप्ताब्धिरत्नौघवलयाकुलम् ॥ २६
 यामपक्षदिनप्रेक्षाकटाक्षोज्झासिताम्बरम् ।
 मज्जनोन्मज्जनव्यग्रकुलाद्रिकुलशेखरम् ॥ २७
 भ्रमच्छशिमणिप्रोतगङ्गामुक्ताफलत्रयम् ।
 संहृष्टादृष्टसंध्याभ्रविलोलकरपल्लवम् ॥ २८
 अनारतरणलोललोकालंकारकोमलम् ।

भूरिभूतलपातालनभस्तलपदक्रमम् ॥ २९
 मग्नोन्मग्नमहानेकताराधर्मकणोत्करम् ।
 चन्द्रार्ककुण्डलस्पन्दसितस्फुटनभोमुखम् ॥ ३०
 कल्पितानेकब्रह्माण्डकपाटकवितानकम् ।
 लुठल्लोकान्तरव्यूहध्वनन्मुक्ताङ्गुपल्लवम् ।
 सुखदुःखदशादोषभावाभावरसान्तरम् ॥ ३१
 अस्मिन्विकारवलिते नियतेर्विलासे
 संसारनाम्नि चिरनाटकनाट्यसारे ।
 साक्षी सदोदितवपुः परमेश्वरोऽय-
 मेकः स्थितो न च तथा न च तेन भिन्नः ॥ ३२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० नियतिनृत्यं नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशः सर्गः ३८

ईश्वर उवाच ।

एष देवः स परमः पूज्य एष सदा सताम् ।
 चिन्मात्रमनुभूत्यात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ॥ १
 घटे पटे वटे कुड्ये शकटे वानरे स्थितः ।
 शिवो हरो हरिर्ब्रह्मा शक्रो वैश्रवणो यमः ॥ २
 बहिरन्तश्च सर्वात्मा सदा स्वात्मा सुबुद्धिभिः ।
 विविधेन क्रमेणैव भगवान्परिपूज्यते ॥ ३

नियमनादियतिशब्दवाच्येत्यर्थः ॥ २२ ॥ यावत्तत्त्वबोधेनाऽपरि-
 भार्जिता तावन्मृत्युतीत्यर्थः ॥ २३ ॥ तन्नृत्ये नाटकलक्षणानि दर्श-
 यति—नानेत्यादिना । कल्पः प्रलयस्तल्लक्षणे नाट्योपरम-
 क्षणे हता विद्युदाघातवादिता अनेके पुष्करावर्ताख्या मेघा
 एव घर्घरा वायुभेदा यत्र ॥ २४ ॥ धारा वर्षधारास्तद्युक्तं
 ब्रह्माण्डगोलकमेव महानाट्यमन्दिरं यस्य ॥ २५ ॥ पयोदा
 मेघा एव पल्लवा दशाग्रान्तास्त्रैरालोलं यन्नीलमम्बरमाकाशं
 तदेव तेषांजीलवत्त्वं तेन कृता दिनरात्र्यादिनानावेषभ्रमा यत्र ।
 संशुद्धैर्निर्णिक्तैः सप्ताब्धिलक्षणैः रत्नौघखचितवलयैराकुलम्
 ॥ २६ ॥ मज्जनं बल्यैस्तिरोधानम्, उन्मज्जनमुद्घाटनं साभ्यां
 व्यप्राणि कुलाद्रिकुलान्येव शेखराणि शिरोमणि यत्र ॥ २७ ॥
 मुक्ताफलत्रयपदेन द्वारत्रयं लक्ष्यते ॥ २८ ॥ लोका जना
 भुवनानि वा तल्लक्षणैरलंकारैः कोमलं मञ्जुलम् । पदैः
 क्रम्यन्त इति पदक्रमाः नटीपादविन्यासस्थानादिभेदाः ॥ २९ ॥
 ममा अस्ममिता उन्ममा उदिताश्च महत्यो भास्वरास्तारा एव
 धर्मकणोत्कराः स्वेदविन्दुसमूहा यत्र । चन्द्रार्ककुण्डलयोः
 स्पन्दैः स्मितैरीषद्वास्यैः स्फुटं व्यञ्जीकृतं नभोलक्षणं नटीमुखं
 यत्र ॥ ३० ॥ ब्रह्माण्डपदेन तद्विस्तृत्यो लक्ष्यन्ते । ता एव कपा-
 टकानीव वितानकानि तिरस्कारिण्यो यत्र । लुठन्तः असुरव्याकु-
 लीकृता ऊर्ध्वाधो लोकान्तरव्यूहा एव ध्वनन्तः मुक्तागुम्फित-
 दशा उत्तरीयान्तरीयपटपल्लवा यत्र । सुखदुःखयोरविर्भावादि-

बहिस्तावन्महाबुद्धे क्रमेण परिपूज्यते ।
 येन तच्छृणु तत्त्वज्ञ श्रोष्यस्यन्तःक्रमं ततः ॥ ४
 पूजाक्रमेषु सर्वेषु देहगेहं पवित्रकम् ।
 त्याज्यं देहावबोधात्म परं यत्नात्पवित्रकम् ॥ ५
 पूजनं ध्यानमेवान्तर्नान्यदस्त्यस्य पूजनम् ।
 तस्मात्त्रिभुवनाधारं नित्यं ध्यानेन पूजयेत् ॥ ६

दशास्तत्रिमित्तदोषाश्च भावाः स्थायिभावा अभावास्तद्विज्ञा-
 विभावाः संचारिभावा रसान्तराणि शृङ्गारादिरसभेदाश्च यत्र ।
 स्थायिभावानामेव विभावादिभिर्व्यज्यमानानां रसत्वमित्यालं-
 कारिकसिद्धान्तादिति भावः ॥ ३१ ॥ एवं नाटकं वर्णयित्वा
 तद्द्वारं विमर्शं स्वमात्रपरिशेषं परमात्मानं दर्शयति—अस्मि-
 न्निति । विकारैः प्रसिद्धैर्नाट्यशास्त्रप्रसिद्धस्वेदस्तम्भरोमाश्चादिवि-
 कारैश्च वलिते नियतेर्नट्या अस्मिन्संसारनाम्नि चिरनाटकनाट्य-
 सारे विलासे साक्षी साक्षाद्गृह्य प्रमुस्थानीयः अयं प्रत्यग्रूपः
 परमेश्वर एक एव स्थितः, स च तथा नट्या तेन नाट्येन च न
 परमार्थतो भिन्न इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे नियतिनृत्यं नाम
 सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

शिवस्थानन्तचिन्मूर्तेर्बहिर्ध्यानेन पूजनम् ।

ज्ञानेन च महापुण्यं विमुक्तिफलमीर्यते ॥ १ ॥

स एष नियतिनाटकसाक्षी चिदात्मैव परमो देवः ॥ १ ॥

तस्य वक्ष्यमाणप्रकारेण पूजने सर्वदेवपूजनमन्तर्भवतीत्याशयेन
 तस्य सर्वात्मतामाह—घटे इति ॥ २ ॥ विविधेन वक्ष्यमाण-
 बाह्याभ्यन्तरभेदेन क्रमेण ॥ ३ ॥ ४ ॥ शास्त्रोक्तसंस्कारैः
 ज्ञानाचमनादिभिश्च पवित्रकमपि देहगेहं यत्नादयाज्यम् । देह-
 स्यावबोधः साक्षिचित्प्रकाशस्तद्रूपं परं पवित्रकं यत्नात्परिशोध्य
 प्राप्तमिति शेषः ॥ ५ ॥ पूजनसाधनं क्रिया च ध्यानमेव

चिद्रूपं सूर्यलक्ष्मं समस्ताभासभासनम् ।
 अन्तस्थचित्प्रकाशं स्वमहंतासारमाश्रयेत् ॥ ७ ॥
 अपारपरमाकाशविपुलाभोगकन्धरम् ।
 अनन्ताधस्तनाकाशकोशपादसरोरुहम् ॥ ८ ॥
 अनन्तदिव्यतटाभोगमुजमण्डलमण्डितम् ।
 गान्धाविधमहालोकगृहीतपरमायुधम् ॥ ९ ॥
 हृत्कोशकोणविभ्रान्तब्रह्माण्डौघपरम्परम् ।
 प्रकाशपरमाकाशपारगापारविग्रहम् ॥ १० ॥
 अथ ऊर्ध्वं चतुर्दिक्षु विदिक्षु च निरन्तरम् ।
 ब्रह्मेन्द्रहरिरुद्रेशप्रमुखामरमण्डितम् ॥ ११ ॥
 इमां भूतश्रियं तस्य रोमालिं प्रविचिन्तयेत् ।
 विविधारम्भकारिण्यस्त्रिजगद्यन्त्ररज्जवः ॥ १२ ॥
 इच्छाद्याः शक्तयस्तस्य चिन्तनीयाः शरीरगाः ।
 एष देवः स परमः पूज्य एष सदा सताम् ॥ १३ ॥
 चिन्मात्रमनुभूत्यात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ।
 घटे पटे घटे कुड्ये शकटे वानरे स्थितः ॥ १४ ॥
 शिवो हरो हरिर्ब्रह्मा शक्रो वैश्रवणो यमः ।
 अनन्तैकपदाधारसत्तामात्रैकविग्रहः ॥ १५ ॥
 विवर्तितजगज्जालः कालोऽस्य द्वारपालकः ।
 सशैलभुवनाभोगमिदं ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥ १६ ॥
 देहकोणोऽस्य कस्मिंश्चित्स्वाङ्गावयवतां गतम् ।
 विचिन्तयेन्महादेवं सहस्रश्रवणक्षणम् ॥ १७ ॥
 सहस्रशिरसं शान्तं सहस्रमुजभूषणम् ।
 सर्वत्रेक्षणशक्त्यात्वं सर्वतो घ्राणशक्तिकम् ॥ १८ ॥

सर्वतः स्पर्शनमयं सर्वतो रसनान्वितम् ।
 सर्वत्र श्रवणाकीर्णं सर्वत्र मननान्वितम् ॥ १९ ॥
 सर्वतो मननातीतं सर्वतः परमं शिवम् ।
 सर्वदा सर्वकर्तारं सर्वसंकल्पितार्थदम् ॥ २० ॥
 सर्वभूतान्तरावस्थं सर्वं सर्वैकसाधनम् ।
 इति संचिन्त्य देवेशमर्चयेद्विधिवत्ततः ॥ २१ ॥
 विधानमर्चनस्येदं शृणु ब्रह्मविदां वर ।
 स्वसंविदात्मा देवोऽयं नोपहारेण पूज्यते ॥ २२ ॥
 न दीपेन न धूपेन न पुष्पविभवार्षणैः ।
 नाभदानादिदानेन न चन्दनविलेपनैः ॥ २३ ॥
 न च कुङ्कुमकर्पूरभोगैश्चित्रैर्न चेतैः ।
 नित्यमङ्गेशलभ्येन शीतलेनाऽविनाशिना ॥ २४ ॥
 एकेनैवाऽमृतेनैव धोयेन स्वेन पूज्यते ।
 एतदेव परं ध्यानं पूजैवैव परा स्मृता ॥ २५ ॥
 यदनारतमन्तस्थशुद्धचिन्मात्रवेदनम् ।
 पश्यञ्जृम्भन्स्पर्शस्त्रिजगज्जगच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ २६ ॥
 प्रलपन्विभुजगन्मृदुल्लसन्संविन्मयो भवेत् ।
 ध्यानामृतेन संपूज्य स्वयमात्मानमीश्वरम् ॥ २७ ॥
 परमासादयुक्तेन मुक्तेन कुसुमेहितैः ।
 ध्यानापहार एवात्मा ध्यानं ह्यस्य समीहितम् ॥ २८ ॥
 ध्यानमर्थं च पाद्यं च शुद्धसंवेदनात्मकम् ।
 ध्यानसंवेदनं पुष्पं सर्वं ध्यानपरं विदुः ॥ २९ ॥
 विना तेनैतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो ।
 ध्यानात्प्रसादमायाति सर्वभोगसुखश्रियः ॥ ३० ॥

॥ ६ ॥ समस्तानामाभासानां सूर्यादिवेजसा बुद्धिदृतीनां च
 भासनम् । अहंतायाः सारं बोधितमन्तस्थचित्प्रकाशम् ॥ ७ ॥
 आकाशादपि विपुलभोगा कन्धरा कण्ठदूर्ध्वभागो यस्य ।
 अनन्तो योऽधस्तनाकाशकोशः स पादसरोरुहं यस्य ॥ ८ ॥
 नानाविधेषु परितो ब्रह्माण्डेषु ये सत्यादयो महान्तो लोकास्ते
 दिग्भुजगृहीतानि परमायुधानि यस्य ॥ ९ ॥ तर्हि ते किं
 ब्रह्माण्डाद्वाहीः, नेत्याह—हृत्कोशेति । प्रकाशरूपः परमाका-
 शात्तमसः पारगः स्वयमपारो विग्रहः स्वरूपं यस्य ॥ १० ॥
 इदमप्यधस्तनादिब्रह्माण्डभेदेन ब्रह्मेन्द्रादिभेदादुपपाद्यम् ॥ ११ ॥
 भूतश्रियं चतुर्विधभूतशोभाम् । त्रिजगद्गतसर्वपदार्थचेष्टनाय
 शक्तिता यन्त्ररज्जव इव इच्छाद्याः शक्तयस्तस्य शरीरगा नाह्य-
 चिन्तनीयाः ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ रूपभेदैरनन्तानां पदा-
 नामाधारे वाच्यस्तद्वेदपरित्यागे एकपदसाधारो लक्ष्या या
 सता तन्मात्रैकविग्रहः ॥ १५ ॥ द्वारपालकः अविशुद्धिकाले
 मनसोऽन्तःप्रवेशनिरोधको विशुद्धौ तु प्रवेशानुकूल इति ॥ १६ ॥
 स्वाङ्गे मायाशबलरूपे । अवयवतामेकदेशताम् । अथवा सर्व-
 प्राणिनां श्रवणक्षणशिरःपाण्याधवयवास्तस्यैवेति विश्वरूपं चिन्त-
 नीयमित्याह—विचिन्तयेदित्यादिना ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ तथा
 चिन्तनेऽप्यसङ्गाद्वयतां वस्तुतस्तस्य न विस्मर्तव्येत्याह—सर्वत

इति ॥ २० ॥ सर्वस्य एकं साधनं सत्तात्पूर्तिपदम् । इति उक्तप्रकारेण
 ॥ २१ ॥ उपहित इत्युपहारे गन्धपुष्पादिस्तेन उपहारेण पूज्यते
 ॥ २२ ॥ तदेव प्रपद्यते—नेति ॥ २३ ॥ इतरैश्चित्रचामरदर्पणा-
 र्षणैः ॥ २४ ॥ अखण्डसाक्षात्कारवृत्तिधारारुढेन स्वेन स्वात्म-
 केन बोधेन । पूर्वोक्तचिन्तनमप्येतद्विमीलीयमेव सर्वपूजाभ्यः
 प्रधानेत्याशयेनाह—एतदेवेति ॥ २५ ॥ अस्याः कालनिय-
 मोऽपि नास्तीति सदैव कार्येत्याह—पश्यन्निति ॥ २६ ॥ उक्त-
 ज्ञानाधारात्मना ध्यानामृतेन ॥ २७ ॥ परमासादयुक्तेनेति ।
 अयं भावः—पुष्पादिविषयार्पणं हि देवस्य न साक्षादविच्छिन्न-
 सुखार्पणं किंतु परम्परयाऽल्पतरतदीयसुखामिव्यञ्जनं क्षुधितस्य
 ग्रीहिमुष्ट्यर्पणमिव न तथा प्रीतये भवति । इदं तु प्रतीचः
 स्वयमेव बोधनेन निरतिशयानन्दरूपतामाविर्भाव्य तस्य नित्य-
 निरतिशयस्यालान्तैकरस्येन शिवायार्पणरूपं पूजनं परमासाद-
 नयुक्तमिति तदेव तादृशदेवस्यानुरूपं पूजनं समीहितं न पुष्पा-
 दीत्यर्थः ॥ २८ ॥ अतएवोक्तलक्षणध्यानेनैव सर्वोपचारसिद्धि-
 रित्याह—ध्यानमिति । ध्यानाभिव्यक्तं संवेदनं चैतन्यं पुष्पप्र-
 योजनरूपत्वात्पुष्पम् । एवं सर्वमुपचारं संवेदनमेव विदुः ।
 असंविदितोपचारभोगाप्रसिद्धेरिति ॥ २९ ॥ प्रसादं स्वहृषा-
 भिव्यक्तिम् । किं ततस्त्वनाह—सर्वेति । सर्वेषां मनुष्यादि-

अयमात्मा मुने भुङ्क्ते देहरूपो गृहे यथा ।
 ध्यानेनानेन सुमते निमेषांस्तु त्रयोदश ॥ ३१
 भूदोऽपि पूजयित्वेशं गोप्रदानफलं लभेत् ।
 पूजयित्वा निमेषाणां शतमेकमिति प्रभुम् ॥ ३२
 अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।
 पूजयित्वा स्वमात्मानं घटिकार्धमिति प्रभुम् ॥ ३३
 अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।
 ध्यानवत्युपहारेण स्वयमात्मानमात्मना ॥ ३४
 घटिकां पूजयेद्यस्तु राजसूयं लभेत् सः ।

मध्याह्नपूजनादित्थं राजसूयैकलक्षभाक् ॥ ३५
 दिवसं पूजयित्वैवं परे धासि वसेन्नरः ।
 एषोऽसौ परमो योग एषा सा परमा क्रिया ।
 बाह्यसंपूजनं प्रोक्तमेतदुत्तममात्मनः ॥ ३६
 एतत्पवित्रमखिलाघविघातहेतुं
 यस्त्वाचरिष्यति नरः क्षणमप्यखिन्नः ।
 तं वन्दयिष्यति सुरासुरलोकपूगः
 प्राप्तास्पदं जगति मामिव मुक्तमात्मन् ॥ ३७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये देव० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे बाह्यपूजनं नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः ३९

ईश्वर उवाच ।

पावनं पावनानां यद्यत्सर्वतमसां क्षयः ।
 तदिदानीं प्रवक्ष्येऽहमन्तःपूजनमात्मनः ॥ १
 गच्छतस्तिष्ठतश्चैव जाग्रतः स्वपतोऽपि च ।
 सर्वाचारगता पूजा नित्यं ध्यानात्मिका त्वियम् ॥ २

हिरण्यगर्भान्तानां भोगसुखभिर्यः अयं प्रसन्न आत्मा भुङ्क्ते इति परेणान्वयः । 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्रुते सर्वान्कामान्सह' इति श्रुतेः ॥ ३० ॥ यथा देहरूपो देहाभिमानी स्वगृहे भोगान्भुङ्क्ते तद्वत् । तेनापि विषयसंस्पर्शजन्य-वृत्त्यभिव्यक्तात्मसुखस्यैवानुभवात् । ब्रह्मात्मसुखे सर्वसुखानामन्तर्भावादिति भावः । इदानीं तत्त्वसाक्षात्काराभावेऽपि यथोक्तध्यानमात्रेणापि तदुत्कर्षानुसारिफलोत्कर्षमाह—ध्यानेनेत्यादिना ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ननु घटिकार्धध्याने अश्वमेधसहस्रफलं चेद्वटिकाध्याने ततोऽप्यधिकं फलं वाच्यम् । तत्कथमेकराजसूयफलकीर्तनम् । न ह्यश्वमेधाव्राजसूयस्य फलमधिकम् । बृहदारण्यके भुज्युप्रश्ने 'कन्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिंशतं वै देवराहयान्ययं लोकः' इत्यादिना पृथिवीसमुद्रादिपरिमाणमुक्त्वा 'ततः परतस्तथावती क्षुरस्य धारा यावद्वा भक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशः' इति ब्रह्माण्डखर्परद्वयसंधिमुक्त्वा 'तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि स्थित्वा तत्रागमयद्यत्राऽश्वमेधयाजिनोऽभवन्' इत्यश्वमेधयाजिनां ब्रह्माण्डखर्परसंधिद्वारा वायुना बहिर्निःसार्य सर्वकर्मफलोत्कर्षस्थानप्रापणश्रवणविरोधात् । 'ब्रह्माहस्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोः' इति प्रसिद्धेः । पूर्वरामायणे इलोपाख्याने 'नाश्वमेधात्परो यज्ञः प्रियश्चैव महात्मनः' इति श्रीरामवचनविरोधाच्छरीरके इतरकर्मिणां धूमादिमार्गेण चन्द्रमण्डलप्राप्तिरेवाश्वमेधयाजिन एकस्य त्वचिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकावाप्तिरिति सिद्धान्ताधिकरणाश्वमेधस्य राजसूयापेक्षया फलाधिक्यस्य सिद्धत्वादिति चेत् । नैव दोषः । परस्य पूर्वाविरोधेनाप्यधिकत्वविरोधपक्षेः । यत्र घटिकार्धपूजनेनाश्वमेधसहस्रफलं

नित्यमेव शरीरस्थमिमं ध्यायेत्परं शिवम् ।
 सर्वप्रत्ययकर्तारं स्वयमात्मानमात्मना ॥ ३
 शयानमुत्थितं चैव ब्रजन्तमथवा स्थितम् ।
 स्पृशन्तमभितः स्पृश्यं त्यजन्तमथवाऽभितः ॥ ४
 भुञ्जानं संत्यजन्तं च भोगानाभोगपीवरान् ।

तत्र घटिकामात्रपूजनेन तस्य द्वैगुण्यं प्राप्तमेव तत्र राजसूयफलं स्वाराज्यलक्षणं श्रूयमाणमितरेषामश्वमेधयाजिनां स्वाराज्ये पर्यवस्यतीति प्रजाभ्यो राज्ञ इव महान् भोगोत्कर्षो घटिकापूजकस्य सिद्ध्यति । न चात्र तत्कौण्डिन्यन्यायाश्रयणं युक्तम् । वाक्यवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तथा चेदृशे विषये महामाष्ये उक्तम् । असति खल्वपि संभवे चाधनं भवति अस्ति च संभवो यदुभयं स्यादिति । नाप्यत्रापच्छेदाधिकरणन्यायावसरः । अदक्षिणत्वसर्ववेदसदक्षिणत्वयोरिव ब्रह्मलोकतत्स्वाराज्यफलयोर्विरोधाभावादिति विशेषद्योतनाय तुशब्दः ॥ ३५ ॥ दिवसमिति । चिरैकाग्र्ये ज्ञानोदयावश्यंभावादिति भावः ॥ ३६ ॥ उक्तां बाह्यपूजां प्रशंसन्नुपसंहरति—एतदिति । हे आत्मन्, इति प्रेमातिः ध्यायेन वसिष्ठसंबोधनम् । एतदुक्तलक्षणं पूजनं यस्तु नर-अखिन्नो विक्षेपखेदशून्यः सन् क्षणमप्याचरिष्यति तं कमात्सर्वबन्धमुक्तमत एव प्राप्तास्पदं सुरासुरलोकपूगो जगति मामिव वन्दयिष्यति । अभिवादनस्तुत्यादिना पूजयिष्यतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे बाह्यपूजनं नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

शब्दादिविषयैः प्राप्तैरङ्गप्रत्यङ्गभासितुः ।

प्रत्यगात्मशिवस्यात्र ह्यन्तःपूजोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

सर्वेषां तमसामज्ञानानां क्षयहेतुत्वात्क्षयः ॥ १ ॥ सर्वेष्वान्तरेषु व्यवहारेषु गता अनुगता ॥ २ ॥ सर्वेषां प्रत्ययानां कर्तारं संनिधिमार्गेण जनयितारं बोधयितारं च ॥ ३ ॥ स्पृश्यं स्पर्शादिविषयं स्पृशन्तं भुञ्जानम्, अथवा उद्वेगात्त्यजन्तम् ॥ ४ ॥ तदेव स्पष्टमाह—भुञ्जानमिति । बाह्यार्थानां जाग्रदादिविषयाणां परिकर्तारं स्वाध्यारोपेण निर्मातारम् ।

बाह्यार्थपरिकर्तारं सर्वकार्यस्वरूपदम् ॥ ५ ॥
 देहलिङ्गेषु शान्तस्थं त्यक्तलिङ्गान्तरादिकम् ।
 यथाप्राप्तार्थसंविद्या बोधलिङ्गं प्रपूजयेत् ॥ ६ ॥
 प्रवाहपतितार्थस्थः स्वबोधज्ञानशुद्धिमान् ।
 नित्यावबोधार्हणया बोधलिङ्गं प्रपूजयेत् ॥ ७ ॥
 आदित्यभावनाभोगभाविताम्बरभास्वरम् ।
 शशाङ्कभावनाभोगभावितेन्दुतयोदितम् ॥ ८ ॥
 प्रतिभासपदार्थौघनित्यावगतसंविदम् ।
 द्वारैर्वहन्तं शरीरैर्मुखे प्राणस्वरूपिणम् ॥ ९ ॥
 रसीकृत्य रसं प्राणस्वान्तोदात्ततुरङ्गमम् ।
 प्राणापानरथारूढं गूढमन्तर्गुहाशयम् ॥ १० ॥
 हातारं ज्ञेयदृष्टीनां कर्तारं सर्वकर्मणाम् ।
 भोक्तारं सर्वभोग्यानां स्वतारं सर्वसंविदाम् ॥ ११ ॥
 सम्यक्संविदिताङ्गौघं भावाभावनभावितम् ।
 आभासभास्वरं भूरि सर्वगं चिन्तयेच्छिष्यम् ॥ १२ ॥
 निष्कलं सकलं चैव देहस्थं व्योमचारिणम् ।
 अरञ्जितं रञ्जितं च नित्यमङ्गाङ्गसंविदम् ॥ १३ ॥
 मनोमननशक्तस्थं प्राणापानान्तरोदितम् ।
 हृत्कण्ठतालुमध्यस्थं भ्रूनासापुटपीठगम् ॥ १४ ॥
 षट्त्रिंशत्पदकोटिस्थमुन्मन्यन्तदशातिगम् ।
 कुर्वन्तमन्तःशब्दादींश्चोदयन्तं मनःस्वरगम् ॥ १५ ॥

सर्वेषां कार्याणां स्वरूपदं स्वसत्ताप्रदम् ॥ ५ ॥ स्वदेहलक्षणे-
 ल्लिङ्गेषु । तथाहि पञ्चाद्यासनस्थः पुरः प्रसारितपाणिर्बद्धाङ्गलि-
 देहः शिवलिङ्गाकारो भवतीति प्रसिद्धम् । अत एव त्यक्तं सृष्टा-
 रुचिस्तादि लिङ्गान्तरं आदिपदात्प्रतिमान्तरं च यत्र । शान्ते
 निर्विक्लेषसमावे स्थितं बोधलिङ्गम् ॥ ६ ॥ प्रारब्धप्रवाहपति-
 तेष्वायं भोगेषु स्थितः । प्रसक्ताङ्गद्विरपि पुन पुनरसङ्गविद्यु-
 द्धात्मबोधलक्षणेन ज्ञानेन सदा शुद्धिमान् ॥ ७ ॥ तादृशपूजने
 यदि मनस्समसि मज्जति तदान्तर्बहिश्च सर्वेभ्यः परिपूर्णमङ्गलि-
 तमद्वयमादित्यमण्डलं स्वं भाषयेत्, यदि तु परितापे निमज्जति
 तदा साहसचन्द्रमण्डलतया उदितं स्वं भाषयेदित्याह—आदि-
 त्येति । आदित्यात्मना भावनात्कल्पितेनाभोगेन विस्तृतस्वस-
 स्थानेन भाविते पूर्णे हार्दवाह्याम्बरे भास्वरम् ॥ ८ ॥ बाह्या-
 न्तरबुद्धिवृत्तिप्रतिभासेषु तद्भासितपदार्थौघेषु चानुत्पृता या
 नित्यावपतरूपा सवित्त्रूपम् । वहन्तं स्वाभासान् बहिर्विषय-
 देशे प्राप्यन्तम् ॥ ९ ॥ रसत इति रसः शब्दादिविषयस्तं
 स्वानन्दरसेनैव रसीकृत्य मधुरीकृत्य आस्वादयन्तमिवेति शेषः ।
 प्राणस्वान्तलक्षणौ सदात्तौ तत्कृष्टौ तुरङ्गमौ यस्य ॥ १० ॥
 ॥ ११ ॥ 'यथा प्रकाशमत्येकं कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं
 क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति' इति भगवदुक्तरीत्या सम्यक्संवि-
 दितसर्वाङ्गोद्यम् । भावैर्विषयभावनैरभावनैश्च भावितं लक्षितम् ।

विकल्पिन्यविकल्पे च द्विविधे वाक्पथे स्थितम् ।
 तिले तैलमिवाङ्गेषु सर्वेष्वेवान्तरं स्थितम् ॥ १६ ॥
 कलाकलङ्करहितं कठिनं च कलागणैः ।
 एकदेशे सुहृत्पत्रे सर्वदेहे च संस्थितम् ॥ १७ ॥
 चिन्मात्रममलाभासं कलाकलनकल्पनम् ।
 प्रत्यक्षदृश्यं सर्वत्र स्वातन्त्र्यभूतिमयात्मकम् ॥ १८ ॥
 प्रत्यक्चेतनमात्मीयमर्थित्वेन पुनः स्थितम् ।
 पदार्थानामुपेत्याशु क्षणाद्वित्वमिवागतम् ॥ १९ ॥
 सहस्रपादावयवः सकेशानखदन्तकः ।
 स्वदेहसंविदाभासो देवोऽयमिति भावयेत् ॥ २० ॥
 विचित्राः शक्तयो बह्व्यो नानाचारा मनोदशाम् ।
 उपासते मामनिशं पश्यः कान्तमिबोत्तमम् ॥ २१ ॥
 मनो मे द्वारपालोऽयं निवेदितजगद्भयः ।
 चिन्तेयं मे प्रतीहारी द्वारस्था शुद्धरूपिणी ॥ २२ ॥
 शक्तिर्मात्मिका बुद्धिः क्रिया चैव वराङ्गना ।
 ज्ञानानि च विचित्राणि भूषणान्यङ्गमानि मे ॥ २३ ॥
 कर्मेन्द्रियाणि द्वाराणि बुद्धीन्द्रियगणैः सह ।
 अयं सोऽहमनन्तात्मा व्यवच्छेदोज्झिताकृतिः ॥ २४ ॥
 तिष्ठामि भरितैकात्मा पूर्णः सर्वावपूरकः ।
 इति दैवीमुपाश्रित्य स्वच्छामात्मचमत्कृतिम् ॥ २५ ॥
 दैवत्वपरिपूर्णोऽन्तरदीनात्मावतिष्ठते ।
 नास्तमेति न चोदेति न तुष्यति न कुप्यति ॥ २६ ॥

आभासेभ्यः सर्वप्रकाशेभ्योऽपि भूरि भास्वरम् । विशेष्यस्य
 सापेक्षत्वे सामर्थ्याविधातात्समासः ॥ १२ ॥ निष्कलं निष्कल-
 मन्यथा सकलम् । व्योम्नि हृदयाकाशे चरणशीलम् । अङ्गाङ्गसं-
 विदं प्रत्यङ्मयापि बोधरूपम् ॥ १३ ॥ तदेव विवृणोति—मनो-
 मननेति ॥ १४ ॥ षट्त्रिंशत्पदानि शैवशास्त्रप्रसिद्धषट्त्रिंशत्-
 स्थानि तेषां चरमस्थानस्थम् । कालीरौद्रिकलविकरणीत्यादिश-
 क्तिविभागे उन्मन्या मनोन्मन्या अन्तदशामप्यतिगतम् । शि-
 वयोगप्रसिद्धा वा उन्मन्यन्तदशा सर्वाजसमाधिरूपा तदतिग-
 तम् । चोदयन्तं प्रेरयन्तम् ॥ १५ ॥ व्यवहारे विकल्पनि नि-
 र्वाजसमाधिमोक्षयोरविकल्पे च वाच्यलक्षरूपे वाक्पथे ॥ १६ ॥
 कालागणैर्भूतमात्राभिः स्थूलदेहात्मना परिणतैः कठिनं मूर्तं
 च ॥ १७ ॥ कलाकलनानामध्यासविकल्पानां कल्पनमधिष्ठा-
 नम् । अधिकरणे ह्युद् ॥ १८ ॥ पुनः स्वस्वरूपविस्तरणाद्भो-
 गार्थित्वेन स्थितम् । स्वातिरिक्तपदार्थानां चैवं स्वयमेवोपेत्य
 आशु क्षणात्स्वसकेतादेव द्वित्वमागतमिव स्थितम् ॥ १९ ॥
 स्वदेहसंविद आभासाः परिचायिका यस्य ॥ २० ॥ २१ ॥
 सन्मात्रगोचरत्वाच्छुद्धरूपिणी ॥ २२ ॥ आत्मिका आत्मवत्प-
 रीतिविषयीकृता बुद्धिर्ज्ञानशक्तिः । क्रिया प्राणशक्तिः । वि-
 चित्राणि साक्षीयाणि लौकिकानि च ज्ञानानि भूषणानि ॥ २३ ॥
 ॥ २४ ॥ दैवीमलौकिकीसात्मचमत्कृतिं प्रत्यक्त्वपरिचयम्
 ॥ २५ ॥ तादृशपूजापरिपाकफलन्याह—नास्तमेतीत्यादिना ।

न तृप्तिं न क्षुधं याति नाभिवाञ्छति नोज्झति ।
 समः समसमाचारः समाभासः समाकृतिः ॥ २७
 सौम्यतामलमायातः समन्तात्सुन्दराशयः ।
 आदेहमेक एवासावैव्युच्छिन्नमहामतिः ॥ २८
 देवार्चनं करोत्येव दीर्घदीर्घमहर्निशम् ।
 चित्तस्त्वचलितो देहो देवोऽस्य समुदाहृतः ॥ २९
 यथाप्राप्तेन सर्वेण तमर्चयति वस्तुना ।
 समया सर्वया बुद्ध्या चिन्मात्रं देवचित्परम् ॥ ३०
 यथाप्राप्तकमोत्थेन सर्वार्थेन समर्चयेत् ।
 मनागपि न कर्तव्यो यत्नोऽत्रापूर्ववस्तुनि ॥ ३१
 प्राप्तदेहतया नित्यं तथार्थक्रिययाऽनया ।
 कामसंसेवनेनाऽथ पूजयेच्छोभनं विभुम् ॥ ३२
 भक्ष्यभोज्यान्नपानेन नानाविभवशालिना ।
 शयनासनयानेन यथाप्तेनार्चयेच्छिवम् ॥ ३३
 कान्तान्नपानसंभोगसंभारादिविलासिना ।
 सुखेन सर्वरूपेण संबुद्ध्याऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ३४
 आधिव्याधिपरीतेन मोहसंरम्भशालिना ।
 सर्वोपद्रवदुःखेन प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ ३५
 समस्तैश्च समस्तानां चेष्टानां जगतः स्थितेः ।
 मृतिजीवितस्वप्नाद्यैः प्राप्तेरात्मानमर्चयेत् ॥ ३६
 दारिद्रेणाथ राज्येन प्रवाहपतिततात्मना ।
 विचित्रचेष्टापुष्पेण शुद्धात्मानं समर्चयेत् ॥ ३७
 नानाकलहकल्लोलललनोल्लासशालिना ।
 रागद्वेषविलासेन सौम्यमात्मानमर्चयेत् ॥ ३८
 सतां हृदयगामिन्या रूढया शशिशीतया ।
 मैत्र्या माधुर्यधर्मिण्या हृत्स्थमात्मानमर्चयेत् ॥ ३९

उपेक्षया करुणया सदा मुदितया हृदि ।
 शुद्धया शक्तिपद्धत्या बोधेनात्मानमर्चयेत् ॥ ४०
 आकस्मिकोपयातेन स्थितेनानियतेन च ।
 भोगाभोगैकभोगेन प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ ४१
 भोगानामनिषिद्धानां निषिद्धानां च सर्वदा ।
 त्यागेन वातिरागेण स्वात्मानं शुद्धमर्चयेत् ॥ ४२
 ईहितानीहितौघेन युक्तायुक्तमयात्मना ।
 त्यक्तेनात्तेन चार्थेन ह्यर्थानामीशमर्चयेत् ॥ ४३
 नष्टं नष्टमुपेक्षेत प्राप्तं प्राप्तमुपादरेत् ।
 निर्विकारतयैतद्धि परमार्चनमात्मनः ॥ ४४
 सर्वदैव समग्रासु चेष्टानिष्टासु दृष्टिषु ।
 परमं साम्यमाधाय नित्यात्मार्याव्रतं चरेत् ॥ ४५
 सर्वं विन्देत् सुशुभं सर्वं विद्याच्छुभाशुभम् ।
 सर्वमात्ममयं कुर्यान्नित्यात्मार्याव्रतं चरेत् ॥ ४६
 आपातरमणीयं यद्यच्चापातसुदुःसहम् ।
 तत्सर्वं सुसमं बुद्ध्या नित्यात्मार्याव्रतं चरेत् ॥ ४७
 अयं सोहमयं नाहं विभागमिति संत्यजेत् ।
 सर्वं ब्रह्मेति निश्चित्य नित्यात्मार्याव्रतं चरेत् ॥ ४८
 सर्वदा सर्वरूपेण सर्वाकारविकारिणा ।
 सर्वं सर्वप्रकारेण प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ ४९
 अनीहितं परित्यज्य परित्यज्य तथेहितम् ।
 उभयाश्रयणेनापि नित्यमात्मानमर्चयेत् ॥ ५०
 न वाञ्छता न त्यजता दैवप्राप्ताः स्वभावतः ।
 संरितः सागरेणेव भोक्तव्या भोगभूमयः ॥ ५१
 उद्वेगो नानुगन्तव्यस्तुच्छाऽतुच्छासु दृष्टिषु ।
 व्योम्ना चित्रपदार्थेषु पतितो ह्याततेष्विव ॥ ५२

॥ २६ ॥ अन्तः समः वहिश्च समैर्जगन्मुक्तैः सम आचारो यस्य ॥ २७ ॥ २८ ॥ कोऽस्य देवः कथमादेहमर्चयतीति तत्राह—चित्तस्त्वेत्यादिना ॥ २९ ॥ वस्तुना त्रिपुटीरूपेण । देवचित्त्वं ऐन्द्रियकवृत्तिप्रतिविम्बचित्त्वं परं तद्विम्बभूतम् ॥ ३० ॥ सर्वेणार्थेन बाह्याभ्यन्तरवस्तुना । अपूर्ववस्तुनि गन्ध-पुष्पाद्युपचारवस्तुनि ॥ ३१ ॥ प्राप्तदेहतया प्राप्तब्राह्मणक्षत्रि-यादिस्वशरीरोचितया यथाशास्त्रमर्थक्रियया व्यवहारेण । काम्यन्त इति कामा देहधारणमात्रनिमित्तान्नपानादयस्तेषां संसे-वनेन ॥ ३२ ॥ तदेव स्पष्टमाह—भक्ष्येति ॥ ३३ ॥ संबुद्ध्या तत्त्वतो ज्ञात्वा । तथा च यावत्तदज्ञानं तावद्विषयसुखोपभोगेन प्रसंजितव्यमिति भावः ॥ ३४ ॥ एवं यथाप्राप्तदुःखभोगेऽपि पूजाबुद्धिरेव कार्या नोद्वेग इत्याह—आधीति ॥ ३५ ॥ जगतः स्थितेः संवन्धिनां समस्तानां चेष्टानां फलैरिति शेषः ॥ ३६ ॥ ॥ ३७ ॥ ॥ ३८ ॥ तर्हि किं कलहादिपरेणापि भाव्यं नेत्याह—सतामिति ॥ ३९ ॥ कलहाद्यप्रसक्तबुपायमाह—उपेक्षयेति । शक्तिः क्रोधादिनिग्रहसामर्थ्यं तत्पद्धत्या ॥ ४० ॥ एवं भोग-लभ्यतेनापि न भाव्यमित्याशयेनाह—आकस्मिकेति । भोगा-

भोगेषु भोगसमूहेष्वेकस्य कस्यचित्कदाचिद्भोगेन ॥ ४१ ॥ अनिषिद्धानां निषिद्धानां च सर्वदा त्यागेनेति मुख्यः कल्पः । अथवा कचिदनिषिद्धानां रागेनेति गौणः ॥ ४२ ॥ अयुक्त-मयात्मना त्यक्तेन युक्तमयात्मना 'आत्तेनेति व्युत्क्रमेणान्वयः । अर्थानामीशं भोक्तारम् ॥ ४३ ॥ इदानीं मुख्यार्चनसारमाह—नष्टमित्यादिना । उपेक्षेत नानुशोचेत् ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ब्रह्मे-वेति दृष्ट्या सर्वं शुभमेवेति विन्देत् गृहीयात् । ब्रह्मसंवलितमा-यामयत्वदृष्ट्या तु सर्वं शुभाशुभं संमिश्रमिति विद्यात् । उभय-थापि साम्येन वैषम्यदर्शननिमित्ताभावादात्मैवात्ममयमिति वा आत्मप्रचुरमात्ममयमिति वा कुर्यात्पश्येत् ॥ ४६ ॥ उक्तरीत्या सुसमं बुद्ध्या ॥ ४७ ॥ इति विभागं भेदम् ॥ ४८ ॥ 'सर्वदा प्राप्तेन सर्वाकारविकारिणा सर्वप्रकारेण सर्वरूपेण नाम्ना च सर्वं सर्वात्मकमात्मानमर्चयेत् ॥ ४९ ॥ मिथ्यात्वबुद्ध्या परित्यज्य स्वात्ममात्रताबुद्ध्या उभयोराश्रयणेन स्वीकारेणापि ॥ ५० ॥ भोगभूमयः सुखदुःखहेतवो विषयाः ॥ ५१ ॥ तुच्छासु अप-मानादिदृष्टिषु अतुच्छासु वधबन्धसर्वस्वनाशादिदृष्टिषु पतित आपतितः प्रसक्त उद्वेगो नानुगन्तव्यः । 'पतितेषु' इति पाठे

देशकालक्रियायोगाद्यदुपैति शुभाशुभम् ।
 अविकारं गृहीतेन तेनैवात्मानमर्चयेत् ॥ ५३
 आत्मार्चनविधानेऽस्मिन्प्रोक्ता द्रव्यश्रियस्तु याः ।
 एकेनैव समेनेता रसेन परिभाविताः ॥ ५४
 आम्लानकद्रव्यो नो तित्ता न कषायाश्च काश्चन ।
 चित्रैरपि रसैर्दिग्धा मधुरा एव ताः किल ॥ ५५
 समता मधुरा रस्या रसशक्तिरतीन्द्रिया ।
 तथा यद्भावितां चैत्यममृतं तत्क्षणाद्भवेत् ॥ ५६
 समतामृतरूपेण यद्यन्नाम विभाव्यते ।
 तत्तदायाति माधुर्यं परमिन्दोरिव व्युतम् ॥ ५७
 समताकाशवद्भूत्वा यत्तु स्याद्धीनमानसम् ।
 अविकारमनायासं तदेवार्चनमुच्यते ॥ ५८
 पूर्णेन्दुनेव पूर्णेन भाव्यं समसमत्विषा ।

स्वच्छेन चिद्वनैकेन ज्ञेनाप्युपलक्ष्यिणा ॥ ५९
 अन्तराकाशविशदो बहिःप्रकृतकार्यकृत् ।
 रज्ज्नामिहिकोमुक्तः संपूर्णो ह्युपासकः ॥ ६०
 स्वप्नेऽप्यदृष्टहृल्लेखमज्ञानाभ्रपरिक्षये ।
 शान्ताहंतादिमिहिकं ह्यः शरद्भ्योम राजते ॥ ६१
 सोमार्कमस्तमितमानसमादमेयं
 सद्यःप्रसूतशिशुवेदनवद्वितानम् ।
 पश्यन्प्रशान्तमतिचेतनचित्तबीजं
 जीवन्ननुत्तमपदस्थित एव तिष्ठ ॥ ६२
 देशकालकरणक्रमोदितैः
 सर्ववस्तुसुखदुःखविध्रमैः ।
 नित्यमर्चय शरीरनायकं
 तिष्ठ शान्तसकलेहया धिया ॥ ६३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० देवार्चनविधिर्नामैकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः ४०

ईश्वर उवाच ।

यथाकालं यथारम्भं न करोषि करोषि यत् ।
 चिन्मात्रस्य शिवस्यान्तस्तदेवार्चनमात्मनः ॥ १
 तेनैवाह्लादमायाति याति प्रकटतां तथा ।
 तथा स्थितेन रूपेण स्वेनैव स्वयमीश्वरः ॥ २

आपतितेषु चिरमातवेष्वनुवृत्तेषु ऋजुवकशीतदाहादिनित्रपदा-
 र्थेषु व्योम्नेवेति दृष्टान्ते योज्यम् ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ननु विनि-
 भ्रदुःखरागद्वेषादिविकारहेतवः शुद्धशुद्धिकट्टिकादिविषमरसा-
 भोग्यद्रव्यश्रियः कथमविकारं गृहीतुं शक्या इति चेदेकेन सम-
 रसेन सर्वेषां वैषम्यनिरासेन मधुरीकरणादित्याशयेनाह—आ-
 त्मार्चनेति । परिभाविता आम्लाविताः सत्यो न अम्लानकद्रव्यः
 किन्तु मधुरैकरसा भवन्तीति परेणान्वयः ॥ ५४ ॥ ५५ ॥
 आनन्दैकरसविवर्तत्वेन समतादर्शनाद्वा तासामविकारेण ग्रहण-
 सिद्धिरित्याशयेनाह—समतेति । रसशक्तिः 'रसो वै सः' इति
 श्रुतिदर्शित आत्मा ॥ ५६ ॥ इन्दोर्व्युतममृतमिव ॥ ५७ ॥
 अक्षैक्यदर्शनलक्षणया समतया स्वयमाकाशवद्भूत्वा लीनमानसं
 यथा स्यात्तथा यदवस्थानं तदेव मुख्यमर्चनमित्यर्थः ॥ ५८ ॥
 उपलक्ष्यिणा स्फटिकशिलावज्जिर्मलहृदेन ॥ ५९ ॥ ईदृशो हस्त-
 त्वविदेव उपासको मुख्यो मत्पूजक इत्यर्थः ॥ ६० ॥ न दृष्टो
 हृदयं लिखतीति हृल्लेखः कामो विद्युदादिश्च यस्मिन् । हस्तत्व-
 विदेव शरद्भ्योम ॥ ६१ ॥ आनन्दामृतपरिपूर्णत्वात्सोम एव
 सश्लिष्कलद्रव्यप्रकाशातिशयादर्कस्वभाविभम् । अस्तमितानि
 मानसं मनोवृत्तिर्माता मेयं च यत्र तथाभूतम् । सद्यःप्रसूतस्य
 शिशोर्वेदनवद्वितान विगतविकल्पविस्तारं चेतनस्य चिदाभासस्य

रागद्वेषादिशब्दार्थानात्मन्यन्यतयामले ।
 संभवन्ति पृथग्रूपावहौ वह्निकणा इव ॥ ३
 यद्यद्राजत्वदीनत्वसुखदुःखादिवेदनम् ।
 आत्मीयं परकीयं च तत्तद्वर्चनमात्मनः ॥ ४
 विश्वसंवित्तिरेवार्चा नित्यस्यात्मन एव च ।

चित्तस्य च बीजं मूलभूतं स्वात्मशिवं प्रशान्तमति यथा स्यात्तथा
 पश्यन्सन् स्वमनुत्तमे जीवन्मुक्तपदे स्थितस्तद्भावेनैव तिष्ठ ।
 सैव परा पूजेत्यर्थः ॥ ६२ ॥ विस्तरोकं संक्षिप्तोपसंहरति—
 देशेति । शान्ता सकला ईहा मनोरथा यस्यास्तथाविधया
 धिया स्वात्मनि तिष्ठ । सैव मुख्यया शिवपूजेत्यर्थः ॥ ६३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहाराभायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे देवा-
 र्चनविधिर्नामैकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

पूज्यपूजकपूजादिविकल्पपरहितः शिवः ।

परिशुद्धचिदात्मैव देवतातत्त्वमीर्यते ॥ १ ॥

आत्मविदः कृताकृतं सर्वमपि कर्म शिवार्चनमेवेत्याह—
 यथाकालमिति । यथारम्भं यथाशक्ति ॥ १ ॥ तत्कृतस्तत्राह—
 तेनैवेति । तेन तादृशपूजनेनैव तथा स्थितेन पारमार्थिकेन
 स्वरूपेण आह्लादं निरतिशयानन्दस्वरूपाभिव्यक्तिम् । प्रकटता-
 मावरणमग्नमायाति ॥ २ ॥ ननु स्वाभाविकचेष्टा सर्वापि राग-
 द्वेषमूलतयानर्थहेतुः सा कथं पूजनं स्यादिति चेत्स्वात्मव्यति-
 रेकेण रागद्वेषविकल्पादर्शनादेवेत्याह—रागेति ॥ ३ ॥ राजत्वं
 संपत् । दीनत्वं दारिद्र्यम् । आदिपदादक्षनायापिपासाद्यो
 गृह्यन्ते । तेषां वेदनमभ्यारोपणम् । देवे पुष्पपत्राद्यारोपणस्यैव
 पूजात्वप्रसिद्धेरिति भावः ॥ ४ ॥ तथा च नित्यस्य शिवस्य
 आत्मनः प्रतीचक्ष्य विद्यदादिलक्षणस्य जाग्रदादिलक्षणस्य च

घटाद्यात्मतया ब्रह्म स्वयमात्मा तथैव च ॥ ५ ॥
 शिवं शान्तमनाभासमेकं भास्वरमागतम् ।
 जगत्प्रत्ययवत्सर्वमात्मरूपमिदं स्थितम् ॥ ६ ॥
 अहो नु चित्रमात्मैव घटाद्यन्यद्व्यवस्थितम् ।
 जीवादिस्रस्वभावोऽन्तर्नूनं विस्मृतिमानिव ॥ ७ ॥
 सर्वात्मकस्यानन्तस्य शिवस्यान्तः किलात्मनः ।
 पूज्यपूजकपूजाख्यो विभ्रमः प्रोदितः कुतः ॥ ८ ॥
 नियताकारता शान्ते न च संभवतीश्वरे ।
 यत्र संकल्प्यते ब्रह्मपूज्यपूजामयः क्रमः ॥ ९ ॥
 पूज्यपूजाद्यवच्छिन्नो देवो नित्यामलात्मनः ।
 सर्वशक्तेरनन्तस्य नेश्वरत्वस्य भाजनम् ॥ १० ॥
 त्रिजगत्प्रसृताच्छाच्छसंविद्रूपस्य चात्मनः ।

नेश्वरस्याकृतेर्ब्रह्मव्यपदेशो हि युज्यते ॥ ११ ॥
 देशकालपरिच्छिन्नो येषां स्यात्परमेश्वरः ।
 अस्माकमुपदेद्यास्ते न विपश्चिद्विपश्चिताम् ॥ १२ ॥
 तदीयां दृष्टिमुत्सृज्य तथेमामवलम्ब्य च ।
 समः स्वच्छमनाः शान्तो वीतरागो निरामयः ॥ १३ ॥
 कामोपहारैरभितो यथाप्राप्तैरखिन्नधीः ।
 आत्मानमर्चयंस्तिष्ठ सुखदुःखशुभाशुभैः ॥ १४ ॥
 अधिगतवति साधौ चैकमेवानुरूपं
 त्वयि तरलितजीवे जन्मदुःखादि किञ्चित् ।
 न लगति परिशून्ये सर्वतः स्फाटिकाङ्गे
 नवसदन इवाङ्गे निष्कलङ्गे कलङ्कः ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे धात्मीकीये दे० भो० निर्वाणप्रकरणे पू० देवतातत्त्वविचारो नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः ४१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

शिवः किमुच्यते देव परंब्रह्म किमुच्यते ।
 आत्मा किमुच्यते नाथ परमात्मा किमुच्यते ॥ १ ॥
 सत्सत्किञ्चिन्न किञ्चिच्च शून्यं विज्ञानमेव च ।

विश्वस्य संवित्तिरारोप एवार्चा । यथा वियदादिक्रमेण ब्रह्म घटा-
 द्यात्मतयालंक्रियते, स्वयं प्रत्यगात्मा च तथैव जाग्रदादिक्र-
 मेण घटाद्यात्मतयैवालंक्रियत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ एवं चैकं शिव-
 रूपं प्रत्यगात्मरूपं वा जगत्प्रत्ययवदागतमिदं सर्वं तद्भासा
 भास्वरं तत्स्थित्या स्थितमित्यर्थः ॥ ६ ॥ एवं विमर्शे प्रत्यगात्मैव
 स्वान्तर्विस्मृतिमानिव भूत्वा जीवादिस्रस्वभावः अन्यद्वटादिज-
 गद्रूपं च स्थितं नान्यात्किञ्चिदित्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं तत्त्वतो
 दर्शने पूज्यपूजकादित्रिपुटी सर्वापि बाधिता भवतीत्याह—
 सर्वात्मकस्येति । अन्तःपरिच्छेदरूपत्रिपुटीविभ्रमः कुतः ।
 असन्नेवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ यत्र यस्यां नियताकारतायां पूज्यपूजादिमयः
 क्रमः संकल्प्यते सा नियताकारता परिच्छिन्नसंस्थानता न
 संभवति ॥ ९ ॥ नित्यामलात्मन इति हेतुगर्भमीश्वरत्वविशेष-
 णम् ॥ १० ॥ ईश्वरस्य आकृतेरिति व्यधिकरणे षष्ठ्यौ । व्यप-
 देशो धात्वाभिलाषोऽपि न युज्यते ॥ ११ ॥ हे विपश्चिदिति
 संबोधनम् । विपश्चिज्योऽपि विपश्चितामिति वा ॥ १२ ॥ इमां
 मदुक्तामपरिच्छिन्नदृष्टिमवलम्ब्य कामोपभोगैरर्चयंस्तिष्ठेति परे-
 णान्वयः ॥ १३ ॥ १४ ॥ तरलितः शोधनेन देहात्पृथक्कृतो
 जीवो येन तथाविधे साधौ भमानित्वादिगुणवति, अत एवानुरूप-
 मेकं स्वतत्त्वमुक्तपूज्यपूजकादितत्त्वविमर्शेनाधिगतवति । अत
 एव निरस्तमायाकलङ्गे परितस्तत्कार्यप्रपञ्चशून्ये च त्वयि जन्म-
 दुःखादि किञ्चित् लगति । यथा स्फाटिकशिला सर्वावयवके
 अङ्गे समीपे परितो नीलरक्षादिवस्त्वन्तरशून्ये नवसदने लेपतः

इत्यादिभेदो भगवंस्त्रिलोकेश किमुच्यते ॥ २ ॥
 ईश्वर उवाच ।
 अनाद्यन्तमनाभासं सत्किञ्चिदिह विद्यते ।
 इन्द्रियाणामगम्यत्वाद्यन्न किञ्चिदिव स्थितम् ॥ ३ ॥

प्रतिबिम्बतो वा नैत्यादिरञ्जनकलङ्को न लगति तद्वदित्यर्थः ॥ १५ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 देवतातत्त्वविचारो नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

शास्त्राचार्यादिसाफल्यं नामभेदप्रकल्पनम् ।

अध्यारोपक्रमः पश्चादपवादः प्रदर्श्यते ॥ १ ॥

यदुक्तं 'नेश्वरस्याकृतेर्ब्रह्मव्यपदेशो हि युज्यते' इत्यादिना
 पूज्यतत्त्वमरूपकमव्यपदेश्यं तस्य शिवादिशब्दैरपि कथं व्यप-
 देश इत्याशयेन पृच्छति—शिव इति । यदि शिवादिशब्द-
 प्रवृत्तिनिमित्तकं किञ्चिदपि धर्मं तत्र स्पृशति तर्हि शिव इति
 किंनिमित्तमुच्यते । एवं परंब्रह्मेत्याद्यपि किंनिमित्तमुच्यत
 इत्यर्थः ॥ १ ॥ 'ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः'
 इत्यादिव्यपदेशेषु भिनत्तीति भेदः परस्परव्यावर्तकप्रवृत्तिनिमि-
 त्तकनामविशेषः किंनिमित्तमुच्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥ पृष्ठेषु नामसु
 सदिति नाम्नस्तावत्प्रवृत्तिनिमित्तमन्यत्र वाच्यम् । तदर्थं व्यावर्त्य-
 स्यात्प्रसिद्धैव व्यावृत्त्यनपेक्षणात् । स्वत एवासद्यावृत्तत्वेन प्रवृ-
 त्तिनिमित्तताकृततद्यावृत्तिकत्वाभावाच्च । अन्यथा तत्प्रवृत्तिनि-
 मित्तस्याप्यसतः सद्यावर्तकत्वायोगात्सत्त्वेऽवश्यं वक्तव्ये तुल्य-
 न्यायेन तत्रापि सच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तमन्यदेव वाच्यमेवं तत्र
 तत्रापीत्यनवस्थापातात् । एवं किञ्चित्किञ्चिच्छब्दयोरपि
 इन्द्रियावेद्यत्वेन तद्वेद्यधर्मैर्निर्देष्टुमशक्यत्वाद्यावृत्तिनिरपेक्षतयैव
 तत्र प्रवृत्तिसंभवः । न ह्यव्यावृत्तं व्यावर्तकधर्मशून्यं वा शब्दाः
 न बोधयन्त्येवेति शक्यं वक्तुम् । अव्यावृत्तिनिर्धर्मकादिशब्दानां
 बोधकत्वस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात् । न हि निर्धर्मकत्वं धर्मः

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यदिन्द्रियाणां बुद्ध्यादियुक्तानामप्यदृश्यताम् ।
गतं तत्कथमीदृशान त्वशङ्केनोपगम्यते ॥ ४

ईश्वर उवाच ।

यो मुमुक्षुरविद्यांशः केवलो नाम सात्त्विकः ।
सात्त्विकैरेव सोऽविद्याभागैः शास्त्रादिनामभिः ॥ ५
अविद्यां श्रेष्ठया श्रेष्ठं क्षालयन्निह तिष्ठति ।
मलं मलेनापहरन्युक्तिहो रजको यथा ॥ ६
काकतालीयवत्पञ्चादविद्याक्षय आगते ।
प्रपश्यत्यात्मनैवात्मा स्वभावस्यैव निश्चयः ॥ ७
यथाकथंचिदङ्गारे निवृण्य क्षालयन्निष्ठशुः ।
करनैर्मल्यमाप्नोति काण्यार्ज्जुनक्षये यथा ॥ ८
यथाकथंचिच्छास्त्रार्थैर्भगैर्भगं विचारयेत् ।
सात्त्विकस्तामसो भागो द्वयोरात्मोदयस्तथा ॥ ९
पश्यत्यात्मानमात्मैव विचारयति चात्मना ।
आत्मैवेहास्ति नाविद्या इत्यविद्याक्षयं विदुः ॥ १०

अव्यावृत्तं च व्यावृत्तेभ्यो व्यावृत्तमिति वक्तुं शक्यम् । स्वमाता
बन्धेतिवद्यादृष्टत्वात् । एवं च शिवादिशब्दानामपि निर्दोषनि-
रतिशयानन्दस्वरूपमात्रे निमित्तनिरपेक्षेव प्रवृत्तिस्तुल्यन्याया-
दुपपन्ना । तत्स्वरूपप्रयुक्तैव वा शिवे बुद्ध्यादिव्यावृत्तिरपीति
न नामभेदानुपपत्तिरित्याशयेनोत्तरमाह—अनाद्यन्तमिति ।
अनाद्यन्तमाद्यन्तपरिच्छेदाभ्यां स्वतो व्यावृत्तम् । अनाभासमा-
भासान्तरनिरपेक्षं स्वयंज्योतिः । ईदृशं सद्रत्नं इह स्वे महिषि
स्वत एव विद्यते न देशकालधर्मज्योतिरादिपरापेक्षसत्तया परा-
धीनव्यावृत्त्या चेत्यर्थः । इवकारस्तत्र किञ्चित्त्वादेरपि मिथ्या-
त्वद्योतनार्थः ॥ ३ ॥ मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानामिन्द्रियगृहीतार्थ-
मात्रगोचरसंकल्पविकल्पाध्यवसायाभिमानस्मरणहेतुत्वादिन्द्रिया-
गम्यत्वोक्त्या बुद्ध्याद्यगम्यत्वमप्यर्थादुक्तमेव । न च बुद्ध्याप्य-
गम्यस्य बोधे कश्चिदुपायः संभवतीति सतोऽपि तस्य बोधो-
पायासंभवाद् अशङ्केन उपायासंभवशङ्कारहितेनाधिकारिणा
तद्ब्रह्म कथमुपगम्यते अविगम्यते । साक्षात्क्रियत इत्यर्थः ॥ ४ ॥
प्रमाणजन्यया बुद्धसात्त्विकभागपरिणामरूपया ब्रह्माकारवृत्त्या
अविद्यावरणमपनीयते । आवरणपगमे तु ब्रह्म स्वप्रकाशत्वादेव
तत्त्वतो भाति । स एवास्य साक्षात्कारो न बुद्धिबुद्ध्यभिव्यक्त-
विद्यामिदृशो मुमुक्षुर्भोक्षेच्छुर्मनोऽलक्षणः शमदमादिसाधनपरि-
शुद्धत्वात्केवल सात्त्विकोऽविद्यांशः स सच्छास्त्रसद्गुरुसत्प्रज्ञादि-
नामभिः सात्त्विकैरेवाविद्याभागैः संपादितया श्रेष्ठया अवगमन-
ननिदिध्यासनसाक्षात्कारान्तस्ववृत्तिपरम्परया बहुतरजन्मसंचि-
तयज्ञदानादिसुकृतसंभृतत्वाच्छ्रेष्ठं स्वकार्याविद्यां क्षालयन्नेव
चिरं तिष्ठति ॥ ५ ॥ ६ ॥ किं सतस्तत्राह—काकेति । तत्क्षिरा-
भ्यासात्काकतालीयन्यायेन भाग्यपरिपाकादुत्थितया पूर्णब्रह्मा-
कारवृत्त्या अविद्यायाः क्षये निःशेषोच्छेदे आगते सति अनावरण

यावत्किञ्चिदिदं वस्तु नाना नात्मावगम्यताम् ।
क्रमा गुरूपदेशाद्या नात्मज्ञानस्य कारणम् ॥ ११
गुरुर्होन्द्रियवृत्तात्मा ब्रह्म सर्वेन्द्रियक्षयात् ।
यद्वस्तु यत्क्षये प्राप्यं तत्तस्मिन्सति नाप्यते ॥ १२
अकारणान्यपि प्राप्ता भृशं कारणतां द्विज ।
क्रमा गुरूपदेशाद्या आत्मज्ञानस्य सिद्धये ॥ १३
क्रमे गुरूपदेशानां प्रवृत्ते शिष्यबोधतः ।
अनिर्देश्योऽप्यदृश्योऽपि स्वयमात्मा प्रसीदति ॥ १४
शास्त्रार्थैर्बुद्ध्यते नात्मा गुरोर्वचनतो न च ।
बुद्ध्यते स्वयमेवैव स्वबोधवशात्ततः ॥ १५
गुरूपदेशशास्त्रार्थैर्विना चात्मा न बुद्ध्यते ।
एतत्संयोगसत्तैव स्वात्मज्ञानप्रकाशिनी ॥ १६
गुरुशास्त्रार्थशिष्याणां चिरसंयोगसत्तया ।
अद्वनीव जनाचार आत्मज्ञानं प्रवर्तते ॥ १७
कर्मबुद्धीन्द्रियाद्यन्तमुत्तुङ्गदुःखादिसंक्षये ।
शिव आत्मेति कथितस्तत्सदित्यादिनामभिः ॥ १८

आत्मा आत्मनैवात्मानं प्रपद्यति । वास्तवस्वप्रथास्वभाव-
एवान्वतिष्ठत इत्यर्थः । आत्मस्वभावस्य एव उक्तस्वप्रकाशस्वरूप-
परिशेष एव निश्चयः असंदिग्धाविपर्यस्तसाक्षात्कारो नान्या-
दृश इत्यर्थः । अथवा अविद्यास्वभावस्यैव उक्तप्रकार एव क्षय-
निश्चयो नान्यादृश इत्यर्थः ॥ ७ ॥ अविद्यांशेनैवाविद्याक्षये
आत्मनैवात्मनैर्मल्यसिद्धौ च दृष्टान्तमाह—यथेति । शिशुर्बालो
दे अङ्गारे गृहीत्वा परस्परनिघर्षणक्रीडाव्यसनी अङ्गारयोः क्षया-
त्प्रक्षालितेऽपि दृष्टे पुनःपुनस्तन्निघर्षणेन करनैर्मल्यं माप्नोति ।
निघर्षणोपजनितरेण परम्परालक्षणकाण्येनाङ्गारयोः क्षये तु क्षाल-
यन्पुनरङ्गारालभात्करस्य स्वतःसिद्धमेव नैर्मल्यं सौन्दर्यं स्वत
एव प्राप्नोति यथा, तथा सात्त्विकस्तामसश्चाविद्याभागः शास्त्राद्यैः
स्वभागान्तरैः सहायैर्यथाकथंचिदात्मानं विचारयेच्चैदयोरपि
भागयोर्नाशो निर्मलात्मोदयश्च सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥
ननु बुद्ध्या आत्मा विचार्य निर्धार्यते तत्कृतो न बुद्धि-
दृश्यतामन इति चेन्न । बुद्धेर्जडाया विचारादौ स्वातन्त्र्यं कित्वा-
त्मैव बुद्ध्याद्युपायैर्विचारादिनाऽविद्यां बाधित्वा स्वयं प्रयत
इत्याह—पश्यतीति ॥ १० ॥ अत एव गुरुशास्त्रादिनानामेदा
न आत्मा नाप्यात्मज्ञानहेतवः आत्मस्वरूपस्य तज्ज्ञानस्य साध-
नानपेक्षत्वादित्याशयेनाह—यावदिति ॥ ११ ॥ तत्रोपपत्त्य-
न्तरमाह—गुरुरिति इन्द्रियैर्वृत्तं घटितं यत्पुर्व्यष्टकं तदात्मा
॥ १२ ॥ तर्हि किं शुर्वदयो व्यर्था नेत्याह—अकारणानीति ।
सिद्धये विरुद्धकण्ठचामीकरवलाभाय ॥ १३ ॥ प्रसीदति
अभिव्यक्तो भवति ॥ १४ ॥ एवमावश्यकत्वे कथमकारणत्वो-
क्तिस्तत्राह—शास्त्रार्थैरिति ॥ १५ ॥ प्रकाशिनी अभिव्य-
जिका ॥ १६ ॥ १७ ॥ अत एव बोधनिरस्तसर्वामङ्गलः परमा-
नन्दात्मा स्वत एव शिवशब्दोर्हो न प्रवृत्तिनिमित्तसापेक्ष इत्युक्त-

यत्रेदमखिलं नास्ति तद्रूपेणैव चास्ति वा ।
 तदाकाशादच्छतरमनन्तं सदिवास्ति हि ॥ १९
 अविश्रान्ततया यत्र तनुविद्यैर्मुमुक्षुभिः ।
 विचित्रशुद्धमननकलङ्ककलितात्मभिः ॥ २०
 अदूर एव तिष्ठद्भिर्जीवन्मुक्तस्य दृक्पथे ।
 मोक्षोपासकबोधाय शास्त्रार्थरचनाय च ॥ २१
 ब्रह्मेन्द्ररुद्रप्रमुखैर्लोकपालैः सुपण्डितैः ।
 पुराणवेदसिद्धान्तसिद्ध्ये भावितात्मभिः ॥ २२
 चिद्ब्रह्म शिव आत्मेशपरमात्मेश्वरादिका ।
 एतस्मिन्कल्पिता संज्ञा निःसंज्ञे पृथगीश्वरे ॥ २३
 एवमेतज्जगत्तत्त्वं स्वं तत्त्वं शिवनामकम् ।
 सर्वथा सर्वदा सर्वसर्वं यत्सुखमास्व भो ॥ २४
 शिव आत्मा परं ब्रह्मेत्यादिशब्दैस्तु भिन्नता ।
 पुरातनैर्विरचिता तस्य मेदो न वस्तुतः ॥ २५
 एवं देवार्चनं नित्यं नः कुर्वन्मुनिनायक ।
 यत्रासदादयो भृत्यास्तत्प्रयान्ति परं पदम् ॥ २६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अविद्यमानमेवेदं विद्यमानमिव स्थितम् ।
 यथा तन्मे समासेन भगवन्वक्तुमर्हसि ॥ २७

ईश्वर उवाच ।

योऽसौ ब्रह्मादिशब्दार्थः संविदं विद्धि कैवलम् ।
 खञ्जमाकाशमप्यस्य स्थूलं मेरुरणोरिव ॥ २८

मित्याह—कमेति ॥ १८ ॥ इदं जगत् बाधे नास्ति । आ-
 रोपे चास्ति । तदधिष्ठानतत्त्वं अस्ति हि अस्यैव । व्यावहारि-
 कसत्त्वैलक्षण्यात्सदिव ॥ १९ ॥ शिवब्रह्मसदादिनामकल्पनापि
 जीवन्मुक्तानामधिकारिप्रबोधनायैवेत्याह—अविश्रान्तेत्यादिना ।
 मुमुक्षुभिरधिकारिमोचनेच्छुभिर्विचित्रस्य जगतः शुद्धस्य त-
 त्वस्य च मननं तल्लक्षणो यः शुद्धात्मनि कलङ्कस्तद्युक्त आत्मा
 मनो येषाम् ॥ २० ॥ परमार्थस्य अदूरे संनिहिते जीवन्मु-
 क्तस्य दृक्पथे तिष्ठद्भिः । मोक्षाय स्वोपासका ये भक्तास्तेषां
 बोधाय शास्त्रार्थस्य तत्त्वतज्ज्ञानतदुपायानां रचनायः सम्यगुप-
 पादनाय ॥ २१ ॥ पुराणानां वेदानां सिद्धान्तानां बादरायण-
 सूत्रादीनां सिद्ध्ये सार्थक्याय ॥ २२ ॥ पृथक् संज्ञा कल्पिता
 ॥ २३ ॥ भो वसिष्ठ, वियदादिजगदारोपाधिष्ठानत्वाज्जगत्त-
 त्वम्, अवस्थात्रयारोपाधिष्ठानत्वात्स्वं तत्त्वं च यत्सर्वदा सर्व-
 प्रकारैः सर्ववस्तूनां सर्वभावनिर्वाहकं तत्केवलं ब्रह्मसुखमेव
 नाणुमात्रमप्यन्यदस्तीति निश्चित्य त्वमास्व ॥ २४ ॥ २५ ॥
 एवमुक्तस्थितिरूपं देवार्चनम् । यत्र यस्मिन्परमशिवपदे अस्म-
 दादय एकैकगुणाभिमानिनो मृत्या इव सृष्ट्यादिकर्मनियताः
 ॥ २६ ॥ इदानीं वसिष्ठः शुद्धचिति जीवभावतत्संस्करणारोप-
 क्रमं जिज्ञासुः पृच्छति—अविद्यमानमिति ॥ २७ ॥ उत्तरो-

सा वेद्यमिह गच्छन्ती याति चिन्नामयोग्यताम् ।
 अप्यवेद्यवती नूनमुन्मन्यन्तपदस्थिता ॥ २९
 क्षणाद्भावितवेद्यत्वादहन्तामनुगच्छति ।
 पुरुषत्वात्पुमान्स्वप्ने वनवारणतामिव ॥ ३०
 अस्याहन्तादिरूपाया देशतां कालतां गताः ।
 संपद्यन्ते ततः शून्यरूपिण्यः सख्य एव ताः ॥ ३१
 ताभिः संवलिता सैव सत्ता जीवाभिधानिका ।
 भवति स्पन्दविज्ञाना पवनस्येव लेखिका ॥ ३२
 जीवशक्तिस्तथाभूता निश्चयैकविलासिनी ।
 बुद्धितामनुयाता सा भवत्यज्ञपदे स्थिता ॥ ३३
 शब्दशक्त्या क्रियाशक्त्या ज्ञानशक्त्यानुगम्यते ।
 प्रत्येकं प्रस्फुरत्यन्तरप्रदर्शितरूपया ॥ ३४
 मिलित्वैष गणः क्षिप्रं स्मृतिं समनुकूलयन् ।
 मनो भवति भूतात्मबीजं संकल्पशाखिनः ॥ ३५
 आतिवाहिकदेहोक्तिभाजनं तद्विदुर्बुधाः ।
 अन्तस्थया ब्रह्मशक्त्या शरूपं स्वात्मनात्मदृक् ॥ ३६
 संपद्यमाना एवासिश्चेतसीमा हि शक्तयः ।
 पश्चादिह बहिष्ठास्ता उद्यन्त्यनुदिता अपि ॥ ३७
 वातसत्ता स्पन्दसत्ता स्पर्शसत्ता तथैव च ।
 त्वक्सत्ता तेजसां सत्ता तथा सत्ताप्रकाशिनी ॥ ३८
 रूपसत्ता जलसत्ता स्वादुसत्ता तथैव च ।
 तथैव रससत्ता च गन्धसत्ता तथैव च ॥ ३९

तत्परोपे स्थूल्योपचयं वक्तुं परमसूक्ष्मरूपं मूलं दर्शयति—योऽ-
 साविति । मेरुरणोरिवेति चित्तौक्ष्म्यस्य जडसौक्ष्म्यस्य च
 स्पष्टमेवान्तरमिति भावः ॥ २८ ॥ सा विद्वेद्यगोचरसंस्कारोद्बोधा-
 द्वेद्यकल्पनोन्मुखी यदा भवति तदा चेतनान्विदिति क्रिया नाम-
 योग्या भवतीत्यर्थः । उन्मन्यन्तपदे निर्विकल्पसमाधिप्रसिद्ध-
 चिदानन्दैकरसस्वभावे स्थितापि ॥ २९ ॥ ३० ॥ इयत्तापौर्वा-
 पर्यावगाहनादेशतां कालतां च गताः कल्पनाः संपद्यन्ते ताश्चा-
 हन्तायाः सख्य इत्युत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥ ताभिर्देशकालकल्पनाभिः
 संवलिता सा अहन्तास्पदगोचरसंस्कारोद्बोधात्स्पन्दविज्ञाना सती
 पवनस्य लेखिकेवान्तः प्राणस्पन्दा सती जीवाभिधानिका भ-
 वति । 'जीव प्राणधारणे' इति धात्वर्थानुगमादित्यर्थः ॥ ३२ ॥
 एवं निश्चयसंस्कारोद्बोधाद्बुद्ध्यादिशब्दवाच्यापि भवतीत्याह—
 जीवेति ॥ ३३ ॥ ततः कायिकवाचिकमानसिकव्यवहारसंस्का-
 रोद्बोधाच्छब्दादिशक्त्या अहन्तानुगम्यते । न प्रदर्शितमत्यन्तपि-
 हितं तात्त्विकमात्मरूपं यया ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ अन्तस्थया
 अनावृतसाक्षिरूपया ब्रह्मशक्त्या व्याप्तं जानातीति न इति
 प्रमातृरूपं संपद्यते । तच्चात्मनः स्वप्रकाशतावलादेवेत्याह—
 आत्मदृग्मिति ॥ ३६ ॥ एवमन्तःकल्पना बाह्यदृश्यसत्ताकल्प-
 नायां हेतुरित्याह—संपद्यमाना इति । ताः वक्ष्यमाणाः ॥ ३७ ॥
 तेजःसत्तायाः प्रकाशिनी चक्षुःसत्ता ॥ ३८ ॥ रसयत्तीवि रसो

भूसत्ता हेमसत्ता च पिण्डसत्ता च पीवरी ।
 देशसत्ता कालसत्ता सर्वाद्याकारवर्जिता ॥ ४० ॥
 सर्वसत्तागणं चैतत्क्रोडीकृत्य स्वरूपवत् ।
 स्फुरत्याश्रित्य पत्रादि बीजं बीजादितां गतम् ॥ ४१ ॥
 एतत्पुण्यं विद्धि देहोऽयं चातिवाहिकः ।
 अपारबोधमेतत्तु स्फुरत्यङ्गं विभागवत् ॥ ४२ ॥
 एवमाद्यङ्गसंपन्नं संपन्नं न च किञ्चन ।
 न ज्ञानं न च तद्रूपं न विदाचितचेतनम् ॥ ४३ ॥
 परं परे प्रस्फुरितं केवलं केवलात्म सत् ।
 जलपीठस्य जठरे जलद्रवविलासवत् ॥ ४४ ॥
 संवित्संवेदनैकात्म पृथगेतदचेतनम् ।
 संपद्यते परिज्ञातं संकल्पनगरोपमम् ॥ ४५ ॥
 संवेदनात्परिज्ञानाच्छिवतामेव गच्छति ।
 अज्ञातमेव वा यत्तत्कथं गच्छति वस्तुताम् ॥ ४६ ॥
 अथैतद्विन्दते स्वान्तःसंकल्पादंशतां स्वतः ।
 तन्मात्रसत्ता तस्याणोरेतां पश्यति देहके ॥ ४७ ॥
 सर्वं स्थूलत्वमापन्नं तदेवागु प्रपश्यति ।
 तस्य तन्मात्ररन्ध्राणि यथादेशं प्रपश्यति ॥ ४८ ॥
 ततः पुरुषरूपैकभावनात्पुरुषाकृतिम् ।
 काकतालीयवद्गुप्ता तुष्टं पुष्टं भवत्यलम् ॥ ४९ ॥
 जीवदेतदवस्थाकं स्थितं पश्यति देहकम् ।
 असन्तमेव गन्धर्वपुरं स्वप्ननरं यथा ॥ ५० ॥
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादनं नामैकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 गन्धर्वनगराकारमपि स्वप्ननरोपमम् ।
 जगद्दुःखाय दुःखस्य कात्र युक्तिः परिक्षये ॥ ५१ ॥
 ईश्वर उवाच ।
 वासनावशतो दुःखं विद्यमाने च सा भवेत् ।
 अविद्यमानं च जगन्मृगतृष्णाम्बुमङ्गवत् ॥ ५२ ॥
 अतः किं वास्यते केन कस्य वा वासना कुतः ।
 कथं स्वप्नरेणाङ्गं मृगतृष्णाम्बु पीयते ॥ ५३ ॥
 सद्रष्टारि तु साहन्ते समनोमननादिके ।
 अविद्यमाने जगति यत्सत्तत्परिदृश्यते ॥ ५४ ॥
 यत्र नो वासना नैव वासको नैव वास्यता ।
 केवलं केवलीभावः संशान्तकलनभ्रमः ॥ ५५ ॥
 यस्य सत्योऽप्यसत्यो वा शून्य एव हि यक्षकः ।
 विलीनस्तस्य कैवल्यात्मिकमन्यदवशिष्यते ॥ ५६ ॥
 शून्य एव हि वेताल इवेत्ये चित्तवासना ।
 उदितेयं जगन्नाम्नी तच्छान्तौ शान्तिरक्षता ॥ ५७ ॥
 अहन्तायां जगति च मृगतृष्णाजले च यः ।
 सास्थस्तं घिग्धतनरं नोपदेश्यस्त्वसानिति ॥ ५८ ॥
 जीवं विवेकिनमिहोपदिशन्ति तज्ज्ञा
 नो बालमुद्भ्रममसन्मयमार्यमुक्तम् ।
 अङ्गं प्रशास्ति किल यः कनकावदातां
 स स्वप्नद्रष्टृपुरुषाय सुतां ददाति ॥ ५९ ॥
 स स्वप्नद्रष्टृपुरुषाय सुतां ददाति ॥ ५९ ॥

रसनेन्द्रियं तत्तत्ता ॥ ३९ ॥ हेमशब्देन रजतस्पर्शमये ब्रह्मा-
 ण्डस्पर्शे प्राप्ते । पीवरी अतिमहती ब्रह्माण्डपिण्डसत्ता ॥ ४० ॥
 स्वरूपवत्तादात्म्येन क्रोडीकृत्य संशुद्ध । यथा बीजमुत्तरोत्तरप-
 रिणामेन बीजादितां गतमङ्कुरकाण्डशाखापत्रादि क्रोडीकृत्य स्फु-
 रति तद्वत् । 'बीजाद्वीजादिता' इति पाठे बीजन्ति उत्तरोत्तरबी-
 जानि चेभ्यस्तादृशानामङ्कुरकाण्डादिपरम्पराणामादितां निदा-
 नतां गतम् ॥ ४१ ॥ एतदुक्तं सर्वसत्ताक्रोडीकृतस्वरूपं पुण्यं
 स्थूलादिदेहत्रयात्मकम् । अयमेव वासनात्मना आतिवाहिको
 देहः । अपारोऽपरिच्छिन्नो बोधक्षित्वरूपं यस्य सयाविधं
 प्राप्ते एतत् उक्तविभागवत्स्फुरति नान्यदित्यर्थः ॥ ४२ ॥
 एवमारोपकम् प्रपञ्चयापवादं दर्शयति—एवमादीति । संपन्नम-
 शब्दश्च । तत्त्वहशा तु न किञ्चन संपन्नम् । तत् पुण्यं च रूपम् ।
 विदा तत्र तत्र विदाभासेनाचितं चेतनमपि न ॥ ४३ ॥ जल-
 पीठस्य जलाधारस्य । समुद्रस्येति यावत् ॥ ४४ ॥ कथमिदं
 विज्ञातं तत्राह—संवैदिति । यतो दृश्यजातं संविदेवेति संवे-
 दने एकात्मकम् । संविदः पृथक्कृतं तु अचेतनं भासकशून्यमि-
 त्युभयथापि न जीवतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥ किंचेदं ज्ञातं सद्वास्तवं
 स्यादज्ञातं वा नोभयवापीत्याह—संवेदनादिति । संवेदनादि-
 त्स्य व्याख्या—परिज्ञानादिति ॥ ४६ ॥ अथ यदि कश्चिद्भूयात्स्व-
 तश्चिन्मात्रस्वभावमपि एतद्वस्तु 'बहु स्यां प्रजायेये'ति संकल्पा-

त्त्वान्तरेव दृश्याशतां विन्दते इति तर्हि संकल्पकल्पितस्य मि-
 थ्यात्वात्तस्याणोः परमसूक्ष्मसात्मनस्तन्मात्रस्वभावेन सत्ता प्रथ-
 मकल्पिते देहके सूक्ष्मदेहे एव चिराभ्यासात्स्थूलतां पश्यति
 ॥ ४७ ॥ स्थूलदेहसबन्धाच्च सर्वमान्तरं कोशचतुष्टयं बाह्यवि-
 षयजातं च स्थूलत्वमापन्नं तद्वद्वैव स्वकल्पनया पश्यति ।
 बाह्यरूपादिदर्शने च तस्य देहस्य चक्षुरादिलक्षणाति तन्मात्र-
 द्वाराणि यथाविषयं व्यवस्थितानि प्रपश्यति ॥ ४८ ॥ ततो
 हस्तपादाद्यवयवसंघाते आन्तरकोशेषु च पुरुषाकारेणैकत्वमाव-
 नात्पुरुषाकृतिं पश्यति । तेन चाकस्माद्यवहारक्षमतां दृष्ट्वा तुष्टं
 पुष्टं च भवति ॥ ४९ ॥ ५० ॥ मिथ्येति ज्ञातमपि जगद्दुःखं
 जनयत्येव, अतो दुःखचिकित्सा मिथ्यात्वज्ञानादन्यैव वाच्येति
 मन्यमानो वसिष्ठः पृच्छति—गन्धर्वेति ॥ ५१ ॥ वासनाक्षय-
 पर्यन्तं इदतरमिथ्यात्वनिश्चय एव दुःखनिवृत्त्युपायो नापातव
 इत्याशयेनोत्तरमाह—वासनेति ॥ ५२ ॥ असन्तासत्त्वद्वन्ति-
 क्षये आश्रयविषयाश्रमावादेव वासनानुदयसिद्धिरित्याह—अत
 इति ॥ ५३ ॥ द्रष्टादिसहिते जगत्त्रयविद्यमाने सति बहुज्ञानं
 सत्तदेव वा शिष्यते ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ सत्यो व्यावहारिकः अ-
 सत्यः प्रातिभासिको वा यक्षको यस्य प्रौढस्य दृशा शून्यत्वादि-
 त्वविलीनः ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ कुतो नोपदेश्यस्तत्राह—
 जीवमिति । तज्ज्ञा आत्मज्ञा विवेकिनं प्राप्ताधिकारिविशेषण-

द्विचत्वारिंशः सर्गः ४२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततः स जीवो भगवन् दृष्टवान् देहसंभ्रमम् ।
 आदिसर्गे नभःसंस्थः कामवस्थामुपैति हि ॥ १ ॥
 ईश्वर उवाच ।
 परस्मात्परमे व्योम्नि पूर्वोक्तक्रमतो वपुः ।
 जीवः पश्यति संपन्नं स च स्वप्नरो यथा ॥ २ ॥
 सर्वगत्वाच्चिद्धनस्य कार्यं स्वप्नरोऽपि हि ।
 यथा करोत्याशु तथा जीवोऽद्यापि शरीरधृक् ॥ ३ ॥
 सनातनोऽहमव्यक्तः पुमानित्यभिधां ततः ।
 करोत्यात्मनि तेनाशु प्रथमः प्रथितः पुमान् ॥ ४ ॥
 एवं स सर्गे कस्मिंश्चित्प्रथमोऽथ सदाशिवः ।
 कस्मिंश्चिद्विष्णुरित्युक्तो नाभ्युत्पन्नः पितामहः ॥ ५ ॥
 पितामहः स कस्मिंश्चित्कस्मिंश्चिदपि चेतनः ।
 स च संकल्पपुरुषः संकल्पान्मूर्तिमास्थितः ॥ ६ ॥
 पुष्टः प्रथमसंकल्पस्तां मनोमूर्तिमास्थितः ।
 यद्यथा कल्पयत्याशु तत्तथानुभवत्यलम् ॥ ७ ॥

मुपदिशन्ति न त्वप्राप्ताधिकारत्वादुद्धमं बहुतरभ्रान्तिशालिन-
 भार्यैर्मुक्तमुपेक्षितमसद्देहाद्यभिमानित्वादसन्मयं बालं यः अज्ञं
 प्रशस्ति उपदिशति स कनकवदवदातां सुन्दरीं स्वसुतां स्वप्रदृष्ट-
 पुरुषाय ददाति । सोऽपि मूर्ख एवेति यावत् ॥५९॥ इति श्री-
 वासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे जगन्मि-
 थ्यात्वप्रतिपादनं नामैकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

समष्टिव्यष्टिसंसारकृत्तिरीशादिपूर्विका ।

मायैवेत्युपदिश्यात्र शंभुः स्वनिलयं ययौ ॥ १ ॥

‘जीवदेतदवस्थाकं स्थितं पश्यति देहकम्’ इत्यन्ते योऽध्या-
 रोप उक्तस्तच्छेषं जिज्ञासुर्वसिष्ठः पृच्छति—तत इति । आदि-
 सर्गे कल्पाद्यध्यासक्रमे । उक्तानुवादः पूर्वानुसंधानार्थः ॥ १ ॥
 स च जीवः स्वप्नरो यथा सूक्ष्मतमनाडीषु विस्तृततमं ब्रह्माण्डं
 पश्यति तद्वत्परमसूक्ष्मे चिदाकाशेऽपि पश्यतीत्यर्थः ॥२॥ उक्त-
 मेव दृष्टान्ताशयं विवृणोति—सर्वगत्वादिति । नाडीछिद्रान्तः
 प्रवेशेऽपि सर्वशक्तिमतः सत्त्वादिति भावः । कार्यं ब्रह्माण्डं यथा
 करोति तथा अद्यापि सर्वेषां प्रतिद्वमित्यर्थः ॥३॥ स एवादिसर्गे
 समष्ट्युपाधिको हिरण्यगर्भाख्यः स्वात्मनि बाह्यवस्तुषु च नाम-
 भेदमपि कथयतीत्याह—सनातन इति ॥४॥ तस्यैव सात्त्वि-
 कराजसतामसकल्पेषु सदाशिवादिमूर्तिप्राथम्येनेतरकल्पकत्वं
 नियतमित्याह—एवमिति ॥५॥ ‘आकाशप्रभवो ब्रह्मे’ति पूर्व-
 रानायणोक्तेर्नाभ्युत्पत्तिनियमः पितामहस्य नास्तीत्याशयेनाह—
 पितामह इति । इतरो दुर्गाभैरवविनायकादिः । तेषामपि तत्त-
 न्माहात्म्यप्रतिपादकपुराणादिभागेषु ब्रह्माद्युद्भवहेतुत्वप्रतिदेः ।
 स उक्तः सदाशिवादिपुरुषः संकल्पमयः । ‘सोऽकामयत बहु
 स्यां प्रजायेय’ इति श्रुत्युक्तमायिकसंकल्परूपः ॥ ६ ॥ प्रथम-

तत्त्वसद्रूपमखिलं शून्यवेतालको यथा ।
 भ्रमदृष्ट्या तु सद्रूपमित्यहंता जगद्गतिः ॥ ८ ॥
 द्रष्टादिपुरुषस्त्वेवं स्वयं संपद्यते हि यः ।
 स निमेषं प्रति व्योम समुदेत्यथ नीयते ॥ ९ ॥
 निमेष एव कल्पो यो महाकल्पपरम्पराम् ।
 प्रतिभासविपर्यासमात्रेणानुभवत्यलम् ॥ १० ॥
 परमाणौ परमाणौ व्योम्नि व्योम्नि क्षणे क्षणे ।
 सर्गकल्पमहाकल्पभावाभावा भवन्ति ते ॥ ११ ॥
 दृश्यन्ते केचिदन्योन्यं साधर्म्याद्वासनागतेः ।
 मिथः केचिन्न दृश्यन्ते दृष्टेनाथ सदात्मना ॥ १२ ॥
 सर्गाः सर्गेण सर्वत्र संभवन्ति न ते शिवे ।
 भवन्ति परमे व्योम्नि व्योमरूपा इति स्वयम् ॥ १३ ॥
 स्वयं च सदसद्रूपा लीयन्ते स्वप्नशैलवत् ।
 सर्गेन देश आक्रान्तो न च कालो न कर्तृता ॥ १४ ॥
 न चैते सत्स्वरूपा वा न कल्प्यं नापि च क्षणः ।
 न चेदं जायते किञ्चिन्न च किञ्चन नश्यति ॥ १५ ॥

संकल्प एव सूक्ष्मभूतसर्गद्वारा पुष्टः संस्तत्कालसमष्टिव्यष्टिमनो-
 रूपमास्थितो हिरण्यगर्भादिरूपः सन् यद्भुवनप्रजासर्गादि यथा
 कल्पयति तत्तथा व्यवहारक्षममनुभवतीत्यर्थः ॥७॥ तत्त्वदृष्ट्या
 असद्रूपं भ्रमदृष्ट्या तु सद्रूपं सत्यमिव भाति ॥८॥ एवमुक्तरीत्या
 य आदिपुरुषः स्वसृष्टस्य द्रष्टा संपद्यते स निमेषं प्रति निमेष-
 लक्ष्यकालेऽपि स्वरूपपर्यालोचनमात्रेण व्योम चिदाकाशमात्रं
 समुदेति । अथ स्वरूपविस्मरणे निमेषमात्रेणैव अनन्तमपारं च
 संसारं प्रति नीयते ॥ ९ ॥ कल्पः कल्पनासमर्थः । प्रतिभा-
 सस्य विपर्यासः पराक्प्रवणता तन्मात्रेण ॥ १० ॥ व्योम्नि
 सूचीछिद्राद्याकाशेऽपि ॥ ११ ॥ ते च सर्गभेदा यावतां जीवानां
 तुल्यकालं तुल्यगोचरवासनोद्भवस्त्वावतां मिथो दर्शनादिव्यव-
 हारसंवादिनः । अन्येषां तच्छून्या इत्येन्दवोपाख्यानन्यायमा-
 श्रित्याह—दृश्यन्त इति । अदर्शनं च कल्पितरूपांशे । अधि-
 ष्ठानांशे तु सर्वेषां नित्यापरोक्षतैवेत्याह—दृष्टेनेति ॥ १२ ॥
 तत्र युक्तिमाह—सर्गा इति । यतः सर्गेण सर्गात्मना स्थितेन
 जीवेन संभाव्यमानाः सन्त एव सर्गाः संभवन्ति न तु ते शिवे
 परमार्थस्वभावे परमे व्योम्नि । तत्र तेषां व्योमरूपत्वस्यैव
 पर्यवसानादित्यर्थः ॥ १३ ॥ ननु सर्गा ब्रह्मसत्तानिरपेक्षाः
 स्वसत्तया वा देशकालसंबन्धवल्लब्धसत्तया वा सन्तु तत्राह—
 स्वयं चेति । सदसद्रूपा नैकतरनियतस्वभावाः । एवं
 देशः कालश्च सर्गः प्राङ् नाक्रान्तः । तयोरपि सर्गान्तर्गतत्वा-
 त्सर्गासापेक्षरूपत्वेन सर्गाधीनकल्पनत्वाच्चैत्यर्थः । तर्हि सर्ग एव
 स्वस्य कालादिसंबन्धरूपन्याहृशं वा सत्त्वं करोतु तत्राह—
 न कर्तृतेति । सर्गणामिति विपरिणामेनानुपपन्नः ॥ १४ ॥ तर्हि
 सर्गाः स्वयमेव यावत्प्रलयं सत्स्वरूपाः सन्तु तत्राह—न चैते

सर्वं संकल्परूपेण चिच्चमत्कुरुते चिति ।
 स्वप्नपञ्चननिर्माणपातोत्पादनवज्रमत् ॥ १६
 न देशकालक्रमणं करोति च मनागपि ।
 यथा संकल्पशैलेन देशकालाद्यनन्तकम् ॥ १७
 आक्रान्तमपि नाक्रान्तं तथैव जगता सता ।
 अंथ नाक्रान्तमाक्रान्तमिव संकल्पमेवणा ॥ १८
 यथोच्चैर्देशकालादि तथैव जगता सता ।
 संपद्यते यथा योऽसौ पुरुषः सर्वकारकः ॥ १९
 अनेनैव क्रमेणेह कीदृशः संपद्यते क्षणात् ।
 तस्थुषामेवमेवेह जातयो हि चतुर्विधाः ॥ २०
 रुद्राद्यास्तृणपर्यन्ताः संपद्यन्ते क्षणं प्रति ।
 परमाणूपमाः सन्ति तथा केचिदणूपमाः ॥ २१
 एष एव क्रमस्तेषां सति वाऽसति सर्गके ।
 अस्याः संसारमायाया एवभूतार्थभावनात् ॥ २२
 भेदोपशान्तावभ्यासाद्भवत्युपगतः शिवः ।
 निमेषशतभागार्धमात्रमेव परा चितिः ॥ २३
 स्वरूपतश्चेच्छ्रुतिता सैषोदेत्यनवस्थितिः ।
 सा ह्यरूपा शिलाकाश इव चित्त्वात्मनि स्थिता ॥ २४

इति । सर्गसत्पदयोः पर्यायत्वापत्तेर्नाशनापत्तेः । 'नाभावो
 विद्यते सतः' इति भगवत्सिद्धान्तादिति भावः । तर्हि सर्गं सर्व-
 मध्यस्त्वमेवास्तु तत्राह—न कल्पमिति । असतः सत्त्वाध्या-
 साधिष्ठानत्वात्संभवादिति भावः । तर्हि वैनाशिकमतवत्तत्क्षण-
 रूपमेव सत्त्वं धारयातुगतमस्तु तत्राह—नापीति । क्षणरूपस्य
 सत्त्वस्य प्रतीतिकालपर्यन्तमनवस्थितेरत्यन्ताप्रतीतस्य सत्त्वं
 अलीकस्यापि तदापत्तेरिति भावः । एतेन आद्यन्तक्षणसंबन्ध-
 लक्षणौ जन्मनाशावपि सर्गस्य निरस्तावित्याशयेनाह—न चेद-
 मिति ॥ १५ ॥ एवं चास्मत्सिद्धान्त एव शरणमित्याशयेन
 प्राशुर्चं स्मारयति—सर्वमिति ॥ १६ ॥ कथं तर्हि देशकाल-
 क्रान्तताप्रलयस्तत्राह—यथेत्यादिना ॥ १७ ॥ यथा उच्चैः
 स्थितेन संकल्पमेवणा नाक्रान्तमेव अथापि संकल्पकाले आक्रा-
 न्तमिव प्रतिभासते तद्वदिति परेणान्वयः ॥ १८ ॥ अत एव संक-
 ल्पालुसारणेन पुद्बकीटस्याधरादिजन्मवैचित्र्यमित्याह—संप-
 द्यते इति । सर्वकारकः ऐहिकामुष्मिकसर्वक्रियासमर्थः ॥ १९ ॥
 तस्थुषा स्यावरणां योनिरपि संपद्यते । एवमेव अण्डजादि-
 चतुर्विधजातयः संपद्यन्ते इत्यर्थः ॥ २० ॥ क्षणं प्रति माया-
 धिष्ठितः संकल्पक्षणे एव । वासनासौक्ष्म्यात्परमाणूपमा इव
 द्विकासे त्रसरेणूपमा सर्गाः स्मरन्तं सन्ति ॥ २१ ॥ वर्तमानसर्ग-
 वदेवातीतानागतानामपि क्रमो बोध्य इत्याह—एष एवेति ।
 तेषां रुद्रादिमृगान्तानाम् । कथं तर्हि सर्गोपरमस्तत्राह—अस्या
 इति । एवंभूतस्य परमार्थतत्त्वस्य भावनात्साक्षात्कारात् ॥ २२ ॥

१ अभ्यन्ताक्रान्तमिते पाठः.

तदनाद्यवभासात्म ब्रह्मशब्देन गीयते ।
 अस्मिन्प्रौढि गते सर्गे महाचिह्नोत्पन्नं न च ॥ २५
 संगतासत्यदिग्देशकालांशपरमाणुता ।
 जीवतामागता भूततन्मात्रबलनाक्रमात् ॥ २६
 मवत्यङ्ग मृगीवीरुत्कीटदेवासुरादिकम् ।
 यस्मिन्नित्ये ततेऽनन्ते दृढे स्रगिव तिष्ठति ॥ २७
 सदसद्भयितं विश्वं विश्वमे विश्वकर्मणि ।
 न तद्दूरे न निकटे नोर्ध्वे नाधो न तेन मे ।
 न पूर्वं नाद्य न प्रातर्न सत्रासत्र मध्यमम् ॥ २८
 अनुभवकलनामृतेऽस्य माता
 भवति न सर्वविकल्पनेष्वसत्सु ।
 फलदुरुविभवा प्रमाणमाला
 स्थितिमुपयाति न वारिणीव वह्निः ॥ २९
 यथापृष्ठं मुने प्रोक्तं त्वयि कल्याणमस्तु ते ।
 दिशं प्रयामोऽस्मिन्तामागच्छोत्तिष्ठ पार्वति ॥ ३०
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 इत्युक्त्वा नीलकण्ठोऽसौ त्यक्तपुष्पाञ्जलौ मयि ।
 ततार परिवारेण सममम्बरकोटरम् ॥ ३१

क्षणलेशमात्रमपि विदात्मनो बहिर्मुखत्वे कल्पकोटिविस्तृता-
 नर्थोदय इत्याह—निमेषेति ॥ २३ ॥ छुटिता प्रच्युता । चितः
 स्वरूपप्रतिष्ठैव प्रकृतेत्याह—स्येति । इत्युक्तवित् तेन रूप्यते
 अनुभूयत इति ह्यरूपा ॥ २४ ॥ अभिमानवृद्ध्या यथा यथा सर्गः
 प्रौढि गच्छति तथा तथा चिदात्मविद्योतनहासः परिच्छेदाधि-
 क्रयप्रयुक्ता आत्मनः क्षुद्रता चेत्याह—अस्मिन्निति ॥ २५ ॥
 सर्गात्तरसत्त्वैर्देशकालकृतैरंशैः परिच्छेदैः परमामशकपुत्तिका-
 द्यन्ता अणुता क्षुद्रता च । आत्मन इति शेषः । 'परमाणुना' इति
 पाठे तु परमेणानुना लिङ्गोपाधिना ब्रह्मचिज्जीवतामागता सती
 भूततन्मात्रशब्दितदेहेन्द्रियादिवलनाक्रमात् हे अङ्ग, मृगी वीरु-
 छता वा कीटदेवासुरादिकं वा भवतीति परेणान्वयः ॥ २६ ॥
 अत एव दृढसूत्रे स्रगिव विश्वं सदसद्भयितं तिष्ठतीत्याह—
 यस्मिन्निति ॥ २७ ॥ विवेके तु तत्सर्वदिक्कालादिपरिच्छेदनि-
 र्मुक्तमेवेत्याह—न तदिति । ते त्वदीयं न । मे मदीयं च न ।
 अन्धमं सदसत्पक्षान्तरालिकमनिर्वचनीयम् ॥ २८ ॥ अत एव
 स्वातन्त्र्यमात्रमेव तत्र मानं न तु लौकिकं मातृमानादि तत्र
 क्रमत इत्याह—अनुभवेति । एवं सर्वविकल्पनेष्वसत्सु अस्य
 स्वातन्त्र्यमात्रमेव कलनां स्वप्रकाशचैतन्यमृते विना अन्यो माता
 अनुभवितान भवति । या तु लौकिकी फलन्त्युरवो व्यवहारविभवा
 अस्याः सक्रशात्तयाविधा प्रमाणमाला सा वारिणि वह्निरिव तत्र
 स्थितिं नोपयाति । तत्र त्रिपुटीमात्रस्य बाधादित्यर्थः ॥ २९ ॥ उप-
 देयान्तरापरिकेपं दर्शयन्तीश्वरः स्वोपदिष्टार्थमाशिषापि वसिष्ठ-
 मनुश्रुत्योपदेशमुपसंहस्योत्तस्यावित्याह—यथेति ॥ ३० ॥ ततार

तस्मिन्गते त्रिभुवनाधिपताबुमेशे
स्थित्वा क्षणं तदनु संस्मृतिपूर्वमेव ।

अङ्गीकृतं नवपवित्रधिया मयात्म-
देवार्चनं शमवतैव जिहासितं तत् ॥ ३२

ह्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० परमात्माभिधानं नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः ४३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एतदुक्तं परं तेन स्वयमेव च वेदयद्दम् ।
राम त्वमपि जानीषे यथेदं समवस्थितम् ॥ १
यत्रालीकमलीकेन किलालीके विलोक्यते ।
तस्यां संसारमायायां किं सत्यं किमसन्मयम् ॥ २
यथा येन विकल्पेन यद्विकल्पेन कथ्यते ।
तथा तेनात्मकल्पेन नगताऽप्यनुभूयते ॥ ३
यथा द्रवत्वं पयसि यथा स्पन्दो नभस्वति ।
यथा नभसि शून्यत्वं तथा सर्गत्वमात्मनि ॥ ४
ततः प्रभृति तेनैव क्रमेणार्चनमात्मनः ।
अद्य यावद्गतव्यग्रः कुर्वन्नहमवस्थितः ॥ ५
अनेनार्चाविधानेन मयेमे राम वासरः ।
अखिन्नेनातिवाह्यन्ते व्यवहारपरा अपि ॥ ६
यथाप्राप्तैः क्रियाचारकुसुमैरात्मनोऽर्चनम् ।
व्युच्छिन्नमपि व्युच्छिन्नं न कदाचिदहर्निशम् ॥ ७
ग्राह्यग्राहकसंबन्धे सामान्ये सर्वदेहिनाम् ।
योगिनः सावधानत्वं यत्तदर्चनमात्मनः ॥ ८

दृष्ट्यानया रघुपते सङ्गमुक्तेन चेतसा ।
संसारविरलारण्ये विहरास्मिन्न खिद्यसे ॥ ९
दुःखे महति संप्राप्ते धनबन्धुवियोगजे ।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य विचारं कुरु सुव्रत ॥ १०
सुखदुःखे न कर्तव्ये धनबन्धूदयक्षये ।
एवंप्राया एव सर्वा नित्यं संसारदृष्टयः ॥ ११
जानास्येव गतिं चित्रां विषयाणां प्रमाथिनीम् ।
यथायान्ति यथा यान्ति यथा परिभवन्ति च ॥ १२
एवमेव प्रवर्तन्ते प्रेमाणि च धनानि च ।
एवमेवावहीयन्ते निमित्तैरविचारितैः ॥ १३
न तास्तव न तासां त्वं निर्मलान्तर्जगत्क्रियाः ।
इदमित्थं जगत्किंचित्किं मुधा परितप्यसे ॥ १४
त्वमिहासि जगद्रूपं चिन्मात्रवितताकृते ।
निजावयवकावृत्तौ कः क्रमो हर्षशोकयोः ॥ १५
तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत् ।
अतस्तव कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ १६
इति चिच्चक्रचाञ्चल्ये चिन्मये जगदम्बुधौ ।
तरङ्गजाले चाम्मोधौ कः क्रमो हर्षशोकयोः ॥ १७

पुष्टवे ॥ ३१ ॥ पूर्वमेव शमवता मया तस्य श्रीगुरोरी-
श्वरस्यानुस्मृतिपूर्वकमेव तदुपदिष्टं नित्यापरोक्षदेवार्चनं नवया
परिष्कृतया श्रद्धादिपवित्रया च धिया मयानुष्ठेयत्वेनाङ्गीकृतं
तत्प्राक्तनं जडदेवार्चनं जिहासितं चेत्पर्यः ॥ ३२ ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वाधे पर-
मात्माभिधानं नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इह श्रुत्वा सवैराग्यं रामः स्वात्मशिवार्चनम् ।

प्रबुद्धः कृतकृत्यं स्वं तत्प्रतिष्ठमवर्णयत् ॥ १ ॥

ईश्वरोपदिष्टं तत्त्वदर्शनपर्यवसितं स्वात्मशिवार्चनं श्रीरामस्य
श्रद्धातिशयसिद्धये प्रशंसन्स्वयमपि तदेव पुनरुपदिशति—एत-
दित्यादिना । परं सर्वोत्कृष्टम् । इदं जगत्तत्त्वम् ॥ १ ॥ यत्र
मायायां अलीके भ्रमे अलीकोपाधिषट्तितादलीकेन जीवेन
अलीकमसदेव जगद्विलोक्यते ॥ २ ॥ तत्र कविकल्पितेन मेरु-
त्वेन राजादेर्वर्णने तथानुभवो दृष्टान्त इत्याह—यथेति । विविधं
कल्पयतीति विकल्पेन येन कविना यस्मिन् राजादौ मेवादिवि-
विधभावकल्पनं यद्विकल्पस्तेन काव्यरचनया यथा यथा कथ्यते
तथा तथा श्रुत्वा आत्मानं कल्पयतीत्यात्मकल्पो राजादित्वेन
स्वस्मिन्नगता मेरुता कल्पवृक्षता वाप्यनुभूयते । कथमन्यथा
काव्यार्थानुभवचमत्काराखादत्तस्य बहुवित्तलभमानादिकं च

कवेः स्यादिति भावः ॥ ३ ॥ विविधकल्पना चाज्ञातस्यात्मनः
स्वभाव एवेत्याशयेन दृष्टान्तान्तराण्याह—यथेति ॥ ४ ॥ एवं
स्वाभाविकस्यैव विकल्पाध्यारोपस्यार्चनत्वचिन्तनं तदाप्रभृत्यद्य-
पर्यन्तं कुर्वन्नेव स्थित इत्याह—तत इति ॥ ५ ॥ ६ ॥ सुषुप्ति-
काले व्युच्छिन्नमपि कदापि न व्युच्छिन्नम् । तदापि सुखमह-
मस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमित्युत्थितप्रतिसंधानहेत्वविद्यावृत्ति-
पुष्पत्रयार्चनसङ्गावादिति भावः ॥ ७ ॥ तर्ह्यज्ञानामपि तादृश-
शिवार्चनं सदैवास्तीति कस्तव तेभ्यो विशेषस्तत्राह—ग्राह्येति ।
सावधानत्वं विशेष इत्यर्थः ॥ ८ ॥ सा च सावधानता आसङ्ग-
त्याग एवेति दर्शयन्नर्चने दृष्टफलबाहुल्यकीर्तनेन रामं प्रवर्त-
यति—दृष्टेति ॥ ९ ॥ त्यक्तस्यासङ्गस्य पुनरनुत्पादे विचार-
दार्ढ्यं हेतुरित्याह—दुःखे इति ॥ १० ॥ सुखदुःखे हर्षवि-
षादौ । एवंप्राया ईदृशा नश्वरा एव ॥ ११ ॥ प्रथममायान्ति
ततो यान्ति । स्वव्यसनासङ्गेन पुरुषं परिभवन्ति च ॥ १२ ॥
अविचारितैरतर्कितैः ॥ १३ ॥ हे निर्मल, ता जगत्क्रियास्तवा-
न्तर्न तासां त्वमन्तर्न किंचित्तुच्छमेव ॥ १४ ॥ यदि तु जग-
तस्तुच्छतां नेच्छसि तर्ह्यस्मैव जगादिति पश्य । तथादर्शनेऽपि
तव बन्धादिवियोगे स्वावयवपरिवर्तन इव न हर्षशोकप्रसक्ति-
रित्याह—त्वमिति ॥ १५ ॥ १६ ॥ इति उक्तीत्या चिद्रूपे

चिदेकतानतामेत्य सौषुप्तीमागतः स्थितिम् ।
 अद्यप्रभृति राम त्वं तुर्यावस्थात्मको भव ॥ १८
 समः समसमाभासो भास्वद्रपुरुदारधीः ।
 तिष्ठामाचारतो नित्यं परिपूर्ण इवार्णवः ॥ १९
 एतत्त्वं श्रुतवान्सर्वं स्थितस्त्वं परिपूर्णधीः ।
 यदिच्छसीतरत्प्रष्टुं तत्पृच्छ रघुनन्दन ॥ २०
 यत्पृष्टं प्रथमे कल्पे तदद्य परिचोदय ।
 श्रीराम उवाच ।
 इदानीं संशयो ब्रह्मन्विनिवृत्तो विशेषतः ॥ २१
 ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं जाता तृप्तिरकृत्रिमा ।
 न मुनेऽस्ति मलं द्वित्वं न चेत्यं न च कल्पनम् ॥ २२
 तदा ममाभूदज्ञानं प्रशान्तमधुना तु तत् ।
 कलङ्क आत्मनोऽस्तीति तदज्ञानवशेन या ॥ २३
 भ्रान्तिरासीदिदानीं सा निवृत्ता त्वत्प्रसादतः ।
 न जायते न म्रियते न चैवात्मा कलङ्कितः ॥ २४
 सर्वं च खल्विदं ब्रह्ममयमित्युदितोऽस्म्यलम् ।
 प्रश्नेभ्यः संशयेभ्यश्च वाञ्छितेभ्यश्च सर्वतः ॥ २५
 शुद्धं मे निर्मलं चेतस्त्वष्ट्रा यन्त्रभ्रमादिषु ।
 सर्वाचारोपदेशेषु प्राप्तप्रोक्तेषु साधुभिः ॥ २६
 निराकाङ्क्षी स्थितोऽस्म्यन्तः सुमेरुः कनकेष्विव ।
 न तदस्त्यस्ति यत्राशा न तदस्ति यदीप्सितम् ॥ २७

न तदस्ति यदादेयं हेयं मध्यं चराचरे ।
 इदं हेयमुपादेयमिदं सदिदमन्यत ॥ २८
 इति चिन्ताभ्रमः शान्तो निपुणं परमो मुने ।
 न स्वर्गमभिवाञ्छामि द्वेषि चापि न रौरवम् ॥ २९
 आत्मन्येव हि तिष्ठामि मन्दराद्रिरिवाभ्रमः ।
 कणशः कीर्णत्रिजगत्क्षीरसागरसंसृतिः ॥ ३०
 विश्रान्तश्चिरसंभ्रान्तो निर्भ्रमो राम मन्दरः ।
 अवस्तिवदमिदं वस्तु पश्येति कलनास्त्यलम् ॥ ३१
 हृदि तस्य कुसंदेहजालेन ज्वलिताधिकम् ।
 इदमित्थं जगदिति ज्ञातं येन मुनीश्वर ॥ ३२
 स यत्र याति कार्पण्यं जगतस्तत्र लभ्यते ।
 विचित्राकुलकल्लोलाज्जडाहृत्तिविवर्जितात् ॥ ३३
 त्वत्प्रसादेन भगवंस्तीर्णाः स्यो भवसागरात् ।
 संपदामवधिर्ज्ञातो दृष्टः सीमान्त आपदाम् ॥ ३४
 सर्वसारेऽप्यदीनाः सः पूर्णाः सः परमेश्वर ।
 ययावमेवामपरैर्दलितशामतल्लजम् ।
 संसारसागरे सम्यग्वीरतामागतं मनः ॥ ३५
 परिगलितविकल्पतामुपेतं
 प्रगलितवान्छमदीनसारसत्त्वम् ।
 त्रिजगति यदतिप्रसन्नरूपं
 प्रमुदितमन्तरनुत्तमं मनो मे ॥ ३६

इत्यार्षे श्रीवा० रामायणे वाल्मीकीये दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० विश्रान्तिवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

जगच्चक्राख्ये ॥ १७ ॥ लकार्चनस्य परमकाष्ठाया रामं
 स्थापयति—चिदेकतानतामिति ॥ १८ ॥ स्वयं समः सर्व-
 वैषम्यनिर्मुक्तः । समेन ब्रह्मणा समा ऐकरस्यापञ्चा जगदाभासा
 यस्य ॥ १९ ॥ २० ॥ प्रथमे कल्पे विचारारम्भे वैराग्यप्रकरणे
 त्वया यत्पृष्टं ये प्रश्नाः कृताख्येषु अद्य किञ्चिदवशिष्टं चेदस्ति
 तर्हि तत्परिचोदय पृच्छ ॥ २१ ॥ मलमज्ञानम् । द्वित्वं जीव-
 ब्रह्मभेदः । कल्प्यते येन तत्कल्पनं मनः ॥ २२ ॥ २३ ॥
 ॥ २४ ॥ ब्रह्मैव ब्रह्ममयं ब्रह्मविवर्तो वा । वाञ्छितेभ्यश्च
 निवृत्तमिति शेषः ॥ २५ ॥ त्वष्ट्रा यन्त्रे आरोप्य भ्रमणं भ्रम-
 स्तल्लक्षितं तर्कणं तस्मात्सूर्यविम्बमिव शुद्धं भास्वरम् । साधुभिः
 प्राप्तेभ्य उपगतेभ्य शिष्येभ्यः प्रोक्तेषु सर्वेषामाचाराणां साध-
 नानामुपदेशेषु निराकाङ्क्षी ॥ २६ ॥ चिरलभ्ये आशा ।
 अनुपदलभ्ये ईप्सोति भेदः ॥ २७ ॥ मध्यमुपेक्षम्
 ॥ २८ ॥ रौरवं नरकविशेषं चापि न द्वेषि ॥ २९ ॥
 कणशः परमाणुको विभज्य कीर्णानि विक्षिप्ताति विनाशिता-
 नीति यावत् त्रिजगन्ति येन तथाविधस्य क्षीरसागरस्य
 संसृतिः सर्वतो व्याप्तिरिव व्याप्तिर्यस्य । औत्प्रेक्षिकमेतत् ।
 अथवा कणशः प्रसृतैर्यशःक्षीरलवैः कीर्णानि सिक्कानि
 त्रिजगन्ति यया तथाविधामनुवंक्षीरसागरे संसृतिर्व्यवहारो
 यस्य तथाविधश्चिरसंभ्रान्तो रामलक्षणो मन्दराचलो बोधा-

यतोत्पत्त्या कृतार्थः । सांप्रतं विश्रान्त उपरतभ्रमो वृत्त इति परे-
 णान्वयः ॥ ३० ॥ इदं जगत् इत्थं यथा दृष्टप्रकारमेव नान्य-
 तत्त्वमस्तीति येन मूढेन ज्ञातं तस्य हृदि कुसंदेहजालेन ज्वलि-
 तेव अधिकं संतापिनी इदं वस्तु इदमवस्तु इति कलना अल-
 मखिलं हे मुनीश्वर, त्वमिति मदुक्तार्थं खानुभवसंवादाय पश्येति
 परेणान्वयः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ स वादशमूढपुरुषो यत्र यस्मिन् धना-
 दिविषये कार्पण्यं याति जगतः संबन्धि तदस्तु तत्त्वदृशा न
 लभ्यतेऽस्माभिरिति शेषः । यतो वयं विचित्रा अज्ञानाया-
 दिलक्षणा आकुलाः कल्लोलाः षड्भूमयो यस्यैस्त्वाविधाच्छुद्धचि-
 दाकारवृत्तिविवर्जिताज्जडावसागरात्त्वत्प्रसादेन तीर्णाः सा इति
 परेणान्वयः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ सर्वसारे भूमानन्दविषयेऽपि नित्यल-
 ङ्घत्वाददीनाः सः । अस्मन्मनःसंसारलक्षणे समरे दलितः
 आशामतल्लजो येन तथाविधं सत् परैरभेदां सम्यग्वीरतां
 ययौ ॥ ३५ ॥ पूर्णं मनःस्थितिमेव वर्णयन्नुपसंहरति—परि-
 गलितेति । अदीनसारमकार्पण्यदृढं सत्त्वं स्थैर्यं यस्य । त्रिजगति
 प्रसिद्धानि पूर्णचन्द्रक्षीरसागरशरदाकाशादीनि यानि प्रसन्नरू-
 पाणि तान्यतिक्रान्तमतिप्रसन्नरूपम् । सापेक्षसमासद्वन्द्वसः ।
 अन्तःप्रमुदितमत एवानुत्तमं मे मनः स्थितमित्यर्थः ॥ ३६ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 विश्रान्तिवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

१. लक्षणं इति पुदं कविना पठ्यते.

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ४४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

केवलेनेन्द्रियैः सार्धं वर्तमानार्थवर्तिना ।
असंगमेन मनसा यत्करोषि न तत्कृतम् ॥ १
यथा प्राप्तिक्षणे वस्तु प्रथमे तुष्टये तथा ।
न प्राप्त्येकक्षणादूर्ध्वमिति को नानुभूतवान् ॥ २
वाञ्छाकाले यथा वस्तु तुष्टये नान्यदा तथा ।
तस्मात्क्षणसुखे सक्तिं वालो बध्नाति नेतरः ॥ ३
वाञ्छाकाले तुष्टये यत्तत्र वाञ्छैव कारणम् ।
तुष्टिस्त्वतुष्टिपर्यन्ता तस्माद्वाञ्छां परित्यज ॥ ४
यदि तत्पदमाप्नोऽसि कदाचित्कालपर्ययात् ।
तदहंभावनारूपे न मङ्गल्यं त्वया पुनः ॥ ५
आत्मज्ञानाचलस्याग्रे राम विश्रान्तवानसि ।
अहंभावमहाश्वध्वे न पुनः पातमर्हसि ॥ ६
यत्स्मृतानन्तसदृष्टैर्ज्ञत्वमेरुशिरःस्थितेः ।
पुनर्गर्भानुकारान्तःपाताले पतनं कुतः ॥ ७
दृश्यते ते स्वभावोऽयं समतासत्यतामयः ।
मन्ये क्षीणविकल्पोऽसि जातोऽसि हतकालिकः ॥ ८
स्वभावे संस्थितो राम इत्यावेदयतीव मे ।
सौम्य पूर्णार्णवप्रख्या समता निर्मला तव ॥ ९

इहासङ्गक्षयोपाया वाञ्छात्यागादयः पुनः ।

मनःक्षयान्ता गुरुणा ज्ञानदाढ्यार्थमीरिताः ॥ १ ॥

रामेण स्वस्य तत्त्वबोधविश्रान्तौ वर्णितायामपि तत्परिपाका-
त्प्राक् प्रच्युतिर्मा भूदिति शिलानिखातस्थूणादाढ्यार्थं संधिकील-
परम्परामिव जीवन्मुक्तलक्षणभूतां प्रागुक्तसाधनपरम्परामेव
प्रतिष्ठापयिष्यन् श्रीवसिष्ठः प्रागुक्ते यथाप्राप्तव्यवहारोपभोगादि-
लक्षणे शिवार्चनेऽपि 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवानृताः'
इति न्यायेन प्रमादाद्विषापरानिष्ठादिप्रसक्तेरवर्जनाद्भोगस्या-
नर्थहेतुत्वाच्च स्यादेव पुनर्जननाद्यनर्थ इत्याशङ्कां वारयन्नाह—
केवलेनेति । केवलेन रागादिरहितेन, अतएव असंगमेन
कर्तृत्वाभिमानलक्षणक्रियासंगमशून्येन ॥ १ ॥ ननु विष-
याणां तुष्टिजनकत्वनियमात्कथं तेषु रागस्त्यक्तुं शक्य इत्या-
शङ्क्याह—यथेति । प्राप्तिक्षणातिरिक्तपूर्वोत्तरकालयोस्तेषु तुष्टि-
हेतुत्वव्यभिचाराच्चायं नियम इति भावः ॥ २ ॥ अतएव
विरानर्थे क्षणिकसुखे आसन्नोऽपि न युक्त इत्याह—वाञ्छेति ।
वाञ्छापदेन लाभो लक्ष्यते ॥ ३ ॥ यदा वस्तुलाभकृतः क्षणि-
कोऽपि वाञ्छानिरोधः सुखहेतुस्तदा आत्यन्तिकवाञ्छो-
च्छेदो निरतिशयानन्दहेतुरित्यर्थादागतम्, तथाच वाञ्छैवा-
नर्थ इत्याशयेनाह—वाञ्छाकाले इति । तुष्टिरानन्दः । अतु-
ष्टिस्तुष्टिविरोधिवाञ्छैव पर्यन्तो विच्छेदो यस्यास्तथाविधा ॥ ४ ॥
ननु पूर्णानन्दं पदं प्राप्नोऽहं तस्मै मह्यं पुनर्विषयवाञ्छात्यागो-
यो० वा० १११

आशा यातु निराशत्वमभावं यातु भावनम् ।
अमनस्त्वं मनो यातु तवासङ्गेन जीवतः ॥ १०
यां यां वस्तुदृशं यासि तस्यां तस्यामवस्थितम् ।
सत्तासामान्यरूपेण ब्रह्म बृंहितचिद्धनम् ॥ ११
अज्ञातात्मा निबद्धोऽसि विज्ञातात्मा न बध्यसे ।
राम त्वं स्वात्मनात्मानं बोधयस्व बलादतः ॥ १२
यत्र न खदते वस्तु खदते च यथागतम् ।
अवासनत्वं तद्विद्धि साम्यमाकाशकोमलम् ॥ १३
वासनारहितैरन्तरिन्द्रियैराहर क्रियाः ।
न विक्रियामवाप्नोषि खवत्क्षोभशतैरपि ॥ १४
ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं त्रयमेकतयात्मनि ।
शान्तात्मानुभवाऽभव्यं न भूयो भवभागसि ॥ १५
चित्तोन्मेषनिमेषाभ्यां संसारप्रलयोदयौ ।
वासनाप्राणसंरोधादनिमेषं मनः कुरु ॥ १६
प्राणोन्मेषनिमेषाभ्यां संसृतेः प्रलयोदयौ ।
तमभ्यासप्रयोगाभ्यामुन्मेषरहितं कुरु ॥ १७
मौख्योन्मेषनिमेषाभ्यां कर्मणां प्रलयोदयौ ।
तद्विलीनं कुरु बलाद्गुरुशस्त्रार्थसंयमैः ॥ १८
यथा वातरजःसङ्गस्पन्दात्स्वं भाववेदनम् ।
तथा चित्तश्चेत्यतया स्पन्दादिदमुपस्थितम् ॥ १९

पदेशस्ते किमर्थस्तत्राह—यदीति । पुनः कालान्तरेऽप्यहंभाव-
पङ्के निमज्जनं मा भूदिति तत्पदस्थितिदाढ्यार्थः पुनरुपदेश
इत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ सत्यपि दाढ्ये पुनर्मज्जनं किं नाशङ्कते
तत्राह—यदीति । यद्यस्माद्धेतोः गर्भो मातृकुक्षिगतः पिण्ड-
स्तमनुसृत्य करोति जन्माद्यनर्थमिति गर्भानुकारोऽहंभावस्त-
लक्षणेऽन्तःपाताले । दृढीभूतज्ञानस्यावश्यमविद्यानर्थबीजोच्छे-
दित्वादिति भावः ॥ ७ ॥ अन्येषामुपकाराय वा मयेदमुक्तं
तव त्वज्ञानं नष्टमिति मया समतादिलिङ्गैर्लक्षितमेवेत्याश-
येनाह—दृश्यत इति । कालिका अविद्या ॥ ८ ॥ ९ ॥
न सज्जनमसङ्गस्तेन जीवतः । अनुमोदने आशिषि वा
लोद ॥ १० ॥ न मनोरथभङ्गाच्चिराशत्वाद्याशसे किंतु सर्वतो
निरतिशयानन्दब्रह्मलाभादित्याशयेनाह—यां यासिति ॥ ११ ॥
बलात् मननादिदाढ्यात् ॥ १२ ॥ इदानीं निर्वासनत्वस्य स्वानु-
भवगम्यं लक्षणमाह—यत्रेति । वस्तु भोगसुखम् । यथागतं
प्रारब्धोपनीतं दुःखमपि ॥ १३ ॥ खवत् आकाशवत् ॥ १४ ॥
अभव्यं दुःखाद्यपि त्रिपुट्येकीकारेणात्मतया अनुभव । तेन
तस्य प्रतिकूलता शाम्यतीति भावः ॥ १५ ॥ दुःखादौ प्राति-
कूल्यविकल्पनं मनःकृतमिति तदेव वा भुशुण्डोक्तयुक्त्या निरो-
द्धव्यमित्याशयेनाह—चित्तेति ॥ १६ ॥ १७ ॥ अज्ञानमेव
वा प्रवृत्तिद्वारानर्थनिदानमिति तदेव ज्ञानदाढ्येन निरसनीयमि-
त्याह—मौख्येति ॥ १८ ॥ चित्तोन्मेषनिमेषाभ्यामिति यदुक्तं

दृश्यदर्शनसंबन्धस्पर्शदेनेयं जगद्भवति ।
स्फुरत्यालोककुड्यादिसंगजा घर्णधीरिव ॥ २०
दृश्यदर्शनसंबन्धस्पर्शदाभावे न जायते ।
वेदना भवदामासा चित्रपुंसामिवाशये ॥ २१
चित्स्पर्शन्दोत्थिता माया तदभावे विलीयते ।
पयःस्पर्शन्दोत्थिता वीचिस्तदभावे विनश्यति ॥ २२
त्यागेन वासनांशस्य बोधाद्वा प्राणरोधनात् ।
चित्ते निस्पन्दतां याते कुतः स्पन्दस्य संभवः ॥ २३
असंविच्छिन्नमात्रेण याति चित्तमचित्तताम् ।
प्राणानां वा निरोधेन तदेव च परं पदम् ॥ २४
दृश्यदर्शनसंबन्धे यत्सुखं पारमार्थिकम् ।
तदन्तैकान्तसंविद्या ब्रह्मादृष्ट्या मनःक्षयः ॥ २५
यत्र नाभ्युदितं चित्तं तत्तत्सुखमकृत्रिमम् ।
न स्वर्गादौ संभवति मरौ हिमगृहं यथा ॥ २६
चित्तोपशमजं स्फारमवाच्यं वचसा सुखम् ।
क्षयातिशयनिर्मुक्तं नोदेति न च शाम्यति ॥ २७

बोधाद्भवति चित्तान्तो दुर्बोधाच्चित्तवेदिता ।
बालवेतालवत्तेन मोहश्रीर्यनतां गता ॥ २८
विद्यमानमपि ह्येतच्चित्तं बोधाद्विलीयते ।
सदप्यसदिवामाति ताम्रं हेमीकृतं यथा ॥ २९
ज्ञस्य चित्तं न चित्ताख्यं ज्ञचित्तं सत्त्वमुच्यते ।
नामार्थान्यत्वमाकिञ्चित्तं बोधात्ताम्रसुवर्णवत् ॥ ३०
न संभवति चित्तत्वं तेन तत्प्रविलीयते ।
भ्रमः शाम्यति बोधेन नामावो विद्यते सतः ॥ ३१
अवस्त्वेव विकल्पात्म चित्तादि शशभृद्भवत् ।
सर्वं तदात्मनस्तस्मात्तद्वि बोधाद्विलीयते ॥ ३२
चित्तं सत्त्वं समायातं किञ्चित्कालं जगत्स्थितौ ।
विहृत्य तुर्यावस्थायां तुर्यातीतं भवत्यतः ॥ ३३
ब्रह्मैव भूरिभवनध्रुमविभ्रमौघै-
रित्यं स्थितं सममनेकतयैकमेव ।
सर्वात्म संभवति नेतरदङ्ग किञ्चि-
चित्तादिकं च न हृदीव हि संनिवेशः ॥ ३४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वात्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चित्तसत्तासूचनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

तदुद्यन्तेन स्फुरत्यति—यथेत्यादिना । यथा स्वमाकाशं
वातस्य रजसां च सङ्घात्स्पन्दोच्च मलिनचलनादिस्वभाववेदन
संपन्नं तथा चित्तचित्तलक्षणात्स्पन्दाच्चेत्यतया इदमनर्थजातमु-
पस्थितमित्यर्थः ॥ १९ ॥ उक्तेऽर्थे अन्वयव्यतिरेकौ दर्शयति—
दृश्येति द्वाभ्याम् । नानाच्छिद्रप्रविष्टसौरालोककुड्यसंबन्धजा
चित्रवर्णधीरिव ॥ २० ॥ भवतीति भवजगत्तदामासा । यथा
चित्रलिखितपुंसामाशये हृदि भावनैव न जायते तद्वत् ॥ २१ ॥
॥ २२ ॥ स्पन्दस्य कौटस्थ्यच्युतिरूपस्य ॥ २३ ॥ ह्यर्थे
वशब्दः ॥ २४ ॥ बोधाद्वा इति मध्यमोपायमुक्तं विवृणोति—
दृश्येति । विषयेन्द्रियसंबन्धे यत्सुखं प्रसिद्धं तत्परमार्थतो ब्रह्म-
सुखमेव । 'एतस्यैवानन्दस्थान्यानि भूतानि मात्रासुपजीवन्ति'
इति श्रुतेः । अतस्तस्यान्तः परमावधिर्मात्राणानन्दमारभ्योत्तरोत्तरं
शतशुणोत्कर्षेण श्रुत्या दर्शितः 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य
मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वाश्च विमेति कदाचन' इति ।
तदेकान्तं तन्मात्रपूर्णतातत्संवित्तिरूपया ब्रह्मादृष्ट्या मनःक्षयः
सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ २५ ॥ तत्सत्सुखं ब्रह्मसुखं तच्च स्वर्गादिभोग-
भूमौ न संभवति । तत्र चित्तस्य कामासृशदिकलुपत्वादित्यर्थः ।
हिमं शिशिरजलं तस्य गृहं सरः ॥ २६ ॥ न वाच्यं वक्तुम-
शक्यम् । सानुभवैकगम्यमित्यर्थः ॥ २७ ॥ चित्तस्यान्तो नाशः ।
यतो दुर्बोधाच्चान्तिवशादेव चित्तवेदिता चित्तसद्भावप्रतीतिः,
बोधेन तु आन्तिर्नश्यतीति युक्तचित्तनाश इति भावः । बाल-
कल्पितवेतालवत् । तेन दुर्बोधेन ॥ २८ ॥ तद्गुणानिनामपि

व्यवहारदर्शनाच्चित्तमस्त्येव तत्कथं ज्ञानेन नष्टम्, सत्त्वनष्टत्व-
योर्युगपदेकत्र विरोधात्तत्राह—विद्यमानमपीति ॥ २९ ॥
नामतोऽर्थतत्त्वान्यत्वं भजत इत्यन्यत्वमाह ॥ ३० ॥ आन्ति-
धीजत्वमेव चित्तस्य चित्तता सा बोधेन प्रविलीयत इत्यर्थः । घटा-
दिनाशेऽपि कपालाद्यात्मना परिक्षेपदर्शनात्सतः स्वरूपेण नाशः
क्वप्यप्रसिद्ध एवेत्याह—नाभाव इति ॥ ३१ ॥ वस्तुबोधस्या-
वस्तुकल्पिताशमाप्रवाधकत्वप्रसिद्धेरपि न सत्त्वांशवाधकत्वप्र-
सक्तिरित्याह—अवस्त्वेवेति । चित्तादि सर्वं तत् पारमार्थिक-
स्यात्मनो निवर्त इति शेषः ॥ ३२ ॥ तर्हि किं जीवन्मुक्तचित्तस्य
व्यवहारक्षमावस्था वास्तव्येव, नेत्याह—चित्तमिति । विहार-
समाधिसाक्षात्कारपर्यन्ता तदवस्था न वास्तवी किंतु प्रारब्ध-
प्रतिबद्धाविद्यालेशकृतवाधितानुश्रुतिः । विदेहकैवल्याभिर्भूततुर्या-
तीतावस्थैव तस्य वास्तवीति भावः ॥ ३३ ॥ तत्तुर्यातीतं ब्रह्म
यावन्न ज्ञातं तावच्चित्तजगदादि मिथ्यावेषेण स्थितं सर्वात्मकं
भवति न चित्तादिकं नाम किञ्चिदितरद्वस्तुन्तरमस्तीति ज्ञान-
मात्रेण तन्मात्रस्वभावपरिक्षेपचित्तादेर्युक्त एवेत्याशयेनाह—
ब्रह्मैवेति । यथा हृदि मनोरथपरिकल्पितप्राप्तादोषवनवाप्यादि-
संनिवेशस्तत्रासमावेशादेव नास्ति तद्वत्परमसूक्ष्मे अच्छिद्र-
विदेकरसघने ब्रह्मण्यपि जगदसमावेशादेव नास्तीत्यर्थः ॥ ३४ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
चित्तसत्तासूचनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ४५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अत्रेमामवबोधाय विसयोलासकारिणीम् ।
 अपूर्वां चैव संक्षेपाद्राम रम्यां कथां शृणु ॥ १ ॥
 योजनानां सहस्राणि विपुलं विमलं स्फुटम् ।
 युगैरप्यजरद्रूपमस्ति बिल्वफलं महत् ॥ २ ॥
 अविनाशरसाधारं सुधामधुरसारवत् ।
 पुराणमपि बालेन्दुदलमार्दवसुन्दरम् ॥ ३ ॥
 व्यूहमध्यमहामेरुं मन्दराद्रिरिवाचलम् ।
 महाकल्पान्तवात्याया अपि वेगैरचालितम् ॥ ४ ॥
 योजनायुतकोटीनां कोटिलक्षशतैरपि ।
 वैपुल्येनापरिच्छेद्यं मूलमाद्यं जगत्स्थितेः ॥ ५ ॥
 यस्य बिल्वफलस्योच्चैर्ब्रह्माण्डानि समीपतः ।
 हरन्ति लीलां शैलाधो राजिकाकणपद्भतेः ॥ ६ ॥
 स्यन्दमानरसापूरां स्वाद्वीं रसचमत्कृतिम् ।
 यस्यातिशेते नो कश्चिदपि राघव षड्रसः ॥ ७ ॥
 न कदाचन पाकेन पातं तेन समेति यत् ।
 सदैव पक्कमप्यङ्ग जरसा यन्न घ्राण्यते ॥ ८ ॥
 ब्रह्मविष्ण्वन्दुरुद्राद्या जरठाः केचिदेव न ।
 यस्योत्पत्तिं विजानन्ति मूलं वा वृन्तमेव च ॥ ९ ॥
 अदृष्टाङ्गुरवृक्षस्य त्वदृष्टकुसुमाकृतेः ।

स्वानन्दरससंपूर्णं त्रिजगत्कल्पनास्पदम् ।

इह बिल्वफलत्वेन परं ब्रह्मोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

कथां बिल्वख्यानाख्याम् ॥ १ ॥ न जीर्यत इत्यजरद्रूपं
 स्वभावो यस्य ॥ २ ॥ सुधेव सुधापेक्षया वा अतिमधुरसार-
 वत् । बालेन्दोरङ्गुरप्रायात्प्रतिदिनमुपजीयमानानि दलानीव याः
 कलास्तानीव मार्दवेन त्वन्नयनसुखस्पर्शतया सुन्दरम् ॥ ३ ॥
 भुवनव्यूहमध्यगतमहामेरुरिव मेढीभूतम् । मन्दराद्रिरिवाचलं
 दृढम् ॥ ४ ॥ प्रागुक्तं सहस्रपदमसंख्यपरमिति व्याचष्टे—
 योजनेति । जगतः स्थितेर्विधारणस्य नियमनस्य च मूलम् ॥ ५ ॥
 हरन्ति वहन्ति । राजिका सूक्ष्मसर्पपास्तकणानां पद्भतेः पङ्केः
 ॥ ६ ॥ षड्रसः षडिन्द्रियभोग्यब्रह्मलोकान्तसुखलवः प्रसिद्धो
 वा ॥ ७ ॥ तेन तादृशरसयुक्तेनापि पाकेन यत् पातं पतनं न
 समेति । तर्हि किं स्वस्थान एव जीर्यति, नेत्याह—सदैवेति
 ॥ ८ ॥ जरठाश्चिरायुषः ॥ ९ ॥ १० ॥ विततमतिविस्तीर्णं
 यत्स्थौल्यं बृहत्ता तच्छालिनः ॥ ११ ॥ समस्तेषु फलेषु पुरुषा-
 र्थेषु च सारस्य श्रेष्ठस्य । अष्टि बीजं नास्ति ॥ १२ ॥ शिलाया
 अन्तःप्रदेश इव नीरन्ध्रो घनः । 'विज्ञानघन एव' इति श्रुतेः ।
 स्यन्दमानेन्दुबिम्बवत् स्वसंविदामृतमिवास्वाद्यं निरतिशयानन्द-
 रसं स्यन्दमानः ॥ १३ ॥ कोश इति । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि
 भूतानि मात्रासुपजीवन्ति' इति श्रुतेः । आत्मनो मानुषान-
 न्दादिहैरण्यगर्भानन्दान्तकर्मफलस्थितेर्ब्रज्जा सारः ॥ १४ ॥

अस्तम्भमूलशाखस्य फलस्यास्य महाकृतेः ॥ १० ॥
 एकपिण्डघनाकारविततस्थौल्यशालिनः ।
 यस्योत्पत्तिविकारादिपरिणामो न दृश्यते ॥ ११ ॥
 समस्तफलसारस्य फलस्यास्य महाकृतेः ।
 न मज्जा नाष्टि विततो निर्विकारो निरञ्जनः ॥ १२ ॥
 शिलान्तरिव नीरन्ध्रः स्यन्दमानेन्दुबिम्बवत् ।
 रसं स्वसंविदास्वाद्यं स्यन्दमान इवामृतम् ॥ १३ ॥
 कोशः सकलसौख्यानां शीतलालोककारकः ।
 शैलाभोऽमृतपिण्डाभो मज्जा आत्मफलस्थितेः ॥ १४ ॥
 तस्मात्परममज्जा तु यासौ स्वात्मचमत्कृतिः ।
 अनन्तरक्षितो नित्यमनन्यः श्रीफलं गतः ॥ १५ ॥
 स्वसंनिवेशवैचित्र्यमन्यत्वफलतां गताम् ।
 अत्यजन्त्या तथा तन्व्या स्थूलयाप्यतिबालया ॥ १६ ॥
 इयमस्मीति कलनादसदप्यन्यतामलम् ।
 भेदाद्यसंभवदिदं स्वयमुत्पाद्य भावितम् ॥ १७ ॥
 अहंकलासमुदयसमनन्तरमेव सा ।
 वलिताकाशशब्दाङ्गत्रैलोक्यपरमाणुभिः ॥ १८ ॥
 इत्यनुक्रमतो याता संविच्छक्तिस्वरूपताम् ।
 मज्जा प्राक् संनिवेशं स्वं तमेवाप्य समुज्जती ॥ १९ ॥

तस्माद्धैरण्यगर्भानन्दफलादपि परमस्याव्यक्तस्य मज्जा । अनन्तेन
 त्रिविधपरिच्छेदशून्यस्वभावेनैव रक्षितः । स्वात्मकमेव श्रीफलं
 बिल्वं गतः स चानन्यः । अद्वय एवेत्यर्थः ॥ १५ ॥ अनन्यत्व-
 मेवोपपादयितुं चमत्कृतिपदस्वारस्यं प्रकटयति—स्वसंनिवेशो-
 त्यादिना । यतस्तथा स्वात्मचमत्कृत्या स्वाध्यस्तस्यान्यत्वस्य
 भेदजातस्य फलतां परमप्रयोजनतां गतं चिदेकरसमज्जारूपं
 पारमार्थिकं स्वसंनिवेशवैलक्षण्यमत्यजन्त्यैव इदं भेदादि स्वय-
 मुत्पाद्य भावितमिति परेणान्वयः । प्रकारान्तरैरपि तस्याश्चम-
 त्कृतिलोपपादनाय तन्व्येत्यादिविरुद्धविशेषणानि । अणोरणी-
 यस्त्वात्तन्व्या । महतो महीयस्त्वात्स्थूलया । चिरंतनत्वेऽपि
 वृद्धादिविकाराभावादतिबालया ॥ १६ ॥ असतोऽपि भेदस्योत्पा-
 दने को हेतुस्तमाह—इयमिति । इयमहमस्मीति अनिदमि इद-
 न्ताध्यास एव तद्धेतुरित्यर्थः । अन्यथा पृथक्त्वं तदापादकमल-
 मविशामेवंभूतभुवनभेदादिरूपेणोत्पाद्येत्यर्थः । असंभवदित्यनेन
 स्वप्रकाशचिदेकरसे मलस्यैव संभवो नास्ति सुतरां तत्कार्य-
 भेदस्येति द्योत्यते ॥ १७ ॥ स्वोत्पादितैर्भूतभुवनादिभेदैरहंतो-
 त्पादनद्वारा आमिमामिकं संवलनं सा लभत इत्याह—अह-
 मिति । अहंकला अहंकारस्तस्याः समुदयो व्यष्टिसमष्टिरूपेणो-
 द्भवस्तत्समनन्तरम् । आकाशस्तद्गुणः शब्दश्चाङ्गे द्रव्यगुणैकदेशो
 येषां तथाविधैस्त्रैलोक्योपलक्षितव्यष्टिसमष्टिशरीरपरमाणुभिः
 ॥ १८ ॥ स्वस्वरूपापरित्यागेनैवंरूपापत्तिरेवास्या महती आत्म-

संविच्छत्तया तथा तत्र ततस्तरलरूपया ।
 निज एव समे रूपे दृगित्यं संप्रसारिता ॥ २०
 इदं व्योम महानन्तमित्यं कालमयी कला ।
 इयं नियतिरित्युक्ता क्रियेयं स्पन्दरूपिणी ॥ २१
 अयं संकल्पविस्तारस्त्वयमाशान्तरभ्रमः ।
 रागद्वेषस्थितिरियं हेयोपादेयधीरियम् ॥ २२
 इयं त्वत्ता त्वियं मत्ता तत्तेयं संस्थिता स्वयम् ।
 ब्रह्माण्डौघोऽयमूर्ध्वस्थः स्वयमङ्गोर्ध्वमप्यधः ॥ २३
 अयं पुरः पार्श्वतोऽयं पश्चादाराद्वीयसी ।
 इदं भूतं वर्तमानं भविष्यत्त्विदमित्यपि ॥ २४
 इदमन्तःस्थितानल्पकल्पनाम्भोरुहालयम् ।
 ब्रह्माण्डमण्डपापीडक्रीडामण्डपमण्डलम् ॥ २५
 अनन्तकलनातत्त्वपरिपल्लविता हरेः ।
 हृदयजकर्णिका चेयं लोकपद्माक्षमालिका ॥ २६
 इयं कीर्णमहारुद्रगणापूरितकोटरा ।
 दीर्घाभ्रसरणिभ्रान्तध्वंसनेभ्यः प्रभाविनी ॥ २७
 इयं मेघः ककुभ्यत्र जगत्पङ्कजकर्णिका ।
 स्फुरदिन्दुमधूलासलम्पटामरपट्टपदा ॥ २८

इयमुद्दामसौगन्ध्यस्वर्गश्रीपुष्पमञ्जरी ।
 जगज्जरठवृक्षस्य रजोनरकमूलिनः ॥ २९
 इयं च तारार्किजल्का ब्रह्माण्वतटस्थिता ।
 अपारापारपर्यन्ता व्योमलीलासरोजिनी ॥ ३०
 इयं क्रियापरिग्राहा तरङ्गतरलावली ।
 सर्गावर्तविधानस्थभूरिभूतपरम्परा ॥ ३१
 इयत्तया प्रसरिणी क्षणकल्पादिपल्लवा ।
 तेजःकेसरिणी कालनलिनी व्योमपङ्कजा ॥ ३२
 इमा भावविकाराद्या जरामृतिविषूचिकाः ।
 विद्याविद्याविलासाद्या इमाः शास्त्रार्थदृष्टयः ॥ ३३
 इति सा तस्य बिल्वस्य निजमज्जाचमत्कृतिः ।
 संकल्पसंनिवेशान्तरेवैव कृतसंस्थितिः ॥ ३४
 शान्ता स्वस्था निरावाधा सौम्या भावनयोज्झिता ।
 कर्तृत्वमप्यकर्तृत्वं कृत्वाऽकृतमेव संस्थिता ॥ ३५
 एषैकिकैव विविधैव विभाव्यमाना
 नैकात्मिका न विविधा ननु सैव सैव ।
 सत्त्वास्थिता सकलशान्तिसमैकरूपा
 सर्वात्मिकातिमहती चित्तिरूपशक्तिः ॥ ३६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० वित्तोपाख्याने पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः ४६

श्रीराम उवाच ।

भगवन्सर्वसारज्ञ त्वयैषा बिल्वरूपिणी ।

चमत्कृतिरित्यं मया वर्णितेत्युपसंहरति—इतीति । आकिर्व्य-
 वहारसमर्थता तत्त्वतुल्यताम् ॥ १९ ॥ समे निर्विकारे निजे
 रूपे एव इत्थं जगदाकारा दृक् संप्रसारिता ॥ २० ॥ इत्थं च
 विगदादिसर्वमित्येव नान्यदस्याः किंचिदिति द्रष्टव्यमित्याह—
 इदमित्यादिना ॥ २१ ॥ आध्यात्मिकार्था अपीयमेवेत्याह—
 अयमिति ॥ २२ ॥ २३ ॥ लिङ्गमेदः आत्मा ब्रह्मोत्पादिवि-
 शेष्यपदमध्याहृत्य योज्यः । दवीयसी दूरतरा ॥ २४ ॥
 अन्तःस्थिता अनन्ताः कल्पनाम्भोरुहाणामालया जीवा यस्मि-
 स्तथाविधम् ॥ २५ ॥ अनन्तैः कलनातत्त्वैः रचनरदस्यैः
 परितः पल्लविता ॥ २६ ॥ कीर्णैः सर्वतोव्याप्तैर्महारुद्रगणैः
 पूरितकोटरा । अभ्रसरणिराकाशपदवी । ‘अस्मिन्महर्षिर्वेदन्त-
 रिक्षे भवा अधि । नीलग्रीवा । शितिकण्ठाः शर्काः’ इति श्रुते-
 रिति भावः । भ्रान्ता विषयलम्पटाः स्वर्गिणस्तेषां ध्वंसनेभ्य-
 अधःपतनेभ्यो निमित्तेभ्यः प्रभाविनी प्रतापवती, प्रकाशवती
 वा । नक्षत्रपाते नभः पथे प्रभासुवृत्तिदर्शनादित्यर्थः ॥ २७ ॥
 अत्र अस्यामुत्तरस्यां ककुभि दिशि । इन्दुलक्षणस्य अधुन
 उद्गाते अमृतमकरन्दे लम्पटाः अमरलक्षणाः पट्टपदा यस्याम्
 ॥ २८ ॥ रजोगुणकार्यरागादिना नरकैर्दुःखैश्च मूलिनो मूलवतो
 जगज्जरठवृक्षस्य उद्दामसौगन्ध्या स्वर्गश्रीलक्षणा पुष्पमञ्जरी इय-
 मेवेत्यर्थः ॥ २९ ॥ ऊर्ध्वमपारा परितश्चापारपर्यन्ता । व्योम-

महाचिद्धनसत्तेह कथितेति मतिर्मम ॥ १

लीला व्योमाकारा सरोजिनी कमलिनी सरसी वा इयमेवेत्यर्थः
 ॥ ३० ॥ क्रियाः कर्माण्येव परितो ग्राहा यस्याम् । तरङ्गा इव
 तरला मासर्लावली यस्याम् । सर्गः प्रजोत्पादनं तल्लक्षणे आव-
 र्त्तानां विधाने कार्ये तिष्ठतीति तत्स्था भूरिभूतपरम्परा यस्याम्
 ॥ ३१ ॥ इयत्तया प्राण्यायुःपरिमाणेन प्रसरिणी विस्तृता ।
 तेजोभिरग्न्यादित्यचन्द्रादिभिः केसरिणी । व्योमेव पङ्कजं यस्या-
 स्तथाविधा कालनलिनी इयमेव ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ इति वर्णित-
 प्रकाराः सर्वे सा निजमज्जाचमत्कृतिरेव । एवं प्रकारैर्व्यष्टिसम-
 ष्टिसंकल्पसंनिवेशस्यान्तःकृतसंस्थितिः ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ बिल्वा-
 ख्यायिका समाप्य स्वरूपेणैव चितं वर्णयन्नुपसंहरति—
 एषेति । एकत्वसंख्याया अपि द्वैतापादकत्वानैकात्मिका नापि
 विविधा किन्तु सैव एकत्वं सैवैका । वीप्सया सजातीयविजाती-
 यनिवृत्तिर्वा । सकलस्य द्वैतविकल्पस्य शान्त्या समैकरूपा ।
 अनेन स्वगतमेदस्यापि व्यावृत्तिः । अतिमहती ब्रह्मशब्दलक्ष्या
 चित्तिरूपा शक्तिरेवेत्यं व्युत्पादितेत्यर्थः ॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे वित्तोपाख्याने
 पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इह शिल्पिमनोदृष्टपद्मिनीखण्डमण्डितम् ।

शिलोदरमिव ब्रह्म प्रपञ्चाभासमीर्यते ॥ १ ॥

श्रीराम. स्वस्य बिल्वाख्यानतात्पर्यबोधं दर्शयति—भगव-

१ महतीति निरूपशक्तिः इति मुद्रितपुस्तके पाठः.

चिन्मजारूपमखिलमहंतादीदमाततम् ।
न मनागपि भेदोऽस्ति द्वैतैक्यकलनात्मकः ॥ २

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यथा ब्रह्माण्डकूटमाण्डमज्जामेवादिसंस्थितिः ।
तथा चिद्विल्वमज्जेयं ब्रह्माण्डादिजगत्स्थितिः ॥ ३
सृष्टिचिद्विल्वमज्जा स्यात्स्वाधारान्यत्वसंभवे ।
विनाशः सर्वगस्यास्य न चैतत्संभवत्यलम् ॥ ४
चित्तेर्मरीचबीजस्य जगदाख्या चमत्कृतिः ।
स्थिता सौपुससौम्यान्तः शिलान्तःसंनिवेशवत् ॥ ५
अत्रेमामिन्दुवदन चित्रां विस्मयकारिणीम् ।
वर्ण्यमानां मया रम्यामन्यामाख्यायिकां शृणु ॥ ६
स्निग्धा स्पष्टा मृदुस्पर्शा महाविस्तारशालिनी ।
निविडा नित्यमधुग्धा कचिदस्ति महाशिला ॥ ७
तस्यामन्तः प्रफुल्लानि पद्मानि सुबहून्यपि ।
सरस्यामिव रम्याणि तान्यनन्तानि सन्ति वै ॥ ८
अन्योन्यप्रोतपत्राणि मिथो विघटितानि च ।
मिथश्चोपनिगूढानि गूढानि प्रकटानि च ॥ ९
अधोमुखान्यूर्ध्वमुखान्यपि तिर्यङ्मुखानि च ।
मिथोमिलितमूलानि मिथःप्रोतमुखान्यपि ॥ १०
कर्णिकाजालमूलानि मूलान्तःकर्णिकानि च ।
ऊर्ध्वमूलान्यधोमूलान्यमूलानीतराणि च ॥ ११

क्षिति द्वाभ्याम् ॥ १ ॥ २ ॥ नाहंतादिमात्रं चिद्विल्वमज्जा
किंतु ब्रह्माण्डादिसर्वमपीति निःसंकोचं बोध्यमित्याशयेन वसिष्ठ
उवाच—यथेत्यादिना ॥ ३ ॥ चिद्विल्वस्य मज्जेत्युक्ते अन्तः-
प्रदेशस्थावयवानां रसधनः परिणामविशेष इति कस्यचिद्भ्रान्ति
वारयति—सृष्टिरिति । यथा विल्वखर्परं मज्जाया आधारस्तथा
सृष्टिलक्षणमज्जाया आधेयायाः स्वाधारस्य खर्परस्थानीयस्यान्य-
त्वसंभवे तदन्तःपरिणामरूपा मज्जा स्यात् । तत्र सर्वगस्यास्य
चिदात्मनः कात्स्न्येनैकदेशेन वा परिणामित्वे विनाशो दुर्वारः ।
न चैतन्निरवयवे मुख्योऽन्तःप्रदेशः परिणामो वा संभवतीति न
मज्जाशब्दः परिणामपर इत्यर्थः ॥ ४ ॥ तर्हि किंपर इति चेद्वि-
वर्तलक्षणंचमत्कारपर इत्याशयेनाह—चित्तेरेति । शिलान्तः
शिल्पिमनःकल्पितपद्मवनसंनिवेशवदित्यर्थः ॥ ५ ॥ दृष्टान्तं
विवरीतुं ब्रह्मशिलाख्यायिकां प्रस्तौति—अत्रेति ॥ ६ ॥ ७ ॥
मनःकल्पनानामानन्त्यादनन्तानि ॥ ८ ॥ उपनिगूढानि संछिष्टानि
॥ ९ ॥ १० ॥ दृष्टवैपरीत्येनापि मनःकल्पनसंभवादाह—
कर्णिकेति । कर्णिकाजालेषु मूलानि येषाम् । इतराणि कानि-
चिदमूलानि च ॥ ११ ॥ शङ्खाः पद्ममुकुलवत्संनिवेशिनः ।
चक्रौघास्तु विकसितपद्मवत्संनिवेशिन इत्यर्थाद्भ्रम्यते ॥ १२ ॥
स्वयं तीर्थयात्रायां शालग्रामक्षेत्रे दृष्टां शिलां गुरुवाक्या-
त्स्मरन् रमः सैवात्र भगवता जगत्कल्पनासहितब्रह्मदृष्टान्तत्वे-

तेषां च निकटे सन्ति शङ्खाः ।
चक्रौघाश्च महाकाराः पद्मवत्संनिवेशिनः ॥ १२
श्रीराम उवाच ।

सत्यमेतन्मया दृष्टा तादृशी सा महाशिला ।
शालग्रामे हरेर्घास्त्रि विद्यते परिवारिणी ॥ १३

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवमेतद्विजानासि दृष्टवानसि तां शिलाम् ।
यो यश्च तत्र वै प्राणः समस्तादगनन्तरः ॥ १४
मया त्वियमपूर्वैव शिलेह कथिता तव ।
यस्यामन्तर्महाकुक्षौ सर्वमस्ति च नास्ति च ॥ १५
चिच्छिलैषा मयोक्ता ते यस्यामन्तर्जगन्ति वै ।
घनत्वैकात्मकत्वादिवशादेष्टा शिलैव चित् ॥ १६
अप्यत्यन्तघनाङ्गायाः सुनीरन्ध्राकृतेरपि ।
विद्यतेऽन्तर्जगद्गृह्यं व्योम्नीव विपुलानिलः ॥ १७
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
सन्ति तस्यां शिलायां च सुषिरं न मनागपि ॥ १८
अस्यामेव घनाङ्गात्म जगत्पद्मं विजृम्भते ।
एतस्माद्वस्तुतो नान्यदन्यच्छुद्धात्मकं च वा ॥ १९
शङ्खपद्मादिकं लोकं पाषाणे लिख्यते यथा ।
भूतं भवद्भविष्यच्च शिलायां शालभञ्जिका ॥ २०
तथास्ति तत्र तत्सर्वं संस्थानं वस्तुतो यथा ।
उपलान्तः संनिवेशो नानात्माप्येकपिण्डताम् ॥ २१

नोदाहृतेति मन्यमान आह—सत्यमेतदिति । परिवारिणी
पद्मवनलान्छनपरिवृता ॥ १३ ॥ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकसंबन्धस्त्वया
सम्यग्बुद्ध इत्यनुमोदमानो वसिष्ठ आह—एवमेतदिति ।
तां दृष्टान्तभूतां शिलां दृष्टवानसीति विजानासि । यश्च तादृग्-
दार्ष्टान्तिकभूतश्चिदात्मा यो यादृशस्वभावः । अनन्तरो निरव-
काशचिद्धनः । समः प्राणस्यापि प्राणो निरतिशयानन्दरूपस्तत्र
तस्मिन्नपि विषये दृष्टवानसीति विजानासि ॥ १४ ॥ मया तु
न त्वद्दृष्टशिला दृष्टान्तत्वेनाभिप्रेता किंत्वपूर्वा ब्रह्मैव शिलात्वेन
परिकल्प्य विल्वमिवोपन्यस्तेति उपाये तात्पर्यविसंवादेऽपि नो-
पेये विसंवाद इत्याशयेनाह—मया त्विति ॥ १५ ॥ चिदा-
त्मनि गौण्या शिलाशब्दप्रयोगनिमित्तान्शुणान्दर्शयति—घन-
त्वेति । आदिपदादमेवत्वैकरसत्वकूटस्थत्वादिपरिग्रहः ॥ १६ ॥
अपिशब्दाभ्यां सूचितो विरोधो मायया परिहर्तव्यः ॥ १७ ॥
॥ १८ ॥ जगदेव मया तत्र पद्मवनत्वेनोत्प्रेक्षितमित्याह—
अस्यामेवेति । तच्च जगदन्यदिव भातमपि वस्तुतो नान्यत्
शुद्धचिदात्मकं च वा न किंतु मायैवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ 'तेषां च
निकटे सन्ति शङ्खाः शतसहस्रशः' इति यदुक्तं तत्तात्पर्यमाह—
शङ्खेति । लोक्यत इति लोकं चित्रं लिख्यते शिल्पिमनः-
कल्पनया यथा तथा भूतं भव्यं सर्वं जगत् । तत्र शालभञ्जिका
वस्तुतो यथा वास्तवीव अस्तीति परेणान्वयः—॥ २० ॥ २१ ॥

यथादत्ते तथैषा चित्पिण्डाकारैकिकां घनाम् ।
 यथा पद्मः शिलाकोशादभिन्नस्तद्वपुर्मयः ॥ २२
 तथा सर्गश्चित्तो रूपादभिन्नोऽपि वपुर्मयः ।
 सुपुष्पावस्थया चक्रपद्मलेखाः शिलोदरे ॥ २३
 यथा स्थिताश्चित्तेरन्तस्तथेयं जगदावली ।
 शिलान्तः पद्मलेखाली मरिचान्तश्चमत्कृतिः ॥ २४
 नोदेति नास्तमायाति यथा सर्गस्तथा चित्तौ ।
 यथा पुरन्ध्यां मर्त्योऽन्तर्मज्जा वा विल्वगा यथा ॥ २५
 तथाऽन्तर्विकाराख्या चित्तौ ब्रह्माण्डमण्डली ।
 विकारादि तदेवेति मुधैवोक्तिरनर्थिका ॥ २६
 तत्तां समुपयात्याशु जलविन्दुरिवाम्भसि ॥
 अनन्तत्वाच्चित्तेरेतद्विकारादि चित्तेरिति ॥ २७
 उत्तया संपद्यते यच्च तल्लयेन विलीयते ।
 ब्रह्मैवेदं विकारादि विकाराद्यर्थवर्जितम् ॥ २८
 वर्जनावर्जनेऽर्थस्य ब्रह्मैवानन्ततावशात् ।
 ब्रह्म स्थितं विकारादि ब्रह्मैवोत्पादित क्रमात् ॥ २९
 अत्रान्यार्थमिदं विद्धि मृगतृष्णाम्भसा समम् ।
 बीजं पुष्पफलान्तस्थं बीजान्तर्नान्यदात्मकम् ॥ ३०
 यादृशी बीजसत्ता सा भवन्ती यात्यथोत्तरम् ।
 चिदने चिद्वनत्वं यत्स एव त्रिजगत्क्रमः ॥ ३१
 एकत्वमेतयोर्द्वैतत्वमेकाभावे द्वयोः क्षतिः ।
 जगदन्यभवोद्भूतिर्न कदाचित्तदीदृशम् ॥ ३२
 इत्यर्थे श्रीवात्तिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० सोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० शिलाकोशोपदेशो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

चिदचित्तं कदाचिच्च द्वयमन्तर्मित्योऽद्वयम् ।
 महाशिलान्तरे भेदो लेखात्मास्ति यथा बभूवुः ।
 तदन्यानन्यमज्जादि चिदने त्रिजगत्तथा ॥ ३३
 रेखोपरेखावलिता यथैका पीचरी शिला ।
 तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकसिति दृश्यते ॥ ३४
 एतच्छिलान्तररक्षादि यथा नित्यं सुषुप्तकम् ।
 नास्तमेति न चोदेति तथाऽहंता जगद्भूतिः ॥ ३५
 यथा शिलान्तर्लेखादि भिद्यते न शिलान्तरात् ।
 तत्सारत्वाज्जगत्कर्तृ कर्तृत्वादिजगच्चितिः ॥ ३६
 यथा शिलान्तररक्षानां स्पन्दस्पर्शभवाभवाः ।
 विषयत्वं न गच्छन्ति कर्तारो जगतस्तथा ॥ ३७
 नेदं कदाचित्क्रियते न कदाचन नश्यति ।
 अद्रिचत्प्रभवोल्लासविलासावेदनात्मकम् ॥ ३८
 यथा यत्र यदाकारं तथा तत्र तदेव हि ।
 ब्रह्मसत्तात्मकं सर्वं सुषुप्तस्थमिव स्थितम् ॥ ३९
 भूरिभावविकाराद्यो योऽयं जगदुरुध्मः ।
 सुषुप्तमेव तद्विद्धि शिलान्तः पङ्कजादिवत् ॥ ४०

नित्यं सुषुप्तपदमेव जगद्विलासः

सम्यक्प्रशान्तसमचिद्वनखात्मकत्वात् ।

पद्माः शिलान्तरिव सर्गदशास्त्वसारा

दृष्टा न देहमुपयान्ति कदाचिदेव ॥ ४१

आदत्ते स्वीकरोति तथा एषा चिदपि घना एकिकां एक-
 पिण्डतां स्वीकरोतीत्यर्थः ॥ २२ ॥ तत्स्वरूपादभिन्नोऽपि
 वपुर्मयं परिच्छिन्नाकार इव भातीत्यर्थः । सुपुष्पावस्थया दृक्-
 च्छेदात्प्रागनभिन्यज्येत्यर्थः ॥ २३ ॥ २४ ॥ सतो शिलाम-
 रिचयो नोदेति नास्तमायाति तथेत्यर्थः । पुरन्ध्यां सुचरित्रायां
 त्रियामन्तर्मनसि मर्त्यस्तत्क्रान्तः सदैवास्ति ॥ २५ ॥ यदा
 विकारिणां ब्रह्माण्डानां चिन्मात्रत्वं तदा तद्विकारभुवनशरीरा-
 दिभेदानां चिन्मात्रत्वमर्थतिसिद्धमिति तदुक्तिर्यथैव त्वान्मुधा
 निष्कलेव ॥ २६ ॥ कुतोऽर्थशून्या तत्राह—तत्तामिति । यत्
 एतद्विकारादि व्याशु ब्रह्माण्डानां चिन्मात्रतादर्शनक्षण एव तत्तां
 चिन्मात्रतां समुपयाति न पृथगणुमात्रमप्यवशिष्यत इति हेतोः
 ॥ २७ ॥ कविर्षितगन्धर्वनगरवर्चिभ्यदुक्तिमात्रतिसिद्धत्वादपि
 सत्यं प्रत्येव चिन्मात्रत्वमित्याह—उत्तयेति । 'स भूरिति व्याह-
 रन् भुवनमज्जत । एत इति वै प्रजापतिर्देवानमज्जत असु-
 तमिति 'मनुष्यानिन्दव इति पितृन्' इत्यादिश्रुत्या भुवनादि-
 सर्गस्य नामपूर्वकत्वात्किंच नामलयेन लघोऽप्युच्यते ॥ २८ ॥
 विकाराद्यर्थवर्जनमपि न वस्तुन्तरमित्याह—वर्जनेति ॥ २९ ॥
 पुष्पफलपर्यन्ते त्वकार्ये बीजवत्सर्वत्र चित्सत्तानुवृत्तिदर्शनादपि
 सर्वं चिदेवेत्याह—बीजेत्यादिना ॥ ३० ॥ अद्वुरादिपूर्वपूर्वविका-

रेषु भवन्ती विद्यमानैव, अथ उत्तरकाले काण्डशाखापङ्कजादि
 याति ॥ ३१ ॥ द्वैतस्यैकत्वकल्पनाधीनकल्पनत्वादप्यकल्पित-
 चिन्मात्रं तत्त्वमित्याह—एकत्वमिति । एतयोर्बीजतत्कार्ययोः
 अन्यभवाविद्यतिरिक्ताज्जगत्कल्पना तदधीनोद्भूतिः । तच्चिद्रूपं
 तु कदाचिदपि ईदृशं जाड्यस्वभावं न संभवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥
 तदेव स्फुटयन् प्रकृते योजयति—चिदिति । मज्जादिचित्वे
 इति शेषः ॥ ३३ ॥ एकं ब्रह्म इति प्रसिद्धजगद्रूपेण दृश्यते
 ॥ ३४ ॥ सुषुप्तं शिल्पिवासनामात्रम् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ जग-
 त्कर्तृ जीवेश्वररूपं तवीयं कर्तृत्वादिजगच्च चित्तिविदेव । भवा-
 भवा आविर्भावतिरोभावाः ॥ ३७ ॥ शिला यथा तत्त्वदर्शने
 विषयत्वं न गच्छन्ति तथा आत्मतत्त्वदर्शनेऽपि कर्तार इत्यर्थः
 ॥ ३८ ॥ अद्रिचत्तिरिक्कूटवदविकारित्वादित्यर्थः । अतएव
 शिला नानाशिल्पिनां विद्वद्भानसकल्पनाभेद इव ब्रह्मापि
 नानाजीवविरुद्धकल्पनाभेदेऽपि तत्तद्रूपमेवावतिष्ठत इत्याह—
 यथेति । यदाकारं कल्पयत इति शेषः ॥ ३९ ॥ सुषुप्तस्थं यथा
 प्रतिबीजं विचित्रस्वाप्नार्थकल्पनाभेदमविरोधेन सहते तद्वदि-
 त्यर्थः । सुषुप्तमनुष्मिषितवासनामात्रमेव ॥ ४० ॥ आख्यायि-
 कात्तात्पर्यं सक्षिप्योपसहरति—नित्यमिति । चिद्वनं यद्ब्रह्म खं

सप्तचत्वारिंशः सर्गः ४७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चित्तस्वस्य फलस्येव चितः स्वापापरक्रमात् ।
 स्वसत्तासंनिवेशेन यः स सर्ग इति स्थितः ॥ १
 देशकालक्रियादीनामपि तन्मयरूपतः ।
 इदमन्यदिदं चान्यदिति नात्रोपपद्यते ॥ २
 समस्तशब्दशब्दार्थवासनाकलनाविदः ।
 एकात्मत्वादसच्चेदमिति संकश्यते कथम् ॥ ३
 फलस्यान्तःसंनिवेशो नामानुक्रमतो यथा ।
 चितः स्वसत्ताघनताऽनाना नाना स्थिता तथा ॥ ४
 अनानैवापि नानैव ध्रुब्धेवाधुमितैव च ।
 यथा फलान्तः स्वासत्ता चिदन्तः सिद्ध्यस्तथा ॥ ५
 जगद्भ्रमरमादर्शं चितः स्वं प्रतिबिम्बितम् ।
 कचतीवाऽकचदपि शिलान्तःसंनिवेशवत् ॥ ६
 परमे चिन्मणौ सन्ति जगत्कोटिशतान्यपि ।
 चिन्तामणावनन्तानि फलानीवार्पितान्यलम् ॥ ७

तदात्मकत्वात् । असारास्तुच्छाः शिलान्तः पद्मा इव सर्गादि-
 दृशा आत्मनि दृष्टा अपि कदाचिदपि देहं स्वरूपस्थितिं नोप-
 यान्त्येवेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे शिलाकोशोपदेशो नाम षट्-
 चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इह विश्वशिलाख्यानतात्पर्यमुपवर्णयते ।

मयूराण्डरसे बह्वर्णसंस्थानमेदवत् ॥ १ ॥

बिल्वदृष्टान्तवशादचिद्रूपमेव तदन्तर्बोजमज्जादीनामिव स्व-
 गतमेदेन तत्र तत्समसत्ताकसर्गोद्भवश्चात्रोक्त इति तात्पर्यभ्रमो
 मा भूदिति तत्तात्पर्यं वर्णयति—चित्तस्वस्येति । चिद्रूपं तत्त्वं
 यावत्स्वरूपप्रतिसंधानशून्यं तावदेव सर्गगर्भमिति द्योतना-
 याचेतनफलदृष्टान्तः । सर्गश्च चितः प्रसिद्धस्वापादपरः स्वापः
 स्वप्न एव युगवत्सरादिक्रमात्स्वसत्ताकल्पितसंनिवेशेन प्रवृत्तो न
 चित्समसत्ताकः स्वगतमेद इत्यर्थः ॥ १ ॥ तर्हि किं चित्तत्वा-
 दन्य एव सर्गः, एतदपि दुर्वचमिह—देशेति ॥ २ ॥ तर्हि
 किमसदेवेदं सर्गादि, तदपि दुर्वचमिह—समस्तेति । सम-
 स्थानां शब्दानां तदर्थानां तद्वासनानां तत्प्रयुक्तसंकल्पविकल्पा-
 दिकलनानां च वेदितुरवस्थात्रयेऽप्येकात्मत्वात्सत्यत्वे अत्यन्ता-
 सतस्तेन वेदनादर्शनादित्यर्थः ॥ ३ ॥ तस्माच्चिदधीनप्राप्तिमा-
 सिकानुक्रमवैचित्र्याशयेनैव फलत्वेनोत्प्रेक्षणमिह—फल-
 स्येति । अनाना तथा नाना च भूत्वा स्थिता ॥ ४ ॥ तत्राऽना-
 नात्वाद्यंश एव प्राथम्याद्वास्तव इत्याह—अनानैवेति । ध्रुब्धा
 विकृतेव । सिद्ध्यः संनिवेशनिष्पत्तयः ॥ ५ ॥ शिलाख्यानस्य
 तात्पर्यं दर्शयति—जगदिति । शिलान्तःसंनिवेशवज्जगदिति
 यदुक्तं तस्याप्यादर्शं प्रतिबिम्बितं नगरमिव चितः स्वं स्वं रूप-
 मेव अकचदपि कचतीत्यर्थं तात्पर्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥ मायिका-

चित्समुद्रक एवेदं तदङ्गोत्कीर्णमाततम् ।
 जगन्मौक्तिकमाभाति तदंशमयमन्यवत् ॥ ८
 अहोरात्रं विकरयन्वेदनावेदनान्यलम् ।
 चिदादित्यः स्थितो भास्वाञ्जगद्व्याणि दर्शयन् ॥ ९
 समुद्रकोटरावर्तपयःस्पन्दविलासवत् ।
 अनानैव च नाना चिच्छिलान्तःसंनिवेशवत् ॥ १०
 यदस्ति तच्चिति शिलाशरीरे शालभञ्जिका ।
 यन्नास्ति तच्चिति शिलाशरीरे शालभञ्जिका ॥ ११
 भावाभावेषु यत्सत्यं चिन्मज्जाकल्पमेव तत् ।
 मज्जासारा पदार्थश्रीस्तन्मयं स्यात्तदेव हि ॥ १२
 पद्मनानादिशब्दार्थस्त्यक्त्वा यद्वच्छिलोदरम् ।
 नाना तद्वदिदं नाना तदेतन्मयमद्वयम् ॥ १३
 नानाप्येकतयाऽनाना पद्मबिम्बं शिलोदरम् ।
 यथा तदविभागात्म तथेदं चिद्धनान्तरम् ॥ १४
 यथाऽमलपयःकोशः स्थलधियां तु भानुभाः ।

नन्तश्चिन्मत्त्वाद्वा चिन्तामणौ चिन्तकमनोरथफलानीव चिति
 सर्वं जगदस्तीति तत्तात्पर्यं वर्णनीयमित्याह—परमे इति ।
 अर्पितानीति श्रुतिषु अरनाभिनिदर्शनोपन्यासादिति भावः
 ॥ ७ ॥ कल्पितविकारांशांशिभावेन मुक्ताशुक्तिसंपुटके मुक्ताना-
 मिव वा चिति जगत्स्थितौ तात्पर्यमित्याह—चित्समुद्रक
 इति । तदङ्गे तद्गर्भे उत्कीर्णमिव तदङ्गोत्कीर्णम् । तदेवाह—
 तदंशमयमिति ॥ ८ ॥ आदित्यः स्वस्वरूपाविर्भावतिरोभावा-
 त्मकमहोरात्रविभागमिव चिन्मणिशिलापि स्ववेदनावेदनात्म-
 कजगद्व्यप्रकाशनाप्रकाशने स्वात्मनि करोतीत्यर्थे वा तत्तात्पर्य-
 मित्याह—अहोरात्रमिति । विकरयन्विकलयन् । विकुर्वन्निति
 यावत् ॥ ९ ॥ समुद्रस्य कोटरं गर्भं आवर्ततरङ्गादिस्पन्दमे-
 दानां समुद्रमात्रत्ववज्जगद्वेदानां चिन्मात्ररूपत्वे वा तत्तात्पर्य-
 मित्याह—समुद्रेति ॥ १० ॥ वर्तमानसर्गस्यातीतानागतसर्गस्य
 च तुल्यतया चिन्मात्रस्वरूपताप्रदर्शने वा तत्तात्पर्यमित्याह—
 यदस्तीति । शालभञ्जिका उत्कीर्णा अनुत्कीर्णा वा प्रतिमा,
 ॥ ११ ॥ बिल्वख्यानस्यापि जगत्क्षितसारत्वे तात्पर्यमित्याह-
 येनाह—भावेति । यत्सत्यं तत्त्वं तत् चिद्रूपमज्जाकल्पमेव ।
 पदार्थश्रीर्बिल्वादिफलपदार्थश्रीर्मज्जासरो यस्यास्तथाविद्या प्रसि-
 द्ध्यर्थः ॥ १२ ॥ शिलोदरात्पृथक्करणे पद्मनानादिशब्दार्था-
 सत्त्ववचितः पृथक्करणे जगदसत्त्वे वा तत्तात्पर्यमित्याह—
 पद्मेति ॥ १३ ॥ तदेतन्मयमद्वयमित्यंशं स्फुटयति—नानेति ।
 यदि चितो न पृथक् कियते तर्हि नानापि जगच्चिदात्मैकतया
 अनानैव भवति यथा तादृशं शिलोदरमित्यर्थः ॥ १४ ॥ यथा
 मरुमरीच्यादिर्मृगदृशा अमलः पयःकोशो जलराशिः । स्थल-
 धियां स्थलमेवेदमिति बुद्धिमताम् । विदुषां दृष्ट्या तु भानुभाः,

सन्नेवासन्नवैवं चिन्नैव त्वं सदसद्वपुः ॥ १५
 यथा सम्यक् पयोराशिः कोटरे कलनोन्मुखम् ।
 द्रवत्वात्स्पन्दतेऽस्पन्दं तथेदं चिद्वनान्तरम् ॥ १६
 चिच्छिलाशङ्खपद्मौघस्तन्मयत्वेऽप्यतन्मयः ।
 जगद्विद्धि सपद्मादिपदार्थं चिच्छिलान्तरम् ॥ १७
 महाशिलाघनोऽप्येव चिद्वनस्थं शिलोदरम् ।
 अरन्ध्रो निर्द्वयोऽच्छोऽजः संशान्तः संनिवेशवत् ॥ १८
 तपतीदं जगद्ब्रह्म शरत्काल इवामलम् ।
 स्फुरतीदं जगद्ब्रह्म सौम्यः सोम इव द्रुतः ॥ १९
 ब्रह्मणीदं सुपुष्पाभं नास्त्यनाशं शिलाजवत् ।
 ब्रह्मत्वं ब्रह्मणि यथा तथैवेदं जगत्स्थितम् ॥ २०
 भानयोर्विद्यते भेदस्तरूपादपयोरिव ।
 यानीमानि जगन्तीह नान्यत्तानि चिदाकृतेः ॥ २१
 भावाभावादि नास्त्येषां तस्या इव कदाचन ।
 ब्रह्मैव जगदाभासं मरुतापो यथा जलम् ॥ २२
 ब्रह्मैवालोकनाच्छुद्धं भवत्यम्बु यथातपः ।
 मेवादेस्तृणगुल्मादेश्चिदादेर्जगतोऽपि च ॥ २३

सूर्यातप एव । तत्र सन्नेव आतपादिरसज्जलादिरिवेति सदस-
 द्द्रुपयथा भाति एवं चित्तभावस्त्वमपि भाति । वस्तुतस्तु
 त्वं नैव सदसद्वपुर्नित्यः ॥ १५ ॥ यथा पयोराशिः कोटरमध्ये
 द्रवत्वात्स्पन्दते तथा अस्पन्दमपि चिद्वनस्थ आन्तरं स्पन्दत
 इत्येवार्थः ॥ १६ ॥ तर्हि तत्र पद्मादेः शिलामयत्वमिव जागतशङ्ख-
 पद्मादेश्चिन्मयता कुतो न विभाव्यते तत्राह—चिच्छिलेति ।
 अतन्मयस्तदयोधादिति शेषः । अतएव त्वं तथा बुद्ध्यास्ते-
 त्याह—जगदिति ॥ १७ ॥ दृष्टान्तीकृतशिलाघनोऽपि पर-
 मार्थदृष्ट्या चिच्छिलोदरमेव संपन्नमित्याह—महाशिलेति ।
 अतएव तत्र शिल्पियत्नसहस्रेणापि रन्ध्रादिसंभावनापि नास्ती-
 त्याशयेन विशिनष्टि—अरन्ध्र इति । संनिवेशवन्मिथ्यासंनि-
 वेशेन भासत इत्यर्थः ॥ १८ ॥ यथा शरत्कालस्तपति अमृतद्रुतः
 सोमः स्फुरतीति कालात्मकयोरेव सूर्यसोमयोरवान्तरभेदकल्प-
 नया क्रियाकारकभावेन व्यपदेशस्तथा ब्रह्म जगत्प्रकाशयति
 जगदात्मना स्फुरतीति च व्यपदेश इत्याह—तपतीति ।
 सौम्यो नयनानन्दः ॥ १९ ॥ एवंच ब्रह्मात्मना जगज्जित्यनष्टं
 नित्यस्थितमिति वा उत्प्रेक्षितुं शक्यमित्याशयेनाह—ब्रह्म-
 णीति । वातनामात्ररूपत्वात्सुपुष्पाभम् । यथा शिलाजलमब्जा-
 त्मना नित्यमसच्छिलात्मना नित्यं सत्तद्वदित्यर्थः ॥ २० ॥ चिदा-
 त्मना सत्त्वे जगद्ब्रह्मण्यदार्थयोर्भेदो नास्तीत्याह—नानयो-
 रिति ॥ २१ ॥ एषा जगताम् । तस्याधिदाकृतेरेव ॥ २२ ॥
 मेवादिस्थूलतमोपि पदार्थस्तत्त्वदृष्ट्या आलोकनाच्छुद्धमस्सौल्या-
 दिधर्मकं ब्रह्मैव भवति । यथा करकाद्यम्बु केवलं पयो भवति
 तद्वत् । अतो वह्निसृणुगुल्मादेर्ब्रह्माण्डान्तस्थ अन्तश्चित्तादेर्हि-
 रण्यगर्भान्तस्यापि च जगतः परमं यदम्बुवोत्तरोत्तरं सूक्ष्मतमं

परमाम्बुविभागेन यद्रूपं तत्परं विदुः ।
 तत्समूहस्तदेवोच्चैश्चित्तं मेरुतृणादिकम् ॥ — २४
 यत्सौक्ष्म्येऽपि हि सारात्म स्थौल्ये सारतरं हि तत् ।
 यथा रसात्मिका शक्तिः परमाणुतयाऽनघ ॥ २५
 स्थिता जगत्पदार्थेषु पायसी ब्रह्मता तथा ।
 रसशक्तिर्यथा नानातृणगुल्मलताम्भसाम् ॥ २६
 तथा नानातयोदेति सैवासैवेव ब्रह्मता ।
 येषां रूपविलासानामालोकपरमाणुता ॥ २७
 गुणगुण्यर्थसत्तात्मरूपिण्यासां परात्मता ।
 चिति चित्तेऽस्ति मेवादि तदभिव्यज्जनात्मनि ॥ २८
 पिच्छपक्षौघकाटिन्यं मयूराण्डरसे यथा ।
 चिति तत्त्वेऽस्ति नानाता तदभिव्यज्जनात्मनि ॥ २९
 विचित्रपिच्छिकापुञ्जो मयूराण्डरसे यथा ।
 यथा नानात्मिके ह्येव बर्हण्डरसबर्हिणे ॥ ३०
 विवेकदृष्ट्या दृष्टे ते तथा ब्रह्म जगत्स्थितम् ।
 सन्नानातोऽप्यनानातो यथाऽण्डरसबर्हिणः ॥ ३१
 अद्वैतद्वैतसत्तात्मा तथा ब्रह्मजगद्भ्रमः ।
 यथा सदसतोः सत्ता समतायामवस्थितिः ॥ ३२

भूतसूक्ष्माभ्याकृताक्षरान्तं तद्विभागेनान्ते यद्रूपं परिशिष्यं
 तदेव परं विदुर्ब्रह्मविद इति परेणान्वयः ॥ २३ ॥ स्थूलस-
 विमर्शं सूक्ष्ममात्रत्वे युक्तिमाह—तत्समूह इति । पञ्चीक-
 र्णपञ्चीकृतसमूहः । अपञ्चीकृतभूतानि तु चित्तमेवैवेवं क्रमे-
 षोऽप्यभिव्यक्त्यर्थः ॥ २४ ॥ सौक्ष्म्ये सत्सारत्वादेव तत्सौख्येऽपि
 सत्यतरत्वलक्षणसारतरताप्रपञ्चे पामरैरनुभूयत इत्याह—
 यत्सौक्ष्म्येऽपीति । अतएवाप्परमाणुगतरसशक्तेः स्थूलज-
 इन्द्रियगोचरतेव घटादौ ब्रह्मसत्तायास्तद्गोचरतेत्याह—यथेति
 पायसी स्थूलजलनिष्ठा सती योग्येति शेषः ॥ २५ ॥ स्थूलवैचि-
 त्त्येण सत्तावान्तरसामान्यात्मना सत्तावैचित्र्येयेतादृशा दृष्टान्ता
 कल्प्या इत्याशयेनाह—रसशक्तिरित्यादिना ॥ २६ ॥ रूप-
 विलासानां नीलपीतादिरूपवैचित्र्याणामालोकपरमाणुता सूक्ष्म-
 तमरूपं सामान्यं यथा तथैत्यनुषज्यते ॥ २७ ॥ परात्मता ब्रह्मस-
 त्तापि आसां घटादिव्यक्तीनां गुणगुणरूपान्तरवैजात्यार्थं सत्ता-
 त्मरूपिणी भवतीति शेषः । आविर्भावदशायां कार्यात्मन-
 कारणमेवास्तीतिवत्तिरोभावदशायामपि कारणात्मना कार्यमप्य-
 स्त्येवेत्येतदपि दृष्टान्तेनोपपादयति—चितीति । सर्वथा तिर-
 भावे मायाशबलचिति अर्धतिरोभावे चित्ते मेवादिस्थूलकार्यजात-
 मस्ति । यथा पिच्छानि पक्षौघाः काटिन्यं च मयूरोपादानभू-
 तदण्डरसे सन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ २८ ॥ २९ ॥ विवेकदृष्ट-
 मेददृष्ट्या ॥ ३० ॥ तथाच तत्र कल्पितभेदो यथा न वास्तवामेद-
 विरोधी तद्वदत्रापीत्याह—सन्नानात इति । अण्डे रसरूपं
 बर्हिणो मयूरः ॥ ३१ ॥ तर्हि किं द्वैताद्वैतात्मकमेव ब्रह्म अस-
 यथा ब्रह्म वास्तवं जगदिति च अमस्तथा द्वैताद्वैतात्मकम्
 नैतावता वैषम्यप्रसक्तिः । यथा सदसतोः सत्तासमतायामव

यतः सदसतो रूपं भावस्थं विद्धि तं परम् ।
 नानाऽनानात्मकमिदं त्वनुभूतं न संभवम् ॥ ३३
 चिज्जगद्वलनं पश्य बर्हिण्डे रसबर्हिणम् ।
 यथा जगति चित्तत्वं चित्तत्वे यज्जगत्तथा ।
 नानाऽनानात्मकैकं च मयूराण्डरसो यथा ॥ ३४
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चिद्वनोपदेशो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

नानापदार्थभ्रमपिच्छपूर्णा
 जगन्मयूराण्डरसश्चिदाद्या ।
 मयूररूपं त्वमयूरमन्तः
 सत्तापदं विद्धि कुतोऽस्ति भेदः ॥ ३५

अष्टचत्वारिंशः सर्गः ४८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यत्रानुदितरूपात्म सर्वमस्तीदमाततम् ।
 मयूर इव बीजेऽन्तस्तदहंतादिगादि च ॥ १
 यत्र नाभ्युदितं किंचित्तत्र सर्वं च विद्यते ।
 तदत्राप्यङ्गिराः स्वर्गसुखसारेण बिम्बति ॥ २
 तथा च मुनयो देवा गणाः सिद्धा महर्षयः ।
 आस्वादयन्तः स्वं रूपं सदा तुर्यपदे स्थिताः ॥ ३
 एते ये स्तब्धनयनदृष्टयो निर्निमेषिणः ।

स्थितिस्तथा तज्जिरूपणादित्यर्थः ॥ ३२ ॥ ननु वैषम्यपरिहाराय सत्तासमतायामेवावस्थानमिति/कुतः । अभावमात्रतापतिलक्षण-
 शून्यत्वेऽपि वैषम्यपरिहारादित्याशङ्क्याह—यत इति । रूपं तत्त्वं भावस्थं सद्वस्तु पर्यवसर्जं न शून्यनिष्ठम् । अभाव-
 स्यापि सद्धीननिरूपणत्वात् । तं भावं च 'परं ब्रह्मैव विद्धि । तस्य चाद्वयत्वाशानाऽनानात्मकं मित्राभिन्नस्वभावमिदं जगद्रूपं न संभवो यस्य तज्जसंभवमनुपपन्नम् । न अर्थस्य नशब्दस्य बहुव्रीहिः ॥ ३३ ॥ एवमनुपपन्नस्यापि बर्हिण्डरसदृष्टान्तेनैवैक-
 रस्य, नेयमित्याशयेनाह—चिज्जगदिति । यथा जगति चिदा-
 त्मकं, तद्वमनुगतं तथा बर्हिणि रसोऽनुगतः । यथा चित्तत्वे जगदन्तर्लीनं तथा रसे बर्हिणि पश्येत्यर्थः ॥ ३४ ॥ उपमोक्त-
 मर्थं रूपकेणैकीकृत्य दर्शयन्भेदं निरस्यति—नानेति ॥ नाना-
 विधपदार्थभ्रमलक्षणैः पिच्छैः पूर्णा आद्या ब्रह्मविदेव जगलक्षण-
 मयूराण्डस्य रसः । तत्र भासमानं जगन्मयूररूपं तु अमयूररूपं सत्तालक्षणं पदं परमार्थवस्तु विद्धि । तत्र, च भेदः कुतोऽस्ती-
 त्यर्थः ॥ ३५ ॥ इति, श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वा-
 णप्रकरणे पू० चिद्वनोपदेशो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

यत्सत्तास्फूर्तिस्त्रैलोक्यानि प्रतिबिम्बन्ति कल्पिते ।

तत्सच्चिदानन्दधनं ब्रह्म निष्कृष्य वर्ण्यते ॥ १ ॥

मयूररसदृष्टान्तातिरोभूतजगद्वैचित्र्यगर्भं चिदचित्संवलितं बीजशक्तिमदव्याकृतमेव तत्त्वं न सतः परं शुद्धमस्तीति व्या-
 मोहो मा भूदिति तदधिष्ठानं निर्विशेषभूमानन्दरूपं निष्कृष्य परिचाययितुं श्रीवासिष्ठ उवाच—यत्रेति । बीजे, अण्डे अन्त-
 र्मयूर इव वर्णितमन्तरहंतादि बर्हिर्दिगादि वियदादि च सर्वं जगदत्र शुद्धे कालत्रयेऽप्यनुदितरूपात्म अनुत्पन्नस्वरूपमेवास्ति
 यो० वा० ११२

ते दृश्यदर्शनासङ्गस्पन्दत्यागे व्यवस्थिताः ॥ ४
 नास्थिता भावना येषां स्थितानामपि कर्मसु ।
 संवित्संवेद्यसंबन्धस्पन्दत्यागे च ये स्थिताः ॥ ५
 प्राणो न स्पन्दते येषां चित्रस्थवपुषामिव ।
 मनो न स्पन्दते येषां चित्रस्थवपुषामिव ॥ ६
 चित्तचेत्यसमासङ्गत्यागे ते स्वपदे स्थिताः ।
 स्पन्दात्संसाधयन्त्यर्थं तेनांशेनेश्वरो यथा ॥ ७
 तथैव चित्तचेत्यादिस्पन्दात्कुर्वन्ति संस्थितिम् ।

तदेवोक्तदृष्टान्ततात्पर्यविषयो न शबलमित्यर्थः ॥ १ ॥ यत्र परमार्थतः किंचिन्नाभ्युदितं तत्रैव सर्वं जगदविद्यया विद्यते तदेवात्रास्मिन्देहेऽपि अङ्गिराः अज्ञानां रसभूतः प्राणः सन् स्वर्गादिवैषयिकसुखसारेण चित्तवृत्तिभेदेन विचित्रभोगाकारतया स्फटिकमुकुरादौ चन्द्र इव बिम्बति । तथाच विषयसुखानुभव-
 बलात्तद्विम्बभूतनिरतिशयानन्दसद्भावोऽनुमेय इत्यर्थः ॥ २ ॥ सर्वसाधारण्येन तत्सद्भावे अनुमानप्रमाणमुक्त्वा विदुषामनु-
 भवप्रमाणमप्याह—तथा चेति । स्वं रूपं स्वात्मभूतभूमा-
 नन्दम् ॥ ३ ॥ सर्वैरपि कुतो नानुभूयत इति, चेदृश्यदर्शना-
 सङ्गात्प्राणस्पन्दकृतविक्षेपाच्चेति गृहाण । अतएव तदुभयपरि-
 हाराय नासामनिरुद्धदृष्टयः प्राणनिरोधपराश्च योगिनो दृश्यन्त इत्याह—एते इति । स्तब्धे नयने गोलके दृष्टी, तद्वत्तेन्द्रियं च येषाम् ॥ ४ ॥ इदं त्वनारूढषष्ठादिभूमिकानाम् । आरूढषष्ठसप्त-
 मभूमिकास्तु व्यवहरन्तोऽपि समाहितैः पूर्वभूमिकागतैस्तुल्य-
 मात्मसुखं सदैवास्वादयन्तीत्याह—नास्थिता इति । कर्मसु व्यवहारेषु स्थितानामपि, येषां षष्ठादिभूमिकागतानां वाद्यार्थ-
 सत्यताभावना न आस्थिता ईषदपि स्थिता । ये च पूर्वभूमिका-
 गताः संवित्संवेद्यसंबन्धत्यागलक्षणसमाधौ स्थिताः, येषां प्राणो-
 मनश्च न स्पन्दते ते च चित्तचेत्यसमासङ्गयोस्त्यागो, यस्मि-
 स्तथाविधे भूमानन्दपदे तुल्यतया स्थिता इति सार्धद्वयस्यार्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ षष्ठादिभूमिकागता अन्तर्ब्रह्माकाराखण्डवृत्तिधारास्प-
 न्दात्तेनांशेन, निरतिशयानन्दास्वादनलक्षणं परमपुरुषार्थं यथा संसाधयन्ति तथैव वहिश्चित्तचेत्यादिस्पन्दाव्यवहारसंस्थितिमपि कुर्वन्ति । यथा जगदीश्वरोऽन्तः सदैव स्वरूपानन्दप्रतिष्ठोऽपि वहिर्भायया जगद्व्यवस्थां पालयति, तद्वदित्यर्थः ॥ ७ ॥ तेषां

यथा हृदयति स्वच्छः पल्लवं रश्मिरैन्दवः ॥ ८
 तथात्मा हृदयत्यन्तर्दृश्यदर्शनसंगमे ।
 विम्बादुरं प्रयातस्य भित्तावपतितस्य च ॥ ९
 यदिन्दोस्तेजसो रूपं तद्रूपं शुद्धसंविदः ।
 न दृश्यं नोपदेशार्हं नात्यासन्नं न दुरगम् ॥ १०
 केवलानुभवप्राप्यं चिद्रूपं शुद्धमात्मनः ।
 न देहो नेन्द्रियप्राणौ न चित्तं न च वासना ॥ ११
 न जीवो नापि च स्पन्दो न संवित्तिर्न चैव जगत् ।
 न सन्नासन्नं मध्यं च शून्याशून्यं न चैव हि ॥ १२
 न देशकालवस्तुवादि तदेवास्ति न चेतरेत् ।
 एतैः सर्वैर्विनिर्मुक्तं हृदि कोशशतेन च ॥ १३
 यत्रैतत्स्पन्दते दृश्यं तत्तदात्मपदं भवेत् ।
 यच्च नाद्यं न कल्पान्तं न वस्तुवाद्यनिलादिभिः ॥ १४
 इह चामुत्र सदूपादन्यथा भवति क्वचित् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे बाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पूर्वा० ब्रह्मैकात्म्यप्रतिपादनं नामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥४८॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः ४९

श्रीराम उवाच ।

यदि नास्ति विकारपदि ब्रह्मन्ब्रह्मणि बृंहिते ।
 तदिदं कथमाभाति भावाभावमयं जगत् ॥ १

व्यवहारे दृश्येषु बाह्यविषयेषु दर्शनानां बुद्धिदृष्टीनां संगमे त्रिषु-
 ष्णामप्यभिव्यक्तो निरतिशयानन्दमात्मन्तर्हृदयत्वेवेति सर्वोऽपि
 व्यवहारः सुखरूप एव । यथा ऐन्दवो रश्मिस्तरुपल्लवमन्तः
 प्रविश्य हृदयति तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥ अन्तः स्वरूपसुखं तु तेषां
 सुतरां निर्विकेपमिलत्रापि दृष्टान्तमाह—विम्बादिति । विम्ब-
 निलान्तरालिकस्य शुद्धनभः स्थलेन्दोस्तेजसश्चन्द्रिकाया यद्रूपं
 तदेव परमात्मनो निर्विकेपाद्वाटरूपं तैरनुभूयत इत्यर्थः ॥ ९ ॥
 ॥ १० ॥ तदेव देहादिसर्वोपाधिनिर्मुक्तमात्मनस्तत्त्वमित्याह—न
 देह इत्यादिना ॥ ११ ॥ १२ ॥ देशकालवस्तु निरूप्य त्रिविध-
 परिच्छेदादिना ब्रह्मैवास्ति । एतैर्देहादिभिः । शतशब्द आनन्द-
 पर । भूतभाविदेहकोशानां हृदि वासनात्मना स्थितानामान-
 न्यात् ॥ १३ ॥ एवं कोशशतेन हृदि चित्ते यत्र यस्मिन्सति
 एतद्दृश्यमाविर्भावतिरोभावादिना स्पन्दते तत्सन्मात्रमेवात्मपदं
 भवेत्, सभावितमित्यर्थः । एवं कार्यकारणविलक्षणं तत्संभाव-
 नीयमित्याह—यच्चेति । यद्ब्रह्म आद्यं महाकल्पादिकाले भव-
 मन्त्याकृतारूपं कारणम् । तथा कल्पान्तं प्राकृतादिप्रलयरूपं
 च न । सर्गकालेऽपि इह एतस्मिन् लोके अमुत्र परलोके वा
 अनिलादिभिः शोषणदहनक्लेदनभेदनादिविकारैः क्वचित्सद्रूपा-
 दन्यथा न भवतीति सविकारवस्तु आदिपदात्तद्विकाराश्च यत्र
 भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥ ननु देहादिविकारैस्त्वदनुगतसद्रूपस्यापि
 विकारः किं न स्यात्तत्राह—जायन्ते चेति ॥ १५ ॥ तर्हि किं

जायन्ते च म्रियन्ते च देहकुम्भाः सहस्रशः ॥ १५
 सबाह्याभ्यन्तरस्यास्य नात्माकाशस्य खण्डना ।
 तच्च देहादि सकलमात्मैवात्मविदां चर ॥ १६
 केवलं बोधवैरूप्यादीष्वप्युपस्थितं स्थितम् ।
 विष्वगात्ममयं विश्वं ज्ञातं बुद्ध्या सुसिद्धया ॥ १७
 प्रज्वलन्नपि कार्येषु निर्वाणो निर्ममो भव ।
 यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजंगमम् ॥ १८
 तत्सर्वं ब्रह्म निर्धर्मं निर्गुणं निर्मलात्मकम् ।
 निर्विकारमनाद्यन्तं नित्यं शान्तं समात्मकम् ॥ १९

कालक्रियाकरणकर्तृनिदानकार्य-

जन्मस्थितिप्रलयसंस्तरणादि सर्वम् ।

ब्रह्मेति दृष्टवत् एव तवात्मदृष्ट्या

भूयोऽपि किं भ्रमणमङ्ग समङ्ग एव ॥ २०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अपुनःप्रागवस्थानं यत्स्वरूपविपर्ययः ।
 तद्विकारादिकं तावत् यत्क्षीरादिषु वर्तते ॥ २

देहादि पृथगस्ति, नेत्याह—तच्चेति ॥ १६ ॥ विष्वक् सर्वतः
 सुसिद्धया श्रवणाद्युपायपरिष्कृतया ॥ १७ ॥ अतएव व्यवहरन्नपि
 निर्विकारात्मदर्शनाभिसमुक्तात्मस्वरूपस्तिष्ठेत्याह—प्रज्वलन्न-
 पीति । प्रज्वलन् स्वराज्ययोग्यव्यवहारेषु वीक्ष्यमानः ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ हे अङ्ग, कालादि सर्वं जगद्ब्रह्मात्मदृष्ट्या दृष्टवत्स्त्व-
 किं भूयोऽपि भ्रमणं संभवति नैवं संभवतीत्यर्थः । यतस्त्वं वस्तुतः
 सममविषयं स्वरूपं गच्छति सदैव प्राप्तवानसीति समङ्ग एव ।
 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इति श्रुतेरिति भावः ॥ २० ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहाराजमायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 ब्रह्मैकात्म्यप्रतिपादनं नामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

विकारैरभ्यो विवर्तस्य वैलक्षण्यमिहोच्यते ।

अप्रबोधाद्विद्यासि प्रबोधे नास्ति सेति च ॥ १ ॥

विकारारम्भाभ्यां विवर्तस्य लक्षणतो मेदं जिज्ञासमानो
 रामः पृच्छति—यदीति । आदिपदादारम्भपरिग्रहः । बृंहिते
 नित्यनिरतिशयबुद्धिमति त्रिविधपरिच्छेदशून्ये इति यावत् ॥ १ ॥
 तत्र कारणे कार्योद्भवः पञ्चधा अतिरोहितप्रागवस्थः १ अति-
 बद्धप्रागवस्थः २ प्रच्छन्नप्रागवस्थः ३ अप्रच्छन्नप्रागवस्थः
 ४ विनष्टप्रागवस्थः ५ चेति । आद्यो मृदादेर्धटादिभावः ।
 द्वितीयो जलस्य हिमकरकाभावः । तृतीयो रज्ज्वाः सर्पभावः ।
 चतुर्थो जलस्य तरङ्गभावः । पञ्चमो दुग्धस्य दधिभावः ।
 तत्रान्य एव जन्मादिभावविकारः परिणामश्च, इतरे तु विवर्त-
 भेदा एवेत्याशयेन प्रथमं वसिष्ठो विकारलक्षणमाह—अपुन-
 रिति । यत्क्षीरव्रीह्यादिषु दधिवैतुष्यादिलक्षणं कार्यं पुनः

पयस्तां पुनरभ्येति दधित्वान्न पुनः पयः ।
 बुद्धमाद्यन्तमध्येषु ब्रह्म ब्रह्मैव निर्मलम् ॥ ३
 क्षीरादेरिव तेनास्ति ब्रह्मणो न विकारिता ।
 अनाद्यन्तविभागस्य न चैषोऽवयविक्रमः ॥ ४
 समस्याद्यन्तयोर्येयं दृश्यते विकृतिः क्षणात् ।
 संविदः संभ्रमं विद्धि नाविकारेऽस्ति विक्रिया ॥ ५
 न संवेद्यं न संवित्तिस्तत्र ब्रह्मणि विद्यते ।
 तद्ब्रह्मशब्दकथितं निःसंबन्धचिदात्मवत् ॥ ६
 यादृगाद्यन्तयोर्वस्तु तादृगेव तदुच्यते ।
 मध्ये यस्य यदन्यत्वं तदबोधाद्विजृम्भितम् ॥ ७
 आत्मा त्वाद्यन्तमध्येषु समः सर्वत्र सर्वदा ।
 स्वमप्यन्यत्वमायाति नात्मतत्त्वं कदाचन ॥ ८
 अरूपत्वात्तथैकत्वान्नित्यत्वादयमीश्वरः ।
 वशं भावविकाराणां न कदाचन गच्छति ॥ ९

श्रीराम उवाच ।

विद्यमाने सदैकस्मिन्ब्रह्मण्येकान्तनिर्मले ।
 संविद्धमस्वरूपाया अविद्यायाः क आगमः ॥ १०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ब्रह्मतत्त्वमिदं सर्वमासीदस्ति भविष्यति ।
 निर्विकारमनाद्यन्तं नाविद्यास्तीति निश्चयः ॥ ११
 यस्तु ब्रह्मेति शब्देन वाच्यवाचकयोः क्रमः ।
 तत्रापि नान्यताभावमुपदेष्टुं क्रमो ह्यसौ ॥ १२
 त्वमहं जगदाशाश्च द्यौर्भूश्चाप्यनलादि वा ।

आकनक्षीरादिभावस्थानशून्यं क्षीरादिस्वरूपविपर्ययरूपं विद्यते
 तदेव विकारसंस्कारपरिणामादिशब्दवाच्यमित्यर्थः ॥ २ ॥
 ब्रह्मणि जगद्वर्णं कार्यं तु न तथा तद्वैधर्म्यादित्याह—
 अबुद्धमिति ॥ ३ ॥ अस्तु तर्हि परमाणुभिर्बणुकादीनामिवाव-
 यव्यारम्भक्रमस्तत्राह—अनाद्यन्तैति । आद्यन्तलक्षणदैशि-
 कपरिच्छेदवत्सु क्रियासंयोगादिविभागवत्सु चावयवेष्ववयवव्या-
 रम्भक्रमः स्यान्न तद्विलक्षणस्य ब्रह्मणः स इत्यर्थः ।
 एतेन बहूनां संयुक्तानां समवेतानां वा खेषु स्वाधयसमवेते
 वा समवाये नैककार्यजनकत्वमारम्भकत्वम् । यथा तन्तूनां
 पटं प्रति । यथा वा कारणगुणानां कार्यगुणं प्रतीति वैशेषिकाद्य-
 भिमतलक्षणं सूचितम् । तथाच कणादसूत्रम् 'द्रव्याणि द्रव्यान्त-
 रमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' इति ॥ ४ ॥ ब्रह्मणि जगत्सु
 परिशेषाद्विवर्तत्वमेव सिद्धमिति तल्लक्षणेन दर्शयति—
 समस्येति । विकृतिरन्यथाभावः । संभ्रमं विवर्तः । तथा
 चाद्यन्तयोः समे तदसंस्पर्शवैषम्यप्रतिभासो विवर्त इति तल्ल-
 क्षणमिति भावः ॥ ५ ॥ तदसंस्पर्शं दर्शयति—न संवेद्य-
 मिति ॥ ६ ॥ मध्ये विकारसंस्पर्शः कथं ज्ञायत इति चेदाद्यन्त-
 योस्तदसंस्पर्शस्वभावधारणादेव लिङ्गादित्याह—यादृगिति
 ॥ ७ ॥ आत्मनस्तु प्रकाशस्वाभाव्येन समता सर्वानुभवसिद्धा ।

ब्रह्ममात्रमनाद्यन्तं नाविद्यास्ति मनागपि ॥ १३
 नामैवेदमविद्येति भ्रममात्रमसद्विदुः ।
 न विद्यते या सा सत्या कीदृग्राम भवेत्किल ॥ १४
 श्रीराम उवाच ।
 उपशमप्रकरणे ह्यस्तने तु त्वयेरितम् ।
 अविद्येयं तथेत्यं च विचार्यत इति प्रमो ॥ १५
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 एतावन्तमबुद्धस्त्वमभूः कालं रघूद्वह ।
 कल्पिताभिः किलैताभिर्बोधितोसि स्वयुक्तिभिः ॥ १६
 अविद्येयमयं जीव इत्यादिकलनाक्रमः ।
 अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदां वरैः ॥ १७
 अप्रबुद्धं मनो यावत्तावदेव भ्रमं विना ।
 न प्रबोधमुपायाति तदाक्रोशशतैरपि ॥ १८
 युक्त्यैव बोधयित्वैष जीव आत्मनि योज्यते ।
 यद्युक्त्यासाद्यते कार्यं न तद्यत्नशतैरपि ॥ १९
 सर्वं ब्रह्मेति यो ब्रूयादप्रबुद्धस्य दुर्मतेः ।
 स करोति सुहृद्वृत्त्या स्थाणोर्दुःखनिवेदनम् ॥ २०
 युक्त्या प्रबोध्यते मूढः प्राज्ञस्तत्त्वेन बोध्यते ।
 मूढः प्राज्ञत्वमायाति न युक्त्या बोधनं विना ॥ २१
 एतावन्तमबुद्धस्त्वं कालं युक्त्या प्रबोधितः ।
 इदानीं संप्रबुद्धस्त्वं मया येनावबोध्यसे ॥ २२
 ब्रह्माहं त्रिजगद्ब्रह्म त्वं ब्रह्म खलु दृश्यभूः ।
 द्वितीया कलना नास्ति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २३

अनात्मभावश्च तस्यात्यन्तासंभाव्य इत्याह—आत्मा त्विति
 ॥ ८ ॥ ९ ॥ चित्प्रकाशैकरसे ब्रह्मणि तद्विरुद्धस्वभावाया अवि-
 द्यायाः कथं असक्तिर्येन तत्र जगद्विवर्तः स्यादिति प्रबुद्धदृशा रामः
 शङ्कते—विद्यमाने इति ॥ १० ॥ न प्रबुद्धदृशा अविद्यासद्भावं
 ब्रूमः, किंत्वबुद्धव्युत्पादनाय कल्पनयेत्याशयेनोत्तरमाह—
 ब्रह्मतत्त्वमिति । सर्वं पूर्णम् ॥ ११ ॥ न अन्यताया भावं सद्भावं
 वदामः किंतूपदेष्टुमसौ क्रमः कल्पित इत्यर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥ यद्यविद्या नास्त्येव तर्ह्युपशमप्रकरणे 'यथा भ्रान्तिरवि-
 द्येयं तथेत्यं च विचार्यते' इति त्वयैवाविद्यासद्भावमङ्गीकृत्योक्त-
 मिति रामः शङ्कते—उपशमेति ॥ १५ ॥ तत्तु तवानोधद-
 शायां त्वद्वृत्त्यनुसारिकल्पनयोक्तमिदानीं तु त्वं प्रबुद्ध इति न
 तत्कल्पनावसर इत्यविरोध इत्याह—एतावन्तमिति ॥ १६ ॥
 ॥ १७ ॥ भ्रममविद्यादिशास्त्रीयव्यवहारकल्पनाम् । तत् मनः
 ॥ १८ ॥ युक्तीनामसंभावनादिपुरुषदोषनिरासकत्वादिति भावः
 ॥ १९ ॥ सत्सु तु दोषेषु तत्त्वोपदेशो व्यर्थ इत्याशयेनाह—
 सर्वमिति ॥ २० ॥ २१ ॥ येन यादृशोपदेशेनावबोध्यसे तं
 शृण्विति शेषः ॥ २२ ॥ तमेवाह—ब्रह्मेति । यथेच्छसीति ।
 ऐच्छिकेन व्यवहारेण न वास्तवब्रह्मत्वहानिरिति भावः ॥ २३ ॥

असंवेद्यमहासंविक्तोऽतिमात्रं जगद्वयम् ।
 एकप्रत्ययवान्तः कुर्वद्यपि न लिप्यसे ॥ २४
 भारूपश्चेतनो व्यापी परमात्माहमित्ययम् ।
 राघवानुभवान्तस्त्वं तिष्ठन्गच्छच्छ्रसन्स्वपन् ॥ २५
 निर्ममो निरहंकारो बुद्धिमानसि साधु चेत् ।
 तद्ब्रह्म वेदनं शान्तं सर्वभूतस्थितं भव ॥ २६
 तदनाद्यन्तमाभासं सत्त्वमेव परं पदम् ।
 स्थितोऽसि सर्वगैकात्म्यशुद्धसंविन्मयात्मकः ॥ २७
 यद्ब्रह्मात्मापि तुर्यश्च याऽविद्या प्रकृतिश्च या ।
 तदभिन्नसदैकात्म्यं यथा कुम्भशतेषु सृत् ॥ २८
 नात्मनः प्रकृतिर्मिथा घटान्मृन्मयता यथा ।
 सन्मृन्मात्रं यथा चान्तरात्मैवं प्रकृतिः स्थिता ॥ २९
 आवर्तः सलिलस्येव यः स्पन्दस्त्वयमात्मनः ।
 प्रोक्तः प्रकृतिशब्देन तेनैवेह स एव हि ॥ ३०
 इत्यर्थे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पूर्वा० संसृतिविचारयोगो नामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

यथैकः स्पन्दपवनौ नाम्ना भिन्नौ न सत्तया ।
 तथैकमात्मप्रकृती नाम्ना भिन्ने न सत्तया ॥ ३१
 अबोधोदेतयोर्भेदो बोधेनैव विलीयते ।
 अबोधोदात्सन्मयो याति रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥ ३२
 चित्क्षेत्रे कलनावीजं यदेतत्पतति स्फुरन् ।
 चित्ताङ्कुरं तदेतस्माद्भाविसंसारखण्डकः ॥ ३३
 एतदेवात्मविज्ञानाद्ग्रह्यं सद्वासनाजलैः ।
 संसिक्तमपि यत्नेन न भवत्यङ्कुरक्षमम् ॥ ३४
 नो चेत्पतति चित्क्षेत्रे कलनावीजकं ततः ।
 चित्ताङ्कुरा न जायन्ते सुखदुःखलवदुमाः ॥ ३५
 द्वित्वं जगत्सदुपात्तमबोधजातं
 बोधक्षयं जहिहि बोधमुपागतोऽसि ।
 आत्मैकभावविभवेन भवामयात्मा
 नास्त्येव दुःखमिति नः परमार्थसारः ॥ ३६

पञ्चाशः सर्गः ५०

श्रीराम उवाच ।

ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं दृष्टं द्रष्टव्यमक्षतम् ।
 परेण परिपूर्णाः स्मो ब्रह्मज्ञानासृतेन ते ॥ १
 पूर्णात्पूर्णमिदं पूर्णं पूर्णात्पूर्णं प्रसूयते ।
 पूर्णेनापूरितं पूर्णं स्थिता पूर्णं च पूर्णता ॥ २

कोटिः सर्वान्तिवाधानविस्तृतात्रम् । एकेति । 'तत्र को
 मोहः क. शोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यादिश्रुतेरिति भावः
 ॥ २४ ॥ हे राघव, त्वं तिष्ठन् गच्छन् श्वसन् स्वपंश्च अन्तः
 अहंभावरूप आत्मेत्यनुभव ॥ २५ ॥ वेदनं चिदेकरसं ब्रह्म
 भव ॥ २६ ॥ सर्वगैकात्म्यशुद्धसंविन्मयात्मकः स त्वमेव ।
 तच्छ्रुतिप्रसिद्धमनाद्यन्तं परं पदं सन् स्थितोऽसि ॥ २७ ॥
 यद्ब्रह्मेति । आत्मेति तुर्य इत्यपि च प्रसिद्धम् । या च अविद्या
 प्रकृतिश्चकाराण्यदिति च प्रसिद्धा तत्सर्वमभिन्नसन्मात्रैकात्मक-
 मित्यर्थः ॥ २८ ॥ यथा घटस्य मृन्मयता सद्वासवं मृन्मात्रं
 तथा प्रकृतिरित्यर्थः ॥ २९ ॥ स्पन्दो विवर्तनम् । तेन सन्मात्र-
 स्वभावेनेह स्वविवर्तं स आत्मैवास्ति नाणुमात्रमप्यन्यदित्यर्थः
 ॥ ३० ॥ सत्तया वस्तुवृत्तेन ॥ ३१ ॥ सन्मयः सन्मात्रः ।
 याति । रूपान्तरमिति शेषः ॥ ३२ ॥ तदेव चित्ताङ्कुरं तस्मा-
 त्स्फुरन् भाविसंसारवनखण्डकः सपद्यत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥
 एतत्कलनावीजमेव ॥ ३४ ॥ नो पतति चेत् सुखदुःखफलाः
 शरीरदुमा येभ्यस्त्वयाविधाचित्ताङ्कुरा न जायन्ते ॥ ३५ ॥
 उपकान्तमुपदेशरहस्यमुपसंहरति—द्वित्वमिति । हे राम,
 जगति असदं आनन्दुपात्तं द्वित्वं जहिहि त्यज । 'आ च हौ'
 इति चकाराण्यदितेरे । यतस्त्वं बोधमुपागतोऽसि, आत्मैक-
 भावलक्षणेन निरतिशयानन्दविभवेन अभवात्मा भव । दुःखं दु-

लीलयेवं तु पृच्छामि भूयोबोधाभिवृद्धये ।
 बालस्येव पिता ब्रह्मज्ञ कोपं कर्तुमर्हसि ॥ ३
 श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
 विद्यमानमपि ब्रह्मन् दृश्यमानमपि स्फुटम् ॥ ४

कालत्रयेऽपि नास्त्येवेति नः परमार्थसार उपदेश इत्यर्थः ॥ ३६ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वा०
 संसृतिविचारयोगो नामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इह कल्पनया जीवे लिङ्गपुर्यष्टकोद्भवः ।

वर्णितोऽस्मैस्तथा तस्य बाह्यार्थग्रहणक्रमः ॥ १ ॥

'भित्तये हृदयग्रन्थिदिल्लवन्ते सर्वसंशयाः' इति श्रुतेस्त्वं
 साक्षात्कारेण स्वयं लिङ्गसर्वदशयोऽपि रामः परेषामुपकाराय
 तत्संशयपदं प्रष्टुकामः अथनं खानुभवमभिलष्य दर्शयति—
 ज्ञातमित्यादिना । वर्यं ते त्वत्संबन्धिना ब्रह्मज्ञानासृतेन परि-
 पूर्णाः स्मः ॥ १ ॥ खानुभवेन 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुद-
 च्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' इति श्रुतिं सवाद-
 यति—पूर्णादिति । पूर्णाद्ब्रह्मणः सकाशादुपाधौ प्रविश्य आन-
 न्नाप्राप्तपूर्णमिदं जीवरूपं परमार्थतः पूर्णं ब्रह्मैव । यतः पूर्णाद्य-
 द्रियदादिक्रमेण प्रसूयते व्यष्टिसमष्ट्युपाधिरूपं तदपि पूर्णमेव
 प्रसूयते । तद्यदा महावाक्योत्थेनाहं ब्रह्मास्मीति ज्ञानेन समूलो-
 पाधिपरिच्छेदापनयनात्पूर्णं ब्रह्मणा पूर्णमेव जीवतत्त्वमखण्डै-
 क्येनापूरितं तदा कल्पितं पूर्णता भ्रमस्याप्यमात्पूर्णस्य पूर्णतैव
 प्राविशतैवावस्थितेत्यर्थः ॥ २ ॥ भूयसा जनानां बोधाभिवृद्धये
 बालस्य लीलाप्रश्ने पितेव कोपं कर्तुमर्हसि ॥ ३ ॥ सर्वेषां घ्राणिनां
 हृद्येवार्थानुभवोलेखदर्शनादिप्रियाप्रियदर्शनजन्यसुखदुःखयोर्द्वय-

कथं मृतस्य वै जन्तोर्विषयं खं न पश्यति ।
जीवतश्च कथं सर्वं विषयं खं प्रपश्यति ॥ ५
कथं घटादिबाह्यत्वमिन्द्रियाणि जडान्यपि ।
शरीरेऽनुभवन्त्यन्तः पुनर्नानुभवन्त्यपि ॥ ६
अयःशलाकोपमयोर्घटादीन्द्रिययोः किल ।
अश्लिष्टयोरन्तरसौ कथं तन्नोदिता मिथः ॥ ७
जानन्नपि यदेतान्वै विशेषाञ्छतर्था पुनः ।
पृच्छामि तदशेषेण कथयस्वानुकम्पया ॥ ८

नुभवाच्चिरानुभूतानामपि बाह्यार्थानां ह्येव स्मृतिदर्शनाच्च ह्येव बाह्यार्थानामप्यनुभवो वाच्यः । तत्र श्रोत्रचक्षुरादीन्द्रियाणां बाह्यार्थान् हृदयानेतुमशक्तेरचेतनत्वेन च स्वयं बहिर्गत्वानुभूयाग-
त्याख्यातुमशक्तेश्च श्रोत्रादिगोलकातिरिक्तेन्द्रियाभ्युपगमो व्यर्थः । नवान्तःकरणावच्छिन्नं जीवचैतन्यमेवेन्द्रियप्रणाध्या निर्गल्य बाह्यघटादि व्याप्य तदनुभवतीति कल्पनापि युक्ता । तथा सति बहिरेवानुभवोलेखापत्तेः । प्रियाप्रियदर्शनप्रयुक्तसुखदुःखानामपि बहिरुदयापत्तेः । कालान्तरेऽन्तःस्मृत्यनापत्तेश्च । अन्तः-
विषयप्रवेशमन्तरेणान्तरनुभवयोगात् । नच बहिरन्तःकरण-
वृत्तिविषयालिङ्गनेन तदाकारलाञ्छनं संस्काराख्यं गृहीत्वान्तः-
प्रविश्य नट इव तदाकारं विडम्बयन्ती तदनुभावयति स्मारं-
यति वेत्युच्यत इति कल्पनापि युक्ता । घटाद्याकारोनुभवानां तल्लाञ्छनविषयत्वकल्पने अमप्रमयोरविशेषापत्तेः सर्वत्रैवान्वा-
सप्रसङ्गात् । घटादेर्बाह्यत्वानुभवानापत्तेश्च । इत्थं चानुभवं आन्तरो घटादिश्च बाह्य इत्यनयोरसंबन्धाच्च कथंचिदपि बाह्या-
र्थस्यानुभवारोहणमुपपादयितुं शक्यम् । अतएव नैयायिका-
दयोऽनुभवस्य विषयैः सह विषयविषयिभावलक्षणः स्वरूपसं-
बन्ध एव न संश्लेषादिलक्षणे इत्याचक्षते—नच सोऽपि युक्तः । असंबद्धस्वरूपस्य सर्वान्विषयान्प्रत्यविशिष्टत्वेन विषयव्यव-
स्थाऽयोगात् । नचात्मा मनसा संयुज्यते भन इन्द्रियेणेन्द्रियम-
र्थेनेति क्रमेण स्वाश्रयसंयुक्तसंयुक्तसंयोगादिपरम्परसंबन्धव्यव-
स्थया व्यवस्था । अननुगतस्य परम्परसंबन्धस्य स्मृत्यनुमित्या-
द्यनुगततत्तद्विषयव्यवस्थापकत्वायोगात् । परम्परसंबन्धेन बाह्यार्थापरोक्ष्यानिर्वाहोत्तस्यैव व्यवस्थापकत्वे स्वरूपसंबन्धक-
ल्पनवैयर्थ्याच्च । एतेन संनिकर्षद्वारा योऽर्थो यज्ज्ञानव्यक्तिजनकः स तद्विषय इति व्यवस्थापि प्रत्युक्ता । इन्द्रियादीनामपि तद्वि-
षयत्वप्रसङ्गात् । तस्मादघटितघटनासमर्थमायाशक्तिबलदेवा-
न्तर्बाह्यार्थानुभवो वाच्यः, तथा सति किं कर्णादिगोलकातिरिक्ते-
न्द्रियाभ्युपगमेनेति यथानुभवं तद्वारैव चिदात्मा बाह्यार्थमनु-
भवतीति स्यात् । तथा सति मृतशरीरेऽपि कर्णादीनां सर्वगतस्य सदात्मनश्च सत्त्वात्तत्रापि बाह्यार्थान्कुतो नानुभवतीति रामः-
शङ्कते—श्रोत्रमित्यादिना । श्रोत्रादिशब्दा गोलकपराः । अत-
एव स्फुटं दृश्यमानमपीति विशेषणम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ यदि कश्चिद्भूयाच्चक्षुरादीन्द्रियाणि स्वयं बहिर्निर्गल्य घटादीनां बाह्यत्व-

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इन्द्रियाद्यपि चित्तादि घटाद्यपि न किञ्चन ।
पृथक् संभवतीहाङ्ग निर्मलाचेतनादृते ॥ ९
गगनादपि याऽच्छा चित्तया रूपं स्वमात्मना ।
चित्त्वात्पुन्यष्टकत्वेन भाववृत्त्यैव भावितम् ॥ १०
तदेव च प्रकृतितां गतं जगदवस्थितेः ।
तस्या अवयवाज्जातमिन्द्रियादि घटादि च ॥ ११
पुन्यष्टकत्वमायातं यच्चित्तं स्वस्वभावतः ।
स्व एवावयवस्तस्मिन्घटादि प्रतिबिम्बति ॥ १२

मनुभूयान्तः प्रविश्य कथयन्तीति तत्राह—जडानीति । न तेषां पृथकेतनत्वं कथनसामर्थ्यं वा अस्तीति भावः । यदि कश्चिद्भू-
यादिन्द्रियाणि बाह्यार्थं हृदि नीत्वा स्थापयन्तीति तत्राप्याह—
पुनरिति । हृद्यर्थस्थापने पुनःपुनर्हृदि तदनुभवः स्यादघटादेर्हृद-
याद्वहिर्निःसारणादर्शनादिति भावः ॥ ६ ॥ ननु घटादिविषय-
जातं कर्तुं प्रथमं चक्षुरादीन्द्रियजातं स्वदेशमाकर्षति । तच्चा-
कृष्टमिन्द्रियं विषयं संवेष्ट्यान्तर्हृदिस्थाय भोके केनचिदंशेनान्त-
र्नयति घ्राणमिव गन्धमिति कल्पनामाशङ्क्याह—अथ इति ।
विषयाः संश्लिष्येन्द्रियाण्याकर्षयेयुर्नासंश्लिष्य, असंश्लिष्टरज्ज्वा-
दीनां घटाद्याकर्षकत्वादर्शनात् । नच गोलकप्रदेशानुपसर्पिणां
घटादीनां तत्संश्लेषः संभवति । नापीन्द्रियाणां रज्ज्वाद्वदसंश्ले-
षस्तदाकर्षकत्वं वा प्रसिद्धम् । सिद्धप्रदेशनिखातायःशलाकाद्वय-
वद्विच्छेदशक्त्यादित्याह—अश्लिष्टयोरिति । अश्लिष्टयोर्घटा-
दीन्द्रिययोर्मिथः असौ त्वदुच्यमाना तन्नोदिता परस्परार्कर्षण-
शीलता तत्रापि नेत्राद्यल्पविवरान्तर्घटादिस्थूलप्रवेशकता कथं
सर्वानुसंवेदिरुद्धेत्यर्थः ॥ ७ ॥ ननु तत्त्वबोधेन चिञ्चनसर्वसंशयस्य
तत्रैव कथं मायामये सर्वानुपपत्तिभाजनेऽस्मिन्व्यवहारे ईदृशः
संशयस्तत्राह—जानन्नपि । शतधा बहुधा पुनः पृच्छामि ।
अङ्गानेप्रहार्थमित्यर्थः ॥ ८ ॥ अत्यल्पमिदमुच्यते यद्गोलकाति-
रिक्तानीन्द्रियाणि न सन्तीति । यतः सम्यग्विमर्शे चिद्यतिरे-
केण प्रमातृप्रमाणप्रमेयविभागाः केऽपि न निरूपयितुं केनापि
वार्दिना शक्यन्त इत्याशयेन वसिष्ठः प्रथमं समाधत्ते—इन्द्रि-
यादीति ॥ ९ ॥ यदि तु कल्पनया द्रष्टृदृश्यस्य चोपपत्तिं मन्यसे
तर्हि इन्द्रियादिघटितपुन्यष्टकत्वेनापि पूर्वपूर्ववासनानुसारेण
कल्पनोपपत्तेर्न किञ्चिदनुपपन्नमित्याशयेनाह—गगनादपीति ।
तया चित्ता आत्मना मायाशबलस्वभावेन पुन्यष्टकत्वेन खं रूपं
भाववृत्त्यां पूर्वपूर्ववासनानुसारेण भावितं कल्पितमित्यर्थः
॥ १० ॥ उक्तेऽर्थे 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्व-
रम् । अस्यावयवभूतैस्तु व्योमं सर्वमिदं जगत्' इति श्रुतिं
प्रमाणयति—तदेव चेति ॥ ११ ॥ एवं चेन्द्रियद्वारा बहिर्नि-
र्गतेन पुन्यष्टकघटकेन चित्तेन घटादिव्याप्त्या स्ववृत्तिप्रतिबिम्ब-
तं घटादेर्बाह्यत्वाकारेणैव हृदये नीत्वा प्रदर्शनं तथैव कालान्तरे
स्मृतिः स्वप्ने चान्तर्गतस्यैव बाह्यत्वेनानुभवश्चेति सर्वमुपपन्नमि-
त्याशयेनाह—पुन्यष्टकत्वमिति । एवंरीत्या पुन्यष्टकत्वमायातं

श्रीराम उवाच ।

जगत्सहस्रनिर्माणमहिम्नो दर्पणस्य च ।
पुर्यष्टकस्य भगवन्रूपं कथय कीदृशम् ॥ १३

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अनाद्यन्तं जगद्बीजं यद्ब्रह्मास्ति निरामयम् ।
भारूपं शुद्धचिन्मात्रं कलाकलनवर्जितम् ॥ १४
कलनोन्मुखतां यातमन्तर्जीव इति स्मृतः ।
स जीवः खलु देहेऽस्मिन्निनोति स्पन्दते स्फुटम् ॥ १५
अहंभावादहंकारो मननान्मन उच्यते ।
बोधनिश्चयतो बुद्धिरिन्द्रियेस्तथेन्द्रियम् ॥ १६
देहभावनया देहो घटभावनया घटः ।
एष एव स्वभावात्मा जनैः पुर्यष्टकं स्मृतः ॥ १७
ज्ञात्वकर्तृत्वभोक्तृत्वसाक्षित्वाद्यभिपातिनी ।
या संविज्जीव इत्युक्ता तद्धि पुर्यष्टकं विदुः ॥ १८
काले काले ततो जीवस्त्वन्योन्यो भवति स्वतः ।
भाविताकारयान्तवासनाकणिकोदयम् ॥ १९
पुर्यष्टकस्वभावेन कालेनाकारमृच्छति ।
यथावासमतः सेकाद्बीजं पल्लवतामिव ॥ २०

चिद्रूपं तत्त्वमेव पुर्यष्टकस्य चित्तादिघटितस्वभावतः स्वयमेव
सः चित्तवृत्त्याख्योऽवयवो भवति । तस्मिन्जनयन् घटादि
वाद्यं बाह्याकारेणैव प्रतिबिम्बति । घटदेहे तु पुर्यष्टकघटि-
तस्य लिङ्गात्मनो जीवस्य स्वकल्पनयैव लीलोपाख्यागोपदर्शित-
रीत्या निर्गमनाच्च दर्शनादिसामर्थ्यामिति सर्वदोषपरिहार इति
भावः ॥ १२ ॥ यथैवं तर्हि पञ्चीकृतभूतभागेन जगदाकारेण
परिणमतोऽपञ्चीकृतभूतकार्यलिङ्गभागेन तत्प्रतिबिम्बग्रहदर्पण-
भूतस्य च पुर्यष्टकस्यैव किं रूपं तदेव कथयेति राम पृच्छति—
जगदिति ॥ १३ ॥ तत्स्वरूपं वक्तुं षष्टिस्तन्मूलमज्ञातं ब्रह्म-
तत्त्वं निर्दिशति—अनाद्यन्तमिति ॥ १४ ॥ तद्ब्रह्म नियदादि-
भूतसूक्ष्मं सद्वा तेनापञ्चीकृतेन लिङ्गं पञ्चीकृतेन ब्रह्माण्डं च
शुद्धा तदन्तःप्रतिबिम्बलक्षणकलनोन्मुखता यातं सत् सूत्र-
प्राणानामभिमानेन धारणाजीव इति स्मृतोऽभूदित्यर्थः । चिनोति
वासनोपचयनाग्नोपचयेन चोपचितो भवति । उपचितश्च
बाह्यान्तर्मापारात्मना स्पन्दते चेत्यर्थः ॥ १५ ॥ तस्यैवाभि-
मानादिव्यापारभेदेन नामभेदानाह—अहंभावादित्यादिना
॥ १६ ॥ सर्वव्यापारसाधारणस्वभावात्मा पुर्यष्टकमिति नाम्ना
स्मृतः ॥ १७ ॥ ज्ञानेन्द्रियव्यापारेण ज्ञत्वं, कर्मेन्द्रियव्यापारेण
कर्तृत्वं, तत्फलमुखदुःखाश्रयत्वेन भोक्तृत्वं, सर्वस्योदासीन्येन
प्रकाशेन साक्षित्वम् । आदिपदाद्भोगकरणत्वायतनत्वादिपदि-
ग्रहः । एतदभिपातिनी अध्यासेनैतद्वर्गिका या सविस्मैव
चित्प्राधान्येन जीव इत्युक्ता, जडागप्राधान्येन तदेव पुर्यष्टकं
मिदुरित्यर्थः ॥ १८ ॥ अतएव स्वतादात्म्यभावितादुज्जाकाराणां
कालभेदेन भेदाज्जीवोऽपि कामक्रोद्धर्षविषादाद्यनुरजितो नानैव
भवतीत्याह—काले काले इति । अनन्तवासनाकणिकोदय-

आकारोऽहं शरीरादि स्थावरादि चरादि च ।
नाहमाद्यश्चिदात्मेति मिथ्या ब्रानेन चेतति ॥ २१
अमत्येव जगज्जीवो वासनावलितश्चिरम् ।
ऊर्ध्वाधोगमनैरन्धौ काष्ठं धीचिह्नं यथा ॥ २२
कश्चिद्विशुद्धजातित्वाद्भवबन्धादनन्तरम् ।
बुद्धात्मानं समभ्येति पदमाद्यन्तवर्जितम् ॥ २३
कश्चित्कालेन बहुना भुक्तयोनिगणातुरः ।
आत्मज्ञानवशादेति परमं पदमात्मनः ॥ २४
एवंरूपश्च सुमते जीवो यातः शरीरताम् ।
नेत्रादिना घटाद्यन्तर्यथा वेत्ति तथा शृणु ॥ २५
चिस्त्वस्य कलनान्तस्य संप्रयातस्य जीवताम् ।
मनःपष्ठेन्द्रियग्रामो देहोऽयमवतिष्ठते ॥ २६
यदान्यः सर्वदेहेभ्यः खे पतत्यक्षरूपिणा ।
तदा तज्जीवसंस्पर्शाज्जीवात्मैकत्वमृच्छति ॥ २७
बाह्यार्थवेदने नित्यं संबन्धोऽक्षस्य कारकः ।
समन्वितस्य चित्तेन न मुक्तस्य कदाचन ॥ २८
यद्यदृच्छतरं तस्मिन्नभःस्थं प्रतिबिम्बति ।
जीवेन भवति श्लिष्टो बहिर्जीवोऽप्यजीवति ॥ २९

माकारमृच्छतीति परेणान्वयः ॥ १९ ॥ तस्यैव समष्टिबन्धि-
जीवस्य बीजस्याङ्कुरकाण्डपल्लवादीन् सर्वं जगदाकार इत्याशये-
नाह—यथेति ॥ २० ॥ अतएवाद्यश्चिदात्मा नाहं किंतु घटी-
राद्याकार एवाहमिति मिथ्याज्ञानेन चेतति पश्यति ॥ २१ ॥
॥ २२ ॥ कश्चित्तनकादितुल्यः कल्यादावेव प्राक्कल्पीयभव-
न्धादनन्तरमाद्ये जन्मन्येवेत्यर्थः । अयं च सर्वो विभागः सात्त्विक-
कराजसादिजीवभेदवर्णने उत्पत्तिप्रकरणे व्याख्यातः ॥ २३ ॥
॥ २४ ॥ कथं घटादिबाह्यत्वमिन्द्रियाणि जडान्यपीति यत्पृष्ठं
तत्सामान्यतः समाहितमपि विशेषेण समाधत्ते—एवंरूप
इत्यादिना ॥ २५ ॥ चित्त्वस्य चैतन्यस्य कलनान्तस्य पुर्यष्टके
प्रतिबिम्बतया परिच्छेद्यस्वान्ताग्रेभ्यो व्याप्तौ परिमादुतयाव-
तिष्ठते । तेन सदा जीवचैतन्यं देहपरिमितं देहान्तर्गतमेव
मुखदुःखादिसवन्धादनुभवति न बाह्यम् ॥ २६ ॥ यदा तु
अन्यो बाह्यघटादिर्द्रष्टव्यो भवति तदा तज्जागदुद्रिक्तं जलं
कुल्याद्वारेणैव सर्वदेहेभ्य उद्रिक्तं चक्षुराद्यक्षरूपिणा द्वारेण
बाह्ये घटादिपर्यन्ते खे बाह्याकाशे पतति निर्गच्छतीत्यर्थः ।
किं तत्स्वनाह—तदेति । तदा तद्ब्रह्मादिनयनादिद्वारनिर्गत-
जीवेन स्वाकारवृत्तिव्याप्तिद्वारा संस्पर्शाध्यापनाजीवचैतन्येन
सहैकत्वमाभ्यासिकचित्तादात्म्यलक्षणं विषयत्वमृच्छति गच्छति
॥ २७ ॥ स चाक्षस्य संबन्धश्चित्तेन समन्वितस्य जीवत एव
बाह्यार्थवेदने कारको भवति न घृतस्य मुक्तस्य वेत्यर्थः ॥ २८ ॥
अस्तु वहिरेवं तथापि कथमन्तस्तदनुभवस्तत्राह—यद्यदित्या-
दिना । यद्यदन्तःकरणवृत्तिरूपं नयनरश्मिरूपं वा खच्छतरं
वस्तु तस्मिन्बाह्यनभःस्थं घटादि प्रतिबिम्बति, स च प्रतिबिम्बो
वृत्त्यन्तर्गतेन जीवेन श्लिष्टो भवति । तर्हि वहिष्ठ एवाहं घट-

निघृष्टनवरत्नामे यदा नयनतारके ।
 तदा तयोर्बाह्यगतः पदार्थः प्रतिबिम्बयति ॥ ३०
 जीवेन भवति श्लिष्टः प्रतिबिम्बतया ततः ।
 जीवज्ञेयत्वमायाति बाह्यं वस्त्विति राघव ॥ ३१
 यत्संश्लेषमुपायाति तद्बालोऽपि हि विन्दति ।
 पशुर्वा स्थावरो वापि जीवः कस्मान्न वेत्स्यति ॥ ३२
 अचक्षुष्य नयनस्याथो रश्मयो जीववेष्टिताः ।
 कोडीकुर्वन्त्यलं दृश्यं जीवस्तत्त्वेन विन्दति ॥ ३३
 एष एव क्रमः स्पर्शं संबन्धः प्रत्ययोद्भवः ।
 रसे गन्धे च कथितो जीवसंस्पर्शसंभवः ॥ ३४
 शब्दस्त्वाकाशनिष्ठत्वात्कर्णाकाशगतः क्षणात् ।
 जीवाकाशं विशत्यन्तरित्थमिन्द्रियसंविदः ॥ ३५
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पूर्वा० अक्षसंवेदनविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः ५१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

न पुनर्भवतः पूर्वं संपन्नाश्चक्षुरादयः ।

मनुभवामीति कुतो नानुभूयते तत्राह—बहिरिति । यद्यपि बहिर्जीवोऽस्ति तथाप्यसौ बहिः अजीवति प्राणाश्च धारयति । नवो नलोपशब्दान्दसः । अनुव्यचलदितिवत्तिष्ठन्तोत्तरपदः समासो वा । यत्र प्राणव्याप्तिस्तत्रैवाहंतावमर्शो न बहिरित्यर्थः ॥ २९ ॥ अस्तुत्वेन तर्हि घटे प्रथाफलोपपत्तिस्तथापि कथमन्तर्हृदि घटाकारानुप्रवेशस्तत्राह—निघृष्टेति । यदा नयनतारके पटलादिदोषराहित्याच्छान्तिनिघृष्टनूतनेन्द्रनीलामे भवतस्तदा तयोस्तारकयोर्घटप्रतिबिम्बसहिता चित्तवृत्तिः प्रविशतीति बाह्यगतो घटादिपदार्थः प्रतिबिम्बतीत्युच्यते ॥ ३० ॥ स चैवं नयनतारकानुप्रविष्टः पदार्थो ह्यर्देनाहमभिमानवता जीवेन हृदि प्रतिबिम्बतया श्लिष्टो भवतीत्यर्थः । इति अनया रीत्या घटादि बाह्यं वस्तु बहिरवभासमानमेवान्तर्हृदि अहंकारसंवलितजीवज्ञेयत्वमायातीत्यर्थः ॥ ३१ ॥ चेतनस्यार्थसंस्पर्शं वेदननियमो बालपश्चादपि प्रसिद्ध इत्याह—यदिति । स्थावरेष्वपि गुल्मविशेषे स्पर्शमात्रेण पत्रसंपुटीकरणदर्शनात्तद्वेदनं सर्वत्रानुमीयत इति भावः ॥ ३२ ॥ दूरस्थविषयस्य कथं गोलकसंस्पर्श इति पामरशङ्कामपाकुर्वन्नाह—अच्छस्येति । गोलकातिरिक्तस्य स्वच्छतमस्येन्द्रियस्य रश्मयः प्रागुक्तरीत्या जीववेष्टिताः सन्तः पुरोवर्तिविषयं कोडीकुर्वन्त्यालिङ्गन्ति ॥ ३३ ॥ चक्षुष्युक्तं क्रमं स्पर्शादावप्यतिदिशति—एष एवेति ॥ ३४ ॥ शब्दे विशेषमाह—शब्दस्त्विति । शब्दस्य वृत्तिप्रतिबिम्बनं विनापि साक्षाच्छ्रोत्रद्वारान्तःप्रवेशोऽपि संभवतीति भावः । इत्थं गन्धस्यापि पवनद्वारान्तःप्रवेशसंभवोऽस्तु नामेत्याशयेन

श्रीराम उवाच ।

दृश्यते मानसादर्शे यन्नदावौदरेषु तत् ।
 प्रतिबिम्बितमेतन्मे ब्रूहि ब्रह्मन्किमात्मकम् ॥ ३६
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अत्यन्तजडयोरेव जीवयोरिव तन्मिथः ।
 प्रतिबिम्बं दृशो भ्रान्तिं विद्धि वेद्यविदां वर ॥ ३७
 तावन्मात्रं जगत्त्वेतद्विश्वासो मा तवास्त्विह ।
 अहमित्यादिस्तरङ्गो वर्तमानं सदा जलम् ॥ ३८
 पराम्भोघौ तु नास्त्येव देशकालक्रियादिकम् ।
 तन्मयैकतया नित्यमात्मा सर्वत्र सर्वगः ॥ ३९
 नित्यमसक्तमतिर्मुदितात्मा
 शान्तमृषासुखदुःखविदन्तः ।
 तिष्ठ निविष्टमतिः समताया-
 मस्तसमस्तभवामयमायः ॥ ४०

यथा कमलजस्यैतत्सर्वमेव त्वया श्रुतम् ॥ १

यथासंभवमुक्तन्यायमुपसंहरति—इत्थमिति ॥ ३५ ॥ इदानीं रामः प्रसङ्गात्सर्वेषां प्रतिबिम्बानां स्वरूपं जिज्ञासुः पृच्छति—दृश्यत इति । यत् मानसानि च आदर्शाश्च तत्समाहारे । काचकांस्यमणिजलादियन्त्रदारुणामौदरेषु उदराभिर्गतेषु नवपल्लवादिषु यत्प्रतिबिम्बितघटमुखप्रभादि एतत् किमात्मकं तन्मे ब्रूहीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ यत्र बिम्बस्य सत्यत्वेऽपि चित्प्रतिबिम्बभूतयोर्व्यष्टिसमष्टिजीवयोर्विम्बातिरिक्तं रूपं भ्रान्तिमात्रसिद्धं न निर्वक्तुं शक्यं, तत्रात्यन्तजडयोर्मुखदर्पणयोर्घटचित्तवृत्त्योर्वा परस्परसापेक्षं प्रतिबिम्बस्वरूपं दुर्वचमिति किं वाच्यमित्याशयेनोत्तरमाह—अत्यन्तेति । दृश्यैतन्मात्मनो भ्रान्तिं विद्धि ॥ ३७ ॥ न केवलं प्रतिबिम्बमात्रं भ्रान्तिरपि तु जगदपीत्याह—तावदिति । अप्यर्थे तुशब्दः । तावन्मात्रं भ्रान्तिमात्रम् । अतएव तव इह जगति विश्वासो मास्तु । अहमित्यादिः प्रपञ्चस्तरङ्गस्थानीयश्चिज्जलात्पृथगसन्नित्यर्थः । वर्तमानं तु सदा चिज्जलमेवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ हे राम त्वं नित्यमसक्तमतिः सन् शान्ता मृषाभूतसुखदुःखे वेत्तीति मृषासुखदुःखविदुर्द्विष्यत्तथाविधश्च भूत्वा अस्ता समस्ता भवलक्षणामयरूपा माया यस्य तथाविधः सन् समतायां ब्रह्मस्वभावे निविष्टमतिस्तिष्ठेत्यर्थः ॥ ४० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पू० अक्षसंवेदनविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

जीवः खानि मनो देहः पुर्यष्टकमिति अमः ।

अबोधादेव बोधे तु ब्रह्मैकमितीर्यते ॥ १ ॥

कलनोन्मुखतां यातमित्यादिना वर्णितमहंकारदेहेन्द्रिया-

ब्रह्मपुर्यष्टकस्यादावर्थसंविद्यथोदिता ।
 पुर्यष्टकस्य सर्वस्य तथैवोदेति सर्वदा ॥ २
 विद्धि पुर्यष्टकं जीवो यो गर्भस्थेन्द्रियोदयः ।
 यद्यथा भावयत्याशु तत्तथा परिपश्यति ॥ ३
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाख्यं विद्धि संवेदनं स्वकम् ।
 संपन्नं च यथा तत्ते प्रोक्तमाद्यमनःस्थितौ ॥ ४
 शुद्धा संवित्संभवन्ती संवेदनमनिन्दितम् ।
 ततोऽहंवेदनानन्तजीवपुर्यष्टकान्विता ॥ ५
 न त्वेकत्वादनन्तत्वादवेद्यत्वादानामये ।
 अभावत्वादानेकत्वादशून्यत्वात्परा स्थिता ॥ ६
 चेत्यादिवुद्ध्या तात्काचिन्न मनस्तां च गच्छति ।
 न च जीवत्वमायाति न च पुर्यष्टकात्मिका ॥ ७
 न विद्यादिविलासोऽस्ति सोस्ति नास्तीव यः सदा ।
 परमात्मेति कथितो मनःषष्ठेन्द्रियातिगः ॥ ८
 तस्मात्संपद्यते जीवश्चिन्मूर्तिर्मननात्मकः ।
 भ्रमः केवलमित्याद्य उपदेशाय गीयते ॥ ९
 यतः कुतश्चित्संपद्ये त्वविद्यामय आमये ।
 उपदेशोपदेशेन प्रविलीने विचारणात् ॥ १०

दीनां प्रागस्तां कल्पनं जीवसमष्टे, पञ्चजस्येव व्यष्टेस्तथापि
 तुल्यमिति तात्पर्यं त्वया ज्ञातमेवेति, वक्ष्यमाणोपोद्धाताय प्रथ-
 ममनुवदति—न पुनरिति । अप्यर्थे पुनःशब्दः । कमलजस्येव
 भवतोऽपि सृष्टेः पूर्वमनाद्यन्तमित्यादिवर्णितब्रह्मस्वभावे स्थितस्य
 चक्षुरादयो न संपन्ना इत्येतत्सर्वमेव त्वया, मद्बचनतात्पर्यं
 श्रुतम् । अवधारितमित्यर्थः ॥ १ ॥ एवं पुर्यष्टककल्पनोत्तरं
 व्यवहारार्थकल्पनमपि, समष्टिवदेव व्यष्टीनामित्याह—ब्रह्मेति ।
 ब्रह्मा हिरण्यगर्भः समष्टिपुर्यष्टकं तस्य, यथा सर्गादौ व्यवहर्त-
 न्यार्थसंविद्युदिता, तथा, सर्वस्य व्यष्टिपुर्यष्टकस्याप्युदेति ॥ २ ॥
 तदेव गर्भस्थितिमारभ्य दर्शयति—त्रिद्वीति । यो व्यष्टिजीवो
 गर्भस्थ एव चक्षुरादीन्द्रियोदयविशिष्टः पुर्यष्टकात्मा, षष्ठे मासि
 संपद्यते स तदारभ्य यद्यथा व्यवहर्तव्यं वस्तु भावयति तथा,
 तत्स्ववासनया परिपश्यतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ एवं च आद्यमनः-
 स्थितौ हिरण्यगर्भमनोव्यापारे यथा स्वकं संवेदनं इन्द्रियाणि,
 इन्द्रियार्थाख्यं च संपन्नं तथा तत्ते तवापि, व्यष्टेः, संपन्नमिति,
 भया प्रोक्तं फलतीत्यर्थः ॥ ४ ॥ सर्गात्पूर्वं संभवन्ती व्यष्टिसम-
 ष्ठोरेकैव शुद्धा संवित् तत्तत्सदनन्तरं अहंवेदनालक्षणानन्तजी-
 वपुर्यष्टकान्विता सास्तु तथापि संवेदनस्वरूपमनिन्दितमेवे-
 त्यर्थः ॥ ५ ॥ वेद्यदोषात्संवेदनं तत् कुतो न निन्द्यते इति,
 चेद्वेद्यस्य परमार्थतोऽसत्त्वादित्याह—न त्विति । एकत्वादित्येतु-
 भिरनामवे संवेदने परस्य तदन्यस्यास्तिता सत्यता न त्वित्य-
 न्वयः । नास्ति चे च अभावत्वादयत्नयो हेतवः । अभावत्वाद्दे-
 शकालकृतपरिच्छेदवत्त्वादानेकत्वादस्तुकृतपरिच्छेदवत्त्वादशून्य-
 त्वात्शून्यत्वाच्चेत्यर्थः ॥ ६ ॥ ननु, संवेदनमेव, भृशस्त्रादिमां

प्रशान्तसकलाकारं ज्ञानं तत्रावशिष्यते ।
 यत्राकाशमपि स्थूलमणाविव महाञ्जलः ॥ ११
 यत्रोद्यदाचारमपि सद्यस्यसदिव स्थितम् ।
 जगज्जान्विषयास्त्यक्त्वा काये त्वं तिष्ठ निर्मले ॥ १२
 असन्मयमविद्याया रूपमेव तदेव हि ।
 यद्वीक्षिता सती नूनं नश्यत्येव न दृश्यते ॥ १३
 आलोकितं नाम कथमवस्तु किल लभ्यते ।
 प्रयत्नेनापि संप्राप्तं सुगतृष्णाम्बुकैरिव ॥ १४
 असदेव सदेवासदज्ञानादस्य सत्यता ।
 ज्ञानाद्यथास्थितं वस्तु दृश्यते नश्यति, भ्रमः ॥ १५
 अविद्याया विचारोऽयं जीवपुर्यष्टकादिका ।
 अप्यत्यन्तमसत्यायाः कल्पना कल्पितात्मनः ॥ १६
 तस्यास्त उपदेशाय सेयं जीवादिकल्पना ।
 कृता शास्त्रैः प्रबोधाय तां त्वमेकमनाः शृणु ॥ १७
 जीवत्वमिव संप्राप्ता पुर्यष्टकपदस्थिता ।
 कला कलङ्ककलिता चित्तिराबोधनोन्मुखी ॥ १८
 यद्यथा भावयत्याशु तत्तथानुभवत्यलम् ।
 सत्यो भवत्वसत्यो वा चालेन निशि यक्षकः ॥ १९

गच्छतीत्युक्ते, तत्र मनस्तादीनामसत्यत्वे संवेदनमेवासत्यं किं
 न, स्यात्तत्राह—चेत्यादीति । चेत्यमन्तव्यादिगोचरबुद्धिवृत्त्य-
 ध्यारोपमानं तत्र वास्तवमनस्ताप्राप्तिः सेत्यर्थः ॥ ७ ॥ तर्हि
 विद्याविलासाविर्भूतस्वरूपत्वात्पूर्वं, तदप्यसत्किं न स्यात्तत्राह—
 नेति । आदिपदाचरमप्रमाणमननादिपरिग्रहः । यो भूदैर्नास्ती-
 वेति कल्प्यते, स परमात्मा, सदास्ति ॥ ८ ॥ यद्यद्वितीय एव
 सः तर्हि 'तस्मात्सर्वे एत आत्मानो व्युत्थरन्ति' इति श्रुत्या अमि-
 विस्फुलिङ्गन्यायेन, जीवसंपत्तिः कथमुक्तेति चेदुपदेशाय कल्प-
 नयेत्याह—तस्मादिति ॥ ९ ॥ अतएवाविचारोगस्य न मूलं
 चिन्त्यं किंतु चिकित्सैव, चिन्तनीयेति, मूलकल्पनादिश्चिकित्सो-
 पाय, एव न वास्तव इत्याह—यत्त इति । प्रविलीने सति, स्वरू-
 पज्ञानमेवावशिष्यत इति परेणान्वयः ॥ १० ॥ ११ ॥ उद्य-
 दाचारं निष्पद्यमानव्यवहारार्थं क्रियाशालीति सद्यावहारिकसत्य-
 मप्यसच्छून्यमिव, यत्र स्थितं तत्र ह्यं जगज्जान् विषयास्त्यक्त्वा
 निर्मले जीवन्मुक्तः काये सत्येऽवतिष्ठ ॥ १२ ॥ इदानी-
 मविद्यायाः स्वरूपमाह—असन्मयमिति ॥ १३ ॥ सुगतृष्णा-
 म्बुकैरिव संप्राप्तं दृष्टान्तोऽप्यप्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ १४ ॥ अस-
 देव सद्भाति, यतः असदज्ञानाद्वेदास्य सत्यतेत्यन्वयः ॥ १५ ॥
 सत्यात्मनः संनिधानादत्यन्तमसत्याया अप्यविद्यायाः कल्पना
 कल्पितेत्यर्थः ॥ १६ ॥ तस्य ते जीवस्योपदेशाय तस्याः अवि-
 द्याया हेतोर्जीवादिकल्पना, कृता ॥ १७ ॥ आबोधनोन्मुखी,
 चाद्यार्थदर्शनोत्सुका, सती यद्यथा भावयतीति, परेणान्वयः
 ॥ १८ ॥ चालेन संभावितो यक्षक इव, सत्यः असत्यो वा
 भवतु, । अयं तु पद्यतन्मात्रस्य पक्षीकरणमिमांसा, देहकल्पनां

पञ्चतन्मात्रकलनां संभावयति सत्तया ।
 तत्रात्मनि तथा रन्धान्प्रपश्यति तथोदितान् ॥ २० ॥
 एभ्य एव समुत्पन्नं बहिःस्थं भूतपञ्चकम् ।
 पश्यत्यनन्यदन्याभं शाखाशतमिवाङ्कुरः ॥ २१ ॥
 इदमन्तरिदं बाह्यमिति निश्चयवांस्ततः ।
 जीवो भावं यथादत्ते तत्तथा द्रढयत्यथ ॥ २२ ॥
 रश्मिजालमिवेन्दोर्यदात्मनः प्रतिभासनम् ।
 बाह्यस्पर्शतया तेन तदेवाशूरीकृतम् ॥ २३ ॥
 मरिचस्येव यत्तैक्षण्यं शून्यत्वमिव खस्य यत् ।
 आत्मनो वेदनं यच्च तदेवान्यदिव स्थितम् ॥ २४ ॥
 अत्रैवं निश्चयं बद्धा नियमः सुदृढीकृतः ।
 अनेनेत्थमनेनेत्थं भाव्यमित्यवखण्डितम् ॥ २५ ॥
 स्वभावेतरनामासौ स्वसंकल्पमयात्मकः ।
 कश्चित्कदाचिद्भवति स्वभावेनैव नान्यथा ॥ २६ ॥
 आत्मनैवेदमखिलं संपन्नं द्वैतमद्वयम् ।
 खण्डो मधुरसेनेव मृदेव च महाघटः ॥ २७ ॥
 संनिवेशविकारादिदेशकालादिसंभवात् ।
 संभवत्यत्र नत्वीशे देशकालाद्यसंभवात् ॥ २८ ॥

सत्तया सत्यतया संभावयतीत्युत्तरेणान्वयः ॥ १९ ॥ तत्रात्मनि
 देहात्मनि रन्धान् इन्द्रियद्वाराणि । छान्दसं पुंस्त्वम् ॥ २० ॥
 एभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्यः परमार्थतोऽन्यदेवान्याभमिन्द्रियद्वारैः
 पश्यति ॥ २१ ॥ तत्र इदमिन्द्रियमनःप्राणादि अन्तः ।
 इदं घटादि बाह्यम् । भावं वासनाम् ॥ २२ ॥ तत्र विषये-
 न्द्रियसंयोगाभिव्यक्तं स्वात्मसुखमेव विषयसुखतया संभावय-
 तीत्याह—रश्मिजालमिति ॥ २३ ॥ एवं स्वाभाविकं स्ववेद-
 नमेव विषयसंनिकर्षाज्जातमहंकारात्मनो धर्म इति संभाव-
 यतीत्याह—मरिचस्येति ॥ २४ ॥ अत्र सांसारिकविषयभो-
 गेष्वेव पुरुषार्थपर्यवसाननिश्चयं बद्धा ऐहलौकिकपारलौकिक-
 कर्माचरणनियमः सुदृढीकृतः । अनेन लौकिककर्मणा । अनेन
 वैदिककर्मणा । अवखण्डितं नश्वरं सुखमुद्दिश्येत्यर्थः ॥ २५ ॥
 तत्रैकः प्रवृत्तिनियमः स्वाभाविकरागादिकृतः, इतरस्तु शास्त्र-
 कृतः । द्विविधोऽप्ययं संकल्पमयात्मकस्तयोः कदाचित्कश्चिदेव
 स्वाभाविकपुरुषयत्नेनैवेतरं जित्वा भवति नान्यथेत्यर्थः ॥ २६ ॥
 तत्रोभयत्राप्यज्ञ आत्मैव स्वभावशास्त्रान्यतरानुसारी तत्तद्यापा-
 रसाधनफलात्मना विवर्तत इत्याह—आत्मनैवेति । खण्डः
 मधुसारशर्कराविशेषः ॥ २७ ॥ यद्यपि खण्डघटौ पूर्वतनद्रव-
 पिण्डावस्थयोर्विनाशाद्विकारौ तथापि माधुर्यमृत्स्वरूपाविनाशा-
 त्तदंशे विवर्तदृष्टान्तौ । नहि तद्वद्ब्रह्मणि विकारः संभवति तद्वै-
 धर्म्यादित्याह—संनिवेशेति । अत्र मधुमृदादौ । ईशे ब्रह्मणि
 ॥ २८ ॥ अथवा खण्डो मधुरसेनेवेति वाक्ये खण्डो घनखण्डः,
 मधुरसेन वसन्तद्रवेणेत्यर्थः, तथा चाविकार एव वृक्षविकारहेतु-
 र्जलभागो दृष्टान्त इत्याशयेनाह—इत इति । यथा वृक्षप्रविष्टो

इतः पुष्पमितः पत्रमहमित्युदितो यथा ।
 खण्डे स्वात्मनि नः सत्तारसोऽद्वित्वे द्वितां वहन् ॥ २९ ॥
 इतः पट इतः कुड्यमहमित्यादितस्तथा ।
 सर्वात्मनात्मनि ब्रह्म विद्धि त्वं द्वित्वमाहरत् ॥ ३० ॥
 अद्याङ्कुरोऽहमद्यार्कस्रगहं त्वद्य वारिदः ।
 यथेति तिष्ठत्यम्भोदस्तथात्मा सदसद्रपुः ॥ ३१ ॥
 इति भाव्यमनेनेदमित्थं सर्वेश्वरे ततम् ।
 क्रमं खण्डयितुं लोके कस्य नामास्ति शक्तता ॥ ३२ ॥
 आदर्शस्वच्छ आकाशे नैव स्वः प्रतिबिम्बति ।
 व्यतिरेकासंभवतः कचत्येव हि केवलम् ॥ ३३ ॥
 ब्रह्मणि त्वात्मनात्मैव स्थितः कचति बिम्बति ।
 द्वैतीभवत्यदेहोऽपि चिन्मयत्वात्स्वभावतः ॥ ३४ ॥
 यद्यथैवात्मकचनं वेत्ति तं भवतात्मना ।
 असत्यमपि तत्रेह व्यभिचारी कदाचन ॥ ३५ ॥
 हेमत्वकटकत्वे द्वे सत्यासत्यस्वरूपिणी ।
 हेस्मि भाण्डगते यद्वच्चित्त्वाचित्त्वे तर्थात्मनि ॥ ३६ ॥
 सर्वगत्वाच्चित्तेश्चित्त्वं नित्यं मनसि विद्यते ।
 हेमत्वं कटकस्येव जडभावः स्थितोऽन्यदा ॥ ३७ ॥

रसो जलमितः पत्रमितः पुष्पमहमिति वैचित्र्येणोदितः सन्
 अद्वित्वेऽपि द्वितां वहन् दृष्टस्तथा नः स्वात्मनि प्रतिद्वसत्तारूपं
 ब्रह्मापि इतः पट इतः कुड्यमहमित्यादितो मेदात् सर्वजगदा-
 त्मना आत्मनि द्वित्वमाहरद्विद्धीति परेणान्वयः ॥ २९ ॥
 ॥ ३० ॥ यथा वा अम्भोदो मेघः अद्य ग्रीष्मे अर्कस्रगेवाहमिति
 ताद्रूप्येण तिष्ठति । तत आद्यवर्षारम्भे वारिदानावसरे वारिदो-
 ऽहमिति तिष्ठति । ततो भूमिप्रवेशेनाङ्कुरान्तर्जलात्मना प्रवेशे
 अद्याङ्कुरोहमिति तिष्ठति । तथा आत्मापि कालमेदेन भावाभा-
 वाकारो भूत्वा तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥ अयं च जगद्विवर्तनिय-
 मक्रमः कल्पितोऽपि न केनचिदन्यथा कर्तुं शक्य इत्याह—
 इतीति । सर्वेश्वरे ब्रह्मणि । ततं प्रसिद्धम् ॥ ३२ ॥ एवं वस्तु-
 स्वभावनियतिरपि वस्तुमेदमिच्छा नान्यथा कर्तुं शक्येत्याशये-
 नाकाशादिस्वभावस्याज्ञातब्रह्मस्वभावस्य च वैलक्षण्यमाह—
 आदर्शेति द्वाभ्याम् । आदर्शवत्स्वच्छे आकाशे स्वः स्वीयो
 भागः कार्यं वा नैव प्रतिबिम्बति । कुतः । व्यतिरेकासंभवतः
 आकाशे आकाशकार्यं भूतान्तरे वा आकाशमेदाभावात् । किंतु
 केवलमाकाशं निष्प्रतिबिम्बदर्पणोदरवत्स्वच्छतया कचति ।
 दीप्यत एवेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ साविद्यं ब्रह्म तु न तथेत्याह—
 ब्रह्मणीति । कचति सर्ववस्तुशक्त्यादिरूपेण दीप्यते । जीवरू-
 पेण प्रतिबिम्बति । मेदकल्पनया च द्वैतीभवति ॥ ३४ ॥ अस्त्येवं
 किं ततस्तत्राह—यदिति । तत्र सर्गादौ यद्वस्तु स्वभावेना-
 त्मकचनं धृत्तं तं स्वभावमसत्यमपि भवता सत्येनात्मना सत्यं
 वेत्ति स च नियमो न कदाचन व्यभिचारीति सर्वापि नियतिः
 सिद्धेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ सत्यानृतमिथुनीभावे वाचारम्भणश्रुतिदर्शि-
 तन्यायेन दृष्टान्तमाह—हेमत्वेति ॥ ३६ ॥ अतएव प्रथम-
 कार्ये मनसि चिज्जडोभयरूपता दृश्यते तत्र यच्चित्तं तत्सत्य-

चित्त्वजाड्यात्मकं चित्तं दृढं भावयति स्वयम् ।
 यथा यदैव यद्भावं तथा भवति तत्तदा ॥ ३८
 काले काले चित्ता जीवस्त्वन्योन्यो भवति स्वयम् ।
 भाविताकारवानन्तर्वासनाकलिकोदयात् ॥ ३९
 स्वप्ने दृष्टो यथा ग्रामो याति सत्तान्यतेक्षणात् ।
 देहादेहं तथा याति देहोऽयं प्रतिभात्मकः ॥ ४०
 प्रतिभासो यथा स्वप्ने नरः कुड्यं पटो भवेत् ।
 भवत्यसत्यमेवेदं देहान्तरमिदं स्वतः ॥ ४१
 असत्यमेव त्रियते त्वसत्यं जायते पुनः ।
 जीवः स्वप्रतिभासेन स्वप्रवत्त्वान्यरूपवत् ॥ ४२
 कालेनैतादृशं रूपमिदं नान्यत्वमेति वै ।
 प्रकृतं निश्चयारूढं भ्रमन्त्येते भवः स्वतः ॥ ४३
 यस्तु दृष्टमदृष्टं च स्वप्ने समनुभूयते ।
 जीवस्वप्ने जगद्रूपं विद्धि वैद्यविदां वर ॥ ४४

मित्याह—सर्वगतत्वादिति । अन्यदा कदाचिदित्यर्थः ॥ ३७ ॥
 'चित्तजाड्ये'ति पाठे चित्तस्य आज्यं जडदेहविषयाकारस्वदा-
 त्मकं चित्तं दृढभावनया यदैव यथा देवनरस्थावरादिना येन
 प्रकारेण यदा यद्भावं भवति तदा तथैव तद्भावं भवति । अनु-
 भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ अतएव कालमेवेन जीवस्याहमाकार-
 मेदानुभव इत्याह—काल इति । चित्ता अन्तर्वासनाकलिका-
 नामुदयादिकासाद्वैविध्येण भाविताकारवान्सन् अन्योऽन्यो
 भवति ॥ ३९ ॥ यथा स्वप्ने दृष्टो ग्रामो वनादिसत्तान्यतेक्षणा-
 दनादिभावं याति तथा देहभूतोऽयं जीवोऽपि देहादेहान्तरभावं
 याति । यतः स्वप्नदेव प्रतिभासात्मक इत्यर्थः ॥ ४० ॥ यथा
 स्वप्ने प्रतिभासत इति प्रतिभासो दृश्यमानो नरो ज्ञातिरिति कुड्यं
 भूत्वा पटो भवेत्तथा मरणमूर्च्छायामपि प्रतिभासमानमिदं देहा-
 न्तरं भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥ नन्वयं देहः प्रत्यक्षं त्रियते दह्यते
 च स कथं देहान्तरं भवेत्तत्राह—असत्यमेवेति । मरणजन-
 नादिकमपि मर्तुः प्रतिभासिकमेव । जीवतां तु तद्देहस्य दाहा-
 दिदर्शनं स्वाविद्याकल्पितस्यैव न तद्वासनामयस्येति भावः ।
 स्वस्यान्यरूपवद्देहान्तरवदित्यर्थः ॥ ४२ ॥ तर्हि किं यौवनवा-
 र्धक्यवद्देहान्तरमप्येतद्देहस्य कालिकः परिणामः, नेत्याह—
 कालेनेति । एतादृशमेतद्देहरूपं कालेन अन्यत्वं देहान्तरभावं
 एतीति न । यतः प्रकृतमिदं शरीरं कालावयवस्थामेदेपि तदे-
 वेदमिति प्रत्यभिज्ञानिश्चयाख्यम् । एते भूतभाविदेहास्तु न ।
 प्रत्यभिज्ञानाभावादन्येनान्ये सन्ति न सन्तीत्यादिभ्रान्ति
 गच्छन्ति अतस्तेषां स्वतो जीवत एव भवः, वासनया समुद्भव
 इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ ननु कदापि प्रागदृष्टे देवादिशरीरभावे क्वास्य
 वासना तत्राह—चस्त्विति । इदं तु जगद्रूपं जीवस्वप्नेऽन्तर्गतं
 विद्धि । 'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः' इति श्रुतेरित्यर्थः ।
 इदं तु स्वप्ने अननुभूतस्यापि दर्शनमिह अन्मन्यननुभूतामिप्रा-
 येण । 'दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सर्वं
 पश्यति' इति श्रुतिमवलम्ब्योक्तम् । यस्तु तत्त्वनादौ संसारे

अजाग्रदुष्टिदृष्टो यः स्वामिधानादिनेरितः ।
 न स्वप्नो विद्यते तस्मादच्छात्मा चित्तिमात्रकम् ॥ ४५
 अद्यापूर्वाभिधं स्वप्ने यथा पश्यति नान्यथा ।
 अग्रदृष्टं तथैवार्थं चेतनं चित्प्रपश्यति ॥ ४६
 प्राक्तनी वासनाद्यापि पौरुषेणावजीयते ।
 ह्यःकुकर्माद्य यत्नेन प्रयाति हि सुकर्मताम् ॥ ४७
 मोक्षादृते न शाम्यन्ति जीवतां चक्षुरादयः ।
 उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति केवलं देशकालतः ॥ ४८
 चितः स्वकलनात्तस्य देहोऽत्र इव तिष्ठति ।
 पञ्चात्माभाविताऽसत्यो महायक्षः शिशोरिव ॥ ४९
 मनोबुद्धिरहंकारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम् ।
 इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः ॥ ५०
 अमूर्त एव चित्तात्मा खत्वमस्यातिपीनता ।
 वाततास्य महागुल्मो देहतास्य सुमेरुता ॥ ५१

नाननुभूतं किञ्चिदस्तीति मरणकाले भाविदेहारम्भकर्मोद्बोधि-
 त्वासनानुसारेणैव देहान्तरोद्भव इति बोध्यम् ॥ ४४ ॥ तर्हि
 वाक्यजन्यप्रज्ञासाक्षात्कारलभ्यब्रह्मभावोपि देहान्तरवद्वासना-
 मयः स्वप्न एव किं न स्यात्तत्राह—अजाग्रदिति । यः 'शिव-
 मवैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इति स्वामिधानादिना ईरितः अजाग्र-
 दुष्या तुरीयया दृष्टः परमात्मा तस्य उक्तलक्षणस्त्रिविधः स्वप्न
 एव न विद्यते जाग्रति कदापि तदनुभवभावेन तद्वासनाऽप्रति-
 क्षेप्तस्य वासनामयत्वायोगात्तस्मादसावच्छात्मा चैतन्यमात्र-
 मित्यर्थः ॥ ४५ ॥ स एव चिदात्मा चेतनं जीवो भूत्वा अद्य
 अपूर्वाभिधमभिनवं वर्तमानमर्थं यथा चित्स्वभावादेव पश्यति
 नान्यथा तथैवाग्रे दृष्टमप्यर्थं प्रपश्यतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥ अत
 एवादृष्टविषयेऽपि भावनाप्रचयेन दृढीकृतवासना पूर्वदृष्टविषयां
 वासनां जयतीति पुरुषप्रयत्नप्राप्त्यर्थं प्रदर्शितमित्याह—प्राक्त-
 नीति ॥ ४७ ॥ एवं जीवस्य वासनापरिणतिलक्षणो देहादि-
 वन्धो वर्णितः । इदानीं कदा तच्छान्तिरिति चाच्छायासाह—
 मोक्षादिति ॥ ४८ ॥ मोक्षं विनैव देहादिनिवृत्तिः किं न
 स्यात्तत्राह—चित इति । यतश्चित्तो यावन्मोक्षं देहाकारकलना
 वासना तिष्ठत्येव । स्वकलनैवैतस्य जीवस्य पञ्चात्मा देहोऽग्रे
 तिष्ठतीव । यथा शिशोर्भावितो महायक्षोऽग्रे तिष्ठति तद्बहु-
 निर्वार इत्यर्थः ॥ ४९ ॥ इदानीं कथंचित् स्थूलदेहनिवारणेपि
 मोक्षं विना लिङ्गदेहलक्षणं पुर्यष्टकं दुर्निवारमित्याशयेन तद्दर्श-
 यति—मन इति ॥ ५० ॥ ननु शास्त्रे ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियं प्राणा
 भूतानि अन्तःकरणमविद्याकामकर्माणि पुर्यष्टकमित्युक्तं तत्तु
 पञ्चीकृताकाशवाद्यादिलिङ्गघटितस्थूलान्तं मूर्तरूपमपि स्यात्त-
 त्कथममूर्तमनोबुद्ध्याद्यष्टकमेव पुर्यष्टकमुक्तं तत्राह—अमूर्त
 एवेति । त्वदुक्तं मूर्तपुर्यष्टकं तदा स्याद्यदि पञ्चीकरणेनामूर्तानां
 तन्मात्राणां स्थौल्यं स्यात् । अयं तु तन्मात्ररूपो लिङ्गात्मा
 अमूर्त एव । अस्य खत्वं पञ्चीकृताकाशत्वमतिपीनतानिरवधिकं
 स्थौल्यं तच्च न संभवति । ननु मूर्तवासनाकोटीनामपि मेकमे

विरजस्त्वक्रमेणैव निरवस्थस्तु मुक्तिमाह ।
 सुषुप्ततैकावस्थास्य जडाः क्रोडीकृता यथा ॥ ५२
 स्वप्नान्नी तथावस्था देहप्रत्ययशालिनी ।
 आमोक्षं भ्रमतीहायमिति स्थावरजंगमैः ॥ ५३
 कदाचिद्धि सुषुप्तस्थः कदाचित्स्वप्नवत्स्थितः ।
 आतिवाहिकदेहोऽयं सर्वस्यैवावतिष्ठते ॥ ५४
 यदा सुषुप्तभावस्थो भाविदुःस्वप्नवेधितः ।
 तदा कालानलसमस्तिष्ठत्यनुदिताकृतिः ॥ ५५
 स्थावराद्यास्ववस्थासु कल्पवृक्षदशासु च ।
 भवत्येव सुषुप्तस्थो घनमोहशिलाघनः ॥ ५६
 सुषुप्ततास्य जडता स्वप्नोत्थेयं हि संसृतिः ।
 यः प्रबोधोऽस्य सा मुक्तिस्तज्जाग्रद्या तु तुर्यता ॥ ५७
 जीवप्रबोधान्मुक्तिर्हि प्रबोधात्परमात्मताम् ।
 सोऽभ्येति क्षालितमलं ताम्रं कनकतामिव ॥ ५८
 जीवप्रबोधान्मुक्तिर्या सा चेह द्विविधोच्यते ।
 एका जीवन्मुक्ततेति द्वितीया देहमुक्ता ॥ ५९
 जीवन्मुक्तिर्हि तुर्यत्वं तुर्यातीतं पदं ततः ।

स्थौल्यं दृष्टं यदास्य स्वत्वमेव दुर्लभं तदा स्थूलवातता महान्
 गुल्मो वृक्ष इवात्यन्तमसंभाविता । एवं स्थूलतेजोजलपृथ्वी-
 तापि । एवंच स्थूलभूतानामेवासंभवे अस्य परमाणोरप्यति-
 सूक्ष्मस्य देहता सुमेरुतेवात्यन्तासंभावितेति न भौतिकदेहान्तं
 पुर्यष्टकं वर्णयत इत्यर्थः ॥ ५१ ॥ मुख्यनुपयोगादपि न मोक्षशा-
 स्त्रेऽत्र स्थूलसद्भावकल्पना युक्तेत्याशयेनाह—विरजस्वेति ।
 मनोमात्रमेव देहादिप्रपञ्चश्चेन्मनसो वैराग्याद्यभ्यासेन विर-
 जस्त्वे शमादिसाधनसंपत्तौ वाक्याज्ज्ञानोदयक्रमेण मनःकल्पि-
 तस्वप्नप्रपञ्चस्य तन्मूलाज्ञानस्य च बाधे स्वकार्यकारणावस्था-
 बन्धद्वयशून्यस्य मुक्तिरुपपद्यते । स्थूलभूतभौतिकमूर्तप्रपञ्चाभ्यु-
 पगमे तु तादृशस्य ज्ञानेन बाधादर्शनात् मुक्तिरुपपद्यत इत्यर्थः ।
 एवंच निष्कर्षे स्वप्नसुषुप्ती द्वे एवावस्थे न जाग्रज्जाग्री स्थूल-
 विषया अन्या अवस्था केनचिदुपपादयितुं शक्येत्याशयेन ते
 विमज्ज्य दर्शयति—सुषुप्ततेति सार्धेन । यथा जडाः सर्व-
 देहादिप्रपञ्चा वासनात्मनोपसंहृत्य क्रोडीकृताः ॥ ५२ ॥ इति
 एवं परिदृश्यमानप्रकारेण स्थावरजंगमैराकारैरातिवाहिकदेह एव
 आमोक्षान्भ्रमतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ भाविभिर्दुःस्वप्नैर्वासनात्म-
 नान्तःप्रविष्टैर्वेधितो विद्ध इव गतस्मृतिरत एवानुदिताकृतिश्चि-
 त्प्रतिबिम्बवच्चितत्वादुपसंहृतजगत्त्वाच्च कालानलसमो धीमस्ति-
 ष्ठति । अनेनान्तर्ज्ञानशून्यनैयायिकादिसुषुप्तिः प्रत्युक्ता ॥ ५५ ॥
 तत्र स्थावरादिनिष्कृष्टावस्थासु जात्याधिक्यात्सुषुप्तिप्राप्त्यु-
 मित्याह—स्थावराद्यास्त्विति । अप्यर्थे चशब्दः । तथाच
 कल्पवृक्षाणां पुण्याधिक्यात्कृमिकीटशुत्तृषादिदुःखाभावादानन्दा-
 धिक्येपि न मनुष्यादिवत्प्रबोधोऽस्तीति तमस्वितैवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥
 तथाच चित्तजाग्यप्रकर्ष एव सुषुप्तिश्चित्तभ्रमणमेव संसृतिश्चि-

बोधो जीवः प्रबोधोऽयं स च बुद्धिप्रयत्नतः ॥ ६०
 ज्ञातप्रमाणो जीवोन्तर्यो जानातीह तन्मयः ।
 पश्यतीमं भयं चैव सुदीर्घस्वप्नविभ्रमम् ॥ ६१
 मिथ्योदितः स्वहृदये स्वस्थ एव शिलीकृते ।
 जीवानामन्तरे त्वन्यत्र किञ्चिच्चित्कलां विना ॥ ६२
 तामेवान्यतया पश्यन्मुधैव परिशोचति ।
 जीवणोरन्तरे त्वन्यत्र किञ्चित्परमादृते ॥ ६३
 यत्र तत्र जगद्दृष्टमहो मायाविजृम्भितम् ।
 स्थाव्यन्तः कथदम्बूनां यथा नाना भ्रमोदयः ॥ ६४
 जीवाणूनां तथैवान्तर्मिथ्यासंसरणोदयः ।
 बन्धोस्य वासनाबन्धो मोक्षः स्याद्वासनालयः ॥ ६५
 वासनान्तोऽस्य सौषुप्ती स्वप्ने विस्फुरति स्थितिः ।
 घनवासनमोहोऽयं जीवः स्थावरतादिमाह ॥ ६६
 मध्यस्थवासनस्तिर्यक्पुरुषस्तनुवासनः ।
 यदान्तर्जीवितेनान्तो बहिर्जाता घटादयः ॥ ६७
 जीवैक्यादुभयोः सत्ता ग्राह्यग्राहकयोस्तदा ।
 आत्मानात्मसमालीढो बहिरन्तर्यदा चिता ॥ ६८

तस्य तत्त्वबोध एव बन्धमुक्तिस्तुर्यतैवास्य जाग्रदिति पर्यवसन्न-
 मित्याह—सुषुप्ततैत्यादिना ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ प्रबोधः
 उत्कृष्टचिन्मात्रब्रह्मरूपो भवति । स च बोधो बुद्धेः पुरुषप्रयत्नतः
 ॥ ६० ॥ तत्त्वतो यावान्यथेति ज्ञातप्रमाणो जीवः सर्वान्तर्यो
 जानाति भासयति साक्षी तन्मय एव भवतीत्यर्थः । यस्त्वज्ञा-
 तप्रमाणः सोऽपि परमार्थतः स्वस्थ एवाज्ञानाच्छिलावदुदीकृते
 स्वहृदये सुदीर्घस्वप्नविभ्रमं तीव्रं भयं पश्यतीति परेणान्वयः
 ॥ ६१ ॥ तर्हि किं जीवानां हृदये वास्तवं भयमस्ति, नेत्याह—
 जीवानामित्यादिना ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ अस्य
 जीवाणोः सौषुप्ती स्थितिर्वासनानामन्तोऽवधिः । तुर्यतुर्यातीत-
 योर्निर्वासनत्वात् । स च स्वप्ने स्फुरति, वैचित्र्येण स्फुटीभव-
 तीत्यर्थः । कथं स्फुटीभवति तदाह—घनेति ॥ ६६ ॥ तस्य वास-
 नाक्षुभोत्कर्षादुत्तरोत्तरं शुभयोनिप्राप्तिरित्याह—मध्यस्थेति ।
 पुरुषो मनुष्यगन्धर्वदेवगन्धर्वादिः । वासनानां क्षयतारतम्येन
 वैचित्र्यस्फुटीभावमुक्त्वा ग्राह्यग्रहणादिवैचित्र्येणापि तमाह—
 यदेत्यादिना । यदा यस्मिन् सुषुप्तिविच्युतिकाले देहान्तः
 आनखाग्रव्याप्तप्राणाहंभावलक्षणेन जीवितेन एतावान् देह-
 परिमित एवाहमित्यन्तः परिच्छेदो भवति तदा घटादयः पदार्था
 बहिर्जाताः संपन्नाः ॥ ६७ ॥ सन्तु बहिः किं ततस्तत्राह—
 जीवैक्यादिति । तदा चक्षुरादिद्वारनिर्गतान्तःकरणद्वारा
 निर्मतेन वृत्त्यवच्छिन्नजीवेन घटादीनां व्याप्तौ घटमहं जानामीति
 ग्राह्यग्राहकयोर्वासनात्मिका सत्ता तत्तद्वैचित्र्येण स्फुटीभव-
 तीत्यर्थः । एतदेव स्पष्टमाह—आत्मेति । अन्तः स्थित आत्मा
 जीवो यदा बहिरनात्मसमालीढो भवति तदा चिता ग्राह्यग्राहक-
 वासना मृगतृष्णेवाभ्यस्तविभागेन सोदया उदेतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

तदा ब्राह्मग्रहणधीर्मृगतृष्णेव सोदया ।
 नेह संत्यज्यते किञ्चिन्नेह किञ्चिन्न गृह्यते ॥ ६९
 बाह्यान्तरकलाकारश्चिदात्मैकः प्रकाशते ।
 त्रिजगच्चिच्चमत्कारस्त्वलं भेदविकल्पनैः ।
 शोभिताः स्थितिश्चिरात्सर्वाह्यान्तर्न विद्यते ॥ ७०
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे ब्राह्मीकीये देव० श्रीकोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० इन्द्रियार्थोपलम्भविचारो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

अन्धिर्यथा जलमपास्तसमस्तभेदः

खादच्छमेव सकलं द्रवमेकशुद्धम् ।

सर्वं तथेदमपहस्तितभेदजात-

माद्यं परं पदमनामयमेव शुद्धम् ॥ ७१

द्विपञ्चाशः सर्गः ५२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यो जीवस्यादितः स्वप्नो नानाकलनकोमलः ।
 तमिमं विद्धि संसारं न सत्यं नाप्यसन्मयम् ॥ १
 न पुंस इव जीवस्य स्वप्नः संभवति कचित् ।
 तेनैते जाग्रतो भावा जाग्रत्स्वप्नकृतोऽत्र हि ॥ २
 जीवस्वप्नमिमं दीर्घं क्षिप्रताप्रतिभासतः ।
 असत्यमप्यवस्तुत्वाद्विद्धि वेद्यविदां वर ॥ ३
 स्वप्नात्स्वप्नान्तरमिव गच्छन्तो जीवजीवकाः ।
 असत्यमेव पश्यन्ति घनसत्यतयानघ ॥ ४
 अजडे जडता तात जडे चाजडतोदिता ।
 असत्ये सत्यता जीवजीवानुभवमोहतः ॥ ५
 भानोरप्यन्तरखिलं पश्यन्तस्त्रिजगद्भ्रमम् ।
 भ्रमन्ति स्वप्नसंभ्रान्ता इव जीवा मिदालिभिः ॥ ६

एवं हेयोपादेयवैचित्र्यमपि वासनाध्यस्तमेव न वास्तवमित्याह—
 नेहेति ॥ ६९ ॥ शोभितास्तत्त्वबोधेन विराजमानाः । सर्वाद्या-
 भ्यन्तरं जगच्चिद्यतिरिक्तं न विद्यते कालत्रयेऽपीत्यर्थः ॥ ७० ॥
 यथा अन्धिः समुद्रस्तत्त्वतो विमृष्ट अपास्तसमस्ततरङ्गबुद्धा-
 दिभेदः खादाकाशादप्यच्छं सकलमेकं शुद्धं जलमेव तथा इदं
 सर्वं जगत्तत्त्वतो बुद्धं सत् अपहस्तितं निरस्तं वासनावस्यावै-
 चित्र्यभेदजातं यस्य तथाविधमनामयं परं पदमेवेत्यर्थः ॥ ७१ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 इन्द्रियार्थोपलम्भविचारो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

जीवस्वप्नो जगत्तत्रासंलक्षया तत्परिक्षयः ।

सदर्थमर्जुनाख्यानं वसिष्ठेनावतार्यते ॥ १ ॥

तनु स्वप्नः सर्वेषां जीवानां प्रत्येकं भिन्नः, जाग्रत्प्रपञ्चस्य
 सर्वेषां साधारणः सर्वे स्वप्नवैधर्म्येणानुभूयमानः कथं स्वप्नः
 स्यात्तत्राह—य इति । आदितः प्रथमं जीवस्य सर्वजीवसम-
 ध्यात्मनो य- स्वप्नस्त्वमेवममस्माकं जाग्रदिति कल्पितं संसारं
 विद्धि ॥ १ ॥ किमर्थमेवं कल्प्यत इति चेद्यद्दीनामिव समष्टेः
 स्वप्नान्तराप्रसिद्धेरित्याह—नैति । तेनास्माकं जाग्रत्प्रसिद्धा
 भूतभुवनादिभावास्तस्य जाग्रत्स्वप्नोभयस्थानकृतोदया न स्वप्नतो
 भिद्यन्त इत्यर्थः ॥ २ ॥ असत्यत्वावस्तुत्वाभ्यामपि तस्य

सर्वगतत्वादनन्तत्वात्स्वस्य जीवस्य जीवतः ।

यद्भावयन्ति चेतन्ति तदेवाश्विति सत्यवत् ॥ ७

पुण्डरीकाक्षनिर्दिष्टामसंसक्तिगतिं शुभाम् ।

यामालिङ्ग्य महाबाहो जीवन्मुक्तो महासुनिः ॥ ८

पाण्डोः पुत्रोऽर्जुनो नाम सुखं जीवितमात्मनः ।

क्षिपयिष्यति निर्दुःखं तथा क्षेपय जीवितम् ॥ ९

श्रीराम उवाच ।

भविष्यति कदा ब्रह्मन्तोऽर्जुनः पाण्डुनन्दनः ।

कीदृशीं च हरिस्तस्य कथयिष्यत्यसक्तताम् ॥ १०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अस्ति सन्मात्रमात्रमेति परिकल्पितनामकम् ।

स्थितमात्मन्यनाद्यन्ते नभसीव महानभः ॥ ११

दृश्यते विमले तस्मिन्नयं संसारविभ्रमः ।

कटक्यादि यथा हेमि तरङ्गादि यथाम्भसि ॥ १२

स्वप्नतां साधयन्वैधर्म्यानुभवे निमित्तं दर्शयति—जीवस्वप्न-
 मिति । असधीयस्वप्नवत्क्षिप्रवाध्यताया अप्रतिभासतो हेतो-
 र्दार्ढ्यम् । तथाच दैर्घ्यमेव वैधर्म्यभ्रमहेतुरिति भावः ॥ ३ ॥

॥ ४ ॥ वस्तुस्वभाववैपरीत्यदर्शनादप्यस्य स्वप्नतेत्याह—

अजडे इति । अजडे ब्रह्मणि भूतभुवनादिजडता तथा जडे

चाहंकारादिदेहान्ते आत्मत्वाभिमानादजडता उदिता । जीवस्य

समष्टेरकदेशभूता ये व्यष्टिजीवास्तदनुभवलक्षणान्मोहतो

भ्रान्ते ॥ ५ ॥ जीवा मिदालिभिर्भेदकल्पनपरम्पराभिर्भ्र-

मन्ति ॥ ६ ॥ कल्पितभेदेषु सत्यत्वरोपे कारणमाह—सर्व-

गत्वादिति । व्यष्टित्वादेव जीवतोऽप्यत्यन्तजीवभूतस्य स्वस्य

परमार्थतः सर्वगत्वादनन्तत्वादपरिच्छेदेन सत्यत्वाच्च यद्यज्ञाव-

यन्ति तदेव आशु तत्संसत्तया स्वसत्तारोपेण सत्यवचेतन्ति ।

तथाच तत्संसत्तिल्यागात्तत्सत्यताभ्रमनिवृत्तौ बुद्धतत्त्वस्य जीव-

न्मुक्तिं सिध्यतीति भावः ॥ ७ ॥ अयमेवार्थो भगवद्गीतायां

भगवताप्यर्जुनायोपदिष्ट इत्याह—पुण्डरीकाक्षेति । शुभां-

श्रयिष्यति शेषः ॥ ८ ॥ तदर्थमर्जुनाख्यायिकामवतारयति—

पाण्डोरिति । सुखं जीवन्मुक्तिमुक्तविशिष्टम् । जीवितमाशु क्षिप-

यिष्यति क्षेपयति । स्वार्थे णिच् गुणाभावश्छान्दसः ॥ ९ ॥

॥ १० ॥ अर्जुनावतारे कारणं भक्तुं सर्वमूलमनुक्रमति—

अस्तीत्यादिना । स्थितमिति । 'स्वे महिर्नि-प्रतिष्ठितः' इति ।

चतुर्दशविधा भूतजातयः प्रस्फुरन्त्यलम् ।
 तस्मिन्संसारजालेऽस्मिज्जाले शकुनयो यथा ॥ १३
 तत्रैते यमचन्द्रार्कशक्राद्याः शंसितक्रमाः ।
 भूतपञ्चकसंसारलोकपालत्वमागताः ॥ १४
 इदं पुण्यमुपादेयं हेयं पापमिदं त्विति ।
 तैः स्वसंकल्पघटिताद्देवनात्स्थापिता स्थितिः ॥ १५
 तस्याद्य यावदनद्य प्रवाहपतिते निजे ।
 कर्मण्यचलसंकाशस्थिरं चित्तमवस्थितम् ॥ १६
 भगवान्स यमः किञ्चिद्भूते प्रतिचतुर्युगे ।
 तपः प्रकुरुते भूतदलनात्पापशङ्कया ॥ १७
 कदाचिदष्टौ वर्षाणि दश द्वादश चापि च ।
 कदाचित्पञ्चसप्तादि कदाचित्षोडशापि च ॥ १८
 उदासीनवदासीने तस्मिन्नियमसंस्थितौ ।
 न हिनस्ति जगज्जाले मृत्युर्भूतानि कानिचित् ॥ १९
 तेन नीरन्ध्रभूतौघनिःसंचारं महीतलम् ।
 भवति प्रावृषि खेदी कुञ्जरो मशकैरिव ॥ २०
 अथैतानि विचित्राणि भूतानि बहुयुक्तिभिः ।
 क्षिपयन्ति सुरा राम भुवो भारनिवृत्तये ॥ २१
 एवं युगसहस्राणि व्यवहारशतानि च ।
 समतीतान्यनन्तानि भूतानि च जगन्ति च ॥ २२
 वैवस्वतोऽद्य तु यमो य एष पितृनायकः ।
 अनेन त्वधुना साधो परिक्षीणेषु केषुचित् ॥ २३
 युगेष्वधविघाताय वर्षाणि द्वादशात्मना ।
 प्रतर्चयेद् कर्तव्या दूरास्तजनकर्षणा ॥ २४
 तेनेयमुर्वी नीरन्ध्रा भूतैर्मर्त्यैर्मृत्युभिः ।

श्रुतेः ॥ ११ ॥ १२ ॥ तस्मिन्दृश्यमाने संसारजाले । शकु-
 नयः पक्षिणः ॥ १३ ॥ तत्र तासु भूतजातिषु मध्ये शंसितः
 श्रुतिस्मृत्यादिवर्णितः क्रमश्चरित्रं येषाम् । भूतपञ्चकं पञ्चीकृत-
 तन्मात्रपञ्चकं तद्वक्षणे संसारे लोकपालत्वं तत्तल्लोकाधिपत्यम्
 ॥ १४ ॥ इदं श्रुतिस्मृतिसमाचारविहितं पुण्यमुपादेयम्, इदं
 तन्निषिद्धं पापं हेयमिति स्वाधिकारानुरूपसंकल्पघटिताद्देवना-
 स्थितिर्मर्यादा स्थापिता ॥ १५ ॥ अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—
 तस्येति । तस्य वक्ष्यमाणयमस्य अद्य यावदेतावत्कालं स्वीये
 अधिकारकर्मणि अचलवत्स्थिरं चित्तं मनः अवस्थितम् ॥ १६ ॥
 प्रतिचतुर्युगम् । वीप्सायामव्ययीभावः । कदाचित्किञ्चित्पः
 प्रकुरुते । प्रतिचतुर्युगं किञ्चिद्भूते द्वापरान्ते इति वा ॥ १७ ॥ तत्र
 कालनियमो नास्तीत्याह—कदाचिदिति ॥ १८ ॥ तस्मिन्
 यमे नियमसंस्थितौ तपसि आसीने सति मृत्युः कानिचिदपि
 भूतानि न हिनस्ति ॥ १९ ॥ तेनाहिसनेन हेतुना महीतलं
 नीरन्ध्रैर्बहुभिर्भूतौघैर्निःसंचारं संचारायोग्यं भवति । खेदी
 खेदवान् ॥ २० ॥ सुरा विष्णवादिदेवाः युक्तिभिः अंशावता-
 रभारतयुद्धाद्युपायैः क्षिपयन्ति हिसनेन विरलीकुर्वन्तीति
 यावत् ॥ २१ ॥ अयं च भारवतारादिव्यवहारो बहुशो वृत्त

दीना प्रपन्ना गुल्मेव भारभूतैर्भविष्यति ॥ २५
 भूभारपरिभूताङ्गी हरिं शरणमेष्यति ।
 कान्ता दस्युपराभूता दीना पतिमिव प्रिया ॥ २६
 हरिर्देहद्वयेनाथ महीमवतरिष्यति ।
 देवांशैरखिलैः सार्धं नरनारायणं गतैः ॥ २७
 वसुदेवसुतस्त्वेको वासुदेव इति श्रुतः ।
 देहो भविष्यति हरेर्द्वितीयः पाण्डवोऽर्जुनः ॥ २८
 युधिष्ठिर इति ख्यातो धर्मपुत्रो भविष्यति ।
 अम्भोधिमेखलाभूपः पाण्डोः पुत्रः स धर्मवित् ॥ २९
 दुर्योधन इति ख्यातस्तस्य भ्राता पितृव्यजः ।
 भविष्यति दृढद्वन्द्वो भीमो बभ्रुरहेरिव ॥ ३०
 अन्योन्यं हरतोरुर्वी तयोः संग्रामलोलयोः ।
 अष्टादशात्राक्षौहिण्यो घटिष्यन्त्यत्र भीषणाः ॥ ३१
 तत्क्षयेण विभारत्वं भुवो विष्णुः करिष्यति ।
 राघवाऽर्जुनदेहेन बृहद्गण्डीवधन्वना ॥ ३२
 विष्णोरर्जुननामादौ प्राकृतं भावमास्थितः ।
 हर्षामर्षान्वितो देहो नरधर्मो भविष्यति ॥ ३३
 सेनाद्वयगतान्दष्ट्वा स्वजनान्मरणोन्मुखान् ।
 विषादमेष्यत्युद्योगं युद्धाय न करिष्यति ॥ ३४
 तमर्जुनाभिधं देहं प्राप्तकार्यैकसिद्धये ।
 हरिर्बुद्धेन देहेन बोधयिष्यति राघव ॥ ३५

न जायते म्रियते वा कदाचि-

ज्ञायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ ३६

इत्याह—एवमिति ॥ २२ ॥ २३ ॥ अघानां पापानां विघा-
 ताय । कर्तव्या भविष्यतीति शेषः । दूरेऽस्त्वं जनानां कर्षणं
 पीडनं यस्याम् । अस्माद्विशेषणाद्भूतचर्या अहिंसादिघटितनिर्वि-
 कल्पसमाधिरूपेति गम्यते ॥ २४ ॥ प्रपन्नगुल्मा वनगुल्मसं-
 कीर्णैति यावत् ॥ २५ ॥ २६ ॥ नरं नारायणं च गतैरनुगतैः ।
 साहाय्यार्थमवतीर्णैरिति यावत् ॥ २७ ॥ २८ ॥ अम्भोधिमेख-
 लाया भूमेर्भूपो राजा । अम्भोधिमेखलां भुवं पातीति वा ।
 आतोऽनुपसर्गे कः ॥ २९ ॥ तस्य पितृव्यजो भ्राता भवि-
 ष्यति । तस्य द्वन्द्वः प्रतियोद्धा भीमो भविष्यतीति योज्यम् ।
 बभ्रुर्नकुलः । अहेः सर्पस्येव ॥ ३० ॥ आसमन्तात् प्रायत
 इति आत्रा सेना तदशौहिण्यः । अत्र भारतयुद्धे कुक्षेत्रे वा
 घटिष्यन्ति ॥ ३१ ॥ हे राघव, बृहद्गण्डीवं धनुर्यस्य । 'धनु-
 र्यस्य' इत्यनङ् । तथाविधेनार्जुनदेहेन विभारत्वं भारवतरणं
 करिष्यतीति पूर्वत्रान्वयः ॥ ३२ ॥ नरधर्मो अज्ञप्राय इति
 यावत् ॥ ३३ ॥ स्वजनान्बन्धून् ॥ ३४ ॥ बुद्धेन स्वतःसिद्धात्म-
 बोधेन कृष्णदेहेन ॥ ३५ ॥ बोधनप्रकारमेव विस्तराद्वर्णयति—
 न जायत इत्यादिना । आयन्तविकारयोर्निषेधे मध्यतनवि-
 कारचतुष्टयं प्रसक्तं वारयति—नायमिति । माविजन्मादिप्रति-

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतौ नायं हन्ति न हन्यते ॥ ३७
अनन्तसैकरूपस्य सतः सूक्ष्मस्य खादपि ।
आत्मनः परमेशस्य किं कथं केन नश्यति ॥ ३८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजा० वा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपाख्याने नरनारायणावतारकथनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ५२

त्रिपञ्चाशः सर्गः ५३

श्रीभगवानुवाच ।

अर्जुन त्वं न हन्ता त्वमभिमानमलं त्यज ।
जरामरणनिर्मुक्तः स्वयमात्मासि शाश्वतः ॥ १
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकात्र हन्ति न निबध्यते ॥ २
यैव संजायते संविदन्तः सैवानुभूयते ।
अयं सोऽहमिदं तन्म इत्यन्तः संविदं त्यज ॥ ३
अनयैव च युक्तोऽस्मि नष्टोऽस्मीति च भारत ।
अमितः सुखदुःखाभ्यामवशः परितप्यसे ॥ ४
स्वात्मांशैः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि भागशः ।

बोधो वा ॥ ३६ ॥ एतमुक्तस्वभावमात्मानं यो हन्तारं वेत्ति यश्च हतं
मन्यते तावुभौ नात्मानं तत्त्वतो विजानीतः । अज्ञानमेव हन्तृ-
हन्तव्यताभ्रान्तिनिमित्तमिति यावत् ॥ ३७ ॥ त्रिभिः किंवृत्तैर्ना-
शनाशप्रकारनाशहेतूनां प्रतिक्षेपः ॥ ३८ ॥ स्फारमपरिच्छिन्नम-
तएवालब्धदोषं सविद्वपुश्चैतन्यस्वरूपमेवासि । अतएवाजोऽसि ।
नित्योसि निरस्ताज्ञानतत्कार्यकलङ्काजनश्चासीति न बन्धुसंसक्ति-
तन्मरणादिसभावनाप्रयुक्तं दुःखं तवोचितमिति भावः ॥ ३९ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
नरनारायणावतारकथनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

वर्ण्यतेऽहंकृतेत्यागः सङ्ख्यागादिलक्षणम् ।

उपाख्येयरूपे च दशमेदव्यवस्थिते ॥ १ ॥

तत्रादौ स्वबन्धुहन्ताहमित्यादिरूपोऽहन्ताभिमानः, एते
मदीया बान्धवा इत्यादिममताभिमानश्च तव सर्वदुःखनिदान-
मिति स एव त्याज्य इत्याह—अर्जुनेति । हे अर्जुन, त्वं
जरामरणादिषड्विनिर्मुक्तः अतएव शाश्वतः स्वबन्धादीनां सर्व-
भूतानां स्वयं साक्षादात्मासि । अतस्त्वं कस्यापि न हन्ता ।
अहं हन्तेत्यभिमानमलमत्यन्तं त्यजेत्यर्थः ॥ १ ॥ अधिमान-
त्यागफलमाह—यस्येति । यस्य वधदिप्रवृत्तिकाले अहमसु-
घातयामीत्यहंकृतो भावो नास्ति उत्तरकालं च यस्य बुद्धिस्त्व-
त्फलहर्षविषादादिना न लिप्यते स पुरुष इमान्सर्वान् लोक्यन्त
इति लोकाश्चतुर्विधभूतजातयस्तान् हत्वा अणैर्वियोज्यापि कमपि
न हन्ति । सर्वत्र शाश्वतैकात्मतत्त्वस्य वधादिविकारास्पर्शिन-
स्तथैव सत्त्वात्, देहादीनां च मायामात्रत्वेन नित्यमसत्त्वादेव
बन्ध्यापुत्रत्वेन वधाप्रसक्तेरिति भावः । अतस्त्वत्प्रयुक्तपापफले-
नापि न निबध्यते यथेश्वर इत्यर्थः ॥ २ ॥ हन्तृत्वादिधर्मकदेहादि-

अनन्तमव्यक्तमनादिमभ्य-

मात्मानमालोक्य संविदात्मन् ।

संविद्वपुः स्फारमलब्धदोष-

मजोऽसि नित्योऽसि निरामयोऽसि ॥ ३९

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ ५
चक्षुः पश्यतु कर्णश्च शृणोतु त्वक्स्पृशत्विदम् ।
रसना च रसं यातु कात्र कोऽहमिति स्थितिः ॥ ६
कलनाकर्मणि रते मनस्यपि महात्मनः ।
न कश्चिदब्राह्ममिति क्लेशभागे क एव ते ॥ ७
बहुभिः समवायेन यत्कृतं तत्र भारत ।
एकोऽभिमानदुःखेन हासायैव हि गृह्यते ॥ ८
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ९

तादात्म्यभ्रान्तिसंवेदनवशादेव तद्धर्महन्तृत्वादेरात्मानि प्रति-
भासो न स्वतः, अतस्त्वदेव प्रथमं त्यजेत्याह—यैवेति । अन्ते-
र्हार्दं आत्मनि यैव संविद्विद्वृत्तिर्देहाद्यभिमानरूपा अन्यादृशी
वा । अहं कार्यकारणसंघातः । ए हन्ता अहं । इदमेतदे-
हादिसंविन्धि तद्वन्धादि मे मम । इत्येवं संविदं भ्रान्तिवृत्ति-
त्यजेत्यर्थः ॥ ३ ॥ अनया उक्तलक्षणया संविदा हन्तृत्वादि-
मिर्युक्तोऽसि । तत्प्रयुक्तपापैश्च नष्टः । बन्धुनाशाद्यैहिकानर्थैर्न-
रकपाताद्यामुभिकानर्थैश्च युक्तोऽस्मीति च भ्रान्त्या सुख-
दुःखाभ्यां परितप्यसे ॥ ४ ॥ स्वात्मनः अंशवत्परिच्छेदकत्वेना-
शास्तेः सत्त्वादिगुणविकारैर्देहेन्द्रियादिभिः क्रियमाणानि कर्माणि
॥ ५ ॥ विमर्शं तु चक्षुरादीनामेव रूपादिविषये प्रवृत्तिर्नात्मन
इति न तत्कृतैरस्य कर्तृत्वप्रसक्तिरित्याशयेनाह—चक्षुरिति ।
अत्रास्मिन्क्षुरादिकरणकार्यसंघाते अहं कः न कश्चिदिति ।
अहमिति स्थितिः का । न युक्तैत्यर्थः ॥ ६ ॥ कलना संकल्पा-
दिस्तलक्षणे स्वकर्मणि रते प्रसक्ते सत्यपि अत्रास्मिन्मन्त्राद-
न्तःकरणसंघातेऽप्यहं न कश्चिदिति पश्यतस्ते कः पदार्थः
क्लेशभागे अविष्टो यदर्थं शोचसि स नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ७ ॥ यत्र
संघातकृते कार्ये तदन्तर्गतस्याप्येकैकस्य संघाताभिमानदुःखेन
शोके उपहास्यता तत्र किं वाच्यं तद्वहिर्भूतस्य तदनुशोचने
इत्याशयेनाह—बहुभिरिति । गृह्यते चेत् हासायैव भव-
तीत्यर्थः । तथाचाहु 'न सामवायिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति'
इति ॥ ८ ॥ किञ्च निरहंकारस्य फलासङ्गरहितं कार्याकादिभि-
विधं शास्त्रीयं कर्म निःस्पृहद्वारा ज्ञानोदीपकत्वात्परमपुण्या-
र्थयैव भवतीति न ते स्वधर्माद्युद्धादुःखप्रसक्तिरित्याह—कार्ये-

१ अन्तर्देहे इति पाठः

अहन्त्वविषचूर्णेन येषां कायो न मारितः ।
 कुर्वन्तोऽपि हरन्तोऽपि न च ते निर्विषूचिकाः ॥ १०
 न कचिद्राजते कायो ममतामेध्यदूषितः ।
 प्राज्ञोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि दुःशील इव मानवः ॥ ११
 निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।
 यः स कार्यमकार्यं वा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ १२
 इदं च ते पाण्डुसुत स्वकर्म क्षात्रमुत्तमम् ।
 अपि क्रूरमतिश्रेयः सुखायैवोदयाय च ॥ १३
 अपि कुत्सितमप्यन्यदप्यधर्ममयक्रमम् ।
 श्रेष्ठं ते स्वं यथा कर्म तथेहामृतवान्भव ॥ १४
 मूर्खस्यापि स्वकर्मैव श्रेयसे किमु सन्मतेः ।
 मतिर्गलदहंकारा पतितापि न लिप्यते ॥ १५
 योगस्यः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
 निःसङ्गस्त्वं यथाप्राप्तकर्मवाञ्छ निवध्यसे ॥ १६
 शान्तब्रह्मवपुर्भूत्वा कर्म ब्रह्ममयं कुरु ।
 ब्रह्मार्पणसमाचारो ब्रह्मैव भवसि क्षणात् ॥ १७
 ईश्वरार्पितसर्वार्थ ईश्वरात्मा निरामयः ।
 ईश्वरः सर्वभूतात्मा भव भूषितभूतलः ॥ १८

संन्यस्तसर्वसंकल्पः समः शान्तमना मुनिः ।
 संन्यासयोगयुक्तात्मा कुर्वन्मुक्तमतिर्भव ॥ १९
 अर्जुन उवाच ।
 सङ्गत्यागस्य भगवंस्तथा ब्रह्मार्पणस्य च ।
 ईश्वरार्पणरूपस्य संन्यासस्य च सर्वशः ॥ २०
 तथा ज्ञानस्य योगस्य विभागः कीदृशः प्रभो ।
 क्रमेण कथयैतन्मे महामोहनिवृत्तये ॥ २१
 श्रीभगवानुवाच ।
 सर्वसंकल्पसंशान्तौ प्रशान्तघनवासनम् ।
 न किञ्चिद्भावनाकारं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ॥ २२
 तदुद्योगं विदुर्ज्ञानं योगं च कृतबुद्धयः ।
 ब्रह्म सर्वं जगदहं चेति ब्रह्मार्पणं विदुः ॥ २३
 अन्तःशून्यं बहिःशून्यं पाषाणहृदयोपमम् ।
 शान्तमाकाशकोशाच्छं न दृश्यं न दृशः परम् ॥ २४
 तत ईषद्यदुत्थानमीषदन्यतयोदितम् ।
 स जगत्प्रतिभासोऽयमाकाशमिव शून्यता ॥ २५
 भावोऽहमिति कोऽप्येष प्रत्येकमुदितश्चित्तेः ।
 कोटिकोट्यंशकलितः क इवैनं प्रति ग्रहः ॥ २६

नेति । योगिनोऽत्रारुक्षवः ॥ ९ ॥ न मारितो मरणाय
 व्यापारितः । पुनःपुनर्मृत्युहेतुभोगलाम्पत्येन प्रवर्तित इत्यर्थः ।
 निर्विषूचिकाः निरस्तरागाद्यामयाः । लौकिकं शास्त्रीयं कर्म
 कुर्वन्तोऽप्यानुषङ्गिकं तत्फलं हरन्त उपभुजाना अपि न च ते
 कुर्वन्तो हरन्तश्चेत्यर्थः ॥ १० ॥ कचिन्नौकिके शास्त्रीये वा व्यव-
 हारे न राजते । अनर्थानास्कन्दितपुरुषार्थाय न कल्पत इति
 यावत् ॥ ११ ॥ कार्यमवश्यकर्तव्यं शास्त्रीयं कर्म । अकार्यम-
 नावश्यकं लौकिकम् । नतु निषिद्धमप्रसक्तेः ॥ १२ ॥ क्षात्रं
 क्षत्रियाणां विहितं संग्रामेष्वपलायनं बन्धुवधरूपत्वात् क्रूरमपि
 चित्तशुद्धिद्वारा ब्रह्मज्ञानादिसुखायैव । तथा धर्मयशोराज्यस्वर्गा-
 दभ्युदयाय चेत्यति श्रेय एवेत्यर्थः ॥ १३ ॥ तर्हि यद्वन्धुवधा-
 दन्यद्गोणमीष्मकृपादिगुरुवधरूपं कुत्सितं कर्म तन्मया कथं
 कार्यमित्यर्जुनस्य तत्राधर्मत्वशङ्कां सत्यशपथाशिषा निवारय-
 णाह—अपीति । पूजार्हेषु तदिपरीतशस्त्रोद्यमनप्रकरणाद्यधर्म-
 बहुलक्रममपि ते स्वं युद्धकर्म यथा येन सत्येन शास्त्रप्रामाण्येन
 श्रेष्ठं तथा तेन सत्येन इहास्मिन्नुद्धे अमृतवान् अमरणधर्मा
 विजयी भवेत्यर्थः ॥ १४ ॥ यत्र अज्ञस्यापि स्वधर्मः श्रेयसे
 तत्र तत्त्वज्ञस्य तस्मान्नरकादिप्रसक्तिर्दूरापास्तैव । पातित्यावहै-
 र्महापातकादिकोटिभिरपि निरहंकारमतेर्लेशभावादित्याशये-
 नाह—मूर्खस्यापीति ॥ १५ ॥ किञ्च राज्यलभादिलोभप्रयुक्ते
 युद्धे 'लोभमूलानि पापानि रसमूलास्तथाऽऽमया' इति न्यायेन
 कदाचिदधर्मप्रसक्तिः स्यात्फलत्सङ्गत्यागेन सिद्ध्यसिद्धिसमता-
 लक्षणयोगस्थस्य तु तत्प्रसक्तिरपि नास्तीति तां योगस्थिति-

मुपदिशति—योगस्य इति ॥ १६ ॥ अथवा वक्ष्यमाणलक्षण-
 ब्रह्मार्पणबुद्ध्या कृतं शास्त्रीयमिदं कर्म न ते बन्धायेत्याह—
 शान्तेति ॥ १७ ॥ निर्विशेषब्रह्मतत्त्वज्ञानेन तदसामर्थ्ये सगु-
 णेश्वरार्पणबुद्ध्या वा कर्म कुरु ततोऽपि न कर्मबन्ध इत्याह—
 ईश्वरेति ॥ १८ ॥ अथवा सर्वसंकल्पत्यागलक्षणसंन्यासयोग-
 युक्त्यापि न ते कर्मबन्धप्रसक्तिरित्याह—संन्यस्तेति ॥ १९ ॥
 एवमुपदिष्टोऽर्जुनः सङ्गत्यागादीनां तल्लक्षणैर्विभागं जिज्ञासुः
 पृच्छति—सङ्गत्यागस्येति द्वाभ्याम् ॥ २० ॥ २१ ॥ आलम्बि-
 कसङ्गत्यागस्य तत्त्वपरिज्ञानमन्तरेणायोगाद्ब्रह्मात्मतत्त्वमेव भग-
 वान् प्रथमं लक्षणेन निर्दिशति—सर्वेति । तथाच निर्विकल्प-
 समाधिपरिपाकसाक्षात्कारानुभवसिद्धं निष्प्रपञ्चं प्रत्यगात्मरूप-
 मेव ब्रह्मेत्यर्थः ॥ २२ ॥ तदुद्योगं तदाकारावहितचित्तवृत्तिम-
 ज्ञाननिवृत्तिफलोपहितां ज्ञानमाहुस्तदनुकूलधारामात्ररूपां तु
 योगमित्यर्थः । ब्रह्मण्यभिमतव्यस्य जगतस्तदभिमतुरहंकारस्य
 च बाधो मुख्यं ब्रह्मार्पणमित्याह—ब्रह्मेति ॥ २३ ॥ ब्रह्मणि
 जगदहंकारयोर्बाधोपपत्तये तत्राध्यस्तत्वं वक्तुं ब्रह्मस्वरूपमाह—
 अन्तःशून्यमित्यादिना । न दृश्यमिति । सर्वदृश्यनिषेधे
 दृशोऽपि दृश्यत्वाभिषेधः किं न स्यादित्याशङ्क्याह—न दृशः
 परमिति । दृशो दृश्यतानिषेधो वा तदा स्याद्यदि दृशः परं दृग-
 न्तरं स्यात्, नतु तदस्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥ ततस्तादृशस्वभावादीषद-
 न्यतयोदितं यत्समुत्थानं सोऽयं जगत्प्रतिभासः स गन्धर्वनगरा-
 काशमिव । शून्यतैवेत्यर्थः ॥ २५ ॥ संन्यासोपवर्णनोपपत्त्यर्थं
 ब्रह्मणि जगदारोपवदेव तदंशेषु जीवेषु प्रत्येकमहंभावाध्यास
 इति न तत्राग्रहो युक्त इत्याह—भाव इति द्वाभ्याम् ॥ २६ ॥

अपृथग्भूत एवैव पृथग्भूत इव स्थितः ।
 पृथक्त्वं हि न पर्यन्तो नाहमित्यवगच्छति ॥ २७
 यथेहाहं तथेहास्ति घटादीहापि मर्कटः ।
 स्वमीहैवं तथाभ्योधिः किमहंतां प्रति ग्रहः ॥ २८
 विकल्पभेदे स्फुरिते संवित्सारमयात्मनि ।
 वैचित्र्येण विचित्रेपि किमेकत्वेऽपि नो ग्रहः ॥ २९
 इति ज्ञातविभागस्य धुद्धौ तस्य परिक्षयः ।
 कर्मणां यः फलत्यागस्तं संन्यासं विदुर्बुधाः ॥ ३०
 त्यागः संकल्पजालानामसंसङ्गः स कथ्यते ।
 समस्तकलनाजालस्येश्वरत्वैकभावना ॥ ३१
 गलितद्वैतनिर्भासमेतदेवैश्वर्यार्पणम् ।
 अबोधवशतो भेदो नास्त्वैषां चिदात्मनि ॥ ३२
 बोधात्मा किल शब्दार्थो जगदेकं न संशयः ।
 अहमाशा जगदहं स्वमहं कर्म चाप्यहम् ॥ ३३
 कालोऽहमहमद्वैतं द्वैतं चाहमहं जगत् ।
 मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
 मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४

अर्जुन उवाच ।

द्वे रूपे तव देवेश परं चापरमेव च ।
 कीदृशं तत्कदा रूपं तिष्ठाम्याश्रित्य सिद्धये ॥ ३५

एष अहमिति भावः स्वाधिष्ठानादपृथग्भूत एव । हि यस्मा-
 द्भेदोऽपृथक्त्वं पर्यन्तः परिच्छेदः स च ब्रह्मणि न । असंश-
 नाहमिति कश्चिदवगच्छति । तथाचावगन्तृत्वेन पृथक्त्वोपपत्तिः
 पृथक्त्वेन चावगन्तृत्वोपपत्तिरित्यवश्यमन्यतरस्मिन् हेये निरु-
 पपत्तिकं पृथक्त्वमेव हेयमिति भावः ॥ २७ ॥ अहतायामुक्तो
 न्यायो घटादिममेतेहायामपि धोष्य इति दर्शयन्स्मृत्वाहंता-
 ग्रहत्यागमेव ब्रूयति—यथेति । यथा अहमीहा अहंभावो न
 पृथगस्ति तथा इह प्रतीचि घटादिममेतेहालक्षणो मर्कटोपि
 पृथग् नास्तीति नञनुषङ्गेण योज्यम् । तथाच द्विविधापीडा
 अभ्योधिरेव पूर्ण स्वमात्मैवेति नाहंताग्रहो युक्त इत्यर्थः ॥ २८ ॥
 किंचाहंमतादिसर्वविकल्पभेदे तत्तद्विषयवैचित्र्येण विचित्रे
 स्फुरितेऽपि तत्सत्तास्फूर्तिनिमित्ते अवस्थानयानुगते संवित्सार-
 माप्रसवभावे सर्वविकल्पागमापायसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्येकत्वमपि
 स्फुरत्येव । एवं सति तत्राप्याग्रहो युक्तः स कुतो नो न कियत-
 इत्यर्थः ॥ २९ ॥ इति उक्तरीत्या विद्म्य ज्ञातसारसारविभा-
 गस्य पुरुषस्य बुद्धौ तस्याहंमताग्रहस्य य परिक्षयस्तेन आर्थ-
 सिद्धः सर्वकर्मफलेष्वस्पृहालक्षणस्यागः ॥ ३० ॥ तेन च
 सर्वसंकल्पत्यागलक्षण असंसङ्गः सिद्ध्यतीति प्रथमप्रश्नोप्युत्तरित
 इत्याह—त्याग इति । चतुर्थप्रश्नस्योत्तरमाह—समस्तेति ।
 सर्वस्य द्वैतजालस्य वाचारम्भणश्रुत्युक्तन्यायेन तदुपादानेश्वर-
 माप्रसवभावनेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ तत्रोपपत्तिमाह—अबोधवशत
 इति ॥ ३२ ॥ तदुद्धीकाराय भगवान् स्वस्य सार्वभौम्यलक्षणा
 विभूतिमाह—अहमाशा इत्यादिना । गच्छतीति जगत् चरम् ।

श्रीभगवानुवाच ।

सामान्यं परमं चैव द्वे रूपे विद्धि मेऽनघ ।
 पाण्यादियुक्तं सामान्यं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ ३६
 परं रूपमनाद्यन्तं यन्ममैकमनामयम् ।
 ब्रह्मात्मपरमात्मादिशब्देनैतदुदीर्यते ॥ ३७
 यावदप्रतिबुद्धस्त्वमनात्मज्ञतया स्थितः ।
 तावच्चतुर्भुजाकारदेवपूजापरो भव ॥ ३८
 तत्कमात्संप्रबुद्धस्त्वं ततो ज्ञास्यसि तत्परम् ।
 मम रूपमनाद्यन्तं येन भूयो न जायते ॥ ३९
 यदि वा वैद्यविज्ञातो भावस्तदरिमर्दन ।
 तन्ममात्मानमात्मानमात्मनश्चाशु संश्रय ॥ ४०
 इदं चाहमिदं चाहमिति यत्प्रचदाम्यहम् ।
 तदेतदात्मतत्त्वं तु तुभ्यं ह्युपदिशाम्यहम् ॥ ४१
 मन्ये साधुविबुद्धोऽसि पदे विश्रान्तवानसि ।
 संकल्पैरवमुक्तोऽसि सत्यैकात्ममयो भव ॥ ४२
 सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
 पश्य त्वं योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ४३
 सर्वभूतस्थमात्मानं भजत्येकत्वमात्मनः ।
 सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ ४४
 एकत्वं सर्वशब्दार्थ एकशब्दार्थ आत्मनः ।

खं कर्माश्रयः ॥ ३३ ॥ अद्वैतं परं द्वैतमपरं रूपं तन्नियम्यं
 जगच्चाहमेवेत्यर्थः । एवं द्विरूपे मयि अधिकारतारतम्येन मनो
 यस्य स मन्मनाः भव । तादृशे मयि तथैव भक्तः श्रवणकीर्त-
 नादिनवविधभक्तिमान्भव । तादृशस्य मे ज्ञानयज्ञेन कर्मयज्ञेन
 वा यजनशीलो भवेत्यर्थः । एवमुक्तप्रकारद्वयेनापि युक्त्वा मयि
 चित्तं निवेश्य मामेवात्मानं स्वात्मभूतमेष्यसि साक्षात्परम्परया
 च प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ एवमुक्तोऽर्जुनस्ते द्वे रूपे तद्युक्ति-
 योग्यमधिकारं कालविभागं च जिज्ञासमानः पृच्छति—द्वे इति
 ॥ ३५ ॥ सामान्यं सर्वजनसाधारणं सुबोधमित्यर्थः ॥ ३६ ॥
 परं अशुद्धचित्तैर्दुरधिगमम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ तत्तत्तत्तद्वि-
 क्रमात् ॥ ३९ ॥ तुशब्दार्थे वाशब्दः । इदं च सगुणमजनं
 मया तुभ्यं चित्तशुद्ध्यभावं संभाव्योक्तं यदि तु तव भावचित्तं
 वेद्यं वेदनाहं निज्ञातम् । भावे क्तः । विज्ञानैकस्वभावं ब्रह्म
 यस्य तथाविधः शुद्ध इति मन्यसे तर्हि मम ईश्वरस्य आत्मानं
 पारमार्थिकस्वरूपभूतं शोधिततत्पदार्थं आत्मन स्वस्य च
 आत्मानं शोधितत्वंपदार्थरूपं नैकरसीकृत्वाखण्डपरिपूर्णमात्मनं
 संश्रय । बुद्ध्वा तन्निष्ठो भवेत्यर्थः ॥ ४० ॥ अहमाशा जगदहमि-
 त्यादिविभूत्युपदेशस्यापि तत्तद्विघ्नानस्यतत्त्वपरिशोधन एव
 तात्पर्यमित्याह—इदं चाहमिति ॥ ४१ ॥ भद्रपदेशावबोधेन तव
 सद्य एव स्वरूपे विश्रान्ति सैत्यतीत्युत्साहजननाय सिद्धवत्कृ-
 त्याह—मन्ये इति ॥ ४२ ॥ आत्मानमधिष्ठानत्वेनानुगतम् ।
 आत्मन्यव्यस्तानि ॥ ४३ ॥ सर्वथा सर्वप्रकारेण समाधिवृत्त्या
 व्यवहारवृत्त्या वा वर्तमानोऽपि ॥ ४४ ॥ सर्वभूतस्थमात्मानं

आत्मापि च न सन्नासद्गतो यस्याशु तस्य तत् ॥ ४५
 त्रैलोक्यचेतसामन्तरालोको यः प्रकाशकः ।
 अनुभूतिमुपारूढः सोऽहमात्मेति निश्चयः ॥ ४६
 त्रैलोक्यपयसामन्तर्यो रसानुभवः स्थितः ।
 गव्यानामन्धिजानां च सोऽयमात्मेति भारत ॥ ४७
 अन्तः सर्वशरीराणां यः सूक्ष्मोनुभवः स्थितः ।
 मुक्तोऽनुभवनीयेन सोऽयमात्मास्ति सर्वगः ॥ ४८
 समग्रपयसामन्तर्यथा घृतमिव स्थितम् ।
 तथा सर्वपदार्थानां देहानां संस्थितः परः ॥ ४९
 सर्वाम्भोनिधिरत्नानां सबाह्याभ्यन्तरे यथा ।
 तेजस्तथासि देहानामसंस्थित इव स्थितः ॥ ५०
 यथा कुम्भसहस्राणां सबाह्याभ्यन्तरे नभः ।
 जगत्त्रयशरीराणां तथात्माहमवस्थितः ॥ ५१
 मुक्ताफलशतौघानां तन्तुः प्रोतवपुर्यथा ।
 तथायं देहलक्षणां स्थित आत्मास्त्यलक्षितः ॥ ५२
 ब्रह्मादौ तृणपर्यन्ते पदार्थनिकुरम्बके ।
 सत्तासामान्यमेतद्यत्तमात्मानमजं विदुः ॥ ५३
 तदीषत्स्फुरिताकारं ब्रह्म ब्रह्मैव तिष्ठति ।
 अहन्तादि जगत्तादि क्रमेण भ्रमकारिणा ॥ ५४
 आत्मैवेदं जगद्रूपं हन्यते हन्ति वात्र किम् ।
 शुभाशुभैर्जगदुःखैः किमस्यार्जुन लिप्यते ॥ ५५

इति श्लोकस्य तात्पर्यं स्वयमेव वर्णयति—एकत्वमिति । सर्व-
 भूतेष्वधिष्ठानतया स्थितमात्मानं पश्यति तदा स सर्वशब्दस्या-
 र्थोऽधिष्ठानव्यतिरिक्तस्यालभादेकत्वं भजते स च एकशब्दार्थं
 आत्मनः प्रतीचः स्वभावे पर्यवसन्नः स आत्मापि च न सत्
 मूर्तभूतत्रयस्वभावः, नाप्यसत् सूक्ष्मभूतद्वयस्वभावः किन्तु
 भूमानन्दचिदेकस्वभावो यस्यानुभवं गतस्तस्याशु तदवगम-
 समकालमेव तज्जन्मादिसर्वविक्रियारहितं भूमानन्दात्मकं
 केवल्यं पर्यवस्यतीति तत्तात्पर्यमित्यर्थः ॥ ४५ ॥ तस्य
 केनाप्यननुभवादत्यन्तपरोक्षतां प्रसक्तां वारयति—त्रैलोक्ये-
 त्यादिना ॥ ४६ ॥ त्रैलोक्यस्थानां पयसां जलानाम् ।
 गोर्विकारा गव्यानि तेषां दुग्धादीनाम् । अन्धिजानां लव-
 णादीनां चकारादिक्षुमष्वादीनां च जिह्वाप्रसन्निकृष्टानां यो
 रसानुभवः सोऽयमात्मैवेति न परोक्षप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ ४७ ॥
 अनुभवनीयेन विषयजातेन मुक्तो रहितः, अतएव दुर्लक्ष्यत्वा-
 त्सूक्ष्मः ॥ ४८ ॥ सर्वपदार्थानामन्तरधिष्ठानतया देहानाम-
 न्तस्तु प्रकाशकतया च संस्थितः ॥ ४९ ॥ देहान्तःस्थितिं
 दृष्टान्तेन विशदयति—सर्वेति । यथा सर्वरत्नानामन्तर्गतं तेजो
 बहिरपि प्रकाशयति, तद्वदित्यर्थः ॥ ५० ॥ असंस्थित इवेत्युक्ति-
 तात्पर्यविषयमलेपकत्वं दृष्टान्तान्तरेण विशदयति—यथेति
 ॥ ५१ ॥ सर्वदेहेष्वन्तः स्थित्वान्तर्यामितया विचारकत्वेऽप्यल-
 क्ष्यत्वे दृष्टान्तमाह—मुक्ताफलेति ॥ ५२ ॥ तत्राधिष्ठानात्मना
 यो० वा० ११४

प्रतिबिम्बेष्विवादशसमं साक्षिदस्यतम् ।
 नश्यत्सु न विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ ५६
 इदं चाहमिदं नेति इतीदं कथ्यते मया ।
 एवमात्मासि सर्वात्मा मामेवं विद्धि पाण्डव ॥ ५७
 इमाः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
 आत्मन्यहंताचित्तस्थाः पयःस्पन्दा इवाम्बुधौ ॥ ५८
 यथोपलत्वं शैलानां दारुत्वं च महीरुहाम् ।
 तरङ्गाणां जलत्वं च पदार्थानां तथात्मता ॥ ५९
 सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
 यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ ६०
 नानाकारविकारेषु तरङ्गेषु यथा पयः ।
 कटकादिषु वा हेम भूतेष्व्वात्मा तथाऽर्जुन ॥ ६१
 नानातरङ्गवृन्दानि यथा लोलानि वारिणि ।
 कटकादीनि वा हेमि भूतान्येवं परात्मनि ॥ ६२
 पदार्थजातं भूतानि बृहद्ब्रह्म च भारत ।
 एकमेवाखिलं विद्धि पृथक्त्वं न मनागपि ॥ ६३
 किं तद्भावविकाराणां गम्यमस्ति जगत्त्रये ।
 क ते वापि जगत्किं वा किं मुधा परिमुह्यसि ॥ ६४
 इति श्रुत्वाऽभयं त्वन्तर्भावयित्वा सुनिश्चितम् ।
 जीवन्मुक्ताश्चरन्तीह सन्तः समरसाशयाः ॥ ६५

निर्विकारस्थितिर्ब्रह्मता सैव वास्तवी । या तु मुक्ताशु तन्तुवद-
 न्तर्यामितया स्थितिर्या च रजेषु प्रभावत्प्रकटजीवतया स्थितिस्ते
 उभे अध्यस्तसापेक्षे जगद्यवहारार्थे कल्पिते इति न वास्तवं
 हन्तव्यं हन्ता तत्प्रयुक्तपापं तत्फलप्रदो वा स्वात्मातिरिक्त
 इत्याशयेनाह—ब्रह्मादाविति त्रिमिः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥
 ॥ ५५ ॥ अध्यस्तैर्वधादिदोषैरलेपे दृष्टान्तान्तरमाह—प्रति-
 बिम्बेष्विति ॥ ५६ ॥ सर्वदेहेषु अहमहमिति प्रथमान्विदंश
 एवाहं जडदेहेन्द्रियविषयांशो नाहमिति विभागोक्तिरपि दर्पण-
 प्रतिबिम्बितेष्वनेकदर्पणान्तरेषु घटादिषु च व्यावृत्तदर्पणस्वरूप-
 परिचयाय दर्पणादर्पणविभागोक्तिवदेवेत्याह—इदं चाह-
 मिति । इतिशब्द आद्योऽर्थविभागप्रकारपरः, द्वितीयस्तुक्ति-
 विभागप्रकारपर इत्यपौनरुक्त्यम् । एवं दर्पणवदेवालेपकोऽद्वय
 एवात्मा सजहं सर्वात्मासि ॥ ५७ ॥ अहंता अभिमानवृत्ति-
 स्वद्विति चित्ते तिष्ठन्तीति तत्स्थाः ॥ ५८ ॥ आत्मता पारमार्थिकी-
 त्यर्थः ॥ ५९ ॥ अकर्तारं प्रतिबिम्बचेष्टासु दर्पणवदेवाव्यावृत्त-
 मित्यर्थः ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ दर्पणतत्प्रतिबिम्बवदेकमेव ॥ ६३ ॥
 यदा निर्विकारं ब्रह्मैवैकं तदा जन्मादिभावविकाराणां गम्यमा-
 त्माश्रयभूतं किमन्यदस्ति । ते घन्धुवधादिभावविकारा वा क्व
 सन्ति । जगदपि किं धान्यदस्ति, न किंचिदित्यर्थः ॥ ६४ ॥
 अन्तः अभयं ब्रह्म भावयित्वा सम्यग्नुभूय ॥ ६५ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-

र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

६६

इत्यापि श्रीवाचिष्ठमहारामायणे बाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपाख्याने अर्जुनोपदेशो नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥५३॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः ५४

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १
मात्रास्पर्शा हि कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ २
ते तु नैकात्मनश्चान्ये काऽतो दुःखं क्व वा सुखम् ।
अनाद्यन्तेऽनवयवे कुतः पूरणखण्डने ॥ ३
संस्थिता स्पर्शमात्राख्या मात्रास्पर्शभ्रमात्मकः ।
समदुःखसुखो धीरः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ४
सर्वत्वादात्मनश्चैते सुमेदाः संस्थिता इव ।

तेषामेवोक्तलक्षणविशिष्टानां विदेहकैवल्यावाप्तिरपीत्याशयेनाह—
निर्मानमोहा इति ॥ ६६ ॥ इति श्रीवाचिष्ठमहारामायणता-
त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धेऽर्जुनोपदेशो नाम त्रिपञ्चाशः
सर्गः ॥ ५३ ॥

सुखदुःखादिसंबन्धे हेतुहानक्रमस्तथा ।

यदालम्ब्य च तद्धानं तत्सर्वमिह कीर्त्यते ॥ १ ॥

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैस्तत्पदं गच्छन्तीत्युक्तं तत्र
द्वन्द्वसंबन्धे को हेतुः कथं तद्विमोक्षोपायः किमालम्ब्य चेला-
शङ्कापरिहारद्वारेणात्मतत्त्वमुपदेष्टुमात्रो भगवानुवाच—भूय
एवेति । प्रीयमाणाय प्रीत्या श्रोतुकामाय उपदिश्यमानार्थग्रह-
णेन सतुष्यते च ॥१॥ तत्रादौ विषया एव सुखदुःखरूपा इत्य-
भेदभ्रमं वारयन्नाह—मात्रास्पर्शा इति । शीयन्ते विषया
एभिरिति मात्रा इन्द्रियाणि तेषां विषयसंस्पर्शास्ते शीतोष्णा-
द्यनुभावनप्रयुक्तसुखदुःखहेतवः । अथवा स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः
शब्दादयः । शीतोष्णग्रहणमुदाहरणार्थम् । यथा शीतं प्रीत्ये
सुखदमुष्णं दुःखदं ते पुनः शिशिरे विपरीते इति न विषया-
सुखदुःखरूपा इत्यर्थः । एवं दुःखहेतुप्रददर्यं तन्निवारणोपाय-
माह—तांस्तितिक्षस्वेति । तितिक्षोचित्वैराग्यस्याप्युपलक्ष-
णम् । तथाच प्रियेषु विरज्यस्व अप्रियेषु तितिक्षस्वेत्यर्थः ॥ २ ॥
यथा बुद्ध्या तद्विरागतिविज्ञे सिध्यतस्त्वामाह—ते त्विति । ते
मात्राः स्पर्शाश्च ते सुखदुःखे वा । चकारादन्यदपि । एकात्मनः
अद्वयपूर्णनन्दस्वभावात्त्वात्मनोऽन्ये न ज्ञातः । एवं बोधादि-
त्यर्थः । किञ्च प्रियतममधनपुत्रादिसंपदा पूर्णोऽहमिति त्रान्त्या
आभिमानीकं सुखं तद्विरोगायप्रियसंपत्त्या खण्डितोऽहमिति
दुःखं च स्यात्ते अपि निरवयवे पूरणखण्डनासंभवदर्शने निवर्तते
इत्याह—अनाद्यन्ते इति ॥३॥ यस्य स्पर्शानां विषयाणां
मात्राणामिन्द्रियाणां चाख्यानमाख्या सत्यताप्रतीतिः संस्थिता

असद्रूपास्त्वसद्रूपं कथं सोढुं न शक्यते ॥ ५
मनागपि न विद्यन्ते सुखदुःखे तु सर्वशः ।
सर्वत्वादात्मतत्त्वस्य सत्ता कथमनात्मनः ॥ ६
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
नास्त्येव सुखदुःखादि परमात्मास्ति सर्वगः ॥ ७
सत्त्वासत्त्वमती त्यक्त्वा चैतयोर्जगदात्मनोः ।
त्यक्त्वा न किञ्चिन्मध्ये च शेषे बद्धपदो भव ॥ ८
न दृष्यति सुखैरात्मा दुःखैर्लायति नोऽर्जुन ।
दृश्यदृक्केतनात्मापि शरीरान्तर्गतोऽपि सन् ॥ ९

उपशान्ता भवति स मात्रास्पर्शभ्रमात्मको जीवो धीरस्यास्तीति
धीरस्तत्त्वदर्शो समदुःखसुखो भूत्वा अमृतत्वाय कल्पत इत्यर्थः
॥४॥ नन्वप्रिया दुःखादयः कथं खं प्रतिकूलवेदनीयतास्वभावं
जग्युर्नेन ते सद्भाः स्युस्तत्राह—सर्वत्वादिति । निरतिशया-
नन्दैकरसस्यात्मन एव सर्वत्वादेते दुःखादिभेदाः शोभना भेदाः
सुमेदाः प्रियतममधनपुत्रादिभेदा इव संस्थिता न प्रतिकूलवेद-
नीयतां भजन्ते । प्राक्नेन तु प्रातिकूल्यस्वभावेनासद्रूपा इत्यर्थः
॥ ५ ॥ तदेव स्फुटीकृत्य समर्थयति—मनागपीति ॥ ६ ॥
नन्वसदपि दुःखाद्यात्मन्युत्पद्यते असत एव स्वकारणसमवायः
स्वसत्तासंबन्ध आद्यक्षणसंबन्धो वा उत्पत्तिरिति कणमक्षाक्ष-
चरणाद्युक्तिं प्रतिक्षिपति—नासत इति । असतो दुःखादेर्भावः
सत्ता न विद्यते । सतः अभावः असत्ता च न विद्यते । स्वभा-
ववैपरीत्यायोगात् । वाचारम्भणादिश्रुत्या विकारमात्रस्यासत्त्व-
निश्चयात् । ननु सर्वविकाराणामसत्त्वे पिण्डाद्यन्यतमविकारा-
नाल्लिङ्गितप्रकृतिमृदाद्यदर्शनात्तस्याप्यसत्त्वे शून्यतापरिशेषः किं
न स्यादिति चेन्न । विकारेष्वनुगतसद्बुद्धेर्निर्विषयत्वायोगेन
विकारासत्त्वेऽपि शून्यपरिशेषानापत्तेः । यदि तदप्यसदेव
स्यात्तर्हि घटः असन् प्रटः असद्विलेवान्वयवत्स्यत् । सत्सद्विलेव
चाबुवर्तते अतस्त्वन्मात्रमेव परिशिष्यते । यस्तु विकारेषु सद्विद-
नित्यमिमानः सोऽधिष्ठानसत्तादुवेधादेव न सत इति सुखदुः-
खादि नास्त्येवेत्यर्थः ॥७॥ जगतः सत्त्वमतिं निरतिशयानन्द-
त्मनः असत्त्वमतिं च त्यक्त्वा तयोर्जगदात्मनोर्मध्ये अन्तराळे
उभयसंघटनानिमित्तं मनस्तमश्चातितुच्छमिति त्यक्त्वा शिष्यत
इति शेषस्त्रिदात्मा तस्मिन् बद्धपदः प्रतिष्ठितो भव ॥ ८ ॥
दृश्यानि दृर्षगलान्यादीनि साक्षितया पश्यतीति दृश्यदृक् ।
नहि दृश्यास्ते दृग्धर्मा भवितुमर्हन्तीति भावः ॥ ९ ॥

जडं चित्तादि दुःखस्य भाजनं देहतां गतम् ।
 न चैतस्मिन्क्षते क्षीणे किञ्चिदेवात्मनः क्षतम् ॥ १०
 जडं देहादि दुःखादेर्यदिदं भोक्तृसंस्थितम् ।
 तन्मायाभ्रममेवाङ्गं विद्ध्यबोधवशोत्थितम् ॥ ११
 न किञ्चिदेव देहादि न च दुःखादि विद्यते ।
 आत्मनो यत्पृथग्भूतं किं केनातोऽनुभूयते ॥ १२
 यदिदं कथयाम्यत्र तेनैवातो विनश्यति ।
 भ्रान्तिर्दुःखमबोधोत्था सम्यग्बोधेन भारत ॥ १३
 यथा रज्ज्वामहिभयं बोधान्नश्यत्यबोधजम् ।
 तथा देहादिदुःखादि बोधान्नश्यत्यबोधजम् ॥ १४
 विष्वग्विश्वमजं ब्रह्म न नश्यति न जायते ।
 इति सत्यं परं विद्धि बोधः परम एष सः ॥ १५
 ब्रह्माभ्युधौ तरङ्गत्वं किञ्चिद्भूत्वा विलीयते ।
 ब्रह्मावर्तं स्फुरस्यद्य ब्रह्मैवासि निरामयम् ॥ १६
 यावत्कालक्रियादेशास्त्वमहंसैनिका इव ।
 ब्रह्मणीव परिस्पन्दा नात्र स्तः सदसद्भूमौ ॥ १७
 जहि मानं मदं शोकं भयमीहां सुखासुखे ।
 द्वैतमेतदसद्रूपमेकः सद्वृत्तवान्भव ॥ १८
 पुरुषाक्षौहिणीनां च क्षयेणानुमवात्मना ।
 ब्रह्मणा बृंहितं शुद्धं ब्रह्म ब्रह्ममयं कुरु ॥ १९
 असंविदसुखं दुःखं लाभालाभौ जयाजयौ ।
 शुद्धं ब्रह्मेकतां गच्छ ब्रह्माग्निस्त्वं हि भारत ॥ २०
 लाभालाभसमो भूत्वा भूत्वा नूनं न किञ्चन ।
 खण्डवात इवास्पन्दी प्रकृतं कार्यमाचर ॥ २१
 यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
 यत्करिष्यसि कौन्तेय तदात्मेति स्थिरो भव ॥ २२

किं तर्हि दुःखदुर्वादिभाजनं तत्राह—जडमिति । एतस्मिन्
 चित्तादौ ॥ १० ॥ इदं चित्तादिघटितं जीवरूपम् ॥ ११ ॥ १२ ॥
 यदिदं दुःखं तदबोधोत्थभ्रान्तिरतस्तेन सम्यग्बोधेनैव विन-
 श्यति । अत्र दृष्टान्तं कथयामीत्यन्वयः ॥ १३ ॥ १४ ॥ कीदृशः
 स बोधस्तमाह—विष्वग्विति । विश्वं विष्वक् पूर्णं ब्रह्मैव
 ॥ १५ ॥ अयं बोधोदयकाले ॥ १६ ॥ कृत्स्नवाची यावच्छब्दः ।
 कालादीनां द्वन्द्वसमासः । सदसद्भूमौ भावामावविकल्पो ॥ १७ ॥
 ॥ १८ ॥ त्वत्करिष्यमाणपुरुषाक्षौहिणीक्षयात्मनापि ब्रह्मणैव
 बृंहितं अतः अनुमवात्मना शुद्धं ब्रह्मैव ब्रह्ममयं कुर्वित्यर्थः
 ॥ १९ ॥ २० ॥ नूनं तत्त्वनिश्चयेन न किञ्चन जागतं देहादि-
 रूपं भूत्वा । खण्डवातो गुहापरिच्छिन्नो वायुरिव ॥ २१ ॥
 सर्वक्रियाणां ब्रह्मैवेति निश्चयस्यैर्यमेव मदर्पणमित्याशयेनाह—
 यदिति ॥ २२ ॥ यन्मयः यदाकारचित्तः ॥ २३ ॥
 अपेक्षाया अभावः अनपेक्षम् । अर्थाभावेऽव्ययीभावः ।
 सर्वकामोपरमस्तद्रूपं फलं परमपुरुषार्थः स्वयं भूत्वा केवलं

यन्मयो यो भवत्यन्तः स तदाप्रोत्यसंशयम् ।
 ब्रह्मसत्यमवाप्तुं त्वं ब्रह्मसत्यमयो भव ॥ २३
 अनपेक्षफलं ब्रह्म भूत्वा ब्रह्मेति भावितम् ।
 क्रियते केवलं कर्म ब्रह्मज्ञेन यथागतम् ॥ २४
 कर्मण्यकर्म यः पश्यत्यकर्मणि च कर्म यः ।
 स बुद्धिमान्मनुष्येषु स चोक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ २५
 मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।
 योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ॥ २६
 कर्मासक्तिमनाश्रित्य तथा नाश्रित्य मूढताम् ।
 नैष्कर्म्यमप्यनाश्रित्य समस्तिष्ठ यथास्थितम् ॥ २७
 त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
 कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २८
 आसक्तिमाहुः कर्तृत्वमकर्तुरपि तद्भवेत् ।
 मौख्ये स्थिते हि मनसि तस्मान्मौख्यं परित्यजेत् ॥ २९
 परं तत्त्वज्ञमाश्रित्य निरासकेर्महात्मनः ।
 सर्वकर्मरतस्यापि कर्तृतोदेति न कश्चित् ॥ ३०
 अकर्तृत्वादभोक्तृत्वमभोक्तृत्वात्समैकता ।
 समैकत्वादनन्तत्वं ततो ब्रह्मत्वमाततम् ॥ ३१
 नानातामलमुत्सृज्य परमात्मैकतां गतः ।
 कुर्वन्कार्यमकार्यं च नैव कर्ता त्वमर्जुन ॥ ३२
 यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
 ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ३३
 समः सौम्यः स्थिरः स्वस्थः शान्तः सर्वार्थनिरुपहृः ।
 यस्तिष्ठति स सव्यग्रोऽप्यलमव्यग्रतां गतः ॥ ३४
 निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।
 यथाप्राप्तानुवर्ती त्वं भव भूषितभूतलः ॥ ३५

बुधा चेष्टारूपं ब्रह्मेति भावनाबाधितं कर्म क्रियते ॥ २४ ॥ यः
 पुमान्कर्मण्युक्तरीत्या अकर्म निष्क्रियं ब्रह्म पश्यत्यकर्मणि
 ब्रह्मणि चाविच्युतप्रतिष्ठारूपं कर्म अवश्यं कर्तव्यं पश्यति स
 बुद्धिमान्निवेकी स एव च स्वरूपतः फलतश्च कृत्स्नं पूर्णं कर्म
 करोतीति कृत्स्नकर्मकृदुक्तो विद्वद्भिरित्यर्थः ॥ २५ ॥ कर्मफलानि
 लाभादीनि हेतवः प्रवृत्तिनिमित्तानि यस्य तथाविधो मा भूः ।
 अकर्मणि प्राप्तकर्माकरणेऽपि ते सङ्ग आसक्तिर्माभूत् । योगस्थः
 प्रागुक्तसिद्ध्यसिद्धिसमदृष्टिप्रतिष्ठितः ॥ २६ ॥ मूढतां तत्त्वदृष्टौ
 प्रमादम् ॥ २७ ॥ २८ ॥ मौख्यं उक्तप्रमादे स्थिते सत्य-
 वश्यमासक्तिर्भवेदेव ततोऽनर्थपरम्परैत्यर्थः ॥ २९ ॥ तत्त्व-
 दर्शनाप्रमादे तु निरासकेः स्वत एवाकर्तृता सिद्ध्यतीत्याह—
 परमिति ॥ ३० ॥ तेन च भूमिकाक्रमाद्विदेहकैवल्यान्तं
 सिद्ध्यतीत्याह—अकर्तृत्वादिति ॥ ३१ ॥ अकार्यं प्रमादा-
 निषिद्धं च कुर्वन् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ सव्यग्रः सक्रियोऽपि सः ।
 अव्यग्रतामक्रियताम् ॥ ३४ ॥ अलब्धस्य लाभो योगः, लब्धस्य

कर्मैन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ३६
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मैन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ३७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायमेवास्मी ० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपासनायै आत्मज्ञानोपदेशो नाम ननुपपन्नायः सर्गः ५४

पञ्चपञ्चाशः सर्गः ५५

श्रीभगवानुवाच ।

न कुर्याद्भोगसंत्यागं न कुर्याद्भोगभावनम् ।
स्थातव्यं सुसमेनैव यथाप्राप्तानुवर्तिना ॥ १
अनात्मन्यात्मतां देहे वा भावय भवात्मनि ।
आत्मन्येवात्मतां सत्ये भावयाऽभवत्पिणि ॥ २
देहनाशे मदायाहो न किञ्चिदपि नश्यति ।
आत्मनाशो हि नाशः स्यात्त आत्मा नश्यति ध्रुवः ॥ ३
न हि शीर्यत्याचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चिदकरोति सः ॥ ४
आसक्तिमाहुः कर्तव्यमकर्तुरपि तद्भवेन् ।
मौर्ख्यस्थिते हि मनसि तस्मान्मौर्ख्यं परित्यजेन् ॥ ५
परं तत्त्वप्रमाथित्य निरासक्तेर्महात्मनः ।
सर्वकर्मरतस्यापि कर्तृत्वोदेति न क्वचिन् ॥ ६
अविनाशमनाद्यन्तमात्मानमजरं विदुः ।

पाठनं क्षेमस्तदुभयनिन्ताभ्यः ॥ ३५ ॥ लक्षणं पूर्वार्थो
मानसविषयास्तत्सर्वे दान्तिभक्त एव न गन्तव्य इत्याह—यर्मे-
न्द्रियाणीति ॥ ३६ ॥ समनस्तेन्द्रियनिग्रहणो यवानास-
व्यवहरतोऽपि फलापलायनात्सन्वागफलमस्तेष्वेवानयेन तं
प्रशंसन्नाह—यस्त्विति ॥ ३७ ॥ तस्यान्तिर्गुणग्रथेन्द्रियमा-
सन्वाहित एव सर्वकामोपरमान्तरगपुरुषार्थो गान्धर्वस्युपसं-
रति—आपूर्यमाणमिति । यत्तु आपो नरा आपूर्यमाणं गमुं
प्रविशन्ति तद्वत्तवमापना धिलयन्ते तद्वत्तु तदापि प्रविष्टा
यस्य तं संवायिनं गर्वं कामा मिथ्यातुष्टिमागिताभिप्रायाः गन्त-
प्रविशन्त्यात्मन्येव धिलयात्ममात्रतामापन्ते स एव सर्वानर्थ-
शान्तिलक्षणं मोक्षमाप्नोति न तु काम्यन्त इति कामा निपना-
स्तात्कामनाशील इत्यर्थः ॥ ३८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायण-
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्थे आत्मज्ञानोपदेशो नाम
ननुपपन्नायः सर्गः ॥ ५४ ॥

देहनाशोऽप्यनाशात्मा मूढतत्त्वज्ञयोः समः ।

मूढो जन्मादिसम्पद् आनन्त्या प्रसु नैवत्र चर्ष्यते ॥ १ ॥

भुज्यन्त इति भोगा देहधारणहेतवोऽप्रपानादयस्तेषां संस्कारां
न कुर्यात् । हितमित्येभ्यश्चानाधुपादयादित्यर्थः । भोगानां
भावनं चिन्तां तत्संप्रवर्धनं च न कुर्यात् । तदा-
भालमादिषु सुसमेनैव स्थातव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥ एवं देहात्म-
भावनापि न कार्येत्याह—अनात्मनीति । भवात्मनि जन्मा-

आपूर्यमाणमचलप्रतिभुं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा ये प्रविशन्ति सर्वे

त आत्मनाप्नोति न कामकामी ॥ ३८

नश्यत्यात्मेति दुर्बोधो मा तयोन्मिद दुःखदः ॥ ७

न तथा परिपश्यन्ति निदिनान्मान उत्तमाः ।

पश्यन्त्यात्मनात्मानं स्वमात्मन्यात्ममानिनः ॥ ८

अर्जुन उवाच ।

एवं चेत्प्रजगतां मूढानामपि मानम् ।

देहनाशे समुत्पद्ये इष्टं नष्टं न किञ्चन ॥ ९

श्रीभगवानुवाच ।

पश्यमेतन्मदायाहो न किञ्चिदप्यति क्वचिन् ।

आत्मैवास्त्यनिनाशात्मा किं तस्य क्व चित्तप्यति ॥ १०

इष्टं नष्टमिदं युक्तमिति मोक्षप्रमादने ।

अन्यत्तथा न पश्यामि गन्त्याग्नाननयं यथा ॥ ११

नासतो विगते भागो नाभावो विगते सतः ।

उभयोरपि एष्टोऽस्तस्यनयोन्यत्रद्विषेति ॥ १२

अविनाशि तु न दृष्टिं येन सर्वसिदं तनम् ।

विनाशोऽप्यनाशो ॥ १३ ॥ अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो'

इति श्रुतिः प्रमादप्रमाणमिति परिग्रह एव तयोन्मिदं

भगवन्नाशानि प्रमादः, तदर्थं न न शीर्यति प्रमाद-
त्ता—न हीति । अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो' इति श्रुतिः

विनाशोऽप्यनाशो ॥ १३ ॥ अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो'

इति श्रुतिः प्रमादप्रमाणमिति परिग्रह एव तयोन्मिदं

भगवन्नाशानि प्रमादः, तदर्थं न न शीर्यति प्रमाद-
त्ता—न हीति । अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो' इति श्रुतिः

विनाशोऽप्यनाशो ॥ १३ ॥ अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो'

इति श्रुतिः प्रमादप्रमाणमिति परिग्रह एव तयोन्मिदं

भगवन्नाशानि प्रमादः, तदर्थं न न शीर्यति प्रमाद-
त्ता—न हीति । अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो' इति श्रुतिः

विनाशोऽप्यनाशो ॥ १३ ॥ अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो'

इति श्रुतिः प्रमादप्रमाणमिति परिग्रह एव तयोन्मिदं

भगवन्नाशानि प्रमादः, तदर्थं न न शीर्यति प्रमाद-
त्ता—न हीति । अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो' इति श्रुतिः

विनाशोऽप्यनाशो ॥ १३ ॥ अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो'

इति श्रुतिः प्रमादप्रमाणमिति परिग्रह एव तयोन्मिदं

भगवन्नाशानि प्रमादः, तदर्थं न न शीर्यति प्रमाद-
त्ता—न हीति । अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो' इति श्रुतिः

विनाशोऽप्यनाशो ॥ १३ ॥ अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो'

इति श्रुतिः प्रमादप्रमाणमिति परिग्रह एव तयोन्मिदं

भगवन्नाशानि प्रमादः, तदर्थं न न शीर्यति प्रमाद-
त्ता—न हीति । अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो' इति श्रुतिः

विनाशोऽप्यनाशो ॥ १३ ॥ अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो'

इति श्रुतिः प्रमादप्रमाणमिति परिग्रह एव तयोन्मिदं

भगवन्नाशानि प्रमादः, तदर्थं न न शीर्यति प्रमाद-
त्ता—न हीति । अत्रोक्तं 'आत्मनो न विनाशो' इति श्रुतिः

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १३
 अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
 अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १४
 आत्मा चैकोऽस्ति न द्वित्वमसतः संभवः कुतः ।
 अविनाशस्त्वनन्तोऽसौ सतो नाशो न विद्यते ॥ १५
 द्वित्वैकत्वपरित्यागे शेषं यत्परिशिष्यते ।
 शान्तं सदसतोर्मध्यं तदस्तीह परं पदम् ॥ १६
 अर्जुन उवाच ।
 तन्मृतोऽस्तीति भगवन्किंकृता तु नृणां स्थितिः ।
 कथं स्थितौ च लोकानां तौ स्वर्गनरकौ प्रभो ॥ १७
 श्रीभगवानुवाच ।
 भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
 एतत्तन्मात्रजालात्मा जीवो देहेषु तिष्ठति ॥ १८
 स कृष्यते वासनया रज्ज्वेव पशुपोतकः ।
 स तिष्ठति शरीरान्तः पञ्चरे विहगो यथा ॥ १९
 स कालदेशतो देहाज्जर्जरत्वमुपागतात् ।
 वासनावशतो याति प्लक्षपर्णाद्रसो यथा ॥ २०
 श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
 गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ २१
 वासनावत्त्वमेवास्य देहो नेतरयुक्तिजः ।

क्षीयते वासनात्यागे क्षीणे भवति तत्पदम् ॥ २२
 वासनावान्परापुष्टो भूत्वा भ्राम्यति योनिषु ।
 जीवो भ्रमभराभारो मायापुरुषको यथा ॥ २३
 अक्षस्वभावानखिलाञ्छरीराद्वासनावशः ।
 जीवो गृहीत्वा संयाति पुष्पाद्गन्धमिवानिलः ॥ २४
 देहो निस्पन्दतामेति जीवे कौन्तेय निर्गते ।
 निस्पन्दावयवाभोगः शान्तवात इव द्रुमः ॥ २५
 अचेष्टं छेदभेदादिदोषैरायात्यदृश्यताम् ।
 मृत इत्युच्यते तेन देहो विगतजीवितः ॥ २६
 स जीवः प्राणमूर्तिः खे यत्र यत्रावतिष्ठते ।
 तं तं स्ववासनाभ्यासात्पश्यत्याकारमाततम् ॥ २७
 अयं देहो हि जीवेन त्वसन्नेवावलोकितः ।
 अस्य नाशे त्वमप्येवं पश्य मा वा सुषुप्तवत् ॥ २८
 यथैव पश्यत्याकारांस्तेषां नाशांस्तथैव सः ।
 आदिसर्गे भावनया किलैष्वेवं विभावतः ॥ २९
 झटित्युद्भवकाले हि यद्यथा दृश्यते पुरः ।
 आनिपातं तदेवास्या अविनाभाविसंविदः ॥ ३०
 प्राक्तनं वासनामूलं पुरुषार्थेन जीयते ।
 यत्नेनाद्यतनेनाशु ह्यस्तनायतनं यथा ॥ ३१

भ्रमभरमाविभर्तीति कर्मण्यण् ॥ २३ ॥ श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं
 चेति यदुक्तं तद्विदुषोति—अक्षस्वभावानिति । स्वभावान्
 शब्दादिग्रहणशक्तीः ॥ २४ ॥ तदेव लोके मरणं प्रसिद्धमि-
 त्याह—देह इति ॥ २५ ॥ २६ ॥ खे चिदाकाशे भूताकाशे
 वा यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् देहदेशकालभोग्याद्याकारे अवति-
 ष्ठते भोजकादष्टोद्भावितवासनो भवति तं तमाकारं पश्यति
 ॥ २७ ॥ अस्य देहस्य नाशेऽप्येवमसत्त्वं पश्य । अथवा सुषु-
 प्तवद्देहं तच्चाशं तदसत्त्वं च मा पश्य । यथा सुषुप्तो न किञ्चि-
 त्पश्यति तद्वदित्यर्थः ॥ २८ ॥ प्रतिशोभिनां वासनाकल्पितत्वे
 तच्चाशानामपि तादृशलमेवादिसर्गाद्वारभ्य ह्युत्पत्तित्वाह—यथै-
 वेति । आदिसर्गे हि चतुर्मुखेन एषु सर्गेषु गवाश्वाद्याकारेषु
 भावनया पूर्वसर्गानुभववासनयैव विभावतो विभावनाया वशा-
 देवरूपं कल्पितं ननु मृदण्डाद्यादाय कुलालवर्त्तिकचिन्मिति ॥
 किलेति श्रुतिपुराणप्रसिद्धौ ॥ २९ ॥ ननु उत्पत्तिकाले जगद्वा-
 सनामयं मिथ्याभूतमस्तु स्थितिकाले त्वय्यक्रियासमर्थत्वात्सर्व-
 जनीनसत्यतानुभवाच्च वास्तवमेवेत्याशङ्क्याह—झटितीति ।
 उत्पत्तिकाले झटिति प्रथमक्षणे यद्यथा देहघटादिरूपं मिथ्या-
 भूतं सत्यं वा पुरो दृश्यते आविनाशं तदेव तथास्वभावमेव
 भवति न स्वभावान्तरं भजते । अस्यास्तदधिष्ठानभूतायास्तद-
 विनाभाविसंविदो यथोत्पन्नरूपस्थितिहेतुत्वात्संविदिनाभावेन
 तेषां सत्ताया अदर्शनाच्चेति भावः ॥ ३० ॥ देहाद्याकारणा-
 वासनामयत्वमस्तु किं तत्तत्तत्राह—प्राक्तनमिति । अशुभवा-
 सनाकल्पितदेहाद्याकारस्य शुभवासनाभ्यासप्रसूतब्रह्माकारवृत्त्याः

तदसदेवेति नासतो बन्धुदेहादेर्युद्धे नाशे कश्चिदनर्थ इत्याशये-
 नाह—अविनाशीति द्वाभ्याम् ॥ १३ ॥ १४ ॥ अद्वयत्वाद्वि-
 नाशकाप्रसिद्धेरपि नात्मनाशप्रसक्तिरित्याह—आत्मेति ॥ १५ ॥
 एकत्वं कारणं सच्छब्दवाच्यं द्वित्वं कार्यमसदनृतं तयोर्मध्य-
 मान्तरमधिष्ठानसन्मात्रम् ॥ १६ ॥ एवमपरिच्छिन्नस्यात्मनो
 मरणादिपरिच्छेददुःखादिभ्रमे को हेतुरित्यर्जुनः पृच्छति—
 तदिति । तत्तर्हि । किंकृता केन हेतुना प्राप्ता । स्थितिर्नियतिः ।
 तस्यां च स्थितौ स्वर्गः सुखं नरको दुःखं च किंकृतौ ॥ १७ ॥
 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति' इति श्रुति-
 तात्पर्येण भगवान्समाधत्ते—भूमिरिति । पञ्चभूतमात्रानिर्मि-
 तमनोबुद्ध्यादिघटितव्यष्टिसमष्टिस्थूलसूक्ष्मदेहतादात्म्यापत्तिरेव
 परस्य जीवभावः स एव जन्ममरणसुखदुःखादिभ्रमनियतिनि-
 मित्तमित्यर्थः ॥ १८ ॥ तस्य विचित्रदेहपरिग्रहे तत्तदनुरूपचे-
 ष्टवैचित्र्ये च निमित्तमाह—स इति ॥ १९ ॥ पूर्वदेहादेहान्त-
 रगमनेऽपि वासनैव निमित्तमित्याह—स इति ॥ २० ॥
 आशेते अस्मिन्नित्याशयः पूर्वशरीरं पुष्पादि च तस्मात् ॥ २१ ॥
 अतएवास्य स्थूलदेहोऽपि वासनात्मक एव विराजितवृत्त्या स्थौल्य-
 भ्रम इत्याशयेनाह—वासनेति । क्षीणे लिङ्गे तत्परमपदं
 स्वयमेव भवति ॥ २२ ॥ परेणात्मभूतेनैवान्नपानादिना आपुष्टः
 अथवा वासनार्वालिङ्गदेहः परेण परमात्मना अवच्छेदप्रति-
 विम्बभावाभ्यां द्वैगुण्येन प्रवेशादापुष्टः । अभिव्यक्तो भूत्वे-
 त्यर्थः । मायया ऐन्द्रजालिकपुरुषो यथा खे भ्राम्यति तद्वत् ।

य एव पुरुषार्थेन दृष्टो बलवता क्षणात् ।
 पूर्वोत्तरविशेषांशः स एव जयति स्फुटम् ॥ ३२
 अपि स्फुटति विन्ध्याद्रौ वाति वा प्रलयानिले ।
 पौरुषं हि यथाशास्त्रमतस्त्याज्यं न धीमता ॥ ३३
 नरकस्वर्गसर्गादिवासनावशतोऽभितः ।
 प्रपश्यति चिराभ्यस्तं जीवो जरठमोहधीः ॥ ३४
 अर्जुन उवाच ।
 नरकस्वर्गसर्गादिसंश्रमेषु जगत्पते ।
 किमस्य कारणं ब्रूहि जीवस्य जगतः स्थितेः ॥ ३५
 श्रीभगवानुवाच ।
 स्वप्नोपमाना तेनेह श्रेयसे वासना क्षयः ।
 चिराभ्यासवशात्प्रौढा संसारभ्रमकारिणी ॥ ३६
 अर्जुन उवाच ।
 किमुत्था देवदेवेश क्षीयते वासना कथम् ।
 श्रीभगवानुवाच ।
 मौर्ख्यमोहसमुत्थाना त्वनात्मन्यात्मभावना ।
 आत्मज्ञानान्महाचोधाद्विलयं याति वासना ॥ ३७

समूलनाशस्त्वफलमिति भावः । पुरुषार्थेन श्रवणमननादिपुरुष-
 प्रयत्नजनितेनाखण्डाकारज्ञानेन जीयते बाध्यते । अद्यतनेन
 प्रायश्चित्तादियत्नेन ह्यस्तनमायतनमधर्माजुष्टानं यथा जीयते
 तद्वत् । अद्यतनेन दाहयत्नेन ह्यस्तनमायतनं दूणशृङ्गं यथा ना-
 श्यते तद्वदिति वा ॥ ३१ ॥ ननु बहूनां ज्ञानाय यतमानानां प्रयत्नः
 प्रबलाभिः पूर्वतनकामक्रोधादिवासनाभिर्विनाशयमानो दृश्यत
 इति नोत्तरत्वं प्रावत्ये हेतुरिति चेत्तत्राह—य एवेति । धर्मा-
 र्थकाममोक्षेषु मध्ये य एव ममायं पुरुषार्थ आवश्यक इत्यभि-
 निवेशेन दृष्टः स एव पूर्वोत्तरप्रयत्नयोर्विशेषांशो जये प्रयोजकः ।
 तथा च तेषां मोक्षाभिनिवेशमान्धाद्भोगाभिनिवेशदार्ढ्याच्च परा-
 मव इति भावः ॥ ३२ ॥ अतएव शास्त्रीये प्रयत्ने दृढाभिनिवेशः
 कार्य इत्याह—अपीति ॥ ३३ ॥ तन्मान्धे पूर्ववासनावैचित्र्या-
 सुखदुःखानर्थपरम्परा सर्वतो दुर्वरिवेलाशयेनाह—नरक्रेति ।
 जरठमोहधीः अनाद्यज्ञानमूढबुद्धिः ॥ ३४ ॥ तमेवाशयं 'अज्ञो
 जन्तुरनोशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छे-
 त्स्वर्गं वा नरकं तु वा ॥' इति व्यासवाक्यादिप्रसिद्धकारणान्तर-
 र्णदेहनिरासेन स्फुटं जिज्ञासुरर्जुनः पृच्छति—नरक्रेति ।
 जगतः स्थितेः स्थितिनिमित्तस्यास्य जीवस्य ॥ ३५ ॥ न हेत्वन्तरं
 संभावनीयमीश्वरकासकर्मक्षीनामपि वासनानुसारेणैव सुखदुःख-
 प्रापकत्वाद्वासनैवासाधारणी चिराभ्यासनिरूढा संसृतिहेतुरिति
 तत्त्वस्य एव परमपुरुषार्थाधिना सर्वप्रयत्नैः कार्य इत्याशयं
 स्फुटीकुर्वन्भगवानाह—स्वप्नेति । शास्त्रीयप्रयत्नं विना चिरा-
 भ्यासवशात्प्रौढा स्वप्नोपमाना वासनैव येन हेतुना संसार-
 भ्रमदायिनी तेन हेतुना तत्त्वज्ञानाभ्यासेन समूलवासनाक्षयः
 श्रेयस इत्यन्वयः ॥ ३६ ॥ वासनामूलं ज्ञानकामोऽर्जुनः ।

भावितात्मासि कौन्तेय सत्यं विज्ञातवानसि ।
 अयं सोऽहं जना पते मयेति त्यज वासनाम् ॥ ३८
 अर्जुन उवाच ।
 वासनाविलये जीवो विलीनो भवति स्वयम् ।
 यो हि यत्सत्तयोच्छूनस्तद्वाशात्स विलीयते ॥ ३९
 जीवे विलयमायाते देशकालान्यथाकृतौ ।
 कोऽसौ भाजनतामेति जन्मनो मरणस्य च ॥ ४०
 श्रीभगवानुवाच ।
 स्वयं कल्पितसंकल्पमात्मरूपं यदाविलम् ।
 तदेव वासनाकारं जीवं विद्धि मद्भामते ॥ ४१
 अनायत्तमसंकल्पमात्मरूपं यदव्ययम् ।
 प्रबोधाद्वासनामुक्तं तन्मोक्षं विद्धि भारत ॥ ४२
 जीवन्नेव महाबाहो तत्त्वं प्रेक्ष यथास्थितम् ।
 वासनावागुरोन्मुक्तो मुक्त इत्यभिधीयते ॥ ४३
 यो न निर्वासनो नूनं सर्वधर्मपरोऽपि सः ।
 सर्वज्ञोऽप्यभितो यद्धः पञ्चरस्यो यथा खगः ॥ ४४

पृच्छति—किमुत्थेति । अज्ञानमेव तन्मूलं ज्ञानादेव समूल-
 तनाश इति भगवानाह—मौर्ख्येति ॥ ३७ ॥ तत्र विचारा-
 दात्मस्वरूपपरिचयस्ते वृत्तस्तद्वाङ्मेन देहवत्सवन्धिबन्धादि-
 बन्धमेति वासनाक्षयसात्रं कर्तव्यं परिशिष्यत इत्याह—
 भावितेति ॥ ३८ ॥ ननु वासनानामयमेव लिप्तं तत्प्रति-
 विम्बो जीवस्तदुत्पत्तस्य वासनाक्षये क्षय एव स्यादित्य-
 नर्थायैव तत्त्वज्ञानं वासनाक्षयश्चेत्याशयेनार्जुनः शङ्कते—
 वासनाविलये इति । विलीयते विनश्यति ॥ ३९ ॥
 जन्मनः परमानन्दाविर्भाविलक्षणपरमपुरुषार्थस्य मरणस्य आस-
 न्तिकानर्थनाशस्य च को भाजनतामेति, न कश्चिदिति लक्ष-
 णया व्याख्येयम् । प्रसिद्धजन्ममरणे तु न ग्राह्ये । तत्त्वज्ञस्य
 समूलवासनानाशे तत्प्रसक्त्यभावात्पूर्वापरग्रन्थाननुगुणत्वाच्च
 ॥ ४० ॥ भवेदयं दोषो यदि प्रतिविम्बमात्रसंसारी जीवः स च
 विम्बादन्यो भूतमात्राधीनजन्मादिदेशकालभेदमिज इत्यभ्युप-
 गतं स्यात् । नत्वेवं किंतु ग्रहैव परमार्थतः शुद्धमनुसया स्वावि-
 द्या पिहितं स्वतत्त्वमजावत् स्वात्मन्यैव जीवजगद्वेदकल्प-
 नया संसरतीव तदेव शास्त्रीयश्रवणादिप्रयत्नेन स्वतत्त्वं बुद्ध्या
 सवासनाविद्यां विधूय स्वस्वभावेऽवतिष्ठते सैवाय मुक्तिरिवेति
 श्रुतः सिद्धान्तः । तत्र तु न कश्चित्त्वदुद्भाविता दोष इत्याशयेन
 भगवान्तामाधत्ते—स्वयमित्यादिना ॥ ४१ ॥ अनायत्तमन-
 न्याधीनम् ॥ ४२ ॥ सा च समूलवासनामुक्तिर्यदेहभारणं
 जीवन्मुक्तिरिति प्रसिद्धा इहैव त्वयाप्यनुमयितुं शक्येति न
 मुक्तिफलमाजि संशयः कार्य इत्याशयेनाह—जीवन्नेवेति
 ॥ ४३ ॥ स च मोक्षो न कर्मभिर्न बाह्यविषयगोचरपाण्डित्यैर्वा
 लभ्यः किं त्वात्मज्ञानेनैवेत्याशयेनाह—य इति ॥ ४४ ॥

दुर्दर्शनस्य गगने शिखिपिच्छिकेव

सूक्ष्मा परिस्फुरति यस्य तु वासनान्तः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपाख्याने जीवतत्त्वनिर्णयो नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥५५॥

षट्पञ्चाशः सर्गः ५६

श्रीभगवानुवाच ।

इति निर्वासनत्वेन जीवन्मुक्तयार्जुन ।

अन्तः शीतलतामेत्य बन्धुदुःखमलं त्यज ॥ १

जलमरणनिःशङ्क आकाशविशदाशयः ।

त्यक्तेष्टानिष्टसंकल्पो वीतरागो भवानघ ॥ २

प्रवाहपतितं कार्यमिदं किञ्चिद्यथागतम् ।

कुरु कार्याणि कर्माणि न किञ्चिदिह नश्यति ॥ ३

प्रवाहपतितं कर्म स्वमेव क्रियते तु यत् ।

जीवन्मुक्तस्वभावोऽयं सा जीवन्मुक्तता तथा ॥ ४

इदं कर्म त्यजामीदमाश्रयामीति निर्णयः ।

मूढस्य मनसो रूपं ज्ञानिनस्तु समा स्थितिः ॥ ५

प्रवाहपतितं कर्म कुर्वन्तः शान्तचेतसः ।

जीवन्मुक्ताः सुषुप्तस्थाः स्फुरन्त्यत्र सुषुप्तवत् ॥ ६

उक्तसमाधानं संक्षिप्योपसंहरति—दुर्दर्शनस्येति । स्वभावा-
पिहितत्वादुर्दर्शनस्य अनयस्य अप्राप्तवेदान्तप्रमाणस्य यस्य
परमात्मनो गगने ऐन्द्रजालिकशिखिपिच्छिकेव नाना भ्रमदा-
यिनी सूक्ष्मवासना अन्तः परिस्फुरति जीवजगदाकारेण प्रथते
स एव तु अधिकारिशरीरे वेदान्तनयं प्राप्योत्पन्नतत्त्वज्ञानः
समूलवासनावन्धान्मुक्तो भवति । इहास्मिन्परमात्मनि । ननु
यतः समूला वासनैव बन्धस्तत्क्षय एव मोक्षश्चेत्यर्थः ॥ ४५ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
जीवतत्त्वनिर्णयो नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

जीवन्मुक्तिप्रतिष्ठाऽस्मिन्नर्जुनायोपदिश्यते ।

चित्सत्त्वं जगद्रूपं मनश्चित्रं च विस्तरात् ॥ १ ॥

बन्धुदुःखं बन्धुवधदुःखम् ॥ १ ॥ २ ॥ प्रवाहपतितं

शिष्टव्यवहारपरम्परागतं कार्यमवश्यकर्तव्यमिदं युद्धमन्यानि
चावश्यकानि यागदानादीनि कर्माणि कुरु न काचित्तेन तत्त्वबो-
धस्य क्षतिरित्यर्थः ॥ ३ ॥ खं स्वधर्मरूपमेव । सा प्रसिद्धा जीव-
न्मुक्तता तथा तादृश्येव न देहचेष्टामात्रस्याग्ररूपेत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

सुषुप्ता इव स्वात्मनि निःसंकल्पास्तिष्ठन्तीति सुषुप्तस्थाः सुषु-
प्तात्मवर्तिविशेषस्वयंज्योतिरात्ममात्रावशेषाः स्फुरन्ति ॥ ६ ॥

अन्यदपि सुषुप्तिसाम्यं जीवन्मुक्तस्य लक्षणेस्तीत्याह—स्थिरा-
मिति । ज्ञानबाधितत्वात्तुच्छेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो विषयेभ्यः
स्वतः प्रयत्नं विनैव व्यावृत्तानीन्द्रियाणि यस्य हृदि हृत्स्थे परमा-
त्मनि मनसा सह स्थिरां निश्चलां संस्थितिर्भैरस्येन स्थैर्यमा-
यान्ति । यथा कूर्मस्य शिरःपादाद्यङ्गानि अल्पेऽपि विक्लेपे

१ इदं हेत्वर्थकम् ।

मुक्तः स एव भवतीह हि वासनैव

बन्धो न यस्य ननु तत्क्षय एव मोक्षः ॥ ४५

स्थिरां संस्थितिमायान्ति कूर्माङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो हृदि यस्य स्वभावतः ॥ ७

विश्वात्मनि तथा विश्वं कालत्रयमयोदितम् ।

अभित्ति त्रिजगच्चित्रं कुरुते चित्तचित्रकृत् ॥ ८

व्योम्नि व्योमात्मकमपि प्रस्फुटं वृत्तिवर्तिभिः ।

चित्तचित्रकरेणादौ चित्रं चित्रं वितानितम् ॥ ९

पश्चाद्वित्तिः कृता व्योमरूपा चासावहो भ्रमः ।

अपूर्वैवातिमायेयं तृणकुड्यमयी शुभा ॥ १०

न मनागपि भेदोऽस्ति स्फुटमप्युपलब्धयोः ।

इमा या उपलक्ष्यन्ते भित्तयश्चित्तचित्रजाः ॥ ११

व्योम्नः शून्यतमा विद्धि तास्तामरसलोचन ।

क्षणेन चेतसि यथा भ्रान्तौ लोकक्षयोदयौ ॥ १२

श्रुतिलेवान्तः प्रविशन्ति तद्वत् । स तथाविधो जीवन्मुक्त
इत्यर्थः ॥ ७ ॥ कथं तर्हि जीवन्मुक्ताः व्यवहारकाले जगत्
पश्यन्तीति चेन्नमनोराज्यपरिकल्पितनिर्भित्तिकचित्रवैचित्र्यवदे-
वेति प्रदर्शनाय जगत्सर्वमासर्गान्तं मनोरचितचित्ररूपेण
वर्णयितुमुपक्रमते—विश्वात्मनीति । चित्तलक्षणचित्रकृत्
शिल्पी विश्वाधिष्ठाने आत्मनि तथा तेन तेन सर्वजनप्रसिद्धा-
नन्तवैचित्र्येण विश्वं कृत्स्नं अभित्ति भित्तिरहितं त्रिजगच्चित्रं
कुरुते इत्यन्वयः ॥ ८ ॥ व्योम्नि अज्ञानाकाशे व्योमात्मक-
मज्ञानमात्रस्वरूपत्वात्प्रथितुमयोग्यमपि साभासान्तःकरणवृत्ति-
लक्षणवर्तिकाभिः प्रस्फुटमभिव्यक्तं चित्रमद्भुतं चित्रं वितानितं
विस्तारितम् ॥ ९ ॥ अद्भुतत्वमेव प्रसिद्धचित्रवैधर्म्येण दर्श-
यति—पश्चादिति । समष्टिमनसा सत्यसंकल्पत्वात्संकल्प-
समकालमेव जगच्चित्रं कृतं ततः पश्चाद्वित्तिस्त्वदाधारः कृता
व्योमरूपा अमूर्ताकाशरूपाचित्रधारणे अयोग्यैवेत्याश्चर्यं, अत
एवायं भ्रम इत्यर्थः । अहो भ्रम इति पदयोरर्थं क्रमात्प्रपञ्च-
यति—अपूर्वैवेत्यादिना । इयं विरचना अपूर्वैव अतिशयिता
माया अतिमाया । तृणकुड्यमिवात्यन्तमसारापि भ्रान्तदृशा
शुभा ॥ १० ॥ आश्चर्यान्तरं दर्शयति—न मनागपीति ।
प्रसिद्धेषु चित्रेषु चित्रेभ्यो भिन्ना भित्तयो भवन्ति । इमास्तु
याश्चित्तचित्रजा व्योमादिभित्तय उपलक्ष्यन्ते तासां स्फुटमप्यु-
पलब्धयोराधाराधेययोश्चित्तत्वाविशेषान्मनागपि भेदो नास्ती-
त्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥ अहो भ्रम इत्यत्राहो इत्यंशं प्रपञ्चय
भ्रम इत्यंशं प्रपञ्चयति—व्योम्न इत्यादिना । ता मनश्चित्र-
रचनाः व्योम्नः शून्यतमाः अत्यन्तासत्या इति यावत् । हे ताम-

आत्मा जगत्तथैवेदं सबाह्याभ्यन्तरं नभः ।
 चिरंतनमनोराज्यं यत्तस्मात्किल सत्यता ॥ १३ ॥
 किं त्वनालोकितेऽपि स्यात्सत्यं नास्त्येव विभ्रमे ।
 क्रमेणालोकितः सत्यमालोकेन विलीयते ॥ १४ ॥
 दृश्यमानमपि क्षामं शरदीवाभ्रमण्डलम् ।
 चित्तचित्रकृतश्चित्रे संस्थिताश्चित्रपुत्रिकाः ॥ १५ ॥
 भित्त्यभावादनाकारा वहिस्त्रिभुवनादिकाः ।
 न ताः सन्ति न वासि त्वं किं केन परिरोध्यते ॥ १६ ॥
 रोध्यरोधकसंमोहं त्यक्त्वा खे विमलो भव ।
 प्रवृत्तिरेव न व्योम्नः प्रवृत्तिश्चैव खात्मिका ॥ १७ ॥
 अतः कालक्रियाकुड्यकलादिविमलं नभः ।
 चित्तसंस्थं यथा चित्रं सरूपमखिलात्मकम् ॥ १८ ॥
 व्योम्नः शून्यतमं विद्धि तथेदमखिलं जगत् ।
 चित्तमिच्छौ कृतं चित्रं यच्चिच्चित्रकरेण तत् ॥ १९ ॥
 सर्वशून्यतया व्योम्नो मनागपि न मिथ्यते ।
 यथा प्रकचतश्चित्ते जगन्निर्माणसंक्षयौ ॥ २० ॥
 क्षणेनैव तथैवेमौ भुविस्थाविति विद्धि हे ।
 अद्य क्षीणा मनोराज्ये नानानुभवनात्मनि ॥ २१ ॥
 क्षणभावितमोहेन कल्पना परिकल्पिता ।

रसलोचन । तत्र क्षणिकस्वप्नजगद्वयं दृष्टान्तसाह—क्षणे-
 नेति । षटिकायाः षष्ठो भागः क्षण ॥ १२ ॥ आत्मा मनस्तत्कार्यं
 जगच्च तथा स्वप्नदेव नभः शून्यमसदेवेत्यर्थः । कुतस्तर्हि
 जनानां सत्यताप्रतीतिस्तत्राह—चिरंतनेति । चिरानुवृत्तत्वा-
 दित्यर्थः । किलेति नेदं तत्त्वमिति सूचनाय ॥ १३ ॥ किं तर्हि
 तद्वत् तदाह—किं त्विति । विभ्रमे भ्रान्तिकल्पितपदार्थजाते
 यत् सत्यसकल्पत्वं कालत्रयेऽपि नास्त्येव तत् अनालोकिते
 तत्त्वतः अदृष्टे तत्त्वज्ञानात्प्राक् किं स्यादपि । न स्यादेवेत्यर्थः ।
 यन्तु वसन्तादिकालक्रमेण बाल्याद्यवस्थाक्रमेण षड्धाविकारक-
 मेण वा आलोकनादयः क्रियासामर्थ्यलक्षणमन्यद्वा व्यावहारिक-
 सत्यत्वं प्रतिद्वं तत्तत्त्वदर्शनलक्षणेनालोकेन विलीयते । यथा
 सौरालोकेन दृश्यमानं शरदभ्रमण्डलं तेनैव द्योष्यमाणं विली-
 यते तद्वदिति परेणान्वयः ॥ १४ ॥ एवं मनश्चित्रस्य भ्रान्ति-
 मात्रत्वेन वन्धुवधादिक्लेशमालिन्यं युक्तमित्याह—चित्तेत्या-
 दिना ॥ १५ ॥ परिरोध्यते हन्यते ॥ १६ ॥ रोध्यरोधकसंमोहं
 वध्यघातकप्रभं तत्प्रयुक्तलोकमालिन्यमिति यावत् । खे प्रह्ला-
 दाक्षे । यतो व्योम्नश्चिदाकाशस्य वधादिप्रवृत्तिरेव नास्ति ।
 या तु प्रातिभासिकी प्रवृत्तिः सा च खात्मिका ब्रह्माकाशरूपैव
 ॥ १७ ॥ कला चित्ररचनाकौशलं आदिपदार्थद्वैतचिन्त्यमेदाश्च
 विमलं नभो ब्रह्मैव । यथा चित्तसंस्थं मनोराज्यचित्रमखिलप्रप-
 ष्णात्मकमपि शून्यत्वान्नभःस्वरूपं तथा परिदृश्यमानमपि जग-
 द्योम्नः शून्यतममित्युत्तरेणान्वयः ॥ १८ ॥ इदानीमज्ञाता चिदेव
 चित्रकरश्चितं तु तद्वित्तिरित्युत्प्रेक्षणेऽपि शून्यत्वमेव पर्यव-
 स्यतीत्याह—चित्तेति ॥ १९ ॥ तत्रापि मनोराज्यक्षणिकजग-

असदेव मनोराज्यं कर्तुं शक्तं यथा मनः ॥ २२ ॥
 क्षणस्य कल्पीकरणे तथैव बलवन्मनः ।
 क्षणं कल्पीकरोत्येतत्तत्तत्कारणं कुरुते बहु ॥ २३ ॥
 असत्सत्कुरुते क्षिप्रमितीयं भ्रान्तिरुत्थिता ।
 क्षणेनैव मनोराज्यं प्रतिभातं स्वभावतः ॥ २४ ॥
 यद्विचित्रात्म तदिदं जगज्जालमिति स्थितम् ।
 सर्गे निर्वाणनिष्ठत्वाग्निमेषमयमुत्थितम् ॥ २५ ॥
 प्रतिभामात्रतोऽत्रैव कल्पिता वज्रसारता ।
 प्रतिभासविपर्यासमात्रं ह्यविदिताकृतेः ॥ २६ ॥
 प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा कैव सा वज्रसारता ।
 चित्तचित्रकृतश्चित्तस्य जगच्चित्रं कदा स्थितम् ॥ २७ ॥
 अकुड्यमप्यरज्जाद्यमिदं स्फारमिवाग्रतः ।
 अहो नु चित्रं निर्भिच्छि चित्रमुज्ज्वलमुत्थितम् ॥ २८ ॥
 सुरञ्जनं जगदिति स्फुटं दृष्टिविलोभनम् ।
 नानातमोमपीलेखं नानातेजोऽशुरञ्जनम् ॥ २९ ॥
 नानाकल्पाङ्गावयवं नानारागानुरञ्जितम् ।
 नानादृष्टिविलासाख्यं नानानुभवलोचनम् ॥ ३० ॥
 नानाग्रहोपकचनं नानाकाराग्रप्रश्चिमम् ।
 व्योमनीलसरः फुल्लताराचन्द्रार्कपङ्कजम् ॥ ३१ ॥

देव दृष्टान्त इत्याह—यथेति ॥ २० ॥ तत्र नानानुभवनात्मनि
 मनोराज्ये क्षणभावितमोहेन परिकल्पिता वध्यघातकभावा-
 दिकल्पना अद्य सदुपदेक्षात्क्षीणा ॥ २१ ॥ ननु क्षणभावित-
 मोहेन कथमनाद्यनन्तकल्पविस्तीर्णसंसारलक्षणं मनोराज्यं कृतं
 तत्राह—असदेवेति । यथा असतोऽपि जन्मादिकरणे मन-
 शक्तं तथा क्षणस्य कल्पीकरणेपि बलवत् समर्थमित्यर्थः ॥ २२ ॥
 क्षणं कल्पीकरोत्येतत् तत् असदुत्पादयतीत्येतच्चार्थमल्पमेव ।
 यस्मात्ततोपि बहु आश्चर्यं यदसदपि जगत्सत्कुरुते इतीदृशमन-
 सामर्थ्यादेवेयं जगद्भ्रान्तिसंस्थितेऽन्यथैव ॥ २३ ॥ तदेवाह—
 क्षणेनैवेति ॥ २४ ॥ एवं निर्वाणे नित्यमुक्ते आत्मन्यभ्यस्तत्त्वा-
 व्यतिभामात्रतो जातत्वात्तुच्छं निमेषमयं क्षणिकमयुत्थितं जग-
 दजानद्भिः अत्र ईदृश एव सर्गे भ्रान्तैर्वज्रसारता दुरुच्छेदता
 कल्पिता ॥ २५ ॥ सा च न युक्तेत्याह—प्रतिभासेति ।
 अविदिताकृते अज्ञाततत्त्वस्यात्मनः इदं जगत्प्रतिभासविपर्या-
 सोऽन्यथाप्रतिभासस्तावन्मात्रम् । ईदृशस्यास्य प्रवृत्तावधारोपे
 निवृत्तौ बाधे वा का वज्रसारता । न काचिदित्यर्थः ॥ २६ ॥
 स्थितस्य हि निरासे प्रयत्नापेक्षा इदं तु कदापि कापि न स्थितमेवै-
 स्याह—चित्तचित्रकृत इति ॥ २७ ॥ विना स्वकारणसामग्रीतः
 स्वतश्चासदप्यग्रतः स्फुरतीत्याश्चर्यमित्याह—अकुड्यमिति ।
 रज्जाश्चित्रलेखनसाधननीलपीतादिरज्जद्रव्याणि ॥ २८ ॥ कथं
 पुरःस्थितं तदाह—सुरञ्जनमित्यादिना । सुष्ठु रज्जयत्सासक्षय-
 तीति सुरञ्जनम् । दृष्टिग्रहणमिन्द्रियमनआद्युपलक्षणम् ॥ २९ ॥
 कल्पास्तदङ्गयुगादीनि चावयवा यस्य ॥ ३० ॥ सूर्योदयास्तादि-
 कालेषु नानाकारे अग्रप्रश्चिमे प्राचीप्रतीच्यौ यस्मिन् । तत्र

१_प्रतिभासात्ततोऽत्रैव इति पाठः-

विचित्ररचनोद्युक्तमेघालीपत्रमञ्जरि ।
 प्रकोष्ठकामिलिखितसुरासुरनृपुत्रिकम् ।
 परमालोकमङ्गोलयुवताकाशकुड्यकम् ॥ ३२
 आकाश एव रचिता प्रतिभैकरङ्गा
 मुग्धा जगत्रयमनोहरपुत्रिकेयम् ।
 चिन्मात्रचक्रपरिरञ्जितसर्वलोका
 लीलाकुला चपलचित्तकचित्रकर्त्रा ॥ ३३
 हेमाचलाङ्गलतिका घनकेशपाशा
 चन्द्रार्कलोचनविचालनदृष्टलोका ॥
 धर्मार्थकामविनियन्त्रितशास्त्रवस्था
 पातालजालचरणोन्नतभूनिर्तम्बा ॥ ३४

ब्रह्मेन्द्ररुद्रहरिबाहुचतुष्टयीग्रा
 सत्त्वावृतोन्नतकुचस्फुरदङ्गयष्टिः ।
 सुव्यालवेष्टितमहीतलपद्मपीठा
 पत्रीकृताचलमहाभुवनोदरी च ॥ ३५
 राज्यन्धकारचपलत्वहराक्षिचेष्टा
 ताराकरालपुलका पविदन्तपङ्क्तिः ।
 चञ्चच्चतुर्दशविधातुलभूतजात-
 रोमाञ्चना प्रलयवादकदम्बपुष्पा ॥ ३६
 जीवान्विता गगन एव कृता विचित्रा
 व्योमात्मिका चिरविलक्षणाचित्रकर्त्रा ।
 चित्तेन चित्रपरिकर्मविदा त्रिलोकी
 नानाविलासवलित वरपुत्रिकेति ॥ ३७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० भो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपाख्याने चित्तवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः ५७

श्रीभगवानुवाच ।

इदं विद्धि महाश्वर्यमर्जुनेह हि यत्किल ।

चित्रपद्मवनादि वर्णयति—व्योमेत्यादिना ॥ ३१ ॥ शरदादि-
 कालमेदेन विचित्ररचनाभिः तत् ऊर्ध्वं युक्ता मेघालीलक्षणाः
 पत्राणि मञ्जर्यश्च यस्मिन् । लोकत्रयलक्षणेषु प्रकोष्ठकेषु चित्र-
 कोष्ठमेदेषु अभितो लिखिताः सुरासुरमनुष्यलक्षणाः पुत्रिका
 यस्मिन् । परम उत्कृष्टो यश्चन्द्रसूर्याद्यालोकस्तलक्षणेन मङ्गोलेन
 सुधालेपेन युवतेव विराजमानता अस्य तथाविधमाकाशलक्षणं
 कुड्यं भित्तिर्यस्मिन् ॥ ३२ ॥ इदानीं त्रिलोकीमेव देवतदी-
 रूपां चित्रपुत्रिकां परिकल्प्य वर्णयति—आकाश एवेत्यादि-
 पञ्चभिः । चपलेन कामुकेन चित्तकलक्षणेन चित्रकर्त्रा स्वाधि-
 दानब्रह्माकाशे एव इयं वर्णयमाना जगत्रयलक्षणा मनोहरा
 नदी पुत्रिका रचिता । प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिरेव
 एको मुख्यो रज्जो नृत्यशाला यस्याः । नृत्यशालाप्रदीपस्थानी-
 यस्य साक्षिचैतन्यस्य चक्रेरिव स्फुरत् प्रतिबिम्बप्रादिभिर्बुद्धि-
 वृत्त्याभरणैः परितो रञ्जिताः प्रकाशिता लोका यया । नृत्यहा-
 वभावविलासादिलीलाभिराकुला ॥ ३३ ॥ पुनस्तस्मैव विशि-
 नष्टि—हेमेति । 'तदण्डममवद्धैर्मं सहस्रार्कसमप्रभम्' इति
 पुराणोक्तेर्हैममयं ब्रह्माण्डमेवाचला दृढा अङ्गलतिका यस्याः ।
 घना मेघा एव केशपाशा यस्याः । धर्मार्थकामार्थानि विनिय-
 न्त्रितानि व्यावर्तनानि ययोस्तथाविधे प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रे द्वे
 चक्रे यस्याः । पातालजालानि सप्तपातालानि ऊरुजानुजङ्घाशु-
 ल्फपादपाण्यङ्गुलिरूपसप्तावयवकौ चरणौ यस्याः । उन्नता भूर्नि-
 तम्बो यस्याः ॥ ३४ ॥ ब्रह्मादिबाहुचतुष्टयेन उग्रा समर्था ।
 सत्त्वगुणलक्षणकक्षुकावृताभ्यामुन्नताभ्यां विवेकवैराग्यकुचाभ्यां
 स्फुरन्ती अङ्गयष्टिर्यस्याम् । सुव्यालैः शेषादिभिर्वेष्टितं महीतलमेव
 यो० वा० ११५

पूर्वं संजायते चित्रं पश्चाद्विदितिरुदेति हि ॥ १

पद्माकारं पीठमासनं यस्याः । गोरोचनाकस्तूर्यादिनानावर्ण-
 पत्ररचनास्थानीयाः कृता अचला मेर्वज्जनहिमवदादिनानावर्ण-
 पर्वता यस्मिन्स्तथाविध महाभुवनं मध्यलोक एव उदरं यस्याः
 ॥ ३५ ॥ राज्यन्धकारस्य मेरुप्रदक्षिणीकरणलक्षणं चपलत्वं
 तद्वरति अनुहरत्यपनयति च चन्द्रार्कलक्षणाक्षिचेष्टा यस्याः ।
 पविर्विद्युदेव दन्तपङ्क्तिर्यस्याः । भुवनमेदाच्चतुर्दशविधमतुलं
 परस्परविसदृशं भूतजातमेवाविर्भवोमाञ्जनं यस्याः । तेषु
 भूतेषु प्रसिद्धा भूतभुवनादिप्रलयवाता एव सर्वतः प्रसारितस-
 हृदिकेसरत्वाच्छ्रोतॄणां वैराग्यसद्वासनासौगन्ध्याधायकत्वाच्चापा-
 दलम्बिकदम्बमालापुष्पाणि यस्याः ॥ ३६ ॥ जीवेन व्यष्टि-
 समध्यात्मना अन्विता । चित्रस्य परिकर्माणि उपकरणभूतानि
 विचित्रवासनाकामकर्माणि विन्दति आप्नोति तथाविधेन अत-
 एवाचिरादेव विलक्षणानां चित्राणां कर्त्रा निर्माणसमर्थेन
 चित्तेन इति एवं वर्णितरूपा त्रिलोकीलक्षणा वरपुत्रिका स्वाधि-
 दानचिद्वगन एव कृतेत्युपसंहारः ॥ ३७ ॥ इति श्रीवासिष्ठम-
 हारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चित्तवर्णनं नाम
 षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

जायतेऽत्र यथा दृष्ट्या सद्यो निर्वासनं मनः ।

सुखाद्वयात्मशेषश्च सा दृष्टिरुपदिश्यते ॥ १ ॥

तत्र प्राग्दर्शितां जगत्याश्चर्यतादृष्टिमेव प्रथमं वासनाशैथि-
 ल्योपयोगितया वर्णयति—इदमिति । अभितौ निराश्रय एव
 मनसा जगदाकारकलनात्पूर्वं जगच्चित्रं जायते पश्चात्तदन्तर्गता
 भूतभुवनात्मकविराड्विस्तिस्त्रदाधारतया कल्प्यमाना उदेति ।
 व्यष्टिसमूहस्य समष्टेर्विराजो व्यष्ट्यधीनकल्पनत्वाद्वा पश्चादुदयः

अभिचातुस्थिते चित्रे दृश्यते भित्तिरातता ।
 अहो विचित्रा मायेयं मग्नं तुम्बं शिला धुता ॥ २
 चित्तस्थचित्रसदृशे व्योमात्मनि जगन्नये ।
 व्योमात्मनस्ते किमियमहस्ताव्योमतोदिता ॥ ३
 सर्वं व्योमकृतं व्योम्ना व्योम्नि व्योम विलीयते ।
 भुज्यते व्योमनि व्योम व्योम व्योमनि चाततम् ॥ ४
 वेष्टितं वासनारज्ज्वा दीर्घसंस्तृति दामवत् ।
 वासनोद्वेष्टनेनैव तदिहोद्वेष्टयतेऽर्जुन ॥ ५
 प्रतिविम्बं यथादर्शं तथैवं ब्रह्मणि स्वयम् ।
 अगम्यं छेदमेदादेराधारानन्यतावशात् ॥ ६
 अनन्यच्छेदमेदादि ब्रह्मणि ब्रह्मणाम्बरम् ।
 किं कथं कस्य केनैव च्छिद्यते वा क भिद्यते ॥ ७
 तेनैह वासनाभावो बोधात्संपन्न एव ते ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपाख्याने अर्जुनविभ्रान्तिवर्णनं नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः ५८

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
 स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ १

॥ १ ॥ अत्यन्तमसंभावितरूपत्वादियं माया असंभावितत्वं च
 विस्मृत्वादित्याशयेन प्रसिद्धा तादृशमायामुदाहरति—मग्न-
 मिति । तुम्ब्या फलं तुम्बम् । फले लुक् । तत्किल जले मग्नं
 शिला तु धुता इति यथा स्नेहज्वालादावेवोपपद्यते तद्वदित्यर्थः
 ॥ २ ॥ आस्तां जगच्चित्रस्याश्चर्यता, तस्मिन् शून्यात्मनि
 चिद्योमात्मनस्त्वाहन्तोदयस्ततोऽप्याश्चर्यभूत इत्याह—चित्त-
 स्थेति ॥ ३ ॥ यदि तु जगत्पि चिद्योमतामेव पश्यसि तर्हि
 सा दृष्टिरेवं पर्यवसन्नेत्याश्चर्यमेवेत्याह—सर्वमिति ॥ ४ ॥ दीर्घं
 संस्तृतिभ्रमणं यत्र तथाविधं तज्जगच्चित्रं दामवत् प्रसृतया वास-
 नारज्ज्वा वेष्टितं तच्चिद्योमापीह जगति वासनोद्वेष्टनादेवोद्वेष्टयत
 इत्यर्थः ॥ ५ ॥ अस्य ज्ञानातिरिक्तोपायदुरुच्छेद्यताप्यधिष्ठान-
 दार्क्यवलादेव न स्वत इत्याह—प्रतिविम्बमिति ॥ ६ ॥ अत-
 एव ब्रह्मानन्यतादर्शनबलादेव जगतः सर्वच्छेदमेदादिब्यवहारा-
 योग्यतादर्शनेन सर्ववासना समूलमुच्छेद्या इत्याशयेनाह—
 अनन्यदिति । यदा ब्रह्मणि प्रतिभातं छेदमेदादिब्यवहारजातं
 तद्विषयीभूतं जगच्च ब्रह्मणा अनन्यत्तच्चिदम्बरमेव तदा केन
 कर्त्रा करणेन वा केन प्रकारेण कस्य फलस्यार्थं क्व देशे काले
 वा किं छिद्यते भिद्यते वा । छेदादिब्यवहारवादानां ब्रह्माति-
 रिक्तविषयदर्शनादित्यर्थः ॥ ७ ॥ तेनानेनोपायेन बोधात् वास-
 नानामपि ब्रह्मातिरेकेणाभावः संपन्न एव । ईदृजज्ञानाभावे तु
 वासनावन्धो दुरुच्छेद एवेति प्रागुक्तं स्मारयति—य इति ॥ ८ ॥
 हरिः सिंहो हरितवर्णः शुभ्रो वा । अणुमात्रमपि वासना न
 स्थाप्या । अनर्थसहस्रबीजत्वादित्याशयेनाह—यस्येति ॥ ९ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

वृत्तयो यदि बोधेन संशान्ता हृदये स्फुटम् ।
 तच्चित्तं शान्तमेवान्तर्विद्धि सत्त्वमुपागतम् ॥ २

निःशेषं दग्धम् ॥ १० ॥ निर्दग्धानि वासनाबीजानि यस्य
 तथाविधं मनः ॥ ११ ॥ सत्त्वोपदेशकममुपसंहरन्नर्जुनं निर्वा-
 सनस्थितौ प्रतिष्ठापयति—शान्तात्मेति । हे अर्जुन, त्वं
 उज्झिताः अमिता आशा येन तथाविधः सन् पावनं तत् प्रसिद्धं
 भगवद्गीतारूपं श्रुतं बहुपदेशं सम्यगवगम्य गलितमहामनोवि-
 मोहः सन् अपहृतिरपगतबन्धुवधादिक्लेशो भूत्वा निर्वासना-
 त्मनि शान्तात्मा गलितचित्त एकशान्तब्रह्मरूपः अतएव
 विगतभयो निर्वाणः परमनिर्वृतस्तिष्ठेत्यर्थः ॥ १२ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे अर्जुन-
 विभ्रान्तिवर्णनं नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

सत्त्वबोधेन साविद्यवासनाक्षयसंभवः ।

इहोपपाद्यते तेनाप्यर्जुनस्य कृतार्थता ॥ १ ॥

हे अच्युत, त्वत्प्रसादात् अनुग्रहप्रयुक्तत्वादुपदेशान्मोहः
 सवासनाज्ञानं नष्टः । विस्मृतकण्ठवागीकरस्यैव स्वतः सिद्धात्मत-
 त्वस्य स्मृतिरिव स्मृतिः साक्षात्कारो लब्धा तथा च सर्वसदे-
 हबीजनाशाद्गतबन्धुवधादिकर्तृतासंदेहः स्थितोस्मि, अतस्त्वत्वा-
 वस्थितिनिषयं यथाप्राप्तव्यवहारकर्तव्यताविषयं च तव वचनं
 करिष्ये पालयिष्यामीत्यर्थः ॥ १ ॥ एवमर्जुनेन कृतार्थत्वे दर्शि-
 तेपि स्त्रोपदिष्टतत्त्वबोधेन समूलसर्ववासनाक्षयमुपपत्तिर्निर्द-
 यिष्यन् श्रीभगवानुवाच—वृत्तय इत्यादिना । तत्त्वबोधेन
 हृदये रागादिवृत्तयो यदि सर्वात्मना शान्तास्तर्हि सवासना-
 त्मकं चित्तं शान्तं तत् सर्वं निर्वासनत्वमुपागतमिति विद्धि ।

१ व्याख्यानसारादङ्ग निर्दग्धवासनाबीजमिति पाठोपेक्षितः

अत्र तच्चेत्यरहितं प्रत्यक्रेतननामकम् ।
 यत्त्वशेषविनिर्मुक्तं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ॥ ३ ॥
 न केचन विदन्त्येते तत्पदं जागतादयः ।
 भूतलाद्गगनोद्गीनं विहंगममिवोन्नतम् ॥ ४ ॥
 प्रत्यक्रेतनमाभासं शुद्धं संकल्पवर्जितम् ।
 अगम्यमेनमात्मानं विद्धि दूरं दृशामिव ॥ ५ ॥
 सर्वातीतं यदत्यच्छं विना शुद्धं स्ववासना ।
 न शक्नोति पदं द्रष्टुं जनदृष्टिरणूनिव ॥ ६ ॥
 यत्प्राप्तौ सर्वं एवेमे क्षीणा घटपटादयः ।
 वराकी वासना तत्र किं करोतु परे पदे ॥ ७ ॥
 यथाऽनलगिरिं प्राप्य हिमलेशो विलीयते ।
 शुद्धमासाद्य चित्तस्त्वमविद्या लीयते तथा ॥ ८ ॥
 क्व वराकी रजस्तुच्छा वासना भोगबन्धनम् ।
 क्व पुरितजगज्जालश्चित्तस्त्वविपुलानिलः ॥ ९ ॥
 तावत्स्फुरत्यविद्येयं नानाकारविकारिणी ।
 यावन्न संपरिज्ञातः शुद्धः स्वात्माऽयमात्मना ॥ १० ॥
 सर्वा दृश्यदृशः क्षीणाः स्वच्छतैवोदिता तथा ।
 नभसीव पदे तस्मिन्स्वात्मन्यखिलपूरणे ॥ ११ ॥
 समप्राकाररूपं तत्समप्राकारवर्जितम् ।
 वागतीतं परं वस्तु केन नामोपमीयते ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वात्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० अर्जुनोपाख्याने अर्जुनकृतार्थता नामाष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

अर्जुनोपाख्यानं समाप्तम् ।

एकोनषष्टितमः सर्गः ५९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य राघवाऽधविनाशिनीम् ।

तथा च श्रुतिः—‘यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि भिताः ।
 अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्मा समश्नुते’ इति ॥ २ ॥ अत्र
 अस्यां सत्त्वावस्थायां प्रत्यक्रेतनात्मकं यद्यवहारे सर्वं तत्त्वतस्त्व-
 शेषविनिर्मुक्तं तद्ब्रह्म चेत्परहितं भवतीति शेषः ॥ ३ ॥ जाग-
 ताश्चक्षुरादयोऽर्जुननाश्च केचन तत्पदं न विदन्ति । उन्नतमूर्ध्व-
 देशगतम् ॥ ४ ॥ आभासं महाभूतादित्रयोदशविधक्षेत्रावभा-
 सकम् । अगम्यमविषयम् । दृशां दूरमसंनिकृष्टमिव ॥ ५ ॥
 तद्दर्शने च श्रवणाद्यवधृततद्भावेनास्वभ्यस्ता निदिध्यासनाख्या
 आवश्यकीत्याह—सर्वातीतमिति । चित्स्वभावादत्यच्छम् ।
 असङ्गत्वाच्छुद्धम् ॥ ६ ॥ यत्र घटादिस्थूलानामपि बाधस्तत्र
 परमसूक्ष्मवासनानां स्थितिरसंभावितैवेत्याह—यत्प्राप्तविति
 ॥ ७ ॥ ८ ॥ रजो रेणुरिव तुच्छा क्षुद्रा ॥ ९ ॥ १० ॥ स्वा-
 त्मनि खोदरे अखिलं पूरयति प्रसति तथाविधे ॥ ११ ॥
 समप्राकारः पूर्णता तद्रूपम् । समस्तैर्जगदाकारैर्वर्जितम् ॥ १२ ॥
 हे अर्जुन, त्वमतः पूर्णात्मदर्शनादेवाभिमतानां कामानां परिहारो
 निवृत्तिस्तद्वक्षणया मन्त्रयुक्त्या विषयविषयप्रयुक्तविषूचिकारूपां

१. अयमादिशब्दार्थः.

विषयविषयविषूचिकामतस्त्वं

निपुणमहंस्थितिवासनामपास्य ।

अभिमतपरिहारमन्त्रयुक्त्या

भव विभवो भगवान्भियामभूमिः ॥ १३ ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति गदितवति त्रिलोकनाथे

क्षणमिव मौनमुपस्थिते पुरस्तात् ।

अथ मधुप इवाऽसिताब्जखण्डे

वचनमुपैष्यति तत्र पाण्डुपुत्रः ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच ।

परिगलितसमस्तशोकभारा

परमुदयं भगवन्मतिर्गतेयम् ।

मम तव वचनेन लोकभर्तु-

र्दिनपतिना परिवोदिताब्जिनीव ॥ १५ ॥

इत्युक्तवोत्थाय गाण्डीवधन्वा स हरिसारथिः ।

अर्जुनो गतसंदेहो रणलीलां करिष्यति ॥ १६ ॥

करिष्यति क्षतगजवाजिसारथि-

द्रुतक्षरद्रुधिरमहानदीं भुवम् ।

शरोत्करप्रसरमहारजःस्थली-

तिरोहितद्युमणिविलोचनां दिवम् ॥ १७ ॥

तिष्ठ निःसङ्गसंन्यासब्रह्मार्पणमयात्मकः ॥ १

सदाप्रवृत्तिहेतुमहंस्थितिमन्तःकरणस्थां वासनानिपुणमपास्य
 विभवः विगतसंसारबन्धो भियां सर्वानर्थानामभूमिरभयस्व-
 मावो भगवानहमेव भवेति सर्वभगवद्गीतार्थस्यान्ते संग्रहेणोप-
 देशः ॥ १३ ॥ मौनमुपगम्य पुरस्तात्स्थिते सति ॥ १४ ॥
 ॥ १५ ॥ गाण्डीवं धनुर्यस्य सोऽर्जुनः । ‘गाण्ध्यजगात्संज्ञायाम्’
 इति मत्वर्थे वः । ‘धनुषश्च’ इत्यनङ् ॥ १६ ॥ सोऽर्जुनो भुवं
 क्षताः गजवाजिसारथयो द्रुताः शीघ्रं प्रवाहिता यासु तथा-
 विधाः शरद्रुधिरमहानद्यो यस्यां तथाविधां करिष्यति । दिवं
 च शरोत्करप्रसरैर्महारजोनिर्मितस्थल्या च तिरोहितं द्युमणिः
 सूर्यस्तल्लक्षणं विलोचनं यस्यास्तथाविधां करिष्यतीत्यर्थः ॥ १७ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 अर्जुनकृतार्थता नामाष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

जीवन्मुक्तपदेऽस्पन्दा चेत्यमुक्ता चितः स्थितिः ।

सुस्थिरा स्थायया दृष्ट्या सा दृष्टिरिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

अधविनाशिनीं सर्वपापक्षयकरीम् । निःसङ्गतालक्षणो यः
 संन्यासः सर्वत्यागस्त्वंपदार्थशोधः सर्वजगतो ब्रह्मणि बाधल-
 क्षणं यद्ब्रह्मार्पणं तत्पदार्थशोधस्तदुभयपरिनिष्ठस्तद्वचनमहानाक्या-

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
 यश्च सर्वमयो नित्यमात्मानं विद्धि तं परम् ॥ २
 दूरस्थमप्यदूरस्थं सर्वगं तत्स्थमेव च ।
 तत्स्थः सत्तामवाप्नोषि तदेवास्यस्तसंशयः ॥ ३
 यत्संवेद्यविनिर्मुक्तं संवेदनमनिर्मितम् ।
 चेत्यमुक्तं चिदाभासं तद्विद्धि परमं पदम् ॥ ४
 सा परा परमा काष्ठा सा दशा दगनुत्तमा ।
 सा महिम्नां च महिमा गुरुणां सा तथा गुरुः ॥ ५
 स आत्मा तच्च विज्ञानं स शून्यं ब्रह्म तत्परम् ।
 तच्छ्रेयः स शिवः शान्तः सा विद्या सा परा स्थितिः ६
 योऽयमन्तश्चित्तेरात्मा सर्वानुभवरूपकः ।
 यत्र स्वदन्ते सर्वाणि स्वात्मद्रव्याणि सत्तया ॥ ७
 स जगत्तिलैलात्मा स जगद्बृहदीपकः ।
 स जगत्पादपरसः स जगत्पशुपालकः ॥ ८
 स तत्तुभूतमुक्तानां परिप्रोतहृदम्बरः ।
 स भूतमरिचौघानां परमा तीक्ष्णता तथा ॥ ९
 स पदार्थे पदार्थत्वं स तत्त्वं यदनुत्तमम् ।
 स सतो वस्तुनः सस्वमसत्त्वं वा सतः स्वतः ॥ १०
 यः स्ववित्तिविचित्रेण स्वयमात्मैव लभ्यते ।
 सर्व एव जगद्भावा अविचारेण चारवः ॥ ११

यस्यैवात्मनोऽन्तरात्मा तिष्ठेत्यर्थः ॥ १ ॥ यस्मिन् सर्वं स्थितं । यतः सर्वं सृष्टौ । यः सर्वं संहारे । सर्वतश्च यः कालत्रयेऽपि । एवं सर्वानित्यप्रपञ्चमयोऽपि यो नित्यः परस्त्वमेवात्मानं विद्धि न परिच्छिन्नस्वभावमित्यर्थः ॥ २ ॥ सर्वप्रपञ्चबहिर्भावाद्दूरस्थमपि सर्वान्तरत्वात्सर्वस्यादूरस्थम् । एवमाकाशवत्सर्वगमपि तत्त्वं जातिवत्तत्तद्रूपपर्याप्तमेव । इत्थं सर्वप्रकारेणापि तदेवैकमस्ति नान्यदिति सिद्धे त्वं परिच्छिन्नरूपेणापि तस्मिन्निष्ठसीति तत्स्थत्वात्तत्तयैव सत्तामवाप्नोषि न स्वातन्त्र्येण । एवं सति किं तव परिच्छेदासिमानेन स एवापरिच्छिन्नसन्मात्रस्त्वयसि । अतोऽस्तपरिच्छेदसंशयो भवेत्यर्थः ॥ ३ ॥ द्विविधं हि चिदात्मनो रूपं विवेकिमिरनुभूयते । एकं चित्ततद्भूतिप्रतिबिम्बितं चेत्यर्थप्रधारणं चित्तनिर्मितम् । अपरं च चित्ततद्भूततद्विषयाणामागमापायादिसर्वावस्थासाक्षिसंविद्रूपमनिर्मितं नित्यसिद्धम् । तदुभयमपि चेत्येन संवेद्यं त्रिपुट्या च विनिर्मुक्तं चैतत्परमं पदं ब्रह्मैव संपन्नमिति विद्ध्यत्यर्थः ॥ ४ ॥ सा चेत्यसंवेद्यविनिर्मुक्तसंविद्विस्थितिः । 'यतो धानो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतिप्रोक्ता आनन्दोत्कर्षपरम्परायाः परमा काष्ठा । महिम्नां महत्त्वानाम् । गुरुणां मान्यानां परमा गुरुः । नातः परमस्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ सैव सर्वजगत्सार इत्याह—स इत्यादिना ॥ ८ ॥ ९ ॥ स एव सर्वपदार्थानामसाधारणस्वरूपमित्याह—स इति । सत्त्वं सम्यक्त्वम् ॥ १० ॥ स कः । यः स्वस्य वित्तिस्त्वान्विकरूपेण बोधस्तद्रूपेण विचित्रेणालौकिकेनोपायेन सर्वं स्वयमात्मैव नान्यदिति लभ्यत इत्यर्थः ॥ ११ ॥ सतः

अविद्यमानाः सद्भावा विचारविशारदः ।
 अहमादौ जगज्जाले मिथ्याभ्रमभरात्मनि ॥ १२
 को नु भूत्वाऽनुवभामि घृष्टं कथमवाप धीः ।
 आद्यमध्यान्तमानानि संकल्पकलनान्यहम् ॥ १३
 ब्रह्माकाशमनाद्यन्तं केवेयत्ता ममात्मनः ।
 इति निश्चयवानन्तः सम्यग्व्यवहृतिर्विहिः ॥ १४
 उदयास्तमयोन्मुक्तस्थितिरन्तः स सर्वदा ।
 नास्तमेति न चोदेति मनः समसमस्थितम् ॥ १५
 यस्य स्वस्यैव शून्यत्वं स महात्मेह तद्वपुः ।
 भावाद्वैतपदारूढः सुषुप्तपरया धिया ॥ १६
 व्यवहार्यपि संक्षोभं नैत्यादर्शनरो यथा ।
 आदर्शपुरुषस्येव व्यवहारवतोऽपि च ॥ १७
 न यस्य हृदयोह्लेखो मनागपि स मुक्तिभाक् ।
 अविभागमिवादर्थं चिन्मणौ प्रतिबिम्बति ॥ १८
 चित्तेः परमनैर्मल्याद्यवहारो यथा गतः ।
 चिच्चमत्कृतिरेवेयं जगदित्यवभासते ॥ १९
 नेहास्त्यैक्यं न च द्वित्वं ममादेशोऽपि तन्मयः ।
 वाच्यवाचकशिष्येहागुरुवाक्यैश्चमत्कृतैः ॥ २०
 आत्मनात्मनि शान्तैव चिच्चमत्कुरुते चिति ।
 चित्प्रस्पन्दो हि संसारस्तदस्पन्दः परं पदम् ॥ २१

परमात्मनो भावा विकल्पा विचारविशारदः इत्युक्तं तत्र कीदृशेन विचारेण जगद्भावा विशीर्यन्ते तं दर्शयति—अहमि-त्यादिना ॥ १२ ॥ घृष्टमास्थाम् । ननु धीरेव घृष्टस्यापि तव आस्थाबन्धे निमित्तं भविष्यति तत्राह—कथमिति । घीर्बुद्धिरप्यसद्भाद्वयं मां कथमवाप । तत्प्राप्तौ नास्ति हेतुरित्यर्थः । आप्नोतु वा सा तथापि तत्कृता आदिमध्यान्तादिपरिच्छेदाः संकल्पकलनानि चाहमेव न मद्यतिरेकेण सन्तीति विचारं ब्रह्मणो मे नेयत्ताप्रसक्तिरित्याशयेनाह—आद्येति ॥ १३ ॥ एवं विचारवतो लोकशास्त्राविरुद्धव्यवहारकालेऽपि सा स्थितिर्नापैतीत्याशयेनाह—सम्यगिति ॥ १४ ॥ यस्य मनः समेभ्योपि समे ब्रह्मणि स्थितं स महात्मा सर्वदा अन्तरुदयास्तमयोन्मुक्तस्थितिरिति परेणान्वयः ॥ १५ ॥ व्यवहारकाले तादृशस्थित्यप्रच्युतानुपपत्तिमाह—भावेति । यतोऽयं भावनयैवाद्यप्यपदारूढो न व्यवहारत इत्यर्थः । तथाचाहुः 'भावाद्वैतं सदा कुर्यात्किमाद्वैतं न कर्हिचित् । अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं शुरुणा सह ॥' इति ॥ १६ ॥ १७ ॥ हृदयोह्लेखो मानापमानादिदुःखम् । कथं तस्मिन्मणौ जीवन्मुक्ते व्यवहारः प्रसरति तत्रादर्श एव दृष्टान्त इत्याह—अविभागमिति । इवकारो मित्रक्रमः । यथा आदर्शे दृश्यमानो जनव्यवहारः अविभागमादर्शस्य वैचित्र्यविभागविकारमकृत्वा प्रतिबिम्बति तद्वच्चिन्मणावपीत्यर्थः ॥ १८ ॥ १९ ॥ वाच्यवाचकशिष्यतदीहागुरुतद्वाक्यावाक्यान्वकल्पनाचमत्कारैर्मम आदेशस्त्वदुपदेशोऽपि तन्मयश्चिन्मय एव ॥ २० ॥ चमत्कुरुते निवर्तते । प्रस्पन्दो विवर्त एव ॥ २१ ॥

चित्स्पन्दशमनेनेयं परिशाम्यति संसृतिः ।
 महाचित्ते नतेऽर्थाऽऽभावा यो भावनाक्षयः ॥ २२
 असन्नपि स्वभावं तत्संवित्स्पन्द उदाहृतम् ।
 शून्यत्वमजडं यत्तत्परमाहुश्चितेर्वपुः ॥ २३
 तत्त्वेन भावनायत्ता संसृतिः सानुभूयते ।
 अभावनामात्रलयात्सा च निःसाररूपिणी ॥ २४
 केवलं केवलीभावात्तद्रूपा सैव शिष्यते ।
 चित्स्पन्दमेव संसारचक्रप्रवहणं विदुः ॥ २५
 मातृमानप्रमेयादि कटकादीव हेमनि ।
 पृथगास्ति न च स्पन्दश्चित्तेर्या संसृतिर्भवेत् ॥ २६
 चित्तमेव चित्तिस्पन्दस्तदबोधो हि संसृतिः ।
 अबोधमात्रे चित्स्पन्दः कटकत्वमिवोत्थितम् ॥ २७
 बोधमात्रं विलीनेऽसिञ्जुद्धा चिद्राम शिष्यते ।
 स्वभावबोधमात्रेण क्षीयते भोगवासना ॥ २८
 भोगाभावनमेवेह परमं ज्ञत्वलक्षणम् ।
 इतो नाभिमताः सर्वे ह्यस्य भोगाः स्वभावतः ॥ २९
 भवन्ति कोऽतित्तो हि दुरक्षं किल वाञ्छति ।

ते तव महति अपरिच्छिन्ने ब्रह्माकारे चित्ते नते परिणते सति यः
 अंशभावस्य जीवजगत्क्षणैकदेशभावस्य योऽपगमः सोऽर्थः पर-
 मपुरुषार्थः स एव भावनाक्षयो वासनाक्षयश्चेत्यर्थः ॥ २२ ॥
 यद्यस्माद्धेतोः असन्नपि संवित्स्पन्द उदाहृतं जडस्वभावमापाद-
 यति तत्तस्माद्धेतोः स्पन्दशून्यत्वमेव अजडं तत्परमं चितेर्वपुः
 स्वरूपमित्यनुभवनिष्ठा आहुः ॥ २३ ॥ अनात्मदर्शनरूपा या
 संसृतिः सा अनात्मजगदाकारस्य तत्त्वेन यायार्थ्येन या भावना
 तदायत्ता तथैवानुभूयते । तदभावनामात्रेण भावनालयात्सा
 जीवन्मुक्तसंसृतिर्दग्धपटवज्जिःसाररूपिणी न बन्धक्षमेत्यर्थः
 ॥ २४ ॥ कथं तर्हि जीवन्मुक्तौ सा शिष्यते तदाह—केवल-
 मिति । केवलीभावाच्चित्स्पन्दचिन्मात्रीभावात्सा संसृतिस्तद्रूपा
 चिद्रूपैव शिष्यते अतश्चित्स्पन्दमेव मातृमानादिरूपं संसार-
 माहुरित्यर्थः ॥ २५ ॥ स च न चितः पृथगस्तीत्यबोध एव
 संसृतिः पर्यवस्यति ॥ २६ ॥ ॥ २७ ॥ स्वभावः स्वात्मतत्त्वं
 तद्बोधमात्रेण ॥ २८ ॥ भोगवासनाक्षयात्सहजसिद्धभोगानाम-
 चिन्तनमेव ज्ञत्वस्य जीवन्मुक्ताया लक्षणम् । कुतोऽसौ
 भोगाच्च भावयति तत्राह—इत इति ॥ २९ ॥ भवन्तीति
 पूर्वान्वयि । को नु भूत्वेत्यादिना वर्णितेभ्यो विवेकादिलक्षणेभ्यः
 अपरं लक्षणम् ॥ ३० ॥ इदानीं लक्षणान्तरमाह—चिदिति ।
 मदीयात्मचिदेव तेन भोक्तृभोग्यभोगाकारेण स्पन्दते इति त-
 त्स्पन्दा भूत्वा सर्वात्मरूपिणी अस्तीति योऽन्तर्निश्चयः स्वभ्यासः
 सन् प्ररूढः स एव ज्ञत्वलक्षणमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ या तु तस्य
 सर्वजनवद्देहधारणनिमित्ते भोगे प्रवृत्तिः सा वृथा चेष्टैवेत्याह—
 य इति । यो लोकानुरोधसिद्ध्यर्थं भुज्यमानानपि भोगान् पर-
 मार्थतो न भुङ्क्ते स बुद्धिमांस्तत्त्ववित् भ्रान्त्या नभोहननप्रसक्त-
 लोकानुरोधसिद्ध्यर्थं स्वयमपि लगुर्देनभो हन्ति तद्वत्तस्य वृथा

एतदेव परं विद्धि ज्ञत्वस्यापरलक्षणम् ॥ ३०
 स्वभावेनैव भोगानां यत्किलानभिवाञ्छनम् ।
 चित्तत्स्पन्दैव सर्वात्मरूपिण्यस्तीति निश्चयः ॥ ३१
 योऽन्तः प्ररूढः स्वभ्यासो ज्ञत्वशब्देन स स्मृतः ।
 यो न भुङ्क्ते भुज्यमानानपि भोगान्स बुद्धिमान् ।
 लोकानुरोधसिद्ध्यर्थं स हन्ति लगुर्देनभः ॥ ३२
 विना कृत्रिमया बुद्ध्या न सिद्धिरवगम्यते ॥ ३३
 कचिदात्मावलोक्य च स्वाज्ञावदलनैरपि ।
 चिच्छेत्तं चेत्यकोटिस्था तावत्पश्यति विभ्रमम् ॥ ३४
 इदं यावदबोधात्मा स्पन्दते स्पन्दरूपिणी ।
 सम्यग्बोधोदयोन्तः स्यात्स्पन्दास्पन्ददशाक्रमः ॥ ३५
 कापि याति च संशान्तदीपवत्साभिधानकः ।
 चितः प्रशान्तरूपाया दीपिकायाः स्वभावतः ॥ ३६
 स्पन्दास्पन्दमयी नेह कथैवास्ति मनागपि ।
 यदस्पन्दस्य मरुतो न सञ्जासन्न मध्यगम् ॥ ३७
 रूपं तदेवासंवित्चित्स्पन्दायाः प्रशमं चितेः ।
 अभिन्नः स्याच्चितः स्पन्दः शुद्धचित्स्फाररूपधृक् ॥ ३८

चेष्टैव सेत्यर्थः ॥ ३२ ॥ ननु सा यदि वृथा चेष्टा तर्हि सर्वजनभो-
 कृभोग्यभोगाकारपरिणतात्मचिदेव सर्वात्मरूपेति प्रागुक्तबुद्धि-
 रपि सर्वजननभोलगुडहननं मदीयमेवेतिवद्भ्रान्तिबुद्धित्वात्कृत्रि-
 मैवेति सा कथं लक्षणत्वेनोक्ता तत्राह—विनेति । सिद्धि-
 निरतिशयानन्दमात्मतत्त्वम् । तथा च कृत्रिममपि सर्वात्मभाव-
 दर्शनं परिच्छिन्नात्मदृष्टिनिरासद्वारा तत्त्वावगमोपयुक्तमिति
 तल्लक्षणमुक्तमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ तर्हि देहात्मबुद्धिनिरासद्वारा
 तत्त्वदर्शनोपयोगित्वात् हस्तपादादिस्वाज्ञानामवदलनादिसाहस-
 क्रियापि तल्लक्षणं किं न स्यात्तत्राह—कचिदिति । यदि कचि-
 द्छास्ते विद्वदनुभवे वा स्वाज्ञानामवदलनादिसाहसैरपि सर्वा-
 त्मतादर्शनवत्स्वात्मावलोक्य उपयोगः प्रसिद्धः स्यात्तदा तदपि
 लक्षणं स्यान्नतु तदस्तीत्यर्थः । अथवा अकृत्रिमयेति च्छेदः ।
 आत्मावलोक्य स्वरूपाविर्भावे अकृत्रिमयाऽपरिच्छिन्नाकारशू-
 न्यया अखण्डब्रह्माकारबुद्ध्या विना स्वाज्ञावदलनैः स्वाज्ञावदल-
 नसदृशसाहसकोटिमिरपि सिद्धिरूपयोगो नावगम्यत इत्यर्थः ।
 तत्कुतस्तत्राह—चिदिति त्रिभिः । इयं चित् यावदबोधात्मा
 अज्ञानच्छाया भवति तावच्चेत्यकोटिस्था स्वप्रकाशबुद्ध्यादिकोऽन्य-
 नुप्रविष्टा संती स्वयमपि स्पन्दरूपिणीव भूत्वा चेत्यं बाह्यविषयं
 प्रतिस्पन्दते तेन विभ्रमं पश्यति ॥ ३४ ॥ यदा अन्तः सम्य-
 ग्बोधोदयः स्यात्तदा स्पन्दास्पन्ददशाक्रमः साभिधानकः स्वनाम्ना
 सह कापि याति बाध्यत इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ ॥ ३६ ॥
 आत्यन्तिकप्राणचेष्टोपरमोऽपि स एवेत्याह—यदिति । मध्य-
 गमनिर्वचनीयमपि रूपं यच्च ॥ ३७ ॥ न विद्यते असंवित्तिर-
 ज्ञानं स्पन्दश्च यस्याश्चितेः । प्रथमं मोक्षाख्यं विदुरित्यर्थः ।
 यदा चित्तात्मा चितः स्पन्दः शुद्धचितः स्फाररूपं ब्रह्माकार
 स्तस्य धूमभवति तदा न बन्धाय न मोक्षाय ॥ ३८ ॥

न बन्धाय न मोक्षाय स्थित आत्मनि केवलम् ।
 चिच्छेन्निरर्थसंवित्तिनिर्वाणे न च विन्दते ॥ ३९ ॥
 तद्वन्धमोक्षपक्षादेर्नामापीद न विद्यते ।
 मोक्षोऽस्त्वित्येव बोधोऽन्तः पूर्णता क्षयकारणम् ४० ॥
 समास्त्वित्यपि बन्धस्ते श्रेयोऽसंवेदनं परम् ।
 यदनाभासमजडं तद्विद्धि परमं पदम् ॥ ४१ ॥
 चितः स्वरूपं संस्थानमचेत्योन्मुखतात्मकम् ।
 यः संकल्पनशब्दार्थरूपः स्पन्दो महाचितः ॥ ४२ ॥
 बन्धमोक्षादिकाहोऽसौ प्रेक्ष्यमाणः प्रणश्यति ।
 प्रेक्षणादेव संशान्ते त्वदभावे निरास्पदे ॥ ४३ ॥
 न विद्मः केन किं कस्य बध्यते वाथ मुच्यते ।
 संकल्प एव रचिते बुधश्चेदविभागवान् ॥ ४४ ॥

तदसंकल्पमस्पन्दं सर्वं जातमचारितम् ।
 स्पन्दे स्पन्दमये वाते तन्मयत्वात्सदा चिता ॥ ४५ ॥
 संक्षीणे न च संसारो निस्पन्दे चिद्धने स्थिते ।
 चित्तेज एव चित्स्पन्द इति बुद्धे निरन्तरम् ॥ ४६ ॥
 व्यतिरिक्तश्चितः स्पन्दो न किञ्चिदवशिष्यते ।
 अस्मिन्द्वयमये दीर्घस्वप्ने स्वप्नान्तरं प्रजन् ।
 न ह्यो मोहमुपादत्ते सर्वगत्वात्स्वसंविदः ॥ ४७ ॥
 यत्रोदेति प्रसभमनिशं सर्गसंवित्तिसत्ता
 यस्मिन्नेते सकलकलनाकारपङ्का गलन्ति ।
 उद्यन्त्येते स्वदनसुभगं यत्र सर्वोपलम्भा
 ध्यानेनैवं तमवगमय प्रत्यगात्मानमन्तः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० प्रत्यगात्माबोधो नामैकोनषष्ठितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

षष्ठितमः सर्गः ६०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवमाद्यं परं तत्त्वं चिद्धनं परमे पदम् ।
 तत्स्था एते महारूपा ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥ १ ॥
 विभूतिभिः स्फुरन्त्युच्चैर्जनास्तुष्टा नृपा इव ।
 आकाशगमनाद्याभिः क्रीडाभिः क्रीड्यते चिरम् ॥ २ ॥
 तत्स्थेनैव जनेनेह स्वर्गे स्वर्गोक्तसो यथा ।
 तत्प्राप्याङ्ग न म्रियते तत्प्राप्याङ्ग न शोच्यते ॥ ३ ॥

चित् निरर्थं व्यर्थं सवित्तिश्चित्ताकारो निर्वाणं तदुपरमश्च ते द्वे
 दशे न विन्दते चेत् ॥ ३९ ॥ तत्तर्हि ॥ ४० ॥ स मोक्षो मास्तु
 समा निर्विक्षेपा चिदस्त्विति वा इच्छापि बन्धः । किं तर्हि
 श्रेयस्तदाह—श्रेय इति सपादेनार्थद्वयेन ॥ ४१ ॥ कस्तर्हि
 बन्धमोक्षादिकव्यवहारार्हः पदार्थस्तदाह—य इति ॥ ४२ ॥
 ॥ ४३ ॥ कस्तर्हि चितः संकल्पस्पन्दस्याग्रे उपायस्तदाह—
 संकल्प एवेति । बुधो विवेकी स्वरचिते संकल्प एव चेदिदं
 मया संकल्पितमिदं नेति पूर्वापरविमर्शेन विभागं जहाति तत्तर्हि
 जातोपि संकल्पो बहि स्पन्दजननाक्षमो वृथा नश्यतीत्यर्थोदेव
 सर्वमचारितमसंकल्पमस्पन्दं च जातमेवेत्यर्थः ॥ ४४ ॥ एवं
 चिता प्रबुद्धचैतन्येन स्पन्दे संक्षीणे स्पन्दमये वाते च संक्षीणे
 सति तन्मूलः संसारोऽपि क्षीण एवेत्याह—स्पन्दे इति ॥ ४५ ॥
 अथवा चित्प्रकाशव्यतिरेकेण स्पन्दोऽन्यो नास्तीति दर्शना-
 दपि तज्जिज्ञातिरित्याह—चिदिति ॥ ४६ ॥ मोहं स्वचलनादि-
 श्रमम् ॥ ४७ ॥ अनिशं यस्मिन् प्रसभं वार्यमाणा अपि
 बलात् सर्वजगदाकारोपलम्भा स्वदनं तत्प्रयुक्तानन्वास्वादस्तेन
 सुभगं यथा स्नातथा उद्यन्ति उत्पश्यन्ते । तथा उक्तसर्वसवि-
 स्तीनां सत्तास्थितिरपि यत्रादेति । एते उक्तसंवित्तिरूपाः सक-
 लकलनाकारपङ्का यस्मिन्गलन्ति लीयन्ते च तं प्रत्यगात्मान-

तत्प्राप्य जीव्यते ताङ्ग तत्प्राप्याङ्ग न रुच्यते ।
 अपारपरमाकाशरूपिणः परमात्मनः ॥ ४ ॥
 सत्तासामान्यरूपं चेन्मनागपि विभाज्यते ।
 तत्त्वं निमेषमात्रेण जन्तुमुक्तमना मुनिः ।
 कुर्वन्संसारकर्माणि न भूयः परितप्यसे ॥ ५ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं यत्र क्षयं गतम् ।

मेवमुक्तप्रकारेण ध्यानेन निचारेणावगमय पश्येत्यर्थः ॥ ४८ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 प्रत्यगात्माबोधो नामैकोनषष्ठितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

अद्वितीयस्य शुद्धस्य परस्य निजमायया ।

सर्वाकारैः स्थितिरिह निभूतिरुपदिश्यते ॥ १ ॥

वर्णितब्रह्मणो विभूतीः प्रपञ्चविध्यस्तत्र मुख्यान्प्रथमं निर्दि-
 शति—एवमिति । तत्स्थास्तज्जिज्ञाः । तथाच तत्प्रतिष्ठोत्कर्षा-
 देव विभूतिषूत्कर्षो मानुषादिहरान्तेष्विति भावः ॥ १ ॥ नृपा
 मानुषानन्दविभवपूर्णा इवेति तैत्तिरीयश्रुतिदर्शितानन्दोत्कर्ष-
 कमप्रथमभूमिकानिर्देशः । तदुक्तभूमिकासु सुखोत्कर्षमाह—
 आकाशेति । क्रीड्यते तत्स्थेनैव जनेनेति परेणान्वयः ॥ २ ॥
 तस्मिन्ब्रह्मणि आनन्दस्फूर्तिविरोधिनालिन्यक्षयतारतम्येन तिष्ठ-
 तीति तत्स्थो मनुष्यगन्धर्वादिर्जनस्तेन । स्वर्गोक्तसो यथेति
 तदुत्तरगन्धर्वाद्युत्तरभूमिकोदाहरणार्थम् । तत्सर्वानन्दोत्कर्षाव-
 धिभूतं ब्रह्म तत्त्वबोधेन प्राप्य । अत्रेति संबोधने ॥ ३ ॥ न
 जीव्यते प्राणधारणनिमित्तैरशानायादिभिर्न पीड्यते । न रुच्यते
 कुब्धादिभिः ॥ ४ ॥ तत्तत्त्वं जन्तु साधारणजन्तुशरीरोऽपि
 यदि स्नातथापि न परितप्यसे किं पुनरुक्तमशरीर इत्युत्तरेणा-
 न्वयः ॥ ५ ॥ यद्विभावनाजन्तुर्न परितप्यते तत्सत्तासामान्य-

सत्तासामान्यमाभातं मनस्वी स किमुच्यते ॥ ६
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 यद्ग्राह्यं सर्वदेहस्थं भुङ्क्ते पिबति वल्गति ।
 आदत्ते विनिहन्त्यन्तः संवित्संवेद्यवर्जितम् ॥ ७
 तत्सर्वगतमाद्यन्तरहितं स्थितमर्जितम् ।
 सत्तासामान्यमखिलं वस्तुतत्त्वमिहोच्यते ॥ ८
 तत्स्थितं खतया व्योम्नि शब्दे शब्दतया स्थितम् ।
 स्पर्शं स्थितं स्पर्शतया त्वचि तत्त्वक्तया स्थितम् ॥ ९
 रसे लीनं रसतया रसनायां तु तत्तया ।
 रूपे रूपतया दृष्टं नेत्रे लीनं च दृक्तया ॥ १०
 घ्राणे घ्राणतया दृष्टं गन्धे गन्धतयोदितम् ।
 पुष्टं कायतया काये भूमावपि च भूतया ॥ ११
 पयस्तया च पयसि वायौ वायुतया स्थितम् ।
 तेजस्तया तेजसि च बुद्धौ बुद्धितया गतम् ॥ १२
 मनस्तया मनस्यन्तरहंकृत्याप्यहंकृतौ ।
 रूढं संविदि संवित्या चित्ते चित्ततयोत्थितम् ॥ १३
 वृक्षे वृक्षतया लग्नं पटे पटतयोदितम् ।
 घटे घटतया रूढं वटे वटतयोत्थितम् ॥ १४
 स्थावरे स्थावरत्वेन जंगमत्वेन जंगमे ।
 पाषाणत्वेन पाषाणे चेतनत्वेन चेतने ॥ १५
 धमरेष्वमरत्वेन नरत्वेन नरेषु च ।
 तिर्यक्त्वेन च तिर्यक्षु क्रिमित्वेन क्रिमिस्थितौ ॥ १६

कालक्रमे कालतया क्रनावृततया तथा ।
 बुद्धिक्षणनिमेषादौ संस्थितस्तत्तया विभुः ॥ — १७
 शुक्ले शुक्लतया जातं कृष्णे कृष्णतया स्थितम् ।
 क्रियासु स्पन्दरूपेण नियतौ नियमेन च ॥ १८
 संस्थितः संस्थितौ स्थित्या नाशे नाशतया स्थितः ।
 उत्पत्तिरूपेणोत्पत्तावास्थितः परमेश्वरः ॥ १९
 बाल्येन बाल्ये विश्रान्तो यौवने यौवनेन च ।
 जरसा च जरारूपे मरणे मरणेन च ॥ २०
 इति सर्वपदार्थानामभिन्नः परमेश्वरः ।
 कल्लोलसीकरोर्मिणांमग्धाविव पयोभरः ॥ २१
 नानातैषां त्वसत्यैव सत्येनानेन चैव हि ।
 कल्पिता चित्स्वभावेन वेतालः शिशुना यथा ॥ २२

सर्वत्र संस्थितिमता विगतामयेन
 व्याप्तं मयेदमखिलं विविधैर्विलासैः ।
 चिद्रूपिणैव कलना कलितात्मनेति
 मत्वोपशान्तमतिरास्व सुखं महात्मन् ॥ २३

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
 सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
 ज्ञातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
 श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाजगाम ॥ २४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० विभूतियोगोपदेशो नाम षष्ठितमः सर्गः ॥ ६० ॥

षोडशो दिवसः ॥ १६ ॥

रूपं किं निर्विशेषमुत सविशेषम् । आद्ये तस्य विभूतिवर्णन-
 मसंगतम् । द्वितीये तत्प्राप्य जन्तुर्न परितप्यते इत्यात्यन्तिक-
 परितापोच्छेदवर्णनमयुक्तमित्याशयेन रामः पृच्छति—मन-
 इति । मनोबुद्ध्यादि सर्वद्वैतं यत्र क्षयं गतं तन्निर्विशेषमाभातं
 पूर्णचिन्मात्रमेव सत्तासामान्यमिति त्वयोच्यते उत मनस्वी मन-
 आदिसर्वविशेषवान् सर्वात्मा ईश्वर इत्यर्थः ॥ ६ ॥ नात्र प्रपञ्च-
 नाधोत्तरपरिशिष्टनिर्विशेषमिति वा तत्पूर्वकालिकं सविशेषमिति
 वा विभज्य सत्तासामान्यमुक्तं किंतु सर्वजीवभावेष्वीश्वरभावे
 शुफौ च यदनुस्यूतमखण्डदण्डायमानं सन्मात्रं तदेवोक्तं तदेव
 जगतस्तत्त्वम् । तत्र तु त्वदभिप्रेतो न कश्चिद्विरोध इत्याशयेन
 वसिष्ठः समाधत्ते—यदिति । आदत्तेऽन्तर्जाप्रत्यक्षप्रसर्गकाले ।
 विनिहन्ति सुषुप्तिप्रलययोः । संवित्संवेद्यवर्जितं तुरीय-
 तायाम् ॥ ७ ॥ स्थितमेव कण्ठ्यासीकरवद्बोधेनार्जितम् ॥ ८ ॥
 तदेव वियदादिकार्यानुस्यूतं तद्विभूतितयोपवर्ण्यते सार्वभौम्य-
 प्रदर्शनायेत्याह—तदित्यादिना ॥ ९ ॥ तत्तया रसनेन्द्रियतया ।

नेत्रे चक्षुरिन्द्रिये ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ अहंकृत्या अहंकारतया ।
 संविदि बुद्धौ । संवित्या बुद्धितया ॥ १३ ॥ १४ ॥ चेतने
 चतुर्विधभूतेषु ॥ १५ ॥ तत्र विशेषाकारसत्तापि तदेवेत्याह—
 अमरेष्विति ॥ १६ ॥ कालस्य क्रमे युगसंवत्सरत्वादिमेदे ।
 कृतावित्यादिस्तत्प्रपञ्चः ॥ १७ ॥ नियमेन नियतितया ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ बाल्येनेत्यादयो भावप्रधाननिर्देशाः ॥ २० ॥ पयोभरो
 जलसामान्यमिव ॥ २१ ॥ कथमयमेवैको नानात्वेन स्थित
 इति चेत्स्वाज्ञानभ्रान्तिकल्पनयैव न वस्तुत इत्याह—नानातेति
 ॥ २२ ॥ हे महात्मन्, सर्वत्र संस्थितिमता चिद्रूपिणा मया
 आत्मना स्वेनैवेयं जग कलना कलिना कल्पिता । इदमखिलं
 मयैव विविधैर्विलासैर्व्याप्तं मयैवेयं विभूतिर्न मद्यतिरिक्तं किञ्चि-
 दस्तीति मत्वा उपशान्ता मतिर्यस्य तत्राभूत आस्व । स्वम-
 हिम्नि तिष्ठे यर्थः ॥ २३ ॥ २४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामा-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे विभूतियोगोपदेशो नाम
 षष्ठितमः सर्गः ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः ६१

श्रीराम उवाच ।

यथास्माकं मुने स्वप्नपुरपत्तनमण्डलम् ।
 तथैव पद्मजादीनां यदि देहपरिग्रहः ॥ १
 तथैवेदं च संजातं यदि सर्वमसन्मयम् ।
 तदस्माकं दृढतरः प्रत्ययः कथमुत्थितः ॥ २
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अस्मत्सर्गवदाभाति पूर्वसर्गः प्रजापतेः ।
 आजीवप्रतिभासात्मा विद्यते न तु वास्तवः ॥ ३
 सर्वगत्वाच्चितेः सर्वं जीवः सर्वत्र संसृतिः ।
 सा चासम्यग्दर्शनोत्था सम्यग्दर्शननाशिनी ॥ ४
 स्वप्नाभः प्रतिभासोऽस्य य एष समुपस्थितः ।
 अहंताप्रत्ययैकात्मा स एवातिदृढं स्थितः ॥ ५
 स्वप्ने क्षिप्रविनाशित्वं यथा पुंसां न दृश्यते ।
 सर्वस्वप्ने तथैवेतद्ब्रह्मणामिह लक्ष्यते ॥ ६
 स्वप्नोऽयं पुरुषस्यास्य प्रतिभासस्य यो भवेत् ।
 रामाऽसदादिसर्वात्मा भवेत्तादृश एव च ॥ ७

इह प्रसाध्यते युक्त्या स्वप्नमायासमं जगत् ।

सर्वत्र चाविरोधेन भ्रान्त्या सर्वस्य संभवः ॥ १ ॥

यदि सर्वं जगत्परमात्मनः स्वप्नसदृशी भ्रान्तिकल्पितविभूति-
 स्तर्हि ब्रह्मादिदशा स्वप्नब्रह्मान्तिरित्येव भासते । अस्मदादि-
 दशा तु न स्वप्नतुल्यः किंतु दृढतरः सत्य इत्येव भासते इति
 वैषम्ये को हेतुः । न च दीर्घकालानुवृत्त्यास्माकं तथा भातीति
 तत्समाधानं युक्तम् । ब्रह्मादीनां परार्थद्वयायुषां ततोपि चिर-
 कालं संसारानुवृत्त्या सत्यतादाढ्याधिक्यापत्तेरित्याशयेन रामः
 पृच्छति—यथेति द्वाभ्याम् ॥ १ ॥ अस्माकं अस्माकमेव प्रपञ्चे
 दृढतरः सत्यताप्रत्ययः कथमुत्थितो न पद्मजादीनामित्यर्थः ॥ २ ॥
 अबाधितचिरानुवृत्तिरेव सत्यताभ्रमदार्ढ्यहेतुर्न बाधितचिरा-
 नुवृत्तिरित्याशयेन अतिष्ठ समाधत्ते—अस्मदिति । यदायं
 पद्मजः पूर्वमुपासकावस्थोऽभूत्तदा तत्त्वज्ञानाभावादस्य प्रजाप-
 तेस्तदानीतनः पूर्वसर्ग इदानीमस्मदनुभूयमानसर्गवदेव आस-
 मन्ताच्चतुर्विधभूतश्रमलक्षणजीवप्रतिभासात्मा सत्य एवाभाति
 तथापि साग्रं तस्य तत्त्वज्ञानबाधितत्वाद्वास्तवो न विद्यते ॥ ३ ॥
 यावदज्ञानं तावच्चिते सर्वगत्वात्सर्वं जीवो भवति । सर्वत्र च
 संसृतिः सत्यैव भवति । सा च सम्यग्दर्शनविरोधज्ञानोत्था
 सम्यग्दर्शनेन नष्टुं शीलमस्यास्तयाविधेयार्थः ॥ ४ ॥ अत-
 एवास्य प्रजापतेस्तत्त्वज्ञानबाधितः स्वप्नाभः पेलवः प्रपञ्चप्रति-
 भासो यः समुपस्थितः सः अज्ञासादाद्यहंताप्रत्ययैकैकात्मा
 एकीभूतः सन् अतिदृढं स्थितः ॥ ५ ॥ तर्हि प्रजापतिभिः
 स्वकल्पितप्रपञ्चस्य तत्त्वबोधेन क्षिप्रविनाशिता कुतो नानुभूयते
 इति चेद्भोजकादृष्टेन प्रतिबन्धादित्याशयेनाह—स्वप्ने इति ।
 यथा सुप्तपुंसां स्वप्नभोगप्रदकर्मप्रतिदृष्टत्वात्स्वप्ने विद्यमानमपि

यत्स्वप्नपुरुषाज्जातं तत्स्वप्नपुरुषात्मकम् ।
 भवतीत्यनुभूतं हि यद्वीजं तत्फलं यथा ॥ ८
 असत्यमेव तद्विद्धि यदसत्येन साध्यते ।
 असत्येऽर्थे समर्थेऽपि न युक्तं भावनं घनम् ॥ ९
 येन तेन परित्याज्यमसद्भावनावनम् ।
 दृढप्रत्ययितं स्वप्नपुरुषाद्यत्समुत्थितम् ॥ १०
 भवत्यात्मनि सर्गादि दृढप्रत्ययमेव तत् ।
 निमेषमात्रः पौरोऽयं सर्गस्वप्नः पुरः स्थितः ॥ ११
 तस्मिन्निमेष एवास्मिन्कल्पता परिकल्प्यते ।
 सुदीर्घस्वप्नखण्डोऽयं यथोदेति प्रजापतेः ॥ १२
 सर्गाख्यः सर्वभूतानां प्रत्येकमुदितस्तथा ।
 चित्तत्त्वस्यैव भावेन सर्गवर्गपरम्परा ॥ १३
 स्फुरत्यम्भो द्रवत्वेन यथावर्तविवर्तनैः ।
 यथा स्वप्नात्मिकैवेयं सर्गलक्ष्मीर्न वास्तवी ॥ १४
 तदा संभवतीदं वै तत्पदं प्रलयं गतम् ।
 यद्यथा यादृशं दृष्टं तत्तादृग्विद्यते तथा ॥ १५

क्षिप्रविनाशित्वं न दृश्यते तथा समष्टिस्वप्ने जगत्स्य ब्रह्मणां
 पद्मजानामिह विनाशित्वबोधे प्रतिबन्धो लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥
 हे राम, अस्य सुप्तपुरुषस्य प्रतिभासस्य प्रतीतेरयं प्रसिद्धः स्वप्नः
 अस्मदादिसर्वजीवजगदात्मा यादृशोऽनाद्यनन्तप्रवाहरूप इत्येव
 भवेत्प्रजापतेरपि तादृश एव भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥ अस्तु
 तादृशः किं ततस्तत्राह—यदिति । यथा तस्यान्नादेर्वीजमेव
 तत्कन्यवृक्षफलात्मना परिणतं न वस्तुनन्तरं तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥
 अस्त्येव ततोऽपि किं तत्राह—असत्यमेवेति । असत्येन मनः-
 पुरुषेण यत्साध्यते तदसत्यमेवेति सिद्धम्, अतो जन्मान्तरसर्ग-
 नरकादयं क्रियासमर्थेऽपि घनं सत्यत्वभावनं न युक्तमित्यर्थः ॥ ९ ॥
 येन हेतुना न युक्तं तेन हेतुना दृढप्रत्ययितमपि परित्याज्यम्
 ॥ १० ॥ किंचास्मदादीनामपि स्वप्नसर्गादि यद्भासते तत्तदानीं
 दृढप्रत्ययमेव भवति न मिथ्याबुद्धिवत्तदा दृश्यते नैतावतास्य
 सत्यतेत्यर्थः । अभ्युपेत्य प्रजापत्यस्य सर्गस्य दीर्घकालस्याधि-
 त्वमिदं सर्वमुक्तम् । वस्तुतस्तु तस्य दैर्घ्यमपि हरिश्चन्द्रस्वप्नदै-
 र्घ्यवदल्पकालेऽपि संभवतीत्याह—निमेषमात्र इति । वार्षिकः
 पूर इव प्रवृद्धः पौरः अयं प्राजापत्यः सर्गस्वप्नः ॥ ११ ॥
 प्रजापतेरिव सर्वेषामपि स्वस्वप्नेषु तदानीं दीर्घप्रपञ्चताप्रत्य-
 योऽस्त्येवेत्याह—सुदीर्घेति ॥ १२ ॥ चिदधीनप्रसिद्धिकत्त-
 रूपं दृश्यत्वं मिथ्यात्वे प्रयोजकं, तच्चोभयत्रापि समानमित्याश-
 येनाह—चित्तत्त्वस्येति ॥ १३ ॥ १४ ॥ तत्प्राजापत्यं पदं
 सर्गादिसहितं प्रलयं गतमत्यन्तासदेवेति 'न निरोधो न चोत्प-
 त्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै शुक्तिरित्येषा परसा-
 र्वता ॥' इतीदं प्रसिद्धं श्रुतिवचनं संभवतीत्यर्थः । नन्वत्यन्तासदे-
 वेदं चेत्कथं व्यवहाराहमिति चेत्तथा दृष्टत्वादेव नात्र पर्यनुमोऽय-

न हि पर्यनुयोक्तव्याः स्वप्नविभ्रमरीतयः ।
 न तदस्ति जगत्स्मिन्न्यत्र संभवति भ्रमे ॥ १६
 विचित्रास्त्रिषु लोकेषु दृश्यन्ते वस्तुदृष्टयः ।
 जलमध्ये ज्वलत्यग्निर्यथाब्धौ बडवानलः ॥ १७
 नगराण्यम्बरे सन्ति यथा वैमानिकाश्रयाः ।
 शिलाखल्लानि जायन्ते हेमाद्राविव पादपाः ॥ १८
 एकान्ते सर्वपुण्यानि सन्ति कल्पतरौ यथा ।
 शिलाः फलन्ति फलिवद्यथा रत्नगुलुच्छकाः ॥ १९
 शिलान्तः प्राणिनः सन्ति भेका इव शिलान्तरे ।
 दृषदो वारि निर्याति चन्द्रकान्तोपलादिव ॥ २०
 निमेषेण घटो याति पटतां स्वापसंविदि ।
 असत्यमपि बुध्येत स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ २१
 आकस्मिकं जलं व्योम्नि ध्रियते भूतगं यथा ।
 वितानमिव खे वारि तिष्ठति स्वर्णदी यथा ॥ २२
 उड्डीयन्ते शिलाः स्थूलाः पक्षवन्तो यथाद्रव्यः ।
 शिलान्तः प्राप्यते सर्वं ननु चिन्तामणेरिव ॥ २३
 चिन्तितानि फलन्त्याशु देवोद्यानान्तरेष्विव ।
 तान्येव न फलन्त्याशु मोक्षादीनां च राघव ॥ २४

अचेतनोऽपि कुरुते कर्म यन्नेषुमानिव ।
 एवमाद्यास्तथान्ये च विचित्रारम्भविभ्रमाः ॥ २५
 दृष्टाः शम्बरगन्धर्वविलासैरप्यसंभवाः ।
 देशकालक्रियाद्रव्यरत्नसंचरणीयजाः ॥ २६
 अर्था गन्धर्वजनिता अनन्ताः सत्यसंभवाः ।
 असंभवः संभवोऽयमपि भाव्युपपद्यते ॥ २७
 संभवोऽसंभवः सम्यक् सिद्धये स्वप्नविभ्रमः ।
 न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ॥ २८
 सर्वं सर्वेण सर्वत्र स्वप्ने सर्गाभिधानके ।
 स्वप्ने निमग्नधीर्जन्तुः पश्यति स्थिरतां यथा ॥ २९
 सर्गस्वप्ने मग्नबुद्धिः पश्यति स्थिरतां तथा ।
 भ्रमाद्भ्रमान्तरं गच्छन्स्वप्नात्स्वप्नान्तरं व्रजन् ।
 अतिस्थिरप्रत्ययभागिह जीवो विमुह्यति ॥ ३०

श्वभ्रान्तरं श्वभ्रनिपातदोषात्
 संप्राप्तुवन्मुग्धमृगः प्रयाति ।

मोहं यथा पातमयैकरूपं
 जीवस्तथा संसृतिपातमूढः ॥ ३१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे जगत्स्वप्नकथनं नामैकषष्ठितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः ६२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अत्र राघव वक्ष्येऽहमितिहासमिमं शृणु ।
 यद्वृत्तं कस्यचिद्भिक्षोः किञ्चिन्मननशालिनः ॥ १

मस्तीत्याह—यद्यथेति ॥ १५ ॥ अज्ञानस्याघटितघटनासाम-
 र्थादपि न पर्यनुयोज्यतेत्याह—न तदिति ॥ १६ ॥ असभा-
 वितानां बहूनां जगति दर्शनमुदाहरति—विचित्रा इत्यादिना
 ॥ १७ ॥ हेमाद्रौ निर्मृत्तिके ॥ १८ ॥ एकान्ते एकदेशे
 सर्वाणि पुण्यानि पुण्यफलभूतान्यभिलषितवस्तूनि । ‘पुण्यानि’
 इति पाठे पणनं व्यवहारस्तथोग्यवस्तूनि । ‘पुण्यानि’ इति पाठे
 तु स्पष्टम् । यथाशब्दाः सर्वत्रोदाहरणार्थाः । फलिवद्ब्रूवत् ।
 रत्नगुलुच्छकाश्चिन्तामणिगुच्छाः ॥ १९ ॥ २० ॥ स्वापसं-
 विदि स्वप्ने ॥ २१ ॥ स्वर्णदी मन्दाकिनी ॥ २२ ॥ २३ ॥ न
 फलन्ति नोत्पद्यन्ते । यथा मोक्ष उत्पद्यतां, ब्रह्म नश्यतु,
 प्रपञ्चः सत्योऽस्तु, भोगाः शाश्वताः सन्तु, नियतिर्भज्यतां, वेदा
 अप्रमाणीभवन्तु, इत्यादीनां विषये सत्यसंकल्पानां चिन्तितानि
 न्यपि न फलन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥ असंभवाः असंभाविता
 अन्ये च विचित्रारम्भविभ्रमाः शम्बरगन्धर्वादिमायाविलासै-
 र्दृष्टा इत्यन्वयः ॥ २५ ॥ देशे दूरत्वादौ चन्द्रप्रादेशिकत्वादयः
 काले औत्पातिकनभःकबन्धादयो मन्त्रप्रयोगादिक्रियया औष-
 धादिद्रव्यै रत्नैर्मणिभिः संचरणीयैः पिशाचमदाद्यनुप्रवेशैश्च
 जातास्ते ते विचित्रारम्भविभ्रमा दृष्टा इत्यर्थः ॥ २६ ॥

१ वस्तुदृष्टयः इति पाठः.
 यो० बा० ११६

आसीत्कश्चिन्महाभिक्षुः समाध्यभ्यासतत्परः ।
 नित्यं स्वव्यवहारेण क्षपयत्यखिलं दिनम् ॥ २

सत्येभ्य इवार्थक्रियासंभवो येभ्यस्तथाविधा दृष्टा इति पूर्वेणा-
 न्वयः । इदानीमसंभवोऽप्ययं ब्रह्माण्डनाशादिर्भावी संभवतीति
 संभव उपपद्यते ॥ २७ ॥ एवमिदानीं संभवोऽपि सर्गरूपः
 स्वप्नविभ्रमः प्रलये तत्त्वबोधे चासंभवः सन् सिद्धये स्वरूपवि-
 भ्रान्तये भवतीत्यर्थः । एवं च ब्रह्मात्मना दर्शने नासत्यं किञ्चि-
 दस्ति, जगदात्मना दर्शने तु न सत्यं किञ्चिदस्तीति फलितमि-
 त्याह—न तदिति ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ यथा मुग्धो मृगः
 श्वभ्रेषु निपातयतीति श्वभ्रनिपातस्तथाविधात्स्वमोहदोषाच्छ्वभ्रा-
 न्त्यभ्रान्तरं प्रयाति तथा संसृतौ पातयन्तीति संसृतिपाता रागा-
 दयस्तान् मूढो जीवः पातमयतया एकरूपं न मृगवन्मध्ये निर्ग-
 मनमस्ति यत्र तथाविधं मोहं देहादिगर्तप्रवेशभ्रमं प्रयातीत्यर्थः
 ॥ ३१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रक-
 रणे पूर्वार्धे जगत्स्वप्नकथनं नामैकषष्ठितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

विचित्रवासनायोगाजानादेहासिविभ्रमम् ।

वर्ण्यते जीवटाख्याने भिक्षुमानसचेष्टिष्वम् ॥ १ ॥

अत्र अस्मिन् भ्रमाद्भ्रमान्तरं गच्छन्निति वर्णितेऽर्थे उदाहर-
 णभूतमितिहासं पुरावृत्तम् । यद्वृत्तं संपन्नम् ॥ १ ॥ महान्
 शान्तिदान्तिवैराग्यादिसपन्नो भिक्षुः परिव्राट् । स्वव्यवहारेण

समाध्यभ्यासशुद्धं तत्तस्य चित्तं क्षणेन यत् ।
 चिन्तयत्याशु तद्भावं गच्छत्यम्बिव वीचिताम् ॥ ३ ॥
 कदाचित्स समाधानविरतोऽतिष्ठदेकधीः ।
 किञ्चित्संचिन्तयामास स्वासनस्थः क्रियाक्रमम् ॥ ४ ॥
 तस्य चिन्तयतो जाता प्रतिभेयमिति स्वतः ।
 भावयाम्याशु लीलार्थं सामान्यजनवृत्तिताम् ॥ ५ ॥
 इति संचिन्त्य चेतोऽस्य स्थितं किञ्चिन्नरान्तरम् ।
 स्पन्दसंस्थानसंत्यागमात्रेणवर्तनेऽम्बिव ॥ ६ ॥
 तेन चित्तनरेणाय कृतं नामात्मवाञ्छया ।
 जीवतोऽस्मीति सहसा काकतालीयवत्स्थितम् ॥ ७ ॥
 जीवतो विजहाराथ स स्वप्नपुरुषश्चिरम् ।
 स्वप्ननिर्माणनगरे कस्मिंश्चित्पुरवीथिषु ॥ ८ ॥
 तत्र पानं पपी मत्तो भृङ्गः पक्षरसं यथा ।
 लीलैवैव ददं हृष्टः सुष्वाप घननिद्रया ॥ ९ ॥
 स्वप्ने ददर्श विप्रत्वं पाठानुष्ठानतुष्टिमत् ।
 प्रतिभामात्रसंपन्नां चित्ते देशान्तरासिवत् ॥ १० ॥
 कदाचित्स द्विजश्रेष्ठस्त्वहर्व्यापारनिष्ठया ।
 सुष्वापान्तर्व्यवहृतिर्योजतायामिव द्रुमः ॥ ११ ॥
 द्विजोऽपश्यत्स्वयं स्वप्ने सामन्तत्वमथात्मनि ।
 स सामन्तः कृताहारः कदाचिद्धननिद्रया ॥ १२ ॥
 अपश्यद्राजतां स्वप्ने ककुब्बलयपालिनीम् ।
 लालितां भोगपूणेन पुष्पौघेण लतामिव ॥ १३ ॥
 स कदाचिच्छुपः स्वस्थः सुष्वापास्तमितेहितः ।
 पुरोभाषिनिजाचारः स्वकार्यमिव कारणे ॥ १४ ॥
 अपश्यत्स्वात्मनि स्वप्ने सुरस्त्रीत्वमनिन्दितम् ।

वृक्षकोशरसोल्लासे मञ्जरीत्वमिवोदितम् ॥ १५ ॥
 सा सुरस्त्री रतिश्रान्ता निद्रां गाढामुपागता ।
 मृगीत्वमात्मनि खैरमावर्तत्वमिवाम्बुता ॥ १६ ॥
 सा मृगी लोलनयना कदाचिन्निद्रया हता ।
 स्वप्ने ददर्श वल्लीत्वं स्वाभ्यासाद्दृढमात्मनि ॥ १७ ॥
 तिर्यञ्चोऽपि प्रपश्यन्ति स्वप्नं चित्तस्वभावतः ।
 दृष्टानां च श्रुतानां च चेतःस्मरणमक्षतम् ॥ १८ ॥
 सा बभूव लतापुष्पफलपल्लवशालिनी ।
 वनदेवी वनोद्यानलतागृहविलासिनी ॥ १९ ॥
 बीजान्तस्थाङ्कुराकाररूपयेद्वाधिरूढया ।
 सापश्यदन्तःसंविच्या स्फुटं लवनमात्मनः ॥ २० ॥
 कंचित्कालं सुषुप्तस्थं कलया जडतां घनाम् ।
 अनुभूय ददर्शाथ स्वात्मानं भ्रमरं स्थिरम् ॥ २१ ॥
 षट्पदो विजहाराथ घने वनलतास्वसौ ।
 पद्मिनीषु च फुल्लासु तरुणीष्विव वल्लभः ॥ २२ ॥
 प्रियादिम्बाधरस्वातुरसवत्कौसुमं मधु ।
 भ्रमत्कुसुमसंधासु मुक्तावल्लीविलासिषु ॥ २३ ॥
 स बभूव सरोजिन्यां व्यसनी विसनालगः ।
 कचिदेव रतिं ह्येति चेतो जडमतेरपि ॥ २४ ॥
 तामाजगाम नलिनीं परिलोलयितुं गजः ।
 रम्यवस्तुक्षयायैव मूढानां जृम्भते पदम् ॥ २५ ॥
 नलिनी मर्दिता सैव समं तेन स षट्पदः ।
 गतो दन्तान्तरं व्रीहिरिव चूर्णत्वमाययौ ॥ २६ ॥
 भ्रमरो वारणालोकाद्वारणालोकभावेनात् ।
 ददर्शात्मानमामोदमत्तद्वस्तिथयोदितम् ॥ २७ ॥

स्वाश्रमोचितश्रवणमननादिव्यवहारेण ॥ २ ॥ समाधिचित्तस्य
 ध्येयाकारदाब्जेन पूर्णस्वरूपशून्यत्वापादनं 'तदेवार्थमात्रनिर्भास
 स्वरूपशून्यमिव समावि'रिति पतञ्जलिवचनात् । तदभ्यासेन
 शुद्धं पूर्ववासनालागक्षमम् । अम्बु जलं वीचितामिव ॥ ३ ॥
 एकधीरेकाग्रचित्त ॥ ४ ॥ सामान्यजना शास्त्रसंस्कारहीना-
 स्तद्वृत्तिता चित्तचेष्टानुसारिताम् ॥ ५ ॥ नरान्तर यतिधर्मानि-
 यश्चित्तपामरपुरुषान्तररूपम् । यथा अम्बु आवर्तने कृते प्राक्-
 नप्रवाहस्पन्दस्य समसंस्थानस्य च संत्यागमात्रेण नाभ्याकार-
 भावतोऽख्यरूपान्तरेण तिष्ठति तद्वत् ॥ ६ ॥ तत्र नान्तरीयकी
 नामकल्पनामाह—तेनेति ॥ ७ ॥ ८ ॥ हृष्टो मत्तः ॥ ९ ॥
 पाठैरध्ययनैः सत्कर्मानुष्ठानैश्च तुष्टिमत् सतुष्टं न पृथग्जनव-
 रित्रेण ॥ १० ॥ अहर्व्यापारनिष्ठया श्रान्त इति शेषः । अन्त-
 रसंस्कारात्मना लीना व्यवहृतिर्यस्य । यथा बीजताया द्रुमोऽन्त-
 रगतविटपादिसंस्कार आस्ते तद्वत् ॥ ११ ॥ सामन्तत्वं भाण्ड-
 लिकराजताम् ॥ १२ ॥ कृताहारो भुक्त्वान् सन् सुप्तो घननि-
 द्रया राजतां साम्राज्यम् । ककुमा दिशा बलयानि पालयितुं
 शीलं यस्यास्तथाविधम् ॥ १३ ॥ पुरोभाषी फलदानायोप-
 स्थितो निजः स्वीयः कृयासक्तिरूप आचारो यस्य । स्वकार्य

वृक्षादि । कारणे बीजे ॥ १४ ॥ बहुपुरुषसंभोगेऽप्यनिन्दितं
 सुरस्त्रीत्वमप्सरस्त्वम् । रसोल्लासे चेतनत्वकल्पनयोर्किर्लक्षणया
 वृक्षजीवोक्तिर्वा ॥ १५ ॥ मृगीनयनसौन्दर्याभिलाषवासनया
 मृगीत्वमपश्यदित्यनुकृत्यते । अम्बुता अम्बुसाम्यावस्था ॥ १६ ॥
 ॥ १७ ॥ तिरश्चा स्वप्नदर्शनमस्ति न चेति सद्विद्वान्प्रत्याह—
 तिर्यञ्च इति । चित्तस्य दृष्टश्रुतसंस्कारप्रादित्वात्सति संस्कारे
 स्मृतिवत्स्वप्नस्याप्यवर्जनादित्याशयः ॥ १८ ॥ लतापल्लवासत्ति-
 व्रशालता बभूव । वनदेवीनां घने प्रसिद्धलतागृहमिव विलसन-
 शील ॥ १९ ॥ सा लता कंचित्कालमन्तःसंविच्या साक्षि-
 तन्येन निद्राजडतां सुषुप्तिमनुभूय बीजान्तस्थाया भाव्यङ्कुरा-
 काराया धियो रूपमिव स्वरूपं यस्यास्तथाविधया स्वप्नोन्मुख्या
 धिया भ्रमराकारोद्बुद्धसंस्कारया आत्मानं भ्रमरमपश्यदित्य-
 न्वयः ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ कौसुमं मधु मकरन्दं पपी
 इति शेषः ॥ २३ ॥ व्यसनी अस्यासक्तः सन् विसस्य नालगो
 नालसंलग्नः ॥ २४ ॥ पदं व्यवसितम् । जृम्भते वर्धते ॥ २५ ॥
 तेन गजेन सा भ्रमराश्रिता नलिनी मर्दितैव । तेन नालेन समं
 स षट्पदो गजस्य दन्तान्तरं गतः सस्यसलप्रकुण्ठाव्रीहिरिव
 चर्व्यमाणचूर्णत्वमाययौ ॥ २६ ॥ वारणस्यालोकादवलोकना-

शुष्कसागरगम्भीरे गजः खाते पपात ह ।
 तमोघनघने शून्ये संसार इव जीवकः ॥ २८
 बभूव बल्लभो राज्ञो महापरचलान्तकः ।
 सदा मदबलक्षीबो घूर्णोतीव निशाचरः ॥ २९
 कदाचिदसिनिर्लिशच्छिन्नः सोऽस्तमुपाययौ ।
 विवेकानिलनिर्लूनरूपो जीव इवात्मनि ॥ ३०
 पश्यन्नाजघटाकुम्भस्थलाग्रोच्चलितानलीन् ।
 गण्डस्थभ्रमराभ्यासाद्गजो भूयोऽप्यभूदलिः ॥ ३१
 सेवमानो वनलतां पुनरायात्स पद्मिनीम् ।
 दुस्त्यजो हि दुरभ्यासो वासनानामबोधिनः ॥ ३२
 तत्र हस्तिखुराक्रान्तः पुनः संचूर्णतां ययौ ।

पार्श्वस्थहंससंविद्या बभूव कलहंसकः ॥ ३३
 कलहंसश्चिरतरं योनिष्वन्यासु संलुठन् ।
 कदाचिद्बहुभिर्हंसैः संगतो विजहार ह ॥ ३४
 ब्राह्महंसात्मिका संवित्सशब्दार्थवती मनाक् ।
 तत्र पुष्टास्य तस्यान्तः प्रागण्डरसबर्हिंवत् ॥ ३५
 स तच्चिन्तां चरन्मृतो दृढं व्याधिघुणाहतः ।
 तत्संविद्यनुसंधानाज्जातः पद्मजसारसः ॥ ३६
 तत्रातिसंततविवेकवतो विलासैः
 संबोधितो विगतलौकिकवस्तुदृष्टिः ।
 मुक्तः स्थितो ननु युगान्तविधौ विदेह-
 मुक्तेन तेन किमु भावि विभाव्यमेतत् ॥ ३७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० दे० मो० निर्वा० पू० जीवटोपाख्याने स्वप्नशतरुद्वीये भिक्षुसंसारोदाहरणं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः ६३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

स कदाचिद्दर्शय रुद्रं रुद्रपुरे खगः ।
 वैरिश्चनलिनीनाललीलालाभेन लीलया ॥ १

वारणस्यालोक्यत इत्यालोक आकारस्तद्भावनादात्मानं मत्तहस्ति-
 तया उदितं संपन्नं ददर्श ॥ १७ ॥ स गजः खाते हस्तिपक-
 निर्मितगते । घनेभ्यः शृङ्खलादिबन्धेभ्योऽपि घने कठोरे संघारे
 जीवक इव पारवश्यदुःखान्यनुभवन् ॥ २८ ॥ निशाचर
 इत्युत्तरान्वयि ॥ २९ ॥ स कदाचिदुपस्थिते निशायुद्धे चर-
 तीति निशाचरः सन्नसिभिर्दोषैर्नैर्निर्गतास्त्रिशब्दोऽद्भुलिभ्यो
 निर्लिंशाः कृपाणिकास्ताभिश्च च्छिन्नः सन्नस्तं सृत्यमुपाययौ ।
 जीवो जीवोपाधिर्देहाद्यभिमान इव ॥ ३० ॥ गजघटानां हस्ति-
 समूहानां कुम्भस्थलाग्रैश्च उच्चलितानुद्गीनान् । अभ्यासाच्चि-
 रपरिशीलनसंस्कारात् । अत्युद्वयनदर्शनसंस्कारोद्बोधितादित्या-
 शयः ॥ ३१ ॥ पुनः पूर्ववासनयेत्यर्थः । अबोधिनः अज्ञस्य ।
 शेषे षष्ठी ननु कर्तरि । 'नलोके'ति निषेधात् ॥ ३२ ॥
 संविद्या दर्शनेन । तदुद्बोधितवासनयेति यावत् ॥ ३३ ॥ योनि-
 ष्वन्यासु संलुठजित्युक्त्या । 'हंसः पद्मवने भूत्वा विध्यकच्छे-
 च वारणः । हरिणो देहयन्त्रादौ' इत्यादिवक्ष्यमाणदिशा अन्त-
 राले पद्माशीतिजन्मानि जातानीति गम्यते । तथा चात्रोक्तहं-
 सजन्मद्वयानन्तरं रुद्रतां गतः 'संसारशतपर्यन्ते रुद्रः सोऽहं
 व्यवस्थितः' इति वक्ष्यति । स कदाचित्पुनर्हंसजन्मप्राप्तोऽन्यै-
 र्हंसैः संगतो विजहारेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ तत्र हंससंसदि ब्राह्महंसगुणा-
 कारादिवर्णनश्रवणात् सशब्दा तधामसहिता तदाकारार्थवती
 चेति द्वेधापि ब्राह्महंसात्मिका संवित्, अहमपीदृशो ब्राह्महंसः
 स्यामिति वासना तत्र तस्मिन् जन्मनि तस्य हंसभूतस्यास्य
 भिक्षुमनसः प्राग् वर्णिताण्डरसस्थबर्हिंवत् पुष्टा । घनीभूतेत्यर्थः
 ॥ ३५ ॥ स तां ब्राह्महंसचिन्तामेव दृढं चरन्नावर्तयन् व्याधि-
 घुणाभिहतो मृतः पद्मजस्य सारसो लक्षणया हंसो वाहन-

तत्र बुद्धिरभूत्तस्य रुद्रोऽहमिति निश्चिता ।

प्रतिबिम्बवदादर्शे द्रागित्येव हि बिम्बिता ॥ २

मित्यर्थः ॥ ३६ ॥ तत्र तस्मिन् जन्मनि ब्रह्मलोके च अतिशयेन
 संततैर्विवेकवतः प्रजापतेर्विवेकवैराग्यतत्त्वज्ञानाद्युपदेशविलासैः
 सम्यग्बोधितः । अत एव विगता लौकिकवस्तुषु भोग्यवर्गेषु
 सारतादृष्टिर्यस्य तथाविधः सन् मुक्तो जीवन्मुक्तो भूत्वा
 स्थितः । एवं जीवतैव निरतिशयानन्दमोक्षसुखे लब्धे सति ।
 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः
 प्रविशन्ति परं पदम् ॥' इति श्रुतेर्युगान्तविधौ द्विपरार्धावसाने
 ब्रह्मणा सह विदेहमुक्तेन तेन हंसेन किमधिकं भावि साध्यम् ।
 एतत् सुधीभिर्विर्भाव्यं चिन्त्यम् । उ इति वितर्के । ज्ञानेनेहैव
 समूलानर्थनिवृत्तेर्निरतिशयानन्दावाप्तेश्च संपादितत्वात्तदतिरिक्त-
 पुरुषार्थाभावाच्चास्य कृतकृत्यत्वादित्यर्थः ॥ ३७ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे भिक्षुसंसारो-
 दाहरणं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

रुद्रभूतेन तेनात्र पूर्वदेहप्रबोधनम् ।

तेषां च शतरुद्रत्वमैकात्म्यं चेह वष्यते ॥ १ ॥

स हंसो लीलया अनायासेनैव वैरिश्चासननलिनीनाले लीलाः
 क्रीडास्तल्लामेन । पद्मजसामीप्यमुक्तिपदप्राप्तिबलेनेति यावत् ।
 कदाचित्पद्मजेन सह रुद्रपुरं गतो रुद्रं ददर्श ॥ १ ॥ तत्र
 रुद्रस्य ज्ञानयोगैश्वर्यादिसर्वगुणोत्कर्षदर्शनात्तस्य हंसस्याहमपि
 रुद्रहंभावनया रुद्रः स्यामिति निश्चिता बुद्धिरभूत् । ननु
 जीवन्मुक्तस्य निर्वासनस्य हंसस्य कथं रुद्रत्वस्पृहा । तद्भाव-
 नाभ्यासेन देहत्यागेन पुनरुद्रशरीरधारणं च । यदि तु 'भर-
 तस्य त्रिजन्मभिः' इति न्यायेन तस्य नानादेहभोग्यप्रारब्धशे-
 षादेहान्तरधारणं तर्हि रुद्रहंभावधारणवर्णनस्यानुपयोगप्रस-
 तात् रुद्रस्यैवतया तद्भावस्य कर्मफलत्वायोगाच्चेति चेत्तत्राह—

रुद्रभूतवपुस्तत्र तनुं तत्याज तामसौ ।
 गन्धः पवनतां गच्छन्कुसुमस्तवकं यथा ॥ ३
 स रुद्रो रुद्रभवने विजह्वार यथेच्छया ।
 तैस्तैः शिवपुराचारैर्गणकोटिगरिष्ठया ॥ ४
 रुद्रस्त्वनुत्तमज्ञानविलासैकतया तया ।
 स्वमशेषं च वृत्तान्तमपश्यत्प्राक्तनं धिया ॥ ५
 निरावरणविज्ञानवपुः स भगवांस्तदा ।
 उवाच स्वयमेकान्ते स्वस्वप्रशतविसितः ॥ ६
 अहो नु चित्रा मायेयं तता विश्वविमोहिनी ।
 असत्यैवापि सद्रूपा मरुभूमिषु वारिषत् ॥ ७
 इति प्रथममाज्ञातं चिद्योऽहं चित्तां गतः ।
 सर्वसंपन्नसर्वज्ञगगनादिविभावनात् ॥ ८
 यदृच्छया स्थितो जीवो भूततन्मात्ररक्षितः ।
 कस्मिंश्चिदभवत्सर्गे भिक्षुरक्षुभितोऽमितः ॥ ९
 तेनावयवबन्धेन बहिः खैरविहारिणी ।
 लीलाऽविलुलिताकारा यदा रम्येति भावतः ॥ १०
 सर्वभावोपमर्देन तदभ्यासवशात्तदा ।
 तामेव सोऽन्वभूद्भिक्षुस्त्यक्तवान्यं मननोदयम् ॥ ११
 चमत्कृतिश्चेतसि या रुढा सैव विजृम्भते ।
 वल्ली त्यजति नैदाघी पीतमप्यम्बु माधवम् ॥ १२
 स भिक्षुर्जीवतो भूत्वा जन्तुर्जरठवासनः ।

प्रतिविम्बवदिति । नायं मुख्यो रुद्रभावः किंतु प्रतिविम्ब-
 वत्सारूप्यमुक्ति सा च कर्मोपास्तिफलं भवत्येव—‘दिवो भूत्वा
 देवानप्येति’ इति श्रुतेरिति भावः ॥ २ ॥ नाप्येतज्जन्मान्तरं
 किंतु प्रारब्धशेषोपनीतयेच्छया योगिवन्मानसदेहान्तरकल्पनेन
 पूर्वदेहत्यागमात्रमिलाशयेनाह—रुद्रभूतवपुरिति ॥ ३ ॥ गण-
 कोटिषु गरिष्ठया श्रेष्ठया । गाणपत्यपदव्येति यावत् ॥ ४ ॥
 सारूप्यमुक्तौ जगत्संहारादिव्यापाराधिकाराभावेऽपि ज्ञानैश्वर्या-
 दिना प्रसिद्धरुद्रसाम्यमस्त्येवेत्याशयेनाह—रुद्ररित्विति । अनु-
 त्तमज्ञानैरैश्वर्यविलासैश्च प्रसिद्धरुद्रेणैकतया साम्येन ॥ ५ ॥
 स्वयमेकान्ते स्वमनस्यैवोवाच ॥ ६ ॥ आ इति सारणद्योतको
 निपातः । अहं प्रथमं प्राक्तनपारमार्थिकस्थित्या चिदेव ।
 ततो मायया चित्तां ‘बहु स्या प्रजायेय’ इति सर्गसंकल्प-
 वृत्तितां गत इत्यादीदमाज्ञातं स्मृतमित्यर्थः । तादृशसंकल्पादेवाहं
 सर्वसंपन्नः संश्रिदंशे सर्वज्ञो जडांशे गगनादिविभागानांश्च
 जात इत्यर्थः ॥ ८ ॥ ततो यदृच्छया व्यष्टिसमष्टिलिङ्गस्थूलदेहे
 विदाभासात्मनानुप्रवेशे भूते स्थूलैस्तन्मात्रे सूक्ष्मैश्च तैर्देहैस्ता-
 दात्म्यसंसर्गाध्यासेन तद्रतवासनावैविन्यैश्चित्रपट इव रक्षितः
 सन् जीवो भूत्वाहं स्थित इत्यर्थः । स च जीवः अनादिकाळ-
 जन्मपरम्परामनुभवन्कस्मिंश्चित्सर्गे वैराग्यसमाधिपाटवाद्भित्तो
 विषयैरक्षुभितो भिक्षुः परित्राडभवत् ॥ ९ ॥ आत्मज्ञानशून्यस्य
 तस्य रम्ये बाह्यवस्तुनीदं प्रहेणाहं प्रहेण वा चित्तनिरोधाभ्या-
 सपाटवेन पूर्वदेहादेरात्यन्तिकविस्मरणशक्त्युद्भवं दर्शयति—

तेषु देहेषु वध्नाम रन्ध्रेष्विव पिपीलिका ॥ १३
 आत्मनि द्विजभक्तत्वात्सोऽपश्यद्विजतामथ ।
 भावाभावविपर्यासे बलवानेव वर्धते ॥ १४
 सामन्ततामवापासौ विप्रः संततचिन्तिताम् ।
 सातत्येन रसः पीतः फलतामेति पादपे ॥ १५
 राज्यार्थं धर्मकार्याणां कर्तृत्वात्सोऽभवन्नृपः ।
 सकामुकतया राजा सुरस्त्रीत्वमवाप ह ॥ १६
 लोला लोचनलोमेन सा मृगी रसशालिनी ।
 बभूव वासनामोहश्चाहो दुःखाय जन्तुषु ॥ १७
 मृगी सा घत चित्तस्था बभूव विपिने लता ।
 अवश्यंभावि लवनं लतिकाऽनुबभूव ह ॥ १८
 अन्तःसंज्ञाचिराभ्यस्तं भ्रमरत्वमथात्मनि ।
 साऽपश्यत्सावमर्देन तदा तद्भावभाविता ॥ १९
 सवारणखुरक्षोदमनुभूयाथ भावितम् ।
 भूयोभूयः प्रवध्नाम मद्वासंस्तृप्तिसंभ्रमां ॥ २०
 संसारशतपर्यन्ते रुद्रः सोऽहमहं स्थितः ।
 असिन्संसारसंरम्भे स्वमनोमात्रसंभ्रमे ॥ २१
 एवमत्यन्तचित्रासु संसारारण्यभूमिषु ।
 बद्धीष्वहमतिभ्रान्तरत्त्वशून्यास्त्रिव भूरिशः ॥ २२
 कस्मिंश्चिदभवं सर्गे त्वहं जीवटनामकः ।
 कस्मिंश्चिद्वाह्यणश्रेष्ठः कस्मिंश्चिद्वसुधाधिपः ॥ २३

तेनेत्यादिना । तेन भिक्षुणा बद्धपद्मासनस्थैर्येण स्थूलदेहा-
 वयवानां हस्तपादादीनां लिङ्गदेहावयवानां प्राणेन्द्रियादीनां
 च बन्धेन निरोधेन बहिर्देवतादिविषये चित्तस्य यदा यैव
 मानसपूजादिलीला रम्येति भावतः । अविलुलिताकारा आरभ्यते
 तदा स तदभ्यासवशात्तामेव लीलां तत्तद्विरुद्धसर्वभावोपमर्दे-
 नान्वभूदिति परेणान्वयः ॥ १० ॥ ११ ॥ रुढया उत्तरचमत्कृत्या
 रुढया अपि पूर्वचमत्कृतेरुपमर्दे दृष्टान्तमाह—वल्लीति ।
 नैदाघी निदाघोष्णचमत्कृतिव्याप्ता वल्ली माधवं वसन्तकालिक
 पीतमप्यम्बु हरितभावचमत्कारं सजति क्षुण्णतीति यावत् ॥ १२ ॥
 तस्यैव सिद्धसाप्यशास्त्रीयमानसखेलनप्रवृत्तावनर्थपरम्परोदयो-
 ऽभूदित्याह—स इत्यादिना । तेषु देहेषु योनिषु । जरठवासन
 इत्यनेन शास्त्रीयवासनाशैथिल्ये अनाद्यनर्थवासनोद्भवोऽवश्यं-
 भावीति सूच्यते ॥ १३ ॥ तानेव सनिधितं प्रपश्यति—
 आत्मनीत्यादिना । भावस्योद्भूतस्य अभावस्यानुद्भूतस्य च
 विपर्यासे वैपरीत्ये साध्ये अभ्यासपाटवादिवलवानेव वासनाचयो
 वर्धते तज्जवति अन्यस्तिरोभवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥ धर्म-
 प्रचयसहितया कामुकतया ॥ १६ ॥ लोचनपदेन मृगलोचन-
 सौन्दर्यं लक्ष्यते तल्लोमेन लोला । रसशालिनी रक्षिता ॥ १७ ॥
 लवनं छेदनम् ॥ १८ ॥ सावमर्देन छेदनाद्यमर्दसहितलतादे-
 हेन ॥ १९ ॥ भूयोभूय इत्यनेनान्तरालिकानि वारणालिहंसा-
 दीनि नवतिजन्मानि स्मृतान्युच्यन्ते ॥ २० ॥ स भिक्षुरहं
 सचेव रुद्रोऽहमिति स्थितः ॥ २१ ॥ अशून्यासु सत्यास्त्रिव

हंसः पद्मवने भूत्वा विन्ध्यकच्छे च वारणः ।
 हरिणो देहयन्त्रादौ दशमहमिमां गतः ॥ २४
 अत्र वर्षसहस्राणि चतुर्युगशतानि च ।
 समतीतान्यनन्तानि दिनर्तुचरितानि च ॥ २५
 मम प्रथममेव प्राक्बलितस्य परात्पदात् ।
 तत्त्वज्ञानितया रुदो भिक्षुत्वे योग्यताक्रमः ॥ २६
 भूयोभूयोऽप्यतिक्रम्य गतश्च ब्रह्महंसताम् ।
 स एव प्राक्तनोऽभ्यासः फलितः संगमोदयात् ॥ २७
 दृढाभ्यासो य एवास्य जीवस्योदेत्यविघ्नतः ।
 सोऽत्यन्तमरसेनापि तमेवाश्वनुधावति ॥ २८
 काकतालीययोगेन कदाचित्साधुसंगमात् ।
 अशुभो भावनाभ्यासो जीवस्य विनिवर्तते ॥ २९
 संगत्यधिगतं चैष केवलं स्वोदयं प्रति ।
 प्राक्तनो वासनाभ्यासो हातुरुद्यममीक्षते ॥ ३०
 यच्चेहाभ्यस्यतेऽजस्रं यच्च देहान्तरेऽपि च ।
 जाग्रत्स्वप्नेष्वसदपि तत्सदित्यनुभूयते ॥ ३१
 तत्तदर्थक्रियाकारि दुःखाय च सुखाय च ।

उदेति भावनं तस्माद्भावनाभावनं जयः ॥ ३२
 भावनैव स्वमात्मानं देहोऽयमिति पश्यति ।
 असत्तामात्रविस्तारं गुल्मकत्वमिवाङ्कुरः ॥ ३३
 भावना प्रेक्ष्यमाणैषा न किञ्चिदिह शिष्यते ।
 न च विद्यत एवेति तद्भ्रमेणालमस्तु नः ॥ ३४
 भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
 असंवेदनमात्रैकं मार्जनायालमस्तु नः ॥ ३५
 असन्मयीस्वरूपैषा परं सत्तैव लालनी ।
 वर्तते चेद्विनोदाय किञ्चित्सा न करिष्यति ॥ ३६
 तत्तान्सर्वान्स्वसंसारानुत्थायालोकयाम्यहम् ।
 सम्यगालोकदानेन तेभ्य एकीकरोम्यहम् ॥ ३७
 इति संचिन्त्य रुदोऽसौ तं सर्गं प्रजगाम ह ।
 यत्र भिक्षुर्विहारस्थः सुप्तः शव इव स्थितः ॥ ३८
 बोधयित्वाथ तं भिक्षुं चेतसा चेतनेन च ।
 योजयामास सस्मार भिक्षुरप्यात्मनो भ्रमम् ॥ ३९
 रुद्रमात्मानमालोक्य जीवटादिमयं तथा ।
 बोधादविसयाहोऽपि स भिक्षुर्विसयं ययौ ॥ ४०

मातासु ॥ २२ ॥ २३ ॥ विन्ध्यकच्छे वारणो हरिणश्चाभवम् ।
 इत्थं देहयन्त्रे आदिपदान्मनोयन्त्रे चाहमिमां वर्णितरूपां दशां
 गतः ॥ २४ ॥ मम प्रथमसर्गकालादारभ्य परात्पदाब्धिदे-
 रसरूपाबलितस्य प्रच्युतस्यात्रास्मिन्संसारे वर्षसहस्राणि चतुर्युग-
 शतानि च अनन्तानि समतीतान्यनन्तानि दिनर्तुचरितानि
 च ॥ २५ ॥ मम भिक्षुत्वे तत्त्वज्ञानितया भवितुं यो योग्यता-
 क्रमः श्रवणमननाद्यभ्यासरूपो रुदोऽपि प्रमादादतिक्रम्य भूयो-
 भूयश्च जन्मपरंपरया ब्रह्महंसतां गतः स एव प्राक्तनोऽभ्यस्यत
 इत्यभ्यासक्रमो रुद्रसंगमोदयाद्वृत्ते तत्त्वज्ञानफलेन फलित
 इति द्वयोरन्वयः ॥ २६ ॥ २७ ॥ अत एव शास्त्रीयसाधना-
 भ्यासो ज्यायान् यो विरुद्धैरनेकजन्मभिर्यवहितोऽपि पुनरुद्भूय
 पुरुषार्थं साधयत्येवेत्याह—दृढाभ्यास इति । सः अत्यन्तमर-
 सेन जन्मसहस्रेण व्यवहितोऽपीति शेषः ॥ २८ ॥ तर्ह्यशुभोऽपि
 भावनाभ्यासस्तुल्ययुक्त्या शुभाभ्यासव्यवहितोऽपि पुनरुद्भवेत्-
 आह—काकतालीयेति ॥ २९ ॥ तर्ह्यशुभवासनावच्छुभ-
 वासनाभ्यासोऽपि स्वयमेव प्राक्तनसंस्कारादुद्भविष्यति तद्वला-
 देवायं पुरुषः अशुभवासनां हास्यति चेति पुरुषप्रयत्नविधानं
 व्यर्थमित्याशङ्क्याह—संगतीति । हातुर्दुर्वसनाजालं जिहासतः
 पुंस एष प्राक्तनः सद्वासनाभ्यासः कालान्तरे स्वोदयं प्रति
 सत्पुरुषप्रयत्नमीक्षते प्रतीक्षते, न तं विनोद्भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥
 स च यत्रोऽनेकजन्माभ्यस्त एव सद्वासनादार्ढ्येन दुर्वसनाक्षय-
 समर्थो भवति न सहस्रैवेत्याशयेनाह—यच्चेति । असदपीत्यनेन
 मिथ्यार्थविषयदेवतोपास्त्रादिप्रयत्नोऽपि यत्र जाग्रत्स्वप्नकालस-
 त्यातानुभवयोग्यदेवताभावादिकलसमर्थो भवति तत्र किं वाच्यं
 परमार्थवस्तुगोचरः श्रवणादिप्रयत्नः प्रमाणगम्यपरमार्थसत्य-

स्वभावलाभाय भवतीति सूच्यते ॥ ३१ ॥ अतएवानात्मविषयः
 शास्त्रीयोऽपि भावनाभ्यासो दुःखमिश्रितसुखायैवेति सर्वभाव-
 नोच्छेद एवास्यात्यन्तिकानर्थजयो नान्तरालिकदेवत्वादिप्राप्ति-
 रित्याशयेनाह—तत्तदिति । तां तां देवताशरीरतद्भोगार्थ-
 क्रियां करोति तच्छीलं भावनमनात्मचिन्तनम् ॥ ३२ ॥ किंचा-
 नात्मभावनाकृत एवायमनर्थः स कथं तद्भीरुणा सेव्य इत्या-
 शयेनाह—भावनैवेति ॥ ३३ ॥ सा तत्त्वदर्शनमात्रेण सूच्छेदे-
 त्याह—भावनेति । न वा तदुच्छेदः साध्योऽस्ति नित्योच्छिन्न-
 त्वादसत इत्याह—न चेति ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ अथवा मास्त्वसंवे-
 दनं तत्त्वज्ञानबाधितस्य संवेदनेऽपि बाधिताहेरिव मयजनना-
 सामर्थ्येनानर्थत्वाभावात्प्रच्युत लीलाहेतुत्वाच्चेत्याह—असन्म-
 यीति—बाधितत्वादसन्मयी अधिष्ठानसत्तास्वरूपैषा जगदा-
 कारभावना लालनी कौतुकहेतुरेव परं इति प्रातिभासिकसत्तया
 वर्तते चेत्तर्हि विनोदायैव । किञ्चिदणुमात्रमप्यनर्थं सा न
 करिष्यतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ तत्तस्मात्कौतुकवशादेवोत्थाय गत्वा
 सम्यगालोकस्य प्रबोधस्य दानेन तेभ्य उपाधिभ्यो विविक्तं
 स्वात्मानमेकीकरोमि ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ बोधयित्वा जागरूकं
 कृत्वा चेतसा स्वचित्तांशेन चित्तेन चेतनेन स्वांशविदाभासल-
 क्षणेन तत्त्वज्ञजीवेन च योजयामास । अत एव भिक्षोर्जागरणेन
 नास्मदादिस्वापप्रपञ्चस्येव जीवटादिद्वान्तशरीराणां तत्प्रपञ्चानां
 च निरनुवृत्तिबाधप्रसङ्गो निरस्तः । सर्वत्र रुद्रांशजीवप्रवेश-
 कल्पनेन तदीयसत्यसंकल्पवलेन विचित्रभोजकादृष्टशेषवलेन च
 बाधितानामपि सर्वेषामाकल्पान्तमनुवृत्तिसंभवादिति ॥ ३९ ॥
 बोधात्तत्त्वदर्शनात् । अल्पकाले चिरकालानेकजन्मानुभवलक्ष-
 णस्य स्वाप्नरुद्रशरीराद्यनुवृत्तिलक्षणस्य चाश्चर्यस्य दर्शनाद्विसयं

अथ रुद्रस्तथा मिश्रुर्द्वावेवोत्थाय जग्मतुः ।
 कापि जीवटसंसारं विदाकाशैककोणगम् ॥ ४१ ॥
 तत्र तद्भुवनं गत्वा तद्दीपं तच्च मण्डलम् ।
 विषयं तत्पुरं तच्च तं च पाणावसिग्रहम् ॥ ४२ ॥
 सुप्तं ददशतुर्नष्टसंज्ञं जीवटकं शवम् ।
 स्थापयित्वा वपुर्भावं प्रभान्तं भवभूमिषु ॥ ४३ ॥
 तं प्रबोध्य नियोज्याशु चेतसा चेतनेन च ।
 एकरूपास्त्रिरूपास्ते रुद्रजीवटमिश्रुकाः ॥ ४४ ॥
 बोधवन्तोऽप्यबुद्धाभा विस्मिता अप्यविस्मिताः ।
 बभुस्तूष्णींस्थिताश्चित्रकृताकारा इव क्षणम् ॥ ४५ ॥
 अथ जग्मुश्च ते सर्वे कचिद्भोमनि संस्थितम् ।
 विप्रसंसारमारब्धं परिभूतसंघुंशुमम् ॥ ४६ ॥
 ते तत्र भुवनं गत्वा तद्दीपं तच्च मण्डलम् ।
 विषयं तच्च तं ग्रामं प्रापुस्तं ब्राह्मणालयम् ॥ ४७ ॥
 विप्रं ते ददशुः सुप्तं कलत्रवलितं गृहे ।
 कण्ठे गृहीतं ब्राह्मण्या बहिर्जीवमिव स्थितम् ॥ ४८ ॥
 तं प्रबोध्य नियोज्याशु चेतसा चेतनेन च ।
 तत्स्थास्ते बहवोऽप्यन्ये सविस्मयविविस्मयाः ॥ ४९ ॥
 अथ जग्मुश्चिदाकाशकचितं चेतितं चित्तेः ।
 सामन्तं नृपसंसारं भ्रमणभोगसुन्दरम् ॥ ५० ॥
 ततस्ते भुवनं प्राप्तास्तद्दीपं तच्च मण्डलम् ।
 सामन्तं ददशुर्मत्तं सुप्तं पर्यङ्कपङ्कजे ॥ ५१ ॥
 हेमावदातं हेमाङ्ग्या निहितं कुचकोटरे ।
 भ्रमर्येवान्वितं पद्मकोशसुप्तं मधुवतम् ॥ ५२ ॥

ययौ ॥ ४० ॥ जीवटसंसारं ब्रह्माण्डान्तरम् ॥ ४१ ॥ तत्र
 लीलोपाख्यानवर्णितरीत्या प्रविश्य भुवन भूलोकं गत्वा तत्रापि
 तज्जीवटास्पदं द्वीपम् । विषयं मण्डलान्तर्गतदेशम् । तच्च
 गृहम् । तत्र गृहे पाणौ असेर्ग्रहणं ग्रहो यस्य तथाविधं तं
 जीवटं च ददशतुः ॥ ४२ ॥ शवमिव सुप्तम् । तत्रत्यजनानां
 स्वदर्शनायोग्यत्वाद्ब्रह्ममिश्रुवपुषो भावो जीवटबोधनाभिप्राय-
 स्तम् । रुद्रस्य या कोटिसूर्याभा प्रभा तदन्तं च सर्वं स्वप्रभावं
 स्थापयित्वा अन्तर्धानशक्त्या गोपयित्वा । भवभूमिषु जीवट-
 समुत्तिप्रदेशेषु ॥ ४३ ॥ चेतसेत्यादिपूर्ववत् । अन्तरेकरूपाः ।
 बह्विधिरूपा ॥ ४४ ॥ चित्रकृताकाराश्चित्रलिखिता इव ॥ ४५ ॥
 व्योमनि विदाकाशे संस्थितमध्यस्तम् । आरब्धं जीवटचित्त-
 परिणामरूपम् । परितो भूतैः प्राणिभिः संघुंशुमं सशब्दम्
 ॥ ४६ ॥ ते तत्रेत्यादि पूर्ववत् ॥ ४७ ॥ कलत्रं पोष्यवर्गस्त्रिद्वलितम् ।
 बहिर्गतं जीवमिव प्रियतमम् ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ चित्तेक्षित्ताकार-
 विवृतायाचेतितं परिणतिरूपम् ॥ ५० ॥ पर्यङ्कलक्षणे पङ्कजे
 ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ तत्स्थास्तत्र स्थिताः सन्तः ॥ ५४ ॥ चेतसा
 आतिवाहिकवारीरेणैव । अत्रान्तराले सुप्तानां संबोधनमात्रं
 मृतानां तु सजीवनमपि बोध्यम् ॥ ५५ ॥ ब्रह्मसंस्थां वैदा

कान्ताभिरभ्यावलितं मञ्जरीभिरिव हुमम् ।
 दीपजालकमध्यस्थं रत्नौघ इव काञ्चनम् ॥ ५३ ॥
 तं प्रबोध्य नियोज्याशु चेतसा चेतनेन च ।
 तत्स्थास्ते बहवोऽप्येके सविस्मयविविस्मयाः ॥ ५४ ॥
 अथ ते राजसंसारं जग्मुस्तत्र विबोध्य तम् ।
 चेतसैवमथान्यासु भ्रेमुः संसारभूमिषु ॥ ५५ ॥
 प्राप्य तां ब्रह्महंसेष्टां रुद्रतां सर्व एव ते ।
 समाजग्मुर्विरेजुश्च रुद्राणामुत्तमं शतम् ॥ ५६ ॥
 एकसंविद्धिन्नतनु चित्रचेष्टितवेष्टितम् ।
 एकरूपमनेकामं रूपं तत्पारमेश्वरम् ॥ ५७ ॥
 रुद्राणां तच्छतमथ निरावरणचिन्मथम् ।
 सर्वसंसारसंघन्धि स्थितं सर्वजगत्स्थितम् ॥ ५८ ॥
 शतरुद्रशतानीह सन्ति राम महान्ति हि ।
 एतदेकादशं विद्धि संसारं प्रतिसंस्थितम् ॥ ५९ ॥
 यो योऽमितः स जीवस्य संसारः समुदेति हि ।
 तत्राप्रबुद्धा जीवौघाः पश्यन्ति न परस्परम् ॥ ६० ॥
 मिलन्ति हि मनोबुद्धास्तरङ्गा इव वारिधौ ।
 अप्रबुद्धास्तु तन्मात्रनिष्ठा लोष्टवदास्थिताः ॥ ६१ ॥
 यथा द्रवत्वाद्दीच्यन्वु त्वन्योन्यं संमिलत्यलम् ।
 तथा प्रबुद्धा जीवौघा मिथश्चित्त्वान्मिलन्त्यलम् ॥ ६२ ॥
 प्रत्येकमुदिते चैते संसारे जीवराशयः ।
 चिद्धातोः सर्वगत्वेन त्वसत्याः सत्यवस्थिताः ॥ ६३ ॥
 यद्यदात्मन्यते भूमेस्तत्तन्नाम यथा नमः ।
 सर्वगायाश्चित्तेर्यद्यदुह्यते तत्तथैव चित् ॥ ६४ ॥

चित्तपरिणतिम् । रुद्रचित्तचेतनावैरेव चित्तचेतनवत्त्वाज्ज्ञानै-
 श्वर्यसंपन्नत्वाच्चेतनम् । ते सर्वे देहा रुद्राणां शतम् ॥ ५६ ॥
 तदेवाह—एकेति ॥ ५७ ॥ प्रातिभासिकसर्वसंसारस्य सवन्धि
 आधारभूतम् । सर्वजगदन्तश्च स्वयमन्तर्यामितया स्थितम्
 ॥ ५८ ॥ ईदृश्येव 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्'
 इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धानां रुद्राणां स्थितिरित्याशयेनाह—शतेति ।
 मिश्रुर्द्रकल्पितशतजगता मध्ये एतत्त्वां मा च प्रति अनुभूय-
 मानतया संस्थितं जगत् एकादशं आमररुद्रसंसारं विद्धि ॥ ५९ ॥
 ननु मिश्रुस्वप्नसंसारः सर्वेऽपि सर्वैः कृतो नानुभूयन्ते तत्राह—
 यो य इति । स उक्तलक्षणे जीवस्य यो यः संसारः अमितः
 समुदेति । तत्र तेषु संसारेषु ॥ ६० ॥ मनसा बुद्धास्त्ववि-
 दस्तु तैर्जीवैः सह मिलन्तीति सर्वं पश्यन्तीत्याशयः ॥ ६१ ॥
 मेलने च हेतुः स्थूलस्यापगम इत्याशयेनाह—यथेति ॥ ६२ ॥
 सर्वजीवतत्त्वभूतब्रह्मैक्यलाभ एव सर्वैस्तदीयकल्पितरूपात्मक-
 जीवैर्मिलनमित्याशयेनाह—प्रत्येकमिति । चिद्धातोश्चित्तसारस्य
 ब्रह्मणः ॥ ६३ ॥ उह्यते अपोह्यते तत्त्वदर्शनेन सत्यत्वा-
 दपनीयते तत्तथा नभोवदेव चित्परिविष्यते ॥ ६४ ॥

सर्वप्रपञ्चभूतानि यथानुभवसीद हि ।
 तथेह सर्वभूतात्म चित्त्वं सर्वत्र विद्यते ॥ ६५
 यच्छालभजिका वृक्षे शैले श्वश्रे गतेऽन्तकम् ।
 प्रेक्ष्यते तद्वदेकात्मा तथा चित्ति जगत्स्थितम् ॥ ६६
 अवेदने परे शुद्धे वेदनं यज्जगत्स्थितम् ।
 अकारणमचैतन्यं शून्यत्वेन यथा नभः ॥ ६७
 विद्यते वेदनं दृश्यबन्धो मोक्षस्त्ववेदनम् ।
 यदेव रुचिरं ते स्यात्तदेवाशु हृदीकुरु ॥ ६८
 सर्गासर्गौ बन्धमोक्षौ वेदनावेदनात्मकौ ।
 अभिन्नौ बोधनाच्चोभौ यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६९
 असंविच्छेस्तु यन्नास्ति तन्नाशे का कदर्थना ।
 तूष्णीभावेन यत्प्राप्यं प्राप्तमेवाशु विद्धि तत् ॥ ७०
 यद्वै वेदनमात्रात्म तदह्मावेदनक्षयम् ।

तद्वेदनं वेदनाया यदिष्टं तत्समाचरेत् ॥ ७१
 वीचिर्यथाम्भसः स्पन्दो जगच्चैव तथा चितौ ।
 एतावन्मात्र एवात्र भेदो यद्रघुनन्दन ॥ ७२
 देशकालस्वरूपेषु सत्सु वीच्यादिताम्भसि ।
 जगदादौ तु देशाद्या असन्तो जगतीक्षिताः ॥ ७३
 आभास्वरं त्रिजगदित्यतिभाति भास्व-
 त्त्वं वेदनं विदनमेव चित्तेः स्वरूपम् ।
 वाचि स्थितं भवति चैतदुपोह भेद-
 क्लिष्टं प्रशान्तवचनस्तु शिवः परमात्मा ॥ ७४
 संवेदनं सर्वं इतीह शब्दा-
 दर्थादभिन्नौ न कदाचिदेतौ ।
 वीच्यम्भसी द्वे इति नोचितोक्ति-
 र्यस्याज्ञतायां त्विदमेव युक्तम् ॥ ७५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० जीवटोपाख्याने स्वप्नशतरुद्रीयकथनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ६३

चतुःषष्टितमः सर्गः ६४

श्रीराम उवाच ।

जीवटब्राह्मणादीनां हंसादीनां मुनीश्वर ।
 भिक्षुखमशरीराणां संपन्नं किमतः परम् ॥ १

ममस इव चितः सर्वत्र सत्त्वमनुभावयति—सर्वेति । सर्वे
 प्रपञ्चा विशेषविभागास्तथुक्तानि पञ्चभूतानि यथा सर्वत्रानुभवसि
 तथा सर्वभूतात्मभूतसत्त्वरूपं चित्त्वमपि सर्वत्र विद्यते तदनुभवे-
 त्यर्थः ॥ ६५ ॥ तस्य सर्वगतत्वे तत्र च सर्वकल्पने दृष्टान्तमाह—
 यदिति । यद्यथा वृक्षे काष्ठे शैले शिलास्तम्भे वा टङ्कच्छेदेन
 शिल्पिभिस्तत्तदाकारप्रतिमानुकूलश्वश्रे कृते अन्तर्कं पुरुषहस्ति-
 तुरगाद्याकारपरिच्छेदं गते सति तदेव पुरुषादिविचित्ररूपा
 शालभजिका प्रेक्ष्यते तद्वदेकात्मा सद्रूपः सर्वाकारः प्रेक्ष्यते,
 चिद्रूपे तस्मिन् जगत्तथा स्थितं प्रेक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ६६ ॥ वृक्षादौ
 टङ्कध्वप्रकृतः परिच्छेद इह तु किंकृतः स तत्राह—अवेदने
 इति । अवेदने अविषये परे शुद्धे यद्वेदनं विषयतापादनमन्यथा-
 ज्ञानं तदेव जगदिति परिच्छेदनमित्तं स्थितमित्यर्थः । चिदेक-
 रसे ब्रह्मणि यज्जगदाकारमचैतन्यं जाड्यं तदकारणं निर्निमित्तमे-
 वेति नभ इव शून्यत्वेन स्थितम् ॥ ६७ ॥ तथा च तादृशवेदनमे-
 वास्य दृश्यबन्धस्तन्निवृत्तिरेव मोक्ष इति फलितमित्याह—विद्यत
 इति ॥ ६८ ॥ बोधनात्तदुभयसाक्षिणः ॥ ६९ ॥ असंविच्छेददर्शन-
 मात्राद्यन्नास्ति तस्य अनर्थस्य नाशे का कदर्थना आयासः ।
 यच्च सुखं तूष्णीभावेन प्राप्यं तदाशु प्राप्तमेव । तत्राप्यायासा-
 पेक्षा नास्तीत्यर्थः ॥ ७० ॥ यज्जगद्रूपं वेदनमात्रात्म तत् अवे-
 दनमदर्शनमेव क्षयो यस्य तथाविधम् । तत्तस्या जगद्वेदनाया
 यद्वेदनं साक्षिचैतन्यं तत्प्राप्तमेवेत्यनुपज्जते—यदिष्टमिति ।
 पूर्ववत् ॥ ७१ ॥ दृष्टान्तादार्थान्तिके यद्वैलक्षण्यं तद्दर्शयति—

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

रुद्रेण सह संभूय प्रबुद्धाः सर्व एव ते ।
 मिथश्च दृष्टसंसारा रुद्रांशाः सुखिनः स्थिताः ॥ २

एतावन्मात्र इति । भेदो वैलक्षण्यम् ॥ ७२ ॥ तदेवाह—
 देशेति । जगत आदौ विवर्तोपादाने ब्रह्मणि देशाद्याः पूर्वम-
 सन्तः पश्चादारोप्यमाणाः कार्यभूतजगत्कोटावेवेक्षिताः ॥ ७३ ॥
 मास्वत्स्वप्रकाशं यत्स्वमात्मरूपं वेदनं चैतन्यं तदेवाविद्यावरणा-
 दामास्वरमीषत्प्रकाशमिव संपन्नं त्रिजगदित्यतिक्रम्य स्वरूपम-
 न्यथा भाति । चित्तेऽधिद्रूपस्य तस्य पारमार्थिकं स्वरूपं विदनं
 ज्ञानमेव न जडम् । एतद्वेदक्लिष्टं त्रिजगत् । 'अज्ञेन सोम्य
 शुंगेनाऽपोमूलमन्विच्छ' इत्यादिश्रुतिदर्शितोपायैरुपोह उप-
 संहर । तथोपसंहृतं तु तत् 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इति
 श्रुतिदर्शितदिशा वाचि वाङ्मात्रे स्थितं भवति । प्रशान्तं वचनं
 वाङ्मात्रमपि यत्र तथाविधस्तु परः शिवः परमात्मेत्यर्थः ॥ ७४ ॥
 एवं संवेदनमात्मचैतन्यं सर्वो जगदिति च शब्दादर्थादभिन्नौ
 संपन्नौ न कदाचिदेतौ द्वौ स्तः । यस्योक्तरूपस्यात्मनः अज्ञता-
 यामिदमेव युक्तं, न तु ज्ञतायामित्यर्थः ॥ ७५ ॥ इति श्रीवासि-
 ष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे स्वप्नशत-
 रुद्रीयकथनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

तैस्त्रैर्देहैः पुनस्त्रेषां शेषमोगोऽत्र वर्ण्यते ।

ततो रुद्रगणत्वाप्तिः संकल्पस्थिरताक्रमः ॥ १ ॥

भिक्षादिरुद्रान्तदेहेष्वान्तरालिकाष्टनवतिदेहेषु भोजकप्रार-
 ण्यशेषाः सन्ति न वेति सदेहात्तद्वृत्तान्तं राम पृच्छति—जीव-
 टेति । किं संपन्नं स्वप्नशरीरवद्वाध उताग्रे व्यवहारोऽपि संपन्न
 इत्यर्थः ॥ १ ॥ ते रुद्रांशा मिथश्च दृष्टपूर्वोत्तरसंसाराः सन्तः

तेन रुद्रेण तां मायामवलोक्य यथोदिताम् ।
स्वांशास्तामेव संसारस्थितिं ते प्रेषिताः पुनः ॥ ३
श्रीरुद्र उवाच ।

गच्छतांशु निजं स्थानं तत्र भुक्त्वा कलत्रकैः ।
कंचित्कालं समं भोगान्मत्सकारामुपैष्यथ ॥ ४
भविष्यथ मदंशा ये गणा मत्पुरभूषणाः ।
ततो महाप्रलयतो यास्यामस्तत्परं पदम् ॥ ५
श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा भगवान् रुद्रस्तेषां सोऽन्तरधीयत ।
अन्त्यसंसारसंख्यानं रुद्राणां मध्यमाययौ ॥ ६
प्रययुः स्वास्पदं तेऽपि जीवटब्राह्मणादयः ।
स्वकलत्रैः समं देहं क्षपयित्वाथ कालतः ॥ ७
रुद्रलोकं समासाद्य भविष्यन्ति गणोत्तमाः ।
कदाचिद्योमि दृश्यन्ते तारकाकारकारिणः ॥ ८
श्रीराम उवाच ।

भिक्षुसंकल्परूपास्ते जीवटब्राह्मणादयः ।
कथं सत्यत्वमायाताः संकल्पार्थे क सत्यता ॥ ९
श्रीवसिष्ठ उवाच ।

संकल्पसत्यता त्वंशे त्यज संकल्पसत्यताम् ।
तत्र यन्नास्ति तन्नास्ति यतः सर्वात्म तत्पदम् ॥ १०
यत्स्वप्ने दृश्यते यच्च संकल्पैरवलोक्यते ।
तत्तथा विद्यते तत्र सर्वकालं तदात्मकम् ॥ ११

कृतकृत्यात्वाद्युखिनः स्थिता ॥ २ ॥ तेन कौतुकदर्शनाय
प्रथमं प्रवृत्तेन रुद्रेण । ता जीवटादिसंसारस्थितिमेव ॥ ३ ॥
॥ ४ ॥ महाप्रलयतो द्विपरार्धावसानतः प्रारब्धशये भोजकावि-
द्यालेशेन सह । जगत्प्रतिभासक्यतो वा ॥ ५ ॥ तेषां सर्वेषां
रुद्राणां तदानीमन्यरुद्रसंसारस्य यत्संख्यानं दर्शनं यत्साक्षि-
चैतन्यमभूतन्मध्यमान्तरालिकं जीवटादिसंसारं प्रत्येकमाययौ
स्वप्नसाक्षीव जागरमित्यर्थः ॥ ६ ॥ ७ ॥ भविष्यन्तीत्युक्तेर्व-
सिष्ठरामसवादकाले ते स्वस्वससारे एव स्थिता इति गम्यते
॥ ८ ॥ आम्बुधरा- पृष्ठार्थसैव विशेषजिज्ञासया प्रश्नः स्पष्टः
॥ ९ ॥ अशे अधिष्ठानविदश्च एव । अभ्यस्ताशे तु सकल्पस्य
सत्यता विवेकेन त्यज । तत्र सदसत्सवलितसांकल्पिकार्थे
यत्सदतिरिक्तरूपं पूर्वोत्तरकालयोर्नास्ति तदेव नास्ति तत्पदम-
धिष्ठानं तु यतः सर्वात्म ततोऽस्त्वेषेति तत्सत्यैव भोजकादृष्टो-
द्घोषितसांकल्पिकार्थस्यार्थक्रियासामर्थ्यमित्यर्थः ॥ १० ॥ सर्व-
कालं यत्सदधिष्ठानं तदात्मकं भूत्वा तद्देशकालात्मतया तत्र
सदा विद्यते ॥ ११ ॥ गत्वा देशान्तरं यथेतद्विद्वृणोति—
देशादिति । यथा मथुरादिदेशादेशान्तरं पाटलिपुत्रादि तत्र
विद्यमानमपि गतिर्गमनमात्मा स्वस्थ मनः आदिपदाद्यष्टुरादि-
पाटवमहरादिकालस्त्वद्विवेकोपदेष्टा पुरुष इत्यादिकं कारणकलापं
विना न लभ्यते तथा स्वप्नोऽपि तत्र जाग्रत्सुषुप्तयोः स्वप्नान्तरे
वा न लभ्यते इति परेणान्वयः ॥ १२ ॥ चितः कोशे कोश-

तद्देशकालात्मतया गत्वा देशान्तरं यथा ।
देशादेशान्तरं यद्वन्न गत्यात्मादिकं विना ॥ १२
न लभ्यते तथा स्वप्नो विना तत्र न लभ्यते ।
सर्वमस्ति चितः कोशे यद्यथा लोकयत्यसौ ॥ १३
चित्तथा तद्वामोति सर्वात्मत्वादविक्षतम् ।
संकल्पः स्वप्रकस्त्वङ्ग यथा च दशयाप्यते ॥ १४
परमभ्यासयोगाभ्यां विना त्वेतन्न लभ्यते ।
येषां तु योगविज्ञानदृष्टयः फलिताः स्थिताः ॥ १५
सर्वं सर्वत्र पश्यन्ति ते यतः शंकरादयः ।
इदमग्रगतं वस्तु तथा संकल्पितं मया ॥ १६
नाप्यं यतोभयभ्रंशं स प्राप्नोत्युभयाश्रयात् ।
सर्वं ह्याभिमतं कार्यमेकनिष्ठस्य सिद्ध्यति ॥ १७
दक्षिणां ककुभं गच्छन्कः प्राप्नोत्युत्तरां दिशम् ।
संकल्पार्थपरैरेव संकल्पार्थोऽवगम्यते ॥ १८
अग्रस्थार्थपरैरग्रे संस्थितोर्थोऽवगम्यते ।
अग्रस्थे बुद्धिसंस्थे यः संकल्पं प्राप्नुमिच्छति ॥ १९
तदासाचेकनिष्ठत्वाभावात्तन्नाशयेद्भयम् ।
तस्मादेकार्थनिष्ठत्वाद्भिक्षुजीवेन रुद्रताम् ॥ २०
प्राप्य सर्वात्मना लब्धं तथा सर्वं तथास्थितेः ।
भिक्षुसंकल्पजीवास्ते प्रत्येकं तज्जगत्पृथक् ॥ २१
पश्यन्ति चैते नान्योन्यं रुद्रज्ञानादृते ततः ।
अप्रबुद्धाः प्रजायन्ते जीवा जीवान्तबोधिनाः ॥ २२

सदृशे सर्ववासनाकरे अज्ञाने यथा यथा आलोकयति भोजका-
दृष्टोद्घोषितवासनाभि पर्यालोचयति तथा तथा चित् अविक्षत
समग्रं तद्विषयरूपं दृश्यतया आप्नोति ॥ १३ ॥ सर्वस्य स्वप्न-
संकल्पदेर्युगपदर्शने तर्हि क उपायस्तमाह—संकल्प इति ।
आप्यते तां दशा ऋषिर्वति शेषः ॥ १४ ॥ परमिति । अभ्या-
सयोगपरिपाकदशैव सैत्यर्थः । तत्रेश्वराणां विनाप्यभ्यासं
स्वत एव योगसिद्धिफलमस्तीति विशेषमाह—येषां त्विति
॥ १५ ॥ अभ्यासयोगयोः सकल्पितार्थलाभे तदैकाग्र्यसंपाद-
कत्वेनैवोपयोगः । ऐकाग्र्याभावे तु चित्तमनेकार्थव्यासकमेक-
मपि स्वसांकल्पिकमर्थं न लभत इत्यसत्यसंकल्पतास्य सपञ्चे-
त्याशयेनाह—इदमित्यादिना । मया ऐकाग्र्यशून्येन न आप्यं
प्राप्तुं शक्यं यतश्चित्तं सकल्पिततदन्योभयाश्रयादुभयभ्रंशं
प्राप्नोति नैकत्र स्थिरीभवतीत्युत्तरेणान्वयः ॥ १६ ॥ यत इत्यत्र
यलोपस्थासिद्धत्वात्संधिरार्थः । उक्तमेवार्थं सामान्योक्तिभिः
समर्थयति—सर्वमित्यादिना ॥ १७ ॥ ककुभं दिशम् ॥ १८ ॥
॥ १९ ॥ प्रवृत्ते योजयति—तस्मादिति ॥ २० ॥ तथा
प्रसिद्धरुद्रवदेव सार्वज्ञ्येन सर्वं लब्धम् । अस्यापि तथा स्थितेः ।
ते आन्तरालिका जीवटादयोऽष्टनवतिभिक्षुसंकल्पजीवा प्रत्येकं
यतः स्थितास्तज्जगन् पृथक्पृथक् ततोऽन्योन्यं न पश्यन्ति
॥ २१ ॥ तर्हि ते रुद्रसंनिधौ कथमन्योन्यं दृष्टवन्तस्तत्राह—
अप्रबुद्धा इति । जीवानामन्ताः संसारमेदास्तद्बोधिनास्तस्य

तदिच्छयाशु तद्रूपा बहुरूपाश्च ते इह ।
 इह विद्याधरोऽहं स्यामहं स्यामिह पण्डितः ॥ २३
 इत्येकध्यानसाफल्यं दृष्टान्तोऽस्यां क्रियास्थितौ ।
 एकत्वं च बहुत्वं च मौख्यं पाण्डित्यमेव वा ॥ २४
 देवत्वं मानुषत्वं च देशकालक्रियाक्रमैः ।
 तुल्यकालमलं कर्तुं धारणाध्यानयत्नतः ॥ २५
 सर्वशक्तयः स्वरूपत्वाज्जीवस्यास्त्येकशक्तिता ।
 अनन्तश्चान्तपृक्तश्च स्वभावोऽस्य स्वभावतः ॥ २६
 सविकासः ससंकोचोऽहिंसस्तेन चिदात्मनः ।
 यदिच्छति तदस्याङ्गं जन्तुः संपद्यते स्वयम् ॥ २७
 स्वयं संपादितैरेभिर्देशकालक्रियाक्रमैः ।
 योगिन्यो योगिनश्चेह तिष्ठन्त्यन्यत्र यत्र च ॥ २८
 इह वामुत्र भोगेन दृष्टमेतदनेकशः ।
 कार्तवीर्यो गृहे तिष्ठन्सर्वेषां भयदोऽभवत् ॥ २९
 विष्णुः क्षीरोदधौ तिष्ठन्जायते पुरुषो भुवि ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामा० वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० गणत्वप्राप्तिर्नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

स्वप्नशतरुद्रीयं समाप्तम् ।

रुद्रयेच्छया प्रजायन्ते ॥ २२ ॥ तथा तद्रूपा बहुरूपाश्च ते
 तदिच्छयैव जायन्ते इत्यर्थः । प्रातिस्विकसंसारदर्शने तु तेषा-
 मेवेच्छा हेतुरित्याह—इहेति ॥ २३ ॥ अन्येषामपि जीवाना-
 मस्यां प्रसिद्धायां क्रियास्थितौ तत्तद्व्यवहारव्यवस्थायामयं भिक्षु-
 संकल्पसर्ग एव दृष्टान्तः । अयं जीवो धारणाध्यानयत्नानुसारेण
 यद्यदिष्टं तत्तत्सर्वं क्रमेण युगपच्च यथेच्छं कर्तुं समर्थ इत्याह—
 एकत्वमित्यादिना ॥ २४ ॥ देशकालक्रियाक्रमैस्तुल्यकालं वा
 कर्तुमलं समर्थः ॥ २५ ॥ तत्र हेतुमाह—सर्वेति । यतोऽयं
 जीवः परमार्थतोऽनन्तः अतोऽस्य सर्वशक्तयः सन्ति यतश्चाय-
 मेकैकदेहाभिमानलक्षणेनान्तेन परिच्छेदेन पृक्तः अतोऽस्यैक-
 कार्यमात्रशक्तितास्ति । शक्तिस्वभावानुसारतश्च तत्तत्कार्यस्वभा-
 वोऽस्य व्यवस्थित इत्यर्थः ॥ २६ ॥ अत एव प्राणिकर्मानुसारेण
 स्वर्गनरकाद्यनर्थसहस्रसर्गात्मना सविकासः सर्वप्राणिसंहारेण
 प्रलयात्मना च ससंकोचो जगदीश्वरः अहिंसो हिंसाप्रयुक्त-
 वैषम्यनैर्घृण्यदोषशून्यः, यतोऽयं जन्तुर्जीवसहः स्वयं यदिच्छति
 तदेव स्वेच्छानुसारादस्य चिदात्मन ईश्वरस्य संकल्पात्संपद्यते
 न तेन किञ्चित्कस्यचिदनिष्टं कियत इत्यर्थः । तथाच भगवतो
 बादरायणस्य सूत्रम् 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' इति ॥ २७ ॥
 इदानीं धारणाध्यानयत्नफलमैच्छिकीमेकधानेकधावस्थितिमुदा-
 हरणेन प्रपञ्चयति—स्वयं संपादितैरित्यादिना । तत्तद्देशका-
 लानुसारिप्राण्यनुग्रहनिग्रहकोडायाधिकारिकक्रियाक्रमैः । इह
 स्वगृहे अन्यत्र यत्रेच्छन्ति तत्र च नानादेहादिकल्पनया
 तिष्ठन्ति ॥ २८ ॥ इह लोके अमुत्र स्वर्गादिषु वा योगिनो युग-
 पत्प्रारब्धभोगेन तिष्ठन्तीति पूर्वणान्वयः । एतदेवंविधं योगिनां
 चरित्रम् । सर्वेषां घोरादीनां तत्र तत्र संनिधानेन भयदः शास्ता

पश्वर्थं यान्ति तिष्ठन्त्यो योगिन्यो योगिनीगणे ॥ ३०
 शक्रः स्वर्गासने तिष्ठन्त्याति यज्ञार्थमुर्विकाम् ।
 सहस्रमेकं भवति तथा चास्मिन्ननार्दनः ॥ ३१
 नृणां शतानि भक्तानां मानुष्यं याति तन्नतैः ।
 एकः सहस्रं भवति तथा चैष जनार्दनः ॥ ३२
 अंशावतारलीलाभिः कुरुते जागतीं स्थितिम् ।
 एकः कान्तासहस्राणि तुल्यकालं निमेषवत् ॥ ३३
 एवं ते भिक्षुसंकल्पा जीवद्विब्राह्मणादयः ।
 रुद्रविज्ञानवशतः स्वसंकल्पपुरीं गताः ॥ ३४
 तत्र भुक्त्वा चिरं भोगान्प्राप्य रुद्रपुरं ततः ।
 गणतामावसन्तस्ते स्थास्यन्ति सपरिच्छदाः ॥ ३५
 नित्यं प्रफुल्लनवकल्पलतालयेषु
 रुद्रेण साकमुत्तरत्नगुलुच्छकेषु ।
 नानाजगत्सु च तदा शिवपत्तनेषु
 विद्याधरीष्वमरमौलिधराश्च रेजुः ॥ ३६

अभवत् । तच्च भगवतो दत्तात्रेयस्य प्रसादाल्लब्धं योगसामर्थ्यं
 तस्य मार्कण्डेयपुराणादौ प्रसिद्धम् ॥ २९ ॥ जायते जन्मा-
 दिना व्यवहरति । स्वर्लोके योगिनीगणमध्ये तिष्ठन्त्य एव
 भूलोके पशुपेयाद्युपहारग्रहणार्थं यान्ति ॥ ३० ॥ अस्मिन्नामा-
 वतारे जनार्दनो जनस्थाने चतुर्दशसहस्रराक्षसवधाय सहस्रं
 संपन्नः पुनरेको भवति ॥ ३१ ॥ तेषां भक्तानां नर्तनमस्कारा-
 दिना प्रार्थनेः । भक्तानां नृणां शतानि अनुग्रहीतुं पुनर्यदुकुले
 मानुष्यं याति । तत्र च कुरुसभायां दुर्योधनादिव्यामोहनायैकः
 सहस्रं भवति ॥ ३२ ॥ कान्तानां सहस्राणि षोडशसहस्रं तुल्य-
 कालमुपभुङ्क्ते इति शेषः । तत्र दृष्टान्तः—निमेषवदिति ।
 यथा निमी राजर्षिर्विदेहतामापन्नः सर्वप्राणिनां नेत्रेषु वसन्
 युगपन्निमेषणानि करोति तद्वत् ॥ ३३ ॥ वर्णितरीत्या प्रकृ-
 तेऽपि बोध्यमित्याह—एवमिति । रुद्रस्य विज्ञानमभ्यनुज्ञा
 तद्वद्यतः । तत्संकल्पानुसारिण्येव रुद्रस्याभ्यनुज्ञा तद्वलादित्यर्थः
 ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ तेषामपि तदा स्वगृहे सर्वभुवनेषु च बहु-
 देहकल्पनेनैच्छिकविहारो युगपत्प्रवृत्त इत्याह—नित्यमिति ।
 ते गणा उत्तरत्नगुलुच्छकेषु बहुरत्नस्तम्बकेषु प्रफुल्लनवकल्पलता-
 गृहेषु रुद्रेण साकं तथा नानाविधेषु जगत्सु भुवनेषु तथा
 शिवेषु कैलासवैकुण्ठजललोकादिपत्तनेषु नगरेषु च विहरन्तो
 गीतवादित्रनाट्यादिकुशलासु विद्याधरीषु मध्ये अमरमौलिषु
 ध्रियन्ते सर्वत्र प्रणम्यन्त इत्यमरमौलिधराः । अमरं मरणनिवा-
 रकममृतपूर्णं चन्द्रं मौलौ धारयन्तीति वा अमरमौलिधराः
 सन्तो रेजुर्बभूवुः ॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे गणत्वप्राप्तिर्नाम चतुःषष्टितमः
 सर्गः ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्ठितमः सर्गः ६५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ईषद्दृष्टो यथा तेन भिक्षुणा चेतसि भ्रमः ।
भूतं प्रयत्नमेवैष पृथक्कृत्वा सुपश्यति ॥
सर्वस्यामांसजीवस्य मृतिजन्ममयी स्थितिः ।
भवत्येवं चिदाकाशरूपिण्येवाकृतिं गता ॥
पृथक्कृत्यैक्यमभ्येति स्वात्मा संसारखण्डकम् ।
सर्व एव मृतो जन्तुः पृथक्स्वप्ननिभात्मकम् ॥
एवंतत्स्वरूपोऽपि देही चामोक्षमाकुलः ।
जीवयूथं मया तुभ्यं कथितं कथयाऽनया ॥
परात्प्रस्पन्दितात्मेति न भिक्षू राम केवलम् ।
मोहान्मोहान्तरं याति जीवोऽहरहरेव नः ॥
पर्वताग्रपरिभ्रष्टो ह्यधोऽपलो यथा ।
परमात्मपरिभ्रष्टो जीवः स्वप्नमिमं दृढम् ॥
पश्यत्यस्मादपि स्वप्नाद्याति स्वप्नान्तरं पुनः ।
स्वप्नात्स्वप्ने विनिपतन्मृषैवेदं दृढं किल ॥
परिपश्यति जीवोऽन्तर्मायया जर्जरीकृतः ।
कचित्क्रेतचिदेवेह कदाचिदपि वा स्वयम् ॥
देहनाम्नोऽहमित्यन्तो मुच्यते स्वं प्रपद्यते ।

श्रीराम उवाच ।

अहो नु विषमो मोहो जीवस्यास्योपजायते ॥
यथा सुप्तस्य स्तोकेन नानाकारविकारया ।

भिक्षुन्यायोऽत्र सर्वेषु जीवेषु सम उच्यते ।

शत्रावन्वेष्टया भिक्षोः समोत्थानं च वर्ण्यते ॥ १ ॥

यथावर्णितप्रकारस्तेन भिक्षुणा स्वचेतसि यो भ्रम ईषद्दृष्टः
आपाततश्चिन्तितः एष भिक्षुस्तं भ्रमं स्वं भूतं प्राक्तनं
शुभाशुभकर्मलक्षणं प्रयत्नमेव फलावस्थायां पृथक् स्वात्मनो
व्यतिरिक्तमिव कृत्वा सुषु स्पष्टं प्रपश्यति । नाणमात्रमप्यन्यद-
स्तीत्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ एवमेव सर्वेषामपि जीवानां मरणका-
लोद्भूतं स्वकर्मैव स्वप्न इव जगदात्मना आमोक्षं भातीति बोध्य-
मित्याह—सर्व एवेति ॥ ३ ॥ एवं भिक्षवात्मेव तत्तत्परि-
च्छिन्नं स्वरूपं यस्य तथाविधोऽपि देही देहपरिच्छिन्न इव
आमोक्षमाकुलस्तिष्ठतीत्यर्थः । अनया भिक्षुकथया ॥ ४ ॥ परा-
त्पूर्णस्वरूपात्प्रस्पन्दितात्मा सर्वोऽपि जीव इति एवंप्रकार एव
च केवलं भिक्षुरित्यर्थः । अहरहः प्रतिदिनं स्वप्ने नः अनुभव-
सिद्धमेवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ इदं जन्मादिदुःखं कचित्केनचि-
द्विमित्तेन परिपश्यतीति परेणान्वयः ॥ ७ ॥ ८ ॥ इदानीं
बन्धमोक्षदत्तं चक्षिष्याह—देहेति । देहनाम्नोऽहमित्यभिमान
एवान्तो बन्धः स्वात्मलाम एष मोक्ष इति निष्कर्ष इत्यर्थः ।
किञ्चित्प्रहृष्टकामो रामो वर्णितार्थप्रबोधमाश्रयाभिनयेन व्यनक्ति—

मिथ्याज्ञानोभ्रयामिन्या मायया निपतत्यलम् ॥ १०

अहो नु खलु वैषम्यं भीमं निजचदुच्यते ।

भगवन्सर्वदा सर्वं सर्वदैव जगत्स्थितौ ॥ ११

त्वया संभवतीत्युक्तं यथा तन्मात्रमुच्यते ।

एवंगुणविशिष्टात्मा तन्मोहात्मा स भिक्षुकः ॥ १२

कचिदस्ति न वास्त्यन्तरालोक्य कथयाशु मे ।

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अद्य रात्रौ समाधिस्थस्त्रिलोकीमठिकामिमां ॥ १३

भिक्षुरेकोऽस्तिनास्तीति प्रेक्ष्य प्रातर्वदाम्यहम् ।

वाल्मीकिरवाच ।

मुनौ चैवं कथयति बहिर्मध्याह्णदिण्डिमः ॥ १४

उदभूत्प्रलयक्षुब्धघनगर्जितमांसलः ।

तत्पुष्पः पादयोस्तस्य पुष्पाञ्जलिपरम्पराः ॥ १५

नृपाः पौरा विटपिनः पुष्पं धातधुता इव ।

पूजयित्वा मुनिश्रेष्ठानुदतिष्ठन्स्वविष्टरात् ॥ १६

सभा तदनु सोत्तस्थौ सप्रणामपरम्परा ।

क्रमेण ह्यास्तनेनैव जग्मुः श्वेचरभूचराः ॥ १७

स्वास्पदेषु यथाशास्त्रमहर्ष्यापारमादृताः ।

सर्वे संपादयामासुर्निजधर्मं क्रमोचितम् ॥ १८

चिन्तयन्तो मुनिप्रोक्तं महीचरनभश्चराः ।

ज्ञानं क्षपां क्षणमिव निन्युः कल्पमिवापि च ॥ १९

अहो इत्यादिना ॥ १ ॥ स्तोकेनाल्पेनापि मदभ्रमादिनिमित्तेन
सुप्तस्य मनः स्नापमायया यथा अलमत्यन्तं भीमं वैषम्यं दुःख-
संकटं निपतति तच्च निजवत्सत्यवत्स्वीयवद्वा उच्यते तद्वद्देहो
आश्चर्यमिति परेणान्वयः ॥ १० ॥ सर्वं सर्वत्र सर्वदा संभव-
तीति च त्वया यदुक्तं तदप्यनुभवारूढं ममाभूदित्याह—भग-
वच्चिति ॥ ११ ॥ एवमुपदिष्टार्थाभिनन्दनेन शुभं प्रतोष्य त्वयार्थं
भिक्षुर्महोपाय कल्पयित्वा उक्तं कचिदस्तीति सदेहेन कौतुका-
त्पृच्छति—एवंगुणविशिष्टेति । तन्मोहात्मा तादृशजीव-
दादिमोहात्मा ॥ १२ ॥ अन्तर्योगेन आलोक्य त्वद्बोधाय यद्यपि
कल्पयित्वा मया भिक्षुरकस्त्रथापि तद्वाक्यस्यानृतत्वायोगात्क-
चित्संभावित एव सः । तस्य च योगेनाधुना दर्शने उत्थाने
विलम्बः स्यादित्याशयेन वसिष्ठस्तत्कालोचितमुवाच—अथेति
॥ १३ ॥ उत्थानयोगमभ्याह्वयको दिण्डिमो नाथमेदस्तद्व-
निरिति यावत् ॥ १४ ॥ घनगर्जितमिव मांसलः पुष्टः । तस्य
वसिष्ठस्य ॥ १५ ॥ धातेन शुताः कम्पिता विटपिन इव ॥ १६ ॥
शस्त्रेण पूर्वेषुर्भवेन ॥ १७ ॥ महर्ष्यापारमादिकं निजधर्मं
संपादयामासुः ॥ १८ ॥ मुनिप्रोक्तं ज्ञानं शास्त्रं चिन्तयन्तः
अभ्यसन्तः । उपदिष्टार्थानुसंधानमुखेन क्षणमिव मुना राम-

प्रातः पुनः प्रसृतकार्यपरम्परेऽस्मि-
न्नाते जने खचरभूचरभूतसङ्घः ।

आख्यानलोकरचनेन तथैव तस्या-

वन्योन्यसंवदनपूजितपूज्यलोकः ॥ २०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० विद्योत्तरविस्मयवर्णने नाम पञ्चषष्ठितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

षट्षष्ठितमः सर्गः ६६

वाल्मीकिरुवाच ।

वासिष्ठमुनिसंयुक्ता विश्वामित्रादिसंयुताः ।
स्थिताः खेचरसिद्धौघा विश्रान्ता नृपनायकाः ॥ १
सरामलक्ष्मणा सैव तथैवाथ सभा बभौ ।
सौम्या समसमाभोगा शान्तवातेव प्रविनी ॥ २
अनवेक्ष्य धवः प्रश्नमुवाचाथ मुनीश्वरः ।
बोधयन्ति बल्यदेव सानुकम्पा हि साधवः ॥ ३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

राजन् रघुकुलाकाशशशङ्क रघुनन्दन ।
ह्यो मया ज्ञाननेत्रेण स भिक्षुः प्रेक्षितश्चिरम् ॥ ४
ध्यानेनाहं चिरं भ्रान्तस्तादृग्भिक्षुर्दिदृक्षया ।
द्वीपानि सप्त विपुलां कुलशैलसर्व्वतमम् ॥ ५
यावत्कुतश्चिदप्येवं भिक्षुर्लब्धो न तादृशः ।
कथं किल मनोराज्यं बहिरप्युपलभ्यते ॥ ६
ततस्त्रिभागशेषायां राज्यं पुनरहं धिया ।
उत्तराशान्तरं यातो चेलावात इवार्णवम् ॥ ७
जिननामैष तत्रास्ति श्रीमान् जनपदो महान् ।
वाल्मीकीपरि तत्रास्ति विहारो जनसंश्रयः ॥ ८
तस्मिन्विहारे स्वकुटीकोशे कपिलमूर्धजः ।

भिक्षुर्दीर्घदृशो नाम स्थित एव समाधये ॥ ९
एकविंशतिरात्रं च तस्यैवं स्थितिशालिनः ।
दृढार्गलं गृहं ध्यानभङ्गभीता विशन्ति नो ॥ १०
भृत्याः प्रियाः किल तथा संतिष्ठति स भिक्षुकः ।
अद्यैव तस्य संवेतुं नियतेरीदृशी स्थितिः ॥ ११
रात्रयो ध्याननिष्ठस्य गतास्तस्यैकविंशतिः ।
स तु वर्षसहस्राणि तथा चित्तेन भूतवान् ॥ १२
कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे भिक्षुरेवं पुराऽभवत् ।
अद्य त्विह द्वितीयोऽस्मिंस्तृतीयो नोपलभ्यते ॥ १३
मया तु पुनरन्विष्य चेतसा चतुरात्मना ।
तादृग् भिक्षुस्तृतीयोऽन्यो जगत्पद्मोदरालिना ॥ १४
अस्मात्सर्गात्ततो लब्धस्तृतीयस्तादृशशयः ।
अथान्ये लीलया सर्गा मया संप्रेक्षितास्ततः ॥ १५
यावत्तस्मिंश्चिदकाशकोशशायिनि सर्गके ।
तृतीयो विद्यते भिक्षुर्ब्राह्मश्च सदृशक्रमः ॥ १६
एवं तेनैव तेनैव संनिवेशेन भूरिशः ।
भविष्यन्त्यमवसर्वे पदार्थाः सर्गसंततौ ॥ १७
अस्यां सभायामपि ये मुनयो ब्राह्मणास्तथा ।
भाव्यमेवं समाचारैस्तैरन्यैरप्यनेकशः ॥ १८

पृथगर्थश्रवणेच्छौत्कण्ठ्येन निद्राभावात्कल्पमिव च ॥ १९ ॥
खचरभूचरभूतसङ्घो रात्रिमतिवाह्य प्रातर्जने प्रसृतस्वस्वकार्य-
परंपरे जाते सति दशरथसभामागत्य तथा सुतेर्गुरुदेव पुनः
आख्यानलोकरचनेन व्याख्यानश्रवणोचितसमासनिवेशक्रम-
चनेन तस्यै ॥ २० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे विद्योत्तरविस्मयवर्णने नाम पञ्चष-
ष्ठितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

अन्विष्टस्यात्र यत्नेन भिक्षोर्दर्शनमुच्यते ।

तादृशानां तथान्येषां मुनीनां भूतभाविनाम् ॥ ३ ॥

स्थिता उपविष्टाः । ततो नृपास्ततो नायकाः सामन्तादयश्च
विश्रान्ता उपविष्टाः ॥ १ ॥ प्रविनी पद्मवती सरसी ॥ २ ॥
प्रश्नमनवेक्ष्य अप्रतीक्ष्य वच उवाच । प्रातर्वेदाम्प्रहमिति स्वयं
प्रतिज्ञातत्वादिति भावः ॥ ३ ॥ निरं प्रेक्षितोऽन्विष्टः । विर-
मन्विष्य प्रेक्षित इति वा ॥ ४ ॥ ५ ॥ यावत् लब्धस्तावदर्हं
चिरं भ्रान्त इति पूर्व्वेणान्वयः ॥ ६ ॥ उत्तरस्था आशया दिश
आन्तरं देशं यातो मनसा पर्यालोचितवानिति यावत् ॥ ७ ॥
वाल्मीकाख्याजनपदादुपरि परतो जिननामा एष प्रसिद्धो जन-

पदोऽस्ति तत्र जनपदे विहाराख्यो जनसंश्रयो बहुजनाश्रयो
देशोऽस्ति ॥ ८ ॥ दृक्शब्दाद्वागुरिमतेन हलन्ताद्यपि दीर्घे
‘दृशे’ अस्येति व्युत्पाद्यम् ॥ ९ ॥ तस्य गृहं कुटीं ध्यानभङ्ग-
भीताः प्रिया अपि भृत्या नो विशन्ति किल ॥ १० ॥ तस्य
भिक्षोः । संवेतुं विदेहकैवल्याय चरमसाक्षात्कारं प्राप्तुम् ।
तत्कृतः । यतो नियतेस्तदायुर्नियन्तुर्विधातुः ॥ ११ ॥ तथा
प्राग्वर्णितप्रकारेण ॥ १२ ॥ एवं एवंविधः । अयासिन्कल्पे ।
अयं द्वितीयः । तृतीयो नोपलभ्यते तदानीं मयेत्यर्थः ॥ १३ ॥
जगत्पद्मे अलिना अलिचक्रमता मया अस्मिन् सर्गे तृतीयो
नोपलभ्यत इति पूर्व्वेण परेण वा अन्वयः ॥ १४ ॥ अथ
मया लीलया अस्मात्सर्गादन्ये सर्गाः संप्रेक्षितास्तत्र तृतीयस्ता-
दृशाशयो लब्ध इत्यन्वयः ॥ १५ ॥ तदेवाह—यावदिति ।
ब्राह्मस्तत्रत्यब्राह्मणा निर्मित एतत्सदृश एव भुवनक्रमो विद्यते
॥ १६ ॥ एवं ब्रह्माण्डमेतत् सदृशं पदार्थक्रमे तादृशभिक्ष-
वोऽप्यनन्ताः संमन्तन्तीत्याशयेनाह—एवमिति ॥ १७ ॥ अस्मि-
न्नर्थे सुसुखव्यवहारोक्तमेवार्थं पुनः प्रपञ्चयन्नाह—अस्या-
सित्यादिना । तैरप्येवं भिक्षुसदृशसमाचारैः स्वसदृशसमाचारैश्च
भाव्यम् । अन्यैरपि एतन्मुनिसमाचारैर्भिक्षुसमाचारैश्च भाव्य-

नारदेनामुना भाव्यं पुनरन्येन चामुना ।
 एवं कलनकर्मभ्यां युक्तेनान्येन भूरिशः ॥ १९
 एवं जन्मादिना भाव्यं व्यासेनापि शुकेन च ।
 शौनकेन पुनर्भावं क्रतुना पुलहेन च ॥ २०
 अगस्त्येन पुलस्त्येन भृगुणाऽङ्गिरसापि च ।
 एत एव तथान्ये च एवरूपक्रियास्पदम् ॥ २१
 चिराच्चिराद्भविष्यन्ति मायेयं वितता यतः ।
 सदृशाचारजन्मानस्त एवान्ये च भूरिशः ॥ २२
 भूयोभूयो विवर्तन्ते सर्गेष्वपि च वीचयः ।
 अत्यन्तसदृशाः केचित्केचिदर्धसमक्रमाः ॥ २३
 केचिदीषत्समाः केचिन्न कदाचित्पुनस्तथा ।
 एवमेषातिवितता महतामपि मोहिनी ॥ २४

क्षणेनेहास्ति नो कर्म प्रतिपत्तिर्हि जृम्भते ।
 कैकविंशत्यहोरात्रा अनन्ताकृतयोऽनघ ॥ २५
 क तासामुपलम्भोऽलम्बो भीमा मनोगतिः ।
 प्रतिभाभात्रमेवेदमित्थं विकसितं स्थितम् ॥ २६
 नानाकलहकल्लोलं जले प्रातरिवाम्बुजम् ।
 जातं संवेदनादेव शुद्धादिदमशुद्धिमत् ।
 संसारजालमखिलं सार्चिर्वह्निकणादिव ॥ २७
 प्रत्येकमेवमुदितः प्रतिभासखण्डः
 खण्डान्तरेष्वपि च तस्य विचित्रखण्डः ।
 सर्वे स्वयं ननु च तेऽपि मिथो न मिथ्या
 सर्वात्मनि स्फुरति कारणकारणेऽस्मिन् ॥ २८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० भो० निर्वाणप्र० पू० जीवटोपाख्याने भिक्षुसंस्तिकथनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमः सर्गः ६७

दशरथ उवाच ।
 मुनिनायक तं भिक्षुं गत्वा संबोधयन्त्वमी ।
 नरा मत्प्रहिताः शीघ्रं ध्यानयन्तु कुटीगतम् ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 राजंस्तस्य महाभिक्षोः स देहः प्राणवर्जितः ।
 क्लेशो वैवर्ण्यमायातो नासौ जीवितभाजनम् ॥ २
 तस्य भिक्षोस्तु जीवोऽसौ भूत्वा पञ्चाजसारसः ।

जीवन्मुक्तः स्थितो भूयो नासौ संसृतिभाजनम् ॥ ३
 तद्दृष्ट्वा मासपर्यन्ते बलाभिष्कासितार्गलाः ।
 अन्तराले तु तिष्ठन्ति भूत्या भिक्षुदिदृक्षवः ॥ ४
 ततो नष्टाङ्गसंधानं कार्यं निष्काल्यते जले ।
 त्यक्ष्यन्त्यन्यं करिष्यन्ति भिक्षुमधुष्णमानसम् ॥ ५
 अनेनैवं सदेहेन भिक्षुर्मुक्तो व्यवस्थितः ।
 कथं प्रबोध्यते नष्टं तद्विहारे शरीरकम् ॥ ६

मित्यर्थः ॥ १८ ॥ कलनं ज्ञानं कर्म चरित्रं ताम्भ्यां युक्तेन
 ॥ १९ ॥ २० ॥ एवंविधस्य रूपस्य संस्थानस्य क्रियाणां
 चास्पदं भविष्यन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ क्षणे
 निरवयवकालात्मनि ईहा मानसचेष्टापि नास्ति । देहादिचेष्टा-
 लक्षणं कर्म च दूरनिरस्तत्वादेव नास्ति । किं तर्हि प्रतिपत्ति-
 र्भ्रान्तिरेव केवलं जृम्भते । तदेवेह भिक्षुचरित्रे स्पष्टमित्याह—
 केति । अनन्ता जीवटादिसर्गाकृतयस्तासामलं सम्यगुपलम्भश्च
 क ॥ २५ ॥ २६ ॥ प्रातरम्बुजमिव विकसितम् । तत्पक्षे
 भ्रमरादीनां नानाकलहा जलकल्लोलश्च पश्येति योज्यम् ।
 अर्चिर्भिः सद्वर्तमानः सार्चिर्महानभिर्वह्निकणादिव शुद्धात्संवे-
 दनादेवेदमशुद्धिमज्जगज्जातम् ॥ २७ ॥ एवं भिक्षुमनसीव सर्व-
 जीवमनःस्वपि प्रत्येकं जगद्रूपः प्रतिभासखण्ड उदितस्तस्य
 तस्यान्तर्जोवखण्डान्तरेष्वपि च विचित्रः सर्गखण्ड उदित इत्यन-
 यस्यैव मायादशोऽर्थः । ते प्राथमिकखण्डाः स्वयं तेषु च तदन्त-
 र्गतजगत्खण्डा मिथः स्वस्वव्यवहारदृशा न मिथ्या दृष्टा एव ।
 किं स्वतो नेत्याह—सर्वात्मनीति । सर्वात्मन्यास्मिन्निवृत्तैकरसे
 परमात्मनि तादात्म्येन स्फुरति सति । तेन स्वतत्त्वबोधेन तद्भा-
 वस्यागे तु न किञ्चित्सत्यमित्यर्थः ॥ २८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारा-
 मायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे भिक्षुसंस्तिकथनं
 नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

भिक्षोः समाधौ मुक्तस्य देहनाशोऽत्र वर्ण्यते ।

भिक्षुभ्रातृवद्व्येषां बन्धो मोक्षश्च बोधतः ॥ १ ॥

संबोधयन्तु समाधेर्युत्थापयन्तु । अमी मत्प्रहिता मया
 प्रेषिता नरा मन्त्रिणो भवदाज्ञया ध्यानयन्तु ॥ १ ॥ 'अथैव तस्य
 संचेतुं नियतेरेष निश्चयः' इति मनुक्तं विस्मृत्य त्वयेदं पृष्टमिति
 सूचयन्वसिष्ठ उवाच—राजन्निति । क्लेशः प्राणोपलम्भकाङ्क्ष-
 रसभागः शोषेण वैवर्ण्यमायातः ॥ २ ॥ स तर्हि त्वदीयसत्यसंक-
 ल्पेन प्रजीवतु तत्राह—तस्येति । सत्येव तदेहभोग्यप्रारब्ध-
 शोषे मत्संकल्पः प्रवर्तते नान्यथेति भावः ॥ ३ ॥ मासपर्यन्तं
 गृहार्गलं न निष्कासनीयमिति भिक्षुणा आङ्गसैरन्तरालवासि-
 भिस्तद्भ्रूलैर्गुप्तत्वादपि त्वन्मन्त्रिभित्प्रबोधनं कर्तुमशक्यमि-
 त्याह—तद्दृष्ट्वा इति । मासस्य पर्यन्ते चरमदिने बलाभिष्कासि-
 तार्गलाः सन्तो भिक्षुदेहदिदृक्षवो भूत्या नहिर्द्वारान्तराले
 तिष्ठन्ति । बलाद्दिदृक्षावलादिति वा ॥ ४ ॥ ततो मासान्वे कार्यं
 भिक्षुशरीरं निष्काल्य निःसार्य जले त्यक्ष्यन्ति मज्जयिष्यन्ति ।
 तस्यां कुक्ष्यामन्यं तत्कायाकारशिलाप्रतिमारूपं भिक्षुं पूजाम-
 त्त्यादिन्यवहारप्रवर्तनाय करिष्यन्ति । दृढत्वादधुष्णं मानसं
 भक्तमनःकल्पितदेवतारूपम् । कर्मधारयः ॥ ५ ॥ एवमुक्त-
 रीत्या मुक्तः । विहारे प्राणचेष्टादिन्यापारविषये . नष्टं भूतम्

एषा गुणमयी माया दुर्वोधेन दुरत्यया ।
 नित्यं सत्यावबोधेन सुखेनैवातिवाह्यते ॥ ७
 असत्येव कृतारम्भा हेम्नः कटकता यथा ।
 प्रतिभासविपर्यासमात्रकारणकोदया ॥ ८
 परमात्मनि वाचेयमित्थं मायानुमीयते ।
 तरङ्गालीव पयसि प्रेक्षामात्रविनाशिनी ॥ ९
 हो हि दृश्यतया दीर्घस्वप्नात्स्वप्नान्तरं व्रजेत् ।
 एवं जीवत्वमायाति विवेकात्सर्वमात्मदृक् ॥ १०
 यो यस्य प्रतिभासः स्यादात्मैव स स्वबोधतः ।
 स एवोदेति संसारः करञ्जवनगुल्मदृक् ॥ ११
 प्रत्येकं भूतमुदितं कृतं संसारमण्डलम् ।
 भिक्षोः स्वप्नान्तर इव परां भङ्गिमिवाम्भसः ॥ १२
 प्रस्तुतः पद्मजादेव जगत्स्वप्नो यथोदितः ।
 तथैवास्वच्छचित्तोत्थो रुढः सर्वजनं प्रति ॥ १३
 पितामहवदाभाति सर्गः स्वप्नविलासवत् ।
 प्रत्येकमुदितस्तेन ब्रह्माण्डानीव कोटिशः ॥ १४

॥ ६ ॥ प्रश्नं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमेवावलम्बते—एषेत्यादिना । दुर्वोधेन भ्रान्तिपरम्परारहेतुविक्षेपशक्त्या । अतिवाह्यते निरस्यते ॥ ७ ॥ असती अविद्यमानैव कृतजगदारम्भा । हेम्नः कटकतयेव प्रतिभासस्य यो विपर्यासोऽन्यथाभावस्तन्मात्रकारणको विभ्रमोदयो यस्याः ॥ ८ ॥ 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादिदृष्टान्तश्रुतिवाचा दार्ष्टान्तिकमायापि इत्यमनृतस्वभावैवानुमीयते ॥ ९ ॥ ज्ञः परमात्मा एवं अविवेकाजीवत्वमायाति । स च स्वविवेकात्सर्वमात्मेति पश्यतीत्यात्मदृक् चिन्मात्रः परिक्षिप्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥ सः स्वबोधत आत्मैव । अवोधतस्तु स एव संसाररामना उदेति ॥ ११ ॥ भूतं प्राणिनिकायं प्रति प्रत्येकं संसारमण्डलं भ्रान्त्या उदितं कृतम् । यथा भिक्षोः स्वप्नान्तरे अम्भसो भङ्गि आवर्ततरङ्गादिविभागमिव विद्धीत्यर्थः ॥ १२ ॥ समष्टिर्हिरण्यगर्भस्य मनोमात्रनिर्माणत्वादयं सर्गः स्वप्न एव चेद्यद्वैरपि तथैव भवितुमर्हति । अस्वच्छचित्तादुदित इति परः स्थिर इव भासत इत्याह—प्रस्तुत इति ॥ १३ ॥ चित्तशुद्धौ तु पितामहस्येव पितामहवत् स्वप्नविलासवदस्य आभाति तेन तादृशभावेन शायते । प्रत्येकमयं ब्रह्माण्डानीव कोटिश उदित इति निश्चीयत इत्यर्थः ॥ १४ ॥ अयं जीवो व्यष्टिप्रपञ्चरूपेण समष्टिप्रपञ्चरूपेण वा साधारणप्रपञ्चरूपेण प्रत्येकमसाधारणप्रपञ्चरूपेण वा यथा तथा वा स्फुरन्नस्तु तथापि हृदये प्रतिभानसमर्थं दीर्घमिभ्रमं पश्यतीति स स्वप्नवन्मिथ्यैवेत्यर्थः ॥ १५ ॥ दीर्घस्वप्नदर्शने निमित्तमाह—चित्सत्तामात्रमिति । तत्त्वतः प्रतीत्युत्तमावृत्तं तावन्मात्रतश्चित्सत्तामात्रमासाद्य आश्रित्य क्वचित्कालाधिदेवनरतिर्यगादिदेहे ॥ १६ ॥ तत्तत्र स्वप्ने विचित्रमुकृत-

स्फुरन्त्यथा तथा वासिञ्जीवः पश्यति विभ्रमम् ।
 हृदयेऽयं समर्थं च स्वप्नवद्दीर्घमान्तरम् ॥ १५
 चित्सत्तामात्रमासाद्य प्रतीतिच्युतमात्रतः ।
 जरामरणदुःखानां क्वचिद्भाजनतां गतः ॥ १६
 पातालं ब्रह्मलोकं वा चित्तसुकृतशालिनी ।
 चित्तांशस्पन्दमात्रेण कृत्वा कृत्वेव संस्थिता ॥ १७
 चित्सपन्दरूपिणी जीवनामरूपं गतात्मनि ।
 अन्यत्र च विलुठति गत्वा संभ्रमहारिणी ॥ १८
 चित्तेति परमात्मा न परमात्मा न वा न किम् ।
 जीवदेहादिनाम्नोऽस्य प्रतिबिम्बादिवाहता ॥ १९
 ब्रह्मण्येव परं ब्रह्म जगद्दृष्ट्यैव संस्थितम् ।
 शुद्धाकाशमिवाकाशे जले जलमिवामलम् ॥ २०
 लोको ब्रह्मण एवायं जगद्रूपेषु तिष्ठति ।
 विभेत्त्यन्यतया बोधात्प्रतिबिम्बादिवार्भकः ॥ २१
 स्पन्देऽस्पन्दीकृते चेह स्वतः संज्ञा विलीयते ।
 साप्यलं परिणामेन लीयतेऽग्नौ घृतं यथा ॥ २२

शालिनी जीवचित् स्वचित्तांशस्पन्दमात्रेणाधः पातालं वा ऊर्ध्वं ब्रह्मलोकं वा कृत्वा कृत्वा भुञ्जाना संस्थितेत्यर्थः ॥ १७ ॥ परमात्मचिदेव प्राणकल्पनया तदधीनस्पन्दरूपिणी भूत्वा तद्वा-रेण जीवनामकं रूपं गता सती आत्मनि देहाकारसंभ्रमहारिणी अन्यत्र वहिश्च गत्वा विषयाकारसंभ्रमहारिणी भूत्वा विलुठति ॥ १८ ॥ अस्त्वेवमस्य भ्रान्त्या जीवादिनामरूपभेदस्तथापि परमात्मैवैषः, अध्याससहस्रैरप्यधिष्ठानस्यान्यत्वायोगादिति परमपुरुषार्थफलं जीवब्रह्मक्यं दृढीकरोति—चित्तेतीति । प्रत्यगात्मा चित्तेत्युपाध्याकारभ्रान्तिमात्रापरार्थात्किं परमात्मा ब्रह्म न परं वा ब्रह्म किं आत्मा प्रत्यगात्मा न किमस्य ब्रह्मणो मुखस्य दर्पणे प्रतिबिम्बनादिवौपाधिकजीवनाग्नौ देवदत्तयज्ञदत्तादेर्देहनाम्न आदिपदात्प्राणवाक्चक्षुरादिनाम्नवाहता न किंतु अभेदेऽप्युपाधिवशात्सर्वं संभवत्येव । तथा च श्रुतिः 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्नेभ्यः' 'प्राणैव प्राणो नाम भवति वदन्नाक् पश्यश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मन इति तान्येतस्य कर्मनामान्येव' इति ॥ १९ ॥ एवमैक्यदर्शने जगद्दृष्ट्या व्यवहारदृष्ट्यैव परं ब्रह्म ब्रह्मण्येव संस्थितं किं पुनः परमार्थदृष्ट्या समूलोपाधिवाधे तद्वाच्यमिति भावः ॥ २० ॥ किं च दर्पणादौ मुखादत्यन्तमिजे मुखस्य स्थितावन्यथाभ्रान्ति-संभावनापि स्यात् । अयं जीवलोकस्तु स्वात्मभूतस्याभयस्य ब्रह्मण एव मूर्तामूर्तात्मकेषु जगद्रूपेषु तिष्ठतीति न तत्संभावनापि, तथापि अन्यतया आत्मन्यतिरिक्तमन्यन्मम भयहेतुरस्तीति बोधादिमेतीत्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ २१ ॥ अन्यतावोधे च बुद्धिस्पन्दो हेतुरिति बुद्धिस्पन्दे समाध्यभ्यासेन अस्पन्दीकृते भेदबुद्धिलक्षणा संज्ञा स्वत एव बुद्धौ विलीयते सा बुद्धिरप्यलं पूर्णब्रह्माकारेण चरमसाक्षात्कारलक्षणपरिणामेनाग्नौ घृतं

चित्स्पन्द एव चित्स्पन्दे सर्वात्मनि विजृम्भितः ।
 स्पन्दास्पन्दौ जृम्भणादि कल्पितं नात्र वास्तवम् ॥ २३ ॥
 न स्पन्दोऽस्तीह नास्पन्दो नैकता अपि न द्विता ।
 शुद्धं चिन्मात्रसर्वस्वं यथैवास्ति तथा स्थितम् ॥ २४ ॥
 सारेण तु विचारेण सर्वज्ञानार्थयोः समे ।
 चिन्मात्रमेव ज्ञातेऽयं नास्तीत्यपि न विद्यते ॥ २५ ॥
 भेदवेदनयोदेति भेदः प्रकृतिलाञ्छनम् ।
 अभेदबोधोदखिले गलिते शिष्यते परम् ॥ २६ ॥
 नानातैवास्य बोधेन स बोधस्त्वनवेक्षणात् ।
 पृच्छकं चैवमस्त्येव तस्माद्विशङ्कता परा ॥ २७ ॥
 ततः स्वप्नो न जागर्तिर्न सुषुप्तिर्न तुर्यता ।
 न बन्धोस्ति न मोक्षोस्ति नान्यथाकल्पनात्मकम् ॥ २८ ॥
 शान्तिरेका जगन्नाम्नी शान्तिरेवमवस्थिता ।
 अवोधोऽसत्य एवातः क इष्टदृश्यदर्शनम् ॥ २९ ॥
 स्पन्दोऽप्यस्पन्द एव स्यान्नः संकल्पतया च ते ।

न स्पन्दास्पन्दयोर्भिन्ना संकल्परहितैव चित् ॥ २० ॥
 द्वैतैक्यविकला रूपसंकल्पश्चिदभावनात् ।
 स च भावनमात्रेण गतो ब्रह्मैव शिष्यते ॥ २१ ॥
 चिच्चन्द्रविम्बे संकल्पकलङ्कः स्फुरतीव यः ।
 नासौ कलङ्कस्तद्विद्धि चिद्धनस्य धनं वपुः ॥ २२ ॥
 चिद्धनस्य न सञ्ज्ञासन्स्थीयतां यत्तते पदे ।
 इत्यदोषमहाबोधसारसंग्रहणं कृतम् ॥ २३ ॥
 चिच्चन्द्रविम्बासंकल्पकलङ्कामृतविग्रहः ।
 त्वया भव्येन संस्पृष्टो भावाभावक्षयात्मना ॥ २४ ॥
 भावाभावादिकलनां नीत्वा चिन्मयतां चितः ।
 समोल्लासविलासान्तः समाश्वस यथासुखम् ॥ २५ ॥
 स्पन्दास्पन्दौ कल्पनाकल्पना वा
 चित्तास्त्रयो विद्धि नामान्विनाम्ना ।
 सर्वाकारा निर्वृतिः शान्तिसत्ता
 पूर्णापूर्णे श्लोकमेवास्थितेति ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे ५० ब्रह्मैक्यप्रतिपादनं नाम सप्तषष्ठितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

अष्टषष्ठितमः सर्गः ६८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सुषुप्तमौनवान्भूत्वा त्यक्त्वा चित्तविलासिताम् ।

घृतमिव तदिदं ब्रह्मणि विलीयत इत्यर्थः ॥ २२ ॥ बोधमा-
 त्रात् कथं कुशलकोटिदुर्भेयं जगद्विलीयत इति चेदवास्तवचि-
 त्स्पन्दमात्रत्वादित्याह—चित्स्पन्द एवेति ॥ २३ ॥ कल्पित-
 मिति कथं ज्ञातमिति चेत्तत्त्वदशा तददर्शनादित्याह—नेति
 ॥ २४ ॥ सर्वज्ञानस्य तदर्थस्य च समे एकरसे स्वभावे ज्ञाते
 सति चिन्मात्रमेव परमार्थसत्यम् । नास्तीति अभावभूतोऽप्ययं
 अपञ्चो न विद्यते दूरे भाव इत्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥ यथोक्तैव
 वस्तुस्थितिर्न केनचिदन्यथाकर्तुं शक्येति वसिष्ठः प्रतिजा-
 नीते—नानातेति । एवकारौ भिन्नक्रमौ । हे राम, त्वं अवोधे-
 नैव नानातासि । स त्वमवोधरूपाया नानाताया अनवेक्षणात्तु
 बोधः पूर्णविद्रूप एवासि । अस्मिन्नर्थे यं कंच पृच्छ । एवमेवास्ति
 परमार्थः । तस्मादेव तव मम धन्यस्य च परा निःशङ्कता
 प्रतिष्ठितेत्यर्थः ॥ २७ ॥ ततस्तादृशानि शङ्कताबलादेव जाग्र-
 दादिसर्वावस्थाद्वैतापलापः प्रवृत्त इत्याह—तत इति ॥ २८ ॥
 अवोधवशादेव द्रष्टृदृश्यादित्रिपुटीजगद् । यदा त्वबोधः
 असत्य एव तदा शुद्धात्मरूपा तच्चान्तिरेवेका जगन्नाम्नी । यतः
 सा शान्तिरेव गच्छति सर्वतो व्याप्नोतीति । व्युत्पत्त्या एवं
 जगन्नामयोर्यतया व्यवस्थिता । द्रष्टृदृश्यदर्शनात्मिका त्रिपुटी
 तु व्युत्पन्ताप्रसिद्धेति नासौ तदा जगन्नामीत्यर्थः ॥ २९ ॥
 ननु चित्तप्रणादिस्पन्दस्य बोधमात्रेण कथं चित्त्वतिरिति त्वेता-
 द्देतुसंकल्पक्षयादेवेत्याह—स्पन्द इति ॥ ३० ॥ चितः असा-
 वनाददर्शनाद्वैतैक्यादिरूपसंकल्प उचितः स च भावनमात्रेण

कलनामलनिर्मुक्तस्तिष्ठान्धतत्पदः ॥ १ ॥

दर्शनमात्रेण गत इति द्वैतैक्यरहिता चिद्ब्रह्मैव शिष्यत इत्यन्वयः
 ॥ ३१ ॥ तददर्शनप्रकारमाह—चिच्चन्द्रविम्बे इति ॥ ३२ ॥ नासौ
 कलङ्क इत्यर्थे युक्तिमाह—चिद्धनस्येति । त्वया चिद्धनस्य तत्ते
 पदे स्थीयताम् । यद्यस्मात्पूर्णे भावावस्थानात्संकल्पादिस्त्वदैकर-
 सभाषणं पृथक् न सन् त्वदात्मना च सन् भवति इति अन्यथैव
 युक्त्या सर्ववैस्तानामात्मैकरस्यसंपादकनिर्दोषबोधसारस्य संग्रहणं
 सम्पन्नवलम्बनं कुरु ॥ ३३ ॥ हे चिच्चन्द्रविम्ब, हे असंकल्प-
 कलङ्क । भावामावक्षयात्मना भव्येन त्वया संस्पृष्टः सर्वोपि
 पदार्थः अमृतविग्रहः संपद्यते । अहो ते माहात्म्यमित्यर्थः
 ॥ ३४ ॥ चितः समोल्लासविलासस्यान्तः सम्पन्नाश्च स विश्रान्तिं
 यज ॥ ३५ ॥ हे राम, त्वं अन्विनाम्ना आनन्दसमुद्राख्येन
 स्वरूपेण स्थितः सन् स्पन्दास्पन्दौ कल्पना संकल्पः अकल्पना
 विकल्पो चेति यावांश्चित्ताम्रायश्चित्तप्रान्तिभेदः स सर्वोऽपि सर्वा-
 कारा निर्वृतिः सुखैकरसा शान्तिसत्तैव तथा तथा आस्थिता ।
 इमे च पूर्णापूर्णे दशे एकमेव मे स्वरूपमिति विद्धि ॥ ३६ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणसारपर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 ब्रह्मैक्यप्रतिपादनं नाम सप्तषष्ठितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

मौनं चतुर्विधं स्वप्न लक्षणे रूपवर्ण्यते ।

सुषुप्तमौनं तत्रापि तुर्यातीतप्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

चित्तविलासितां चित्तस्य स्वाभाविकप्रवृत्त्यनुसारिताम् ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच ।

वाङ्मौनमक्षमौनं च काष्ठमौनं च वेदयहम् ।

सुषुप्तमौनं मौनेश ब्रह्मन्ब्रूहि किमुच्यते ॥ २

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

द्विविधः प्रोच्यते राम मुनिर्मुनिवरैरिह ।

एकः काष्ठतपस्वी स्याज्जीवन्मुक्तस्तथेतरः ॥ ३

अभावितायां शुष्कायां क्रियायां बद्धनिश्चयः ।

दृढाजितेन्द्रियग्रामो मुनिः स्यात्काष्ठतापसः ॥ ४

यथाभूतमिदं बुद्ध्वा भावितात्मात्मनि स्थितः ।

लोकोपमोपि तृप्तोऽन्तर्यः स मुक्तमुनिः स्मृतः ॥ ५

एतयोर्गो भवेद्भावः शान्तयोर्मुनिनाथयोः ।

चित्तनिश्चयरूपात्मा मौनशब्देन स स्मृतः ॥ ६

चतुष्प्रकारमाहुस्तं मौनं मौनविदो जनाः ।

वाङ्मौनमक्षमौनं च काष्ठं सौषुप्तमेव च ॥ ७

वाङ्मौनं वचसां रोधो बलादिन्द्रियनिग्रहः ।

अक्षमौनं परित्यागश्रेष्ठानां काष्ठसंज्ञकम् ॥ ८

मनोमौनं पञ्चमं च तन्मृतौ काष्ठतापसे ।

भावे सुषुप्तमौनाख्यं जीवन्मुक्तोऽनुजीवति ॥ ९

त्रिषु मौनविशेषेषु विषयः काष्ठतापसः ।

सुषुप्तमौनावस्थायां सा तुर्या सैव मुक्तधीः ॥ १०

वाङ्मौनं मौनमित्येतत्सिद्धं तच्च मनः किल ।

मलिनं जीवबन्धाय तत्रस्थः काष्ठतापसः ॥ ११

वागादीनां मौनं संयमः । काष्ठमिव मौनं काष्ठमौनम् । सर्वेषु मौनेषु ईषिषे समर्थो भवसीति मौनेश ॥ २ ॥ द्विविधा इति । त्वद्विदितानां त्रयाणां काष्ठतपस्विनां तारतम्यमेदानामनात्मज्ञ-
तया एककोटितैवेति भावः ॥ ३ ॥ तमेव प्रकटयति—अभा-
वितायामिति । भावितमात्मतत्त्वपर्यालोचनं तच्छून्यायां
शुष्कायां तदनुभवरसशून्यायां कृच्छ्रान्द्रायणादिक्रियायाम्
॥ ४ ॥ व्यवहारे इतरतपस्विलोकोपमोऽप्यन्तर्निरतिशयानन्दा-
स्वादतृप्तः ॥ ५ ॥ प्रकृत्यर्थं व्युत्पाद्य प्रत्ययार्थं व्युत्पादयति—
एतयोरिति ॥ ६ ॥ तत्राद्यं त्रेधा विमज्ज्य चतुष्प्रकारं मौनं मुनयः
आहुरित्यर्थः ॥ ७ ॥ तेषां प्रत्येकं लक्षणाभ्याह—वाङ्मौन-
मित्यादिना । इन्द्रियनिग्रहोऽक्षमौनम् ॥ ८ ॥ एवं विभागपर्या-
लोचने मनोमौनमपि पञ्चमं यद्यपि संभवति तथापि तत्
काष्ठतापसे मृतौ मूर्च्छासुषुप्तयोरेव संभवति नान्यदेति तत्तैर्न
परिगणितमित्यर्थः । त्वर्थे च । भावे आत्मतत्त्वानुभवे ॥ ९ ॥
विषयः अधिकृतः । तुर्या चतुर्थी । मुक्तेषु जीवन्मुक्तेषु धीयत
इति मुक्तधीः ॥ १० ॥ यद्यपि त्रिषु मौनेषु मौनत्वं सिद्धं तथापि
तानि मलिनमनोदृढनिश्चयरूपाण्येवेति जीवस्य बन्धायैवेत्याह—
वागिति ॥ ११ ॥ तर्हि तद्वाङ्काष्ठतापसः समाधौ कथं तिष्ठति
तदाह—अस्मदिति । बलान्मनोनिग्रहेणान्तरस्मदोऽहंभावस्य
संस्मरणमनुसंधानमस्पृशन् बहिरपि दृश्यं रूपप्रपञ्चं वाक्यं
नाम प्रपञ्चं चास्पृशन्नज्ञानावृतमात्मानमपश्यन्नेव सुषुप्ताविव

अस्मत्संस्मरणं वापि दृश्यं वाङ्मयमस्पृशन् ।

अपश्यन्नेव पश्यन् हि काष्ठमौनी तु तिष्ठति ॥ १२

प्रस्फुरच्चित्तकलनमेतन्मौनत्रयं स्मृतम् ।

भवन्ति मौनिनस्तत्र न तज्ज्ञास्तस्थलीलया ॥ १३

नात्रोपादेयताज्ञानमेतन्मौनत्रये किल ।

लीलया कथितं तेन तज्ज्ञाः कुप्यन्तु वा न वा ॥ १४

इदं सुषुप्तमौनं तु जीवन्मुक्तमिति स्थितम् ।

अपुनर्जन्मनो जन्तोः शृणु श्रवणभूषणम् ॥ १५

नात्र संयम्यते प्राणस्त्रिविधो नापि योज्यते ।

नोल्लस्यन्ते न ग्लायन्ते समस्तेन्द्रियसंविदः ॥ १६

नानाताकलनेयं च न वलति न शाम्यति ।

चेतो न चेतो नाचेतो न सन्नासन्न चेतरेत् ॥ १७

अविभागमनभ्यासं यदनाद्यन्तमास्थितम् ।

ध्यायतोऽध्यायतश्चैतत्सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥ १८

यथाभूतमिदं बुद्ध्वा जगन्नातात्वविभ्रमम् ।

यथास्थितमसंदेहं सौषुप्तं मौनमेव तत् ॥ १९

अनेकसंविद्रूपात्म शिवेनैवेदमाततम् ।

इत्यास्थितमनन्तं यत्सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥ २०

आकाशं नैव चाकाशं सर्वमस्ति च नास्ति च ।

इति चित्तं समं शान्तं यत्तन्मौनं सुषुप्तवत् ॥ २१

सर्वशून्यं निरालम्बं शान्तिविक्षिप्तिमात्रकम् ।

न सन्नासदिति यस्यामासितं मौनमुत्तमम् ॥ २२

नित्यात्मदृग्विलोपाभावाद्भ्रमसच्छान्तिवत्साक्षिमात्रज्योतिषा प-
श्यंस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १२ ॥ व्युत्थानकाले त्वेतन्मौनत्रयं प्रस्फु-
रच्चित्तचलनमेव । तत्र प्राक्तनास्त्रयो मौनिनो भवन्ति, तज्ज्ञास्तु
चित्तबाधाजं तत्स्थनिरोधव्युत्थानादिलीलया तत्र भवन्तीत्यर्थः
॥ १३ ॥ अथवा तत्स्थलीलयेत्यस्य पूर्णात्मस्थितिलीलया ।
तज्ज्ञास्तुच्छप्राक्तनमौनत्रये बन्धरूपमेवेदं निरस्यमिति तु
कुप्यन्तु, निदानन्दविलास एवेति बुद्ध्वा न वा कुप्यन्तु,
तथापि तेषामत्रोपादेयताज्ञानमेव नास्तीत्यर्थे तात्पर्यमित्याह—
नात्रेति ॥ १४ ॥ जीवन्मुक्तानां मितिरनुभवस्तत्र स्थितम् ।
जन्तोर्भवतीति शेषः । अतस्त्वमपि शृणु ॥ १५ ॥ तत्त्व-
दर्शने सिद्धे अयमेनैव तत्सिद्ध्यतीति न पूर्वमौनकेशसापेक्षते-
त्याह—नात्रेति । ऊर्ध्वाधोमध्यसंचारभेदेन त्रिविधः । विषय-
लाभहर्षेण नोल्लस्यन्ते, निरोधकेशेन न ग्लायन्ते ॥ १६ ॥
तस्य ज्ञानबाधितं चित्तं कथमवतिष्ठते तदाह—चेत इति
॥ १७ ॥ विभाजकविकल्पक्षयात्तारतम्यविभागाभावाच्चाविभा-
गम् । अतएवानभ्यासमभ्यासनिरपेक्षम् । अपरिच्छिन्नात्म-
रूपत्वादनाद्यन्तम् ॥ १८ ॥ जगदिति नानात्वविभ्रमो यस्मि-
न्तत् इदं आत्मतत्त्वं यथास्थितं बुद्ध्वा ॥ १९ ॥ अनेकधा
संविद्रूपाणामात्मा यः शिवस्तेनैवाततं पूर्णं आस्थितमव-
स्थानं यत्तदित्यर्थः ॥ २० ॥ शून्यरूपत्वाभावाच्चैव चाकाशे
॥ २१ ॥ यस्यां जीवन्मुक्तदशायामासितमवस्थानम् ॥ २२ ॥

भावाभावादशादेशविशेषैर्वितथोत्थितैः ।
 संविदो यदनाभासस्तन्मौनं परमं विदुः ॥ २३
 अत्यन्तमसतैवान्तश्चेतसाऽवृत्तिरूपिणा ।
 यदनावर्तनं संविद्वत्तेस्तन्मौनमक्षयम् ॥ २४
 नाहमस्मि न चान्योऽस्ति न मनो न च मानसम् ।
 इति संविदसंविच्चिरविच्छिन्नातिमौनिता ॥ २५
 अहमस्मि जगत्स्यस्मिन्स्वस्ति शब्दार्थमात्रकम् ।
 सत्तासामान्यमेवेति सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥ २६
 यस्मात्संविदमेव स्यात्त्वान्यादिकलना कुतः ।
 अनन्तमेव सौषुप्तं सर्वं मौनमतस्ततम् ॥ २७
 सुषुप्तमौनमेवेदमनन्तत्वात्प्रबोधवत् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० महामौनयलोपदेशो नामाष्टषष्ठितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः ६९

श्रीराम उवाच ।
 कुतः शतत्वमायातं रुद्राणां मुनिनायक ।
 ये गणास्ते तु ये रुद्रा उत नैति वदाशु मे ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 स्वप्नानां भिक्षुणा दृष्टं शतं शतशरीरकम् ।

भावाभावादिविशेषैः संविदोऽनाभासः अविवर्तः ॥ २३ ॥
 बाधितत्वाव्यन्तमसतैव ॥ २४ ॥ मानसं विकल्पनम् । इति
 बाधितस्य संविदा असंविच्चिरप्रतिभासः ॥ २५ ॥ स्वस्ति अना-
 मयं शब्दार्थमात्रकं सर्वं सत्तासामान्यमेव ॥ २६ ॥ यस्माद्धेतोः
 अस्मा सर्वबाधकस्वाकारचरमवृत्तिप्रसाद्यन्त्या तासपि प्रसन्तीव
 स्यात्तस्मात्स्वस्य अन्यस्य आदिपदाद्भेदस्य च ॥ २७ ॥ अवि-
 द्याबाधात्तुर्यं तद्वाचकवृत्तीनामपि बाधात्तुर्यातीतम् ॥ २८ ॥
 प्रागुक्तसप्तविधज्ञानभूमिकानां मध्ये पञ्चम्यादय एतास्तिष्ठो
 भूमिकाः समाधिभेदरूपाः जायन्ति अपिशब्दात्प्रत्ययेऽपि तत्त्व-
 निदि पर्यायेण भवन्तीत्याह—सौषुप्तैकेति । समाधानः समा-
 धिकश्च समाधिः एते समाधयो जाग्रत्यपि भवन्ति ॥ २९ ॥
 हे ब्रह्मन् ब्रह्मभूत हे साधो, जाग्रति समन्ताक्षिपुणं व्यवहरन्स-
 देहोऽपि उत वा लक्ष्म्यवहारः समाधित्योऽपि जीवन्मुक्तः
 सकलामलशान्तिवृत्तिर्नित्यं तुर्यस्य एव तथा विदेह एव ।
 इयं च स्थिति स्थूलसूक्ष्माकारद्वयबाधाज्जभो भवतीति नभो-
 भवन् यस्तस्यैवास्ति नान्यस्येत्यर्थः । अथवा नभ इत्यपि संबो-
 धनमेव । इयं स्थितिस्तथा भवत एवास्ति नान्यस्येत्यर्थः ।
 अथवा भवतस्तमेवास्तीति रामं प्रति सिद्धवत्कारोक्तिः ॥ ३० ॥
 हे राम, त्वं ॐमिति माण्डूक्योपनिषदुक्तरीत्या विराडादिपाद-
 मात्राप्रविलम्बनेनोदस्तभववासनमेकं तुर्यरूपमास्त्व । सर्वं च
 विद्यत इतीह किल यत्प्रसिद्धं तत् आन्तरो नाख्यन्तरनुभूयमानः
 स्वप्नस्तदाभं दुष्टा जो जीवन्मुक्तस्त्वं चिद्भगनकोशकलैकनिष्ठस्ति-
 ष्ठेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे पूर्वार्धे महामौनयलोपदेशो नामाष्टषष्ठितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

तुर्यमेवामलं विद्धि तुर्यातीतमथापि च ॥ २८
 सौषुप्तैकसमाधानस्तथा तुर्यसमाधिकः ।
 तुर्यातीतसमाधिर्वा जाग्रत्यपि भवन्ति वै ॥ २९
 तुर्यस्य एव सकलामलशान्तिवृत्ति-
 जाग्रत्यपि व्यवहरन्निपुणं समन्तात् ।
 नित्यं सदेह उत वापि विदेह एव
 ब्रह्मजभोभवत एव किलास्ति साधो ॥ ३०
 ॐमित्युदस्तभववासनमेकमास्त्व
 न त्वं न चाहमपि नान्यदिहास्ति सत्यम् ।
 सर्वं च विद्यत इतीह किलान्तराभं
 इतिष्ठ चिद्भगनकोशकलैकनिष्ठः ॥ ३१

सर्वमुद्देशतो ज्ञातं तत् उक्तं न तन्मया ॥ २
 य आकाराश्च ते स्वप्ने तत्तद्गणशतं स्मृतम् ।
 तदेतद्बुद्धशतकं रुद्रा अपि गणा विधौ ॥ ३
 श्रीराम उवाच ।
 एकस्याद्भगवंश्चित्तात्कथं चित्तशतं कृतम् ।

गणानामपि रुद्रत्व मुक्तानामैच्छिकी स्थितिः ।
 योगात्प्राणस्य विद्ययो मृतेस्तद्भूतिरुच्यते ॥ १ ॥
 'प्राप्य तां ब्रह्महंसेहां रुद्रतां सर्व एव ते । समाजगमुर्विरे-
 जुश्च रुद्राणामुत्तमं शतम् ॥' इति शतानामभ्युत्तमरुद्रता
 प्रागुक्ता तदुत्तरसर्गे च रुद्राण्या तेषु तेषु देहेषु प्रारब्धशेषं भुक्त्वा
 यता तेषाम् । 'तत्र भुक्त्वा चिरे भोगान्प्राप्य रुद्रपुरं ततः ।
 गणतामावसतस्ते स्थास्यन्ति सपरिच्छदाः' इत्युक्तं तत्र रुद्रे-
 च्छया शतरुद्रमूर्तानां गणत्वमेकैव रुद्रमूर्तिरिति सिद्धिर्हानो रामः
 पुच्छति—कुत इति । रुद्राणां शतत्वं कुत आगतम् । किं
 गणैः सह परिगणनादुत तद्यतिरिक्तरुद्राणामेव परिगणनात् ।
 एवार्थे तु शब्दः । ये गणास्त्वयोक्तास्त एव 'ये रुद्रा उक्तास्ते
 उत न । अन्ये एव रुद्रा इत्यर्थः ॥ १ ॥ तत्र प्रथमकल्पमेवा-
 यलम्ब्य वसिष्ठ उत्तरमाह—स्वप्नानामिति । उद्देशतः प्राग्-
 णिततत्तत्तन्मादिप्रस्तावतस्त्वया ज्ञातमेव तत्तत्तन्मया रुद्रशत-
 संख्याने नामतो विशिष्य बोधकम् ॥ २ ॥ भिक्षुस्वप्ने ये जीव-
 दायाकारास्तदाकारमेवोत्सर्गतो गणशतमिति स्मृतम् । तदेवै-
 तद्बुद्धशतकमपि भोगैश्वर्यसाम्याद्बुद्धांशत्वाच्च भवति । ननु गणा
 इति रुद्रस्य सेवकाः पार्षदा उच्यन्ते ते कथं मुख्यरुद्राः स्युः ।
 स्वामिभूयभावयोर्विरुद्धयोरेकत्रासंभवात् । किं च शततमस्य
 मुख्यरुद्रत्वाद्गणत्वाभावाद्गणशतमित्युक्तिश्चानुपपन्नैवेति चेत्-
 त्राह—रुद्रा अपीति । ते शतं स्वयं रुद्रा अपि पूर्वसिद्धस्ये-
 श्वरकोटिभूतरुद्रस्य परिचर्यादिविधौ गणा एव भवन्ति । तेषां
 कर्मफलभोगैश्वर्यप्राप्तेस्तदधीनत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥ 'बोधयित्वा
 तु तं भिक्षुं चेतसा चेतनेन च' इत्यादिना भिक्षुस्वप्नकृतेन शतत-

तत्त्वप्रकृतखद्रेण दीपादीपशतं यथा ॥ ४
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 निरावरणसद्भावा यद्यथा कल्पयन्ति हि ।
 तत्तथानुभवन्त्येव रसावरणसंविदः ॥ ५
 सर्वात्मनः सर्वगत्वाद्यद्यथा यत्र भाव्यते ।
 तथानुभूयते तत्र तत्तथा हतया धिया ॥ ६
 श्रीराम उवाच ।
 कपालमालाभरणो भस्मशाली दिगम्बरः ।
 श्मशाननिलयो ब्रह्मन्कामुकश्च किमीश्वरः ॥ ७
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 महेश्वराणां सिद्धानां जीवन्मुक्तशरीरिणाम् ।
 न क्रियानियमोऽस्तीह स ह्यज्ञस्यैव कल्पितः ॥ ८
 अज्ञस्तु दितचित्तत्वात्क्रियानियमनं विना ।
 गच्छत्यायेन मात्स्येन परं दुःखं प्रयाति हि ॥ ९
 सुज्ञास्त्विष्टेष्वनिष्टेषु न निमज्जन्ति वस्तुषु ।
 यतेन्द्रियत्वाद्बुद्धत्वाच्चिर्वासनतया तथा ॥ १०
 काकतालीयवद्गुहां क्रियां कुर्वन्ति ते सदा ।
 न कुर्वन्त्यपि वै किञ्चिन्नैषां क्वचिदपि ग्रहः ॥ ११
 काकतालीयतो विष्णुरेवंकर्मोदितः पुरा ।
 एवंकर्मा त्रिनयन एवंकर्माश्वजोद्भवः ॥ १२

मेन खद्रेण स्वचित्तचैतन्यदानेन मिश्रादीनां बोधनं यत्प्रागुक्तं तदन्यत्रादर्शनादसंभावयन् रामः पृच्छति—एकस्मादिति ॥ ४ ॥ अनीश्वरेष्वज्ञेषु तददर्शनेऽपि ईश्वरेषु मुक्तेषु न तद-संभावना युक्तेति परिहरति—निरावरणेति । ज्ञानैश्वर्येण निरा-वरणा योगैश्वर्येण सद्भावाः सत्यसंकल्पाः । ‘रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति’ इति श्रुतेः । रसो भूमानन्दस्तं आसमन्तात्सांकल्पिकार्यसत्तालाभाय वृणोति स्वीकरोति तथा-विधा या माया प्रतिबिम्बसंविद् सार्वत्र्यसर्वशक्तत्वाख्या तद्ग-लादित्यर्थः ॥ ५ ॥ सार्वत्र्यबलादपि तेषां सर्वभाविताय-सिद्धिरित्याह—सर्वात्मन इति ॥ ६ ॥ एवमैश्वर्ये सति हरिहरा-दयः किमर्थं मानुषयोन्याधवतारश्मशानवासादिकदर्थनां स्वस्य कल्पयन्ति शुभमेव कुतो न कल्पयन्तीत्याशयेन रामः पृच्छति—कपालेति । भस्मना शालते शोभते तच्छीलः । ईश्वरः सर्व-शक्तिसंपन्नोऽपि सन् किं किमर्थमेवास्ते इत्यर्थः ॥ ७ ॥ क्रियाः शास्त्रीया एव मङ्गलरूपा एव सुखभोगफला एव कार्या इति न नियमस्तेषां विधिकिंकरत्वाभावात् । अज्ञद्वयप्रसिद्धमङ्गलानामपि सर्वेषां तत्त्वदशा अमङ्गलतमत्वाविशेषात् । अशुभकर्माभावेन दुःखसामग्र्यापि तेषां दुःखभोगानुदयात्सर्वस्य सुखरूपत्वाविशे-षाच्चेति भावः ॥ ८ ॥ दितचित्तत्वात् रागद्वेषलोभादिदोषसहस्र-खण्डितचित्तत्वान्मात्स्येन मत्स्येषु प्रसिद्धेन दुर्बलस्वपरजाति-प्रसनन्यायेन गच्छन् क्रियानियमनं विना परं जन्म परंपरान-रकादिदुःखं प्रयाति । हि इति शास्त्रप्रसिद्धौ ॥ ९ ॥ १० ॥

१ अज्ञः बुद्धितत्त्वत्वात् इत्यपि विग्रहः केषाञ्चन संमतः, स च टीका-कर्त्रसंमतत्वादादर्शान्तरेष्वलब्धत्वादयुक्तत्वाच्च नादृतोऽस्माभिः-यो० वा० ११८

न निन्द्यमस्ति नानिन्द्यं नोपादेयं न हेयता ।
 न चात्मीयं न च परं कर्म ह्यविषयं क्वचित् ॥ १३
 अश्यादीनां यथौष्ण्यादि सर्गादौ रूढिमागतम् ।
 हरादीनां तथा कर्म द्विजातीनां च जातयः ॥ १४
 सर्गे प्ररूढिमायाते संकेतवशतः पृथक् ।
 अनुभूतिफलाश्चर्याः कल्पिताः कल्पिताः स्वयम् ॥ १५
 विदेहमुक्तविषयं तुर्यमौनमतो मया ।
 नोक्तं तव परं मौनं सदेहस्य रघूद्वह ॥ १६
 खादप्यतितरामच्छमात्माकाशं चिदात्मकम् ।
 तत्ताप्राप्तिः परं श्रेयः सा कथं प्राप्यते शृणु ॥ १७
 सम्यग्ज्ञानावबोधेन नित्यमेकसमाधिना ।
 संख्ययैवावबुद्धा ये ते स्मृताः सांख्ययोगिनः ॥ १८
 प्राणाद्यनिलसंशान्तौ युक्त्या ये पदमागताः ।
 अनामयमनाद्यन्तं ते स्मृता योगयोगिनः ॥ १९
 उपादेयं तु सर्वेषां शान्तं पदमकुत्रिमम् ।
 तत्केचित्संख्यया प्राप्ताः केचिद्योगेन देहतः ॥ २०
 एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।
 यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं परं योगैस्तदेव हि ॥ २१
 यत्र प्राणमनोवृत्तिरत्यन्तं नोपलभ्यते ।
 वासनावागुरोत्क्रान्ता तद्विद्धि परमं पदम् ॥ २२

रूढां अकस्मात्प्रादुर्भूताम् । ग्रहः आसन्नः ॥ ११ ॥ एवंकर्मा मानुष्यादिजन्मकर्मा ॥ १२ ॥ न हेयता कस्यचिदिति शेषः । आत्मीयं स्ववर्णाश्रमोचितम् । परं तदन्यत् । शाः सिद्धास्ता-न्विषिणोति बध्नातीति विषयस्तथाविधं न क्वचिदित्यर्थः ॥ १३ ॥ तर्हि कथं हरस्य प्रसिद्धहरचरित्रवेषक्रियानियमो हरेर्वा तच्चरि-त्रवेषादिनियमो भवदासीनां च ब्राह्मणोत्तमचर्यानियमः । काकतालीयन्याये तदघटनादित्याशङ्क्याह—अश्यादीना-मिति । जातयस्तत्तज्जात्युचितकर्मनियमः । मुख्येश्वरेच्छारूपाना-दिनियतिरेव तद्व्यवस्थापिकेत्यर्थः ॥ १४ ॥ अज्ञानां तु चर्या नाभ्या-दिक्रियावन्नियताः सर्गादावभिव्यक्ताः किंतु सर्गे रूढिमायाते सति तत्तद्वर्णादिविभागसंकेतवशतः पृथक् ऐहिकपारलौ-किकसुखदुःखानुभूतिफलाः शास्त्रीयाः स्वाभाविक्यश्च रागादि-वशात्स्वयं कल्पिता इति वैषम्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥ एवं प्रश्नं समाधाय प्रस्तुतेषु मौनेषु वक्तव्यशेषं दर्शयति—विदेहेति । सदेहस्य प्रसिद्धाच्चतुर्विधमौनात्परं तव नोक्तं तच्छृण्विति परेणान्वयः ॥ १६ ॥ तत्ताप्राप्त्यस्तद्भावस्य प्राप्तिः परं श्रेयो मोक्षः ॥ १७ ॥ तत्प्राप्तौ सांख्ययोगानुपाय इति वर्णयिष्य-न्सांख्ययोगिनो लक्षयति—सम्यगिति । संख्यया विवेक-विचारप्रयुक्तराजयोगेन ॥ १८ ॥ कर्मयोगिनो लक्षयति—प्राणेति । युक्त्या प्राग्वर्णितहठयोगेन ॥ १९ ॥ उपादेयं फली-भूततत्त्वसाक्षात्कारेण प्राप्तव्यम् । सर्वेषां द्विविधानामपि योगिनाम् । देहतः अनेनैव देहेन ॥ २० ॥ फलत एतदेव स्फुटयति—यदिति ॥ २१ ॥ ननु विभिन्नरूपयोस्तयोः कुत एकं फलं तत्राह—यत्रेति । प्राणमनोवृत्त्योरुभयोरप्यात्यन्तिक-

वासनां चित्तमेवाहुः कारणं तद्धि संसृतेः ।
 तदकारणतामेति विलीयोभयकर्मसु ॥ २३
 मनः पश्यति वै देहं बालो वेतालकं यथा ।
 स्वात्मानं विलयं नीत्वा न भूयस्तं प्रपश्यति ॥ २४
 मनो मुधैवाभ्युदितमसदेवानवेक्षणात् ।
 स्वप्ने स्वमरणाकारं प्रेक्ष्यमाणं न विद्यते ॥ २५
 मनोभवस्तु संसारः क ममाहं क संतेतिः ।
 उपदेश्योपदेशादिवन्धमोक्षौ च तत्कुतः ॥ २६
 एकतत्त्वधनाभ्यासः प्राणानां विलयस्तथा ।
 मनोविनिग्रहश्चेति मोक्षशब्दार्थसंग्रहः ॥ २७
 श्रीराम उवाच ।
 यदि हि प्राणविलयो मुने मोक्षस्य कारणम् ।
 मृता एव निमुच्यन्ते तन्मन्ये सर्वजन्तवः ॥ २८
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 त्रिष्वेतेषु प्रयोगेषु मनःप्रशमनं वरम् ।
 साध्यं त्रिद्धि तदेवाशु यथा भवति तच्छिष्यम् ॥ २९
 यदा निर्वाणं प्राणास्त्यजन्तीदं शरीरकम् ।

विलयोपलक्षितत्वादुभयवासनाबाधुरोक्तान्ता स्थितिरेव तत्परमं
 पदं तत इत्यर्थः ॥ २९ ॥ एकफलत्वे ओदनसिद्धौ वह्नि-
 जलयोरिव सांख्ययोगयोः समुच्चयो युक्तो न विकल्प इति
 चेत्तत्राह—वासनामिति । संसृतेर्बाह्यान्तःकरणप्राणादिचेष्टा-
 यास्तद्वासनापुञ्जात्मकं मन एव कारणं तच्च सांख्येन योगेन
 वा एकेनैव विलीय तत्त्वज्ञानात्मना परिणतमुभयोः करणप्राण-
 योरपि कर्मसु व्यापारेषु अकारणतामेतीत्येकेनोभयफल-
 सिद्धेर्न समुच्चय इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ देहाहंतादर्शनपूर्विकैव सर्वा
 संसृतिस्तन्मूलं मनस्तच्छान्तौ सर्वसंसृतिशान्तिरुपपत्तेत्याह—
 मन इति ॥ २४ ॥ आत्मदर्शनेन तर्हि कथं मनसो नाश
 इति चेत्तददर्शनजन्यत्वादित्याह—मन इति ॥ २५ ॥ ज्ञानेन
 मनोबाधे तत्कार्याहंममतादिबन्धमोक्षान्ताः सर्वा कल्पना
 बाध्यन्त इत्याह—मनोभव इति । क कुत इत्यनयोः प्रतिपद-
 मन्वयः ॥ २६ ॥ इदानीमुक्तमाधममव्यमाधिकारिकमेव मोक्ष-
 साधनत्रयं सर्वशास्त्रार्थतात्पर्यसंग्रहेण दर्शयति—एकेति
 ॥ २७ ॥ तेषु मध्यमं राम आक्षिपति—यदीति । मरणे
 सर्वेषां प्राणविलयप्रसिद्धेरिति भावः ॥ २८ ॥ त्रयोऽप्युपाया
 मनोनाशद्वारेव मोक्षहेतवो मरणे च न मनोनाशः प्राणनाशो
 वा किंतु मूर्च्छाकाले विलीनसैन्यवदविद्यायां वासनात्मना-
 वस्थानमुत्क्रमणकाले पुनराविर्भाव । 'सविज्ञानो भवति सवि-
 ज्ञानमेवान्ववक्रामती'ति श्रुतेस्तृणजलाशुकादृष्टान्तप्रसिद्धेर्विली-
 नाना प्राणानां चक्षुरादिद्वारेणोत्क्रमणासंभवाच्च । न च स्थूल-
 देहरूपाधाराभावाद्दहिर्निर्गताना विलयः । बाह्याकाशे सहोत्का-
 न्ताभिर्भूतमात्राभिस्तात्कालिकव्यवहारयोग्यदेहकल्पनसंभवादि-
 त्याशयेन वसिष्ठः समाधत्ते—त्रिष्वेतेष्वित्यादिना । मनःप्रश-

तदानुभूय तन्मात्रैर्यान्ति व्योमनि संगमम् ॥ ३०
 वासनासात्मकान्येव विद्धि तन्मात्रकाणि वै ।
 तदात्मकैर्मनोवद्भिः प्राणैः श्लिष्यन्ति नेतरैः ॥ ३१
 सवासनास्तूत्पद्यन्ते प्राणा मुञ्चन्ति देहकम् ।
 तद्व्योमवायुसंश्लेषं यान्ति दुःखाय गन्धवत् ॥ ३२
 मनः साम्बुरिबाम्भोधौ न शाम्यति सवासनम् ।
 नामनस्काः संभवन्ति प्राणाः सूर्य इव त्विषः ॥ ३३
 न जह्वाति मनः प्राणान्विना ज्ञानेन कर्हिचित् ।
 तृणान्तरेणैव विना तृणाङ्गमिव तित्तिरिः ॥ ३४
 ज्ञानादवासनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः ।
 प्राणात्स्पदं च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते ॥ ३५
 ज्ञानात्सर्वपदार्थानामसत्त्वं समुदेत्यलम् ।
 ततोऽङ्ग वासनानाशाद्वियोगः प्राणचेतसोः ॥ ३६
 ततो न पश्यति मनः प्रशान्तं देहतां पुनः ।
 स्वनाशेन पदं प्राप्तं वासनैव मनो विदुः ॥ ३७
 चेतो हि वासनामात्रं तदभावे परं पदम् ।
 तत्त्वं संपद्यते ज्ञानं ज्ञानमाहुर्विचारणम् ॥ ३८

मनमेव वर श्रेष्ठं साध्यं विद्धि ॥ २९ ॥ यदा प्राणा निर्वाणं
 'वण शब्दे', तपशान्तधुरंधुरारावसिद्धं शरीरकं त्यजन्ति तदा
 वासनाकायकर्मोपस्थापितं भाविदेहाकारमनुभूय बाह्यव्योमनि
 तादृशदेहाहंमात्राङ्गैस्तन्मात्रैर्भूतमात्राभिः संगमं यान्ति ।
 तथा च श्रुतिः 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति'
 इति । 'तथथा पेशस्कारी पेशसो मात्रासुपादायान्यजवतरं
 कल्याणतरं रूपं तनुते एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्या
 गमयित्वाऽन्यजवतरं कल्याणतरं रूपं कुर्वते पित्र्यं वा गान्धर्वं
 वा देवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वा न्येषां वा भूतानाम्' इति च ।
 श्रुतौ पेशस्कारी स्वर्णकारः पेशसः स्वर्णस्य मात्रां शकलान्युपा-
 दायेत्यर्थः ॥ ३० ॥ तर्हि ता भूतमात्रा बहिर्जीवान्तरप्राणैः
 सहापि कुतो न श्लिष्यन्ति तत्राह—वासनेति । तत्तज्जीव-
 वासनामात्रात्मकानि तानि तादृशवासनावन्मनोविशिष्टप्राणैरेव
 संश्लिष्यन्ति नेतरैरिति व्यवस्थितमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ प्राणा
 देहान्तरे तदेहवासनासहिता एवोत्पद्यन्ते । यतः पूर्वदेहमपि
 भाविदेहवासनासहिता एव मुञ्चन्ति । देहान्तरे च तदीयहार्द-
 व्योम्ना तदन्तर्गतवायुमिश्र संश्लेषं यान्ति । यथा कुसुमगन्ध-
 स्तिलेषु प्रतिविशस्तत्रतैलेन संश्लेषं यातीति यन्त्रनिष्पीड-
 नादिदुःखाय भवति तद्वत् ॥ ३२ ॥ अत एव मरणमात्रेण न
 मनोनाश इति, न प्राणनाशोऽपीत्याह—मन इति । यथा
 साम्बुधटः अम्भोधौ मग्नो बाह्यजनैरदृश्यमानोऽपि न शाम्यति
 न नश्यति । मनःप्राणयोः समनियतत्वं व्यतिरेकमुखेनान्वय-
 मुखेन च दर्शयति—नामनस्का इति साधनं ॥ ३३ ॥ ३४ ॥
 अत एव ज्ञानादवासनाक्षये उभयनाश इत्याह—ज्ञानादिति
 ॥ ३५ ॥ कथं ज्ञानेन वासनानाश इति चेत्तदेतद्वैतवाधादित्याह—
 ज्ञानादिति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ तदपि ज्ञानं सवासनं सर्वं बाधित्वा

इत्यस्याः संसृते राम पर्यन्तः संप्रवर्तते ।
 स्वयं विवेकमात्रेण रज्जुसर्पभ्रमाकृतेः ॥ ३९
 एकार्थाभ्यसनप्राणरोधचेतःपरिक्षयाः ।
 एकस्मिन्नेव संसिद्धे संसिद्ध्यन्ति परस्परम् ॥ ४०
 तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः ।
 प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः ॥ ४१
 प्राणः शरीरविलये प्रयाति व्योमवायुताम् ।
 यथा वासितमेवेदं सर्वं पश्यति तत्र धा ॥ ४२
 यथा विदेहाः पश्यन्ति प्राणा व्योमनि देहकम् ।
 समनस्कास्तथाचारं सर्वं चानुभवन्ति ते ॥ ४३
 शान्ते वातपरिस्पन्दे यथा गन्धः प्रशाम्यति ।
 तथा शान्ते मनःस्पन्दे शाम्यन्ति प्राणवायवः ॥ ४४
 अविनाभाविनी नित्यं जन्तूनां प्राणचेतसी ।
 कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इव स्थिते ॥ ४५
 मनसः स्पन्दनं प्राणः प्राणस्य स्पन्दनं मनः ।
 एतौ विहरतो नित्यमन्योन्यं रथसारथी ॥ ४६
 आधाराधेयवच्चैतावेकाभावे विनश्यतः ।
 कुरुतश्च स्वनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम् ॥ ४७
 एकतत्त्वधनाभ्यासाच्छान्तं शाम्यत्यलं मनः ।
 तल्लीनत्वात्स्वभावस्य तेन प्राणोऽपि शाम्यति ॥ ४८
 विचार्य यदनन्तात्मतत्त्वं तन्मयतां नय ।
 मनस्ततस्तल्लयेन तदेव भवति स्थिरम् ॥ ४९

यदेवातितरां श्रेयोऽनुपलम्भोपलम्भयोः ।
 द्वयोरप्यसतोस्तत्र शेषे वापि स्थिरो भव ॥ ५०
 एकस्मिन्सुदृढे तत्त्वे तावद्भावं विभावयेत् ।
 भावोऽभावत्वमायाति स्वभ्यासाद्यावदाततम् ॥ ५१
 प्रत्याहारवतां चेतः स्वयं भोग्यक्षयादिव ।
 विलीयते सह प्राणैः परमेवावशिष्यते ॥ ५२
 यदेकतानं भवति चेतस्तद्भवति क्षणात् ।
 शान्ताशेषविशेषौघं चिराभ्यासस्वभावतः ॥ ५३
 अविद्येयं तु नास्तीति बुद्ध्या युक्तियुतं धिया ।
 ज्ञानादेव परावातिस्तदभ्यासस्ततः परम् ॥ ५४
 चित्ते शान्ते शाम्यतीत्यं संसारमृगतृष्णिका ।
 जरामुपगते मेघे मिहिका तन्मयी यथा ॥ ५५
 चित्तमात्रमविद्येति कुर्वतेनैव तत्क्षयम् ।
 तद्रूपं राम चित्तात्मा नाभावो हि परं पदम् ॥ ५६
 मुहूर्तमेव निर्वाणं यदि चेतः परे पदे ।
 तत्तत्परिणतं विद्धि तत्रैवास्वादमागतम् ॥ ५७
 यदि सांख्येन विश्रान्तं चेतो योगेन वापि ते ।
 क्षणं तत्सत्त्वतां यातं न भूय इह जायते ॥ ५८
 चेतो विगलिताविद्यं सत्त्वशब्देन कथ्यते ।
 दग्धसंसारबीजं तत्र दंदात्यन्तरं पुनः ॥ ५९
 कश्चिद्विगलिताविद्यः सत्त्वस्थः शान्तवासनः ।
 परं शून्योपमं सद्यो ज्योतिः पश्यति शाम्यति ॥ ६०

आत्मतत्त्वमेव संपद्यते तच्च तत्त्वं विचारणं रलयोरमेदाद्विगत-
 चालनमचलं ज्ञानमेव क्षिप्यत इत्यनुभवनिष्ठा आहुः ॥ ३८ ॥
 ॥ ३९ ॥ प्रस्तुतमुपादत्ते—एकेति । एकोऽर्थोऽद्वयं तत्त्वं तद-
 भ्यसनं श्रवणाद्यावर्तनम् ॥ ४० ॥ ४१ ॥ सति शरीरे प्राणो-
 त्क्रमणे अस्त्वयं क्रमः, यत्र शरीरस्यैवं शोषच्छेदादिना नाशो-
 स्तत्र कः क्रमस्तमाह—प्राण इति । व्योमवायुतां बाह्याकोश-
 स्थवायुमिलनात्तद्भावम् । तत्र बाह्याकाशे ॥ ४२ ॥ यथा
 यादृशं कर्मोद्भावितवासनामयं सुरनरपञ्चादिदेहकं पश्यन्ति
 तथो तदनुरूपमेव आचारे व्यवहारमनुभवन्ति ॥ ४३ ॥ ४४ ॥
 तिलतैले संक्रान्तकुसुमामोदवन्मिश्रे ॥ ४५ ॥ रथसारथी इव
 अन्योन्यस्पन्दनं विहरतः संपादयतः ॥ ४६ ॥ आधाराधेय-
 वत् अग्नौष्ण्यवत् ॥ ४७ ॥ शान्तं बाधितद्वैतवासनम् । प्राण-
 स्वभावस्य तस्मिन्मनसि लीनत्वादेकीभूतत्वात् ॥ ४८ ॥ तस्मि-
 न्नात्मतत्त्वे लयेन तदात्मतत्त्वमेव स्थिरं भवति ॥ ४९ ॥ अनु-
 पलम्भोऽज्ञानम्, उपलम्भस्तद्वाधिका ब्रह्माकारा वृत्तिस्तयोर्द्व-
 योरप्यसतोर्निवृत्तयोर्यः शिष्यत इति शेषस्तत्र चिन्मात्रे प्राण-
 धारणया वा स्थिरो भवेत्यर्थः ॥ ५० ॥ कियत्कालमेकतत्त्वभा-
 वना धार्या तत्राह—एकस्मिन्निति । भावं तदाकारवृत्तिधा-
 राम् । यावद्भावः सा वृत्तिधारापि चरमसाक्षात्काररुद्धा सती
 अभावत्वमायाति तावदित्यर्थः ॥ ५१ ॥ भोग्यक्षयादाहारक्ष-
 यात्स्वयं देह इव विलीयते ॥ ५२ ॥ धारणान्तैः पञ्चभिरङ्गै-

र्मनसो बाह्याकारक्षये सति धारणादिभिर्भिर्ब्रह्मैकतानतासं-
 पत्त्या निर्विकल्पसमाधिपरिपाकेन ब्रह्मभावः सिद्ध्यतीत्याह—
 यदेकतानमिति ॥ ५३ ॥ अश्रुते अमते च ध्यानधारणाद्यभ्यो-
 सायोगाच्छ्रवणमनेनाभ्यां द्वैतजातमविद्यैव, सा च नास्त्येव,
 तत्त्वज्ञानादेव परावातिरिति प्रमाणप्रमेयासंभावनादोषनिरास-
 पर्यन्तं बुद्धौ ततः परं ध्यानधारणादिना ज्ञानोभ्यासः कार्यं
 इत्यर्थः ॥ ५४ ॥ मेघे जरामपक्षयं शरदि उपगते सति ततो
 हेतोरोगतां तन्मयी । तत आगतं इत्यर्थे 'हेतुमनुष्येभ्योऽन्यत-
 रस्याम्' इत्यनुवर्तमाने 'मयद् च' इति मयद् ॥ ५५ ॥ ब्रह्माका-
 रपरिणतेन तेन चित्तेनैव तस्य चित्तस्य क्षयं कुरु । तस्य
 चित्तक्षयस्य रूपं तु चित्ताधिष्ठानमात्मैव न शून्यता । हि
 यस्मात्तदभावः परं पदं परमपुरुषार्थो न भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥
 अप्यर्थे एवकारः । निर्वाणं विश्रान्तम् । तत्तर्हि तद्ब्रह्मैव परि-
 णतं विद्धि न त्वद्व्यस्तस्याधिष्ठानव्यतिरिक्तं स्वरूपमस्तीति तत्रैव
 निरतिशयस्वप्रकाशानन्दास्वादमागतं सद्य व्युत्थानमिच्छती-
 त्यर्थः । तथाचोक्तं शिवधर्मोत्तरे 'ज्ञानाभूतरसो येन सकृदास्वा-
 दितो भवेत् । विहाय सर्वकार्याणि मनस्तत्रैव धावति ॥' इति
 ॥ ५७ ॥ इदमेव प्रस्तुतयोः सांख्ययोगयोरेकं फलमित्याह—
 यदिति ॥ ५८ ॥ सत्त्वशब्दार्थं स्वयमेवाह—चेत इति ।
 अन्तरं ब्रह्मभावविच्छेदम् ॥ ५९ ॥ तद्दर्शनोन्मुखजना विरला
 एवेत्याह—कश्चिदिति । अज्ञदशा असंभावनाच्छून्योप-

विगलितात्मपदं विगलन्मनः

सुभग सत्त्वमितीह हि कथ्यते ।

न पुनरेति कलामलिनं पदं

कनकतामिव ताम्रमुपागतम् ॥

६१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वा० दे० भो० निर्वा० पू० प्राणमनःसंयोगविचारणं नामैकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः ७०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जीवोऽजीवो भवत्याशु याति चित्तमचित्तात्म् ।
विचारादित्यविद्यान्तो मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ १
मृगतृष्णाजलमिव मनोऽहंतादि दृश्यते ।
असदेव मनोगेव तद्विचारात्प्रलीयते ॥ २
संस्तुतिस्वप्नविभ्रान्तौ वेतालोदाहृतानिमान् ।
प्रश्नानाकर्णय शुभान्प्रसङ्गात्स्मृतिमागतान् ॥ ३
अस्ति विन्ध्यमहादृष्यां वेतालो विपुलाकृतिः ।
स किञ्चिन्मण्डलं गर्वोदाजगाम जिघांसया ॥ ४
स वेतालोऽवसत्पूर्वं कस्मिंश्चित्सज्जनास्पदे ।
बहुबन्धुपहारेण नित्यतृप्ततया सुखी ॥ ५
निर्निमित्तं निरागस्कं पुरोऽप्यभ्यागतं न सः ।
क्षुधितोऽपि नरं हन्ति सन्तो हि न्यायदर्शकाः ॥ ६
स कालेनाटवीगेहो जगाम नगरान्तरम् ।
न्याययुक्त्या जनं भोक्तुं क्षुधा समभिचोदितः ॥ ७
तत्र प्राप स भूपालं रात्रिचर्याविनिर्गतम् ।
तमाह घनघोरेण शब्देनोग्रनिशाचरः ॥ ८

मम् । शब्दश्च तु परं ज्योतिः ॥ ६० ॥ उक्तमेवार्थमनुवदन्नुप-
संहरति—विगलितेति । हे सुभग, उक्तत्रिविधोपायाभ्यासैर्वि-
गलितान्यात्मनो जाग्रत्स्वप्नदुषुतिलक्षणानि आन्तितद्वीजदर्शन-
पदानि यस्य तथाविधं स्वयं चाविद्याक्षयाद्विगलद्वाधितं दग्धप-
टवत् प्रतिभासमात्रमिष्टं मन इह धीवन्मुक्तव्यवस्थायां सत्त्व-
मिति कथ्यते । तच्च वासनाबीजशक्तिदाहात् पुनः रागद्वेषा-
भिमानादिकलामिर्मलिनं संसारपदं न एति । यथा स्पर्शमणि-
सहात्कनकतामुपागतं ताम्रं पुनः कलङ्ककलनामलिनं ताम्रपदं
नैति तद्वदित्यर्थः ॥ ६१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे प्राणमनःसंयोगविचारणं नामै-
कोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

मायाआनलवधस्थाने निदात्मपरिशुद्धये ।

वेतालराजसंवादकयोदाह्रियते शुभा ॥ १ ॥

‘चित्ते शान्ते शान्त्यतीत्यं संसारमृगतृष्णिके’त्युक्तं, चित्तशान्तौ
च विचार एव ज्ञानोदयपर्यन्त उपाय इत्याह—जीव इति ।
इति अनेनोपायेन संपन्नो यः कार्यकारणाविशयोरन्तो नाश-
स मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ १ ॥ उक्तार्याऽसंभावनाहेतुं प्रपञ्चे
दार्ढ्यभ्रमं वारयति—मृगतृष्णेति ॥ २ ॥ असदेव मनोगेव-
त्युक्तार्थस्य समर्थनायाख्यायिकामवतारयति—संस्तुतीति ॥ ३ ॥

वेताल उवाच ।

राजंलब्धोऽसि भीमेन वेतालेन मयाधुना ।
क गच्छसि विनष्टोऽसि भव भोजनमद्य मे ॥ ९
राजोवाच ।
हे रात्रिचर निर्याप्यं मां चेदस्ति वलादिह ।
तत्ते सहस्रधा मूर्ध्ना स्फुटिष्यति न संशयः ॥ १०
वेताल उवाच ।
न त्वामइयहमन्यायं न्यायोऽयं हि मयोच्यते ।
राजासि सकलाशाश्च पूरणीयास्त्वयार्थिनाम् ॥ ११
ममैतामर्थितां राजन्संभवार्थां प्रपूरय ।
प्रश्नानिमान्मयोक्तांस्त्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥ १२
कस्य सूर्यस्य रश्मिनां ब्रह्माण्डान्यणवः कुशाः ।
कस्मिन्स्फुरन्ति पवने महागगनरेणवः ॥ १३
स्वप्नात्स्वप्नान्तरं गच्छच्छतशोऽथ सहस्रशः ।
त्यजन्न त्यजति स्वच्छं कः स्वकूपं प्रभास्वरम् ॥ १४
रम्भास्तम्भो यथा पत्रमात्रमेवं पुनःपुनः ।
अन्तरन्तस्तथान्तश्च तथा कोऽणुः स एव हि ॥ १५

गर्वाद्वधयोग्येण जनेष्वनादरात् ॥ ४ ॥ सक्षिप्योक्तं विस्त्वा-
रयितुं पुनरादित आरभ्याह—स इति । सज्जनस्य राज्ञ आस्पदे
देशे किरातराज्ये कर्कटीव राजकृतेन बहुवध्यजनवत्युपहारेण
नित्यतृप्ततया निर्विकेपसमाधिमुखी ॥ ५ ॥ ६ ॥ कालेन तत्र
वध्यजनालभकालेन । अटवी गेहं यस्य ॥ ७ ॥ रात्रिचर्या
निशि नगरे दुष्टजनपरिज्ञानाय चोरादिवधाय च संचारस्तदर्थं
विनिर्गतम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ निर्याप्यं न्यायापेत्तत्कमेणास्ति-
चेत् ॥ १० ॥ सकलः आशास्यन्त इत्याशा अभिलषितार्थाः ।
किलेति धर्मशास्त्रप्रसिद्धौ ॥ ११ ॥ अज्ञधेदपराधसहस्रं सुलभं
मुञ्चधेदपराधसहस्रं । स च सत्यप्यपराधसहस्रे पालनीय इति
परीक्षणाय प्रश्नपरिपूरणमेव प्रार्थयते—ममैतामिति । संभवा-
र्थमवाधितार्थाम् । अनेनासंभावितार्थप्रश्नच्छलेन परवधप्रश्रुतिः
स्वस्य नास्तीति दर्शितम् ॥ १२ ॥ सर्वेषां प्रश्नानामापाततोऽर्थः
स्पष्टः । तात्पर्यतत्त्वोत्तरसर्गे स्फुटीकरिष्यते ॥ १३ ॥ उत्तरोत्तर-
स्वप्ने पूर्वपूर्वसलतां त्यजन्नपि तत् प्रकाशकं स्वच्छं सत्यात्मस्व-
रूपं न त्यजति ॥ १४ ॥ यथा रम्भायाः कदल्याः स्तम्भः अन्त-
रन्तस्तथा तदन्तश्च पत्रमात्रं वल्कलमात्रम् । दृष्टान्ते तत्स-
दृशवल्कलान्तरं दार्ष्टान्तिके स एवेति विशेष इति भावः ॥ १५ ॥

१ मूले किल इति टीकाकृतपाठोऽसन्निकटवर्त्तमानोऽन्तरेण न दृश्यते.

ब्रह्माण्डाकाशभूतौघसूर्यमण्डलमेवः ।
अपरित्यजतोऽणुत्वं कस्याणोः परमाणवः ॥ १६
कस्यानवयवस्यैव परमाणुमहागिरेः ।
शिलान्तर्निविडैकान्तरूपमज्जा जगन्नयी ॥ १७

इति कथयसि चेन्न मे दुरात्म-
स्तदिह निगीर्य भवन्तमात्मघातिनः ।
फलमिव तव मण्डलं त्रसेयं
प्रसभमुपेत्य जगद्यथा कृतान्तः ॥ १८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० वेतालप्रश्नो नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः ७१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
इत्युक्तवत्ति वेताले वक्तुं प्रश्नान्विदस्य सः ।
उवाच वचनं राजा दन्तांशुधवलाम्बरः ॥ १
राजोवाच ।
आस्ते कदाचिच्चेदं हि ब्रह्माण्डमजरं फलम् ।
उत्तरोत्तरं दशगुणभूतत्वक्परिवेष्टितम् ॥ २
तादृशानां सहस्राणि फलानि यत्र सन्ति हि ।
अत्युच्चैस्तादृशी शाखा विपुला चलपल्लवा ॥ ३
तादृशानां सहस्राणि शाखानां यत्र सन्त्यथ ।
तादृशोऽस्ति महाबृक्षो दुर्लक्ष्यो विपुलाकृतिः ॥ ४
तादृशानां सहस्राणि यत्र सन्ति महीरुहाम् ।
तादृशं वनमत्युच्चैरनन्तरुगुल्मकम् ॥ ५
तादृशानां सहस्राणि वनानां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति घृहच्छृङ्गमत्युच्चैर्भरिताकृतिः ॥ ६
तादृशानां सहस्राणि शृङ्गाणां यत्र सन्त्यथ ।
तादृशोऽस्त्यतिविस्तीर्णो देशो विपुलकोटरः ॥ ७
तादृशानां सहस्राणि देशानां यत्र सन्त्यथ ।

तादृगस्ति बृहद्वीपं महाहृदनदीयुतम् ॥ ८
तादृशानां सहस्राणि द्वीपानां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति महीपीठं विचित्ररचनान्वितम् ॥ ९
तादृशानां सहस्राणि पृथ्वीनां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति महास्फारं महाभुवनडम्बरम् ॥ १०
तादृशानां सहस्राणि जगतां यत्र सन्त्यथ ।
तादृगस्ति महच्छाण्डं चण्डमम्बरपीठवत् ॥ ११
तादृशानां सहस्राणि यत्राण्डानि करण्डकाः ।
तादृशोऽस्ति गतस्पन्दो विपुलाब्धिश्च सागरः ॥ १२
तादृक्सागरलक्षाणि तरङ्गो यत्र पेलवः ।
तादृशः स्वविलासात्मा निर्मलोऽस्ति महार्णवः ॥ १३
तादृगब्धिसहस्राणि यस्योदरजलान्यथ ।
तादृशोऽस्ति पुमान्कश्चिदत्युच्चैर्भरिताकृतिः ॥ १४
तादृशानां नृणां लक्षैर्यस्य मालोरसि स्थिता ।
प्रधानं सर्वसत्त्वानां तादृशोऽस्ति परः पुमान् ॥ १५
तादृशानां सहस्राणि पुरुषाणां महात्मनाम् ।
स्फुरन्ति मण्डले यस्य स्वतनूरुहजालवत् ॥ १६

भूतौघपदेन तदाधारभुवनानि लक्ष्यन्ते । अतिमहत्त्वेन
प्रसिद्धा ये ब्रह्माण्डाकाशादयोऽपि यस्याणोरपेक्षया परमा
अणवः अत्यन्तछुद्राः ॥ १६ ॥ परमाणोः सूक्ष्मस्यैव सतो
महतो गिरेः । निविडं घनतरं यत् सत्तैकान्तरूपं तदेव मज्जा
सारो यस्याः ॥ १७ ॥ इति षट् प्रश्नान् मे न कथयसि चेदुष्टो
देहादिरेव आत्मा यस्य तथाविधः, अतएवापरिच्छिन्नमात्मानं
परिच्छेदेन घातितवानसीत्यात्मघातिनः, तत्तस्मादकथनापरा-
धादेव भवन्तं फलमिव निगीर्य प्रसभं बलात्तव मण्डलं मण्डल-
स्थजनान् त्रसेयम् । 'त्रसेऽह'मिति पाठे विकरणपदव्यत्ययच्छा-
न्दसः ॥ १८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे पूर्वार्धे वेतालप्रश्नो नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

आधप्रश्नसमाधानं विस्तरेणात्र वर्ण्यते ।

अनन्तकोटिब्रह्माण्डफलवृक्षादिकल्पनैः ॥ १ ॥

प्रसिद्धब्रह्माण्डानां त्रसरेणुत्वमित्यल्पदृष्ट्या त्वयोक्तं वक्ष्यमा-
णकल्पनया कोटिकोटिगर्भब्रह्माण्डानामपि तत्र त्रसरेणुत्वसंभ-
वादित्याशयेन विहस्य दन्तानामंशुभिः प्रभाभिर्धवलान्यम्बराणि
वस्त्राण्याकाशं च यस्य तथाविधः सन् ॥ १ ॥ तत्रादौ 'कस्य
सूर्यरश्मीनां ब्रह्माण्डास्तरेणवः' इति प्रथमप्रश्नस्योत्तरं वक्तु-

मभिज्ञतमत्वाभिमानं वेतालस्य तिरस्कुर्वन्कंचित्कल्पनाचमत्कारं
राजा दर्शयति—आस्ते इत्यादिना । इदं त्वया मया चाश्रितं
ब्रह्माण्डमज्ञदृष्ट्या अजरमुत्तरोत्तरं दशगुणाभिर्भूतत्वग्भिर्भूजला-
द्यावरणैः परिवेष्टितम् ॥ २ ॥ इदं ब्रह्माण्डं १ ईदृशब्रह्माण्ड-
सहस्रगर्भाणि पद्मीकृतमहाभूतानि २ तद्गर्भो गन्धतन्मात्रा ३
उत्तरोत्तरं तद्गर्भाणि रसादितन्मात्राणि ७ तद्गर्भं हैरण्यगर्भं
मनः ८ अतीतानागतानन्ततद्गर्भा भूतमात्राराशयः ९ तद्गर्भाः
कल्पकालाः १० तद्गर्भो उत्तरोत्तरस्य दिनभूता ब्रह्मविष्णुरुद्रा-
णामायुःकालस्तदात्मानस्त एव १३ अनन्तकोटीनां तेषां
सत्तात्कृतिव्यवहारप्रवर्तकं मायाशवलं ब्रह्म १४ इत्येतांश्चतु-
र्दशपदार्थानिह क्रमात्फलशाखादिचतुर्दशकल्पनाभिनिर्देश-
यति—तादृशानामित्यादिना । चलानि पल्लवानीव भुवनानि
यस्याम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ शृङ्गपदेनात्र तत्प्रधानो गिरिरेवो-
च्यते । विपुलतमत्वात्सर्वतो भरिताकृतिः ॥ ६ ॥ ७ ॥ महाहृद-
नदीवदाविर्भूतानां विभूतप्रवहणप्राणादिवायुचेष्टाभिर्युतम् ॥ ८ ॥
विचित्राभिर्नामादिरचनाभिरन्वितम् ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥
॥ १२ ॥ १३ ॥ पुमान् विष्णुः ॥ १४ ॥ परः पुमान् रुद्रः
॥ १५ ॥ तनूरुहाः केशलोमानि तज्जालवत् । तथा च श्रुतिः—

तादृशोऽस्ति महादित्यः शतमन्यासु दृष्टिषु ।
 या एताः कलनाः सर्वास्ता एतास्तस्य दीप्तयः ॥ १७
 अस्यादित्यस्य दीप्तीनां ब्रह्माण्डास्त्रसरेणवः ।
 मया चित्सूर्य इत्युक्तः सर्वमेतत्तत्पत्यसौ ॥ १८
 विज्ञानात्मैव परमो भास्करो भाविताशयः ।
 इमे ये भुवनाभोगास्तस्यैव असरेणवः ॥ १९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देव० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० वेतालप्रथमप्रश्नोत्तरवर्णनं नामैकसप्ततितमः सर्गः ७१

द्विसप्ततितमः सर्गः ७२

राजोवाच ।

कालसत्ता नभःसत्ता स्पन्दसत्ता च चिन्मयी ।
 शुद्धचेतनसत्ता च सर्वमित्यादि पावनम् ॥ १
 परमात्ममहावायौ रजः स्फुरति चञ्चलम् ।
 कुसुमाङ्ग इवामोदस्तदतद्रूपकं स्वतः ॥ २
 जगदाख्ये महास्वप्ने स्वप्नास्वप्नान्तरं व्रजत् ।
 रूपं त्यजति नो शान्तं ब्रह्मशान्तत्ववृंहणम् ॥ ३

‘यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विध्वम्’ इति ॥ १६ ॥ प्रत्यग्दृष्टेरन्यासु परागदृष्टिषु या एता रूपादि-
 ब्रह्माण्डान्ताः शतमसंख्याः कलनाः प्रतिभासास्ता एताः सर्व-
 आणिप्रत्यक्षास्तस्यादित्यस्य दीप्तयो रश्मयः ॥ १७ ॥ मया
 चिदात्मा इति एवंप्रभावः सूर्य इति त्वत्प्रश्नोत्तरत्वेनोक्त एत-
 त्सर्वं जगदसौ तपति प्रकाशयति ॥ १८ ॥ भुवनाभोगा
 ब्रह्माण्डाः ॥ १९ ॥ भान्ति स्फूर्तिं लभन्ते । भवन्ति सत्तां
 च लभन्ते ॥ २० ॥ रे वेताल, वर्णितशबलब्रह्मलक्षणस्य त्रैलो-
 क्यमण्डपमणेः सूर्यस्य पारमार्थिकतत्त्वभूते मुख्याधिकारिषु
 विज्ञानं शास्त्रजन्याखण्डाकारसाक्षात्कारस्वप्नमात्रेण कविता-
 त्मनि स्वात्मतया प्रथमाने, अनधिकारिजन्तुमात्रे तु अविकास-
 भाजि अस्फुटे, इह प्रत्यगात्मनि अग्निविस्फुलिद्भवधिजन्म-
 नोर्जीवजगतोर्मवनस्य पृथक्सत्तायाः कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनन्तस-
 भ्रमतानां चावलेखा उलेखा सन्ति । परमार्थदृशा तु मनागपि
 न सन्ति । अतस्त्वं शान्तप्रश्नादम्बरमास्वेत्यर्थः ॥ २१ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 वेतालप्रथमप्रश्नोत्तरवर्णनं नामैकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इहावशिष्टप्रश्नानां पञ्चानामुत्तरं क्रमात् ।

वेतालायामसत्ताय राजा सम्यगुदीर्यते ॥ १ ॥

एवं प्रथमं प्रश्नं समाधाय ‘कस्मिन् स्फुरन्ति पवने महाग-
 गनरेणवः’ इति द्वितीयप्रश्नं राजा समाधत्ते—कालसत्तेत्या-
 दिना । तत्र गगनपदेन प्रविद्धगगनस्यैव ग्रहणं विवक्षितमुत
 महत्पदविशेषितत्वाद्गौण्या महाकालरूपधित्सवलितमायाकाश
 सत स्पन्दशक्तिप्रधानः सूत्रात्माकाशः सत सतो निष्कृष्टः शुद्ध-
 चिदाभासलक्षणो जीवाकाशः अन्यो वास्तु सर्वेष्वपि कल्पेषु

विज्ञानपरमार्कस्य भासा भान्ति भवन्ति च ।
 इमा जगदहर्लक्ष्यः कचिल्लक्ष्यो रवेरिव ॥ २०
 विज्ञानमात्रकचितात्मनि जन्तुजाते
 त्रैलोक्यमण्डपमणेरविकासभाजि ।
 चिज्जन्मनोर्मवनसंभ्रमतावलेखाः
 सन्तीह रे न हि मनागपि शान्तमास्व ॥ २१

रम्भास्तम्भो यथा पत्रमात्रमेवान्तरान्तरम् ।
 अन्तरन्तस्तथेदं हि विश्वं ब्रह्म विवर्त्यपि ॥ ४
 सद्ब्रह्मात्मादिभिः शब्दैर्यदेताभिर्विगीयते ।
 शून्यमन्यपदेशं ते न तर्किकिञ्च किञ्चन ॥ ५
 या या विभाव्यते सत्ता सा सानुभवनिर्मितान् ।
 रम्भास्तम्भवदेतावच्छिन्नात्रममलं ततम् ॥ ६
 सूक्ष्मत्वादप्यलभ्यत्वात्परमात्मा परोऽणुकः ।

तत्तत्सत्ता एव सूक्ष्मतमत्वात्तेषा रेणवस्त्वयोक्त इत्याह—
 कालसत्तेति । स्पन्दः क्रियाशक्तिप्रधानः सूत्रात्मा तत्सत्ता ।
 शुद्धचेतनस्ततो निष्कृष्टचिदाभासस्तत्सत्ता चेत्यादि सर्वं सूक्ष्म-
 त्वात्पावनं निर्दोषं रजः परमात्ममहावायौ कल्पितानेकवि-
 कारचञ्चलं स्फुरतीति परेणान्वयः ॥ १ ॥ ननु परमात्मन
 एव सर्वानुगतसत्तारूपत्वात्तत्र कालादिसत्ता स्फुरतीत्याभाराधेय-
 भावेन व्यपदेशः कथं तत्राह—कुसुमाङ्ग इति । यथा कुसुम-
 मेव स्वाद्वे आमोदाख्यं भेदं स्वत एव परिकल्प्य कुसुमे आमो-
 दरूपकमिव तदाधेयतया स्थितं तद्वत्परमार्थसत्तैव कालादिस-
 त्तामेदात्मतां स्वात्मनि परिकल्प्य स्थितेत्यर्थः ॥ २ ॥ स्वप्ना-
 त्सप्तान्तरं गच्छजित्वादितृतीयप्रश्नस्योत्तरमाह—जगदाख्ये
 इति । शान्तं प्रशान्ततत्त्वप्रदोपमसङ्गज्योतीरूपम् । अत एव
 तथा बोधमात्राद्ब्रह्म शान्तस्त्वृंहणम् ॥ ३ ॥ रम्भास्तम्भो
 यथा पत्रमात्रमिति चतुर्थं प्रश्नं समाधत्ते—रम्भास्तम्भ इति ।
 अन्तःअन्तः ब्रह्मणि विवर्ति विवर्तनशीलम् । अपिशब्दादवा-
 न्तरकारणेषु परिणामशीलं च । अतः सोऽणुस्ततोऽप्यन्तरन्त-
 रित्यर्थः ॥ ४ ॥ विवर्तजगद्वृंहणादिनिमित्तादेव तत्तद्ब्रह्मात्मादि-
 शब्दगोचरता न तु वस्तुतः सर्वधर्मेशून्यत्वादित्याह—ब्रह्मेति
 ॥ ५ ॥ अत एव षट्सत्ता तन्तुसत्तायां पर्यवस्यति तन्तुसत्ता
 कार्पाससत्तायां सा च तत्फलसत्तायां सा शुल्मसत्तायां सा
 जीजञ्जलदिसत्तायामिलादिक्रमेण या सा सत्ता विभाव्यते
 सा सा तत्तदनुभवनिर्मितानाकारान्विहाय रम्भास्तम्भवदेव
 तत्तदनुभवरूपे चिन्मात्रे पर्यवस्यतीत्यतस्तदेवमलं जगदा-
 कारेण तत् विस्तृतमित्यर्थः ॥ ६ ॥ तत्राणुपदप्रवृत्तौ निमित्त-

अनन्तत्वादसावेव प्राप्नो मेर्वादिमूलताम् ॥ ७
अणोरप्यत्यन्तस्य पुंसोऽस्य जगदाद्यपि ।
परमाणुवदाभाति प्रतीतत्वादरूपवत् ॥ ८
परोऽणुरेषोऽलभ्यत्वात्पूरकत्वान्महागिरिः ।
सर्वावयवरूपोऽपि निरस्तावयवः पुमान् ॥ ९
अस्य वै क्षितिमात्रस्य मज्जामात्रं जगन्नयी ।

विज्ञानमात्रमध्यं हि साधो विद्धि जगन्नयम् ॥ १०
विज्ञानमात्रकलनाकलितं जगन्ति-
शान्तस्वभावसुकुमारमनन्तरूपम् ।
वेतालवालक पदं तदलङ्घनीय-
मेवं स्वयं समनुभावय शान्तमास्व ॥ ११

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० वेतालप्रश्नभेदो नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः ७३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति राजमुखाच्छ्रुत्वा वेतालः शान्तिमाययौ ।
भावितात्मतया तत्र विचारोचितया धिया ॥ १
उपशान्तमना भूत्वा मत्त्वैकान्तमनिन्दितम् ।
वभूवाविचलध्यानी विस्मृत्य विषमां क्षुधाम् ॥ २
एतद्राम मयोक्तं ते वेतालप्रश्नजालकम् ।
एवंक्रमेण चिदणौ तेनेदं संस्थितं जगत् ॥ ३
चिदणोः कोशगं विश्वं विचारेण विलीयते ।
कायो वेतालकस्येव शिष्यते यत्पदं तु तत् ॥ ४

संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनान्तरात्मना ।
स्वभावापतितं कुर्वन्निरिच्छं तिष्ठ शान्तधीः ॥ ५
आकाशविशदं कृत्वा मनसैव मनो मुने ।
तिष्ठैकशमशान्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६
स्थिरबुद्धिरसंमूढो यथाप्राप्तानुवर्तिनः ।
राज्ञो भगीरथस्येव दुःसाध्यमपि सिद्ध्यति ॥ ७
संपूर्णशान्तमनसः परितप्तवृत्ते-
नित्यं समे सुखमयात्मनि तिष्ठतोऽन्तः ।
सिद्ध्यन्ति दुर्लभतरा अपि वाञ्छितार्था
गङ्गावतार इव सागरखातवस्तु ॥ ८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० वेतालख्यानं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

माह—सूक्ष्मत्वादिति । एवं सौक्ष्म्येऽपि न पूर्णताहानिरिति
ब्रह्माण्डादयोऽपि तद्दृष्ट्या अतिपरिच्छिन्नत्वात्परमाणुप्राया इति
ब्रह्माण्डाकाशभूतौघेयादिपञ्चमप्रश्नोऽपि दत्तोत्तरः संवृत्त इत्या-
शयेनाह—अनन्तत्वादिति । मेर्वादिपदेन प्रश्नोक्ता मेर्वन्ताः
पञ्च व्युत्क्रमेण गृह्यन्ते तेषां मूलतामाधारताम् ॥ ७ ॥ जग-
दादि ब्रह्माण्डादिपञ्चकं प्रतीतत्वादणुतरतत्तदाकारश्रुतिपरिच्छिन्न-
चित्कणपरिच्छेद्यत्वादरूपवन्निःस्वरूपं स्वाप्नब्रह्माण्डादिवत् ।
तदपि सूक्ष्मतमनादीच्छिद्रेषु भासमानं परमाणुवदेवेति ॥ ८ ॥
'कस्यानवयवस्यैव परमाणुमहागिरेः' इति षष्ठप्रश्नं समाधत्ते—
परोऽणुरिति । अलभ्यत्वाच्चक्षुरादिकरणैरप्राप्यत्वात् । एष
परोऽणुः पूरकत्वात् सर्वतो व्याप्तो महागिरिः । अध्यारोपट्टा
सर्वं मूर्तामूर्तं अवयवरूपं यस्य तथा । नेतिनेत्यपवादेन निर-
स्तावयवः ॥ ९ ॥ तत्र शिलान्तर्निविडैकान्तरूपमज्जाजगन्न-
शीलांशं प्रकटयति—अस्येति । हि यस्माज्जगन्नयं 'द्यावापृथिवी
अन्तरेव समाहिते' इत्यादिश्रुतिषु हार्दाकाशरूपविज्ञानमात्रस्य
मध्यमान्तरं मज्जावत्प्रसिद्धमिति विद्ध्यत्यर्थः ॥ १० ॥ सर्वप्र-
श्नानां निरासेन प्रौढ्या वेतालं परिभवन्निवोक्तार्थसंक्षेपेणोपसं-
हरति—विद्यानेति । हे वेतालवालक, जगन्ति विज्ञानमात्रस्य
कलनानां स्वकौशलानां कलितं प्रकटनं तद्यात्मविज्ञानरूपं भवा-
द्दोर्वेतालचाटभटैरलङ्घनीयमनास्कन्दनीयमेव, अतो मनुज्या
त्यनेवंस्वभावात्मानमनुभावय स्वानुभवमारोहय । शान्तदर्प-

मास्वेत्यर्थः ॥ ११ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे वेतालप्रश्नभेदो नाम द्विसप्ततितमः
सर्गः ॥ ७२ ॥

उपदिश्यात्र वेतालप्रश्ननिर्णयसंस्थितिम् ।

भगीरथस्य वृत्तान्तस्तत्रान्योऽप्यत्र वर्णयते ॥ १ ॥

तत्र तस्मिन् राजनि विचारोचितया धिया अनुमितया
भावितात्मतया तत्त्वज्ञतया निमित्तेन । वेतालपक्षे वा सर्वं
शोध्यम् ॥ १ ॥ अविचलध्यानी । समाधिस्थ इति यावत् ॥ २ ॥
एवंक्रमेण राजवर्णितक्रमेण ॥ ३ ॥ बालप्रान्तिकल्पितवेता-
लकस्य काय इव विलीयते ॥ ४ ॥ चित्तं सर्वत उपसंहृत्य
सो भावः परमात्मा तदापतितं तत्प्रतिष्ठितं कुर्वन् ॥ ५ ॥
हे मुने मननशील राम, एकस्मिन् वस्तुनि शमः सर्ववृत्तिल-
यस्तेन शान्तात्मोपरतचित्तः, अत एव सर्वत्र समं ब्रह्म पश्य-
तीति समदर्शनः ॥ ६ ॥ असंमूढान्तं पूर्वान्वयि । नन्वेवं
स्थितस्य मे कथं देहयात्रासिद्धिस्तत्राह—यथेति । दुःसाध्य-
मन्येषां कष्टसाध्यमपि कार्यं यस्यानायासेनैव सिद्ध्यति ॥ ७ ॥
यथा सगरांशुमहिलीपादिदुर्लभतरोऽपि सागराणां सगरपुत्राणां
तत्त्वातसमुद्रस्य च वस्तु संजीवनमणिप्रायो गङ्गावतारः शान्ति-
तृप्तिसमदर्शित्वादिगुणसंपन्नस्य भगीरथस्यानायासेन सिद्धस्तद्-
दित्यर्थः ॥ ८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वा-
णप्रकरणे पूर्वार्धे वेतालख्यानं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः ७४

श्रीराम उवाच ।

यथा चित्तचमत्कृत्या राहो गङ्गावतारणम् ।

अगीरथस्य संपन्नं तन्मै कथय भो प्रभो ॥ १

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

आसीद्गगीरथो नाम राजा परमधार्मिकः ।

भुवः समुद्रयुक्ताया मण्डलीतिलकोपमः ॥ २

संकल्पानन्तरं प्राप्ता यथामिमतमर्थिनः ।

चन्द्रप्रसन्नवदनादस्माच्चिन्तामणेरिव ॥ ३

साधूनां यो व्यवस्थार्थं घनान्यविरतं ददौ ।

तृणमात्रमुपादत्ते कचिच्चिन्तामणिर्यथा ॥ ४

वज्रसारमिव प्रोतमुज्ज्वलन्नेमि योऽभिनत् ।

अथो मणिरयोयन्नं सर्वदुर्जनचेष्टितम् ॥ ५

अधूमबद्धिदेहश्रीः श्रान्तोऽपि दैन्यमप्यलम् ।

तमोऽहरशृणां नैशं धुमणिवैश्वनामिव ॥ ६

किरन्त्राग्निकणासारमभितः स्वप्रतापजम् ।

मध्याह्नसूर्यकान्ताग्निरिव ज्वलति योऽरिषु ॥ ७

मृदुशीतलसंस्पर्शो यः समाह्लादयन्मनः ।

सुज्ञानां द्रवति क्षिण्यस्येन्दोरिन्दुमणिर्यथा ॥ ८

अगीरथस्यात्र गुणाच्चिन्ता चाथ विचारजा ।

त्रितलेन च संवादो जिह्वासातोऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

चित्तस्य पूर्णतादिलक्षणया चमत्कृत्या ॥ १ ॥ समुद्रयु-
क्ताया भुवो राजा खीयकोसलमण्डलवास्तु तिलकोपमः ॥ २ ॥तस्य दानशौण्डर्यं वर्णयति—संकल्पानन्तरमिति । अर्थिनो
याचका अस्माद्गगीरथाद्यात्रासंकल्पानन्तरमेव समीपगमनवा-
धप्रयोगादिभ्रमं विनैव यथाभिलषितमर्थं प्राप्ताः प्राप्तवन्तः ।‘गत्यर्थकर्मक-’ इति कर्तरि क्तः । चन्द्रप्रसन्नवदनादित्यनेन
दानोत्साहान्मुखे प्रसादातिशय एव न त्वस्य धनव्ययदुःखा-
न्लानिरिति द्योत्यते ॥ ३ ॥ अपात्रेषु दानं वारयति—साधू-
नामिति । एवं व्ययशीलस्य कथं धनप्राप्तिस्तत्राह—तृणमात्र-
मिति । कचिन् आयस्थाने स्वधर्मतः प्राप्तं तृणमात्रमप्युपादत्ते ।यौनस्तयात्तृणोपादानाप्रसिद्धे च चिन्तामणिपदेन कामधेनुर्ल-
क्ष्यते ॥ ४ ॥ यथा वज्रवेधतमणिः अधः अधोभागे अयसा
यन्त्र्यते वध्यते इत्ययोज्यन्नं वज्रसारं दृढतरं वज्रान्तरं परिभ्र-
मन्त्या स्वकान्त्या उज्ज्वलन्ती प्रकाशमाना यन्त्रचक्रनेमिर्यस्मि-
न्कर्मणि तद्यथा भवति तथा भित्त्वा स्वप्रोतं तं गुणयोग्यं करोतितथा यो अगीरथो बलवत्तरमपि सर्वं दुर्जनं तच्चेष्टितं च
सद्देशास्कन्दनेन स्वप्रतापेनोज्ज्वलन्ति रथनेम्यङ्कितानि च मण्ड-
लानि यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा शस्त्राग्नौ तं निगृह्यअधः पाददेशे निगडाद्ययोर्भिर्यज्यते इत्ययोज्यन्नं कृत्वा अभि-
नत् भित्त्वेव गुणपूर्णं चकारेत्यर्थः । ‘वज्रसारमपि’ इति पाठोऽपि

जगद्यज्ञोपवीतस्य स्वर्गपातालवाहिनः ।

गङ्गावाहस्य येनास्यां तृतीयः पूरितो गुणः ॥ ९

अगस्त्यशोषितोऽम्मोधिर्गङ्गापूरेण पूरितः ।

येन दुष्पूरभूतोऽपि महासार्थोऽर्थिनामिव ॥ १०

गङ्गासोपानपद्धत्या येन पातालवासिनः ।

योजिता ब्रह्मणो लोके बान्धवा लोकवन्धुना ॥ ११

ब्रह्माणं शंकरं जह्नुं तपसाराधयंश्च यः ।

भूयोभूयो ययौ खेदमशून्याध्यवसायिनः ॥ १२

यौवने वर्तमानस्य तस्य भूमिपतेरपि ।

प्रविचारयतो लोकयात्रां पर्याकुलामिमाम् ॥ १३

सुविरागचमत्कारविचारकणिकोदभूत् ।

वयस्यपि च तारुण्ये दैवाहल्ली मराविव ॥ १४

एकान्ते चिन्तयामास महीपतिरसाविति ।

जगद्यात्रामिमां नित्यमसमक्षसमाकुलम् ॥ १५

पुनर्दिनं पुनः श्यामा दानादानशतं पुनः ।

तदेव भुक्तविरसं लक्ष्यते कर्म कुर्वताम् ॥ १६

येन प्राप्तेन लोकेऽस्मिन्न प्राप्यमवशिष्यते ।

तत्कृतं सुकृतं मन्ये शेषं कर्म विपूचिका ॥ १७

रूपकेणायमेव तात्पर्यार्थः ॥ ५ ॥ दिवानिशं प्रजापालनाय
सर्वतः परिभ्रमणात्स्वयं श्रान्तोऽपि तृणामधर्मप्रवृत्तिहेतुं तमो-
गेहान्धकारं दैन्यं दारिद्र्यमप्यहरत् । यथा धुमणिवैश्वनां नैशंतमो व्यवहारदैन्यं च हरति तद्वत् । विशेषेण उभयत्र योज्ये
॥ ६ ॥ स्वस्य प्रतापः पराक्रमः अतितप्तता च, तस्मात्प्रात-
मग्निकणानामासारं धारा किरन्सन् योऽरिषु मध्याह्नकालेउद्भूतः सूर्यकान्तशिलाग्निरिव ज्वलति । अग्निपक्षे अराः
अप्राप्येषां सन्तीति अरिणस्तृणादयस्तेषु ॥ ७ ॥ सुज्ञा ब्रह्मत-
त्त्वविदस्तेषां संनिधौ । इन्दुमणिश्चन्द्रकान्तः ॥ ८ ॥ येनगङ्गावाहस्य गङ्गाप्रवाहलक्षणस्य जगद्यज्ञोपवीतस्य तृतीयो गुण-
स्तन्दुः अस्या पृथिव्यां गङ्गावतारणेन पूरितः ॥ ९ ॥ सर्वदि-
गन्तवर्तिनामर्थिना महान् सार्थः सद्यो धनेनेव ॥ १० ॥भूतब्रह्महिवाद्गङ्गादण्डनिर्दग्धत्वाच्च पातालवासिनः अयोगतिं
प्राप्ता बान्धवा, सगरपुत्रा येन गङ्गालक्षणया सोपानपद्धत्याब्रह्मणो लोके योजिता आरोपिताः ॥ ११ ॥ अशून्याध्यवसायिनः
अविच्छिन्नदृढनिश्चयात् स्वमनसः सकाशात् ॥ १२ ॥ अपिशब्दा-
त्तवेवेति गम्यते ॥ १३ ॥ यौवने विचारवैराग्योदयोऽतिदुर्लभइति द्योतनाय मराविवेति ॥ १४ ॥ इति वक्ष्यमाणप्रकारेण
इमां जगद्यात्रां चिन्तयामास । चिन्ताप्रकारमेवाह—नित्यमि-
त्यादिना ॥ १५ ॥ श्यामा रात्रिः । बहुशो मुक्तं विरहं च फलंयस्य तत्तथाविधमेव सर्वेषां कुर्वतां कर्म लक्ष्यते, न त्वपूर्वं पर-
अपुरुषार्थफलं चेत्यर्थः ॥ १६ ॥ तत्तत्प्राप्तिसाधनं कृतं कर्म

पुनःपुनः पर्युषितं कर्म कुर्वन्न लज्जते ।
मूढबुद्धिरबुद्धिस्तु कः कुर्यात्किल बालवत् ॥ १८
अथैकदोद्विग्नमनाः कदाचिन्नितलं गुरुम् ।
एकास्त्वं संसृतेर्भीतः समपृच्छद्भगीरथः ॥ १९

भगीरथ उवाच ।

अन्तःशून्यासु सुचिरं भ्रमत्संसारवृत्तिषु ।
अरण्यानीषु चैतासु भृशं खिन्ना वयं विभो ॥ २०
जरामरणमोहादिरूपाणां भवकारिणाम् ।
भगवन्सर्वदुःखानां कथमन्तः प्रजायते ॥ २१

त्रितल उवाच ।

चिरसाम्यात्मनोऽथेन निर्विभागविलासिना ।
राजन् ज्ञेयावबोधेन पूर्णेन भरितात्मना ॥ २२
क्षीयन्ते सर्वदुःखानि श्रुत्यन्ति ग्रन्थयोऽभितः ।
संशयाः समतां यान्ति सर्वकर्माणि चानघ ॥ २३
ज्ञेयं विदुरथात्मानं संशुद्धं हस्तिरूपिणम् ।
स च सर्वगतो नित्यं नास्तमेति न चोदयम् ॥ २४

भगीरथ उवाच ।

चिन्मात्रं निर्गुणं शान्तमस्ति निर्मलमच्युतम् ।
देहादि नेतरत्किंचिदिति वेदि मुनीश्वर ॥ २५
किं तत्र प्रतिपत्तिर्मे स्फुटतामेति नेतरा ।

विषूचिकेवाशुद्धिदुःखफलमेवेत्यर्थः ॥ १७ ॥ १८ ॥ अथ
उक्तचिन्तानन्तरं संसृतेः सकाशादेकान्तमत्यन्तं भीतः सन्
॥ १९ ॥ भ्रमतां जीवानां रागद्वेषादिसंसारवृत्तिषु तत्फलभूता-
खेतासु स्वर्गनरकमानुष्याद्यरण्यानीषु च ॥ २० ॥ २१ ॥
साधनचतुष्टयश्रवणमननाद्युपायैश्चिराभ्यस्तं यत्साध्यविक्षेपवैष-
म्यशून्यः समाधिस्तदात्मना अनादिसिद्धब्रह्माकारेण च उत्थे-
नाविर्भूतेन ज्ञेयस्य प्रत्यक्तत्त्वस्यावबोधेन सर्वदुःखानि क्षीयन्ते
इति परेणान्वयः ॥ २२ ॥ २३ ॥ उदयं च नैति ॥ २४ ॥
एवमुपदिष्टो भगीरथो विवेकेन स्वयमेवात्मतत्त्वमन्तः पर्या-
लोच्यापाततो निश्चित्य तत्र विक्षेपबाहुल्याच्चित्तस्य प्रतिष्ठामल-
भमानः स्वावगतांशं गुरवे निवेदयंस्तत्स्फुटीभावे विक्षेपोपशमे
चोपायं पृच्छति—चिन्मात्रमिति । अस्तीत्यनेन असत्त्वोप-
पादकोऽज्ञानांशो मे नष्ट इति सूचितम् । देहेन्द्रियप्राणमनो-
शुद्ध्यविद्यान्तमितरत्किंचिदात्मा नेत्यपि त्वद्वचनविश्वासात्स्वोप-
पत्त्या च वेदि ॥ २५ ॥ तत्राभानापादकोऽज्ञानांश इतरावभास-
हेतुर्विक्षेपांशश्च स्वस्य न नष्ट इति दर्शयति—किमिति । अत्र
अनयोः सदसद्विवेकबोधयोर्मध्ये इतरा आद्या सदात्मबोधरूपा
प्रतिपत्तिः स्फुटतां करतलमलकवत्स्पष्टतां नैति तत्र किं
कारणम् । अहं सर्वविक्षेपशान्त्या एतावन्मात्रसंविच्छिन्नं कथं
केनोपायेन स्थामित्यर्थः ॥ २६ ॥ तत्र भगीरथस्य राज्याद्यभि-
मानादेव तत्तद्विषयेषु चित्तघावनाद्विक्षेपस्वप्नाबल्यादेव न
यो० भा० ११९

एतावन्मात्रसंविच्छिन्नः स्यामहं भगवन्कथम् ॥ २६
त्रितल उवाच ।

ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वमेति चेतो हृदम्बरे ।
ततः सर्वेष्वपुर्भूत्वा भूयो जीवो न जायते ॥ २७
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ २८
आत्मनोऽनन्ययोगेन तद्भावमनारतम् ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ २९
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं तदतोऽन्यथा ॥ ३०
रागद्वेषक्षयाकारं संसारव्याधिषेषजम् ।
अहंभावोपशान्तौ तु राजन् ज्ञानमवाप्यते ॥ ३१

भगीरथ उवाच ।

शरीरेऽस्मिंश्चिरारूढो गिरौ तरुरिव स्वके ।
अहंभावो महाभाग वद मे त्यज्यते कथम् ॥ ३२

त्रितल उवाच ।

पौरुषेण प्रयत्नेन त्यक्त्वा भोगौघभावनाम् ।
गत्वा विकसितां सत्तामहंकारो विलीयते ॥ ३३
यन्त्रणापञ्जरं यावद्भङ्गं लज्जादिनाखिलम् ।
अकिंचनत्वशेषेण स्फुटा तावदहंकृतिः ॥ ३४

स्फुटात्मप्रतिपत्तिरिति निश्चित्य त्रितलस्तत्परित्याजनाय प्रथमं
गीतोक्तामानित्वादिसाधनान्युपदिशति—ज्ञानेनेति । ज्ञायते
अनेनेति ज्ञानममानित्वादि तेन 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' इत्यादि-
भगवद्दर्शिते ज्ञेये निष्ठत्वं स्थैर्यम् । सर्वेष्वपुः पूर्णस्वभावः । न
जायते । पूर्णस्वभावाच्च प्रच्यवत इत्यर्थः ॥ २७ ॥ अमानित्वा-
दिषु कानिचिदवयुल्यानुवादव्याख्याभ्यां प्रपञ्चयति—अस-
क्तिरित्यादिना ॥ २८ ॥ 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचा-
रिणी' इत्यस्य तात्पर्यार्थं दर्शयति—आत्मन इति । निष्कृष्टा-
त्मचिन्तनमेवात्र भगवद्भक्तिर्न गुणचरित्रश्रवणकीर्तनादिभग-
वदभिप्रेतेत्यर्थः ॥ २९ ॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं श्रवणमनननिदि-
व्यासनाभ्यासः । तत्त्वज्ञानेनार्थस्य परमात्मतत्त्वस्य दर्शनं
स्फुटाभिव्यक्तिर्या त्वया पृष्टा सा सर्वसाधनफलीभूता ॥ ३० ॥
सर्वेषामेव साधनानामनहंकारलक्षणं साधनं मूलम् । अहंकारे
सति अमानित्वादेर्दुःसंपादत्वादित्याशयेनाह—अहंभावेति
॥ ३१ ॥ तर्हि तत्परित्यागोपायमेव मे वदेति पृच्छति—
शरीर इति ॥ ३२ ॥ विकसितामकामोपहतत्वेन स्फुटीभूतां
सत्तां शुद्धात्माकारतां गत्वा स्थितस्येति शेषः ॥ ३३ ॥ त्यक्त-
राज्यं मां जना न बहुमन्यन्ते, सत्रवश्चोपहृतिष्यन्ति सर्वाभि-
लषितपूरणसमर्थोऽहं कथं भिक्षामटिष्यामि, कथं कदन्नपाना-
दिना जीविष्यामीत्यादिचिन्ताप्रयुक्तलज्जाभिमानादिना कृतं
गृहे पूर्ववदेव नियन्त्रणालक्षणं पञ्जरं यावदकिंचनत्वशेषेण

सर्वमेतद्धिया त्यक्त्वा यदि तिष्ठसि निश्चलः ।

तदहंकारविलये त्वमेव परमं पदम् ॥ ३५

शान्ताशेषविशेषणो विगतभीः संत्यक्तसर्वेषणो

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० भगीरथोपदेशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः ७५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ तस्य गुरोर्वैक्रादित्याकर्ण्य भगीरथः ।

मनस्यादितकर्तव्यः स्वव्यापारपरोऽभवत् ॥ १

ततः कतिपयेष्वेव वासरेषु गतेषु सः ।

अग्निष्टोममखं चक्रे सर्वत्यागैकसिद्धये ॥ २

गोभूयश्चहिरण्यादि ददौ धनमशेषतः ।

द्विजेभ्यो निजबन्धुभ्यो गुण्यगुण्यविचारयन् ॥ ३

दिवसत्रयमात्रेण सर्वमेव परित्यजन् ।

असुमान्नावशेषोऽसावासीद्राजा भगीरथः ॥ ४

अथ सर्वार्थरिक्तं तत्स्विन्नप्रकृतिपौरकम् ।

सीमान्तिने तृणमिव राज्यं स्वमरये ददौ ॥ ५

आक्रान्ते द्विषता राज्ये मुनिः सन्ननि मण्डले ।

अधोवासोबशेषोऽसौ निर्जंगाम समण्डलात् ॥ ६

यत्र न ज्ञायते नास्त्रा यत्र न ज्ञायते मुखात् ।

तत्र ग्रामेश्वरण्येषु दूरेषुवास धैर्यवान् ॥ ७

इत्यल्पेनैव कालेन प्रशान्तसकलैषणः ।

परमेण शमेनासावाप विश्रान्तिमात्मनि ॥ ८

भ्रमन्द्दीपानि भूपीठे कदाचित्कालयोगतः ।

अवशः शत्रुणाक्रान्तं स्वमेव प्राप तत्पुरम् ॥ ९

सर्वत्यागेन न भर्तुं तावदहंकृति स्फुटा अत्यन्तविकसिता

नृत्तलीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ तत् तर्हि ॥ ३५ ॥ सर्वत्यागमेवावश्य-

कर्तव्यतया प्रपञ्चयति—शान्तेति । शान्तान्यनन्तानि छत्र-

चामरादीनि राजविशेषणानि यस्य तथाविधः सन्नमत्यन्तम-

किञ्चनः सन् समग्रां श्रियमरिषु त्यक्त्वा अस्तदेहाभिमानस्त्वेष-

रिष्वेव भिक्षामटन्सन् मां गुरुमपि अलं पूर्णं सन् प्रष्टव्यार्यप-

रिशेषाभावाद्गुह्यतवान्न तु ह्यश्रूषणेन । 'यावदायुस्त्वयो वन्द्या

वेदान्तो गुरुदीधरः' इत्यादिशास्त्राप्रामाण्यप्रसङ्गाद्विद्वत्क्षण-

संपन्नो यदि भवति तर्हि सर्वमुमुक्षुपुणैरुच्चैर्भूतस्त्वमुच्चैः सर्वो-

त्कृष्टं प्रद्वैवासि न ते ससारसभावनापीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ इति

श्रीवासिष्ठमहारामायणतार्पण्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे

भगीरथोपदेशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

मन्त्रव्याजेन सर्वस्वत्यागो राज्ञोऽत्र धर्ष्यते ।

भैक्षचर्या कचिच्छैले त्रितलेन समं स्थितिः ॥ १ ॥

मनसि आहितं निश्चितं वक्ष्यमाणं कर्तव्यं येन तथाविधः

सन् ॥ १ ॥ अग्निष्टोमग्रहणं विज्जित्यन्तानां सोमसंस्था-

गत्वा नूनमकिञ्चनत्वमरिषु त्यक्त्वा समग्रां श्रियम् ।

शान्ताहंकृतिरस्तदेहकलनस्त्वेष्वेव भिक्षामट-

न्मामप्युज्झितवानलं यदि भवस्युच्चैस्त्वमुच्चैरसि ३६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० भगीरथोपदेशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

नानागारांश्च तत्रासौ प्रवाहपतितांश्च तान् ।

पौरांश्च मन्त्रिणश्चैव शमी भिक्षामयाचत ॥ १०

विविदुस्ते नृपं पौरा मन्त्रिणश्च भगीरथम् ।

पूजयामासुरथ तं सविषादाः सपर्यया ॥ ११

प्रभो राज्यं गृह्णाणेति प्रार्थितोऽप्यरिणा मुनिः ।

नादत्तेऽनादृताशेषस्तृणमप्यशनादृते ॥ १२

कतिचिद्विषसांस्तत्र नीत्वाऽन्यत्र जगाम सः ।

भगीरथोऽयं हा कष्टमिति लोकेन शोचितः ॥ १३

अथान्यत्रोपशान्तात्मा परिविश्रान्तधीः सुखी ।

आत्मारामं कदाचित्तु स प्राप त्रितलं गुरुम् ॥ १४

स्वमेव स्वागतं कृत्वा तेन सार्धं भगीरथः ।

कंचित्कालमुवासाद्रौ वने ग्रामे पुरे जने ॥ १५

समतामुपयातौ तौ गुरुशिष्यौ समौ स्थितौ ।

कलयामासतुः स्वस्थौ विनोदं देहधारणम् ॥ १६

किमयं धार्यते देहः किं वानेनोज्झितेन नः ।

यथाक्रमं यथाचारं तिष्ठत्वेष यथास्थितम् ॥ १७

इति निश्चित्य तिष्ठन्तौ तौ वनाद्वनगामिनौ ।

अनानन्दं परानन्दं नासुखं न च मध्यमम् ॥ १८

नामुपलक्षणम् ॥ २ ॥ अगुणि श्रुताध्ययनादिविकलमपि

अविचारयन् । तद्विचारे विलम्बापत्तेः ॥ ३ ॥ असवः प्राणा-

स्तन्मात्रावशेषः ॥ ४ ॥ सीमान्तिने सीमान्ते संनिहिताय

॥ ५ ॥ अधोवासः कौपीनाच्छादनं तदवशेषः ॥ ६ ॥ यत्र

स्वयं दृष्टोऽपि जनैर्भगीरथनाम्ना न ज्ञायते । यत्र च जनमुखा-

त्स्वनामपि न ज्ञायते न श्रूयते तत्र तादृशेषु ॥ ७ ॥ इति

अनया रीत्या वर्तमानः ॥ ८ ॥ द्वीपानि नयन्तरितानि मण्ड-

लानि । अवशः सन् दर्शनाधीनचित्तः ॥ ९ ॥ प्रवाहपति-

तान् क्रमप्राप्तान् नानागारान् । छान्दसं पुंस्त्वम् । प्राप्येति

शेषः ॥ १० ॥ विविदुः परिचिक्वुः ॥ ११ ॥ अनादृतमशेषं

राज्यं येन ॥ १२ ॥ शोचितः शोकविषयीकृतः ॥ १३ ॥ १४ ॥

स्वमेव गुरुमिति पूर्वान्वयि । स्वागतप्रहर्षं वन्दनाद्युपलक्षणम्

॥ १५ ॥ विनोदं कुतूहलभूतं देहधारणम् ॥ १६ ॥ यथाक्रमं

यथाशास्त्रोक्तक्रमम् । यथाचारं वृद्धाचारमनुष्ठानं च तिष्ठतु

॥ १७ ॥ न विद्यन्ते विषयानन्दा यत्र तथाविधं परानन्दं

प्राप्यति शेषः । तदेव विशिनष्टि—नासुखमिति । असुखं

धनानि वाजिविभवाद्यैश्वर्यं चाष्टधोदितम् ।
सिद्धैरप्यर्पितं तुष्टैर्मेनाते जर्जरं तृणम् ॥ १९
स्वकर्मणैव देहोऽयं यावत्सत्त्वमनिच्छया ।
धारणीय इति स्वेन कर्मणैवाथ तस्थतुः ॥ २०

अभिननन्दतुरागतमुत्तमौ
निजसमाचरणक्रमजं मुनी ।
सुखमसौख्यमभीप्सितवर्जितौ
समसमेऽतिसमौ शमिनौ स्वतः ॥ २१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० भगीरथनिर्वाणं नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः ७६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथैकदा पुरे श्रेष्ठे कस्मिंश्चिन्मण्डलान्तरे ।
अनपत्यं नृपं मृत्युरहन्मत्स्य इवामिषम् ॥ १
तत्र प्रकृतयः खिन्ना नष्टदेशकमा नृपम् ।
अन्विष्यन्ति स्म संयुक्तं गुणलक्ष्म्या विशालया ॥ २
तं भगीरथमासाद्य स्थिरं भिक्षाचरं मुनिम् ।
परिज्ञाय समानीय सैन्ये चक्रुर्महीपतिम् ॥ ३
भगीरथः क्षणेनैव प्रावृषीवाम्बुना सरः ।
वहतिः सेनया गुर्व्या झटित्याशिश्चिये गजम् ॥ ४
भगीरथो जगन्नाथो जयतीति जनारवैः ।
नीरन्ध्रतामुपाजग्मुर्गिरीन्द्राणां महागुहाः ॥ ५
तत्र तं पालयन्तं तद्राज्यं राजानमादताः ।
आजग्मुः प्राक्प्रकृतयः प्रादुरित्थं नृपाधिपम् ॥ ६
प्रकृतय ऊचुः ।
राजन्नस्माकमधिपो यस्त्वया स पुरस्कृतः ।
मृत्युना विनिगीर्णोऽसौ मत्स्येनेवामिषं मृदु ॥ ७

दुःखं तद्रहितम् । मध्यमं सुखदुःखोभयश्चान्तरालावस्था
तद्विजम् ॥ १८ ॥ तयोर्मानुषभोगेष्विव दिव्यभोगेष्वपि वैराग्य-
दार्ढ्यं दर्शयति—धनानीति । तच्चरितसंतुष्टैः सिद्धैर्ब्रह्मादि-
भिरर्पितं दत्तमणिमादिमेदेनाष्टधा ददितं असिद्धमैश्वर्यं च
जर्जरं जीर्णतमं तृणमिव मेनाते ॥ १९ ॥ सारम्भकेण आर-
ब्धकर्मणैव यावत्सत्त्वं यावदायुर्धारणीय इति निश्चित्य तस्थतुः
॥ २० ॥ तौ मुनी निजेन पूर्वसमाचरणक्रमेण जातं सुखम-
सौख्यं दुःखमपि अभिननन्दतुः । यतस्तौ समेभ्योऽपि समे
मत्स्याणि अतिसमौ एकरसीभूतौ सन्तौ स्वतस्तत्त्वभावादेव शमिनौ
परमशान्तिमन्तौ ॥ २१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे भगीरथनिर्वाणं नाम पञ्चसप्तति-
तमः सर्गः ॥ ७५ ॥

पुनर्भगीरथस्येह राज्यप्राप्तिरुदीर्यते ।

आराध्य ब्रह्मरुद्रादीन् गङ्गायाश्चावतारणम् ॥ १ ॥

कोसलमण्डलाद्भगीरथास्पदमण्डलाच्च मण्डलान्तरे । अहन्
इतवान् । आमिषं क्षुद्रमत्स्यादि ॥ १ ॥ नष्टो देशस्य क्रमः
पालनमर्यादा चेपां तथाविधाः सन्तः पालनसमर्थया गुणलक्ष्म्या
संयुक्तं नृपमन्विष्यन्ति स्म ॥ २ ॥ सर्वगुणलक्ष्मीसमन्वितो-

तत्तत्पालयितुं राज्यं प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
अप्रार्थितोपयातानां त्यागोऽर्थानां च नोचितः ॥ ८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति संप्रार्थितो राजा तदङ्गीकृत्य तद्वचः ।
सप्तसागरचिह्नायाः स बभूव भुवः पतिः ॥ ९
समः शान्तमना मौनी वीतरागो विमत्सरः ।
प्राप्तकार्यैककरणः स तिरोहितविस्मयः ॥ १०
पातालतलनष्टानां सागराकारकारिणाम् ।
पितामहानां गङ्गाम्बु शुश्रुवे तारणक्षमम् ॥ ११
तदा किल स्वर्गनदी बहति स्म न भूतले ।
पितृणां भूतविख्योऽभूत्तेन गङ्गाजलाञ्जलिः ॥ १२
भगीरथेन च महीमवतारयितुं दिवः ।
गङ्गां गृहीतो नियमस्ततःप्रभृति भूभृता ॥ १३
ततो राज्यं परित्यज्य मन्त्रिणां भूपतिः शमी ।
तपसे कार्यकार्येहो जगाम विजनं वनम् ॥ १४

इयमिति परिज्ञाय प्रत्यभिज्ञाय तत्रागते सैन्येऽभिषिच्य मही-
पतिं चक्रुः ॥ ३ ॥ झटिति गजं आशिश्चिये आरुरोह ॥ ४ ॥
नीरन्ध्रतां पूर्णताम् ॥ ५ ॥ तस्मिन्नेव काले दैवात्कोसलराज्य-
हारिणोऽपि मरणादयोध्यास्था अपि प्रकृतयो भगीरथमागम्य
प्रार्थयामासुरित्याह—तत्रेति । भगीरथस्यैव प्राक्तना मन्त्रिपुरो-
हितादिप्रकृतयः ॥ ६ ॥ राज्यं त्यजता त्वया यः सीमान्त-
वासी अरिः राज्यदानेन पुरस्कृतः असौ ॥ ७ ॥ तत्तस्माद्धेतो-
स्तत्प्राक्तनं राज्यम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ मौनी मितहितसत्यवाक् ।
तिरोहितस्त्वत्त्वज्ञानेन बाधितो विस्मयो महत्यापि कौतुके
आश्चर्यतावुद्धिर्यस्य ॥ १० ॥ अश्वान्वेषणाय भूमेः खननात्सागरा-
कारं गर्तं कर्तुं शीलं येषाम् । कपिलक्रोधाग्निना पातालतले
नष्टानां भस्मीभूतानां स्वपितामहानां गङ्गाम्बु प्लावनेन जलाञ्ज-
लिदानेन च तारणक्षमं न प्राकृतं जलमिति ताक्ष्यवचनं जन-
परम्परया तेन शुश्रुवे इत्यर्थः ॥ ११ ॥ तदानीं भूतले गङ्गा
स्थितैव तत्रैव जलाञ्जलिः कुतो न दत्त इत्याशङ्क्याह—तदेति ।
तेन भगीरथेनैवान्येषामपि पितृणां गङ्गाजलाञ्जलिर्भूता संजाता
विख्या प्रख्यातिर्यस्य तथाविधोऽभूदित्यर्थः ॥ १२ ॥ तत्स्व-
च्छ्रवणादिनात्प्रभृति ॥ १३ ॥ गङ्गावतारणकार्यार्थं यत्तपआदि

तत्र वर्षसहस्रैश्च समाराध्य पुनःपुनः ।
 महाप्राणं शंकरं जह्नुं भुवि गङ्गामयोजयत् ॥ १५
 ततः प्रभृत्यमलतरङ्गभङ्गिनी
 जगत्पतेः शशिविभुदङ्गसङ्गिनी ।
 ममस्तलाभिपतति गां त्रिमार्गगा
 महात्मनामिव बहुपुण्यसंततिः ॥ १६

स्फुरत्तरङ्गभङ्गिनी स्वप्नेनपुनश्चासिनी
 प्रसन्नपुण्यमञ्जरीयुतेव धर्मसंततिः ।
 मगीरथे महीपतौ यशःप्रचारवीथिका
 तदा हि सा त्रिमार्गगा महीतले बभूव ॥ १७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मीकीये दे० श्लोकोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० गङ्गावतरणं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः ७७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 एतामवष्टभ्य दृशं मगीरथधिया धृताम् ।
 समः स्वस्थो यथाप्राप्तं कार्यमाहर शान्तधीः ॥ १
 इदं पूर्वं परित्यज्य क्रोडीकृत्य मनःखगम् ।
 शान्तमात्मनि तिष्ठ त्वं शिखिध्वज इवाचलः ॥ २
 श्रीराम उवाच ।
 कोऽसौ शिखिध्वजो नाम कथं वा लब्धवान्पदम् ।
 एतन्मे कथय ब्रह्मन्भूयो बोधविवृद्धये ॥ ३
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 द्वापरे भवतां पूर्वमिदानीं च भविष्यतः ।
 तेनैव संनिवेशेन दंपती स्निग्धतां गतौ ॥ ४
 श्रीराम उवाच ।
 यत्पूर्वमासीद्भगवंस्तदिदानीं तथैव हि ।
 भविष्यति किमर्थं वै वद मे वदतां वर ॥ ५
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 जगन्निर्माणनियतेरस्या ब्रह्मादिसंविदः ।
 ईदृशव्यवस्थितिर्नित्यमनिवार्यस्वभावजा ॥ ६
 यदन्यद्बहुशो भूत्वा पुनर्भवति भूरिशः ।

अभूत्वैव भवत्यन्यः पुनश्च न भवत्यलम् ॥ ७
 अन्यत्प्राक्संनिवेशाल्भ्यं सादृश्येन विवल्गतिः ।
 सदृशा विषमाश्चैव यथा सरसि वीचयः ॥ ८
 ता एवान्याश्च दृश्यन्ते व्यवस्थाः संसृतौ तथा ।
 तस्माद्राजेव भूयोऽपि वक्ष्यमाणकशेश्वरः ॥ ९
 भविष्यति महासेजास्तद्वृत्तान्तमिसं शृणु ।
 द्वापरे पूर्वमभवदतीते सप्तमे मनौ ॥ १०
 चतुर्युगे चतुर्थे तु सर्गेऽसिन्कुरुणां कुले ।
 जम्बूद्वीपे प्रसिद्धस्य विन्ध्यस्यादूरसंस्थिते ॥ ११
 मालवानां पुरे श्रीमान्शिखिध्वज इतीश्वरः ।
 धैर्यौदार्यदशायुक्तः क्षमाशमदमान्वितः ॥ १२
 शूरः शुभसमाचारो मौनी गुणगणाकरः ।
 आहर्ता सर्वयज्ञानां जेता सर्वघनुष्मताम् ॥ १३
 कर्ता सकलकार्याणां मर्ता पूर्ववपुर्भुवः ।
 पेशलस्निग्धमधुरो विदग्धः प्रीतिसागरः ॥ १४
 सुन्दरः शान्तसुमगः प्रतापी धर्मवत्सलः ।
 वदिता विनयार्थानां दाता सकलसंपदाम् ॥ १५
 मोक्षास्तत्सङ्गसहितः सुश्रोता सकलश्रुतेः ।

कार्यं तदर्थं ईहा चेष्टा यस्य ॥ १४ ॥ अयोजयत् अनवतार्यं
 संयोजितवान् ॥ १५ ॥ जगत्पतेः शशिविभुतः शिवस्याङ्ग-
 संनिनी विरसि संगता । आपेक्षत्वादसमर्थत्वेऽपि स्वमासङ्का-
 न्वसः । जगत्पतेर्ब्रह्मणो वा नियोगादिति शेषः । नमस्तलाद्गो-
 भूमिं निपतति । महात्मनां स्वर्गिणा बह्वी पुण्यसंततिरिवेत्यु-
 ल्लेक्षा ॥ १६ ॥ मगीरथे महीपतौ संजातस्य शाश्वतस्य
 यशस आसमुद्रं प्रचारार्थं वीथिका इति रूपकोत्प्रेक्षा ॥ १७ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहाराभायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 गङ्गावतरणं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

चूडालाल्यानमुक्तार्थद्विद्वेष्टावतार्यते ।
 शिखिध्वजस्य माहात्म्यं विवाहक्रीडनक्रमाः ॥ १ ॥
 मगीरथेन पश्चाद्भगवत्काले धिया धृताम् ॥ १ ॥ इदं विम-
 वजातं परित्यज्य । मनःखगं क्रोडीकृत्य हृदि निरुद्धः ॥ २ ॥
 ॥ ३ ॥ दंपती ज्ञायापती पूर्वकल्पे द्वापरे अभूताम् । इदानीं-
 मद्यादिशे चतुर्युगेऽपि सद्वापरे तेनैव संनिवेशेन भविष्यतः

॥ ४ ॥ भूतभविष्यतोः सादृश्ये को हेतुरिति रामप्रश्नायै-
 ॥ ५ ॥ जगन्निर्माणे नियतिरूपाया ब्रह्मादीनां सत्यसंक्षय-
 विदः । अनिवार्यस्वभाव एव तद्वेतुरित्यर्थः ॥ ६ ॥ ईदृशी-
 त्युक्तं प्रपद्यति—यदिति । यथा एकस्मिन्नाम्रतरो जन्मदन्-
 रफलं बहुशो भूत्वा पुनःपुनस्तादृशमेव भूरिशो भवति । स्व-
 षट्सु अभूत्वैव भवति स च छिन्नः पुनस्तस्मिन् भवति ॥ ७ ॥
 ॥ ८ ॥ संसृतौ शिखिध्वजादिसंसारेऽपि तथेत्यर्थः ॥ एषा
 अतीतशिखिध्वज इव वक्ष्यमाणकथायां वर्ण्यत्वेन ईश्वरो जग-
 ॥ ९ ॥ १० ॥ कुरुणां कुरुदेवाधिपतीनां कुरुपञ्चानां च-
 वंशे । तद्राजप्रत्ययस्य बहुषु लुक् । नासि वीर्वाभावश्चन्द्र-
 ॥ ११ ॥ मालवानां पुरे उज्जयिन्यामिति यावत् ॥ १२ ॥
 ॥ १३ ॥ सकलानां वापीकूपतडागरासादिकार्याणाम् । विदग्धो
 लोकशास्त्रनिष्ठातः ॥ १४ ॥ शान्तश्चासौ सुमगः शौक्य-
 लक्षणयुक्तश्च विनयार्थानां परेषामपि विनयप्रसाहेन
 शक्त्यानां वदिता वक्ता ॥ १५ ॥ सर्वं वेद-ज्ञानासि जगति

वेदासौ मातनाशून्यः स्त्रैणं तृणवदस्पृशन् ॥ १६ ॥
 पितरि स्वर्गमापन्ने बाल एवोत्तमौजसा ।
 कृत्वा षोडशवर्षाणि स्वयं दिग्विजयं वशी ॥ १७ ॥
 नूतं साम्राज्यसंपत्त्या भूमण्डलमयोजयत् ।
 अतिष्ठद्विगताशङ्कं प्रालम्बन्धर्मतः प्रजाः ॥ १८ ॥
 स धीमान्मन्त्रिभिः सार्धं यशसा शुक्लयन्दिशः ।
 अथ गच्छत्सु वर्षेषु वसन्ते प्रोल्लसत्यलम् ॥ १९ ॥
 पुष्पेषु जृम्भमाणेषु स्फुरत्सु शशिरश्मिषु ।
 मञ्जरीजालदोलासु विटपान्तःपुरान्तरे ॥ २० ॥
 रजःकर्पूरधवले बलदलकपाटके ।
 आमोदविलसत्पुष्पगुलुच्छकवितानके ॥ २१ ॥
 गायत्सु गहनेष्वधैर्मिथुनेष्वलिनां मिथः ।
 आवाति मधुरे प्रायौ शशिशिक्करशीतले ॥ २२ ॥
 कदलीकन्दलीकच्छतलपल्लवलासिनि ।
 कान्तां प्रति बभूवास्य वसन्तेतः समुत्सुकम् ॥ २३ ॥
 क्षीवं कुसुमसंभारसौगन्ध्यमधुरासवैः ।
 मनो नान्यास्पदं चक्रे सवसन्तमिवोदितम् ॥ २४ ॥
 उद्यानवनदोलासु लीलाकमलिनीषु च ।
 कदा प्रणयिनीं मुग्धां हेमाद्रिसुकुलस्तनीम् ॥ २५ ॥
 करिष्ये कामिनीमङ्गे पर्यङ्गे कुङ्कुमाङ्किताम् ।
 कदा कमलवल्लीनां दीलाखलिरिवालिनीम् ॥ २६ ॥
 आलोलां तां निवेक्ष्यामि बालां भुजलतानुगाम् ।
 मृणालहारकुन्देन्दुवृन्दवल्लभमिलाषिणी ॥ २७ ॥
 मत्कृते मद्रनातसा कदा स्यादिन्दुसुन्दरी ।
 इति चिन्तापरो भूत्वा कुसुमावचयोन्मुखः ॥ २८ ॥

विजहार वनान्तेषु कुसुमोपवनेषु च ।
 वनोपवनलेखासु लीलाकमलिनीषु च ॥ २९ ॥
 वल्लीवलयगोहेषु विविधोद्यानभूमिषु ।
 वनोपवनविन्यासवर्णनावलितासु च ॥ ३० ॥
 शृङ्गाररसगर्भासु कथास्वरमतोन्मताः ।
 हृदि हारलसत्कायविलोलालकवल्लरीः ॥ ३१ ॥
 कुमारीः पूजयामास सुवर्णकलशस्तनीः ।
 यतन्मन्ये विदुर्भन्या मन्त्रिणो नृपनिश्चयम् ॥ ३२ ॥
 इङ्किताकारवेदित्वमेव मन्त्रिपदं परम् ।
 अथ तस्य विवाहाय मन्त्रिवर्गो विचारयन् ॥ ३३ ॥
 सुराष्ट्राधिपतेः कन्यां यथाचे यौवतान्विताम् ।
 नवयौवनसंपन्नां भार्यात्वे विधिनोत्तमाम् ॥ ३४ ॥
 उपयेमे स तामात्मसदृशीं प्रतिमामिव ।
 चूडालेति भुवि ख्याता नाम्ना नृपतिसुन्दरी ॥ ३५ ॥
 सा तं भर्तारमासाद्य रेजे फुल्लेव पद्मिनी ।
 नीलनीरजनेत्रां तां चूडालां स शिखिध्वजः ॥ ३६ ॥
 स्नेहाद्विकासयामास सूर्यो देवो यथालिनीम् ।
 अवर्धत तयोः प्रीतिरन्योन्यार्पितचेतसोः ॥ ३७ ॥
 हावभावविलासाद्यैरङ्गैर्नवलतेव सा ।
 सुमन्थर्पितसर्वार्थः स सुखी सुस्थितप्रजाः ॥ ३८ ॥
 राजहंस इवाङ्गित्या रेमे दयितया तथा ।
 अन्तःपुरेषु दोलासु लीलाकमलिनीषु च ॥ ३९ ॥
 उद्यानेषु विहारेषु लतापुष्पप्रदेषु च ।
 कदम्बवनलेखासु चन्दनागुरुवीथिषु ॥ ४० ॥

मानना अभिज्ञताभिमानस्तच्छून्यः । स्त्रैणं स्त्रीव्यसनादिः ॥ १६ ॥
 उत्तमेन भोजसा स्वबाहुवीर्येण । अनेन पिता माण्डलिकः ।
 एवासीदसौ स्वबाहुवीर्येणैव सम्राट् संपन्न इति गम्यते ॥ १७ ॥
 साम्राज्यप्रयुक्त्या संपत्त्या । तदा हि कामि दस्यूनामभावात्प्र-
 जानां धनं वर्धत इति विगतजेटव्यशत्रुसङ्गावाशङ्कम् ॥ १८ ॥
 वर्षेषु गच्छत्सु । यौवने प्राप्ते सतीति यावत् । अथास्य चेतः
 कान्तां प्रति समुत्सुकं बभूवेति प्रथमेन संबन्धः ॥ १९ ॥
 विटपः शाखा तलक्षणे अन्तःपुरान्तरे मञ्जरीजालदोलासु
 अलिनां मिथुनेषु गायत्स्विति व्यवहितेनान्वयः ॥ २० ॥
 तदेवमन्तःपुरं तत्सामग्रीकल्पनेन वर्णयति—रजः इति ॥ २१ ॥
 शशिना शीकरैश्च शीतले ॥ २२ ॥ कदली प्रसिद्धा । कन्दन्यो
 शुल्ममेदास्तेषां कच्छप्रायेषु तलेषु पल्लवेषु च लासिनि लास्य-
 शीले इति शैलमान्योपपादकं वायोर्विशेषणम् । वसदित्युक्त्या
 पूर्वमेव गुणसौन्दर्यादिश्रवणानूडालायामनुरक्तमिति गम्यते
 ॥ २३ ॥ कुसुमसंभाराणां सौगन्ध्यलक्षणैर्मधुरैरासवैः क्षीवं
 मत्तं सत् सवसन्तं वनमिव उदितं रागपल्लवितं मनः अन्यास्पदं
 कान्तातिरिक्तविषयावलम्बनं च चक्रे ॥ २४ ॥ तदौत्सुक्य-
 प्रकारं प्रपद्यति—उद्यानेत्यादिना ॥ २५ ॥ २६ ॥ निवे-

क्ष्यामि-परिणेष्यामि । ममेव तस्या अपि स्वामिलाषप्रयुक्तसं-
 तापः कदा स्याद्येन शीघ्रं घटना स्यादित्याशयेनाह—मृणा-
 लेति । वृन्दवल्लभः पुष्पितलतागृहात्मना वृन्दीभूता वल्लभस्तद-
 मिलाषिणी ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ वनानामुपवनानां च
 गुणानुवर्णने आवलितासु कथासु चारमतेति सप्तमीनां संबन्धः
 ॥ ३० ॥ ३१ ॥ कुमारीः हृदि पूजयामास बहुमेने, सांक्र-
 त्तिकभूषणैरलं चक्रे वा । मन्ये इत्यन्ययं वितर्के । वितर्कवचनं
 वसिष्ठस्य वाक्यालंकारार्थम् ॥ ३२ ॥ मन्त्रिणां पदं लक्षणम् ।
 परस्परानुरागगुणशीलकुलादिसंपत्तिं विचारयन् ॥ ३३ ॥
 युवतीनां समूहो यौवतम् । 'भस्यादे तद्धिते' इति पुंवङ्गावः ।
 तेनान्विताम् । नवेन यौवनेन वयसा च संपन्नम् ॥ ३४ ॥
 प्रतिमां प्रतिच्छायांमिव सदृशीमनुरूपाम् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
 विकासयामास प्रसादयामास ॥ ३७ ॥ हावभावादयः
 शृङ्गारचेष्टाभेदास्तदाद्यैरङ्गैर्नवलतेव सा शुशुमे इति शेषः ।
 शोभनैः राजचित्तानुवर्तिभिरनुरक्तैर्मन्त्रिभिरर्पिताः सर्वे उपभो-
 ग्यार्था यस्मै । अथवा शोभनैर्धार्मिकैर्मन्त्रिभिः सर्वेभ्योऽर्थिभ्यः
 अर्पिताः सर्वे अभिलषितार्था यस्य । अत एव सुस्थितप्रजास्व-
 त्पालनविशेषपरहितः सन् रेमे ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ चन्दनागुरु-

मन्दारदामलोलासु कदलीकन्दलीषु च ।
 पुरान्तेषु वनान्तेषु दिगन्तेषु सरस्सु च ॥ ४१
 जंगलेषु जगन्तेषु जम्बूजम्बीरजातिषु ।
 बभूवाह्लादकं सर्वं तयोरन्योन्यचेष्टितम् ॥ ४२
 सद्बर्षयोर्धुरवरैर्धुभूम्योरिव कान्तयोः ।
 नित्यमेव वियुक्तत्वात्प्रियत्वाच्चेष्टितस्य च ॥ ४३
 मिथः कलाकलापस्य कोविदौ तौ बभूवतुः ।
 स्वरूपमेकमेवैतौ दधतुर्मित्रतां गतौ ॥ ४४
 अन्योन्यहृदयस्थत्वादिव संक्रान्तमक्षतम् ।
 सर्वशास्त्रार्थवैदग्ध्यं चित्राद्यपि मुखात्प्रभोः ॥ ४५
 बालः कालादिवागृह्य साऽसीत्सर्वार्थपण्डिता ।
 नृत्यवाद्यादि यावच्च चूडालावदनादसौ ॥ ४६
 अशिक्षत बभूवाथ कलानामतिकोविदः ।
 अमावास्यामिवेन्द्रकावन्योन्यविलसत्कलौ ॥ ४७
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामा० वा० दे० सो० निर्वाण० पू० चूडालोपाख्याने शिखिष्वजविलासकथनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

मिथो हृदयसंस्थौ तौ द्वावप्यैक्यमुपागतौ ।
 तौ संस्थितावेकरसावन्योन्यं दयितावुभौ ॥ ४८
 पुष्पामोदाविवाभिर्बौ भूतलस्थौ शिवाविव ।
 वैदग्ध्यसुन्दरमती सर्वशास्त्रार्थपण्डितौ ॥ ४९
 कार्यार्थं च भुवं प्राप्तौ कमलाकमलाधवौ ।
 स्नेहात्प्रसन्नमधुरौ समविज्ञातवादिनौ ॥ ५०
 अनुवृत्तिपरावास्तां लोकवृत्तान्ततद्विदौ ।
 कलाकलापसंपन्नौ लसद्गरसरसायनौ ।
 शीतलस्निग्धमुग्धाङ्गौ शशाङ्गौ द्वाविबोदितौ ॥ ५१
 रेजे लसच्च रतिभोगविलासकान्त-
 मन्तःपुरेषु मिथुनं तदनुत्तमश्रि ।
 ब्रह्माण्डखण्डकुहरेष्विव राजहंस-
 युग्मं विकासिमदमन्मथमन्दचारि ॥ ५२

अष्टसप्ततितमः सर्गः ७८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 एवं बहूनि वर्षाणि मिथुनं निर्भरस्पृहम् ।
 रेमे यौवनलीलाभिरमन्दाभिर्दिने दिने ॥ १
 अथ यातेषु बहुषु वर्षेष्वनुवृत्तिशालिषु ।
 शनैर्गलिततारुण्ये मित्रकुम्भादिवाग्मसि ॥ २
 तरङ्गनिकराकारभङ्गुरव्यवहारिणि ।
 पातः पक्कफलस्येव मरणं दुर्निवारणम् ॥ ३
 हिमाशनिरिवाम्भोजे जरा निपतनोन्मुखी ।

सुगन्धितासु धीथिषु चन्दनागुरुशृङ्गाणां पङ्क्तिषु च ॥ ४० ॥ ४१ ॥
 ॥ ४२ ॥ धुरवरैर्बलीवर्दैः कुष्ठेषु क्षेत्रेषु सत् रमणीयं वर्षं
 वृष्टिर्योस्सथाविषयोर्मेषस्यसंपत्कान्तयोर्युभूम्योरिव ॥ ४३ ॥
 मिथः अन्योन्यस्माच्छिष्याणादन्योन्यसाम्यार्थित्वाच्च कोविदौ
 प्राज्ञतरौ अत एव सर्वगुणसाम्यादनुरागेण तद्रूप्यरजनाच्च
 जीवैक्यमिव संपन्नमित्याह—स्वरूपमिति ॥ ४४ ॥ अन्यो-
 न्यहृदयस्थत्वाद्देहद्वयसंक्रान्तमेकमेव जीवस्वरूपम् । चित्रादि-
 शिल्पवैदग्ध्यमपि तत्तच्छिल्पकुशलानां मुखादागृह्य अभ्यस्य
 ॥ ४५ ॥ यथा बालो वटुः 'द्वादशवर्षं वेदब्रह्मचर्य'मिति शास्त्रनि-
 यतकालद्वादविद्यां गृह्णाति तद्वत् । सा चूडाला । असौ शिखि-
 ष्वजः ॥ ४६ ॥ अमावास्यां प्राप्येति शेषः । इन्द्रकाविव
 मिथो हृदयसंस्थौ सन्तौ ऐक्यमुपागतौ ॥ ४७ ॥ मिश्रितस्त्री-
 रोदकवदेकरसौ ॥ ४८ ॥ भूतलस्थौ भूमाववतीर्णौ शिवौ
 गौरीशंकराविव ॥ ४९ ॥ सह प्रत्येकं वा पृष्टं सदेहपदं लोक-
 शास्त्ररहस्यं समं तुल्यकालं तुल्यविषयं च विज्ञातं वक्तुं शीलं
 ययोस्त्रौ ॥ ५० ॥ परस्परगुरुद्विजाभिज्ञादीनां चानुवृत्तिः प्रिय-
 हितविनयाद्याचारस्तत्परो । लोकवृत्तान्तस्य तस्य शास्त्रैकगम्य-

आयुर्गलत्यविरतं जलं करतलादिव ॥ ४
 प्रावृषीव लतातुम्बी तृष्णैका दीर्घतां गता ।
 शैलतद्या रय इव संप्रयात्येव यौवनम् ॥ ५
 इन्द्रजालमिवासत्यं जीवनं जीर्णसंस्थिति ।
 सुखानि प्रपलायन्ते शरा इव धनुश्च्युताः ॥ ६
 पतन्ति चेतो दुःखानि तृष्णा गृध्र इवामिषम् ।
 बुधुदः प्रावृषीवाप्सु शरीरं क्षणभङ्गुरम् ॥ ७

धर्मरहस्यस्य च विदौ । लसन्ति शृङ्गारादिनवरसलक्षणानि रसा-
 यनानि ययोस्त्रौ ॥ ५१ ॥ ब्रह्माण्डखण्डस्य ब्रह्माण्डावयवस्य
 सल्लोकस्य कुहरेषु गम्भीरसरस्सु राजहंसयोर्द्युग्मं मिथुनमिव
 ॥ ५२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 पूर्वार्धे शिखिष्वजविलासवर्णनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

तयोः क्रमेण वैराग्यं सच्छास्त्राभ्यासनिष्ठता ।
 चूडालाया विवेकोऽत्र ज्ञानलामस्य वर्ण्यते ॥ १ ॥
 निर्भरस्पृहं हृदप्रेम । मिथुनं तत्त्वोपसद्बन्धम् ॥ १ ॥
 अथ शनैस्तारुण्ये गलति सति तद्युग्मं इति निर्णय अध्यात्म-
 संमतं शास्त्रं विचारयामासेति दशमे एकादशे च संबन्धः
 ॥ २ ॥ निर्णयहेतुं प्रथमं तत्कृतं विचारं प्रपन्नयति—तरङ्गे-
 त्यादिना । तरङ्गनिकराकारेण भङ्गुरेण देहेन व्यवहरणशीले
 देहिनि । मरणं देहविभोगः ॥ ३ ॥ कुतो दुर्निवारणं तत्राह—
 हिमाशनिरिति ॥ ४ ॥ तृष्णाभोगतत्साधनतृष्णाप्रावृषि कटुतु-
 म्बीलत्वेन दीर्घतां गता वर्धते इति यावत् । रयोऽत्र वार्षिकपूरः
 ॥ ५ ॥ जीव्यते अस्मिन्निति जीवनं देहादि ॥ ६ ॥ दुःखा-
 न्याध्यात्मिकादीनि तृष्णा च चेतः प्रतन्ति निपत्य नुवन्तीति

रम्भागर्भ इवासारो व्यवहारो विचारगः ।
 सत्त्वरं युवता याति कान्तेवाप्रियकामिनः ॥ ८
 बलादरतिरायाता वैरस्यमिव पादपम् ।
 तदिह स्याच्छुभाकारं स्थिरं किमतिशोभनम् ॥ ९
 यदासाद्य पुनश्चेतो दशासु न विदूयते ।
 इति निर्णय युग्मं तत्संसारव्याधिषेधजम् ॥ १०
 चिरं विचारयामास शास्त्रमध्यात्मसंमतम् ।
 आत्मज्ञानैकमात्रेण संस्तुत्याख्या विषूचिका ॥ ११
 संशाम्यतीति निश्चित्य तावास्तां तत्परायणौ ।
 तच्चित्तौ तद्गतप्राणौ तन्निष्ठौ तद्विदाश्रयौ ॥ १२
 तदा तदर्चनपरौ तदीहौ तौ विरेजतुः ।
 तत्रैवातिघनाभ्यासौ बोधयन्तौ परस्परम् ॥ १३
 तत्प्रीतौ तत्समारम्भावन्योन्यं तौ बभूवतुः ।
 अथ साविरतं राम रमणीयपदक्रमान् ॥ १४
 श्रुत्वाध्यात्मविदां वक्त्राच्छास्त्रार्थोत्तारणक्षमान् ।
 इत्थं विचारयामास स्वमात्मानमहर्निशम् ॥ १५
 अव्यापृता व्यापृता वा धिया धवलयेद्धया ।
 प्रेक्षे तावत्स्वमात्मानं किमहं स्यामिति स्वयम् ॥ १६
 कस्यायमागतो मोहः कथमभ्युत्थितः क्व वा ।
 देहस्तावज्जडो मूढो नाहमित्येव निश्चयः ॥ १७

यावत् ॥ ७ ॥ अप्रियां सपत्नीं कामयते यस्तस्य कान्ता प्रिय-
 तमेव ॥ ८ ॥ अरतिरिष्टविषयालभनिमित्तं दौर्मनस्यम् ।
 वैरस्यं रसशोषः । इहास्मिन् संसारे ॥ ९ ॥ दशासु जन्मम-
 रणादिदुर्दशासु । तद्युग्मं मिथुनं इति विचार्य तत्र अध्यात्म-
 शास्त्रमेव संसारव्याधिषेधजं निर्णय तदेव विचारयामासेत्य-
 न्वयः ॥ १० ॥ ११ ॥ तद्विदा अध्यात्मशास्त्रविद एवाश्रयः
 शरणं ययोस्तौ ॥ १२ ॥ १३ ॥ तस्मिन्नध्यात्मशास्त्र एव
 सम्यक् 'तच्चिन्तनं तच्छ्रवणमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्' इत्यादिः
 समारम्भो ययोस्तौ । सा चूडाला ॥ १४ ॥ इत्थं वक्ष्यमाण-
 प्रकारेण ॥ १५ ॥ अव्यापृता त्यक्तशारीरव्यापारा । प्रेक्षे
 विविच्य पश्येयम् । अस्मिन् कार्यकारणसंघाते अहं चेतनधातुः
 किं स्याम् ॥ १६ ॥ अयं संसारलक्षणो मोहो अमः कस्यागतः ।
 यस्य हि भ्रान्तिरागता स तन्निवारणे स्वस्थः स्यात् एव क
 इत्यर्थः । कथं वेति निमित्तजिज्ञासा । केति तन्मूलजिज्ञासा ।
 मूले हि परिज्ञाते तदुच्छेदेनोच्छेत्तुं स शक्यः ॥ १७ ॥ मतौ
 स्थूलोहं गौरोहमित्यादिबुद्धिचूतौ सत्यामेवानुभूयते न स्वत इति
 तस्य जडत्वमित्यर्थः । अस्मादेहादभिज्ञहस्तपादाद्यवयवात्मकः
 ॥ १८ ॥ बुद्धीन्द्रियगणोपि एवं शरीरावयवात्मक एव । यद्यप्यणव-
 श्वेति सूत्रे इन्द्रियप्राणादयः सूक्ष्मा लिङ्गदेहावयवा एव न स्थूल-
 देहावयवा इति बादरायणेन सिद्धान्तितं, तथापि तेषां देहा-

आबालमेतत्संसिद्धं मतौ चैवानुभूयते ।
 कर्मेन्द्रियगणश्चास्मादभिन्नावयवात्मकः ॥ १८
 अवयवावयविनोर्न मेदो जड एव च ।
 बुद्धीन्द्रियगणोऽप्येवं जड एवेति दृश्यते ॥ १९
 प्रेर्यते मनसा यस्माद्यष्ट्येव भुवि लोष्टकः ।
 मनश्चैवं जडं मन्ये संकल्पात्मकशक्ति यत् ॥ २०
 क्षेपणैरिव पाषाणः प्रेर्यते बुद्धिनिश्चयैः ।
 बुद्धिर्निश्चयरूपैवं जडा सत्तैव निश्चयः ॥ २१
 खातेनेव सरिन्नूनं साऽहंकारेण बाह्यते ।
 अहंकारोऽपि निःसारो जड एव शवात्मकः ॥ २२
 जीवेन जन्यते यक्षो बालेनेव भ्रमात्मकः ।
 जीवश्च चेतनाकाशो वातात्मा हृदये स्थितः ॥ २३
 सुकुमारोऽन्तरन्येन केनापि परिजीवति ।
 अहो नु ज्ञातमेतेन चेत्योल्लेखकलङ्किना ॥ २४
 जीवो जीवति जीर्णेन चिद्रूपेणात्मरूपिणा ।
 चेत्यभ्रमवता जीवश्चिद्रूपेणैव जीवति ॥ २५
 आमोदः पवनेनेव खातेनेव सरिद्रयः ।
 असत्यजडचेत्यांशवयनाच्चिद्रुर्जडम् ॥ २६
 महाजलगतो ह्यग्निरिव रूपं स्वमुज्जति ।
 सद्वासद्वा यदाभाति चित्समाधौ सति स्वतः ॥ २७

षयवत्त्वेनैवापण्डितपामरमनुभवादवयववद्देहसंयुक्तत्वाच्च तदव-
 यवज्जडत्वमेवेत्याशयः ॥ १९ ॥ मनश्चादेरपि जडदेहादि-
 प्रेरकत्वात्तत्संयोगयोग्यद्रव्यतया यष्ट्यादिवज्जडत्वं सिद्धमि-
 त्याह—प्रेर्यत इत्यादिना ॥ २० ॥ जडा सत्ता जाड्यस्वभावै-
 वेति निश्चयः । क्षेपणै रज्जुयन्त्रैः ॥ २१ ॥ खातेन वप्रद्वयान्त-
 रालिकनिम्नदेशेन । सा बुद्धिर्बाह्यते प्रेर्यते ॥ २२ ॥ जीवेन
 प्राणावच्छिन्नचिदाभासेन जन्यते अध्यस्यते । तथा च यक्षदे-
 हवत्तस्याध्यस्तत्वादेव जडत्वमित्यर्थः । वातात्मा प्राणोपाधिः
 ॥ २३ ॥ अन्तरन्येन स्वान्तर्यामिबिम्बचैतन्येन परिपूर्णो
 जीवति । चेत्योल्लेखः साक्षिभावेन विषयप्रकाशनं तेन कल-
 ङ्किना दूषितप्रायेण ॥ २४ ॥ जीर्णेन चिरंतनेन ॥ २५ ॥ चेत्यो-
 ल्लेखकलङ्किनेति तत्रोपपत्तिमाह—असत्येति । वयनात्तादा-
 त्म्यसंसर्गाध्यासाच्चिद्रुपुश्चित्स्वभावमपि तज्जडमिव संपन्नमित्यर्थः
 ॥ २६ ॥ महाजलं तप्तजलं सामुद्रं वा तद्गतोऽग्निरिव
 स्वं भाखररूपमुज्जति मुञ्चति । अत एव सत्तांशे विद्वैलक्षण्य-
 मिव लब्धा घटः सन्पटः सन्निति सत्ता घटपटाद्यविदाकारस-
 मरसानुभूयते । घटाद्याकारस्य मृदादौ लये घटो नास्ति पटो
 नास्तीति सत्ताकारमप्युज्जन्ती अभावतामप्यापद्यत इति
 भावः । चित्समाधौ चेत्यैकाग्र्ये सद्रूपमसद्रूपं वा यदेव वासनो-
 पनीतं स्वत आभाति तदेव क्षणादलं पूर्णं स्वरूपमुत्पद्य

१ शक्तिमदिति पाठः. २ अत्राप्रियं सपत्नीसंग्रहणं कामयत
 इति व्याख्यानं युक्तं । यथासितव्याख्यायां पुंवद्भावानुपपत्तिः.

३ कथं कैर्निमित्तेरिति पाठः.

स्वरूपमलमुत्सृज्य तदेव भवति क्षणात् ।
 एवं चिद्रूपमप्येतच्चैत्योन्मुखतया स्वयम् ॥ २८
 जडं शून्यमसत्कल्पं चैतन्येन प्रबोध्यते ।
 इति संचिन्त्य चूडालां केनैषा चित्प्रचेतनी ॥ २९
 इति संचिन्तयामास चिरायैत्य व्यबुध्यत ।
 अहो नु चिरकालेनं ज्ञातं ज्ञेयमनोमयम् ॥ ३०
 यद्वै विज्ञेयतां कृत्वा नं कश्चिद्विद्यते पुनः ।
 एते हि चिद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्द्रियादियः ॥ ३१
 असन्तः सर्व एवाहो द्वितीयेन्दुपदस्थिताः ।
 महाचिदैकैवास्तीह महासत्तेति योच्यते ॥ ३२
 निष्कलङ्का समा शुद्धा निरङ्काररूपिणी ।
 शुद्धसंवेदनाकारा शिवं सन्मात्रमच्युतम् ॥ ३३
 सकृद्विभाता विमला नित्योदयवती सदा ।
 सा ब्रह्मपरमात्मादिनामभिः परिणीयते ॥ ३४
 चेत्यचेतनचित्तादि नास्या मित्रं न मानतः ।
 तयैषा चेत्यते चिच्छ्रीः सैषाद्या चिदिति स्मृता ॥ ३५
 अचेत्यं यदिदं चित्त्वं तत्तस्या रूपमक्षतम् ।

तत्क्षणात्स्वयं भवतीति परेणान्वयः ॥ २७ ॥ एवमुक्तरीत्या
 परमार्थतश्चिद्रूपमपि अविद्यावरणादध्यासपरंपरया जडं शून्य-
 मसत्कल्पं च संपन्नं जगद्रूपं बुद्धावनावृतस्वभावेन चैतन्येनैव
 तत्तदाकारवृत्तित्व्याध्या मूलविद्यावरणभङ्गद्वारा प्रबोध्यत इति
 परेणान्वयः ॥ २८ ॥ तर्हि मूलविद्यावरणभङ्गेनैषा ब्रह्मचि-
 त्केनोपायेन दृश्यस्वप्नं विहाय प्रबोधवती स्यादिति चिन्तितव-
 तीत्याह—इतीति ॥ २९ ॥ इत्थं वर्ण्यमानप्रकारेण व्यबुध्यत ।
 आत्मतत्त्वमित्यर्थः ॥ ३० ॥ कश्चिदपि पुरुषो न हीयते परम-
 पुरुषार्थात्प्रच्युतो न भवतीत्यर्थः । अथवा कश्चिदपि काम्यो-
 ऽर्थो न हीयते न हानिं आप्नोते । तत्प्राप्त्यैव सर्वकामावा-
 प्तेरित्यर्थः । अथवा किञ्चिद्वस्तु दुःखसाधनमिति बुद्ध्या न
 हीयते न ह्यज्यते । सर्वस्याप्यानन्दैकरसत्त्वसंपत्तेरित्यर्थः ।
 क्षानासंभवोक्तिरुपादानंस्याप्युपलक्षणम् । चिद्विलासस्य अन्ताः
 परिच्छेदहेतवः ॥ ३१ ॥ द्वितीयस्य तैमिरिकदृष्टिपरिकल्पित-
 स्वेन्दोः पदे स्थाने स्थिताः । आन्तिककल्पिता इति यावत् ॥ ३२ ॥
 शुद्धं संवेदनमेव आकारः स्वरूपं यस्याः । शिवं भूमानन्दरूप-
 त्वात्परममङ्गलं तादृशस्वभावात्कदाप्यप्रच्युतमित्यच्युतम् ॥ ३३ ॥
 सकृन्मूलविद्यावरणभङ्गेन विभाता न पुनः केनाप्याव्रियत
 इति सकृद्विभाता । अत एव नित्योदयवती परिणीयते वेदान्ता-
 दध्यात्मशास्त्रेषु लक्षणया ॥ ३४ ॥ चेत्यादित्रिपुटीजालमस्याः
 सभावाद्भिन्नं वस्तु न । यत एषा त्रिपुटी तथा साक्षिभूतया
 चेत्यते न तु मानतः सिद्धा सैषा साक्षिचित् त्रिपुटी प्रवृत्तेः
 आगेव स्वतःसिद्धत्वादाया ॥ ३५ ॥ विजृम्भते विवर्तते ॥ ३६ ॥
 मनोबुद्ध्यादिविवर्तित्विदात्मनि मातरि प्रमातृभावापन्ने सति तत्र
 तरङ्गादिकलनाप्राया जगद्रूपभूतभौतिकपदार्थानां सत्ता अस्ति-
 ता स्फुरति ॥ ३७ ॥ यदिदं जगत्सत्तारूपं प्रसिद्धं तत्तस्या

मनोबुद्धीन्द्रियाद्यर्थरूपैः सैव विजृम्भते ॥ ३६
 तरङ्गकणकल्लोलकलनेयं चिदात्मनि ।
 जगद्रूपपदार्थानां सत्ता स्फुरति मातरि ॥ ३७
 यदिदं तत्परं रूपं तस्याः खलु महाचित्तैः ।
 शुद्धचिन्मणिवत्सा हि सेयं समसमोदिता ॥ ३८
 अनन्ययैव या शक्तया जगज्जृम्भिकया स्थिता ।
 सत्ता मायातिरेकेण नान्या संभवतीह हि ॥ ३९
 विविच्रतेव भाण्डानां ननु हेमतया यथा ।
 सा तथोदेति तद्रूपमात्मानं चेतति स्वयम् ॥ ४०
 स्वचित्तेन द्रवत्वेन तरङ्गादित्वमम्बुषु ।
 महाचित्तौ जगच्चित्तादुदेतीवानुदेत्यपि ॥ ४१
 तदात्मैव यथा यातो रूपवान् जलधौ द्रवात् ।
 एवं चिन्मात्रमेवाहमनहंभावमाततम् ॥ ४२
 न तस्य जन्ममरणे न तस्य सदसद्वती ।
 न नाशः संभवत्यस्य चिन्मात्रनभसः कश्चित् ॥ ४३
 अच्छेद्योऽयमदाहोऽयं चिदादित्योऽतिनिर्मलः ।
 आहो नु चिरकालेन शान्तासि परिनिर्वृता ॥ ४४

अधिष्ठानभूताया महाचित्तेरेव परं रूपं रूपान्तरम् । खल-
 शब्दो 'हे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्ते चैवामूर्ते च' इत्यादिश्रौतप्रति-
 द्विद्योतनार्थः । यतः सा हि चित्स्फटिकमणिवज्रजगत्प्रतिबिम्ब-
 मसङ्गैव घटे । सेयं जगत्सत्ता च व्यावहारिकेषु प्रातिभासि-
 केषु च समसमा खलाधिष्ठानानुसारिणी उदिता ॥ ३८ ॥
 अत एव जगत्सत्ताया अधिष्ठानसत्तान्यत्वनिरूपणायोगान्माया-
 मात्रत्वमित्याह—अनन्ययैवेति ॥ ३९ ॥ अत एव नामरूपवि-
 शेषप्रलये जगत्सत्ता मायाशब्दब्रह्मसत्तात्मनैव परिशिष्यते ।
 मायाबाधे तु आनन्दैकरससन्मात्ररूपमात्मानं स्वयमनुभवती-
 त्याह—विविच्रतेवेति । भाण्डानामलंकारजातानां विविच्रता
 यथा प्रविलये हेमतया हेमसत्तात्मनैवोदेति तथेत्यर्थः ॥ ४० ॥
 सत्तायां दर्शितन्यायेनैव जगद्वैचित्र्यस्फुरणरूपचिद्वेदानामपि
 विषयाकारमेवे मिथ्यात्वपर्यालोचने अपरिच्छिन्नपरब्रह्मचिन्मा-
 त्रता पर्यवस्यतीत्याशयेनाह—स्वचित्तेनेति द्वाभ्याम् । यथा
 स्वप्नेन्द्रजालादौ द्रवत्वेन परिणतेन स्वचित्तेन सिद्धेषु समुदाय-
 म्बुषु तरङ्गादि अनुद्यदप्युदेतीव तथा महाचित्तौ ब्रह्मण्यपि
 समष्टिचित्ताज्जगदनुद्यदप्युदेतीत्यर्थः । अनुदेतीति नवस्तिङ्गत्वेन
 सहेति योगविभागात्समासदृष्टानन्दसो वा ॥ ४१ ॥ अस्त्वेवं
 किं ततस्तत्राह—तदिति । तत्तत्र स्वप्ने चिद्रूप आत्मैव चित्त-
 कल्पितजलरूपेण रूपवान् संस्तरङ्गादिव्यभेदान्यथा यातस्व-
 आत्मव्यतिरेकं नाणुमात्रमपि किञ्चिदस्ति । एवं चिन्मात्रमेवाहं
 जगद्भानविशेषमेदैः संपन्नो न परमार्थतः पूर्णचिदात्मनो
 भक्तो व्यतिरेकमणुमात्रमप्यस्तीत्यहंभावस्याप्यपरिशेषादनहंभावं
 चिन्मात्रमेवाततं विस्तीर्णमित्यर्थः ॥ ४२ ॥ मरणं देहवियोगो नाशो
 चंस इति भेदः । सदसद्वती, स्वर्गनरकौ ॥ ४३ ॥ तत्र प्रस्तुत-
 विचारस्यावधौ विश्रान्तिं दर्शयति—अच्छेद्य इति ॥ ४४ ॥

निर्वामि भ्रमनिर्मुक्तमासे निर्मन्दराब्धिवत् ।
 असदाभासमत्यच्छमनन्तमजमच्युतम् ॥ ४५
 आत्माकाशमनावाधममलं परमं चिरम् ।
 धनन्तमिदमाकाशं फलौघाश्चाफलादिकाः ॥ ४६
 सुरासुरयुतं विश्वमेतन्मयमकृत्रिमम् ।
 पुंस्त्वकर्ममयी सेना सर्वं मृन्मात्रकं यथा ॥ ४७
 द्रष्टृदृश्यमयी सत्ता चिन्मात्रैक्यमयी तथा ।
 इदमैक्यमिदं द्वित्वमहं नाहमितीति च ॥ ४८
 क इव भ्रमसंमोहः कथं कस्य कुतः क वा ।
 स्वमनन्तमनायासमुपशान्तासि संस्थिता ॥ ४९

निर्वाणपरिनिर्वाणा गतमासे गतज्वरम् ।
 अचेतनं चेतनं वा योऽयमाभाति चेतति ॥ ५०
 भासमानात्म तद्रूपं खं महाचिति संस्थितम् ।
 नेदं नाहं न चान्यच्च न भावाभावसंभवः ।
 शान्तं सर्वं निरालम्बं केवलं संस्थितं परम् ॥ ५१
 इत्थंविचारणपरा परमप्रबोधा-
 हुक्का यथास्थितमिदं परमात्मतत्त्वम् ।
 संशान्तरागभयमोहतमोविलासा
 शान्ता बभूव शरदम्बरलेखिकेव ॥ ५२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चूडालप्रबोधो नामाष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमः सर्गः ७९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

दिनानुदिनमित्येषा स्वात्मारामतया तथा ।
 नित्यमन्तर्मुखतया बभूव प्रकृतिस्थिता ॥ १
 नीरागा निरुपासङ्गा निर्द्वन्द्वा निःसमीहिता ।
 न जहाति न चादत्ते प्रकृताचारचारिणी ॥ २
 परितीर्णभवाम्भोधिः शान्तसंदेहजालिका ।
 परमात्ममहालाभपरिपूर्णान्तरात्मना ॥ ३
 विश्रान्ता सुचिरं श्रान्ता घनलब्धपदान्तरे ।
 सर्वोपमातीततया जगामाव्यपदेश्यताम् ॥ ४

इति सा भामिनी तस्य चूडाला वरवर्णिनी ।
 स्वल्पेनैव हि कालेन ययौ विदितवेद्यताम् ॥ ५
 यथायमागतः कश्चिज्जागतः स्पन्दविभ्रमः ।
 तथा विलीयते सर्वं तत्त्वज्ञानवति स्वयम् ॥ ६
 अदृष्टसकले शान्ते पदे विश्रान्तिमेत्य सा ।
 रराज शरदच्छाभ्रमालेव गतसंभ्रमा ॥ ७
 अनाकुला समालोकमसंबन्धात्मनात्मनि ।
 जरद्गवीव शैलाग्रं सतृणं प्राप्य संस्थिता ॥ ८

आसे 'तासस्त्योः' इति सलोपः । असन् दृश्याभासो यस्मिन् ॥ ४५ ॥ चिरं कालिकपरिच्छेदरहितम् । अनन्तं देशवस्तुकृत-
 परिच्छेदरहितम् । ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तप्राणिकर्मफलौघाश्चकारा-
 त्तत्साधनव्यापाराः अफलादिका निष्फलसाधना इत्या चेष्टाश्च
 इदमाकाशमेव नान्यत् ॥ ४६ ॥ पुंस्त्वं कुलालादिपुरुषजातिस्तत्क-
 र्ममयी तन्निर्मिता । अथवा पुंस्त्वं प्रतिमायां कल्पिता पुरुषजातिः,
 कर्म तदनुरूपचलनादि तन्मयी तत्प्रचुरा चालनिर्मितमृत्सेना
 ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ किञ्चित्तत्त्वतुष्टयं प्रकारभोक्तृनिमित्ताधिकरण-
 संभावनाप्रतिषेधार्थम् । खं पारमार्थिकं रूपं प्राप्येति शेषः ॥ ४९ ॥
 निर्वाणे मोक्षमुखे परितो निर्वाणा निर्हृता । गतभवज्वरं गतं
 कण्ठचामीकरवत्प्राप्तं स्वरूपमेवाहमासे । यदचेतनं चेतनं वा
 आभाति । योऽयं तद्रोक्ता चेतति तदुभयं भासमानात्माभिन्नं
 यद्ब्रह्म तद्रूपं खं चिदाकाशमेवेति परेणान्वयः ॥ ५० ॥ किं
 इदंताहंतान्यत्तादिजगत्स्वभावमलक्ष्यैव ब्रह्म नेत्याह—नेद-
 मिति ॥ ५१ ॥ उज्जमेव संक्षिप्योपसंहरति—इत्थमिति । परम-
 प्रबोधादात्यन्तिकमोहनिद्रापगमात् संशान्ता रागादयस्तमो-
 विलासा अवस्थात्रयस्वप्ना यस्याः ॥ ५२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चूडालप्रबोधो
 नामाष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

यो० वा० १२०

अपूर्वश्रीमतीं हृष्टा पृष्टया धरणीभृता ।

चूडालया स्वशोभाया हेतुर्बोधोऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

एवं विचारेणोत्पन्नस्य तत्त्वज्ञानस्याभ्यासादिनक्रमेणोत्तरो-
 त्तरभूमिकाप्रतिष्ठामाह—दिनानुदिनमिति । दिनानुदिनं दिन-
 क्रमेण । नित्यमभीक्ष्णं प्रकृतिः स्वाभाविकं रूपं तस्मिन्
 स्थिता प्रतिष्ठिता ॥ १ ॥ तस्यास्तत्प्रतिष्ठाक्षणान्याह—नीरा-
 गेत्यादिना ॥ २ ॥ परिपूर्णो देहादान्तरान्मनसोऽप्यान्तरः
 प्रत्यगात्मा यस्याः ॥ ३ ॥ सुचिरं प्राक्संसारश्रान्ता तदा
 निरतिशयानन्दधने ज्ञानलब्धे पदान्तरे परमपदे विश्रान्ता
 ॥ ४ ॥ ५ ॥ कथमल्पकालिकेन बोधेनानादेर्महतमस्य च
 भ्रमस्य निवृत्तिस्तत्राह—यथेति । कश्चिदनिर्वचनीयस्वरूपः
 स्पन्दविभ्रमः अविदुषि अकस्मादेवागतस्तथा तत्त्वज्ञानवति
 सर्वं निःशेषमकस्मादेव विलीयत इत्यर्थः । दीर्घपाठे यथा
 विलीयते तथा तत्त्वज्ञानवती बभूवेति कथंविद्याख्येयम् ॥ ६ ॥
 न दृष्टं सकलद्वैतं यत्र तथाविधे पदे ॥ ७ ॥ यथा जरद्गवी
 वृद्धा गौर्दुरारोहतमं सतृणोदकं समालोकं तुल्यातपचन्द्रिकोप-
 भोगशैलाग्रं दैवात्प्राप्य अनाकुला संस्थिता भवति तद्वत्सापि
 समालोकं जाग्रदादिसर्वावस्थास्वेकरूपप्रकाशं प्रत्यगात्मानं

१ मूलसं कृण्वदमुदकस्याप्युपलक्षणमित्यर्थः.

स्वविवेकधनाभ्यासवशादात्मोदयेन सा ।
 शुशुमे शोभना पुष्पलतेवाभिनवोद्भवा ॥ ९
 अथ तामनवधार्या कदाचित्स शिखिध्वजः ।
 अपूर्वशोभामालोक्य स्तयमान उवाच ह ॥ १०
 भूयो यौवनयुक्तेव मण्डितेव पुनःपुनः ।
 अधिकं राजसे तन्वि जगद्राजवती यथा ॥ ११
 प्रपीतामृतसारेव लब्धा लभ्यपदेव च ।
 आनन्दापूरपूर्णेव राजसे नितरां प्रिये ॥ १२
 उपशान्तं च कान्तं च दधाना सुन्दरं वपुः ।
 अभिभूयेन्दुमायासि श्रियं कामपि कामिनि ॥ १३
 अभोगकृपणं शान्तमूर्जितं समतां गतम् ।
 गम्भीरं च प्रशान्तं च चेतः पश्यामि ते प्रिये ॥ १४
 तृणीकृत्य त्रिभुवनं पीताखिलजगद्रसम् ।
 अतन्तोद्गमरं सौम्यं मनः पश्यामि ते प्रिये ॥ १५
 न केनचिन्महामागे विभवानन्दवस्तुना ।
 चेतस्तव तुलामेति मरुक्षीराब्धिसुन्दरम् ॥ १६
 तैरेव बालकदलीमृणालाङ्कुरकोमलैः ।
 अङ्गैः स्थितिमनुप्राप्तैर्वृद्धिं यातेव लक्ष्यसे ॥ १७
 तथा तेनैव तेनैव संनिवेशेन संस्थिता ।
 अन्यतामुपयातासि लतेव ऋतुपर्यये ॥ १८
 किं त्वया पीतममृतं प्राप्तं साम्राज्यमेव वा ।
 अमृत्युमेव संप्राप्ता प्रयोगायोगयुक्तितः ॥ १९

जाग्रदाद्यसवन्धात्मना स्वभावेन प्राप्य तस्मिन्नेवात्मन्यनाकुला
 संस्थितेत्यर्थः ॥ ८ ॥ आत्मनस्तत्त्वदर्शनप्रयुक्तोदयेन पूर्णा-
 नन्दस्वरूपाविर्भावेण ॥ ९ ॥ स्तयमानो विस्मयस्रोतसः
 ॥ १० ॥ जगत् जगती । 'वर्तमाने पृथग्महद्बृहज्जगच्छतृवच'
 इति शतृवद्भावातिदेशात् 'उगितश्च' इति त्रिया ङीप् छन्द-
 सत्वाच्च कृतः । राजवती राजन्वती पूर्णचन्द्रवती वा यथा
 राजते तद्वशाजसे ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ ऊर्जितं विवेकोर्जि-
 तम् । शान्तं शमादिगुणवत् । प्रशान्तमुपरतन्नापलम् ॥ १४ ॥
 ॥ १५ ॥ मरुतिर्ब निर्जलजाल्यतया क्षीराब्धिरिव पूर्णतया च
 सुन्दरम् ॥ १६ ॥ स्थितिमन्वापक्यमुपायातैस्तैः प्राक्नैरेवाङ्गै-
 रवयवैस्तेजोतिशयेन वृद्धिं यातेव ॥ १७ ॥ ऋतुपर्यये शिशि-
 रालये ॥ १८ ॥ प्रयोगो रसायनादिप्रयोगः, आयोगो मन्त्रादि-
 सिद्धिः, युक्त्यो राजयोगहृद्योगोपायास्ताभ्य इति ततः ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ एवं राजा पृथ्य चूडाल्स्वशोभातिशयनिमित्तं परि-
 च्छिन्नदेहात्मतात्याग पूर्णाद्वितीयब्रह्मात्मलभ्येति गूढोक्त्या
 प्रथममुत्तरमाह—नाकिंचिदिति । अहमिदं सर्वं गूढजन-
 प्रसिद्धमिदं शरीरात्मत्वं त्यक्त्वा न विद्यन्ते अकिंचित् अशेषाः
 किंचिन्नामरूपाकारा यस्मिन्स्थितविधं ब्रह्मात्मत्वं तत्त्वबोधेन
 आगता न तु मन्त्ररसायनादिसाधनमात्रेण । किंचित्किंचिदल्पं
 मुच्छं च तत्तत्सिद्ध्याकारं तेनेत्यर्थः । अथवा अहं किंचित्किंचिदा-
 कारं जाग्रत्स्वप्नावस्थाद्वयं नागता नाप्यकिंचित्किंचिदाकारं सुषुप्त-

राज्याच्चिन्तामणेर्वापि त्रैलोक्याद्वा त्वयाधिकम् ।
 अप्राप्तं किमनुप्राप्तं नीलोत्पलविलोचने ॥ २०
 चूडालोवाच ।
 नाकिंचित्किंचिदाकारमिदं त्यक्त्वाहमागता ।
 नकिंचित्किंचिदाकारं तेनासि श्रीमती स्थिता ॥ २१
 इदं सर्वं परित्यज्य सर्वमन्यन्मयाश्रितम् ।
 यत्तत्सत्यमसत्यं च तेनासि श्रीमती स्थिता ॥ २२
 यत्किंचिद्यच्च किंचिच्च तज्जानामि यथास्थितम् ।
 यथोदयं यथानाशं तेनासि श्रीमती स्थिता ॥ २३
 भोगैरभुक्तैस्तुष्यामि भुक्तैरिव सुदूरगैः ।
 न हृष्यामि न कुप्यामि तेनासि श्रीमती स्थिता ॥ २४
 एकैवाकाशसंकाशे केवले हृदये रमे ।
 न रमे राजलीलासु तेनासि श्रीमती स्थिता ॥ २५
 आत्मन्येव हि तिष्ठामि ह्यासनोद्यानसञ्जसु ।
 न भोगेषु न लज्जासु तेनाहं श्रीमती स्थिता ॥ २६
 जगतां प्रभुरेवासि नकिंचिन्मात्ररूपिणी ।
 इत्यात्मन्येव तुष्यामि तेनाहं श्रीमती स्थिता ॥ २७
 इदं चाहमिदं नाहं सत्या चाहं न चाप्यहम् ।
 सर्वमसि न किंचिच्च तेनाहं श्रीमती स्थिता ॥ २८
 न सुखं प्रार्थये नार्थं नानर्थं नेतरां स्थितिम् ।
 यथाप्राप्तेन हृष्यामि तेनाहं श्रीमती स्थिता ॥ २९

रूपं किंतु इदमवस्थात्रयमपि त्यक्त्वा हुरीयस्वभावमागता तेन
 हेतुनेत्यर्थः । अथवा अहं कर्मोपासनादिना किंचित्किंचिदा-
 कारं इन्द्रचन्द्रादिहिरण्यगर्भान्तं पदं भावनाकृततादात्म्यसिद्ध्या
 नागता । नाप्यकिंचित्किंचिदाकारमन्यक्तरूपं किंचिदं सर्वं त्यक्त्वा
 स्वस्वरूपा एवावस्थिता तेन हेतुनेत्यर्थः । अथवा अहमिदं
 लिङ्गदेहपरिच्छिन्नं जीवाकारं त्यक्त्वा यन्नाकिंचित्किंचित्सर्वा-
 र्थक आकारो यस्य तथाविधं परमार्थतो नकिंचित्किंचिदा-
 कारं च ब्रह्म तदागता प्राप्तवती तेन हेतुनेत्यर्थः ॥ २१ ॥
 लक्ष्म्येवार्थं भङ्गवन्तरेण पुनराह—इदमिति । इदं परिच्छिन्नं
 सर्वं परित्यज्य सर्वमपरिच्छिन्नमन्यन्मया आश्रितम् । किं तत् ।
 यत्तत् सत्यमवाधितं न विद्यते सन्मूर्तं सैदमूर्तं च प्रपञ्चरूपं
 यत्रेत्यसत्यं च तेनेति प्राग्वत् ॥ २२ ॥ नकिंचित्किंचिदा-
 कारमिति सोक्तिं भङ्गवन्तरेण वर्णयति—यदिति । यद्वस्तु
 उदयः सर्गस्तमनतिक्रम्येति यथोदयं सृष्टिदशा दृश्यमानं किंचि-
 त्परिच्छिन्नं यदेव च यथानाशं प्रलयदशा दृश्यमानं नकिंचिच्च
 भवति तद्यथा येन कूटस्थभूमानन्दस्वभावेन स्थितं जानामीत्यर्थः
 ॥ २३ ॥ २४ ॥ हृदयपदेन हार्दं ब्रह्म लक्ष्यते ॥ २५ ॥ आसनोद्या-
 नादिषु देहे स्थितेऽप्यहं पूर्णात्मन्येव तिष्ठामि न तु भूषण-
 सन्मानादिशरीरमानसभोगेषु तदल्पप्रयुक्तलज्जासु वा ॥ २६ ॥
 ॥ २७ ॥ इदं देहादि चातुर्भोग्यमविद्यानदशा, आरोपित-
 दशा तु नाहम् ॥ २८ ॥ नानर्थं जिह्वासामीति शेषः ॥ २९ ॥

१ अन्यदमूर्तं च इति पाठः.

तनुविद्वेषराजाभिः प्रज्ञाभिः शास्त्रदृष्टिभिः ।
रमे सह वयस्याभिस्तेनाहं श्रीमती स्थिता ॥ ३०
पश्यामि यन्नयनरदिमभिरिन्द्रियैर्वा
चित्तेन चेह हि तदङ्ग न किञ्चिदेव ।

पश्यामि तद्विरहितं तु न किञ्चिदन्तः

पश्यामि सम्यगिति नाथ चिरोदयासि ३१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० चूडालात्मलाभो नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

अशीतितमः सर्गः ८०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।
एवमात्मनि विश्रान्तां वदन्तीं तां वराननाम् ।
अबुद्धा तद्विरामयं विद्वस्योवाच भूपतिः ॥ १
शिखिध्वज उवाच ।
असंबद्धप्रलापासि बालासि वरवर्णिनि ।
रमसे राजलीलाभी रमस्वावनिपात्मजे ॥ २
किञ्चित्कृत्वा न किञ्चिद्यो गतो प्रत्यक्षसंस्थितम् ।
त्यक्तप्रत्यक्षसद्रूपः स कथं किल शोभते ॥ ३
भोगैरभुक्तैस्तुष्टोऽहमिति भोगान्जहाति यः ।
रुषेवासनशय्यादीन्स कथं किल शोभते ॥ ४
भोगाभोगे परित्यज्य खे शून्ये रमते तु यः ।
एक एवाखिलं त्यक्त्वा स कथं किल शोभते ॥ ५
वसनाशनशय्यादीन्सर्वान्संत्यज्य धीरधीः ।
यस्तिष्ठत्यात्मनैवैकः स कथं किल शोभते ॥ ६
नाहं देहोऽन्यथा चाहं न किञ्चित्सर्वमेव च ।
एवं प्रलापो यस्यास्ति स कथं किल शोभते ॥ ७

यत्पश्यामि न पश्यामि तत्पश्याम्यन्यदेव यत् ।
प्रलाप इत्यसंन्यस्य स कथं किल शोभते ॥ ८
तस्माद्बालासि मुग्धासि चपलासि विलासिनि ।
नानालापविलासेन क्रीडामि क्रीड सुन्दरि ॥ ९
प्रविद्वस्यादृष्टासेन शिखिध्वज इति प्रियाम् ।
मध्याह्ने स्नातुमुत्थाय निर्जगामाङ्गनागृहात् ॥ १०
कष्टं नात्मनि विश्रान्तो मद्भवांसि न बुद्धवान् ।
राजेति खिन्ना चूडाला स्वव्यापारपराभवत् ॥ ११
तदा तथाङ्ग तत्राथ तादृगाशययोस्तयोः ।
ताभिः पार्थिवलीलाभिः कालो बहुतिथो ययौ ॥ १२
एकदा नित्यतृप्ताया निरिच्छाया अपि स्वयम् ।
चूडालाया बभूवेच्छा लीलया खगमागमे ॥ १३
खगमागमसिद्ध्यर्थमथ सा नृपकन्यका ।
सर्वभोगाननाहत्य समागम्य च निर्जनम् ॥ १४
एकैकान्तनिरता स्वासनावस्थिताङ्गिका ।
ऊर्ध्वगप्राणपवनचिराम्यासं चकार ह ॥ १५

वयस्याभिः सखीभूताभिः । तनुः कृशीभूतो विद्वेषो रागश्च
याभिस्त्वयाविधाभिः स्वप्रज्ञाभिः शास्त्रदृष्टिभिश्च सह रमे ।
अथवा शास्त्रदृष्टिभिः करणैस्तनुरल्पीभूतो विद्वेषो रागश्च यासां
तथाविधाभिर्वयस्याभिः सखीभिः सह रमे ॥ ३० ॥ अङ्ग हे
नाथ, इह जगति अहं नयनरदिमभिरिन्द्रियैर्वा इन्द्रियैश्चित्तेन च
यत्पश्यामि तत्र किञ्चिदनृतमेव । तेनेन्द्रियमनोदृश्येन विरहितं
तु न किञ्चिद्विप्रपञ्चं वस्तु अन्तः पश्यामि । यतो हेतोरिति
वर्णितरीत्या अन्तर्बहिश्च सम्यग्बाधितरूपं पश्यामि । तेन
हेतुना चिरं संततमुदिता परमाभ्युदयश्रीमती अस्मीत्यर्थः ॥ ३१ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
चूडालात्मलाभो नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

अज्ञेन राजा तद्वाक्यस्यासंबद्धत्ववर्णनम् ।

खेचरत्वादिसिद्धीनां बीजं चात्र निरूप्यते ॥ १ ॥

एवं वर्णितप्रकारेण स्वशोभातिशये निमित्तानि वदन्तीम्
॥ १ ॥ बाला अप्रौढबुद्धिरसि । परबोधानुकूलवाक्योद्धारणे
अकुशलेति यावत् ॥ २ ॥ असंबद्धप्रलापतामेव नाकिञ्चित्कि-
चिदित्याद्युक्तेर्दर्शयति—किञ्चिदिति । साकारस्यैव शोभा
प्रसिद्धा । यस्त्वाकारसामान्यं त्यक्त्वा निराकारतां गतः स

अन्यप्रायः कथं शोभेतेत्यर्थः ॥ ३ ॥ भोगैरभुक्तैस्तुष्ट्यामीति यत्त्व-
योक्तं तदप्यसंबद्धमित्याह—भोगैरिति । रुषा क्रोधेनेव ॥ ४ ॥
'एकैवाकाशसंकाशे केवले हृदये रमे' इति यत्स्वयोक्तं तदप्य-
संगतमित्याह—भोगाभोगे इति । स्वयं साक्षाद्भोगो मित्र-
मृत्यादीनामाभोजनमाभोगश्चेत्यनयोः समाहारं परित्यज्य तत्सा-
धनं वित्ताद्यखिलं च त्यक्त्वा य एक एव शून्ये खे पिशाचव-
द्रमते स किल शोभते इति कथं संगच्छतामित्यर्थः ॥ ५ ॥
धीरधीः अतिक्रोधादिव धैर्यमात्रबलेन शीतोष्णक्षुत्तृषादि-
दुःखानि सहमान इत्यर्थः ॥ ६ ॥ 'इदं चाहमिदं नाह'मिति
यदुक्तं तदप्यसंबद्धमित्याह—नाहमिति ॥ ७ ॥ 'पश्यामि
यन्नयनरदिमभिरिन्द्रियैर्वै'त्यन्ते यदुक्तं तच्च पुनरामसंगतमिति
नैते शोभाहेतव इत्युपसंहरति—यदिति ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥
कष्टमिति । 'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' इत्यादिश्रुतेरिति
भावः ॥ ११ ॥ अङ्गेति रामसंबोधने ॥ १२ ॥ खे गमागमो
देववत्संचारस्तद्विषये इच्छा बभूव । तादृशप्रारब्धशेषबलादिति
भावः ॥ १३ ॥ १४ ॥ एकैवेति । अर्थाद्वाङ्मनः शत्रुजयाय
द्वित्रिहायनं प्रवासकाले इति गम्यते । अन्यथा तत्पराधीना-
यास्तस्या एकान्तनिरतत्वाद्ययोगात् । ऊर्ध्वगस्य प्राणपवनस्य

श्रीराम उवाच ।

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजंगमम् ।
स्पन्दच्युतं क्रियानासन्नः कथमित्यनुभूयते ॥ १६
कस्य स्पन्दविलासस्य धनाभ्यासस्य मे वद ।
ब्रह्मखगमनाद्येतत्फलं यत्नैकशालिनः ॥ १७
आत्मज्ञो वाच्यनात्मज्ञः सिद्ध्यर्थं लीलयाथवा ।
कथं संसाधयत्येतद्यथा तद्वद मे प्रभो ॥ १८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

त्रिविधं संभवत्यङ्ग साध्यं वस्त्वह सर्वतः ।
उपादेयं च हेयं च तथोपेक्ष्यं च राघव ॥ १९
आत्मभूतं प्रयत्नेन उपादेयं च साध्यते ।
हेयं संत्यज्यते ज्ञात्वा उपेक्ष्यं मध्यमेतयोः ॥ २०
यद्यदाह्लादनकरमादेयं तच्च सन्मते ।
तद्विषयमनादेयमुपेक्ष्यं मध्यमं विदुः ॥ २१

चिरं खेचरसिद्ध्यनुकूलं भूमभ्यादिदेशे निरोधभ्यासम् ॥ १५ ॥
खेचरसिद्धिप्रयोजकक्रियाप्रसंगेन रामः क्रियासामान्ये निमित्तं
जिज्ञासुराक्षिपति—यदिदमिति । यदिदं स्थावर जंगमं च
जगत्सर्वं स्पन्दच्युतं क्रियया निष्पादितं दृश्यते । विना
कर्त्रादिकारकस्पन्दं कस्याप्युत्पत्तेरदर्शनात्, तत्रैवं सति क्रिया-
नान्नः स्पन्दस्य कथं निष्पत्तिः । किं सक्रियादुत कूटस्थात् ।
आये आत्माश्रयोऽनवस्था वा । द्वितीये व्याघातः अविरामः
फलानवस्था चेति कथं क्रियानासन्नो बलुन उत्पत्तिरनुभूयते
अनुभवपथमारोहति तद्वदेत्यर्थः ॥ १६ ॥ एवमाक्षिप्य प्रस्तुतं
पृच्छति—कस्येति । एतत्खगमनादिसिद्धिजातं कस्य स्पन्द-
विलासस्य फलं तदपि वदेत्यर्थः ॥ १७ ॥ अनात्मज्ञः सिद्ध्यर्थं
आत्मज्ञो लीलया वा एतत्सिद्धिजातं कथं केन क्रमेण संसाध-
यति तदपि वदेत्यर्थः ॥ १८ ॥ भवेदयमात्माश्रयानवस्था-
दिको दोषो यदि क्रियास्वरूपमाप्रसिद्धये कारकापेक्षा स्यात् ।
न तु तथा किन्तु क्रियासाध्यस्य फलस्य । फलनिष्पत्तये हि
प्रवृत्तानि कारकाणि नान्तरीयकतया क्रियामवलम्बन्ते । तथा
हि फलस्य साध्यता कारकाणां साधनता च व्यपदेष्टुं शक्यते ।
तथा च साध्यसाधनोभयविलक्षणा क्रिया न साध्यापेक्षित-
साधनेभ्यः साधनान्तरमपेक्षत इति तस्या सक्रियं कूटस्थं वा
कारणमिति विकल्पो निरवकाश एवेत्याशयेन वसिष्ठ उत्तरप्रश्न-
समाधानानुकूलं गौणमुख्यसाधारणं क्रियासाध्यं विभज्य दर्श-
यति—त्रिविधमिति । उपादानबुद्धिविषयीभूतं वस्तु उपादेयं
प्रवृत्तिविषयः । हानबुद्धिवैयं हेयं निवृत्तिविषयः । उपेक्षाबुद्धि-
गम्यमुपेक्ष्यं तच्चौदासीन्येऽपि क्रियोपचारदनेनोपेक्षायाम-
नर्थः कृत इति लोके व्यवहारदर्शनादौण साध्यम् ॥ १९ ॥
तेषु फलवैलक्षण्यं दर्शयति—आत्मभूतमिति । आत्मनः
स्वस्य भूतमनुकूलम् । एतयोर्हेयोपादेययोर्मध्यमान्तरालिकम्
॥ २० ॥ आह्लादनकरं साक्षात्परम्परया वा सुखानुकूलम् ।

सन्मतेर्विदुषो ह्यस्य सर्वमात्ममयं यदा ।
त्रय यते तदा पक्षाः संभवन्ति न केचन ॥ २२
केवलं सर्वमेवेदं कदाचिल्लीलया तथा ।
उपेक्षापक्षनिक्षिप्तमालोकयति वा न वा ॥ २३
ज्ञस्योपेक्षात्मकं नाम मूढस्यादेयतां गतम् ।
हेयं स्फारविरागस्य शृणु सिद्धिक्रमः कथम् ॥ २४
देशकालक्रियाद्रव्यसाधनाः सर्वसिद्ध्यः ।
जीवमाह्लादयन्तीह वसन्त इव भूतलम् ॥ २५
मध्ये चतुर्णामेवैषां क्रियाप्राधान्यकल्पना ।
सिद्ध्यादिसाधने साधो तन्मयास्ते यतः क्रमाः ॥ २६
गुटिकाज्जनघ्ननादिक्रियाक्रमनिरूपणम् ।
तत्रासतां च दोषोऽत्र विस्तारः प्रकृतार्थदा ॥ २७
रत्नौषधितपोमन्त्रक्रियाक्रमनिरूपणम् ।
आस्तामेव किलेषोऽपि विस्तारः प्रकृतार्थदा ॥ २८

दुःखनिवारणसाधनस्यापि सुखानुकूलत्वादेव तत्साधनोपादान-
सिद्धेरिति भावः । तद्विरुद्धं सुखविधाति । दुःखस्यापि स्वास्थ्य-
सुखविधातित्वादेव द्वेष्यत्वादिति भावः ॥ २१ ॥ त्रय एते
साध्यमेवा अज्ञानामेवेत्याह—सन्मतेरिति ॥ २२ ॥ विदुष-
स्तृतीयकल्पाभ्युपगमेऽपि न कश्चिदोष इत्याशयेनाह—केवल-
मिति ॥ २३ ॥ एकमेव वस्तु एकस्यैव पुरुषस्य बोधरागवेरा-
ग्यावस्थामेदेन त्रेधा संपद्यत इत्याशयेनाह—ज्ञस्येति । एवं
‘सिद्ध्यर्थं लीलयाथवा’ इति प्रश्नाशयोरुपपत्तिमुक्त्वा कथं संसाध-
यत्येतदित्यंशसमाधानं भावयति—शृणुष्वित्यादिना ॥ २४ ॥
तत्र सिद्धितारतम्ये चिराविरयलापेक्षया च निमित्तान्याह—
देशेति ॥ २५ ॥ एषां देशादीनां चतुर्णां मध्ये श्रीशैलाद्युत्तम-
देशादिचतुष्टयमेलने शीघ्रं सिद्धिलभाद्योगमन्त्रजपादिक्रियाया
इतरदेशाद्यनुष्ठितक्रियापेक्षया प्राधान्यस्योत्कर्षस्य कल्पना
भवति । फलोत्कर्षोऽपि तदनुसायेवेत्याह—सिद्ध्यादीति ।
यतस्ते सिद्धादयः फलोत्कर्षक्रमा अपि तन्मयास्तादृशक्रियो-
त्कर्षानुसारीण इत्यर्थः ॥ २६ ॥ अस्त्येवं किं तत्तत्तत्राह—
गुटिकेति । तत्र खगमनादिसाधनानि सिद्धगुटिकासिद्धाज्जन-
सिद्धखगसिद्धपादुकादीन्यपि उद्गमरतन्त्रयोगिनीकल्पादिविस्तृत-
बहुग्रन्थप्रसिद्धानि सन्ति । ‘कथं संसाधयत्येतद्यथावद्वद मे
प्रभो’ इति त्ववीयप्रश्नस्य तत्क्रियाक्रमनिरूपणं कर्तव्यमिति
चेदभिप्रायस्तर्ह्यविस्तृतोक्त्या तदसंभवात्तद्विस्तारः कार्यः । तेन
तत्र तासु सिद्धिषु विषये असतामजिज्ञासूनामतत्त्वविदा च
त्वदतिरिक्तश्रोतुणा वैवादभिलाषोदये तत्रैव प्रवृत्त्या महान्दोषः
स्यात्तवापि स विस्तारः प्रकृतस्यात्मतत्त्वश्रवणार्थस्य विघ्नरूप-
त्वाद्विघातक इति न तन्निरूपणमत्रोचितमित्यर्थः ॥ २७ ॥
एष न्यायो भूमिपन्नादिसाध्यसिद्धिक्रमनिरूपणे श्रीशैलादिसिद्ध-
देशनिवाससाध्यसिद्धिक्रमनिरूपणे च योज्य इत्याह—रत्नेति

श्रीशैले सिद्धदेशे च मेवादौ वा निवासतः ।
 सिद्धिरित्यपि विस्तारः कृतार्थं प्रकृतार्थहा ॥ २९
 तस्माच्छिखिध्वजकथाप्रसङ्गपतितामिमाम् ।
 प्राणादिपवनाभ्यासक्रियां सिद्धिफलां शृणु ॥ ३०
 अन्तस्था ह्यखिलास्त्यक्त्वा साध्यार्थतरवासनाः ।
 गुदादिद्वारसंकोचान्स्थानकादिक्रियाक्रमैः ॥ ३१
 भोजनासनशुद्ध्या च साधुशास्त्रार्थभावेनात् ।
 स्वाचारात्सुजनासङ्गात्सर्वत्यागात्सुखासनात् ॥ ३२
 प्राणायामघनाभ्यासाद्राम कालेन केनचित् ।
 कोपलोभादिसंत्यागाद्भोगत्यागाच्च सुव्रत ॥ ३३
 त्यागादाननिरोधेषु भृशं यान्ति विधेयताम् ।
 प्राणाः प्रभुत्वात्तज्ज्ञस्य पुंसो भृत्या इवाखिलाः ॥ ३४
 राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव संपदः ।
 देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव ॥ ३५
 परिमण्डलिताकारा मर्मस्थानं समाश्रिता ।

द्वाभ्याम् ॥ २८ ॥ हे कृतार्थेति रामसंबोधनं तासां सिद्धीनां
 त्वादृशदृष्ट्या तुच्छतेति द्योतनार्थम् ॥ २९ ॥ तर्हि मत्प्रश्नो
 व्यर्थः संपन्न इति रामस्य विषादो मा भूदिति प्रस्तुतज्ञानदाव्यो-
 पयोग्यानुषङ्गिकखगमादिसिद्धिसाधनं वर्ण्यमानकथासंबद्धमवि-
 स्तारं प्राणायामक्रमं श्रावयति—तस्मादिति ॥ ३० ॥ तत्रादौ
 यमनियमप्रतिष्ठे तद्भोजप्रदर्शनेन संक्षिप्याह—अन्तस्था इति
 साध्याः इतराः साधनार्थाश्च वासनास्त्यक्त्वा स्थानकानि सिद्धा-
 द्यासनानि आदिपदात्समकायशिरोग्रीवतानिश्चलतानास्राप्रसं-
 क्षणमित्यादियोगशास्त्रोक्तक्रियाक्रमपरिग्रहः ॥ ३१ ॥ तमेव
 क्रियाक्रममवधुत्या प्रपञ्चयति—भोजनेति । साधु सम्यग्योग-
 शास्त्रार्थस्य भावनात्परिशीलनात् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ त्यागे
 रेचने आदाने पूरके निरोधे कुम्भके च मृशमभ्यस्तेषु तज्ज्ञस्य
 योगिनः । प्रभुत्वात्प्राणस्वामित्वसंपत्तेर्लौकिकस्य पुंसः प्रमोर्धृत्या
 इव अखिलाः प्राणा विधेयतां स्वाधीनतां यान्तीत्यर्थः ॥ ३४ ॥
 प्राणानां स्वाधीनत्वे तत्संबद्धसिद्धीनामपि स्वाधीनता सिध्यती-
 त्याह—राज्येति । सर्वस्याधिकारिणः ॥ ३५ ॥ इदानीं सर्व-
 सिद्धीनां देहानिलविधेयत्वमुक्तमुपपादयितुं सर्वदेहप्रसृतद्वा-
 सततिसहस्रशाखप्रधाननाडीशताश्रिता मूलाधारादारभ्य आज-
 हारन्तं सप्तसु चक्रेष्वनुप्रविश्य निर्गता मूलाधारे सार्धत्रिवलय-
 वेष्टनान्तःसुप्तकुण्डलिनीशक्तिगर्भा सुषुम्नानाडी वर्णयति—परि-
 मण्डलिताकारेत्यादिना । परितः प्रसृतशाखाभिः परिवेष्टित-
 त्वात्परिमण्डलिताकारा अत एवान्नाणामपि नाडीभिर्वेष्टनादान्त्र-
 वेष्टनिका नाम ॥ ३६ ॥ तां मूलाधारे स्वान्तर्गतकुण्डलिनी-
 संस्थानानुकूल्येन वर्णयति—वीणेति । वीणादण्डस्याग्रे मूल-
 भागे प्रसिद्धो रेखात्मकस्तम्भीमूलपरिवर्तनरूपः सलिलपरिवर्त-
 नरूपो वा य आवर्तस्तत्सदृशी । लिप्या लेखनेन प्रदर्शने
 तु ध्वंकारस्यार्धमर्धोकारस्तस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्याः ।
 त्रिविडाक्षरे पूर्वार्धमिव नागराक्षरे उत्तरार्धमिव वा तत्संस्थानं

आन्त्रवेष्टनिका नाम नाडी नाडीशताश्रिता ॥ ३६
 वीणायावर्तसदृशी सलिलावर्तसंनिभा ।
 लिप्यार्धोकारसंस्थाना कुण्डलावर्तसंस्थिता ॥ ३७
 देवासुरमनुष्येषु मृगनक्रवगादिषु ।
 कीटादिष्वज्जान्तेषु सर्वेषु प्राणिषूदिता ॥ ३८
 शीतार्तसुप्तभोगीन्द्रभोगवद्बद्धमण्डला ।
 सिता कल्पाग्निविगलदिन्दुवद्बद्धकुण्डली ॥ ३९
 ऊरोर्धूमध्यरन्ध्राणि स्पृशन्ती वृत्तिचञ्चला ।
 अनारते च सस्पन्दा पवमानेन तिष्ठति ॥ ४०
 तस्यास्त्वभ्यन्तरे तस्मिन्कदलीकोशकोमले ।
 या परा शक्तिः स्फुरति वीणावेगलसद्वृत्तिः ॥ ४१
 सा चोक्ता कुण्डलीनाम्ना कुण्डलाकारवाहिनी ।
 प्राणिनां परमा शक्तिः सर्वशक्तिजवप्रदा ॥ ४२
 अनिशं निःश्वसद्रूपा रुषितेव भुजंगमी ।
 संस्थितोर्ध्वाकृतमुखी स्पन्दनाद्देतुतां गता ॥ ४३

लेख्यमित्यर्थः । 'अर्धं नपुंसकम्' इत्येकदेशिना समासः ।
 'ओमाबोश्च' इति पररूपम् ॥ ३७ ॥ इयं च न मनुष्येष्वेव
 किंतु सर्वप्राणिशरीरेष्वित्याह—देवेति ॥ ३८ ॥ शीतेनार्तः
 शीतार्तिनिवारणाय दृढबद्धमण्डल इति यावत् । तथाविधस्य
 सुप्तस्य भोगीन्द्रस्य भोगः कायस्त्वद्बद्धं मण्डलं यया । सिता
 शुभ्रा । कल्पाग्निना विगलता अन्तर्वलयाकाररेखास्फुटितेने-
 न्दुना तुल्यं बद्धा कुण्डलीवल्याकृतिर्यया । अथवा कल्पते
 जरणसमर्थो भवतीति कल्पोऽभिर्जाठराभिस्तेन विगलन् यो
 मूर्ध्नि योगशास्त्रप्रसिद्धश्चन्द्रः स एव विलीय मूलाधारे प्रसृतो
 घनीभूय तत्र बद्धकुण्डलाकृतिस्तद्वत्स्थितेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥
 ऊरुपदेन ऊरुमूलसंधिर्गुदं लक्षणयोच्यते । तत आरभ्य भ्रूमध्य-
 पर्यन्तं यानि रन्ध्राणि तानि स्पृशन्ती तेष्वनुस्यूता मनोवृत्ति-
 भिरन्तश्चञ्चला बहिश्च पवमानेन प्राणादिना सस्पन्दा ॥ ४० ॥
 तस्या मूलेऽन्तःसार्धत्रिवलयाकारां कुण्डलिनीं संज्ञां विच्छक्तिं
 दर्शयति—तस्या इति । तस्मिन्मूलाधारे वीणामूले दुर्लक्षेण
 तन्त्रीवेगेनेव लसन्ती परमसूक्ष्मा पराख्या सर्वशब्दमूलभूता
 गतिः शब्दब्रह्मात्मिका स्फूर्तिः सैव प्राणसङ्गाज्जाभिहृदयकण्ठ-
 देशेषूत्तरोत्तरं व्यक्ततरा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीत्यादिभेदान्
 मजते इति । तथाचोक्तं मन्त्रशास्त्रे 'चित्तन्यं सर्वभूतानां शब्द-
 ब्रह्मेति यद्विदुः । तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहसंध्यगम् ।
 वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः' इति । सांवेनाप्युक्तम्
 'या सा मित्रावरुणसदृशादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं वर्णानत्र प्रकटकरणैः
 प्राणसङ्गाग्रसूते । तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धि-
 सस्थां वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ॥' इति ॥ ४१ ॥
 सर्वासां प्राणेन्द्रियबुद्ध्यादिशक्तीनामपि सत्तास्फूर्तिप्रवृत्तिनिर्वा-
 हकत्वाज्जवप्रदा ॥ ४२ ॥ तत्र कथं प्राणशक्तिर्जवप्रदा
 तदाह—अनिशमिति । सैव स्वमुक्तात्प्राणमूर्ध्व क्षिपति
 अपानं चाध आकर्षतीत्यनिशं निःश्वसद्रूपेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

यदा प्राणानिलो याति हृदि कुण्डलिनीपदम् ।
 तदा संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजम् ॥ ४४
 यथा कुण्डलिनी देहे स्फुरत्यङ्ग इवाल्लिनी ।
 तथा संविदुदेत्यन्तर्भूदुस्पर्शवशोदया ॥ ४५
 स्पर्शनं मृदुनान्योन्यालिङ्गिका तत्र यन्त्रयोः ।
 यथा संविदुदेत्युच्चैस्तथा कुण्डलिनी जवात् ॥ ४६
 तस्यां समस्ताः संबद्धा नाड्यो हृदयकोशगाः ।
 उत्पद्यन्ते विलीयन्ते महार्णव इवापगाः ॥ ४७
 नित्यं पातोत्सुकतया प्रवेशोन्मुखया तथा ।
 सा सर्वसंविदां बीजं ह्येका सामान्युदाहृता ॥ ४८
 श्रीराम उवाच ।
 आकल्पादनवच्छिन्ना चित्संवित्सर्वमस्ति हि ।
 तस्मात्कुण्डलिनीकोशात्केनार्थेनोदयः स्फुटः ॥ ४९
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 सर्वत्र सर्वदा सर्वं चित्संविद्विद्यतेऽनघ ।

कथं बुद्धिशक्तिजवप्रदा तदाह—यदेति । यदा हृदि स्थितः प्राणः कुण्डलिन्या आकृष्टः सन् अपानवृत्त्या कुण्डलिनीपदं याति तदा भूततन्मात्राण्यपस्वीकृतभूतान्येव बीजमुपादानं यस्य तथाविधे अन्तःकरणे भवतीति भूर्जोवसंवित् स्मृतिसंकल्पाध्य-
 वसायाभिमानरागादिवृत्तिमेदैरन्तरुदेतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ कथं चेन्द्रियशक्तिजवप्रदा तदाह—यथेति । एवं प्राणदुष्प्राप्तिरहित-
 ज्ञानक्रियासंशक्तिः कुण्डलिनी देहे मृदु स्पर्शो विषयसनि-
 कर्षो येषां तेषां चक्षुरादीनां वशोदया सती देहे यथा यथा
 यादृशबीजकादृष्टसामग्रौवैविध्येण स्फुरति तथा तथा तत्त-
 दिन्द्रियैरर्थविशेषस्फूर्तितत्फलभोगादिलक्षणा संविदुदेतीत्यर्थः
 ॥ ४५ ॥ कथं मृदुस्पर्शवशात्तुगा तदाह—स्पर्शनमिति ।
 कुण्डलिनी जवात्तथा स्फुरति यथा मृदुना चक्षुरादिना विषय-
 स्पर्शनं प्रथममुदेति । तथा च तत्र यन्त्रं कार्यकरणसंघातं
 युनयतीति यन्त्रयु प्रमाता तस्य वृत्तिद्वारा बहिर्निर्गतस्य बाह्य-
 विषयेण सह अन्योन्यमालिङ्गनमन्योन्यालिङ्गिकाभावे षुल् ।
 वृत्तिव्याप्तिप्रयुक्ता व्याप्तिरुदेति । तथा च यथा विषयावरण-
 भङ्गे सच्चै स्फुटतरा संविद्वटादिप्रथा उदेति तथा तेन तेन
 प्रकारेणेत्यर्थः ॥ ४६ ॥ तत्र मूलाधारस्थायाः कुण्डलिन्याश्च-
 क्षुरादिप्रवर्तने नाड्यो द्वारमित्याशयेनाह—तस्यामिति । उत्प-
 द्यन्ते प्रसार्यन्ते । विलीयन्ते संकुचन्ति ॥ ४७ ॥ कथमुत्प-
 द्यन्ते विलीयन्ते च तदाह—नित्यमिति । प्राणात्मना कर्तृ-
 पातोत्सुकतया अपानात्मना अधःप्रवेशोन्मुखया तथा । उक्-
 तमुपसंहरति—सेति । सामानी साधारणी । समानशब्दाद्भावे
 स्वार्थं वा व्यञ्जि लीषि 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोप ॥ ४८ ॥
 अपरिच्छिन्नायाधितो मूलाधारे नाडीमूले परिच्छिन्नकुण्डलि-
 न्याख्यखांशादुद्भव कथं किमर्थं चेति राम पृच्छति—आक-
 ल्पादिति । कालत सर्वमिति वस्तुतश्चापरिच्छिन्न । देशकृतप-
 रिच्छेदाभावस्यापि वस्तुकृतपरिच्छेदाभावऽन्तर्भाव इत्याशये-

कित्त्वस्या भूततन्मात्रवशाद्भ्युदयः कश्चित् ॥ ५०
 सर्वत्र विद्यमानापि देहेषु तरलायते ।
 सर्वगोऽप्यातपः सौरो मित्यादौ वै विजृम्भते ॥ ५१
 कश्चिन्नष्टं कश्चित्स्फुटं कश्चिदुच्छन्नतां गतम् ।
 वस्तु वस्तुनि दृष्टं तत्तत्सद्भावैर्विजृम्भितम् ॥ ५२
 पतञ्जयः क्रमेणाहं शृणु वक्ष्यामि तेऽनघ ।
 देहे स्वे च यथोदेति शृशं संविन्मयक्रमः ॥ ५३
 चेतनाचेतनं भूतजातं व्योम तथाखिलम् ।
 सर्वं चिन्मात्रसन्मात्रं शून्यमात्रं यथा नभः ॥ ५४
 तद्धि चिन्मात्रसन्मात्रमविकारं स्वनामयम् ।
 कश्चित्स्थितं संविदेव भूततन्मात्रपञ्चकम् ॥ ५५
 तत्पञ्चधा गतं द्विधं लक्षसे त्वं स्वसंविदम् ।
 अन्तर्भूतविकारादि दीपादीपशतं यथा ॥ ५६

नोभयोरेवोपादानम् ॥ ४९ ॥ वसिष्ठस्तु तर्हि कालकृतपरिच्छे-
 दाभावेऽपि तत्रान्तर्भूत एवेति पृथगुपादानं व्यर्थम्, यदि
 स्पष्टीकरणाय तस्य पृथगुपादानं तर्हि देशकृतपरिच्छेदाभावेऽपि
 तत्समानमिति त्रितयातुवादव्याजेन दर्शयन्निराकाराया निर्वि-
 षयायाश्च चितो जीवाकारेण वटादिगोचरतया वामिन्यत्तर्य
 तदा संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजभूरित्युक्तार्थं विस्तराद्विपरि-
 ष्यन् स्थूलसूक्ष्मदेहद्रव्याकारपरिणतभूतसापेक्षैव चितो विशेषा-
 भिव्यक्तिरित्याह—सर्वत्रेत्यादिना ॥ ५० ॥ ननु देशकृतपरि-
 च्छेदाभावे संवित्सर्वत्र भासेतेत्याशङ्क्योपाधिवशादेव तस्याः
 स्फुटीभाव इति सदृष्टान्तमाचष्टे—सर्वत्रेति । तरलायते बुद्धौ
 अवच्छेदप्रतिबिम्बनाभ्यां द्विगुणीकृत्य प्रवेशाद्बहलीभूता जल-
 सूर्यकवद्बुद्धिचाक्षत्याचक्षलीभवतीत्यर्थः । तत्रोपाधिकृतबहली-
 भावेन स्फुटीभावे दृष्टान्तमाह—सर्वत्रेति ॥ ५१ ॥ तत्रा-
 प्युपाधिमालिन्यतारतम्येन चिदभिव्यक्तितारतम्यमित्याह—
 कश्चिदिति । मृच्छिलादिवस्तुनि तच्चिद्वस्तु धावियाजाल्येनाभि-
 भवात्सत्त्वारिस्थसैत्यमिव नष्टमवर्शनं गतम् । देवमनुष्यादिलिङ्गे
 तु स्पष्टमभिव्यक्तम् । दृक्षादिलिङ्गेपूच्छा छन्नतां बहिः संवे-
 दनविवेकाक्षमता गतं दृष्टम् । चिदंश इव न सत्ताशे तारतम्य-
 मित्याह—तदिति । तेषां त्रिविधोपाधीनां सर्वानुभवसिद्धैः
 सद्भावैरेव लिङ्गैस्तत्सर्वत्र विजृम्भितमनभिभूतमित्यर्थः ॥ ५२ ॥
 उक्तमेवाभिव्यक्तितारतम्यं क्रमादासर्गसमाप्तेर्निरूपयितुं प्रतिजा-
 नीते—एतदिति । स्वे मनुष्यादिदेहे चात्माशुस्थावरादिदेहे यथा
 यादृशतारतम्येन ॥ ५३ ॥ तदुपोद्घातेन सूक्ष्मस्थूलभूताध्यास-
 प्रपञ्चनाय सर्वाधिष्ठानसच्चिदेकरसं सर्वप्रपञ्चतद्धर्मशून्यमात्मत-
 त्वमादौ निर्दिशति—चेतनेति । नभो नमोवदसङ्गं विमु सूक्ष्मं च
 ॥ ५४ ॥ तस्मिन्स्थैव स्थिते मायाकल्पितैकदेशे आकाशादिसूक्ष्म-
 भूतानां क्रमादध्यासात्तदेव भूतमात्रात्मरूपकं स्थितमित्याह—
 तद्धीति ॥ ५५ ॥ तद् तन्मात्रपञ्चकं प्राणो मनोबुद्धिर्वाचेन्द्रियं

स्वसत्तामात्रकेणैव संकल्पलवरूपिणा ।
 पञ्चकानि व्रजन्तीह देहत्वं तानि कानिचित् ॥ ५७
 कानिचित्तिर्यगादित्वं हेमादित्वं च कानिचित् ।
 कानिचिद्देशतादित्वं द्रव्यादित्वं च कानिचित् ॥ ५८
 एवं हि पञ्चकस्पन्दमात्रं जगदिति स्थितम् ।
 चित्संविदत्र सर्वत्र विद्यते रघुनन्दन ॥ ५९
 केवलं पञ्चकवशाद्देहादौ चेतनाभिधा ।
 जडस्पन्दाभिधा कापि स्थावरादौ जडाभिधा ॥ ६०
 यथा स्तब्धः स्थितो वीचिरिव स्थलमिवास्थितः ।
 पञ्चकेषु तथैतच्चिल्लोलरूपा जडान्विता ॥ ६१
 इतः सौम्य इतो लोलः किमब्धिरिति नो यथा ।
 विकल्पादौ तथैवैतत्पञ्चकं हि जडाजडम् ॥ ६२
 देहादिपञ्चकं जीवः स्पन्दः शैलादिकं जडम् ।

कर्मन्द्ध्यमिति पञ्चधा गतं लिङ्गशरीरं प्रतिबिम्बतया प्रविश्य
 दीपादीपशतमिव संपन्नस्त्वं स्वसंविदमन्तर्भूता जन्मादिविकारा
 आदिपदाज्जाप्रदायवस्थामेदाश्च यस्मिंस्तथाविधं द्वित्वं जीव-
 भावमिति यावत् । लक्ष्मसे लक्षयसि । छान्दस उपग्रहव्यत्ययः
 ॥ ५६ ॥ कानिचिल्लिङ्गारम्भपरिशिष्टानि पञ्चकानि जीवस्य
 देवमनुष्याद्याकारवासनानुसारिसंकल्पलवरूपिणा स्वसत्तामात्र-
 केणैव पञ्चीकरणद्वारा स्थूलदेहत्वं व्रजन्ति ॥ ५७ ॥ देहप्रकर-
 णाद्देमादित्वं धतूरादिस्थावरशरीरताम् । अथवा तिर्यगादित्व-
 मित्यादिपदादेव स्थावरदेहपरिग्रहः । हेमादित्वमित्यनेन
 स्वर्णरजतखर्परोपलक्षितब्रह्माण्डत्वं तदन्तर्गतमुवनादिभोग्यतां
 चेत्यर्थः ॥ ५८ ॥ अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—एवं हीति । स्थितं
 सिद्धम् । तर्ह्यभिष्टानचैतन्यं सर्वत्रास्तीति घटाद्यपि चेतनं किं
 न स्यात्तत्राह—चिदिति ॥ ५९ ॥ पञ्चकवशाच्चैतन्याभिव्यञ्जक-
 प्राणादिपञ्चकघटितलिङ्गदेहप्राधान्यादेव मनुष्यदेहादौ मुख्या
 चेतनाभिधा । कापि तिर्यक्षु लिङ्गस्थूलदेहयोः समप्राधान्याज्जड-
 स्पन्दाभिधा जडचेतनाभिधा । स्थावरादौ तु लिङ्गस्यान्तःसंवे-
 दनमात्रत्वेन बहिर्जनैश्चेतनत्वाविभावनाज्जडाभिधा प्रसिद्धेत्यर्थः
 ॥ ६० ॥ त्रिष्वपि चित्कथं तारतम्येन स्थितेत्यत्र दृष्टान्तमाह—
 यथेति । यथा दिवा विलीनो घृतसमुद्रः सार्यं शिशिरपवनसंप-
 र्काद्वेलातटे क्रमाद्वनीमावात् स्तब्धो निश्चलः स्थितः सन् द्रवप्रदेशे
 वीचिरिव चलः । ईषद्वनप्रदेशे ईषश्चलः । अत्यन्तघनप्रदेशे
 स्थलमिवाचलश्च स्थितः, तथैवैषा चित्रतिर्यक्स्थावरदेहरूपेषु
 पञ्चकेषु लोलरूपा ईषल्लोला अत्यन्तजाल्यान्विता च स्थितेत्यर्थः
 ॥ ६१ ॥ यथा कचिद्वनीमावेन लोलत्वाभावेऽपि तस्य नाब्धि-
 त्वव्याघातस्तथा स्थावरादिभावेऽपि न चिद्रूपताक्षतिरित्याह—
 इत इति । नो इति काकुः । किमब्धिरिति व्यपदेशो न
 भवति किंतु भवत्येव यथा तथैवैतत्सुरनरतिर्यग्विकल्पादौ
 चैतन्यमक्षतमित्यर्थः । अथवा यं जडाजडविकल्पोऽध्यस्तपञ्च-
 कधर्म एव न चिद्धर्मस्तस्यानिर्धर्मकत्वादित्याशयेनाह—पञ्चकं
 हीति ॥ ६२ ॥ पञ्चके स्वभाववशत ईदृशा बहवो विकल्पा

स्थावराद्यनिलस्पन्दि स्वभाववशतोऽनघ ॥ ६३
 वाचः पर्यनुयोक्तव्याः स्वभावाद्व्युनन्दन ।
 शीतोष्णादि हिमाश्यादि वाक्तेति परिदृश्यते ॥ ६४
 गृहीतवासनांशानां पुष्टाभावविकारिणाम् ।
 स्थितयः पञ्चकानां हि योज्याः पर्यनुयोजने ॥ ६५
 वासनास्तु विपर्यस्ता इतो नेतुमितश्च ताः ।
 पुंसां प्राज्ञेन शक्यन्ते सुखं पर्यनुयोजितुम् ॥ ६६
 अशुभे वा शुभे वापि तेन पर्यनुयोज्यते ।
 प्रबुद्धवासनं चान्यत्पञ्चकं सुप्तवासनम् ॥ ६७
 यत्र पर्यनुयोगस्य फलं समनुभूयते ।
 तत्र तं संप्रयुज्यीत नाकाशं मुष्टिभिः क्षिपेत् ॥ ६८
 तृणाग्रनिष्ठा मेर्वाद्याः पञ्चकानां हि राशयः ।
 विवेकनिष्ठाः कीटाद्या यते स्थावरजंगमाः ॥ ६९

दृष्टा इत्याह—देहादीति । देहाद्याकारपरिणतं पञ्चकं प्राणधार-
 णाधीनस्पन्दचैतन्याभ्यां जीवश्चेतनस्तत्प्रयोजकः स्पन्दः शैला-
 दिकं जडमेव । स्थावरादिशरीरं तु बाह्यानिर्लघीनस्पन्दि अन्त-
 र्ज्ञेयमित्यादिव्यवस्थितविकल्पाः स्वभाववशतो दृष्टा इत्यर्थः
 ॥ ६३ ॥ ननु स्वः स्वात्मको भावः स्वभावः स कथं विरुद्धविक-
 ल्पात्मकः स्यात् । विरोधो हि परसापेक्षः । स्वो भावस्त्वनन्या-
 पेक्षः । यदि स्वीयो भावः स्वभावस्तथाप्यसौ स्वमात्रसापेक्षो न
 परसापेक्ष इति कथं परसापेक्षस्य विकल्पस्य स्वरूपं निमित्तं वा
 स्यादिति यदि पर्यनुयुज्यते तर्हि त्वया स्वभावं विहाय वाचः पर्य-
 नुयोक्तव्याः । ता एव हि चिज्जडादिशब्दरूपाः । स्वाः पुनरुक्ततायै
 स्वार्थं व्यावर्तयन्त्यश्चेतन्यजाड्ये विरुद्धे गमयतः । एवं शीतो-
 ष्णादिधर्मपरा हिमाश्यादिधर्मपरा वाक् सर्वापि इति एवंप्रकारैव
 सर्वत्र परिदृश्यत इत्यर्थः । स्वभावादिति त्यज्जलोपे कर्मणि
 पञ्चमी ॥ ६४ ॥ अथवा वागपि न पर्यनुयोज्या तस्या वास-
 नाकल्पितविकल्पवत्पञ्चकार्यानुवादित्वेन तत्पराधीनत्वात् । किंतु
 गृहीतवासनांशानां तत्तद्विरुद्धविकल्पभावेन विकारिणां लिङ्गा-
 त्मना पञ्चकानां स्थितय एव पर्यनुयोजने योज्या इत्याह—गृही-
 तेति । ताभिरविकल्पने विरोधमात्रोच्छेदादिति भावः ॥ ६५ ॥
 अथवा न तासामप्यपराधः । पूर्वपूर्वविरुद्धविकल्पसहस्रवास-
 नानुसारित्वात् । अतः प्राज्ञेन विरुद्धविकल्पनामूलमन्वि-
 ष्यता पुंसां चित्तमित इतश्च विरुद्धविकल्पसहस्रेषु नेतुं विपर्यस्ता
 विक्षिप्ता वासना एव पर्यनुयोजितुं शक्यन्ते न स्वभावादय
 इत्याह—वासना इति ॥ ६६ ॥ पुंसामशुभे तिर्यक्स्थावरादिभावे
 शुभे देवादिभावे वा प्रबुद्धवासनं सुप्तवासनं च पञ्चकं तिष्ठति ।
 तेन वासनैव तद्धेतुः पर्यनुयोज्यत इत्यन्वयः ॥ ६७ ॥
 किं च वासनापर्यनुयोगस्य तत्क्षयोपाये प्रवर्तकत्वेन सफलता ।
 स्वभावादिपर्यनुयोगस्य न किञ्चित्फलमस्तीत्याह—यत्रेति ॥ ६८ ॥
 अत एव वासनाक्षये पूर्णात्मलाभान्मेर्वाद्याः स्वर्णराशयोऽपि
 तृणाग्रस्य निष्ठेव निष्ठा तुच्छता येषां ते तृणाग्रनिष्ठाः संपद्यन्ते ।
 विवेकनिष्ठा देवादिभोगशालिदेहा अपि कीटाद्या इव तुच्छतराः

प्रसुप्तवासनाः केचिद्यथा स्थावरजातयः ।
 प्रबुद्धवासनाः केचिद्यथा नरसुरादयः ॥ ७०
 सवासनाविलाः केचिद्यथैते तिर्यगादयः ।
 प्रक्षिप्तवासनाः केचिद्यथैते मोक्षगासिनः ॥ ७१
 अथ स्वास्वेव संवित्सु मनोबुद्ध्यादिकाः कृताः ।
 हस्तपादादिसंयुक्तैः संज्ञाः पञ्चकराशिभिः ॥ ७२
 तिर्यगादिभिरप्यन्यैरन्याः संज्ञाः प्रकल्पिताः ।
 स्थावरादिभिरप्यन्यैरन्यान्याः संविदः कृताः ॥ ७३
 इति साधो स्फुरन्तीमे चित्राः पञ्चकराशयः ।
 रूपैराद्यन्तमध्ये चलाचलजडाजडैः ॥ ७४
 एषामेकोऽभिसंकल्पः परमाणुर्महीपते ।
 बीजमाकाशवृक्षाणां सर्गाणां तेष्विमानि तु ॥ ७५
 इन्द्रियाणि च पुष्पादि विषयामोदयति हि ।
 इच्छाभ्रमयो राजन्त्यो मज्जर्यश्चलक्रियाः ॥ ७६
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० पञ्चकविलासो नामाशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

लोकान्तराणि स्वच्छानि गुल्मा मूलं समेरवः ।
 पल्लवा नीलजलदा लता लोला दिशो दश ॥ ७७
 वर्तमानानि भूतानि भविष्यन्ति च यानि तत् ।
 जयन्ति तान्यसंख्यानि फलानि रघुनन्दन ॥ ७८
 पञ्चबीजास्त एते हि राम पञ्चकपादपाः ।
 स्वयं स्वभावाज्जायन्ते स्वयं नश्यन्ति कालतः ॥ ७९
 स्वयं नानात्वमायान्ति चिरं जाड्यात्स्फुरन्ति च ।
 स्वविविक्ताः शमं यान्ति तरङ्गा इव वारिधौ ॥ ८०
 इतो यान्ति समुत्सेधमितो यान्ति शमं स्वयम् ।
 एते जाड्यविवेकाभ्यां तरङ्गा इव तोयधौ ॥ ८१
 ये विवेकवशमालयं गता
 राम पञ्चकविलासराशयः ।
 तेन भूय इह यान्ति संस्थितिं
 प्रभ्रमन्ति जगतीतरे मुहुः ॥ ८२

एकाशीतितमः सर्गः ८१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एतत्पञ्चकबीजं तु कुण्डलिन्यां तदन्तरे ।

सपद्यन्त इत्याह—तृणाद्रेति ॥ ६९ ॥ अत एव वासना-
 स्थापप्रबोधतारतम्यादेव पक्षकेषु स्थावरादिवैचित्र्यमित्युदाहृत्य
 दर्शयति—प्रसुप्तेति द्वाभ्याम् ॥ ७० ॥ वासनाभिराविलेना-
 स्वच्छेन चित्तेन सहिताः सर्वासनाविलाः । प्रक्षिप्तवासनास्त्यक्-
 वासनाः ॥ ७१ ॥ वासनावैचित्र्यादेव देवनरादिपञ्चकराशि-
 काश्चभूमिगमनादिविचित्रव्यवहारक्षमहस्तपादादिस्तत्कल्पितक-
 मेन्द्रियसंयुक्तैर्देवनरादिपञ्चकराशिभिः स्वासु स्वासु संवित्स्वेव
 नरादियोग्यव्यवहारोचिता मनोबुद्ध्याहंकारचित्तचक्षुःश्रोत्रप्राण-
 रसनस्पर्शादिका अन्तर्बाह्यकरणरूपाः संज्ञाः संकेताः कृताः, अत
 एव ताः प्रतिप्राणिविचित्रस्वभावा दृश्यन्त इति भावः ॥ ७२ ॥
 तिर्यग्भिः पञ्चादिभिस्तु चत्वारः पादाः श्येते पुच्छं चेति ।
 पक्षिभिस्तु चक्षुः पक्षी पुच्छं पादौ चेति । सर्पैस्तु फणा भोगः
 पुच्छमिति । कृमिकीटैर्दंशमशकादिभिश्च स्वस्ववासनानुरूप-
 व्यवहारयोग्या अवयवादिसंकेताः कल्पिता इत्यर्थः ॥ ७३ ॥
 आद्यन्तमध्ये चलैर्विकारिभिर्जडैश्च । अधिष्ठानसद्रूपेण तु
 अचलैरजडैश्च ॥ ७४ ॥ एवं पञ्चकाख्यलिङ्गमेदाननन्तानुप-
 वर्ण्य तेष्वेकतमस्य कस्यचित्कर्तृपासनसमुच्चानुष्ठानफलसम-
 प्यहंभावं प्राप्तस्य कश्चिदेकः सकल्पपरमाणुरस्य संसारनभो-
 वृक्षस्य बीजमित्याह—एषामिति । समष्टिगोचरत्वादभिध्यासः
 संकल्पोऽभिसंकल्पस्तद्वक्षणः परमाणुः सर्गरूपाणामाकाशवृ-
 क्षाणां बीजं तेषु च सर्गाकाशवृक्षेषु इमानि पञ्चकानीत्यहो
 भायेत्यर्थः ॥ ७५ ॥ सर्गाणामाकाशवृक्षत्वं यदुक्तं तत्पुष्पत-
 दामोदादिकल्पनयोपपादयति—इन्द्रियाणीत्यादिता । आदि-

प्राणमारुतरूपेण तस्यां स्फुरति सर्वदा ॥ १
 सान्तःकुण्डलिनीस्पन्दस्पर्शसंवित्कलामला ।

पदादिन्द्रियावयवेषु पुष्पावयवता यथोक्तं ज्ञेया । विषय-
 लक्षणेष्वाभेदेषु वर्तनशीलं तत् प्रधानमिति यावत् ।
 चञ्चलानां कर्मेन्द्रियाणां क्रियाः ॥ ७६ ॥ स्वच्छानि
 स्वर्गादिलोकान्तराणि गुल्मा विटपाः । समेरवो मेरुदहिताः
 सर्वे पर्वता मूलम् ॥ ७७ ॥ भूतानि चतुर्विधशरीराणि । तत्तस्य
 वृक्षस्य ॥ ७८ ॥ स्वभावात्स्वविवेकशून्यादात्मनः ॥ ७९ ॥
 सस्माद्विषा विवेकदृष्ट्या दृष्टाः ॥ ८० ॥ श्लोकद्वयोक्तमेव
 संप्रष्टाह—इत इति । इतः परादृष्टेः । इतः अत्यदृष्टेः ॥ ८१ ॥
 दे राम, ये पञ्चकविलासराशयः आलयं निर्वासननाशपर्यन्तं
 विवेकवशं गतास्ते इह संसारे भूयो जन्ममरणदेहधारणादिसं-
 स्थितिं न यान्ति । इतरे तु जगति यथापूर्वं प्रभ्रमन्त्येवेत्यर्थः
 ॥ ८२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे पूर्वार्धे पञ्चकविलासो नामाशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

कुण्डलिन्याः प्रसङ्गेन रोगोद्भवशमकमाः ।

सिद्धिसिद्धेशोपायाद्यशेषमिदं वर्णयते ॥ १ ॥

‘यदा प्राणातिष्ठो याति हृदि कुण्डलिनीपदम् । तदा संवि-
 दुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजम्’ इति बुद्धिशक्तिजवप्रदत्वोपपादने
 भूततन्मात्रबीजभूरित्यंशस्य स्फुटीकरणाय कृतं स्थूलसूक्ष्मपञ्च-
 कविचारं संगमयन् खेचरादिसिद्धिबीजप्राणाम्यासोपयुक्तं प्रसु-
 तकुण्डलिन्या प्राणाद्युद्भवप्रकारं प्रदर्शयति—एतदिति । तस्य
 स्थूलदेहात्मकस्य पञ्चकस्यान्तरे मूलधारे तस्यां प्रागवर्णितायां
 कुण्डलिन्यामेतस्य लिङ्गात्मकपञ्चकस्य बीजमुपादानं भूतसूक्ष्मं
 प्रथमं प्राणपञ्चकरूपेण स्फुरतीत्यर्थः ॥ १ ॥ सा प्राणरूपे-

कलोक्ता कलनेनाशु कथिता चेतनेन चित् ॥ २
 जीवनाजीवतां याता मननाच्च मनःस्थिता ।
 संकल्पाच्चैव संकल्पा बोधाद्बुद्धिरिति स्मृता ॥ ३
 अहंकारात्मतां याता सैषा पुर्यष्टकाभिधा ।
 स्थिता कुण्डलिनी देहे जीवशक्तिरनुत्तमा ॥ ४
 अपानतामुपागत्य सततं प्रवहत्यधः ।
 समाना नाभिमध्यस्था उदानाख्योपरि स्थिता ॥ ५
 अधस्त्वपानरूपैव मध्ये सौम्यैव सर्वदा ।
 पुष्टाप्युदानरूपैव पुंसः स्वस्थैव तिष्ठति ॥ ६
 सर्वयत्नमधो याति यदि यत्नाच्च धार्यते ।
 तत्पुमान्मृतिमायाति तथा निर्गतया बलात् ॥ ७
 समस्तैवोर्ध्वमायाति यदि युक्त्या न धार्यते ।
 तत्पुमान्मृतिमायाति तथा निर्गतया बलात् ॥ ८
 सर्वथात्मनि तिष्ठेच्चैत्यक्तवोर्ध्वाधोगमागमौ ।
 तज्जन्तोर्हीयते व्याधिरन्तर्मारुतरोधतः ॥ ९
 सामान्यनाडीवैधुर्यात्सामान्यव्याधिसंभवः ।
 प्रधाननाडीवैधुर्यात्प्रधानव्याधिसंभवः ॥ १०
 श्रीराम उवाच ।
 किंविनाशाः किमुत्पादाः शरीरेऽस्मिन्मुनीश्वर ।
 आधयो व्याधयश्चैव यथावत्कथयाशु मे ॥ ११
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 आधयो व्याधयश्चैव द्वयं दुःखस्य कारणम् ।

णान्तःस्फुरिता कुण्डलिनी मारुतधर्मेण स्वधर्मेण च स्पन्दः
 स्पर्शः संविदिति त्रिरूपकल्पना भूत्वा कला विज्जीवो मनः-
 संकल्पो बुद्धिरहंकारः पुर्यष्टकं लिङ्गमित्यादिनामानि कलना-
 दिव्यापारोपाधिभिर्लभत इत्याह—सान्तरिति त्रिभिः ॥ २ ॥
 ॥ ३ ॥ ४ ॥ तत्र स्पन्दशक्तेः प्रधानवृत्तितत्स्थानत्रैविध्यं
 दर्शयति—अपानतामिति ॥ ५ ॥ वृत्तिमेदप्रयोजनान्याह—
 अध इति । अपानगमनाद्येव प्रयोजनमित्यर्थः । अपानोदाना-
 भ्यामाकृष्यमाणापि स्वयं सौम्या निश्चलैव । तदवष्टब्धत्वादेव
 पुष्टा बलवत्यप्यूर्ध्ववृत्तिरुदानरूपैव सती स्वस्थैव तिष्ठति न
 लिङ्गं बहिरुत्क्रामयतीत्यर्थः ॥ ६ ॥ एवमधोवृत्तेरपि सा विष्ट-
 भिकेत्याह—सर्वप्रयत्नमिति । यदि सामान्यवृत्त्या न धार्यते
 तर्हि सा जीवसंविदपानवृत्त्या सर्वयत्नं यथा स्यात्तथा आकृष्य-
 माणा अधोमार्गेण बहिर्याति । किं ततस्तदाह—तदिति ॥ ७ ॥
 प्रागुक्तं स्पष्टमाह—समस्तैवेति ॥ ८ ॥ अत एव प्राणापान-
 गतिनिरोधाभ्यासेन सर्वाङ्गे समानवृत्त्येतरवृत्तिजये सर्वव्याधि-
 क्षयमृत्युजयसिद्धिरित्याह—सर्वथेति । आत्मनि देहे ॥ ९ ॥
 एकशतं प्रधाननाड्यस्तच्छाखास्तु सामान्यनाड्यस्तास्वजरसप्रा-
 पिकायाः समानवृत्तेर्यत्रैव कफपित्ताद्युपचयाद्बैधुर्यमव्यापारस्तत्रै-
 वेतरवायुभिर्वैषम्येणाभ्ररसाकर्षणादल्परोगाणां महारोगाणां च
 संभव इत्याह—सामान्येति ॥ १० ॥ कस्माद्विनाशो येषां
 ते किंविनाशाः । एवं किमुत्पादाः ॥ ११ ॥ तेषां निवृत्तिरौषचा-
 यो० बा० १२१

तन्निवृत्तिः सुखं विद्यात्तत्क्षयो मोक्ष उच्यते ॥ १२
 मिथः कदाचिज्जायेते कदाचित्सममेव च ।
 पर्यायेण कदाचिच्च आधिव्याधी शरीरके ॥ १३
 देहदुःखं विदुर्व्याधिमाध्याख्यं वासनामयम् ।
 मौर्ख्यमूले हि ते विद्यात्तत्त्वज्ञाने परिक्षयः ॥ १४
 अतस्त्वज्ञानवशतः स्वेन्द्रियाक्रमणं विना ।
 हृदि तानवमुत्सृज्य रागद्वेषेष्वनारतम् ॥ १५
 इदं प्राप्तमिदं नेति जाड्याद्वा घनमोहदाः ।
 आधयः संप्रवर्तन्ते वर्षासु मिहिका इव ॥ १६
 भृशं स्फुरन्तीष्विच्छासु मौर्ख्ये चेतस्यनिर्जिते ।
 दुरन्ताभ्यवहारेण दुर्देशाक्रमणेन च ॥ १७
 दुष्कालव्यवहारेण दुष्क्रियास्फुरणेन च ।
 दुर्जनासङ्गदोषेण दुर्भावोद्भावनेन च ॥ १८
 क्षीणत्वाद्वा प्रपूर्णत्वान्नाडीनां रन्ध्रसंततौ ।
 प्राणे विधुरतां याते काये तु विकलीकृते ॥ १९
 दौःस्थित्यकारणं दोषाद्याधिर्देहे प्रवर्तते ।
 नद्याः प्रावृष्णिदाघाभ्यामिवाकारविपर्ययः ॥ २०
 प्राक्तनी चैहिकी वापि शुभा वाप्यशुभा मतिः ।
 यैवाधिका सैव तथा तस्मिन्योजयति क्रमे ॥ २१
 आधयो व्याधयश्चैव जायन्ते भूतपञ्चके ।
 कथं शृणु विनश्यन्ति राघवाणां कुलोद्भव ॥ २२
 द्विविधो व्याधिरस्तीह सामान्यः सार एव च ।

नूनयैस्तात्कालिकोपशमः । सुखरूपस्यात्मनः परिशेषात्सु-
 खम् । तेषां मूलतो ज्ञानेन नाशो मोक्ष इत्यर्थः ॥ १२ ॥
 मिथः अन्योन्यनिमित्तकत्वात्क्रमसंलभे । कदाचिद्युगपदुत्पन्ना-
 द्वाह्यनिमित्तात्समं युगपत् । कदाचित्सुखान्तरिते पर्यायेण ॥ १३ ॥
 मौर्ख्यमज्ञानं तन्मूले ॥ १४ ॥ तत्र आभ्युद्भवनिमित्ता-
 न्याह—अतस्त्वज्ञानेति । आक्रमणं निग्रहस्तं विना । तदभावा-
 दित्यर्थः । हृदि चित्ते तानवं स्तिमितवायुप्रायां स्वास्थ्यहेतुं
 सूक्ष्मतामुत्सृज्य रागद्वेषेषु प्रसक्तेरिति शेषः ॥ १५ ॥ इदं
 प्राप्तमिदं न प्राप्तमिति चिन्ताया इति शेषः । भयशोकनि-
 मित्तप्राप्तौ तत्प्रतीकारोपायापरिज्ञानलक्षणं घनं मोहं ददतीति
 घनमोहदाः ॥ १६ ॥ इदानीं शरीरव्याध्याभ्युद्भवहेतूनाह—
 भृशमित्यादिना । इच्छामौर्ख्ये आन्तरे तदेतत् । दुरन्तादयस्तु
 बाह्याः । दुर्देशाः श्मशानादयः ॥ १७ ॥ दुष्टेषु निशीथप्रदो-
 षादिकालेष्वज्ञानव्यवायादिव्यवहारेण । दुर्भावां विषसर्पव्याघ्र-
 तस्करादिशङ्कास्तेषां मनस्युद्भावेन ॥ १८ ॥ नाडीनामभ्रर-
 साप्रवेशेन क्षीणत्वाद्दिगुणरसवातादिप्रवेशेन प्रपूर्णत्वाद्वा विधु-
 रतां कफपित्तादिप्रकोपेन व्याकुलताम् । आघातादिना विकली-
 कृते ॥ १९ ॥ दौःस्थित्यमस्वास्थ्यं तत्कारणं व्याधिः स देह-
 स्याकारविपर्ययः ॥ २० ॥ सा चाधिव्याधिसामग्री प्राक्तनैहि-
 ककर्मानुसारेण मिलतीत्याह—प्राक्तनीति ॥ २१ ॥ २२ ॥
 सामान्यः पेलवः सारो दृढतरश्च । व्यवहियत इति व्यवहारः

व्यवहारस्तु सामान्यः सारो जन्ममयः स्मृतः ॥ २३ ॥
 प्राप्तेनाभिमतेनैव नश्यन्ति व्यावहारिकाः ।
 आधिक्षयेणाधिभवाः क्षीयन्ते व्याधयोऽप्यलम् ॥ २४ ॥
 आत्मज्ञानं विना सारो नाधिर्नश्यति राघव ।
 भूयो रज्जववबोधेन रज्जुसर्पो हि नश्यति ॥ २५ ॥
 आधिव्याधिविलासानां राम साराधिसंक्षयः ।
 सर्वेषां मूलहा प्रावृणन्दीव तटवीरुधाम् ॥ २६ ॥
 अनाधिजा व्याधयस्तु द्रव्यमन्त्रशुभ्रक्रमैः ।
 चिकित्सकादिशास्त्रोक्तैर्नश्यन्त्यन्यैरिहाथवा ॥ २७ ॥
 ज्ञानमन्त्रौषधोपाया वक्तुश्चाधिगतानि च ।
 त्वया चिकित्साशास्त्राणि किमन्यदुपदिश्यते ॥ २८ ॥

श्रीराम उवाच ।

आधेः कथं भवेद्याधिः कथं च स विनश्यति ।
 द्रव्यादितरया युक्त्या मन्त्रपुण्यादिरूपया ॥ २९ ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चित्ते विधुरिते देहः संक्षोभमनुयात्यलम् ।
 तथाहि रुषितो जन्तुरग्रमेव न पश्यति ॥ ३० ॥
 जनवेक्ष्य पुरो मार्गममार्गमनुधावति ।
 प्रकृतं मार्गमुत्सृज्य शरात्तौ हरिणो यथा ॥ ३१ ॥
 संक्षोभात्साम्यमुत्सृज्य वहन्ति प्राणवायवः ।
 देहे गजप्रविष्टेन पयांसीव सरिच्छटे ॥ ३२ ॥
 असमं वहति प्राणे नाड्यो यान्ति विसंस्थितिम् ।
 असम्यक्संस्थिते भूपे यथा वर्णाश्रमक्रमाः ॥ ३३ ॥
 काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं यान्ति काश्चिच्च रिक्तताम् ।

धुतृषास्त्रीपुत्रलालसादिस्तत्संभवश्च । जन्ममयो जन्मादिविकि-
 यामूलम् ॥ २३ ॥ अभिमतेनाग्रपानस्त्रीपुत्रादिना ॥ २४ ॥
 आधिव्याधिः भूयो भूयसा लोकपरिशीलनाद्भुतस्त्वप्रत्यय-
 पर्यन्तेनावबोधेन ॥ २५ ॥ प्रावृणन्दीव सर्वेषां तटवीरुधामिव
 सर्वेषामाधिव्याधिविलासानां सारव्याधिसंक्षयो मूलहा मूलो-
 न्छेदीत्यन्वयः ॥ २६ ॥ सामान्यव्याधिष्वनाधिजव्याधयः
 शुचिकित्स्या इत्याख्येनाह—अनाधिजा इति । अन्यैर्द्वैतपर-
 म्परोपदिष्टैश्चिकित्सनैः ॥ २७ ॥ लोलार्कादितीर्थेषु ज्ञानम् ।
 मन्त्रा औषधानीत्याधुपायाः । वक्तुश्च वृद्धजनादधिगतान्यौष-
 धानि चिकित्साशास्त्राणि च त्वया ज्ञायन्त एवेति शेषः ॥ २८ ॥
 आधिभ्यो व्याधिजन्मप्रकारं तच्चिकित्सोपायं च रामः
 पृच्छति—आधेरिति । द्रव्यादौषधादितरया मन्त्रपुण्यादिरूप-
 येति स्वसंभवनयोक्तिः ॥ २९ ॥ सत्र प्रथमं तदुद्भवप्रकार-
 माह—चित्ते इत्यादिना । विधुरिते आधिभिः क्षुब्धे । लफ-
 मयं दृष्टान्तेनोपपादयति—तथाहीति सार्धेन । अग्रं पुरोमार्गम्
 ॥ ३० ॥ ॥ ३१ ॥ दार्ष्टान्तिकेऽपि तथैव आधिकृतत्वं संक्षोभात्प्राण-
 वायवः साम्यमुत्सृज्यानाग्रेण वहन्ति । यथा गजस्य प्रविष्टेन
 प्रवेशेन धुतृषानि पयांसि सरितस्तटे अमार्गे वहन्ति तद्वत्
 ॥ ३२ ॥ असमं विषमम् । विसंस्थितिं कफपित्तादिपूर्णता-

प्राणाऽऽविधुरिते देहे सर्वतः सरितो यथा ॥ ३३ ॥
 कुजीर्णत्वमजीर्णत्वमतिजीर्णत्वमेव वा ।
 दोषाद्यैव प्रयात्यन्नं प्राणसंचारदुष्कृतात् ॥ ३४ ॥
 यथा काष्ठानि नयति प्राचीदेशं सरिद्रव्यः ।
 तथाज्ञानि नयत्यन्तः प्राणवातः स्वमाश्रयम् ॥ ३५ ॥
 यान्यन्नानि निरोधेन तिष्ठन्त्यन्तःशरीरके ।
 तान्येव व्याधितां यान्ति परिणामस्वभावतः ॥ ३६ ॥
 एवमाधेर्भवेद्याधिसंस्थाभावाच्च नश्यति ।
 यथा मन्त्रैर्विनश्यन्ति व्याधयस्तत्क्रमं शृणु ॥ ३७ ॥
 यथा विरेकं कुर्वन्ति हरीतकयः स्वभावतः ।
 भावनावशतः कार्यं तथा थरलवादयः ॥ ३८ ॥
 शुद्धया पुण्यया साधो क्रियया साधुसेवया ।
 मनः प्रयाति नैर्मल्यं निकषेणेव काञ्चनम् ॥ ३९ ॥
 आनन्दो वर्धते देहे शुद्धे चेतसि राघव ।
 पूर्णेन्द्राबुदिते ह्यत्र नैर्मल्यं भुवने यथा ॥ ४० ॥
 सत्त्वशुद्ध्या बहन्त्येते क्रमेण प्राणवायवः ।
 जरयन्ति तथाज्ञानि व्याधिस्तेन विनश्यति ॥ ४१ ॥
 आधिव्याध्योरिति प्रोक्तौ नाशोत्पत्तिक्रमौ त्वयि ।
 कुण्डलिन्याः कथायोगादधुना प्रकृतं शृणु ॥ ४२ ॥
 पुर्यष्टकपराख्यस्य जीवस्य प्राणनामिकाम् ।
 विद्धि कुण्डलिनीमन्तरामोदस्येव मञ्जरीम् ॥ ४३ ॥
 तां यदा पूरकाभ्यासादापूर्य स्थीयते तमम् ।
 तदैति मैरवं स्थैर्यं कायस्यापीनता तथा ॥ ४४ ॥
 यदा पूरकपूर्णान्तरायतप्राणमावृतम् ।

प्रयुक्तविषमसंस्थानताम् ॥ ३३ ॥ तदेवाह—काश्चिदिति ।
 प्राणैराविधुरिते सर्वतो विद्वलीकृते देहे । सरितो नाड्यः
 स्रोतांसीव ॥ ३४ ॥ ॥ ३५ ॥ समानाख्यः प्राणवातः स्वमाश्रयं
 सर्वं शरीरं भुक्तान्यन्नानि रसीकृत्य नयति । 'मध्ये तु समान
 एष ह्येतद्भुतमन्नं समं नयती'ति श्रुतेरिति भावः ॥ ३६ ॥ घातु-
 वैषम्यपरिणामस्वभावतः ॥ ३७ ॥ उपसंहरति—एवमिति ।
 अभावाभावात् ॥ ३८ ॥ हरीतक्या फलानि हरीतक्यः ।
 फले लुकि 'हरीतक्यादिषु व्यक्तिः' इति नियमाच्च वचने युक्त-
 वद्भावेन । तथा थरलवादयो वायुवह्निभूजलादिषीजात्मका मन्त्र-
 वर्णा मान्त्रिकमावनावशतो नाडीषु व्याध्याकारपरिणताश-
 रसानामुत्सारणपाचनादिकार्यं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ३९ ॥ आधु-
 पशमोपायानाह—शुद्धयेत्यादिना ॥ ४० ॥ ॥ ४१ ॥ ॥ ४२ ॥
 प्रासङ्गिकप्रश्नोत्तरमुपसंहृत्य प्रकृतं सिद्धिहेतुनिरूपणं प्रस्तौति—
 आधीति ॥ ४३ ॥ पुर्यष्टकाख्यस्य लिङ्गात्मनो जीवसाधार-
 मूताम् ॥ ४४ ॥ आपूर्य कूर्मनाड्यां प्राणमवष्टभ्येत्यर्थः । तथा च
 पतञ्जलेः सूत्रम् 'कूर्मनाड्या स्थैर्यम्' इति । 'कण्ठकूपादध उरवि
 कूर्माकारा नाडी तस्यां कृतसंयमः स्थैर्यं लभते यथा सर्पो
 गोधा वेति' तद्भाष्यम् । कायस्यापीनता गरिमाख्या सिद्धिरपि
 तथा तादृशी मैरवी सिद्धतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥ केन तर्क्य

नीयते संविदेवोर्ध्वं सोढुं धर्मकृमं श्रमम् ॥ ४६
 सर्पाव त्वरितैवोर्ध्वं याति दण्डोपमां गता ।
 नाडीः सर्वाः समादाय देहबद्धा लतोपमाः ॥ ४७
 तदा समस्तमेवेदमुत्प्लावयति देहकम् ।
 नीरन्ध्रं पवनापूर्णं भस्त्रेवाम्बु ततान्तरम् ॥ ४८
 इत्यभ्यासविलासेन योगेन व्योमगामिना ।
 योगिनः प्राप्नुवन्त्युच्चैर्दीना इन्द्रदशमिव ॥ ४९
 ब्रह्मनाडीप्रवाहेण शक्तिः कुण्डलिनी यदा ।
 वहिरूर्ध्वं कपाटस्य द्वादशाङ्गुलमूर्धनि ॥ ५०
 रेचकेन प्रयोगेण नाड्यन्तरनिरोधिना ।
 मुहूर्तं स्थितिमाप्नोति तदा व्योमगदर्शनम् ॥ ५१

श्रीराम उवाच ।

दर्शनं कीदृशं ब्रह्मन्नयनांशुगणं विना ।
 अदिव्यानामिन्द्रियाणां तत्त्वमेवं कथं भवेत् ॥ ५२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

न केचन महाबाहो भूचरेण नभस्वतः ।
 अदिव्येनाश्रिता ज्ञानैर्दृश्यन्ते पुरुषेन्द्रियैः ॥ ५३

नभोगतिविदिस्त्वादह—यदेत्यादिना । यदा पूरकेण पूर्णं देहा-
 न्तरायतो मूलधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं दीर्घाङ्गुल्योर्ध्वमा-
 कृष्टः प्राणमारुतो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा संवित् कुण्ड-
 लिनी प्राणनिरोधोद्भूतमूष्माणं तत्प्रयुक्तं शारीरं कृमं मानसं श्रमं
 चाभ्यासपाटवेनामृताप्लावनेन च सोढुं सद्यः कर्तुमूर्ध्वं नीयते
 ॥ ४६ ॥ नीयमाना च सा आकर्षणादण्डोपमां दीर्घतां गता
 सती सर्पाव त्वरितैवोर्ध्वमभ्यासपाटवायाति । कथं याति
 तदाह—नाडीरिति ॥ ४७ ॥ तदा नाडीद्वारा नीरन्ध्रं निरव-
 काशं यथा स्यात्तथा पवनेनापूर्णं लघुत्वमापन्नं समस्तमापादम-
 स्तकमिदं देहकं कृपादूर्ध्वमाकृष्यमाणा चर्मभस्त्रा तत् व्याप्तमा-
 न्तरमन्तःप्रदेशो येन तथाविधमम्बिव चत् ऊर्ध्वं प्लावयति
 चङ्गीनं करोति तदेवास्याकाशगमनमित्यर्थः ॥ ४८ ॥ इति एवं-
 विधेनाभ्यासविलासेन योगेन कायाकाशसंबन्धसंयमलक्षणेन ।
 तथा च भगवतः पतञ्जलेः सूत्रम् 'कायाकाशयोः संबन्धसंयमा-
 लघुतुल्यसमापत्तेश्चाकाशगमनम्' इति, तद्भाष्यं च 'यत्र काय-
 स्तत्राकाशं कायस्य तेन संबन्धः प्राप्तिस्तत्र कृतसंयमो योगी
 जित्वा तत्संबन्धं लघुतुलादिषु आपरमाणुभ्यः समापत्तिं लब्ध्वा
 जितसंबन्धो लघुर्लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति ततस्तूर्ण-
 नाभितन्तुमात्रे विहस्य रश्मिषु विहरति ततो यथेष्टमाकाशग-
 तिरस्य भवति' इति ॥ ४९ ॥ इदानीं सिद्धदर्शनोपायमाह—ब्रह्म-
 नाडीत्यादिना । यदा रेचकेन प्रयोगेणोर्ध्वमाकृष्टा कुण्डलिनी
 शक्तिर्ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तदन्तः प्राणप्रवाहेण क्षीर्षकपालद्वय-
 संबिलक्षणस्य कपाटस्य वहिर्द्वादशाङ्गुलमिते मूर्धनि षोड-
 शान्ताख्ये स्थाने मुहूर्तमात्रं स्थितिमाप्नोति तदा व्योमगानां
 सिद्धानां दर्शनं भवतीति परेणान्वयः । तथा च भगवतः
 पतञ्जलेः सूत्रम् 'मूर्धज्योतिर्विसिद्धदर्शनम्' इति । तद्भाष्यं च

विज्ञानादूरसंस्थेन बुद्धिनेत्रेण राघव ।
 दृश्यन्ते व्योमगाः सिद्धाः स्वप्नवत्स्वार्थदा अपि ॥ ५४
 स्वप्नावलोकनं यद्वत्तद्वत्सिद्धावलोकनम् ।
 केवलोऽथ विशेषोऽयं सिद्धप्राप्तौ स्थिरार्थता ॥ ५५
 मुखाद्वह्निर्द्वादशान्ते रेचकाभ्यासयुक्तिः ।
 प्राणे चिरं स्थितिं नीते प्रविशत्यपरां पुरीम् ॥ ५६
 श्रीराम उवाच ।

वद स्वभावस्य कथं ब्रह्मन्नचलसंस्थितिः ।
 वक्तारः सानुकम्पा हि दुष्प्रश्नेऽपि न खेदिनः ॥ ५७
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।

शक्तिर्या तु स्वभावाख्या यथा स्फुरति चात्मनः ।
 सर्गादिषु तथैवासौ स्थितिं यातीति निश्चयः ॥ ५८
 अवस्तुत्वादविद्याया वस्तुशक्तिरपि क्वचित् ।
 मिथ्यते दृश्यते ह्यङ्ग वसन्ते शारदं फलम् ॥ ५९
 सर्वमेवमिदं ब्रह्म नानाऽनानातया स्थितम् ।
 जृम्भते व्यवहारार्थं केवलं कथितस्थिति ॥ ६०

'शिरःकपाळे अन्तर्दिष्टं प्रभास्वरत्वाज्योतिस्तत्र संयमात्सि-
 द्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनमिति ॥ ५० ॥ ५१ ॥
 अदिव्यानामिन्द्रियाणामिति भावलक्षणे 'षष्ठी चानादरे' इति
 षष्ठ्यौ । यदास्मदादीनामिन्द्रियाणामदिव्यानां सतां सत्यपि
 तत्संनिकर्षे सिद्धानां तत्त्वं तद्रोचरत्वं दुर्लभं तदा नयनांशुगणं
 चाक्षुषप्रभासंनिकर्षं विना षोडशान्ते प्राणधारणमात्रेण सिद्धानां
 दर्शनं कथं भवेत्तच्च कीदृशमित्यर्थः ॥ ५२ ॥ तत्र कथं भवेदि-
 त्यंशमिष्टापत्त्या षड्विष्टः परिहरति—न केचनेति । नभस्वतो
 नभस्वन्तो वायुभूताः । सिद्धा आश्रिता ज्ञानैर्मलिनैः पुरुषेन्द्रियैर-
 दिव्येनोपायान्तरेण वा न दृश्यन्ते इति सत्यमेव त्वयोक्तमित्यर्थः
 ॥ ५३ ॥ केन तर्हि दृश्यन्ते तदाह—विज्ञानादिति । विज्ञाना-
 द्योगाभ्याससंस्कृतमनसः ॥ ५४ ॥ कीदृशमिति प्रश्नांशस्योत्त-
 रमाह—स्वप्नावलोकनमिति । स्थिरार्थता संवादवरदानफला-
 वाप्त्यादिव्यवहारक्षमार्थता स्वप्नापेक्षया विशेष इत्यर्थः ॥ ५५ ॥
 इदानीं परकायप्रवेशो येनोपायेन सिध्यति तमाह—मुखादिति ।
 द्वादशान्ते द्वादशाङ्गुलिपरिमितप्रान्ते ॥ ५६ ॥ 'विशेषोऽयं
 सिद्धप्राप्तौ स्थिरार्थता' इति यदुक्तं तत्र स्वभाव एव हेतुर्वाच्यः
 सर्वस्य जगतो मायामयत्वादनियतस्थितित्वं प्राग्वहुशस्त्वयैव
 'घटस्य पटता दृष्टा' इत्यादिना व्युत्पादितं, तत्र स्वभावस्यैकस्य
 नियतस्थितिः कथमिति रामः पृच्छति—वदेति ॥ ५७ ॥
 सत्यसंकल्पस्येश्वरस्य सर्गादिकालसंकल्पप्रयुक्ता वस्तुस्वभावनि-
 यतिरपि यावत्सर्गकालमेव न प्रलये सास्तीति न सर्वनियति-
 भङ्गवादविरोध इत्याशयेन प्राशुक्तमेव स्मारयन् वसिष्ठस्तदुत्तर-
 माह—शक्तिरिति ॥ ५८ ॥ कालमेदेनैव देशमेदेनापि वस्तु-
 शक्तेरनियतता दृष्टेयाह—अवस्तुत्वादिति । क्वचित्कामरूप-
 देशादौ । शारदं मीढादिफलम् ॥ ५९ ॥ नानाऽनानातया

श्रीराम उवाच ।

सूक्ष्मच्छिद्रादिगत्यर्थं पूरणार्थं च स्वस्य वा ।
अणुतां स्थूलतां चापि कायोऽयं नीयते कथम् ॥ ६१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

काष्ठककचयोः श्लेषाद्यथा छेदः प्रवर्तते ।
द्वयोः संघर्षणादग्निः स्वभावाज्जायते तथा ॥ ६२
मांसं कुयन्नजठरे स्थितं श्लिष्टमुखं मिथः ।
ऊर्ध्वाधःसंमिलत्स्थूलद्वयम्भःस्थैरिव वैतसम् ॥ ६३
तस्य कुण्डलिनी लक्ष्मीर्निनीनान्तर्निजास्पदे ।
पद्मरागसमुद्गस्य कोशे मुक्तावली यथा ॥ ६४
आवर्तफलमालेव नित्यं सलसलायते ।
दण्डाद्वतेव भुजगी समुन्नतिविवर्तिनी ॥ ६५
द्यावापृथिव्योर्मध्यस्था क्रियेव स्पन्दधर्मिणी ।
संविन्मधुविबोधाको हृत्पद्मपुटषट्पदी ॥ ६६
तत्सर्वं शक्तिपद्मादि बाह्येनाभ्यन्तरैस्तथा ।
हृदि व्याधूयते चातैः पत्रवृन्दमिचामितः ॥ ६७

अनियतस्वभावतया स्थितं सर्वमेवेदं ब्रह्म । ब्रह्म स्वभावेनैव
नियतैकरूपं नान्येनेत्यर्थः । कथं तर्हि घटेरुर्ध्वज्वलनादिनियति-
स्तत्राह—जृम्भते इति । प्राणिकर्मतत्फलोपभोगव्यवहारार्थ-
मज्ञातं ब्रह्मैव कंचित्कालं तथा तथा नियतस्थितिं भूत्वा जृम्भत
इत्यर्थः ॥ ६० ॥ इदानीमणिमाख्या महिमाख्या च सिद्धिः केनो-
पायेन सिध्यतीति रामः पृच्छति—सूक्ष्मेति । नीयते योगिनेति
शेषः ॥ ६१ ॥ अस्य अक्षस्योत्तरमुत्तरसर्गे विस्तराद्वर्णयिष्य-
स्वदुपोद्गततया देहे अग्नीषोमव्याप्तिं निरूपयिष्यन् प्राणा-
पानयोः संघर्षान्तराले जाठराग्निमिष्यतौ दृष्टान्तमाह—
काष्ठेति । छेदो द्वैधीभावः । द्वयोः प्राणापानयोः । अग्निर्जाठरः
॥ ६२ ॥ प्राणापानयोः संघर्षणोपपत्तये अन्योन्याकर्षकत्वे
कारणमाह—मांसमित्यादिना । कुतितस्य देहयन्त्रस्य जठरे
उदरप्रदेशे नामेरुर्ध्वमधश्च संमिलत् अत एव मिथः श्लिष्टमुख-
मामाशयपकाशयभक्षाद्वयरूपं स्थूलं मांसं दिविस्यैरुर्ध्वमाका-
शसंस्थैरम्भःस्थैरघो जले निमग्नैश्च भागे परस्परश्लिष्टैरुपलक्षि-
तमघोऽम्भसा ऊर्ध्वं वायुना च विरुद्धदेशयोः कृष्यमाणं वैतसं
कुलमिव कम्पमानं स्थितं वर्तत इत्यर्थः ॥ ६३ ॥ अस्तु
तत्किं तत्तत्तत्राह—तस्येति । तस्य मासस्याधस्तनभक्षाभागत्य
मूलभाररूपे निजे आस्पदे मूलाधारे प्रागुक्ता कुण्डलिनी
सर्वस्य कार्यकारणसंघातस्य प्राणप्रदत्वाल्लक्ष्मीः ॥ ६४ ॥ जप-
काले आवर्त्यमाना रुद्राकादिकलमालेव नित्यममीक्षणं प्राणा-
पानोद्गिरणनिगिरणाभ्यां सलसलायते कम्पेनाव्यक्तारवं जन-
यति । अव्यक्तानुकरणाद्वाचि बहुलप्रहणात् करोत्यर्थं कथम् ।
समुन्नतिरुर्ध्वमुखता तथा विवर्तिनी परिवर्तनशीला ॥ ६५ ॥
द्यावापृथिव्योर्मध्ये प्राणिनामूर्ध्वाधोगतिहेतुर्विहितविषिद्वक्रियेव
प्राणापानयोरुर्ध्वाधोगतिहेतुत्वात्स्पन्दधर्मिणी । चाक्षुषादिसंवि-
च्छणानां मधूनां रूपादिविषयास्वादानां विबोधे अर्क इव

यद्वद्योम स्फुरत्यङ्ग स्वभावान्नत्र वायवः ।
बलवन्मृदु यत्किंचिद्भृशं कबलयन्ति तत् ॥ ६८
वातैराहन्यमानं तत्पद्मादि तरलायते ।
हृद्यन्यान्वैति कार्येण पल्लवादि यथा तरोः ॥ ६९
देहेष्वाजरणं सर्वैरसानां पवनोऽन्वहम् ।
जनयत्यग्निमन्योन्यसंघर्षाद्भनवेणुवत् ॥ ७०
स्वभावशीतवातात्मा देहस्तेनौष्ण्यमेत्यथ ।
उदितेन स सर्वाङ्गे भुवनं भानुना यथा ॥ ७१
सर्वतो विचरेदस्मिन्तत्तेजस्तारकाकृतिः ।
हृत्पद्महेमभ्रमरो योगिनां चिन्त्यतां गतम् ॥ ७२
तत्प्रकाशमयं ज्ञानं चिन्तितं सत्प्रयच्छति ।
येन योजनलक्ष्यं वस्तु नित्यं हि दृश्यते ॥ ७३
तस्याग्नेर्वाडवस्येव जलं संशुष्कमिन्धनम् ।
मांसपद्मजखण्डाख्यं हृत्सरः कोशवासिनः ॥ ७४
यदच्छं शीतलत्वं च तदस्यात्मेन्दुरुच्यते ।
इतीन्द्रोरुत्थितः सोऽग्निरग्नीषोमौ हि देहकः ॥ ७५

स्थिता ॥ ६६ ॥ शक्तयो ज्ञानकर्मेन्द्रियादिशक्तयः । प्रागुक्तं
हृत्पद्ममादिपदाग्नीजालं च हृदि आभ्यन्तरैर्वैतैस्तथा व्याधू-
यते कम्प्यते । यथा बाह्येन वातेन तरुपत्रवृन्दं व्याधूयते
तद्वदित्यर्थः ॥ ६७ ॥ वाद्यं व्योम यद्वद्विशालं स्फुरति तत्र
च स्वभावादेव वायवो बलवत्काष्ठपाषाणादिमृदुपर्णतृणादि च
कबलयन्तीव कालेन जरयन्ति तद्वदन्तर्व्योन्यपि प्राणवायवो
भुक्चमसादि जरयन्तीत्यर्थः ॥ ६८ ॥ जरणप्रकारमेवाह—
चातैरेति । तत्प्रागुक्तं हृत्पद्मनाडीमन्त्रादि प्राणवातैराहन्यमानं
ध्मायमानं लोहकारभस्त्रेव तरलायते । तरलायमानस्य तस्य
हृदि अन्तः प्रविष्टस्याक्षस्य प्रथमं रसो रसाद्वर्कं रक्तान्मांसं
मांसात्त्वक् त्वचो मेदो मेदसो मज्जा मज्जाभ्योऽस्थीन्यस्थिभ्य-
श्चुक्रमिति विचित्रकार्येणान्यस्या अन्या परिणतिरेति । यथा
वसन्ते तरोरन्तःप्रविष्टमौसरसस्य पल्लवा मज्जर्यं पुष्पाणि फल-
नीत्यादि एति तद्वदित्यर्थः ॥ ६९ ॥ तत्र सप्तस्वपि घातु-
स्थानेषूत्तरोत्तरपरिणामसिद्धये परस्परसंघर्षाज्जाठराग्नेरभिव्यक्ति-
रस्तीत्याशयेनाह—देहेष्विति । आजरणं जरणपरम्परया चर-
मघातुपरिणामपर्यन्तमित्यर्थः ॥ ७० ॥ स देहः सर्वाङ्गे
उदितेन अग्निमेव तेन जाठराग्निना औष्ण्यमेति ॥ ७१ ॥
तस्यैव सर्वदेहव्यापिनो जाठराग्नेर्हृत्पदे तारकाकारेण योगिनि-
रुपासनं क्रियत इत्याह—सर्वत इति । अस्मिन् देहे ॥ ७२ ॥
तदेव चित्रूपेण चिन्त्यमानं व्यवहितविप्रकृष्टसर्वपदार्थदर्शन-
सिद्धिं जनयतीत्याह—तदिति ॥ ७३ ॥ तस्याग्नेरिन्धनमाह—
तस्येति । वाडवस्याग्नेः सामुद्रं जलमिव मांसलक्षणे पद्मजख-
ण्डैराख्यं यद्वत्सरस्तत्कोशशायिनस्तस्य जाठरस्याग्नेरपि शरीर-
मन्नरसरूपं जलं संशुष्कं ज्वलनयोग्यमिन्धनमित्यर्थः ॥ ७४ ॥
देहे इन्धनभूतमिन्द्रंशं लक्षणेन विनश्य देहस्याग्नीषोमात्म-

सर्वं तूष्णात्मकं किञ्चित्तेजोऽर्काद्यभिधं विदुः ।
 शीतात्मकं तु सोमाख्यमाभ्यामेव कृतं जगत् ॥ ७६
 विद्याविद्यास्वरूपेण सर्वं सदसदात्मना ।
 जगद्वा येन निर्वृत्तं तदेवैवं विभज्यते ॥ ७७
 संविद्यकाशं विद्यादि सूर्यमग्निं विदुर्बुधाः ।
 असज्जाड्यं तमो विद्याद्याहुः सोमं मनीषिणः ॥ ७८
 श्रीराम उवाच ।
 वह्निर्वाय्वात्मनः सोमादुदेतीति मुनीश्वर ।
 सोमस्योत्पत्तिमधुना वद मे वदतां वर ॥ ७९
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 अग्नीषोमौ मिथः कार्यकारणे च व्यवस्थिते ।
 पर्यायेण समं चैतौ प्रजीषेते परस्परम् ॥ ८०
 जन्माङ्गबीजाङ्गुरवत्तथा दिवसरात्रिवत् ।
 स्थितिदृष्टायातपसमा केवला सैतयोर्भवेत् ॥ ८१

कत्वमाह—यदिति ॥ ७५ ॥ बहिरपि जगत्प्रकाशौष्ण्याभ्यां
 शैलजाड्याभ्यां चाग्नीषोमात्मकं द्वेयमित्याह—सर्वमिति
 ॥ ७६ ॥ अथवा चिज्जडोभयघटितं सदसदात्मकमविद्याशबलं
 ब्रह्मैव जगदाकारेण निर्वृत्तमिति तदेवैवं प्रकाशजाड्यात्मना
 अग्नीषोमरूपेण विभक्तमित्याह—विद्येति ॥ ७७ ॥ तं विभाग-
 मेव स्फुटमाह—संविदिति । विद्यां आत्मतत्त्वस्फूर्तिम् ।
 आदिपदाद्वाह्यार्थप्रथां च ॥ ७८ ॥ 'देहेष्वाजरणं सर्वरसानां
 पवनोऽन्वहम् । जनयत्यमिमन्योन्यसंघर्षाद्वनवेणुवत्' इति
 त्वदुक्त्या देहे वहिश्च प्रत्यक्षेणाभ्यादित्यादेर्वाध्वधीनोद्भवोदया-
 दिदर्शनाद्वह्निर्वाय्वात्मनः सोमादुदेतीत्ययमर्थो मया धुद्ध इति
 शेषः । शेषः स्पष्टः ॥ ७९ ॥ परस्परं पर्यायेण प्रजीषेते जिगी-
 षेते । जेः सनि द्वित्वकृत्वयोरभावश्छान्दसः । 'अज्ज्ञानगमाम्'
 इति दीर्घः । 'प्रजीवेते' इति पाठे तु परस्परमुपजीवत इत्यर्थः
 ॥ ८० ॥ अनयोर्जन्मबीजाङ्गुरवत्परस्पररोपादानकं दिवसरात्रि-
 वत्परस्परनिमित्तकं च । स्थितिस्तु छायातपसमा परस्पररोप-
 षातिनीत्यर्थः ॥ ८१ ॥ दृष्टान्तमेदोपन्यासस्य तात्पर्यान्तर-
 माह—तुल्येति । युगपदुलम्बे छायातपस्थितिः पर्यायेणोप-
 लम्बे दिनरात्रिस्थितिर्दृष्टान्त इत्यर्थः ॥ ८२ ॥ दृष्टान्तयोः
 कार्यकारणभावद्वयपरत्वपक्षेऽप्यवान्तरमेदान्तरद्वयेऽपि तात्प-
 र्यमस्तीत्याह—कार्यकारणभावश्चेति ॥ ८३ ॥ तयोराद्यमुप-
 पादयति—एकस्मादिति ॥ ८४ ॥ द्वितीयमुपपादयति—
 एकेति । भाव उत्पत्तिः ॥ ८५ ॥ आद्ये कार्यदशायां कारण-
 सत्त्वे मृदात्मकोऽयं घट इत्यादि प्रत्यक्षं प्रमाणमित्याह—सद्रू-
 पेति । यद्यप्यनुमानादीनामपि संभवोऽस्ति तथापि प्रत्यक्ष-
 सिद्धेऽर्थे न ते मृग्यन्ते इत्यनुपयोगोक्तिः । तदुक्तं न्यायवाच-
 स्पत्ये 'न हि करिणि दृष्टे चीत्कारेण तमनुमिमते मिमातारः'
 इति । सिद्धिसत्त्वेन पक्षतारूपकारणाभावादित्याशयः ॥ ८६ ॥
 एवं द्वितीयेऽपि कार्यदशायां कारणासत्त्वे दिवरात्रिं नोपलभ-
 महे इत्यनुपलब्धिः प्रमाणमित्याह—विनाशेति । एकवस्तुस्थः

तुल्यकालोपलम्भासावित्थं छायातपस्थितिः ।
 केवलैकोपलम्भाद्व्या स्थितिर्दिवसरात्रिवत् ॥ ८२
 कार्यकारणभावश्च द्विविधः कथितोऽनयोः ।
 सद्रूपपरिणामोत्थो विनाशपरिणामजः ॥ ८३
 एकस्माद्यद्वितीयस्य संभवोऽङ्गुरबीजवत् ।
 कार्यकारणभावोऽसौ सद्रूपपरिणामजः ॥ ८४
 एकनाशे द्वितीयस्य यद्भावो दिनरात्रिवत् ।
 कार्यकारणभावोऽसौ विनाशपरिणामजः ॥ ८५
 सद्रूपपरिणामस्य मृद्वटक्रमसंस्थितेः ।
 अक्षोपलम्भादितरत्प्रमाणं नोपयुज्यते ॥ ८६
 विनाशपरिणामस्य दिनरात्रिक्रमस्थितेः ।
 अभावोऽप्येकवस्तुस्थो गतो मुख्यप्रमाणताम् ॥ ८७
 अनास्था नास्ति कर्तृत्वमित्याद्याऽऽयुक्तिवादिनः ।
 अवज्ञया बहिष्कार्याः स्वानुभूत्यपलापिनः ॥ ८८

एकवस्तुमात्रप्राहिप्रत्यक्षाविरुद्धः ॥ ८७ ॥ ननु कार्यं कुर्वत्
 कारणमुच्यते । तत्कर्तृत्वं च कारणस्य तदभिनिवेशलक्षणाया-
 मास्थायां दृष्टम् । न च प्रकाशनमात्रोपक्षीणस्य दिनस्य रात्रि-
 निर्माणे आस्थास्तीति नास्ति कर्तृत्वम् । एवं रात्रेरपि दिन-
 कर्तृत्वं नास्तीत्यभावपरिणामेन कार्यकारणभावो निर्मूलः । एव-
 मचेतनस्य मृदादेर्न घटादिजनने आस्था संभवति । तस्याश्चेत-
 नधर्मत्वात् । किञ्चानुपमर्दितान्मृत्पिण्डाज्ज घटो निष्पद्यते ।
 उपमर्दे तु मृत्पिण्डो नश्यत्येवेति किं सद्रूपेण परिणमेत । न च
 पिण्डघटन्यतिरिक्ता उभयानुगता मृत्नाम काचित्तत्र तृतीयास्ति ।
 किञ्च बीजादिस्थितं निनंशु नश्यन्नष्टं वा अङ्गुरं जनयेत् । नाद्यः ।
 कुसूलादौ तत्प्रसङ्गात् । न द्वितीयतृतीयौ । तदा स्वत्राणेऽप्य-
 समर्थं परमुत्पादयितुं समर्थमिति का वाचो युक्तिः । चतुर्थस्तु
 कल्पः सर्वानुभवबाधित इति न कस्माच्चित्तस्यचिदुत्पत्तिर्वि-
 नाशो वा किंतु स्वभावत एव सर्वमुत्पद्यते विनश्यति च तत्र
 पौर्वापर्यदर्शनादविवेकिनां कार्यकारणभावविकल्पा इत्यादिदुर्यु-
 क्तिवादिनः स्वानुभवविरोधोद्भावनैव निरसनीया इत्याह—
 अनास्थेति । इत्यादिरायुक्तिर्दुर्युक्तिस्त्रिधादिनः । अवज्ञया अव-
 मानेन । स्वानुभूत्यपलापिता च तेषामित्थं वर्णनीया । अना-
 स्थादियुक्तिबुद्धिरकर्तृत्वादियुद्धिं जनयति चेत्तयोरेव कार्यकार-
 णभावस्तवानुभवसिद्ध इति कथं तत्सामान्यापलापः । यदि न
 जनयति तर्हि तथा स्वानुभववत्तत्त्व परबुबोधधिषया युक्त्यु-
 पन्यासः स्वानुभवविरुद्धः प्रलाप इति । एवं रात्रिरपि चरम-
 भावविकारात्मना अभावपरिणामेन दिनस्य कारणमिति स्वानु-
 भवसिद्धमेव । न च नाशो न भावविकारः । उत्पत्त्यादेरिव
 तस्यापि भावधर्मत्वानुभवात् । एवं बीजाङ्गुराद्यवस्थास्वनुगतं
 द्रव्यमप्यबाधितप्रत्यभिज्ञानुभवसिद्धं नापलापार्हम् । तदेव
 स्थितं निनंशु नश्यन्नष्टमित्याद्यवस्थामेदं स्वात्मन्यनुभवदङ्गुरादेः
 कारणं नावस्थाभेदेषु भिद्यत इति तत्र द्रव्यभेदांस्तेषां निर्हेतु-
 कोत्पत्त्यादीनिप्रमाणकानतिगौरवग्रस्तांश्च प्रलपन्तो मूर्खा अंवे-

प्रत्यक्षवद्भावोऽपि प्रमेव रघुनन्दन ।
 अश्रयभावोऽपि शीतस्य प्रमाणं सर्वजन्तुषु ॥ ८९
 अग्निर्धूमतथा भागाद्यां प्रयाति पयोदताम् ।
 सद्रूपपरिणामेन तदग्निः सोमकारणम् ॥ ९०
 अग्निर्नष्टतथा शैत्यादसावेव प्रयाति यत् ।
 विनाशपरिणामेन तदग्निः सोमकारणम् ॥ ९१
 सप्ताम्बुधिपयः पीत्वा धूमोद्गारेण घाड्यः ।
 पयोदतां प्रयातेन तदेव जनयत्यलम् ॥ ९२
 अर्कः पीत्वा निशानाथमामावास्यां पुनःपुनः ।
 उद्गिरत्यमले पक्षे मृणालमिव सारसः ॥ ९३
 पीत्वामृतोपमं शीतं प्राणः सोममुखागमे ।
 अभागाभात्पूरयति शरीरं पीनतां गतः ॥ ९४

ज्ञैव बहिष्कार्या इत्यर्थः ॥ ८८ ॥ अनुपलब्धेः प्रामाण्यसंदेहं
 वारयति—प्रत्यक्षवदिति । प्रमेव प्रमाणमेव । न चाभावे
 प्रमात्करणत्वमन्यत्र न दृष्टमिति अमितव्ययम् । तेजोऽभावस्य
 शीतानुमितौ लिङ्गविधया करणत्वप्रतिषेधेरित्याह—अश्रयभावात्
 इति ॥ ८९ ॥ बहिरग्नेः सद्रूपपरिणामेन सोमकारणत्वमुदाहरति—
 अग्निरिति । तत् तत्र ॥ ९० ॥ अभावपरिणामेनापि तदुदाह-
 रति—अग्निरिति । असौ अग्निर्यद्वायुभावं प्राप्नोति । 'यदा वा
 अग्निरुदायति वायुमेवाप्येति' इति श्रुतेः ॥ ९१ ॥ सद्रूपपरि-
 णामेनाग्नीषोमयोः परस्परकारणत्वमेकैकप्रोदाहरति—संज्ञेत्या-
 दिना । वाड्यो घडवानलः पयोदतां प्रयातेन स्वेनैव तत्सप्ताम्बु-
 धिपय एव जनयति । शीतवद्विधृतादीनामपि रसात्मकसोम-
 रूपत्वात्सर्वत्र पयोवाद् ॥ ९२ ॥ आ अमावास्यामित्यामा-
 वास्यम् । 'आह् मर्यादामिच्छिष्योः' इत्यव्ययीभावे नपुंसक-
 ह्रस्वः । कृष्णपक्षे अमावास्यापर्यन्तमित्यर्थः । अमले शुद्धे
 पक्षे ॥ ९३ ॥ सोमो मुखमिव शोभमानो यत्र तथाविधवसन्त-
 ग्रीष्मागमे प्राण सोष्मा वायुर्भौमं पयः पीत्वा वर्षर्तावभा-
 गमात्तद्वेषेण पीनता गतः सन् वृष्ट्या पुनर्जगच्छरीरं पूरयति ।
 अथवा आध्यात्मिक एव प्राणः सोमस्थापानस्य मुखादधपाना-
 देरुदरे आगमने सति अमृतोपमं तद्रस पीत्वा पीनता गतः
 सत्तत्त्वव्याप्तसर्वनाडीजालागमनाच्छरीरं पूरयत्याप्याययति ।
 स एवास्य पुनः सोमपरिणाम इत्यर्थः । 'तदपानेनाग्निधृत्तदा-
 यत्यसौऽक्षस्य ग्रहः' इति श्रुतेरिति भावः । 'सोमं मुखगमे'
 इति पाठे तु प्राणोऽग्निभूतो यजमानप्राणोऽध्वरे अमृतोपमं
 शीतं सोमरसं पीत्वान्ते धूमादिमार्गेण सुखस्य स्वर्गस्यागमे
 अभ्रस्य चन्द्रसन्निहिताकाशलक्षणमार्गपर्वण आगमनाश्चन्द्रं
 आप्य तद्भावं प्राप्त कलमि स्वशरीरं पूरयति स एवास्य पौर्ण-
 मास्यां पीनता गतः पुनः सोमपरिणाम इत्यर्थः । धूमादिमा-
 र्गश्चन्द्रभावश्च श्रुत्यैव दर्शितः । अथ यजेने प्रातरिष्टापूर्ते दत्त-
 मित्युपासते ते धूममग्निसम्भवन्ति धूमाद्वाग्निं रात्रेरपरपक्षमपर-

जलमप्युदपां भोगे प्रयात्यर्कस्य रश्मिताम् ।
 सद्रूपपरिणामेन तज्जलं वह्निकारणम् ॥ ९५
 नाशात्मकतया तोयमौष्ण्यत्वादेति ह्यग्निताम् ।
 विनाशपरिणामेन तत्तोयं वह्निकारणम् ॥ ९६
 अग्नेर्विनाशे सद्रूपपरिणामो निशाकरः ।
 इन्दोर्विनाशे सद्रूपपरिणामो हुताशनः ॥ ९७
 हुताशो नाशमागत्य सोमो भवति वै तथा ।
 दिवसो नाशमागत्य रात्रिर्भवति वै यथा ॥ ९८
 तमःप्रकाशयोदछायातपयोर्दिनरात्रयोः ।
 मध्ये विलक्षणं रूपं प्राज्ञैरपि न लभ्यते ॥ ९९
 संधिरप्यविलोपः स्यादेतयोरेव तद्रूपः ।
 भावाभावैर्यथैकास्यानिष्ठावेतौ तथैव हि ॥ १००

पक्षाद्यान् षट्दक्षिणैति मासांस्तमैते संवत्सरमग्निप्राप्नुवन्ति
 मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो
 राजा तद्देवानामग्रम्' इति । 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः भ्रष्टां
 जुहति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' इति च पञ्चमि-
 विद्यायाम् ॥ ९४ ॥ यदि मन्यसे न वायुर्भौमं रसं शोषयति किं
 त्वर्करश्मय एव तं पिबन्ति रात्रावप्यग्निरूपेण तेषां सखादिति
 तदा त एवोदाहरणमित्याशयेनाह—जलमपीति । उक्तं ऊर्ध्व-
 मादित्यरश्मिभिरपां भोगे पाने कल्पयमानेऽपि जलमर्कस्य
 रश्मितां सद्रूपपरिणामेन याति । शुक्लरूपेण तत्रापामनुगम-
 दर्शनात् । 'यदादित्यस्य लोहितं रूपं तेजस्तद्रूपं यच्छुक्लं तद-
 पाम्' इति श्रुतेरिति भावः ॥ ९५ ॥ यस्तु तत्र शैत्यद्रवत्वयो-
 र्नाश औष्ण्यरौक्ष्ययोश्चोद्भवस्तदंशे विनाशपरिणामिताप्यस्तीति
 संकीर्णोदाहरणमिदमित्याह—नाशात्मकतयेति ॥ ९६ ॥ सर्व-
 त्प्राप्तीषोमात्मके परिणामे उभयरूपसंकीर्णतापि सूक्ष्मदृशा लक्ष-
 यितुं शक्येत्याशयेनाह—अग्नैरिति द्वाभ्याम् ॥ ९७ ॥ ९८ ॥
 तर्हि तमःप्रकाशयोदछायातपादौ च किमनुगतं रूपं येन
 सद्रूपपरिणामता तत्र स्यादिति चेत्, तद्वन्नैव तच्चाभिज्ञतमैरपि
 श्रद्धादिकया न लभ्यत इत्याह—तम इति । मध्ये अनुगतं
 व्यावृत्ततमःप्रकाशविलक्षणं सन्मात्ररूपम् । अथवा मध्ये सद्यो
 उभयविलक्षणम् । दिनरात्रयोरिति समासान्तश्छान्दसः ॥ ९९ ॥
 ननु तमःप्रकाशयोः संधिरुभयविलोपात्मा शून्यरूपस्तत्र नोभय-
 विलक्षणं किंचिद्रूपमस्तीत्याशङ्क्याह—संधिरिति । अनयोः
 संधिरपि अवलोपः अशून्यरूपः स्यात् । यतस्तत्संधिरूपमेत-
 योरेव वपुः परस्परसंलभं स्वरूपम् । न हि शून्ययोः संधिर्नाम
 भवति । न वा निर्निमित्ता सतीः शून्यता, कथं तर्हि तौ सद्यो
 वर्तते इति चेत् । यथा पूर्वोत्तरकालयोर्भावामावैः । उदा-
 हरणवाहुल्याद्बहुवचनम् । परस्परनिरपेक्षनिरूपणेन भावरूपेण
 सापेक्षनिरूपणेनाभावरूपेण च तम इदं प्रकाशमावरूपमेकमेव
 वस्तु प्रकाशत्वायं तमोऽभावरूपमेकमेव वदित्वति सर्वानुभवा-

द्वाभ्यां चैतन्यजाड्याभ्यां भूतानि प्रस्फुरन्ति हि ।
 यथा तमःप्रकाशाभ्यामहोरात्रा महीतले ॥ १०१
 चिद्रूपजडरूपाभ्यामारब्धेयं जगत्स्थितिः ।
 जलामृताभ्यां मिश्राभ्यां शीता तनुरिवैन्दवी ॥ १०२
 प्रकाशमनलं सूर्यं चिद्रूपं विद्धि राघव ।
 जडात्मकं तमोरूपं विद्धि सोमशरीरकम् ॥ १०३
 चित्सूर्यं निर्मले दृष्टे नाम नश्येद्भवोदयम् ।
 व्योमसूर्यं बहिर्दृष्टे यथा कृष्णनिशातमः ॥ १०४
 सोमदेहे जडे दृष्टे चिन्निजे सत्यवद्भवेत् ।
 निशीथे विलसत्यक्ते यथा सौरप्रभाभरः ॥ १०५
 सोमं प्रकटयत्यग्निश्चिदेहस्य चिरं प्रभाम् ।
 स्वसंविन्मयमिन्दुश्चिदेहस्य रूपमर्कजम् ॥ १०६
 चिन्निष्क्रिया त्वनामा सा केवला नोपलभ्यते ।
 आलोक इव दीपेन देहेनैवावगम्यते ॥ १०७
 चितश्चेत्योन्मुखत्वेन लाभः सैव च संसृतिः ।

देतावेकास्थानिष्ठौ स्थितौ तथैव हि संघावपि वर्तते । नाणुमात्र-
 मप्यन्यथाभूतावित्यर्थः ॥ १०० ॥ १०१ ॥ यथा विरुद्धाविरुद्ध-
 तमःप्रकाशघटिता अहोरात्रास्तथा विज्जडोभयघटिताः सर्व-
 व्यवहारा इत्याह—चिद्रूपेति । जलमये विम्बे सूर्यकरद्वारा
 सूर्यविम्बस्थिताभूतात्मककलाभिः क्रमेण पूरणादुभयारब्धा
 ऐन्दवी तनुरिव ॥ १०२ ॥ विज्जडोभयांशाभ्यामेव प्रकाशाप्रका-
 शतया आविर्भूताभ्यां जगतोऽग्नीषोमात्मकतेत्याह—प्रकाश-
 मिति ॥ १०३ ॥ बहिः सूर्योदयात्तम इवान्तश्चरमवृत्त्या चिदा-
 दिलोदयाजगन्मूलतमोनिवृत्तिरित्याह—चित्सूर्यं इति । भव-
 स्योदयो यस्मात्तद्भवोदयं तमः ॥ १०४ ॥ निजे प्रत्यगात्मनि जडे
 सोमदेहे दृष्टे सति तत्तादात्म्येन स्फुरन्त्यपि चित्तद्रुणत्वमिवा-
 पन्ना गुणान्तरवत्तत्तयैव सती भूत्वा स्वसत्तया असत्यवद्भ-
 वेत् । यथा निशीथे अर्धरात्रेऽब्जे चन्द्रे विलसति तदनुप्रवेशेन
 स्फुरन् सौरप्रभाभरश्चन्द्रधर्मचन्द्रिकात्वेन संपन्नश्चन्द्रसत्तया
 सखिव भूत्वा स्वसत्तया असत्यवद्भवति तदानीं सौरप्रभाभरो
 नास्तीति सर्वजनानुभवादिति भावः ॥ १०५ ॥ दृष्टान्तदार्ष्टान्ति-
 कयोरुपपत्तिं फलं चाह—सोममिति । चन्द्रमण्डले प्रविष्टः
 सूर्यप्रभारूपोऽग्निः सोमं जलमयं चन्द्रविम्बं प्रकटयति स्फुरद्रूपं
 करोति । देहे तु जीवभावेनानुप्रविष्टा चिदेहस्य चिरं यावदायुः-
 प्रभामर्हमावादिना प्रथां करोति 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं
 लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥'
 इति भगवद्वचनात् । एवमन्योन्यमेलने तादात्म्याध्यासादर्कजं
 रूपं प्रभामण्डलमिन्दुर्भवति । चिच्च स्वसंविन्मयं मनुष्योऽहं
 चेतन इत्यादिस्वानुभवानुसारिदेहस्य रूपं भवतीत्यन्वयः
 ॥ १०६ ॥ इतोऽपि तस्या देहधर्मत्वभ्रम इत्याह—चिदिति ।
 नमयति संकोचयतीति नाम उपाधिस्तच्छून्या ॥ १०७ ॥
 अज्ञानावृतायाश्चितश्चेत्योपाध्युन्मुखप्रथानियमादेवानर्थप्राप्तिरि-
 त्याह—चित इति ॥ १०८ ॥ एवमुक्तरीत्या कुब्जसौरप्रकाश-

निश्चेत्यायाः शुभो लाभो निर्वाणं वा तदेव हि ॥ १०८
 अन्योन्यलब्धसद्वाक्यावेवं कुब्जप्रकाशवत् ।
 अग्नीषोमाविमौ ज्ञेयौ संपृक्तौ देहदेहिनौ ॥ १०९
 अतिशायिनि निर्वाणे जाड्ये चैवातिशायिनि ।
 अग्नीषोमस्य चैवाङ्ग स्थितिर्भवति केवला ॥ ११०
 प्राणोऽग्निरुष्णप्रकृतिरपानः शीतलः शशी ।
 छायातपवदित्येतौ संस्थितौ मुखमार्गगौ ॥ १११
 अपाने शीतले सत्तामेत्युष्णः प्राणपावकः ।
 प्रतिबिम्बमिवादर्थो स च तस्मिंस्तथैव हि ॥ ११२
 चिदग्निः पद्मपत्रस्थं सोमं वाचात्मकं त्विषा ।
 जनयत्यनुभूत्येह कुब्जालोकं यथा बहिः ॥ ११३
 संसृत्यादौ यथा काचित्संविच्छीतोष्णरूपिणी ।
 अग्नीषोमाभिधां प्राप्ता सैव सर्गे नृणामिह ॥ ११४
 यत्र सोमकला प्रस्ता क्षणं सूर्येण षोडशी ।
 मुखाद्वितस्तिमात्रं स्यात्तत्र बद्धपदो भव ॥ ११५

वदन्योन्यसंवलनाधीनसद्रूपेण धारव्यवहारविषयत्वादिमौ देह-
 देहिनावप्यग्नीषोमात्मकौ ज्ञेयौ ॥ १०९ ॥ तयोरसंवलितता प्रत्येकं
 स्थितिः क प्रसिद्धा तदाह—अतिशायिनीति । निर्वाणमुपा-
 धिनिवृत्त्या आनन्दाविर्भावस्तस्मिन्नतिशायिनि आत्यन्तिके सिद्धे
 अग्नेः केवला स्थितिर्भवति । जाड्ये त्वतिशायिनि जलशिलादि-
 भावे सोमस्य केवला स्थितिर्भवतीत्यर्थः ॥ ११० ॥ प्राणापानयो-
 रप्यग्नीषोमात्मकत्वं प्रागुक्तं प्रकृतोपयोगाय स्मारयति—प्राण
 इति ॥ १११ ॥ तयोः कुब्जालोकवदन्योन्यतादात्म्यस्थितिं
 दर्शयति—अपाने इति ॥ ११२ ॥ मूलप्राणकुण्डलिनीरूपश्चिद-
 ग्निराधारादिकण्ठान्तचतुर्दलादिपद्मपत्रस्थं परादिवैखरीपर्यन्त-
 वाचात्मकम् । त्विषा अर्थप्रकाशनशक्त्या । अनुभूत्या विवक्षा-
 पक्षे त्वर्थप्रथारूपया स्फूर्त्या । यथा बहिः सूर्य इति शेषः
 ॥ ११३ ॥ यथा सर्गादौ मायाशबलं ब्रह्म संविच्छीतोष्णरूपिणी
 ब्रह्माण्डाकारेणाग्नीषोमाभिधां प्राप्ता तथा नृणां व्यष्टिदेहानां
 सर्गेऽपीत्यर्थः ॥ ११४ ॥ अस्त्येवं ब्रह्माण्डमिव शरीरमप्यग्नीषोमा-
 त्मकं किं ततः कार्यं तत्राह—यत्रेति । यथा दिवि कृष्णपक्षे
 अत्र्यात्मा सूर्यः सोमस्य शीताः पञ्चदशकलाः प्रतिपदादिति-
 यिषु क्रमेण प्रसति एकां ध्रुवाख्यां चिद्रूपां परिशेषयति, ततः
 शुक्लपक्षे क्रमेणोष्णा उद्गिरति, ताभिः क्रमेण पूर्यमाणा ध्रुवा
 कला पूर्णः सोमो जायते । तथा हृदि स्थितः प्राणसूर्योऽपान-
 रूपस्य सोमस्य मुखनासिकाद्वारा प्रविष्टाः शीताः पञ्चदशकला
 प्रसित्वा मुखाद्बहिर्ध्रुवाख्यामेकां कलां परिशेष्य पुनस्ता उष्णा
 उद्गिरति । ताभिः सा पूर्यमाणा बहिरपानाख्यः सोमो जायते ।
 तत्र बहिःप्राणापानसंधिकालः पूर्णमासी हृदि त्वमावास्या । अन्त-
 रालदेशे इडापिङ्गलयोः प्रत्येकमूर्ध्वाधोमागप्रतिशाखानाडीषदके
 प्राणसूर्यस्य प्रवाहाद्दे अयने, मेघादयो द्वादश मासास्तदन्तराले
 संक्रान्तयः । अपानसोमस्य प्रवाहाच्चैत्रादयो मासा विष्कम्भादयो
 योगा अन्यानि च पर्वाणि निष्पद्यन्ते इति योगिनां प्रत्यक्षम् ।

नूनं सूर्यपदं प्राप्तो यत्र सोमो हृदम्बरे ।
नूनं केवलया स्थित्या तत्र वद्धपदो भव ॥ ११६
चण्णमग्निमिदादित्यः शैल्यं सोम उदाहृतम् ।
यत्रैतौ प्रतिबिम्बस्थौ तत्र वद्धपदो भव ॥ ११७
शरीरे सोमसूर्याग्निसंक्रान्तिज्ञो भवानघ ।

तत्र संक्रान्तिकाला हि बाह्यास्तृणसमाः स्मृताः ॥
संक्रान्तिसुत्तरमथायनमङ्ग सम्य-
कालं तथा विधुवतौ यदि देहवातैः ।
अन्तर्बहिष्ठमिव वेत्ति यथानुभूतं
तच्छोमसेऽत्र न पुनः परमभ्युपेतः ॥ ११९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मी० दे० सोकोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० अग्नीषोमविचारणं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

अशीतितमः सर्गः ८२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अणुतां स्थूलतां वापि यथा गच्छति योगिनाम् ।
देहो नाम तथा सुस्यग्वक्ष्यमाणमिदं शृणु ॥ १
हृद्यल्लचक्रकोशोर्ध्वं प्रस्फुरत्यानलः कणः ।
हेमभ्रमरवत्सांध्यविद्युल्लव इवाम्बुदे ॥ २
सं प्रवर्धनसंविद्या वाल्ययेवाशु वर्धते ।

संविद्रूपतया नूनमर्कवद्याति चोदयम् ॥ ३
संध्याभ्रप्रथमार्कामो वृद्धिभ्रम्यागतः क्षणात् ।
गालयत्यखिलं साङ्गं देहं हेम यथानलः ॥ ४
जलस्पर्शासहो युक्त्या गलयेत्प्रपदादपि ।
बाह्य एवानलः स्पर्शात्स्वान्ते वस्तुविशेषतः ॥ ५

अन्वैस्तु खरोदयादिशास्त्रतो ज्ञेयम् । एवं स्थिते बक्ष्यमाण-
देहाणुतास्थौल्याद्युपयोगिधारणामेदाः प्रथमं त्रिभिः श्लोकैरुप-
दिश्यन्ते । यत्र सुखाद्बहिर्देशे सूर्येणाग्रस्ता ध्रुवाख्या सोमस्या-
पानस्य षोडशी कला प्राणेनोद्गीर्णाभिः कलाभिः पूर्यमाणा क्षणं
आख्या पूर्णमासीचन्द्र इव वितस्तिमात्रं स्यात्तत्र भुशुण्डोपाख्या-
चोक्तवाह्यकुम्भकेन मनोधारणया वद्धपदः स्थिरो भवेत्यर्थः
॥ ११५ ॥ तथा यत्र हृदम्बरे कलाप्राप्तेन क्रमाद्व्यत्यनानोऽपा-
नाख्यः सोमोऽमावास्यायामिव केवलया शुद्धचिद्रूपध्रुवाख्य-
कलात्मिकया स्थित्या तिष्ठति तत्रान्तं कुम्भकेन वद्धपदो भव
॥ ११६ ॥ इदानीमर्धरेचकेनार्धपूरकेण वा अन्तराले प्राणस्यो-
भयतो निरोधेन बिम्बप्रतिबिम्बवस्तुत्परूपतामापाद्य धारणा-
माह—उष्णमिति ॥ ११७ ॥ यथा वसन्तप्रीष्मवर्षाशरत्सु
क्रमेण शीतस्यौष्ण्येन आसात्सोमस्याग्निसंक्रान्तिः । शरद्धेमन्त-
शिशिरेषु क्रमादौष्ण्यस्य शैत्येन आसादग्नेः सोमसंक्रान्तिस्तयोः
संधौ विधुवतौ सूर्यस्य च मेघादिषु संक्रान्तिस्तथा शरीरेऽपि
अपानशैत्यस्य जठराग्निना आसे सोमस्याग्निसंक्रान्तिः । प्राणौ-
ष्ण्यस्य बहिःशैत्येन आसादग्नेः सोमसंक्रान्तिः । सूर्यस्य संक्रा-
न्तयस्तु आगुक्तास्ता जानातीति तज्ज्ञो भवेति पूर्वोक्तधारणाङ्गं
विधिः । आसन्निकं तज्ज्ञानस्य प्रसिद्धसंक्रान्तिज्ञानदानादि-
फलेभ्य उत्कृष्टतमफलकीर्तनं प्रधानफलेन स्तुतिर्वा ॥ ११८ ॥
उक्ताज्ञानमनूय तत्राधिकारिप्रवृत्तये प्ररोचयति—संक्रान्ति-
मिति । कालं अयनद्वयात्मकं संवत्सरं देहवातैः । आण्णापानयो-
र्द्वादशनाडीशास्त्रानुसारिगतिमेवाद्बहुवचनम् । बहिःप्रसिद्धे संव-
त्सरे स्थितमिवान्तरमपि योगाभ्यासाद्यथानुभूतं प्रत्यक्षमनुभूतं
घटादीष्व स्फुटं यदि वेत्ति तत्तर्हि अत्र योगिकणाशु शोमसे ।
परं मदुपदिष्टादन्यदभ्युपेतो न्यासप्रान्तरे प्रवृत्तस्तु न शोमसे
इति तदेकप्रवणताविधिः ॥ ११९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराभा-

यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे अग्नीषोमविचारणं नामै-
काशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

अणुतास्थूलतोपाया ज्ञानसाध्यं च योगिनः ।

परकायासिमोगाश्च वर्ण्यन्त इह युक्तिभिः ॥ १ ॥

एवमग्नीषोमात्मकत्वं देहादेः परिज्ञाय धारणात्रयाभ्यासप-
रिष्कृतप्राणमनःशरीरस्य सोमसूर्याग्निसंक्रमादिदर्शिनो योगिनो
देहस्याग्निमादिसिद्धिप्राप्तिप्रकारान् वक्तुं प्रतिजानीते—अणु-
तामिति ॥ १ ॥ तत्रादावणुत्वप्राप्तये देहस्य विलापनाय नाभ्यु-
परिदेशे ज्वलतो जाठरानलस्य हृत्पद्मनालसूक्ष्मच्छिद्रद्वारा
प्रविश्य हृदयाकाशं हृत्पद्मकर्णिकाया परमात्मन आसनभूता
शिखां दर्शयति—हृदीति । अञ्जकोशस्योर्ध्वकर्णिकोपरि ।
तथान्न तैत्तिरीयाणासुपनिषदि 'तस्य मध्ये महानभिर्विश्वार्चि-
र्विन्धतोमुखः' इति । जाठरानलं प्रस्तुत्य श्रूयते 'तस्य मध्ये
बहिःशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता । नीलतोयदमध्यस्थाद्विद्युले-
खेव भास्वरा । नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वलणूपमा ।
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति । विद्युल्लवस्य
साध्य इति विशेषणं पीतत्वप्रकर्षबोधनार्थम् ॥ २ ॥ स आनलः
कणः प्रवर्धनस्य संविद्या सर्वं देहं व्याप्य यथा ज्वलति तथा
वर्धनोपायज्ञानेन । स च स्वर्धितो नाभिवदेहं दहति किन्तु
संविद्रूपतया अर्कवदुदयं प्रकाशातिशयं याति ॥ ३ ॥ संध्याया
प्रत्युषे अत्रे आकाशे प्रथममुदितो योऽर्कस्तदाभः । गालयति
गलितं करोति । साङ्गं हस्तापादाद्यज्ञसहितं देहम् । पार्थिवं गन्ध-
मागं काठिन्यं च तदुपादानजलभागे उपसंहरतीत्यर्थः ॥ ४ ॥
एवं प्रपदात्प्रादाप्रपर्यन्तमपि गलयेद्वीक्रियात् । ततः शोषण-
युक्त्या वस्तुविशेषतः अग्निस्वभावविशेषाज्जलस्य स्पर्श शैल्यं न
सहते इति जलस्पर्शासह सोऽनलः स्पर्शात्स्वौष्ण्यबलाद्भवतो-
पसंहारयुक्त्या जलमपि गलयेत् शोषयेत् । एवंरीत्या देहाऽ

स शरीरद्वयं पञ्चाद्विधूय क्वापि लीयते ।
 विक्षोभितेन प्राणेन नीहारो वात्यया यथा ॥ ६
 आधारनाडीनिर्हाना व्योमस्थैवावशिष्यते ।
 शक्तिः कुण्डलिनी बहेर्धूमलेखेव निर्गता ॥ ७
 क्रोडीकृतमनोबुद्धिमयजीवाद्यहंकृतिः ।
 अन्तःस्फुरच्चमत्कारा धूमलेखेव नागरी ॥ ८
 विसे शैले तृणे भित्तावुपले दिवि भूतले ।
 सा यथा योज्यते यत्र तेन निर्यात्यलं तथा ॥ ९
 संवित्तिः सैव यात्यङ्ग रसाद्यन्तं यथाक्रमम् ।
 रसेनापूर्णतामेति तन्त्रीभार इवाम्बुना ॥ १०
 रसापूर्णा यमाकारं भावयत्याशु तत्तथा ।
 धत्ते चित्रकृतो बुद्धौ रेखा राम यथा कृतिम् ॥ ११
 दृढभाववशादन्तरस्थीन्याप्नोति सा ततः ।
 मातृगर्भनिषण्णेषु सुसूक्ष्मेवाङ्कुरस्थितिः ॥ १२
 यथाभिमतमाकारं प्रमाणं वेत्ति राघव ।
 जीवशक्तिरवाप्नोति सुमेर्वादि तृणादि च ॥ १३
 श्रुतं त्वया योगसाध्यमणिमाद्यर्थसाधनम् ।
 ज्ञानसाध्यमिदानीं त्वं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ १४
 एकं चिन्मात्रमस्तीह शुद्धं सौम्यमलक्षितम् ।
 सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं शान्तं न जगन्न जगत्क्रिया ॥ १५
 तच्चिनोत्यात्मनात्मानं संकल्पोन्मुखतां गतम् ।
 यदा तदा जीव इति प्रोक्तमाविलतां गतम् ॥ १६
 असत्यमेव संकल्पभ्रमेणेदं शरीरकम् ।

द्वाभ्यः सन् खान्ते मनोरूपे आतिवाहिकदेहमात्रेऽवतिष्ठते
 इति शेषः ॥ ५ ॥ एवं पार्थिवमाप्यं च शरीरद्वयं विधूय
 स्थितः सोऽग्निर्विक्षोभितेन प्राणेनोपसंहृतः क्वापि लीयते
 'यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति' इति श्रुतेरित्यर्थः
 ॥ ६ ॥ तदानीं कुण्डलिनीशक्तिरपि मूलधारस्थसुषुम्नानाडी-
 हीना तत्संस्कारशाल्यातिवाहिकदेहाकाशेऽवतिष्ठत इत्याह—
 आधारेति । बहेर्निर्गता धूमलेखेव ॥ ७ ॥ तत्र स्थिता
 च सा क्रोडीकृता संकलिता मनोबुद्धिमये जीवादिघटितलिङ्ग-
 शरीरे अहंकृतिर्यथा तथाविधा । अन्तः स्फुरन् चित्प्रकाश-
 चमत्कारः स्वेच्छाविहारशक्तिचमत्कारश्च यस्यास्तथाविधा सती
 सूक्ष्मतमे विसनालच्छिद्रे शैलादौ च यत्रैव प्रविश्य निर्गन्तुं
 युज्यते तत्र प्रविश्य निर्यातीत्याह—क्रोडीकृतेति । द्वयोरर्थः
 ॥ ८ ॥ ९ ॥ एवं सूक्ष्मीभावप्रकारमुक्त्वा स्थूलीभावे-
 नैच्छिकनानाशरीरकल्पनाप्रकारमाह—रसेनेत्यादिना । सा
 कुण्डलिनी योगिनो जीवशक्तिर्वह्नौ प्रागुपसंहृतं जलभागं यदा
 शुष्यति तदा रसेन सर्वतः आपूर्णतामेति । यथा तन्त्री चर्मरज्जुं
 विमर्तीति तन्त्रीभारो भस्मारूपधर्मविशेषः कूपे क्षितोऽम्बुना
 आपूर्णतामेति तद्वत् ॥ १० ॥ एवं रसापूर्णा सती प्रागुपसंहृतं
 पार्थिवभागं यमाकारं कर्तुं भावयति तद्योगशक्त्या तथा कृत्वा
 यो० वा० १२२

जीवः पश्यति मूढात्मा बालो यक्षमिवोद्धतम् ॥ १७
 यदा तु ज्ञानदीपेन सम्यगालोक आगतः ।
 संकल्पमोहो जीवस्य क्षीयते शरदभ्रवत् ॥ १८
 शान्तिमायाति देहोऽयं सर्वसंकल्पसंक्षयात् ।
 तदा राघव निःशेषं दीपस्तैलक्षये यथा ॥ १९
 निद्राव्यपगमे जन्तुर्यथा स्वप्नं न पश्यति ।
 जीवो हि भाविते सत्ये तथा देहं न पश्यति ॥ २०
 अतस्त्वे तत्त्वभावेन जीवो देहावृतः स्थितः ।
 निर्देहो भवति श्रीमान् सुखी तत्त्वैकभावनात् ॥ २१
 अनात्मनि शरीरादावात्मभावनमङ्ग यत् ।
 सूर्याद्यालोकदुर्भेदं हार्दं तदाकणं तमः ॥ २२
 आत्मन्येवात्मभावेन सर्वव्यापि निरञ्जनम् ।
 चिन्मात्रममलोऽस्मीति ज्ञानादित्येन नश्यति ॥ २३
 अन्ये च विदितात्मानो भावयन्ति यथैव यत् ।
 तत्तथैवाशु पश्यन्ति दृढभावनया तथा ॥ २४
 दृढभावानुसंधानाद्विमूढा अपि राघव ।
 विषं नयन्त्यमृतताममृतं विषतामपि ॥ २५
 एवं यथा यदेवेह भाज्यते दृढभावनया ।
 भूयते हि तदेवाशु तदित्यालोकितं मुहुः ॥ २६
 सत्यभावनदृष्टोऽयं देहो देहो भवत्यलम् ।
 दृष्टस्त्वसत्यभावेन व्योमतां याति देहकः ॥ २७
 अणिमादिपदप्राप्तौ ज्ञानयुक्तिरिति श्रुता ।
 भवता साधुना राम युक्तिमन्यामिमां शृणु ॥ २८

धत्ते इत्यर्थः ॥ ११ ॥ तत्रास्थ्यादिकल्पनाप्रकारमाह—दृढेति ।
 मातृगर्भनिषण्णेषु कललेषु सुसूक्ष्मा बीजशक्तिरस्थिहस्तपादा-
 यङ्कुरस्थितिरेव ॥ १२ ॥ यथाभिमतं स्वेच्छानुसारि सुमे-
 र्वादि महत् तृणाद्यलपं वा आकारमवाप्नोति ॥ १३ ॥ योग-
 सिद्धानुसारेण स्थूलसूक्ष्मभावप्राप्तिक्रममुक्तमुपसंहृत्य ज्ञानसिद्ध्या
 तद्विलक्षणं तं वक्तुं परमप्रकृतं भावयति—श्रुतमिति ॥ १४ ॥
 ॥ १५ ॥ चिनोत्यध्यासेनोपचिनोति ॥ १६ ॥ जीवः
 पश्यति स एवास्य स्थूलभाव इति भावः ॥ १७ ॥ सौक्ष्म्य-
 प्राप्तिक्रममाह—यदा त्वित्यादिना ॥ १८ ॥ शान्तिं वाघम्
 ॥ १९ ॥ भाविते साक्षात्कृते ॥ २० ॥ २१ ॥ लौकिकसूर्या-
 द्यालोकैर्दुर्भेदं नाशयितुमशक्यम् ॥ २२ ॥ केन तर्ह्यदित्येन
 तन्नाशस्तमाह—आत्मन्येवेति ॥ २३ ॥ अस्यां ज्ञानसिद्धा-
 यपि दृढायां जीवन्मुक्तानामैच्छिकं विनोदाय स्थूलसूक्ष्मप्राति-
 भासिकदेहकल्पनं सिद्ध्यतीत्याह—अन्ये चेति ॥ २४ ॥
 विमूढा विषकीटादयः । अमृतताममृतवदाहारताम् । अमृतं
 पयोज्ञादिविषमिश्रितमिदमिति दृढभ्रान्त्या विषताम् ॥ २५ ॥
 इति ईदृशं तदुदाहरणं मुहुर्बहुशो लोके आलोकितमित्यर्थः
 ॥ २६ ॥ व्योमतां ब्रह्माकाशताम् ॥ २७ ॥ सैवास्य निरति-
 शया अणिमादिसर्वसिद्धय इत्याशयेनोपसंहरति—अणिमा-
 दीति । अन्यां परकार्यं प्रविश्य भोगप्राप्तिलक्षणाम् ॥ २८ ॥

रेचकाभ्यासयोगेन जीवः कुण्डलिनीगृहात् ।
उद्धृत्य योज्यते यावद्दामोदः पवनादिव ॥ २९
त्यज्यते विरतस्पन्दो देहोऽयं काष्ठलोष्टवत् ।
देहेऽपि जीवेऽपि मतावासेचक इवादरः ॥ ३०
स्थावरे जंगमे वापि यथाभिमतयेच्छया ।
भोक्तुं तत्संपदं सम्यग्जीवोऽन्तर्विनिवेश्यते ॥ ३१
इति सिद्धिश्चियं भुक्त्वा स्थितं चैतद्वपुः पुनः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० सो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० अणिमादिलाभयोगोपदेशो नाम दशतीतमः सर्गः ॥ ८२ ॥

अष्टाशीतितमः सर्गः ८३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अणिमादिगुणैश्वर्ययुक्ता सा नृपभामिनी ।
एवं बभूव चूडाला घनाभ्यासवती सती ॥ १
जगामाकाशमार्गेण विवेशाम्बुधिकोटरम् ।
चचार बसुधापीठं गङ्गेवामलशीतला ॥ २
क्षणमप्यगता भर्तुर्वक्षसश्चेतसस्तथा ।
सर्वेपूर्वास राज्येषु लक्ष्मीरिव जगत्सु च ॥ ३
आकाशगामिनी श्यामा विद्युत्प्रारम्भभूषणा ।
बभ्राम मेघमालेव गिरिमाला महीतले ॥ ४
काष्ठं तृणोपलं भूतं खं वातमनलं जलम् ।
निर्विघ्नमविशत्सर्वं तन्तुमुक्ताफलं यथा ॥ ५
मेरोरुपरि शृङ्गाणि लोकपालपुराणि च ।
दिग्व्योमोदररन्ध्राणि विजहार यथासुखम् ॥ ६

तत्रादौ पूर्वदेहपरित्यागोपायमाह—रेचकेति । उद्धृत्य बहि-
निःसार्य परदेहे यावद्योज्यते तावदयं देहस्त्यज्यत इति परेणा-
न्वयः । यथा बाह्यपवनसंक्रान्तः पुष्पामोदः पवनादाकृष्य
प्राणे योज्यते तद्वत् ॥ २९ ॥ विरतस्पन्द उपरतचेष्टं काष्ठ-
लोष्टवद्भवति । परैर्पां देहे जीवे मतावपि तत्संपदं भोक्तुमयं
स्वजीवो विनिवेश्यते । यथा आसेचक पुरुष करस्थकुम्भो-
दकेन यमेव तदं लता वा आसेक्तुमिच्छति तमेवासिद्धति
तद्वदपि यथाभिमतयेच्छया आदर इत्यन्वयः ॥ ३० ॥ ३१ ॥
इति उक्तीत्या परदेहे सिद्धिश्चियं भुक्त्वा स्थितेन योगिना तत्
पूर्वतनं स्वं वपुः स्थितं चैतुनस्तत्प्रविश्यते नो चेदन्यद्वा यद्य-
यावद्विरोचते तत्तत्तावत्कालं प्रविश्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ अथवा
योगिना अथ परकायभोगानन्तरं स्थान्तःकरणवैपुल्यापादनेन
जगदापूर्य देहादयः । व्यत्ययेन द्वितीयाधै प्रथमा । स्थावर-
जंगमसर्वदेहादिप्रतिविम्बोपाधीस्तत्प्रतिविम्बजीवांस्तथा तद्वि-
म्बोपाधिसत्त्वादिगुणास्तदवच्छिन्नचिह्नक्षणान्विम्बांश्चेत्यखिला-
नपि व्यासवत्या स्वात्मसविदा संपूर्णं यथा स्यात्तथा स्वीयत
इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ उपसहरति—ज्ञात्वेति । ईशो योगैश्वर्यसंपन्नो
जीवचित्प्रकाशः सदाभ्युदितं नित्यस्वप्रकाशमुज्जितसर्वदोषं
स्तत्त्वं ज्ञात्वा यद्यथा समभिवाञ्छति तत्तदचिरेण तथैव

प्रविश्यते स्वमन्यद्वा यद्यत्तावत् विरोचते ॥ ३२
वेहादयस्तथा विम्बान्यासवत्याखिलानथ ।
संविदा जगदापूर्य संपूर्णं स्वीयतेऽथवा ॥ ३३
ज्ञात्वा सदाभ्युदितमुज्जितदोषमीशो
यद्यद्यथा समभिवाञ्छति चित्प्रकाशः ।
प्राप्नोति तत्तदचिरेण तथैव राम
सम्यक्पदं विदुरनावरणत्वमेव ॥ ३४

तिर्यग्भूतपिशाचाद्यैः सहनागामरासुरैः ।
विद्याधराप्सरःसिद्धैर्व्यवहारं चकार सा ॥ ७
यत्नेन तं च भर्तारमात्मज्ञानामृतं प्रति ।
बहुशो बोधयामास चूडाला न विवेद सः ॥ ८
कलाविदग्धा मुग्धा च बालेवं गृहिणी मम ।
इत्येवं केवलं राजा स चूडालां विवेद ताम् ॥ ९
एतावतापि कालेन तामेवगुणशालिनीम् ।
बालो विद्यामिव नृपश्चूडालां न विवेद सः ॥ १०
साप्यलब्धात्मविश्रान्तेस्तां सिद्धिश्चियमात्मनः ।
दर्शयामास नो राज्ञः शूद्रस्येव मत्प्रक्रियाम् ॥ ११
श्रीराम उवाच ।

महत्याः सिद्धयोगिन्यास्तस्या अपि सिद्धिध्वजः ।
यत्नेन प्राप नो बोधं बुध्यतेऽन्यः कथं प्रभो ॥ १२

प्राप्नोति । एवं सति तत्त्वविदो नाल्पसिद्धीर्बहुमन्यन्ते क्लिन्ना-
वरणत्वमेव निरतिशयानन्दं सम्यक्पदं विदुरित्यर्थः ॥ ३४ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
अणिमादिलाभयोगोपदेशो नाम दशतीतमः सर्गः ॥ ८२ ॥

चूडाला सिद्धिविभवा अप्रबोधश्च भूपतेः ।
गुरूपदेशसाफल्ये किरादाव्यानमीर्यते ॥ १ ॥
चूडाला एवं प्रागुक्तीत्या प्राणधारणादिघनाभ्यासवती सती
अणिमादिगुणैश्वर्ययुक्ता बभूव ॥ १ ॥ तदैश्वर्यमेवावयुत्या प्रपन्न-
यति—जगामेत्यादिना । मोहकालुष्यस्य तापत्रयस्य चोपशमा-
दमला शीतला च ॥ २ ॥ तस्याः कायव्यूहादिकल्पनैश्वर्यमाह—
क्षणमपीति । अगता भविष्युक्ता । राज्येषु राष्ट्रेषु जगत्सु
भुवनेषु चोवास ॥ ३ ॥ विद्युतां प्रारम्भा उन्मेषा इव द्योत-
मानानि भूषणानि यस्याः ॥ ४ ॥ ५ ॥ दिशां व्योम्रथोदरे
यावन्ति भुवनरन्ध्राणि प्रसिद्धानि तानि सर्वाणीत्यर्थः ॥ ६ ॥
सर्वभूतरुतज्ञतया संभाषणादिव्यवहारम् ॥ ७ ॥ बहुशः अति-
बोधयामासेति व्यवहितेन सवन्धइच्छान्दसः ॥ ८ ॥ ९ ॥
यथा वेदाध्ययनकाले बालो वेदविद्यां सर्वपुरुषार्थानुकूलार्थप्रका-
शनादिगुणशालिनीं न वेद तद्वत् ॥ १० ॥ ११ ॥ सर्वसिद्धि-
शालिन्यास्तस्याश्वेतुचोघने अशक्तिस्तर्ह्यन्येषां सिद्धिश्चाना

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

उपदेशकमो राम व्यवस्थामात्रपालनम् ।
ज्ञेयस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव राघव ॥ १३
न श्रुतेन न पुण्येन ज्ञायते ज्ञेयमात्मनः ।
जानात्यात्मानमात्मैव सर्पः सर्पपदानि च ॥ १४

श्रीराम उवाच ।

एवंस्थिते वाथ मुने कथमेतज्जगत्स्थितौ ।
क्रमो गुरूपदेशाख्यः स्वात्मज्ञानस्य कारणम् ॥ १५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अत्यन्तकृपणः कश्चित्किराटो धनधान्यवान् ।
अस्ति विन्ध्याटवीकक्षे कुटुम्बी ब्राह्मणो यथा ॥ १६
तस्यैकदा निपतिता गच्छतो विन्ध्यजङ्गले ।
एका वराटिका राम तृणजालकसंवृते ॥ १७
कार्पण्यात्स प्रयत्नेन सर्वं तृणतुषादिकम् ।
कर्पर्दकार्थममितो दुधाव दिवसत्रयम् ॥ १८
कर्पर्दकाः स्युर्भवता चत्वारोऽष्टौ च कालतः ।
ततः शतं सहस्रं च सहस्रे चेति चेतसा ॥ १९
कलयजङ्गले दीनो रात्रिदिवमतन्द्रितः ।
जनहाससहस्राणि बुबुधे न परं तु सः ॥ २०
ततो दिनत्रयस्यान्ते तेन तस्माच्च जङ्गलात् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० किराटोपाख्यानं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

पूर्णेन्दुविम्बप्रतिमो लब्धश्चिन्तामणिर्महान् ॥ २१
तं प्राप्य तुष्टहृदयः समागम्य गृहं सुखम् ।
प्राप्ताखिलजगद्भूतिः शान्तसर्वतया स्थितः ॥ २२
एवं यथा किराटेन कपर्दान्वेषणेन तत् ।
रत्नं लब्धं जगन्मूल्यमहोरात्रमखेदिना ॥ २३
तथा श्रुतोपदेशेन स्वात्मज्ञानमवाप्यते ।
अन्यदन्विष्यते चान्यलुभ्यते हि गुरुक्रमात् ॥ २४
ब्रह्म सर्वेन्द्रियातीतं श्रुतादीन्द्रियसंविदः ।
तेनोपदेशादनघ नात्मतत्त्वमवाप्यते ॥ २५
गुरूपदेशं च विना नात्मतत्त्वागमो भवेत् ।
केन चिन्तामणिर्लब्धः कपर्दान्वेषणं विना ॥ २६
तत्त्वस्यास्य महार्थस्य गुरूपकथनं गतम् ।
अकारणं कारणतां मणेरिव कपर्दकः ॥ २७
पश्य राघव मायेयं मोहिनीं महतामपि ।
अन्यदन्विष्यते यत्नादन्यदासाद्यते फलम् ॥ २८
अन्यत्करोति पुरुषः फलमन्यदेव
प्राप्नोति यत्रिषु जगत्स्ववलोच्यते च ।
तस्मादनन्तरभवस्य जगद्भ्रमस्य
श्रेयोऽतिवाहनमसङ्गमनिच्छयैव ॥ २९

गुरुणा शिष्यबोधने शक्तिर्दूरापास्तेति रामः शङ्कते—महत्या इति । तस्या अपि यत्नेन उपदेशप्रयासेन ॥ १२ ॥ 'तद्विशानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इत्यादिशास्त्रोक्तमर्यादा व्यवस्था तन्मात्रपालनं गुरुकृत उपदेशकमो न त्वसावनधिकारिण्यपि ज्ञानं बलाज्जनयितुं शक्नोतीत्यर्थः । अज्ञाप्रहणं साधनचतुष्टयसहितप्रज्ञापरम् ॥ १३ ॥ श्रुतेन अनात्मशास्त्रप्रावीण्येन । पुण्येन चित्तशुद्ध्यननेन काम्यकर्मवर्गेण । अथवा श्रुतेन शाब्देन परोक्षज्ञानेन । आत्मनस्त्वभूतं ज्ञेयं ब्रह्म न ज्ञायते इतरवस्तुवज्ज विषयीक्रियते । पुण्येनापि स्वर्गभोगवज्ज विनैव विचारं ज्ञानं जन्यते किंतु ताभ्यां विचारे जनिते चरमसाक्षात्कारवृत्त्या रुढेनात्मनैवात्मा आत्मानं जानातीत्यर्थः । सर्पपदानि सर्प इव । इवार्थे वशब्दः ॥ १४ ॥ तर्हि गुरूपदेशाख्यः क्रमः कथं केन द्वारेण ॥ १५ ॥ स्थूलरुन्धतीनिदर्शनन्यायेन शिष्यबुद्धेः प्रत्यक्षप्रवणताव्यसनापादनद्वारा गुरूपदेशादेर्ज्ञानकारणतेति वक्तुं वसिष्ठः किराटोपाख्यानमाह—अत्यन्तैत्यादिना । किराटः खेटवणिक् ॥ १६ ॥ १७ ॥ कार्पण्यात् स्त्रीयकृपणतास्वभावात् । दुधाव शोधयामास ॥ १८ ॥ तस्यान्वेषणोद्योगहेतुमभिप्रायमाह—कर्पर्दका इति । लामे सति मम हस्ते भवता अनेन कपर्दकेन किञ्चित्कीत्वा तद्विक्रयाच्चत्वारः कपर्दकाः स्युस्ततोऽष्टौ ततः शतं ततः सहस्रं ततो द्वे सहस्रे चेति चेतसा कलयंश्चिन्तयन्सन् ॥ १९ ॥ अल्पार्थमप्यारब्धो दृढोद्योगो भूदजनहासदर्शनादिविघ्नैरखण्डितश्चे-

न्महाफलो भवतीति सूचयन्नाह—जनेति ॥ २० ॥ २१ ॥ प्राप्ता खिला जगद्भूतयः सांसारिकभोगा येन । शान्ताः सर्वे दारिद्र्याद्यनर्था यस्य तादृशतया स्थितः ॥ २२ ॥ जगदेव मूल्यं यस्य तथाविधं तत्प्रज्ञम् ॥ २३ ॥ तथा गुरूपदेशक्रमादन्यच्छाब्दं परोक्षप्रायमन्विष्यते । अन्यत्रित्यापरोक्षं लभ्यते ॥ २४ ॥ कथमन्यसदाह—ब्रह्मेति । श्रुतादि शब्दश्रवणतच्छाब्दबोधादि इन्द्रियप्रयोज्याः संविदश्चित्तवृत्तयः । गुरूपदेशाच्च शब्दवृत्तय एव जन्यन्ते । तासां मध्ये अत्यन्तस्त्वच्छतमायां चरमवृत्तौ नित्यापरोक्षब्रह्मस्फुरणं तु शिष्यबुद्धिस्त्वच्छताब्रह्मस्वभावोभयप्रयुक्तमेव नोपदेशस्तत्कारणमित्यर्थः ॥ २५ ॥ तथापि 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इत्यादिश्रुतेर्गुरूपदेश आवश्यक इत्याह—गुरूपदेशमिति ॥ २६ ॥ अन्वेषणद्वारा कपर्दक इव मननद्वारा गुरूपकथनमकारणमप्यवश्यफलदर्शनात्कारणतां गतमित्यर्थः ॥ २७ ॥ २८ ॥ एवमकारणमेव गुरूपदेशाद्यात्मलामस्य कारणम्, लब्धे त्वात्मनि प्रारब्धशेषोपनीतस्य जगद्भ्रमस्योपेक्षयैव क्षयः सिध्यतीति न यत्नापेक्षेत्याह—अन्यदिति । त्रिषु जगत्सु यद्यस्मादेतरेवमवलोक्यते श्रूयते च तस्मादात्मलामादनन्तरं भवस्य प्रारब्धशेषोपनीतस्य जगद्भ्रमस्य तु असङ्गं यथा स्यात्तथा अनिच्छया उपेक्षणेनातिवाहनमेव श्रेय इत्यर्थः ॥ २९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे किराटोपाख्यानं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमः सर्गः ८४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ततः शिखिध्वजो राजा तत्त्वज्ञानपदं विना ।
 आजगाम परं मोहं तमोन्धत्वमिवाप्रजाः ॥ १ ॥
 दुःखाग्निदीपितमना भनागपि विभूतिषु ।
 तास्वमीशोपनीतासु न रेमेऽग्निशिखास्त्रिव ॥ २ ॥
 एकान्तेषु दिगन्तेषु निर्द्वेषेण शुद्धासु च ।
 आजगाम रतिं जन्तुर्मुक्तैर्न्यायतो यथा ॥ ३ ॥
 राघव त्वमिवाशेषाः सान्त्वानुनयबोधनैः ।
 प्रार्थितः कार्यते मृत्यैर्महीपो दिवसक्रियाः ॥ ४ ॥
 नित्यमुद्दामवैराग्यः परिव्राडिव शान्तधीः ।
 खिद्यते च महाभोगान्स भोक्तुं च श्रियं स्थितः ॥ ५ ॥
 ददावतितरां दानं गोभूमिकनकादिकम् ।
 देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च स्वजनेभ्यश्च मानद ॥ ६ ॥
 चचार च तपः कर्तुं कृच्छ्रचान्द्रायणादिकम् ।
 परिवभ्राम तीर्थानि वनान्यायतनानि च ॥ ७ ॥
 स तथापि निशोकत्वं न मनागपि लब्धवान् ।
 अनिधानां स्वनन्भूमिं निधानार्थी निधिं यथा ॥ ८ ॥
 रात्रिदिवं महानेष शुष्यत्येव कृशानुना ।
 चिन्तया चिन्तयामास संसारव्याधिमेषजम् ॥ ९ ॥
 चिन्तापरवशो दीनो राज्यं स्वस्य विषोपमम् ।
 महाविभवमप्यग्रे नापश्यत्स्त्रियया धिया ॥ १० ॥
 अथैकदैकान्तगतं चूडालामङ्गमागताम् ।
 इदं मधुरया वाचा समुवाच शिखिध्वजः ॥ ११ ॥
 शिखिध्वज उवाच ।
 भुक्तं राज्यं चिरं कालं भुक्ता विभवभूमयः ।
 अधुनासि विरागेण युक्तो गच्छामि काननम् ॥ १२ ॥

शिखिध्वजस्य वैराग्यं चूडालाश्रासनं वने ।

निधिं चैकस्य निर्वाणं मन्दरे स्थितिरीयते ॥ १ ॥

तत्त्वज्ञानरूपं पदं विश्रान्तिस्थानं विना । अप्रजाः तद्व-
 संततिः पुमान् शोकादितमसा अन्धत्वमिव ॥ १ ॥ अभीष्टैः
 सामन्तादिभिरुपनीतासु रत्नादिविभूतिषु ॥ २ ॥ भुक्त इष्टुर्यस्यै
 तथाविधो देवादविद्धो जन्तुर्मृगादिर्न्यायतो मीतो यथा एका-
 न्तादिषु रतिमेति तद्वत् ॥ ३ ॥ अशेषा दिवसक्रियाः कार्यते
 'हृकोरन्यतरस्याम्' इत्यणौ कर्तुणौ कर्मत्वे कर्मणि लः ॥ ४ ॥
 परिव्राडिव स्थितः स महाभोगान् श्रियं च भोक्तुं खिद्यते । चः
 पूर्वैवाकन्यायेन सहास्य समुच्चयार्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ देहमनःशोधनं
 कर्तुं कृच्छ्रचान्द्रायणादिकं तपश्चकार ॥ ७ ॥ ८ ॥ चिन्तया
 चिन्तालक्षणेन कृशानुना ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ विशवभूमयो
 वैभवपदानि ॥ १२ ॥ क्रीडीकुर्वन्ति ऋष्यन्ति ॥ १३ ॥
 सुखाधिक्ये हेतुर्दर्शयति—न देशेति ॥ १४ ॥ इदानीं वनराजी-

न सुखानि न दुःखानि नापदो न च संपदः ।
 क्रीडीकुर्वन्ति तन्वङ्गि मुनिं घननिवासिनम् ॥ १३ ॥
 न देशमङ्गसंमोहो न संप्रामे जनक्षयः ।
 राज्यादप्यधिकं मन्ये सुखं घननिवासिनाम् ॥ १४ ॥
 स्तवकस्तनधारिण्यो रक्तपल्लवपाणयः ।
 मञ्जरीजालधारिण्यो लोलशुभ्रास्त्रुदांशुकाः ॥ १५ ॥
 स्वपरागाङ्गरागिण्यः कृतकौसुममण्डनाः ।
 आसेव्यकाञ्चनशिलानितम्बतटशोभिताः ॥ १६ ॥
 तरङ्गमौक्तिकप्रोतसरिन्मुक्तालतावृताः ।
 लतावयस्यावलिता मुग्धमुग्धमृगात्मजाः ॥ १७ ॥
 स्वभावोद्दामसौगन्ध्या वितीर्णफलभोजनाः ।
 षट्पदश्रेणिनयनाः पुष्पापूरलताङ्गिकाः ॥ १८ ॥
 आस्वाद्यस्यन्दतां याताः शीतलामलगात्रिकाः ।
 रमयन्ति त्वमिव मां वनवीथ्यो वरानने ॥ १९ ॥
 यथा विविक्तमेकान्ते मनो भवति निर्वृतम् ।
 न तथा शशिनिम्बेषु न च ब्रह्मेन्द्रसदृशसु ॥ २० ॥
 अस्मिन्सन्मन्त्रेण तन्वि न विघ्नं कर्तुमर्हति ।
 भर्तुर्विघ्नदयन्तीच्छां न स्वप्नेऽपि कुलस्त्रियः ॥ २१ ॥

चूडालोवाच ।

प्राप्तकालं कृतं कार्यं राजते नाथ नेतरत् ।
 वसन्ते राजते पुष्पं फलं शरदि राजते ॥ २२ ॥
 जराजरुद्वेहानां युक्तो वनसमाश्रयः ।
 न यूनां त्वादृशमेव तेनैतन्मे न रोचते ॥ २३ ॥
 यौवनेन महाराज न यावद्वयमुज्जिताः ।
 पुष्पौघेणैव तरवस्तावच्छोभामहे गृहे ॥ २४ ॥
 पुष्पधाना पुष्पमितजरसा सह काननम् ।

चूडालोपमात्वेन स्त्रीकृत्य वर्णयति—स्तवकेत्यादिपञ्चभिः ।
 प्रायेण सर्वत्र रूपकाणि ॥ १५ ॥ कृतानि कुसुमान्येव कौसुमानि
 मण्डनानि याभिः आसेव्याः काञ्चनशिला एव नितम्बतटास्तैः
 शोभिताः ॥ १६ ॥ तरङ्गलक्षणमौक्तिकैः प्रोताभिः सरिन्मुक्ता-
 लताभिरावृताः । मुग्धमुग्धा मृगा एवात्मजाः शिशवो यासाम्
 ॥ १७ ॥ कुधितेभ्यो वितीर्णानि दत्तानि फलभोजनानि याभिः ।
 पुष्पैरापूर्यन्ते इति पुष्पापूरा लता एव बाह्यायज्ञानि यासाम्
 ॥ १८ ॥ लदधर इव आस्वाद्यः स्यन्दस्तरङ्गप्रक्षानो यासां तद्भावं
 याताः । वनवीथ्यो वनराज्यः ॥ १९ ॥ २० ॥ अस्मिन्वनगमन-
 विषये सन्मन्त्रेण उत्तमविचारे ॥ २१ ॥ तस्य वैराग्यदार्ढ्यं जिज्ञा-
 समाना प्राक्तनीं कामासक्तिमेव वयोनुपपत्तावर्णनेनानुमन्य-
 मानेन स्थूणाविचालनन्यायेन विचालयन्ती चूडालोवाच—
 प्राप्तेत्यादिना ॥ २२ ॥ २३ ॥ गृहे शोभामहे । वसावेति यावत् ।
 'अस्मदो द्वयोश्च' इति बहुवचनम् ॥ २४ ॥ पुष्पाणि श्रीयन्ते

समं गृहाद्गमिष्यामो हंसा इव सरोवरात् ॥ २५
अप्राप्तकालं नृपतेः प्रजापालनमुज्झतः ।
राजन्यस्यैव रन्ध्रस्य महदेनो भविष्यति ॥ २६
अप्राप्तकारिणं भूपं रोधयन्ति च वै प्रजाः ।
रोधयन्ति ह्यकार्येभ्यः प्रभुं भृत्याः परस्परम् ॥ २७

शिखिध्वज उवाच ।

अलमुत्पलपत्राक्षि विघ्नेनाभिमतस्य मे ।
विद्धि मां गतमेवेतो दूरमेकान्तकाननम् ॥ २८
बाला त्वमनवद्याङ्गि नागन्तव्यं वनं त्वया ।
पुंसामपि हि मृद्वङ्गि दुर्विगाह्यो घनाश्रयः ॥ २९
समर्था न वनावासे योषितः कठिना अपि ।
कानने पुष्पमञ्जर्यः सोढुं शक्यालिमक्षमाः ॥ ३०
भवत्या पालयन्त्येह राज्ये स्थातव्यमुत्तमे ।
कुटुम्बमारोद्धहनं पत्यौ याते व्रतं स्त्रियः ॥ ३१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा दयितां राजा तामिन्दुवदनां वशी ।
उत्तस्थौ स्नातुमखिलं दिनकार्यं चकार च ॥ ३२
अथोज्झितप्रजाचेष्टो रविरस्ताचलं थयौ ।
शिखिध्वजो वनमिष्व समस्तजनदुर्गमम् ॥ ३३
संहत्य विततं रूपं तमेवानुययौ प्रभा ।
नाथं भवननिष्क्रान्तं चूडालेवानुरागिणी ॥ ३४
आययौ यामिनी श्यामा भुवनं भस्मधूसरम् ।
धृतव्योमापगं शर्वं संश्लेषा यमुनेव सा ॥ ३५

धार्यन्ते यासु लतासु तदीयविरोगतपुष्पैर्मितया तुलितया
जरसा सह पुष्पसितामिलिताभिर्मैत्री तत्साम्यदशायामेव
युक्तेति भावः ॥ २५ ॥ रन्ध्रस्य राज्यच्छिद्रस्य निमित्तमिति
शेषः । एनः पापम् ॥ २६ ॥ रोधयन्ति निवारयन्ति ॥ २७ ॥
एवं विचालितोऽप्यविचलवैराग्यः शिखिध्वजस्तामनुनयति—
अलमित्यादिना ॥ २८ ॥ वनाश्रयो वनप्रदेशो दुःखेन
विगाह्यः प्रवेष्टुं शक्यः ॥ २९ ॥ कठिनाः कठोराङ्गयोऽपि । यथा
कानने जाता उपवनजाताभ्यः कठोरा अपि पुष्पमञ्जर्यः शक्यालि
सोढुमक्षमास्तद्वदित्यर्थः । 'शक्यालिम्' इति पाठे शक्यानां
बलवतां पक्षिणामालिं पङ्क्तिमिति व्याख्येयम् ॥ ३० ॥
यत्त्वयोक्तं 'अप्राप्तकालं नृपतेः' इति तस्यापि दोषस्य परिहार-
स्तयैव कार्यं इत्याशयेनाह—भवत्येति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
उपमेययोर्विशेषणे उपमानयोरपि योज्ये ॥ ३३ ॥ ३४ ॥
धृता व्योमापगा स्वसखी गङ्गा येन तथाविधं शर्वं संश्लिष्यति
स्वयमपि कामादालिङ्गतीति संश्लेषा तथाविधा यमुनेवेत्यु-
त्प्रेक्षा । 'श्यामधा' इति श्लिषः कर्तरि णः ॥ ३५ ॥ तमाललक्षण-
बालका अङ्गे यासां तासु दिक्षु यमुनाचरित्रदर्शनादिव ज्योत्स्ना-
हासोदयाङ्कितं परितः कृतमण्डलं च यथा स्यात्तथा स्थितासु ।

१ संध्याभदन्तासु इति पाठः.

दिक्षु संध्याभदन्तासु स्थितासु कृतमण्डलम् ।
तमालबालकाङ्कासु ज्योत्स्नाहासोदयाङ्कितम् ॥ ३६
गच्छतोऽपरं पारं दंपत्योर्मैरवं पदम् ।
देवोद्यानमयं रन्तुं दिनश्रीदिननाथयोः ॥ ३७
आगच्छतोऽरिदं पारं ह्यधतीक्ष्णकरोज्झितम् ।
निशानिशानायकयोर्दंपत्योर्मैरवं पुनः ॥ ३८
तारागणोऽथ ददृशे विकीर्णो व्योमकुट्टिमे ।
मुक्तो मङ्गललाजानां दिग्बधूमिरिवाञ्जलिः ॥ ३९
चन्द्रानना तमःश्यामा श्रान्ता कुसुमहासिनी ।
यामिनी यौवनं प्राप सरोजमुकुलस्तनी ॥ ४०
कृतसंध्यासमाचारः सहचूडालयेष्टया ।
सुष्वाप शयने भूयो मैनाक इव सागरे ॥ ४१
अथार्धरात्रसमये देशे निःशब्दतां गते ।
घननिद्राशिलाकोशनिलीने सकले जने ॥ ४२
स तस्यां संप्रसुप्तायां शयने कोमलांशुके ।
भृशं निद्राविमूढायां भ्रमर्यामिव पङ्कजे ॥ ४३
तत्याज दयितां सुप्तामङ्गाद्राजा शिखिध्वजः ।
स्वैरं स्वैरं मुखं राहोर्दिशं चान्द्रप्रभासिव ॥ ४४
उत्तस्थौ शयनालीनवधूकार्धञ्जलांशुकात् ।
सलक्ष्मीकान्तिलोलोर्मैर्हरिः क्षीरार्णवादिव ॥ ४५
वीरक्रमार्थं यामीति तत्रैवानुचरव्रजम् ।
योजयित्वा जगामासौ पुरास्निर्गत्य पूर्णधीः ॥ ४६
राज्यलक्ष्मिं नमस्तुभ्यमित्युक्त्वा मण्डलाद्गतः ।
विवेशोग्रामरण्यानीमेको नद इवार्णवम् ॥ ४७

इतः प्रभृति सर्वेषां सप्तम्यन्तानां तारागणो ददृशे इत्यत्र
संबन्धः ॥ ३६ ॥ दिनश्रीश्च दिननाथश्च तद्रूपयोर्दंपत्योर्देवो-
द्यानप्रचुरं मैरवं मेरुसंबन्धि अपरं पारं उत्तरार्धं रन्तुं गच्छतोः
सतोः ॥ ३७ ॥ तथा अर्धैर्मोपतापभोजकैः पापैस्तन्नि-
मित्तैस्तीक्ष्णकरैश्चण्डातपैश्चोज्झितं मैरवमिदं पारं निशानिशा-
नायकलक्षणयोर्दंपत्योः रन्तुमागच्छतोः सतोः ॥ ३८ ॥
दिवधूमिर्मुक्त उत्सृष्टो मङ्गललाजानामञ्जलिरिव व्योमलक्षणे
कुट्टिमे सौघतले तारागणो ददृशे ॥ ३९ ॥ स्वनाथान्वेषणेन
तदुदयप्रतीक्षया च श्रान्ता कुमुदादिकुसुमेर्हासवती । यौवनं
स्वयौवनफलमिति यावत् ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ संप्रसुप्तायां
तस्यां चूडालायां भृशं निद्रया विमूढायां सत्याम् ॥ ४३ ॥
यथा राहोर्मुखं चन्द्रमोक्षकाळे स्वैरं स्वैरं शनैः शनैश्चान्द्रप्रभां
प्राचीं दिशं प्रति त्यजति तद्वत् ॥ ४४ ॥ लीना वधूर्यसिस्त-
लीनवधूकं तथाविधमर्धालमर्धभागो यस्य तन्नाविधमंशुकं
प्रावरणवत् यस्मिंस्तथाविधाच्छयनात्पर्यङ्कात् । लक्ष्म्याः
कान्तिभिः सहिताः सलक्ष्मीकान्तयो लोलाश्चोर्मयो यस्मिंस्तथा-
विधात्क्षीरार्णवादिव ॥ ४५ ॥ वीरक्रमश्चोरदुष्टनिग्रहार्थं निशा-
चर्यां तत्र वीरक्रम एवानुचरव्रजं योजयित्वा निशुज्य । पूर्णधी-
र्निस्पृहः ॥ ४६ ॥ उग्रां भीषणाम् । अरण्यानीं महदरण्याम् ।

घनान्धकारगुल्मालया क्षुद्रभूतौघकर्कशाः ।
सारण्यानी निशा सार्धं समं तेनातिवाहिता ॥ ४८
प्रातः शून्यामरण्यानीं स नीत्वा विततं दिनम् ।
सममर्केण कस्यांचिद्विश्राम वनावनौ ॥ ४९
भानावद्व्यतां याते तत्र खानादिपूर्वकम् ।
किञ्चित्फलादिकं भुक्त्वा तां निनाय तमस्विनीम् ॥ ५०
पुनः प्रातः पुराण्युच्चैर्मण्डलानि गिरीन्वदीः ।
जवादुल्लङ्घयामास राजा द्वादशशर्वरीः ॥ ५१
ततो मन्दरशैलस्य तटस्थं जनदुर्गमम् ।
प्राप काननमत्यन्तदूरस्थजनतापुरम् ॥ ५२
रटप्रणालसलिलवापीचलितपादपम् ।
शीर्णवेद्यालयज्ञातभूतपूर्वद्विजाश्रमम् ॥ ५३
क्षुद्रप्राणिभिर्निर्मुक्तसिद्धसेव्यलतालम् ।
आपूर्णपादपलतं प्राणवृत्तिकरैः फलैः ॥ ५४
तत्रैकसिन्धुमे शुद्धे स्थले सलिलमालिते ।
शीतले शाद्वलद्वयामे क्षिप्ते सफलपादपे ॥ ५५
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मी० दे० भोक्तोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० सू० शिखिध्वजप्रवज्या नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

समञ्जरीभिर्वह्नीभिः स चकारोटजालयम् ।
प्रावृट्कालः सविद्युद्भिर्नीलाभैरिव पञ्जरम् ॥ ५६
मसृणं वैणवं दण्डं फलभोजनभाजनम् ।
अर्घपात्रं पुष्पभाण्डमक्षमालां कमण्डलुम् ॥ ५७
कन्धां शीतापनोदाय वृसीं चैव मृगाजिनम् ।
आनीयायोजयत्तस्मिन्मठिकामन्दिरे नृपः ॥ ५८
यत्किञ्चिदम्यद्वा वस्तु योग्यं तापसकर्मणि ।
तत्तत्र स्थापयामास जगतीव क्रमं विधिः ॥ ५९
संध्यापूर्वं जपं प्रातः प्रहरे स तदाकरोत् ।
पुष्पोच्चयं द्वितीये तु खानं देवार्चनं ततः ॥ ६०
पश्चाद्वनफलं किञ्चिद्वनकन्दं विसादि च ।
भुक्त्वा जप्यपरो भूत्वा निनायैको निशां वशी ॥ ६१
इति दिवसमखेदं मन्दरोपान्तकच्छे
विरचित उटजेऽन्तर्मालवेशो निनाय ।
नववृत्तिविलासं तं न सस्मार कं वा
स्फुरति हृदि विवेके राज्यलक्ष्म्यो हरन्ति ॥ ६२

पश्चाशीतितमः सर्गः ८५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं शिखिध्वजः पूर्णमठिकायां बने स्थितः ।
इदानीं शृणु चूडाला सा किं कृतवती शृष्टे ॥ १
तत्रार्धरात्रसमये दूरं याते शिखिध्वजे ।
हरिणी ग्रामसुप्तेव चूडाला बुबुधे भयात् ॥ २
अपश्यत्पतिनिर्हाना शयनं शून्यतां गतम् ।
अभास्करमपूर्णन्दु शान्तशोभमिवाम्बरम् ॥ ३

‘हिमारण्ययोर्महत्त्वे’ इत्याहुक् ॥ ४७ ॥ घनैरन्धकारसदृशैर-
न्धकारलक्षणैश्च गुल्मैराख्या सा अरण्यानी निशा च तेनाति-
वाहिता उत्तीर्णा ॥ ४८ ॥ अर्केण समं विश्रामेत्युक्त्या
आसायं जगामैवेति गम्यते ॥ ४९ ॥ तमस्विनीं रात्रिम्
॥ ५० ॥ ५१ ॥ अत्यन्तदूरस्था जनता जनसमूहाः, जनपदा
इति यावत्, पुराणि च यस्मात् ॥ ५२ ॥ रटन्ति सशब्दं
प्रवहन्ति वंशप्रणालद्वारा सलिलानि आभ्यस्तथाविधामिर्वापी-
मिर्वलिता बलवत्तरा कृताः पादपा यस्मिन् । पूर्वं भूता भूत-
पूर्वा द्विजाश्रमा यस्मिन् ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ शाद्वलैर्हरितवृणव-
त्प्रदेशैः इयामे । ‘नडशाद्वल्लव्’ ॥ ५५ ॥ उटजः पर्णशाला
तद्रूपमालयम् ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ विधिर्धाता जगति स्वसृष्ट्रद्व्याण्डे
क्रम व्यवहारसाधनजातमिव ॥ ५९ ॥ पुष्पाणामुच्चयं सचयम् ।
फलमूलकुशकाष्ठादीनामप्युपलक्षणमेतत् । ततः तृतीये इत्यर्थः
॥ ६० ॥ ६१ ॥ उत्तमनूद्योपसहरति—इतीति । मालवेश
शिखिध्वज इति वर्णितप्रकारेण मन्दरोपान्तकच्छे विरचिते उटजे

उत्तस्थौ किञ्चिदाम्लानवदना खेदशालिनी ।
कुसिकेव महावल्ली निरुत्साहाङ्गपल्लवा ॥ ४
न प्रसन्ना न विमला बभूवाकुलतां गता ।
दिनश्रीरिव नीहारधूसरा सा व्यतिष्ठत ॥ ५
क्षणं शय्योपविष्टैव चिन्तयामास चिन्तया ।
कष्टं राज्यं प्रभुस्त्यक्त्वा वनं यातो शृद्वादिति ॥ ६
तन्मयेहाद्य किं कार्यं तत्समीपं व्रजाम्यहम् ।
भर्तैव गतिरुद्दिष्टा विधिना प्रकृता क्षियः ॥ ७

अन्तःस्थितः सन्नखेदं दिवसं बहून् दिवसाजिनाय । तं प्रागनु-
भूतं नवं वृत्तिविलासं न सस्मार । तत्कुतस्तत्राह—कं वेति ।
विवेके हृदि स्फुरति सति राज्यलक्ष्म्यं कं वा दृष्टिमपि हरन्ति
वाञ्छाजननेन वशीकर्तुं शक्नुवन्ति । न किञ्चिदपीत्यर्थः ॥ ६२ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
शिखिध्वजप्रवज्या नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

राज्ञ्या प्रबुद्धया राज्ञोऽन्वेषणं पथि दर्शनम् ।

भाष्यार्थदर्शनं काले बोधनं चोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

उत्तमनूद्य वक्ष्यमाणकथया सगमयति—एवमिति ॥ १ ॥
ग्रामसुप्तेवेति राजवियोगमीला सदा जाग्रस्यपि देवान्निद्रया
हृतेति शोतनार्थम् ॥ २ ॥ पला निर्हाना त्यज्य ॥ ३ ॥ कुत्सितेना
क्षारकर्दमादिजलेन सिक्ता । विशेषणं साधारणं योज्यम् ॥ ४ ॥
॥ ५ ॥ इति चिन्तया वक्ष्यमाणं चिन्तयामासेत्यर्थः ॥ ६ ॥
तदेवाह—तदिति । विधिना शास्त्रेण भर्तैव प्रकृता प्रथमा
गतिः शरणं उद्दिष्टा विहिता । असति हि भर्तरे पुत्रादयो

इति संचिन्त्य भर्तारमनुगन्तुं समुत्थिता ।
 चूडाला वातरन्ध्रेण निर्गत्याम्बरमाययौ ॥ ८
 वभ्रामाम्बरमार्गेण वातस्कन्धेन योगिनी ।
 कुर्वती सिद्धसार्थस्य मुखेनान्येन्दुविभ्रमम् ॥ ९
 ददर्शाय यथायातं रात्रौ खड्गधरं पतिम् ।
 भ्रमन्तमेकमेकान्ते वेतालसमयोदितम् ॥ १०
 तादृशं पतिमालोक्य स्थित्वा गगनकोटरे ।
 भविष्यच्चिन्तयामास सर्वं भर्तुरखण्डितम् ॥ ११
 यथा येन यदा यत्र यावत्कार्यं यथोदयम् ।
 यथा च निवृत्तिः स्फारा गन्तव्या तेन राघव ॥ १२
 अवश्यं भवितव्यं तद्भर्तुर्दृष्ट्वा पुरः स्थितम् ।
 तदेव संवादयितुं गमनात्सा न्यवर्तत ॥ १३
 आस्तां ममाद्य गमनं काले नातिचिरेण हि ।
 मयास्य पार्श्वे गन्तव्यं नियतेरेष निश्चयः ॥ १४
 इति संचिन्त्य चूडाला प्रविश्यान्तःपुरं पुनः ।
 सुष्वाप शयने शंभोः शिरसीवैन्दवी कला ॥ १५
 केनचित्कारणेनासौ गतः संप्रति भूपतिः ।
 इति पौरं जनं सर्वमाश्वास्यातिष्ठदङ्गना ॥ १६
 राज्यं ररक्ष भर्तुस्तत्क्रमेण समदर्शनात् ।
 यथा कालेन केदारं पक्वं कलमगोपिका ॥ १७
 तयोस्तदाऽवहत्कालो दंपत्योः स्थितयोस्तथा ।
 अदृष्टान्योन्यमुखयो राज्यकाननपालयोः ॥ १८
 जगामाथ दिनं पक्षो मासोऽथ ऋतुवत्सरः ।
 शिखिध्वजस्य विपिने चूडालायाः स्वमन्दिरे ॥ १९
 बहुनात्र किमुक्तेन वर्षाण्यष्टादशाङ्गना ।
 चूडालोवास सदने वनगुच्छे शिखिध्वजः ॥ २०
 अथ यातेषु बहुषु वर्षेषु जरसा वृते ।
 शिखिध्वजे महाशैलतटकोटरवासिनि ॥ २१

गतिरिति भावः ॥ ७ ॥ वातरन्ध्रं वातायनं तेन ॥ ८ ॥
 अन्येन्दुविभ्रमं द्वितीयचन्द्रभ्रान्तिम् ॥ ९ ॥ वेतालयोग्ये समये
 निशि उदितं प्रकाशमानम् ॥ १० ॥ भर्तुः भविष्यत् भाविपदार्थ-
 जातम् ॥ ११ ॥ भविष्यदेवप्रकारनिमित्तकालदेशक्रियेयत्ताभ्यु-
 दयनिःश्रेयसपर्यन्तैर्विभज्य चिन्तितवतीत्याह—यथेति ।
 स्फारा निवृत्तिर्भूमानन्दविभ्रान्तिः ॥ १२ ॥ पुरः स्थितमिव योग-
 बलादपरोक्षं दृष्ट्वा संवादयितुम् । तदनुरूपमाचरितुमिति यावत्
 ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ कलमगोपिका शालिपालिका
 ॥ १७ ॥ अवहत् अगमत् ॥ १८ ॥ कथमगमत्तदाह—
 जगामेति । ऋतुसहितो वत्सरः ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ कषा-
 याणां रागादिवासनानां पाकमालक्ष्य तत्तावत्कालं तथा पालितं
 प्रतीक्षितमिति यावत् । तदेत्यादिरुक्तानुवादो वक्ष्यमाणार्थः
 ॥ २२ ॥ आत्मकार्यस्य स्वभर्तृवोधस्य तथा वक्ष्यमाणप्रकारेण

भर्तुः कषायपाकं तदालक्ष्य पालितं चिरात् ।
 तदा तस्याथ यातेषु वर्षेषु जरसा वने ॥ २२
 तदा तस्यात्मकार्यस्य भवितव्यतया तथा ।
 भर्तुः समीपगमने मम कालोऽयमित्यथ ॥ २३
 संचिन्त्य मन्दरोपान्तं गन्तुं बुद्धिं चकार सा ।
 चचारान्तःपुराद्रात्रौ ततार नभसः पथम् ॥ २४
 जगाम वातस्कन्धेन गच्छन्ती खे ददर्श सा ।
 कल्पवृक्षांशुकच्छन्नरत्नस्तबकभूषिताः ॥ २५
 नन्दनोद्याननिलया रक्ताः सिद्धाभिसारिकाः ।
 परामृष्टेन्दुशकलान्प्रालेयकणवर्षिणः ॥ २६
 सिद्धोत्तमात्तसौगन्ध्यान्स्पर्शयामास मारुतान् ।
 चन्द्रविम्बामृताम्भोधेर्महावीचिपरम्पराम् ॥ २७
 अपश्यन्निर्मलज्योत्स्नामम्बरान्तरतां गता ।
 मेघान्तरेण गच्छन्ती मेघलग्नाश्च विद्युतः ॥ २८
 अवियुक्ताः स्वभर्त्रा सा भूयो भूयो व्यलोकयत् ।
 उवाच चात्मनैवाहो यावज्जीवं शरीरिणाम् ॥ २९
 न स्वभावः शमं याति ममाप्युत्कण्ठितं मनः ।
 कदा मृगेन्द्रस्कन्धं तं प्रणयप्रवणं पुनः ॥ ३०
 पश्यामि कान्तमित्युक्तं ममाप्युत्कण्ठते मनः ।
 मञ्जरीजालवलितास्तखं वल्लयः स्वकं पतिम् ॥ ३१
 न मुञ्चन्ति क्षणमिति ममाप्युत्कण्ठते मनः ।
 यथेयमग्रजा कान्तमेति सिद्धाभिसारिका ॥ ३२
 तथा कदाहमेष्यामि ममापीति मनः स्थितम् ।
 इमे मन्दाश्च मरुत एते च शशिनः कराः ॥ ३३
 वनराजय एताश्च ममाप्युत्कण्ठयन्त्यहो ।
 हे चित्ताह मुधैवान्तः किं त्वं ताण्डवितं स्थितम् ॥ ३४
 सा व्योमनिर्मला साधो क ते याता विवेकिता ।
 अथवा चित्तं भर्तारं स्वं प्रत्युत्कण्ठसे सखे ॥ ३५

स्वोपदेशेनैव भवितव्यतया ॥ २३ ॥ ततार पुष्टवे ॥ २४ ॥
 ॥ २५ ॥ रक्ताः कान्तेष्वनुरक्ताः । परामृष्टानीन्दोः शकलानि
 कला यैः ॥ २६ ॥ सिद्धोत्तमेभ्यः आत्तानि गृहीतानि मन्दा-
 रमालाहरिचन्दनकस्तूर्यादिसौगन्ध्यानि यैस्तथाविधान्मारुतान्
 स्पर्शयामास पस्पर्श । चन्द्रविम्बलक्षणस्यामृताम्भोधेर्महावी-
 चिपरंपराभूतां निर्मलज्योत्स्नाम् । अम्बरस्य आन्तरतामन्त-
 र्वर्तितां गता सती ददर्श ॥ २७ ॥ २८ ॥ स्वभर्त्रा मेघेन
 अवियुक्ताः विद्युतो व्यलोकयत् । आत्मना मनसैवोवाच ।
 किमुवाच तदाह—अहो इत्यादिना ॥ २९ ॥ ३० ॥ मम मनः
 उक्तं विवेकैर्बोध्यमानमपि इति उत्कण्ठते ॥ ३१ ॥ अग्रे श्रोत्रो
 देवयोनौ जाता लज्जा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ अज्ञ जट । गणा
 व्ययनेन तन्मन्त्रेण सन्नि स्थितमसीत्यर्थः ॥ ३४ ॥
 कृतस्त्राह—भर्तारं ॥ ३५ ॥

तिष्ठोत्कण्ठाभिचलितं किं समुत्कण्ठितेन मे ।
 किं वृथोत्कण्ठसे वामे भर्ता यातो जरां भवेत् ॥ ३६ ॥
 तपस्वी कृशगात्रश्च भवेच्चिर्वासनस्तथा ।
 मनो राज्याद्यभोगेभ्यो मन्येऽस्यामूलतां गतम् ॥ ३७ ॥
 वासनालतिका प्रावृण्णदी नदगता यथा ।
 एकान्तरत एकात्मा नीरसः शान्तवासनः ॥ ३८ ॥
 मन्ये भवति मे भर्ता शुष्कवृक्षसमस्थितिः ।
 तथापि चित्तं कोत्कण्ठा भवतोत्कण्ठयान्वितम् ॥ ३९ ॥
 मतिमुद्बोध्य योगेन श्लेषयिष्याम्यहं पतिम् ।
 प्रमृष्टकलनं भर्तुः समीकृत्य मनो मुनेः ॥ ४० ॥
 राज्य एव नियोज्यामि निवत्स्यावः सुखं चिरम् ।
 अहो नु चिरकालेन मनोरथमिमं शुभम् ॥ ४१ ॥
 अहमासादयिष्यामि यद्भर्ता समचिन्तितः ।
 समग्रानन्दवृन्दानामेतदेवोपरि स्थितम् ॥ ४२ ॥
 यत्समानमनोवृत्तिसङ्गमास्वादाने सुखम् ।
 इति चिन्तयती व्योम्ना चूडालोलुङ्घ्य पर्वतान् ॥ ४३ ॥
 देशानन्दान्दिगन्तांश्च प्राप मन्दरकन्दरम् ।
 अहद्वयैव नभःस्थैव प्रविवेश वनान्तरम् ॥ ४४ ॥
 बालेव पादपलतास्पन्दवेद्यगमागमा ।
 वनैकदेशे कस्मिंश्चित्कृतपर्णोदजे पतिम् ॥ ४५ ॥
 दृष्ट्वा योगेन बुबुधे देहान्तरमिवास्थितम् ।
 हारकेयूरकटककुण्डलादिविभूषितः ॥ ४६ ॥
 अभवन्मेरुकान्तिर्यस्तमेवात्र ददर्श सा ।
 कृशाङ्गं कृष्णवर्णं च जीर्णपर्णमिव स्थितम् ॥ ४७ ॥
 कज्जलाम्बुभरञ्जातं शृङ्गीशमिव निस्पृहम् ।
 चीराम्बरधरं शान्तमेकाकिनमवस्थितम् ॥ ४८ ॥

इदानीं देहं प्रत्याह—किमिति । वामे हे श्रीशरीर, यदालिङ्ग-
 नावर्थं समुत्कण्ठसे स ते भर्ता जरां यातस्त्वभिरपेक्ष एव भवेत्
 संभाव्यत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ राज्यादीनामभोगेभ्यः अभोगार्थं
 अस्य मनः अमूलतां निर्मूलतां गतं मन्ये संभावये ॥ ३७ ॥ तथा
 अस्य वासनालतिका यथा प्रावृण्णदी क्षुद्रा महानदगता सती न
 पुन्यगवन्निज्यते तथा संप्रजेति शेषः । एकान्ते रतः आसक्तः
 अत एव एकात्मा । नीरसो निरिच्छः ॥ ३८ ॥ एवं नैराश्य-
 प्रदर्शनाच्चिरसाहं मनः पुनरुज्जीवयन्तीवाह—तथापीति ।
 अस्त्वेवंविधः सः तथापि हे चित्त, का तवोत्कण्ठः । अहं योगेन
 वक्ष्यमाणोपायेन भर्तुर्मतिमुद्बोध्य तत्त्वज्ञीकृत्य प्रारब्धशेषभोगो-
 त्कण्ठया युतं पतिं भवता सह श्लेषयिष्यामि न त्वयोत्कण्ठा कार्येति
 परेणान्वयः ॥ ३९ ॥ तदेव स्पष्टमाह—प्रमृष्टेति ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ यद्यसादेतोर्भर्ता तत्त्वबोधान्मया समं तुल्यरूपम-
 न्तर्बोद्धार्थचिन्तितं यस्य तथाविधः संप्रत्यत इति शेषः ।
 तदेव प्रशंसन्त्याह—समग्रेति ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ अब्दान्ने-
 चान् । वनान्तरं वनमध्यम् ॥ ४४ ॥ पादपानां लतानां च
 स्पन्देन वेद्यावज्जुमेयौ गमागमौ यथाः ॥ ४५ ॥ योगेन,

स्थलीनिषण्णं पुष्पाणि प्रथयन्तं जटाङ्कितम् ।
 तमालोक्यानवद्याङ्गी चूडाला पीवरस्तनी ॥ ४९ ॥
 किञ्चिज्जातविषादैवमुवाचात्मनि चेतसा ।
 अहो नु विषमं मौर्ख्यं तदनात्मज्ञतात्मकम् ॥ ५० ॥
 एवंविधाः समायान्ति दशा मौर्ख्यप्रसादतः ।
 अयं स राजालक्ष्मीवान्यतो मेऽतिप्रियः पतिः ॥ ५१ ॥
 हृदि मोहघनक्षुण्णामिमामभ्यागतो दशाम् ।
 तदवश्यमिहाद्यैव नार्थं विदितवेद्यताम् ॥ ५२ ॥
 नयाम्यत्र न संदेहो भोगमोक्षश्रियं तथा ।
 इदं रूपं परित्यज्य रूपेणान्येन केनचित् ॥ ५३ ॥
 सकाशमस्य गच्छामि बोधं दातुमनुत्तमम् ।
 बालेयं मम कान्तेति मदुक्तं न करोत्यलम् ॥ ५४ ॥
 तस्मात्तापसरूपेण बोधयामि पतिं क्षणात् ।
 भर्ता कषायपाकेन परिपक्वमतिः स्थितः ॥ ५५ ॥
 चेतस्यस्याद्य विमले स्वं तत्त्वं प्रतिविम्बयति ।
 इति संचित्य चूडाला यभूव द्विजदारकः ॥ ५६ ॥
 ईषच्छानाद्रतान्यत्वं क्षणादम्बुतरङ्गवत् ।
 पपात विपिने तस्मिन्द्विजपुत्रकरूपिणी ॥ ५७ ॥
 भर्तुरध्याजगामात्रं मन्दस्मितलसन्मुखी ।
 ददर्श द्विजपुत्रं तं पुरो यातं शिखिध्वजः ॥ ५८ ॥
 वनान्तरादुपायातं तपो मूर्तिमिवास्थितम् ।
 द्रवत्कनकगौराङ्गं मुक्ताहारविभूषितम् ॥ ५९ ॥
 शुक्लयज्ञोपवीताङ्गं शुक्लाम्बरयुगावृतम् ।
 कमण्डलुधरं कान्तं पुरो यातं शिखिध्वजः ॥ ६० ॥
 व्यासप्रकोष्ठद्विगुणेनाक्षसूत्रेण धारणा ।
 भूमावलग्नगात्रेण किष्कुमात्रेण च स्थितम् ॥ ६१ ॥

समाहितचित्तेनेति यावत् । यो हारकेयूरादिभूषितः सन् मेरु-
 कान्तिरभवत्तमेव अत्र मन्दरोदजे कृशाङ्गत्वादिलक्षणं ददर्शेति
 परेण संवन्धः ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ शृङ्गीशं प्रसिद्धं रुद्रद्वारपाल-
 मिव ॥ ४८ ॥ देवातिथिसमर्चनाय पुष्पाणि मालां प्रथयन्तम् ।
 जटामिरङ्कितं विद्धितम् ॥ ४९ ॥ अनात्मज्ञता अज्ञानं तदा-
 त्मकम् ॥ ५० ॥ यतो यस्मादेतोर्मे अतिप्रियः पतिर्मोहघनेन
 हृदि क्षुण्णामभिहतामिमां दशामभ्यागतस्तत्तत्सादेतोर्दिवास्मि-
 न्नुदजे अद्यैव अवश्यं नार्थं पतिं विदितवेद्यतां तथा भोगमोक्ष-
 श्रियं नयामि आपयामीति परेणान्वयः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥
 किमर्थमिदं रूपं परित्यज्यं तत्राह—बालेति ॥ ५४ ॥ प्रागेव
 कुतस्तपस्विवेषेण स न बोधितस्तत्राह—भर्तेति ॥ ५५ ॥
 द्विजदारको ब्राह्मणपुत्रः ॥ ५६ ॥ कथं बभूव तदाह—ईष-
 दिति । प्रागुक्ताप्रियोभधारणान्वितादीपज्यानात् । अन्यत्वं
 पुंस्त्वम् ॥ ५७ ॥ अयं पुरोदेशम् ॥ ५८ ॥ मूर्तिमास्थितं तप
 इव द्रवत्कनकमिव गौराणि पीतस्वच्छान्यङ्गानि यस्य ॥ ५९ ॥
 ॥ ६० ॥ व्यासः प्रकोष्ठान्मणिबन्धाद्विगुणो बहिर्देशो येन ।
 अतएव किष्कुमात्रेण हस्तमात्रेण द्वैगुण्ये वितस्त्रिमात्रेण वा

कुन्तलव्याप्तमूर्धानं सालिमालमिवाम्बुजम् ।
 भासयन्तं प्रदेशं तं शारीरैर्दक्षिमण्डलैः ॥ ६२
 कुण्डलाभितमुखं नवमर्कमिवोदितम् ।
 शिखासंप्रोतमन्दारं शृङ्गस्थेन्दुमिवाचलम् ॥ ६३
 कान्तोपशान्तवपुषमूर्जितं विजितेन्द्रियम् ।
 हिमामभस्तिलकं भूषितालोकसुन्दरम् ॥ ६४
 मेरुहेमतटीलीनपूर्णैन्दुमिव चञ्चलम् ।
 तमालोक्य द्विजसुतं समुत्तस्थौ शिखिध्वजः ॥ ६५
 देवपुत्रागमधिया संपरित्यक्तपादुकः ।
 देवपुत्र नमस्कार इदमासनमास्यताम् ॥ ६६
 इत्यस्य दर्शयामास पाणिना पत्रविष्टरम् ।
 ददौ च द्विजपुत्रस्य पुष्पमुष्टिं करोत्करे ॥ ६७
 चन्द्रः कुमुदखण्डस्य प्रालेयमिव पल्लवे ।
 हे राजर्षे नमस्तुभ्यमिति द्विजसुतोऽवदत् ॥ ६८
 गृहीत्वा कुसुमान्यस्माद्विवेश पत्रविष्टरे ।

शिखिध्वज उवाच ।

देवपुत्र महाभाग कुत आगमनं कृतम् ।
 दिवसः सफलो मन्ये यत्त्वामद्यास्मि दृष्टवान् ॥ ६९
 इदमर्घ्यमिदं पाद्यं पुष्पाणीमानि मानद ।
 इमा प्रग्रथिता माला गृह्यन्तां भद्रमस्तु ते ॥ ७०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा पाद्यमर्घ्यं च मालां पुष्पाणि धानघ ।
 शिखिध्वजस्तदिष्टायै ददौ देव्यै यथाखिलम् ॥ ७१

चूडालोवाच ।

सुबहूनि परिभ्रान्तो भूतलायतनान्यहम् ।
 त्वत्तः पूजा यथा प्राप्ता मयेयं न तथान्यतः ॥ ७२
 पेशलेनानुरूपेण प्रश्रयेणामुनानघ ।

अत एवानतिदैर्घ्याद्भूमावलमग्रात्रेणाऽक्षसूत्रेणाक्षमालया स्थित-
 सुपलक्षितम् ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ शृङ्गस्थः शृङ्गसंलग्नप्राय इन्दु-
 र्यस्य तथाविधमचलं पर्वतमिव स्थितम् ॥ ६३ ॥ ६४ ॥
 मेरुहेमतटीपदेन तत्रस्थो गङ्गाप्रवाहो लक्ष्यते । तत्र लीनः
 प्रतिबिम्बितः पूर्णैन्दुस्तमिव चञ्चलम् ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ पत्र-
 निर्मितं विष्टरमासनम् । करोत्करे करतले ॥ ६७ ॥ कुमुद-
 खण्डस्य पल्लवे प्रालेयं हिमकणजालमिव ॥ ६८ ॥ यद्यस्मात्त्वा-
 मद्यास्मिन्दिवसे दृष्टवानस्मि ॥ ६९ ॥ ७० ॥ अखिलं शा-
 स्त्रोक्तमनतिक्रम्येति यथाखिलम् । पदार्थानतिवृत्तौ यथार्थेऽ-
 व्ययीभावः ॥ ७१ ॥ न तथान्यतः प्राप्तैरनुषज्यते ॥ ७२ ॥
 प्रश्रयेण विनयेन । एतैर्हि लक्षणैर्मनुजाश्चिरजीविनो भवन्तीति
 भावः ॥ ७३ ॥ आरात् दूरे उन्मुक्ताः कल्पनाः फलसंकल्पा
 यस्मिन् । अत एवोदारं निर्वाणार्थं तपः संभृतवान् संचितवान-
 नसि । कश्चिदिति इष्टप्रश्ने निपातः ॥ ७४ ॥ शान्तानामकोष-
 नानां यतिवनस्थानां व्रतभूतमिदं महावननिषेवणमसिधारा-
 यो० धा० १२३

मन्येऽहं नूनमत्यन्तचिरंजीवी भविष्यसि ॥ ७३
 शान्तेन मनसोदारमारादुन्मुक्तकल्पनम् ।
 निर्वाणार्थं तपः साधो कश्चित्संभृतवानसि ॥ ७४
 असिधारासमं सौम्य शान्तव्रतमिदं तव ।
 स्फीतं यद्राज्यमुत्सृज्य महावननिषेवणम् ॥ ७५
 शिखिध्वज उवाच ।

जानासि भगवन्सर्वं देवस्त्वं कोऽत्र विस्मयः ।
 श्रियैव लोकोत्तरया ज्ञायसे चिह्नरूपया ॥ ७६
 एतान्यङ्गानि ते चन्द्राद्वटितानीति मे मतिः ।
 अथवा किं समालोकादमृतेनेव सिञ्चसि ॥ ७७
 अस्ति मे दयिता कान्ता पाति मद्राज्यमद्य तत् ।
 तत्रेव तस्या दृष्टानि तान्यङ्गानीह सुन्दर ॥ ७८
 उपशान्तं च कान्तं च वपुरापादमस्तकम् ।
 शृङ्गं शुभ्राम्बुदेनेव पुष्पेणाच्छादयामुनां ॥ ७९
 निष्कलङ्केन्दुसंकाशमङ्गमादित्यतेजसा ।
 मन्ये ते ग्लानिमायाति सुमनःपत्रपेलवम् ॥ ८०
 देवार्चनायोपचितमिदमित्थं सितं मया ।
 अङ्ग त्वदङ्गसङ्गेन तत्प्रयातु कृतार्थताम् ॥ ८१
 जीवितं याति साफल्यं स्वमभ्यागतपूजया ।
 देवादप्यधिकं पूज्यः सतामभ्यागतो जनः ॥ ८२
 तत्कस्त्वं कस्य पुत्रस्त्वं किमायातोऽस्यनुग्रहात् ।
 एतन्मे संशयं छिन्धि विमलेन्दुसमानन ॥ ८३

ब्राह्मण उवाच ।

राजन्मे शृणु वक्ष्यामि यथापृष्टमखण्डितम् ।
 को नाम परिपृच्छन्तं विनीतं वञ्चयेत्पुमान् ॥ ८४
 अस्त्यसिञ्जगतीकोशे शुद्धात्मा नारदो मुनिः ।
 पुण्यलक्ष्म्या मुखे कान्ते कर्पूरतिलकोपमः ॥ ८५

समं क्रूरमत्यन्तावधाननिर्वाहं चेत्पर्यः ॥ ७५ ॥ राज्यत्याग-
 निर्वाणार्थतपश्चरणयोरज्ञातयोः प्रशंसनायोगात्तस्य तपसा सर्व-
 ज्ञता संभावयन् राजा द्विजसुतं रूपादिसंपदा प्रशंसति—
 जानासीत्यादिना । ज्ञायसे महाप्रभावमिति शेषः ॥ ७६ ॥
 अथवा किं बहुना सम्यगालोकाद्रीक्षणाद्देहकान्तितत्त्वामृतेन
 सिञ्चसीव ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ शृङ्गं मेरुशिखरम् । अमुना महत्त-
 मालारूपेण ॥ ७९ ॥ सुमनसां पुष्पाणां पत्रं दलमिव पेलवं
 सुकुमारं ते अङ्गम् ॥ ८० ॥ इदं पुष्पजातमित्थं दृश्यमानवै-
 चित्र्येण सितं ग्रथितम् । 'बिम्ब बन्धने' कर्मणि क्तः । अङ्गेति
 संबोधने । तत्तस्माद्देवस्य तवार्चनादित्यर्थः ॥ ८१ ॥ देवार्च-
 नादप्यतिथिपूजनमधिकमिति तदेकमपि जन्मसाफल्यहेतुः,
 त्वत्पूजने तु मे द्वयमपि शुगपत्संपन्नमिति सुतरां जीवितसा-
 फल्यमित्याशयेनाह—जीवितमिति ॥ ८२ ॥ तत्तस्मान्महत्त-
 पूजाग्रहणादनन्तरमिति शेषः ॥ ८३ ॥ पृष्टमनतिक्रम्य यथा-
 पृष्टम् ॥ ८४ ॥ पुण्यलक्ष्म्याः कान्ते रम्ये मुखे सुरभितरं

स कदाचिन्मुनिर्देवो गुहायां ध्यानमास्थितः ।
 तत्र हेमतटे गङ्गा बहस्युत्तरङ्गिणी ॥ ८६
 मेरुलक्ष्म्यां स्फुरद्रूपा भान्ति हारलता यथा ।
 एकदा नारदमुनिर्ध्यानान्ते स सरित्तटे ॥ ८७
 ध्वनद्वलयमध्रौषीलीलाकलकलारवम् ।
 किमेतदित्यसौ किञ्चिज्जातप्रायकुतूहलः ॥ ८८
 हेतुलोकयन्त्रद्वयमपश्यल्ललनागणम् ।
 रम्भासिलोत्तमाप्रायं निर्यातं जललीलया ॥ ८९
 क्रीडन्तं त्यक्तवसनं देशे पुरुषवर्जिते ।
 काञ्चनाम्भोजमुकुलसंकाशैः स्तनमण्डलैः ॥ ९०
 परिवेष्टितमन्योन्यं फलकान्तं द्रुमं यथा ।
 द्रुतहेमरसापूरनिर्भराभोगभासुरैः ॥ ९१
 कुर्वन्तमुरुभिः काममन्दिरस्तम्भसंचयम् ।
 निर्मलीकृतचन्द्रेण व्याप्तां व्योमविलासिनीम् ॥ ९२
 लावण्यरसपूरेण तर्जयन्तमिवापगाम् ।
 प्राकारैरमरोद्यानरथचक्रैर्मनोभुवः ॥ ९३
 उत्पथार्पितगङ्गाम्बु नितम्बतटसेतुभिः ।
 सर्वत्र दृष्टसर्वाङ्गं विश्वरूपमिव स्थितम् ॥ ९४

यत्कूर्परतिलकं तदुपमा यस्य । अनेन नारदो गौराग्र इति
 गम्यते ॥ ८५ ॥ गुहाया मेरोरिति शेषः ॥ ८६ ॥ ८७ ॥
 ध्वनन्ति धलयानि यस्मिंस्तथाविधं लीलाकलकलारवं जलक्री-
 डाकोलाहलध्वनिम् । संभावनाप्राप्त्युत्तरार्थः प्रायशब्दोऽप्यद-
 न्तोऽस्ति । 'तदसिञ्चनं प्राये संशयाम्' 'प्रायभवः' 'रूपात्प्रा-
 या'दिति पाणिनिजैमिनिप्रवृत्तिभिः प्रयोगात् ॥ ८८ ॥ निर्यातं
 अलाभिर्गतम् । जललीलया जलसेचनादिक्रीडया ॥ ८९ ॥
 ॥ ९० ॥ अन्योन्यं परिवेष्टितं वेष्टितम् । संघट्टितमिति यावत् ।
 द्रुतस्य हेमरसस्य य अपूरनिर्भरः प्रवाहातिशयस्तादृशेन आभो-
 गेन कान्तिसंस्थानेन भासुरैरुभिः स्वात्मकस्य काममन्दिरस्य
 स्तम्भसंचयं कुर्वन्तमिति परेणान्वयः ॥ ९१ ॥ स्वजलनैर्-
 म्याच्चिर्मलीकृतेन प्रतिबिम्बचन्द्रेण सर्वतो व्याप्तां व्योमविलासि-
 नीमापगां मन्दाकिनीं देहलावण्यरसप्रवाहेण तर्जयन्तं न्यम्भा-
 वयन्तमिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ९२ ॥ मनोभुवः कामस्य अमरोद्याने
 नन्दनवने क्रीडायां रथचक्रमूर्तैर्नितम्बतटलक्षणैः सेतुभिर्निरो-
 धादुत्पथे अर्पितं गङ्गाम्बु येन ॥ ९३ ॥ यतः स्वच्छतमत्वा-
 दन्योन्यादर्शतां गतं अतः सर्वतः प्रतिबिम्बितसर्वाङ्गं सर्वत्र
 दृष्टसर्वाङ्गं सत् 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽपि शिरोमुखम्'
 इति प्रसिद्धकालात्मनः कल्पतरोर्भगवतः सकाशादुत्थितं विश्व-
 रूपमिव स्थितमित्यर्थः ॥ ९४ ॥ विश्वरूपं दर्शयितुर्भगवतः
 कालात्मकत्वं च विश्वरूपमीतेनार्जुनेन 'को भवानुग्रहः' इति
 पृष्ठेन भगवता 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तु-
 मिह प्रवृत्तः' इति स्ववचनेनैव दर्शितम् । अतस्तमेव काला-
 त्मानं सर्वकल्पनाफलदातृत्वात्कल्पवृक्षेन रूपयति—वर्ष-

प्रतिबिम्बितसर्वाङ्गमन्योन्यादर्शतां गतम् ।
 कालकल्पतरोर्वर्षविटपात्पक्षपल्लवात् ॥ ९५
 विविधतुलताजालादिनश्रीकलिकाकुलात् ।
 आलोकपुष्परजसो जाताद्भगनकानने ॥ ९६
 स्फुरज्जलजगप्रोतात्सप्तान्येकालवाडकात् ।
 स्तनस्तम्बकवृन्देषु स्पर्धयातिरसान्वितम् ॥ ९७
 उद्भृत्योद्भृत्य संपूर्णदलिताम्भोजपल्लवम् ।
 आलोलालककेशाक्षितारकादिमधुवतम् ॥ ९८
 अमृतापद्रिधाताय कोशसंचयकारिभिः ।
 दुष्प्रापे भूतसंधानां विकसत्कनकाम्बुजे ॥ ९९
 पद्मिनीपल्लवाच्छत्रे गुप्ते मेरोगुहान्तरे ।
 शीतले स्वर्धुनीतीरे तोयोन्मृष्टमले सुरैः ॥ १००
 चन्द्रबिम्बकलापूरमेकत्रैवोपसंहृतम् ।
 खैणमालोक्य तत्कान्तं सहसैव मनो मुनेः ॥ १०१
 अनाश्रितविवेकांशं बभूवानन्दितं स्फुरत् ।
 आनन्दवलिते चित्ते ध्रुवे प्राणानिले स्थिते ॥ १०२
 बभूव तस्य हृष्टस्य मदनस्खलितं तदा ।
 फलं रसापूर्णमिव ग्रीष्मान्त इव तोयदः ॥ १०३

विटपादित्यादिना । वर्षाणि प्रमवादयः षष्टिसंवत्सरा विटपाः
 स्कन्धाः यस्य । एतेनायनद्वयस्य मासानां च शाखात्मक्या-
 दुक्तमेव ॥ ९५ ॥ विविधा मिश्रलक्षणा क्रुसवो लताजालानि
 अवान्तरशाखासमूहा यस्य । भगनमव्यक्ताकाशस्वच्छक्षणे
 कानने नन्दने जातात् ॥ ९६ ॥ स्फुरद्विज्जलमयचन्द्रपरिणामश-
 रीरत्वाजलखगैर्देवैः प्रोतावासात् । सप्तान्येकालवाड-
 कमालवालकं डलयोरभेदादालवालं यस्य तथाविधात्कालकल्पत-
 रोर्विष्णोरुद्भूतं विश्वरूपमिव स्थितमिति पूर्वत्रान्वयः । पुनर्क-
 लनागणमेव विशिनष्टि—स्तनेति । परस्परस्तनस्तम्बकवृन्देषु
 अम्भोजमुकुलेषु च सौन्दर्यसाम्यदर्शनप्रयुक्तस्पर्धया नालादु-
 द्भृत्योद्भृत्यास्फालनात्संपूर्णं दलितान्यम्भोजमुकुलपल्लवानि
 येनेति परेणान्वयः ॥ ९७ ॥ अर्थान्मुखपत्रेषु आलोलं अलका-
 क्षुण्णकुन्तलाः केशा धीर्धकुन्तला अक्षितारका आदिपदालाल-
 टिकाखनितगारुत्मतेन्द्रनीलमणयश्च मधुवता अमरा यस्मिन्
 ॥ ९८ ॥ पुनः क्रीडशं ललनागणं तदाह—अमृतेत्यादिना ।
 अमृतकलाकोशसंग्रहकारिभिः सुरैर्देवैरमृतस्य राहुगुहायपह-
 र्तप्रयुक्तानामापदां विधाताय गुप्ते एकान्तभूते मेरोगुहान्तरे
 एकत्रोपसंहृतं चन्द्रबिम्बकलापूरमिव स्थितम् । तत्र गुप्ते इति
 यदुक्तं तदुपपत्तये विशिनष्टि—दुष्प्रापे इति । अन्यानि विशे-
 षणानि अमृतनिधानयोग्यस्थानताप्रदर्शनार्थानि ॥ ९९ ॥
 ॥ १०० ॥ ईदृशं कान्तं खैणं खीसमूहमालोक्य मुनेर्मनस्तद-
 नन्तरमानन्दितं प्रमत्तं सत् न आश्रितो विवेकांशो येन
 तथाविधं बभूवेति परेणान्वयः ॥ १०१ ॥ १०२ ॥ चित्ते
 विकारात्सर्वाङ्गे प्राणक्षोभस्तेन सर्वाङ्गसारस्य रेतसः स्वजनं

प्रत्यग्रपादपश्चिन्नलतावृन्त इवोत्तम ।

अवश्यायकणस्पन्दी शशाङ्क इव वा मुनिः ॥ १०४
विसं द्विधापातमिव गलत्साररसोऽभवत् ।

शिखिध्वज उवाच ।

तादृशोऽपि बहुशोपि जीवन्मुक्तोऽप्यसौ मुनिः १०५

निरिच्छोऽपि निरागोपि न किञ्चिदुपमोऽप्यलम् ।

सबाह्याभ्यन्तरं नित्यमाकाशविशदोपि च ॥ १०६

नारदोपि कथं ब्रह्मन् मदनस्खलितोऽभवत् ।

चूडालोवाच ।

सर्वस्या एव राजर्षे भूतजातेर्जगत्रये ॥ १०७

देवादेरपि देहोयं द्रव्यात्मैव स्वभावतः ।

अक्षमस्त्वथ तज्ज्ञं वा यावत्स्वान्तं शरीरकम् ॥ १०८

सर्वमेव जगत्सुखदुःखमयं स्मृतम् ।

तृह्यादिना पदार्थेन केनचिद्वर्धते सुखम् ॥ १०९

आलोक इव दीपेन महाम्बुधिरिवेन्दुना ।

ध्रुवादिना पदार्थेन दुःखं केनचिदेव हि ॥ ११०

तमो मेघपटेनेव स्वभावो ह्यत्र कारणम् ।

स्वरूपे निर्मले सत्ये निमेषमपि विस्मृते ॥ १११

दृश्यमुल्लासमाप्नोति प्रावृषीव पयोधरः ।

अनारतानुसंधानादप्युन्मेषमविस्मृते ॥ ११२

स्वरूपे नोल्लसत्येष चित्ते दृश्यपिशाचकः ।

यथा तमःप्रकाशाभ्यामहोरात्रौ स्थितिं गतौ ॥ ११३

वृत्तमित्याह—बभूवेति । तत्र दृष्टान्तानाह—फलमित्यादिना

॥ १०३ ॥ छिन्नं कृतं लतावृन्तं शाखामूलस्थानं यस्य तथा-

विधः प्रत्यग्रस्वरूपः पादपो वटादिरिव । उत्तमेति राजसंबो-

धनम् ॥ १०४ ॥ द्विधापातं सद्योद्विधाखण्डितं विसं मृणाल-

मिव वा गलन् सारभूतो रसः शुक्रं यस्य । राजप्रभः स्पष्टः

॥ १०५ ॥ १०६ ॥ तत्त्वज्ञानामपि प्रबलतरप्रारब्धेन विवेका-

शानिरोधात्कदाचिद्देहधर्मानुवर्तनमस्त्येवेत्युत्तरमाह—सर्वस्या

एवेत्यादिना ॥ १०७ ॥ यावत्स्वान्तं स्वनाशपर्यन्तम् ॥ १०८ ॥

सुखदुःखमयत्वमेव दृष्टान्तैर्दर्शयति—तृह्यादिनेति ॥ १०९ ॥

दुःखं वर्धते इत्यनुकृत्यते ॥ ११० ॥ यथा मेघलक्षणेन पटेन

उपचितेन निशि तमो वर्धते तद्वत् । यत्र तत्त्वज्ञानामपि क्षणं

स्वरूपविसरणे ईदृशानर्थस्त्राज्ञानां किं वाच्यमित्याशयेनाह—

स्वरूपे इति ॥ १११ ॥ अत एव सदैव दृश्यानुल्लासाय सदैव

समाधिना स्वरूपाविसरणशीलेन भाव्यमित्याशयेनाह—अना-

रतेति । उन्मेषो निमेषद्वयान्तरालकालस्तावन्मात्रमपि ॥ ११२ ॥

॥ ११३ ॥ एवं ज्ञाज्ञयोः प्रारब्धफलमोगसाम्येपि रजनारजन-

कृतो विशेषोऽस्त्येवेति दृष्टान्ताभ्यामुपपादयति—एवमित्या-

दिना । जन्मकारणस्य देहाद्यात्मभावस्य दर्शनात् ॥ ११४ ॥

तज्ज्ञस्य तु तद्वशात्तत्त्वज्ञानवशात् । मनागपि न लगतः

॥ ११५ ॥ यथा मणेः स्फटिकस्थान्तः शणेन तादात्म्यानु-

रजनेन । आदिपदात्तप्रयुक्तेन्द्रनीलपद्मरागाद्यध्यासेन आक्रान्त-

तथैव सुखदुःखाभ्यां शरीरं स्थितिमागतम् ।

एवं हि सुखदुःखे द्वे जन्मकारणदर्शनात् ॥ ११४

अज्ञस्य गाढतां याते पटे कुङ्कुमबद्धम् ।

तज्ज्ञस्य त्वङ्गं लगतो मनागपि न तद्वशात् ॥ ११५

यथा शुभाशुभौ रागादिनाक्रान्ततरौ मणेः ।

पुरःस्थवस्तुभावेन रज्जनां स्फटिको यथा ॥ ११६

तज्ज्ञस्तथा नैति बोधाजीवन्मुक्तमतिर्मुनिः ।

वस्तुनः श्लेषमात्रेण घनरञ्जितमेति धीः ॥ ११७

गतेऽपि वस्तुनि दृढं बुद्धिर्यत्परितापिता ।

गतेऽपि कुङ्कुमे घृष्टं तदीयमनुरञ्जनम् ॥ ११८

न जहाति यथा मूढस्तथा विषयरञ्जनम् ।

अनेनैव क्रमेणैतौ बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ ॥ ११९

भावनातानवं मोक्षो बन्धो हि दृढभावना ।

शिखिध्वज उवाच ।

स्वोत्पत्तिकारणप्राप्तौ कथं दुःखं सुखं च वा ॥ १२०

अभ्युदेतीति वद मे दूरस्थानामपि प्रभो ।

अत्युदारमतीवाच्छं बद्धर्थं वचनं तव ॥ १२१

भोतुं तृप्तिं न गच्छामि मयूरोऽभ्ररवेण्विव ।

चूडालोवाच ।

स्वोत्पत्तिकारणं हृद्यं लब्ध्वा कायाक्षिपाणिभिः १२२

सुखसंविदियं बाला नूनमुल्लसति स्वतः ।

हृद्रता क्षोभमायाता जीवं कुण्डलिनीगतम् ॥ १२३

तरौ अतिशयेन संक्रान्तावपि शुभाशुभौ कुङ्कुमनीत्यादिवर्णौ

पटस्त्रेव रागेण रञ्जनया आदिपदाच्छुद्धिशुद्धादिना च यथा

मणेर्न लगतस्तद्वदित्यर्थः । इदानीं स्फटिकादपि तस्य स्वच्छं

तरत्वाद्विशेषमाह—पुरःस्थेति । स्फटिकः पुरःस्थजपाकुसुमा-

विवस्तुभावेन तात्कालिकी रज्जनामपि यायात् । तज्ज्ञस्तु तामपि

नैतीत्यर्थः ॥ ११६ ॥ “अज्ञस्य गाढतां याते” इति यदुक्तं तद्वि-

वृणोति—वस्तुन इत्यादिना । घनं रञ्जितं रञ्जनम् । धीः

अज्ञस्येति शेषः ॥ ११७ ॥ तत्कुतस्तत्राह—गतेऽपीति ।

यद्यस्माद्धेतोः परितापिता भवतीत्यर्थः ॥ ११८ ॥ विषय-

रञ्जनं न जहाति । तथा च बुद्धौ विषयरञ्जनवासनोपचय एव

बन्धस्तत्क्षय एव मोक्ष इति फलितमित्याह—अनेनैति

॥ ११९ ॥ दूरस्थानां पुत्रराज्याधीनाम् । अपिपदात्संनिहितानां

च लभनाशादिस्वोत्पत्तिकारणप्राप्तौ तदभिमानिनः सुखं दुःखं

च केन क्रमेण जायते तद्वदेति राजा पृच्छति—स्वोत्पत्तीति

॥ १२० ॥ १२१ ॥ तत्रादौ ‘स्वोत्पत्तिप्रकारं वर्णयति—स्वेति ।

संनिहितविषये कायाक्षिपाणिभिर्दूरस्थविषये शब्दानुमानादिनां

च लब्ध्वा उपलभ्य ॥ १२२ ॥ अपरिच्छिन्नस्वतत्त्वानभिज्ञ-

त्वाद्बाला इयं हृद्रता बुद्धिस्था आत्मसुखसंविद्बुद्धेः क्षोभात्

क्षोभमायाता सती प्रारवर्णितरीत्या कुण्डलिनीमुखप्रभवप्राण-

विधारकत्वात्कुण्डलिनीगतं जीवं भोकारं प्रति स्वतः प्रत्यगात्म-

तत्त्वादेवाभिविस्फुलिङ्गबुद्धसति आविर्भवति । एतस्यैवानन्द-

जीवस्य नियता नाड्यः पृथग्देहे स्थितिं गताः ।
 प्राणावपूरिता नाडीर्जीव आक्रामति स्फुरन् ॥ १२४
 संस्पर्शकम्बुद्वात्मा रसो द्रुमलता इव ।
 सुखप्रबोधसंचारे दुःखबोधागमे तथा ॥ १२५
 जीवस्य नियता नाड्यः पृथग्देहस्थितिं गताः ।
 सुखिनः प्रस्फुरत्येषा धीरताशु न दुःखिनः ॥ १२६
 ये हि मार्गाः सुवेषस्य कुवेषस्य न ते शुभाः ।
 यावत्प्रमाणं जीवोऽयं संशान्यत्यपरिस्फुरन् ॥ १२७
 तावत्प्रमाणमेवैनं मुक्तं मुक्तमवेहि वै ।
 यावत्प्रमाणमधिकं स्फुरति क्षुब्धमारुतम् ॥ १२८
 तावत्प्रमाणमेवैनं बद्धं बद्धमवेहि मे ।
 सुखदुःखकलास्पन्दो बन्धो जीवस्य नेतरः ॥ १२९
 तदभावे हि मोक्षः स्यादिति द्वेधा व्यवस्थितिः ।
 सुखदुःखदशे यावदानीते नेन्द्रियैः शठैः ॥ १३०
 तावत्सुखसमः सौम्यो जीवस्तिष्ठति शान्तवत् ।
 सुखमालोक्य वा दुःखमक्षातीतश्चलद्वपुः ॥ १३१
 समुल्लसति जीवोऽन्तर्दष्टेन्दुमिव तोयधिः ।
 जीवः क्षुभ्यति दृष्टेन संविदाङ्ग सुखादिना ॥ १३२
 आभिषेणेव मार्जारो मौर्ख्यमेवात्र कारणम् ।
 शुद्धेन बोध्यबोधेन स्वात्मज्ञानमयात्मना ॥ १३३

स्थान्याति भूतानि मात्रासुपजीवन्ति' इति श्रुतेरिति भावः ॥ १२३ ॥ हृत्स्थस्य भोक्तुर्नयनरसनश्रोत्रादिप्रतिनियतभोग-
 स्थानागमने मार्गमेदमाह—जीवस्येति ॥ १२४ ॥ तत्तद्विषय-
 संस्पर्शेन तदेकाग्रप्रवाहात्मा सन्निति पूर्वत्रान्वयः । जीवस्य
 नाडीद्वारा सर्वदेहप्रवेशे दृष्टान्तमाह—रस इति । यथा मूले
 सिको रसो जलं नाडीद्वारा द्रुमलताः सर्वप्रदेशेष्वनुप्रविशति
 तद्वदित्यर्थः ॥ १२५ ॥ पृथक्नियता नैकरूपा इत्यर्थः । कुत
 एतज्ज्ञानं तत्राह—सुखिन इति । सुखिनः सुखानुभवे प्रवृ-
 त्तस्य जीवस्य धीरता स्वस्थता प्रस्फुरति न तु दुःखिनो दुःखा-
 नुभवे प्रवृत्तस्य । स हि असंख्यं तरलं दंदद्यमानमिवात्मान-
 मनुभवतीत्यतस्त्वस्य पित्तोष्मादिसंतापकरसपूर्णस्तरलस्य नाडी-
 मार्गोऽनुमीयते इत्यर्थः ॥ १२६ ॥ अत एव लोकेऽपि सुवेषस्य
 भोगे प्रवृत्तस्य राजादेः समृद्धाः कर्पूरचन्दनोदकसिन्धवाः कीर्ण-
 कुसुमा धूपकस्तूर्यादिसुरमिणो मार्गाः प्रसिद्धाः कुवेषस्य नीचस्य
 तु तद्विषयीता इत्याह—ये हीति । एवं चार्यं जीवो यावत्कालं
 तरलतरनाडीमार्गाननुप्रवेशेन अपरिस्फुरन् स्वयं तरलताशून्यो
 भवति तावदस्य न दुःखप्रसक्तिः । तदास्य सक्चन्द-
 नाद्याकारवृत्त्यात्मा स्वात्मसुखमभिन्यज्यते । प्रद्वारकारवृत्त्या तु
 पूर्णमित्यवान्तरवैलक्षण्येपि विक्षेपाभावात्संशान्यत्येवेति स्वस्था-
 वस्थमेनं तावत्कालं मुक्तमेवावेहि । आविर्भूतसुखा स्वस्थतैव
 मुक्तिरिति तल्लक्षणसत्त्वादिति भावः ॥ १२७ ॥ १२८ ॥ तर्हि
 विषयसुखानुभवकाले कृतो जीवस्य न मुक्ततानुभवस्तत्राह—

सुखदुःखादि नास्तीति तेनासौ याति सौम्यताम् ।
 न तत्सुखादि नो तन्मे मुखा चायमहं स्थितः ॥ १३४
 इति जीवः प्रबुद्धो हि निर्वाणं याति शाम्यति ।
 सुखाद्यवस्त्वतद्रूपमित्यन्तर्बोधसंविदा ॥ १३५
 न तदुन्मुखतां याति जीवः शाम्यति केवलम् ।
 सर्वमेव चिदाकाशं ब्रह्मेति धननिश्चये ॥ १३६
 स्थितिं याते शमं याति जीवो निःश्लेहदीपवत् ।
 दीपवच्छममायाति सुखादिश्लेहसंक्षये ॥ १३७
 सर्वमेवमिति ज्ञानाजीवोऽद्वित्वविभावनात् ।
 सर्वमाकाशमेवेति बुद्धा क्षोभं न गच्छति ॥ १३८
 जीवस्यानेन शून्यस्य कः किल क्षोभविभ्रमः ।
 जीवेनेदं निबधेनैव यथा प्रथमसर्गतः ॥ १३९
 स्वयं संविदितो मार्गस्तेनैवाद्यापि गच्छति ।

शिखिध्वज उवाच ।

सुखसंचारयोग्यासु जीवे सरति नाडिषु ॥ १४०
 देवपुत्र भवत्येव तद्वीर्यच्यवनं कथम् ।
 चूडालोवाच ।
 जीवः क्षोभयति क्षुब्धः प्राणादिपवनावलिम् ॥ १४१
 संविदा ज्ञांशमात्रेण सेनामिव महीपतिः ।
 वातस्पन्देन मेदोऽन्तर्मज्जासारश्च संस्थितः ॥ १४२

सुखेति । दुःखग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । दुःखस्यैव विषयसुखस्यापि
 कलनं कलानुभवस्तदर्थं रागाद्यश्रितस्य बहिःस्पन्दो यश्च सुख-
 विच्छिन्नो तरलीभावस्तदुपायार्जनायानर्थसहस्रे स्पन्दः स एव
 जीवस्य बन्धो न त्वितरः सुखविश्रान्त्यंशोऽपीति क्षणमात्रमपि
 सुखविश्रान्त्या तदभावे मोक्षः स्यादेवेति संसरणासंसरणाभ्यां
 बन्धमोक्षयोर्वैधा व्यवस्थितिर्मयोक्तेति परेणान्वयः ॥ १२९ ॥
 उक्तमेवार्थं प्रपक्षयति—सुखदुःखेत्यादिना ॥ १३० ॥ अक्षा-
 तीत इन्द्रियागम्यः स्वप्रकाश इति यावत् ॥ १३१ ॥ दृष्टेन
 सुखादिना सुखतत्साधनविषयतदुपायधनादिना तद्रागसंविदा
 क्षुभ्यति । अज्ञेति संबोधने ॥ १३२ ॥ मौर्ख्यं निरतिशया-
 नन्दस्वतत्त्वाज्ञानमेवात्र क्षोभे कारणम् । केन तर्हि तद्विषय-
 विश्रान्तिस्तदाह—शुद्धेनेत्यादिना । बोध्योऽवश्यबोध्यः
 स्वात्मा तद्वोधेन ॥ १३३ ॥ सौम्यतां विश्रान्तिम् ॥ १३४ ॥
 ॥ १३५ ॥ १३६ ॥ सुखादिषु श्लेहो रागस्तरसंक्षये ॥ १३७ ॥
 सर्वं जगत् एवं चिन्मात्रमेवेति ज्ञानात् । अद्वित्वमैक्यं तद्वि-
 भावनात् । आकाशं शून्यम् ॥ १३८ ॥ अनेन ब्रह्मैक्यविभाव-
 नेन हेतुना पृथक्शून्यस्य बन्धशून्यस्य वा । कथं तर्ह्यस्य
 क्षोभविभ्रम आगतस्तत्राह—जीवेनेति । ईदृग्विधेन कल्पिते-
 नैव आद्यजीवेन हिरण्यगर्भेण एव सर्वजीवात्मनाहं संसारि-
 व्याभ्येवं स्वतत्त्वबोधादहं क्रमेण मुक्तो भविष्यामीति स्वक-
 ल्पनयैव बन्धमोक्षमार्गौ कल्पयित्वा स एवानुवर्त्यत इत्यर्थः
 ॥ १३९ ॥ अत्रः स्पष्टः ॥ १४० ॥ क्षीपिण्डदर्शनाद्रागवासनो-
 द्बोधेन क्षुब्धः सन् ॥ १४१ ॥ कथं क्षोभयति तत्राह—संविदा
 ज्ञांशमात्रेणेति । प्रवृत्तिस्मावानां प्राणादीनामविश्रान्त्या

त्यजत्याशु प्रसौगन्ध्यं रजः पत्रफलादिकम् ।
 चलितं तत्त्वघो याति गर्जादिव घनादि खे ॥ १४३
 देहनाडीप्रणालेन याति शुक्रं बहिः स्वतः ।
 शिखिध्वज उवाच ।
 देवपुत्र महाज्ञोऽसि वेत्सि पूर्वां च तत्स्थितिम् ॥ १४४
 ज्ञायसे वचनादेव स्वभावो हि किमुच्यते ।
 चूडालोवाच ।
 आद्यसर्गे यथा सद्यः स्फुरितं ब्रह्म ब्रह्मणि ॥ १४५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० सुखविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

षडशीतितमः सर्गः ८६

चूडालोवाच ।
 आत्मस्वभाववशतो जातं जगदिदं महत् ।
 स्थितिं वासनयाभ्येत्य धर्माधर्मवशे स्थितम् ॥ १
 वासनाहासमानीय धर्माधर्मैर्न गृह्यते ।
 ततो न जायते जन्तुरिति नो दर्शनं मुने ॥ २
 शिखिध्वज उवाच ।
 अत्युदारं महार्थं च वक्षि त्वं वदतां वर ।
 अनुभूतिमुपारूढं गूढं च परमार्थवत् ॥ ३

जीवसंविदः अङ्कुरितरागादिवृत्त्यनुरोध एवाभ्यनुज्ञारूपा आज्ञा तदंशमात्रेणेत्यर्थः । मेदोऽस्थ्याद्यन्तःसंचारिणो व्यानवातस्य स्पन्देन प्रेरणेन सर्वाङ्गसंस्थितो मेदोन्तर्गतः सारो मज्जासारश्च आशु प्रकृष्टसौगन्ध्यमिवानुगतं रजः स्वं सूक्ष्मांशं त्यजति । यथा छिन्नवृन्तं पत्रफलादिकं स्वान्तर्गतजलांशमन्तर्वातस्पन्देन त्यजति तद्वदित्यर्थः ॥ १४३ ॥ तत्रु त्यक्तं रजः सर्वाङ्गेभ्यश्चलितं सञ्जाडीद्वारा अधो मूलधारस्थानं याति । यथा सर्वतः खे प्रसृतं जलं गर्जयतीति गर्जः पुरोवातस्तस्माच्चिमित्तादेकीभूय घनमभ्रं आदिपदान्मेघाद्यवस्थं भूत्वा वर्षणोन्मुखं सदधोऽसन्निहितदेशं याति तद्वदित्यर्थः ॥ १४३ ॥ स्वतः स्वभावतः । 'देवादेरपि देहोऽयं द्वयात्मैव स्वभावतः' इति यत्त्वयोक्तं तत्र स्वभावशब्दार्थः क इति राजा पृच्छति—देवपुत्रेति । महा-
 ध्यासौ ज्ञश्च महाज्ञः आत्मतत्त्वविदसि । आत्मज्ञानात् पूर्वं सांसारिकपदार्थसंस्थितिं च तर्कादिकौशल्येन वेत्सि ॥ १४४ ॥ कथमहमीदंवन्तया ज्ञातस्तत्राह—ज्ञायसे इति । सर्गादिकाले सर्गोन्मुखं ब्रह्म प्राक्तनप्राणिकर्मानुसारेण यादृग्यादृग्धर्मकं यद्यत्पदार्थात्मना स्वात्मनि स्फुरितं तस्य पदार्थस्य आप्रलयं तादृग्धर्मकत्वनियतिः स्वभावशब्दार्थ इत्याह—आद्यसर्गे इति ॥ १४५ ॥ सांप्रतिकघटादिस्वभाववैचित्र्यं दृष्टसामग्रीवैचित्र्यादपि संभाव्येत । सर्गादौ तु तच्चिरूपणासंभवात्काकागमनक्षणे दैवात्तच्छिरसि तालपतनमिव तेन तस्य भरणमिव चादृष्टमात्र-
 प्रयुक्तमिति ; बोधनायाद्यसर्गानुधावनमित्याशयं दर्शयति—
 काकेति । 'समासाच्च तद्विषयात्' इतीवार्थद्वयविषयात्समासा-

घटावटपटाद्यात्म तथैवाद्यव्यवस्थितम् ।
 काकतालीयवद्वारिवुद्बुदोत्पत्तिनाशवत् ।
 घुणाक्षरवदुच्छ्रानं तं स्वभावं विदुर्बुधाः ॥ १४६
 अस्मिन्स्वभाववशतो जगति प्ररूढे
 देहा भ्रमन्ति परितो विविधा विकाराः ।
 प्रक्षीणवासनतया न भवन्ति केचि-
 ज्ञूयो भवन्ति च पुनस्त्वितरे घनास्थाः ॥ १४७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० सुखविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

त्वद्वाक्यविभवेनाद्य श्रुतेनानेन सुन्दर ।
 पीतेनेवामृतेनाहमन्तर्यातोऽसि शीतताम् ॥ ४
 तत्समासेन तां तावदात्मोत्पत्तिं वदाशु मे ।
 ततः श्रोष्यामि यत्नेन ज्ञानगर्भो गिरं तव ॥ ५
 तेन पद्मजपुत्रेण मुनिना नारदेन तत् ।
 क कृतं वीर्यमार्येण कथयाद्य यथास्थितम् ॥ ६
 चूडालोवाच ।
 ततो निबध्नता तेन मनोमत्तमतङ्गजम् ।

तृतीये इवार्थे च्छप्रत्ययः । सांप्रतिकेऽपि प्रतिवस्तुदेशकालनि-
 यते स्वभाववैचित्र्ये न दृष्टसामग्रीयत्ता निरूपयितुं शक्येत्या-
 शयेन दृष्टान्तान्तरमाह—चारिवुद्बुदेति । मायामात्रत्वादाक-
 सिको वासोऽस्त्वित्याशयेन दृष्टान्तान्तरमाह—घुणाक्षरव-
 दिति ॥ १४६ ॥ उक्तलक्षणस्वभाववशतः प्ररूढे अस्मिन् जगति
 विविधविकारात्मका अण्डजादिचतुर्विधा देहा भ्रमन्ति । तेषु
 केचिज्ज्ञानदेहास्ते प्रक्षीणवासनतया भूयो जन्मने न भवन्ति ।
 इतरे अज्ञानदेहास्तु भूयो जन्मने भवन्ति । यतस्ते भोगेणैव
 घनास्था इत्यर्थः ॥ १४७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे सुखविचारयोगोपदेशो नाम
 पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

कुम्भे कुम्भस्य जन्मात्रं वृद्धिर्ब्रह्मसमागमः ।

तदा शिष्यस्य सार्वज्ञ्यमित्यादिरिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

यथावर्णितलक्षणः स्वभावः सर्ववस्तुषु आप्रलयं प्रसिद्ध-
 स्तथा मायाशब्दस्यात्मनः सर्गादिस्वभावः श्रुत्यादिप्रसिद्धस्तद्व-
 शत इत्यर्थः । 'भोगार्थं सृष्टिरित्येके क्रीडार्थमिति चापरे ।'
 देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' इतिभगवद्गौडपादाः
 ॥ १ ॥ वासनानां हासं ज्ञानाभ्यासेनापक्षयम् । नः दर्शनमनुभव
 इत्यर्थः ॥ २ ॥ इत्थमनुभवचमत्कारे कीर्तिते तत्प्रकारं श्रोतु-
 कामो राजा तां प्रशंसमानः प्रस्तुतकथाशेषं संक्षिप्य समाप-
 येत्याह—अत्युदारमित्यादिना ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ क कस्मि-
 न्नाधारे कृतं स्थापितम् ॥ ६ ॥ आलाने राजवन्धस्तम्भे ।

संगमेन च सा युक्तिर्लभ्यते मुच्यते यया ॥ ३३
 साधुनैव समं प्राप्तं भुजानो वनकोटरे ।
 तिष्ठावष्टब्धदुश्चेष्टो धराविवरकीटवत् ॥ ३४
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 कान्तया देवरूपिण्या तयैवं प्रतिबोधितः ।
 अश्रुपूर्णमुखो वाक्यं शिखिध्वज उवाच ह ॥ ३५
 शिखिध्वज उवाच ।
 अहो नु बोधितोऽस्म्यद्य चिरात्सुरसुत त्वया ।
 मौख्यादार्यसमासङ्गं मुक्त्वाहमवसं वने ॥ ३६
 अहो नु मे क्षयं यातं मन्ये पापमशेषतः ।
 यत्त्वमेव समागत्य संप्रबोधयसीह माम् ॥ ३७
 गुरुस्त्वं मे पिता त्वं मे मित्रं त्वं मे वरानन ।
 शिष्यो नमस्करोम्यद्य पादौ तव कृपां कुरु ॥ ३८
 यदुदारतमं वेत्ति यस्मिन् ज्ञाते न शोच्यते ।
 भवामि निर्वृतो येन तद्ब्रह्मोपदिशाशु मे ॥ ३९
 घटज्ञानादयो ज्ञाने विभागाः सन्त्यनेकशः ।
 ज्ञानानां परमं ज्ञानं कतरत्तारकं भवेत् ॥ ४०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाण० पू० चू० शिखिध्वजावबोधो नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥८७॥

अष्टाशीतितमः सर्गः ८८

चूडालोवाच ।
 अस्ति कश्चित्पुमान् श्रीमान् स्थानं नित्यविरुद्धयोः ।
 गुणलक्ष्म्योरशेषेण यथान्धिर्वाडवान्बुनोः ॥ १
 कलाघानस्त्रकुशलो व्यवहारविचक्षणः ।
 सर्वसंकल्पसीमान्तो न तु जानाति तत्पदम् ॥ २

प्रदा ज्ञानयुक्तिः ॥ ३३ ॥ तर्हि मयेदानीं कथं स्थेयं
 तदाह—साधुनैवेति । अवष्टब्धा निरुद्धास्तपःक्लेशादिबहिर्मुख-
 दुश्चेष्टा येन तथाविधः सन् साधुना गुरुणा सममेव प्राप्तमाहारं
 भुजानस्तत्सेवापरस्तदुपदिष्टार्थं धराविवरकीटवत्तिष्ठत्यलसिष्ठेत्यर्थः
 ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ निर्वृतः सुखविश्रान्तः
 ॥ ३९ ॥ 'ज्ञानमेव परं श्रेय' इति यत्त्वया परमं ज्ञानं तारक-
 मुक्तं तदेतेषां ज्ञानानां मध्ये कतरद्भवेत् । किमीदृशं तदस्थ-
 विषयमेव तज्ज्ञानमुतान्यादृशमिति भावः ॥ ४० ॥ 'अद्वय-
 सोम्ये'ति श्रुतेरश्रद्धानेषु कृतोऽप्युपदेशः स्थाणोऽग्रे काकरुतव-
 दर्थो निन्द्यश्चेति प्रथमं श्रद्धानो भवेत्याह—यदीति । तत्तर्हि
 इदं त्वत्पृष्ठं ज्ञानं यथा यादृशं तद्वदामि वक्ष्यामि ॥ ४१ ॥
 लीलया अनास्थया पृष्ठस्य वक्तुर्वाचः । अक्षसंविदक्षलुःसंनि-
 कर्षाः ॥ ४२ ॥ श्रुतेः 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादिविधिनिर्दोषप्रा-
 माण्येन निश्चितः शिष्टैर्मुक्तसंशयमुपादीयते तद्वदुपादेयमित्यर्थः ।
 अविचारितं प्रामाण्यसंशयेनादिकल्पितम् ॥ ४३ ॥ मुक्तं हेतु-
 भिरुपपादनं यस्य तथाविधमपि प्रमाणबुद्ध्या यथा आदत्ते
 ॥ ४४ ॥ शुभं स्वहितमित्येव भावयन् । कर्णसुखावहं गीतं
 यो० वा० १२४

चूडालोवाच ।
 यद्युपादेयवाक्योऽहं राजर्षे तद्वदामि ते ।
 यथा ज्ञानमिदं किञ्चिन्न वक्ष्ये स्थाणुकाकवत् ॥ ४१
 अनुपादेयवाक्यस्य वक्तुः पृष्ठस्य लीलया ।
 प्रजन्यफलतां वाचस्तमसीवाक्षसंविदः ॥ ४२
 शिखिध्वज उवाच ।
 यद्वक्षि तदुपादेयं मया विधिरिव श्रुतेः ।
 अविचारितमेवाशु सत्यमेतद्वचो मम ॥ ४३
 चूडालोवाच ।
 यथा बालः पितुर्वाक्यं मुक्तहेतूपपादनम् ।
 आदत्ते हि तथैव त्वं गृह्णाणैतद्वचो मम ॥ ४४
 श्रवणानन्तरं बुद्ध्या शुभमित्येव भावयन् ।
 शृणु गीतमिव त्यक्त्वा हेत्वार्थित्वं वचो मम ॥ ४५
 स्वचरितसदृशं तथोदयन्त्या-
 श्रिरसमयेन विबोधनं च बुद्धेः ।
 भवभयसुतरं महामतीनां
 शृणु कथयामि कथाक्रमं मनोज्ञम् ॥ ४६

अनन्तयत्नसंसाध्ये स चिन्तामणिसाधने ।
 प्रवृत्तो वाडवो वह्निरब्धिसंशोषणे यथा ॥ ३
 तस्य यत्नेन महता कालेनाध्यवसायिनः ।
 सिद्धश्चिन्तामणिः किंवा न सिद्ध्यत्युद्यतात्मनाम् ॥ ४
 गानमिव प्रीत्या शृणु ॥ ४५ ॥ तत्रादौ देहाद्यभिमानत्याजनाय
 दुःखनिदानोपदर्शनाय च मणिकाचोपाख्यानं हस्तिकाख्यानं
 च श्रावयितुमवतारयति—स्वचरितेति । स्वस्य तव चरितेन
 सदृशं तथा मन्दमतीनामपि बुद्धेश्रिरसमयेन विचारोदयद्वारा
 उदयन्त्या बुद्धेर्विबोधनं महामतीनां च सद्य एव भवभयं सुतरं
 यस्मात्तथाविधम् । विशेषणपरनिपातश्छान्दसः । ईदृशं कथा-
 क्रमं कथयामि शृण्वित्यर्थः ॥ ४६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामा-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे शिखिध्वजावबोधो नाम
 सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

मौख्यांचिन्तामणिं प्राप्तुमुपैक्ष्य सपत्न्या चिरात् ।

कार्त्तं कश्चिन्मणिम्रान्त्या जग्राहेति कथोच्यते ॥ १ ॥

नित्यं परस्परविरुद्धयोः औदार्यवैराग्यसर्वस्वत्यागादिगुणस्य
 लक्ष्म्याः संपदश्च स्थानमावासभूतः । यथा अन्धिर्वाडवानलस्य
 अम्बुनश्च विरुद्धयोः स्थानं तद्वत् ॥ १ ॥ तत्परमात्मपदं तु न
 जानाति ॥ २ ॥ स किं चकार तदाह—अनन्तेति । अनन्तै-
 स्वपोजपदेवताजार्थनान्वेषणादिगोचरैर्यत्नैः संसाध्ये चिन्तामणेः
 साधने तपआदौ प्रवृत्तः ॥ ३ ॥ अध्यवसायिनो दृढनिश्चय-

प्रवृत्तिमुद्यमं प्रज्ञां प्रयुक्ते चेदखेदवान् ।
 अकिञ्चनोऽपि शक्तत्वं समवाप्नोत्यविघ्नतः ॥ ५
 मणिमग्रे स्थितप्रायं हस्तप्राप्य ददर्श सः ।
 मेराबुदयशृङ्गस्थो मुनिरिन्दुमिवोदितम् ॥ ६
 बभूव मणिराजेन्द्रे न तु निश्चयवानसौ ।
 राज्ये द्रागिति संप्राप्ते सुदीन इव पामरः ॥ ७
 इदं संचिन्तयामास मनसा समयशालिना ।
 संप्राप्तोपेक्षया दीर्घदुःखसंभ्रमशालिना ॥ ८
 अयं मणिर्मणिर्नायं मणिश्चेत्तद्भवेन्न सः ।
 स्पृशामि न स्पृशाम्येनं कदाचित्स्पर्शतो व्रजेत् ॥ ९
 नैतावतैव कालेन मणीन्द्रः किल सिद्ध्यति ।
 यत्नेन जीवितान्तेन सिद्ध्यतीत्यागमक्रमः ॥ १०
 कृपणः कृणितेनाक्षणा लोलालातलतोपमम् ।
 रत्नालोकं प्रपश्यामि द्विचन्द्रत्वमिव भ्रमात् ॥ ११
 कुत एतावती स्फीता भाग्यसंपन्नमागता ।
 अधुनैव यदाप्नोमि मणीन्द्रं सर्वसिद्धिदम् ॥ १२
 केचिदेव महान्तस्ते महाभाग्या भवन्ति हि ।
 येषामल्पेन कालेन भवन्त्यभिमुखाः श्रियः ॥ १३
 अहमल्पतपाः साधुवराको मानुषः किल ।
 सिद्ध्यः कथमायान्ति मामभाग्यैकमाजनम् ॥ १४
 एवं विकल्पसंकल्पैश्चिरमहः परामृशन् ।
 न मणिग्रहणे यत्नमकार्षीन्मौर्ख्यमोहितः ॥ १५

वतस्तस्य महता तीव्रयासेन अनेनाल्पकालेनैव चिन्तामणिः
 सिद्धोऽग्रे स्थितः । दृढयोगे फलावश्यंभावनियम इति दर्श-
 यति—किंवेति ॥ ४ ॥ प्रज्ञामिति । आभिलेति शेषः
 ॥ ५ ॥ यथा कश्चिदुदयाचलशृङ्गस्थो मुनिस्तत्रैवोदितमिन्दुं
 हस्तप्राप्यमपि आन्त्या मेराबुदितं दूरतरस्थमिव दुष्प्रापं पश्यति
 तद्वद्दर्शयति ॥ ६ ॥ अत एव मणिराजानो इन्द्रे ईश्वरे तस्मिन्-
 चिन्तामणौ निश्चयवान्स न बभूव । सुदीनो दरिद्रतमः ॥ ७ ॥
 समयो विसयस्तच्छालिना । सभ्रमशालिना आन्तेन मनसा ।
 इदं वक्ष्यमाणप्रकारम् ॥ ८ ॥ अयं मणिरिति आपातज्ञानम् ।
 नायं मणिरिति भ्रमः । मणिश्चेत्स्यात्तर्हि स मत्प्रत्यक्षो न
 भवेत्, तत्तर्हि परीक्षणाय स्पृशामि स्पृशेयमितीच्छामि।
 न स्पृशामि न स्पृशेयम् । यतः कदाचिन्मणिश्चेदभाग्यस्य मम
 स्पर्शतोऽन्तर्धानं व्रजेत् ॥ ९ ॥ इति शङ्कायां बीजमाह—नैता-
 वतेति । आगमोऽत्रैतिह्यं तत्क्रमः ॥ १० ॥ कथं तर्हि प्रत्यक्षं
 रत्नालोकदर्शनं तत्राह—कृपण इति । कृपणोऽहं स्वकार्पण्यव-
 चात्कृणितेन आन्तिसकुचितेनाक्षणा लोलालातकल्पितलतोपमं
 रत्नालोकं भ्रमात्प्रपश्यामि ॥ ११ ॥ भाग्यं पुण्यं तत्संपद ॥ १२ ॥
 ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ कुतो नाकार्षीत्तत्राह—न यदेति ।
 लब्धव्यं यदिति शेषः ॥ १६ ॥ किमर्थमुद्गीय गतस्तत्राह—

न यदा येन लब्धव्यं न तत्प्राप्नोत्यसौ तदा ।
 चिन्तामणिरचातोऽपि दुर्धिया हेलयोज्झितः ॥ १६
 इति तस्मिन्स्थिते यातो मणिरुद्गीय सिद्ध्यः ।
 त्यजन्ति ह्यवमन्तारं शरो गुणमिवोज्झितः ॥ १७
 हत्वा प्राक्षपदं पुंसः संयान्ति किल सिद्ध्यः ।
 आगताः संप्रयच्छन्ति सर्वं यान्त्यसद्व्यलम् ॥ १८
 पुमान्भूयः क्रियायत्नं चक्रे रत्नेन्द्रसाधने ।
 नोद्विजन्ते स्वकार्येषु जना अभ्यवसायिनः ॥ १९
 ददर्शाथ कचद्रूपं काचखण्डमखण्डितम् ।
 हसद्भिर्वैश्वकैः सिद्धैः पुरस्कृतमलक्षितैः ॥ २०
 अयं चिन्तामणिरिति मूढस्तस्मिन्स वस्तुताम् ।
 बुबुधे मोहितो ह्यहो मृदं हेमेति पश्यति ॥ २१
 अद्यैषं द्विषं मित्रं रज्जुं सर्पं स्थलं जलम् ।
 चन्द्रौ द्वौ कुरुते चित्तगतो मोहोऽमृतं विषम् ॥ २२
 तं दग्धमणिमादाय प्राक्तनीं च श्रियं जहौ ।
 सर्वं चित्तामणेरस्मात्प्राप्यते किं धनैरिह ॥ २३
 देशोऽयमसुखो रुक्षो जनैः पापिभिरावृतः ।
 किं तत्रेह गतप्रायं किं नाम मम बन्धवः ॥ २४
 दूरं गत्वा यथाकामं सुखं तिष्ठामि संपदा ।
 इत्यादाय मणिं मूढः शून्यकाननमाययौ ॥ २५
 तत्र काचकणेनासौ तेन तामापदं ययौ ।
 कज्जलाद्रेरिव निभा मौर्ख्यस्यैवाङ्ग या समा ॥ २६

सिद्ध्यः त्यजन्ति हीति । यथा मौर्व्या उज्झितः शरो गुणं
 मोर्षी त्यजति तद्वत् ॥ १७ ॥ ननु त्वया स पुरुषो व्यवहार-
 विचक्षण इति कथोपक्रमे उक्तं तस्य सा विचक्षणता मणिसि-
 द्धिकाले क्व गता तत्राह—हत्वेति । सिद्ध्य आगताः सत्यः
 पुंसः प्राक्षपदं विचक्षणतां संप्रयच्छन्ति । असहति असहमाने
 उपेक्षके तु पुंसि अलं यान्ति । अपगच्छन्त्यथ । सर्वं तस्य
 प्राक्तनमपि प्राक्षपदं विचक्षणत्वं हत्वा विनाश्य संयान्ति किले-
 त्यर्थः । यथाहुः 'न देवा दण्डमादाय दण्डयन्त्यपराधिनम् ।
 बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति तेनासौ दण्ड्यते स्वतः' इति ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ हसद्भिः परिहासपरैरत एव वशकैः सिद्धैः पुरस्कृत-
 मग्रे स्थापितम् ॥ २० ॥ वस्तुतां उपादेयताम् ॥ २१ ॥
 मोहस्यान्यथाकारिता प्रसिद्धामुदाहरति—अष्टामिति । अद्यै
 पदार्थान्कदाचित्संख्यान्वामोहात् षष्ठं षट् कुरुते । एवं द्विषं
 मित्रं कुरुते इत्यादि योज्यम् ॥ २२ ॥ दग्धशब्दो निन्दापरः ।
 श्रियं धनधान्यादिसंपदम् ॥ २३ ॥ एवं देशरुहवन्धादीनपि
 भ्रमात्स जहावित्याह—देश इति । रुक्षः श्लिग्धजनशून्यः ।
 गतप्रायं जीर्णमिति यावत् ॥ २४ ॥ मणिं काचखण्डम् ।
 ॥ २५ ॥ या आपत् कज्जलाद्रेर्निभा कान्तिरिव गाढनीला ।
 मौर्ख्यस्यैव या समा अलुप्या । मृयुरूपेति यावत् ॥ २६ ॥

दुःखानि मौर्ख्यविभवेन भवन्ति यानि
नैवापदो न च जरामरणेन तानि ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० चूडा० मणिकाचोपाख्यानं नामाष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

एकोनवतितमः सर्गः ८९

चूडालोवाच ।

अथेममपरं रम्यं वृत्तान्तं शृणु भूमिप ।
परं प्रबोधनं बुद्धेः साधो सदृशमात्मनः ॥ १
अस्ति विन्ध्यवने हस्ती महायूथपयूथपः ।
आगस्त्या शुद्धया बुद्ध्या विन्ध्येनेवोदितः स्वतः ॥ २
वज्राचिर्विषमौ दीर्घौ तस्यास्तां दशनौ सितौ ।
कल्पानलशिखातुल्यौ सुमेरुन्मूलनक्षमौ ॥ ३
स बद्धो लोहजालेन हस्तिपेन किलाभितः ।
मुनीन्द्रेणेव विन्ध्याद्रिरुपेन्द्रेणेव वा बलिः ॥ ४
निबद्धो यन्त्रणामाप शस्त्रकुम्भार्दितो गजः ।
तां जगाम व्यथां धीरो नवाग्रौ पुरमेति याम् ॥ ५
रिपौ हस्तिपके दूरादपश्यति स वारणः ।
अयःसमुद्रके यस्मिन्निनाय दिवसत्रयम् ॥ ६
खेदान्निगडनिर्भेदे यत्नवान्स मतंगजः ।
चकार किंकिणीक्लाणं सुखोद्धातैरथान्यदा ॥ ७
दन्ताभ्यां यत्नतस्ताभ्यां मुहूर्तद्वितयेन सः ।
बभञ्ज शृङ्खलाजालं स्वर्गागलमिवासुरः ॥ ८
तं तस्य निगडच्छेदमपश्यदूरतो रिपुः ।
बलेः स्वर्गावदलनं हरिर्मैरुतलादिव ॥ ९
तस्य विच्छिन्नपाशस्य मूर्ध्नि तालतरो रिपुः ।
पपात क्रमतः स्वर्गं हरिर्मैरोर्वलेरिव ॥ १०

तस्मान्मौर्ख्यमेव दुःखहेतुषु पराकाष्ठेत्युपसंहरति—दुःखानि-
नीति । मौर्ख्यविभवेन यानि दुःखानि प्रसिद्धानि तानि सर्वस्व-
नाशादेरापदः सकाशात्तापि जरया मरणेन वा भवन्ति, मौर्ख्या-
पगमे तत्त्वविदामापदादिसहस्रेभ्योऽपि दुःखादर्शनात् हेमपर्यङ्के
शयानस्यापि सति मौर्ख्ये दुःखसहस्रदर्शनाच्च । अतः सर्वापदां
शिरसि मौर्ख्यमेवैकं तिष्ठति । यथा जनस्य सर्वस्य शिरसि कृष्णं
केशजालं तिष्ठति तद्वदित्यर्थः ॥ २७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे मणिकाचोपाख्यानं
नामाष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

बद्धविन्ध्यगजेन्द्रस्य यत्नाच्छिन्नापि बन्धनम् ।

अनिम्रतो रिपुं प्राप्तं खाते पातोऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

अत्र हस्तिकाख्यानमपि निदर्शनमतस्तदपि शृण्वित्याह—
अथेति । वृत्तान्तमाख्यानम् । आत्मनस्तव सदृशम् ॥ १ ॥
अगस्त्यस्येयमागस्ती तथा । 'सूर्यतिथ्य-' इति यलोपः । चिर-

सर्वापदां शिरसि तिष्ठति मौर्ख्यमेकं

कृष्णं जनस्य वपुषामिव केशजालम् ॥ २७

स पतन्पादपद्माभ्यामप्राप्य करिणः शिरः ।

पपातोर्व्यां फलं पक्वं वाताहतमिवाकुलः ॥ ११

तं पुरः पतितं दृष्ट्वा महेभः करुणां ययौ ।

स्फुरत्स्फारगुणाः सन्तः सन्ति तिर्यग्गतावपि ॥ १२

पतितं दलयामीति किं नाम मम पौरुषम् ।

वारणोऽपीति कलयन्न जघान स तं रिपुम् ॥ १३

केवलं निगडव्यूहं विदार्याभिजगाम ह ।

विततं सेतुमुत्सार्य विपुलौघ इवाम्भसः ॥ १४

दयामाश्रित्य मातङ्गो भङ्क्त्वा जालं जगाम ह ।

विदार्य मेघसंघातं नमसीव दिवाकरः ॥ १५

गते गजे समुत्तस्थौ हस्तिपः स्वस्थदेहधीः ।

गजेनैव समं तस्य व्यथा दूरतरं गता ॥ १६

प्रोच्चलत्तालशिखरात्स तथा पतितोऽपि सन् ।

न भेदमाप दुर्भेदा मन्ये देहा दुरात्मनाम् ॥ १७

वर्धते प्रावृषीवाभ्रं कुकार्येष्वसतां बलम् ।

आसीदधिकमुत्साही स च चक्रमणे तदा ॥ १८

वारणारिरसिद्धाङ्गो गतेमो दुःखमाययौ ।

आगत्योपगतेऽन्तर्धि निधान इव वर्धनः ॥ १९

सोऽन्वियेष गजं यत्नाहुल्मकान्तरितं वने ।

पयोदपिण्डितं मोक्तुं राहुरिन्दुमिवाम्बरे ॥ २०

चिरेणालभतेभेन्द्रं कस्मिंश्चित्कानने स्थितम् ।

विश्रान्तं तं तरुतले समरादिव निर्गतम् ॥ २१

स्थाज्ञापरिपालनान्छुद्धया प्रसन्नया अनुग्रहबुद्ध्या विन्ध्येन स्वतः
प्राक्तनोन्नतरूपेणोदितः प्रादुर्भूत इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ २ ॥ वज्रस्याचिर्वी-
ज्वाले इव विषमौ तीक्ष्णौ ॥ ३ ॥ लोहमयेन जालेन । मुनीन्द्रेण
अगस्त्येन ॥ ४ ॥ यन्त्रणा नियन्त्रणाम् । कदाप्यसंभावितत्वाद-
लौकिकत्वाच्च नवे अपूर्वे हरशरामौ दह्यमानं त्रिपुरं यां व्यथा-
मेति ताम् ॥ ५ ॥ समुद्रके जालसंपुटे ॥ ६ ॥ किंकिणीनामिव क्वाणं
वनिम् ॥ ७ ॥ स्वर्गस्यामरावल्या अगलं क्वाटविष्कम्भम् । असुरो
बलिरिव ॥ ८ ॥ ९ ॥ रिपुर्हस्तिपकः ॥ तालतरोस्तालतरुमारुह्य
ततस्तस्य हस्तिनो मूर्ध्नि पपात । यथा बलियज्ञे पदत्रयमितां भुवं
प्रतिगृह्य प्रथमेन पदेन भुवं द्वितीयेन स्वर्गमिति क्रमतस्तृतीयपाद-
पूर्तये मेरोः सकाशाद्दलेर्मूर्ध्नि पपात तद्वदित्यर्थः ॥ १० ॥ ११ ॥
करुणां दयाम् ॥ १२ ॥ इति कलयन्निन्तयन्सन् ॥ १३ ॥ निगडव्यूहं
शृङ्खलाजालम् ॥ १४ ॥ १५ ॥ स्वस्थो देहो धीश्च यस्य तथाविधः
सन् ॥ १६ ॥ भेदं शिरःपादादिभङ्गम् ॥ १७ ॥ चक्रमणे पद्म्यां
चलने ॥ १८ ॥ न सिद्धे अङ्गे स्वप्रयुक्तोपायौ यस्य । अत एव
गतेभः ॥ १९ ॥ पयोदैः पिण्डितं छन्नम् ॥ २० ॥ २१ ॥

अथ यत्र स्थितो नागस्तत्र तद्वन्धनक्षमम् ।
 परया राजसामग्र्या गजलम्पटभूमया ॥ २२
 स खातवलयं चक्रे हस्तिपः काननेऽमितः ।
 सर्वदिकं विधिर्भूमौ समुद्रवलयं यथा ॥ २३
 उपर्यस्थगयद्वाललतौघेन स तं शठः ।
 शून्यतातन्तुजालेन शरत्काल इवाम्बरम् ॥ २४
 दिनैः कतिपर्यैरेव चारणो विहरन्वने ।
 तस्मिन्निपतितः खाते शुष्काब्धाविव पर्वतः ॥ २५
 व्रजन्पर्याकृतौ कूपे पातालतलभीषणे ।
 खातशुष्काब्ध्यधोभागे गजरत्नसमुद्रके ॥ २६
 इति भूयो दृढं बद्धस्तेन हस्तिपकेन सः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे ना० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० हस्तिकोपाख्यानं नामैकोनवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

नवतितमः सर्गः ९०

शिखिध्वज उवाच ।

मणिसाधकविन्ध्येभवन्धनाद्यमरात्मज ।
 सूचितं यत्कथाजालं पुनर्मै प्रकटीकुरु ॥ १

चूडालोवाच ।

वाक्यार्थदृष्टेर्निष्पत्त्या दृढहे चित्तभित्तिषु ।
 शृणु स्वयं कथां चित्रां चित्रमुन्मीलयामि ते ॥ २
 योऽसौ शास्त्रार्थकुशलस्तत्त्वज्ञाने त्वपण्डितः ।
 एतत्संसाधकः प्रोक्तः स त्वमेव महीपते ॥ ३

तत्र सन्निधौ । गजे लम्पटानामासकजनाना भूमा बाहुल्यं यस्या
 तथाविधया राजप्रयुक्तया खातसामग्र्या ॥ २२ ॥ विधिः स्रष्टा
 ॥ २३ ॥ शठो बन्धकः । शून्यतापिधायकतन्तुजालप्रायेण
 शुभ्राभ्रपटलेन शरत्कालोऽम्बरमिव तं खातमुपरि वाललता-
 जालेनास्थगयत् आच्छादितवान् ॥ २४ ॥ २५ ॥ पर्याकृतौ
 वलयाकारे तस्मिन् कूपे खातशुष्काब्ध्यधोभागे व्रजन्प्रपि स गजः
 इति अनया रीत्या गजरत्नसमुद्रके भूयो दृढं बद्धः सन्नयापि
 तिष्ठतीति परेणान्वयः ॥ २६ ॥ २७ ॥ यद्यहनिष्यत् ततस्तदा
 खातनिबन्धनं दुःखं नाल्लभ्यत ॥ २८ ॥ अत एव बुद्धिमान-
 गामिकालमिदानीमेव शास्त्रीयपुरुषप्रयत्नेर्दुःखबीजसंमार्जनेन
 शोधयेदित्याह—मौर्ख्यादिति ॥ २९ ॥ यावत्तत्तदुःखनिदानम-
 शानं नोच्छिन्नं तावत्प्रयत्नसहस्रैः कृतोऽपि दुःखोपशमो व्यर्थ
 एवेत्याशयेनाह—मुक्तोऽस्मीति । किलार्थे चशब्दः ॥ ३० ॥
 तस्मादज्ञानमेव मूलबन्धस्तज्जित्तिरद्वितीयात्मतत्त्वज्ञानादेवेति
 दर्शयन्नुपसंहरति—मौर्ख्यमिति । हे महात्मन्, न बद्धः सदा
 बन्धशून्यः स्वयं बद्ध इति चेतसि यन्मौर्ख्यं तदेव परं बन्धनम-
 तत्त्वं तद्विमुक्त्यै आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकप्रविधपरि-
 न्छेदात्मना आत्मबन्धनभूतं त्रिजगदात्मनः सकाशादेवोदयो
 जन्म यस्य तथाविधं समस्तमात्ममयं विद्धि । तथा वैदने

तिष्ठत्यद्यापि दुःखेन भूसृष्टानि यथा बलिः ॥ २७
 अहनिष्यत्पुनैवासौ यद्यग्रे पतितं रिपुम् ।
 तन्नालम्पस्यततो दुःखं गजः खातनिबन्धनम् ॥ २८
 मौर्ख्यादागामिनं कालं वर्तमानक्रियाक्रमैः ।
 अशोधयन्नरो दुःखं याति विन्ध्यगजो यथा ॥ २९
 मुक्तोऽसि शस्त्रनिगडादिति तुष्टो हि वारणः ।
 दूरस्थोऽपि पुनर्बद्धो मौर्ख्यं क्व च न बाधते ॥ ३०
 मौर्ख्यं हि बन्धनमवेहि परं महात्म-
 न्वद्धो न बद्ध इति चेतसि तद्विमुक्त्यै ।
 आत्मोदयं त्रिजगदात्ममयं समस्तं
 मौर्ख्यं स्थितस्य सहसा ननु सर्वभूमिः ॥ ३१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे ना० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० हस्तिकोपाख्यानं नामैकोनवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

तज्ज्ञो भवसि शास्त्रेषु रविर्मस्तदेष्विव ।
 तत्त्वज्ञाने तु विश्रान्तो न त्वं दृषदिवाम्भसि ॥ ४
 विद्धि चिन्तामणिं साधो सर्वत्यागमकृत्रिमम् ।
 तमन्तं सर्वदुःखानां त्वं साधयसि शुद्धधीः ॥ ५
 सर्वत्यागेन शुद्धेन सर्वमासाद्यतेऽनघ ।
 सर्वत्यागो हि साम्राज्यं किं चिन्तामणितो भवेत् ॥ ६
 सिद्धः सर्वपरित्यागः साधो संसाध्यतस्तव ।
 खर्वीकृतजगद्भूतिर्विद्यास्वात्मोदयस्तथा ॥ ७

आत्मव्यतिरिक्तापरिशेषादात्मा नित्यमुक्त एव भवति ।
 ईदृशवेदनाभावे तु मौर्ख्ये स्थितस्य पुंस आत्मैव सहसा सर्व-
 बन्धादिदुःखमीजाना भूमिः प्ररोहक्षेत्रं भवतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 हस्तिकोपाख्यानं नामैकोनवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

मणिकाचञ्चुमारुयानतात्पर्यमिदं विस्तरात् ।

विकृणोति पुरो राजशूडाला कुम्भरूपिणी ॥ १ ॥

हे अमरात्मज देवपुत्र, त्वया यत् मणिसाधककथाजालं
 खचरित्रसममित्युक्तया मत्प्रतिबोधनोपाय इति सूचितं तत्प्र-
 कटीकुरु ॥ १ ॥ दृढदमं तल्लक्षणे शृहे चित्तलक्षणासु भित्तिषु
 चित्रां कथायैवोन्मीलितं रेखामात्रेण कृतं चित्रं व्याख्यावर्णनै-
 विन्द्येणोन्मीलयामीत्यर्थः ॥ २ ॥ तत्रादावस्ति कश्चित् पुमान्
 श्रीमानित्यादिनोक्तो मणिसाधकः स त्वमेवेत्याह—योऽसा-
 विति ॥ ३ ॥ त्वयि कलावान् शास्त्रकुशल इत्याद्युपलक्षणम-
 स्तीत्याह—तज्ज्ञ इति ॥ ४ ॥ कोऽसौ चिन्तामणिर्यत्साधनेऽहं
 प्रवृत्तस्तमाह—विद्धीति ॥ ५ ॥ तस्य चिन्तामणित्वमुपपाद-
 यति—सर्वत्यागेनेति । साम्राज्यमात्यन्तिकी पूर्णकामता ॥ ६ ॥
 खर्वीकृता दुच्छीकृता हैरण्यगर्भपदान्ता जगत्प्रसिद्धा भूति-

संत्यक्तं भवता राज्यं सदारधनवान्धवंम् ।
 ब्रह्मणेव जगत्सर्गव्यापारः स्वनिशागमे ॥ ८
 स्वदेशस्यातिदूरस्थमागतोऽसि ममाश्रमम् ।
 भुवोऽन्तमिव विश्रान्त्यै वैनतेयः सकच्छपः ॥ ९
 केवलं सर्वसंत्यागे शेषिताहंमतिस्त्वया ।
 मृष्टाखिलकलङ्केन स्वसत्तेवानिलेन खे ॥ १०
 मनोमात्रे हृदस्त्यक्ते जगदायाति पूर्णताम् ।
 त्यागात्यागविकल्पैस्त्वं खमम्भोदैरिवावृतः ॥ ११
 नायं स परमानन्दः सर्वत्यागो महोदयः ।
 कोऽप्युच्चैरन्य पवासौ चिरसाध्यो महानिति ॥ १२
 चिन्तयेति गते वृद्धिं संकल्पग्रहणे शनैः ।
 घात्ययेव वनस्पन्दे त्यागः प्रोद्गीय ते गतः ॥ १३
 त्यागिता स्यात्कुतस्तस्य चिन्तामप्यावृणोति यः ।
 पवनस्पन्दयुक्तस्य निःस्पन्दत्वं कुतस्तरोः ॥ १४
 चिन्तैव चित्तमित्याहुः संकल्पेतरनामकम् ।
 तस्यामेव स्फुरन्त्यां तु चित्तं त्यक्तं कथं भवेत् ॥ १५
 चित्ते चिन्तागृहीते तु त्रिजगज्जालके क्षणात् ।
 कथमासाद्यते साधो सर्वत्यागो निरञ्जनः ॥ १६
 संकल्पग्रहणेनान्तस्त्यागः प्रोद्गीय ते गतः ।
 शब्दसंश्रवणेनाह यथा ग्रामविहंगमः ॥ १७
 निश्चिन्तत्वं परं सर्वं त्याग आदाय ते गतः ।

आमन्त्र्या पूजितो जन्तुः स दुःखं न करोति किम् ॥ १८
 सर्वत्यागमणावेवं गते कमललोचन ।
 तपःकाचमणिर्दृष्टस्त्वया संकल्पचक्षुषा ॥ १९
 त्वया तस्मिन्तपस्येव दुःखे दृष्टिभ्रमोदिते ।
 ग्राह्यैकभावना बद्धा जलेन्दौ शशिनो यथा ॥ २०
 अवासनमनासक्त्या कृतानन्ता सवासना ।
 आद्यन्तमध्यविषमा दुःखायैव तपःक्रिया ॥ २१
 अमितानन्दमुत्सृज्य सुसाध्यं यः प्रवर्तते ।
 मिते वस्तुनि दुःसाध्ये स्वात्महा स शठः स्मृतः ॥ २२
 सर्वत्यागं समारभ्य न वैष साधितस्त्वया ।
 तथा दुःखैकताज्ञानबद्धेन वनसद्गति ॥ २३
 राज्यबन्धाद्विनिष्क्रम्य प्रसरदुःखपूरितात् ।
 वनवासाभिधैः साधो बद्धोऽसि दृष्टबन्धनैः ॥ २४
 द्विगुणा एव ते चिन्ताः शीतवातातपादयः ।
 बन्धनादधिकं मन्ये वनवासमजानताम् ॥ २५
 चिन्तामणिर्मया प्राप्त इत्यलं बुद्धवानसि ।
 न लब्धवान्भवान्साधो स्फटिकस्यापि खण्डिकाम् ॥ २६
 इत्येतदङ्ग मणियत्नकथासमानं
 सम्यङ्माया प्रकथितं तव पद्मनेत्र ।
 तद्वोध्यमेवममलं स्वयमेव बुद्ध्वा
 यद्वेत्सि तत्परिणतिं नय चित्तकोशे ॥ २७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षो० निर्वाण० पू० चू० चिन्तामणिसाधकवृत्तान्तविवरणं नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

रैर्धर्मपरम्परा येन तथाविधो विद्यालक्षणः स्वात्मोदयो निरतिश-
 यानन्दाभ्युदयो यस्मात्तथाविधश्च सर्वपरित्यागः । चार्थे तथा-
 शब्दः ॥ ७ ॥ कथं सिद्धस्तदाह—संत्यक्तमिति । ब्रह्मणा
 वेधसा ॥ ८ ॥ कच्छपग्रहणं गजन्यग्रोघशाखयोरप्युपलक्षणम् ।
 वैनतेयस्येयं कथा भारतादौ प्रसिद्धा ॥ ९ ॥ अहंमतिरभिमान-
 रूपा अविद्या । मृष्टा अखिला अग्रनीहारादिकलङ्का येन शार-
 दानिलेन ॥ १० ॥ अहंमतिपरित्यागे परिशिष्टः पूर्णानन्दात्मा
 परमपुरुषार्थः स्वत एव हृदि साक्षात्स्फुरतीति सर्वत्याग एव
 मोक्षः पर्यवसितः परमानन्दश्चिन्तामणिर्न तन्नामे तदुपेक्ष्यान्य-
 दन्वेषितव्यमित्याशयेनाह—मनोमात्रे इति । त्वं तु त्यक्तत्वा-
 भिमानपरिशेषात्त्यागात्यागविकल्पैरावृत इति न पूर्णतां प्राप्त
 इत्याह—त्यागात्यागविकल्पैरिति ॥ ११ ॥ विकल्पवशा-
 देव प्राप्तेऽपि सर्वत्यागे अविश्वासस्तवाभूदित्याह—नायमिति
 ॥ १२ ॥ इति चिन्तया संकल्पग्रहणे चिरं वृद्धिं गते सति
 स ते सर्वत्यागः प्रोद्गीय गतः ॥ १३ ॥ यश्चिन्तामपि आ
 ईषदपि वृणोति स्वीकरोति ॥ १४ ॥ चित्तत्याग एव मुख्यः
 सर्वत्यागः, चिन्तायां तु सत्यां चित्तं दुस्त्यजम्, चित्तेन तु संक-
 ल्पद्वारा जगदेव सगृहीतमिति न कस्यापि त्यागस्ते प्रतिष्ठित
 इत्याशयेनाह—चिन्तैवेति द्वाभ्याम् ॥ १५ ॥ १६ ॥ ग्राम-
 विहंगमः कपोतादिः ॥ १७ ॥ सर्वत्यागस्य फलं निश्चिन्तत्वं

त्यागेनापगच्छता नीतमिवेत्युत्प्रेक्षते—निश्चिन्तत्वमिति ।
 पूज्यस्यानिमज्जितस्याथ पूजने दक्षाध्वरादावनर्थः प्रसिद्धः किं
 पुनः प्रार्थनासहस्रैरागतस्यापूजने इत्याशयेनाह—आमन्त्रयेति
 ॥ १८ ॥ ततः कोऽसौ काचखण्डो यो मया मणिबुद्ध्या गृहीत-
 स्तमाह—तप इति ॥ १९ ॥ दुःखहेतुत्वाद्दुःखे ग्राह्यमित्येव
 भावना दृढनिश्चयः । जलेन्दौ प्रतिबिम्बचन्द्रे सत्यशशिनो
 भावनेव बद्धेत्यर्थः ॥ २० ॥ पूर्वमवासनं यथा स्यात्तथा अना-
 सक्त्या सर्वत्यागमुपक्रम्य पश्चादनन्ता सवासना तपःक्रिया कृता
 सा च वृथा । गृहघनदारादित्यागादादौ विषमा अन्ते फला-
 संज्ञविषमा मध्ये वनवासशीतवातादिसहनाद्विषमेति दुःखायैवे-
 त्यर्थः ॥ २१ ॥ अमितात्मानन्दं सुसाध्यं च सर्वत्यागमुत्सृज्य
 मिते दुःसाध्ये च तप आदिवस्तुनि यः प्रवर्तते स शठः अमि-
 तात्मस्वरूपविधातित्वात्स्वात्महेत्यर्थः ॥ २२ ॥ वनसद्गति तथा
 वर्णितप्रकारतपोदुःखैस्सदेकताप्रयोजकाज्ञानेन च बद्धेन त्वया
 एष प्राक् समारब्धः सर्वत्यागो न साधितः ॥ २३ ॥ २४ ॥
 वनवासमजानतां प्रागननुभूतवतां सुकुमाराणां वनवासं बन्ध-
 नादधिकं दुःखं मन्ये ॥ २५ ॥ खण्डिकां शकलमपि ॥ २६ ॥
 उपपादितमणिसाधकचरित्रसाम्यमुपसंहरति—इत्थमिति ।
 अङ्ग हे पद्मनेत्र, मया इत्येवं तव चरित्रं मणिप्रयत्नकथया समानं
 सम्यक् प्रकटितं स्फुटीकृतम् । तन्मणिकाचदार्ष्टान्तिकमेवं मनुक्तं

एकनवतितमः सर्गः ९१

चूडालोवाच ।

इदानीं राजशार्दूल वस्तुसंप्रतिपत्तये ।

ॠणु विन्ध्येभवृत्तान्तविवृतिं स्वयकारिणीम् ॥ १

योऽसौ विन्ध्यवने हस्ती सोऽस्मिन्भूमितले भवान् ।

यौ वैराग्यविवेकौ तौ द्वौ तस्य दशनौ सितौ ॥ २

यश्चासौ वारणाक्रान्तितत्परो हस्तिपः स्थितः ।

तदज्ञानं तवाक्रान्तितत्परं तव दुःखदम् ॥ ३

अतिशक्तोऽप्यशक्तेन दुःखाहुःखं भयाद्भयम् ।

हस्ती हस्तिपकेनेव राजन्मौल्येण नीयसे ॥ ४

यल्लोहवज्रसारेण धारणः परियन्त्रितः ।

तदाशापाशजालेन भवानापदमावृतः ॥ ५

आशा हि लोहरज्जुभ्यो विपमा विपुला दृढा ।

कालेन क्षीयते लोहं तृष्णा तु परिवर्धते ॥ ६

यद्बन्धं प्रेक्षते वैरी गजमारादलक्षितः ।

प्रेक्षते त्वां तदज्ञानं क्रीडार्थं बद्धमेककम् ॥ ७

यद्बभञ्ज गजः शत्रोः ॠङ्गलाजालबन्धनम् ।

तत्तत्त्याज भवान्भोगभूमिं राज्यमकण्ठकम् ॥ ८

फदाचित्तुकरं शखशृङ्गलाबन्धमेदनम् ।

न त्वस्य मनसः साधो भोगाशाविनिवारणम् ॥ ९

यदिमे पाटयत्युच्चैर्वन्धं हस्तिपकोऽपतत् ।

त्वयि त्यजति तद्राज्यमज्ञानं पतितं कृतम् ॥ १०

यदा विरक्तः पुरुषो भोगाशां त्यक्तुमिच्छति ।

रीत्या त्वं स्वयमेव विचार्य तत्त्वतो मुद्धा सर्वत्यागं तपो वा

यदेव चिन्तामणिवदमलं निर्दोषं वेत्ति तदेव स्वचित्तकोशे

निधाय फलप्राप्तिपर्यन्तां परिणतिं नयेत्यर्थः ॥ १७ ॥

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे

चिन्तामणिसाधकवृत्तान्तविवरणं नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

इह विन्ध्येभवृत्तान्तदार्ढान्तिकमुदीर्यते ।

कुम्भेन राजश्वरितं बोधान्तत्यागसिद्धये ॥ १ ॥

वस्तुनस्त्वस्य सम्यक् प्रतिपत्तये बोधाय । स्वयो विसय-

स्तत्कारिणीम् ॥ १ ॥ यौ तस्य द्वौ दशनौ तौ वैराग्यविवेका-

ख्यामित्यन्वयः ॥ २ ॥ ३ ॥ अतिशक्तो बलवानपि त्वमश-

क्तेन दुर्बलेनापि मौल्येण दुःखाहुःखं भयाद्भयं नीयसे ॥ ४ ॥

त यदो लोहजालेनेत्युक्तिं प्रकटयति—यदिति । परितो

मन्त्रितो बद्ध इति यत् । भवान् पादावभिव्याप्येत्यापदमावृतः ।

राज्यपातनकाले तदित्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ रिपौ हस्तिपके दूरा-

दपदयतीत्यनेन सूचितं तद्दर्शनमुदाहरति—यदिति । बन्धे

रहस्ये । अज्ञानस्य चेतनत्वमारोप्य बाधोऽयम् ॥ ७ ॥ दन्ताभ्या

यमतस्ताभ्यामित्युक्तेत्यात्पर्यमाह—यदिति ॥ ८ ॥ ९ ॥ 'स

पतन्पादपद्माभ्यामप्राप्य करिणः शिरः । पपातोर्ध्वमिति

यदुक्तं तदप्यज्ञाने दर्शयति—यदिमे इति । पतितं यथा भवति

तदा प्रकम्पतेऽज्ञानं छेद्ये वृक्षे पिशाचवत् ॥ ११

यदा विवेकी पुरुषो भोगान्संत्यज्य तिष्ठति ।

तदा पलायतेऽज्ञानं छिन्ने वृक्षे पिशाचवत् ॥ १२

भोगौघे नूनमुन्मुक्ते पतत्यज्ञानसंस्थितिः ।

पादपे क्रकचच्छिन्ने कुलायस्तद्रतो यथा ॥ १३

यदा वनं प्रयातस्त्वं तदाऽज्ञानं क्षतं त्वया ।

पतितं सन्न निहतं मनस्त्यागमहासिना ॥ १४

तेन भूयः समुत्थाय स्मृत्वा परिभवं कृतम् ।

तपःप्रपञ्चखातेऽसिन्गहने त्वं नियोजितः ॥ १५

तदैवाघातयिष्यस्त्वं यद्यज्ञानं तथागतम् ।

राज्यत्यागविधौ तत्त्वां नाहनिष्यत्क्षयं गतम् ॥ १६

यत्खातबलयस्तेन वैरिणा हस्तिनः कृतः ।

तत्तपोदुःखमखिलमज्ञानेन तवार्पितम् ॥ १७

या तस्य राजराजश्रीर्गजारेर्नृपसत्तम ।

सा त्ववज्ञाननृपतेश्चिन्ताभ्यन्तरचारिणी ॥ १८

त्वं गजेन्द्रस्त्वयं साधो दीर्घे वनेऽगजोऽपि सन्न ।

अज्ञानवैरिणा तेन निक्षिप्तस्तरसामितः ॥ १९

यत्खातबलयो बाललतामिरवगुण्डितः ।

आवृतं तत्तपोदुःखमीषत्सज्जनवृत्तिभिः ॥ २०

इत्यद्यापि तपःखाते दुःखे ह्यस्मिन्नुदाहणे ।

स्थितोऽसि पातालतले नृप बद्धो यथा बलिः ॥ २१

तथा कृतं त्वया पातितमिव जर्जरीकृतमित्यर्थः ॥ १० ॥ तदेव

स्पष्टयति—यदेति ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ क्षतं शिथिली-

भूतमपि मनस्त्यागतत्त्वज्ञानेन निर्मनस्कता तल्लक्षणेन महा-

सिना न निहतं तदानीमेव ते चूडालोकिश्रवणात्तत्त्वबोधाव-

सरोऽभूदिति भावः ॥ १४ ॥ तेन त्वदुपेक्षितज्ञानेन ॥ १५ ॥

राज्यत्यागविधौ तदैव तथागतं पतितमज्ञानं यद्यघातयिष्यस्-

तदैव शयं गतं सत्त्वां तपःखातपातेन नाहनिष्यदित्यर्थः ॥ १६ ॥

सखातबलयं चक्रे इत्युक्तेत्यात्पर्यमाह—यदिति ॥ १७ ॥

'परया राजसामभ्या गजलम्पटभूमये'त्यत्रोक्तां राजसामग्रीं

स्फुटयति—या तस्येति । तस्य गजारेर्हस्तिपकस्य राजप्रयुक्ता

श्रीः खातसामग्री संपद या उक्ता सा तु अवज्ञानं विचारानादर-

स्तलक्षणस्य हस्तिपकनृपतेः अभ्यन्तरचारिणी अन्तरात्मैवर्थाभूता ।

चिन्तैव ह्यविवेकस्य सर्वस्वमिति भावः ॥ १८ ॥ हे साधो, त्वम-

गजोऽपि सज्जयमुक्तविवेकसंपन्नो गजेन्द्रः अनेनाज्ञानलक्षणेन

वैरिणा अभितः खाते तरसा निक्षिप्तः ॥ १९ ॥ 'उपर्यस्त्रगय-

द्बाललतायेन स तं बाधः' इत्यस्य तात्पर्यं स्फुटयति—यदिति ।

सज्जनवृत्तिभिः शान्तिकान्त्यादिगुणैः साधुजनसमागमैश्च ईप-

दावृतम् ॥ २० ॥ 'इति, भूयो इहं बद्धस्तेन हस्तिपकेन सः ।

तिष्ठत्यद्यापि दुःखेन भूयधाति यथा बलिः' इत्युपसंहारस्य

गजस्त्वमाशा निगडानि वैरी
मोहो निखातः पुनरुग्रबन्धः ।

महीतलं विन्ध्य उदन्त इत्थं
त्वदीय उक्तः कुरु यत्करोषि ॥ २२

इत्यार्वे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्र० पू० चू० हस्तिकाख्यानतात्पर्यविवरणं नामैकनवतितमः सर्गः ॥९१॥

द्विनवतितमः सर्गः ९२

चूडालोवाच ।

यदुक्तं नयशालिन्या तया विदितवेद्यया ।
तदा चूडालया ज्ञानं तत्कस्मान्नोरीकृतम् ॥ १
सा हि तत्त्वविदां मुख्या यद्यद्वक्ति करोति च ।
तत्सर्वं सत्यमेवाङ्ग तदनुष्ठेयमादरात् ॥ २
अथ चेद्वचनं तस्यास्त्वया नानुष्ठितं नृप ।
तत्सर्वसंपरित्यागः कस्मान्न निपुणीकृतः ॥ ३

शिखिध्वज उवाच ।

राज्यं त्यक्तं गृहं त्यक्तं देशस्त्यक्तस्तथाविधः ।
दारास्त्यक्तास्तथाप्यङ्ग सर्वत्यागो न किं कृतः ॥ ४

चूडालोवाच ।

धनं दारा गृहं राज्यं भूमिश्छत्रं च बान्धवाः ।
इति सर्वं न ते राजन्सर्वत्यागो हि कस्तव ॥ ५
तवास्त्येवापरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
तं परित्यज्य निःशेषमायास्यसि विशोकताम् ॥ ६

शिखिध्वज उवाच ।

राज्यं चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं वनमेव मे ।

तात्पर्यं वर्णयन्नुपसंहरति—इत्यद्यापीति ॥ २१ ॥ उक्तमनुक्तं च पिण्डीकृत्याह—गज इति । त्वं गजः । आशास्तव निगडानि । मोहो वैरी हस्तिपकः । उग्रे तपसि निर्बन्ध एव निखातः । महीतलं विन्ध्यः । इत्थं त्वदीय उदन्तो वृत्तान्तो मया हस्तिकाख्यानेनोक्तः । एवं परिज्ञाय तपःखातादुद्रम्य तस्य रिपोर्नाशाय यत्करोषि तत्कुरु मा विलम्बस्वेत्यर्थः ॥ २२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे हस्तिकाख्यानतात्पर्यविवरणं नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

इह कुम्भवचः श्रुत्वा सर्वत्यागपरो नृपः ।

त्यक्त्वा वनादिवह्नौ स्वं सर्वं भाण्डमदीदृहत् ॥ १ ॥

यदा त्वं वनं प्रस्थितस्तदैवाज्ञानं पतितं सज्ज निहतमिति त्वयोक्तं तत्र तदानीं मम मनस्त्यागोपायः केनोपदिष्टो यो मयोपेक्षित इति राजशङ्कां वितर्कयन्ती चूडालोवाच—यदुक्तमिति ॥ १ ॥ तस्या अतएववित्त्वानृतवादिनीत्वादिशङ्कां वारयति—सा हीति । अनुष्ठेयमभूदिति शेषः ॥ २ ॥ यदि 'आत्मबुद्ध्या चिरं जीवेद्गुरुबुद्ध्या विशेषतः । परबुद्धिर्विनाशाय स्त्रीबुद्धिः प्रलयं करोति' इति वचनात्स्त्रीबुद्धिमुपेक्ष्यात्मबुद्धिनिश्चितं सर्वत्यागमेव बह्वर्भस्थास्तर्हि स एव त्वया कुतो न स्थिरीकृत इत्याह—अथ चेदिति ॥ ३ ॥ राज्यादिपरित्यागमात्रेण 'सिद्धः सर्वपरित्यागः साधो संसाध्यतस्तव । खर्वीकृतजगद्भूतिर्विद्या स्वात्मोदयस्तथा' इति त्वयैवोक्तम् । न च मया त्यक्तं राज्यादि

शैलवृक्षादिगुल्माख्यं तदप्येतत्तज्जाम्यहम् ॥ ७

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इति राम वदन्नेव कुम्भवाक्यप्रणोदितः ।
निमेषान्तरमात्रेण वशी धीरः शिखिध्वजः ॥ ८
प्रममार्ज वनास्थां तां कृतः सुदृढनिश्चयः ।
प्रावृडो घस्तटगतां रजोलेखाभिवात्मना ॥ ९

शिखिध्वज उवाच ।

सवृक्षाद्रिवनश्वभ्राद्विपिनादपि वासना ।
परित्यक्ता मया नूनं परित्यागः स्थितो मम ॥ १०

कुम्भ उवाच ।

अद्रेस्तटं वनं श्वभ्रं सलिलं पादपस्थलम् ।
इत्यादि तव नो सर्वं सर्वत्यागः कथं तव ॥ ११
तवास्त्येवापरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
तं परित्यज्य निःशेषं परामायास्यशोकताम् ॥ १२

शिखिध्वज उवाच ।

एतच्चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं स्वाधमो मम ।
धापीस्थलोऽजयुतस्तमेवाशु त्यजाम्यहम् ॥ १३

पुनः स्त्रीकृतम् । तत्कथं मया सर्वत्यागो न निपुणीकृत इति शिखिध्वजः पृच्छति—राज्यमिति ॥ ४ ॥ 'केवलं सर्वसं-त्यागे शेषिताहंमतिस्त्वया' इति मया प्रायुक्तमेवास्योत्तरम् । विवेकाभावात्त्वसौ न प्रतिपन्नस्तदयं वनाश्रमकुटीकमण्डल्वादिपरि-ग्रहशेषेपि निःशेषं त्याजिते कथंचिद्विवेकं प्राप्याहंकारप्रस्थि परित्यज्य पूर्णो भविष्यतीति मन्यमाना शनैस्तद्बुद्धिं विचार-मवतारयन्ती गूढामिसन्धिनैव चूडालोवाच—धनमिति । यत्स्व-संबन्धि सर्वं च तत्त्यागे सर्वत्यागः सिध्येत् । न च राज्याद-यस्ते स्वसंबन्धिनः सर्वं वा । अहंकारो हि राज्यादिकं ममेति कल्पयंस्तत्स्वामितां मन्यते न त्वात्मेति प्राप्त्यभावाच्च सर्वत्याग-स्तव सिद्ध इति भावः ॥ ५ ॥ यद्यहंकारे तादात्म्यारोपादात्मा राज्यादिस्वामितां प्रतिपन्न इत्युच्येत तर्हि तत्त्यागादेव राज्यादि-त्यागः सिध्येन्नान्यथा । स च स्वया न त्यक्त इत्याशयेनाह—तच्चेति ॥ ६ ॥ उक्ताशयमप्रतिपद्यमानः पूर्वं परित्यक्तत्वादेव राज्यादौ तवेदानीं राज्यादिसंबन्धो नास्तीति न त्यागार्हता । शैलवृक्षादीनां त्विदानीं परिग्रहान्न तत्त्यागमन्तरेण तव सर्व-त्यागसिद्धिरित्यस्याशय इति मन्यमानः शिखिध्वज उवाच—राज्यमिति । एवमग्रेऽपि राज्ञस्तात्पर्यमेदभ्रम ऊह्यः ॥ ७ ॥ ८ ॥ प्रावृडो घो वर्षाप्रवाहः । रजोलेखां पांसुराजिमिव ॥ ९ ॥ वासना ममता परित्यक्ता तेन मम त्यागः स्थितः संपन्नः ॥ १० ॥ कुम्भाशयः पूर्ववत् ॥ ११ ॥ १२ ॥ त्यागाद्वनादि तव नो

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति राम वदन्नेव कुम्भवाक्यप्रबोधितः ।

निमेषध्यानमात्रेण वशी वीरः शिखिध्वजः ॥ १४

प्रममार्जाश्रमास्थां तां संविदा शुद्धया हृदि ।

स्फुरन्तीं स्फुरणेनैव रजोलेखामिवानिलः ॥ १५

शिखिध्वज उवाच ।

स वृक्षोदजवीरुत्काद्वासना स्वाश्रमादपि ।

परित्यक्ता मया नूनं सर्वत्यागः स्थितो मम ॥ १६

कुम्भ उवाच ।

वृक्षो वापी स्थलं गुल्ममुदजं व्रततीवृत्तिः ।

इति किञ्चिन्न ते सर्वं सर्वत्यागः कुतस्तव ॥ १७

तवास्त्यन्योऽपरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।

तं परित्यज्य निःशेषं परामायास्थशोकताम् ॥ १८

शिखिध्वज उवाच ।

एतच्चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं भाजनादि मे ।

चर्मकुण्डलकुटीरादि तत्तावत्संत्यजाम्यहम् ॥ १९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा स समुत्तस्थावविशुद्धमतिः शमी ।

विष्टरादवदातात्मा शृङ्गादिव शरद्धनः ॥ २०

कुम्भस्त्वालोकयन्नेव तत्क्रियाः ससितः स्वयम् ।

आसने लोककार्येषु स्वस्यन्दन इवांशुमान् ॥ २१

यत्करोति करोत्वेतदस्यैतत्पावनं परम् ।

इति तूष्णीं स्थितः कुम्भः शिखिध्वजमवैक्षत ॥ २२

सर्वमिलसु नाम तथापि तवाश्रमसङ्घातकथं सर्वत्यागः
सिद्ध इति मामाहेति मन्यमानः शिखिध्वज उवाच—एतच्चे-
दिति । अप्यर्थक एवकार ॥ १३ ॥ १४ ॥ आश्रमे आस्थां
भमतां प्रममार्जे ॥ १५ ॥ १६ ॥ कुम्भाशयो राजाशयश्च
आगवत् ॥ १७ ॥ १८ ॥ कुल्यानि मितयः । अल्पा कुटी
कुटीरः ॥ १९ ॥ विष्टरादासनात् । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति
धत्वम् । अवदातात्मा शुद्धचित्तः ॥ २० ॥ अंशुमान् सूर्यः
स्वस्य स्यन्दने रथे इवासने आलोकयन्नेव स्थित इति शेषः
॥ २१ ॥ २२ ॥ अन्धिभूः समुद्रोदरनिम्नभूमिरुज्जतभुवो वृष्टि-
नद्यादिवारि यथा एकत्रानयति तद्वत् ॥ २३ ॥ करैः किरणैः
संचारवान् संक्रान्तोऽर्को यथा सूर्यकान्तशिलोस्थानपावकं ज्वाल-
यति तद्वत् । अणौ ज्वलेरकर्मकलाणौ कर्तुः पावकस्य
कर्मेता । भाण्डोपस्करस्यापि तत्फलमस्तीभावाश्रयत्वात्कर्मेता
विवक्षिता । ज्वलेर्मित्वविकल्पादुपधाहस्वाभावः ॥ २४ ॥
निवेण वृक्षामिति शेषः । ध्वंसिका मन्वन्तरसधिप्रलयस्तत्र
यथा रविः संप्रदीपितेऽग्नौ जगद्भुत्वा मेरुशृङ्गे उपविशति तद्वत्
॥ २५ ॥ इदानीमक्षमाला त्यक्तुकामं कृतोपकारविस्मरण-
दोषं परिहरंतामाह—एतावन्तमिति द्वाभ्याम् । हे पतिप्रिये
स्वामिभक्ते, न जातः परल्लेखेन स्वार्थसाधनबुद्धेर्भेद उच्छेदो
यस्य तथाविधेन मया त्वं यत् एतावन्तं कालं वृत्ता परिवर्तन-

शिखिध्वजस्तु तत्सर्वं भाण्डोपस्करमाश्रमात् ।

एकत्रैवानयामास भुवो वार्यन्धिभूरिव ॥ २३

तत्संस्थाप्येन्धनैः शुष्कैर्ज्वालयामास पावकम् ।

करैः संचारवानर्कः सूर्यकान्तपदं यथा ॥ २४

भाण्डोपस्करजालं तदग्नौ त्यक्त्वा विवेश सः ।

ध्वंसिकायां जगद्भुत्वा मेरुशृङ्गे यथा रविः ॥ २५

एतावन्तं मया कालं वृत्ता यत्त्वं पतिप्रिये ।

अजातबुद्धिमेवेन तेनैव कृतमस्तु ते ॥ २६

आन्तौ तु विनिवर्तिन्यां नाधुनोपकरोषि माम् ।

मन्त्राटव्यां चिरं भ्रान्तं विद्वतं कार्यवर्त्मसु ॥ २७

दृष्टानि धर्मस्थानानि विश्राम्याम्यधुना सखि ।

इत्यक्षमालां ज्वलने चिक्षेपोक्त्वा शिखिध्वजः ॥ २८

कल्पान्तामाविव व्योम तारालीं पवनोऽमलाम् ।

मया नरमृगेण त्वं चिरं वनमृगाश्च्युतम् ॥ २९

अधोधेन घृतं वृक्षामिदमेव मृगाजिनम् ।

इदानीं गच्छ तुच्छाय पन्थानः सन्तु ते शिवाः ॥ ३०

वद्विना व्योमतां गच्छ सतारं व्योम ते समम् ।

तद्वृक्षजात्कराभ्यां स घृत्वा चर्मजहाविति ॥ ३१

रूपोऽग्रावम्बुधेर्वातो दववह्निवाचलात् ।

महावृत्तेन भवता त्वया वारि घृतं मम ॥ ३२

साधो कमण्डलो सम्यक् न ते प्रतिकृतं कृतम् ।

सौहृदस्य मनोज्ञस्य सौजन्यस्य स्थिरस्य च ॥ ३३

भ्रमं प्रापिता तेनैव ते तव मत्सेवनं कृतं पर्याप्तमस्तु ॥ २६ ॥
अधुना तु तपोजपादिकर्तव्यताभ्रान्तौ विनिवर्तिन्यामपग-
तायां सत्यां मां नोपकरोषि अतो न त्वां भ्रमेण योजयामीति
विश्राम्येत्यर्थः । अहमपि त्वया सह जपत्रयेण नानामन्त्राट-
वीधु भ्रान्तः संप्रति विश्रमिष्यामीत्याह—मन्त्राटव्यामिति ।
कार्यवर्त्मसु क्रियासाध्यबुद्धिसिद्धिर्मात्रेषु विद्वतं भ्रान्तम् ॥ २७ ॥
धर्मस्थानानि तपोवनसिद्धिक्षेत्रादीनि ॥ २८ ॥ यथा पवनः
कल्पान्तामौ व्योमस्तारालीं नक्षत्रमालां क्षिपति तद्वत् । अने-
नाक्षमाला स्फाटिकीति गम्यते । मृगाजिनं प्रत्याह—मयेति
॥ २९ ॥ वृक्षां कुशासने । इदमेव तवोपकृतमस्त्विति शेषः ।
तुच्छाय मूलकारणमायास्वभावाय । पन्थानः अवान्तरकारण-
प्रविलयलक्षणा मार्गाः ॥ ३० ॥ सतारं व्योम ते सममि-
त्युक्त्या पृषतस्य तच्चर्मं शुक्लविन्दुचित्रमिति गम्यते । तस्य
हि सतारव्योमताम्रागिरजुरुपैवेति ॥ ३१ ॥ रूप इत्युक्त्वा वृक्ष-
जात्कर्माकृत्य कराभ्यामग्नौ जहाविति पूर्वश्रान्तयः । यथा
प्रलयवातः अवनलनम्बुधेरकृष्य दववह्नी त्यजति तद्वत् ।
इदानीं कमण्डलं त्यक्तुकामः कृतज्ञताख्यापनाय प्रशंसति—
महावृत्तेनेत्यादिना । सुष्ठु वृत्तेन वस्तुलेन सुचरित्रेण च भवता
सता । शतप्रत्ययान्तोऽयं भवच्छब्दः ॥ ३२ ॥ प्रतिकृतं प्रत्यु-
पकरणं न कृतम् । सौहृदादिपदान्यपि यथासंभवं श्लेषेण

साधुत्वस्य च सर्वस्य त्वमेव परमास्पदम् ।
 येनैव वह्निना देहं संशोभ्याभ्यागतोऽसि माम् ॥ ३४
 तेनैव गच्छ हे मित्र पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
 इत्युक्त्वा श्रोत्रियायैव कमण्डलुमदात्तदा ॥ ३५
 अग्नये महते वापि दातव्यं साधु यद्भवेत् ।
 मूर्खस्येव मतिर्गुप्ते नित्यमेव पतस्यधः ॥ ३६
 उचिता ते गतिः सैव वृषिके भस्मतां व्रज ।
 इत्युक्त्वादाय वृषिकामग्नावेव स मृद्विकाम् ॥ ३७
 शुद्ध्यर्थमासनार्थं वै चिति तत्याज भासुरे ।
 यस्याज्यमचिरेणैव त्यक्तव्यं किल तत्सदा ॥ ३८
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० सर्वत्यागकरणं नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥९२॥

विस्तरः क्रियते सद्भिदपादेये इति स्थितिः ।
 शीघ्रमग्नाविदं सर्वं भाण्डजातं त्यजाम्यहम् ॥ ३९
 एकवारं दहत्यग्निर्दाहं भवति तुष्टये ।
 साधो क्रियोपकरणं निष्क्रियाय त्यजाम्यहम् ।
 न खेदस्तत्र कर्तव्यो नन्वयोग्यं विभर्ति कः ॥ ४०
 इत्युक्त्वान्शटिति भोजनभाजनाद्यं
 सर्वं जुहाव वनवासविलासयोग्यम् ।
 तद्भाण्डजालमनले सममेव राजा
 कल्पान्ततेजसि जगज्ज्वलतीव कालः ॥ ४१

त्रिनवतितमः सर्गः ९३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अथोत्थाय ददाहासौ शुष्कं तत्तृणमन्दिरम् ।
 अग्नेन स्वेन मनसा वृथा संकल्पकल्पितम् ॥ १
 शिष्टं यत्किञ्चिदभवत्तत्सर्वं स शिखिध्वजः ।
 असंरब्धमना मौनी क्रमेण समया धिया ॥ २
 ददाह च स चिक्षेप तत्याज च वभञ्ज वा ।
 भाण्डजातं स्ववसनं भोजनाद्यपि तुष्टवत् ॥ ३
 स बभूवाश्रमस्तस्य दृष्टनष्टजनस्थितिः ।
 वीरभद्रबलध्वस्तदक्षयज्ञाश्रमोपमः ॥ ४

योज्यानि ॥३३॥ येनैवेति । अनेन स कमण्डलुः पूर्वं कस्मा-
 च्छिच्छ्रोत्रियाच्छुद्ध्यर्थं वह्निदाहेन संशोध्य स्वयं गृहीतः स्थितः
 स पुनर्दाहेन संशोभ्यान्यस्मै श्रोत्रियाय दत्त इति गम्यते
 ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ यदुपकरणं साधु प्रतिपत्त्यहं भवेत्तदग्नये
 महते वापि दातव्यं दानेन प्रतिपाद्यमिति नियमादित्यर्थः ।
 वृषीं धर्ष्यस्वस्यां तदुचितं दोषमाह—मूर्खस्येवेति । यथा
 मूर्खस्य मतिरधोगतिहेतौ गुप्ते प्रच्छन्ने पापे पतति तथा
 त्वमपि सदा स्वप्रच्छन्ने अधोदेशे पतसि ॥ ३६ ॥ अतो हे
 वृषिके, मूर्खमतेरिव ते सैव दाहसंतापगतिरुचिता अतो
 भस्मतां व्रजेत्यर्थः । इत्युक्त्वा मृद्विकां मृदुतमां वृषीं भासुरे
 अग्नावेव तत्याजेति परेणान्वयः ॥ ३७ ॥ किमर्थं सर्वं तत्याज
 तदाह—शुद्ध्यर्थमिति । चित्तशुद्ध्यर्थं चिति ब्रह्मचैतन्ये ।
 आसनार्थम् । विश्रान्त्यर्थं चेत्यर्थः । कुम्भं प्रत्याह—यदित्यादि ।
 हे साधो, यत्त्याज्यं भाण्डजातं तदचिरेण शीघ्रमेव त्यक्तव्यं न
 विलम्बितव्यमित्यर्थः ॥ ३८ ॥ तत्कुतस्तत्राह—विस्तर इति ।
 यतः सद्भिर्विद्यमानैस्तर्भाण्डैरुपादेये संग्रहयोग्ये उपकरणान्त-
 रेपि विस्तरः क्रियते इति लोके वस्तुस्थितिः प्रसिद्धा । अतोऽ-
 हमिदं सर्वं भाण्डजातं शीघ्रमेवाग्नौ त्यजामि ॥ ३९ ॥ यतः
 सर्वं दाहं भाण्डमेकवारं युगपदेव दहति चेन्मम तुष्टये सर्व-
 त्यागसंतोषाय भवतीत्यर्थः । ननु हे कुम्भ, तत्र मत्कृतसर्वत्याग-
 यो० बा० १२५

आश्रमात्ते मृगगणास्त्यक्तरोमन्धमुद्ययुः ।
 साग्निदाहात्पुरवराङ्गीतभीतजना इव ॥ ५
 भाण्डजातं दहत्यग्नौ सहशुष्केन्धनेन तत् ।
 केवलाकृतिरज्ञेहस्तुष्टिमानाह भूपतिः ॥ ६
 शिखिध्वज उवाच ।
 वासनां तत्र संत्यज्य सर्वत्यागी स्थितो ह्यहम् ।
 अहो नु चिरकालेन देवपुत्र प्रबोधितः ॥ ७
 संपन्नः केवलः शुद्धः सुखेनोद्धोधवानहम् ।
 किं नाम किल वस्त्वेतद्भवेत्सांकल्पिकक्रमम् ॥ ८

विषये त्वया खेदो न कर्तव्यः । यतो लोकेपि अयोग्यं को
 विभर्ति धारयति । तथा चाक्रियस्य मम क्रियोपकरणमयोग्यमे-
 वेति न धारणयोग्यमिति भावः ॥ ४० ॥ राजा शिखिध्वज
 इति उक्त्वान्सर्वं भोजनभाजनमाद्यं प्रधानं यस्य तथाविधं
 तत्सर्वं वनवासविलासयोग्यं भाण्डजालं समं युगपदेव अनले
 श्ठटिति जुहाव । यथा कालो ज्वलति कल्पान्ततेजसि जगद्युग-
 पदेव जुहोति तद्वदित्यर्थः ॥ ४१ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे सर्वत्यागकरणं
 नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

दग्धोपकरणं देहं त्यक्तुकामः शिखिध्वजः ।

विनिवार्यात्र कुम्भेन चित्तत्यागाय बोध्यते ॥ १ ॥

स्वेन मनसा वृथा ममतासंकल्पेन कल्पितं समर्थितं तत्
 कुटीरुपं तृणमन्दिरम् ॥ १ ॥ पिठरशरावकुशकाष्ठसंचयादि-
 यत्किञ्चिदभवत्तत्सर्वं ददाहेत्यादिपरेणान्वयः ॥ २ ॥ स्वस्य वसनं
 वल्कलम् । भुज्यते यस्मिन्स्तद्भोजनं पत्रपुटकाद्यपि ॥ ३ ॥ पूर्वं
 दृष्टा पश्चान्नष्टा अदर्शनं प्राप्ता जनस्थितिर्यत्र । 'पूर्वकाल' इति
 समासः ॥ ४ ॥ तदेवोपपादयति—आश्रमादिति ॥ ५ ॥ केवलाकृ-
 तिर्देहमात्रावशिष्टः ॥ ६ ॥ वासनां ममताम् । तत्र सर्वोपकरणे ।
 प्रबोधितस्त्वयेति शेषः ॥ ७ ॥ सांकल्पिको ममतासंकल्प-
 प्रयुक्तः संग्रहक्रमो यस्य तथाविधमेतदुपकरणजातं किं नाम, न

यावद्यावत्प्रहीयन्ते विविधा बन्धहेतवः ।
तावत्तावत्समायाति परमां निर्वृतिं मनः ॥ ९
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखितोऽसि जयाम्यहम् ।
निबन्धाः प्रक्षयं याताः सर्वत्यागो मया कृतः ॥ १०
दिगम्बरो दिक्सदनो दिक्समोऽयमहं स्थितः ।
देवपुत्र महात्यागात्मिकमन्यदवशिष्यते ॥ ११

कुम्भ उवाच ।

सर्वमेव न संत्यक्तं त्वया राजन् शिखिध्वज ।
सर्वत्यागपरानन्दे मा मुधाभिनयं कुरु ॥ १२
तवास्त्येवापरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
यं परित्यज्य निःशेषं परमायासशोकताम् ॥ १३

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इति श्रुतवता तेन किञ्चित्संक्षिप्तं भूभृता ।
इदमुक्तं महाबाहो राम राजीवलोचन ॥ १४

शिखिध्वज उवाच ।

इन्द्रियव्यालसंघातो रक्तमांसमयाकृतिः ।
शिष्यसे सर्वसंत्यागे देहो मे देवतात्मज ॥ १५
तदुत्थाय पुनर्देहं भृगुपातादविप्रतः ।
विनाशात्मकतां नीत्वा सर्वत्यागी भवाम्यहम् ॥ १६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा देहमग्रस्थे श्वश्रे त्यक्तुमसौ जवात् ।
करोति यावदुत्थानं तावत्कुम्भोऽप्युवाच ह ॥ १७

कुम्भ उवाच ।

राजन्किमिति देहं त्वं निरागस्कं महावटे ।
त्यजस्यङ्गो हि वृषभः कुपितो हन्ति तर्णकम् ॥ १८
जडो घराको मूकात्मा तपस्वी देहको ह्ययम् ।
न कश्चन तवैतस्मिन्मा सुधैव तनुं त्यज ॥ १९
आत्मन्येवैष मूकात्मा ध्यानवानवतिष्ठते ।

किञ्चित्सारभूतमुपादानार्हमित्यर्थः ॥ ८ ॥ तस्यागसुखमभिन-
यन्नाह—यावद्यावदिति ॥ ९ ॥ विविधा बन्धा बन्धहेतवो
विषयाः ॥ १० ॥ ११ ॥ बाह्योपकरणलागमात्रेण भ्रान्त्या
बालस्येव तस्य सर्वत्यागसुखाभिनयमसहमानः कुम्भ उवाच—
सर्वमेवेति । अभिनयं व्यञ्जकचेष्टाविशेषम् ॥ १२ ॥ तवेत्यादि
प्राग्वत् ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ श्वश्रे भृगौ ॥ १७ ॥
निरागस्कं निरपराधम् । महावटे भृगौ । तर्णकं खवत्सम्
॥ १८ ॥ निरागस्कतामेव दर्शयति—जड इति । तव अप-
राध इति शेषः ॥ १९ ॥ २० ॥ यस्यापराधस्तमन्यं दर्श-
यति—क्षोभयतीति । स एव निग्रहाहो दण्ड्यः ॥ २१ ॥
ननु सुखदुःखोद्भवस्थानत्वात्कृतः शरीरं नापराधि तत्राह—
सुखेति । भूत्या उत्पत्तिस्थानतामात्रेण । तत्र दृष्टान्तमहि—
नेति । यथा फलवास्तस्माद्युक्ते आत्मरूपन्दे फलादिपाते सति न

१ इत्स्मिन् इति पाठः-

संचाल्यते परेणैव तरङ्गेणैव काष्ठकम् ॥ २०

क्षोभयत्यन्य एवैनं निग्रहाहो मुहुर्बलात् ।

तपस्विनं यथैकान्तं संस्थितं मत्ततस्करः ॥ २१

सुखदुःखादिभूत्या हि नापराधि शरीरकम् ।

नात्मनः फलवानात्मरूपन्दे वृक्षोऽपराधवान् ॥ २२

चातः फलशिरःपुष्पपातनं कुर्वते स्फुरन् ।

तरुणा साधुना धीरापराद्धं किमात्मनः ॥ २३

त्यक्तेनापि शरीरेण क्लिष्ट तामरसेक्षण ।

सर्वत्यागो न ते याति निष्पत्तिं विषमो हि सः ॥ २४

भृगौ केवलमेतत्त्वं निरागस्कं शरीरकम् ।

मुधा क्षिपसि नो देहत्यागे तस्यागिता भवेत् ॥ २५

येनायं क्षोभ्यते देहो मत्तेमेनेव पादपः ।

तत्संत्यजसि चेत्पापं तन्महात्यागवान्भवान् ॥ २६

तस्मिंस्त्यक्ते भवेत्त्यक्तं सर्वं देहादि भूपते ।

नो चेन्निमग्नमप्येतद्भूयोभूयः प्ररोहति ॥ २७

शिखिध्वज उवाच ।

केनायं चाल्यते देहः किं बीजं जन्मकर्मणाम् ।

कस्मिंस्त्यक्ते परित्यक्तं सर्वं भवति सुन्दर ॥ २८

कुम्भ उवाच ।

साधो न देहत्यागेन न राज्यत्यजनेन च ।

न चोटजादिशोषेण सर्वत्यागो भवेन्नृप ॥ २९

यत्सर्वं सर्वतो यच्च तस्मिन्सर्वैककारणे ।

सर्वस्मिन्संपरित्यक्ते सर्वत्यागः कृतो भवेत् ॥ ३०

शिखिध्वज उवाच ।

सर्वं सर्वगतं सर्वदेयं त्याज्यं च सर्वदा ।

सर्वं किमुच्यते ब्रूहि सर्वतत्त्वविदां वर ॥ ३१

कुम्भ उवाच ।

साधो सर्वगताकारं जीवप्राणादिनामकम् ।

तदभिमान्यात्मा अपराधवान् भवति ॥ ३२ ॥ यतः स्फुरन्वात

एव फलानां शिरःपल्लवानां पुष्पाणां च बलात्पातनं कुर्वते इति

स एवापराधी । तरुणा साधुना किमपराद्धं तद्वहेहेनापि साधु-

नात्मनः किमपराद्धमित्यर्थः ॥ २३ ॥ हि यस्मात्सर्वं सर्वत्यागः

पुनरधिकारिदेहदौर्लभ्येन ज्ञानदौर्लभ्याद्विषमो दुःसाध्य एव

संपद्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥ तस्य देहक्षोभकस्याहंकारस्य

त्यागिता नो भवेन्न सिद्ध्येदित्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥ एतदेहादि

निमग्नं जलमज्जनादिना नाशितंमपि तस्मादेहबालकादेव जन्म-

कर्मबीजभूतात् प्ररोहति ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ सर्ववासनास्य-

दत्वात्सर्वम् । सर्वविषयेषु प्रसृतत्वात्सर्वतः । संकल्पेन सर्व-

जनकत्वात्सर्वैककारणे ॥ ३० ॥ सर्वत्र हेयं सर्वदा च त्याज्यं

त्यक्तुं योग्यं यत्सर्वं त्वयोच्यते तत्किमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

चित्प्राधान्येन जीवनामकं क्रियाप्राधान्येन प्राणादिनामकं

१ भवेत्त्यक्तं सर्वं देहादि सुन्दर इति पाठः-

न जडं नाजडं भ्रान्तं चित्तं सर्वमिति स्मृतम् ॥३२॥
 चित्तमेव भ्रमं विद्धि विद्धि चेतो नरं नृप ।
 चित्तं विद्धि जगज्जालं चित्तं सर्वमिति स्मृतम् ॥३३॥
 राज्यादेरथ देहादेराश्रमादेर्महीपते ।
 सर्वस्यैव मनो बीजं तरुबीजं तरोरिव ॥ ३४॥
 सर्वस्य बीजे संत्यक्ते सर्वं त्यक्तं भवत्यलम् ।
 संभवासंभवाद्भूष सर्वत्यागो भवेदिति ॥ ३५॥
 सर्वधर्माद्यधर्मा वा राज्यादि विपिनादि वा ।
 सचित्तस्य परं दुःखं निश्चित्तस्य परं सुखम् ॥ ३६॥
 इदं विवर्तते सर्वं चित्तमेव जगत्तया ।
 देहाद्याकारजालेन बीजं वृक्षतया यथा ॥ ३७॥
 पादपः पवनेनेव भूकम्पेनेव पर्वतः ।
 भस्त्रा भस्त्राभरेणायं देहश्चित्तेन चाल्यते ॥ ३८॥
 सर्वभूतोपभोगानां जरामरणजन्मनाम् ।
 महामुनीनां सुदृढं चित्तं विद्धि समुद्रकम् ॥ ३९॥
 इदं प्रवर्तते सर्वं चित्तमेव जगत्तया ।
 देहाद्याकारजालेन चित्तं जीवो मनोमयम् ॥ ४०॥
 बुद्धिर्महदहंकारः प्राणश्चेत्यादिभिर्मुने ।
 क्रियानुरूपैरभिधाव्यापारैः शान्तमुच्यते ॥ ४१॥
 चित्तं सर्वमिति प्राहुस्तस्मिंस्त्यक्ते महीपते ।
 सर्वाधिव्याधिसीमान्तः सर्वत्यागः कृतो भवेत् ॥४२॥
 चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागं त्यागविदां वर ।
 तस्मिन्सिद्धे महाबाहो सत्यं किं नानुभूयते ॥ ४३॥
 चित्ते त्यक्ते लयं याति द्वैतमैक्यं च सर्वतः ।

चित्तं लिङ्गम् ॥ ३२ ॥ नरं व्यवहर्तृपुरुषम् ॥ ३३ ॥ ३४ ॥
 तत्त्यागे सर्वत्यागसंभवात्तद्व्यागे सर्वत्यागसंभवात् ॥ ३५ ॥
 सर्वे धर्मादयः अधर्मा वा राज्यादितत्फलभोगस्थानानि वा सचि-
 त्तस्य परं दुःखमेव ॥ ३६ ॥ विवर्तते परिणमते ॥ ३७ ॥ भस्त्रा-
 ध्मानहतिः । भस्त्राभरेण कर्मारेण ॥ ३८ ॥ सर्वभूतप्रसिद्धानामु-
 पभोगानां जरामरणादीनां देहधर्माणाम् । महामुनिपदेन तद्धर्माः
 शमदमादयो लक्ष्यन्ते । तेषां च तत्र तत्र निरुद्धवासनं चित्तमे-
 वाश्रय इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ अशान्तं चित्तमेव मननान्मनोमय-
 मन्तः प्राणचेष्टया जीवश्च भूला बहिः स्थूलदेहतत्त्ववहाराद्याकार-
 जालेन भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥ तदेवान्तः शान्तं महदहंकारः प्राणः
 प्राज्ञात्मा चेत्यादिभिः क्रियानुरूपैरभिधाव्यापारैरुच्यत इत्यर्थः
 ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ सत्यं परमार्थभूतभूमानन्दरूपं किं नानुभूयते । अनु-
 भूयत एवेत्यर्थः ॥ ४३ ॥ द्वैतं कार्यविभागाविर्भावपरम्परा । ऐक्यं
 कारणे तिरोभावकमश्च लयं बाधं याति ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ अर्थभावेन
 पदार्थाकारेण ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ स चायं सर्वत्यागो न परिच्छिन्नात्म-
 ग्रहणे सिद्ध्यतीत्याशयेनाह—सर्वेति । हे त्यागिन् नृप, परिच्छि-
 न्तस्य तव यथा अन्यः सर्वत्यागस्य विषयोऽस्ति तथा त्वमप्य-
 न्यस्य त्वत्त्यागिनस्त्यागविषयो भवसि । तथा च त्याज्यमेवात्म-
 तया गृह्यसीति न खे सर्वत्यागः सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ अपरि-

शिष्यते परमं शान्तमच्छमेकमनामयम् ॥ ४४
 अस्याश्चित्तं विदुः क्षेत्रं संसृतेः सस्यसंततेः ।
 क्षेत्रे त्वक्षेत्रतां याते शालेः क इव संभवः ॥ ४५
 चित्तमेव विचित्रेहं भावाभावविलासिना ।
 विवर्ततेऽर्थभावेन जलमूर्मितया यथा ॥ ४६
 चित्तोत्सादनरूपेण सर्वत्यागेन भूपते ।
 सर्वमासाद्यते सम्यक् साम्राज्येनेव सर्वदा ॥ ४७
 सर्वत्यागस्य विषयो यथैवान्योऽस्ति ते तथा ।
 त्वमप्यन्यस्य भवसि त्यागिन्गृह्यासि वै नृप ॥ ४८
 सूत्रं मुक्ताफलेनेव जगज्जालं त्रिकालकम् ।
 सर्वमन्तः कृतं तेन येन सर्वं समुज्झितम् ॥ ४९
 येन सर्वं परित्यक्तं तस्मिन्लून्येऽपि संस्थितम् ।
 जगत्सर्वं त्रिकालस्थं तन्तौ मुक्तावली यथा ॥ ५०
 अस्नेहेनेव दीपेन येन सर्वं समुज्झितम् ।
 सस्नेहेनेव दीपेन तेन सर्वं प्रकाशितम् ॥ ५१
 स्थितं सर्वं परित्यज्य यः शेतेऽस्नेहदीपवत् ।
 स राजते प्रकाशात्मा समः सस्नेहदीपवत् ॥ ५२
 समस्तवस्तुनिष्कासे यथा त्वमवशिष्यसे ।
 सर्वत्यागे कृते तादृग्विज्ञानमवशिष्यते ॥ ५३
 समस्तवस्तुदाहेऽपि यथा त्वं नेतरो नृप ।
 सर्वत्यागत एवाहं तथा निर्वाणमुच्यते ॥ ५४
 सर्वत्यागो हि शून्यात्मा आश्रयः सर्वसंविदाम् ।
 अनन्तानामुदाराणां खमिवेदं दिवौकसाम् ॥ ५५
 सर्वत्यागरसापाने जरामरणभीतयः ।

च्छिन्नात्मग्रहणे तु त्वमेव सर्वस्यात्मेति त्वान्येन त्यागायोगा-
 त्याज्यकोट्यनिविष्टेन त्वया सर्वत्यागे सर्वं स्थायतीकृत्य लब्ध-
 मित्याह—सूत्रमिति ॥ ४९ ॥ ननु सर्वं त्यजता सर्वशून्यतैवा-
 वलम्बिता तत्कार्यं सर्वं स्थायत्वं लब्धं स्यात्तत्राह—येनेति ।
 यद्यपि सर्वं त्यक्त्वा स सर्वशून्यताभापन्नस्तथापि तेन त्यक्तं
 जगदाश्रयान्तरालाभात्तमेवाश्रित्य यावद्यवहारं सत्तात्पूर्ती लभत
 इति स एव व्यवहर्तृदशा त्रिकालस्थसर्वलब्धेत्युच्यत इति भावः
 ॥ ५० ॥ अत एव सर्वत्यागे सर्वबाधादव्यवहार्यदशा आत्यन्ति-
 कस्नेहक्षयान्निर्वाणदीपदृष्टान्तं सर्वगतस्वरूपज्योतिषैव सर्वव्यव-
 हारप्रकाशनाद्यवहारदशा सस्नेहदीपदृष्टान्तं चाह—अस्नेहे-
 नेति ॥ ५१ ॥ तदेव स्फुटयति—स्थितमिति ॥ ५२ ॥ सर्व-
 त्यागे शून्यतापत्तिं वारयति—समस्तेति । समस्तानां वस्तूनां
 राज्यारण्योपकरणानां निष्कासे त्यागे ॥ ५३ ॥ परिशिष्ट-
 चितः स्वातिरिक्त्वात्स्वस्य ततः कः पुरुषार्थस्तत्राह—सम-
 स्तेति । तथा निर्वाणं परमपुरुषार्थोऽपि त्वत्तो नेतरदित्यर्थः ॥ ५४ ॥
 तस्य त्यक्तसर्वप्रपञ्चशून्यत्वेऽपि सर्वसंविदां तदन्तर्भावोऽस्त्येवेति
 न जाड्यप्रसक्तिरित्याह—सर्वत्यागो हीति । दिवौकसां सूर्यच-
 न्द्रनक्षत्रादीनाम् ॥ ५५ ॥ सर्वत्यागरसस्य आपाने ईषदप्यास्वा-
 दने कृते यथा असज्जोदासीनस्य खस्य व्योमदेविकाश्छिद्रकारिका-

न काश्चन प्रवाधन्ते खस्येव व्योमलेखिकाः ॥ ५६
 सर्वत्यागो महत्त्वस्य कारणं निर्मलश्रुतेः ।
 सर्वं त्यजसि चेद्यस्माद्बुद्धिस्थैर्यं बृहत्तमम् ॥ ५७
 सर्वत्यागः परानन्दो दुःखमन्यत्सुदारुणम् ।
 इत्योमित्युररीकृत्य यदिच्छसि तदाचर ॥ ५८
 सर्वं त्यजति यस्तस्य सर्वमेवोपतिष्ठते ।
 यथैवान्धु विशत्यग्नौ तथैवायाति वारिधौ ॥ ५९
 सर्वत्यागान्तरेवास्ति ज्ञानमात्मप्रसादकम् ।
 यच्छून्यं किल भाण्डस्य तत्र रक्षादि तिष्ठति ॥ ६०
 सर्वत्यागवशादेव हतकाले कलावपि ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामा० वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० सू० शिखिध्वजावबोधनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३

चतुर्नवतितमः सर्गः ९४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवं वदति वै कुम्भे चित्तत्यागं मुहुर्मुहुः ।
 अन्तर्विचारयन्सौम्यो राजा वचनमब्रवीत् ॥ १
 शिखिध्वज उवाच ।
 हृदयाकाशविहगो हृदयद्रुममर्कटः ।
 भूयोभूयो निरस्तं हि समभ्येत्येव मे मनः ॥ २
 जानामि चैतदादातुं मत्स्यं जाल इवाकुलम् ।
 त्यागमस्य न जानामि चित्तं द्रव्य इवोत्तम ॥ ३
 चित्तस्यादौ स्वरूपं मे यथावद्भगवन्वद ।
 ततश्चित्तपरित्यागं यथावद्वद मे प्रभो ॥ ४

ष्टंकिष्ठाः काश्चिदपि न प्रवाधन्ते तद्वत् ॥ ५६ ॥ निर्मला श्रुतिः स्वरूपस्फूर्तिर्यस्यात्तथाविषयस्य महत्त्वस्य । तत्कृतस्तत्राह—सर्वमिति ॥ ५७ ॥ इति विवृण्वेति शेषः । अमित्यस्य विवरणं—उररीकृत्येति ॥ ५८ ॥ सर्वत्यागो वैभवहानिं वारयति—सर्वमिति । सर्वं विभवजातं प्रारब्धोपनीतमुपतिष्ठते । वारिधौ अन्धु यथा यथा नद्वामौ विशति तथा तथा नदीभ्य आयात्येव तददित्यर्थः ॥ ५९ ॥ सर्वस्याज्ञानतत्कार्यस्य यस्यागस्तदन्तरे—आत्मप्रसादकं ज्ञानमवश्यमस्ति । भाण्डस्य मध्ये यद्रक्षादि-शून्यं स्थलं तत्रैव रक्षादि तिष्ठतीति किल प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ६० ॥ कलौ पापिष्ठतमेऽपि काले वेदवाह्यादतिनीचेनापि शाक्येन सर्वत्यागवशान्मेरुवत्स्थितं यदा तदा पुण्ये द्वापरकाले वेदमार्ग-बलम्बिना पुण्यतमेन त्वया विगताशङ्कं व्योमवत्स्थेयमिति किं वाच्यमिति द्योतनाय हवेति ॥ ६१ ॥ सर्वासां संपदा समा-श्रयो निवासस्थानम् ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ हे महास्वभाव भूमि-पाल, त्वं प्रथमं त्याज्यं सर्वं मनसा परित्यज्य अथो अनन्तरं येन त्यजसि तन्मनश्च विहाय तदनन्तरं त्यागाग्निमानलक्षण-महंकारमलं च विमुच्य जीवन्मुक्तरूपो भवेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

कुम्भ उवाच ।

वासनैव महाराज स्वरूपं विद्धि चेतसः ।
 चित्तशब्दस्तु पर्यायो वासनाया उदाहृतः ॥
 त्यागस्तस्यातिसुकरः सुसाध्यः स्पन्दनादपि ।
 राज्यादप्यधिकानन्दः कुसुमादपि सुन्दरः ॥
 मूर्खस्य तु मनस्त्यागो नूनं दुःसाध्यतां गतः ।
 पामरस्येव साम्राज्यं तृणस्येव सुमेरुता ॥
 शिखिध्वज उवाच ।
 स्वरूपं वैशि चित्तस्य वासनामयमाकुलम् ।
 त्यागः स मन्ये दुःसाध्यो वज्रनिर्गिलनादपि ॥

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वा शिखिध्वजावबोधनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

इह चित्तं परित्यक्तुं तन्मूलपरिशोधने ।

देहादिवेद्यबाधेन पूर्णचिच्छेष ईर्यते ॥ १ ॥

चित्तत्यागं चित्तत्यागोपायम् ॥ १ ॥ निरस्तं न ममेत्यकमपि । अप्यर्थो हिशब्दः ॥ २ ॥ एतच्चित्तमादातुं ममतस्तीकर्तुं जानामि द्रव्य इवासिन्मूर्तत्वाभावादस्य त्यागं न जानामि । हे उत्तम ॥ ३ ॥ स्वरूपं त्यागाहं पिण्डीव सामान्यरूपम् ॥ ४ ॥ कुम्भस्तदेवाह—वासनैवेति । रागवसनेत्यर्थः । उदाहृतो लोके । तथा च लौकिका आहुरपूपेषु मवासनास्ति मण्डकेष्वस्य चित्तमिति ॥ ५ ॥ सुकर इति औदासीन्यमात्रेण तत्सिद्धिरिति भावः । राज्यादपीति । तच्चाहुः 'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् । तृष्णाद्यसुखस्यैवे नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥' इति । सुन्दरो ह्ययः ॥ ६ ॥ कुतस्तर्हि स सर्वैर्न क्रियते तत्राह—मूर्खस्येति ॥ ७ ॥ वै तद्वचसेत्यर्थः । वज्रस्य निर्गिलनाग्निगिरणादपि दुःसाध्य-सति मौर्ख्ये औदासीन्यस्यैव दुष्करत्वादिति भावः ॥ ८ ॥

संसृत्यामोदपुष्पस्य दुःखदाहानलस्य च ।
 जगदन्नमृणालस्य मोहमारुतखस्य च ॥ ९
 शरीरयन्त्रवाहस्य हृत्पद्मभ्रमरस्य च ।
 अयन्नाचेतसस्त्यागो यथा भवति तद्वद ॥ १०
 कुम्भ उवाच ।
 सर्वनाशोऽस्य यः साधो चेतसः संसृतिक्षयः ।
 स एव चित्तसंत्याग इत्युक्तं दीर्घदर्शिभिः ॥ ११
 शिखिध्वज उवाच ।
 चित्तत्यागादहं मन्ये चित्तनाशः सुसिद्धये ।
 अभावः शतशो व्याधेः कथमस्यानुभूयते ॥ १२
 कुम्भ उवाच ।
 अहंबीजश्चित्तद्रुमः सशाखाफलपल्लवः ।
 उन्मूलय समूलं तमाकाशहृदयो भव ॥ १३
 शिखिध्वज उवाच ।
 चेतसः किं मुने मूलं कोऽङ्कुरः कोऽस्य संभवः ।
 काः शाखाः के च वा स्कन्धाः कथमुन्मूल्यते च सः ॥
 कुम्भ उवाच ।
 अहमर्थोदयो योऽयं स चित्तावेदनात्मकः ।
 एतच्चित्तद्रुमस्यास्य विद्धि बीजं महामते ॥ १४
 परमात्मपदं क्षेत्रं क्षेत्रं मायामयस्य तत् ।
 एतस्मात्प्रथमोद्भिजादङ्कुरोऽनुभवकृतिः ॥ १५

जगद्वक्षणं यदञ्जं तन्मृणालस्य । 'जाले'ति पाठेऽपि जले भवं जालमिति व्युत्पत्त्या अञ्जमेवार्थः । सर्वपर्यायैः कारणमेवोपलक्ष्यते ॥ ९ ॥ शरीरयन्त्रं वहति प्रवर्तयतीति कर्मण्यण् । यथा येनोपायेन भवति ॥ १० ॥ सर्वस्य वक्ष्यमाणमूलाङ्कुर-शाखापल्लवादेर्नाशः स एव संसृतेरपि क्षयः स एव चित्तस्य संत्यागो न तु बाह्यार्थत्यागवन्ममतानिवर्तनमित्यर्थः । दीर्घदर्शि-सिरपरिच्छिन्नात्मदर्शिभिः ॥ ११ ॥ उक्तमर्थं विमृश्यानुवादे-नानुभोदमानः शिखिध्वजस्तत्रोपपत्तिमाह—चित्तेति । चित्तं हि व्याधिः । न हि व्याधेः शतशोपि ममतावर्जनलक्षणेन त्यागे-नाभावोऽनुभूयते किंतु चिकित्सयोच्छेदेनैव । अतस्तदुच्छेदाय तन्मूलशाखापल्लवादि वदेत्यर्थः ॥ १२ ॥ अहमज्ञातात्मा बीजं यस्य । सशाखाफलपल्लवस्य द्रुमस्योन्मूलने तत्स्थानाकाशमिव निरावरणविक्षेपं हृदयं यस्य तथाविधो भव ॥ १३ ॥ संभव-त्यस्मिन्निति संभवः क्षेत्रम् ॥ १४ ॥ अहमर्थोदजातात्मनः उदयो यस्य तथाविधो योऽयं स चित्तावेदनात्मकोऽभिमानी प्रसिद्धः । एतदेवेति बीजलिङ्गेन निर्देशः । बीजं मूलम् ॥ १५ ॥ कोऽस्य संभव इति प्रश्नस्योत्तरमाह—परमात्मपदमिति । परमात्मनः पदं नीडं माया सैव क्षेत्रम् । यतस्तत्सर्वस्यैव मायामयप्रपञ्चस्य क्षेत्रमतश्चेतसोऽपि तदेव क्षेत्रमित्यर्थः । कोऽङ्कुर इत्यस्योत्तरमाह—एतस्मादिति । एतस्मात्प्रथमोत्पन्नान्मूल-त्परिच्छिन्नोऽहमिति निश्चयात्मा चिदाभासव्याप्तत्वादनुभवात्म-कोऽङ्कुरो जायत इत्यर्थः ॥ १६ ॥ तस्यैवोपचयेन चित्तद्रुमात्मना

निश्चयात्मा निराकारो बुद्धिरित्येव सोच्यते ।
 अस्य बुद्ध्यभिधानस्य याङ्कुरस्य प्रपीनता ॥ १७
 संकल्परूपिणी तस्याश्चित्तनाममनोभिधा ।
 जीवो मिथ्योपलम्भात्मा शून्यात्मा ह्युपलोपमः ॥ १८
 स्तम्भः कायोऽयमेतस्य स्थाय्यस्थिरसरञ्जितः ।
 देशान्तरेऽङ्कुरोद्देशे कालस्पन्दोऽस्य वासना ॥ १९
 शाखायाश्चित्तवृक्षस्य दीर्घा दूरगतास्तताः ।
 इन्द्रियाण्यल्पभोगाश्च भावाभावात्मयोनयः ॥ २०
 विटपौघा महान्तोऽस्य शुभाशुभफलाकुलाः ।
 ईदृशस्यास्य चित्तस्य दुर्वृक्षस्य प्रतिक्षणम् ॥ २१
 शाखालविवनं कुर्वन्मूलकापे भरं कुरु ।
 शिखिध्वज उवाच ।
 चित्तद्रुमस्य शाखादेः कुर्वाणोऽहं विकर्तनम् ॥ २२
 कथं करोमि मूलस्य निःशेषकषणं मुने ।
 कुम्भ उवाच ।
 वासनाविविधाः शाखाः फलस्पन्दादिनान्विताः २३
 अभाविता भवन्त्यन्तर्लूनाः संविद्वलेन ते ।
 असंसक्तमना मौनी शान्तवादविचारणः ॥ २४
 संप्राप्तकारी यः सोऽन्तर्लूनश्चित्तलतो भवेत् ।
 चित्तद्रुमलताजालं पौरुषेण विकर्तयन् ॥ २५
 यस्तिष्ठति स मूलस्य योग्यो निकषणे भवेत् ।

परिणतिरित्याह—अस्येति । देहाद्याकृतिस्मरणाच्चित्तनाम तन्म-ननाच्च मन इत्यभिधा यस्यास्तथाविधा पीनता जायत इति परेणान्वयः ॥ १७ ॥ तस्य वृक्षस्य जीवमाह—जीव इति । परमार्थतो निर्विकारत्वात्सर्वविकारशून्यात्मा अत एवोपलोपमो मिथ्याभूतचित्ततद्वर्त्मसंबन्धोपलम्भात्मा साक्षीत्यर्थः ॥ १८ ॥ स्तम्भो मूलच्छाखापर्यन्तो मध्यप्रदेशः । अयं कायः शरीरमेव । मूलस्तम्भदेशादेशान्तरे अग्रदेशे स्कन्धशाखादिप्ररोहार्थमङ्कुरो-द्देशेऽङ्कुरारम्भे विकीर्षिते वसन्तादिकाल इव तत्तद्भोगप्रदकर्म-परिपाककाले रागद्वेषप्रवृत्त्यायङ्कुरपल्लवाद्याकारेण स्पन्दते यो रसः सोऽस्य वासनैवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ अस्य चित्तवृक्षस्य या दीर्घा दूरगतास्तता विस्मृताश्च शाखास्ता इन्द्रियाणि भावाभावा जन्ममरणानि तदात्मनोऽनर्थसहस्रस्य योनयः कारणीभूता भोगाश्च अस्य महान्तो विटपौघा अघान्तरशाखासमूहा इति परेणान्वयः ॥ २० ॥ २१ ॥ विषयभोगासंगच्छेदनलक्षणं शाखालविवनं कुर्वन्सद्भाद्वितीयात्मदर्शनलक्षणे मूलकापे भरं यन्नातिशयं कुर्वित्यर्थः । तत्र शाखालवने मूलकापे चोपायं राजा पृच्छति—चित्तेति ॥ २२ ॥ ततः शाखालवनोपायं कुम्भ आह—वासना इति ॥ २३ ॥ अभाविता आसक्तित्या-गेनानुद्भाविता अन्तर्विचारसंविद्वलेन लूना भवन्ति । उक्तमे-वार्थं जीवन्मुक्तेषु लक्षणतया दर्शयति—असंसक्तेति ॥ २४ ॥ शाखालवनाभ्यासे दृढे सति मूलकापे योग्यो भवतीत्याह—चित्तद्रुमेति । लताजालं शाखासमूहम् ॥ २५ ॥ गौणमङ्गम् ।

गौणं शास्त्राविलम्बनं मुख्यं मूलविकर्तनम् ॥ २६
चित्तवृक्षस्य तेन त्वं मूलकापरो भव ।
मुख्यत्वेन महाबुद्धे मूलदाहमलं कुरु ॥ २७
चित्तकण्टकखण्डस्य भवत्येवमचित्ता ।

शिखिध्वज उवाच ।

अहंभावात्मनश्चित्तद्रुमवीजस्य हे मुने ।
कोऽनलो दहनाख्येऽस्मिन्कर्मण्यर्थकरो भवेत् ॥ २८
कुम्भ उवाच ।

राजन्वात्मविचारोऽयं कोऽहं स्यामिति रूपवृक्ष ।
चित्तद्रुमवीजस्य दहने दहनः स्मृतः ॥ २९

शिखिध्वज उवाच ।

मुने मया खया वृक्ष्या बहुशः प्रविचारितम् ।
यावन्नाहं जगन्नीर्वीजनमण्डलमण्डितम् ॥ ३०
नाद्रेस्तटं न विपिनं न पर्णस्पन्दनादि च ।
जडत्वाच्च च देहादि न मांसास्थ्यसृगादि च ॥ ३१
कर्मेन्द्रियाण्यपि न च न च बुद्धीन्द्रियाणि च ।
न मनो नापि च मतिर्नाहंकारश्च जाड्यतः ॥ ३२
कटकत्वं यथा हेक्षि तथाहंत्वं चिदात्मनि ।
जडं त्वसद्रूपतया तेन तन्नास्ति हे मुने ॥ ३३
संनिवेशनिवासात्मा सर्वार्थादिः परे पदे ।

मुख्यं प्रधानम् ॥ २६ ॥ मुख्यत्वेन प्रधानत्वेन । प्रधानासंपा-
दने यत्प्रसाधितस्याप्यग्नस्य वैकल्यप्रसङ्गादिति भावः ॥ २७ ॥
त्वं चित्तलक्षणस्य कण्टकखण्डस्य करजवनस्य अलं निरवशेषं
मूलदाहं कुर्विति पूर्वश्रान्वयः । एवं कृते अचित्ता भवति ।
तदाहस्य प्रसिद्धेनानलेनासिद्धेरनन्तरं जिज्ञासुः पुच्छति—
अहंभावात्मन इति । अर्थकरः समर्थः ॥ २८ ॥ कोऽहं
स्यामिति विचारदिसाक्षात्कारान्तरूपवृक्षः ॥ २९ ॥ मया खबु-
ध्वैव शास्त्रार्था देहाद्यहंकारान्ता आध्यात्मिकार्थाश्च अनात्मानः
अनृत्येति ज्ञातास्तथाप्यन्तरात्मतत्त्वापरिचयाजडोऽप्यहंकारे
पुनःपुनरात्मताभ्रान्तिर्न निवर्तत एवेति न विश्राम्यामीत्याह—
मुने इत्यादिषडभिः । यावदिति साकल्ये । सर्वं जगद्बहुशः
प्रविचारितमित्यर्थः । तदेव विशिष्याह—नाहमित्यादि । सर्वार्था
तदन्तर्गतवनमण्डलादिभिश्च मण्डितं जगन्नाहमिति संक्षिप्तोक्तिः
॥ ३० ॥ तदेव निस्तरेणाह—नाद्रेरित्यादि । जडत्वादिति
सर्वत्र हेतुः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ अहंकारे जडत्वं नास्तीति शङ्कां
निवर्तत्वहेतुना वारयन् जडस्य स्वतः सेज्जुमशक्त्या चित्तव्या-
सात्सिद्धौ मिथ्यात्वं पर्यवस्यतीत्याह—कटकत्वमिति । तथा
अहंत्वं विवर्त इति शेषः । अहं तु ह्युक्तिरजतमृगतृष्णादि
असद्रूपतया प्रसिद्धमिति शेषः । तेन जडत्वहेतुना तदहंत्वादि
नास्ति मिथ्यैवेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ ब्रह्माण्डादेरुक्तजडवर्गस्याधिष्ठा-
नसद्रूपादन्यत्वादपि असत्त्वमित्याह—सन्निवेशेति । स्वतः
सतत्त्वेनान्यत्परस्परं चान्यदन्यत्वाद्भिन्नत्वात् परे पदे चिति न

विद्यते नान्यदन्यत्वाच्चमसीव महाद्रुमः ॥ ३४
जानन्नपीति भगवन्नहंत्वमलमार्जनम् ।
अन्तर्यज्ञं न जानामि तेन तप्ये चिरं मुने ॥ ३५
कुम्भ उवाच ।

एतावन्मात्रकं वृन्दं यदि न त्वं महीपते ।
जडत्वात्तन्महाबुद्धे योऽसि तद्वद मेऽनघ ॥ ३६
शिखिध्वज उवाच ।

चिन्मात्रमहमच्छात्मवेदनं निदुषां वर ।
यत्र भावाः खदन्ते ते निर्णीयन्ते च येन वा ॥ ३७
एवंरूपस्य मे लग्नं भूतं मलमकारणम् ।
सकारणं बाहमिति यत्पदं च न वेदयद्दम् ॥ ३८
असदेतदनात्मीयं प्रमार्ष्टुं मलमात्मनः ।
मुने यदा न शक्नोमि तेन तप्ये सुदारुणम् ॥ ३९

कुम्भ उवाच ।

ब्रूहि किं तन्महाबाहो लग्नं तव मलं महत् ।
स्थितोऽसि येन संसारी सता वाप्यथवाऽसता ॥ ४०

शिखिध्वज उवाच ।

चित्तद्रुमस्य यद्बीजमहंभावश्च मे मलम् ।
तच्च त्यक्तं न जानामि त्यक्तं त्यक्तमुपैति माम् ॥ ४१

विद्यते । तथात्वं कुत इति चेद्यतो ब्रह्माण्डादिजडवर्गश्चतुर्दश-
भुवनादिसंनिवेशाना निवासात्मा आधारः सर्वेषामर्थानां शब्दा-
दिविषयाणामादि- कारणभूतः । न च चिदात्मा विभक्त-
स्वभावो निर्विभागसत्तासामान्यरूपत्वादित्यर्थः ॥ ३४ ॥ इति
अनया रीत्या अहंत्वलक्षणस्य मलस्य मार्जनं जानन्नपि अन्तः
प्रत्यगेकरसे यत्तु हं साक्षिचैतन्यं तत्र जानामि ॥ ३५ ॥
इदानीं परिशेषादेव साक्षिचैतन्यं परिचाययिष्यन्कुम्भ उवाच—
एतावदिति । एतावन्मात्रमहंकारपर्यन्तं दृश्यवृन्दम् ॥ ३६ ॥
अज्ञातुमोक्तत्वादिना प्रसिद्धान्तरांतरकोशपरम्परान्वधौ यत्रा-
नन्दैकरसे चिन्मात्रे सति अनानन्दा जडरूपाश्च भावाः शब्दा-
दिविषयाः खदन्ते । येन वा बुद्धिवृत्त्युपाकूलेन इष्टानिष्टविभा-
गेन निर्णीयन्ते ॥ ३७ ॥ विवेकदशा पर्यालोचने एवंप्रस-
मे मम देहादिकोशगणे अहमिति तादात्म्याभिमानलक्षणं मलं
लग्नं इदं सकारणमकारणं वेति अहं न वेति यत्पदं मलं तच्च
न वेदीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ सता सलेन असता मिथ्या-
भूतेन वा येन मलेन हेतुना संसारी स्थितोऽसि ॥ ४० ॥
तत्सत्यं मिथ्येति वा न जानामि किन्तु चित्तद्रुमस्य सर्वानर्थ-
फलस्य मूलमिति सामान्यतोऽहंभावश्चान्ममभावश्चेति विशेष-
तोपि जानामि । तच्च त्यक्तं निरसितमुपायं न जानामि । ननु
नाहं न ममेति बुद्धिरेव तस्यांगोपायः प्रसिद्धः प्राक्त्वयैव वना-
दिषु दर्शितः स कथमपलप्यते तत्राह—त्यक्तं त्यक्तमिति ।
तथा पुनः पुनस्त्यक्तमपि मूलोच्छेदाभावात्पुनःपुनर्मासुपैति ।

कुम्भ उवाच ।

कारणाज्जायते कार्यं यत्तत्सर्वत्र संभवेत् ।
अन्यत्त्वसद्विचन्द्राभं दृष्टमेतन्न विद्यते ॥ ४२
कारणाज्जायते कार्यमहंभावाद्भावाद्भुरः ।
इति कारणमन्विष्य कथयस्व ममाधुना ॥ ४३

शिखिध्वज उवाच ।

मुनेऽहमिति दोषस्य वेदनं वेद्मि कारणम् ।
तद्यथोपशमं याति तन्मे वद मुनीश्वर ॥ ४४
चितश्चेत्योन्मुखत्वेन दुःखायायमहंस्थितः ।
चेत्योपशमनं ब्रूहि मुने तदुपशान्तये ॥ ४५

कुम्भ उवाच ।

कारणं कारणज्ञोऽसि वेदनस्य वदाशु मे ।
ततस्त्वां बोधयिष्यामि कारणाकारणक्रमम् ॥ ४६
वेद्यवेदनरूपस्य चेत्यसंचेतनस्य मे ।
अकारणं कारणतां यद्यातं तव तद्वद ॥ ४७

शिखिध्वज उवाच ।

चेत्यचेतनरूपस्य वेद्यसंवेदनाकृतेः ।
इयं पदार्थसत्तेह देहादिः कारणं मुने ॥ ४८
शरीरादितर्योदेति वेदनं वस्तुसत्तया ।
असत्याभासया स्पन्दो यथा पवनलेखया ॥ ४९
असत्तां वस्तुसत्ताया नावगच्छाम्यहं यथा ।

अतस्तन्मूलं तदुच्छेदोपायं च वदेत्याशयः ॥ ४१ ॥ तत्र
सत्यस्य कूटस्थत्वात्कारणता न संभवत्येव । असत्यस्य तु कार-
णतोक्तिरसत्येव कारणे कार्यमुत्पन्नमित्यर्थे पर्यवसिता सती
कार्यस्यासत्यतामेवापादयतीत्यात्मैक्यपर्यवसितेति रहस्यं तदु-
च्यनुसारेणैव बोधयिष्यन् कुम्भो लोकप्रसिद्ध्यनुरूपमहंकारणं त्वं
स्वबुद्धौवान्विष्य कथयेत्याह—कारणादिति द्वाभ्याम् ।
अन्यत्तु कारणं विनैव जातं कार्यं द्विचन्द्राभमसदेव । यत एत-
त्सम्यग्दृष्टं चेन्न विद्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥ यथा अहंभावात्का-
रणान्मनसादिलक्षणो भवाद्भुरः कार्यं जायते इति एवंविधमे-
वाहंभावस्यापि कारणं स्वबुद्ध्याऽन्विष्य मम कथयस्वेत्यर्थः
॥ ४३ ॥ एवं पृष्ठो राजा चिरं स्वबुद्ध्यान्विष्यासति देहाद्या-
कारवेदने तत्राहंतामिमानायोगात्तदेदनमेव तत्कारणमिति
निश्चित्य प्रत्युवाच—मुने इति ॥ ४४ ॥ चितश्चेत्योन्मुखत्वेन
हेतुना अयं देहादिरहंभावेन स्थितः सन् दुःखाय संपन्नोऽतश्चे-
त्यदेहादिरेव चितस्त्वदेदनाभावेपि हेतुरित्यभिप्रेत्य तदुपशान्तये
चेत्योपशमनोपायं ब्रूहीत्याह—चेत्येति ॥ ४५ ॥ यदि वेदनस्य
वेद्योन्मुखत्वे वेद्यमेव कारणमिति कारणज्ञोऽसि तर्हि तत्स्वाभिप्रे-
तमाशु वद । ततस्त्वदुत्तयनन्तरं त्वदभिप्रेतं कारणमकारणमेव
येन क्रमेण संपद्यते तं क्रमं त्वां बोधयिष्यामीत्यर्थः ॥ ४६ ॥
पृष्ठमेवार्थं स्फुटीकर्तुं पुनरनुवदति—वेद्येति । सामान्यतो वेद्य-
वेदनरूपस्य विशेषतश्चेत्यसंचेतनस्य मिथ्यात्वादकारणं कारण-

अहंत्ववेदनं चित्तबीजं समुपशान्तयति ॥ ५०

कुम्भ उवाच ।

विद्यते यदि देहादिवस्तुसत्ता तदस्ति ते ।
अभावादेहसत्तादेः किंनिष्ठं तव वेदनम् ॥ ५१

शिखिध्वज उवाच ।

यस्योपलभ्यते किञ्चित्स्वरूपं कलनात्मकम् ।
असद्रूपं कथं तत्स्यात्प्रकाशः स्यात्कथं तमः ॥ ५२
हस्तपादादिसंयुक्तः क्रियाफलविलासवान् ।
सदानुभूयमानोऽयं देहो नास्ति कथं मुने ॥ ५३

कुम्भ उवाच ।

कारणं यस्य कार्यस्य भूमिपाल न विद्यते ।
विद्यते नेह तत्कार्यं तत्संवित्तिस्तु विभ्रमः ॥ ५४
कारणेन विना कार्यं शरीरं न कदाचन ।
विद्यते यस्य नो बीजं तद्द्रव्यं केव जायते ॥ ५५

अकारणं तु यत्कार्यं सदिवग्रेऽनुभूयते ।
तद्द्रष्टुर्विभ्रमाद्विद्धि मृगतृष्णाजलोपमम् ॥ ५६
अविद्यमानमेव त्वं विद्धि मिथ्याभ्रमोदितम् ।
नातियत्नवतोऽप्येतन्मृगतृष्णाम्बु लभ्यते ॥ ५७

शिखिध्वज उवाच ।

असतो द्वीन्दुबिम्बादेर्न युक्तं कारणेक्षणम् ।
वन्ध्यातनयसर्वाङ्गमण्डनं कस्य राजते ॥ ५८

त्वाक्षममेव वेद्यं कारणतां यातमिति यत्तवाभिप्रेतं तद्वदेत्यर्थः
॥ ४७ ॥ शिखिध्वजः पृष्ठं स्वाभिप्रेतं स्फुटमाह—चेत्येति ।
देहादिर्वाद्याध्यात्मिकपदार्थसत्ता ॥ ४८ ॥ वेदनस्य देहादिसत्ता
कथं कारणं तत्राह—शरीरेति । यतो वेदनं शरीरादि-
वस्तुसत्तया निमित्तभूतया स्वयमपि मूषानिषिक्तधातुवत् इव
शरीराद्याकारेणोदेति । अमूर्ते वेदने मूर्तदेहाद्याकारताया वास्त-
वत्वायोगाद्विशिनष्टि—असत्याभासयेति ॥ ४९ ॥ यथा
चित्तबीजमहंत्ववेदनं समुपशान्तयति तथा देहादिवस्तुसत्ताया
असत्त्वं नावगच्छामि । अतस्तदसत्त्वं यथावगम्यते तथोपदि-
शेति भावः ॥ ५० ॥ एवं पृष्ठः कुम्भो वेदनस्य विषयाकारेणो-
त्पत्तिभ्रमवारणाय देहादिदृश्यासत्त्वं प्रतिजानीते—विद्यते
इति । देहादिवस्तुसत्ता यदि विद्यते तत्तर्हि ते तवाभिमतं
वेदनस्य तन्निमित्तं तदाकारत्वं स्यात् तदेव दुर्लभमिति वेदनं
किंनिष्ठं किंविषयम् । निर्विषयमेवेत्यर्थः ॥ ५१ ॥ प्रत्यक्षमुपलभ्य-
मानस्य देहादेः कथमपलाप इति राजा पृच्छति—यस्येति ।
सत्त्वेनोपलभ्यमानस्यासत्त्वप्रतिज्ञा विरुद्धेति दृष्टान्तेनाप्याह—
प्रकाश इति ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ नोपलम्भनमात्रेण दृश्यसत्ता-
निर्णयः । आन्तोपलम्भेषु व्यभिचारात् । किंतु सत्त्व कारणेषु
यस्य कार्यस्योपलम्भस्तस्य सत्त्वम् । तानि चास्य न सन्तीत्याह—
कारणमिति चतुर्भिः ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ तर्हि किमसौ
देहादिर्वन्ध्यापुत्रदेहादिवस्तुसत्तासमेव स्यादिति राजा शङ्कते—

कुम्भ उवाच ।

कारणेन विना कार्यं शरीराद्यस्थिपञ्जरम् ।
अविद्यमानमेवेदं विद्ध्यसंभवतो नृप ॥ ५९

शिखिध्वज उवाच ।

हस्तपादादियुक्तस्य शरीरस्य मुनीश्वर ।
नित्यमालक्ष्यमाणस्य पिता कस्मात् कारणम् ॥ ६०

कुम्भ उवाच ।

कारणाभावतो राजन्पिता नाम न विद्यते ।
असतो यत्तु संजातमसवैव तदुच्यते ॥ ६१
पदार्थानां च कार्याणां कारणं बीजमुच्यते ।
संभवत्यङ्गं जगति न बीजेन विनाङ्कुरः ॥ ६२
तस्मात् कारणं यस्य कार्यस्येहोपपद्यते ।
बीजाभावे हि तन्नास्ति तत्संविच्छिस्तु विभ्रमः ॥ ६३
अवश्यं खलु यन्नास्ति निर्बीजं तन्मतिभ्रमः ।
द्विन्दुत्वमरुभूम्यम्बुबन्ध्यापुत्रदशासमम् ॥ ६४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० शिखिध्वजावबोधनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमः सर्गः ९५

शिखिध्वज उवाच ।

आद्यहास्तम्बपर्यन्तं यद्ययं भासते भ्रमः ।

असत् इति ॥ ५८ ॥ 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्'
इत्यादिश्रुतेस्तथैव विद्वदनुभवात्कारणानिरूपणाच्चेष्टापत्तिरेवेय-
मेति कुम्भ आह—कारणेनेति ॥ ५९ ॥ ऐतिह्यादुमाना-
द्योक्त्यनुगतसंस्थानसाम्यलिङ्गादिना पितास्य कारणं निर्जातः स
कथमपलप्यत इति राजा शङ्कते—दृष्टेति ॥ ६० ॥ तस्याप्य-
सत्त्वे तुल्यो न्याय इति गूढाभिसंधिस्तदेवोत्तरं पुनर्वर्णयति—
कारणाभावत इत्यादिना ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ गूढाभि-
संधिमज्जानानो राजा शङ्कते—पितामहानामिति ।
आद्यः पितामहो हिरण्यगर्भः । स हि सूक्ष्मभूतलिङ्गसमध्यात्मा
पुत्रपितृपितामहादिसर्वव्यष्टिसमष्टिस्थूलानामुत्पत्तौ कारणं किं न
स्यादित्यर्थः । पूर्वेषां प्रजास्रष्टृणां मनुमरीचिदक्षादीनां, पूर्वस्य
स्वकार्येभ्यः पूर्वस्य ब्रह्माण्डस्य वा उत्पत्तौ ॥ ६५ ॥ तस्यापि कारणं
दुर्वचमिलसत्त्वे तुल्यो न्याय इति गूढाभिसंधिरेवोत्तरमाह—
आद्य इत्यादिना । यदा कारणाभावे कस्यचिदपि भावो नेति
नित्यं नियमस्तदा सोऽपि नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ६६ ॥ ननु 'यो देवानां
प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं पश्यत
जायमानं स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुतकिं' इत्यादिमन्त्र-
वर्णेषु तदुत्पादको जायमानं तं कृपादृष्ट्या पश्यन्तीश्वरस्तत्कारणं
प्रसिद्ध एव स कथमपलप्यत इत्याशङ्कां परिहरन् गूढाभि-
संधिमुद्धादयति—कारणस्येति । सत्यमस्तीश्वरः परमात्मा
तथापि तेन मायया स्वात्मनि भेदकल्पनया भ्रमान्माययान्यो
दृश्यमानोऽपि स पितामहस्तस्मादन्यो न विद्यते । तत्कृतस्तत्र

शिखिध्वज उवाच ।

पितामहानां पुत्राणां पितृणां च जगत्रये ।
आद्यः पितामहः कस्मात्पूर्वोत्पत्तौ न कारणम् ॥ ६५

कुम्भ उवाच ।

आद्यः पितामहो यः स्यात्तोऽपि नास्त्येव भूपते ।
कारणाभावतो नित्यं यदा भावो न कस्यचित् ॥ ६६
कारणस्य स्वबीजस्य नित्याभावात्पितामहः ।
अन्यः स दृश्यमानोऽपि भ्रमादन्यो न विद्यते ॥ ६७
मृगतृष्णाम्बुवद्भ्रान्तिरूप एवावभासते ।
पितामहार्थकारित्वमपि तस्य भ्रमात्मकम् ॥ ६८
पितामहोदरे तस्य सिध्याप्रत्ययतः स्थितिः ।
घना तव निवृत्तैव मार्जयिष्याम्यथेतरत् ॥ ६९
तस्माच्चिदात्मकतयात्मनि चिन्ततोऽयं
नित्यं स्वयं कचति भूमिप देवदेवः ।
तेनैव पञ्चज इति स्वयमात्मनात्मा
प्रोक्तः स्वरूप इति शान्तमिदं समस्तम् ॥ ७०

अर्थक्रियासमर्थश्च तत्कथं दुःखकारणम् ॥ १

सत्यस्य चिदंशस्यापरिणामितया अकारणत्वस्य दृश्यमाणत्वाद्
परिशेषान्मायांश्च एव जडस्तत्कारणं वाच्यस्तस्य चाविद्यारूपस्य
बीजस्य कारणस्य नित्योदितविद्यानाधितत्वेनैश्वरे नित्यमेवा-
भावादित्यर्थः ॥ ६७ ॥ एतेन पितामहस्य भुवनादिसर्गार्थक्रिया-
कारिताप्रतिभासोऽपि व्याख्यात इत्याह—मृगतृष्णेति ॥ ६८ ॥
इत्थं मनुकयुक्तया तव पितामहादेः स्वशरीरान्तस्यैतस्य कार्य-
परम्पराप्रबन्धस्य सिध्येति यौक्तिकप्रत्ययतो घना सत्यत्वेनास-
न्तद्विद्वीकृता स्थितिर्निवृत्तैव । अथ इतरत्प्रतिभासमात्रावधिष्टा-
शमपि तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तेनोपदेशेन मार्जयिष्यामीत्यर्थः
॥ ६९ ॥ उक्तमेवार्थं संगृह्योपसंहरति—तस्मादिति । हे भूमिप,
तस्माच्चिदात्मनिरिक्तस्योक्तयुक्तया असत्त्वाविदेवायं देवदेवः आगुक्त
ईश्वरो हिरण्यगर्भादिस्तम्बपर्यन्तसर्गपरम्परात्मना नित्यं यत्क-
चति तदात्मा चिदात्मकतया आत्मन्येव कचति नान्यदणुमात्र-
मपि संपादयति संपद्यते वा । तेन स्वयमात्मना आत्मैव स्वरूपः
पञ्चज इत्यादिनामरूपकल्पनेन प्रोक्तः 'सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य
वीरो नामानि कृत्वाभिवदन्त्यदास्ते' इत्यादिश्रुतिभिः इति एवं
पर्यालोचने इदं समस्तं द्वैतं शान्तं ब्रह्मैवेत्यर्थः ॥ ७० ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
शिखिध्वजावबोधनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ ९४ ॥

घनतातामधेनात्राविद्योपशमनक्रमः ।

शिखिध्वजस्य बोधेन विश्रान्तिश्चोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

'मृगतृष्णाम्बुवद्भ्रान्तिरूप एवावभासते' इति यदुक्तं तत्र

कुम्भ उवाच ।

एवं जगद्भ्रमस्यास्य भावनं तावदाततम् ।
 शिलीभूतस्य शीतेन सलिलस्येव रुक्षता ॥ २
 अज्ञानं शिथिलीभूतमेवं नष्टं विदुर्बुधाः ।
 न नाशेन विनोदेति पूर्वसंस्थानविच्युतिः ॥ ३
 तनुत्वं सर्वबोधस्य यत्तदेव हि कारणम् ।
 सर्गोपशमसंपत्तौ प्रतिपन्ने परे पदे ॥ ४
 तानवं दृश्यते यस्य तस्यानुक्रमतः स्वयम् ।
 पूर्वसंस्थानविगमात्प्रशमोऽप्युपपद्यते ॥ ५
 अनेनैव क्रमेणैवं त्वमादिपुरुषो नृपः ।
 अमाकारोदयं विद्धि मृगतृष्णाम्बुवत्स्थितम् ॥ ६
 एषा पितामहाभावेऽप्यसती भूतसंततिः ।
 न कदाचन तत्सिद्धं यदसिद्धेन साध्यते ॥ ७
 अयं भूतोपलम्भो हि मृगतृष्णाम्बिवोदितः ।
 विचाराद्विलयं याति शुक्लौ रजतधीरिव ॥ ८
 कारणाभावतः कार्यमभूत्वा भवतीति यत् ।
 मिथ्याज्ञानादृते तस्य न रूपमुपपद्यते ॥ ९

मिथ्यादृष्टिप्रेक्षितं तु न कदाचन विद्यते ।
 मृगतृष्णाम्भसा केन घटकाः परिपूरिताः ॥ १०
 शिखिध्वज उवाच ।
 स्रष्टुराद्यस्य परमं ब्रह्म कस्मान्न कारणम् ।
 अनन्तमजमव्यक्तमम्बरं शान्तमच्युतम् ॥ ११
 कुम्भ उवाच ।
 हेतुत्वाभावतो ब्रह्म कार्यत्वाभावतस्तथा ।
 अद्वैतेनातिगन्तात्मा न च कार्यं न कारणम् ॥ १२
 अकर्तृकर्मकरणमकारणमबीजकम् ।
 अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्म कर्तुं कथं भवेत् ॥ १३
 अकारणत्वात्कार्यत्वरहितं तज्जगद्भवेत् ।
 अद्वैतैक्यमनाद्यन्तं तदाद्यमुपलम्भनम् ॥ १४
 अप्रतर्क्यमविज्ञेयं यच्छिवं शान्तमव्ययम् ।
 तत्कथं कस्य केनैव कर्तुं भोक्तुं कदा भवेत् ॥ १५
 अतो नेदं कृतं किञ्चिज्जगदादि न विद्यते ।
 न कर्तासि न भोक्तासि सर्वं शान्तमजं शिवम् ॥ १६

मृगतृष्णादेः स्नानपानाद्यर्थक्रियासामर्थ्याद्यददर्शनान्मज्जनमर-
 णादिदुःखकारणत्वाददर्शनाच्च विषमो दृष्टान्त इति राजा श-
 ङ्कते—आब्रह्मेति । तत्तर्हि अर्थक्रियासमर्थो दुःखकारणं चार्थ-
 क्रथमित्यन्वयः ॥ १ ॥ सत्यसंकल्पभावनादौकृतस्य मिथ्यार्थ-
 स्यार्थक्रियासामर्थ्यं दुःखकारणत्वं च दैवाधुरमायानिर्मितशब्दा-
 स्तद्वत्स्यत्वेनादेः प्रसिद्धमेव किं वाच्यं जगदीश्वरमायानिर्मि-
 तस्य प्रपञ्चस्येत्याशयेनोत्तरमाह—एवमिति । अस्य सर्गात्म-
 कस्य जगद्भ्रमस्य प्राणिकर्मोपभोगार्थत्वात् एवं त्वदुक्तप्रकार-
 मर्थक्रियासामर्थ्यं दुःखादिकारणत्वं चास्ति । सत्यसंकल्पस्येश्व-
 रस्य भावनमेव तत्तदर्थक्रियायात्मना आततम् । यथा शीतेन
 शिलीभूतस्य सलिलस्य चिरक्लेन स्फटिकादिभावेन परिणा-
 माद्भ्रूक्षता पीठपात्राद्यर्थक्रियासामर्थ्यमाततं तद्वदित्यर्थः ॥ २ ॥
 अत एव मूलाज्ञानस्य ज्ञानाभ्यासपरिपाकक्रमेण शिथिलीभावे
 जगतः सूक्ष्मतापत्तिक्रमादेव सदाज्ञानेन नाश इत्याह—अज्ञा-
 नमिति । अज्ञाननाशं विना जगत्संस्थानबाधो नास्तीत्याह—
 नेति ॥ ३ ॥ अज्ञानशिथिलीभावे च निरोधाभ्यासेन बाधधी-
 वृत्तितानवं कारणमित्याह—तनुत्वमिति । तच्च ज्ञानोत्पत्तिक्रमे-
 णात्यन्तिकसर्गोपशमसंपत्तौ कारणमित्याह—सर्गेति । प्रति-
 पन्ने साक्षात्कृते सति ॥ ४ ॥ अत एव लोकेऽपि अपक्षयापर-
 पर्यायतानवपूर्वक एव स्थूलभावानां विनाशः प्रसिद्ध इत्याह—
 तानवमिति । यस्य देहादेः । प्रशमो नाशः ॥ ५ ॥ एवं
 दर्शितप्रकारेण अज्ञानशैथिल्यक्रमेण जगद्वाधादेव तव नित्यसि-
 द्धपूर्णतालक्षणपुरुषस्वभावस्थितिसिद्धिरित्याह—अनेनेति । मृ-
 गतृष्णाम्बुवद्भ्रान्तिरूप एवावतिष्ठते इति प्रागुक्तजगत्स्थितिरप्ये-
 वंरित्येव बोद्धव्येत्याह—अमाकारोदयमिति ॥ ६ ॥ शङ्को-
 मो० वा० १२६

तरमुपसंहृत्य प्रस्तुतमेव निगमयन्नाह—एषेति ॥ ७ ॥ तस्य
 फलं दर्शयति—अयमिति ॥ ८ ॥ अत एव जगतो भ्रान्ति-
 रेव स्वरूपं नान्यदित्याह—कारणेति ॥ ९ ॥ अत एव मिथ्येति
 दृष्टं सद्गार्थक्रियया निःस्वरूपतामेवापद्यत इत्याह—मिथ्याद-
 र्ष्टीति ॥ १० ॥ तर्हि पितामहस्य निर्विशेषं ब्रह्मैव कुतो न
 कारणम् । न च परिणामित्वेन तस्यानित्यत्वापत्तिः । क्रमिकसर्व-
 परिणामानुवृत्तिबलादेव जातिवत्तस्य नित्यत्वोपपत्तेरिति राजा
 शङ्कते—स्रष्टुरिति ॥ ११ ॥ कुम्भः श्रुतियुक्त्यनुभवविरोधान्मै-
 वमित्याह—हेतुत्वेति । ‘तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरम्’ इति श्रुत्या
 पूर्वत्वलक्षणहेतुत्वस्यापरत्वलक्षणकार्यत्वस्य च निषेधात्, ‘नेह
 नानास्ति किञ्चन’ इति श्रुत्या द्वैतमात्रनिषेधात् ‘असङ्गो ह्ययं
 पुरुषः’ इत्यादिश्रुतेश्चानुवृत्त्याद्यघटनात्, कूटस्थस्य परिणामायो-
 गाच्च सर्वप्रपञ्चातिगन्ता आत्मा शुद्धं ब्रह्म न कार्यं नापि कारण-
 मित्यर्थः ॥ १२ ॥ कारकान्तराप्रसिद्धेस्तत्प्रयुक्तसातन्त्र्यलक्षणं
 कर्तृत्वं तस्य दूरनिरस्तमित्याह—अकर्त्रिति । प्रयोज्यकर्तुरप्र-
 सिद्धौ प्रयोजककर्तृताप्यस्य दुर्लभेति द्योतनाय अकर्त्रिति । अंका-
 रणं निमित्तशून्यमबीजकमुपादानशून्यम् ॥ १३ ॥ निर्धर्मक-
 त्वादेव तद्ब्रह्म अकारणत्वात्कार्यत्वलक्षणधर्माभ्यामपि रहितं
 भवेदिति हेतोः कार्यकारणात्मकं जगत्संपन्नमिति यदि संभाव-
 यसि तर्हि तज्जगत् द्वैतैक्यलक्षणेन वस्तुकृतपरिच्छेदेन आद्य-
 न्तलक्षणैर्देशकालकृतपरिच्छेदैश्च रहितं सदाद्यमुपलम्भनं चिदे-
 करसं ब्रह्मैव संपन्नमित्यपि संभाव्यं । तदा क्व जगद्भावः कार्य-
 कारणता चेति भावः ॥ १४ ॥ इत्थमेव तस्य जीवभावभ्रान्ति-
 प्रसजिते कर्तृत्वभोक्तृत्वे अपि निरसनीये इत्याह—अप्रतर्क्य-
 मिति । चतुर्भिः किंवृत्तैः प्रकारकर्मकरणकालानामप्रसिद्धिः
 सूच्यते ॥ १५ ॥ फलितमाह—अत इत्यादिना ॥ १६ ॥

कारणाभावतः कार्यं न कस्यचिदिदं जगत् ।
 अकारणत्वात्कार्यत्वं भ्रमाद्विद्धि त्विदं जगत् ॥ १७
 अकार्यत्वाच्च नास्त्येतत्सर्ग इत्थं न विद्यते ।
 यदा न कस्यचित्कार्यं कारणस्य जगत्तदा ॥ १८
 पदार्थाभावसंलिङ्गिस्तत्सिद्धौ कस्य वेदनम् ।
 एवं तु वेदनाभावे नास्त्यहंत्वस्य कारणम् ॥ १९
 अतः शुद्धो विमुक्तोऽसि क्रैवोक्तिर्वन्धमोक्षयोः ।
 शिखिध्वज उवाच ।
 बुद्धोऽसि भगवन्युक्तियुक्तमुक्तं त्वयोत्तमम् ॥ २०
 कारणाभावतः कर्तुं नेदं ब्रह्मेति वेदयद्दम् ।
 कर्तृभावाज्जगन्नास्ति तेन नास्ति पदार्थद्वयम् ॥ २१
 नातश्चित्तादि तद्बीजं नातोऽहंतादि किंचन ।

एवंस्थिते विशुद्धोऽसि विबुद्धोऽसि शिवोऽसि वा २२
 नमो मह्यं परं चेत्यं न किंचिदिति बोधितः ।
 पदार्थवेदनादित्यमसदेवावभासते ।
 अहमाद्यन्तमेतेन शान्तमासे खकोशवत् ॥ २३
 जगत्पदार्थप्रविभागदृष्टिः
 सदेशदिकालकलाक्रियौघा ।
 अहो नु कालेन चिरेण शान्ता
 ब्रह्मैव शान्तं स्थितमव्ययात्म ॥ २४
 शाश्वतामि निर्वामि परिस्थितोऽसि
 न यामि नोदेमि न चास्तमेमि ।
 तिष्ठामि तिष्ठ स्वैयथास्थितात्मा
 शिवं शुभं पावनमौनमसि ॥ २५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० सू० शिखिध्वजविश्रान्तिर्नाम पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ १५ ॥

षण्णवतितमः सर्गः १६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 इति ब्रह्मणि विश्रान्तिमवाप्स्य स शिखिध्वजः ।
 मुहूर्तमासीत्संशान्तमना निर्वातदीपवत् ॥ १
 निर्विकल्पसमाधानपरेणाशु विविक्षितम् ।
 स्वलीलयेति कुम्भेन झटित्येव प्रबोधितः ॥ २
 कुम्भ उवाच ।
 राजन्नज्ञाननिद्रातः प्रबुद्धोऽसि शिवः स्थितः ।
 कार्यं नास्तमयेनैव न चानस्तमयेन ते ॥ ३

सकृदेव विभातात्मा नष्टानिष्टपदात्मकः ।
 कलाकलननिर्मुक्तो जीवन्मुक्तोऽङ्ग सांप्रतम् ॥ ४
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 कुम्भेन बोधितस्त्वेवं स बभूवावबोधवान् ।
 विनिर्गतो रराजोच्चैर्महामोहसमुद्रकात् ॥ ५
 विश्रान्तधीः क्षणेनैव पश्यन्द्दृश्यस्य वस्तुनः ।
 असत्तामेव मुक्तात्मा लीलया समुवाच ह ॥ ६

॥ १७ ॥ उपक्रान्तं प्रस्तुतोपयोगितया सारयति—यदेति
 ॥ १८ ॥ प्रस्तुतं निगमयति—एवं त्विति ॥ १९ ॥ एवमह-
 न्ताविरासोप्रायमुपदिश्य परिशिष्टमात्मतत्त्वमनुभावयति—अत
 इति । उपदिष्टार्थं खानुभवानुमोदमानो राजा युक्ततमं त्वयो-
 पदिष्टमित्यनुवदति—बुद्धोऽसीत्यादिना ॥ २० ॥ पदार्थद्वय-
 नामरूपदृष्टिः ॥ २१ ॥ २२ ॥ निस्स्वरूपात्परमव्यवस्थं न
 किंचिदिति लयाहं बोधितः । इत्थं लदुपदिष्टयुक्त्या सर्वपदा-
 र्थाणां विमर्शेन वेदनादव्यारोपे अहमादिविवेकेनापवादे अह-
 मन्तं दृश्यजातमसत्तास्त्रेवेत्यवभासते इति परेणान्वयः । एतेन
 सर्वद्वैतबाधेन खकोशवत् शान्तं निर्विकल्पमासे ॥ २३ ॥ तामेव
 स्थितिमभिनयन्नुपसंहरति—जगदिति द्वाभ्याम् । देशदिकाल-
 कलाक्रियौघैः सहिता जगत्पदार्थप्रविभागदृष्टिर्मम चिरेण कालेन
 शान्ता । अहो इत्याश्चर्यं । तथा च शान्तमव्ययात्म निर्वि-
 कारं ब्रह्मैव स्थितं परिशिष्टमित्यर्थः ॥ २४ ॥ परितः पूर्णभा-
 वेन स्थितोऽसि । अहमेवं तिष्ठामि त्वमपि स्वः प्रत्यगेकरसो
 यथास्थितात्मा तिष्ठेति 'अमयं सा गच्छतायाज्ञवल्क्य यो नो
 भगवन्नभयं वेदयसे' इति जनकोक्तिवरकुम्भं प्रति राजोक्तिः ।
 एवं स्थितौ त्वदात्मैवाहं शुभं परमपुरुषार्थरूपं पावनं शुद्धं
 मौनं वागगम्यं शिवं निरतिशयसुखमेव सदासीत्यर्थः ॥ २५ ॥

इति श्रीवासिष्ठमहाराभायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 शिखिध्वजविश्रान्तिर्नाम पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ १५ ॥
 प्रतिबुद्धस्य राज्ञोऽत्र दृश्यसत्तावमार्जनम् ।
 यथा भवति निःशेषं तथा कुम्भेन वर्ण्यते ॥ १ ॥
 अखण्डब्रह्माकारवृत्त्युदयेन सम्यक् शान्तं बाल्यवृत्तिप्रक्षम-
 नोपलक्षितं मनो यस्य तथाविधः सन्निर्वातदीपवन्निश्चल आसी-
 दित्यर्थः ॥ १ ॥ अथ यदा तेन राज्ञा अखण्डाकारवृत्तिलक्षणं
 विकल्पमप्यवधूय क्षीराब्धिपतितोदकविन्दुवन्मनसो ब्रह्मीभाव-
 मेवापाद्य ब्रह्मण्येकरस्येन विविक्षितं प्रवेष्टुमभिमुखीभूतं तदा
 तस्य इति एवरूपामवस्थामाशु उपलक्ष्य कुम्भेन वक्ष्यमाणदृश्य-
 मार्जनोपायादिविवक्षया स झटित्येव प्रबोधित इत्यर्थः ॥ २ ॥
 ननु सर्वदृश्यानामखण्डाकारवृत्तेरप्यस्तमयेन निरतिशयानन्दस-
 शुद्धे विविक्षुरहं किमिति त्वया व्युत्थापनेन विक्षितः पुनस्तन्मम
 दुर्लभमिति राज्ञो विवक्षामभिलक्ष्य कुम्भ उवाच—राजभिति ।
 सति अज्ञाने तदुर्लभम् । नष्टे त्वज्ञाने सर्वदृश्यास्तमयोऽस्तु म-
 वा । सकृद्भिन्नं तत्सदेवानादृतं सुलभमेवेति भावः ॥ ३ ॥ ४ ॥
 ॥ ५ ॥ व्युत्थानकालेऽपि दृश्यस्यासत्तामेव पश्यन् लीलया
 अभिनवस्य स्वबोधस्य चिरपरिपक्वकुम्भबोधसंवादापरीक्षा-
 ॥ १ ॥ स्वयथास्थितात्मेत्यादिः कर्मधारयः

शिखिध्वज उवाच ।

ज्ञातप्रायमपीदं तु यत्पृच्छामि तदुच्यताम् ।
भूयो निपुणबोधाय मम मानद मोदद ॥
शिवे शान्ते निराभासे पदेऽनुलसितात्मनि ।
द्रष्टृदर्शनदृश्याख्यो विश्वात्मा प्रत्ययः कुतः ॥

कुम्भ उवाच ।

साधु पृष्टं महाराज राजसे वाथ भास्वरः ।
एतदेव हि ते शिष्टं ज्ञातुं यत्तदिदं शृणु ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजंगमम् ।
सर्वं सर्वप्रकाराख्यं कल्पान्ते तद्विनश्यति ॥
ततः स्तिसितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
महाकल्पविलासान्ते सत्सारमवशिष्यते ॥
चिन्मात्रममलं शान्तमाभातं परमं नभः ।
समस्तकलनोन्मुक्तं युक्तं परमया धिया ॥
यदेकोदितमत्यच्छं शान्तमाततमुज्ज्वलम् ।
परमात्मात्मकं तेजस्तिमितं ज्ञप्तिमात्रकम् ॥
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं समं शिवमनिन्दितम् ।
ब्रह्मनिर्वाणमापूर्णमापूर्णोदितसंविदा ॥
अणीयसामणीयश्च स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥

७

८

९

१०

११

१२

१३

१४

१५

ईदृशं तत्परं सूक्ष्मं तस्याग्रे यदिदं नभः ।
अणोः पार्श्वे महामेरुरिव स्थूलात्म लक्ष्यते ॥ १६
ईदृशं तत्परं स्थूलं यस्याग्रे यदिदं जगत् ।
परमाणुवदाभाति कचिदेव न भाति च ॥ १७
विश्वात्मकचनं नाम पदेऽसंभववेधसः ।
तदहंवेदनं विद्धि विराडात्मा जगत्स्थितम् ॥ १८
वातस्य वातस्पन्दस्य यथा मेदो न विद्यते ।
शून्यत्वखत्वोपमयोश्चिन्मात्राहंत्वयोस्तथा ॥ १९
जलेऽस्ति देशकालान्ते यथोर्म्यादि सकारणम् ।
परेऽसद्वेशकालान्ते तथा जगदकारणम् ॥ २०
हेह्यस्ति देशकालान्ते कटकादि सकारणम् ।
ब्रह्मण्यदेशकालान्ते तथा जगदकारणम् ॥ २१
ईदृशं तद्वरिष्ठं च जगद्वाज्यं तदक्षतम् ।
न द्वैतममलं शान्तं जगत्तृणलवायते ॥ २२
ईदृशं तत्परं श्रेयस्तस्मिन्सति यदीश्वरे ।
जगत्पदार्थसार्थश्रीः सा सत्तामेति वेदनात् ॥ २३
तत्सारमेकमेवेह विद्यते भूपते ततम् ।
एकमेकान्तचित्कान्तं नैकमप्यद्वितावशात् ॥ २४
तस्माद्वितीया कलना काचिन्नाम न विद्यते ।
आत्मतत्त्वमलं भातं तदेवापूर्णमक्षयम् ॥ २५

लीलया ॥ ६ ॥ ७ ॥ न उलसितस्त्वतः प्रकटीभूत आत्मा
स्वरूपं यस्य तथाविधे । अविद्यावृते इति यावत् । प्रतीयत इति
प्रत्ययोऽर्थः प्रतीतिः प्रत्ययो बोधश्च कृतः । कस्माजिमित्तादा-
लम्बनान्तेत्यर्थः । किं सत उतासतः । आद्ये विकारबाधयो-
रयोगः । द्वितीये सत्त्वेन प्रतिभासानुपपत्तिरिति भावः ॥ ८ ॥
एवं पृष्टः कुम्भस्तदुभयमभ्यासेनोपपादयिष्यन् प्रश्नमुपपन्नत्वेन
प्रश्नारं च वक्ष्यमाणार्थग्रहणसामर्थ्येन प्रशंसति—साध्विति ।
प्रागुपदिष्टमात्मतत्त्वमवाप्य निरस्ताज्ञानावरणत्वाद्भास्वरः सन्
राजसे शोभसे । ‘राजसे वाथ भास्वरः’ इति पाठे तु इवार्थे
वाशब्दः । अथ तत्प्रबोधानन्तरं राहुनिर्मुक्तभास्वर इव राजसे
इत्यर्थः ॥ ९ ॥ तत्राभ्याससामग्रीं दर्शयितुमारोप्य संस्कार-
सहस्रताज्ञानशबलमधिष्ठानं दर्शयिष्यन् पूर्वसर्गप्रलयं दर्श-
यति—यदिदमिति ॥ १० ॥ तत्परेशिष्टमधिष्ठानं दर्शयति—
तत इत्यादिना ॥ ११ ॥ यत्परमया स्वतत्त्वसाक्षात्कारधिया
युक्तं सदेकोदितमत्यच्छं भवतीति परेणान्वयः ॥ १२ ॥
॥ १३ ॥ आसमन्तात्पूर्णोदितया संविदा स्वबोधेन आपूर्णम्
॥ १४ ॥ १५ ॥ ‘अणीयसामणीयः’ इत्येतदुद्यन्तेन स्फुटयति—
ईदृशमिति । पृथिव्यपेक्षया उत्तरोत्तरं सूक्ष्मतरत्वेन प्रसिद्धे-
भ्योऽपि परमसूक्ष्मत्वेन प्रसिद्धमपीदं नभः ॥ १६ ॥ ‘स्थविष्ठं
च स्थवीयसाम्’ इत्येतदपि तथा स्फुटयति—ईदृशमिति ॥ १७ ॥
ईदृशे मायाशबले पदे अधिष्ठाने प्राक्तनजगत्संस्कारोद्बोधादुद्भू-
ततत्तत्प्राणिकर्मानुसारि यदभ्यासेन विश्वात्मकचनं तदेव ।
अः वायुदेवस्तस्मात्संभवो यस्य तथाविधस्य वेधसो हिरण्य-

गर्भस्य अहंवेदनमहंभावलक्षणं ज्ञानाभ्यासं विद्धि । तत्र विष-
यत्वेन जगत्स्थितं तदेव विराडात्मा विषयाभ्यास इत्यर्थः
॥ १८ ॥ अभ्यासपक्षे बाधिष्ठानसत्तयैव कार्यकारणोभयसत्त्व-
निर्वाहात्तयोः सत्त्वेन प्रतीतिज्ञानेन बाधस्य सत्कौटस्थस्य च
नानुपपत्तिरित्यभिप्रेत्याभ्यस्तस्याधिष्ठानादपृथक्त्वं सदृष्टान्त-
माह—वातस्येति । आद्यः संसर्गाभ्यासे द्वितीयस्तादात्म्या-
भ्यासे दृष्टान्तः । वातः खत्वं च निरपेक्षत्वादधिष्ठानदृष्टान्तौ ।
स्पन्दः शून्यत्वं च देशप्रतियोगिसापेक्षत्वादभ्यस्तदृष्टान्तौ ॥ १९ ॥
असत्कार्यवादमितानुप्रवेशो मा भूदित्यधिष्ठानसत्तयैव कार्यस्य
ब्रह्मणि त्रैकालिकसत्त्वमपि दृष्टान्तेन दर्शयन् विशेषमाह—
जले इति । देशकालाभ्यामन्तौ परिच्छेदौ यस्मिन् । जलस्या-
न्तरालिककारणत्वाज्जलकारणेनैव सकारणम् । ब्रह्मणो मूलकारण-
त्वादकारणम् ॥ २० ॥ २१ ॥ ‘श्रेष्ठं च श्रेयसामपि’ इत्येतदप्य-
भ्यासेनैव स्फुटयति—ईदृशमिति । जगदेव राज्यं यस्य सज्जग-
द्वाज्यं महाराजभूतं तद्वद्वेति वरिष्ठं श्रेष्ठमित्यर्थः । यतो जगद-
भ्यस्तत्वात्तृणलववस्तुच्छमतो न द्वैतमद्वैतं तदित्यर्थः ॥ २२ ॥
तस्यैव सर्वाधिष्ठानत्वात्तत्सत्तयैव जगतः सत्तालाभ इत्याह—
ईदृशमिति ॥ २३ ॥ एकान्तचिन्मात्रस्वरूपम् । कान्तं
निरुपाधिकप्रेमपदम् । अद्विता द्वितीयासहिष्णुता तद्वशा-
द्भावल्याभावादेकत्वसंख्याया एव द्वितीयत्वापत्तेश्च एकमेक-
त्वसंख्यावदपि न ॥ २४ ॥ आसमन्तात्पूर्णम् ॥ २५ ॥

संस्थितं सर्वदा सर्वं सर्वाकारमिबोदितम् ।
 महद्भयत्वादलभ्यत्वाच्च तत्कार्यं न कारणम् ॥ २६
 प्रत्यक्षादेरगम्यत्वात्किमप्येव तदुत्तमम् ।
 सर्वं सर्वात्मकं सूक्ष्ममच्छानुभवमात्रकम् ॥ २७
 आख्यानाख्यास्वरूपस्य निराभासप्रभादशः ।
 सतो चाप्यसतो चाथ कथं कारणता भवेत् ॥ २८
 यद्वै न कस्यचिद्बीजमनाख्यत्वाच्च कारणम् ।
 न किञ्चिज्जायते तस्मात्प्रमाणादि ततात्मनः ॥ २९
 अकर्तृकर्मकरणं सत्यं चिद्वनमक्षतम् ।
 आत्मरूपमनाभासं स्वयंवेदनमक्षतम् ॥ ३०
 तस्माच्च जायते किञ्चित्परस्माद्ब्रह्मणो मुने ।
 कथं किं लभ्यते केन यथोर्म्यादि सकारणम् ॥ ३१
 परेऽसद्वैशकालान्ते तथा जगदकारणम् ।

शिखिध्वज उवाच ।

जलादौ यत्तरङ्गादि तत्सकारणमस्ति हि ॥ ३२
 परे जगदहंतादि नाकारणमवैम्यहम् ।
 कुम्भ उवाच ।
 इदानीं तत्त्वतो ज्ञातमेतत्सत्यं महीपते ॥ ३३
 इदं जगदहंतादि नेह किञ्चिन्न विद्यते ।

वक्षुरादिभिरदृश्यत्वात्करादिभिरलभ्यत्वाच्च न कार्यं ज्ञानकर्म-
 प्रयुक्ततिशयाज्ञास्पदं नापि कारणं ज्ञानकर्मनिर्वर्तकमित्यर्थः ॥ २६ ॥ किमपि प्रत्यक्षादिलौकिकमानसिद्धार्थविलक्षणमेव स्था-
 नुभवैकगम्यं तदुत्तमं निरतिशयानन्दस्वरूपं स्वयमेव सर्वं सर्व-
 स्थात्मा सर्वं चास्यात्मान इति सर्वात्मकम् ॥ २७ ॥ व्यवहारदृष्टौ
 आख्यानाख्यास्वरूपस्य शब्दतदर्थसर्ववस्तुस्वरूपस्य व्यक्ताव्यक्त-
 स्वरूपस्य वा स्वस्य स्वं प्रत्येव कथं कारणता भवेत् । परमार्थदृष्टौ तु
 निराभासप्रभादशः निराभासप्रभासिबद्धाप्रस्वभावखाद्यस्य
 कथं कारणता भवेत् । किञ्च व्यवहारे अद्वयमसत् द्वैतं सत् ।
 परमार्थे त्वद्वयं सत् द्वैतमसत् । न हि सदसतोरपि केनचित्पर-
 स्परं कार्यकारणता वक्तुं शक्येत्यर्थः ॥ २८ ॥ प्रमाणादितान-
 भेयमित्यात्मकं जगन्न जायते व्यवहारे आत्मन एव तदात्म-
 त्वात् । न ह्यात्मा आत्मनो जायत इत्यर्थः ॥ २९ ॥ ३० ॥
 तथा चाभ्यासपक्षे न कस्यचिज्जन्मादिविक्रियेति कौटस्थ्यमेव
 सिद्धमित्युपसंहरति—तस्मादिति । अत्सकारणमूर्म्यादि मयोक्तं
 तदपि विमर्शे जलातिरिक्तं कथं लभ्यते किंवा लभ्यते । न
 किञ्चिन्न कथंचिदित्यर्थः ॥ ३१ ॥ एवं सत्यपि कारणे यदा
 कार्यकारणता नास्ति तदा अद्वयत्वादसद्वैशकालपरिच्छेदत्वाद-
 कारणे ब्रह्मणि सा नास्तीति किं वाच्यमित्याह—परे इति ।
 'जलेऽस्ति वैशकालान्ते यथोर्म्यादि सकारणम् । परेऽसद्वैश-
 कालान्ते तथा जगदकारणम्' इति यत्प्रागुक्तं तदेव त्वयोपराह-
 तम् । तत्र वैषम्योक्त्यंशे कोऽभिप्राय इति राजा पृच्छति—
 जलादाविति ॥ ३२ ॥ समुद्रस्य पद्मीकृतजलकार्यत्वासत्कारण-
 भूतैर्वाद्यादिबाह्यानिमित्तैश्च तरङ्गादेः पयःपरिणामस्य सकारण-

जगच्छब्दार्थरहितं जगदस्ति शिवात्मकम् ॥ ३४
 व्योम्नयेव निर्मितं शान्तं व्योम्ना सूक्ष्मतरेण च ।
 यथा नभसि शून्यत्वं तथेदं जगदीश्वरे ॥ ३५
 सदृशं स्वस्वरूपेण न वा रूपेण केनचित् ।
 एवरूपं जगदिदं सम्यग्ज्ञातं शिवं भवेत् ॥ ३६
 सम्यग्ज्ञानप्रभावेण विषमप्यमृतायते ।
 असम्यग्ज्ञातमशिवं जगद्भुक्त्वप्रदं परम् ॥ ३७
 विषबुद्ध्यामृतमपि भुक्तं विषरसायते ।
 ईदृशश्च यथा वेत्ति यद्यदेष चिदीश्वरः ॥ ३८
 तत्तथैवाशु भवति तादृश्रूपतया शिवः ।
 यथा ज्वाला भ्रमाज्जाता विचित्राकारविभ्रमैः ॥ ३९
 तिष्ठत्यनन्यरूपैव ब्रह्मसत्ता तथैव हि ।
 यत्परं चित्स्वरूपेण स्थितमात्मनि मन्थरम् ॥ ४०
 तत्तेन देहदेहादिर्जगदादीव लक्ष्यते ।
 केवलं परमेवैतत् परमं भासते शिवम् ॥ ४१
 अतो जगदहंतादि प्रश्न एवेति नोचितः ।
 यद्वस्तु विद्यमानं सत्प्रश्नस्तत्र विराजते ॥ ४२
 प्रेक्षितं यत्तु नास्त्येव प्रेक्षाप्रश्नेन तत्र किम् ।
 संनिवेशं विना सत्ता यथा हेम्नो न विद्यते ॥ ४३

त्वम् । ब्रह्मणः कारणाप्रसिद्धेरद्वयतया सहकारिकारणाभावाच्च
 तद्विवर्तस्याकारणकत्वमिति वैषम्यं मदभिप्रेतम् । तच्च तत्त्व-
 ज्ञानात्प्रागद्वयवस्तुसंभावनाया एवानुदयादज्ञेयबुद्धमशक्यम् ।
 त्वया त्वद्वैतं वस्तु सर्वद्वैतवाधेन तत्त्वतः परिचितमिति तत्त्व-
 बोधमित्याशयेन कुम्भ उत्तरमाह—इदानीमित्यादिना ॥ ३३ ॥
 यदि सर्वद्वैतवाधादकारणं तर्हि तत्र जगदस्तीत्युक्तेः कोऽभि-
 प्रायस्तमाह—जगच्छब्दार्थरहितमिति । ब्रह्मसत्तैव प्राग्जगति
 प्रतीता जगत्सत्ताभूत् । सा तु जगद्वाधेऽप्यस्त्येवेत्यभिप्राय
 इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ यथा व्योम्नयेव व्योम्नोऽपि सूक्ष्मतरेण माया-
 व्योम्ना निर्मितं गन्धर्वनगरं मिथ्यात्वानित्यशान्तं व्योमसत्तयै-
 वास्ति । यथाऽऽन्येऽपि नभसि तद्विरुद्धं शून्यत्वं तत्सत्तयै-
 वास्ति । तथा ईश्वरे मायाशब्दे ब्रह्मणि जगदित्यर्थः ॥ ३५ ॥
 स्वस्वरूपेण चैतन्यैकरसेन सदृशं चिद्रूपमेव सम्यग्ज्ञातम् ।
 अथवा केनचिद्रूपेण जडरूपेण वा न सदृशं शून्यमेवेति शर्तं
 सत्त्वं शिवं ब्रह्मैव भवेत् ॥ ३६ ॥ तन्वक्षिदं कथं शिवं भवेत्त-
 त्राह—सम्यग्ज्ञानमिति ॥ ३७ ॥ ईदृशः विद्यासहायोऽविद्यासहायो
 वा ॥ ३८ ॥ यथा ज्वाला तिमिरादिनेत्रदोषविभ्रमैः केशोद्भू-
 कादिरूपेण विचित्रा जाताप्यनन्यरूपेणैव तिष्ठति ॥ ३९ ॥
 यच्चित्स्वरूपेण स्थितं परं ब्रह्म तदेवात्मनि मन्थरं मन्दप्रबोधं
 सत्तैर्वाप्रबोधेन निमित्तेन ॥ ४० ॥ ४१ ॥ बोधदात्रे तु
 'शिवे शान्ते' इत्यादिलक्षितप्रश्नस्यानवकाश एवेत्याह—अत-
 इति । इति 'ब्रह्मदर्शनदृश्याकृत्यो विश्वात्मा प्रत्ययः 'कृतः' इति
 प्रश्न एव नोचितः ॥ ४२ ॥ यदि जगन्नास्त्येव तर्हि कथं तत्
 प्रेक्षास्पष्टमनुभूयत इति प्रश्नोऽपि न कार्य इत्याह—प्रेक्षित-

तथा जगदहंभावं विना नेशस्य संस्थितिः ।
 अकारणत्वाद्भास्तीदं ब्रह्मैवेत्यं विजृम्भते ॥ ४४
 अजृम्भमाणमेवेदं जगत्त्वेनेव संस्थितम् ।
 यन्मया एव तेनैव मिथः संप्रेरिताशयम् ॥ ४५
 चमत्कुर्वन्त्यमी भावाः पञ्चके मिथुनौघवत् ।
 चिन्मात्र एव चिन्मात्रं चिन्मात्रेणावधीयते ॥ ४६
 नानात्मनैव नानेव स्वात्मज्ञानात्मनात्मवत् ।
 पूर्णात्पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात्पूर्णानि चक्रिरे ॥ ४७
 भवन्ति पूर्णात्पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते ।
 चिन्मात्रमेव कचति यच्चिन्मात्रमयात्मनि ॥ ४८
 अकचित्वैव तन्नाम कचितं सर्गवेदनम् ।

अहं चिता चिदेवादौ भवतीव स्वयं ततः ॥ ४९
 अमवन्त्येव रूपं स्वमत्यजन्ती निरामयम् ।
 तेजोमयमनाद्यन्तं मनोरूपमनन्तकम् ॥ ५०
 सम्राट्संसारमाभासि भवतीव स्वयं वपुः ।
 पश्यत्यथ सदेवेदं स्वरूपत्वात्सदेव वा ।
 भावनाद्भूततामेति इदं भवति च क्षणात् ॥ ५१
 शान्तं जगत्प्रसररूपतया स्वभाव-
 शब्दार्थमुक्तमिदमव्यपदेश्यमेकम् ।
 वस्तु स्थितं निजचमत्करणावलोक-
 रूपं जगत्स्वरहितानुभवात्मतत्त्वम् ॥ ५२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० पू० चू० शिखिध्वजावबोधनं नाम षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमः सर्गः ९७

कुम्भ उवाच ।

हेह्यस्ति देशकालान्ते इत्थं जन्यजनिक्रमः ।
 न किञ्चिज्जायते शान्तान्न किञ्चित्प्रविलीयते ॥ १

मिति । तादृशप्रेक्षाया निर्विषयत्वे कथमिति प्रष्टव्यप्रकारस्यैवा-
 भावादित्यर्थः ॥ ४३ ॥ संस्थितिः प्रस्राहति शेषः ॥ ४४ ॥
 ननु यदि पृथिव्यादयो न सन्त्येव तर्हि कथं 'यः पृथिव्या
 तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं
 यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इत्यादि-
 श्रुतेरन्तर्यामिणेश्वरेण प्रेर्यमाणा एव सर्वे भावाः स्वस्वकार्ये
 चमत्कुर्वन्तीति वैदिकसिद्धान्तस्तत्राह—यन्मया एवेति । मा-
 याशबलेश्वरमयाः सर्वे भावास्तेन मायाशबलेश्वरेणैव माययैव
 मिथः सामग्र्यात्मना मेलनाय संप्रेरिताः सन्तः पञ्चभूतात्मके
 पिण्डे मायिकमेव तत्तत्कार्यचमत्कारं कुर्वन्ति । यथा मिथु-
 नानि स्त्रीपुंसयुग्मानि यौवने काममयानि कामेन प्रेरितानि
 परस्परं संगोगेन पुत्राद्युत्पादनेन चमत्कुर्वन्ति । यथा वा बी-
 जानि भूस्थानि वर्षोदकेन प्रेरितान्यद्गुरोदयाच्चमत्कुर्वन्ति तद्व-
 दिति परेणान्वयः ॥ ४५ ॥ तथा आधृतचिन्मात्रमेव चिन्मा-
 त्रेण मायिकेन नानात्मनैव नानेव भूत्वा अवधीयते तत्तत्कार्य-
 रूपेण परिच्छिद्यते ॥ ४६ ॥ यथा तदेव चिन्मात्रं स्वात्मज्ञा-
 नात्मना स्वेनैव व्याप्तं पारमार्थिकात्मना चमत्कुर्वते तद्वत्
 ब्रह्मण एव ब्रह्मभूतसर्गात्मना मायिकचमत्कारे तस्यैव तत्त्वज्ञानेन
 पारमार्थिकस्वरूपावाप्तिचमत्कारे च । 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णा-
 त्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' इति श्रुति-
 मर्थत उदाहरति—पूर्णादिति । प्रलये वासनामात्रशेषेण सर्वो-
 पाधिप्रलये मायाशबले ब्रह्मण्यप्ययं प्राप्ता जीवाः कल्पादौ भोज-
 कादृष्टपरिपाके पुनः स्वस्वव्यष्टिसमष्ट्युपाधीन्सर्गेण यदुद्धरन्ति
 तत्पूर्णदपरिच्छिन्नाद्ब्रह्मणः कारणात्पूर्णान्यपरिच्छिन्नब्रह्मरूपाभ्येव
 कार्याणि माययोद्धरन्ति । स्थितिकाले च यदवान्तरकार्यजातमैहि-

स्वसत्तायां स्थितं ब्रह्म न बीजं न च कारणम् ।
 शुद्धानुभवमात्रं तत्तत्सादन्यत्र विद्यते ॥ २
 किञ्चिज्जगदहंतादि तदेवानन्तमस्ति हि ।

कामुष्मिकभोगमोक्षसाधनानि चक्रिरे तदपि पूर्णादेव पूर्णान्येव
 च मायया चक्रिरे ॥ ४७ ॥ ततो यत्तत्त्वज्ञानान्मुक्ता भवन्ति
 तदपि पूर्णादेव मायापगमात्पूर्णानि भवन्ति । सह भेदभ्रमेण
 मायापगमे पूर्णमेवावशिष्यते इति श्रुतेस्तात्पर्यार्थ इति भावः ।
 यच्चिन्मात्रमयात्मनि सर्गवेदनं कचितं तच्चिन्मात्रे चिन्मात्रमेवा-
 कचित्वैव कचितं नामेत्यत्रान्वयः ॥ ४८ ॥ अहंप्रत्यगात्मरूपा
 चिदेव सर्गादौ स्वं रूपमत्यजन्त्येवामवन्त्येव स्वतश्चिता स्वयमे-
 वानन्तकं मनोरूपं भवतीव ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ततः स्थौल्यक-
 ल्पनेनाभासि सत् स्वयंभुवः सम्राट् संसारं विराड्भावेन संस-
 रणरूपं भवतीव । अथ व्यष्टिजीवभावेनेदं जगन्नान्त्या सदेवं
 पश्यति परमार्थतोऽधिष्ठानसदेव वा जगति पश्यति तदंशे
 न भ्रान्तिरित्यर्थः । भूततां चतुर्विधभूतग्रामताम् ॥ ५१ ॥
 उक्तमुपसंहरति—शान्तमिति । एवमुक्तरीत्या शान्तं स्वभा-
 वतः शब्दार्थाभ्यां नामरूपाभ्यां मुक्तमत एवाव्यपदेश्यं स्वप्र-
 काशो योऽनुभवस्वदात्मतत्त्वमेकं वस्तु निजचमत्करणं माया-
 तदवलोककं सत् जगत् प्रसररूपतया जगदिव भूत्वा स्थित-
 मित्यर्थः ॥ ५२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे पूर्वार्धे शिखिध्वजावबोधनं नाम षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

पूर्वत्राकारणं इदं न जातमिति मार्जितम् ।

विमार्ज्यतेऽत्र यत्नेन इदंवेदनता चितः ॥ १ ॥

इत्थं विंशतितमश्लोकोक्तः समुद्रतरङ्गदृष्टान्तस्तदवान्तरवै-
 षम्यं च दृश्यमार्जनोपयोगितयोपपादितम् । इदानीमेकविंशति-
 तमश्लोकोक्तं हेमकटकदृष्टान्तं तदवान्तरवैषम्यं च तथैवोपपा-
 दनीयमिति वक्तुं कुम्भोऽनुवदति—हेह्येति ॥ १ ॥ २ ॥
 अस्तु इत्यासत्त्वं तदसत्त्वं शुद्धचित्तस्तदेदनस्वरूपताप्रतीतिः

शिखिध्वज उवाच ।

शिवे जगदहंतादि मुने नास्तीति वेदयद्दम् ॥ ३ ॥
सर्ववेदनमाभाति कथमेतद्ददाशु मे ।

कुम्भ उवाच ।

विस्तारं तदनाद्यन्तं तत्संविदिव तिष्ठति ॥ ४ ॥
तत्तद्भुवनमत्यच्छं तत्तन्मात्रं जगद्गुणः ।
न विज्ञानमयोऽर्थोऽस्ति न बाह्यो नापि शून्यता ॥ ५ ॥
वेदनामात्रसारत्वाद्यथा चित्सार उच्यते ।
द्रवत्वं सलिलस्येव चिदचित्त्वमकारणम् ॥ ६ ॥
स्वात्मनीशमनन्तं तद्यथास्थितमवस्थितम् ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदाभावतः सत्त्वभावयोः ॥ ७ ॥
असत्त्वात्तेन परमे स्वच्छभावव्यवस्थता ।
यदि कारणतापत्तियोग्यं शान्तं पदं भवेत् ॥ ८ ॥

कथमिति राजा पृच्छति—शिवे इत्यादिना ॥ ३ ॥ नभोवि-
स्तृतसौगलोकस्य तदध्यस्तगन्धर्वनगरादिप्रकाशस्वरूपताप्रती-
तिवत्तदित्याशयेन कुम्भ उत्तरमाह—विस्तारमिति । विस्तार-
थेति विस्तारं तदधिष्ठानसन्मात्रमेव तस्य स्वाध्यस्तस्य
संवेदनं संविदु प्रथेव तिष्ठति । अत एव तदध्यस्तं भुवनं तन्मा-
त्रमधिष्ठानसन्मात्रमेवेति तदेव जगद्गुण्यपदिदयत इत्यर्थः
॥ ४ ॥ अत्र विज्ञानवाची भुवनादिरूपोऽर्थ आन्तरो विज्ञान-
परिणाम एव संवृत्या बाह्यार्थवदवगम्यत इति मन्यते ।
शैतमकणादकपिलपतञ्जलिप्रभृतयो बाह्यार्थः पुथिव्यादिपञ्चभू-
समयः परमार्थभूतोऽस्तीति । माध्यमिकस्तु शून्यमेव बाह्यभ्य-
न्तरप्राह्मप्राह्मभावेन संवृत्या प्रथते न वस्तुभूतं किंचिदस्तीति ।
तन्मतान्यपाकुर्वन्नाह—न विज्ञानमय इति ॥ ५ ॥ तत्कृतस्व-
त्राह—वेदनेति । सर्वेषां वादिनां कल्पनाः सत्यां वेदनाया-
मुपपद्यन्ते नासत्यामिति न तस्याः शून्यता क्षणिकता अन्यता
विनाशिता परिणतिर्था केनचित्कचिद्भुक्तं चाक्यत इति सैव सार
इत्यर्थः । यथा चिदेव सारस्तथा उच्यते उपपाद्यते शृणु दृष्ट-
न्तम् । यथा द्रवत्वं सलिलस्य रसस्तादृशवस्तुनां चैतन्यं सारः ।
यदि चैतन्यं नाम वस्तु न स्यात्तर्हि साधकाभावात्सर्वं जग-
दस्तिनास्तीति व्यपदेशानर्हं किं स्यादिति विभाव्यतामिति
भावः । एवं रसभूतायाधितः अचित्त्वमकारणं न कारणैर्निरु-
पयितुं शक्यम् ॥ ६ ॥ तया वा तस्या जगत्प्रत्ययता कथमु-
पपादनीयेति चेत्तत्राह—स्वात्मनीति । तच्चिद्रूपं स्वात्मनि
जगदाकारेण प्रथने परमार्थविन्मात्ररूपेण वा प्रथने ईशं स्व-
शायया समर्थमतस्तद्यथा साविद्यं निरविद्यं वा यथा स्थितं
तथैव प्रतीत्याप्यवस्थितमित्यर्थः । यदि तत्स्वच्छस्वच्छोभय-
भावस्थितिसमर्थं तर्हि तस्य स्वच्छभावैकव्यवस्थता कुतस्व-
त्राह—प्रतियोगीति । सत्त्वमात्रस्य स्वभावो हि स्वच्छ-
भावः । अस्वच्छभावस्तु तद्विरुद्धभावः । स यदि स्वविरोधिनः
सत्त्वस्य व्यपच्छेदं कुर्यात् कुर्याद्वा । द्वेषापि स्वयं न तिष्ठ-
षीति सत्त्वतद्विरुद्धभावयोः प्रतियोगिव्यवच्छेदाभावादस्वच्छ-

अनिहितमनाभासमप्रतर्क्य कथं भवेत् ।
अतो न कारणं नैव धीजं ब्रह्म कदाचन ॥ ९ ॥
कार्यस्य कस्यचिन्नाम तेन सर्गो न विद्यते ।
न चान्यथोपपत्तिर्हि सर्गस्यास्योपपद्यते ॥ १० ॥
चिन्मात्रकादृते तस्माज्जडसर्गो न विद्यते ।
यदिदं दृश्यते किंचित्चिद्वनमिवोत्थितम् ॥ ११ ॥
अहंभावजगच्छब्दशब्दार्थरसरजनम् ।
कार्यं न कारणाभावात्पदार्थं तूपपद्यते ॥ १२ ॥
द्वित्वैक्याद्यात्मकं व्योमपुष्पवत्त्वानुभूतितः ।
वस्तु नाशैकनिष्ठत्वात् न वा ह्युपपद्यते ॥ १३ ॥
उपलम्भकरो नाशो जन्मनस्तस्य वा कुतः ।
अथ चैनं सदा सन्तं नित्यं नष्टं च वेत्ति वा ॥ १४ ॥
पदार्थोऽयं तदेवेत्यमेकरूपेऽपि किं व्यथा ।

तायां असत्त्वात्परमे सद्रस्तुति स्वच्छभावैकव्यवस्थता सिद्धे-
त्यर्थः ॥ ७ ॥ ननु अस्वच्छभावस्यात्यन्तापलापः किमर्थं कि-
यते । स्वच्छचिद्रूपमेवास्वच्छजगद्भावकारणतापत्तियोग्यमिति
कुतो न कल्प्यते तत्राह—यदीति । चित्कौटस्थ्यादयत्वादिपर-
श्रुतिविद्वदनुभवविरोधात्तथा न कल्प्यत इति भावः ॥ ८ ॥ ९ ॥
चिदभ्यासपक्षं विना सर्गस्योपायान्तरेणोपपत्तिरेव नास्तीत्याह-
न चेति ॥ १० ॥ उत्थितमिव ॥ ११ ॥ तस्यैककारणकमेवेदं
जगदिति यदच्छावादिपक्षं निरसति—कार्यमिति ॥ १२ ॥ यदि
सन्मात्रैकरसं तर्हि कथं जगद्विजडरूपेण सद्रूपेण च द्वित्वैक्याद्या-
त्मकं प्रतीयते तत्राह—व्योमपुष्पवदिति । स्वपुष्पवज्जडांशो
विकल्पमात्रमित्यर्थः । अस्तु तर्हि चिद्रूपमेव जगत् । तस्य नि-
द्रूपमेव ब्रह्म कारणम् । न च चिद्रूपैक्ये इदं कार्यमिदं कारण-
मिति विभाजकभावः । जन्मनाशयोरेव विभाजकत्वोपपत्ते-
स्तत्राह—वस्तिवति । न वा घटपटादिजागतं वस्तु न चिद्रूपमुप-
पद्यते । कुतः । नाशैकनिष्ठत्वात्तद्विषयतत्वात् । चितो हि नाशो
न चिता सिध्यति । नाशकाले चितः सत्त्वे नाशोऽपि निर्विषय-
त्वात् । नापि जडेन । तस्य सिद्धावप्यसमर्थत्वादित्यर्थः ॥ १३ ॥
यदि तु चितो नाशो चिद्रूप एव स्वपरप्रथायामन्यनिरपेक्ष
इति कश्चिद्भूयात्तत्राप्याह—उपलम्भकर इति । चिद्रूपः संवि-
ज्ञाशः स्वजन्मनस्तस्य स्वप्रतियोगिनो वा उपलम्भकरः प्रका-
शकः । कुतः । न हि स्वोत्पत्तिस्तत्पूर्वकालिकप्रतियोगिचिद्रा नाशो-
नोपलब्धुं शक्यते ॥ न च तदुभयानुपलम्भे तस्य नाशः स्वय-
मुत्पन्न इत्यनुमवितुं शक्यम् । न च साक्षिणा तदुभयानुभववि-
तत्विद्विषयत्वायोगादतस्तद्वैद्योत्पत्तिनाशयोर्जगतश्च जाड्यमेवेति
भावः । एवं जगतो जाड्ये सिद्धे कारणानिरूपणादकारकोत्पत्तौ
सदैव जन्म स्यान्नित्यं च नाशः स्यादुभयोरपि निवारकभा-
वात् । हे स्वभाववादिन, यदि निष्प्रमाणकमनुभवविरुद्धमपी-
त्यमेव नित्योत्पत्तिनाशस्वभावमिदं जगदिति वेत्ति अभ्युपग-
च्छसि ॥ १४ ॥ तर्हि श्रुतिविद्वदनुभवसिद्धे अखण्डचिदेककपे
तस्मिन्नुपपत्त्यर्थमाने तव किं व्यथा किमर्थं पीडयस्यः । ननु

उपलम्भस्तु यश्चायमेषा चित्तचमत्कृतिः ॥ १५
चित्तत्त्वमात्रसत्तास्ति द्वित्वमैक्यं च नास्त्यलम् ।
अतः पदार्थसत्ताया अभावे सति भूपते ॥ १६
असंभवाद्भावनास्य नाहंताभावनास्ति ते ।
अहंभावासंभवतश्चित्तमन्यत्किमुच्यते ॥ १७
इति चित्तमहंरूपं नास्त्यतो न च भिन्नता ।
निर्वासनः शान्तमना मौनी परमभोमयः ॥ १८
सदेहो वा विदेहो वा भावस्थोऽप्यचलोपमः ।
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिध्वजप्रबोधनं नाम सप्तमवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

संबन्धाच्छुद्धचिद्वृष्टेः पदार्थाभावसिद्धितः ॥ १९
भावनाभावतश्चित्ते नास्त्येवाहमिति स्वयम् ।
एवं ब्रह्मेति वेदार्थभावनादनुभूतितः ।
चेति तार्थैकसत्यत्वाच्चिन्ता नाम क विद्यते ॥ २०
तेनासि निर्मलमकारणमादिमुक्तं
तद्ब्रह्म शाश्वतमशेषमनेकमेकम् ।
शून्यं निरामयमसत्सदनादिमध्यं
सर्वं जगच्चिदपि ब्रह्म यथास्थितं तत् ॥ २१
सर्वं जगच्चिदपि ब्रह्म यथास्थितं तत् ॥ २१
सर्वं जगच्चिदपि ब्रह्म यथास्थितं तत् ॥ २१

अष्टमवतितमः सर्गः ९८

शिखिध्वज उवाच ।
चित्तं नास्तीति मे बोधो यथा युक्त्या स्फुटं भवेत् ।
तामन्यामथवा ब्रूहि बुद्धं न निपुणं मया ॥ १
कुम्भ उवाच ।
चित्तं नास्त्येव हे राजन्कदाचित्किञ्चन क्वचित् ।
यदि सर्वं विदेकरसं तर्हि कथं चिदचिद्विधोपलम्भस्तत्राह—
उपलम्भस्त्विति ॥ १५ ॥ तर्हि चिदन्यच्चित्तमेव द्वितीयं स्या-
त्तत्राह—अत इत्यादिना ॥ १६ ॥ १७ ॥ भिन्नता जीवब्रह्म-
भेदश्चिद्विद्वेदश्चित्तो दृश्यवेदनतारूपभेदश्च नास्ति ॥ १८ ॥
शुद्धचिद्वृष्टेः संबन्धालाभात् कदापि जडपदार्थानामसिद्धेस्तद्भाव-
नाप्रयुक्तमहमिति जीवरूपमपि नास्त्येवेति स्वयमात्मैव परिशि-
ष्यत इत्यर्थः ॥ १९ ॥ तादृशात्मैव 'सत्त्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ।
'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' । 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' इत्या-
दिसर्ववेदार्थस्तद्भावनादेव तदनुभवादित्यर्थः । तर्हि तच्चिन्तनत-
दनुभवात्मिका अखण्डाकारवृत्तिः सर्वं बाधित्वा स्वयं परिशि-
ष्येतेत्याशङ्क्याह—चेतितेति । ब्रह्मचिन्तनया चेतितब्रह्मार्थैक-
सत्यत्वाच्चिन्तादिवृत्तिरपि खेदबोधेन बाध्यत इति न ब्रह्मातिरि-
क्तपरिशेषप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ २० ॥ उक्तमर्थं फलेनोपसंहरति—
तेनेति । तेन सर्वद्वैतबाधेन त्वं ब्रह्मैवासि । तद्ब्रह्म अशेषमनेक-
मेकमेव संपन्नं सर्वं अगन्नासच्छून्यमेव । तत्प्रतिभासरूपा चिदपि
यथास्थितमविकृतं ब्रह्मैवेति निरामयं तदेवावशिष्टमित्यर्थः ॥ २१ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
शिखिध्वजप्रबोधनं नाम सप्तमवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

चित्तं नास्तीति बोधस्य दृढीकाराय विस्तरात् ।

चेत्यासत्त्वादचित्तं तत्सब्रह्मैवेति वर्णयते ॥ १ ॥

ननु आलोके सति रूपादेरिव सत्येव चित्ते चित्तस्वदन्यस्य वा
प्रथा दृश्यते नास्ति । तथैव चित्तं ब्रह्माकारवृत्तिकं बाध्येत
तर्हि दीपनाश इव पुनरान्धं प्राप्तम् । किञ्च सचित्ता एव
सचेतना अचित्तास्त्वचेतना लोके प्रसिद्धास्तथैव जीवन्मुक्ता नष्ट-
चित्तास्तर्हि मृदादिवदचेतनाः संपयेरन् । न च तथा दृश्यन्ते ।
किञ्च सति चित्ते निरतिशयानन्दलक्षणः परमपुरुषार्थः
शास्त्रफलमनुभविष्यं शक्यं नास्ति । न चाननुभूयमानः कश्चि-

यच्चेदं चित्तवद्भाति तद्ब्रह्माभिधमव्ययम् ॥ २
अतोऽज्ञानात्मकं यत्तज्जगदेव न विद्यते ।
तत्राहंत्वंतदित्यादिकल्पिताः कलनाः कुतः ॥ ३
नास्त्येव जगदेवेदं यच्चेदं किञ्चनोदितम् ।
ब्रह्मैवास्तीह सकलं केन तद्बुध्यते कथम् ॥ ४

तपुरुषार्थो नाम भवति । किञ्च ब्रह्माकारं चित्तमेव चित्तं बाधते
अन्यद्वा । नाशः । स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न हि दातॄं दद-
न्मिः स्वात्मानं दग्धुं शक्नोति । न द्वितीयः । तद्बाध्यस्य जग-
तस्तद्बाधकत्वायोगात् । चित्तवृत्त्यतिरिक्तस्य लोके बाधकत्वा-
प्रसिद्धेः सुन्दोपसुन्दन्यायानवतारात् । ब्रह्माणस्त्वनादेः सर्वसा-
धकत्वमेव न बाधकत्वमिति चित्तबाधो निरर्थको दुष्करः सर्वा-
नुभवपराहृतश्चेत्याद्याशङ्कानिरासेन बोधदाढ्यकामो राजा प्र-
च्छति—चित्तमिति । तां प्रागुक्तामेव युक्तिं विशदीकृत्य
ब्रूहि । अथवा तदन्यां तदुपयुक्तां मदीयसर्वाशङ्कानिवारणसं-
मर्या च युक्तिं श्रूहीत्यर्थः । निपुणं ब्रह्म ॥ १ ॥ तत्र सर्वदो-
षपरिहारेण चित्तबाधोपपादिकां युक्तिं ब्रूहि कुम्भश्चित्तासत्त्वं
तदधिष्ठानब्रह्मात्रसत्त्वं च प्रतिजानीते—चित्तमिति । कदा-
चित्काले क्वचिद्देशे किञ्चिद्वस्त्वात्मना च चित्ते नास्ति ॥ २ ॥
तां युक्तिमाह—अत इति । यतः सर्वं चित्तादि जगदज्ञानात्मकं
ज्ञानेनाज्ञानबाधेन हेतुना न विद्यते अतो हेतोरित्यर्थः । अयं
भावः—भवेदयं स्वात्मनि क्रियाविरोधो यथाज्ञानबाधाचित्तादि-
बाधोऽन्यः स्यात् । अज्ञानबाध एव तु सर्वतत्कार्यतत्संबन्धाव-
रणविक्षेपादिसर्वनिवृत्तिरूपस्तस्मिन्सति चित्तं नास्त्येवेति प्रति-
ज्ञातार्थोऽर्थसिद्ध एव । अत एव न पुनरान्ध्यादिदोषप्रसक्तिर-
ज्ञानस्यैव सर्वान्धप्रयोजकस्यापगमात् । स्वप्रकाशपूर्णानन्दपरि-
शेषेण निरतिशयपुरुषार्थसिद्धेः । न च चित्ताधीना चेतनता किं-
त्वभिव्यक्तचिदधीना । सा च जीवन्मुक्तेषु चित्तनाशेऽप्यस्त्येवेति
नाचेतनत्वप्रसङ्गः । न च चित्तनाशे तत्कृतां चिदभिव्यक्तिरपैति ।
अनुभिव्यक्तेरज्ञानावरणकृतत्वेन तदपगमे चित्तोऽभिव्यक्तेः स्वा-
भाविकत्वेनानपायात् । न हि वायुना घनापसारणेन कृता सूर्या-
भिव्यक्तिः शरदि वायुपरमे अपैतीति सर्वदोषपरिहार इति
॥ ३ ॥ प्रथमप्रतिज्ञां समर्थिता निगमय्य द्वितीयामुपादत्ते—

महाप्रलयसर्गादावेवेदं नोदितं जगत् ।
 निर्देशस्त्वित्यत्र त्वद्वोधाय मया कृतः ॥ ५
 उपादानात्मकादीनां कारणानामभावतः ।
 अकारणं च भावानामशेषाणां त्वसंभवात् ॥ ६
 एवमज्ञानबुद्ध्यात्म जगत्तत्साज्ज विद्यते ।
 तत्साद्यदिवभाभाति मास्रनं ब्रह्म नेतरत् ॥ ७
 अनाख्येऽनाकृतौ देवे करोतीदमिति त्वसत् ।
 भाषितं नोपपत्त्यात्म न सत्यं नानुभूयते ॥ ८
 अनाख्योऽप्रतिघः स्वात्मा निराकारो य ईश्वरः ।
 स करोति जगदिति हासायैव वचोऽधियाम् ॥ ९
 अनेनैव प्रयोगेण राजंश्चित्तं न विद्यते ।
 जगदेव न सत्साधो कृताश्चित्तादि तद्रतम् ॥ १०
 चेतो हि वासनामात्रं वास्ये तु सति वासना ।
 वास्यं जगत्तदेवासदतश्चित्तास्तिता कुतः ॥ ११
 यदिदं कचति ब्रह्म स्वयमात्मात्मनात्मनि ।
 कृतं तस्यैव तेनैव चित्तमित्यादिनामकम् ॥ १२
 जगद्दृश्यमिदं वास्यं तदेवोत्पन्नमेव नो ।
 कारणाभावतः पूर्वमेवातश्चित्ता कुतः ॥ १३
 अतश्चिद्व्योममात्रात्म परमाकाशनामकम् ।
 स्फारं वेदनमेवेदं कचत्यस्ति कुतो जगत् ॥ १४

नास्त्येवेति । तत्समर्थनाय 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्सत्केन
 कं पश्येत्' इति श्रुतिं प्रमाणयति—केनेति ॥ ४ ॥ 'न नि-
 शेधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः' इति श्रुतिरपि तत्र
 मानमित्याशयेनाह—महाप्रलयेति । महाप्रलयः प्राकृतस्तदु-
 त्तरे पुराणादिप्रसिद्धे सर्गादौ यदि नोदितमेव तर्हि चित्तं ना-
 स्त्येवेति प्रतिज्ञावाक्ये त्वया कथं यथेदं वित्तवद्भातीति निर्देशः
 कृतस्तत्राह—निर्देशस्त्विति ॥ ५ ॥ पूर्वोक्तयुक्तिरप्येत-
 त्साधनसमर्थेत्याशयेनाह—उपादानेति ॥ ६ ॥ द्वितीयप्रतिज्ञां
 निगमयति—तस्मादिति ॥ ७ ॥ ननु यदि सर्गादि नास्त्येव
 तर्हि 'तदात्मानं स्वयमकुर्वत्' 'एको बशी सर्वभूतानुरात्मा'
 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' 'कर्ता भोक्ता महेश्वरः' इत्यादि-
 श्रुतिसृष्टिवादानां का गतिरिति चेत् 'नेह नानेति' श्रुत्यपेक्षितनिषे-
 धसमर्पणेनाद्वैतव्युत्पादनार्थवादतैव गतिर्न तत्त्वार्थतेत्याशये-
 नाह—अनाख्ये इति । अनाख्ये नामरहिते अनाकृतौ रूपर-
 हिते शुक्तिरन्यत्वाभोपपत्त्यात्म निष्कलं निष्क्रियमित्यादिता-
 त्विकश्रुतिविद्वदनुभववाधितत्वाज्ज सत्यं लौकिकैरपि नानुभू-
 यते ॥ ८ ॥ शीतपातादिप्रतिघातवारणाय गृहादिनिर्माणं
 प्रसिद्धम् । ईश्वरस्त्वप्रतिघः करोतीति अधियां तात्पर्यशून्याना-
 मर्थवादानां सर्वज्ञस्य वृथा चेष्टोक्तिर्हासायैवेत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवं
 जगत्सर्गासिद्धौ प्रतिज्ञातार्थसिद्धिरित्याह—अनेनैवेति । यदा
 जगदेव न सत्तदा तदन्तर्गतं चित्तादि कुतः सदित्यर्थः ॥ १० ॥ जग-
 दसत्त्वे विषयासत्त्वादपि चित्तासत्त्वविद्धिरित्याह—चेतो हीति ।

यत्किञ्चित्परमाकाश ईषत्कचकचायते ।
 चिदादर्शे न जातत्वाज्ज चित्तं नो जगत्क्रिया ॥ १५
 अहं त्वं जगदित्येषा प्रतिपत्तिर्न वास्तवी ।
 मिथ्या स्वप्न इवाभाति नूनं मेऽशेषकारिणी ॥ १६
 वास्यस्य जगतोऽभावाद्यतो नास्त्येव वासना ।
 अतस्तदात्मकं चित्तं कीदृशं क कुतः कथम् ॥ १७
 अग्रबुद्धैरवगतं चित्तं दृश्यमिदं जगत् ।
 असञ्चित्तं निराकारं पूर्वमुत्पन्नमेव नो ॥ १८
 नोत्पन्नं कारणाभावात्सर्गादावेव सर्वदा ।
 लोकशास्त्रानुभवतो न च दृश्यस्य वस्तुनः ॥ १९
 अनादित्वमजत्वं वा स्वैर्यं चाप्युपपद्यते ।
 साकारस्यास्य जगतः स्थूलस्य प्रतिघाकृतेः ॥ २०
 समस्तकारणाभावाल्लोकशास्त्रानुभूतिभिः ।
 युज्यन्ते च निराकर्तुं न महाप्रलयादयः ॥ २१
 शास्त्रानुभववेदार्थसिद्धान्तैस्ते प्रयोऽपि वा ।
 प्रलयाश्च न सन्तीति वक्तुं युज्यन्ते क एव च ॥ २२
 लोकः शास्त्राणि वेदाश्च प्रमाणं यस्य नो मतेः ।
 असङ्ख्यो ह्यतिमूढः स सज्जनस्तं न संश्रयेत् ॥ २३
 न च सप्रतिघस्यास्य दृश्यस्याप्रतिघं कचित् ।
 कारणं भवितुं शक्तं साकारस्य निराकृति ॥ २४

वास्ये वासनाकर्मणि विषये ॥ ११ ॥ तर्हि चित्तादिव्यवहारस्य
 को विषय इति चेन्मायोपहितं ब्रह्मैवेत्याह—यदिदमिति ।
 नात्रां संघो नामकम् ॥ १२ ॥ 'चेतो हि वासनामात्रम्' इति
 श्लोकं व्याचष्टे—जगदिति । दृश्यं वास्यमिति दर्शनानुसारिणी
 वासनेति द्योतनार्थम् । कारणाभावत इति विषयभावे निर्विष-
 यवासनास्थित्ययोगादिति भावः ॥ १३ ॥ 'यदिदं कचती'ति
 श्लोकमपि परमार्थदशा तत्कलवर्णनपरतया व्याचष्टे—अत
 इति ॥ १४ ॥ मायातत्त्वदशापीति व्याचष्टे—यत्किञ्चिदिति ।
 परमाकाशरूपे चिदादर्शे यत्किञ्चिदनिर्वचनीयमायारूपम् । ईष-
 दत्यल्पम् ॥ १५ ॥ अशेषानर्थकारिणी अहं जगदित्येषा प्रति-
 पत्तिर्मे तत्साक्षिणो मम स्वप्नवन्मिथ्यैवाभाति । नूनं निश्चयेने-
 त्यर्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ यदि नोत्पन्नं तर्हि जगदनादि-
 नित्यमेव किं न स्यात्तत्राह—लोकेति । दृश्यस्य वस्तुनः अना-
 दित्वं जन्मादिविक्रियारहितत्वं वा कौटस्थ्यं वा लोकतो वा
 शास्त्रतो वा स्त्रानुभवतोऽपि वा नोपपद्यत इति परेणान्वयः
 ॥ १९ ॥ साकारस्य स्थूलस्य प्रतिघातयोग्याकृतेऽस्य जगतो
 लोकशास्त्रानुभूतिभिः सिद्धा महाप्रलयादयो व्युत्क्रमेणाप्रल-
 यान्ता विकारा न निराकर्तुं युज्यन्ते निराकरणोपपादकसमस्त-
 कारणाभावादित्यन्वयः ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ लोकवेद-
 मर्यादोलङ्घने शिष्टैर्बहिष्कार्यतैव स्यादित्याह—लोक इति ।
 असङ्ख्यः केवललोकमात्राभ्येभ्यश्चार्वाकेभ्योऽप्यतिमूढः ॥ २३ ॥
 तर्हि श्रुत्युक्तवद्वकारणतापक्ष एवाभ्युपगम्यतां तत्राह—

इत्थमालक्ष्यमाणं तत्तदेवं सततं मुने ।
न च नार्थक्रियाकारि भवेत्तेतथमिदं जगत् ॥ २५
तस्मादिदं निरंशस्य चिद्व्योम्नोऽप्रतिघाकृतेः ।
निराकृतेरनन्तस्य पूर्वात्पूर्वनिरंशतः ॥ २६
ब्रह्मणः सर्वरूपस्य शान्तस्यात्तस्य यत्समम् ।
स्वत एवात्मकचनं सर्गप्रलयरूपधृक् ॥ २७
स्वकं वपुश्च तेनैव ज्ञातं जगदिव क्षणात् ।

क्षणान्तरानुबुद्धं सद्ब्रह्मैवास्ते निरात्मनि ॥ २८
ब्रह्मैवेदमतः सर्वं क्वचित् जगदादिधीः ।
क्वाचित्तादि क्वचित्तादि क्व हैतैक्यादिकल्पना ॥ २९
सर्वं निरालम्बमजं प्रशान्त-
मनादिरित्यात्म यथास्थितं सत् ।
इदं तु नानेव न चाप्यनाना
यथास्थितं तिष्ठ सुकाष्ठमौनम् ॥ ३०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिध्वजावबोधनं नामाष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

एकोनशततमः सर्गः ९९

शिखिध्वज उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्महामुने ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहो विश्रान्तमतिरात्मवान् ॥ १
ज्ञातज्ञेयो महामौनी तीर्णमायामहार्णवः ।
शान्तोऽहमनहंरूपो ह्यः स्थितोऽस्मि निरामयः ॥ २
अहो नु सुचिरं कालं प्रभ्रान्तोऽहं भवाम्बुधौ ।
स्थानमक्षयमक्षुब्धमधुना प्राप्तवानहम् ॥ ३
एवं स्थिते मुने नास्ति साहंतादिजगन्नयम् ।
मूर्खबुद्धमिदं भाति यच्चद्ब्रह्मेति वैश्यहम् ॥ ४

कुम्भ उवाच ।

जगदेव न यत्रास्ते तत्राहंत्वंविभासनम् ।

न चेति ॥ २४ ॥ निराकारब्रह्मकारणत्ववादिन्यास्तु श्रुतेः
'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादिबादरायणन्यायेन ज-
गतो ब्रह्मतात्त्विकस्वभावतायामेव तात्पर्यमिति प्रागुक्तमेव ।
इत्थं ब्रह्मभात्रतया आलक्ष्यमाणं जगद्यवहारे मूर्तत्वानपगमा-
दर्थक्रियासमर्थं भवत्येवेति न लोकविरोधः । परमार्थतो ब्रह्मी-
भूतमेवेति न मूर्खदृष्टिप्रसिद्धरूपमतो न वेदविरोधोऽपीत्याशये-
नाह—इत्थमिति । इत्थमप्रसिद्धरूपम् ॥ २५ ॥ इदानीं सर्व-
सर्गश्रुतीनां नेतिनेतीत्यादितद्विराकरणश्रुतीनां च तात्पर्यं पि-
ण्डीकृत्योपसंहरति—तस्मादित्यादिभिः । पूर्वात्पूर्वं च तजि-
रंश्च च तस्येति पूर्वात्पूर्वनिरंशतः । षष्ठ्यन्तात्सार्वविभक्तिक-
स्तसिः ॥ २६ ॥ सर्वरूपस्य पूर्णस्वभावस्य ब्रह्मणः स्वतो वि-
नैव शास्त्रं यदात्मकचनं तत्स्वकं वपुः स्वरूपमेव सर्गप्रलयरूप-
धृक् जगदिव क्षणं यावदज्ञानकालं ज्ञातमिति सर्वसृष्टिश्रुतीना-
मर्थः । तदेव स्वरूपं क्षणान्तरे तत्त्वमस्यादिशास्त्रमनुसृत्य बुद्धं
सद्ब्रह्मैव निर्गतद्वैतात्मनि स्वभावे आस्ते इति नेतिनेतीत्यादिद्वै-
तनिषेधश्रुतेस्तात्पर्यार्थ इति बोध्यम् ॥ २७ ॥ २८ ॥ अतः
शास्त्रीयबोधात् ॥ २९ ॥ एवं ज्ञातं सर्वं जगत्प्रशान्तं सच्चि-
रालम्बं निराधारमजं यथास्थितं सद्ब्रह्मैव । इदमज्ञदृष्टरूपं तु अ-
त्यन्तासरवाजाना अनानापि च न । अतो यथास्थितं व्यवहरं-

इत्थमम्बरसंसारः क्व कुतः कीदृशः कथम् ॥ ५
यथास्थितव्यवहृतिर्मौनी शान्तमना मुनिः ।
सौम्यार्णवोदरावर्तपरिस्पन्दवदाख भो ॥ ६
ब्रह्मरूपमिदं शान्तमित्थमस्ति यथास्थितम् ।
अहं जगदिदं चेति शब्दार्थात्म नभोमयम् ॥ ७
इदमाद्यन्तरहितं सर्वं संसारनामकम् ।
चिच्चमत्कृतिनामात्म नभः कचकचायते ॥ ८
संनिवेशदृशः शान्तौ तदस्ति कनकं यथा ।
जगदाद्यर्थसंशान्तौ ब्रह्मेदं विद्यते तथा ॥ ९
यथा स्वयंभूः संकल्पः स्वयं नाम तथैव हि ।
एतौ स्ववेदनायत्तौ बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ ॥ १०

स्तत्त्वतः सुकाष्ठमौनो वागादिव्यापारशून्यस्तिष्ठेत्यर्थः ॥ ३० ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
शिखिध्वजावबोधनं नामाष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

प्रबुद्धोऽपि नरेन्द्रोऽत्र भूयः कुम्भेन बोध्यते ।

स्थूणानिखननन्यायादोद्धोऽस्य सुदृढोऽस्त्विति ॥ १ ॥

एवं बोधितो राजा उपदेशजन्यज्ञानेन सर्वसंदेहादिबीजं
स्वाज्ञानं नष्टमित्यभिलष्य दर्शयति—नष्ट इत्यादिना । विस्मृता-
त्मनः साक्षात्कार एव स्मृतिरित्युच्यते ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥
मूर्खबुद्धमिदं साहंतादिजगन्नयं नास्ति ॥ ४ ॥ कुम्भस्तदुक्तमे-
वानुमोदमान उवाच—जगदेवेत्यादि । अम्बरसंसारो गन्धर्वन-
गरव्यवहारः । किञ्चिन्नान्यधिकरणनिमित्तदृष्टान्तप्रकारप्रतिक्षेपा-
र्थानि ॥ ५ ॥ सौम्यार्णवोदरे प्रशान्तो य आवर्तपरिस्पन्दस्तद्व-
दाख तिष्ठ ॥ ६ ॥ शब्दार्थात्म शब्दार्थस्वरूपं तु नभोमयं शून्य-
मेव ॥ ७ ॥ चिच्चमत्कृतिनामकं यदात्मरूपं नभस्तदेव कच-
कचायते स्त्रचाकचक्येन दीप्यते ॥ ८ ॥ यथा नभसि अवाद्-
मुखीकृतेन्द्रनीलकण्ठाहाकारसंनिवेशदृष्टेर्विवेकदृशा शान्तौ तद्या-
प्तसौरालोककचनमस्त्येव तथैवेत्यर्थः ॥ ९ ॥ यथा समष्ट्यहं-
कारात्मा स्वयंभूः संकल्पमात्रं तथा स्वयं व्यष्ट्यहंकारोऽपि ।
एतौ समष्टिव्यष्टिबन्धस्त्वन्मोक्षखेलेतौ तदभिमानतत्परित्याग-

देशान्वये नित्यसापेक्षत्वात्समासः । अथवा पञ्चम्यङ्गु छान्दसः ।

अहमित्येव संकल्पो बन्धायातिविनाशिने ।
 नाहमित्येव संकल्पो मोक्षाय विमलात्मने ॥ ११
 यद्वन्धमोक्षसंकल्पशब्दार्थानां सदा सताम् ।
 स्वरूपवेदनं तत्सत्केवलत्वं च कथ्यते ॥ १२
 अतद्वेदनं सिद्धिरहंवेदनमापदः ।
 सोऽहमेवानहमिति शुद्धबोधो भवात्मवान् ॥ १३
 असंकल्पनमात्रेण सम्यग्ज्ञानोदयात्मना ।
 संकल्पः क्षीयते सिद्धौ स्वयमेवासदात्मकः ॥ १४
 अप्रतर्क्यं स्वरूपे हि नास्ति कारणता शिवे ।
 कारणाभावतः कार्यपदार्थोऽपि न विद्यते ॥ १५
 पदार्थाभावसंसिद्धौ वेदनं नोपपद्यते ।
 कारणाभावतो नित्यमहंभावस्य नोदयः ॥ १६
 अहंभावानुदयतः संसारः कस्य कीदृशः ।
 संसाराभावतः सर्वं परमेवावशिष्यते ॥ १७
 यदिदं भासते तत्सत्परमेवात्मनि स्थितम् ।
 परं परे परापूर्णं सममेव विजृम्भते ॥ १८
 तेन निस्तिमितं सर्वं शिलाकीर्णमिवाचलम् ।
 विद्धि रश्मिमयाकारमिव ब्रह्म जगत्स्थितम् ॥ १९
 पुरः संकल्पके नष्टे संकल्पनगरस्य यत् ।

वेदनायत्तौ ॥ १० ॥ तदेव स्पष्टमाह—अहमित्येवेति ॥ ११ ॥
 कोऽसौ मोक्षसमाह—यदिति । सदा पर्यायेण सतां बन्धमो-
 क्षसंकल्पानां साक्षिभूतं स्वरूपवेदनं तदेव सद्ब्रह्म कैवल्यं कै-
 वल्यं च कथ्यते इत्यर्थः ॥ १२ ॥ सिद्धिमोक्षः । आपदो बन्धः ।
 स स्वमहमेवानहमिति शुद्धकैवल्यात्मबोधवान्भव ॥ १३ ॥ शुद्ध-
 बोधश्च संकल्पक्षयात्सिध्यतीत्याह—असंकल्पनेति ॥ १४ ॥
 शुद्धस्य कारणत्वासंभवाद्दृश्यपदार्थाभावस्तदभावनिश्चयात्संकल्प-
 क्षयः संकल्पनाशादहंभावक्षयस्तत्क्षयाज्जीवभावादिसंसारक्षय-
 स्तत्तस्य ब्रह्ममात्रावशेष इति क्रममाह—अप्रतर्क्य इति त्रिभिः
 ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ आगमि यदिदं जगदाकारेण भासते
 तत्परमार्थतो ब्रह्मैव तथा स्थितं तत्त्वबोधेन च नापूर्वं किंतु परे
 स्वभावे स्थितं परमेव परेणापूर्वं समं स्वरूपमेव विजृम्भते
 प्रकटीभवति ॥ १८ ॥ तेन सर्वैकरूपत्वेन हेतुना । वज्रशिलया
 कीर्णं निविडितं वज्रशिलोदरमिवाचलं दृढम् । तत्र च यज्जग-
 त्स्थितं तद्वज्रमणिरश्मिमयप्रतिबिम्बाकारसहस्रमिव ॥ १९ ॥
 मुक्तौ तर्हि कथं स्थितं तदाह—पुर इति । सदैव सदैवदर्शना-
 दसन्मयम् ॥ २० ॥ कथं तर्ह्यचले जगत्स्यन्दप्रत्ययस्तत्राह—
 छायेति । यथा वज्रशिलोदरे प्रतिबिम्बपुरुषोऽस्पन्दमान एव
 स्पन्दते तद्वत्स्पन्दि ॥ २१ ॥ सम्यग्ज्ञानप्रबोधस्योदये चाद्या
 रूपालोका आन्तरा मनस्काराश्च नीरसा निःसारा इत्यागमप्र-
 माणजा स्थिरभावना भवति तामेव निर्वाणहेतुत्वाच्चिर्वाणं विदुः

रूपं तद्विद्धि जगतः खादच्छं सदसन्मयम् ॥ २०
 छायापुरुषवत्स्पन्दि शान्तं निर्मननं जगत् ।
 जगच्छब्दार्थरहितं यः पश्यति स पश्यति ॥ २१
 रूपालोकमनस्कारा नीरसागमभावना ।
 सम्यग्ज्ञानावबोधस्य निर्वाणं वै विदुर्वुधाः ॥ २२
 यथास्ति चातो निःस्पन्दो यथास्ति खगतोपि वा ।
 यथा हेमासंनिवेशमस्ति ब्रह्म जगत्तथा ॥ २३
 नीरसा असदाभासा जगत्प्रत्ययकारिणः ।
 रूपालोकमनस्काराः सन्तीमे ब्रह्मरूपिणः ॥ २४
 ऊर्मिशब्दार्थरहितं आदृगम्बु बहून्यपि ।
 सर्गशब्दार्थरहितं तादृग्ब्रह्म निसर्गवत् ॥ २५
 सर्ग एव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव सर्गदृक् ।
 सर्गशब्दार्थरहितो वाक्यार्थस्त्वेष शाश्वतः ॥ २६
 ब्रह्मशब्दार्थसंपत्तौ सर्गशब्दार्थधीः कृता ।
 सर्गशब्दार्थसंसिद्धौ ब्रह्मशब्दार्थधीः कृता ॥ २७
 समस्तशब्दशब्दार्थभावनाभावनोदयम् ।
 शुद्धं तिष्ठति चिद्धोम ब्रह्मशब्देन कथ्यते ॥ २८
 सम्यग्दर्शनसंसिद्धाबुभयोरप्यवेदने ।
 यच्छिष्टमजरं शान्तं ततो वाग्विनिवर्तते ॥ २९

॥ २२ ॥ 'जगच्छब्दार्थरहितं यः पश्यति स पश्यती'ति यदुक्तं
 तदुद्यन्तैर्विवृणोति—यथेति । खगतः प्रकाशो यथा शीपाद्या-
 कारसंनिवेशं विनास्ति यथा वा कटकादिसंनिवेशनिर्मुक्तं हे-
 मास्ति तथा जगदप्यसंनिवेशं ब्रह्मास्तीति संभावनीयमित्यर्थः
 ॥ २३ ॥ 'रूपालोकमनस्कारा' इत्येतदपि विवृणोति—नीरसा
 इति । ब्रह्मरूपिणो बोधाब्रह्मभूतस्य जगतो जगत्प्रत्ययकारिणो
 रूपालोकमनस्कारा नीरसाः । कोऽर्थः । असदाभासा भवन्तीत्यर्थः
 ॥ २४ ॥ यथा बहून्यपि तरङ्गादीनि समुद्रे ऊर्मिशब्दार्थरहित-
 मम्बुमात्रं भवन्ति तथा बहून्यपि वस्तुनि ज्ञानोदये निसर्गव-
 द्ब्रह्मैकमेव भवन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥ सर्गशब्दार्थमेवमाधे सर्ग-
 परब्रह्मणोरैक्यमेवेति व्यतिहारेण ब्रह्मयति—सर्ग एवेति । हि
 यस्मात् एष एव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रौतवाक्यार्थ-
 ॥ २६ ॥ बृंहणाद्ब्रह्मेति ब्रह्मशब्दस्यार्थसंपत्तावेव सर्गशब्दार्थ-
 धीर्लोकं कृता । एवं सर्गो नामरूपयोर्निसर्गस्याग इति सर्ग-
 शब्दार्थसंपत्तौ त्रिविधपरिच्छेदनिवृत्तेर्बृहत्वात्पर्यानुसारिब्रह्मश-
 ब्दार्थता कृतेत्यनयोरेकार्थतैवेत्यर्थः ॥ २७ ॥ ब्रह्मशब्दस्य
 तदीशब्दे वस्तुनि कथं प्रवृत्तितत्राह—समस्तेति । अल्पस्यापि
 परिच्छेदस्याभ्युपगमे बृहत्वात्पर्यसंकोचापत्तेरशब्दशब्देमेव ता-
 दृशमेव ब्रह्मशब्देन कथ्यत इत्यर्थः ॥ २८ ॥ अथवा जगच्छ-
 ब्दस्यैव ब्रह्मशब्दस्यापि भाव्यार्थवेदनोत्तरं लक्षणया अस्त्यर्थ-
 सम्यग्दर्शनसंसिद्धौ यच्छिष्टं वस्तु ततो ब्रह्मशब्दादिनागमि

संशान्तसर्वात्मकवेदनौघ-

मस्तीदमेकात्मकस्वरूपम् ।

यथास्थितं सर्वजगत्स्वरूपं

पाषाणरूपं च परं ह्यरूपम् ॥

३०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिध्वजावबोधनं नामैकोनशततमः सर्गः ॥९९॥

शततमः सर्गः १००

शिखिध्वज उवाच ।

एवं चेत्तन्महाबुद्धे यादृशं कारणं परम् ।

कार्यं तादृशमेवेदं जगदित्येव वैश्यहम् ॥

कुम्भ उवाच ।

यत्र कारणता तस्य कार्यं तदुपपद्यते ।

यन्न कारणमेवादौ तस्मात्कार्यं कुतो भवेत् ॥

नेहास्ति कारणं किञ्चिन्न च कार्यं कदाचन ।

विद्यमानमिदं सर्वं सर्वं शान्तमजं जगत् ॥

जायते कारणात्कार्यं यत्तत्कारणवद्भवेत् ।

यन्न जायत एवेह तस्मिन्सदृशता कुतः ॥

बीजमेव न यस्यास्ति तत्कथं वद जायते ।

अप्रतर्क्यमनाख्यं च यत्तस्य केव बीजता ॥

देशकालवशात्सर्वे हेतुमन्तः प्रमाणगाः ।

अकर्तृब्रह्मविषयः प्रमा कारणयोः कथम् ॥

१

२

३

४

५

६

अकर्तृकर्मकरणे नास्ति कारणता शिवे ।

तस्मात्तत्कारणं नास्ति जगच्छब्दार्थवेदनम् ॥

७

ब्रह्मैव त्वं स्वरूपं सद्यत्स्थितं धारयस्व तत् ।

असम्यग्दर्शिविषयं तदेव जगदाचितम् ॥

८

चिन्मात्रमजरं शान्तं यदेकं तत्प्रमीयते ।

तेनैवायं जगद्ब्रह्म सच्छान्तं बुद्ध्यते वपुः ॥

९

अन्यथैव च यो भावश्चेतसः पृथिवीपते ।

स एव नाशः कथितः स्वानुभूतश्च पण्डितैः ॥

१०

चित्तं नाशस्वभावं तद्विद्धि नाशात्मकं नृप ।

क्षणनाशो यतः कल्पचित्तशब्देन कथ्यते ॥

११

असंकल्पनमात्रेण सम्यग्ज्ञानोदयात्मना ।

संकल्पः क्षीयते सिद्ध्यै स्वयमेवासदात्मकः ॥

१२

नास्मैवाङ्गीकृताभावं यदि विश्वं हि कथ्यते ।

विद्यमानं कथं तत्स्यान्ननु तामरसेक्षण ॥

१३

निवर्तत इत्यर्थः ॥ २९ ॥ हे राजन्, इदं सर्वं जगत्स्वरूपं यथास्थितं यदस्ति तदप्यतिदृढत्वाद्ब्रह्मपाषाणरूपं परं ब्रह्मस्वरूपमस्त्येव । यदापीदं जगदज्ञानेन संशान्तसर्वात्मकवेदनौघं संपन्नं तदापि एकात्मकस्वरूपं सदस्त्येवेति ब्रह्मजगतोरेकैव सत्तेति न कस्याप्यसत्त्वमित्यर्थः ॥ ३० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे शिखिध्वजावबोधनं नामैकोनशततमः सर्गः ॥ ९९ ॥

धार्यते ब्रह्मवत्स्वं जगतो ब्रह्मसत्तया ।

जन्मादिविक्रियाऽऽस्पृष्टं ब्रह्मैव सदित्येते ॥ १ ॥

यदि ब्रह्मजगतोरेकैव सत्ता तर्हि तया सत्तया ब्रह्मैव जगदपि परमार्थसत्यं किं न स्यात् । मिथ्यावस्तुनो हि कारणं दुर्निरूपम् । सत्यस्य तु सत्यं ब्रह्मैव कारणं संभवति तुल्यत्वादिति राजा शङ्कते—एवं चेदिति ॥ १ ॥ सत्यं मायाशबलं शुद्धस्य सत्तयेव जगत्समसत्ताकं जगतः कारणं भवेत् । यत्तु निर्गुणं परसत्तानुपजीवि अद्वयत्वात्पूर्वकालाभावेन पूर्ववृत्तित्वशून्यं निर्विकारं च तस्मात् कार्यं कुतो भवेद्येन तत्समसत्ताकं स्यादित्यर्थः ॥ २ ॥ अस्तु तर्हि तत्र स्थितं मायाशबलमेव जगतः कारणमिति चेत्तत्राप्याह—नेहेति । इह निर्विशेषे मायाशबलं कारणं तत्कार्यं जगच्च नास्ति । मायादृष्ट्यैव मायासच्छबलतत्कार्याणां सद्भावोपगमात् । परमार्थदृष्ट्या तु सर्वमिदं जगच्छान्तमजमेवेत्यर्थः । तथा चोक्तं वार्तिके 'अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते । ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथं-

चन युज्यते' इति ॥ ३ ॥ अजातेन च सादृश्यप्रसक्तिरित्याह—जायत इति ॥ ४ ॥ कुतो न जायते तत्राह—बीजमेवेति । तत्र बीजाभावेऽपि तदेव बीजं किं न स्यात्तत्राह—अप्रतर्क्यमिति ॥ ५ ॥ कुतस्तत्र बीजादिहेत्वभाव इति चेत्प्रमाणसिद्धतदुचितदेशकालभावादित्याह—देशेति । तर्हि ब्रह्मगोचरप्रमेव तत्र हेतूपादानकारणगोचरास्तु न विरोधादित्याह—अकर्त्रिति । यस्य प्रमाणस्याकर्तृ कर्त्रादिकारकमात्रविरोधि ब्रह्म विषयस्तेन हेतूपादानकारणयोः प्रमा जायत इति कथं वक्तुं शक्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥ ७ ॥ अत एव स्वरूपं शुद्धाकाशकल्पं यन्निर्विशेषं वस्तु तदेवाहमिति तत्त्वज्ञा हृदि धारयस्व नान्यादृशम् । अज्ञदृशा च तदेव जगद्रूपेणाचितमित्यर्थः ॥ ८ ॥ चिन्मात्रप्रमथैव जगद्ब्रह्मभावेन संपद्यते । अतत्त्वाकारमनोभ्रान्त्या च ब्रह्म जगदाकारेणेत्याह—चिन्मात्रमिति द्वाभ्याम् ॥ ९ ॥ नाशो ब्रह्मस्वरूपहानिः ॥ १० ॥ तदेव स्फुटमाह—चित्तमिति । सः क्षणमात्रमपि स्वरूपविसरणरूपो नाशः कल्पकालविस्मृतचित्तशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ११ ॥ तच्च चित्तमसंकल्पनपर्यवसितत्वज्ञानेन नश्यतीत्याह—असंकल्पनेति ॥ १२ ॥ अस्तु संकल्पनाद्यस्तथापि विश्वं कथं निवर्तत इति चेन्मिथ्यात्वादेवेति विशति परमात्मन्येकीभवति न वस्त्वन्तरतयावतिष्ठत इति विश्वमिति तन्नामनिर्वचनमभिप्रेत्याह—नास्मैवेति । यः स्वाधिष्ठाने बाधे न विशति तद्विद्यमानं कथं स्यादित्यर्थः

१ पर्यवसिततत्त्वज्ञानेन इति पाठः.

हस्तावुत्थिष्य यो ब्रूते शूद्रोऽसीति भृशं गिरा ।
 कथं स विप्रो भवति विप्रत्वं त्वस्य कीदृशम् ॥ १४
 विवृत्तधातुरत्युच्चैर्मृतोऽसीति विरौति यः ।
 मृतिमैवागतं विद्धि जीवनं तस्य संभ्रमः ॥ १५
 भ्रमाकृतिर्यदस्तीह दृश्यतेऽलातचक्रवत् ।
 मृगतृष्णाद्विचन्द्रादिबालवेतालकादिवत् ॥ १६
 तत्कथं किल नाम स्यात्सत्त्वं भ्रमभरात्मकम् ।
 अज्ञानभ्रान्तिरेवान्तश्चित्तमित्येव कथ्यते ॥ १७
 अज्ञानमुच्यते चित्तमसत्सदिव संस्थितम् ।
 असंवेदनमज्ञानं ज्ञानं संवेदनं भवेत् ॥ १८
 अज्ञानसत्त्वसंविचेर्ज्ञानात्संवेदनात्स्थयः ।
 जलज्ञानं मुधा भ्रान्तिः स्वाधो मयमरीचिषु ॥ १९
 नैतज्जलमिति ज्ञानात्संविचेः प्रविलीयते ।
 इदं चित्तमिति प्रौढं यदज्ञानमलं हृदि ॥ २०
 नास्ति चित्तमिति ज्ञानात्तत्त्वमूलं विनश्यति ।
 यथा रज्ज्वां भुजङ्गत्वमज्ञानभ्रमसंभवम् ॥ २१
 न सपौंऽयमिति ज्ञानाद्भृदि रुढात्मणश्यति ।
 तथात्मनि मनोभूतमज्ञानभ्रमसंभवम् ॥ २२
 चित्तं नास्तीति विज्ञानाद्भृदि रुढाद्विनश्यति ।
 चित्तं मनोऽहमित्यन्तर्याम्यदज्ञानसंभवम् ॥ २३
 न चित्तमस्ति नो चैवमहंकारादिसंयुतम् ।
 किञ्चिदेव जगत्सिन्धुसंविदेकान्तनिर्मला ॥ २४
 तथा संकल्पचित्तादि कृतमासीद्विमूढया ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिक्षिष्वजपरमावबोधनं नाम शततमः सर्गः ॥१००॥

एकाधिकशततमः सर्गः १०१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति कुम्भवो राजा भावयंस्तदकुत्रिमम् ।

॥ १३ ॥ तत्र लोकवृत्तं प्रमाणयति—हस्ताविति द्वाभ्याम् ।
 ॥ १४ ॥ संनिपातेन विवृताः कुपिता धातवो यस्य तथाविधः
 सत् संनिहितमृत्युरिति यावत् ॥ १५ ॥ निष्ठावस्तीत्यनुभवस्य
 तर्हि स गतिरिति चेद्भ्रान्तित्वमेवेति दृष्टान्तेराह—भ्रमाकृतीति ।
 ॥ १६ ॥ भ्रान्तिपुञ्जरूपमेव तर्हि तत्सदस्तु नेत्याह—तदिति ।
 तस्याज्ञानव्यतिरेकस्वरूपामावादित्यर्थः ॥ १७ ॥ १८ ॥
 अज्ञानात्मनैव तर्हि चित्तादि संत्यमस्तु तत्राह—अज्ञानेति ।
 ज्ञानवाध्यत्वाच्चाज्ञानात्मनापि सत्यता सिध्यतीत्यर्थः । सत्त्वं
 दृष्टान्ताभ्यामुपपादयति—जलज्ञानमित्यादिना ॥ १९ ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ २२ ॥ यावत् सकलम् ॥ २३ ॥ अहंकारादिसंयुतं
 किञ्चिद्देहादि । अप्यर्थे एवकारः । तर्हि किमस्ति तदाह—
 सविदिति ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ व्याप्तं प्रसक्तम् ॥ २७ ॥
 कथं प्रसक्तं तदाह—नाहमिति ॥ २८ ॥ तर्हि जीवन्मुक्तैर्षटा-

अद्यासंकल्पतः सर्वं परित्यक्तं प्रबुद्धया ॥ २५
 संकल्पेन यदा याति त्वसंकल्पेन गच्छति ।
 पवनेन महाबाहो ज्वालाजालमिवानले ॥ २६
 आत्मतत्त्वैकधनया ततया ग्रहससया ।
 जगत्सर्वमिति व्याप्तं समुद्र इव वारिणा ॥ २७
 नाहमस्मि न चान्योस्मि न त्वं नैते न चित्तकम् ।
 नेन्द्रियाणि न चाकाशमात्मा त्वेकोऽस्ति निर्मलः ॥ २८
 घटाद्याकाररूपेण स एवायं विलोक्यते ।
 इदं चित्तमयं चाहमिति कैव कुकल्पना ॥ २९
 न जायते न भ्रियते किञ्चिदस्मिन्नग्नये ।
 केवलोऽयं चिदुल्लासः सदसद्भावनात्मना ॥ ३०
 सर्वमात्मा परं ब्रह्म सकृत्प्रकटमाततम् ।
 द्वित्वैकत्वे न विद्येते न भ्रान्तिर्न च संभ्रमः ॥ ३१
 सर्वेन्द्रियगणाकारे सन्नेवासि सखे ततः ।
 न दृष्ट्यसे महाबुद्धे न च कचन लिप्यसे ॥ ३२
 न ते विनश्यति सखे न च किञ्चिद्विबर्धते ।
 निर्मलाकाशरूपस्य कैवल्यानन्तरूपिणः ॥ ३३
 इच्छानिच्छात्मिके शक्ती येतपि त्वमेव च ।
 न ह्यंशुव्यतिरेकेण शशाङ्क उपलभ्यते ॥ ३४
 अजमजरमनाद्यजस्वभावं
 सकृदमलं विलसत्सदैकरूपम् ।
 विगलितकलनं कलाख्यलीलं
 सदुदितमाद्यमजं तदात्मतत्त्वम् ॥ ३५

स्वयमात्मपदे तस्मिन्क्षणं परिणतोऽभवत् ॥ १
 बभूवामीलितमनोलोचनः शान्तचाङ्गुनिः ।

याकारेण किमवलोक्यते तत्राह—घटादीति ॥ २९ ॥ ३० ॥
 सभ्रमो मरणादिभयम् ॥ ३१ ॥ सर्वस्मिन्निन्द्रियगणे तद्ब्रह्मव-
 द्वाद्याकारे च सन्नेव सन्मात्रस्वरूपस्त्वमसि । अतो दाहहेतु-
 भिराभ्यात्मिकादिभावेन दह्यसे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ इतरा क्रिया-
 शक्तिरपि त्वमेव । अतस्त्ववेष्टमनिष्टं कर्तव्यं च नास्तीत्यर्थयोत-
 नाय चकारः । अशयः कलाख्यव्यतिरेकेण ॥ ३४ ॥ त्रिमिरजपदै-
 र्जन्मवृद्धिपरिणामा निरस्यन्ते । सदैकरूपमित्यनेनान्ये वि-
 काराः । सकृद्विलसत्सकृत्प्रभातम् । कलाप्रमाणेन स्वरूपपरि-
 चयस्वदाख्या लील यस्य तथाविधं सत् सन्मात्रतया उदितम् ।
 आद्यं सर्वव्यवहारेभ्यः प्राक्सिद्धं यदस्तु तदेवात्मतत्त्वमित्यर्थः
 ॥ ३५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतत्त्वप्रकाशे निर्वाणप्रक-
 रणे पूर्वार्धे शिक्षिष्वजपरमावबोधनं नाम शततमः सर्गः ॥१००॥
 ज्ञानदाह्येन राज्ञोऽत्र वर्ण्यते कृतकृत्यता ।
 जीवन्मुक्तावचित्तत्वं स्थितिस्तत्त्वस्य चैर्यते ॥ १ ॥
 परिणतः पूर्वभावं विहाय तद्भावं प्राप्तः ॥ १ ॥ विल-

शिलातलादिवोत्कीर्णो निस्पन्दावयवाकृतिः ॥ २
ततो मुहूर्तमात्रेण प्रबुद्धं स्फुरितेक्षणम् ।
तमुवाच महाबाहो चूडाला कुम्भरूपिणी ॥ ३
कुम्भ उवाच ।

कच्चिदसिन्पदे स्फारे शुद्धे विततनिर्मले ।
सुतल्पे निर्विकल्पानां सुखं विश्रान्तवानसि ॥ ४
कच्चिदन्तः प्रबुद्धोसि कच्चिद्भ्रान्तिस्त्वयोज्झिता ।
कच्चिज्ज्ञेयं परिज्ञातं दृष्टं द्रष्टव्यमेव वा ॥ ५
शिखिध्वज उवाच ।

भगवंस्त्वत्प्रसादेन महाविभवभूमिका ।
महती पदवी दृष्टा सर्वस्योर्ध्वं स्थिता मया ॥ ६
सतां विदितवेद्यानामहो बत महात्मनाम् ।
अपूर्वैकामृतमयः सङ्गः सारफलप्रदः ॥ ७
जन्मनापि मया लब्धं यन्नाम न महामृतम् ।
तदद्य त्वत्समासङ्गात्तेनैवासादितं स्वयम् ॥ ८
अनन्तमाद्यममृतं चैतत्कमललोचन ।
कथं नासादितमभूत्पूर्वमात्मपदं मया ॥ ९
कुम्भ उवाच ।

मनस्युपशमं याते त्यक्तभोगैषणे स्थिते ।
कषायपाके निर्वृत्ते सर्वेन्द्रियगणस्य च ॥ १०
यान्ति चेतसि विश्रान्तिं विमला देशिकोक्तयः ।
यथा सितांशुके शुद्धे बिन्दवः कुङ्कुमाम्भसः ॥ ११
कषायाणामनन्तानां संभूतानां शरीरकैः ।
स्ववासनास्वरूपाणामद्य पाकस्तवोदितः ॥ १२
देहान्मलानि सर्वाणि कालेन कमलेक्षण ।
साधो वृक्षात्फलानीव पाकेन विगलन्त्यधः ॥ १३
घासनात्मसु यातेषु मलेषु विमलं सखे ।
यद्वक्ति गुरुरन्तस्तद्विशतीषुर्यथा विसं ॥ १४

तलादुत्कीर्णः प्रतिमादिरिव ॥ २ ॥ ३ ॥ निर्विकल्पानां योगिनां
शोभनतल्पभूते निरतिशयानन्दपदे ॥ ४ ॥ ५ ॥ महाविभवो
निरतिशयानन्दस्तल्लक्षणा भूमिका । सर्वस्य हैरण्यगर्भानन्दो-
न्तस्य विषयानन्दजातस्योर्ध्वमुत्कर्षकाद्यायां स्थिता ॥ ६ ॥
घतेति हर्षे । अपूर्वमनादौ संसारे कदाप्यननुभूतं यदैकामृतं
निरतिशयानन्दस्तत्प्रभुरः अत एव सारफलप्रदः ॥ ७ ॥ सामा-
न्योक्तं विशिष्य विवृणोति—जन्मनेति । तेन महामृतस्वरूप-
भूतेनैव मया अनाद्यज्ञानाज्जलब्धं तदद्य त्वत्समासङ्गात्स्वयमेवां-
नायसेनासादितम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ पूर्वं चित्तकषायपाकाभावाज्ञा-
सादितमिदानीं तु तपसा तत्परिपाकादासादितमित्याशयेन
कुम्भ उत्तरमाह—मनसीत्यादिना । सर्वेन्द्रियगणस्य चान्मन-
सश्च भोगलक्षणकषायाणां पाके निर्वृत्ते सति तथा च स्मृतिः
'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः । कषाये कर्मभिः
पक्वे ततो ज्ञानं प्रजायते' इति ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ देहा-
ल्लिङ्गदेहात् । मलानि रागादिकषायाः पापानि च ॥ १३ ॥

कषायपाके संपन्ने त्वं मयाद्य विबोधितः ।
तेनाद्यैव तवाज्ञानक्षयो जातो महामते ॥ १५
अद्य पक्वकषायस्त्वमद्यैव ज्ञानसंकथाम् ।
अद्येह सोपदेशस्त्वमद्यैवासि प्रबुद्धवान् ॥ १६
शुभाशुभानां सर्वेषां कर्मणामद्य संक्षयः ।
सत्सङ्गव्यपदेशेन तव निष्पत्तिमागतः ॥ १७
यावदस्य दिनस्यैव पूर्वभागो महीपते ।
तावच्चेतोऽहंमेति तवाज्ञानं बभूव ह ॥ १८
इदानीं मद्बोबोधाच्चेतसि क्षयमागते ।
हृदयात्संपरित्यक्ते संप्रबुद्धोऽसि भूपते ॥ १९
हृदि यावन्मनःसत्ता तावदज्ञानसंस्थितिः ।
चित्ते चित्ततया त्यक्ते ज्ञानस्याभ्युदयो भवेत् ॥ २०
द्वित्वैकत्वदृशौ चित्तं तदेवाज्ञानमुच्यते ।
एतयोर्यो लयो दृष्टेस्तज्ज्ञानं सा परा गतिः ॥ २१
प्रबुद्धोऽसि विमुक्तोऽसि त्यक्तं चित्तं त्वया नृप ।
सदसत्तामयत्वं हि त्वया त्यक्तमसत्पदम् ॥ २२
वीतशोको निरायासो निःसङ्गोऽनन्य आत्मवान् ।
महोदयो मुनिर्मानि स्वरूपे तिष्ठ निर्मले ॥ २३

शिखिध्वज उवाच ।

एवं हि भगवन् जन्तोर्मूर्खस्यैवास्ति चित्तभूः ।
प्रबुद्धस्य न तज्ज्ञस्य चित्तं नाम किल प्रभो ॥ २४
जीवन्मुक्तास्तदेते हि विहरन्ति कथं वद ।
अविद्यमानमनसो युष्मदाद्यास्तथा नराः ॥ २५
इति मे कथयारोषमन्यैः स्ववचनांशुभिः ।
हार्दं तमो मे निपुणमेवंप्रायैः प्रमार्जय ॥ २६

कुम्भ उवाच ।

यथा घदसि तत्त्वज्ञ तत्तथैव हि नान्यथा ।
चित्तं हि जीवन्मुक्तानां नास्त्यङ्कुर इवाश्मनाम् ॥ २७

विसे मृणालरूपे धानुष्कपरिकल्पिते लक्ष्ये ॥ १४ ॥ १५ ॥
ज्ञानार्था संकथामुपदेशं तात्पर्येणावधारितवानसीति शेषः ।
उपदिष्टार्थानां हृदि धारणात्सोपदेशः । प्रबुद्धवांस्तत्फलसाक्षा-
त्कारज्ञानवान् जातोऽसीत्यर्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥ तवाज्ञानमद्य
मध्याह्नकाले क्षीणमिति मया ज्ञातमित्याह—यावदिति ॥ १८ ॥
इदानीमद्यतनदिनस्योत्तरभागे हृदयात्संपरित्यक्ते चेतसि क्षय-
मागते सति ॥ १९ ॥ अचित्ततया निःस्वरूपताबुद्ध्या ॥ २० ॥
दृष्टेः परमात्माभिव्यक्तेः ॥ २१ ॥ आत्मन्यन्योन्याध्यासात्स-
दसत्तामयत्वमेव हि चित्तं नाम तदेव असतो जगतः पदं
कल्पनास्थानम् ॥ २२ ॥ २३ ॥ चित्ते त्यक्ते जीवन्मुक्तानां
केनान्तःकरणेन व्यवहारसिद्धिरिति प्रष्टुं राजा पीठिकां रच-
यति—एवं हीति । यदीत्यर्थे किलशब्दः ॥ २४ ॥ प्रष्टव्यां दर्श-
यति—जीवन्मुक्ता इति । तत् तर्हि ॥ २५ ॥ अन्यैर्दुर्वचमिति
शेषः । अन्यैः प्रसिद्धसूर्याद्यंशुविलक्षणैः स्ववचनांशुभिः प्रसिद्ध-
तमोविलक्षणं हार्दं तमः प्रमार्जयेति वा ॥ २६ ॥ २७ ॥

पुनर्जननयोग्या या वासना घनवासना ।
 सा प्रोक्ता चित्तशब्देन न सा तज्ज्ञस्य विद्यते ॥ २८
 यथा वासनया तज्ज्ञा विहरन्तीह कर्मसु ।
 तां त्वं सत्त्वाभिधां विद्धि पुनर्जननवर्जिताम् ॥ २९
 जीवन्मुक्ता महात्मानः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
 विहरन्ति गतासङ्गं न चित्तस्थाः कदाचन ॥ ३०
 मूढं चित्तं चित्तमाहुः प्रबुद्धं सत्त्वमुच्यते ।
 अप्रबुद्धा हि चित्तस्थाः सत्त्वस्थास्तु महाधियाः ॥ ३१
 भूयः प्रजायते चित्तं सत्त्वं भूयो न जायते ।
 अप्रबुद्धस्य बन्धोस्ति न प्रबुद्धस्य भूपते ॥ ३२
 सत्त्ववानसि संजातो महात्यागी स्थितो भवान् ।
 ह्यशेषेण त्वया चित्तं त्यक्तमद्येति वेद्यद्वयम् ॥ ३३
 समस्तवासनोन्मुक्तो राजन्नद्येव राजसे ।
 आकाशसाम्यमायातं मन्ये तव मुने मनः ॥ ३४
 शमं प्राप्नोऽसि परमं सिद्धः समसमस्थितिः ।
 अयं हि स महात्यागः सर्वं यत्तत्समुज्झितम् ॥ ३५
 स्वर्गोपवर्गवित्तादि तपोदानफलाद्यपि ।
 प्रबुद्धमेधया साधो धिया परमबोधया ॥ ३६

॥ २८ ॥ यथा भर्जिता विदुषाश्च लज्जा न श्रीह्यादिशब्दवाच्या नाप्य-
 क्कुरादिजननक्षमास्तद्वत्तत्त्वज्ञानमर्जितं निरावरणं सत्त्वं न मनः-
 शब्दवाच्यं नापि पुनर्जन्मसमर्थमित्यर्थः ॥ २९ ॥ जीवन्मुक्तव्यव-
 हाराभासे तदेव कारणाभास इत्याह—जीवन्मुक्ता इति ॥ ३० ॥
 ॥ ३१ ॥ ॥ ३२ ॥ तथापि सत्त्वबलदेव यावज्जीवं व्यवहारः सत्त्वती-
 त्याशयेनाह—सत्त्ववानसीति ॥ ३३ ॥ ॥ ३४ ॥ त्वया प्राक्चि-
 त्तोर्वितो यो महात्यागः स सर्वरूपं चित्तं यत्तत्समुज्झितमयमेवे-
 त्यर्थः ॥ ३५ ॥ चित्तत्यागे तपोदानादिसर्वकर्मोप्यन्तर्भूतानि
 तत्फले च वित्तस्वर्गोपवर्गादितत्फलान्यन्तर्भूतानीत्याशयेनाह—
 स्वर्गेति । प्रबुद्धा मेधा उपदिष्टार्थधारणा यस्यास्तथावि-
 धया अत एव परमबोधवत्या धिया कृतचित्तत्याग एव स्वर्गो-
 पवर्गवित्तादिरित्यर्थः ॥ ३६ ॥ तपश्चादिकले तु न ज्ञानफलम-
 न्तर्भवतीत्याशयेनाह—तपो नामेति । यद्यतो मनस्स्यागरूप-
 समतायाः सकाशादागतं यत् ज्ञानफलं मोक्षसुखं शयातिशयनि-
 र्मुक्तमित्यर्थः । 'तत आगतः' इत्यर्थे 'मयद् च' इति मयद् ॥ ३७ ॥
 न ह्यसत्ये धनित्ये च सत्यस्य शाश्वतस्य चान्तर्भावसंभावनापी-
 त्याशयेनाह—तदिति । तत् ज्ञानफलं सत् सत्यम् । वसतीति
 षष्ठ्यु शाश्वतं च । तत्स्वर्गादि किंचित्तु न तु सर्वं भङ्गुरं च ।
 भावाभावैरविर्भावतिरोभावैरुपाख्यमानाकान्तं पूर्वोत्तरकालयोर-
 दृष्टं स्थितं वर्तमानमेवाधिगतवेदनं प्राप्तदर्शनं स्वप्रवर्तित्यर्थः
 ॥ ३८ ॥ तुच्छं ब्रह्मासलभ्यं च स्वर्गादितुच्छसुखमज्ञानमेव
 बहुमतं न तत्त्वविदामित्याशयेनाह—स्वर्ग इति । स्वर्गो नामेति
 किमानन्दतुच्छसुखम् । 'किं क्षेपे' इति समासः । अवर्जनीय-
 धर्मकीर्तनायल्पापराधसहस्रानाद्यत्वात्सदेहसंस्थितः ॥ ३९ ॥

तपो नाम कियन्मात्रदुःखक्षयकरं भवेत् ।
 शयातिशयनिर्मुक्तं यत्सुखं समतामयम् ॥ ३७
 तत्सत्तद्वस्तु तत्किंचिन्न तु स्वर्गादि भङ्गुरम् ।
 भावाभावैरुपाख्यं स्थिताधिगतवेदनम् ॥ ३८
 स्वर्गो नाम किमानन्दः सोऽपि संदेहसंस्थितः ।
 अप्राप्तस्वात्मसंसिद्धेः क्रियाकाण्डः शुभो भवेत् ॥ ३९
 येन नासादितं हेम रीतिं किं स परित्यजेत् ।
 चूडालादिसमासङ्गाद्भवेज्ज्ञत्वं सुखेन ते ॥ ४०
 तत्किमर्थमनर्थेऽसिद्धिमश्वस्त्वं तपोमये ।
 आश्रमादिविकल्पांशसाध्यस्याद्य कुकर्मणः ॥ ४१
 आद्यन्तावस्य सुमते मध्ये एव सुखं स मो ।
 यतस्ते समयो जातो यस्मिन्परिणमन्ति च ॥ ४२
 तपोरूपा विकल्पांशास्तत्र बद्धपदो भव ।
 चिद्योक्तो नभसोत्यच्छात्सर्वे भावाः समुत्थिताः ॥ ४३
 तथैव परिहृयन्ते तत्रैव विलयं गताः ।
 इदं कार्यमिदं नेति संकल्पा ब्रह्मविन्दवः ॥ ४४
 वन्द्यं शिखिध्वज त्यक्त्वा पूर्णमेव समाश्रय ।
 इदं मे प्रार्थयस्वेति यथैव प्रार्थ्यते सखे ॥ ४५

ज्ञानदौर्लभ्यादज्ञानां शुक्ल एव तुच्छस्वर्गादिपरिग्रह इत्याशये-
 नाह—येनेति । रीतिं पित्तलम् । तत्र तु ज्ञानं प्रादुर्लभ-
 मभूतप्रापि त्वं वृथैव तपःक्षेपे निमग्न इत्याह—चूडालेति
 ॥ ४० ॥ आश्रमो बानप्रस्थाश्रमः । आदिपदात्तशोभं वयस्त्र-
 द्भुवित्तकर्मोधिकारनिर्वाहकविशेषणान्तराणि च । तदभिमान-
 तत्साधनचिन्तादिविकल्पविक्षेपांशसहस्रसाध्यस्य बन्धकत्वात्फ-
 लतोऽपि कृत्स्नस्य कर्मणः संबन्धिनि कृच्छ्रचान्द्रायणादि-
 तपःक्षेपप्रचुरे अनर्थे त्वमवपर्यन्तं किमर्थं निमग्नः ॥ ४१ ॥
 स्वर्गादिमहासुखहेतोस्तपसः कथमनर्थत्वं तत्राह—आद्यन्ता-
 विद्धि । मो सुमते, यतोऽस्य तपस आदिभाग आचरणावस्था
 अन्तर्भागः फलक्षयावस्था च दुःखरूपावेव । मध्ये स्वर्गादि-
 भोगावस्थायामेव सुखं सा किल । तर्हि किं मया कृतं तपो
 व्यर्थमेव नेत्याह—यत् इति । यतस्तपसैव ते चित्तकषायपा-
 कात्प्राप्तं तत्त्वबोधसमयो जातः । अतो हेतोः सर्वे तपोरूपा
 विकल्पांशा असिद्धमिदं तत्त्वज्ञाने परिणमन्ति तत्फलेनैव
 फलवन्तोऽपि च भवन्ति ॥ ४२ ॥ तत्र ज्ञाने बद्धपदः स्थिरो
 भव । 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इत्यादिश्रुतेस्तत्फलेनैव
 ते तपसः साफल्यमिति भावः । ज्ञानफलचिद्योमल्यमेव सर्वमेव
 लब्धम् । सर्वस्य जगतस्तत्र एवोद्भवस्थितिलयश्रुतेरित्याशये-
 नाह—चिद्योक्त इति ॥ ४३ ॥ यद्यपि कार्यमिष्टमकार्यमनिष्टं
 च सर्वमपि ब्रह्मसमुद्रविन्दव एव तथापि तुच्छत्वात्तत्सर्वं
 वन्द्यं निष्फलमेवातस्तत्त्वयत्वा पूर्णं समुद्रस्थानीयं निर्विशेषमेव
 समाश्रयेत्याह—इदमिति ॥ ४४ ॥ परमप्रेमास्पदत्वाभिरतिश-
 यानन्दरूपस्य स्वस्य इष्टान्तरप्रार्थनापेक्षया तादृशस्वज्ञानमप्राथ-
 म्यमेव धरन्तित्याशयेनाह—इष्टमिति । यथाऽल्लब्धदयितया

स्त्रिया तथैव स कथं दयितः प्रार्थ्यते स्वयम् ।
 संकल्परचितानेतान्भावानापतभासुरान् ॥ ४६
 गृह्णन्ति न महात्मानः प्राज्ञा जलरवीनिव ।
 स्वर्गमोक्षादिफलदं यत्किञ्चित्सर्वमेव तत् ॥ ४७
 त्यक्त्वा समसमाभासो योऽस्यसावेव वै भव ।
 सत्त्वं सत्त्वेन नाशेन नाशयं हि विगतस्पृहः ॥ ४८
 पदार्यौघमिमं गृह्णन्तिष्ठास्पन्दितचित्तभूः ।
 अपरिस्पन्दचित्तस्य संसृतिर्नेह धावति ॥ ४९
 पौरुषप्रभवा साधो विपत्तिर्हि मतौ यथा ।
 यानि यानीह दुःखानि प्रस्फुरन्ति जगद्भये ॥ ५०
 चेतश्चापलजान्येव तानि तानि महीपते ।
 स्थिरं शान्तं गतस्पन्दं यस्य चित्तमवापलम् ।
 सदैव स महानन्दी साम्राज्यस्य स भाजनम् ॥ ५१
 अथ चेतसि तत्त्वज्ञ स्पन्दास्पन्दौ त्वमेकताम् ।
 नीत्वा तिष्ठ यथाकाममैक्यमागत्य शाश्वतम् ॥ ५२
 शिखिध्वज उवाच ।
 कथमैक्यं विभो यातः स्पन्दास्पन्दाविमावुभौ ।
 सर्वसंशयविच्छेदकारिन्नेतद्वदाशु मे ॥ ५३
 कुम्भ उवाच ।
 एकं वस्तु जगत्सर्वं चिन्मात्रं वारिवामुधि ।

तदेव स्पन्दते धीभिः शुद्धवारिव-वीचिभिः ॥ ५४
 ब्रह्म चिन्मात्रममलं सत्त्वमित्यादिनामकम् ।
 यद्गीतं तदिदं मूढाः पश्यन्त्यङ्ग जगत्तथा ॥ ५५
 चित्स्पन्द एव सर्वस्वं सर्गे तस्माच्च संसृतिः ।
 परिस्पन्दो हि विन्ध्यादिशब्दस्पन्दसमं परम् ॥ ५६
 चितः स एव चेतस्पन्दस्तथाऽस्पन्दश्च भावितः ।
 एकरूपतया नाम तत्रेदममलं शिवम् ॥ ५७
 सर्गश्चित्स्पन्दमात्रात्मा सम्यग्दृष्टौ विलीयते ।
 उदेत्यसम्यग्दृष्टीनां रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥ ५८
 सस्पन्दा चित्तदभिधा निःस्पन्दा त्वियमातता ।
 तुर्यातीतपदारूढा वाचा वक्तुं न पार्यते ॥ ५९
 शास्त्रसज्जनसंपर्कसंतताभ्यासयोगतः ।
 कालेनामलतां याते चेतसीन्दाविवोदिता ॥ ६०
 एतत्केवलमाभातं खानुभूतिभिराततम् ।
 कथ्यते खानुभूतेषु स्वयं स्वं रूपमात्मना ॥ ६१
 प्राप्तोऽसि सारं स्वमनादिमध्य-
 मत्रैव तिष्ठ स्वपदे निविष्टः ।
 नो रूपनिर्भेदमहाचिदात्मा
 जातोऽसि साधो खलु वीतशोकः ॥ ६२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिध्वजबोधनं नामैकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

स्त्रिया लब्धव्यदयितं प्रति मे इष्टं प्रार्थयस्वेत्यन्यत्रप्रार्थ्यते तथैव
 स्वयं दयित एव कथं न प्रार्थ्यते । तस्मिन्स्वाधीनतया लब्धे
 तदधीनलब्धव्यान्तराणां स्वत एव लाभादिति भावः ॥ ४५ ॥
 अङ्गीकृत्यात्मातिरिक्तेष्टानां पुरुषार्थत्वं लब्धत्वादेवाप्रार्थनीय-
 त्वमुक्तम् । वस्तुतस्तु तेषां तत्त्वज्ञदृशा तुच्छत्वादप्राप्त्यमेवे-
 त्याह—संकल्पेति । आपद इव अभासुरानरमणीयान् ॥ ४६ ॥
 जलरवीन् रविप्रतिबिम्बानिव । ज्ञानलाभानन्तरं स्वर्गादिसाधना-
 नीवापवर्गसाधनान्यपि हेयान्येवेत्याशयेनाह—स्वर्गेति ॥ ४७ ॥
 सर्वपदार्थेषु सदंशः सत्त्वेनैव ग्राह्यः, असदंशस्तु नित्यनष्टत्वेनैव
 ग्राह्यश्चित्तचाक्षत्यं विनेत्याह—सत्त्वमिति ॥ ४८ ॥ अस्पन्दि-
 तचित्तभूरित्युक्तेः प्रयोजनमाह—अपरिस्पन्देति । न धावति
 न प्राप्नोति । यथा स्वाभाविकप्रवृत्तिलक्षणपुरुषापराधप्रभवा
 विपत्तिर्मतौ विवेकज्ञानोदये सति न प्राप्नोति तद्वदित्यर्थः ॥ ४९ ॥
 ॥ ५० ॥ सम्यग्भगवावरणतया राजत इति सम्राट् साक्षात्कृत
 आत्मा तद्भावस्य भाजनमित्यर्थः ॥ ५१ ॥ स्पन्दास्पन्दौ
 तत्साक्षिमात्रतादर्शनेनैकतां नीत्वा साक्षिणमपि ब्रह्मात्मैक्यमा-
 गत्य प्राप्य भूमानन्दभावेन यथाकामं पूर्णकामतया तिष्ठेत्यर्थः
 ॥ ५२ ॥ विरुद्धयोः स्पन्दास्पन्दयोरैकतानयनं कथमिति राजा
 पृच्छति—कथमिति ॥ ५३ ॥ तयोः स्वरूपेणैक्यविरोधेऽप्य-
 धिष्ठानसाक्षिचिन्मात्ररूपेण न तद्विरोध इति स्वाशयप्रकटनेन
 कुम्भ उत्तरमाह—एकमिति । वाः इव स्पन्दते स्पन्दात्मना

विवर्तते ॥ ५४ ॥ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभिर्य-
 द्गीतम् । अत्रेत्यामश्रणे ॥ ५५ ॥ स्पन्दास्पन्दयोरैक्यमुपपाद-
 यति—चित्स्पन्द इति । सर्गे यत्सर्वस्वं तच्चित्स्पन्द एव । तत्र
 विन्ध्यादिरूपपरिस्पन्दः परं द्वितीयं शब्दस्पन्दसमम् । इवार्थे
 समशब्दो मिथ्यात्वद्योतनार्थः । नामपरिस्पन्द इत्यर्थः ॥ ५६ ॥
 अस्त्येवं तथापि कथं स्पन्दास्पन्दैक्यं तत्राह—चित इति । स
 तत्तत्साक्ष्यात्मेव चितः स्पन्दोऽस्पन्दश्चैकरूपतया भावितश्चेत्तत्र
 इदमात्मरूपमेव विवं परिशिष्यत इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ सर्गस्तदा
 क्व गच्छति तत्राह—सर्ग इति । यतः सः असम्यग्दृष्टीनां
 भ्रान्त्या उदेति ॥ ५८ ॥ तदभिधा सर्गाभिधा । निस्पन्दा तु
 तुर्यातीतपदारूढा ॥ ५९ ॥ कदा तथोदिता भवति तदाह—
 शास्त्रेति । यथा चक्षुषि तिमिरदोषक्षयेणामलतां याते नित्यं
 सिद्धैव चन्द्रैकता उदिता तद्वत् ॥ ६० ॥ यदि वाचा वक्तुं न
 पार्यते तर्हि कथं त्वया मादृशेषु कथ्यते तत्राह—एतदिति ।
 स्वमनुभूतं यैस्तथाविधेषु खानुभूतिभिरेव स्वयं कथ्यते लोकदृष्टे-
 र्यर्थः ॥ ६१ ॥ त्वमपि खानुभूतिं प्राप्तोऽस्येव तत्र मद्वचसा स्थैर्यमात्रं
 कुर्वित्याह—प्राप्तोऽसीति । भेदकदेहादिरूपाणामभावादेव सर्वदे-
 हेषु निर्भेदः । अत एव महाश्चिदात्मा जातस्तत्त्वबोधात्प्रादुर्भूतोऽसि
 तत एव वीतशोकः 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'
 इति श्रुतेरिति भावः ॥ ६२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्र-
 काशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे शिखिध्वजबोधनं नामैकाधिकशततमः
 सर्गः ॥ १०१ ॥

अधिकशततमः सर्गः १०२

कुम्भ उवाच ।

इति ते कथितं सर्वं शिखिध्वज महीपते ।
यथेदमुत्थितं सर्वं यथा च प्रविलीयते ॥
एतच्छ्रुत्वा च बुद्धा च मत्वा च मुनिनायक ।
यथेच्छसि, तथा तिष्ठ दृष्टे स्पष्टे परे पदे ॥
स्वर्गं गच्छाम्यहं पर्वकालेऽसिभारदो मुनिः ।
ब्रह्मलोकात्समायातो भवत्यमरसंसदि ॥
न मां पश्यति चेत्तत्र तत्कोपमुपगच्छति ।
नोद्वेजनीया भव्येन गुरवो हि कदाचन ॥
त्यक्तसंकल्पलेखेन न किञ्चिदभिवाञ्छता ।
त्वया सदैव वस्तव्यं दृष्टिरेषैव पावनी ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इति याचतप्रतिवचः पुष्पहस्तः शिखिध्वजः ।
प्रणामाय ददात्येष तावदन्तर्धिमाययौ ॥
प्रतिभानगतं वस्तु यथैवान्ते न दृश्यते ।
न दृष्ट्वास्तथा कुम्भमग्रे राजा शिखिध्वजः ॥
गते कुम्भे महीपालः परं विस्मयमाययौ ।
तमेव चिन्तयन्निभं विवर्षित इवाभवत् ॥
इदं संचिन्तयामास चित्रं विलसितं विधेः ।

यत्कुम्भव्यपदेशेन बोधितोऽसि विरोदयम् ॥ ९
क नारदसुतः कुम्भः काहं नाम शिखिध्वजः ।
केवलं कालयुक्तयैव सोऽहं संपरिवोधितः ॥ १०
अहो नु सम्यक्कथितं देवपुत्रेण युक्तिमत् ।
अहो नु संप्रबुद्धोऽसि मोहनिद्राकुलध्वरात् ॥ ११
काहमासं विनिर्मग्नः क्रियाजालकुकर्दमे ।
इदं कार्यमिदं नेति मिथ्या विभ्रमचक्रके ॥ १२
अहो नु शीतला शुद्धा शान्तेयं पदवी निजा ।
रसायनोद्भवाकारा सत्त्वं शीतयतीह मे ॥ १३
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम् ।
तृणाग्रमपि नेच्छामि संस्थितोऽसि यथास्थितम् ॥ १४
एवं संचिन्तयन् राजा नूनं निर्वासनाशयः ।
शैलादिव समुत्कीर्णो मौनमेवावतस्थिवान् ॥ १५
तस्मिन्नेव ततो मौने निःसंकल्पे निराश्रये ।
प्रतिष्ठां निश्चलां प्राप्य स तस्यै गिरिशृङ्गवत् ॥ १६
स तत्र संशान्तभयोऽचिरेण
चिरेण विश्रान्तमतिः समात्मा ।
चिरेण संप्राप्तनिजामलात्मा
योगेन सुषुप्तस्ततोऽदितात्मा ॥ १७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० सू० शिखिध्वजसंवादे अष्टमोऽधिकशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

अधिकशततमः सर्गः १०३

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

निर्विकल्पसमाधानात्काष्ठकुड्योपमस्थितिः ।
एवं शिखिध्वजो राजा चूडालामधुना शृणु ॥ १

आमङ्ग्यान्तर्हिते कुम्भे निश्चितस्य महीपतेः ।

चिरं विमृश्य विश्रान्तिः समाधाविह वर्ण्यते ॥ १ ॥

यथेदं सर्वमुत्थितमित्याचारोपेण यथा च प्रविलीयत इत्यप-
वादेन च सर्वं पूर्णं ब्रह्मतत्त्वं ते मया कथितम् ॥ १ ॥ गुरु-
शास्त्राभ्यां श्रुत्वा स्वीयविचारेण मत्वा च सम्यग् बुद्ध्या साक्षा-
दृष्टे आवरणभङ्गास्पष्टे परे पदे कदाचित्समाधिप्राधान्येन
कदाचिद्विषयद्वारेण च यथेच्छसि तथा तिष्ठ ॥ २ ॥ स्वर्गमि-
न्द्रसभाम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ एषा मदुपदिष्टैव ॥ ५ ॥ सप्रणामप्र-
तिवचनात्पूर्वमन्तर्धानम् । साध्वीभिर्मर्तृकृतनमस्कारस्याप्राप्ता-
त्वात् ॥ ६ ॥ संप्रादिप्रतिभानगतं भनादिवस्तु । अन्ते जागरे
॥ ७ ॥ चित्रमाश्रयम् ॥ ८ ॥ विरोदयं सदाप्रभातं शाश्वता-
भ्युदयं वा ब्रह्म ॥ ९ ॥ कालयुक्त्या भाग्योदयसमययोगेन
॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ इयं साक्षात्कृतात्मरूपा साम्राज्यप-
दवी । सत्त्वं निर्वासनं मनः ॥ १३ ॥ तेनैव स्वस्य पूर्णकामता-

शिखिध्वजं तं भर्तारं कुम्भवेपेण तेन सा ।
प्रबोध्यन्तर्धिमागत्य ततार तरसा नभः ॥ २
देवपुत्राकृतिं व्योम्नि जहौ मायाविनिर्मिताम् ।

माह—शाम्यामीति ॥ १४ ॥ शैलात्समुत्कीर्णः प्रतिमादि-
रिव मौनं वागादिचेष्टारहितं यथा स्यात्तथा समाहितोऽवतस्थि-
वान् । छान्दसत्वाद्भिः कस्युः ॥ १५ ॥ मौने मुक्तिकर्मणि
समाधौ ॥ १६ ॥ स राजा तत्र समाधौ संप्राप्तनिजामलात्मा-
सन् समात्मा समरसः सन् चिरेण विश्रान्तमतिर्भूत्वा अचिरेण
सद्य एव संशान्तभयः सन् चिरकालानुवृत्तेन योगेन आदि-
तात्मा अखण्डितस्वभावः सुष्वाप । सुषुप्त इव निवाश्रमेत्यर्थः
॥ १७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
पूर्वार्धे शिखिध्वजसमाधानं नाम अष्टमोऽधिकशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

चूडालायाः परं गत्वा ज्येष्ठेण पुनरागमः ।

यत्तादृश्यापनं राजसत्त्वालापश्च वर्ण्यते ॥ १ ॥

एवमुक्तीत्या शिखिध्वजो राजा निर्विकल्पसमाधानात्
काष्ठकुड्योपमस्थितिरभूदिति शेषः । चूडाला तद्वृत्तान्तमिति
यावत् ॥ १ ॥ ततार पुडुवे ॥ २ ॥ देवपुत्राकृतिं कुम्भवेपम् ।

विदग्धमुग्धमाकारं स्त्रैणं जग्राह सुन्दरम् ॥ ३ ॥
 नभसा खपुरं प्राप विवेशान्तःपुरं क्षणात् ।
 दृष्ट्या वभूव लोकस्य नृपकर्म चकार च ॥ ४ ॥
 वासरत्रितयेनाथ पुनरम्बरमेत्य सा ।
 वभूव कुम्भो योगेन शिखिध्वजवनं ययौ ॥ ५ ॥
 तथा तत्रैव तं भूपमपश्यद्वनभूमिगा ।
 निर्विकल्पसमाधिस्थं समुत्कीर्णमिव द्रुमम् ॥ ६ ॥
 अहो नु खलु भो दिष्ट्या विश्रान्तोऽयमिहात्मनि ।
 स्थितः स्वस्थः समः शान्त इत्युवाच पुनःपुनः ॥ ७ ॥
 तदेनं तावदेतस्माद्बोधयामि परात्पदात् ।
 इदानीमेव किं देहत्यागमेव करोति वै ॥ ८ ॥
 किञ्चित्कालं स्फुरत्वेव राज्येन विपिनेन वा ।
 सममेव गमिष्यावस्त्यक्तदेहाविमौ समौ ॥ ९ ॥
 तस्योपदेशो विषमः परिणामं न गच्छति ।
 अनेनाभ्यासयोगेन तावदाबोधयाम्यहम् ॥ १० ॥
 इति संचिन्त्य चूडाला सिंहनादं चकार सा ।
 भूयोभूयः प्रभोरग्रे वनेचरभयप्रदम् ॥ ११ ॥
 न चचाल शिलेवाद्रौ यदा नादेन तेन सः ।
 भूयोभूयः कृतेनापि तदा सा तं व्यचालयत् ॥ १२ ॥
 चालितः पातितोऽप्येष यदा न बुबुधे नृपः ।
 तदा संचिन्तयामास चूडाला कुम्भरूपिणी ॥ १३ ॥
 अहो परिणतः साधुः स्वपदे भगवानयम् ।
 तदेनं हि कथा युक्त्या सांप्रतं बोधयाम्यहम् ॥ १४ ॥
 अथवैनं महात्मानं किमर्थं बोधयाम्यहम् ।
 विदेहं बोधमासाद्य तिष्ठत्वेव यथासुखम् ॥ १५ ॥
 अहमप्यङ्गनादेहमिमं त्यक्त्वा परं पदम् ।

अपुनर्जननायैव गच्छामीह हि किं समम् ॥ १६ ॥
 इति संचिन्त्य देहं स्वं त्यक्तुमभ्युद्यता सती ।
 पुनः संचिन्तयामास चूडाला सा महामतिः ॥ १७ ॥
 आलोकयामि चैतावदेनं देहं महीपतेः ।
 यद्यस्य सत्त्वशेषोऽस्ति बोधबीजं हृदन्तरे ॥ १८ ॥
 तत्कालेनैव भगवान्संप्रबोधमुपैष्यति ।
 मूलकोशरसालीनं पुष्पजालमिव द्रुमे ॥ १९ ॥
 तदेवं विरहजीवन्मुक्त एव भवत्यलम् ।
 मुक्तो भवत्यथ यदि मन्ये गच्छामि तत्समम् ॥ २० ॥
 इति संचिन्त्य चूडाला स्पर्शनेन नयेन च ।
 पतिमालोक्य साशङ्कमुवाच वरवर्णिनी ॥ २१ ॥
 अस्त्येव सत्त्वशेषोऽस्य हृदि संबोधकारणम् ।
 संबोधहेतूदयेन सत्त्वशेषं व्यबुध्यत ॥ २२ ॥
 श्रीराम उवाच ।

भृशं संशान्तचित्तस्य काष्ठलोष्टसमस्थितेः ।
 सत्त्वशेषः कथं ब्रह्मन्धायते ध्यानशालिनः ॥ २३ ॥
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 प्रबोधकारणं यस्य दुर्लक्ष्याणुवपुर्हृदि ।
 विद्यते सत्त्वशेषोऽन्तर्बीजे पुष्पफलं यथा ॥ २४ ॥
 चित्तस्पन्दवियुक्तस्य तस्यास्पन्दितसञ्चितः ।
 द्वित्वैकत्वविहीनस्य समस्याचलसंस्थितेः ॥ २५ ॥
 कायः समसमाभोगो न ग्लायति न दृष्यति ।
 नास्तमेति न चोदेति सममेवावतिष्ठते ॥ २६ ॥
 द्वित्वैकत्वादियुक्तस्य यस्य प्रस्पन्दते मनः ।
 तस्य देहोऽन्यतामेति नास्पन्दस्य कदाचन ॥ २७ ॥
 चित्तस्पन्दो हि सर्वेषां कारणं जगतः स्थितेः ।

स्त्रैणं स्त्रीशरीररूपमाकारं जग्राह ॥ ३ ॥ नृपकर्म राजकार्यं
 प्रजानुरञ्जनमित्यर्थः ॥ ४ ॥ कुम्भो नारदपुत्रः ॥ ५ ॥ समु-
 त्कीर्णं प्रतिमाकारनिर्मितं द्रुमं काष्ठमिव निश्चलम् ॥ ६ ॥
 अयं राजा ॥ ७ ॥ इदानीं प्रारब्धकर्मशेषकाले देहत्यागं किं
 किमर्थं करोति, न करोत्वित्याशयः ॥ ८ ॥ विपिनभोग्यकर्म-
 क्षयपर्यन्तं विपिनेन वा । समं तुल्यकालमेव समौ तुल्यस्व-
 भावौ गमिष्यावः । कैवल्यमिति शेषः ॥ ९ ॥ उपदेशः प्रा-
 द्याया कृतः परिणामं सप्तमभूमिकावस्थितिपर्यन्तं परिपाकं न
 गच्छति इदानीमेव देहत्यागे तथा च जीवन्मुक्तिमुत्तमानुभवा-
 र्धमप्ययं प्रबोध्य इति भावः ॥ १० ॥ प्रभोः भर्तुः ॥ ११ ॥
 पाणिसंपेषेणाचालयत् ॥ १२ ॥ १३ ॥ सप्तमभूमिकानुप्रवेश-
 पर्यन्तं परिणतः । अहो इत्याश्चर्यं । तथा च तस्योपदेशो विषमः
 परिणामं न गच्छतीति मदीयसंभावना श्रुत्येवेति भावः ॥ १४ ॥
 अत एवाह—अथचेति । विदेहं तिष्ठतु ॥ १५ ॥ समं सहैव
 गच्छामि । इह जीवने किमधिकं सुखमिति शेषः ॥ १६ ॥
 महामतिरित्यनेनावश्यमोक्तव्यं तदीयप्रारब्धकर्मशेषमपि सा
 स्वमत्ता दृष्ट्वा पुनः संचिन्तयामासेति सूचनाय ॥ १७ ॥ सत्त्वं
 यो० वा० १२८

निर्वासनं मनस्तस्य संस्कारलेशात्मना शेषो यदि हृदम्बरे
 प्रारब्धवशेषितमायालेशोपहिते हार्दे ब्रह्मण्यस्ति ॥ १८ ॥
 कालेन तदुद्भवसमयेन । यथा वसन्तारम्भे द्रुमे मूलकोशे
 मूलप्रदेशे यो भौमो रसस्तस्मिन्सूक्ष्मभावेनालीनं भाविपुष्पजा-
 लमिव सत्त्वशेषो यद्यस्तीति पूर्वणान्वयः ॥ १९ ॥ तर्हि मत्प्र-
 बोधितोऽयं जीवन्मुक्तः सन् एवमहमिव विहरन् भवत्येव ।
 अथ यदि सत्त्वशेषस्यापि बाधान्मुक्तो भवति तत्तद्वहमपि स-
 ममनेन साकमेव मुक्तिं गच्छामि ॥ २० ॥ स्पर्शेन देहोष्म-
 लिङ्गेन वक्ष्यमाणलिङ्गेन पतिं जीवतीति साशङ्कमालोक्य संबो-
 धहेतूदयेन सत्त्वशेषं व्यबुध्यत । अस्य हृदि सत्त्वशेषोऽस्त्येवेत्यु-
 वाच चेति परेण सहान्वयः ॥ २१ ॥ २२ ॥ स्पर्शनेन नयेन
 चेति यदुक्तं तत्र नयशब्दार्थं जिज्ञासु रामः पृच्छति—भृश-
 मिति ॥ २३ ॥ देहे वृद्धिविपरिणामापक्षयादिविकारानुदयः
 सत्त्वशेषे लिङ्गमित्युत्तरं वक्तुं लिङ्गमनुवदति—प्रबोधेति द्वा-
 भ्याम् ॥ २४ ॥ द्वित्वैकत्वविहीनस्य निर्विकल्पस्य ॥ २५ ॥
 ग्लायति ग्लानिं गच्छति ॥ २६ ॥ अन्यस्य तु तद्विपरीत्यमि-
 त्याह—द्वित्वैकत्वादीति ॥ २७ ॥ तत्कुतस्तत्राह—चित्त-

राम भावविकाराणां कुसुमानां यथा मधुः ॥ २८
 अस्मिन्प्रयासतो देहे चेतसो हि मुहुर्मुहुः ।
 हर्षः क्रोधो न संमोहो वशमेति रघूद्वह ॥ २९
 चित्ते प्रशममायाते कायो यः सत्त्ववर्जितः ।
 बाधते नाम्बरस्येव तस्य भावविकारभूः ॥ ३०
 वीच्यादि न यथोदेति समाया जलसंततेः ।
 तथा न दृश्यते दोषः समायाः सत्त्वसंततेः ॥ ३१
 सत्त्वस्यानुपलम्भोऽस्ति न तस्योपशमादते ।
 यावद्भाति समं तत्त्वं कालाच्छाम्यति केवलम् ॥ ३२
 देहे यस्मिंस्तु नो चित्तं नापि सत्त्वं च विद्यते ।
 स तापे हिमवद्राम पञ्चत्वेन विलीयते ॥ ३३
 शिखिध्वजस्य देहोऽसौ निश्चितस्तेजसोर्जितः ।
 सत्त्वांशेन च संयुक्तस्तेन न श्लानिभाजनम् ॥ ३४
 तं तथाभूतमालोक्य भर्तुर्देहं वराङ्गना ।
 अनुजिज्ञतवती देहं चिन्तयामास सत्त्वरम् ॥ ३५
 चित्त्वं सर्वं शुद्धं प्रविश्याबोधयाम्यहम् ।
 भविष्यद्बोधनं कान्तमथ तत्र हि संस्थिता ॥ ३६
 न बोधयामि यद्येनं चिराच्छुष्यते स्वयम् ।
 किमेकैवावतिष्ठेऽहमित्येवं बोधयाम्यहम् ॥ ३७
 इति संचिन्त्य चूडाला देहं करणपञ्जरम् ।
 संत्यज्य प्राप चित्तत्वे स्थितिमाद्यन्तवर्जिते ॥ ३८

तत्र सा चेतनास्पन्दं कृत्वा सत्त्ववतः प्रभोः ।
 स्वं विवेश पुनर्देहं स्वं नीडमिव पक्षिणी ॥ ३९
 कुम्भाकृतिरथोत्थाय निविष्टा कुसुमस्थले ।
 साम गातुं प्रवृत्ता सा भ्रमरीवृन्दनिःस्वना ॥ ४०
 तं सामस्वतमाकर्ण्य चित्सत्त्वगुणशालिनी ।
 बुबुधे भूपतेर्देहे वसन्त इव पक्षिणी ॥ ४१
 दशं विकासयामास तां तदार्क इवाग्निनीम् ।
 गृहीतसत्त्वसंपत्तिः शिखिध्वजमहीपतिः ॥ ४२
 अपश्यत्कुम्भमग्रस्य सामगायनतत्परम् ।
 परेण वपुषा युक्तं सामवेदमिवापरम् ॥ ४३
 अहो धत धयं धन्याः पुनः प्राप्तो मुनिः स्वतः ।
 इत्येवोदाहरत्राजा कुम्भाय कुसुमं ददौ ॥ ४४
 दिष्टयोदिताः स्तो भगवंस्तव चेतसि पावने ।
 के नाम वा महासत्त्वाः प्रसादेष्वङ्ग नो स्थिताः ॥ ४५
 असत्प्रवित्रीकरणमेवागमनकारणम् ।
 न चेत्किं चागमे ब्रूहि द्वितीयं कारणं भवेत् ॥ ४६
 कुम्भ उवाच ।

यतः प्रभृति यातोऽसि त्वत्सकाशादनिन्दितः ।
 ततः प्रभृति चेतो मे त्वयैवेह समं स्थितम् ॥ ४७
 रम्ये स्वर्गे न तिष्ठामि समीपे तव सांप्रतम् ।
 अभीष्टमुद्यदेवाङ्ग रम्याणां तत्पुरः स्थितम् ॥ ४८

स्पन्द इति । जगतः स्थितेर्व्यवहारस्य हेतुभूतानां सर्वेषां
 भावविकाराणां कारणम् ॥ २८ ॥ अत एव पुनर्जन्मवीजसत्त्वे-
 ऽस्मादेहादेहान्तरं प्रयासतश्चेतसो मुहुर्मुहुर्भवेन निरुद्धमाणोऽपि
 हर्षः क्रोधः संमोहश्च न वशमेति न निग्रहीतुं शक्यते । तदेव
 पुनर्जन्मावश्यभावे लिङ्गमित्यर्थः ॥ २९ ॥ चित्ते हर्षादिवि-
 कारशान्तौ तु कायेऽपि विकारा निवर्तन्त इत्याह—चित्त इति ।
 सत्त्वेन निर्वासनचित्तेन वर्जितः अप्रतिसंघानेन त्यक्तः ।
 तथा च चित्तेनाहतया परिग्रह एव देहे वृद्धादिविकारहेतुरिति
 भावः ॥ ३० ॥ देहजरापलितादिदोषो रागादिदोषश्च न दृश्यते
 ॥ ३१ ॥ कियत्कालं जीवन्मुक्तैः सत्त्वमुपलभ्यत इति चेत्प्रा-
 रब्धशेषक्षयेण तत्प्रशमपर्यन्तमित्याह—सत्त्वस्येति । समं
 प्रातिभासिकवैषम्येणापि शून्यम् । कालात्प्रारब्धशेषक्षयका-
 लात् ॥ ३२ ॥ सत्त्वस्यापि क्षये तु मृतो देहो विलीयत
 इत्याह—देहे इति । नो चित्तमित्यज्ञमरणाभिप्रायम् । नापि
 सत्त्वमिति श्रमरणाभिप्रायम् । पञ्चत्वेन मरणेन ॥ ३३ ॥
 शिखिध्वजदेहे तु जीवनलिङ्गानि तथा दृष्टानीत्याह—शिखि-
 ध्वजस्येति । तेजसा कम्पणा ॥ ३४ ॥ प्रश्नं समाधाय प्रस्तुत-
 मनुसंधत्ते—तं तथेत्यादिना । स्वदेहमनुजिज्ञतवती सती
 ॥ ३५ ॥ चित्त्वं प्रायुक्तं तदार्कं ब्रह्म तदीयकायप्रवेशेन
 प्रविश्य तत्र तत्त्वभावे संस्थिता सती चिरकायेन भविष्यद्बो-
 धनं कान्तमधुनेव संबोधयामीति ॥ ३६ ॥ ननु विरेण स

स्वयमेव धुञ्जतां किं बोधनत्वरया तत्राह—नेति । राज्यपालने
 नियुक्ताहं न सर्वेव समाधौ स्थातुं शक्ता व्युत्थिता च कथं वि-
 त्तमेकाकिन्यवस्थातुं शक्नोमीति भावः ॥ ३७ ॥ स्वं देहं
 संत्यज्य तदेहं प्रविश्य तदीये हार्देऽब्रह्मक्षणे चित्तत्वे स्थितिं
 प्रापेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ तत्र निर्विकल्पसमाधिना क्षीरोदकवदेकर-
 सीभूतायाचेतनायास्तदीयचिदाभाससंवलितयुदेः पृथग्भवनाशु-
 क्लं स्पन्दम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥ चित् चिदाभासखचिता राज-
 मुदिः शिखिध्वजाहंभावसंस्कारोद्भवेन आनखाप्रादेहेऽहंभाव-
 व्याप्त्या बुबुधे ॥ ४१ ॥ तां समाधिनिमीलिताम् ॥ ४२ ॥
 गायनमित्यशित्यात्वाभावश्छान्दसः । परेण दिव्येन वपुषा युक्तं
 मपरं सामवेदमिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ४३ ॥ कुसुमं पुष्पाञ्जलिम् ।
 अनेन तपःप्रभावात्प्राक्संचितपुष्पाणामम्लानता रम्यते ॥ ४४ ॥
 दिष्ट्या स्वभावाद्भवेन उदिताः पुनर्दर्शनाभ्युदयफलस्युतिगो-
 चरतां गताः । अथवा किं भद्गायचिन्तया महान्तः स्वत एव
 परानुग्रहोद्यता इत्याशयेनाह—के नामेति ॥ ४५ ॥ मनुजं
 कारणं न चेदिह्यगमने द्वितीयं किं कारणं भवेत्, संभावितं
 तद्गृहीत्यर्थः ॥ ४६ ॥ त्वयैव समं साकम् । स्थानं सामेव
 स्वरदिति यावत् ॥ ४७ ॥ अत एव रम्येऽपि स्वर्गे सांप्रतं न
 तिष्ठामि किन्तु तव समीपे तिष्ठामि । हे अन्न, यतो बहूनामपि
 रम्याणां भव्ये चित्तस्य यदेवागीष्टं भवति तत् उच्यत् उद्योय-
 प्राप्यमेव सत् पुरः स्थितं भवति बोधयोगं विनेति त्वदर्शनोद्योग-

त्वादृशो बन्धुरासश्च सुहृन्मित्रं तथा सखा ।
विश्वास्यो वापि शिष्यश्च मन्ये जगति नास्ति मे ४९
शिखिध्वज उवाच ।

अहो नु फलितं पुण्यपादपैर्नः कुलाचले ।
यस्माद्भवानसङ्गोऽपि बाञ्छत्यसत्समागमम् ॥ ५०
इदं वनमिमे वृक्षा भृत्योऽयमहमादृतः ।
रोचते ते न चेत्स्वर्गस्तदिह स्वीयतां प्रभो ॥ ५१
भवद्वितीर्णया योगयुक्त्या विश्रान्तवानहम् ।
यथा साधो तथा मन्ये स्वर्गे विश्रमणं कुतः ॥ ५२
तामेव संस्थितिं स्वच्छामवलम्ब्य प्रकाशिनीम् ।
विहरेह यथाकामं स्वर्गे भूमितले तथा ॥ ५३
कुम्भ उवाच ।

परे पदे महानन्दे कच्चिद्विश्रान्तवानसि ।
इदं भेदमयं दुःखं कच्चित्संत्यक्तवानसि ॥ ५४
कच्चिदापातरम्येभ्यः संकल्पेभ्यो रतिर्भृशम् ।
निर्मूलतां गता राजन्भोगनीरसमेव ते ॥ ५५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० सो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० कुम्भपुनरागमनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमः सर्गः १०४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्यध्यात्मविचित्राभिः कथाभिस्तौ परस्परम् ।
आसाते वेद्यवेत्तारौ मुहूर्तत्रितयं वने ॥ १
तत उत्थाय कस्मिंश्चित्सानौ सरससारसे ।
सरोवरे वने चैव विहृतौ नन्दने वने ॥ २
तेनाचारेण तामिश्च कथामिस्तौ वने ततः ।
नीतवन्तौ दिनान्यष्टौ तासु काननवीथिषु ॥ ३
अथ कुम्भ उवाचान्यद्वनं यावो गिराविति ।
तदोमिति नृपो मत्वा तावुभौ प्रविचेरतुः ॥ ४

वशादेव समागमनमित्यर्थः ॥ ४८ ॥ मयि को वा ते
प्रीतिहेतुरविशयस्तत्राह—त्वादृश इति ॥ ४९ ॥ कुलाचले
असिन्मन्दरे ॥ ५० ॥ मत्प्रीत्या ते स्वर्गे न रोचते चेत्तर्हि
इह मत्संनिधौ ॥ ५१ ॥ ममापि त्वद्वितीर्णसमाधिमुखतृप्तस्य
स्वर्गे बाञ्छा नास्तीत्याह—भवद्वितीर्णयेति । वितीर्णया
दत्तया ॥ ५२ ॥ तां मह्यमुपदिष्टामेव भूमानन्दसंस्थितिमव-
लम्ब्य । प्रकाशिनीं स्वप्रकाशाम् ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥
शमेन समस्थिति ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ चिराद्बहुकालोत्तरम् ।
अतिचिरेण दिनत्रयपर्यन्तम् ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ अप्राप्तं प्राप्त-
मिति शेषः । तथा मे सत्त्वं निर्वासनं मनस्त्वस्यात्मन एव
परत्वमाश्रितम् ॥ ६० ॥ यदि त्वदन्यत्किञ्चन नैवास्ति तर्हि
त्वं कीदृशोऽवशिष्टस्तत्राह—निःसंसृतिरिति । स्पष्टम् ॥ ६१ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
कुम्भपुनरागमनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

हेयादेयदशातीतं शान्तं शमसमस्थिति ।
यथाप्राप्तेष्वनुद्वेगं कच्चित्तव मनःस्थितम् ॥ ५६
शिखिध्वज उवाच ।

त्वत्प्रसादेन भगवन्दृष्टा दृश्यातिगा गतिः ।
प्राप्तः संसारसीमान्तो लब्धो लब्धव्यनिश्चयः ॥ ५७
चिरादतिचिरेणैव विधान्तोऽसि निरामयः ।
लब्धं लब्धव्यमखिलं तप्तः संश्रिरसंस्थितः ॥ ५८
नोपदेष्टव्यमस्माकं किञ्चिदप्युपयुज्यते ।
सर्वत्रैवातिवृत्तोऽसि संस्थितोऽसि गतज्वरः ॥ ५९
ज्ञातमज्ञातमप्राप्तं त्यक्तं त्यक्तव्यमाश्रितम् ।
तत्त्वं परत्वं सत्त्वं मे स्वस्यैवास्ति न किञ्चन ॥ ६०

निःसंसृतिर्विगतमोहभयो विरागो
नित्योदितः समसमाशयसर्वसौम्यः ।
सर्वात्मकः सकलसंकलनाविरुक्त
आकाशकोशविशदः सममास्थितोऽसि ॥ ६१

वनान्यनेकरूपाणि जङ्गलानि तटानि च ।
सरांसि शुल्मजालानि शृङ्गाणि गहनानि च ॥ ५
नदीदेशांस्तथा ग्रामाक्षगराणि वनानि च ।
मधुघोषान्गिरीन्कुञ्जांस्तीर्थान्यायतनानि च ॥ ६
सममेव समस्त्रेहौ समवेतौ स्थितावुभौ ।
समसत्त्वौ समोत्साहौ शंसन्तौ तस्थतुः सदा ॥ ७
आनर्चतुः पितृन्देवान्बुभुजाते च राघव ।
समं तप्ते च सिक्ते च समबुद्धौ बभूवतुः ॥ ८

कुम्भस्य रमतो राजा संभोगेच्छात्र वर्ण्यते ।

स्वर्गापदेशात्पूर्वार्धे विषण्णपुनरागमः ॥ १ ॥

इत्युक्तप्रकाराभिरात्मनीयध्यात्मविचित्राभिः कथाभिः पर-
स्परं संबदन्तामिति शेषः ॥ १ ॥ सरसानि क्षिप्रानि सारसानि
पद्मानि पक्षिमिथुनानि च यस्मिन् । नन्दने आनन्ददायिनि ।
फलमूलादिना अचने रक्षके च । प्रसिद्धे ऐन्द्रे नन्दने वने इवेति
वा शेषः ॥ २ ॥ तेन जीवन्मुक्तप्रसिद्धेनाचारेण । वने महा-
रण्ये । काननवीथिषु अवान्तरवनपङ्क्तिभेदेषु । तेन दिनाष्टकमपि
नैकत्र वास इत्यनिकेतता सूच्यते ॥ ३ ॥ ओमित्यभिमतौ ।
नृपस्येव कुम्भस्याप्यर्थसिद्ध्या कर्तृतास्येवेत्युभयकर्तृकचरितस-
मानकर्तृकतामाश्रित्य मत्वेति कत्वाप्रत्ययनिर्देशः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥
समवेतौ समुदितौ सन्तौ चित्तवृत्त्यापि सममेव स्थितौ शंसन्तौ
परस्परानुभवं कथयन्तौ ॥ ७ ॥ सिक्ते जलादौ शीतलप्रदेशे

१ आसातां इति पाठः.

तमालवनखण्डेषु मन्दारगह्वनेषु च ।
 दंपती स्निग्धहृदयौ सुहृदौ तौ विरेजतुः ॥ ९
 इदं गेहमिदं नेति विकल्पकलना मनः ।
 न जहार तयो राम वात्येव विबुधाचलम् ॥ १०
 विचेरतुस्तौ सुहृदौ कचिद्भूलिविधूसरौ ।
 कचिच्चन्दनदिग्धाङ्गौ कचिद्भस्मानुरञ्जितौ ॥ ११
 कचिद्व्याम्बरधरौ चित्राम्बरधरौ कचित् ।
 कचित्पल्लवसंछन्नौ कचित्कुसुममण्डितौ ॥ १२
 दिनैः कतिपयैरेव समचित्ततया तया ।
 सत्त्वोदात्ततया चैव राजा कुम्भवदावभौ ॥ १३
 अथ तं सुरगर्भमं चूडाला सा शिखिध्वजम् ।
 दृष्ट्वा शोभासुपगतं चिन्तयामास मानिनी ॥ १४
 अयं पतिरदीनात्मा रम्याश्च वनभूमयः ।
 इयं स्थितिरनायासा या न कामेन वञ्चिता ॥ १५
 जीवन्मुक्तधियां भोगं यथाप्राप्तमतिष्ठताम् ।
 एकाग्रहात्मिका तुच्छा मूढतैवोदिता भवेत् ॥ १६
 निजः पतिरुदारत्मा निराधिश्च नवं वयः ।
 शृङ्गाणि पुष्पजालानि सा हता या न कामिनी ॥ १७
 वनपुष्पलतागेहे स्थायत्ते भर्तुरि प्रिया ।
 रमते या न निर्दुःखा सा हतैव दुरङ्गना ॥ १८
 रम्यं विवाहितं कान्तं पतिमासाद्य निर्जने ।
 स्त्री सती या न रमते तां धिगस्तु दुरङ्गनाम् ॥ १९
 समुज्झता यथाप्राप्तमपि वेद्यविदा सदा ।
 अनिन्द्यं समुदारार्थं किं तज्जेन कृतं भवेत् ॥ २०
 तत्किंचिद्रचयाभ्याशु प्रपञ्चं प्रेक्षया वने ।
 येनायं भूपतिर्भर्ता रमते मयि मानदः ॥ २१
 इति संचिन्त्य चूडाला कुम्भवेषधरा पतिम् ।

चेति यावत् ॥ ८ ॥ ९ ॥ अनिकेतस्थितिलक्षणमाह—इद-
 मिति । विकल्पकलना तयोर्मनो न जहार ॥ १० ॥ प्रियाप्रि-
 यविकल्पोऽपि तयोर्नाभूदित्याह—विचेरतुरित्यादिना ॥ ११ ॥
 ॥ १२ ॥ सत्त्वेन निर्वासनचित्तेनोदात्ततया उत्कृष्टतया ॥ १३ ॥
 अथ केवलमित्रभावेन परस्परप्रेमभोजकप्रारब्धभोगोत्तरकालं
 दंपतिभावोपभोजकप्रारब्धोद्भवकाले ॥ १४ ॥ कामेन अशु-
 र्येण रागेण न वञ्चिता ॥ १५ ॥ यथाप्राप्तं भोगं प्रति अति-
 ष्टतां अनिष्टतृणतीनाम् । एकस्यां भोगनिवृत्तादेवाप्रहो निर्व-
 न्धस्तदात्मिका या वृत्तिः सा मूढतैव ॥ १६ ॥ अधर्मरोगश्र-
 मादिहेतुभ्यो भोगेभ्यो लोकसमूहाय निवर्तितव्यमेव, अत्र तु न
 तत्प्रसक्तिरित्याद्येनाह—निज इति । एवं सर्वसामग्रीसत्त्वेऽपि
 या स्वभर्तुरि न कामवती सा अजीवन्मुक्ता चेद्भर्तुपभोगविधा-
 तपापेन हता । जीवन्मुक्ता चेन्नोक्तसंग्रहभङ्गप्रयुक्तनिन्दादिना
 हृतेत्यर्थः ॥ १७ ॥ उक्तमेव स्पष्टमाह—वनेति ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ अनिन्द्यं स्वं सदारार्थं भोगं समुज्झता किं किमधिकं
 फलं कृतं भवेत् । न किंचिदित्यर्थः ॥ २० ॥ प्रेक्षया स्वप्रख्या

प्राह काननगुल्मस्था कोकिलं कोकिला यथा ॥ २२
 कुम्भ उवाच ।
 चैत्रमासस्य शुक्लोऽयं प्रतिपदिवसो महान् ।
 अद्यास्थानं महारम्भं स्वर्गे भवति वै हरेः ॥ २३
 संनिधानं मया तत्र कर्तव्यं पितुरग्रतः ।
 यथास्थिता हि नियतिर्न संत्याज्या कदाचन ॥ २४
 प्रतिपालयितव्यं मे त्वयेह च वनावनौ ।
 क्रीडता नवपुष्पायां समुद्वेगमगच्छता ॥ २५
 आगच्छामि दिनान्तेऽद्य निर्विकल्पं नमस्तलात् ।
 सर्गादतितरामेव त्वत्सङ्गो मम तुष्टये ॥ २६
 इत्युक्त्वा मञ्जरीं कुम्भो ददौ मित्राय कौसुमीम् ।
 प्रीतये स्वामिव प्रीतिं कान्तां नन्दनवृक्षजाम् ॥ २७
 आगन्तव्यं त्वया शीघ्रमेवं वदति भूपती ।
 पुष्टवेऽथ घनाद्वयोम शरन्मुखपयोदवत् ॥ २८
 पुष्पाञ्जलिं जहौ व्योम व्रजन्कुसुमदामजम् ।
 विसारि वनवातेन हिमं हैम इवाम्बुदः ॥ २९
 शिखिध्वजो व्रजन्तं तं ददर्शाऽऽदर्शनं तदा ।
 उन्मिद्रोऽब्धं यथा चर्हो धीमत्प्रीतिर्हि दुस्त्यजा ॥ ३०
 शिखिध्वजदशामन्ते व्योम्नि कुम्भवपुर्जहौ ।
 शान्तावर्तेन वारिध्रीर्मुग्धा स्वं रूपमाययौ ॥ ३१
 प्राप मञ्जरिताकारकल्पवृक्षोपमं पुरम् ।
 स्फुरत्पताकमात्सीयं स्वर्गरम्यं दिवः पथा ॥ ३२
 अन्तःपुरमदृश्यैव विवेश ललनाकुलम् ।
 मधुमासमहालक्ष्मीर्लसल्लतमिव द्रुमम् ॥ ३३
 राजकार्याणि सर्वाणि तत्र संपाद्य सत्त्वरम् ।
 शिखिध्वजस्य पुरतः पपात फलपुष्पवत् ॥ ३४

मयि रमते रतिसुखं लभते ॥ २१ ॥ २२ ॥ आस्थानं देव-
 पिंसभाभेदनम् । हरेः इन्द्रस्य ॥ २३ ॥ पितुर्नारदस्य ॥ २४ ॥
 प्रतिपालयितव्यं मे आगमनमासायं प्रतीक्षितव्यम् ॥ २५ ॥
 निर्विकल्पं आगमनपाक्षिकत्वरहितम् । नियतमिति यावत् ॥ २६ ॥
 कान्तां मनोहराम् । नन्दनवृक्षः कल्पतरुस्त्वङ्गां मञ्जरीम् ॥ २७ ॥
 शरन्मुखपयोदो निर्जलमेघस्तद्वत् ॥ २८ ॥ वनवातेन विसारि
 प्रसरणशीलं पुष्पाञ्जलिम् । पदसंस्कारपक्षे नपुंसकलिङ्गं सर्वना-
 मेति प्रागेव प्रवृत्तमन्तरङ्गं नपुंसकलिङ्गं पुंविशेषसंबन्धेऽपि न
 निवर्तते । तथा चोदाहृतं महाभाष्ये 'शक्यं भानेन श्रमांसादिभि-
 रपि क्षुत्प्रतिहन्युं तत्र नियमः क्रियते पञ्च पञ्चनखा मक्ष्याः'
 इतीति । हिमकाले मनो हैमः ॥ २९ ॥ आदर्शनं दृष्टिप्रसरयोग्यप्र-
 देशावधि । अब्धं मेघम् ॥ ३० ॥ स्वं चूडालारूपम् । आययौ
 प्राप ॥ ३१ ॥ स्फुरत्पताकमत एव मञ्जरितः संजातम-
 ञ्जरीक आकारः संस्थानं यस्य तथाविधकल्पवृक्षोपमम् ॥ ३२ ॥
 ॥ ३३ ॥ यथा वृक्षाफलं पुष्पं वा पतति तद्वत् ॥ ३४ ॥

तत्र कालद्युति मुखं चकाराखिन्नमानसा ।
इन्दुं सतीहारमिव श्यामा खिन्नमिवाम्बुजम् ॥ ३५
तं दृष्ट्वा तादृशाकारं समुत्तस्थौ शिखिध्वजः ।
वभूव खिन्नचेताश्च समुवाचेदमादृतः ॥ ३६
देवपुत्र नमस्तेऽस्तु विमना इव लक्ष्यसे ।
कुम्भस्त्वं त्यज संरम्भमिदमासनमास्यताम् ॥ ३७
सन्तो विदितवेद्या ये ते हि हर्षविषादजाम् ।
नाश्रयन्ति स्थितिं स्वस्थाः पद्मा इव जलार्द्रताम् ॥ ३८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

तेन क्षमापतिनेत्युक्ते कुम्भ आहासने विशन् ।
गिरा विषण्णया शीर्णवंशस्वनसमानया ॥ ३९
यावद्देहमवस्थासु समचित्ततयैव ये ।
कर्मेन्द्रियैर्न तिष्ठन्ति न ते तत्त्वविदः शठाः ॥ ४०
ये ह्यतत्त्वविदो मूढा राजन्यालतयैव ते ।
अवस्थाभ्यः पलायन्ते गृहीताभ्यः स्वभावतः ॥ ४१
यावत्तिलं यथा तैलं यावद्देहं तथा दशा ।
यो न देहदशमेति स च्छिनत्त्यसिनाम्बरम् ॥ ४२
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० पू० चू० जीवन्मुक्तव्यवहारप्रतिपादनं नाम चतुरधिकशततमः सर्गः ॥ १०४ ॥

एष देहदशादुःखपरित्यागो ह्यनुत्तमः ।
यत्साम्यं चेतसो योगान्न तु कर्मेन्द्रियस्थितेः ॥ ४३
यावद्देहं यथाचारं दशास्वङ्गं विजानता ।
कर्मेन्द्रियैर्हि स्थातव्यं न तु बुद्धीन्द्रियैः कचित् ॥ ४४
परमेष्ठिप्रभृतयः सर्वे एवोदिताशयाः ।
देहावस्थासु तिष्ठन्ति नियतेरेष निश्चयः ॥ ४५
अज्ञतत्त्वज्ञभूतानि दृश्यजातमिदं हि यत् ।
तत्सर्वमेव नियतिं धावत्यम्यु यथाम्बुधिम् ॥ ४६
तज्ज्ञा बुद्ध्यादिसाम्येन पाण्यादिचलनेन च ।
नियतिं यापयन्तीमां यावद्देहमखण्डिताम् ॥ ४७
अज्ञास्तु सर्वक्षोभेण सुखदुःखदशादृताः ।
नियतिं यापयन्त्यङ्गं देहलक्षैर्विखण्डिताम् ॥ ४८
इत्थं सुखेषु ननु दुःखदशासु चेत्थं
स्थातव्यमित्यधिगतं यदिहाङ्ग जीवैः ।
अज्ञज्ञभूतनिबद्धस्फुरितस्तदेवं
दुर्लभ्य एष नियतो नियतेर्विलासः ॥ ४९

पञ्चाधिकशततमः सर्गः १०५

शिखिध्वज उवाच ।

एवं स्थिते महाभाग कथमुद्वेगमीदृशम् ।

तत्र भर्तृसंनिधौ मुखं श्यामद्युति चकार । श्यामा यौवनमध्यस्था
चूडाला ॥ ३५ ॥ आदृतः सादरः ॥ ३६ ॥ विमनाः खिन्नमना
इव लक्ष्यसे । मुखम्लानिलिङ्गेनेत्यर्थः । संरम्भं लक्षणया मन-
स्तापम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ वाष्परुद्धकण्ठजत्वाच्छीर्णवंशस्वन-
समानया ॥ ३९ ॥ विदितवेद्याः पुरुषा हर्षविषादजां स्थितिं
नाश्रयन्तीति यदुक्तं तत्र कंचिद्विशेषं विवक्ष्यन्कुम्भ उवाच—
यावद्देहमिति । ज्ञानप्रयुक्तसमचित्ततानान्तरीयकर्मेन्द्रियचेष्टानि-
वृत्तिरेव ज्ञानिनो लक्षणमिति तच्छून्या इव तत्त्वविदो न सम-
चित्तत्वेऽपि प्रारब्धकर्मप्रयुक्तकर्मेन्द्रियचेष्टोद्भवमात्रपराधेनेत्या-
शयः ॥ ४० ॥ अतत्त्वज्ञेषु तु न तथेत्याह—ये हीति । बाल-
तया समचित्तत्वाभावेनैव इडाद्गृहीताभ्यस्तत्तत्कर्मेन्द्रियनिग्र-
हावस्थाभ्यः पलायन्ते च्यवन्ते अज्ञानस्वभावादेवेति वैषम्य-
मित्यर्थः ॥ ४१ ॥ प्रारब्धप्रयुक्ता तु कर्मेन्द्रियहर्षग्लानिदशा
यावद्देहभाविनी ज्ञान्यज्ञानिनोस्तुल्यैवेत्याशयेन सदृष्टान्तमाह—
यावदिति । दशा कर्मेन्द्रियहर्षग्लान्यादिदशा भवत्येवेति शेषः ।
तदेव व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—य इति । तथा च ज्ञानिनोऽपि
देहदशानतिलङ्घनमेवेति ममापि तदनुवर्तनं न दोषायेति
भावः ॥ ४२ ॥ तथा च चित्तसाम्येन देहदशादुःखानां समाधि-
वशाददर्शनमेव तत्परित्यागो न हठात्कर्मेन्द्रियनिग्रहेण सहन-
मिति निष्कर्ष इत्याह—एष इति ॥ ४३ ॥ विजानता तत्त्व-

लब्धवानसि देवोऽपि वद वेद्यविदां वर ॥ १

विदा यावद्देहं कर्मेन्द्रियैः सर्वासु दशासु यथासदाचारमेव
स्थातव्यं, न तु सदाचारं उल्लङ्घ्य इत्येतावानेव नियमः । बुद्धीन्द्रि-
यैर्मेनवादिभिस्तु सदा साम्येनैव भाव्यं, न तु कदाचिदपि वैषम्ये-
नेत्यर्थः ॥ ४४ ॥ कर्मेन्द्रियैरनिषिद्धदेहावस्थानुवर्तनं ब्रह्मादि-
सर्वजीवन्मुक्तेषु प्रसिद्धमेवेत्याह—परमेष्ठितीति । नियतेः प्रारब्ध-
कर्मनियतेः । अन्यथा तद्भोगासिद्धेरिति भावः ॥ ४५ ॥ प्रारब्धकर्म-
नियतिलङ्घनं तत्त्वज्ञैरज्ञैर्वा कैश्चिदपि कर्तुं न शक्यमित्याह—
अज्ञेति ॥ ४६ ॥ तर्हि किं तज्ज्ञाज्ञयोः साम्यमेव नेत्याह—
तज्ज्ञा इति । यावद्देहमुपात्तकदेहपातपर्यन्तम् ॥ ४७ ॥ अज्ञास्तु
न तथेत्याह—अज्ञास्त्विति ॥ ४८ ॥ प्रारब्धनियतिस्वरूपमभि-
नीय दर्शयंस्तस्याः सर्वदुर्लभ्यतामुक्त्यामनूयोपसंहरति—इत्थ-
मिति । ननु अज्ञ इति राजसंबोधने । अनेन प्राणिना अस्मिन्
जन्मनि इत्थं सुखेषु स्थातव्यं दुःखदशासु चेत्थं स्थातव्यमिति
जीवैः स्वस्वकर्मानुसारेण यथादृशं ललाटाक्षरमधिगतं प्राप्तं
तत्तद्विषये अज्ञेषु ज्ञेषु वा भूतनिबद्धेषु तथैव स्फुरितो नियत
एष नियतेः प्रारब्धकर्मणो विलास एवं प्रागुक्तरीत्या दुर्लभ्य
इत्यर्थः ॥ ४९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे पूर्वार्धे जीवन्मुक्तव्यवहारप्रतिपादनं नाम चतुरधिक-
शततमः सर्गः ॥ १०४ ॥

कुम्भेन निशि दुर्वासःशापात्स्त्रीत्वासिरुच्यते ।

परस्परं समाधानैः प्रीतयोश्च तथा स्थितिः ॥ १ ॥

एवं नियत्यनुसारेण स्थिते जीवकदम्बे त्वं देवोऽपि सतीदृशं

कुम्भ उवाच ।

शृणु कार्यमिदं चित्तं मदीयं वसुधाधिप ।
कथयामि तवाशेषं सर्गं यद्वत्तमद्य मे ॥ २
सुहृदावेदितं दुःखं परमायाति तानवम् ।
धनं जडं कृष्णमपि मुक्तवृष्टिरिवाम्बुदः ॥ ३
सुहृदा पृच्छता साधु चेतो याति प्रसन्नताम् ।
स्वच्छतोपगतेनाशु कतकेन जलं यथा ॥ ४
अहं तावदितो यातो भवते पुष्पमञ्जरीम् ।
दत्त्वा गगनमुल्लङ्घ्य संप्राप्तश्च त्रिविष्टपम् ॥ ५
ततः पित्रा महेन्द्रस्य सभास्थाने यथाक्रमम् ।
स्थित्वोत्थाय तथोत्थानकाले पित्रा विवर्जितः ॥ ६
इहागन्तुमहं त्यक्त्वा स्वर्गं संप्राप्तवाग्रभः ।
दिधाकरहयैः सार्धं ब्रह्मयनिलवर्त्मनि ॥ ७
अथैकत्र गतो भानुरेकेनान्येन वर्त्मना ।
आगच्छास्यहमाकाशं सागरपतिताकृतिः ॥ ८
अथाग्रे वारिपूर्णानां मेघानां मध्यवर्त्मना ।
अपश्यं मुनिमायान्तमहं दुर्वाससं जवात् ॥ ९
पयोधरपटच्छत्रं विद्युद्वलयभूषितम् ।
अभिसारिकया तुल्यं धाराघौताङ्गचन्दनम् ॥ १०
स्थितां सुतरुसुच्छायामापगां वसुधातले ।
वेगेनाभिसरन्तं तां तपोलक्ष्मीमिव प्रियाम् ॥ ११
तस्य कृत्वा नमस्कारमुक्तं खे ब्रह्मा मया ।
मुने नीलाश्रवस्त्वमभिसारिकया समः ॥ १२
इत्याकर्ण्य मुमोचासौ मयि मानन्दं शापकम् ।
स्तनकेशवती कान्ता ह्रावभावविलासिनी ॥ १३
गच्छानेन दुरुक्तेन राजौ योषा भविष्यसि ।

विषादनिमित्तमुद्देगं कथं लब्धवांस्तद्देवस्यः ॥ १ ॥ २ ॥ वर्त
जडं कृष्णमिति विशेषणतुल्यं प्रागवत् । ईदृशोऽप्यम्बुदो
मुक्तवृष्टिः सन् यथा तानवमायाति तद्वत् ॥ ३ ॥ पृच्छता
सुहृदा निमित्तेन । स्वच्छतार्थमुपगतेनेति सुहृदोऽपि विशेषणम्
॥ ४ ॥ ५ ॥ पित्रा सहेति शेषः ॥ ६ ॥ ब्रह्मणि प्रवहास्य-
स्यानिलस्य स्वाशुक्ले वर्त्मनि तत्प्रवाहेणैव ब्रह्मणि यावदभि-
मतदेशमित्यर्थः ॥ ७ ॥ अथ मदभिमतदेशप्राप्त्यनन्तरं
तेन मरुता अग्रे उद्यमानो भानुरेकेन वर्त्मना एकत्र गतः ।
अहं त्वन्येन वर्त्मना आगच्छामि । सागरपतिताकृतिः
समुद्रे लवमान इवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥ शौकरधार-
भिषौतं क्षालितमङ्गचन्दनमङ्गरागो यस्य तम् ॥ १० ॥
वसुधातले स्थितामत एव शोभना तीररुहतरुच्छाया यस्या-
स्तथाविधाम् । स्वस्य प्रियां तपोलक्ष्मीमिव स्थितामापगां गङ्गां
प्रति संघ्रावन्दनकालायो मा भूदिति वेगेनाभिसरन्ताम् ।
'आप या'मिति पाठे तु यां तपोलक्ष्मीलक्षणां प्रियां भार्यां वसु-
धातले आप प्राप तामभिमुखीकृत्य सरन्तमिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ११ ॥
अभिसारिकया तमिहाभिसारिकया त्वं समो दृश्यसे इति मया

इति श्रुत्वाऽशुभं वाक्यमुत्थितं जर्जरद्विजात् ॥ १४
विमृशामि मनाग्यावत्तावदन्तर्हितो मुनिः ।
इत्युद्देगमनाः साधो संप्राप्तोऽहं नमस्तलात् ॥ १५
एतत्ते कथितं सर्वं संपन्नोऽस्मि निशाङ्गना ।
अतिवाह्यं दिनान्तेषु स्त्रीत्वमेतन्मया कथम् ॥ १६
योषित्स्तनवती राजौ वक्तव्यं किं मया पितुः ।
संसृतौ भवितव्यानामहो नु विषमा गतिः ॥ १७
अहमप्यद्य यदैवायूनामभिषतां गतः ।
कष्टं मदपहारेण कलहो जायतेऽधुना ॥ १८
दिवि देवकुमाराणां कामाकुलधियामिह ।
गुरुदेवद्विजातीनां लज्जापरवशात्मना ॥ १९
कथमग्रे मया सम्यग्वस्तव्यं यामिनीलिया ।

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा क्षणमेकं सा तूर्णं स्थित्वा मुनिस्थितौ ॥
धैर्यमाश्रित्य कुम्भोऽत्र पुनराह रघूद्वह ।
किमहं इव शोचामि किं मम क्षतमात्मनः ॥ २१
यथागतमयं देहो मत्तोऽन्योऽनुभविष्यति ।

शिखिञ्चज उवाच ।

परिदेवनया कोऽर्थो देवपुत्र तथैतया ॥ २२
यदायाति तदायातु देहस्यात्मा न लिप्यते ।
कानिचिद्यानि दुःखानि सुखानि विहितानि च ॥ २३
तानि सर्वाणि देहस्य देहिनो न तु कानिचिद् ।
यदि त्वमपि कार्याणामखेदाहोऽपि खिद्यसे ॥ २४
तदन्येषामुपायः स्यात्क इवागमभूषणः ।
खेदे खेदोचितं वाक्यमिति किञ्चित्त्वमुक्तवान् ॥ २५

उक्तम् ॥ १२ ॥ १३ ॥ अशुभमिति श्लेघः । जर्जरद्विजा-
जादुर्वाससः ॥ १४ ॥ इत्युक्तनिमित्तं उद्देगो यस्य तथाविधं
मनो यस्य ॥ १५ ॥ कथमतिवाह्यं यापयितुं शक्यम् ॥ १६ ॥
पितुः अग्रे इति शेषः ॥ १७ ॥ यूनामभिषतां गृध्रामिषन्या-
येन कलहविषयताम् । तमेव न्यायं प्रसक्तं स्पष्टयति—कष्ट-
मिति । अधुनेति श्वःपरस्वस्तनसंनिहितकालोक्तिः । मदप-
हारेण मम अपहरणाय । अध्ययनेन वसतीतिवत् । फलस्यापि
हेतुत्वविवक्षया तृतीया ॥ १८ ॥ १९ ॥ मुनिस्थितौ चित्तस-
माधाने ॥ २० ॥ २१ ॥ यथाप्रारब्धमागतं स्त्रीत्वं मत्तोऽन्योऽयं
देह एवानुभविष्यति तेनासङ्गचिन्मात्रात्मनो मम का सतिरि-
त्यर्थः । राजापि तदुक्तमनुमोदमान आह—परिदेवनयेत्या-
दिना ॥ २२ ॥ २३ ॥ देहिनो देहोपलक्षितचिदात्मनः कार्याणाम-
वश्यसंप्राधानां प्रारब्धफलानां विषये अखेदाहस्तत्वमपि यदि
खिद्यसे तत्तर्हि अन्येषामविवेकप्रयुक्तखेदविकित्सायां त्वमिव
आगमभूषणः शास्त्रतत्त्वानुभाषनकुशलः उपायश्चिकित्सकः क
इव शरणं स्यात्त कश्चिदित्युत्तरेणान्वयः ॥ २४ ॥ नायं तव
खेदः किन्तु खेदोचितोक्तिमात्रं लोकान्तरानुवर्णनायेत्याह—खेदे

इदानीं समतामेत्य तिष्ठाविधौ यथास्थितम् ।
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 तावेवमादिभिर्वाक्यैरन्योन्याश्वासनं स्वयम् ॥ २६
 कृत्वा स्थितौ वनस्निग्धौ सुहृदौ खेदिनौ मिथः ।
 अथाकौऽप्यस्य कुम्भस्य स्त्रीत्वमुत्पादयन्निव ॥ २७
 जगामास्तं जगद्दीपो दीपः स्नेहक्षयादिव ।
 व्यवहारभरैः सार्धं पद्माः संकोचमाययुः ॥ २८
 मार्गाश्च पथिकैः सार्धं पान्थस्त्रीहृदयानि च ।
 दाशवद्विहगान्सर्वान्कुर्वदेकत्र संचितान् ॥ २९
 तारकारजजालाढ्यं भुवनं साम्यतां ययौ ।
 खं हसदिव ताराढ्यं विकासिकुमुदाकरम् ॥ ३०
 ययाबुन्नादचक्राद्भ्रमद्भ्रमरपेटकम् ।
 सुहृदौ तावथोत्थाय संध्यासुद्यन्निशाकराम् ॥ ३१
 वन्दयित्वा तथा कृत्वा जप्यं गुल्मान्तरे स्थितौ ।
 ततः कुम्भः शनैस्तत्र स्त्रैणमभ्याहरन्वपुः ॥ ३२
 शिखिध्वजं पुरःसंस्थं प्रोवाच गलदक्षरम् ।
 पतामीव स्फुरामीव द्रवामीवाङ्गयष्टिभिः ॥ ३३
 लज्जयैव च ते राजन्मन्ये स्त्रीत्वं व्रजाम्यहम् ।
 पश्येमे परिवर्धन्ते राजन्मम शिरोरुहाः ॥ ३४
 प्रस्फुरत्तारकामाला दिनान्ततिसिरा इव ।
 पश्येमौ मम जायेते प्रोन्मुखाबुरसि स्तनौ ॥ ३५
 कोरकाविव पद्मिन्या वसन्ते गगनोन्मुखौ ।
 आगुल्फमेव लम्बानि संपद्यन्तेऽम्बराणि मे ॥ ३६
 देहादेव सखे पश्य स्त्रिया इव शनैः शनैः ।
 भूषणान्युत रत्नानि माल्यानि विविधानि च ॥ ३७
 पश्येमान्यङ्ग जायन्ते स्वाङ्गेभ्यो वृक्षपुष्पवत् ।
 पद्यायं स्वयमेवाद्य चन्द्रांशुकरशोभनः ॥ ३८
 मूर्ध्नि पट्टांशुको जातो नीहारोऽद्राविवाङ्ग मे ।

सर्वाणि कान्ताल्लिङ्गानि जातानि मम मानद ॥ ३९
 हा धिक्कष्टं विषादो मे किं करोम्यङ्गनास्म्यहम् ।
 हा धिक्कष्टमहो साधो स्थित एवाहमङ्गना ॥ ४०
 संविदानुभवाम्यन्तर्नितम्बजघने त्विमे ।
 विपिने कुम्भ इत्युक्त्वा तूष्णीं खिन्नो बभूव ह ॥ ४१
 राजापि च तमालोक्य तथैवासीद्विषण्णधीः ।
 मुहूर्तमात्रेणोवाच शिखिध्वज इदं वचः ॥ ४२
 कष्टं सोऽयं महासत्त्वः संपन्ना वरवर्णिनी ।
 साधो विदितवेद्यस्त्वं जानासि नियतेर्गतिम् ॥ ४३
 अवश्यभाविन्यर्थेऽस्मिन्मा खिन्नहृदयो भव ।
 आपतन्ति दशास्तास्ताः सुधियां देहमात्रके ॥ ४४
 न चेतस्यधियां त्वेताश्चित्तं यान्ति न देहकम् ।
 कुम्भ उवाच ।

एवमस्त्वनुतिष्ठामि यामिनीस्त्रीत्वमात्मनः ॥ ४५
 न खेदमनुगच्छामि नियतिः केन लङ्घ्यते ।
 इति निर्णय्य तौ खेदं तं नीत्वा तनुतामिव ॥ ४६
 एकतल्पे निशां तूष्णीं नीतवन्तौ चिरेण ताम् ।
 अथ प्रभाते तत्स्त्रैणं वपुरुत्सृज्य यौवनम् ॥ ४७
 बभूव कुम्भः कुम्भाभः कुचप्रोज्झितमूर्तिमान् ।
 इति सा राजमहिषी चूडाला वरवर्णिनी ॥ ४८
 कुम्भत्वमास्थिता भर्तुः पश्चात्स्त्रीत्वमुपागता ।
 विजहार धनान्तेषु कुमारीधर्मिणी निशि ।
 कुम्भरूपधरा चाहि भर्त्रा मित्रेण संयुता ॥ ४९

कैलासमन्दरमहेन्द्रसुमेरुसह-

सानुष्वविस्त्रलितयोगगमागमा सा ।

साकं प्रियेण सुहृदा भवता यथेच्छं

स्रग्दामहारवलिता विजहार नारी ॥ ५०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० कुम्भस्य स्त्रीत्वलाभो नाम पद्माधिकशततमः सर्गः ॥१०५॥

इति ॥ २५ ॥ २६ ॥ अथ मिथ आश्वासनानन्तरम् ॥ २७ ॥
 ॥२८॥ मार्गास्त्वमोभिः संकोचमस्फुटतामाययुः । पान्थस्त्रीहृद-
 यानि पथिकाश्च वियोगशोकतमोभिरित्यर्थः । दाशाः समुद्रद्वीप-
 स्थकैवर्ताः । ते हि पक्षिणोऽपि जालैर्बध्नुन्ति मत्स्यानपि रत्ना-
 न्यपि संचिन्वन्ति तद्वद्विद्यमानमूर्धाधो भुवनद्वयं पक्षिसंप्रहेण
 तारकारजजालाढ्यतया च परस्परं साम्यतां सममेव साम्यम्,
 स्वार्थं प्यञ् । समतां ययावित्यर्थः ॥ २९ ॥ उन्नादं चक्राद्भ्रमं
 भ्रमद्भ्रमराणां च पेटकं वृन्दं कर्तुं विकासिकुमुदाकरं हसदिव
 स्थितं ताराढ्यं खं कर्म ययौ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ वन्दयित्वा वन्दित्वा ।
 स्वार्थं णिच् । स्त्रिया इदं स्त्रैणं वपुः अभ्याहरन् आविष्कुर्वन्
 ॥ ३२ ॥ गलदक्षरं सगद्गदमिति यावत् ॥ ३३ ॥ ते पुर इति
 शेषः ॥ ३४ ॥ प्रस्फुरत्तारकामाला इत्युपमानविशेषणादुप-
 मेयाः शिरोरुहा अपि मुक्तादिमालासहिता इति गम्यते ॥ ३५ ॥
 अम्बराणि वस्त्राणि ॥ ३६ ॥ माल्यानि विविधानि देहादेव

जायन्ते इत्युत्तरत्रान्वयः ॥ ३७ ॥ स्वाङ्गेभ्यः शाखादिभ्यः
 ॥ ३८ ॥ पट्टांशुकः पट्टवस्त्रम् । एवमाच्छादितप्रदेशेष्वपि
 लिङ्गविनिमयः संपन्न इति ज्ञेयमित्याशयेनाह—सर्वाणीति
 ॥ ३९ ॥ स्थितः सिद्धः ॥ ४० ॥ इत्युक्त्वा कुम्भो विपिने
 तूष्णीं बभूव ह किल ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ सुधियां तत्त्वविदां
 देहमात्रके आपतन्ति चेतसि न ॥ ४४ ॥ अधियामज्ञानां तु
 एता दशाधित्तमपि वासनात्मना यान्ति न देहमात्रकमित्यर्थः ।
 अनुतिष्ठामि अनुवर्ते ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ राजा कुम्भविपत्तिचि-
 न्तया राज्ञी तु नृपसंगमोत्कण्ठया निद्राभावाच्चिरेण निशां
 नीतवन्तौ । युवत्या इदं यौवनं वपुरुत्सृज्य । 'भस्यादे तद्विते'
 इति पुंवद्भावे अजित्यणि प्रकृतिभावाच्च टिलोपः ॥ ४७ ॥ पूर्व-
 युस्वनकुम्भाभः ॥ ४८ ॥ कुमारीधर्मिणी अनूढाचारा ॥ ४९ ॥ क
 क कथं कथं विजहार तदाह—कैलासेति । कैलासादीनां सानुषु

षडुत्तरशततमः सर्गः १०६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततः कतिपयेष्वेव दिवसेषु गतेषु सा ।
 इदं प्रोवाच भर्तारं कुम्भरूपधरा सती ॥ १
 राजन् राजीवपत्राक्ष ममेदं वचनं शृणु ।
 निशार्या प्रत्यहं तावत्स्थित एवाहमङ्गना ॥ २
 तदिच्छाम्यङ्गनाधर्मं निपुणीकर्तुमीदृशम् ।
 भर्त्रे कस्यैचिदात्मानं विवाहेन ददाम्यहम् ॥ ३
 तद्भवानेव मे भर्ता चेत्ते भुवनत्रये ।
 गृह्णाण मां विवाहेन भार्यात्वे निशि सर्वदा ॥ ४
 अयत्नोपनतं साधो प्रियेण सुहृदा सह ।
 स्त्रीसुखं भोक्तुमिच्छामि मा मे विघ्नकरो भव ॥ ५
 क्रमप्रवृत्तमासृष्टेः सुखं साध्यं मनोरमम् ।
 प्रकृतं कुर्वतः कार्यं दोषः क इव जायते ॥ ६
 इच्छानिच्छे फले त्यक्त्वा समन्तात्सर्ववस्तुषु ।
 वयं न सेच्छा नानिच्छाः कुर्मस्तेनेदमीं सितम् ॥ ७

शिखिध्वज उवाच ।

छुतेनानेन कार्येण न शुभं नाशुभं सखे ।
 पश्यामि तन्महाबुद्धे यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ८
 समतां संप्रयातेन चेतसेदं जगत्त्रयम् ।
 स्वरूपमेव पश्यामि यथेच्छसि तदाचर ॥ ९

कुम्भ उवाच ।

यद्येवं तन्महीपाल लग्नमद्यैव शोभनम् ।
 राकेयं श्रावणस्यास्य ह्यः सर्वं गणितं मया ॥ १०
 रात्रावद्योदिते चन्द्रे परिपूर्णकलामले ।
 जन्यत्रो नौ महाबाहो द्वयोरेव भविष्यति ॥ ११
 महेन्द्राद्रिशिरःशृङ्गसानावद्य मनोरमे ।
 रत्नदीपप्रकाशाद्ये मणिकन्दरमन्दिरे ॥ १२

प्रस्थेषु अविस्मरितो योगबलेन गमागमः कान्तयोगेन गमाग-
 मश्च यस्यास्तथाविधा सा चूडाला यथेच्छं स्नामिमतानुसारेण
 मयता वर्तनशीलेन प्रियेण सार्धं स्वगदामहारवलिता सती
 यथेच्छं विजहारेति पुनरप्याकाङ्क्षयान्वयः ॥ ५० ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे स्त्रीत्वलभो
 नाम पञ्चाधिकशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

वर्यतेऽत्र महेन्द्रादौ विवाहोऽग्निपुरस्कृतः ।

तयोर्गुहायां सौवर्ण्यां पुष्पतरुषु च संगमः ॥ १ ॥

सा चूडाला ॥ १ ॥ २ ॥ निपुणीकर्तुं सफलीकर्तुम् ।
 ददामि अविशदेव दास्यामि ॥ ३ ॥ ४ ॥ प्रत्याख्यानेन विघ्नकरो
 मा भव ॥ ५ ॥ आसृष्टेः सृष्टिकालमारभ्य देवर्ष्यादिषु अय-
 यावत्क्रमप्रवृत्तं सुखमनायासमेव साध्यं प्रकृतं प्रस्तुतं विवाहकार्यं
 इच्छानिच्छे तत्फले च त्यक्त्वा कुर्वतस्ते क इव दोषो जायत
 इत्यन्वयः । वयं आवाम् । 'असदो द्वयोश्च' इति बहुवचनम् ।

पुष्पभारानतोलुङ्गवृक्षराजिविराजिते ।
 वनपुष्पकलालास्यनारीनृत्यमनोहरे ॥ १३
 निशि व्योमगतास्तारा भर्त्रा पूर्णेन्दुना सह ।
 आवयोः परिपश्यन्तु कर्णांतायतलोचन ॥ १४
 उत्तिष्ठात्मविवाहार्थं कुर्वः काननकोटरात् ।
 राजेश्वरान्द्वन्द्वपुष्पादिसंभारं रत्नसंयुतम् ॥ १५
 इत्युक्त्वा कुम्भ उत्थाय सह तेन महीभृता ।
 कुसुमावचयं चक्रे तथा रत्नादिसंचयम् ॥ १६
 ततो मुहूर्तमात्रेण रत्नसानौ समे शुभे ।
 समालम्भनपुष्पाणां ताभ्यां वै राशयः कृताः ॥ १७
 हाराम्बरमणीन्द्रादिराशयस्त्वपरेऽजिरे ।
 सौभाग्यस्येव कामेन कोशाः कालेन संभृताः ॥ १८
 तथा जन्यत्रसंभारं कृत्वा काञ्चनकन्दरे ।
 ययतुस्तौ महामित्रे स्नातुं मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १९
 तत्रैव स्नापयामास महाराजं महादरात् ।
 गजकुम्भोपमस्कन्धं कुम्भो मङ्गलपूर्वकम् ॥ २०
 भविष्यद्व्यितारूपां भविष्यद्व्यितोऽङ्गनाम् ।
 चूडालां स्नापयामास कुम्भरूपधरां प्रियाम् ॥ २१
 पूजयामासतुः स्नातौ तत्र देवपितृन्मुनीन् ।
 यथा क्रियाफलेऽनिच्छौ क्रियात्यागे तथैव तौ ॥ २२
 नित्यज्ञानरसातप्तौ व्यवस्थायां जगत्स्थितेः ।
 चक्राते भोजनं भव्यं तावन्योन्यसमीहितम् ॥ २३
 कल्पवृक्षदुकूलानि परिधाय सितानि तौ ।
 फलानि भुक्त्वा जन्यत्रस्थानमाययतुः क्रमात् ॥ २४
 एतावताथ कालेन तयोर्जन्यत्रसोत्कयोः ।
 प्रियं कर्तुमिवास्ताद्रे द्रागित्येवाविशद्विः ॥ २५

॥ ६ ॥ ७ ॥ तत्तस्माद्धेतोः ॥ ८ ॥ स्वरूपं स्वात्मभूतमेवानुपश्यामि
 ॥ ९ ॥ अः पूर्वेद्युरेव मया विवाहलगादि सर्वं गणितम् ॥ १० ॥
 जन्यत्रो विवाहः । द्वयोरेव गान्धर्वविधिनेति भावः ॥ ११ ॥
 मणिमयकन्दरलक्षणे मन्दिरे ॥ १२ ॥ विवाहोत्सवोचितनर-
 नारीगणस्थानीयतया वृक्षलतादिचर्पति दर्शयति—पुष्पभारेति
 ॥ १३ ॥ परिपश्यन्तु विवाहोत्सवमिति शेषः ॥ १४ ॥ १५ ॥
 ॥ १६ ॥ रत्नसंभृते सानौ समे शुभे अजिरे इति शेषः ।
 समालम्भनं देवताभिमदनादिपूजनं तदर्थानां पुष्पाणाम् ॥ १७ ॥
 अपरे अजिरे इति वचनात्पूर्वमप्यजिरे इति गम्यते । कालेन
 भोजकसुकृतपरिपाककालेन ॥ १८ ॥ १९ ॥ मङ्गलं दधिपूर्वा-
 क्षतसिद्धार्थादि तत्पूर्वकम् ॥ २० ॥ २१ ॥ क्रियाफलानिच्छोस्तयोः
 कथं पूजाप्रवृत्तिस्तत्राह—यथेति । यथैव क्रियात्यागेऽप्यनिच्छौ
 ॥ २२ ॥ अन्योन्यसमीहितं सिद्धिचलकल्पिताच्चादेर्भोजनम् ॥ २३ ॥
 फलानि कल्पवृक्षफलानि । जन्यत्रस्थानं वेदिमूलम् । क्रमात्

अथ संध्याक्रमे वृत्ते कृते जप्याघमर्पणे ।
 विवाहदर्शनायैव ताराजाले खमागते ॥ २६
 मिथुनैकसखीयामा कुमुदोत्करहासिनी ।
 प्रालेयजालप्रकरं विकिरन्ती समाययौ ॥ २७
 रत्नदीपान्वहन्सानौ कुम्भः सम्यगयोजयत् ।
 ज्योतींपीन्द्रर्कयुक्तानि पद्मोद्भव इवाम्बरे ॥ २८
 भूषयामास राजानं स्त्रीत्वं गच्छन्निशागमे ।
 चन्दनागुरुकर्पूरपूरैर्मृगजकुङ्कुमैः ॥ २९
 हारक्रेयूरकटकैस्तथा कल्पलतांशुकैः ।
 स्रगुहामावतंसैश्च माल्यैश्च विविधोचितैः ॥ ३०
 तथा कल्पलतागुच्छैर्मन्दारैः पारिजातकैः ।
 संतानैर्वहुरत्नैश्च मौलिना चन्द्ररूपिणा ॥ ३१
 एतावताथ कालेन वधूत्वं कुम्भ आययौ ।
 घनस्तनभराक्रान्तो वभूवाशु विलासवान् ॥ ३२
 इदं संचिन्तयामास संपन्नोऽयमहं वधूः ।
 कामायात्मा मया देयः कार्यं कालोचितं किल ॥ ३३
 इयमस्मि वधूः कान्ता भर्ता त्वं मे पुरःस्थितः ।
 गृहाण काम मामेहि कालोऽयं तव हृच्छयः ॥ ३४
 इति संचिन्त्य भर्तारमग्रस्थगहनस्थितम् ।
 उदयन्तमिवादित्यं रतिः काममिवाभ्यगात् ॥ ३५
 अहं मदनिका नाम भार्यासि तव मानद ।
 पादयोस्ते प्रणामोऽयं सन्नेहं क्रियते मया ॥ ३६
 इत्युक्त्वा सानवद्याङ्गी लज्जावनमितानना ।
 लोलालकेन शिरसा प्रणनाम लसत्पतिम् ॥ ३७
 उवाचेदं च हे नाथ त्वं मां भूषय भूषणैः ।
 क्रमेणाग्निं च संज्वाल्य मत्पाणिग्रहणं कुरु ॥ ३८
 राजसेऽतितरां राजन्मां करोषि स्मरातुराम् ।
 एतेर्विवाहे मदनमभिभूयाधितिष्ठसि ॥ ३९

इन्दोरिवांशुजालानि राजन्माल्यानि तानि ते ।
 मेरुगङ्गाप्रवाहाभां धत्ते द्वारस्तवोरसि ॥ ४०
 मन्दारकुसुमप्रोतैः कुन्तलैर्नृप राजसे ।
 कनकाब्जमिवोल्लोलैर्भृङ्गैः खचितकेसरैः ॥ ४१
 रत्नांशुजालैः कुसुमैः श्रिया स्थैर्येण तेजसा ।
 रत्नस्थानं विभो मेरुमभिभूयावतिष्ठसे ॥ ४२
 एवमादि वदन्तौ तौ भविष्यन्नवदम्पती ।
 प्रच्छन्नपूर्वदाम्पत्यौ मिथस्तुष्टौ वभूवतुः ॥ ४३
 महाराज्ञीं मदनिकां महाराजः शिखिध्वजः ।
 काञ्चनोपलपर्यङ्के निविष्टो भूषयत्स्वयम् ॥ ४४
 अवतंसैस्तथा माल्यैर्मणिरत्नविभूषणैः ।
 वल्लैर्विलेपनैः पुष्पै रचिरस्थानकार्पितैः ॥ ४५
 सा वभौ भूषिता तन्वी मदनी मददायिनी ।
 गिरिजेव विवाहोत्का कामकान्तेव कामिनी ॥ ४६
 महाराजो महाराज्ञीं भूषयित्वेदमाह ताम् ।
 राजसे मृगशावाक्षि लक्ष्मीरिव नवोदिता ॥ ४७
 शक्रेण सह यच्छल्या यल्लक्ष्म्या हरिणा सह ।
 यद्गौर्याः शंभुना सार्धं तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ४८
 पद्मकोशाङ्कुरहृदा लोलनीलोत्पलेक्षणा ।
 आमोदशुभङ्गाकारा स्वास्थिता पद्मिनीव सा ॥ ४९
 सुरक्तपल्लवकरा स्तनस्तवकधारिणी ।
 त्वमनेकफला मन्ये कामकल्पतरोर्लता ॥ ५०
 हिमशीतावदाताङ्गी ज्योत्स्नाप्रसरहासिनी ।
 पूर्णेन्दुश्रीरिवोद्युक्ता हृष्टैवाह्लादयस्यलम् ॥ ५१
 तदुत्तिष्ठ वरारोहे वेदीं वैवाहिकीं स्वयम् ।

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

तत्र पुष्पलताजालैः काण्डं प्रति शिलाङ्कितैः ॥ ५२

शास्त्रोक्तक्रमात् ॥ २४ ॥ २५ ॥ संध्याक्रमे संध्यावन्दनविधौ
 ॥ २६ ॥ मिथुनानां प्रीतिकरत्वाच्चैकसखीयामा त्रियामा ॥ २७ ॥
 पद्मोद्भवो प्रदत्ता ॥ २८ ॥ मृगजैः कस्तूरीपौष्कलकादिभिः ।
 कुङ्कुमैः काश्मीरैः ॥ २९ ॥ कल्पलतोद्भूतैरंशुकैर्वल्लैः । स्रग्भि-
 रुहामैरुत्कृष्टशोभैरवतंसैः रत्नगुच्छाद्युत्तंसैः । माल्यैः कण्ठादि-
 माल्यैर्विविधभूषणोचितैः ॥ ३० ॥ मौलिपदेन चूडामणिल-
 क्ष्यते । इन्दुरूपिणा चन्द्रसदृशेन ॥ ३१ ॥ वधूचितविलास-
 वान् ॥ ३२ ॥ कामाय कामरूपाय वराय ॥ ३३ ॥ अत एव
 कामत्वेनैव भर्तारं कल्पयित्वा मनस्याह—इयमिति ॥ ३४ ॥
 अग्रस्थे गहने वनवेदिदेशे स्थितम् ॥ ३५ ॥ सन्नेहं सानुरागम्
 ॥ ३६ ॥ लसन्तं शोभमानं पतिम् ॥ ३७ ॥ संज्वाल्य हुत्वा-
 भ्यर्च्य च ॥ ३८ ॥ एतेर्विवाहे प्रसिद्धं मदनं स्वशोभयाभिभू-
 येत्यर्थः ॥ ३९ ॥ तां शोभामेव वर्णयति—इन्दोरिलादिना ।
 तवोरसि स्थितो हारो मेरां प्रतिद्वय गङ्गाप्रवाहस्य आभां शोभां
 यो० वा० १२९

धत्ते ॥ ४० ॥ खचितकेसरैर्घटितकिञ्चलैः ॥ ४१ ॥ रत्नांशुजा-
 लैरिलादीनि राजमेरुसाधारण्येन योज्यानि ॥ ४२ ॥ वदन्तौ तौ
 इत्युक्त्या राज्ञापि तस्याः शोभा वर्णितेति गम्यते ॥ ४३ ॥
 काञ्चनोपलक्षणे पर्यङ्के निविष्ट उपविष्टः ॥ ४४ ॥ तत्तद्भूष-
 णोचितस्थानके आर्पितैः ॥ ४५ ॥ कामकान्ता रतिरिव च
 ॥ ४६ ॥ नवोदितेत्थनेन पूर्वलक्ष्म्या जरतीत्वेन शोभापकर्षो
 व्यज्यते ॥ ४७ ॥ तत्ते मङ्गलम् । मया सहेति शेषः ॥ ४८ ॥
 स्तनसदृशः पद्मकोशः, अनुरागसदृशा अङ्कुराश्च हृदि यस्याः ।
 'आपं चैव हलन्तानाम्' इति भागुरिमतेन टाप् । लोलानि
 नीलोत्पलानीक्षणीवीय यस्याः । आमोदैः शुभा भ्रमरङ्गाकारा
 यस्यास्तथाविधा पद्मिनीव सा त्वं स्थितेत्यर्थः ॥ ४९ ॥ इदानीं
 तां कल्पलतात्वेन रूपयति—सुरक्तेति ॥ ५० ॥ हिमशीतेत्या-
 दीनि पूर्णेन्दुश्रियो मदनिकायाश्च साधारणानि योज्यानि ॥ ५१ ॥
 स्वयमलंकुर्विति शेषः । तत्र वैयाम् । काण्डं प्रति प्रतिकण्डं

मुक्ताकुसुमजालानां प्रकरैः स्तवकोपमैः ।
 चतुर्दिक् चतुर्भिश्च नालिकेरमहाफलैः ॥ ५३
 पूर्णकुम्भैस्तथा गङ्गावारिपूर्णैः प्रकल्पितैः ।
 ज्वालयामासतुस्तस्या मध्ये चन्दनदासभिः ॥ ५४
 ज्वलनं ज्वालितज्वालं दक्षिणस्थं प्रदक्षिणम् ।
 पूर्वाभिमुखमेवाग्नेरग्रे पल्लवविष्टरे ॥ ५५
 नियोज्य दंपती कान्तौ तयोर्विविशतुः स्वयम् ।
 स हुत्वा तिललज्जानि पावकाय शिखिध्वजः ॥ ५६
 उत्थायोत्थाय कान्तां स पाणिभ्यां स्वयमाददे ।
 अन्योन्यं शोभमानौ तौ भवाविव वने शिवौ ॥ ५७
 चक्रतुर्दंपती तस्य पावकस्य प्रदक्षिणम् ।
 स्वदायं ज्ञानसर्वस्वं हृदयं प्रेम चापलम् ॥ ५८
 ददतुस्तौ मिथोऽन्योन्यस्मितकान्तमुखश्रियौ ।
 प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा लाजांस्त्यक्त्वाथ वदन्ते ॥ ५९
 भार्यावरौ समं तुष्टौ करौ तस्यजतुः क्रमात् ।
 स्मयमानमुखौ कान्तौ चन्द्राविव नवोदितौ ॥ ६०
 पूर्वोपरचित्ते पुष्पतल्पे विविशतुर्नवे ।
 एतस्मिन्नन्तरे चन्द्रश्चतुर्भागं नभस्तलात् ॥ ६१
 शनैराक्रमयामास शोभां द्रष्टुमिवानयोः ।
 तस्मिन् ललनाछिद्रं द्रष्टुं दृष्टिरिवामितः ॥ ६२
 इत्यर्धे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भोक्तोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० लीलाविवाहो नाम षडुत्तरशततमः सर्गः ॥ १०६

लोलः संचरयामास करानिन्दुलतागृहे ।
 तैस्तैर्नवकथालापैरिन्दावभ्युदिते त्वथ ॥ ६३
 तावासांचक्रतुः कान्तौ दंपती सुमुहूर्तकम् ।
 अथोत्थाय ज्वलद्रत्नदीपां काञ्चनकन्दराम् ॥ ६४
 स्वयं पूर्वोपरचितां गुप्तां विविशतुः प्रियौ ।
 ददर्शतुर्नवं तत्र तल्पं कुसुमकल्पितम् ॥ ६५
 परितो व्याप्तमुत्कीर्णैर्हैमपङ्कजराशिभिः ।
 मन्दारादिभिरन्यैश्च पुष्पैर्गलानिविवर्जितैः ॥ ६६
 उच्चकैः सुप्रमाणेन निर्मितैः कुसुमैः समैः ।
 दीर्घेन्दुविम्बप्रतिमैस्तुषारस्थलशीतलैः ॥ ६७
 क्षीरोदजलधारामं ज्योत्स्नासंपिण्डसुन्दरम् ।
 प्रतिविम्बमैनङ्गस्य नतं भित्ताविव स्थितम् ॥ ६८
 सुगन्धमुन्नतं कान्तं चिरादन्यतयोत्थितम् ।
 मिथुनं पुष्पराशौ तज्यषीदत्परितोऽमले ।
 तस्मिन्समसमाभोगे क्षीरोदे मन्दरो यथा ॥ ६९
 तैस्तैर्मिथः प्रणयपेशलवाग्विलासै-
 स्तत्कालकार्यसुभगैः प्रणयोपचारैः ।
 सत्कान्तयोर्नवनवेन तयोः सुखेन
 दीर्घा मुहूर्त इव सा रजनी जगाम ॥ ७०

सप्ताधिकशततमः सर्गः १०७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 मथ सूर्याख्यरङ्गेण रजिते भुवनोदरे ।
 शिखिध्वजाङ्गना प्रातर्मदनी कुम्भतां ययौ ॥ १
 फलगुच्छसमाकारनवरत्नशिल्पमिरङ्गितैश्चिह्नितैः ॥ ५२ ॥ ५३ ॥
 प्रकल्पितैस्तत्र वैयामलंचक्रतुरिति शेषः । तस्या वैया मध्ये
 वैवाहिकं ज्वलनं प्रतिष्ठाप्य चन्दनदासभिर्ज्वालयामासतुः ॥ ५४ ॥
 तं ज्वालितज्वालं दक्षिणावर्तशिखत्वाद्दक्षिणस्थं ज्वलनं नियोज्य
 प्रदक्षिणं कृत्वा तस्याग्रेरग्रे पल्लवविष्टरे विविशतुरिति परेणान्वयः
 ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ भवद्य भवानी न भवौ । 'पुमान् स्त्रिया' इति
 पुंशेषः । शिवौ मङ्गलस्वरूपौ ॥ ५७ ॥ परस्परमात्मदाने
 किं दायं परस्परं ददतुस्तमाह—स्वदायमिति ॥ ५८ ॥ ५९ ॥
 संभोगकालसंनिध्यस्मृतेः स्मयमानमुखौ ॥ ६० ॥ विवाहव्या-
 पारेणायः प्रहरोऽतिक्रान्त इति सूचयन्नाह—एतस्मिन्निति ।
 चतुर्भागं चतुर्थभागम् ॥ ६१ ॥ तस्मिन्सल्पे करान् संचारया-
 मास । यथा कामुकस्य दृष्टिललनाछिद्रं द्रष्टुमभितः करान्
 स्पर्शकिरणान् प्रसारयति तद्वत् ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ संगमसमुहूर्तकं
 प्रतीक्षमाणविति शेषः । काञ्चनसर्पौ कन्दरां गुहा विविशतुः
 ॥ ६४ ॥ चन्द्रस्याप्यदृश्यत्वाद्गुप्ता । तत्र तल्पं ददर्शतुः ।
 तदेव वर्णयति—कल्पितमिलादिसार्धत्रयेण । ददर्शतुरिति

एवं महेन्द्रदर्यौ तावुभौ कुम्भशिखिध्वजौ ।
 स्वयं विवाहिताविष्टौ संपन्नौ देवदंपती ॥ २
 कियतुसि शुण्डछान्दसः ॥ ६५ ॥ गलानिवर्जितैरमलनैः ॥ ६६ ॥
 शोभनेन दाय्याप्रमाणेनोच्चकैश्चिह्नितैः । मदनिका सत्यसंकल्पेन
 समैः कुसुमैर्निर्मितैर्दीर्घशय्याकारेण दीर्घाभूतेन्दुविम्बप्रतिमैः
 पुष्पैः परितो व्याप्तमिति पूर्वत्रान्वयः ॥ ६७ ॥ पुनस्तत्पमेव
 विशिनष्टि—क्षीरोदेत्यादिना । नतं संक्रान्तम् ॥ ६८ ॥ चिरात्
 राज्यत्यागकालादारभ्य अन्यतया अदम्पतित्वेन आन्त्या उदितं
 तन्मिथुनं क्षीपुंसद्वन्द्वं पुष्पराशौ तस्मिन्सल्पे न्यषीदत् । उप-
 भोगेन तत्सोपमर्दकत्वान्मन्दरदृष्टान्तः ॥ ६९ ॥ तयोः सत्का-
 न्तयोस्तैस्तैर्लोकोत्तरैः प्रणयपेशलवाग्विलासैस्तत्कालोचितपरि-
 रम्भणादिकार्यसुभगैर्गन्धमाल्यताम्बूलार्पणादिप्रणयोपचारैर्नवन-
 वेन संभोगसुखेन दीर्घा सा रजनी मुहूर्तमिव जगाम ॥ ७० ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 लीलाविवाहो नाम षडुत्तरशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥
 नानागिरिविहारादि तथा मायेन्द्रदर्शनम् ।
 असंसक्तिपरीक्षार्थं स्वर्गाङ्गनादि वर्णयते ॥ १ ॥
 रङ्गेण रजकद्रव्येण ॥ १ ॥ देवसदृशभोगाव्यत्वादेवदंपती
 नर्पसकत्वमार्पयन्, इ अतन्तयेति पाठः.

विलेसतुर्विचित्रासु प्रत्यहं वनराजिषु ।
 प्रपक्कफलभारासु पुष्पपल्लविनीषु च ॥
 दिवा प्रीततरौ मित्रे यामिन्यामिष्टदंपती ।
 प्रभादीपाविव श्लिष्टौ न वियुक्तौ बभूवतुः ॥
 रेमाते वनकुक्षेषु गुहासु च महीभृताम् ।
 तमालजालखण्डेषु मन्दारगहनेषु च ॥
 सह्यदुर्गकैलासमहेन्द्रमलयेषु च ।
 गन्धमादनविन्ध्याद्रिलोकालोकतटेषु च ॥
 दिनैस्त्रिभिस्त्रिभिर्गत्वा निद्रां गतवति प्रिये ।
 चूडाला राजकार्याणि कृत्वा स्वभ्याययौ पुनः ॥
 तौ दिवा सुहृदौ मित्रे दंपती कुम्भभूमिपौ ।
 नानाकुसुमसंवीतौ तस्थुर्मुदितौ मिथः ॥
 मासमेकं महेन्द्राद्रौ रम्ये सरलसंकुले ।
 रत्नकुड्ये गुहागोहे पूजितौ सुरकिन्नरैः ॥
 हस्तलभ्योदितामोघमन्दारवनमालिते ।
 एवं शुक्तिमतः पृष्ठे पक्षं कल्पलतागृहे ॥
 मासद्वयं पक्षवतो गिरेर्दक्षिणदिक्कट्टे ।
 पारिजातवने देवपुष्पस्तवकमण्डपे ॥
 जम्बूखण्डतले मेरोः पादे जम्बूनदीतटे ।
 जाम्बूनदमये मासं जम्बूफलरसासवैः ॥
 दशोत्तरकुरूणां च मण्डले दिवसानि तौ ।
 कोसलेषूत्तरस्थेषु सप्तविंशतिवासरान् ॥
 एवमन्येषु देशेषु विचित्रेषु महीभृताम् ।
 स्थितवन्तौ महाभागौ सुहृदौ निशि दम्पती ॥
 ततो यातेषु मासेषु शनैः कतिपयेषु सा ।
 चूडाला चिन्तयामास देवपुत्रकरूपिणी ॥
 सूरूपभोगभारेण परीक्षेऽहं शिखिध्वजम् ।

मा कदाचन चेतोऽस्य भोगेषु रतिमेष्यति ॥ १६
 इति संचिन्त्य चूडाला मायया विपिनावनौ ।
 आगतं दर्शयामास ससुराप्सरसं हरिम् ॥ १७
 इन्द्रमभ्यागतं दृष्ट्वा परिवारसमन्वितम् ।
 यथावत्पूजयामास वनसंस्थः शिखिध्वजः ॥ १८

शिखिध्वज उवाच ।

आत्मना किं कृता दूरादभ्यागमकदर्थना ।
 देवराज यथा तन्मे प्रसादाद्वक्तुमर्हसि ॥ १९

इन्द्र उवाच ।

इमे ध्वमिहायातास्त्वद्गुणातिशयेन खात् ।
 हृदि लभ्येन सूत्रेण खगा वनगता इव ॥ २०
 उत्तिष्ठ स्वर्गमागच्छ तत्र सर्वं त्वदुन्मुखाः ।
 त्वद्गुणश्रवणाश्चर्याः स्थिता देवाङ्गनागणाः ॥ २१
 पादुकागुटिकाखङ्गरसादीदमथापि च ।

गृहीत्वा सिद्धमार्गेण स्वीकुरु स्वर्गमण्डलम् ॥ २२
 आगत्य विविधा भोगास्त्वया विबुधसन्नानि ।
 जीवन्मुक्तेन भोक्तव्यास्तेन त्वामहमागतः ॥ २३

विमानयन्ति संप्राप्तां न तिरस्करणैः श्रियम् ।
 नाभिवाञ्छन्ति न प्राप्तां त्वाद्दशाः साधु साधवः ॥ २४
 अविघ्नमागतेनाद्य सुखं विहरता त्वया ।
 स्वर्गः पवित्रतां यातु हरिणेव जगन्नयम् ॥ २५

शिखिध्वज उवाच ।

सर्वं स्वर्गसमाचारं वेद्मि देवाधिनायक ।
 किंतु सर्वत्र मे स्वर्गो नियतो न तु कुत्रचित् ॥ २६
 सर्वत्रैव हि तुष्यामि सर्वत्रैव रमे प्रभो ।
 अवाञ्छन्तत्त्वान्मनसः सर्वत्रानन्दवानहम् ॥ २७

॥ २ ॥ ३ ॥ यामिन्यां रात्रौ । श्लिष्टौ युक्तौ ॥ ४ ॥ ५ ॥
 सहायः सप्त पर्वताः ॥ ६ ॥ प्रिये निद्रां गतवति खनगरं
 गत्वेति शेषः ॥ ७ ॥ ८ ॥ क क कियत्कियत्कालं तस्थुस्तत्रा-
 ह—मासमित्यादिना । पूजितौ प्रशस्तौ ॥ ९ ॥ हस्तलभ्यान्पु-
 दितानि उद्भूतानि धुत्पारोगजराद्यपहारित्वादमोचानि फलकु-
 सुमकिसलयादीनि येषां तथाविधैर्मन्दारैर्वनमालिते संजातव-
 नमाले । शुक्तिमतः पर्वतविशेषस्य पृष्ठे ॥ १० ॥ पक्षवतो गिरे-
 र्मैनाकस्य । देवभोग्येषु पुष्पस्तवकमण्डपे ॥ ११ ॥ मेरोर्दक्षिणपादे
 जम्बूद्वीपकेतुर्जम्बूद्वीपः प्रसिद्धस्तत्संततिजे जम्बूवनखण्डतले त-
 स्थतुरिति सर्वत्रानुषङ्गः । जम्बूफलानां राजप्रमाणानां रसलक्ष-
 णैरासर्वः पेयैः स्वेददैर्गन्ध्यजराभ्यादिनिर्मुक्तस्थिरयौवनाविति
 पुराणप्रतिष्यनुसारेणाध्याहार्यम् ॥ १२ ॥ उत्तरकुरूणां मण्डले
 दश दिवसानि तौ तस्थुः ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ परीक्षे परीक्ष्ये ।
 वर्तमानसामीप्याद् । रतिमासक्तिम् । परीक्षया दृढीकृतानास-
 किरयं कदाचिदपि भोगेषु रतिं मा एष्यति नैष्यत्येवेत्यर्थः ॥ १६ ॥

सुरैरप्सरोगेभिश्च सह वर्तमानं हरिमिन्द्रम् ॥ १७ ॥ यथावत्
 यथाशाल्मर्ष्यपाद्याद्युपचारैः ॥ १८ ॥ अभ्यागमलक्षणा कद-
 र्थना भ्रमः किं किमर्थं कृता यथा यत्प्रकारेण प्रयोजनेन तत्
 प्रयोजनं वक्तुमर्हसीत्यर्थः ॥ १९ ॥ खात् स्वर्गात् ॥ २० ॥
 त्वद्गुणश्रवणप्रयुक्तमाश्चर्यं विस्रयो येषां यासां च देवाश्च
 तदङ्गनागणाश्च देवाङ्गनागणाः ॥ २१ ॥ गगनगमनशक्तिश्च-
 न्यस्य मे कथं स्वर्गे आगमनं तत्राह—पादुकेति । अथ सिद्ध्य-
 न्तरविमानदिव्याश्चाद्यपि च ॥ २२ ॥ तेन त्वदाह्वानप्रयोजनेन
 ॥ २३ ॥ प्रत्याख्यानं हृदिस्थमालक्ष्याह—विमानयन्तीति
 ॥ २४ ॥ बलिद्वारपालनाय पद्मर्भाहरणाय च पातालेऽपि हरे-
 र्बिहारप्रसिद्धेर्जगन्नयमिति ॥ २५ ॥ स्वर्गसम आचारः सुख-
 विहरणं यस्मिन्स्वथाविधम् । स्वर्गेण समं सुखमाचरतीत्यणन्तं
 वा । सर्वं देशम् । तथा वेदने हेतुस्त्वयि को विशेष इति चेत्त-
 माह—किंतिवति । मदभिमतः स्वर्गो भूमात्मैव । स च सर्वत्रै-
 वेति भावः । नियतः परिच्छिन्नः ॥ २६ ॥ पूर्णकामत्वादपि

नियतं किञ्चिदेकत्र स्थितं स्वर्गकमीदृशम् ।
शक्र गन्तुं न जानामि त्वदाज्ञां न करोम्यहम् ॥ २८
शक्र उवाच ।
साधो विदितवेद्यानां परिपूर्णधियां समम् ।
सज्जनान्चरितं युक्तं मन्ये भोगोपसेवनम् ॥ २९
देवेशे प्रोक्तवत्येवं तूष्णीमेव स्थिते नृपे ।
किमितो नापयाम्येष त्वमिति प्रोक्तवान् हरिः ॥ ३०
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शक्रगमनं नाम सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥

अष्टोत्तरशततमः सर्गः १०८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

तां मायां शममानीय चूडाला समचिन्तयत् ।
दिष्ट्वा भोगेच्छया नायं ह्रियते वसुधाधिपः ॥ १
शान्तः समसमाभोग एवं शक्रसमागमे ।
असंरम्भमहेलं च कृतवान्यावहारिकम् ॥ २
भूय एव प्रपञ्चेन विमृशाम्येव सादरम् ।
रागद्वेषप्रधानेन केनचिद्वुद्धिहारिणा ॥ ३
इति संचिन्त्य सा रात्राविन्दावभ्युदिते घने ।
गृहीतमङ्गनारूपं कान्ता मदनिका सती ॥ ४
वाते वहति फुल्लाब्धे मधुरामोदमांसले ।

मे सर्वत्र सुखमित्याह—सर्वत्रेति ॥ १७ ॥ जुच्छं स्वर्गं स्व-
र्गकं गन्तुं न जानामि न संभावयामि । तथा नासंभाव्यविषये
आज्ञापनं तवैवानुचितं न तु मम तदकरणमपराध इति भावः
॥ २८ ॥ पूर्णधियां भोगोपसेवनं भोगानुपसेवनं च समम् ।
तत्रापि भोगोपसेवनं सज्जनैः प्रारब्धक्षयायाचरितमतस्तद्युक्तं
मन्ये इत्यर्थः ॥ २९ ॥ देवेशे एवं पुनः प्रोक्तवत्यपि स्वर्गं
गन्तुमनिच्छया नृपे तूष्णीं स्थिते सति एष एवंविधो निरपे-
क्षस्त्वं यदि तर्ह्यहमितः किं नापयामि । असंपन्नागमनप्रयोज-
नस्य समापयानमेव युक्तमिति हरिरिन्द्रः खेदं सूचयन् प्रोक्त-
वान् ॥ ३० ॥ अहमद्यैव न स्वर्गमागच्छामि किंतु पुनः राज्ये
प्रसिद्धितः कालेन प्रागिव त्वदरिनिवर्हणदिप्रयोजनार्थमागमि-
ष्यामीत्याशयेनाधोतया शिखिध्वजे वदति सति हे कुम्भ, ते
राजाभिप्रेतं पुनः राज्यप्राप्तिलक्षणं कल्याणमस्त्विति कुम्भं
प्रति वदन्तर्धिमन्तर्धानमाययौ हरिः ॥ ३१ ॥ इन्द्रे अन्त-
र्धिमागते तेन त्रिदशेक्षेन युक्तं तद्वितीयं देववृन्दमपि क्षणाद-
दृश्यमभूत् । यथा वारिनिधौ वाते प्रशान्ते सति स्फुरन्ति
व्याकुलानि मकरफेनफणीन्द्रवृन्दानि यस्मिंस्तथाविधः कल्लोल-
राशिरप्यदृश्यो भवति तद्वदित्यर्थः ॥ ३२ ॥ इति श्रीवासिष्ठम-
हारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे शक्रगमनं नाम
सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥

नाहमद्यैव कालेन वदतीति शिखिध्वजे ।
कल्याणं तेऽस्तु कुम्भेति वदन्तर्धिमामययौ ॥ ३१
तदेववृन्दमखिलं त्रिदशेशयुक्तं
तत्र क्षणादलमदृश्यमभूद्वितीयम् ।
कल्लोलराशिरिव वारिनिधौ प्रशान्ते
वाते स्फुरन्मकरफेनफणीन्द्रवृन्दम् ॥ ३२

संध्याजप्यपरे नद्यास्तीरसंस्थे शिखिध्वजे ॥ ५
संतानकलतागेहं नीरन्ध्रैः पुष्पगुच्छकैः ।
शुद्धान्तं वनदेवीनां प्रविवेश मदन्विता ॥ ६
तत्र संकल्पिते पुष्पशयने माल्यमालिता ।
कण्ठे संकल्पितं कान्तं खिन्नमादाय संस्थिता ॥ ७
आगत्यान्विष्य कुञ्जात्स प्रददर्श शिखिध्वजः ।
लतागेहे मदनिकां कण्ठे खिन्नं मनोहरम् ॥ ८
कुन्तलावलितस्कन्धं समालब्धं च चन्दनैः ।
शयनावृत्तिनिक्षेपपर्याकुलितशेखरम् ॥ ९
हेमामे द्विगुणाकारबालाबाहूपधानके ।

इह क्रोधपरीक्षार्थं पित्रसत्रञ्च मायया ।

राज्ञ्या प्रदृश्यते राज्ञे निजरूपं च पाकतः ॥ १ ॥

तामिन्द्रागमनरूपां मायां शममानीय उपसंहृत्य । ह्रियते
वशीक्रियते ॥ १ ॥ सत्ता विनियोगाभ्यां सत्ता समेन आकाशा-
दिना सम आभोगो मुखावयवस्थितिर्यस्य । असंरम्भमसाध-
समहेलं च व्यावहारिकमर्थपादादिना पूजनमुचितोत्सादि
च कृतवान् ॥ २ ॥ अप्यर्थे एवकारः । केनचिद्वागद्वेषप्रधान-
प्रपञ्चेन बुद्धिहारिणा बुद्धिक्षोभकेण ॥ ३ ॥ गृहीतमङ्गनारूप-
मिति पदयोः कण्ठे संकल्पितं कान्तमिति चतुर्थे संबन्धः ॥ ४ ॥
फुल्लाब्धे पुष्पिततरुलतासंपन्ने वाते मलयानिले वहति सति
नीरन्ध्रैः पुष्पगुच्छकैरुपलक्षितं वनदेवीनां शुद्धान्तं संतानकल-
तागेहं प्रविवेशेति परेणान्वयः ॥ ५ ॥ ६ ॥ तत्र माल्यैर्मा-
लिता अलंकृता सती मायया संकल्पितमनुरूपं सुवानमङ्गनारू-
पमङ्गनामिषानुद्गतमृषादिव्यजनं षोडशवर्षाकृतिरूपं यस्य
तथाविधमत एव इमंश्रुलाच्छिखिध्वजात्कान्तं मनोहरतमं
खिन्नं विटं कण्ठे गृहीतमादाय संस्थितेऽन्यथः ॥ ७ ॥
जप्यान्ते शिखिध्वजः संध्याजप्यस्थानात् कुञ्जादागत्य मदनि-
कामन्विष्य कल्पलतागेहे मदनिकां कण्ठे मनोरमं खिन्नं च
प्रदर्श ॥ ८ ॥ खिन्नं विशिनष्टि—कुन्तलेत्यादिना । मदनिका-
कुन्तलैः खकुन्तलैश्चावलितस्कन्धम् । समालब्धं लिप्तम् । शयने
आवृत्ता परिवर्तनेन निक्षेपेण च पर्याकुलितः शेखरचूडावन्धो
यस्य तम् ॥ ९ ॥ आकुम्भनाद्विगुणाकारे बालाबाहुल्ये

संसक्तश्रवणापाङ्गकपोलतलकुन्तलम् ॥ १० ॥ मिथुनं तद्दर्शय मिथः प्रहसिताननम् ।
 अन्योन्यवदनासक्तं छन्नं कल्पलतांशुकैः ॥ ११ ॥ आलोलमाल्यशयनं मदनातुरमाकुलम् ।
 अङ्गलग्नच्छलेनात्मरागमन्योन्यमर्पयत् ॥ १२ ॥ अभ्युन्मुखं समानन्दमुद्दाममदमन्थरम् ।
 परस्पराहतं पुष्पैर्वक्षोभ्यां पीडितस्तनम् ॥ १३ ॥ तदालोक्याविकारेण चेतसालं तुतोष सः ।
 अहो सुखं स्थितौ खिङ्गावित्याह स शिखिध्वजः ॥ १४ ॥ तिष्ठताङ्ग यथाकामं सुखं खिङ्गौ यथास्थितम् ।
 विघ्नं माकरवं भीतावित्युक्त्वा निर्जगाम सः ॥ १५ ॥ ततो मुहूर्तमात्रेण प्रपञ्चं तमुपेक्ष्य सा ।
 निर्ययौ दर्शयन्ती स्वं रतिफुल्लाकुलं वपुः ॥ १६ ॥ उपविष्टं ददर्शनं नृपं हेमशिलातले ।
 समाधिसंस्थमेकान्ते मनाग्विकसितेक्षणम् ॥ १७ ॥ तं प्रदेशमुपागम्य लज्जावनमितानना ।
 तूष्णीमासीत्क्षणं खिङ्गा ग्लाना मदनिकाङ्क्षना ॥ १८ ॥ क्षणाच्छिखिध्वजो ध्यानाद्विरतस्तामुवाच ह ।
 अत्यन्तमधुरं वाक्यमिदमधुन्धया धिया ॥ १९ ॥ तन्वि किं शीघ्रमेव त्वं विप्रितानन्दमागता ।
 आनन्दायैव भूतानि यतन्ते यानि कानिचित् ॥ २० ॥ भूयस्तोषय तं गच्छ कान्तं प्रणयवृत्तिभिः ।
 परस्परेप्सितस्नेहो दुर्लभो हि जगत्रये ॥ २१ ॥ अहमेतेन चार्थेन नोद्वेगं यामि मानिनि ।
 यद्यदिष्टतमं लोके तत्तदेवं विजानता ॥ २२ ॥ अहं कुम्भश्च तन्वद्भि वीतरागाविहेतरा ।

दुर्वासःशापजा बाला त्वं यदिच्छसि तत्कुरु ॥ २३ ॥
 मदनिकोवाच ।
 एवमेष महाभाग स्त्रीस्वभावो हि चञ्चलः ।
 कामो ह्यष्टगुणः स्त्रीणां न कोपं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥
 अबलाहमनेनास्मि रात्रौ गहनकानने ।
 त्वयि संध्याजपपरे किं करोमि वराकिका ॥ २५ ॥
 अबला वा कुमारी वा जारं न रतिरोचनम् ।
 करोति परिखिङ्गेन नाङ्गे स्वे विनिवेशितम् ॥ २६ ॥
 स्त्रियः सुन्दरतां याताः पुरःपुंसामसङ्गमे ।
 मन्युर्निषेध आक्रन्दः सतीत्वं किं करिष्यति ॥ २७ ॥
 अबला स्त्री तथा बाला मूढाहमपराधिनी ।
 क्षन्तुमर्हसि नाथ त्वं क्षमावन्तो हि साधवः ॥ २८ ॥

शिखिध्वज उवाच ।

मन्युर्मम न बालेऽन्तर्विद्यते ख इव द्रुमः ।
 केवलं साधुनिन्द्यत्वात्रेच्छामि त्वामहं वधूम् ॥ २९ ॥
 सुहृत्त्वेन वनान्तेषु पूर्ववत्सुखमङ्गने ।
 वीतरागतया नित्यं सममेव रमावहे ॥ ३० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं समतया तत्र स्थिते तस्मिच्छिखिध्वजे ।
 चूडाला चिन्तयामास तत्सखेनोदिताशया ॥ ३१ ॥
 अहो बत परं साम्यं भगवानयमागतः ।
 वीतरागतयाऽक्रोधो जीवन्मुक्तोऽवतिष्ठते ॥ ३२ ॥
 नैनं हरन्ति ते भोगा न महत्योऽपि सिद्धयः ।
 न सुखानि न दुःखानि नापदो न च संपदः ॥ ३३ ॥
 चिन्तिताः सकला एकं प्रयान्त्येनमनिन्दिताः ।
 मन्ये महर्द्धयः कान्ता नारायणमिवापरम् ॥ ३४ ॥

उपधानके उपवर्हे संसक्तं श्रवणादिचतुष्टयं यस्य ॥ १० ॥ मिथुनं स्त्रीपुंसद्वन्द्वम् ॥ ११ ॥ अङ्गानां लग्नं संलेपस्तच्छलेन । अर्पयत् आसंजयत् ॥ १२ ॥ परस्पराभ्युन्मुखम् ॥ १३ ॥ अविकारेण क्रोधविकाररहितेन ॥ १४ ॥ स्वदर्शनाद्भीतौ तौ प्रति हे अङ्ग, यथाकामं तिष्ठत तिष्ठतम् । अहं विघ्नं माकरवं इत्युक्त्वा निर्जगाम ॥ १५ ॥ तं मायाप्रपञ्चमुपेक्ष्य उपसंहृत्येति यावत् । रत्या विटसंभोगेन फुल्लं विकसितमाकुलं च ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ यानि कानिचित् सर्वाणीत्यर्थः ॥ २० ॥ परस्परमीप्सितः, अङ्गत्रिम इति यावत् ॥ २१ ॥ विजानता पुंसा यद्यदिष्टतमं तत्तदेवं त्वादशमेव परोपयोग्यमिति होयमिति शेषः ॥ २२ ॥ न च त्वदपराधेन मम कुम्भे अविस्मभ इत्याशयेनाह—अहमिति । त्वं कुम्भादितरैवेति शेषः । अतो यदिच्छसि तपिःशङ्कं कुरु ॥ २३ ॥ २४ ॥ अनेन अस्मि प्रार्थितेति शेषः ॥ २५ ॥ अबला पत्या लज्जा तत्पारतन्त्र्यात्स्वा-तन्त्र्यबलहीना । कुमारी अनूढा वा तरुणी एकान्ते जारं प्राप्य रतेः रोचनं प्रतिबन्धं न करोत्येव । अयं स्त्रीस्वभाव इत्यर्थः ।

परिखिङ्गेन परिहृतजारेण तु देवात्संपन्नरतिविघ्नेन स्वे अङ्गे देहे मनःप्राणादीनां विनिवेशितम् । भावे कः । स्थैर्यं न करोति । तरलतरमनःप्राणा भूत्वा संतप्यत इत्यर्थः ॥ २६ ॥ स्त्रीणां हि पुंवशीकारसमर्थसौन्दर्यालाम एवैकः पुंसामसमागमे हेतुर्नान्यः । यदि स्त्रियः पुंवशीकारसमर्था सुन्दरतां याताः प्राप्ता एकान्ते च पुंसां पुरो भवन्ति तदा तासामसंगमे न कश्चिद्वेदुः । नन्वस्मि-साक्षिकतया विवाहितस्य भर्तुर्मन्युः शास्त्रीयः परपुरुषसंगमनि-षेधो जनापवादलक्षण आक्रन्दः स्वपातिव्रत्यभङ्गश्च विवेकदशा पर्यालोच्यमाना जारासंगमे हेतवः किं न स्युस्तत्राह—मन्यु-रिति । प्रबलतरतरिरागबाधितास्ते न जारसङ्गं निरोद्धुं समर्था इति भावः ॥ २७ ॥ अत एव क्षमापयामीत्याशयेनाह—अब-लेति ॥ २८ ॥ स्वे आकाशे द्रुम इव । वधूं भार्यां नेच्छामि ॥ २९ ॥ ३० ॥ तस्य सत्त्वेन रागद्वेषवासनाशून्यतया परी-क्षितचित्तेन । उदिताशया हृष्टा ॥ ३१ ॥ अक्रोध इति च्छेदः ॥ ३२ ॥ ते इन्द्रप्रार्थिता भोगाः सिद्धयश्च ॥ ३३ ॥ चिन्तिता मदभिप्रेताः सकला जीवन्मुक्तलक्षणभूताः शान्तिं

आत्मवृत्तान्तमखिलं तमेन सारयाम्यहम् ।
कुम्भरूपमिदं त्यक्त्वा चूडालैव भवाम्यहम् ॥ ३५ ॥
इति संचिन्त्य चूडाला चूडालावपुरक्षता ।
दर्शयामास तत्राशु त्यक्त्वा मदनिकावपुः ॥ ३६ ॥
तस्यान्मदनिकादेहाच्चूडाला निर्गतेव सा ।
बभावस्य पुरो युक्ता निर्गतेच समुद्रकात् ॥ ३७ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भोक्तोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० चू० चूडालाखरूपदर्शनं नामाष्टोत्तरशततमः सर्गः १०८

तां ददर्शानवद्याङ्गीं पुनः प्रणयपेशलाम् ।
कान्तां मदनिकामेव चूडालां दयितां स्थिताम् ॥ ३८ ॥
समुदितामिव माधवपद्मिनी-
मुपगतामिव भूमितलाच्छ्रूयम् ।
प्रकटितामिव रत्नसमुद्रका-
त्परिददर्श निजां दयितां नृपः ॥ ३९ ॥

नवाधिकशततमः सर्गः १०९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ तं दयितां दृष्ट्वा विस्रयोत्फुल्ललोचनः ।
शिखिध्वज उवाचेदमाश्चर्याकुलया गिरा ॥ १ ॥
का त्वमुत्पलपत्राक्षि कुतः प्राप्तासि सुन्दरि ।
किमिहासि कियत्कालं किमर्थमिह तिष्ठसि ॥ २ ॥
अङ्गेन व्यचहारेण सितेनानुनयेन च ।
मम जायाविलासेन तत्कलेवोपलक्ष्यसे ॥ ३ ॥

चूडालोवाच ।

पवमेव प्रभो विद्धि चूडालासि न संशयः ।
अकृत्रिमेण देहेन लब्धोऽस्यद्य मया स्वयम् ॥ ४ ॥
कुम्भादिदेहनिर्माणैस्त्वां बोधयितुमेव मे ।
प्रपञ्चः शतशाखत्वसिह यातो वनान्तरे ॥ ५ ॥
यदा राज्यं परित्यज्य मोहेन तपसे वनम् ।
त्वमागास्तत्प्रभृत्येव त्वद्बोधायाहमुद्यता ॥ ६ ॥
वनेन कुम्भदेहेन मयैव त्वं विबोधितः ।
कुम्भादिदेहनिर्माणं त्वां बोधयितुमेव मे ॥ ७ ॥
मायया न तु कुम्भादि किञ्चित्सत्यं महीपते ।

अथो विदितवेद्यस्त्वं ध्यानेनैतदखण्डितम् ॥ ८ ॥
सर्वं पश्यसि तत्त्वज्ञ ध्यानेनाश्ववलोचय ।
अथ चूडालयेत्युक्तो वक्त्र परिकरं नृपः ॥ ९ ॥
आत्मोदन्तं विशेषेण ध्यानेनामलमैक्षत ।
अभिराज्यपरित्यागाच्चूडालादर्शनावधि ॥ १० ॥
सर्वं मुहूर्तध्यानेन चात्मोदन्तं ददर्श सः ।
आराज्यसंपरित्यागाद्वर्तमानक्षणक्रमम् ॥ ११ ॥
सर्वमालोक्य भूपालो विरराम समाधितः ।
समाधिविरतो हर्षविकासिनयनाम्बुजः ॥ १२ ॥
विसार्य तरसा बाहू पुलकोज्ज्वलतां गतौ ।
गलदङ्गं घनलोहं मुञ्चद्वाष्पं स्फुरत्स्पृहम् ॥ १३ ॥
आलिलिङ्गं चिरं कान्तां नकुलो नकुलीमिव ।
तयोरालिङ्गने तस्मिन्तत्र भावो बभूव यः ॥ १४ ॥
न स वासुकिजिह्वाभिर्वैकुण्ठं हर्षेण शक्यते ।
दिविस्थाविव पङ्केन कृताविव मिलत्तनू ॥ १५ ॥
शैलाविव समुत्कीर्णौ श्लिष्टावास्तां चिरं प्रियौ ।
मुहूर्तेन गलद्वर्मजलौ पुलकपीवरौ ॥ १६ ॥

अमाद्यैर्यत्प्रादिरूपा अनिन्दिता सहर्दय एकमेनं प्रयान्ति
प्राप्नुवन्ति । आश्चर्यंतीति यावत् ॥ ३४ ॥ तमेवैगुणविशिष्टत्वा-
त्स्ववृत्तान्तसारणयोग्यभूतमेनं प्रति सारयामि ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
युक्ता योगधारणावती समुद्रकात्संपुटकाचिर्गतेव ॥ ३७ ॥
प्रणये भर्तृचित्तानुरजने पेशलां चतुराम् । दयितां पूर्वदयि-
ताम् ॥ ३८ ॥ माधवे वसन्ते समुदितां पद्मिनीं कमलिनी-
मिव । अथवा समुदितां समृद्धामाविर्भूतां वा माधवस्य विष्णोः
पद्मिनीं पद्महस्तां श्रियमिव । रामावतारावसाने रामस्य विष्णु-
भावे प्राक्सीतात्वेन भूमितलप्रविष्टां ततो भूमितलात्पुनरुपगतां
श्रियमिव रत्नसमुद्रकात्प्रकटितां रत्नश्रियमिव च नृपो निजां
दयितां चूडालां परिददर्श । पुरो ददर्शेत्यर्थः ॥ ३९ ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चूडा-
लाखरूपदर्शनं नामाष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०८ ॥

दृष्ट्वा दृष्ट्वा नृपो ध्यानाहुक्त्वा सर्वं सुविस्मितः ।

मुष्टः प्रशस्य चूडालामालिङ्ग्यात्रानयन्निकाम् ॥ १ ॥

इदं वक्ष्यमाणम् ॥ १ ॥ कुम्भादिरूपेण त्वमेव किमिहासि ।

कियत्कालं किमर्थं वा इह मत्संनिधौ तिष्ठसि । यद्यपि कुम्भः

स्थितिकालप्रमाणं जानासेव तथाप्यस्या वैधान्तरेण कुम्भा-
मनात्प्रागपि स्थितिसंभावनात्कियत्कालमिति प्रश्नः ॥ २ ॥
अङ्गेन अवयवसंस्थानेन तच्चेष्टालक्षणव्यवहारेण अनुनयेन प्रे-
क्षाप्रबन्धशैत्या मम जायायाश्चूडालायाः प्रसिद्धेन विलासेन
तस्याः कला मूर्तिरिव उपलक्ष्यसे हृदयसे ॥ ३ ॥ अकृत्रिमेण
सहजेन ॥ ४ ॥ ५ ॥ तत्प्रभृति तदाप्रभृत्येव ॥ ६ ॥ ७ ॥
सत्यमकालनिकम् । ध्यानेन प्रागुक्तयोगधारणया ॥ ८ ॥
पश्यसि वक्ष्यसि । परिकरं तादृशधारणानुकूलसनादि ॥ ९ ॥
अभि उपरि ॥ १० ॥ आवर्तमानक्षणक्रममिति अत्राप्याहङ्-
कृत्यते ॥ ११ ॥ १२ ॥ पुलकोज्ज्वलता गतौ बाहू विसार्य
प्रसार्य आलिलिङ्गेति परेणान्वयः ॥ गलदङ्गं छिन्नावयवम् ।
चत्वारि क्रियाविशेषणानि ॥ १३ ॥ भावशब्देनात्राभिव्यक्तः
परस्परानुरागलक्षणः स्थायिभावः । यो आदृशो वाचामयोचरः
परमानन्दरूपः गृह्णारसो बभूव स वासुकिजिह्वाभिरपि वक्तुं
न शक्यत इत्यन्वयः ॥ १४ ॥ दिविस्थौ चन्द्रसूर्यावमाया-
मिव मिलत्तनू पङ्केनार्द्रमृदा कृताविव ॥ १५ ॥ शैले एक-

बाह्व विश्रयतामीषन्नित्युस्तौ शनैः प्रियौ ।
 अमृतापूर्णहृदयौ संशून्यहृदयोपमौ ॥ १७
 उन्मुक्तभुजमास्तां तावलक्षस्थितलोचनम् ।
 घनानन्दक्षणं स्थित्वा तूर्णीं प्रणयपेशलम् ॥ १८
 कान्तां चिबुकसंलग्नकरः प्रोवाच भूपतिः ।
 अत्यन्तमधुरस्निग्धः कान्तः खकुलयोषिताम् ॥ १९
 पुण्यश्च रतिनिष्पन्दः स्वादुर्नामामृतादपि ।
 कियत्प्रमाणस्तन्वद्भ्या त्वया बालेन्दुमुग्धया ॥ २०
 अनुभूतश्चिरं क्लेशो भर्तुरर्थेन दारुणः ।
 एवं दुरुत्तरात्तस्मात्संसारकुहरादहम् ॥ २१
 उत्तारितो यया बुद्ध्या सा हि केनोपमीयते ।
 अरुन्धती शची गौरी गायत्री श्रीः सरस्वती ॥ २२
 समस्ताः पेलवायन्ते तव तन्व्या गुणश्रिया ।
 धीः श्रीः कान्तिः क्षमा मैत्री करुणाद्यास्तु सुन्दरि ॥ २३
 कान्तास्वाकारकान्तास्तु प्रथमेवामिलक्ष्यसे ।
 परेणाध्यवसायेन त्वयाहमवबोधितः ॥ २४
 केन प्रत्युपकारेण परितुष्यति ते मनः ।
 मोहादनादिगहनादनन्तगहनादपि ॥ २५
 पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलस्त्रियः ।
 शास्त्रार्थगुरुमन्त्रादि तथा नोत्तारणक्षमम् ॥ २६
 यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तृणां कुलयोषितः ।
 सखा भ्राता सुहृद्भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम् ॥ २७
 शास्त्रमायतनं दासः सर्वे भर्तुः कुलाङ्गनाः ।
 सर्वदा सर्वयत्नेन पूजनीयाः कुलाङ्गनाः ॥ २८
 लोकद्वयसुखं सम्यक्सर्वं यास्तु प्रतिष्ठितम् ।
 निरिच्छायाः प्रयातायाः पारं संसारवारिधेः ॥ २९
 कथमस्योपकारस्य करिष्ये ते प्रतिक्रियाः ।
 मन्ये कुलाङ्गनां लोके लोके सर्वास्त्वयाधुना ॥ ३०

शिलासमुत्कीर्णपरस्परालिङ्गितमूर्ता इव श्लिष्टौ मिलितौ चिर-
 मास्ताम् ॥ १६ ॥ आनन्दातिशयेन मनसो जडीभावेन तत्स-
 द्भावव्यञ्जकलिङ्गादर्शनात्संशून्यहृदयोपमौ ॥ १७ ॥ लक्ष्ये लो-
 चनस्थैर्यहेतोर्मनसो जडीभावादेवावलक्षस्थितलोचनं यथा स्या-
 त्तथा आस्ताम् । प्रणयपेशलं यथा स्यात्तथा कान्तां प्रति उवा-
 चेति परेणान्वयः ॥ १८ ॥ १९ ॥ रतिनिष्पन्दोऽनुरागर-
 सोऽत्यन्तमाधुर्यादिविशेषणचतुष्टयविशिष्टः कियत्प्रमाणो वि-
 स्तीर्ण इति यावत् ॥ २० ॥ भर्तुरर्थेन पुरुषार्थसिद्धिप्रयोजनेन
 हेतुना ॥ २१ ॥ यया भर्तृस्नेहबुद्ध्या । सा बुद्धिः ॥ २२ ॥
 धीः श्रीरित्याद्या दक्षकन्या आकारेण सौन्दर्येण कान्तास्तु स्त्रीषु
 श्रेष्ठाः प्रसिद्धास्तास्तपि त्वं प्रथमा श्रेष्ठा सतीवामिलक्ष्यसे इति
 परेणान्वयः ॥ २३ ॥ २४ ॥ कृतार्थायास्ते मनः केन प्रत्यु-
 पकारेण परितुष्यति । येन तुष्यति तादृशः प्रत्युपकारो दुर्लभ
 इति भावः ॥ २५ ॥ शास्त्रार्थेत्यादिरतिशयोक्तिः प्रशंसार्था ॥ २६ ॥
 ॥ २७ ॥ २८ ॥ निरिच्छायाः कृतकल्यायास्ते प्रत्युपकारेऽह-

नारीसौजन्यचर्चासु व्यपदेश्या भविष्यसि ।
 त्वां निर्मितवतो धातुर्गुणजालातिशायिनीम् ॥ ३१
 मन्ये प्रकुपिता नूनमरुन्धत्यादिकाः स्त्रियः ।
 सती त्वं रूपसौजन्यगुणरत्नसमुद्रिके ॥ ३२
 एहि मे त्वद्वृणोत्कस्य पुनरालिङ्गनं कुरु ।

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा मृगशावार्क्षीं चूडालां तां शिखिध्वजः ॥ ३३
 आलिलिङ्ग पुनर्गाढं नकुलो नकुलीमिव ।

चूडालोवाच ।

देव शुष्कक्रियाजालपरे त्वय्याकुलात्मनि ॥ ३४
 भूयोभूयो भृशमहं त्वदर्थं दुःखिताभवम् ।
 तेन त्वदवबोधात्मा स्वार्थं एवोपपादितः ॥ ३५
 मया तदत्र किं देव करोषि मम गौरवम् ।

शिखिध्वज उवाच ।

त्वया यथा वरारोहे स्वार्थः संपाद्यते शुभः ॥ ३६
 तमिदानीं तथा सर्वाः साधयन्तु कुलाङ्गनाः ।

चूडालोवाच ।

बुध्यसे कान्त विश्रान्तो जगज्जालतटे विभो ॥ ३७
 अद्य तं प्राक्तनं किञ्चिन्मोहं समनुपश्यसि ।
 इदं करोमि नेदं तु प्राप्नोमीदमिति स्थितिम् ॥ ३८
 अन्तर्हससि तां कच्चिद्दशापेलवतां धियः ।
 तास्तुच्छृष्णाकलनास्ताः संकल्पकुक्कल्पनाः ॥ ३९
 त्वयि नाद्यावलोकयन्ते देव व्योम्नीव पर्वताः ।
 किं त्वमद्याङ्ग संपन्नः किंनिष्ठोऽसि किमीहसे ॥ ४०
 कथं पश्यसि पाश्चात्यं देहचेष्टाक्रमं विभो ।

शिखिध्वज उवाच ।

सुमनःपूर्णनीलाब्जमालासारविलोचने ॥ ४१
 त्वमेव यस्य यस्यान्तस्तत्तस्याहमुपास्थितः ।

मसमर्थ इत्याह—निरिच्छाया इति ॥ २९ ॥ कुलाङ्गनां मन्ये
 त्वामिति शेषः । लोके प्रसिद्धाः सर्वाः कुलाङ्गनास्त्वयाऽधुना
 जिता इति शेषः ॥ ३० ॥ नारीणां सौजन्यादिगुणोत्कर्षचर्चासु
 प्रथमव्यपदेश्या भविष्यसि ॥ ३१ ॥ स्वापेक्षया गुणजालैरति-
 शायिनीं त्वां निर्मितवतो धातुर्विषये प्रकुपिता इत्यन्वयः ।
 त्वमेव सती पतिव्रता ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ साधय-
 न्तिवत्याशीः काकुर्वा । साधयितुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः । जगल-
 क्षणस्य जालस्य तटे परावधौ विश्रान्तः । संस्तत्त्वतो बुध्यसे
 कच्चिदिति व्यवहितेनान्वयः ॥ ३७ ॥ तं प्राक्तनं पयोव्रतोपवा-
 सादिमोहं किञ्चित्तुच्छं समनुपश्यसि कच्चित् ॥ ३८ ॥ धियः
 अपक्वदशया पेलवतां कोमलताम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥ कथं
 कीदृशं किं सत्यमुत तुच्छमित्यर्थः । सुमनोभिः पूर्णा नीलाब्ज-
 मालां सरतः सादस्यादनुसरतस्तथाविधे विलोचने यस्यास्तथा-
 विधे हे चूडाले ॥ ४१ ॥ मम प्रत्यगात्मभूता त्वमेव सा त्वं

१ मन्ये कुलाङ्गनां लोके जिताः सर्वा इति पाठः.

निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि नभःस्वच्छोऽस्मि निस्पृहः

शान्तोऽहमर्थरूपोऽस्मि विरायाहमहं स्थितः ।

तां दशामुपयातोऽस्मि यतश्चित्तैकवर्त्मनि ॥ ४३

प्रतिषेधन्ति सहसा न यां हरिहरादयः ।

न किञ्चिन्मात्रचिन्मात्रनिष्ठोऽस्मि स्वस्थ आस्थितः ४४

भ्रमेणाहं विमुक्तोऽस्मि संसारेणालिलोचने ।

न तुष्टोऽस्मि न खिन्नोऽस्मि नायमस्मि न चेतस्त्वं ४५

न स्थूलोऽस्मि न सूक्ष्मोऽस्मि सत्यमस्मि च सुन्दरि ।

तेजोविम्बात्प्रयातेन मित्रावपतितेन च ॥ ४६

क्षयातिशयमुक्तेन प्रकाशेनास्मि वै समः ।

शान्तोऽस्मि साम्यं नेतास्मि स्वस्थोऽस्मि विगताशयः ४७

परिनिर्वाण एवास्मि सहशोऽस्मि पतिव्रते ।

यत्तदस्मि तदेवास्मि वक्तुं शक्नोमि नेतरत् ॥ ४८

तरङ्गतरलापाङ्गे गुरुस्त्वं मे नमोऽस्तु ते ।

प्रसादेन विशालाक्ष्यास्तीर्णोऽस्मि भवसागरात् ॥ ४९

पुनर्मलं न गृह्णामि शतघ्नातसुवर्णवत् ।

शान्तः स्वस्थो मृदुर्यत्तो वीतरागो निरंशधीः ॥ ५०

सर्वातीतः सर्वगश्च खमिवायमहं स्थितः ।

चूडालोवाच ।

एवं स्थिते महासत्त्व प्राणेश हृदयप्रिय ॥ ५१

किमिदानीं प्रभो ब्रूहि रोचते ते महामते ।

मोहस्य विवेकस्य तत्त्वदर्शनस्य वा यस्य यस्यान्तःप्रकाशकतया स्थिता तत्स्य तस्यान्तः अहमपि उप परमसमीपभूतप्रत्यक्षात्म- तथा आस्थितः । तथा चेदानीं त्वं यथा पश्यसि तथैवाहं पश्यामीति खानुभवेनैव ममापि स्थितिर्ज्ञातव्येत्यर्थः । तमेव प्रपञ्च्य दर्शयति—निरीह इत्यादिना ॥ ४३ ॥ अर्थरूपः परमार्थसत्त्वरूपः अनहमि देहादौ अहंभ्रमं त्यक्त्वा विराय बहुकालोत्तरं वस्तुतो योऽहं स एवाहं भूत्वा स्थित इत्यर्थः । अहं प्रत्यक्षप्रवर्णचित्तैकवर्त्मन्यधिष्ठितत्वां निरतिशयानन्ददशा- मुपयातोऽस्मि यां प्रयत्नसहस्रैरपि प्रतिषेद्धं प्रवृत्ता हरिहरादयो महाप्रभावा अपि न प्रतिषेधन्ति न निरसितुं शक्नुवन्ति । 'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा तेषां स भवति' इति श्रुतेः । अहेयस्यात्मनो हापनाघटनाच्चेति भावः ॥ ४३ ॥ ॥ ४४ ॥ अयं हस्यः कार्यवर्गः । इतरत् कारणम् ॥ ४५ ॥ सत्यमवाधितवस्तु । तेजोविम्बात्सूर्यादिमण्डलाद्ब्रूहिः प्रयातेन मित्रावपतितेन च नभोमात्रविसारिणा प्रकाशेनालोकेन ॥ ४६ ॥ जगतः सर्वं वैषम्यं निरस्य साम्यं नेतास्मि । विगताशयो निर्म- नस्कः ॥ ४७ ॥ हे पतिव्रते । 'सतीव्रते' इति पाठे सतीनां व्रतमिव व्रतं यस्या इति श्रुत्पत्त्या पतिव्रते इत्येवार्थः । अ- यथा सत्यास्वयं स्वरूपनिष्ठलक्षणे व्रते सहशसुखशीलो भर्ता- स्तीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ शतघ्नं घातमग्नौ शोधितं यत्सु- वर्णं तद्वत् । यतः स्वरूपनिष्ठायामत्यन्तोद्युक्तः । निरंशं नि-

शिखिध्वज उवाच ।

प्रतिषेधं न जानामि न जानाम्यभिवाञ्छितम् ॥ ५२

यदाचरसि तन्नि त्वं कदाचिद्वेषि तत्तथा ।

यद्यन्मतं ते सकलं तथास्त्वविकलं प्रिये ॥ ५३

न किञ्चिदनुसंधातुं जानाम्यम्बरसुन्दरः ।

यदेव किञ्चिज्जानासि तदेव कुरु सुन्दरि ॥ ५४

तदेव धारयिष्यामि प्रतिविम्बं यथा मणिः ।

चेतसा गलितेष्टेन यथाप्राप्तमनिन्दितम् ॥ ५५

न स्तौमि न च निन्दामि यदिच्छसि तदाचर ।

चूडालोवाच ।

यद्येवं तन्महाबाहो समाकर्षेय मन्मतम् ॥ ५६

आकर्ष्य जीवन्मुक्तात्मस्तदेवाहर्तुमर्हसि ।

सर्वत्रैक्यावबोधेन मौख्यक्षयभुवान्विताः ॥ ५७

निरिच्छास्तावदाकाशविशदाः संस्थिता वयम् ।

यादृशेषणमस्माकं तादृशं तदनेषणम् ॥ ५८

यत्प्राणानैषणे कोऽत्र चिन्मात्रोऽभ्यसते हि कः ।

तस्मादाद्यन्तमध्येषु ये वयं पुरुषोत्तम ॥ ५९

शेषमेकं परित्यज्य त एवमे स्थिता वयम् ।

राज्येन सांप्रतेनेमं कालं नीत्वा क्रमेण वै ॥ ६०

विदेहतां प्रयास्यामः प्रभो कालेन केनचित् ।

शिखिध्वज उवाच ।

वयमाद्यन्तमध्येषु कीदृशास्तरले वद ॥ ६१

वीरसना धीर्यस्य ॥ ५० ॥ ५१ ॥ इदं न रोचत इति प्रतिविध्यत

इति प्रतिषेधः, कर्मणि घञ् । तं न जानामि ॥ ५२ ॥ कदाचित्

श्रुत्प्राप्तकाले । मतमभिमतम् ॥ ५३ ॥ अम्बरमाकाशमिव

निलंपौदासीत्यपूर्णतासुन्दरः । जानासि कर्तव्यतयेति शेषः ॥ ५४ ॥

धारयिष्यामि इति संमन्तास्मीति यावत् । गलितमिष्टं इच्छ

तद्विषयजार्तं यस्मात्तथाविधेन । इष्टमहणमनिष्टस्याप्युपलक्षणम्

॥ ५५ ॥ ५६ ॥ आहर्तुमाचरितुम् ॥ ५७ ॥ एषणं राज्य-

भोगाद्यपेक्षणम् ॥ ५८ ॥ तत्रोपपत्तिमाह—यदिति । यद्य-

स्मात्कारणात्प्राणानां चक्षुरादीनां मुख्यप्राणस्य च स्वस्रोचित-

विषयानेषणे सत्यत्र परमात्मनि कोऽतिशयः । न चानाना-

मिव तत्त्वविदोऽन्तःकरणदेहेन्द्रियादितादात्म्याध्यासोऽस्ति येने-

न्द्रियाणां विषयभोगाभ्यासेन मालिन्ये आत्मनोऽपि मालिन्य-

प्रसक्तिः । निष्क्रियासञ्चविन्मात्रभूतो हि तत्त्वविद्, को भो-

गानभ्यसते । न कश्चिदित्यर्थः । अस्यतेर्विकरणपदव्यत्ययच्छा-

न्दसः । तस्मात्प्रारब्धभोगमात्रेण तदभ्यासजन्यसन्मालिन्याप्रस-

क्तैस्तद्भोगादौ तद्भोगान्ते मध्ये तदन्तराले च वयं ये यत्स्वभा-

वासे तत्स्वभावा एव प्रारब्धशेषमेकं भोगेन परित्यज्य क्षप-

यित्वा स्थिता न तु किञ्चिदन्यथाभूता अन्ये वा भविष्यात्

इत्यर्थः ॥ ५९ ॥ इममायु शेषरूपं कालम् ॥ ६० ॥ तस्मा-

दाद्यन्तमध्येष्वधिलक्ष्यार्थान्तरमपि संभावयन्तं - जिज्ञासमानो

शेषमेकं परित्यज्य तिष्ठामः कथमेव वा ।
 चूडालोवाच ।
 वयमाद्यन्तमध्येषु राजानो राजसत्तम ॥ ६२
 मोहमेकं परित्यज्य भवामः पुनरेव ते ।
 स्व एव नगरे राजा भव त्वं स्वासने स्थितः ॥ ६३
 ललामो ननु कान्तानां महिषी ते भवाम्यहम् ।
 सनृपा मत्तवास्तव्या नृत्यन्नवनवाङ्मना ॥ ६४
 सपताका ध्वनत्तूर्या पुष्पप्रकरिणी पुरी ।
 लसद्बल्लवा समञ्जस्या रणत्पुष्पालिमालया ।
 मधुमासलतालक्ष्म्या चिराद्भवतु सा समा ॥ ६५
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 इति चूडालया प्रोक्तो विद्वस्य स शिखिध्वजः ।
 प्रोवाच मधुरं वाक्यमधुब्धं विगतज्वरः ॥ ६६
 एवं चेत्तद्विशालाक्षि स्वायत्ता नल्लिविष्टपे ।
 सिद्धभोगश्रियस्तासु निवसामि न किं प्रिये ॥ ६७
 चूडालोवाच ।
 न राजन्मम भोगेषु चाञ्छा नापि विभूतिषु ।
 स्वभावस्य वशादेव यथाप्राप्तेन मे स्थितिः ॥ ६८
 न सुखाय मम स्वर्गो न राज्यं नापि च क्रिया ।

यथास्थितमविशुब्धं तिष्ठामि स्वस्थचेष्टिता ॥ ६९
 इदं सुखमिदं नेति मिथुने क्षयमागते ।
 सममेव पदे शान्ते तिष्ठामीह यथासुखम् ॥ ७०
 शिखिध्वज उवाच ।
 युक्तमुक्तं विशालाक्षि त्वयैतत्समया धिया ।
 को वार्थः किल राज्यस्य ग्रहे त्यागेऽपि वा भवेत् ७१
 सुखदुःखदशाचिन्तां त्यक्त्वा विगतमत्सरम् ।
 यथासंस्थानमेवेमौ तिष्ठावः स्वस्थतां गतौ ॥ ७२
 इति तत्र कथालापकथनेन तयोर्द्वयोः ।
 कान्तयोश्चिरदं पत्योर्वासरस्तनुतां ययौ ॥ ७३
 अथोत्थाय दिनाचारं यथाप्राप्तमनिन्दितौ ।
 सोत्कण्ठावप्यनुत्कण्ठौ चक्रतुः कार्यकोविदौ ॥ ७४
 स्वर्गसिद्धिमनादृत्य तस्थतुः पूर्णचेतसौ ।
 एकस्मिन्नेव शयने तैस्तैः प्रणयचेष्टितैः ।
 सा व्यतीयाय रजनी तयोर्जावद्विमुक्तयोः ॥ ७५
 तद्भोगमोक्षसुखमुत्तमयोः स्वयं स-
 माशंसतोः प्रणयवाक्यविलासगर्भम् ।
 उत्कण्ठतां प्रणयिनोर्धियमानयन्ती
 दीर्घा मुहूर्तवदसौ रजनी जगाम ॥ ७६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० चूडालाप्रकटीकरणं नाम नवोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमः सर्गः ११०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 ततः समुदिते सूर्ये वितमस्यम्बरे स्थिते ।
 समुद्रकादिव जगन्मणौ तस्मिन्निर्गते ॥ १
 विकसत्यरुणोपान्ते चक्षुषीवाम्बुजाकरे ।
 आचारेष्विव लोकेषु प्रसृतेष्वर्करश्मिषु ॥ २
 दंपती तौ समुत्थाय कृतसंध्याक्रमौ स्थितौ ।
 पत्रासने मृदुस्निग्धे कान्तौ काञ्चनकन्दरे ॥ ३

अथोत्थायात्र चूडाला रत्नकुम्भं पुरःस्थितम् ।
 कान्ता संकल्पयामास पूर्णं सप्ताब्धिवारिभिः ॥ ४
 तेन मङ्गलकुम्भेन तं पूर्वाभिमुखं स्थितम् ।
 भार्या भर्तारमेकान्ते स्वराज्येऽभिषिषेच सा ॥ ५
 संकल्पोपगते हैमे स्वभिषिक्तं स्वविष्टरे ।
 स्थितं प्रोवाच तन्वी सा चूडाला देवरूपिणी ॥ ६
 केवलं मौनमुत्सृज्य तेजः शान्तमिदं प्रभो ।

राजा पृच्छति—वयमिति ॥ ६१ ॥ तदभिप्रायानुसारेणैव
 चूडालापि तदर्थं वर्णयति—वयमिति ॥ ६२ ॥ तत्र शेषश-
 ब्दस्यार्थान्तरमाह—मोहमिति ॥ ६३ ॥ कान्तानामन्तःपुर-
 स्त्रीणां ललामो भूषणभूतो भवामि भविष्यामि । मत्ता हृष्टा
 वास्तव्याः पुरवासिनो यस्याम् । एतदादीनि पुरीविशेषणानि
 मधुमासलतालक्ष्मीसाम्योपपादकानि ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥
 यदि ते मया सह भोगेच्छास्ति तर्हि इन्द्रेण प्रार्थिता दिव्य-
 भोगा एव भुज्यन्तां किं मानुषैरिति राजाह—एवं चेदिति
 ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ मिथुने द्वन्द्वे ॥ ७० ॥ ७१ ॥ यथा-
 संस्थानं यथास्थितम् ॥ ७२ ॥ चिरदंपत्योः प्राचीनजायापत्योः
 ॥ ७३ ॥ दिनाचारं सायंसंध्याम् । ‘सायंसंध्यां सभास्करा’ मित्यु-
 क्तेर्दिनाचारता । परस्परैस्सितसंभोगाय सोत्कण्ठावपि निर्वास-
 नत्वादनुत्कण्ठौ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ तत्परस्परानुभवसिद्धभोग-
 यो० वा० १३०

मोक्षसुखं स्वयं प्रणयवाक्यविलासगर्भं यथा स्यात्तथा आशंसतोः
 कथयतोस्तयोर्धियमुत्कण्ठतां सोत्कण्ठतामानयन्ती प्रापयन्ती
 रजनी दीर्घापि मुहूर्तवज्जगामेत्यर्थः ॥ ७६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे चूडालाप्रकटी-
 करणं नाम नवोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

सहसंकल्पसैन्येन गजेन स्वपुरं गतौ ।

तौ कृत्वा सुचिरं राज्यं विमुक्ताविति वर्ण्यते ॥ १ ॥

समुद्रकात्समुद्रते जगरप्रकाशकमणाविव समुदिते सूर्ये वित-
 मस्यम्बरे स्थिते सति ॥ १ ॥ जनानामरुणोपान्ते चक्षुषीवाम्बु-
 जाकरे विकसति सति ॥ २ ॥ ३ ॥ सप्ताब्धिवारिभिः पूर्णं पुरःस्थितं
 रत्नकुम्भं राज्याभिषेकाय संकल्पयामास ॥ ४ ॥ तं राजानम् ॥ ५ ॥
 संकल्पमात्रेणोपगते स्वयोर्यविष्टरे सिंहासने ॥ ६ ॥ मौनं
 मुनियोग्यमिदं शान्तं तेज उत्सृज्य शासनयोग्यमिन्द्रादीनां त्रेजो

अष्टानां लोकपालानां तेजस्त्वं भर्तुमर्हसि ॥ ७
 चूडालयेति संप्रोक्तो वने राजा शिखिध्वजः ।
 वदन्नेवं करोमीति महाराजत्वमाययौ ॥ ८
 अथ प्रतीहारपदे तिष्ठन्तीमाह भानिनीम् ।
 अथ देवीपदे राज्ञीं त्वां करोम्यभिषेकिनीम् ॥ ९
 इत्युक्त्वा सरसि स्नाप्य महादेवीपदे तथा ।
 अभिषिक्तां नृपः कृत्वा स तामाह निजां प्रियाम् ॥ १०
 प्रिये कमलपत्राक्षि क्षणात्संकल्पसंभवम् ।
 महाविभवमुद्दामं सैन्यमाहर्तुमर्हसि ॥ ११
 इति कान्तवचः श्रुत्वा चूडाला घरवर्णिनी ।
 सैन्यं संकल्पयामास प्रावृद्धघनमिवोद्भटम् ॥ १२
 सैन्यं ददशतुस्तसौ वाजिवारणसंकुलम् ।
 पताकापूरिताकाशं नीरन्ध्रीकृतकाननम् ॥ १३
 तूर्यारचध्वनच्छैलगुहागहनकोटरम् ।
 मौलिरत्नमहोदयोतविचूर्णिततमःपटम् ॥ १४
 तत्र गन्धद्विपवरे कृतपार्थिवमण्डले ।
 रक्षिते हृष्टसामन्तैरारूढौ नृपदंपती ॥ १५
 ततः शिखिध्वजो राजा महिष्या सममिष्टया ।
 पदातिरथसंवाधं कर्षन्प्रतिवलो घलम् ॥ १६
 चचालाचलचालिन्या सेनया स ततो वनात् ।
 भिन्दन्निव रसाशैलं वात्ययेवाशु भौमया ॥ १७
 तस्मान्महेन्द्रशैलेन्द्राश्चलितः स महीपतिः ।
 पथि पश्यन्गिरीन्देशाश्चदीर्घान्स्नजङ्गलान् ॥ १८
 दर्शयन्त्वप्रियायास्तमात्मवृत्तान्तसंचयम् ।
 प्रागल्पेनैव कालेन स्वां पुरीं स्वर्गशोभनाम् ॥ १९
 तत्र ते तस्य सामन्तास्तदागमनमादताः ।

विविदुर्जयशब्देन निर्जग्मुश्चोदिताशयाः ॥ २०
 एकतां संप्रयातेन तारतूर्यनिनादिना ।
 बलद्वयेन तेनासौ विवेश नगरं नृपः ॥ २१
 लाजपुष्पाञ्जलिवातैरावृष्टः पौरयोषिताम् ।
 वणिङ्गार्गमसौ पश्यन्परंपरमनुत्तमम् ॥ २२
 पताकाध्वजसंवाधं मुक्ताजालमनोरमम् ।
 नृत्यगोयपरस्त्रीकं स्वभूमावचलं स्थितम् ॥ २३
 प्रविष्टयाथ गृहं तैस्तैः संयुतं नृपमङ्गलैः ।
 सम्यक्समानयामास प्रणतं प्रकृतिव्रजम् ॥ २४
 पुरोत्सवं भृशं कृत्वा दिनसप्तकमुत्तमम् ।
 अकरोद्राजकार्याणि स्वानि स्वान्तःपुरे नृपः ॥ २५
 दशवर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा महीतले ।
 सहचूडालया राम विरतो देहधारणात् ॥ २६
 देहमुत्सृज्य निर्वाणमस्त्रेह इव दीपकः ।
 अपुनर्जन्मने राम जगामेति महामतिः ॥ २७
 दशवर्षसहस्राणि समदृष्टितया तथा ।
 राज्यं तयाऽऽरमय्यापि निर्वाणं पदमाप्तवान् ॥ २८
 विगतभयविषादो मानमात्सर्यमुक्तः
 प्रकृतसहजकर्मा भुक्तीरामबुद्धिः ।
 इति समसमदृष्टिर्मृत्युमार्थोऽथ जित्वा
 दशशिशिरसहस्राण्येकराज्यं चकार ॥ २९
 भुक्त्वा भोगाननेकान्भुवि सकलमहीपालचूडा-
 मणित्वे
 स्थित्वा वै दीर्घकालं परममृतपदं प्राप्तवान्सत्त्वशेषः ।
 एवं रामागतं त्वं प्रकृतमनुसरन्कार्यजातं विशोक-
 स्तिष्ठोत्तिष्ठ स्वयं वा प्रसभमनुभवन्भोगमोक्षादि-
 लक्ष्मीः ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० चू० शिखिध्वजनिर्वाणं नाम दशोत्तराध्यातमः सर्गः ॥११०॥

चूडालोपाख्यानं समाप्तम् ।

भर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥ ८ ॥ पद्मभिषेकाभावात्प्रतीहारपदं दार-
 पालस्थानं तत्र विनयात्तिष्ठन्तीम् । देवीपदे कृताभिषेकास्थाने
 ॥ ९ ॥ १० ॥ योगसिद्ध्या तव सत्यसंकल्पासंभवम् । भूषणा-
 लंकारशस्त्रास्त्रादिभिर्महाविभवं बहुसौहिणीपरिमाणैरुद्दामम्
 ॥ ११ ॥ १२ ॥ नीरन्ध्रीकृतं निरवकाशीकृतं काननं येन
 ॥ १३ ॥ तूर्यारवैः प्रतिध्वनन्तः शैलगुहागहनकोटरा यस्य
 ॥ १४ ॥ यन्मदगन्धमन्ये द्विपा न सहन्ते स गन्धद्विपः ॥ १५ ॥
 घलं सैन्यम् ॥ १६ ॥ भौमया भूत्यया ॥ १७ ॥ १८ ॥ तं
 प्राक्तनमात्मनः स्वस्य प्राक्पराजिगतस्य भागं जानपदैः सह
 कृतं वृत्तान्तसंचयम् ॥ १९ ॥ सामन्तास्तदागमनमादित्ये निरु-
 पिता मन्त्रिणः । उदिताशयाः सोत्कण्ठाः ॥ २० ॥ २१ ॥
 लाजाञ्जलीनां पुष्पाञ्जलीना च त्रातैः । परंपरमुत्तरोत्तमम् ॥ २२ ॥
 स्वभूमौ स्वस्थाने अचलं कैलासमिवोच्छ्रितं स्थितम् ॥ २३ ॥

तैस्तैर्लोकशास्त्रप्रसिद्धैर्दधिपूर्वाक्षतशङ्खवीणाछत्रचामरादिभिर्नृप-
 योग्यैर्मङ्गलैः संयुतम् ॥ २४ ॥ अन्तःपुरे स्वाति स्वाभिमत-
 समाधिभोगादीनि ॥ २५ ॥ देहधारणाद्विरतो विदेहकैवल्य-
 सुखे प्रतिष्ठितोऽभूदित्यर्थः ॥ २६ ॥ तदेव स्पष्टमाह—वेदमिति ।
 इति अनया प्रागुक्तरीत्या ॥ २७ ॥ राज्यं कृत्वा तया चूडालया
 सह आरमभ्य आसमन्तात् श्रीदधित्वापि ॥ २८ ॥ भुक्तेषु भोगेषु
 नीरगा बुद्धिर्यस्य । समेभ्योऽपि समा दृष्टिर्यस्य । स आर्यः शिखि-
 ध्वज इति वर्णितप्रकारेण बोधेन कामलक्षणं मृत्युं जित्वा दशशि-
 शिरसूपलक्षितवर्षसहस्राणि जन्मवृद्धीपे एकराजस्य भाव ऐक्य-
 राज्यं चकार ॥ २९ ॥ पूर्वार्धेन शिखिध्वनस्थितिमनूय ता
 रामाय कर्तव्यतयोत्तरार्धेनोपदिशति—भुक्त्विति । स शिखि-
 ध्वजो दीर्घकालं भुवि सकलमहीपालानां चूडामणित्वे स्थित्वा

१ अस्य शिखिध्वनाख्यानत्वेनापि व्यवहारः ।

एकादशाधिकशततमः सर्गः १११

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एतत्ते सर्वमाख्यातं शिखिध्वजकथानकम् ।
अनेन गच्छन्मार्गेण न कदाचन खिद्यसे ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य रागद्वेषविनाशिनीम् ।
नित्यं नीरागया बुद्ध्या तिष्ठामवष्टब्धतत्पदः ॥
यथा शिखिध्वजो राज्यं कृतवानेवमीदृशम् ।
राम व्यवहरन्राज्ये भोगमोक्षमयो भव ॥

शिखिध्वजक्रमेणैव यथा बोधमवाप्तवान् ।
कचो बृहस्पतेः पुत्रस्तथा बुध्यस्व राघव ॥

श्रीराम उवाच ।

बृहस्पतेर्भगवतः पुत्रोऽसौ भगवान्कचः ।
यथा प्रबुद्धो भगवन्समासेन तथा वद ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

शृणु राजन्कथां श्रीमाञ्जिखिध्वजवदेव सः ।
प्रबोधं परमं यातो देवदेशिकजः कचः ॥
बालभावात्समुत्तीर्णः संसारोत्तरणोन्मुखः ।
कचः पदपदार्थज्ञो बृहस्पतिमभाषत ॥

कच उवाच ।

भगवन्सर्वधर्मज्ञ कथं संसृतिपञ्चरात् ।
अस्मान्निर्गम्यते ब्रूहि जन्तुना जीवतन्तुना ॥

बृहस्पतिरुवाच ।

अनर्थमकरागारादस्मात्संसारसागरात् ।
उद्धीयते निरुद्धेन सर्वत्यागेन पुत्रक ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्याकर्ण्य कचो वाक्यं पितुः परमपावनम् ।
सर्वमेव परित्यज्य जगामैकान्तकाननम् ॥

१०

अनेकान्भोगान्भुक्त्वा अमृतमजरं परं पदं सत्त्वं सन्मानं त-
च्छेषः सन् प्राप्तवान् । हे राम, त्वमपि आगतं प्रारब्धप्राप्तं
प्रकृतं कार्यजातमनुसरन् विशोकः समाधौ तिष्ठ । अथवा
स्वयं प्रसभं भोगमोक्षज्ञानलक्ष्मीरनुसरन्नुत्तिष्ठ व्युत्थितस्तिष्ठ ।
तव समाधिव्युत्थानयोर्न फलमेदोऽस्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे शिखि-
ध्वजनिर्वाणं नाम दशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

राज्या राजेव पित्रात्र सर्वस्वं त्याजितः कचः ।

अन्तेऽहंकारसंत्यागात्पूर्णोऽभूदिति चपर्यते ॥ १ ॥

अनेन मार्गेण गच्छन् खिद्यसे निवृत्तसर्वखेदो भविष्यसि ॥ १ ॥
बुद्ध्या अवष्टब्धं परमार्थतया दृष्टमवलम्बितं तत्पूर्णानन्दपदं येन ।
भोगमोक्षमयस्त्वत्प्रचुरः ॥ २ ॥ ३ ॥ शिखिध्वजस्य प्रसिद्धेन सर्व-
त्यागक्रमेणैव कचोऽपि यथा बोधमवाप्तवान् तथा त्वमपि बुध्यस्व
॥ ४ ॥ समासेन साकल्येन ॥ ५ ॥ ६ ॥ बालभावात्समुत्तीर्णो
निर्गतः । यौवनं प्राप्तमात्र इति यावत् । पदपदार्थज्ञः सर्वविद्या-

बृहस्पतेस्तद्रमनं नोद्वेगाय बभूव ह ।

संयोगे च वियोगे च महान्तो हि महाशयाः ॥ ११

१ अथ वर्षेषु जातेषु त्रिषु पञ्चसु सोऽनघ ।

पुनः प्राप महारण्ये कस्मिंश्चित्पितरं कचः ॥ १२

२ परिपूज्याभिवाद्यैनं समालिङ्गितपुत्रकम् ।

अपृच्छद्वाक्पतिं भूयः स कचः कान्तया गिरा ॥ १३

३

कच उवाच ।

अद्येदमष्टमं वर्षं सर्वत्यागः कृतो मया ।

४ तथापि तात विश्रान्तिं नाधिगच्छाम्यनिन्दिताम् ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवमार्तवचस्तस्मिन्कचे वदति कानने ।

५ सर्वमेव त्यजेत्युक्त्वा वाक्पतिर्दिवमुद्ययौ ॥ १५

गते तस्मिन्कचो देहाद्वल्कलाद्यप्यथात्यजत् ।

गतेन्द्रभ्रातृतारेण शरद्वोम्ना समोऽभवत् ॥ १६

६

पुनर्वर्षत्रयेणैव कस्मिंश्चित्काननान्तरे ।

तत्याजाम्बुदवर्षादि शरदीव नभस्तलम् ॥ १७

७

उपासैको दिगन्तेषु शान्तशून्यवपुः श्वसन् ।

दूयमानमनाः प्राप तमेव पितरं गुरुम् ॥ १८

कृतपूजाक्रमो भक्त्या समालिङ्गितपुत्रकम् ।

अपृच्छत्स कचो भूयः खेदगद्गदया गिरा ॥ १९

८

कच उवाच ।

तात सर्वं परित्यक्तं कन्थां वेणुलताद्यपि ।

९ तथापि नास्ति विश्रान्तिः स्वपदे किं करोम्यहम् ॥ २०

बृहस्पतिरुवाच ।

चित्तं सर्वमिति प्राहुस्तत्त्यक्त्वा पुत्र राजसे ।

चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागं सर्वविदो जनाः ॥ २१

स्थानेषु निष्णातस्तत्त्वमसिवाक्यगोचरपदपदार्थज्ञश्च ॥ ७ ॥

जीव एव तन्तुरिव स्वबन्धसहस्रकरो यस्य तथाविधेन जन्तुना

मादृशेन ॥ ८ ॥ उद्धीयते शीघ्रं निर्गम्यत इति यावत् । अति-

वैराग्यदाढ्यात्त्यक्तविषये पश्चात्तापोद्वेगरहितं यथा स्यात्तथा

कृतेन सर्वत्यागेन ॥ ९ ॥ १० ॥ महाशयाः मेरुवत्स्थिरा-

शयाः ॥ ११ ॥ त्रिषु पञ्चसु च वर्षेषु । अष्टस्वित्यर्थः । तच्चि-

त्तपरिपाकतारतम्यं विज्ञाय शेषं त्याजयितुमागतं पितरं प्रा-

पेत्यर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ दिवमाकाशम् ॥ १५ ॥

गतेन्द्रिति । सन्निहितसूर्योदयकालिकशरद्वोम्नेति यावत् ॥ १६ ॥

पुनरित्याद्यर्थमुत्तरश्लोके दूयमानमना इत्यतः प्राग्योज्यम् । कथं

च शरद्वोम्ना समोऽभवत्तत्राह—तत्याजेति । कचिद्विरिगुहा-

श्रयेणाम्बुदवर्षादि तत्याज परिजहार ॥ १७ ॥ शरदादौ तु

कचिदिगन्तेषूवास । एवं दूयमानमना एष पुनर्वर्षत्रयेण कस्मिं-

श्चित्काननान्तरे तमेव पितरं गुरुमागतं प्राप ॥ १८ ॥ १९ ॥

वेणुलता दण्डः । आदिपदात्कमण्डलवृत्त्यजिनाद्यपि ॥ २० ॥ २१ ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा चाकपतिः पुत्रं पुप्पुवे तरसा नमः ।
अन्वियेष कचश्चित्तं परित्यक्तमखिन्नधीः ॥ २२
चिन्तयन्नप्यसौ चित्तं न यदा वेद कानने ।
तदा संचिन्तयामास धियैव पितरं ययौ ॥ २३
पदार्थवृन्दं देहादि न चित्तमिति कथ्यते ।
तदेतत्किं क वा व्यर्थं निरागस्कं त्यजाम्यहम् ॥ २४
पितुः सकाशं गच्छामि ज्ञातुं चित्तं मद्धारिणम् ।
ज्ञात्वा तत्संत्यजाम्याशु ततस्तिष्ठामि विज्वरः ॥ २५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति संचिन्त्य स कच उज्जगाम त्रिविष्टपम् ।
चाकपतिं प्राप्य सखेहं वचन्दे प्रणनाम च ॥ २६
अपृच्छच्चैनमेकान्ते किं चित्तं भगवन्वद ।
स्वरूपं ब्रूहि चित्तस्य येन तत्संत्यजाम्यहम् ॥ २७
बृहस्पतिरुवाच ।

चित्तं निजमहंकारं विदुश्चित्तविदो जनाः ।
अन्तर्योऽयमहंभावो अन्तोस्तश्चित्तमुच्यते ॥ २८
कच उवाच ।

अयस्त्रिंशन्महाकोटिप्रमाणस्य महामते ।
शुरो गीर्वाणवृन्दस्य कथमेतद्ब्रूदेति मे ॥ २९
मन्येऽस्य दुष्करस्त्यागो न सिद्धिमुपगच्छति ।
कथमेष किल त्यक्तं शक्यते योगिनां वर ॥ ३०
बृहस्पतिरुवाच ।

अपि पुष्पावदलनादपि लोचनमीलनात् ।
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० कचोपाख्याने कचप्रबोधो नामैकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥१११॥

अन्वियेष अन्विष्टवान् ॥ २२ ॥ यदा न वेद न दृष्टवान् ।
चित्तस्य स्वान्वेषणविशरास्तायाः प्राक् चित्ताख्याने प्रपञ्चना-
दिति भावः । पितरं धिया ययौ । चिन्तितवाचिति यावत्
॥ २३ ॥ ननु त्रिपुरदाहादसुराणामिव देहेन्द्रियविषयस्त्यागा-
देव चित्तत्यागः सेत्स्यति तत्राह—पदार्थेति । तदेतत्पदार्थवृन्दं
देहादि किं चित्तस्य क वा चित्तं स्यादित्यनिर्णयदानागस्कं
चित्तमित्यनापराधशून्यदेहादि व्यर्थं किं त्यजामि । त्यागोऽस्य
नोचित इत्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ चित्तविदः
साक्षिणा चित्तं पृथक्कृत्य जानन्तो जीवन्मुक्तजनाः ॥ २८ ॥
हे अयस्त्रिंशन्महाकोटिप्रमाणस्य गीर्वाणवृन्दस्य शुरो, हे महामते
बृहस्पते, अहंभाव एव चित्तमित्येतत्कथं तन्मे वद । अहंकारस्य
लोके आत्मतयैव प्रसिद्धस्तस्यागो आत्मत्यागापत्या नैरात्म्याप-
त्तेरिति भावः ॥ २९ ॥ नाप्यात्मनस्त्यागो वा संभवति, अहेयस्व-
भावत्वादित्याशयेनाह—मन्ये इति ॥ ३० ॥ सर्वं तत्साक्ष्यप-
रिचये तत्त्यागो दुष्करः, परिचिते तु साक्षिणि पुष्पावदल-
नादपि सुकर इत्याशयेन बृहस्पतिरुत्तरमाह—अपीति

सुकरोऽहंकृतेस्त्यागो न क्लेशोऽत्र मनागपि ॥ ३१
यथैतदेवं तनय तथा शृणु वदामि ते ।
अज्ञानमात्रसंसिद्धं वस्तु ज्ञानेन नश्यति ॥ ३२
वस्तुतो नास्त्यहंकारः पुत्र मिथ्याभ्रमो यथा ।
असन्सन्निव संपन्नो बालवेतालवत्स्थितः ॥ ३३
यथा रज्ज्वां भुजंगत्वं मरावम्बुमतिर्यथा ।
मिथ्यावभासः स्फुरति तथा मिथ्याप्यहंकृतिः ॥ ३४
असदेव यथा द्वित्वं मोहादिन्दौ विलोक्यते ।
तथा स्फुरत्यहंकारो न सत्यो वाप्यसन्न च ॥ ३५
एकमाद्यन्तरहितं चिन्मात्रममलान्तरम् ।
खादप्यतितरामच्छं विद्यते सर्ववेदनम् ॥ ३६
सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रकाशं सर्वजन्तुषु ।
तदेवैकं कचत्यम्बु विलोलास्रब्धिबीचिषु ॥ ३७
अत्र कोऽयमहंभावः कुतो वा कथमुत्थितः ।
काप्सु जातो रजोराशिः कानलाद्रुत्थितं जलम् ॥ ३८
अयं सोऽहमिति व्यर्थं प्रत्ययं त्यज पुत्रक ।
तुच्छं परिमिताकारं दिक्कालविवशीकृतम् ॥ ३९
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नं स्वच्छं नित्योदितं ततम् ।
सर्वार्थमयमेकार्थचिन्मात्रममलं भवान् ॥ ४०
फलकुसुमदलानां सर्वदिक्संस्थितानां
रस इव जगतां त्वं संस्थितः सर्वदेव ।
विमलतरचिदात्मा नित्यमेवास्यनन्तः
क इव कच तवाहंनिश्चयो भावभूतैः ॥ ४१

कचोपाख्याने कचप्रबोधो नामैकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥१११॥

॥ ३१ ॥ अज्ञानं शुद्धसाक्ष्यपरिचयलक्षणो मोहस्तन्मात्रसं-
द्धमहंकारादिवस्तु । तच्च ज्ञानेन तत्परिचयमात्रेण ॥ ३२ ॥
बालकल्पितवेतालवद्वस्तु असन्नेव सन्निव संपन्नोऽज्ञहृष्टा स्थितः
॥ ३३ ॥ तथाहंकृतिरपि मिथ्या स्फुरतीत्यन्वयः ॥ ३४ ॥
न च सदसन्निति शेषः ॥ ३५ ॥ सर्वप्रपञ्चमिथ्यात्वे किं वि-
द्यते तदाह—एकमिति । सर्वमिथ्यात्वेऽपि तद्वेदनं विद्यते ।
तदविवर्तमानतायाः साधक्यभावादेवास्मिन्निति भावः ॥ ३६ ॥
तदसत्त्वे जगत्प्रधानुपपत्तेरपि तदस्तीत्याह—सर्वत्रेति । अ-
म्बुवेति शेषः ॥ ३७ ॥ तत्र दृग्दृश्ययोर्मध्ये अयमहंकारः कः
कुतो निमित्तात्कर्म दृग्दृश्यमेलनात्प्रकारान्तरेण वा उत्थितः,
उभयविलक्षणस्वभावस्यासौद्रव एव दुर्वच इत्याह—केति ।
रजोराशिः शुष्कपांशुनिचयः ॥ ३८ ॥ अयं देहादिः स पि-
त्रादितो जातोऽहम् । दिक्कालभ्यां विवशीकृतं शृङ्गपक्ष्यादिनां
परिमितम् ॥ ३९ ॥ तर्ह्यहं कस्तत्राह—दिगिति । सर्वार्थ-
मयं सर्वपदार्थविकारात्मना भासमानं वस्तुतस्त्वपाराध्यादद्वय-
त्वाच्चेकार्थम् ॥ ४० ॥ सर्वार्थमयमित्यस्य सर्वपदार्थसारभूतमि-
त्यर्थान्तरं सहष्टान्त दर्शयन्प्रकृतं निगमयति—फलेति । सर्व-
क्षितान्नः यतो यथावत्समेव सक्तं मुसङ्गतं चेति वयम् ।

द्वादशाधिकशततमः सर्गः ११२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इति प्राप्य परं योगमुपदेशमनुत्तमम् ।
 जीवन्मुक्तो बभूवासौ ततो देवगुरोः सुतः ॥ १
 निर्ममो निरहंकारश्छिन्नग्रन्थिः प्रशान्तधीः ।
 कचो यथा स्थितो राम तथा तिष्ठाविकारवान् ॥ २
 अहंकारमसद्विद्धि मैत्रमाश्रय मा त्यज ।
 असतः शशशृङ्गस्य किल त्यागग्रहौ कुतः ॥ ३
 असंभवत्यहंकारे क ते मरणजन्मनी ।
 नभःक्षेत्रे तथा व्युप्तं केन संगृह्यते फलम् ॥ ४
 निरंशं शान्तसंकल्पं सर्वभावात्मकं ततम् ।
 परमादप्यणोः सूक्ष्मं चिन्मात्रं त्वमनोमयम् ॥ ५
 यथाम्भसस्तरङ्गादि यथा हेमोऽङ्गदादि च ।
 तदेवातदिवाभासं तथाहंभावभावितः ॥ ६
 अबोधेन जगत्सर्वं मायामयमिव स्थितम् ।
 बोधेन सकलं ब्रह्मरूपं संपद्यतेऽनघ ॥ ७
 द्वित्वैकत्वमती त्यक्त्वा शेषस्थः सुखितो भव ।
 मा दुःखितो भव व्यर्थं त्वं मिथ्यापुरुषो यथा ॥ ८
 मायेयमतिदुष्पारा सांसारी गाढतां गता ।
 शरदा मिहिकेवाशु बोधेनायाति तानवम् ॥ ९

दिक्षु संस्थितानां फलानां कुसुमानां दलानां पर्णानां च कार-
 णीभूतः सारभूतश्च तरोरन्तर्गतो रस इव त्वं सर्वजगतां कार-
 णीभूतः सारभूतश्चान्तः सर्वदेव संस्थितो विमलतरोऽनन्तश्चि-
 दात्मैव नित्यमसि । हे कच, भावमूर्तेरखण्डाद्वयसन्मात्रस्वरू-
 पस्य तवायं परिच्छिन्नोऽहंनिश्चयः क इव । न कश्चिदित्यर्थः ।
 अथवा सर्वदिक्संस्थितानां फलकुसुमादीनामैकरस्यमापन्नो रसो
 मध्विव सर्वजगतां सारभूतनिरतिशयानन्दरूपः संस्थित इ-
 त्यर्थः । अतः सर्वदेव त्वमनन्तो विगतमायामलश्चिदात्मैवासी-
 त्यादि प्राग्वत् ॥ ४१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामयणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे कचप्रबोधो नामैकादशोत्तरशततमः
 सर्गः ॥ १११ ॥

कचाख्यानप्रबुद्धस्य रामस्य प्रश्नतोऽत्र हि ।

मिथ्यापुरुषकाख्यानं खरक्षणमुदीर्यते ॥ १ ॥

शुज्यते अखण्डैक्येनावधार्यते प्रत्यगात्मा परमात्मना येन
 स योगस्तं तथाविधमुपदेशम् ॥ १ ॥ तथा त्वमपि तिष्ठ ॥ २ ॥
 मैत्रमिति । मिथ्यात्वबुद्ध्या उपेक्षणमेव तत्त्यागो न स्वत्वनि-
 वर्तकयत्नसापेक्ष इति भावः ॥ ३ ॥ यत्नेन तदनिवारणे कथं
 मरणजन्मभयनिर्मोक्षस्तत्राह—असंभवतीति । शत्रन्तेन ननु-
 समासे सप्तमी । ननु कामकर्मवासनारूपबीजबलान्मरणजन्मनी
 कुतो न स्यातां तत्राह—नभ इति । अहङ्कारक्षेत्रे सत्येव
 तानि बीजानि प्ररोहन्ति न तु तद्वाधे सतीति भावः ॥ ४ ॥
 अहङ्कारे भावितेऽवशिष्टः कीदृशोऽहं तत्राह—निरंश-

श्रीराम उवाच ।

परमामागतोऽस्म्यन्तस्तृप्तिं ज्ञानामृतेन ते ।
 अवग्रहभयाक्रान्तः स्वासारेणेव चातकः ॥ १०
 अमृतेनेव सिकोऽहमन्तर्गच्छामि शीतताम् ।
 उपर्यपि समस्तानां तिष्ठाम्यतुलसंपदाम् ॥ ११
 न तृप्तिमनुगच्छामि घचांसि घदतस्तव ।
 ऐन्दवीनां मरीचीनां चकोरस्तृषितो यथा ॥ १२
 तृप्तोऽपि भूयः पृच्छामि त्वां प्रश्नमिममीश्वर ।
 को नाम तृप्तोऽप्यग्रस्तं न पिबत्यमृतासवम् ॥ १३
 किमुच्यते मुनिश्रेष्ठ मिथ्यापुरुषनामकम् ।
 वस्त्ववस्तु कृतं जगद्वस्तुजातं वदाशु मे ॥ १४
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 मिथ्यापुरुषबोधाय शृणु राघव शोभनाम् ।
 इमामाख्यायिकां हासजननीं मदुदीरिताम् ॥ १५
 अस्ति कश्चिन्महाबाहो मायायन्त्रमयः पुमान् ।
 बालपेलवधीमूढो गूढो मौख्येण केवलम् ॥ १६
 स एकान्ते कचिज्जातः शून्ये तत्रैव तिष्ठति ।
 केशोण्डूकमिव व्योम्नि मृगतृष्णेव वा मरौ ॥ १७
 तस्मादन्यत्र तत्रास्ति यदस्ति च स एव तत् ।
 यच्चान्यत्तत्तदाभासं न च पश्यति दुर्मतिः ॥ १८

मिति ॥ ५ ॥ ईदृशोऽहं कथमहंभावभावितोऽभूवं तत्राह—य-
 धेति । तथा अहंभावभावितोऽप्यन्य इवाभात इत्यर्थः ॥ ६ ॥
 तत्र को हेतुस्तमाह—अबोधेनेति । तन्निरासेऽपि हेतुमाह—
 बोधेनेति ॥ ७ ॥ द्वित्वमतिः कार्यदर्शनम् । एकत्वमतिः कारण-
 दर्शनम् । ते द्वे त्यक्त्वा उभयानुस्यूतसन्मात्रं परिशेष्य तत्प्रति-
 ष्ठितः सुखितो भवेत्यर्थः । अतर्क्षने तु वक्ष्यमाणपुरुषस्येव
 दुःखप्राप्तिस्तव दुर्चारेत्याह—मेति ॥ ८ ॥ तानवमपक्षयम्
 ॥ ९ ॥ अवग्रहो वर्षप्रतिबन्धस्तद्भयेनाक्रान्तश्चातको दैवादाग-
 तवृद्ध्यासारेणेव ॥ १० ॥ अपीति पूर्ववाक्यार्थसमुच्चये । हैर-
 ण्यगर्भसंपदन्तानामतुलसंपदामुपरि निरतिशयानन्दलक्षणे ति-
 ष्ठामि ॥ ११ ॥ तव उक्तीनामास्त्रादनेनेति शेषः ॥ १२ ॥
 शातव्यतरवस्य सम्यगनुभवात्तृप्तोऽपि । अमृतरूपमासवं येयम्
 ॥ १३ ॥ एवं प्रशंसयोन्मुखीकृतं शुद्धं प्रति 'मा दुःखितो
 भव व्यर्थं त्वं मिथ्यापुरुषो यथे'ति प्राक्सूचितं मिथ्यापुरुषा-
 ख्यानं कौतुकाद्रामः पृच्छति—किमुच्यत इति । येन मिथ्या-
 पुरुषेण वस्तु अवस्तु कृतम्, अवस्तु जगच्च वस्तुजातं कृतं
 तं वदेत्यर्थः ॥ १४ ॥ तत्त्वदृशा हासजननीम् ॥ १५ ॥
 बाल इव पेलवया धिया मूढो विक्षिप्तः । मौख्येणाज्ञानेन च
 गूढः संश्रुतः ॥ १६ ॥ एकान्ते जनद्वयगोचरे स्थाने तस्य
 स्वरूपेणापि मिथ्यात्वमाह—केशोण्डूकमिवेति ॥ १७ ॥ तत्र
 तदाश्रयस्थाने तस्मान्मिथ्यापुरुषादन्यत्किमपि नास्ति । यत्कि-

संकल्पस्तस्य संजातस्तत्र वृद्धिमुपेयुषः ।
 खस्याहं खमहं खं मे खं रक्षामीति निश्चलः ॥ १९
 खं स्थापयित्वा रक्षामि वस्त्वष्टं स्वयमादरात् ।
 इति संचिन्तयन्व्योमरक्षार्थं सोऽकरोद्ब्रह्म ॥ २०
 तस्य कोशे बन्धास्थां रक्षितं खं मयेत्यसौ ।
 गृहाकाशेन संतुष्टस्ततः स रघुनन्दन ॥ २१
 अथ कालेन तत्तस्य गृहं नाशमुपाययौ ।
 ऋत्वन्तरेणाब्द इव वातेनैव तरङ्गकः ॥ २२
 हा गृहाकाश नष्टं त्वं हा क्व यातमसि क्षणात् ।
 हा हा भग्नमसि खच्छमित्येवैतच्छुशोच सः ॥ २३
 इति शोकशतं कृत्वा पुनस्तत्रैव दुर्मतिः ।
 कूपं चक्रे खरक्षार्थं कूपाकाशपरोऽभवत् ॥ २४
 ततो नाशं स कालेन नीतः कूपोऽपि तस्य वै ।
 कूपाकाशे गते शोकनिमग्नोऽसौ ततोऽभवत् ॥ २५
 कूपाकाशप्रलापान्ते कुम्भं शीघ्रमथाकरोत् ।
 कुम्भाकाशपरो भूत्वा स्वयं निर्वृतिमाययौ ॥ २६
 कुम्भोऽपि तस्य कालेन नाशं नीतो रघूद्ब्रह् ।
 यामेव दिशमादत्ते दुर्भगः सा हि नश्यति ॥ २७
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा०वा०दे०मो०निर्वाणप्रकरणे पू०चू० मिथ्यापुरुषोपाख्याने आकाशरक्षणं नाम द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

कुम्भाकाशप्रलापान्ते खरक्षार्थं चकार सः ।
 कुण्डं तथैव तेनासौ कुण्डाकाशपरोऽभवत् ॥ २८
 कुण्डमप्यस्य कालेन केनचिन्नाशमाययौ ।
 तेजसेव तमस्तेन कुण्डाकाशं शुशोच सः ॥ २९
 कुण्डाकाशस्य शोकान्ते खरक्षार्थं चकार सः ।
 चतुःशालं महाशालं तदाकाशमयोऽभवत् ॥ ३०
 तदप्यस्य जहाराशु कालः कवलितप्रजः ।
 जीर्णपर्णं यथा वातस्ततः शोकपरोऽभवत् ॥ ३१
 स चतुःशालशोकान्ते खरक्षार्थं चकार ह ।
 कुसूलमम्बुदाकारं तदाकाशपरः स्थितः ॥ ३२
 तदप्यस्य जहाराशु कालो वात इवान्बुदम् ।
 कुसूलनाशशोकेन तेनासौ पर्यतप्यत ॥ ३३
 एवं गृहचतुःशालकुम्भकुण्डकुसूलकैः ।
 तस्यापर्यवसानात्मा कालोऽयमतिवर्तते ॥ ३४
 एवं स्थितः स विचशो गगनं गुहायां
 गृह्णन्गृहेण गहनेन किलात्मबुद्ध्या ।
 दुःखान्तरादनन्तरादनदुःखजात-
 मायाति याति च गतागतिसङ्गमूढः ॥ ३५

त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः ११३

श्रीराम उवाच ।
 मिथ्यानरप्रसङ्गेन किं मायापुरुषः प्रभो ।
 कथितोऽयं त्वया व्योमरक्षणं च किमुच्यते ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 शृणु राम यथाभूतमेतत्प्रकटयामि ते ।
 मिथ्यापुरुषवृत्तान्तकथा या कथिताधुना ॥ २

विदस्तीति प्रतीयते तत्स एव न तद्यतिरिक्तम् । यच्चान्यत्स
 पश्यति तत्तस्यैव भ्रान्त्याभासमिति स एवेत्युक्तिरित्यर्थः ।
 अहमेवेदमदृश्यं सर्वमिति स न पश्यति । यतो दुर्मतिरित्यर्थः ।
 ॥ १८ ॥ खस्याहमुपजीवकः । खं मे उपजीव्यम् । अतः
 खमेवाहं ईदृशं च खमावृत्य रक्षामि ॥ १९ ॥ खस्य इष्टं वस्तु
 खं तत्त्वयं कस्मिंश्चिदुपाधौ स्थापयित्वा स्वयमादराद्वक्षामि
 ॥ २० ॥ तस्य गृहस्य कोशे अन्तर्भागे । आस्थां मदीयमिद-
 मेतावत् खमित्यभिमानम् । संतुष्टः अभूदिति शेषः ॥ २१ ॥
 ऋत्वन्तरेण शरदा ॥ २२ ॥ एतत् आकाशम् ॥ २३ ॥ कूपा-
 काशे परो ममतया आसक्तः ॥ २४ ॥ नाशं पापमुत्तिकादि-
 पूरणेन तिरोभावम् ॥ २५ ॥ निर्वृतिं तदभिमानसुखम् ॥ २६ ॥
 यामेवेति सामान्योक्त्या तदुपपत्तिः ॥ २७ ॥ २८ ॥ केनचि-
 द्धनगजमहिषास्कन्दनादिनिमित्तेन ॥ २९ ॥ चतुःशालं च-
 तुर्दिक्षु शाला यस्य तथाविधम् । मध्ये महाशालं समाकारं
 गृहम् । तदाकाशसत्तया तदाकाशमयः । त्रीमयो जालम् इति-
 वत् ॥ ३० ॥ ३१ ॥ कुसूलं धान्यावपनम् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

मायायन्त्रमयः प्रोक्तो यः पुमान्तरघुनन्दन ।
 एनं त्वं तमहंकारं विद्धि शून्याम्बरोत्थितम् ॥ ३
 यस्मिन्नाकाशकोशेऽस्मिन्साधो जगदिदं स्थितम् ।
 तदनन्तमसच्छून्यं सर्गादौ भवति स्वयम् ॥ ४
 अन्तःस्थितसुदुर्लभ्यब्रह्म व्योम्नोऽयं शब्दवत् ।
 तस्मादुदेत्यहंकारः पूर्वं स्पन्द इवानिलात् ॥ ५

तस्य मिथ्यापुरुषस्य ॥ ३४ ॥ उपसंहरति—यवमिति । हे राम, स
 मिथ्यापुरुष एवंरीत्या गृहेण गहनेन दुष्प्रवेशेन कूपकुम्भायुपा-
 धिना च गगनं गुहाया तत्तद्गर्भे गृह्णन् स्थितस्तद्रतागतिसंग-
 मूढस्तत्तदभिमानात्तत्तत्भिर्माणरक्षणविनाशेषु घनतरादुःखान्तरा-
 दपि घनं दुःखजातमायाति ततो याति निर्गच्छति चेत्यर्थः ॥ ३५ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहाराजमायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 आकाशरक्षणं नाम द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

मिथ्यापुरुषशब्दादेरर्थोऽत्र स्फुटमीर्यते ।

यथैवाख्यायिकायाश्च तात्पर्यं साम्यवर्णनात् ॥ १ ॥

उत्तानार्थस्योन्मतचेष्टाप्रायस्य प्रेक्षावत्स्वसंभवं मन्यमानो
 मिथ्यापुरुषाख्यायिकाया अन्यापदेशवाक्यवदन्यायै तात्पर्य-
 मिति निश्चित्य रामस्य पृच्छति—मिथ्येति । मिथ्यानरप्रसङ्गेन
 त्वया यो मायापुरुषः कथितः अयं किमभिप्रेत्य तत्कृतं व्योम-
 रक्षणं च किमभिप्रेत्योच्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥ यथाभूतं यथास्थि-
 तम् ॥ २ ॥ शून्याम्बरं मायाकाशस्तदुत्थितम् ॥ ३ ॥ स-
 र्गादौ सृष्टेः प्राक् ॥ ४ ॥ किं निरधिष्ठानान्मायाकाशादुत्थितं

वृद्धिं यातः स गगने कल्पयत्यात्मतां गतः ।
 अनात्मात्माभिधानेन तेनासौ यतते ततः ॥ ६
 अनात्मात्मैकरक्षार्थं देहाधानाविधानसौ ।
 भूयोभूयो विनाशोऽपि सृजत्याकुलतां गतः ॥ ७
 स एव मायापुरुषो मिथ्यापुरुष एव सः ।
 असदेवोदितो व्यर्थोऽप्यहंकारो हि मायया ॥ ८
 कूपकुण्डचतुःशालकुम्भादीन्देहकानसौ ।
 कृत्वा रक्षित आत्मेति याति तद्योनि भावनम् ॥ ९
 अहंकारस्य तस्यास्य नामानीमानि राघव ।
 शृणु यैर्जगदाकारविभ्रमैर्मोहयत्यसौ ॥ १०
 जीवो बुद्धिर्मनश्चित्तं माया प्रकृतिरित्यपि ।
 संकल्पः कलना कालः कला चेत्यपि विश्रुतैः ॥ ११
 एवमाद्यैस्तथान्यैश्च नामभिर्बहुतां गतैः ।
 सहस्ररूपोऽहंकारः कल्पितार्थैर्विजृम्भते ॥ १२
 भूताकाशे तते शून्ये जगन्निर्मिति निश्चितम् ।
 सुखदुःखान्यनुभवन्मिथ्यैव पुरुषः स्थितः ॥ १३
 यथैव मिथ्यापुरुषो रक्षन्व्योमात्मशङ्कया ।

घटाकाशादिषु क्लिष्ट एवं मा क्लेशवान्भव ॥ १४
 आकाशादपि विस्तीर्णः शुद्धः सूक्ष्मः शिवः शुभः ।
 य आत्मा स कथं केन गृह्यते रक्ष्यतेऽथवा ॥ १५
 हृदयाकाशमात्रस्य शरीरक्षयसंक्षये ।
 व्यर्थं भूतानि शोचन्ति नष्ट आत्मेति शङ्कया ॥ १६
 घटादिषु प्रणष्टेषु यथाकाशाद्यखण्डितम् ।
 तथा देहेषु नष्टेषु देही नित्यमलेपकः ॥ १७
 शुद्धश्चिन्मात्र आत्मायमाकाशादप्यणोरणुः ।
 खानुभूत्यंशमात्रं हि खवद्राम न नश्यति ॥ १८
 न जायते न म्रियते क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
 जगद्विवर्तरूपेण केवलं ब्रह्म जृम्भते ॥ १९
 सत्यमेकं पदं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ।
 भावाभावविनिर्मुक्तमिति मत्वा सुखी भव ॥ २०
 सर्वापदां निलयमधुवमस्वतन्त्र-
 मासन्नपातमविवेकमनार्यमज्ञम् ।
 बोधादहंकृतिपदं सकलं विमुच्य
 शेषे सुबद्धपदमुत्तमतां प्रयासि ॥ २१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० सो० निर्वाणप्रकरणे पू० मिथ्यापुरुषोपाख्यानं नाम त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः ॥११३॥

तत्र स्थितं च नेत्याह—अन्तरिति । न तन्निरधिष्ठानं किं त्व-
 न्तरधिष्ठानतया स्थितं सुदुर्लभं ब्रह्म यस्य तथाविधम् । नन्व-
 तीन्द्रियात्कथमहंकारादि जगदुत्पत्तितं तत्र दृष्टान्तमाह—व्योमः
 शब्दवदिति । अहंकारो लिङ्गात्मा स च मायात्मैवेत्यभिप्रेत्य
 तत्र दृष्टान्तान्तरमाह—रूपन्द इवेति ॥ ५ ॥ अनात्मैव
 भ्रान्त्या आत्मतां गतः सन् स्वकारणे गगने वृद्धिं यातः कल्प-
 नासहस्रैरिदं मे इष्टमिदमनिष्टमित्यादि कल्पयति । तेन कल्पिते-
 नैवाहमित्यात्माभिधानेन असौ इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहाराय यतते
 ॥ ६ ॥ तस्यानात्मभूतस्यात्मनो रक्षार्थं प्रवृत्तः पूर्वपूर्वदेहनाशे
 उत्तरोत्तरं नानाविधान्देहान्कामकर्मवासनानुसारेण सृजति ॥ ७ ॥
 सः अहङ्कार एव ॥ ८ ॥ कूपकुम्भादिशब्दैरप्युच्चावचदेहा एव
 लक्षणयोक्ता इत्याह—कूपेति । तद्योनि तदवच्छिन्ने मायामया-
 त्मनि आत्मभावनं याति ॥ ९ ॥ क्रियोपाधिभेदनिमित्तयौगि-
 कनामानि । यैर्यैः क्रियोपाधिभिर्जगदाकारविभ्रमैरयमहङ्कार
 आत्मानं मोहयतीत्यर्थः ॥ १० ॥ प्राणधारणाजीवो बाह्यार्था-
 ध्यवसायादुद्धिस्वन्मननान्मनस्तच्चिन्तनाच्चित्तमसत्कल्पनान्माया
 परिणामिस्वभावत्वात्प्रकृतिः संकल्पनात् संकल्पः संकल्पिता-
 र्थस्याकलनात्कलना तस्य विपरिणामादिनिमित्तत्वात्कालस्तत्रैक-
 देशभेदकल्पनात्कला चेत्यपि विश्रुतैः प्रसिद्धैः ॥ ११ ॥ आदि-
 पदादुत्पत्तिप्रकरणोक्तमनोनामानि सर्वाण्यपि गृह्यन्ते । अन्यैः
 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाऽवृत्तिरधृतिर्दोर्धर्माः' इत्या-
 दिश्रुतिस्मृत्यादिप्रसिद्धवृत्तिभेदनामभिश्च वृत्तिबाहुल्येन बहुतां
 गतैः ॥ १२ ॥ तस्मादन्यत्र 'तत्रास्ति यदस्ति च स एव तदि'ति

यदुक्तं तदनुभवमारोपयति—भूतेति । पूर्णे ब्रह्मणि स्वेन
 प्रथमं शून्यरूपे भूताकाशे तते विस्तृते सति तत्र वाय्वादिक-
 ल्पनाक्रमेण कल्पितं जगद्ब्रन्धर्वनगरमिव निर्भित्तिकुड्याद्यावरण-
 शून्यमेव युक्त्या विमर्शो निश्चितम् । न ह्यच्छिद्रे ब्रह्मणि छिद्र
 आकाशः प्रथममुपपद्यते । स च शून्यात्मा अतिविस्तृतोऽचल-
 श्वलनात्मा वायुः कथं संपद्यते । स च वायुर्नारूपोऽनुष्णस्तद्विरु-
 द्धस्वभावं तेजः कथं संपद्यते । तच्चोष्णं दाहस्वभावं कथं तद्वि-
 रुद्धशैत्याप्यायनस्वभावं वारि संपद्यते । तच्च द्रवशोषाकाठिन्यस्व-
 भावं कथं तद्विरुद्धस्वभावं पृथिवीभावमापद्यते । अतो निर्मित्येव
 जगदिति निश्चितम् । तत्र च स पुरुषो मिथ्यैव सुखदुःखान्य-
 नुभवन् स्थित इत्यर्थः ॥ १३ ॥ 'न च पश्यति दुर्मति'रिति वर्णिता-
 जमिथ्यापुरुषो यथा मिथ्याक्लेशमनुभूय स्थितस्तथा त्वं माभू-
 रित्याह—यथैवेति ॥ १४ ॥ १५ ॥ शरीरलक्षणस्य क्षयस्य
 निवासस्य संक्षये ॥ १६ ॥ १७ ॥ खानुभूत्यंशः अहंकार-
 निष्कृष्टस्वप्रकाशचित् तावन्मात्रं हि ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥
 वर्णितमिथ्यापुरुषरूपमहंकारं त्याजयन् परिशिष्टचिन्मात्रे
 स्थैर्योपदेशेनोपसंहरति—सर्वापदामिति । अस्मात्तत्रयापादक-
 त्वादसत्तन्त्रम् । आसन्नो नरकादिपातो यस्मात्तथाविधं सर्ववि-
 वेकविरोधि । अनार्यं निन्यमहंकृतिपदम् । सकलमभिमन्तव्य-
 देहेन्द्रियविषयलक्षणकलसहितं बोधान्मूलोच्छेदेन विमुच्य शेषे
 निष्कृष्टचिन्मात्रे सुबद्धपदं दृढं स्थितश्चेत् सर्वोत्तमतां प्रयासी-
 त्यर्थः ॥ २१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे पूर्वार्धे मिथ्यापुरुषोपाख्यानं नाम त्रयोदशोत्तरशततमः
 सर्गः ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ११४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 परस्माद्ब्रह्मणः पूर्वं मनः प्रथममुत्थितम् ।
 मननात्मकमाभोगि तत्स्थमेव स्थितिं गतम् ॥ १ ॥
 पुष्पकोश इवामोदो महोर्मिरिव सागरे ।
 रश्मिजालमिवादित्ये मनो ब्रह्मणि राघव ॥ २ ॥
 तस्यादृश्यात्मतत्त्वस्य विस्मृत्यैव गतं स्थितिम् ।
 नान्यस्यादागतं राम जगद्रज्जुभुजङ्गवत् ॥ ३ ॥
 आदित्यव्यतिरेकेण यो भावयति राघव ।
 रश्मिजालमिदं ह्येतत्स्थान्यदिव भास्वतः ॥ ४ ॥
 कनकव्यतिरेकेण केयूरं येन भावितम् ।
 केयूरमेव तत्तस्य न तस्य कनकं हि तत् ॥ ५ ॥
 आदित्यव्यतिरेकेण रश्मयो येन भाविताः ।
 आदित्य एव ते तस्य निर्विकल्पः स उच्यते ॥ ६ ॥
 सलिलव्यतिरेकेण तरङ्गो येन भावितः ।
 तरङ्गबुद्धिरेवैका स्थिता तस्य न वारिधीः ॥ ७ ॥
 सलिलाव्यतिरेकेण तरङ्गो येन भाव्यते ।
 अभ्युसामान्यताबुद्धिर्निर्विकल्पः स उच्यते ॥ ८ ॥
 कनकाव्यतिरेकेण केयूरं येन भाव्यते ।
 कनकैकमहाबुद्धिर्निर्विकल्पः स उच्यते ॥ ९ ॥
 पावकाव्यतिरेकेण ज्वालाळी येन भाविता ।
 तस्याग्निबुद्धिर्गलति ज्वालाधीरेव तिष्ठति ॥ १० ॥
 ज्वालाजालाभ्रलेखेव रञ्जिता सा तथा स्थितिः ।

तामेवास्थां समादत्ते तद्रतान्याकुला मतिः ॥ ११ ॥
 पावकाव्यतिरेकेण ज्वालाळी येन भाव्यते ।
 तस्याग्निबुद्धिरेकास्ति निर्विकल्पः स उच्यते ॥ १२ ॥
 यो निर्विकल्पः सुमहान्सोऽसंक्षीणमहामतिः ।
 प्राप्तव्यं तेन संप्राप्तं नासौ वस्तुषु मज्जति ॥ १३ ॥
 नानातामखिलां त्यक्त्वा शुद्धचिन्मात्रकोटरे ।
 संवेद्येन विनिर्मुक्ते संवित्तत्त्वे स्थितो भव ॥ १४ ॥
 स्वयमेवात्मनैवात्मा शक्तिं संकल्पनामिकाम् ।
 यदा करोति स्फुरता स्पन्दशक्तिमिवानिलः ॥ १५ ॥
 तदा पृथगिवाभासं संकल्पकलनामयम् ।
 मनो भवति विश्वात्मा भावयन्स्वाकृतिं स्वयम् ॥ १६ ॥
 तत्संकल्पात्मकं चेतो ययेदमखिलं जगत् ।
 संकल्पयति संकल्पैस्तथैव भवति क्षणात् ॥ १७ ॥
 कीटत्वमज्जत्वं च मेरुत्वं मरुतां तथा ।
 मनो जीवमहंकारबुद्धिचिन्तादिनामकम् ॥ १८ ॥
 संकल्पतो द्वितैकत्वमेत्य चेतो जगत्स्थितिम् ।
 तनोति तस्यां तदनु नानातां गच्छति स्वयम् ॥ १९ ॥
 संकल्पमयमेवेदं जगदाभोगि दृश्यते ।
 न सत्यं न च मिथ्यैव स्वप्नजालमिवोत्थितम् ॥ २० ॥
 जन्तोर्नृणां मनोराज्यं विविधारम्भभासुरम् ।
 ब्राह्मं तथेदं विततं मनोराज्यं विराजते ॥ २१ ॥
 यथाभूतार्थभावित्वात्तदेतत्प्रविलीयते ।

विविच्य सदसद्रूपे दृष्टान्तैरिह भूरिशः ।

असद्रूपनिरासेन सद्व्यपे स्वरूपमीयते ॥ १ ॥

जगतः सर्वस्य मनोविकल्पमात्रत्वादविकल्पवस्तुप्रदर्शनेन
 सुकरो निरास इति व्युत्पादयितुं प्रथमं परं ब्रह्मणि मनः-
 कल्पनामाह—परस्मादिति । पूर्वं सर्गादिकाले प्रथमं सर्वकल्प-
 नाभ्यः पूर्वं तच्च मनस्तत्र परं ब्रह्मणि अपृथक्सत्तया स्थितमेव
 सत्कल्पनान्तरनिमित्ततया व्यवसायवस्थितिं गतमित्यर्थः ॥ १ ॥
 अपृथक्सत्तया स्थितौ दृष्टान्तानाह—पुष्पकोशे इति ॥ २ ॥
 तत्स्थमेवेत्यंशं दृष्टान्तैर्विशदीकृत्य स्थितिं गतमित्यंशं विदु-
 षोति—तस्येति । विस्मृता अप्रतिसधानात्मकेनाज्ञानेनैव
 सर्वजगत्कल्पनामूलतया स्थितिं गतम् ॥ ३ ॥ तथा च जगत्स-
 न्मानादन्यतया भावने अन्यत् सन्मात्रतया विभाषने शु स-
 द्रूपं ब्रह्मैवेति दृष्टान्तरूपपादयति—आदित्येत्यादिना । इदं
 रश्मिजालं य आदित्यव्यतिरेकेण भावयति तस्य ह्येतद्भास्वत
 आदित्यादन्यदिव स्यादित्यन्वयः ॥ ४ ॥ न तस्येति । वस्तु-
 क्यबुद्धेः केयूरेणैवावरोधादिति भावः ॥ ५ ॥ आदित्यव्यति-
 रेकेण निर्विकल्पो रश्मिभेदविकल्पशून्यः ॥ ६ ॥ कल्पिताक-
 ल्पतरूपाभ्यामेवैव कल्पनाकल्पनबुद्धिभ्यां पुरुषोऽपि
 सविकल्पो निर्विकल्पश्च भवतीत्याह—सलिलेत्यादिना

॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ गलति नोद्भवति ॥ १० ॥ कल्पि-
 ताकारानुविद्धा बुद्धिस्तत्रैवास्थां बद्धा तन्मूलानि कल्पना-
 न्तराणि च करोतीत्याह—ज्वालेति । अभ्रलेखेव ज्वालाजालं
 ज्वालाजालाभ्रलेखा सेव रञ्जिता । तदाकारतापञ्चेति यावत् ।
 स्थितिर्बुद्धिवृत्तिः । तद्रतानि ज्वालाजालगतानि चलनोपगमन-
 शब्दवक्रतादीनि च आदत्ते कल्पयति ॥ ११ ॥ १२ ॥ निर्वि-
 कल्पः उक्तप्राज्ञप्राहकद्विविधविकल्परहितः । वस्तुषु वैकल्पिक-
 पदार्थेषु । मज्जति सत्यबुद्ध्या आसज्जते ॥ १३ ॥ दृष्टान्ते
 उपपादितविकल्पस्यागप्रकार दार्ष्टान्तिके उपदिशति—नानाता-
 मिति । कोटरशब्द आन्तरप्रसङ्गवस्तुपरः ॥ १४ ॥ स्फुरता
 स्वप्नकाशेनात्मनैव संकल्पनामिकां शक्तिं यदा करोति तदा
 मनो भवतीति परेणान्वयः ॥ १५ ॥ विश्वाकारं स्वाकृतिं
 भावयन् विश्वात्मा समष्टिमनो भवति ॥ १६ ॥ तद्विश्वाकार-
 संकल्पात्मकं समष्टिचेतो हिरण्यगर्भात्मकम् ॥ १७ ॥ यथा यथा
 भावयति तदवयुष्य प्रपद्यति—कीटत्वमिति ॥ १८ ॥ १९ ॥
 मिथ्याशब्दोऽलीकपरः । स्वप्नजालमिव निर्वचनीयमित्यर्थः
 ॥ २० ॥ ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्येदं ब्राह्मम् ॥ २१ ॥ मिथ्या-
 त्वादेव तत्त्वज्ञानेन यथास्थितब्रह्मात्मनैव भावित्वान्मायिकरूपेण
 प्रविलीयत इत्याह—यथाभूतेति । तथा च शुद्धिः भवतीति

परमार्थेन दृष्टं चेत्तदिदं नैव किञ्चन ॥ २२
 दृश्यं त्वपरमार्थेन प्रयाति शतशाखताम् ।
 जलमूर्मितरङ्गादिकलनाहं परिस्फुरन् ॥ २३
 यथाम्बुधिर्वर्धते स्वभावेन तथा चितः ।
 कुर्वन्कर्मसहस्राणि ह्यणुचित्स्पन्दनादृते ॥ २४
 नापूर्वं कुरुते किञ्चित्किञ्चिद्देदमतस्त्यजन् ।
 गच्छन्शृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्वदन्व्यवहरन्स्वपन् ॥ २५
 नापूर्वं विद्यते किञ्चित्सत्यमित्येव भावयन् ।
 यद्यत्करोषि तद्विद्धि चिन्मात्रममलं ततम् ॥ २६
 ब्रह्म प्रवृद्धिताकारं तस्मादन्यन्न विद्यते ।

पदार्थजाते सर्वस्मिन्संवित्सारमये स्थिते ॥ २७
 संविदेवेदमखिलं जगन्नान्यस्ति कल्पना ।
 संवित्स्फुरणमात्रेऽस्मिञ्जगज्जालकनामनि ॥ २८
 इदमन्यदिदं चान्यदिति मिथ्याग्रहः कुतः ।
 संभवादखिलाकारेणैकस्या एव संविदः ।
 संवेद्यमपि नास्त्येव बन्धमोक्षावतः कथम् ॥ २९
 मोक्षोऽयमेष खलु बन्ध इति प्रसह्य
 चिन्तां निरस्य सकलां विफलाभिमानाम् ।
 मौनी वशी विगतमानमदो महात्मा
 कुर्वन्स्वकार्यमनहंकृतिरेव तिष्ठ ॥ ३०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० परमार्थोपदेशो नाम चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥११४॥

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ११५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

महाकर्ता महाभोक्ता महात्यागी भवानघ ।
 सर्वाः शङ्काः परित्यज्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ॥ १

श्रीराम उवाच ।

किमुच्यते महाकर्ता महात्यागी किमुच्यते ।
 किमुच्यते महाभोक्ता सम्यक्कथय मे प्रभो ॥ २

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

पतद्गतत्रयं राम पुरा चन्द्रार्धमौलिना ।
 भृङ्गीशाय तु संप्रोक्तं येनासौ विज्वरः स्थितः ॥ ३
 सुमेरावुत्तरे शृङ्गे पूर्वं शशिकलाधरः ।
 अतिष्ठदग्निसंकाशे समग्रपरिवारवान् ॥ ४
 तमपृच्छन्महातेजास्तनुविज्ञानवान्स्थितः ।
 भृङ्गीशः प्रणतो राम चङ्गाञ्जलिरुमापतिम् ॥ ५

दमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन' इति ॥ २२ ॥ तत्त्वदर्शना-
 भावे तर्हि किं भवति तदाह—दृश्यमिति । तदा अज्ञातपर-
 मार्थबलेनैव शतशाखतां प्रयाति । यथा अम्बुधिर्जलमेव सन्
 ऊर्मितरङ्गादिकलनाहं रूपं परिगृह्य स्फुरन् अम्बुधिवर्धते
 तथा कर्मसहस्राणि कुर्वन् जनोऽपि अणुचितश्चिदाभासयुक्तस्य
 मनसः स्पन्दनादृते कूटस्थचितोऽपूर्वं किञ्चिदपि विकारादि न
 कुरुते । अतस्तत्त्वमपि किञ्चित्तुच्छतरं भेदं त्यजन् सन् गमनादि-
 सर्वव्यवहारं कुर्वन्नप्यपूर्वमभिनवं जगद्रूपं किञ्चिद्वैतरूपं सत्यं
 न विद्यते किन्तु पूर्वसिद्धं ब्रह्मैव परमार्थसत्यं विद्यत इति भाव-
 येति चतुर्थार्धपर्यन्तमन्वयः ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥
 प्रवृद्धिताकारं विषयविजृम्भिताकारं तद्वाधविजृम्भिताकारं वा ।
 ब्रह्म स्वभावमुक्तं प्रतीचि पर्यवसाययति—पदार्थेत्यादिना
 ॥ २७ ॥ २८ ॥ संवेद्य अपि शब्दास्तज्जिदानमपि ॥ २९ ॥
 दे राम, अयं मोक्ष एव बन्ध इत्यादिकं विफलाभिमानां सकलां
 चिन्तां प्रसह्य सर्वव्ययेन निरस्य वागादिसर्वेन्द्रियजयान्मानी
 यो० वा० १३१

भृङ्गीश उवाच ।

भगवन्देवदेवेश सर्वज्ञ परमेश्वर ।
 यदहं परिपृच्छामि कृपया तद्वदाशु मे ॥ ६
 संसाररचनां नाथ तरङ्गतरलामिमाम् ।
 अवलोक्य विमुह्यामि तत्त्वविश्रान्तिवर्जितः ॥ ७
 कमन्तर्निश्चयं कान्तमुररीकृत्य सुस्थितम् ।
 अस्मिञ्जगज्जीर्णगृहे तिष्ठामि विगतज्वरम् ॥ ८

ईश्वर उवाच ।

सर्वाः शङ्काः परित्यज्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ।
 महाभोक्ता महाकर्ता महात्यागी भवानघ ॥ ९

भृङ्गीश उवाच ।

किमुच्यते महाकर्ता महाभोक्ता किमुच्यते ।
 किमुच्यते महात्यागी सम्यक्कथय मे प्रभो ॥ १०

वशी विगतमानमदश्च सन् खोचितं राज्यादिकार्यं कुर्वन्नहं-
 कृतिर्महात्मैव भूत्वा तिष्ठेत्यर्थः ॥ ३० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे परमार्थोपदेशो
 नाम चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

महाकर्त्रादिशब्दानां व्याख्याभिरिह शंभुना ।

लक्ष्माणि जीवन्मुक्तानां वर्णयन्ते भृङ्गिणेऽर्थिने ॥ १ ॥

सर्वाः पुण्यपापादिशङ्काः परित्यज्य धैर्यं निर्भयं कूटस्थात्म-
 भावम् ॥ १ ॥ किंलक्षणं प्राप्तो महाकर्ता उच्यते इति त्रिष्वपि
 ॥ २ ॥ अभ्यासकालमपेक्ष्य व्रतत्रयमित्युच्यते फलकाले त्वमा-
 नित्वादिकमिवेदं लक्षणत्रयं संपद्यते । असौ भृङ्गीशः ॥ ३ ॥ ४ ॥
 तनुविज्ञानवान् मन्दात्मज्ञानः । यद्यपि गाणपत्यप्राप्तिकाल एव
 सर्वदृश्यं तेन प्राप्तमस्ति तथाप्यात्मज्ञानस्यानितरज्ञानसाधारण्याय
 भोगासक्त्या मान्द्यमारोप्योक्तिः ॥ ५ ॥ ६ ॥ तरङ्गतरलां नश्वरीम् ।
 ज्ञातेऽपि तत्त्वे भोगासक्त्या विश्रान्तिवर्जितः ॥ ७ ॥ कान्तं
 विश्रान्तिस्तुल्यरम्यम् । तिष्ठामि तिष्ठेयम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

ईश्वर उवाच ।

धर्माधर्मौ महाभाग शङ्काविरहिताक्षयः ।
 यः करोति यथाप्राप्ती महाकर्ता स उच्यते ॥ ११
 रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
 यः करोत्यनपेक्षेण महाकर्ता स उच्यते ॥ १२
 मौनवाञ्छिरहंभावो निर्मलो मुक्तमत्सरः ।
 यः करोति गतोद्वेगं महाकर्ता स उच्यते ॥ १३
 शुभाशुभेषु कार्येषु धर्माधर्मैः कुशङ्कया ।
 मतिर्न लिप्यते यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ १४
 सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः ।
 निरिच्छं वर्तते कार्ये महाकर्ता स उच्यते ॥ १५
 उद्वेगानन्दरहितः समया स्खल्यया धिया ।
 न शोचते यो नोदेति महाकर्ता स उच्यते ॥ १६
 यथार्थकाले मतिमानसं सक्तमना मुनिः ।
 कार्यानुरूपवृत्तस्थो महाकर्ता स उच्यते ॥ १७
 उदासीनः कर्तृतां च कर्माकर्माचरंश्च यः ।
 समं यात्यन्तरत्यन्तं महाकर्ता स उच्यते ॥ १८
 स्वभावेनैव यः शान्तः समतां न जहाति वै ।
 शुभाशुभं ह्याचरन्त्यो महाकर्ता स उच्यते ॥ १९
 जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च ।
 सममेव मनो यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ २०
 न किञ्चन द्वेष्टि तथा न किञ्चिदभिकाङ्क्षति ।
 भुङ्क्ते च प्रकृतं सर्वं महाभोक्ता स उच्यते ॥ २१
 नादत्तेऽप्याददानश्च नाचरत्याचरन्नपि ।
 भुञ्जानोऽपि न यो भुङ्क्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ २२

तत्र 'सर्वा' शङ्का परित्यज्य' इत्यंशं विवृणोति-धर्माधर्मानिति ।
 अकर्त्रभोक्तामनिश्चयात् कर्तृत्वादिशङ्काविरहिताकृतिः । 'इत्वापि
 स' इर्मोक्षोक्तम्' इति वज्जानप्रभावोक्तिरियं न तु यथेष्टाचरणा-
 भ्यनुवृत्तिरिति बोध्यम् ॥ ११ ॥ रागद्वेषादिपदैस्त्वद्व्यञ्जकचेष्टा उच्यन्ते ।
 फलाफले इष्टानिष्टे योऽनपेक्षेण निष्कामेन मनसा लोकसंप्रहमा-
 त्रप्रयोजनेन करोति ॥ १२ ॥ मौनं मुनिकर्म मननयोगादि । गत
 उद्वेगः फलासिद्ध्यन्यथात्वप्रयुक्त उद्वेगो यस्मिन्कर्मणि ॥ १३ ॥
 देवात्सपत्नेष्वश्वमेधकलङ्गमक्षणादिकार्येषु धार्मिकोऽहं पापोऽह-
 मिति वा कुशङ्कया कल्पितैर्धर्माधर्मैः ॥ १४ ॥ १५ ॥ शोक-
 निमित्तेषु न शोचते उदयनिमित्तेषु च नोदेति ॥ १६ ॥ प्रार-
 ब्धोपनीतयथोचितप्रयोजनकाले कार्यानुरूपवृत्तस्थस्तत्प्रयोजना-
 नुरूपलक्ष्यवान् ॥ १७ ॥ कर्माकर्मे विहितनिषिद्धकर्मणी स्वयं
 देवाच्चरन्तर्कतृतामन्यप्रेरणेन हेतुकर्तृतामापद्यमानस्यान्तर्मन-
 स्यकर्त्रात्मदृढनिश्चयेनोभयत्र यः समं भावं याति ॥ १८ ॥ यो
 मित्रेषु शुभममित्रेष्वशुभमाचरन्नपि समतां न जहाति । हि
 यस्माद्धेतोर्यः स्वभावेनैव शान्तः । न ह्यस्य चन्द्राद्वादकतासदृशः
 स्वभावोऽन्यथा भवतात्पर्यः ॥ १९ ॥ जन्मादिषु पञ्चसु भाव-
 विकारेषु उदयो वृद्धिरस्तमयोऽपक्षयस्तत्सहितेषु शरीरेषु निर्वि-

साक्षिवत्सकलं लोकव्यवहारमखिन्नधीः ।
 पश्यत्यपगतेच्छं यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ २३
 सुखैर्दुःखैः क्रियायोगैर्भावाभावैर्धर्मप्रदैः ।
 यस्य नोत्क्रामति मतिर्महाभोक्ता स उच्यते ॥ २४
 जरा मरणमापद्य राज्यं दारिद्र्यमेव च ।
 रम्यमित्येव यो वेत्ति महाभोक्ता स उच्यते ॥ २५
 महान्ति सुखदुःखानि यः पर्यासीव सागरः ।
 समं समुपगृह्णाति महाभोक्ता स उच्यते ॥ २६
 अहिंसा समता तुष्टिश्चन्द्रविम्बादिवांशवः ।
 नोप यस्माच्चोपयाता महाभोक्ता स उच्यते ॥ २७
 कद्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमुत्तमम् ।
 अधमं योऽस्ति स्वाभ्येन महाभोक्ता स उच्यते ॥ २८
 सरसं नीरसं चैव सुरतं विरतं तथा ।
 यः पश्यति समं सौम्यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ २९
 क्षारे खण्डप्रकारे च शुभे वाप्यशुभे तथा ।
 समता सुस्थिरा यस्य महाभोक्ता स उच्यते ॥ ३०
 इदं भोज्यमभोज्यं चेत्येवं त्यक्त्वा विकल्पितम् ।
 गतामिलापं यो भुङ्क्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ ३१
 आपदं संपदं मोहमानन्दमपरं परम् ।
 यो भुङ्क्ते समया बुद्ध्या महाभोक्ता स उच्यते ॥ ३२
 धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी ।
 धिया येनेति संत्यक्तं महात्यागी स उच्यते ॥ ३३
 सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वेतिश्चयाः ।
 धिया येन परित्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ ३४

कारसन्मात्रात्मदर्शनात्सममेव मनो यस्य ॥ २० ॥ महाभो-
 कुलक्षणान्याह-न किञ्चिदित्यादिना । प्रकृतं प्रलुप्तं प्रारब्धो-
 पनीतम् ॥ २१ ॥ इन्द्रियैर्विषयानाददानोऽप्यद्वयासङ्गपूर्णोत्तमप्रति-
 ष्टत्वादादत्ते । हस्तपादादिना आदानमगमनाद्याचरन्नपि निष्क्रि-
 यात्मबुद्ध्या नाचरति । एवमशनायाद्यतीतनित्यवृत्तात्मदर्शनान्न
 भुङ्क्ते ॥ २२ ॥ उदासीनः साक्षाद्दृष्ट्य साक्षी तद्वत् ॥ २३ ॥
 जयापजयादिक्रियायोगैः । भावाभावैर्लोभव्ययैः । अमा विस्फे-
 पास्तत्प्रदैः । नोत्क्रामति न विक्षिपति ॥ २४ ॥ रम्यं ब्रह्म-
 दृष्ट्या रम्यम् । यथा स्वर्णमयो व्याघ्रो रम्यस्वर्णदृष्ट्या रम्यस्त-
 येति भावः ॥ २५ ॥ समं बुल्यवृत्त्या भोगाय समुपगृह्णाति
 ॥ २६ ॥ यस्मादुपयाता नोपयाताः । चकारः प्रागुक्तगुणकद-
 म्बसमुच्चयार्थः ॥ २७ ॥ अधमं अस्वादु निकृष्टमप्यन्नम्
 ॥ २८ ॥ विरतं रतिविचातम् ॥ २९ ॥ खण्डप्रकारे शर्कराप-
 रिष्कृतमक्षयमेदे ॥ ३० ॥ अभोज्यं भोक्तुमशक्यम् अस्वादु
 तिक्तादि । विकल्पितं विकल्पनम् ॥ ३१ ॥ अपरममृष्टं कोद-
 वाक्प्रकटाच्छादनादि । परं उत्कृष्टं दिव्यान्नाच्छादनादि ॥ ३२ ॥
 इति प्रागुक्तलक्षणया । धिया निरतिशयानन्दपूर्णोद्भवात्मधिया-
 मिथ्येति सत्यकमिति वा ॥ ३३ ॥ सर्वा ईहा चाश्चनःकाय ।

देहस्य मनसो दुःखैरिन्द्रियाणां मनःस्थितेः ।
 नूनं येनोज्झिता सत्ता महात्यागी स उच्यते ॥ ३५
 न मे देहो न जन्मापि युक्तायुक्ते न कर्मणी ।
 इति निश्चयवानन्तर्महात्यागी स उच्यते ॥ ३६
 येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम् ।
 सर्वमन्तः परित्यक्तं महात्यागी स उच्यते ॥ ३७
 यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते ।
 सा येन सुष्ठु संत्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ ३८
 इत्युक्तं देवदेवेन भृङ्गीशाय पुरानघ ।
 एतां दृष्टिमवष्टभ्य तिष्ठ राम गतज्वरः ॥ ३९
 नित्योदितं विमलरूपमनन्तमाद्यं
 ब्रह्मास्ति नेतरकलाकलनं हि किञ्चित् ।
 इत्येव भावय निरञ्जनतामुपेतो
 निर्वाणमेहि सकलामलशान्तवृत्तिः ॥ ४०

अनामयं ब्रह्म समस्तकल्प-
 कार्यैकबीजं परमात्मरूपम् ।
 बृहच्च तद्वृंहितसर्वभावं
 खमस्ति भातीह यदङ्ग किञ्चित् ॥ ४१
 अन्यत्कचिर्किञ्चिदिदं कदाचि-
 न्न संभवत्येव सदप्यसद्यः ।
 इत्येव साधो दृढनिश्चयोऽन्तः
 स्थित्वा गताशङ्कविलासमास्त्व ॥ ४२
 अन्तर्मुखः सन्सततं समस्तं
 कुर्वन्बहिष्ठं खलु कार्यजातम् ।
 न खेदमायासि कदाचिदेव
 निराकृताहंकृतितामुपैषि ॥ ४३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० व्रतत्रयनिरूपणं नाम पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमः सर्गः ११६

श्रीराम उवाच ।
 भगवन्सर्वधर्मज्ञ चित्तेऽहंकारनामनि ।
 गलिते वा गलद्रूपे लिङ्गं सत्त्वस्य किं भवेत् ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 बलादपि हि संजाता न लिम्पन्त्याशयं सितम् ।
 लोभमोहादयो दोषाः पर्यासीव सरोरुहम् ॥ २

चेष्टाः । धिया विषयबाधादेव परितस्त्यक्ताः ॥ ३४ ॥ देहा-
 दीनां सत्ता तत्तदुःखैः सह येन मिथ्यात्वबुद्ध्या उज्झिता
 त्यक्ता ॥ ३५ ॥ युक्तायुक्ते निहितनिषिद्धे दृष्टानिष्टाचरणरूपे
 धा ॥ ३६ ॥ धर्ममधर्मं च शरीरम् । मनोमननं मानसम् ।
 ईदृशं वागादि चेष्टितम् ॥ ३७ ॥ सुष्ठु सम्यग्दर्शनेन बाधा-
 रसंत्यक्ता ॥ ३८ ॥ उपसंहरति—इतीति ॥ ३९ ॥ यया
 भावनया महाकर्ता च महाभोक्ता महात्यागी वाऽनायासेन
 भवति तां भावनां रामायोपदिशति—नित्योदितमिति । हे
 राम, त्वं देहादिपञ्चकोशानामवस्थात्रयस्य च निरासेन
 निरञ्जनतामुपेतः सन् परिशिष्टं नित्योदितं विमलात्मरूपं
 ब्रह्मवास्ति किञ्चित्तिदतरकल्पनाकलनं नास्तीत्येव भावय ।
 एवं सदा भावयंस्त्रावाभिव्यक्त्या कलनामलेभ्यः शान्ता
 वृत्तयो यस्य तथाविधः सन्निराणमेहि प्राप्नुहीत्यर्थः ॥ ४० ॥
 हे अङ्ग, इह संसारे यत्किञ्चिद्भाति तत्समस्तेषु कल्पेषु द्विपरार्धा-
 वधिकालवयवेषु प्रसिद्धानां सर्वकार्याणामेकबीजं मूलकारणभू-
 तमनामयं स्वयं जन्मादिविकारामयश्चैव परमात्मरूपं ब्रह्मैव ।
 तच्च बृहत्सर्गमेदवृंहितसर्वभावविकल्पमपि खमाकाशमेवास्ति ।
 सर्वविकल्पशून्यमेवेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ यतः कचिर्किञ्चिदपि सत्
 स्थूलमसत् सूक्ष्मं अपिशब्दात्कारणं च सदैकरसाद्ब्रह्मणोऽन्यन्न

मुदिताद्याः श्रियो वक्रं न मुञ्चन्ति कदाचन ।
 गलत्यहंकारमये चित्ते गलति दुष्कृते ॥ ३
 वासनाग्रन्थयश्छिन्ना इव वृथ्यन्त्यलं शनैः ।
 कोपस्तानवमायाति मोहो मान्द्यं हि गच्छति ॥ ४
 कामः क्लमं गच्छति च लोभः कापि पलायते ।
 मोहसन्तीन्द्रियाण्युच्चैः खेदः स्फुरति नोच्चकैः ॥ ५

संभवत्येव । सतः पृथक्त्वे असत्त्वापत्तेः, अपृथक्त्वे सदैकर-
 सापत्तेः, प्रकारान्तरस्य च संभावनायोगादिति भावः । हे
 साधो, अतस्त्वं सद्ब्रह्मैवाहमित्येवान्तर्दृढनिश्चयः सन् प्रथमं समा-
 ध्यभ्यासवलेन स्थित्वा सप्तमभूमिकां क्रमेणाधिरुह्य गताशङ्क-
 विलासं तथैवास्त्वेत्यर्थः ॥ ४२ ॥ हे साधो, त्वं यदि अन्त-
 र्मुखः सन्निराकृताहंकृतितामुपैषि तदा बहिष्ठं समस्तं कार्य-
 जातं कुर्वन्नपि कदाचिदपि खेदं नायास्येवेत्यन्वयः ॥ ४३ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे
 व्रतत्रयनिरूपणं नाम पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

चित्तस्य गलतो नित्यं चतुर्थादिषु भूमिषु ।

गलितस्य च लक्षणाणि वर्ण्यन्तेऽत्र पुमाश्रयात् ॥ १ ॥

सत्त्वस्य क्षीणवासनस्य मनसो लिङ्गं लक्षणम् ॥ १ ॥ एवं
 पृष्ठो वसिष्ठः प्रथमं लोभमोहादिदोषक्षय एव मुख्यं तल्लक्षण-
 मित्याह—बलादिति । संजाताः संजनिताः । परीक्षार्थं परेण
 बलादपि संपादिता इत्यर्थः । सितं शुद्धं शुभ्रं च ॥ २ ॥ सदा
 सुखप्रसन्नतादिरपि तल्लक्षणमित्याह—मुदिताद्या इति । दुष्कृते
 विषादहेतौ पापे शान्तिना गलति सति ॥ ३ ॥ उक्तं प्रपञ्च-
 यन् लक्षणान्तराण्यप्याह—वासनेत्यादिना ॥ ४ ॥ ५ ॥

न दुःखान्युपबृंहन्ति न वृणन्ति सुखानि च ।
 सर्वत्र समतोदेति हृदि शैत्यप्रदायिनी ॥ ६
 सुखदुःखादयस्त्वैते दृश्यन्ते यदि वा मुखे ।
 दृश्यन्त एव तुच्छत्वाद्वातुलिम्पन्ति ते मनः ॥ ७
 चित्ते गलति गीर्वाणगणस्य स्पृहणीयताम् ।
 साधुर्गच्छत्युदेत्यस्य समता शीतचन्द्रिका ॥ ८
 उपशान्तं च कान्तं च सेव्यमप्रतिरोधि च ।
 निभृतं चोर्जितं स्वच्छं बहतीत्यं महद्गुणः ॥ ९
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे बाल्मीकीये दे० गो० निर्वाणप्रकरणे पू० गलितचित्तलक्षणकथनं नाम षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

भावाभावविरुद्धोऽपि विचित्रोऽपि महानपि ।
 नानन्दाय न खेदाय सतां संसृतिविभ्रमः ॥ १०
 बुद्ध्यालोकेन साध्येऽस्मिन्वस्तुन्यस्तमितापदि ।
 प्रवर्तते न यो मोहात्तं धिगस्तु नराधमम् ॥ ११
 विश्रान्तिमाप्नुमुचितां चिरमङ्ग दुःख-
 रक्षाकरं जननसागरमुत्तितीर्थः ।
 कोऽहं कथं जगदिदं च परं च किं स्या-
 त्किं भोगकैरिति मतिः परमोऽभ्युपायः ॥ १२

सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ११७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

भवतामादिपुरुष इक्ष्वाकुर्नाम भूपतिः ।
 इक्ष्वाकुवंशप्रभव यथा मुक्तस्तथा शृणु ॥ १
 इक्ष्वाकुर्नाम भूपालः खराज्यं परिपालयन् ।
 कदाचिदेकान्तगतो मनसा समचिन्तयत् ॥ २
 जरामरणसंक्षोभसुखदुःखभ्रमस्थितेः ।
 अस्य दृश्यप्रपञ्चस्य को हेतुः स्यादिति स्वयम् ॥ ३
 जगतो न विवेदासौ कारणं चिन्तयन्नपि ।
 अथैकदा पृच्छदसौ ब्रह्मलोकागतं मनुम् ॥ ४
 पूजितं स्वसमासंस्थं भगवन्तं प्रजापतिम् ।

शैत्यं तापनिवृत्तिस्तत्प्रदायिनी ॥ ६ ॥ ननु ज्ञानिनामपि कदा-
 चिन्मुखे सुखदुःखादिलिङ्गानि प्रसादमालिङ्ग्यादीनि दृश्यन्ते
 यथा प्राकुम्भस्य दुर्वासःशापश्रवणे शिखिध्वजस्य, यथा वा
 विश्वामित्रेण हरिश्चन्द्रच्छलने पुत्रघातेन च वसिष्ठस्य । तत्कथं
 मुदितायाः श्रियो वर्कं न मुञ्चन्तीति लक्षणं घटते तत्राह—
 सुखदुःखादय इति । भोजकप्रारब्धप्राबल्येन दुःखतल्लिङ्गमा-
 लिङ्ग्याभासयोः कदाचिदुदयेऽप्युत्तरक्षणे सिध्यात्बुद्धिबाधित-
 त्वाच्च तयोस्तचित्तलेषकत्वमिति न स्वाभाविकसुखादिप्रसादविघात
 इत्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥ अप्रतिरोधि परेष्टाविधाति । निभृतं
 विनीतम् ॥ ९ ॥ भावैर्विभवैरभावैर्दारिद्र्यैर्विरुद्धो विषमोऽपि ।
 सतां गलिताहंकाराणाम् ॥ १० ॥ इदानीमात्मलाभस्यातिमुल-
 भातां दर्शयंस्तदर्थमप्रवृत्ताभिन्दन्नुपसंहरति—बुद्ध्यालोकेनेति ।
 बुद्धिलक्षणेनालोकेन प्रकाशेन । अथवा प्रत्यक्षप्रवणया बुद्ध्या
 आलोकेनमालोकस्तावन्मात्रेण साध्ये लभ्ये अस्मिता आपदो
 यस्मिन् लब्धे सति तथाविधे परमात्मवस्तुनि यो न प्रवर्तते
 तं धिगस्त्वित्यर्थः ॥ ११ ॥ तत्प्रवृत्तौ तर्हि कः प्रथममुपाय
 इति चेद्विवेकवैराग्ये एवेत्याह—विश्रान्तिमिति । हे अङ्ग,
 दुःखरत्नानामाकरभूतं जननमरणापलाक्षत ससारसागरमुत्ति-
 तीर्थोत्तारितुमिच्छोः पुरुषस्य तत्पारे निरतिशयानन्दात्मनि
 विरमुचितां विश्रान्तिं प्राप्नुमहं क इदं जगच्च किं परमात्मतत्त्वं

इक्ष्वाकुरुवाच ।

मां योजयति धार्ष्ट्येन भगवन्करुणानिधे ॥ ५
 भवत्प्रसाद एवायं भवन्तं प्रष्टुमञ्जसा ।
 कुतः सर्गोऽयमायातः स्वरूपं चास्य कीदृशम् ॥ ६
 कियदेनजगत्कस्य कदा केनेति कथ्यते ।
 अहं कथं च विषमादसात्संसृतिविभ्रमात् ॥ ७
 विमुच्येय घनास्तीर्णाज्जालादिव विहंगमः ।

मनुरुवाच ।

अहो नु चिरकालेन विवेके तु विकालिनि ॥ ८
 वितथानर्थविच्छेत्ता सारः प्रश्नस्त्वया कृतः ।
 यदिदं दृश्यते किञ्चित्तन्नास्ति नृप किञ्चन ॥ ९

च किं कीदृशं स्यात् भोगकैस्तुच्छैश्च किं स्यादिति निरन्तर-
 भ्यस्ता विचारवैराग्यात्मिका मतिरेव प्रथमोऽभिमत उपायोऽ-
 भ्युपायः । तस्मात्तमेवाश्रयेदित्यर्थः ॥ १२ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे गलितचित्तल-
 क्षणकथनं नाम षोडशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

कोऽहं कथं जगदिति विचारेऽत्र निदर्शनम् ।

इक्ष्वाकोर्मनुना प्रोक्तो विवेकः संप्रकीर्त्यते ॥ १ ॥

आदिपुरुषो मूलपुरुषो यथा । चादशविचारेण मुक्तः प्रागु-
 क्तपदे विश्रान्तस्तथा तं विचारं शृण्वित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ इति स्वयं
 समचिन्तयदिति पूर्वोक्तान्वयः ॥ ३ ॥ न विवेद विवेकेन वेद ।
 ब्रह्मलोकादागतं मनुं स्वपितरम् ॥ ४ ॥ तत्र प्रथमं मनुं प्रार्थयन्
 भिमुखीकरोति—मामिति ॥ ५ ॥ प्रष्टव्यांशं दर्शयति—कुत
 इत्यादिना ॥ ६ ॥ संख्यया परिमाणतश्च कियत् । कस्य भोक्तुः
 स्वासिनश्च । कदा केन रचितमिति श्रुत्यादिभिः कथ्यते ।
 अनेन श्रुत्यादिप्रमाणमूलमुद्देशपरंपरसप्रदायागतमेव त्वया
 वाच्यं न तु तर्केण किञ्चित्कल्पयित्वा तदुच्यते ॥ ७ ॥ विमुच्ये-
 येत कर्मकर्तारि यत्तज्ज्ञौ ॥ ८ ॥ तत्र 'तत्त्वोपदेशयोगात्वा-
 त्स्वरूपं चास्य कीदृश'मिति प्रश्नस्य प्रथममुत्तरमाह—यदिद-
 मिति । तथा च सिध्या जगतः असत्स्वरूपमसदेवेति भावः ॥ ९ ॥

यथा गन्धर्वनगरं यथा वारि मरुस्थले ।
 यत्तु नो दृश्यते किञ्चित्तन्म किञ्चिदिव स्थितम् ॥ १०
 मनःषष्ठेन्द्रियातीतं यत्स्यादपि न किञ्चन ।
 अविनाशं तदस्तीह तत्सदात्मेति कथ्यते ॥ ११
 इयं तु सर्वदृश्याख्या राजन्सर्गपरंपरा ।
 तस्मिन्नेव महादर्शे प्रतिबिम्बमुपागता ॥ १२
 भाः स्वभावसमुत्पन्ना ब्रह्मस्फुरणशक्तयः ।
 काश्चिद्ब्रह्माण्डतां यान्ति काश्चिद्ब्रह्मच्छन्ति भूतताम् ॥
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० इक्ष्वाकुमनुसंवादे सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

अन्यास्त्वन्यत्वंमायान्ति भवत्येवं जगत्स्थितिः ।
 न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति ब्रह्मैवास्ति निरामयम् ।
 नैक्यमस्ति न च द्वित्वं संवित्सारं विजृम्भते ॥ १४
 एकं यथा स्फुरति वारि तरङ्गमङ्गै-
 रेवं परिस्फुरति चिन्नं च किञ्चिदेव ।
 त्वं बन्धमोक्षकलने प्रविमुच्य दूरे
 स्वस्थो भवाऽभवमयोऽभयसार एव ॥ १५
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० इक्ष्वाकुमनुसंवादे सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः ११८

मनुस्वाच ।

संकरूपोन्मुखतां याताः सत्यश्चिन्मात्रसंविदः ।
 आपस्तरङ्गत्वमिव यान्ति भूमिप जीवताम् ॥ १
 ते जीवाः संसरन्तीह संसारे पूर्वमुत्थिते ।
 सुखदुःखदशामोहो मनस्येवास्ति नात्मनि ॥ २
 अदृश्यो दृश्यते राहुर्गृहीतेन यथेन्दुना ।
 तथानुभवमात्रात्मा दृश्येनात्मावलोक्यते ॥ ३
 न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः ।
 दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्त्वस्थया धिया ॥ ४
 पथिकाः पथि दृश्यन्ते रागद्वेषविमुक्तया ।
 यथा धिया तथैवते द्रष्टव्याः स्वेन्द्रियादयः ॥ ५

मनु सांख्या उपादाने परमसूक्ष्मतया स्थितमेव कार्यं निमित्तै-
 राविर्भाव्यते इत्याहुः । वेदान्तिनस्तु सद्ब्रह्मैव जगदात्मना सर्वे
 संपद्यत इति । तत्कथं तत्रास्तीत्युच्यते, तत्रार्थं प्रत्याह—य-
 त्त्विति । साक्षिणा इन्द्रियैर्वा यत्रो दृश्यते तत्किञ्चिदपि स्लोपा-
 दाने न स्थितं प्रमाणाभावादित्यर्थः ॥ १० ॥ स्यादपि न । संभा-
 वनाप्यस्य यतो नास्तीत्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—अविनाश-
 मिति ॥ ११ ॥ प्रतिबिम्बमिति । तथा चादर्शसत्तायाः प्रति-
 बिम्बेष्विव संसर्गाध्यासाद्ब्रह्मसत्तानुविद्धं जगदस्तु नाम, तथापि
 स्थितः सत्त्वं तस्य नास्त्येवेति तत्रास्तीत्युक्तिर्युक्तैवेति भावः
 ॥ १२ ॥ कस्तीहि 'बहु स्यां प्रजायेय' इति संकल्प्य ब्रह्मण एव
 जगज्जीवभावश्रुतेराशयस्तत्राह—भाः स्वभावेति । स्फुरणश-
 क्तयश्चिदाभासाः । ब्रह्माण्डतां स्थूलसमष्ट्यभिमानेन तद्रूपताम् ।
 भूततां पृथिव्याद्यभिमानेन तद्रूपताम् ॥ १३ ॥ अन्यत्वं यत्तु-
 र्बिधभूतग्रामताम् । तथा मिथ्योपाधिषु भ्रान्त्या चिदाभासानां
 बन्धादिकल्पना न वस्तुतस्तत्प्रसक्तिरित्याह—न बन्धोऽस्तीति
 ॥ १४ ॥ उक्तं द्वितीयप्रश्नोत्तरमुपसंहरति—एकमिति ।
 यथा एकं वारि तरङ्गभेदैः परिस्फुरति एवं चिदपि जगद्भेदैः
 परिस्फुरति मायामात्रत्वात्तच्च न किञ्चिदेव, अतस्त्वं बन्धमो-
 क्षभ्रमौ दूरे प्रविमुच्य न विद्यते भवमयं यस्य तथाविधः
 सन्नभयब्रह्मसार एव भवेत्यर्थः ॥ १५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-

पतेषु नादरः कार्यः सता नैवावधीरणम् ।
 पदार्थमात्रताविष्टास्तिष्ठन्त्वेते यथासुखम् ॥ ६
 पदार्थमात्रं देहादि धिया संत्यज्य दूरतः ।
 आशीतलान्तःकरणो नित्यमात्ममयो भव ॥ ७
 देहोऽहमिति या बुद्धिः सा संसारनिबन्धनी ।
 न कदाचिदियं बुद्धिरादेया हि मुमुक्षुभिः ॥ ८
 न किञ्चिन्मात्रचिन्मात्ररूपोऽस्ति गगनादणुः ।
 इति या शाश्वती बुद्धिः सा न संसारबन्धनी ॥ ९
 यथा विमलतोयानां बहिरन्तश्च भावनम् ।
 तेजस्तिष्ठति सर्वत्र तथात्मा सर्ववस्तुषु ॥ १०

रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे इक्ष्वाकुमनुसंवादो
 नाम सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

कुतः सर्गः कदा कस्य केनेत्येषामिहोत्तरम् ।

तथात्मदर्शनोपाया मनुनात्र प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

तत्रादौ शुद्धसंविदो जीवभावे निमित्तमाह—संकरूपेति ।
 चिन्मात्रस्य शुद्धचैतन्यस्याविद्यायां तत्तत्संस्कारविचित्रार्या
 प्रतिबिम्बरूपाः संविदः संस्काराणामन्तःकरणतया परिणामे
 तदवच्छिन्नतया जीवतां यान्ति ॥ १ ॥ पूर्वमुत्थिते उपाधि-
 तया आविर्भूते संसारे समष्टिव्यष्टिमनसः कार्ये । एवं सति
 यत्फलितं तदाह—सुखदुःखेति ॥ २ ॥ नन्वदृश्य आत्मा
 कथं दृश्ये मनसि संसारदुःखी तद्विमुक्तो वा अविवेके विवेके
 वा दृश्यते तत्राह—अदृश्य इति । दृश्येनान्तःकरणेन चरमसा-
 क्षात्काररूपतत्परिणामेन च निमित्तेन ॥ ३ ॥ सत्त्वस्थया नि-
 रहंमतावस्थया ॥ ४ ॥ निरहंमता देहेन्द्रियादिषु कथं
 द्रष्टव्येति दृष्टान्तेन स्पष्टयति—पथिका इति ॥ ५ ॥ अवधी-
 रणमुपवासादिना पीडनम् ॥ ६ ॥ पदार्थमात्रं उदासीनपदा-
 र्थसाधारणं संत्यज्य आत्ममयः शुद्धात्मदृष्ट्या तद्भावप्रचुरः
 ॥ ७ ॥ ८ ॥ न विद्यते किञ्चिन्मात्रमपि यत्र तथाविधं याच-
 न्मात्रं तद्रूपो गगनादणुः सूक्ष्मः । संसारबन्धनी न मुक्तिहे-
 तुरिति यावत् ॥ ९ ॥ जडजगतोऽन्तर्बाह्यासन्नचित्प्रवेशेन

संनिवेशांशवैचित्र्यं यथा हेम्नोऽद्भुतादिता ।
 आत्मनस्तदतद्रूपा तथैव जगदादिता ॥ ११
 विनाशबाधवाक्रान्तं भीमं काममहार्णवम् ।
 जगज्जालतरङ्गिण्यो यान्ति भूततरङ्गिकाः ॥ १२
 तथाप्यद्याप्यपूर्णस्य यः पाता कालवारिधेः ।
 तमात्मानं महागस्त्यं राजन्भावय सर्वदा ॥ १३
 अनात्मन्यात्मतामस्मिन्देहादौ दृश्यजालके ।
 त्यक्त्वा सत्त्वमुपारूढो गूढस्तिष्ठ यथासुखम् ॥ १४
 कुचकोटरसंस्रुतं विस्मृत्य जननी सुतम् ।

यथा रोदिति पुत्रार्थं तथात्मार्थमयं जनः ॥ १५
 अजरामरमात्मानमधुक्ता परिरोदिति ।
 हा हतोऽहमनाथोऽहं नष्टोऽस्मीति वपुर्व्यये ॥ १६
 यथा घारि परिस्पन्दान्नानाकारं विलोक्यते ।
 तथा संकल्पवशतश्चिद्ब्रह्म परिवृंहति ॥ १७
 संस्थाप्य संकल्पकलङ्कमुक्तं
 चित्तं त्वमात्मन्युपशान्तकल्पः ।
 स्पन्देऽप्यसंस्पन्दमिवेह तिष्ठ
 स्वस्थः सुखी राज्यमिदं प्रशाधि ॥ १८

इत्यार्षे श्रीवा० रामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पृ० इच्छाकुमनुसंवादेऽष्टादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

एकोनविंशाधिकशततमः सर्गः ११९

मनुरवाच ।

सर्गात्मभिर्विभुः स्पन्दैः क्रीडते बालवत्स्वयम् ।
 संहारात्मकशक्त्याथ संहृत्यात्मनि तिष्ठति ॥ १
 स्वयमस्य तथा शक्तिरुदेत्यावध्यते यथा ।
 स्वयमस्य तथा शक्तिरुदेत्युन्मुच्यते यथा ॥ २
 चन्द्रार्कवह्नितप्तयोरत्नादीनां यथार्चिषः ।
 यथा पत्रादि वृक्षाणां निर्झराणां यथा कणाः ॥ ३
 तथेदं ब्रह्मणि स्फारे जगद्ब्रह्मादि कल्पितम् ।
 दुःखप्रदमतज्ज्ञानां तदेवातदिव स्थितम् ॥ ४

अहो नु चित्रा मायेयं तात विश्वविमोहिनी ।
 सर्वाङ्गप्रोतमप्यात्मा यदात्मानं न पश्यति ॥ ५
 चिदादर्शमयं सर्वं जगदित्येव भावयन् ।
 यस्तिष्ठत्युपशान्तेरुच्छं स ब्रह्मकवचः सुखी ॥ ६
 अहमर्थविमुक्तेन भावेनाभावरूपिणा ।
 सर्वं शून्यं निरालम्बं चिद्रूपमिति भावयेत् ॥ ७
 इदं रम्यमिदं नेति वीजं ते दुःखसंतते ।
 तस्मिन्साभ्याग्निना दग्धे दुःखस्यावसरः कुतः ॥ ८
 राजन्नभावनास्त्रेण रम्यारम्यविभाणिता ।

स्फुरणेऽनु रूपं दृष्टान्तमाह—यथेति ॥ १० ॥ यथा अद्भुता-
 द्याकारता हेत्र एव सज्जिवेशवयवविन्यासवैचित्र्यं तद्वदात्म-
 नोऽपि जगत्तन्मूलमाधारूपे इत्यर्थः ॥ ११ ॥ आत्मनः काला-
 र्णवागस्त्यता रूपयितुं कालस्य जगन्नद्युपसंहारस्थानसमुद्रता-
 माह—विनाशेति । विनाश एव बाधो बध्वाभिस्रोतान्कान्तं
 विशिष्टम् । भूतानि प्राणिनिकायास्तराजा यासाम् ॥ १२ ॥
 यथा सर्वजगज्जालभक्षणेऽप्यद्याप्यपूर्णस्यातृप्तस्य कालवारिधेयः
 पाता पानकर्ता ॥ १३ ॥ सत्त्वं निर्वासनीभावम् ॥ १४ ॥
 नित्यरुद्धेऽप्यात्मन्यलब्धताम्रान्त्या शोक इत्याह—कुचको-
 टरेति ॥ १५ ॥ वपुर्व्यये देहनाशे ॥ १६ ॥ परितो वृंहति
 कार्यपरम्परया वर्धते ॥ १७ ॥ हे पुत्र, त्वं संकल्पकलङ्कमुक्तं
 चित्तमात्मनि संस्थाप्य समूलसर्वसंसारोपशमे प्रारब्धभोगोपयो-
 गितप्रतिभासावशेषादुपशान्तकल्पः सन् व्यवहाराय देहेन्द्रिया-
 दिस्पन्देऽपि तस्याभासमात्रत्वादसंस्पन्दं ब्रह्मैवेह व्यवहारभूमौ
 स्वस्थः सुखी तिष्ठ । इदं राज्यं च शाधि पालय । शासः
 शापेशस्याभीयत्वेनासिद्धत्वाद्देधिः ॥ १८ ॥ इति श्रीवासिष्ठम-
 हारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धेऽष्टादशोत्तरशत-
 तमः सर्गः ॥ ११८ ॥

स्पन्दते कथं चासंस्पन्दं तिष्ठतीतीक्षाकोर्जिज्ञासा लिङ्गैरुपलभ्य
 मनुराह—सर्गात्मभिरिति । विभुरयं परमात्मा प्रसवधर्मिण्या
 अविद्याशक्त्या अविदुषः प्रतिसर्गात्मकैः स्पन्दैः क्रीडते । वि-
 दुषः प्रति तु सत्सहारात्मिकया विद्याशक्त्या समूलं सर्वं
 संहृत्य बाधितत्वात्कूटस्थाद्वये आत्मनि सदैव तिष्ठतीत्यर्थः
 ॥ १ ॥ तत्र रागादप्रवृत्तस्य सर्गशक्त्युदय इव वैराग्यानिवृत्तस्य
 संहारशक्त्युदयोऽपि खरसत एव मनवीत्याह—स्वयमिति ॥ २ ॥
 तत्र ज्ञातात्मनि जीवजगत्साधारणसत्तासामान्यात्मना विभाव्य-
 माने तद्विशेषात्मकबाह्याध्यात्मिकपदार्थजालकल्पने दृष्टान्ता-
 नाह—चन्द्रेति । अर्चिषः प्रभाज्जालप्रभेदा यथा कल्पिता-
 स्तथा जगद्वैचित्र्यं तद्भाहकलुष्यादिवैचित्र्यं कल्पितमित्यन्वयः ।
 तप्तायोप्रहणं मायाशबलदृष्टान्तार्थम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ सर्वगतस्व-
 प्रकाशस्यात्मनोऽदर्शनमसतोऽप्रकाशस्यापि जगतः स्फुटं दर्शनं
 चाश्चर्यमघटितघटनासमर्थमायाबलादेवेत्याह—अहो इति ।
 सर्वेष्वङ्गेष्ववयवप्रायेषु बाह्याध्यात्मिकभावेषु प्रोतमन्तर्बहिष्व
 व्याप्तमप्यात्मानं यद्यस्मात् पश्यति ॥ ५ ॥ कया तर्हि भाव-
 नया आत्मानं दृष्ट्वा सुखी स्यात्तामाह—चिदादर्शमयमित्या-
 दिना । आदर्शं नगरादिव ब्रह्मणि जगत्प्रातिभासिकं न
 वास्तवमिति भावयजित्यर्थः । मोहहारैरभेयं ब्रह्मैव कवचं यस्य
 सः ॥ ६ ॥ ७ ॥ इति वैषम्यकल्पनमिति शेषः ॥ ८ ॥ अभावना
 समाध्यभ्यासेन सर्वदृश्यविस्मृतिस्तल्लक्षणेनास्त्रेण रम्यारम्ययोः

वर्ण्यते पुत्रवत्त्वात् स्वातन्त्र्यं मोक्षबन्धयोः ।

विद्याविद्यात्मशक्तिभ्यां सत्यासत्तात्मनिश्चयाद् ॥ १ ॥

‘स्पन्देऽप्यसंस्पन्दमिवेह तिष्ठ’ इत्युक्तं तत्र ब्रह्मा किमर्थं मायया

पौरुषातिशयेनाशु स्वेनैवान्तर्विलूयताम् ॥ ९
अभावनेन भावनं विलूय कर्मकाननम् ।
परं समेत्य तानवं विशोक एव तिष्ठ भोः ॥ १०

भरितभुवनाभोगो भूत्वा विभागबहिष्कृतो
गलितकलनाभासोल्लासो विवेकविलासवान् ।
अधिगतपरानन्दस्पन्दश्चिराय निरामयः
शमसमसितस्वच्छाभोगो भवामयचिद्वपुः ॥ ११

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे पू० इक्ष्वाकुमनुसंवादे एकोनविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

विंशाधिकशततमः सर्गः १२०

मनुरुवाच ।

शास्त्रसज्जनसंपर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत् ।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता योगस्यैव च योगिनः ॥ १
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीयाऽसङ्गभावना ।
विलापनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलयात्मिका ॥ २
शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी ।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवनमुक्तोऽत्र तिष्ठति ॥ ३
स्वसंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका ।
आनन्दैक्यनाकारा सुषुप्तसदृशस्थितिः ॥ ४
तुर्यावस्थोपशान्ताथ मुक्तिरेवेह केवलम् ।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत् ॥ ५
तुर्यातीता तु यावस्था परा निर्वाणरूपिणी ।

पदार्थयोर्विभाविता प्रियाप्रियतावैषम्यकल्पना । सा हि रागद्वे-
षहेतुः समदृष्टिदार्ढ्यलक्षणपुरुषप्रयत्नातिशयेन विलूयतां छिद्य-
ताम् ॥ ९ ॥ समाधिलक्षणेनाभावनेन बाह्यार्थभावनं तत्प्रयो-
जकं धर्माधर्मलक्षणं कर्मकाननं च विलूय परमाकाशादप्यधिकं
तानवं सौम्यं समेत्य तद्वलेन शोकहेत्वलेपे विशोक एव ति-
ष्ठेत्यर्थः ॥ १० ॥ हे पुत्र, त्वं प्रथमं विवेकविलासवान् सन् समा-
धिना गलितबाह्यकलनाभासः पूर्णात्मना भरितभुवनाभोगश्च
भूत्वा अधिगतः परानन्दस्याऽपरिच्छिन्नब्रह्मसुखस्य स्पन्दः
सर्वत आविर्भावो यस्य तथाविधस्तद्विभागबहिष्कृतस्तदखण्डै-
कतापन्नोऽत एव निरस्तसंसारामयः पञ्चमषष्ठभूमिकासु चिराय
स्थित्वान्ते सप्तमभूमिकायामालयन्तिकविक्षेपवैषम्यशमेन सम-
श्चन्द्रिकापूर्णत्वासितः शुभ्र आलयन्तिकवासनाज्ञानकालुष्यक्षया-
स्वच्छ आभोग आकारो यस्य तथाविधोऽभयचिद्वपुर्भवेत्यर्थः ।
अथवा चतुर्भिः पादैश्चतुर्थायाश्चतस्रो भूमिकाः क्रमेण दर्शिता
बोध्याः ॥ ११ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे एकोनविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

मुमुक्षुभूमिकास्तिस्रो मुच्यमानस्य तूत्तरा ।

मुक्तस्य परतस्तिस्रो भूमिकाः सह दर्शिताः ॥ १ ॥

‘परं समेत्य तानवं’मिति यद्योगभूमिकासंज्ञासफलमुक्तं तदु-
पायभूतान्भूमिकामेदान्वर्णयति—शास्त्रेत्यादिना । तथा च सा-
धनचतुष्टयसंपादनसहितं गुरुसतीर्थ्यादिसहायकं ध्वनं प्रथमा
भूमिकेत्यादिनिष्कर्षा उत्पत्तिप्रकरणे दर्शिता एवात्र बोध्याः ।

सप्तमी सा परिप्रौढा विषयः स्यान्न जीवताम् ॥ ६
पूर्वावस्थान्नयं त्वत्र जाग्रदित्येव संस्थितम् ।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र वै जगत् ॥ ७
आनन्दैक्यनीभावात्सुषुप्ताख्या तु पञ्चमी ।
असंवेदनरूपाथ षष्ठी तुर्यपदाभिधा ॥ ८
तुर्यातीतपदावस्था सप्तमी भूमिकोत्तमा ।
मनोवचोभिरग्राह्या स्वप्रकाशपदात्मिका ॥ ९
अन्तः प्रत्याहृतिवशाच्चेत्यं चेन्न विभावितम् ।
मुक्त एवास्य संदेहो महासमतया तथा ॥ १०
यद्भोगसुखदुःखांशैरपरामृष्टपूर्णधीः ।
सशरीरोऽशरीरो वा भवत्येवंमतिः पुमान् ॥ ११
न म्रिये न च जीवामि नाहं सन्नाप्यसन्नयम् ।

॥ १ ॥ विचारणा मननम् । असङ्गस्याद्वितीयान्मनोभावना
निदिध्यासनम् । विलापनी तत्त्वसाक्षात्कारेणाज्ञानादिप्रपञ्चस्य
बाधस्तत्साधिनी । वासनापदेन तदाश्रयाऽविद्या गृह्यते ॥ २ ॥
शुद्धः संविन्मयः समाधिपरिपाकादन्तः प्रथाप्रचुरो य आनन्द-
स्वरूपा । तां दशां दृष्टान्तेनानुभवमारोहयति—अर्धेति । यथा
निद्राशेषेणार्धं सुप्तोऽर्धं च प्रबुद्धः पुरुषो बाह्यशब्दादीनाकर्ण-
यन्नप्यन्तः स्वापसुखासक्तो न प्रतिवचनादिव्यवहारमिच्छति
तद्व्युत्थानकालेऽप्यस्यां भूमिकायां योगी तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ३ ॥
स्वसंवेदनं स्वरसत एवाक्षीयमाणा ब्रह्माकारानुभववृत्तिस्वरूपा ।
तदेवाह—आनन्देति ॥ ४ ॥ अथ यदा सा वृत्तिरपि क्षीयते
तदाविष्कृतं ब्रह्मैव पूर्णस्वप्रकाशमवशिष्यते तथा जीवतः
स्थितिः सप्तमी भूमिका सैव मया ‘शमसमसितस्वच्छाभोगः’
इति प्रागुक्तैत्यर्थः । आद्यभूमिकात्रयस्य वक्ष्यमाणरीत्यैकीकारात्
षष्ठी तुर्या ॥ ५ ॥ सप्तम्या अष्टम्याश्च योगिजीवनाजीवनमात्रं
विशेषो नान्य इत्यमेद एवेत्याशयेनाह—तुर्यातीतेति । सप्त-
मी भूमिकैव तुर्यातीताख्या परितः प्रौढा सती विदेहमुक्तिः संप-
द्यते, सा च जीवतां योगिना विषयो न स्यादित्यर्थः ॥ ६ ॥
॥ ७ ॥ ८ ॥ तामेव प्रशंसति—मनोवचोभिरित्यादिना ॥ ९ ॥
तस्यामेव सर्वदृश्यानां प्रत्यगात्मनि सम्यग्विलयादायन्तिकी
जीवन्मुक्ततेत्याह—अन्तरिति । तथा सप्तमभूमिकाप्रसिद्ध्या
॥ १० ॥ ११ ॥ तस्या तु जीवन्मुक्तस्य कीदृशोऽनुभवस्त-

१ उच्छासः इति पदं कचिन्न पश्यते,

आत्मारामो नरस्तिष्ठेत्तन्मुक्तत्वमुदाहृतम् ॥ १२ ॥
 व्यवहार्युपशान्तो वा गृहस्थो वाथवैककः ।
 अहं न किञ्चिदिति मत्वा जीवो न शोचति ॥ १३ ॥
 अलेपकोऽहमजरो नीरागः शान्तवासनः ।
 निर्मलोऽस्मि चिदाकाश इति मत्वा न शोचति ॥ १४ ॥
 अहमन्तादिरहितः शुद्धो बुद्धोऽजरामरः ।
 शान्तः समासमाभास इति मत्वा न शोचति ॥ १५ ॥
 तृणाग्रेष्वम्बरे भानौ नरनागामरेषु च ।
 यत्तदस्ति तदेवेति मत्वा भूयो न शोचति ॥ १६ ॥
 तिर्यगूर्ध्वमधस्तान्मे व्यापको महिमा चितः ।
 तस्यानन्तविलासस्य ज्ञात्वेति क इव क्षयी ॥ १७ ॥
 यद्धवासनमर्थो यः सेव्यते सुखयत्यसौ ।
 यत्सुखाय तदेवाशु वस्तु दुःखाय नाशतः ॥ १८ ॥
 अविनाभावनिष्ठत्वं प्रसिद्धं सुखदुःखयोः ।
 तनुवासनमर्थो यः सेव्यते वा विवासनम् ॥ १९ ॥
 नासौ सुखायते नासौ नाशकाले न दुःखदः ।

क्षीणवासनया बुद्ध्या यत्कर्मक्रियतेऽनघ ॥ २० ॥
 तद्गन्धवीजवद्भूयो नाकुरं प्रविमुञ्चति ।
 देहेन्द्रियादिना कर्म करणौघेन कल्प्यते ॥ २१ ॥
 एकः कर्ता च भोक्ता च क इवाङ्गोपपद्यते ।
 भावनां सर्वभावेभ्यः समुत्सृज्य समुत्थितः ॥ २२ ॥
 शशाङ्कशीतलः पूर्णो भाति भासेव भास्करः ।
 क्रियमाणा कृता कर्मतूलश्रीर्देहशालमलेः ॥ २३ ॥
 ज्ञानानिलसमुद्भूता प्रोद्वीय कापि गच्छति ।
 सर्वैव हि कला जन्तोरनभ्यासेन नश्यति ॥ २४ ॥
 एषा ज्ञानकला त्वन्तः सकृज्जाता दिने दिने ।
 वृद्धिमेति चलादेव सुक्षेत्रगुप्तशालिवत् ॥ २५ ॥
 एकः स्फुरत्यखिलवस्तुषु विश्वरूप
 आत्मा सरःसु जलधिष्विव तोयमच्छम् ।
 संशान्तसंकलनभूरिकलापमेकं
 सत्तांशमात्रमखिलं जगदङ्ग विद्धि ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे धा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे पू० सप्तभूमिकाविभागो नाम विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ २० ॥

एकविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२१

मनुस्वाच ।

थावद्विषयभोगाशा जीवाख्या तावदात्मनः ।
 अविचेकेन संपन्ना साप्याशा हि न वस्तुतः ॥ १ ॥
 विवेकवशतो याता क्षयमाशा यदा तदा ।
 आत्मा जीवत्वमुत्सृज्य ब्रह्मतामेत्यनामयः ॥ २ ॥

माह—न म्रिये इति ॥ १२ ॥ एकः एकचरो यतिः ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥ १५ ॥ अतिशुद्धेषु तृणाग्रेषु । अतिमहत्सम्बरे ।
 अतिप्रकाशे भानौ यत्तत्प्रसिद्धतरं सन्मात्रं तदेव प्रत्यक्चिन्मा-
 त्रमहमस्मीत्यखण्डमहावाक्यार्थं मत्वेत्यर्थः ॥ १६ ॥ चितो
 मे महिमा व्यापक इति तस्य परमात्मनो महिमानं ज्ञात्वा कः
 क्षयी मरणादिदुःखमग्नित्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'एष नित्यो
 महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव
 स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन' इति ॥ १७ ॥
 जीवन्मुक्तानामपि जीवनस्य विषयभोगाधीनत्वाद्विषयनाशेऽज्ञ-
 यदेव दुःखप्राप्तिमाशङ्क्य विशेषं वक्तुमज्ञस्य विषयनाशे दुःखो-
 त्पत्तिप्रकरणमाह—यद्धवासनमिति सार्धेन ॥ १८ ॥ अविना-
 भावनिष्ठत्वं सहावस्थितिनियमः । जीवन्मुक्तानां तद्वैलक्षण्य-
 माह—तनुवासनमिति । चतुर्थादिभूमिकासु तनुवासानं सप्तम-
 भूमौ तु विवासनम् ॥ १९ ॥ एवं कर्मापि तेषामलेपकमि-
 त्याह—क्षीणेति ॥ २० ॥ देहेन्द्रियादिषु भिन्नेष्वेकात्मतादा-
 त्त्याध्यासेन तत्कृतकर्मस्वरूपमेवैकः कर्तृत्वभिमाने हि कर्मभि-
 लेपः स्यात् । न च मुक्तानां सोऽस्तीत्याशयेनाह—देहेन्द्रियादि-
 नेति ॥ २१ ॥ भावनामहन्ताद्यध्यासम् । सर्वेभ्यो देहेन्द्रिया-

ऊर्ध्वादधस्तथाधस्तात्पुनरूर्ध्वं व्रजंश्चिरम् ।
 मा संसारारघट्टस्य चिन्तारज्ज्वां घटीभव ॥ ३ ॥
 इदं ममाहमस्येति व्यवहारघनभ्रमम् ।
 ये मोक्षात्परिसेवन्ते अधस्ताद्यान्त्यधः शठाः ॥ ४ ॥

दिमावेभ्यः सम्यगुत्सृज्य सम्यगुत्थितो निर्गतः ॥ २२ ॥
 कृता सचित्ररूपा ॥ २३ ॥ कर्मेव ज्ञानकलापि कालेन नश्येदि-
 त्याशङ्क्याह—सर्वैवेति ॥ २४ ॥ २५ ॥ यथा सरःसु जल-
 धिषु समुद्रेषु चाच्छ तोयमेकमेव स्फुरति तथाखिलेषु मायिक-
 वस्तुषु तत्तदमेदाध्यासाद्विश्वरूपं स्वतस्तु सन्मात्रसम्भाव
 आत्मा एक एव स्फुरति । अतः हे अङ्ग, अखिलं जगत् तत्त्व-
 बोधेन संशान्तभ्रान्तिसंकलनप्रयुक्तभूरिवैचित्र्यकलापं परिशिष्ट-
 सत्तांशमात्रमेवाहमिति विद्दीत्यर्थः ॥ २६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे सप्तभूमिका-
 विभागो नाम विंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२० ॥

यथाऽपकृष्यते जीवो यथा चोत्कृष्य सुच्यते ।

अत्र ते भावने सम्यगतिभज्य मनुनेरिते ॥ १ ॥

यथात्मा निरतिशयानन्दं ब्रह्मैव तर्ह्यस्य कियत्कालमज्ञानाजी-
 वाख्या तत्राह—यावदिति । सा किं सत्या नेत्याह—अविवेके-
 नेति ॥ १ ॥ अज्ञानक्षयात्क्षयं बाधम् ॥ २ ॥ भोगाशैव स्वर्ग-
 नरकादौ कर्षतीति तां त्यजेत्याह—ऊर्ध्वादिति । भोगचिन्ता-
 रूपाया घटकण्डरज्ज्वा मा घटीभव घटवद्भूतो मा भूरित्यर्थः
 ॥ ३ ॥ तस्या विषयैः सह बन्धनमन्योन्यकण्डसंजननं

अस्याहमेष मे सोऽयमहमेवं तु यैः किल ।
 मोहो बुद्ध्या परित्यक्त ऊर्ध्वाधूर्ध्वं प्रयान्ति ते ॥ ५
 स्वप्रकाशं स्वमात्मानमवलम्ब्याविलम्बितम् ।
 आस्व संपूरिताकाशं जगन्ति नृप पश्य हे ॥ ६
 यदैवैवं चितो रूपं ततं बुद्धमखण्डितम् ।
 तदैव तीर्णः संसारः परमेश्वरतां गतः ॥ ७
 ब्रह्मेन्द्रविष्णुवरुणा यद्यत्कर्तुं समुद्यताः ।
 तदहं चिद्रूपः सर्वं करोमीत्येव भावयेत् ॥ ८
 येषु येषु यदा यद्यदर्शनेषु निगद्यते ।
 सर्वमेवाह तत्सत्यं चिद्विलासो ह्यनङ्कुशः ॥ ९
 चिन्मात्रत्वं प्रयातस्य तीर्णमृत्योरचेतसः ।

यो भवेत्परमानन्दः केनासावुपमीयते ॥ १०
 नाप्यशून्यं न शून्यं च नाचिद्रूपं न चिन्मयम् ।
 नात्मरूपं नान्यरूपं भुवनं भावयन्भव ॥ ११
 एतत्स्वरूपमासाद्य प्रकृतिः परिशाम्यति ।
 न देशो मोक्षनामास्ति न कालो नेतरा स्थितिः ॥ १२
 अहंकृतेर्विमोहस्य क्षयेणेयं विलीयते ।
 प्रकृतिर्भावनानास्त्री मोक्षः स्यादेष एव सः ॥ १३
 प्रशान्तशास्त्रार्थविचारचापलो
 निवृत्तनानारसकाव्यकौतुकः ।
 निरस्तनिःशेषविकल्पविप्लवः
 समः सुखं तिष्ठति शाश्वतात्मकः ॥ १४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० इक्ष्वाकुमनुसंवादो नामैकविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२२

मनुश्वाच ।

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
 यत्र कचनशायी च स सम्राडिव राजते ॥ १
 वर्णधर्मश्रमाचारशास्त्रयन्त्रणयोज्झितः ।
 निर्गच्छति जगज्जालात्पञ्चरादिव केसरी ॥ २
 वाचामतीतविषयो विषयाशादशोज्झितः ।

कामप्युपगतः शोभां शरदीव नभस्तलम् ॥ ३
 गम्भीरश्च प्रसन्नश्च गिराविव महाह्रदः ।
 परानन्दरसाक्षुब्धो रमते स्वात्मनात्मनि ॥ ४
 सर्वकर्मफलत्यागी नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
 न पुण्येन न पापेन लिप्यते नेतरेण च ॥ ५
 स्फटिकः प्रतिबिम्बेन यथा याति न रञ्जनम् ।

दर्शयति—इदमिति ॥ ४ ॥ तदेवानूद्य तन्मूलं तादात्म्याध्या-
 समपि त्याज्यंस्तत्फलं सर्वोत्कर्षमाह—अस्येति ॥ ५ ॥ जग-
 न्ति संपूरितं सर्वतोऽप्यव्यवधानेन भरितं चिदाकाशमेव पश्य
 ॥ ६ ॥ ततं पूर्णम् ॥ ७ ॥ ननु जगत्कर्तृत्वाद्यस्य नास्ति स कथं
 परमेश्वरतां गतस्तत्राह—ब्रह्मेन्द्रेति ॥ ८ ॥ नन्वसत्याः सर्वाः
 क्रियाः सत्त्ववित् तासु कथमात्मनः कर्तृतां भावयेदिति चेन्नयं
 दोषः, आत्मसत्तयैव सर्वकल्पनानां सत्यत्वसंभवादित्याशये-
 नाह—येष्विति । दर्शनेषु शास्त्रेषु ॥ ९ ॥ ननु संसारतरणेन
 को लाभस्तत्राह—चिन्मात्रत्वमिति । निरुपमस्वप्रकाशानन्द-
 प्राप्तिरेव लाभ इत्यर्थः ॥ १० ॥ यदि ब्रह्मसत्तया जगदशून्यं
 तर्हि द्वैतापत्तिः । यदि नेतिनेतीति निषेधाच्छून्यं तर्हि सर्वक-
 र्तृतालक्षणे श्वरताव्याघातः । तथा यदि जगदचिद्रूपमेव तर्हि
 चितोऽपि भानासंभवविवृत्करणेन तैजसरूपानुविद्धमेव हि भास-
 केन तेजसा भास्यते न नीरूपम् । यदि तु चिदनुवेधाय तस्य
 चिद्विकारताभ्युपेयते तर्हि चितः सविकारतापत्तिः । एवमना-
 त्मरूपत्वेपि जगतोऽसङ्गेनात्मना संबन्धाभावात्ततः सत्तास्फूर्त्य-
 लाभः । आत्मरूपत्वे तु न ज्ञानेन बाध इत्यादिदोषाननिर्वच-
 नीयतालम्बनेन परिहरति—नापीति ॥ ११ ॥ कथं तर्हि
 उच्छाम्यति तत्राह—एतदिति । एतस्यात्मनः स्वं पारमार्थिकं
 रूपमासाद्य साक्षात्कृत्य ॥ १२ ॥ प्रकृतिः स्वाभाविकात्मरूपम् ।
 भावना अनादिविस्मृतस्वरूपप्रतिसंधानं चरमसाक्षात्कारवृत्ति-
 स्तदनुप्रवेशात्तन्नास्ती साक्षात्काराभिधा यदा भवति तदा एव
 यो० वा० १२२

प्रसिद्धः प्रत्यगात्मैव स शास्त्रप्रसिद्धो मोक्षः स्यादित्यर्थः ॥ १३ ॥
 तादृशसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्तः कथं तिष्ठति तदाह—प्रशा-
 न्तेति । शास्त्रार्थजिज्ञासा काव्यनाटकाद्यर्थजिज्ञासा लौकिकप्रिया-
 प्रियादिविकल्पविक्षेपाश्च निवर्तन्ते, इति समः ॥ १४ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे इक्ष्वा-
 कुमनुसंवादो नामैकविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२१ ॥

निरुद्धस्यात्मबोधस्य तुर्यातीतपदस्थितेः ।

मुक्तस्येह यतेश्रया लक्षणैर्मनुनेर्यते ॥ १ ॥

‘निरस्तनिःशेषविकल्पविप्लवः समः सुखं तिष्ठति’ इति या यो-
 गिनः स्थितिरुक्ता तामेव प्रपद्यति—येन केनचिदित्यादिना ।
 आच्छन्नो वस्त्रैराच्छादितः । आशितो भोजितः । स योगी
 सम्राट् मानुषानन्दपरावधिं प्राप्तो राजेवेति पामरदृशेयमुपमा ।
 तद्वदृशा तु न तदानन्दस्योपमास्ति । ‘यतो वाचो निवर्तन्ते’
 इत्यादिश्रुत्या हैरण्यगर्भानन्दान्तविषयानन्दसीकरमहार्णवतया
 निरवधित्वप्रतिपादनात् ॥ १ ॥ तस्यार्थसिद्धं विद्वत्संन्यास-
 माह—वर्णोति । शास्त्रेण यन्त्रणा किंकरवज्रियमर्षं तथा व-
 र्जितः । जगति जालवद्वन्धहेतोरैहिकामुष्मिकक्रियातत्फलकर्तृ-
 त्वभोक्तृत्वादिवासनासङ्गादित्यर्थः ॥ २ ॥ वाचामतीतस्य निर-
 तिशयानन्दस्यानुभवस्यैव विषयः । अत एव विषयाशादशो-
 ज्झितः ॥ ३ ॥ परस्यानन्दस्य रसनं रसो निरन्तरमास्वादनं
 तस्मादक्षुब्धोऽप्रच्युतः ॥ ४ ॥ इतरेण हर्षविषादादिना च
 ॥ ५ ॥ कर्मफलेन प्रारब्धोपनीतसुखदुःखादिना । रसनं कृपा-

तज्ज्ञः कर्मफलेनान्तस्तथा नायाति रञ्जनम् ॥ ६
 विहरञ्जनतावृन्दे देहकर्तनपूजनैः ।
 खेदाह्लादौ न जानाति प्रतिविम्बगतैरिव ॥ ७
 निःस्तोत्रो निर्विकारश्च पूज्यपूजाविवर्जितः ।
 संयुक्तश्च वियुक्तश्च सर्वाचारनयक्रमैः ॥ ८
 तस्मान्नोद्विजते लोको लोकाभ्योद्विजते च सः ।
 रागद्वेषभयानन्दैस्त्यज्यतेऽपि च युज्यते ॥ ९
 प्रमेये कस्यचिदपि न रोहति महाशयः ।
 प्रमेयीक्रियते चापि बालेनाप्यदुराशयः ॥ १०
 तनुं त्यजतु वा सीयं श्वपचस्य गृहेऽपि वा ।
 मा कदाचन वा राजन्वर्तमानेऽपि वा क्षणे ॥ ११
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारा०वा० दे० भो० निर्वाणप्रकरणे पू० इक्ष्वाकुमनुसंवादे इक्ष्वाकुप्रबोधनं नाम द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२२ ॥

ज्ञानसंप्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः ।
 अहंभ्रान्तिर्हि बन्धाय मोक्षो ज्ञानेन तत्क्षयः ॥ १२
 स पूजनीयः स स्तुत्यो नमस्कार्यः स यत्नतः ।
 स निरीक्ष्योऽभिवाद्यश्च विभूतिविभवैषिणा ॥ १३
 न यत्नतीर्थैर्न तपःप्रदानै-
 रासाद्यते तत्परमं पवित्रम् ।
 आसाद्यते क्षीणभवामयानां
 भक्त्या सतामात्मविदां यदहं ॥ १४
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 एवमुक्त्वा स भगवान्मनुर्वह्नागृहं ययौ ।
 इक्ष्वाकुरपि तां दृष्टिमवष्टभ्य स्थिरोऽभवत् ॥ १५

अथोविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२३

श्रीराम उवाच ।
 एवं स्थिते हि भगवज्जीवन्मुक्तस्य सन्मतेः ।
 अपूर्वोऽतिशयः कोऽसौ भवत्यात्मविदां घर ॥ १
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 इत्य कस्मिंश्चिदेवांशे भवत्यतिशयेन धीः ।

नित्यतृप्तः प्रशान्तात्मा स आत्मन्येव तिष्ठति ॥ २
 मन्त्रसिद्धैस्तपःसिद्धैस्तन्त्रसिद्धैश्च भूरिशः ।
 कृतमाकाशयानादि का तत्र स्यादपूर्वता ॥ ३
 अणिमाद्यपि संप्राप्तं तादृशीरेव भूरिशः ।
 यत्नेन साधितत्वात्तैर्नतरेणात्मदर्शिना ॥ ४

न्तरापसिम् ॥ ६ ॥ तदेव स्पष्टमाह—विहरन्निति । देहस्य
 कर्तनैरेहदेहैः पूजनैश्च देहप्रतिविम्बमिव मिथ्येति पश्यतीति
 प्रतिविम्बगतैरिवेत्युच्यते ॥ ७ ॥ पूज्यः पूजितोऽपि निःस्तोत्रः
 अप्रशंसमानः । पूजाविवर्जितोऽपि निर्विकार इति कर्मधारये
 क्रमेण विशेषणान्वयः । संयुक्तत्वेत्यादिरस्यैव प्रपञ्चः ॥ ८ ॥
 उद्विजते बिभेति । रागद्वेषादिपदैस्तन्निमित्तविषया लक्ष्यन्ते ।
 कदाचित्प्रारब्धवलाद्युज्यते त्यज्यते च ॥ ९ ॥ कस्यचित्कुत्रा-
 लमतेरपि प्रमेये प्रमितिविषये स्वयं तत्त्वतो नारोहति नान्तर्भ-
 वति । तत्त्वतस्तं कुशलमतयोऽपि न परिच्छेत्तुं शक्नुवन्तीत्यर्थः ।
 व्यवहारतस्तु बालेनापि प्रमेयीक्रियते अल्पेनाप्यनुवर्तनेन वशी-
 क्रियते । यतोऽयमदुराशयः शुद्धचित्तत्वाद्दुरितस्यः ॥ १० ॥
 तस्य ज्ञानसमकालमेव मुक्त्या देहादिबाधेन च पुनर्मुक्तिनिमि-
 त्तीर्थादेर्देहत्यागस्य वा चिन्तैव नास्तीत्याह—तनुमिति ।
 कदाचन कदाचिदपि तनुं मा वा त्यजतु वर्तमानक्षणे इदानी-
 मपि वा तनुं त्यजतु । तथाप्यसौ ज्ञानसंप्राप्तिसमये प्रागेव
 मुक्तो विदेह्येति परेण संबन्धः ॥ ११ ॥ तदुपपादनाय ब-
 न्धनोक्तस्वरूपमाह—अहंभ्रान्तिरिति ॥ १२ ॥ स पूजनीय
 इति । तथा च श्रुतिः 'यं यं लोकं मनसा संविभाति विबुध-
 सत्त्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं लभते तांश्च कामा-
 स्तस्मादात्मज्ञं हर्षयेद्भूतिकामः' इति ॥ १३ ॥ तत्पूजनमेव
 परमपुरुषार्थप्रापकज्ञानहेतुरपीत्याह—नेति । हे अहं, क्षीणो
 भवामयो येषां तथाविधानां जीवन्मुक्तानां भक्त्या भजनेन
 यत्परमं पदं ज्ञानद्वारा आसाद्यते तज्ज्ञादिभिर्नोपायत इत्य-

न्वयः ॥ १४ ॥ प्रह्लादं मेरुशिखरस्थम् ॥ १५ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे इक्ष्वाकुप्र-
 बोधनं नाम द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२२ ॥
 इत्याहोभ्योऽन्यसिद्धेभ्यः क्षेत्रत्वाणिमादिषु ।
 अनिच्छेत्तुं हि पूर्णत्वाद्विशेषोऽत्राभिधीयते ॥ १ ॥
 धर्णितलक्षणस्य जीवन्मुक्तस्य मणिमन्त्रादिसिद्धानामिव खेच-
 रादिसिद्धिरूपोऽपि कश्चिदपूर्वोऽतिशयोऽस्ति न वेति संदिहानो
 रामः पृच्छति—एवमिति । एवं त्वद्वर्णितरूपे लक्षणजाते
 स्थिते सति ॥ १ ॥ तस्यान्यसिद्धानोचरनिरतिशयानन्दमात्मगो-
 चरोऽनुभव एव विशेष इत्याशयेनोत्तरमाह—ज्ञस्येति । इत्य
 कस्मिंश्चिदतिशयसिद्धान्त्ये परमात्मतत्त्वांशे धीरे वातिशयेन
 भवतीति योजना । अथवा अप्यर्थे एवकारः । इत्य सांसारिक-
 सिद्ध्यन्ते कस्मिंश्चिदप्यतिशयेऽतिशयधीर्न भवतीति योजना ।
 तत्कृतस्वप्नाह—नित्यतृप्त इति ॥ २ ॥ मन्त्रसिद्धादिरूपेणाप्य-
 हमेव स्थित इति सर्वात्मबुद्ध्या तैः प्राप्तानां खेचरादिसिद्धीनां
 तेन प्राप्तत्वात्तासु तस्य नापूर्वतापीत्याह—मन्त्रसिद्धैरिति ।
 अथवा अपूर्वशब्दो न विद्यते पूर्व कारणं यस्येति व्युत्तरया
 तत्त्वविश्रांतनित्यनिरतिशयानन्द एव मुख्यः । आकाशयाना-
 दिसिद्धिजातं तु मन्त्रसिद्ध्यादिभिः कृतं स्वयमेवेत्यादितमिति
 तत्र सपूर्वतैव नापूर्वत्वस्यार्थः ॥ ३ ॥ यदपूर्वशब्दस्यानन्यप्राप्त-
 त्वमप्यर्थस्तथापि बहुभिर्मन्त्रसिद्धादिभिरणिमादिसिद्धिर्जातं
 प्राप्तमेवेति न तेष्वपूर्वत्वेत्याह—अणिमाद्यपीति । सर्वात्म-
 तस्य इत्य सर्वसांसारिकसिद्धीनां तत्त्वज्ञेन तैरेव साधितत्वा-

एष एव विशेषोऽस्य न संमो मूढबुद्धिभिः ।
सर्वत्रास्थापरित्यागाग्नीरागममलं मनः ।
भवेत्तस्य महाबुद्धेर्नासौ वस्तुषु मज्जति ॥

एतावदेव खलु लिङ्गमलिङ्गमूर्तेः
संशान्तसंसृतिचिरभ्रमनिर्वृतस्य ।
तज्ज्ञस्य यन्मदनकोपविषादमोह-
लोभापदामनुदिनं निपुणं तनुत्वम् ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० निर्वाण० पू० अज्ञादेर्ज्ञस्य विशेषकथनं नाम त्रयोविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः १२४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यथा सत्त्वमुपेक्ष्य स्वं शनैर्विप्रो दुरीहया ।
अङ्गीकरोति शूद्रत्वं तथा जीवत्वमीश्वरः ॥ १
भूतानि द्विविधान्येव प्रतिसर्गे स्फुरन्ति वै ।
आद्यविस्पन्दजातानि तानि निष्कारणानि वै ॥ २
ईश्वरात्समुपागत्य पुनर्जन्मान्तराणि च ।
भूतान्यनुभवत्यङ्गं स्वकृतैरेव कर्मभिः ॥ ३
कार्यकारणभावोऽयमीदृशो जन्मकर्मणोः ।

अकारणमुपायान्ति सर्वे जीवाः परात्पदात् ॥ ४
पश्चात्तेषां स्वकर्माणि कारणं सुखदुःखयोः ।
आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः संकल्पः कर्मकारणम् ॥ ५
संकल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज ।
मोक्षस्तु निःसंकल्पित्वं तदभ्यासपरो भव ॥ ६
सावधानो भव त्वं च ग्राह्यग्राहकसंभ्रमे ।
अजस्रमेव संकल्पदशाः परिहरञ्छनैः ॥ ७
मां भव ग्राह्यभावात्मा ग्राह्यकात्मा च मा भव ।

दं पि न स्वेन पुनः साधने प्रयोजनमस्तीत्याशयेनाह—यत्ते-
नेति ॥ ४ ॥ तर्हि तत्त्वविदस्तेभ्यः कोऽतिशयस्तत्राह—एष
एवेति । तत्त्वज्ञानमेवातिशय इत्यर्थः । अतिशयान्तरमाह—
सर्वत्रेति । वस्तुषु भोग्येषु ॥ ५ ॥ नीरागत्वफलान्येव तत्त्व-
ज्ञलक्षणतया वर्णयन्नुपसंहरति—एतावदिति । तत्त्वबोधे संशान-
न्तेन चिरंतनभ्रमेण निर्वृतस्य विश्रान्तस्य अलिङ्गा सर्वधर्म-
शून्या ब्रह्मचिदेव मूर्तिः सैन्धवधनवदेकरसं स्वरूपं यस्य तथा-
विधस्य एतावदेव खलु लिङ्गं लक्षणम्, यन्मदनादीनामापदा-
मनुदिनं निपुणमत्यन्तं तनुत्वमपक्षय इत्यर्थः ॥ ६ ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे अज्ञा-
देर्ज्ञस्य विशेषकथनं नाम त्रयोविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

निष्कारणत्वं जीवानां ग्राह्यरागेण बद्धता ।

रूपाण्यवस्थास्तुर्यं च भृगव्याधीयमीर्यते ॥ १ ॥

इतरसिद्ध्यपेक्षया आत्मज्ञानस्योत्कर्षो नित्यनिरतिशयानन्दा-
नुभवत्वादेव, प्रत्यगात्मनश्च नित्यनिरतिशयानन्दरूपता ब्रह्म-
स्वरूपत्वादेवेत्यर्थस्योपपत्तये ब्रह्मण एव स्वस्वभावोपेक्षावशा-
जीवभावप्राप्तिमाह—यथेत्यादिना । यथा कश्चिद्विप्रः शूद्रो
कामयमानस्त्वसंभोगसहवासदिदुरीहया स्वं स्वोचितं सत्त्वं
सात्त्विकं ब्राह्मणधर्मं शनैरुपेक्ष्य चिरकालेन शूद्रत्वमङ्गीकरोति
तथा ईश्वरो बुद्ध्यादिसंगत्या तत्प्रयुक्तभोगाशया स्वं नित्यशुद्ध-
पूर्णानन्दस्वभावमुपेक्ष्य जीवत्वमङ्गीकरोतीत्यर्थः ॥ १ ॥ उपा-
धिप्राधान्येन भोग्यानुपहितप्राधान्येनभोक्तृणीति द्विविधानि
मायागतानादिविविधसंस्कारपरंपरानुसारिणो हिरण्यगर्भात्मका-
दाद्यविस्पन्दाजातानि मायागन्धर्वनगरवदाविर्भूतानि । अतो मि-
थ्यात्वाभिष्कारणानि वास्तवसामग्रीनिरपेक्षाणि । न हि स्वप्न-

घटादिः स्वोत्पत्तौ दण्डचक्रादिसामग्रीभाषेक्ष इत्यर्थः ॥ २ ॥ ननु
'साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यो वै पुण्येन
कर्मणा भवति पापः पापेन', 'तस्मात्सोकात्पुनरेत्यान्यस्मै लोकाय
कर्मणे' इत्यादिश्रुतिषु जन्मकर्मणोर्बीजाङ्कुरवदनादिः परस्पर-
कार्यकारणभावोऽवगम्यते । तत्कथमीश्वरस्य कर्मशून्यस्य जीव-
भावेनाद्यसर्गे जन्मोच्यते तत्राह—ईश्वरादिति । स्वकृतैरुप-
हितकृतैः । नेश्वरस्य जीवभावे कर्मापेक्षा किंतु जीवभावापर्य-
न्तरं देहादिजन्मनि पूर्वपूर्वदेहादिकृतकर्मापेक्षा । यथा सवि-
तुर्जले प्रतिबिम्बनेन चलोनादिक्रियापेक्षा प्रतिबिम्बस्य तरङ्ग-
भेदेषु संक्रमे तत्तद्वतविक्रियानुमवे चोपाधिक्रियापेक्षा तद्वदिति
भावः ॥ ३ ॥ तदेव स्पष्टमाह—कार्यकारणभाव इति । तथा
चोक्तं वार्तिके 'वियद्वस्तुस्वभावानुरोधादेव न कारकात् । विय-
त्संपूर्णतोत्पत्तौ कुम्भस्यैवं दशाधियाम्' इति ॥ ४ ॥ पश्चात्तेषां
कर्माणीति कुतो ज्ञायते तत्राह—आत्मज्ञानादिति । यादृश-
मात्मानं यो जानाति स तदनु रूपं संकल्पयति संकल्पानुरूपं
च करोति । न हि मनुष्यादिदेहात्मातुर्बुद्धिं विना पुण्यपापे
संकल्पयति करोति वा । तथा चोक्तं भगवद्विर्भाष्यकृद्भिः
'न ह्यनप्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते' इति । देहाध्या-
सोऽपि संकल्पद्वारैव पुण्यपापप्रवृत्तिहेतुरित्याह—संकल्प इति
॥ ५ ॥ संकल्पोऽस्यास्तीति संकल्पी तथाविधत्वं पुण्यापुण्यप्र-
वृत्तिभोगवासनादिसंतानेन बन्धस्य कारणम् ॥ ६ ॥ संकल्प-
त्यागे उपायमाह—सावधान इति । ग्राह्यग्राहकभेदभ्रमे हि
सति ग्राहकस्य ग्राह्ये अनुकूलताप्रतिकूलतायनुसंधानाद्वानोपा-
दानानुकूलप्रवृत्तिसंकल्पो भवति । ग्राह्यग्राहकविभ्रमत्यागेन
तत्साक्षिण्यैकाम्यलक्षणसावधानत्वाभ्यासे तु संकल्पमूलमेवा-
च्छिद्यत इति भावः ॥ ७ ॥ अनुमेवार्थं कण्ठोक्त्याह—मा

भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ ८
 अजस्रं यं यमेवार्थं पतत्यक्षगणोऽनघ ।
 बध्यते तत्र रागेण तत्रारागेण मुच्यते ॥ ९
 किञ्चिद्रोचते तुभ्यं तद्वद्वोऽसि भवस्थितौ ।
 न किञ्चिद्रोचते चित्ते तन्मुक्तोऽसि भवस्थितौ ॥ १०
 तस्मात्पदार्थनिचयात्सह स्थावरजङ्गमात् ।
 तृणादेर्देवकायान्तान्मा किञ्चित्तव रोचताम् ॥ ११
 यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
 न कर्तासि न भोक्तासि तत्र मुक्तमतिः शमी ॥ १२
 सन्तोऽतीतं न शोचन्ति भविष्यच्चिन्तयन्ति नो ।
 वर्तमानं च गृह्णन्ति कर्म प्राप्तमखण्डितम् ॥ १३
 मनसि ग्रथिता भावास्तृष्णामोहमदादयः ।
 मनसैव मनो राम च्छेदनीयं विजानता ॥ १४
 विवेकेनातितीक्ष्णेन बलादय इवायसा ।
 मनसैव मनश्छिन्धि सर्वभ्रमस्य शान्तये ॥ १५
 क्षालयन्ति मलेनैव मलं क्षालनकोविदाः ।
 धारयन्त्यस्त्रमस्त्रेण विषं प्रति विषेण च ॥ १६
 जीवस्य त्रीणि रूपाणि स्थूलसूक्ष्मपराणि च ।
 तत्रास्य यत्परं रूपं तद्भज द्वे परित्यज ॥ १७
 पाणिपादमयो योऽयं देहो भोगाय बलाति ।
 भोगार्थमेतज्जीवस्य रूपं स्थूलमिहास्थितम् ॥ १८
 स्वसंकल्पमयाकारं यावत्संसारभावि यत् ।
 चित्तं तद्विद्धि जीवस्य रूपं यमातिबाहिकम् ॥ १९

भवेति । यत् विष्टं साक्षिरूपं तन्मयसंदेकरसः ॥ ८ ॥
 असावधानत्वे तु शब्दोऽनुकूले रागोऽवर्जनीय इति दर्शयन्वैरा-
 ग्याभ्यासस्याप्यावश्यकतां दर्शयति—अजस्रमिति ॥ ९ ॥ राग-
 वैराग्ययोः स्वरूपं निविच्य दर्शयन्सयोर्यन्धमोक्षलिङ्गतां दर्श-
 यति—किञ्चिदिति । यत् यदि । तत् तर्हि ॥ १० ॥ अप-
 कर्षावधौ तृणशरीरादेरुत्कर्षावधौ देवो हिरण्यगर्भस्तत्कायान्ता-
 तद्भोग्यविषयरूपाश्च पदार्थनिचयाभिर्घोरितं किञ्चिदपि तव न
 रोचताम् ॥ ११ ॥ नन्वेवं परवैराग्येण भोक्तृताबन्धजयेऽपि
 जीवता स्नानभोजनादिक्रियाणां दुस्सजत्वात्तत्कृतो बन्धः
 स्वादेवेत्याशङ्काह—यदिति । तत्र तासु क्रियासु मुक्त-
 मतिः कूटस्थाननिविष्टमतिः । तथा चोक्तं भगवता 'नैव
 किञ्चित्करोमीति शुश्रो मन्येत तत्त्ववित्' इति ॥ १२ ॥
 इष्टविशेषानिष्टसंभावनादिप्रयुक्तशोकेन बन्धप्रसक्तिमाश-
 ङ्काह—सन्त इति ॥ १३ ॥ सर्वबन्धजये मनोजय एवो-
 पायः, यच्च मनसैव नान्येनेत्याह—मनसीति ॥ १४ ॥
 यदुपायेन मनसा मनोजयस्तमाह—विवेकेनेति ॥ १५ ॥
 मनसा मनोजये आत्माश्रयोर्षं परिहरति—क्षालयन्तीति ।
 मलेन क्षालयन्तीति ॥ १६ ॥ मनःसंवलितो जीवस्तत्र क्रियानंशः

आद्यन्तरहितं सत्यं चिन्मात्रं निर्विकल्पकम् ।
 यत्तद्विद्धि परं रूपं तृतीयं विश्वरूपकम् ॥ २०
 यत्तत्तुर्यपदं शुद्धमत्र बद्धपदो भव ।
 संपरित्यज्य पूर्वं द्वे मा तत्रात्ममतिर्मव ॥ २१
 श्रीराम उवाच ।
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु स्थितं त्रिष्वप्यलक्षितम् ।
 तुर्यं ब्रूहि विशेषेण विविच्य मुनिनायक ॥ २२
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसती तथा ।
 यदसक्तं समं खच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ॥ २३
 या खच्छा समता शान्ता जीवन्मुक्तव्यवस्थितिः ।
 साक्ष्यवस्था व्यवहृतौ सा तुर्यकलनोच्यते ॥ २४
 नैतज्जाग्रत् च स्वप्नं संकल्पानामसंभवात् ।
 सुषुप्तभावो नाप्येतदभावाज्जडता स्थितेः ॥ २५
 शान्तं सम्यक्प्रबुद्धानां यथास्थितमिदं जगत् ।
 विलीनं तुर्यमेवाहुरबुद्धानां स्थिरं स्थितम् ॥ २६
 अहंकारकलात्यागो समतायाः समुद्भवे ।
 विशरारौ कृते चित्ते तुर्यावस्थोपतिष्ठते ॥ २७
 अथैवं शृणु दृष्टान्तं कथ्यमानं मयाधुना ।
 प्रबुद्धोऽपि यथा बोधमुपैषि त्रिबुधोपम ॥ २८
 कस्मिंश्चित्काननाभोगो महामौनं व्यवस्थितम् ।
 दृष्टान्तमिदं किञ्चिन्मुनिं पप्रच्छ लुब्धकः ॥ २९

पृथक्कृत्य मनसा च्छेदनीय इति दर्शयितुं जीवरूपाणि विभजते—
 जीवस्येति । परित्यज मनसा छिन्धि ॥ १७ ॥ तानि दर्शयति—
 पाणीत्यादिना ॥ १८ ॥ १९ ॥ विश्वस्य रूपकं निरूपकम् ।
 सत्तास्फूर्तिप्रदमित्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥ स्थूलसूक्ष्मरूपे जीवस्य
 जाग्रत्स्वप्नयोः प्रतिदे । तावन्मात्रपरित्यागेऽपि न सम्यक् तस्य
 परिशुद्धिरित्यवस्थात्रयातीतं जिज्ञासमानो रामः पृच्छति—
 जाग्रदिति । स्थितं संकीर्णमत एव स्पष्टमलक्षितम् । विशेषेण
 तत्संकरव्यावर्तनेन ॥ २२ ॥ अहंभावो जाग्रत्स्वप्नयोर्विक्षेपः ।
 अनहंभावः सुषुप्तौ तन्मूलमावरणं तावमौ व्यष्टिरूपौ जीवोपाधी
 समष्टिरूपौ तु 'असद्वा इदमत्र आसीत्ततो वै सदजायत' इत्यादि-
 श्रुतिप्रसिद्धे सदसती ते च त्यक्त्वा ॥ २३ ॥ जीवन्मुक्तेषु व्यव-
 स्थितिर्निर्गुणस्थितिर्यस्याः । व्यवहृतौ व्यवहारकाले साक्ष्य-
 वस्थेति प्रतिष्ठा ॥ २४ ॥ तस्या जाग्रदादिसंकरं वारयति—
 नैतदिति । जडता आवरणं तत्स्थितेरज्ञानस्य ॥ २५ ॥ नन्व-
 द्वितीयं तुरीयं जाग्रदादि द्वैतकाले जीवन्मुक्तानामपि कथं
 स्यात्तत्राह—शान्तमिति । विलीनं ज्ञानबाधितम् ॥ २६ ॥
 जलविलीनसैन्धववद्विशरारौ कृते सति ॥ २७ ॥ जाग्रतो
 व्यवहरतः कथं चित्तं विशरारु स्यादित्यसंभावनां सुगव्याधी-
 योदाहरणेन वारयति—अथैवमित्यादिना ॥ २८ ॥ महामौनं
 ज्ञानबाधितवागादिचेष्टम् । इदं वक्ष्यमाणं पप्रच्छ ॥ २९ ॥

पश्चादुपगतो बाणभिन्नं मृगमभिद्रुतम् ।
 मुने मदीयबाणेन विद्धो मृग इहागतः ॥ ३०
 क प्रयातो मृग इति प्रत्युवाच स तं मुनिः ।
 समशीला वयं साधो मुनयो वनवासिनः ॥ ३१
 नास्माकमस्त्यहंकारो व्यवहारेषु यः क्षमः ।
 सर्वाणीन्द्रियकर्माणि करोति हि सखे मनः ॥ ३२
 अहंकारमयं तन्मे नूनं प्रगलितं चिरम् ।
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्या दशा वेद्मि न काश्चन ॥ ३३
 तुर्य एव हि तिष्ठेऽहं तत्र दृश्यं न विद्यते ।
 इति तस्य वचः श्रुत्वा मुनिनाथस्य राघव ॥ ३४
 लुब्धकोऽर्थमविशाय जगामाभिभृतां दिशम् ।
 अतो वच्मि महाबाहो नास्ति तुर्येतरा दशा ॥ ३५
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे पू० मृगव्याधीयं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२४ ॥

निर्विकल्पा हि चित्तुर्यं तदेवास्तीह नेतरत् ।
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः ॥ ३६
 घोरं शान्तं च मूढं च आत्मचिन्तमिहास्थितम् ।
 घोरं जाग्रन्मयं चित्तं शान्तं स्वप्नमयं स्थितम् ॥ ३७
 मूढं सुषुप्तभावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत् ।
 यच्च चित्तं मृतं तत्र सत्त्वमेकं स्थितं समम् ।
 तदेव योगिनः सर्वे यत्नात्संपादयन्ति हि ॥ ३८
 समस्तसंकल्पविलासमुक्तं
 तुर्ये पदे तिष्ठ निरामयात्मा ।
 यत्र स्थिताः साधु सदैव मुक्ताः
 प्रशान्तमेदा मुनयो महान्तः ॥ ३९

पञ्चविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वोपह्व एव हि ।
 नाविद्यास्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मेदमक्रमम् ॥ १
 शान्त एव चिदाभासे स्वच्छे समसमात्मनि ।
 समप्रशक्तिस्त्वचित्ते ब्रह्मेति कलिताभिधे ॥ २
 निर्णाय केचिच्छून्यत्वं केचिद्विज्ञानमात्रताम् ।
 केचिदीश्वररूपत्वं विवदन्ते परस्परम् ॥ ३

सर्वमेव परित्यज्य महामौनी भवानद्य ।
 निर्वाणवान्निर्मनः क्षीणचित्तः प्रशान्तधीः ॥ ४
 आत्मन्येवास्त्व शान्तात्मा मूकान्धबधिरोपमः ।
 नित्यमन्तर्मुखो भूत्वा स्वात्मनान्तः प्रपूर्णधीः ॥ ५
 जाग्रत्येव सुषुप्तस्थः कुरु कर्माणि राघव ।
 अन्तः सर्वपरित्यागी बहिः कुरु यथागतम् ॥ ६

बाणभिन्नमभिद्रुतं पलायितं मृगं पश्चाद्बाणे उपगतो लुब्धक इति
 पूर्वान्वयि । किं पप्रच्छ तदाह—मुने इत्यादिना ॥ ३० ॥
 मुनर्भृग इत्युक्तिः संभ्रमात् ॥ ३१ ॥ व्यवहारेष्वनभ्यस्तोष्विति
 शेषः ॥ ३२ ॥ अहंकारमयमभिमानप्रचुरम् । चिरं सदैव
 ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ अतस्तादृशमुन्यनुभवश्रुत्यादिबाध्यत्वात्तुर्येतरा
 जाग्रदादिदशा स्थूलादिदशा च नास्ति ॥ ३५ ॥ गुणत्रयात्मक-
 मायामयचित्तकार्यत्वात्तिसृणामवस्थानां मायाबाधे चित्तस्य मृत-
 त्वादपि तदुपादेयावस्थानामसत्त्वमित्याह—जाग्रदित्यादिना
 ॥ ३६ ॥ तिस्रोऽवस्था रजआदिगुणप्राधान्येन त्रिधा विभज्य
 दर्शयति—घोरमिति । स्वर्गनरकपुनर्जन्मादिहेतुपुण्यपापोत्पादना-
 द्भृतीभावाधिक्याच्च जाग्रन्मयं जाग्रदवस्थं चित्तं घोरमित्याद्युक्तम्
 ॥ ३७ ॥ गुणत्रयात्मकमायोच्छेदात्रिभिर्हीनम् । मृते चित्ते
 योगिनां प्रारब्धशेषभोगाय भस्मनि शौक्ल्यमिव सत्त्वांश एवानु-
 वर्तते न रजस्तमोःश्लेश इत्याह—यच्चेति । रजसा अक्षोभ्य-
 माणत्वात्समम् । तादृशे चित्ते नैर्मल्यातिशयेन स्वात्मसुखस्य
 सदैवाविर्भावात्सर्वव्यापारोपरमेण समाध्यभ्यासं यत्नात्संपादय-
 न्तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ अतस्त्वमपि तादृशं चित्तं संपाद्य तुर्ये पदे
 विश्रान्तस्तिष्ठेत्याह—समस्तेति । स्पष्टम् ॥ ३९ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे मृग-
 व्याधीयं नाम चतुर्विंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२४ ॥

सर्वोपह्ववसिद्धान्ते वादिनां यत्र विभ्रमाः ।

तुर्ये तथाविधे स्थैर्यं सोपायमुपदिश्यते ॥ १ ॥

अविद्यया सहजैवास्यावस्थात्रयप्रपञ्चस्य मायया ऐश्वरस्य
 वियदादिप्रपञ्चस्य वेति सर्वस्य द्वैतजातस्यापहव आत्मानंमधि-
 कृत्य प्रवृत्तानां श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिशास्त्राणां परमेशि-
 द्धान्तो न वस्तुप्रकाशनम् । स्वप्रकाशस्यात्मवस्तुनः स्वतःसिद्ध-
 तया तत्सिद्धौ प्रमाणाप्रसरादित्याह—सिद्धान्त इति । शान्तं
 सर्वोपह्वरहितमिदं नित्यापरोक्षं ब्रह्म शास्त्रैर्न क्रम्यत इत्यक्रम-
 मवगाढमशक्यमित्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'यतो वाचो निव-
 र्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति । तथा च ब्रविडाचार्यैरप्यु-
 क्तम् 'यद्यप्रमेयं ब्रह्म किमर्थं शास्त्रमिति चेत्सिद्धं तु निवर्तक-
 त्वात्' इति ॥ १ ॥ श्रुत्यादिसिद्धान्तापरिज्ञानादेव स्वबुद्धिवै-
 भवेन जगन्मूलान्वेषिणां वादिनां ब्रह्मशब्दवाच्ये सर्वशक्त्या-
 त्मकमायाशब्दे ब्रह्मणि बुद्धिदोषवैचित्र्यान्नानाविधाः कल्पनाः
 प्रवृत्ता इत्याह—शान्त इति द्वाभ्याम् ॥ २ ॥ निर्णाय स्वस्वबुद्ध्यनु-
 सारेण सिद्धान्तमेदान्कल्पयित्वा ॥ ३ ॥ सर्वं मायान्तं दृश्य-
 जातं परित्यज्य । समस्तैकसर्वेन्द्रियव्यापारोपरमान्महामौनी ।
 पूर्णानन्दचिदात्मनि निर्वाणवान्सन् आत्मन्येवास्त्वेति परेणा-
 न्वयः ॥ ४ ॥ ५ ॥ पञ्चमादिभूमिकाजयाज्जाग्रदवस्थोपि सुषुप्ते

चित्तसत्ता परं दुःखं चित्तसत्ता परं सुखम् ।

अतश्चित्तं चिदेकात्मा नयः क्षयमवेदनात् ॥ ७

इष्टा रम्यमरम्यं वा स्थेयं पाषाणवत्समम् ।

एतावतात्मयत्नेन जिता भवति संसृतिः ॥ ८

संवेदनीयं न सुखं नासुखं न च मध्यमम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० सो० निर्वाणप्रकरणे पू० पुर्वे स्थैर्योपायकथनं नाम पञ्चविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

षड्विंशत्यधिकशततमः सर्गः १२६

श्रीराम उवाच ।

संस्तानां योगभूमीनामभ्यासः क्रियते कथम् ।

कीदृशानि च चिद्धानि भूमिकां प्रति योगिनः ॥ १

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

प्रवृत्तश्च निवृत्तश्च भवति द्विविधः पुमान् ।

इव स्थितः ॥ १ ॥ अवेदनातिप्रयद्वेष्यत्वाननुसंधानात् ॥ ७ ॥

अवेदनोदितदेव स्पष्टयति—दृष्टेति ॥ ८ ॥ संवेदनीयं चि-

न्तनीयम् । असुखं दुःखम् । मध्यमं तदुभयसाधनम् ॥ ९ ॥

विज्ञातः सर्वेषां भुवनत्रयवस्तूनां सारो येन । अत एव श्रीमत्

स्वतः सर्वतः प्रकाशेन शोभमानं यद्रसायनं निरतिशयसुखम-

सृष्टं च तन्मयः । अत एव च आसमन्तात्पीनं पुष्टं मण्डलं

येस्य तादृशो यः शशाङ्कः पूर्णचन्द्रस्तत्कल्पः परं परमात्मानम-

भ्युपेतस्तज्ज्ञो जीवन्मुक्तिसुखमेति । कुर्वन्नपि प्रारब्धोपनीतं

व्यवहारं न कुरुते । प्रतिबिम्बचेष्टायामिव न स्वस्य कर्तृत्वं

पश्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे

निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे तुर्ये स्थैर्योपायकथनं नाम पञ्चविंशत्युत्त-

रशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

उच्येते योगभूमीनामभ्यासक्रमलक्षणे ।

अन्तराले मृतौ भोगास्ततो जन्मान्तरे जयः ॥ १ ॥

‘जाग्रत्स्वेव सुषुप्तस्थः कुरु कर्माणि राघव’ इति चतुर्थभूमि-

काले रामं प्रति पञ्चमादिभूमिकास्थितिः संपाद्येत्युक्तम् ।

तत्संपादनकासौ रामः स्वजितजेतव्यभूमिकाविभागज्ञानाय तल-

क्षणानि तदभ्यासकर्म च पृच्छति—संस्तानामिति । भूमिकां

प्रति प्रतिभूमिकं योगिनः कीदृशानि विद्धानि भवन्ति । नी-

त्सार्या प्रतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां द्विवचनस्याव्ययीभावस्य वा

आवश्यकत्वात्तदकरणं छान्दसम् ॥ १ ॥ पृष्टं भूमिकाभ्यास-

कर्म कथयिष्यन्त्वसिष्ठस्तदधिकारिणं प्रवृत्तिशास्त्राधिकारिव्यावृत्तं

दर्शयितुं तौ विमज्य तयोर्लक्षणमेदोक्तिं प्रतिजानीते—प्रवृत्त-

श्चेति । पुमान् वेदमार्गस्थः पुरुषः ॥ २ ॥ तत्रादौ रागादिवो-

र्षनिर्परीतबुद्धेः प्रवृत्तस्य लक्षणमाह—क्रियदिति । तत् सर्व-

विषयक्षान्यत्वेन प्रसिद्धं निर्वाणं क्रियन्नाम् । न भोगरागिणा

बहुमतमित्यर्थः । उच्चावचभोगसंपन्ना संसृतिरेव मे वरम् ।

यथाहुः ‘अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स वाञ्छति । न तु

निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम ॥’ इति । एवंप्रकारेण

निश्चित्य कर्तव्यस्य नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मजातस्य यः कर्ता

पतावतात्मयत्नेन दुःखान्तोऽनन्त आप्यते ॥ ९

आपीनमण्डलशशाङ्कवदन्तरेव

श्रीमद्रसायनमयः सुखमेति तज्ज्ञः ।

विज्ञातसर्वभुवनत्रयवस्तुसारः

कुर्वन्न नाम कुरुते परमभ्युपेतः ॥ १०

स्वर्गापवर्गोन्मुखयोः शृणु लक्षणमेतयोः ॥ २

क्रियसन्नाम निर्वाणं धरं संसृतिरेव मे ।

इतिकर्तव्यकर्ता यः स प्रवृत्त इति स्मृतः ॥ ३

चलाणवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवाप्रवेशवत् ।

अनेकजन्मनामन्ते विवेकी जायते पुमान् ॥ ४

॥ ३ ॥ निवृत्तं लक्षयिष्यन् निवृत्तिहेतुं विवेकं वर्णयितुं तदौ-

र्कभ्याह—चलेति । यथा यादोगणकोटिमिः प्रचण्डपवनैर्वह-

वानलकंधनादिभिश्चात्यन्तचञ्चलपूर्वापरार्णवद्वयोदरे विहरतां

कूर्माणां ग्रीवाणामल्पतरेऽपि तरंगचलनादिप्रयुक्तमये अदित्ये-

वान्तःप्रवेशाः पुनर्निर्गमाश्वासंख्येयास्तद्दसंख्येयानां श्रुत्युमुख-

प्रवेशपुनर्निर्गमनलक्षणानां जन्मनामन्ते कश्चिदेव पुमान् वि-

वेकी जायते इत्यर्थः । अथवा क्षारार्णवस्थमहाकूर्मग्रीवा यथा

अनेकशः कण्ठच्छिद्रे प्रविश्य निर्गतापि क्षारार्णवरसमेवास्वाद-

यन्ती-तमेव बहुमन्यमाना आप्रलयं न क्षीरार्णवरसं जानाति ।

अन्ते कल्पान्ते तु चक्षुषोः क्षारक्षीरार्णवयोर्मिलनावसरे तदु-

भयोदरलक्षणच्छिद्रे ग्रीवाप्रवेशे क्षीररसमास्वाद्य क्षाररसाक्षी-

ररसस्य विवेकिनी भूत्वा तदासक्त्य जायते तद्वज्जीवोऽपि प्राग्वि-

षयरसानेव बहुमन्यमानोऽनेकजन्मनामन्ते भाग्योदयादध्या-

त्मशास्त्ररसमास्वाद्य विवेकी तदासक्तो जायते इत्यर्थः ॥ अथवा

अमृतोत्पादनाय देवाह्वरैः समुद्रमथने क्रियमाणे यथा मन्थाच-

लाधारस्य कूर्मभूतस्य भगवतः समस्तभुवनाधारोदरत्वादन्तर्ब-

हिष्य मध्यमानचलाणवयुगस्य च्छिद्रे क्व प्रथमममृतमुत्पद्यते इ-

त्यास्वादनेन परीक्षार्थं प्रवृत्ता ग्रीवा अनेकेषामन्तःप्रवेशाद्भिर्नि-

र्गमनजन्मनामन्ते अन्तर्बहिर्वा यत्रैव प्रथमममृतमुत्पन्नं तत्रैव

तदास्वाद्य क्षीरमृतविवेकिनी जायते तद्वदयं मुमुक्षुरपि श्रवणो-

पायेन बहिर्गमननिदिध्यासनाभ्यामन्तश्च ब्रह्मात्मतत्त्वविवेकाय

प्रवृत्तः पुमाननेकजन्माभ्यासवशादन्ते अन्तरेव बहिः श्रवणाव-

सरे वा साक्षाद्विवेकेन निरतिशयानन्दमास्वादयतीत्यर्थः । अथ-

वा चलयोरर्णवयोर्गुणस्य सुरमस्य च्छिद्रे मध्यवर्तितीरविवरे कू-

र्मस्य ग्रीवया साधनभूतया प्रवेशे सति यथा पुरतो निर्गमने प-

श्वाश्विवर्तने तथैव च्छिद्रावस्थाने वा न कापि विश्रान्तिस्तथा

प्राप्तं न भवसागरं परित्यज्य भवान्तरे प्रति विविशोर्जीवस्य न

कापि विश्रान्तिः । तथाहि । प्राक्तने जन्मनि जरामरणादिदुःख-

परम्पराभाविनि, बाल्यादिदुःखसन्ततिर्बध्यवर्तिनि जातनावेहे

असारा बत संसारव्यवस्थालं ममैतया ।
किं कर्मभिः पर्युषितैर्दिनं तैरेव नीयते ॥ ५ ॥
क्रियातिशयनिर्मुक्तं किं स्याद्विधमणं परम् ।
इति निश्चयवान्योऽन्तः स निवृत्त इति स्मृतः ॥ ६ ॥
कथं विरागवान्भूत्वा संसाराब्धिं तराम्यहम् ।
एवंविचारणपरो यदा भवति सन्मतिः ॥ ७ ॥
विरागमुपयात्यन्तर्भावनास्वनुवासरम् ।
क्रियासुदाररूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ॥ ८ ॥
ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सति ।
नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते ॥ ९ ॥
मनोनुद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते ।
पापादिमेति सततं न च भोगमपेक्षते ॥ १० ॥
क्षोदप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च ।
देशकालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषते ॥ ११ ॥
तदासौ प्रथमामेकां प्राप्नो भवति भूमिकाम् ।
मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते ॥ १२ ॥
यतः कुतश्चिदानीय ज्ञानशास्त्राण्यवेक्षते ।
एवंविचारवान्यः स्यात्संसारोत्तारणं प्रति ॥ १३ ॥
स भूमिकावानित्युक्तः शेषः स्वार्थ इति स्मृतः ।

गर्भवासे वा महद्दुःखमिति । इत्थं दुःखमयानामनेकेषां जन्म-
नामन्ते पुमान्कुतश्चित्पुण्यपरिपाकाद्विवेकी जायते ॥ ४ ॥
कीदृशो विवेकोऽस्य जायते समाह—असारेत्यादिना । विविधा
विरुद्धा चावस्थितिर्व्यवस्था असारा विश्रान्तिमुखहीना । पर्यु-
षितैरेनुचितपरिणामैः ॥ ५ ॥ क्रियाप्रयुक्तैरतिशयैरुत्पत्त्या-
सिर्विकृतिसंस्कारैर्निर्मुक्तं कूटस्थमित्यर्थः । इति विचार्य
तदवश्यं संपादनीयमिति निश्चयवान् ॥ ६ ॥ तस्य प्रथम-
भूमिकाप्राप्तिक्रममाह—कथमित्यादिना ॥ ७ ॥ भावनासु
भोगतत्साधनचिन्तासु । विरागं वैरस्यम् । उदाररूपासु चित्त-
शुद्ध्यनुकूलासु शौचसत्सङ्गेश्वरोपासनजपादिरूपासु क्रियासु क्रमते
सज्जते । तेन चान्नहं चित्तशुद्ध्युपचयेन तृष्णाक्षयान्मोदते
॥ ८ ॥ विचिकित्सति जुगुप्सते । मर्माणि परेषां रहस्य-
दोषाजोदाहरति न भाषते ॥ ९ ॥ परेषां स्वस्य च मनसः अनु-
द्वेगकरणि मृदून्यल्पायासमहाफलानि यमनियमादिकर्माणि
सेवते । भोगे च पापावश्यभावात् न अपेक्षते ॥ १० ॥ पेशला-
न्यनुद्वेगकराणि । उचितानि सत्यप्रियहितादिरूपाणि ॥ ११ ॥
एवंगुणविशिष्टपुरुषस्य सच्छास्त्रश्रवणाधिकारलक्षणायां प्रथम-
भूमिकायामवतार इत्याह—तदेति । सज्जनान् शान्तिदान्ति-
ज्ञानविज्ञानसंपन्नान् ॥ १२ ॥ यतः कुतश्चित्तत्सेवानुकूलं घना-
दिसाधनमानीय तान्सेवमानस्तन्मुखाज्ज्ञानशास्त्राणि पुराणमो-
क्षधर्माध्यात्मसंहितादीन्यवेक्षते शृणोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ भूमि-
कावान्प्रथमभूमिकाप्रविष्ट इत्युक्तः । शेषः उक्तसाधनचतुष्टया-
दिसंपत्तिहीनस्त्वध्यात्मग्रन्थासक्तोऽपि रागादिना अनधिकारि-

विचारनास्त्रीमितरामागतो ॥ १४ ॥
श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणाम् ।
मुख्यया व्याख्यया ख्याताब्धयते श्रेष्ठपण्डितान् ॥ १५ ॥
पदार्थप्रविभागज्ञः कार्योकार्यविनिर्णयम् ।
जानात्यधिगतध्वन्यो गृहं गृहपतिर्यथा ॥ १६ ॥
मदाभिमानमात्सर्यमोहलोभातिशायिताम् ।
बहिरप्याश्रितामीषत्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ १७ ॥
इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवनात् ।
सरहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥ १८ ॥
असंसङ्गामिधामन्यां तृतीयां योगभूमिकाम् ।
ततः पतत्यसौ कान्तः पुष्पशय्यामिवामलाम् ॥ १९ ॥
यथावच्छास्त्रवाक्यार्थं मतिमाधाय निश्चलम् ।
तापसाश्रमविश्रामैरध्यात्मकथनक्रमैः ॥ २० ॥
संसारनिन्दकैस्तद्वैराग्यकरणक्रमैः ।
शिलाशय्यासमासीनो जरयत्यायुराततम् ॥ २१ ॥
घनवासविहारेण चित्तोपशमशोभिना ।
असङ्गसुखसौम्येन कालं नयति नीतिमान् ॥ २२ ॥
अध्यासात्साधुशास्त्राणां करणात्पुण्यकर्मणाम् ।
जन्तोर्यथावदेवेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ॥ २३ ॥

जनप्रतारणेनार्जनादिना उदरभरणशीलत्वात्स्वार्थो वञ्चक इत्यर्थः ।
सेयं शुभेच्छाख्या प्रथमा भूमिका । तस्य क्रमेण द्वितीय-
भूमिकाप्रवेशक्रममाह—विचारेति । भूमिकामागतः अधि-
कारप्राप्त्याऽवतीर्णः ॥ १४ ॥ स तत्र किं करोति तदाह—
श्रुतीति । श्रुतीनां स्मृतीनां सदाचाराणां धारणाध्यानकर्मणां
साध्येन समाधिना साधनैश्च यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारैः
प्रतिपाद्ये यस्य योगशास्त्रस्य तस्य च मुख्यया अनुष्ठानानुष्ठाप-
नफलोपहितया व्याख्यया व्याख्यानैर्न ख्यातान् । आत्मतत्त्वा-
नुभवोपदेशकुशलत्वाच्छ्रेष्ठान्पण्डितान् गुरुन् भ्रूयते श्रवणमन-
नादिविचारय शरणं गच्छतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'तद्विज्ञानार्थं स
गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इति ॥ १५ ॥
स्वयं व्याकरणाद्यज्ञाभिज्ञत्वात्पदानां तदर्थानां च वाच्यलक्ष्यादि-
रूपाणां लक्षणादिप्रविभागज्ञः, शिष्यो गुरुमुखादधिगतध्वन्यः
सन् कार्यं साध्यं कर्मकाण्डार्थैस्तद्विलक्षणमकार्यं सिद्धं ब्रह्मकाण्डा-
र्थैस्तयोर्विनिर्णयं गृहपतिः स्वगृहकोष्ठविभागमिव स्पष्टं जानाति
॥ १६ ॥ बहिलोकमर्यादानुसारेणेषदाश्रितामपि । अनेन
प्रथमभूमिकायामेव तेषामन्तर्निवृत्ततां दर्शिता ॥ १७ ॥
शास्त्ररहस्यं परमतात्पर्यं प्रमाणासंभावनानिरासेनाधिगच्छति ।
गुरुसज्जनाभिमतमात्सरहस्यं प्रमेयासंभावनानिरासेनाधिगच्छति
॥ १८ ॥ एवं द्वितीयभूमिकां जितवतस्तृतीयभूमिकाप्रवेश-
माह—असंसङ्गेति । ततस्तृतीयां भूमिकां पतति प्रविशति
॥ १९ ॥ यथावदिति श्लोकद्वयं यथायोगं पूर्वभूमिकाद्वयानु-
वादः ॥ २० ॥ २१ ॥ ग्रामवासे विक्रोपबाहुल्येन समाध्यध्या-
सानिर्वाहान्नवासविहारेण ॥ २२ ॥ तत्र चित्तप्रसादे व्युत्थान-

तृतीयां भूमिकां प्राप्य बुधोऽनुभवति स्वयम् ।
 द्विःप्रकारमसंसङ्गं तस्य भेदमिमं शृणु ॥ २४
 द्विविधोऽयमसंसङ्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च ।
 नाहं कर्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः ॥ २५
 इत्यसंजनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम् ।
 प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव च ॥ २६
 सुखं वा यदि वा दुःखं कैवाच मम कर्तृता ।
 भोगाभोगा महारोगाः संपदः परमापदः ॥ २७
 वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयो धियः ।
 कालः कवलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम् ॥ २८
 अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम् ।
 वाक्यार्थलक्षणमनसः सामान्योऽसावसंगमः ॥ २९
 अनेकक्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् ।
 वियोगेनासतामन्तः प्रयोगेणात्मसंविदाम् ॥ ३०
 पौरुषेण प्रयत्नेन संतताभ्यासयोगतः ।
 करामलकवद्वस्तुन्यागते स्फुटतां ददम् ॥ ३१
 संसारान्बुनिधेः पारे सारे परमकारणे ।
 नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राकृतं मम ॥ ३२

कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम् ।
 यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ ३३
 यन्नान्तर्न बहिर्नाथो नोर्ध्वं नाशासु नाम्बरे ।
 न पदार्थे नापदार्थे न जडे न च चेतने ॥ ३४
 आसितं भासनं शान्तमभासं नभसा समम् ।
 अनाद्यन्तमजं कान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ ३५
 संतोषामोदमधुरः सत्कार्यामलपल्लवः ।
 चित्तनालाग्रसंलीनो विघ्नकण्टकसंकटः ॥ ३६
 विवेकपद्मो रुढोऽन्तर्विचारार्कविलासितः ।
 फलं फलत्यसंसङ्गां तृतीयां भूमिकामिमाम् ॥ ३७
 समवायाद्विशुद्धानां संचयात्पुण्यकर्मणाम् ।
 फाकतालीययोगेन प्रथमोदेति भूमिका ॥ ३८
 भूमिः प्रोदितमात्रा तैरमृताङ्कुरिकेव सा ।
 विवेकेनाम्बुसेकेन रक्षया पाल्या प्रयत्नतः ॥ ३९
 येनांशो नोल्लसत्येषा विचारेणोदयं नयेत् ।
 तमेवानुदिनं यत्नात्कृषीवल इवाङ्कुरम् ॥ ४०
 एषा हि परिमृष्टान्तरन्यासां प्रसवैकभूः ।
 द्वितीयां भूमिकां यत्नात्तृतीयां प्राप्नुयात्ततः ॥ ४१

काले पूर्वभूमिकाद्वयधर्मानुवृत्तिरुपावश्यकीति दर्शयति—
 अभ्यासादिति ॥ २३ ॥ असंज्ञसुखसौम्येनेत्युक्तिं विभज्य
 व्याचष्टे—तृतीयामिति ॥ २४ ॥ सामान्यः पूर्वभूमिकासाधारणः ।
 स्वदेहक्रियाफलयोर्न कर्ता न भोक्ता चेत्युदासीनः । परक्रिया-
 फलानां च न बाध्यो बाधकश्चेत्यसङ्गः ॥ २५ ॥ इति निश्च-
 येन । अर्थेषु दृश्येष्वसंजनमनभिष्वङ्गः । सामान्यासंसङ्गमेव
 दृढीकर्तुं प्रपद्यति—प्राक्कर्मैति सार्धत्रिभिः । सुखं वा प्राप्य-
 माणं यदि वा दुःखं प्राप्यमाणं सर्वं प्राक्कर्मनिर्मितं कर्मस्वात-
 न्त्यपक्षे । ईश्वरस्वातन्त्र्यपक्षे त्वीश्वराधीनमेव । वाशब्द उत्तर-
 पक्षस्य ग्रामाणिकत्वद्योतनार्थः ॥ २६ ॥ पक्षद्वयेऽपि ममास्वा-
 तन्त्र्यास्वतन्त्र्यः कर्तृत्वानुशासनिकी कर्तृता कैव न काचिदपी-
 त्यर्थः । असंसङ्गोऽप्युक्तानन्यानप्यनास्थाहेतुन्मावेव दर्शयति—
 भोगा इति ॥ २७ ॥ २८ ॥ इयमनास्थापि ध्वनादिसाहाय्येन
 बाधयार्थज्ञानासक्त्यैवासंसङ्गसुखाय नान्यस्येत्याह—वाक्या-
 र्थेति ॥ २९ ॥ अयं चासंसङ्गः पूर्वभूमिकयोरेव सत्सङ्गाधुपायैः
 सम्यग्भ्यसनीय इत्याह—अनेनेति । श्रवणमननात्मिकानामा-
 त्मसंविदां प्रयोगेण आवर्तनेन । तथा च भगवतो वादरायणस्य
 सूत्रं 'आवृत्तिरसङ्गदुपदेशात्' इति ॥ ३० ॥ आत्मवस्तुवि-
 प्रमाणप्रमेयासंभावनाद्वयनिरासेन स्फुटतां इत्यमेवात्मवस्तुवति
 विश्वासगोचरतामागते सति ॥ ३१ ॥ सप्तम्यन्तत्रयं पूर्वा-
 न्नयि बलुनीत्यस्य विशेषणम् । धेष्ठासंसङ्गं दर्शयति—नाहं-
 मित्यादिना । नाहं कर्ता कित्तीश्वर एव कर्ता । मम प्राकृत-
 मिदानीं क्रियमाणं वा कर्म नास्तीत्यादिनिरासतत्प्रतियोग्यादि-
 विकल्पशब्दाधर्मेदनामपि । दूरतरे कृत्वा यन्मौनमासनमिति

परेणान्वयः ॥ ३२ ॥ मौनं वाङ्मनश्चक्षुरादिचेष्टाशून्यं निदि-
 ध्यासनपरिपाकफलनिर्विकल्पसमाधिना यत् भासनमवस्थानम्
 ॥ ३३ ॥ यद्ब्रह्मैकरसविलीनचित्तवृत्त्यात्मकमासितम् । अन्तर्वा-
 द्यादिसर्ववस्तुवाल्ग्वनशून्यमित्यर्थः । चेतने विदाभासे । सर्वो
 विषयसप्तम्यः ॥ ३४ ॥ यत् आसितं भासनं स्वप्रकाशचिद्रूपम् ।
 अभासं प्रकाशकान्तरशून्यम् ॥ ३५ ॥ स चायं समाधिः सदा-
 चारोपबृंहितविवेकस्य फलमिति बलुं विवेकं पद्मत्वेन रूप-
 यति—संतोषेति । सत्कार्याणि निष्कामकर्माणि उपासनगुह-
 शुभूषाध्वणादीन्येव पल्लवा यस्य । चित्तलक्षणनालाग्रे संलीनै
 रागादिवासनाप्रभवैर्बहुतरविघ्नकण्टकैः संकटो निविडितः ॥ ३६ ॥
 सोऽयमसंसङ्ग एव तृतीया भूमिकेत्याह—फलमिति ॥ ३७ ॥
 प्रथमभूमिकैवानेकजन्मसंचितसुकृतपरिपाकैरेहिकपुण्यसंचयश्च दे-
 वादङ्कुरिता चेत्सैव सत्संगमादिना महता यत्नेन रक्षणीया सा
 चेदक्षिता अनायासेनैव द्वितीयादिभूमिकाः सेत्स्यन्तीति तत्रैव
 यत्नाधिक्यमुपदिशति—समवायादिति । विशुद्धानां तर-
 विदां समवायादानमानभजनाधुपायैर्मलनात् ॥ ३८ ॥ समवेतैस्तैः
 किं कार्यं तदाह—भूमिरिति । यतस्तैर्विशुद्धैः सा शुभेच्छल-
 क्षणा भूमिरीषच्छुभप्रवृत्त्युन्मुखतया प्रोदिता मेघैरङ्कुरिता भूमि-
 रिव प्रतिदिनं विवेकोपदेशलक्षणेनाम्बुसेकेन यथा अमृता
 अम्लाना भवति तथा रक्षया वर्धनीया दुष्प्रवृत्त्यादिविघ्ननिवारण-
 यत्नेन पालनीया चैत्यर्थः ॥ ३९ ॥ एषा शुभेच्छा साधन-
 चतुष्टयमध्ये वैराग्यलक्षणेन शान्त्यादिलक्षणेन वा येनोदयेन
 प्रथममङ्कुरितोऽस्ति तमेनांशं विचारेणोदयमभिर्हति नयेत्
 ॥ ४० ॥ एकोऽंशोऽभिर्वर्धितोऽन्या उत्तरभूमिकश्च स्वमेव

श्रेष्ठा संसङ्गता ह्येषा तृतीया भूमिकात्र हि ।
भवति श्रेष्ठिताशेषसंकल्पकलनः पुमान् ॥ ४२
श्रीराम उवाच ।
मूढस्यासत्कुलोत्थस्य प्रवृत्तस्याधमस्य च ।
अप्राप्तयोगिसङ्गस्य कथमुत्तरणं भवेत् ॥ ४३
एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां चैतरां च वा ।
आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन्गतिः ॥ ४४
श्रीवसिष्ठ उवाच ।
मूढस्यारूढदोषस्य तावत्संस्मृतिरावता ।
यावज्जन्मान्तरशतैः काकतालीययोगतः ॥ ४५
अथवा साधुसंगत्या वैराग्यं नाभ्युदेति हि ।
वैराग्येऽभ्युदिते जन्तोरवश्यं भूमिकोदयः ॥ ४६
ततो नश्यति संसार इति शास्त्रार्थसंग्रहः ।
योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ॥ ४७
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ।
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ॥ ४८
मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ।
ततः सुकृतसंभारे दुष्कृते च पुरा कृते ॥ ४९
भोगजाले परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ॥ ५०

साधयिष्यतीत्याह—एषेति ॥ ४१ ॥ सोपायं वर्णितां तृतीयभूमिकां सफलमुपसंहरति—श्रेष्ठेति ॥ ४२ ॥ प्रसङ्गादन्तराले मूढेषु दयया रामः पृच्छति—मूढस्येति । आभिजात्याद्यधिकारिविशेषणहीनस्याध्यात्मकथाविमुखस्य कामभोगार्थमेव प्रवृत्तस्याधमस्य चोपायान्तरेण मोक्षोऽस्ति वा न वेति प्रथमप्रश्नार्थः ॥ ४३ ॥ आद्यभूमिकात्रये अपरोक्षज्ञानोदयाभावादेकद्वित्र्यादिरूढदशायां मृतस्य कीदृशी गतिरिति द्वितीयस्य ॥ ४४ ॥ आद्यप्रश्नस्योत्तरमाह—मूढस्येत्यादिसार्धद्वयेन । काकतालीययोगतः स्वविचारत एव वा साधुसंगत्या वा वैराग्यं यावन्नाभ्युदेतीति परेणान्वयः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ द्वितीयस्योत्तरमाह—योगभूमिकयेत्यादिना ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ दुष्कृतक्षयानुसारेण रमते इत्यर्थाद्भ्रम्यते । दुष्कृते चेति प्राक्तनानुवादः । न हि तस्य नरकादिभोगोऽस्ति 'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्गतिं तात गच्छति' इति भगवद्वचनात् । आनुषङ्गिकं दुःखभोगाभिप्रायं वा । स्वर्गिणामपि शरीरमानसादिदुःखसहस्रसत्त्वात् ॥ ४९ ॥ भोगजाले भुज्यमाने सुकृतसंभारे दुष्कृते च परिक्षीणे सतीत्यन्वयः । योगिन इति जालाख्यायां बहुवचनम् ॥ ५० ॥ योगमेवेति । 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः' इति भगवद्वचनात् । तदेवाह—योगवासिता इति । परिपतन्त्यारोहन्ति ॥ ५१ ॥ प्रश्नयोरुत्तरमुक्त्वा प्रकृतमनुसरति—भूमिकात्रितय-

जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः ।
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तयोगभूमिक्रमं बुधाः ।
स्मृत्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम् ॥ ५१
भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम जाग्रदिति स्मृतम् ।
यथावद्देदुद्ध्येदं तज्जाग्रदिति दृश्यते ॥ ५२
उदेति योगयुक्तानामत्र केवलमार्यता ।
यां दृष्ट्वा मूढबुद्धीनामभ्युदेति मुमुक्षुता ॥ ५३
कर्तव्यमाचरन्कामकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥ ५४
यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम् ।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥ ५५
प्रथमायामङ्कुरितं द्वितीयायां विकासितम् ।
फलीभूतं तृतीयायामार्यत्वं योगिनो भवेत् ॥ ५६
आर्यतायां मृतो योगी शुभसंकल्पसंभृतान् ।
भोगान्भुक्त्वा चिरं कालं योगवाञ्छायते पुनः ॥ ५७
भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते ।
सम्यग्ज्ञानोदये चित्ते पूर्णचन्द्रोदयोपमे ॥ ५८
निर्विभागमनाद्यन्तं योगिनो युक्तचेतसः ।
समं सर्वं प्रपद्यन्ति चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥ ५९

मित्यादिना । आद्यभूमिकात्रये जाग्रच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह—यथावदिति । भेददर्शनगुणेन प्रसिद्धजाग्रत्साम्यादित्यर्थः ॥ ५२ ॥ निमित्तान्तरमप्याह—उदेतीति । आर्यता पूज्यता प्रयोजकसद्गुणोत्कर्षः । यां दृष्ट्वा । 'यथादाचरति श्रेष्ठः' इति न्यायादित्यर्थः ॥ ५३ ॥ तामेवार्थतामनार्यजनव्यावृत्तां प्रथमं लक्षयति—कर्तव्यमिति । कामं पर्याप्तं सर्वं नित्यनैमित्तिकं कर्मेत्यर्थः ॥ ५४ ॥ यथाचारं वृद्धाचारानुसारि । तत्रापि यथाशास्त्रम् । तत्रापि यथाचित्तं स्वचित्तं यत्कृत्वा प्रसीदति न पश्चात्तप्यते तादृशमेव । व्यवहारं लौकिकमपि ॥ ५५ ॥ तदेवार्थत्वं प्रथमभूमिकायां शुभेच्छायामङ्कुरितम् । द्वितीयभूमिकायां श्रवणादिप्रवृत्त्या विकासितम् । तृतीयभूमिकायां चित्तैकाग्र्यफलेन फलितमित्यर्थः ॥ ५६ ॥ तत्रान्तराले मृतानां निष्कामकर्मानुष्ठानक्षीणपापानां 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धो देवलोकः कादिभोगोऽपि शुभसंकल्पाहितसद्वासनासंभृतत्वाच्च काम्यकर्मानुष्ठायिनामिव रागादिदुर्वासनासंभरणेनाधःपातहेतुरित्याशयेनाह—आर्यतायामिति ॥ ५७ ॥ अज्ञाने ज्ञानविरोधिद्वैतवासनाजाले असंभावनाविपरीतभावनादोषे च क्षयमागते सति निष्प्रत्यूहान्महावाक्यादपरोक्षाखण्डाकारज्ञानोदये सति मूलज्ञानक्षयाद्योगिनश्चतुर्थीं भूमिकामिता गताः सन्तः सर्वं जगत्सममानन्दैकरसं पश्यन्तीति

ययोगतः । संसारस्य परामर्शवैराग्यं नाभ्युदेति हि ॥ २ ॥ वैराग्येऽभ्युदिते जन्तोरवश्यं भूमिकोदयः इति ।

१ मूढस्येत्यारभ्य संग्रह इत्यन्तसार्धश्लोकद्वयस्थानेऽयं पाठ उपलभ्यते 'मूढस्यारूढदोषस्य तावत्संस्मृतिरावता । यावज्जन्मान्तरशतैर्नोदिता प्रथमात्र भूः ॥ १ ॥ अथवा साधुसंगत्या काकतालीयो वा १३३

अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते ।
 पश्यन्ति स्वप्नबल्लोकांश्चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥ ६०
 भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थीं स्वप्न उच्यते ।
 विच्छिन्नशरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ॥ ६१
 सत्तावशेष एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः ।
 पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् ॥ ६२
 शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ।
 गलितद्वैतनिर्भासमुदितोऽन्तः प्रबुद्धवान् ॥ ६३
 सुषुप्तधन एवास्ते पञ्चमीं भूमिकामितः ।
 अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ॥ ६४
 परिशान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ।
 कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ॥ ६५
 षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात्क्रमति भूमिकाम् ।
 यत्र नास्त्र सद्रूपो नाहं नाप्यवहंकृतिः ॥ ६६
 केवलं क्षीणमननमास्ते द्वैतैक्यनिर्गतः ।
 निर्ग्रन्थिः शान्तसंदेहो जीवन्मुक्तो विभावनः ॥ ६७
 अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चिन्नदीप इव स्थितः ।

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे ॥ ६८
 अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ।
 किञ्चिदेवैव संपन्नस्त्वथ वैव न किञ्चन ॥ ६९
 पञ्चमीं भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ।
 विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका ॥ ७०
 अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा भवभूमिषु ।
 कैश्चित्सा शिवमित्युक्ता कैश्चिद्ब्रह्मेत्युदाहृता ॥ ७१
 कैश्चित्प्रकृतिपुंभावविवेक इति भाविता ।
 अन्यैरप्यन्यथा नानामेदैरात्मविकल्पितैः ॥ ७२
 नित्यमव्यपदेश्यापि कथंचिदुपदिश्यते ।
 सप्तैता भूमिकाः प्रोक्ता मया तव रघूद्वह ॥ ७३
 आसामभ्यासयोगेन न दुःखमनुभूयते ।
 अस्यत्यन्तमदोन्मत्ता मृदुमन्थरवारिणी ॥ ७४
 करिणी निग्रहव्याघ्रा महादशनशंसिनी ।
 सा चेन्निद्वयते नूनमनन्तानर्थकारिणी ॥ ७५
 तदेतासु सप्तग्रासु भूमिकासु नरो जयी ।
 करिणी मदमत्ता सा यावन्न विजितौजसा ॥ ७६

परेणान्वयः ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ व्यावहारिकसत्तया जग-
 ज्ञानसाम्याज्जाग्रत् । प्रातिभासिकसत्तया तद्ज्ञानसाम्यात्स्वप्न
 उच्यते । पञ्चम्यां भूमिकायां सुषुप्तिपदप्रवृत्तिनिमित्तं तत्साम्यं
 दर्शयति—विच्छिन्नेति । ‘सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभि-
 भूतः सुखरूपमेति’ इति श्रुतौ सुषुप्तौ सर्वविलयप्रसिद्धेरत्रापि
 प्रातिभासिकनिपुटीपरिशेषस्यापि विलयेन तत्साम्यादिति भावः ।
 विच्छिन्नस्य शरदभ्रखण्डस्य केवलाकाशमात्रपरिशेषलक्षणं विल-
 यमिव शुद्धचिन्मात्रपरिशेषलक्षणं स्वभावं प्रविलीयते प्रविलयेन
 प्राप्नोतीत्यर्थः । लिङ्गफलव्यापारांशयोर्मध्ये फलांशस्य विलय-
 शब्देन निष्कृष्यानुवादात्तस्य च व्यापारांशं प्रति कर्मत्वान्मृदु
 पचतीति क्रियाविशेषणेश्चिन्मात्राणि द्वितीया । अवशिष्ट-
 व्यापाराशमात्रं प्रविलीयते इति तिङन्तप्रकृत्योच्यते उदपे-
 पिनद्धीत्यत्रेव ॥ ६१ ॥ सत्ता चित्सत्ता तदवशेषः । सुषुप्तमिति
 पदं गौणं नाम यस्यास्त्वाम् ॥ ६२ ॥ उदित आविर्भूतस्वरूपः
 ॥ ६३ ॥ ‘सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानधन एव’ इति श्रुत्युक्तप्रज्ञान-
 धनतासाम्याद्वा तस्या सुषुप्तपदनामतेत्याशयेनाह—सुषुप्तेति ।
 आनन्दमयो ह्यानन्दभुगिति श्रुतिप्रसिद्धान्तर्मुखस्थानन्दास्वादन-
 साम्यादपि तत्रामतेत्याशयेनाह—अन्तर्मुखतयेति ॥ ६४ ॥
 विवासनः अत्यन्तोच्छिन्नस्वतोव्युत्थानवासनः सन्नित्यर्थः ॥ ६५ ॥
 सक्तसुषुप्तमपेक्ष्य तुर्याभिधानाम् । तल्लक्षणायाह—यत्रेत्या-
 दिना ॥ ६६ ॥ द्वैतवदैक्यस्यापि संख्यान्तरव्यावर्तकसंख्यात्वा-
 त्तदुभयवर्जितः । तत्रालन्तिकहृदयप्रस्थिसर्वसदेहभेदमाह—
 निर्ग्रन्थिरिति । ‘भियते हृदयमन्यिश्चिद्यन्ते सर्वसंशयाः’ इति
 श्रुतेरिति भावः ॥ ६७ ॥ अनिर्वाणः प्रारब्धभूतशरीरोऽपि

निर्वाणो मुक्तः । यथा चिन्नदीपः अनुपसीणोऽपि न ज्वलतीति
 निर्वाणः जडजगत्स्वभावेनान्तर्वहिश्च शून्यः ॥ ६८ ॥ अना-
 वृत्तानन्दस्वभावेन त्वन्तर्वहिश्च पूर्णः । तस्याद्वितीयरूपस्य
 सत्सारदशायां कदाप्यप्रसिद्धत्वेन किञ्चिदपूर्वेण परमाक्षर्यरूपेण
 संपन्नः । वास्तवदृष्ट्या नित्यसिद्धत्वाच्च किञ्चन संपन्नः ॥ ६९ ॥
 सप्तमी भूमिका परिप्रौढा चेत्सैव मुक्ततेति ‘सप्तमी सा परिप्रौढा
 विषयः स्यान्न जीवताम्’ इति प्रायुक्तैत्यर्थः ॥ ७० ॥ वचसाम-
 गम्या । योगिमानसानुभवैकगम्येत्यर्थः । न च जीवतः सप्तमी
 भूमिकैव नास्तीति योगिमानसानुभवगम्यतापि तस्या नास्तीति
 भ्रमितव्यम् । ‘सा सीमा भवभूमिषु’ इति तस्या भवभूमिमध्य-
 पातसीमात्वोक्तिविरोधापत्तेः । ‘आसामभ्यासयोगेन’ इत्युत्तरत्रा-
 भ्यसनीयत्वोक्तिविरोधाच्च । शिवमिति शैबेरुक्ता । ‘शिवमद्वैतं
 चतुर्थं मन्यन्ते’ इति श्रुत्यनुसारादिति भावः । ब्रह्मेति वेदा-
 न्तिभिः ॥ ७१ ॥ प्रकृतिपुंसोर्भावः अविविक्तावस्थितिस्यस्य
 विवेक इति सांख्ययोगिभिः । अन्यैर्जैमिनिसात्त्वतमाहेश्वरबुद्ध-
 र्हदादिभिः स्वर्गो वासुदेवः महेश्वरोऽनुपपन्नं विज्ञानमनुपपन्नसुख-
 मित्यादिखलुबुद्ध्यानुसारिविकल्पितैर्नानामेदैरन्यथान्यथा भाविते-
 त्यर्थः ॥ ७२ ॥ यदि वचसामगम्यं तर्हि कथमुपदिश्यते तत्राह—
 नित्यमिति । कथंचिद्भागवत्यागलक्षणाभ्युपायैरित्यर्थः ॥ ७३ ॥ परवै-
 राग्यदाह्यं सत्येव भूमिकासु प्रवेशो भवति नान्ययेति मत्तकरि-
 ष्याख्यायिकाच्छब्देन वर्णयितुमारभते—अस्तीत्यादिना ॥ ७४ ॥
 निग्रहव्याघ्रा सदा समरोचुका महत्त्वा दशनाभ्यां शंसनं शंसः
 प्रख्यातिसिद्धिरी । अस्तु सा किं ततस्तत्राह—सा चेदिति ॥ ७५ ॥
 तथैताः भूमिकाः निरुक्ताः अतस्तद्वचं विना नैकापि भूमिका जेतुं

को नाम सुभटस्तावत्संपत्समरभूमिषु ।

श्रीराम उवाच ।

कासौ प्रमत्ता करिणी काश्च ता रणभूमयः ॥ ७७ ॥
कथं निहन्यते चैषा क चैषा रमते चिरम् ।

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

रामेच्छा नाम करिणी इदं मेऽस्त्वितिरूपिणी ॥ ७८ ॥
शरीरकानने मत्ता विविधोल्लासकारिणी ।
मत्तेन्द्रियोप्रकलभा रसनाकलभाषिणी ॥ ७९ ॥
मनोगहनसंलीना कर्मदन्तद्वयान्विता ।
मदोऽस्या वासनाव्यूहः सर्वतः प्रसरद्वपुः ॥ ८० ॥
संसारदृष्टयो राम तस्याः समरभूमयः ।
भूयो यत्रानुभवति नरो जयपराजयौ ॥ ८१ ॥
इच्छानागी निहन्येषा कृपणाजीवसंचयान् ।
वासनेहा मनश्चित्तं संकल्पो भावनं स्पृहा ॥ ८२ ॥
इत्यादिनिबद्धो नाम्नामस्यास्त्वाशयकोशगः ।
धैर्यनाम्ना वराख्येण प्रसूतामवहेलया ॥ ८३ ॥
नार्गी सर्वात्मिकामेतामिच्छां सर्वात्मना जयेत् ।
थावद्वस्त्वदमित्येवमियमन्तर्विजृम्भते ॥ ८४ ॥
तावदुग्रा कुसंसारमहाविषविषूचिका ।

शक्येत्यर्थः ॥ ७६ ॥ सा यावन्न विजिता तावत्तदाकान्तासु
धुवसांसारिकसंपद्रूपास्वपि समरभूमिषु प्रवेष्टुमपि को नाम सुभटः
समर्थो योद्धेत्यर्थः । प्रश्नः स्पष्टः ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ 'क चैषा रमते'
इत्यस्योत्तरमाह—शरीरकानने इति । विविधदैव्यधावनशोक-
मोहाधुल्लासकरणशीला । मत्तानीन्द्रियाण्येवोग्राः कोपनाः कलभाः
शावका यस्याः । रसनाकलभाषिणी मधुरबृंहितसाधनं यस्याः
॥ ७९ ॥ प्रख्यातौ दन्तौ दर्शयति—कर्म इति । कर्म शुभाशुभरूपम् ।
मदमत्तेत्यत्रोक्तं मदं दर्शयति—मद इति । एवमप्रेऽपि योज्यम्
॥ ८० ॥ ८१ ॥ नागी करिणी । जीवसंचयान् प्राणिनिकायान्
॥ ८२ ॥ आशयकोशगश्चित्तकोशगतः । वृत्तिवैचित्र्यप्रयुक्त इति
यावत् । कथं निहन्यते चैषेति प्रश्नस्योत्तरमाह—धैर्येति ॥ ८३ ॥
सर्वात्मिकां ब्रह्मलोकान्तसर्वभोग्यगोचराम् । सर्वात्मना सर्वथा
सर्वमहमेवेति भावितेनात्मना वा । न हि नित्यलब्धात्मरूपतया
भाविते तृष्णा भवति किंत्विदमित्यलब्धतया दृष्टे इत्याह—
थावदिति ॥ ८४ ॥ संसारमहाविषविषूचिकारूपा तृष्णा तावदेव
विजृम्भत इत्यनुकुर्यते ॥ ८५ ॥ तृष्णैव संसारस्तत्क्षय एव
मोक्षभूमिकोदयहेतुत्वाम्मोक्षः । कथं वैराग्यस्य भूमिकोदयहेतुता
तद्दर्शयति—प्रसादेति ॥ ८६ ॥ रागादिपुरुषापरधमलिने चित्ते
श्रुत्याचार्याद्युपदेशवाक् पञ्चपत्रे जलविन्दुरिव न संश्लिष्यते ।
वैराग्यादिसाधनसंपन्ने तु आदर्शे तैलविन्दुरिव संश्लिष्य सती
अविशामलमार्जनेन प्रसादो ब्रह्माकारप्रथनानुकूल स्वच्छता
तत्कारिणी पर्यवस्यतीत्यर्थः । रागादेरनुदये उदितस्य छेदने
चोपायमाह—असंवेदनेति । इच्छारूपो भवाङ्कुरः संवेदनं
विषयस्मरणं तत्परित्यागमात्रेण नोदेति ॥ ८७ ॥ मनागभ्यु-

एतावानेव संसार इदमस्त्विति यन्मनः ॥ ८५ ॥
अस्य तूपशमो मोक्ष इत्येवं ज्ञानसंग्रहः ।
प्रसादकारिणी स्वच्छा निरिच्छे विमलाकृतौ ॥ ८६ ॥
तैलविन्दुरिवादर्थो विश्राम्यत्युपदेशवाक् ।
असंवेदनमात्रेण नोदेतीच्छाभवाङ्कुरः ॥ ८७ ॥
मनागभ्युदितैवेच्छा छेत्तव्यानर्थकारिणी ।
असंवेदनशस्त्रेण विषयेवाङ्कुरावली ॥ ८८ ॥
इच्छाविच्छुरितो जीवो विजहाति न दीनताम् ।
स्वसंवेदनयत्नस्तु तूष्णीमेवान्तरासनम् ॥ ८९ ॥
अवधानविनिर्मुक्तं सुप्तं शवशतं यथा ।
तां प्रत्याहारबद्धिशेनेच्छामत्सीं नियच्छत ॥ ९० ॥
इदं मेऽस्त्विति संवेगमाहुः कल्पनमुत्तमाः ।
अर्थस्याभावनं यत्तत्कल्पनात्याग उच्यते ॥ ९१ ॥
स्मरणं विद्धि संकल्पं शिवमस्मरणं विदुः ।
तत्र प्रागनुभूतं च नानुभूतं च भाव्यते ॥ ९२ ॥
अनुभूतां नानुभूतां स्मृतिं विस्मृत्य काष्ठवत् ।
सर्वमेवाशु विस्मृत्य गूढस्तिष्ठ महामतिः ॥ ९३ ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति तत् ।
असंकल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न भाव्यते ॥ ९४ ॥

दिताप्यसंवेदनशस्त्रेणैव छेत्तव्या ॥ ८८ ॥ विच्छुरितो व्यासः ।
दीनतां भोगकार्पण्यम् । असंवेदनस्वरूपं व्युत्पादयति—स्वसं-
वेदनेति । सुष्ठु असंवेदनं स्वसंवेदनं तदनुकूलो निरोधयत्नः
प्रत्याहारयत्नश्च चित्तस्थान्तस्तूष्णीं निर्व्यापारतया आसनम्
॥ ८९ ॥ तच्चाभ्यासकाले सावधानतारूपं परिपाककाले त्वव-
धानविनिर्मुक्तं सुषुप्तिभरणावस्थयोरिव स्वत एव संपद्यत इत्या-
शयेनाह—अवधानेति । तामनर्थकारिणीमिच्छामत्सीं प्रत्या-
हारलक्षणेन बद्धिशेनाकृष्य नियच्छत बध्नीतेति सर्वान् श्रौतृ-
न्प्रत्युक्तिः ॥ ९० ॥ ननु प्राक्कल्पनात्यागादेव मुक्तिरिति बहु-
शस्त्वयोक्तमिदानीमिच्छात्यागादिति कथमुच्यते तत्राह—इदं
मेऽस्त्विति । संवेगं चित्तधावनं विषयानुसंधानलक्षणकल्पना-
फलावस्थेयमिति कल्पनमाहुरित्यर्थः । भावनं स्मरणम् ॥ ९१ ॥
संकल्प एव सर्वानर्थमूलमिति प्राक्तनोक्तीनामप्ययमेवाभिप्राय
इत्याशयेनाह—स्मरणमिति । कथं तर्हि स्मृतिसंकल्पपदयोर-
पर्यायता तत्राह—तत्रेति ॥ ९२ ॥ संकल्पे अननुभूतमपि भाव्यत
इति विशेषादपर्यायत्वेऽपि भूमिकारुहं भिर्हेयत्वेन कश्चिद्विशेष
इत्यभेदोऽत्र विवक्षित इत्याशयेनाह—अनुभूतामिति ॥ ९३ ॥
इदानीं परमकारुणिको वसिष्ठः सर्वजनानां विषयसंकल्पत्यागं
विना मोक्षो न सिध्यतीति तत्त्याग एवावश्यं कार्य इति समप्र-
वासिष्ठोपदेशरहस्यमाक्रोशेनापि दृढीकरिष्यन्नाह—ऊर्ध्वबाहु-
रिति । विरौमि उच्चैःखरेण पुनःपुनराक्रोशामि । एवं क्रिय-
माणमप्याक्रोशं बधिर इव सुप्तप्रमत्त इव च कश्चिदपि जनो न
शृणोति । शृण्वत्स्वपि च श्रवणफलादर्शनादुक्तिः । अन्तर्हृदि
किमर्थं न भाव्यते न विमृश्य कृतकृत्यतापर्यवसितः क्रियते ।

किल तूष्णीं स्थितेनैव तत्पदं प्राप्यते परम् ।
 परमं यत्र साम्राज्यमपि राम तृणायते ॥ ९५
 गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
 स्पन्दो विगतसंकल्पस्तथा स्पन्दः स्वकर्मसु ॥ ९६
 बहुनात्र किमुक्तेन संक्षेपादिदमुच्यते ।
 संकल्पनं परो बन्धस्तदभावो विमुक्तता ॥ ९७
 सर्वमेवमजं शान्तमनन्तं ध्रुवमव्ययम् ।
 पश्यन्भूतार्थचिद्रूपं शान्तमास्त्र यथासुखम् ॥ ९८
 अवेदनं विदुर्योगं शान्तमासितमक्षयम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० भो० निर्वा० पू० परमार्थस्वरूपवर्णनं नाम षड्विंशत्युत्तरादितमः सर्गः ॥ १२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२७

भरद्वाज उवाच ।

इति वरसुनिनोकं ज्ञानसारं पुराणं
 सकलमनुनिशम्य श्रीरघूणां कुलाग्र्यः ।
 विमलमतिरपृच्छत्किंचिदन्यत्स्वयं वा
 समसुखपरिपूर्णः पूर्णबोधस्थितोऽसौ ॥ १
 स खलु परमयोगी विश्वबन्धः सुरेशो
 जननमरणहीनः शुद्धबोधस्वभावः ।

न हि मन्दमध्यमाधिकारिणा सम्यग्ज्ञानमन्तरेणार्थसिद्धिरित्यर्थः ॥ ९४ ॥ तूष्णीं सर्वव्यापारोपरमेण स्थितेनैव पुनः तत्तादृशं परमं पदं प्राप्यते । किलेति श्रौतप्रसिद्धौ । तथा च श्रुतिः 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्' इति । परमं हैरण्यगर्भान्तमपि साम्राज्यसुखं यत्र भूमानन्दे तृणवत्पृच्छतामापद्यत इत्यर्थः ॥ ९५ ॥ ननु सर्वथा संकल्पत्यागे देहस्पन्दद्वयसिद्धेर्व्यवहारलोपे कथं जीवधनं तत्राह—गम्येति । यथा गन्तव्ये स्वशुद्धादिदेश एवैकनिष्ठः अनिच्छितचित्तवृत्तिधारणस्य तथाविधस्य पान्थस्य पादयोर्विगतसंकल्प एव प्रतिक्षणं स्पन्दो जायते तथा योगिनोऽपि विनैव संकल्पं पूर्वाभ्यासजीवनादृष्टवशादेवानिषिद्धस्वकर्मसु स्पन्दो भविष्यतीत्यर्थः ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ कया दृष्ट्या असंकल्पनं भवेत्तामाह—सर्वमिति । भूतार्थचिद्रूपं नित्यसिद्धपरमार्थचिद्रूपम् ॥ ९८ ॥ अवेदनं तादृशदृष्टिपरिणत्या अहंममेत्यध्यस्तसर्वभेदविस्मरणमेव जीवब्रह्मैक्यलक्षणं योगं विदुर्ब्रह्मनिदः । 'तं विद्याहुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' इति भगवता तथा व्याख्यातत्वादिति भावः । 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इति तद्वाक्यं तु लोकसग्रहेच्छं प्रत्येच्छिकविहितानुष्ठानार्थं न नियमार्थमित्याशयेनाह—योगस्थ इति । अथ समाधिपरस्वेन्मा कुरु ॥ ९९ ॥ यथासि भो इति । यथास्थितस्वरूपावाप्तौ यथास्थितस्थितेरेवोचितत्वादिति भावः ॥ १०० ॥ सा स्थितिरेव सर्वप्रपञ्चनिवृत्तिरूपत्वाच्चूडालोपदर्शितः सर्वत्यागोऽपीत्याह—शिवमिति ॥ १०१ ॥ विस्मरोकमनर्थतत्त्वं पुरुषार्थवत्त्वं च निष्कृष्य करतलमलकवद्दर्शयन्नुपसंहरति—अहंममेति ॥ १०२ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि निर्वासनोऽथ मा कुरु ॥ ९९
 अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् ।
 अत्यन्तं तन्मयो भूत्वा तथा तिष्ठ यथासि भो ॥ १००
 शिवं सर्वगतं शान्तं बोधात्मकमजं शुभम् ।
 तदेकभावनं राम सर्वत्याग इति स्मृतः ।
 भावयच्छब्दवन्तः स्वं कार्यं कर्म समाचर ॥ १०१
 अहंममेति संविदत्र दुःखतो विमुच्यते ।
 असंविदन्विमुच्यते यदीप्सितं समाचर ॥ १०२

सकलगुणनिधानं संनिधानं रमाया-

खिजगदुदयरक्षानुग्रहाणामधीशः ॥ २

श्रीबाल्मीकिरवाच ।

इति श्रुत्वा वसिष्ठस्य वाक्यं वेदान्तसंग्रहम् ।
 विदिताखिलविज्ञानो रामः कमललोचनः ॥ ३
 शक्तिपातवशोभेषप्रकटामलचिद्धनः ।
 मुहूर्तमासीदुद्धुद्धश्चैतन्यानन्दसागरः ॥ ४

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे परमार्थस्वरूपवर्णनं नाम षड्विंशत्युत्तरादितमः सर्गः ॥ १२६ ॥

इह रामस्य विश्रान्तिभरद्वाजोत्सुकोक्तयः ।

लक्षणं जाग्रदादीनां तुरीयं चोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

एतावत्पर्यन्तं श्रीवसिष्ठरामसंवादं आश्रित्वा रामविश्रान्तिस्मरणसंनिधापिते निरतिशयानन्दपूर्णतमनि विश्रान्तं तूष्णींभूतं गुरुं श्रीबाल्मीकि दृष्ट्वापि स्वयं तत्र विश्रान्त्यलाभादप्रेऽपि श्रवणोत्सुको भरद्वाजः पृच्छति—इतीत्यादि । हे गुरो, विमलमतिः श्रीरघूणां कुलाग्र्योऽसौ श्रीरामः वरसुनिना श्रीवसिष्ठेन इति वर्णितैर्बहुभिः प्रकारैकमुपदिष्टं पुराणं चिरंतनं ब्रह्मादिमहर्षिसंप्रदायागतं ज्ञानसारं निशम्य श्रुत्वा अप्रेऽपि जिज्ञासुः किंचिदपृच्छत् । अथवा एतावतैवोपदेशेन ध्यान्तसर्वसंदेहमोहः स्वयं समेन विषयवैचित्र्यप्रयुक्तारतम्यरहितेन साक्षात्कृतेनात्मसुखेन परिपूर्णः सन् पूर्णबोधात्मैव भूत्वा स्थितस्तद्वदेति शेषः ॥ १ ॥ ननु समाने प्रपञ्चश्रवणे त्वया स्वसंदेहमोहनिवृत्त्यनिवृत्तिभ्यामेव रामस्यापि चे कुतो नावधार्यते इति तु नाशङ्काम् । यतो मम रामस्य च महदन्तरमस्तीत्याह—स खल्विति । स नित्यसिद्धज्ञानयोगैश्वर्यानामृतचित्स्वभावः 'सर्वस्य वशी सर्वस्येज्ञानः' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्ध ईश्वरो जगत्पालनायावतीर्णो अगदुःसरपि सर्वलोकानुग्रहाय ज्ञानशास्त्रप्रवृत्त्यर्थं स्वेच्छया स्वस्याज्ञानमिव परिकल्प्य श्रोतुं प्रवृत्तः । अहं जनाद्यत्र एव सुसुखरूपतरसाधनसंपन्न इति महदन्तरमिति भावः ॥ २ ॥ एवं पृष्टे बाल्मीकिः प्रश्नद्वितीयकोटिमेव कथाशेषेण समर्थयन्नुत्तरमाह—इति श्रुत्वेत्यादिना ॥ ३ ॥ शक्तिपातः अखण्डाकर-

प्रश्नोत्तरविभागादिपरिपाटीविवर्जितः ।
 आनन्दामृतपूर्णासु रोमकण्टकिताङ्गकः ॥ ५
 महासामान्यरूपत्वाच्चिद्व्यापकतया स्थितः ।
 नित्यमष्टगुणैश्वर्यतृणप्रायमनोरथः ॥ ६
 न किञ्चिदूचे संपन्नः शिवे परिणतः पदे ।
 भरद्वाज उवाच ।
 अहो खलु ममाश्चर्यं रामः प्राप्तो महत्पदम् ॥ ७
 कथमेतादृशी प्राप्तिरस्माकं मुनिनायक ।
 मूर्खाः स्तब्धाश्च किञ्चिज्ज्ञा मादृशाः क्व च पापिनः ।
 क्व च ब्रह्मादिभिः प्रार्थ्या दुर्लभा रामसंस्थितिः ॥ ८
 अहो मुनीश्वरगुरो कथं विश्राम्यते मया ।
 दुष्पारस्य भवाम्भोधेस्तीर्यते तद्वदाशु मे ॥ ९
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 श्रीरामवृत्तान्तमशेषमादितो
 वसिष्ठवाक्यानुगतं निरूपितम् ।
 धिया विचार्यानु परामृश प्रभो
 मयापि तादृकथनीयमत्र ते ॥ १०

वाक्यजन्यचित्तवृत्तौ नित्यनिरतिशयानन्दात्मतत्त्वाविर्भावस्त-
 द्दशादविद्यासंपुटोद्घाटनलक्षणोन्मेषेण प्रकटामलचिद्धनः कुण्ड-
 लिन्याः सुषुम्नामार्गे षट्चक्राणि भित्त्वा ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशेन शिव-
 शक्तिसंयोगलक्षणो योगशास्त्रप्रसिद्धो वा । यस्तु भन्त्रशास्त्रप्र-
 सिद्धो गुरोः शिष्यानुग्रहातिशयेन स्वदेहं त्यक्त्वा शिष्यदेहे
 प्रविश्य तदीयनाडीपरिशोधनद्वारा तत्कुण्डलिन्याः सप्तचक्रेषु
 संचारणेन सर्वभुवनसमाचारापरोक्षप्रदर्शनरूपः शक्तिपातः स
 नेह विवक्षितः । श्रीरामस्य स्वयमीश्वरस्य सार्वभ्यादेः स्वतः-
 सिद्धतया तदनपेक्षणात्तेन लोकोपकारासिद्धेति । उद्बुद्धः
 स्वस्वरूपे जागरितो विकसितश्च ॥ ४ ॥ विभाग उक्तानुक्ता-
 शविवेचनम् । आदिपदाद्वाह्यार्थपर्यालोचनमात्रं गृह्यते । तद-
 र्थाभिः परिपाटीभिर्मनोबुद्धीन्द्रियादिव्यापारैर्विवर्जितः । आन-
 न्दामृतेन पूर्णो असवः प्राणा यस्य ॥ ५ ॥ महासामान्यं
 सर्वाधिष्ठानसन्मात्रम् । प्रत्यक्चित्तस्तद्रूपत्वसंपत्तेः । सर्वतश्चिद्व्या-
 पकतया पूर्णः स्थितः । स एवास्य निरतिशयानन्दाविर्भाव
 इत्याशयेनाह—नित्यमिति । अष्टगुणानामष्टसंख्यानामणिमादै-
 श्वर्याणां तृणप्राया मनोरथा लिप्सा यस्य ॥ ६ ॥ शिवे पदे नि-
 रतिशयानन्दवस्तुनि परिणत एकरसभूतः संपन्नः । इत्थमुत्त-
 माधिकारिणो रामस्य श्रवणादेर्ब्रह्मप्राप्तिमुपवर्ण्य मन्दसध्यमा-
 धिकारिणां चित्तशुद्ध्यर्थमुपासनाविशेषमवस्थात्रयविवेकदृश्यप्र-
 विलापनादिमननोपायांश्च वक्तुं तदवतारहेतुर् भरद्वाजोत्सुक्या-
 धीनरिष्टनेमये भगवान् वाल्मीकिर्वर्णयति—भरद्वाज उवाचे-
 त्यादिना ॥ ७ ॥ ८ ॥ दुष्पारस्य भवाम्भोधेर्मोहवारि इति शेषः
 ॥ ९ ॥ एवं पृष्टे वाल्मीकिः श्रुतग्रन्थचिन्तनावर्तनमेव प्रथमं
 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इति न्यायसिद्धमुपदिशति—श्रीरामेति ।

अविद्यायाः प्रपञ्चोऽयं नास्ति सत्यमिहाणवपि ।
 विवेचयन्ति विबुधा विवदन्त्यविवेकिनः ॥ ११
 नास्ति भिन्नं चितः किञ्चित्किं प्रपञ्चेन रुध्यसे ।
 अभ्यासेन रहस्यानां वयस्य विशदो भव ॥ १२
 प्रपञ्चविषया वृत्तिर्जाग्रन्निद्रेति कीर्तिता ।
 संप्रबुद्धस्तु यस्यान्तश्चित्प्रदीपो निरञ्जनः ॥ १३
 शून्यमूलः प्रपञ्चोऽयं शून्यताशिखरः सखे ।
 सारशून्यतया मध्येऽप्यनास्था सन्मनीषिणाम् ॥ १४
 अनादिवासनादोषादसन्नेवायमीक्ष्यते ।
 गन्धर्वनगराकारः संसारो बहुविभ्रमः ॥ १५
 त्वमनभ्यस्य कल्याणीं चैतन्यामृतकन्दलीम् ।
 संमुह्यसि किमध्यास्य वासनाविषवीरुधः ॥ १६
 जाग्रदेतन्न पतितं ज्ञानालम्बग्रहादधः ।
 न सन्त्युपरि सर्वेषां ये निरालम्बसंविदः ॥ १७
 तावद्रूढा सुधाकाररसा संविन्महानदी ।
 न यावदात्मरूपेण निपुणैरवगाह्यते ॥ १८
 प्राङ्नास्ति चरमे नास्ति वस्तु सर्वमिदं सखे ।
 विद्धि मध्येऽपि तन्नास्ति स्वप्नवृत्तमिदं जगत् ॥ १९

तादृक् त्वदनुभवानुकूलमवस्थात्रयविवेचनादिकथनीयं कथ्यते
 शृण्वित्यर्थः ॥ १० ॥ मिथ्याभूताविद्याकार्यत्वादेव प्रपञ्चस्या-
 सत्त्वं चिदद्वैतसाम्राज्यं च बुद्धिमता बोद्धुं शक्यमित्याह—अ-
 विद्याया इत्यादिना । ननु प्रपञ्चस्याविद्याकार्यत्वं चेत् किमर्थं
 वादिनां विवादस्तत्राह—विवदन्तीति ॥ ११ ॥ मिथ्याद्वैतेन
 च वास्तवाद्वैतहानिरित्याह—नास्तीति । हे वयस्य सखे इति
 प्रीत्या संबोधनम् । रहस्यानां प्रणवमहावाक्याद्यर्थानां वक्ष्यमा-
 णोपासनानां च । विशदो विशुद्धचित्तो भव ॥ १२ ॥ तत्रादौ
 प्रणवप्रथममात्रार्थं जाग्रत्प्रपञ्चं स्फुटं तत्साक्षिविवेकाय मिथ्या-
 त्वेनोपपादयति—प्रपञ्चेत्यादिना । 'तस्य त्रय अवस्थास्त्रयः
 स्वप्नाः' इति श्रुतौ जाग्रदपि निद्रैवेति कीर्तिता ॥ १३ ॥ शून्य-
 मूलो मिथ्याभूताज्ञाननिदानः । शून्यतारूपमज्ञानमेव शिखरम-
 प्रमन्तो यस्य तथाविधः मध्येऽपि त्रिवृत्करणपृथक्क्रियाद्युपा-
 येन पर्यालोचने सारः सत्ता तच्छून्यतया प्रातिभासिकमात्रः
 प्रथते । अतस्तत्रानास्थैव युकेति शेषः ॥ १४ ॥ असतोऽपि
 सवासनाविद्यया दर्शनं गन्धर्वनगरादेः प्रसिद्धमित्याह—अना-
 दीति ॥ १५ ॥ वासनाविषवीरुधो विषवल्लीरध्यास्य आश्रित्य
 किं संमुह्यसि ॥ १६ ॥ तत्त्वदर्शनेन निरालम्बज्ञानरूपस्याल-
 म्बस्य चित्तस्थैर्यहेतोरवष्टम्भस्य परिग्रहादधः पूर्वमज्ञावस्थायामे-
 व 'एतज्जाग्रन्निपतितम्' उपरि तुर्यदशायां तु तिस्रोऽप्यवस्था न
 सन्ति । ये योनिनो निरालम्बसंविदस्तेषां सर्वेषामनुभवसिद्ध-
 मित्यर्थः ॥ १७ ॥ यावदज्ञानं तावत्कालमेव चिन्मया जगद्भुस्त-
 रङ्गविक्षेपप्ररोह इत्याह—तावदिति । रूढा दुस्तरङ्गप्रादुर्भाव-
 वती ॥ १८ ॥ आद्यन्तकालासत्त्वेन मध्येऽप्यसत्त्वमेव स्वभाव-
 वैपरीत्याघटनात्स्वप्नवदनुमेयमित्याह—प्रागिति । स्वप्नस्य वृत्त-

अविद्यायोनयो भेदाः सर्वेऽभी द्रुमुदा इव ।
 क्षणमुद्भूय गच्छन्ति ज्ञानैकजलधौ लयम् ॥ २०
 सुशीतलोदकनदीं विदित्वाथ विगाह्य ताम् ।
 बहिर्भ्रान्तिनिदाघास्ते निर्यान्तु कलितासुखम् ॥ २१
 एकश्चाक्षानजलधिर्जगदाप्लाव्य तिष्ठति ।
 ज्येष्ठोऽयमहमित्यूर्मिरविद्यावातसंभवः ॥ २२
 चित्तस्खलनमेदाली, रागाद्याश्च प्रकल्पिताः ।
 ममतोत्कलितावर्तः स्वतः स्वैरं प्रवर्तते ॥ २३
 रागद्वेषावतिग्राहौ गृहीतसमनन्तरः ।
 ततश्चानर्थपातालप्रवेशः केन वार्यते ॥ २४
 प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ।
 मज्ज मज्जसि किं द्वैतग्रहक्षाराब्धिर्वीचिषु ॥ २५
 कस्तिष्ठति गतः को वा कस्य केन किमागतम् ।
 किं नु मज्जसि मायायां पत मा त्वमतन्द्रितः ॥ २६
 तत्त्वमेकं यदात्मेति जगदेतत्प्रचक्षते ।
 ततोऽन्यः कस्तवातीतो यस्तात विषयः शुचाम् ॥ २७
 बालान्प्रति विधत्तेऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत् ।

मिव घृतं यस्य तद् ॥ १९ ॥ २० ॥ कलितमसुखं दुःखं य-
 स्मिन्कर्मणि तत्तथा निर्यान्तु । अचेतनेष्वपि निदाघेषु चेत-
 नत्वमारोप्योक्तिः ॥ २१ ॥ इदानीं भगवान्निश्चयस्य मज्जनं नि-
 वारयिष्यन्नज्ञानं क्षारसमुद्रत्वेन वर्णयति—एकश्चेत्यादिना ।
 स्वविकारभूतं जगदाप्लाव्य अभिव्याप्य । तस्य महोर्मिप्रथमजं
 दर्शयति—ज्येष्ठ इति । अविद्याप्रवाहोऽनादिभ्रान्तिवासना स
 एव वातस्तत्संभवः ॥ २२ ॥ अल्पतरङ्गान्दर्शयति—चित्तेति ।
 चित्तस्य तत्तद्विषयेषु ये स्खलनमेदास्तेषामालिः पङ्क्तिस्तद्धेतवो
 रागाद्याश्च प्रकल्पिताः, क्षुद्रतरङ्गा इति शेषः । तस्यावर्तं दर्श-
 यति—ममत्वेति ॥ २३ ॥ ग्राहौ प्रवर्तते इति विपरिणामेना-
 नुषज्यते । ताभ्यां गृहीतस्य तव समनन्तरः सञ्ज्ञितः अन-
 र्थपाताले मृत्युमुखे प्रवेशः केन वार्यते । गृहीतपदस्यासमर्थस्य
 समासश्छान्दसः ॥ २४ ॥ यदि नु समुद्रमज्जनं तवावश्यकं
 तर्ह्यनन्दसमुद्रे मज्जेत्याह—प्रशान्तेति ॥ २५ ॥ संसारस्ति-
 ष्ठति स च रामस्य तत्त्वबोधाद्गतो मम नु न गत इति शोकहेतुं
 मोहं वारयति—कस्तिष्ठतीति । अतन्द्रितो विवेकी त्वं मा पत
 ॥ २६ ॥ यदा प्रचक्षते व्यक्तं प्रतिपादयन्ति 'इदं सर्वं
 यदयमात्मा' इत्यादि वेदान्ता इत्यर्थः ॥ २७ ॥ येषामज्ञान-
 मस्ति तान्बालान्प्रति ब्रह्मणो जगदाकारविवर्तः ॥ २८ ॥
 अविविक्तः अविवेकी । ननु तत्त्वविदामपि कदाचिद्यामोहः
 कथं दृश्यते तत्राह—तस्येति । विडम्बनमज्ञचेष्टानुकरणमात्रम्
 ॥ २९ ॥ अन्येषां नु न तथा । तेषामविद्याच्छादितात्मनां
 जलेषु स्थलबुद्धिबद्धात्मस्वात्मताभ्रान्तेरित्याह—तच्चेति । यथा
 अज्ञलोकानां जलेषु स्थलमिति संशयो मतस्थलेषु च जलमिति
 संशयस्तथा कल्पितमेदेष्वात्मस्य संशयो भ्रम इत्यर्थः ॥ ३० ॥
 यदा परमाण्वादिमयजगदादिरीत्यापि विवेकेऽपि शोकप्रसक्ति-

अविवर्तितमानन्दमास्थिताः कृतिनः सदा ॥ २८
 अविविक्तो जनः शोचत्यकस्माच्च प्रहृष्यति ।
 तत्त्ववित्तु हसन्नास्ते तस्य मोहो विडम्बनम् ॥ २९
 तच्च सूक्ष्ममिदं तत्त्वं तिरोहितमविद्यया ।
 यथा स्थलेषु लोकानां जलेष्वात्मसु संशयः ॥ ३०
 पृथिव्यादिमहाभूतपरमाणुमयं जगत् ।
 स्थितं यदा तदापीह को गतो योऽनुशोच्यते ॥ ३१
 असतः संभवो नास्ति नास्त्यभावः सतः सखे ।
 आविर्भावतिरोभावाः संस्थानानाममी परम् ॥ ३२
 किंत्वेकपुरोत्साहाद्विषतामुपगच्छति ।
 भज संभरिताभोगं परमेशं जगद्गुरुम् ॥ ३३
 दुरितानि समस्तानि पच्यन्तेऽद्यापि न ध्रुवम् ।
 कृतमेवास्य देवस्य पाशा विश्रवतां गताः ॥ ३४
 साकारं भज तावत्त्वं यावत्सत्त्वं प्रसीदति ।
 निराकारे परे तत्त्वे ततः स्थितिरकृत्रिमा ॥ ३५
 इमामुद्दामतमसो जित्वा सत्त्वबलाद्भुवम् ।
 यमस्यानुसराध्वानं विश्वस्तेनान्तरात्मना ॥ ३६

नास्ति तदा मायामयजगद्वादे दूरापास्त्रैव सेत्याशयेनाह—पृ-
 थिव्यादीति । को गतो नष्टः । तन्मतेऽपि देहादेरनात्मत्वेन
 तत्राशे आत्मनाशमावादित्यर्थः ॥ ३१ ॥ प्रियनाशाद्धि शो-
 कप्रसक्तिः । स प्रियो यदि संसृद्धा न नश्यत्येव, यद्यसंस्तर्हि
 न स्थित एवेत्युभययापि तत्राशासिद्धेर्न शोकहेतुरस्तीत्याशये-
 नाह—असत इति । संस्थानानां मायिकसंनिवेशविशेषाणाम्
 ॥ ३२ ॥ ननु यदि मायिकमेव देहादिसंस्थानं तर्हि तदैन्द्रजा-
 लिकोपदर्शितमायाबहुदासीनं तदस्थं, मासतो शोकमोहदुःखा-
 दनर्थसहस्रदाने त्वस्य को हेतुस्तत्राह—किंत्विति । सत्यम् ।
 आधुनिको न कश्चिदेतुरस्ति किंत्वेकः पुरा संचितः पुण्यपापप्र-
 वृत्तिलक्षण उत्साहः पुरुषप्रयत्नः पुण्यपापाख्यस्तद्धेतुरस्ति । त-
 सादेवायं मायिको देहादिस्तद्गोचय विषतां विषवन्मरणमूर्च्छा-
 दनर्थसहस्रहेतुतामुपगच्छति, अध्यात्मज्ञानप्राप्त्यर्थं च शत-
 शोऽप्युपदिष्टः पापवशादेव हृदि जारोहति, अतस्तत्पापसयाय
 सगुणेश्वरोपासनं कुर्वित्याह—भजेति । भक्तानुग्रहाय संभरितः
 सम्यग्भूत आभोगो नश्यमाणार्धनारीश्वरादिवेषो येन तम्
 ॥ ३३ ॥ अद्यापि न पच्यन्ते न क्षीणानि त्वेति शेषः । ध्रुव-
 मिति वितर्कः । प्राणिकृतं पुण्यपापात्मकं कर्मवास्य पशुपतेर्दे-
 वस्य प्राणिपशुवन्धनपाशाः विश्रवतां विविधश्रुत्यादिप्रमाणप्र-
 सिद्धताम् ॥ ३४ ॥ सत्त्वं चित्तं प्रसीदति विशुध्यति । ततस्तत्सा-
 द्र्यजनादकृत्रिमा विघ्नैरबाध्यत्वात्सहजा मविध्यतीति शेषः ।
 तथा च श्रुतिः 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं
 प्रशान्तम् । ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसारिं तमसः
 परस्तात्' इति ॥ ३५ ॥ ईश्वरोपासनश्च सत्त्वबलाद्भामोहसह-
 स्रैरुद्दामतमस इमां प्रसिद्धा व्यामोहशक्तिं जित्वा गुरुता-
 लोपदेशविधासवता मनसा यमस्य सेन्द्रियमनोनियमतात्मकस-

समाधाय क्षणं पश्य प्रत्यगात्मानमात्मना ।
 इयं विभातु सा व्यक्तं प्राबुद्धिरजनी तव ॥ ३७
 कृतं पुरुषकारेण केवलेन च कर्मणा ।
 महेशानुग्रहादेव प्राप्तव्यं प्राप्यते नरैः ॥ ३८
 नाभिजात्यं न चारिष्यं न नयो न च विक्रमः ।
 बलवन्ति पुराणानि सखे कर्माणि केवलम् ॥ ३९
 अप्रतर्क्यात्प्रतीकारात्किमेवमवसीदसि ।
 न लुम्पति ललाटस्थामीश्वरोऽप्यक्षरावलिम् ॥ ४०
 क्व चिद्वक्ता क्व वैदग्ध्यं क्व चेयं मोहबल्ली ।
 अचिन्तनीया नियतिर्यदियं द्वन्द्वमाहिता ॥ ४१
 हे भरद्वाज मोहं त्वं विवेकेन जहि स्फुटम् ।
 असामान्यमिदानीं त्वं ज्ञानं प्राप्स्यस्यसंशयम् ॥ ४२
 दूरमुत्सहते राजा महासत्त्वो महापदि ।
 अल्पसत्त्वो जनः शोचत्यल्पेऽपि हि परिक्षते ॥ ४३
 बोधः पुण्यपराधीनः प्रथते बहुजन्मभिः ।
 अनुमीयेत धीरेषु जीवन्मुक्तेषु कार्यतः ॥ ४४

द्विषद्भूतेन येनैव कर्मणा बन्ध ईदृशः ।
 सुहृद्भूतेन तेनैव मोक्षमाप्स्यसि पुत्रक ॥ ४५
 सतां सत्कर्मसंवेगः पुराणं प्रणुदन्नयम् ।
 वर्षौघ इव भूतानां दवानलमसेचयत् ॥ ४६
 सखे संन्यस्य कर्माणि ब्रह्मणः प्रणयी भव ।
 नेष्यसे यदि संसारचक्रावर्तभ्रमः शमम् ॥ ४७
 तावदेतद्विकल्पोत्थमिदं यावद्बहिर्ग्रहः ।
 प्रतिकूलोऽब्धिरुल्लोले केवलं निश्चले जले ॥ ४८
 अयं किमन्धकरणस्त्वया शोकोऽवलम्ब्यते ।
 निर्वाहयतु सैव त्वां प्रज्ञायष्टिरमङ्गुरा ॥ ४९
 न जातु ते विगण्यन्ते गणनासु गरीयसाम् ।
 ये तरङ्गैस्तृणानीव ह्रियन्ते हर्षशोकयोः ॥ ५०
 समारूढं दशादोलामहोरात्रमिदं जगत् ।
 क्रीड्यते षड्विधैः प्रेङ्खैः सखे किमिति खिद्यते ॥ ५१
 सूते संहरति क्षिप्रं पुनः सृजति हन्ति च ।
 जगन्ति बहुपर्यायैः काल एव कुतूहली ॥ ५२

योगस्याध्वानमनुसर ॥ ३६ ॥ ततः क्षणं सुहृत्तद्वादशतमभाग-
 मपि समाधाय समाधिमाश्रित्य तेनात्मदर्शनेन तव प्राक्तमो-
 धृता बुद्धिरूपा रजनी रात्रिर्विभातु प्रभातभावं गच्छतु ॥ ३७ ॥
 ननु सत्कर्मानुष्ठानैरेव चित्तशुद्धिसिद्धेः किमर्थमीश्वरोपासनं
 तत्राह—महेशोति ॥ ३८ ॥ नन्वाभिजात्यसदाचारतपःकर्मा-
 द्यद्यतनपुरुषप्रयत्नानां प्राक्तनकर्मापेक्षया प्राबल्यं प्राक्साधितं
 तत्कथमिदानीमीश्वरानुग्रहापेक्षोच्यते तत्राह—नाभिजात्य-
 मिति । पुरातनकर्मणामनन्तत्वादिदानींतनपुरुषप्रयत्नानामल्पतर-
 त्वात्तेश्वरानुग्रहमन्तरेण तज्जयसिद्धिः । ईश्वरानुग्रहसाहाय्यं हृदि
 कृत्वैव प्रागैहिकप्रयत्नप्राबल्यं साधितं न तद्विहायेति भावः
 ॥ ३९ ॥ तर्हीश्वरोपास्तिरेव कार्यो किं यमनियमज्ञानादिभिस्त-
 त्राह—अप्रतर्क्यादिति । एवमीश्वरप्रपन्नोऽपि त्वमप्रतर्क्या-
 त्पौरुषतर्कागम्याच्छ्रुत्येकसमधिगम्यादूर्मादिसहितज्ञानलक्षणात्प्र-
 तीकारात्समूलसर्वकर्मनिरासोपायात्किमवसीदसि किमर्थमुद्दि-
 जसि । यत उपासनाप्रसादित ईश्वरोऽपि ललाटस्थामक्षरावलिं
 न साक्षात्स्वकरेण मार्जयति किंतु ज्ञानकृतमूलोच्छेदोपायेनैव-
 त्यर्थः ॥ ४० ॥ गुरुशास्त्रयोः शिष्यबोधनशक्तिः, शिष्यस्य च
 चित्तशुद्ध्या ऊहापोहकुशलतया बोद्धृताशक्तिः, रागादीनां च समू-
 लोच्छेदयोग्यताप्राप्तिलक्षणपरिपाक इति सर्वसामग्रीमिलनमपी-
 श्वरेच्छालक्षणनियतिवशादेवेत्याह—केति । वाङ्मनसागम्याया
 अखण्डज्ज्ञात्मचितो वच्चा गुरुः क्व, शिष्यस्य च तद्बोधयोग्यता-
 लक्षणं वैदग्ध्यं कौशलं क्व, इयमेवं शमदमादिक्रमेण स्वविना-
 शाय परिणता मोहबल्ली क्व । यद्यस्याः सकाशादियं सर्वा सामग्री
 द्वन्द्वं परस्परमिलनमागता सा नियतिरीश्वरेच्छा अचिन्तनीया
 प्रभावेयत्तापरिच्छेदेन चिन्तयितुमशक्येत्यर्थः ॥ ४१ ॥ अत
 एवेदृशसामग्रीप्राप्ता मोहजयोत्साह एव युक्तो न त्वन्तराले

शोक इत्याह—हे भरद्वाजेति । असामान्यमसाधारणम् ॥ ४२ ॥
 किंच महत्यपि कार्ये शोकः सामग्रीहीनस्य युक्तो न तु महाराज-
 स्येव सर्वसामग्रीसंपन्नस्य तवेत्याशयेनाह—दूरमिति । महासत्त्वो
 राजा युद्धादिमहापदि निमग्नोऽपि धनमृत्त्यादिसामग्रीसंपन्नत्वाद्-
 न्येषां मनोरथदूरमपि पृथ्वीपरिपालनदुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालना-
 दिकार्यमाज्ञाभावेण कर्तुमुत्सहते । परिक्षते धनादिकृतिरूपाया-
 मापदि तदुत्तरणे हेतुधैर्यादिसामग्रीविरहादित्यर्थः ॥ ४३ ॥
 जीवन्मुक्ताग्निदर्शनीकृत्य पुण्यसामग्र्यां सत्यां मम बोधो भवि-
 ष्यत्येवेत्यनुमाय सोत्साहः पुण्यसामग्र्यर्जने प्रथमं प्रवर्ततेत्याश-
 येनाह—बोध इति ॥ ४४ ॥ ननु पापवत्पुण्यस्यापि बन्धकत्वा-
 द्विषद्भूतं पुण्यं कथमर्जनीयं तत्राह—द्विषद्भूतेनेति । सति
 रागे पुण्यं बन्धकं भवेत्तदभावे तु सुहृद्भूतं मोक्षोपयुक्तमेवेति
 भावः ॥ ४५ ॥ पुण्यातिशयेन प्राक्तनपापनाशे शमदमाद्य-
 मृताप्यायितानां त्रिविधतापशान्तिर्भवतीत्याह—सतामिति ।
 असेचयदिति भूतकालो न विवक्षितः ॥ ४६ ॥ पुण्यार्जनोत्तरं
 वैराग्यदाढ्यं यत्कार्यं तदुपदिशति—सखे इति । ब्रह्मणः
 प्रणयी श्रवणाद्युपायैर्ब्रह्मण्यासक्तः ॥ ४७ ॥ यावद्बहिर्ग्रहोऽब्रह्म-
 प्रणयिता । उल्लोले जले पयसि अब्धिः प्रतिकूलः कूलोपसर्पा
 विक्षिप्तः । निश्चले तु पयसि केवलं पय एव यथेत्यर्थः ॥ ४८ ॥
 अन्धकरणो विवेकदृष्टिपिधायकः । एवं शोकान्धं त्वां याव-
 द्विवेकदृष्ट्युद्घाटनं तावत्प्रज्ञायष्टिरैकैव निर्वाहयतु ॥ ४९ ॥
 हर्षशोकयोस्तरङ्गैः शुभोत्साहमङ्गैः ॥ ५० ॥ हर्षविषादादिद-
 शालक्षणां दोलाम् । इदं जगत् जीवजातम् । पञ्चमिभेदात्पटु-
 तुभेदात्कामादिरिपद्वेदाद्वा षड्विधैः प्रेङ्खैर्दोलायत्रैः क्रीड्यते
 कालेन । क्रीडतेरकर्मकादेतुमणिनि 'गतिबुद्धि-' इत्यादिना
 कर्तुः कर्मत्वे कर्मणि लः । न हि क्रीडाकौतुककल्पितेषु पदार्थ-
 संयोगवियोगेषु खेदो युक्त इत्यर्थः ॥ ५१ ॥ कुतूहली क्रीडा-

न विशेषग्रहः कश्चिन्न च कश्चिन्न कश्चन ।
जन्तुष्वभ्यवहार्येषु प्राक्तन्य कालभोगिनः ॥ ५३
का कथा मर्त्यपिण्डानां निमेषान्तरवासिनाम् ।
अपि देवनिकाया ये तेऽपि दुष्कालगोचराः ॥ ५४
स्वयं नृत्यसि किं भीतो विपत्तौ विकलेन्द्रियः ।
क्षणं निश्चलमासीनः पश्य संसारनाटकम् ॥ ५५
अस्यानेकतरङ्गस्य जगतः क्षणभङ्गिनः ।
न विपीदति मनस्वी भरद्वाज मनागपि ॥ ५६
त्यज शोकममङ्गल्यं मङ्गलानि विचिन्तय ।
चिदानन्दधनं स्वच्छमात्मानं च विभावय ॥ ५७
देवद्विजगुरुश्रद्धाभरवन्धुरचेतसाम् ।
सदागमप्रमाणानां महेशानुग्रहो भवेत् ॥ ५८

भरद्वाज उवाच ।

ज्ञातं तव प्रसादेन सर्वमेतदशेषतः ।
न वैराग्यात्परो बन्धुर्न संसारात्परो रिपुः ॥ ५९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रक० पू० भरद्वाजानुशासनं नाम सप्तविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥१२७॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२८

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

शान्तो दान्तश्चोपरतो निषिद्धात्काम्यकर्मणः ।
विषयेन्द्रियसंश्लेषसुखाच्च श्रद्धयान्वितः ॥ १

कौतुकी ॥५२॥ स्वशरीरादेः सर्वप्राणिशरीरादिबत्कालाशनत्वाय-
द्यदीयमजं तेन तदवश्यं भोक्तव्यमेवेति निश्चित्य तत्राहंतायभि-
मानत्यागेन शोकप्रसक्तिरित्याशयेनाह—न विशेषेति ।
ग्रहो दर्शनम् । न कश्चित्तद्विषयो विशेषधर्मः न कश्चन धर्मी
च न प्रतिद्ध इत्यर्थः । काललक्षणस्य भोगिनः सर्पस्य
प्राक्तन्य वलादाकम्ब्याऽभ्यवहारो भक्षणं तत्कर्मभूतेषु जन्तुषु
मध्ये ॥ ५३ ॥ दुष्टस्य कालस्य गोचराः । अक्षभूता इति
यावत् ॥ ५४ ॥ अपि च साक्षिणस्तव संसारनर्तनकौतुकद-
र्शनमेव युक्तं न तु शोकमोहादिविकारैः स्वयं नर्तनमित्याह—
स्वयमिति । विपत्तौ धनचित्तादिनाशे विकलानि विवेकदर्शना-
समर्थानि रोदनादिविकृतानि च इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि यस्य
तथाविधः सन् ॥ ५५ ॥ क्षणभङ्गिनो दर्शनादिति शेषः ।
मनस्वी विवेकी ॥ ५६ ॥ अमङ्गल्यममङ्गलार्हम् ॥ ५७ ॥ कानि
मङ्गलानि तान्याह—देवेति । देवद्विजादिश्रद्धाप्रसृतय ईश्व-
रानुग्रहसाधनत्वान्मङ्गलानि । ईश्वरानुग्रहस्तु साक्षाज्ज्ञानसाध-
नत्वात्परममङ्गलमिति भावः । तथा चोक्तम्—‘ईश्वरानुग्रहादेव
पुंसामद्वैतवासना । महामयपरित्राणाद्वित्राणामेव जायते ॥’
इति ॥ ५८ ॥ इदानीं भरद्वाजः सर्वसाधनरहस्यं मया पिण्डी-
कृत्य ज्ञातम्, इत्यप्रपञ्चप्रविलापनोपायरहस्यमीश्वरानुग्रहसाध-
नरहस्यं च वसिष्ठस्य विस्मरोक्तिषु विशकलितं तत्र तत्रोक्तं
पिण्डीकृत्य न ज्ञातमिति कण्ठोक्त्यार्योश्च दर्शयंस्तज्जिज्ञासुः

इदानीं श्रोतुमिच्छामि वसिष्ठेनोपपादितम् ।
ज्ञानसारमशेषेण ग्रन्थेनोक्तं पदात्मना ॥ ६०
श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
भरद्वाज शृणुन्वेदं महाज्ञानं विमुक्तिदम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण भवाब्धौ न निमज्जाति ॥ ६१
संहतिस्थितिसंभूतिमेदैर्योऽनेकधा स्थितः ।
एकोऽपि सन्नमस्तस्यै सच्चिदानन्दमूर्तये ॥ ६२
कृते प्रपञ्चविलये यथा तत्त्वं प्रकाशते ।
तत्रोपायं प्रवक्ष्यामि संक्षेपाच्छ्रुतिशासनात् ॥ ६३
पूर्वापरविचारार्हं कथं नष्टा तव स्मृतिः ।
तयैव ज्ञायते सर्वं करामलकवत्स्वयम् ॥ ६४
[स्वयं विचार्य स्वयमेव चेतसा
तत्प्राप्यते येन न शोचते पुनः ।
सत्सङ्गसच्छास्त्रविवेकतः पुन-
र्वैराग्ययुक्तेन विभाव्यमेतत् ॥]

मृदासने समासीनो जितचित्तेन्द्रियक्रियः ।

ओमित्युच्चारयेत्तावन्मनो यावत्प्रसीदति ॥ २

पृच्छति—ज्ञातमित्यादिना ॥ ५९ ॥ अनेकवाक्यात्मना अश्ले-
षेण ग्रन्थेनोक्तं रहस्यमेकपदात्मना पिण्डीकृतं निष्कृष्टं श्रोतु-
मिच्छामीत्यर्थः । ‘यदात्मना’ इति पाठे यत्तात्पर्यकेणेति ग्रन्थ-
विशेषणम् ॥ ६० ॥ ६१ ॥ प्रविलापनोपायमपवादं वक्तुम-
भ्यारोपेणैकमेवानेकधा स्थितं देवं मङ्गलार्थं नमस्यति—संह-
तीति ॥ ६२ ॥ प्रश्नाभिप्रायानुरूपमुत्तरं वक्तुं प्रतिजानीते—
कृते इति । श्रुतिशासनात् माण्डूक्योपनिषदादिश्रुत्युक्तक्रमात्
॥ ६३ ॥ विशकलितोक्तं सूक्ष्ममतिभिः स्वयमेव पूर्वापरवि-
चारेण निष्कृष्य ज्ञातुं शक्यं तत्तै सौख्यं प्राक् प्रख्यातमिदानीं
कथं नष्टमिति धर्षमाणप्रहणावधानार्थमधिक्षिपति—पूर्वाप-
रेति ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे भरद्वाजानुशासनं नाम सप्तविंशत्यधिक-
शततमः सर्गः ॥ १२७ ॥

प्रविलापनयुक्त्यात्र भरद्वाजकृतार्थता ।

वर्णयन्ते ज्ञानिकर्तव्यरामन्युत्थापनक्रमाः ॥ १ ॥

तत्र साहं साक्षात्कारान्तं प्रपञ्चप्रविलापनप्रकारं ‘शान्तो दान्त
उपरतस्तिष्ठः श्रद्धावित्तः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति’
इति श्रुतितात्पर्यवर्णनमुखेनैव वक्तुमारभते—‘शान्त इत्या-
दिना । तत्रोपरतपदं विषयविभागेन व्याचष्टे—निषिद्धादिति
॥ १ ॥ तत्र समाहितपदार्थतया आसनाद्यष्टाङ्गयोगं वर्णयन्

प्राणायामं ततः कुर्यादन्तःकरणशुद्धये ।
 इन्द्रियाण्यादरेत्पश्चाद्विषयेभ्यः शनैःशनैः ॥ ३ ॥
 देहेन्द्रियमनोबुद्धिक्षेत्रज्ञानां च संभवः ।
 यस्माद्भवति तज्ज्ञात्वा तेषु पश्चाद्विलापयेत् ॥ ४ ॥
 विराजि प्रथमं स्थित्वा तत्रात्मनि ततः परम् ।
 अव्याकृते स्थितः पश्चात्स्थितः परमकारणे ॥ ५ ॥
 मांसादिपार्थिवं भागं पृथिव्यां प्रविलापयेत् ।
 आप्यं रक्तादिकं चाप्सु तैजसं तेजसि क्षिपेत् ॥ ६ ॥
 वायव्यं च महावायौ नाभसं नभसि क्षिपेत् ।
 पृथिव्यादिषु विन्यस्य चेन्द्रियाण्यात्मयोनिषु ॥ ७ ॥
 श्रोत्रादिलक्षणोपेतां कर्तुर्भोगप्रसिद्धये ।
 दिक्षु न्यस्यात्मनः श्रोत्रं त्वचं विद्युति निक्षिपेत् ॥ ८ ॥
 चक्षुरादित्यभिन्ने च जिह्वामप्सु विनिक्षिपेत् ।
 प्राणं वायौ वाचमग्नौ पाणिमिन्द्रे विनिक्षिपेत् ॥ ९ ॥
 विष्णौ तथात्मनः पादौ पायुं मित्रे तथैव च ।
 उपस्थं कश्यपे न्यस्य मनश्चन्द्रे निवेशयेत् ॥ १० ॥
 बुद्धिं ब्रह्मणि संयच्छेदेताः करणदेवताः ।

तितिक्षुपदमर्थाच्चाचष्टे-मृदासने इत्यादिना । उच्चारयेद्दीर्घं जपेत् । भुञ्जुषोपाख्यानां करीत्या हृततमं वा ॥ २ ॥ ३ ॥ यस्माद्य-
 स्माद्यस्य यस्य संभवो जन्म भवति तत्तज्ज्ञात्वा श्रुत्यादिना स्मृत्वा तेषु तेषु भूतेषु देवेषु च विलापयेत् । वाचारम्भणश्रु-
 त्युक्तरीत्या तत्तद्व्यतिरेकेण नास्तीति स्मरेदित्यर्थः ॥ ४ ॥ एव-
 माध्यात्मिकदेहेन्द्रियादिभावं त्यक्त्वा तत्कारणभूतदेवतासम-
 ध्यात्मा अकारार्थो विराडेवाहमस्मीति भावनया प्रथमं विराजि
 स्थित्वा ततः परं तत्कारणे अकारार्थं सूक्ष्मभूतलिङ्गसमध्यात्मनि
 हिरण्यगर्भे विराजं प्रविलाप्य स्थित्वा ततस्तत्कारणे त्रिगुणे
 मायोपहिते मकारार्थे अव्याकृते स्थितः संस्ततः पश्चात्सर्वजग-
 न्मूलकारणत्वोपलक्षिते साव्याकृतसर्वाधिष्ठाने अर्धमात्रालक्षिते
 शुद्धे ब्रह्मणि अव्याकृतमपि विलाप्य स्थितो भवेदित्यर्थः ॥ ५ ॥
 देहेन्द्रियादिषु यस्य यस्मात्संभवस्तत्र तत्प्रविलापनं यदुक्तं तद्वि-
 शिष्य पुनर्विवृणोति—मांसादीत्यादिना । क्षिपेत् तन्मात्रताचि-
 न्तनेन प्रविलापयेत् ॥ ६ ॥ नाभसं शारीराकाशम् ।
 एवं प्राणादीन्द्रियाण्यप्यात्मयोनिषु स्वारम्भकेषु देवतो-
 पाधिभूतसूक्ष्मपृथिव्यादिषु निक्षिप्य विलाप्य ॥ ७ ॥
 'दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्' इत्यादिश्रुतेः कर्तुर्जीवस्य
 शब्दादिभोगप्रसिद्धये कर्णादिगोलकानुप्रवेशेन श्रोत्रादिलक्षणे-
 नेन्द्रियभावेनोपेतां दिगादिदेवतां यथाक्रमं देवतास्त्वेव निक्षि-
 पेदिति शेषः । तमेव क्रमं दर्शयति—दिक्ष्वित्यादिना ॥ ८ ॥
 अप्सु वरुणदेवतायाम् ॥ ९ ॥ १० ॥ ब्रह्मणि चतुर्मुखे ।
 बुद्धिग्रहणमुपलक्षणम् । एवं मनोहंकारचित्तान्यपि चन्द्ररुद्रा-
 च्युतेषु प्रविलापयेदित्युपसंहरति—एता इति । 'अग्निर्वा-
 ग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादिश्रुतिवाक्यप्रमाणमनुस्मृत्य देवता
 एवेन्द्रियव्यपदेशेन स्थिता न त्विन्द्रियाणि नाम वस्त्वन्तराणि
 यो० वा० १३४

इन्द्रियव्यपदेशेन व्यादिश्यन्ते च देवताः ॥ ११ ॥
 श्रुतिवाक्यमनुस्मृत्य न स्वतः प्रकटीकृताः ।
 एवं न्यस्यात्मनो देहं विराडस्मीति चिन्तयेत् ॥ १२ ॥
 ब्रह्माण्डान्तः स्थितो योऽसावर्धनरीश्वरः प्रभुः ।
 आधारः सर्वभूतानां कारणं तदुदाहृतम् ॥ १३ ॥
 स यज्ञसृष्टिरूपोऽसौ जगद्भूतौ व्यवस्थितः ।
 द्विगुणाण्डाद्वहिः पृथ्वी पृथिव्या द्विगुणं जलम् ॥ १४ ॥
 सलिलाद्विगुणं तेजस्तेजसो द्विगुणोऽनिलः ।
 वायोद्विगुणमाकाशमूर्ध्वमेकैकशः क्रमात् ॥ १५ ॥
 व्यस्तेन च समस्तेन व्यापिना प्रथितं जगत् ।
 क्षितिं चाप्सु समावेश्य सलिलं चानले क्षिपेत् ॥ १६ ॥
 अग्निं वायौ समावेश्य वायुं च नभसि क्षिपेत् ।
 नमश्च महदाकाशे समस्तोत्पत्तिकारणे ॥ १७ ॥
 स्थित्वा तस्मिन्क्षणं योगी लिङ्गमात्रशरीरधृक् ।
 वासना भूतसूक्ष्माश्च कर्माविधे तथैव च ॥ १८ ॥
 दशेन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः ।
 ततोऽर्धोण्डाद्वहिर्यातस्तत्रात्मासीति चिन्तयेत् ॥ १९ ॥

सन्तीति तत्त्वोपदेशेन प्रविलापनाय मया व्यादिश्यन्ते न
 स्वतः स्वकपोलकल्पनया एतेऽर्थाः प्रकटीकृता इत्युत्तरेणान्वयः
 ॥ ११ ॥ एवं देहेन्द्रियादिप्रविलापनसंग्रहश्लोकं विवृत्य
 विराजि प्रथमं स्थित्वेतद्विशदयति—एवमिति ॥ १२ ॥
 अव्याकृते स्थितः पश्चादित्येतद्विवरणप्रसङ्गेन मायाशबलस्य
 सर्वजगदभिन्ननिमित्तोपादानस्य ब्रह्मणो ब्रह्मविद्यार्थिभिः प्रागु-
 पास्यत्वेनोक्तां ब्रह्माण्डात्मनो विराजो हृत्पद्मे सदा स्थितां ब्रह्म-
 विद्याघटितार्धशरीरां मूर्तिं दर्शयन्त एव सर्वप्राणिनां मातापि-
 तृरूपेण कारणमित्याह—ब्रह्माण्डान्तरिति ॥ १३ ॥ सोऽसौ पि-
 तृत्वादेव स्वसृष्टस्य देवमनुष्यादिजगतो वृत्तावन्नपानादिजीवनो-
 पाये व्यवस्थितः सन् हविर्वृद्ध्यादिना सर्वपोषकश्रीतस्मार्तयज्ञसृ-
 ष्टिरूपो ब्रह्माण्डान्तः स्थितः । प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतं प्रविला-
 पनं वक्तुं ब्रह्माण्डावरणान्याह—द्विगुणेति । यद्यपि 'एभिराव-
 रणैरण्डं व्याप्तं दशगुणोत्तरैः' इति पुराणेषु दशगुणोत्तरत्वं
 श्रूयते, तथापि द्विगुणमेव परितो वेष्टने पञ्चकोशप्रदक्षिणे पञ्च-
 विंशतिकोशषट्कगुणस्य पञ्चगुणत्वे द्विगुणस्य दशगुणत्वमित्य-
 मिप्रायेण तद्बोध्यम् । अथवा तदपञ्चीकृतभूतावरणाभिप्रायमिदं
 तु पञ्चीकृताभिप्रायमित्यविरोधः ॥ १४ ॥ एकैकश एकैकस्मा-
 दूर्ध्वमुत्तरोत्तरम् ॥ १५ ॥ व्यस्तेन अपञ्चीकृतेन । समस्तेन
 पञ्चीकृतेन । अतएवान्तरमान्तरं बाह्ये प्रविलापयेदित्याह—
 क्षितिमिति ॥ १६ ॥ समावेश्य प्रविलाप्य । समस्तस्थूलप्रप-
 ष्चोत्पत्तिकारणे महदाकाशे हिरण्यगर्भाकाशे ॥ १७ ॥ किं
 तल्लिङ्गशरीरं तदाह—वासना इति ॥ १८ ॥ लिङ्गं लिङ्गशरी-
 रम् । एवं स्थूलोपाधिप्रविलापनेनार्ध इव संपन्नो ब्रह्माण्डात्म-
 ताभिमानत्यागात्ततो बहिर्भूतः संस्तत्र सूक्ष्मभूतात्मकलिङ्गसम-
 ष्ठिदेहे अहमात्माधिष्ठाता हिरण्यगर्भ एवास्मीति चिन्तयेदि-

चतुर्मुखोऽग्रे चायं भूतसूक्ष्मव्यवस्थितः ।
 लिङ्गमव्याकृते सूक्ष्मे न्यस्याव्यक्ते च बुद्धिमान् ॥ २० ॥
 नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन्संतिष्ठते जगत् ।
 तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून् ॥ २१ ॥
 अविद्यामपरे प्राहुस्तर्कविभ्रान्तचेतसः ।
 तत्र सर्वे लयं गत्वा तिष्ठन्त्यव्यक्तरूपिणः ॥ २२ ॥
 निःसंबन्धा निरास्वादाः संभवन्ति ततः पुनः ।
 तत्स्वरूपा हि तिष्ठन्ति यावत्सृष्टिः प्रवर्तते ॥ २३ ॥
 आनुलोम्यात्स्मृता सृष्टिः प्रातिलोम्येन संहतिः ।
 अतः स्थानत्रयं त्यक्त्वा तुरीयं पदमव्ययम् ॥ २४ ॥
 ध्यायेत्तत्प्राप्तये लिङ्गं प्रविलाप्य परं विशेषम् ।
 भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः ॥ २५ ॥
 अज्ञानं च प्रतिष्ठाः स्युर्लिङ्गमव्याकृते सति ।

श्रुतिः ॥ १९ ॥ ननु चतुर्मुखः पञ्चसंभवो देहो लोके हिरण्य-
 गर्भे इति प्रसिद्धः । अयं तु भूतसूक्ष्मसमव्यात्मा न चतुर्मुख
 इति कथं हिरण्यगर्भस्तत्राह—चतुर्मुख इति । भूतसूक्ष्मे
 अभिमानितया व्यवस्थितोऽयमेव अग्रे ब्रह्माण्डप्रविलपना-
 त्पूर्वं 'ब्रह्माण्डैश्वर्यभोगार्थं पद्मोद्भवं देहं कल्पयित्वा चतुर्मुखं
 आसीदित्यर्थः । ईदृशहिरण्यगर्भात्मभावनानन्तरं यत्कर्तव्यं
 तदाह—लिङ्गमिति । अपञ्चीकृतभूतेभ्योऽपि सूक्ष्मे उपाध्या-
 कारेणाव्याकृते मायांशे उपहितचिदाकारेणाव्यक्ते च । जडा-
 शस्य जडे चिदाभासांशस्य चिति प्रविलापनमिति सूचनाय
 द्विधाकृतोक्तिः ॥ २० ॥ अथवा व्याकरणफलमभिव्यक्तिरिति
 क्रियाफलरूपप्रवृत्तिनिमित्तमेदकल्पनया एकत्रैव व्यपदेशमेद
 इत्याशयेनाह—नामेति । प्रकृतिं सांख्याः । मायां वेदान्तिनः
 ॥ २१ ॥ अपरे बौद्धाः संवृतिरूपामवियाम् । तत्र तस्मिन्मव्या-
 कृते प्रलयकाले सर्वे पदार्था लयं षष्ठभावविकारं गत्वा अन-
 भिव्यक्तरूपिणः संतस्तत्सत्तयैव तिष्ठन्ति ॥ २२ ॥ कथं तिष्ठन्ति
 तदाह—निःसंबन्धा इति । परस्परसंसर्गव्यन्याश्चिद्भोग-
 तालक्षणास्वादशून्यावेत्यर्थः । कुतः । प्रलयानन्तरं सर्गकाले
 सतः अव्याकृतदेव प्रकृतिभूताच्च ॥ २३ ॥ आनुलोम्यादाका-
 शादिक्रमात् । प्रातिलोम्येन सृष्टिविपरीतक्रमेण 'पञ्चातिथितः
 परमकारणे' इत्येतद्विष्णोति—अत इति । स्थानत्रयं विराड्-
 रण्यगर्भांश्चाकृताख्यं स्थूलसूक्ष्मकारणरूपं समष्टिजाप्रदायवस्था-
 श्रयं 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न
 प्रज्ञानघनम्' इतिश्रुत्युपदर्शितदिशा त्यक्त्वा तदधिष्ठानं परिबि-
 ष्टुचिन्मात्रैकरसं 'अदृश्यमव्यवहार्यमप्राप्यमलक्षणमचिन्त्यमव्य-
 पदेश्यमेकात्मप्रलयसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं चतुर्थं
 मन्यन्ते' इति श्रुत्युपदर्शितं तस्य प्राप्तये साक्षात्प्रभाषधि । ध्या-
 येत् ॥ २४ ॥ ध्यानेदया चरमसाक्षात्कारवृत्त्या ध्यानकर्तृकर-
 णरूपं लिङ्गमपि मूलाज्ञानबाधेन प्रविलाप्य षट्महो-घटाकाशो

भरद्वाज उवाच ।

इदानीं लिङ्गनिगडान्मुक्तोऽहं सर्वथा यतः ॥ २६ ॥
 चिदंशत्वात्प्रविष्टोऽहं चैतन्यानन्दसागरे ।
 अमेदात्परमात्मासि सर्वोपाधिविवर्जितः ॥ २७ ॥
 कूटस्थः केवलो व्यापी चिदचिच्छक्तिमानहम् ।
 घटाभावे घटाकाशकलशाकाशयोर्यथा ॥ २८ ॥
 तमाहुः श्रुतयो बह्वथ एवमेवैक्यमादरात् ।
 यथाग्निरग्नौ संक्षिप्तः समानत्वमनुभजेत् ॥ २९ ॥
 तदाख्यस्तन्मयो भूत्वा गृह्यते न विशेषतः ।
 यथा तृणादिकं क्षिप्तं समायां लवणं भवेत् ॥ ३० ॥
 अचेतनं जगज्ज्यस्तं चैतन्ये चेतनी भवेत् ।
 यथा वै लवणग्रन्थिः समुद्रे सैन्धवो यथा ॥ ३१ ॥
 नामरूपाद्विनिर्मुक्तः प्रविश्यैति समुद्रताम् ।
 यथा जले जलं न्यस्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ॥ ३२ ॥

महाकाशमिव परं निरतिशयानन्दं ब्रह्म विशेषैवायं लिङ्गनि-
 गडमुच्यते कृताश्रितेत्यर्थः । ननु 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादिश्रुतौ
 लिङ्गबाधो न दृश्यते, तत्कथं तच्चित्तिरिति चेत् स्थानत्रयबाधे
 लिङ्गबाधोऽर्थविदः । स्थूलसूक्ष्मभूतेन्द्रियादिष्वेव लिङ्गस्य प्रति-
 ष्ठितत्वादिति दर्शयति—भूतेन्द्रियेति ॥ २५ ॥ नन्वज्ञानं कथं
 प्रतिष्ठा तत्राह—लिङ्गमिति । शुद्धे ब्रह्मण्यज्ञानावरणे नाव्या-
 कृते हि सति सूक्ष्मभूतद्वारा लिङ्गमुत्पद्यते नाज्ञानं विभेति
 तदेव लिङ्गस्य मूलप्रतिष्ठेति तन्निवृत्तौ लिङ्गनिगडमज्ञसिद्धिरिति
 भावः । एवं चाल्मीकिना प्रणवार्यप्रपञ्चनोपायेन प्रतिबोधितः
 प्रबुद्धो भरद्वाजः स्वानुभवं शुर्वनुभवसंवादेन परीक्षणाय प्रकट-
 यलुवाच—इदानीमित्यादिना ॥ २६ ॥ २७ ॥ चिदहं न तु
 चिच्छक्तिमान् । कीदृशदमेदात्परमात्मासि तत्राह—घटा-
 भावे इति । षट्महो सतीत्यर्थः । यथा एकस्यैव घटस्य घट-
 कलशानामभेदकल्पना तदुपहिते आकाशे च घटाकाशः कल-
 शाकाश इति व्यपदेशभेदकल्पना तद्वदेकस्यैवाज्ञानस्य जगन्नाम-
 भेदकल्पना तदुपहिते च मयि जीव ईश्वरो देवो नरो कुजर
 इत्यादिव्यपदेशभेदकल्पना आसीत् । तत्रैकेन षट्महोऽनेन यथा
 समयनिवृत्त्या शुद्धाकाशलक्षणैक्यं तद्वदेकस्याज्ञानस्य निवृत्त्या
 सर्वनामादिभेदनिवृत्त्या चिदैक्यसाप्ताख्यमित्यर्थः ॥ २८ ॥
 एवमेक्यमभिप्रेत्य तं ब्रह्मभूतं मां 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्य-
 च्छणोति नान्यद्विजानाति स भूमा यत्र तस्य सर्वमात्मैवाभू-
 तत्केन कं पश्येत्' । 'एकात्मप्रलयसारं शिवं शान्तमद्वैतं न-
 तुर्थं मन्यन्ते', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादयो बह्वथः श्रुतय
 आहुर्नित्यः । एवं 'यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
 अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मा परमात्मनि' इत्यादिश्रुतिभिरिदं-
 भवैक्यं दर्शितमित्याशयेनोदाहरति—यथेति । समानत्वमेक्यम्
 ॥ २९ ॥ एवमचेतनप्रपञ्चस्यापि चिति विलापनेन तद्भाषणौ
 दृष्टान्तमाह—यथेति ॥ ३० ॥ न्यस्तं प्रविलापितम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

अविनष्टा भवन्त्येते गृह्यन्ते न विशेषतः ।
 तथाहं सर्वभावेन प्रविष्टश्चेतने सति ॥ ३३
 नित्यानन्दे समस्तज्ञे परे परमकारणे ।
 नित्यं सर्वगतं शान्तं निरवयं निरञ्जनम् ॥ ३४
 निष्कलं निष्क्रियं शुद्धं तद्ब्रह्मास्मि परं परम् ।
 हेयोपादेयनिर्मुक्तं सत्यरूपं निरिन्द्रियम् ॥ ३५
 केवलं सत्यसंकल्पं शुद्धं ब्रह्मास्म्यहं परम् ।
 पुण्यपापविनिर्मुक्तं कारणं जगतः परम् ॥ ३६
 अद्वितीयं परं ज्योतिर्ब्रह्मास्म्यानन्दमव्ययम् ।
 एवमादिगुणैर्युक्तं सत्त्वादिगुणवर्जितम् ॥ ३७
 प्रविष्टं सकलं ब्रह्म सदा ध्यायेत्स्वकर्मकृत् ।
 एवमभ्यसतः पुंसो मनोऽस्तं याति तत्र वै ॥ ३८
 मनस्यस्तं गते तस्य स्वयमात्मा प्रकाशते ।
 प्रकाशे सर्वदुःखानां हानिः स्यात्सुखमात्मनि ॥ ३९
 स्वयमेवात्मनात्मानमानन्दं प्रतिपद्यते ।

उपाधिनाशे उपहितजीवनाशश्चापि मे गतेत्याशयेनाह—
 अविनष्टा इति । चेतनं विदेकरसे सति ब्रह्मणि ॥ ३३ ॥
 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवयं निरञ्जनम्' इत्यादिश्रुत्यापि
 खानुभवं संवादयति—नित्यमित्यादिना ॥ ३४ ॥ ३५ ॥
 सत्यसंकल्पं संकल्पमात्रेणासतोऽपि जगतः सत्तासंपादन-
 समर्थसद्रूपम् ॥ ३६ ॥ सत्त्वादिभिर्मायागुणैर्वर्जितम् ॥ ३७ ॥
 अभ्यासकालेऽपि त्वया अस्यैव ध्यानं मह्यमुपदिष्टमित्या-
 शयेनाह—प्रविष्टमित्यादिना । स्वकर्मकृच्छ्रवणगुरुशुश्रूषादिपरः
 स्ववर्णाश्रमधर्मनिष्ठश्च ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ कथं प्रतिपद्यते
 तत्राह—न मत्त इति ॥ ४० ॥ प्रतिपत्तिशब्दार्थमाह—इत्या-
 स्मेति । एवं भरद्वाजोक्तमनुभवं निशम्य संतुष्टो बाल्मीकिस्तदु-
 क्तानुभवस्थैर्याय 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्षपरं पदम्'
 इत्यादिश्रुतिसिद्धं संन्यासमवश्यकर्तव्यतयोपदिशति—सखे इति
 ॥ ४१ ॥ संसारचक्रवर्तेषु भ्रमतीति भ्रमः त्वं यदि शमं विश्रा-
 न्तिमुखं गार्हस्थ्ये नेष्यसे न आप्रोषि तर्हि कर्माणि संन्यस्य
 ब्रह्मणः प्रणयी ब्रह्मण्येव निर्विक्षेपमासक्तो भव । 'ब्रह्मसंस्थोऽ-
 मृतत्वमेति' इति श्रुतेरनन्यव्यापारतया ब्रह्मण्यासकस्य संन्या-
 सिन एव सजीवभ्रान्तिशान्तिसंभवादित्यर्थः । सर्वं समग्रं सा-
 झमिति यावत् ॥ ४२ ॥ न विलम्बनेन चिरं स्थास्यति । 'तस्य
 तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्ये' इति श्रुतेरिति
 भावः । ज्ञानिनो जीवन्मुक्तस्य कर्म कर्तव्यं न वेति प्रथमः
 प्रश्नः । यदा कर्तव्यं तदा प्रवृत्तिरूपं नित्यनैमित्तिककाम्यकर्म
 सर्वमेव यथापूर्वं कर्तव्यम्, अथवा कामनाभ्यो निवृत्तं स्वस्वाश्र-
 मोचितकर्ममात्रं कर्तव्यमिति द्वितीयः प्रश्नः पाठकमादार्थकमस्य
 मलीयस्त्वादोष्यः । ननु 'सखे संन्यस्य कर्माणि ब्रह्मणः प्रणयी
 भव' इति सर्वकर्मसंन्यासं श्रुतवतो भरद्वाजस्य द्वावपि प्रश्नाव-
 नुपपन्नौ । सत्यम् । तथापि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति', 'कुर्व-
 नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इत्यादिश्रुतिभिर्यावज्जीवं

न मत्तोऽस्त्यपरः कश्चिच्चिदानन्दमयः प्रभुः ॥ ४०
 अहमेकः परं ब्रह्म इत्यात्मान्तः प्रकाशते ।

श्रीबाल्मीकिरवाच ।

सखे संन्यस्य कर्माणि ब्रह्मणः प्रणयी भव ॥ ४१
 नेष्यसे यदि संसारचक्रवर्तभ्रमः शमम् ।

भरद्वाज उवाच ।

त्वयोक्तं सर्वमेवेदं ज्ञानं बुद्धं मया गुरो ॥ ४२
 बुद्धिश्च निर्मला जाता संसारो न विलम्बते ।
 इदानीं ज्ञातुमिच्छामि ज्ञानिनः कर्म कीदृशम् ॥ ४३
 प्रवृत्तं वा निवृत्तं वा कर्तव्यं च न वा प्रभो ।

श्रीबाल्मीकिरवाच ।

तस्माद्यन्न कृते दोषस्तत्कर्तव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४४
 काम्यं कर्म निषिद्धं च न कर्तव्यं विशेषतः ।
 यदा ब्रह्मगुणैर्जीवो युक्तस्त्यक्त्वा मनोगुणान् ॥ ४५
 संशान्तकरणग्रामस्तदा स्यात्सर्वगः प्रभुः ।

कर्तव्यतया निबद्धानां 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादि-
 वाक्यैर्दीक्षाकाले त्यक्तानामपि दीक्षापगमे पुनः परिग्रहवत् ।
 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं' 'एतमेव प्रजाजिनो लोकमिच्छन्तः प्र-
 जन्ति' इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मजिज्ञासानिमित्तेन त्यक्तानां ज्ञान-
 सिद्ध्या निमित्तापगमे पुनः परिग्रहो न्यायसिद्धः । न च विद्वत्सं-
 न्यासविधानात्पुनरपरिग्रहः । तस्य जन्मान्तरानुष्ठितविविदिषा-
 संन्यासवशाद्ब्रह्मस्याश्रमेष्वेव तत्त्वज्ञानोदयेन कृतार्थान्पुरुष-
 विशेषान्प्रति, अत्राप्तसंन्यासान्तरविधानपरस्य प्राप्तविविदिषा-
 संन्यासपरिपालनविधानाशक्तेरित्याशयेन प्रश्नावुपपन्नौ बोध्यौ
 ॥ ४३ ॥ एवं पृष्टो बाल्मीकिस्त्वया प्रथमं काम्यनिषिद्धकर्मणां
 ज्ञानविरोधिविक्षेपादिदोषहेतुभूतकर्मणां च त्यागेन ज्ञानित्वं शा-
 स्त्राभ्यासेन संपादनीयम् । तदुत्तरं 'तस्य कर्म कीदृशम्' इति
 त्वत्प्रश्नोत्तरं त्वं स्वयमेव ज्ञास्यसि । तत्तद्भूमिकापरिपाकक्रमेण
 तत्तत्कर्मापरमस्य तदा तदैव त्वयानुभवितुं शक्यत्वाज्ज्ञानिनां च
 प्रारब्धवैचित्र्येणैकरूपस्थित्यदर्शनेन तत्कर्मणां प्रवृत्तमेव निवृ-
 त्तमेव वेति नियन्तुमशक्यत्वादित्याशयेनोत्तरमाह—तस्मा-
 दिति । तस्मात्सर्वकर्मसंन्याससहितब्रह्मप्रणयित्वमेव संसारभ्रम-
 निवर्तकज्ञानोपाय इति मदुपदिष्टार्थस्य बुद्धत्वात्वाहसैर्मुमुक्षुभि-
 र्यद्यस्मिन्कर्मणि कृते सति श्रवणादिविघ्नदोषक्षितविक्षेपमालि-
 न्यपातकादिदोषश्च न भवति तदेव कर्तव्यम् । काम्यं निषिद्धं
 चकारादुपविक्षेपसाधनं च कर्म न कर्तव्यमित्यर्थः । विविदिषा-
 संन्यासपरिपालनं तु विधिना त्यक्तस्य पुनर्विधिं विना परिग्रह-
 संभवात् 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्राय-
 क्षितं न पश्यामि येन शुष्येत आत्महा ॥' इत्यादिपरावृत्तौ दोष-
 श्रवणात्पुनः परिग्रहे प्रयोजनाभावाच्छिष्टविगर्हितत्वाच्च सेत्स्य-
 तीति भावः ॥ ४४ ॥ ज्ञानित्वं त्वस्य सर्वमनोगुणत्यागेन पूर्णा-
 नन्दादयविशुद्धासज्जिदेकरसत्वादिब्रह्मगुणप्राप्तावेव स्यान्नान्यथे-
 त्याह—यदेत्यादिना ॥ ४५ ॥ देहादिकोशचतुष्टयात्पर आनन्द-

वेहेन्द्रियमनोबुद्धेः परस्तस्माच्च यः परः ॥ ४६ ॥
 सोऽहमस्मि यदा ध्यायेत्तदा जीवो विमुच्यते ।
 कर्तृभोक्तादिनिर्मुक्तः सर्वोपाधिविवर्जितः ॥ ४७ ॥
 सुखदुःखविनिर्मुक्तस्तदानीं विप्रमुच्यते ।
 सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ॥ ४८ ॥
 यदा पश्यत्यभेदेन तदा जीवो विमुच्यते ।
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं हित्वा स्थानत्रयं यदा ॥ ४९ ॥
 विशेषतुरीयमानन्दं तदा जीवो विमुच्यते ।
 जीवस्य च तुरीयाख्या स्थितिर्या परमात्मनि ॥ ५० ॥
 अवस्थावीजनिद्रादिनिर्मुक्ता चित्सुखात्मिका ।
 योगस्य सेयं वा निष्ठा सुखं संवेदनं महत् ॥ ५१ ॥
 मनस्यस्तं गते पुंसां तदन्यन्नोपलभ्यते ।
 प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ॥ ५२ ॥
 मज्ज मज्जसि किं द्वैतप्रदक्षारान्धवीचिषु ।
 भज संभरिताभोगं परमेशं जगद्गुरुम् ॥ ५३ ॥
 इति ते वर्णितं सर्वं वसिष्ठस्योपदेशनम् ।
 अनेन ज्ञानमार्गेण योगमार्गेण पुत्रक ॥ ५४ ॥
 भर्तृराज महाप्राज्ञ सर्वं ज्ञास्यसि निश्चितम् ।
 परामर्शेन शास्त्रस्य गुरुवाक्यार्थबोधनात् ॥ ५५ ॥
 अभ्यासात्सर्वसिद्धिः स्यादिति वेदानुशासनम् ।
 तस्मात्त्वं सर्वमुत्सृज्य कुर्वभ्यासे स्थिरं मनः ॥ ५६ ॥
 भर्तृराज उवाच ।
 रामः प्राप्तः परं योगं स्वात्मनात्मनि हे मुने ॥

मयकोशात्मा तस्मात्परस्तदधिष्ठानं ब्रह्म ॥ ४६ ॥ आदिपदात् कर्ता
 कार्यं करणं, भोक्ता भोग्यं भोगः, ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमिति तिस्रोऽपि
 त्रिपुण्यः परिगृह्यन्ते । तत्प्रयोजकैः सर्वदेहाद्युपाधिमिस्तत्फ-
 लाभ्यां सुखदुःखाभ्यां च विनिर्मुक्तो यदा भविष्यति तदानीम्
 ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्योर्वाजं
 सवासनाकर्माज्ञानम् । निष्ठा तदवस्थाविशेषः । सेयं तुरीयाख्या
 जीवस्य स्थितिर्योगस्य निदिध्यासनपरिपाकजन्यनिर्विकल्पसमाधे-
 र्धाशब्दान्मुख्याधिकारिणो विचारमात्रजन्यसाक्षात्कारज्ञानस्य
 वा निष्ठा परिसमाप्तिः ॥ ५१ ॥ तस्मिन्विश्रान्तस्य तत्र द्वैतदर्शन-
 प्रसक्तिरेव नास्ति, दूरे कर्मक्षारान्धवीचिमज्जनप्रसक्तिरेत्याश-
 येनाह—प्रशान्तेति ॥ ५२ ॥ प्रागुक्तमीश्वरमुपास्य तत्प्रसा-
 देन ते वसिष्ठोक्तज्ञानमार्गेण योगमार्गेण वा तत्त्वज्ञाने सत्येक-
 विज्ञानेन सर्वविज्ञानात्सर्वसंशयमूलज्ञाननाशाच्च सर्वसंशयोच्छे-
 देन विश्रान्तिर्भविष्यतीत्युपसंहरति—भजेत्यादिना ॥ ५३ ॥
 ॥ ५४ ॥ तत्र शास्त्राचार्योपदेशस्वानुभवानामेकार्थनिष्ठतानिध-
 यायार्थचिन्तनावृत्तिलक्षणः परामर्शः शब्ददोषणावृत्तिलक्ष-
 णोऽभ्यासश्चापश्यं कार्य इत्याह—परामर्शेनेति ॥ ५५ ॥ ५६ ॥
 योगमुपाधिरागेनैक्यम् । स्वात्मना शोधितप्रतीचा । आत्मनि
 ब्रह्मणि ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ महामना अपरिच्छिन्नब्रह्माकारचित्तो

कथं वसिष्ठदेवेन व्यवहारपरः कृतः ॥ ५७ ॥
 इति ज्ञात्वाहमन्येवमभ्यासार्थं यते यथा ।
 तथैव व्यवहारोऽपि व्युत्थाने मे भविष्यति ॥ ५८ ॥
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 यदा परिणतः साधुः स्वस्वरूपे महामनाः ।
 विश्वामित्रस्तदोवाच वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ५९ ॥
 विश्वामित्र उवाच ।
 हे वसिष्ठ महाभाग ब्रह्मपुत्र महानसि ।
 गुरुत्वं शक्तिपातेन तत्क्षणादेव दर्शितम् ॥ ६० ॥
 दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके ।
 जनयेद्यः समावेशं शांभवं स हि देशिकः ॥ ६१ ॥
 रामोऽप्ययं विशुद्धात्मा विरक्तः स्वात्मनैव हि ।
 विश्रान्तिमात्राकाङ्क्षी च संवादात्प्राप्तवान्पदम् ॥ ६२ ॥
 शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः ।
 मलत्रयमपक्वं चेतकथं बुद्ध्यति पक्ववत् ॥ ६३ ॥
 ज्ञानं प्रत्यक्षमेवेदं गुरुशिष्यप्रयोजनम् ।
 उभावपि यतो योग्यौ सर्वेषामीदृशमपि ॥ ६४ ॥
 इदानीं कृपया रामव्युत्थानं कर्तुमर्हसि ।
 पदे परिणतस्त्वं हि कार्याविष्टा घयं यतः ॥ ६५ ॥
 स्मरन्कार्यं मम विभो यदुद्दिष्टाहमागतः ।
 प्रार्थितश्चातिकष्टेन राजा दशरथः स्वयम् ॥ ६६ ॥
 तद्वृथा मा कृथाः सर्वं शुद्धेन मनसा मुने ।
 वैवकार्यं चरामान्यदवतारप्रयोजनम् ॥ ६७ ॥

रामः ॥ ५९ ॥ अनुग्रहदृष्टिमात्रप्रयुक्तेन प्रागुक्तशक्तिपातेन
 त्वया शिष्यस्य ब्रह्मीकरणात्स्वस्य गुरुत्वं शिष्योद्धारसामर्थ्यल-
 क्षणं तत्क्षणात्सद्य एव दर्शितमस्मभ्यमित्यर्थः ॥ ६० ॥ ननु मया
 स्वशरीरं त्यक्त्वा रामदेहं प्रविश्य कुण्डलिनीसंचारादिकं न
 कृतमेव तत्कथं त्वया शक्तिपातो ज्ञातस्तत्राह—दर्शनादिति ।
 सत्यसंकल्पानां त्वादृशां कृपादृष्ट्यापि सच्छिष्यस्य कुण्डलिन्याः
 षट्चक्रमेदेन ब्रह्मरन्ध्रस्थितपरशिवसमावेशलक्षणो जीवस्यो-
 पाधिपरित्यागेन शुद्धब्रह्मसमावेशलक्षणश्च शक्तिपातः सिद्ध्य-
 तीति भावः । देशिको गुरुः ॥ ६१ ॥ तत्र रामस्य सच्छिष्यतां
 दर्शयति—राम इति ॥ ६२ ॥ मलत्रयं शैवशास्त्रप्रसिद्धमागवा-
 दिकामकर्मवासनालक्षणं वा । कथं बुद्ध्यति बोध्य इति शेषः
 ॥ ६३ ॥ सच्छिष्येषु शास्त्रस्य दृष्टफलतैवेत्याह—ज्ञानमिति ।
 यत उभौ गुरुशिष्यौ योग्यौ चेत्येवैवं पुरुषार्थानामीदृशां
 केवल्यलक्षणानामपि भाजनं स्तामित्यर्थः ॥ ६४ ॥
 इत्थं वसिष्ठ प्रशस्य प्रलुप्तं कर्तव्यमाह—इदानीमिति । अस्-
 दादिषु कृपया । त्वं पदे परिणतः । कृतकृत्य इति यावत् ॥ ६५ ॥
 मम कार्यं निर्विघ्नयज्ञसिद्धिं त्वं स्मरन्तन् रामव्युत्थानं कर्तुम-
 र्हसीति पूर्वत्र, वृथा मा कृथा इत्युत्तरत्र वा संबन्धः ॥ ६६ ॥
 किञ्चान्यदेवकार्यमपि रामव्युत्थापनेन चराम सपादयामो वयम्

सिद्धाश्रमं मया नीतो रामो राक्षसमर्दनम् ।
 करिष्यति ततोऽहल्यामुक्तिं च जनकात्मजाम् ॥ ६८
 परिणेष्यति कोदण्डभङ्गेन कृतनिश्चयः ।
 रामस्य जामदग्न्यस्य कर्ता नष्टां गतिं ध्रुवम् ॥ ६९
 पितृपैतामहं राज्यं विगतोऽभयनिस्पृहः ।
 वनवासच्छलेनैह दण्डकारण्यवासिनः ॥ ७०
 उद्धरिष्यति तीर्थानि प्राणिनो विविधानि हि ।
 सीताहरणदौर्गत्यच्छलेन भुवि शोच्यताम् ॥ ७१
 दर्शयिष्यति सर्वेषां रावणादिवधादपि ।
 स्त्रीसङ्गिनामथास्वास्थ्यं वानरादेः परावृत्तिम् ॥ ७२
 सीताविशुद्धिमन्विच्छल्लोकानुमतिमात्मनः ।
 जीवन्मुक्तो निस्पृहोऽपि क्रियाकाण्डपरायणः ॥ ७३
 भविष्यति गतिं द्रष्टुं ज्ञानकर्मसमुच्चयौ ।
 यैर्दृष्टो यैः स्मृतो वापि यैः श्रुतो बोधितस्तु यैः ॥ ७४
 सर्वावस्थागतानां तु जीवन्मुक्तिं प्रदास्यति ।
 इति कार्यमशेषेण त्रैलोक्यस्य ममापि हि ॥ ७५
 अनेन रामचन्द्रेण पुरुषेण महात्मना ।
 नमोऽस्मै जितमेवैते कोऽप्येवं चिरमेधताम् ॥ ७६

श्रीवाल्मीकिरवाच ।

इति श्रुत्वा च ते सर्वे विश्वामित्रेण भाषितम् ।

॥ ६७ ॥ कार्यान्तराण्यपि दर्शयन्देवकार्यं विशदयति—सिद्धा-
 श्रमेत्यादिना । अहल्याया मुक्तिं शापमोक्षं च करिष्यतीत्यनु-
 पपन्नः ॥ ६८ ॥ निश्चयो वामिश्वरः । गतिं परलोकमार्गम्
 ॥ ६९ ॥ राज्यं विमुच्य गतो विगतः । जीवन्मुक्तत्वादेवा-
 भयो निस्पृहश्च । दण्डकारण्यवासिनो मुनीन् राक्षसवधेन भया-
 दुद्धरिष्यतीति परेणान्वयः ॥ ७० ॥ विविधानि तीर्थानि प्राणि-
 नश्च उद्धरिष्यति पावयिष्यतीत्यर्थः । सीताहरणप्रयुक्तं यदौ-
 र्गल्यं शोकमोहादिविडम्बनं तच्छलेन रावणादीनां वधादपि
 सर्वेषां स्त्रीसङ्गिनां भुवि शोच्यतामस्वास्थ्यं च दर्शयिष्यतीति
 परेणान्वयः ॥ ७१ ॥ अथ इन्द्रवरदानेन युद्धे मृतस्य वानर-
 कादेः परावृत्तिं परावर्तनं पुनः संजीवनं दर्शयिष्यति ॥ ७२ ॥
 अभिप्रवेशेन सीताविशुद्धिमन्विच्छन्सच्चात्मनः स्वस्य लोकानु-
 मतिं शिष्टजनमाननीयचरित्रतां दर्शयिष्यति । ततो राज्येऽभि-
 शिक्तः स्वयं जीवन्मुक्तो निस्पृहोऽपि सन् कर्माधिकृतजनानां
 कर्मानुष्ठानेनैव गतिं द्रष्टुं दर्शयितुं क्रियाकाण्डपरायणो भविष्य-
 तीति परेणान्वयः ॥ ७३ ॥ ज्ञानकर्मसमुच्चयाधिकारिणां ब्रह्म-
 लोकादिगतिं दर्शयितुं ज्ञानकर्मसमुच्चयौ च करिष्यतीति शेषः ।
 ज्ञानमत्रोपासनम् । न केवलं कर्ममार्गप्रवर्तनेन वर्तमानजनमा-
 त्रोपकारी किंतुत्तरकालमपि स्मरणकीर्तनस्वचरित्रप्रबोधनादिना
 स्वानुगतानां भक्तानां जीवन्मुक्तिसुखप्रद इत्याह—यैरिति
 ॥ ७४ ॥ सर्वावस्थासु गतानां भक्त्या अनुगतानाम् ॥ ७५ ॥
 अनेन महात्मना रामचन्द्रेण इति वर्णितप्रकारेण त्रैलोक्यस्य
 ममापि हितं कार्यमिति पूर्वश्रवणव्ययः । इदानीं श्रीविश्वामित्रः

सिद्धाश्च वरयोगीन्द्रा वसिष्ठप्रमुखाः पुनः ॥ ७७
 रामाद्विपश्चरजसामादरस्मरणास्थिताः ।
 दूरश्रुतोत्तरकथाः कथया मैथिलीपतेः ॥ ७८
 न संतुतोष भगवान्वसिष्ठोऽन्ये महर्षयः ।
 गुणान्गुणनिधेस्तस्य ब्रुवन्नाकर्णयञ्छ्रुतम् ॥ ७९
 विश्वामित्रमुनिं प्राह वसिष्ठो भगवानृषिः ।

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ब्रूहि विश्वामित्र मुने रामो राजीवलोचनः ।
 कोऽयमभूद्बुधः किं वा मनुष्यो वाथ राघवः ॥ ८०

विश्वामित्र उवाच ।

अत्रैव कुरु विश्वासमयं स पुरुषः परः ।
 विश्वार्थमथिताम्भोधिर्गम्भीरागमगोचरः ॥ ८१
 परिपूर्णपरानन्दः समः श्रीवत्सलाञ्छनः ।
 सर्वेषां प्राणिनां रामः प्रदाता सुप्रसादितः ॥ ८२
 अयं निहन्ति कुपितः सृजत्ययमसत्सकान् ।
 विश्वादिर्विश्वजनको धाता भर्ता महासखः ॥ ८३
 अयं व्युत्क्रान्तनिःसारमृदुसंसारधूर्तकैः ।
 आनन्दसिन्धुर्विततो वीतरागैर्विगाह्यते ॥ ८४

सामाजिकानां रामभक्तिं वर्धयन्नाह—नम इति । हे जनाः, एते
 यूयमस्मै रामाय नमस्कुरुत । तन्नमस्कारमात्रेण भवद्भिः सर्वं
 जेतव्यं जितमेव न साधनान्तरभपेक्षणीयमित्यर्थः । शुष्माकं
 मध्ये कोऽपि पुरुषधौरेय एवं श्रीराम इव जीवन्मुक्तश्चिरं निर्वि-
 कल्पसमाधिभिश्चान्तिं प्राप्तः । सुखमेधतां वर्धताम् ॥ ७६ ॥
 ॥ ७७ ॥ दूरदुर्लभा श्रुता उत्तरचरित्ररूपा रामकथा यैस्त्वया-
 विधाः सन्तो रामाद्विपश्चरजसामादरे । नमस्कारे इति यावत् ।
 सदा रामस्मरणे च आस्थिता आस्थावन्तो बभूवुरिति शेषः ।
 वसिष्ठो मैथिलीपतेः कथया श्रुतया न संतुतोष न तृप्तो बभूव
 ॥ ७८ ॥ एवमन्ये महर्षयश्च न संतुतुषुः । भूयः श्रोतुमुक्त-
 णिठताः सर्वे बभूवुरित्यर्थः । अत एव ते तस्य गुणान्परोक्षानाकर्-
 णयन् स्वयं श्रुतं चान्यान्प्रति श्रुवन्ब्रुवन् । लब्धवडभावदृष्टा-
 न्दसः ॥ ७९ ॥ ब्रूहि श्रोतृजनं प्रति व्यक्तं वद । अयं रामो
 जन्मनः प्राप्नोऽभूत्, किं वा बुधो देवः अथवा मनुष्य इत्यज्ञ-
 नाभिप्रायानुसारी प्रश्नः ॥ ८० ॥ विश्वामित्रोऽप्यज्ञजनानुसारे-
 णोत्तरमाह—अत्रैवेति । हे जन, त्वमश्रुतस्मिन् राम एव साक्षा-
 द्भगवान्वासुदेव इति विश्वासं कुरु । स पुराणः परः पुरुषः ।
 स कः । विश्वार्थं मथितोऽम्भोधिः क्षीरार्णवो येन सः । गम्भी-
 राणां गूढाशयानामागमानामुपनिषदां तरवगोचरो नान्यप्रमा-
 णस्येत्यर्थः ॥ ८१ ॥ प्रदाता सर्वपुरुषार्थानामिति शेषः । सुष्ठु
 भक्त्या प्रसादितः ॥ ८२ ॥ असत्समाः कायन्ते कीर्त्यन्त इत्ये-
 सत्सका मिथ्यार्थास्तान् ॥ ८३ ॥ व्युत्क्रान्ता विचारबाधिताः

क्वचिन्मुक्त इवात्मस्थः क्वचित्पदभिधः ।
 क्वचित्प्रणीतप्रकृतिः क्वचित्तत्स्थः पुमानयम् ॥ ८५
 अयं त्रयीमयो देवस्यैगुण्यगहनतिगः ।
 जयत्यङ्गैरयं षड्भिवेदात्मा पुरुषोऽद्भुतः ॥ ८६
 अयं चतुर्बाहुः विश्वस्रष्टा चतुर्मुखः ।
 अयमेव महादेवः संहर्ता च त्रिलोचनः ॥ ८७
 अजोऽयं जायते योगज्जागरूकः सदा महान् ।
 विभर्ति भगवानेतद्विरूपो विश्वरूपवान् ॥ ८८
 विजयो विक्रमेणैव प्रकाश इव तेजसा ।
 प्रज्ञोत्कर्षः श्रुतेनैव सुपर्णेनायमुह्यते ॥ ८९
 अयं दशरथो धन्यः सुतो यस्य परः पुमान् ।
 धन्यः स दशकण्ठोऽपि चिन्त्यश्चित्तेन योऽमुना ९०
 हा स्वर्गममुना शून्यं हा पातालादिहागतः ।
 तस्यैगमादयं लोको मध्यमः श्रेष्ठतां गतः ॥ ९१
 राम इत्यवतीर्णोऽयमर्जवान्तःशयः पुमान् ।
 चिदानन्दघनो रामः परमात्मायमव्ययः ॥ ९२
 निगृहीतेन्द्रियग्रामा रामं जानन्ति योगिनः ।
 अयं त्ववरमेवास्य रूपं रूपयितुं क्षमाः ॥ ९३
 रघोरघोच्छेदकरो भगवानिति शुश्रुम ।
 वसिष्ठं कृपया त्वं हि व्यवहारपरं कुरु ॥ ९४

निःसाराः मृदवश्च संसाराः कार्यकारणबन्धा येस्तथाविधैर्धूर्तैर्कै-
 र्जगद्वचकैर्वीतरागैर्यतिभिरानन्दसिन्धुर्विगाह्यते प्रविश्यते ॥ ८४ ॥
 अयमेव ज्ञानमुक्तो नित्यमुक्तो मायानियन्ता मायान्तर्बद्धश्चेति
 धेतुर्था स्थित इत्याह—क्वचिदिति ॥ ८५ ॥ त्रयीमयो वेदश-
 रीरः । अङ्गैः शिक्षाकल्पाविभिः । वेदानामात्मा पारमार्थिक-
 स्वरूपभूतः ॥ ८६ ॥ चतुर्बाहुः पालको विष्णुः ॥ ८७ ॥
 योगान्मायाशक्तिसंबन्धात् । मोहनिद्रानाश्रुतत्वात्सदा जग-
 रूकः ॥ ८८ ॥ यथा विक्रमेण पराक्रमेणावश्यभावी विजय
 उह्यते प्राप्यते, तेजसा यथा प्रकाशो भास्वरूपं उह्यते
 प्रियते, यथा श्रुतेन शास्त्रेण प्रज्ञोत्कर्ष उह्यते प्राप्यते, तद्वदयं
 सुपर्णेन गरुडेनेत्यर्थः ॥ ८९ ॥ अमुना रामेण यश्चित्तेन भूमायं
 प्रतियोजेति चिन्त्यश्चित्ततार्क्ष्यः संपन्नः ॥ ९० ॥ विष्णुदेहेना-
 मुना शून्यं स्वर्गं हा स्वर्गस्य शोच्यतेत्यर्थः । 'अभितःपरितः-
 समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति षड्यर्थे द्वितीया । एवं शेष-
 मूर्तैरयं पातालाद्विगमनामनां इहागतः । तथा च पातालस्यापि
 शोच्यतेत्यर्थः ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ रूपयितुं निरूपयितुं इष्टं च
 ॥ ९३ ॥ वञ्चोऽधतारेण रघुरप्यनेन पावित इत्याह—रघोरिति ।
 शुश्रुम इति कादिनियमाच्च । लिटि भसो भादेशाभावश्छान्दसः
 ॥ ९४ ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ अधिकारनिष्पादनलक्षणो लोकानां
 परामर्शो यावत् न निरुद्धो न निष्पन्नः, न भवति युक्तमिति
 शेषः ॥ ९७ ॥ पर्यालोक्य क्वचित्कालमुभयं देवकार्यादीनवि-

श्रीवाल्मीकिरवाच ।

इत्युक्त्वावस्थितस्तूर्णीं विश्वामित्रो महामुनिः ।
 वसिष्ठस्तु महातेजा रामचन्द्रमभाषत ॥ ९५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

राम राम महाबाहो महापुरुष चिन्मय ।
 नायं विश्रान्तिकालो हि लोकानन्दकरो भव ॥ ९६
 यावल्लोकपरामर्शो निरुद्धो नास्ति योगिनः ।
 तावद्ब्रह्मसमाधित्वं न भवत्येव निर्मलम् ॥ ९७
 तस्माद्राज्यादिविषयान्पर्यालोक्य विनश्चरान् ।
 देवकार्यादिभारांश्च भज पुत्र सुखी भव ॥ ९८

श्रीवाल्मीकिरवाच ।

इत्युक्तोऽपि यदा रामः किञ्चिन्नोचे लयं गतः ।
 तदा सुषुप्तया सोऽपि विवेश हृदयं शनैः ॥ ९९
 शक्तिप्राणमनःप्रसक्तिकरणो जीवः प्रकाशात्मको
 नाडीरन्ध्रसुषुप्तसर्वकरणः प्रोन्मील्य नेत्रे शनैः ।
 दृष्टोत्कृष्टवसिष्ठमुख्यविदुषो निर्मुक्तसर्वैषणः
 कृत्याकृत्यविचारणादिरहितः सर्वान्प्रतीक्ष्य स्थितः ॥
 श्रुत्वा वसिष्ठवचनं गुरुवाक्यमिति स्वयम् ।
 श्रुत्वा प्रोवाच भगवान्नामचन्द्रः समाहितः ॥ १०१

कारभारांश्च पर्यालोक्य पश्चात्समाधिं भजेत्यर्थः ॥ ९८ ॥ यदा
 राम इति गुरुणा उक्तोपि लयं ब्रह्मैक्यं गतो बाह्यार्थवर्णाभा-
 वाद्वागादिकरणचेष्टोपरमाश्च न किञ्चिदूचे तदा स वसिष्ठस्तच्छ-
 रीरं संकल्पेन प्रविश्य तदीयसुषुप्तानां शनैर्हृदयपुण्डरीकं
 विवेश । प्रविश्य तदीयं विलीनं जीवोपाधिं लिङ्गं चनीकृत्य
 मीजान्तः प्रविष्टो वायुस्सदन्तर्गतमङ्कुरमिव बहिराचकषेति यावत्
 ॥ ९९ ॥ तस्य - बहिराकर्षणे तदाविर्भावक्रमेण तत्र चिदा-
 भासाभिव्यक्त्या तत्कृतं क्षेत्रप्रकाशबाह्यार्थदर्शनादिकमसाह—
 शक्तीति । प्रथमं प्राणादिबीजभूतायामाधारशक्तौ ततः प्राणा-
 विर्भावैरेषु ततो मनस आविर्भावे तस्मिन् प्रसक्तिश्चिदाभा-
 समावेनानुप्रवेशस्तं करोतीति शक्तिप्राणमनःप्रसक्तिकरणः ।
 अत एव तत्प्रकाशात्मकत्वमुपाधिको जीवः प्राणद्वारा सर्वनाडी-
 रन्ध्रेष्वनुप्रविश्य सुषुप्तान्याविष्कृतानि सर्वाणि ज्ञानकर्मेन्द्रियल-
 क्षणानि करणानि येन तथाविधः सन् शनैर्नेत्रे प्रोन्मील्य बहि-
 रत्कृष्टान् पूज्यान् वसिष्ठमुख्यान् विदुषो दृष्ट्वा स्वयं कृतकृत्य-
 त्वाविर्मुक्तसर्वैषणः अत एव कृत्यस्यावश्यकर्तव्यस्य अकृत्यस्य
 त्याग्यस्य च व्यवहारस्य विचारणया शृणुदोषचिन्तया आदिप-
 दात्तप्रयुक्तहानोपादानादिद्वयस्या च रहितः सञ्जीवशं मामेते किं
 पश्यन्तीति सर्वान्प्रतीक्ष्य स्थित इत्यर्थः ॥ १०० ॥ तदनन्तरं
 इति प्रायुक्तं 'राम राम महाबाहो' इत्यादिवसिष्ठवचनं पुनस्तेनैव
 आवर्तितं श्रुत्वा इदं गुरुवाक्यमनुब्रूयामिति पितृप्रातृवन्धादि-

श्रीराम उवाच ।

न विधेर्न निषेधस्य त्वत्प्रसादादयं प्रभुः ।
तथापि तव वाक्यं तु करणीयं हि सर्वदा ॥ १०२
वेदागमपुराणेषु स्मृतिष्वपि महामुने ।
गुरुवाक्यं विधिः प्रोक्तो निषेधस्तद्विपर्ययः ॥ १०३
इत्युक्त्वा चरणौ तस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।
शिरसा धार्य सर्वात्मा सर्वान्प्राह घृणानिधिः ॥ १०४
श्रीराम उवाच ।
सर्वे शृणुत भद्रं वो निश्चयेन सुनिश्चितम् ।
आत्मज्ञानात्परं नास्ति गुरोरपि च तद्विदः ॥ १०५
सिद्धादय ऊचुः ।
रामैवमेव सर्वेषां मनसि स्थितिमागतम् ।
त्वत्प्रसादाच्च सकलं संवादेन दृढीकृतम् ॥ १०६

सुखी भव महाराज रामचन्द्र नमोऽस्तु ते ।
वसिष्ठेनाप्यनुज्ञाता गच्छामोऽद्य यथागतम् ॥ १०७
श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
एवमुक्त्वा गताः सर्वे रामसंस्तवने रताः ।
रामचन्द्रस्य शिरसि पौष्पी वृष्टिः पपात ह ॥ १०८
एतत्ते सर्वमाख्यातं रामचन्द्रकथानकम् ।
अनेन क्रमयोगेन भरद्वाज सुखी भव ॥ १०९
इति रघुपतिसिद्धिः प्रोदिता या मया ते
वरमुनिवचनालीरत्नमालाविचित्रा ।
निखिलकविकुलानां योगिनां सेव्यरूपा
परमगुरुकटाक्षान्मुक्तिमार्गं ददाति ॥ ११०
य इमं शृणुयान्नित्यं विधिं रामवसिष्ठयोः ।
सर्वावस्थोऽपि श्रवणान्मुच्यते ब्रह्म गच्छति ॥ १११

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते द्वात्रिंशत्साहस्र्यां संहितायां बालकाण्डे मोक्षोपायेषु
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे ब्रह्मदर्शने रामव्युत्थानं नामाष्टाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२८ ॥

प्रार्थनामपि श्रुत्वा भगवान्सर्वज्ञः । स्वावतारप्रयोजनज्ञ इति यावत् ।
तदभ्युपगमेन समाहितः सन् प्रोवाचेत्यर्थः ॥ १०१ ॥ १०२ ॥
विधिरवश्यानुष्ठेयोऽर्थः । तद्विपर्ययस्तदतिक्रमणं तु निषेधः ।
अवश्यहेय इत्यर्थः ॥ १०३ ॥ इदानीं श्रीरामः परमपुरुषार्थ-
दानरूपस्य गुरुकृतोपकारस्य निष्कृतिमन्यामपश्यन् स्वशिरसि
तच्चरणधारणव्याजेन स्वं गुरवे समर्प्य सर्वजनेभ्यः सर्वोत्कृष्टं
ज्ञानमाहात्म्यं गुरुमाहात्म्यं च स्वयं प्रत्यक्षमनुभूतं विश्वासदा-
ह्वार्योपदिष्टवानित्याह—इत्युक्तत्वेति ॥ १०४ ॥ तद्विद आत्म-
विद इति गुरुविशेषणम् । तदात्मतत्त्वं गुरुरूपदेशाद्वेत्तीति
तद्विदः शिष्यस्य गुरोः परं नास्तीति वा ॥ १०५ ॥ स्थितिं
निश्चयम् । संवादेन एतद्व्युत्थलक्षणेन त्वदुक्तिसंवादेन च ॥ १०६ ॥
॥ १०७ ॥ १०८ ॥ रामचन्द्रस्य जीवन्मुक्तिविश्रान्तिपर्यन्त-

संवादकथालक्षणमानकं संजीवनममृतमिति यावत् ॥ १०९ ॥
उपसंहरति—इतीति । वरमुनेर्वसिष्ठस्य वचनपङ्क्ति-
रत्नमालया विचित्रा भूषिता इति उक्तरूपा रघुपतेर्जीवन्मुक्ति-
सिद्धिर्या मया तुभ्यं प्रोदिता प्रोक्ता निखिलानां कविकुलानां
योगिनां च सेव्यरूपा सा परमगुरुकटाक्षाच्छ्रवणादिना सेविता
सती मुक्तिमार्गं प्रागुक्तभूमिकाक्रमं ददात्यारोपयतीत्यर्थः ॥ ११० ॥
विधिं संवादप्रकारम् । मोहमालिन्यरागद्वेषमहापातकोपपातका-
दिसर्वदोषावस्थायुक्तोऽपि पुरुषः श्रवणादेव सर्वदोषैर्मुच्यते
ज्ञानत्यादिगुणप्राप्तिक्रमेण ब्रह्म गच्छति प्राप्नोति किं पुनरधिकारी-
त्यर्थः ॥ १११ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्धे रामव्युत्थानं नामाष्टाविंशत्युत्तरशततमः
सर्गः ॥ १२८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिज्वाजकाचार्यवर्यश्रीमत्सर्वज्ञसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीरामचन्द्रसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
श्रीगङ्गाधरेन्द्रसरस्वत्याख्यभिक्षोः शिष्येण श्रीमदानन्दबोधेन्द्रसरस्वत्याख्यभिक्षुणा विरचिते
श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणस्य पूर्वार्धं संपूर्णम् ॥

समाप्तमिदं निर्वाणप्रकरणस्य पूर्वार्धम् ॥

श्रीः ।

योगवासिष्ठः ।



श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासंवलितः ।



निर्वाणप्रकरणस्य उत्तरार्धम् ६ ।

प्रथमः सर्गः १

श्रीराम उवाच ।

नैष्कर्म्यात्कल्पनात्यागात्तनुः पतति देहिनः ।

कथमेतदतो ब्रह्मन्संभवत्याशु जीवतः ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जीवतः कल्पनात्यागो युज्यते न त्वजीवतः ।

रूपमस्य यथातत्त्वं शृणु श्रवणभूषणम् ॥

अहंभावनमेवाहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।

नभोर्यभावनं तस्य संकल्पत्याग उच्यते ॥

पदार्थरसमेवाहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।

नभोर्यभावनं तस्य संकल्पत्याग उच्यते ॥

इदं वस्त्विति संवेगमाहुः कल्पनमुत्तमाः ।

नभोर्यभावनं तस्य संकल्पत्याग उच्यते ॥

स्मरणं विद्धि संकल्पं शिवमस्मरणं विदुः ।

तच्च प्रागनुभूतं च नानुभूतं च भाव्यते ॥

अनुभूतां नानुभूतां स्मृतिं विस्मृत्य काष्ठवत् ।

सर्वमेवाशु विस्मृत्य गूढस्तिष्ठ महामते ॥

सर्वास्मरणमात्रात्मा तिष्ठायतेषु कर्मसु ।

अर्धसुप्तशिशुरस्पन्द इवाभ्यस्तोपपत्तिषु ॥

निःसंकल्पप्रवाहेण चक्रं प्रस्पन्दते यथा ।

स्पन्दस्वकर्मस्वनघप्राक्संस्कारवशात्तथा ॥

शिवमभयमनन्तसौख्यसिन्धुं हृदि निहितं हितमस्तमोहजालम् ।

जगदुदयनयक्षयप्रवीणं निरुपमबोधघनात्मदेवमीडे ॥ १ ॥

निर्ममा निरहंकारा निःसंकल्पविकल्पनाः ।

यथा जीवन्ति चेष्टन्ते मुक्ता युक्तिस्तथोच्यते ॥ २ ॥

पूर्वार्धे श्रीरामसमाधिप्रदर्शनव्याजेनोत्तमाधिकारिणः श्रवणावृत्तिपरिपाकादेव साक्षात्कारज्ञानोदयेन परमपदे सकृद्विश्रान्तिर्भवतीति दर्शितम् । तस्य देवात्पुनर्व्युत्थानेऽपि यथा अविरतं तत्रैव विश्रान्तिरनायासेन सिध्यति तथोत्तरोत्तरभूमिकारोपणायोत्तरार्धमिदमारभ्यते । अत्रादौ रामः 'अहंभमेति संविदक्ष दुःखतो विमुच्यते । असंविदन्विमुच्यते यदीप्सितं तदाचर ॥' इत्यन्ते यदुक्तं तत्र सर्वकल्पनात्यागे कल्पनाधीनदेहधारणादिव्यवहारात्तिद्धिं शङ्कते—नैष्कर्म्यादिति । देहप्राणादिष्वहंतादिकल्पनात्यागादेतोर्नैष्कर्म्यात्सर्वक्रियोपरमादेहधारकप्राणादिचेष्टोपरमे देहिनस्तनुराशु पतति अत एतत्त्वबुक्तं तस्य जीवतो व्यवहारादिकं संभवतीत्यर्थः ॥ १ ॥ न कल्पनाधीनं जीवनं येन तत्त्यागात्तनुपातः स्यात् किंतु भोजकप्रारब्धाधीनम्, कल्पनात्याग एव प्रत्युत जीवनाधीनजन्मेति नोपजीवनं बाधत इत्यविरुद्धं किंत्वजीवनमेव विरुध्यत इत्याशयेन भगवान्वसिष्ठः समाधत्ते—जीयत इति । अस्य कल्पनात्यागस्य स्वरूपं यथा जीवनविरुद्धं न

यो० वा० ११५

भवति तथा मया यथातत्त्वं वर्ण्यमानं शृण्वित्यर्थः ॥ २ ॥

अहंभावनं देहादिपरिच्छेदाध्यासम् । नभः अपरिच्छिन्नब्रह्माकाशस्वरूपस्यार्थस्य स्वपारमार्थिकस्वभावस्य भावनं प्रतिसंधानं परिच्छेदाध्यासोच्छेदित्वात्संकल्पत्यागस्तैरुच्यते ॥ ३ ॥ ४ ॥

इदं देहादि सर्वं दृश्यं वस्तु परमार्थसत्यमिति संवेगमभिमानम् । तस्य नभःकार्यभूतचतुष्टयविकारत्वात्तत्त्वतो नभोर्य एवैकः स्फुरतीत्यर्थस्य भावनं पर्यालोचनम् । इदं द्वयमपि भ्रान्तानुभवविरुद्धत्वेऽपि न जीवनविरुद्धम् । जीवत एव भ्रान्तिनिवृत्तिदर्शनादिति भावः ॥ ५ ॥ एवं स्मरणात्मकाध्यासविरोधिनस्तन्निरोधस्यापि न जीवनविरोधितेत्याशयेनाह—स्मरणमिति । भूतविषयमनुभूतम् । भाविषयमननुभूतम् । स्मरणग्रहणं परोक्षवृत्तिमात्रोपलक्षणम् ॥ ६ ॥ स्मृतिं स्मरणं सर्वमनुमित्यादिवृत्त्यन्तरं च विस्मृत्य, अपरिच्छिन्नब्रह्माकारनिलीनः काष्ठवद्गुडो निश्चलश्च तिष्ठ चिरं जीव । तथा च ब्रह्मात्मभावेन चित्तवृत्तिनिरोधो योगिनामायुर्वृद्ध्या प्रत्युत जीवनहेतुरेवेति भावः ॥ ७ ॥ व्यवहारकाले तु स्मृतिमात्रनिरोधः कार्य इत्याह—सर्वेति । देहाभ्यस्तव्यवहारे न पूर्वापरस्मृतिप्रयत्नाद्यपेक्षास्तीत्याशयेनाह—अर्धेत्यादिना । अभ्यस्तोपपत्तिषु पूर्वाभ्यासमात्रेणोपपद्यमानेष्वित्यर्थः ॥ ८ ॥ विनाप्रयोजनोद्देशं पूर्वसंस्कारमात्रेण

अविद्यमानचित्तस्त्वं सत्त्वसंस्कारमागतः ।
 प्रवाहपतितेष्वेव स्पन्दस्व स्वेषु कर्मसु ॥ १०
 ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
 असंकल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न भाव्यते ॥ ११
 अहो मोहस्य माहात्म्यं यदयं सर्वदुःखहा ।
 चिन्तामणिर्विचाराख्यो हृत्स्थोऽपि त्यज्यते जनैः ॥ १२
 अवेदनमसंकल्पस्तन्मयेनैव भूयताम् ।
 एतावत्परमं श्रेयः स्वयमेवानुभूयताम् ॥ १३
 किल तूष्णीं स्थितेनैव तत्पदं प्राप्यते परम् ।
 परमं यत्र साम्राज्यमपि राम तृणायते ॥ १४
 गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
 स्पन्दो विगतसंकल्पस्तथा स्पन्दस्व कर्मसु ॥ १५
 सर्वकर्मफलाभोगमलं विस्मृत्य सुप्तवत् ।
 प्रवाहपतिते कार्ये स्पन्दस्व गतवेदनम् ॥ १६
 स्पन्दस्वाकृतसंकल्पं सुखदुःखान्यभावयन् ।
 प्रवाहपतिते कार्ये चेष्टितोन्मुक्तशङ्कवत् ॥ १७
 रसभावनमन्तस्ते मालं भवतु कर्मसु ।
 दारुयन्मयस्येव परार्थमिव कुर्वतः ॥ १८
 नीरसा एव ते सन्तु समस्तेन्द्रियसंविदः ।
 आकारमात्रसंलक्ष्या हेमन्तर्तौ लता इव ॥ १९
 घौघार्कपीतरसया स्पन्दन् षड्वर्गसत्तया ।
 यत्रस्पन्दोपमस्तिष्ठ बह्व्येव शिशिरे द्रुमः ॥ २०
 विदान्तररसान्येव प्रवृत्तान्यपि धारय ।

कृतकार्यं कुलालचक्रं यथा बाधद्वेगक्षयं प्रस्पन्दते अमति तथे-
 त्यर्थः ॥ ९ ॥ सत्त्वं निर्वासनं मनस्तदीयं संस्कारवेगमागतोऽ-
 नुगतः सन् रागादिदोषस्याबोध्यकृत्प्रवृत्तिप्रसक्तिरित्याशये-
 नाह—प्रवाहेति ॥ १० ॥ एवं प्रश्नं समाधाय बहुकृत्वोऽपि
 पथ्यं वदितव्यमिति न्यायेन प्रागुक्तमेव संकल्पत्यागादि श्रेयः-
 साधनमित्युद्धोषयन्पुन पुनराह—ऊर्ध्वबाहुरित्यादिना ॥ ११ ॥
 ॥ १२ ॥ अवेदनं दृश्यदर्शननिर्मुक्तमात्मतत्त्वं तदेव मुख्योऽ-
 संकल्पः ॥ १३ ॥ तूष्णीं संकल्पचेष्टा विना ॥ १४ ॥
 प्राक्तनसंकल्पप्रयुक्तक्रियावेगवशादेव यावत्तत्त्वार्थं व्यवहारसिद्धौ
 प्रागुक्तं दृष्टान्तान्तरं पुनराह—गम्येति ॥ १५ ॥ ‘अवेदनम-
 संकल्पः’ इति यदुक्तं तद्यवधारकालेऽप्युपपादयति—सर्वेति
 ॥ १६ ॥ यथा स्वतश्चेष्टितोन्मुक्तं शष्पं बालतृणं वाय्वादिप्रवा-
 हपतिते तृणान्तरसंयोगवियोगादिकार्ये स्पन्दते तद्वत् ॥ १७ ॥
 यथा परेषां कौतुकार्थं नृणां च कुर्वत इव स्थितस्य दारुपुत्रिका-
 यश्च नटवच्छृङ्गारादिरसभावनं नास्ति तद्वत्तत्त्वापि कुर्वतो
 विषयसुखे मूर्खस्येव रसभावनं कौतुकबुद्धिर्मा भूदित्यर्थः ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ षड्वर्गः पञ्चकोशसवलितचिदाभासः । समनस्कः
 प्राणवर्गो ज्ञानेन्द्रियवर्गः । कर्मेन्द्रियवर्गो ज्ञानकर्मेन्द्रियसहि-
 तान्तःकरणचतुष्टयम् । पादकौशिकं शरीरं चेति षट्षड्वर्गस्तेषां

स्वयत्नेनेन्द्रियाण्याशु हेमन्तर्तुस्तत्तु निव ॥ २१
 सरसेन्द्रियवृत्तेस्ते कुर्वतोऽकुर्वतस्तथा ।
 संसारानर्थसाथोऽयं न कदाचन शाम्यति ॥ २२
 निःसंकल्पमखण्डवालायन्त्राभ्युत्पन्नस्पन्दवद्यदि ।
 स्पन्दसे तदनन्ताय श्रेयसे परिकल्पसे ॥ २३
 एतदेव परं धैर्यं जन्मज्वरनिवारणम् ।
 यदवासनमभ्यस्ता निजकर्मसु कर्तता ॥ २४
 अवासनमसंकल्पं यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
 शनैश्चक्रभ्रमाभोग इव स्पन्दस्व कर्मसु ॥ २५
 मा कर्मफलबुद्धिर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।
 उभयं वा त्यजेतत्त्वमुभयं वा समाश्रय ॥ २६
 यदुनात्र किमुक्तेन संक्षेपादिदमुच्यते ।
 संकल्पनं मनोबन्धस्तदभावो विमुक्तता ॥ २७
 नेह कार्यं न वाऽकार्यमस्ति किञ्चित् कुत्रचित् ।
 सर्वं शिवमजं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम् ॥ २८
 पश्यन्कर्मण्यकर्मत्वमकर्मणि च कर्मताम् ।
 यथाभूतार्थचिद्रूपः शान्तमास्व यथासुखम् ॥ २९
 अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् ।
 अत्यन्तं तन्मयो भूत्वा तथा तिष्ठ यथासि मोः ॥ ३०
 समे शान्ते शिवे सूक्ष्मे द्वैतैक्यपरिवर्जिते ।
 ततोऽनन्ते परे शुद्धे किं केन किल खिद्यते ॥ ३१
 नोदेतु त्वयि संकल्पो भरभूमाविवाहुरः ।
 इच्छा नोदेतु भवति लतिकेवोपलोदरे ॥ ३२

सत्तया । बह्व्या वेष्टितः शिशिरे द्रुम इव नीरसः ॥ २० ॥
 ननु नीरसस्य षड्वर्गस्य कथं जीवनं तत्राह—चिदिति । अन-
 वरणभूमानन्दरूपा विदेवान्तरो जीवनपुष्पादिहेतुरसो येषां
 तानि प्रवृत्तानि स्वमावाद्वाह्यरसास्वादे प्रवृत्तान्यपि स्वयत्नेन
 निवार्य विदान्तररसान्येव कृत्वा धारयेत्यर्थः । इन्द्रियग्रहणं
 षड्वर्गोपलक्षणम् । यथा हेमन्तर्तुस्तत्तु बाह्यजलभावेऽप्या-
 न्तरेणैव रसेन जीवयति तद्वदित्यर्थः ॥ २१ ॥ इन्द्रियवृत्तीना-
 मनिवारणे सरसत्वे च किं स्यात्तत्राह—सरसेति ॥ २२ ॥
 निःसंकल्पमेव भरतो ज्वालाया यन्त्रस्याभ्युत्पन्नस्य यथा स्पन्द-
 स्तथा यदि स्पन्दसे । परिकल्पसे समर्थः स्याः ॥ २३ ॥ २४ ॥
 चक्रे अमतीति अम आभोगः संनिवेश इव शनैरुत्तरोत्तरमुप-
 शमशीलः स्पन्दस्व ॥ २५ ॥ कर्मफले आसक्तिबुद्धिर्यस्य तथा-
 विधो मा भूः । अकर्मणि कर्मत्यागेऽपि तत्फलसत्किलक्षणः सङ्गो
 मास्तु । फलसङ्गाभावे कर्मकरणे तत्त्यागे च न विशेष इत्या-
 शयेनाह—उभयमिति ॥ २६ ॥ २७ ॥ अकार्यं त्याज्यम् ।
 प्राग्वद्यथास्थितमेव आस्यतां स्थीयताम् ॥ २८ ॥ अकर्मत्वं
 निष्क्रियब्रह्मात्मताम् । अकर्मणि तादृशब्रह्मभावस्थितौ कर्मता-
 मवश्यकर्तव्यताम् ॥ २९ ॥ अवेदनं प्राग्व्याख्यातम् ॥ ३० ॥
 निस्पन्दं तूष्णीमवस्थानमामवातजकीकृतसर्वाङ्गस्यैव खेदायैवेति

अवेदनस्य शान्तस्य जीवतो वाप्यजीवतः ।
नेह किञ्चित्कृतेनार्थो नाकृतेनापि कश्चन ॥ ३३
यत्कर्माकर्म शान्तेऽन्तः शाश्वतामेदरूपिणि ।
न कर्मणि च कर्माणि न कर्तर्यपि कर्तृता ॥ ३४
अहंममेति संविदन्न दुःखतो विमुच्यसे ।
असंविदन्विमुच्यसे यदीप्सितं तदाचर ॥ ३५

अहं ममेति नास्त्यलं यदस्ति तच्छिवं परम् ।
परात्परं त्विदं शिवादशब्दमर्थरूपकम् ॥ ३६
यदृश्यते जगदिदं खलु किञ्चिदेत-
द्वेद्योऽङ्गदत्वमिव भाति न विद्यमानम् ।
अस्य क्षयं विदुरवेदनमेव पश्चा-
त्सत्यं तदेव परमार्थमथावशिष्टम् ॥ ३७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे इच्छादिचिकित्सायोगोपदेशो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः २

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अद्वैतैक्यं विमननं शान्तमात्मन्यवस्थितम् ।
यथा पङ्कमयं सैन्यं तथा शिवमयं जगत् ॥ १
मनोहंकारबुद्ध्यादिचित्तमेव च तन्मयम् ।
कालाकारक्रियाशब्दशक्तिसंदर्भसंयुतम् ॥ २
शिवपङ्कमया एव रूपालोकमनःक्रमाः ।
तन्मयत्वादनन्तत्वादतः किं केन चेत्यते ॥ ३

मातृमेयप्रमाणादिदेशकालौ दिगादि च ।
भावाभावविवर्तादिशिवपङ्कमयात्मकम् ॥ ४
अहंममेत्यतः सारात्रेतरत्परमेश्वरात् ।
असंसक्तमतिस्तिष्ठ हा शिलोदरमौनवत् ॥ ५
श्रीराम उवाच ।
अहंममेत्यसद्रूपं हस्याभावयतः प्रभो ।
अशुभं कर्मणां त्यागादनुष्ठानाच्च किं शुभम् ॥ ६

शङ्कां वारयति—समे इति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ कृतेन अकृतेन
वा लौकिकवैदिककर्मणा जीवत ऐहिकोऽजीवत आमुष्मि-
कोऽप्यर्थः पुरुषार्थो नास्ति ॥ ३३ ॥ कृतो नास्ति तत्राह—
यदिति । यद्यस्मात्कारणात्कर्माकर्मोभयबाधावधौ तदुभयात्म-
भूते च शाश्वतामेदरूपिणि त्वयि प्रातिभासिककर्मात्मना विवर्त-
मानेऽपि वस्तुतः कर्मता नास्ति तादृशकर्त्रात्मना विवर्तमानेऽपि
कर्तृता नास्ति । यस्य कर्मकर्तृतादौ सत्यताबुद्धिस्तस्यैव कर्मफल-
मिति श्रद्धादिवदधिकारिविशेषणविधायकशास्त्रेण बोधनादिति
भावः ॥ ३४ ॥ अत एव देहादावहंममेति संवेदनवत् एव विधि-
निषेधशास्त्राधिकारात्कर्मकृतो बन्धो नेतरस्येति प्राशुक्तमित्याह—
अहंममेति ॥ ३५ ॥ पराङ्गमानन्दाख्याच्छिवात्परमन्यदिदं
दृश्यमर्थरूपमिवार्थरूपकं प्रातिभासिकं जगदशब्दमनिर्वचनीय-
मवस्त्वेवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥ एतदेव स्पष्टमाह—यदिति ।
किञ्चित् इत्यमीदृशं चेति निर्वचनशब्दशून्यम् । एतद्वाधाधि-
ष्ठानं तु अथ तदबोधवाधानन्तरं पश्चादवशिष्टमवेदनं वेदना-
विषयमेवानुभवनिष्ठाः सत्यैकरूपं परमपुरुषार्थरूपं विदुरित्यर्थः
॥ ३७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे इच्छादिचिकित्सायोगोपदेशो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

निरूप्यतेऽत्र प्रथमं सर्वं शिवमयं जगत् ।

कर्मबीजं तथान्विष्य समूलं विनिवार्यते ॥ १ ॥

‘सर्वं शिवमयं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम्’ इति यदुक्तं
तदत्र प्रथममुपपादयितुं प्रतिजानीते—अद्वैतैक्यमिति ।
आत्मनि पारमार्थिकस्वभावे तत्त्वदृष्ट्या अवस्थितम् ॥ १ ॥

यद्यदि चिद्भास्यं तत्तच्चिद्विवर्तत्वाच्चिन्मयमित्यन्तःकरणचतुष्टये
क्रमेण दर्शयति—मन इति । प्रथमं हि चित्तश्वेलोन्मुखत्व-
लक्षणं मननं चिद्व्याप्तमेव ततस्तदभिमानाध्यवसायस्मरणकाम-
संकल्पादिवृत्तयस्तथैव चिद्व्याप्ताः सर्वानुभवसिद्धाः । तथा
चिचेत्यसंबन्धलक्षणः कालश्वेल्याकारस्तत्क्रियाणामसंस्थानसहितं
सर्वमन्तःकरणसंस्मरणं साक्षात्साक्षिवेद्यत्वाच्छिवमयमिति बोद्धुं
शक्यमित्यर्थः ॥ २ ॥ एवं बहिरिन्द्रियतद्धारकबाह्यदर्शनतद्विषये-
ष्वपि चिद्व्याप्तिप्रयुक्तैवापरोक्षप्रयेति तत्रापि शिवमयत्वमेव
विवेकिभिर्द्रष्टुं शक्यमित्याशयेनाह—शिवेति । रूपालोकग्रहणं
शब्दाद्यालोचनानामप्युपलक्षणम् । मनःक्रमा बाह्यसविकल्पक-
हानोपादानादिवुद्ध्यस्तद्विषयाश्च । एवं शिवमयत्वदर्शने शिव
एव सर्वत्रिपुटीरूपेण प्रयते न ततो वस्त्वन्तरमस्तीत्याह—
तन्मयत्वादिति ॥ ३ ॥ तदेव विशदयति—मात्रिति ॥ ४ ॥
सर्वविवर्तानहंममेति द्वैरूप्येणैव संगृह्य तत्र चिद्व्याप्तत्वपर्यालो-
चने तत्सारतन्मात्रत्वपरिषेधात्तत्र स्थितिः सुलभेत्याशयेनाह—
अहमिति । शिलोदरे यत्प्रसिद्धं वागादिचेष्टाशून्यत्वलक्षणं मौनं
तद्वत् । नामरूपकर्मात्मके प्रपञ्चे नामरूपयोरपरोक्षचिद्व्याप्त्यैव
स्फुरणाच्छिवमयत्वं निर्णय तत्र बाधेन तत्स्वरूपेऽवस्थानं सुक-
रम् ॥ ५ ॥ कर्मणां तु पुण्यपापलक्षणानामनन्तकोटिजन्मसंचि-
तानामपरोक्षतया भानादर्शनाच्च शिवमयत्वदर्शनेन बाधसिद्धि-
रिति तज्जिवारणे परिषेधादाभरणं निश्चेष्टावस्थानलक्षणस्तत्याग
एवोपायः । न हि ज्ञानिनः कर्मकरणेन किञ्चित् फलमपेक्षितं,
न वा नित्यनैमित्तिकत्यागे प्रत्यवायप्रसक्तिरस्ति येन तूष्णीमव-

त्यस्य भावप्रधाननिर्देयात्

१. १ अयमर्थो मूलस्य कर्मणीत्यस्य . . २. अयमर्थो मूलस्य कर्मणी-

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

पृच्छामि यदहं तत्त्वं कथयाशु ममानघ ।
यदि जानासि तत्त्वेन कर्म तावत्किमुच्यते ॥ ७
विस्तारः कर्मणः कीदृक् मूलं तस्य च किं भवेत् ।
नाशनीयं च निपुणं कथं कथय नादयते ॥ ८
श्रीराम उवाच ।
यन्नाशनीयं निपुणं तद्धनं च विनाश्यते ।
मूलकायेण भगवन्न शाखादिविकर्तनैः ॥ ९
शुभाशुभं नाशनीयं स्वकर्म खलु धीमता ।
मूलकायविनाशेन तच्च नष्टं भवत्यलम् ॥ १०
कर्मवृक्षस्य वक्ष्यामि ब्रह्मन्मूलानि मे शृणु ।
यन्निकायेण निर्मूलो न स भूयः प्ररोहति ॥ ११
देहस्तावदयं ब्रह्मन्कर्मवृक्षः समुत्थितः ।
रुढः संसारविपिने विचित्राङ्गलताञ्चितः ॥ १२
कर्मबीजं तरोरस्य सुखदुःखफलावलेः ।
क्षणतारुण्यकान्तस्य जराकुसुमहासिनः ॥ १३
मुहूर्तं प्रति कालोऽग्रमर्कटध्वंसिताकृतेः ।
निद्राहेमन्तजठरलीनस्वप्नदलोद्भूतेः ॥ १४
स्ववार्धकशरच्छान्तशीर्णेहापर्णसंततेः ।
जगज्जङ्गलजातस्य कलत्रोपतृणावलेः ॥ १५

स्थानं न सिद्ध्येदिति संभावनया रामः पृच्छति—अहमिति ॥ ६ ॥ सत्यमेव तव नैकमर्थं सिद्ध्येदिति मूलेन सह त्वया तत्त्यक्तुं शक्येत । मूलं तु तथा तव दुस्त्यजमेवेति दर्शयितुं वसिष्ठो रामेण कर्मणां किं मूलमिति निश्चिद्येत्यं पृच्छयते इति परीक्षार्थं राम त्वया कर्मणः स्वरूपं तस्य फलात्मको विस्तारस्त्वन्मूलं तत्र नाशयोग्याशस्तदुपायश्च कीदृशो निश्चित इति पृच्छति—पृच्छामीति द्वाभ्याम् ॥ ७ ॥ ८ ॥ मूलकायेण मूलोच्छेदेन ॥ ९ ॥ तत्र स्वरूपं तन्नाशप्रकारं च रामः स्वाभिप्रेतमाह—शुभाशुभमिति । पुण्यपापरूपमिलयः ॥ १० ॥ तृतीयप्रश्नोत्तरमाह—कर्मवृक्षस्येति । तत्रादौ 'अथ कर्मणासात्मेत्येतदेषामुक्तममो हि कर्माण्युत्तिष्ठन्ति' इति श्रुत्या निष्कृष्य दर्शितं मूलं प्रथमं दर्शयति—ब्रह्मन्निति । यस्य निकायेण । अनशनादिना मरणेनेति यावत् ॥ ११ ॥ ऐहिककर्ममूलं देहं प्राक्तनकर्मणो विस्तारोऽपि भवतीति द्वितीयप्रश्नमपि तस्य कर्मवृक्षतया वर्णनेन समाधत्ते—देहस्तावदित्यादिना । विचित्राभिर्देहावज्जलक्षणाभिर्लताभिः शाखाभिरशितो विराजमानः ॥ १२ ॥ तस्य प्राक्तनं कर्मबीजम् ॥ १३ ॥ मुहूर्तं प्रति प्रतिमुहूर्तं कालरूपेणोऽग्रमर्कटेन हर्षविषादरोगजरादिविकारचैष्टाभिर्ध्वंसिताकृतेर्निमलक्षणे हेमन्तजठरे लीनाः संकुचिताः स्वप्रलक्षणा दलोद्भूतयः पर्णनिर्गमा यस्य ॥ १४ ॥ स्वस्य वार्धक्यलक्षणे शरदीव शरदि शिशिरान्ते शान्ता वपरताः शीर्षाश्च ईहाश्चेष्टास्तल्लक्षणाः पर्णसंततयो यस्य । कलत्रं भार्याविपोष्यवर्गस्तद्रूपा उप समीपप्रकटा तृणावलिः कक्षो यस्य ॥ १५ ॥

पल्लवावयवा हस्तपादपृष्ठादयोऽरुणाः ।
पत्राणि तनुवृत्तानि सुरेखाणि चलानि च ॥ १६
अरुणाः पवनालोला मृद्वो मसृणमूर्तयः ।
क्ष्मावस्थिदिग्धसरसा बहुल्यो बालपल्लवाः ॥ १७
मृद्वो मसृणतीक्ष्णाग्रा वृत्ता रुढाः पुनःपुनः ।
द्वितीयेन्दुकलाकाराः कलिका नखपङ्क्तयः ॥ १८
कर्मणः परिफुल्लस्य देहरूपतयेति हि ।
कर्मेन्द्रियाणि मूलानि दुष्टानि ग्रन्थिमन्ति च ॥ १९
स्थिरास्थिग्रन्थिनद्वानि पङ्कमग्रात्मकानि च ।
वासनारसपीतानि निजरसरसानि च ॥ २०
गुल्फवन्ति दृढाङ्गानि सुत्वञ्चि मसृणानि च ।
तेषामपि च मूलानि विद्धि बुद्धीन्द्रियाणि हि ॥ २१
सुदूरमपि जातानि पञ्चस्तम्बानि तानि तु ।
वासनापङ्कमग्रानि रसवन्ति महान्ति च ॥ २२
तेषां मूलं बृहत्तमं मनो व्याप्तजगत्रयम् ।
पञ्चस्रोतःशिराकृष्टमुक्तानन्तरसद्रवम् ॥ २३
तस्य मूलं विदुर्जीवं चेत्योन्मुखचिदात्मकम् ।
चेत्यस्य चेतनं मूलं सर्वमूलैककारणम् ॥ २४
चित्तेस्तु ब्रह्म मूलं यत्तस्य मूलं न विद्यते ।
अनास्यत्वादनन्तत्वाच्छुद्धत्वात्सत्यरूपिणः ॥ २५

हस्तयोः पादयोश्च पृष्ठानि मृद्वनि आदिपदादौष्टौ कर्णौ जिह्वे-
त्यादयस्तस्य अरुणास्ताम्रवर्णाः पल्लवरूपा अवयवाः । अल्पा-
रुणानि तु तनुवृत्तानि सुरेखाणि च हस्तपादतलानि ईषत्कले-
रत्वात्पत्राणि ॥ १६ ॥ अन्तःक्ष्मावस्थिदिग्धत्वात्सरसा रम्या
अङ्गुल्यस्तस्य पवनालोला बालपल्लवाः ॥ १७ ॥ छिन्ना अपि
पुनःपुनरुढाः प्रादुर्भूता नखपङ्क्तयस्तस्य कलिकाः क्षीरकाः
॥ १८ ॥ इति देहवृक्षरूपतया परिफुल्लस्य प्रकृतस्य प्राक्तनकर्मणः
कर्मेन्द्रियाणि मूलानि । तेषु तन्मूलधर्मान्दर्शयति—दुष्टा-
नीति । तेषु यानि सन्धिद्राणि तान्यासङ्गकामादिसर्पदुष्टानि
यान्यच्छिद्राणि तानि ग्रन्थिमन्ति ॥ १९ ॥ तानि पुनर्यथा-
योगं विशिनष्टि—स्थिरा इति । पङ्को नाडीषु पूर्णोऽक्षरसस्तम्भ-
मात्मकानि ॥ २० ॥ तत्र पादेन्द्रियाणि गुल्फवन्ति । सुत्वञ्चि
शोभनत्वकसंवृतानि अत एव मसृणानि । तेषां मूलान्तरा-
प्याह—तेषामपीति ॥ २१ ॥ सुदूरस्थविषयं मसृणमपि जातानि
प्रादुर्भूतानि । देहाद्दुर्लभविषयदेशं गत्वापि प्रहीतुं समर्थानीत्यर्थः ।
पञ्चस्तम्बानि नेत्रगोलकादिपञ्चविधस्थानाभितानि । कर्मेन्द्रिय-
वदेव स्वस्वविषयवासनापङ्कमग्रानि । अत एव तत्र रसवन्ति ।
महान्ति निग्रहीतुमशक्यानि ॥ २२ ॥ पञ्चेन्द्रियस्रोतोरुपाभिः
शिराभिरन्तराकृष्टा उपभोगोत्तरं मुक्ताश्च अनन्ता रूपादिरस-
द्रवा येव ॥ २३ ॥ तस्य मनसोपि मूलं चेत्योन्मुखी चिदात्मक-
मावेन चेत्यप्रवणा या तेजोब्रह्मप्रविष्टा चिद् तदोत्पत्तिकम् । तत्र
चेत्यांशस्य चेतनमविद्याशंबला चिन्मूलम् ॥ २४ ॥ चित्तविदा-
भासांशस्य तु विम्बमूलं तस्य चैतन्यमेव मूलम् ॥ २५ ॥

सर्वेषां कर्मणामेवं वेदनं बीजमुत्तमम् ।
स्वरूपं चेतयित्वान्तस्ततः स्पन्दः प्रवर्तते ॥ २६
मुने चेतनमेवाद्यं कर्मणां बीजमुच्यते ।
तस्मिन्सति महाशाखो जायते देहशाखमलिः ॥ २७
एतच्चेतनशब्दार्थभावनावलितं यदि ।
तत्कर्म बीजतामेति नो चेत्सत्परमं पदम् ॥ २८
चित्तिश्चेतनशब्दार्थभावनावलिता यदि ।
तत्कर्म बीजतामेति नो चेदाद्यं परं पदम् ॥ २९
तस्माद्वेदनमेवेह कर्म कारणमाकृतेः ।
यदेतत्कर्मणां प्रोक्तं त्वयैवोक्तं मुनीश्वर ॥ ३०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अस्य राघव सूक्ष्मस्य कर्मणो वेदनात्मनः ।
कस्यागः किमनुष्ठानं यावदेहमिति स्थितम् ॥ ३१
यच्चेत्यते नु तेनाशु बहिरन्तश्च भूयते ।
सत्याकारमसत्यं वा भवत्वाहितविभ्रमम् ॥ ३२
न चेत्यते चेत्तदलं भ्रमादस्माद्विमुच्यते ।
भ्रमः सत्योऽस्त्वसत्यो वा किं विचारणयानया ॥ ३३
एतच्चेतनमेवान्तर्विकसत्युद्भवभ्रमैः ।
वासनेच्छामनःकर्मसंकल्पाद्यमिधात्मभिः ॥ ३४

वेदनं चेत्योन्मुखचित् । तच्चाहङ्कारादितादात्म्यापन्नं कर्तृस्वरूप-
महमिति चेतयित्वा क्रियात्मकस्पन्दः संस्तरफलाय प्रवर्तते
॥ २६ ॥ चेतनं जीवचिदेव ॥ २७ ॥ एतज्जीवचेतन्यमहङ्का-
रादिसंवलनेन कर्तृचेतनोऽहमिति शब्दार्थभावनयोद्बुद्ध्या यदि
संवलितं तत्तदेवेत्यर्थः । कर्मणां बीजतां मूलताम् ॥ २८ ॥
तदेव स्पष्टमाह—चित्तिरिति । वलिता वेष्टिता । तत् भावना-
संवलितरूपम् ॥ २९ ॥ उक्तार्थस्य प्रामाणिकतासिद्धये गुरुवाक्य-
संवादित्वोक्तयोपसंहरति—तस्मादिति । आकृतेर्देहाद्यहंभा-
वाकारस्य स्वस्य वेदनमेव कर्मणां कारणम् । मया यदेतत्क-
र्मणां मूलं प्रोक्तं तत्प्राक्त्वयैवोक्तं त्वद्वचनमालम्ब्यैवेदं मया
प्रोक्तमित्यर्थः ॥ ३० ॥ एवं त्वया वर्णितं कर्ममूलं न तूष्णीमव-
स्थानेन देहत्यागेन वा त्यक्तुं शक्यमिति न त्वदुत्प्रेक्षितरीत्या
कर्मनिवृत्तिः संभवतीत्याशयेन वसिष्ठ उवाच—अस्येति । याव-
देहं यावदुपाधि ॥ ३१ ॥ तस्मिन् सति बाह्यान्तरद्वयाध्यासो
दुर्निवार इत्याह—यदिति । यद्यत्तेन बाह्यमाभ्यन्तरं वा
चेत्यते तेन तेन दृश्येन भूयते उद्भवः प्राप्यते । नु इति संभावने
॥ ३२ ॥ सुषुप्त्यादिकाले न चेत्यते चेत् । ‘तीर्णो हि तदा
सर्वाञ्छोकारो हृदयस्य भवति’ इति श्रुतेस्तथैवानुभवाच्चेति
भावः । नन्वसत्यभ्रमेणास्य का क्षतिस्तत्राह—भ्रम इति ।
बाधाभावे असत्यदुःखस्याप्यनुभवे सत्यविशेषादिति भावः
॥ ३३ ॥ एतज्जीवचेतनमेवोपाधिकैर्वासनादिनामभिरुद्भवभ्रमैः
संसारतात्मना विकसति ॥ ३४ ॥ ननु तर्हि प्रबोधेन सप्रति-
विम्बहेतुधितोपाधिर्निरसनीयस्तत्राह—प्रबुद्धस्येति ॥ ३५ ॥
तस्मात् तूष्णींभावेन देहत्यागेन वा कर्मोपरमः कर्मत्यागः

प्रबुद्धस्याप्रबुद्धस्य देहिनो देहरोहके ।
आदेहं विद्यते चित्तं त्यागस्तस्य न विद्यते ॥ ३५
जीवतां तस्य संत्यागः कथं नामोपपद्यते ।
केवलं कर्मशब्दार्थभावनाभावने सति ॥ ३६
कर्माकर्मत्वमुत्सृज्य स्वयमेव भवत्यजम् ।
असंभवति संत्यागे कर्मणो यः करोति हि ॥ ३७
इदं कर्तव्यतात्यागं न किञ्चित्तेन तत्कृतम् ।
बोधादिदंतासंविसेः स्वयं विलयनात्तु यत् ॥ ३८
जगतस्तं विदुस्त्यागमसङ्गं मोक्षमेव च ।
वेदनं सति संवेद्ये सर्गादावेव वेद्यदृक् ॥ ३९
नोत्पन्ना विद्यते नैव तस्मात्किं केच वेदनम् ।
वेद्योन्मुखत्वं संत्यज्य रूपं यद्वेदनस्य वै ॥ ४०
न वेदनं तन्नो कर्म तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यते ।
चेतनं प्रोच्यते कर्म संसृत्याभ्रविकासितम् ॥ ४१
अचेतनं विदुर्मोक्षं ह्यं प्रत्येवोपदेशगीः ।
त्यागो हि कर्मणां तस्मादादेहं नोपपद्यते ॥ ४२
यैस्तु संपूज्यते कर्म तन्मूलं तैर्न मुच्यते ।
मूलं स्वकर्मणः संविन्मनसो वासनात्मनः ॥ ४३
सा चादेहं समुच्छेत्तुमृते बोधाच्च शक्यते ।

किंतु यथाप्राप्तव्यवहारकालेऽप्यसत्त्वाद्वितीयकूटस्थचिन्मात्रोऽहं
नैव किञ्चित्करोमीति निष्क्रियात्मस्वभावस्थित्या कर्मशब्दार्थ-
भावनाया अभावने अनुद्भवे सति विनापि यत्नं कर्माकर्मत्व-
विकल्पमुत्सृज्य केवलं स्वयमेव भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ इतोऽ-
न्यथा तु कर्मत्यागो दुष्कर इत्याह—असंभवतीति ॥ ३७ ॥
बोधात्सर्वद्वैतबाधेन कर्मणोऽपि बाधलक्षणस्यागस्तु कुर्वतोऽप्य-
विरुद्धं इत्याशयेनाह—बोधादिति । इदंतासंविर्देश्यप्रतिभा-
सस्य स्वयमेव विलयनाद्वाधानु यदत्यन्तासत्त्वं तं जगतस्त्यागम्
॥ ३८ ॥ ननु बोधाद्वेद्यमेव बाध्यते न वेदनं तत्कथं तद्वाध
उच्यते तत्राह—वेदनमिति ॥ ३९ ॥ सा च वेद्यदृक् तत्त्व-
दशा नोत्पन्ना नैव विद्यते । उपाधिबाधे चिदाभासस्य पृथगन-
वस्थानादिति भावः । यत्तु चिदाभासत्वरूपं वेद्योन्मुखत्वं
संत्यज्य शुद्धचिदात्मकं रूपं शिष्टं तत्र द्वैतवेदनं यतस्तत्कर्म-
क्रिया नो, येन भावत्युडन्तविदधात्वर्थः स्यादित्यर्थः । किंतु
ग्रह्यवेत्याह—वेद्योन्मुखत्वमिति ॥ ४० ॥ यत्तु चिदाभा-
सात्मकं चेतनं तत्कर्म क्रियारूपमेव प्रोच्यते यतस्तत्सं-
सृत्या बुद्ध्याद्युपाधिकारकव्यापारेण जलादौ प्रतिविम्बितम-
भ्रमाकाशमिव विकासितम् ॥ ४१ ॥ अत एव मोक्षमचेतनं
चिदाभासशून्यमेव विदुरनुभवनिष्ठाः । तेषां ह्यं विवेकिर्न
शिष्यं प्रति उपदेशगीः उपदेशवाणी च इति एवंप्रैव श्रूयत
इत्यर्थः । इत्थं च यावदेहं सुखेन व्यवहारः सिद्ध इत्याशये-
नाह—त्याग इति ॥ ४२ ॥ वासनात्मनो मनसः संवन्धिनी
चिदाभाससंबिद् ॥ ४३ ॥ कर्ममूलान्यन्यान्यपि कामवासना-

राम केवलमेवान्तः कर्ममूलकरा परा ॥ ४४
सूक्ष्मसंविदसंवित्त्वा स्वयत्नेन निष्कृत्यते ।
येन संविदसंवित्त्वा स्वयत्नेन विचार्यते ॥ ४५
तेन संसृतिवृक्षस्य मूलकाषो वितन्यते ॥ ४६

अचेतनाकाशमनन्यदेकं
तदेवमस्ति त्विदमर्थहीनम् ।
तद्योमरूपं यत पतदेवं
निरामयं चेतनसारमाहुः ॥ ४७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कर्मबीजदाहयोगोपदेशो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः ३

श्रीराम उवाच ।

अवेदनं वेदनस्य मुनीन्द्र क्रियते कथम् ।
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ १

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
यदा तदैव सुकरं वेदनावेदनं स्वयम् ॥ २
एतौ वेदनशब्दार्थौ रज्जुसर्पभ्रमोपमौ ।
असत्याबुदितौ विद्धि मृगतृष्णाम्भसा समौ ॥ ३
अबोधस्त्वनयोः श्रेयान्बोधो दुःखाय चैतयोः ।
तस्मात्सदेव बुद्ध्यस्व माऽसद्बुद्ध्यस्व राघव ॥ ४
जन्तोर्वेदनशब्दार्थबोधो दुःखकरः परः ।

धीनि करोतीति कर्ममूलकरा । परा कर्तृत्वात्तत्कारिषु श्रेष्ठा च ॥ ४४ ॥ तस्मान्मदुक्त एव कर्मत्यागोपाय इत्याशयेनोपसहरति—
सूक्ष्मेति । येन चिदामासरूपा संविद् असंवित्त्वा मूलज्ञानेन सह स्वयत्नेन तत्त्वं बुद्ध्या विचार्यते रज्जुयोरभेदाद्विचार्यते स्वरूपात्प्रच्यव्यते । तेन तन्मूला तत्तद्बुद्ध्यदर्शनरूपा वृत्त्य-
वच्छिन्नचिदाभासात्मिकापि मूलबाधकस्वयत्नेनैव असंवित्त्वा अप्रतिष्ठधानेन निष्कृत्यते । न तन्निष्कृतने पृथक्प्रयत्नापेक्षा-
स्तीति भावः । क्वचित्पुस्तके येनेत्याद्युत्तरार्धं न पठ्यत एव तदा तेन संसृतिवृक्षस्य तत्त्वज्ञानेन सर्वबाधलक्षणो मूलकाषो वितन्यते येन निष्कृत्यत इति परेण योज्यम् ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ न विद्यते चेतनं चिदाभासो यत्र तथाविधमाकाशमेकमनन्यत्सजा-
तीयभेदैरिदमर्थैर्दृश्यैर्हीनं तद्ब्रह्मैवैवमुक्तदशा अस्ति तदेव सर्वेषा-
मसदादिचेतनानां सारं पारमार्थिकं रूपमाहुर्ब्रह्मविद इत्यर्थः ॥ ४७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराभायणात्पारमार्थिकप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कर्मबीजदाहयोगोपदेशो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

असत्त्वं मार्जिते वेदे यथातथैवमवेदनम् ।

निष्क्रियं चापि सिद्धिषां सद्योपाय इहोच्यते ॥ १ ॥

‘अवेदनं विदुर्मांसे वित्तक्षयमकृत्रिमम्’ इति श्रुतं तत्र रामः शङ्कते—अवेदनमिति । यद्यपि ‘विद्योन्मुखत्वं संत्यज्य रूपं यद्वेदनस्य वै । न वेदनं तज्जो कर्म तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यते ॥’ इति प्रागुक्तत्वाभासाः शङ्काया उत्थानं समवति । तथाप्यन्ते संविदसंवेत्त्या निष्कृत्यते इत्युक्त्या तज्ज्वा एवोक्तः स च तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यत इति प्रागुक्त्या सह विरुद्धः सतोऽसत्त्वायो-
गादिति समवत्येव श्रुतिः । ‘एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्ये-
वानुविनश्यति न प्रेत्य सज्ञास्ती’त्युक्ते ‘अत्रैव मामगवानममुह्यह-

निष्कृत्य ह्यतिशब्दार्थबोधं तिष्ठ यथास्थितम् ॥ ५
सर्वावधोधावसरे ह्यतिशब्दार्थयोरिह ।
निर्वाणोदय इत्येव परमोमिति शाम्यताम् ॥ ६
शुभाशुभात्मकर्म स्वं नाशनीयं विवेकिना ।
तन्नास्तीत्यवबोधेन तत्त्वज्ञानेन सिध्यति ॥ ७
कर्ममूलनिकाषेण संसारः परिशाम्यति ।
सुविचारितमन्विष्टं यावत्कर्म न विद्यते ॥ ८
चिद्रूपो बिम्बमज्जान्तश्चित्तसंज्ञां यदात्मनि ।
करोति तद्यथा बिम्बाच्च स्वल्पमपि भिद्यते ॥ ९
न यथा संनिवेशान्तः संनिवेशस्ततः पृथक् ।
तथा नभोर्थादि पृथङ् न परस्मान्मनागपि ॥ १०

न प्रेत्य संशस्ति’ इति मैत्रेयीप्रश्नवदिति ॥ १ ॥ अत एव ‘न वा अरे मोहं प्रवीम्यविनाशी वारेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा मात्रा-
संस्पर्शस्त्वस्य भवति’ इति याज्ञवल्क्यवद्वसिष्ठोऽपि समा-
धत्ते—नासत इति ॥ २ ॥ कथं सुकरं तदाह—एताविति ।
एतौ संसारदशाप्रसिद्धौ । ‘यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति’ ‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मेवामृतत्वेन कं पश्येत्’ ‘यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा’ इत्यादि-
श्रुतिषु एतयोर्निषिद्धत्वादिति भावः ॥ ३ ॥ अत एव वेदन-
घटितत्रिपुटीसाक्षिणक्षिपुटीनिष्ठतिरेव मोक्ष इत्याशयेनाह—
अबोधस्त्विति । सद्यविनाशिकूटस्थात्स्वरूपमेव बुद्ध्यस्व ।
असत् त्रिपुब्बन्तर्गतवृत्त्याद्युपहितचिदाभासं मा आत्मेति बुद्ध्यस्व ॥ ४ ॥ परिच्छिन्ने तस्मिन्नात्मताबुद्धिरेव सर्वेषामनर्थहेतु-
रित्याह—जन्तोरेति । निष्कृत्य समूलं छित्त्वा ॥ ५ ॥ व्यवहार-
काले तस्य कथमुच्छेदः कार्यस्तत्राह—सर्वेति । सर्वत्रिपुटी-
बोधलक्षणव्यवहारावसरेऽपि व्यावहारिकज्ञप्तिशब्दार्थयोः परम-
न्यत् तत्र यथायोगं सर्वार्थपरं कूटस्थचिन्मात्रं सर्वसन्दपरेण ओमित्यनेन लक्षयित्वा स एवात्मा निर्वाणोदय इत्येव शाम्यतां निर्विक्षेपं व्यवहियतामित्यर्थः ॥ ६ ॥ ईदृशबोधव्यवहारादेवो-
त्तरपूर्वयोः शुभाशुभयोरन्धेयविनाशौ सिध्यत इत्याह—शुभेति ॥ ७ ॥ कूटस्थात्मदर्शनमेव सर्वकर्ममूलवेदनोच्छेदेन सर्वकर्म-
बाध इत्याह—कर्मैति । यावत्समूलं सफलं सशाखोपकाखपत्र-
पुष्पं च सर्वं कर्म न विद्यते ॥ ८ ॥ यथा बिम्बमज्जा स्नान्तर्-
द्दीप्तादि करोति तद्वित्त्वाद्यथा न भिद्यते तथा चिद्रूपोऽप्यात्मनि यत्तिसंज्ञां क्रियाकारकादित्रिपुटी करोति तत्स्वल्पं मनागपि न भिद्यत इत्यन्वयः ॥ ९ ॥ भूलोकसंनिवेशान्तर्गतो जम्बूद्वीपादि-

यदेवाभस्तदेवान्तर्द्रवत्वमपृथग्यथा ।
 चित्त्वमेव तथा चित्तं तद्रूपत्वात्तदर्थयोः ॥ ११
 यथा द्रवत्वं पयसि यथाऽऽलोकश्च तेजसि ।
 तथा ब्रह्मण्यतद्भावं चित्त्वं चित्तं च विद्यते ॥ १२
 चेतनं कर्म तत्त्वान्तर्निर्मूलं भ्रमयक्षवत् ।
 उदेत्यहेतुकं तच्चेन्नोदितं तन्न विद्यते ॥ १३
 चेतनं कर्म तच्चेतद्भाति स्पन्द इवानिलः ।
 अहेतुकं यदात्मैतद्वहिरन्तश्च सार्थधीः ॥ १४
 विस्तारः कर्मणां देहः सोऽहंतात्मा ससंस्तुतिः ।
 अचेतनानहन्त्वेन शाम्यत्यस्पन्दवातवत् ॥ १५
 अचेतनादनन्तात्मा भूत्वा शोऽप्युपलोपमः ।
 संसारमूलकषणं कुरु क्रोडमुखाग्रवत् ॥ १६
 कर्मबीजकलाकोशत्याग एव कृतो भवेत् ।
 नान्यथा राघवान्तस्ते शान्तमस्तु सदा स्थितम् ॥ १७
 कर्मबीजकलात्यागे त्वेतस्मादितरात्मनि ।
 अविद्यमाने जीवस्य तज्ज्ञैर्विदितवस्तुभिः ॥ १८
 शान्तैर्न गृह्यते किञ्चिन्न च संत्यज्यतेऽपि च ।
 त्यागादानेन जानन्ति ततस्तैः शान्तमानसम् ॥ १९
 आकाशशून्यहृदयैर्ज्ञैर्यथास्थितमास्यते ।
 क्रियते च यथाप्राप्तं नाप्येतैः क्रियतेपि च ॥ २०
 प्रवाहपतितं सर्वं स्पन्दते शान्तमानसम् ।

संनिवेशो यथा भुवो न पृथक् । नमो व्योम तदन्तर्गतभूत-
 भुवनार्थादि च परस्मात्सन्मात्रात् पृथक् ॥ १० ॥ तदर्थयोश्चित्त्व-
 चित्तशब्दार्थयोस्तदर्थत्वाच्चिन्मात्रार्थकचित्तिधात्वर्थत्वात् ॥ ११ ॥
 अतद्भावं प्राहकत्वस्मर्तृत्वधर्मद्वयशून्यम् ॥ १२ ॥ कृतस्त-
 च्छून्यं तदाह—चेतनमिति । चेतयतीति चिदिति व्युत्पत्त्या
 हि चेतनमर्थप्रकाशनं चितः कर्म क्रियेत्यवगम्यते । तच्च कूटस्था-
 याश्रितो निर्मूलं भ्रमयक्षवन्मिथ्यैव यदहेतुकं मिथ्यारूपमुदेति
 तन्नोदितमेव । अतो न कियारूपमन्यत्तत्र विद्यत इति विकल्प-
 मात्रं तथा व्युत्पादनमित्यर्थः ॥ १३ ॥ एवं चेतनक्रियाया अपृ-
 थक्त्वे तद्विषयाणामपि तत्सिद्धमित्याह—चेतनमिति । यदा
 चेतनं कर्म अहेतुकमिति अनिलतत्स्पन्दवदपृथक् तदा वहिर्जा-
 प्रति अन्तःस्वप्नसुषुप्त्योश्च सैवार्थधीरित्यर्था अप्यात्मैव न पृथ-
 गित्यर्थः ॥ १४ ॥ सर्वकर्मविस्तारो देह एव । 'अथ कर्मणा-
 मात्मैवेतत्' इति श्रुतेः । स एव मूलतः अहंतात्मा शाखातः
 संस्तुतिः अचेतनं चिदाभासात्मकक्रियावाधस्तल्लक्षणेनानहन्त्वेन
 भूलोच्छेदेन सशाखः स शाम्यतीत्यर्थः ॥ १५ ॥ चिदाभासो-
 च्छेदेन जीवस्यात्मनाशो वृत्त इति न मन्तव्यं किंतु स ब्रह्म-
 भावेनानन्तात्मा भूत्वा स्वानर्थसंसारमूलोच्छेदं परमपुरुषार्थं
 संपादितवानित्याह—अचेतनादिति । क्रोडो वराहस्तन्मुखाग्रं
 यथा मुस्तादिमूलकषणं करोति तद्वत् ॥ १६ ॥ नान्यथा हे
 राघव, अतः कारणात् ते अन्तः सदा स्थितं वेदनात्मकं कर्ममूलं

तेषां कर्मेन्द्रियाण्येवमर्धसंसुप्तवालवत् ॥ २१
 रसे निर्वासने लब्धे रसा अप्यतिनीरसाः ।
 नान्तस्तिष्ठन्ति न बहिरज्ञाननिपुणा इव ॥ २२
 कर्मणो वेदनं त्यागः स च सिद्धः प्रबोधतः ।
 अवस्तु नेतरेणार्थः किं कृतेनाकृतेन वा ॥ २३
 अवेदनमसंवेद्यं यदवासनमासितम् ।
 शान्तं सममनुल्लेखं स कर्मत्याग उच्यते ॥ २४
 अपुनःस्मरणं सम्यक् चिरविस्मृतकर्म तत् ।
 स्थितं स्तम्भोदरसमं स कर्मत्याग उच्यते ॥ २५
 अत्यागं त्यागमिति ये कुर्वन्ते व्यर्थबोधिनः ।
 सा भुङ्क्ते तान्पशूनज्ञान्कर्मत्यागपिशाचिका ॥ २६
 समूलकर्मसंत्यागेनैव ये शान्तिमास्थिताः ।
 नैव तेषां कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ॥ २७
 समूलमलमुद्धृत्य कर्मबीजकलामिति ।
 नित्यमेकसमाधानास्तज्ज्ञास्तिष्ठन्त्यतः सुखम् ॥ २८
 प्रवाहपतिते कार्ये ईषत्स्पन्दा अतन्मयाः ।
 घूर्णमाना इव क्षीबा यन्नसंचारिता इव ॥ २९
 मोक्षलक्ष्म्या विलासिन्या व्यसनोपहता इव ।
 अर्धसुप्तप्रबुद्धाभाः कामप्यवनिमागताः ॥ ३०
 यत्समूलं परित्यक्तं तत्त्यक्तमिति कथ्यते ।
 अमूलकावस्थागो यः स शाखालवनोपमः ॥ ३१

शान्तमस्तु ॥ १७ ॥ एतस्मिन्कर्मबीजकलात्यागे कृते जीवस्य
 इतरात्मनि ब्रह्मात्मत्वातिरिक्ते विदाभासात्मनि तद्दृश्यप्रपञ्चा-
 त्मनि च अविद्यमाने जाते तज्ज्ञैः शान्तैः किञ्चिन्न गृह्यते न
 त्यज्यते चेति परेणान्वयः । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं
 पयेत्' इति श्रुतेरिति भावः ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ यथा
 नदीप्रवाहपतितं तृणकाष्ठादि सर्वं स्पन्दते एवं तेषां कर्मेन्द्रि-
 याणि शान्तमानसं विनापि मनोविकारं स्पन्दते इति विपरिण-
 म्यते ॥ २१ ॥ निर्वासने निर्विषये रसे निरतिशयानन्दे ।
 रसा भोगप्रवणाः करणवृत्तयो नीरसा रागशून्याः सन्तोऽज्ञान-
 निपुणाः स्वस्वविषयप्रकाशे असमर्था इव भूत्वा ॥ २२ ॥
 प्रागुक्तवेदनमेव कर्मणस्त्यागः । इतरेण जीवनादृष्टाक्षिप्तदेहादि-
 स्पन्दरूपेण कर्मणा ॥ २३ ॥ अनुल्लेखं कृताकृतप्रतिसंधानशू-
 न्यम् ॥ २४ ॥ २५ ॥ अत्यागं मूलत्यागरहितं कर्मेन्द्रियसंय-
 ममात्ररूपम् । तथा चोक्तं भगवता 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य यः
 आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स
 उच्यते ॥' इति ॥ २६ ॥ २७ ॥ इति प्रागुक्तरीत्या समूलमु-
 द्धृत्य ॥ २८ ॥ अतन्मयास्तदभिमानलक्षणविकारशून्याः ।
 क्षीवा मदिरान्मत्ता इव । यन्त्रेण संचारिताः काष्ठादिप्रतिमा
 इव च ॥ २९ ॥ व्यसनेन आसक्त्यतिशयेन उपहताः स्वदेहा-
 दाप्रतिसंधानं प्राप्ता इवेत्युत्प्रेक्षा । कामप्यवनि पक्षम्यादिभूमि-

सकृष्टमूलशाखाप्रलवनः कर्मपादपः ।
 पुनः शाखासहस्रेण दुःखाय परिवर्धते ॥ ३२
 अवेदनात्मना तेन कर्मत्यागोऽङ्ग सिध्यति ।
 क्रमेण नेतरेणात एतदेवाहरन्भव ॥ ३३
 ये त्वेवं कर्मसंत्यागमकृत्वान्यत्प्रकुर्वते ।
 अत्यागं त्यागरूपात्म गगनं भारयन्ति ते ॥ ३४
 बोधात्मकतया कर्मत्यागः संपद्यते स्वयम् ।
 दग्धबीजा निरिच्छोच्चैरक्रियैव भवेत्क्रिया ॥ ३५
 बुद्धीन्द्रियेहितं कर्म सफलं रसभावनात् ।
 वेष्टितव्यं कुदात्रेव स्पन्दोऽन्यो निष्फलोऽङ्गजः ॥ ३६
 कर्मत्यागे स्थिते बोधाजीवन्मुक्तो विवासनः ।
 गृहे तिष्ठत्वरण्ये वा शाम्यत्वभ्येतु बोध्यम् ॥ ३७
 गेहमेवोपशान्तस्य विजनं दूरकाननम् ।

अशान्तस्याप्यरण्यानि विजना सजना पुरी ॥ ३८
 परिशान्तमतेर्हस्य स्वप्नेऽप्यप्राप्तमानवा ।
 निर्मला वितता हृद्या हृद्येव घनभूमिका ॥ ३९
 हस्य निर्वाणदृश्यस्य निस्पन्दार्था तमोमयी ।
 शान्ताशेषविशेषार्था जगदेव महाटवी ॥ ४०
 अनन्तसंकल्पवतो हृदयस्यजगत्स्थितेः ।
 हृद्येवावर्तते भूमिरहस्याखिलसागरा ॥ ४१
 जनस्याश्रय दीनस्य विविधद्वन्द्वसंकटा ।
 सारम्भा विविधाकारा हृद्येव ग्राममण्डली ॥ ४२
 विविधकार्यविकारदशामयी
 सपुरपत्तनमण्डलपर्वता ।
 मुकुरकोश इव प्रतिबिम्बिता
 हृदि भवत्यमला मलिने मही ॥ ४३

इत्याख्ये श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्योपशमयोगोपदेशो नाम तृतीयः सर्गः ॥ १ ॥

चतुर्थः सर्गः ४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

साहंतादिजगच्छान्तौ बोधे संवित्कलात्मनि ।
 संशान्तदीप्रसंकाशस्यागः सिध्यति नान्यथा ॥ १
 न त्यागः कर्मसंत्यागो बोधस्याग इति स्मृतः ।
 अजगत्प्रतिभैकात्मा योऽनहंतादिरव्ययः ॥ २
 अयं सोहृदिदं तन्म इति निःश्लेहदीपवत् ।
 शान्ते परमनिर्वाणे प्रबोधात्मेति शिष्यते ॥ ३

काम् ॥ १० ॥ ३१ ॥ न कृष्टमुन्मूलितं मूलं यत्र तथाविधं
 शाखाप्रलवनं यस्य ॥ ३२ ॥ तेन प्रागुक्तेन क्रमेणाहरन्भवस्य-
 न्भव तिष्ठ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ निरिच्छा जीवन्मुक्तक्रिया उच्चैर्महारा-
 म्भापि दग्धबीजेत्यक्रियैव । न हि महानपि दग्धतन्तुः पटा-
 भासः पटो भवतीति भावः ॥ ३५ ॥ बुद्धिसहितैरिन्द्रियैर्भोगा-
 सक्षिरसमापनाधीहितं निष्पादितम् । यथा कुदात्रा वेष्टितव्यं
 कूपकाष्ठं रसभावनाज्जलोद्धरणसेवनादिरूपात्सखसंपत्त्या सफलं
 न तु वृथा चेष्टामात्रात्तद्दन्वोऽङ्गजः कायचेष्टामात्ररूपः स्पन्दो
 निष्फलः ॥ ३६ ॥ शाम्यतु धनादिसंपदपचयेन दरिद्रोऽस्तु ।
 उदयं तदुपचयमभ्येतु वा । स सम एवेति शेषः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥
 गेहमेवेत्येतच्छ्लोकस्य पूर्वार्धं वर्णयति—परिशान्तेति
 ह्याभ्याम् ॥ ३९ ॥ निर्वाणं ज्ञानाभिना सहोपरतं दृश्यं यस्य
 ॥ ४० ॥ तदुत्तरार्धं वर्णयति—अनन्तेति त्रिभिः ॥ ४१ ॥
 ॥ ४२ ॥ विविधैः कार्यैरव्ययकर्तव्यैरर्जनव्ययप्रवासकलहादिभिः
 सदैव लोभमोहशोकमर्यासत्त्यादिविकारदशामयी । पुरं शाखा-
 नगरम् । पत्तनं महानगरम् । मण्डलान्यवान्तरदेशाः । मलिने
 हृदि ईदृशी अमला स्फुटा सर्वा मही मुकुरकोश इव प्रतिवि-
 म्बिता भवत्येवैत्यस्य नारण्येऽपि विश्रान्तिमुखमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अयं सोहृदिदं तन्मे शान्तमित्येव यस्य नो ।
 न ज्ञानं तस्य न शान्तिर्न त्यागो न च निर्वृतिः ॥ ४
 ममेदमयमेवाहमित्येतावति यः क्षयः ।
 बोधात्मा शिवमाशान्तं तस्मादन्यत्र विद्यते ॥ ५
 अहमंशे विदा क्षीणे सर्वमेव क्षयं गतम् ।
 न किञ्चिच्च कच्चित्क्षीणं निर्वाणैकघनं स्थितम् ॥ ६
 अहंविदनहंवित्त्वादेव शाम्यत्यविघ्नतः ।

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 दृश्योपशमयोगोपदेशो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इहाहंतैव संसारमूलमित्युपवर्णयते ।

तस्यागश्चानहंभावभावनादात्मबोधतः ॥ १ ॥

इहात्मनः सर्वदृश्यत्यागो हि मोक्षः स च श्लेहक्षये दीपनिर्वा-
 णवत्त्वबोधेन सर्वदृश्यमूलज्ञानवाधे सिध्यति नान्यथेत्याह—
 साहंतादीति ॥ १ ॥ न विद्यते जगत्प्रतिभा यस्मिंस्तथाविध-
 एकात्मैव परिशिष्टो मुख्यः सर्वस्यागलक्षणो मोक्ष इत्यर्थः ॥ २ ॥
 स पामरप्रसिद्धोऽयं देहादिर्दृश्यरूपा एवाहं तद्देहादिसंघर्षं भोग्यं
 जगन्मे इति एतस्मिन्नादात्मन्यसंसर्गाध्यासलक्षणे द्विविधे घन्ये
 निःश्लेहदीपवत्समूलं शान्ते सति प्रकृष्टो बोधश्चेतन्यमेवात्मा
 इति परिशिष्यते स एव निर्वाणमोक्ष इत्यर्थः ॥ ३ ॥ उक्तमर्थं
 व्यतिरेकमुखेनापि ब्रूयति—अयमिति ॥ ४ ॥ एतावति एता-
 वतो यः क्षयः । षष्ठ्यर्थे सप्तमी । स बोधात्मैव । अध्यस्तबाध-
 स्याधिष्ठानमात्रत्वादिति भावः ॥ ५ ॥ विदा तत्त्वबोधेन । सर्वं
 समतास्पन्दं जगत् । सर्वनाशे सर्वस्वनाशमीवं समाधत्ते—न
 किञ्चिदिति । पारमार्थिकरूपेण सर्वं स्थितमेव ॥ ६ ॥ अहंबुद्धि-
 नाशे शुलभ उपायसाह—अहंविदिति । अनहंवित्त्वादनहं-
 भावभावनात् । अविघ्नत इति । नेदं रजतमितिबुद्ध्या रजता-

एतावन्मात्रसाध्येयं किमिवेयं कदर्थेना ॥ ७
 अहं नाहमिति भ्रान्तिर्न च चित्त्वादृतेऽस्ति सा ।
 चित्तं चाकाशविशदमतः कैषा भ्रमस्थितिः ॥ ८
 न भ्रमो भ्रमणं नैव न भ्रान्तिर्भ्रामकोऽस्ति वा ।
 अनालोकनमेवेदमालोकान्नेदमस्ति ते ॥ ९
 विद्धि चिन्मात्रमेवेदमसद्रूपोपमं ततम् ।
 तेनालं मौनमास्त्वैवं सर्वं निर्वाणमात्रकम् ॥ १०
 येनैवाशु निमेषेण त्वहमित्येव चेतति ।
 तेनैव नाहमित्येव चेतित्वाशु न शोच्यते ॥ ११
 अहंभावं नभोर्थेन निर्वाच्यारूढवाणवत् ।
 अजस्रमाशु वाऽक्षीणं तिष्ठावष्टब्धतत्पदः ॥ १२
 सनभोर्धामहन्तां त्वं चेतन्नेवमनारतम् ।
 सर्वभावैरनारूढो भव तीर्णभवार्षवः ॥ १३
 स्वभावमात्रविजये स्वयं यस्य न वीरता ।
 तस्योत्तमपदप्राप्तौ पशोर्बृहि कथैव का ॥ १४
 षड्भूतानि निर्जितः पूर्वं येनोत्तमविदा स्वतः ।
 भाजनं स महार्थानां नेतरो नरगर्दभः ॥ १५
 यस्य स्वान्तर्मनोवृत्तिर्जीयमाना जिताथवा ।
 विषयः स विवेकानां स पुमानिति कथ्यते ॥ १६

ध्यासबाधने विघ्नादर्शनादिति भावः । इयं मुक्तिः । इयमित्यती
 कदर्थेना बहुसाधनसंपादनभ्रान्तिः किमिव किमर्थमित्यर्थः
 ॥७॥ नन्वनहंबुद्धिरपि द्वैतत्वादहंबुद्धिवदध्यास एव । सा केन
 शाम्यतीति चेत्पक्षेन सह कतकण्ठेणुरिव अहंबुद्ध्या सह स्वतः
 एव चिदात्मनि सा शाम्यतीति सोपपत्तिकमाह—अहमिति ।
 चित्त्वात्परमार्थचित्त्वभावात् । ऋते विना ॥ ८ ॥ भ्रमत-
 त्साधनतत्फलतदाश्रयणामज्ञानमात्रविलासत्वादज्ञाननिवृत्तौ न
 पृथगवस्थानमस्तीत्याह—नेति । अनालोकनमज्ञानम् ॥ ९ ॥
 ॥१०॥ यदा यदा अहंभावोदयप्रसक्तस्तदा तदा तुल्यकालमेव
 तद्विरुद्धा अनहंभावबुद्धिरुत्पाद्येत्याह—येनैवेति ॥११॥ एव-
 मजस्रं सावधानमुपस्थापितेनानहंभावेन अहंभावमाशु नभोर्थेन
 खपुष्पादिना तुल्यं निर्वाच्य निर्वचनार्हतां नीत्वा रणे शरासना-
 रूढोऽर्जुनवाण इव अपराधुखः अवष्टब्धं दृढमालम्बितं तद्वह्म-
 पदं येन तथाविधः सन्नक्षीणं शाश्वतं तिष्ठ ॥ १२ ॥ नभोर्थैः
 समानां सनभोर्थाम् । 'समानस्य च्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदकेषु'
 इति सः ॥ १३ ॥ स्वभावः स्वाभाविकाज्ञानप्रयुक्तोऽहंभावस्त-
 न्मात्रविजये ॥ १४ ॥ कामाद्यरिपद्मर्गः ॥१५॥ मध्यमाधिका-
 रिणो जीयमाना । उत्तमाधिकारिणो जिता । पुमान् पुरुषार्थ-
 साधनेन सफलीकृतपुंजन्मा ॥ १६ ॥ अम्भोधौ प्रक्षिप्ता ह्य-
 दिवेति नाहमित्यतस्मात्स्वभावनाया तदसंस्पर्श एवात्र पलायनम्
 ॥ १७ ॥ सोपपत्तिकं ज्ञप्तिरूपं कं सुखं जानानः अनुभवन्नपि
 किं मुह्यसि । न मुह्यसेवेत्यर्थः ॥ १८ ॥ अर्थत उपपत्तितस्ते
 हेयं नास्ति वाचारम्भणन्यायाद्युपपत्तीनां त्वया ज्ञातत्वादित्यर्थः

अर्थो ह्यपदिवाम्भोधौ यो य आपतति त्वयि ।
 तस्मादेव पलायस्व नाहमित्येव भावयन् ॥ १७
 नाहमस्मीति बुद्ध्यापि सोपपत्तिकमप्यलम् ।
 जानानो ज्ञप्तिमात्रं च किमह इव मुह्यसि ॥ १८
 न हेयमर्थतोऽस्तीह हेस्त्रीव कटकादिता ।
 भ्रान्तिमात्रादृते सा च शाम्यत्यस्तरणेन ते ॥ १९
 यो यो भाव उदेत्यन्तस्त्वयि स्पन्द इवानिले ।
 नाहमस्मीति चिह्न्या तमनाधारतां नय ॥ २०
 लोभो लज्जा मदो मोहो येनादाविति नो जिताः ।
 निरर्थकमनर्थेऽसिन्स किमर्थं प्रवर्तते ॥ २१
 अहन्त्वं पवने स्पन्द इव यत्त्वयि संस्थितम् ।
 परमात्मनि तन्नान्यदेतत्स्पन्द इवानिले ॥ २२
 असर्गसंविदा सर्गः परेऽस्तोऽतिविराजते ।
 संनिवेशविशेषेण दुरर्थोऽपि हि शोभते ॥ २३
 परमात्मा तु नोदेति नास्तं याति कदाचन ।
 न चास्मादन्यदस्तीति को भावोऽभाव एव वा ॥ २४
 परं परे पूर्णं पूर्णं शान्तं शान्ते शिवं शिवे ।
 इत्येवमात्रं विततं नाहं न च जगन्न धीः ॥ २५
 अनिर्वाणे विनिर्वाणं शान्तं शान्ते शिवे शिवम् ।
 निर्वाणमप्यनिर्वाणं सनभोर्थे न वापि तत् ॥ २६

॥ १९ ॥ अथवा किमुपपत्तिसहस्रैर्नाहमिति दर्शनमेकमेवा-
 भ्यस्तं सर्वभ्रान्तिं परिहरिष्यतीत्याह—यो य इति ॥ २० ॥
 इति एवंप्रमाणानहंभावेन येन न जिताः । निरर्थकं निष्फलं
 अनर्थं नास्तिक्ययथेष्टाचरणाद्यापादके अस्मिन्नध्यात्मशास्त्रे
 अनधिकारी स किमर्थं प्रवर्तते ॥२१॥ त्वयि परमात्मनि सति
 तदेतत् नान्यत् ॥२२॥ असर्गः कूटस्थाद्वयचिन्मात्रस्वभावस्त-
 त्संविदा परे परमात्मनि अस्तो विलीनस्तद्भावं प्राप्तः सन्
 विराजते । यथा सृजि कल्पितः सर्पादिर्दुरर्थोऽपि बोधात्सृजि
 विलीनः स्रक्संनिवेशविशेषेण कण्ठधृतः शोभते तद्वत् ॥२३॥
 बोधेन जगतो जीवस्य च परमात्मरूपसंनिवेशविशेषोत्पत्तिरभ्यु-
 पगता चेत्तदुत्तरे भावविकारा अपि स्युरिति तैर्जीवजगद्भावध्वं-
 सादिभिश्च द्वैतापत्तिस्तत्राह—परमात्मा त्विति । कल्पितस्य
 बाधेनाधिष्ठानात्मतापत्तिर्नोत्पत्तिर्न वा ध्वंसः किन्तु नित्यसिद्ध-
 तत्त्वभाव एव । क्रियैव हि विकारादिहेतुर्न ज्ञानमिति न
 द्वैतापत्तिरिति भावः ॥ २४ ॥ अहमादित्रिपुटीबाधे तत्परिच्छेद-
 प्रयुक्तजीवभावापगमात्पूर्णं शान्तं शिवं च त्वंपदलक्ष्यं
 परमेव । तच्च पूर्णं शान्ते शिवे च तत्पदलक्ष्ये परे स्वभावे
 स्थितमित्येतावन्मात्रं यथास्थितं तत्त्वबोधेन विततं नापूर्वं
 किंचिदुत्पादितमित्यर्थः ॥ २५ ॥ ननु प्रदीपनिर्वाणवत्साभासा-
 विद्यानिर्वाणं ज्ञानफलं निष्पन्नमित्यवश्यं वाच्यम् । अन्यथा
 ज्ञानस्य नैष्कल्यप्रसङ्गात्तत्राह—अनिर्वाणे इति । तस्य निर्वाणं
 ज्ञानफलं तथापि तदत्यन्ताप्रसिद्धमनिश सूर्ये निशानिवृत्तिवद-
 निर्वाणे एव ब्रह्मणि निर्वाणं नित्यशान्ते शान्तमिति नानर्थ-

शस्त्राघाताः प्रसह्यन्ते सह्यन्ते व्याधिवेदनाः ।
 नाहमित्येवमात्रस्य सहने का कदर्थना ॥ २७
 जगत्पदार्थसार्थानामहमित्यक्षयोऽङ्कुरः ।
 तस्मिन्निर्मूलतां याते जगन्निर्मूलतां गतम् ॥ २८
 धाप्तेनेवाहमर्थेन निःसारेणापि सारवत् ।
 व्यामलः परमादर्शस्तच्छान्तौ संप्रसीदति ॥ २९
 अहमर्थः परे वायौ स्पन्दस्तत्प्रशमे तु तत् ।
 अनिर्देश्यमनाभासमनन्तमजमव्ययम् ॥ ३०
 अहमर्थः पुरो द्रव्यप्रतिबिम्बप्रदश्चित् ।
 तच्छान्तौ सा निराभासमनन्तमजमव्ययम् ॥ ३१
 अहमर्थान्मुदे क्षीणे परमार्थशरन्नभः ।
 परयानन्तया लक्ष्म्या स्वच्छयाच्छं विराजते ॥ ३२
 अहमर्थमलोन्मुक्तमव्यक्तं ताम्रमङ्ग चेत् ।
 तत्परं परमाभासं संपन्नं हेम कान्तिमत् ॥ ३३
 यथा निरमिधार्थश्रीर्भजत्यव्यपदेश्यताम् ।
 तथानहन्ताहन्तेयं ब्रह्मात्ममधिगच्छति ॥ ३४
 अस्त्यहन्त्वे स्थितं ब्रह्म सनामेव पदार्थवत् ।
 शान्तवत्सदिवाभासं तद्वत्स व्यपदेशवान् ॥ ३५
 अहमर्थो जगद्बीजं यदि दग्धमभावनात् ।
 तदहन्त्वं जगदहन्ध इत्यादेः कलनैव का ॥ ३६

निश्चितिरूपं ज्ञानफलमपूर्वम् । एवं शिवे निवसिन्निरतिशयानन्दे
 शिवमानन्दावासिलक्षणं फलमपि नापूर्वमिति न ज्ञानफलेन
 द्वैतापत्तिः । यदि प्रतीचि वन्धो ब्रह्मणि विद्यदादिपदार्थस्य सत्यः
 स्यात्तदा तन्निर्वाणं प्रदीपनिर्वाणवदपूर्वं स्यात् । इदं तु रज्जु-
 सर्पनिर्वाणवत्प्रतीचो बन्धनिर्वाणमनिर्वाणमेव । तद्वत्स्यापि वा
 सन्नभोर्यं विद्यदादिसत्यार्थसहितं वस्तुतो न भवत्येवेति तन्नि-
 वृत्तिरपि न द्वैतापादिकेत्यर्थः ॥ २६ ॥ अनहंभावनाया असह्यता
 वारयति—शस्त्रेति ॥ २७ ॥ २८ ॥ परमात्मलक्षण आद-
 शोऽहमर्थेनाहंकारेण मुखबाष्पेण प्रतिष्ठादर्श इव व्यामलो
 व्यामलो मलिनो भातीत्यर्थः ॥ २९ ॥ अनन्तमद्वयमाकाश-
 मात्रं च ॥ ३० ॥ बाह्यानर्थदर्शनेऽप्यहंकार एव हेतुरित्याह—
 अहमर्थ इति । सा चित् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ हे अङ्ग, अव्यक्त-
 मनाविर्भूतस्वभावं विरमहमर्थताम्रमलसपर्काजीवताम्रतामापन्नं
 ब्रह्म हेम श्रवणाद्युपायनिष्ठमहमर्थमलोन्मुक्तं चेत्तदेव परं
 परमाभासमतिमास्तरमत एव कान्तिमत् ब्रह्म हेम संपन्नम् ।
 'परं ज्योतिरुपसपद्य स्तेन रूपेणामिनिष्पद्यते' इति श्रुतेरित्यर्थः
 ॥ ३३ ॥ अहन्तानिर्वृत्तौ मम केन शब्देन व्यपदेश इति
 चेद्यथा समुदे विलीनायाः सैन्धवकरकाद्यर्थश्रियः करकाद्यमि-
 धानिवृत्त्या अव्यपदेश्यता तद्वत्तवापीत्याह—यथेति ॥ ३४ ॥
 तस्य ब्रह्मादिनाम्रा व्यपदेशोऽपि इतरपदार्थवत् अहन्त्वलक्षणा-
 ल्पत्वात्स्यरूपवृहत्त्वलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्तं परिकल्प्य प्रवृत्तौ न
 वस्तुवृत्तेनेत्याह—अस्तीति । यथा शान्ततरङ्गादिजलं स्वभावेन
 स्थितं प्राचानसमुद्रतरङ्गादिरूपेणान्तः सदिवान्भासमानं तरङ्ग-

सद्ब्रह्म शिवमात्मेति परे नामकलङ्किता ।
 उदेत्यहन्ता कुम्भत्वादिव मृदातुविस्मृतिः ॥ ३७
 अहमर्थोदितं बीजात्सत्ता बिम्बलतोत्थिता ।
 यस्यां जगन्त्यनन्तानि फलान्यायान्ति यान्ति च ॥ ३८
 साध्यव्युर्वीनदी सेयं रूपालोकैषणादिका ।
 अहमर्थस्य भरिचयीजस्यान्तश्चमत्कृतिः ॥ ३९
 घौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
 इत्यामोदोऽहमर्थोऽप्रकुसुमस्य विकासिनः ॥ ४०
 अहमर्थः प्रविस्तृतः प्रकटीकुरुते जगत् ।
 सद्रूपालोकमननं प्रवृत्त इव वासरः ॥ ४१
 प्रवृत्तेन दिनेनार्थः प्रकटीक्रियते यथा ।
 असज्जगदहन्त्वेन क्षणान्निर्मायते तथा ॥ ४२
 अहमित्यर्थदुस्तैललवो ब्रह्मणि वारिणि ।
 प्रसृतो यत्तदाश्वेतत्रिजगच्चक्रकं स्थितम् ॥ ४३
 उन्मेषमात्रेणाहन्ता जगन्त्यनुभवत्यहो ।
 न निमेषेण दृगिव सत्यानीत्यप्यसन्त्यलम् ॥ ४४
 अहमर्थे प्रविस्तृते संसारो ह्यनुभूयते ।
 नान्तर्भूय परिक्षीणे लोचनस्येव तारके ॥ ४५
 अहमंशो निरंशत्वं नीते शाश्वतसंविदा ।
 शाश्वतीयमशेषेण संसारमुगतृष्णिका ॥ ४६

समुद्रादिव्यपदेशभाक् जलस्वभावेनाव्यपदेश्यमेव तद्वदित्यर्थः
 ॥ ३५ ॥ अभावनाद्भावनामूलज्ञाननाशात् । तत् तर्हि ॥ ३६ ॥
 अहमर्थस्य जगद्बीजतामुपपादयितुं तदुद्भवप्रकारमाह—
 सदिति । सत् कालत्रयादाप्यम् । ब्रह्म अपरिच्छिन्नम् । शिवं
 निरतिशयानन्दम् । आत्मा अपरोक्षचिदेकरसमित्येवंस्वभावे
 परे नमनं नामश्चतुर्णामपि स्वभावानां संकोचस्तेन कलङ्किता
 संजातमालिन्या अत एव मृदः कुम्भाकारपरिच्छेदान्मृत्स्वभाव-
 विस्मृतिरिव स्वभावश्चतुष्टयप्रतिसंधानशून्या समष्ट्यहन्ता उदेति
 ॥ ३७ ॥ तस्मादहमर्थोदितं इत्यसत्तालक्षणा बिम्बलता
 उत्थिता । व्यष्टिभावेनानन्तान्यसंख्यानि ॥ ३८ ॥ तदेव
 प्रपञ्चयति—साद्रीत्यादिना । अग्निभिरविधिमिर्वाभिर्नदीभिश्च
 सहिता साध्यव्युर्वीनदी । बहिरिन्द्रियैरर्थालोचनं रूपालोको
 मनस्तद्गोचरकामसकल्पादिवृत्तय एषणास्तदादिका ॥ ३९ ॥
 ॥ ४० ॥ मेरोः परमाणे सद्रूप एव वासरः प्रविस्तृतः सत्
 सत् एव रूपस्यालोकं मननं च यथा निमित्तभावेन करोति
 तद्वत् ॥ ४१ ॥ अर्थो रूपादिः । निर्मायत इति सिद्ध्यर्थस्य
 भावनमेव निर्माणमित्याशयः ॥ ४२ ॥ तैलस्य लवो बिन्दुः ।
 चक्रकं चक्राकाराभासः ॥ ४३ ॥ इह दुष्टचक्षुरिव असन्ति
 असत्त्वान्यपि जगन्ति सत्यानीत्यनुभवति । निमेषेण तिरोभावेन
 तु नानुभवति ॥ ४४ ॥ तदेव दृढीकर्तुं पुनराह—अहमर्थे
 इति । सुषुप्तिमरणमूर्च्छासु तिरोभूय स्थिते मोक्षे मूलतः
 परिक्षीणे च सति नानुभूयते । समाधौ अन्तर्भूय साक्षात्कारेण
 परिक्षीणे इति वा । तारके कवीनिकायाम् ॥ ४५ ॥ निरंशत्वं

स्वसंविद्भावनामात्रसाध्येऽस्मिन्वरवस्तुनि ।
 सिद्धमात्रात्मनि स्वैरं मा खेदं गच्छ मा भ्रमीम् ॥ ४७
 स्वयत्नमात्रसंसाध्यादसहायादिसाधनात् ।
 अनहंवेदनान्नान्यच्छ्रेयः पश्यामि तेऽनघ ॥ ४८
 विस्मृत्याहं त्वमास्व प्रविस्तृतविभवः
 पूरिताशेषविश्वो

विष्वक्शैलान्तरिक्षक्षितिजलधिमह-
 न्मार्गरूपोऽमलात्मा ।
 स्वस्थः शान्तो विशोकः करणमलकला-
 वर्जितो निष्प्रपञ्चो
 निःसंचारश्चरात्मा सकलमसकलं
 चेति सिद्धान्तसारः ॥

४९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अहंतानिरासो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः ५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

स्वभावं स्वं विजित्यादाविन्द्रियाणां सचेतसाम् ।
 प्रवर्तते विवेके यः सर्वं तस्याशु सिध्यति ॥ १
 स्वभावमात्रं येनान्तर्न जितं दग्धबुद्धिना ।
 तस्योत्तमपदप्राप्तिः सिकतातैलदुर्लभा ॥ २
 शुद्धेऽल्पोऽप्युपदेशो हि निर्मले तैलविन्दुवत् ।
 लगत्युत्तानचित्तेषु नादर्श इव मौक्तिकम् ॥ ३
 अवैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
 मम पूर्वं भुशुण्डेन कथितं मेरुमूर्धनि ॥ ४
 पुरा भुशुण्डः कसिंश्चित्पृष्ठ आसीत्कथान्तरे ।
 मया कदाचिदेकान्ते मेरोः शिखरकोटरे ॥ ५

निःशेषताम् ॥ ४६ ॥ साधनफलयोरतिसुलभतां दर्शयति—
 स्वसंविदिति । स्वसंविद् स्वप्रकाशचिदात्मा तस्य भावना
 तदाकारवृत्तिमात्रसिद्धिस्तावन्मात्रसाध्ये न तु जडेष्विव तत्फल-
 व्याप्तिप्रयत्नापेक्षास्तीति साधने अतिसुलभता । सिद्धमात्रात्म-
 नीति फलेऽप्युत्पादनप्रयत्नानपेक्षत्वादतिसुलभता सूचिता ।
 भ्रमीमहंभावादिभ्रान्तिम् । 'कृदिकारादकिनः' इति षीप्
 ॥ ४७ ॥ पुरुषान्तरादिबाह्यसाधनानपेक्षत्वादप्यतिसुलभता-
 माह—स्वेति ॥ ४८ ॥ इदानीं सर्वोपदेशसिद्धान्तसारं संक्षिप्य
 दर्शयन्नुपसंहरति—विस्मृत्येति । हे राम, त्वं प्रथमं व्यष्ट्याहं-
 भावं विस्मृत्य विष्वक् सर्वतः प्रसिद्धः शैलान्तरिक्षक्षितिजल-
 धयश्च मरुद्वायुश्च तन्मार्ग आकाशश्चैवेवंरूपः पूरिताशेषविश्वः
 प्रविस्तृतविभवः सन् समष्टिभावेनास्व । तदनन्तरं निः-
 संचारः स्थावरश्चरात्मा चेति सकलं निष्प्रपञ्चं ब्रह्मवेति बाधित्वा
 निष्प्रपञ्चः करणमलैः कलाभिश्च वर्जितः सन् स्वस्थः शान्तो
 विशोकोऽमलात्मा आस्वेत्यध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चात्म-
 परिशेष एव सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार इत्यर्थः ॥ ४९ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 अहंतानिरासो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

मुग्धबुद्धिमनात्मज्ञं कं त्वं सुचिरजीवितम् ।

स्मरसीति मया पृष्टेनोक्तं तेनेदमङ्ग मे ॥

६

भुशुण्ड उवाच ।

आसीद्विद्याधरः पूर्वमनात्मज्ञः सुखेदितः ।

लोकालोकान्तरशृङ्गे शुष्क आर्यो विचारवान् ॥ ७

तपसा बहुरूपेण यमेन नियमेन च ।

अक्षीणायुरतिष्ठत्स पुरा कल्पचतुष्टयम् ॥ ८

ततश्चतुर्थे कल्पान्ते विवेकस्तस्य चोदभूत् ।

विदूरस्येव वैदूर्यमौचित्याज्जलदोदयात् ॥ ९

पुनर्मृतिः पुनर्जन्म जरा मेति विभावयन् ।

लजेऽहं तत्किमेकं स्यात्स्थिरमित्यवमृश्य सः ॥ १०

शास्त्रं जितेन्द्रियेष्वेव सफलं नेतरेष्विति ।

वसिष्ठेन भुशुण्डोक्ता विद्याधरकथोच्यते ॥ १ ॥

सचेतसां समनस्कानामिन्द्रियाणां स्वं विषयानुधावनलक्षणं
 स्वभावमादौ विजित्य पश्चाद्यो नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधने
 प्रवर्तते तस्यैव सर्वं शास्त्राचार्योपदेशफलं प्रसिध्यति नान्यस्ये-
 त्यर्थः ॥ १ ॥ सिकतानिष्पीडनश्रम इव विराभ्यस्तोऽपि श्रव-
 णादिनिष्फल इत्यर्थः ॥ २ ॥ निर्मले वस्त्रादौ तैलविन्दुवत्प्रगति
 अन्तर्निविशते । उत्तानमगम्भीरं साधनचतुष्टयविरक्तं चित्तं येषां
 तेषु ॥ ३ ॥ ४ ॥ कथान्तरे अध्यात्मकथाप्रस्तावे ॥ ५ ॥
 मुग्धबुद्धिरज्ञोऽवश्यमजितेन्द्रियो वृथाश्रमश्च भविष्यतीति
 तादृशस्यैव प्रश्नः ॥ ६ ॥ सुष्ठु खेदितः अजितैरिन्द्रियैः खेदं
 प्रापितः । अत एव शुष्को विभ्रान्तिरसहीनः । तपसा निय-
 मेन यमेन च शुष्क इति परेणान्वयो वा । आर्यः आयु-
 र्बुद्धिहेतुसदाचारसंपन्नः ॥ ७ ॥ ८ ॥ औचित्याधिराभ्यस्तत-
 पोनियमादेर्विवेकोदयावश्यंभावात् । यथा विदूरभूविशेषस्य
 जलदोदयाद्वैदूर्यं रत्नमुद्भवति तद्वत् ॥ ९ ॥ विवेकस्वरूपमेव
 दर्शयति—पुनरिति । जरा मा मा भूत् इति विभावयन् लजे ।
 निर्विण्ण इति यावत् ॥ १० ॥ पञ्च प्राणा दशेन्द्रियाणि मनोबुद्धौ

मामाजगाम संप्रष्टमष्टादशमयीं पुरीम् ।
 स्वामुपोह्य विरक्तात्मा संसारारसतां गतः ॥ ११
 स मत्समीपमागत्य कृतोदारनमस्कृतिः ।
 मत्पूजितोऽवसरत उवाचेदमनिन्दितम् ॥ १२
 विद्याधर उवाच ।
 मृदूनि परितापीनि दृषद्बलानि च ।

छेदे भेदे च दक्षाणि स्वशस्त्राणीन्द्रियाणि च ॥ १३
 पर्याकुलानि मलिनानि विपत्प्रदानि
 दुःखोर्मिमन्ति गुणकाननपावकत्वात् ।
 हार्दान्धकारगहनानि तमोमयानि
 जित्वेन्द्रियाणि सुखमेति च किं ममायैः ॥ १४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० विद्याधरोपाख्याने विद्याधरप्रश्नो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः ६

विद्याधर उवाच ।

यदुदारमनायासं क्षयातिशयवर्जितम् ।
 पदं पावनमाद्यन्तरहितं तद्वदाशु मे ॥ १
 एतावन्तमहं कालं सुप्त आसं जडात्मकः ।
 इदानीं संप्रबुद्धोऽस्मि प्रसादादात्मनो मुने ॥ २
 मनो महामयोत्तमं क्षुब्धमज्ञानवृत्तिषु ।
 मामुद्धर दुरन्तेहं मोहादहमिति स्थितात् ॥ ३
 श्रीमत्यपि पतन्त्याशु शातनाः कातरादयः ।
 गुणवत्युग्रपत्रेऽपि तुहिनानीव पङ्कजे ॥ ४

जायन्ते च म्रियन्ते च केवलं जीर्णजन्तवः ।
 न धर्माय न मोक्षाय मशका इव पङ्कजे ॥ ५
 भावैस्तैरेव तैरेव तुच्छालम्भविडम्बनैः ।
 चिरेण परिखिन्नाः स्मो विप्रलम्भाः पुनः पुनः ॥ ६
 नान्तोऽस्त्यस्य न च स्थैर्यावस्थाऽविश्रान्तमानसम् ।
 भ्रमतो भोगभङ्गेषु मरुभूमिष्विवाध्वनः ॥ ७
 आपातमधुरारम्भा भङ्गुरा भवहेतवः ।
 अचिरेण विकारिण्यो भीषणा भोगभूमयः ॥ ८
 मत्तावमानपरया दुरहंकारकान्तया ।

द्वे स्थूलदेहश्चेत्यष्टादशमयीं स्वां पुरीम् । उपोह्य चिरं बोद्ध्वा
 श्रान्तः विरक्त आत्मा मनो यस्य ॥ ११ ॥ अवसरतः,
 प्रश्नावसरं प्राप्येत्सर्वं ॥ १२ ॥ तत्र स्वबेदहेतुनिन्द्रियादिदोषा-
 न्विस्तरणोत्तरत्र वर्णयिष्यन्नुपक्रमते—मृदूनीति द्वाभ्याम् ।
 स्वस्वविषयेषु क्षीप्रानुप्रवेशित्वान्मृदूनि प्रवेशोत्तरकालं परिता-
 पीनि तत्स्थालयितुमशक्यत्वाद्दुष्प्रश्नोऽपि हृद्वलानि स्वशरी-
 राजुप्रविष्टशरादिशस्त्राणीन्द्रियाणि च तुल्यानीत्यर्थः ॥ १३ ॥
 इमानीन्द्रियाणि हार्दानि हृदि रुढान्यन्धकारगहनानि सान्ध-
 कारारण्यानि । कामादिमर्कटैः पर्याकुलानि । प्राणमनोदेह-
 हृदयेष्वशनायादिष्वोर्मिमन्ति । देवात्कचिदकुरितस्य शंसद-
 मादिगुणकाननस्य पावकत्वाद्वाहकत्वादूर्मिमत्त्वेपि न शीतलानि ।
 ईदृशानीन्द्रियाणि चकारास्तदुपाश्रयं मनश्च जित्वा सुखमेति
 न भोगैः । अतो मम विद्याधरभोगलक्षणैरर्थैः किं प्रयो-
 जनम् । तद्विरक्तो जिज्ञासुः शरणागतोऽस्मीत्यर्थः ॥ १४ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 विद्याधरप्रश्नो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

दिव्यभोगप्रसक्तेन चिरं स्वेन परीक्षिताः ।

इह विद्याधरेणोक्ता विषयेन्द्रियदुर्नयाः ॥ १ ॥

अतः साधनचतुष्टयसंपन्नाय ब्रह्मजिज्ञासवे मर्षां ब्रह्मोपदि-
 शेत्याह—यदिति । सर्वकार्पण्यनिवर्तकनिर्दुःखनिरतिशया-
 नन्दरूपत्वादुदारम् । आशु शीघ्रं वद । प्रदीप्तशिरस इव
 जलराशिं विविधोत्त्रिविधतापसंतप्तस्य मम विलम्बसहनाशक्ते-
 रिति भावः ॥ १ ॥ तर्हि प्रागेव कृतो भागमस्मिन्नाह—
 एतावन्तमिति । आत्मनो मनसस्तीव्रतरवैराग्यलक्षणात्प्रसादात्

॥ १ ॥ मनो महामयेन कामेनोत्तमम् । अज्ञानवृत्तिषु दुर्वास-
 नासु क्षुब्धम् । दुरन्ता दुरुच्छेदा ईहाः कर्माणि यस्य तम् । तत्र
 कारणमाह—मोहादिति । अहमित्यात्मन्यात्माभिमानाका-
 रेण स्थितान्मोहात्स्वतत्त्वापरिज्ञानान्निमित्तादित्यर्थः । मोहादुद्-
 रेति बुद्धिकृतापावाने वा पञ्चमी ॥ ३ ॥ ननु विद्याधराः सर्व-
 विद्याश्रयत्वाद्विद्याबलादेव सर्वदुःखनिराससमर्था मणिमन्त्रसा-
 यनादिसिद्धिभिरणिमाद्यैश्चैव युक्ताः श्रूयन्ते, तत्किमेवं श्रीमति
 त्वयि कामादिदुःखशातनाः कातरताकार्पण्यादिदोषाश्च निप-
 तिताः । येन देवयोनिश्रेष्ठत्वान्मान्यतमोऽपि त्वं निवृत्तकाक्यो-
 निमपि मां शरणागतोऽसि पृच्छसि च तत्राह—श्रीमत्यपीति ।
 सर्वविद्यासिद्ध्यादिश्रीमत्यप्यात्मविद्याशून्ये कामक्रोधेष्यादिसूयादि-
 दुःखशातनाः कातर्यादिदोषाश्च पतन्त्येव । अजितेन्द्रियत्वादिति
 भावः । पङ्कजपक्षे श्रीमति लक्ष्म्याधारे गुणवति विसतन्तुमति
 स्वाश्रयसङ्गेहजलविमुखत्वात्तत्कर्णरलेष्यत्वाच्चोप्राणि केहनिष्ठ-
 राणि पत्राणि यस्य तादृशेऽपि ॥ ४ ॥ ज्ञानाभावे देवयोनीनां
 मशकादियोनिसाम्यमेव घर्माधिकारामावादिति सूचयन्स्व-
 वैराग्यहेतुं सर्वत्र दोषदर्शनं प्रपद्यति—जायन्ते इत्या-
 दिना ॥ ५ ॥ भावैः शब्दादिविषयैस्तैस्तैः सहस्रशः पूर्वमुक्तेरेव
 तुच्छतमसुखलवार्थं य आलम्भो विषयेन्द्रियस्पर्शस्तत्क्षणवैड-
 म्बनैर्वैद्यनोपायैर्विप्रलम्भाः । कर्मणि घञ् । विप्रलब्धा वृत्तिताः
 सन्तः । 'तुच्छजैः' इति पाठे तुच्छानां क्षुद्रजन्तूनामप्यस्यैव
 भोग्यभूतैरित्यर्थः ॥ ६ ॥ अविश्रान्तमानसं यथा स्यात्तथा भोग-
 भङ्गेषु भङ्गुरेषु भोगेषु भ्रमतो ममास्य संसाराध्वनोऽन्तो नास्ति,
 स्थैर्येणावस्थानं स्थैर्यावस्था च नास्ति ॥ ७ ॥ ८ ॥ ननु बहुतर-

न रमे वामया तात हतविद्याधरधिया ॥ ९
 दृष्टाश्चैत्ररथोद्यानभुवः कुसुमकोमलाः ।
 कल्पवृक्षलतादत्तसमस्तविभवधिर्यः ॥ १०
 विहृतं मेरुकुञ्जेषु विद्याधरपुरेषु च ।
 विमानवरमालासु वातस्कन्धस्थलीषु च ॥ ११
 विश्रान्तं सुरसेनासु फान्ताभुजलतासु च ।
 हारिहारविलासासु लोकपालपुरीषु च ॥ १२
 न किञ्चिदुचितं साधु सर्वमाधिविषोष्मणा ।
 दग्धं भस्मायते तात विज्ञातमधुना मया ॥ १३
 रूपालोकनलोलेन वनिताननगृधुना ।
 सावभासेन दोषाय दुःखं नीतोस्मि चक्षुषा ॥ १४
 इदं गुणावहं नेदमिति मुक्त्वा विकल्पनम् ।
 रूपमात्रानुसारित्वादवस्तुन्यपि धावति ॥ १५
 तावदायाति विरतिं न वशं यावदापदाम् ।
 नानाबन्धपरं चेतः परानर्थेहितोन्मुखम् ॥ १६
 घ्राणमेतदनर्थाय धावच्चैवाभितः स्फुटम् ।
 न निवारयितुं तात शक्नोमीह हयं यथा ॥ १७
 गन्धोदकप्रणालेन मुखश्वासानुपातिना ।
 घैरिणेवातिदोषेण घ्राणेनास्मि नियोजितः ॥ १८
 चिरं रसनया चाहमनया नयहीनया ।
 गजगोमायुगुप्तेषु दुःखाद्रिष्वलमाहतः ॥ १९

निरोद्धुं न च शक्नोमि स्पर्शलम्पटतां त्वचः ।
 ग्रीष्मकालसमिद्धस्य तापमंशुमतो यथा ॥ २०
 शुभशब्दरसार्थिन्यो मुनेः श्रवणशक्तयः ।
 मां योजयन्ति विषमे तृणेच्छा हरिणं यथा ॥ २१
 प्रणताः प्रियकारिण्यः प्रहृष्ट्यसमीरिताः ।
 वाद्यगेशरवोन्मिश्राः शुभशब्दधियः श्रुताः ॥ २२
 श्रियः स्त्रियो दिशश्चैव तटाश्चाभोधिभूभृताम् ।
 दृष्टा विभवहारिण्यः प्रकणन्मणिभूषणाः ॥ २३
 विरमास्वादिताः स्वादु चमत्कारमनोरमाः ।
 प्रहृष्टान्ताजनानीताः षड्रसा गुणशालिनः ॥ २४
 कौशेयकामिनीहारकुसुमास्तरणानिलाः ।
 निर्विघ्नमभितः स्पृष्टा भृशमाभोगभूमिषु ॥ २५
 वधूमुखौषधीपुष्पसमालम्भनभूमयः ।
 अनुभूता मुने गन्धा मन्दानिलसमीरिताः ॥ २६
 श्रुत स्पृष्टं तथा दृष्टं भुक्तं घ्रातं पुनः पुनः ।
 संशुष्कविरसं भूयः किं भजामि वदाशु मे ॥ २७
 भुक्त्वा वर्षसहस्राणि दुर्भोगपटलीमिमाम् ।
 आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं न तृप्तिरुपजायते ॥ २८
 साम्राज्यं सुचिरं कृत्वा तथा भुक्त्वा वधूगणम् ।
 भंक्त्वा परवलान्युच्चैः किमपूर्वमवाप्यते ॥ २९
 येषां विनाशनं नासीदैर्भुक्तं भुवनत्रयम् ।
 तेऽपि तेऽप्यचिरेणैव समं भस्मपदं गताः ॥ ३०

पुण्यार्जितया विद्याधरसंपदैव तव कुतो न विश्रान्तिस्तत्राह—
 मानेति । मानः स्वोत्कर्षापादनाभिमानः, अपमानः पराप-
 कर्षापादनम्, तदेव परं श्रेष्ठं यस्याम् । दुष्टः अहंकारो येषां
 तेषां कान्तया रम्यया । अत एव वामया विवेकिनां प्रति-
 कूलया स्त्रिया च । तत्पक्षेऽपि विशेषणे योज्ये ॥ ९ ॥ सर्वत्र
 भुक्तभोगतया वैरस्यं प्रकटयति—दृष्टा इत्यादिना ॥ १० ॥
 ॥ ११ ॥ हारादिभूषितानां हारा विलासा विहारचमत्कारा-यासु
 ॥ १२ ॥ आधयो मानसदुःखानि तद्विषोष्मणा दग्धम् । अधुना
 विवेकोदयकाले विज्ञातं न प्राक् ॥ १३ ॥ कीदृशेन विवेकेन
 किं किं कथं कथं ज्ञातं तत्प्रथमं चक्षुरादिषु दर्शयति—रूपे-
 त्यादिना । गृधुना अभिकाङ्क्षमाणेन । गृधेः 'प्रसिगृधि' इत्या-
 दिना क्तुः । सावभासेन चाद्यान्तरप्रकाशसहकृतेन । दोषाय
 स्वविषयासक्तेन मनोदूषणायः ॥ १४ ॥ वनितापिण्डे इदं वल्गा-
 भरणानुलेपनादिकमेव गुणावहं शोभाकल्पकम्, इदं रक्तमां-
 सास्थिकेशादि न, इति विकल्पनं विवेचनं मुक्त्वा विना धावति
 चक्षुरिति शेषः ॥ १५ ॥ तद्विषयासङ्गदूषितं रागान्धं चेतः
 प्रक्षीपरूपरागान्धपतङ्गवत् परस्मै उत्कृष्टाय मरणाद्यनर्थाय यानि
 ईहितानि दुर्व्यसनानि तदुन्मुखं सत् नानाविधानां बन्धानां
 वधवन्धनरकाद्यापदां वशं यावदायाति तावद्विरतिमुपसमं
 नायातीत्यर्थः ॥ १६ ॥ चक्षुष्युक्तं दोषं घ्राणादिष्वपि दर्श-
 यति—घ्राणमिति ॥ १७ ॥ यथा कश्चिदतिदोषेण वैरिणा

बलाद्वशीकृतो दुर्गन्धोदकवहे नगरप्रणाले सदा संचरेति नियो-
 जितो भवति तद्वदहमपि श्लेष्मादिदुर्गन्धोदकप्रणाले नासाविले
 नियोजित इत्यर्थः ॥ १८ ॥ नयो भक्ष्याभक्ष्यविभागरं शास्त्रं
 तद्धीनया । कृमिकीटपश्यादियोनिलक्षणेऽपि दुःखादिषु । 'सुरापाः
 कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षिणश्च' इत्यादिस्मृतेरिति भावः । यत्र
 बलवतां गजो बुद्धिमतां गोमायुश्च श्रेष्ठ इति तयोरेव गोमृता-
 प्रसक्तिर्नान्यस्येति तथोक्तिः ॥ १९ ॥ २० ॥ शब्दरसः शब्दा-
 खादनम् । हरिणपक्षे विषमे तृणावृतकूपे ॥ २१ ॥ तर्हि किं
 तव रूपादयः शब्दान्ता विषया दुर्लभा येन तदर्थमनर्थः
 प्राप्तो नेत्याह—प्रणता इत्यादिना । प्रहृष्ट्यजनेरितत्वादेव
 प्रणतप्रायाः ॥ २२ ॥ विशेषणे श्र्यादिचतुष्टये साधारणे योज्ये
 ॥ २३ ॥ षड्रससौगन्ध्यानां यथायोग्यं मेलनपाकचातुरीगुण-
 शालिनः ॥ २४ ॥ कौशेयादयः षट् त्वग्विषयाः ॥ २५ ॥
 वधूमुखानि औषध्यश्चन्दनोशीरागर्वादयः पुष्पाणि समालम्भनं
 कर्पूरकस्तूरीपौष्कलकादीनां मेलनं तद्भूमयस्तत्प्रभवाः ॥ २६ ॥
 भूयोभूयः सेव्यमानं संशुष्कं काष्ठमिव विरसं संपन्नं तत्र वान्ता-
 शनप्राये जाते किं भजामि ॥ २७ ॥ वैरस्येनैव तज्जिहासा न तु
 तृण्येत्याह—भुक्त्वेति ॥ २८ ॥ किमवाप्यते । न किञ्चिदित्यर्थः
 ॥ २९ ॥ येषां हिरण्यकशिपुप्रमृतीनां विनाशनं विनाशसाधनं
 नासीत् प्राग्जगत्प्रसिद्धम् । 'न शुष्केण न चार्देण' इत्यादिवर-
 प्रार्थने सर्वप्रसिद्धवधसाधनप्रतिषेधादिति भावः ॥ ३० ॥

प्राप्तेन येन नो भूयः प्राप्तव्यमवशिष्यते ।
 तत्प्राप्तौ यत्नमातिष्ठेत्कष्टयापि हि चेष्टया ॥ ३१
 येन कान्ताश्चिरं भुक्ता भोगास्तस्यैव जन्तुभिः ।
 दृष्टो न कस्यचिन्मूर्ध्नि तरुर्व्योमप्लवश्च वा ॥ ३२
 चिरमासु दुरन्तासु विषयारण्यराजिषु ।
 इन्द्रियैर्विप्रलब्धोऽस्मि धूर्तबालैरिवार्भकः ॥ ३३
 अद्य त्वेते परिज्ञाता मया स्वविषयारयः ।
 कष्टा इन्द्रियनामानो वञ्चयित्वा तु मां पुनः ॥ ३४
 संसारजङ्गले शून्ये दग्धं नरमृगं शठाः ।
 आश्वास्याश्वास्य निघ्नन्ति विषयेन्द्रियलुब्धकाः ॥ ३५
 विषमाशीविषैरेभिर्विषयेन्द्रियपन्नगैः ।
 येन दग्धा न दृष्टास्ते द्वित्रा एव जगत्पि ॥ ३६
 भोगभीमेभवलितां तृष्णातरलवागुराम् ।
 लोभोप्रकरवालाढ्यां कोपकुन्तकुलाङ्किताम् ॥ ३७
 द्वन्द्वजालरथव्याप्तमहंकारानुपालिताम् ।
 चेष्टातुरंगमाकीर्णं कामकोलाहलाकुलाम् ॥ ३८
 शरीरसीमान्तगतां दुरिन्द्रियपताकिनीम् ।
 ये जेतुमुत्थितास्तात त एवेह हि सङ्गटाः ॥ ३९
 सुसाध्यः करटोद्भेदो मत्तैरावणदन्तिनः ।
 नोत्पथप्रतिपन्नानां स्वेन्द्रियाणां विनिग्रहः ॥ ४०
 पौरुषस्य महत्त्वस्य सत्त्वस्य महतः श्रियः ।
 इन्द्रियाक्रमणं साधो सीमान्तो महतामपि ॥ ४१
 तावदुत्तमतामेति पुमानपि दिवौकसाम् ।
 कृपणैरिन्द्रियैर्यावत्तृणवन्नापकृत्यते ॥ ४२

इत्थं सति किं कार्यं तदाह—प्राप्तेनेति । कष्टया इन्द्रियप्राण-
 मंनस्यमादिश्रमसाध्ययापि चेष्टया ॥ ३१ ॥ चिरभुक्तमहा-
 भोगानामपि पुनः भोगकाले अपगते अभुक्तभोगेभ्यः पुरुषा-
 न्तरेभ्यो न कश्चिद्विशेषो दृश्यत इत्याह—येनेति । येन येन
 चिरं कान्ता रम्यतरा भोगाश्चिरं भुक्तास्तादृशस्य पुंसो मध्ये
 कस्यचिदपि मूर्ध्नि सजातः कल्पतरुः कैश्चिदपि जन्तुभिर्न दृष्टो
 येन स तच्छयाया सदैव पूर्णकामो विश्राम्येत् । नापि तस्य
 शुद्धे व्योमप्लवो विमानादिः संजातो दृष्टो येन स सदैव सर्वत्र
 विहरेदित्यर्थः ॥ ३२ ॥ अर्भकः । साधुरिति शेषः ॥ ३३ ॥
 शब्दादिविषयात्मकानां भूतानामेव मनसो बहिराकर्षणेन
 स्वस्वभोगाय श्रोत्रादीन्द्रियभावेनावस्थानादिन्द्रियनामानः स्व-
 विषयारयो मया अद्य परिज्ञाता इत्यन्वयः ॥ ३४ ॥ ३५ ॥
 आशीविषैरेष्टिविषैः । येन दृष्टा न दग्धाश्च ते तथाविधाः
 पुरुषाः सर्वजगत्पि द्वित्रा एव समान्यन्त इति शेषः ॥ ३६ ॥
 अवश्यजेतव्यताप्रदर्शनायेन्द्रियाण्येव शत्रुसेनात्वेन रूपयति—
 भोगेत्यादि त्रिभिः । भोगा एव भीमा इमा गजास्त्वैवलिताम्
 ॥ ३७ ॥ द्वन्द्वानि शीतोष्णादीनि । अहकारेण सेनापतिना
 अनुपालिताम् ॥ ३८ ॥ शरीरलक्षणस्य नगरस्य सीमान्तेषु

जितेन्द्रिया महासंत्वा ये त एव नप भुवि ।
 शेषानहमिमान्मन्ये मांसयन्त्रगणांश्चलान् ॥ ४३
 मनःसेनापतेः सेनामिमामिन्द्रियपञ्चकम् ।
 जेतुं चेदस्ति मे यत्नो जयामि तद्वलं मुने ॥ ४४
 इन्द्रियोत्तमरोगाणां भोगाशावर्जनादृते ।
 नौषधानि न तीर्थानि न च मन्त्राश्च शान्तये ॥ ४५
 नीतोऽस्मि परमं खेदमभिधावद्भिरिन्द्रियैः ।
 एक एव महारण्ये तत्करैः पथिको यथा ॥ ४६
 पङ्कवन्त्यप्रसन्नानि महादौर्भाग्यवन्ति च ।
 गन्धिदौवलतुच्छानि पल्लवान्नीन्द्रियाणि च ॥ ४७
 दुरतिक्रमणीयानि नीहारगहनानि च ।
 जनितातङ्कजालानि जङ्गलानीन्द्रियाणि च ॥ ४८
 पङ्कजानि सरन्ध्राणि सुदुर्लभ्यगुणानि च ।
 ग्रन्थिमन्ति जडाङ्गानि मृणालानीन्द्रियाणि च ॥ ४९
 रुक्षाणि रत्नलुब्धानि कल्लोलवलितानि च ।
 दुर्ग्रहप्राद्वयोपणि क्षाराम्बूनीन्द्रियाणि च ॥ ५०
 बान्धवोद्वेगदायीनि देहान्तरकराणि च ।
 करुणाक्रन्दकारीणि मरणानीन्द्रियाणि च ॥ ५१
 अवित्रेकिष्वमित्राणि मित्राणि च विवेकिषु ।
 गहनानन्तशून्यानि काननानीन्द्रियाणि च ॥ ५२
 घनास्फोटान्यसाराणि मलिनानि जडानि च ।
 विद्युत्प्रकाशान्येतानि भीमाभ्राणीन्द्रियाणि च ॥ ५३
 क्षुद्रप्राणिगृहीतानि धर्जितानि कृतात्मभिः ।
 रजस्तमोभिभूतानि स्वेन्द्रियाण्यवटानि च ॥ ५४

गतामाक्रम्य स्थिताम् ॥ ३९ ॥ मत्तस्यैरावणदन्तिन ऐरा-
 वतस्य । करटस्य कुम्भस्योद्भेदो विदारणम् ॥ ४० ॥ सत्त्वस्य
 वैर्यस्य । श्रियो विश्रान्तिसंपदः । इन्द्रियाणामाक्रमणं जयः ।
 सीमान्तोऽवधिः । परकाष्ठेति यावत् । महतां तत्त्वविदामपि
 ॥ ४१ ॥ उत्तमतां मान्यताम् ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ यत्न उपाय-
 चेदस्ति तत् तर्हि जयामि ॥ ४४ ॥ एक एवोपायो मया ज्ञातोऽ-
 स्तीत्याह—इन्द्रियेति ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ इतः प्रवृत्तिं तुल्यै-
 र्विशेषणैः पल्लवादिसाम्येनेन्द्रियाणि वर्णयति—पङ्कवन्तीत्या-
 दिना । गन्धिभिः शैवलतुल्यैर्मलिनैः तुच्छानि कुत्सितानि
 ॥ ४७ ॥ नीहारैर्जाय्वैर्हिमैश्च गहनानि । आतङ्को भयम्
 ॥ ४८ ॥ पङ्कान्मलज्जातानि गुणा वासनास्तन्तवश्च सूक्ष्म-
 तमत्वात्सुदुर्लभाः । जडाङ्गानि जडदेहावयवप्रायाणि । लठ-
 योरमेदाज्जलानि च ॥ ४९ ॥ निष्ठुरत्वादसुखस्पर्शत्वाच्च
 रुक्षाणि । कल्लोलैः पङ्कमिभिरुर्मिभिरु । क्षाराम्बूनि ससुर्ज-
 जलानि ॥ ५० ॥ ५१ ॥ गहनानि दुरवगाहानि । अनन्तानि
 निरवधीनि । जनविश्रान्तिशून्यानि च ॥ ५२ ॥ घना आस्फोटा
 भुजास्फालनगर्जनशब्दा येभ्यः । विद्युदिव क्षणसुखप्रका-
 शानि । पश्चान्तरे स्पष्टम् ॥ ५३ ॥ क्षुद्रैस्तुच्छपुखासकैः कीटा-

पातनैकान्तदक्षाणि दोषाशीविषवन्ति च ।
 रूक्षकण्टकलक्षाणि श्वभ्राग्राणीन्द्रियाणि च ॥ ५५
 आत्मभरीण्यनार्याणि साहसैकरतानि च ।
 अन्धकारविहारीणि रक्षांसि स्वेन्द्रियाणि च ॥ ५६
 अन्तःशून्यान्यसाराणि चक्राणि ग्रन्थिमन्ति च ।
 दहनैकार्ययोग्यानि दुर्दारुणीन्द्रियाणि च ॥ ५७
 घनमोहप्रबन्धीनि दुष्कूपगहनानि च ।

महावकरतुच्छानि कुपुराणीन्द्रियाणि च ॥ ५८
 अनन्तेषु पदार्थेषु कारणानि घटादिषु ।
 संभ्रमाणि सपङ्कानि चक्रकाणीन्द्रियाणि च ॥ ५९
 आपन्निमग्नमिममेवमकिंचनं त्वं
 मामुद्धरोद्धरणशील दयोदयेन ।
 ये नाम केचन जगत्सु जयन्ति सन्त-
 स्तत्संगमं परमशोकहरं वदन्ति ॥ ६०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० विद्याधरोपाख्याने वैराग्यवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः ७

भुशुण्ड उवाच ।

ततस्तस्य मया ब्रह्मस्तच्छ्रुत्वा पावनं वचः ।
 इदमुक्तं यथापृष्टं सुस्पष्टपदया गिरा ॥ १
 साधु विद्याधराधीश दिष्ट्या बुद्धोऽसि भूतये ।
 भवान्धकूपकुहराच्चिरेणोत्थानमिच्छसि ॥ २
 पावनीयं तव मती राजते घनरूपिणी ।
 विवेकेनानलेनैव कनकद्रवसंततिः ॥ ३
 उपदेशगिरामर्थमादत्ते हारिहेलया ।
 मुकुरे निर्मले द्रव्यमयत्वेनैव विम्बति ॥ ४
 यदिदं वच्मि तत्सर्वमोमित्यादातुमर्हसि ।
 अस्माभिश्चिरमन्विष्टं नात्र कार्या विचारणा ॥ ५

दिभिश्च परिगृहीतानि । अवटानि गतौत्करस्थलानि ॥ ५४ ॥
 श्वभ्राग्राणि जीर्णश्वभ्रमुखानि ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ दुर्दारुणि जीर्ण-
 वंशादिकाष्ठानि ॥ ५७ ॥ घनैर्मोहैश्चौर्यकलहद्यूतादिदुर्व्यसनप्र-
 बन्धनशीलानि । कुपुराणि असज्जननगसणि ॥ ५८ ॥ चक्र-
 काणि कुलालचक्राणि ॥ ५९ ॥ हे आपन्नोद्धरणशील, एवं
 वर्णितप्रकारेन्द्रियप्रयुक्तापत्तागरनिमग्नमकिंचनं त्यक्तसर्वस्वमिमं
 धारणागतं मां दयोदयेन कृपोत्थेन तत्त्वोपदेशेनोद्धर, यतः
 कारणाजगति ये ये प्रसिद्धास्त्वादृशाः केचन सन्तस्तत्त्वज्ञा
 दयालवो जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते तेषां संगमं धारणागतिं
 परमशोकहरं वदन्ति सर्वशास्त्राणि सर्वजनाश्चेत्यर्थः ॥ ६० ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 वैराग्यवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

ब्रह्मैव न जगदुःखमज्ञानं जगदाततम् ।

अहंबीजात्प्ररूढो हि जगद्भ्रूक्षोऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

तस्य विद्याधरस्य । इदं वक्ष्यमाणमुत्तरम् ॥ १ ॥ दिष्ट्या
 भाग्योदयात् ॥ २ ॥ विवेकेन घनरूपिणी निविडं व्याप्ता ।
 यथा अनलेन व्याप्ता कनकद्रवसन्ततिः कान्त्यतिशयेन विरा-
 जते तद्वदित्यर्थः ॥ ३ ॥ अत एव ते मतिर्मदुपदेशगिरामर्थमादत्ते
 अवश्यमादास्यति । हेलया अप्रयत्नेन ॥ ४ ॥ ओमिति अङ्गीकार-
 बुद्ध्या ॥ ५ ॥ तत्रादौ सर्वदृश्यविवेके साक्षिस्वरूपमेवं शुद्धं ब्रह्मेति

यत्किंचित्स्वदतेऽन्तस्ते बुध्यस्वाबोधमुत्सृजन् ।
 नासि त्वं चिरमप्यन्तः प्रेक्षितोऽपि न लभ्यसे ॥ ६
 नाहंत्वमस्ति न जगदिति निश्चयिनस्तव ।
 सर्वमस्ति शिवं तच्च न दुःखाय सुखाय ते ॥ ७
 किमस्तत्त्वाजगज्जातं जगतोऽथ किमज्ञना ।
 विचार्यापीति नो विद्म एकत्वादलमेतयोः ॥ ८
 मृगतृष्णाम्बुवद्विश्वमवस्तुत्वात्सदप्यसत् ।
 यच्चेदं भाति तद्ब्रह्म न किंचित्किंचिदेव वा ॥ ९
 मृगतृष्णाम्बुवद्विश्वं नास्ति त्वमथवास्ति च ।
 प्रतिभासोऽपि नास्त्यत्र तदभावादतः शिवम् ॥ १०
 विश्वबीजमहंत्वं त्वं विद्धि तस्माद्धि जायते ।
 साश्रद्ध्युर्वीनदीशादिजगज्जरठपादपः ॥ ११

सर्ववेदान्तरहस्यं संक्षिप्योपदिशति — यत्किंचिदिति । यत्किं-
 चिदहंकारादि ते अन्तर्हृदि स्वदते दृश्यतया प्रथते तत्सर्वं त्वं
 नासि । दृश्यवर्गेष्वेव कश्चिदात्मास्ति स मयान्विध्य लब्धव्य इति
 चिरमप्यन्तः प्रेक्षितोऽन्विष्टस्त्वमात्मा न लभ्यसे । अतो दृश्यमा-
 त्रलक्षणमबोधमुत्सृजन् संस्तत्साक्षिणमात्मानं बुध्यस्वेत्यर्थः ॥ ६ ॥
 न हि द्रष्टृदृश्यलक्षणसर्वदृश्यत्यागे शून्यतापत्तिः, किंतु सुखदुः-
 खवैषम्यप्रयोजककल्पितदोषांशनिवृत्त्या वास्तवपरमकल्याण-
 ब्रह्मभावेन पूर्णतया सर्वमस्त्येवेत्याशयेनाह — नाहमिति ॥ ७ ॥
 दृश्यमात्रस्य अबोधरूपत्वमुक्तमुपपादयति — किमिति । किं
 सुषुप्तौ प्रसिद्धादज्ञानादहंकारादिभावेन घनीभूताज्जाग्रत्स्वप्नलक्षणं
 जगज्जातमथवा जतुकाठिन्यादिव विलीनाज्जाग्रदादिलक्षणा-
 जगतः सौषुप्ती अज्ञतां जाता इति विचार्यापि विनिगमकाभा-
 वात्कार्यकारणभावव्यवस्थां नो विद्मः । अतः काठिन्यद्रवावस्थ-
 योर्धृतस्यैवैकत्वात्सर्वस्याज्ञानमात्रत्वमित्यर्थः ॥ ८ ॥ तस्य विव-
 र्त्ततादर्शनमेव त्यागः बाधितस्य जगतस्तुच्छताविभावेन न
 किंचिद्ब्रह्म, अधिष्ठानरूपतापत्तिविभावेन तु सर्वमेव ब्रह्मे-
 त्याह — मृगतृष्णेति ॥ ९ ॥ उक्तमाशयं विशदयंस्तत्प्रतिभासे-
 मपि निराचष्टे — मृगतृष्णेति । तदभावात्प्रतिभास्याभावात् ।
 न हि घटाभावे प्रकाशसत्त्वेऽपि घटप्रकाशशब्दार्थोऽस्तीति भावः
 ॥ १० ॥ अनन्तरूपस्य जगतः प्रातिस्निकरूपेण निरसितुमशक्य-

अहंत्वबीजादणुतो जायतेऽसौ जगद्भुमः ।
 तस्येन्द्रियरसाद्यानि मूलानि भुवनानि हि ॥ १२
 तारकाजालकलिका ऋक्षौघः कोरकोत्करः ।
 वासनागुच्छविसराः पूर्णचन्द्रः फलालयः ॥ १३
 स्वर्गादयो बृहद्गर्ग महाविटपकोटराः ।
 मेरुमन्दरसहादिगिरयः पत्रराजयः ॥ १४
 सप्तार्धयोऽग्रसुतयः पातालं मूलकोटरम् ।
 युगानि घुणवृन्दानि पर्वाणि गुणपङ्क्तयः ॥ १५
 अज्ञानमुत्पत्तिमही नरा विहगकोटयः ।
 उपलम्भो बृहत्स्तम्भो द्रवो निर्वाणनिर्वृतिः ॥ १६
 इत्यपि श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उत्त० विद्याधरोपाख्याने जगद्ब्रह्मबीजवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

रूपालोकमनस्कारा विविधामोदवृत्तयः ।
 वनं विपुलमाकाशं शुक्तिजालं मुक्तत्वचः ॥ १७
 विचित्रशाखा क्रतव उपशाखा दिशो दश ।
 संविद्रसमहापूरो चातस्पन्दो निवर्तनः ॥ १८
 चन्द्रार्कवचयो लोला मज्जनोन्मज्जनोन्मुखाः ।
 रम्याः कुसुममञ्जर्यस्तिमिरं भ्रमरभ्रमः ॥ १९
 पातालमाशागणमन्तरिक्ष-
 मापूर्य तिष्ठत्यसदेव सद्वत् ।
 तस्यानहन्ताग्निहतेऽहमर्थ-
 बीजे पुनर्नास्ति सतोऽपि रोहः ॥ २०

अष्टमः सर्गः ८

भुशुण्ड उवाच ।

विद्याधर धराधारो गिरिकन्दरमन्दिरः ।
 दिगन्तराग्वराचारचारसंचारचञ्चरः ॥ १
 ईदृशोऽयं जगद्भुमो जायतेऽहंत्वबीजतः ।
 बीजे ज्ञानाग्निनिर्दग्धे नैव किञ्चन जायते ॥ २
 प्रेक्ष्यमाणं च तन्नास्ति किलाहंत्वं कदाचन ।
 एतावदेव तज्ज्ञानमनेनैव प्रदह्यते ॥ ३

त्वाद्बीजदाहेनैव निरास इति वक्तुमर्हकारं बीजत्वेन जगत्तत्प्र-
 भवतस्त्वेन वर्णयति—विश्वेत्यादिना ॥ ११ ॥ इन्द्रियरसो
 विषयासङ्गस्तदाद्यानि अधोभुवनानि तस्य भुमस्य मूलानि
 ॥ १२ ॥ अश्विन्यादिसप्तविंशतितारकाजालं तस्य प्रधानक-
 लिकाः तदन्यऋक्षौघः सूक्ष्मकोरकोत्करः प्राणिनां धर्मादि-
 वासनाः पुष्पगुच्छसमूहाः । फलालयः फलशुच्छाः ॥ १३ ॥
 स्वर्गादयोः स्वमहर्जनतपःसल्लोकाख्या बृहतां लोकानां वर्गा
 महान्तो विटपकोटराः शाखावलयगर्भदेशाः ॥ १४ ॥ अग्र-
 सुतयः आलनालपरिखाः । युगानि कृतावीन्युत्तरोत्तरं धर्मपि-
 ष्टक्षरणाहुणवृन्दानि । तत्तद्युगवत्सरायनर्तुमासादिगुणपङ्क्तयो
 वृक्षस्य शाखामूलाद्युद्भवपर्वाणि ॥ १५ ॥ मरा जीवाः । उपलम्भो
 भ्रान्तिज्ञानमेव बृहःस्तम्भः सर्वविटपाधारमध्यभागः । तस्य
 तत्त्वबोधाभिर्वाणं निर्वृतिरेव द्रवो वनहुताशनः ॥ १६ ॥ इन्द्रि-
 यैर्वर्णोपलम्भा रूपालोकाः मनसा तद्गोचरसंकल्पविकल्पा
 मनस्काराश्च तस्य भुमस्य विविधा आमोदवृत्तयः सुगन्ध-
 प्रसरः । आकाशमन्याकुताकाशं तस्य विपुलं वनम् । सुख-
 त्वचो नेत्रपुटानि उत्तराधरोष्ठाश्च नेत्रहास्यमुक्तोद्भेदशुक्ति-
 जालमिव पुष्पोद्भेदनम् । प्रसववन्धनमिति यावत् ॥ १७ ॥
 तस्यात्मसन्निदेव जीवनहेतु रसप्रवाहः । सूर्यचन्द्राभ्यासीनां सव-
 र्गेण निवर्तनः सूत्रालये तस्य चातस्पन्दः ॥ १८ ॥ मज्जनो-
 न्मज्जने प्रत्यहमुदयास्तमयौ तदुन्मुखाश्चन्द्रार्कवचस्तस्य रम्याः

अहंत्वभावाच्चाहंत्वमस्ति संसारबीजकम् ।
 नाहंत्वभावाच्चाहंत्वमस्तीति ज्ञानमुत्तमम् ॥ ४
 सर्गादात्रेव सर्गस्य किलास्याभावयोगतः ।
 कुतोऽहंत्वं कुतस्त्वंत्वं कुतो द्वित्वैक्यविभ्रमः ॥ ५
 समाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं यतन्ते ये स्वयत्नतः ।
 संकल्पत्यागमामूलं पदप्राप्तौ जयन्ति ते ॥ ६
 कुसुममञ्जर्यः । सूर्येण सह भ्रमस्तिमिरमन्धकार एव भ्रमराणां
 भ्रमणं भ्रमरभ्रमः । भ्रमन्तो भ्रमरा इति यावत् ॥ १९ ॥
 ईदृशोऽयं संसारवृक्षः पातालं मूलतो मध्यत आशागणं दिक्षुः
 मूहमग्रतोऽन्तरिक्षं चापूर्य वस्तुतोऽसदेव भ्रान्तिरूपं सद्वृत्तिश्च ।
 तस्य अहमर्थरूपे बीजे अनहंतालक्षणेनाग्निना हते भर्जिते
 सति जीवन्मुक्तिभोगाय यावत्तद्देहपातं प्रतिभासमात्रेण सतो-
 ऽप्यस्य सत्तारवृक्षस्य पुनर्जन्मादिना रोहः प्ररोहो नास्तीत्यर्थः
 ॥ २० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रक-
 रणे उत्तरार्धे जगद्ब्रह्मबीजवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इह संसारवृक्षस्य ज्ञानादुच्छेद ईयते ।

संकल्पमण्डपप्रायः संसार उपवर्ण्यते ॥ १ ॥

वर्णितं संसारवृक्षमनुवदति—विद्याधरेति । हे विद्याधर,
 अथस्वनसप्तलोकसहिता धरा आधारो मूलदेशो यस्य । लोक-
 लोकान्तगिरीणां कन्दराणि अन्तरालभागा मन्दिरं साल्वात्य
 वेदिर्यस्य । दशदिगन्तरे अम्बरे च आचारेण तिर्यग्विदपवि-
 स्तारेण चारेण ऊर्ध्वविटपप्रसारेण तत्र तत्र प्राणिसंचारेण च
 चक्रोऽतिचञ्चलः ॥ १ ॥ २ ॥ प्रेक्ष्यमाणं तावतः किमिदं
 स्यादिति रत्नपरीक्षावद्विचित्रं प्रहमात्रतयावधार्यमाणम् ।
 तत् अहंत्वम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ उत्पत्तिरेव यस्यासतः सतो वा न
 संभवति तस्य स्थितिर्दूरनिरस्त्येत्याह—सर्गादावेवेति ॥ ५ ॥
 संसारः कालत्रयेऽपि नास्त्येवेत्युक्तार्थस्य दृढीकरणाय संकल्प-
 मूढमण्डपवर्णयित्वा भूमिकां रचयति—समाकर्ण्येत्यादिना ।

रन्धनाजयमाप्नोति स्वशास्त्रे सूपकृत्कृते ।
 विवेकी स्वविवेकित्वं यतनादेव नान्यथा ॥ ७
 चिच्चमत्कारमात्रं त्वं जगद्विद्धीह नेतरत् ।
 नाशासु न बहिर्नान्तरेतत्कचन विद्यते ॥ ८
 संकल्पोन्मेषमात्रेण जगच्चित्रं विलोक्यते ।
 तदनुन्मेषविलयि चित्रकृच्चित्तचित्रवत् ॥ ९
 मण्डपोऽस्ति महास्तम्भो मुक्तामणिविनिर्मितः ।
 बहुयोजनलक्षाणि कान्तकाञ्चनचित्रितः ॥ १०
 मणिस्तम्भसहस्रेण घृतोऽग्रे प्रोतमेरुणा ।
 इन्द्रायुधसहस्राढ्यकल्पसंध्याभ्रसुन्दरः ॥ ११
 स्त्रीबालपुरुषादीनां वास्तव्यानामितस्ततः ।
 क्रीडार्थं स्थापिता यत्र नानारचनयान्तरे ॥ १२
 भूतबीजपरापूर्णास्तमोरिपुसधुंधुमाः ।
 तमःप्रकाशचित्राख्या लोकान्तरसमुद्रकाः ॥ १३
 आमोदसुभगा लोलजलदावलिपल्लवाः ।
 लीलापद्माकरे स्त्रीणां विल्लूनाकल्पपादपाः ॥ १४
 बालनिःश्वासचलिताः कन्दुकानि कुलाचलाः ।

वक्ष्यमाणं प्राग्बहुशो वर्णितं च आमूलं समूलं संकल्पत्यागं
 कर्तुं शूरोस्तदुपायक्रमवेदकं वाक्यं समाकर्ण्य तदुक्तक्रमेण
 स्वप्रयत्नतो ये यतन्ते तत्त्वबोधप्राप्तौ सत्यामसंकल्पं तत्पदं
 कैवल्यारूपं जयन्ति ॥६॥ यथा सूपकृत् सूपकारः स्वशास्त्रे सूप-
 कारविद्याविशेषे कृते सम्यग्भ्यस्ते तदुक्तप्रकारेणैव नानाभक्ष्य-
 भोज्यनानारसायनानां रन्धनात्पाकेन निष्पादनात् क्षुत्तृडाम-
 यजरादिजयं राजसन्मानाद्युत्कर्षं चाप्नोति तद्विवेकी अधिकारी
 शूरास्त्रोक्तमार्गेण यतनादेव स्वविवेकित्वं कैवल्यपर्यन्तं जयति
 नान्यथेत्यर्थः ॥७॥ यतोऽयं संसारः स्वप्नेन्द्रजालादिवदशातचि-
 च्चमत्कारमात्रमतो न चितो बहिरस्तीत्याह—चिदिति ॥८॥
 चिच्चमत्कारमात्रतामुपपादयति—संकल्पेति । चित्रकृतश्चित्र-
 कारस्य चित्ते कल्पितं यच्चित्रं तद्वत् ॥ ९ ॥ जगतः संकल्प-
 मात्रतां द्रष्टयितुं संकल्पयुतमण्डपाकारतां कल्पयति—मण्डप
 इत्यादिना ॥ १० ॥ अग्रे अधोमुखं प्रोतो मेरुवोर्ध्वगुगु-
 ल्यस्य तथाविधेन मणिस्तम्भसहस्रेण घृतः । अत एव क्वचिदि-
 न्द्रायुधसहस्राढ्य इव क्वचित्कल्पसंध्याभ्राणीव सुन्दरः ॥ ११ ॥
 यत्र यस्मिन्मण्डपे वास्तव्यानां निवसतां स्त्रीबालपुरुषादीनां
 क्रीडार्थं लोकान्तराणि पातालस्वर्गादीनि तदाकाराः समुद्रकाः
 संपुटकास्तत्र तत्र स्थापिताः । क्रीडाशक्तेः । अन्तरे नानानक्षी-
 पर्वतवनहस्त्यश्वदेवतिर्यङ्मुरादिनानारचनया युक्ताः ॥ १२ ॥
 भूतानि प्राणिनस्तल्लक्षणैर्बाजैः परैस्तदुपभोग्यैश्च आपूर्णाः ।
 तमसां रिपुभिर्घातकैर्मणिप्रदीपसूर्यचन्द्रादिभिर्व्यवहारप्रवृत्त्या
 सधुंधुमाः सशब्दाः । क्वचित्तमोभिः क्वचित्प्रकाशैश्च चित्रा

संध्याम्बुदाः कर्णपूराश्चामराः शरदम्बुदाः ॥ १५
 कल्पान्तकालजलदास्तालवृन्तपदं गताः ।
 भूतलं घृतफलकं वितानं तारकाश्वरम् ॥ १६
 भूतशारपरावर्ते घृतेऽक्षाः शशिमानवः ।
 व्योमाजिरे जगद्भासपणे गृहनिवासिनाम् ॥ १७
 इति संकल्प एवान्तश्चिरभावनया यथा ।
 अग्रस्थदृश्योपमया सत्यतामिव गच्छति ॥ १८
 तथैवायं जगद्रूपः संकल्पैः सुसमुत्थितः ।
 चिच्चमत्कारमात्रात्मा चित्रकृच्चित्तचित्रवत् ॥ १९
 असत्यमेव स्फुरति सर्वमस्ति च नास्ति च ।
 असदुत्थित एवायं कुतोपीव समुत्थितः ॥ २०
 हेस्त्रीव कटकादित्वं संसारोदरकोटरः ।
 चिच्चमत्कार एवायमविकल्पनसंक्षयः ॥ २१
 अत्यन्तमेव स्वायत्तो यथेच्छसि तथा कुरु ।
 यश्चान्नपानदानादावनादरमुपेयिवान् ।
 तस्येदं पश्चिमं जन्म न स कर्म समुज्जति ॥ २२

आख्या अभिरूपा येषाम् ॥१३॥ लीलापद्मायाः क्रीडालक्ष्म्या
 आकरे यस्मिन्मण्डपे स्त्रीणां मण्डनाय विल्लूना लवनेन गृहीता
 आकल्पाः कर्णपूरायलंकारा येभ्यस्तथाविधाः पादपाः कृताः
 ॥ १४ ॥ बालानां निःश्वासेनापि चलिताः, अतिलघीयांस
 इति यावत् । ईदृशाः कुलाचला यत्र अर्थाद्वालानामेव क्रीडा-
 कन्दुकानि कृताः । संध्याम्बुदा दिग्बधूनां कर्णपूराः कृताः ।
 शरदम्बुदाश्च तासां हस्ते चामराः कृताः ॥ १५ ॥ यत्र मण्डपे
 भूतलं संपूर्णं घृतफलकं कृतम् । तारकासहितमम्बरं वितानं
 कृतम् ॥ १६ ॥ यत्र मण्डपे व्योमलक्षणे अजिरे चत्वरे
 जगतां भास आविर्भावतिरोभावादिप्रत्यय एव पणो यस्मिन्
 घृते क्रीडतां गृहनिवासिनां मण्डपस्वामिनां ब्रह्मादीनां तत्र
 भूतसारणां चतुर्विधभूतप्राभाणां शारिफलानां पुनःपुनर्जन्म-
 मरणादिना भ्रमणं परावर्तस्तल्लक्षणे घृते शशिमान्वादिनव-
 प्रहा अक्षाः कृताः ॥१७॥ इति ईदृशो मण्डपोऽस्तीति संकल्प-
 यितुः संकल्प एव अग्रस्थदृश्योपमया यथा सत्यतामिव
 गच्छति तथैवायं धातुः संकल्पैः सुसमुत्थितो जगद्रूपो
 मण्डपोऽपीति परेणान्वयः ॥ १८ ॥ १९ ॥ प्रतिभा-
 सतोऽस्ति परमार्थतो नास्ति च । कुतोऽपि समुत्थितो
 मायाहस्त्यादिरिव ॥ २० ॥ संसार उदरकोटरे यस्य तथाविध-
 चिच्चमत्कार एव ॥२१॥ तथा चैच्छिकैर्विकल्पनैरविकल्पनैश्चा-
 विर्भावयितुं तिरोभावयितुं च तत्त्वविदामत्यन्तमेव स्वायत्त
 इति यथेच्छसि तथा कुर्वित्यर्थः । अन्नपानादिरैहिकभोगसा-
 मग्रीदानयज्ञादिरामुष्मिकभोगसामग्री उभयप्राप्यनादरं फल-

प्राप्तो विवेकपदवीमसि पावनात्म-

न्पुण्यां पवित्रितजगन्नितयां द्वितीयाम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वात्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाण० उत्तरार्धे विद्याधरो० मायामण्डपवर्णनं नामाष्टमः सर्गः ॥८॥

नवमः सर्गः ९

भुशुण्ड उवाच ।

अबुध्यमानश्चेत्यादिचिद्रूपमपि चानघ ।

शान्तचिद्धन पचास्व निर्मलाप्स्वन्तरंशुवत् ॥ १

अचेतनं चेतनान्तश्चेतनादेव विद्यते ।

स्वेऽसादृश्येऽपि सदृशं पयोराशौ यथानलः ॥ २

सचेतनाचेतनयोर्हेतुश्चित्रात्तथैव चित् ।

विनाशोत्पादयोर्वह्निज्वालायाः पवनो यथा ॥ ३

नाहमस्तीति चिद्रूपं चिति विश्रान्तिरस्तु ते ।

ततो यथा यादृशेन भूयते तादृशो भव ॥ ४

चिद्रूपः सर्वभावानामन्तर्बहिरसि स्थितः ।

प्रसन्नाम्बुभरस्यान्तर्बहिश्चैव यथा पयः ॥ ५

नभिसधिम ॥ २२ ॥ विवेकप्राप्त्यैव ते मुक्तिरवश्यभाविन्य-

नुमीयत इति पुनर्जन्मादिसंभावनाभीतं तमाश्रयस्यति—

प्राप्त इति । हे पावनात्मन् शुद्धबुद्धे, त्वं पातहेत्वविवेकपदव्य-

पेक्षया द्वितीयां पवित्रितजगन्नितयां विवेकपदवीं प्राप्तोऽसि ।

अतोऽमुना मनसा न अघः पतिष्यसीति जानामि अनुमिनोमि ।

अतस्त्वं मौनं वाङ्मनसचेष्टाश्चैवममलं चिन्मात्रपदमवलम्ब्य

मनधादिदृश्यजातमुत्सृजेत्यर्थः ॥ २३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-

रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मायामण्डपवर्णनं

नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

चिदधीनोदयध्वंससत्तात्फूर्तिविवर्तनम् ।

इह चित्कचनं विश्वं चिन्मात्रमिति वर्ण्यते ॥ १ ॥

‘हिंशीव कटकदित्वं संसारोदरकोटरः । चिच्चमत्कार एवा-

यमविकल्पनसंक्षयः ॥’ इति यदुक्तं तदुभयमनुभावयिष्यच्चवि-

कल्पनप्रकारं प्रथममुपदिशति—अबुध्यमान इति । चेत्यं

तद्रूपक्रियागुणदोषादि तथावृत्तं तदवभासकं चिद्रूपमपि

निभाजकविकल्पकमनसो वाधादनुध्यमानो निर्मलासु आप्तु

अविष्टा अशवः सूर्यकिरणा इव प्रशान्ततापः प्रकाशमात्रावशेष

आख । सेयसपि कल्पस्थितिर्जगद्विकल्पक्षयहेतुरित्यर्थः ॥ १ ॥

संसारोदरकोटरश्चिच्चमत्कार एवायमित्येतदपि सोपपत्तिक-

मनुभावयति—अचेतनमित्यादिना । अचेतनं दृश्यं स्वे

स्वीये जाण्यनुत्पत्तिरिणामित्वादिलक्षणे चिदसादृश्ये सत्यपि

चेतनायाश्चित्तोन्तरे विद्यते नान्यत्र । तत्कुतः । चेतनादेव ।

न हान्यत्र विद्यमानं तदसंबद्धया चेतनया चेतितुं शक्यम् ।

न चाचेत्यमानं किंचित्सिद्धति । नापि चेतना सक्रिया येन गत्वा

चेतयेत् । सा यदि सर्वगता तर्हि सिद्धैव प्रतिज्ञेत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं देशतः सर्वदृश्यस्य चिदन्तःस्थितिं प्रसाध्य कालतोऽपि तां

नाघः पतिष्यसि पुनर्मनसाऽमुनेति

जानामि मौनममलं पदमुत्सृज त्वम् ॥ २३

नाहमस्तीति चिद्रूपं चितौ चेल्लक्षमङ्ग ते ।

न चान्यच्चेतितं ब्रह्म रूपं केनोपमीयते ॥ ६

ससुरासुरपातालभूविष्टपमिवोषितम् ।

नानाभावाजबीभावक्रियाकालसिवाकुलम् ॥ ७

यथा रङ्गमयं कुड्ये जगन्मौनमिव स्थितम् ।

तथा चिच्चित्रकचितं स्वे कुड्ये चात्मसंस्थितम् ॥ ८

तेनैव भूयते भूरि यच्चित्तं कचित्तं स्वतः ।

अचेतनं चेतनं वा यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ९

चिच्चमत्कृतयो व्योम्नि स्फुरन्त्येता जगत्तया ।

अर्काशुवदरोचिन्यः स्वच्छा विदितवेदिनाम् ॥ १०

सूचयन्ति कार्यता साधयति—सचेतनेति । सचेतनो अहं-

वृत्तिविषयाः । अचेतना इदंकारविषयाः । तथा पूर्ववदेव

कारणं विवर्तोपादानम् । चिद्विवर्ततैव चिच्चमत्कार इति

भावः ॥ १ ॥ सत्राहमिति सचेतनाशनिरासेनैवोभयनिरास-

सिद्ध्या चिन्मात्रावस्थितिसिद्धिरित्याह—नाहमिति । नाहम-

स्तीत्यहंकाररूपदांशबाधेन प्रत्यक्चिद्रूपं परिशेष्य विकल्पहेतु-

क्षयादेवेदं विकल्पनिर्मुक्तपूर्णचिति विश्रान्तिरस्त्वित्यर्थः । एवं

विश्रान्तेन त्वया । ततः आरब्धशेषक्षयोत्तरम् ॥ ४ ॥ अम्बु-

व्यापिनः क्षीरस्याम्बुक्षयेऽपि परिशेषवद्ब्रह्मरूपमेवानुपमं ते

परिशिष्यत इत्याह—चिद्रूप इति द्वाभ्याम् ॥ ५ ॥ प्रत्यक्चिद्रूपं

प्रदा चितौ लग्नमखण्डैक्यं प्राप्तं चेत् ॥ ६ ॥ यथा सुरासुरे-

सह वर्तमानं पातालभूत्रिविष्टपमिव स्थितम् । प्रीतिहर्षकोधयुद्ध-

जयपराजयादिनानामावैः पलायनानुधानाद्याजबीभावैस्तत्त-

त्वरूपक्रियाकालमिव आकुलमपि रङ्गमयं चित्रलिखितं जगत्

कुड्ये कुड्यात्मना मौनं मुनिशरीरमिव निर्व्यापारमेव स्थितं

तथा मायाशबलचिच्चित्रकचितं जगदपि छुद्बचिदाकाशलक्षणे

कुड्ये निर्विकाराद्व्यतदात्मनैव संस्थितं न जगद्भावेनेत्यर्थः

॥ ७ ॥ ८ ॥ अचेतनमनृतजगद्रूपम् । चेतनं परमार्थस-

द्ब्रह्मरूपं वा यदेव चिति स्वतः स्वरसतः कचित्तं तेनैव भूयते ।

एवं स्वायत्तयोरुभयोर्युक्त्यानेन समाधिना वा यदेवेच्छसि

तत्तुर्वित्यर्थः ॥ ९ ॥ एतावांस्त्वहेभ्यस्तत्त्वविदां विशेषः ।

यथा मरुभूमौ महानद्यात्मना हृदयमाना अर्काशवो मज्जन-

मरणादिभयजननात्तरणोपायादर्शनाच्चाज्ञानामर्षाकुळे निरोधकाः

न मरुभूमितत्त्वज्ञानाम्, तद्देकविज्ञानेन तत्त्वतः सर्वविज्ञा-

नाद्विदितवेदिनां तत्त्वविदां जगद्रूपाश्चिच्चमत्कृतयोऽप्यनिरो-

१ इदं सूक्ष्मचेतनेत्यादेः फलितार्थकथनम्-

तिमिराक्रान्तदृष्टीनां यथा केशोण्ड्रकादि खे ।
स्फुरत्येवं जगद्रूपमनात्मन्येव तिष्ठताम् ॥ ११

एवं जगत्त्वमहमित्यवबोधरूप-

माभासमात्रमुदितं न च नोदितं च ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० वि० चित्कचनयोगोपदेशो नाम नवमः सर्गः ॥ १॥

दशमः सर्गः १०

भृशुण्ड उवाच ।

विद्धि त्वं चेतनादेव चेतनेतरचेतनम् ।
जलेऽग्निरिव चिज्जाड्ये नातो भिन्ने मनागपि ॥ १
तद्वेदनावेदनयोरभेदात्स्वस्थमास्यताम् ।
निर्यन्त्रमेव चित्रस्थश्चक्षिवद्योममध्यवत् ॥ २
ब्रह्मण्यशेषशक्तित्वादचित्त्वं विद्यते तथा ।
अधुब्धे विमले तोये भाविफेनलवो यथा ॥ ३
न कारणं विनोदेति जलात्फेनलवो यथा ।
न कारणं विनोदेति सर्गादि ब्रह्मणस्तथा ॥ ४
न च कारणमस्त्यत्र सर्गवृत्तावकारणे ।
नातः संजायते किञ्चिज्जगदादिर्न नश्यति ॥ ५
अत्यन्तं कारणाभावान्न किञ्चिज्जायते जगत् ।
मरावम्बिव नास्त्येव दृष्टमप्यग्रतो जगत् ॥ ६
ब्रह्मानन्तमजं शान्तमतोऽस्तीदं न सर्गधीः ।

धिन्य इत्यर्थः । उपपादितं चेदं लीलोपाख्याने विस्तरेण ॥ १० ॥
अज्ञानां तु निरोधिन्य एवेत्याशयेनाह—तिमिरेति ।
अनात्मनि संसारे एव तिष्ठतामज्ञानाम् ॥ ११ ॥ अर्काशुवदिति
दृष्टान्तं प्रकारान्तरेणापि वर्णयन्नुपसंहरति—एवमिति ।
आभासमात्रं वर्णितचिच्चमत्कारमात्रमतोऽज्ञदृशोदितं तत्त्वदृशा
नोदितम् । चकारो विकारान्तराणामपि समुच्चयप्रतिषेधार्थं ।
अर्काशुजालैरेव रचना निर्माणं यस्य तथाविधं यदन्धर्वनगरं
तदाभमत्र व्यवहारभूमौ कुड्यादि जगत् । तच्च जगद्रूपेण
खे लतेव सत्यं नास्ति । अतो न चिजिरोधकमित्यपरिच्छेद-
क्षितः सिद्ध इत्यर्थः ॥ १२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे चित्कचनयोगोपदेशो
नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

यथाभूतं स्थितं ब्रह्म निर्विकारमकारणम् ।

नासीदेव जगत्कापि कदापीत्युपपन्न्यते ॥ १ ॥

ब्रह्मणि जगदपलापसिद्धये तज्जाड्यमपलपितुं जडत्वेनाभि-
मतस्य चिद्भावमनुभावयति—विद्धीत्यादिना । हे विद्याधर, त्वं
चेतनेतरत्वेनाभिमतस्य जगतश्चेतनादेव चेतनं स्फुरणं विद्धि ।
स्फुरद्रूपत्वमेव हि चेतनत्वम् । तद्यदि जगद्रूपं स्फुरति तर्हि
चेतनमेव न चेतनेतरमिति । जले प्रतिबिम्बितोऽग्निरिव
जलात् चेतनाद्वस्त्वन्तरमस्ति । अतो जलद्वैत्यादतिरिक्तं प्रति-

अर्काशुजालरचनानगराभमत्र

कुड्यादि सत्यमिदमस्ति न खे लतेव ॥ १२

कारणाभावतस्तेन ब्रह्मैवेदमखण्डितम् ॥ ७
अतः शिलोदराभोऽसि व्योमकोशोपमोपि च ।
ब्रह्मैकधनरूपत्वादजोऽनवयवोऽसि च ॥ ८
होऽसि किञ्चिन्न किञ्चिद्वा निःशङ्कमलमास्यताम् ।
अचेतनाचिदाभासे शाम्यतामात्मनात्मनि ॥ ९
नित्यानन्दतयाऽजस्य कारणं नास्ति कार्यकृत् ।
सर्गाद्यसंभवे तस्माद्यदस्ति तदजं शिवम् ॥ १०
अजो येषां तु चिद्रूपो नास्ति मौर्ख्यविलासिनाम् ।
सर्गनाशे समुत्पन्ने किं तेषां प्रविचार्यते ॥ ११
यत्र यत्र परं ब्रह्म तत्र सन्ति जगन्ति हि ।
जगच्छब्दार्थरूपेण मुक्तान्येवंविधानि च ॥ १२
तृणे काष्ठे जले कुड्ये सर्वत्रैव परं स्थितम् ।
सर्वत्रैव च सर्गोद्यः परिप्रोतः स्थितो मिथः ॥ १३

विम्बवद्देरौण्यमिव न चैतन्याज्जाड्यं नामान्यदस्तीत्यर्थः ॥ १॥
जाड्यमात्रापलापेनैव जगदपलापसिद्ध्या निर्विक्षेपं स्वीयतामि-
त्याह—तदिति । यन्त्रणं यन्त्रं परिच्छेदस्तद्वहितं यथा
स्यात्तथा । चित्रकृच्चित्तचित्रस्थतज्ज्ञसिवत् । गन्धर्वनगराधिष्ठा-
नव्योममध्यवच्च ॥ २ ॥ ये तु प्रलयेऽपि ब्रह्मणि अचिद्रूपं जगत्
सूक्ष्मरूपेणाऽस्त्येवेति श्रुतिस्मृतिवादास्ते मायाशबलस्य सर्व-
शक्तित्वादसत्त्वपि ब्रह्मसत्तारोपदृष्ट्या भाविफेनलवे सांप्रतिक-
जलसत्तया सत्ताव्यवहारवदित्याशयेनाह—ब्रह्मणीति ॥ ३ ॥
वास्तवदृष्ट्या तु मायाया एवासत्त्वादद्वितीये निर्विकारे क्षोभत-
द्वेत्त्वोरेवासंभवाज्जडसर्गादेरुदय एव न संभवतीत्याह—नेत्या-
दिना ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ अनवधारितविशेषसर्वा-
नुगतसत्तासामान्यरूपत्वात्किञ्चित् । विशेषबाधे तदनुगतस्य
सामान्यरूपताया अपि निवृत्तेरैकरूप्यावधारणाच्च न किञ्चित् ।
चेतना बुद्धिस्तच्चिदाभासश्च न विद्येते यत्र ॥ ९ ॥ अयोजनापेक्षा-
भावादपि सर्गो नास्तीत्याह—नित्यानन्दतयेति । कारणं
क्रियानिमित्तं फलम् ॥ १० ॥ एवं तत्त्वदृशा नित्यमुक्ता-
सिद्धिसुपपाद्य तदनभ्युपगमे नित्यवद्धताप्रसक्तिर्मूर्खाणां स्यादि-
त्याह—अज इति । तेषामनिर्मुक्तदोषानिवृत्तेः किं प्रवि-
चार्यते । निष्फला मोक्षोपायचिन्तेत्यर्थः ॥ ११ ॥ अर्धप्रबुद्ध-
दृष्ट्या यादृशी स्थितिस्तामाह—यत्र यत्रेति ॥ १२ ॥ १३ ॥

ब्रह्मणः कः स्वभावोऽसाविति वक्तुं न युज्यते ।
 अनन्ते परमे तत्त्वे स्वत्वास्वत्वात्यसंभवात् ॥ १४
 अभावसव्यपेक्षस्य भावस्यासंभवादपि ।
 पदं ब्रह्मन्ति नानन्ते स्वभावाद्या दुरुक्तयः ॥ १५
 अस्वत्वाभावयोर्नित्येऽनन्तेऽत्यन्तमसंभवात् ।
 स्वत्वभावेषु सिद्धेषु स्वभावोक्तिर्न तिष्ठति ॥ १६
 नाहन्त्वं लभ्यते साधो बुद्ध्यालोके निरीक्षितम् ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० वि० स्वर्गापवर्गप्रतिपत्तियोगोपदेशो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

असदेव कुतोऽप्येतद्वालयक्ष इवोदितम् ॥ १७
 मुक्तं त्वद्वन्त्वशब्दार्थैर्लभ्यते यच्च तत्परम् ।
 युक्तं त्वद्वन्त्वशब्दार्थैः प्रेक्ष्यमाणं विलीयते ॥ १८
 भेदो जगद्ब्रह्मदशोरभेदः
 पर्यायशब्दार्थविलासतुल्यः ।
 संकल्पमात्रं कथितो न सत्यो
 यथानयोर्वै कटकत्वहेम्नोः ॥ १९

एकादशः सर्गः ११

भुशुण्ड उवाच ।

शस्त्राणि दयिताङ्गानि लग्नान्यङ्गे निरम्बरे ।
 यो बुद्ध्यमानः सुसमः स परस्मिन्पदे स्थितः ॥ १
 तावत्पुरुषयत्नेन धैर्येणाभ्यासमाहरेत् ।
 यावत्सुषुप्ततोदेति पदार्थोदयनं प्रति ॥ २
 यथा भूतार्थतत्त्वज्ञमाधयोऽग्रगता अपि ।
 न मनागपि लिम्पन्ति पयांसीव सरोरुहम् ॥ ३
 शस्त्राङ्गनानभ्रांस्यङ्गलग्नान्यलमसंविदम् ।
 अलग्नानीव शान्तात्मा यः पश्यति स पश्यति ॥ ४

तर्हि मिथ्यासर्गस्वभावमेवास्तु ब्रह्म नेत्याह—ब्रह्मण इति ।
 स्त्रः स्त्रीयो माचो व्यावर्तकधर्मो हि स्वभावस्तस्य च धर्मता
 अस्वभावव्यावर्तकतया वाच्या, अद्वये तु ब्रह्मणि स्वत्वास्व-
 त्वयोरत्यन्तासंभवात् स्वभावोऽन्यो निरूपयितुं शक्य इत्यर्थः
 ॥ १४ ॥ व्यावर्तके स्वशब्दासंघटनमुक्त्वा भावशब्दासंघटन-
 मपि दर्शयति—अभावेति ॥ १५ ॥ व्यावर्त्याप्रसिद्धेरपि पद-
 द्वयस्यापि तत्राघटनमित्याह—अस्त्वैति । कालान्तरे देशा-
 न्तरे वा तत्प्रसिद्धिश्चाङ्गावारणाय विशिनष्टि—नित्येऽनन्ते
 इति । स्वतःसिद्धेष्वव्यावर्तकेषु स्वत्वेषु भावेषु च लोके स्वभा-
 वोक्तिः स्वभावशब्दप्रयोगो न तिष्ठति । अप्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ १६ ॥
 यथा ब्रह्मणि सर्गादिर्न सिद्ध्यतीत्यद्वयता एवं प्रतीच्यमहन्त्वादिर-
 पीत्युभयशोभे अखण्डता सिद्धेत्याशयेनाह—नाहन्त्वमिति
 ॥ १७ ॥ प्रेक्ष्यमाणं रत्नतत्त्ववच्छास्त्रार्थाभूतैः परीक्ष्य
 तत्त्वदशा दृश्यमानम् ॥ १८ ॥ अनया दशा जाड्यं नित्य-
 भावतामिव जीवजगद्धेदोऽप्यभेदात्मतामेवापन्न इति प्रदर्शनाय
 प्राचीना हेमकटकाभेददृष्टान्ताः पर्यवसन्ना इत्याशयेनोपसं-
 हरति—भेद इति । सकल्पो राहोः शिर इति व्यपदेशवद्वि-
 कल्पमात्रं विद्वद्भिः कथितः । कटकत्वं कटकाकारः ॥ १९ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
 रार्धे स्वर्गापवर्गप्रतिपत्तियोगोपदेशो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इहेन्द्रियजयात्पूर्णं निर्विकारमनःस्थितिः ।

वेहाविहृष्या दृष्टिश्च हृदीकार्येति वर्ण्यते ॥ २ ॥

निरम्बरे ब्रह्मावनादृते अङ्गे स्वदेहे लभानि शस्त्राणि दयिता-

विषं यथा स्वान्तरेव दुर्धुणीभवति स्वयम् ।
 न च दुर्धुणता नाम विषादन्यास्ति काचन ॥ ५
 स्वरूपमजहस्त्वेवं जीवतामधितिष्ठति ।
 तथात्मा तत्परिज्ञानमात्रैकमविलापिनीम् ॥ ६
 जीवो भवति दुर्धुणोऽमृत्यात्मैव यथा तथा ।
 अत्यजन्ती निजं रूपं चिज्जडं रूपमुच्छति ॥ ७
 ब्रह्मण्यनन्योऽप्यन्याभो दुर्धुणः कचिदुत्थितः ।
 तत्स्थः स एवास इवाभ्यतत्स्थ इव स्वर्गकः ॥ ८
 विषं विषत्वमजहद्यथा स्वान्तः कृमिः क्रमात् ।
 न जायते न म्रियते म्रियतेऽपि च जायते ॥ ९

शास्त्रस्याः स्तनाद्यङ्गानि च बुद्ध्यमानः साक्षादनुभवशपि
 क्रामद्दुःखमयादिविकारानुदयाद्यः सुसमः स्यात् स परस्मिन्पदे
 स्थितः । तादृशस्थितिसिद्धिपर्यन्तमिन्द्रियजयात्मनिष्ठे हृदीकार्ये
 इत्यर्थः ॥ १ ॥ अमुमेवार्थं स्पष्टमाह—तावदिति । शस्त्रका-
 न्तादिबाह्यपदार्थेभ्यो विकारोदयनं मिथ्यात्वबुद्ध्या प्रतिक्षिप्य
 स्वात्मसुखमात्रविभ्रान्तिलक्षणा सुषुप्तता यावदुदेति तावत्
 ॥ २ ॥ तत्त्वज्ञानप्रतिष्ठाया आध्यसस्पर्श एव लक्षणमित्याह—
 यथेति । न हि शुक्तिबाधे तद्रजतलमापहारयोरधिर्दृश्यत
 इति भावः ॥ ३ ॥ भ्रमोऽग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । स पश्यति स
 साक्षात्कारज्ञानवानिति लक्षणेन बोध्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥ न
 भ्रान्तिकल्पितेन जीवभावेनास्य बाह्यनिर्विकारस्वभावोऽपगत
 इति तद्वाधमात्रेण तद्वाभो युक्त एवेत्येतदुपपादनाय
 दृष्टान्तमाह—न चेति । यथा विषं विषस्वभावादप्रच्युतमेव
 घुणकीटादिविकारं गतमिति, घुणता विषादन्या न, तथा
 आत्मा ब्रह्मपि स्वतत्त्वपरिज्ञानमात्रैकवाध्या जीवतां जीवा-
 कारविवर्तमधितिष्ठतीति जीवता नान्येति शोध्यम् ॥ ५ ॥ ६ ॥
 अमरणस्वभावमेव जडं विषं स्वस्वभावमलजदेव यथा मरण-
 स्वभावकीटजीवो भवति तथा ब्रह्मचिदपि मरणस्वभावं जडं
 रूपमुच्छतीति वैपरीत्यांशेऽपि दृष्टान्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥ जीव-
 वज्जगदपि घुणवदेवोत्थितमित्याह—ब्रह्मणीति ॥ ८ ॥ कृमौ
 विषस्वभावदृष्ट्या यथा जन्ममरणे न स्तो देहिस्वभावदृष्ट्या

स्वेनैव संविद्येन पदार्थमग्ररूपिणा ।
 तीर्यते गोष्पदमिव न तु दैवाद्भवार्णवः ॥ १०
 सर्वभावान्तरावस्था सर्वभावातिशायिनी ।
 अन्तःशीतलता यस्मिंस्तस्मिन्किमिव हेलनम् ॥ ११
 जगत्पदार्थसत्तान्तः सामान्येनाशु भाविते ।
 मनोहंकारबुद्ध्यादि कः कलङ्कोऽमलात्मनि ॥ १२
 यथा घटपटाद्यर्थान्पश्यस्वेवं शरीरकम् ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरो० यथाभूतार्थवेदनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

तथाहन्त्वमनोबुद्धिवेदनाद्यपि पश्य हे ॥ १३
 जगत्पदार्थसार्थौघमनोबुद्ध्यादि संस्थितम् ।
 एवासंविदंस्तिष्ठ परिनिष्ठितनिष्ठया ॥ १४
 न केनचित्कस्यचिदेव कश्चि-
 दोषो न चैवेह गुणः कदाचित् ।
 सुखेन दुःखेन भवाभवेन
 न चास्ति भोक्ता न च कर्तृता च ॥ १५

द्वादशः सर्गः १२

भुशुण्ड उवाच ।

ख एव व्योम संपन्नमिति संकल्पनं यथा ।
 भ्रान्तिमात्रमसद्रूपं तथाहंभावभावनम् ॥ १
 खे खं जातमिति भ्रान्तेरहं कल्पयिता यथा ।
 तथा निर्व्यपदेश्यात्म सदस्यसदिवाततम् ॥ २
 खे खात्मैवास्ति चिद्रूपं तत्स्वकं बुध्यते वपुः ।
 भासते यदिदन्त्वेन नाहमस्मि न चानहम् ॥ ३
 ततश्चिद्रूपमस्तीदृग्यत्र स्थूलं खमप्यलम् ।

तु तत्तथा जीवेऽपि ब्रह्मस्वभावदृष्ट्या न स्तो जीवस्वभाव-
 दृष्ट्या तु स्त इत्याह—विषमिति द्वाभ्याम् ॥ ९ ॥ देहेन्द्रिय-
 विषयपदार्थेष्वहंमतासत्तया अमग्ररूपिणा अतिरोहितस्वरूपेण
 भ्रवणादिप्रयत्ननिष्पादितस्वसाक्षात्कारसंवित्रयोजनभूतेन स्वेनैव
 तीर्यते न तु दैवं मां तारयिष्यतीति प्रयत्नोपेक्षयेत्यर्थः
 ॥ १० ॥ सर्वदृश्यभावबाधपरिधिष्ठे एकात्मस्वभावे परमदरिद्रे
 न विश्रान्तिसंभावेनेति प्रसक्तमवहेलनां वारयति—सर्वेति ।
 सर्वेषां प्रियतमभावानामान्तरी सारसुखरूपा अवस्था सर्वता-
 पनिवृत्त्या अन्तःशीतलता यस्मिन् पूर्णात्मस्वभावे ॥ ११ ॥
 जीवस्य मनोहंकारादिकलङ्कानिष्ठतावुपायमाह—जगदिति ।
 सामान्येन सन्मात्रब्रह्मरूपेण ॥ १२ ॥ यथा घटपटाद्यर्थास्तटस्थ-
 तया पश्यसि तथा प्रथमं तटस्थतया शरीरं पश्य नाहन्त्वा-
 दभिमानेनेत्यर्थः ॥ १३ ॥ तदनन्तरं ज्ञः सर्वसाक्षिरूप एव
 बहिर्जगत्पदार्थसार्थौघमन्तर्मनोबुद्ध्यादि च असंविदन् ज्ञप्तिमा-
 त्ररूपः परिनिष्ठितनिष्ठया स्वाभाविकस्थित्या तिष्ठ ॥ १४ ॥
 तस्यां स्थितौ सर्वगुणदोषादिविक्षेपहेतुपरमसिद्धिरित्याह—न
 केनचिदिति । तस्यां स्थितौ भवाभवेन संपदा विपदा तत्प्र-
 गुक्तसुखेन दुःखेन च केनचिदेतुना कस्यचित्कदाचिदपि दोषो
 गुणश्च नास्ति । यतः कर्तृता नास्त्यतो भोक्ता च नास्ति ।
 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिश्रुतेरि-
 त्यर्थः ॥ १५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे उत्तरार्धे यथाभूतार्थवेदनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

भ्रान्तिमात्रमहंभावश्चिद्विवर्तो जगद्भ्रमः ।

तस्य मूलमविद्येति तत्क्षयक्रम ईर्यते ॥ १ ॥

वक्ष्यमाणक्रमेण सहोच्छेदसिद्धये अविद्याया एवाहंभाव-

अणाविव महामेरुस्तत्संवित्तिर्हि खादिता ॥ ५
 घनस्ततोऽचिदाभासः खादप्यतितरामणुः ।
 जानाति यत्स्वभावं तदेतत्सर्गतया स्थितम् ॥ ५
 अहन्ताखादिताद्यात्मविदः प्रसरणं जगत् ।
 अम्भोद्रवप्रसरणं यथावर्तादिवेष्टनम् ॥ ६
 अचित्प्रसरणं शान्तमस्पन्दीव जलद्रवः ।
 निःस्पन्दपवनाकारमाकाशहृदयोपमम् ॥ ७
 न देशकालादिजगत्प्रसरेषु च युज्यते ।

लक्षणसूक्ष्मप्रपञ्चभावस्तस्यैव स्थूलप्रपञ्चरूपतेति सर्वकल्पनानां
 चिद्विवर्तमात्रतयैकतां दर्शयति—ख एवेत्यादिना । यथा खे
 व्योम्येवापरं व्योम संपन्नमुत्पन्नमिति मनसा संकल्पनमेकस्यैव
 व्योमो मेदभ्रान्तिमात्रं तथा अज्ञाते आत्मनि सूक्ष्मप्रपञ्चा-
 त्मनोऽहंभावस्य भावनं कल्पनमित्यर्थः ॥ १ ॥ ननु दृष्टान्ते
 कल्पयिता पुरुषस्तृतीयोऽस्ति तत्र कस्तृतीयस्तमाह—खे ख-
 मिति । निर्व्यपदेशि अविद्यापिहितत्वादसदिवाततमत एव
 शब्दादिना अव्यवहार्यमात्मरूपं सदस्त्वस्ति तृतीयं कल्पक-
 मित्यर्थः ॥ २ ॥ दृष्टान्ते यथा खे अद्वयः खात्मैवास्ति द्वितीयं
 तु खं कल्पकपुरुषस्य संकल्पावच्छिन्नचिद्रूपं स्वकं संकल्पात्मकं
 वपुरेव यथा कल्पयित्वा बुध्यते, तथा यद्यस्मादविद्योपहित-
 चिदात्मा स्वकं वपुरविद्यामेवाहमिदमित्यभिमन्त्रभिमन्तव्यरूपेण
 कल्पयित्वा भासते, ततो नाहं नामाज्ञानादन्यदस्ति नाप्यनहं-
 प्रपञ्चरूपमित्यर्थः ॥ ३ ॥ अत एव तत्परमसूक्ष्मं सर्वस्थूलक-
 ल्पनाधिष्ठानं ब्रह्मास्तीति परिचेयमित्याह—तत इति । तस्य
 संवित्तिः कल्पना । खादिता आकाशादिजगद्रूपता ॥ ४ ॥ पर-
 मसौक्ष्म्यं तस्योक्तमुपपादयति—घन इति । खादाकाशादप्यति-
 तरामणुरचिदाभासोऽज्ञानलक्षणोऽनादिविवर्तस्तत आत्मचित्तेः
 सकाशात् घनः स्थूल एव तत्तादृशं परमसूक्ष्मं चैतन्यमना-
 दहमिदमाकारवासनयोत्तरोत्तरस्थूलस्वभावकल्पनया जानाति ।
 एतदेव सर्गतया आभासाधिरूढमित्यर्थः ॥ ५ ॥ आत्म-
 विद आत्मचैतन्यस्याऽध्यात्ममहन्ताद्यधिलोकं तु खादिता
 पञ्चभूतता तदादि प्रसरणं विवर्तविस्तारो जगत्सर्गः ॥ ६ ॥
 चित्प्रसरणस्याभावः अचित्प्रसरणं शान्तं जगदुपरमः प्रलय
 इति यावत् ॥ ७ ॥ एवं सिद्धस्य देशकालादिजगतोऽवान्तरकार्य-

धनाच्छून्याश्चिराभासाश्चिन्मात्रविसरादृते ॥ ८
 चिन्मात्रे प्रसृते काले व्योम्नि भावि जले स्थले ।
 निद्रायां जाग्रति स्वप्ने भवेज्जगदिवोदितम् ॥ ९
 प्रसरणाप्रसरणे न च संभवतो विदुः ।
 स्वादप्यत्यन्तस्वच्छत्वाद्भोभादेः सदैव हि ॥ १०
 क्षप्तेतति न भोगादि न चैवात्मन्यसावहम् ।
 द्रवस्वमंभसीवान्तरद्वितीयः परे स्थितः ॥ ११
 धीर्हीः श्रीर्भीः स्मृतिः कीर्तिः कान्तिरित्यादिकं गणं ।
 न पश्यति विसंकल्पस्तमसीव पदान्यद्वेः ॥ १२
 ब्रह्मेन्दुबिम्बस्फुरितचिज्योत्त्वांशामृतद्रवः ।
 दिक्कालसंभवात्सर्गो नेश्वरादतिरिच्यते ॥ १३
 आधिमान्यः स्फुरत्येवं परे स्फुरति भासुरम् ।
 जगदाधात्मकं चित्तं चक्रौघत्वमिवाम्भसि ॥ १४
 मज्जनोन्मज्जनारावैर्विवर्तावर्तवैद्युतैः ।
 अन्विच्छानुपदं क्षीणा भाति सर्गसरिच्चिरम् ॥ १५
 यथावर्तैः पयो भाति धूमो भाति यथा घनः ।
 तथा जडात्मकतया तृतीयः सर्ग पतयोः ॥ १६

सहस्रलक्षणेषु प्रसरेष्वपि चिन्मात्रप्रसरादृते अन्यत्पारमार्थिकं रूपं न युज्यते नोपपद्यते ॥ ८ ॥ तत्रोपपत्तिं दर्शयति—
 चिन्मात्रे इति । निद्रायां प्रसिद्धस्वप्ने जाग्रति प्रसिद्धे मनोरा-
 ज्यादिस्वप्ने च ॥ ९ ॥ चित्तो जगदाकारपरिणामलक्षणो वास्तवः
 प्रसर एव किं न स्यात्तत्राह—प्रसरणेति । क्षोभः संचलनं
 तदादिसर्वविकारशून्यत्वादित्यर्थः ॥ १० ॥ ननु सुखदुःखभो-
 गार्थसुखरूपं देहाद्यहंभावरूपाश्च विकाराश्चिदात्मनि दृश्यन्ते
 तत्राह—क्ष इति । परे कूटस्थस्वभावे । तथा च चिदाभासस्यैव
 भोगादिभिन्नमा न कूटस्थात्मन इति भावः ॥ ११ ॥ उक्तेऽर्थे संक-
 ल्पादिमनोवृत्त्यन्वयव्यतिरेकदर्शनं प्रमाणमित्याह—धीरिति ।
 धीर्धन्तात्मकमनोवृत्तिः । श्रीः संपदभिमानलक्षणा इर्धोम-
 कमनोवृत्तिः । कीर्तिः स्वगुणख्यातिभ्रवणजन्या तादृशवृत्तिः ।
 कान्तिरिच्छा । सर्वत्र मनोवृत्तिबोधकैः पदैस्तद्देतवो बाह्य-
 विषया लक्ष्यन्ते ॥ १२ ॥ ब्रह्मलक्षणादिन्दुबिम्बात्स्फुरिता या
 जीवचिदाभासलक्षणज्योत्स्ना तदंशचाक्षुषादिज्ञानरूपं यदसृत्तं
 तदधीनसिद्धिकत्वात्तद्वैप्रायः सर्ग ईश्वराद्ब्रह्मणो नातिरिच्यते ।
 कृत । तदाधारयोर्दिक्कालयोर्निरवयवैर्निष्क्रिये च ब्रह्मण्य-
 समवात् । सस्यां हि दिशि मूर्तद्रव्यस्य क्रियया सर्गकालः
 कल्प्येत । न च सा प्रागस्ति । एवं सति काले दिगाद्युत्पत्तिः
 कल्प्येत । न च प्रलये सोऽस्ति । क्रियातिरिक्तस्य तत्साधकस्या-
 भावात् । पूर्णे कूटस्थे क्रियाऽयोगात् । न च तयोरसतोः कस्य-
 चिदन्यस्यावकाशोऽस्तीति न ब्रह्म न्यतिरिक्तसिद्धिरित्यर्थः ॥ १३ ॥
 परे परमेष्ठरे एवं वर्णितविद्या स्वाभिन्नजगदाकारे भासुरं यथा
 स्यात्तथा सर्वसाधारणसच्चिदानन्ददात्मना स्फुरति सति क्वचि-
 देव देहादौ विशेषाभिमितेन तदनुकूलप्रतिकूलेषु हेयोपादेय-

दासुणि क्रकचच्छेदे यथावर्तादिकं तथा ।
 अदिगादौ परे सर्गस्तद्वत्प्रपवानयम् ॥ १७
 संसारकदलीस्तम्भादिना संकल्पपल्लवम् ।
 मृदुनोऽपि द्रवत्कूरान्न किंचिल्लभतेऽन्तरम् ॥ १८
 सहस्रखुरमूर्धाक्षिकरवक्रेहितोहितम् ।
 नानाद्रितनुदिग्देशसरित्प्रादेशमात्रकम् ॥ १९
 अन्तःशून्यमसारात्म बहुरागोपरञ्जितम् ।
 स्फुरद्विरागविहितमार्जनामात्रतर्जनम् ॥ २०
 ससुरासुरगन्धर्वविद्याधरमहोरगम् ।
 जडात्मपवनस्पन्दि परचेतनचेतितम् ॥ २१
 पटे चित्रमहाराज्यमिव भासुरसुन्दरम् ।
 परामर्शोऽहं चारु विकल्पस्फूर्जितं जगत् ॥ २२
 स्पन्दात्मनि विकल्पांशे पतिताऽसत्यरूपिणि ।
 संवित्प्रसरति भ्रान्तौ तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ २३
 हृल्लेखाजालविसरैः सर्वावर्तविवर्तनैः ।
 विसररस्त्रेहसंमिश्रजडानुदयचर्वणैः ॥ २४

तादिकल्पनेन आधिमान्योऽहंकारात्मा अन्य इव स्फुरति
 तत्सर्वजगज्जीवन्वमोक्षादिकल्पनात्मकमम्भसि चक्रावर्तौ इव
 कल्पितं भ्रान्तं चित्तमेव नाणुमात्रमप्यन्यदस्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥
 दृष्टान्तदाष्टान्तिके रूपकेणैकीकृत्योपपादयति—मज्जनेति ।
 अनुपदं सद्यस्त्वसाक्षात्कारात् क्षीणा सर्गलक्षणा मरीचिसरित्
 ॥ १५ ॥ कूराद्भूमादिव्यथा घनो निविडो भेद्यो वा भाति । एत-
 योऽब्रह्ममनसोऽस्तुतीयः सर्गो विषयत्वाज्जडात्मकतया सत्यतया
 स्फुरणादजडात्मकतया च भातीति शेषः ॥ १६ ॥ तदतद्रू-
 पवान् जडाजडरूपवान् ॥ १७ ॥ स्वतो मिथ्यात्वान्मृदुनोऽप्य-
 धिष्ठानसत्तया, दृषदिव कूराद्दृढात्स्फटिकविलाप्रतिबिम्बितक-
 दलीस्तम्भादन्तरमसाम्यं च किंचिद्विकेदशा लभते । संकल्प-
 कल्पितपल्लववैलक्षण्यकृतमेव वैसादर्यं नान्यदित्यर्थः ॥ १८ ॥
 इदानीं जगत्पटलिखितचित्रराज्यसादृश्येन वर्णयति—सहस्रे-
 स्यादिचतुर्भिः । सहस्रसंख्यानि करादिवभ्रान्तानि तदीहितानि
 तदिहितानि च अहितानि वितर्कितानि यत्र । नानाविधा अद्रव-
 स्तनवश्चतुर्विधघरीराणि दिशो देशाः सरितश्च प्रादेशमात्रमिव
 परिच्छिन्नाः यत्र ॥ १९ ॥ अन्तःशून्यमवस्तु भ्रान्तरागमवशून्यं
 च । बहुभिः रागैः कामै रजकद्रव्यैश्चोपरञ्जितम् । विसरगो वैराग्यं
 विरुद्धवर्णं मार्जनद्रव्यं च तद्विहितमार्जनामात्रमेव तर्जनं
 निरासो यस्य ॥ २० ॥ जडात्मना पवनेन सूत्रात्मना प्रसिद्ध-
 वायुना च स्पन्दनशीलम् । परेण ब्रह्मचेतनेन द्रष्टृचेतनेन च
 चेतितम् ॥ २१ ॥ परामर्शो विचारः परेण आमर्श उपमर्दश्च
 तदसहम् ॥ २२ ॥ विकल्पांशे विकल्पवृत्तौ मनसि प्रतिबिम्ब-
 भावेन पतिता अर्थशून्यत्वाद्वाच्यत्वाच्चासत्यरूपिणि ॥ २३ ॥
 कथं प्रसरति तदाह—हृल्लेखेति । हृदयं मनो लिखन्ति क्षोभ-
 यन्तीति हृल्लेखाः कानवासनास्तल्लक्षणस्य जालस्यानायस्य विसरैः

अहमित्यादिचिद्रूपे विकल्पेनोन्मुखी सती ।
 न पराद्वयतिरिक्तेषा जलत्वादिव तोयता ॥ २५
 चिदादित्यः स्व आत्मैव सर्ग इत्यभिधीयते ।
 भूत्वाहमिति तेनान्यो न सर्गोऽस्ति न सर्जकः ॥ २६
 स्पन्दात्मिकायां सत्तायां यथा स्पन्दो जलद्रवः ।
 तथा चिदात्मा व्योमत्वे न व्योमत्वादि वेत्ति हि ॥ २७
 देशकालादिनिर्माणपूर्वकं वेदनं विदः ।
 सर्गात्मकत्वात्तेनाम्बुद्रवसाम्यं न दूरगम् ॥ २८
 मनोहंभावबुद्ध्यादि यत्किञ्चिन्नाम वेदनम् ।
 अविद्यां विद्धि यत्नेन पौरुषेणाशु नश्यति ॥ २९
 अर्धं मिथःसंकथया भागः शास्त्रविचारणैः ।
 आत्मप्रत्ययतः शिष्टमविद्याया निवर्तते ॥ ३०
 चतुर्भागात्मनि कृते इत्यविद्याक्षये क्रमात् ।

समकालाच्च यच्छिष्टं तदनामार्थसन्मयम् ॥ ३१
 श्रीराम उवाच ।
 अर्धं मिथःसंकथया भागः शास्त्रविचारणैः ।
 आत्मप्रत्ययतो भागः कथं तस्या निवर्तते ॥ ३२
 समकाले क्रमाच्चेति मुनिनाथ किमुच्यते ।
 तदनामार्थसच्चेति सध्यासच्चेति किं वद ॥ ३३
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 सुजनेन विरक्तेन संसारोत्तरणार्थिना ।
 सह चाप्यात्मविदुषां संसृतिं प्रविचारयेत् ॥ ३४
 यतः कुतश्चिदन्विष्य सविरागममत्सरम् ।
 जनं सज्जनमात्महं यत्नेनाराधयेद्बुधः ॥ ३५
 संपन्ने संगमे साधोरविद्यार्धं क्षयं गतम् ।
 विद्धि वेद्यविदां श्रेष्ठ ज्येष्ठश्रेष्ठदशोदयात् ॥ ३६

समूहैर्निबद्धा । पुत्रकलत्रादिषु विसरता स्नेहेन संमिश्रं यथा
 स्यात्तथा जडा मिथ्यात्वादनुदया अनुत्पन्ना एव ये शब्दस्पर्शा-
 दयोऽर्थास्तेषां चर्वणैरास्वादनाः प्रसरति स एव चित्रमहाराज्य-
 त्वेन वर्णितः संसार इत्यर्थः ॥ २४ ॥ एवंरीत्या एषा आदि-
 चित् अहमिति विकल्पेनोन्मुखी बहिर्मुखी जीवभावमिवा-
 पन्ना सत्यपि न परात्परमात्मनो व्यतिरिक्ता । भेदकोपाधीनां
 विकल्पमात्रत्वे जीवपरशब्दयोर्जलतोयशब्दवदेकार्थपर्यवसाना-
 दिति भावः ॥ २५ ॥ उपाध्यनुप्रवेशेन नामरूपव्याकर्तुरहमर्थ-
 जीवस्य ब्रह्ममात्रत्वे तद्गोच्यसर्गशब्दार्थोऽपि ब्रह्ममात्रं संपन्न
 इत्याह—चिदादित्य इति ॥ २६ ॥ जगतो राहुशिरोवच्चिद्रिक्-
 त्वमात्रतामविद्यामात्रतापर्यवसानाय दृष्टान्तेनोपपादयति—
 स्पन्दात्मिकायामिति । जलं स्पन्दते इत्यत्र विचार्यताम् । किं
 जलमेव स्पन्दात्मना आस्ते उत्तान्यत् । न द्वितीयः । अन्य-
 स्यानुपलम्भात् । अन्य एव स्पन्दत इति हि तदा स्यात् स्पन्दस्य
 जलापेक्षानियमाभावप्रसङ्गाच्च । न च समवायास्तत्रियमस्तस्य
 संबन्धानवस्थया असिद्धेः । आद्ये तु कल्पे जलस्य स्पन्दकर्तृ-
 त्वानुपपत्तिः । न हि स्पन्दात्मा स्पन्दं करोति स्पन्दस्यापि कर्तृ-
 त्वापत्तेः । तस्याजलद्रवो यथा स्पन्दात्मिकायां स्वसत्तायाम-
 स्पन्द एवेति स्पन्दप्रत्ययो विकल्पमात्रं तथा चिदात्मा व्योमादि-
 प्रपञ्चनिर्माणेपि न व्योमत्वे स्थितो न व्योमकर्तेति न स्वस्यान्यस्य
 वा व्योमभावादिकं वेदितुं शक्नोतीति जलद्रवभेदविकल्पवद्विकल्प-
 मात्रमेव तदित्यर्थः ॥ २७ ॥ ननु जलद्रवभेदविकल्पे देशकालभेदो
 नियामकोऽस्ति । पूर्वकाले पूर्वदेशे स्थितं जलमुत्तरकाले परदेशे
 उपलभ्यते । उत्तरदेशप्राप्तिस्तत्क्रियापूर्विकैव शरादौ क्लृप्तेति
 जलेपि द्रवणक्रियामेदः कल्प्यते । ब्रह्मणि त्वद्वये न देशकाल-
 भेदोऽस्तीति न वियदादिभेदविकल्पे निमित्तमस्तीत्यम्बुद्रवसाम्यं
 दूरापास्तमिति शङ्कां समाधत्ते—देशेति । किमयं वियदादि-
 सर्गविकल्पासंभवः सर्गात्मकत्वदशायामाक्षिप्यते उत ब्रह्मदशा-
 याम् । द्वितीये दृष्टापत्तिः । न हि वयं ब्रह्मभावे कंचिद्विकल्प-

मङ्गीकुर्मः । सर्गात्मकत्वदशायां तु अयं सर्गकालः प्राक् प्रलय-
 काल इति कालविभागं संसारासंसारदेशभेदं च कल्पनया
 निर्माय तत्र विदश्चिदात्मनो वियदादिविकल्पवेदनं वर्णयाम
 इति नाम्बुद्रवसाम्यं दूरगमित्यर्थः । तथा चोक्तं चार्तिके
 'अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते । ब्रह्मदृष्ट्या
 त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥' इति ॥ २८ ॥ देशकाल-
 भेदनिर्माणस्यापि देशकालान्तरसापेक्षत्वादनवस्था । एवं
 विकल्पानां मनोहंभावबुद्ध्यादिसाध्यत्वाद्वियदादिसर्गभेदविकल्प-
 काले तेषामसिद्धत्वात्कथं विकल्पनेत्याद्याशङ्का अपि अनु-
 पपत्त्यादिदोषसहस्रभाजनां विद्यामात्रत्वाभ्युपगमादेव परिह-
 र्तव्या इत्याशयेनाह—मन इति ॥ २९ ॥ केन केन पौरुषेण
 कियती सा नश्यति तदाह—अर्धमिति । विनयप्रणतिदानस-
 न्मानादिवशीकृतैस्त्वविद्धिः सह संकथनात्प्रथमभूमिकाप्रति-
 ष्ठापर्यन्तमभ्यस्तयोत्कटवैराग्यादिसाधनचतुष्टयसिद्ध्या पुत्रदार-
 धनादिषु ममताध्यासहेतुभूतमर्धं नश्यतीत्यर्थः । शास्त्रविचारणैः
 श्रवणादिसिः प्रमाणप्रमेयासंभावनारूपो देहादिष्वहंत्वरूप-
 आविद्याया विक्षेपशक्तिरूपो भागश्चतुर्थांशो नश्यति । आत्मप्र-
 त्ययतो ब्रह्मात्मभावसाक्षात्काराच्चतुर्थभूमिकामारभ्योत्तरोत्तरमु-
 पचीयमानात् शिष्ट आवरणशक्तिरूपश्चतुर्थभागश्चाग्नौदयोत्तरं
 तम इव क्रमाच्चिर्वर्तत इत्यर्थः ॥ ३० ॥ इति प्राग्दर्शितप्रका-
 राद्भूमिकाभ्याससमकालात्क्रमादविद्याक्षये कृते सति यच्छिष्टं
 तन्नामरूपरहितं सन्मात्रमेव परमपुरुषार्थ इत्यर्थः ॥ ३१ ॥
 संक्षेपोक्तं विस्तरेण जिज्ञासू रामः पृच्छति—अर्धमित्यादिना
 ॥ ३२ ॥ अनामार्थसन्मयमित्यत्र मयटा असदंशस्यापि फोडी-
 कारात्सचासच्चेत्युक्तम् । तत्रासदंशः किं तद्वदित्यर्थः ॥ ३३ ॥
 अश्रकमाद्वसिष्ठ उत्तरमाह—सुजनेनेति । आत्मविदुषा सह
 चशब्दादपिशब्दाच्चान्येनापि मुमुक्षुणा सह स्वबुद्ध्या च संसृतिं
 केयं किंपर्यवसाना किमूला किंसारा कथमुत्तरेणीयेति च प्रवि-
 चारयेत् ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ इतरभूमिकाभ्यो ज्येष्ठा साधनचतुष्टय-

अर्धं सज्जनसंपर्कादविद्याया विनश्यति ।
 चतुर्भागस्तु शास्त्रार्थश्चतुर्भागं स्वयन्नतः ॥ ३७
 एकोऽमिलाष उत्पन्नो भोगेभ्यश्च निवार्यते ।
 तत्क्षये यात्यविद्यायाश्चतुर्थीशः स्वयन्नतः ॥ ३८
 साधुसङ्गमशास्त्रार्थस्वयन्नैः क्षीयते मलम् ।
 एकैकेनाथ सर्वैश्च तुल्यकालं क्रमादपि ॥ ३९

यदविद्याक्षयैकात्म न किञ्चित्किञ्चिदेव चे ।
 शिष्यते तत्परं प्रादुरनामार्थमसञ्च सत् ॥ ४०
 ब्रह्मेवं धनमजराद्यनन्तमेकं
 संकल्पस्फुरणमविद्यमानमेव ।
 घुङ्क्तेन व्यपगतमानमेयमोहो
 निर्वाणं परिविहरन्विशोकमास्त्व ॥ ४१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० वि० संकल्पसर्गयोरेक्यप्रतिपत्तिर्नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः १३

भुशुण्ड उवाच ।

जगत्प्रसररूपस्य न देश उपयुज्यते ।
 न कालो धारणे स्तम्भ आलोकस्याम्बरे यथा ॥ १
 मनोमनननिर्माणमात्रमेतज्जगद्वयम् ।
 शान्तं तनु लघु स्वच्छं वातान्तः सौरभादपि ॥ २
 चिच्चमत्कृतिमात्रस्य साधो जगदणोः किल ।
 वातान्तः सौरभं मेरुरन्यानुभवयोगतः ॥ ३
 यं प्रत्युदेति सर्गोऽयं स एवैनं हि चेतति ।
 पदार्थः संनिवेशं स्वमिव स्वप्नं पुमानिव ॥ ४

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
 यद्वत्तं देवराजस्य त्रसरेणूदरे पुरा ॥ ५
 क्वचित्क्वदाचित्कस्मिंश्चित्क्वचित्क्वद्विभुमेऽभवत् ।
 कस्यांचिशुगशाखायां फलं जगदुदुम्बरम् ॥ ६
 ससुरासुरभूतौघमशकाहितघुंघुमम् ।
 शैलमांसलपातालधुभूम्युग्रकपाटकम् ॥ ७
 चिच्चमत्कृतिचारुचैर्वासनारसपीवरम् ।
 विविधानुभवामोदं चित्तास्वादमनोहरम् ॥ ८
 बृहद्ब्रह्मतत्त्वप्रौढसप्तात्रततिकोटिगम् ।

संपत्त्या न भेष्टा या प्रथमभूमिकाप्रतिष्ठा दशा तदुदयादित्यर्थः ॥ ३६ ॥ चतुर्भागं चतुर्थभागम् । स्वयन्नतो नाशयेदिति शेषः ॥ ३७ ॥ तत्राद्यमुपपादयति—एक इति । एक सत्कट-
 मुसुलालक्षणोऽमिलाष उत्पन्नश्चेदयं पुरुषो वैराग्यादिसंपदा
 भोगेभ्यस्तत्साधनेभ्यश्च निवार्यते । अवश्यं निर्मसः संन्यस-
 तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ युगपत्प्राप्तौ तुल्यकालम् । क्रमात्प्राप्तौ क्रमादपि ॥ ३९ ॥ पञ्चमप्रश्नाप्युत्तरमाह—यदिति । अर्थक्रियान्यव-
 हारावर्तत्वादसत्, अबाध्यपरमपुरुषार्थत्वात्सत्त्वेत्यर्थः ॥ ४० ॥
 हे राम, इदं परिविष्टवस्तु आनन्दैकधनं जरादिविकारशून्यं
 ब्रह्मेव । जीवजगद्गूढं तु सकल्पो विकल्पस्तत्स्फुरणमात्रमित्य-
 विद्यमानमेव । त्वमेवमात्मानात्मतत्त्वं बुद्ध्वा व्यपगतमानादित्रि-
 पुटीमोहः सन् निर्वाणं ब्रह्मेव भूत्वा निरतिशयबृहत्त्वादेव परितो
 व्याप्त्या विहरन् सन् विशोकमास्त्व तिष्ठेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहाराभायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 सङ्कल्पसर्गयोरेक्यप्रतिपत्तिर्नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

मायाकार्ये न देशादेरपेक्षेत्यत्र चर्ष्यते ।

इन्द्रस्याणूदरे राज्यकल्पनाख्यानविस्मरः ॥ १ ॥

देशकालादिनिर्माणपूर्वकं वेदनं विदुः । सर्गात्मकत्वात्
 इति यदुक्तं तस्योपपादनायेन्द्रसरेण्वाख्यानं वक्तुं भूमिकां
 रचयति—जगदित्यादिना । देशकालादिनिर्माणपूर्वकं वेदनमि-
 त्यङ्गीकृतवाक्यः । नस्तुतस्तु दृष्टस्य युगपदेव सह देशका-
 लभ्यां जगत्प्रसररूपस्य मायिकसर्गस्य धारणेन प्राक्त्विदो देश

उपयुज्यते । यथा अम्बरे युगपत्प्रसृतस्यालोकस्य धारणे
 स्तम्भो नोपयुज्यते तद्वदित्यर्थः ॥ १ ॥ वातान्तः प्रसृतमति-
 सूक्ष्मत्वाद्वातेनापि धारयितुं कम्पयितुं चाशक्यं यत्सौरभं ज्योतिः
 सौरभं सौगन्ध्यं च तस्मादपि शान्तं तिरोभूतं तनु सूक्ष्मं
 लघु अगुह्य स्वच्छं चेत्यर्थः ॥ २ ॥ हे साधो, विच्चमत्कृतिमात्र-
 त्वेन दृष्टस्य जगदणोरपेक्षया वातान्तर्गतसौरभमपि मेरुरिव
 स्थूलं किल । अन्यानुभवयोगतः अन्यैरपि चक्षुर्ग्राणादिसयो-
 गेनानुभूयमानत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥ दृष्टसृष्टिरूपस्य प्रपञ्चस्य तु न
 स्वकल्पकदृगन्यगोचरतेत्यसाधारणत्वात्परमसौक्ष्म्यमित्याह—
 यं प्रतीति । यथा मानोरथिकपदार्थः स्वसंनिवेशं स्वसाक्षिणा
 स्वयमेव चेतति । यथा पुमान् स्वस्वप्नं स्वयमेव चेतति
 तद्वदित्यर्थः ॥ ४ ॥ अत्र अस्मिन्पूर्वसिद्धदेशकालानपेक्षारूपे
 अनन्यानुभवगोचरतया परमसौक्ष्म्यरूपे चार्थे उपपादकम् ॥ ५ ॥
 कश्चिच्चसौ कल्पद्रुमश्च किञ्चित्कल्पद्रुमस्तस्मिन् । सर्वकल्पना-
 फलाधारे मायाशबले ब्रह्मणीति शान्तम् । युगशाखायां शाखा-
 द्वयसंधौ । जगद्ब्रह्माण्डस्तद्रूपमुदुम्बरं फलम् ॥ ६ ॥ तद्वर्ण-
 यति—ससुरासुरेत्यादिना । शैलैः कीलस्थानीयैर्मांसलानि
 दृढानि पातालादिलोकत्रयलक्षणानि उग्रानि दुराधर्माणि कपा-
 टानि यत्र । यद्यप्युदुम्बररूपकेन्तःकपाटवर्णनमनुपयुक्तं तथापि
 कल्पवृक्षफलोदुम्बरफलकल्पकमनोवृत्त्यनुसारित्वेन प्रसिद्धवै-
 लक्षण्यकल्पनया कथंचिद्योज्यम् ॥ ७ ॥ चित्तश्चमत्कृत्या रच-
 नाशक्तिवैचित्र्येण चार । उच्यते इत् ॥ ८ ॥ बृहन् प्राग्वर्णितो

अहंकारमहावृन्तं समालोकसमुज्ज्वलम् ॥ ९ ॥
 मोक्षद्वारविकास्यास्यं सरिदब्धिशिरावृतम् ।
 मात्रापञ्चककोशस्थं तरत्तारकसीकरम् ॥ १० ॥
 कल्पावसानजरठं काककोकिलगाम्यथ ।
 पतितं शान्तिमायातं काप्यन्तावासनं गतम् ॥ ११ ॥
 तत्राभूदमराधीशः शक्रस्त्रिभुवनेश्वरः ।
 क्षौद्रकुम्भनिषण्णानां क्षुद्राणामिव नायकः ॥ १२ ॥
 शुरुपदेशस्वाभ्यासात्स क्षीणावरणोऽभवत् ।
 महात्मा भावितान्तात्मा पूर्वापरविदां वरः ॥ १३ ॥
 नारायणादिषु ततः कदाचिद्वीर्यशालिषु ।
 कचिदेव निलीनेषु सत्स्वेकः ससुराधिपः ॥ १४ ॥
 शस्त्रज्वालानलोद्भरैर्युध्यत महासुरैः ।
 विजितस्तैर्महावीर्यैरतो व्यद्रवदाद्रुतम् ॥ १५ ॥
 दिशो दशं सुवेगेन दुद्रावाभिद्रुतोऽरिभिः ।
 न विश्रामास्पदं प्राप परलोक इवाधमः ॥ १६ ॥
 तद्भ्रान्तदृष्टिष्वरिषु मनाक् छिद्रमवाप्य सः ।
 प्रशमं कायसंकल्पं नीत्वा स्वं स्वान्तरे बहिः ॥ १७ ॥
 कमप्यर्काशुकोशस्थं त्रसरेणुं विवेश सः ।
 संविद्रूपतया पद्मकोशं मधुकरो यथा ॥ १८ ॥
 स तत्राशु विशश्राम चिरादाश्वासमाययौ ।
 अथ विस्मृतसंग्रामो निवृत्तिं समुपागमत् ॥ १९ ॥
 कल्पितं सन्न तत्राथ स क्षणादनुभूतवान् ।
 तस्मिन्सन्ननि पद्मान्ते रेमे ख इव विष्टरे ॥ २० ॥

गृहस्थः स ददर्शथ कल्पितं नगरं हरिः ।
 मणिमुक्ताप्रवालादिकृतप्रकारमन्दिरम् ॥ २१ ॥
 नगरान्तर्गतोऽपश्यत्ततो जनपदं हरिः ।
 नानाद्रिग्रामगोवाटपत्तनारण्यराजितम् ॥ २२ ॥
 तादृप्रतिश्चेतितवान्सशक्रो भुवनं ततः ।
 साद्यभ्युर्वीनदीशान्तं सक्रियाकालकल्पनम् ॥ २३ ॥
 तादृप्रतिश्चेतितवान्स शक्रस्त्रिजगत्ततः ।
 सपातालमहीव्योमविष्टपार्कादिपर्वतम् ॥ २४ ॥
 तत्रातिष्ठत्सुरेशत्वे स भोगभरभूषितः ।
 पुत्रो बभूव तस्याथ कुन्दो नामाथ वीर्यवान् ॥ २५ ॥
 ततो जीवितपर्यन्ते त्यक्त्वा देहमनिन्दितः ।
 निर्वाणमाययौ शक्रो निःस्नेह इव दीपकः ॥ २६ ॥
 कुन्दल्लोक्यराजोऽभूज्जनयित्वा सुतं निजम् ।
 कालेन जीवितस्यान्ते जगाम परमं पदम् ॥ २७ ॥
 तत्पुत्रोऽपि तथैवाथ कृत्वा राज्ये सुतं निजम् ।
 जगाम जीवितस्यान्ते पावनं परमं पदम् ॥ २८ ॥
 एवं पौत्रसहस्राणि समतीतानि सुन्दर ।
 तत्राद्यापि सुरेशस्य येषां राज्ये स्थितोऽशकः ॥ २९ ॥

इत्यध्यावदमरेश्वरवंश एव

संकल्पिते जगति शक्रपदं विधत्ते ।

तस्मिन्क्षतेऽपि गलितेऽपि हतेऽपि नष्टे

काप्यम्बरे दिनकरतपपावनाणौ ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० विद्याधरोपाख्यानान्तर्गतेन्द्रोपाख्याने त्रसरेण्वन्तरसर्गसंघवर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

यो ब्रह्मतत्त्वदुम्बरस्तस्मिन्प्रौढा आविर्भूता याः सूक्ष्मजगत्सत्ता-
 त्रततिकोटयस्तदन्तर्गतम् । सम आलोकः साक्षिचित् तेन
 समुज्ज्वलम् ॥ ९ ॥ मोक्षद्वारं ज्ञानमेव विकासि आस्यं मुखं
 यस्य । मात्रास्तन्मात्राणि । तरन्ति ऊर्ध्वं ज्वमानानि तारका-
 ण्येव सीकरा रसकणा नीहारकणा वा यत्र ॥ १० ॥ महा-
 कल्पावसाने जरठं पक्वं पातोन्मुखम् । अथ तदनन्तरं काक-
 गामि कोकिलगामि वा । यथा प्रसिद्धोदुम्बरमन्ते काकैः कोकि-
 लैर्वा भक्ष्यते तद्वदसच्छास्त्रकटुरवानुसारिण्या अविद्याकाक्या
 शास्त्रमधुररवानुसारिण्या विद्याकोकिलया वा प्रस्यमानं क्वापि
 अन्तं वासनामात्रशेषलक्षणं नाशमवासनं ब्रह्मभावं वा आगतं
 भविष्यतीत्यर्थः ॥ ११ ॥ तत्र तस्मिन्नुदुम्बरे । क्षुद्राणां मधु-
 मशकानाम् ॥ १२ ॥ भावितः अन्तःसर्वकल्पनावधिरात्मा
 येन ॥ १३ ॥ १४ ॥ शस्त्रज्वालानलानुद्धिप्रतीति शस्त्रज्वाला-
 नलोद्भाराः । कर्मण्यण् । कुद्गृहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणा-
 दुपपदसमासः । आसमन्ताद्भुतं शीघ्रम् ॥ १५ ॥ सुवेगेन
 अतिजवेन । अधमः पापकृत् ॥ १६ ॥ अरिषु मनाग् भ्रान्त-
 दृष्टिषु सत्सु । तत् तदा । छिद्रं निलयनावसरम् । कायाकारं
 यो० वा० १३८

स्थूलाकारसंकल्पं स्वान्तरे भूतसूक्ष्मे प्रशमं नीत्वा विलाप्याणु-
 तरो भूत्वा बहिः कमपि त्रसरेणुं विवेशेति परेणान्वयः ॥ १७ ॥
 तदन्तःप्रवेशसंकल्पसंविद्रूपतया ॥ १८ ॥ निवृत्तिं बहिर्गमना-
 भावम् । अनिवृत्तिमिति वा छेदः ॥ १९ ॥ पद्मान्ते पद्मासन-
 मध्ये । स्वे स्वलोकप्रसिद्धे विष्टरे सिंहासन इव ॥ २० ॥ २१ ॥
 गोवाटा व्रजाः ॥ २२ ॥ तादृप्रतिस्तादृशसंकल्पोपहितः ।
 भुवनं भूलोकम् । नद्यः ईशा राजानः अन्तास्तत्तद्देशसीमास्तैः
 सह वर्तमानम् ॥ २३ ॥ अथ तत्र सुरेशत्वे अतिष्ठदित्यप-
 कृत्यान्वयः ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ तस्य
 सुरेशस्य पौत्रसहस्राणि येषां राज्ये अद्याप्यंशको नाम राजा
 स्थितः ॥ २९ ॥ इति वर्णितदिशा अद्यावत् अद्यतनकालपर्यन्तं
 तत्संकल्पिते त्रसरेण्वन्तरे जगति तद्वंश एव अमरेशपदं
 शक्रराज्यं विधत्ते पालयति । काप्यम्बरप्रदेशे तस्मिन् दिन-
 करतपपावने अणौ त्रसरेणौ क्षते अपचिते गलिते नष्टेऽपि हि
 तद्राज्यं न गलितमित्यर्थः ॥ ३० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामा-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे त्रसरेण्वन्तरसर्गसंघ-
 वर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः १४

भुशुण्ड उवाच ।

तस्य शक्रस्य कुलजः कश्चिदासीत्पुराधिपः ।
 तत्रोत्तमगुणः श्रीमान्पाश्चात्या यस्य सा तनुः ॥ १ ॥
 सद्येन्द्रकुलपुत्रस्य तस्य तत्र वभूव ह ।
 प्रतिभाक्षानसंप्राप्तिर्वृहस्पतिगिरोदिता ॥ २ ॥
 ततो विदितवेद्योऽसौ यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
 चकार जगतां राज्यमाज्यपानामधीश्वरः ॥ ३ ॥
 युयुधे दानवैः सार्धमजयत्सर्वंशात्रवान् ।
 शतं चकार यज्ञानामज्ञानोत्तीर्णमानसः ॥ ४ ॥
 उवाच कार्यवशतो विसवालान्तरे चिरम् ।
 धन्यान्पि च वृत्तान्तशतान्यनुवभूव ह ॥ ५ ॥
 कदाचिदासीत्तस्येच्छा प्रबोधबलशालिनः ।
 ब्रह्मतत्त्वमवेक्षेऽहं यथावद्व्यानवानिति ॥ ६ ॥
 सोऽपश्यत्प्रणिधानेन तत एकान्तसंस्थितः ।
 सवाह्याभ्यन्तरेऽशेषकारणत्यागशान्तधीः ॥ ७ ॥
 सर्वशक्तिपरं ब्रह्म सर्ववस्तुमयं ततम् ।
 सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम् ॥ ८ ॥
 सर्वतःपाणिपादान्तं सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ।
 सर्वतःश्रुतिमहोके सर्वमावृत्य संस्थितम् ॥ ९ ॥
 सर्वेन्द्रियगुणैर्मुक्तं सर्वेन्द्रियगुणान्वितम् ।
 असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १० ॥
 घहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
 सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ ११ ॥

तत्कुलोत्पन्नशक्रस्य विसतन्तौ जगत्प्रथा ।

तत्रोच्यते ब्रह्मदृष्टौ सर्वदृष्ट्या स्वशक्रता ॥ १ ॥

तस्य प्रागुक्तस्य शक्रस्य कुलजो वंशोद्भवः ॥ १ ॥ तस्य
 तत्र बृहस्पतेः स्वगुरोरुपदेशगिरा उदिता प्रतिभानं प्रतिभा
 आत्मतत्त्वसाक्षात्कारस्तद्रूपज्ञानसंप्राप्तिर्वभूवेति शेषः ॥ २ ॥
 आज्यपानां देवानाम् ॥ ३ ॥ यज्ञानामश्वमेधानाम् । तस्य
 हि फलं तस्य वक्ष्यमाणविसतन्तावेतद्ब्रह्माण्डे च शक्रता-
 प्राप्तिरिति भावः ॥ ४ ॥ विसस्य पद्मनालस्य घालतन्तुस्तद-
 न्तरे । तत्र विसतन्तौ कल्पिते ब्रह्माण्डे राज्ययुद्धजयपराज-
 यादीन्यन्यान्यपि वृत्तान्तशतान्यनुवभूव ह किल ॥ ५ ॥ ब्रह्म-
 तत्त्वं मायाशबलब्रह्मस्वभावम् ॥ ६ ॥ प्रणिधानेन समाधिना ।
 अशेषाणां विक्षेपकारणानां त्यागेन शान्तधीः ॥ ७ ॥ ८ ॥
 श्रुतिमत् श्रोत्रेन्द्रियवत् ॥ ९ ॥ सर्वेन्द्रियाणां गुणैः रूपादि-
 प्रहणशक्तिभिरन्वितम् । परमार्थतः असक्तम्, व्यवहारतस्तु
 सर्वभृत् । एवमग्रेऽपि ॥ १० ॥ ११ ॥ प्राचुर्ये मथद् ॥ १२ ॥
 भ्रमप्राधान्येन संसृतिः, भावविकारप्राधान्येन जगदिति मेदव्य-
 पदेशः ॥ १३ ॥ १४ ॥ धाम्नि तेजति गृहे च । सः त्रिज-
 गन्ति ददर्शेति परेणान्वयः ॥ १५ ॥ नानाविधाः प्राणिना-

सर्वत्र चन्द्रार्कमयं सर्वत्रैव धरामयम् ।
 सर्वत्र पर्वतमयं सर्वत्रान्धिमयं तथा ॥ १२ ॥
 सर्वत्र सारशुक्लं सर्वत्रैव नभोमयम् ।
 सर्वत्र संसृतिमयं सर्वत्रैव जगन्मयम् ॥ १३ ॥
 सर्वत्रैव च मोक्षात्म सर्वत्रैवाद्यन्निमयम् ।
 सर्वत्र सर्वार्थमयं सर्वतः सर्ववर्जितम् ॥ १४ ॥
 घटे पटे षटे कुड्ये शकटे धानरे तथा ।
 धाम्नि व्योम्नि तरावद्रावनिले सलिलेऽनले ॥ १५ ॥
 नानाचारविचाराणि विविधावृत्तिमन्ति च ।
 परमाण्वंशमात्रेऽपि त्रिजगन्ति ददर्श सः ॥ १६ ॥
 मरिचस्यान्तरे तैक्ष्ण्यं शून्यत्वमिव चाश्वरे ।
 त्रिजगत्सत्यसति च विद्यते चिन्मयात्मनि ॥ १७ ॥
 इत्येवं भावयन्मुक्तभावया शुद्धसंविदा ।
 शक्रः क्रमेण तेनैव तथैव ध्यानवानभूत् ॥ १८ ॥
 ध्यानेन सर्वमेकत्र पश्यन्धिरमुदारधीः ।
 ददर्शेममसौ सर्गमसदीयं महामतिः ॥ १९ ॥
 ततोऽसिन्विचरन्सर्गे शक्रान्ते शक्रतां गतः ।
 चकार राजतां राज्यं वृत्तान्तशतशोभितम् ॥ २० ॥
 विद्याधरकुलाधीश इत्यद्यैव स देवराट् ।
 तस्येन्द्रस्य कुलोत्पन्न इति विद्धि यथास्थितम् ॥ २१ ॥
 ततो हृदयबीजस्यप्राङ्मुख्याभ्यासयोगतः ।
 विसवालनिवासादिवृत्तान्तमनुभूतवान् ॥ २२ ॥

माचाराः शारीरा विचारा मानसाश्च क्रियाभेदा येषु । आपृ-
 त्तयः स्वर्गनरकादेः पुनरागमनानि । परमाणोरंशा कर्ष्वाधोम-
 ध्यादिभागास्तन्मात्रेऽपि ॥ १६ ॥ इति आविर्भावकालात्मनि ।
 असति तिरोभावकालात्मनि च ॥ १७ ॥ भावयन्पश्यन् ।
 मुक्तो भावो जीवो जीवभावो यथा । तेन प्रागवाप्तनाकल्पिते-
 नैव शक्रदेहेन शक्रो न तु समाभ्यनुभूयमानसर्वार्थभावेनेत्यर्थः
 ॥ १८ ॥ एकत्र मायाशबलब्रह्मणि । इममस्मदीयं त्वया मया
 चानुभूयमानं सर्वं ब्रह्माण्डम् ॥ १९ ॥ ततस्तदनन्तरमसि-
 न्सर्गे पातालभूम्यादिलोकदर्शनक्रमेण शक्रलोकान्ते मनसा विच-
 रन्संस्तत्र शक्रदर्शनेन शक्राहंभावसंस्कारोद्बोधात्प्राक्तनाश्वमेध-
 शतादृष्टफलावश्यंभावान्च शक्रतां गतः । राजतां प्रजारक्षक-
 ताम् । राज्यं राजकर्म करादानपरिपालनादि चकार ॥ २० ॥
 हे विद्याधरकुलाधीश, इति अनया रीत्या तस्य वसरेण्वन्तर्ग-
 तस्येन्द्रस्य कुले उत्पन्नः सोऽद्यासिन्वद्ब्रह्माण्डेऽपि देवराट् भूत्वा
 तिष्ठतीति विद्धि ॥ २१ ॥ तत एतदिन्द्रभावानन्तरं हृदये बीज-
 मिव संस्काररूपेण स्थितस्य प्राक्तनस्य मुख्यस्य ज्ञानयोगाभ्या-
 सस्य योगतो यथास्थितं प्राक्तनं विसतन्तुनिवासादिसंस्मृतान्त-

१ नरे इति पाठः. १ जगतां इति मुद्रितपाठेऽप्येकाक्यसंभतः

यथैष शक्रः कथितस्त्रसरेणूदरास्पदः ।
 विसवालास्पदश्चैतत्कुलजः कान्तिमानथ ॥ २३
 तथा शतसहस्राणि तत्रैतश्चान्यतश्च खे ।
 तादृशव्यवहाराणि समतीतानि सन्ति च ॥ २४
 बहुतीयमविच्छिन्ना चिरायैवं तरङ्गिणी ।
 तावद्दृश्यसरित्प्रौढा रूढारूढे च तत्पदे ॥ २५
 इति मायेयमादीर्घा प्रसृता प्रत्ययोन्मुखी ।
 सत्यावलोकमात्रातिविलयैकविलासिनी ॥ २६
 इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० सो० नि० उ० विद्याधरोपाख्यानान्तर्गतेन्द्राण्वाख्याने सर्गसंकल्पयोरैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्दशः सर्गः १४

यतः कुतश्चिन्मायेयं यत्र कचन वानघ ।
 यथाकथंचित्संपन्नमात्रैव परिदृश्यते ॥ २७
 अहंभावचमत्कारमात्रादृष्टिरिवाम्बुदात् ।
 जायते मिहिकेवाशु प्रेक्षामात्रविनाशिनी ॥ २८
 येनायताभिमतदर्शनद्रष्टृदृश्य-
 मुक्तस्वभावमवभासनमात्मतत्त्वम् ।
 सर्वार्थशून्यमत एव च शून्यरूप-
 मेकं खमात्रमिव मात्रविकल्पमेव ॥ २९

पञ्चदशः सर्गः १५

भृशुण्ड उवाच ।

यत्राहंत्वं जगत्तत्र पूर्वमागत्य तिष्ठति ।
 पराण्वन्तरपीन्द्रस्य त्रसरेणूदरे यथा ॥ १
 भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
 अहंभावोऽभिमन्तात्मा मूलमाद्यमुदाहृतम् ॥ २
 घासनारससंसिक्तादहंबीजकणादयम् ।
 ब्रह्माद्रौ व्योमविपिने जायते त्रिजगद्गुम् ॥ ३
 तारकापुष्पनिकरो विलीनाचलपल्लवः ।
 सरित्सारशिरापूरो वासनासारतत्फलः ॥ ४
 अहंत्वसलिलस्येदं जगत्स्पन्द उदाहृतः ।

चिच्चमत्करणस्वादुर्वासनाविसरद्रवः ॥ ५
 तारकासीकरासारो नभोनन्तनिखातवान् ।
 भावाभावमहावर्तो नानागिरितरङ्गकः ॥ ६
 त्रिलोकीविलिखलेखो विलोलालोकफेनिलः ।
 ब्रह्माण्डबुद्बुदोद्भेदः कपाटापीडपीवरः ॥ ७
 भूपीठदृढडिण्डीरपिण्डश्चिद्धनमद्गुमान् ।
 चित्राजवं जवीभावमज्जनोन्मज्जनात्मकः ॥ ८
 जरामरणमोहादिवीचीचयचमत्कृतिः ।
 उत्पन्नध्वंसिदेहादिविन्दुवृन्दैकबन्धुरः ॥ ९
 अहंत्वपवनस्पन्दो जगदित्यवगम्यताम् ।
 अहंत्वपद्मसौगन्ध्यं जगदित्यवबुध्यताम् ॥ १०

मनुभूतवान् । सस्मारेत्यर्थः ॥ २२ ॥ सर्वशक्तौ ब्रह्मणि सर्वत्र
 सर्वसद्भावादीदृशशक्तसहस्राण्यपि सर्वत्र सन्तीति संभावये-
 त्याह—यथेति द्वाभ्याम् । अप्यर्थेऽयशब्दः ॥ २३ ॥ २४ ॥
 चतुर्थादिष्वन्तर्भूमिकास्वर्ध रूढे अर्धमरूढे च तस्मिन् ब्रह्म-
 पदे सति इयं माया इति प्रत्ययोऽनुभवस्तदुन्मुखी भवतीति
 परेणान्वयः ॥ २५ ॥ २६ ॥ मायात्वादेव न वैचित्र्ये हेतु-
 विशेषाश्चिन्त्या इत्याह—यतः कुतश्चिदिति । त्रिभिर्बुद्धैः
 किंवृत्तैश्च हेतुकालदेशक्रियाप्रकारनियमानावश्यकता सूच्यते
 ॥ २७ ॥ अथवा एक एवाहंकाराध्यास एतद्वैचित्र्ये नियतो हेतु-
 रित्याह—अहंभावेति । मिहिकानीहारधूम इवेति नाशे
 दृष्टान्तः ॥ २८ ॥ येन हेतुना मातृसर्वसाक्षिब्रह्मरूपमविकल्पं
 सर्वविकल्परहितमेव परमार्थतः । अत एव अहंकारवशादायतानि
 विस्तीर्णानि यानि अभिमत्तानि मानसविकल्पाः दर्शनानि
 त्रिपुटीलक्षणैन्द्रियकविकल्पाश्च तैर्मुक्तस्वभावम् । जाग्रदवस्था-
 शून्यमिति यावत् । अत एव वासनामयस्वाप्सर्वार्थशून्यमत एव
 च प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या सर्वशून्यतालक्षणेन सौषुप्ताज्ञानेन च शून्यं
 खमात्रमिव पूर्णमवभासनं चिद्रूपमात्मतत्त्वं परिशिष्टमित्यर्थः
 ॥ २९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उ० सर्गसंकल्पयोरैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

सरित्' इति यदुक्तं तदुपपादकतया इन्द्राण्वाख्यायिका योज-
 यति—यत्रेति । अभिनवेऽपि स्वप्नप्रपञ्चे पूर्वसिद्धमेव
 जगत्प्रश्यामीति सर्वानुभवात्पूर्वमागत्य तिष्ठतीत्युक्तिः ॥ १ ॥
 ॥ २ ॥ व्योम अव्याकृताकाशस्तल्लक्षणे विपिनेऽरण्ये ॥ ३ ॥
 विलीना मेघमिहिका वनप्रच्छन्ना अचलाः पर्वताः पल्लवा यस्य ।
 सरित्सारा गङ्गायाः । घासना एव सारा बीजांशा येषु
 तथाविधास्ते भोगाः फलानि यस्य ॥ ४ ॥ इदानीमहंकारं
 महाजलतया जगत् तत्कार्यतरङ्गादितया वर्णयति—
 अहंत्वेत्यादिपद्मभिः । इदं जगत् अहंत्वसलिलस्य स्पन्दो
 विलासः । चित्तश्चमत्करणं वैषयिकसुखं स्वादु माधुर्यं यत्र
 ॥ ५ ॥ नभसा आकाशेन अनन्तनिखातवान् अपरिच्छेद्य-
 कुक्षिकुहरवान् । भावाः संपदः अभावा विपदश्च महान्त
 आवर्ता यत्र ॥ ६ ॥ त्रिलोकीपदेन तद्गतजना लक्ष्यन्ते ।
 त एव विलिखन्त्यश्चित्रलेख्यवदाविर्भवन्त्यो लेखा रेखा
 यत्र । विलोलैः सूर्यचन्द्राद्यालोकैः फेनिलः फेनवान् ।
 ब्रह्माण्डा एव बुद्बुदोद्भेदा यत्र । कपाटमिव आपीडयति
 निरुणद्धि मोक्षप्रवेशमिति कपाटापीडो मोहसेतुस्तेन पीवरोऽ-
 भिवृद्धः ॥ ७ ॥ भूपीठमेव घनो डिण्डीरपिण्डो यत्र । चिद्धनै-
 श्विदाभासैर्जर्वैर्मद्गुमान् जलकाकवान् । तेषां चित्रैराजवं
 जवीभावैर्ध्वार्धस्तिर्यग्भ्रमणैर्मज्जनोन्मज्जनात्मकः ॥ ८ ॥ ९ ॥
 प्रकारान्तराभ्यां जगद्वर्णयति—अहंत्वेति ॥ १० ॥ इत्थं

अहंभावो जगद्भ्रान्तेर्बीजं रूपं च वर्णयते ।

तन्मार्जनाजगन्मृष्ट्या शुद्धशेषात्कृतार्थता ॥ १ ॥

अहंभावचमत्कारमात्रादृष्टिरिवाम्बुदात् । जायते दृश्य-

नाहंत्वजगतीं भिन्ने पवनस्पन्दवत्सदा ।
 पयो द्रवत्वमिव च वह्निरोष्णमिवापि च ॥ ११
 जगदस्त्यहमर्थेऽन्तरहमस्ति जगद्भृदि ।
 अन्योन्यभाविनी त्वेते आधाराधेयवत्स्थिते ॥ १२
 जगद्वीजमहंत्वं यो मार्ष्टि बोधादवेदनात् ।
 अलं चित्रं जलेनेव तेन घृतं जगन्मलम् ॥ १३
 अहंत्वं नाम तर्कचिद्विद्याधरं न विद्यते ।
 अकारणमवस्तुत्वाच्छशशृङ्गमिवोदितम् ॥ १४
 ग्रहाण्यतितसेऽनन्ते संकल्पोल्लेखवर्जिते ।
 अहंत्वकारणाभावात् कदाचन सन्मयम् ॥ १५
 अवस्तुन्येति सर्गादौ न संभवति कारणम् ।

अतोऽहंत्वादि नास्त्येव बन्ध्यासुत इव कश्चित् ॥ १६
 तदभावाज्जगन्नास्ति चित्त्वं जगदभावतः ।
 क्षिप्तं निर्वाणमेवातः शान्तमास्त्व यथासुखम् ॥ १७
 अभावादुपपत्तिस्थादेवं जगदहंत्वयोः ।
 रूपालोकमनस्काराः शान्तास्तव न चेतरे ॥ १८
 यच्चास्ति तत्तु नास्त्येव शेषं शान्तमसि ध्रुवम् ।
 संप्रबुद्धोऽसि मा भूयो निर्मूलं भ्रान्तिमाहर ॥ १९
 व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः
 शिष्यमसि शान्तमसीश्वरोऽसि नित्यः ।
 खमपि भवति पर्वतोपमानं
 जगदपि वा परमाणुरूपमेव ॥ २०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वि० विद्याधरनिर्वाणं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः १६

मुशुण्ड उवाच ।
 कथयत्येवमभ्येवं स विद्याधरनायकः ।
 आसीत्संशान्तसंविद्धिः समाधिपरिणामवान् ॥ १
 प्रबोध्यमानोऽपि मया भूयोभूयस्ततस्ततः ।
 न पपात पुरोदश्ये परं निर्वाणमागतः ॥ २
 स प्राप परमं स्थानं तावन्मात्रप्रबोधवान् ।
 केनचिन्नाधिकेनाङ्ग यत्तेनातिशयैषिणा ॥ ३
 अत उक्तं मया राम यदि शुद्धं हि चेतसि ।
 उपदेशः प्रसरति तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ४

नाहमित्यस्ति ते नान्तर्मेनं भावय शान्तये ।
 एतावदुपदेशोक्तिः परमा नेतरास्ति हि ॥ ५
 एषैवाभ्यमनसि पतिता प्रविलीयते ।
 उत्ताने मसृणादर्शे मुक्ताफलमिवामलम् ॥ ६
 मध्ये तु शान्तमनसि लगत्यभ्येत्यविच्युतिम् ।
 प्रविश्यान्तर्बिचाराख्यामर्चिरर्कमणौ यथा ॥ ७
 अहंभावनमेवोच्चैर्बीजं दुःखाख्यशाल्मलेः ।
 ममेदं तद्वदादीति शाखाप्रसरकारणम् ॥ ८
 अहमादौ ममेत्यन्तस्तत इच्छा प्रवर्तते ।

वर्णने फलितमाह—नेति ॥ ११ ॥ परस्परधीजतामाह—
 जगदिति । अन्योन्यस्माद्भाविनी भाविर्भावशीले अन्यो-
 न्याधीनस्थितिके च ॥ १२ ॥ अत एवाहंकारमार्जनाजगन्मार्जन-
 सिद्धिरित्याह—जगदिति ॥ १३ ॥ अहंत्वस्य तत्त्वद्वया
 असत्त्वदर्शनमेव मार्जनमित्याह—अहंत्वमिति ॥ १४ ॥
 तत्कृतस्तत्राह—ग्रहणीति ॥ १५ ॥ समधदपि कारणं
 लोके अवस्तुनि नैति न व्याप्रियते । प्रकृते तु सर्गादौ कारणं
 न संभवति तत्संभवोऽपि नास्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥ निर्वाणं
 कैवल्यलक्षणं चित्त्वं चिन्मात्रं शिष्टम् ॥ १७ ॥ एवमुपपत्ति-
 प्रतिष्ठिताज्जगदहंत्वयोरभावात् । बाह्या रूपालोकादयः संसारा
 आन्तरा मनस्कारलक्षणाः संसाराश्च शान्ताः । न च इतर-
 तादृभ्यन्यतिरिक्तं हेयं दुःखमस्ति अतः शान्तमास्त्वेत्यर्थः
 ॥ १८ ॥ शान्तं निर्दुःखविक्षेपम् ॥ १९ ॥ व्यपगतो बाह्या-
 भ्यन्तरदृश्यकलनालक्षणः कलङ्को यस्य अत एव शुद्धः ।
 अभ्यारोपे खं बन्धमपि पर्वतोपमानं भवति, अपवादे तु जग-
 द्ब्रह्माण्डमपि वा परमाणुरूपमाकाशतुल्यमेव भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 विद्याधरनिर्वाणं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

१ विचेतसि इत्यपि पाठः २ संसारदृश्यत्वादि मूलसदुःखाख्ये-

श्रुत्वा विद्याधरस्यात्र समाधिरुपवर्धते ।

कथाशेषोपसंहारोऽनहंभावप्रसंगः ॥ १ ॥

संशान्ता दृश्यसंविर्त्यस्य समाधिलक्षणो यश्चित्तस्य क्षीरो-
 दकवर्षदैकरस्येन परिणामस्तद्वान् ॥ १ ॥ पुरोगते दृश्ये
 शब्दादिविषये न पपात ॥ २ ॥ मुख्याधिकारित्वात्तावन्मा-
 त्रेण सवुपदेशेन प्रबोधवान् । श्रवणावृत्तिमनननिदिध्यासना-
 यतिशयैषिणा न । अत्रेति वसिष्ठसंबोधनम् ॥ ३ ॥ इदानीं
 वसिष्ठः प्राक् स्वोक्तेऽर्थे विद्याधरचित्तमुदाहरणमिति वर्णनत्व-
 रथा मुशुण्डोक्तिमुत्क्रम्य रामं प्रत्याह—अत इत्यादि ॥ ४ ॥
 कोऽसावुपदेशस्तमाह—नाहमिति । ते अन्तः प्रत्यगात्मनि
 चिदेकरसे अहमिरयंशो नास्ति । अतोऽसन्तमेनं मा भावय
 इत्येतावत् एतावत्येवोपदेशोक्तिः परमा सारसंग्रहभूता ॥ ५ ॥
 ॥ ६ ॥ अविच्युतिं अभ्येति । अन्तः प्रविश्य विचाराख्यां सर्व-
 मोद्धारण्यदाहस्यमामग्निशिखा च जनयतीति शेषः । यथा
 अर्कमणौ सूर्यकान्ते प्रविष्टं सूर्यार्चिरग्निशिखां जनयति तद्वत्
 ॥ ७ ॥ तद्वदहंभावनवदेव ममेदं भावनं संसारवृत्तस्य मूलोद्दिशरीरं
 यतो रागादिशाखाप्रसरस्य कारणमित्यर्थः ॥ ८ ॥ तदेवाह—
 अहमिति । आदौ बीजावस्थास्थाने । अन्तः तत्कार्यवृत्त-
 त्यादेरर्थः । १ मूलोद्दिशरीरमिति तद्वत्तत्सारादीलसायः

इदमर्थशतानर्थकारिणी भवभारिणी ॥ ९
एवंविधा मुनिश्रेष्ठ मूढा अपि चिरायुषः ।
भवन्त्यनियमो ह्यङ्ग दीर्घायुष्यस्य कारणम् ॥ १०
अन्तःशुद्धमनस्का ये सुचिरायाभयप्रदम् ।
मनागप्युपदिष्टास्ते प्राप्नुवन्ति परं पदम् ॥ ११

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

मेरुमूर्धनि मामेवमुक्त्वा स विहगाधिपः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० विद्याधरोपाख्याने विद्याधरनिर्वाणं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः १७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अनहंवेदनादेवं शुभाशुभफलप्रदा ।
संसारफलिनी नूनमिच्छान्तरूपशाम्यति ॥ १
अनहंवेदनाभ्यासात्समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
भूत्वा शान्तभवापीडो न नरः परिताम्यति ॥ २
अहंतापुटकोङ्गीनपरबोधबलेरितः ।
अहमित्यर्थपाषाणो न जाने काशु गच्छति ॥ ३
अहंतापुटकोङ्गीनो ब्रह्मवीरबलेरितः ।
अहमित्यर्थपाषाणो न जाने काशु गच्छति ॥ ४
अहंतापुटकोङ्गीनो ब्रह्मवीरबलेरितः ।

स्थाने । इच्छा शाखास्थाने प्रवर्तते ॥ ९ ॥ एवं प्रागुक्तं प्रकृत-
संमत्या समर्थं वसिष्ठः पुनर्मुशुण्डोक्तिकथामेवानुसरन्विद्याधर-
कथामुपसंहरति—एवंविधा इति । दीर्घायुष्यस्य कारणं
तत्त्वज्ञानमेवेतीति शेषः ॥ १० ॥ अन्तःशुद्धेस्तु चिराभ्यास एव
ज्ञानकारणमिति नियमोऽस्त्ववेत्याशयेनाह—अन्तरिति ।
सुचिरायाभ्यासेनान्तःशुद्धमनस्का ये ते । परं पदं ज्ञानम्
॥ ११ ॥ विहगाधिपो भुशुण्डः । ऋष्यमूके गिरौ मतंगाश्रमे
मतंगशापभयान्मूका मेघा न गर्जन्तीति प्रसिद्धिः ॥ १२ ॥ प्रथमं
तं सिद्धं भुशुण्डमापृच्छथ अथो विद्याधरं गत्वा तदुक्तिसंवादाय
पुनस्तमप्यापृच्छथ निश्चितार्थोऽहम् । आस्पदं स्वाश्रमम्
॥ १३ ॥ हे राम, मया लघु शीघ्रमेव बोधनेनोत्थमुत्पन्नं विद्या-
धरस्योपशमनं बलिभुजः कस्य भुशुण्डस्य कथया उक्तं तवाद्य
कथितम् । अस्मिन् वर्णिते भुशुण्डविहगेन्द्रसमागमे मे जाते
तदनन्तरमिह अस्मिन् कल्पे एकादशमहायुगानि दिव्ययुगानि
गतानीत्यर्थः ॥ १४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरनिर्वाणं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

अत्राहंविजनिर्दाहादनहंभाववह्निना ।

देहादिसंयुतेः सम्यग्बाधेऽलीकत्वमीर्यते ॥ १ ॥

सर्वसंयुतेः काममूलत्वादनहंभावेन प्रथमं तन्निवृत्ति-
माह—अनहमिति ॥ १ ॥ कामोपरमे लोभादिदोषक्षयाद्वैरा-
ग्यादिसंपदा सर्वमानसदुःखक्षय इत्याह—अनहमिति ॥ २ ॥
साधनवतोऽवश्यभ्रवणादिना ज्ञानोदये ब्रह्मव्यतिरिक्ताहमर्थस्य

तूष्णीं बभूव मुक्तात्मा ऋष्यमूक इवाम्बुदः ॥ १२
अहमापृच्छथ तं सिद्धं विद्याधरमथो पुनः ।
प्राप्त आत्मास्पदं राम मुनिमण्डलमण्डितम् ॥ १३
एतत्तवाद्य कथितं बलिभुजकथोक्तं
विद्याधरोपशमनं लघुबोधनोत्थम् ।
अस्मिन्भुशुण्डविहगेन्द्रसमागमे मे
चैकादशेह हि गतानि महायुगानि ॥ १४

शरीरयन्त्रपाषाणो न जाने काशु गच्छति ॥ ५
अहमर्थहिमं त्वन्तरनहंता चिदर्चिषा ।
उड्डीयेव विलीनं सन्न जाने काशु गच्छति ॥ ६
अहंरसो विलीनोन्तरनहंताचिदर्चिषा ।
शरीरपर्णादुद्धर्णात् न जाने काशु गच्छति ॥ ७
शरीरपर्णाग्निष्पीतस्त्वहंभावरसासवः ।
अनहंताकर्मार्गेण परतामधिगच्छति ॥ ८
शयने कर्दमे शैले गृहे व्योम्नि स्थले जले ।
स्थूला सूक्ष्मा निराकारा रूपान्तरगतापि च ॥ ९
यत्र तत्र स्थिता सुप्ता प्रबुद्धा भस्मतां गता ।

बाधेनालीकत्वमेव पर्यवस्यतीत्याशयेनाह—अहंतेति । भ्रव-
णादिना ज्ञाननिर्मथनाभ्यासेन अहंतालक्षणात्प्रमातृयन्त्रपुट-
कादेव बहिज्वालावदुड्डीन आविर्भूतो यः परब्रह्मसाक्षात्कार-
लक्षणो बोधस्तद्वलेन ईरितः क्षिप्तः । निरस्त इति यावत् ।
अहमादिदृश्यार्थपाषाणोऽग्नियन्त्रक्षिप्तपाषाण इवाशु क गच्छति
न जाने । तुच्छत्वमेवापद्यत इति भावः ॥ ३ ॥ चरमसाक्षात्का-
रवृत्त्या रुढं ब्रह्मैवाज्ञानाहंकारादिनिरासधर्ममित्याशयेनाह—
अहंतेति । अज्ञानाहंकारयोरिव स्थूलदेहस्यापि व्यष्टिसमष्टि-
रूपस्य तादृशं ब्रह्मैव निवर्तकमित्याशयेनाह—अहंतेति ॥ ४ ॥
ब्रह्मैव वीरो विक्रान्तस्तद्वलेरितः । 'पूर्वापरप्रथमचरमजघन्य-
समानमध्यमध्यमवीराश्च' इति समानाधिकरणसमासे वीरश-
ब्दपरनिपातश्छान्दसः ॥ ५ ॥ अनहंताभावानावृत्तिप्रतिफलित-
चित्तैवाहंतानाद्य इति पक्षो वाऽस्त्वित्याशयेनाह—अहमर्थेति
ह्यभ्याम् ॥ ६ ॥ उद्धर्णात् ब्रह्मविद्याधिकारिब्राह्मणाद्युत्कृष्टवर्णा-
त्परिपाकपाण्डुराच्च ॥ ७ ॥ अथवा न बाधिताहंतादेः शून्यता
किंतु ब्रह्मतैवेत्याशयेनाह—शरीरेति । अनहंतालक्षणेनार्क-
रदिमार्गेण परतां ब्रह्मतां स्वकारणसूक्ष्मजलात्मतां च ॥ ८ ॥
तत्त्वज्ञानं विना तु न कापि कदापि कस्यांचिदवस्थायां देहस्या-
हंकारस्य वा आत्यन्तिकोच्छेदस्तयोः परस्परबीजतया परस्पर-
रान्तःसत्त्वेन अगद्भावेन सर्वत्रोद्भववर्जनादित्याह—शयने
इत्यादिना । शयने शय्यायां स्थूलादिद्वादशावस्थाप्राप्ता शय-
नादिस्थानसप्तके यत्र तत्र स्थितापि शरीरलक्षणा वदधुना

धृता मीता निमग्रा च दूरस्था निकटा सती ॥ १०
 शरीरवटघानान्तःस्थिताहंत्वनवाङ्कुरा ।
 शाखाजालं तनोत्याशु संसाराख्यमिदं क्षणात् ॥ ११
 अहंत्ववटघानान्तःस्थितदेहबृद्धदुमः ।
 संसारशाखानिवहं यत्र तत्र तनोत्यलम् ॥ १२
 शाखाशतेज्जदलपुष्पफलद्रुमोऽस्ति
 बीजोदरे ननु दृशा परिदृश्यतेऽसौ ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० भोक्तो० निर्वाणप्रकरणे उ० अहंत्वासेत्तायोगोपदेशो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अष्टोदशः सर्गः १८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 मरणं सर्वनाशात्म न कदाचन विद्यते ।
 स्वसंकल्पान्तरस्थैर्यं मृतिरित्यभिधीयते ॥ १
 पश्येमे पुर उहान्त इव मन्दरमेरवः ।
 अरूढा अपि दिग्वातैः सरिद्धिम्बितशैलवत् ॥ २
 उपर्युपर्यन्तरतः कदलीदलपीठवत् ।
 श्लिष्टाश्लिष्टस्वरूपाः खे मिथः संसृतयः स्थिताः ॥ ३
 श्रीराम उवाच ।
 पश्य मे पुर उहान्त इति वाक्यार्थमक्षतम् ।

अन्तःस्थित उद्भूतोऽहंत्वनवाङ्कुरो यस्यास्तथाविधा सती क्षणा-
 दिदं संसाराख्यमाशु सर्वदिग्यापनशीलं शाखाजालं तनोतीति
 एतीयेनान्वयः ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ एवमहंत्वलक्षणवटघानान्तः-
 स्थितो देहमहाद्रुमोऽपि बोध्य इत्याह—अहंत्वेति ॥ १२ ॥
 उक्तमर्थं वटादिबीजदृष्टान्तेनैवानुभावयति—शाखेति । यथा
 बीजोदरे शाखाशते इद्धानि विराजमानानि दलानि पुष्पाणि
 फलानि च यस्य तथाविधो द्रुमोऽस्ति, यतोऽसौ सत्त्वादेव
 बीजपुटं भित्वाङ्कुरादिकमेण निर्गच्छन्प्रत्यक्षं सर्वजनैः परि-
 दृश्यते । नन्विति प्रसिद्धौ । तथा अहंत्वलक्षणा या फणिका
 सूक्ष्मबीजं तदन्तरशेषदृश्यसंवीतो देहोऽस्तीति सूक्ष्मबुद्धिलक्ष-
 णया दृशेव विद्वद्भिर्दृष्टमित्यर्थः ॥ १३ ॥ एवमविचारफलं सर्वत्रा-
 निर्मोक्षमुक्त्वा विचारफलं मोक्षमाह—देहादिति । विचारैः
 भवणादिभिस्तत्त्वबोधाच्चिद्योममात्रं वपुःस्वरूपं यस्य तथाविधस्य
 जीवन्मुक्तस्य विद्यमानादपि देहादहंत्वं तत्तादात्म्याभिमानमन-
 वासवतः अथवा अदेहवतो विदेहमुक्तस्योच्चैर्निरतिशयानन्दे
 प्रतिष्ठितस्य पुंसो बोधमहाप्रिदग्धाहंत्वबीजजठरात् संसारवृक्षो
 नाभ्युदेति ॥ १४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अहंत्वासेत्तायोगोपदेशो नाम सप्तदशः
 सर्गः ॥ १७ ॥

उह्यमानान्यनन्तापि पवनैः सर्वतोम्बरे ।

मृतजीवमनःस्थानि वर्ण्यन्तेऽत्र जगन्नि हि ॥ १ ॥

‘देहोऽस्त्यहंत्वकणिकान्तरशेषदृश्यसंनिपरीत इति बुद्धि-
 दृशेव दृष्टम्’ इति यदुक्तं तत्र कथमस्ति कीदृशी सा बुद्धिदमिति ।

देहोऽस्त्यहंत्वकणिकान्तरशेषदृश्य-
 संनिपरीत इति बुद्धिदृशेव दृष्टम् ॥ १३
 देहादहंत्वमनवासवतो विचारै-
 च्चिद्योममात्रवपुषो वपुषोऽथ बोधैः ।
 नाहंत्वबीजजठरादसतोऽभ्युदेति
 संसारवृक्ष इह बोधमहाप्रिदग्धात् ॥ १४

न किञ्चिदवगच्छामि यथावन्मुनिनायक ॥ ४
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 प्राणस्याभ्यन्तरे चित्तं चित्तस्याभ्यन्तरे जगत् ।
 विद्यते विविधाकारं बीजस्यान्तरिव द्रुमः ॥ ५
 मृते पुंसि नभोवातैर्मिलन्ति प्राणवायवः ।
 सरिजलैरिवाम्भोधिजलान्यात्मद्रुतानि हि ॥ ६
 इतश्चेतश्च यान्तीव तेषामन्तर्जगन्त्यलम् ।
 व्योमवातविनुश्रानां संकल्पैकात्मकान्यपि ॥ ७
 सप्राणवातैः पवनैः स्फुरत्संकल्पगर्भितैः ।

तदुभयं मृतजीववासनामयानन्तजगत्प्रादुर्भावेन समर्थयितुं
 भूमिकां रचयति—मरणमिति । मनोबुद्ध्याहंकारादिसर्वनाशा-
 त्मकं मरणमिति पामरा मन्यन्ते । तथा तु कदाचिदपि न
 विद्यते । कृतहानादिदोषप्रसङ्गात् । किंतु अनुष्यादिशरीरात्म-
 भावभोजकप्रारब्धक्षये तदनुत्पत्तिसंकल्पतिरोभावे देवादिशरीरा-
 हंभावादिभोजकमोक्षवे तदनुत्पत्तिसंकल्पान्तरस्य तद्भोजका-
 दृष्टक्षयपर्यन्तं स्थैर्यं पूर्वभावविस्मृतिमपेक्ष्य मृतिरित्यभिधीयत
 इत्यर्थः ॥ ११ ॥ अस्त्वेवं किं तत्तत्तत्राह—पश्येति । एवं च तत्त-
 जीवसंकल्पकल्पितजगत्स्या मन्दरमेरुमृतयो दिक्षु वातैः सर्वत्र
 उह्यन्ते प्रवाह्यन्त इव भया दृश्यन्ते त्वमपि पश्येत्यर्थः ॥ २ ॥
 उपर्युपरि बहिर्वहिः यावता जीवानां भोजकादृष्टसाम्यं तावतां
 श्लिष्टा एकीभावेन मिलिताः । अन्येषामश्लिष्टस्वरूपाः ॥ ३ ॥
 उक्तमर्थमनुभावयन् रामः पुच्छति—पश्येति । यथावत्कथ-
 येति शेषः ॥ ४ ॥ मृतानां पुरुषाणां प्राणास्तावज्जगत्स्युत्क्राम-
 न्तीति लोकवेदप्रसिद्धम् । तद्यदि प्राणाः सन्ति तर्हि प्राणस्या-
 भ्यन्तरे चित्तं चित्तस्याभ्यन्तरे जगदपि विद्यते इति संभावये-
 त्यर्थः ॥ ५ ॥ सन्तु नाम तथापि दिग्वातैः कथं प्रवाह्यन्ते
 तत्राह—मृते इति । पुंसि मृते सति तत्तत्कान्ताः प्राण-
 वायवो बाह्यनभसि पूर्णैर्वातैः सह मिलन्ति । यतस्तान्यप्या-
 त्मानि द्रुतानि द्रवस्वभावानि । अतः समस्वभावानां मेलने
 एकत्वं भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥ अतो व्योमवातैर्विशेषेण मुशाना-
 माकृष्टानां तेषां प्राणानामन्तर्गतानि जगन्त्यपि इतश्चेतश्च

सर्वो एव दिशः पूर्णाः पश्यामीमाः समन्ततः ॥ ८
 अत्रैते पश्य पश्यामि संकल्पजगताङ्गणे ।
 बुद्धिदृष्ट्या समुह्यन्ते पुरो मन्दरमेरवः ॥ ९
 खवातेऽन्तर्मृतप्राणाः प्राणानामन्तरे मनः ।
 मनसोऽन्तर्जगद्बुद्धि तिले तैलमिव स्थितम् ॥ १०
 खवातैः खसमाः प्राणा यथोह्यन्ते मनोमयाः ।
 उह्यन्ते वै तथैतानि तदहानि जगन्त्यपि ॥ ११
 सभूतान्यम्बरोर्व्यादिवृन्दानि त्रिजगन्त्यपि ।
 उह्यन्ते चाप्यरूढानि पुरः सर्वत्र गन्धवत् ॥ १२
 तानि बुद्ध्यैव दृश्यन्ते न दृष्ट्या रघुनन्दन ।
 पुरः संकल्परूपाणि स्वस्वप्नपुरपूरवत् ॥ १३
 सर्वत्र सर्वदा सन्ति सुसूक्ष्माण्येव खादपि ।
 कल्पनामात्रसारत्वान्न चोह्यन्ते मनागपि ॥ १४
 तान्येव दृढभावत्वात्स्वेषु लोकेषु तेष्वलम् ।
 सत्यान्येव चिदंशस्य सर्वगत्वाद्भवानिव ॥ १५
 प्रतिबिम्बं पुराणीव पुरःप्राणसरिद्रये ।
 अरूढान्यपि चोह्यन्ते रूढान्यपि च नैव च ॥ १६

यान्तीवेत्युह्यन्त इवेत्युक्तिरित्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥ अहं पश्यामि
 त्वमपि बुद्धिदृष्ट्या पश्य ॥ ९ ॥ खे विद्यमाने वातेऽन्तर्मृतानां
 प्राणाः ॥ १० ॥ ननु गुरुणि जगन्ति कथं वातैरुह्यन्ते तत्राह—
 खवातैरिति । तथा प्राणवदेव तदहानि जगन्त्यपि खसमानि
 लघूनीत्युह्यन्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥ सभूतानि चतुर्विधप्राणिसहि-
 तानि । अरूढानि अदृढानि । अप्रतिष्ठितानीति यावत् ॥ १२ ॥
 दृष्ट्या चक्षुरादिना स्वीयस्वप्नदृष्टपुरवत्तादृशपूरवद्वा तादृशपुरान्त-
 र्गतनदीपूरवद्वा ॥ १३ ॥ उह्यन्त इवेति यदुक्तं तत्र इवकारार्थ-
 समर्थनायाह—कल्पनामात्रसारत्वादिति ॥ १४ ॥ यद्यपि
 तानि कल्पनामात्रत्वान्न सन्त्येवेति नोह्यन्ते, तथापि तान्येव तेषु
 तत्तज्जीवभोग्येषु स्वेषु स्वर्गनरकभूम्यादिलोकेषु तेषां दृढभाव-
 त्वात्सुखदुःखभोगार्थक्रियासमर्थतया सत्यान्येव तत्सत्यतासंपा-
 दकस्याधिष्ठानचिदंशस्य सर्वगत्वात् । यथा भवानस्मद्बुद्ध्या
 भ्रवणधारणाद्यर्थक्रियासमर्थः पुरोवर्ती सत्यस्तद्वदेवेत्यर्थः ॥ १५ ॥
 अरूढानि वासनामात्रत्वादानाविर्भूतानि, रूढान्याविर्भूतानि चेत्य-
 मुह्यन्ते नैव चोह्यन्ते ॥ १६ ॥ सौक्ष्म्ये वहने च सौरभसाम्यं
 प्रागुक्तमित्याह—सौरभाणीति ॥ १७ ॥ अत एव त्रिजगद्भ-
 मात्मना वित्तस्य स्पन्दमेदयोरपि नात्मनस्तावित्याह—कुम्भे
 इति । तथैवात्मनि नान्यतेति शेषः ॥ १८ ॥ यथा मृतानां
 जगत्संकल्पमात्रत्वादसदित्थं ते तवापि जगदसत् । आन्तिरेव
 केवलमुदितेव । सा आन्तिरपि परमार्थतो न विनश्यति नोदे-
 तीति तत्त्वदृष्ट्या ब्रह्मरूपिण्येवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ ननु यदि व्यव-
 हारदृशा जगत्तद्भ्रान्ती वाय्वन्तःप्रवहमाने उदिते तर्हि वयं
 पृथिवीं निश्चलतया कथं पश्यामस्वत्राह—यदि चेति । नोदिते

सौरभाणि समुह्यन्ते वाताङ्गस्थानि राघव ।
 जगन्ति प्राणसंस्थानि व्योमात्मकमयानि तु ॥ १७
 कुम्भे देशान्तरं नीते यथान्तर्व्योमि नान्यता ।
 स्पन्दनादिमये चित्ते तथैव त्रिजगद्भ्रमे ॥ १८
 इत्थं न सज्जगद्भ्रान्तिरसत्यवोदितेव ते ।
 न विनश्यति नोदेति केवलं ब्रह्मरूपिणी ॥ १९
 यदि वाप्युदिते वातैस्तत्तदस्या न लक्ष्यते ।
 तदन्तःसंस्थितैः स्पन्दो नावि कोशगतैरिव ॥ २०
 यथा स्पन्दोऽङ्गलघ्नायां नाव्यन्तःसंस्थितैरपि ।
 न लक्ष्यते तथा पृथ्व्यां तत्संस्थैस्तन्मयैरपि ॥ २१
 यथा योजनविस्तीर्णं लघौ सन्नानुभूयते ।
 यत्तस्य पादपस्तम्भे परमाणौ यथा जगत् ॥ २२
 वस्त्वल्पमप्यतिबृहद्वलघुसत्त्वो हि मन्यते ।
 मूषिकाः स्वाञ्जलिद्रव्यं नवपङ्कमिवार्भकाः ॥ २३
 असत्येव स्वरूपेऽसिञ्जगदाख्ये विदो भ्रमे ।
 लोकान्तरार्धमयी सा बृहन्मय भावना ॥ २४

एव । यदि वा उदिते इति पक्षस्तथापि वातैः कुतं तत्तद्भ्रमण-
 परिवर्तनादिकमस्याः पृथिव्यास्तदन्तःसंस्थितैरस्माभिर्न लक्ष्यते ।
 यथा नावि जायमानः स्पन्दस्तदन्तःकोशगतैर्नरेन लक्ष्यते तद्व-
 दित्यर्थः ॥ २० ॥ तदेव स्पष्टमाह—यथेति । यथा नावि अन्तः
 संस्थितैरपिशब्दात्तन्मयैरपि कीलाद्यैर्नोस्पन्दो न लक्ष्यते तद्व-
 त्पृथिवीसंस्थैः पार्थिवदेहादिमयैरप्यस्माभिरित्यर्थः ॥ २१ ॥ इत्थं
 'पश्येमे पुर उह्यन्त इव मन्दरमेरवः' इति श्लोकिं रामायोपपाद्य
 उपर्युपर्यन्तरन्तःकदलीदलपीठवदित्युक्तावप्यल्पे बृहत्तः समा-
 वेशं प्रथमं बृहतोऽल्पत्वकल्पनया दर्शयति—यथेति । यथा
 योजनविस्तीर्णमपि सन्न लघौ पादपस्तम्भे चित्रनिर्व्यूहचरणा-
 दिना रचयितुं यत्तस्य यतमानस्य शिल्पिनो बुद्ध्या अल्पत्व-
 कल्पनया तत्रानुभूयते तथा अन्तरन्तःसूक्ष्मतमेऽपि परमाणौ
 जगद्बुद्धिकल्पनयाऽनुभूयत इत्यर्थः ॥ २२ ॥ परमाण्वादिवृहत्त-
 मत्वकल्पना न वा तत्र बृहतो जगतः समावेशोऽनुभूयितव्य
 इत्याशयेनाह—वस्त्विति । तद्यथा रत्नकोशागारे प्रविष्टा
 अस्मा घनसंबन्धशून्या मूषिका न रत्नानि बहु मन्यन्ते किंत्व-
 ञ्जलिमात्रमितमपि धान्यद्रव्यमेव तत्र दैवाल्लब्धं बहु मन्यन्ते,
 यथा वा अर्भका बहुमूल्यान्यपि स्वाभरणानि नित्यमनुभूयमा-
 नानि न बहु मन्यन्ते किंतु नवमपूर्वं मृगपक्ष्याकारं वर्णकादिप-
 रिष्कृतं पङ्कं मृत्पिण्डमेव क्रीडनाय बहु मन्यन्ते, येन तद्वाजेन
 वधिताः स्वाभरणान्यपि विनिमयेन प्रयच्छन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥
 किंच वास्तवोऽल्पे बृहत्तः समावेशो न संभवतु नाम, आन्त्या तु
 संभवत्येवेत्याशयेनाह—असत्येवेति । विदः अज्ञानावृतचित्तो
 जगदाख्ये भ्रमे असत्येवार्थे केवलं जीवतोऽयं लोको मृतस्य
 धर्मस्येत्यपीति धर्माधर्मफलानीति व्याख्यातम् । १ पश्येमे पुर उह्यन्त
 इव इत्येतत्सर्गगतद्वितीयश्लोकोक्तमित्यनुसंधेयम् ।

१ यद्यपि 'तथा ब्रह्मस्तत्संस्थैः' इति पाठो दृश्यते तथापि ब्रह्मत्रिति
 संबोधनस्य रामप्रत्ययोग्यत्वात् सप्तमीचीनः । २ अत्राधर्मपदमुपलक्षणं

इदं हेयमुपादेयमिदमित्यन्तरज्ञता ।

यस्य तस्य भवायास्ति सर्वज्ञस्यापि मूढता ॥ २५

सचेतनो ह्यवयवी चेतस्यवयवान्यथा ।

स्वान्तरेव ततं जीवस्त्रिजगद्बुध्यते तथा ॥ २६

संविदात्मपराकाशमनन्तमजमव्ययम् ।

व्योम्नोऽवयवरूपाणि तस्येमानि जगन्ति भोः ॥ २७

सचेतनोऽयःपिण्डोऽन्तः क्षुरसूच्यादिकं यथा ।

बुध्यते बुध्यते तद्वज्जीवोऽहस्त्रिजगद्भ्रमम् ॥ २८

अचिच्चिद्वापि सृत्पिण्डः शरावोदञ्चनादिकम् ।

यथाङ्ग मनुते जीवस्तथाङ्ग मनुते जगत् ॥ २९

चिदचिद्वाङ्कुरो देहे वृक्षत्वं मन्यते यथा ।

वृक्षशब्दार्थरहितं ब्रह्मेदं त्रिजगत्तथा ॥ ३०

चिद्वाचिद्वा यथादर्शो विम्बितं वाप्यविम्बितम् ।

नगरं वेत्ति नो वापि तथा ब्रह्म जगत्त्रयम् ॥ ३१

देशकालक्रियाद्रव्यमात्रमेव जगत्त्रयम् ।

अहंत्वजगतोस्तेन भेदो नास्त्येतदात्मनोः ॥ ३२

कल्पितेनोपमानेन यदेतदुपदिश्यते ।

लोकान्तराणि तत्र च धर्माधर्मफलातीत्यादिमयी बृहदस्य बृहदं
गच्छतश्चित्तस्य सा संकल्परूपा भावनैव । न च भावनां
वस्तुन्यथाभावो निरुणद्धीत्यर्थः । बृहदातोः यजये कविधान-
मिति भावे कः । ततः 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति गमेर्देः ।
आहुलंकाशम् ॥ २४ ॥ ननु मूढानामस्त्वन्तरन्तर्जगद्भ्रमभावना
सर्वज्ञानां भवदायीनां कथमन्तरन्तर्जगदन्तरमस्तीति भ्रान्ति-
स्तत्राह—इदमिति । सर्वज्ञस्यापि भवाय व्यवहारसंभवाय
यावत्प्रारब्धक्षयं लेशतोऽनुवर्तमाना मूढताऽस्त्येवेत्यर्थः ॥ २५ ॥
अत एव सर्वज्ञस्यापि समष्टिजीवस्य हिरण्यगर्भस्यावयववत्स्वान्त-
रेव त्रिजगद्दर्शनमित्याह—सचेतन इति । अवयवी देहात्मा
लौकिकपुरुषः । जीवः समष्टिजीवः ॥ २६ ॥ मायोपहित
ईश्वरस्त्वेवं पश्यतीत्याह—संविदात्मेति । भो इति संबोध-
नेन रामस्य तत्समर्थते ॥ २७ ॥ ईश्वरः प्रलयकाले कथं स्वान्त-
र्गतं जगत्पश्यति तत्राह—सचेतन इति 'चतुर्भिः' । अयः-
पिण्डो यदि सचेतनः स्यात्तर्हि यथा स्वान्तः सूक्ष्मरूपेण स्थितं
क्षुरसूच्यादि भावेस्त्रिविकारं पश्येत्तद्वदित्यर्थः । जीवः खलीन-
सर्वसंस्कारोपहित सन् ॥ २८ ॥ अधिष्ठानसद्रूपप्राधान्येन
चित् आरोपितमृदादिरूपप्राधान्यविवक्षया अचिद्वा । तात्पर्यं
पूर्ववदेव ॥ २९ ॥ उपहितप्राधान्येन चित् आरोपितमृदादि-
रूपप्राधान्येनाचिद्वाङ्कुरः । एतावास्तु विशेषः—जीवसंस्कारो-
पहितरूपेण वृक्षशब्दार्थरहितं बुध्यते तदनुपहितेश्वररूपेण तु
तद्वहितमनादिसिद्धया विषया वा बाधितरूपमिति यावत् । शेषं
प्रागेव ॥ ३० ॥ परिणामदृशा जीवेश्वरयोः सर्गसर्गकाले
जगद्दर्शने दृष्टान्तमुक्त्वा विवर्तदृशाप्याह—चिद्वेति । जीव-
ेश्वरोपाधुपहितदृशा वेत्ति अनुपहितशुद्धदृशा तु नो वेत्ति ।
'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ३१ ॥ एवं

तत्रोपमैकदेशेन उपमेयसधर्मता ॥

३३

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।

अमुञ्चतः पराणुत्वं जीवस्यैतत्स्मृतं वपुः ॥ ३४

सर्वसंवेदनत्यागो शुद्धसंस्पन्ददे पदे ।

न मनागपि भेदोऽस्ति निःसङ्कोपलकोशवत् ॥ ३५

यो यो नाम विकल्पांशो यत्र यत्र यथा यथा ।

यदा यदा येन येन दीयते स तथैव चित् ॥ ३६

अचित्त्वाच्चास्ति मनसि संकल्पः ख इवाङ्कुरः ।

चित्त्वास्तु चेतसो विद्धि चित्तिरेवेह कल्पनम् ॥ ३७

या योदेति विकल्पधीरप्रबुद्धाशयं प्रति ।

सर्वगत्वादन्तत्त्वाच्चिद्व्योम्नः सा न सन्मयी ॥ ३८

यथोदेति विकल्पधीः प्रबुद्धे नोदितैव सा ।

सर्वगत्वादन्तत्त्वाच्चिद्व्योम्नः सा न सन्मयी ॥ ३९

सर्वसंकल्पकलना सत्येत्यावालमक्षतम् ।

स्वप्नादावनुभूतोन्तरर्थः केनापि लभ्यते ॥ ४०

संकल्पो वासना जीवस्त्रयोऽर्था लिखिताश्रिता ।

सोऽनुभूतोऽप्यसत्यः स्यादसत्त्वस्यैव नो सतः ॥ ४१

रामप्रश्नान्समाधाय प्रासङ्गिकं च सर्वं समाप्य 'नाहंत्वजगती
भिन्ने पवनस्पन्दने यथा ।' इति प्राक्प्रस्तुतार्थं प्रकारान्तरेण
समर्थयितुमनुसंधत्ते—देशेति । अहंत्वमपि देशकालक्रियाद्र-
व्यतादात्म्यसंसर्गाभिमानात्मकत्वात्तद्रूपमेवेत्येतदात्मनोः समा-
नस्यभावत्वादपि भेदो नास्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ एतदनुभावयितुमेव
श्रुत्या मया च मूढोहपिण्डादिदृष्टान्ता अचेतना अपि चेतनत्वा-
मारोप्यैकदेशसाम्येनोपन्यस्ता इत्याह—कल्पितेनेति ॥ ३३ ॥
वास्तवब्रह्माभावलक्षणं परमणुत्वं सौक्ष्म्यममुञ्चत एव विवर्त-
रूपं स्थूलं जगद्रूपमित्यर्थः ॥ ३४ ॥ अत एवाधिष्ठानदृष्ट्या
सर्वविवर्तसंवेदनबाधे निष्प्रत्युहं सर्वतः शुद्धात्मप्रसरप्रदे पूर्ण-
पदे न मनागपि जीवजगद्भेदोऽस्तीत्याह—सर्वेति ॥ ३५ ॥
अबाधे तु सदा सर्वत्र सर्वविकल्पात्मनैव चिद्विवर्तत इत्याह—
यो य इति । दीयते मूढेनेति शेषः । चित् तथैव तद्विकल्पा-
नुसारेणैव सविवर्ता भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ मनसोऽपि चिद-
नुप्रवेशादेव विचित्रसंकल्पसामर्थ्यं न स्वत इति चित् एव
सर्वविवर्तस्वातन्त्र्यमित्याह—अचित्त्वादिति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥
एवमप्रबुद्धे उदितापि प्रबुद्धे तत्त्वे नोदितैव अनन्तात्वात्कल-
वस्तुकृतपरिच्छेदशून्यत्वाच्च ॥ ३९ ॥ यद्यसन्मयी तर्हि
कथमावाल्लोपोलं सत्येव भाति तत्राह—सर्वेति । न जाप्र-
तसंकल्पकलनैव सत्येति भाति किंतु स्वप्नादिसाधारण्येन
सर्वापि । न च स्वप्नान्त्यादावुपलब्धो गजरजतादिरर्थः केनापि
लभ्यते इति काका योज्यम् ॥ ४० ॥ ननु सत्यः संसारः
कथमसत्यः स्यात्तत्राह—संकल्प इति । जाप्रतस्वप्नौ संकल्पः,
सुषुप्तिस्तु वासनामात्रं तदुभयप्रतिविम्बितनिद्रूपसदुभयभोका
जीवश्चेति त्रयः पदार्थाः सत्यकूटस्थचिता स्वात्मनि विवर्तवन्ति-
विताः सोऽयं विवर्तसंसारकल्पः—संसारोऽधिष्ठानसत्तया सत्य

असत्यतामिधं सत्यं मुक्त एव भवेच्छिवः ।
 सातिवाहिकदेहैकपरिक्षयविकासवान् ॥ ४२
 जगन्ति वातरुहान्ते व्योसि शाल्मलितूलवत् ।
 नोह्यन्ते चोपलानीव न च सन्त्येव कल्पतात् ॥ ४३
 इत्यस्मिन्नखिलपदार्थसार्थकोशे
 व्योमन्यप्यतिवितते जगन्ति सन्ति ।
 अन्योन्यं परिमिलितानि कानिचिच्च
 नान्योन्यं परिमिलितानि कानिचिच्च ॥ ४४
 सर्वत्वात्परमचित्तेरनन्तरूपा-
 ण्यारम्भप्रचुरदिगन्तसंभृतानि ।

लोलाम्बूदरपुरविम्बभङ्गराणि
 स्वान्तःस्थाविरलमहापुरोपमानि ॥ ४५
 सस्यैर्याण्यपि सततं क्षणक्षयाणि
 व्यक्ताक्षाय्यपि सततं निमीलितानि ।
 सालोकान्यपि परितस्तमोवृतानि
 चिद्रूपार्णवलहरीविवर्तनानि ॥ ४६
 पृथक्स्थितानि व्यतिमिश्रितानि
 जलानि चैवाम्बुनिधौ नदीनाम् ।
 तारार्कचन्द्रग्रहमण्डलानां
 समोदितानां नभसीव भासः ॥ ४७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामाग्रणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० वि० जगज्जालकोशसाधर्म्ययोगोपदेशो नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः १९

श्रीराम उवाच ।
 मुने जीवस्य चद्रूपमाकृतिग्रहणं तथा ।
 यथा च परमात्मत्वं स्थानं यच्चास्य तद्वद ॥ १
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 स्वसंकल्पेन चेत्योक्तं चिदित्यपरनामकम् ।

अनन्तं चेतनाकाशं जीवशब्देन कथ्यते ॥ २
 न पराणुर्न च स्थूलं न शून्यं न च किञ्चन ।
 चिन्मात्रं स्वानुभूत्यात्म सर्वगं जीव उच्यते ॥ ३
 अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
 न किञ्चिन्मात्रकं चैव सर्वं जीवं विदुर्बुधाः ॥ ४

इत्यनुभूतोऽप्यसत्यस्य जीवस्यैवेत्यस्यः स्याज्ज त्वधिष्ठानसतः ।
 तेन तदसंस्पर्शादित्यर्थः । यथा चित्रप्रतिबिम्बस्वप्नाश्चित्र-
 प्रतिबिम्बस्वप्नपुरुषाणामसत्यानामेव बाह्यं न सत्यपुरुषस्य
 तद्वदिति भावः ॥ ४१ ॥ 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि-
 श्रुतेरस्तु वा सत्यस्यैव स्वाबोधोत्संसारस्तथापि तन्नित्यमुक्त-
 मेव । यथा हि तत्सत्यं ब्रह्म प्राक्तत्त्वबोधात्स्वसत्यतां जगति
 संकामयत्तत्सत्यतामिधं स्वयं भवति । तथा तत्त्वबोधोत्तरं
 बाधिताज्जगतः स्वसत्तां स्वात्मन्युपसंहरत्तदसत्यतामिधमपि
 भवति । न हि प्रपञ्चस्याधिष्ठानमात्रपरिषेधादन्या असत्यता
 काचित्सुवचा । यत् आतिवाहिकदेहसहितस्यैकस्य स्वाज्ञानस्य
 परिक्षयेऽपि पूर्णतालक्षणविकासवान्मुक्तः प्रत्यगात्मैव शिवो
 भवेदित्यर्थः ॥ ४२ ॥ अत एवाज्ञानदृष्ट्यैव जगन्त्युह्यन्ते न
 तत्त्वदृशेत्युक्तमित्युपसंहरति—जगन्तीति ॥ ४३ ॥ इति वर्णित-
 रीत्या असिन्नखिलपदार्थसमूहानां कोशभूते अज्ञाते प्रतीचि
 परमार्थतोऽतिवितते व्योमनि शून्याकाशकल्पेऽप्यविद्यया अन-
 न्तानि जगन्ति सन्ति । तानि च कतिपयानां जीवानां भोज-
 कादृष्टसान्ये जागरे ब्रह्माण्डैक्ये च अन्योन्यं परिमिलितानि ।
 तद्वैषम्ये तु ब्रह्माण्डभेदे स्वप्ने च नान्योन्यं परिमिलितानीत्यर्थः
 ॥ ४४ ॥ तान्येव त्रिशिनष्टि—सर्वत्वादित्यादित्रिभिः ।
 परमचित्तेर्ब्रह्मणः सर्वत्वात्सर्वशक्तित्वादित्यत्तासंकोचकामावाहु-
 णतो वस्तुतः क्रियाजात्यादितश्चानन्तरूपाणि बहुविधकार्या-
 रम्भप्रचुरैर्दिगन्तसंस्थितजनैः संभृतानि । लोले अम्बूदरे प्रति-
 बिम्बितं पुरविम्बमिव भङ्गराणि । अत एव स्वान्तःस्थान्यविर-
 लानि, सर्वसंभारसंभृतानि यानि देवगन्धर्वादिमहापुराणि तान्येव
 यो० वा० १३९

उपमा येषां तानि ॥ ४५ ॥ अनुवृत्तवस्त्वात्मना सस्यैर्याण्यपि
 व्यावृत्तभावविकारैः क्षणक्षयाणि । एवं जागरे व्यक्ताक्षाय्यपि
 तत्त्वतो व्यक्त्यभावाश्चिमीलितानि । आत्मज्योतिषा सालोका-
 न्यपि तस्याज्ञानतमोवृत्तत्वात्तमोवृतानि ॥ ४६ ॥ पृथक्स्थितानां
 व्यतिमिश्रितत्वे व्यतिमिश्रितानां पृथक्स्थितत्वे च क्रमादुद्घा-
 न्तद्वयमाह—पृथगिति । नदीपात्रे पृथक्स्थितान्यप्यम्बुनिधौ
 व्यतिमिश्रितानि । नभसि समकालमुदितानां तारादीनां भासस्तु
 इयमस्य भा इति विवेक्तुमशक्यत्वाद्यतिमिश्रिता अपि एकच-
 ल्ने अपरचलनाभावात् पृथक्स्थितास्तानीव ता इव च ॥ ४७ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामाग्रणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 जगज्जालकोशसाधर्म्ययोगोपदेशो नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

जीवस्वरूपतत्त्वं समष्टिदृष्टिदेहयोः ।

कल्पनं स्थानकरणभेदाद्भोगश्च वर्ण्यते ॥ १ ॥

यत् रूपं शास्त्रीयव्यवहारोपयुक्तं पारमार्थिकरूपं च ।
 आकृतिः स्थूलशरीरं तस्य ग्रहणं कल्पनम् । स्थानं बाह्यव्यव-
 हारद्वारम् ॥ १ ॥ तत्र समष्टिजीवं मोक्षशास्त्रप्रसिद्धं शोधने
 ब्रह्मभेदयोग्यं प्रथमं दर्शयति—स्वेति । अनन्तं यच्चेतनाकाशं
 ब्रह्म तदेव 'हन्ताहमिमास्तिष्ठो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्र-
 विश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतिदर्शितस्वसंकल्पेन स्वचे-
 त्यसूक्ष्मभूतोपाधिप्रवेशात्तद्विष्टम्भकप्राणधारणात् 'जीव प्राण-
 धारणे' इति धात्वर्थानुगमाच्चेत्येन प्राणेनोक्तं जीव इति व्यपदि-
 ष्टम् । चक्षुरादिद्वारा चेतयतीति चित् चेतनः इत्यपरं नाम यस्य
 तथाविधं सजीवशब्देन कथ्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥ तस्य पारमा-
 र्थिकं रूपमाह—नेति । शून्यमाकाशं तदन्तर्गतं वा किञ्चन न ।

यस्य यस्य पदार्थस्य यो भावस्तेन तत्र तम् ।
स्थितं विद्धि तदाभासं तदात्मैकान्तवेदनात् ॥ ५ ॥
स चेतति यथा यत्र यद्यदाशु तदेव हि ।
तथा तत्र तदा राम भवत्यनुभवात्मकम् ॥ ६ ॥
पवनस्य यथा स्पन्दश्चेत्यं जीवस्य वै तथा ।
स्वसंविन्मात्रनिर्णयं नोपदेशाम यक्षवत् ॥ ७ ॥
यथैवास्पन्दनाद्वातः सञ्जेवैत्य सदात्मताम् ।
तथैवाचेतनाज्जीवो जीवन्नेति परां गतिम् ॥ ८ ॥
जीवश्चिद्वदनरूपत्वादहमित्येव चेतनात् ।
देशकालक्रियाद्रव्यशक्तीर्निर्माय तिष्ठति ॥ ९ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यचर्चिताचर्चितां स्वयम् ।
असत्यां सत्यवत्स्फारां तावन्मात्रशरीरिकाम् ॥ १० ॥
चेतसा ह्यसदाकारां प्रालेयपरमाणुताम् ।
पश्यत्यात्मन्यथात्मत्वे स्वप्ने स्वमरणोपमाम् ॥ ११ ॥
स्वप्नस्वावयवान्यत्वसदृशीं तां विभावयन् ।
विस्मृत्य चेतनां सत्तां तत्तामेवाशु गच्छति ॥ १२ ॥
एवंरूपो बुध्यमानः प्रोच्छन्नत्वमथात्मनि ।
पश्यत्याशु स्वमात्मानं चन्द्रविरचमिव द्रुतम् ॥ १३ ॥

॥ १ ॥ ४ ॥ तस्य सर्वगत्वमनुभावयति—यस्य यस्येति ।
यो भावो जातिगुणसंस्थानाद्यन्तर्भावरूपं तेन तेन भावेन
संस्थितमत एव तत्तदिव आभासगानम् । तत्कृतः । तदेकान्त-
वेदनात्पुनः पुनस्त्वदर्शने तत्तदाकारेणैव भावनियमाद्वदच्छु-
संयोगे हि चक्षुर्द्वारा निर्गतान्त करणं स्वयत्तिव्याप्तघटावच्छिन्नं
जीवचित्सफुरणं घटोऽयं स्फुरति घटोऽयं स्फुरतीति घटस्वभाव-
तादात्म्येनैव यतो नियमेनानुभावयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ अत एव सम-
ष्टिजीवो यत्र यथा चेतति तत्र तथा भवति सत्यसंकल्पत्वात् ।
व्यष्टिजीवरतु स यत्र यथा भवति तत्र तथा चेतति ॥ ६ ॥
तथा च समष्टिजीवस्य पवनस्य स्पन्द इव सर्ववस्तुवैविध्यचेत-
नात्मकः सर्गः पवनस्पन्दवत्स्वानुभवसिद्धः स्वभावो न तु बालस्य
यक्षान्तिवदुपदेशाभ्यासकृत इत्याह—पवनस्येति । न
नोपदेशाम उपदेशेन न साधयाम । दिशतेर्विकरणव्यत्यय-
श्छान्दसः ॥ ७ ॥ अत एवास्य मुक्तिमुपतिप्रत्ययेषु धायाभ्यन्त-
रर्था चेतने जीवतापि शाम्यतीत्याह—यथैवेति । परां गतिं
ब्रह्मभावम् ॥ ८ ॥ तस्याकृतिग्रहणप्रकारं वर्णयितुं सर्वकल्पना-
मूलस्तम्भमाविर्भूतसर्वशक्तिकं समष्ट्यहंकाराध्यासं प्रथमं दर्श-
यति—जीव इति । निर्माय धाविर्भाव्य । सैवास्य सार्वत्र्यसर्व-
शक्तिसंपत्तिलक्षणं रुद्रता ॥ ९ ॥ ततः सूक्ष्मभूतसंस्काराविर्भाव-
लक्षणसमष्टिचित्तकल्पनामाह—देशेति सार्धाभ्याम् । संस्का-
रात्मना ईपदाविर्भावाचर्चितां स्थूलतया सम्यगानाविर्भावादच-
र्चितां च ॥ १० ॥ चेतसा समष्टिचित्तभावेन सूक्ष्मतमात्संबल-
नात्प्रालेयपरमाणुप्रायाम् ॥ ११ ॥ स्वप्ने व्याघ्राद्यात्मतादर्शने
प्रतीतं यत्स्वावयवानां दृष्टपादादीनामन्यादृशत्वं तत्सदृशी तां

आत्मन्यथेन्द्रविम्बात्मन्यसौ संवित्तिपञ्चकम् ।
फाकतालीयचन्द्रिद्रमुदितं चेतति स्वयम् ॥ १४ ॥
पञ्चानां संविदां पञ्च भिन्नान्यद्भान्यसावथ ।
बुध्यते तानि तद्रूपरन्ध्राण्यनुभवत्यपि ॥ १५ ॥
स पञ्चावयवः पञ्चाद्राजते पुरुषो विराट् ।
अनन्ताकारसंवित्तिरव्यक्तात्मा निरामयः ॥ १६ ॥
मनोमयोऽसावुदितः परस्मात्प्रयमोत्थितः ।
आकाशविशदः शान्तो नित्यानन्दविभामयः ॥ १७ ॥
स चाप्यपञ्चभूतात्मा पञ्चभूतात्मकोपमः ।
विगटात्मैकपुरुषः परमः परमेश्वरः ॥ १८ ॥
स्वयमेवाशु भवति स्वयमेव विलीयते ।
स्वयमेव प्रसरति स्वयं संकोचमेति च ॥ १९ ॥
स्वसंकल्पकृतेनासौ कल्पार्थेन क्षणेन च ।
यदच्छयोदेति पुनः पुनर्भूत्वोपशाम्यति ॥ २० ॥
मनोमात्रैकरूपात्मा प्रकृतेर्देह एव सः ।
एव पुर्यष्टकं प्रोक्तः सर्वस्यैवातिवाहिकः ॥ २१ ॥
सूक्ष्मः स्थूलोऽस्वरतामैव व्यक्तोऽव्यक्तोन्तवर्जितः ।
सर्वस्य वहिरन्तश्च न किञ्चित्किञ्चिदेव च ॥ २२ ॥

समष्टिचित्तरूपा विष्णुताम् । तस्यैव पूर्णब्रह्मभावविसरणे मनः-
समष्ट्यात्मकचन्द्रभायोपलक्षितस्थूलभावकल्पनया ब्रह्माण्डरूपा
विराटाकृतिराविर्भवतीत्याह—विस्मृत्येत्यादिना । चेतनां
चिदेकरतां ब्रह्मसत्ता विस्मृत्य परिच्छिन्नजडसत्तामेवाहमिति
पर्यस्त्रद्भावमेवाशु गच्छति ॥ १२ ॥ पत्नीकरणेन स्थौल्यापाद-
नात्स्थूलसमष्टिविराटात्मना प्रोच्छन्नत्वम् । तत्र मनःसमष्ट्या-
त्मकं कालोपचयात्मना द्रुतं ब्रह्मस्वभावं चन्द्रविम्बमिव पश्यति
सैवास्य बुद्धिसमष्टिभावलक्षणा विरहितेत्यर्थः ॥ १३ ॥ तस्य
विराट्देहे भोगोपपत्तये मनःसमष्टेरेव सकाशादादित्यादिरूपेन्द्रि-
यपदकं तत्स्थानमेदकल्पनां चाह—आत्मनीति । संवित्ति-
विषयभेदेनैवेन्द्रियभेदविभावनात्संवित्तिपञ्चकमित्युक्तिः ॥ १४ ॥
तद्रूपाणि स्थानमेदरूपाणि रूपादिभोगद्वाराणि ॥ १५ ॥ आदि-
त्यादिग्वारिवायुपृथिव्याख्यपदेन्द्रियस्थानावयवैः पञ्चविषयानु-
पभुजानो राजते तद्विषयेषु मनोदिकल्पैरनन्ताकारकल्पना-
दनन्ताकारसंवित्तिः । स चार्थ कार्यभावस्यानृतत्वात्स्वक-
रणव्यक्तात्मैव । अत एव निरामयः ॥ १६ ॥ तस्य मनोमय-
भावेऽपि स्वतः सिद्धज्ञानैश्वर्यसर्वशक्तिसंपन्नत्वाज्जीवत्वमीश्वरत्वं
चास्तीत्याशयेनाह—मनोमयोऽसाविति द्वाभ्याम् ॥ १७ ॥
सर्वपुरुषसमष्टिरूपैकपुरुषः ॥ १८ ॥ तस्येश्वरभावेन स्वाविर्भा-
वतिरोभावेऽपि स्वातन्त्र्यमस्तीत्याह—स्वयमेवेति ॥ १९ ॥
॥ २० ॥ प्रकृतेः सर्वोपादानेश्वरस्य स एव देहः । एव एव
व्यष्टिभावेन सर्वस्य जीवजातस्य । पुर्यष्टकं प्राग्व्याख्यातम्
॥ २१ ॥ स च सूक्ष्मेऽपि पिपीलिकादिदेहेषु सूक्ष्मः । 'सम-
ष्टिपिणा समो नागेन' इत्यादिश्रुतेः । परमार्थतस्तु न किञ्चिद

अङ्गानि राम तस्याष्टौ मनःषष्ठानि पञ्च च ।
 साहंभावानीन्द्रियाणि भावाभावमयानि च ॥ २३
 तेन गीता इमे वेदाः सहस्रन्दार्थकल्पनाः ।
 नियतिः स्थापिता तेन तथाद्यापि यथास्थिता ॥ २४
 अनन्तमूर्ध्वं मूर्ध्नास्य तथाधः पादयोस्तलम् ।
 अपराकाशमुदरमिदं ब्रह्माण्डमण्डपम् ॥ २५
 लोकान्तराण्यनन्तानि पार्श्वकाः क्षतजं पथः ।
 मांसपेक्ष्यः क्षितिधराः सरितः संतताः शिराः ॥ २६
 रक्ताधारा जलधयो द्वीपान्येवान्नवेष्टनम् ।
 बाहवः ककुभः स्फारास्तारका रोमसंततिः ॥ २७
 पञ्चाशदनिलस्कन्धा एकोनाः प्राणवायवः ।
 मार्तण्डमण्डलं चण्डं पित्तं जठरपावकः ॥ २८
 शशाङ्कमण्डलं जीवः श्लेष्मा शुक्रं सितं बलम् ।
 मनः संकल्पकोशात्म सारात्मा परमात्मतम् ॥ २९
 मूलं शरीरवृक्षस्य बीजं कर्मद्रुमस्य च ।
 प्रसवात्सर्वभावानामिन्दुरानन्दकारणम् ॥ ३०
 यदिन्दुमण्डलं नाम स सम्राट् जीव उच्यते ।
 शरीरकर्ममनसां बीजं मूलं च कारणम् ॥ ३१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विराडात्मवर्णनं नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

अस्मादिन्दुविराड्जीवात्प्रसरन्ति जगत्रये ।
 जीवा मनांसि कर्माणि सुखान्यन्नामृतानि च ॥ ३२
 विराज एते संकल्पा ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
 तस्य चित्तचमत्काराः सुरासुरनभश्चराः ॥ ३३
 चित्स्वभावो बुध्यमानः प्रालेयपरमाणुताम् ।
 यदादौ भावयत्याशु तदा तत्रैव तिष्ठति ॥ ३३
 तेनैतदेव जीवस्य स्थानं विद्धि रघूद्वह ।
 पञ्चावयवमेतत्तच्छरीरमनुभूयते ॥ ३५
 विराड्जीवाच्चन्द्रमसो जीवभूतानि देहिनाम् ।
 प्रसरन्त्यन्नजातानि प्रालेयविसरात्मना ॥ ३६
 तान्येव देहिदेहेषु जीवा जीवन्ति जीविषु ।
 मनो भूत्वा विचेष्टन्ते कर्म जन्मसु कारणम् ॥ ३७
 एवं विराट्सहस्राणि महाकल्पशतानि च ।
 गतान्यथ भविष्यन्ति नानाचाराणि सन्ति च ॥ ३८

सर्वतोऽनुभवरूपयानया

सत्तयोत्तमपदादभिन्नया ।

अन्तवर्जितमहाङ्गसङ्गया

तिष्ठतीति पुरुषः परो विराट् ॥ ३९

व्यवहारतस्तु किञ्चित्परिच्छिन्न एव च ॥ २२ ॥ पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि चकारात्कर्मेन्द्रियसहितः प्राणो मनोऽहंकार इत्यष्टावङ्गानि । भावाभावमयानि मूर्तामूर्तरसरूपाणि ॥ २३ ॥ तेन चतुर्मुखीभूयेमे चत्वारो वेदा गीताः । नियतिः शास्त्रीयसदाचारादिमर्यादा ॥ २४ ॥ ऊर्ध्वं द्यौरस्य मूर्ध्ना शिरः । अधः पृथिवी पादयोस्तलम् । अपरमान्तरालिकमुदरम् । 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्वं सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिन्येव पादौ' इत्यादिश्रुतेरिति भावः । ब्रह्माण्डमण्डपं शरीरमिति शेषः ॥ २५ ॥ पार्श्वकाः पार्श्वोद्यवयवाः । पयो वारि क्षतजं रक्तम् । मूत्रस्याप्युपलक्षणमेतत् । क्षितिधराः पर्वताः । मांसपेक्ष्यः सरितः शिरा नाड्यः ॥ २६ ॥ रक्ताधारा रक्तसंचयपेक्ष्यः । वेष्टनं षट्कोशवेष्टनम् । ककुभो दिशः, बाहवः । यद्यपि छान्दोग्यादी 'लोमानि बहि'रित्युक्तं तथापि श्रुत्यन्तरानुरोधेन तारका इत्युक्तिः ॥ २७ ॥ एकोनाः पञ्चाशत् आवहप्रबहायनिलस्कन्धाः प्राणवायवः । चण्डं क्रूरं चक्षुरिति शेषः । जठरपावक और्वानलः पित्तम् ॥ २८ ॥ जीवादिषट्कुं तु शशाङ्कमण्डलमेव । सितं वपाभागः । संकल्पकोशात्मेति मनोविशेषणम् । परमात्मतं ब्रह्मैव सारात्मा ॥ २९ ॥ बीजादिभावोऽपि मनस एवेत्याह—मूलमित्यादिना । अन्नादिभावेनाप्यायनादानन्दकारणम् ॥ ३० ॥ स एव विराट्शरीरे जीवः अन्नात्मकेन तेन समष्टिप्राणधारणादित्याशयेनाह—यदिति । व्यष्टिशरीरानामन्नमयानां स बीजं प्राणहेतुकानां सर्वकर्मणां मूलं व्यष्टिमनसां च कारणम् । 'चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्'

इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः ॥ ३१ ॥ तदेव स्पष्टमाह—अस्मादिति । सुखानि भोगा अमृतानि मोक्षाश्च ॥ ३२ ॥ विराजो विराड्जीवस्य । चतुर्मुखादिशरीराणामपि चान्द्रामृतपरिणामरूपत्वात् 'सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः । जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः' इति श्रुतेरिति भावः । नभश्चराः पक्षिणः । सर्वप्राण्युपलक्षणमेतत् ॥ ३३ ॥ चित्तचमत्कारतां चित्तोपहितचिद्विवर्ततया प्रकटयति—चित्स्वभाव इति । प्रालेयपरमाणुतां सुसूक्ष्मात्मककलात्मतां साक्षितया चन्द्रे बुध्यमानो यदा देवतादिशरीराकारं सर्गादौ भावयति संकल्पयति विराडात्मा प्रजापतिस्तदा तत्र तादृशचतुर्मुखादिशरीरभावे एव स्वयं सिद्धवत्तिष्ठति सत्यसंकल्पत्वादित्यर्थः ॥ ३४ ॥ एतच्चन्द्रमण्डलमेव सर्वजीवसमष्टिविराड्जीवस्यापञ्चीकृतपञ्चभूतान्यवयवा यस्य तथाविधं तस्य विराजः शरीरम् । एतज्जाग्रदिति सर्वैरनुभूयते ॥ ३५ ॥ इन्दुविराड्जीवाद्यष्टिजीवप्रसरं प्रागुक्तमुपपादयति—विराडिति । जीवभूतानि जीवनसाधनानि । प्रालेयविसरश्चन्द्रकलनामोषधीषु प्रसरस्तदात्मना ॥ ३६ ॥ जीवाः जीवोपाधयः ॥ ३७ ॥ सहस्रशतशब्दावसंख्यपरौ । संप्रति सन्ति च ॥ ३८ ॥ उत्तमपदाद्ब्रह्मणः । अभिन्नया अत एवान्तवर्जितो निरवधिर्महाङ्गसङ्गो व्यष्टिसमष्टिदेहसंबन्धो यस्यास्तथाविधया अधिष्ठानसत्तयैव 'तद्विवर्तो विराट्पुरुष' इति वर्णितरीत्या सर्वतः सर्वदेशकालेषु इह मायावृत्ते ब्रह्मणि तिष्ठतीत्युपसंहारः ॥ ३९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विराडात्मवर्णनं नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः २०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

संकल्पपुरुषस्त्वेष यद्यत्कल्पयति स्वयम् ।
तत्तथा तादृशं पञ्चभूतात्मा भवतीव खम् ॥ १ ॥
सर्वं राम जगज्जातं तत्संकल्पं विदुर्बुधाः ।
तादृग्रूपं पञ्चकात्मविषयोन्मुखमाततम् ॥ २ ॥
जगत्पदार्थसार्थस्य विराट् सर्वस्य कारणम् ।
कारणेन समान्येव कार्याणि च भवन्त्यतः ॥ ३ ॥
यथैष स विराडेव विराट् प्रत्येकमात्मनि ।
स्वसंविदि प्रसरति बोधवान् त्वबोधवान् ॥ ४ ॥
आसरीसृपमारुहमेवमभ्युदितो भ्रमः ।
अणावप्यद्रिविस्तारो बीजकोश इव द्रुमः ॥ ५ ॥
आसरीसृपमारुहं विराट् प्रत्येकमात्मनि ।
पराणावप्यनन्तात्मबोधतो न त्वबोधतः ॥ ६ ॥
यादृगेव विराडात्मन्येष विस्तार आगतः ।
तादृगेवेह सर्वस्मिन्नणुमात्रेऽपि भूतके ॥ ७ ॥

वासनाकर्मकामानुरूपसंकल्पसर्जनैः ।

समष्टिसाम्यं व्यष्टीनां जीवानामिह वर्धते ॥ १ ॥

विराट्पुरुषसत्यसकल्पासुरिविवर्तं ब्रह्म धत्ते इत्याह—
संकल्पेति । पञ्चभूतात्मा विराट्पुरुषो यद्यथा यथा भवति
सकल्पयति तत्तथा तथा खं ब्रह्माकाशमपि भवति ॥ १ ॥ यतो
ब्रह्मपूर्वोपासनाहितवासनया तादृग्रूपं पञ्चभूतात्मविराड्रूपं सर्गादौ
भूत्वा उपासनाफलपञ्चमहाभूतात्मकविषयसमष्टिभोगोन्मुखता
यतमित्यर्थः ॥ २ ॥ कारणेन भूदादिना कार्याणि घटादीनि,
समस्वभावान्येव यतो भवन्त्यतो हेतोरित्युत्तरत्रान्वयः ॥ ३ ॥
प्रत्येकं व्यष्टिजीवोऽप्यात्मनि स्वस्मिन्विराट् सर्वसर्गसमर्थ
इत्यर्थः । यतो मनोवृत्त्यनुसारेण स्वसंविदि बाह्यान्तर-
विषयाकारेण प्रसरति सति विराड्विषयमपि तत्तदर्थबोधवानेव
न त्वबोधवानिति साम्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥ अपकर्षावधौ आसरी-
सृपमुत्कर्षावधावारुहमेवं जगदाकारो भ्रमोऽभ्युदितः स एव
सर्गः । अणावपीति भ्रमत्वे उपपत्तिः ॥ ५ ॥ अस्तुत्वेन किं तत्-
स्तत्राह—आसरीसृपमिति । विराट् सृष्टा । तथा च साम्यं
सिद्धमित्यर्थः ॥ ६ ॥ अणुमात्रे यथाकष्टव्यादिदेहपरिच्छि-
जेऽपि भूतके जीवे ॥ ७ ॥ विततं आन्त्या विस्तारितम् ॥ ८ ॥
ननु विराजो व्यष्टिभनस्तदुपहितजीवोभयकारणत्वेन वैषम्य-
मिति कथं साम्यं तत्राह—मन इति । अथवा समष्टिव्यष्ट्योरे-
कैवेषा सत्तेति मेद एव नास्ति, कुतः कारणता तत्रैष्यविशेष
इत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवमुपाधिमन कारणता निरस्योपहितजीवं
प्रति कारणता निरसिदुसुपाधिरूपसाह—शुक्रसारमिति ।
प्रथमं शुक्रं रेतं एव सार उपाधिर्यस्य तम् । तत् शुक्रोपहित-
जीवादेव सातापित्रोर्मैथुनकाले अचलस्य पूर्णानन्दब्रह्मणो भोगा-

परमार्थेन न स्थूलं न सूक्ष्मं किंचन क्वचित् ।
यद्यथा विततं यत्र तत्तथाश्वनुभूयते ॥ ८ ॥
मनश्चन्द्रमसो जातं मनसश्चन्द्र उत्थितः ।
जीवाजीवोऽथवैकैषा सत्ता द्रवजलाङ्गवत् ॥ ९ ॥
शुक्रसारं विदुर्जीवं प्रालेयकणसंनिभम् ।
आनन्दोऽचलसंदोहस्तत एव प्रवर्तते ॥ १० ॥
तं चेतति तदाभासं पूर्णमात्मस्थमात्मना ।
तत्र तन्मयतां धत्ते तेन तन्मयरूपिणी ॥ ११ ॥
जीवसंविदथैषान्तर्यदुपायाति पञ्चताम् ।
न तत्र कारणं किंचिद्विद्यते न च कार्यता ॥ १२ ॥
प्रतियोगिव्यवच्छिन्नेरभावात्स्वभावयोः ।
स्वभावोक्तिर्न चैवात्र भवत्यर्थानुसारिणी ॥ १३ ॥
जीवो जीवत्वमेव स्वजीवत्वादेव च स्वतः ।
अन्तस्त्वेन बहिष्ठेन दृश्यते न च वायुवत् ॥ १४ ॥
नीहारेणेव संवीतश्चेत्यवस्तुपरायणः ।

कारवृत्तौ प्रतिबिम्बनेन सदोहः प्रपूर्तिलक्षण आनन्दः प्रव-
र्तते । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रासुपजीवन्ति' इति
श्रुतेरित्यर्थः ॥ १० ॥ तं तस्य ब्रह्मणः आभासलक्षणमानन्द-
रेतोवच्छिन्नजीवविदात्मस्थमात्मना रेतोभूतस्वभावेनैव चेतसः
नुभवति । चेतयन्तीव रेतोरुपमेवानन्द प्रियतमोऽहमिति
बीजमारभ्य तत्र तादात्म्याभ्यासलक्षणा तन्मयता धत्ते ।
'आनन्दाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतेः ॥ ११ ॥
अथानन्तरमेव जीवसंविदन्तर्गतपञ्चता देहरूपां तादात्म्ये-
नैवोपायाति । सैवास्यास्तदुपहितता तत्र च न विराजोऽन्यस्य
वा कारणतेत्याह—न तत्रेति ॥ १२ ॥ यदुपहितरूपे न किंचि-
त्कारणं तर्हि तदनागन्तुकं जीवानां स्वभावः स्यात् । न च
कस्यचित्स्वभावोऽपैतौल्यनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—प्रतियो-
गीति । अत्रोपहितरूपे स्वभावोक्तिरर्थानुसारिणी अर्थवती न
भवति । स्वशब्दार्थविशिष्टो हि भावसन्दर्भः स्वभावः, तत्र
स्वशब्दो यदि शुद्धपरस्मै तस्याद्वयत्वाच्च प्रतियोगी तद्यवच्छेदो
वान्योऽस्तीत्यव्यावर्तकात्तस्मादन्यो भावशब्दार्थोपि न नित्य-
यितुं शक्यत इति तद्विशिष्टार्थसिद्धेर्निरस्तत्वादित्यर्थः ॥ १३ ॥
यदि वा उपहितपरः स्वशब्दस्तदात्म्यसौ न स्वबहिर्भूतं भावश-
ब्दार्थं लभते यः स्वार्थेन विशिष्यादित्याह—जीव इति ।
उपहितरूपो जीवोऽपि स्वतः स्वस्य जीवत्वादुपहितरूपत्वादेव
जीवत्वमुपहितरूपमेव स्वयं न तद्यतिरिक्तं रूपान्तरमन्तस्त्वेन
बहिष्ठेन वा भावशब्दार्थभूतं विशेष्यतायोग्यं तत्र दृश्यते ।
स च वायुर्वातीत्यत्र क्रियात्मैव वायुर्यथा विकल्पबुद्ध्या मेदं
परिकल्प्य वातीति व्यपदिश्यते तद्वज्जीवो जीवत्वमिति
धर्मवर्मिभावेनेत्यर्थः ॥ १४ ॥ यदि न जन्यं न विलयं

जात्यन्ध इव पन्थानं मारुतात्मा न पश्यति ॥ १५
जगज्जृम्भिकया जीवः स्वमैक्यं द्वित्वमास्थितः ।
स्पन्दशक्त्यैव पवन आचृतात्मा न पश्यति ॥ १६
अज्ञानस्य महाग्रन्थेर्मैथ्यावेद्यात्मनोऽसतः ।
अहमित्यर्थरूपस्य भेदो मोक्ष इति स्मृतः ॥ १७

व्यपगतं चेतनः समन्ता-
दहमिति नूनमबुध्यमान आस्व ।
अनभिधघनचेतनैकरूपः
क्षितसदसत्सदसत्सदोदितश्च ॥ १८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवनिर्वाणयोगोपदेशो नाम विंशः सर्गः ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः २१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ज्ञानिनैव सदा भाव्यं राम न ज्ञानबन्धुना ।
अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम् ॥ १
श्रीराम उवाच ।
किमुच्यते ज्ञानबन्धुर्ज्ञानी चैव किमुच्यते ।
किं फलं ज्ञानबन्धुत्वे ज्ञानित्वेऽपि च किं फलम् ॥ २
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत् ।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ३

स्वभावभूतं वा तर्हि किं तज्जीवरूपं यत्संसरतीति चेदनिर्वचनी-
याज्ञानावृतब्रह्मैव तत्स्वात्मन एवान्यथादर्शनं तस्य संसार-
इत्याह—नीहारेणेत्यादिना । मारुतात्मा प्राणेन्द्रियादिजडता-
दात्म्यापन्नः अत एव स्वरूपं न पश्यति । 'न तं विदाथ य इमा-
जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव । नीहारेण प्रावृता जल्यन्ता चासु-
तुप उक्थशासश्चरन्ति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ १५ ॥ जग-
दाकारया जृम्भिकया बृंहिकया अविद्याशक्त्या संवीतः अत एव
स्वमैक्यमेव द्रष्टुमिच्छति द्वित्वं कल्पयित्वा तत्रास्थितोऽभि-
निविष्टः ॥ १६ ॥ अत एव विद्यया अविद्यानाशसंभवान्ना-
निर्मोक्षदोष इत्याह—अज्ञानस्येति । अहमित्यर्थरूपस्य महा-
ग्रन्थेर्भेदो विदारणम् ॥ १७ ॥ अत एव हे राम, त्वं व्यपगतो
घनोऽज्ञानमेघो यस्मात्तथाविधचेतनश्चित्प्रकाशमात्रः सन्नह-
मित्यहंकारोपाधिपरिच्छेदमबुध्यमानः शोधितत्वंपदार्थः सन्
क्षितं बाधितं सत् भूतं असदभूतं सदसत्तन्मूलाज्ञानं च यत्र
तथाविधो रूपबाधादेवानभिधो नामशून्यः सैन्धवघनवदा-
नन्दैकरसघनो यश्चेतनः शोधितत्त्वपदार्थस्त्वदेकरूपः सन् सम-
न्तात्पूर्ण आस्व ॥ १८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवनिर्वाणयोगोपदेशो नाम
विंशः सर्गः ॥ २० ॥

अशुभा च शुभा घात्र द्विविधा ज्ञानबन्धुता ।

हेया ग्राह्या च यत्नेन लक्षणैरुपवर्ण्यते ॥ १ ॥

तत्रादौ हेयां वर्णयितुं पीठिकां रचयति—ज्ञानिनैवेति ।
ज्ञानी उत्तरसर्गवक्ष्यमाणलक्षणस्तथाविधेनैव सदा भाव्यं भवि-
तव्यं ज्ञानन्याजेन सत्कर्मश्रद्धाबाधनाद्भोगलाभ्यर्थेन स्वं परं

कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते ।
बोधशिल्पोपजीवित्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ४
वसनाशनमात्रेण तुष्टाः शास्त्रफलानि ये ।
जानन्ति ज्ञानबन्धुस्तान्विद्याच्छास्त्रार्थशिल्पिनः ॥ ५
प्रवृत्तिलक्षणे धर्मे वर्तते यः श्रुतोचिते ।
अदूरवर्तिज्ञानत्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ६
आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु ।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्याऽनवबोधनात् ॥ ७
आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलंवेन ये ।

चानर्थैर्बध्नातीति ज्ञानबन्धुस्तथाविधेन न भाव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥
किं लक्षणं प्राप्य ज्ञानबन्धुरुच्यते किं लक्षणं प्राप्य ज्ञानी उच्यते
पुरुषस्ते लक्षणे तत्फले च वदेति प्रश्नार्थः ॥ २ ॥ अनुष्ठाने-
साधनचतुष्टयसंपादने मननादौ च ज्ञानोपाये यो न यतते
॥ ३ ॥ यस्य शास्त्राभ्यासलब्धः शाब्दो बोधः कर्मस्पन्देषु भोग-
व्यवहारेषु दृश्यमानेषु वैराग्योपरमादिफलैः फलितो न दृश्यते ।
तत्त्वकथाभिः परवचनचातुरीबोधशिल्पं तदुपजीवित्वात् ॥ ४ ॥
अर्थाद्वसनाशनलाभादय एव शास्त्रफलानीति ये जानन्ति
तान्शास्त्रार्थकथानाटनान्नटादिशिल्पिन इव विद्यात् ॥ ५ ॥
द्वितीयां शुभां ज्ञानबन्धुतां लक्षणेन दर्शयति—प्रवृत्तिल-
क्षणे इति । प्रवृत्तिलक्षणे निष्कामाग्निहोत्रादिलक्षणे धर्मे श्रुतस्य
शास्त्रार्थज्ञानस्योचिते अनुरूपे श्रुतस्य करिष्यमाणवेदान्तश्रवण-
स्योचिते चित्तशुद्धिद्वारा अनुकूले श्रुते श्रुतिबोधिते उचिते
स्वाधिकारकुलाचाराद्युचिते च । 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन
तपसा' इत्यादिश्रुतेः । सत्कर्मानुष्ठाने चित्तशुद्धिक्रमेणावश्यं
ज्ञानेन बध्यते इति व्युत्पत्त्या अदूरवर्तिज्ञानत्वावगमादित्यर्थः
॥ ६ ॥ अनात्मशास्त्राभ्यासपरा अपि तत्तदर्थज्ञानैः संबध्यमाना
दृश्यन्ते, तत्सदृशोऽयं मा भूदित्यात्मज्ञाने विशेषं दर्शयति—
आत्मज्ञानमिति । तानि ज्ञानमिवावभासन्ते न तु ज्ञानानि ।
कुतः । रसेन सारभूतेनावाप्येन निरतिशयानन्दात्मना सह
वर्तते इति सरसौ तदध्यस्तौ जगज्जीवौ तयोर्भावः सारस्यं
तदधिष्ठानब्रह्मरस एव तदनवबोधनादध्यस्तवाध्याय्यमात्र-
बोधनाद्भ्रान्तिमात्रतया अज्ञानतरङ्गमात्रत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥ अत
एव तल्लभमात्रनुष्ठानामशुभज्ञानबन्धुतैवेत्याह—आत्मज्ञान-

संतुष्टाः कष्टचेष्टं ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः ॥ ८
 ज्ञानादितज्ज्ञेयविकाशशान्त्या
 विना न संतुष्टधियेह भाव्यम् ।
 त्वं ज्ञानबन्धुत्वमुपेत्य राम
 रमस्व मा भोगभयामयेषु ॥ ९

अत्राहारार्थं कर्म कुर्यादनिश्चं
 कुर्यादाहारं प्राणसंघारणार्थम् ।
 प्राणाः संघार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं
 तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम् ॥ १०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० सो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ज्ञानविचारो नामैकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः २२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वाद्योऽचित्तं चित्तमेव च ।
 न बुध्यते कर्मफलं स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ १
 ज्ञात्वा सम्यग्गुणज्ञानं दृश्यते येन कर्मसु ।
 निर्वासनात्मकं ह्यस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ २
 अन्तःशीतलतेह्यसु प्राक्षैर्यस्यावलोक्यते ।
 अकृत्रिमैकशान्तस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ ३
 अपुनर्जन्मने यः स्याद्बोधः स ज्ञानशब्दभाक् ।

मेति । अभ्यासश्रमेण दुरभिमानादिदोषाधामेन पारलौकि-
 ज्ञानार्थफलेन च कष्टाद्येष्टा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा ते
 उंतुष्टा इति हेतोस्तेऽपि अज्ञभूतज्ञानबन्धवः स्मृता इत्यर्थः
 ॥ ८ ॥ अत एव न सप्तमभूमिकास्थैर्यपर्यन्तं सुमुखुणा तौष्टिकेन
 प्रवितम्बमित्याह—ज्ञानादीति । ज्ञानं बाह्याभ्यन्तरगोचर-
 इत्यायः आदिपदात्तकारणानि तदाश्रयः प्रमाता च तेषां हेयाः
 शब्दादयस्तेषां त्रिकाशाः प्रयोश्चेत्येषामात्यन्तिकशान्त्या पूर्णा-
 नन्दैकरसस्वप्रकाशाप्रज्ञात्मैक्यप्रतिष्ठां विना सुमुखुणाऽवान्तर-
 भूमिलाभनात्रेण कृतार्थोऽस्तीति संतुष्टधिया उत्तरोत्तरभूमिप्राप-
 कप्रयत्नमिधिलेन कदाचिदपि न भाव्यम् । हे राम, त्वं
 त्वं विद्यास्थानकुशलोऽप्यनात्मशास्त्रपाठवाससया ज्ञानोपेक्षणे-
 गानधिकारिषु ज्ञानोपदेशकौशलरूपापनेन वा ज्ञानबन्धुत्वमुपेत्य
 तत्त्वज्ञातोक्तभादिप्रयुक्तभोगलक्षणेषु भवामयेषु मा रमस्वेत्यर्थः
 ॥ ९ ॥ कथं तर्हि सुमुखुणा स्थातव्यं तदाह—अत्रेति । आहारो
 हितवित्तभोग्याज्ञानं तदर्थं तदुपायप्राप्तये श्रुतिस्मृतिसिद्धैरनिश्चं
 स्ववर्णाथमोचितोपायेनाहारार्जनादिकर्म कुर्यात् । शिष्टं स्पर्धम्
 ॥ १० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे ज्ञानविचारो नामैकविंशतितमः सर्गः ॥ २१ ॥

ज्ञानिनो लक्षणान्यादौ कीर्त्यन्तेऽभ्योपपत्तिभिः ।

तथा जीवजगद्ब्रह्मतत्त्वादीनि प्रसङ्गतः ॥ १ ॥

ज्ञानबन्धुता तत्फलं चोपवर्ण्य 'ज्ञानी चैव किमुच्यते' 'ज्ञानि-
 त्वेऽपि न किं फलं'मिति प्रश्नयोरुत्तरं वर्तुं प्रथमं ज्ञानिलक्षणा-
 न्याह—ज्ञानेनेति । यः पुमान् भूमिकारोहणक्रमपरिपक्वेन
 ज्ञानेन ज्ञेयब्रह्ममात्रे दृढप्रतिष्ठत्वात्प्रारब्धकर्मफलं भुञ्जानोऽप्य-
 चित्तं चित्तभिन्नं शब्दाद्विषयजातं तत्तदाकारपरिणतं काम-
 सकल्पादिवृत्तिभेदः परिणतं च चित्तमेवेति तच्च बाधितानु-

वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ॥ ४
 प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जितः ।
 तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥ ५
 अकारणं प्रवर्तन्त इव भावा अकारणात् ।
 अविद्यमाना अप्येतेऽविद्यमाना इव स्थिताः ॥ ६
 आविर्भावतिरोभावैर्भावभावभावभावैः ।
 पञ्चात्कारणतां यान्ति मिथः कारणकर्मभिः ॥ ७
 असतः शशशृङ्गादेर्मृगतृष्णाभ्रसो यथा ।

वृत्तिमात्रत्वात् वस्तुसद्व्यवस्थे स ज्ञानीति तद्वक्ष्यतेऽभिधीयते
 इत्यर्थः ॥ १ ॥ तथा ज्ञस्य शब्दाद्विषयभोक्तुः प्रमातुरन्तःकर-
 णस्य कर्मसु भोग्यभूतेषु विषयेषु येन पुरुषेण ज्ञाने ज्ञाने इत्यनु-
 ज्ञानम् । भीष्तायामन्वयीभावः । सर्वेषु बाधुपादिवृत्तिभेदेषु
 साक्षितया स्थितं चिन्मात्रं सम्यक् तत्त्वतो ज्ञात्वा बाधितं दृश्यं
 निर्वासनात्मकं वासनामात्रेणाप्यपरिशिष्टं दृश्यते स ज्ञानीत्यर्थः ।
 अथवा येन तत्त्वेन ज्ञातेन चित्तं निर्वासनं भवति तत्तत्त्वं
 सम्यक् ज्ञात्वा स्थितस्य यस्य ज्ञस्य सर्वेषां प्राणिनां कर्मसु
 यथेच्छव्यवहारेषु स्वैरं व्यवहरन्तिव्यवस्थानमेव दृश्यते । सध-
 नापहारवधबन्धादिप्रवृत्तिमपि द्रस्युना योऽनुमोदते स ज्ञानी-
 त्यर्थः । इदं तु जडभरतादौ प्रसिद्धम् ॥ २ ॥ अकृत्रिमै-
 केन स्वात्मलाभेन शान्तस्य यस्य ईहासु व्यवहारेषु ॥ ३ ॥
 पुनर्जन्ममूलाज्ञानोच्छेदित्वात्तत्त्वज्ञानमेव ज्ञानं नेतरदित्याह—
 अपुनर्जन्मने इति । शेषा तदन्या शान्दज्ञानचातुरी तु वस-
 नाशने वदातीति वसनाशनदा इतरशिल्पनुल्या जीविकैव न
 ज्ञानशब्दवाच्येत्यर्थः ॥ ४ ॥ चारदाकाशमिव निरावरणप्र-
 काशं हृदयं यस्य ॥ ५ ॥ सकलक्षणोपपत्तये तत्त्वज्ञानस्य सर्व-
 द्वैतवासनोच्छेदकत्वं समर्थयितुं जगतः असद्विद्यामात्रत्वपरि-
 शेषादकारणत्वासत्त्वे दर्शयति—अकारणमित्यादिना । यतोऽ-
 विद्यमानाः अतः अकारणं विनैव कारणं प्रवर्तन्ते उत्पद्यन्ते
 इव न तु वस्तुत उत्पद्यन्ते । एवं चाविद्यमाना एव स्थिता इव
 ॥ ६ ॥ उत्तरभावविकारेष्वप्यकारणत्वादेवासत्त्वं बोध्यमित्याश-
 येनाह—आविर्भावेति । ननु बीजादङ्कुरोत्पत्तेः प्रत्यक्षं दर्श-
 नात्कथमकारणं प्रवर्तन्त इत्युच्यते तत्राह—पञ्चादिति । नेदं
 सर्गादौ समवति, प्रलये बीजादङ्कुरयोरुभयोरप्यभावाविति
 भावः । कारणकर्मभिः कारणव्यापारैः ॥ ७ ॥ सांप्रतं दृश्यमान-

आलोकनादलभ्यस्य कीदृक् स्यात्किल कारणम् ॥ ८
 असतः शशशृङ्गादेः कारणं मार्गयन्ति ये ।
 बन्ध्यापुत्रस्य प्रौत्रस्य स्कन्धमासादयन्ति ते ॥ ९
 असत्यप्रतिभासानामेतदेवाशु कारणम् ।
 यदनालोकनं नाम समालोकक्षणक्षयम् ॥ १०
 परमात्मायते जीवो बुध्यमानस्त्वचेतनम् ।
 चेतनं बुध्यमानस्तु जीव एवावतिष्ठते ॥ ११
 परमात्मैव जीवोऽयं बुध्यमानस्त्वचेतनम् ।
 आस्र एव रसापत्तेः प्रयाति सहकारताम् ॥ १२
 चेतनं बुध्यमानस्तु जीव एवावतिष्ठते ।
 जीवो जीवितजीर्णेषु जातिजन्मसु जर्जरः ॥ १३
 ये परां दृष्टिमायाता विधि तेषामपामिव ।
 अरूपालोकमननं स्पन्दमस्पन्दनं सदा ॥ १४
 ये परां दृष्टिमायाता दृश्यश्रीपारदर्शिनः ।

न विद्यमानमप्यस्ति तेषां वेदनमाततम् ॥ १५
 ये परां दृष्टिमायाता विद्धि तेषामपामिव ।
 स्पन्दमस्पन्दनं सर्वमवेदनवशादिह ॥ १६
 अरूपालोकमननवेष्टिता मुक्तदामवत् ।
 बुधाः कर्मसु चेष्टन्ते वृक्षपत्रेष्विवानिलः ॥ १७
 ये परां दृष्टिमायाताः संसृतेः पारदर्शिनः ।
 न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां वसन्निव ॥ १८
 ये बद्धवासना मूढाः कर्म शंसन्ति तेऽनघ ।
 श्रुतिस्मृत्युचितं तेन विनाबोधं प्रयान्ति ते ॥ १९
 इन्द्रियाणि पतन्त्यर्थं भ्रष्टं गृध्र इवामिषम् ।
 तानि संयम्य मनसा युक्त आसीत् तत्परः ॥ २०
 नासन्निवेशं हेमास्ति नासर्गं ब्रह्म विद्यते ।
 किंतु सर्गादिशब्दार्थमुक्तं युक्तमतेः शिवम् ॥ २१
 एकान्धकारे संपन्ने व्यवहारो युगक्षये ।

मपि बीजं सतोऽङ्कुरस्य कारणमसतो वा । नाद्यः । सतः कारणा-
 पेक्षाभावात् । नद्वितीय इत्याह—असत इति द्वाभ्याम् ॥ ८ ॥
 आसादयन्त्यारोहन्ति । असत्तत्कारणतन्मार्गणानां पुत्रपौत्र-
 तत्स्कन्धारोहणानि क्रमादुद्गन्ताः ॥ ९ ॥ यद्यकारणद्वैतभावा-
 भ्युपगमे अनिमोक्षप्रसङ्गवारणाय मोक्षशास्त्रप्रामाण्याय च कार-
 णमवश्यं कल्प्यं तर्हि ज्ञानमात्रनिवर्त्य मिथ्याभूतमज्ञानमेव
 तत्कारणं कल्पनीयं नान्यत्सद्रूपं तस्य ज्ञानेन निवर्तयितुम-
 शक्त्या अनिमोक्षतादवस्थप्रसङ्गादित्याशयेनाह—असत्येति ।
 अनालोकनमज्ञानम् ॥ १० ॥ बन्धस्याज्ञानकार्यत्वं समालोकक्षण-
 क्षयत्वं चानुभावयति—परमिति । अयं जीवः परं स्वातिरिक्त-
 मचेतनं जडमहंकारदेहादि बुध्यमानस्तत्क्षणमेव तत्तादात्म्या-
 ह्याससंस्कारोद्बोधादात्मायते आत्मेवाचरति स एव त्वस्य
 बन्धः । चेतनं निष्कृष्टचिन्मात्रमात्मानं बुध्यमानस्तु जीव एव
 'येन जातानि जीवन्ति' इति श्रुतिदर्शितदिशा सर्वजगदुज्जीवन-
 हेतुनिष्कृष्टनिरतिशयामन्दाद्वय एवावतिष्ठते सोऽस्य मोक्ष
 इत्यर्थः । अथवा जीवः चेत्यते अनेनेति चेतनं बुद्धिः । चेत्यते
 अस्मिन्निति चेतनं स्थूलदेहः । चित्तिक्रिया चेतनं चिदाभासः ।
 तत्रितयरहितं कूटस्थाद्वयचिन्मात्रमात्मानं बुध्यमानः सन् पर-
 मात्मा ब्रह्मेवाचरति परमात्मायते । अद्वितीयपूर्णानन्दैकस्व-
 भावोऽवतिष्ठते । चेतनं बुद्ध्यादिकमात्मेति बुध्यमानस्तु जीव
 एव भूत्वावतिष्ठते न पूर्णभावं लभते इत्यर्थः । अथवा अयं
 जीवश्चेतनं विषयेषु चाक्षुषादिवृत्तिफलैर्व्यापनं तदहितमचेतनं
 यथा स्यात्तथा वृत्तिव्याप्यैव न तु फलव्याप्येत्यर्थः । एवमात्मानं
 स्वप्रकाशचिद्रूपतया बुध्यमानः परमात्मैव न ह्यनात्मा अणुमात्र-
 मपि फलव्याप्तिं विना बुध्यते । चेतनं वृत्तिव्यापनं यथा स्यात्तथा
 अणुमात्रमपि बुध्यमानो जीव एवावतिष्ठते न ब्रह्मस्वभावं
 स्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'यस्यामतं तस्य मतं मतं
 यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविज्ञानताम्'

इति ॥ ११ ॥ पूर्वार्धं विवृणोति—परमात्मैवेति । अयं
 जीवो यथोक्तरीत्या अचेतनमजागरणमेव स्वात्मनि बुध्यमानो
 जागरूकः परमात्मरसावेशात्परमात्मैव भवति । यथा आस्र
 एव हेमन्ते सुप्तप्रायो वसन्ते रसावेशात्पल्लवितः पुष्पितश्च
 प्रबुद्धप्रायः सहकारशब्दवाच्यतां प्रयाति तद्वदित्यर्थः । उत्तर-
 र्धमपि विवृणोति—चेतनमिति । जातिजन्मसु नानायोगिज-
 न्मसु ॥ १२ ॥ १३ ॥ अत एव तत्त्वविदां चेष्टास्तदभिमाना-
 भावादस्पन्दरूपा एवेत्याह—ये इति । रूपालोकमननाभिमान-
 शून्यम् । अपां निम्नानुसरणमिव प्रारब्धमात्रानुसरणमित्यर्थः
 ॥ १४ ॥ यथा दग्धपटदर्शनं पटदर्शनमेव न भवति किंतु भस्म-
 दर्शनं तथा बाधितदृश्यश्रीदर्शनं तदतीतब्रह्मदर्शनमेवेति न द्वैत-
 वेदनं तेषामस्तीत्याशयेनाह—ये इति ॥ १५ ॥ अतोऽपि तेषां
 स्पन्दस्यास्पन्दत्वं रूपदर्शनाभावेऽप्यापो दृष्टान्ता इत्याशये-
 नाह—ये इति ॥ १६ ॥ अत एव च तेषां कर्मलेपबन्धनाभाव
 इत्याह—अरूपेति । यतो रूपालोकमननवेष्टिता न भवन्त्यतो
 मुक्तदामा उत्पद्यते वृषभस्तद्वन्धनशून्या इत्यर्थः ॥ १७ ॥ पार-
 लौकिककर्मपेक्षा तु दूरनिरस्तेत्याशयेनाह—ये इति ॥ १८ ॥
 अज्ञानां तु कर्मैव शरणमित्याह—ये इति । विनाबोधं तत्त्व-
 ज्ञानाभावात् तेन कर्मणैव ते प्रयान्ति तत्फलभोगमिति शेषः
 ॥ १९ ॥ कुतस्तेषां कर्मैव शरणं तत्राह—इन्द्रियाणीति । अष्ट-
 मधःपतितम् । अधःपातहेतुमिति यावत् । सत्कर्मानालम्बने
 तेषामधःपात एवेन्द्रियैः कार्य इति भावः । तथा च श्रुतिः 'कुर्व-
 नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथे-
 तोस्ति न कर्म लिप्यते नरे' इति । अत एव विदुषोपीन्द्रिय-
 निग्रहे सत्येव स्वरूपप्रतिष्ठा सिद्ध्यति नान्यथेत्याह—तानीति
 ॥ २० ॥ अदग्धे दग्धे च पटे संनिवेशसाम्यवज्जगत्संनिवेश-
 साम्यभानमविदुषामिव विदुषामप्यस्तु नाम तथापि तद्विदुषां
 ब्रह्मैवेत्याशयेनाह—नासन्निवेशमिति ॥ २१ ॥ सर्गशब्दार्थ-

निर्विभागो निराभासो यथा ब्रह्मघने तथा ॥ २२ ॥
 अद्भोदरे धमाङ्गानां स्पन्दस्पर्न्दमयी यथा ।
 स्वसंविदात्मिका सत्ता भूतानामीश्वरी तथा ॥ २३ ॥
 जलस्यान्तर्जलांशानां द्वैताद्वैतमयो यथा ।
 स्वसंविदात्मा सुस्पन्दस्तथा ब्रह्मणि भूतदृक् ॥ २४ ॥
 यथाभ्वरेऽम्बरांशानां द्वैताद्वैतकृतात्मनि ।
 अनन्या सृष्टिरभाति तथानवयवे शिवे ॥ २५ ॥
 जगतोऽन्तरहंरूपमहंरूपान्तरे जगत् ।
 स्थितमन्योन्यवलितं कदलीदलपीठवत् ॥ २६ ॥
 रूपालोकमनस्कारै रन्ध्रैर्बहिरिव स्थितम् ।
 सृष्टिं पश्यति जीवोऽन्तः सरसीमिव पर्वतः ॥ २७ ॥
 जीवो जगत्तथात्मानं पश्यत्ययमकारणम् ।
 हेमेव कटकादित्वं तदपश्यन्न पश्यति ॥ २८ ॥
 जीवन्तोऽपि न जीवन्ति म्रियन्ते न मृता अपि ।
 सन्तोपि च न सन्तीव पारावारविदः शुभाः ॥ २९ ॥
 प्रबुद्धः सर्वकर्माणि कुर्वन्नपि न पश्यति ।
 गृहकर्माणि गेहस्थो गोष्ठभाण्डमना इव ॥ ३० ॥
 विराड् हृदि यथा चन्द्रः प्रतिदेहं यथा स्थितः ।

मुक्तत्वे प्रलयो दृष्टान्त इत्याह—एकेति । तथा अंसमपि सञ्चिति शेषः ॥ २९ ॥ प्रलये स्पन्दसत्तामसंभावयन्तं प्रति दृष्टान्तमाह—अद्भोदरे इति । यथा चल्दद्भोदरे तदवयवानाम-
 आद्विभागादस्पन्दमयी दिग्विभागानु स्पन्दमयीति खानुभव-
 संविदात्मिकैव विद्वद्धर्मयोगपश्येन सत्ता सभाव्यते तद्वत्प्रलयेऽ-
 पीश्वरी स्पन्दसत्ता भूताना सभावनीयेत्यर्थः ॥ २३ ॥ तत्र विदा-
 भासस्पन्दसद्भावेऽपि दृष्टान्तमाह—जलस्येति । जलस्य
 स्तिमिततडागादिजलस्य द्वैताद्वैतमयस्यैमित्याद्भेदाभेदान्या दुर्व-
 चः स्वसंविदात्मा ब्रह्मसंविदात्मा भूतदृक् तत्तज्जीवाभासः ॥ २४ ॥
 निरवयवे सावयवजगत्सद्भावेऽपि दृष्टान्तमाह—यथेति ।
 अम्बरांशानां दिग्मेदरूपाणामाकाशावयवानाम् ॥ २५ ॥ अनयैव
 शोखाप्रायुक्तमहंकारजगतोरन्योन्यान्तर्गतत्वमपि संभावनीयमि-
 त्याह—जरात इति ॥ २६ ॥ अहंकारात्मनो जीवस्य स्वान्तर्ग-
 तजगतो बहिर्दर्शनेऽपि दृष्टान्तमाह—रूपेति । यथा पर्वतो
 हिमवदादिः स्तरन्ध्रैर्निर्गतं स्वान्तर्गतजलमेव मानसादिमहासर-
 स्तया पश्यति तद्वत् ॥ २७ ॥ यथा हेमपिण्डे भूतभाविनकटका-
 चाकारा पर्यालोचने दृश्यन्ते कनकमात्रदृष्टौ तु न दृश्यन्ते तद्व-
 जीवे जगदपीत्याह—जीव इति । अकारणं निर्निमित्तं आन्त्यै-
 वेत्यर्थः ॥ २८ ॥ अत एव तद्वर्तिनां जीवन्मुक्तानां जन्ममरण-
 संसारस्थितयोऽन्यदशा सत्तोऽपि न सन्त्येवेत्याह—जीवन्त
 इति ॥ २९ ॥ ब्रह्मासक्तमनसो देहयात्राकर्मणि न कर्तृता-
 दुद्दिः यथा गोष्ठभाण्डेष्वासक्तमनसो गृहकर्माणीत्याह—प्रबुद्ध
 इति ॥ ३० ॥ आसक्तिकं सभाव्य प्रलुप्तप्रसवत्ते—विराडिति ।
 यथा ब्रह्माण्डहृदि विराड् जीवश्चन्द्रः स्थित एवं प्रतिव्य-
 ष्टिदेहं रेतोहिमकणाकारो जीवो हृदि स्थित इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

जीवो हिमकणाकारः स्थूले स्थूलो लघौ लघुः ॥ ३१ ॥
 अहमात्मा त्रिकोणत्वमुपगच्छति कल्पनम् । ॥ ३२ ॥
 असदेव सदाभासं मन्यते चेतनाद्वयः ॥ ३३ ॥
 कर्मकोशे त्रिकोणे च शुक्रसारेऽवतिष्ठते । ॥ ३४ ॥
 देहे जीवोहमित्यात्मा स्वामोदः कुसुमे यथा ॥ ३५ ॥
 अहमित्येव शुक्रस्था संविदापादमस्तकम् । ॥ ३६ ॥
 विसरत्पल्लिले ज्योत्स्ना यथा ब्रह्माण्डमण्डपे ॥ ३७ ॥
 अक्षरन्ध्रप्रणालेन विसृतं वेदनोदकम् । ॥ ३८ ॥
 व्याप्नोति त्रिजगद्भूमौ वियन्मेघतया यथा ॥ ३९ ॥
 देहे यद्यप्यशेषेऽस्मिन्बहिरन्तश्च वेदनम् । ॥ ४० ॥
 विद्यते तत्तथाप्यत्र शुकेऽस्ति घनवासना ॥ ४१ ॥
 जीवः संकल्पमात्रात्मा यत्संकल्पोऽवतिष्ठते । ॥ ४२ ॥
 हृदि भूत्वा स एवाशु बहिः प्रसरति स्फुटम् ॥ ४३ ॥
 यथास्थितां च निश्चितां वर्जयित्वा स्थिरोपमाम् । ॥ ४४ ॥
 न कयाचिदपि स्थित्या शाम्यत्यहमिति भ्रमः ॥ ४५ ॥
 चिन्तानुचिन्त्यमानापि भावनीयाम्बरोपमा । ॥ ४६ ॥
 अहंभावोपशमने शमनेन क्रमेण ते ॥ ४७ ॥
 तज्ज्ञा व्यवहरन्तीह भाव्यभावनवर्जितम् । ॥ ४८ ॥

तस्य देहग्रहणप्रकारमाह—अहमात्मेति । स पितृहृदि रेतो-
 रूपेण स्थितोऽहंकारात्मा जीवः पित्रा मातुश्चिकोणयोनौ निषि-
 क्तत्रिकोणपरिच्छिन्नत्वरूपं कल्पनमुपगच्छति । तत्रत्यरक्तमि-
 श्रितः कललबुद्बुदपिण्डाद्याकारक्रमेणाभिभूतमसदेव ध्रुवः शरीरं
 सदाकारमहमिति चेतनान्मन्यते ॥ ३२ ॥ एवं त्रिकोणोपल-
 क्षिते मातृगर्भे शुक्रमेव सारः अस्थिआध्वादिकठिनांशो यत्र
 तथाविधे स्वकर्मनिर्मितकोशे देहे कोशकारकमिरिव बद्धोऽवति-
 ष्ठते । स्वामोदः सुगन्धः ॥ ३३ ॥ तत्रापि चन्द्रकल्पनां चन्द्र-
 विम्ब इव हृदयस्थशुक्रकणेऽहंभावस्फूर्तीनां विशेषन्यासितद्वारा
 सर्वदेहसामान्याहंभावप्रयेति खानुमवादेव प्रसिद्धमित्याह—
 अहमिति ॥ ३४ ॥ तस्य बाह्यार्थदर्शने द्वाराण्याह—अक्षेति ।
 विसृतं बहिर्निःसृतं सामासान्तःकरणलक्षणं वेदनोदकम् । त्रिज-
 गत् त्रैलोक्यस्यान् संनिष्ठवात्थार्थान् । यथा धूमो मेघतया
 वियथाप्रोति तद्वत् ॥ ३५ ॥ सर्वदेहापेक्षया हृदयस्थे शुके
 विशेषाभिमानोऽनुभवसिद्ध इत्याह—देहे इति । घनवासना
 विशेषाभिमानः ॥ ३६ ॥ अत एव हि हार्दसंकल्पपूर्वकमेव बाह्य-
 र्थव्यवहाराः प्रवर्तन्त इत्याह—जीव इति ॥ ३७ ॥ अत एव
 च तदहंभावश्चित्तस्य ब्रह्माकारस्थितिं विना नोपायसहस्रैरपि
 शाम्यतीत्याह—यथास्थितामिति । समाधिपरिपाके स्थिर-
 ब्रह्मैकरस्यास्थिरोपमाम् ॥ ३८ ॥ अत एव हे राम, ते तव
 मननिदिध्यासनादिना अनुचिन्त्यमानापि ब्रह्मचिन्ता आल-
 न्तिकाहंभावोपशमने साध्ये उत्तरोत्तरभूमिकास्तु निर्विकल्पसमा-
 धिपरिपाचनक्रमेण चरमभूमिकायामम्बरोपमा भावनीया
 संपाद्या । नैतावतैव लयोपरान्तन्यमित्यर्थः ॥ ३९ ॥ तर्हि किं
 भवदादीनामपि तथा सा भावनीया, नैत्याह—तज्ज्ञा इति ।

अरूपालोकमननं मौनं दारुनरा इव ॥ ४०
 अकिञ्चिद्भावो यः स्यात्स मुक्त इति कथ्यते ।
 जीवन्नाकाशविशदो बन्धशून्य इव स्फुटम् ॥ ४१
 अहमित्येव शुक्रस्था संविदापादमस्तकम् ।
 विसरत्यखिले देहे ब्रह्माण्डेऽर्कप्रभा यथा ॥ ४२
 दृष्ट्वेनेत्रं स्वदनं जिह्वा श्रुतिः श्रोत्रं भवत्यसौ ।
 इत्याद्या वासनाः पञ्च बद्धा तासु निमज्जति ॥ ४३
 चिद्भावोऽक्षतयोदेति मनो भूत्वैकदेशतः ।
 सर्वगोऽपि रसो भूमौ यथाङ्कुरतया मधौ ॥ ४४
 यो भावयति भावेषु नेह रूढेष्वभावताम् ।
 तस्यायत्नवतो दुःखमनन्तं नोपशम्यति ॥ ४५
 येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
 यत्र कचनशायीह स सम्राडिव राजते ॥ ४६
 वासनाभिरुपेतोऽपि समग्राभिरवासनः ।
 अन्तःशून्योऽप्यशून्यात्मा खमिव श्वसतान्वितः ४७
 आसने शयने याने स्थितो यत्नैर्न बोध्यते ।
 निद्रालुरिव निर्वाणमनोमनननिर्वृतः ॥ ४८
 संविन्मात्रं हि पुरुषः सर्वगोऽपि स तिष्ठति ।
 स्फुटसारे शरीरस्य यथा गन्धोऽन्नकेसरे ॥ ४९

अरूपालोकमननं बाह्यमानसदृश्यदर्शनाभिमानरहितं यथा
 स्यात्तथा । मौनं कर्मेन्द्रियव्यापारशून्यं च ॥ ४० ॥ बन्धशून्यः
 शृङ्खलादिनिर्मुक्त इव ॥ ४१ ॥ सर्वशरीरेऽहंभावव्याप्तिरपि
 शुक्रांशव्याप्तिवशादेवेत्याह—अहमिति ॥ ४२ ॥ चक्षुरादी-
 न्द्रियभावेन तत्तत्स्थानसंबन्धोऽपि शुक्रात्मभूतस्यैव जीवस्ये-
 त्याह—हमिति । हनिन्द्रियं नेत्रं तद्रोलकम् । एवमग्रेऽपि ।
 अत एव हि ह्यादिदर्शनस्पर्शनश्रवणादौ सर्वेन्द्रियैरपि कामोदी-
 पनाग्निमज्जतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥ अज्ञानावृतचित्तो विपरीतभावनैव
 प्रथमं मनो भूत्वा रेतोऽहंभावनैकदेशतोऽक्षतया तत्तदिन्द्रिय-
 भावेनोदेतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ अत एव तत्प्रतिकूलयथार्थभावनं
 विना न तदुःखोपरम इत्याह—य इति । यः पुरुष इह संसारे
 रूढेषु मनोहंकारदेहादिजगद्रूपेषु 'वाचारम्भणं विकारो नाम-
 धेयम्, नेह नानास्ति किञ्चन, अथात आदेशो नेति नेति'
 इत्यादिश्रुतिदर्शितामभावतां न भावयति । तस्य मोक्षानुकूल-
 यत्नरहितस्य पुनर्दमस्थानन्तं जन्मादिदुःखं नोपशम्यत्येवेत्यर्थः
 ॥ ४५ ॥ तथा भावयतस्तु बाह्यसर्वस्वत्यागेऽपि प्रारब्धाकृष्ट-
 जनैः संपाद्यमानवसनाशनादिभिरान्तरस्वानन्दामृततृप्त्या च
 वैराजपदान्तसाम्राज्यमुखमस्त्येवेत्याह—येन केनचिदिति
 ॥ ४६ ॥ वासनाभिर्बद्धाकारवासनाभिर्दग्धपटतन्वाकारसदृशज-
 गद्वासनाभिर्वा ॥ ४७ ॥ न बोध्यते पञ्चादिभूमिकाप्रविष्टत्वादिति
 भावः ॥ ४८ ॥ स्फुटसारे रेतसि ॥ ४९ ॥ एवं व्यष्टिसमष्टि-
 जीवभावादिवर्णनं परमप्रस्तुते योजयन्नुपदेशसर्वस्वं संक्षि-
 प्याह—संविन्मात्रमिति । इति परमा रहस्यभूता उपदेशभूः
 श्री० मा० १४०

संविन्मात्रं विदुर्जन्तुं तस्य प्रसरणं जगत् ।
 आत्मनिष्ठत्वमजगत्परमेत्युपदेशभूः ॥ ५०
 नीरसो भव भावेषु सर्वेषु विमवादिषु ।
 पाषाणं हृदयं कृत्वा यथा भवसि भूतये ॥ ५१
 साधो हृदयसौषिर्यमसौषिर्यमिवास्तु ते ।
 अचित्त्ववपुषोऽचित्त्वादुपलस्येव राघव ॥ ५२
 तज्ज्ञाज्ञयोरशेषेषु भावाभावेषु कर्मसु ।
 ऋते निर्वासनत्वात् न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ ५३
 सत्तैवैषा विदो यत्सा भवत्युन्मिषिता जगत् ।
 परं तत्त्वं निमिषता दृगिवानामकं ततम् ॥ ५४
 दृश्यं विनश्यत्यखिलं विनष्टं जायते पुनः ।
 यज्ञं नष्टं न चोत्पन्नं तत्सद्भवति तद्भवान् ॥ ५५
 भावज्ञप्तिर्हि निर्मूला भावितापि न विद्यते ।
 सलिलं मृगतृष्णेव न ददाति भवाङ्कुरम् ॥ ५६
 यथाभूतार्थसंदर्शच्छिन्नाऽहमिति भावना ।
 दृष्टापि न करोत्यन्तर्दग्धं बीजमिवाङ्कुरम् ॥ ५७
 कर्म कुर्वन्नकुर्वन्वा वीतरागो निरामयः ।
 निर्मना नित्यनिर्वाणः पुमानात्मनि तिष्ठति ॥ ५८
 चित्तोपशान्तौ संशान्ताः शान्ता ये भोगबन्धवः ।

उपदेशस्थितिः ॥ ५० ॥ तत्र वैराग्यदार्ढ्यमेव साधनरहस्य-
 मित्याह—नीरस इति ॥ ५१ ॥ 'पाषाणं हृदयं कृत्वा' इत्युक्ते-
 स्तात्पर्यं विशदयति—साधो इति । यथा अचित्त्ववपुष उपलस्य-
 हृदयसौषिर्यमचित्त्वादेव चिन्निवेशानवकाशमसौषिर्यं प्रसिद्धं
 तथा चिन्मात्रवपुषस्तव दहराकाशरूपं हृदयसौषिर्यं चित्त्वादेवा-
 चिन्निवेशनिरवकाशं चिन्निबिडितमसौषिर्यमिवास्त्विति तदाशय-
 इत्यर्थः । अथवा इयन्तं कालमचिदात्माभिमानादचित्त्ववपुष-
 स्तव अचित्त्वादज्ञानात्स्फटिकोपलस्यान्तःकल्पितमाकाशमिव
 भोगसामग्री धनादिलाभकोटिभिरप्यपूर्यमाणं कामलक्षणं हृद-
 यसौषिर्यं मनश्छिद्रं सांप्रतं नित्यनिरतिशयानन्दपूर्णोत्पलभा-
 त्पूर्णकामत्वेन बाधितं वास्तवं स्फटिकोपलसौषिर्यमिवानन्दैक-
 घनमस्त्विति तदाशय इत्यर्थः ॥ ५२ ॥ अत एव स्फटिको-
 पलप्रतिबिम्बितजनव्यवहारकर्मस्त्विव तज्ज्ञाज्ञयोः प्रतीतिसा-
 म्येऽपि सत्यत्ववासनाभावकृत एव विशेष इत्याह—तज्ज्ञेति
 ॥ ५३ ॥ एवं च स्फटिकोपले द्रष्टृपुरुषदृष्टिरिव विदश्चैतन्यस्य
 सत्तैव वासनाभिरुन्मिषिता जगद्भवति निर्वासनत्वेन निमि-
 षिता ततमपरिच्छिन्नतत्त्वं मोक्षाख्यं भवतीति फलितमित्यर्थः
 ॥ ५४ ॥ अत एव चित्सत्तैव नित्यत्वमित्याह—दृश्यमिति
 ॥ ५५ ॥ ईदृशबोधेन मूलाज्ञाननाशे सत्यन्वेषणेऽपि जगद्भा-
 न्तिर्न लभ्येत्याह—भावैति । भावज्ञप्तिर्जगद्भ्रान्तिः । निर्मूला
 बाधितमूला । भाविता अन्विष्टापि ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ अत एव विहि-
 तकर्मकरणाकरणयोर्विदुषामविशेष इत्याह—कर्मैति ॥ ५८ ॥
 समनसोऽपि योगिनः शान्त्यादिवशादात्मनि कृतो न तिष्ठन्ति

न स्वभावपरिशीर्णाश्चित्तमेषां किलाकरः ॥ ५९ ॥
 अधनः केवलालोको बुधो जीवः परायते ।
 स एवान्योऽप्यन्योऽन्तरपराह इवातपः ॥ ६० ॥
 एकदेशस्थितात्पुंसो दूरायातस्य चेतसा ।
 यद्रूपं सकलं मध्ये तद्रूपं परमात्मनः ॥ ६१ ॥
 चारुचिह्नोमकपूरं यच्चमत्कुर्वते स्वयम् ।

मनन्तमन्तरव्यक्तं जगदित्येव वेत्ति तत् ॥
 गतभवभ्रमभासुरमक्षय
 शममुपेतमुपेक्षितदीपवत् ।
 स्थितमपीह जनं जगदीश्वरा-
 दनुगतं ननु भाति मुदा चित्ते ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मीकीये दे० भोक्तृपात्रेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सुखयोगोपदेशो नाम द्वाविंशः सर्गः

अधोविंशः सर्गः २३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

विरागवासनापास्तसमस्तभववासनः ।
 उत्थाय गच्छ प्रकृतेरस्या मङ्किरवाङ्कितः ॥ १ ॥
 मङ्किनोमामवत्पूर्वं ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
 स कथं शृणु निर्वाणमाप्तवान्मद्विबोचितः ॥ २ ॥
 अहं कदाचिदाकाशकोशादवनिमागतः ।
 भवत्पितामहायैन केनाप्युपनिमन्त्रितः ॥ ३ ॥
 विहरन्मूलं गच्छस्त्वत्पितामहपत्नम् ।
 प्राप्तोऽस्मि कामप्यादीर्घामरण्यानीं महातपाम् ॥ ४ ॥
 पांसुप्रतर्पनहतां प्रकचत्तप्तसैकताम् ।
 अदृष्टापरपर्यन्तां कचिद्राम किलाङ्किताम् ॥ ५ ॥

संज्ञाह—चित्तेति । ये ह्यञ्छान्ता योगिनस्तेऽपि चित्तोप-
 शान्तौ सत्यामेव सम्यक् शान्ता भवन्ति नान्यथा । यतस्तेषां
 भोगेन बध्नीतीति भोगबन्धवो भोगवासना न स्वभावपरि-
 क्षीणा मूलतदिच्छाः । हि यस्यादेवमाकरः खनीभूतं चित्तम-
 स्त्येवेत्यर्थः ॥ ५९ ॥ चित्तदेहादिरूपेण घनीभाव एव जीवस्य
 भेदकस्तापकश्च, तदभावे त्वयं ब्रह्माभिज्ञो निस्ताप एवे-
 त्याह—अधन इति । अधनो मूर्तिशून्यो जीवः केवलचिदा-
 लोकोमात्रः बोधितत्त्वपदार्थः परायते । पराभेदयोग्यो भवती-
 त्यर्थः । आतपपक्षे अधनो मेधावरणनिर्मुक्तः अखरश्च ॥ ६० ॥
 त्वेवाधनं केवलचिदालोकस्वरूपमात्मनोऽनुभावयति—एक-
 देशेति । पुंसो देहात् दूरं दूरस्थादिस्वप्नरादिविवर्णं चक्षुरादि-
 द्वारा यातस्य चेतसिचित्तवृत्तेर्मध्ये निच्छेदामावादेहमारभ्य
 चन्द्रमण्डलपर्यन्तमविच्छिन्ना अपरोक्षचिदभिव्यक्त्यास्तेव ।
 तस्या देहप्रदेशे चन्द्रप्रदेशे च सविषयत्वेऽप्यन्तराले निर्निषयं
 यद्रूपं प्रसिद्धं तद्रूपमेव सकलं पूर्णं परमात्मनः परिचयेमिल्यर्थः ।
 तथा च श्रुतिः 'तदिष्टोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरवः ।
 दिवीव चक्षुराततम्' इति ॥ ६१ ॥ त्विषयचित्त एवायं
 मायावन्मत्कारो जगदित्याह—चार्वेति । अव्यक्तमनसिष्णुकम्
 ॥ ६२ ॥ एवमेदं जगत्स्ववृत्तजनं प्रति गतभवभ्रमभासुरमुपे-
 क्षितदीपवत् शमं निर्वाणमुपेतमक्षयं ब्रह्मैव भाति । अक्षजनं
 प्रति तु नियन्तरीश्वरात्तकाशात्सर्वनियतिव्यवस्थांमिमुदा भोग-
 प्रीत्यो चाङ्गुतं खे आकाशोदरे परमार्थतः स्थितमपि भातीति
 दृष्टिभेदमात्रमित्यर्थः ॥ ६३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराभायणे

अक्षुब्धस्वानिलालोकजलभूशान्तिशालिनीम् ।
 ततां शून्यां महारम्भां ब्रह्मसत्तामिवामलीम् ॥ १ ॥
 अविद्यामिव संमोहसृगतृष्णां गतां भ्रमात् ॥ २ ॥
 जडतामाततां शून्यां दिक्मोहमिहिकाकुलाम् ॥ ३ ॥
 अथ तस्यामरण्यान्त्या यावत्प्रविहराम्यहम् ।
 तावत्पश्यामि पुरतो वदन्तं पथिकं भ्रमात् ॥ ४ ॥

पान्थ उवाच ।

अहो नु परिखेदाय शौढप्रायातपो रविः ।
 परितापाय पांपोऽयं दुर्जनेनेव संगमः ॥ १ ॥
 सुगलन्तीव मर्माणि स्फुरतीवाग्निरातपैः ।
 संकुचत्पलवापीडास्ताप्यन्ते वनराजयः ॥ २ ॥

तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सुखयोगोपदेशो नाम
 द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

मङ्किनो मरुकान्तारं वसिष्ठेनान्न संगमः ।

निर्वेदात्तत्त्वज्ञासोऽपदेशश्च वर्ण्यते ॥ १ ॥

'नीरसो भवं मावेषु सर्वेषु विभनादिषु' इति यद्वैराग्यदा-
 र्थस्यावश्यकत्वमुक्तं तत्प्रतिष्ठापनायं मङ्क्यपाख्यानमारभते—
 विरामोत्यादिना । अस्याः परिदृश्यमानायाः प्रकृतेः स्वाभाविक-
 काज्ञानादिरूपायाः संसृतेस्त्वत्त्वबोधेनोत्थाय निर्वाणोत्पद-
 गच्छेत्यर्थः । अङ्कितस्तत्त्वज्ञानैश्चिह्नितः ॥ १ ॥ मया विबोधितं
 उपदिष्टः ॥ २ ॥ केनापि यज्ञादिरूपेण भवत्पितामहस्याज-
 स्यायेन प्रयोजनेन प्रागुपनिमन्त्रितः सन् ॥ ३ ॥ त्वत्पितामहस्य
 पत्नं नगरमयोध्यां प्रति गच्छन्नामिव्यन्तसर्विजोकादुत्त-
 प्राप्य । विहरन् संचरन् । अरण्यानीं महारण्यम् । 'दिमारण्य-
 योमहत्त्वे' । 'इन्द्रव्रण' इत्यादिना आलुक् ॥ ४ ॥ पांसुनां
 प्रतर्पनेनाविच्छिन्नप्रसरणं इतां व्यस्ताम् । धूलरासिति यावत् ।
 अङ्कितां कुमामैरिति शेषः ॥ ५ ॥ अविद्यमानोपादिनाऽङ्गुलस्य
 खस्याकाशस्यानिलस्य झञ्झापवनस्य आलोकस्याऽस्तपस्य शून्य-
 तृष्णाजलस्य सप्तधुवश्च शान्त्या शालिनीं शोभमानाम् । दुर्गम-
 त्वाद्गन्तुं मेहान्तं आरम्भाः प्रयत्ना यत्र । अमला निषङ्गाम् ।
 अत्यसत्तापको स्पर्ष्टम् ॥ ६ ॥ जडतां गतामित्यनुषङ्गयते ॥ ७ ॥ वदन्तं
 व्यक्तं भाषमाणम् ॥ ८ ॥ यथा पापो दुर्जनेन संगमः । परिता-
 पाय संघां शौढप्रायातपोऽयं रविः । परिखेदायैव ॥ ९ ॥ २० ॥

तत्तावदेवमग्रस्थं ग्रामकं अविशाम्यहम् ।
 श्रममत्रापनीयाशु वहाम्यध्वानमाशुगः ॥ ११
 इति संचिन्त्य सोऽग्रस्थं किरातग्रामकं यदा ।
 प्रवेष्टुमिच्छति तदा मया प्रोक्तमिदं वचः ॥ १२
 अपरिज्ञातनीरागमार्गं मित्र शुभाकृते ।
 मरुमार्गमहारण्यपान्थं स्वागतमस्तु ते ॥ १३
 चिरं मनुष्यदेशेऽस्मिन्निर्जनग्राममध्वनि ।
 अधराध्वगं विश्रातिं विश्रान्तोऽपि न लप्स्यसे ॥ १४
 ग्रामे विश्रमणं नैव वर्तते पामरास्पदे ।
 तृद्धे लवणपानेन भूय एवाभिवर्धते ॥ १५
 एते ग्रामैकशरणाः पल्लवाः स्पन्दभीरवः ।
 अथथापथसंचारा हरिणा इव जन्तवः ॥ १६
 न स्फुरन्ति विचारेषु प्रज्वलन्त्यनुभूतिषु ।
 न त्रस्यन्ति दुराचारादश्मयन्मया इव ॥ १७
 कामार्थरागसद्वेषपरिनिष्ठितपौरुषाः ।
 कर्मण्यापातमधुरे रमन्ते दग्धबुद्धयः ॥ १८
 आभिजात्याततोदारा इतीला रसशालिनी ।
 नेह विश्वसिति प्रज्ञा मेघमाला मराविव ॥ १९
 घरमन्धगुहाहित्वं शिलान्तःकीटता वरम् ।
 वरं मरौ पङ्कमृगो न ग्राम्यजनसंगमः ॥ २०

तत् तस्माद्धेतोः ॥ ११ ॥ मया तद्भाग्योदयकालं ज्ञात्वा तदीय-
 सर्वश्रममूलोच्छेदायेदं तत्त्वबुभुक्षोत्पादकं सामिप्रायं वक्ष्य-
 माणवाक्यमुक्तमित्यर्थः ॥ १२ ॥ न परिज्ञातो नीरागाणाम-
 किंचनानां संचारयोग्य आतिथेयजनसंभृतो मार्गो येनेत्युत्ता-
 नार्थः । अत एव मरुमार्गमहारण्यपान्थ । अभिप्रेतार्थान्तरं
 तु स्पष्टम् । हे मित्र, तेऽत्रागमनं महर्शनेन सर्वदुःखमूलक्ष-
 यात्स्वागतमस्तु ॥ १३ ॥ तस्य अधराध्वगेति संबोधनात्स्वस्य
 तदा नभोध्वगमनं सूच्यते । निर्जनग्राममातिथेयजनशून्यग्रामं
 यथा स्यात्तथा स्थिते इति शेषः । प्राक्तनग्रामेष्वन्नपानप्रतिश्र-
 यादिलाभादिश्रान्तोऽप्यग्रे विश्रातिं न लप्स्यसे इत्युत्तानार्थः ।
 आशयार्थं तु हे अधरकर्माध्वग, अस्मिन् कर्मोपासनलभ्य-
 दक्षिणोत्तरायणमार्गलक्षणेऽध्वनि स्वर्गादिभूमिषु किंचित्किंचि-
 दिश्रान्तोऽपि निर्जनग्रामं जननं जनो निर्गतजन्मसमूहं यथा
 स्यात्तथा मोक्षवच्चिरं विश्रान्तिं न लप्स्यसे इति योज्यम् ॥ १४ ॥
 नैव वर्तते पामराणां दुर्वाक्यादिना प्रत्युत क्षोभकारित्वादित्यु-
 त्तानो भावः । आशयार्थस्तु ग्रामे कर्तृकरणसंघातालये देवम-
 नुष्यादिदेहे पामराणां कामद्वेषदीनामालये । यदि मन्यसे
 विषयोपभोगैर्विश्रान्तिरिति तत्राह—तृद्धिति । तथा चोक्तं
 ययातिना—‘न ज्ञातुं कामः कामानामुपभोगेन शान्यति ।
 हविषा कृष्णवर्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥’ इति ॥ १५ ॥ पल्लवाः
 पुलिन्दजातिमेदाः । आरण्यकत्वाज्जनपदस्पन्दाद्भीरवस्तम-
 सहमाना इत्युत्तानार्थः । आशयार्थं त्वेते कामादयः पल्लव-
 धत्तेहरागावियुक्ता विवेकस्पन्दभीरवः अथथापथसंचाराः

निमेषास्वादमधुराः क्षणान्तरविरागिणः ।
 मारणैकान्तनिरता ग्राम्या विषकणा इव ॥ २१
 वान्ति भस्मकणाकीर्णा जीर्णाः संशीर्णसदृशसु ।
 तृणपर्णवनव्यग्रा ग्राम्याधार्मिकवायवः ॥ २२
 एवमुक्तेन तेनाहमिदमुक्तस्ततोऽनघ ।
 मद्वाक्येन समाश्वास्य ज्ञातेनेवामृताम्भसा ॥ २३
 पान्थ उवाच ।
 भगवन्कोऽसि पूर्णात्मा महात्मा कथमात्मवान् ।
 पश्यस्यनाकुलो लोकं ग्रामयात्रामिवाध्वगः ॥ २४
 किं त्वया पीतममृतं किं त्वं सम्राड्विराडथ ।
 सर्वार्थरिक्तोऽपि चिरं संपूर्ण इव राजसे ॥ २५
 शून्योऽसि परिपूर्णोऽसि धूर्णोऽसीव स्थिरोऽसि च ।
 न सर्वमपि सर्वं च न किंचित्किंचिदेव च ॥ २६
 उपशान्तं च कान्तं च दीप्तमप्रतिघाति च ।
 निवृत्तं चोर्जितं तादृश्रपं किमिति ते मुने ॥ २७
 भूसंस्थोऽपि समस्तानां लोकानामुपरीव खे ।
 संस्थितोऽसि निरास्थोऽसि घनास्थोऽसीव लक्ष्यसे ॥
 प्रसृतं न पदार्थेषु न पदार्थात्मनाऽस्ति वै ।
 तवेन्दोरिव शुद्धस्य मनोऽमृतमयं स्थितम् ॥ २९

अशास्त्रीयमार्गप्रवणाः ॥ १६ ॥ न स्फुरन्तीत्याद्युभयतः स्पष्टं
 योज्यम् । अश्मयन्मयाः प्रतिमादय इव ॥ १७ ॥ १८ ॥
 आभिजात्यं विशुद्धोभयकुलता तेनातता प्रज्ञा इह जनेषु न
 विश्वसिति ॥ १९ ॥ अन्धयतीत्यन्धा अन्धकारावृता गुहा
 तस्यामहित्वमजगरता ॥ २० ॥ विषकणा मधुमिश्रविषकणाः
 ॥ २१ ॥ भस्मकणाकीर्णा धूलिधूसरा ग्रामे भवा ग्राम्या ये
 अधार्मिका जनास्तल्लक्षणा वायवश्चण्डपवना वान्ति संवरन्ति
 ॥ २२ ॥ एवं मया उक्तेन संभाषितेन तेन मङ्गिना मदाशय-
 बोधादयं मामुद्धरिष्यतीति सम्यगाश्वासं प्राप्याऽहमिदं वक्ष्य-
 माणमुक्तः ॥ २३ ॥ पूर्णात्मा त्वमिति शेषः ॥ २४ ॥ पूर्णा-
 त्मतामेव हेतुवितर्कः प्रकटयति—किं त्वयेति । सम्राट्
 सर्वलोकेश्वरः संपूर्णश्चन्द्र इव राजसे ॥ २५ ॥ सांसारिक-
 दोषदुःखैः शून्योऽसि । निरतिशयानन्देन जीवन्मुक्तगुणैश्च
 परिपूर्णोऽसि । देहाद्यप्रतिसंधानान्मदधूर्णोऽसीव । परमार्थे
 स्थिरोऽसीव । न सर्वमिति समष्ट्यपवादाध्यारोपदृष्टिभ्याम् ।
 न किंचिदिति व्यष्ट्यपवादाध्यारोपदृष्टिभ्याम् ॥ २६ ॥ ईह-
 शोऽहं कथं त्वया ज्ञात इति चेत्त्वद्रूपदर्शनादिति सूचयन्नाह—
 उपशान्तमिति । तथा च श्रुतिः ‘रूपमेवास्यैतन्महिमानं
 व्याचष्टे’ इति ॥ २७ ॥ मादृशानामुद्धारे घनास्थोऽसीव लक्ष्यसे
 ॥ २८ ॥ इन्दोरिव शुद्धस्य त्वामृतमयं मनः इन्दुकरवत्
 पदार्थेषु न प्रसृतं नाप्यौषधिवनस्पतिसोमाज्यपयोजादिपदार्था-
 त्मना उपभोगार्हमस्ति येन क्षीयेत । अतः सदैव पूर्णं
 स्थितमिति तव चन्द्रादतिशय इत्यर्थः ॥ २९ ॥ अन्य-

कलावानकलङ्कोऽन्तःशीतलो भास्वरः समः ।
 रसायनभरापूर्णः पूर्णेन्दुरिव राजसे ॥ ३०
 त्वदिच्छायां तु सदसद्भावं पश्यामि ते चिति ।
 संसारमण्डलमिदं स्थितं फलमिवाङ्कुरे ॥ ३१
 अहं तावदयं विप्र शाण्डिल्यकुलसंभवः ।
 मङ्किर्नाम महामाग तीर्थयात्राप्रसङ्गतः ॥ ३२
 गत्वा सुदूरमन्वानं दृष्ट्वा तीर्थानि संप्रति ।
 चिरकालेन सदनमात्मीर्यं गन्तुमुद्यतः ॥ ३३
 न च मे गन्तुमुद्योगो विरक्तमनसो गृहम् ।
 दृष्ट्वा तद्वित्सकाशानि भूतानि भुवनोदरे ॥ ३४
 भगवन्सत्यमात्मानं कथयेद्वातुकम्पया ।
 गम्भीराणि प्रसन्नानि साधुचेतःसरांसि हि ॥ ३५
 दर्शनादेव मिश्रत्वं कुर्वतां महतां पुरः ।
 कमलानीव भूतानि विकसन्त्याश्वसन्ति च ॥ ३६
 ममेदं च मनो मोहात्संसारभ्रमसंभवम् ।
 मन्ये हातुं न समर्थं स त्वं बोधानुकम्पितैः ॥ ३७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे ८० मङ्क्युपाख्याने मङ्किर्निर्वाणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥२३॥

चतुर्विंशः सर्गः २४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ममेत्युक्तवतो मङ्किर्विनिपत्य स पादयोः ।

दपि तत्साम्यं विशेषं चाह—कलावानिति ॥ ३० ॥ एवं
 हिरण्यगर्भसाम्यं ततो विशेषश्च तेऽस्तीत्याह—त्वदिच्छाया-
 मिति । सार्वत्र्यसर्वशक्त्यादिसंपन्नस्य ते चिति आत्मनि अङ्कुरे
 काण्डादिफलान्तं वृक्षरूपमिवैदं संसारमण्डलं सर्वयोग्यतया
 स्थितं पश्यामि संभावयामि । तत्सर्गार्थं त्वदिच्छाया तु सद-
 सद्भावं पश्यामि संवेदि । यदीच्छसि तर्हि त्वमपि जगत्सङ्गं
 शक्नोष्येव, परंतु नेच्छसीत्यर्थं ततो विशेष इति भावः ॥३१॥
 एवं प्रशंसयामिभुखीकृताय वसिष्ठाय स्ववैराग्यादिसाधनसंप-
 र्यापदेष्टार्हतां दर्शयितुं स्वगोत्रनामादि कीर्तयति—अह-
 मित्यादिना ॥३२॥३३॥ तद्वित्सकाशानि क्षणभङ्गराणि ॥३४॥
 आत्मानं नामगोत्रादिना कथयेत्युक्तानार्थः । सत्यमिति विशि-
 षणसारस्यात्परमात्मानमुपदिशेत्प्राशस्त्यार्थः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
 तमेवाशयं स्फुटमाह—ममेति । अव्यर्थं चकारः । ममेदमीष-
 द्विवेकशाल्यपि मनो मोहादज्ञानसंशयप्रावल्यात्संसारभ्रमसंभवं
 दुःखं हातुं निःशेषमुच्छेत्तुं विना गुरुपदेशं स्वविमर्शकौशल-
 मात्रेण न समर्थमिति मन्ये पुनः पुनर्भनेन निश्चितवानस्मि ।
 अतः स प्रावर्गितमदुर्द्वारणसामर्थ्यस्त्वं रहस्यबोधानुकूलरूपदे-
 शानुकम्पितमौहंसंशयोच्छेदेन दुःखक्षयसमर्थं कुर्विति शेषः
 ॥३७॥ राजर्वेः अजस्य । केनापि याजनादिरूपेणार्थेन ॥३८॥
 परं तदं परतीरम् ॥ ३९ ॥ मनीषिणां पन्थानमहं प्राप्त इत्यत्र

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

वसिष्ठोऽस्मि महाबुद्धे मुनिरस्मि नभोगृहः ।
 केनाप्यर्थेन राजर्वेः मर्गं सुपस्थितः ॥ ३८
 माया विषादं पन्थानमागतोऽसि मनीषिणाम् ।
 प्रायः प्राप्तोसि संसारसागरस्य परं तटम् ॥ ३९
 वैराग्यविभवोदारा मतिरुक्तिरपीदृशी ।
 आकृतिः शान्तरूपा च न भवत्यमहात्मनः ॥ ४०
 मणिर्मधुरकाषेण यथैति विमलात्मताम् ।
 तथा कषायपाकेन चित्तमेति विवेकिताम् ॥ ४१
 किं हातुमिच्छसि कथं संसारं हातुमिच्छसि ।
 उपदिष्टमहं मन्ये संपादयति कर्मभिः ॥ ४२
 विमलवासन उत्तममानसः
 परिविवेकमतिर्जनतेजसा ।
 पद्मशोकमलं खलु युज्यते
 जनितितीर्षुमतेरिदमुच्यते ॥ ४३

उवाचानन्दपूर्णाक्षमिदं मार्गं बहन्वचः ॥ १

किं लिङ्गं तदाह—वैराग्येति । अमहात्मनो ज्ञानाधिकारभाष्य-
 हीनस्य ॥ ४० ॥ विवेकोदयोऽपि चित्तकषायपाके तव लिङ्ग-
 मित्याह—मणिरिति । मधुरेण मृदुना काषेण शाण्डर्भणेन
 ॥ ४१ ॥ शिष्यो गुरुणोपदिष्टमर्थं पुनः पुनः स्वपरिशीलनाज्ज्ञा-
 तांशं पुनः प्रश्नावधारणादिकर्मभिर्भूतः फलपर्यवसितं संपाद-
 यति, अतस्त्वं स्वाज्ञातजिज्ञासितांशं वदेत्यर्थः ॥ ४२ ॥ खलु
 यस्मादेतोर्यः शिष्यो विमला रागादिमलशून्या वासना यस्य ।
 अत एवोत्तमवैराग्यादिसाधनत्रयसंपन्नमानसो भवति परिवि-
 विक्ता मित्यानिलसारासारादिविवेकशालिनी मतिर्यस्य तथावि-
 धश्च । स एव गुरुजनस्योपदेशातेजसा अशोकमात्मतत्त्वपदं
 प्राप्तुं युज्यते योग्यो भवति नेतरः । अतः कारणाच्च शिष्यो
 जन्मादिसर्वदुःखेभ्यस्त्रिदीर्घुस्तरणेच्छुर्मतिर्यस्य तथाविधस्य
 संभाषणपरीक्षणेन ज्ञाताधिकारस्यैव तव मयेदमुच्यते नान्या-
 दृशस्य । अतः स्वपूर्वोत्तरवृत्तान्तं वदेत्यर्थः ॥ ४३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहाराजायणसात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 मङ्किर्निर्वाणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

वेहैन्द्रियमनोबुद्धिदोषाघैः सह विस्तरात् ।

सांसारिकं स्वदुःखौघं मङ्किनेहोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

स मङ्किः इति एवमुक्तवतो मम पादयोर्विनिपत्य आनन्द-
 वाग्धपरिपूर्णाक्षं यथा स्यात्तथा मार्गं मां बहन् सज्जनानन्दपूर्ण-

मङ्गिरुवाच ।

भगवन्भूरिशो भ्रान्ता दिशो दश दशो यथा ।

मया न तु पुनः साधुर्लब्धः संशयनाशकृत् ॥ २

समस्तदेहसाराणां सारस्याद्य फलं मया ।

खिन्नोऽसि भगवन्पश्यन्दशाः संसारदोषदाः ॥ ३

पुनर्जातं पुनर्नष्टं सुखदुःखभ्रमः सदा ।

अवश्यंभाविपर्यन्तदुःखत्वात्सकलान्यपि ॥ ४

सुखान्येवातिदुःखानि वरं दुःखान्यतो मुने ।

दृढदुःखवदन्तत्वादुःखयन्ति सुखानि माम् ॥ ५

तथा राम यथा दुःखमेव मे सुखतां गतम् ।

वयोदशनलोमाश्चैः सह जर्जरतां गतम् ॥ ६

उच्चैःपदे पातपरा बुद्धिर्नाध्यवसायिनी ।

सुप्रवालं कुसंकल्पाद्गहनं न प्रकाशते ॥ ७

मनः पिप्पलपल्यूलैरिव कुग्रामकोटरम् ।

वासनाङ्गवहैर्गृध्रैर्नित्यं पापीयसी स्थितिः ॥ ८

मक्षमिन्द्रियकलपं बहुश्रुति वा इदं वक्ष्यमाणमुवाच ॥ १ ॥

हे भगवन्, स्वसंशयविच्छेदायोपदेशकुशल, साध्वन्वेषणपरेण

मया दशो दृष्टयो यथा दिक्षु भूरिशो भ्रमन्ति तथा दिशो

भ्रान्ताः ॥ २ ॥ अथ मया त्वल्लाभात्समस्तेषु देवासुरतिर्यगा-

दिदेहेषु साराणां ब्राह्मणदेहानां मध्ये ज्ञानाधिकारसंपत्त्या

सारस्य स्वदेहस्य फलं लब्धमिति शेषः ॥ ३ ॥ खेदमेव हेतुभिः

सह प्रपञ्चयति—पुनरित्यादिना । जातं जन्म । नष्टं मरणम् ।

ननु सदा दुःखभ्रम इति कुतः, सुखानामपि संसारेऽनुभूय-

मानत्वात्तत्राह—अवश्यमिति । सकलान्यपि सुखान्यवश्यं-

भाविपर्यन्तदुःखत्वादतिदुःखान्यत्यन्तदुःखानि दुःखान्येवेति

परेणान्वयः ॥ ४ ॥ अत एभ्यः सुखेभ्यो दुःखान्येव वरम् ।

अविच्छिन्ना दुःखपरम्परा हि जलचरैस्त्वच्छीततेवाभ्यासात्स-

त्यापि स्यात्, सुखविच्छिन्नाभ्यासात्तु सा दुःसहेति भावः ।

प्रवलतरदुःखानुबन्धित्वाद्वा कोदवाजजीवने दुःखापेक्षया विष-

संपृक्तमोदकास्वादसुखेष्विव क्षुद्रदुःखपरंपरापेक्षया भोगसुखेषु

द्वेष्यताधिक्यमुचितमित्याह—दृढेति ॥ ५ ॥ हे राम हे

सौम्येति वसिष्ठसंवाधनम् । सुखानि मां तथा दुःखयन्ति यथा

मे दुःखमेव सुखतां गतं भवतीत्यन्वयः । इदानीं तत्त्वज्ञाना-

नुपयुक्तानां वयःप्रभृतीनां वृथा जीर्णतामनर्थपरम्परावीजतां

च दर्शयति—वय इत्यादिना । जर्जरतां शिथिलताम् ॥ ६ ॥

उच्चैःपदे उत्तरोत्तरभोगोत्कर्षस्थाने पातोऽभिलाषस्तपरा

बुद्धिर्न परमपुरुषार्थसाधनाध्यवसायिनी । मनस्तूत्तरोत्तरं

वर्धमानै रागपल्लवैः सुप्रवालं पल्लवितमतीतभोग्यकोटिगोचर-

शोकमोहादिकुसंकल्पाच्च गहनं दुर्विवेकमत एव स्वस्वदोषा-

दिसाक्षिविवेकेन न प्रकाशते ॥ ७ ॥ तत्र दृष्टान्त-

माह—पिप्पलेति । पिप्पलानामश्वत्थादीनां पल्यूलैः पुव-

मानैः शुष्कपर्णादिसंचयैर्गहनं कुग्रामान्तरालमिव स्थिति-

कण्टकद्रुमवल्लीव करालकुटिला मतिः ।

आयुरायासशालिन्या यामिन्येव तमोन्धया ॥ ९

अक्षीवानागतालोकं क्षीणं संततचिन्तया ।

न किञ्चिद्रसमादत्ते नष्टैवापि न नश्यति ॥ १०

न पुष्पिता न फलिता तृष्णा शुष्कलतेव नः ।

कर्म कर्मणि निर्मग्नं वासनाख्यमकर्मणे ॥ ११

जीवितं च जने जीर्णं नैवोत्तीर्णं भवार्णवः ।

दिनानुदिनमुच्छ्रान्ना भोगाशा भयदायिनी ॥ १२

पूर्णापूर्णात्मनि क्षीणाः श्वभ्रकण्टकवृक्षवत् ।

चिन्ताज्वरविकारिण्यो लक्ष्म्याः खलु महापदः ॥ १३

संपन्नमक्षतं सापि विप्रलम्भेन जृम्भते ।

अन्तः स्फुरितरत्नेहं भास्वरं सान्धकोटरम् ॥ १४

कल्लोलकलिलं शून्यं चेतः शुष्कान्विदुर्भगम् ।

मामिन्द्रियाथैकपरं न स्पृशन्ति विवेकिनः ॥ १५

सकण्टकममेध्यस्थं श्लेष्मातकमिव द्रुमम् ।

जीविकापि नानाभोगवासनापूतिगन्धान्ने वहन्तीति वास-

नाङ्गवहैरत एव गृध्रैर्गृध्रप्रायैरिन्द्रियैः कुग्रामस्थितिरिव नित्यं

पापीयसी ॥ ८ ॥ मतिश्च करञ्जादिकण्टकवल्लीव कराल

कुटिला च । आयुश्च आयासशालिन्या तमोन्धया संतत-

विषयचिन्तया अनागतालोकमप्राप्तदीपादिप्रकाशमक्षि चक्षु-

स्तमोन्धया यामिन्येवाप्राप्तब्रह्मदर्शनालोकं वृथा क्षीणमिति

परेणान्वयः ॥ ९ ॥ तृष्णा शुष्कलतेव न किञ्चिद्विवेकरसमा-

दत्ते । पुनःपुनर्मोक्षीभावाद्यपि न नश्यति ॥ १० ॥ ननु

कर्मभिरेव तवोद्धारः किं न स्यात्तत्राह—कर्मैति । यत्किञ्चि-

जित्यनैमित्तिकं कर्म कृतं तत् प्राक्तनदुष्कर्मराशौ कतिपय-

भागक्षपणेन निमग्नम्, उपक्षीणमिति यावत् । भोगवासनाख्यं तु

बीजमुत्तरोत्तरानर्थहेतवे अकर्मणे काम्यनिषिद्धकर्मणि प्रवर्त-

यतीति शेषः ॥ ११ ॥ जने पुत्रकलत्रबान्धवसत्यादावासत्तया

जीर्णम् ॥ १२ ॥ लक्ष्म्या अर्जनार्थं महापदस्तु श्वभ्रोत्पन्न-

कण्टकवृक्षवत्पुत्रमित्रपक्ष्यधनादिभिः कदान्वितपूर्णे कदाचिदपूर्णा-

त्मनि च गृहे चिन्ताज्वरैर्विकारिण्यः क्षीणाः क्षपिताः ॥ १३ ॥

लक्ष्मीर्बहुतरधनादिभिः संपन्नं शस्त्रादिभिरक्षतमपि पुरुषं

भूयोभूयः प्रलोभ्य दूरमाकृष्य शत्रुदस्युवश्यतापादनेन सर्वसंप-

न्नाशशस्त्रघातादिदुःखपर्यवसायिनी विप्रलम्भेन जृम्भते । यथा

सर्पशिरोमणिना भास्वरमन्धकोटरं सान्धकारश्वभ्रमन्तरदृष्ट-

सर्पं स्फुरितरत्नेहं पुरुषं खान्तः प्रवेश्य सर्पदंशादिविप्रल-

म्भेन जृम्भते तद्वत् । इवार्थे वाशब्दः । 'रम्भेहं' इति पाठे

अन्तःप्रकृतसफलकदलीकं तादृशश्वभ्रं दृष्टान्तः ॥ १४ ॥ चेत-

श्चित्तमप्याशासहस्रकल्लोलैः कलिलमस्वच्छं सर्वतः प्रधावनेऽ-

प्यर्थशून्यमत एव शुष्कान्विरिव दुष्पूरत्वादुर्भगमत एव चित्त-

परवशमिन्द्रियाथैकपरं मां विवेकिनो न स्पृशन्ति उपेक्षन्ते

॥ १५ ॥ तत्र दृष्टान्तमाह—सकण्टकमिति । मनोऽपि

असदेव महारम्भः चलद्वर्जुनजातवत् ॥ १६ ॥
 नो मरणमप्राप्तं शून्यं दुःखाय च लगतिः ॥ १७ ॥
 प्राक्सज्जनसंपर्कचन्द्रतारकधारिणी ॥ १८ ॥
 अहंभावोऽसद्यक्षा क्षीणा नाज्ञानयामिनी ॥ १९ ॥
 अज्ञानान्तरमस्तेमसिंहः कर्मवृत्तानलः ॥ २० ॥
 दितो न विकाराको वासनारजनीक्षयः ॥ २१ ॥
 अस्तु वस्तुवद्भुतं भूतश्चित्तमतंगजः ॥ २२ ॥
 विद्याणि निवृत्तन्ति न जाने किं भविष्यति ॥ २३ ॥

आर्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे आल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्गल० मोहिवैराग्यं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः २५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 त्रिविक्रमं भावनं च वासना कलनेति च ।
 प्रनर्थायेह शब्दार्थे विगतार्थो विजृम्भते ॥ १ ॥
 त्वनं भावनं विद्धि सर्वदोषसमाश्रयम् ।
 स्मिन्नेवापदः सन्ति लता मधुरसे यथा ॥ २ ॥
 संसारमार्गे गहने वासनानिवाहनादिनः ।
 उपयाति विचित्रौघैर्वृत्तवृत्तान्तसंततिः ॥ ३ ॥
 वेवेकिनो वासनया सह संसारसंभ्रमः ।

वेमर्शो असदेव महान्तः कर्मरम्भा यस्मात्तथाविधम् । अर्जुन-
 तातो मातरोपविशेषः सदैव भ्रमणकारी यथा वेदे क्वलति
 इति ॥ १६ ॥ बहुशो भूतेऽपि मयि मरणमप्राप्तमभिलषि-
 त्तयैशून्यं दुःखायैव च लगतिः धावति । ननु शास्त्रसज्जनसंपर्क-
 गुणायैर्मनो निगृह्यतामिति चेद्यावज्ज्ञानफलविवेकादौदयेना-
 ज्ञानयामिनी न क्षीणा तावच्छास्त्रसज्जनसंपर्कदयश्चन्द्रतारकव-
 शास्त्रान्तिकमनोभ्रमविनाशाय समन्त इत्याशयेनाह—शास्त्रेति
 शास्त्राय ॥ १७ ॥ अहंभाव एव उत्तमं बालकल्पितयक्षो
 यस्याम् ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ सेवादिना वशीकृतैः प्राज्ञै-
 रूपायैर्था नाशिता सापि मे अदृष्टिदृष्टिविघात इवान्ध्याय संपन्ने-
 स्थम्बयः । एवं वर्णितरीत्या सर्वतोऽप्यनर्थप्रसक्त्या अतिसंमोहे
 ममस्य मम तदुत्तरणाय उदकं श्रेयसे मोक्षाय च यत्कार्यं
 तत्कथयेति संबन्धः ॥ २१ ॥ हे भगवन्, शरीरं शरीरकाले
 इव निर्मलस्वच्छज्ञानविवेकादिष्वोतिर्गणमण्डिते साधौ गुरोरे
 प्राप्ते सति आकाशस्येव शिष्यस्य मोहलक्षणा मिहिकाः
 शाम्यन्ति । अखिला आशा दिश इव मनोरथाश्च विमला निर-
 त्तगगादिरजोमला भवन्ति इति श्लोके प्रसिद्धा साधुजनैरुपगीता
 वाक् भवता हृतेन मरीचमवशान्तिदेन अद्वोधनेन सत्या
 अवाधितार्था भवत्विति प्रार्थना ॥ २२ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्गलवैराग्यं

शास्त्रदृष्टिरपि प्राज्ञैर्नाशिता तरणाय या ॥ २३ ॥
 साप्यदृष्टिरिवान्ध्याय वासनानिवाहकारिणी ॥ २४ ॥
 तदेवमृतिसंमोहे यत्कार्यसिद्धिं दारुणे ॥ २५ ॥
 उदकं श्रेयसे तात तन्मे कथय पृच्छते ॥ २६ ॥
 शाम्यन्ति मोहमिहिकाः शरीरं साधौ ॥ २७ ॥
 प्राप्ते भवन्ति विमलाश्च तथाखिलाशाः ॥ २८ ॥
 सत्येति वाक् भवतु साधुजनैरुपगीता ॥ २९ ॥
 मद्बोधनेन भवता भवशान्तिदेन ॥ ३० ॥

क्षीयते माधवस्यान्ते शनैरिव धरास्सः ॥ ३१ ॥
 अस्याः संसारसल्लभ्या वासनोत्सेधकारिणी ॥ ३२ ॥
 कदल्या अनजालिन्या रसलेखेव माधवी ॥ ३३ ॥
 संसारान्ध्यतयोदेति वासनात्मा रसश्चित्तौ ॥ ३४ ॥
 यथा वनतया तस्यौ मधुमासरसः क्षितौ ॥ ३५ ॥
 चिन्मात्रादमलाच्छून्यादते किंचिन्न विद्यते ॥ ३६ ॥
 नान्यत्किंचिदपर्यन्ते खे शून्यत्वेतरद्यथा ॥ ३७ ॥

संवेदनाद्यविशेषं बन्धनीजचतुष्टयम् ।

परमात्मनि विद्या च तस्मिद्भवत्तु वर्यते ॥ ३८ ॥

एवं मङ्गला स्वसंसारानर्थमुपवर्ण्य तस्मिन्सोपाये पृष्ठे तदी-
 जान्यपरिज्ञाय तस्मिन्सोपाया न संप्रादयितुं शक्या इति तदी-
 जचतुष्टयमुपपादयितुमुपदिशति—संवेदनमिति । अथमभि-
 निवैविषयोपभोगलक्षणं संवेदनमप्राप्ते विषये तदुपानुसंधानेन
 पुनः पुनर्भावनं तेन तदाकारलक्षणरूपा चित्ते दृढतायुता
 तथा च मरणादिकालेऽपि भाविदेहाधारम्भानुकूलं कृत्वा
 तत्समृतिरिति चतुर्विध इह संसारे अनर्थाय सर्वानर्थबीजभूतो
 मिथ्याभूतार्थगोचरत्वात्स्वयं मिथ्यासत्त्वाच्च विगतार्थः शब्दार्थ-
 पदार्थोऽविद्यया विजृम्भत इत्यर्थः ॥ १ ॥ तत्रायसोरस्यान्त-
 मनर्थता, अन्यस्योस्तु तत्पृष्ठभावेनेत्याशयेनाह—वेदनमिति ।
 तथापि भावनं महाननर्थ इत्याशयेनाह—तस्मिन्निति । यथा
 पुष्पमल्लादिसमृद्धा लता मधुमासप्रवर्तिते, तद्वत् सन्ति तस्य
 रिणामत्वात्तासर्वस्वस्य तद्वदित्यर्थः ॥ २ ॥ अत एव विवे-
 किनो विप्रयदोषभावनया, अज्ञभावनया च तत्सत्ये जायमान-
 सह सर्वोपि संसारः क्षीयत इत्याह—विवेकिन इति ॥ ३ ॥
 उत्तरसंसारस्य तु वासनैव प्रवर्तितेत्याह—अस्या इति ।
 सल्लकी सकण्टकगुल्मविशेषः ॥ ४ ॥ चित्तौ अज्ञानाश्रयजीव-
 चैतन्ये ॥ ५ ॥ परमार्थापलापदेतुं सदावर्णमहात्तुं शक्यमित्यु-
 च्यते ॥ ६ ॥

वेदनात्मा न सोऽस्त्यन्य इति या प्रतिभा स्थिरा ।
 एषाऽविद्या भ्रमस्त्वेव स च संसार आततः ॥ ८
 अनालोकनसंसिद्ध आलोकेनैव नश्यति ।
 असदात्मा सदाभासो बालवेतालवत्क्षणात् ॥ ९
 सर्वदृश्यदृशो बाधे बोधसारतयैकताम् ।
 यान्त्यशेषमहीपीठसरित्पूरा इवार्णवे ॥ १०
 मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छन्न्यं नोपलभ्यते ।
 चिन्मयादितया चेत्यं चिच्छन्न्यं नोपलभ्यते ॥ ११
 बोधावबुद्धं यद्वस्तु बोध एव तदुच्यते ।
 नाबोधं बुध्यते बोधो वैरूप्यात्तेन नान्यता ॥ १२
 द्रष्टृदर्शनदृश्येषु प्रत्येकं बोधमात्रता ।
 सारस्तेन तदन्यत्वं नास्ति किञ्चित्स्वपुष्पवत् ॥ १३
 सजातीयः सजातीयेनैकतामनुगच्छति ।
 अन्योन्यानुभवस्तेन भवत्वेकत्वनिश्चयः ॥ १४
 यदि काष्ठोपलादीनां न भवेद्बोधरूपता ।
 तत्सदानुपलम्भः स्यादेतेषामसतामिव ॥ १५
 यदा त्वेषा नु दृश्यश्रीर्बोधमात्रैकरूपिणी ।
 तदान्येषाप्यनन्यैव सती बोधेन बोध्यते ॥ १६

चित्सत्तास्फूर्तिभ्यामेव जगत्सत्तास्फूर्त्योः सर्वानुभवसिद्धत्वादि-
 ल्यर्थः । स्वतः सत्तास्फूर्त्या तु नान्यत्किञ्चित्प्रसिद्धम् । यथा खे-
 दान्यत्वेतरदप्रसिद्धं तद्वदित्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं सर्वतः सर्वदा
 स्फुरन्नपि स चिन्मात्ररूपो वेदनात्मा देहेन्द्रियादिभ्योऽन्यो
 नास्ति न भाति चेत्यसत्त्वाभानापादिका या स्थिरा अनादिः
 प्रतिभा भ्रान्तिरेवैवावरणशक्तिप्राधान्येनाविद्या विक्षेपशक्तिप्रा-
 धान्येन भ्रमस्तदुभयफलरूपेण संसार इत्यर्थः ॥ ८ ॥ अविद्यामूल-
 प्रसाधनफलं दर्शयति—अनालोकनेति ॥ ९ ॥ भेदकदृश्यो-
 पाधिबाधे सर्वदृष्टीनामैक्यं दर्शयति—सर्वेति ॥ १० ॥ 'चिन्मा-
 त्रादमलाच्छून्यादते किञ्चिन्न विद्यते' इति यदुक्तं तद्वृष्टान्तरूप-
 पादयति—मृन्मयमित्यादिना । चिन्मयतया आदिपदात्स-
 न्मयतया च ॥ ११ ॥ चिन्मयतया स्फुरतो विमर्शे चिदैकर-
 स्यमेव पर्यवस्यतीत्याशयेनाह—बोधेति । वैरूप्याद्विरुद्धरूप-
 त्वात् । बोधाभेदं विना स्फुरणासिद्धेर्बोधस्य च बोधाभेदा-
 योगादित्यर्थः ॥ १२ ॥ यदि द्रष्टादित्रिपुल्या बोधेनाध्यासिक-
 मभेदं ब्रूयात्तर्हि तस्या अन्तर्त्वादधिष्ठानबोधसारैकरस्यमेव
 सिद्धमित्याशयेनाह—द्रष्टृति ॥ १३ ॥ परस्परमिलनेनाभेदाप-
 तित्तु जलस्य जलेनेव सजातीयानामेव भवतीति जगत्सदनु-
 भवमात्रत्वे अनुभवानामेकत्वे चिदेकत्वविद्वान्त एव पर्यवसन्न
 इत्याह—सजातीय इति ॥ १४ ॥ काष्ठोपलादीनां दृश्यानां स्फुर-
 णाभेदानभ्युपगमे शशश्चन्द्रवदत्यन्ताभानमेव स्यादित्याह—
 यदीति ॥ १५ ॥ सिद्धान्ते तु नायं दोष इत्याह—यदेति
 ॥ १६ ॥ तथा जगद्बोधमात्रं बोधानतिरिक्तस्फूर्तिकत्वाद्यद-
 नतिरिक्तस्फूर्तिरुक्तं तत्तन्मात्रं यथा वायोः स्पन्द इत्यनुमानं
 दर्शयति—सर्वमिति ॥ १७ ॥ ननु दृष्टान्ते क्रियाक्रियावतो-

सर्वं जगद्गतं दृश्यं बोधमात्रमिदं तत्तन्मात्रम् ॥ १७
 स्पन्दमात्रं यथा वायुर्जलमात्रं यथार्णवः ॥ १७
 मिश्रीभूता अपि ह्येते जनुकाष्ठादयो यथा ।
 मिथोऽनुभवे मिश्रा ऐक्यं ह्यनुभवे मिथः ॥ १८
 अन्योन्यानुभवो ह्यैक्यमैक्यं त्वन्योन्यवेदनम् ।
 यथाभ्रसोः क्षीरयोर्वा न काष्ठजनुनोरिव ॥ १९
 अहमित्येव चन्धाय नाहमित्येव मुक्तये ।
 एतावन्मात्रके चन्धे स्वायत्ते किमशक्तता ॥ २०
 चन्द्रद्वयप्रत्ययचन्मृगतृष्णास्वुबुद्धिवत् ।
 किमनुत्थितं एवायमसदेवाहमुत्थितः ॥ २१
 ममेदमिति चन्धाय नाहमित्येव मुक्तये ।
 एतावन्मात्रके वस्तुन्यात्मायत्ते किमशक्ता ॥ २२
 यः कुण्डबदरन्यायो या घटाकाशयोः स्थितिः ।
 स संबन्धोऽपि नैवान्यमैक्यं ह्यन्योन्यवेदनम् ॥ २३
 अन्योन्यावेदनं त्वैक्यं भागशो गतमप्यलम् ।
 अजडं वा जडं वापि नैकं रूपं विमुञ्चति ॥ २४
 नाजडं जडतामेति स्वभावा ह्यनपायिनः ।
 यच्चाजडं जडं दृष्टं द्वैति तत्रास्ति नैकता ॥ २५

रवयवावयविनोश्च समवायेन मिश्रीभावमात्रं न त्वत्यन्तैक्यमि-
 त्याशङ्क्य जनुकाष्ठयोर्वह्निर्मिश्रणेऽपि विवेकानुभवे मिश्रणादर्श-
 नादिह त्वनुभवेऽपि तद्दर्शनेन वैषम्यात्समवायासिद्धेरित्याशये-
 नाह—मिश्रीभूता इति ॥ १८ ॥ अम्भसोः क्षीरयोर्वा अन्यो-
 न्यात्मतानुभवो ह्यैक्यम् । दृग्दृश्यपदार्थयोरपि तु तादृशमन्यो-
 न्यवेदनात्मकमैक्यमस्त्येव न तु जनुकाष्ठवत्संयोगमात्रमित्यर्थः
 ॥ १९ ॥ एवं सर्वदृश्यानां चिन्मात्रत्वेन तत्पदार्थचित्तोऽपरि-
 च्छिन्नतया नित्यमुक्तत्वे सिद्धे त्वपदार्थस्याहमिति परिच्छिन्न-
 बुद्धिरेव चन्धाय तत्त्यागमात्रं मुक्तये इति फलितमित्याह—
 अहमित्येवेति ॥ २० ॥ तदेवोपपादयति—चन्द्रेति । असदहं
 किमुत्थितः । अनुत्थित एवेति योज्यम् ॥ २१ ॥ अहन्तात्मागे
 ममतावन्धः स्वत एवापेतीत्याशयेनाह—ममेति । आत्मायत्ते
 स्वाधीने ॥ २२ ॥ असता अहंकारेण सत्यस्यात्मनः कुण्डबद-
 रन्यायेनान्तःप्रवेशेन तिरोधानं वा घटाकाशन्यायेन परिच्छेदो
 वा न संभान्य एवेत्याह—य इति । येन संबन्धेन तिरोधानम-
 च्छेदो वा सिध्येत्स संबन्धोऽप्यन्यमत्यन्तमिन्नमहंकारं कल्पयतो
 नास्ति । तस्माद्वास्तवैक्यमेव चन्द्रद्वित्वत्रेदेनाविद्यया विक-
 लितभेदरूपस्यात्मनः स्वप्रकाशवत्तात्स्फुरणमन्योन्यवेदनमिव
 भवतीत्यर्थः ॥ २३ ॥ ये तु जैमिनीया वास्तवमेव जडबोधयो-
 रैक्यं तदेवात्मरूपमिति मन्यन्ते तेषां तदैक्यं जाज्यांशगतं जडमेव
 बोधाशगतमपजडमेवेत्येकमपि न मुच्यतीति जटांशो न स्फुरेदेव
 चिदंशे स्फुरदपि निर्विषयमेवेत्यन्योन्यावेदनमेव तदैक्यं
 स्यादित्यर्थः ॥ २४ ॥ कुतो न मुच्यति तत्राह—नेति । हि यस्मा-
 त्कारणादनपायिन एव धर्माः स्वभावा इत्युच्यन्ते । यच्च त्वया
 अजडमेवात्मरूपं जडमित्यंशान्तरतया दृष्टं तत् द्वैति भिन्नमेव ।

वासनावेशवलिताः कुम्भिकारशतात्मभिः ।
 व्रजन्त्यधो धावन्तं शिलाः शैलच्युता इव ॥ २६ ॥
 व्यूढानां वासनावातैर्नृत्तानामितस्ततः ।
 तान्यापतन्ति दुःखानि तत्र वक्तुं न पार्यते ॥ २७ ॥
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० म० अष्टविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

भ्रान्त्वा भृशं करतलादहतकन्दुकामं
 लोकाः पतन्ति निरयेषु रसेन रक्ताः ।
 क्लेशेन तत्र परिजर्जरतां प्रयाताः
 कालान्तरेण पुनरन्यनिभा भवन्ति ॥ २८ ॥

षड्विंशः सर्गः २६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 संसारमार्गगह्वरे पतितस्यापतन्ति हि ।
 वृत्तवृत्तान्तलक्षणां कीटा इव घनागमे ॥ १ ॥
 सर्वे एव त्विमे भावाः परस्परमसङ्गिनः ।
 अद्वयामुपलानीव भावनैतेषु शृङ्खला ॥ २ ॥
 चित्तमान्ध्याय वृत्तान्तदुर्मैर्गहनवत्स्थितम् ।
 रसरञ्जनया लोके वसन्त इव काननम् ॥ ३ ॥
 अहो वत विचित्राणि वासनावशतोऽवशैः ।
 भूतकैरनुभूयन्ते सुखदुःखानि जन्मसु ॥ ४ ॥
 अहो वतातिविषमा वासना यद्वशाज्जनैः ।
 अनिद्यमानैरेवायं भ्रमोऽन्तरनुभूयते ॥ ५ ॥
 आह्लादिनो मृतवतः शुद्धस्यालोककारिणः ।
 शीतलस्याखिलार्थेषु हृष्येन्दोश्च किमन्तरम् ॥ ६ ॥
 पूर्वापरमनालोच्य यत्किंचिदभिवाञ्छतः ।
 निर्मर्यादस्य मूढस्य बालस्य च किमन्तरम् ॥ ७ ॥

तत्र अजडैकता नास्त्येवेति न जडबोधैक्यात्मसिद्धिरित्यर्थः ॥ २५ ॥ एवं चेत्कथमात्मत्वं वादिनो नानाविधं परस्परविरुद्धं वदन्ति तत्राह—वासनावेशेति । कुम्भिकारशतात्मभिः स्वस्व-
 वासनाभिरावेशैरभिमानैश्च वलिता वेष्टिताः परां हृदयैव तत्त्वं परीक्षमाणा अधोधो व्रजन्तीत्यर्थः ॥ २६ ॥ अत एव श्रौतदृष्टि-
 परिग्रहनां स्वस्ववासनावेतैर्व्यूढानामितस्ततो नीताना वृत्त-
 णाना तानि नानायोगिजन्ममरणनरकादिलोकशास्त्रप्रसिद्धानि दुःखान्यापतन्ति ॥ २७ ॥ तदेव वर्णयन्नुपसंहरति—भ्रान्त्वेति ।
 वासनाभिमानानुसारिरागादिरसेन रक्ता लोका जना नारीकर-
 तलादहतकन्दुकमिव भृशं भ्रान्त्वा निरयेषु पतन्ति । तत्र चिरं
 यातनाक्लेशेन परितो जर्जरतां प्रयाताः कालान्तरेऽपि
 स्थावरकुम्भिकीटादिजन्मभिरन्यनिभा अन्यसदृशा एव भवन्ति
 पुनर्मायुष्यं दुर्लभमित्यर्थः ॥ २८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अष्टविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २५ ॥

इह प्रपद्यतेऽमर्थो भावनादसरज्जनात् ।

इच्छान्त्यानर्थसंशान्तिर्विवेकात्तत्त्वदर्शनात् ॥ १ ॥

एवं स्थावरदियोनिसङ्गणे संसारमार्गे पतितस्य जीवस्थाना-
 दिवसारे बहुशो वृत्तानि च्छेदनभेदनदहनक्षुत्तृजराभयमरणा-

लब्धमाप्राणपर्यन्तं शुभाशुभमनुज्झतोः ।
 आसिपं को विशेषोऽस्ति वद माकरमूढयोः ॥ ८ ॥
 सर्वे एव त्विमे भावा देहदारधनादयः ।
 क्षिप्रमाशुष्कसिकताशरावविशारारवः ॥ ९ ॥
 आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमपि योनिशतेषु ते ।
 आकल्पं भ्रमतश्चित्तशान्तिर्नास्ति शमादर्थे ॥ १० ॥
 पर्यालोचनमात्रेण बन्धगन्धो न बाधते ।
 गच्छतो मार्गवैषम्यमिवालोकनकारिणः ॥ ११ ॥
 तव नावहितं चित्तं कामः कषलयिष्यति ।
 सावधानस्य बुद्धस्य पिशाचः किं करिष्यति ॥ १२ ॥
 यथेक्षणप्रसरणं रूपालोकनमात्रकम् ।
 संवित्प्रवृत्तिमानात्म तथा साहजगतस्थितम् ॥ १३ ॥
 यथाक्षिसंवृतिः सर्वरूपालोकशमोऽरिहन् ।
 संवित्संवरणं नाम सर्वदृश्यशमस्तथा ॥ १४ ॥

दिहपाणि वृत्तान्तलक्षणां पुनरन्यापतन्ति हि ॥ १॥ तत्र च भाव-
 नैव मूलमित्याशयेनाह—सर्वे इति । शृङ्खलावत्परस्परप्रबन्ध-
 हेतुः ॥ २ ॥ तस्याश्च मूलं विवेकान्धं रागादेषादिरसरश्चित्तं
 पूर्ववृत्तान्तवासनानिविडितं चित्तमित्याशयेनाह—चित्तमिति ।
 रसो रागादिर्भौमश्च ॥ ३ ॥ ४ ॥ अनिद्यमानैरेवामृतैरेव
 त्रिपुटीरूपैरर्थैः ॥ ५ ॥ अत एव तीर्णभ्रमास्तत्त्वविदः सुखिनः
 इति तान्प्रशंसति—आह्लादिन- इति । विशेषणान्यत्राग्रिम-
 श्लोकयोश्चोभयत्र तुल्यानि योज्यानि ॥ ६ ॥ अविवेकिनस्तु
 निन्दति—पूर्वापरमिति ॥ ७ ॥ आसिपं विषयं वडिषामिषं
 च प्राणानां पर्यन्तो मरणं तदवधि अनुज्झतोरत्यजतोः ।
 मकर एव माकरः, मत्स्यस्यास्युपलक्षणमेतत् ॥ ८ ॥ आशुष्क-
 सिकतानिर्मितशराव इव विशारारवो नश्वराः ॥ ९ ॥ इदानीं
 श्रुतचित्तमेव संबोध्याह—आब्रह्मेति ॥ १० ॥ पर्यालोचनं
 विवेकस्तन्मात्रेण । आलोकनं स्वपादन्यासप्रदेशावलोकनं
 तत्कारिणः ॥ ११ ॥ अवहितं सविवेकावधानम् । बुद्धस्य
 जागरुकस्य ॥ १२ ॥ साहंकारं जगत् निर्द्वैतैकाग्रधानसंवित्प्र-
 सरमाश्रमित्याह—यथेति । यथां रूपालोकनमात्रकमेवेक्षणस्य
 चक्षुषः प्रसरणं न तद्विधं किंचित्प्रसिद्धं तद्वत् ॥ १३ ॥ हे
 क्रामाद्यरिपद्महन्, वहिर्मुखसंविदः प्रत्यक्षप्रवणवृत्त्या संवरणं

असदेव जगत्साहं शुद्धा संवित्तनोति खे ।
 ईषत्प्रसरणेनाशु स्पन्दनं पवनो यथा ॥ १५
 सदिवासत्यमेवेदमकुर्वत्यन्यमेधते ।
 मृदा हेम्नेव कुम्भत्वमपृथग्लभ्यमात्मगम् ॥ १६
 शून्यमात्रं यथा व्योम स्पन्दमात्रं यथानिलः ।
 जलमात्रं यथोर्म्यादि संविन्मात्रं तथा जगत् ॥ १७
 अव्यवच्छिन्ननिर्भागसंविन्मात्रं जगत्त्रयम् ।
 विद्धि शान्तं तथा व्योम यथा वारिणि पर्वतम् ॥ १८
 निर्वाणस्योपशान्तस्य ह्यस्य सोदेति शीतता ।
 अन्तर्यत्रेन्दवोऽप्येते दीप्तज्वलनविन्दवः ॥ १९
 किं केन कथमेकान्तशान्ताततशिवात्मनि ।
 निरालोकोऽपरालोकः शून्ये जगति जन्यते ॥ २०
 या सत्ता ब्रह्मशब्दाख्या रूपं सर्वस्य तन्निजम् ।
 न यत्र काचिद्वाधास्ति सर्वं तन्मयमव्ययम् ॥ २१
 यदिदं तु पदार्थत्वं यत्र बाधानुभूयते ।
 यद्यच्च बाधनं प्रेक्ष्य तत्र विद्मः खपुष्पवत् ॥ २२
 ह्य एवापगतस्वान्तं शान्तमास्व महाश्मवत् ।
 असौ न मननं मानमनन्तमजमव्ययम् ॥ २३
 आकाशकल्पे खे भावे तिष्ठतोऽङ्गानिवेदनम् ।

स्वात्मन्युपरमः ॥ १४ ॥ साहमहंकारसहितं जगत् शुद्धा संविदेव
 अविवेकप्रयुक्तेनेषत्प्रसरणेन खे आवृतस्वरूपाकाशे तनोति
 ॥ १५ ॥ ब्रह्मसंवित्परमार्थतोऽन्यमकुर्वत्येवासत्यमेव सदिवेदं जग-
 त्प्रपमेधते जृम्भते । कथमसत्यमिति ज्ञायते तत्राह—मृदेति ।
 यथा मृदा हेम्ना वा आत्मगं स्वात्मनि कल्पितं कुम्भत्वमपृथग्लभ्यं
 पृथक्त्व लब्धुमशक्यं तथेदं जगदपि चितः पृथक्त्व लब्धुमश-
 क्यम् । यदि सत्यं स्यात् पृथक् लभ्येतेति भावः ॥ १६ ॥ यद्यद-
 पृथग्लभ्यं तत्तत्पृथक्सत्ताशून्यमिति हेमादौ व्याप्तिं दर्शयति—
 शून्यमात्रमिति ॥ १७ ॥ अव्यवच्छिन्नेति सजातीयमेदनिरासः ।
 निर्माणेति स्वगतमेदनिरासः । वारिणि प्रतिबिम्बितं पर्वतं
 पर्वतसदृशं बृहत्तरङ्गं वा ॥ १८ ॥ इत्थं जगत्तत्त्वं जानतो न सांसा-
 रिकतापप्रसक्तिरित्याशयेनाह—निर्वाणस्येति । सा सर्वोत्कृष्टा
 शीतता सर्वतापोपशान्त्युपलक्षिताऽऽह्लादता । यत्र बहुष्येति
 यावत् ॥ १९ ॥ तत्र प्रकाशान्तरप्रसक्तिरपि नास्तीत्याह—
 किमिति । जगति शिवे शून्ये सति अपरालोकः किंस्वरूपः,
 केन साधनेन कया च क्रियया जन्यत इत्यर्थः ॥ २० ॥ तदेव
 सर्ववस्तुनामबाध्यं स्वरूपमित्याह—येति ॥ २१ ॥ बाध्यं स्वरूपं
 तर्हि किं तत्राह—यदिति । पदार्थत्वं नामरूपभावः । तच्च
 तस्य बाधनं चाद्यच्च तस्योत्पत्त्यादिविकारषट्कं तत्सर्वं प्रेक्ष्य सम्य-
 त्विमृश्यापि न विद्मः । यतस्तत्त्वपुष्पत्रुच्छमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥
 तच्च रूपं मनोविकल्पितं मनोपगमेऽपैतीति शान्तमास्वेत्याह—
 ह्य एवेति । स्वान्तापगमेन शोऽप्यपगमिष्यत्येवेति कथं ह्य एवा-
 स्वेत्युच्यते तत्राह—असामिति । मनोपगमे हि नामरूपात्मकं
 मननं विकल्पनं तन्मानं चक्षुरादि चाऽपगच्छेत्, असौ शस्तु
 यो० वा० १४१

भवत्यभ्यासदार्ढ्येन विना स्वप्नविकारवत् ॥ २४
 निरुपादानसंभारमभित्तावेव चेतति ।
 ब्राह्मं कर्तुं जगच्चित्रं न कश्चिद्वा न किञ्चन ॥ २५
 तनोति यत्तदात्मैव तस्य तत्र तथा स्थितम् ।
 दृश्याभावादसदृश्यं तेन कः कः करोति किम् ॥ २६
 अहं सुखीति सुखिता अहं दुःखीति दुःखिता ।
 सर्व एव स्वरूपस्था व्योमात्मानोऽपि पार्थिवाः ॥ २७
 सर्वेषामेव भावानां चिदाकाशात्मनामपि ।
 मिथ्यैव स्वप्नशैलानामिव पार्थिवता स्थिता ॥ २८
 अहंत्वोल्लेखतः सत्ता भ्रमभावविकारिणी ।
 तदभावात्स्वभावैकनिष्ठता शमशालिनी ॥ २९
 हेम्नः कटकशब्दार्थो व्यतिरिक्तो यथास्ति ते ।
 व्यतिरिक्ता तथा सत्या नाहंतास्ति शमात्मनः ॥ ३०
 निर्वाणो निर्मना मौनी कर्ताऽकर्ता च शीतलः ।
 ह्य एव शान्त एवास्ते शून्य एवाभिपूरितः ॥ ३१
 निर्वासनास्पन्दपरो यन्नपुत्रकगात्रवत् ।
 स यथास्थितमेवास्ते ह्यः संव्यवहरन्नपि ॥ ३२
 यथा मञ्जुकसंस्थस्य स्पन्दन्ते नैव वा शिशोः ।
 अङ्गानि खानुसंधानं विनैवविदितात्मनः ॥ ३३

तथा न कित्वनन्तमजमव्ययं ब्रह्मैवेति नापगच्छतीत्यर्थः ॥ २३ ॥
 हे अहं, आकाशकल्पे खे आत्मभावे मनोबाधेन तिष्ठतो ह्यस्य
 नामरूपयोरनिवेदनमप्रतीतिरेव भवति, यतस्तत्स्वरूपावस्थित्य-
 भ्यासदार्ढ्याभावादेव स्वप्नविकारवन्मनस्युदेतीत्यर्थः ॥ २४ ॥
 मनोविकल्पमात्रं जगदिति कथं ज्ञायते तत्राह—निरुपादा-
 नेति । यतो ब्राह्मं हैरण्यगर्भं मन एव जगतः कर्तुं निर्मातृ तच्च
 निरुपादानसंभारं निरस्तरजकद्रव्यतुलिकाकूर्चोदिसामग्रीकमेव
 जगच्चित्रमभित्तौ निराश्रय एव संकल्पमात्रेण चेतति पश्यति ।
 न कश्चिद्वा मनोतिरिक्तः कर्ता न किञ्चन कार्यं च मानसे स्वप्नादौ
 दृष्टमित्यर्थः ॥ २५ ॥ तच्च मनो यत्तनोति विस्तारयति तत्र
 सर्वत्र मनोराज्यादाविव आत्मा स्वयमेव तथा तत्तद्वस्त्वाभासा-
 त्मना स्थितम् । इत्थं स्वातिरिक्तदृश्याभावात्केन कः किं कः
 करोति, न कश्चित्केनचित्कचित्किंचिदित्यर्थः ॥ २६ ॥ इत्थं च
 सुखदुःखे तत्साधनीभूताः पार्थिवादिषिषयाश्च कल्पनोपरमे
 शून्यरूपा आत्मरूपा वा संपन्ना इत्याह—अहमिति ॥ २७ ॥
 पार्थिवानामप्यपार्थिवता स्वप्नशैलवत्संभावनीयेत्याह—सर्वेषा-
 मिति ॥ २८ ॥ एवं च सति यत्फलितं तदाह—अहंत्वोल्लेखत
 इत्यादिना ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ निर्वासनत्वादेव अस्पन्दपरः
 स्पन्दामिमानशून्यः । यन्ननिर्मितशिलादिप्रतिमाशरीरवत्
 ॥ ३२ ॥ देहस्पन्ददशायामेव तदस्पन्दसंभावनाय दृष्टान्तमाह—
 यथेति । स्पन्दमानदोलामञ्जके सुप्तस्य शिशोरङ्गानि नैव
 स्पन्दन्ते तद्वत्संभावनीयमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ ननु तस्य स्वरूपज्ञान-

तिःसंबोधैकबोधस्य निराशेहैषणाशिषः ।
 शान्तानन्तात्मरूपत्वादनुसंधानता कुतः ॥ ३४
 अद्रष्टुरपदद्वयस्याहग्रूपस्यापरूपिणः ।
 कुतः किलानुसंधानमनपेक्षस्य पदयतः ॥ ३५
 अपेक्षैव घनो बन्ध उपेक्षैव विमुक्तता ।
 सर्वशब्दान्विता तस्यां विश्रान्तेन किमीक्ष्यते ॥ ३६
 पार्थिवत्वे शरीरेऽस्मिन्स्वप्नाङ्ग इवास्ति ।
 भ्रममात्रात्मनि कुतः क कस्य किमपेक्षणम् ॥ ३७
 उपशान्तसमस्तेहं विगताखिलकौतुकम् ।
 निरस्तवेदनं ह्येन विदा केवलमास्यते ॥ ३८
 इत्युपे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० मङ्गलपु० निर्वाणसमाप्तिर्नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

मङ्गिनेति श्रुतवता ततो मोहो महानपि ।
 अशेषेण परित्यक्तस्तत्रैव त्वमिवाहिता ॥ ३९
 प्रवाद्यापतितं कार्यं कुर्वतापास्तवासनम् ।
 तेन वर्षशतस्यान्ते स्थितमदौ समाधिना ॥ ४०
 तत्राद्ययावत्पाषाणसमधर्मा स तिष्ठति ।
 संशान्तकरणो योगी बोध्यमानः प्रबुध्यते ॥ ४१
 एतेन राघव विवेकपदेन शान्ति-
 मासादयोदयवता मनसा विहर्तुम् ।
 मा दीनतां व्रजतु रागमयी मतिस्ते
 क्षीणा क्षणादसलिलेव शरद्वनाली ॥ ४२
 इत्युपे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० मङ्गलपु० निर्वाणसमाप्तिर्नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः २७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

निर्वाणो भव शान्तात्मा यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
 सन्नेवासत्समः सौम्य स्फटिकादिव निर्मितः ॥ १
 एकसिन्धेव सर्वसिन्धसंस्थिते विततात्मनि ।
 नैकसिन्ध च सर्वसिन्धानाताकलना कुतः ॥ २
 आद्यन्तरहितं सर्वं व्योम चित्तत्वनिर्भरम् ।
 शरीरोत्पत्तिनाशेषु का चित्तत्वस्य खण्डना ॥ ३
 स्फुरन्ति हि जडक्रीडाश्चिच्चमत्कारचापलात् ।
 अचापलात्प्रतीयन्ते तरङ्गा इव चारिणि ॥ ४
 यथा शुभ्राम्बुदे वल्लशङ्का न फलभागिनी ।

देहोऽयमहमित्येषा तथा शङ्का न वास्तवी ॥ ५
 माऽवस्तुनि निमग्नस्त्वं भव भूरिभवप्रदे ।
 वस्त्वन्तसुखायाद्यं भव्यं भावय भूतये ॥ ६
 चिद्योमानन्तमेवासिन्धेयत्तास्ति समात्मनः ।
 इत्येव परमं वस्तु वस्तु तत्परमस्तु ते ॥ ७
 एवं निश्चयवात्राम त्वमेवासि निरञ्जनः ।
 ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं सत्यं चापि न किञ्चन ॥ ८
 द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च चित एव विभूतयः ।
 अतस्तत्संविदो नान्यदध्यानं ध्येयमस्ति च ॥ ९

मेव देहाद्यनुसंधानं किं न स्यात्तत्राह—निःसंबोधेति ।
 निःसंबोधो बहिर्मुखवित्तवृत्तिसाच्छून्याखण्डबोधरूपस्य । चिर-
 प्राप्ये विषये आशा । प्राप्तविषये स्नेह एषणा । मनोरथैराशास-
 नमाशीरिति मेहः ॥ २४ ॥ द्रष्टादित्रिपुटीवाचादपि तस्य नानु-
 संधानतेत्याह—अद्रष्टुरिति । स्वयं च अपरूपिणो निराकारस्य
 ॥ ३५ ॥ सर्वशब्दान्विता उपेक्षा सर्वोपेक्षैव विमुक्तावेत्यर्थः ।
 तस्यां पूर्णकामतायां विश्रान्तेन किमीक्ष्यते अपेक्ष्यते । 'ईप्स्यते'
 इति पाठः साधुः ॥ ३६ ॥ शरीरार्थं हि सर्वोऽप्यपेक्षते । तस्य स्वाप्-
 शरीरादिवद्वाधे सति न कस्यचिदपेक्षाप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ ३७ ॥
 उपसंहरति—उपशान्तेति ॥ ३८ ॥ मुख्याधिकारित्वान्मङ्गिनः
 सकृच्छ्रवणमात्रेण मोहनिवृत्तिमाह—मङ्गिनेति ॥ ३९ ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ हे राघव, त्वमेतेन मङ्गिपरिग्रहीतोपायेन ज्ञानेऽभ्युद-
 यवता मनसा विवेकपदेन स्वात्मानन्दे विहर्तुं शान्तिमासादय ।
 ते मतिः रागमयी सती असलिला शरद्वनालीव क्षणात् क्षीण-
 विवेका भूत्वा दीनतां मा व्रजत्वित्यर्थः ॥ ४२ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणसमा-
 प्तिर्नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

सादसत्समस्तद्वत्त्वात्माद्वैतदृष्टिप्रसरानिरोधित्वादसत्समः ॥ १ ॥
 प्रबोधात्प्रागेकसिन्धेव सर्वात्मतया स्थिते प्रबोधे तु नैकसिन्ध
 च सर्वसिन्ध । व्यष्टिसमष्टिभाववाधादिति भावः ॥ २ ॥ ननु
 प्रतिशरीरमुत्पत्तिनाशान्यां सप्तवित्तस्तिपरिभागेन च परिच्छेदा-
 नुसंधाननैवास्तु नेत्याह—आद्यन्तेति ॥ ३ ॥ जडसर्गादि-
 रूपाः क्रीडाः । चिच्चमत्कारो मनस्वचापलात् ॥ ४ ॥ वल-
 लशङ्का वल्ललोत्प्रेक्षा न परमार्थविधारणफलभागिनी तद्वत् ।
 शङ्का भ्रान्तिः ॥ ५ ॥ अवस्तुनि मिथ्याभूते देहादावहंभाव-
 निमग्नो मा भव । भूतये मुक्तये ॥ ६ ॥ किं तद्वस्तु यद्भावनं
 कार्यं तदाह—चिद्योमेति । तादृशवस्तु तत्परं ते मनोऽस्तिव-
 ल्यर्थः ॥ ७ ॥ तस्य किं फलं तदाह—एवमिति । न कार्यं निश्च-
 योऽनिश्चयो ध्यानध्यात्रादित्रिपुटीवाधकत्वादित्याशङ्क्य तस्या-
 वाध्यत्वमेव युक्तमित्याशयेनाह—ध्यातेति । कुतस्तस्यावाध्यत्वं
 तत्राह—सत्यं चेति । यतो ध्यात्रादित्रये किञ्चिदपि सत्यं
 नेत्यर्थः ॥ ८ ॥ तर्हि दर्शनादित्रिपुट्या अपि तात्त्विकान्यात्कर्तव्यं
 तद्वाचकत्वमित्याशङ्क्य विशेषमाह—द्रष्टेति । दर्शनं हि प्रमा-
 णजन्यं वस्तुतन्त्रमेव न पुरुषतन्त्रमिति वृत्त्यभिव्यक्तपरमार्थ-
 चित्प्राधान्यादज्ञाननिवर्तकत्वाच्च परमार्थचित्त एव विभूतयो
 द्रष्टादयः । ध्यानं तु न प्रमाणजं नापि वस्तुतन्त्रं पुरुषेच्छतु-

चित्तस्फन्दे स्थितः स्फन्दभ्रमाद्विधविभूतयः ।

चित्तशान्त्यैव तच्छान्त्या स्वरूपस्थितिरीर्यते ॥ १ ॥

स्फटिकाभिर्मितः प्रतिमापुरुषो यथा सन्नपि दृष्टिप्रखरोनिरोधि-

१ सम्यगाप्तिः सत्तापिः

उद्यति प्रतिपञ्चन्द्रे वहति प्रलयानिले ।
 आत्मतत्त्वं समं सौम्यं न क्षुभ्यति न शाम्यति ॥ १०
 यथा नौयायिनः स्थाणुतरुशैलादिवेपनम् ।
 यथा शुक्रौ रजतधीस्तथा देहादि चेतसः ॥ ११
 यथा देहादि चित्तस्य तथा देहस्य चित्तकम् ।
 तथैव जीवः परमे पदे द्वैतमतः कुतः ॥ १२
 सर्वमेकमिदं शान्तं ब्रह्म बृंहितवेदनात् ।
 न किञ्चिज्जगदाद्यस्ति भ्रान्तिरन्या न विद्यते ॥ १३
 न विद्यते यथा व्योम्नि घनं स्नेहश्च सैकते ।
 विद्युच्छशाङ्कविम्बे च तथा देहादि चेतसि ॥ १४
 अविद्यमान एवासिन्मा बिभीहि जगद्भ्रमे ।
 एतदेव परं सत्यं विद्धि सत्यविदां वर ॥ १५

जगदस्ति न सचेति यासीद्भ्रान्तिस्तवाद्य सा ।
 शान्ता मदुपदेशेन किमन्यद्वन्धकारणम् ॥ १६
 स्थाल्युदञ्चनकुम्भादि यथा मृन्मात्रकं तथा ।
 चित्तमात्रं जगदिदं क्षीणं तच्च विचारणात् ॥ १७
 आपत्सु संपत्सु भवाभवेषु
 शान्तैषणाहर्षविषादसंवित् ।
 सौम्यादहंभावविदा विमुक्तो
 यथास्थितं तिष्ठ विलीय मास्व ॥ १८
 यथास्थितं वस्त्वधिगम्य राम
 स्थितोऽसि चेद्वा स्वकुलाम्बरेन्दो ।
 तद्धर्षशोकैषणदूषणादि
 विमुच्य वा तिष्ठ यथेच्छमास्व ॥ १९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे धात्मीकीये दे० भोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० मुख्ययोगोपदेशो नाम सप्तविंशः सर्गः ॥२७॥

अष्टाविंशः सर्गः २८

श्रीराम उवाच ।

बीजाङ्कुराणां पुरुषकर्मणां जन्मकारिणाम् ।
 दैवशब्दार्थयुक्तानां तत्त्वं वद विभो पुनः ॥ १

सारि चेति क्रियाविशेषमात्रत्वादविद्याविभूतय एव ध्यात्रादय
 इति वाच्या इत्यर्थः । विशेषान्तरमप्याह—अतदिति । अतत्
 असंवित् जडवस्तु सर्वं तत्संविदोऽन्यत् पृथग्भूतं न दृष्टमतो
 दृश्यं दर्शनानुसार्येव । ध्येयं तु अध्यानं विनापि ध्यानं अस्ति
 स्फुरति चेति न वस्तुनो ध्यानानुसारितेति विशेष इत्यर्थः
 ॥ ९ ॥ संविदस्तु निर्विकारत्वं सर्वतो विशेष इत्याह—उद्य-
 तीति । तथा समुद्रः प्रतिपञ्चन्द्रे उद्यति सति क्षुभ्यति प्रलया-
 निले वहति शुष्यति च न तथा आत्मतत्त्वमित्यर्थः ॥ १० ॥
 तर्हि तस्या द्रष्टादित्रिपुटी कथं विभूतिरिति चेद्विवर्ततयैवेत्याश-
 येनाह—यथेति । चिति चेतसो दृष्ट्या भ्रम इत्यर्थः ॥ ११ ॥
 एवं देहदृष्ट्या चित्तमपि कल्पितम् । तदुभयदृष्ट्या जीवः कल्पित-
 स्तदृष्ट्या तदुभयं कल्पितमिति शुद्धचिति विवर्ताः सर्वे इत्याह—
 यथेति ॥ १२ ॥ ब्रह्मदृष्ट्या तु तदेवैकमित्याह—सर्वमिति
 ॥ १३ ॥ चेतसि तत्त्वदृष्टौ ॥ १४ ॥ बिभीहि भयं प्राप्नुहि ॥ १५ ॥
 जगदेवास्ति अद्वितीयब्रह्मसत्ता नास्तीति या भ्रान्तिस्तवा-
 सीत्सा ॥ १६ ॥ १७ ॥ हे राम, त्वं सौम्यान्मदुपदेशादहं-
 भावरूपया विदा विमुक्तः सन् संपत्सु शान्तैषणाहर्षसंवित्
 आपत्सु च शान्तविषादसंवित् सन् भवाभवेषु विमवानामुत्क-
 र्षापकर्षेषु यथास्थितं समं तिष्ठ । मदुपदेशविस्मरणेन विलीय
 स्वरूपस्थितिदार्ढ्यं विहाय मा आस्व ॥ १८ ॥ तर्हि तत्त्वज्ञानो-
 त्तरं प्रमादात्प्रारब्धप्राबल्याद्वा हर्षशोकानुवृत्त्यपराधेन पुनर्बन्धो
 भविष्यति नेत्याह—यथास्थितमिति । हे स्वकुलाम्बरेन्दो

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

दैवकर्मादिपर्यायं घटादि घटतावधि ।
 संवित्स्पन्दनमेवेदं लोके पुरुषतां गतम् ॥ २

राम, त्वं यथास्थितं ब्रह्मात्मैक्यवस्तु अपरोक्षतया सम्यग्धि-
 गम्य स्थितोऽसि चेत्तर्हि हर्षशोकैषणालक्षणानि दूषणानि
 चित्तसंतापकानि विमुच्य वा तिष्ठ, यथेच्छं वा तान्यनुवर्तमानं
 आस्वेति प्राक्तनवाशब्दस्यात्रान्वयः । तव दृष्टसुखार्थं मया
 विलीय मास्वेत्युक्तं न तु तावता मुक्तौ संदेह इति भावः ॥ १९ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
 रार्धे मुख्ययोगोपदेशो नाम सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

बीजाङ्कुराणां पुरुषकर्मणां जन्मकारिणाम् ।

दैवशब्दार्थयुक्तानां तत्त्वं भूयोऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

बीजानामुपादानानामङ्कुराणामुपादेयानां पुरुषाणां कर्तृणां
 कर्मणां तदीयविहितनिषिद्धोदासीनक्रियाणामिति दृष्टसामग्रीणां
 दैवशब्दार्थेनादष्टेन निमित्तेन युक्तानां सर्वेषां जन्मपरंपरा-
 लक्षणसंसारानर्थकारिणां तत्त्वं प्राग्विशकलितोक्तमपि पुनः
 पिण्डीकृत्य कथयेत्यर्थः ॥ १ ॥ तत्रादौ दैवस्य तत्त्वं कर्म
 कर्मणस्तत्त्वं पुरुषस्तत्त्वं मनोरूपश्चित्स्पन्दः तस्य तु त्रिदात्मैव
 तत्त्वं यश्चिदात्मैव प्रथमं 'बहु स्यां प्रजायेय' इति प्राथमिक-
 संकल्पलक्षणेन चित्स्पन्देन समष्टिव्यष्टिमनो भवति ततो
 देहाकाराध्यासेन पुरुषस्ततः कर्माणि कुर्वन्पुण्यपापादृष्टरूप-
 दैवतां चापद्य तद्भोगाय घटादिद्रव्यात्मना तद्गतगुणक्रियाया-
 त्मना च घटत्वादिसामान्यं तेन जगद्रूपेण विवर्तत इति दैव-
 कर्मादिकारणशब्दरूपं घटादि घटतावधि कार्यशब्दरूपं च
 तत्त्वतश्चित्स्पन्दपर्यायमित्याशयेनोत्तरमाह—दैवेति ॥ २ ॥

संवित्स्पन्दाद्वते पुंस्त्वं कर्म वा कीदृशं भवेत् ॥
 घटावटपट्यात्म ह्येतेनैव जगत्कृतम् ॥
 प्रवर्तते जगत्क्षमीः संवित्स्पन्दात्सवासनात् ॥
 निवर्तते हि संसारः संवित्स्पन्दादवासनात् ॥
 भवासनं हि संवित्तेः स्पन्दमस्पन्दनं विदुः ।
 सस्पन्दोऽप्यस्फुरत्स्पन्दो येनावर्तादिनोद्यते ॥
 मनागपि न भेदोऽस्ति संवित्स्पन्दमयात्मनोः ।
 कल्पनांशाद्वते राम सृष्टौ पुरुषकर्मणोः ॥
 जलवीर्योर्यथा द्वित्वं संकल्पोत्थं न वास्तवम् ।
 तथेह चित्परिस्पन्दरूपयोजन्तुकर्मणोः ॥
 कर्मैव पुरुषो राम पुरुषस्यैव कर्मता ।
 एते ह्यभिन्ने विद्धि त्वं यथा बुद्धिनशीतते ॥
 हिमं यत्तद्यथा शीलं यच्छैलं यद्यथा हिमम् ।
 यत्कर्मासौ तथा जन्तुर्यो जन्तुः कर्म तत्तथा ॥
 संवित्स्पन्दरसस्यैव दैवकर्मनरादयः ।
 पर्यायशब्दा न पुनः पृथक्कर्मादयः स्थिताः ॥
 स्पन्दात्संविजगद्बीजमस्पन्दाद्यालबीजताम् ।
 अङ्कुरश्च तदेवान्तः स्थितत्वाङ्कुराभियः ॥
 चित्त्वं च कचिदस्पन्दं कचित्स्पन्दं स्वभावतः ।
 अनन्तमेकार्णववदिकालक्रमसंस्थितम् ॥
 संवित्स्पन्दो वासनावानिह बीजमकारणम् ।
 भूत्वा कारणतामेति देहादेरङ्कुरावलेः ॥
 एणवल्लीलतागुल्मबीजान्तरगतेरपि ।

अत एव हि पुरुषकर्मादि घटावटादि च संविदधीनसत्तास्फु-
 तिकं सर्वैरनुभूयते संविद्विवर्तत्वानभ्युपगमे तु सत्तास्फूर्तिशून्यं
 तत् कीदृशं भवेत् । अलीकमेव स्यादित्यर्थः ॥ ३ ॥ सर्वस्य
 संवित्स्पन्दमात्रत्वे वैविध्येणोद्भवे तद्विद्यते च निमित्त-
 माह—प्रवर्तते इति ॥ ४ ॥ येन हेतुना आवर्तादिना
 सान्त-प्रवेश्यमानत्वात् सस्पन्दोऽप्यन्तःसमुद्रमात्रतामा-
 पद्यमानः अस्फुरत्स्पन्द एवोद्यते वितर्क्यते इत्यर्थः ॥ ५ ॥
 अत एव चित्तेः स्पन्द एव पुरुषाद्याकारता तन्निष्ठितरेव
 निराकारवेति स्पन्दपुरुषयोः परस्परं विमर्शनं भेद इत्याह—
 मनागिति ॥ ६ ॥ अधिष्ठानाद्भेदस्य सुतरां नास्तीत्याह—
 जलेति । जन्तु पुरुषः ॥ ७ ॥ अभिन्ने इति । तथा च श्रुतिः
 'अथ कर्मणामात्मेत्येतदेवामुक्त्यमतो हि कर्माण्युत्तिष्ठन्ति'
 इति ॥ ८ ॥ तथा च कियमाणे पुण्यपि भाविदेहस्य
 तद्भोग्यस्य च पूर्ववस्थे इत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवं च यदुक्तं
 'देवकर्मादिपर्यायम्' इति तत्सिद्धमित्याह—संवित्ति ॥ १० ॥
 बीजाङ्कुराणामिति प्रज्ञस्योत्तरमाह—स्पन्दादिति । तद्बीज-
 नेवान्तःसूक्ष्मावयवरूपं निर्गतमप्यङ्कुर इत्यर्थः ॥ ११ ॥ चित्त्वं
 चित्सभाव ईदृशो यदिकालक्रमसंस्थितं स्पन्दं कचिद्विजते

१ अङ्कुरास्तु इति पाठः २ अङ्कुरास्तु इति पाठः चापुः ॥ १० ॥

बीजं संवित्स्पन्द एव तस्य बीजं न विद्यते ॥ १२ ॥
 न बीजाङ्कुरयोर्भेदो विद्यतेऽप्युपगमयोरिव ॥ १३ ॥
 बीजमेवाङ्कुरं विद्धि विद्धि कर्मैव मानवम् ॥ १४ ॥
 चित्स्फुरन्ती भूमिकोशं करोति स्थावराङ्कुरम् ॥ १५ ॥
 स्थूलान्सूक्ष्मान्सृष्टुङ्कुरान्पयोबुद्बुदकानिव ॥ १६ ॥
 चिता विना धराकोशादत्यन्तपरिपेक्षया ॥ १७ ॥
 अङ्कुरान्वजसारांश्च कच्छासयितुं क्षमः ॥ १८ ॥
 याणिवीर्यरसान्तस्था संविजगममातवम् ॥ १९ ॥
 तनोति छतिकान्तस्थो रसः पुष्पफलं यथा ॥ २० ॥
 यदि सर्वगता संविजगमेतिबलीयसी ॥ २१ ॥
 तत्क उल्लासने शक्तः स्यादेवाङ्कुरभूतताम् ॥ २२ ॥
 जङ्गमानां स्थावराणामेतदार्थं च बीजकम् ॥ २३ ॥
 संविद्धिस्फुरणार्मानमेव बीजं न विद्यते ॥ २४ ॥
 बीजाङ्कुरविकल्पानां क्रियापुरुषकर्मणाम् ॥ २५ ॥
 कर्मिणीचित्तरङ्गाणां नास्ति भेदो न वस्तुनि ॥ २६ ॥
 द्वित्वं नृकर्मणोर्यस्य बीजाङ्कुरतया तयोः ।
 विपश्चित्यशवे तस्मै महतेऽस्तु सदा नमः ॥ २७ ॥
 संवित्तेर्जन्मबीजस्य योऽन्तस्थो वासनारसः ।
 स करोत्यङ्कुरोद्भासं तमसङ्गाग्निना दह ॥ २८ ॥
 कुर्वतोऽङ्कुरे तथैव मनसा यदमज्जनम् ॥ २९ ॥
 शुभाशुभेषु कार्येषु तदसङ्गं विदुर्बुधाः ॥ ३० ॥
 अथवा वासनोत्साह एवासङ्ग इति स्मृतः ।
 यथा कयाचिद्युक्त्यान्तः संपादय तमेव हि ॥ ३१ ॥

कचिन्नेत्यर्थः ॥ १२ ॥ वासनानां भूला अकारणमपि कार-
 णतामेति ॥ १३ ॥ अवान्तरबीजवैषम्यस्थितः स एव सर्वत्र
 बीजमवान्तरवैषम्यस्य कार्यवैषम्यविशेषवत्स्यादिति लोच्यते
 नाह—तृणेति । बीजान्तराणां गतेर्व्यवस्थितकार्यप्रवृत्तेः
 नन्वेवं तदन्तरमप्यनुगतं बीजान्तरं स्यादित्यनवस्थामाशङ्क्याह—
 तस्येति ॥ १४ ॥ यदि बीजान्तरगता शक्तिरेवाङ्कुर इति
 मन्यसे तदपि न शक्तितद्वतोर्भेद इत्याशयेनाह—तेति ॥ १५ ॥
 स्यात्तद्वत्तां वटादीनामङ्कुरम् । कुरान्कठिनाम् । तथा च स्फुरन्ति
 'भूजलादिसरूपेण बीजमाविश्य सर्वत्र न स्वयं कालसंज्ञां
 विदध्यादङ्कुरोद्भवम् ॥' इति ॥ १६ ॥ अङ्गसाराणिति । दहान्-
 बालावीन्युद्बुत्तङ्कुराद कच्छासयितुं तिसारयितुम् ॥ १७ ॥
 शुकशोणितार्थां देहनिष्पादनेऽप्ययमेव स्यात् इत्याह—
 प्राणति ॥ १८ ॥ १९ ॥ संविदो विस्फुरणा स्पन्दः ॥ २० ॥ कर्म-
 दैवम् ॥ अस्परमपि भेदो नास्ति अस्तुन्यधिष्ठानेऽपि भेदो नास्ति
 ॥ २१ ॥ इत्यंभौतमभेदं यो न प्रत्येति तं निन्यति—द्वित्व-
 मिति । द्वित्वं भेदम् । तयोर्बीजाङ्कुरयोरपि । महते अश्वनेत्यादि-
 पशुत्वेन स्थिताय, साहते मृगणे नमः इत्यादौ ॥ २२ ॥ वासनो-
 रपि ॥ २३ ॥ २४ ॥ अति-

ययैव वेत्ति ततया युक्त्या पुरुषयत्नतः ।
 वासनाङ्कुरनिर्मूलमेतदेव परं शिवम् ॥ २६
 पौरुषेण प्रयत्नेन यथा जानासि वा तथा ।
 निवारयाहंभावांशमेषोऽसौ वासनाक्षयः ॥ २७
 नास्त्येव पौरुषादन्या संसारोत्तरणे गतिः ।
 निरहंभावरूपेऽस्मिन्वासनाक्षयनामनि ॥ २८
 आद्यैव संविदस्तीह सोऽङ्कुरो बीजमस्ति तत् ।
 तत्कर्म तच्च पुरुषस्तद्वैवं तच्छुभाशुभम् ॥ २९
 न बीजमादावस्त्यन्यन्नाङ्कुरो न च वा नरः ।
 न कर्म न च दैवादि केवलं चिदुदेति हि ॥ ३०
 नो बीजमस्ति न किलाङ्कुरकोऽपि वास्ति
 नाप्यस्ति कर्म पुरुषश्च न वास्ति साधो ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाण० उत्तरार्धे शङ्कातत्त्वसिद्धान्तप्रतिपादनं नामाष्टाविंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

एकोनविंशः सर्गः २९

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

नित्यमन्तर्मुखस्तिष्ठ वीतरागो विवासनः ।
 चिन्मात्रममलं शान्तं कर्म सर्वत्र भावयन् ॥ १
 आकाशविशदः प्राज्ञश्चिन्मात्रैकधनस्थितिः ।
 समः सौम्यः समानन्दः स ब्रह्माऽऽबृंहिताशयः ॥ २
 शोकेष्वापत्सु घोरेषु संकटेष्ववटेषु च ।
 यथाप्राप्तेषु सर्वेषु खर्वेषु च तिमत्सु च ॥ ३
 यथाक्रमं यथादेशं कुरु दुःखमदुःखितः ।
 बाष्पक्रन्दादिपर्यन्तं ह्रन्दयुक्तसुखानि च ॥ ४
 समागमेषु कान्तानामुत्सवेषु दयेषु च ।

मन्यसे तर्हि तत्त्वज्ञानाभ्यासेनैव वासनां दहेत्याह—अथ-
 वेति । तं वासनोत्सादमेव ॥ २५ ॥ प्रागुक्तराजयोगलक्षणया
 हठयोगलक्षणया वा ययैव पुरुषयत्नतस्ततया विराभ्यस्तया
 युक्त्या वासनाक्षयं सुकरं वेत्ति तयैव संपादयेत्यनुषज्यते ।
 एतत्प्रत्यगात्मरूपमेव ॥ २६ ॥ सर्ववासनानां चिद्वन्धिरहंभाव
 एव मूलमतस्तमेव निवारयेत्याह—पौरुषेणेति ॥ २७ ॥
 वासनाक्षयनामनि संसारोत्तरणे ॥ २८ ॥ अनाद्यनन्तप्रत्यगात्म-
 संवित्सत्तयैवाङ्कुरबीजादीनां सत्ता न स्वत इत्याह—आद्येति
 ॥ २९ ॥ नरः पुरुषः ॥ ३० ॥ बीजादेः स्वतः सत्ताशून्यत्वे
 एकश्चिदात्मैवावृत्तैर्बीजादिवैर्जगद्भूत्वा नृत्यतीति फलित-
 मित्याह—नो बीजमिति । चित्तं चित्स्वरूपम् । अभिधान-
 ग्रहणं वाचारम्भणश्रुतिसारणार्थम् ॥ ३१ ॥ ननु हे अनामय
 राम, त्वं इति एवरूपमेव निश्चयसंदिग्धं भावयित्वा पुरुषकर्मा-
 श्रुतविचारशङ्कां त्यक्त्वा निर्वासनः सन् यथाभिमतच्छं समा-
 हितो व्यवहरन्वा आख्येत्यर्थः ॥ ३२ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नुपसंहर-
 ति—प्रशान्तेति ॥ ३३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायण-

एकं तु चित्तमुदितं ह्यनयाभिधान-
 लक्ष्म्या नटः सुरनरासुरशोभयेव ॥ ३१
 इत्येव निश्चयमनामय भावयित्वा
 त्यक्त्वा भृशं पुरुषकर्मविचारशङ्काम् ।
 निर्वासनः सकलसंकलनाविमुक्तः
 संविद्वपुर्ननु यथाभिमतेच्छमास्व ॥ ३२
 प्रशान्तसर्वेच्छमशङ्कमच्छ-
 चिन्मात्रसंस्थोऽखिलकार्यकारी ।
 आत्मैकरामः परिपूर्णकामो
 भवाभयो राम शमाभिरामः ॥ ३३

आनन्दं भज सौम्यात्मा वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ५
 भूतानि मृत्युकार्येषु संग्रामादिषु निर्दह ।
 दावानलस्तृणानीव वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ६
 क्रमागतेष्वखिन्नोऽर्थं वक्वच्चिन्तयार्जय ।
 अर्थोपार्जनकार्येषु वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ७
 बलाद्विदलयाशेषानरीनरिनिषूदन ।
 वातो रिक्तानिवाम्भोदान् वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ८
 जनेषु करुणार्हेषु धैर्यं कुरु महात्मसु ।
 आत्माराममना मौनी वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ९
 मुदितो भव हर्षेषु दुःखेषु भव दुःखितः ।
 करुणां कुरु दीनेषु भव वीरेषु धीर्यवान् ॥ १०

तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शङ्कातत्त्वसिद्धान्तप्रति-
 पादनं नामाष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

व्यवहारे यथा प्राप्तलोकचर्यानुवर्तनम् ।

स्वरूपे तु सदा स्थैर्यं रामायान्नोपदिश्यते ॥ १ ॥

यथाप्राप्तं कर्म सर्वत्र शत्रुमित्रोदासीनपुरुषेषु यथायोग्यं
 भावयन्निष्पादयन् ॥ १ ॥ स ब्रह्मा ब्रह्मसमरस आवृंहितो
 विस्तारित आशयो यस्य तथाविधो भव ॥ २ ॥ यथाप्राप्तेषु
 खर्वेष्वल्पेषु उन्नतिमत्सु महत्सु च शोकादिषु अन्तरदुःखितः
 सन् यथादेशं तत्तद्देशधर्ममनुसृत्य यथाक्रमं बाष्पक्रन्दादिप-
 र्यन्तं दुःखं दुःखविडम्बनं शीतोष्णादिह्रन्दयुक्तानि वल्लस्रवचन्द-
 नादिभोगसुखानि च कुर्वति द्वयोरन्वयः ॥ ३ ॥ ४ ॥ संक्षेपोक्तार्थ-
 मेव प्रपञ्चयति—समागमेष्वित्यादिना । भोगवासनाभिरा-
 क्रान्ता ये मूढाः कर्मठजनास्तद्वत् ॥ ५ ॥ भूतान्यधार्मिकाणि
 दण्ड्यानि ॥ ६ ॥ धर्माविरुद्धक्रमागतेष्वर्थोपार्जनकार्येषु । अर्थ-
 धनम् ॥ ७ ॥ अरीन् शत्रून् ॥ ८ ॥ धैर्यमौदार्यधीरताम् ।
 मौनी अकथनः सन् ॥ ९ ॥ हर्षेषु हर्षस्थानेषु ॥ १० ॥

अन्तर्मुखः सदानन्दः स्वात्मारामतयान्वितः ।
 यः करोति शमोदारस्तत्र कर्तासि नानघ ॥ ११
 आत्मभावनया साधो नित्यमन्तर्मुखस्थितेः ।
 वज्रधारापि ते राम पतिता याति कुण्ठताम् ॥ १२
 संकल्पकलनोन्मुक्ते स्वसंविन्मात्रकोटरे ।
 यस्तिष्ठत्यात्मनि स्वैरमात्मारामो महेश्वरः ॥ १३
 न तं भिन्दन्ति शस्त्राणि न दहन्ति हुताशनाः ।
 न ह्रैदयन्ति वारीणि शोषयन्ति न मारुताः ॥ १४
 सुस्तम्भमजमालिङ्ग्य स्वात्मानमजरामरम् ।
 तिष्ठापद्यध्वं धीरात्मा सुस्तम्भमिव मन्दिरम् ॥ १५
 जगद्वक्ष्यपदार्थेष्वपुष्पामोदश्रियं पराम् ।
 संविदं संविदः स्वस्थामास्वान्तर्मुखमच्युतम् ॥ १६
 अन्तर्मुखतया नित्यं कार्यमाहरतां बहिः ।
 जीवतामपि नोदेति वासना दृषदामिव ॥ १७
 पुनः प्रसरणोन्मुक्तमन्तःसुखं मनः कुच ।
 कुर्वन्सर्वाणि कर्माणि कूर्माङ्गवदवृत्तिमान् ॥ १८
 अन्तर्वृत्तिविहीनेन बहिर्वृत्तिमतेव च ।
 सुप्तप्रबुद्धप्रायेण कार्यमाचर चेतसा ॥ १९
 बालमूकादिविज्ञानवदन्तस्त्यक्तवासनम् ।
 भवतः कुर्वतः कार्यं खवच्चित्तं न लिप्यते ॥ २०
 वृत्तित्यागविलीनेन किञ्चित्प्रसरता बहिः ।
 अन्तरत्यन्तसुप्तेन चेतसा तिष्ठ विज्वरः ॥ २१
 असंकल्पकलङ्कायां ज्ञानाच्चित्तक्षयोदये ।
 शुद्धायां संविदि स्थित्वा कुरु मा कुरु वानघ ॥ २२
 सुषुप्तसमया वृत्त्या जाग्रद्व्यवहरन्ब्रजन् ।
 गृहाण मा किञ्चिदपि मा वा किञ्चित्परित्यज ॥ २३
 जाग्रत्पि सुषुप्तश्चेज्जागर्षि च सुषुप्तके ।

जाग्रत्सुषुप्तयोरैक्यात्तदस्त्यसि निरामयः ॥ २४
 एवमाद्यन्तरहितमभ्यासेन शनैःशनैः ।
 पदमासादयाद्वन्द्वमतीतं सर्ववस्तुतः ॥ २५
 न च द्वैतं न चैक्यं जगदित्येव निश्चयी ।
 परमासेहि विश्रान्तिमाकाशविशदाशयः ॥ २६
 श्रीराम उवाच ।
 यद्येवं मुनिशार्दूल तदहं प्रत्ययात्मकः ।
 भवानेवेह किं तावद्वसिष्ठाख्यः स्थितो वद ॥ २७
 श्रीवाल्मीकिरवाच ।
 राघवे गदति त्वेवं वसिष्ठो वदतां वरः ।
 तूष्णीमेव मुहूर्तार्धमतिष्ठत्स्पष्टचेष्टितः ॥ २८
 तस्मिंस्तूष्णीं स्थिते किं स्यादिति सभ्ये महाजने ।
 पतिते संशयाभ्युद्यौ रामः पुनरुवाच ह ॥ २९
 किमर्थं भगवंस्तूष्णीं भवानहमिव स्थितः ।
 न सोऽस्ति जगतां न्यायः सतां यो नोत्तरक्षमः ॥ ३०
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 न मे वक्तुमशक्तत्वाद्युक्तिक्षय उपस्थितः ।
 किंतु प्रश्नस्य कोट्यास्य तूष्णीमेवानघोत्तरम् ॥ ३१
 द्विविधो भवति प्रष्टा तत्त्वज्ञोऽज्ञोऽथवापि च ।
 अज्ञस्याज्ञतया देवो ह्यस्य तु हतयोत्तरः ॥ ३२
 एतावन्तमभूत्कालं भवानहाततत्पदः ।
 भाजनं सविकल्पानामुत्तराणां महामते ॥ ३३
 तत्त्वज्ञस्त्वधुना जातो विश्रान्तः परमे पदे ।
 योग्यो न सविकल्पानामुत्तराणामसि स्फुटम् ॥ ३४
 यावान्कश्चित्किलोल्लेखो बाह्ययो वदतां वर ।
 सूक्ष्मार्थः परमार्थो वा बहुरूपतरोऽपि वा ॥ ३५

तत्र गूढवत्कर्तृताप्रयुक्तदोषप्रसक्तिं वारयति—अन्तर्मुख इति । त्वमिति शेषः ॥ ११ ॥ इन्द्रप्रयुक्तवज्रस्य धारापि । कुण्ठतां मोघताम् । 'तस्य ह न देवाश्च नामूल्या ईशते' इति श्रुतेरिति भावः ॥ १२ ॥ स्वसंविन्मात्रकोटरे हार्दकाशे ॥ १३ ॥ १४ ॥ चित्तं स्वस्मिन् सुष्ठु स्वभावीति सुस्तम्भं नित्यनिरतिशयानन्दं स्वात्मानम् । सुस्तम्भं दृढस्तम्भं मन्दिरमिव धीरात्माऽचल-
 तिष्ठ ॥ १५ ॥ जगद्वक्ष्यपदार्थेष्वपुष्पाणामामोदश्रियमिव सारभूतां परा ब्रह्मसंविदमाश्रित्य सर्वा बाह्य-
 चविदं अच्युतमन्तर्मुखं यथा स्यात्तथा कृत्वा आस्व ॥ १६ ॥ कार्यं व्यवहारम् । दृषदा पाषाणानामिवेति वासनानुदये दृष्टान्तः ॥ १७ ॥ कूर्माङ्गवदवृत्तिमानन्तर्वहिव वृत्तिशून्यः ॥ १८ ॥ तदेवाद—अन्तरिति । सुप्तप्रबुद्धोऽर्धजागरूकः ॥ १९ ॥ २० ॥ वृत्तित्यागः तदेव निर्विकल्पसमाधिज्ञानाभ्यासस्तेन विलीनेन भावितेन । किञ्चिद्व्यवहारवत्प्रतिभासमात्रेण प्रसरता । अत्यन्तसुप्तेन वृत्तेन ॥ २१ ॥ २२ ॥ जाग्रत् सन् व्यवहरन् ब्रजयपि त्वं सुषुप्तसमया वृत्त्या मा किञ्चिद्विष्टं गृहाण, अनिष्टं

वा त्यज ॥ २३ ॥ जाग्रदवस्थायामपि स्थूलसूक्ष्मोपाध्यप्यथा-
 त्सुषुप्तस्त्वं चेद्भवसि तदा सुषुप्तकेऽप्यज्ञानावरणाभावाज्जागर्षि ।
 जाग्रत्सुषुप्तयोर्भेदकाऽज्ञानतत्कार्ययोर्बाधेनैक्ये सति तत्परिशिष्टं
 यदस्ति सन्मात्रं तदसि ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ सर्वद्वैतापलापे तव
 वसिष्ठाहंभावदेरप्यपरिशोवात्कथं वक्तुमादिव्यवहार इत्याशयेन
 रामः पृच्छति—यद्येवमिति ॥ २७ ॥ नास्त्येव वसिष्ठाहंभावादि-
 र्मेम श्रोतृणामज्ञानदृष्टेयं सोबलम्बितस्तेषां तत्त्वज्ञत्वे संपन्ने
 तु मौनमेवोत्तरमित्याशयेन तूष्णींभावमाह—राघवे इति ॥ २८ ॥
 मुख्यधिकारिणां केषांचिज्ज्ञाने जातेऽपि सर्वेषामज्ञानानु-
 च्छेदात्संशयाभ्युद्यौ पतिते सति ॥ २९ ॥ गुरोर्युक्तिक्षया-
 देव निरुत्तरतां मन्यमानो राम आह—किमर्थमिति ।
 जगतां मध्ये स तादृशो न्यायः शिष्यैरद्वाव्यस्तर्को नास्ति यः
 सतां विदुषां गुरुणाम् ॥ ३० ॥ अस्य प्रश्नस्य कोट्या परमा-
 वधित्वेन हेतुना तूष्णीमवस्थानमेवोत्तरम् ॥ ३१ ॥ कोटित्व-
 मेव दर्शयितुं भूमिकां रचयति—द्विविध इत्यादिना ॥ ३२ ॥
 ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ बाह्यय उल्लेखोऽस्तिलापः ॥ ३५ ॥

प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यातीतादिविभ्रमैः ।
 स च सर्वोऽन्वितः साधो भा इव असरेणुभिः ॥ ३६
 उत्तरं सकलङ्कं च तज्ज्ञो नार्हति सुन्दर ।
 नाकलङ्का च वागस्ति त्वं च तज्ज्ञतरः स्थितः ॥ ३७
 यथाभूतं च वक्तव्यं ज्ञस्यान्तेवासिनो मया ।
 यथाभूतं विदुः काष्ठमौनमन्तविवर्जितम् ॥ ३८
 अविचारात्संसंकल्पं मौनमाहुः परं पदम् ।
 तदेव तव तज्ज्ञस्य वृत्तः सुन्दर उत्तरः ॥ ३९
 यन्मयो हि भवत्यङ्ग पुरुषो वक्ति तादृशम् ।
 ज्ञेयमात्रमयश्चाहं वागतीते पदे स्थितः ॥ ४०
 वागतीतपदस्थो हि कथं गृह्णाति बाह्यलम् ।
 प्रवाच्यं वच्मि नो तेन वाग्धि संकल्पनाङ्किता ॥ ४१

श्रीराम उवाच ।

वाचि ये ये प्रवर्तन्ते ताननादृत्य दोषकान् ।
 प्रतियोगिव्यवच्छेदिपूर्वकान्वद को भवान् ॥ ४२
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 एवं स्थिते राघव हे यथाभूतमिदं शृणु ।
 कस्त्वं कोऽहं जगद्वा किमिति तत्त्वविदां वर ॥ ४३
 अहं तावदयं तात चिदाकाशो निरामयः ।
 चेत्यसंवेद्यरहितः सर्वसंकल्पनातिगः ॥ ४४

प्रतियोगी निरूपको व्यवच्छेदो व्यावृत्तिः । संख्या गणना ।
 अतीतस्तत्सर्वमतिक्रान्तः परमार्थः । आदिपदात्तसाधनं तदि-
 तरबाधकं तद्बोधस्तदुपाया बोध्यबोधकप्रमाणादयो गृह्यन्ते ।
 तेषां विभ्रमैः कल्पनाकलङ्कैरन्वितः । भाः जालान्तरातपः
 ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ अन्तेवासिनः शिष्यस्य । अन्तविवर्जितं सर्व-
 परिच्छेदकलङ्कशून्यम् ॥ ३८ ॥ अविचारात्तत्त्वज्ञानोदयात्प्राग-
 ज्ञानादुपदेशवाक्प्रवृत्तियोग्यताकल्पनया संसंकल्पं वागव्यवहार-
 संकल्पविषयमाहुः । विचारेण परिज्ञातं तु मौनं वागगोचर-
 मेवाहुः 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि-
 श्रुतयो विद्वांसश्च । तन्मौनमेव ॥ ३९ ॥ पुरुषो वक्ता । ज्ञेयं
 तत्त्वसाक्षात्कारगम्यं निर्विकल्पवस्तु तन्मात्रमयः । स्वार्थे मयद
 ॥ ४० ॥ हिं यस्मात्सर्वा वाक् प्रतियोगिव्यवच्छेदादिसंकल्प-
 नाङ्किता ॥ ४१ ॥ अनादृत्य तात्पर्याविषयीकृत्य भागस्याग-
 लक्षणोपायेन वद । व्यवच्छेदी व्यावृत्तः । प्रतियोगी तन्निरूपकः
 ॥ ४२ ॥ यथाभूतं यथास्थितम् ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ स्वान्यत्
 प्रत्यगात्मन्यतिरिक्तमणुमात्रमपि वक्तुं न वेद्मि न विवक्षामि ।
 तथा च यत्परः शब्दः स एव शब्दार्थ इति न्यायमाश्रित्वा-
 खण्डं निर्विकल्पं वाक्यार्थं प्रतिपद्यस्वेति भावः ॥ ४६ ॥ कथं
 तर्ह्यज्ञबोधनाय प्रतिवादिविजयाय च विदुषां निरहंकाराणा-
 मुद्योगसिद्धिस्तत्राह—स्वपक्षेति । शिष्याणां मोक्षार्थं तेषां
 संदेहवारणाय प्रतिवादिविजयार्थमपि उद्यमिनो विद्वांसः
 श्रुतियुक्त्यादिप्रमाणैः स्वपक्षोद्भावनपराः सन्तो बाधितस्या-

स्वच्छं चिदाकाशमहं भवानाकाशमेव च ।
 जगच्चाकाशमखिलं सर्वमाकाशमात्रकम् ॥ ४५
 शुद्धज्ञानैकरूपात्मा शुद्धज्ञानमयात्मनि ।
 अन्यसंविदृशोन्मुक्तः स्वान्यद्वक्तुं न वेद्यहम् ॥ ४६
 स्वपक्षोद्भावनपरा अहंतात्मैकवर्धनम् ।
 मोक्षार्थमप्युद्यमिनो नयन्ति शतशाखताम् ॥ ४७
 जीवतोऽप्युपशान्तस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
 शववद्यदवस्थानं तदाहुः परमं पदम् ॥ ४८
 अबहिःसाधनं शान्तमनन्तःसाधनं समम् ।
 न सुखं नासुखं नाहं नान्यदित्यादि तं शिवम् ॥ ४९
 मुक्तताया अहंतेयमभावो भावनं क्व च ।
 तयैवान्विष्यते सेति जाल्यन्धश्चित्रमीक्षते ॥ ५०
 स्पन्दनेऽस्पन्दने चैव यत्पाषाणवदासितम् ।
 अजडस्यैव तद्विद्धि निर्वाणमजरं पदम् ॥ ५१
 तच्च नान्यो विजानाति स्वयमेवानुभूयते ।
 लोकैषणाविरक्तेन ज्ञेन ज्ञत्वमिवात्मनि ॥ ५२
 तत्राहंता न च त्वत्ता नानहंता न चान्यता ।
 केवलं केवलीभावो निर्वाणममलं शिवम् ॥ ५३
 चेत्योन्मुखत्वमेवाहुश्चेतनस्यास्य चेतनम् ।
 एष एव च संसारो बन्धः क्लेशाय भूयसे ॥ ५४

प्याहार्यारोपेणाहंतात्मन एकस्यैव वर्धनं कुर्वाणाः शतशाखतां
 नयन्ति, न त्वज्ञवद्वामुद्यन्तीत्यर्थः ॥ ४७ ॥ नैतावतैषां पाण्डि-
 त्यप्रकटनव्यवहार एव परमं पदमिति वेदितव्यं क्लिप्त-
 देवेत्याह—जीवत इति ॥ ४८ ॥ परमपदमेव विनिश्चि-
 त्वाह—अबहिःसाधनमिति । अन्तर्बहिःसाधनशून्यत्वादेव नाहंकर्तृ-
 भोक्तृत्वशून्यमत एव भोग्ये सुखदुःखरहितं स्वप्रकाशनिरति-
 शयानन्दभूमात्मकत्वाच्छिवम् ॥ ४९ ॥ ननु किमर्थं तत्त्वप्रका-
 शमुच्यते । विषयसुखवद्भोग्यमेव तत्किं न स्यात्तत्राह—मुक्त-
 ताया इति । इयमहंतैव मुक्तताया मुक्तेरभावः प्रागभाव-
 स्थानीया । तादृशेनाहंभावेन मुक्तेर्भावनमनुभवः क्व । न ह्य-
 भावेन प्रतियोगी अनुभवितुं शक्यः । तर्ह्यस्तु मुक्ततयैव मुक्ति-
 भावनं तत्राप्याह—तयैवेति । पक्षद्वयेऽपि जाल्यन्धश्चित्र-
 दर्शनन्यायः स्यादित्यर्थः ॥ ५० ॥ तर्ह्यहंकारप्राणादिस्पन्दने
 अस्पन्दने च वृक्षसृगादिस्पन्दनास्पन्दनयोर्गिरिशिलावदचल-
 तथा स्थितत्वात्तद्वज्जडमेव किं न स्यात्तत्राह—स्पन्दने इति ।
 आसितमवस्थानम् । भावे कः । यतस्तन्निर्वाणमजरमपक्षयादि-
 विक्रियाशून्यम् । तथा च गिरिशिलायामप्यपक्षयेण चलनम-
 स्त्येवेति नात्यन्तिकमचलत्वमिति चलेष्वेव जाड्यं न कूटस्थे इति
 भावः ॥ ५१ ॥ अतः स्वप्रकाशत्वमेव परिशेषात्सिद्धमित्याह—
 तच्चेति । लौकिकात्मनि प्रसिद्धं ज्ञत्वं घटादिस्फूर्तिफलमिव न हि
 तज्ज्ञानान्तरवेद्यमनवस्थापातादिति भावः ॥ ५२ ॥ तच्च तत्र
 ॥ ५३ ॥ तस्य परप्रकाशतैव संसार इत्याह—चेत्योन्मुखत्व-

१ अतीतादिभिर्भ्रमैः इति मुद्रितपाठटीकाकर्तृसंमतः ।

न दुःखमस्ति न सुखं न पुण्यं न च पातकम् ।
 न किञ्चित्कस्यचिच्छृणु कर्तुर्भोक्तुर्संभवात् ॥ ७३
 सर्वं शून्यं निरालम्बं ममताप्रत्ययोऽप्ययम् ।
 द्विचन्द्रस्वप्नपुरवद्यस्यासौ सोऽपि नास्ति नः ॥ ७४
 केवलो व्यवहारस्थः काष्ठमौनगतोऽथ वा ।
 काष्ठपाषाणवत्तिष्ठन्नब्रह्मतामधिगच्छति ॥ ७५
 शान्तत्वे चित्तत्वे नानानानात्मनीह शिवे ।
 अवयविनोऽवयवित्वे त्विह युक्तिर्विद्यते नान्या ॥ ७६
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भावनाप्रतिपादनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

अर्थागतस्वभावस्य च नैव च संभवादमले ।
 एतस्मिन्सर्वगते ब्रह्मणि नास्ति स्वभावोक्तिः ॥ ७७
 न च नास्तिकोपलम्भात्संविचेरस्तिता च नैवाजे ।
 ग्राह्यग्राहकदृष्टेरसंभवादस्ति किञ्चिदपि ॥ ७८
 शमममलमहार्यमार्यजुष्टं
 शिवमजमक्षयमासितं समं यत् ।
 तदवितथपदं तदास्व शान्तं
 पिब लल भुङ्क्ष्व भवानयं हि नास्ति ॥ ७९

देवनरतिर्यगादिभिर्विहितनिषिद्धानेककर्मभिस्तत्फलभोगनियति-
 भिश्चेश्वरेणाधिष्ठितमद्भुतमिदं जगत्कथमसदनृतं संकल्पमात्र-
 मित्याद्युक्तिभिस्त्वया अपलप्यते । न हि संकल्पमनोरथादिवैवं-
 विधार्थाः सन्तीत्याशङ्क्य तत्राप्यद्भुतार्थसत्तां दर्शयति—संक-
 ल्पेष्विति । हे भव्य, यथा सांस्कल्पिकार्थेषु स्वप्नमायेन्द्रजा-
 लकं यद्वदद्भुतं तद्वत्संसृतयोऽपि । प्रत्यक्षदृष्टेऽपि स्वप्नाद्यर्थे
 किमास्था युक्ता तद्वत्संसृतिष्वपीत्यर्थः ॥ ७२ ॥ सतोर्हि कर्तु-
 भोक्तोरस्तु सर्वसुखदुःखभोगाय पुण्यपापनियतिस्त्रयोरेवासंभवे
 का तद्यवस्थानियतिरित्याह—नेति ॥ ७३ ॥ अयं ममताप्र-
 त्ययो यस्याहंकारस्य सोऽपि नास्ति ॥ ७४ ॥ केवलः सर्वद्वै-
 तशून्यस्त्वेवविद्यव्यवहारस्थो वाऽस्तु अथवा काष्ठपाषाणवदचलः
 समाधौ तिष्ठन्काष्ठमौनगतोऽस्तु सर्वथापि ब्रह्मतामधिगच्छ-
 त्येव ॥ ७५ ॥ इत्थं मायिकविवर्तवादसिद्धान्तमाश्रित्याभ्यारो-
 पितस्तु जगतोऽपवादेन तत्त्वविदः परमपुरुषार्थं प्रतिष्ठां दर्शिता ।
 ये त्वन्ये तार्किका अन्यथान्यथा सिद्धान्तान्कल्पयन्ति तेषां
 जगदुत्पत्त्यादिव्यवहारे परमपुरुषार्थलक्षणे परमार्थे च युक्ति-
 नास्तीत्याह—शान्तत्वे इत्यादिना । इहास्मिन्शिवे प्रत्य-
 गात्मनि प्राणबुद्धिमनोदेहादितादात्म्येन नानात्मनि भिन्नस्व-
 भावे सांसारिकानर्थशतसंकुले प्रत्यक्षं भासमाने तन्निरकरणेन
 शान्तत्वे निर्दुःखनिरतिशयानन्दद्वयरूपपरिशेषणे वादिना-
 मन्यादर्शिताऽभ्यारोपापवादस्यायातिरिक्ता युक्तिर्न विद्यते ।
 नित्यशान्तस्वभावे शिवेऽभ्युपगम्यमाने तु तस्य निर्विकारकूट-
 स्थस्य चलनपरिच्छिन्नस्वभावचित्तरूपत्वे देहेन्द्रियादिनानाना-
 नाभावेन संसरणे च युक्तिरुपपत्तिर्न विद्यते । यदि तु तत्सिद्धये
 तस्य परिच्छिन्नता परिणामिता सावयवता चाभ्युपगम्येत तर्ह्य-
 वयविनस्तस्य चेतनैर्जडैर्वा अवयवैरवयवित्वे युक्तिर्न विद्यते ।
 अवयवानां चेतनत्वे ऐकमत्यासंभवेनावश्यंभाविनि विच्छेदे
 अवयविनाशप्रसङ्गात्, अचेतनत्वे त्ववयविनोऽप्यचेतनत्वापत्ते-
 रुभयत्राप्यनित्यस्यारब्धस्य प्राक्तनपुण्यपापासंभवेन भोगासिद्धे-
 रित्यादियुक्तिसहस्रेभ्यः । एवं जगत्कारणेऽपि शिवे शान्तत्वे
 निर्विकारकूटस्थत्वेऽभ्युपगते जगत्सृष्ट्यनुकूलसंकल्पात्मकचित्तत्वे
 तत्प्रवर्तके नानानानात्मनि प्रपञ्चरूपे तदन्तर्गतपृथिव्याद्य-
 वयविनोऽवयवित्वे नान्या युक्तिर्न विद्यत इति विवर्तदृष्टिरेव
 शरणमित्यर्थः ॥ ७६ ॥ नन्वात्मनः शान्तत्वेऽपि प्रलयान्ते
 यो० वा० १४२

लीनानां सर्वपदार्थानां ब्रह्मणि प्रलयकाले सत्त्वासात्प्रयुक्तस्वभाव-
 वैचित्र्यबलादेव चित्तत्वनानात्वाऽनानात्वसावयवत्वादिवैचित्र्य-
 युक्ताः सर्गादावाविर्भवन्ति तत्राह—अर्थागतेति । अर्थ-
 वैचित्र्यहेतुः स्वभावः शिवे परमात्मवस्तुन्यर्थेभ्य आगत उत
 स्वतःसिद्धः । तत्रार्थेभ्य आगतस्वभाव इति व्याहृतम् । सो
 हि भावः स्वभावः । आगन्तुकोऽन्याधीनश्च कथं स्वभावः
 स्यात् । तथा असङ्गत्वादव्यवहाराधामले परप्रयुक्तस्वभाववैचित्र्य-
 मलसंबन्धश्च नैव संभवति । न चार्थास्ते प्रलये स्वातन्त्र्येण
 सन्ति येन स्वस्वभावबलादेव विचित्रा आविर्भवेयुरिति द्योत-
 नार्थः प्रथमश्चकारः । अतः परिशेषादनागन्तुको ब्रह्मण एव स्वस्व-
 भावो वाच्यः । एतस्मिन्सर्वगते ब्रह्मणि वैचित्र्यहेतुस्वभाव-
 स्योक्तिसंभव एव नास्ति । सर्ववस्तूनां सर्ववैचित्र्यप्रसङ्गात् ।
 न हि सर्वगते ब्रह्मणि अत्रैवायमेव स्वभाव इति प्रलये व्यवस्था-
 पकमस्ति । सर्वत्र सर्ववैचित्र्याभ्युपगमे च वैचित्र्यमेव लुप्येत ।
 न हि सर्वसाधारणो धर्मो वैचित्र्यं भवति, नापि किञ्चिद्देदकं
 सिध्यतीति सर्वजगदैकरस्यप्रसङ्गादिति भावः ॥ ७७ ॥ नन्वेवं
 सार्वजनीनस्यापि जगद्वैचित्र्यस्य युक्त्यसहत्वादपलापे तत्संवि-
 तेरप्यपलापः किं न स्यात् । न हि संवेद्यमन्तरेण संवित्प्रसिद्धेति
 शून्यवादः प्रसक्त इति चेत्तत्राह—न चेति । संवेद्यापलापे संवि-
 तेरप्यस्तिता नास्तीति न च वक्तुं शक्यम् । संविदपलापिनो नास्ति-
 कात्मन एवोपलम्भादपलापितुमशक्यत्वात् । स हि स्वातिरिक्ते एव
 संवित्संवेद्ये अपलपेन्न तु स्वात्मानम् । यदा सर्वापि संवित्तदा-
 त्मैव तदा तत्र संवेद्यमपलापन् संविदं परिशेषयत्येव । किंच
 निराधारनिषेधायोगाद्ग्राह्यग्राहकयोरग्राह्यग्राहकात्मनि स्वयंप्र-
 काशे आधारे प्रतिषेधो वाच्यः । स एव तस्यात्मेति तेनाऽजे
 स्वात्मन्येव ग्राह्यग्राहकदृष्टयोरसंभवप्रतिपादनपर्यवसानात्सर्वप्र-
 तिषेधावधिभूतं किञ्चिदजं तस्याप्यस्तीति सिद्धं तदेव ब्रह्मेत्यर्थः
 ॥ ७८ ॥ हे राम, त्वमार्यैर्ब्रह्मविद्भिर्जुष्टं सेवितमहार्यं परैर्हर्तुम-
 शक्यं यच्छिवमवितथं परमार्थसत्यं पदमासितं नित्यसिद्धं
 तदेव भूत्वा परमार्थत आस्व । व्यवहारे चेतरोक्त्वत्पिब
 शुद्धं लल क्रीडस्व तथापि भवान्मुक्त एव । हि यस्मादयं
 दृश्यबन्धस्त्व नास्तीत्यर्थः ॥ ७९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामा-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भावनाप्रतिपादनं नामै-
 कोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः ३०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अहंतैव पराऽविद्या निर्वाणपदरोधिनी ।
 तयैवान्विष्यते मूढैस्तदित्युन्मत्तचेष्टितम् ॥ १ ॥
 अहंतैवालमज्ञानादकृत्वस्य निदर्शनम् ।
 न हि तज्ज्ञस्य शान्तस्य ममाहमिति विद्यते ॥ २ ॥
 अहंतामलमुत्पृज्य निर्वाणः खमिवामलः ।
 सदेहमपदेहं वा हस्तिष्ठति गतज्वरः ॥ ३ ॥
 न तथा शरदाकाशं न तथा स्तिमितोऽर्णवः ।
 पूर्णेन्दुमध्यं न तथा यथा ह्यः परिराजते ॥ ४ ॥
 चित्रसंगरयुद्धस्य सैन्यस्याक्षुब्धता यथा ।
 तथैव समता ह्यस्य व्यवहारवतोपि च ॥ ५ ॥
 निर्वाणैकतया ह्यस्य वासनैव न वासना ।
 लेखादामोपमा त्वग्धेरुर्म्यादि न जलेतरत् ॥ ६ ॥
 तरत्तरङ्गो जलधिर्जलमेव यथाखिलम् ।
 दृश्योच्छूनमपि ब्रह्म तथा ब्रह्मैव नेतरत् ॥ ७ ॥
 अन्तरस्तंगतोऽक्षुब्धो बहिरस्तंगतः शमी ।
 विद्यते बोदितो यस्य स मुक्त इति कथ्यते ॥ ८ ॥
 अहंत्वसर्गरूपेण संवित्संविन्मये परे ।

यथाहंताद्यविद्योत्थनात्त्वभ्रान्तिभ्रान्तितः ।

स्याद्ब्रह्मणि स्थिरो धीरः सा दृष्टिरिह साध्यते ॥ १ ॥

यावदहंता न परित्यक्त्य तावद्ब्रह्मविचारोऽपि नावतरति, दूरे
 तन्नाम इत्याशयेनाह—अहंतैवेति । परा सर्वासां कार्या-
 विद्यानां मूलस्तम्भभूता निर्वाणपदस्य रोधिनी आवरणी । तत्
 निर्वाणपदम् ॥ १ ॥ अज्ञानादुत्पन्ना अहंतैवाकृत्वस्य निद-
 र्शनं लिप्तं यथा धूमोऽग्नेः । तस्य व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति—न
 हीति ॥ २ ॥ अलं निःशेषं अहंतालक्षणं मलमिति वा ॥ ३ ॥
 अहंतापगमादेव ह्यस्य नैर्मल्यं निर्विक्षेपं पूर्णतां च वर्णयति—
 न तथेति ॥ ४ ॥ यथा चित्रलिखिते संगरे युद्धस्य । युधेः
 'गल्यार्थकर्मक' इति कर्तरि क्तः । परस्परं संप्रहरतोऽपि
 सैन्यस्य क्षुब्धताप्रतिभासेऽपि न क्षुब्धता ॥ ५ ॥ एवं व्यवहार-
 कार्यलिप्तेनानुमीयमाना वासनापि बाधेनान्तर्निर्वाणैकतया दग्ध-
 पटतन्तुरेखादामोपमत्वात् वासना ॥ ६ ॥ ऊर्म्यादीति
 दधान्तं विशदयति—तरत्तरङ्ग इति ॥ ७ ॥ तस्यान्तर्बाह्यस-
 र्ववासनाबाधे किलक्षणमिति चेदक्षोभशगादिकमेवेत्याशये-
 नाह—अन्तरिति । उदितः सदैव प्रसन्नः ॥ ८ ॥ संविन्मये
 परे ब्रह्मात्मानि । स्फुरति विद्यते ॥ ९ ॥ अत्र खण्डरूपेण
 व्योम्नि स्फुरतो नीहारधूमस्य गजरथादिरूपा व्यूहा आकाररच-
 नाभेदाः ॥ १० ॥ इदानीं भगवान्वसिष्ठः सर्वान्भ्रोतृन्सवो-
 ष्याह—संविदिति । हे श्रवणाधमागता ज्ञा अभिज्ञानाः, यूयं
 विषादं मा कुरुत किमु मडुकरीत्या सर्वाणि विषादहेतुः प्रपद्यः
 सविदो भ्रान्तिर्विवर्तमानमिति विचारेण भ्रान्तितद्विषयतत्त्व-

स्फुरत्यम्भोम्मसीवातो नानातेयं किमात्मिका ॥ ९ ॥
 धूमस्य स्फुरतो व्योम्नि यथा गजरथादयः ।
 व्यूहा धूमान्न ते भिन्नास्तथा सर्गाः परे पदे ॥ १० ॥
 संविद्भ्रान्तिविचारेण भ्रान्त्यलाभविलासिनः ।
 विजयध्वं विषादं माऽऽगता ह्यस्तज्ज्ञता हि धः ॥ ११ ॥
 अङ्कुरोऽनुभवत्यन्तर्वृक्षपत्रफलं यथा ।
 तथा जगदहंत्वे ह्यः स्वात्मा स्वात्मखमप्यलम् ॥ १२ ॥
 रूपालोकमनःसत्ता ज्वालार्चिष्विव दण्डता ।
 सत्योपि च न सन्त्येता भ्रान्तेश्चित्तावला इव ॥ १३ ॥
 यथा सुखं यथारम्भं यथा नाशं यथोदयम् ।
 यथा देशं यथा कालमजराः शान्तमास्यताम् ॥ १४ ॥
 दृष्टानिष्टोपलम्भेषु शान्तो व्यवहरन्नपि ।
 शववन्नान्यतामन्तर्निर्वाणोऽनुभवत्यलम् ॥ १५ ॥
 मनोवासनाहंता धत्ते यच्च जगच्चिरम् ।
 जीवतोऽजीवतश्चैव चिज्जीवः स परं पदम् ॥ १६ ॥
 सत्तैव जडवाहेन दुःखभाराय केवलम् ।
 नृणां पाशावबद्धानां पोतकानामिचार्यवे ॥ १७ ॥
 मोक्षसत्ता श्रयति तं नाज्ञानानुभवादिव ।

परीक्षणे भ्रान्तीनां निःस्वरूपतापरया अलामेन विलासिनो
 विलसनशीलाः सन्तो विजयध्वं सर्वोत्कर्षेण वर्तध्वम् । हि
 यतो मनुष्यदेशेन वः तज्ज्ञतैवास्ति न त्वज्ञतेत्यर्थः ॥ ११ ॥
 कीदृशी सा संविद्भ्रान्तिरज्ञेनानुभूयते तदाह—अङ्कुर इति ।
 अज्ञः स्वात्मा वस्तुतः स्वात्मानं स्वमाकाशकल्पमपि जगदहंत्वे
 अनुभवति । प्रगृह्यसचिरार्थः । यथा अङ्कुरः स्वात्मनि वासनात्मकं
 वृक्षपत्रफलादिभारं तद्वदित्यर्थः ॥ १२ ॥ कीदृशस्त्वत्र विचा-
 रस्तमाह—रूपेति । बहिः रूपालोकसत्ता अन्तर्मेन-सत्तायाधि-
 ष्ठानात्मना सत्योऽपि स्वरूपेण न सन्ति । यथा आम्यमाणोत्सु-
 कज्वालार्चिषु दण्डकतादय इत्यर्थः । चित्तावलाः विधुरचि-
 त्तकल्पितकामिन्य इव ॥ १३ ॥ अतो हे श्रोतारः, सर्वं जगत्
 यथा उदेति, स्थितं च यथा स्वकार्यमारमते, यथा च मुसदु-
 स्नेऽनुभावयति, यथा च नश्यति, यथा च तवीर्यौ देशकालौ तथा
 तथा उत्पत्तिस्थित्युपशमप्रकरणोक्तयुक्तिभिर्विमृश्य मध्येति
 निश्चित्य शान्तमास्यताम् ॥ १४ ॥ शववन्निर्वाणः शान्तचित्तः ।
 अतो नानुभवति ॥ १५ ॥ जीवन्मुक्तानां मनोवासनार-
 हितैवाहंता चिरं यावद्देहपातं यज्जगद्वत्ते यच्च तज्ज्ञोचा जीवस्ताव-
 त्कालं जीवति तदुभयं चिज्जीव एव न जडाशोऽणुमात्रमपि
 तत्रास्तीति परमं पदमेव तदित्यर्थः ॥ १६ ॥ एवं च निष्कर्षं
 जीवजगतोर्जडप्रवाहात्मना सत्तैवानर्थं इति फलितमित्याशये-
 नाह—सत्तैवेति । पोतकपक्षे डलयोरभेदाजलरूपेण बाहे-
 नाधारेणार्णवे सत्तैव दुःखसदृशपृथग्भारवहनायेति योज्यम्
 ॥ १७ ॥ अत एव समज्ञमज्ञानजात्रानुभवापराधादिव चिदक-

मृतेन यत्किञ्च प्राप्तं जीवन्प्राप्नोति तत्कथम् ॥ १८
 यद्यत्संकल्प्यते तत्तत्संकल्पादेव नाशमाक् ।
 न संभवति यत्रैतत्तत्सत्यं पदमक्षयम् ॥ १९
 नान्यो न चाहमस्मीति भावनान्निर्भयो भव ।
 सत्यं युक्तं भवत्येतद्विषमप्यमृतं यथा ॥ २०
 जडं देहादि चित्तान्तं विचार्य सकलं वपुः ।
 लभ्यते नाहमस्मीति तस्मान्नास्मीति सत्यता ॥ २१
 शान्ताशेषविशेषाणामहंतान्ताविचारणात् ।
 केवलं मुक्ततोदेति न तु किञ्चिद्विनश्यति ॥ २२
 भोगत्यागविचारात्मपौरुषान्नान्यदत्र हि ।

उपयुज्यत इत्यज्ञाः स्वात्मैवाशु प्रणम्यताम् ॥ २३
 निर्वासनं मननमेवमुदाहरन्ति
 मोक्षं विना भवति तत्र च जातु बोधात् ।
 सन्नो जगद्भ्रम इतीह परः प्रबोधो
 न प्रत्ययोऽत्र यदतः सुचिराय बन्धः ॥ २४
 जगदहमसदित्युपेत्य सम्य-
 गजनघनदारशरीरनिर्व्यपेक्षः ।
 भवति हि स च चेतनस्वरूपः
 परिमितखं खलु नान्यथास्ति मुक्तिः ॥ २५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपन्यासयोगो नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः ३१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सर्वात्मनि चिदाभासे तदेवाश्वनुभूयते ।
 संवेद्यते यदेवान्तरसत्यं वस्त्ववस्तु वा ॥ १
 तदेवाभ्यासतः पूर्वं बाह्यार्थानुभवात्मना ।
 स्फुरतीव बहिष्ठेन स्वस्वप्नोऽत्र निदर्शनम् ॥ २
 चिद्रूपं सर्वमेतच्च चिदच्छा गगनादपि ।
 चिच्चिनोति चिदेवातो नैतर्किकचन कुत्रचित् ॥ ३

रस्यपूर्णतालक्षणा मोक्षसत्ता न श्रयति । यथा मृगुपातादिना
 मृतेन प्राप्तं स्वर्गादि जीवन्तं न श्रयति तद्वदित्यर्थः ॥ १८ ॥
 ननु मास्तु मोक्षः सांक्लिकस्वर्गादिफलेष्वेव कश्चिन्नित्यः पुरु-
 षार्थोऽस्तु तत्राह—यद्यदिति । तत्राशे चावश्यं भयमस्तीति
 भावः । किं सर्वभयमक्षयं च तदाह—न संभवतीति । एतत्सं-
 कल्पनम् ॥ १९ ॥ एतत् अनहंभावनं अज्ञदृष्ट्या भयावहत्वा-
 द्गहीतुमयुक्तमपि परमार्थदृशा सत्यमिति युक्तमेव ग्रहीतुम् ।
 यथा मूढेन विषबुद्ध्या उपेक्षितममृतमभिज्ञेन ग्रहीतुं युक्तमि-
 त्यर्थः ॥ २० ॥ तत्सत्यतामुपपादयति—जडमिति ॥ २१ ॥
 अत एवाशेषशान्तेरहंत्वशान्तिरवधिः सैव मुक्तता । तस्यां च
 घृतकाठिन्यविलये घृतस्येव नाणुमात्रमप्यात्मनः किञ्चिज्जडमिति
 न सर्वनाशोऽयमिति भेतव्यमित्याशयेनाह—शान्तेति ॥ २२ ॥
 अत्रास्यां मुक्तौ भोगत्यागो विचार आत्मन इन्द्रियमनोनिग्रह-
 पौरुषं चेति त्रयात्रान्यदुपयुज्यते इति निश्चित्य हे अज्ञ मुमु-
 क्षवः, सर्वमनात्मवर्गं परित्यज्य स्वात्मैव प्रणम्यतां तत्त्वबोधेन
 शरणीक्रियतामित्यर्थः ॥ २३ ॥ एवमहंतावधिकसर्वद्वैतोपशमेन
 निर्वासनं सर्ववासनाक्षयोपलक्षितं यन्मननं मनसो ब्रह्मभावेना-
 वस्थानं तदेव मोक्षं श्रुतयो विद्वांसश्चोदाहरन्ति । तच्च बोधात्त-
 त्वज्ञानाद्विना जातु कदाचिदपि न भवति । स च परः प्रबोधो
 जगद्भ्रमः सन् परमार्थो नो न भवत्येव इह मोक्षशास्त्रे प्रसिद्धः ।
 यद्यस्मात्कारणादत्र ईदृशो बोधो 'नेह नानास्ति किञ्चन'

न नाशो नास्ति नानर्थो न जन्ममरणे न खम् ।
 न शून्यता न नानास्ति सर्वं ब्रह्मैव नैव च ॥ ४
 नाशो जगदहंत्वादेर्न किञ्चिदपि नश्यति ।
 असतः किल नाशोऽपि स्वप्नादेः किं नु नश्यति ॥ ५
 मिथ्यावभासे संकल्पनगरे कैव नष्टता ।
 तथा जगदहंत्वादौ नाशो नासति विद्यते ॥ ६
 कुतो जगदुपालम्भ इति चेत्तदवस्तुनि ।

इत्यादिश्रुत्या जायमानोऽपि रागादिपुरुषदोषप्रावल्याज्जगत्सत्य-
 ताभ्रमदार्ढ्याच्च प्रत्ययो विश्वासो नास्ति । अतो हेतोः सुचिराय
 जीवस्य संसारबन्धोऽनुवर्तत इत्यर्थः ॥ २४ ॥ तस्माच्छास्त्रादि-
 विश्वासदार्ढ्याज्जगदित्यहमिति चोभयमप्यसत् नास्त्येवेति सम्यक्
 श्रवणमननाभ्यासेनोपेत्य बन्ध्वादिजने घने दारेषु स्वशरीरे च
 निर्व्यपेक्षः सन् परमार्थतत्त्वं बुद्ध्वा परिमितखं उपाधिपरिच्छिन्न-
 चिदाकाशरूपः स जीवः चात् जगच्च चेतनं चिन्मात्रं तत्स्वरूपो
 भवति सैवास्य मुक्तिरयमेव तदुपाय इतोऽन्यथास्य मुक्तिर्नास्ती-
 त्यर्थः ॥ २५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपन्यासयोगो नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

चिता प्रस्तमचिद्रूपमसदेव सदेव वा ।

न किञ्चिज्जडमित्यत्र निर्वाणस्थितिरीर्यते ॥ १ ॥

नित्यनिरतिशयानन्दपूर्णाद्वयचिदाकाशलक्षणा निर्वाणस्थि-
 तिमनुभावयितुं प्रागुक्तं दृश्यानुभवस्य संवेदनाभ्यासाधीनत्वं
 स्मारयति—सर्वात्मनीति ॥ १ ॥ २ ॥ अस्त्येवं किं ततस्त-
 त्राह—चिद्रूपमिति । सर्वमेतच्चित एव रूपं कल्पितवेषभेदः,
 वास्तवं तर्हि चितः किं स्वरूपं तत्राह—चिदच्छेति । यतो
 घृतं स्वात्मनि काठिन्यमिव चिदेव जगद्वेषं चिनोति अतश्चि-
 देव ॥ ३ ॥ अस्त्येवं ततोऽपि किं तत्राह—नेति । ततो ब्रह्मा-
 द्वैतमिष्टं सिद्धमित्यर्थः ॥ ४ ॥ ननु जगदहंतादेर्जडांशस्य तत्त्व-
 बोधेन नाश इष्टः स कथमप्यलप्यते तत्राह—नाशो इति । ना-
 शोऽपि कः इति शेषः ॥ ५ ॥ ६ ॥ यद्यसदेव जगत्तर्ह्यनर्थ-

न निर्णयः संभवति खपुष्पाणां किमुच्यते ॥ ७
 निर्णय एष एवात्र यदशेषमभावयन् ।
 यथास्थितं यदाचारं पापाण इव तिष्ठसि ॥ ८
 जगत्संकल्पमात्रात्म तत्र तेऽर्थयुतं क्षणात् ।
 शाम्यत्यशेषेणेत्येव निर्णयः सर्गविभ्रमे ॥ ९
 सर्गेऽनर्गल एवायं ब्रह्मात्मकतयाक्षयः ।
 अन्यथा तु न सर्गेऽयमस्ति नास्ति च सन्ति वा ॥ १०
 येषां च विद्यते सर्गः स्वप्नपुंसामिवासताम् ।
 स सर्गः पुरुषास्ते च मृगतृष्णाम्बुवीचिवत् ॥ ११
 असतामेव सद्भावमिव येषामुपेयुषाम् ।
 न चयं निर्णयं विद्मो बन्ध्यापुत्रगिरामिव ॥ १२
 परिपूर्णार्णवप्रख्या काप्यपूर्वैव पूर्णता ।
 तज्ज्ञानां द्रष्टृदृश्यांश्च हृद्यै न हि पतन्ति ते ॥ १३
 अचला इव निर्वाता दीपा इव समत्विषः ।
 साचारा वा निराचारास्तिष्ठन्ति स्वस्थमेव ते ॥ १४
 आपूर्णैकार्णवप्रख्या काप्यन्तः पूर्णतोदिता ।
 अन्तःशीतलता क्षतिर्हस्यापूर्वैव लक्ष्यते ॥ १५

रूपत्ववर्णनेन तस्योपालम्भो निन्दा हेतवेन निर्णयश्च शास्त्रेषु
 कुतः कियत इति चेत् सत्यम् । अवस्तुनि नोपालम्भस्तत्फलं
 विचारो निर्णयो वा न संभवेत्येव खपुष्पस्य किमुपालम्भो निर्-
 णयो वा केनचिदुच्यते तद्वदित्यर्थः ॥ ७ ॥ तर्हि किं तच्छास्त्रवै-
 यर्थ्यमेव नेत्याह—निर्णय इति । स्वाभाविकस्वरूपस्थितिसिद्ध्यर्थ-
 मसदपि सदिन कल्पयित्वा निन्दादिना वैराग्यविवेकादिस्तत्त्व-
 साक्षात्कारान्त उपायः कल्पित इति एष एव निर्णयः सिद्धान्त
 इत्यर्थः । यथास्थितं यथाशास्त्रं यथाचारं यथासंप्रदायं च भू-
 मिकाक्रममभ्यस्येत्यर्थः ॥ ८ ॥ अस्त्वेवमात्मतत्त्वे निर्णयः स्वर्गा-
 दिजगत्स्वरूपे को निर्णयः सफलस्तमाह—जगदिति । तत्र
 प्रागुक्तस्थितौ । अर्थः सांसारिकपुरुषार्थमासक्तद्युतम् ॥ ९ ॥
 ननु सर्गः सुपुंसिप्रलययोः स्वत एव क्षीयते किं तस्य प्रह-
 मात्रतापरिज्ञानेन तत्राह—सर्गे इति । अनर्गलो मूलोच्छेदा-
 त्पुनरुद्भवश्चल्यः । अन्यथा प्रलयादौ क्षये तु बीजात्मनाऽस्ति
 कार्यात्मना नास्ति सन्ति वा प्रलयेऽप्यैन्दवारुणानोक्तरीत्या
 कार्याणि । सांकेतिकस्य परः क्षेत्रमशक्यत्वादित्यर्थः ॥ १० ॥
 तर्हि सति सर्गे कथं प्रलयस्तत्राह—येषामिति । प्रलयसंकल्प-
 यिनोर्दृष्ट्या तेषामसत्त्वात्सर्गाकल्पिकसर्वनाशादेव तस्य प्रलय-
 व्यवहारादित्यर्थः ॥ ११ ॥ अत एव जीवजगद्रूपाणामनिर्ण-
 यत्वादननिर्वाचनीयत्वमुक्तमित्याह—असतामेवेति ॥ १२ ॥ अत
 एव न तत्त्वविदा चर्दवादितीव्रचिदानन्दपूर्णतेत्याह—परिपू-
 र्णैति । हि यस्मात्ते द्रष्टृदृश्यांश्च हृद्यै न पतन्ति नाभिनिविशन्ते
 ॥ १३ ॥ अचला इवाप्रकम्पा इति शेषः । साचारा । इवार्थे
 वासन्दः ॥ १४ ॥ १५ ॥ अजपुरुषास्तर्हि किंस्वरूपास्तदाह—
 वासनैवेति ॥ १६ ॥ अनालोकनं प्रकाशात्कृतिः । कृष्णं तसः

वासनैवेह पुरुषः प्रेक्षिता सा न विद्यते ।
 तां च न प्रेक्षते कश्चित्ततः संसार आगतः ॥ १६
 अनालोकनसिद्धं यत्तदालोकान्न विद्यते ।
 कृष्णाद्यनुपलम्भोऽत्र दृष्टान्तः स्पष्टचेष्टितः ॥ १७
 भूतानि देहमांसादि तच्चासद्विभ्रमो जडः ।
 बुद्ध्यहंकारचेतांसि तन्मयान्येव नेतरत् ॥ १८
 भूतादिमयतां त्यक्त्वा बुद्ध्यहंकारचेतसाम् ।
 अत्यन्तं स्थितिरभ्येति यदि तन्मुक्ततोदिता ॥ १९
 चिच्छिष्टा चेत्यनिष्ठत्वात्तादृश्येवात्र कास्तिता ।
 तस्मात्केव कुतः कुत्र वासना किंस्वरूपिणी ॥ २०
 यस्य चैव भ्रमः सोऽसन्प्रेक्षयासन्न लक्ष्यते ।
 मृगतृष्णाम्बुवत्तेन संसारः कस्य कः कुतः ॥ २१
 तदेवं तर्हि तस्य स्यादिति चित्तोदयो हि यः ।
 पुनः स एव संसारविभ्रमः संप्रवर्तते ॥ २२
 तस्मात्सर्वमनाश्रित्य व्योमवत्समुपास्यताम् ।
 अपुनःस्मरणं श्रेय इह विसरणं परम् ॥ २३
 नेह द्रष्टा न भोक्तास्ति नाऽस्तिता न च नास्तिता ।
 यथास्थितमिदं शान्तमेकं स्पन्दि सदान्धिवत् ॥ २४

आदिपदात्तकार्यचोरयक्षादिस्तस्य आलोकस्फूर्तावनुपलम्भो दृ-
 ष्टान्तः । 'तृष्णा' इति पाठे तृष्णा मृगतृष्णा । स्पष्टचेष्टितः ।
 अतिस्पष्ट इति यावत् ॥ १७ ॥ कीदृशादालोकात्तमाह—भूता-
 नीति । देहमांसादिस्थूलदेहोपादानं पञ्चीकृतानि भूतान्येव ।
 तथा बुद्ध्यहंकारचेतांसि सूक्ष्मशरीरोपादानोपलक्षणम् । तान्यपि
 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' इत्यादिश्रुतेस्तन्मयान्यपञ्चीकृतभू-
 तविकारभूतान्येव ॥ १८ ॥ अस्त्वेवं किं तत्तत्राह—भूता-
 दीति । तत्र बुद्ध्यदिघटितलिङ्गोपाधावहंभावेन प्रविष्टश्चिदात्मा
 तद्वारा स्थूलदेहमप्यविद्यया अहमित्यभिमान्यते । तस्य विवेकेन
 बुद्ध्यहंकारचेतसां भूतादिमयता वाचारम्मणश्रुतिदर्शितोपायेन
 त्यक्त्वा अत्यन्तं स्वप्रकाशचिन्मात्रस्वभावेन या स्थितिर्यदभ्येति
 तत्तर्हि सैव मुक्तता उदिता आविर्भूता । स एवालोको मयोक्त
 इत्यर्थः ॥ १९ ॥ एवमात्मालोके प्रसृते वासनापि बाधितैवेति
 तथापि न बन्धप्रसक्तिरित्याह—चिदिति । लिङ्गोपाधावात्म-
 चिद् लिङ्ग तादात्म्याध्यासेन मिलिता चेत्तस्माद्वैलोभुस-
 त्वात्तादृश्येव वासना अस्तिता प्रसिद्धा । सा चात्र अस्यामुक्त-
 ताया का ॥ २० ॥ बन्धस्य जीवस्यैव तत्त्वदर्शने अनुपल-
 म्भाच्च केन कस्य बन्धप्रसक्तिरित्याह—यस्येति । अतः
 अलीकः । असन्न प्रेक्षया तत्त्वदृष्ट्या न लक्ष्यते ॥ २१ ॥ आत्मा-
 लोकमान्ये तु पुनश्चित्तोदयेन संसारः स्यादेवेति तदार्थम-
 पुनःस्मरणावधि कार्यमित्याह—तदेवमिति द्वाभ्याम् । तत्त-
 स्मादेवमात्मालोके प्रसृतास्यापि विषयस्मरणे अश्चित्तोदयः स
 एव पुनः संसारः संप्रवर्तते संप्रवर्तते ॥ २२ ॥ पर विसरणं
 भूमिकाभ्यासेन साधयेदिति शेषः ॥ २३ ॥ तदभ्यासपरः कथं
 परयेत्तदाह—नेहेत्यादिना । स्पन्दिप्रारब्धोपनीतव्याधितम्यव-

सर्वं दृश्यं जगद्ब्रह्म सदित्यवगते स्फुटम् ।
जलशोषादिवोदेति बिम्बविम्बिद्वये शिवम् ॥ २५ ॥
शान्तताव्यवहारो वा रागद्वेषविवर्जितः ।
विश्रान्तस्य परे तत्त्वे दृश्यते समदर्शिनः ॥ २६ ॥
अथवा शान्ततैवास्य निर्वाणस्यावशिष्यते ।
निर्वासनः किल मुनिः कथं व्यवहरत्वसौ ॥ २७ ॥
यावत्त्वस्य न निर्वाणं परिपोषमुपागतम् ।
तावद्यवहरत्यस्तरागद्वेषभयोदयः ॥ २८ ॥
वीतरागभयक्रोधो निर्वाणः शान्तमानसः ।
शिलेवाप्यशिलीभूतो मुनिस्तिष्ठति नित्यशः ॥ २९ ॥
कोशेऽस्ति पद्मबीजस्य यथा सर्वाङ्गिनी तथा ।
अनन्या स्वप्नविभ्रान्तिरात्मन्यस्ति न बाह्यता ॥ ३० ॥
बाह्यताभावनाद्वाह्यमात्मैवात्मत्वभावनात् ।
भवतीदं परे तत्त्वे भावनं तत्तदेव हि ॥ ३१ ॥
यान्तः स्वप्नादिविभ्रान्तिः सैवेयं बाह्यतोदिता ।

मनागप्यन्यता नात्र द्विभाण्डपयसोरिव ॥ ३२ ॥
स्थैर्यास्थैर्ये तथैवात्र भ्रान्तिमात्रमये तते ।
आधाराधेयते ते द्वे यथा जलतरङ्गते ॥ ३३ ॥
स्वप्नादावात्मनोऽन्यत्वज्ञानादन्यत्ववेदनम् ।
अनन्यतावबोधे तु तदनन्यज्ञ बोदयि ॥ ३४ ॥
कलनारहितं शान्तं यद्रूपं परमात्मनः ।
भवत्यसौ तत्तद्भावादतद्भावाच्च तद्भवेत् ॥ ३५ ॥
स्वप्नादिज्ञानसंशान्तौ यद्रूपं शुद्धमैश्वरम् ।
न तदस्ति न तत्रास्ति न वागोचरमेव तत् ॥ ३६ ॥
आत्यन्तिकभ्रान्तिलये युक्त एवावगच्छति ।
स्वरूपं नोपदेशस्य विषयो विदुषो हि तत् ॥ ३७ ॥
शान्तं निरस्तभयमानविषादलोभ-
मोहात्मदेहमननेन्द्रियचित्तजाड्यम् ।
त्यक्त्वाहमक्षयमपास्तसमस्तभेदं
निर्वाणमेकमजमासितुमेव युक्तम् ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० निर्वाणयुक्त्युपदेशवर्णनं नामैकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः ३२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यदा चित्तिः प्रसरति तदाहंताजगद्भ्रमः ।
असदेवाभ्युदेतीव स्पन्दादपि च वायुता ॥ १ ॥
उदितोऽपि न खेदाय ब्रह्मरूपत्ववेदनात् ।
परमाय त्वनर्थाय जगच्छब्दार्थभावनात् ॥ २ ॥

हारनिमित्तम् । सदा अभिधवत्पूर्णम् ॥ २४ ॥ बिम्बनं बिम्ब-
श्विदाभासः सोऽस्यास्तीति बिम्बी उपाधिस्तदुभयक्षये ॥ २५ ॥
शान्तता समाधिपरता व्यवहारो वेति द्वयमपि दृश्यते ॥ २६ ॥
॥ २७ ॥ सप्तमभूमिकाविभ्रान्तिपर्यन्तं परितोषं नोपागतम्
॥ २८ ॥ २९ ॥ एवं च ब्रह्मणि स्वाभाविकभावानुसारेण
जगद्रूपमस्ति, शास्त्रीयतत्त्वभावानुसारेण तार्त्त्विकं रूपमप्य-
स्तीति यथेच्छमनर्थः पुरुषार्थो वा सुलभ इत्याशयेनाह—कोशे
इत्यादिना । बाह्यता आत्मान्यनिष्ठता जगतो नेत्यर्थः ॥ ३० ॥
बहिरस्तीति प्रतीतिस्त्वात्मन्येव बाह्यताभावनाच्चान्याधारत्वा-
दित्याह—बाह्यताभावनादिति । तथा च तत्तद्भावात्मकमेव
बाह्यत्वमान्तरत्वं चेति फलितमित्याशयेनाह—भावनमिति
॥ ३१ ॥ अत एव स्वप्नजाग्रतोर्न प्रतीतितो भेद इत्याह—येति ।
भिन्नभाण्डस्थक्षीरयोरिव अन्यताभेदो विशेषो नास्ति ॥ ३२ ॥
ननु जाग्रत्स्वप्नार्थानां स्थैर्यास्थैर्ये विशेषः प्रत्यक्ष उपलभ्यते
तस्य का गतिस्तत्राह—स्थैर्येति । एवं स्वप्नस्य जाग्रदेहाधार-
ताप्रत्ययोऽपि न भेदक इत्याह—आधारेति ॥ ३३ ॥ स्वप्ना-
र्थानां यावदात्ममात्रता नानुसंधीयते तावदेव भानम् । आत्म-
मात्रतानुसंधाने तु झटिलेव जागरणाद्वाधादात्मानन्यत्वं प्र-
सिद्धं तद्भावाप्रदर्शेष्वपि बोध्यमित्याशयेनाह—स्वप्नादाविति ।

रूपानुभवमादत्ते चक्षुःप्रसरणाद्यथा ।

चित्तिः प्रसरणात्तद्वज्जगद्विभ्रममास्थिता ॥ ३ ॥
यासौ प्रसरति व्यर्थं चेत्याभावाच्च सा सती ।
असत्कथं प्रसरति वन्ध्यापुत्रः क नृत्यति ॥ ४ ॥

उदयि पृथगाविर्भाववन्न च ॥ ३४ ॥ अत एव वास्तवोऽपि ब्रह्म-
भावस्तद्भावाधीन इति यदुक्तं तत्तिदमित्याह—कलनेति
॥ ३५ ॥ अस्तितानिरूपककालदेशाधारायभावाच्च तदस्ति ।
स्वरूपस्यावाधान नास्ति । अत एव वाचामगोचरमित्यर्थः ॥ ३६ ॥
कथं तर्हि तद्भावा गुरुणोपदिश्यते तत्राह—आत्यन्तिकेति ।
युक्तः समाधिस्थः स्वानुभवेनैवावगच्छति कान्तासंभोगमुख-
वन्न परं प्रत्युपदेशस्य विषयस्तथापि तदुपायप्रदर्शनेन तत्र
श्रोतृबुद्ध्यवतारणमेवोपदेशफलमिति भावः ॥ ३७ ॥ अतो हे
राम, अहमहंकारं त्यक्त्वा निरस्तानि जाज्यान्तान्येकादशे अस्ति-
स्तथाविधमत एव शान्तमजमक्षयमपास्तसमस्तभेदमेकं नि-
र्वाणं ब्रह्म भूत्वा सदैव समाधावासितुं युक्तमुचितं न व्यवहार-
विषयेष्वित्यर्थः ॥ ३८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणयुक्त्युपदेशवर्णनं नामैक-
त्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

साधुसंगमसच्छास्त्रविचाराभ्यासशालिनः ।

मोक्षोऽत्रावश्यमावित्वात्स्वायत्त उपपाद्यते ॥ १ ॥

विद्याविद्याभ्यां बन्धमोक्षयोः स्वायत्तत्वं वर्णयिष्यन् प्रथम-
मविद्यया चित्प्रसरणाधीनं स्वायत्तं बन्धं दर्शयति—यदेति ।
स्पन्दादपि चेति दृष्टान्तार्थम् । इव चेति पाठः स्पष्टः ॥ १ ॥
॥ २ ॥ ३ ॥ 'उदितोऽपि न खेदाय' इति यदुक्तं तदुपपादयति—

अयं त्वनुभवादेव सुधैवानुभवन्स्थितः ।

असदेवाननुभवन्स्वयमर्भकयक्षवत् ॥

अहंभावोऽपि दुःखार्थमहमित्येव वेदनात् ।

अवेदनाच्चाहमतः स्वायत्ते बन्धमुक्ते ॥

तद्व्यानं स समाधिर्वा यदवेदनमासितम् ।

अजडानां जडमिव समं शान्तमनामयम् ॥

द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्वाक्यसंदर्भविभ्रमैः ।

मा विषीदत दुःखाय विबुधा अबुधा इव ॥

असदाश्रयते दुःखं स्वप्नवद्भववासनः ।

रूपालोकमनस्कारान्संकल्पपरचितानिव ॥

दुःखं सदेव नाश्नाति सुप्तवत्तनुवासनः ।

रूपालोकमनस्कारान्संकल्पपरहितानिव ॥

अत्यन्ततनुतामेत्य वासनैवैति मुक्तताम् ।

देशकालक्रियायोगात्पदार्थे भावनामिव ॥

अत्यन्ततनुतां याता वासनैवैति मुक्तताम् ।

पराणुपरिणामेन खतां खेऽभ्रादिका यथा ॥

अहंभावनया बोधे वासना घनतानवा ।

यासाविति । कूटस्थचित्तो बाह्यार्थोपसर्पणलक्षणं प्रसरद्रूपं वि-
षयाभावात्स्वतश्च नास्त्येवेति विषया बाधाय खेदायेति भावः
॥ ४ ॥ अयं चित्सरोऽनुभवादेव सिद्ध्येत् । स चानुभवो वि-
षया बाध्यमानोऽसदर्थमननुभवजैर्वाभैक्यक्षानुभववन्सुधैव
स्थित इत्यर्थः ॥ ५ ॥ उक्तो न्याय आन्तरे अहंभावात्मकप्र-
सरेऽपि तुल्य इति दर्शयन् बन्धमोक्षयोः स्वायत्तता सिद्धे-
त्याह—अहंभाव इति ॥ ६ ॥ मोक्षस्य स्वायत्ततामुपपाद-
येति—तादित्यादिना । विषया मूलजाड्यापहराक्षिदात्मैकरसा-
पत्त्या अजडानां मनोजुष्टादिसर्ववस्तूनां जडं पाषाणादीव नि-
श्चलं यदवेदनं वेद्यवेदनभावनिसुक्तमासितमवस्थानं तदेव
ध्यानं समाधिर्वा । तदुपलक्षिता मुक्तिरिति यावत् ॥ ७ ॥ अय-
मेव विभ्रान्तिहेतुः सिद्धान्तः । अन्यथाकल्पने तु वादिनां
फलद्रुमात्रपर्यवसानेन यथा कण्ठशोषः स्यादित्याशयेन तान्संबो-
ध्याह—द्वैतेति । हे विबुधाः पण्डितमन्या वादिनः, यूयमबुधा
सूखा इव द्वैतादिनानाविकल्पसमुद्भेदैर्वहुविधकलहार्तमकवाक्य-
संदर्भविभ्रमैर्मा विषीदत यथा कण्ठशोषलक्षणं विषादं माप्नुत ।
इममेव परमपुरुषार्थहेतुं सिद्धान्तमवलम्बन्वमित्यर्थः ॥ ८ ॥
घनवासनस्य बहिर्मुखस्यासदपि रूपादिदर्शनमिव दुःखमपि दृढ-
तरं दुर्वारम् । तनुवासनस्यान्तर्मुखस्य तु तद्वदेव प्रारब्धप्रसं-
जितमपि दुःखमापाततो भुज्यमानं स्वानन्दानुभवतिरोहितत्वा-
द्यमुक्तप्रायमेव भवतीत्याह—असदिति द्वाभ्याम् । आश्रयते
मुक्ते ॥ ९ ॥ अप्येवैक्यकरः । सत् प्रारब्धप्रसजितमपि दुःखं
नाश्नाति न मुक्ते । सुप्तो निद्रासुखपरवशचित्तो यथा मशकम-
त्कुणादिदर्शनदुःखं नानुभवति तद्वत् ॥ १० ॥ अतो वासना-
नामेवोपचयात्साराणुभव इवापचयो देशकालक्रमेण सु-
क्तानुभवोऽपि सिध्यतीत्याह—अत्यन्तेति ॥ ११ ॥

विपश्चित्संगमाभ्यासात्पाण्डित्यमिव मूढता ॥ ११

नाहमस्तीह मद्युक्त्या निश्चयोऽन्तः शमात्मकः ।

जीवतोऽजीवतश्चास्ति रूढबोध इति स्मृतः ॥ १२

घायौ द्वन्द्वमिवात्रेदं जगदादि च भासते ।

कोऽहं कथमिदं चेति विचारेणैव शाम्यति ॥ १३

नाहमित्येव निर्वाणं किमेतावति मूढता ।

सत्संगमविचाराभ्यामेतदाश्ववगम्यते ॥ १४

क्षीयते तत्त्ववित्सङ्गादहमित्येव बन्धनम् ।

आलोकेनेव तिमिरं दिवसेनेव यामिनी ॥ १५

कोऽहं कथमिदं दृश्यं को जीवः किं च जीवन्तम् ।

इति तत्त्वज्ञसंयोगाद्यावज्जीवं विचारयेत् ॥ १६

जीवितं भुवनं भाति ततोऽहमिति नश्यति ।

तत्त्वमेकेन तज्ज्ञार्कसेवनात्स निषेव्यताम् ॥ १७

यो यो बोधातिशयवांस्तं तं पृथगुपास्व भो ।

संगमे कथयोदेति तेषां वादपिशाचिका ॥ १८

वादयक्षेऽप्यभ्युदिते बालस्येव विपश्चितः ।

युक्तियुक्तमलं मुख्यमुवेत्यहमिति भ्रमः ॥ १९

अपक्षयक्रमप्राप्तेन परेणाणुना सूक्ष्मतमेन चरमपरिणामेन ।
आदिपदाजीह्वारधूमादिपरिग्रहः ॥ १२ ॥ वासनातानवे तर्हि
क उपायस्तमाह—अहंभावनयेति । ब्रह्माहंभावनया बोधे
अभिवृष्ट्यानेन वासना दिने दिने घनं निरुद्धं तानवं सौक्ष्म्य
यस्यास्तथाविधा सती मुक्तिः संपद्यते । यथा विपश्चिता पण्डि-
तानां संगमाद्विद्याभ्यासाद्वर्षमानान्मूढता घनतानवं प्राप्य
पाण्डित्यं संपद्यते तद्वदित्यर्थः ॥ १३ ॥ कियत्कालं बोधो वर्ध-
नीय इति चेद्रूढबोधतापर्यन्तमित्याशयेन रूढबोधलक्षणमाह—
नाहमिति । मद्युक्त्या अहंमयेति भावनारुक्षणेन प्रसंगात्सयो-
गेनाभ्यस्यमानेनेह जीवतो योगिनोऽजीवतः परलोकं गतस्य
वा अहंशब्दार्थो जीवो नास्तीति शमात्मको निश्चयोऽन्तर्य-
स्यास्ति स रूढबोध इत्यर्थः ॥ १४ ॥ द्वन्द्वं द्वयं कियेति च
कल्प्यमानम् । ‘स्पन्द’ इति पाठे स्पष्टम् । आदिपदाजीवः
॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ जीवन्तं प्राणादिधारणं किम् । शब्द-
जीवप्रहणमात्रोक्षोपलक्षणम् ॥ १८ ॥ स च विचारो गुरुसेव-
नाच्छीघ्रं फलपर्यन्तः सिध्यतीत्याशयेनाह—जीवितमिति ।
यतस्तज्ज्ञस्त्वरवित् तल्लक्षणस्यार्कस्य सेवनारसंपर्काद्भुवनं जगदेव
बोधेनोज्जीवितं भाति । अहमिति सर्वपदार्थतत्त्वावरणं तमो
नश्यति, बभ्रुतत्त्वं च एकेन क्षणेन प्रपद्ये अतः स तज्ज्ञार्क
निषेव्यतामित्यर्थः ॥ १९ ॥ यदा तु बहुषु विद्वत्सु तार्किकेषु
च सत्त्वस्य तत्त्वज्ञोऽयं नेति निर्धारणे असमर्थोऽहं तदा किं कुर्वी
तत्राभ्याह—यो य इत्यादिना । ननु पृथगुपास्वेति किमर्थ-
मुच्यते, समुदितोपास्तौ को बोधस्तमाह—संगमे इति । क-
थया परस्परविरुद्धयुक्तिरूपनेन । ‘मुण्डे मुण्डे मतिर्भिजा तुण्डे
तुण्डे सरस्वती’ इति न्यायादिति भावः ॥ २० ॥ सदेव नाम
वादपिशाचिका को बोधस्तमाह—वादयक्षे इति । वादलक्षणे

अतः प्रत्येकमेकान्ते प्राज्ञः सेवेत पण्डितम् ।
 एकीकृत्य तदुक्तांस्तानर्थान्बुद्ध्या विचारयेत् ॥ २२
 विचारयेत्तदुत्तरं बुद्ध्या बुद्धिविवृद्धये ।
 सर्वसंकल्पमुक्तं यत्तत्सत्तन्मयतां व्रजेत् ॥ २३
 विपश्चित्संगमैर्बुद्धिं नीत्वा परमतीक्ष्णताम् ।
 अज्ञानलतिका सैका कणशः क्रियतामलम् ॥ २४
 एषोऽर्थः संभवत्येव तेनेदं कथयाम्यहम् ।
 खानुभूतं वयं बाला नासमञ्जसवादिनः ॥ २५

व्योम्नोऽम्बुवाहादिविजृम्भयेव
 तरङ्गमङ्गयेव महाजलस्य ।
 न युज्यते नापि च नश्यतीह
 नाशोदयो निर्मननस्य किञ्चित् ॥ २६
 इदं हि सर्वं मृगतृष्णिकाम्बुव-
 त्त्रिरामये ब्रह्मणि शान्त आतते ।
 विचारिते नाहमितीह विद्यते
 कुतः क कस्मान्मननादिविभ्रमः ॥ २७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यावबोधनोपदेशो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः ३३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

स्वपौरुषेण स्वधिया सत्संगमविकासया ।
 यदि ना नीयते ज्ञत्वं तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ १
 स्वं कल्पितं कल्पितं च प्रतिकल्पनया स्वया ।
 तदेवान्यत्वमादत्ते विषत्वममृतं यथा ॥ २
 कल्पना चाकल्पनान्ता मुक्तता यदकल्पनम् ।
 एतच्च भोगसंत्यागपूर्वं सिध्यति नान्यथा ॥ ३

यक्षे पिशाचेऽभ्युदिते सति विवेकिनोऽपि श्रोतुरश्रौतमैपि
 युक्तिभिस्तर्कैर्युक्तं तार्किकैः प्रतिपाद्यमानमहं प्रत्यक्तत्त्वं मुख्यं
 तदेवालं पर्याप्तं ममेति भ्रम उदेति । तथा चान्धगोलाद्गुलन्या-
 येन तदालम्बनेऽनर्थ एव स्यादिति भावः ॥ २१ ॥ सेवेत
 सेवाधुपचारेण वशीकृत्य पृच्छेत् ॥ २२ ॥ श्रुतियुक्तिस्वानु-
 भवविद्वदन्तरसंवादवैविचारयेद्रक्षतरवमिव परीक्षेत सर्वसंदेहो-
 च्छेदेन बुद्धेः शुद्धये । एवं मननेन बुद्धिशुद्धौ निदिध्यासनं
 कार्यमित्याह—सर्वसंकल्पमुक्तमिति । तत् सत्परमार्थस्तन्म-
 यतां निर्विकल्पसमाधितस्तदैकरसम् ॥ २३ ॥ तेन तत्त्वज्ञा-
 नोदयेनाज्ञानोच्छेदं दर्शयति—विपश्चिदिति ॥ २४ ॥ तदसं-
 भवशङ्का न कार्येत्याह—एषोऽर्थ इति ॥ २५ ॥ सर्वसंकल्प-
 मुक्तं यत्तदेव सत्, तन्मयताप्राप्तौ सर्वजगद्यवहारैरपि विदुषो न
 कश्चिदिष्टनाशोऽनिष्टोदयो वेत्याह—व्योम्न इति । यथा व्योम्नः
 अम्बुवाहनीहारातपादिविजृम्भया यथा वा महाजलस्य समुद्रस्य
 तरङ्गादिमङ्गया किञ्चिदनिष्टं न युज्यते, नापि किञ्चिदिष्टं नश्यति,
 तद्वन्निर्मननस्य निःसंकल्पस्य योगिनोऽपि नेष्टानिष्टनाशोदयावि-
 ल्यर्थः ॥ २६ ॥ आकाशसमुद्रयोः सद्वितीयत्वात्तद्योगवियोगश-
 द्वापि स्यात्, विदुषस्तु कूटस्थाद्वयब्रह्मरूपत्वान्नाध्यस्तविवर्तैस्तच्छ-
 द्वापीत्याशयेनाह—इदं हीति । निरामये आतते पूर्णं ब्रह्मणि
 विचारिते प्रबुद्धे सति इदं सर्वं मृगतृष्णिकाम्बुवदहमिति च
 पृथगात्मरूपं न विद्यते । एवं स्थिते इह तत्त्वविदि मनना-
 दिविभ्रमः कुतः क कस्मात्स्यादित्यर्थः ॥ २७ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यावबोध-
 नोपदेशो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

वचसा मनसा चान्तः शब्दार्थोवविभावयन् ।
 य आस्ते वर्धते तस्य कल्पनोपशमः शनैः ॥ ४
 वर्जयित्वाहमित्येव नाविद्यास्तीतरात्मिका ।
 शान्ते त्वभावनादसिन्नान्यो मोक्षोऽस्ति कश्चन ॥ ५
 अहंभावमथादेहं किञ्चिच्छ्रयसि नश्यसि ।
 जगदादिरुचिस्तस्मिन्त्यक्ते शाम्यसि सिध्यसि ॥ ६

इहोपवर्ण्यते भ्रान्तिकल्पना प्रतिकल्पना ।

परलोकचिकित्सा च संवित्प्रसरवारणात् ॥ १ ॥

तत्रादौ प्रतिकल्पनां वक्तुं प्रस्तावं रचयति—स्वपौरुषेणेति ।
 ना अधिकारयोग्यशरीरं प्राप्तः पुरुषो यदि ज्ञत्वं तत्त्वज्ञानं
 नीयते प्राप्यते । नयतेर्द्विकर्मकात् ‘प्रधाने नीदृक्ष्वहम्’ इति
 प्रधाने कर्मणि लः । तत्तर्हि नेतरो नान्यथेत्यर्थः ॥ १ ॥ कीदृशं
 तत्पौरुषं येन ज्ञत्वं नीयते तदाह—स्वं कल्पितमिति । स्वं
 स्वाभाविकमशास्त्रीयम् । कल्पितं कल्पितमिति वीप्सा । सर्वं
 कल्पितं चात्तन्मूलं वासनाविद्यादि च स्वया स्वीयया शास्त्रीयया
 प्रतिकल्पनया तदेवान्यत्वं बन्धहेतुतामपहाय मोक्षोपयोगित्व-
 मादत्ते । यथा स्वभावतो मरणहेतुरपि विषं रसायनशास्त्रोक्तो-
 पायप्रतिकल्पनया विषत्वं विहायामृतममरणसाधनं रसायनं
 भवति तद्वत् ॥ २ ॥ कियत्कालं प्रतिकल्पना कार्येति चेत्सर्व-
 कल्पनानि वृत्तिपर्यन्तमित्याह—कल्पनेति । अकल्पनं सर्वकल्प-
 नानिवृत्तिरन्तोऽवधिर्यस्याः सा यद्यस्मादेतोरकल्पनमेव परि-
 शिष्टस्यात्मनो मुक्तता । तत्रावश्यकीं वैराग्यलक्षणां संन्यास-
 लक्षणां च प्राथमिकीं प्रतिकल्पनां दर्शयति—एतच्चेति । पूर्व-
 मादौ भोगसंत्यागात् ‘त्यजतेव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं
 पदम्’ इति श्रुतेरिति भावः ॥ ३ ॥ ततः श्रवणमननाभ्यामा-
 त्मतत्त्वं निश्चित्य बाह्यनसनिरोधलक्षणां प्रतिकल्पनां यस्मिन्
 त्याह—वचसेति ॥ ४ ॥ ततोऽनहंभावलक्षणायुपायचि-
 त्याह—वर्जयित्वेति । अभावनात्सर्वभावना चेति ॥ ५ ॥
 साक्षात्कारात् । अस्मिन्नहंकारे शान्ते बाधित्वं जगच्च न
 अथ तत्त्वसाक्षात्कारोत्तरमपि प्राप्तजगज्ज

अचेतनादिदं सर्वं सदेवासदिव स्थितम् ।
 शान्तं यस्योपलस्येव नमस्तस्मै महात्मने ॥ ७
 अचेतनादिदं सर्वमुपलस्येव शाम्यति ।
 शून्याख्यातः परालीनचित्तस्य चित्तवभावनात् ॥ ८
 इदमस्त्वथवा मास्तु चेदितं दुःखवृद्धये ।
 अचेतितं सुखायान्तरचेतनमचेतनात् ॥ ९
 द्वौ व्याधी देहिनो घोरावयं लोकस्तथा परः ।
 याभ्यां घोराणि दुःखानि भुङ्क्ते सर्वैर्हि पीडितः ॥ १०
 इहलोके यतन्ते हा व्याधौ भोगैर्दुरौषधैः ।
 बाजीवितं यथाशक्ति चिकित्सा नापरामये ॥ ११
 परलोकमहाव्याधौ प्रयतन्ते चिकित्सनम् ।
 शमसत्सङ्गबोधाख्यैरमृतैः पुरुषोत्तमाः ॥ १२
 परलोकचिकित्सायां सावधाना भवन्ति ये ।
 मोक्षमार्गमहेच्छायां शमशक्त्या जयन्ति ते ॥ १३
 इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
 गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ १४
 इहलोकचिकित्साभिर्जीवितं यातु मा क्षयम् ।
 आत्मज्ञानौषधैरज्ञाः परलोकश्चिकित्सयताम् ॥ १५
 सायुर्वायुचलत्पत्रलवाम्बुकणभङ्गुरम् ।
 परलोकमहाव्याधिर्यत्नेनाशु चिकित्सयताम् ॥ १६
 परलोकमहाव्याधौ यत्नेनाशु चिकित्सिते ।
 इहलोकमयो व्याधिः स्वयमाशूषशाम्यति ॥ १७

तथाविधः सन् आदेहं स्थूलदेहपर्यन्तं किञ्चिदल्पमप्यहंभावं
 यदि श्रयसि तदैवापरिच्छिन्नपूर्णानन्दस्वरूपविस्तरणाद्भयसीव ।
 संसारदुःखे पतसीत्यर्थः । तस्मिन्महाभावे त्यक्ते तु शाम्यति
 सर्वदुःखनिवृत्तिं लभसे । निरतिशयानन्दस्वभावेन सिध्यति
 च ॥ ६ ॥ अचेतनाद्दिर्मुखवृत्त्या अदर्शनात् ॥ ७ ॥ परस्मि-
 न्ब्रह्मणि आलीनचित्तस्यात एवोपलस्येव बहिरचेतनादन्तश्चि-
 त्तवभावनात्साधकाभावाद्वाधकसत्त्वात्वेदं सर्वं दृश्यं शाम्यति
 ॥ ८ ॥ सुखदुःखयोर्दृश्यसत्त्वात्तत्त्वे नोपयुज्येते किंतु सदर्थना-
 दर्शने एवेति तच्चेतनाय प्रवृत्तं चित्तमेव निरोद्धव्यमित्याशये-
 नाह—इदमिति । दृश्यस्याचेतनमदर्शनं तु अचेतनाच्चित्तक्रिया-
 निरोधेन ब्रह्माकारतापादनान्तप्रतिकल्पनावशादेवेत्यर्थः ॥ ९ ॥
 परलोकचिकित्सां वर्णयितुमुपक्रमते—द्वाविति । सर्वैराध्या-
 त्मिकादिभावैः ॥ १० ॥ इहलोके प्रसिद्धे क्षुत्पृथादिव्याधावश-
 पानादिभोगलक्षणेर्दुरौषधैर्यथाशक्ति यतन्ते । अपरामये पारलौ-
 किकनरकजन्मपरम्परादिव्याधौ-भोगैश्चिकित्सां न जायत इत्यर्थः
 ॥ ११ ॥ चिकित्सनं कर्तुमिति शेषः ॥ १२ ॥ अपध्यभोग-
 भुङ्क्ते ॥ न्तत्राद्यौषधैरुत्तरे च सावधानाः । शमादिस्यौषधस्य
 नाश्रयति न ॥ १३ ॥ ननु परलोकव्याधेस्तत्रैव चिकित्सा क-
 र्त्तुमादित्यतः तत्राह—इहैवेति । निरौषधं साधु-
 नामेवोपचर्यात्सौषधशून्यं नरकस्थावरादिस्थानम् ॥ १४ ॥
 कृतानुभवोऽपि ॥ १५ ॥ इह लोकव्याधिचिकित्सार्थं पृथग्गलो-

संविन्मात्रं विदुर्जन्तुं तस्य प्रसरणं जगत् ।
 परमाणुदरेऽप्यस्ति तच्छैलशतविस्तरम् ॥ १८
 यत्संविदः प्रसरणं रूपालोकमनांसि तत् ।
 व्योमन्येवानुभूयन्ते नातः सत्यो जगद्भ्रमः ॥ १९
 प्रलयेष्वपि दृष्टेषु जगद्दृश्याख्यविभ्रमः ।
 न नश्यति न जायेत भ्रान्तिमात्रैकरूपिणः ॥ २०
 भोगपङ्कार्णवे मग्न आत्मा नोच्चार्यते यदि ।
 स्वपौरुषचमत्कृत्या तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ २१
 अजितात्मा जनो मूढो रूढो भोगैककर्दमे ।
 आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥ २२
 जीवितस्य यथा बाल्यं दृष्टं प्राथमकल्पिकम् ।
 निर्वाणस्य तथा भोगसंत्यागो रागशान्तिदः ॥ २३
 तज्ज्ञस्य जीवितनदी सकल्लोलाप्यसंभ्रमा ।
 समं वहति सौम्यैव चित्रसंस्थेव नीरसा ॥ २४
 अज्ञजीवितनद्यास्तु रसनात्यन्तभीषणाः ।
 आवर्ता वृत्तिविशोभकल्लोलाः सहबाहिनः ॥ २५
 सर्गवर्गाः प्रवहन्ति संवित्प्रसरलेशकाः ।
 द्विचन्द्रबालवेतालमृगाम्बुस्रमोहवत् ॥ २६
 संविद्वारितरङ्गौघा भ्रान्ति सर्गाः सहस्रशः ।
 विचारितास्त्वसत्यास्ते सत्यास्त्वनुभवभ्रमात् ॥ २७
 जगन्त्याकाशकोशेऽपि संवित्प्रसरणभ्रमात् ।
 सन्तीवाप्यनुभूयन्ते न तु सत्यानि तानि तु ॥ २८

न कार्य इत्याह—परलोकेति ॥ १७ ॥ परलोकव्याधे-
 स्तपस्तीर्थयज्ञदानप्रायश्चित्तादिचिकित्सा यद्यपि सन्ति तथापि ता
 नात्यन्तिकतदुच्छेदहेतवः कित्वात्मज्ञानमेव । तच्च अवशा-
 दिपूर्वकसमाध्यभ्यासलक्षणसंवित्प्रसरणनिरोधादेवेत्याशयेन तदु-
 पायान्वक्तुं भूमिकां रचयति—संविन्मात्रमिति । तज्ज्ञपर-
 माणुदरेऽपि संविदः पूर्णत्वादस्येव ॥ १८ ॥ प्रसरणं बहिर्मु-
 खतया विवर्तनं तदेव रूपालोका नागाद्यो मनांसि कामसं-
 कल्पाद्याभ्यन्तरा इत्यर्थः । व्योमनि चिदाकाशे ॥ १९ ॥ सिध्वा-
 त्वदेव प्रलयसहस्रैरपि नास्य निवृत्तिः, सृष्टिसहस्रैरपि न सत्ता,
 कित्वात्मज्ञानादेवेत्याशयेनाह—प्रलयेष्वपिपीति । न जायेत
 सृष्टिषु दृष्टेष्वपिपीति शेषः । तत्र हेतुमाह—भ्रान्तीति । भ्रान्ति-
 मात्रैकरूपित्वादित्यर्थः ॥ २० ॥ आत्मज्ञाने तर्हि के उपाया
 इति चेत्प्रथमं वैराग्यमेवेत्याह—भोगेति ॥ २१ ॥ २२ ॥
 जीवितस्य आयुषः ॥ २३ ॥ रागशान्तिद इति विशेषणस्य
 तात्पर्यं तज्ज्ञाज्ञजीवितनदीवैलक्षण्यवर्णनेन दर्शयति—तज्ज्ञ-
 स्येत्यादिना ॥ २४ ॥ रसनाः आकन्दध्वनयस्तामिरत्यन्तभी-
 षणाः ॥ २५ ॥ अज्ञानामविचारादेव सर्गादिप्रतिभासविक्षेप-
 रूपाः संवित्प्रसरलेशा इत्याह—सर्गेति । प्रवहन्ति प्रसरन्ति
 ॥ २६ ॥ अनुभवभ्रमाभ्रान्तानुभवात् ॥ २७ ॥ प्रसिद्धे आका-
 शकोशेऽपि गन्धर्वनगरादि जगन्ति सन्तीवानुभूयन्ते ॥ २८ ॥

संविद्विकासपयसो बुद्धुदः सर्गविभ्रमः ।
 अहमित्यादिसद्भावविकाराकाररूपवान् ॥ २९ ॥
 संविन्निर्वाणमजगत्संविदुन्मीलनं जगत् ।
 नान्तर्न बाह्यं नासत्यं न सत्यं सर्वमेव तत् ॥ ३० ॥
 चिद्रूपमजमव्यक्तमेकमव्ययमीश्वरः ।
 स्वत्वभावत्वरहितं ब्रह्म शान्तात्मखादपि ॥ ३१ ॥
 ब्रह्मणो निःस्वभावस्य सर्गसंवेदने स्वतः ।
 स्पन्दने पवनस्येव कारणं नोपयुज्यते ॥ ३२ ॥
 स्वप्रानुभववद्भ्रान्तिर्ब्रह्माब्धौ ब्रह्मवीचयः ।
 सर्गता वस्तुतस्त्वत्र न स्वप्नो न च सर्गता ॥ ३३ ॥
 एकमेव निराभासमचित्त्वमजडं समम् ।
 न सन्नासन्न सदसदिदमव्ययमद्वयम् ॥ ३४ ॥
 यथास्थितस्यैव सतो यस्यासंवेदनात्मकम् ।
 संविप्रशमनं जातं तमाहुर्मुनिसत्तमम् ॥ ३५ ॥
 सतोऽपि मृन्मयस्येव यस्यासंवेदनात्मकम् ।
 साहं जगद्विगलितं तमाहुर्मुनिसत्तमम् ॥ ३६ ॥
 यथा शाम्यत्यसंकल्पात्संकल्पनगरं तथा ।

वेदनोत्थं जगदहं चिति शाम्यत्यवेदनात् ॥ ३७ ॥
 स्वभाववर्जं शब्दार्थाः सर्वे एव सहेतुकाः ।
 स्वभावस्य तु यो हेतुर्मुक्तिस्तदनुभावनम् ॥ ३८ ॥
 न कस्यचित्पदार्थस्य स्वभावोऽस्तीह कश्चन ।
 महाचिदम्बुद्रवताः सर्वा एवानुभूतयः ॥ ३९ ॥
 महाचिदनिलस्पन्दा एता एवानुभूतयः ।
 एतास्ता ब्रह्मगगनशून्यता इति बुध्यताम् ॥ ४० ॥
 वातस्पन्दाविवाभिन्नौ ब्रह्मसर्गौ विभिन्नता ।
 तयोस्त्वसत्या स्वभ्रान्तौ स्वप्ने स्वमरणोपमा ॥ ४१ ॥
 भ्रान्तिस्तु तावत्तत्त्वार्थविचारो यावदस्फुटः ।
 विचारे तु स्फुटे भ्रान्तिर्ब्रह्मतामेव गच्छति ॥ ४२ ॥
 भ्रान्तिस्त्वसत्या वस्तुवेव प्रेक्षयातो न लभ्यते ।
 शशशृङ्गवदत्यच्छमतो ब्रह्मैव शिष्यते ॥ ४३ ॥
 अनादिमध्यान्तमनन्तमच्छं
 समं शिवं शाश्वतमेकमेव ।
 सर्वो जरामोहविकारभार-
 भ्रान्तिं विमुच्याम्बरभावमेहि ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वा० उ० सत्यार्थोपन्यासयोगो नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः ३४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

प्राप्तेषु सुखदुःखेषु यो नश्यति स नश्यति ।
 यो न नश्यत्यनाशोऽसावलं शास्त्रोपदेशनैः ॥ १ ॥
 यस्य चेच्छोदयस्तस्य सन्त्यवश्यं सुखादयः ।

अहमित्यादिभिः सद्भिर्मावविकाराकारै रूपवान् ॥ २९ ॥ सं-
 विदो निर्वाणमप्रसरः । अजगत् सर्वजगज्जिदृतिः । उन्मीलनं
 प्रसरः ॥ ३० ॥ स्वप्रसरनिरोधयोः स्वयमेवेष्टे इति ईश्वरो
 ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ स च स्पन्दो मिथ्याभूताविद्याविधत् एव
 न तु सत्यब्रह्मस्वभावज इत्याह—ब्रह्मण इति ॥ ३२ ॥ आवि-
 श्यकत्वे च विवर्तरूपा एव सर्गताः ब्रह्मणो वीचयो भ्रान्ति-
 रेव । वस्तुतस्तु न स्वप्नो नापि सर्गतेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ परमार्थ-
 तस्तर्हि ब्रह्म कीदृशं तदाह—एकमेवेति । अचित्त्वं चित्त्वाख्य-
 घर्मान्तरशून्यम् ॥ ३४ ॥ तादृशब्रह्मभावेन स्थितिरेव योगिनः
 संविप्रशमनं मुनित्वं चेत्याह—यथास्थितस्येति ॥ ३५ ॥
 साहं जीवभावसहितम् ॥ ३६ ॥ संकल्पसृष्टेरसंकल्पनमिव
 दृष्टसृष्टेरस्या अदृष्टिरेव निवृत्तिरित्याह—यथेति ॥ ३७ ॥
 सर्वजडवस्तुष्वनुगतः स्वभावो जाड्यं सैव मूलाविद्या तामेकां
 वर्जयित्वा सर्वे एव शब्दार्था नामरूपाणि सहेतुकास्तहेतुकाः ।
 तस्य स्वभावस्यापि यो हेतुः साक्षितया साधकस्तदनुभावनं
 स्वात्मनस्तन्मात्रतापादनं मुक्तिरित्यर्थः ॥ ३८ ॥ अविद्यापगमे
 न कस्यचिदपि जाड्यं परिशिष्यत इति विदेकरसं योगिनो
 जगदित्याह—चिदित्यादिना ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ किय-
 यो० वा० १४३

ते चेत्सम्यक्चिकित्सन्ते पूर्वमिच्छैव मुच्यताम् ॥ २ ॥
 अहं जगदिदं भ्रान्तिर्नास्त्येव परमे पदे ।
 इदं शान्तमनालम्बं सर्वं निर्वाणमव्ययम् ॥ ३ ॥

त्कालं सा भ्रान्तिस्तत्राह—भ्रान्तिस्त्विति ॥ ४२ ॥ ननु
 भ्रान्तिः कथं ब्रह्मतां गच्छति तत्राह—भ्रान्तिस्त्विति ।
 भ्रान्तौ यः सत्तास्फूर्त्यशः स ब्रह्मतां गच्छति, अन्यस्तु नास्त्ये-
 वेति न तदभिप्रायेणोक्तमिति भावः ॥ ४३ ॥ सर्वभ्रान्तिबाध-
 परिशिष्टं ब्रह्म दर्शयन् रामं तद्भावस्थितौ स्थापयति—अना-
 दीति । हे राम, त्वं देहप्रसङ्गप्रसक्तां सर्वां जरामोहादिविकार-
 भारभ्रान्तिं विमुच्य ब्रह्माकाशभावमेहि । प्रामुहीत्यर्थः ॥ ४४ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 सत्यार्थोपन्यासयोगो नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

दृष्टसृष्टिर्जगत्स्यादर्शनादेव संक्षयः ।

इति यत्प्रस्तुतं तस्य घर्ष्यन्तेऽत्रोपपत्तयः ॥ १ ॥

‘वेदनोत्थं जगदहं चिति शाम्यत्यवेदनात्’ इति यदुक्तं
 तत्रोपपत्तीर्विवक्षुर्भगवान्वसिष्ठः प्रथमं नश्वरीभ्यः सुखदुःखानु-
 भवत्रिपुटीभ्यः पृथक्कृत्यानश्वरमात्मानं दर्शयंस्तद्दर्शनादेव सर्व-
 शास्त्रोपदेशानां चरितार्थतेत्याह—प्राप्तेष्विति ॥ १ ॥ यस्मिन्-
 च्छादिमान् स नित्यदुःखी नात्मा कित्विच्छत्यागाद्युपायचि-
 कित्सनीयसंसृतिरोगकोटावेवेत्याशयेनाह—यस्य चेति ॥ २ ॥
 यस्त्वविनाश्यात्मा सन्नेच्छायभिमानी तदभिमन्तव्यं जगच्च न

३ देहप्रसक्ता इत्यपि पाठः

अहं ब्रह्म जगच्चेति शब्दसंभ्रमविभ्रमः ।
 सर्वस्मिच्छान्त आकाशे केन नामोपकल्पितः ॥ ४
 नेहास्त्यहं न च जगत्तत्र ब्रह्मादिशब्दकाः ।
 शान्तस्यैकस्य सर्वत्वात्कर्ता भोक्तेह कः कुतः ॥ ५
 उपदेश्यातिशायित्वात्सर्वापहव एव च ।
 कुतोऽयं स च सत्यात्मा त एवाहं विशिष्यते ॥ ६
 अग्रस्थसिद्धसंचारो ज्ञायते नापि दारुणः ।
 यथैकपार्श्वसंस्तुतनरः स्वप्नाभ्रगर्जितम् ॥ ७
 ज्ञप्तिरनास्ति यतस्तेन सिद्धाचारो न लक्ष्यते ।
 स्वभावं इति सर्वेण ज्ञप्तिस्थो ह्यनुभूयते ॥ ८
 ज्ञप्तिरप्यात्मभूतैव सर्वं भाति हि तन्मयम् ।
 तस्मात्साहं जगत्सर्वमभिन्नं परमात्मनः ॥ ९
 ज्ञप्तिर्जगत्तया भाति संकल्पस्वप्नयोरिव ।
 अनानावयवोदेति जलमूर्मितया यथा ॥ १०
 एकात्मैवोदये ज्ञप्तेर्नानातामिव चागतः ।
 अज्ञानात्स त्ववस्तुत्वात्प्रेक्षितो नोपलभ्यते ॥ ११
 यथा स्वावयवानेव सर्वानवयवी भवेत् ।
 नित्यानवयवं शान्तं ब्रह्मैवेदं तथा जगत् ॥ १२
 भाण्डलक्षणाणि धत्तेऽन्तश्चिद्रूपकनकेष्टिका ।
 यदेव सा चेतयते जगदादीव वेत्ति तत् ॥ १३
 ब्रह्मैव कचतीवेदं सप्त्याच्छजगत्तया ।
 चिद्रूपत्वाद्वात्मत्वाच्चरङ्गादितयाग्धिवत् ॥ १४

संभाव्यमेवेत्याह—अहमिति ॥ ३ ॥ एवं चाहमादिशब्दास्तत्र
 निर्विषया इत्याह—अहमिति ॥ ४ ॥ तदभावे दूरपासौव
 कर्तृभोकादिकथेत्याह—नेहेति ॥ ५ ॥ ननु सर्वापहवे उपदे-
 शादिरप्यपहूयते । तथा च तद्बोधोपायो न लभ्येत इति चेदस्तु
 नामैवम् । उपदेश्यस्य ब्रह्मणः सर्वापहवेऽप्यनपहवादपहूयमा-
 नातृत्सर्वापह्वः पारमार्थिकसत्यप्रत्यगात्मस्वरूपातिशयवत्त्वा-
 द्वापहवोपायेन तद्बोधानन्तरमुपदेशाद्युपायस्यानपेक्षणा चेत्सा-
 धयेनाह—उपदेक्ष्येति । विशिष्यते परिशिष्यते अतिशय्यते
 च ॥ ६ ॥ अस्त्येवं तथापि कथमदर्शनमात्रेण दृश्योपशमस्त-
 त्नाह—अग्रस्थेति । यथा पुरोभागेऽपि स्थितानामन्तर्धान-
 शक्त्या अन्तर्हितानां सिद्धानां पिशाचादीनां च संचारो व्यव-
 हारो दारुणो भयंक्रोऽपि न ज्ञायते । यथा वा एकशय्याप्रदेशे
 सुप्तस्य नरान्तरस्य स्वप्ने प्रसिद्धानामब्राणा गर्जितं दारुणमपि
 न ज्ञायते तच्चास्मदृष्ट्या नास्त्येव तद्वदित्यर्थः ॥ ७ ॥ तदे-
 वाह—ज्ञप्तिरिति । सर्वेणापि द्रष्टा स्वज्ञप्तिस्थोऽनुभूयते इति
 स्वभावो हि असिद्ध इत्यर्थः ॥ ८ ॥ अस्त्येवं किं ततस्तत्राह—
 ज्ञप्तिरपीति ॥ ९ ॥ अनानावयवमपि ज्ञप्तिर्नानावयवजगत्तया
 भाति ॥ १० ॥ नानातामिवागत एक आत्मैव ज्ञप्तेरज्ञानादि-
 वर्तेरूप उदयः । स तदयोऽवस्तुत्वात्तत्त्वदृष्ट्या प्रेक्षितो नोपल-
 भ्यते ॥ ११ ॥ यथाऽयमनवयवोऽपि जीवः स्वान् हस्तपादा-

यद्यचेतयतेऽन्तस्तु जगदादीव पश्यति ।
 अरूपमपि रूपं स्वं यन्न चेतयते न तत् ॥ १५
 चेतनाचेतनत्वोक्ती तस्येशत्वात्स्वदेहमे ।
 उपदेशार्थमेवोक्ते न सद्विषयमर्थतः ॥ १६
 न जगत्सन्न चैवासन्नासते चेतनाच्चिति ।
 अचेतनाच्च कचति क इवार्थग्रहोऽत्र नः ॥ १७
 अचेतनं चेतनं च स्पन्दास्पन्दवदात्मनः ।
 स्वायत्ते न कदर्थस्थे स्वस्थपाषाणवत्स्थिते ॥ १८
 यस्येक्षितस्य नो सत्ता नाधारो न च कारणम् ।
 सोऽहमित्येव यो यक्षो न जाने कुत उत्थितः ॥ १९
 यस्याहमिति यक्षस्य सत्तैवास्ति न सत्यतः ।
 अहो नु चित्रं तेनेमे भवन्तो विवशीकृताः ॥ २०
 काकतालीयवद्भ्रान्तमहं ब्रह्मणि भासते ।
 स्वमेव रूपं दृग्भ्रान्तौ केशोण्डूकमिवाम्वरे ॥ २१
 ब्रह्मैवाहं जगद्वात्र कुतो नाशसमुद्भवौ ।
 अतो हर्षविषादानां किंत्वेव कथमास्पदम् ॥ २२
 सर्वेश्वरत्वादीशस्य विभातीदं प्रचेतितम् ।
 अचेतितं च नो भाति तेनाचेतितमस्तु ते ॥ २३
 काकतालीयवच्चित्वाज्जगतो भाति ब्रह्म खम् ।
 स्वप्नसंकल्पपुरवत्तत्तस्माद्विद्यते कथम् ॥ २४
 यथोर्म्यादि जले वृक्षे यथा वा शालभञ्जिका ।
 यथा घटादयो भूमौ तथा ब्रह्मणि सर्गता ॥ २५

यवयवान् कल्पयन्स्वप्नमनोरथादावयववी भवेत्तथा ब्रह्मापी-
 त्यर्थः ॥ १२ ॥ चिद्रूपा कनकेष्टिकां कुलाली चेतयते स्मरति
 ॥ १३ ॥ १४ ॥ यन्न चेतयते नाभ्यस्यति न तत्पश्यति ॥ १५ ॥
 ईशत्वान्मायाशयलत्वेन सर्वेशक्तिसंपन्नत्वात्स्वदेहभूतमायागते ।
 इदं नु क्वचनमर्थतः सद्विषयं परमार्थोचरं नैत्यर्थः ॥ १६ ॥
 ॥ १७ ॥ अस्त्येवं किं ततस्तत्राह—अचेतनमिति । स्वायत्ते
 स्वाधीने न कदर्थस्थे यन्नश्रमसाध्ये । यथा स्वस्थस्य विश्वस्य
 स्फटिकपाषाणस्य स्वान्तर्गतप्रतिविम्बसहस्रस्पन्दास्पन्दे न यन्न-
 साध्ये तद्वत्स्थिते ॥ १८ ॥ सर्वकल्पनामूलस्यैकस्याहंकारस्यैव
 परीक्षणेन मिथ्यात्वावधारणे सर्वजगन्मिथ्यात्वं सिद्धमित्याह-
 येनाह—यस्येति ॥ १९ ॥ सत्यतो वस्तुतः । सत्ता विद्यमा-
 नता ॥ २० ॥ काकतालीयवदाकस्मिकम् ॥ २१ ॥ एवं च
 यत्फलितं तदाह—ब्रह्मैवेति । किमास्पदं विषय आश्रयश्च
 ॥ २२ ॥ वर्णितां दृष्टष्टिकल्पनामनूय तत्फलमाह—सर्वेश्वर-
 त्वादिति । ते तव अचेतितं जगददर्शनमस्तु । तदेव सर्वदय-
 मार्जनरूपा मुक्तिः फलमित्यर्थः ॥ २३ ॥ वर्णितरीत्या जगतोऽपि
 चित्त्वाद्ब्रह्म स्वमेव स्वप्नसंकल्पपुरवत्काकतालीयवदकस्मादन्मया
 भाति । वस्तुतस्तु तज्जगत्तस्मात्कथं मिथ्यते, तद्वेदे सत्तास्मृ-
 त्त्वमेनालीकृतप्रसङ्गादित्यर्थः ॥ २४ ॥ स्तिमिते जले यथा
 कर्म्यादि । अनुत्कीर्णे वृक्षकाष्ठे शालभञ्जिका । भूमौ चाड-

अनाकृतावसंस्थाने खण्डे यदनुभूयते ।
 तत्तदेवात उदितं किं नामाहं जगन्ति किम् ॥ २६
 मरुतः स्पन्दवैचित्र्यं सत्तयैव यथा तथा ।
 ब्रह्मणो निःस्वभावस्य जगदाद्यहमादि च ॥ २७
 यथाग्रे लक्ष्यते वृक्षगजवाजिमृगादिता ।
 असन्निवेशाकृतिनि सर्गाहन्ते तथापरे ॥ २८
 सर्गोऽवयववद्भाति सर्व एव परे शिवे ।
 एवं तदुपमां विद्धि कार्यकारणवद्यथा ॥ २९
 अन्तःशान्तमनायासमनुपाधि गतभ्रमम् ।
 जगत्संभवादेव व्योमवत्सममास्यताम् ॥ ३०
 न भवन्तो न च धर्मं न जगन्ति न खादयः ।
 सन्ति शान्तमशेषेण ब्रह्मेदं निर्भरं स्थितम् ॥ ३१
 अशेषेष्वविशेषेषु शान्ताशेषविशेषता ।
 सत्या सैवाहमित्याशु त्यक्त्वा मोक्षाय भाव्यताम् ॥ ३२
 वेदनं बन्धनं विद्धि विद्धि मोक्षमवेदनम् ।
 यथास्थितं यथाचारं भव शान्तमवेदनम् ॥ ३३
 द्रष्टा न दृश्यतां याति चित्तिर्नायाति चेत्यताम् ।
 चेत्याभावादजगति कः किं चेतयते कथम् ॥ ३४
 द्रष्टृदृश्यदशाभावाज्जाग्रत्येव सुषुप्तिवत् ।
 शरदाकाशकोशाभमसत्तोपममास्यताम् ॥ ३५
 तथैकब्रह्मचिद्रूपे पवनस्पन्दने यथा ।
 अत्राचिद्वोधता सर्गो मोक्षो ब्रह्मैकबोधता ॥ ३६
 चित्स्पन्दो ब्रह्ममरुतो यत्र सर्ग इति स्मृतः ।
 नात्र चित्स्पन्दनं यत्स्यान्निर्वाणं तदुदाहृतम् ॥ ३७

बीजमन्तर्यथा वेत्ति स्वरूपं पल्लवादिकम् ।
 तथा महाचिदन्तस्थं स्वरूपं वेत्ति सर्गताम् ॥ ३८
 पत्रादिवेदनाद्वीजं यथा पत्रादि तिष्ठति ।
 परा चित्सर्गसंविच्छिस्तथा भवति सर्गता ॥ ३९
 यथा भावविकाराभाश्चित्पराः सर्गतास्तथा ।
 सर्वे बीजानि दृष्टान्तास्तद्रूपा एव तन्मयाः ॥ ४०
 निर्विकारपरब्रह्ममयं सर्वमिदं जगत् ।
 निर्विकारमनाद्यन्तमेवं विद्धि निरामयम् ॥ ४१
 निजसंकल्पमात्रात्मा निजसंकल्पनात्क्षयी ।
 द्वैताद्वैतविकारोऽयं संकल्पनगरं यथा ॥ ४२
 शून्यत्वाकाशयोर्भेदो यादृशोऽवगतस्त्वया ।
 मेदं निरात्मकं विद्धि तादृशं ब्रह्मसर्गयोः ॥ ४३
 महाचिद्रूपिणी शान्ता या सत्ता ब्रह्मणः पुरा ।
 स्वतः सेयमहत्त्वं च मानवोऽस्मीत्यबोधतः ॥ ४४
 ब्रह्मण्यसिञ्जगद्रूपे न किञ्चिदपि जायते ।
 जातमप्यथ नष्टं च न नश्यत्यम्बुवीचिवत् ॥ ४५
 पदार्थब्रह्मरूपेण ब्रह्मैवात्मनि तिष्ठति ।
 अवयवीवावयवे खे खं वारीव वारिणि ॥ ४६
 निमेषादर्थमागेन देशादेशान्तरस्थितौ ।
 यद्रूपं संविदो मध्ये स स्वभाव उपास्यताम् ॥ ४७
 संक्षुब्धमधुब्धमिति द्विरूपं
 संवित्स्वरूपं प्रवदन्ति सन्तः ।
 श्रेयः परं येन समीहसे त्वं
 तदेकनिष्ठो भव माऽमतिर्भूः ॥ ४८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थयोगोपदेशो नाम चतुर्लिंगः सर्गः ॥ ३४ ॥

द्रुता घटादयस्तथेत्यर्थः ॥ २५ ॥ असंस्थाने निरवयवे ।
 दृष्टान्ते 'यथाग्रे' इति वक्ष्यति ॥ २६ ॥ सत्ताभेदादर्शनादपि
 तन्मात्रत्वमित्याह—मरुत इति । निःस्वभावस्य निरविद्यस्य
 ॥ २७ ॥ गजवाजिमृगादिता तत्तदाकारः तादृशसंनिवेशाकृ-
 तिशून्ये अग्रे आकाशे नीहारे वा ॥ २८ ॥ अवयववत् वृक्षशा-
 खावत् । कार्यं वटादिः कारणं तद्वीजादिस्तद्वद्यथा लोके सूक्ष्मा-
 र्थोपमानानि प्रतिष्ठानि एवं तयोः सर्गब्रह्मणोरप्युपमां विद्धि
 ॥ २९ ॥ वर्णितरीत्या जगत्याः जगतः स्वव्यतिरिक्तस्यासंभ-
 वादेव व्योमवत्समं निर्विकल्पमास्यताम् ॥ ३० ॥ निर्भरमति-
 वेलम् । पूर्णमिति यावत् ॥ ३१ ॥ चिदतिरिक्तरूपानिरूपणादशे-
 षेषु पदार्थेष्वविशेषेषु सत्तु विशेषभ्रमं त्यक्त्वा शान्ताशेषविशे-
 षता परमार्थसत्या सा चिदेवाहमिति भाव्यताम् ॥ ३२ ॥
 यथाचारं विद्वदाचारं भूमिकाभ्यासमनतिक्रम्य ॥ ३३ ॥ तत्त्व-
 बोधदाके जडार्थचेतनप्रसक्तिरेव नास्तीत्याह—द्रष्टेति ॥ ३४ ॥
 असत्तोपमं शून्यकल्पं न तु शून्यमेव ॥ ३५ ॥ ब्रह्मण्यज्ञानात्प-
 वनस्पन्दवद्भेददर्शनम् । तथा च चिदचिद्भेददर्शनमेव सर्गः
 ऐक्यदर्शनमेव तन्मोक्ष इति निष्कर्ष इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥
 भेददर्शनस्यैव सर्गतां दृष्टान्तरूपपादयति—बीजमित्यादिना

॥ ३८ ॥ वेदनसमेकालमेव तद्भावस्थितावप्येतादृश एव दृ-
 ष्टान्त इत्याह—पत्रादीति ॥ ३९ ॥ वृक्षस्य षड्भावविकारा
 अप्यत्र दृष्टान्ता इत्याह—यथेति । भावविकाराणामाभाः क्र-
 मिकप्रतिभासाः बीजादिरूपेण स्थितायाश्चित एव विकारत्वा-
 तन्मयाः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ पुरा पूर्वसिद्धा सैव
 अबोधतो मानवोऽस्मीत्याकारेणाहंता चाजगत्ता च भवतीत्यर्थः
 ॥ ४४ ॥ जातमपि न जायते । नष्टमपि न नश्यति ॥ ४५ ॥
 पदार्थरूपेण ब्रह्मरूपेण च स्थितं ब्रह्म आत्मन्यविकृतस्वभावे
 तिष्ठति । यथा वृक्षः स्वावयवे ॥ ४६ ॥ वास्तवी स्थितिस्तु
 चितो निर्विषयैवेत्याह—निमेषादिति । प्रागव्याख्यातमेतत्
 ॥ ४७ ॥ हे राम, सन्तो विवेकिनः शास्त्रज्ञाः । संवित्स्वरूप-
 मेकं संक्षुब्धं सविवर्तमज्ञानुभवसिद्धमपरमधुब्धं निर्विवर्तं कूट-
 स्थपूर्णानन्दैकरसमिति द्विरूपं प्रवदन्ति । तयोर्मध्ये येन त्वं
 परं श्रेयः परमपुरुषार्थं समीहसे तदेकनिष्ठो भव । अपरीक्ष्य-
 यत्किञ्चिद्वाही अमतिरविवेकी मा भूरित्यर्थः ॥ ४८ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थ-
 योगोपदेशो नाम चतुर्लिंगः सर्गः ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः ३५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

देशादेशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदः क्षणात् ।
 यद्रूपममलं मध्ये परं तद्रूपमात्मनः ॥ १ ॥
 गच्छच्छृण्वन्स्पृशन्नस्निषन्निमिषन्निमिषन् ॥
 नूनं निरामयत्वाय नित्यमेतन्मयो भव ॥ २ ॥
 तत एव निराभासात्सत्यान्निर्वासनैषणात् ।
 यथास्थितं यथाचारमचलाऽमरशैलवत् ॥ ३ ॥
 एतद्रूपमविद्यायाः प्रेक्षिता यत्र लभ्यते ।
 प्रेक्षिता लभ्यते चेत्सा तद्विद्यैव पराभवत् ॥ ४ ॥
 अविद्यासंभवाच्चेत्यचित्त्वे संभवतः क्व किम् ।
 चेत्यते कथमेवान्तः शान्तिरेव बलोदिता ॥ ५ ॥
 सत्यं ब्रह्म जगच्चैकं स्थितमेकमनेकवत् ।
 सर्वं वाऽसर्ववद्भाति शुद्धं चाशुद्धवत्ततम् ॥ ६ ॥
 अशून्यं शून्यमिव च शून्यं वाऽशून्यवत्स्फुटम् ।
 स्फारमस्फारमिव तदस्फारं स्फारसन्निभम् ॥ ७ ॥
 अविकारं विकारीव समं शान्तमशान्तवत् ।
 सदेवासदिवादृश्यं तदेवातदिवोदितम् ॥ ८ ॥
 अविभागं विभागीव निर्जड्यं जडवद्भूतम् ।
 अचेत्यं चेत्यभावीव निरंशं सांशशोभनम् ॥ ९ ॥
 अनहं सोऽहमिव तदनाशमिव नाशवत् ।
 अकलङ्कं कलङ्कीव निर्वेद्यं वेद्यवाहिवत् ॥ १० ॥
 आलोकि भ्रान्तधनवन्नवच्च पुरातनम् ।

सप्रपञ्चाप्रपञ्चात्मवस्त्वखण्डैक्यदृष्टये ।

सत्यानुतोभयाभासं ब्रह्मरूपं प्रपन्न्यते ॥ १ ॥

संक्षुब्धमक्षुब्धमिति द्विरूपं ब्रह्म विरोधाभासोक्तिभिः प्रप-
 न्नयिष्यमक्षुब्धरूपं प्रथमं प्रागुक्तोपायपरिचितं तन्निष्ठताविधा-
 नाय स्मारयति—देशादिति । कमिकविषयद्वयान्तरालकाले
 यत्तिर्विषयं रूपं सत्परमक्षुब्धमित्यर्थः ॥ १ ॥ एतन्मयो निर्दि-
 पयचिन्मात्रनिष्ठो नूनमवश्यं भव ॥ २ ॥ यथास्थितं जीवन्मु-
 क्तस्थितिसनतिक्रम्य यथाचारं स्वकुलाचारमप्यनतिक्रम्य व्यव-
 हारमपि तत्तत्तादृशनिष्ठायाः सकाशादचला नचलैव । ननयोऽ-
 यमकाये न नञ् । अचला तन्निष्ठतैव विद्येत्यर्थः ॥ ३ ॥ वक्ष्य-
 माणोपयोगितया तद्विरुद्धामविद्यां लक्षयति—एतदिति । प्रे-
 क्षिता प्रमाणैर्विमुक्त ॥ ४ ॥ चेत्यचित्त्वे चिच्चेत्यभेदौ । भे-
 दासंभवे च खान्तरेव कथं चेत्यते चेतनाय व्याप्रियते । अतो
 विमर्शं शान्तिनिर्वेद्यवेदनविन्मात्रस्थितिरेव बलादुचितेत्यर्थः
 ॥ ५ ॥ विद्याविद्यामिश्रितया आन्तरालिकभूमिकारुढविवेकि-
 दृष्ट्या तु ब्रह्म नियतैकरूपमप्यनियतविरुद्धानास्तभावमिव तिष्ठ-
 तीति विरोधाभासैः प्रमाणयुक्त्यनुमवादिभिश्चासर्गसमाप्तेस्त-
 त्प्रपन्नयति—सत्यमित्यादिना । ब्रह्म जगच्च सत्यं परमार्थतः

परमाणोरपि तनु गर्भीकृतजगद्गणम् ॥ ११ ॥
 सर्वोत्तमकमपि त्यक्तदृष्टं कष्टेन भूयसा ।
 अजालमपि जालाढ्यं चाशेषवदनेकधा ॥ १२ ॥
 निर्मायमपि भावांशुमण्डलामलभास्करम् ।
 ब्रह्म विद्धि विदां नाथमपामिव महोदधिम् ॥ १३ ॥
 जगद्ब्रह्ममहाकोशं तुलायां तूलकालुष्ये ।
 मायामरीचिशशिनमपि नेक्षणगोचरम् ॥ १४ ॥
 अनन्तमपि निष्पारं न च कचिदपि स्थितम् ।
 आकाशे धनविन्यासनगनिर्माणतत्परम् ॥ १५ ॥
 अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
 गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ १६ ॥
 अकर्तृकर्मकरणमकारणमकारकम् ।
 अन्तःशून्यतयैवैतच्चिराय परिपूरितम् ॥ १७ ॥
 जगत्समुद्रकमपि नित्यं शून्यमरण्यवत् ।
 अनन्तशैलकठिनमप्याकाशलवान्मृदु ॥ १८ ॥
 प्रत्येकं प्रत्यहं प्रायः पुराणं पेलवं तवम् ।
 आलोकमन्धकाराभं तमस्त्वालोकमाततम् ॥ १९ ॥
 प्रत्यक्षमपि दुर्लक्ष्यं परोक्षमपि चाग्राम् ।
 चिद्रूपमेव च जडं जडमेव चिदात्मकम् ॥ २० ॥
 अहमेवानहंभावमनहं वाऽहमेव च ।
 अन्यदेव तदेवाहमहमेवान्यदेव तत् ॥ २१ ॥
 अस्य पूर्णार्णवस्यान्तरिमे त्रिभुवनोर्मयः ।

एकमेव, तदेकमेव अनेकवत्तद्विरुद्धरूपेण स्थितमिति योज्यम् ।
 एवमग्रेऽपि । सर्वं पूर्णम् ॥ ६ ॥ शून्यमिव प्रलये । अशून्यव-
 त्सर्गे । कालतो देशतस्तु स्फारम् ॥ ७ ॥ अदृश्यं द्रष्टुमशक्य-
 मित्यसदिव ॥ ८ ॥ सांशमिव शोभनं शोभमानम् ॥ ९ ॥
 नाशवदिव । वेद्यं वदति प्रथनेन निर्वेदति तच्छीलमिव ॥ १० ॥
 आलोकि स्वप्रकाशम् । राहोः क्षिर इतिवद्वेदकल्पनादिभिः
 ॥ ११ ॥ भूयसा यज्ञदानतपश्चित्तशुद्धिवैराग्यश्रवणमननादिना
 कष्टेन पुरुषप्रयत्नेन त्यक्तं दृष्टं इत्यजातं येन । अनेकधा स्थित-
 मप्यशेषवत् द्वितीयपरिशेषशून्यम् ॥ १२ ॥ मायालक्षणसांशुम-
 ण्डलस्य रश्मिजालस्यामलभास्कररूपम् । वित् वेदनमात्रस्वरू-
 पमपि । अप्यर्थे द्विशब्दः । विदां सर्ववेदनानां नाथं स्वामि-
 भूतमिव सर्वेशम् ॥ १३ ॥ ब्रह्माण्डात्मना जगद्ब्रह्ममहाकोशम् ।
 शुरुतममपि विवेकतुलायां तोलने शुरुत्वमात्रस्यानृतत्वात्तूलक-
 वादपि लघु ॥ १४ ॥ अनन्तं कालतः, निष्पारं देशतः । तथापि
 कचिद्देशे काले वा नावस्थितम् । आकाशे शून्यदेशेऽपि ॥ १५ ॥
 ॥ १६ ॥ परिपूरितं कर्त्रादिकारकैः ॥ १७ ॥ १८ ॥ प्रत्येकं प्रतिबन्धु ।
 प्रत्यहं प्रतिकालम् । जगत्तिरोभावकत्वात्तमः । अप्यर्थे तुशब्दः
 ॥ १९ ॥ २० ॥ अनहं शुद्धमर्थः । अन्यत् इदमर्थ इत्यपौनरु-
 क्त्यम् ॥ २१ ॥ उक्तेभ्येषु मायानात्रत्वमभिप्रेत्योपपत्तीपद—

स्फुरन्त इव तिष्ठन्ति स्वभावद्रवतात्मकाः ॥ २२
 विभर्ति सर्वमङ्गलं तुषारमिव शुक्लताम् ।
 भाति सर्वस्त्वेनैव तुषारेणैव शुक्लता ॥ २३
 अदेशकालावयवोऽप्येष देवो दिवानिशम् ।
 असज्जगत्तनोतीव यथा चारितरङ्गकम् ॥ २४
 एतस्मिन्विकसन्तीमा विपुलाकाशकानने ।
 जगज्जरठमञ्जर्यः प्रसरत्पत्रपञ्चकाः ॥ २५
 एष स्वप्रतिबिम्बस्य स्वयमालोकनेच्छया ।
 अत्यन्तनिर्मलाकारः स्वयं मुकुरतां गतः ॥ २६
 व्योमवृक्षफलस्यास्य स्वेच्छावयव उज्ज्वलाः ।
 सर्गोपलम्भ उद्यच्च चमत्कुर्वन्ति संविदि ॥ २७
 अन्तस्थेन बहिष्ठेन नानानानातयात्मनि ।
 एष सोऽन्तर्बहिर्भाति भावाभावविभावया ॥ २८
 एतद्रूपा पदार्थश्रीरेतस्मिन्नेतदिच्छया ।
 चमत्करोत्येतदर्थं जिह्वेव स्वास्यकोटरे ॥ २९
 अस्याम्भसो द्रवत्वं यत्तदिदं जगदुच्यते ।
 संवित्स्वादूपलम्भाङ्गं भुवनावर्तवृत्तिमत् ॥ ३०
 शाम्यत्यत्र पदार्थश्रीः सर्वासामेव भास्वति ।
 एतस्मादेव चोदेति खालोक इव तेजसः ॥ ३१
 इदमेव जगत्सर्वं शुक्लत्वं तुहिने यथा ।
 अत एताः प्रवर्तन्ते विद् इन्दोरिवांशवः ॥ ३२

एतस्माद्रङ्गतोऽनङ्गाज्जगच्चित्रमिदं स्थितम् ।
 विद्ध्यभावविकारादिशान्तमेतन्मयं ततम् ॥ ३३
 अस्माद्वनतरोरेताः स्वरूढा गगनाङ्गणे ।
 दृश्यशाखाः प्रवर्तन्ते जगज्जालगुलुच्छकाः ॥ ३४
 व्ययोदयवती नूनमत्र दृश्यतरङ्गिणी ।
 नानातानन्तकुसुमा वहत्यविचलाचले ॥ ३५
 अस्मिन्व्योमात्मके रङ्गे भुवनाभिनयभ्रमैः ।
 नृत्यत्यविरतारम्भं चरैर्नियतिनर्तकी ॥ ३६
 जगत्कोटिमहाकल्पकल्पोन्मेषनिमेषणः ।
 विताने नाट्यते भूयो जन्यते कालबालकः ॥ ३७
 उद्यत्स्वपि जगत्स्वेष शान्तमेवावतिष्ठते ।
 अनिच्छ एव मुकुरः प्रतिबिम्बशतेष्विव ॥ ३८
 भूतानां वर्तमानानां सर्गाणां संभविष्यताम् ।
 एषोऽकारणकं बीजं सर्गाणामिव कारणम् ॥ ३९
 अस्योन्मेषो जगल्लक्ष्मीर्निमेषः प्रलयागमः ।
 अनुन्मेषनिमेषोऽसावात्मन्येवावतिष्ठते ॥ ४०
 उद्यन्त्यमूनि सुबहूनि महामहान्ति
 सर्गागमप्रलयजन्मदशा जगन्ति ।
 सर्वाणि तान्ययमपारस्वरूप एव
 प्रस्पन्दनानि मरुदेव यथास्व शान्तम् ॥ ४१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० परब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

अस्येत्यादिना ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ प्रसरन्ति दलस्थानी-
 यानि पद्मभूतलक्षणपद्मकानि यासाम् ॥ २५ ॥ स्वप्रतिबिम्बस्य
 वर्णितस्य जीवजगद्रूपस्याकारान्तरस्य । मुकुरतां दर्पणताम् ।
 अपरिच्छिन्नब्रह्मसंविदि वृक्षो गगनोदुम्बरस्तदीयफलकल्पस्य
 ब्रह्माण्डस्य स्वेच्छाकल्पिते त्रैलोक्यावयवे उज्ज्वला दीप्यमाना-
 श्वन्द्रसूर्यादयस्तेभ्य उद्यच्चक्षुरादिकरणजालं च जीवभूतस्या-
 त्मनः सर्गोपलम्भे रूपादिदर्शने उपकरणतया चमत्कुर्वन्तीत्यर्थः
 ॥ २६ ॥ २७ ॥ स एष परमात्मा अन्तस्थेन वासनामयप्रपञ्चेन
 बहिष्ठेन भुवनात्मना जाग्रत्स्वप्नयोर्नानातया सुषुप्तावनानातया
 च भावाभावविभावनया स्वयमेवान्तर्बहिश्च भाति नान्यदतो-
 ऽणुमात्रमप्यस्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥ एतदेव प्रपञ्चयति—एतद्रूपेत्या-
 दिना ॥ २९ ॥ संविदैव स्वादु यथा स्यात्तथा उपलभ्यन्त
 इत्युपलम्भान्यज्ञानि रूपरसाद्येकदेशा यस्य ॥ ३० ॥ सर्वासा-
 मेव सूर्यचन्द्रामिकरणादिभासां रूपादिपदार्थश्रीरत्रास्मिन्नेव भा-
 स्वति सुषुप्तप्रलययोः शाम्यति जाग्रत्स्वप्नयोश्चैतस्मादेवोदेति ।
 यथा सूर्यादितेजसः खालोकः प्रमामण्डलम् ॥ ३१ ॥
 इदं ब्रह्म । अतोऽस्या विदध्विद्रूपप्रक्षणः सकाशात् । एताः पदा-
 र्थत्रियः ॥ ३२ ॥ अनङ्गाच्चिरवयवाद्भूतो रजकद्रव्यात् ।
 जन्मादिभावविकारैरादिपदात्स्वगतवैचित्र्यैश्च शून्यम् । एतन्मयं

चिन्मयमेव विद्धि ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ अत्र एतस्मिन्नविचले
 अचले पर्वते व्ययोदयो हासवृद्धौ तद्वती दृश्यलक्षणा
 तरङ्गिणी नदी वहति ॥ ३५ ॥ वारैः कल्पभेदरूपैर्वासरैर्निय-
 तोत्सववासरैश्च ॥ ३६ ॥ तथा नियतिनर्तक्या ब्रह्मरङ्गमाया-
 विताने काललक्षणः स्वबालकः पुत्रो भूयोभूयो नाट्यते उपसं-
 हृत्य च भूयो जन्यते । स कीदृशः । जगतां ब्रह्माण्डानां कोटयो
 महाप्रलया अवान्तरप्रलयाश्च नेत्रोन्मेषनिमेषेण यस्य तथाविधः
 ॥ ३७ ॥ अनिच्छ इच्छादिविक्रियाशून्यः ॥ ३८ ॥ भौतिक-
 सर्गाणां कारणं भूतपञ्चकमिव ॥ ३९ ॥ उन्मेषो निमेषश्च
 समा यस्य । निर्मायस्त्वसौ अनुन्मेषनिमेषः । अत एव स्वात्म-
 न्येवावतिष्ठते ॥ ४० ॥ परिमाणतो महान्ति च तानि काल-
 संख्यावैभवादितो महान्ति च महामहान्ति जगन्ति ब्रह्माण्डा-
 स्तेषां तदन्तर्गतपदार्थानां च सर्गः अगमनमगमः स्थितिः प्रल-
 यश्च तत्र प्राणिनां जन्म देहपरेग्रहः वाल्यादिदशा जाग्रदा-
 दिदशा उत्कर्षापकर्षदशाश्चेत्यमूनि विदाकाशे उद्यन्ति तानि
 सर्वाण्यपारोऽपरिच्छिन्नस्वरूपश्चिदाकाश एव यथा मरुप्रस्प-
 न्दनानि मरुदेव न वस्त्वन्तरमिति बुद्ध्वा शान्तमासेत्यर्थः ॥ ४१ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 परब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः ३६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चमत्कुर्वन्त्यथानर्था आवर्ता इव वारिणि ।
 एकस्वभावाः सकला यथा वारितरङ्गाः ॥ १ ॥
 सर्वस्यैवाद्य विश्वस्य निर्व्येयहेयरूपिणी ।
 परमाकाशरूपं परोपशमसंश्रया ॥ २ ॥
 बालचिन्ता पुरोव्योम्नि न किञ्चिदपि मे यथा ।
 तथेदं तत्त्वतो विश्वं सत्यं तु शिशुचेतसि ॥ ३ ॥
 अरूपालोकमननं शिलापुत्रकसैन्यवत् ।
 रूपालोकमनस्कारा भान्ति केवात्र विश्वता ॥ ४ ॥
 रूपालोकमनस्कारसारश्चिन्मात्रतां विना ।
 न लभ्यतेऽसाधपरं व्योमेवात्र क्व विश्वता ॥ ५ ॥
 विदो वित्त्वं जगद्भ्रान्तिरवित्त्वं तु न विभ्रमः ।
 विस्वावित्त्वे त्वदायत्ते चित्ताचित्ते यथा तव ॥ ६ ॥
 परमाकाशरूपत्वाच्चिद्योश्चो चितताकृतेः ।
 न स्वभावविपर्यासः कश्चित्संभवति कचित् ॥ ७ ॥
 तन्मयस्यास्य विश्वस्य न स्वभावविकारिता ।
 विद्यते प्रेक्ष्यमाणापि किमु सास्य भविष्यति ॥ ८ ॥

सुखस्थानिच्छतो भोगो न बन्धायेति वपर्यते ।

इच्छैव परमो बन्धस्तत्त्वान्मुक्तिरित्यपि ॥ १ ॥

इह सर्वे पदार्था विरुद्धानेरुपा अविरुद्धैकरूपाश्च भासन्ते
 तत्र प्रथमं रूपं रागद्वेषाद्युद्भवेन दुःखहेतुत्वादनर्थरूपम्, द्वितीयं
 तु तदुपशमेन भोक्षोपयोगीति दर्शयति—चमत्कुर्वन्तीति ।
 सकलाः पदार्था वारिण्यावर्ता इव भिन्नरूपाः प्रथमं चमत्कु-
 र्वन्ति इच्छोत्पादनेन चित्तं भ्रमयन्ति । अथानन्तरमनर्था राग-
 द्वेषनरकादिरूपाः पर्यवस्यन्ति । यथा तरङ्गाः वारि जलमात्रं
 तथा एकस्वभावास्तु न चमत्कुर्वन्ति नाप्यनर्था इति भावः
 ॥ १ ॥ किं तदविरुद्धं रूपं येन रूपेणैकरूपाभास्तद्दर्शयति—
 सर्वस्यैवेति । सर्वस्याप्यस्य विश्वस्य सप्तमात्ररूपा परमाकाश-
 तैव तादृशं रूपं सा च सर्वभ्यो हेयेभ्यो विशेषरूपेभ्यो
 निष्कृष्य हेयं यत्तन्मात्रं तद्रूपिणी अत एव परेण समाधिच्छणे-
 नोपशमेन संश्रयो वस्यास्तथाविधा ॥ २ ॥ प्रसिद्धे व्योम्नि
 बालबुद्धिरेवं मक्षपिशाचादिमीषणरूपं प्रौढबुद्धिरेवं तन्निष्कृष्टं
 शुद्धरूपं च दृष्टान्ततया प्रसिद्धमित्याह—बालेति । बालस्य
 चिन्ता चिन्तनकल्पितरक्षाः पिशाचादिरूपं प्रौढस्य दृष्ट्या यथा
 न किञ्चिदस्ति तथा विदुषो मे दृष्ट्या विश्वं नास्ति ॥ ३ ॥
 शिलापुत्रकसैन्यवदरूपालोकमननमेव विश्वं विद्वद्दृशा, तत्र
 विश्वता केव । अज्ञदृशा तु रूपालोकमनस्कारा भान्ति ॥ ४ ॥
 रूपालोकमनस्कारयोरपि तत्त्वतो विभक्तौ चिन्मात्रातिरिक्तं रूपं
 दुर्लभं दूरे ताभ्यां विश्वतासिद्धिरित्याह—रूपेति ॥ ५ ॥
 तथा च विदो वेदितुं पुरुषस्य वित्त्वमेव जगद्भ्रान्तिः, अवेदितुं त्वमेव
 न विभ्रमः सर्वविभ्रमभ्रान्तिरिति फलितम् । तत्र स्वस्य सृष्टि-

सर्वं चिद्योम चैवेदं न सत्त्वमहमित्यपि ।
 विकाराद्यस्ति न ह सावर्ज्यं न लभेत कचित् ॥ १ ॥
 सर्वं शान्तं शिवं शुद्धं त्वमहतादिविभ्रमम् ।
 न किञ्चिदपि पश्यामि व्योमजं काननं यथा ॥ २ ॥
 संविदाकाशशून्यत्वं यत्तद्विद्धि बभौ मम ।
 इदं त्वत्संविदाकाशे स्वयमात्मनि तिष्ठति ॥ ३ ॥
 पदमाहुः परं सद्यदनिच्छोदयमासितम् ।
 पाप्माणुपुरुषस्येव चित्रस्थस्येव वासनम् ॥ ४ ॥
 स विश्रान्तमना मौनी यस्य प्रकृतकर्मसु ।
 स्पन्दो दाहनरस्येव विगतेच्छमनाकुलम् ॥ ५ ॥
 अन्तःशून्यं बहिःशून्यं विरसं गतवासनम् ।
 जगद्वेणोरिव ब्रह्म जीवतो भाति जीवनम् ॥ ६ ॥
 यस्य न स्वदते हृदयमहदयं स्वदते हृदि ।
 सबाह्याभ्यन्तरं शान्तः स वितीर्णो भवार्णवात् ॥ ७ ॥
 उच्यन्तां शब्दजालानि वंशवद्गतवासनम् ।
 रसेनानङ्गलयेन प्रकृतानन्यचोदनेः ॥ ८ ॥
 स्पृश्यन्तां स्पर्शनीयानि यथाप्राप्तान्यवासनम् ।

वत्सायतमित्यर्थः ॥ ६ ॥ “अपरं व्योमेव” इति यत्तुक्तं तद्वि-
 दयति—परमाकाशेति । न हि विजयीभवति न वा व्योम मूर्ति-
 र्भवतीति भावः ॥ ७ ॥ ब्रह्मदर्शनबाध्यत्वादपि जगत्त्र, अत्र
 विकार इत्याह—तन्मयस्येति । या यत्र प्रेक्ष्यमाणापि न विश-
 बाध्यते अस्य सा किमु भविष्यति उत्पत्त्यते स्थास्यते वा
 नैतत्संभावितमित्यर्थः ॥ ८ ॥ अभिमन्तव्यविकारानिरासंन्या-
 येनाभिमन्तुविकारोऽपि निरसनीयः इत्याह—सर्वमिति-
 विकार आदिपदाद्वाधश्च शतौ चिदात्मनि नास्यतः कश्चिदप्य-
 क्तिं चिद्यतिरिक्तम् ॥ ९ ॥ १० ॥ इत्थं च मदीयमुपदेश-
 वक्तो यत्तदपि संविदाकाशरूपं शून्यत्वं विद्धि । यस्मादिदं वच-
 स्त्वंतसंविदाकाशरूपे आत्मान्येव स्वयं तिष्ठति न जडस्वरूपे-
 शब्दतत्त्वस्यापि चिद्रूपस्फोटोत्पत्त्येव निष्कवे पर्यवसानादिति
 भावः ॥ ११ ॥ एवं मैयमात्मानानां चिन्मात्रत्वे सिद्धे, इच्छा
 विषयादेरभावादनच्छोदयं यदासितमवस्थानं तदेव परमं पद-
 माहुः ॥ १२ ॥ इच्छाभावेऽपि जीवनहेतुव्यवहारसिद्धिमाह—स
 इति ॥ १३ ॥ एवं व्यवहारेण जीवतो ज्ञस्य कथं जगद्भ्रान्तिरिति तदाह—
 व्यन्तरिति । वेणोर्वशनालस्येवान्तर्वेदिष्य शून्यम् ॥ १४ ॥ न स्व-
 दते न रोचते ॥ १५ ॥ अस्वदनमेव प्रतीन्द्रियविषयं प्रपश्य-
 त्वादुत्तीर्णतां दर्शयति—उच्यन्तामित्यादिना । अकृतः प्रकृतः
 आरब्धशेषस्य स्वदुपयुक्तान्यस्वन्दोधारणरहितैर्व्यवहारेण न-
 ज्ञेन व्यवहाराद्देहादावहममतासंनन्दनरहितेन रसेन माधुर्येण
 वंशवन्मुरलीवद्गतवासनं यथा स्यात्तथा शब्दजालान्युच्यन्तां
 त्वान्यन्तां वागिन्द्रियेणेत्यर्थः ॥ १६ ॥ एवं त्वगिन्द्रियेण स्व-
 तदभेदवेद्यादिकृदनिवासदृष्टेर्वागिन्द्रियमनोदयं च स्पृशनी-

कूटागारवदधुधमनिच्छममनोदयम् ॥ १७
 स्वाद्यन्तां रसजालानि विगतेच्छामयैषणम् ।
 अपरागाभिलषणं यथाप्राप्तानि दर्शिवत् ॥ १८
 दृश्यन्तां रूपजालानि पुनः प्राप्तान्यवासनम् ।
 अरसं निर्मनोमानमगर्वं चित्रनेत्रवत् ॥ १९
 जिघ्र्यन्तां गन्धपुष्पाणि विगतेच्छमवासनम् ।
 स्पन्दवन्धोपलङ्गानि त्यागाय वनवातवत् ॥ २०
 इति चेद्विरसत्वेन बोधयित्वा चिकित्सिताः ।
 न भोगरोगास्तद्वच्च शान्त्यै नास्ति कथैव च ॥ २१
 यः स्वाद्यन्भोगविषं रतिमेति दिने दिने ।
 सोऽग्नौ स्वमूर्तिं ज्वलिते कक्षमक्षयमुज्जति ॥ २२
 निरिच्छत्वं समाधानमाहुरागमभूषणाः ।
 यथा शास्येन्मनोऽनिच्छं नोपदेशशतैस्तथा ॥ २३
 इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्तिर्यथा सुखम् ।
 तथा न नरके नापि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते ॥ २४
 इच्छामात्रं विदुश्चित्तं तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते ।
 एतावन्त्येव शास्त्राणि तपांसि नियमा यमाः ॥ २५
 यावती यावती जन्तोरिच्छोदेति यथा यथा ।
 तावती तावती दुःखबीजमुष्टिः प्ररोहति ॥ २६
 यथा यथेच्छा तनुतां याति जन्तोर्विवेकतः ।
 तथा तथोपशम्यन्ति दुःखचिन्ताविषूचिकाः ॥ २७
 यथा यथेच्छा घनतां याति लोकस्य रागतः ।
 तथा तथा विवर्धन्ते दुःखचिन्ताविषोर्मयः ॥ २८
 इच्छा चिकित्सते व्याधिर्न स्वयत्तौषधेन चेत् ।

यानि स्रक्चन्दनादीनि स्पृश्यन्ताम् ॥ १७ ॥ १८ ॥ अरसमनि-
 च्छम् । निर्मनोमानं मनो भीयते निर्मायते येन वासनाजालेन
 तद्रहितम् । अगर्वं निरमिमानम् । चित्रलिखितपुरुषादिनेत्र-
 वत् ॥ १९ ॥ जिघ्र्यन्तां प्रायन्ताम् । अशिति जिघ्रादेशश्छा-
 न्दसः । 'जिघ्रन्तां' इति पाठे विकरणव्यत्ययः । अपानोपनीतं
 गन्धं स्पन्देन बभ्रात्यसद्वपाम्नेति स्पन्दवन्धो घ्राणं तदुपल-
 ङ्गानि । त्यागाय न तु रागाय ॥ २० ॥ इति उक्तरीत्या अनु-
 क्तेष्वपि कर्मेन्द्रियविषयेषु तद्वत्प्राग्वत् चाज्ज्ञानेन्द्रियवच्च विरस-
 त्वेन निःसारत्वेन मनो बोधयित्वा भोगरोगाश्चेन्न चिकित्सिता-
 स्तदा दुःखशान्त्यै कथैव नास्ति चादनर्थपरम्परोद्भवश्चास्तीत्यर्थः
 ॥ २१ ॥ तदेवाह—य इति । कक्षं तृणपूलम् । अक्षयमख-
 ण्डितम् । अजस्रमिति यावत् । उज्जति क्षिपति ॥ २२ ॥ अतो
 भोगेच्छात्याग एव मनःशान्तौ मुख्यो हेतुरिति स्तौति—
 निरिच्छत्वमिति ॥ २३ ॥ नापि ब्रह्मलोके इति । तथा चोक्तं
 यथातिना—'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
 तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥' इति ॥ २४ ॥

१ मनोदयमित्यार्षम्.

२ वृथाश्रमैः इत्युभयत्र पाठः.

तदत्र बलवन्मन्ये विद्यते नौषधान्तरम् ॥ २९
 इच्छोपशमनं कर्तुं यदि कृत्स्नं न शक्यते ।
 स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति ॥ ३०
 यस्त्विच्छातानवे यत्नं न करोति नराधमः ।
 सोऽन्धकूपे स्वमात्मानं दिनानुदिनमुज्जति ॥ ३१
 दुःखप्रसवशालिन्या बीजमिच्छैव संसृतेः ।
 सम्यग्ज्ञानाग्निदग्धा सा न भूयः परिरोहति ॥ ३२
 इच्छामात्रं हि संसारो निर्वाणं तदवेदनम् ।
 इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियतां किं वृथाश्रमैः ॥ ३३
 शास्त्रोपदेशगुरवः प्रेक्ष्यन्ते किमनर्थकम् ।
 किमिच्छाननुसंधानसमाधिर्नाधिगम्यते ॥ ३४
 यस्येच्छाननुसंधानमात्रे दुःसाध्यता मतेः ।
 गुरुपदेशशास्त्रादि तस्य नूनं निरर्थकम् ॥ ३५
 इच्छाविषविकारिण्यामन्त एव नृणामलम् ।
 दुःखप्रसरकारिण्या हरिण्या जन्म जङ्गले ॥ ३६
 न बालीक्रियते त्वीषदात्मज्ञानाय चेदसौ ।
 इच्छोपशान्तिः क्रियतां तयालं तदवाप्यते ॥ ३७
 निरिच्छतैव निर्वाणं सेच्छतैव हि बन्धनम् ।
 यथाशक्ति जयेदिच्छां किमेतावति दुष्करम् ॥ ३८
 जरामरणजन्मादि करञ्जखदिरावलेः ।
 बीजमिच्छा सदैवान्तर्दह्यतां शमवह्निना ॥ ३९
 यतो यतो निरिच्छत्वं मुक्ततैव ततस्ततः ।
 यावद्गति यथाप्राणं हन्यादिच्छां समुत्थिताम् ॥ ४०

एतावन्त्येतावन्मात्रपर्यवसितानि ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥
 लोकस्य जनस्य ॥ २८ ॥ तच्चिकित्सायां च धैर्यलक्षणः पुरुष-
 प्रयत्न एवौषधं नान्यदित्याह—इच्छेति ॥ २९ ॥ स्वल्पम-
 पीति । अल्पाल्पेच्छानिरोधाभ्यासक्रमेण सर्वत उपशमोद्युक्तेन
 भाव्यमित्यर्थः । मार्गस्थः सन्मार्गप्रविष्टः ॥ ३० ॥ दिनानुदिनं
 प्रतिदिनम् ॥ ३१ ॥ आत्यन्तिकेच्छाबाधस्तु ज्ञानेन तन्मूलना-
 शादेवेत्याह—दुःखेति ॥ ३२ ॥ तस्या अवेदनमसत्त्वापाद-
 नम् । 'विद सत्तायाम्' भावे ल्युट् । वृथाश्रमैर्यत्नान्तरैः ॥ ३३ ॥
 इच्छाप्रशमनयत्नाभावे शास्त्रादिवैयर्थ्यमपीत्याह—शास्त्रेति ।
 समाधिश्चित्तसमाधानोपायः किं नाधिगम्यते किमर्थं नाश्रीयते
 ॥ ३४ ॥ मतेः स्वविवेकात् ॥ ३५ ॥ इच्छाविषविकारिण्यां
 संसृतौ नृणामन्तो मृत्युरेव । यथा हरिण्या व्याघ्रादिसंकुले
 जङ्गले मृत्युरेव तद्वत् ॥ ३६ ॥ असौ ना इच्छया चेन्न बाली-
 क्रियते बालवच्चपलो न क्रियते तदा आत्मज्ञानाय तु ईषदेव
 प्रयत्नः अत इच्छोपशान्तिरेव क्रियतां तथैव तज्ज्ञानमवाप्यते
 ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ सदैवाभ्यस्तेन शमवह्निना दह्यताम् ॥ ३९ ॥ याव-
 द्विवेकवैराग्याद्युपायप्राप्तिः । यथाप्राणं यथाधैर्यादिवलम् ॥ ४० ॥

३ अपानोपनीतमिति 'ऊर्ध्वं प्राण उन्नयत्यपानः प्रत्यगस्यती'ति

कठवल्लीश्रुत्यनुरोधेनेति शेषम्.

यतो यतश्च सेच्छत्वं बन्धपाशास्ततस्ततः ।

पुण्यपापमया दुःखराशयो विततार्तयः ॥ ४१

इच्छानिरासरहिते गते साधोः क्षणेऽपि च ।

दस्युभिर्मुषितस्येव युक्तमाक्रन्दितुं चिरम् ॥ ४२

यथा यथास्य पुंसोऽन्तरिच्छा समुपशम्यति ।

तथा तथास्य कल्याणं मोक्षाय परिवर्धते ॥ ४३

आत्मनो निर्विवेकस्य यदिच्छापरिपूरणम् ।

संसारविषवृक्षस्य तदेव परिषेचनम् ॥ ४४

हृद्वृक्षजाः स्वसुखदुःखकुबीजकोशौ

वैरादिवाश्रयकृतादशुभाच्छुभाश्च ।

आसाद्य दुष्कृतकृशानुशिखाः शितान्ता

इच्छाश्छमच्छमिति पुंस्पशुमादहन्ति ॥ ४५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे आत्मनीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे संसारबीजकथनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः ३७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इच्छाविषविकारस्य वियोगं योगनामकम् ।

शान्तये शृणु भूयोऽपि पूर्वमुक्तमपि स्फुटम् ॥ १

आत्मनो व्यतिरिक्तं चेद्विद्यते तदिहेच्छया ।

इष्यतामसति त्वेतत्त्वात्मान्यत्वं किमिष्यते ॥ २

निर्भागावयवा सूक्ष्मा व्योमः शून्यतरैव चित् ।

सैवाहंजगदाकारा सती किं तत्तयेष्यते ॥ ३

सा व्योमरूपा व्योमैव व्योमात्मवेद्यवेदिका ।

व्योमात्मजगदाभासमत्रेच्छाविषयोऽस्ति कः ॥ ४

ग्राह्यग्राहकसंबन्धः कुतश्चिदिति तन्न नः ।

विद्यतेऽसौ प्रशान्तानां येषामस्ति न वेदि तान् ॥ ५

दस्युभिर्लुण्ठकैर्मुषितस्यापहतसर्वस्वसेव ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ कल्याण

साधनचतुष्टयम् ॥ ४३ ॥ विषयोपभोगेनेच्छायाः परिपूरणं

यतदेव ॥ ४४ ॥ हृत् हृदयं तल्लक्षणादुसादाश्रयादिबन्धनाच्च

जाताः शितान्ताः निशिताप्रा इच्छा इच्छारूपा दुष्कृतकृशानु-

शिखास्तत्रस्थं विदाभासरूपं पुंस्पशुं जीवलक्षणं पशुं स्वाश्रये

हृदि कृतादशुभात्पापलक्षणाच्छुभात्पुण्यलक्षणाच्च स्वाश्रयदूष-

णपरधादुत्पन्नाद्वैरादिव मोहधूमैरन्धीकृत्य सेवपाशैर्दंडं बद्धा च

आसाद्य पातयित्वा तदीयौ सुखदुःखकुबीजानां कोशौ कुसूलस्था-

नीयौ तद्वृणौ आसमन्तादहन्ति वार्ताकवद्भुजयन्ति । छम-

च्छमिति तद्वसादाहोत्यशब्दानुकरणम् । इच्छाः कर्तव्यः ।

दुष्कृतकृशानुशिखाः आसाद्य प्रज्वाल्य तवीयकुबीजकोशौ दह-

न्तीति वा । कुबीजकोशौ आसाद्य पुंस्पशुं दहन्तीति वा यथे-

च्छमन्वयः । 'पुमः स्वप्यमपरे' इति स्रवे 'संपुंकानाम्' इति

सत्वम् । 'पुंस्पशु' इति पाठस्तु च्छान्दसः ॥ ४५ ॥ इति

श्रीवासिष्ठमहाराभायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे संसा-

रबीजकथनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

यथेच्छैव न जायेत जातापि महा केवलम् ।

तथोपपत्तिर्भूयो ज्ञानयोगोऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

वियोगफलकत्वाद्वियोगम् । इच्छामूलकसर्वानर्थशान्तये ॥ १ ॥

इच्छया इष्यताम् । यथेच्छमिच्छा प्रवर्ततामित्यर्थः । 'इच्छतां'

इति पाठेऽप्ययमेवार्थः । तथा च यावदात्मा न ज्ञायते तावदेव

१ वार्ताकं वृत्ताकम्.

ग्राह्यग्राहकसंबन्धः खनिष्ठोऽपि न लभ्यते ।

असतस्तु कथं लाभः केन लब्धोऽसितः शशी ॥ ६

एषैव ग्राहकादीनां सत्ता यन्मात्मनिष्ठता ।

स्वभाववेक्षया सत्या न जाने क प्रयान्ति ते ॥ ७

एष एव स्वभावो यद्ब्रह्मदृश्यक्षयोऽखिलः ।

ज्ञात्वाऽसत्या विनिर्वाणमहंतात्मनि गच्छति ॥ ८

निर्वाणे नास्ति दृश्यादि दृश्यादौ नास्ति निर्वृतिः ।

मिथोऽनयोरनुभवो न च्छायातपयोरिव ॥ ९

उभे एते मिथोऽसत्ये असत्ये च न निर्वृतिः ।

यतो निर्वाणमजरमदुःखमनुभूयते ॥ १०

द्वितीयवस्तुसत्यताभ्रान्त्या इच्छोदय इत्यात्मज्ञानयोग एव विष-

यापहारद्वारा तन्निवृत्त्युपाय इति भावः ॥ २ ॥ यदि तु ज्ञानेन जग-

त्सत्यं ब्रह्मैव संपन्नमिति न मिथ्येति मन्यसे तदाप्यल्यन्ताभेदे

एभिर्नादित्रिपुटीषट्तिच्छाया असिद्धिरित्याह—निर्भागेति ।

निर्गतो भागस्त्रिपुटीविभाजकोपाधिभेदो विभजनीयावयवभेदश्च

यस्याः । अहंकारा जगदाकारा च सैव सती ॥ ३ ॥ ४ ॥ बुद्ध्या

अग्रहीते विषये इच्छानुदयाद्व्याह्यग्राहकसंबन्धभावे ग्रहणस्या-

सिद्धेरपि विदुषां नेच्छाप्रसक्तिरित्याह—ग्राह्येति । प्रशान्तानां

नः असौ अज्ञदृष्टिप्रसिद्धो ग्राह्यग्राहकसंबन्धः कुतश्चिदपि

निमित्तात्ममाणाद्वा न विद्यते इत्येतस्मादेतोरपि किमिष्यते

इत्यन्वयः । येषामज्ञानामस्ति ताव वेदि । तेऽपि तत्त्वदृश्या

अल्यन्ताप्रसिद्धा इत्यर्थः ॥ ५ ॥ त्वर्थे अपिशब्दः । असितः

इयामः ॥ ६ ॥ ग्राहकादीनां सर्वत्रिपुटीनामेवैव सत्ता । कैषा

यच्चात्मनिष्ठता तात्त्विके आत्मन्यविश्रान्तिः । अज्ञानमिति

यावत् । ते च ग्राहकादयः स्वभावोऽज्ञास्त्रीयदृष्टिस्तदपेक्षया सत्याः

शास्त्रीयतत्त्वदृष्ट्युदये क प्रयान्तीति न जाने ॥ ७ ॥ तत्त्वज्ञा-

नस्याप्येष एव स्वभावो यदसत्या अहंता शास्त्रतः स्वतत्त्वं

ज्ञात्वा तस्मिन्नात्मनि गच्छत्यपैति । स एवाखिलो ब्रह्मदृश्यक्षयो

विक्षिप्तं निर्वाणं चेत्यर्थः ॥ ८ ॥ दृश्यनिर्वाणयोः परस्परसह-

भावोऽपि स्वभावत एवेत्याह—निर्वाण इति । मिथोऽनुभवः

सहानुभवः ॥ ९ ॥ कुतो न सहानुभवोऽपीति तत्राह—उभे

२ इच्छतामिति पाठे विकरणव्यत्यय आर्थः.

अमभूतं च दृश्यादि नित्यं नात्र सुखप्रदम् ।
 असच्च तद्भाव्यतां मा निर्वाणे स्थीयतामजे ॥ ११
 शुक्तिकारूप्यसदृशं प्रेक्षितं यच्च लभ्यते ।
 अर्थकार्यपि तस्मास्ति किमत्रापहवेन च ॥ १२
 तत्सद्भावान्मदद्दुःखमसद्भावान्मदत्सुखम् ।
 अभावः सोपपत्तिस्तु दृढतां याति भावनात् ॥ १३
 तत्किमात्मनि बन्धाय विदग्धं न मुधाधमाः ।
 स्पष्ट एवोपचयादेर्वस्तुन्यस्तमिताऽपदे ॥ १४
 कार्यकारणभावादि ब्रह्मैव सकलं यदा ।
 तदा तु ब्रह्मता ह्यस्मिन्संविन्मात्रात्मके तते ॥ १५
 मार्गयन्ति प्रबोधाय तैर्मृगैरलमस्तु नः ।
 व्योमरूपे किलैकस्मिन्सर्वात्मनि तते सति ॥ १६
 कार्यकारणताद्व्यानामुक्तीनामेव कः क्रमः ।
 यो हेतुः स्पन्दने घायोर्द्रवत्वे सलिलस्य च ॥ १७
 शून्यत्वे नभसः सौम्य सर्गादित्वे चिदात्मनः ।
 कार्यकारणभावादि ब्रह्मैव सकलं यदा ॥ १८
 तदा ब्रह्मणि सर्गाणां कारणार्था विलज्जता ।
 न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिवमयं जगत् ॥ १९
 नास्ति चिन्मात्रतान्यत्वमत इच्छोदयः कुतः ।
 मृदेहयोधसेनायां न मृन्मात्रेतरघथा ॥ २०
 न सज्जगदहंतादौ दृश्ये ब्रह्मेतरत्तथा ।

इति । यदि मिथः सह स्यातां तदा उभे परस्परबाधितत्वाद-
 सत्ये स्याताम् । त्नाम् असत्ये को दोषस्तत्राह—असत्ये चेति ।
 तथा च विद्वदनुभवविरोध इत्याह—यत्त इति ॥ १० ॥ ननु
 तर्हि सर्वजनप्रसिद्धं दृश्यादिमहाकौतुकं निर्वाणे दुर्लभं स्यादित्य-
 नाश्वासं परिहरन्नाह—अमभूतमिति । असत् चादनर्थरूपं
 च तदुश्यादि मा भाव्यतां न चिन्त्यताम् ॥ ११ ॥ तत् अर्थ-
 कारि पुरुषार्थसंपादकं नास्त्येव । अत्र ईदृशे दृश्ये अपहवेन
 किं कौतुकं गतमित्यर्थः ॥ १२ ॥ अभावः शान्दज्ञानकृतो
 बाधः सोपपत्तिर्मेननसहितो भावनाजिदिध्यासनात् ॥ १३ ॥
 इदानीं परमकारुणिको भगवान्वसिष्ठो दृश्यकौतुकासक्तानध-
 माधिकारिणः श्रोतुं बलाभिर्मर्त्यं दृश्यासक्तिं त्याजयन्नाह—
 तत्किमिति । हे अधमाः, यूयमुपचयादेर्विकारजातस्य अपदे
 परमार्थवल्लुनि स्वप्रकाशत्वाच्छास्त्रार्थोपदेशाच्च करतलामल-
 कवत्स्पष्टे एव स्फुरति सत्यस्त्वमदर्शनं किं इत् प्राप्नुत । भवद्भि-
 स्तदुश्याजार्तं किमात्मनि बन्धनाय न विदग्धम् । किं बन्ध
 एवाभिलषितोऽस्ति येन दृश्यासक्तिं न मुञ्चतेत्यर्थः ॥ १४ ॥
 यदा कार्यकारणभावादि सर्वं ब्रह्मैव भवति तदैव तु देहादिप-
 रिच्छेदापगमात्तत्वे विस्तारं प्राप्ते चिन्मात्रात्मके प्रतीचि ब्रह्मता
 सिध्यति नाणुमात्रमपि दृश्यपरिशेषे ॥ १५ ॥ अत एव
 व्योमरूपे सर्वात्मनि पूर्णेऽपि कार्यकारणतादिदृश्यमङ्गीकृत्य ये
 ब्रह्मप्रबोधाय साधनानि मार्गयन्ति भृगयन्ते तैर्वादिमृगैस्तात्किं कैः
 यो० बा० १४४ ।

श्रीराम उवाच ।
 एवं चेत्तदुदेत्विच्छा मा वोदेतु मुनीश्वर ॥ २१
 सा तु ब्रह्मैव कोऽर्थः स्यादस्या विधिनिषेधने ।
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 ज्ञातायां संप्रबुद्धायामिच्छा ब्रह्मैव नेतरत् ॥ २२
 यथा संबुद्धवान्नाम तत्सत्यं किं त्विदं शृणु ।
 यदा यदा ज्ञतोदेति शाम्यतीच्छा तदा तदा ॥ २३
 वस्तुस्वभावादुदयत्यादित्ये यामिनी यथा ।
 शाम्यत्येव न तूदेति ज्ञप्ताविच्छादि तत्तथा ॥ २४
 यथा यथोदयो ज्ञप्तेर्द्वैतशान्तिस्तथा तथा ।
 वासनाविलयश्चैव कथमिच्छोदयो भवेत् ॥ २५
 तस्या विद्योपशान्तेयं निर्मला मुक्ततोदिता ।
 अशेषदृश्यवैरस्याद्यस्येच्छोदेति न कश्चित् ॥ २६
 विरक्ततास्य नो दृश्ये नोदेत्यत्रास्य रक्तता ।
 केवलं द्रष्टुं दृश्यश्रीः स्वदत्ते न स्वभावतः ॥ २७
 काकतालीययोगेन परस्परणयानया ।
 यदि किञ्चित्कदाचिच्च सम्यगिच्छति वा न वा ॥ २८
 तदस्य सेच्छा नेच्छा वा ब्रह्मैवात्र न संशयः ।
 इच्छा न जायते ज्ञस्यावश्यमेवानु वा न वा ॥ २९
 ज्ञता चेदुदिता जन्तोस्तदिच्छास्योपशाम्यति ।
 नैतयोः स्थितिरेकत्र प्रकाशतमसोरिव ॥ ३०
 प्रतिषेधविधीनां तु तज्ज्ञो न विषयः कश्चित् ।

शिष्यमृगैर्वा अलमस्तु । प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥
 यदि चावश्यं हेतुर्वाच्यस्तर्हि सर्वस्वभावरूपा स्वाविधैवेत्याशये-
 नाह—य इति ॥ १७ ॥ अत एव विदुषां तद्वाधात्सर्गादिहेतु-
 निरूपणे निर्लज्जतादोष इत्याह—कार्येति ॥ १८ ॥ कारण-
 प्रतिपादनार्था उक्तिर्विलज्जता निर्लज्जता ॥ १९ ॥ २० ॥
 यदि सर्वं ब्रह्मैव तर्हि इच्छापि सुतरां ब्रह्मेति तदुत्पत्तौ का
 क्षतिरिति विद्वद्दृष्ट्या रामः शङ्कते—एवं चेदिति ॥ २१ ॥
 'इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियतां किं वृथाभ्रमैः' इत्यादिप्रागुक्तयत्नवि-
 धिनिषेधने निवारणे सत्यं विदुष इच्छोदयेऽपि न काचित्क्षतिः ।
 विद्याबाधितायास्तस्या उदय एव दुर्लभ इत्युत्तरमाह—ज्ञाता-
 यामित्यादिना ॥ २२ ॥ २३ ॥ 'इदकिदकटी गतौ' इत्यत्र ई
 इति प्रक्षिप्तस्य धातोः शत्रन्तस्य सप्तम्येकवचने अयतीति रूपं
 न त्वयतेः । तस्यात्मनेपदित्वात् ॥ २४ ॥ २५ ॥ मूलोच्छेदादपि
 विदुषो नेच्छोदयसंभव इत्याशयेनाह—तस्येति ॥ २६ ॥ न
 स्वदत्ते न रोचते ॥ २७ ॥ सम्यक् शास्त्रानिविद्धं देहधारण-
 मात्रसाधनमज्ञदानादि ॥ २८ ॥ तत्तदा अस्य विदुषः सा
 इच्छा नेच्छाऽनिच्छा वा उभयं ब्रह्मैव । अथवा ज्ञस्य विदुषो
 नवा अभिनवभोगचमत्कारविषया इच्छा अवश्यं न जायते
 एव । प्रागभ्यस्तमनुसृत्य तु वा अनियतेत्यर्थः ॥ २९ ॥ ज्ञता
 तत्त्वज्ञानम् । तत्तदा ॥ ३० ॥ अत एव रागतः असक्तनिषिद्ध-

१ यथासि बुद्धवानिति पाठः.

शान्तसर्वेषणेच्छस्य कोऽस्य किं वक्ति किंकृते ॥ ३१ ॥
 एतदेव ह्यताचिह्नं यदिच्छास्वतितानवम् ।
 ह्यादनं सर्वलोकानामथानुभव एव वा ॥ ३२ ॥
 इदं विरसतां यातं यदा न स्वदते क्वचित् ।
 तदा नेच्छा प्रसरति तदैव च विमुक्तता ॥ ३३ ॥
 योधादनैक्यमद्वैतं यः शान्तमवतिष्ठते ।
 इच्छानिच्छादयः सर्वे भावास्तस्य शिवात्मकाः ॥ ३४ ॥
 योधादस्तमितद्वैतमद्वैतैक्यविवर्जितम् ।
 यः स्वच्छो विगतव्यग्रः शान्त आत्मन्यवस्थितः ॥ ३५ ॥
 नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
 न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३६ ॥
 नानिच्छया नेच्छयाथ न सता नासता सदा ।
 नैवात्मना न चान्येन नैतैर्मरणजीवितैः ॥ ३७ ॥
 इच्छा च तस्य नोदेति निर्वाणस्य प्रबोधिनः ।
 यदि चोदेति तस्येच्छा ब्रह्म शाश्वतमेव सा ॥ ३८ ॥
 न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिवमजं जगत् ।
 इति योऽन्तः शिलेषास्ते वं प्रबुद्धं विदुर्वृद्धाः ॥ ३९ ॥
 दुःखं सुखं भावनया कुर्वन्विषमिवामृतम् ।
 इति निश्चित्य धीरात्मा प्रबुद्ध इति कथ्यते ॥ ४० ॥
 तत्स्थितं व्योमनि व्योम शान्ते शान्तं शिवे शिवम् ।
 शून्ये शून्यं सति च सद्यद्ब्रह्मणि जगत्स्थितम् ॥ ४१ ॥
 असंवेदनसंविच्छेदे तत्तेऽविश्वमिति स्थिते ।

सौम्ये समसमे शान्ते शिवेऽहंताभ्रमः क्षयी ॥ ४२ ॥
 यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
 तत्सर्वं शान्तमाकाशं परचिन्तापुरोपमम् ॥ ४३ ॥
 परचिन्तापुरोमये गतविघ्नं गमागमौ ।
 यथान्तस्तव शून्यत्वाच्च धैवासिजगद्भ्रमे ॥ ४४ ॥
 अग्निधूर्वांनदीशैलशोभाशून्यतरात्मनि ।
 जृम्भते द्रष्टृकरणं मृगतृष्णाम्बुवीचिवत् ॥ ४५ ॥
 स्वप्ननिर्माणपुरब्रह्मालवेतालतालवत् ।
 यदिदं दृश्यते तत्र किं किलासत्यतेतरत् ॥ ४६ ॥
 असत्यमेवाहमिति भासते सत्यमेव च ।
 भ्रान्तिभाजं विनैवेयं भ्रान्तिः स्फुरति सा सती ॥ ४७ ॥
 न सन्नासन्न सदसत्किमपीदमतीन्द्रियम् ।
 अवाच्यं जगदित्येव भास्यबध्नुभितं खवत् ॥ ४८ ॥
 इहेच्छानिच्छते इत्यं शाम्यतां यदलं समे ।
 तथापि श्रेयसे मन्ये नन्वनिच्छोदयं स्फुटम् ॥ ४९ ॥
 अहं जगदिति क्षितिः खे खस्येवेयमास्थिता ।
 चिदात्मनो यथा वायोः स्पन्दो नात्रास्ति कारणं ॥ ५० ॥
 चित्तश्चेत्योन्मुखत्वं यच्च चित्तं सैव संसृतिः ।
 सेच्छा तन्मुक्तता मुक्तिर्युक्तिं ज्ञात्वेति शाम्यताम् ॥ ५१ ॥
 इच्छा भवत्वनिच्छा वा सर्गो वा प्रलयोऽथवा ।
 क्षतिर्न कस्याचित्काचिन्न च किञ्चिदिहास्ति हि ॥ ५२ ॥
 इच्छानिच्छे सदसती भावाभावौ सुखासुखे ।

क्रियाप्रतिषेधशाले नीरागोऽयं नाधिकारीत्याह—प्रतिषेधेति ।
 किंकृते कस्मै प्रयोजनाय । न ह्यनन्धस्य रूपे न पतनीयमिच्छन्वेन
 वक्तव्यमस्तीति भावः ॥ ३१ ॥ आत्मेच्छानिच्छतिः स्वानन्दानु-
 भवतृप्तिश्च तत्त्वबोधोदयचिह्नमित्याह—एतदेवेति । सर्वलोक-
 नामभयदानेन ह्यादनम् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ अद्वैतं द्वैत-
 ध्वंसरूपं वस्त्वन्तरम्, ऐक्यं मेलनमेकत्वसंख्या च तैर्विवर्जितं
 यथा स्यात्तथा य आस्ते तस्येति परेणान्वयः ॥ ३५ ॥ अर्थ-
 व्यपाश्रयः प्रयोजनलाभः ॥ ३६ ॥ नानिच्छयेति । अर्थव्यपा-
 श्रय इति सर्वत्रानुषज्यते ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ इति प्राव-
 र्णितमात्मतत्त्वं निश्चित्य दुःखं सुखं च निरतिशयानन्दात्मभावनया
 विषममृतमिव कुर्वन् ॥ ४० ॥ तद्बोधानुसारिणी स्थितिरेव
 सर्ववस्तूनामविपर्यस्तस्थितिर्नामप्रसिद्धेत्याह—सदिति । तत्
 तदा ॥ ४१ ॥ इति उक्तरीत्या अविश्वं निर्जगत्कं यथा स्यात्तथा
 स्थिते सति ॥ ४२ ॥ चिन्तापुर मनोराज्यनगरं तदुपमम्
 ॥ ४३ ॥ परः पुरुषान्तरं तदीयमनोराज्यरूपितायाः पुरो-
 नगर्या मध्ये तत्र यथा अन्तर्गमागमादविघ्नं कुल्यादिप्रतिबन्ध-
 शून्यं सिध्यतस्तथा विदुषोऽप्यसिन् जगद्भ्रमे सिध्यत इत्यर्थः
 ॥ ४४ ॥ तत्कृतस्तत्राह—अग्धीति । यतः अन्ध्यादिशून्य-
 तरात्मनि द्रष्टुरन्तःकरणमेवाव्यादिशोभात्मना जृम्भते । यथा

तृषितभ्रान्तपुरुषस्य चक्षुरूपं करणमम्बुधन्ये पुरोदेशे मृगतृ-
 ष्णाम्बुवीच्यात्मना जृम्भते तद्वदित्यर्थः ॥ ४५ ॥ असत्यताया
 इतरत् सत्यत्वं किं किञ्च ॥ ४६ ॥ भ्रान्तिभाजो मिथ्यात्वादपि
 भ्रान्तेर्मिथ्यात्वमित्याह—असत्यमेवेति । यतः सत्त्वं ब्रह्मैवाह-
 मिदमिति चासत्यमेव भासते अत इयं भ्रान्तिर्भ्रान्तिभाजं
 विनैव स्फुरतीत्यसतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥ अत्यन्तासत्त्वे शून्यत्वादि-
 मतप्रवेशः । अत्यन्तं सत्त्वे अद्वैतश्रुतिविद्वदनुभवविरोधः ।
 उभयरूपत्वं तु विरोधावसंभवीत्यनिर्वचनीयतायति पुंस्त्ववदस्य
 परिशेषादित्याह—न सदिति । अतीन्द्रियं इन्द्रियानवधार्यत्वं
 सत्त्वं ॥ ४८ ॥ इत्यं तत्त्वविदस्तत्त्वबोधलादेवार्लं शाम्यतां
 विषयाणां यत् यद्यपि इच्छानिच्छते समे तुल्यफले तथाप्य-
 निच्छोदयमेव स्फुटं निर्विकल्पसुखाभिव्यक्तिहेतुं श्रेयसे मन्ये ।
 नन्विति रामसंवाचने ॥ ४९ ॥ यथा अविकृते एव खे 'आ-
 काशाद्वायु'रित्यादिश्रुत्युक्तक्रमेणाहं जगदिति क्षितिरास्थिता तद्-
 दशानावृत्तविदात्मनोऽपि । सात्र कारणान्तरं मृगमित्यर्थः
 ॥ ५० ॥ तथा च विदात्मनो बहिःप्रवणतैवेच्छा चित्तं
 संसारश्च, अन्तःस्वरूपे स्थितिरेव मुक्तिरिति फलितमित्याह—
 चित इति ॥ ५१ ॥ तथा चेश्वरस्य सर्वप्रलययोरिव विदुष
 इच्छानिच्छयोर्न कश्चिन्नामः क्षतिर्वेत्याह—इच्छेति । अस्ति
 फलमिति शेषः ॥ ५२ ॥ तत्रोपपत्तिमाह—इच्छानिच्छे इति ।

इत्यत्र कलना व्योम्नि संभवन्ति न काश्चन ॥ ५३ ॥
 इच्छानां तानर्वा यस्य दिनानुदिनमागतम् ।
 विवेकशमस्तस्य तमाहुर्मोक्षभागिनम् ॥ ५४ ॥
 इच्छाधुरिकया विद्धे हृदि शूलं प्रवर्तते ।
 जयन्ति यत्र नैतानि मणिमन्त्रौषधानि च ॥ ५५ ॥
 यान्कार्यकरणव्यूहान्कृतवान्पूर्वमेव तान् ।
 संप्रेक्षया न पश्यामि मिथ्याभ्रमभरादते ॥ ५६ ॥
 भ्रमभूतेन कुर्मश्चेद्भवद्वारमवस्तुना ।
 तत्कस्मात्परचित्ताद्रिः कम्बलत्वं न नीयते ॥ ५७ ॥
 असता व्यवहारश्चेत्प्रेक्षामात्रविनाशिना ।
 क्रियते शशशृङ्गेण तत्कथं छाद्यते न खम् ॥ ५८ ॥
 अहंभावाच्चिदाकाशो जाड्यातिशयतः क्षणात् ।
 पाषाणतां जलमिव मनस्त्वाद्याति देहताम् ॥ ५९ ॥
 चित्त्वादनुभवत्येतामसत्यामेव देहिताम् ।
 अविनष्टैव चिच्छक्तिः स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ ६० ॥
 व्योद्ध्यसत्यमवस्तुत्वात्सत्यं चानुभवाद्यथा ।
 नीलत्वं तद्वदीशोऽस्मिन्सर्गो नासन्न सन्मयः ॥ ६१ ॥
 यथा शून्यत्वनभसोर्यथा स्पन्दनभस्वतोः ।
 भेदो नास्ति तथा सर्गब्रह्मणोरेकरूपयोः ॥ ६२ ॥
 नेह संजायते किञ्चिज्जगदादि न नश्यति ।

स्वप्ने निद्रागंतस्येव केवलं प्रतिभासते ॥ ६३ ॥
 अविद्यमाने पृथ्व्यादौ प्रतिभामात्ररूपिणि ।
 सर्गे क इव संरम्भस्यागादानैश्चिदम्बरे ॥ ६४ ॥
 न देहः प्रतिभातोऽस्ति पृथ्व्यादिकारणान्वितः ।
 केवलं ब्रह्मचिन्मात्रमेवात्मन्येव संस्थितम् ॥ ६५ ॥
 बुद्ध्यादेः कारणत्वं च द्वैतैक्यासंभवान्न सत् ।
 अनेनेदं क्रियत इत्यस्यार्थं याति संभवात् ॥ ६६ ॥
 अहेतुरक्रमं भाति चिति कल्पक्रियागणः ।
 क्षणेनैव यथा स्वप्ने मृतिजन्मादि सत्त्वराः ॥ ६७ ॥
 खमेव पृथ्वी खं शैलाः खमेव दृढभित्तयः ।
 खमेव लोकाः स्पन्दः खं सर्गसंवेदनं चित्तेः ॥ ६८ ॥
 व्योमभित्तौ जगच्चित्रं चिद्रङ्गमयमाततम् ।
 नोदेति नास्तमायाति न शाम्यति न ताम्यति ॥ ६९ ॥
 चिद्वारिणि जगत्तुङ्गतरङ्गद्रवरूपिणि ।
 किं नु वा कथमुत्पन्नं किं शान्तं च कदा कथम् ॥ ७० ॥
 शान्ते महाचिदाकाशे जगच्छून्यत्वशालिनि ।
 चेत्यासंभवतः सन्ति नोदयास्तमयौ कुतः ॥ ७१ ॥
 पर्वता गगनायन्ते गगनं पर्वतायते ।
 संवेदनप्रयोगेण ब्रह्मणः सर्गता स्थितौ ॥ ७२ ॥
 संविच्चूर्णप्रयोगेण निमेषार्धेन योगिनः ।
 कुर्वन्ति जगदाकाशमाकाशं त्रिजगन्ति च ॥ ७३ ॥

कलनाः कल्पनाः । अत्र तत्त्वविद्रूपे व्योम्नि चिदाकाशे ॥ ५३ ॥
 ॥ ५४ ॥ इच्छालक्षणया धुरिकया धुरप्रमाणशब्देन । शूलं
 शोकमोहादिवेदना । यत्र यस्मिन् शूले एतानि लोकप्रसिद्धानि
 मणिमन्त्रौषधानि न जयन्ति । कुण्ठीभवन्तीति यावत् ॥ ५५ ॥
 विधाता प्राणिदुःखविकित्तस्य यान् औषधमन्त्रयन्त्रादिकाकरण-
 ग्रामान् कृतवास्तान् पूर्वमेव बहुशः परीक्षणार्थं संप्रेक्षया यतमा-
 नोऽहं मिथ्याभ्रमभरेण आहते पुंसि तत्त्विकित्तासमर्थान् पश्यामि
 ॥ ५६ ॥ ननु भ्रान्तिसिद्धेनैव केनचिदुपायेन तत्त्विकित्तादि-
 व्यवहारोऽस्तु तत्राह—भ्रमभूतेनेति । भ्रमो भ्रान्तिज्ञानं तेन
 भूतेन सिद्धेन । अस्मद्भ्रान्तिसिद्धोपायेन परभ्रान्तिसिद्धदुःखनि-
 वारणे अस्मन्मनोरथकल्पितबहुयोजनविस्तृतमुखेन परकीयस्व-
 प्रशेलादेः कवलनप्रसन्न इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ भ्रान्तिसिद्धस्या-
 सत्त्वादपि न पारमार्थिके परदुःखनिवारणे सामर्थ्यमित्याह—
 असतेति । क्रियते इति पूर्वान्वयि । तस्मात्तदीयं तत्त्वज्ञाना-
 भिव्यक्तं परमार्थसत्यं ब्रह्मैव तदीयसर्वभ्रमदुःखनिवारणो-
 पायो नान्य इति भावः ॥ ५८ ॥ नन्वमूर्तमनोभ्रान्तिमात्रं
 जगद्वैतकथं मूर्तदेहादिभावं याति तत्राह—अहंभावादिति ।
 देहाद्याकाराहंभावात् । जलं जाड्यातिशयतः पाषाणतां कर-
 काभावमिव ॥ ५९ ॥ कल्पिते चितः स्वमरणतुल्ये जडदेह-
 भावेऽपि वास्तवचिद्रूपमक्षतमेवेति तेन तामनुभवतीत्याह—
 चित्त्वादिति ॥ ६० ॥ प्रातिभासिकजडभावः प्रातिभासाधीन-
 सत्ताकत्वादर्निर्वचनीय इत्याह—व्योम्नीति ॥ ६१ ॥ अत एव

जगद्भ्रमसत्तयोरैक्याद्भेदो नास्तीत्याह—यथेति ॥ ६२ ॥ प्राति-
 भासिकार्थस्य स्वाप्राथम्यप्रतिभासातिरिक्तमुत्पत्त्यादिकमप्रसिद्ध-
 मित्याह—नेहेति ॥ ६३ ॥ अत एव तस्यागादानयोरभिनि-
 वेशो न युक्त इत्याह—अविद्यमाने इति ॥ ६४ ॥ देहार्थं
 हि पृथ्व्याद्यर्थस्य त्यागादाने स्याताम् । यदा तदुभयं प्रतिभा-
 समात्रत्वादसत्तदा ते अप्यसती इत्याशयेनाह—नेति । प्रति-
 भातः प्रतिभासमात्रत्वात् ॥ ६५ ॥ एवं बुद्ध्यादेरपि स्वप्र-
 तिभासकचैतन्यापेक्षया द्वैतैक्ययोर्भेदाभेदयोरसंभवादनेनेदं
 क्रियत इत्यस्य व्यवहारस्य कारणत्वमप्यसत्सदर्थं परमार्थवस्त्वेव
 याति । तस्यैव संभवादित्यर्थः ॥ ६६ ॥ एवं ब्रह्मणि कल्पम-
 हाकल्पादयस्तत्रत्यक्रियागणाश्च निर्हेतुका निष्क्रमा एव सहेतु-
 संक्रमवत्प्रतिभासन्त इत्याह—अहेतुरिति । मृतिजन्मादयः
 सत्त्वरा दीर्घकालरहिताः ॥ ६७ ॥ तथा च सर्वं चिदाकाश एवेति
 फलितमित्याह—खमेवेति । यतश्चित्तेः स्वात्मन्येव सर्गसंवे-
 दनं नान्यत्रेत्यर्थः ॥ ६८ ॥ न ताम्यति न ग्लायति ॥ ६९ ॥
 ॥ ७० ॥ स्तां तर्हि नित एव जगदात्मना उदयास्तमयौ, ने-
 त्याह—शान्ते इति । चेत्यासंभवतो यदा जगन्त्येव न सन्ति
 तदात्मना चित उदयास्तमयौ कुतः । कस्मात्सिध्यत इत्यर्थः
 ॥ ७१ ॥ यदि तु मायाविलासदृशा दृश्यते तदा सर्वस्य सर्व-
 रूपता यथेच्छमुपपद्यत इत्याह—पर्वता इति ॥ संवेदनस्य
 वासनावैचित्र्यानुसारिकल्पनालक्षणेन प्रयोगेण संकल्पेन ॥ ७२ ॥
 अत एव योगसिद्धानामैच्छिकी विरुद्धकल्पना क्षणात्सिध्यती-

सिद्धसंकल्पनगराण्यसंख्यानि यथाश्वरे ।
 तथा सर्गसहस्राणि सन्ति तानि तु चित्रम् ॥ ७४
 महार्णवे यथावर्ता अन्योन्यमपि मिश्रिताः ।
 पृथगेवावतिष्ठन्ते पयसोऽन्ये च नैव ते ॥ ७५
 महाचित्ति महासर्गा अन्योन्यमपि मिश्रिताः ।
 पृथगेवावतिष्ठन्ते व्यतिरिक्ता न ते ततः ॥ ७६
 सर्गात्सर्गान्तरालोके या प्रबुद्धस्य योगिनः ।
 सिद्धलोकान्तरे प्राप्तिः सैवेति विबुधोक्तयः ॥ ७७
 अविनाशिनि भूतानि स्थितानि परमे शिवे ।
 व्योम्नीव शून्यतोह्लासाः सर्गवर्गा निर्गलम् ॥ ७८
 परमार्थनिजामोदाः सहजाः सर्गविभ्रमाः ।
 नोद्यन्ति नोपशाम्यन्ति लेखा इव शिलोदरे ॥ ७९

अन्योन्यं कुसुमामोदा मिलिता अप्यमीलिताः ।
 व्योमरूपास्तथा सर्गा अन्योन्यं सिद्धभूमयः ॥ ८०
 संकल्पाकाशरूपत्वात्सर्वानुभववत्स्थितेः ।
 तनुसंकल्पमोहानां सत्याश्च मननोक्तयः ॥ ८१
 न ज्ञानवादिता सत्या न बाह्यान्तर्वादिता ।
 यथावेदनमेतानि वेदनानि फलन्ति यः ॥ ८२
 चित्ति चित्तं यदस्त्यन्तर्जगदित्येव भाविते ।
 भेदो द्रवत्वपयसोरिव नान्नोपपद्यते ॥ ८३
 कालो जगन्ति भुवनान्यहमक्षवर्ग-
 स्त्वं तानि तत्र च तथेति च सर्वमेकम् ।
 चिद्योम शान्तमजमव्ययमीश्वरात्म
 रागादयः खलु न केचन संभवन्ति ॥ ८४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० गो० निर्वाणप्रक० उत्तरार्धे दृश्योपदेशयोगो नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशः सर्गः ३८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चित्पश्यति जगन्मिथ्या स्ववेदनविबोधिता ।
 व्योम्नि मायाज्जनासिक्ता दृग्निवाचलतान्तरम् ॥ १

स्याह—संविदिति । सविज्ञानं यत्सिद्धौषधचूर्णं तत्प्रयोगेण
 ॥ ७३ ॥ यथा प्रसिद्धे अम्बरे आकाशे अनन्तानि सिद्धसं-
 कल्पकल्पितानि नगराणि परस्परमसंलग्नान्यन्तर्हितानि सन्ति
 तथा ब्रह्मणि सर्गसहस्राणि सन्ति ॥ ७४ ॥ तत्र दृष्टान्त-
 माह—महार्णवे इति ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ अन्योन्यमन्तर्हिता-
 नामपि सिद्धलोकान्तराणामिच्छयालोकने योगिनो या स्रोपा-
 धेर्मूलचित्ति प्रविक्षपनेन परचित्तानुप्रवेशद्वारा तन्नेकानुप्रवे-
 शलक्षणा प्राप्तिः सैव स्वसर्गात्सर्गान्तरालोकेऽपीति विबुधानां
 विदुषामुक्तयः । तथैव लीलोपाख्यानादौ वर्णनादिति भावः
 ॥ ७७ ॥ एवं च सर्वप्राणिना तद्गोचरसर्गाणां च शाश्वते ब्रह्म-
 ण्येव विवर्तरूपा स्थितिः फलितेत्याह—अविनाशिनीति ॥ ७८ ॥
 तथा च परमार्थचिदाकाशस्य निजामोदकल्पाः सर्गविभ्रमा-
 स्तत्स्वरूपा एवेति नोत्पत्त्यादिरेषामस्तीत्याह—परमार्थेति ।
 स्फटिकशिलोदरे दृश्यमाना लेखा रेखा इव ॥ ७९ ॥ सिद्धभूमय
 इवेति शेषः ॥ ८० ॥ अत एव प्रपञ्चस्य स्थूलसंकल्पमोहानां
 पामराणां दृष्ट्या स्थूलानुभववत्स्थितिः सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतम-
 संकल्पमोहानां योगिभेदानां दृष्ट्या सूक्ष्मादिभावेन स्थितिरिति
 सर्वानुभवाननुसारित्वात्स्वस्वानुभवानुसारिण्यः सर्वेषामुक्तयः
 सत्या इत्याह—संकल्पेति । ततः सूक्ष्माः संकल्पा मोहाश्च
 येषां योगिनां तेषां भजनपूर्विका जगत्सौख्योक्तयश्च सत्याः
 न पामरानुभवविरोधेनासत्या मन्तव्या इत्यर्थः ॥ ८१ ॥ अत
 एव द्वादिभेदात्तां नानाविधकल्पना अपि तत्तद्वासानसंकल्पा-
 नुसारेणैव सत्याः न सर्वसंकल्पानुसारेण परमार्थतो वेति तान्सं-
 बोध्याह—नेति । ज्ञानवादिता आन्तरविज्ञातमात्रपरमार्थ-

ब्रह्मसर्गश्चित्तसर्गो द्वावेतौ सदृशौ मतौ ।
 परमार्थस्वरूपत्वादक्षुब्धत्वात्सदैव च ॥ २
 ज्ञानरूपतयावाह्यं बाह्यं चानुभवात्तथा ।

वादिता । बाह्या इत्यां ये अनर्था दुःखहेतवो द्रव्यगुणकर्मा-
 दिसप्तपदार्थास्तन्मात्रवादितापि सत्या । यथावेदनं यथासंकल्पं
 तत्तदर्थक्रियासमर्थतया फलन्ति ॥ ८२ ॥ कस्तर्हि प्रामा-
 णिकः पक्षस्तमाह—चित्तीति । चित्तं त्रिपुटीप्रकाशनशक्तिः ।
 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' इत्यादि श्रुतेरिति भावः ॥ ८३ ॥ उक्त-
 मनुय प्रकृते योजयन्नुपसंहरति—काल इति । सर्वेषां
 कालस्तदन्तर्गतानि जगन्ति ब्रह्माण्डास्तदन्तर्गतानि चतुर्दश-
 भुवनानि तदन्तर्गता अहंत्वमित्यादयो भोकारस्तेषां भोगोप-
 करणभूतोऽक्षवर्णस्तानि शब्दरुपर्शादिभोग्यानि तत्र च तथा
 विचित्रो भोगक्षेपेतत्सर्वमीश्वरात्म मायिकसर्वदृश्यसर्ववस्तुत्यादि-
 संपन्नं परमार्थतः शान्तमेकं चिद्योमैव । एवं खलु निश्चिते
 केचन रागादयो न संभवन्त्येवेत्ययमेवेच्छादिसर्वदोषजये मुख्यो-
 पाय इत्यर्थः ॥ ८४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्योपदेशयोगो नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ३७

इह चिच्छेत्संसर्गभेदभ्रमनिरासतः ।

चिदेव जगदित्येतत्सत्तत्कैरुपपाद्यते ॥ १ ॥

चेत्यस्य सर्वजगतश्चिन्मात्रता तर्कैरुपपादयिष्यन् भूमिकां
 रचयति—चिदिति । मिथ्या स्ववेदनं स्वस्या अभ्रह्मताभ्रम-
 स्तेन विबोधिता विक्षिता । यथा माया दर्शनहेतुनाजनविशे-
 षेणासिक्ता इह चक्षुर्व्योम्नि अचलतां पर्वतभावं तदान्तरं नित-
 म्बप्रस्थश्चित्रदरीवनकुजादि च पश्यति तद्वदित्यर्थः ॥ १ ॥
 आन्तिकल्पितस्त्वयं सर्गश्चित्रसर्गवन्मनःकल्पनयैव क्षुब्ध-
 द्वाति न वस्तुत इत्याह—ब्रह्मेति ॥ २ ॥ अस्त्येवं किं त-

१ मिथिता अप्यमिथिता इति पाठः,

सत्यरूपमतः सत्यां विद्धि बाह्यार्थरूपताम् ॥ ३
 बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः ।
 वेदनात्मैकरूपत्वात्सर्वदा सदसंस्थितेः ॥ ४
 अक्षुब्धखानिलालोकजलभूशान्तिशालिनी ।
 तता शून्या महारम्भा ब्रह्मसत्तैव सर्वतः ॥ ५
 तस्मै सर्वं ततः सर्वं तत्सर्वं सर्वतश्च तत् ।
 तच्च सर्वमयं नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ६
 चिन्मयत्वाद्यदा चेत्यमेति द्रष्टृचितैकताम् ।
 तदा दृश्याङ्गयैवैतच्चेत्यते नान्यथा चिता ॥ ७
 यदा चिन्मात्रमेवेयं द्रष्टृदर्शनदृश्यद्वयम् ।
 तदानुभवनं तत्र सर्वस्य फलितं स्थितम् ॥ ८
 द्रष्टृदृश्ये न यद्येकमभविष्यच्चिदात्मके ।
 तद्दृश्यास्वादमज्ञः स्यान्ना दृष्टेषुमिवोपलः ॥ ९
 चिन्मयत्वाच्चितौ चेत्यं जलमप्स्विव मज्जति ।
 तेनानुभूतिर्भवति नान्यथा काष्ठयोरिव ॥ १०

स्तत्राह—ज्ञानेति । यथा भित्तिस्थश्चित्रसर्गो वास्तवभित्तिरूपेण भित्तेरबाह्यो भ्रान्तानुभवात्मना तु तद्बाह्यस्तद्वज्ज्ञाने कल्पितः सर्गोऽपि वास्तवज्ञानरूपतया अबाह्यो भ्रान्तानुभवात्मना तु बाह्य इति सिद्धे ज्ञानं सत्यरूपमित्यतो हेतोर्बाह्यार्थरूपतामपि तदात्मना सत्यां विद्धीत्यर्थः ॥ ३ ॥ एवं चाख्यन्मतं न बाह्यार्थवादेन नापि विज्ञानवादेन विरुध्यते । अत्रोभयोरैकरस्यात् । सर्वदा चिदतिरिक्तस्यान्तरविज्ञातस्य बाह्यप्रपञ्चस्य चासतः असंस्थितेः । अनभ्युपगमादित्यर्थः ॥ ४ ॥ सर्वस्य चिदैक्ये चितः सदैवाक्षुब्धत्वाज्जिर्विशेषत्वाच्च क्षुब्धानां खादिपञ्चभूतानां शान्तिरर्थसिद्धेति पूर्णब्रह्मसत्तामात्रपरिशेषः सिद्ध इत्याह—अक्षुब्धेति ॥ ५ ॥ तदेवं सर्वकारकक्रियाफलात्मकं जगद्ब्रह्मीभूतं नमस्यति—तस्मै इति ॥ ६ ॥ व्यवहारकालेऽपि चेत्यस्य चिदैक्यापत्तिबलादेव सत्तास्फूर्ती नान्यथेत्याह—चिन्मयत्वादिति । घटादि चेत्यं ब्रह्म चिन्मयत्वादेव द्रष्टृचिता चाक्षुषवृत्त्यवच्छिन्नप्रमातृचैतन्येन यदा वृत्तिव्याप्तिद्वारा एकतामेति तदा दृश्यमङ्गं शरीरं यस्यास्तथाविधयेव तथा चिता एतद्घटादि चेत्यते नान्यथेत्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं द्रष्टा तद्दर्शनसाधनं दृश्यं दृक् तत्फलं चेत्येतत्सर्वं चिदैक्याधीनसिद्धिकत्वाद्यदा चिन्मात्रमेव तदा सर्वस्य जगतोऽनुभवनमात्रमेव स्वरूपं परमार्थतः स्थितं फलितमित्यर्थः ॥ ८ ॥ द्रष्टृदृश्ययोरैक्यसाधनानुयाहकं तर्कमाह—द्रष्टृदृश्ये इति । द्रष्टृदृश्ये चिदात्मके साक्षिणि यद्येकं नाभविष्यत् तत्तर्हि इष्टुमक्षणे प्रवृत्तो ना पुरुष इच्छं दृष्ट्वा चीषयन्नपि उपलब्ध इव दृश्यस्यास्वादं तन्माधुर्यमज्ञोऽनुभवन् स्यात्, न हि जडो रसमनुभवितुं शक्नोति, न वा जडो रसस्तं प्रति स्फुरिष्यति येनानुभवेदित्यर्थः ॥ ९ ॥ तयोश्चिन्मयत्वाभ्युपगमे त्वनुभवितुचितौ चेत्यमनुभवनीयम् । अप्सु पतितो जलविन्दुरिव तदनुप्रवेशेन मज्जति तेन हेतुना इक्षुमाधुर्यमास्वादयामीति त्रिपुट्याः स्फुरणानुप्रवेशेनानुभूतिर्भवति । सिद्धाती-

सजातीयैकताभावाद्यद्वत्काष्ठं न चेतते ।
 दास तद्वदपि द्रष्टा दृश्यं नाज्ञास्यदाजडम् ॥ ११
 यादृक्सत्तानि काष्ठानि तादृश्रूपं त्वचेतनम् ।
 जानन्ति नेतरत्तस्माद्दृश्यं चिद्दृश्यचेतनम् ॥ १२
 महाचिदात्मनैवास्ति जलानिलधराश्मतम् ।
 नैतेषु स्पन्दबुद्ध्यादि प्राणजीवाद्यभावतः ॥ १३
 प्राणबुद्ध्यादयः सत्तां भावनावशतो गताः ।
 भावना चिच्चमत्कारः स यथेच्छमुदेति च ॥ १४
 जगत्तया शान्ततया ब्रह्मसत्तावतिष्ठते ।
 पुंस्तया गत एवात्मा रेतोवटकबीजयोः ॥ १५
 सर्वाग्राणुमये बीजे योऽस्मादग्रगतोऽणुकः ।
 स स तत्तद्भवत्यग्रं बीजं च स्वात्मनि स्थितः ॥ १६
 ब्रह्म सर्वपराण्वात्मा यो यस्मादर्थतोऽणुकः ।
 स स तत्तद्भवेद्वस्तु वस्तुब्रह्मैव तिष्ठति ॥ १७
 द्रव्यमेव यथा द्रव्यं तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।

त्यर्थः ॥ १० ॥ व्यतिरेके काष्ठयोरिवेत्युक्तदृष्टान्तसाम्यं दार्ष्टान्तिके उपपादयति—सजातीयेति । काष्ठं कर्तुं दासं द्वितीयं काष्ठं कर्म यथा काष्ठत्वेन सजातीयत्वेऽपि चिदैक्याभावाद्यद्वयं चेतते तथा द्रष्टापि आजडं सर्वथा चिदैक्यशून्यं दृश्यं नाज्ञास्यत् ॥ ११ ॥ न च द्रष्टृदृश्ययोरजडत्वे काष्ठद्वयादिशेषं केचिज्ज्ञानन्तीत्याह—यादृगिति । यादृशी सत्ता स्थितिरेषां तानि । इतरद्वैलक्षण्यं तु न जानन्ति केचिदपीत्यर्थः । तस्मादुक्ततर्कबलाद्दृश्यं सर्वं चिद्रूपेणैव द्रष्टा दृश्यं चेतनं चिदभिन्नं चेति सिद्धमित्यर्थः । कर्मधारयः ॥ १२ ॥ एवं द्रष्टृदृश्ययोश्चिद्रूपत्वे दृश्ये जगति धरानिलजलादिभेदापगमाद्द्रष्टृचि च स्पन्दबुद्धिप्राणादिभेदापगमात्सर्वस्य जगतो ब्रह्मैक्यमेव सिद्धमित्याह—महाचिदात्मनेति । अश्मतान्ते समाहारद्वन्द्वे नपुंसकह्रस्वः ॥ १३ ॥ भावनाकल्पितत्वादपि प्राणादिभेदानां मिथ्यात्वमित्याह—प्राणेति ॥ १४ ॥ ब्रह्मसत्ताविवर्तमात्रत्वादपि जगद्भेदानां मिथ्यात्वमित्याह—जगत्तयेति । शान्ततया सुषुप्तिप्रलयात्मना । एवेत्यत्र आ इवेति च्छेदः । पुंस्तया प्रसवशक्ततया आगत आक्रान्तः । वट एव वटकः ॥ १५ ॥ तत्र वटबीजे पुंस्त्वाक्रान्तं सूक्ष्ममविकृतं ब्रह्मसत्ताकं भागं तत्र घटादिविवर्तं च दर्शयति—सर्वाग्रेति । अग्रशब्दः सारपरः । यो योऽग्रगतोऽणुकोऽतिसूक्ष्मः स सः परमात्मा । स एवाङ्कुरकाण्डशाखादौ तत्तदुत्तरोत्तरकार्ये पुरोभूयाग्रं बीजं च भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥ तत्र यो यो यस्मात्सूक्ष्मः कारणतया प्रसिद्धः स स ब्रह्मकोटौ, यश्च स्थूलः कार्यात्मना प्रसिद्धः स मायाकोटौ मिथ्येत्युपलक्ष्येदित्याशयेनाह—ब्रह्मेति । एवमुपलक्षिते सर्वत्र वस्तुब्रह्म तिष्ठति नान्यदित्यर्थः ॥ १७ ॥ यथा घटाद्येकैकद्रव्यमामूलाग्रं तदेव द्रव्यं नाणुमात्रमपि तदन्यदस्ति तथा सर्वं

सर्वमेव तथा ब्रह्म येन तेन यथा तथा ॥ १८ ॥
 हेमत्वमेव नान्यत्वं हेमरूपशक्ते यथा ।
 शान्तत्वमेव शान्तस्य सर्गाहंत्वगणे तथा ॥ १९ ॥
 पार्श्वस्थस्वप्नमेघौघा यथा तत्र न काश्चन ।
 सर्गप्रलयसंरम्भास्तथा स्वात्मान एव मे ॥ २० ॥
 पङ्कता कल्पिता व्योम्नो या पुत्रकपताकिनी ।
 सा यथा शान्ततामात्रं स्वमेवेदं तथा जगत् ॥ २१ ॥
 संकल्पभ्रम एवान्तः पुष्पीभूय जगत्स्थितम् ।
 जलावनितलक्लिन्नबीजं कल्प इव द्रुमः ॥ २२ ॥
 अनहंतात्मनो ह्यस्य सत एकत्वमासतः ।
 जरसृणलवायन्ते ननु नामाऽणिमादयः ॥ २३ ॥
 जैलोक्ये तत्र पश्यामि सदेवासुरमानुषम् ।
 एकरोमांशविश्वस्य यल्लोभाय महात्मनः ॥ २४ ॥
 यथा तथा स्थितस्यापि यत्र तत्र गतस्य च ।
 द्वैतसंकल्पसंदोहा न सत्यधिगतात्मनः ॥ २५ ॥
 विश्वमेव नमो यस्य शून्यं सर्वं महात्मनः ।
 कुतः कस्य कथं तस्य भवत्विच्छा निरात्मनः ॥ २६ ॥
 शान्ताशेषविशेषस्य निरेषणविशेषतः ।
 सत्तामसत्तां सदृशौ क आकलयितुं क्षमः ॥ २७ ॥
 भारैर्न किञ्चिन्म्रियते जीवैः किञ्चिन्न जीवति ।
 शुद्धसंविन्मयस्यास्य समालोकस्य स्वस्य च ॥ २८ ॥
 मिथ्या लोकस्य कचतो भ्रान्त्या मरणजन्मनी ।
 असत्यपि भ्रान्तिभाजि मृगतृणानदीतटे ॥ २९ ॥
 सम्यक्परीक्षितं यावन्न भ्रान्तिर्न परीक्षकाः ।

जगदात्मन्त्रं येन येन पुरुषेण यथा यथा परीक्ष्य दृष्टं सन्मात्र-
 रूपं ब्रह्मैव नाणुमात्रमपि तदन्यदस्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥ अवि-
 कारित्वेऽपि दृष्टान्तमाह—हेमत्वमिति । सर्गो जगद्भावः
 अहंत्वं जीवभावस्तद्गणे ॥ १९ ॥ तस्य विवर्तैरलोपमाह—
 पार्श्वस्थेति ॥ २० ॥ व्योम्नो या पङ्कता मलिनता कल्पिता या
 च गन्धर्वपुत्रकाणां पताकिनी सेना सा यथा स्वमेव ॥ २१ ॥
 हृदयान्तः पुष्पीभूय वहिर्जगत्फलं स्थितम् । यथा जलेनाव-
 नितले क्लिन्नमार्द्धभूतं वटादिवीजं कल्पते छायाश्रयादिना प्राण्यु-
 पकारसमर्थो भवतीति कल्पो महान्वटादिद्रुमः संपद्यते तद्वत्
 ॥ २२ ॥ ननु यदि परमसूक्ष्मं ब्रह्म तद्भावस्थितिरेव मोक्षस्तर्ह्यणि-
 मादिसिद्धिभिरसौ तुल्य इत्याशङ्कां पारयति—अनहंतात्मन
 इति । अहंतादिप्रतिबन्धनिरासेनाविर्भूतनिरतिशयानन्दस्य ह्यस्य
 दृष्टेत्यर्थः ॥ २३ ॥ एको रोमांश इव विश्वं यस्य तथा-
 विधस्य महात्मनः ॥ २४ ॥ २५ ॥ निरात्मनो निःस्वरूपाद्भो-
 ग्यादिनिमित्तत्वं ॥ २६ ॥ सत्तां विभवं असत्तां दारिद्र्यं च
 सदृशौ समे पश्यतः क आकलयितुं क्षमो महिमानमिति शेषः
 ॥ २७ ॥ बन्धुपुत्रादिमरणजीवनादिनापि नास्य हर्षविषादप्रसक्ति-
 रित्याशङ्क्याह—भारैरिति । भारैर्मरणहेतुभिर्जीवैर्जीवहेतुभिः
 ॥ २८ ॥ लोकस्याङ्गजनस्य भ्रान्त्या मृगतृणानदीतटप्राये

न नाम जन्ममरणे कैवलं शान्तमव्ययम् ॥ ३० ॥
 दृष्ट्याद्यो विरतिं यात आत्मारामः शमं गतः ।
 स सत्त्वेवासदाभासः परित्तीर्णभवार्णवः ॥ ३१ ॥
 दीपनिर्वाणनिर्वाणमस्तंगतमनोगतिम् ।
 आत्मन्येव शमं यातं सन्तमेवामलं विदुः ॥ ३२ ॥
 आबुद्ध्यादि जगद्दृश्यं यस्यैव न स्वदत्ते स्वतः ।
 आकाशस्येव शान्तस्य तमाहुर्मुक्तमुत्तमाः ॥ ३३ ॥
 अहमस्यविचारेण विचारेणाहमस्ति नो ।
 अभावादहमर्थस्य क जगत्क च संसृतिः ॥ ३४ ॥
 संवित्संवेदनादेव बुद्ध्याद्याकारवत्स्थितम् ।
 रूपालोकमनोरूपं जगद्वेत्ति चिदम्बरम् ॥ ३५ ॥
 सर्वार्थरिक्तमनसः सतः सर्वोत्पन्नस्तव ।
 सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वमाचरणं शिवम् ॥ ३६ ॥
 यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
 यत्तपस्यसि हंस्येषि तत्सर्वं शिवमव्ययम् ॥ ३७ ॥
 यदहं यत्त्वमाशा यद्यत्क्रियाकालखादयः ।
 यल्लोकालोकगिरयस्तद्विद्योम शिवं ततम् ॥ ३८ ॥
 यद्रूपालोकमननं यत्कालवितयं जगत् ।
 यज्जरामरणार्त्यादि तन्महाचिन्नमः शिवम् ॥ ३९ ॥
 निश्चिकित्सो निराभासो निरिच्छो निर्मना मुनिः ।
 भूत्वा निरात्मा निर्वाणस्तिष्ठ संतिष्ठसे यथा ॥ ४० ॥
 गतेच्छमननं शान्तमनन्तस्थमभावनम् ।
 व्यवहारोऽस्तु ते मा वा स्पन्दास्पन्दैर्यथानिलः ॥ ४१ ॥

भ्रान्तिभाज्यात्मनि मिथ्यैव मरणजन्मनी कचतः ॥ २९ ॥
 यावदस्माभिः सम्यक्परीक्षितं तावन्न भ्रान्तिर्न वा परीक्षका
 न वा जन्ममरणे सन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ न परीक्षका इति कथ-
 मुच्यते तत्त्वविदः परीक्षकस्यावाधात्तत्राह—दृष्ट्यादिति । ब्रह्म-
 भवेन सन्नपि देहेन्द्रियादिसहितपरीक्षकात्मना असदामास
 इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ ब्रह्मात्मना सन्तमेव दीपनिर्वाणमिव निर्वाणं
 विदुः ॥ ३२ ॥ अत एव तस्य न संसारः स्वदत्ते इत्याह—आबु-
 द्ध्यादीति ॥ ३३ ॥ तत्त्वज्ञत्वेदीपवन्निर्वाणस्तर्हि त्वं वसिष्ठः
 कथमसि तत्राह—अहमिति ॥ ३४ ॥ अभावः कुतस्तत्राह—
 संविदिति । वास्तवं चिदम्बरमेव स्वसंविदोऽन्यथासंवेदना-
 देव बुद्ध्याद्याकारवत्स्थितं सत् ॥ ३५ ॥ ममेव यथार्थसंवेदनेन
 भ्रान्तिनाशे सर्वार्थरिक्तमनस्तथापि, निर्वाणरूपेण स्थितिः
 सेत्स्यतीत्याह—सर्वार्थेति ॥ ३६ ॥ सर्वमाचरणं प्रपद्यति—
 यदिति ॥ ३७ ॥ आचरणग्रहणं जगन्मात्रोपलक्षणमित्याशये-
 नाह—यदिति । आशा इच्छा दिशश्च ॥ ३८ ॥ ३९ ॥
 निश्चिकित्सो दुःखप्रशमोपायान्वेषणशून्यो निर्विचिकित्सो वा ।
 'निर्विकल्प' इति पाठः स्पष्टः । यथा निर्वाणः संतिष्ठसे तथा
 तिष्ठ ॥ ४० ॥ यथा- अनिलः अनिलसंबन्धी स्पन्दास्पन्दै-

निर्वासना निष्कलना शान्ता पुरुषतास्तु ते ।
शास्त्रेण यन्त्रवाहेन बाह्या दारुमयी यथा ॥ ४२
भूतालोकस्तु माऽऽस्नेहो मा वाऽस्नेहश्च बाह्यगः ।
अनिर्देशधरालोकश्चित्रदीपवदास्त्यताम् ॥ ४३

निर्वासनस्य विरसस्य निरेषणस्य
शास्त्रादृते क इव तत्त्वविनोदहेतुः ।
शास्त्रार्थसज्जनमतोऽप्यमलस्य तस्य
संवेदनेष्वनभिसंधिमतः स्वरूपम् ॥ ४४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः ३९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

संजाताकृत्रिमक्षीणसंस्तुतिप्रत्ययः पुमान् ।
असंकल्पो न संकल्पं वेत्ति तेनासदेव सः ॥ १
श्वासान्मलानिरिवादर्थो कुतोऽप्यहमिति स्थिता ।
विदि साऽकारणं दृष्ट्वा नश्यन्त्याशु न लभ्यते ॥ २
यस्य क्षीणावरणता शान्तसर्वेदतोदिता ।
परमामृतपूर्णत्मा सत्तयैव स राजते ॥ ३
सर्वसंदेहदुर्ध्वान्तमिहिकामातरिश्वना ।
भाति भास्वद्विधा देशस्तेन पूर्णेन्दुनेव खम् ॥ ४

व्यवहारस्तथा ते तवाप्यस्तु ॥ ४१ ॥ पुरुषता पुरुषोचितचेष्टा ते
शास्त्रलक्षणेन यन्त्रवाहेन बाह्या निर्वाह्यास्तु ॥ ४२ ॥ हे
राय, तव बाह्यगो मातृपितृबन्धुजनादिभूतानामालोकनमालोक
आस्नेहः स्नेहबहुलो मा भूत् अस्नेहो वा मा भूत् किंतु अनिर्देश-
धरः अस्तिनास्तीति परीक्षकैर्निर्देष्टुमशक्य आलोकः प्रका-
शो यस्य तथाविधोऽस्तु । एवं च त्वया चित्रदीपवदास्त्यतां
स्थायताम् । तस्यापि हि चित्रलिखिततैलपूर्णत्वात्परमार्थतत्त्व-
लभावाच्च भूतानां प्राणिनामालोकनमालोक आस्नेहः स्नेहब-
हुलः अस्नेहस्तच्छून्यश्च न भवति । आलोकः प्रकाशश्च चित्र-
लिखितः अस्तिनास्तीति निर्देशार्हो न भवतीति साम्यादित्यर्थः
॥ ४३ ॥ 'निर्वासना निष्कलना' इति श्लोकार्थमेव पुनरनुवादेन
दृढीकुर्वन्नुपसंहरति—निर्वासनस्येति । वर्तमानभोगेषु विर-
सस्य । भाविषु निरेषणस्य । शास्त्रात्सच्छास्त्रात् । तत्त्वे स्व-
शुद्धे विनोदो विश्रान्तिस्तद्देतुः । आदेहधारणमवश्यभावित्वाद-
वर्जनीये व्यवहारे सच्छास्त्रानुसरणे एव चित्तदोषनिर्हरणेन
विवेकाद्युद्बोधनेन च तत्त्वज्ञानप्रतिष्ठासिद्धेरिति भावः । अतः
अनभिसंधिमतः अत एवामलस्यापि तस्य तत्त्वविदः संवेदन-
पूर्वकव्यवहारेषु शास्त्रार्थं स्वस्ववर्णाश्रमोचिताचारे शमदमादौ
च सज्जनं सम्यगनुवर्तनमेव स्वरूपमसाधारणं लक्षणं न यथेष्टा-
चरणमित्यर्थः । तथा चाहर्षद्वयः 'विदितब्रह्मतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं
यदि । शुनो तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥' इति
॥ ४४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

प्रबुद्धात्मनि विश्रान्तो यद्रूपः परिशिष्यते ।

जगच्च तस्य यद्रूपं तत्सम्बन्धिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

विदुषः शास्त्रानुसारनियमे तन्नियामकसंकल्पस्यापि प्रसक्ति-

विसंस्तुतिर्विसंदेहो लब्धज्योतिर्निरावृत्तिः ।
शरदाकाशविशदो ज्ञेयो विज्ञायते बुधः ॥ ५
निःसंकल्पो निराधारः शान्तः स्पर्शात्पवित्रताम् ।
अन्तःशीतल आधत्ते ब्रह्मलोकादिवानिलः ॥ ६
असद्रूपोपलम्भानामियं वस्तुस्वभावता ।
यत्स्वर्गवेदनं स्वप्नवन्ध्यापुत्रोपलम्भवत् ॥ ७
अविद्यमानमेवेदं जगद्यदनुभूयते ।
असद्रूपोपलम्भस्य सैषा वस्तुस्वभावता ॥ ८
असत्येष्वेव संसारेष्वास्तामर्थः कुतो भवेत् ।

माशङ्क्याह—संजातेति । संजातो यथाभूतार्थगोचरत्वादकृत्रिमः
क्षीणा संस्तुतिर्यस्मात्तथाविधः प्रत्ययः साक्षात्कारो यस्य तथो-
विधः पुमान् शास्त्रीयव्यवहारनियमेऽप्यसंकल्प एवावतिष्ठते ।
यतोऽयं तत्तद्यवहाराभासहेतुसंकल्पाभासं स्वात्मैवेति पश्यन्
संकल्पं न वेत्ति । न च वेदनमन्तरेण कस्य चित्सत्ता प्रसिद्धेति
स संकल्पाभासोऽसदलीकमेवेत्यर्थः ॥ १ ॥ 'न संकल्पं वेत्ति' इत्यु-
क्तेर्विवरणाय सर्वसंकल्पबीजस्याहंताध्यासस्य बाधादपि तस्य
न संकल्पप्रसक्तिरित्याशयेनाह—श्वासादिति । प्राग्बोधात्कु-
तोऽप्यनिर्वचनीयान्निमित्तानिःश्वासोत्था आदर्शे मलानिरिव अह-
मित्यहंता स्थिता । सा तत्त्वविदि अकारणमाशु नश्यन्ती
दृष्ट्वा यज्ञेनान्विष्टापि न लभ्यते ॥ २ ॥ कामनया हि संकल्प
प्रसक्तिः, सा च पूर्णकामस्य नास्तीत्याशयेनाह—यस्येति ।
सत्तया निरतिशयानन्दस्वरूपसत्तयैव ॥ ३ ॥ एकलाभादे-
सर्वलाभाल्लब्धव्यविषय इव एकविज्ञानेनैव सर्वविज्ञानाज्ज्ञातव्य-
विषयेऽपि भ्रमसंशयाद्यभावात्तदर्थमपि तस्य न संकल्पप्रसक्ति-
रित्याशयेनाह—सर्वेति । भास्वती निरावरणात्मकप्रकाश-
धीर्यस्य तेन । अत एव सर्वेषां देहलक्षणानां दुर्ध्वान्तनिमित्तमि-
हिकानां मातरिश्वना । तद्देशस्थसर्वजनभ्रमसंशयनिराससमर्थस्य
तत्प्रसक्त्यभावादिति भावः ॥ ४ ॥ यतो बुधस्तत्त्ववित
'शिवमदैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः' इत्यादिश्रुतिषु
ज्ञेय आत्मैवेति विज्ञायत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ स्पर्शात् प्रणतिशुश्रूषा-
दिना संगमात् । जनानां पवित्रतां निष्पापताम् । ब्रह्म-
लोकादागतः अनिल इव ॥ ६ ॥ 'न संकल्पं वेत्ति' इत्येत-
द्विशदीकृत्य 'तेनासदेव स' इति तच्छेषं विशदीकर्तुमसद्रूपो-
पलम्भस्य स्वरूपं प्रपद्यति—असद्रूपेति चतुर्भिः ॥ ७ ॥
॥ ८ ॥ स्वप्नवन्ध्यापुत्रोपलम्भवदित्युक्तद्वन्द्वान्तसाम्यं दर्शयति—

सर्गापवर्गयोः शब्दावेव बन्ध्यासुतोपमौ ॥ ९
जगद्ब्रह्मतया सत्यमनिर्मितमभावितम् ।
अनिष्ठितं चान्यथा तु नाहं नावगतं च तत् ॥ १०
आत्मस्वभावविश्रान्तेरियं वस्तुस्वभावता ।
यदहंतादिसर्गादिदुःखाद्यनुपलम्भता ॥ ११
क्षणाद्योजनलक्षान्तं प्राप्ते देशान्तरे चितः ।
चेतनेऽयस्य तद्रूपं मार्गमध्ये निरञ्जनम् ॥ १२
अस्पन्दवातसदृशं खकोशाभासचिन्मयम् ।
अचेत्यं शान्तमुदितं लताविकसनोपमम् ॥ १३
सर्वस्य जन्तुजातस्य तत्त्वभावं विदुर्वुधाः ।
सर्गापलम्भो गलति तत्रस्थस्य विवेकिनः ॥ १४
सुषुप्ते स्वप्नधीर्नास्ति स्वप्ने नास्ति सुषुप्तधीः ।
सर्गनिर्वाणयोर्भ्रान्ती सुषुप्तस्वप्नयोरिव ॥ १५
भ्रान्तिवस्तुस्वभावोऽसौ न स्वप्नो न सुषुप्तता ।
न सर्गो न च निर्वाणं सत्यं शान्तमशेषतः ॥ १६
भ्रान्तिस्त्वसन्मानमयी प्रेक्षिता चेन्न लभ्यते ।
शुक्तिरूप्यमिवासत्यं किल संप्राप्यते कथम् ॥ १७

यत्र लब्धं च तत्रास्ति तेन आन्तेरसंभवः ।
स्वभावादुपलम्भोऽन्यो नास्ति कस्य न कस्यचित् ॥ १८
स्वभाव एव सर्वस्य स्वदते किल सर्वदा ।
अतानैव हि नानैव किं वादैः संविभाव्यताम् ॥ १९
अस्वभावे महदुःखं स्वभावे कैवलं शमः ।
इति बुद्ध्या विचार्यान्तर्यदिष्टं तद्विधीयताम् ॥ २०
सूक्ष्मे बीजेऽस्त्यगः स्थूलो दृष्टमित्युपपद्यते ।
शिवे मूर्ते जगन्मूर्तमस्तीत्युत्तमसंकथा ॥ २१
रूपालोकमनस्कारबुद्ध्यहन्तादयः परे ।
स्वरूपभूताः सलिले द्रवत्वमिव स्वात्मकाः ॥ २२
मूर्तो यथा स्वसदृशैः करोत्यवयवैः क्रियाः ।
आत्मभूतैस्तथा भूतैश्चिदाकाशमकर्तुं सत् ॥ २३
आत्मस्थादहमित्यादिरसदादेरसंख्यतेः ।
शब्दोऽर्थमात्रमुक्तो यः पटहादिषु जायते ॥ २४
यद्भातं प्रेक्षया नास्ति तत्रास्त्येव निरन्तरम् ।
जगद्रूपमरूपात्म ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ २५
येनामस्ति जगत्स्वप्नस्ते स्वप्नगुरुषा मिथः ।

असत्येति । कुतो भवेत् किं सत्यादुदासत्यात् । न ताव-
त्सत्यात् । तस्य कूटस्थत्वात् । न द्वितीयः । असत्यादसत्यस्योत्प-
त्तेरप्यसत्त्वापत्तेः । एवं क्व आस्तां सत्यस्यासत्ताद्वयत्वादसत्यस्या-
धारत्वायोगादिति भावः । अतः असत्येष्टेव ससारेषु सर्गस्य
बन्धस्य तदपवर्गस्य च शब्दावेव यत्र बन्ध्यासुतोपमौ तत्र
दूरे तदर्थसिद्धिरित्यर्थः ॥ ९ ॥ यदा तु जगत्सत्यमिति पक्षस्त-
दापि स ब्रह्मभेदेनैव निर्वाण इत्युत्पत्तिस्थितितन्मिरूपकादिवि-
भागो निरालम्बन एवेत्याह—जगदिति । अभावितं भावनया
अविषयीकृतम् । आधारविशेषे अनिष्ठितं च । अन्यथा ब्रह्म-
तानभ्युपगमे तु ॥ १० ॥ असद्रूपोपलम्भस्वभावमुपवर्ण्य तद्रू-
पोपलम्भस्वरूपविश्रान्तेर्वस्तुस्वभावं प्रपञ्चयति—आत्मेत्यादिना ।
अनुपलम्भता । निर्विषयचिन्मात्रतेति यावत् ॥ ११ ॥ चितो
निर्विषयताया अप्रसिद्धिमाशङ्कमानं प्रति 'देशादेशान्तरप्राप्तौ'
इति श्लोके दर्शितां तत्प्रसिद्धिं स्मारयति—क्षणादिति ।
आस्तादिदेशान्त्रादिदेशान्तरे योजनलक्षान्तं चक्षुर्दृष्टं प्राप्ते
चेतने चाक्षुषश्रवणचिच्छ्रवैतन्ये मार्गमध्ये अयते व्याप्नोतीत्य-
स्य नैतन्यस्य यदचेत्यं खकोशाभासचिन्मयं रूपं सर्वस्य
जन्तुजातस्य प्रसिद्धं तत्त्वभावं विदुरिति व्यवहितेन सवन्धः
॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ सुषुप्तिस्वप्नयोः परस्परविषयशून्यतेव वा
द्वितीये निर्विषयता चितः संभावनीयेत्याह—सुषुप्ते इति ॥ १५ ॥
स्वप्नसुषुप्त्यादिविभागोऽपि भ्रान्तौ वस्तुस्वभावभूतः परमार्थो
नास्तीत्याह—भ्रान्तीति ॥ १६ ॥ कुतो नास्ति तत्राह—भ्रान्-
न्तिरिति ॥ १७ ॥ भ्रान्तिविषयोऽर्थो भ्रान्त्या न लब्धोऽप्युप-
लम्भान्तरेण लभ्यता तत्राह—स्वभावादिति । आन्तेरन्य
उपलम्भः प्रमात्मको वाच्यः, स च कस्यचिद्भ्रान्तिगोचरार्थस्य
साक्षिस्वभावन्यो नास्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥ एवं च सन्त्यनिवभावे

साक्षिस्वभाव एक एव स्वात्मनि त्रिपुटीकल्पनया प्रथमे
नान्यदसादणुमात्रमपीत्याह—स्वभाव इति । स्वदते परम-
प्रेमास्पदतया प्रथमे ॥ १९ ॥ तस्य स्वभावतिरिक्तकल्पनमेव
संसारदुःखमकल्पितस्वरूपावस्थितिरिव कैवल्यसुखमित्याह—
अस्वभावे इति । विधीयतां उपादीयताम् ॥ २० ॥ तद्रूपादाने
क उपाय इति चेत्तद्व्यस्तस्य विश्वस्य तन्मात्रतादर्शनमेवेत्या-
शयेनोत्पत्तिप्राकृत्यदारभ्य तदपृथक्सत्ता दर्शयति—सूक्ष्मे
इति । अगो वृक्षः । उत्तमानां तरुविदां वेदानां च संख्या
सदुक्तिरित्यर्थः ॥ २१ ॥ एवं प्रत्यगात्मन्याभ्यात्मिकमावना-
मप्यपृथक्सत्तैव स्वर्भूताप्रतीतेः सर्वानुभवसिद्धेत्याह—रूपेति
॥ २२ ॥ एवं तत्पदार्थव्यवहारः सर्गादित्त्वंपदार्थव्यवहारश्च
चिदात्मा पृथक्सत्ताकत्वात्तदवयवप्रायैः सर्वपदार्थैः प्रवृत्त इत्या-
ह—मूर्ते इति । स्वसदृशैः स्वात्मप्रायैः स्वापृथक्सत्ताकैरिति या-
वत् ॥ २३ ॥ अर्थव्यवहार इव शब्दप्रयोगादिव्यवहारोऽप्यपृथ-
क्सत्तया चिदधिष्ठितादेव देहवागादेर्जायते इत्याह—आत्म-
स्थादिति । असंसृतेर्जहत्वेन स्वतो व्यवहारसमर्थादसदादेवै-
सिद्धरामादिदेहाद्योऽहमित्यादिरर्थप्रकाशनाभिप्राययुक्तः शब्दो
जिह्वादिकरणव्यापारेण जायते स आत्मस्थाचिदात्माधिष्ठितादेव
जायते । नदीपदकमतलाभिज्ञवाद्कपुरुषाधिष्ठितेषु पटहादिषु
यथा तदभिप्रायानुसारिविचित्रशब्दो जायते तथेति शेषः
॥ २४ ॥ एवं सर्वजगद्व्यवहारस्य चिदभेदनिर्वाहत्वे आत्यन्तिक
एवाभेदोऽस्तु किमर्धजरतीन्यायेनाविचारमात्रसिद्धजगज्ज्योतिर्भेदो-
पगमेनेत्याशयेनाह—यदिति । आपाततो भातम् । प्रेक्षया
विचारजन्यतत्त्वज्ञानेन । अतो जाज्यभेदाश्रयं जगद्रूपमरू-
पात्म निःस्वरूपमेव । एवं च ब्रह्म ब्रह्मणि स्वस्वभावे संस्थि-
तम् । सैवास्य स्वरूपावस्थितिरिति भावः ॥ २५ ॥ नन्वसंसारि

न सन्ति ह्यात्मनि मिथो नास्मास्वम्बरपुष्पवत् ॥ २६
 मयि ब्रह्मैकरूपं ते शान्तमाकाशकोशवत् ।
 वायोः स्पन्दैरिवामिधैर्ध्वजहारैश्च तन्मयि ॥ २७
 अहं तु सन्मयस्तेषां स्वप्नः स्वप्नवतामिव ।
 ते तु नूनमसन्तो मे सुषुप्तस्वप्नका इव ॥ २८
 तैस्तु यो व्यवहारो मे तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ।
 ते यत्पश्यन्ति पश्यन्तु तत्तैरलमलं मम ॥ २९
 अहमात्मनि नैवास्मि ब्रह्मसत्तेयमात्मता ।
 त्वदर्थं समुदेतीव तथारूपैव वागियम् ॥ ३०
 अविरोद्धविरोद्धस्य शुद्धसंविन्मयात्मनः ।
 न भोगेच्छा न मोक्षेच्छा हृदि स्फुरति तद्विदः ॥ ३१
 स्वभावमात्रायत्तेऽस्मिन्बन्धमोक्षक्रमे नृणाम् ।
 कदर्थनेत्यहो मोहाद्गोष्पदेऽप्युदधिध्रमः ॥ ३२
 स्वभावसाधने मोक्षेऽभावोपशमरूपिणि ।

न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न च क्रियाः ॥ ३३
 तैलविन्दुर्भवत्युच्चैश्चक्रमप्यतितो यथा ।
 तथाशु चेत्यसंकल्पे स्थिता भवति त्रिजगत् ॥ ३४
 जाग्रति स्वप्नवृत्तान्तस्थितिर्यादृशसा स्मृतौ ।
 तादृशसाहंत्वजगज्जालसंस्था विवेकिनः ॥ ३५
 तेनैवाभ्यासयोगेन याति तत्तनुतां तथा ।
 यथा नाहं न संसारः शान्तमेवावशिष्यते ॥ ३६
 यदा यदा स्वभावार्कः स्थितिमेति तदा तदा ।
 भोगान्धकारो गलति न सन्नप्यनुभूयते ॥ ३७

मोहमहत्तारहितः

स्फुरति स्मृतौ भवति भासते च तथा ।

बुद्ध्यादिकरणनिकरो

यस्माद्दीपादिवालोकः ॥

३८

इत्यार्षे श्रीवा० वाल्मीकीये दे० मो० नि० उत्तरार्धे वसिष्ठगीतासु स्वभावविश्रान्तियोगोपदेशो नामैकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः ४०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

रूपालोकमनस्कारबुद्ध्यादीन्द्रियवेदनम् ।
 स्वरूपं विदुरम्लानमस्वभावस्य चस्तुनः ॥ १

ब्रह्म ब्रह्म स्वभावे तिष्ठतु नाम तेन संसारिणां को लाभ इत्या-
 शङ्क्य तेषां पुरुषार्थचिन्ता बन्ध्यायाः स्वपुत्रराज्यादिलामचि-
 न्तावद्बुधैवेत्याशयेनाह—येषामिति । मिथः अन्योन्यं भ्रान्ति-
 दृष्ट्यापि जागरे स्वप्नान्तरे च तत्तदात्मनि न सन्ति, मिथः
 परमेकान्ततमब्रह्मभूतेष्वस्मासु खपुष्पवन्न नितरां सन्तीत्यर्थः ।
 एवार्थे हिशब्दः ॥ २६ ॥ अस्मासु जडांश्च एव ते तद्व्यवहाराश्च
 खपुष्पवत्, सच्चिदंश्च तु मयि ब्रह्मैकरूपत्वात्सन्त्येवेत्याह—
 मयीति । ते पुरुषाः वायुस्पन्दवत्स्वाभिज्ञैस्तैस्तैः स्वव्यवहारैः सह
 मयि सन्त्येव । यतस्तदुभयं शान्तं सद्ब्रह्मात्मैकरूपं तच्च ब्रह्म
 मयि प्रत्यगात्मस्वभावेऽस्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥ अपरं विशेषमाह—
 अहं त्विति । अप्रबुद्धदृष्ट्या जगत् इव वसिष्ठदेहस्यापि सत्यत्वा-
 दिति भावः । ते त्विति । प्रबुद्धदृष्ट्या जगता सह तद्देहादीनां
 बाधादिति भावः ॥ २८ ॥ अनुग्रहोपदेशादिव्यवहारस्तैस्तद्दृष्टि-
 सिद्धसत्यभावैर्मध्यवहारैर्मम । अलमलमिति वीप्सा आत्यन्तिक-
 निष्प्रयोजनताद्योतनाय ॥ २९ ॥ अहं आत्मनि वसिष्ठ-
 देहभावे नैवास्मि । इयं वसिष्ठायाकारा त्वदर्थं ब्रह्मसत्तैव
 समुदेतीव । इयं वागपि तथारूपा त्वदर्थं ब्रह्मसत्ताविवर्तरूपैव,
 मम दृष्ट्या तु नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ३० ॥ सर्ववस्तुनामानन्दैकर-
 सात्मतादर्शनादविरोद्धं विरोद्धं दुःखादिकमपि यस्य तथावि-
 धस्य तत्त्वविदः ॥ ३१ ॥ मोहादविरोद्धनिरतिशयानन्दात्मा-
 परिज्ञानादिति प्रतिष्ठा इयं संसारकदर्थना मोक्षोपायक्रमाभ्या-
 सकदर्थना च ॥ ३२ ॥ अभावस्यासत् एव दुःखस्योपशम-
 यो० वा० १४५

अस्वभावतनुत्वेन स्वभावस्थितिरातता ।

यदोदेति तदा सर्गो भ्रमाभः प्रतिभासते ॥ २

रूपिणि ॥ ३३ ॥ अप्सु पतितः अप्पतितस्तैलविन्दुर्यथा नाना-
 वर्णं चक्रं भवति ॥ ३४ ॥ ज्ञानबाधितं तु जगत् स्वप्नवत्स्मृति-
 मात्रयोग्यतामापद्यत इत्याह—जाग्रतीति । स्मृतौ प्रतिभास-
 माना यादृशसा यादृशविधा ॥ ३५ ॥ तेन प्रागुक्तैर्नैव भूमिका-
 भ्यासयोगिनः । तत् जगज्जालम् । तनुतामपश्यम् ॥ ३६ ॥
 प्रत्यक्प्रवणदृष्ट्या परीक्षणे इदानीमपि तदपक्षयो बाधश्चानुभ-
 वितुं शक्य इत्याशयेनाह—यदा यदेति । गलति अपक्षीयते
 आत्यन्तिकबाधेन । न सन् कालत्रयेऽपि नास्तीत्यप्यनुभूयते
 ॥ ३७ ॥ एवं भोगान्धकारस्य स्मृतौ विनाशे सति बुद्ध्यादि-
 करणनिकरो मोहेनात्मावरणेनाज्ञानेन महत्तया स्थूलदेहाद्यध्या-
 सेन च रहितो भवति । तथा ब्रह्माकारवृत्तीद्वेन बोधिन स्फुरति ।
 यस्मात्स्फुरणादीपात्प्रसृत आलोक इव सर्वतो व्याप्य ब्रह्मीभूतो
 भासते चेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ इति श्रीवसिष्ठमहाराजमायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे स्वभावविश्रान्तियोगोपदेशो
 नामैकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

न संसृतौ ब्रह्म भाति न ब्रह्मणि च संसृतिः ।

जीवन्मुक्तौ इयं भाति पर्यायेणेति वर्ण्यते ॥ १ ॥

तत्रादौ निःस्वभावस्य चाद्यान्यन्तरवस्तुनस्तत्ताक्षिचैतन्य-
 मेव वास्तवं स्वरूपमिति विद्वदनुभव इत्याह—रूपेति । अम्लानं
 निर्विकारकलङ्कम् ॥ १ ॥ तत्र तद्गोधान्वयव्यतिरेकानु-
 विधानलक्षणां युक्तिमाह—अस्वभावेति द्वाभ्याम् । यदा
 आतता अपरिच्छिन्ना वास्तवस्वभावस्थितिः अस्वभावस्ततिरो-

यदा स्वभावविश्रान्तिः स्थितिमेति शमात्मिका ।
जगद्दृश्यं तदा स्वप्नः सुषुप्त इव शाम्यति ॥ ३
भोगा भवमहारोगा बन्धवो दृढबन्धनम् ।
अनर्थायार्थसंपत्तिरात्मनात्मनि शाम्यताम् ॥ ४
अस्वभावात्मता सर्गः स्वभावैकात्मता शिवः ।
भूयतां परमव्योम्ना शाम्यतां मेह ताम्यताम् ॥ ५
नात्मानमवगच्छामि न दृश्यं च जगद्भ्रमम् ।
ब्रह्म शान्तं प्रविष्टोऽस्मि ब्रह्मैवासि निरामयः ॥ ६
त्वमेव पश्यसि त्वन्त्वं सर्वं शब्दार्थजृम्भितम् ।
पश्यामि शान्तमेवाहं केवलं परमं नमः ॥ ७
ब्रह्मण्येव पराकाशे रूपालोकमनोमयाः ।
विभ्रमास्तव संजातकल्पाः स्पन्दा इवानिले ॥ ८

ब्रह्मात्मा वेत्ति नो सर्वं सर्गात्मा ब्रह्म वेत्ति नो ।
सुषुप्तो वेत्ति नो स्वप्नं स्वप्नस्थो न सुषुप्तकम् ॥ ९
प्रबुद्धो ब्रह्मजगतोर्जाग्रत्स्वप्नदृशोरिव ।
रूपं जानाति भारूपं जीवन्मुक्तः प्रशान्तधीः ॥ १०
यथाभूतमिदं सर्वं परिजानाति बोधवान् ।
संशाम्यति च शुद्धात्मा शरदीव पयोधरः ॥ ११
स्मृतिस्थः कल्पनस्थो वा यथाख्यातश्च संगरः ।
सदसद्भ्रान्ततामात्रस्तथाहंत्वजगद्भ्रमः ॥ १२
आत्मन्यपि नास्ति हि या
द्रष्टा यस्या न विद्यते कश्चित् ।
न च शून्यं नाशून्यं
भ्रान्तिरियं भासते सेति ॥ १३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० वसिष्ठगीतासु आत्मविभ्रान्तिकथनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥४०॥

एकचत्वारिंशः सर्गः ४१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अस्वभावंस्वभावोऽयं सर्वोऽहंतादिवेदनः ।
स्वभावैकस्वभावेन निर्वाणीक्रियतां स्वयम् ॥ १
यत्रादित्यो भवेत्तत्र यथालोकस्तथा भवेत् ।
परं विषयवैरस्यं तत्र यत्र प्रबुद्धधीः ॥ २
अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।

जगदग्राह्यसंभारमभितौ चित्रमुत्थितम् ॥ ३
न चोत्थितं किंच न वा शान्ते शान्तं यथास्थितम् ।
अनामयं परं ब्रह्म सत्यमन्ययमेव तत् ॥ ४
चिच्चमत्कारमात्रात्मकल्पनारङ्गरक्षणाः ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते स्वे जगच्चित्रपुत्रिकाः ॥ ५
रसभावविकाराद्यं नृत्यन्त्यभिनयैर्नवैः ।

धात्री अविद्या तत्तद्वत्त्वेन तत्कृतपरिच्छेदेन तच्छरीरतया च
तदेति तदेतन्वयोक्तिः ॥ २ ॥ व्यतिरेकमाह—यदेति ।
स्वबोधेनेति शेषः । वीजशेषवैषम्येऽप्यद्वैतात्ममात्रस्थित्यंशे सुषु-
प्तदृष्टान्तः ॥ ३ ॥ अत एव स्वरूपविश्रान्तिविरोधिनो भोगा-
दयोऽनर्था एवेत्याह—भोगा इति ॥ ४ ॥ एवं च स्वायत्तानां
स्वभावस्थितौ नानर्थे पातो युक्त इत्याह—भूयतामिति । इह
संसारे । मा ताम्यतां श्लथताम् ॥ ५ ॥ स्वायत्ततामेव स्वातु-
भवाभिनयेन दर्शयति—नैति । आत्मानं ब्रह्मादित्रिपुट्या-
माद्यं वसिष्ठजीवम् ॥ ६ ॥ हे राम, वसिष्ठस्त्वमिति त्वंशब्दार्थ-
द्वहितं त्वं त्वमपि स तादृशस्त्वमेव पश्यसि, अहं तु शान्तमेव
पश्यामि ॥ ७ ॥ तवापि एते शब्दार्थादिरूपालोकमनोमया
विभ्रमा न परमार्थतो जाताः, किन्तु संजातकल्पाः ॥ ८ ॥
मम द्वैतादर्शनं न द्वैतप्रदेषात्, किन्तु द्वैताद्वैतगोचर्युपदर्शना-
सम्भवादित्याह—ब्रह्मात्मेति ॥ ९ ॥ अत्यन्तादर्शने कथं तदु-
पदेशप्रसिद्धिस्तत्राह—प्रबुद्ध इति । जीवन्मुक्तस्तु पर्यायेणो-
भयं पश्यतीत्युपदेशा भवतीत्याशयः ॥ १० ॥ सोऽप्युत्तरोत्तर-
भूमिकासु क्रमेण द्वैतादर्शनात्प्रशाम्यतीत्याह—यथाभूतमिति
॥ ११ ॥ तदुच्यते द्वैतस्योत्तरोत्तरं पेलवतां दृष्टान्ताभ्यामाह—
स्मृतिस्थ इति । सगरो युद्धम् ॥ १२ ॥ या, परि, श्यमाना

जगन्माया परमार्थसत्त्वे आत्मनि अपिशब्दादत्यन्तासति शून्ये
च नास्ति । यस्या कश्चिद्ब्रह्म जीवोऽपि न विद्यते । इति शून्या-
शून्यविलक्षण्येयं भ्रान्तिरनिर्वचनीयैव भासते इत्यर्थः ॥ १३ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
आत्मविभ्रान्तिकथनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

त्रिजगत्पुत्रिकानृत्यमस्वभावस्वभावतः ।

स्वभावैकस्वभावेन निर्वाणं चात्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

अस्वभावोऽविद्या तत्स्वभावोऽयमात्मा सर्वजगद्रूपं तत्त-
हंतादिवक्ष्यमाणत्रिजगत्पुत्रिकानृत्यं वेत्तीत्यहंकारादिवेदनः सं-
पन्नः । एवमनिर्वाणोऽयमात्मा स्वयं शास्त्रीयोपायप्रभवविद्या-
विर्मूतेनाद्वितीयस्वप्रकाशपूर्णानन्दलक्षणस्वभावैकस्वभावेन स्वेनैव
निर्वाणीक्रियताम् ॥ १ ॥ सा तु विद्या विद्वत्समागम-
विवेकजन्याद्वैराग्यादेव सिध्यतीत्याशयेनाह—यत्रेति ॥ २ ॥
तत्र वैराग्यार्थमविद्यास्वभावान्छुद्धे जगच्चित्राध्यास वर्णयति—
अकर्त्रेति ॥ ३ ॥ विद्यास्वभावेन तदपोह्य निर्वाणस्वरूपं दर्श-
यति—म चेति ॥ ४ ॥ तत्राद्यमस्वभावस्वभावं त्रिजगद्भूत-
नन्तपुत्रिकात्वेन वर्णयति—चिच्चमत्कारेत्यादिना । वि-
मत्कारमात्रात्मानो ये जीवास्तेषा कल्पनामात्रात्मके रत्ने नृत्यम-
ण्डये शृङ्गारादिनानारसरञ्जना यासाम् । जगच्चित्रपुत्रिकाः स्वे
नृत्यन्तीति परेणान्वयः ॥ ५ ॥ रतैः शृङ्गारादिभिर्भावैः स्वाभि-

परमाणुप्रति प्रायः खे स्फुरन्त्यम्बरात्मिकाः ॥ ६
 सर्वतुशेखरधरा दिग्बाहुलतिकाकुलाः ।
 पातालपादलतिका ब्रह्मलोकशिरोधराः ॥ ७
 चन्द्रार्कलोलनयनास्तारोत्करतनूरुहाः ।
 सप्तलोकाङ्गलतिकाः परितोच्छाम्बराम्बराः ॥ ८
 द्वीपाम्बुराशिवलया लोकालोकाद्रिमेखलाः ।
 भूतभारचलजीवप्रवहत्प्राणमारुताः ॥ ९
 घनोपवनविन्यासहारकेयूरभूषिताः ।
 पुराणवेदवचनाः क्रियाफलविनोदनाः ॥ १०
 त्रिजगत्पुत्रिकानृत्यं यदिदं दृश्यते पुरः ।
 ब्रह्मवारिद्रवत्वं तत्तद्ब्रह्मानिलवेपनम् ॥ ११
 अस्वभावस्थितैवास्य कारणं कारणात्मकम् ।
 असुषुप्तं स्थितां स्वापे स्वप्नस्येव सतीव सा ॥ १२
 असुषुप्तसुषुप्तस्थः स्वभावं भावयन्भव ।
 जाग्रत्यपि गतव्यग्रो मा स्वप्नमिदमाश्रय ॥ १३
 यज्जाग्रति सुषुप्तत्वं बोधादरसवासनम् ।
 तं स्वभावं विदुस्तज्ज्ञा मुक्तिस्तत्परिणामिता ॥ १४
 अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।
 अरूपालोकमननं स्थितं ब्रह्म जगत्तया ॥ १५

कान्ते कान्तं प्रकचति पूर्णं पूर्णं व्यवस्थितम् ।
 द्वित्वैक्यरहिते भाति द्वित्वैक्यपरिवर्जितम् ॥ १६
 सत्यं सत्ये स्थितं शान्तं सर्गात्मन्यात्मनि स्वयम् ।
 आकाशकोशसदृशं शिलाजठरसंनिभम् ॥ १७
 सुरज्जठराकारं घनमप्यम्बरोपमम् ।
 प्रतिबिम्बमिव क्षुब्धमप्यक्षुब्धमसच्च सत् ॥ १८
 भविष्यन्नचनिर्माणं चेतसीव स्थितं पुरम् ।
 ब्रह्म बृंहितभारूपममेदीकृतमानसम् ॥ १९
 यथा संकल्पनगरं संकल्पाच्चैव भिद्यते ।
 तथायं जगदाभासः परमार्थान्न भिद्यते ॥ २०
 हेमपीठमिवानेकभविष्यत्संनिवेशवत् ।
 लक्ष्यमाणमपि स्फारं शान्तमव्ययमास्थितम् ॥ २१
 अजस्रनाशोत्पादाद्यमेकरूपमनामयम् ।
 अनाशोत्पादमजरमनेकमिव कान्तिमत् ॥ २२
 ब्रह्मैव शान्तिघनभावगतं विभाति
 सर्गोदयेन विगतास्तमयोदयेन ।
 व्योमेव शून्यविभवेन गलत्स्वभाव-
 लाभं प्रति प्रसभमेव ननु प्रबुद्धे ॥ २३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० स्वरूपविधान्त्यर्थमुपदेशकरणं नामैकचत्वारिंशः सर्गः ॥४१॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः ४२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

चित्तवत्कचनं शान्ते यत्तत्तस्मान्न भिद्यते ।

मावैर्विकारैः कम्पस्वेदादिसंचारिभावैः आर्त्थं यथा स्यात्तथा ।
 अभिनयैस्तत्तद्वस्त्वाकारव्यञ्जकचेष्टाभिः । परमाणुप्रति परमाणु-
 मात्रास्वपि विद्यमाने खे चिदाकाशे । प्राय इति संभावितत्वद्योत-
 नार्थः ॥ ६ ॥ ब्रह्मलोकः शिरोधरा कन्धरायासां ब्रह्मलोकरूपाणां
 शिरसां धरा धारयिष्य इति वा ॥ ७ ॥ तारोत्करास्तनूरुहाणि
 लोमानि यासाम् । परितो दिक्षु अच्छं खच्छमम्बरमाकाशमेवा-
 म्बरं वल्लं यासाम् ॥ ८ ॥ भूतानां भौतिकशरीरादीनां भारेण
 धारणेन पोषणेन च निमित्तेन चलन्तो जीवा एव प्रवहन्तः प्राण-
 मारुता यासाम् ॥ ९ ॥ पुराणानि वेदाश्च वचनं यासाम् । तत्त-
 त्क्रियाफलसुखदुःखानि विनोदनानि विलासा यासाम् । एवं-
 विधा जगत्पुत्रिका नृत्यन्तीति पूर्वत्रान्वयः ॥ १० ॥ ११ ॥ अस्य
 च नृत्यस्य अस्वभावस्थितैव चित्तं कारणम् । यतस्तादृशमेव कार-
 णात्मकं श्रुतिषु प्रसिद्धम् । यथा स्वापे निद्रायामसुषुप्तं स्थिता
 सा स्वप्नस्य कारणं तद्वदित्यर्थः ॥ १२ ॥ एवमस्वभावस्वभावमुप-
 बर्ण्यदानीं स्वभावैक्यस्वभावेन निर्वाणीकरणे उपायमाह—
 असुषुप्तेति । हे राम, त्वं पारमार्थिकस्वभावं भावयन् जाग्रत्य-
 प्यज्ञाननाशादसुषुप्तं सर्वद्वैतोपसंहारात्सुषुप्तं च तुर्यं पदं तत्स्थो-
 भव ॥ १३ ॥ रसो रागो वासना च तच्छून्यम् । तत्परिणा-
 मिता तत्स्वरूपेण परिनिष्ठितत्वम् ॥ १४ ॥ तस्यां परिनिष्ठायाम्

अव्याकृतामलतया काऽतः सर्गादिसंभवः ॥ १

व्यवहारकालेऽपि चिदेकरसं जगद्भातीत्याह—अकर्त्रित्या-
 दिना ॥ १५ ॥ द्वित्वैक्यरहिते शोधिते प्रतीचि द्वैतैक्यपरि-
 वर्जितं शोधितं ब्रह्म अखण्डैकरस्येन भाति ॥ १६ ॥ सर्गा-
 त्मनि स्थितं सत्यं सत्ये आत्मनि शान्तं स्वयमेव स्थितम्
 ॥ १७ ॥ शिलाजठरवदप्रकाशस्वभावताभ्रान्तिं वारयति—सुर-
 ज्जेति । अत एव जगत्प्रतिबिम्बं प्राप्य क्षुब्धमिव स्थितमप्य-
 क्षुब्धम् ॥ १८ ॥ अमेदीकृतमेकरसीकृतं मानसं यत्र ॥ १९ ॥ २० ॥
 हेमपीठं पीठवच्चतुरस्रो हेमपिण्डः । स्फारं नानाविस्तारं लक्ष्य-
 माणमपि ॥ २१ ॥ कान्तिमत् भास्वरम् ॥ २२ ॥ ननु हे राम,
 प्रबुद्धे सति शान्तिघनभावगतं ब्रह्मैव प्रसभमद्वैतस्वभावबला-
 देव विगतास्तमयोदयेन सर्गलक्षणेन उदयेन स्वाराज्यविभवेन
 भाति । यथा व्योम गलत्स्वभावलाभं बाधितस्वरूपलाभं केशो-
 ण्डूकगन्धर्वनगरतलमलिनतादिकं प्रति प्रसभं बलादेव स्फूर्तिनि-
 रासो भयप्रदेन स्त्रीयशून्यविभवेन विभाति तद्वदित्यर्थः ॥ २३ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 स्वरूपविधान्त्यर्थमुपदेशकरणं नामैकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

भूयः प्रपन्नयते चात्र विश्वविश्वेश्वरैकता ।

विवेकैः पूजनीयश्च स्वात्मैव परमेश्वरः ॥ १ ॥

प्रागुक्तां जगतो ब्रह्ममात्रतामनुभावयितुं जगद्भेदकचन-

चित्तदीपे गते यान्ति भ्रान्तिवद्भ्रान्ति खे स्थिते ।
 रूपालोकमनस्कारसंविदोऽम्बुद्रवोर्मयः ॥ २
 निरस्तकरणापेक्षं मरुतः स्पन्दनं यथा ।
 यथा विसरणं भासस्तथा जगदिदं परे ॥ ३
 द्रवत्वमिव फीलाले शून्यत्वमिव चाम्बरे ।
 स्पन्दत्वं मरुतीवेदं किमप्यात्ममयं परे ॥ ४
 महाचित्तिमहाकाशे यदिदं भासते जगत् ।
 तच्चित्तमेव कचति निर्मलत्वं मणाविव ॥ ५
 यथा द्रवत्वं पयसि यथा शून्यत्वमम्बरे ।
 यथा प्रस्पन्दनं वायौ महाचित्ति तथा जगत् ॥ ६
 वेत्ति वायुर्यथा स्पन्दं तथा वेत्ति जगच्चित्तिः ।
 न द्वैतैक्यादिभेदानां मनागप्यत्र संभवः ॥ ७
 अविवेकविवेकाभ्यां भासुरं भङ्गुरं जगत् ।
 घोधे सदैव सद्रूपमभासुरमभङ्गुरम् ॥ ८
 कृतिमात्रादते शुद्धादादिमभ्यान्तवर्जितात् ।
 मान्यदस्तीह निर्णीतं महाचिन्मात्ररूपिणः ॥ ९
 तत्कस्यचिच्छिद्यं शान्तं कस्यचिद्ब्रह्म शाश्वतम् ।
 कस्यचिच्छून्यतामात्रं कस्यचिद्ब्रह्मसिमात्रकम् ॥ १०

हेतोश्चित्तस्य चिद्वेदं निरस्यति—चित्तवदिति । शान्ते कूट-
 स्थात्मनि प्रथमं यत् चित्तवत्कचनं तत्तस्मात्कचनरूपाधिदात्मनो
 न भिद्यते । कुतः । अव्याकृतत्वावमलत्वाच्च । तथा हि नाम-
 रूपभेदादि लोके भेदः प्रसिद्धः । स च नामरूपव्याकरणात्पूर्व-
 भूतजीवभावानुप्रवेशोपाधौ चित्ते न संभवति । तस्यान्याकृ-
 तत्वात् । सूक्ष्मतेजोवशात्कलिप्रसृष्ट्यनन्तरं हि 'स्यं देवतै-
 क्षत हन्ताहमिमांस्त्रिषो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य
 नामरूपे व्याकरवाणि' इति तव्याकरणं श्रूयते । तथा अमल-
 त्वाच्च चित्तो न भिद्यते । चिदप्यमला चित्तमपि । न च तादृशयो-
 प्रभाकाशयोरिव भेदः केनचिद्विश्रयितुं शक्यते । चित्तस्य चिद्वे-
 दनिरासादेव तदधीनो जगद्वेदः सुतरां निरस्त इत्याह—कृत
 इति ॥ १ ॥ इदमेव स्फुटमाह—चित्तदीपे इति । स्थिते
 कूटस्थे खे प्रत्यगात्माकाशे रूपालोकमनस्कारसंविद्विश्रयणा अम्बु-
 द्रवोर्मयो मृगतृष्णाभ्रान्तिवद्भ्रान्ति । ते च चित्तलक्षणे दीपय-
 तीति दीपः सूर्यस्तस्मिन्नस्त्वं गते यान्ति अपगच्छन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥
 सत्तायां चिदतिरिक्तकारणनिरपेक्षत्वादपि जगच्चिदेवेति दृष्टान्तै-
 रुपपादयति—निरस्तेत्यादिना । निरस्ता करणापेक्षा येन ।
 भासः प्रभाया विसरणं प्रसारः ॥ ३ ॥ फीलाले जले । आत्म-
 मयमात्मविवर्तः । किमप्यनिर्वचनीयम् ॥ ४ ॥ प्रतीचि चित्ता-
 दीनामवस्थाद्वये कचनमिव ब्रह्मणि मायाधीनं वियदादिकचन-
 मपि तदभिन्नेमेवेत्याशयेन तैरेव दृष्टान्तरूपपादयति—महा-
 चित्तीत्यादिना ॥ ५ ॥ ६ ॥ स्फूर्तावपि चिदतिरिक्तनिरपेक्ष-
 त्वाच्चिदभेद इत्याशयेनाह—वेत्तीति । द्वैतं चैक्यं च संख्ये-
 यभेदाश्च तेषाम् ॥ ७ ॥ अविवेकेन भासुरं विवेकेन भङ्गुरम् ।

तदनन्तात्म चिद्रूपं चेत्यतामिव भावयत् ।
 स्वसंस्थमेव ज्ञेयत्वमज्ञत्वमिव गच्छति ॥ ११
 चित्तया नास्ति सत्ता च चित्तता नास्ति तां विना ।
 विना विना यथा वायोर्यथा स्पन्देषु कारणम् ॥ १२
 तथा महाचित्तोच्छायाः सर्गसंविच्चित्तुत्तिषु ।
 नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ॥ १३
 इत्यत्रार्थोऽभविष्यत्स द्वित्वैकत्वास्तितावशात् ।
 कोऽत्र कल्पयिता द्वित्वमेकत्वं वा महाम्बरे ॥ १४
 विष्वग्निश्वमपारैकपरमाकाशकोशता ।
 यथा स्पन्दानिलद्वित्वं शान्दमेव न चास्तवम् ॥ १५
 विश्वविश्वेश्वरद्वित्वं तथैवात्मन्यात्मकम् ।
 सदेवासंभवद्वित्वं महाचिन्मात्रकं च यत् ॥ १६
 विश्वाभासं तदेवेदं न विश्वं सन्न विश्वता ।
 देशकालादिमत्त्वेन कदाचिदेहि सत्यता ॥ १७
 कटकत्वस्य भिन्नस्य विश्वस्य च तथा परे ।
 द्वित्वैक्यासंभवे चात्र कार्यकारणता कुतः ॥ १८
 स्याच्चेत्कल्पनामात्रमेवैतन्नान्यवस्तुता ।
 शून्यता नभसीवात्र द्रवत्वमिव चाम्बसि ॥ १९

परमार्थबोधे तु ब्रह्ममात्रत्वाद्बुभयशून्यम् ॥ ८ ॥ बोधेन
 यधिर्णीतं तदाह—हसीति ॥ ९ ॥ तत्रैव वेदानुसारिणाम-
 वेदानुसारिणां च विचारयता धादिनां यथार्थायथार्थरूपैः कल्प-
 नाभेदाः प्रवृत्ता इत्याह—तदिति ॥ १० ॥ तत्रैवानाद्यधिया-
 दिदृश्याकारताध्यास इत्याह—तदिति ॥ ११ ॥ तत्र चित्त-
 वलादेवाभ्यस्तस्फूर्तेश्चित्तया विना ज्ञेयस्य सत्ता नास्ति ता सत्तां
 विना च तस्य चित्तता चित्तस्य नास्ति । यथा विना शून्या-
 त्मना कूटस्थेनाकाशेन विना वायोः कारणं नास्ति । वायुं च
 विना स्पन्देषु कारणं नास्ति तद्वदित्यर्थः ॥ १२ ॥ तथा नित्यप्रका-
 सत्ताधीनसत्ताकाशु सर्गभ्रान्तिष्वधिष्ठानमपेक्ष्य नित्यं सत्त्वं स्वरू-
 पतस्तु नित्यमसत्त्वं चेति द्वेधापि शाब्दे 'सदेव सोम्येदं नेह नाना'
 इति च व्यपदेश इत्यर्थः । अन्यस्य हेतोरनपेक्षणात् । असमर्थ-
 समासदृष्टान्तसः ॥ १३ ॥ चिज्जडद्वित्वस्य तत्कारणैकत्वस्य च
 अस्तित्वा स्वतः सत्ता तद्वशादि अत्र सर्गसंविच्चित्तु इति प्रसिद्धो-
 ऽर्थोऽभविष्यत् । कूटस्थाद्वये चिदम्बरे द्वित्वमेकत्वं वा क. कल्प-
 यिता सत्तास्फूर्तिभ्यां समर्थयिता । जडेषु न कश्चित्तादृशोऽस्ती-
 त्यर्थः ॥ १४ ॥ एवं च आकाशद्वित्वाप्रसिद्धिद्वत्स्पन्दानिलमे-
 दाप्रसिद्धिवच्च विश्वविश्वेश्वरद्वित्वस्याप्रसिद्धिरेव । फलितेत्याह—
 विष्वग्निश्वदिना ॥ १५ ॥ १६ ॥ अथवा ब्रह्मदृष्ट्या अरुत-
 स्यापि विश्वस्य, स्वन्यूनदेशकालस्यकार्यपेक्षयाऽधिकदेशकाल-
 व्याप्त्या सत्यतामाशङ्क्य परिहरति—देशकालेति ॥ १७ ॥
 कार्यकारणभेदे सिद्धे तथा स्यात्स एवाविद्ध इत्याह—द्वित्वै-
 क्येति ॥ १८ ॥ काल्पनिकः कार्यकारणभेदोऽज्ञाक्रियत इति

खे खलेखाप्यभिन्नेव किलास्ति जगदादिता ।
 यद्रूपं ब्रह्म तद्रूपं जगत्कात्र द्वितैकते ॥ २०
 यद्रूपं व्योम तद्रूपमेवं शून्यं किलाखिलम् ।
 एकात्मनि तते खच्छे चिन्मात्रे सर्वरूपिणि ॥ २१
 शिलापुत्रकसेनायां पाषाणत्व इवास्थिते ।
 कार्यकारणवैचित्र्यं कथं संभवति क्व वा ॥ २२
 कथमव्योमता व्योम्नि द्वितीयासंभवाद्भवेत् ।
 प्रतिभात्मैव भारूपो भाति सर्गो महाचिति ॥ २३
 पुत्रिकेवोपलोत्कीर्णां तन्मयत्वात्तदात्मिका ।
 साधो यथास्थितस्यैवं बुद्ध्या विश्वं प्रलीयते ॥ २४
 काष्ठमौनदशाभासं संसारमवशिष्यते ।
 यथा निमीलिताक्षस्य रूपालोकमनोध्रमः ॥ २५
 स्वप्ने जाग्रत्यनग्रस्थोऽप्यसन्नेवास्तिभावनात् ।
 तथैवोन्मीलिताक्षस्य रूपालोकमनोध्रमः ॥ २६
 स्वप्ने जाग्रत्यनग्रस्थोऽप्यसन्नेवास्तिभावनात् ।
 भावनोपशमं कृत्वा शिलीभूय यथास्थितम् ॥ २७
 अशिलीभूतमेवान्तः स्वभावं सममास्यताम् ।
 आविवेकोपहारेण यथाप्राप्तार्थपूजनैः ॥ २८
 बोधाय पूज्यतां बुद्ध्या स्वभावः परमेश्वरः ।
 विवेकपूजितः स्वात्मा सद्यः स्फारवरप्रदः ॥ २९
 रुद्रोपेन्द्रादिपूजात्र जरत्तृणलवायते ।

चेन्न कल्पनिकेन तेन सत्यतानिर्वाह इत्याह—स्याच्चेदिति ।
 ॥ १९ ॥ अत्यन्तामेदेऽपि खलेखेति खे भेदकल्पना दृष्टेति
 जगदपि तद्वत्स्यादित्याह—खे इति ॥ २० ॥ खस्य लेखेति
 खाद्भिन्नमिव कल्पितं लेखापदवाच्यं व्योम यद्रूपं तद्रूपं ब्रह्मणो
 जगदित्यर्थः । एवं स्थिते ब्रह्मण्यपि जगत्कारणता गतेत्याह—
 एकात्मनीत्यादिना ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ यथास्थितस्य वास्तव-
 स्यैव तत्त्वं बुद्ध्या ॥ २४ ॥ काष्ठमौनं बाह्यमानससर्वचेष्टा-
 शून्यत्वं तादृशया दशया आभासं स्फुरत् ब्रह्म संसारमवधूय
 शिष्यते । भावनालक्षणमनःस्पन्दमात्रजन्यः सर्वः संसार-
 भ्रमो भावनात्यागादस्पन्दावस्थितिमात्रेण विधूयते इत्याह—
 यथेत्यादिना ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ चिदेकरसत्वेन शिला-
 वैलक्षण्यादन्तः अशिलीभूतं स्वभावमवलम्ब्य आस्यताम् । तादृ-
 शस्थित्यनुकूलविवेकवैराग्यादिसाधनाभ्यास एव परमेश्वरस्या-
 त्मनः सर्वोत्कृष्टा पूजेत्याह—आविवेकेति । आसमन्तात्सर्वतो
 यो विवेकस्तल्लक्षणेनोपहारेणोपचारेण ॥ २८ ॥ स्फारं निरति-
 शयानन्दलक्षणं वरं प्रददातीति स्फारवरप्रदः ॥ २९ ॥ ३० ॥
 ॥ ३१ ॥ अन्यमनात्मभूतं तदस्थमीश्वरम् । 'अथ योऽन्यां
 देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स चेद यथा पशुरेव
 स देवानाम्' इति श्रुतेरिति भावः । ननु तदस्थेश्वरः पूजनेन
 प्रसन्न एनं शस्त्राहिविषवह्निप्रभृतिभ्य उपघातकेभ्यः सर्वतो
 रक्षिष्यति कूटस्थात्मा किं करिष्यति तत्राह—सत्सङ्गेति ।

१ बुद्ध्या यस्य स्थितस्येति शेषः.

विचारशमसत्सङ्गवलिपुष्पैकपूजितः ॥ ३०
 सद्योमोक्षफलः साधो स्वात्मैव परमेश्वरः ।
 सत्यालोकनमात्रैकपूजितोऽनुत्तमार्थदः ॥ ३१
 यत्रास्त्यात्मेश्वरस्तत्र मूढः कोऽन्यं समाश्रयेत् ।
 सत्सङ्गशमसंतोषविवेकापूजितात्मनः ॥ ३२
 शिरीषकुसुमायन्ते शस्त्राहिविषवह्नयः ।
 देवार्चनतपस्तीर्थदानान्यतिकृतान्यपि ॥ ३३
 भस्मायन्ते निरर्थत्वादविवेकामहात्मनाम् ।
 एतान्यपि विवेकेन क्रियन्ते सफलानि चेत् ॥ ३४
 विवेक एव तत्कस्मात्स्फुटमन्तर्न साध्यते ।
 यथाभूतार्थविज्ञानाद्वासनोपरमे परे ॥ ३५
 यत्नो विवेकशब्दाख्यो भवत्यात्मप्रसादतः ।
 तथा तथा विवेकोऽन्तर्वृद्धिं नेयः शमामृतैः ॥ ३६
 यथा यथा पुनः शोषमुपयाति न विभ्रमैः ।
 देहसत्तामनादस्य यथा भूतार्थदर्शनात् ॥ ३७
 लज्जां भयं विषादेर्ष्यं सुखं दुःखं जयेत्समम् ।
 जगदादि शरीरादि नास्त्येवादौ कुतोऽद्य तत् ॥ ३८
 कार्यं चेत्कारणस्यैतत्तथापि ब्रह्ममात्रकम् ।
 प्रतिभामात्रमेवाच्छं न तु ज्ञप्तेर्घटादि सत् ॥ ३९
 ज्ञानात्मिकैव प्रतिभा ज्ञप्तिरेवाखिलं जगत् ।
 ज्ञप्तिरप्यात्मतत्त्वश्रीः परिज्ञातोपशम्यति ॥ ४०

आसमन्तात्पूजित आत्मा येन तस्य ॥ ३२ ॥ किंचाऽविवेकिभिः
 कृतेषु देवतार्चनादिष्वपराधावश्यंभावेन नैष्कल्यानर्थयोरवश्यं-
 भावात्तत्रापि देशकालद्रव्यपात्रकर्त्रादिविशुद्धिविवेकः श्रद्धा-
 भक्तिशान्तिदानत्यादयो यथावश्यकस्तर्ह्येकेशे महाफले आत्म-
 दर्शने एव ते कुतो नोपयोज्यन्ते इत्याह—देवार्चनेत्यादिना
 ॥ ३३ ॥ देशकालपात्राद्यविवेकेन । अमहात्मनां दुरात्मनाम्
 ॥ ३४ ॥ कोऽसौ विवेको यः साध्य इत्युच्यते तमाह—यथा-
 भूतेति ॥ ३५ ॥ यत्न इति । तथा च पैराग्यादिसर्वसाधन-
 संग्रह इति भावः । आत्मप्रसादतो निष्कामानुष्ठितयज्ञदानादि-
 साध्यचित्तप्रसादात् ॥ ३६ ॥ विप्रमैर्विषयभ्रान्तिभिः ॥ ३७ ॥
 देहसत्तामनादरे उपायं विचारं दर्शयति—जगदादीति । शरी-
 रस्य आदिकारणभूतं जगत् आदिपदात्तत्कारणं च आदौ
 नास्त्येव । यच्चादौ नास्ति तदद्य कुतो भवेत् । 'नासंतो विद्यते
 भावः' इति न्यायात् ॥ ३८ ॥ ननु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'
 इति ब्रह्मात्मना आदौ सदेव कारणस्य ब्रह्मणः कार्यमस्तु
 तत्राह—कार्यं चेदिति । तथापि ब्रह्ममात्रकमेव न ततो
 भिद्यते । सद्भेदे असत्त्वापत्तेः । अद्वयकार्यस्य कारणे अद्वयत्वा-
 विघातकत्वेन भेदप्रतिभासस्य विकल्पमात्रत्वादित्याह—प्रति-
 भामात्रमेवेति । ज्ञप्तेः पृथगिति शेषः ॥ ३९ ॥ विकल्पप्रतिभापि
 चिदाभासज्ञानात्मिकैवेति सैवाखिलं जगदित्यर्थः । सा चिदा-
 भासलक्षणा ज्ञप्तिरप्यज्ञातात्मतत्त्वस्यैव दर्पणदृष्टा मुखश्रीरिव

२ पुष्पीवपूजित इति पाठः.

ज्ञेयभावे त्वनिर्वाच्या शिष्यते शाश्वतं शिवम् ।
 अशरीराद्यविश्वात्म सर्वं शान्तमिदं ततम् ॥ ४१
 ज्ञानज्ञेयक्षतिमुक्तं इषममौनसिव स्थितम् ।
 शान्तान्तःकरणाः स्वस्थाः शिलापुत्रककोशवत् ॥ ४२
 चलन्तश्चालयन्तश्च शरूपा एव तिष्ठत ।
 अज्ञेयज्ञत्वसद्रूपाः सदसत्साररूपिणः ॥ ४३
 आकाशकोशविशदा भवता भवभूमयः ।
 यथास्थितं च तिष्ठन्ति गच्छन्तश्च यथागतम् ॥ ४४
 यथाप्राप्तैककर्माणः संपद्यन्ते बुधाः परम् ।
 अथवा सर्वसंत्यागशान्तान्तःकरणोद्धवलाः ॥ ४५
 एकांतेऽप्येव तिष्ठन्तु चित्रकर्मापिता इव ।
 संकल्पशान्तौ संकल्पपुरवत्सर्वदाखिलम् ॥ ४६
 स्वप्नवच्च प्रबुद्धस्य सदैवास्तं गतं जगत् ।
 सनेत्ररूपानुभवं जातितोऽन्ध इव भ्रमैः ॥ ४७
 निर्वाणं वर्णयन्नज्ञस्ताप्यतेऽन्तर्न शाम्यति ।
 कल्पनांशोपदेशेन लोकोऽविद्यामयात्मना ॥ ४८
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० निर्वाणोपदेशो नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

येन केनचिद्वत्त्वात्कृतार्थोऽस्मीति मन्यते ।
 अकृतार्थः कृतार्थत्वं जानन्मौख्यविमोहितः ॥ ४९
 विश्वास्यत्यकृतार्थत्वं क्षणान्तरकदर्थनैः ।
 उपायं कल्पनात्मानमनुपायं विदुर्बुधाः ॥ ५०
 दुःखदत्ताग्निमेवेण भावाभावैषणभ्रमैः ।
 जगद्भ्रमं परिहाय यदवासनमासितम् ।
 विरसाशेषविषयं तद्धि निर्वाणमुच्यते ॥ ५१
 आख्यायिकार्थप्रतिभानमेत्य
 संवेत्स्यचिद्धारि भराद्वात्मा ।
 अवेद्यचिद्रूपमशेषमच्छं
 पश्यन्विनिर्वासि जगत्स्वरूपम् ॥ ५२
 जात्यन्धरूपानुभवानुरूपं
 यदागमैर्बुद्धमबोधरूपम् ।
 अधस्पदीकृत्य तदान्तरेऽस्मि-
 न्योधे निपत्यानुभवो भवाभूः ॥ ५३

त्रिचत्वारिंशः सर्गः ४३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अहंतादिजगच्चेदं परिहानादसत्यताम् ।

प्रत्यगात्ममात्रत्वेन दृष्टमात्रा मेदकोपाध्यपगमेनोपशाम्यति ॥ ४० ॥ अत उपाधिभूतज्ञेयभावे विस्वाद्युधगिवानिर्वाच्येति पूर्वान्वयि । अनया रीत्या प्रत्यग्भावे अशरीरादिब्रह्मभावे अवि-
 श्वात्म्यखण्डं सर्वं पूर्णं शाश्वतं शिवं शिष्यत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥
 तद्भावस्थितिरेव भवद्भिः सर्वे सपाद्येत्याह—शान्तेति ॥ ४२ ॥
 तस्यास्थितौ यथा प्राप्तव्यवहारेऽपि न क्षतिरित्याह—चलन्त
 इत्यादिना ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ समाधौ वा कामं स्थीयतामि-
 त्याह—अथवेति ॥ ४५ ॥ सर्वदा समाधिकाले व्यवहारकाले
 च प्रबुद्धस्याऽविच्छिन्नप्रबोधस्य पुंसः सकल्पपुरवत्सप्रवच
 सदैव मुच्छत्वादास्तं गतम् ॥ ४६ ॥ प्रबोधश्च सनेत्रस्य रूपानु-
 भववत्परिनिष्ठितः पूर्णानन्दानुभवपर्यन्तो निर्वाणे उपयुज्यते
 न जात्यन्धरूपकल्पनातुल्यं परोक्षकल्प इत्याशयेनाह—स
 नेत्रेत्यादिना ॥ ४७ ॥ अज्ञ कतिपयवाक्यश्रवणेनैव तत्त्वज्ञोऽहं
 संपन्न इति भ्रमे निर्वाणं वर्णयन् सनेत्रस्य रूपानुभवं वर्णयन्
 जात्यन्ध इवान्तर्मानापमानादिभिस्ताप्यते न तु तत्त्वज्ञवच्छा-
 म्यति । शान्तिसुखमनुभवतीत्यर्थः । अन्धगोलाद्बलन्यायेनास-
 दुपदेशप्रतारितानामपि कृतार्थताभ्रान्तिर्लोके प्रसिद्धेत्याह—
 कल्पनांशेति ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ तस्यात्कल्पनात्मकं ज्ञानं न निर्वा-
 णोपाय इत्यभिज्ञानुभवैर्नोपसंहरति—उपायसिति ॥ ५० ॥
 निमेषेण भावाभावैषणभ्रमैर्दुःखदत्तात्कल्पनात्मानमुपायमनुपायं
 विदुरिति पूर्वान्वयः । तस्मात्प्राप्तं सम्भयज्ञानमेव वासन-

याति सानुभवो मोहात्सत्यमेवान्यथाधियाम् ॥ १

नाशपर्यन्तं दृढीकार्यं तदेव निर्वाणं पर्यवस्यतीत्याशयेनाह—
 जगदिति । विरसा अशेषा हैरण्यगर्भपदान्ता विषया यत्र
 ॥ ५१ ॥ अत एव हे राम, त्वं मदुपदिष्टमर्थमाख्यायिका तप-
 लब्धार्था लौकिकी पौराणिकी वा कथा तदर्थ इव परोक्ष कल्प-
 नामात्ररूपं प्रतिभासो यस्य तथाविधमेव बहिर्मुखतया अधि-
 गम्य न कृतार्थो भविष्यसि किन्तु भराद्वासनामात्रपूरातिशयात्
 द्रवात्म परितः प्रबहत्स्वरूपं जगत्स्वरूपमचिद्धारि संवेत्सि पश्य-
 स्येव । प्रत्यग्दृष्ट्या त्वद्वेषं पूर्णमन्धमवेद्यचिद्रूपं पश्यन्साक्षादनु-
 भवं विनिर्वासि निर्वाणविभ्रान्तो भविष्यसीत्यर्थः ॥ ५२ ॥ तदे-
 तद्ब्रह्मवाह—जात्यन्धेति । आगमैरुपदेशवाक्यैर्बहिर्मुखतया
 जात्यन्धरूपानुभवसदृशं यदुद्धं तदबोधरूपमेव । अपरोक्षे
 वस्तुनि परोक्षज्ञानस्य भ्रान्तिमात्रत्वात् । अतस्तद्ब्रह्मबोधमय-
 स्पदीकृत्य पादेनाक्रम्येव तिरस्कृत्य । 'अव. शिरसी पदे' इति
 सत्त्वं चिद्विः । आन्तरे प्रत्यगात्मरूपे अस्मिन्नित्यापरोक्षे बोधे
 साक्षादनुभवेन निपत्य अभूर्जन्मादिदृश्यः सोऽनुभव एव त्वं
 भव । तदेव ते निर्वाणमित्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणोपदेशो
 नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

मनोयक्षपुरप्राये जगत्प्रज्ञानकद्विषते ।

बोधमात्रेण निर्मुष्टे ब्रह्मकस्थितिरीर्यते ॥ १ ॥

आन्तरमहंतादिवाक्यमिदं जगत्प्रभोक्तृभोग्यरूपं सर्वं तद-

अज्ञानज्वरमुक्तस्य बोधशीतलितात्मनः ।
 एतदेव भवेच्चिह्नं यद्भोगाम्बु न रोचते ॥ २
 अलमन्यैः परिज्ञानैर्वाच्यवाचकविभ्रमैः ।
 अनहंवेदनामात्रं निर्वाणं तद्विभाव्यताम् ॥ ३
 परिज्ञाता यथा स्वप्ने पदार्था रसयन्ति नो ।
 न च सन्ति तथैवास्मिन्नहं जगदिदंभ्रमे ॥ ४
 यथा स्वभावनाद्यक्षस्तरौ सस्वजनं पुरम् ।
 पश्यत्यसत्यमेवैवं जीवः पश्यति संसृतिम् ॥ ५
 विभ्रमात्मा यथा यक्षो यक्षलोकश्च ते मिथः ।
 सद्रूपौ सुस्थितौ मिथ्या तथाहंत्वजगद्भ्रमौ ॥ ६
 अनावरणतोऽरण्ये यक्षा विभ्रमरूपिणः ।
 यथा स्फुरन्ति भूतानि तथेमानि चतुर्दश ॥ ७
 भ्रममात्रमहं मिथ्यैवेति बुद्ध्या विभावयन् ।
 यक्षोऽयक्षत्वमायाति चित्तं चित्तत्वंतामिदम् ॥ ८
 निरस्तकलनाशङ्कं त्यागग्रहणवर्जितम् ।
 अविसारिसमस्तेच्छं शान्तमास्व यथास्थितम् ॥ ९
 असत्तार्संभवं दृश्यं द्रष्टात्मकमिदं ततम् ।
 अथवा नैव द्रष्टात्म सदवाच्यं किमास्यते ॥ १०
 वसन्तरसपूरस्य यथा विटपगुल्मता ।

नुभवरूपभोगतत्त्वपरिज्ञानादसत्यतां याति । चिदवसानो हि भोगः स हि भोक्तुर्भोग्यसंबन्धानुभवः तेनानुभवेन हि मोहादात्मविनिमयेनान्यथाधिया भोक्तव्येवात्मबुद्धिमतां मूढानामात्मा सानुभवो न स्वत इति सत्यं ब्रह्मैव स इत्यर्थः ॥ १ ॥ अत एव तत्त्वविदां भोग्यवर्गेष्वरुचिरित्याह—अज्ञानेति ॥ २ ॥ एवं भोग्येषु विरक्तानां भोक्तव्यहंकाराशत्यागमात्रेण, चिन्मात्रपरिशेषात्मकं निर्वाणं सिद्धमित्याह—अलमिति । वाच्यं रूपं वाचकं नाम तद्विषयभ्रान्तिरूपैः ॥ ३ ॥ भोगाम्बु न रोचते इत्येतद्विशदयति—परिज्ञातेति । स्वप्ने, दृष्टाः पदार्था यथा जागरूकं पुरुषं न रसयन्ति न रञ्जयन्ति न सन्ति च तथैवाहं जगदिदमिति भ्रमे दृष्टाः, पदार्था अपि तत्त्वज्ञमित्यर्थः ॥ ४ ॥ अरण्ये यक्षो गन्धर्वमायाकल्पितं नगरं वाऽत्र दृष्टान्त इत्याह—यथेति । ‘यक्षतनौ’ इति पाठे यक्षविद्यानिपुणमनुष्यः स्वभावनाकल्पितयक्षतनौ स्थित्वा स्वजनसहितं पुरं यथा कल्पयित्वा पश्यतीति व्याख्येयम् ॥ ५ ॥ तत्र यक्षो विभ्रमात्मा भ्रान्तिकल्पितभोक्तृस्वरूपः यक्षलोकस्वप्नगरं च भ्रान्तिकल्पितभोग्यरूपमित्युभयं नास्त्येव तथापि तौ मिथ उपभोगलक्षणार्थक्रियाकारितया यथा सद्रूपाविव स्थितौ तथेत्यर्थः ॥ ६ ॥ दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके चासतोऽपि सत्यतया प्रतिभासे अनावृतसाक्षिण्यध्यास एव निमित्तमित्याशयेनाह—अनावरणत इति । भुवनोपाधिसंख्यया चतुर्दश ॥ ७ ॥ यक्षस्य स्वकल्पितदेहनगराद्युपसंहार इव जगद्भ्रमवाधेऽपि तन्मिथ्यात्वदर्शनमेव हेतुरित्याह—भ्रममात्रमिति । चित्तत्वंतां चिद्रूपतात्त्विकभावम् ॥ ८ ॥ चत्वारि क्रियाविशेषणानि ॥ ९ ॥ तत्त्वतो विमर्शं

स्वरूपमात्रभरितसंविदः सर्गतां तथा ॥ ११
 यदिदं जगदाभासं शुद्धं चिन्मात्रवेदनम् ।
 कात्रैकता द्वितां का वा निर्वाणमलमास्यताम् ॥ १२
 भूयतां चिन्मयव्योम्ना पीयतां परमो रसः ।
 स्वीयतां विगताशङ्कं निर्वाणानन्दनन्दने ॥ १३
 किमेतास्वतिशून्यासु संसारारण्यभूमिषु ।
 मानवा वातहरिणा भ्रमथो भ्रान्तबुद्ध्यः ॥ १४
 जगत्त्रयमरीच्यम्बु विप्रलब्धान्धबुद्ध्यः ।
 मा धावत गतव्यग्रमाशयोपहताशयाः ॥ १५
 रूपालोकमनस्कारमृगतृष्णाम्बुपायिनः ।
 व्यर्थमायासमायूषि मा मा क्षपयतैणकाः ॥ १६
 जगद्गन्धर्वनगरगुरुगर्वेण नश्यथ ।
 सुखरूपाणि दुःखानि नाशनायैव पश्यथ ॥ १७
 जगत्केशोण्डकभ्रान्त्यै मा महाम्बरमध्यगम् ।
 अवलोकयताभ्रान्ते स्वरूपे परिणम्यताम् ॥ १८
 मानवा वातलोलोच्चपत्रप्राप्ताम्बुमङ्गुरः ।
 मानवासु न चास्वन्धगर्भशय्यासु सुष्यताम् ॥ १९
 अविराममनाद्यन्ते स्वभावे शान्तमास्यताम् ।
 द्रष्टृदृश्यदशादोषादस्वभावाद्दिनश्यताम् ॥ २०

दृश्यस्य द्रष्टृमात्रता तुच्छता वा पर्यवस्यतीत्याह—असत्तेति । न विद्यते सत्तायाः संभव उत्पत्तिर्यस्मिन्स्थायविधं नैव वा द्रष्टृत्वम् । कुतः । सत् परमार्थचिद्रूपं द्रष्टृ तत्त्वमवाच्यं तुच्छं दृश्यरूपं किमास्यते स्थाप्यते । न हि सतोऽसद्रूपता केनचित्संपादयितुं शक्येत्यर्थः । आसेरण्यन्तकर्तुर्ण्यन्ते ‘गतिबुद्धिः’ इति कर्मत्वे कर्मणि लः ॥ १० ॥ द्रष्टृदृश्यात्मत्वाभावेऽपि व्यवहारे दृश्यसत्तास्फूर्तिनिर्वाहकता संभवत्येवेति दृष्टान्तेन दर्शयति—वसन्तेति ॥ ११ ॥ परमार्थे तु द्रष्टृक्यादिसंभावनापि नास्तीत्याह—यदिदमिति ॥ १२ ॥ इदानीं भगवान्वसिष्ठः सर्वान्प्रति दयया हितमुद्बोधयन्नपदिशति—भूयतामित्यादिना । परमो रसो निरतिशयानन्दः ‘रसो वै सः’ इति श्रुतेः । निर्वाणानन्दलक्षणे नन्दने स्वर्गने ॥ १३ ॥ वातहरिणा वातप्रम्य इवेति शेषः । भ्रमथ उ इति च्छेदः ॥ १४ ॥ आशया तृणया उपहताशयाः सन्तो गतव्यग्रं प्राप्तवैयम्यं यथा स्यात्तथा मा धावत ॥ १५ ॥ रूपालोका बाह्यभोगा मनस्कारा आभिमानिकभोगास्त एव भृगतृष्णाम्बूनि । आयासं प्राप्येति शेषः ॥ १६ ॥ जगद्रूपे गन्धर्वनगर इव विवेकहारी यो गर्वस्तेन नश्यथ । मा इत्यनुषज्यते ॥ १७ ॥ महाम्बरं ब्रह्माकाशस्तन्मध्यरासज्ञाननैल्यं मा अवलोकयत किंत्वभ्रान्ते यथार्थतो दृष्टे ‘स्वरूपे परिणम्यताम् ॥ १८ ॥ हे मानवाः, वातैर्लोलानि उच्चैर्पूर्वशाखास्थितेषु पिप्पलपत्रेषु प्राप्तानि स्कन्धान्यवदयायाम्बूनीव भङ्गुरा मानवा मनुष्यदेहा यासु आसु संसारलक्षणास्वन्धगर्भशय्यासु मा सुष्यताम् ॥ १९ ॥ अविशमखण्डितम् । स्वभावे पारमार्थिकब्रह्मभावे । द्रष्टृदिदशा-

अज्ञानबुद्धः संसारः स हि नास्ति मनागपि ।
 अवशिष्टं च यत्सत्यं तस्य नाम न विद्यते ॥ २१
 ओटयित्वा तु तृष्णायः शृङ्खलावलितं बलात् ।
 संसारपञ्जरं तिष्ठ सर्वस्योर्ध्वं मृगेन्द्रवत् ॥ २२
 आत्मात्मीयग्रहभ्रान्तिशान्तिमात्रा विमुक्तता ।
 यथा तथा स्थितस्यापि सा स्वसत्तैव योगिनः ॥ २३
 निर्वाणताऽवासनता पराऽपतापताहता ।
 संसाराध्वनि स्त्रिन्नस्य शान्ता विश्रामभूमयः ॥ २४
 तज्ज्ञातो न मूर्खाणां मूर्खज्ञातो न तद्विदाम् ।
 विद्यते जगदर्थोऽसाववाच्यार्थमयो मिथः ॥ २५
 विश्वता भ्रान्तिसंशान्तौ संस्थितैव न लभ्यते ।
 महार्णवाभ्युवलिता पुत्रिकेव पयोमयी ॥ २६
 भ्रान्तिशान्तौ प्रबुद्धस्य विनिर्वाणस्य विश्वता ।
 यथास्थितैव गलिता विद्यते च यथास्थितम् ॥ २७
 निर्दग्धतृणभस्माली कापि याति यथानिलैः ।
 सतां स्वभावविश्रामैः कापि याति तथा जगत् ॥ २८
 जगद्ब्रह्मपदार्थस्य संनिवेशः स सूक्ष्मः ।
 ब्रह्मशब्दार्थरूपात्मा न जगच्छब्दकार्यभाक् ॥ २९
 अविज्ञातस्य बालस्य पदार्था यादृशा इमे ।

दोषलक्षणादसमावात्स्वरूपविनिर्गम्यान्मा विनश्यताम् ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ तृष्णालक्षणाया अयःशृङ्खलाया बलितं वेष्टितं संसार-
 पञ्जरं ज्ञानबलाज्जोडयित्वा मृगेन्द्र- सिंहस्तद्वत्सर्वस्योर्ध्वमुत्कर्ष-
 काष्टार्थां तिष्ठ ॥ २२ ॥ आत्मात्मीयग्रहः अहंमेवमभिमानस्व-
 रूपाभ्रान्तिशान्तिमात्रा तावन्मात्रस्वरूपा विमुक्तता कान्या
 काचिवस्ति । सा च योगिनः स्वात्मसत्तैवेत्यर्थः ॥ २३ ॥ तमेव
 संसाराध्वनिविश्रान्तिभूमिमेतत्वेन कल्पयित्वाह—निर्वाण-
 तेति । अवासनवेति श्लेढः । परा उत्कृष्टा अपतापता अपग-
 तत्रिविधतापता । एतां पञ्चम्याशास्त्रिणी भूमिकाः ॥ २४ ॥
 मिथः परस्परमवाच्या वक्तुमयोग्या येऽर्थास्तन्मयस्तत्प्रभुरः ।
 तच्च अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगदिति प्राशक्तमेवेति
 ॥ २५ ॥ गङ्गागोदानर्मदेलादिरूपा पयोमयी पुत्रिका आकार-
 भेदकल्पता यथा महार्णवाभ्युवलिता सती तद्रूपेण सस्थितै-
 र्मारणववासिसिर्न लभ्यते तद्वद्भ्रान्तिसंशान्तौ ज्ञानिमिर्विश्वता-
 पीत्यर्थः ॥ २६ ॥ तदेव स्पष्टमाह—भ्रान्तीति ॥ २७ ॥ २८ ॥
 ब्रह्मपदस्य बृंहणरूपो योऽर्थस्तस्य संनिवेश आकारविशेषः स तु
 ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थरूपो निर्विकल्पप्रकाशनिरतिशयानन्द-
 प्रत्यगात्मा चेदुत्तमः । गच्छति षड्विधविकारैः परिवर्तत
 इति जगदिति जगच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तविकारकार्यभाक्चेन्नोत्तम
 इत्यर्थः ॥ २९ ॥ जगति निर्विकल्पाभुमयः विशोरपि प्रसिद्ध इति
 तत्साम्यमाह—अविज्ञातस्येति । न विद्यते विज्ञातं विशेषज्ञानं
 यस्य बालस्य शिशोः ॥ ३० ॥ 'तज्ज्ञातो न मूर्खाणां मूर्खज्ञातो
 न तद्विदाम्' इत्युक्तिसुप्रादिता भगवद्ब्रह्मणेन संवादयति—

विदुषस्तादृशा एव तिष्ठतः क्षीणवासनम् ॥ ३०
 या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
 यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ३१
 स्थितमेवाऽविरामी यज्जाग्रदस्य सुषुप्तवत् ।
 चित्रावलोकित इव जाग्रत्योऽस्य रसैषणाः ॥ ३२
 जात्यन्धरूपानुभवसमं भुवनवेदनम् ।
 भ्रान्तप्रायमसद्रूपं ज्ञस्य भाति न भाति च ॥ ३३
 विमूढदुःखं त्रिजगद्विमूढविषयं न सत् ।
 स्वप्ने स्वप्नतया ज्ञाते रूपालोकमनःक्रियाः ॥ ३४
 न स्वदन्ते यथा तद्वज्जाग्रत्स्वप्ने स्फुरन्तु मा ।
 निर्विभागः समाश्वस्तोऽविरोधं परमागतः ॥ ३५
 आशीतलान्तःकरणो निर्वाणो ज्ञोऽवतिष्ठते ।
 तज्ज्ञस्याकृष्टमुक्तस्य समं ध्यानं विना स्थितिः ॥ ३६
 निःसं विनैव तोयस्य न संभवति काचन ।
 अर्थ एव मनस्कारो मन एवार्थरक्षणम् ॥ ३७
 एष एवैव आमासः सबाह्याभ्यन्तरात्मकः ।
 आसमुद्वं नदीवाहशतसंघमयात्मकम् ॥ ३८
 यथैकश्लेषपिण्डात्म बह्वत्यम्बु तरङ्गिणाम् ।
 सबाह्याभ्यन्तराकारमर्थानर्थमयात्मकम् ॥ ३९

या निशेति ॥ ३१ ॥ तदिदं व्याचष्टे—स्थितमेवेत्यादिना ।
 यद्यस्मादेतोः सर्वजनानामज्ञानान्धकारावृतत्वात्सुषुप्तवत्स्थित-
 मेवात्मतत्त्वमस्य तत्त्वविदः अविरामी विरामशून्यो जाग्रत्
 जाग्रत्स्वप्नात् 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति' इत्युच्यत
 इत्यर्थः । यस्माच्चास्य जाग्रत्यो मूढजनजाग्रत्स्वेन प्रसिद्धा रसैषणा
 इन्द्रियैः शब्दादिविषयास्वादाश्चित्रावलोकिततृल्ययुद्धादिव पुरो-
 गता अपि न सन्ति तस्मात् 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा
 पश्यतो मुनेः' इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ उत्तरार्धे पुनर्व्याचष्टे—
 जात्यन्धेति । भाति चेन्निशास्वप्नवज्जाग्रति चेन्निशासुषुप्तव-
 दिति भावः ॥ ३२ ॥ विमूढानां दुःखत्वेन प्रसिद्धं त्रिजगद्विमूढ-
 विषयमेव न प्रबुद्धविषयं यतो न सदित्यर्थः । ननु ज्ञस्य यदि
 विषयोपभोगो नास्ति तर्हि केन स तृप्सो जीवति तत्राह—
 स्वप्ने इत्यादिना ॥ ३४ ॥ जाग्रत्स्वप्ने जाग्रत्स्वप्नभोगा मा स्फुरन्तु
 नाम तथापि ज्ञो निर्वाण आशीतलान्तःकरणोऽवतिष्ठते इति
 परेणान्वयः ॥ ३५ ॥ आकृष्टानि भोगवासनाभिहितस्य बहिष्-
 कर्षणानि तैर्मुक्तस्य वर्जितस्य तज्ज्ञस्य ध्यातं चित्तनिरोधयत्नं
 विनैव समं स्थितिर्भवति ॥ ३६ ॥ तद्वद्वान्तेनोपपादयति—
 निःसंमिति । यथा तडागादितोयस्य कुल्यादिनिःसंमार्गं विना
 काचन प्रवाहादिक्रिया न संभवति तद्वदित्यर्थः । ननु तत्त्व-
 ज्ञानेन बाह्यार्थबाधे बहिरिन्द्रियाणि न प्रवर्तन्ता मनस्कारनिरो-
 धस्तु कथं सिद्ध्येत्तत्राह—अर्थ एवेत्यादि ॥ ३७ ॥ एष मन-
 स्कार एवैवोऽर्थाभासः । यथा तरङ्गिणामासमुद्वं नदीप्रवाहाद्व-
 नन्तमेवात्मकं प्रसिद्धं सर्वमम्बु एकत्र श्लेढे एकमिन्द्रियात्मकं

मन एव स्फुरत्यर्थनिर्भासं व्याततं तथा ।
 नास्त्यर्थमनसोद्वित्वं यथा जलतरङ्गयोः ॥ ४०
 एकाभावे द्वयोः शान्तिः पवनस्पन्दयोरिव ।
 नूनमेकोपशान्त्यैव निःसारे परमार्थतः ॥ ४१
 एकत्वादर्थमनसी सममेवाशु शाम्यतः ।
 अर्थः संकल्परूपात्मा नेहितव्यो विजानता ॥ ४२
 मनश्च सम्यग्ज्ञानेन शान्तिरेवं भवेत्तयोः ।
 अनष्टे नश्यतश्चैते ह्यस्यार्थमनसी स्वतः ॥ ४३
 मृन्मये द्विषति ज्ञानाद्विषद्भावभये यथा ।
 यथासंस्थं स्थिते एव ह्यस्यार्थमनसी सदा ॥ ४४
 किमप्यपूर्वमेवान्यत्संपन्ने भावरूपिणि ।
 संहितार्थजगत्कालोऽप्यज्ञोऽहंविषयोऽप्यसत् ॥ ४५
 पार्श्वसुप्तनरस्वप्न इव क्लीबाग्रयक्षवत् ।
 ह्यस्य साक्षं जगन्नास्ति वीरस्येव पिशाचधीः ॥ ४६
 ह्यमज्ञो भावयत्यज्ञं चिरं वन्ध्यापि वर्धते ।
 विनैव ज्ञातशब्दार्थमर्थभावमिवागतम् ॥ ४७
 स्थितं बोधमनाद्यन्तं स्वभावं संसर्गं विदुः ।
 मनः शब्दार्थरहितं विभागान्तविवर्जितम् ॥ ४८
 बोधवारिमनोबुद्धितरङ्गमिव निर्मलम् ।
 कं संभवत एवान्तः के वार्थमनसी किल ॥ ४९
 निरर्थिकैव विभ्रान्तिः स्वभावमयमास्यताम् ।

जलसामान्यमेव स्फुरति तथा सवाह्याभ्यन्तरे सर्वार्थकारं
 मन एव स्फुरतीति परेणान्वयः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥
 अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—एकेति । तत्त्वज्ञानेनार्थबाधे मनोऽपि
 बाधितमेवेति न मनस्कारप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥
 अयं च तयोर्बाधः स्वाप्नव्याघ्रनाशवदनष्टनाश इत्याह—
 अनष्टे इति ॥ ४३ ॥ यथा मृन्मये प्रतिमायां भ्रान्ति-
 कल्पिते द्विषति स्ववैरिणि ज्ञानाद्वाध्यमाने तस्मिन्निषद्भावस्त-
 त्रयुक्तभयं च नश्यतस्तद्वदित्यर्थः । यथासंस्थं पारमार्थिकब्रह्म-
 स्वभावेन स्थितम् ॥ ४४ ॥ अन्यत्सांसारिकदशाप्रसिद्धरूपादन्य-
 त्पूर्णानन्दरूपं संपन्ने भावरूपिणि परमार्थसद्रूपिणि संहिते
 हेतुफलभावेन घटिते अर्थः सुखदुःखभोगस्तत्साधनं जगत्
 त्रैलोक्यं च येन तथाविधः संसारकालः अपिशब्दात्कालकृताः
 पदार्थानां जन्मादिविकारास्तद्भोक्ता अज्ञस्तद्विषयः शब्दादि-
 विषयोऽपीति सर्वं तत्त्वज्ञदृष्ट्या असत् ॥ ४५ ॥ तत्र दृष्टान्ता-
 वाह—पार्श्वेति । क्लीबपदेन अधीरो बालादिलक्ष्यते तदग्रे
 भासमानयक्षवच्च ॥ ४६ ॥ वन्ध्यापि पुत्रपौत्रादिविस्तारेण
 वर्धते तद्वृत्त्येति शेषः । तत्त्वज्ञास्तर्हि जगत्स्वभावं कीदृशं
 विदुस्तमाह—विनैवेति । ज्ञातशब्दस्यार्थो ज्ञानविषयत्वम्, तं
 विनैव स्वप्रकाशत्वादेवार्थाभासमिव स्थितं भासमानमनाद्यन्तं
 बोधं ब्रह्मैवेति विदुरित्यर्थः ॥ ४७ ॥ बाह्यार्थबूकवेदनप्रकार

शुद्धबोधस्वभावस्यैराकाशमिव शारदैः ॥ ५०
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तान्तैर्मनस्त्वं नानुभूयते ।
 विधूयानन्तनानात्वमसद्भावमनामये ॥ ५१
 ज्ञेयं रज्जुरिवाशेषं स्वभावे तिष्ठ चिद्धने ।
 ज्ञप्तिरेवान्तरं बाह्यं चार्थत्वमधितिष्ठति ॥ ५२
 बीजं शाखाफलानीव क्रातोऽर्थमनसी च द ।
 ज्ञेयासंभवतो ज्ञप्तिरप्यनाख्यं पदं गता ॥ ५३
 शान्ताशेषविशेषात्मा तेन शेषोऽस्ति सत्स्वभाः ।
 अर्थ एव मनस्कारः स चाभावात्मको भ्रमः ॥ ५४
 मन एवार्थसंस्कारः स चाभावात्मको भ्रमः ।
 सर्वात्मत्वादजस्यैतदप्यकारणकं मनः ॥ ५५
 भ्रमानुभवतोऽर्थश्च मिथ्यैवास्तीव भासते ।
 अकारणकमेवार्थनिर्भासं भासते मनः ॥ ५६
 विद्युद्विलसिताकारमस्थिरं तरलायते ।
 त्वं मनस्कारमात्रात्मा संसृतौ विभ्रमायसे ॥ ५७
 स्वभावैकपरिज्ञानान्नासि नापि भ्रमायसे ।
 मनसैव हि संसार आत्मबोधेन शाम्यति ॥ ५८
 शुक्तिरूप्यभ्रमाकारो जनो मिथ्यैव ताम्यति ।
 अभावभावस्तु परं बोधरूपमसंसृतिः ॥ ५९
 निर्वाणादितरा सत्ता दुःखायाहमिति भ्रमः ।
 मृगतृष्णाभ्युत्थोऽहमसच्छून्यस्वरूपकः ॥ ६०

आन्तरेषु मानसेष्वपि बोध्य इत्याह—मनः शब्देति ॥ ४८ ॥
 निर्मलं विदुरित्यनुषजते । एवं प्रपञ्चितयोरज्ञतत्त्वज्ञजगद्बोधप्रका-
 रयोर्मध्ये द्वितीय एवोपादेयो यथार्थत्वाच्चाय इत्याह—केति
 ॥ ४९ ॥ स्वभावस्थितौ निरुद्धायामवस्थात्रयस्य तुरीयबोध-
 मात्रतासंपत्तेर्मन्तव्याभावान्मनसो मनस्त्वमप्यपैतीत्याह—
 शुद्धेति । शारदैः पद्मैर्ज्योतिर्भिर्जनैर्वा ॥ ५० ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषु-
 प्तलक्षणैरन्तरवस्थापरिच्छेदैः अनन्तानि नानात्वानि यस्मिन्-
 स्त्वाविधमशेषं ज्ञेयं विधूयाध्यस्तसर्पं विधूय रज्जुरिवानामये
 स्वभावे तिष्ठ ॥ ५१ ॥ अधितिष्ठति धत्ते ॥ ५२ ॥ ज्ञप्तिर्बुद्धिर्ज्ञप्तिः
 ॥ ५३ ॥ स्वभाः स्वप्रकाशः । अर्थमनसोः परस्परार्थान्निरूपण-
 त्वादभेदे द्वयोरपि भ्रान्तिमात्रता पर्यवस्यतीत्याह—अर्थ
 एवेति । बाह्यस्यान्तरभावात्मकत्वादान्तरस्य बहिरभावात्मक-
 त्वाच्चेति भावः ॥ ५४ ॥ अर्थ इव संस्क्रियत इत्यर्थसंस्कारः ।
 धजन्तत्वात्पुमान् 'धजन्तः' इत्यजहल्लिङ्गः । तर्ह्यर्थो मनश्च
 तत्त्वतः किं तत्राह—सर्वात्मत्वादिति । अजस्य ब्रह्मणः
 सर्ववस्तूनामात्मत्वान्मन इति रूपेणापि तदेव भासते । तज्जि-
 कृष्टरूपेऽपि तुच्छमेवेति भावः ॥ ५५ ॥ ब्रह्म मनोरूपेणैव
 मनोऽप्यर्थरूपेण निष्कारणमेव भासत इत्याह—भ्रमानुभ-
 वत इति ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ अभावभावो बोधः ॥ ५९ ॥ केनो-
 पायेन तर्हि इतरा अहमिति सत्ता शाम्यति तमाह—मृग-
 तृष्णेति । अहमहंकारो मृगतृष्णाभ्युत्थदृशः शून्यस्वरूपकः

इत्येवात्मपरिज्ञानादहमित्येव शाम्यति ।
 ज्ञात्वा ज्ञानमयो भूत्वा सवाद्याभ्यन्तरार्थताम् ॥ ६१
 गतं स्वमत्यजद्रूपं तरङ्गत्वं यथा पयः ।
 मूलशाखाग्रपर्यन्ता सत्ता विटपिनो यथा ॥ ६२
 निर्विकारमलं ज्ञातेर्ज्ञेयान्तैकैव भासते ।
 यथा योजनलक्षाभमेकमेवामलं नभः ॥ ६३
 एकमेव तथा ज्ञानं ज्ञेयान्तं भात्यखण्डितम् ।
 शून्यत्वादेकममलं यथा सर्वगमेव खम् ॥ ६४
 तथैकममलं ज्ञात्वा ज्ञानज्ञेयदशाख्यपि ।
 घृतेनात्मा घनीभूय पापाणीक्रियते यथा ॥ ६५

चिता चेत्यतयात्मैव स्वचितीक्रियते तथा ।
 देशकालं विनैवात्मा बोधाबोधेन चित्तताम् ॥ ६६
 अबुद्धो नीयते व्याधैरेकमेवैष सुस्थितः ।
 अत्र यद्यप्यबोधादेः संभवो नास्ति कश्चन ।
 तथापि कल्प्यतेऽत्रैव बोधनाय परस्परम् ॥ ६७
 महानुभावा विगताभिमाना
 विमूढभावोपशमे गलन्ति ।
 निर्भ्रान्तयोऽनन्ततयैव शान्ता
 नित्यं समाधानमया भवन्ति ॥ ६८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाण० उ० ब्रह्मेकतानतोपदेशो नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ४४

श्रीराम उवाच ।
 क्रमात्समाधानतरोराजीवफलशालिनीम् ।
 सलताकुसुमां ब्रूहि सत्तां विश्रान्तिदां मुने ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 आजीवमुद्यदुत्सेधं विवेकिजनकानने ।
 पत्रपुष्पफलोपेतं समाधानतरुं शृणु ॥ २
 यथाकथंचिदुदितं दुःखेन स्वयमेव च ।

इत्येव शाम्यति ॥ ६० ॥ कुत एवं तत्राह—ज्ञात्वेति । यस्त-
 द्ब्रह्मसर्गादीं सर्वज्ञतया स्वात्मभूतमेव सष्ट्यन्यपदार्थं ज्ञात्वा तादृ-
 शज्ञानमयो हिरण्यगर्भः स्वयं भूत्वा तत्संकल्पानुसारेण स्वयमेव
 सवाद्याभ्यन्तरार्थतां स्वरूपमत्यजदेव गतमित्यर्थः ॥ ६१ ॥ अ-
 स्त्वेव किं तत्तत्राह—मूलेति । इदमतः सिद्धम्—यथा विट-
 पिनो मूलाच्छाखाग्रपर्यन्ता एकैव सत्ता तथा ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपे
 जगदख्यलमत्यन्तं निर्विकारं स्थिता ज्ञेयान्ता एकैव सत्ता भासते
 न सत्तान्तरमस्तीति ॥ ६२ ॥ सत्तैक्ये दृष्टान्तान्तरमपि सत्तैक्यमु-
 पपादयति—यथेत्यादिना ॥ ६३ ॥ तस्य नैमित्त्येऽप्ययमेव दृष्टान्त
 इत्याशयेनाह—शून्यत्वादिति ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ बोधरूपस्य स्वत-
 त्वस्याबोधेन ॥ ६६ ॥ 'तदात्मानं स्वयमकुर्वत' इति श्रुतिदर्शितै-
 र्नापवतर्कानुगृहीतन्यायैः शङ्कते—अत्रेति । अत्र शृङ्गे चिदा-
 त्मनि । परिहरति—तथापीति । अत्रैव अस्यामबोधदशाया-
 मेव न तत्त्वत इत्यर्थः । तथा चोक्तं वार्तिके—'अविद्यास्तीत्य-
 निद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते । ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन
 शुज्यते' इति ॥ ६७ ॥ असंभवद्रूपत्वादेव तत्त्वज्ञानोदयेनाज्ञानेन
 सह सर्वं गलन्तीत्युपसंहरति—महानुभावा इति । अत एव
 महानुभावा अधिकारिदेहादिसंघातास्त्वज्ञानेन विमूढभावस्य
 मूलज्ञानस्य ज्ञानेनोपशमे घृतकाष्ठिन्यवत्स्वात्मन्येव गलन्ति ।
 तद्गलनाच्चानन्ततया निरतिशया नन्दपूर्णभावेन शान्ताः सन्तो
 निर्भ्रान्तयो निर्विकेपा नित्यमनवरतमेव समाधानं समाधि-

संसारवननिर्वेदं बीजमस्य विदुर्बुधाः ॥ ३
 शुभजालद्वलाकृष्टं रसासिक्तमहर्निशम् ।
 प्रवहच्छ्वसनाकुल्यं क्षेत्रमस्य विदुर्बुधाः ॥ ४
 समाधिबीजं संसारनिर्वेदः पतति स्वयम् ।
 चित्तभूमौ विविक्तायां विवेकिजनकानने ॥ ५
 स्वचित्तभूमौ पतितं ध्यानबीजं महाधिया ।
 सेकैरमीभिर्वक्ष्येन संसेक्तव्यमखेदिना ॥ ६

विश्रान्तिस्तत्परा भवन्तीत्यर्थः ॥ ६८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामा-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मेकतानतोपदेशो
 नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

वर्ण्यते वर्धनीयोऽत्र समाधानसुराहुमः ।

तले तस्य च विश्रान्त्यै श्रान्तो देहिमनोमृगः ॥ १ ॥

क्रमात् बीजक्षेत्रसेकाद्वरीभावपत्रकाण्डशाखापुष्पफलच्छा-
 याविस्तारादिवर्णनक्रमात् । आजीवनमाजीवो विवेकिजनैः सर्व-
 प्रकाररूपजीवनं तत्फलशालिनीम् । लताः शाखाः कल्प-
 ताश्च तत्सहिताम् । मनोमृगविश्रान्तिदाम् । सत्तां स्थितिम्
 ॥ १ ॥ आजीव्यते सर्वात्मना उपजीव्यत इत्याजीवस्तथावि-
 धम् ॥ २ ॥ शत्रुखजनापमानादिजन्यदुःखेन भाग्यवशात्स्व-
 यमेव वा साधुसुहृज्जनोपदेशादिना निमित्तान्तरेण वा यथा-
 कथंचिदुदितं निर्वेदमुत्कटजिह्वासात्मकं परवैराग्यमस्य समाधा-
 नतरोबीजं विदुरित्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥ तच्च संसारनिर्वेदरूपं
 समाधिबीजं विवेकिजनलक्षणे कानने नन्दने विविक्तायां विवे-
 कपरिष्कृतायां चित्तभूमौ स्वयमेव पतति न वा पापेसा-
 स्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥ उक्तवैराग्यलक्षणं ध्यानबीजं महाधिया
 तत्परिचर्धनीद्युक्कटदधिया पुरुषेणाऽमीभिर्वक्ष्यमाणलक्षणैः सेकैः
 संसेक्तव्यं न असूतिवैराग्यवत्पुनर्मोहासक्त्या नाजनीयमि-
 त्यर्थः । अखेदिना कामक्रोधादिवेगः खेदस्तत्सहिष्णुना ॥ ६ ॥

१ मनो विदुः इति पाठो युक्तः.

शुद्धैः स्निग्धैः पवित्रैश्च मधुरैरात्मनोहितैः ।
 सत्संगमनवक्षीरैरैन्दवैरमृतैरिव ॥ ७
 अन्तःशून्यप्रदैः पूर्णैः स्वच्छैरमृतशीतलैः ।
 विसृतैरमृताकुल्याशास्त्रार्थवरवारिभिः ॥ ८
 स्वचित्तभूमौ पतितं परिज्ञाय महाधिया ।
 बीजं संसारनिर्वेदो रक्ष्यं ध्यानस्य यत्नतः ॥ ९
 तपःप्रकारदानेन पदार्थघटनेशितैः ।
 तीर्थायतनविश्रान्तिवृत्तिविस्तारकल्पनैः ॥ १०
 कर्तव्योऽङ्कुरितस्यास्य रक्षिता शिक्षिताशयः ।
 संतोषनामा प्रियया नित्यं मुदितयान्वितः ॥ ११
 पश्चात्स्थिताशाविहगान्परप्रणयपक्षिणः ।
 अस्मादापततः कामगर्वगृध्रात्रिवारयेत् ॥ १२
 मृदुभिः सत्क्रियाकुन्तैर्विवेकाकर्तापैरपि ।
 अचिन्त्यालोकदैरसान्मार्जितव्यं रजस्तमः ॥ १३
 संपदः प्रमदाश्चैव तरङ्गा भोगभङ्गुराः ।
 पतन्त्यशनयस्तस्मिन्दुष्कृताभ्रसमीरिताः ॥ १४
 धैर्यौदार्यदयामन्त्रैर्जपस्नानतपोदमैः ।
 विनिवारयितव्यास्ताः प्रणवार्थत्रिशूलिना ॥ १५
 इति संरक्षितादस्माद्ध्यानबीजात्प्रवर्तते ।
 आभिजात्योन्नतः श्रीमान्विवेकाख्यो नवाङ्कुरः ॥ १६
 तेन सा चित्तभूर्भाति सप्रकाशा विकासिनी ।
 भवत्यालोकस्या च खं यथाभिनवेन्दुना ॥ १७
 तस्मादङ्कुरतः पत्रे उभौ विकसतः स्वयम् ।
 एकं शास्त्राभिगमनं द्वितीयं साधुसंगमः ॥ १८

तत्र प्रथमं सत्संगमलक्षणैर्नवैः क्षीरैः पश्चात्तन्मुखावगतशास्त्रा-
 मृतैः सेक्तव्यमित्याह—शुद्धैरिति द्वाभ्याम् ॥७॥ नेतिनेतीति
 सर्वद्वैतनिषेधादन्तःसर्वसंसारशून्यात्मप्रदैः अत एव पूर्णैः सर्व-
 तापोपशमनादमृतवत्स्वादुशीतलैः । गुरुहृदयस्थस्य ब्रह्मसरसो
 व्याख्याद्वारा प्रसृतैः । अमृतप्रवाहस्यासमन्तात्कुल्यावद्भारभूत-
 श्रवणमननादिशास्त्रार्थवरवारिभिः ॥८॥ ध्यानस्य बीजं संसार-
 निर्वेदरूपं रक्ष्यम् ॥९॥ के ते यन्नास्तानाह—तप इति । तपो-
 ऽत्र भगवदुक्तं 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्' इत्यादिकं
 कायिकं वाचिकं मानसं च त्रिविधं सात्त्विकं तल्लक्षणेन प्रकी-
 र्यन्त इति प्रकारः क्षेत्रदोहदास्तदानेन । पदार्था अमानित्वा-
 दयस्तेषां घटनेन ईशितैः समर्थितैः । तीर्थायतनादिपुण्यस्थाने
 विश्रान्तिर्वासस्तल्लक्षणस्य वृत्तिविस्तारस्य प्रकारप्राचीनाद्यावरण-
 विस्तारस्य कल्पनैः ॥ १० ॥ एवं सेचनाद्युपायैरङ्कुरितस्य
 संजाताङ्कुरस्यास्य बीजस्य रक्षणोपायेषु शिक्षिताशयो निपुणतरो
 मुदिताख्यया प्रियया पत्न्यान्वितः संतोषनामा रक्षिता परिपा-
 लकपुरुषः कर्तव्यः ॥ ११ ॥ अस्माद्रक्षकादेतोः पश्चात्पूर्ववास-
 नासु स्थितान् आशालक्षणां विहगान्परैर्वात्मातिरिक्तेषु पुत्र-
 मित्रधनादिषु प्रणयोऽनुरागस्तद्रूपान्पक्षिणः कामगर्वादिवृध्नांश्च

स्तम्भमेष निबध्नाति स्थैर्यं नाम समुन्नतिम् ।
 संतोषत्वग्विवलितं वैराग्यरसरञ्जितम् ॥ १९
 वैराग्यरसपुष्टात्मा शास्त्रार्थप्रावृषान्वितः ।
 स्वल्पेनैव स्वकालेन परमेति समुन्नतिम् ॥ २०
 शास्त्रार्थसाधुसंपर्कवैराग्यरसपीवरः ।
 रागद्वेषकपिक्षोभैर्न मनागपि कम्पते ॥ २१
 अथ तस्मात्प्रजायन्ते विज्ञानालङ्कृताकृतेः ।
 लता रसविलासिन्य इमा विततदेशगाः ॥ २२
 स्फुटता सत्यता सत्ता धीरता निर्विकल्पता ।
 समता शान्तता मैत्री करुणा कीर्तिरार्यता ॥ २३
 लताभिर्गुणपत्राभिः स ध्यानतरुर्जितः ।
 यशःपुष्पाभिरेताभिः पारिजातायते यतेः ॥ २४
 इत्यसौ ज्ञानविटपी लतापल्लवपुष्पवान् ।
 भविष्यज्ज्ञानफलदो दिनानुदिनमुत्तमः ॥ २५
 यशःकुसुमगुच्छाढ्यो गुणपल्लवलासवान् ।
 वैराग्यरसविस्तारी प्रज्ञामञ्जरिताकृतिः ॥ २६
 सर्वाः शीतलयत्याशाः प्रावृषीव पयोधरः ।
 सर्गातपं शमयति सूर्यतापमिवोडुपः ॥ २७
 प्रतनोति शमच्छायां छायांमिव घनागमः ।
 निरोधमास्फारयति शमोऽनिल इवाम्बुदम् ॥ २८
 निबध्नात्यात्मना पीठं कुलाचल इव स्थितम् ।
 फलस्य रचयत्यूर्ध्वं घटिकां मङ्गलादिताम् ॥ २९
 विवेककल्पवृक्षे तु वर्धमाने दिने दिने ।
 छायावितानवलिते पुंसो हृदयकानने ॥ ३०

ध्यानाङ्कुरविधातार्थमापततो निवारयेत् ॥ १२ ॥ अहिसाप्रधान-
 त्वान्मृदुभिर्यमनियमासनप्राणाधामेश्वरोपासनादिसत्क्रियालक्षणैः
 कुन्तैर्मार्जनीपूलेः । अस्मादङ्कुरक्षेत्राद्रजो मार्जितव्यम् । एवम-
 चिन्त्यब्रह्मालोकदैर्विवेकातपैस्तमोऽज्ञानतिमिस्मपि मार्जितव्यम्
 ॥ १३ ॥ तस्मिन्नङ्कुरे ॥ १४ ॥ प्रणवमात्राभिर्विराडादिभिः
 स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चविलापनेन । तद्बोधेनेति यावत् ॥ १५ ॥
 आभिजात्येन पुष्टिसौन्दर्यातिशयेनोन्नतः ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥
 स्तम्भं काण्डम्, स्थैर्यं दृढमूलताम् । समुन्नतिमुच्छ्रायम् ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ २१ ॥ विज्ञानं श्रवणावर्तनजं ज्ञानम् । इमा वक्ष्य-
 माणाः । विततदेशगाः प्रतानविस्तीर्णा अपरिच्छिन्नात्मप्रदेश-
 गताश्च ॥ २२ ॥ स्फुटता स्वात्मतत्त्वस्य स्फुटीभावस्तदेकसत्यता ।
 सत्ता तदात्मना स्थितिः । धीरता तत्राप्यकम्प्यता । समता सर्व-
 वैषम्यनिवृत्तिः ॥ २३ ॥ गुणाः शान्त्यादयः पत्राणि यासाम् ।
 यतेः संन्यासिनः ॥ २४ ॥ भविष्यज्ज्ञानं मूलाज्ञानोच्छेदक्षमो
 ब्रह्मसाक्षात्कारः सप्तमभूमिकाविश्रान्तिपर्यन्तः ॥ २५ ॥ २६ ॥
 सर्गातपं सांसारिकतापम् ॥ २७ ॥ निरोधं चित्तस्थैर्यम् ॥ २८ ॥
 पीठं मूलवन्धम् । फलस्य कैवल्याख्यस्य घटिकां घटयित्रीम् ।
 मङ्गलादितां शान्त्यादिकल्याणगुणभिर्यं रचयति ॥ २९ ॥ ३० ॥

प्रवर्तते शीतलता तलतापापहारिणी ।
 अमृशुलसन्मतिलता तुषारोदरसुन्दरी ॥ ३१ ॥
 यस्यामवान्तरश्रान्तो विश्राम्यति मनोमृगः ।
 आजन्मजीर्णपथिकः पथि कोलाहलाकुलः ॥ ३२ ॥
 सत्तामात्रात्मशरीरचर्मार्थं प्रेक्षितोऽरिभिः ।
 नानातारसारसाकारगोपयज्जर्जरामुखः ॥ ३३ ॥
 संसारारण्यविसरद्भासनापवनेरितः ।
 अहंतातापसरिता सर्वदा विप्रदारदी ॥ ३४ ॥
 दीर्घादरी दूरचितसारसंसारजर्जरः ।
 पुत्रपौत्रपरामर्शप्रतापात्पतितोऽवटे ॥ ३५ ॥
 लक्ष्मीलताविलुठनात्संकटैः कुण्ठिताङ्गकः ।
 तृष्णाश्रीसरितं गृह्णन्कल्लोलैर्दूरमाहृतः ॥ ३६ ॥
 व्याघ्रिदुर्व्याघ्रैर्व्युष्यपलायनपरायणः ।
 अशङ्कितविधिव्याघ्रपातादिव कृताकृतिः ॥ ३७ ॥
 ज्ञेयास्पदसमायातदुःखसायकशङ्कितः ।
 वैरिविद्रवणव्यग्रो दृषदाहरणाङ्कितः ॥ ३८ ॥
 उन्नतानतसंपातनिपातेनातिघूर्णितः ।
 विकारोपलनिर्घातैः पारम्पर्येण चूर्णितः ॥ ३९ ॥
 तृष्णाचारुलताजालप्रवेशवशविक्षतः ।

तलस्य मूलभूमेर्हृदयस्य प्रसिद्धानाभ्यात्मिकादितापानपहरति
 तच्छीला ॥ ३१ ॥ अघान्तरेषु संसारप्रान्तरेषु श्रान्तो मनो-
 मृगो यस्यां छायाया विश्राम्यति । तमेव मनोमृगं सर्गोपान्त्य-
 श्लोकस्यमनोहरिणक इत्यन्तं बहुतरश्रमादिहेतूपपादकैर्विशेष-
 गैर्देर्णयति—आजन्मेत्यादिना । पथि दैवात्प्राप्ते सन्मार्गेऽपि
 नानावादि कोलाहलैराकुलो व्यग्रः सन्भ्रंशित इत्यर्थः ॥ ३२ ॥
 अरिभिः कामाद्यरिषड्गालुब्धकैः । सत्तामात्रात्मा यः शरीरः
 पुरुषस्त्वक्षणस्य चर्मणोऽपहारार्थं प्रेक्षितः । अनुसृत इति
 यावत् । नानातालक्षणेभ्यसारेषु साकारेषु शरीरादिकण्टककु-
 लेषु सुहृत्सुहृन्मिलीय स्वं गोपयन्थासौ तदोषकण्टकैर्जर्जरमूर्ध्व
 मुखं यस्य स चेति बहुव्रीह्युत्तरपदं । कर्मधारयः ॥ ३३ ॥ अहं-
 तालक्षणया तापसरिता मृगतृष्णानद्या सर्वदा विप्रदावनेन
 दारदो विषमेदः सोऽस्यास्तीति दारदी विपाकान्त इवान्तर्दाह-
 तृष्णादिव्याकुल इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ दीर्घेभ्येव भोगविस्तारेभ्योऽद-
 रोऽस्यास्तीत्यादरी नाल्पसंतुष्ट इत्यर्थः । अत एव दूरेऽप्युपवि-
 तेषु सारेषु हरिततृणप्रायेषु विषयेषु संचारेण धावनेन जर्जरः
 शिथिलितगात्रः । पुत्रपौत्रादीनां परामर्शः परिपालनं तत्प्रयु-
 क्तादाभ्यात्मिकादित्रिविधदावाभिप्रतापादवटे अनर्थगतं पतितः
 ॥ ३५ ॥ लक्ष्मीः संपत्तलक्षणासु लतासु पादवेष्टनेन विलुठना-
 द्छत्रुचोरराजादिप्रयुक्तैर्बन्धनताडनदण्डनादिसंकटैः कुण्ठिता-
 ङ्गकः । कल्लोलैः अशनायापिपासाशोकमोहजराभ्युलक्षणै-
 र्मर्मिभिः ॥ ३६ ॥ न शङ्कितः समावितो विधिर्देवं येन । कृता-
 कृतिः संकुचिताकारः ॥ ३७ ॥ ज्ञेयानां नेत्रादिज्ञानेन्द्रिया-
 स्थायानां गीतघण्टासवयवाङ्गुरादीनामास्पदेभ्यो निमित्तभूतेभ्यो

स्वप्रज्ञारचिताचारः परमायास्वशिक्षितः ॥ ४० ॥
 इन्द्रियग्राममागत्य प्रपलायनतत्परः ।
 सुदुर्ग्रहगजेन्द्रोऽत्रविस्फूर्जनविमर्दितः ॥ ४१ ॥
 विषयाजगरोदारविषफूत्कारमूर्च्छितः ।
 कामुकः कामिनीभूमौ रसात्प्रायो विपोथितः ॥ ४२ ॥
 कोपदावानललुप्टपृष्ठविस्फोटदाहवान् ।
 सदा गतागतानेकदीर्घदुःखप्रदाहवान् ॥ ४३ ॥
 स्वात्मलज्जामिलापांशदंशदोषैरुपद्रुतः ।
 भोगलोभलसन्मोदशृगालचिरविद्रुतः ॥ ४४ ॥
 स्वकर्मकर्तृतोऽज्ञान्तदारिद्र्यद्वीप्यनुद्रुतः ।
 व्यामोहमिहिकान्धत्वंकूटावटलुठत्तनुः ॥ ४५ ॥
 मानसिहसमुल्लासद्वयोत्कम्पनातुरः ।
 मरणेन रणे येन वृकपुष्पमिवेशितः ॥ ४६ ॥
 गर्वेण गिरिणायाशु दूरतोजनसेवितः ।
 कामैः समन्ततो दन्तवितानितयवाङ्कुरः ॥ ४७ ॥
 तारुण्यनारीसुहृदा क्षणमालिङ्ग्य वर्जितः ।
 दुःसंचारेषु पवनैः कुपितैरिव वर्जितः ॥ ४८ ॥
 कदाचिन्निर्वृतिं याति सशमं च तरौ कश्चित् ।
 मनोहरिणको राजभाजीवमिव भासति ॥ ४९ ॥

लुब्धकक्षेत्रकादिभ्यः समायाताहु खसायकाच्छङ्कितः । ह्यङ्गि-
 राहरणैः प्रहारैरिव पूर्वपूर्वदुःखानुभवसंस्कारैरङ्कितः ॥ ४० ॥
 उन्नतानतेपूर्याधस्वनेषु स्वर्गेनरकादिषु क्रमात्संपातनिपातेन ।
 दृषदाहरणाङ्कित इत्यत्र दृषत्पदार्थं दर्शयति—विकारेति ।
 विकाराः कामक्रोधभयादयः । पारम्पर्येण नैरन्तर्येण ॥ ४१ ॥
 ॥ ४० ॥ सुदुर्ग्रहो गजेन्द्रः कामः ॥ ४१ ॥ विपोथितो विम-
 र्दितः ॥ ४२ ॥ कोपदावानलेन लुप्टो दग्धः । अत एव पृष्ठे
 विस्फोटादिव बहिर्दाहवान् । सदा गतागतैर्विषयेषु पुनःपुनश्च-
 मणैरनन्तचिन्ताशोकादिदीर्घदुःखैरन्तःप्रदाहवान् ॥ ४३ ॥ ४४ ॥
 दारिद्र्यलक्षणेन द्वीपिना व्याघ्रेणानुद्रुतः । पुत्रकलत्रासक्तिलक्ष-
 णया व्यामोहमिहिकया अन्धत्वे सति कूटेषु कपटेषु गिरि-
 शृङ्गेष्ववटेषु नीचकृत्सेषु गर्तेषु च लुठत्तनुः ॥ ४५ ॥ हृदय-
 स्योत्कम्पनं भयं तेनातुरः । येन प्रसिद्धेन मरणेन मृत्युव्या-
 घ्रेण रणे संप्रहारे वर्कन्ते आददते वृक्षन्ति वा वृका स्तन-
 खास्तेषां पुष्पमिव सुखदार्य ईक्षितः ॥ ४६ ॥ गर्वेणार्थादज-
 गरेण निगिरिणाय दूरतो जना यस्मात्तदूरतोजनं महारण्यं तत्र
 सेवितः । चिरं प्रतीक्षित इति यावत् । कामैर्निमित्तैः सम-
 न्ततो दैन्यथाभ्यादिना दन्तविकासद्वितानिता विस्तारिता इव
 दन्तप्रभा यवाङ्कुरा येन ॥ ४७ ॥ तारुण्यलक्षणेन नार्यर्थं
 सुहृदा न स्वतः । पवनैर्ज्ञप्तापवनसदृशैरिन्द्रियैर्दुःसंचारेषु नर-
 कस्थावरवादियोनिकान्तारेषु वर्जितो बहुशः क्षिप्तः ॥ ४८ ॥
 हे राज्ञिति दशरथस्य भाविवृत्त्या रामस्य वा संशोधनम् ।
 ईदृशोऽयं मनोहरिणकः कदाचिद्बहुजन्मसंचितमुकृतपरिपा-
 कभारयोदयकाले कचिदधिकारिजन्मनि शमादिसाधनसहितं

१ दुःसंचारेषूपवनैः इति मुद्रितपाठः । वीकाकर्मसंमतः स्वारस्य-
 विकलक्षः ।

तालीतमालवकुलादिकवृक्षगुल्म-

विश्रान्तिषु प्रचुरपुष्पविलासहासैः ।

इत्यार्वे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० मनोमृगविपदवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ४५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति विश्रान्तवानेष मनोहरिणकोऽरिहन् ।
 तत्रैव रतिमायाति न याति विटपान्तरम् ॥ १
 एतावताथ कालेन स विवेकद्रुमः फलम् ।
 अन्तस्थं परमार्थात्म शनैः प्रकटयत्यलम् ॥ २
 ध्यानद्रुमफलं पुण्यौ तदसौ स्वमनोमृगः ।
 अधःस्थितः प्रान्तगतं तस्य पश्यति सत्तरोः ॥ ३
 आरोहति नरो वृक्षं तदास्वादयितुं फलम् ।
 अन्यवर्गपरित्यागो वितताध्यवसायवान् ॥ ४
 विवेकवृक्षपात्राम वृत्तीस्त्यजति भूगताः ।
 उन्नतं पदमासाद्य भूयो ज्ञाधः समीहते ॥ ५
 तेनोत्तमफलार्थेन संस्कारान्प्राक्तनानसौ ।
 विवेकपादपारूढस्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ ६
 हसत्युच्चैः पदारूढमात्मानमवलोकयन् ।

यथा स्यात्तथा वर्णितलक्षणे ध्यानतरो निर्वृत्तिं विश्रान्ति-
 सुखं याति । यथा आसमन्ताजीवतीत्याजीवं प्राणिजातं रात्रौ
 शीतान्धकारार्तं भासति सूर्योऽभ्युदिते निर्वृत्तिं याति तद्वदित्यर्थः
 ॥ ४५ ॥ हे श्रोतारः, तालीतमालादिवृक्षगुल्मविश्रान्तिसदृशेषु
 भूम्यादिसत्यलोकान्तलोकवासेषु प्रचुरपुष्पविलासहाससदृशैर-
 नित्यमोगाभासैर्यस्य निरतिशयस्य भूमाख्यस्य सुखस्य नामापि
 मूढा आत्मज्ञानशून्या जना न विदन्ति तत्तादृशमपुनरावृत्ति-
 मोक्षविश्रान्तिसुखं वः स्वमनोमृगः प्रागुक्तरीत्या क्षेत्रबीजसे-
 कादिना वर्धिताच्छमतरोर्ध्यानकल्पवृक्षात्प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५० ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 मनोमृगविपदवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

वर्ण्यते मनसो ध्यानपादपारोहणक्रमः ।

आरोहतः सुखोत्कर्षोऽप्युत्तरोत्तरभूमिषु ॥ १ ॥

हे अरिहन् । तत्र ध्यानकल्पतरावेव ॥ १ ॥ एतावता
 प्राग्वर्णितेन गुच्छारम्भान्तेन मनोमृगविश्रान्त्यन्तेन च कालेन
 स वर्णितो विवेकसहितध्यानद्रुमोऽन्तस्थं पञ्चकोशान्तस्थं गुच्छा-
 न्तस्थं च परमार्थात्म पारमार्थिकस्वरूपं कैवल्यफलं शनैर्व-
 क्ष्यमाणभूमिकारोहणक्रमेण परिपच्यमानं प्रकटयति साक्षादनु-
 भावयति ॥ २ ॥ तत्रादावसंभावनादोषस्येष्टक्षयान्मन्दान्ध-
 कारे घटादेरिव संभावनाप्रायं साक्षात्कारं चतुर्थभूमिकाद्वारं
 दर्शयति—ध्यानेति । प्रान्तगतं शाखाग्रसंलभम् ॥ ३ ॥ प्राक्-
 नमृगरूपकस्य वृक्षारोहणे अनुपयोगाच्चापलपशुभावादिविद्वत्तेश्व-
 नर इत्युक्तिः ॥ ४ ॥ कथमारोहति तदाह—विवेकेति । विवेक-

नामापि यस्य न विदन्ति सुखस्य मूढाः

प्राप्नोति तच्छमतरोः स्वमनोमृगो वः ॥ ५०

एतावन्तमहं कालं कृपणः कोऽभवं त्विति ॥ ७
 कृपणादिषु तेष्वस्य भ्रमच्छाखान्तरेषु सः ।
 लोभव्यालमधः कुर्वन्सम्राडिव विराजते ॥ ८
 हृदयेन्दोर्गलश्रेणी दुःखालतिमिरावलिः ।
 कृष्णायः शृङ्खलातृष्णा दिनानुदिनमुज्जति ॥ ९
 उपेक्षते न संप्राप्तं नाप्राप्तमभिवाञ्छति ।
 सोमसौम्यो भवत्यन्तः शीतलः सर्ववृत्तिषु ॥ १०
 शाखार्थपल्लवेणैव निषण्णात्मावतिष्ठते ।
 उन्नतावनता याता अधः पश्यज्जगद्गतीः ॥ ११
 भीमद्रुमलतोत्कीर्णपुष्पप्रकरदन्तुराः ।
 प्राक्तनीः स्वाः स्थलीः पश्यन्हसत्यन्तर्वराकताम् ॥ १२
 तेषु तत्स्कन्धदेशेषु तथोद्धीनविडीनया ।
 हारिण्या विहरञ्जात्या राजेव परिराजते ॥ १३

वृक्षे हृदप्रतिष्ठितः पादो यस्य तथाविधो नाम प्रथमं भूत्वा
 प्राक्तनीः संसारभूगता देहादिष्वहंमतादिवृत्तीस्त्यजति ।
 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' इति लोपः समासान्तः । नाधः
 समीहते आरोढव्यावलम्बनीयवृक्षभागेणैव सावधानदृष्टिचित्त-
 निवेशनादिति भावः ॥ ५॥ संस्कारास्त्यजति । न किञ्चित्पूर्वतनं
 स्मरतीति यावत् ॥ ६ ॥ कदाचिद्देवात्स्मरन्नपि हसति । कृपणो
 विषयसुखकणप्रार्थनया दीनः ॥ ७ ॥ कृष्णा सर्वभूतदया आदि-
 पदात् 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' इत्याद्या दैव्यः
 संपदो गृह्यन्ते । तल्लक्षणेभ्यो अस्य वृक्षस्य शाखान्तरेषु भ्रमन्
 व्युत्थानकाले विहरन्सम्राडिव पूर्णकामः ॥ ८ ॥ हृदयेन्दोः
 सद्बुद्धिचन्द्रस्य गलत्यस्मिन्निति गलः कलाक्षयहेतुर्दर्शस्तस्य श्रेणी
 पङ्क्तिभूता । दुःखलक्षणस्य अञ्जस्य चन्द्रस्य बहुत्वश्रान्तिहेतु-
 स्तिमिरं नेत्ररोगविशेषस्तदावलिः कृष्णायः अयोजातिमेदस्त-
 निर्मिता शृङ्खलेव प्राणिनां बन्धनहेतुः ईदृशी तृष्णा शुभेच्छा-
 रम्भदिनमारभ्य दिनानुदिनं क्षीयमाणा चतुर्थभूमिकायां निःशेष-
 मुज्जति । 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इति भगवद्वचना-
 दिति भावः ॥ ९ ॥ १० ॥ शाखमध्यात्मशाखं तदर्थः शम-
 दमसंतोषादयस्तल्लक्षणेभ्यो पल्लवेषु किसलयेषु । इतरशाखानु-
 सारिप्रवृत्तौ प्राणिनां ब्रह्मलोकपर्यन्तमुन्नताः स्वाभाविकप्रवृत्तौ
 निरयान्तमवनताश्च जगद्गतीरधः अज्ञदशायामेवेति पश्यन्
 ॥ ११ ॥ भीमा भयानका विषद्रुमलतास्तत्रोत्कीर्णैर्विषपुष्प-
 प्रकरैर्दन्तुराः प्रकटितोजतदन्ता इव स्थिताः स्थलीः प्राग्वर्णिताः
 सप्त अज्ञानभूमिकाः पश्यन्स्मरन् ॥ १२ ॥ तस्य ध्यानतरोः
 स्कन्धदेशेषु उत्तरोत्तरभूमिकाभेदेऽभ्यासदशायामारुह्यावतरणा-

पुत्रदारसमप्राणि मित्राणि च धनानि च ।
जन्मान्तरकृतानीव स्वप्नजानीव पश्यति ॥ १४
रागद्वेषभयोन्मादमानमोहमहत्तया ।
नटस्येवास्य दृश्यन्ते शीतलामलचेतसः ॥ १५
उन्मत्तचेष्टिताकारा हसत्यपि पुरोगताः ।
तरङ्गमङ्गराधाराः संसारसरितो गतीः ॥ १६
न स चेतयते काञ्चिद्भोकदारधनैषणाः ।
अपूर्वपद्मविभ्रान्तो जीवन्नेव यथा शवः ॥ १७
केवलं केवले शुद्धे बोधात्मनि महोन्नते ।
दत्तदृष्टिः फले तस्मिन्परं समधिरोहति ॥ १८
स्मृत्वा स्मृत्वापदः पूर्वं संतोषामृतपोषितः ।
अर्थानामप्यनर्थानां नाशेषु परितुष्यति ॥ १९
व्यवहारेषु कार्येषु भोगसंपादकेष्वपि ।
परमुद्वेगमायाति सनिद्र इव बोधितः ॥ २०
दीर्घाध्वग इषोदारामनारतमवाधिताम् ।
चिरं मौर्ख्यश्रमाक्रान्तो विभ्रान्तिमभिवाञ्छति ॥ २१
निःश्वासबोधितोऽप्यग्निरनिन्धन इवात्मनि ।
श्वासमात्रसमोऽप्यन्तरतिष्ठन्नेव शाम्यति ॥ २२
आपतन्तीं बलादेव पदार्थेष्वरतिं शनैः ।
न शक्नोति निराकर्तुं दृष्टिमत्र च्युतामिव ॥ २३
तां महापदवीं गच्छन्परमार्थफलप्रदाम् ।
भूमिकामप्युपायाति वचसामप्यगोचराम् ॥ २४

दुष्टीनविष्टीनप्रायया अत एव विहरजाला चित्तवृत्त्या ॥ १३ ॥
॥ १४ ॥ व्यवहारे नटस्येव परावुरजनमात्रप्रधानया कृत्रि-
मया रागादिमहत्तया अस्य दृश्यन्ते । व्यवहारा इति शेषः
॥ १५ ॥ पुरोगता अपि संसारमृगतृष्णासरितो गतीर्मिथ्यात्व-
बुद्ध्या हसति ॥ १६ ॥ १७ ॥ परं पञ्चमभूमिकास्थानम्
॥ १८ ॥ १९ ॥ यथा सनिद्रः पुरुषो बोधितः सचिदाबुखवि-
च्छेदादुद्वेगमायाति तद्वदयमवश्यकार्येषु व्यवहारेषु परैर्बोध्य-
मानः समाधिबुखविच्छेदादुद्वेगमायातीत्यर्थः ॥ २० ॥ प्राक्
चिरं मौर्ख्यप्रयुक्तेन जन्ममरणपरम्पराप्रमश्रमेणाक्रान्त इति
सांप्रतं समाधिविभ्रान्तिमेवाभिवाञ्छतीत्यर्थः ॥ २१ ॥ श्वास-
मात्रेणेतरेजनसमोऽप्यन्तरहंभावाभिमानेनाऽतिष्ठन्नेवेति पूर्णा-
त्मनि शाम्यति ॥ २२ ॥ बाह्यपदार्थेष्वरतिं पूर्वाभ्यासबला-
दापतन्ती अत्र बाह्यार्थेषु च्युतां स्वलितां यथाप्राप्तोपभोग-
दृष्टिमिव निराकर्तुं न शक्नोति, अप्रतिकूलत्वादिति भावः
॥ २३ ॥ भूमिका षष्ठभूमिकाम् ॥ २४ ॥ अचेष्टितेषु प्रयत्न-
रहितेष्वेव कुतोऽपि परप्रयत्नादिनिमित्ताश्रयेषु ॥ २५ ॥ २६ ॥
खगः सिद्धः । अगपदवीं मेरुशिखरमिव पक्षी वृक्षाग्रमिवेति
वा ॥ २७ ॥ तस्य सप्तमभूमिकाप्रतिष्ठायाह—तत्त इति ।
अखिलां बुद्धिं विहायेत्येव तत्रास्यात्यन्तिकवासनाक्षयमनोनाशौ
दर्शितौ । गृह्णाति भूमानन्दप्रदभावफलमिति शेषः । आवरण-

कुतोऽप्यचेष्टितेष्वेव संप्राप्तेषु विधेर्वशात् ।
भोगेष्वरतिमायाति पान्थो मरुमहीष्विव ॥ २५
धूर्णः क्षीण इवानन्दी सुप्तः संसारवृत्तिषु ।
अन्तःपूर्णमना मौनी कामपि स्थितिमृच्छति ॥ २६
स तादृश्रूपतामेत्य परमार्थफलस्य तत् ।
क्रमान्निकटमाप्नोति खगोऽगपदवीमिव ॥ २७
ततस्तदखिलां बुद्धिं विहाय वियता समः ।
गृह्णात्यथास्वादयति भुङ्क्तेऽथ परितुष्यति ॥ २८
संकल्पार्थपरित्यागादिनानुदिनमातता ।
शुद्धस्वभावविभ्रान्तिः परमार्थासिरुच्यते ॥ २९
भेदबुद्धिर्विलीनार्थाऽमेद एवावशिष्यते ।
शुद्धमेकमनाद्यन्तं तद्ब्रह्मेति विदुर्बुधाः ॥ ३०
लोकैषणाविरक्तेन त्यक्तदरैषणेन च ।
धनैषणाविमुक्तेन तस्मिन्निश्चिन्त्यते पदे ॥ ३१
परेण परिणामेन मिथश्चित्परमार्थयोः ।
तापेन हिमलेखेव भेदबुद्धिर्विलीयते ॥ ३२
तज्ज्ञस्याकृष्टमुक्तस्य स्वभावेष्टुपमां विना ।
स्थितिः स्रग्दामकस्येव न संभवति काचन ॥ ३३
यथाऽप्रकटिताङ्गान्तःसंस्थिता शालभञ्जिका ।
न सती नासती स्तम्भे तथा विश्वस्थितिः परे ॥ ३४
ध्यानं न शक्यते कर्तुं न चैतदुपयुज्यते ।
अबोधेन विबुद्धस्तु स्वयमत्रैव तिष्ठति ॥ ३५

मङ्गाद्गृह्णाति निर्विक्षेपस्फुरणादास्वादयति तदेकप्रवणवृत्त्या
भुङ्क्ते तद्भावेन पूर्णस्थित्या परितुष्यतीति चतुर्ण्यादिभूमिका-
फलानामत्र लाभो दर्शितः ॥ २८ ॥ सर्वभूमिकारोहणोपाय-
हस्यमाह—संकल्पेति ॥ २९ ॥ तत्राप्युपायमाह—भेदेति ।
भेदबुद्धिर्विलीयते भेदसाक्षिबिद् विलीना अर्थास्त्रिपुरीमेदा यस्या-
स्तथाविधा सती अमेद एवावशिष्यते । स च शुद्धं महौ-
वेत्यर्थः ॥ ३० ॥ तस्याप्युपायमाह—लोकैषणेति द्वाभ्याम् ।
दारैषण्यत्यागेनैवार्थास्तुत्रैषण्यत्यागो लभ्यत इत्याशयः ॥ ३१ ॥
दृश्यतत्त्वशोधने सन्मात्रं परमार्थः । द्रष्टव्यशोधने चिन्ता-
त्रम् । तयोरखण्डैक्यलक्षणेन परेण निरतिशयानन्दात्मना परि-
णामक्षितस्य चरमसाक्षात्कारवृत्तिस्तेनेत्यर्थः ॥ ३२ ॥ ननु
आकृष्टमुक्तधनुष इव चित्तस्याखण्डाकारवृत्त्युपरमे पुनः पूर्वा-
वस्थास्थितिर्दुर्वारेत्याशङ्क्याह—तज्ज्ञस्येति । तज्ज्ञस्य लब्ध-
साक्षात्कारस्य धनुरादिकठोरोपमा विना कोमलतरस्य स्रग्दाम-
कस्येव स्थितिः । भूमौ पतितं हि स्रग्दाम ऋजुवक्रादिभावेन
यथैवाकृष्य स्थाप्यते तथैवावतिष्ठते न धनुर्वत्पूर्वावस्थास्थिति-
स्तस्य संभवतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ किं सा सायत्ता ध्यानरूपा
नेत्याह—यथेति द्वाभ्याम् । अप्रकटिताह अनाविष्कृता-
वयवा ॥ ३४ ॥ अस्तुर्वैवं किं ततस्तत्राह—ध्यानमिति । इत्थं
प्राग्बोधात्प्रपञ्चे ब्रह्मणि निष्प्रपञ्चस्वभावस्याबोधेन ध्यानं
तावत्कर्तुं न शक्यते । साक्षाद्विबुद्धस्तु स्वयं तत्स्वभावे एव

आत्यन्तिकी विरसता यस्य दृश्येषु दृश्यते ।
 स बुद्धो ना प्रबुद्धस्य दृश्यत्यागे हि शक्तता ॥ ३६
 दृश्यस्य बोधताबोधो यो बोधादपरिक्षयः ।
 स समाधानशब्देन प्रोच्यते सुसमाहितेः ॥ ३७
 द्रष्टृदृश्यैकतारूपः प्रत्ययो मनसो यदा ।
 स तदेकसमाधाने तदा विश्राम्यति स्वयम् ॥ ३८
 स्वभावो दृश्यवैरस्यमेव तत्त्वविदो निजः ।
 दृश्यस्पर्शान्दनमेवाहुरतत्त्वज्ञत्वमुत्तमाः ॥ ३९
 अतज्ज्ञायैव विषयाः स्वदन्ते न तु तद्विदः ।
 न हि पीतामृतायान्तः स्वदते कटु काञ्चिकम् ॥ ४०
 वितृष्णस्यात्मनिष्ठत्वादेवणात्रयमुज्झतः ।
 ज्ञस्याप्यनिच्छतो ध्यानमर्थायातं प्रवर्तते ॥ ४१
 बोधः स्फुरति तृष्णायाः सैव यस्य न विद्यते ।
 तस्य स्वरूपमुत्सृज्य कासौ तिष्ठति कः कथम् ॥ ४२
 ज्ञस्यानाराधको ध्येयबोधो नयतु यो भवेत् ।
 अनन्ता सा वितृष्णस्य निर्विभागोदितः स्वयम् ॥ ४३

तिष्ठन्कथं तज्ज्ञातुं शक्नुयात् । न हि स्वप्न जागरूको वा अस्वप्नो-
 ऽहमस्मीत्यात्मानं ध्यातुं शक्नोतीति भावः ॥ ३५ ॥ जागरूकेण
 स्वाप्नार्थेऽपि तत्त्वविदा प्रपञ्चे तुच्छबुद्ध्या आत्यन्तिकवैरस्य-
 मात्रं तु कर्तुं शक्यमित्याशयेनाह—आत्यन्तिकीति ॥ ३६ ॥
 यदि न ध्यानं तर्हि तदविषये ब्रह्मणि कथं समाधिः, धारणा-
 ध्यानसमाधीनामेकविषयत्वनियमात् । तथा हि भगवतः पत-
 ज्ञलेः सूत्राणि 'देशबन्धवित्तस्य धारणा' 'तत्र प्रत्ययैकतानता
 ध्यानम्' 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपज्ञानमिव समाधिः' 'त्रय-
 मेकत्र संयमः' इति तत्राह—दृश्यस्येति । यो दृश्यस्य त्रिपुटी-
 लक्षणस्य जगतस्तत्साक्षिरूपबोधमात्रताबोधः स एव सुष्ठु
 सम्यग्यधार्थस्वभावे आहितेः स्थापनादेतोः सम्यगाधानं समा-
 धिरिति विग्रहे समाधानशब्देनोच्यते । तादृशबोधस्वभावाद्दि-
 प्रपञ्चोऽपरिक्षयः शाश्वतो भवतीति सम्यक्स्वभावे तस्या-
 धानं संपन्नमित्यधार्थानुगमादित्यर्थः ॥ ३७ ॥ अर्थमात्रनि-
 र्भासं स्वरूपज्ञानमिवेति पतञ्जलिवचनस्यापि दृग्दृश्यैक्यापाद-
 नेन मनसो विलये तात्पर्यं सुवचमित्याशयेनाह—द्रष्टृति ।
 द्रष्टा साक्षिदृश्या त्रिपुटी तदेकतां रूपयतीति रूपः ॥ ३८ ॥
 दृश्यस्य वैरस्यं जाग्रदुःसादिरसताविरुद्धविदानन्दरसभावः
 ॥ ३९ ॥ विषया अचित्स्वभावा अचित्स्वभावदेहाद्यात्मने अत-
 त्वज्ञायैव स्वदन्ते । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति संप्रदानता ।
 तद्विद इति तस्यैव शेषत्वविवक्षया षष्ठी । काञ्चिकं मद्यविशेषः
 ॥ ४० ॥ यदि तु पुनः पुनः स्वस्वरूपानुसंधानमेव ध्यानं मन्यते
 तर्हि तज्जागरूकस्य जाग्रदात्मनीव विदुषः सहजसिद्धमित्याह—
 वितृष्णस्येति ॥ ४१ ॥ वितृष्णस्येत्युक्तेस्तात्पर्यमुद्घाटयति—
 बोध इति । बोधः स्वरूपानुसंधानलक्षणं ध्यानं तृष्णादिविक्षे-
 पहेतोः स्फुरति संयततीति प्रतिज्ञम् । यस्य तत्त्वविदः ।

१ दृश्यत्यागे हि शक्तता इति पाठः.

अनन्तमपतृष्णस्य स्वयमेव प्रवर्तते ।
 ध्यानं गलितपक्षस्य संस्थानमिव भूभृतः ॥ ४४
 शुद्धबोधात्मनि ज्ञत्वादसमाहिततोदिता ।
 न जातु सुसमिद्धेऽग्नौ घृतविन्दोरवस्थितिः ॥ ४५
 परं विषयवैतृष्ण्यं समाधानमुदाहृतम् ।
 आहृतं येन तच्चूनं तस्मै नृब्रह्मणे नमः ॥ ४६
 नूनं विषयवैतृष्ण्ये परिप्रौढिमुपागते ।
 न शक्नुवन्ति निर्हर्तुं ध्यानं सेन्द्राः सुरासुराः ॥ ४७
 परं विषयवैतृष्ण्यं वज्रध्यानं प्रसाध्यताम् ।
 भेदे विगलिते ज्ञानादन्यध्यानतृणेन किम् ॥ ४८
 मूर्खस्थो विश्वशब्दार्थो नामूर्खविषयस्तथा ।
 तज्ज्ञाज्ञयोस्तयोश्चैव विश्वविश्वेशयोस्तथा ॥ ४९
 यत्रैकीभूय कचनं तत्र विश्राम्यतां बुधाः ।
 बोधभूमिषु सिद्धानामर्थानां वा विवेकिनाम् ॥ ५०
 सत्तासत्ते द्वयैक्ये च निर्णीते नेह केनचित् ।
 उपाय एकः शास्त्रार्थो द्वितीयो ज्ञसमागमः ॥ ५१

तथा च परिशेषात्स्वरूपानुसंधानस्यैव सिद्धिरित्याह—तस्येति ।
 किंवृत्तानि दृश्यद्रष्टृदर्शनत्रिपुटीपरमर्शानि ॥ ४२ ॥ अथवा
 वितृष्णस्य ज्ञस्य सा तृष्णा अनन्ता अपरिच्छेद्या । यतोऽयं
 स्वयं निर्विभागोऽपरिच्छिन्नात्मरूप एवोदितः । अतो ध्येयस्य
 चिन्तनीयस्य बाह्यार्थस्य बोधो यो यादृशो भवेत्स तादृशो
 समाधौ व्यवहारे वा नयतु तथाप्यसौ तस्याऽनाराधको न तत्तृ-
 णापूर्तिसमर्थ इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ अतो बाह्यार्थेऽपगततृष्णस्य
 तस्य तादृशतृष्णाया नित्यनिरतिशयानन्दात्मैव परिशेषादोधक
 इति तदनुभवलक्षणमनन्तध्यानं स्वयमेव प्रवर्तते न यत्नम-
 पेक्षत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥ अत एव शुद्धबोधोदयपर्यन्तमेव
 समाधियलः । शुद्धबोधात्मनि साक्षादनुभूते ज्ञत्वविरोधादेवा-
 ऽसमाहितत्वं समाधियलनिवृत्तिस्तत्त्वविद्विरुद्धितेत्यर्थः । विरोधं
 दृष्टान्तेन प्रकटयति—न जातविति ॥ ४५ ॥ विक्षेपहेतूनां
 रागादिदोषाणामात्यन्तिकोच्छेदलक्षणं तु समाधानं विदुषामे-
 वास्त्यतस्ते नमस्या इत्याह—परमिति । आहृतं संपादितम्
 ॥ ४६ ॥ तृष्णापाशबद्धान्स्वप्नप्रत्येव देवानां तृष्णोद्दीपनेन
 विग्रसमर्थत्वादिति भावः ॥ ४७ ॥ विषयवैतृष्ण्यं च ज्ञानेन
 सर्वविषयबाधपर्यवसितकार्यं तदेव वज्रवद्दृढं ध्यानमपीति
 प्रशंसति—परमिति ॥ ४८ ॥ अत एव विदुषां विश्वशब्दो
 बाधिताधेक इत्याह—मूर्खेति । तज्ज्ञाज्ञयोरित्याद्युत्तरश्लोका-
 न्वधि । तयोस्तद्विशेषज्ञानाज्ञानयोः ॥ ४९ ॥ यत्र यस्मिन्भू-
 सानन्दे द्वैतबाधाभिप्रायेणैकीभूय कचनमित्युच्यते न त्वेकत्व-
 संख्याभिप्रायेण । यतो विवेकिनामारुह्यक्षणां मननादिवोधभू-
 मिषु सिद्धानामारुह्यक्षणां साक्षात्कारादिवोधभूमिषु वा आत्मा-
 त्तिरिक्ते सत्तासत्ते द्वैतैक्ये च केनचिदपि न निर्णीते इत्यन्वयः
 ॥ ५० ॥ तत्र विश्रान्तावुपायानाह—उपाय इति । शास्त्रस्या-

ध्यानं तृतीयं निर्वाणे श्रेष्ठस्तत्रोत्तरोत्तरः ।
 जीवादशांमिथो रूपं शृङ्गात्येषा महद्बुधः ॥ ५२
 जगत्पुद्गेति संघट्टादाविशेषं समे समे ।
 ज्ञातपूर्वापराशेषजगदष्टापदस्थितेः ॥ ५३
 एकसिद्धौ द्वयोः सिद्धिर्बोधवैतृष्यदीपयोः ।
 मतिवात्याधुतो व्योम्नि दग्धो ज्ञानाग्निनाखिलः ॥ ५४
 जगत्तूलः परे ज्ञान्ते न जाने काशु गच्छति ।
 चित्राग्निनेव बोधेन तेन जाड्यं न शाम्यति ॥ ५५
 निर्मूलापि जगद्भ्रान्तिर्येनाशु न विलीयते ।
 यथाऽङ्गस्य जगज्जस्तिरपज्ञानात्प्रदीप्यते ॥ ५६
 तथा ह्यस्य परिज्ञानात्तद्वह्निः प्रदीप्यते ।
 सज्जस्याङ्गजगज्जस्तिस्रद्वार्थरहिता स्थिता ॥ ५७
 यथास्थितैव त्रिजगज्जस्तिस्रश्च बोदिता ।
 शून्यत्वेनैव रचिता सुसत्त्वेनैव निर्मिता ॥ ५८
 भासते भामयी बाष्ठा जगज्जस्तिस्रश्चेतसि ।

नूनं बोधेऽविमूढस्य नाहंता न जगत्स्थितिः ॥ ५१
 भासते परमाभासरूपिणः काप्यवस्थितिः ।
 बोधाबोधात्मकं चित्तं भाति शुष्कार्द्रकाष्ठवत् ॥ ६०
 बोधादेकं जगद्भावैर्जाड्यान्नात्मत्वमागतम् ।
 मिथो बोधाद्विवदतिमैत्री भजति बोधतः ॥ ६१
 य एवास्याधिको भागस्तन्मयत्वेन तिष्ठति ।
 बुधः सतत्त्वं नावैति जगतोऽभावभावयोः ॥ ६२
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां स्वभावमिव तुर्यगः ।
 वासनैव मनः सेयं स्वविचारेण नश्यति ॥ ६३
 अवस्तुत्वादतो मोक्षो नात्मनाशे प्रवर्तते ॥ ६४
 ध्यानद्रुमात्स्वयमुपोदमनरूपपाका-
 त्कालेन बोधमुपयातवतः क्रमेण ।
 भुक्त्वा रसायनफलं परबोधमाद्य-
 मिच्छन्मनोहरिणको निगडाद्विमुक्तः ॥ ६५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मनोहरणिकोपाख्यानं नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः ४६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

परमार्थफले ज्ञाते मुक्तौ परिणतिं गते ।

ध्यातृशास्त्रस्यार्थनमादरनैरन्तर्येणाभ्यासः शास्त्रार्थः ॥ ५१ ॥
 फलसंनिकर्षाधिक्याच्छ्रेष्ठः । एवं विचारजन्यज्ञानवैराग्ययोरपि
 निर्वाणोपायता परस्परधीनप्रतिष्ठां च दर्शयितुमविवेकप्रयुक्त-
 जीवोपाधिपरिच्छेदाधीनरागद्वेषाभ्यां प्रियाप्रियविषयसंघ-
 टात्साम्यवैषम्यकल्पनां दर्शयति—जीवेति । महद्बुधपरि-
 च्छिन्ना एषा नित्यापरोक्षा ब्रह्मचित् जीवाख्यस्य स्वप्नप्रतिबिम्ब-
 स्यादर्शभूतादन्तःकरणोपाधेर्वैशान्मियः परस्परं विभिन्नं रूपं
 शृङ्गाति ॥ ५२ ॥ तत्र जगति प्रियाप्रियसंघट्टात् आविशेषं
 ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तान्विशेषानभिव्याप्य स्वकर्मवैचित्र्यात्सम-
 विषमे शरीरभेदे ज्ञेयत्वार्थः । तदेवमनादिकालात्संस्तरतां
 जीवानां मध्ये कस्यचिद्भ्रातृयोदयाज्ज्ञानाधिकारयोग्ये जन्मनि
 शास्त्रसंज्ञनसंज्ञाद्युपायलाभाज्ज्ञातपूर्वापराशेषजन्ममरणप्रमणरू-
 पजगच्छैरिफलकीडास्थितेः पुरुषधौरेयस्य बोधवैतृष्यरूपयो-
 दीपयोरैकसिद्धौ द्वयोरपि सिद्धिरित्यन्वयः ॥ ५३ ॥ ज्ञानाग्निना
 दग्धो भस्मीभूतोऽखिलो जगत्तूलश्चिद्धोऽप्युत्तरभूमिकाभ्यासल-
 क्षणया मतिवात्याधुत उड्गाधितः सन् क्व गच्छति न जाने
 ॥ ५४ ॥ भ्रान्तिनिवारणसमर्थ एव बोधो मूलाज्ञानजाड्यो-
 च्छेदहेतुर्न त्वापातज्ञानमात्रमित्याह—चित्राग्निनेति । जाड्य-
 मज्ञानं शीतं च ॥ ५५ ॥ अङ्गस्याभिनिवेशलक्षणादपज्ञानाद्यथा
 संसारभ्रान्तिरभिवृद्धा प्रकाशते तथा सत्त्वहस्य परिज्ञा-
 नाभिवृद्धा उत्तरोत्तरभूमिष्वज्ञानमधिकं दह्यत इत्याह—
 यथेति ॥ ५६ ॥ दह्यमानेऽज्ञाने जगत्कीदृशं तेषां भासते
 तदाह—तज्जह्येति ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ अविमूढस्येति छेदः
 ॥ ५९ ॥ अर्धप्रबुद्धस्य तर्हि कीदृशं भाति तदाह—बाधेति

बोधोऽप्यसद्भवत्याशु परमार्थो मनोमृगः ॥ १

॥ ६० ॥ दिवत् उभयस्वभाववत् । बोधतो बोधाधिक्येन
 सर्वजनेष्वतिमैत्री भजति । आत्मोपम्येन सुखदुःखे दयया
 पश्यतीत्यर्थः । अबोधादबोधांशेन विवदति विषादादिना
 व्यवहरतीति वा ॥ ६१ ॥ यस्तु बुधः परिपक्वज्ञानः स तु जगत
 अभावभावयोः सत्त्वासत्त्वयोः सतत्त्वं याथार्थ्यं नावैलेव
 ॥ ६२ ॥ यथा तुर्यगः सप्तमभूमिकारूढो जाग्रदादीनां स्वभावं
 न पश्यति तद्वदिति भेदकल्पनादुपमा । ननु मनोहरिणकस्य
 ध्यानतरो विश्रान्तिः प्रस्तुतेति तस्यैव रूपान्तरेण तदारोहणे
 परमपुरुषार्थफलावाप्तिर्वाच्या, तत्र मनोनाशलक्षणो मोक्षः कथं
 तस्य पुरुषार्थः स्यात्तत्राह—वासनैवेति ॥ ६३ ॥ अवस्तु-
 त्वादिति । तथा चात्मन एव मायिकमनोहरिणवेषेणानर्थविभ्रा-
 न्त्यादिवर्णनं प्रस्तुतमिति भावः ॥ ६४ ॥ तथा चायं मनोनाशो
 मनोहरिणवेषेण वर्णितस्यात्मनो निगडमोक्षप्रायः फलित इत्यु-
 पसंहरति—ध्यानेति । इच्छन्सुमुक्षुः प्रस्तुतो मनोहरिणको
 वर्णितरूपादङ्कुरकाण्डशाखापङ्कवपुष्पफलान्तपरिणामलक्षणान्तप-
 परिपाकात्कालेन स्वयमुपोदमुपचितं बोधं फलमुपयातवतो
 ध्यानद्रुमादायं परबोधोऽखण्डाकारवृत्त्यभिव्यक्तः परमानन्द-
 स्तल्लक्षणं रसायनफलं भुक्त्वा संसारनिगडाद्विमुक्तो भवतीत्यर्थः
 ॥ ६५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे मनोहरणिकोपाख्यानं नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

ध्यानद्रुमफलास्वादे यादृशी मनसः स्थितिः ।

इदं विषयवैरस्यं यादृक्तदिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

ज्ञाते साक्षादनुभूते । बोधश्चरमसाक्षात्कारवृत्तिरपि स्तोपा-
 दानाज्ञानबाधादसद्भवति मनोमृगश्च परमपुरुषार्थरूप आत्मैव

कापि सा मृगता याति प्रक्षीणस्नेहदीपवत् ।
 परमार्थदशैवास्ते तत्रानन्तावभासिनी ॥ २
 ध्यानद्रुमफलप्राप्तौ बोधतामागतं मनः ।
 वज्रसारां स्थितिं धत्ते छिन्नपक्ष इवाचलः ॥ ३
 मनस्ता कापि संयाति तिष्ठत्यच्छेव बोधता ।
 निर्वाधा निर्विभागा च सर्वाऽखर्वार्त्मिका सती ॥ ४
 सुविविक्ततया चित्तसत्ता बोधतयोदिता ।
 अनाद्यन्ता भवत्यच्छप्रकाशफलदायिनी ॥ ५
 स्वयमेव ततस्तत्र निरस्तसकलैषणम् ।
 अनाद्यन्तमनायासं ध्यानमेवावशिष्यते ॥ ६
 यावन्नाधिगतं ब्रह्म न विश्रान्तं परे पदे ।
 तावत्तन्मननत्वेन न ध्यानमवगम्यते ॥ ७
 परमार्थकतामेत्य न जाने क्व मनो गतम् ।
 क्व वासना क्व कर्माणि क्व हर्षामर्षसंविदः ॥ ८
 केवलं दृश्यते योगी गतो ध्यानैकनिष्ठताम् ।
 स्थितो वज्रसमाधाने विपक्ष इव पर्वतः ॥ ९
 विरसाखिलभोगस्य प्रशान्तेन्द्रियसंविदः ।
 नीरसाशेषदृश्यस्य स्वात्मारामस्य योगिनः ॥ १०
 क्रमेण विगलदृत्तेर्बलाद्विश्रान्तिमीयुषः ।
 अर्थायातं समाधानं केन नाम विचार्यते ॥ ११
 तावद्विषयवैरस्यं भावयन्त्युचिताशयाः ।
 न पश्यन्त्येव तान्यावद्भोगांश्चित्रनरो यथा ॥ १२
 अपश्यन्नागतानर्थान्निर्वासनतयात्मवान् ।
 बलाद्वज्रसमाधाने त्वन्येनेव निवेद्यते ॥ १३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे साम्यावबोधनो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

प्रावृषीव नदीपूरो यः समाधिरुपस्थितः ।
 बलादेव तमायातं भूयश्चलति नो मनः ॥ १४
 सर्वार्थशीतलत्वेन बलाच्छाने यदाऽऽगतम् ।
 ज्ञानाद्विषयवैरस्यं स समाधिर्हि नेतरः ॥ १५
 दृढं विषयवैरस्यमेव ध्यानमुदाहृतम् ।
 तदेव परिपाकेन वज्रसारं भवत्यलम् ॥ १६
 तदेतद्भोगवैतृण्यं ध्यानमङ्कुरितं हि तत् ।
 तदेव पीठबन्धेन बद्धं भवति बन्धुरम् ॥ १७
 सम्यग्ज्ञानं समुच्छ्रयं सदैवोज्झितवासनम् ।
 ध्यानं भवति निर्वाणमानन्दपदमागतम् ॥ १८
 अस्ति चेद्भोगवैतृण्यं किमन्यद्भ्यानदुर्धिया ।
 नास्ति चेद्भोगवैतृण्यं किमन्यद्भ्यानदुर्धिया ॥ १९
 दृश्यस्वदनमुक्तस्य सम्यग्ज्ञानवतो मुनेः ।
 निर्विकल्पं समाधानमविरामं प्रवर्तते ॥ २०
 यस्यै न स्वदते दृश्यं स संबुद्ध इति स्मृतः ।
 न स्वदन्ते यदा भोगाः सम्यग्वोधस्तथोदितः ॥ २१
 यस्य स्वभावविश्रान्तिः कथं तस्यास्ति भोगिता ।
 अस्वभावो हि भोगित्वं तत्क्षये तत्कथं कृतः ॥ २२
 श्रुतपाठजपान्तेषु समाधिनिरतो भवेत् ।
 समाधिविरतः श्रान्तः श्रुतपाठजपाञ्छयेत् ॥ २३
 निर्वाणमासीत निरस्तखेदं
 समस्तशङ्कास्तमयाभिरामम् ।
 सुषुप्तसौम्यं समशान्तचित्तं
 शरद्धनाभोगविशुद्धमन्तः ॥ २४

भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥ सा प्राक्कनी मृगता विषयतृष्णान्वेषणस्व-
 भावता याति अपैति ॥ २ ॥ स्थितिरचाञ्चल्यम् ॥ ३ ॥ मनस्ता
 बाह्यार्थमननस्वभावता । सर्वा पूर्णा । अत एवाखर्वार्त्मिका
 बोधता चिन्मात्रता तिष्ठति ॥ ४ ॥ चित्ते या सत्ता प्राग्जडदे-
 हाद्यविवेकाज्जबेवाभूत्सैव सांप्रतं देहादेः सुविविक्ततया स्थिता
 बोधतया उदितेव । यतः परमार्थप्रकाशफलदायिनीत्यर्थः ॥ ५ ॥
 यतो निरस्तसकलैषणमतस्तदन्यगतिकत्वात्स्वात्मध्यानमेव
 परिशेषादवगम्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥ कदा तर्हि तन्मनो न ध्यानं
 तदाह—यावदिति । तत् मनः । मननत्वेन विषयान्तरानुसंधा-
 नत्वेन ॥ ७ ॥ ८ ॥ ध्यानवत्तस्य समाधिरप्यर्थसिद्ध इत्याह—
 केवलमिति द्वाभ्याम् ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ तस्य परवैराग्य-
 मप्यर्थसिद्धमित्याह—तावदिति । चित्रनरश्चित्रलिखितान्पुरु-
 षान् ॥ १२ ॥ वज्रवदमेधे समाधाने समाधावन्येन नियन्त्रेव
 बलान्वेद्यते ॥ १३ ॥ यः समाधिराविर्भूतानन्दैकरसः प्रथ-
 मवृत्तावुपस्थितस्त्वं गुडपिपीलिकान्यायेन वस्तुस्वभावबलादेवै-
 काग्र्यमायातमास्त्राद्यन्मनस्ततो न चलति ॥ १४ ॥ ज्ञानाद्वला-
 दागतं यद्विषयान्तरे वैरस्यं स एव समाधिः । न हि रागादिना
 दन्दह्यमाने चेतसि समाधानं कदाचिदपि कस्यचित्प्रसिद्धमिति

॥ १५ ॥ एवं ध्यानोपपत्तिरपि विषयवैरस्ये सत्येव नान्यथे-
 त्याह—दृढमिति ॥ १६ ॥ तथा च भोगवैतृण्यं बीजमेवाङ्क-
 रितावस्थं ध्यानं प्ररूढावस्थं समाधिरित्यमेदेऽपि व्यपदेशमेदः
 फलित इत्याह—तदेतदिति ॥ १७ ॥ साक्षात्कारवृत्त्याविर्भूतं
 ब्रह्मैव अविद्योच्छेदितया ज्ञानं वासनोच्छेदितया ध्यानं सर्व-
 दुःखोच्छेदानन्दरूपतया निर्वाणमिति व्यपदिश्यत इत्याह—
 सम्यगिति ॥ १८ ॥ सर्वमिदं भोगवैतृण्ये सत्येव सिद्ध्यति नान्य-
 थेति तदेव दृढीकर्तुं प्रशंसति—अस्ति चेत्यादिना ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ २१ ॥ पूर्णाद्वयस्वभावविरुद्धं भोगित्वमज्ञानकृतस्व-
 भावविपर्ययकालमात्रे संभवति नाज्ञाननाशोत्तरमित्याह—
 यस्येति ॥ २२ ॥ अभ्यासकाले व्युत्थितेन किं कार्यं कदा वा
 समाधिः सेव्यस्तत्क्रममाह—श्रुतेति । श्रुतं गुरुसतीर्थ्यादिभिः
 सह वेदान्तश्रवणम् । पाठ उपनिषदाद्यावर्तनम् । जपः प्रण-
 वादेः । तथा चोक्तं स्कान्दे—‘जपश्रान्तः पुनर्ध्यायेद्भ्यान-
 श्रान्तः पुनर्जपेत् । जपध्यानाभियुक्तस्य प्रसीदति परः शिवः’
 इति ॥ २३ ॥ तत्रापि सदैव समाधिप्रधानेन भाव्यमित्याश-
 येनोपसंहरति—निर्वाणमिति । स्पष्टम् ॥ २४ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे साम्या-
 वबोधनो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः ४७

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

संसारभारसुभ्रान्तः संकटेषु लुठच्चतुः ।
 योऽभिवाञ्छति विश्रान्तिं तस्य क्रममिमं शृणु ॥ १ ॥
 पूर्वं विवेककणिका यदा स्वहृदि जायते ।
 संसारनिर्वैदमयी कारणाद्वाप्यकारणात् ॥ २ ॥
 तदा श्रयन्ति सच्छायान्साधुत्वसुविशालिनः ।
 अध्वश्रमहरांस्तापतप्ता मार्गतत्तुनिव ॥ ३ ॥
 दूरे परिहरत्यज्ञान्यज्ञयूपानिवाध्वगः ।
 ज्ञानदानतपोयज्ञान्करोति विबुधानुगः ॥ ४ ॥
 पेशलं चानुरूपं च व्यवहारमकृत्रिमम् ।
 लोक्यमाहादनं धत्ते चन्द्रबिम्बमिवामृतम् ॥ ५ ॥
 परप्रज्ञानुगो भव्यः परार्थपरिपूरकः ।
 पवित्रकर्मरसिकः कोऽपि सौम्यः प्रवर्तते ॥ ६ ॥
 नवनीतस्थलीवाऽच्छा स्निग्धा मृद्वी मनोहरा ।
 जनं सुखयति स्वाद्वी तदीया नवसंगतिः ॥ ७ ॥
 शीतलानि पवित्राणि चरितानि विवेकिनः ।
 इन्दोरिवांशुजालानि जनं शीतलयन्त्यलम् ॥ ८ ॥
 न तथोद्यानखण्डेषु पुष्पप्रकरहारिणु ।
 विश्राम्यते वीतभयं यथा साधुसमागमे ॥ ९ ॥

भूयोऽपि विस्तरान्मुक्तिसाधनक्रमवर्णने ।

प्रस्तुते हृदवैराग्यप्राप्त्यन्तमिह वर्णयेत् ॥ १ ॥

बहुश्रुलोऽपि पथं वदितव्यमिति न्यायमाश्रित्य परमकारुणिको वसिष्ठः पूर्वं ध्यानवृक्षोत्पादनपरिपालनफलोन्मुखीकरणमनौहरिणकाश्रयणतदारोहणफलोपभोगान्तरूपकपरपर्यावर्णितमेव शुभेच्छादिमोक्षसाधनभूमिकाकर्म पुनः कुत्र कुत्र किंयद्गुणसपञ्चम इत्येतत्प्रतिपादनप्रकारेण स्पष्टं मन्दाधिकारिप्रबोधनाय वर्णयिष्यंस्तच्छ्रवणाय शिष्यमभिमुखीकरोति—
 संसारेति । मरणमूर्च्छादिसंकटेषु लुठन्ति तन्वो भव्यः । क्रमं तत्र तत्र गुणप्रकर्षलभकमम् ॥ १ ॥ तत्र विवेकाद्बुरोदये येषां गुणानां लाभस्तान्दर्शयति—पूर्वमित्यादिना । कारणादहिकयज्ञतपोदानादिपापक्षयकारणात् । अकारणात्तदभावात् । जन्मान्तरानुष्ठितसत्कर्मभिरिव क्षीणपापानां वात्यात्प्रभृत्येव क्षिणैवहिककारणं विवेकोदयदर्शनादिति भावः । यदैव निर्वैदमयी विवेककणिका जायते तदैव साधुत्वेन सुष्ठु विशालिनी विस्तीर्णा वक्ष्यमाणगुणास्तं श्रयन्तीति परेणान्वयः ॥ २ ॥ तत्र दृष्टान्तः—तापतप्ताः पुरुषाः सच्छायान्मार्गतत्तुनिवेति ॥ ३ ॥ तत्राज्ञानजनसङ्गत्यागो यज्ञदानादिपरता देवताराधनादिगुणाः प्रथममुपयन्तीत्याह—दूरे इति । एवमग्रेऽपि गुणा योज्याः ॥ ४ ॥ लोकेभ्यः परिणामे हितं लोक्यं सद्यश्चाहादनम् । चन्द्रबिम्बं कर्तुं । अमृतं कर्म ॥ ५ ॥ स्वप्नसुरागलोभाभिमानाद्यभावात्परहितकारित्वाच्च परप्रज्ञानुगः । अत एव सर्वजनप्रियो

मन्दाकिनीपयांसीव संगतानि विवेकिनाम् ।
 प्रक्षालयन्ति पापानि प्रयच्छन्ति विशुद्धताम् ॥ १० ॥
 विवेकिषु विरक्तेषु संसारोत्तरणार्थेषु ।
 जनः शीतलतामेति हिमहारगृहेष्विव ॥ ११ ॥
 ननु नामरतोदारा या विवेकिनि विद्यते ।
 सुरगन्धर्वकन्यासु मानवीषु न विद्यते ॥ १२ ॥
 प्रज्ञा प्रसादमायाति क्रमादुचितकर्मणः ।
 अन्तःकरोति शास्त्रार्थमर्थं मुकुरभूरिव ॥ १३ ॥
 सत्प्रबोद्धतिमायाति शास्त्रार्थरसशालिनी ।
 विवेकिनि विलासेन कदलीव महावने ॥ १४ ॥
 अन्तरेवानुभवति सर्वार्थान्प्रतिबिम्बितान् ।
 आदर्शवदशेषेण प्रज्ञा नैर्मल्यशालिनी ॥ १५ ॥
 साधुसंगमशुद्धात्मा शास्त्रार्थपरिमार्जितः ।
 प्राज्ञो भात्युद्धृतं वह्नेरग्निशौचमिवांशुकम् ॥ १६ ॥
 कचत्काञ्चनकान्तेन विमलालोककारिणा ।
 भुवनं भास्करेणेव भाति साधुः स्वतेजसा ॥ १७ ॥
 तथानुगच्छति प्राज्ञः शास्त्रसाधुसमागमौ ।
 यथात्यन्तलुषङ्गेण तावेवानुभवत्यसौ ॥ १८ ॥
 क्रमात्सज्जनतामेत्य शास्त्रार्थभरभावितः ।

भवतीति भव्यः । पवित्रेषु शास्त्रानिषिद्धेषु कर्मसु रसिकः कोऽपि सर्वजनोत्कृष्टः सौम्यः सन् प्रवर्तते व्यवहरति ॥ ६ ॥ नवनीतस्य स्थली सुख्याश्रयो दधिमण्ड इवाच्छ स्निग्धेत्यादिसाधारणम् । नवसंगतिः प्रथमसमागमः । मयविवेचनपरिपाकक्रमेण विरसगतेरुत्तरोत्तरसारत्वात्साधुतरायलामहेतुत्वसूचनाय नवेति विशेषणम् ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ हिमैर्हारैश्च रचितेषु गृहेष्विव ॥ ११ ॥ न विद्यते सेति शेषः ॥ १२ ॥ क्रमादनुष्ठितावुचितानिष्कामकर्मणो हेतोः प्राज्ञशुद्धिः प्रसादं विशुद्धिमायाति । तच्छुद्ध्या च विविदिषोदये गुरुमुखश्रुतं शास्त्रार्थमन्तःकरोति । हृदि स्थापयतीत्यर्थः । मुकुरभूर्दर्पणतलं स्वप्रतिबिम्बितार्थमिव ॥ १३ ॥ विवेकिनि विवेकवति हृत्स्थाने । विलासेन मूलप्ररोहादिविस्तारेण ॥ १४ ॥ सा विवेकिप्रज्ञा सर्वार्थानन्तर्मनोविलासमाश्रयया अनुभवति ॥ १५ ॥ अग्रावेव शौचं मालिन्यदाहद्विशुद्धिर्यस्य तथाविधमंशुकं वस्त्ररत्नमिव । तद्वि दिव्यं सिद्धाम्बरं मलदाहोत्तरं वह्नेरुद्धृतं विद्युत्सुजमिव भास्वरतरं भातीति शास्त्रप्रसिद्धम् ॥ १६ ॥ साधुविवेकी । स्वतेजसा आन्तरेणात्मप्रकाशेन ॥ १७ ॥ शास्त्रमभ्यासेन साधोर्गुरोः समागमं च सेवादिना तथा अनुगच्छति निरन्तरमनुसरति यथा अस्यन्तं तदुपदिष्टार्थमिनिवेशलक्षणेन तदनुषङ्गेण स्वप्नेऽपि तन्निवृत्ततत्तच्छ्रूयापरस्तावेवानुभवति न तदतिरिक्तं स्वशरीरादिकमपीत्यर्थः ॥ १८ ॥ रागद्वेषलोभप्रमादादिदोषक्षयमैश्यादिगुणसंनयकमा-

भाति भोगानधःकुर्वन्पञ्जरादिव निर्गतः ॥ १९
 भोगाभिगमदौर्भाग्यं दिनानुदिनमुज्झता ।
 तेन तत्कुलमाभाति ताराचक्रमिवेन्दुना ॥ २०
 अभोगकृपणा कापि न चैवास्य प्रवर्तते ।
 मुखे कान्तिरपूर्वैव चन्द्रे राहुमृते यथा ॥ २१
 तृणीकृतत्रिजगतां महतामभिधेयताम् ।
 स याति कल्पविटपी नभसीव दिवौकसाम् ॥ २२
 भोगानां द्वेषणेनान्तर्लज्जमानो मनस्यपि ।
 भोगानामप्यसंपत्त्या परमं परितुष्यति ॥ २३
 स्वा एवोपहसत्यन्तस्तरुणीस्तरलक्रियाः ।
 खेदस्मेरमुखो जातीर्जातिस्रर इवाधमः ॥ २४
 अथ तं द्रष्टुमायान्ति सौहार्देनैव साधवः ।
 भूमाविवोदितं चन्द्रं विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ २५
 नित्यानाहतभोगोऽसौ ततोऽप्युचितया धिया ।
 प्राप्तमप्युचितारम्भं भोगं न बहुमन्यते ॥ २६
 पूर्वं संसृतिवैरस्यमन्तरेवोदितात्मनः ।
 जायते जीर्णजाड्यस्य पाकादिव शरत्तरोः ॥ २७
 ततः सज्जनसंपर्कमुदकश्रेयसे स्वयम् ।
 करोति स्वस्थतागृह्णुर्भेषगाश्रयणं यथा ॥ २८
 तेनोदारमतिर्भूत्वा शास्त्रार्थेषु निमज्जति ।
 महान्महाप्रसन्नेषु सरःस्विव महागजः ॥ २९
 सज्जनो हि समुत्तार्य विपद्भ्यो निकटस्थितम् ।
 नियोजयति संपत्सु स्वालोकेष्विव भास्करः ॥ ३०

तत्सज्जनतां निर्दोषगुणवज्जनताम् ॥ १९ ॥ भोगान्प्रति व्यसनि-
 तया विषयाभिमुख्येन गमनं भोगाभिगमस्तल्लक्षणं दौर्भा-
 ग्यम् । कुलं वंशस्तद्वदितसमाजश्च आभाति ॥ २० ॥ अभोग-
 कृपणा भोगकार्पण्यनिर्मुक्ता अभिनवैव कापि कान्तिरस्य
 मुखे प्रवर्तते । राहुं ऋते विना । राहुनिर्मुक्ते यथेति यावत्
 ॥ २१ ॥ अभिधेयतां प्रशंसनीयताम् । नभसि स्वर्गे ॥ २२ ॥
 प्राप्तभोगानां परित्यागे तुष्यन्नपि त्यक्तसर्वद्वेषेण मया भोगेषु
 द्वेषः कथं कृत इति मनसि लज्जमानोऽपि कदाचिद्भवतीति न
 तथा परितुष्यति । भोगानामसंपत्त्या अलमेन तु लज्जा-
 प्रसक्त्यभावात्परमं परितुष्यतीत्यर्थः । त्वर्थेऽपिशब्दः ॥ २३ ॥
 प्राक्कनीस्तरुणीः रागादिप्रौढाः स्वाः स्त्रीया एव भोगौत्सुक्यत-
 रलाः क्रियाः सांप्रतं स्मरन् खेदेन स्मेरमुखः सन्नन्तरुपहसति
 यथा अधमश्चाण्डालादिदैवाजातिस्ररः सन् स्वा एव जाती-
 रन्तरुपहसति तद्वदित्यर्थः ॥ २४ ॥ तादृशं तं द्रष्टुम् । साधवः
 सिद्धाः ॥ २५ ॥ ततस्तेभ्यः सिद्धेभ्यः प्रसन्नेभ्यः प्राप्तमुचि-
 तारम्भमनिषिद्धमपि सिद्ध्यादिभोगं स न बहुमन्यते ॥ २६ ॥
 कुतो न बहुमन्यत इति चेद्गुरुशास्त्रसंपर्कात्पूर्वमेव वैराग्यादि-
 साधनानां दृढाभ्यस्तत्वादिश्रावणेनोक्तमेव गुणोदयक्रमं पुनर-
 नुक्रमति—पूर्वमित्यादिना ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥
 ॥ ३१ ॥ स्वार्थानप्युपेक्षमाणः परार्थं कुतः स्पृहयेदिति भावः

परस्वादानविरतिः पूर्वमेव प्रवर्तते ।
 विवेकिनो निजार्थेषु संतोषश्चोपजायते ॥ ३१
 परस्वादानविरतः संतोषामृतनिर्भरः ।
 विवेकी क्रमशः स्वार्थानप्युपेक्षितुमिच्छति ॥ ३२
 ददाति कणपिप्याकशाकाद्यपि हि याचते ।
 तेनैवाभ्यासयोगेन स्वमांसानि ददात्यसौ ॥ ३३
 नूनं विलयचित्तानां विवेकमनुधावताम् ।
 मौख्यं लघुत्वमायाति धावतामिव गोष्पदम् ॥ ३४
 परार्थादानविरतिं पूर्वमभ्यस्य यत्नतः ।
 आहर्तव्या विवेकेन ततः स्वार्थेष्वरक्तता ॥ ३५
 ततो भोगनिरासेन सह स्वार्थनिराकृतिः ।
 परमायै सुविश्रान्त्यै क्रियते कृतिभिः क्रमात् ॥ ३६
 न तादृशं जगत्यस्मिन्दुःखं नरककोटिषु ।
 यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम् ॥ ३७
 आसने शयने याने गमने रमणे जने ।
 औघिचिन्तापरा एव ननु मूढा विदन्तु ताम् ॥ ३८
 नन्वर्था विततानर्थाः संपदः संततापदः ।
 भोगा भवमहारोगा विपरीतेन भाविताः ॥ ३९
 तावन्नायाति वैरस्यं चिन्ताविषयजृम्भणैः ।
 यावदर्थमहानर्थो न कदर्थार्थमर्थ्यते ॥ ४०
 अनुत्तमसुखं यस्यै चिराय परिरोचते ।
 जगत्तृणशिखादृष्ट्या सोऽर्थं पश्यतु शाम्यतु ॥ ४१
 भूरिभावविकाराणां जरामरणकर्मणाम् ।

॥ ३२ ॥ तेनैव त्यागाभ्यासयोगेन स्वमांसान्यपि याचमानेभ्यो
 ददाति ॥ ३३ ॥ विवेकानुसरणक्रमेण विलीयमानचित्तानां दिने
 दिने ज्ञानप्रचयेनाज्ञानं क्षीयत इत्याह—नूनमिति । मौख्य-
 मज्ञानम् । लघुत्वमपक्षयेणाल्पताम् । यथा धावतामश्वा-
 धीनां गोष्पदमनायासोल्लङ्घ्यत्वलक्षणं क्षुद्रत्वमायाति तद्वत्
 ॥ ३४ ॥ परेषां स्वं धनादि तस्य आदानाद्विरतिं निवृत्तिम्
 ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ अर्थोपार्जनप्रयुक्तं शासनं दण्डनम् । ऐहिक-
 पारलौकिकदुःखजातमिति यावत् ॥ ३७ ॥ तत्र मूढानां पार-
 लौकिकदुःखास्मरणेऽपि ऐहिकं सर्वप्रसिद्धं स्मारयति—आसने
 इति । विदन्तु स्मरन्तु ॥ ३८ ॥ अर्जनरक्षणव्ययादौ राज-
 चोरादिभ्यश्चार्थार्थनामनर्थसहस्रस्य प्रसिद्धत्वाद्विततानर्थाः राग-
 विपरीतेन विवेकेन भाविताः पर्यालोचिताश्चेदित्यर्थः । अथवा
 भावप्रधानो निर्देशः । अनर्थरूपा अप्येते मोहाज्जनैस्तद्वैपरी-
 त्येन भाविता इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ यावत्कदर्थार्थमर्थलक्षणोऽनर्थः
 पुरुषेण नार्थ्यते नाभिलष्यते तावत्स पुरुषो वैरस्यं तापत्रय-
 प्रयुक्तशोषं नायाति ॥ ४० ॥ यस्यै पुरुषाय मोक्षाख्यमनुत्तमं
 सुखं रोचते स पुमानर्थं धनं जगल्लक्षणस्य तृणस्य शिखेव
 तुच्छतरमिति दृष्ट्या पश्यतु । धनस्पृहात्याग एव मुख्यो मोक्षो-
 पायस्तथेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ तुच्छतामेव द्रवयितुं पुनःपुनर्धनं

१ परस्वादान इति टीकाश्रुगुणः पाठः. २ अर्थचिन्ता इति पाठः.

दैन्यदौरात्म्यदाहानामर्थः सार्थ इति स्मृतः ॥ ४२
 असिद्धगतिं जन्तूनां जरामरणशालिनाम् ।
 अजरामरणं कर्तुं संतोषोऽस्ति रसायनम् ॥ ४३
 वसन्तो नन्दनोद्यानमिन्दुरप्सरसः स्मृताः ।
 इत्येकतः समुदितं संतोषामृतमेकतः ॥ ४४
 सरसः प्रावृषेवान्तः संतोषेणैव पूर्णता ।
 गम्भीरां शीतलां हृद्यां प्रसन्नां रसशालिनीम् ॥ ४५
 साधुरोजस्वितामेत्य संतोषेणैव राजते ।
 सुपुष्पितवनाकारो वसन्तेनेव पादपः ॥ ४६
 पादपीठपरामर्शपिष्टकीटवदीहते ।
 दीनप्रकृतिरर्थार्थी दुःखादुःखान्तरं व्रजेत् ॥ ४७
 कल्लोलविकलाः ध्रुवधसमुद्रपतिता इव ।
 नाश्रुवन्ति स्थितिं स्वस्थां विकृताकृतयोऽर्थिनः ॥ ४८

संपदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्तुङ्गमङ्गराः ।
 कस्तास्वहिफणच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥ ४९
 अर्थोपार्जनरक्षाणां ज्ञानमपि कदर्थनाम् ।
 यः करोति स्पृहां मूढो नृपशुं तं न संस्पृशेत् ॥ ५०
 मनसो बाह्यमारम्भमान्तरं च लुनाति यः ।
 समं वैतृण्यदात्रेण तस्य क्षेत्रं प्रकाशते ॥ ५१
 जगत्त्वमहसंबुद्धं शो विदत्रसदेव यत् ।
 सतीव तत्र स्फुरति तदनभ्यासजृम्भितम् ॥ ५२
 संसारनिर्वेददशामुपेत्य
 सत्संगमं शास्त्रमुपेत्य तेन ।
 शास्त्रार्थभावेन निरस्य भोगा-
 न्वैतृण्यदाढ्यात्परमार्थमेति ॥ ५३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वात्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाण० च० मुमुक्षुप्रथमोपक्रमो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः ४८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

रूढे संसारनिर्वेदे स्थिते साधुसमागमे ।
 शास्त्रार्थे भाविते बुद्ध्या भोगवैतृण्य आगते ॥ १
 जाते विषयवैरस्ये सज्जनत्वे तथोदिते ।
 प्रकाशे सोऽन्मुखीभूते हृदये कलितोदये ॥ २
 धनानि नाभिवाञ्छन्त्यन्ते तमांसीव विवेकिना ।
 त्यज्यन्ते विद्यमानानि संशुष्कामेध्यपर्णवत् ॥ ३

निन्दति—भूरीति । निन्ताशोकमोहादिभावविकाराणां जरामरणयोर्दुष्कर्मणां दैन्यादीनां च अर्थ एव सार्थः समूह इत्यर्थः । अजन्तुविषयेऽपि जन्तुवदुपचारात्सार्थशब्दः ॥ ४१ ॥ संतोष एव वैराग्यप्रतिष्ठापनेन सर्वदुःखहारीति तं प्रशंसति—असिद्धिति ॥ ४३ ॥ सर्वसुखहेतुरपि स एवेत्याह—वसन्त इत्यादिना । एकतः स्मृता इत्यन्वयः ॥ ४४ ॥ पूर्णता पुरुषस्य भवतीति शेषः । शिष्टमुत्तरान्वयि ॥ ४५ ॥ साधुः संतोषेणैव ओजस्वितामेत्य सुपुष्पितवनाकारो राजते ॥ ४६ ॥ असंतुष्टस्त्वर्थार्थी सन् पादपीठेन पादुकया परामृष्टो देवादास्कन्दितो निष्पिष्टश्च यः कीटस्तद्दीनप्रकृतिः सन् ईहते चेष्टते ॥ ४७ ॥ अर्थिनो धनलिप्तवः ॥ ४८ ॥ तासु तल्लक्षणास्वहिफणच्छत्रच्छायासु बुधः को रमते । न कश्चिदित्यर्थः ॥ ४९ ॥ ५० ॥ बाह्यमारम्भमिन्द्रियानुधावनलक्षणमान्तरं संकल्पादिलक्षणं वा क्षेत्रं ज्ञानबीजोद्भवस्थानं मुक्तिनिधानस्थानं वा हृदयम् ॥ ५१ ॥ अनुक्रान्ता दृढवैराग्यान्ता गुणा अभ्यस्ता एव ज्ञानं प्रतिष्ठापयन्ति न हेल्या सेविता इत्याशयेनोपसर्जिहीर्षुराह—जगरधमिति । अज्ञैः संबुद्धं जगत्त्वं जगदाकारवैचित्र्यं तत्साक्षिण्यसदेवेति विदत्रपि ज्ञः अपकृज्ज्ञानतया तत्र जगद्वैचित्र्ये सतीव सत्यार्थ इवाज्ञवत्स्फुरति व्यवहरति तत्प्रस्तुतवैरा-

भाराय पान्थदृष्ट्येव दृश्यन्ते दारवन्धवः ।
 यथाशक्ति यथाकालमुपचर्यन्त एव च ॥ ४
 इन्द्रियेष्वपि संलग्ना इन्द्रियार्थाः पुनःपुनः ।
 न भोगा अनुभूयन्ते नूनं शान्तमनस्तथा ॥ ५
 एकान्तेषु दिगन्तेषु सरःसु विपिनेषु च ।
 उद्याने पुण्यदेशेषु निजेष्वेव गृहेषु वा ॥ ६
 सुहृत्केलिविलासेषु शुभोद्यानाशनादिषु ।

ग्यान्तगुणानभ्यासविजृम्भितमित्यर्थः ॥ ५२ ॥ प्रथमं ससारे निर्वेददशामुपेत्य तेन सत्संगमं शास्त्राभ्यासं उपेत्य तदर्थदृढभावनया सर्वान्भोगाभिरस्य दर्शितलक्षणाद्वैतृण्यदाढ्यात्परमार्थस्वतत्त्वं भूमिकापरिपाकक्रमेणैतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुमुक्षुप्रथमोपक्रमो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

निरूढे परवैराग्ये पुंसो वैर्लक्षणीः स्थितिः ।

यैश्च ज्ञानप्रतिष्ठायां वर्ण्यन्ते तानि विस्तारात् ॥ १॥

तत्रादावष्टमवैराग्यप्रतिष्ठायां सत्यां यानि लक्षणानि भवन्ति तान्याह—रूढे इत्यादिना ॥ १ ॥ श्लोकद्वयं प्रागुक्तानुवादः ॥ २ ॥ संशुष्काण्यमेध्यान्यपवित्राण्युच्छिष्टादिपर्णानि यथा गृहाभिरस्यन्ते तद्वत् ॥ ३ ॥ यथा पान्थानां दृष्ट्या उपयुक्ता अपि भाण्डोपकरा बोद्धमशक्त्या हातुं भाराय दृश्यन्ते तद्वद्विरकेनापि दाराश्च बन्धवश्च दृश्यन्त इत्यर्थः । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि' इति धतुर्यः । लकारेण दक्षिक्रियानिरूपितकर्मचक्ररभिधानेऽपि गम्यमानजहातिक्रियानिरूपितायास्त्वाननभिधानात् । तर्हि किं सहसैव त्यज्यन्ते नेत्याह—यथाशक्तीति ॥ ४ ॥ ५ ॥ तदेव प्रपद्यति—एकान्तेष्वित्यादिना ॥ ६ ॥ आस्थीयते आस्थायता भूयते, आसत्तयभावाभिरं न

शास्त्रतर्कविचारेषु न तथा स्थायते चिरम् ॥ ७
 उपशान्तेन दान्तेन स्वात्मारामेण मौनिना ।
 ज्ञातैवान्विष्यते ज्ञेन विज्ञानैकान्तवादिना ॥ ८
 एवमभ्यासवशतः परे विश्रम्यते पदे ।
 निष्पेवाम्भसि शान्तेन स्वयमेव विवेकिना ॥ ९
 सबाह्याभ्यन्तरं शान्ता ज्ञतैवार्थतयोदिता ।
 न संभवति भिन्नोऽर्थ इत्येव परमं पदम् ॥ १०
 नार्थोपलब्धिर्नो शून्यमस्ति बोधात्मतां विना ।
 इत्यन्तरनुभूतिस्थमाहुस्तत्परमं पदम् ॥ ११
 एकबोधातिसंबन्धपरिणामाज्ज बोधता ।
 न शून्यता नार्थतेति विद्धि तत्परमं पदम् ॥ १२
 स्वसंविन्मात्रविश्रामवताममनसां सताम् ।
 न खदन्ते हि विषयाः पश्यांति दृषदामिव ॥ १३
 निरोधपदमापन्नो निर्मेना मौनमन्थरः ।
 स्वभावे स्थित एवास्ते चित्रे कृत इवात्मवान् ॥ १४
 सर्वार्थमर्थरहितं महदेव पराणुवत् ।
 अशून्यमेव शून्यात्म हृदयं वेद्यवेदिनः ॥ १५
 अहंत्वं जगदीहादि दिक्कालकलनादि च ।

ज्ञस्य ज्ञानादि शून्यादि स्थितमेव न विद्यते ॥ १६
 ज्ञेनामलपदस्थेन दीपेनेव निरस्यते ।
 तमो हार्दं तथा बाह्यं रागद्वेषभयादि च ॥ १७
 रजोरहितसर्वांशं सत्त्वात्पारमुपागतम् ।
 असंभवत्तमोरूपं प्रणमेत्तं नृभास्करम् ॥ १८
 भेदप्रविलये जाते चित्ते चादृश्यतां गते ।
 या स्थितिः प्राप्तबोधस्य न वाग्गोचरमेति सा ॥ १९
 ददात्येतन्महाबुद्धे निर्वाणं परमेश्वरः ।
 अहर्निशं परमया चिरं भक्त्या प्रसादितः ॥ २०

श्रीराम उवाच ।

ईश्वरः को मुनिश्रेष्ठ कथं भक्त्या प्रसाद्यते ।
 एतन्मे तत्त्वतो ब्रूहि सर्वतत्त्वविदां वर ॥ २१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ईश्वरो न महाबुद्धे दूरे न च सुदुर्लभः ।
 महाबोधमयैकात्मा स्वात्मैव परमेश्वरः ॥ २२
 तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः ।
 सोऽन्तः सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ २३

स्थायत इति वा ॥ ७ ॥ देवादास्थितेनापि तत्र तत्र ज्ञाता
 तत्त्वविदेव ज्ञानदाढ्यायान्विष्यते । अथवा ज्ञाता देहेन्द्रिय-
 बुद्ध्यादीनां साक्षाद्गृष्टा प्रत्यगात्मैव चेतसान्विष्यते न तद्यतिरिक्तं
 किंचिदित्यर्थः ॥ ८ ॥ एवं निरन्तरान्वेषणेऽवश्यं स्वात्मदर्श-
 नेन विश्रान्तिः सिद्ध्यतीत्याह—एवमिति ॥ ९ ॥ कीदृशं तत्पदं
 यत्रास्य विश्रान्तिः कीदृशनिश्चयात्मिका च सा तदाह—सबा-
 ह्याभ्यन्तरमिति । अज्ञता स्वाज्ञानमेवाऽर्थतया दृश्यवर्ग-
 कारेणोदिता, सा च भिन्नोऽर्थो न संभवतीति शान्ता सा शान्ति-
 रेव परमं पदमित्यर्थः । अथवा सबाह्याभ्यन्तरं भिन्नोऽर्थो
 न संभवतीत्येव, निश्चयरूपा ज्ञता चरमसाक्षात्कारवृत्तिरेव
 दग्धेन्धनामिवविदात्मनि शान्ता चेतदेव परमं पदमित्यर्थः
 ॥ १० ॥ इति अनुभूतौ स्वानुभवे सर्वबाधावधित्वेन स्थितं
 यत्तदेव परमं पदमित्यर्थः ॥ ११ ॥ तस्य परमपदस्य न
 बोधता न शून्यता नाप्यर्थतेति विद्धि । कृतः । सर्वस्य
 वस्तुजातस्यैकेनाद्वयेन बोधेनैवातिशयितः संबन्धोऽतिसंबन्ध
 आत्यन्तिकैकरस्य तथा परिणामात् । न हि बोध्याभावे तद्यावत्ता
 बोधताप्यपदेष्टुं शक्या, नापि तदर्थता तस्यैव व्यपदेष्टुं शक्या,
 नाप्यर्थशून्यतामात्रेण बोधस्य शून्यताप्रसक्तिरिति भावः ॥ १२ ॥
 तद्विश्रान्तावात्यन्तिकं विषयवैरस्यं सिद्ध्यतीत्याह—स्वेति ।
 यथा अमनसां दृषदां क्षीराणि न खदन्ते तद्वत् ॥ १३ ॥
 बहिर्मुखचित्तानां स्वात्मप्रवणतां स्वात्मविश्रान्तानां च बहि-
 र्मुखतां निष्कन्दीति निरोधस्तथाविधं पदम् । चित्रे कृतो
 लिखित इव निश्चलः ॥ १४ ॥ कीदृशं तदा तस्य मनो भवति
 तदाह—सर्वार्थमिति । वेद्यमवश्यवेदनीयमात्मतत्त्वं वेदितुं

१ स्थिर इति पाठः.

शीलं यस्य तथाविधस्य तस्य हृदयं मनः अर्थरहितमेव सत्स-
 र्वार्थं भवति । सर्वस्य तत्त्वतस्तन्मात्रत्वात् । तथा अपरि-
 च्छिन्नब्रह्माकारत्वान्महदेव सत्तद्यतिरेकेण दुर्लभ्यत्वात्परमाणु-
 वद्भवति ॥ १५ ॥ 'अशून्यमेव शून्यात्म' इति शेषं व्याचष्टे—
 अहंत्वमिति । यतो ज्ञानादि अतस्तत्तया स्थितमेव, यतश्च
 शून्यादि अतो न विद्यते—'नास्ततो विद्यते भावो नाभावो
 विद्यते सतः' इति न्यायादिति भावः ॥ १६ ॥ भयादि यत्तच्च
 निरस्यते ॥ १७ ॥ पक्षद्वयेऽपि विशेषणानि स्पष्टानि ।
 अज्ञाननिशातिरोहितत्वेऽपि सत्त्वात्पारं तमोब्धिपारम्
 ॥ १८ ॥ १९ ॥ एतद्वर्णितं परमपदलक्षणं निर्वाणं परमे-
 श्वरो ददाति । 'तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च' इत्यादिश्रुतेरिति भावः
 ॥ २० ॥ रामप्रश्नः स्पष्टः ॥ २१ ॥ २२ ॥ ईश्वरता हि
 ईश्वरविषये सर्वथा स्वातन्त्र्यम् । तच्च सर्वं प्रति सर्वप्रकारेण
 स्वात्मन एव संभवतीत्युपपत्तिमाह—तस्मै इति । अचेतनं
 हि सर्वं रथगृहप्रासादादि चेतनार्थम् । न च तदतिरिक्तोऽ-
 न्यश्चेतनधातुरस्ति । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुतेः ।
 अनेन सर्वोपभोक्तास्वातन्त्र्यमुक्तम् । कर्तृतादिस्वातन्त्र्यमपि
 तस्यैवेत्याह—तत इति । तृतीयापञ्चमीषष्टीसप्तमीविभक्त्य-
 न्तात्सार्वविभक्तिकस्तसिः कर्तृकरणनिमित्तस्वाम्यादिमात्रेणापि
 स्वातन्त्र्यद्योतनार्थो बोध्यः । स सर्वमित्युपादानाधिष्ठानतादि-
 स्वातन्त्र्यप्रदर्शनाय । एवं सर्वत इत्यपि सर्वशक्तिनिरूपकता-
 स्वातन्त्र्यद्योतनाय बोध्यम् । सौक्ष्म्यसर्वगतत्वपरिणामादि-
 स्वातन्त्र्यमपि तस्यैव संभवतीत्याह—सोऽन्तः सर्वमय
 इति । इत्थं सर्वथा सर्वदा सर्वात्मनस्तस्यैव सर्वथापि सर्वो-
 त्कर्षात्स एवेश्वर इति नमस्कार्य इत्याह—तस्मै इति ॥ २३ ॥

तस्मादिमाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
अकारणं कारणतो गतयः पवनादिव ॥ २४
अनिशं पूजयन्त्येताः सर्वाः स्थावरजङ्गमाः ।
यथाभिमतदानेन सर्वे ते भूतजातयः ॥ २५
सुबहून्येष जन्मानि यथाभिमतयेच्छया ।
यदा संपूजितस्तेन प्रसादमधिगच्छति ॥ २६
प्रसन्नः स महादेवः स्वयमात्मा महेश्वरः ।
बोधाय प्रेरयत्याशु दूतं पूतं शुभेहितैः ॥ २७

श्रीराम उवाच ।

आत्मना परमेशेन को दूतः प्रेर्यते मुने ।
स दूतो बोधनं वापि करोति वद मे कथम् ॥ २८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

आत्मसंप्रेरितो दूतो विवेको नाम नामतः ।
हृद्बुद्ध्या सदानन्दस्तिष्ठतीन्द्रिवाम्बरे ॥ २९
स एष वासनात्मानं जन्तुं बोधयति क्रमात् ।
संसारसागरदस्मात्तारयत्यविवेकिनम् ॥ ३०
बोधात्मैषोऽन्तरात्मैव परमः परमेश्वरः ।
अस्यैव वाचको नाम प्रणवो वेदसंमतः ॥ ३१
जपहोमतपोदानपाठयज्ञक्रियाक्रमैः ।

एष प्रसाद्यते नित्यं नरनामसुरासुरैः ॥ ३२
द्यौर्मूर्धा पृथिवी पादौ तारका रोमराजयः ।
भूतान्यस्थीनि हृदयं व्योमास्य परमेश्वरः ॥ ३३
सर्वत्रैष चिदात्मत्वाद्याति जागर्ति पश्यति ।
तेनैष सर्वतो लक्ष्यकरकर्णाक्षिपादभृत् ॥ ३४
विवेकदूतमुद्बोध्य हत्वा चित्तपिशाचकम् ।
आत्मनः पदवीं स्फारां जीवः कामपि नीयते ॥ ३५
त्यक्त्वा सर्वविकल्पौघान्विकारानर्थसंकरान् ।
पौरुषेणात्मनैवात्मा स्वयमेव प्रसाद्यताम् ॥ ३६
अमन्मनःपिशाचेऽस्मिन्कल्लोलजलदाकुले ।
संसाररात्रितिमिरे स्वात्मैवापूर्णचन्द्रमाः ॥ ३७
अगाधमरणावर्तकल्लोलाकुलकोटरे ।
तृष्णातरङ्गतरेले स्वमनश्चण्डमारुते ॥ ३८
महाजडलवाधारे संसारविषमार्णवे ।
इन्द्रियग्रामगहने विवेकः पोटको महान् ॥ ३९
पूर्वं यथाभिमतपूजनसुप्रसन्नो
दत्त्वा विवेकमिह पावनदूतमात्मा ।
जीवं पदं नयति निर्मलमेकमाद्यं
सत्सङ्गशास्त्रपरमार्थपरावबोधैः ॥ ४०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० सोऽश्वे० निर्वाणप्रकरणे उ० विवेकमाहात्म्यं नामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः ४९

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

परिपुष्टविवेकानां वासनामलमुज्ज्वताम् ।
महत्ता महतामन्तः काण्यपूर्वैव जायते ॥ १

अत एव श्रुतिप्रसिद्धं जन्मादिहेतुतालक्षणं तस्यैवाशयेनाह—
तस्मादिति ॥ १४ ॥ सर्वाराध्यतापि तस्यैव प्रसिद्धेत्याह—
अनिशमिति ॥ २५ ॥ २६ ॥ स एव महादेवः शुभेहितैः
सुकृतैः प्रसन्नः सन् बोधाय सत्त्वज्ञानाधानाय पूतं विशुद्धतमं
वक्ष्यमाणं दूतं प्रेरयति प्रेषयति ॥ २७ ॥ कथं करोति तन्मे
वद ॥ २८ ॥ तेनात्मना देवेन संप्रेरितो विवेको नाम दूत-
ग्रायुकाधिकारिणो हृद्बुद्ध्यामागत्य तिष्ठति यावज्ज्ञानप्रतिष्ठं
स्थिरीभवति ॥ २९ ॥ स विवेकदूतः यद्बोधयति तदेव
तस्य तारणमित्याशयः ॥ ३० ॥ एष सर्वजगत्प्रथाहेतुत्वेन
प्रसिद्धो बोधात्मैवात्तरात्मा न वासनात्मा । स एष परमः
परमेश्वरः । प्रणवोऽस्यैव वाचकः सधाम भवति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
तस्य स्थूलप्रपञ्चोपहितं वैश्वानररूपमात्मभेदभ्रमनिरासायो-
पास्यं दर्शयति—द्यौरिति । तथा च श्रुति—‘अग्निर्मूर्धा चक्षुषो
चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे जगन्निवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो
हृदयं विश्वमस्य पश्चां पृथिवी तेषां सर्वभूतान्तरात्मा’
इति ॥ ३३ ॥ ‘विश्वतश्चक्षुस्त विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुस्त

औदार्योदारमर्यादां मतिं गाम्भीर्यसुन्दरीम् ।

मद्वतां नावगाहन्ते भुवनानि चतुर्दश ॥ २

विश्वतस्पात्’ इत्यादिश्रुतीनामप्यत्रैव सामञ्जस्यमित्याशयेनाह—
सर्वत्रेति । सर्वतो लक्ष्यं करकर्णाक्षिपादं विभर्ति तथाविधः
॥ ३४ ॥ नीयते अनेनेति शेषः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ कल्लोलाः
षड्भूम्यस्तल्लक्षणैर्जलदैराकुले संसारलक्षणरात्रेस्तिमिरे स्वात्मैव
वासमन्तात्पूर्णचन्द्रमाः । साहादप्रकाश इत्यर्थः ॥ ३७ ॥
विवेकस्यैवोत्सारणत्वं वक्तुं संसारे समुद्रतया रूपयति—अगा-
धेति द्वाभ्याम् ॥ ३८ ॥ महता स्थावरजङ्गमभूताद्यात्मना जड-
लवानां जलकणानामाधारे ॥ ३९ ॥ उक्तं प्रश्नोत्तर सक्षिप्योप-
संहरति—पूर्वमिति । स्पष्टम् ॥ ४० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विवेकमाहात्म्यं
नामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

सुप्ररूढविवेकानां महत्ता यादृशी भवेत् ।

यादृक्च विश्वं भवति स्फुटं तद्विह वर्ण्यते ॥ १ ॥

कापि लोकोत्तरा महत्ता जायते ॥ १ ॥ तामेव प्रपञ्चयति—
औदार्येत्यादिना । औदार्यस्य सर्वलोके तारतम्येन प्रसि-
दस्य चदारा श्रेष्ठां मर्यादामवधिभूतां गाम्भीर्येण च सुन्दरीं

चित्तभ्रान्तिर्जगदिति प्ररूढे प्रत्यये सताम् ।
 बाह्यश्चान्तश्चरन्नक्रग्रहो मोहश्च शाम्यति ॥ ३
 द्वीन्दुवत्तापजलवत्केशोण्डकवदम्बरे ।
 विस्फुरन्त्यां जगद्भ्रान्तौ वासनाप्रत्ययः कुतः ॥ ४
 वासनाप्रत्यये शून्ये शून्यं व्योमैव शिष्यते ।
 साप्यवस्था मनोऽसत्त्वे कुतस्त्याज्या विवेकिना ॥ ५
 त्रयमेतत्तु यावस्थात्रयेणानेन वर्जिता ।
 पश्यन्तीवाप्यपश्यन्ती सावस्था परमोच्यते ॥ ६
 विचित्ररत्नरश्म्योद्य इव नानात्मकं जगत् ।
 आभासमात्रं न त्वात्मा न घनं न च पार्थिवम् ॥ ७
 रूपालोकनमात्रं हि शून्यमेव जगत्स्थितम् ।
 खे विचित्रमणिव्यूहकरजालमिवोत्थितम् ॥ ८
 नेह सत्यानि भूतानि न जगत्ता न शून्यता ।
 इदं ब्रह्माख्यरत्नेशप्रभाजालं विजृम्भितम् ॥ ९
 सृष्टयोऽसृष्टयो ब्राह्मयो नानाता च न नाशताः ।
 अमूर्ता एव भासन्ते कल्पनार्कगणा घनाः ॥ १०
 एवं तावद्धनीभूतः पिण्डग्रहो न विद्यते ।
 संकल्पिते च व्योम्नीव शून्यतैवावगम्यते ॥ ११

महतां मतिं चतुर्दशापि भुवनानि तद्गतसंपदो जनाश्च नाव-
 गाहन्ते । न प्रलोभयितुमियत्तया कलयितुं वा शक्नुवन्तीत्यर्थः
 ॥ २ ॥ बहिः शब्दादिलक्षणेध्वतिग्रहेषु भवो बाह्यः अन्तः
 संकल्पविकल्पादिरूपैश्चरन्नत एव हृदान्तर्बहिः संचारक्षमनक्र-
 प्रायो ग्रहः समनस्केन्द्रियादिकलापस्तन्मूलभूतो मोहः अज्ञानं
 चकाराद्वासनाकामकर्मादिश्च शाम्यतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ भ्रान्तीनां
 सत्यतामिमानो यावत्कालं तावदेव तद्वासनोपचयः तासां
 भ्रान्तिरवेन स्फुरणे तद्वासनानामपि भूलोच्छेदादुच्छेदो लोके
 प्रसिद्ध इति दृष्टान्तानुदाहृत्य दर्शयति—द्वीन्दुवदिति । जग-
 द्भ्रान्तौ भ्रान्तिरेवेयमिति तत्त्वबोधाद्विस्फुरन्त्यां सत्याम् ॥ ४ ॥
 सा वासनाशून्या अवस्थापि मनसः असत्त्वे सति सिद्ध्यति । सा
 निर्वासना निर्मनस्कावस्था सप्तमभूमिकायां विवेकिना प्राप्ता
 कुतस्त्याज्या । तस्याग्रे हेतुर्नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ एतत्तु जाग्रदा-
 द्यवस्थात्रयमेव सर्वेषां प्रसिद्धम् । या तु अनेन त्रयेण वर्जिता
 सावस्था, दर्शनादिव्यवहारमूलबाधादपश्यन्त्यपि जीवनमात्र-
 हेतुप्रारब्धशेषेण पश्यन्तीवान्यदृशा भाति, तद्दृष्ट्या तु परमैव
 सोच्यते न दृश्यानुषङ्गेत्यर्थः ॥ ६ ॥ तादृशां व्युत्थानकालेऽपि
 जगज्ज आत्मा न घनं नापि पृथिव्यादिघटितं किंतु विचित्रो
 रत्नरश्म्योद्यो निबिडितप्रभापुञ्ज इव घनतायाभासमात्रमित्यर्थः
 ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ यतो नानाता नास्त्यतः सृष्टयो न सन्ति । यतश्च
 नाशताः न सन्ति अतः असृष्टयः प्रलयाश्च न सन्ति किं लभूर्ता
 एव कल्पनार्कगणा घनीभूय भासन्त इत्यर्थः । अर्कपदेन तत्कि-
 रणा लक्ष्यन्ते ॥ १० ॥ संकल्पकल्पितमूर्ताकाराणां मनोराज्यादौ
 शून्यतैव प्रसिद्धा न पिण्डग्रह इत्याह—एवं तावदिति ॥ ११ ॥
 शून्यताप्रसाधनस्य फलमाह—तस्यामिति । तस्यां शून्यतायां

तस्यामवस्तुभूतायां कथं भावनिबन्धनम् ।
 भविष्यदाकाशतरौ विश्रान्तः को विहंगमः ॥ १२
 पिण्डत्वं नास्ति भूतानां शून्यता च न विद्यते ।
 चित्तमप्यत एवास्तं शेषं सत्तन्त्र चास्थितिः ॥ १३
 अनानासममेवास्ते नानारूपो विबोधवान् ।
 अन्तरालीननानार्थो यथा कनकपिण्डकः ॥ १४
 यथास्थितस्य साहंत्वं विश्वं चित्तं विलीयते ।
 ज्ञस्यावाच्यमचित्त्वं सत्स्वरूपमवशिष्यते ॥ १५
 क्लिश्यते केवलं बुद्धिरुत्तराधरदर्शनैः ।
 स्तोकयाभ्यस्तया युक्तया सत्योऽर्थो ह्यवगम्यते ॥ १६
 विराडोजोविरहितं कार्यकारणतादिभिः ।
 भूतभव्यभविष्यस्य जगदङ्गस्य संभवम् ॥ १७
 येन बोधात्मना बुद्धं स ज्ञ इत्यभिधीयते ।
 अद्वैतस्योपशान्तस्य तस्य विश्वं न विद्यते ॥ १८
 पूर्वोक्ताः सर्व एवैते उपदेशा विशेषणाः ।
 ज्ञस्यानुभवमायान्ति स्वतः साधुकथा इव ॥ १९
 पिण्डत्वं नास्ति भूतानां शून्यत्वं चाप्यसंभवात् ।
 अत एव मनो नास्ति शेषं सत्तत्त्व स्थितिः ॥ २०

अहंमत्तारागद्वेषादिभावनिबन्धनं कथम् । न संभवत्येवेत्यर्थः
 ॥ १२ ॥ एवं जगतः पिण्डत्वाद्यपलापे सन्मात्रं सारतया
 परिशिष्टमित्याह—पिण्डत्वमिति । तत्तु दुरपहवमित्याह—
 तन्न चास्थितीति ॥ १३ ॥ अत एव तत्त्वविज्ञाप्रत्यपि
 सुषुप्तस्थो भासमाननानात्वानां सन्मात्रात्मन्यन्तर्लयादिति सदृष्टा-
 न्तमाह—अनानासममेवेति ॥ १४ ॥ ननु ज्ञस्य तत्सन्मात्र-
 मवशिष्टचिद्रूपमेव किं न स्यात् । सति हि चित्ते चिदमिव्यक्तिः
 प्रसिद्धा, तद्विलये तदसंभवादित्याशङ्क्याह—यथास्थितस्येति ।
 यदि अयथास्वभावे जाड्ये स्थितस्यास्य साहंत्वं विश्वं चित्तं च
 विलीयेत तदा जडसन्मात्रपरिशेषो भवेत् । न त्वेवं किंतु
 ज्ञस्य यथाभूतचिदेकस्वभावे स्थितस्य साहंत्वं विश्वं चित्तं च
 तत्त्वदर्शनाद्विलीयते, तदा तु परिशिष्टचिदेकरसस्याऽचित्त्वं वक्तु-
 मशक्यमिति चिदेकरससत्परिशेषसिद्धिरित्यर्थः ॥ १५ ॥ यदि
 तत्स्वरूपमेव तर्हि सर्वेषां कुतो न सुलभमिति चेदुच्चावचविषये-
 ष्वेव बुद्धेश्चलतया स्थैर्याभावादित्याह—क्लिश्यत इति ॥ १६ ॥
 कासौ स्तोका युक्तितां दर्शयंस्तदभ्यासफलं ज्ञानलक्षण-
 मित्याह—विराडिति । येन अधिकारिणा भूतभव्यभविष्य-
 त्सर्ववस्तुलक्षणस्य जगदङ्गस्य संभवं जन्म कार्यकारणतादिभि-
 र्विमृश्य वाचारम्भणश्रुतिदर्शितन्यायेन विराजा स्थूलप्रपञ्चेन
 भोजसा तद्विष्टम्भकसूत्रात्मकप्रधानेन सूक्ष्मप्रपञ्चेन विरहितं
 परिशिष्टसन्मात्ररूपाखण्डबोधात्मना बुद्धं स एव ज्ञस्तत्त्वविदिति
 सार्धस्यार्थः ॥ १७ ॥ १८ ॥ सर्वोपदेशानां तत्तदसंभावनांश-
 व्यावर्तकानां तादृशानुभवे पर्यवसानमित्याह—पूर्वोक्ता इति
 ॥ १९ ॥ युक्त्यन्तरमाह—पिण्डत्वमिति । चतुर्विधभूतप्रामाणां
 पृथिव्यादिमहाभूतानां चावयवशो गुणशब्द विविच्य दृश्यमानानां

चेत्योन्मुखत्वमेवान्तश्चेतनस्यास्य चेतनम् ।
 उदितं तदनर्थाय श्रेयसेऽनुदितं भवेत् ॥ २१
 उदितं बाह्यतामेति तत्र गच्छति पिण्डताम् ।
 स्वयं संवेदनादेव जाड्यादन्विव शैलताम् ॥ २२
 स्वप्नाद्यर्थवदादत्ते बोधोऽबोधेन पिण्डताम् ।
 तद्भाहकतया चित्तं भूत्वा वध्नाति देहकम् ॥ २३
 एतावतीष्ववस्थासु बोधस्योदेति नान्यता ।
 शब्दकल्पनया भेदः केवलं परिकल्पितः ॥ २४
 बहिरन्तश्च बोधस्य भाव्यात्मैवार्थदृष्टिभिः ।
 अन्तस्त्वेन बहिष्ठेन नैवास्य मनसो यथा ॥ २५
 बोधस्याकाशकल्पत्वात्कालाकाशादि तद्वपुः ।
 पदार्थाश्चैव स्वात्मानः स्वप्नवन्नार्थरूपि खम् ॥ २६
 बाह्यार्थता नान्तरत्वं तद्वद्वोधवशाद्भजेत् ।
 नासादृश्यं हि बोधत्वं गन्तुं शक्तं जडं कश्चित् ॥ २७
 बोधो दृश्यदशां नैति प्राप्तो वापि च तां स्थितिम् ।
 स यथास्थितमेवास्ते मनागप्येति नान्यताम् ॥ २८
 अत्यर्थं शुद्धबोधैकपरिणामे कृतोदये ।
 बोधाबोधार्थशब्दानां श्रुतिरप्यस्तमेव्यति ॥ २९
 आतिवाहिकदेहानां चित्तानामेव जायते ।

परमाणुभावेऽप्यविभ्रान्ते पिण्डत्वं तावन्नास्ति । नापि च
 शून्यत्वं प्रत्यक्षत्वाद्यसंभवात् । उभयासंभवे च सर्वविकल्पाप-
 गमात्तदधीनस्थितिकं मनोऽपि नास्तीत्यविकल्पं सन्मात्ररूपं
 स्फुरणमेव शिष्यत इति शेषं तदेव तत्र पारमार्थिकं रूपं स्थितिः
 प्रतिष्ठेत्यर्थः ॥ २० ॥ युक्त्यन्तरमाह—चेत्योन्मुखत्वमिति ।
 अन्तश्चेतनस्यास्य प्रत्यगात्मनश्चेत्योन्मुखत्वमेव चेतनं ससारा-
 त्मना बोधः ॥ २१ ॥ कथमनर्थाय तदाह—उदितमिति ।
 शैलतां करकोपलभावम् ॥ २२ ॥ बोधश्चिदात्मा । अबोधेन
 स्वाशानेन ॥ २३ ॥ ईदृशविवर्तसहस्रैरपि चित्तो नाणुमात्रमपि
 विकार इति तेषां वाच्यारम्भणमात्रत्वमित्याह—एतावती-
 ष्विति ॥ २४ ॥ यथा स्वप्नस्य मनसा दर्शने मनस एवान्तस्त्वेन
 बहिष्ठेन च मन एव विकृतं भाति न तथा बोधात्मा अर्थदृष्टि-
 भिर्मासमानोऽपि विकृत इत्यर्थः ॥ २५ ॥ कृतो न विकृतस्तत्राह—
 बोधस्येति । कालाकाशादिवदविकृतमित्यर्थः । अर्थरूपि
 अर्थाकारपरिणामि ॥ २६ ॥ चिज्जडबाह्यार्थाकारेण न विक्रियता
 जडमेव तत्त्वबोधवशादान्तरविदाकारत्वेन विक्रियतां तत्राह—
 बाह्येति । हि यस्याज्जडमसादृश्यमत्यन्तविसदृशमित्यर्थः ॥ २७ ॥
 ता दृश्यस्थितिं विवर्तवशात्प्राप्तोऽपि स बोधो यथास्थितमविकृत
 एवास्ते ॥ २८ ॥ सप्तमभूमिकाविभ्रान्तिपर्यन्ते परिणामे परिणतो
 ॥ २९ ॥ इदं स्य मनोभावनयैव दृढीभाव इव तथैव शिथिलीभाव
 इत्याह—आतिवाहिकेत्यादिना ॥ ३० ॥ नटैः पिशाचवेषना-
 टनाय कल्पिता पिशाचत्वेव ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ भावना अर्थसत्ता-
 तावासना ॥ ३३ ॥ एतस्याच्छेदे उच्छेदे परा उद्युक्ता ॥ ३४ ॥

आधिभौतिकताबोधो दृढभावनया स्वया ॥ ३०
 आकाशविशदैश्चित्तैर्भावितातिवाहिकैः ।
 आधिभौतिकता मिथ्या नटैरिव पिशाचता ॥ ३१
 आन्तरिभ्रमणाभ्यासात्प्रज्ञातैषोपशाम्यति ।
 नोन्मत्तोऽस्मीति संबोधाच्छाम्यत्युन्मत्तता किञ्च ॥ ३२
 भ्रान्तेः स्वयं परिज्ञानाद्भासना विनिवर्तते ।
 स्वप्ने स्वप्नतया बुद्धे कस्य स्यात्किञ्च भावना ॥ ३३
 वासनातानवेनैव संसार उपशाम्यति ।
 वासनैव महायक्षिण्येतच्छेदपरा बुधाः ॥ ३४
 अज्ञानोन्मत्तता पुंसां यथाभ्यासेन भाविता ।
 तथैव बोधात्स्वभ्यासात्सा कालेनोपशाम्यति ॥ ३५
 आतिवाहिकदेहोऽयमाधिभौतिकता यथा ।
 नीयते भावनां तज्ज्ञैर्बोधसत्ताप्रसादतः ॥ ३६
 आतिवाहिकदेहोऽपि नीत्वा जीवपदं तथा ।
 दृढेन बोधाभ्यासेन नेतव्यो ब्रह्मतामपि ॥ ३७
 स्ववस्तुवच्चैदुत्पत्तिर्बुध्यते बोधरूपिणी ।
 तदातिवाहिकी बुद्धिः कथमित्यपि बुध्यते ॥ ३८
 नो चेत्तत्प्रतिवाक्यार्थात्तद्वन्निर्विनिवर्तते ।
 भूतोत्सादनसूत्रस्य प्रतिपत्तृपदं यथा ॥ ३९

सा अज्ञानप्रयुक्ता उन्मत्तता ॥ ३५ ॥ बोधस्य सत्ता अभ्यास-
 दृढीकृता स्थितिस्तत्प्रसादतः आतिवाहिकदेहो भावनां ब्रह्मार्ह-
 भाववासानामाश्रया तथा नीयत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ भावनां
 नीत्वा जीवपदं जीवता नीत्वा ततो ब्रह्मता नेतव्यः ॥ ३७ ॥ कथं
 जीवपदं नेतव्यः कथं च ब्रह्मतां तदाह—स्ववस्तुवदिति ।
 उत्पन्नान् हि बाह्यानाम्यात्मिकाश्च भावान्प्रति रागादुद्भावेना-
 त्मानमतिवहतीत्यविवाहो वासनासङ्गस्त्वदुद्भवो हि लिङ्गदेह
 आतिवाहिक इत्युच्यते । तत्र सर्वभावानां प्रथमो विकार उत्पत्तिः
 सा चेद्विमृश्य स्ववस्तुवत्कूटस्था बोधमात्ररूपिणी बुध्यते तदा
 आतिवाहिकीबुद्धिरपि कथं कितत्त्वा इति तुल्यन्यायेन बुध्यते ।
 न तावत्कस्यचिद्भावस्य कूटस्थबोधस्वभावव्यतिरेकेणोत्पत्ति-
 र्निरूपयितुं शक्या । तथा हि । सा हि प्राक्स्वयमुत्पद्य भावा-
 न्विशिष्यादनुत्पद्य वा । द्वितीये शृङ्गमपि शशं विशिष्यात् ।
 आद्ये स्वयमुत्पत्त्यादिमिर्विशेष्यमाणा भाव एव स्यान्न भाव-
 विकारः । एवं तदुत्पत्तिरपीत्यनवस्थादोषाभ्युपगमे निर्विकार-
 भावानवस्थैव स्यादिति नोत्पत्त्यादिविकाराः कस्यचित्केनचिन्-
 रूपयितुं शक्या इति कूटस्थबोधरूपा एव ते इति बुद्धे कः
 कस्यै कमतिवहेति तदतिवहनं का वा तद्वद्विरन्या स्यादिति
 सापि तत्त्वतो बुध्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥ अनयैव रीत्या तत्त्व-
 पदार्थशोधने सर्वमहावाक्यान्यखण्डार्थबोधनेन सर्वसंदेहग्रन्थि-
 मेदने समर्थानि । अन्यथा तु भूतोत्सारणमन्त्रगतहुंफडादिपद-
 वदनर्थकान्येव श्रवणमात्रवलात्ससारं निवर्तयन्तीति कल्प्यं
 स्यादित्याह—नो चेदिति । सूत्रस्य मन्त्रस्य प्रतिपत्तृपदं

जगद्वोद्यैकतां बुद्ध्या बोद्धव्या तावदव्रणम् ।
अत्यन्तपरिणामेन यावत्सापि न बुध्यते ॥ ४०
सबाह्याभ्यन्तरे चित्ते शान्ते भाति स्वभावता ।
शीतलां व्योमनिर्भासां तामेवाश्रित्य शाम्यताम् ॥ ४१
ज्ञानवान्ज्ञानयज्ञस्थो ध्यानयूपं विरोपयन् ।
जगद्विजित्य जयति सर्वत्यागैकदक्षिणः ॥ ४२
पतत्यङ्गारवर्षे च वाति वा प्रलयानिले ।
भूतले व्रजति व्योम्नि सममास्ते ह आत्मनि ॥ ४३
वैतृष्ण्यशान्तमनसो निरोधमलमीयुषः ।
स्थितिर्वज्रसमाधानं विना नान्योपपद्यते ॥ ४४
यथा बाह्यार्थवैतृष्ण्ये नोपशाम्यत्यलं मनः ।
न तथा शास्त्रसंदर्भेनोपदेशतपोदमैः ॥ ४५
मनस्तृणस्य सर्वार्थवैतृष्ण्यश्रिर्विवोधितः ।
सर्वत्यागानिलैः संपदत्यापदिति भावनात् ॥ ४६
बहिरन्तश्च मोहश्च पिण्डग्राहोऽर्थवेदनम् ।

इतिरेवेति कचति ज्ञात्वा मणिरिवात्मनि ॥ ४७
नरनागासुरागारगिरिगह्वरदृष्टिभिः ।
चित्तिरेवेति विसृता धूमोऽम्बुदतयेव खे ॥ ४८
वेपन्ते चिद्रवत्वेन ब्रह्माण्डजडभाण्डगाः ।
स्वविवर्ततरङ्गिण्यो जीवशक्त्याऽऽपतद्रसाः ॥ ४९
जीवकाजीर्णशफरी व्योमवारिविहारिणी ।
मोहजालेन वलिता न स्मरत्यात्मनि स्थितिम् ॥ ५०
घनीभूता घनत्वेन चिद्वना गगनाङ्गणे ।
नानापदार्थरूपेण स्फुरति स्वात्मनात्मनि ॥ ५१
सर्व एव समा जीवा वासनामन्तरेण च ।
शुष्कपर्णवदुद्धीना जडाः श्वसनवेणवः ॥ ५२
आहत्य पौरुषबलान्यवजित्य तन्द्री-
मुत्थाय तर्जितसमर्जितवासनौघम् ।
संसारपाशघनपञ्जरमञ्जसैव
महत्त्वाभ्युदेयमभितोऽहसमेन भाव्यम् ५३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्त० सर्वोपशान्तिर्नामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

हुंफडादिपदं यथा तथा भवेदिति शेषः ॥ ३९ ॥ तत्पदार्थ-
शोधाय वाचारम्भणन्यायेन प्रथमं जगत्कारणेश्वरस्वरूप-
बोधैकतां बुद्ध्या तदनन्तरं तत्पदार्थशोधाय प्रत्यक्चिदपि 'स
पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' इति श्रुतिदर्शितदिशा असङ्गाद्व्या-
बोद्धव्या । कियत्कालं पदार्थद्वयशोधनपरेण भाव्यं तत्राह—
अत्यन्तेति । यावत्पदार्थयोरखण्डैकरसवाक्यार्थरूपेणाल्यन्त-
परिणामेन सा अखण्डाकारवृत्तिरपि न बुध्यते तावत्काल-
मित्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ स एव मुख्यो विश्वचिदाख्यो ज्ञानयज्ञ
इत्याह—ज्ञानवानिति । विरोपयन् दृढं निखायोच्छ्रयन्सन् ।
सर्वत्याग एवैका मुख्या सर्वस्वदक्षिणा यस्य तथाविधो भूत्वा
जगद्विश्वं विजित्य जयति सर्वोत्कर्षेणास्ते ॥ ४२ ॥ सर्वोत्कर्षमेव
सर्वविपदप्रकम्प्यत्वेन प्रथमं वर्णयति—पततीति ॥ ४३ ॥ वज्र-
सारवैतृष्ण्यशान्तिसुखोत्कर्षस्थैरेणापि तं वर्णयति—वैतृष्ण्य-
मित्यादिना ॥ ४४ ॥ शान्तिसाधनानां मध्ये वैतृष्ण्यस्योत्कर्ष-
माह—यथेति ॥ ४५ ॥ संपत्सर्वाप्यत्यापदिति भावनान्मनो-
लक्षणस्य तृणोच्चयस्य मध्ये सर्वत्यागलक्षणैरनिलैर्विवोधितः
सर्वार्थवैतृष्ण्यलक्षणोऽभिज्ञात्वा चरमसाक्षात्कारज्वालात्मना
प्रबुध्य बहिरन्तश्च प्रसिद्धो यो मोहान्धकारो यश्च तत्प्रयुक्त-
श्चोरयक्षादिकल्पनातुल्यो ब्रह्माण्डभूतभौतिकमूर्तलक्षणपिण्ड-
ग्राहो यच्च तत्प्रयुक्तं चक्षुरादिना शब्दार्थवेदनं तत्सर्वं ज्ञप्तिश्चि-
दात्मैवेत्यखण्डाद्वयस्वभावेनैव कचति । यथा वज्रादिमणिः
स्वप्रतिबिम्बितवस्तुजातं स्वैकरसेन प्रथयन्स्वत एव कचति
तद्वदिति द्वयोरन्वयः ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ विसृता विविधं वैचित्र्यं
ग्राप्ता ॥ ४८ ॥ ब्रह्माण्डभाण्डान्तर्गतसर्ववस्तूनां चिदाह्यधीन-
यो० वा० १४८

स्पन्दत्वादपि चिद्विवर्तमात्रत्वमित्याशयेनाह—वेपन्ते इति ।
जीवशक्त्या प्राणेन आपतद्रसा सरसाः ॥ ४९ ॥ तत्र चतुर्विध-
शरीरलक्षणचिद्विवर्ततरङ्गिणीषु जीवशफरीणां मोहजालेन
बन्धात्स्वतत्त्वासरणमित्याह—जीवकेति ॥ ५० ॥ चिदेव
आत्मनि स्वरूपलक्षणे गगनाङ्गणे घना मेघा इव संपद्य स्थिता
घनत्वेन भूरादिमूर्ताकारेण नानापदार्थरूपेण स्फुरति ॥ ५१ ॥
तत्र जीवानां तुल्यस्वभावत्वेऽपि वासनावैचित्र्यादेव संसार-
दुःखवैचित्र्यं नान्यकृतमित्याह—सर्व एवेति । वासनामन्त-
रेण विना इतरांशे समाः वासनावैषम्यादेव शुष्कपर्णवदुद्धीनाः
सन्तो विचित्रस्वर्गनरकादिभूविभागेषु पतन्ति न स्वतः । यतो
जडोपाधिसाम्याज्जडाः श्वसनस्य प्राणस्य वेणव इव ध्वनिवैचि-
त्र्येऽपि वासनाद्बुद्धिचेष्टावैचित्र्यमन्तरेण क्षमन्त इत्यर्थः
॥ ५२ ॥ अत एव वासनावज्रपञ्जरभेदनार्थमेव निस्तन्द्रपौरुष-
प्रयत्नो वर्धनीयस्तत एव परमपुरुषार्थसिद्धिरित्युपसंहरति—
आहत्येति । आदौ पौरुषबलानि साधनचतुष्टयश्रवणमनना-
दीन्याहत्य ततो ध्यानविघ्नभूतां तन्द्रीमासनप्राणायामाद्यभ्यासे-
नावजित्य संप्रज्ञातसमाधिना बहिर्दृष्टेत्याय निर्विकल्पासंप्र-
ज्ञातसमाध्यनुप्रवेशादेव समर्जितं प्राक्समर्जितवासनौघलक्षणं
संसारपाशघनपञ्जरमञ्जसा शीघ्रमेव तत्त्वसाक्षात्कारेण महत्त्वा
अभितः पूर्णानन्दैकरसब्रह्मात्मना उदेयं त्वया न त्वज्ञसमेन
संसारान्तर्वर्तिना भाव्यमित्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
रामायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्वोपशान्ति-
र्नामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः ५०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इमे ये जीवसंघाता दृश्यन्ते दश दिग्गताः ।
नरनागसुरागेन्द्रैर्गन्धर्वाद्यभिधानकाः ॥ १
ते स्वप्नजागराः केचित्केचित्संकल्पजागराः ।
केचित्केवलजाग्रत्स्थाश्चिराज्जाग्रत्स्थिताः परे ॥ २
घनजाग्रत्स्थिताश्चान्ये जाग्रत्स्वप्नास्तथेतरे ।
क्षीणजागरकाः केचिज्जीवाः सप्तविधाः स्मृताः ॥ ३
श्रीराम उवाच ।

एतेषां भगवन्भेदो बोधाय मम कथ्यताम् ।
जीवानां सप्तरूपाणां जलानामर्णवेष्णिव ॥ ४
श्रीवासिष्ठ उवाच ।

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित् ।
केचित्सुप्ताः स्थिता देहैर्जीवा जीवितधर्मिणः ॥ ५
ये स्वप्नमभिपश्यन्ति तेषां स्वप्नमिदं जगत् ।
विद्धि ते हि खलूच्यन्ते जीविकाः स्वप्नजागराः ॥ ६
क्वचिदेव प्रसुप्तानां यः स्वप्नः स्वयमुत्थितः ।
विषयः सोऽयमस्माकं तेषां स्वप्नरा वयम् ॥ ७
तेषां चिरतया स्वप्नः स जाग्रत्स्वप्नागतः ।
स्वप्नजागरकास्ते तु जीवास्ते तद्वताः स्थिताः ॥ ८

वासनादाढ्यंशैथिल्यभेदवैविध्यकल्पितम् ।

इह बोधाय जीवानां साप्तविध्यं प्रपञ्चयते ॥ १ ॥

सर्वे एव समा जीवा वासनामन्तरेण चेत्यन्ते यज्जीवानां
वासनावैविध्यमात्रेण वैविध्यमुक्तं तत्साप्तविध्येन लक्षणैर्निरूप-
यितुं प्रतिजानीते—इमे इति । नरनागादिदेहवैविध्यैर्ग-
दृश्यन्ते ते इति संबन्धः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ अर्णवेषु क्षीरादिरस-
भेदवास्तितानां जलानामिव ॥ ४ ॥ तत्राद्यान् जीवटोपाख्यान-
दर्शितन्यायमवलम्ब्य लक्षयति—कस्मिंश्चिदित्यादिना ।
देहैर्जीवितधर्मिणो जीवन्तः सन्तो ये स्वप्नमभिपश्यन्तीति
परेणान्वयः ॥ ५ ॥ ६ ॥ तेषां स्वयमुत्थितो यः स्वप्नप्रपञ्चः
सोऽयं समानकर्मवासनोद्भववशादस्माकं यदा विषयो भवति
तदा वयं तेषां स्वप्नरा इत्यर्थः । उपपादितो हायमर्थः
प्राग्विलोपाख्याने ॥ ७ ॥ तेषु स्वप्नजागरकशब्दमुपपादयति—
तेषामिति । जगतागतो यतोऽत इति शेषः ॥ ८ ॥ 'तेषां स्वप्न-
नरा वयम्' इति यदुक्तं तदप्युपपादयति—सर्वज्ञत्वादिति ।
'नन्वस्मदीयदेहादिप्रपञ्चो यदि वासनात्मना तच्चित्ते स्यात्तदा स
एव तेषां स्वप्ने उद्भूत इति तदन्तर्गतानामस्माकं तदीयस्वप्नरत्नं
स्यात् । न त्वेतत्सम्भवतीति चेन्मैवम् । येन हेतुना सर्वं सर्वत्र
विद्यते सर्वसत्ताप्रदस्य मामाशवस्त्रक्षणः सर्वगस्य सर्वत्र सर्व-
ज्ञत्वात् । अतो वयं तेषां स्वप्नरास्तदन्तःकरणे वासनात्मना
स्थिता एव तत्स्वप्ने कर्मसाम्याद्युपपदमिव्यक्ता इत्यर्थः ॥ ९ ॥
अस्तु दैशिकी सर्वत्र सर्वस्थितिः कालिकी तु न संभवति ।

१ (देव) (भूत) इति चेद्भर ।

सर्वज्ञत्वात्सर्वगस्य सर्वं सर्वत्र विद्यते ।

येन स्वप्नवतां तेषां वयं स्वप्नराः स्थिताः ॥ ९
श्रीराम उवाच ।

येषु कल्पेषु ते जाताः क्षीयन्ते कल्पकल्पनाः ।
यदि तास्तत्कथं तेषां प्रबुद्धानामवस्थितिः ॥ १०
श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इह स्वप्नभ्रमान्ते ते मुच्यन्ते वा विनिद्रताम् ।
प्राप्य संकल्पतो देहांतयैवान्यान्यन्यलम् ॥ ११
तथैवान्यं प्रपश्यन्ति जगत्कल्पं च कल्पितम् ।
कल्पनाभासनभसो न हि संकटता भवेत् ॥ १२
संकल्पनात्मकजगज्जीर्णोदुम्बरकीटकाः ।
स्वप्नजागरकाः प्रोक्ताः शृणु संकल्पजागरान् ॥ १३
कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित् ।
अनिद्रालव एवान्तः संकल्पैकपराः स्थिताः ॥ १४
ध्यानाद्विलुठिता वाथ मनोराज्यवशानुगाः ।
संकल्पदाढ्यमापन्ना गलिताप्रानुभूतयः ॥ १५
संकल्प एव जाग्रत्वं येषां चिरतरांशतः ।
तत्रास्तमितचेष्टानां ते हि संकल्पजागराः ॥ १६
संकल्पोपशमे भूयस्तमन्यं वा श्रयन्ति ते ।

अतीतकल्पेषु वर्तमानवस्तुस्थित्ययोगादन्यथा सर्वकल्पानां
योगपथापत्त्या भेदाभावप्रसङ्गादित्याशयेन रामः पृच्छति—
येष्विति । आगेषु कल्पेषु ते अस्मत्प्रपञ्चस्वप्नप्रद्वारो जीव
जाता जन्म प्राप्तास्तेषां कल्पानां कल्पनाः सह तद्देहैः संप्रतं
यदि क्षीयन्ते नष्टास्तर्ह्येतस्मात्स्वप्नात्प्रबुद्धानां तेषां पुनरतीते
कल्पे नावस्थितिः सिद्ध्यति । न ह्यद्यतनस्वप्नात्प्रबुदेन पूर्वसुख-
नोऽपि जागरोऽनुभवितुं शक्यः, दूरे पूर्वकल्पस्थः स इति
भावः ॥ १० ॥ ते जीवा यद्यस्मत्प्रपञ्चात्मके स्वप्ने तत्त्वज्ञानं
दैवाल्लभन्ते तर्हि मुच्यन्ते एवेति नैतदोषप्रसक्तिः, यदि तु तत्र
लभन्ते तर्हि न तत्कल्पशेषस्तेषामतीत इत्येव सङ्गविध्यलेशः ।
अन्यकल्पनाकल्पितानामेवात्ययात् । तच्चेतसि प्रातिस्निकतत्क-
ल्पशेषकल्पनाया अग्रेऽप्येन्दवोपाख्यानन्यायेनोपपत्तेरित्याशयेन
वसिष्ठः समाधत्ते—इहेति । 'अन्यान्यश्रयन्ति' इत्युक्त्या इष्ट-
सृष्टिवादमालम्ब्य प्रत्यहं जागरे देहान्तरकल्पनायामपि संस्कार-
वशादेव प्रत्यभिज्ञैत्यपि दर्शितम् ॥ ११ ॥ संकटता निर्वका-
शता ॥ १२ ॥ आद्यजीवानां निरूपणमुपसंहृत्य द्वितीयानुक्तं
मुपक्रमते—शृण्विति ॥ १३ ॥ अनिद्रालवस्त्यक्तनिद्रा एवै-
न्दववत्संकल्पपराः ॥ १४ ॥ अथवा जीवटोपाख्यानोक्तमिष्ट-
बुद्धानाद्विलुठिताश्चलिताः । गलिता अप्रानुभूतिः पूर्ववत्स्था-
संघानं येषाम् ॥ १५ ॥ येषां जीवानां संकल्प एव विराजुर्न्या-
यनीभूते जाग्रत्त्वं जागराभिमानः तत्र सांकल्पिकार्थैवेवास्मिता
न पूर्वापरप्रतिसंभानक्षमा मनश्चेष्टा येषाम् ॥ १६ ॥ तं प्राकृतं

देहे तेषां वयमिमे संकल्पपुरुषाः स्थिताः ॥ १७
 संकल्पजागराः प्रोक्ता एते संकल्पशायिनः ।
 जीवा जीवितगा लोकाः शृणु केवलजागरान् ॥ १८
 प्राथम्येनावतीर्णास्ते ब्रह्मणो बृंहितात्मनः ।
 प्रोक्ताः केवलजागर्याः प्रागुत्पत्त्यविकासिनः ॥ १९
 भूयो जन्मान्तरगतास्त एव चिरजागराः ।
 कथ्यन्ते प्रौढिमायाताः कार्यकारणचारिणः ॥ २०
 त एव दुष्कृतावेशजडस्थावरतां गताः ।
 घनजाग्रत्तया प्रोक्ता जाग्रत्सु घनतां गताः ॥ २१
 ये तु शास्त्रार्थसत्सङ्गबोधिता बोधमागताः ।

पश्यन्ति स्वप्रवज्जाग्रजाग्रत्स्वप्ना भवन्ति ते ॥ २२
 ये तु संप्राप्तसंबोधा विश्रान्ताः परमे पदे ।
 क्षीणजाग्रत्प्रभृतयस्ते तुर्यां भूमिकां गताः ॥ २३
 इति सप्तविधो भेदो जीवानां कथितस्तव ।
 समुद्राणामिव मया बुद्ध्वा श्रेयःपरो भव ॥ २४
 भ्रान्तिं परित्यज जगद्गणनात्मिकां त्वं
 बोधैकरूपघनतामलमागतोऽसि ।
 शून्यत्ववर्जितमशून्यतया च मुक्तं
 तेन द्वयैक्यकविमुक्तवपुस्त्वमाद्यम् ॥ २५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे जीवसप्तकप्रकारवर्णनं नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः ५१

श्रीराम उवाच ।
 कथं केवलजाग्रत्स्वमकारणमनर्थकम् ।
 पराद्विकसति ब्रह्मन्गगनादिव पादपः ॥ १
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 अकारणं महाबुद्धे न कार्यमुपलभ्यते ।
 तज्जाग्रतः केवलस्य न कश्चिदिह संभवः ॥ २
 तस्यातो संभवादन्त्ये जीवभेदाः सजीवकाः ।

व्यवहारमन्यं तद्विलक्षणं वा । तेषां दृष्ट्या तु वयं संकल्पपुरुषा
 एव तुल्यसंकल्पोद्भवदित्यर्थः ॥ १७॥ एते जीवाः । तेषां संकल्प-
 जीवितं गच्छन्ति प्रविशन्ति तथाविधा अस्मदादिलोकाश्च तद्दृष्ट्या
 संकल्पजागरा एव । तृतीयान् भावयति—शृण्विति ॥ १८॥
 सृष्टिसंकल्पेन बृंहितात्मनो ब्रह्मणो वक्ष्यमाणरूपादस्मिन्कल्पे
 प्राथम्येनावतीर्णा लब्धशरीरास्तस्मिन्जन्मनि स्वप्नपूर्वकत्वाभावा-
 त्केवलजागर्याः । यथा प्रागुक्ता दामव्यालकटाः । यतस्ते
 प्रागुत्पत्तिविकाशलक्षणस्वप्नशून्याः कल्पान्तरीयजाग्रत्संस्कारस्य
 जाग्रज्जननेनैवोपक्षीणस्यैतत्कल्पीयस्वप्नहेतुत्वाकल्पनादिति भावः
 ॥ १९ ॥ चतुर्थानाह—भूय इति । जन्मान्तरेषूत्तरोत्तर-
 जन्मपरंपरासु गताः कार्ययोजार्जाग्रत्स्वप्रयोः कारणे सुषुप्तौ च
 संचरणशीलाः ॥ २० ॥ पञ्चमोल्लस्यति—त एवेति ।
 जाग्रत्सु जाग्रद्दशासु घनतामज्ञाननिविडताम् । जाग्रत्स्विति
 विशेषणात्स्वप्ने स्थावराणामपि कदाचिन्मनुष्यभावाददर्शन-
 मस्त्येवेति गम्यते । इति पञ्चधा भिन्ना बद्धजीवाः ॥ २१ ॥
 अवशिष्टं भेदद्वयं जीवन्मुक्तेषु दर्शयिष्यन् षष्ठानाह—ये त्विति ।
 चतुर्थपञ्चमषष्ठभूमिकास्था इति यावत् ॥ २२ ॥ सप्तमभूमिका-
 रूढा एव सप्तमा इत्याशयेनाह—ये त्विति ॥ २३ ॥ श्रेयःपरः
 उत्तरोत्तरश्रेष्ठभूमिकातत्परः ॥ २४ ॥ हे राम, त्वं जगतो गणना
 द्वितीयादिवस्तुबुद्ध्या दर्शनं तदात्मिकां भ्रान्तिं परित्यज ।
 यतः अलं बोधैकरूपघनतामागतोऽसि । तेन द्वितीयाद्यभावेन
 तदावृत्तैक्यस्याप्यसंभवेन द्वयैक्यकाभ्यां विमुक्तवपुः अत एव

सर्वे न संभवन्त्येव कारणाभावविक्षताः ॥ ३
 नेह प्रजायते किञ्चिन्नेह किञ्चन नश्यति ।
 उपदेश्योपदेशार्थं शब्दार्थकलनोदयः ॥ ४
 श्रीराम उवाच ।
 कः करोति शरीराणि मनोबुद्ध्यादिचेतनैः ।
 को मोहयति भूतानि क्षेत्राणादिबन्धनैः ॥ ५

शून्यत्ववर्जितमप्यशून्यताख्यधर्मेणापि मुक्तम् । आद्यं सर्वक-
 ल्पनाभ्यः प्राथमिकमधिष्ठानसन्मात्रमेव त्वं शिष्ट इत्यर्थः ॥ २५ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
 रार्षे जीवसप्तकप्रकारवर्णनं नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥
 ब्रह्मदृष्टावनुरूपसमात्मदृष्टौ मृषोद्भवम् ।
 बोधादमूर्तं च जगद्यथा तदिह वर्ण्यते ॥ १ ॥
 'प्राथम्येनावतीर्णास्ते ब्रह्मणो बृंहितात्मनः । प्रोक्ताः केवल-
 जागर्याः' इति यदुक्तं तदनुपपन्नम् । कूटस्थाद्वयस्य ब्रह्मणः प्राथ-
 म्येन जीवतयावतारे बीजप्रयोजनयोरसंभवात्कामकर्मवासना-
 दिबीजानां जीवभावोत्तरकालत्वादिति रामः शङ्कते—कथमिति
 ॥ १ ॥ अत्यल्पमिदमुच्यते—कूटस्थाद्वयात्केवलजागराख्यजी-
 वावतारो न संभवतीति तन्मूलकजीवान्तराणां जगतश्चावता-
 रस्यानुपपत्तेस्तुल्यत्वात् किंतु कूटस्थाद्वयवस्तुनो जगज्जीवोभया-
 पलापमन्तरेणोपदेष्टुमशक्यत्वात्तदुपदेशार्थं ब्रह्मण एव जीव-
 जगच्छब्दार्थाकारकलना श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु कल्पितेत्यु-
 त्तरं वसिष्ठ आह—अकारणमित्यादिना ॥ २ ॥ कारणाभावा-
 देव विक्षताः । निरस्ता इति यावत् ॥ ३ ॥ ४ ॥ अस्त्वेवं तथापि
 भोगायतनस्य देहादेः कर्मादिद्वारा साक्षाद्वा कश्चिन्निर्माता
 अवश्यं वाच्यः । कार्यमात्रस्य सकर्तृकत्वनियमात् । तत्र च
 जीवं प्रवेक्ष्य विषयैर्व्यामोहयिताऽन्यो विनाव्यामोहकं चेतनस्य
 व्यामोहादर्शनात् । तथा च व्यामोहव्यामोहकौ द्वौ चेतनावन्धौ
 जीवधराख्यौ सर्गादिश्रुतियुक्तिप्रामाण्यात्स्वीकार्यावेवेति पुनः

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

न कश्चिदेव कुरुते शरीराणि कदाचन ।
 न मोहयति भूतानि कश्चिदेव कदाचन ॥ ६
 अनाद्यन्तावभासात्मा बोध आत्मनि संस्थितः ।
 नानापदार्थरूपेण कसूर्यादितया यथा ॥ ७
 बाह्यं न विद्यते किञ्चिद्बोधः स्फुरति बाह्यवत् ।
 उदेति बोधद्वयाद्वीजादिव वस्तुमः ॥ ८
 बोधस्यान्तरिदं विश्वं स्थितमेव रघूद्वह ।
 स्तम्भस्यान्तर्यथा शालभक्षिका प्रकटीकृता ॥ ९
 सबाह्याभ्यन्तरात्मैकमनन्तं देशकालतः ।
 बोधामोदप्रसरणं जगदेव प्रबुध्यताम् ॥ १०
 अयमेव परो लोको भाव्यतां वासनाक्षयः ।
 शाम्यतां परलोकस्थं काः किलायान्ति वासनाः ॥ ११
 देशकालक्रियालोकरूपचित्तात्मसत्पदम् ।
 देशकालादिशब्दार्थरहितं न च शून्यकम् ॥ १२
 पदे पदविदामेव तस्मिन्बोधगतिर्भवेत् ।
 ब्रह्मणा शान्तदृश्यानामेवाप्त्येषां न राधव ॥ १३
 ये वै तरलगम्भीरमहंतागर्तमाश्रिताः ।
 पश्यन्ति ते तमालोकं न कदाचन केचन ॥ १४
 चतुर्दशविधानन्तभूतजातसुधुंघुमा ।

रामः शङ्कते—कः करोतीति ॥ ५ ॥ भवेतामावश्यकौ यदि शरीरादिकर्तृता न्यामोद्यम्यामोहकमावश्य सत्य इति श्रुतियुक्ति-
 सिद्धं स्यात् । वाचारम्भणश्रुत्या तत्त्वमस्यादिश्रुतिभिश्च तस्या-
 सत्त्वे निरुद्धे प्रतिभासमात्रस्य कूटस्थाद्वयेनापि विवर्तमानेन
 निर्बोद्धं शक्यत्वाच्च तयोरावश्यकतेत्याशयेन वसिष्ठ उत्तर-
 भाह—न कश्चिदेवेत्यादिना ॥ ६ ॥ कं जले यथा ऊर्म्यादि-
 तथा तरङ्गतया स्वात्मनि स्थितं तथा बोधात्मात्मनि स्थितः
 ॥ ७ ॥ ननु बाह्यार्थस्य कथमान्तरचिदात्मविवर्तता व्याश्रय-
 त्वात्तत्राह—बाह्यमिति । आन्तराद्बोधद्वयादेवान्तरैव बाह्य-
 वदुदेति ॥ ८ ॥ बीजाणामो यद्विरेवोदेतीति विषमो दृष्टान्त
 इत्याशङ्क्य समं तमाह—बोधस्येति । अथवा यवन्तर्हदितं
 स्यात्तर्हन्तरेव स्थितं स्यात्, बहिर्हि विश्वं तिष्ठति तत्राह—
 बोधस्येति ॥ ९ ॥ वस्तुतस्तु चिद्वस्तु नान्तरे न बाह्यं किं त्व-
 नन्तं तदन्तरेवामोदवदान्तरबाह्योभयविधजगत्कल्पनेत्याह—
 सबाह्येति ॥ १० ॥ नन्वत्रैव चेजगत्कल्पना तर्हि ब्रह्मलोकादिः
 परलोकोऽर्चिरादिमार्गभ्यो दूरे कथं प्रसिद्ध इति चेत्तादृशाना-
 दिवासनाप्रवाहवशादेव । वासनाक्षये तु स सर्वोऽपि स्वात्ममा-
 त्रतयाश्रितसंनिहित एवेत्याशयेनाह—अयमेवेति । शाम्यतां
 विदुषा परलोकात्मना इहैव स्थितमात्मानं न दूरत्वादिवासनाः
 समायान्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥ ननु प्रत्यगात्मैव चेत्यलोकदेश-
 कालादिसर्वात्मा तर्हि देशकालादिबाधे शून्यरूप एव किं न
 स्यात्तत्राह—देशेति ॥ १२ ॥ यदि न शून्यं तर्हि पृथग्जनाना-

जगद्वृष्टिरियं ह्यस्य शरीरावयवोपमा ॥
 कारणाभावतः सृष्टिर्नोदिता न च शाम्यति ।
 यादृशं कारणं वा स्यात्तादृशं भवति कार्यकम् ॥
 यदि स्यात्कारणे कार्यं स्थितं कारणतास्य का-
 र्यमेवोपलम्भात्तदसद्व्यमवेदनात् ॥
 सौम्यस्यान्तर्यथास्मोवेरुम्यावर्तादयः स्थिताः
 ब्रह्मण्यसंभवक्षोमे जगच्चित्तादयस्तथा ॥
 सर्वोत्तमैवामलं ब्रह्म पिण्ड एक इव स्थितम् ।
 नानामाण्डात्म हेमैव यथान्तःस्थितरूपकम् ॥
 स्वप्नकाले स्वप्न एव जाग्रदग्रपरिग्रहात् ।
 जाग्रत्काले जाग्रदेव स्वप्नः सत्यावबोधतः ॥
 चित्तमात्रतया बुद्धं मृगतृष्णाम्बुवत्स्थितम् ।
 जाग्रत्स्वप्नत्वमायाति विचारविकलीकृतम् ॥
 सम्यग्ज्ञानेन भूतानि ह्यस्य देहृतया सह ।
 पीठबन्धं विमुञ्चन्ति गतकाल इवाम्बुदाः ॥
 यथा गलितुमारब्धो घनो गगनतामियात् ।
 तथा सत्यावबोधेन शाम्येत्सात्मग्रहं जगत् ॥
 शरदभ्रवदालूना मृगतृष्णाम्बुवत्तथा ।
 पुनः संप्रसूयमानैव बोधाद्गलति दृश्यता ॥

अपि प्रपञ्चपलापमात्रेण तस्मिन्पदे कृतो न बोधना
 ग्राह—पदे इति ॥ १३ ॥ १४ ॥ तद्विशिष्टं तर्हि कीदृशी जग-
 द्दृष्टिस्तामाह—चतुर्दशेति ॥ १५ ॥ तेषां समाहितदृशो सृष्टिः
 कीदृशी व्यवहारदृशा च कीदृशी तामुकोपपादनाय पूर्वोत्तरार्धा-
 भ्यामाह—कारणेति ॥ १६ ॥ तत्र पूर्वार्धे कं तर्केणोपपादयति-
 यदीति । कृतो न स्थिता तत्राह—कार्यमेवेति । कुण्डलक-
 तिरिक्त्वस्त्वन्तरादर्शनाच्च कारणमन्यदस्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥ उत्त-
 रार्धे कंमपि दृष्टान्तेनोपपादयति—सौम्यस्येति ॥ १८ ॥
 अन्तर्गतनानामाण्डात्मा एको भूतिपिण्ड इव ब्रह्म स्थितम् ।
 यथा अन्तर्गतकटककुण्डलादिरूपकं हेम तथावस्थितम् । पिण्ड-
 वस्थाय अपि कार्यत्वेन कुण्डलादिसाम्यादिति भावः ॥ १९ ॥
 यथा पिण्डकाले घटः पिण्ड एव घटकाले च पिण्डो घट-
 एवेति व्यवस्थितमेकस्यैव दर्शनम्, एवं प्रपञ्चस्यापि स्वप्नकाले
 जाग्रत्स्वप्न एव जाग्रत्कालेऽपि स्वप्नो जाग्रदेवेति व्यवस्थितमेक-
 मेव जगत्तत्त्वैर्बुध्यत इत्याह—स्वप्नेति । व्यग्रस्य वासना-
 विस्ताराभिविष्टस्य मनसः अपरिग्रहादनवरोधात् ॥ २० ॥ जाग्र-
 त्कालेऽपि जाग्रच्चित्तमात्रतया पर्यालोचितं, स्वप्नसुषुप्तामेवैति,
 सैव विदुषः सृष्टेः शरीरावयवोपमतेत्यमुपपादितेत्युपसंहरन्त्यः
 न्यग्ज्ञाने तस्यापि समूलं बाधमाह—चित्तमात्रतयेति ॥ २१ ॥
 गते वर्षाकाले अम्बुदाः पीठबन्धस्कारणनीहारभावमपि विमु-
 चन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ २२ ॥ आत्मग्रहोऽहंकारस्तत्सहितम्
 चरमसाक्षात्कारवृत्तिसहितं वा ॥ २३ ॥ संप्रसूयमाना सृष्टिः

यथा दीक्षानले लीनं सुवर्णं घृतमिन्धनम् ।
 एकतां याति विज्ञाने तथा भुवनचित्तद्वक् ॥ २५
 बोधेन तनुतामेति पिण्डबन्धो जगत्रये ।
 पिशाचबुद्धिः सदने बोधितस्य यथा शिशोः ॥ २६
 बोधस्यानन्तरूपस्य स्वयमेवात्मनात्मनि ।
 जगच्चित्तादिना भाता पिण्डबन्धः किलात्र कः ॥ २७
 बोधाबोधनमेवेदं जगच्चित्तमिवोदितम् ।
 तदेवास्तं गतं बोधात्पिण्डबन्धस्य कास्तिता ॥ २८
 जहाति पिण्डकाठिन्यं जाग्रत्स्वप्नावबोधतः ।
 परां पेलवतामेति हेम द्रुतमिवाग्निना ॥ २९
 यथास्थितं बोध एव धनतामिव गच्छति ।
 विनैव देशकालाभ्यां तौ विनिर्माय हेमवत् ॥ ३०
 जाग्रत्येवं विचारेण स्वप्नाभे पेलवे स्थिते ।
 क्षीयमाणे शरत्काल इवेति तनुतां रसः ॥ ३१
 परां पेलवतां याता दृश्यलक्ष्म्यः स्थिता अपि ।
 स्वप्ना इव परिज्ञाता न स्वदन्ते विवेकिनः ॥ ३२
 क किल स्वात्मविभ्रान्तिः कैतद्विषयवेदनम् ।
 सुषुप्तजाग्रतोरैक्यं भ्रान्ताभ्रान्तात्मनोर्भवेत् ॥ ३३
 चित्तमात्रे भ्रान्तिमात्रे स्वप्नमात्रात्मनि स्थिते ।
 जगतीह पदार्थेभ्यः सत्यबुद्धिर्निवर्तते ॥ ३४
 कस्य स्वदन्तेऽसत्यानि कथमेव महामते ।
 मृगतृष्णाजलानीव दृश्यान्यपि पुरःस्थितैः ॥ ३५
 सत्यबुद्धौ विलीनायां जगत्पश्यति शान्तधीः ।
 जालद्वीपांशुजालाभमपिण्डात्मांस्वरात्मकम् ॥ ३६
 जाग्रतो वस्तुतः शून्यात्परिज्ञाताच्चिवर्तते ।

दिना अनुभूयमानैव ॥ २४ ॥ २५ ॥ पिण्डबन्धो मूर्ताद्याका-
 रग्रहः । तनुतां कमाद्विलयम् ॥ २६ ॥ अयं च विलयो न जनु-
 काठिन्यविलयवन्नमित्तापायादपैति किंतु शुक्तिरूप्यवदसत्प्रति-
 योगिकत्वादपुनरागामीत्याशयेनाह—बोधस्येति । अन्ताधि-
 विधपरिच्छेदा रूपाण्याकारमेदाश्च न विद्यन्ते यस्य तथाविधस्य
 बोधस्य साक्षिचितः स्वयमेव निर्निमित्तमेव जगच्च तद्विकल्पकं
 चित्तं च तदाद्यज्ञानं चेति त्रिरूपता भाता । अत्रासिन्बोधे
 ॥ २७ ॥ तथा चावृतजगच्चित्तभावेनावृतमज्ञानमेव विजृम्भत
 इति फलितमित्याह—बोधाबोधनमेवेति ॥ २८ ॥ एतेन
 जाग्रदेव स्वप्नकाले स्थौल्यं विहाय सूक्ष्मप्रपञ्चतां याति । स्वप्न-
 भ्रान्तिरेव विराभ्यासाद्धनतया जाग्रत्तामिव गच्छतीत्यादि
 यत्प्राणुकं तत्सिद्धमित्याह—जहातीत्यादिना ॥ २९ ॥ तौ
 जाग्रत्स्वप्नौ ॥ ३० ॥ रसो भोगरागो जलं च ॥ ३१ ॥ पेलवतां
 तुच्छताम् ॥ ३२ ॥ आत्मसुखतृप्तत्वादपि तस्य विषयेष्वना-
 दर इत्याशयेनाह—कैति । यदि त्वज्ञस्यापि विषया स्वदे-
 स्तर्हि सुषुप्तजाग्रतोरैक्यमपि संभाव्येत, तथा भ्रान्ताभ्रान्ता-
 त्मनोर्मूढतत्त्वज्ञयोश्चैक्यं संभाव्येतेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ जगति चित्त-
 मात्रे संपन्ने स्वप्नमात्रात्मनि स्थिते सति इह स्वप्नचन्दनादि-

चित्तभ्रमात्मनो भ्रान्तिरूपास्वादनभावना ॥ ३७
 यदवस्त्विति विज्ञातं तत्रोपादेयता कुतः ।
 केन स्वप्नं परिहाय स्वप्नहेमाभिगम्यते ॥ ३८
 स्वप्नादिव परिज्ञाताद्रसो दृश्याच्चिवर्तते ।
 द्रष्टृदृश्यदशादोषग्रन्थिच्छेदः प्रवर्तते ॥ ३९
 नीरसः शान्तमननो निर्वाणाहंकृतिः कृती-
 वीतरागो निरायासः शान्तस्तिष्ठति बुद्धधीः ॥ ४०
 रसे नीरसतां याते वासनां प्रविलीयते ।
 शिखायां प्रविलीनायां प्रदीपस्यांशवो यथा ॥ ४१
 बोधादीपांशुजालाभमघनं व्योम दृश्यते ।
 भ्रान्तिरूपं जगत्कृत्स्नं गन्धर्वनगरं यथा ॥ ४२
 नैवात्मानं न चाकाशं न शून्यं न च वेदनम् ।
 अत्यन्तपरिणामेन पश्यन्पश्यति तत्पदम् ॥ ४३
 यत्र नात्मा न शून्यं च न जगत्कलना न च ।
 न चित्तदृश्योदयधीः सर्वं चास्ति यथास्थितम् ॥ ४४
 भूम्यादिताऽज्ञसंबुद्धा ज्ञानादस्तमुपागता ।
 ज्ञस्य शून्यैव संपन्ना संस्थितापि न विद्यते ॥ ४५
 भवत्येकसमाधानसौम्यात्मा व्योमनिर्मलः ।
 तिष्ठत्युपगतासङ्गः स्थित एवाप्यसत्समः ॥ ४६
 अस्तंगतमना मौनी निरोधपदवीं गतः ।
 तीर्थः संसारजलधेः कर्मणामन्तमागतः ॥ ४७

तनुभुवनगगनगिरिगण-

करणपरं परममज्ञानम् ।

विगलन्ति गलिते तस्मिन्

सकलमिदं विद्यमानमपि ॥ ४८

पदार्थेभ्यः सत्यताबुद्धिर्निवर्तते ॥ ३४ ॥ असत्यान्यपि भोग्यानि
 तस्य स्वदन्तां तत्राह—कस्येति । वार्थे एवकारः - । कथं
 वा स्वदन्त इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ जाले वातायने प्रविष्टस्य
 धीपांशुजालस्यामेव - प्रकाशरूपमप्यपिण्डात्मकमेवांस्वरात्मकं
 पश्यति ॥ ३६ ॥ अत एव चित्तमात्रात्मनः स्वप्नलक्ष्म्यचन्दनादेः
 स्वदनभावना जाग्रतः पुरुषस्य शून्यत्वेन परिज्ञातात्तस्याच्चि-
 त्त इति प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ स्वप्नहेम उपादातुं केना-
 भिगम्यते ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ रसनिवृत्तावसौ कथमास्ते तदाह—
 नीरस इति । नीरसो निःश्रेहो बन्धादिषु । वीतरागो विषयेषु
 ॥ ४० ॥ ४१ ॥ प्राग्भ्रान्तिरूपं कृत्स्नं जगत्तत्त्वबोधादीपांशु-
 जालवत्प्रकाशैकरसमघनं सद्योमतुल्यं दृश्यते ॥ ४२ ॥
 सप्तमभूमिकास्थितिलक्षणेनात्यन्तपरिणामेन तर्हि कथं भवति
 तदाह—नैवेति । पश्यन्स्वत्त्वज्ञः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ अज्ञैः पिण्ड-
 ग्रहेण संबुद्धा भूम्यादिता तु ज्ञानादस्तं बाधमुपागता ॥ ४५ ॥
 ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ यस्मात्कारणात्तनूनां चतुर्विधशरीराणां तदा-
 घाराणां भुवनानां तदाधारस्य गगनस्य विहारस्थानानां गिरि-
 गणानां तत्साधनानां करणानां च परमुपादानकारणं परम-

१ चित्तमात्रात्मन इति पाठः सुवचः.

संशान्तान्तःकरणे

गलितविकल्पः स्वरूपसारमयः ।

परमशमामृततृप्त-

स्तिष्ठति विद्वान्निरावरणः ॥

४९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० विश्रान्तियोगोपदेशो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः ५२

श्रीराम उवाच ।

बोधो जगदिवाभाति मुने येन क्रमेण ह ।

तं क्रमेण क्रमं ब्रूहि भूयो भेदनिवृत्तये ॥

१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

वृक्षस्यैव विमूढस्य यद्गुणैः तत्स्वचेतसि ।

यन्न दृष्टौ न तच्चित्ते भवत्युपतरस्मृते ॥

२

भव्यः पश्यति शास्त्रार्थमेव पूर्वापरान्वितम् ।

न दृष्टिविषयं वस्तु यत्पश्यति करोति तत् ॥

३

भावानुष्ठाननिष्ठः सन् शास्त्रार्थैकमना मुनिः ।

भूत्वोपदेशं त्वसिमं शृणु श्रवणभूषणम् ॥

४

इयं दृश्यभरभ्रान्तिर्नन्वविद्येति चोच्यते ।

वस्तुतो विद्यते नैष तापनद्यां यथा पयः ॥

५

उपदेश्योपदेशार्थमेनां मनुष्योपरोधतः ।

मज्ञानं मूलज्ञानमेव नान्यत् । अतः कारणात्सिन्धुलान्ने ज्ञानेन गलिते सति इदं तनुभुवनादिसकलं जगद्वदृशा विद्यमानमपि विगलति । असद्भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ एवंप्रतीत्या गलितविकल्पो योगी स्वरूपसारमयः सन्परमशमामृतेन खानन्देन तृप्तो निरावरणभूमानन्दस्वभावस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ४९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्तियोगोपदेशो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इह तार्किकसकलैककल्पनान्तरखण्डनैः ।

अनिर्वाच्यजगद्भावः कूटस्थस्य समर्थ्यते ॥ १ ॥

बोधः कूटस्थचिदात्मा येन क्रमेण प्रकारेण भाति तं क्रमं ध्यान्तरकल्पनाभेदखण्डनैः समर्थनक्रमेण भूयो ब्रूहि ॥ १ ॥ चिदात्मनो जगद्भावोऽयमनिर्वचनीय एवेत्यस्यार्थस्य समर्थनाय प्रथमं दृष्टादृष्टपक्षमवलम्ब्य दृष्टव्यव्यतिरेकानुविधायिस्थितिकलं तस्य दर्शयति—वृक्षस्येवेति । विमूढस्याजसात्मनो वृक्षस्य मूलदारुपत्रपल्लवादिनानाकारघटितस्यैव मानाकारं यजगद्रूपं तत् दृष्टौ सत्यामेव अस्तीति स्वचेतसि प्रसिद्धं नान्यथा । अत एव व्युत्पत्तरमपि दृष्टमेव स्मर्यते न ब्रह्मपदं तत्सत्ताऽप्रसिद्धेरेत्यर्थः ॥ २ ॥ विद्वद्विदुषोः शास्त्राशास्त्रानुसारिक्रियावैलक्षण्यदर्शनादपि तत्तद्दृष्टानुसारव्यवस्थितैव जगत्सत्तां गम्यत इत्याशयेनाह—भव्य इति । दृष्टेर्नैत्रस्य विषयं सनिकृष्टमपि निषिद्धं वस्तु भोग्यतया न पश्यति ॥ ३ ॥ अत एव हि मयापि त्वं शास्त्रीयदृष्टिव्यवस्थापनमुखेनैव श्रवणादौ नियम्यसे इत्याशयेनाह—भावेति । भावश्चित्तशुश्रूषुकूलं कर्म ॥ ४ ॥ अविद्यात्वप्रसिद्धेरपि तत्तत्वेत्याह—इयमिति ॥ ५ ॥ तर्हि कथं

सत्यामिव क्षणं तावदाश्रित्य श्रूयतामिदम् ॥

६

कुत एषा कथं चेति विकल्पाननुदाहरन् ।

नेदमेषां न चास्तीति स्वयं शास्यसि बोधतः ॥

७

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजंगमम् ।

सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं कल्पान्ते तद्विनश्यति ॥

८

अस्य भागविभागात्मा नाशोऽवश्यमवारितः ।

विन्दुना विन्दुना बोधे उद्धृतस्यास्ति हि क्षयः ॥

९

पवं स्थिते द्रव्यनाशे ब्रह्माणस्तन्मयत्वतः ।

नानन्तत्वं न चास्तित्वं न च वै संभवत्यलम् ॥

१०

मदशक्तिरिव ज्ञानमिति नास्मासु सिध्यति ।

देहो विज्ञानतोऽस्माकं स्वप्नवन्न तु तत्त्वतः ॥

११

नश्यत्येव च दृश्यश्रीः सैव नान्यैव नैव च ।

इत्थं भवेत्समुचितं कृतं शास्त्रं च नान्यथा ॥

१२

शास्त्रोपदेशतत्फलसिद्धिस्तत्राह—उपदेश्येति ॥ ६ ॥ उपदेशफलसिद्धिकाले स्त्रियं भ्रान्तिर्निःशेषं निवर्तते ततोऽपि तथेत्याशयेनाह—कुत इति । अनुदाहरन् अनुलिखन् ॥ ७ ॥ इत्थं विवर्तपक्षमनुभवपर्यवसितं प्रदर्श्य पक्षान्तरेषु दोषान्विवक्षुः सत्यस्यैव प्रपञ्चस्य वृक्षशाखान्यायेन ब्रह्माभेदमभ्युपगच्छतो पक्षे ब्रह्माण आनन्त्यहानिः स्यादिति दोषं धत्तुं जगतो नश्वरत्वं प्रतिजानीते—यदिदमिति ॥ ८ ॥ प्रतिज्ञातं साधयति—अस्येति । अस्य जगतो भागानां भूराद्यवयवानां विभागो भिन्ने पक्षदात्मा नाशो बोधे निमर्शे दुर्वारः सावयवत्वात् । हि यस्यां द्रवादिगतजलस्य विन्दुना विन्दुना पृथक्कृतोद्धृतस्य क्षयो लोके प्रसिद्धोऽस्ति तद्वदित्यर्थः ॥ ९ ॥ अस्तु भाशः, को दोषस्तत्राह—एवमिति । शास्त्रावयववनाशे वृक्षनाशवद्भूतद्रव्यनाशे ब्रह्माणोऽपि नाशप्रसङ्गे श्रुत्युक्तमनन्तत्वं न सिध्यति । अवयवेभ्यः पृथक्कृतस्यावयविनो विमर्शे असत्त्वादस्तित्वं च न सिध्यति, न च विदेकरसं निरवयवं च ब्रह्म भूतोदिजगदवयवकं संभवतीत्यर्थः ॥ १० ॥ ननु सा भूचिदात्मा जडजगदवयवकः जडानामेव भूम्यादिभूतानां कार्याकारपरिणतानां मदिरावयवांशुगता मदशक्तिरिव चैतन्यं धर्मोऽस्त्विति चार्वाकपक्षमुद्धृत्य दूषयति—मदशक्तिरेवेति । अस्मासु आस्तिकेषु । न सिध्यति, अस्मान्प्रति चार्वाकेण साधयितुं न शक्यमिति यावत् । यतोऽस्माकं प्रामाणिकानां मते देहो विज्ञानाधीनसिद्धिकत्वात्सांप्रदेहवत्तार्विको न भवति । न हि विज्ञानातिरेकेण देहसत्तासाधकमस्ति, न चासिद्धे देहे मदशक्तिवद्विज्ञानमुत्पत्तुमर्हतीति भावः ॥ ११ ॥ किञ्च जगतो ब्रह्माभेदे उच्यमाने दृश्य-

सैवैतीत्यसमुल्लेखं कथं नष्टस्य संभवः ।
 तद्रूपान्येति युक्तं स्यादनुभूतानुगा वयम् ॥ १३
 सैव व्योमतयैवासीदित्यसत्सैव सा कथम् ।
 तथैव व्योमसंस्था चेन्नाशं तर्हि न सा गता ॥ १४
 कार्यकारणयोरेकरूपतैवं यदा तदा ।
 कार्यकारणताभावादैक्यमेवासदागमः ॥ १५
 शून्यत्वमुपलम्भत्वं यद्गतं नष्टमेव तत् ।
 अन्यस्तर्हि भवेन्नाशः कीदृशः किल कथ्यताम् ॥ १६
 नष्टं भूयस्तदुत्पन्नमिति यत्प्रत्ययेति कः ।
 नश्यत्यवश्यं तेनेदं पुनरन्यत्प्रवर्तते ॥ १७
 मध्ये मध्ये यदुत्सेधफलाद्यवयवैकिका ।
 आदेहं बीजसत्तास्ति कार्यकारणता कुतः ॥ १८
 देशकालक्रियात्मकं यथादृष्टमिह स्थितम् ।
 बीजमेवैककर्मातो न घटः पटकार्यकृत् ॥ १९
 सर्वदर्शनसिद्धान्ते नास्ति भेदो न वस्तुनि ।
 परमार्थमये तेन विवादेन किमत्र नः ॥ २०

इदं शान्तमनाधत्तं तद्रूपत्वाद्विचारतः ।
 व्योमामं बोधतामात्रमनुभूतिप्रमाणतः ॥ २१
 यथैतन्नानुभूतं सद्यथैतदनुभूयते ।
 यथैतत्सिद्धिमाप्नोति तदिदं कथ्यते क्रमात् ॥ २२
 महाकल्पान्त उन्नष्टे सर्वसिन्धुश्चमण्डले ।
 आमहादेवपर्यन्तं समनोबुद्धिकर्मणि ॥ २३
 व्योमन्यपि शमं याते कालेऽप्यकलितस्थितौ ।
 वायावपि त्वपगते तेजस्यत्यन्तमस्थिते ॥ २४
 तेजस्यपि गते ध्वंसं वार्यादौ सुचिरं क्षते ।
 अलमन्तमनुप्राप्ते सर्वशब्दार्थसंचये ॥ २५
 शिष्यते शान्तबोधात्म सदच्छं बाध्यवर्जितम् ।
 अनादिनिधनं सौम्यं किमप्यमलमव्ययम् ॥ २६
 अवाच्यमनभिव्यक्तमतीन्द्रियमनामकम् ।
 सर्वभूतात्मकं शून्यं सदसच्च परं पदम् ॥ २७
 तन्न चायुर्न चाकाशं न बुद्ध्यादि न शून्यकम् ।
 न किञ्चिदपि सर्वात्म किमप्यन्यत्परं नभः ॥ २८

नाशाद्ब्रह्मणोऽन्तवत्त्वशब्दा स्यात् । आध्यासिके त्वभेदे प्रति-
 योगिन इव तन्नाशस्यापि वस्तुतो ब्रह्मसंस्पर्शाभावाच्च तत्प्रसक्तिः
 शास्त्रसाफल्यं चेत्तादृशेनाह—नश्यत्येवेति । यतः पुनःपुन-
 र्नष्टा उद्भवन्ती दृश्यश्रीः सैव न, अन्यैव च नैवेत्यनिर्वचनीया
 अविद्यामात्रम् । इत्थं सत्येव विद्यया तद्वाधे शास्त्रं कृतं सफलं
 भवेत् । अन्यथा सत्यबन्धनिवृत्तौ शास्त्रस्यानुपायत्वावयवमेव
 स्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥ प्रलये नष्टाया भुवनसंस्थितेः पुनः सृष्टा-
 बुद्भवन्त्याः सैवान्यैवेत्यनिर्धार्यत्वादप्यनिर्वचनीयतैवेत्याह—
 सैवैतीत्यादिना । या नष्टा सैव पुनरुन्मज्जनेनैतीत्यसमुल्लेखं
 संभावयितुमशक्यम् । अनुभूतानुगाः अनुभवानुसारिणो वयं
 नानुभवविरुद्धमप्यपि सहामहे इत्यर्थः ॥ १३ ॥ अनुभवा-
 नारोहमेव स्फुटयति—सैवेति । सा मूर्ततैव प्रलये व्योम-
 तया अमूर्तभावेनासीदित्यसत् । यतः सा मूर्ततैवामूर्तता
 कथम् । व्योमसंस्थापि सा तथा पूर्वावस्थापन्नैव चेत्प्रलये नाशं
 न गतैवेति प्रलयवादोच्छेदः स्यादित्यर्थः ॥ १४ ॥ एवं सर्गेपि
 प्रलयावस्थाया अपि तुल्यन्यायेन प्रसक्तौ प्रलयावस्थादव्याकृता-
 र्कार्यस्य सर्गस्यैक्यापत्तौ कूटस्थवादापत्तिरित्याह—कार्येति ।
 अस्मदागमोऽस्यसिद्धान्तः स्यादित्यर्थः ॥ १५ ॥ यद्वस्तु उप-
 लम्भत्वं गतमपि शून्यत्वं गतं तन्नष्टमेव । सदा उपलब्धकालेऽ-
 प्यसत्त्वाभ्युपगमात् । असत्त्वापत्तिरेव हि नाशः । यद्यन्यादृशो
 नाशो लोके भवेत्तर्हि स कीदृशः कथ्यताम् । न चोपलब्धत्व-
 यत्तादृशमप्यनष्टं भवति । नष्टनामपि स्वप्ने उपलम्भदर्शनाद-
 नष्टत्वासिद्धेः ॥ १६ ॥ भूयः तमुत्पत्तिदर्शनान्मध्ये नष्टस्यापि
 सत्त्वं कल्प्यत इति चेद्भेदेनाप्युत्पत्त्युपपत्तेः । प्रत्यभिज्ञादेर-
 दर्शनाय नैवमित्याह—नष्टमिति । प्रत्ययेति प्रत्यभिजानाति ।
 अयतेर्लटि पदवर्णव्यत्ययद्वन्द्वतः ॥ १७ ॥ ननु यथैकस्मिन्नेव
 तर्हि मध्ये मध्ये कोटरस्कन्धशास्त्रादिवैचित्र्यभेदेऽप्यामूल्यं

वृक्षदेहस्यैकता, शाखादितत्कार्याण्येव भिद्यन्ते, एवमुत्पत्त्यादि-
 विकारभेदेषु प्रलये पुनरुद्भवे च भुवनाद्येकतैव किं न स्यादिति
 चेत्तत्राह—मध्ये इति । उत्सेध औन्नत्यं फलानि आदिपदा-
 च्छाखोपशाखादात्स्कन्धपत्रपुष्पादयश्च ये अवयवास्तेष्वेकिका
 अनुगता वृक्षदेहमभिव्याप्य स्थिता बीजसत्तैवाखण्डा तत्रा-
 स्तीति सत्तैक्यदृष्टौ शाखादेः पृथक्सत्ताऽसिद्धेः कार्यकारणतो-
 च्छेदः स्यादित्यर्थः ॥ १८ ॥ दृष्टान्ते उक्तं कार्यकारणतोच्छेदं
 दार्ष्टान्तिके दर्शयति—देशेति । यदि प्रलयसर्गादिदेशकाल-
 क्रियात्मकमेकं सन्मात्रमेव बीजमभ्युपगम्येत तर्हि तत् एकं
 स्वयमेवैकं कर्म क्रिया तत्फलं च यस्य तथाविधं सत् न किञ्चि-
 त्कुर्यात् । असमर्थत्वात् । न हि घटः पटकार्यासमर्थस्तत्करोती-
 त्यर्थः । अथवा तदनुगतं बीजदेशात्मकं कालात्मकं क्रिया-
 त्मकं वा एकस्वभावं वाच्यम् । न ह्येकं नानास्वभावं संभवति ।
 स्वभावभेदे एकत्वानुपपत्तेः । तथा च यदि देशैकस्वभावं तर्हि
 कालकार्यं न कुर्यात् । न हि घटस्वभावं वस्तु पटकार्यकृ-
 दृष्टमित्यर्थः ॥ १९ ॥ नानास्वभावमेकं वस्त्विति वदन्सर्वदर्शन-
 सिद्धान्तातिलङ्घनाद्वैतण्डिकः स्यादित्याशयेनाह—सर्वेति ।
 वस्तुवैक्ये कार्यभेदः सर्वदर्शनसिद्धान्ते नास्ति । परमार्थमये
 वस्तुनि वस्तुस्वभावेऽपि भेदो नानात्वं नास्ति । अतः सर्वदर्शन-
 विरुद्धवादिना सह विवादेन किमित्यर्थः ॥ २० ॥ परिशेषा-
 देकस्वभावत्वे तु चित्स्वभावसैवोपजीव्यस्यैकस्य परिशेषः सिद्ध
 इत्याह—इदमिति । सर्वकल्पनानामनुभूतिप्रमाणसारत्वात्त-
 त्स्वभावापलापायोगेन परिशेषाज्जडस्वभावस्यैव हानादिति भावः
 ॥ २१ ॥ तद्रूपपादनं प्रतिजानीते—यथैतदिति ॥ २२ ॥
 अत एव हि सर्वभेदप्रलयेऽप्यविपरिलुप्तोऽनुभवात्मैवावशिष्यत
 इत्याह—महाकल्पान्त इत्यादिपञ्चभिः ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥
 ॥ २६ ॥ २७ ॥ परिशिष्टं बाध्यादिस्वरूपमेव किं न स्यात्

तद्विदा तत्पदस्थेन तन्मुक्तेनानुभूयते ।
 अन्यैः केवलमाज्ञातैरागमैरेव वर्ण्यते ॥ २९
 न कालो न मनो नात्मा न सन्नासन्न देशदिक् ।
 न मध्यमेतयोर्नान्तं न बोधो नाप्यबोधितम् ॥ ३०
 किमप्येव तदत्युच्छं बुध्यते बोधपारगैः ।
 शान्तसंसारविसरैः परां भूमिमुपागतैः ॥ ३१
 प्रतिषिद्धा मयैते तु येऽर्थाः सर्वत्र ते स्थिताः ।
 असह्युद्धा परिच्छेद्याः सौम्याम्भोधेरिवोर्मयः ॥ ३२
 यथास्थितं स्थिताः सर्वे भावास्तत्र यथा तथा ।
 अनुत्कीर्णा महास्तम्भे विविधाः शालमखिकाः ॥ ३३
 एवं तत्र स्थिताः सर्वे भावा एवं च न स्थिताः ।
 अस्वात्मैव सर्वात्म तदेव न तदेव च ॥ ३४
 पदं यथैतत्सर्वात्म सर्वार्थपरिवर्जितम् ।
 यथा तत्र च पश्यन्ति तत्रैकपरिणामिनः ॥ ३५
 सर्वे सर्वात्मकं सैव सर्वार्थरहितं पदम् ।
 सर्वार्थपरिपूर्णं च तदाद्यं परिदृश्यते ॥ ३६
 तवैतावंमहाबुद्धे सर्वार्थोपशमात्मकम् ।
 न सम्यग्दानमुत्पन्नं संशयोऽत्र निदर्शनम् ॥ ३७
 यः प्रबुद्धो निराभासं परमाभासमागतः ।
 स्वच्छान्तःकरणः शान्तस्तं स्वभावं स पश्यति ॥ ३८
 अयं त्वमहमित्यादित्रिकालजगद्भ्रमः ।
 तत्रास्ति हेमपिण्डान्तरिव रूपकजालकम् ॥ ३९
 हेमपिण्डाद्यथा भाण्डजालं नानोपलभ्यते ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० ब्रह्मसूत्ररूपवर्णनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ १०

तथा न लभ्यते भिन्नं परमार्थपदनाजगत् ॥
 सर्वदैव हि भिन्नात्मा स्वाङ्गभूतोपलम्भकः ।
 स जगद्वैतमेवेदं हेमेवाङ्गवरूपकम् ॥
 रिक्तं देशादिशब्दार्थैर्देशकालक्रियात्मकम् ।
 यथास्थितमिदं तत्र सर्वमस्ति न वास्ति च ॥
 यथोर्म्यादि समे तोये चित्रं चित्रकदीहते ।
 भाण्डवृन्दं सृष्टः पिण्डे तथैवं ब्रह्मणि स्थितम् ॥
 तथैतदत्र नो भिन्नं नाभिन्नं नास्ति चास्ति च ।
 नित्यं तन्मयसेवाच्छं शान्ते शान्तमिदं तथा ॥
 अनिखातैव भातीयं त्रिजगच्छालमखिका ।
 स्वरससेव दृश्यत्वमिता ब्रह्मणि दारुणि ॥
 निखाता दृश्यतां यान्ति स्तम्भस्थाः शालमखिका
 अस्मिन्नक्षोभ्य एवान्तस्तरङ्गाः सृष्टिदृष्टयः ॥
 सरस्यतिरसे भान्ति चिद्वनामृतदृष्टयः ।
 अविभागे विभागस्था अक्षोमे क्षुमिता इव ।
 अविभाता विमान्तीव चिद्वने सृष्टिदृष्टयः ॥
 परमाणौ परमाणावत्र संसारमण्डलम् ।
 विभाति भासुरारम्भं न विभाति च किञ्चन ॥

आकाशकालपवनादिपदार्थजात-

मस्याङ्गमङ्गरहितस्य तदप्यनङ्गम् ।

सर्वात्मकं सकलभावविकारशून्य-

मप्येतदाहुरजरं परमार्थतत्त्वम् ॥

मप्येतदाहुरजरं परमार्थतत्त्वम् ॥

तत्राह—तदिति ॥ २८ ॥ इदानीमपि तद्विद्वत्तुभक्तिसिद्ध-
 मित्याह—तद्विदेति ॥ २९ ॥ तत्र 'कालः स्वभावो नियतिर्य-
 दच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' इत्याद्याभिममर्थतो
 दर्शयति—न काल इति ॥ ३० ॥ 'तद्यदात्मविदो विदुः' इत्या-
 गमं च तयोदाहरति—किमपीति । अतुष्यादेः परम् ॥ ३१ ॥
 मयापि तेऽर्थाः शुलजुसार्यनुभवमाश्रित्य मुहुः प्रतिषिद्धा
 इत्याह—प्रतिषिद्धा इति । सर्वत्र श्रुतिषु प्रतिषेध्यतया स्थिता
 येऽर्थास्त एव मया प्रतिषिद्धाः ॥ ३२ ॥ तर्हि 'सदेव सोम्येद-
 मग्र आसीत्' इत्यादिस्त्कार्यवादश्रुतीनां कोऽभिप्रायस्तमाह—
 यथास्थितमिति । ब्रह्मस्वभावस्थितिरेवाविकल्पिता अगतोऽपि
 सत्तेलाद्यस्तासामिति भावः ॥ ३३ ॥ अत एव 'नेह नाने'त्यादि-
 श्रुतीनां 'सदेव सोम्ये'त्यादिश्रुतीनां चाविरोधेनैकमेवोभयथापि
 न्यपदिश्यत इत्याशयेनाह—एवमेति ॥ ३४ ॥ अनुत्कीर्ण-
 शिलायां पुत्रिकाभेदानामिव योनिनां तत्रेच्छया अस्ति नास्तीत्यु-
 भयथापि वर्तनं सिद्धमित्याह—एवमिति ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
 एतावत्प्रामाण्यवितसमाधिकालपर्यन्तम् । संशयोऽत्र सम्यग्ज्ञा-
 नानुपपत्तौ निदर्शनं लिङ्गम् । 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इति श्रुते-
 निश्चिते तत्रैव संशयानुभववाचेति भावः ॥ ३७ ॥ निराभासं सर्व-
 द्रव्याभासनिर्मुक्तम् । परं आभासं परमसाक्षात्कारम् ॥ ३८ ॥

हेमपिण्डान्तः रूपकाणां रूपमुद्राणां जालकं समूह इव कल्पनया
 अस्ति ॥ ३९ ॥ तर्हि किं रूपकवद्भेदेनापि जगत्सत्, नित्याह—
 हेमपिण्डादिति । नाना पृथक्सदिति यावत् ॥ ४० ॥ यद्यप्य-
 नृतं सतो न भिद्यते तथापि सत्तु अनृताद्विद्यत एवेत्याह—
 सर्वदैवेति । अङ्गदरूपकमिवानृतमित्यर्थः ॥ ४१ ॥ देशादि-
 शब्दानामर्थैः प्रवृत्तिनिमित्तैर्जातिगुणक्रियादिभिः रिक्तं रहितम्
 ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ तथैव भेदादिना दुर्निरूपस्वभावमनृतं ब्रह्मणि
 स्थितमित्याह—तथेति । तत्त्वज्ञानेन शान्ते ब्रह्मणि शान्ता
 त्मनैव स्थितम् ॥ ४४ ॥ अनिखाता अनुत्कीर्णा । स्वरसस-
 खसाक्षिणः शिल्पिनो दृश्यत्वं हतेव । ब्रह्मणि दारुणीति व्यस-
 रूपकम् ॥ ४५ ॥ तत्र यो विशेषस्तमाह—अस्मिन्निति
 अक्षोभ्ये अविकार्ये विवर्तरूपास्तरङ्गाः ॥ ४६ ॥ तमेवाह—
 सरसीति साधनं । अतिरसे निरतिशयानन्दं अलपूर्णं चित्तं
 रसि चिन्मेघामृतदृष्टिप्रायाः सृष्टिदृष्टयो विभाजकधर्मसंज्ञेऽपि
 विभागस्था अक्षोमेऽपि क्षुमिता अविभाता एव विमान्तीवैव
 विशेष इत्यर्थः ॥ ४७ ॥ तत्र 'अविभाता विमान्ति' इत्येत-
 द्दिशदयति—परमाणाविति ॥ ४८ ॥ जगति कूटस्थस्य जगत्का-
 संघटोपसंहरति—आकाशेति । अङ्गरहितस्य निरवयवस्यास-
 यदाकाशकालपवनादिपदार्थजातरूपमङ्गं वर्णितं तदपि सिद्ध्या

त्रिपञ्चाशः सर्गः ५३

श्रीराम उवाच ।

यथा चेत्ये चेतनता यथा काले च कालता ।
 यथा च व्योमता व्योम्नि यथा च जडता जडे ॥ १
 यथा वायौ च वायुत्वमभूतादावभूतता ।
 यथा स्पन्दात्मनि स्पन्दो यथा मूर्ते च मूर्तता ॥ २
 यथा भिन्ने च भिन्नत्वं यथाऽनन्ते ह्यनन्तता ।
 यथा दृश्ये च दृश्यत्वं यथा सर्गेषु सर्गता ॥ ३
 एतत्क्रमेण हे ब्रह्मन् वद मे वदतां वर ।
 आदितः प्रतिपाद्यैव बोध्यन्ते ह्यल्पबोधिनाः ॥ ४
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 तदनन्तं महाकाशं महाचिद्धनमुच्यते ।
 अवेद्यचिद्रूपमयं शान्तमेकं समस्थिति ॥ ५
 ब्रह्मविष्णुवीश्वराद्यन्ते महाप्रलयनामनि ।
 शब्दार्थे रूढिमापन्ने यच्छुद्धमवशिष्यते ॥ ६
 सर्गस्य कारणं तत्र न किञ्चिदुपपद्यते ।
 मलमाकारवीजादि मायामोहभ्रमादिकम् ॥ ७
 केवलं शान्तमत्यच्छमाद्यन्तपरिवर्जितम् ।

त्वादधिष्ठानमात्रपरिपोषाद्यानङ्गं निरवयवमेव । एवं सकल-
 भावविकारशून्यमप्येतदजरमात्मतत्त्वं सर्वाधारोपेण सर्वात्मकं
 श्रुतय आहुरित्यर्थः ॥ ४९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणता-
 त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम द्विप-
 ञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

अधारोपितचेत्यानां प्रातिस्निकभिन्नाजुषाम् ।

भावस्त्वप्रत्ययाद्यर्थो ब्रह्मचेत्युपवर्ण्यते ॥ १ ॥

ब्रह्मणोऽधारोपितानिर्वचनीयजगद्रूपप्राप्तिक्रमे वर्णिते तत्र
 कतिपयव्यक्तिप्रभुगतामित्राभ्यो व्यावृत्तं त्वत्वादिभावप्रत्य-
 याभिधेयं यज्जालादिरूपं तत्स्वरूपं तत्त्वतो जिज्ञासू रामः
 पृच्छति—यथेत्यादिना । चेत्ये स्मृतिविषये । चेतनता स्मृति-
 विषयभावः । वैषयिकाधारे स्युष्टि तत् । चेत्येतेति यावत्
 ॥ १ ॥ अभूतं वर्तमानं आदिपदाद्भविष्यच्च तत्र अभूतता ॥ २ ॥
 भिन्ने वस्तुतत्परिच्छेदादिमति । अनन्ते तच्छून्ये ॥ ३ ॥
 एतदेवंरूपं सर्ववस्तूनामसाधारणं भावं बोधकोपायक्रमेण मे
 वद । क्रमेणेत्युक्तेराशयमुद्घाटयति—आदित इति ॥ ४ ॥
 त्वत्पृष्ठधेत्यादिवस्तूनां भावश्चिदात्मैव तस्यैव स्वाध्यस्तेष्वन्यो-
 न्यतादात्म्याध्यासे तद्भावताविभावनादित्युत्तरमभिप्रेत्य तस्य
 नित्यसद्रूपतां दर्शयितुमारभते—तदनन्तमित्यादिना । यत्त्वया
 पृष्ठं तदिदमित्यर्थः ॥ ५ ॥ सर्वनाशे परिशिष्यमाणत्वात्स एव
 सर्ववस्तूना भावः । भूधातोर्भावे धनि नित्यसत्तार्थे भावशब्द-
 व्युत्पत्तेरित्याशयेनाह—ब्रह्मेति । शब्दार्थे नामरूपे । अरुढि
 तिरोभावमापन्ने । अस्तन्मात्रप्रलयेन परेशिष्टे सच्छब्दार्थे
 रूढिं प्रतिदिमापन्ने इति वा ॥ ६ ॥ ननु तदपि स्वकारणे लीयतां
 यो० वा० १४५

तद्विद्यते यत्र किल खमपि स्थूलमश्मवत् ॥ ८
 न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्रूप्यदा ।
 न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा ॥ ९
 निमेषे योजनशते प्राप्तायामात्मसंविदि ।
 मध्ये तस्यास्तु यद्रूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १०
 सबाह्याभ्यन्तरे शान्ते वासनाविषयभ्रमे ।
 सर्वचिन्ताविहीनस्य प्रबुद्धस्यार्धरात्रतः ॥ ११
 शान्तं निःसुखदुःखस्य पुरुषस्यैव तिष्ठतः ।
 यदस्पन्दि मनोरूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १२
 तृणगुल्माङ्कुरादीनां सत्तासामान्यमाततम् ।
 यदुद्भवोद्भवं रूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १३
 तस्मिन्पदे जगद्रूपं यदिदं दृश्यते स्फुटम् ।
 सकारणमिवाकारकरालमिव भेदवत् ॥ १४
 तत्सर्वं कारणाभावात् जातं न च विद्यते ।
 नाकारयुक्तं न जगत्तत्र द्वैतैक्यसंयुतम् ॥ १५
 यदकारणकं तस्य सत्ता नेहोपपद्यते ।
 स्वयं नित्यानुभूतेऽर्थे कोऽत्रापहवशक्तिमान् ॥ १६

तेनासदस्तु तत्राह—सर्गस्येति । तत्र सदात्मनि सर्गस्य
 जन्मनः कारणं किञ्चिदपि नोपपद्यते । मलमायादीनां तदधी-
 नसिद्धिकत्वादिति भावः ॥ ७ ॥ यत आद्यन्तपरिवर्जितमत-
 स्तत्सदैव विद्यत इति सत्तार्थकभावशब्दार्थ इति भावः ॥ ८ ॥
 तद्यदा शान्तमलं तदा अस्तीति वाच्यवृत्त्या वक्तुं न युज्यते,
 तदा हि भविता स्यान्न भाव इति भावः ॥ ९ ॥ तादृशनि-
 र्विषयचित्त्वभावस्यात्यन्ताप्रसिद्धिमनुभवप्रदर्शनेन वारयति—
 निमेषे इति । शास्त्राचन्द्रदर्शनकाले निमेषमात्रेण शास्त्रोर्ध्व-
 देशे योजनशतं चाक्षुषवृत्तिद्वारा प्राप्तायां प्रमातृसंविदि शास्त्रा-
 चन्द्रयोर्मध्ये तस्या निर्विषयं रूपं प्रसिद्धमिति प्रागसकृद्दर्शित-
 मेवेत्यर्थः ॥ १० ॥ अर्धरात्रिपर्यन्तं गाढनिद्रया मनसो निद्रा-
 कालाभ्येऽपनीते सति ततः समाध्यारूढानां योगिनां तद्रूपमनु-
 भवसिद्धमित्याह—सबाह्येति द्वाभ्याम् ॥ ११ ॥ १२ ॥
 तृणानां गुल्मानामङ्कुराण्डतरुविटपादीनां च सर्वपदार्थानामु-
 द्भवे उद्भवं तदनुपपत्तयाविर्भूतं यत्सत्तासामान्यमाततमनु-
 गतं रूपं तदेव त्वत्प्रत्ययार्थ इत्यर्थः । तथा चोक्तं वाक्यप-
 दीये ‘सा सत्ता सा महानात्मा तामाहुस्त्वत्तलादयः’ इति ॥ १३ ॥
 तस्मिन्नेव सत्तासामान्यरूपे तादात्म्येनानुषक्तं व्यावृत्तमिव यद्भ-
 टपटादिजगद्रूपमागन्तुकत्वात्सकारणमिव कम्बुग्रीवाद्याकारैः
 करालमिव च भासते तत्सर्वमनृतम्, अत एव कारणाभावात्
 जातं न विद्यते चेति परेणान्वयः ॥ १४ ॥ तच्च
 सद्रूपं नाकारयुक्तम्, अत एव न जगत् द्वैतैक्यादिनापि न
 संबद्धम् ॥ १५ ॥ तत्कुतस्तत्राह—यदिति । अत्रार्थे
 सर्वेषां आनुभव एव मानमित्याह—स्वयमिति ॥ १६ ॥

न च शून्यमनाद्यन्तं जगतः कारणं भवेत् ।
ब्रह्मामूर्तं समूर्तस्य दृश्यस्याब्रह्मरूपिणः ॥ १७
तस्मात्तत्र जगद्रूपं यदा भातं तदेव तत् ।
स्वयमेव तदा भाति चिदाकाशमिति स्थितम् ॥ १८
जगच्चिद्ब्रह्मभावाच्च तथा भावो भ्रमादिव ।
सर्वमेकमजं शान्तमद्वैतैक्यमनामयम् ॥ १९

पूर्णात्पूर्णं विसरति पूर्णं पूर्णं विराजते ।
पूर्णमेवोदितं पूर्णं पूर्णमेव व्यवस्थितम् ॥ २०
शान्तं समं समुदयास्तमयैर्विहीन-
माकारमुक्तमजमस्वरमच्छमेकम् ।
सर्वं सदा सदसदेकतयोदितात्म
निर्वाणमाद्यमिदमुत्तमबोधरूपम् ॥ २१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु वि० उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः ५४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जगन्नाम नभः स्वच्छं सद्ब्रह्म नभसि स्थितम् ।
नभो नभसि भातीदं जगच्छब्दार्थ इत्यजम् ॥ १
त्वमहं जगदित्यादि शब्दार्थो ब्रह्म ब्रह्मणि ।
शान्तं समसमाभासं स्थितमस्थितमेव सत् ॥ २
समुद्रगिरिमेघोर्वीचिरफोटमयमप्यजम् ।
काष्ठमौनवदेवेदं जगद्ब्रह्मावतिष्ठते ॥ ३
द्रष्टा द्रष्टृश्च दृश्यस्य स्वभावात्स्वात्मनि स्थितः ।
कर्ता कर्तैव कर्तव्याभावतः कारणादृते ॥ ४

न ज्ञत्वं न च कर्तृत्वं न जडत्वं न भोक्तृता ।
न शून्यता न चार्थत्वमिह नापि नभोर्यता ॥ ५
शिलाजठरवत्सत्यं घनमेकमजं ततम् ।
सर्वं शान्तमनाद्यन्तमेक विधिनिषेधयोः ॥ ६
मरणं जीवितं सत्यमसत्यं च शुभाशुभम् ।
सर्वमेकमजं व्योम वीचिजालजलं यथा ॥ ७
विभाग एव दृश्यत्वं द्रष्टृत्वं चैव गच्छति ।
एतच्च कल्पनं स्वप्नपुरादिष्वनुभूयते ॥ ८
एवमच्छं पराकाशे स्वप्नपत्तनवज्जगत् ।
भाति प्रथममेवेदं ब्रह्मैवेत्यमतः स्थितम् ॥ ९

अस्तु तर्ह्यसतो जगतः शून्यमेव कारणं तत्राह—न चेति ।
शून्यस्य कारणत्वे तस्य देशादिपरिच्छेदाभावात्सर्वं सर्वत्र सदा
स्यावित्याशयेन विशिनष्टि—अनाद्यन्तमिति । अत एव न
ब्रह्मापि कारणम् । अमूर्तस्य भूतकारपरिणामायोगाच्चेत्याह—
ब्रह्मेति । तथा च श्रुतिः ‘तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमवायम-
यमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू’ इति ॥ १७ ॥ तस्य वीदृशे ब्रह्मणि
यज्जगद्रूपं भातं तद्ब्रह्मैव तथा भातमिति । ब्रह्मैव सर्ववस्तुना
भावस्त्वतन्वयार्थं इत्युपसंहरति—तस्मादिति ॥ १८ ॥ एवं
जगतश्चिद्ब्रह्मभावादापातप्रतीतस्तथा भावो घटपटाद्याकारो
भ्रमादिवेति सिद्धे सर्वत्र सर्वमेकमेव ॥ १९ ॥ आन्त्या तस्य
जगज्जीवभावे आन्त्यापगमे चास्तवब्रह्मभावे च ‘पूर्णमदः पूर्ण-
मिदम्’ इत्यादिश्रुतिः प्राग्दर्शितैवेत्यनुवदति—पूर्णादिति ॥ २० ॥
घर्णितरीत्या सर्वमाकारमुक्तं सत् सदसदेकतया सदा उदिता-
त्मेति यदिदमुत्तमबोधरूपं ब्रह्म परिशिष्टं तदेव निर्वाणमिति
भावप्रत्ययार्थतत्त्वमित्यर्थः ॥ २१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नाम त्रिप-
ञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

सर्वं वस्तु स्वभावस्थं स्वभावेन क्रियाभिदे ।

अविकारमतोऽद्वैत सन्मात्रमिति वर्ण्यते ॥ १ ॥

घटपटादीनां न घटत्वपटत्वाद्यनुष्ठित्य स्वरूपं भेदो वा
निरूपयितुं शक्यम्, घटघटत्वयोरपि परस्परं न निर्वच्छिन्न-
प्रतियोगिताकौ भेदौ निरूपयितुं शक्याविति पृथक्करणे निर्विकल्प-
तया समाभासयोर्भावमविश्रोविभागस्य विकल्पमात्रत्वात्सर्व-
वस्तुनां भावमात्रत्वे घटे घटत्वमित्यादिशब्दार्थनिष्कर्षे ब्रह्म

ब्रह्मणि स्थितमित्येव पर्यवस्यतीति प्रसाधितस्य भावप्रत्ययार्थ-
निष्कर्षस्य फलमिहोपपादयितुमारभते—जगन्नामेत्यादिना ।
घटत्वपटत्वादिभावेभ्यो निष्कृष्यमाणं जगद्ब्रह्म इव स्वच्छं
निर्भेदकलङ्कमेव प्रसिद्धम् । तत्र च घटत्वपटत्वादिभावः प्रागु-
क्तरीत्या ब्रह्मैव स्थितम् । तथा चैवंदर्शने घटः पट इत्यादिभावे
नभ एव नभसि भाति स एव जगच्छब्दस्य घटपटादिशब्दस्य
चार्थस्तच्चाजं जन्मादिविकारशून्यमेवेति न कार्यकारणभावः
कस्यचित्किंचित्प्रतीत्यर्थः ॥ १ ॥ अमुमेवार्थं पुनः स्पष्टमाह—
त्वमहमिति । भावमविश्रोः पृथक्कृत्य दर्शने अस्यन्तैक्यदर्श-
नेऽपि वा सौक्ष्म्यादिना समसमाभासमेव पृथगस्थितमेव तथा
सत् ॥ २ ॥ एवं समुद्रगिरिमेघोर्न्यादिविभागप्रचुर विवित्र-
कारकक्रियाफलमेदैर्भासमानमपि तत्तद्भावमवितृप्तत्वं निष्कर्षे
निष्कर्षं ब्रह्मैवावतिष्ठत इत्यर्थः ॥ ३ ॥ तदेव द्रष्टादिविभाग-
प्रचुरं विवित्रकारकेषु तत्तद्भावनिष्कर्षेण प्रपञ्चयति—द्रष्टेति ।
दृश्यस्य स्वभावाज्जिच्छुष्टो द्रष्टा चिन्मात्रस्वभावे स्वात्मनि स्थितः
सन् तद्ब्रह्मैव भवति एवं कर्तापीत्यर्थः ॥ ४ ॥ अनया दृष्ट्या सर्व-
जगद्ब्रह्मैक्यमपमार्ष्टुं शक्यमिति दर्शयति—नेति ॥ ५ ॥
भावभावविभागस्याप्यपमार्जनाद्विधिनिषेधयोरेकम् ॥ ६ ॥ ७ ॥
ब्रह्मणो जीवभावेन विभागे सत्येकमेव चिदंशप्राधान्येन द्रष्टा,
तदंशप्राधान्येन चिद्रूपं तिरोधाय दृश्यता चैव गच्छति । यथा
स्वप्ने व्यावहारिकजीवात्प्रातिभासिकजीवस्य विभागे स्थापति-
रोहितो व्यावहारिकजीवः स्थाप्यजीवदृश्यपुरादिभावं गच्छति
तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥ प्रथमं निष्प्रपञ्चं यद्ब्रह्म तदेवातो जीव-

तदिदं तादृशं विद्धि सर्वं सर्वात्मकं च यत् ।
 देशादेशान्तरप्राप्तौ विदो मध्यमनङ्कितम् ॥ १०
 चिद्वोमः शान्तशान्तस्य मध्यमे चैवमास्थितम् ।
 जगत्तथैव सलिलमेवोर्म्यादितया यथा ॥ ११
 यदुदेत्युदितं यच्च यच्च नोदेति नोदितम् ।
 देशादेशान्तरप्राप्तौ विदो मध्यान्त्र मेदितम् ॥ १२
 अतः किलास्य सर्गस्य कारणं शशशृङ्गवत् ।
 प्रयत्नेनापि चान्विष्टं न किञ्चिदुपलभ्यते ॥ १३
 यदकारणकं भाति तदभातं भ्रमात्मकम् ।
 भ्रमस्यासत्यरूपस्य सत्यता कथमुच्यते ॥ १४
 कारणेन विना कार्यं किल किं नाम विद्यते ।
 यदपुत्रस्य सत्पुत्रदर्शनं स भ्रमो न सत् ॥ १५
 यस्त्वकारणको भाति स स्वभावो विजृम्भते ।
 सर्वरूपेण संकल्पगन्धर्वनगरादिवत् ॥ १६
 देशादेशान्तरप्राप्तौ क्षणान्मध्यं विदो घणुः ।
 स्वरूपमजहत्त्वेव राजतेऽर्थविवर्तवत् ॥ १७
 बोध एव कचत्यर्थरूपेण स च खादणुः ।
 दृष्टान्तोऽत्रानुभूतोऽन्तः स्वप्नसंकल्पपर्वतः ॥ १८

श्रीराम उवाच ।

विद्यते वटबीजान्तर्यथा भाविमहाद्रुमः ।
 परमाणौ तथा सर्गो ब्रह्मन्कस्मान्न विद्यते ॥ १९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यत्रास्ति बीजं तत्र स्याच्छाखा विततरूपिणी ।

त्मना विभागादित्यं जगद्भावेन स्थितम् ॥ ९ ॥ तत्तस्मादिदं
 सर्वात्मकं जगद्रूपं प्रथमं यादृशं निष्प्रपञ्चं तादृशमेव सदेति
 विद्धि । तादृशं निष्प्रपञ्चमनावृतं चित्तो रूपमप्रसिद्धमिति तु न
 वाच्यम् । शाखाचन्द्रोभयदर्शनवृत्त्यभिव्यक्तचित्तस्तदुभयमध्य-
 मप्रदेशे तथा प्रसिद्धेः प्रागसकृदुक्तत्वादित्याह—देशादिति ।
 अनङ्कितं विषयविशेषेणान्वितम् ॥ १० ॥ इदानीमपि प्रत्य-
 ग्दृष्ट्या पर्यालोचने तद्रूपं सुदर्शमित्याशयेन दृष्टान्तः सलिलमे-
 वेति ॥ ११ ॥ सर्वं जगत्तादृशनिर्विषयचैतन्याभिज्ञमेवेत्याह—
 यदिति । उदेत्युदितं च कार्यरूपं, नोदेति नोदितं च कारण-
 रूपम् । न मेदितं न भिजम् । स्वार्थग्यन्तात् कः ॥ १२ ॥
 अस्त्वभिज्ञं किं ततस्तत्राह—अत इति ॥ १३ ॥ ततोऽपि किं
 तत्राह—यदिति ॥ १४ ॥ यदपुत्रस्य बन्ध्यापतेः स्वप्ने सत्पुत्र-
 दर्शनं स भ्रम एवेत्यर्थः ॥ १५ ॥ स्वभावो द्रष्टृचिदेव स्वरूपं
 जहत्तया विजृम्भते ॥ १६ ॥ क्व तर्हि स्वरूपमजहद्राजते
 तत्राह—देशादिति । शाखाचन्द्रदेशयोरेव परमार्थविवर्तवदि-
 त्युभयरूपकचनं तत्र प्रतिद्वमित्यर्थः ॥ १७ ॥ असत्यप्यर्थे
 बोधोऽर्थरूपेण कचते इत्यर्थेऽपि दृष्टान्तावाह—बोध एवेति
 ॥ १८ ॥ बोध एवार्थरूपेण कचतीति किमर्थं कल्प्यते वटबी-
 जान्तः स्रग्मो शृङ्ग इव बोधान्तर्जटात्मकः प्रपञ्चो लक्ष्य एव

जन्यते कारणैः सा च वितता सहकारिभिः ॥ २०
 समस्तभूतप्रलये बीजमाकारि किं भवेत् ।
 सहकार्यथ किं तस्य जायते यद्वशाज्जगत् ॥ २१
 यत्तु ब्रह्म परं शान्तं का तत्राकारकल्पना ।
 परमाणुत्वयोगोऽपि नात्र केवात्र बीजता ॥ २२
 कारणस्येति बीजस्य सत्यासत्यैककारिणः ।
 असंभवाज्जगत्सत्ता कथं केन कुतः क्व का ॥ २३
 जगदास्ते परस्याणोरन्तरित्यपि नोचितम् ।
 सार्षपे कणके मेहरास्त इत्येककल्पना ॥ २४
 सति बीजे प्रवर्तन्ते कार्यकारणद्वयः ।
 निराकारस्य किं बीजं क्व जन्यजनकक्रमः ॥ २५
 अतो यत्परमं तत्त्वं तदेवेदं जगत्स्थितम् ।
 नेह प्रथयते किञ्चिन्न च किञ्चिद्विनश्यति ॥ २६
 चिदाकाशश्चिदाकाशे हृदि चित्त्वाज्जगद्भ्रमम् ।
 अशुद्धवदिवाशुद्धे शुद्धं शुद्धे प्रपश्यति ॥ २७
 स्वमेवाभासते तस्य रूपं स्पन्द इवानिले ।
 सर्गशब्दार्थकलना नेह काश्चन सन्ति नः ॥ २८
 यथा शून्यत्वमाकाशे द्रवत्वं च यथा जले ।
 अन्यतात्ममयी शुद्धा सर्गतेयं तथात्मनि ॥ २९
 भारूपमिदमाशान्तं जगद्ब्रह्मैव नस्ततम् ।
 अनादिनिधनं सत्यं नोदेति न च शास्यति ॥ ३०
 देशादेशान्तरप्राप्तौ क्षणान्मध्ये विदो घणुः ।
 यत्तज्जगदितीवेदं व्योमात्मनि व्यवस्थितम् ॥ ३१

प्राक् स्थित इत्येव कुतो वा न कल्प्यत इति रामः शङ्कते—
 विद्यत इति ॥ १९ ॥ साकारे हि बीजेऽन्तर्निराकारो वटः प्राग-
 भूतः, स च मूललादिसहकारिकारणसमवधानेऽङ्कुरादिक्रमेणाविर-
 भूतः । न च सर्वजगत्प्रलये किञ्चित्साकारं संभवति सहकारिणो
 वा लक्ष्यन्त इति विषमो दृष्टान्त इत्युत्तरं वसिष्ठ आह—यत्रे-
 त्यादिना ॥ २० ॥ आकारोऽस्यास्तीत्याकारि किं बीजं भवेत् ।
 एवं सहकार्यपि तस्य बीजस्य किं भवेत् ॥ २१ ॥ ननु ब्रह्मैव तत्र
 जगच्छक्तिर्गर्भं बीजमस्तु तत्राह—यस्त्विति । अत्रास्मिन्ब्रह्मणि
 परमाणुत्वयोगोऽपि नास्ति आकारकल्पना दूरापास्तेत्यर्थः
 ॥ २२ ॥ अत एव कारणसंभवः प्रागुक्त इत्याह—कारण-
 स्येति । इति अनया रीत्या ॥ २३ ॥ यदि तु ‘अणुः पन्था विततः
 पुराणः’ ‘अणोरणीयान्’ इत्यादिश्रुतिवलादणुत्वमभ्युपगम्येत
 तथापि तत्र जगत्स्थितिर्दुरुपपादेत्याह—जगदिति ॥ २४ ॥
 यदि तु जगदपि निराकारमेवेत्यभ्युपगम्येत तर्हि सुतरां बीजा-
 यसंभवात्तादृशब्रह्मैव पर्यवसितेत्याह—सतीति द्वाभ्याम्
 ॥ २५ ॥ प्रथयते आविर्भूय स्वरूपं प्रख्यापयति ॥ २६ ॥ किं
 तर्हि तत्तदाह—चिदाकाश इति ॥ २७ ॥ २८ ॥ आत्ममयी
 स्वविवर्तरूपा स्वान्यता ॥ २९ ॥ अविवर्तं तर्हि कीदृक् तदाह—
 भारूपमिति ॥ ३० ॥ तदप्रतिद्विस्तु बहुशो वारितेति

यथा स्पन्दोऽनिले तोये द्रवत्वं व्योम्नि शून्यता ।
तथा जगदिदं भातमनन्याश्लेषमात्मनि ॥ ३२
संविन्नमो ननु जगन्नम इत्यनर्क-
मात्मन्यवस्थितमनस्तमयोदयं क ।

तत्त्वज्ञभूतमखिलं तदनन्यदेव
दृश्यं निरस्तकलनोऽम्बरमात्रमास्त्र ॥ ३३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अद्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः ५५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ।
आदावेव हि नोत्पन्नाः सर्गादौ कारणं विना ॥ १
न त्वमूर्ता हि चिदातुः कारणं भवितुं क्वचित् ।
स्वात्मा शक्तः स मूर्तानां बीजमुर्वीरुहामिव ॥ २
स्वभावमेव सततं भावयन्भावनात्मकम् ।
आत्मन्येव हि चिदातुः सर्वोऽनुभववान्स्थितः ॥ ३
आस्त्रादयति यं भावं चिदातुर्गगनात्मकः ।
लब्धः सर्गः प्रलापेन शीवः क्षुब्धतया यथा ॥ ४
यदा सर्वमनुत्पन्नं नास्त्येवापि च दृश्यते ।
तदा ब्रह्मैव विद्मीदं समं शान्तमसत्समम् ॥ ५
चिन्नमश्चिन्नमस्येव पयसीव पयोद्भवः ।
चित्त्वात्कचति यत्तेन तदेवेदं जगत्कृतम् ॥ ६

सारयति—देशादिति ॥ ३१ ॥ अन्येन वस्तुवन्तरेणाश्लेषः
संबन्धस्तच्छून्यम् । असङ्गाद्वयमिति यावत् ॥ ३२ ॥ वर्णितं
सर्वं जगत्तत्त्वस्वभावमात्रत्वं सप्रत्योपदिशालुपसंहरति—संवि-
दिति । हे राम, जगत् आत्मनि परमार्थस्वभावेऽवस्थितं सत् ।
नन्विति निश्चयेन संविन्नम एव शून्यतापन्नं सत्प्रतिदं नम
एव किं न स्यात्तत्राह—नम इति । अनर्कं सूर्यरहितं तदस्त-
मयोदयरहितं च आत्मनि स्वरूपमात्रेऽवस्थितं च नम इति क
प्रसिद्धम् । न हि नमः सच्चित्स्वभावमर्कादिशून्यं वा प्रसिद्धमपि
तु जडं शून्यम् । किं च सर्वदृश्यानां अतत्त्वं सच्चित्स्वभावरूपं
तदनुविद्धत्वेन भातात्तदभूतमेवाखिलं प्रसिद्धं न शून्यनभोज्यम्,
येन तन्मात्रं स्यात् । अतस्तेन सच्चिदात्मनैवानन्यत् । तस्मा-
त्त्वमपि निरस्तसकलदृश्यधिदम्बरमात्रं सन् आस्त्र तिष्ठेत्यर्थः
॥ ३३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे अद्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

अन्यभावनयान्यां स्त्रीं पश्यन्ती चिजगत्स्थिता ।

स्वभावनादनन्येति परमार्थमयं जगत् ॥ १ ॥

एवं जगत् आत्मान्तिके ब्रह्मामेदे अनुत्पत्तिरेव फलिते-
त्याह—भावेति ॥ १ ॥ उत्पत्तिवादे त्वदृश्यं बीजं वाच्यं
तन्नु दुर्बलमित्यसकृदुक्तं सारयति—न त्विति ॥ २ ॥ अत एव
तत्त्ववित्सर्वं जगत्तत्त्वस्वभावमेव भावयन्स्वभावेनैव स्थित इत्याह
—स्वभावमेवेति । ‘सर्गानुभववान्’ इति पाठे तु अजन्वि-
दातुरात्मन्येव सर्गस्वभावं भावयन्तयानुभववान्स्थित इति

स्वप्ने तदेव जगदित्युदेति विमला यथा ।
काचकस्येव कचति तथेत्यं सादि सर्गखे ॥ ७
चित्काचकस्य कचनं यथा स्वप्ने जगद्भवेत् ।
तथैव जाग्रदविधं तत्त्वमात्रमिदं स्थितम् ॥ ८
आदिसर्गे हि चित्स्वप्नो जाग्रदित्यमिश्रयते ।
अद्य राज्ञौ चित्तेः स्वप्नः स्वप्न इत्यपि शब्दयते ॥ ९
पूर्वप्रवृत्ता सरितां रुढाद्यापि यथास्थिता ।
तरङ्गलेखा दृष्टीनां पदार्थरचना तथा ॥ १०
यथा वारितरङ्गश्रीः सरितां रचना मिता ।
तथा चिद्योम्नि चिद्वीजसत्तान्तःसृष्टिता मिता ॥ ११
मृतस्यात्यन्तनाशश्चेत्तन्निद्रासुखमेव तन् ।
भूयश्चोदेति संसारस्तत्सुखं नवमेव तत् ॥ १२

व्याख्येयम् ॥ ३ ॥ अत एवाज्ञात्मना स्वभावभावनालुप सर्गो
लब्ध इत्याह—आस्त्रादयतीति । यथा मदिरादिक्षुब्धतया
आत्मनैव शीवः स्वात्मा लब्धस्तद्वत् ॥ ४ ॥ अत एवानुत्पन्न-
वस्तुवन्तरस्वभावदर्शने तद्भावस्थितिरिति विद्मीत्याह—यदेति
॥ ५ ॥ कथं तर्हि तेनेदं जगत्कृतमिति श्रुत्यादिप्रवाद उपपन्न-
स्तत्राह—चिन्नम इति । यद्यस्मात्तेन चिदात्मना निमित्तेनेद-
मव्यस्तं जगत्कचति तेन हेतुना जगद्ब्रह्मैव जगदाकारेण तेनैव
कृतमिति प्रवाद इति शेषः ॥ ६ ॥ स चायं स्वप्नद्वय ‘अद्य रथात्
रथयोगान् पयः सृजते’ इति श्रुतौ तत्त्वप्रवृत्ताप्रवादवदित्याह—
स्वप्ने इति । यथा वा काचकदूषितनेत्रस्य नमसि केशोण्डकादि
कचति तथा इत्थं निवित्रं सादिरुपं सर्गात्मभाविते चिदाकाशे
कचतीत्यर्थः ॥ ७ ॥ तत्तत्स्वात्ममात्रं चिदाकाशमात्रम् ॥ ८ ॥
कस्तर्हि तथा सति जाग्रत्स्वप्नयोर्भेदस्तत्राह—आदीति । आदौ
प्रवृत्ते हिरण्यगर्भात्मकसर्गे । अद्य राज्ञौ प्रवृत्ते स्वस्वव्यवस्थन्तः-
करणमात्रपरिणामरूपे सर्गे यथितेः स्वप्नः ॥ ९ ॥ आदिसर्ग-
संकल्प एवामहाप्रलयं सर्वपदार्थस्वभावव्यवस्थापिका नियति-
स्तदनुसारेणैवाद्यापि यथास्थितं पदार्थरचना रूढा यथापूर्वप्रवृत्ता
सरितां तरङ्गरेखा दृष्टीनां प्रत्यक्षा रुढेत्यन्वयः ॥ १० ॥ तथा च
वारिसत्तातिरिक्तसत्ता यथा तरङ्गधियो नास्ति एवं जग-
त्तत्त्वसत्तातिरिक्ता सा नास्तीत्याशयेन ब्रह्मोपादानकताप्रवाद
इत्यागयेनाह—यथेति ॥ ११ ॥ एवं जगत्तः पृथक्सत्ताभावे
जन्ममरणमीतिप्रसक्तिरेव नास्ति, प्रत्युतोभययापि मुखमेव-

कुर्मभ्यस्तु चेद्भीतिः सा समेह परत्र च ।
 तस्मादेते समसुखे सर्वेषां मृतिजन्मनी ॥ १३
 मरणं जीवितं वास्तु सहजे वासने तयोः ।
 इति विश्रान्तचित्तो यः सोऽन्तःशीतल उच्यते ॥ १४
 सर्वसंविच्चिद्विगमे संविद्रोहति यादृशी ।
 भूयते तन्मयेनैव तेनासौ मुक्त उच्यते ॥ १५
 अत्यन्ताभावसंविच्या सर्वदृश्यस्य वेदनम् ।
 उदेत्यपास्तसंवेद्यं सति वाऽसति सर्गके ॥ १६
 यन्न चेत्यं न चिद्रूपं यच्चित्तेरप्यचेतितम् ।
 तद्भावैक्यं गतास्तज्ज्ञाः शान्ता व्यवहृतौ स्थिताः ॥ १७
 चित्काचकाचकच्यं यज्जगन्नाम्ना तदुच्यते ।
 अत्यच्छे परमाकाशे बन्धमोक्षदृशः कुतः ॥ १८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० जगतः परमार्थमयत्ववर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः ५६

धीवसिष्ठ उवाच ।
 सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा व्योम्नि चिन्मये ।
 साधु संभवति स्वच्छं शून्यत्वं ख इवाखिले ॥ १
 यत्र चित्तत्र सर्गश्रीरव्योम्नि व्योम्नि वास्ति चित् ।
 चिन्मयत्वात्पदार्थानां सर्वेषां नास्त्यचित्कचित् ॥ २
 पदार्थजातं शैलादि यथा स्वप्ने पुरादि च ।
 चिदेवैकं परं व्योम तथा जाग्रत्पदार्थभूः ॥ ३
 पाषाणाख्यानमत्रेदं शृणु राम रसायनम् ।
 पूर्वं मयैव यदृष्टं चित्रं प्रकृतमेव च ॥ ४

त्याह—मृतस्येति । यदि मृतस्यात्यन्तासत्त्वं तथापि ब्रह्मसुख-
 सत्ताया एव तत्तन्नाशोभयसत्तात्मनः परिशेषाभिद्रायां सुषुप्तौ
 निरतिशयानन्दत्वेन प्रसिद्धं सुखमेव प्राप्तं भूयश्च पुनर्मृती
 देहाद्यात्मना संसारो यद्युदेति तत्तस्य नवं संसाररूपमपि तदेव
 सुखं न हि सुखान्यसत्तास्तीति न कचिद्भयप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ १२ ॥
 ननु मृतस्य कुर्मभ्यो नरकादिदुःखसंभावनाद्भयं किं न स्यादि-
 त्याशङ्कामुत्थाप्याह—कुर्मभ्य इति । सा भीतिरिह जीवतः
 परत्र मृतस्य च समा नरकादेर्जीवनस्य च ब्रह्मसुखसत्तातिरिक्त-
 सत्ताभावाद्दुःखस्यापि सुखसत्तयैव स्थितेर्विशेषाभावादित्यर्थः
 ॥ १३ ॥ तयोर्मरणजीवितयोर्वासने सौख्येण स्थितिरूपे सत्ते
 सहजे स्वाभाविकब्रह्मसुखरूपे ॥ १४ ॥ तेन दृश्यबन्धस्य पृथ-
 कसत्तापगमेनासौ मुक्त उच्यते ॥ १५ ॥ एवं दृश्यस्यात्यन्ता-
 भावसंविच्या परसत्तया सर्गके सत्यसति वा सर्वदृश्यस्य वेदनम-
 पास्तसंवेद्यं निर्विषयमेवोदेतीति मुक्तत्वोपपत्तिरित्यर्थः ॥ १६ ॥
 चेत्याभावादेव तत्सापेक्षचित्तिक्रियारूपं न ॥ १७ ॥ असीक्ष्यं
 कचतीति कचकचस्तद्भावः काचकच्यम् ॥ १८ ॥ १९ ॥
 प्रतिमासनात्रेणोच्छूनं वाप्यनुच्छूनमेवेत्यसत् ॥ २० ॥ २१ ॥
 ॥ २२ ॥ हे राम, चिद्योत्र अविर्लं जगद्रूपमित्यमुकीत्या

चित्रमःस्पन्दमात्रात्म संकल्पात्मतया जगत् ।
 सद्भूतमयमेवेदं न पृथ्यादिमयं कचित् ॥ १९
 नेह देशो न कालोऽस्ति न द्रव्यं न क्रिया न खम् ।
 सदिवाखिलमुच्छूनं वाप्यनुच्छूनमप्यसत् ॥ २०
 भाति केवलमेवेत्थं परमार्थघनं घनम् ।
 यन्न शून्यं न वाऽशून्यमत्यच्छं गगनादपि ॥ २१
 साकारमप्यनाकारमसदेवातिभास्वरम् ।
 अतिशुद्धैकचिन्मात्रस्फारं स्वप्नपुरं यथा ॥ २२
 निर्वाणमेवमिदमाततमित्थमन्त-
 श्चिद्योत्र आविलमनाविलरूपमेव ।
 नानेव न कचिदपि प्रसृतं न नाना
 शून्यत्वमम्बर इवाम्बुनिधौ द्रवत्वम् ॥ २३

अहं विदितवेद्यत्वात्कदाचित्पूर्णमानसः ।
 त्यक्तुमिच्छुरिमं लोकव्यवहारं घनभ्रमम् ॥ ५
 ध्यानैकतानतामेत्य शनैर्विश्रान्तये चिरम् ।
 त्यक्ताजवं जवीभाव एकान्तार्थी शमं व्रजन् ॥ ६
 इदं चिन्तितवानस्मि कस्मिंश्चिदमरालये ।
 संस्थितो विविधाः पश्यन्भङ्गुरा जागतीर्गतीः ॥ ७
 विरसा खल्वियं लोकस्थितिरापातसुन्दरी ।
 न जातु सुखदा मन्ये कस्यचित्केनचित्कचित् ॥ ८

अनाविलं रूपमाततं निर्वाणमेव । अनेन कचिदपि न प्रसृतं
 न किंतु सर्वत्र प्रसृतमेव । अम्बरे शून्यत्वमिव अम्बुधौ
 द्रवत्वमिव च इदं जगन्न नाना किंतु तदेवेत्यर्थः ॥ २३ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
 राधे जगतः परमार्थमयत्ववर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

चिदेव सर्वं सर्वत्र सर्वं चिदिति निश्चितेः ।

इतीकाराय पाषाणाख्यायिकात्रोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

चिन्मये व्योम्नि ब्रह्माकाशे तत्सत्तया सर्वत्र सर्वदा साधु असं-
 कुचद्वृत्तितया संभवति तच्च सर्वं सर्वदा सर्वत्र स्वच्छमेव स्वमा-
 लिन्यलेशेनापि ब्रह्म न दूषयति । यथा खे शून्यत्वमखिले
 तस्मिन्नेत्यात्मना भासमानमपि न खं दूषयतीत्यच्छं तद्वदि-
 त्यर्थः ॥ १ ॥ उक्तार्थे उपपत्तिमाह—यत्रेति । अव्योम्नि
 पृथिव्यादौ ॥ २ ॥ सर्वस्य चिन्मात्रता स्वप्ने प्रसिद्धेति तदृष्टा-
 न्तेन जाग्रदपि तां साधयति—पदार्थजातमिति ॥ ३ ॥
 रसानां माधुर्यवैचित्र्याणां शृङ्गारादीनां चायनं स्थानं भ्रान्ति-
 रोगमेपजं च विविधकथोपजृम्भितत्वाच्चित्रं वित्तरेण वर्णयितुं
 प्रकृतं प्रस्तुतं च ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ अमरालये संस्थितोऽह-
 मिदं वक्ष्यमाणं चिन्तितवानस्मि ॥ ७ ॥ केनचिदप्युपायेन

उद्वेगं जनयत्यन्तस्तीव्रसंवेगखेदतः ।
 इमा दृश्यदृशो द्रष्टुरिष्टानिष्टफलप्रदाः ॥ ९
 किमिदं दृश्यते किं वा प्रेक्षते कोऽहमेव वा ।
 सर्वं शान्तमजं व्योम चिन्मात्रात्मनि रिक्तम् ॥ १०
 तस्मात्समस्तसिद्धेन्द्रदेवदैत्यादिदुर्गमम् ।
 सुप्रदेशमितो गत्वा संगोप्यात्मानमात्मना ॥ ११
 अदृश्यः सर्वभूतानां निर्विकल्पसमाधिगः ।
 समे स्वरुद्धे पदे शान्ते आसे विगतवेदनम् ॥ १२
 तस्मात्को नु प्रदेशः स्यादत्यन्तं शून्यतां गतः ।
 यत्रैता नातुभूयन्ते पञ्च बाह्यार्थवेदनाः ॥ १३
 शब्दकाननवार्यब्दभूतौघाभिसमाकुलाः ।
 क्षोभयन्त्यथ संक्षुब्धास्तस्मान्मे गित्योऽरयः ॥ १४
 नानाविधा नगेन्द्राणामन्तरावलिता जनैः ।
 देशा विषमया एव निःशेषा विषयाहिभिः ॥ १५
 जनैर्जलचरैर्व्यासाः सागरा नीरकुक्षयः ।
 विविधारम्भसंक्षुब्धैर्नगराणीव नागरैः ॥ १६
 तटान्येद्यम्बुराशीनां लोकपालपुराणि च ।
 भूताकुलानि शृङ्गाणि पातालकुहराणि च ॥ १७
 गायन्त्यनिलभांकारैर्नृत्यन्ति लतिकाः करैः ।
 पुष्पैर्हसन्त्यनेन्द्राणां गुहा गहनकोटराः ॥ १८
 मौनिमीनमुनिस्पर्शकम्पिनालचलाम्बुजाः ।
 सरस्यो विरसा एव वार्यावर्तविराविताः ॥ १९
 पवनस्पर्शसंक्षुब्धतृणपांसुपताकिनी ।
 रटत्यनिलभांकारैर्निर्झरोर्व्यप्यसंयता ॥ २०
 तस्मादाकाशमाश्रुयं कस्मिंश्चिद्दूरकोणके ।

प्रकारेण च । कचिद्देशे काले च ॥ ८ ॥ न सुखदेहेतावदेव न
 किंतु दुरन्तदुःखदापीत्याह—उद्वेगमिति ॥ ९ ॥ अल्पं रिक्तं
 रिक्तम्, विवर्त इत्यर्थः ॥ १० ॥ तस्माद्विक्षेपोद्वेगस्यावश्यहेय-
 त्वात्तद्वानयेत्यर्थः । आत्मानं स्वदेहमात्मना स्वेनैवान्तर्धानाद्यु-
 पायैः संगोप्य गूहयित्वा सरस्य च ॥ ११ ॥ विगतबाह्यार्थ-
 वेदनं यथा स्यात्तथा ॥ १२ ॥ १३ ॥ ननु गिरिशिखरप्रस्थ-
 क्षेप्यादयः सागरकुक्षितटादयः पातालकुहरादयश्च बहव
 एकान्तदेशाः प्रसिद्धास्ते कुतो नाध्यास्यन्ते समाध्यर्थं तत्राह—
 शब्देत्यादिना । विक्षेपहेतुशब्दप्रचुरैः काननैर्वारिभिरब्देभ्यै
 सिंहव्याघ्रादिभूतौघैश्चाभितः समाकुल्य गिरयः स्वयं संक्षुब्धाः
 सन्तोऽन्यानपि क्षोभयन्ति तस्मात्ते मे अरय इव प्रतिकूला
 इत्यर्थः ॥ १४ ॥ अन्तरा श्रोणीप्रदेशाः किरातादिजनैर्वलिता
 वेष्टिताः विषयाहिभिर्द्विषितत्वाद्विषमया एव ॥ १५ ॥ विवि-
 धारम्भसंक्षुब्धैरित्युभयान्वयि ॥ १६ ॥ अग्नीणा अम्बुराशीना
 च तटानि शृङ्गाणि च ॥ १७ ॥ गिरिगुहासर्हि सेव्यन्ता तत्राह—
 गायन्तीति । सिंहसर्पादिगर्भत्वाद्गहनकोटराः ॥ १८ ॥ सन्तु
 तर्हि महासरांसि दक्षिणापथे सरस्य इति प्रतिष्ठाः स्वतीरे
 समाधिहेतवस्तत्राह—मौनीति । दर्पमयव्याकुलानां भीतानां

अत्र तिष्ठाम्यवष्टभ्य योगयुक्तिमनिन्दिताम् ॥ २१
 कस्मिंश्चिदेककोणेऽत्र कृत्वा कल्पनया कुटीम् ।
 वज्रोदरदृढं तस्यामन्तस्तिष्ठाम्यवासनम् ॥ २२
 इति संचिन्त्य यातोऽहमाकाशमसि निर्मलम् ।
 यावत्तदपि पश्यामि सकलं विततान्तरम् ॥ २३
 कचिद्भ्रमत्सिद्धगणं कचिदुद्भजं दम्बुदम् ।
 कचिद्विद्याधराधारं यक्षोत्क्षिप्तक्षयं कचित् ॥ २४
 कचिद्भ्रमत्पुरवरं प्रारब्धसमरं कचित् ।
 कचिद्भवजलधरं कचिदुद्भृतयोगिनि ॥ २५
 कचिद्दैत्यपुरोद्गीनसगन्धर्वपुरं कचित् ।
 कचिद्भ्रमद्भ्रगणं तारकाकुलितं कचित् ॥ २६
 कचित्खे भ्रगसंघृष्टं कचित्कुडमहानिलम् ।
 कचिदुत्पातवलितं कचिन्मण्डलमण्डितम् ॥ २७
 कचिदपूर्वभूतौघं नागरावलितं कचित् ।
 कचिदंकरथाक्रान्तं कचिदन्यरथोद्गुरम् ॥ २८
 कचिदादित्यदाहान्तं शशिशैत्यान्वितं कचित् ।
 कचित्क्षुद्रजनासंघं कचिदश्वौष्ण्यदुर्गमम् ॥ २९
 कचिदुत्तालवेतालं गरुडोद्गमरं कचित् ।
 कचित्सप्रलयाम्भोर्दं कचित्सप्रलयानिलम् ॥ ३०
 ततो भूतगणांस्त्यक्त्वा दूरादूरतरं गतः ।
 प्राप्तवानहमेकान्तं शून्यमत्यन्तविस्तृतम् ॥ ३१
 अत्यन्तमन्दपवनं स्वप्नेऽप्यप्राप्यभूतकम् ।
 मङ्गलोत्पातरहितमगम्यं विद्धि संसृतेः ॥ ३२
 कल्पिताथ मया तत्र कुटी प्रकटकोटरा ।
 नीरम्प्रकुड्यनिविडा पञ्चकुडालसुन्दरी ॥ ३३

ज्ञानशीलानां मुनीनां च स्पष्टैः श्रीढालानाद्यभिषातैः कम्पन-
 शीलैर्नालैश्चलान्यम्बुजानि यासु तथाविधाः सरस्यो वार्थवर्त-
 निराविताः सलः समाधिभ्रहेतुत्वान्मम विरसा एव, यतोऽहं
 तदा मौनस्य तन्निवारणसमर्थः ॥ १९ ॥ अस्तु तर्हि
 निर्झरोर्वी ते विश्रान्तिहेतुस्तत्राह—पवनेति । असंयता
 अनियता । अनिवारितविक्षेपेति यावत् ॥ २० ॥ परिक्षेपा-
 दाकाश एव सर्वविक्षेपहेतुवर्जनाच्छरणमित्याशयेनाह—
 तस्मादिति ॥ २१ ॥ वज्रोदरदृढमिति पूर्वोत्तरोभयक्रिया-
 विशेषणम् ॥ २२ ॥ विततान्तरं विक्षेपहेतुसहस्रव्याप्तगर्भम्
 ॥ २३ ॥ विक्षेपहेतुबाहुल्यमेव विशेषणैः सर्वतः प्रपञ्चयति—
 कचिदित्यादिना ॥ २४ ॥ दृढता उन्मादरोद्रवृत्ता योगिन्यो
 यत्र ॥ २५ ॥ आसनैर्दैत्यपुरैरुद्गीतानि सगन्धर्वाण्येव दैत-
 पुराणि यत्र ॥ २६ ॥ मण्डलैर्मेघादिचक्रकालैर्मण्डितम् ॥ २७ ॥
 अपूर्वाः अपूर्वदृष्टविचित्राकारा भूतौघाः पिशाचसङ्घा यस्मिन् ।
 नागैर्नगरसमूहैरावलितम् । अन्येषां चन्द्रादिग्रहाणां रश्मिरु-
 रम् ॥ २८ ॥ आदित्यसंनिधेर्दाहैरन्तो मृत्युः प्राणिनां यत्र ।
 क्षुद्रजनैर्भूतप्रेतादिभिरसह्य भीमसम् ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥
 मङ्गलैः क्षुभचिह्नैरुपातैरुभयचिह्नैश्च रहितम् ॥ ३२ ॥ कल्पिता

धुणक्षुण्णाङ्गपूर्णन्दुविम्बोदरमनोहरा ।
 कछारकुन्दमन्दारपुष्पश्रीकोशशोभिता ॥ ३४
 समस्तभूतागम्यत्वं तत्र संकल्प्य चेतसा ।
 अगम्ये सर्वभूतानामहमार्सं तदा ततः ॥ ३५
 वद्धपद्मासनः शान्तमनाः परममौनवान् ।
 संवत्सरशतान्तेन निर्णयोत्थानमात्मनः ॥ ३६
 निर्विकल्पसमाधिस्थो निद्रामुद्रामिवागतः ।
 समः सौम्यनभःस्वस्थः समुत्कीर्ण इवाम्बरात् ॥ ३७
 चिरं यदनुसंधत्ते चेतः पश्यति तत्क्षणात् ।
 चिरेण चाशापवनव्यक्तिवद्विततं यदा ॥ ३८
 तदा वर्षशतेनात्र बोधवीजं वृत्तान्तरम् ।
 इत्यपि श्रीवा० वाल्मी० दे० मो० निर्वाण० उ० पाषाणो० आकाशमन्दिरे वसिष्ठसमाधानवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

आसीन्मे हृदयक्षेत्रे कालमेकं विकासतः ॥ ३९
 संप्रबुद्धोऽभवन्मेऽथ जीवः संबुद्धवेदनः ।
 शिशिरक्षीणगात्रस्य मधाविव रसस्तरोः ॥ ४०
 तच्छतं तत्र वर्षाणां निमेषमिव मे गतम् ।
 बह्व्योऽपि कालगतयो भवन्त्येकधियो मनाक् ॥ ४१
 विकासमागतो चाहं गतो बुद्धीन्द्रियक्रमः ।
 वासन्तः पुष्परूपेण मदस्येव रसो मम ॥ ४२
 मां प्राणपूरितमुपागतसंविदंश-
 मभ्यागतं त्वहमिति प्रसृतः पिशाचः ।
 इच्छाङ्गनाविवलितोऽथ कुतोऽपि सद्यः
 प्रोज्ञामसन्नमनवायुरिवोग्रवृक्षम् ॥ ४३

सप्तपञ्चाशः सर्गः ५७

श्रीराम उवाच ।
 त्वामप्युदितनिर्वाणमहंकारपिशाचकः ।
 बाधते किमिति ब्रूहि मुने संदेहशान्तये ॥ १
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 अहंभावं विना देहस्थितिस्तज्ज्ञानयोरिह ।
 आधेयस्य निराधारा न संस्थेहोपपद्यते ॥ २
 अयं त्वत्र विशेषस्तं शृणु विश्रान्तचेतसः ।
 श्रुतेन येनाहंभावपिशाचः शान्तिमेति ते ॥ ३

सत्यसंकल्पेन निर्मिता ॥ ३३ ॥ धुणैः कीटमेदैः क्षुण्णं छिद्नी-
 कृतं पूर्णन्दुविम्बोदरमिव मनोहरेखभूतोपमा ॥ ३४ ॥ तत्र
 अहं चेतसा समस्तभूतागम्यत्वं संकल्प्य वक्ष्यमाणलक्षण-
 निर्विकल्पसमाधिस्थः आसमिति व्यवहितेनान्वयः ॥ ३५ ॥
 ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ पुनः शतवर्षोत्तरं समाधेर्व्युत्थाने निमित्तमाह—
 चिरमिति । ततश्चिरेण वर्षशतान्ते चित्तमाशावत्पवनवच्च
 यदा विततं तदा बोधवीजं व्युत्थाननिमित्तं कर्म हृदयक्षेत्रे एकं
 कालं विकासतो घृतमान्तरं मध्यभागे यस्य तथाविधमासी-
 दिति परेणान्वयः । 'नासापवनव्यक्तिवत्' इति पाठे प्राणाभि-
 व्यक्त्यवदित्यर्थः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ मधौ चैत्रमासे ॥ ४० ॥
 एकधिय एकाग्रचित्तस्य मनाक् अत्यल्पा भवन्ति ॥ ४१ ॥
 तदनन्तरं ते किमभूत्तत्राह—विकासमिति । वृक्षाणां मदस्य
 पातवादिपुष्टिहेतोर्हृदयस्य निमित्तभूतोऽन्तर्गतो रसः पुष्परूपेणैव
 ॥ ४२ ॥ ततः किमासीत्तदाह—मामिति । अयं प्राणैः पञ्च-
 शृत्तिवायुभिरिन्द्रियैश्च पूरितं तद्वशादेव उपागत आविर्भूतो जीव-
 संविदंशो यस्य तथाविधं देहं सद्यः अभ्यागतं तु मामभिलक्ष्य
 इच्छालक्षणया अङ्गनया पिशाच्या विवलितः परिप्रेक्ष्य अह-
 मिति प्रतिश्लोऽहंकारपिशाचः कुतोऽप्यतर्कितत्प्रदेशात्प्रसृतः
 प्राप्तः । यथा उग्रं शाल्मल्यादिदृष्टं प्रोज्ञामानां तरुणां सन्न-
 मनो वायुधण्डपवनः प्रसरति तद्वदित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अहंभावपिशाचोऽयमज्ञानशिशुनामुना ।
 अविद्यमान एवान्तः कल्पितस्तेन संस्थितः ॥ ४
 अज्ञानमपि नास्त्येव प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
 विचारिणा दीपवता स्वरूपं तमसो यथा ॥ ५
 यथा यथा विलोक्यते तथा तथा विलीयते ।
 इहाज्ञतापिशाचिका तथा विचारिता सती ॥ ६
 किल सत्यामविद्यायामज्ञतोदेति शाश्वती ।
 बुद्धिमोहात्मिका यक्षी निर्देहैव यथा निशि ॥ ७

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
 राधे वसिष्ठसमाधानवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

ज्ञाज्ञाहंकारयोरत्र विशेषप्रतिपत्तये ।

ज्ञानबाधितदृश्यस्य चिन्मात्रत्वं समर्थ्यते ॥ १ ॥

मामहमिति प्रसृतः पिशाच इत्युक्त्या प्रोज्ञामसन्नमनवायु-
 रिति दृष्टान्तोक्त्या च वसिष्ठस्याप्यहंकारपिशाचकृतवाधावग-
 माज्ज्ञानफलानित्यत्वं संभावयन्नामः पृच्छति—त्वामपीति ।
 उदितं निर्वाणं ज्ञानमूलं यस्य तथाविधं त्वामपि ॥ १ ॥ न
 प्रारब्धशेषभोगमात्रप्रयोजनदग्धपटप्रायदेहधारणनिमित्ताहंका-
 राभासप्रतीतिमात्रेणाज्ञवज्ज्ञानिनो बन्धप्रसक्तिरिति दर्शयि-
 तुमज्ञाहंकारात्तत्त्वज्ञाहंकारे निर्दोषताविशेषप्रदर्शनेनोत्तरमाह
 वसिष्ठः—अहंभावं विनेत्यादिना । देहस्थितिर्नोपपद्यते यस्मा-
 दाधेयस्य निराधारा सस्था नेति नवावृत्त्या व्याख्येयम् ॥ २ ॥
 ॥ ३ ॥ अज्ञानलक्षणेन शिशुना बालेन कल्पितः । तेनाज्ञान-
 वशेनैव संस्थितः ॥ ४ ॥ अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—अज्ञान-
 मपीति । ज्ञानेनाज्ञाने बाधिते तदधीनस्थितिकोऽहंकारोऽपि
 बाधित एवेत्यादाय ॥ ५ ॥ तथा च दिदृषामनुभवोत्कर्षक्रमेण-
 ज्ञानक्षयोत्कर्षः प्रतिद्व इत्याह—यथा यथेति ॥ ६ ॥ अत एव
 विद्याप्रागभावकालनियता अज्ञता प्रतिद्वेत्याह—किलेति ।

सति सर्गं त्वविद्यायाः संभवो नान्यतः कश्चित् ॥
 सति द्वितीये शशिनि द्वितीयो विद्यते शशः ॥ ८
 सर्गस्त्वयमजातत्वादहङ्गातो न विद्यते ।
 न जातः कारणाभावात्पूर्वमेव खदुक्षवत् ॥ ९
 परमाकाशकोशान्तरादिसर्गं निरामये ।
 पृथ्व्यादेरुपलम्भस्य भवेत्किमिव कारणम् ॥ १०
 मनःषष्ठेन्द्रियातीतं मनःषष्ठेन्द्रियात्मनः ।
 साकारस्य निराकारं कथं भवति कारणम् ॥ ११
 बीजात्कारणतः कार्यमङ्कुरः किल जायते ।
 न बीजमपि यत्रास्ति तत्र स्यादङ्कुरः कुतः ॥ १२
 कारणेन विना कार्यं न च नामोपपद्यते ।
 कदा क इव खे केन दृष्टो लब्धः स्फुटो ध्रुवः ॥ १३
 संकल्पेनाम्बरे यद्बहुदृश्यते विटपादिकम् ।
 स संकल्पस्तथाभूतो न तत्रास्ति पदार्थता ॥ १४
 एवं येयं चिदाकाशे सर्गादावनुभूयते ।
 शून्यरूप इवाकाशे सर्गस्थितिरनर्गला ॥ १५
 सम एव चिदाकाशः कत्रत्यात्मनि नक्षथा ।
 स्वभाव एव सर्गाख्यधित्वाद्यैरनन्यमीश्वरः ॥ १६
 स्वप्नसर्गोऽत्र दृष्टान्तः प्रत्यहं योऽनुभूयते ।
 स्वयं संवेदने स्वप्ने स्फुरत्यद्रिपुराकृतिः ॥ १७
 चित्स्वभावे यथा स्वप्ने आस्ते सर्ग इवेह यः ।
 असर्गे सर्गवद्भाति तथा पूर्वं महाम्बरे ॥ १८
 अवेद्यवेदनं शुद्धमेकं भात्यजमव्ययम् ।
 सर्गादौ यदनाद्यस्तं स्थितः सर्गः स एव नः ॥ १९
 नेह सर्गोऽस्ति नैवायं पृथ्व्यादिगणगोलकः ।

सर्वं शान्तमन्तालस्यं ब्रह्मैव ब्रह्मणि स्थितम् ॥ २
 सर्वशक्त्यात्म तद्ब्रह्म यथा कश्चित् यादृशम् ॥ ३
 रूपमत्यजदेवाच्छे तथा भवति तादृशम् ॥ ४
 यथा स्वप्नपुं जन्तोश्चिन्मात्रप्रविजृम्भितम् ।
 तथैव सर्गः सर्गादौ शुद्धचिन्मात्रजृम्भितम् ॥ ५
 स्वच्छे चित्परमाकाशे चिदाकाशो य आस्थितः ।
 स्वभाव एव सर्गोऽसाविति तेनैव भावितः ॥ ६
 भाव्यभावकभावादिभूमीनां भावनं भृशम् ।
 सर्वं चिन्म एवाच्छमात्मनात्मनि संस्थितम् ॥ ७
 एवं स्थिते कुतः सर्गः कुतो विद्या क चाकृता-
 ग्रहा शान्तं धनं सर्वं क्वाहंकारादयः स्थिताः ॥ ८
 अहंभावस्य संशान्तिरेषाऽसौ कथिता तव ।
 अहंभावः परिहृतः पिशान इव शाम्यति ॥ ९
 मया त्वेवमहंभावः परिहृतो यदाखिलः ।
 तदा मे विद्यमानोऽपि निष्फलः शरदभवत् ॥ १०
 चित्राग्निदाहो विहता यथा दाह्येषु निष्फलः ।
 तथाहंभावसर्गादि क्वातं निष्फलतामियात् ॥ ११
 इति मेऽहंभूतेस्त्यगो रागे च समता यदा ।
 तदा व्योम इवाव्योमः सर्गे सर्गे च मे स्थितिः ॥ १२
 अहंभावस्य नैवाहं नाहंभावो ममेति च ।
 तेन विद्धि चिदाकाशमवेदमिति निर्धनम् ॥ १३
 यथा मम तथान्येषामपि बोधवतामिह ।
 अस्मिन्त्वमिव चित्राग्नेर्नास्त्ययं बोधविभ्रमः ॥ १४
 नाहमसि न चान्योऽस्ति सर्वं भास्तीति निश्चये
 प्रकृतव्यवहारस्त्वं शिलामौनमयो भव ॥ १५

अज्ञता कार्याविद्या वा ॥ ७ ॥ एवं कारणाविद्यापि कार्याविद्यो-
 दयकालमात्रव्यवहारत्वात्तदुपाधिकजीवचिद्वैद्यत्वाच्च तदधीने-
 त्याह—सतीति । संभवः अनुभवाधीना सिद्धिः ॥ ८ ॥
 अस्तु तथा किं ततस्तत्राह—सर्गस्त्विति ॥ ९ ॥ कारणाभाव-
 मुपपादयति—परमाकाशेति ॥ १० ॥ मनःषष्ठेन्द्रियाग्राह-
 त्वात्सगमनो मनःषष्ठेन्द्रियसिद्धिं विना सत्त्वैवायोगादनुक्लि-
 तस्य कर्तुमशक्यरिति भावः । एवं साकारस्य घटादेः साकारे-
 नैव कुलालमृत्पिण्डादिना करणमुचितं न निराकारेणेत्यर्थः
 ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ यदि नोत्पन्न एव सर्गस्तर्हि कस्तथा
 भासते तं सदृष्टान्तमाह—संकल्पेनेत्यादिना ॥ १४ ॥ सर्गा-
 दिकाळे येयमनर्गला सर्गस्थितिरनुभूयते सापि आकाशे शून्य-
 रूपो वृक्षादिव बोध्या ॥ १५ ॥ तर्हि किं शून्यमेव सर्गात्मना
 ग्रथते नेत्याह—सम इति । समः सर्गाकारवैषम्यरहितं ईश्वर
 एव तथा ग्रथत इत्यर्थः ॥ १६ ॥ अमिहृतस्यैव विकारजगदा-
 रम्भेना स्फुरणे स्वप्ने स्वात्मैव दृष्टान्त इत्याह—स्वप्नेति ॥ १७ ॥
 ॥ १८ ॥ तथा च सर्गात्प्रागदृशमात्मतत्त्वं तादृशमेव—सर्ग-
 काळेऽपीत्याह—अवेद्यवेदनमिति ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥
 तथा च स्वच्छे आकाशे प्रतीतवर्णवैचित्र्यामिव ब्रह्मण्ये ॥ २३ ॥

स्वाम्भूतेन वैचित्र्येण स्वेनैव स्वयं स्फुरतीति तत्स्वभाव ।
 सर्ग इति फलितमित्याह—स्वच्छे इति ॥ २३ ॥ ननु स्वभा-
 पदे भाव इति भावधमन्तपदेन भवनमुच्यते, तच्च भाव
 व्यापाररूपभावनाफलं भाव्यनिष्ठं, भावना च भविर्भूतवर्णा
 कूलो भावकव्यापारः करणादिकारकनिर्वर्त्य इति भाव्यभावं
 दिशिपुटीभूमीनामेकरसे कथं संभवस्तत्राह—आन्येति ।
 कल्पितं भानारसत्वं वास्तवैकरसविरोधादिति भावः ॥ २४ ॥
 स्थिते निश्चयेन स्थिरीभूते ॥ २५ ॥ तथा चाज्ञाने बाह्यं
 बाधते न तज्ज्ञानिति फलितमित्याह—अहंभाव इति । पिका
 बालकल्पितपिशाच इव ॥ २६ ॥ एतेन त्वत्प्रश्नः समाहितः ।
 दर्शयति—मया त्विति ॥ २७ ॥ दाहः अग्न्या दहनवि-
 ॥ २८ ॥ समाधौ त्यागे व्यवहारकाले रागे च अव्यो
 मेधाहम्बरातपवाप्वादिना निरवकाशीकृतस्य स्थितिः सम
 शेषः ॥ २९ ॥ संबन्धस्यागमात्रेणान्यहंता न बाधते किं पुन
 धितेत्याशयेनाह—अहंभावस्येति । नितरां धनं निर्धनम् ॥ ३० ॥
 अस्मिन्नर्थे सर्वविद्बहुभुवसंवाद इत्याह—यथेति । अयं म
 भावादिः ॥ ३१ ॥ त्वस्यैवमिवान्तः सर्वबाधेनाद्वितीयो भ
 ज्ञानं—अन्यमिति । अज्ञं अज्ञानरसीति अज्ञतभावहारः ॥ ३२ ॥

आकाशकोशविशदाकृतिरेव तिष्ठ
निर्देशवच्चिरमपहृतसर्वभावः ।

अद्यादितश्च किल चिन्मयमेव सर्वं
नो दृश्यमस्ति शिवमेवमशेषमित्यम् ॥ ३३

इत्यार्वे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मी० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० पा० विदितवेद्याहंकारविचारो नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ५७

अष्टपञ्चाशः सर्गः ५८

श्रीराम उवाच ।

अहो नु विततोदारा विमला विपुलाचला ।
भवता भगवन्भूत्यै भूयो दृष्टिरुदाहता ॥ १
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
सदित्येव स्थितं सत्यं समं समनुभूतितः ॥ २
अयमस्ति मम ब्रह्मसंशयस्तं निवारय ।
किमिदं भगवन्नाम पाषाणाख्यानमुच्यते ॥ ३

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

सर्वत्र सर्वदा सर्वमस्तीति प्रतिपादने ।
पाषाणाख्यानदृष्टान्तो मयायं तव कथ्यते ॥ ४
नीरन्ध्रैकधनाङ्गस्य पाषाणस्यापि कोटरे ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ५
भूताकाशे महत्यस्मिन्वक्ष्यन्त्यत्वमनुज्झति ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ६
अन्तर्गुल्माङ्कुरादीनां प्राणिवाय्वग्बुतेजसाम् ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ७

निर्देशो निरवकाशः शिलाधनस्तद्वत् । अद्य सर्गकाले । आदितः
सर्गप्राक्काले । सार्वविभक्तिकस्तसिः ॥ ३३ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विदितवेद्या-
हंकारविचारो नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

सर्वत्र सर्वसर्गश्रीः सदैवास्ति न चेति च ।

दृष्टिभेदेन पाषाणाख्यायिकार्योऽत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

प्रासङ्गिके जीवन्मुक्ताहंकारस्याबाधकत्वे समर्थिते प्रकान्तस्य
सर्वत्र सर्वथा सर्वमित्याद्यर्थस्य पाषाणाख्यायिकया समर्थनं
यत्प्रतिज्ञातं तदेव प्रष्टुं भूमिकां रचयति—अहो इति ॥ १ ॥
सर्वं सर्वत्र सर्वथा सत् सर्वं सर्वत्र सर्वदा च सत् इति यत्प्र-
स्तुतं तदनुभूतितो विमृश्यमानं सममविषममेकरसमेव पर्यव-
स्यति । सर्वधर्मधर्मिणा देशतः कालतो वस्तुतश्च सर्वभावे
व्यावृत्तिव्यावर्तकतायसिद्धेरिति भावः ॥ २ ॥ तत्र प्रष्टव्यांशं
दर्शयति—अयमिति । इदं पाषाणाख्यानं किं केनांशेन साम्य-
मभिप्रेत्योच्यते । व्यावर्तकधर्मवतोरेव साधारणधर्मेण सादृश्य-
प्रसिद्धेरिति भावः ॥ ३ ॥ अयं वक्ष्यमाणप्रकारः ॥ ४ ॥ न पाषा-
णसाम्यं सर्वधर्मसंकरं वा वक्तुं पाषाणाख्यायिकारभ्यते किंतु
पाषाणोदराध्यासाधिष्ठाने ब्रह्मणि असंकीर्णतयैव सर्वजगदध्या-
ससंभवसंभावनायेत्याह—नीरन्ध्रेति । कोटरे आन्तरे चिदा-
काशे । कथया प्रस्तुताख्यायिकया । इति अयमर्थः प्रदर्श्यते
यो० वा० १५०

श्रीराम उवाच ।

कुड्यादौ सन्ति सर्गौघा इति चेत्कथ्यते मुने ।
तत्त्वे विभान्ति सर्गौघा इति किं न प्रदृश्यते ॥ ८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एतत्ते वर्णितं राम मुख्यमेव मथाखिलम् ।
योऽयमालक्ष्यते सर्गः स ख एव खमास्थितम् ॥ ९
आदावेव हि नोत्पन्नमद्यापि न च विद्यते ।
दृश्यं यच्चावभातीदं तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ॥ १०
नास्ति भूरणुमात्रापि सर्गैर्निर्विवरा न या ।
न च कचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव ते ॥ ११
न तेजसोऽणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न वायोरणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च कचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १२
खं नाणुमात्रमप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरं न यत् ।
न च कचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १३

॥ ५ ॥ अथवा भावोदरचित्तीव शून्यात्मकाकाशरूपाभावा-
धिष्ठानचित्यप्यसंकीर्णतया सर्वजगदारोपः संभवतीत्याशये-
नाह—भूताकाशेति ॥ ६ ॥ अयं न्यायः सर्वत्र योजनीय
इत्याशयेनाह—अन्तरिति ॥ ७ ॥ यदि कुड्यादिसर्वभावा-
भाववच्छिन्नचित्ति सर्वजगदध्यास आख्यायिकाभिप्रेतस्तर्हि
शुद्धे चिदाकाशे सर्वजगदध्यास इत्येव पक्षः कुतो न परिगृ-
ह्यते, येनाध्यस्तजगद्वाधे शुद्धमेव परिशिष्यत इत्यपरमनुकूलं
स्यादिति रामः पृच्छति—कुड्यादाविति । तत् तर्हि । खे शुद्ध-
चिदाकाशे ॥ ८ ॥ सत्यमेष एव पक्षो मुख्यतया मे विवक्षितः ।
शुद्धचिदाकाशः सहसा न परिचेतुं शक्य इति तदुपायतया
उपहितचित्यपि प्रत्येकं सर्वजगदध्यासो दर्शित इत्याशयेनोत्तर-
माह—एतदिति । संबिदाकाशात्मकमेव ॥ ९ ॥ एवं दृश्यमा-
त्रस्यैव ब्रह्ममात्रत्वे अनुत्पत्तिरेव फलितेत्याह—आदावेवेति ।
परमार्थदृष्टेरित्यर्थः ॥ १० ॥ आरोपदृष्टौ तु प्रतिभूतपरमाणु
सर्वमारोप्य द्रष्टुं शक्यम्, अपवाददृष्टौ तु तद्वैपरीत्यमित्याशये-
नाह—नास्तीत्यादिना । निर्विवरा गाढमरिता या न तादृशी
अणुमात्रापि भूनास्ति । सर्वापि सर्गभरितैवेत्यर्थः । एवमग्रेऽपि
योज्यम् ॥ ११ ॥ तत् तेजः ॥ १२ ॥ तत् सः ॥ १३ ॥
भूतानां प्रक्रमे अपां त्यागायोगाद्भूतेजसोरन्तरालेन चापामणु-

१-विद्यन्ते सर्गा ब्रह्म इति पाठः.

न सा महाभूततास्ति सर्गैर्निर्विवरा न या ।

न च कचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मसमेव तत् ॥ १५

शैलानां नाणुरप्यस्ति स सर्गैर्यो न निर्धनः ।

न च कचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मसमेव तत् ॥ १६

ब्रह्मणो नाणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।

न च कचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मसमेव तत् ॥ १७

सर्गेषु नाणुरप्यस्ति न ब्रह्मात्मैव यः सदा ।

ब्रह्मसर्गास्तथेत्येष धात्वि मेदो न वस्तुनि ॥ १८

सर्गा एव परंब्रह्म परं ब्रह्मैव सर्गता ।

मनागप्यस्ति न द्वैतमत्राद्यकौण्ययोरिव ॥ १९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषाण० सर्गब्रह्मत्वप्रतिपादनं नामाष्टपद्याशः सर्गः ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः ५९

श्रीराम उवाच ।

अनन्तरं नभःकोशकुटीकोटरतो मुने ।

तव ध्यानात्प्रबुद्धस्य वृत्तं वर्षशतेन किम् ॥ १

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ततो ध्यानात्प्रबुद्धोऽहं श्रुतवांस्तत्र निःस्वनम् ।

मृदु व्यक्तपदं हृद्यं न च वाच्यनुगो यतः ॥ २

स्त्रीसभावादिव मृदु मधुरं वा निनादि वा ।

रप्यस्तीत्यादिश्लोकोऽप्यूहः ॥ १४ ॥ महाभूतेति पद्मानां

समुदितरूपव्यपदेशः ॥ १५ ॥ १६ ॥ ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य सूक्ष्म-

भूतोपाधेः ॥ १७ ॥ सर्गेषु तत्कृतेषु भुवनभूतप्रायेषु । तथा सति

यत्फलितं तदाह—ब्रह्मेति ॥ १८ ॥ अत्र्यर्कयोर्न औष्ण्ये

तयोरिव ॥ १९ ॥ सर्जनात्सर्गो बृंहणाद्ब्रह्मेति सृजिर्बृंहिक्रिययोः

परस्परं भेदाभावादाधाराधेयभावस्य दुर्वचत्वाच्च न क्रियापि

स्वरूपाद्यतिरिच्यत इति सर्गब्रह्मादिशब्दाः प्रवृत्तिनिमित्तधर्म-

रूपस्वार्थपरिवर्जिताः सन्तः कुठारादिना विदार्ये काष्ठे ये दारुणो

रवाः प्रसिद्धास्तद्वदर्थपरिवर्जिताः सन्तो लक्षणया अस्यन्त-

मवाच्ये इष्टिं प्रतीतिर्येभ्यस्तथाविधा भ्रान्तीत्यर्थः । अथवा

कीर्यत इति दारु तदेव विदार्यमिति पर्यायप्रायो यौ रवौ शब्दौ

तद्वद्विधार्थपरिवर्जिता भ्रान्तीत्यर्थः ॥ २० ॥ मास्तु परमार्थे

तेषामर्थमेदस्तत्र द्वैतैक्ययोरभावात् । व्यवहारे तु ब्रह्मेकं सर्गा

नानैक्यमेदस्तत्त्वाद्भिन्नार्थाः किं न स्युस्तत्राह—द्वैतमिति ।

यत्र व्यवहारे द्वैतमैक्यं चास्ति, तत्रापि सर्गब्रह्मादिशब्दार्था

मनागपि न भ्रान्तिः । ते हि द्वैतात्मकस्य मृदुर्भागुरद्वैतात्मकस्य

वा । आयेऽङ्गस्य तस्य कथं भ्रान्तु, द्वितीये कस्येव भ्रान्तु, के

किंस्वभावा भ्रान्तु, न ह्यद्वैते भ्रान्तास्तत्त्वैक्यं सुवचमिति

भावः । अथवा अस्यन्तावाच्यदृष्टितामेव प्रकटयति—द्वैतमिति ।

यत्र वस्तुनि द्वैतमैक्यं च मनागपि नास्ति तत्रेत्यन्वयः ॥ २१ ॥

अत एव तत्त्वविदो व्यवहारकालेऽपि तत्त्वैवास्ते इत्याह—

शान्तमिति ॥ २२ ॥ वर्णितं पाषाणाख्यायिकातात्पर्यमुपसं-

इमे सर्गा इदं ब्रह्म तेऽत्यन्तावाच्यदृष्टयः ।

विदार्यदारुवचनान्त्यर्थपरिवर्जिताः ॥ २०

द्वैतमैक्यं च यत्रास्ति न मनागपि तत्र ते ।

सर्गब्रह्मादिशब्दार्थाः कथं कस्येव भ्रान्तु के ॥ २१

शान्तमेकमनाद्यन्तमिदमच्छमनामयम् ।

व्यवहारवतोऽप्यङ्ग इत्यस्य मौनं शिलाघनम् ॥ २२

निर्वाणमेवमखिलं नभ एव दृश्यं

त्वं चाहमद्रिनिचयाश्च सुरासुराश्च ।

तादृजगत्समवलोक्य यादृगङ्ग

स्वमेऽथ जन्तुमनसि व्यवहारजालम् ॥ २३

स्वरूपाङ्गत्वादिनिर्हादि मया तद्वाक्यमूहितम् ॥ ३

इन्द्रिन्दिररुताकारं तन्नीरणितरञ्जनम् ।

न रोदनं च पठनं विस्रकोशसमस्वनम् ॥ ४

तदाकर्ण्योऽंशु तत्रेदमहं चिन्तितवानथ ।

शान्दिकान्वीक्षणात्पश्यन्दिशो दश सविस्मयः ॥ ५

व्योम्नोऽयं सिद्धसंचारमार्गशून्याव्यवन्तरम् ।

भागो योजनलक्षाणि समतिक्रम्य संस्थितः ॥ ६

हरति—निर्वाणमिति । हे अहं राम, त्वं जगत्तादृक्समवलोक-

क्य । अथ जागरणन्तरं जन्तुमनसि स्वप्ने दृष्टं यादृगव्यवहार-

जालमीषत्सर्वमाणमप्यात्ममात्रशेषमित्यर्थः ॥ २३ ॥ इति श्रीवा-

सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्गब्रह्म-

त्वप्रतिपादनं नामाष्टपद्याशः सर्गः ॥ ५८ ॥

समाधिविरमे सूक्ष्मध्वनिश्रवणमीर्यते ।

तन्मूलान्वेषणभ्रान्तेऽनन्तकोटिजगद्वया ॥ १ ॥

एवं सर्गद्वयेन प्रासक्तिके प्रश्नविषये उपवर्णिते पुनराख्या-

यिकाशेषं श्रोतुकामो रामः पृच्छति—अनन्तरमिति । वर्ष-

शतेन ध्यानात्प्रबुद्धस्य तव प्राग्वर्णितेच्छाज्ञानासहिताहङ्कारपि-

शावप्रसरणानन्तरं किं वृत्तमिति प्रश्नः ॥ १ ॥ निःस्वनं शब्दम् ।

मृदुव्यक्तानि नातिस्पष्टान्यक्षराणि पदानि च यत्र । तत्कृतः ।

यतोऽयं निःस्वनो वाच्यालुङ्गः । पदार्थप्रतिपादनसमर्थो वाक्या-

र्थबोधनसमर्थश्च न ॥ २ ॥ स्त्रीकण्ठप्रभवप्रयुक्तस्वभावविशेषा-

दिव मृदु मधुरं निनादि अनुरणनशीलं च । स्वरूपाङ्गत्वा-

दतारत्वादनिर्हादि । अदूरध्वनमिति यावत् ॥ ३ ॥ इन्द्रिन्दिरौ

अमरस्तवीर्यं कृतं ध्वनिस्तदाकारम् । तन्म्री वीणा तद्रणितस्य

रञ्जनं रक्तिप्रदम् । न बालरोदनप्रार्थं नापि प्रौढपठनप्रायम् ।

विस्रकोशे प्रसिद्धअमरस्वनसमस्वनम् ॥ ४ ॥ शान्दिकस्य

शब्दकर्तुरन्वीक्षणादन्वेषणादृश दिशः पश्यत् । 'शब्द-

दर्दुर करोति' इति ठक् ॥ ५ ॥ कृतः सविस्मयः किं वा

चिन्तितवानसि तदाह—व्योम्न इत्यादिना । सिद्धानामपि

तदिहैदृग्विधस्य स्यात्कुतः शब्दस्य संभवः ।
 शाब्दिकं न च पश्यामि यत्नेनापि विलोकयन् ॥ ७
 अतन्तमिदमाशून्यं पुरो मे निर्मलं नभः ।
 इह भूतं प्रयत्नेन प्रेक्ष्यमाणं न दृश्यते ॥ ८
 यदेति चिन्तयित्वाहं भूयोभूयो विलोकयन् ।
 शब्देभ्वरं न पश्यामि तदा चिन्तितवानिदम् ॥ ९
 आकाश एव भूत्वाहमाकाशेनैकतां गतः ।
 आकाशगुणशब्दार्थान्करोम्याकाशकोशके ॥ १०
 देहाकाशमिह स्थाप्य ध्यानेनेह यथास्थितम् ।
 चिदाकाशवपुर्व्याम्ना यास्यैक्यं वारिवाम्बुना ॥ ११
 चिन्तयित्वेत्यहं त्यक्तुं देहं पद्मासनस्थितः ।
 आसं समाधिमाधातुं पुनरामीलितेक्षणः ॥ १२
 त्यक्त्वा बाह्यार्थसंस्पर्शानैन्द्रियानान्तरानपि ।
 चित्ताकाशोऽहमभवं संवित्स्वप्नमयात्मकः ॥ १३
 क्रमात्तदपि संत्यज्य बुद्धितत्त्वपदं गतः ।
 संपन्नोऽहं चिदाकाशे जगज्जालैकदर्पणः ॥ १४
 ततस्तेन स्वभावेन भूतव्योमैकतामहम् ।
 संप्रयातोऽम्बुनैवाम्बु सौरभं सौरभेण वा ॥ १५
 संपन्नोऽथ महाकाशं व्याप्यानन्तोऽथ सर्वगः ।
 अनाकारोऽप्यनाधारः सर्वार्थाधारतां गतः ॥ १६
 अहं त्रैलोक्यवृन्दानि संसाराणां शतानि च ।

संचारयोग्यैर्मार्गैः शून्यानि यानि योजनलक्षाणि तानि सम-
 तिक्रम्यानन्तरं तदूर्ध्वमयं व्योमो भागः संस्थित इत्यन्वयः ॥ ६ ॥
 तत्तादृशे इह एकान्तस्थाने ईदृग्विधस्य स्त्रीवाक्यसदृशस्य ।
 शाब्दिकं शब्दकर्तारम् ॥ ७ ॥ भूतं प्राणिमात्रम् । प्रयत्नेनापि
 प्रेक्ष्यमाणमन्विष्यमाणम् ॥ ८ ॥ शब्देभ्वरं शब्दोच्चारणसमर्थं यदा
 न पश्यामि तदा । इदं वक्ष्यमाणम् ॥ ९ ॥ अहं प्रथममुपाधि-
 त्यागेन चिदाकाश एव भूत्वा तदप्यस्ताव्याकृताकाशेनैकतां गतः
 संस्तरकार्यभूताकाशगुणं शब्दं तदर्थाश्च तस्मिन्नाकाशकोशके
 विद्यमानान्साक्षात्करोमि । अनुभविष्यामीति यावत् ॥ १० ॥
 तदेव सोपायमाह—देहाकाशमित्यादिना । व्योम्ना अव्याकृ-
 ताकाशेन । वाजलबिन्दुरम्बुना जलसामान्येनेव ॥ ११ ॥
 ॥ १२ ॥ ऐन्द्रियानिन्द्रियसंबन्धिनो बाह्यार्थसंस्पर्शान्निरोधेन
 त्यक्त्वा । आन्तरानन्तःकरणचतुष्टयविषयान् मन्तव्यादीनपि
 मननादिनिरोधेन त्यक्त्वा ॥ १३ ॥ बुद्धितत्त्वपदं गतः संस्वदपि
 संत्यज्य चिदाकाशे वास्तवरूपे स्थितः सन् स्वाध्यस्त्वजगज्जाल-
 प्रतिबिम्बानामेकदर्पणः संपन्नः ॥ १४ ॥ अम्बुना जलसामा-
 न्येन । अम्बु समुद्रादिजलमिव ॥ १५ ॥ तस्मिन्भूताकाशे तत्कार्य-
 सर्वजगदवलोकनाय चिदाकाशमेककल्पनमाह—संपन्न इति ।
 तथा चासङ्गादयत्नादनाधारोऽप्यहं सर्वाधारतायोग्यभूताकाशा-
 मेदात्सर्वार्थाधारतां गतः ॥ १६ ॥ तत्र तदवस्थापत्ते चिदा-
 काशे ॥ १७ ॥ मिथः अन्योन्यदृष्ट्या खानि अव्याकृताकाश-
 मात्ररूपाणि । अत एव परस्परमदृष्टानि ॥ १८ ॥ तत्र दृष्टान्त-

तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि पश्याम्यगणितान्यपि ॥ १७
 परस्परमदृष्टानि मिथः खान्यमलानि च ।
 नानाचारविचाराणि शून्यान्येव परस्परम् ॥ १८
 स्वप्नरूपाणि सुप्तानां तुल्यकालं नृणांसिव ।
 महारम्भाभ्युदयानि शून्यानि च परस्परम् ॥ १९
 जायमानानि नश्यन्ति वर्धमानानि भूरिशः ।
 वर्तमानान्यतीतानि भविष्यन्ति च सर्वशः ॥ २०
 अनेकचित्रजालानि महाभिक्तीनि खानि च ।
 मनसेवोग्रराज्यानि कृतानि विविधैर्जनैः ॥ २१
 निरावरणरूपाणि तथैकावरणानि च ।
 पञ्चावरणयुक्तानि षडेकावरणानि च ॥ २२
 दशावरणचित्राणि षोडशावरणानि च ।
 चतुर्विंशत्यावृत्तीनि षट्त्रिंशत्स्वावृत्तानि च ॥ २३
 शून्यानि भूतपूर्णानि पञ्चभूतमयान्यपि ।
 एकपृथ्व्यादिभूतानि चतुःपृथ्व्यादिकानि च ॥ २४
 त्रिःपृथ्व्यादीनि चान्यानि द्विःपृथ्व्यादीन्यथापि च ।
 तथा सप्तमहाभूतान्येकजातिमयानि च ॥ २५
 त्वादृशानुभवाभोगविरुद्धातिदशानि तु ।
 तथा नित्यान्धकाराणि सूर्यादिरहितानि च ॥ २६
 तथा मीलितसर्गाणि एकनाथावृत्तानि च ।
 विलक्षणप्रजेशांशविचित्राचारवन्ति च ॥ २७

माह—स्वप्नेति । तुल्यकालं सुप्तानां जनानां स्वप्नरूपाणीव ।
 एकदशा महारम्भाण्यपरदशा अनुमृष्टानि । अत एव शून्यान्य-
 शून्यानि च ॥ १९ ॥ २० ॥ महामिक्तीन्यनेकचित्रजालानि खानि
 निर्भिक्तीनि च ॥ २१ ॥ तत्र स्वप्नवृष्टसृष्टिषु ब्रह्माण्डावरणत-
 त्संख्यादिनियमोऽपि नास्ति । यस्य यावद्विषये वासनाविर्भूता तं
 प्रति तावत्सर्गस्यैव कल्पनादित्याशयेनाह—निरावरणेत्यादिना ।
 पञ्चीकृतानां पञ्च अपञ्चीकृतानां षष्ठेति दशावरणचित्राणि ।
 तैः संह तन्मात्राण्यहंकारो महत्तत्त्वं प्रकृतिश्चेति सांख्यकल्प-
 नया षोडशावरणानि । तेषामेव तत्त्वगणनया चतुर्विंशत्या-
 वृत्तीनि । शैवकल्पनया षट्त्रिंशत्तत्त्वलक्षणैः खैराकाशकल्पैरा-
 वरणैरावृत्तानि च ॥ २२ ॥ २३ ॥ एकैकानि पृथ्व्यादीन्येव भूतानि
 येषु ॥ २४ ॥ एवं पृथिव्यादिद्वित्रिचतुर्भूतयुक्तानि च । काल-
 दिशोः सावयवत्वेन भूतत्त्वकल्पने सप्त महाभूतानि ॥ २५ ॥
 सिद्धविद्याधरगन्धर्वयक्षराक्षसादिकल्पनावैचित्र्याणि मनुष्यबुद्ध्या
 संभावयितुमप्यशक्यानीत्याशयेनाह—त्वादृशेति । त्वादृशा-
 नामनुभवाभोगे विरुद्धा अत्यन्तमसंभाव्याः अतिशयितदशा
 अतिदशा भूतानां सौक्ष्म्यवैचित्र्यपरिणतिमेदा यास्तु तानि
 ॥ २६ ॥ मीलितसर्गाणि प्रलयसुषुप्तिप्रायाणि । सर्गादौ एके-
 नैव नाथेन हिरण्यगर्भादिना आवृतान्यधिष्ठितानि । प्रजेशाः
 प्रजापतयस्तदंशा देवादिगणास्तेषां विचित्राचारैस्तद्वन्ति ॥ २७ ॥

तथा निर्वेदशास्त्राणि निःशास्त्राणि तथैव च ।
 कृमिक्रमसमारम्भवेवादिप्राणिमन्ति च ॥ २८
 जात्या तु पारम्पर्येण संकेताचारवन्ति च ।
 तथा नित्यप्रकाशानि ज्वलिताग्निमयानि च ॥ २९
 तथा जलैकपूर्णानि पवनैकमयानि च ।
 स्तब्धानि परमाकाशे वहन्ति च तथानिशम् ॥ ३०
 जायमानानि पुष्यन्ति परिपुष्टानि चाभितः ।
 तिर्यग्गच्छन्ति चान्यानि पूर्णसर्वमयान्यपि ॥ ३१
 देवमात्रैकसर्गाणि नरमात्रमयानि च ।
 दैत्यवृन्दमयान्येव कृमिनिर्विवराणि च ॥ ३२
 अन्तरन्तस्तदन्तश्च स्वकोशेऽप्यणुकं प्रति ।
 जातानि जायमानानि कदलीदलपीठवत् ॥ ३३
 परस्परमदृष्टानि नानुभूतानि वै मिथः ।
 सैनिकस्वप्नजालानि जातानीव महान्त्यपि ॥ ३४
 विविधान्यन्यन्तानि स्वच्छाकाशात्मकान्यलम् ।
 अन्योन्यमन्यवृत्तीनि न मिथोऽन्यस्थितीनि च ॥ ३५
 मिथश्चान्यान्यशास्त्राणि मिथोऽनन्तानि यानि च ।
 अन्योन्यसन्निवेशानि मिथोऽन्योन्यानि यानि च ॥ ३६
 अन्योन्यं परलोकानि मिथः सिद्धपुराणि च ।
 अन्यादृशमहाभूतान्यन्यादग्निगिरीणि च ॥ ३७
 त्वादृशानुभवेहानामगम्याभ्यागतानि च ।
 असमञ्जसरूपाणि कथ्यमानानि मादृशैः ॥ ३८

तदेव प्रपद्यति—तथेत्यादिना । उदुम्बरकृमिसदृशसमारम्भ-
 दैवादिभिः प्राणिमन्ति ॥ २८ ॥ क्वचित्कलियुगारम्भाद्वेदशास्त्रो-
 च्छेदे ब्राह्मणादिजात्या पारम्पर्यमात्रेण संकेतितब्राह्मणाद्यान्वा-
 रवन्ति ॥ २९ ॥ कानिचित्परमाकाशे स्तब्धानि निश्चलानि
 कानिचिद्वहन्ति चलन्ति च ॥ ३० ॥ पुष्यन्ति वर्धमानानि ।
 पूर्णसर्वमोक्षमयानि ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ अणुकं परमाणुमपि प्रति
 अन्तरन्तस्तदन्तश्च कल्पिते स्वकोशेऽपि जातानीत्याद्यन्वयः
 ॥ ३३ ॥ सैनिकानां स्वप्नजालानीव परस्परमदृष्टानि ॥ ३४ ॥
 तथा विविधानीत्यादि योज्यम् । अन्यवृत्तीनि मिथार्थक्रियाणि ।
 मिथोऽन्यस्थितीनि न समस्थितिकानि चेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ यानि
 मिथः अनन्तानि अपरिच्छेद्यब्रह्मस्वभावानि । धर्मानन्त्याद्वा
 अनन्तानि । भेदेऽप्यन्योन्यस्येव संनिवेशो येषां तानि ।
 अलम्बिज्ञायामन्योन्यात्मकानि च ॥ ३६ ॥ एकत्र भूतैरपरत्र
 गमनादन्योन्यपरलोकानि परस्परं प्रत्यन्तर्धानशक्तियोगान्मिथः
 सिद्धनगरप्रायाणि च ॥ ३७ ॥ अत एवान्यस्यान्यत्र वर्णने
 अपरिनिष्ठितमतीनामगम्यत्वादसमञ्जसरूपाणि भान्तीत्याह—
 त्वादृशेति । अनुभवानामीहानां प्रयत्नानां चागम्यान्यविषय-
 भूतान्यभ्यागतान्यभिमुखमागतानि । सनिहितान्यपीति यावत् ।
 तर्हि तानि त्वादृशां कथनैर्हास्यन्ते तत्राह—असमञ्ज-
 सेति ॥ ३८ ॥ विदादित्यस्य अंशुमण्डलप्राये सर्वतः प्रसवे

अणुवत्सेष्यमाणानि विदादित्यांशुमण्डले ।
 परमार्थधियो व्योम्नि रश्मिजालानि कुण्डले ॥ ३९
 कानिचित्तानि तान्येव भूत्वा भूत्वा भवत्यलम् ॥ ४०
 कानिचित्तादृशान्येव जातानि वनपर्णवत् ॥ ४१
 अन्योन्यत्वाच्च सदृशान्यन्यानि सदृशान्यपि ।
 कंचित्कालं सुसदृशान्यन्यान्येव च कानिचित् ॥ ४२
 फलानि तान्यनन्तानि परमार्थमहातरोः ।
 अनन्यान्येव चान्यानि तन्मयान्येव वै ततः ॥ ४३
 कानिचित्स्वरूपकल्पानि दीर्घकल्पानि कानिचित् ।
 अन्यान्यनियतं भूरि नियतं भूरि कानिचित् ॥ ४४
 अन्यान्यज्ञातकालानि यदृच्छावशतः स्वयम् ।
 जायमानानि पुष्टानि सुस्थिराणि स्थितानि च ॥ ४५
 तानि शून्यत्वजालानि परमाकाशकोशके ।
 अपरिज्ञातकालानि रुढान्यज्ञातदोषके ॥ ४६
 अबध्यर्काकाशमेवादि शतैरावलितान्यलम् ।
 चिच्चमत्कारखे स्वप्नजालान्याभान्ति चाविलम् ॥ ४७
 अनुभूतेर्भ्रमात्मत्वात्कारणानामभावतः ।
 पृथ्व्यादीनामहेतूनामत्यन्तं सन्त्यसन्ति च ॥ ४८
 मृगतृष्णास्युभरवद्विचन्द्रव्योमवर्णवत् ।
 संपन्नानि न सत्यानि सत्यान्यप्यनुभूतितः ॥ ४९
 चित्संकल्पनमस्येव भासमानानि भूरिशः ।
 वासनावातनुन्नानि विलुङ्गन्त्यात्मचेष्टितैः ॥ ५०

चैतन्ये ये अणवो जालसूर्यमरीचिषु प्रसिद्धास्तद्वत्सेष्यमाणानि
 प्रसिद्धिमाप्ति । 'सेष्यमाणानि' इति पाठे परिशेषभाषि । तथा
 परमार्थधियो मोक्षसाम्राज्यलक्ष्म्याः कुण्डले तादृक्प्राये व्योम्नि
 अव्याकृताकाशे भूताकाशे च विचित्ररश्मिरश्मिजालप्रायाणि
 ॥ ३९ ॥ ४० ॥ तेषु कानिचिदेकत्रैव चिति सर्वेषामध्यासाद-
 पृथक्सत्त्वेनान्योन्यात्मकत्वात्सदृशान्यन्यादृशान्यपि । एवं सद-
 शान्यपि कंचित्कालं सुसदृशानि । कानिचिदन्यान्यत्यन्तविसद-
 शान्येव । मायाया अघटितघटनापटीयस्त्वादिति भावः ॥ ४१ ॥
 वृक्षफलवद्वा तत्र भेदामेदकल्पनेत्याह—फलानीति ॥ ४२ ॥
 अनियतं देशकालवस्तुस्वभावनियमरहितमेव भूरि बहूनि ।
 कानिचिद्विषयतं तद्विपरीतमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ सूर्याद्यभावादज्ञातक-
 लानि ॥ ४४ ॥ ताति किं सत्यानि नेत्याह—तानीति । कदाप्र-
 मृति तर्हि रुढानि तत्राह—अपरिज्ञातेति । अनादीनीत्यर्थः ।
 अज्ञातमज्ञानं तदेव दोषो यसिंस्तथाविधे प्रतीचि रुढानि ॥ ४५ ॥
 चिच्चमत्काररूपे खे चिदाकाशे । आविलं रजस्तमःकलुषितं
 यथा स्यात्तथा ॥ ४६ ॥ अहेतूनां पृथ्व्यादीनामनुभूतेर्भ्रमात्म-
 त्वात्तानि जगन्त्यत्यन्तमधिष्ठानात्मना सन्ति स्वरूपेण त्वसन्ति
 च ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ अतश्च तथेत्याह—चित्संकल्पेति ॥ ४९ ॥

सुरासुरादिमशका बहुशोदुम्बरद्रुमे ।
 फलानि रसपूर्णानि धूर्णमानानि मारुतैः ॥ ५०
 अभिजातस्वभावस्य सर्गारम्भकरस्य च ।
 शुद्धचित्तत्त्वबालस्य संकल्पनगराणि खे ॥ ५१
 त्वमहं स इदं चेति धिया बलदृढान्यलम् ।
 संपन्नान्यर्कदीप्त्येव पङ्कक्रीडनकानि च ॥ ५२
 वृत्तानि रसशालिन्या नित्यया नित्यतृप्तया ।
 वनान्युग्रफलानीव वसन्तरसलेखया ॥ ५३
 महाकर्तृण्यकर्तृणि न कृतान्येव खानि वा ।
 स्वयं संपन्नरूपाणि चिद्बोद्धयेव कृतानि वा ॥ ५४
 परमार्थमयान्येव तदन्यद्बोदितान्यपि ।
 अलब्धान्येव लब्धानि सदाऽसन्त्येव सन्ति च ॥ ५५
 चतुर्दशदशैकादिविधभूतगणानि च ।
 पुनस्तान्येव तान्यन्तरन्यान्यन्यान्यथो बहिः ॥ ५६
 नरकस्वर्गपातालबन्धुमित्रमयान्यपि ।

महारम्भमयान्येव शून्यानि परमार्थतः ॥ ५७
 क्षीराम्बुधेर्जलानीव स्नेहसाराणि सर्वतः ।
 तरङ्गमङ्गुराप्यन्तर्बहिश्चावृत्तिमन्ति च ॥ ५८
 आभासमात्ररूपाणि तेजस्यात्मविवस्वतः ।
 जातानीव स्वतस्तानि स्पन्दनानि नभस्वतः ॥ ५९
 वृक्षरूपाणि पत्राणां बुद्ध्यहंकारचेतसाम् ।
 असतामप्यसन्त्येव स्वप्ने न्यस्तनृणामिव ॥ ६०
 पुराणवेदसिद्धान्तकल्पनातल्पपालिषु ।
 घननिद्राणि सुप्तानि विभ्रन्ति शवतामिव ॥ ६१
 परमार्थमहारण्ये चिद्बन्धवैकृतानि वै ।
 सूर्यदीपकदीप्तानि गृहाणि गहनात्मनि ॥ ६२
 प्रजायमानानि नभस्यनन्ते
 विशीर्यमाणानि च निर्निमित्तम् ।
 तदा त्वहं वै तिमिराक्षदृष्ट-
 केशोण्डुकानीव जगन्त्यपश्यम् ॥ ६३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पा० जगज्जालवर्णनं नामैकोनषष्ठितमः सर्गः-॥ ५९-॥

षष्ठितमः सर्गः ६०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततोऽहमभितो भ्रान्तस्तादृशं प्रविचारयन् ।
 बहुकालमसंरुद्धसंविदाकाशतां गतः ॥ १
 शब्दं पश्चात्तमश्रौषमहं बीणास्वनोपमम् ।

ब्रह्मोदुम्बरद्रुमे सुरासुरोरगनरादयो मशकाः । ब्रह्माण्डानि तु
 भोगवैचित्र्यरसपूर्णानि फलानि ॥ ५० ॥ अथवा जगन्ति शुद्धस्य
 केवलस्य चित्तस्वलक्षणबालस्य संकल्पनगराणि ॥ ५१ ॥
 संकल्पनगरत्वे दाढ्ये को हेतुस्तमाह—त्वमिति । अहंतावभि-
 मानधिया बलेन अलमत्यन्तं दृढानि संपन्नानि । पङ्कमयानि
 क्रीडनकानीव । चकारो हिमेन घृतकरकादीनीवेति दृष्टान्तान्त-
 राभ्युहनार्थः ॥ ५२ ॥ नित्यमभीक्ष्णं तृप्तया तृप्तिमत्या रसो
 रागो द्वयत्वं च तच्छालिन्या कर्मफलावश्यभावनित्यया वृत्तानि
 निष्पन्नशाखोपशाखानि ॥ ५३ ॥ सृष्टिश्रुतिदृशा महद्ब्रह्मैव कर्तुं
 येषां तानि । 'अपूर्वमनपरं' इत्यादिश्रुतिदृशा तु अकर्तृणि
 अकर्तृकाणि ॥ ५४ ॥ तदन्यद्वा तदन्यदिव । मणीवोद्भूत्येतिव-
 दिवार्थे वाशब्दः । सदा असन्त्येवेति च्छेदः ॥ ५५ ॥ भुवन-
 संख्यया चतुर्दश, देवयोनिमात्रसंख्यया दशविधाः, मनुष्याद्ये-
 कैकजाला एकविधा आदिपदाद्ययासंभवं व्यादिनियतविधा
 भूतगणा येषु ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ जेहो घृतं प्रीत्यतिशयश्च
 तत्साराणि, आवृत्तिः परिवृत्तिस्तद्वन्ति च ॥ ५८ ॥ स्वतो
 जातानि नभस्वतो वायोः स्पन्दनानीव ॥ ५९ ॥ बुद्ध्यहंकारचि-
 त्तरूपाणां पत्राणामाश्रयभूतवृक्षरूपाणि । असतां स्वातिरिक्त-
 दृष्टृणामपि साधारणायमानानि असन्त्येव यथा स्वप्ने नितरा-

क्रमात्स्फुटपदं जातं तत आर्यात्वमागतम् ॥ २
 शब्ददेशपतद्बुद्धिर्दृष्टवान्वनितामहम् ।
 पार्श्वे कनकनिष्पन्दप्रभया भासिताम्बराम् ॥ ३
 आलोलमाल्यवसनामलकाकुललोचनाम् ।

मस्तानामसतां स्वातिरिक्तवृणां दृश्यानीत्यर्थः ॥ ६० ॥ पुराणादि-
 प्रसिद्धव्रतदानयज्ञादिफलावश्यभावकल्पनालक्षणेऽपि तल्पवृत्तिषु
 स्वप्नेषु दृढविश्वासघननिद्राणि आत्मस्वरूपस्यात्यन्तमप्रबोधाच्छ-
 पतामिव विभ्रन्ति । अभ्यस्ताच्छतुर्मुखाच्चन्दसः ॥ ६१ ॥ परमार्थो
 ब्रह्म तल्लक्षणे महारण्ये मायोपहितचिद्बन्धवैर्न कृतानि सूर्यलक्ष-
 णैर्दीपकैर्दीप्तानि गृहाणीत्युत्प्रेक्षा ॥ ६२ ॥ हे राम, अहं तदा
 तस्मिन्समाधिकाले अनन्ते चित्रमसि निर्निमित्तं प्रजायमानानि
 निर्निमित्तं च विशीर्यमाणानि तिमिराक्षदृष्टकेशोण्डुकानीव भ्रान्ति-
 मात्रसिद्धानि जगन्ति अपश्यम् दृष्टवानित्यर्थः ॥ ६३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 जगज्जालवर्णनं नामैकोनषष्ठितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

समाधौ शब्दकारिण्याः स्त्रियो दर्शनमीर्यते ।

तामनाहल्य भूयोऽपि विचित्रजगदीक्षणम् ॥ १ ॥

तादृशं प्रायुक्तप्रकारं शब्दकारणं प्रविचारयन्नन्विष्यन् ।
 असंरुद्धसंविदाकाशतामपरिच्छिन्नचिदाकाशताम् ॥ १ ॥ आर्यात्वं
 आर्याख्यच्छन्दोलक्षणलक्षितत्वम् । यथाहुः 'यस्याः प्रथमे
 पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके
 पञ्चदश साऽऽर्या ॥' इति ॥ २ ॥ शब्दस्य प्रभवप्रदेशे पतन्ती
 दृष्टिर्योगदृष्टिर्यस्य तथाविधः सन् वनितां स्त्रियम् । पार्श्वे इति
 पूर्वोत्तरान्वयि ॥ ३ ॥ तामेव वर्णयति—आलोलैत्यादिना ।

लोलद्धम्मिल्लवलनामन्यां धियमिवागताम् ॥
कान्तकाञ्चनगौराङ्गीं मार्गस्थनवयौवनाम् ।
धनदेवीमिवामोदिसर्वावयवसुन्दरीम् ॥
सा पूर्णचन्द्रवदना पुष्पप्रकरहासिनी ।
यौवनोद्दामवदना पद्मलक्षणशालिनी ॥
आकाशकोशसदना शशाङ्ककरसुन्दरी ।
मुक्ताकलापरचना कान्ता मदनुसारिणी ॥
स्वरेण मधुरेणैवमार्यामार्यविलासिनी ।
पपाठाकठिनं वामा मत्पात्रे मृदुहासिनी ॥

असदुचितरिक्तचेतन-

संसृतिसरिति प्रसुह्यमानानाम् ।

अवलम्बनतटविटपिन-

मभिनौमि भवन्तमेव मुने ॥

इत्याकर्ण्यहमालोक्य तां स्मरुवदनस्वनाम् ।
ललभेयं किमनयेत्यनादृत्यैव तां गतः ॥ १० ॥
ततो अगद्वन्दमयीं मायां संप्रेक्ष्य विस्मितः ।
अनादृत्यैव तां व्योम्नि विहर्तुमहमुद्यतः ॥ ११ ॥
ततस्तां तत्कृतां चिन्तामलमुत्सृज्य खे स्थिताम् ।
जगन्मायां कलयितुं व्योमात्माहं प्रवृत्तवान् ॥ १२ ॥
यावत्तानि तथोग्राणि जगन्ति सकलानि खम् ।
शून्यमेव यथा स्वप्ने संकल्पे कथने तथा ॥ १३ ॥

लोलत् चञ्चल धम्मिल्लवलनं केशवन्धनं यस्याः ॥ ४ ॥ मार्ग-
स्थसि व गच्छत् नवयौवनं यस्याः ॥ ५ ॥ ६ ॥ आकाशकोशः
मार्गवर्णितभूताकाशः सदनं यस्याः । मामनुसरति तच्छ्रीला
॥ ७ ॥ सा वामा मत्पात्रे अकठिनं मृदु यथा स्यात्तथा मधु-
रेण स्वरेण एवं वक्ष्यमाणरूपामार्या पपाठ ॥ ८ ॥ तामेवामार्या-
मुदाहरति—असदिति । हे मुने, अहं असतां खलानामु-
चितै रागद्वेषकामलोभमोहादिदोषैः रिक्ता विरहिता चेतना
चेतो यस्य तथाविधम् । तथा संसृतिलक्षणाया सरिति
प्रसुह्यमाणानामवलम्बनभूतं तटविटपिनं तीरवृक्षभूतं
भवन्तमेव अभिनौमि अशंसामि सान्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा त्वं किमकार्षीस्वत्राह—इतीति ॥ १० ॥ तदुत्तरा-
र्थोक्त स्फुटयति—तत इति ॥ ११ ॥ अनादृत्येति पदं विह-
र्तुमिति पदं च व्याचष्टे—तत इति । खे शून्यस्वभावे
स्थिताम् । व्योमात्मा चिदाकाशरूप ॥ १२ ॥ खे स्थितामित्ये-
तदुपपादयति—यावदिति । यस्मादित्यर्थे यावच्छब्दः ।
संकल्पे मनोराज्ये । कथने कथार्थप्रकाशने । चार्थे तथाशब्दः-
॥ १३ ॥ शून्यरूपत्वादेव तानि जगन्ति कविचित् कचिदपि
परमार्थतः किंचिदपि न पश्यन्ति न शृण्वन्ति । अत एव
कल्पेषु महाकल्पेषु महाजन्मसु सर्गेषु च समता ऐकरूप्यमेव
शेषा तानि । बहुव्रीहौ 'गोत्रियोक्तपसर्जनस्य' इति टापो ह्ये
'नपुंसकस्य झलचः' इति तुमि पुनर्दर्शः । परस्परतोपपत्तिरसमा-

न पश्यन्ति न शृण्वन्ति कदाचित्कानिचित्कचित् ।
तानि कल्पमहाकल्पमहाजन्मैकतान्यथ ॥ १४ ॥
प्रमत्तपुष्करावर्तानुन्मत्तोत्पातमादतान् ।
स्फुटिताद्रीन्दवाकारधटितब्रह्ममण्डपान् ॥ १५ ॥
ज्वलत्कल्पाग्निविस्फोटचटदैडविडास्पदान् ।
प्रतपद्वादशाकारकन्दुमार्तण्डमण्डलान् ॥ १६ ॥
लुण्ठसुरपुष्पातवितताक्रन्दधरान् ।
रणसर्वादिकटकश्रेणीनिगिरणोज्झटान् ॥ १७ ॥
कल्पाग्निज्वलनोल्लासपठत्पटपटारवान् ।
आत्मभ्रंशवृहत्क्षोभक्षुब्धाम्बरमहार्णवान् ॥ १८ ॥
देवासुरनरागारग्रधराक्रन्दकर्कशान् ।
सप्तार्णवमहापूरपूरितार्कन्दुमण्डलान् ॥ १९ ॥
न विचेतन्ति कल्पान्तान्सर्वाण्येव परस्परम् ।
एकमन्दिरसंसृताः स्वप्ने रणरयानिव ॥ २० ॥
तत्र रुद्रसहस्राणि ब्रह्मकोटिशतानि च ।
दृष्टानि विष्णुलक्षाणि कल्पवृन्दान्यलं मया ॥ २१ ॥
तत्र कचिदनादित्ये निरहोपात्रभूतले ।
आकल्पयुगवर्णान्ते जगत्यूहैः क्षयोदयः ॥ २२ ॥
चित्ति सर्वं चितः सर्वं चित्सर्वं सर्वतश्च चित् ।
चित्सत्सर्वात्मिकेत्येतदृष्टं तत्र मयाखिलम् ॥ २३ ॥

रम्भानिव परस्परप्रलयसमारम्भानपि तानि न पश्यन्तीत्येत-
दपि प्रलयसंरम्भवर्णनपुरःसरं दर्शयितुमारभते—अथेत्या-
दिना ॥ १४ ॥ सर्वेषां द्वितीयावदुवचनान्तानां पञ्चमेश्लोकस्थे
कल्पान्ताज्जविचेतन्तीत्यत्रान्वयः ॥ १५ ॥ कल्पाग्निविस्फोटैश्च-
टन्ति भवन्ति ऐडविडास्पदानि कुनेरभवानि येषु । प्रत-
पन्ति द्वादशाकारकन्दुकवदिवि भ्रमन्ति मार्तण्डमण्डलानि येषु
॥ १६ ॥ रणतां सर्वाद्रिचितम्बरश्रेणीनां निगिरणो ज्झटान्
॥ १७ ॥ कल्पाग्नीनां यानि ज्वलनानि तेषां ये उल्लासास्त्रैश्च-
त्प्रयुक्तवशादिग्रन्थिविस्फोटनैः पठन्तो व्यक्तमुचरन्तः पठपठ-
रवा येषु । आत्मस्वभावभ्रंशप्रयुक्तवृहत्क्षोभादिवदेव यादोगण-
क्षोभैः क्षुब्धा- अम्बरमहार्णवा येषु ॥ १८ ॥ तुलोकपर्यन्तं
सप्तार्णवामिदृष्ट्या सप्तार्णवमहापूरैः पूरितान्यर्कन्दुमण्डलानि
येषु ॥ १९ ॥ ईदृशानपि तत्तदन्तःप्रवृत्तान्कल्पान्तान् सर्वा-
ण्येव जगन्ति परस्परं न विचेतन्ति ॥ २० ॥ एवं जगतां
प्रासङ्गिकीं परस्परं शून्यरूपतामुपपाद्य प्रसुप्तमेवाह—तत्रेत्या-
दिना । तत्र तेषु जगत्सु मया दृष्टानि ॥ २१ ॥ तत्र तस्मि-
न्वर्णितबहुप्रकारे जगति कचिच्चिदस्तुति ऊहैर्वितर्कैरेव क्षय
उदयश्च दृष्ट इत्यनुवर्णयते ॥ २२ ॥ अस्तु ऊहैरेव क्षयोदय-
कि ततस्तत्राह—चितीति । ततः आयुक्तं पाषाणादयायिका-
इदयं चिति सर्वमित्यादिरूपं मया अन्वयव्यतिरेकाभ्यां परीक्ष्य

१ पञ्चमेति इतः पञ्चमो विंशः श्लोको वेद्यः ।

त्वं किंचिदिति चेद्वक्षि तत्र किंचिदिषाङ्गं चित् ।
 सा हि शून्यतमा व्योम्नो न च नाम न किंचन ॥ २४
 तदाकाशमिदं भाति जगदित्यभिशब्दितम् ।
 तेनैव शब्दमभसा सर्वं हि परमं नमः ॥ २५
 दृश्यदृष्टिरियं भ्रान्तिराकाशतरुमञ्जरी ।
 चिद्योमाङ्गं कमेवेति तत्राहमनुभूतवान् ॥ २६
 घुष्टाकाशैकरूपेण व्यापिना बोधरूपिणा ।
 तत्रानन्तेन संकल्पमनुभूतमिदं मया ॥ २७
 ब्रह्मव्योम जगज्जालं ब्रह्मव्योम दिशो दश ।
 ब्रह्मव्योम कलाकालदेशद्रव्यक्रियादिकम् ॥ २८
 तत्राहमिव संसारशते भाते मुनीश्वराः ।
 दृष्ट्वा वसिष्ठनामानो ब्रह्मपुत्राः सदुत्तमाः ॥ २९
 ब्रह्मन्द्वासप्ततिस्रोताः सर्वा एव सराधवाः ।
 सत्र दृष्टं कृतशतं द्वापराणां शतं तथा ॥ ३०
 भेदोदयेन वै दृष्टास्तास्ताः सर्गदशास्तथा ।
 बोधेन चेत्तदत्यच्छमेकं ब्रह्म नभस्ततम् ॥ ३१
 नेदं ब्रह्मणि नामास्ति जगद्ब्रह्मण्यथ त्विदम् ।

दृष्टमित्यर्थः ॥ २३ ॥ कीदृशेन कहेन चिति कीदृश उदयः
 कीदृशो वा क्षयस्तानुदाहरति—त्वमिति । हे राम, त्वं घटः
 पटः कुण्डमिति वा यदेव किंचिदिति रूपं संकल्प्य नाम्ना वक्षि
 तत्र तस्यां दशायां चित् त्वद्विवक्षितं तत्तत्किंचित्तद्वत् तत्तत्रा-
 मरूपात्मनेव भवति स उदयः । सैव व्योम्नोऽपि शून्यतमा
 विवक्षिता सती न किंचन नाम भवति न किंचन रूपमिति स
 तत्क्षय इत्यर्थः ॥ २४ ॥ किंच जगदिति नामरूपकल्पनया
 तच्छून्यात्मकमाकाशमेव भाति । आकाशस्यैव वाग्व्यादिकमेण
 जगदाकारपरिणामश्रुतेः । तच्चाकाशं शब्दतन्मात्ररूपत्वात्सर्वव-
 स्तुनो नाससामान्यमपि भवति । तेनैव 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि,
 मेह नानास्ति किंचन' इत्यादिशब्दात्मना परिणतेन नभसा सर्वं
 जगत्परमं चिन्म एव भवति । स एवास्यात्यन्तिकः क्षय
 इत्यर्थः ॥ २५ ॥ एवं विमर्शं स्वस्य यादृशोऽनुभवोऽभूत्तमाह—
 दृश्येति । हे अङ्ग, परिशिष्टं यच्चिद्योम तत् कं सुखमेव निरति-
 शयानन्दैकरसमेवेत्यनुभूतवानित्यर्थः ॥ २६ ॥ घुष्टिधरमसाक्षा-
 त्कारश्रुतिस्तद्रूपो य आकाशस्तत्राविर्भावात्तदेकरूपेण व्यापिना
 पूर्णेनाऽनन्तेन त्रिविधपरिच्छेदरहितेन मया तत्र तस्मिन्समाधौ
 नैसंकल्पं निःसंकल्पमिदं वक्ष्यमाणमनुभूतम् ॥ २७ ॥ जगज्जालं
 ब्रह्माण्डसमूहास्तदन्तर्गता दशादिशस्तदन्तर्गतं कलाकालदेशा-
 दिकं च सर्वं ब्रह्मव्योमैव तथा स्थितं दृष्टमित्यर्थः ॥ २८ ॥ तत्र
 वक्ष्यमाणभेदोदयेन भाते संसारशते अहमिव मत्समानरूपा
 मुनीश्वराः ॥ २९ ॥ द्वासप्ततिसंख्याकाः सराधवा रामावतारसहि-
 तास्त्रेतायुगभेदा दृष्टा इत्यनुकृत्यते ॥ ३० ॥ भेदोदयेन भेदवा-

ब्रह्मैवाजमनाद्यन्तं तत्सर्वं तत्पदादिकम् ॥ ३२
 पाषाणमौनप्रतिमं नकिंचिदभिशब्दितम् ।
 यत्तत्किंचिदिति द्योतरूपं ब्रह्म जगत्स्मृतम् ॥ ३३
 विभात्यचेत्यं चिद्योस्ति स्वसत्तैव जगत्तथा ।
 निराकारे निराकारा स्वप्रानुभवसंनिभा ॥ ३४
 अनन्यमात्मनो ब्रह्म सर्वं भामात्ररूपकम् ।
 प्रकाशनमिवा लोकः करोति न करोति च ॥ ३५
 तेषु नामानुभूयन्ते जगल्लक्षेषु तत्र वै ।
 उष्णानि चन्द्रविम्बानि सूर्याः शीतलमूर्तयः ॥ ३६
 प्रजास्तमसि पश्यन्ति पश्यन्त्येव न तेजसि ।
 उलूकस्य समाचारास्तस्यैव सदृशस्वराः ॥ ३७
 इतः शुभेन नश्यन्ति यान्ति पापैस्तथा दिवम् ।
 विषाशनेन जीवन्ति म्रियन्तेऽमृतभोजनैः ॥ ३८
 यद्यथा बुध्यते बोधे यथोदेत्यथवा स्वतः ।
 तथाशु स्फुटतामेति सद्वासद्वा तदेव तत् ॥ ३९
 विटपाकारमूलौघदर्शनाद्ब्रजशोभिभिः ।
 घूर्णते पत्रपुष्पाभैः पादपैर्व्योम्नि काननम् ॥ ४०

सनोद्बोधेन । बोधेन तत्त्वदशा तु एतत्सर्वं ब्रह्म नम एव दृष्ट-
 मित्यर्थः ॥ ३१ ॥ तथा च ब्रह्मणः सप्रपञ्चता निष्प्रपञ्चता च दृष्टि-
 भेदेनाविरुद्धेत्याह—नेदमिति । अथ लिदमस्तीति शेषः । पयते
 ज्ञानेन प्राप्यत इति पदं तदात्मकम् ॥ ३२ ॥ नकिंचिदभिशब्दितं
 सर्वनामरूपशून्यम् । द्योतरूपं ज्योतीरूपम् । तदेव जगद्वेषेण
 स्मृतमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ अचेत्यं चेत्यं विनापि चितः स्वसत्तैव चेत्य-
 जगत्तथा विभाति ॥ ३४ ॥ विभातीत्येतत्प्रत्ययभेदप्रदर्शनेनोपपाद-
 यन्स्वयंज्योतिर्द्वं दर्शयति—अनन्यमिति । अनन्यं अनन्यत् ।
 अद्वादेशाकरणं छान्दसम् । भामात्ररूपकं ब्रह्म सर्वं करोति न
 करोति च । यथा आलोकः प्रकाशनं करोति स्वातिरिक्तप्रकाश-
 नाप्रसिद्धेन करोति च तद्वत् ॥ ३५ ॥ ननु यदि चिदेव जगत्तर्हि
 चन्द्रः शीत एव सूर्य उष्ण एवेति व्यवस्थिता नियतिर्विपर्यये-
 तेति चेदिष्टापत्तिः ब्रह्माण्डभेदे वैपरीत्यस्यापि दर्शनादित्याह—
 तेष्वित्यादिना ॥ ३६ ॥ उलूकस्य दिवान्धस्य । उलूकेन सम
 आचारो दर्शनादिव्यवहारो यासाम् । समशब्दार्थस्य नित्यं प्रति-
 योगिसापेक्षत्वेन सामर्थ्याविधातात्समासः । तस्यैव तेनैव ॥ ३७ ॥
 इत इति । मनःकल्पनाया निरङ्कुशत्वादियमुक्तिर्न तु वस्तुतः ।
 वेदाप्रामाण्यापादकत्वादिति बोध्यम् ॥ ३८ ॥ तत्कृतस्तत्राह—
 यदिति । चिराभ्यासदृढीकृते बोधे यद्वस्तु हिताहितसाधनत्वेन
 यथा बुध्यते तथैव भोजकादृष्टवशादुदेति । यथोदेति तथैव
 भोगकालेऽपि स्फुटतामेति । अन्यत्र सद्वा असद्वास्तुं न विशेषः ।
 यतस्तद्ब्रह्मैव तद्वासनाकर्मानुसारेण विवर्तत इत्यर्थः ॥ ३९ ॥
 एतद्ब्रह्माण्डप्रतिद्वकाननविपरीतपत्रपुष्पसंस्थानार्थक्रियासंपन्नं
 ब्रह्माण्डान्तरे प्रसिद्धमित्याह—विटपेति । विटपाः शाखास्तदा-
 काराणां मूलौघानां दर्शनाद्ब्रजशोभिभिः शोभावाद्भिः पत्रपुष्पै-
 रामान्तीति पत्रपुष्पाभैः पादपैरुपलक्षितं घूर्णते इत्यर्थः ॥ ४० ॥

१ भत्र अनन्तेन नसङ्कल्पः इति पदविशेषटीकाकारैः कृतः स च
 सुभीभिर्विमर्शनीयः.

लिकताः पीडिताः सत्यः स्रवन्ति स्नेहजं रसम् ।
 शिलाफलककेभ्यश्च जायन्ते कमलान्यलम् ॥ ४१
 दारुण्यश्मनि भित्तौ च सञ्चलाः शालभक्षिकाः ।
 देवाङ्गनाभिः सहितं गायन्ति कथयन्ति च ॥ ४२
 मेघान्परिदधत्युच्चैर्भूतान्युच्चैः पटानिव ।
 प्रतिरूपं विजातीयान्युत्पद्यन्ते फलान्यग्रे ॥ ४३
 संनिवेशेन नियतैरङ्गानां विविधाङ्गकैः ।
 शिरोभिः सर्वभूतानि परिक्रामन्ति भूमिगैः ॥ ४४
 शास्त्रवेदविहीनानि निर्धर्माण्येव कानिचित् ।
 यत्किञ्चनैककारीणि तिर्यग्वन्ति जगन्त्यधः ॥ ४५
 कामसंविच्छिन्नानि निःस्त्रीजातानि कानिचित् ।
 भूतैः संशुष्कहृदयैर्व्याप्तान्यश्ममयैरिव ॥ ४६
 पचनाशनभूतानि समरत्नाश्मकानि च ।
 अज्ञातार्थान्यलुब्धानि निर्गर्वाणीव कानि च ॥ ४७
 क्वचित्प्रत्येकमात्मानं पश्यत्याप्नोति नेतरत् ।
 यदुभूतकमप्यस्ति जगदित्येकभूतकम् ॥ ४८
 नक्षत्रकेशादिके यद्वत्तद्वदन्यत्र संस्थितः ।
 आत्मवत्सर्वभूतानामेकीभूतात्मभावना ॥ ४९
 अनन्तापारपर्यन्तं शून्यमेव बहु क्वचित् ।
 यत्नतः संविदाप्नोति तस्यान्ते न जगत्पुनः ॥ ५०

एवमसंभावितसहस्रमप्यन्यत्र सभावनीय-मिलाह—लिकताः
 इति । पीडितास्तिलयन्निपीडिताः । स्नेहजं रसं तैलं स्रवन्ति
 ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ भूतानि प्राणिनः पटानिव मेघान्परिदधति
 परिधानं कुर्वन्ति । अग्रे दृष्टे ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ तिर्यग्वन्ति
 पश्चादिमात्रपूर्णानि । अधः भूम्यायधोलोकेषु ॥ ४५ ॥ यतः
 कामसंविच्छिन्ना हीनान्यत एव निस्त्रीजातानि ॥ ४६ ॥ पचना-
 शनाः सर्पा एव भूतानि प्राणिनो यत्र । समानि रत्नान्यश्मकानि
 च यत्र । अज्ञातार्थान्यसंज्ञातधनानि । धनादिव्यवहारशून्या-
 नीति यावत् । अत एवालुब्धानि । निर्गर्वाणि निरहंकाराणीव ।
 कानि च कानिचित् ॥ ४७ ॥ क्वचित्प्रत्येकमात्मनो विना
 विराडहंभावेनैकाल्येनैव सर्वदेहेन्दव्यवहारमाह—क्वचि-
 दिति । इतरदात्मान्तरं नाप्नोति । तत्रापि चतुर्विधभूत-
 नेर्देवभूतकं स्नेहजायेकेकभूतपूर्णं चास्तीत्यर्थः ॥ ४८ ॥
 तत्र देहेन्दवेकीभूतात्मभावना कीदृशी तां दर्शयति—
 नरेति । यद्वत्तद्वदेषादिके छिद्यमाने जायमाने आत्मनः
 स्वच्छेदनजन्नादि पश्यतीत्यन्यत्र संस्थित इव भवति । तत्सौ-
 न्दर्भारिपुत्रमोगे त्वेकीभूतात्मभावना अस्य दृश्यते तद्वदि-
 त्यर्थः । अत एवाह श्रुतिः 'नह वै देवान्पापं गच्छति पुण्यमे-
 चानु गच्छति' इति ॥ ४९ ॥ क्वचित्तु सर्वमेदवातनानुद्भवा-
 दन्याहृताकाशमात्रतया विनाव्यत इत्याह—अनन्तेति ।
 तादृ कथं सर्वे सर्वात्मके तादित्युक्तं तत्राह—यत्नत इति ।
 त्रिगोनावाप-त्याह । त्रिगोमाव्यवस्थारविषयाविर्भावजन्यतत्त्वस-

अत्यन्ताबुद्धबुद्धानि मोक्षशब्दार्थदृष्टिषु ।
 दारुण्यत्रमयाशेषभूतौघानीव कानिचित् ॥ ५१
 ऋक्षचक्रविहीनानि निष्कालकलनानि च ।
 मूकसंकेतसाराणि भूतजालानि कानिचित् ॥ ५२
 कानिचिद्वर्जितान्येव नेत्रशब्दार्थसंविदा ।
 व्यर्थदीप्तात्मतेजांसि भूतानीत्येकचिन्तया ॥ ५३
 प्राणसंविद्धिहीनानि व्यर्थामोदानि कानिचित् ।
 मूकानि शब्दवैयर्थ्याच्छ्रुतिहीनानि कानिचित् ॥ ५४
 वाक्यसंविद्धिहीनत्वान्मूकान्यन्यानि कानिचित् ।
 स्पर्शसंविद्धिहीनत्वादश्माङ्गानीव कानिचित् ॥ ५५
 संविन्मात्रमयान्येव दृष्टान्यपि च कानिचित् ।
 व्यवहारीण्यप्यग्राह्याण्येव नित्यं पिशाचवत् ॥ ५६
 भूमयान्येकनिष्ठानि निष्पिण्डान्येव कानिचित् ।
 कानिचिद्वारिपूर्णानि बहिर्पूर्णानि कानिचित् ॥ ५७
 कानिचिद्व्यातपूर्णानि सर्वाकाराणि कानिचित् ।
 जगन्ति व्योमरूपाणि यत तत्र कचन्ति स्वे ॥ ५८
 घरापीठैकपूर्णेषु तिष्ठन्त्यन्येषु देहिनः ।
 भेका इव शिलाकोशे कीटा इव धरोदरे ॥ ५९
 जलैकपरिपूर्णेषु तिष्ठन्त्युर्वीवनाद्रिषु ।
 भ्रमन्त्यन्येषु भूतानि नित्यमेवोग्रमीनवत् ॥ ६०

शून्यस्यान्तेन तिरस्करणेन पुनर्जगदाप्नोति पश्यति ॥ ५० ॥
 मोक्षशब्दार्थो निर्विशेषवद्भावस्तदृष्टिषु अत्यन्ताबुद्धान्यली-
 कानि तद्वद्बुद्धानि । चित्तृयकारबुद्धौ तु दारुण्यत्रमयानि हस्त-
 श्चादिरूपाण्यशेषाणि भूतौघानीव चेतनतया दृष्टानि ॥ ५१ ॥
 ऋक्षचक्रैर्ज्योतिषैर्विहीनान्यत एव निष्कालकलनानि कानि-
 चित् । शब्दाभावाच्छ्रोत्राभावाद्वा मूकानां हस्तपादाद्यभिनय-
 संकेतसाध्यव्यवहारत्वात्तत्साराणि कानिचिदिति विभज्यान्वयः ।
 एवमग्रेऽपि यथायोगं बोध्यम् ॥ ५२ ॥ नेत्रशब्देन तदर्थेन
 नेत्रेण तज्जन्यसंविदा रूपादिदर्शनेन च वर्जितान्येव । अत
 एव व्यर्थदीप्तात्मकानि सूर्यादितेजांसि येषु । इति इयं जग-
 त्स्थितिः एकचिन्तया एकाग्रचित्तयोमिमनःकल्पनया मशोके-
 त्यर्थः ॥ ५३ ॥ प्राणो प्राणेन्द्रियं तज्जन्यगन्धं सविधं ताभ्यां
 विहीनानीत्यादि पूर्ववत् ॥ ५४ ॥ अश्माङ्गानीव त्वमिन्द्रि-
 यरहितानि ॥ ५५ ॥ संविन्मात्रमयानि । मनोराज्यकल्पानीति
 यावत् । कानिचित्तु व्यवहारीण्यपि पिशाचवदनुद्भू-
 तगुणभूतारब्धत्वादिन्द्रियैरग्राह्याण्येव । साक्षिमात्रवेशानीत्यर्थः
 ॥ ५६ ॥ निष्पिण्डानि घनीभावरहितानि ॥ ५७ ॥ सर्वाका-
 राणि सर्वकार्यक्षमसर्ववस्तुकानि । आकाशसिद्धिशक्तिमनः
 कल्पनयेदमुक्तम् । तत्र ये चिदाकाशे । बतेत्याद्यर्थः ॥ ५८ ॥
 भूमयान्येवेति यदुक्तं तत्र भूतजीवनानुपपत्तिशङ्कां दृष्टान्तेन
 परिहरति—धरेति ॥ ५९ ॥ एवं वार्गादिपूर्णेष्वपि जीवतो-
 त्पत्तिर्बोध्येत्याह—जलेति । उग्रमीनो ग्राहस्तद्वत् ॥ ६० ॥

२ अथ भूमयान्येवेति ५७ तमश्लोकनूतवदपेक्षितम् ।

अन्येष्वप्येकपूर्णेण जलादिरहितान्यपि ।
भूतान्यग्निमयान्येव स्फुरन्त्यलमलातवत् ॥ ६१
अन्येष्वनिलपूर्णेण भूतान्यस्तेतराण्यपि ।
घातमात्रमयाङ्गानि स्फुरन्त्यर्जुनवातवत् ॥ ६२
अन्येषु व्योममात्रात्मदेहेषु व्योमरूपिणः ।

प्राणिनः सन्ति सर्गेषु दर्शनव्यवहारिणः ॥ ६३
पातालपातिषु तथाम्बरमुत्पतत्सु
तिष्ठत्सु विभ्रमपदेष्वथ दिङ्मुखेषु ।
नानाजगत्सु किमिवास्ति मया न दृष्टं
यन्नाम चिज्जलधिचञ्चलबुद्बुदेषु ॥ ६४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० जगज्जालवर्णनं नाम षष्ठितमः सर्गः ॥ ६० ॥

एकषष्ठितमः सर्गः ६१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चिदाकाशाच्चिदाकाशे पयसीव पयोरयाः ।
चित्त्वाज्जीवाः स्फुरन्त्येते एत एव मनांसि नः ॥ १
विशदाकाशरूपाणि तान्येव च मनांसि नः ।
जगन्ति तान्यनन्तानि संपन्नान्यभितः स्वयम् ॥ २

श्रीराम उवाच ।

सर्वभूतगणे मोक्षं महाकल्पक्षये गते ।
पुनः कस्य कथं सर्गसंविच्चिरपजायते ॥ ३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

महाप्रलयपर्यन्ते क्षितिजलपवनहुताशाकाशा-
शेषविशेषविनाशे आब्रह्मस्थावरान्तेषु मुक्तौ परि-

अलातवत् भ्रमदुल्लुक्कवत् स्फुरन्ति संचलन्ति ॥ ६१ ॥ अर्जुन-
वातो रोगविशेषः । तद्वन्तो हि जना आकाशे भ्रमन्तीति देश-
विशेषे प्रसिद्धम् ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ तत्र चिदाकाशे अध ऊर्ध्वं परितश्च
कल्पिते दिग्बिभागे ह्यवमानानि सर्वाणि विचित्राणि जगन्ति
तदन्तर्गतवस्तूनि च मया दृष्टानीत्युपसंहरति—पातालेति ।
चिज्जलधेश्चञ्चलबुद्बुदप्रायेषु नानाजगत्सु मया यच्च दृष्टं नाम
तत्किमिव । न किञ्चिदित्यर्थः । सर्वज्ञसाक्ष्यविषयस्याप्रसिद्धेरिति
भावः ॥ ६४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे जगज्जालवर्णनं नाम षष्ठितमः सर्गः ॥ ६० ॥

अज्ञातब्रह्महृदयं जगन्नाशोऽप्यनश्वरम् ।

ज्ञाते तु ब्रह्मणि जगन्नासीदस्ति भविष्यति ॥ १ ॥

अनाद्यज्ञातं ब्रह्मैव स्वकूटस्थपूर्णानन्दचित्स्वभावविस्मरणा-
न्मलनपरिच्छेदादिस्वभावान्तरं परिकल्प्य मनःप्राणादिकमेण
भोक्ता जीवो भोग्यं जगच्च भूत्वा सर्वत्र सर्वदा सर्वरूपेण संस-
रत्येवेत्यस्य यावदभियं संसारः शाश्वतस्वभावः । तदेव शास्त्रा-
चार्योपदेशाज्ज्ञातं चेत्सर्वदा सर्वतः सर्वात्मना च पूर्णानन्द-
त्रिदेकरसमात्रं न कदापि क्वापि कश्चिदपि कस्यचिदपि संसा-
रलेशः संभावयितुं शक्य इति नित्यमुक्तस्वभावमेव तदिति
व्युत्पादयितुं वसिष्ठो भूमिकां रचयति—चिदाकाशादिति ।
चित्त्वादज्ञातचिदेकरसस्वभावात् । जीवाः प्राणोपाधिपरि-
च्छिन्नाः स्फुरन्ति अनादितादृशवासनोद्भवाङ्गासन्ते । त
एवोत्तरोत्तरं संकल्पविकल्पसहस्रैः संसरणबीजत्वात्सात्मनि
करणभावमिवापद्यमानानि मनांसि इत्युच्यन्ते इत्यर्थः ॥ १ ॥

१ यत इति पाठः.

मो० वा० १५१

णतेषु भूयो यथेदं जगदनुभूयते तथा शृणु ।
अव्यपदेश्यं यत्परमार्थघनं ब्रह्म चिन्मात्रमित्याच-
क्षते मुनयः तस्य हृदयमिदं जगत्तस्मादव्यतिरि-
क्तमेव, स एव च देवस्तदात्मीयं हृदयं स्वभावं
जगदित्यवगच्छति च विनोदेनैव न तु वास्तवेन
रूपेण जगदिति किञ्चिदुपलभामहे, विचारयन्त-
स्तस्मात्किमिव नश्यते किमिव जायते यथा परम-
कारणमविनाशि तथा तद्भूदयमविनाश्यं च । महा-
कल्पादयश्च तदवयवा एव, अपरिज्ञानमात्रमत्र
केवलं भेदायैव तदपि प्रेक्ष्यमाणं न लभ्यत एव ॥ ४

तान्येव मनांसि स्वान्तर्गतभोग्यजगद्भासनानां जगदाकारेण
विकासादनन्तानि जगन्ति संपन्नानीत्याह—जगन्तीति ॥ २ ॥
नन्वेवं सति ब्रह्मैव स्वाविद्या नानाजीवभावैर्नानासंसार-
त्मना एकमेव संसरति एकमेव स्वविद्या सर्वजीवसंसारमा-
वेभ्यो मुच्यत इत्युक्तं स्यात्, तथा च प्राक्तनप्राकृतप्रलयान्ते
सर्वजीवसमष्ट्यात्मनो हिरण्यगर्भस्य तत्त्वज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ
तन्मूलसर्वजीवजगद्भावनानां बाधावर्जनात्सर्वमुक्तिरवश्यवाच्येति
मुक्तस्य ब्रह्मणः पुनरेतज्जगज्जीवपरम्परया संसारो निर्बीजः कथं
संपन्न इत्याशयेन रामः शङ्कते—सर्वेति । ‘भूयश्चान्ते विश्वमा-
यानिवृत्तिः’ इति श्रुतेः सर्वमुक्तेरवश्यवाच्यत्वादिति भावः ॥ ३ ॥
अश्रमनूय तदुत्तरं गद्यपद्यैर्वक्तुं वसिष्ठः प्रतिजानीते—महा-
प्रलयेत्यादि—शृणुवित्यन्तेन । आकाशान्तानामशेषविशेषाणां
विनाशे सति ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु जीवजगत्सु मुक्तौ परिणतेषु
अव्यपदेश्यं ब्रह्म चिन्मात्रमवशिष्यत इति यद्यप्याचक्षते तथापि
तस्याविशिष्टस्य ब्रह्मचिन्मात्रस्य हृदयमिदं जगत्तस्माद्ब्रह्मणोऽ-
व्यतिरिक्तमेवेति पूरयित्वा व्याख्येयम् । अयं भावः—यद्यपि
मुक्तदृष्ट्या सर्वजीवन्मुक्तिरेव न कस्यचित्किञ्चित्परिशिष्यते
तथाप्यन्येषां प्रत्येकं तत्त्वज्ञानोदयाभावात्तद्दृशा स्वस्वाविद्या न
नष्टैवेति बन्धानुभव एव । यथा चन्द्रलोकस्थानां सांप्रतं
चन्द्रमण्डलं गतानां च दृष्ट्या अत्यन्तासदपि चन्द्रप्रादेशिकत्वं
भूमिष्ठानां दृशा तथैवास्ते तद्वदिति । एतदेवाह—स एव
देव इत्यादिना । अवगच्छति ब्रह्मदृशा । चकारानावगच्छति च
मुक्तदृशा । यूर्यं जीवन्मुक्तास्सर्हि कीदृशं जगदुपलभ्ये तत्राह—

तस्मान्न कस्यचित्किञ्चित्कदाचिन्नश्यति कश्चित् ।

न चैव जायते ब्रह्म शान्तं दृश्यमजं स्थितम् ॥ ५

आकाशपरमाणुसहस्रांशमात्रेऽपि या शुद्धचि-
न्मात्रसत्ता विद्यते ॥ ६

वंपुर्जगदिदं तस्या ननु नाम महाचितेः ।

कथं नश्यत्यनष्टायां तस्यां सा च न नश्यति ॥ ७

संविदो हृदयं स्वप्ने यथा भाति जगत्तया ।

व्योमात्मैव तथैवादिसर्गात्प्रभृति भासते ॥ ८

चिद्ब्योमावयवः सर्गः सर्गस्यैतादृशाः क्षयाः ।

उदयाश्चेति खं सर्वं किं नाशि किमनाशि च ॥ ९

एषा हि परमार्थसंविदच्छेद्या अदाह्याऽक्षेद्याऽ-

शोण्या, सा ह्यतद्विदामहस्या तस्या यद्वृद्धयं तत्तदेव

भवति यथासौ न नश्यति तदन्तर्वर्ती जगदाद्यनुभवो

न जायते न नश्यत्येवेति केवलं स्मरणविस्मरणव-

शेन स्वभावरूपेणानुभवाननुभवौ कल्पयतीव ॥ १०

यद्यद्यदात्मकं तत्त्वं तद्विनाशं विनाऽक्षयि ।

तस्माद्ब्रह्मात्मकं दृश्यं विद्धि ब्रह्मवदक्षयम् ॥ ११

महाप्रलयादयस्तदवयवा एव ॥ १२

चिन्मात्रे परमे व्योम्नि कुत एव भवाभवौ ।

कुतो भावविकारादिः कथं व्योम्नि निराकृते ॥ १३

विनोदेनैवेति । विनोदेन बाधितानुवृत्तिरूपकौतुकैर्नैव दग्ध-

पटवदित्यर्थः । तस्मादेवं दृष्टित्रयेऽप्यव्यतिरिक्तत्वाच्चगतिमिव

नश्यति किमिव जायते । यद्यविनाश्येव तर्हि कथं महाकल्पावा-

न्तरकल्पादयस्तत्राह—महाकल्पादय इति । न हि शाश्वतस्य

तस्यैकदेशा अशाश्वताः शक्या वक्तुम् । न वा नष्टाः कल्पमेदाः

पुनः पुनरागन्तुं शक्नुवन्ति । अतः सतामेव कल्पसर्गमेदानां

अपमालायवयवपरिवृत्तिरेव पुनः पुनः कालचक्रात्मनेति भावः ।

कथं तर्ह्यतीतानागतकल्पादिषु मेदप्रत्ययस्तत्राह—अपरि-

ज्ञानमात्रमिति ॥ ४ ॥ गद्यप्रसाधितमर्थं पथेनोपसंहरति—

तस्मादिति ॥ ५ ॥ जगतोऽविनाशित्वे युक्त्यन्तरमाह—आका-

शेति । महत्त्वोत्कर्षावधानाकाशे अणुत्वोत्कर्षावधौ परमाणुसह-

स्रांशमात्रे च जगति ब्रह्मचित्सत्तयैव सत्तेति यदा सिद्धान्त-

स्मरा तद्विनाभावे कथं विनाशोपपत्तिरिति समुदायार्थः ।

वपुरित्याधीति पद्यानि ॥ ६ ॥ ७ ॥ संविद्वृद्धयत्वं च संविन्मा-

त्रसारे स्वप्नेऽपि प्रतिदमित्याह—संविद् इति ॥ ८ ॥ ९ ॥

तर्ह्यस्तु संविदोऽपि नाशस्तत्र गयेनोत्तरमाह—एषा हीति ।

यथा असौ संविज नश्यति तथा तदन्तर्वर्ती तद्वृद्धयभूतो

जगतस्तद्वैतज्ञानस्य चानुभवः प्रतिभापि न जायते न नश्यति

च । यदि न नश्यत्येव तर्हि कथं सुखदुःखादीनां कदाचित्क-

त्वानुभवस्तत्राह—केवलमिति ॥ १० ॥ जगतः शाश्वतेना-

त्मना सात्मकत्वादपि न नश्यतेति पथेनाह—यद्यदिति ।

यद्यदिति दर्शनात्तदित्यप्याहार्थम् । तत्तद्विनाशं विना

महाकल्पादयो भावा नामैतानि जगन्ति च ।

ब्रह्मात्मकतयैवासिन्संविद्ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ १४

निराकृत्यच्छचिन्मात्रं दृश्यं संकल्प्य तद्वशम् ।

याति येनैव घटितो यक्षस्तद्वृद्धये किल ॥ १५

यथावयविनो वृक्षस्य शाखाविटपफलपल्लवपु-

ष्पादयोऽवयवास्तथा परमार्थघनस्याकाशादव्यच्छ-

रूपस्याव्यपदेश्यस्य प्रलयमहाप्रलयनाशोद्भेदभावा-

भावसुखदुःखजननमरणसाकारनिराकारत्वादयो-

ऽवयवाः, यथैत्र चासावयवव्यनाशोऽव्यपदेश्यश्च

तथैव त इति ॥ १६

अवयवावयविनोर्दृश्ययोर्वाप्यदृश्ययोः ।

एकात्मनोरेव सदा भेदोऽस्ति न कदाचन ॥ १७

यथा तरोः संविन्मूलं तथा परमार्थघनस्य कचि-

त्किञ्चित्त्वं कचित्सर्गस्तम्बः कचिन्नोक्तान्तरविटपाः

कचिद्वयस्थाः शाखाः कचित्पदार्थपल्लवाः कचित्प्र-

काशकुसुमम् कचिदन्धकारकाण्यं कचिन्नभःको-

टरं कचित्प्रलयगुल्माः कचिन्महाप्रलयगुल्माः कचि-

द्धरिहरादिगुलुच्छकाः कचिज्जाड्यत्वक् एवमना-

कारं व्योमरूपमेव संविदात्मनि ब्रह्मणि ब्रह्मसदृश-

भावादव्यतिरिक्तमेवैतत्स्थितम् ॥ १८

अक्षयि अविनाशि ॥ ११ ॥ यदि ब्रह्मात्मकं विश्वं तर्हि तन्ना-

नात्वाद्ब्रह्मानात्वं किं न स्यात्तत्राह—महाप्रलयादय इति ।

तस्य महाकालात्मनो ब्रह्मणः अवयवा एव ॥ १२ ॥ नन्व-

चेतनसर्गप्रलयाद्यनन्तावयवघटितं कथं विदेकरस स्यादिति

चेद्विरिष्टानगराद्यनेकप्रतिविम्बघटितस्फटिकशिलायां स्वच्छशि-

लेकरसत्ववदित्याशयेन पथेनोत्तरमाह—चिन्मात्रे इत्यादिना ।

निराकृते निराकारे । भावे कः बहुमीहिः ॥ १३ ॥ यथा विचि-

न्नप्रतिविम्बमेदाः स्फटिकात्मनैव स्थितास्तद्ब्रह्महाकल्पादयो

विचित्रभावाः संविदेकरसे ब्रह्मणि संस्थिता इत्यर्थः ॥ १४ ॥

यथा अनःसंकल्पजानां यक्षनगरसेनादीनां मनोमात्रत्वं तथा

चित्संकल्पजस्य जगतोऽपि चिन्मात्रत्वमित्याशयेनाह—निरा-

कृतीति ॥ १५ ॥ अस्त्येवं तथापि कथं जगतामविनाशित्व-

मिति चेदविनाश्यवयवत्वादेवेत्याशयेन वृक्षशाखासाम्येन गयेन

वर्णयति—यथेत्यादिना । असौ ब्रह्मरूपोऽवयवी यथैवाविनाशः

अव्यपदेश्यश्च तथैव ते अवयवाः सर्गप्रलयादय इति एतस्मात्का-

रणादित्यर्थः ॥ १६ ॥ तत्कृतस्तत्र पथेनाह—अवयवावयवि-

नोरिति । ननु दृश्यादृश्ययोः कथमभेदस्तत्राह—दृश्ययोर्वैशि-

अभेदेऽपि स एव स्थौल्ये दृश्यो भवति सौक्ष्म्ये त्वदृश्य इति ।

न दृश्यत्वादृश्यत्वे भेदनियते इत्याशयः ॥ १७ ॥ तत्रावयवा-

वयविनोरभेदं वृक्षतदवयवसाम्यनिरूपणेनोपपादयति—यथे-

त्यादिना । यथा तत्सद्भावे तत्संविदेव मूलं तथा परमार्थ-

घनस्य जगतोऽपि सद्भावे संविदेव मूलमिति साम्यं प्रतिदत्तम् ।

इतो भाव्य इतो भाव इतः सर्ग इतः क्षयः ।
 स्वभाव एवानुभव इति ब्रह्माचलं स्थितम् ॥ १९
 एवंमयेऽपि परमे ब्रह्माकाशे न रज्जनाः ।
 काश्चिदेवाङ्ग सन्तीन्दुबिम्बे विमलता यथा ॥ २०
 निर्मले परमाकाशे क भावाभावरज्जनाः ।
 कादिमध्यान्तकलनाः क लोकान्तरविभ्रमाः ॥ २१
 अपरिज्ञानमेवैकं तत्र दोषवदुत्थितम् ।
 कैवलं तत्परावृत्य प्रेक्षणात्परिशाम्यति ॥ २२
 अज्ञानं ज्ञप्तिबोधेन परामृष्टं प्रणश्यति ।

येनैवाभ्युदितस्तेन पवनेनेव दीपकः ॥ २३
 अज्ञानं संपरिज्ञातं नासीदेवेति बुध्यते ।
 अबन्धमोक्षं ब्रह्मैव सर्वमित्यवगम्यते ॥ २४
 एवं बोधादयो राम मोक्ष उक्ताः स्वसंविदा ।
 विचारयतो लभते नात्र कश्चन संशयः ॥ २५
 इदं जगज्जालमनाद्यजातं
 ब्रह्मार्थमाभातमितीह दृष्ट्वा ।
 विचारदृष्ट्याऽष्टगुणेश्वरत्वं
 पश्यंस्तृणं स्वात्मनि जीव आस्ते ॥ २६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषाणो० जगदाकाशैकबोधो नामैकषष्ठितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः ६२

श्रीराम उवाच ।
 यदेतद्भवता दृष्टं चिद्बोमवपुषा तदा ।
 तदेकदेशसंस्थेन किमुत भ्रमताम्बरे ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 संपन्नोऽहमनन्तात्मा व्यापी व्योम तदा किल ।

स्यातां तस्यामवस्थायां कीदृशौ तौ गमागमौ ॥ २
 नैकस्थानस्थितमथो नाहं गतिमयोऽभवम् ।
 तदनेन ख एवासिन्दृष्टमेतन्मयात्मनि ॥ ३
 यथाज्ञानि शरीरत्वे पश्याम्यापादमस्तकम् ।
 चित्रेत्रेणाप्यनेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥ ४

एवं संविन्मूलतयैव क्वचित्प्रदेशे किञ्चिद्वैचित्र्यं तरुवदेव दर्शयति—क्वचिदिति । सर्गलक्षणः स्वम्बो मध्यकाष्ठम् । तत्संलम्भा भूरादिलोकान्तरलक्षणा विटपाः स्कन्धाः । तत्रापि जम्बूद्वीपादिव्यवस्थाः शाखाः । तेषु गिरिनदीजनपदादिपदार्थाः पल्लवाः । तेषु चन्द्रादित्यादिप्रकाशः कुसुमम् । अन्धकारलक्षणं हरितच्छदकाण्यम् । प्रलयलक्षणा गुल्मा ग्रन्थिमेदाः । हरिहरादिदेवोत्तमलक्षणा गुलुच्छका गुच्छाः । सजलमेघजाज्वललक्षणा लङ् । एवं वर्णितरीत्या अनाकारं व्योमरूपमेवाकारमेदैः संविदात्मनि ब्रह्मणि ब्रह्मसदृशस्वच्छभावादेवाभ्यतिरिक्तं स्थितमित्यर्थः ॥ १८ ॥ उक्तमेवार्थं पक्षैराह—इतर इत्यादिना । भाव्यो भविष्यदर्थः । भवतीति भावो वर्तमानपदार्थः । अतीतस्याप्युपलक्षणमेतत् । स च सर्वोऽप्यनुभवाधीनसिद्धिकत्वादनुभव एव । स च खो भाव आत्मैवेति ब्रह्मैवाचलमेकमेवं वैचित्र्यकल्पनया स्थितमित्यर्थः ॥ १९ ॥ तर्हि ब्रह्मणि सर्गप्रलयादिरज्जना किं सत्याः, नेत्याह—एवमिति । काश्चिदपि न सन्त्येवेत्यन्वयः । इन्दुबिम्बे विमलता निष्कलङ्कता यथा नास्तीति कथंचिदुपमा । तथा निर्मले इत्युत्तरान्वयो वा ॥ २० ॥ ॥ २१ ॥ तर्हि तथा विभ्रमे को हेतुः कुतो वा तच्छान्तिस्तत्राह—अपरिज्ञानमेवेति । परावृत्य परादृष्टिमपहाय प्रत्यगात्मप्रवणया धिया प्रेक्षणात् । 'कश्चिद्दीरः प्रत्यगात्मानमैकदाश्रुतचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ २२ ॥ अज्ञानसाधकस्यैव चरमसाक्षात्कारवृत्तीदृश्यं तद्वाधकत्वे युक्तिमाह—अज्ञानमिति ॥ २३ ॥ ज्ञानस्याज्ञानतत्कार्यबाधकत्वं प्रसिद्धमेवेत्याह—अज्ञानमिति । बाधपरिशिष्टब्रह्मानुभवमभिलष्य दर्शयति—अबन्धमोक्षमिति ॥ २४ ॥

हे राम, मया मोक्षे एवं वर्णितरूपा बोधादय उपाया उक्ताः । एतांस्तुपायाजिरन्तरं विचारे यतो यस्य तथाविधोऽधिकारी लभते ॥ २५ ॥ अनादि इदं जगज्जालं कदाप्यजातं नोत्पन्नमेवं किंतु ब्रह्मैवार्थयते प्रार्थयते भोगमोक्षावित्यर्थम् । अज्ञातस्वस्वरूपमिति यावत् । इति वर्णितजगद्ब्रह्मादिरूपेणाभातं वर्तते । जीवः अधिकारी इति विवेकदृष्ट्या इति विचारदृष्ट्या अणिमाष्टगुणसंपन्नमीश्वरत्वमपि मायामात्रत्वादसारमेवेति । परवैराग्योत्कर्षेण तूणप्रायं पश्यन् निरतिशयानन्दं ब्रह्मैवाहमिति निश्चित्य स्वात्मन्येव पूर्णकाम आस्ते इत्यर्थः ॥ २६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगदाकाशैकबोधो नामैकषष्ठितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

देहवज्जगतां वीक्षा वर्णयतेऽत्र मुने खिया ।

संभावाव्योमरूपस्य स्वमवद्योमरूपया ॥ १ ॥

त्वया तज्जगज्जालं किं परिच्छिन्नभावेन स्थित्वा पक्षिवदम्बरे भ्रमता दृष्टमुतापरिच्छिन्नचिद्बोमभावेनेति संदिहानो रामः पृच्छति—यदेतदिति ॥ १ ॥ तत्र द्वितीयकल्पमालम्ब्य वसिष्ठ उत्तरमाह—संपन्न इति । तस्यामांनन्त्यावस्थायां गमागमौ । क्रियामात्रोपलक्षणमेतत् ॥ २ ॥ मयदौ प्राचुर्ये । तत्तस्मादेतोः खे एवासिन्धिल्यापरोक्षे आत्मनि एतज्जगन्मया दृष्टम् ॥ ३ ॥ एकदेशस्थित्यादिकल्पनां विना स्वात्मतया नात्मदर्शनाप्रसिद्धिं दृष्टान्तोपन्यासैर्निराचष्टे—यथेत्यादिना । शरीरत्वे देहात्मतादर्शने । अज्ञानि हस्तपादादीनि । यथा देहैकदेशस्थितिर्देहान्तरभ्रमणादिकल्पनां विनापि अनेत्रेण अक्षिगोलकानपेक्षेणापि चित्रेत्रेण यथा पश्यामि तद्वदित्यर्थः ॥ ४ ॥

अनाकृतेर्निरवयवस्थितेस्तदा

तथाऽभवद्विमलचिदम्बरात्मनः ।

जगन्ति तान्यवयवजालकानि मे

यथा स्वतो न विगलिता न वस्तुता ॥ ५

प्रमाणमत्र ते स्वमदृष्टोऽभुवनविभ्रमः ।

स्वप्नेऽनुभूयते दृश्यं न च किञ्चित्स्वमेव तत् ॥ ६

यथा पश्यति वृक्षः स्वं पत्रपुष्पफलादिकम् ।

स्वसंवेदननेत्रेण तथैतद्बुद्धवानहम् ॥ ७

यथाऽम्बुधिरनन्तात्मा वेत्ति सर्धान् जलेचरान् ।

तरङ्गावर्तफेतांश्च तथैतद्बुद्धवानहम् ॥ ८

अवयवान्त्वानवयवी यथा वेत्ति निजात्मनि ।

अनन्यानात्मनः सर्गास्तथैतान्बुद्धवानहम् ॥ ९

अद्यापि तानहं देहे व्योम्नि शैले जले स्थले ।

तथैव सर्गान्पश्यामि राम बोधैकतां गतः ॥ १०

पुरोऽस्माकमिदं विश्वं गृहस्यान्तर्बहिस्तथा ।

पूर्वमेतज्जगद्द्वैतैश्चि बोधैकतां गतः ॥ ११

यथाऽम्बो रसतां वेत्ति शैल्यं वेत्ति यथा हिमम् ।

स्पन्दं वेत्ति यथा वायुस्तथैतद्वेत्ति शुद्धधीः ॥ १२

यो यो नाम विषिकात्मा शुद्धबोधैकतां गतः ।

सम एव मयैकात्मा वेत्ति स्वात्मानमीदृशम् ॥ १३

अस्या दृष्टेः परिणतेर्वैतृवेदनवेद्यधीः ।

न काञ्चिदस्यभ्युदिता विज्ञानात्मैकता यतः ॥ १४

असङ्गोदासीननिरवयवब्रह्मभूतस्य तदा जगदवयवता कथमभू-
त्तत्राह—अनाकृतेरिति । तदा तस्यां समाध्यवस्थायामनाकृते-
र्निरवयवस्थितेर्विमलचिदम्बरात्मनोऽपि मे तानि जगन्ति तथां
अवयवजालकान्यभवन् यथा स्वतो वस्तुता न विगलिता नापि
वस्तुता अभवत् मत्सत्तया सत्त्वाद्वस्तुता न विगलितेति मद-
वयवता, स्वतः सत्ताश्च्यवत्वात् न वस्तुता, तथा च वास्तवी
सावयवता नाभवद्विषयो इति भावः ॥ ५ ॥ उक्तेऽर्थे स्वप्न-
जगत्स्वप्नविषया प्रमाणयति—प्रमाणमिति ॥ ६ ॥ 'यत्र
त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिश्रुतिस्तु निर्वि-
कल्पसमाध्यादावेवं जगददर्शनमाह न सविकल्पसमाधावित्या-
शयेन नेत्रादिकरणानि विनापि तद्दर्शने दृष्टान्तान्तरमाह—
यथेति । वृक्षो वृक्षदेहात्मभूतो जीवः ॥ ७ ॥ अम्बुधिः
समुद्राभिमानो जीवः ॥ ८ ॥ किं बहुना सर्वप्राणिष्वपि
स्वावयवार्ता तथा वेदनं प्रतिबुद्धिमित्याशयेनाह—अवयवानिति
॥ ९ ॥ तदैव मे स्वात्मनि जगद्बुद्धयतां दर्शनमिति न किं
सदैव सत्प्रवणया दृष्ट्या तद्बुद्धं शक्यमित्याह—अद्यापीति ।
अथ अपिशब्दाद्वोऽपि ॥ १० ॥ ११ ॥ अम्भवादिपदानि
तत्तद्देवतापर्याणि ॥ १२ ॥ किं त्वमेक एव वेत्ति नेत्याह—यो यं
इति । सः सर्वोपि, मया सह एकात्मा, अहं च स्वात्मानमीदृशं

दिव्या दृग्द्रिसंस्थस्य तथा योजनकोटिगान् ।

भावान्वेत्ति बहिश्चान्तरेवं तद्बुद्धवानहम् ॥ १५

यथा भूमण्डलं भावाभिधिधातुरसादिकान् ।

वेत्त्येवं तन्मया बुद्धमनन्यदृश्यमात्मनः ॥ १६

श्रीराम उवाच ।

ब्रह्मभुवनवस्येवं त्वयि तामरसेक्षण ।

सा किं कृतवती ब्रूहि कान्ताऽर्यापाठपाठिनी ॥ १७

वसिष्ठ उवाच ।

तामेवार्थां पठन्ती सा तथैवानुनयान्विता ।

मत्समीपे नभोदेहा व्योम्नि देवीव संस्थिता ॥ १८

यथाहमाकाशवपुस्तथैवासौ स्वरूपिणी ।

तेन दृष्टा न सा पूर्वं देहेन ललना मया ॥ १९

अहमाकाशमात्रात्मा सा खमात्रशरीरिणी ।

जगज्जालं खमात्रं तदिति तत्र तदा स्थितम् ॥ २०

श्रीराम उवाच ।

शरीरस्थानकरणप्रयत्नप्राणसंभवैः ।

यदुवेति वचो वर्णैस्तत्कुतस्तादृशाकृतेः ॥ २१

रूपालोकमनस्कारः कुतो नामात्मनामिति ।

ब्रूहि मे भगवंस्तत्त्वं यथावृत्तश्च निश्चयम् ॥ २२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

रूपालोकमनस्काराः शब्दपाठवचांसि च ।

यथा स्वप्ने नभस्येव सन्ति तत्र तथाम्बरे ॥ २३

तदात्मभूतं वेदतीति मत्प्रत्यया एव सर्वविदुषां प्रत्यया इति
न ते पृथगन्वेष्ट्या इत्याशयः ॥ १३ ॥ परिणतेः परिपाक-
वशादेवित्रादित्रिपुटीबुद्धिर्न काचित्स्वात्मातिरिक्तास्ति यतो विज्ञा-
नेनैकात्म्येन तेषामभ्युदितेत्यर्थः ॥ १४ ॥ एकैः ज्ञानेन कथं
व्यवहितविप्रकृष्टसर्वदर्शनमिति चेत्तद्बुद्ध्यन्तेन संभावयति—
दिव्येति । अदिसंस्थस्य पर्वतारूढस्य पुंसस्तिमिररोगाद्यप्रतिहत-
त्वादौषधादिपरिष्कृतत्वाद्वा आजानसिद्धत्वाद्योगपरिष्कृतत्वाद्वा
दिव्या बहिराधिभौतिकानन्तराभ्यात्मिकांश्च भावान् वेत्ति
साक्षात्पश्यति । एवं तद्बुद्धिर्यः ॥ १५ ॥ भूमण्डलपदेन तद-
भिमानो जीवो गृह्यते ॥ १६ ॥ १७ ॥ अनुनयेन प्रशंसादिप्रीति-
जनकव्यापारेणान्विता ॥ १८ ॥ यदि समीपे संस्थिता तर्हि
विनैव समाधिं प्रागेव त्वया कुतो न दृष्टा तत्राह—यथेति
॥ १९ ॥ तत्र तस्मिंश्चिदाकाशे । तदा समाधिकाले ॥ २० ॥
यथाकाशरूपैव सा तर्हि जिह्वातात्त्वोष्ठप्राणवाय्वाग्नाभवाक्कथमार्थं
पठितवतीति रामः पृच्छति—शरीरेति । तादृशाकृतैराकाश-
शरीरयाः ॥ २१ ॥ एवंमाकाशमात्रस्य तत्र तद्रूपदर्शनपरा-
लोचनाद्यपि दुर्लभमित्याशयेनाह—रूपालोकेति । त्वं च तत्र
यथा वादृशं कृतं संभाषणादिभ्यवहारो यस्य स यथावृत्तोऽभू-
त्सन्निवर्त्य न ब्रूहीत्यर्थः ॥ २२ ॥ तत्र अग्रदृष्टान्तेनैव कथंनवा

रूपालोकमनस्कारैः स्वप्ने चिन्नम एव ते ।
 यथोदेति तथा तत्र तद्दृश्यं स्वात्मकं स्थितम् ॥ २४
 न केवलं तु तद्दृश्यं यावत्तु विषयं वयम् ।
 जगच्चेदं स्वमेवाच्छं यथा तन्नस्तथाखिलम् ॥ २५
 परमार्थमहाघातुर्वेद्यनिर्मुक्तचिद्वपुः ।
 एवं नाम स्वयं भाति स्वभावस्येव निश्चयः ॥ २६
 शरीरस्थानकरणसत्तायां का तव प्रमा ।
 यथैव तेषां देहादि तथास्माकमिदं स्थितम् ॥ २७
 यथैव तत्तथैवेदं तथैवेदं यथैव तत् ।
 अस्तत्सत्तामिव गतं सत्तासदिव च स्थितम् ॥ २८
 यथा स्वप्ने धराध्वादिपृष्ठव्यवहृतिर्नभः ।
 तदा ह्यहं च त्वं सा च तदिदं च तथा नभः ॥ २९
 यथा स्वप्ने नृमिर्युद्धकोलाहलगमागमाः ।
 असन्तोऽप्यनुभूयन्ते संसारनिकरास्तथा ॥ ३०
 पश्चि चेत्स्वप्नदृश्यश्रीः कस्मात्तदसमञ्जसम् ।
 अवाच्यमेतद्धेतुर्हि नान्योऽस्त्यनुभवस्थितेः ॥ ३१
 कथमालक्ष्यते स्वप्न इति प्रष्टुः प्रकथ्यते ।
 यथैवं पश्यसीत्येव हेतुरत्रास्ति नेतरः ॥ ३२
 स्वप्नजन्तुरिव व्योम्नि भाति प्रथमसर्गतः ।
 प्रभृत्येव विराडात्मा खे खमेव परस्परे ॥ ३३
 स्वप्नशब्देन बोधार्थं तव व्यवहराम्यहम् ।
 दृश्यं त्विदं न सत्तासन्न स्वप्नो ब्रह्म केवलम् ॥ ३४

सर्वमुपपन्नमित्युत्तरमाह—रूपेत्यादिना ॥ २३ ॥ २४ ॥
 अत्यल्पमिदमुच्यते तदा तद्दृश्यं स्वात्मकमिति । तत्त्वतो विचारे
 इदानीमिदं जगदपि स्वात्मकमेव । अत्रापि शरीरादिग्रान्त्यैव
 व्यवहारप्रमथेत्याह—न केवलमिति । वयमस्माकं विषयं
 गोचरं च यावत् तत्सर्वं जगच्चेत्यन्वयः ॥ २५ ॥ नामेति
 श्रुतिविद्वदनुभवादिप्रसिद्धिमिदमिति श्रोतनाय । स्वभावस्य
 जगद्वासनोपहितचित्स्वभावस्य ॥ २६ ॥ का प्रमा तत्सत्ताबुद्धेः
 ‘अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्’ इत्यादिश्रुतिबाधितत्वा-
 दिति भावः ॥ २७ ॥ सत् निर्विशेषात्मतत्त्वं चावृत्तत्वादस-
 दिनात्यन्ताप्रसिद्धमिव स्थितम् । चकारश्चिदानन्दस्वभावव्य-
 त्यासोऽप्येवमित्यनुक्तसमुच्चयार्थः ॥ २८ ॥ धरापृष्ठे कृष्यादि-
 व्यवहृतिः अध्वपृष्ठे गमनादिव्यवहृतिः सौधादिपृष्ठे शयनादि-
 व्यवहृतिश्च नमश्चिदाकाश एव ॥ २९ ॥ ३० ॥ स्वप्नैचिन्मयेऽपि
 हेतुन्तरसंभावनायास्तु नावकाशः । अनवस्थादिदोषमयेन तत्र
 सर्ववादिनां भूमीभावादविशोपहितचिदात्मन एव स्वभावोऽय-
 मिति भूतपक्षस्यैव परिशेषात्सिद्धिरित्याह—वक्षीति । तस्यैव
 वचनमसमञ्जसम् । स्वाप्नानुभवस्थितेरन्यो हेतुर्हि यस्मात्तास्ति
 ॥ ३१ ॥ प्रष्टुः सर्वैरेव यथैव पश्यसीति तदनुभव एवोत्तरं
 प्रकथ्यते नेतरोऽत्र हेतुस्तत्साधकोऽस्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ तथाहि
 बुधमिसदृशप्रलयानन्तरं प्रथमसर्गतः प्रभृत्येव स्वप्नजन्तुरिव

अथ राघव सा कान्ता मया कान्तानुषङ्गिणी ।
 संविदं तन्मयीं कृत्वा पृष्टेदं दृश्यरूपिणी ॥ ३५
 व्यवहारो यथोदेति स्वप्ने स्वप्नजनैः सह ।
 तथा तदा तथा सार्धं व्यवहारो ममोदितः ॥ ३६
 यथैव स्वप्नसंकाशो व्यवहारः स्वमेव सः ।
 तथैव त्वमिमं विद्धि मामात्मानं जगच्च खम् ॥ ३७
 यथा स्वप्नजगद्रूपं स्वमेवैवमिदं जगत् ।
 जाग्रदादौ स हि स्वप्नः सर्गादौ जगदुद्भवः ॥ ३८
 स्वप्नोऽयं जगदाभोगो न किञ्चिद्वा खमेव च ।
 निर्मलं ज्ञसितामात्रमित्थं सन्मात्रसंस्थितम् ॥ ३९
 स्वप्नस्य विद्यते द्रष्टा साकारो युष्मदादिकः ।
 द्रष्टा तु सर्गस्वप्नस्य चिद्व्योमैवामलं स्वतः ॥ ४०
 यथा द्रष्टामलं व्योम दृश्यं तद्वद्रतं तथा ।
 स्वप्नरूपजगत्पुत्रैर्जगत्वेनामलं नभः ॥ ४१
 चिद्व्योमोऽनाकृतेः स्वप्नो हृदि स्फुरति यः स्वतः ।
 सर्गस्तस्य कुतस्तेन साकृत्तित्वं कथं भवेत् ॥ ४२
 साकारस्यैव यत्स्वप्नजगच्च व्योम निर्मलम् ।
 निराकारस्य चिद्व्योमः सर्गः स्वप्नः कथं न खम् ॥ ४३
 निरुपादानसंभारमभिज्ञावेव चिन्नमः ।
 पश्यत्यकृतमेवेमं जगत्स्वप्नं कृतं यथा ॥ ४४
 मृद्या चिदाकाशमृदा ब्रह्मणा ब्राह्मणेन खे ।
 कृतोऽपि न कृतः सर्गमण्डपोऽक्षगवाक्षकः ॥ ४५

कल्पनात्मा विराडात्मा चिदाकाशे चिदाकाशमेव प्रथमत इत्याह—
 स्वप्नेति । परस्परे विषयविषयितया अन्योन्यसापेक्षरूपे ॥ ३३ ॥
 तर्हि किं दृष्टान्तभूतस्वप्नस्वभावमेव जगत्, नेत्याह—स्वप्नश-
 ब्देनेति ॥ ३४ ॥ एवमवान्तरप्रश्नं समाधाय पूर्वपृष्ठकथाशि-
 षमाह—अथेत्यादिना । कान्ते वक्ष्यमाणे अनुषङ्गिणी अनुरा-
 गवती । तन्मयीं तदभिप्रायजिज्ञासाप्रधानां संकल्पसंविदं कृत्वा
 ॥ ३५ ॥ अशरीरस्य ते तथा सह कथं प्रश्नादिव्यवहारोऽभू-
 तत्राह—व्यवहार इति ॥ ३६ ॥ त्वया सहैदानींतनव्यवहारो-
 ऽपि मम तादृश एवेत्याह—यथैवेति ॥ ३७ ॥ कथं तर्हि स्वप्न
 इति जगदिति च नाममेदस्तत्राह—जाग्रदादाविति ॥ ३८ ॥
 अयं जगद्वेष आत्मनः स्वप्न एव, अथवा न किञ्चित् ॥ ३९ ॥
 अथवा कश्चिद्विशेषोऽपि वक्तुं शक्य इत्याशयेनाह—स्वप्नस्येति ।
 युष्मदादिवासनाकारेण साकारः ॥ ४० ॥ गतं द्रष्टृदृशान्तरा-
 लिकं दर्शनमपि तथा व्योमैव ॥ ४१ ॥ यः स्वप्नः स्फुरति
 तस्य सर्गो जन्म कृतः । तेन च बन्ध्यापुत्रकल्पेन जगता सा-
 कृत्तित्वं कथं भवेत् ॥ ४२ ॥ यत्र साकारस्य युष्मदादेः प्रसिद्धं
 स्वप्नजगदसत् तत्र निराकारस्य ब्रह्मणः स्वप्नभूतः सर्गस्तथेति
 किं वाच्यमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ब्रह्मणा हिरण्यगर्भाख्येन ब्राह्म-
 णेन अक्षा इन्द्रियच्छिन्नाप्येव गवाक्षा यस्मिंस्तथाविधो देहादि-

नो कर्तृता न च जगन्ति न भोक्तृतास्ति
नास्तीति नास्ति न च किञ्चिदतो बुधः सन् ।

पाषाणमौनमवलम्ब्य यथाप्रवाह-

माचारमाचर शरीरसिद्धास्तु मा वा ॥ ४६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्त० पाषा० विदेक्यं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः ६३

श्रीराम उवाच ।

तत्र स्त्रियाऽस्वरूपेण देहेनाभूत्तया कथम् ।

कथमुच्चारितास्तत्र वर्णाः कचटतादयः ॥ १

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

वर्णेषु स्वशरीराणां वर्णाः कचटतादयः ।

कदाचनापि नोद्यन्ति शवानामिव केन च ॥ २

वर्णोच्चारोऽभविष्यच्चेत्प्रकटार्थस्ततः क्वचित् ।

स्वप्नेष्वन्यभविष्यत्तं विनिद्रः पार्श्वगो जनः ॥ ३

तस्मान्न किञ्चित्स्वप्नेषु तत्सत्यं भ्रान्तिरेव सा ।

चिन्मात्राकाशकचनं तत्तथा स्वे स्वभावजम् ॥ ४

तदेन्दुकाण्यखतनुशिलागेयादितां गताः ।

इवाभान्ति चिदाकाशास्तथा देहरवादयः ॥ ५

तच्चिदाकाशकचनं यन्नाम स्वप्नवेदने ।

आकाशमेव नभसः कचनं विद्धि नेतरत् ॥ ६

यथा स्वप्नस्तथैवेदं जाग्रदग्रे व्यवस्थितम् ।

आकाशमप्यनाकाशं यथैवेदं तथैव तत् ॥ ७

यथा कचति तच्चारु चेतनं चतुरं तथा ।

यथा स्थितं तदेवेदं सत्यं स्थिरमिव स्फुरत् ॥ ८

श्रीराम उवाच ।

भगवन्स्वप्न एवेदं कथं जाग्रदवस्थितम् ।

असत्यमेव सत्यत्वमिव यातं कथं भवेत् ॥ ९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

शृणु स्वप्नमयान्येव कथं सन्ति जगन्त्यलम् ।

नात्यानि न च सत्यानि न स्थिराणि स्थितानि च ॥ १०

अनुभूतानि बीजानि बीजराशाविचाम्बरे ।

अन्यान्यान्यानि तान्येव समानि न समानि च ॥ ११

प्रत्येकमन्तरन्यानि तथैवाभ्युदितानि च ।

परस्परमदृष्टानि बहूनि विविधानि च ॥ १२

सर्गमण्डपः कृतोऽपि न कृत एव ॥ ४५ ॥ अतः सर्वदृश्यमा-

र्जनात्परिषिद्धो बुधस्तत्साक्ष्येव सन् परमार्थः । अतो हे राम,

त्वमन्तः पाषाणमौनमवलम्ब्य बहिर्यथाप्रवाहमाचारमाचर ।

तत्र ते शरीरं यावत्प्रारब्धशेषमस्तु तदुत्तरं मास्तु वा न कश्चि-

द्विशेष इत्यर्थः ॥ ४६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे

निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विदेक्यं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

अज्ञपक्षेऽन्तरन्ताः सन्त्यनन्ताः सर्गसंपदः ।

ब्रह्मैव ब्रह्मविष्यक्षे चिदेकघनमीर्यते ॥ १ ॥

स्वप्नव्यवहारदृष्टान्तेन प्राक्समर्थितमप्यशरीरस्य संवादादि-

व्यवहार मन्दप्रज्ञाना स्फुटबोधाय पुनः रामः पृच्छति—तदेति ।

हे शुने, तव तथा पूर्वोक्तया स्त्रिया सह, अस्वरूपेण मुखजिह्वाद्यव-

यवशून्येन वासनामात्रात्मना देहेन कथं व्यवहारोऽभूत् । तत्र

तस्यां दशायां कचटतपादयो वर्णास्त्वया विना जिह्वा कथमु-

च्चारिताः ॥ १ ॥ वर्णोच्चारणादिव्यवहारे शरीरस्य न कारणता

सत्यपि शवशरीरे तददर्शनादिनापि शरीरं स्वप्ने तदर्शनादन्व-

यव्यतिरेकमभिचारात् सहेतुकत्वे व्यवहारस्य सत्यतापत्तेश्च

किंजु कल्पनामात्रम् । तच्च तदापि सुलभमित्याशयेन वसिष्ठ

उत्तरमाह—वर्णोच्चारणादिना । खमेव शरीरं येषां तत्त्वविदां

तेषां मते वर्णेषु मध्ये ये कचटतपादयस्ते कदाचनापि

नोद्यन्ति । कल्पनामात्ररूपत्वादित्यर्थः ॥ २ ॥ उक्तेऽर्थेऽनुकूलं

विपक्षे प्रतिकूलं च तर्कमाह—वर्णोच्चार इति । प्रकटत्वासा-

नयश्च प्रकटार्थः, परमार्थ इत्यर्थः । यदि स्वाप्नवर्णोच्चारः पर-

मार्थः स्यात्तदा पार्थक्यश्रवणादुभयगोचरः स्यादिति तर्कः ॥ ३ ॥

स्वभावजं तिस्रस्वभावबलकल्पितम् ॥ ४ ॥ यदैवं तदा किं

तत्राह—तदेति । तदा तैमिरिकाध्यस्तमिन्दुकाण्यमाकाश-

मूर्तताशिलाकर्तृकं गीतमित्यादिप्रातिभासिकार्थतां गतास्तद-

वच्छिन्नचिदाकाशा इव स्वाप्नदेहशब्दादयोऽपि तत्तदुद्भूतसंस्का-

रोपहितचिदाकाशा एव तथा भ्रान्तीति सिद्धमित्यर्थः ॥ ५ ॥

ते चिदाकाशा एव तथा भ्रान्तु किं तत्तत्राह—तदिति ।

यथा नभसो मूर्तात्मना कचनं नभसो नेतरत् तथा तच्चिदा-

काशकचनादि यत्स्वप्नवेदने जगदाकारं प्रसिद्धं तच्चिदाकाश-

मेव विद्धि ॥ ६ ॥ एवं स्वप्नार्थानां चिदाकाशमात्रतां प्रसाध्य

तत्साम्येनैव पुरः स्थितानां समाधिदृष्टानां चार्थानां चिदाकाश-

मात्रवेत्याह—यथेति । तत् समाधिदृष्टम् ॥ ७ ॥ तथा ज्ञायं

सर्वोऽपि चित एव कचनचमत्कारो नाशुमात्रमप्यचिरूपं किञ्चि-

दस्तीत्याह—तथेति । इदं जगत्सत्यमिव स्थिरमिव च स्फुर-

न्नवति तथा चतुरं तच्चेतनं ब्रह्म स्थितमित्यन्वयः ॥ ८ ॥ प्रमाण-

गम्यस्य जाग्रत्प्रपञ्चस्य तदगम्यस्वप्नसाम्यमयुक्तमिति रामः

ब्रह्मते—भगवन्निति । असत्यमेव सत्यत्वं चक्षुरादिप्रमाण-

वेद्यतां कथं यातं कथं संभवेत् ॥ ९ ॥ अस्त्वापाततश्चक्षुरादि-

मानगम्यता, तथापि तत्त्वतो विमर्शासहत्वेनास्थिरत्वेन च स्वप्न-

साम्यमस्त्येवेत्याशयेनोत्तरमाह—शृणुष्वित्यादिना । स्वप्नवेदा-

त्मनो नान्यानि नाप्यात्मवत्सत्त्वानि स्थिराणि चेत्यनिर्वच-

नीयान्येवेत्यात्मसत्तयैव स्थितानि चेत्यर्थः ॥ १० ॥ एवं परस्परं

बीजभावाद्विरुद्धमेदामेदसमासमरूपत्वाच्च स्वप्नसाम्यमित्याह—

अनुभूतानीति ॥ ११ ॥ कदलीत्वकसंनिवेशमत्परस्परमन्तर-

अन्योन्यं तानि सर्वाणि न पश्यन्त्येव किंचन ।
जडानीवैकराशीनि धीजानीव गलन्त्यपि ॥ १३
व्योमात्मत्वान्न गगनं न विदन्ति परस्परम् ।
अपि चेतनरूपाणि सुप्तानीव निरन्तरम् ॥ १४
सुप्ताः स्वप्नजगज्जालमहनि व्यवहारिणः ।
असुरा निहता देवैस्ते स्वप्नजगति स्थिताः ॥ १५
अज्ञानान्न गता मुक्तिं न जाड्याज्जडतामिताः ।
न देहवन्तः किं सन्तु विना स्वप्नजगत्स्थितेः ॥ १६
सुप्ताः स्वप्नजगज्जाले स्वाचारव्यवहारिणः ।
पुरुषा निहताः पुंभिस्ते तथैव व्यवस्थिताः ॥ १७
निर्मोक्षा निःशरीरास्ते चेतनावासनान्विताः ।
दृष्टं स्वप्नजगज्जालं विना च क्व वसन्तु ते ॥ १८
सुप्ताः स्वप्नजगज्जालव्यवस्थाचारचारिणः ।
ये हता राक्षसा देवैस्ते यथैव व्यवस्थिताः ॥ १९
एवं ये निहता राम किं ते कुर्वन्ति कथ्यताम् ।
अज्ञत्वान्न गता मुक्तिं चेतनान्न दृष्टस्थिताः ॥ २०
साध्यव्युर्वीजनं दृश्यमिदं सर्वं यथास्थितम् ।
चिरायानुभवन्त्येते यथेमे वयमावृताः ॥ २१
तेषां कल्पजगत्संस्था यथास्माकं तथैव ताः ।

न्तरानन्त्येनावस्थानानुभवादपि मिथ्यात्वात्स्वप्नसाम्यमेवेत्याह—
प्रत्येकमिति । स्वप्नवत्परस्परमदृष्टत्वादपि तथेत्याह—परस्पर-
मिति ॥ १२ ॥ तदेवोपपादयति—अन्योन्यमिति । कुसूल-
स्थवीजानीवान्तरेव गलन्त्यपि ॥ १३ ॥ गलिताभ्यपि तानि
चेतनरूपाण्येवेति न प्रतप्तखर्परनिपतितजलबिन्दुवद्योमात्मतां
प्राप्य भून्त्यमेव संपद्यन्ते नापि अस्मदादिवत्परस्परं विदन्ति
पश्यन्ति किंतु अज्ञानावृतचेतनरूपत्वाच्चिरन्तरं सुप्तानीव
स्वप्नमेवानुभवन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥ तत्र सुप्ता जीवाः स्वप्नजगज्जालं
प्राप्य तत्रैव कल्पिते अहनि सर्वव्यवहारिणो भवन्तीति प्रति-
जानीते—सुप्ता इति । प्रतिज्ञातमर्थमसुरमनुष्यराक्षसादीनां
स्वप्नहतानां गत्यन्तराभावात्परिशेषानुमानेन साधयिष्यन्प्रथम-
मसुरेषु दर्शयति—असुरा इति सार्धेन ॥ १५ ॥ असुरा दैत्याः
सौप्तिकेन देवैर्निहताः सन्तः स्वप्नजगत्येव स्थिताः । यतो
ज्ञानाभावान्मुक्तिं न गताः । नापि जडतां पाषाणादिभावमिताः ।
नापि देहवन्तः संपन्नाः । ईदृशास्ते स्वप्नजगत्स्थितेर्विना किं
सन्तिवत्यर्थः ॥ १६ ॥ एवं पुरुषा मनुष्या अपि स्वप्नरूपे
जगज्जाले वासनाभिर्व्यवहारिणः । ते च तत्रैवान्यैः पुंभिर्निहताः
सन्तस्तथैव प्राशुकासुरजीववत्स्वप्नपरम्परायामेव व्यवस्थिताः
॥ १७ ॥ यतस्तेऽपि ज्ञानाभावाज्निर्मोक्षा निःशरीराश्चेति न
जागरसमा वासनाभिश्च व्यवहरणशीलाः । ईदृशास्तु ते स्वप्न-
जगज्जालं विना क्व वसन्तु । तेषां स्वप्नं विना नान्या गतिर-
स्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥ अयमसुरेषु मनुष्येषु च दर्शितो न्यायो
राक्षसादिष्वपि योज्यः इत्याशयेनाह—सुप्ता इति द्वाभ्याम्

अस्माकं जगतीसंस्था यथा तेषां तथैव च ॥ २२
एतेषां स्वप्नपुरुषास्त एवेमे वयं स्थिताः ।
ये च ते नाम संसारास्तेभ्य एकमिमं विदुः ॥ २३
ते स्वप्नपुरुषास्तेषां सत्या एवानुभूतिताः ।
आत्मनोऽपि परस्यापि सर्वगत्वाच्चिदात्मनः ॥ २४
यथा ते स्वप्नपुरुषाः सत्यमात्मन्यथाऽपरे ।
तथापि स्वप्नपुरुषाः सत्यमेव तथैव ते ॥ २५
स्वप्नपुरपौरा ये त्वया दृष्टास्तथैव ते ।
स्थितास्तत्र तथाद्यापि ब्रह्म सर्वात्मकं यतः ॥ २६
प्रबोधेऽपि हि भिद्यन्ते स्वप्नभावा यथा स्थिताः ।
तथा स्थित्यानुभूयन्ते परब्रह्मतयाथवा ॥ २७
सर्वं सर्वात्म सर्वत्र सर्वदास्ति तथा परे ।
यथा न किञ्चिन्नाकाशं न क्वचिन्न च हन्यते ॥ २८
निरन्तरे पराकाशे निरन्ते च विनोदये ।
निरन्ते चित्तसंघाते निरन्ते जगतां गणे ॥ २९
प्रत्याकाशकलाकोशं प्रतिसंसारमण्डलम् ।
प्रतिलोकान्तराकारं प्रतिद्वीपं गिरिं प्रति ॥ ३०
प्रतिमण्डलविस्तारं प्रतिग्रामं पुरं प्रति ।
प्रतिजन्तु प्रतिगृहं प्रतिवर्षं युगं प्रति ॥ ३१

॥ १९ ॥ २० ॥ तेषां स्वप्नप्रभिरानुभूत्या अस्मदनुभवसां-
भ्याज्जाग्रदवस्थैव भवतीत्याह—साद्रीति । आदृताः सत्यत्वा-
भिमानीनः ॥ २१ ॥ २२ ॥ तथा चास्माभिरनुभूयमानं जग-
त्तदन्तर्गता वयं च यदि तैर्दृष्टास्तर्हि अस्मज्जाग्रतेषां स्वप्नो वयं
च तेषां स्वप्नपुरुषाः संपन्नामहे इत्याह—एतेषामिति ॥ २३ ॥
आत्मनोऽपि परस्य पुरुषान्तरस्याप्यनुभूतिताः अनुभवाद्यत-
स्तुल्या अतः सत्या एव, तत्सत्तानिमित्तस्याधिष्ठानचिदात्मनः
सर्वगतत्वेन तुल्यत्वादित्यर्थः ॥ २४ ॥ अपिशब्दो भिन्नक्रमः ।
यथा ते स्वप्नपुरुषाः सत्यास्तथा अपरेऽपि मया प्रतिस्वप्नमनु-
भूयमानाः पुरुषाः सत्यमेव तथैव ते त्वयापि स्वप्नपुरुषा बोध्याः
॥ २५ ॥ २६ ॥ यथा ते ते स्वप्नभावाः प्रबोधे जागरणे यथा
भिद्यन्ते विशीर्यन्त इत्यनुभूयते तथा स्वप्नकाळे स्थित्या स्थिता
इत्येवानुभूयन्ते । तथा च तद्वाच इव तत्सत्ताप्यनुभवबलं लब्ध्वा
नापहोतुं शक्येत्यर्थः । अथवा ब्रह्मसत्ताया एव सर्वसत्तात्म-
कत्वात्कस्यापि सत्ता कदापि नापहोतुं शक्येत्याशयेनाह—
परब्रह्मतयेति ॥ २७ ॥ तथा च प्राक् प्रतिज्ञातं फलितमि-
त्याह—सर्वमिति । यथा सर्वं जगदाकाशकार्यत्वादाकाशमेवेति
तद्रूपेण न क्वचित्किञ्चिदपि हन्यते तथा प्रथमं विनोदये उत्प-
त्तिज्ञाने मध्ये निरन्तरे अग्रे च निरन्ते परमाकाशे ब्रह्मणि
तत्र निरन्ते असंख्ये चित्तसंघाते तेषु चासंख्ये जगतां गणे
तत्रापि प्रत्याकाशं तत्रापि प्रतिसंसारमण्डलं तत्रापि प्रतिभूरा-
दिलोकं तत्रापि प्रतिद्वीपं तत्रापि प्रतिगिरिं तत्रापि प्रतिमण्डल-
विस्तारं तत्रापि प्रतिग्रामं प्रतिपुरं तत्रापि प्रतिगृहं तत्रापि

यावन्तो ये मृताः केचिज्जीवा मोक्षविवर्जिताः ।
स्थितास्ते तत्र तावन्तः संसाराः पृथगक्षयाः ॥ ३२
तेषामन्तर्जनाः सन्ति जनं प्रति पुनर्मेनः ।
पुनर्मेनः प्रति जगज्जगत्प्रति पुनर्जनः ॥ ३३
इत्थमाद्यन्तरहित एष दृश्यमयो भ्रमः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पा० जगत्तत्त्वैक्यप्रतिपादनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः ६४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

तवस्तत्कुवलोलासिमालतीमाल्यलोचना ।
ललना ललितालोक्य लीलयाऽऽलपिता मया ॥ १
का त्वं कमलगर्भाभे किमर्थं मामुपागता ।
कस्यासि किं प्रार्थयसे क गतासि किमास्पदा ॥ २
विद्याधर्युवाच ।

मुने शृणु यथावत्त्वमात्मोदन्तं वदाम्यहम् ।
प्रष्टुमर्हसि विस्मन्धमातां करुणयार्थिनीम् ॥ ३
परमाकाशकोशस्य कस्मिंश्चित्कोणकोटरे ।
गुप्ताकं संस्थितं किंचिदिदं तावज्जगद्गृहम् ॥ ४
पातालभूतलस्वर्गा इहापवरकास्त्रयः ।
कल्पनैका कुमार्यत्र कृता धातृत्वमायया ॥ ५

प्रतिजन्तु प्रतियुगादिकालं च यावन्तो ये जीवा मृता मोक्षवि-
वर्जिताः स्थितास्तावन्तः संसाराः पृथक्पृथगक्षया एव स्थिता
इति पञ्चानमेकान्वयः ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
तावत्संख्ययापि जगत्संख्याया न विश्रान्तिरित्यनवस्थैव
मायाया भूषणमित्याशयेनाह—तेषामित्यादिना ॥ ३३ ॥ ३४ ॥
हे राम, कुड्ये नमस्युपलके सलिले स्थले चान्तर्हि
यतश्चिन्मात्रमस्ति तदेवाशेषविश्वं न जगन्नाम वस्त्वन्तरम् ।
तत्तथा सति चितः सर्वगत्वाच्च तत्र सर्वत्र जगदस्यैव । अत्र
जगति संख्या कुतः । तच्च विश्वं तज्ज्ञेषु परं निर्विशेषं निरति-
शयानन्दैकरसं ब्रह्मैव । तुल्यव्याप्येऽयमन्वयः । अज्ञानां मनः-
सु तदेव दृश्यप्रपञ्चमेतत्तत्त्वमर्थरूपमेवेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः
‘तज्ज्ञेयं मयं विदुषोऽमन्वानस्य’ इति ॥ ३५ ॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगत्त-
त्त्वैक्यप्रतिपादनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

पृष्टयेह वसिष्ठे च विद्याधर्या हि विस्तरात् ।

स्वर्गेहजन्मकर्मसाधा विवेदान्ता विरूपिताः ॥ १ ॥

श्रासङ्गिकं ग्रन्थं समाधाय श्रीवासिष्ठः प्रस्तुतकथाशेषमाह—
तत् इत्यादिना । कुवलयान्युत्पलानीवोलासिनी कटाक्षमाला-
भिर्मालतीमाल्यानीव प्रसरती लोचने यस्याः सा ललना मया
आलोक्य लीलया कौतुकेन आलपिता संभाषिता । पृष्टेति
श्रुत्वा ॥ १ ॥ कस्यासि इतिता भार्या चेति शेषः । किमास्पद-
१-ततः कुवलयोलासि इति पाठः द्रवचः, कुवलयप्रभायं

ब्रह्मैव ब्रह्मवित्पक्षे नात्रेयत्तास्ति काचन ॥ ३४
कुड्ये नमस्युपलके सलिले स्थलेऽन्त-
श्चिन्मात्रमस्ति हि यतस्तदशेषविश्वम् ।
तद्यत्र तत्र जगदस्ति कुतोऽत्र संख्या
तज्ज्ञेषु तत्परमथाज्ञमनःसु दृश्यम् ॥ ३५

तत्र द्वीपैः समुद्रैश्च वलितं वलयैरिव ।
पाटलोत्थं जगद्दृश्याः प्रकोष्ठमिव भूतलम् ॥ ६
अन्ते द्वीपसमुद्राणां सर्वदिक्कमवस्थिता ।
योजनानां सहस्राणि दश हेममयी मही ॥ ७
स्वयंप्रकाशसंकल्पफलदाम्बरनिर्मला ।
चिन्तामणिमयी स्वच्छा स्वच्छायाजितविष्टया ॥ ८
साप्सररोमरसिद्धानां लीलाविहरणावनिः ।
संकल्पमात्रसंपन्नसर्वसंभोगसुन्दरी ॥ ९
अन्ते तस्या भुवः शैलो लोकालोकोऽस्ति विश्रुतः ।
भूपीठस्य प्रकोष्ठस्य वलयावलनां दधत् ॥ १०
कचिन्नित्यं तमोन्मत्तो मूढबुद्धेरिवाशयः ।
कचिन्नित्यं प्रकाशात्मा मनः सत्त्ववतामिव ॥ ११

मावासस्थलं यस्याः ॥ २ ॥ आत्मनः स्वस्या लदन्तं वृत्तान्तम् ।
एकान्ते विस्मन्धं परदारसंभाषणमधुक्तमिति शङ्कां वारयति—
प्रष्टुमिति । आतां आर्तिप्रशमनोपायार्थिनी मां करुणया
विस्मन्धं प्रष्टुमर्हसीत्यन्वयः । तथा च सतामातां धासनमुचितमे-
वेति भावः ॥ ३ ॥ तत्र प्रथमं स्वास्पदं वक्तुमुपक्रमते—पर-
माकाशकोशादिना । कस्मिंश्चिदिति । ‘पादोऽस्य सर्वा भूतानि’
इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ४ ॥ इहासिन्युष्माज्जगद्गृहे अपव-
रका अन्तर्यहप्रकोष्ठाः । अत्र एवपवरकेषु धातृत्वं हिरण्यग-
र्भतां तदाकारया मायया सर्ववैचित्र्यकल्पनाख्या एकैव कुमारी
गृहस्वामिनी श्रीढार्य कृतेत्यर्थः ॥ ५ ॥ यतो द्वीपैः समुद्रैश्च
वल्यैरिव वलितमत एव तद्वर्णैः पाटले सदुत्थमुत्तं जगद्दृश्याः
प्रकोष्ठं करमूलमिव स्थितमित्यर्थः ॥ ६ ॥ सत्तानां द्वीपानां
समुद्राणां चान्ते सर्वदिक्कं परित इति यावत् । योजनानां दश
सहस्राणि परिणाहते दैर्घ्येण ॥ ७ ॥ तां सही वर्णयति—स्वयं-
मित्यादिना । स्वयमेव राजावपि प्रकाशते इति स्वयंप्रकाश ।
संकल्पानां सर्वकामाना फलदा । अम्बरमिव निर्मला ।
चिन्तामणिप्रचुरा । स्वच्छा नीरजस्का । स्वकान्त्या जिता विष्टयाः
स्वर्गदिलोका यथा ॥ ८ ॥ साप्सरसाममराणां सिद्धानां च
लीलाविहरणोचिता अवनिः । सेति पृथक्पदं वा ॥ ९ ॥ अन्ते
बहिः प्रान्ते भूपीठलक्षणस्य जगद्दृश्याप्रकोष्ठस्य वलयवदवलना
परितः स्थितिम् ॥ १० ॥ तं शैलं वर्णयति—कचिन्नित्यं
कुवलयवद्वोऽन्यस्तीति यथावस्थितोऽपि सगुणत पदं

कचिदाह्लादजनकः साधूनामिव संगमः ।
 कचिदुद्वेगजनको मूर्खैरिव समागमः ॥ १२
 कचित्प्रकटसर्वार्थो मनो मतिमतामिव ।
 कचिदत्यन्तगहनो मूर्खभ्रोत्रियचित्तवत् ॥ १३
 कचिदप्राप्तसोमांशुः कचिदप्राप्तसूर्यभाः ।
 कचिल्लोकमयस्तेन कचिदाशून्यदिक्ततटः ॥ १४
 कचिदेवपुरव्याप्तः कचिदैत्यपुरान्वितः ।
 कचित्पातालगहनः कचिच्छृङ्गोर्ध्वकन्धरः ॥ १५
 कचिच्छृङ्गभ्रमदृढः कचित्सानुमनोहरः ।
 कचिच्छृङ्गशिखाक्रान्तवैरिश्चनगरान्तरः ॥ १६
 कचिच्छून्यमहारण्यवहत्कल्पान्तमासुतः ।
 कचित्पुष्पवनोद्यानगायद्विद्याधरीगणः ॥ १७
 कचित्पातालगम्भीरगुहाकुम्भाण्डभीषणः ।
 कचिन्नन्दनसोदर्यमुन्याश्रममनोरमः ॥ १८
 कचिदक्षयमत्ताश्रमः कचिदुल्लभवारिदः ।
 कचिद्रभंगुहाश्वभ्रमगहनोपान्तमण्डलः ॥ १९
 कचित्क्षुब्धजनाक्षेपसमुत्सादितभूतभूः ।
 कचिद्वास्तव्यजनतासौजन्यजितविष्टपः ॥ २०
 कचिन्नित्यं वहद्वाताजातस्थावरजङ्गमः ।
 कचित्सर्वक्षयोन्मुक्तस्थिरस्थावरजङ्गमः ॥ २१
 कचिन्महामरुमरुन्मुक्तभांकारभीषणः ।
 कचित्कण्टकमलिनीमत्तसारसभूषणः ॥ २२
 कचित्सलिलकल्लोलजलदोल्लासघर्षरः ।
 कचिन्मत्ताप्सरोदोल्लाविलासजनितसरः ॥ २३
 कचित्पिशाचकुम्भाण्डवेष्टिताचेष्टदिक्ततटः ।
 कचिद्विद्याधरीसिद्धनृत्यगीतसरित्तटः ॥ २४

कचिदुद्वर्षदम्भोदसरिद्वाहुलुठत्तटः ।
 कचित्सततगानीतनीतनानाभ्रसत्पटः ॥ २५
 कचित्कमलिनीकोशवक्रस्थाध्यानमण्डलः ।
 कचित्स्वर्गाङ्गनासिद्धसुन्दरीदन्तमण्डनः ॥ २६
 कचित्तपदिनकरजनताचारसुन्दरः ।
 कचिन्नैशतमोगेहन्त्यन्मत्तनिशाचरः ॥ २७
 कचिदुत्पतदुत्पाततया नश्यज्जनावनिः ।
 कचित्सौराज्यसंपत्त्या प्रोद्भवत्पुरमण्डलः ॥ २८
 कचिदत्यन्तनिःशून्यः कचिज्जनपदावृतः ।
 कचिच्छृङ्गान्तगम्भीरः कचित्पातालभीषणः ॥ २९
 कचिद्बृहत्कल्पतरुः कचिन्निर्जलजङ्गमः ।
 कचिन्महाकरिकुलः कचिन्मत्तहरिव्रजः ॥ ३०
 कचिन्निर्भूतमुद्यातः कचिदुन्मत्तराक्षसः ।
 कचित्करज्जगहनः कचित्तालमहावनः ॥ ३१
 कचिद्योमोपमसराः कचिद्दीर्घमरुस्थलः ।
 कचिन्नित्यभ्रमत्पांसुः कचित्सर्वतुंकाननः ॥ ३२
 शिखरेषु शिलास्तस्य सामान्याचलसंनिभाः ।
 सन्ति सुस्थितकल्पाभ्रा रत्नमय्योऽम्बरामलाः ॥ ३३
 क्षीरोदकार्कगौरीणां वनस्कन्धौकसामिव ।
 विधाम्यन्त्यनिशं यासु हरयो हरियोनयः ॥ ३४
 तासामुत्तरदिग्भागे पूर्वशृङ्गशिलोदरे ।
 निवसाम्यहमक्षीणवज्रसारसमत्वचि ॥ ३५
 विधिना तत्र बद्धास्मि वसाम्युपलयत्रके ।
 अत्रासंख्या मुने याता मन्ये युगगणा मम ॥ ३६
 न केवलमहं बद्धा यावद्भर्तापि तत्र मे ।
 बद्धः सायंतने पद्मकुण्डले षट्पदो यथा ॥ ३७

दिना ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ लोकमयो जनप्रचुरः । कचित्तु
 बहिर्भागे तेन लोकेनाशून्यानि दिक्तटानि यस्य ॥ १४ ॥
 पातालमिव गहनो दुष्प्रवेशः ॥ १५ ॥ शृङ्गशिखाक्रान्तवैरिश्च-
 नगरान्तर इत्यौजस्यातिशयोक्तिः ॥ १६ ॥ १७ ॥ पातालग-
 म्भीराशु गुहासु कुम्भाण्डैः पिशाचमेदैर्भीषणः ॥ १८ ॥ अश्र-
 याणि सदा स्थितानि मत्तानीव गर्जनपराण्यभ्राणि यस्मिन्
 ॥ १९ ॥ जनपदक्षोभेण क्षुब्धानां संचलितानां जनानामाक्षेपैः
 खड्गकुठारादिप्रहारैः समुत्सादिता भूतभुवो रक्षःपिशाचादिनि-
 वासा यस्मिन् । वास्तव्यजनसमूहानां सौजन्येन जितत्रिविष्टपः
 ॥ २० ॥ नित्यममीक्षणं वहद्भिर्वातैरेव आज्ञाता उद्धृता अज्ञाता वा
 स्थावरजङ्गमा यत्र । विषशस्त्राग्निरोगादिनिमित्तमेदजैः सर्वैः
 क्षयैरुन्मुक्ता अत एव चिरं स्थिराः स्थावरजङ्गमा यत्र ॥ २१ ॥
 ॥ २२ ॥ २३ ॥ पिशाचैः कुम्भाण्डैश्च वेष्टितानि अत एव
 आचेष्टानीव दिक्तटानि यस्य ॥ २४ ॥ उद्वर्षतामम्भोदानां
 सरिलक्षणैर्बाहुभिर्लुठत्तटो विशीर्यमाणवज्रः ॥ २५ ॥ कमलिन्याः
 कोशलक्षणवक्रस्थैर्भ्रमरनेत्रैरारब्धध्यानं अर्थात्सरोजिनीमण्डलं
 यत्र । स्वर्गाङ्गनानामप्सरसां सिद्धसुन्दरीणां च दन्तास्ताम्बूलै-
 यो० वा० १५२

मण्डयतीति तथोक्तः । नागवल्लीवनभूषित इति यावत् ॥ २६ ॥
 ॥ २७ ॥ २८ ॥ निःशून्यः शून्य एव । जलपूर्णैः श्वभ्रान्तैर्ग-
 म्भीरः शृङ्गैस्तु पातालभीषणः ॥ २९ ॥ मत्ता हरिव्रजाः सिंह-
 वानरादिसमूहा यस्मिन् ॥ ३० ॥ निर्भूतं प्राणिनिकायशून्यं
 यथा स्यात्तथा उवाच । वृथोन्नत इति यावत् ॥ ३१ ॥ नैर्मल्य-
 विस्तारादिभिर्व्योमोपमानि सरांसि यस्मिन् । सर्वे ऋतवो यत्र
 तथाविधानि काननानि यस्मिन् ॥ ३२ ॥ तस्य वर्णितरूपस्य
 लोकालोकशैलस्य शिखरेषु सामान्याचलाः सह्यमलयादयस्त-
 त्संनिभा रत्नमय्यः शिलाः सन्ति ॥ ३३ ॥ क्षीरमिवोदक-
 मिवार्क इव च गौरीणामवदातानां यासां शिलानां पृष्ठेषु वने
 स्कन्धौकसां महातरूणां स्कन्धेष्विव अन्येषां हरीणां योनयः
 कारणभूताः सपुत्रपौत्रा इति यावत् । हरयः सिंहवानरादयो
 विश्राम्यन्ति ॥ ३४ ॥ तासां शिलानां मध्ये तस्य गिरेरुत्तर-
 दिग्भागे पूर्वदिक्स्थस्य शृङ्गस्य या शिला तदुदरे अहं निव-
 सामीति किमास्पदा इति प्रश्नस्योत्तरम् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ कस्यासी-
 त्यादिप्रश्नानामुत्तरं वक्तुमारभते—न केवलमित्यादिना ॥ ३७ ॥

तेन सार्धं मया भर्त्रा शिलाकोटरसंकटे ।
 अनुभूताश्चिरं कालमत्र वर्षगणा गताः ॥ ३८
 अद्याप्यात्मैकदोषेण न हि मोक्षं लभावहे ।
 चिरं तत्रैव तिष्ठावस्तथैवाबद्धभावनौ ॥ ३९
 पाषाणसंकटे तस्मिन्बद्धावावां न केवलम् ।
 बद्धो यावदशेषेण परिवारोऽपि तत्र नौ ॥ ४०
 पुराणपुरुषो बद्धो द्विजस्तत्रास्ति मे पतिः ।
 एकस्थानात्तत्र चलति जीवन्मुगशतान्यसौ ॥ ४१
 आवाप्याद्ब्रह्मचारी च श्रोत्रियः पाठकोऽलसः ।
 एकान्त एक पवास्तेऽजिह्ववृत्तिरचापलः ॥ ४२
 अहं व्यसनिनी भार्या तस्य वेदविदां वर ।
 न निमेषं समर्यास्ति तं विना देहधारणे ॥ ४३
 शृणु तेन कथं ब्रह्मभार्याहं समुपार्जिता ।
 कथं वृद्धिमयं यातः स्नेहोऽस्माकमकृत्रिमः ॥ ४४
 तेन जातेन मद्भर्त्रा बालेनैव सता पुरा ।
 किञ्चिज्ज्ञेन सतैकेन तिष्ठतात्मा लयेऽमले ॥ ४५
 श्रोत्रियत्वानुरूपेण जाया मे जन्मशालिनी ।
 कुतः संभवतीत्येव निर्णय चिरचिन्तया ॥ ४६
 स्वयमेवानवद्याङ्गी तेन तामरसैक्षण ।
 उत्पादितास्मि नाथेन ज्योत्स्नेव शशिनाऽमला ॥ ४७
 मनसा मानसीभार्या मन्दरोत्तमसुन्दरी ।
 ततो वृद्धिं प्रयातास्मि वसन्त इव मञ्जरी ॥ ४८
 सहजाम्बरसंलब्धा भूतानां चित्तहारिणी ।
 पूर्णेन्दुविम्बवदना घौरिवामलतारका ॥ ४९
 कोरकोच्चस्तनभरा समग्ररसशालिनी ।
 लतावरवनेनेव करपल्लवशालिनी ॥ ५०
 सर्वस्य जन्तुजातस्य नित्यं हृदयहारिणी ।

हरिणीतारनयना मदनोन्माददायिनी ॥ ५१
 लीलाविलासैकरता हेलावलितलोचना ।
 गेयवाद्यप्रिया नित्यं न च तृप्तानुरागिणी ॥ ५२
 सौभाग्यभोगपरमा लक्ष्म्यलक्ष्म्योः प्रिया सखी ।
 अनन्या मोहजालानामखिन्ना संपदापदोः ॥ ५३
 न केवलमहं गेहं धारयामि द्विजन्मनः ।
 यावन्नैलोक्यसदनमिदमङ्ग विभर्म्यहम् ॥ ५४
 अहं कुलकरी भार्या कलत्रभरणक्षमा ।
 त्रैलोक्यगृहसंभारधारणैकभरोद्भवा ॥ ५५
 अथाहं तरुणी जाता समुद्भिन्नोभतस्तनी ।
 लतोलललुल्लुच्छेव विलासरसशालिनी ॥ ५६
 पतिर्मा दीर्घसूत्रत्वाच्छ्रोत्रियत्वाच्चपोरतः ।
 कयाप्यपेक्षयाद्यापि न विवाहितवानिमाम् ॥ ५७
 तेन यौवनसंपन्नविलासरसशालिनी ।
 तं विना व्यसनेनाहं दहोऽग्नाविव पञ्चिनी ॥ ५८
 शीतानिलविलोलासु नलिनीषु निरन्तरम् ।
 अङ्गदाहमवाप्नोमि पूताङ्गारस्थलीष्विव ॥ ५९
 उद्यानावनयः सर्वाः पूर्णाः कुसुमवर्षणैः ।
 संपन्नास्तप्तसिकताः शून्या मे मरुभूमयः ॥ ६०
 जलकल्लोलकह्लारकमलोत्करकोमलाः ।
 सरस्यः सारसारावसरसा मम नीरसाः ॥ ६१
 अहं पुष्करमन्दारकुमुदोत्करमालिता ।
 भृशं दाहमवाप्नोमि कण्टकेष्विव दोलिता ॥ ६२
 कुमुदोत्पलकह्लारकदलीतल्पपालयः ।
 मदङ्गसङ्गमाङ्गीष्ममर्मरा यान्ति भसताम् ॥ ६३
 यत्कान्तमुचितं खादु विचित्रं चित्तहारि च ।
 तदालोक्य भवाम्यन्तर्बाष्पपूर्णयतेक्षणा ॥ ६४

॥ ३८ ॥ एको दोषः कामस्तेन । आवद्धा भावना ममता
 याभ्यां तौ ॥ ३९ ॥ परिवारः पुत्रपौत्रभृत्यादिः परिजनः ।
 नौ आवयोः ॥ ४० ॥ असौ मे पतिर्युगशतानि जीव-
 नपि एकस्थानात्स्वसनात् चलति नोतिष्ठति ॥ ४१ ॥
 श्रोत्रियः स्वाध्यायशीलः । अत एवान्येषां पाठकोऽपि । अजिह्व-
 वृत्तिः ऋजुः । अचापलः इन्द्रियचापलश्चून्यः ॥ ४२ ॥ स्वयं
 तु न तथेत्याह—अहमिति ॥ ४३ ॥ अस्माकं आवयोः ।
 'असदो द्वयोश्च' इति बहुवचनम् ॥ ४४ ॥ स्वजन्मप्रकारमाह—
 तेनेति ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ स्वां वर्णयति—सह-
 जेत्यादिना ॥ ४९ ॥ रसन्त इति रसा गुणास्तैः शालिनी ॥ ५० ॥
 हरिण्या इव तारे दीर्घे नयने यस्याः ॥ ५१ ॥ व्यसनिनीति
 यदुक्तं तद्विवृणोति—लीलेत्यादिना । न च तृप्ता भोगेण्विलस्यः
 ॥ ५२ ॥ समदर्शिमर्तुमनः कल्पनाभ्यत्वाल्लक्ष्म्यलक्ष्म्योः प्रिया-
 सखीव समदर्शिनी । अत एव मोहजालानामखिन्नापि संप-
 दापदोरखिन्ना ॥ ५३ ॥ भर्तुमनोमयत्वादेव तत्कल्पितत्रैलोक्य-

धारणमपि मदधीनमेवेत्याह—न केवलमिति ॥ ५४ ॥
 कुलकरी पुत्रपौत्रपरम्पराप्रसवयोग्या । कलत्रं पोष्यवर्गसङ्ग-
 णक्षमा ॥ ५५ ॥ उल्लललुल्लुच्छ उल्लसत्फलपुष्पशुच्छा लतेव
 ॥ ५६ ॥ इमामेवंगुणलक्षणामपि मां पतिः सः ब्राह्मणो दीर्घ-
 सूत्रत्वादशीप्रकारितास्वभावात् कयापि वक्ष्यमाणया मोक्ष-
 पेक्षया न विवाहितवान् ॥ ५७ ॥ अविवाहे त्वं कथं तस्य
 भार्या तत्राह—तेनेति । तेन सह यौवनेन संपन्नो यो भोग-
 विलासविषयो रस इच्छा तच्छालिनी । अहं स्वमनोरथेनैव
 तं भर्तारं वृत्तवतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥ पूतानां भस्ममार्जनेन संयुक्-
 तानामङ्गाराणां स्थलीष्विव ॥ ५९ ॥ तप्ताः सिकता खादु तथा-
 विषा मरुभूमयः संपन्नाः ॥ ६० ॥ कह्लारणां पद्मनेदानां कमलानां
 चोत्करैः कोमलाः सुखस्पर्शाः ॥ ६१ ॥ दाहशान्तये पुष्क-
 दिकुसुमोत्करैः सखीभिर्दोलाशय्यादिरचनेन मालिता दोलिता
 विडुढितेव ॥ ६२ ॥ अङ्गसङ्गमाङ्गिष्ममर्मरेण तापोष्मणा
 शुष्काः प्रथमं मर्मरा भूत्वा ततो भस्मतां यान्ति ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

व्यसनानलसंतप्ताः पतन्तो बाष्पबिन्दवः ।
छमच्छमिति मज्जन्ति कमलोत्पलपङ्क्तिषु ॥ ६५
क्रंदलीकन्दलीस्कन्धदोलान्दोलनलीलया ।
लालितोद्यानखण्डेषु मुखमाच्छाद्य रोदिमि ॥ ६६
तुषारनिकराकीर्णं कदलीदलमण्डपम् ।
पश्याम्यभूषमाणमुज्ज्वलन्तं खदिराङ्गारभीषणम् ॥ ६७
नलिनीनालदोलान्तु सारसीं सारसाश्रिताम् ।
दीनानना विलोकयान्तर्निन्दामि निजयौवनम् ॥ ६८

रम्ये रोदिमि मध्यस्थे पदार्थे यामि सौम्यताम् ।
हृष्याम्यशोभने दीना न जाने किमहं स्थिता ॥ ६९
दृष्टानि कुन्दमन्दारकुमुदानि हिमानि च ।
मया कामाग्निदग्धानां भस्मानीव दिशं प्रति ॥ ७०
आनीलपल्लवमृणाललतोत्पलानां
कङ्कारकुन्दकदलीदलमालतीनाम् ।
शय्या ममाङ्गचलनेन विशेषयन्त्या
व्यर्थं गतानि नवयौवनवासराणि ॥ ७१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० पा० विद्याधरीव्यसनवर्णनं नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥६४॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः ६५

विद्याधर्युवाच ।

अथ कालेन महता सोऽनुरागो विरागताम् ।
प्राप्तो मम शरच्छान्तौ विरसः पल्लवो यथा ॥ १
वृद्ध एकान्तरसिको नीरसः स्नेहवर्जितः ।
भर्ताऽजिह्वमतिमौनी किं मन्ये जीवितेन मे ॥ २
वरं वैधव्यमावाल्याद्वरं मरणमेव च ।
वरं व्याधिरथापद्वा नाह्वयप्रकृतिः पतिः ॥ ३
यतावज्जन्मसाफल्यं सौभाग्यमविखण्डितम् ।
रसिकः पेशलाचारो यश्चार्यास्तरुणः पतिः ॥ ४
हता नीरसनाथा स्त्री हताऽसंस्कारिणी च धीः ।
हता दुर्जनभुक्ता श्रीहता वेद्याहता च ह्रीः ॥ ५
सा स्त्री यानुगता भर्ता सा श्रीर्यानुगता सता ।

सा धीर्या मधुरोदारा साधुता समदृष्टिता ॥ ६
नाधयो व्याधयो नैव नापदो न दुरीतयः ।
कुर्वन्ति मनसो बाधां धंपत्योरनुरक्तयोः ॥ ७
उत्फुल्लाः कुसुमस्थलयो नन्दनोद्यानभूमयः ।
घन्वायन्ते कुनाथानां विनाथानां च योषिताम् ॥ ८
सर्व एव जगद्भावा यथेच्छं गुणलेशतः ।
संत्यज्यन्ते प्रमादास्तु वर्जयित्वा पतिं स्त्रिया ॥ ९
स्थिरयौवनया दुःखान्येतानि मुनिनायक ।
भुक्तानि वर्षवृन्दानि पश्य दौर्भाग्यजृम्भितम् ॥ १०
अथ क्रमेण तेनैव सरागो मे विरागताम् ।
आययौ हिमदग्धाया नलिन्या इव नीरसः ॥ ११
विरागवासनास्तेन सर्वभावानुरञ्जना ।

छमच्छमीति प्रदीपनिपतत्सार्विः स्नेहबिन्दुनिपातशब्दसादृश्य-
द्योतनार्थमव्यक्तानुकरणम् । 'वाचि बहुलं द्वे भवतः' इत्यत्र
बहुलप्रहणादित्वे 'अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ' इति उत्तरदला-
च्छब्दस्य पररूपम् । 'नाम्नेडितस्थान्यस्य तु वा' इति निषे-
धस्तु छान्दसत्वात्तेति बोध्यम् । मज्जन्ति अन्तःप्रविशन्ति
स्वोष्मणा कमलोत्पलानि इदिति शोषयन्तः स्वयमपि हृष्य-
न्तीति यावत् ॥ ६५ ॥ उद्यानखण्डेषु सखीभिः कदलीकन्दली-
स्कन्धकल्पितपल्लवदोलान्तु आन्दोलनलीलया लालिता सती
ताभ्यः खदुःखं वक्तुमशक्ता लज्जया मुखमाच्छाद्य रोदिमि ॥ ६६ ॥
॥ ६७ ॥ सारसेन भर्ता आश्रितां संगताम् ॥ ६८ ॥ अशो-
भने मूर्च्छाजडीभावादौ हृष्यामि यतस्तदानीमहं किं स्थितेति न
जाने । तथा चाहन्ताविलये तद्गतदुःखस्याननुभवाद्विश्राम्यामी-
त्यर्थः ॥ ६९ ॥ दिशं प्रति प्रतिदिशम् । असमासे अद्विर्वचनं
छान्दसम् ॥ ७० ॥ आनीलानां तमालादिपल्लवानां मृणालल-
तानां उत्पलानां च तथा कङ्कारादीनां च शय्याः अङ्गचलनेन
देहसंयोगेन विशेषयन्त्या मम नवयौवनवासराणि व्यर्थं गतानि
॥ ७१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे विद्याधरीव्यसनवर्णनं नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥६४॥

इह कालेन संप्राप्ते स्वानुरागे विरागताम् ।

संसिद्धा धारणाभ्यासैर्जितास्तुः सा न्यवेदयत् ॥ १ ॥
शरच्छान्तौ हेमन्तारम्भे पल्लवो यथा विरसः सन् विरा-
गतां प्राप्नोति तद्वत् ॥ १ ॥ कीदृशविचारक्रमेण विरागतां प्राप्त-
स्तमाह—वृद्ध इत्यादिना । अजिह्वमतिः ऋजुचित्तः । किं
फलमिति शेषः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ असंस्कारिणी शास्त्रीय-
संस्कारहीना । तथा ह्रीः सत्कुलचाराद्युचिता पुंसां लज्जा च
वेद्याभिः पुंश्चलीभिर्हता चेत् हता ॥ ५ ॥ शमदमादिसंपत्त्या
मधुरा या सैव धीः सा बुद्धिः । एवं सैव साधुता या समदृष्टिरे-
त्यनुषज्यते ॥ ६ ॥ दुष्टा ईतयः 'अतिवृष्टिरनावृष्टिः घालभा
मूषकाः खगाः । अत्यासङ्गाश्च राजानः पडेटा ईतयः स्मृताः'
॥ ७ ॥ घन्वायन्ते मरुभूमिवदाचरन्ति । संतापयन्तीति यावत्
॥ ८ ॥ अत एव सर्वं सुत्यजं पतिरेको दुस्त्यज इत्याह—सर्वं
पदेति । जगति प्रसिद्धा भावा गृहक्षेत्रबन्धुधनादयः । गुण-
लेशतः गुणरूपतावशात् प्रमादादनवधानाद्वा । तुल्यदो मित्र-
क्रमः । पतिमेकं तु वर्जयित्वेति ॥ ९ ॥ भुक्तानि मयेति शेषः ।
वर्षवृन्दानीति कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया । दौर्भाग्य-
जृम्भितं ममेति शेषः ॥ १० ॥ अथवा ममायं भाग्योदय

तवोपदेशेनेच्छामि मुने निर्वाणमात्मनः ॥ १२ ॥
 अप्राप्तामिमताथानामविश्रान्तधियां परे ।
 मरणैरुद्यमानानां जीवितात्मरणं वरम् ॥ १३ ॥
 स मद्भर्ताद्य निर्वाणमीहमानो दिवानिशम् ।
 राजा राजैव मनसा मनो जेतुं प्रबुध्यते ॥ १४ ॥
 ग्रहंस्तस्य च मद्भर्तुर्मम चाक्षान्तशान्तये ।
 न्यायोपपन्नया वाचा कुर्वन् स्मरणमात्मनः ॥ १५ ॥
 यदा मामनपेक्ष्यैव स मद्भर्तात्मनि स्थितः ।
 तदा विरागो वैरस्यमनयन्मे जगत्स्थितिम् ॥ १६ ॥
 संसारवासनावेशवर्जितास्मि ततोऽवसम् ।
 निषध्याभिमतां तीर्त्वा व्योमसंचारधारणाम् ॥ १७ ॥
 अर्जयित्वा तथा व्योम्नि गतिं धारण्या मया ।
 अभ्यस्ता धारणा भूयः सिद्धसङ्गफलप्रदा ॥ १८ ॥
 ततः स्वजगदाधारपूर्वापरनिरीक्षया ।
 स्थिताहं धारणां बद्धा सापि सिद्धिं समागता ॥ १९ ॥
 अथ स्वजगतो दृष्ट्वा हृदयं तस्य बाह्यगा ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारा० वा० दे० मोक्षो० निर्वाण० उ० पाषाणो० विद्याधरीजन्मन्यवहारवर्णनं नाम पञ्चषष्ठितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

अहं दृष्टवती स्थूलां लोकालोकगिरेः शिलां ॥ २० ॥
 एतावतापि कालेन दंपत्योरावयोर्मुने ।
 परं द्रष्टुमभूदिच्छा न काचन कदाचन ॥ २१ ॥
 मद्भर्ता केवलं शुद्धवेदार्थैकान्तचिन्तया ।
 न च यातं न चायातं वेत्यहो विगतैषणः ॥ २२ ॥
 तेनासौ मत्पतिर्विद्वानपि न प्राप्तवान्पदम् ।
 अद्य सोऽहं च बाह्यावः प्रयत्नेन परं पदम् ॥ २३ ॥
 तदेतामर्थितां ब्रह्मन्सफलां कर्तुमर्हसि ।
 महतामर्थिनो व्यर्था न कदाचन केचन ॥ २४ ॥
 भ्रमन्ती सिद्धसेनासु सदा नभसि मानद ।
 त्वदृते नेह पश्यामि घनाक्षानदवानलम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मन्विनैव करुणाकरकारणेन

सन्तो यतोऽर्थिजनवाञ्छितपूरणानि ।

कुर्वन्ति तेन शरणागततामुपेतां

मामर्हसीह न तिरस्करणेन योक्तुम् ॥ २६ ॥

षट्षष्ठितमः सर्गः ६६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथेत्युक्तवती पृष्टा सा मया कल्पितासना ।

एवेत्याशयेनाह—अथेत्यादिना । क्रमेण नीरसः सन् विरागता-
 माययौ ॥ ११ ॥ तेनोक्तेन क्रमेण विरागवासनाः प्राप्य
 सर्वभावेषु तदनुरजना यस्यास्तथाविधा अहं संप्रति तवोप-
 देशेन आत्मनो निर्वाणमिच्छामि ॥ १२ ॥ ईदृशोऽपि समये
 त्वादृशोपदेशलामेऽपि विश्रान्तिमनिच्छन्त्या मम जीवनं
 व्यर्थमपि तु मरणमेव वरमित्याशयेनाह—अप्राप्तेति ।
 मरणैर्मरणतुल्यदुःखप्रवाहैरुद्यमानानाम् ॥ १३ ॥ सहधर्मचारि-
 णीनां क्रीणां भर्तृसमानशीलौचित्याच्च सर्वा सह त्वया-
 हसुपदेश्येत्याह—स इति द्वाभ्याम् । यथा राजा राजैव सहा-
 येन राजानं जेतुं प्रबुध्यते नीतिशास्त्रोक्तोपायेर्जागरूको भवति
 तद्वत्स मम भर्तापि मनसैव मनो जेतुं प्रबुध्यते । विवेकोपाय-
 जागरूको वर्तते इत्यर्थः ॥ १४ ॥ आत्मनः स्मरणं विस्मृतकण्ठ-
 चामीकरवत्प्रबोधनम् ॥ १५ ॥ मां अनपेक्ष्य मदपेक्षा विहा-
 यैवेत्यर्थः । विरागो जगत्स्थितिं वैरस्यं नीरसतामनयत् ।
 नयतोर्द्विकर्मता प्रसिद्धा ॥ १६ ॥ इदानीं स्वस्याः धारणा-
 भ्यासस्थिरचित्तत्वेनाप्युपदेशाधिकारसंपत्तिरस्तीत्याशयेनाह—
 संसारेति । व्योमसंचारसिद्धिदां प्राग्वर्णितां खेचरीमुद्राक्यां
 धारणाम् ॥ १७ ॥ सिद्धसङ्ग सिद्धैः सह संवादादिव्यवहारस्त-
 त्फलप्रदा । अत एवान्यैरगम्यमपीदं रहःस्थानमागत्य त्वया
 सह संवदानीति भावः ॥ १८ ॥ स्वजगत्स्वावासब्रह्माण्डसादा-
 कारस्य पूर्वापरभागघटिताकारस्य शास्त्रदशा योगदशा च कर-
 त्तलमलकवजिरीक्षया तदाकारां भावना बद्धा स्थिता । साधा-

संकल्पितासनस्थेन स्थितेन नभसि स्थिता ॥ १ ॥

रणापि मे तदवयवसर्वभूतजयक्रमेण सिद्धिमागता ॥ १९ ॥
 हृदयमन्तर्गतसर्ववस्तु दृष्ट्वा तस्य बाह्ये निर्मता अहं प्राग्वर्णितां
 स्वजगद्भर्तामेतद्ब्रह्माण्डस्थस्य लोकालोकगिरेः शिलां दृष्टवती
 ॥ २० ॥ आहं तु कदाप्ययं ब्रह्माण्डो मया मत्पतिना वा न
 दृष्टस्तदिच्छाभावादित्याह—एतावतेति ॥ २१ ॥ शुद्धवेदार्थो
 धर्मः परमात्मा च तदेकान्तचिन्तया । यातं गतं कालं अयातं
 वर्तमानमविध्यत्कालं तदन्तर्गतपदार्थान्ब्रह्मतत्त्वं च न वेत्ति
 ॥ २२ ॥ तेन तत्त्वावेदनेन । अद्य त्वदुपदेशश्रवणमननादि-
 प्रयत्नेन परं पदं ज्ञातुमिति शेषः ॥ २३ ॥ महतां भवादृशानां
 संनिधौ । अर्थिनः पुरुषार्थछिप्सव । अप्यर्थे चनशन्दौ ॥ २४ ॥
 अन्य एव सिद्धा इममर्थं कुतो न प्रार्थितास्तत्राह—भ्रमन्ती इति
 ॥ २५ ॥ इत्थं स्ववृत्तान्तमखिलं जिज्ञासितं च निवेद्य शरणं
 प्रतिपद्य स्वस्या अनुपेक्षणीयतां प्रार्थयते—ब्रह्मास्ति । यतः
 कारणात्सन्तो विनैव कारणेन अर्थिजनवाञ्छितपूरणानि कुर्वन्ति
 तेन कारणेन शरणागततामुपेतां मां तिरस्करणेनोपेक्षणेन योक्तुं
 नार्हसि । अर्थिनामुपेक्षाया एव तिरस्कारत्वादिति भावः ॥ २६ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 विद्याधरीजन्मन्यवहारवर्णनं नाम पञ्चषष्ठितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

कथं स्थितिरनाकाशे गृहं चाते शिखोदरे ।

पृष्ट्वेति यथा तत्र जागृत्स्वार ईयते ॥ १ ॥

प्राग्वर्णिते ब्रह्माण्डोर्ध्वनभसि स्थितेन तत्रापि संकल्पिता-
 सनस्थेन मया तस्मिन्नेव नभसि कल्पितासनस्थिता इति प्राग्-

कथं शिलोदरे बाले त्वद्विधानां भवेत्स्थितिः ।
 कथं संचलनं तत्र किमर्थं तत्र चास्पदम् ॥ २
 विद्याधर्युवाच ।
 मुने यथेदं भवतां जगत्स्फारं विराजते ।
 तथास्माकं जगत्तत्र सर्गसंसारयुक् स्थितम् ॥ ३
 स्फुरन्ति नागाः पाताले तिष्ठन्ति भुवि पर्वताः ।
 आपद्गलललायन्ते वहन्ति व्योम्नि वायवः ॥ ४
 अर्णवा अर्णसा भान्ति यान्त्यन्तः शनकैः प्रजाः ।
 भूतान्यजस्रं जायन्ते म्रियन्तेऽविरतं यथा ॥ ५
 घान्ति वाता वहन्त्यापो भान्ति चाभ्रान्ति खे सुराः ।
 तिष्ठन्त्यगाः समुद्यन्ति ग्रहा यान्ति महीं नृपाः ॥ ६
 देवासुरमनुष्याणां व्यवहारपरम्पराः ।
 लोलाः प्रवृत्ता आकल्पमासमुद्रमिवापगाः ॥ ७
 दिनपद्मानि भूलोकसरस्याकल्पमानभः ।
 लोलाभ्रालीनि फुल्लानि मीलितोन्मीलितान्यलम् ॥ ८
 चन्द्रचर्चाश्चतुर्दिक् चन्दनेनात्मतेजसा ।
 रचयन्नात्रिरोहिण्योस्तमो हन्त्यपि हृद्गतम् ॥ ९
 खदशास्वादनरता वातयन्त्रसुचारिता ।
 रोदःसद्गानि सूर्याख्या दीप्यते दिवि दीपिका ॥ १०
 ब्रह्मसंकल्पितो रुद्रो वातसंचारचारिभिः ।

खेऽनिशं चक्रमृक्षाणां गुणावर्तो विवर्तते ॥ ११
 भूततण्डुलमासृष्टेः पिनष्टि ध्रुवकीलकः ।
 नियत्या चलितो रोदःकपाटाम्भोदधरः ॥ १२
 द्वीपाब्धिगैर्भूषीढं विमाननगरैर्नभः ।
 दैत्यदानवनागौघैः पूर्णं पातालमण्डलम् ॥ १३
 कुण्डलं त्रिजगलक्ष्म्या नीलं भूतलमण्डलम् ।
 स्थितं चञ्चलमाचारचञ्चलायाः स्फुरन्मणि ॥ १४
 बुद्ध्यादिरहितां स्पन्दसंविदं वायवीमिव ।
 स्थावरं जंगमं चैव सूक्ष्ममादाय जायते ॥ १५
 मुनिमौनैर्धरा वार्भिर्मातैः कपिचापलम् ।
 आकाशैरवकाशित्वं तेजोभिर्भासनं श्रितम् ॥ १६
 वृक्षोर्व्यब्ध्यद्रिखचराः प्राणिनोन्तः स्फुरन्त्यलम् ।
 मृतिजन्मोन्मुखाः कीटसुरासुरजलौकसः ॥ १७
 ससुरासुरगन्धर्वाः कालः कलयति प्रजाः ।
 दोर्भिः कल्पयुगाब्दैश्च स्वपशूनिव पालकः ॥ १८
 अनन्तविपुलागाधगम्भीरे कालसागरे ।
 उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते ते त्वावर्तविवर्तया ॥ १९
 चतुर्दशविधा वातवेष्टिता भूतपांसवः ।
 नाशाकाशे विलीयन्ते शरदम्भोदलीलया ॥ २०
 भुवनं बोधयन्ती धौश्चन्द्रार्ककरचामरैः ।

र्णितप्रकारेण खवृत्तान्तमुक्तवती सा अथानन्तरं पृष्टा ॥ १ ॥
 किं पृष्टा तदाह—कथमिति । निरवकाशे शिलोदरे शरीरादि-
 मतीनां त्वद्विधानां स्थितिः कथं भवेत् । संचलनं च कथं भवेत् ।
 तत्र आस्पदं गृहं च ते किमर्थं किंप्रयोजनकम् । यत्र अवेश
 एवासंभावितस्तत्रेदं सर्वमत्यन्तासंभावितमित्यर्थः ॥ २ ॥
 नैतावदेव त्वया असंभावितं तत्रास्तीति संभावनीयं किंत्वीदृशं
 जगदन्तरमपीति विद्याधरीप्रश्नस्योत्तरमाह—मुने इति ॥ ३ ॥
 तदेव प्रपञ्चयति—स्फुरन्तीत्यादिना । छलललायन्ते इत्य-
 व्यक्तध्वन्यनुकरणम् ॥ ४ ॥ अर्णसा उदकेन । यान्ति गमना-
 दिना व्यवहरन्ति । यथा अत्रेति शेषः ॥ ५ ॥ नक्षत्रादि-
 रूपेण भान्ति । खखशरीरकारेण आभान्ति ॥ ६ ॥ ७ ॥
 आकल्पं कालतः । आनमो देशतः । अभिविधावाङ् ।
 लोलान्यभ्राण्येवालयो अमरा येषु तथाविधानि दिनपद्मानि
 भूलोकसरसि फुल्लानि अलं मीलितान्युन्मीलितानीति तदन्तः-
 पातिपदार्थकेसरयमिप्रायम् ॥ ८ ॥ चन्द्र आत्मतेजसा
 चन्द्रिकालक्षणेन चन्दनेन चतुर्दिक् चर्चाः लेपनानि रचयन्सच-
 रात्रेः रोहिण्याश्च हृद्गतं बहिर्गतमपि तमः हन्ति ॥ ९ ॥
 स्त्रीयदशदिलक्षणाया दशाया वार्तेकाया आस्वादने द्रवज्ञेहो-
 पभोगे रता वातलक्षणेन यन्त्रेण सुचारिता परितो अमिता
 रोदसी द्वावाभूमी तलक्षणे सद्गानि गृहे ॥ १० ॥ इदानीं रोदस्यौ
 अमता ज्योतिश्चक्रेण घट्टयन्त्रतया रूपयति—ब्रह्मेति द्वाभ्याम् ।
 खे ऋक्षाणां चक्रं ज्योतिश्चक्ररूपो शुणैरावर्तत इति गुणावर्तो
 घट्टो विवर्तते अमति । स च विवर्तमानश्चतुर्विधभूतलक्षण-

तण्डुलमासृष्टेः सृष्टिकालमारभ्य पिनष्टि । केनासौ क्षिप्तिना
 निर्मितस्तमाह—ब्रह्मसंकल्पित इति । कैरयं विष्टब्धस्ता-
 नाह । वातसंचारचारिमिर्वातरश्मिभिः रुद्रः अवष्टब्धः । कस्मि-
 न्कीले रुद्रस्तमाह—ध्रुवकीलक इति । रोदस्योः कपाट-
 वत्पिधानोद्घाटनस्वभावैरम्भोदैर्धरौ ध्वनन् ॥ ११ ॥ १२ ॥
 तत्राप्यत्रेव भूरादिलोका यथोचितं द्वीपपर्वतादिभिः पूर्णाः
 सन्तीत्याह—द्वीपेति । विमानसंनिवेशरचितैर्नगरैर्नभः पूर्णम्
 ॥ १३ ॥ तत्रापि नीलं भूतलमण्डलमाचारचञ्चलायास्त्रिजग-
 लक्ष्म्याः स्फुरन्मणिचञ्चलं कुण्डलमिव स्थितम् ॥ १४ ॥ तत्रापि
 स्थावरं जङ्गमं चैव प्राणिजातं बुद्ध्यादिरहितां बाह्यां वायवीं
 क्रियामिव आन्तरीं सूक्ष्मां प्राणाख्यां स्पन्दसंविदमादाय
 जायते जन्मादिविकारोद्भवते ॥ १५ ॥ तत्रापि मुनिमौनैर्मुनि-
 कर्मभिः श्रितः । घरा समुद्रादिवार्भिः श्रिता । मारुतैः कपिव-
 चापलं श्रितम् । आकाशैस्तत्तदुपाधिभिर्नैरुपाध्यनुरूपमवका-
 शित्वं श्रितम् । सर्ववस्तूनां स्वभावा नियतास्तुल्या इत्यर्थः
 ॥ १६ ॥ वृक्षचरा मर्कटादयः उर्वीचरा मनुष्यादयः अब्धि-
 चरा मत्स्यादयः अद्रिचरा पृष्ठादयः खचराः पक्षिदेवादय-
 स्तत्राप्यन्तरालं स्फुरन्ति ॥ १७ ॥ कालः सुरादिसहिताः प्रजाः
 पालकः पुरुषः खदोर्भिः स्वपशूनिव कल्पयुगवर्षादिलक्षणै-
 र्दोर्भिः कलयति पालनादिना उपभुङ्के ॥ १८ ॥ ते सुरादयो
 यादोगणाः कालसागरे आवर्तविवर्तया कालगत्या उत्पत्योत्पत्य
 लीयन्ते ॥ १९ ॥ नश्यत्यस्मिन्निति नाशः तथाविधे अव्याकृ-
 ताकाशे ॥ २० ॥ आकाश एवांशुकं ब्रह्म यस्याः । आकल्प-

स्थिताकाशांशुकाकल्पतारकोत्करशेखरा ॥ २१
स्थिताः पवनभूकम्पमेघतापसहिष्णवः ।
स्वं प्रदेशमनुज्झन्त्यः ककुभः स्तम्भिता इव ॥ २२
उत्पातमेघनिर्हादभूमिकम्पग्रहप्रहैः ।
अज्ञातैरपि विज्ञातैर्भूतानां जायते गतिः ॥ २३
सप्तानां जलमग्नीनामौर्वाग्निः पिबति ज्वलन् ।

लोकान्तराणामाकल्पं कालो भूतगणं यथा ॥ २४
पातालमाविशति याति नमोविलं च
दिक्काण्डलं भ्रमति भूतगणः समन्तात् ।
पर्येति पर्वतमहार्णवमण्डलानि
द्वीपान्तराणि च मरुत्सरणक्रमेण ॥ २५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायने वा० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे बाषाण० शिलान्तरवर्णनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥६६॥

सप्तषष्टितमः सर्गः ६७

विद्याधर्युवाच ।

यावत्तं सर्गमागच्छ प्रसादः क्रियतां मुने ।
आश्चर्येषूपपन्नेषु महान्तो ह्यतिकौतुकाः ॥ १
तथेत्युक्ते मया सार्धं गन्तुमारब्धमम्बरे ।
वात्यया सौरमेणेव शून्ये शून्येन शून्यया ॥ २
अथाहं दूरमध्वानं शून्यमुलङ्घय नाभसम् ।
नभःस्थं भूतसंघातं तथा सार्धमवाप्तवान् ॥ ३
तमुलङ्घय चिरेणात्र भूतसंचारमम्बरे ।
लोकालोकशिरोव्योम प्राप्नोऽसि घवलाम्बुदम् ॥ ४
उत्तरांशेन्दुशुभ्राभ्रपीठान्निर्गत्य तां शिलाम् ।
आनीतोसि तयोत्तुङ्गां तप्तकाञ्चनकल्पिताम् ॥ ५
यावत्पद्माम्यहं शुभ्रां शिलां तां न च तज्जगत् ।
कलघौतमयीमुच्चैरग्निलोकतटीमिव ॥ ६
तदा मयोक्ता सा कान्ता क भवत्सर्गभूरिति ।
क रुद्रार्काग्नितारादि क लोकान्तरसप्तकम् ॥ ७

भूतास्तारकोत्कराः शेखरे यस्यास्तथाविधा शौचन्द्रार्ककरचामरैः
संवीज्य सुप्तं भुवनं बोधयन्तीव स्थिता ॥२१॥ तत्रापि ककुभो
दिशः स्तम्भिताः स्थावरप्राणिन इव पवनभूकम्पवृष्ट्यातपस-
हिष्णवो भूत्वा स्थिताः ॥२२॥ ज्योतिःशास्त्रकुशलैर्विज्ञातैरन्यैर-
ज्ञातैरपि उत्पातादिनिमित्तैर्भूतानामिष्टानिष्टलक्षणा गतिस्तत्रापि
जायते ॥ २३ ॥ लोकान्तराणां चतुर्दशभुवनमेदानां भूतगणं
प्राणिनिकार्यं यथा कालः पिबति तद्वत् ॥२४॥ उक्तं सर्वं संक्षि-
प्योपसंहरति—पातालमिति । तत्रापि पातालयोग्यो भूतगणः
प्राणिनिकार्यः पातालमाविशति । नमोविलबासयोग्यो नमोविलं
याति । इतरस्त्वन्तराले दिक्काण्डलं भ्रमति । मरुतो वायोः सरण-
क्रमेण संचरणवत्पर्वतमहार्णवमण्डलानि द्वीपान्तराणि च पर्येति ।
तथा च सर्वोऽप्यत्रलव्यवहारस्तत्रापि वर्तते, एवेति संभावये-
त्यर्थः ॥२५॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायने तात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे शिलान्तरवर्णनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥६६॥

कौतुकाच्चां शिलां गत्वाप्यहं मुनिना जगत् ।

पृष्ठयाम्यासमाहात्म्यं विद्याधर्यात्र धर्षयते ॥ १ ॥

कार्णवाकाशककुभः कोन्मज्जननिमज्जने ।
क महाम्मोदसंभारः क ताराम्बरडम्बरम् ॥ ८
क शैलशिखरश्रेण्यः क महार्णवल्लेखिकाः ।
क द्वीपवलयः सप्त क तप्तकनकावनिः ॥ ९
क कार्यकालकलनाः क भूतभुवनध्रमः ।
क विद्याधरगन्धर्वाः क नरामरदानवाः ॥ १०
कर्षिभूपालमुनयः क नयापनयक्रमः ।
क पञ्चयामयामिन्यः क स्वर्गनरकध्रमः ॥ ११
कं पुण्यपापकलना क कलाकालकेलयः ।
क सुरासुरवैराणि क द्वेषकोहरीतयः ॥ १२
चदत्येवं मयि घचः सोवाच वरवर्णिनी ।
विस्रयाकुलमालोक्य शिलामलिविलोचना ॥ १३
विद्याधर्युवाच ।

पश्याम्येखिल नात्मीयमहं सर्वमिदोपले ।
मुकुरप्रतिबिम्बस्थपुरान्यपुरवज्जनम् ॥ १४

हे मुने, त्वं यदि मनुष्यार्थजातमसंभावितं मन्यसे तर्हि स्वय-
मेव साक्षात्तं सर्गं यावत्साकल्येन द्रष्टुमागच्छ ॥ १ ॥ इति
तथा उक्ते सति मया तथास्त्वित्यभ्युपगम्य तथा सहाम्बरे
गन्तुमारब्धमित्यन्वयः । वात्यया सह सौरमेण चम्पकादिग-
न्धेनेव ॥ २ ॥ भूतसंघातं देवादिप्राणिनिकार्यम् ॥ ३ ॥
॥ ४ ॥ उत्तराया, दिशः अशे पूर्वभागे स्थितादिन्दुवच्चुभ्रा-
दभ्रपीठदधो निर्गत्य ॥ ५ ॥ अहं अग्निनावलोकयते इत्य-
भिलोकां मेरुतटीमिव स्थितां तां शिलां यावत्साकल्येन
निष्पद्य पश्यन्नपि तत्तयोक्तं, जगत्तत्र न पश्यामीत्यर्थः
॥ ६ ॥ भवत्सर्गम्, क तत्र, त्वया वर्णिता रुद्रार्क-
दयकाः केति, सा मयोक्तेति सर्वत्रापि, संबन्धः ॥ ७ ॥
ककुभो दिशः । उन्मज्जननिमज्जने प्राणिनां जन्मनाशौ ॥ ८ ॥
॥ ९ ॥ १० ॥ कृषयो भूपालस्तेषु मुनयश्च क । 'भूपताल-
मुनयः' इति पाठे तु स्पष्टम् । पञ्चयामा हेमन्तयामिन्यः ॥११॥
॥ १२ ॥ मयि एवं, वदति, सति सा मामुवाच ॥ १३ ॥
अहमपि न पूर्ववत्पश्यामि, किन्तु प्रागुक्तं सर्वं देवमनुष्याष्टा-
दिजनं मुकुरे, प्रतिबिम्बभावेनास्थितं यत्प्रसिद्धपुरातनमस्य

नित्यानुभव एवात्र दर्शने कारणं मम ।
 तदभावो मुने मन्ये ते कारणमदर्शने ॥ १५
 अन्यच्च चिरकालैकद्वैतसंकथयानया ।
 शुद्धातिवाहिकैकात्मदेहता विस्मृतावयोः ॥ १६
 ममातिसुचिराभ्यस्तमपि व्योम लतामिव ।
 गतं निजं जगदिदं यतः पश्यामि न स्फुटम् ॥ १७
 अमूद्यत्स्वजगतपूर्वमतिप्रकटमेव मे ।
 तत्पश्यामीदमादर्श इव बिम्बितमस्फुटम् ॥ १८
 चिरव्यर्थोत्थया नाथ संकथाव्यथया मिथः ।
 स्वास्थ्यं विस्मृतमात्मीयमवदाततमं ततम् ॥ १९
 योऽभ्यासः प्रकचत्यन्तः शुद्धचिन्नभसो रसात् ।
 भवेत्तन्मयमेवान्तराबालमिव लक्ष्यते ॥ २०
 न सच्छास्त्रेण सा विद्धि न सध्यायेन सा कला ।
 अस्ति नास्त्यमितोद्योगाद्यदभ्यासान्न सिद्ध्यति ॥ २१
 स्वजगत्संतताभ्यासवशतो मां कथाभ्रमः ।
 नूनमाक्रान्तवानेष द्वयोर्हि बलवाजयी ॥ २२
 इष्टवस्त्वर्थिनां तज्जसूपदिष्टेन कर्मणा ।
 पौनःपुन्येन करणान्तेतरच्छरणं मुने ॥ २३
 अयमित्थमिहाज्ञानभ्रमः प्रौढोऽहमात्मकः ।
 शाम्यति ज्ञानचर्चाभिः पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २४
 अहं शिष्याबला बाला पश्यामि त्वं न पश्यसि ।
 सर्वज्ञोऽपि शिलासर्गं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २५

अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनैः शैलोपि चूर्ण्यते ।
 बाणोऽप्येति महालक्ष्यं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २६
 इत्थं नाम परिप्रौढा मिथ्याज्ञानविषूचिका ।
 शाम्यत्येव विचारेण पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २७
 अभ्यासेन कटुद्रव्यं भवत्यभिमतं मुने ।
 अन्यस्मै रोचते निम्बस्त्वन्यस्मै मधु रोचते ॥ २८
 अबन्धुर्बन्धुतामेति नैकव्याभ्यासयोगतः ।
 यात्यनभ्यासतो दूरात्क्षोभो बन्धुषु तानवम् ॥ २९
 आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्योम केवलम् ।
 आधिभौतिकतामेति भावनाभ्यासयोगतः ॥ ३०
 आधिभौतिकदेहोऽसौ धारणाभ्यासभावनात् ।
 विहंगवत्स्वमभ्येति पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ ३१
 पुण्यानि यान्ति वैफल्यं वैफल्यं यान्ति मातरः ।
 भाग्यानि यान्ति वैफल्यं नाभ्यासस्तु कदाचन ॥ ३२
 दुःसाध्याः सिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम् ।
 विषाण्यमृततां यान्ति संतताभ्यासयोगतः ॥ ३३
 येनाभ्यासः परित्यक्त इष्टे वस्तुनि सोऽधमः ।
 कदाचिन्न तदाप्नोति बन्ध्या स्वतनयं यथा ॥ ३४
 यदप्यभिमतं वस्तु स्वभ्यासेन तदर्जनात् ।
 तद्युक्तिपूर्वकं त्याज्यमामृत्योर्जीवितं यथा ॥ ३५
 इष्टे वस्तुनि नाभ्यासं यः करोति नराधमः ।
 सोऽनिष्टेऽनिष्टमाप्नोति नरकाधरकान्तरम् ॥ ३६

तद्वत्पश्यामीत्यर्थः ॥ १४ ॥ तदभावस्तत्तिरोधानम् । आदादौ
 ते इति छान्दसम् ॥ १५ ॥ सर्वसूक्ष्मार्थग्रहणक्षमविशुद्धमनो-
 मात्रदेहताविस्मृतिवशादपि तव तददर्शनं मत तदस्फुटदर्शनं
 चेत्याह—अन्यच्चेति ॥ १६ ॥ ममापीदं निजं जगद्गतं नष्ट-
 प्रायम् । यतश्चिराभ्यस्ता व्योमलतामिवेदं न स्फुटं पश्यामीत्य-
 न्वयः ॥ १७ ॥ १८ ॥ स्वास्थ्यं प्रागुक्तधारणाभ्याससिद्धशु-
 द्धातिवाहिकैकात्मदेहत्वं न तु स्वरूपावस्थितिः पूर्वग्रन्थविरो-
 धात् ॥ १९ ॥ अभ्यासपदेन तज्जन्यदृढसंस्कारो लक्ष्यते ।
 प्रकचति उद्बुद्धः प्रकाशते । इवकारो मित्रक्रमः । अन्तः
 आन्तरं चित्तं तन्मयमेव भवेदिवेति ॥ २० ॥ अत एवाभ्यासही-
 नस्य श्रवणमनने निष्फले इत्याह—नेति । सा कला अस्तीति
 पूर्वत्रान्वयः । अभ्यासस्य त्वसाध्यं न किञ्चिदस्तीत्याह—
 नास्तीति ॥ २१ ॥ अयं त्वत्संवादकथाभ्रमः स्वीयजगत्संतता-
 भ्यासवशतो मां पूर्वजगद्भवतीमाक्रान्तवान् वशीकृतवान् ।
 तेन तत्संस्कारस्तिरोहित इवाभूदित्यर्थः । अतीतभ्रमापेक्षया
 वर्तमानस्य बलीयस्त्वादित्याशयेनाह—द्वयोर्हीति ॥ २२ ॥
 अत एव लौकिकं वैदिकं वा शिल्पविद्यादिफलमिच्छताम् । तत्त-
 द्गुरुपदिष्टक्रमेण पुनःपुनस्तदभ्यास एव शरणं नान्यदित्याह—
 इष्टेति । तज्जैर्गुरुभिः सूपदिष्टेन कर्मणा तत्करणप्रकारेण ॥ २३ ॥
 अनाद्यनन्तः संसारानर्थोऽपि ज्ञानाभ्यासाज्जयति चेत्किमन्य-
 दनिष्टमवशिष्यते । यदभ्यासेन न चिकित्सेतेत्याह—अय-

मिति । ज्ञानस्य चर्चाभिः श्रवणाद्यभ्यासैः ॥ २४ ॥ अभ्यास-
 पाटवे बालानामपि प्रौढता दृष्टा, तद्विस्मरणे तु महतामपि
 व्यामोहः संभावित इत्यर्थे आवामेव निदर्शनमित्याह—अहं-
 मिति । अहं शिष्यभूतापि शिलासर्गं पश्यामि, त्वं सर्वज्ञो गुरु-
 रपि न पश्यसि, आश्चर्यमेतदभ्यासविजृम्भितमित्यर्थः ॥ २५ ॥
 बाणः अचेतनोऽपि महदलक्ष्यं सूक्ष्मतममपि लक्ष्यं शरसंघा-
 नाभ्यासपाटवादेति आप्नोति ॥ २६ ॥ २७ ॥ निम्बभक्षणा-
 भ्यासवते द्रविडाय निम्बोऽपि रोचते ॥ २८ ॥ बन्धुतां बन्धु-
 वत्स्निग्धताम् ॥ २९ ॥ देहे भौतिकताभ्रान्तिरपि स्वाभावि-
 कात्तदभ्यासादेवेत्याह—आतिवाहिकेति ॥ ३० ॥ स्वमभ्येति
 खेचरसिद्धिं लभते ॥ ३१ ॥ कीर्तनावल्पापराधेनापि महा-
 न्यपि पुण्यानि वैफल्यं यान्ति । भाग्यानि धनानि ॥ ३२ ॥
 औषधार्थमभ्यासेन सेवितानि विषाणि अमृतवदारोग्यादिहे-
 तुतां यान्ति ॥ ३३ ॥ अत एव शास्त्रीयशुभाभ्यासः कदापि
 न परित्याज्य इत्याह—येनेति ॥ ३४ ॥ तर्हि शास्त्रीयत्वाद-
 भिमत्तं दारपुत्रधनसत्कर्मानुष्ठानादिवस्तु तत्कदापि न त्याज्यं
 नेत्याह—यदपीति । स्वभ्यासेन प्रयत्नसहस्रेण तदर्जनादत्य-
 न्ताभिमतं दारादि यद्वस्तु तदपि न सहसा त्याज्यं किंतु वैरा-
 ग्याभ्यासेन वृत्त्यादिपरिकल्पनादियुक्तिपूर्वकं त्याज्यम् । यथा
 आमृत्योरत्यन्ताभिमतमपि जीवितं योगिभिर्युक्तिपूर्वकं त्यज्यते
 तद्वदित्यर्थः ॥ ३५ ॥ तत्त्वज्ञानाभ्यासस्तु सर्वथा न त्याज्यः ।

तरन्ति सरितं स्फीतां संसारसारसेविनः ।
 त एवात्मविचाराख्यमभ्यासं न त्यजन्ति ये ॥ ३७
 अभ्यासमासोऽभिमतं वस्तु प्रकटयन्त्यलम् ।
 प्रापयन्ति च निर्विघ्नं घटं दीपप्रभा यथा ॥ ३८
 यथा कल्पद्रुमलताः सच्चिन्तामणयो यथा ।
 फलन्ति शरदश्चैतास्तथैवाभ्यासभूमयः ॥ ३९
 इष्टवस्तु विराभ्यासमास्वाभ्यासयति प्रजाः ।
 तथेन्द्रियाख्यां देहोर्व्यां रात्रिं पश्यन्ति नो यथा ४०
 सर्वस्य जन्तुजातस्य सर्ववस्त्ववभासने ।
 सर्वदैवैक एवोच्चैर्जयत्यभ्यासभास्करः ॥ ४१

चतुर्दशविधायास्तु भूतजातेन कस्यचित् ।
 सिध्यत्यभिमतं वस्तु विनाभ्यासमकृत्रिमम् ॥ ४२
 पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते ।
 पुरुषार्थः स एवेह तेनास्ति न विना गतिः ॥ ४३
 दृढाभ्यासाभिधानेन यत्ननाम्ना स्वकर्मणा ।
 निजवेदनजेनैव सिद्धिर्भवति नान्यथा ॥ ४४
 अभ्यासभास्वति तपत्यवनौ वने च
 वीरस्य सिध्यति न यत्र तदस्ति किञ्चित् ।
 अभ्यासतो भुवि भयान्यभयीभवन्ति
 सर्वासु पर्वतगुहास्वपि निर्जनासु ॥ ४५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्र० उ० पा० अभ्यासप्रशंसा नाम सप्तषष्ठितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

अष्टषष्ठितमः सर्गः ६८

विद्याधर्युवाच ।
 ततः प्राचीनमभ्यासं बोधधारणयामले ।
 कुर्वेः प्रकटतां तेन जगदेध्यति शैलगम् ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 युक्तियुक्ते तयेत्युक्ते विद्याधर्या धरोरसि ।
 ब्रह्मपञ्चासनोऽथाहं समाधाबुद्धितोऽभवम् ॥ २
 सर्वार्थभावनात्यागे चिन्मात्रैकान्तभावितः ।
 अत्यजं तमहं पूर्वकथार्थकलनामलम् ॥ ३

अथ विद्योमतां प्रातः परां दृष्टिमहं गतः ।
 शरत्समयसंप्राप्तौ व्योम निर्मलतामिव ॥ ४
 ततः सत्यावधानैकयनाभ्यासेन देहके ।
 ममाधिभौतिकभ्रान्तिर्नूनमस्तमुपागता ॥ ५
 उदयास्तमयोन्मुक्ता सततोदयमय्यपि ।
 महाचिद्योमतास्वच्छा प्रोदितेव तदाभवत् ॥ ६
 अथ पश्याम्यहं यावत्स्वस्यैवामलतैजसा ।
 वस्तुतस्तु न चाकाशं नोपलः परमेव तत् ॥ ७

तत्प्रागे देहाहंभानाद्यभ्यासस्य नान्तरीयकस्य वारयितुमशक्य-
 त्वादनिर्मुक्त एवेत्याशयेनाह—इष्टे इति । अनिष्टे देहाद्यहं-
 भावे अनिष्टमेवाभ्यासस्वभावादेवाप्नोति । ततश्च नरकाक्षरका-
 न्तरम् ॥ ३६ ॥ संसारः असारो येन तादृशविवेकसेविनो ये
 पुरुषा आत्मविचाराख्यमभ्यासं न त्यजन्ति त एव स्फीतां
 भायासरितं तरन्तीत्यन्वयः ॥ ३७ ॥ यथा घटार्थिने दीपप्रभा
 घटं प्रकटयन्ति निर्विघ्नं प्रापयन्ति च तथा आत्मवस्तुवर्षिने
 अभ्यासलक्षणाभासः प्रकाशा अभिमतमात्मवस्तु प्रकटयन्ति
 निर्विघ्नं प्रापयन्ति च । तत्र भ्रवणमननाभ्यासोऽसंभावनाति-
 मिरनिशेन प्रकटयति । विदिध्यासनाभ्यासस्तु विपरीतभा-
 वनारूपविघ्ननिरासेन प्रापयतीत्याशयः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ देह-
 लक्षणायासुर्व्यासिष्टं वस्तु परमप्रेमविषय आत्मैव तद्विचारा-
 भ्यासलक्षणो भास्वान् सूर्यस्तथा भासयति यथा प्रजाः प्रकृष्ट-
 जन्मानोऽधिकारिजना इन्द्रियाख्यां रागद्वेषजन्ममरणायानर्थ-
 सहस्रदुःखसप्तमोहनिद्राप्रदां रात्रिं न पश्यन्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ अप्यर्थे तुवाद्द. । चतुर्दशभुवनस्थाया अपि भूतजा-
 तेर्मध्ये कस्यचिदपि प्राणिनः किञ्चिदप्यभिमतं वस्तु अभ्यासं
 विना न सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥ अभ्यासस्वरूपं दर्शयति—
 पौनःपुन्येनेति । स एव इह आत्मे पुरुषार्थः प्राग्वहुशो वर्णितः
 पुरुषप्रयत्नः परमपुरुषार्थफलस्तेन विना गतिर्निस्तारो नास्ति

॥ ४३ ॥ निजवेदनं स्वविवेकज्ञानेनैव ॥ ४४ ॥ वीरस्येन्द्रिय-
 जयादिशूरस्य पुंसः अभ्यासभास्वति तपति प्रकाशमाने सत्य-
 वनौ भूमौ वने जले चादन्तारिक्षे च यदभिलषितं वस्तु न
 सिध्यति तत्रास्ति किञ्चित् । भयानि भयहेतुग्राह्यसर्पादीनि
 ॥ ४५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे अभ्यासप्रशंसा नाम सप्तषष्ठितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इहाधिभौतिकभ्रान्तिनिरासेन समाधिना ।

आतिवाहिकभावस्य स्थितिः सत्या समर्प्यते ॥ १ ॥

यतो दृढाभ्यासाख्यसमाधियजमन्तरेण देहादावाधिभौति-
 कताभ्रान्तिर्न निवर्तते आतिवाहिकभावश्च नाविर्भवति तं विना
 च सर्गान्तरस्थितिः साक्षिप्रत्यक्षेण द्रष्टुमशक्या, ततो हेतोरेव
 परमात्मनि सर्वबोधानुकूलया समाधिरूपधारणया प्राचीनमा-
 तिवाहिकभावाभ्यासमार्गा कुर्वस्तेनोपायेन शैलगं शिलान्तर्गतं
 महुकं जगत्प्रकटतामेव्यति ॥ १ ॥ तथा विद्याधर्या युक्ति-
 युक्ते इति एवरूपे वचस्तुक्ते सति । धरस्य शैलस्योरसि अधि-
 स्थकायाम् । उदित उद्युक्तोऽभवम् ॥ २ ॥ तत्र समाधौ सर्व-
 बाह्यार्थकलनात्यागे सति पूर्वकथार्थ आधिभौतिकदेहादिभाव-
 ना तत्तत्स्कारमलमप्यत्यजं त्यक्त्वानित्यर्थः ॥ ३ ॥ इदमेव
 स्पष्टमाह—अथेत्यादिना ॥ ४ ॥ ५ ॥ सततोदयमयी नित्या-
 नावृतस्वप्रकाशा ॥ ६ ॥ स्वस्य साक्षिण एव वृत्तीदेन अमल-

परमार्थघनं स्वच्छं तत्तथा भाति तादृशम् ।
 तथाभावतया ह्यात्मा मदीयो दृष्ट्वांस्तथा ॥ ८
 यथा स्वप्ने सुमहती दृष्टा गेहगता शिला ।
 व्योमैव केवलं तद्वत्सुशुद्धं चित्रमःशिला ॥ ९
 स्वयं स्वप्नान्वितोऽन्यस्य स्वप्नपुंस्त्वं गतो नरः ।
 स्वप्नेऽज्ञानप्रबुद्धस्य यादवतादृक्स्वरूपतः ॥ १०
 स्वप्नस्थानां शिरश्छिन्नं येषां ते संसृतौ स्थिताः ।
 कालेन ज्ञानलाभेन विना कुर्वन्तु किं किल ॥ ११
 बोधः कालेन भवति महामोहवतामपि ।
 यस्मान्न किंचनाप्यस्ति ब्रह्मतत्त्वाद्देहेऽक्षयम् ॥ १२
 अतस्तच्चिद्धनं स्वच्छं ब्रह्माकाशं शिलाकृति ।
 दृष्टं मया तथा तत्र न तु पृथ्व्यादि सत्कचित् ॥ १३
 भूतानामादिसर्गे यच्छुद्धं यत्पारमार्थिकम् ।
 वपुस्तदेव ह्येतेषां ध्यानलभ्यमवस्थितम् ॥ १४
 ब्राह्मं वपुर्हि भूतानामात्मीयं यत्पुरातनम् ।
 तदेवाद्य मनोराज्यं संकल्प इति कथ्यते ॥ १५
 सत्तातिवाहिको देहस्तत्परं परमार्थतः ।
 प्रत्यक्षं परमं यत्तत्तदाद्यं कचनं चितः ॥ १६
 उद्यत्प्रथममध्यक्षं जीवस्य प्रथमं वपुः ।
 मनः प्रत्यक्षमित्युक्तं तत्तेनाद्यैव दुर्धिया ॥ १७
 योगिप्रत्यक्षमित्युक्तं मनःप्रत्यक्षमित्यपि ।
 तत्स्वमेव चितो रूपं गतमेवान्यतां मुधा ॥ १८

इदमद्यतनं नाम प्रत्यक्षमसदुत्थितम् ।
 असत्प्रत्यक्षमेवेति विद्धि प्रत्यक्षमज्ञं तत् ॥ १९
 अहो नु चित्रा मायेयं प्राक्प्रत्यक्षे परोक्षता ।
 निर्णीतास्मिन्स्त्वनध्यक्षे प्रत्यक्षकलनागता ॥ २०
 आतिवाहिकदेहत्वं प्रत्यक्षं प्रथमोदितम् ।
 सत्यं सर्वगतं विद्धि मायैव त्वाधिभौतिकम् ॥ २१
 अनुभूतापि नास्त्येव हेमः कटकता यथा ।
 तथातिवाहिकस्याधिभौतिकत्वं न विद्यते ॥ २२
 भ्रममभ्रमतां यातमभ्रमं भ्रमतां गतम् ।
 वेत्ति जीवो विचारेण विनाहो नु विमूढता ॥ २३
 आधिभौतिकदेहोऽयं विचारेण न लभ्यते ।
 आतिवाहिकदेहस्तु किल लोकद्वयेऽक्षयः ॥ २४
 आधिभौतिकचिद्रूढा ह्यातिवाहिकदेहके ।
 मरौ मरीचिकास्वेव यथा मिथ्यैव धारिणीः ॥ २५
 जाताधिभौतिकी संविदातिवाहिकचित्क्रमे ।
 देहदृष्टिबशात्प्रौढा स्थाणौ पुरुषधीरिव ॥ २६
 शुक्लौ रजतता तापे जलतेन्दौ यथा द्विता ।
 आधिभौतिकता तद्वन्माययैवातिवाहिके ॥ २७
 यदसत्तत्कृतं सत्यं यत्सत्यं तदसत्कृतम् ।
 अहो नु मोहमाहात्म्यं जीवस्यास्याविचारजम् ॥ २८
 योगिप्रत्यक्षमेवास्ति किंचिदस्ति तु मानसम् ।
 यस्माल्लोकद्वयाचारस्ताभ्यामेव प्रसिध्यति ॥ २९

तेजसा । वृत्तेर्जडायाः स्वतो दृक्शक्त्यभावादिति भावः ॥ ७ ॥
 तत्परमार्थघनं परं तत्त्वमेव मदीय आत्मा तथा उपलभाव-
 नया उपलं दृष्टवानित्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥ यथयं व्यवहारः स्वप्न
 एव तर्हि कथं स्वप्नजाग्रत्ताप्रतिभासस्तत्राह—स्वयमिति ।
 स्वप्ने अज्ञानवशादेव प्रबुद्धोऽहमिति मन्यमानस्यान्यस्य स्वप्न-
 दृश्यपुरुषत्वं गतः स्वप्नान्वितः स्वयं स्वरूपतो यादृक् प्रतिबुद्धो-
 ऽस्मीति प्रतिभाति तादृगित्यर्थः ॥ १० ॥ अत एव सौप्तिके
 सुप्तहतानां जागरणोपायदेहाभावादगत्या स्वप्न एव तेषां जाग-
 रता परिशिष्यत इति प्रागुक्तं मयेति स्मारयति—स्वप्नस्थाना-
 मिति ॥ ११ ॥ तस्मान्मूलाज्ञाननिद्रोच्छेदेन स्वरूपप्रतिबोध
 एवास्य मुख्यः प्रतिबोधोऽन्यदा तु स्वप्न एव दृष्टा जागराभिमान
 इत्याह—बोध इति ॥ १२ ॥ अत एव मयापि स्वरूपजागरा-
 त्तप्रागदृष्टशिलाकृति स्वच्छं चिद्धनं दृष्टं न पृथ्व्यादिविकारं
 सदित्यर्थः ॥ १३ ॥ सर्गस्यादिरादिसर्गो महाप्रलयस्तदेत्यर्थः ।
 एतेषां तत्त्वविदां ध्यानलभ्यमैकाम्यप्राप्यम् ॥ १४ ॥ ब्राह्मं
 रूपमेव सर्वभूतानां वपुः पारमार्थिकरूपं इति एवं जगदाकारेण
 कथ्यते । मूढैरिति शेषः ॥ १५ ॥ अस्त्येवं तथाप्यातिवाहिको
 देहः कः, यद्भावे सर्वजगद्दर्शनं चित्स्वभावकचनं च प्रागुक्तं
 तमाह—सत्तेति । मायाशबलं ब्रह्म सदित्युच्यते । तत्र चितो
 जगत्संस्कारसंवलितानि सप्ता स एवातिवाहिको देहः । नित्या-
 परोक्षश्चिदंशस्तु स्वरूपकचनमित्यर्थः ॥ १६ ॥ तर्हि कथं
 यो० वा० १५३

मनो जीवस्यातिवाहिको देह इति प्रागुक्तं तत्राह—उद्यदिति ।
 तत्सत्तारूपं सर्गोदयेन तदाकारमिबोद्यत् सर्गगोचरमध्यक्षं
 जीवस्य चिदामासात्मनः प्रथमं हिरण्यगर्भाख्यं समष्टिरूपमा-
 तिवाहिकवपुर्भवति । तत्पुनः समष्टिभावस्यापि दुर्धिया विस्म-
 रणे अद्यैव व्यष्टितां गतं तत्सर्वजनप्रत्यक्षं मन इति प्रागुक्त-
 मित्यर्थः ॥ १७ ॥ तदित्यं स्वयमेव चितो रूपं समष्टिरूपेण
 योगिप्रत्यक्षं सर्वजनसाधारण्येन तु मनःप्रत्यक्षमित्युक्तम्
 ॥ १८ ॥ तत्र इदमद्यतनं मनःप्रत्यक्षमाधिभौतिकदेहादिकल्प-
 नया अत्यन्तासद्रूपेणैवोत्थितमित्यसत्प्रत्यक्षमेव विद्धि । तद्यो-
 गिप्रत्यक्षमेव हे अहं, सद्याथात्म्यस्फूर्तेर्मुख्यं प्रत्यक्षम् ॥ १९ ॥
 कथं तर्हि सर्वजनानां तस्मिन्प्रत्यक्षे परोक्षतानुभवः इतरत्र च
 प्रत्यक्षतानुभवस्तत्राह—अहो इति ॥ २० ॥ प्रथमोदितमिति
 सूक्ष्मपूर्वकत्वात्स्थौल्याध्यासस्येत्यर्थः । 'यदग्रे रोहितं रूपं तेज-
 सस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्रेरमित्वं
 त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इति श्रुतेः । सत्यं समष्टिभावात्सर्व-
 गतं मायैवानृतमेव ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ स्थूलस्य सूक्ष्मा-
 त्पृथक्त्वे अपृथक्त्वे वा कीदृशं स्वरूपं स्यादित्यादिप्राक्-
 प्रपञ्चितविचारेण । इहामुत्र च सर्वव्यवहारनिर्वाहकत्वादामो-
 क्षमक्षयः ॥ २४ ॥ आधिभौतिकचिदाधिभौतिकताप्रथा रूढां
 प्रादुर्भूता ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ स्फूर्तिस्पन्दने द्वे व्यवहारसर्व-
 खम् । ते च लोकद्वयसाधारणत्वादातिवाहिकदेहस्यैव निष्कर्षे

आद्यं प्रत्यक्षमुत्सृज्य यः सत्येऽस्मिन्कृतस्थितिः ।
 प्रत्यक्षे मृगहृष्णान्धु पीत्वा स सुखमास्थितः ॥ ३०
 यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतिभिः ।
 अकृत्रिममनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥ ३१
 प्रत्यक्षेणैवमभ्यक्षं प्रत्यक्षं प्रविचार्यताम् ।
 यदार्थं तत्सद्व्यक्षं तत्प्रत्यक्षेण दृश्यताम् ॥ ३२
 लोकत्रयानुभवदं त्यक्त्वा प्रत्यक्षमैहिकम् ।
 मायात्मकं यो गृह्णाति नास्ति मूढतमस्ततः ॥ ३३
 आतिवाहिकमेवैषां भूतानां विद्यते वपुः ।
 अत्राधिभौतिकव्याप्तिरसत्यैव पिशाचिका ॥ ३४
 अजातसंकल्पमयं प्रत्यक्षं सत्कथं भवेत् ।
 स्वयमेव न यत्सत्यं तत्स्यात्कार्यकरं कथम् ॥ ३५
 यत्र प्रत्यक्षमेवासदन्यार्थं तत्र सद्भवेत् ।
 क्व तत्सत्यं भवेद्वस्तु यदसिद्धेन साध्यते ॥ ३६
 प्रत्यक्ष एव भावत्वे नष्टे केवानुमादयः ।

उद्धान्ते वारणा यत्र तत्रोर्णायुषु का कथा ॥ ३७
 अतः प्रमाणसंसिद्धं दृश्यं नास्त्येव कुत्रचित् ।
 अनन्यदिदमस्तीव तत्तद्ब्रह्मघनं घनम् ॥ ३८
 स्वप्ने द्रष्टुः खमेवादिर्गृहे नान्यस्य वै यथा ।
 तथा तद्भावनवतोरानयोः सा शिलैव चित् ॥ ३९
 अयं शैल इदं व्योम जगदेतदिदं त्वहम् ।
 इति चिन्मय आत्मान्तः खं चमत्कुरुते स्वयम् ॥ ४०
 पश्यत्येतत्प्रबुद्धात्मा नाप्रबुद्धः कदाचन ।
 श्रोतुः कथार्थसंविस्तिर्नाश्रोतुर्भवति कचित् ॥ ४१
 अप्रबुद्धमिति भ्रान्तिरेवेयं सत्यतां गता ।
 क्षीवस्य सुस्थिरा एव नृत्यन्ति तरुपर्वताः ॥ ४२
 सर्वत्राप्रतिहतमेकरूपबोधं
 प्रत्यक्षं शिवमनुबुध्य चित्स्वरूपम् ।
 प्रत्यक्षान्तरमिह पेलवं श्रयन्ते
 ये मूढास्तृणतनुभिः शठैरलं तैः ॥ ४३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भो० नि० च० पा० प्रमाणप्रतिसिद्ध्या दृश्यानुपपत्तिवर्णनं नामाष्टषष्ठितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः ६९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जगदङ्गमनाभासमदृश्यं दृश्यवत्स्थितम् ।
 परया दृश्यते दृष्ट्या तद्ब्रह्मैव निरामयम् ॥ १
 तत्र शैलसरित्स्रोतोऽलोकाऽलोकान्तरध्रमाः ।

पर्यवस्यत इत्याह—योगीति । मानसं स्पन्दनमिति शेषः ।
 तच्च प्रत्यक्षाधीनसिद्धिकत्वात्किंचिदस्ति न प्रत्यक्षसमसत्ता
 तस्यास्तीत्यनुवृत्तमेव तदपीति भावः ॥ १९ ॥ तथा च सर्वसाधार-
 णप्रत्यक्षमात्रे सर्वमन्यद्विहाय योगेन स्थिरता कार्या न पामर-
 जनमात्रप्रसिद्धे ऐहिकमात्रे स्थूलादिप्रत्यक्षे इत्याशयेनाह—
 आद्यमिति ॥ ३० ॥ एवं सुखेऽपि सर्वलोकसाधारणे योगिना-
 भवानुभवसिद्धे परमपुरुषार्थता न पामरजनप्रसिद्धे इत्याशये-
 नाह—यदिति । क्षणमात्रेण नाशानुभूतिमिदुःखपर्यवसितं
 प्राक्च दुःखसहस्रनिष्पादितं यद्विषयसुखं तदुःखमेवाहुर्विवेकिन
 इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ तत्तमेव दृढीचिकीर्षु पुनराह—प्रत्यक्षेणे-
 त्यादिना ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ मिथ्यासंकल्पमयस्य जन्मैव
 यत्र दुर्लभं तस्य सत्ता अत्यन्तदुर्लभा, असतव्यार्थक्रियासमर्थता
 ततोऽपि दूरनिरस्तेत्याह—अजातेति ॥ ३५ ॥ ननु चक्षुरा-
 दिप्रमाणप्रसाधितः प्रपञ्चः कथमपलप्यते तत्राह—यत्रेति ।
 योगिप्रत्यक्षवाधितत्वाच्चक्षुरादेरपीति भावः ॥ ३६ ॥ यदा
 साक्षादर्थसाधकेषु चक्षुरादिष्वियं गतिस्तदा तन्मूला अनुमाना-
 दयोऽपि दूरनिरस्ता इत्याह—प्रत्यक्ष एवेति । ऊर्णयोर्मै-
 पस्य । मत्तर्थायो सुख ॥ ३७ ॥ एवं दृश्यमार्जने फलितमाह—
 अनन्यदिति । यदिदं सदनन्यदस्तीवेति भासते तद्वर्न

भ्रान्ति ते परमादर्शे महाव्योमनि विम्बिताः ॥ २
 सा प्रविष्टा ततः सर्गं तमनर्गलचेष्टिता ।
 अहमुप्यविशं तत्र संकल्पात्मा तथा सह ॥ ३

सैन्धवघनतुल्यं ब्रह्मघनमेवेति फलितमित्यर्थः ॥ ३८ ॥ स्वप्ने
 अद्रिद्रष्टुः प्रसिद्धोऽद्विस्तदानीमपि खं शून्य एव । यत्तस्मिन्नेव
 काले जाग्रतः स्वपतो वा अन्यस्य सोऽग्निर्नास्ति । यथाऽयं दृष्टा-
 न्तस्तथा शिलाभावनवतोरानयोर्दृश्यापि सा शिला विदेवेत्यर्थः
 ॥ ३९ ॥ चमत्कुरुते । भासते इति यावत् ॥ ४० ॥ निदेवेत्यं
 प्रथते नान्यदिति प्रबुद्धात्मैव पश्यति नाप्रबुद्धः । यथा भार-
 तादिकथार्थसंविस्तिच्छ्रोत्रुरेव नान्यस्य तद्ददित्यर्थः ॥ ४१ ॥
 ॥ ४२ ॥ ये तु योगिप्रत्यक्षं पूर्णानन्दैकरसं स्वरूपमनुबुध्यापि
 तद्वाधितं चक्षुरादिप्रत्यक्षान्तरं पेलवं लुच्छमपि प्रमाणत्वेन
 सहन्ते तृणतनुभिस्तृणप्रायैः शठैरात्मवञ्चकैस्तैः अलं न किञ्चि-
 त्प्रयोजनमस्ति । खानुभवेऽपि विश्वासशून्या परवाक्यं कथं
 विश्वसीरञ्जित्यनुपदेष्टया एव ते इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे प्रमाणा-
 प्रतिसिद्ध्या दृश्यानुपपत्तिवर्णनं नामाष्टषष्ठितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

शिक्षासर्गप्रवेशोऽत्र तत्रत्यविधिदर्शनम् ।

स्वासितस्य मुनेस्त्वेन संभाषा चात्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

शिलोदरे जगत्सद्भाषसभावनाय तत्सत्तास्फूर्तिप्रदं तदधि-
 शानं ब्रह्म दर्शयति—जगदङ्गमिति । जगन्ति अत्रातीव
 यस्य । अनाभासं सूर्यादिव्योतिषामविषयः । अदृश्यं चक्षुराद्य-
 विषयः ॥ १ ॥ २ ॥ सा विद्याधरी । तत्र शिलोदरे । तं अङ्गकं

यावत्सा तत्र वैरिञ्चं लोकमासाद्य सोद्यमा ।
 उपविष्टा विरिञ्चस्य पुरः परमशोभना ॥ ४
 वक्तव्यं मुनिशार्दूल पतिर्मे पाति मामिमाम् ।
 विवाहार्थमनेनाहं जनिता मनसा पुरा ॥ ५
 पुराणः पुरुषोऽप्येष मामप्यद्य जरागताम् ।
 न विवाहितवांस्तेन विरागमहमागता ॥ ६
 विरागमेषोऽप्यायातो गन्तुमिच्छति तत्पदम् ।
 यत्र न द्रष्टृता नैव दृश्यता न तु शून्यता ॥ ७
 महाप्रलय आसन्नो जगत्सिञ्च्य संप्रति ।
 ध्यानान्न च चलत्येषु शैलमौनादिवाचलः ॥ ८
 तस्मान्मामेनमपि च बोधयित्वा मुनीश्वर ।
 आमहाकल्पसर्गादौ परमे पथि योजय ॥ ९
 इत्युक्त्वा मामसौ तस्य बोधयेदमुवाच ह ।
 नाथायं मुनिनाथोऽद्य सद्यः संप्राप्तवानिदम् ॥ १०
 एषोऽन्यसिञ्जगद्देहे ब्रह्मणस्तनयो मुनिः ।
 पूजयैनं गृहायातं गृहस्थगृहपूजया ॥ ११
 बुध्यतामर्घ्यपाद्येन पूज्यतां मुनिपुङ्गवः ।
 महन्महत्सपर्याभिर्महात्मभ्यो हि रोचते ॥ १२
 तयेत्युक्ते महाबुद्धिर्बुधे स समाधितः ।
 स्वसंविच्छिद्रवात्मत्वादावर्त इव चारिधौ ॥ १३
 शनैरुन्मीलयामास नयने नयकोविदः ।
 मधुः शिशिरसंशान्ताववनौ कुसुमे यथा ॥ १४
 शनैः प्रकटयामासुस्तान्यङ्गान्यस्य संविदम् ।
 मधुपल्लवजालानि नवानीव नवं रसम् ॥ १५
 सुरसिद्धाप्सरःसङ्घाः समाजग्मुः समंततः ।

सर्ग प्रविष्टा ॥ ३ ॥ सोद्यमा तैदानयनोद्यमवती सा तत्रत्यं
 वैरिञ्चं लोकमासाद्य विरिञ्चस्य पुरः उपविष्टा सती अयं मे पतिरि-
 स्यादिवाक्यं यावद्रक्ति तावदस्मिन्नगति महाप्रलय आसन्न इति
 पञ्चमेऽन्वयः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ पुनः सैवाह—संप्रती-
 स्यादिना ॥ ८ ॥ तत्त्वोपदेशेन बोधयित्वा आमहाकल्पं
 वैज्ञानिकप्रलयपर्यन्तं ये ये प्रसिद्धाः सर्गास्तेषामादौ मूलभूते
 ब्रह्माख्ये पथि योजय ॥ ९ ॥ तस्य चतुर्मुखस्य बोधाय समा-
 धिन्युत्थानाय उचितार्थावगमाय च ॥ १० ॥ गृहस्थानां गृहे-
 षूचितया पूजया पूजय प्रीणय ॥ ११ ॥ त्वया अयं मुनिपुङ्गवः
 पूज्यत्वेन बुध्यताम् । अत एवार्घ्यपाद्येन पूज्यताम् । यतो
 महात्मभ्यस्त्वादशेभ्यो महत्सपर्याभिः प्रार्थ्य यन्महत्फलं तदेव
 रोचते न क्षुद्रम् । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति चतुर्थी ॥ १२ ॥
 ॥ १३ ॥ कुसुमे द्वे नयनयोरुपमे । मधुर्यया उन्मीलयति
 तद्वत् ॥ १४ ॥ मधोः संबन्धीनि पल्लवजालानि नवं स्वरसमिवे-
 ल्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥ प्रणवपूर्वकैः स्वरैः सुन्दरं यथा स्यात्तथा
 ॥ १७ ॥ करामलकवत् दृष्टः संसारलक्षणस्य असारस्य सारः
 आत्मा येन ॥ १८ ॥ १९ ॥ दृष्ट्या कटाक्षेण दर्शिते मणिमये

यथा हंसालयो लोलाः प्रातर्विकसितं सरः ॥ १६
 ददर्शासौ पुरःप्राप्तं मां च तां च विलासिनीम् ।
 उवाचाथ वचो वेधाः प्रणवस्वरसुन्दरम् ॥ १७
 अन्यजगद्ब्रह्मोवाच ।
 करामलकवद्दृष्टसंसारसारसार हे ।
 ज्ञानामृतमहाम्भोद मुने स्वागतमस्तु ते ॥ १८
 पदवीमसि संप्राप्त इमामतिदवीयसीम् ।
 दूराध्वसुपरिश्रान्त इदमासनमास्यताम् ॥ १९
 इत्युक्ते तेन भगवन्नभिवादय इत्यहम् ।
 धन्मणिमये पीठे निविष्टो दृष्टिदर्शिते ॥ २०
 अथामरर्षिगन्धर्वमुनिविद्याधरोदिताः ।
 प्रस्तुताः स्तुतयः पूजा नतयः स्थितिनीतयः ॥ २१
 ततो मुहूर्तमात्रेण सर्वभूतगणोदिते ।
 शान्ते प्रणतिसंरम्भे तस्योक्तं ब्रह्मणो मया ॥ २२
 किमिदं भूतभव्येश यदियं मामुपागता ।
 वक्ति ज्ञानगिरास्मांस्त्वं बोधयेति प्रयत्नतः ॥ २३
 भवान्भूतेश्वरो देव सकलज्ञानपारगः ।
 इयं तु काममूर्खा किं ब्रूते ब्रूहि जगत्पते ॥ २४
 कथमेषा त्वया देव जायार्थं जनिता सती ।
 नेह जायापदं नीता नीता विरसतां कथम् ॥ २५
 अन्यजगद्ब्रह्मोवाच ।
 मुने शृणु यथावृत्तमिदं ते कथयाम्यहम् ।
 यथावृत्तमशेषेण कथनीयं यतः सताम् ॥ २६
 अस्ति तावदजं शान्तमजरं किञ्चिदेव सत् ।
 ततश्चित्कचनैकान्तरूपिणः कञ्चितोऽस्म्यहम् ॥ २७

पीठे अहं निविष्ट उपविष्टः ॥ २० ॥ स्थितिनीतयो युक्तव्य-
 वहारनीतयः ॥ २१ ॥ सर्वभूतगणैर्गन्धर्वादिभिरुदिते नागादिभिः
 कृते प्रणतिसंरम्भे शान्ते सति ॥ २२ ॥ इयं विद्याधरी
 मामुपागता सती अस्मांस्त्वं ज्ञानगिरा बोधयेति यद्वक्ति इदं
 किमुचितमनुचितं वेत्यर्थः ॥ २३ ॥ कुतस्तेऽयं संशयस्तत्राह—
 भवानिति । तथा च तव कृतकृत्यत्वान्मदुपदेशापेक्षैव नास्ति,
 अस्यास्तु साधनसंपत्त्यभावादधिकारो नास्तीत्युपदेशप्रार्थनानुप-
 पत्तेः संशय इति भावः ॥ २४ ॥ संशयान्तरं दर्शयति—
 कथमिति । विरसतां निर्वेदम् ॥ २५ ॥ सत्यं ममास्याश्च नोप-
 देशार्हता तथापीयं स्ववासनयैव ममाप्यज्ञतां स्वस्या अधिकारं
 च मन्यमाना त्वां प्रार्थितवती, तथा अस्या जन्ममात्रं मया
 संपादितं जायार्थमहं जनिता अहं चास्य भार्यासीत्यादिकल्पना
 सर्वाप्यस्याः स्ववासनयैव संपन्ना । अत एवास्या मद्भासनामात्रत्वा-
 न्निध्याभूतायाः सांप्रतं मम विदेहकैवल्यप्राप्त्यैव सह स्वकल्पित-
 प्रपञ्चेन प्रलयस्वरसमक्षमेव भविष्यतीत्युत्तरं विस्तराद्वक्तुकामः
 प्रतिजानीते—मुने इति ॥ २६ ॥ तत्रादौ वक्ष्यमाणोपोद्धातेन
 'ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च

आकाशरूप एवाहं स्थित आत्मनि सर्वदा ।
 भविष्यति स्थिते सर्वं स्वयंभूरिति नाम मे ॥ २८
 वस्तुतस्तु न जातोऽसि न च पश्यामि किंचन ।
 चिदाकाशश्चिदाकाशे तिष्ठाम्यहमनावृतः ॥ २९
 यद्यं त्वं ममाहं ते यदिदं कथनं मिथः ।
 तत्सरङ्गस्तरङ्गाग्रे रणतीवेति मे मतिः ॥ ३०
 एवरूपस्य मे कालवशतोऽविशदाकृतेः ।
 सा कुमार्याश्चिदाभासमात्रस्यान्तः स्वभावतः ॥ ३१
 ममानन्या तवान्यस्य चान्येवेह विभाति या ।
 सोदितानुदितेवान्तर्ममाहमिति वासना ॥ ३२
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वाल्मीकीये दे० श्लोकोपा० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषाण० सर्गप्राप्तिर्नामैकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

अनाशसत्तानुदितस्त्वहमात्मात्मनि स्थितः ।
 स्वभावादव्युताकारः स्वात्मारामः स्वयं प्रभुः ॥ ३३
 तस्या अहमिति भ्रान्तेर्वासनाया जगत्स्थितेः ।
 संपन्नेयमधिष्ठातृदेवता देहरूपिणी ॥ ३४
 वासनाया अधिष्ठातृदेवतैवमियं स्थिता ।
 न तु मे गृहिणी नापि गृहिण्यर्थेन सत्कृता ॥ ३५
 स्ववासनावेशवशेन भावं
 गृहिण्यहं ब्रह्मण इत्युपेत्य ।
 एषा स्वयं व्यर्थमितातिदुःखं
 यस्मात्किलैषैव हि वासनान्तः ॥ ३६

सप्ततितमः सर्गः ७०

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच ।

अथाहं चिन्मयाकाशस्त्वन्याकाशमयीं स्थितिम् ।
 परां ग्रहीतुमिच्छामि तेनेहोपस्थितः क्षयः ॥ १
 महाप्रलयकालेऽसिस्त्यक्तमेघा मयाधुना ।
 मुनीन्द्र नूनमारब्धा तेन वैरस्यमागता ॥ २
 आकाशत्वाद्यदाद्योऽयं पराकाशो भवाम्यहम् ।
 तदा महाप्रलयता वासनायाश्च संक्षयः ॥ ३

सह सिद्धं 'चतुष्टयम्' इति पुराणप्रसिद्धमौत्पत्तिकं तत्त्वज्ञानं
 स्वस्यात्मीति प्रकाशयितुं स्वकारणं तत् स्तोत्पत्तिस्वरूपं चाह—
 अस्तीति । कचित्तोऽसि प्रकटीभूतोऽसि ॥ २७ ॥ तादृश-
 तत्त्वज्ञानबाधिता स्तोत्पत्तिस्तत्प्रयुक्तस्वनाम च कथं प्रसिद्धं
 तत्राह—आकाशेति । व्यवहर्तृप्रजासर्गे उत्पद्य स्थिते सति
 तद्गुह्या व्यावहारिकं स्वयंभूरिति नाम भविष्यति ॥ २८ ॥
 वस्तुतस्तत्त्वज्ञानं तु ॥ २९ ॥ तर्हि तत्त्वविदोरावयोः प्रश्नोत्तरादि-
 व्यवहारः कीदृशस्तत्राह—यदिति । यथा एक एव समुद्रोऽ-
 खण्डस्तरङ्गमेवैव । खण्डनपरस्परघातैर्ध्वनिवैविध्यं दर्शयति तद्व-
 दिति भावः ॥ ३० ॥ एवं समुद्रात्तरङ्गवरीषत्कल्पितस्वपरदृष्टि-
 वैद्यमेदरूपस्य कालवशात् द्वैषत्स्वरूपविस्मरणादविशदाकृतेर्मे-
 नान्तरीयकचिदाभासमात्रस्यान्तर्या ममाहमिति वासना उदिता
 सा कुमार्या अन्यस्य तव अन्येव विभाति मम तु अनन्या
 विभाति । सा उदिता अनुदिता वाचयोर्दृशेति द्वयोरन्वयः ॥ ३१ ॥
 ॥ ३२ ॥ त्वं तर्हि स्वदशा कीदृक् तत्राह—अनाशेति । अहं ह्य-
 अनाशसत्ता यतोऽनुदितः ॥ ३३ ॥ ईदृशात्त्वत्त इयं कथ-
 नुत्पन्ना का च वा तत्राह—तस्येति । आ अहमिति भ्रान्तेः ।
 स्मरणे आकारः अङ्कितः प्रयुज्यते । पूर्वपूर्वाहंकारसत्कारप्रभव-
 त्वात्सत्तिकल्पाया अहमिति भ्रान्तेर्जगत्स्थितेर्वासनायाश्चाधि-
 ष्ठात्री देवता इयं मत्संकल्पादेहरूपिणी संपन्नेत्यर्थः ॥ ३४ ॥
 ॥ ३५ ॥ तर्हीयं त्वां कथं पतिरिति श्रूते तत्राह—स्वेति ।
 यस्यावैषैव अन्तः सर्वजगद्वासना अतो गृहिण्यहमिति स्वमनीष-

तेनैषा विरसीभूता मन्मार्गं परिधावति ।
 नानुगच्छति को नाम निर्मातारमुदारधीः ॥ ४
 इहाद्यायं कलेरन्तश्चतुर्युगविपर्ययः ।
 प्रजामन्विन्द्रदेवानामद्यैवान्तोऽयमागतः ॥ ५
 अद्यैव चायं कल्पान्तो महाकल्पान्त एव च ।
 ममायं वासनान्तोऽद्य देहव्योमान्त एव च ॥ ६
 यैवोपेत्य व्यर्थमितिदुःखमिता प्राप्ता ॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्गप्राप्ति-
 र्नामैकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

वर्ण्यते वासनादेव्या इह निर्वेदकारणम् ।

प्रलयो जगत्श्चाथ मिथ्याविभ्रममाश्रया ॥ १ ॥

'कथमेषा त्वया ब्रह्मन् जायार्थं जनिता सती । नेह
 जायापदं नीता' इति प्रश्नस्योत्तरमुक्तम्, इदानीं 'नीता विरसतां
 कथम्' इति प्रश्नस्योत्तरं वक्तुमारभते—अथेत्यादिना । अथ
 स्वसंकल्पकल्पितद्विपराधीयुः प्रमाणादनन्तरं चिन्मय चिद्विबर्त-
 रूपो यश्चिताकाशस्तद्रूपोऽहं परां निरतिशयानन्दरूपामन्याका-
 शमयीं ब्रह्माकाशात्मिकां कैवल्यस्थितिम् । तेन हेतुना इह
 महासनाकल्पिते जगति क्षयो नित्यो नैमित्तिको दैनंदिन आस-
 न्तिकश्चेति पुराणप्रसिद्धश्चतुर्विधोऽपि प्रलय उपस्थितः ॥ १ ॥
 त्यक्तुं मूलोच्छेदात्स्वसत्तातः प्रच्यावयितुम् । तेन हेतुना वैरस्यं
 क्षयोन्मुखताम् ॥ २ ॥ तत्रोपपत्तिमाह—आकाशत्वादिति ।
 त्यक्तोपे पञ्चमी । अयमहं यदा चिताकाशतां विहाय आतो
 ब्रह्माकाशो भवामि तदेत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥ कलेश्वरमकल्प-
 रसमन्वन्तरचरमकलियुगस्यान्तः परिसमाप्तिकालः । प्रजाश्च
 मनुश्चेन्द्रश्च देवाश्च तेषाम् ॥ ५ ॥ चतुर्विधप्रलयानामथ युग-
 पत्प्राप्तिरित्याह—अद्यैवेति । वासनान्तः 'इत्याद्यन्तिकवैश-
 निकप्रलयोक्तिः । देहव्योमान्तः इति प्राकृतप्रलयोक्तिः ॥ ६ ॥

तेनेयं वासना ब्रह्मन्धयं गन्तुं समुद्यता ।
 केच पद्माकराशोपे गन्धलेखावतिष्ठताम् ॥ ७
 यथा जडान्धिलेखाया जायते लहरी चला ।
 वासनायास्तथैवेच्छा मुद्योदेत्यपकारणम् ॥ ८
 आभिमानिकदेहाया वासनायाः स्वभावतः ।
 अस्या आत्मावलोकनेच्छा स्वयमेवोपजायते ॥ ९
 आत्मतत्त्वं तु पश्यन्त्या धारणाभ्यासयोगतः ।
 दृष्टोऽनया भवत्सर्गो वर्गव्यग्रनिर्गलः ॥ १०
 अनयाम्बरसंचारपरयाद्रिशिरःशिला ।
 दृष्टा स्वजगदाधारभूतास्माकं तु खात्मिका ॥ ११
 पतद्यस्मिज्जगद्यत्र तद्गुणत्वं जगद्भिरौ ।
 असज्जगत्पदार्थेषु संत्यन्यानि जगन्त्यपि ॥ १२
 वयं तानि न पश्यामो भेददृष्टौ स्थिता इमे ।
 बोधैकतां गतास्त्वाशु पश्यामस्तानि वीक्षणात् ॥ १३
 घटे पटे वटे कुड्ये खेऽनलेऽम्भसि तेजसि ।
 जगन्ति सन्ति सर्वत्र शिलायामिव सर्वदा ॥ १४
 जगन्नाम मुधा भ्रान्तिः किल स्वप्नपुरोपमा ।
 मिथ्यैवेयं क्व नामासौ चिद्रूपास्त्यथ नास्ति च ॥ १५
 परिज्ञाता सती येषामेषा चिद्भ्रमसैकताम् ।
 गता ते न विमुह्यन्ति शिष्टास्तु भ्रमभाजनम् ॥ १६
 अथान्यधारणाभ्यासात्स्वविरागवशोदितम् ।
 साधयन्त्याऽर्थमात्मीयं दृष्टस्त्वमनया मुने ॥ १७

तेन आत्मावलोकनेच्छादिकारणकलापेन ॥ ७ ॥ स्वनाशहेतौ
 स्वात्मावलोकनेऽस्याः कयमिच्छा जायते इति चेत्स्वभावादे-
 वेति सोपपत्तिकमाह—यथेत्यादिना । अपकारणं कारणान्तरं
 विना, स्वभावादेवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥ तर्ह्यस्या अस्मदीयब्रह्माण्ड-
 दर्शने को हेतुस्तमाह—आत्मेति । आत्मज्ञानार्थं प्रवृत्तस्य
 धारणाभ्यासस्य ब्रह्माण्डान्तरगमनादिसिद्धयो नान्तरीयकं
 फलमिति तत्परीक्षेच्छैव तदेतुरिति भावः । वर्गेषु धर्मार्थादि-
 चतुर्वर्गेषु व्यग्रा निर्गलाः प्रजा यस्मिन् ॥ १० ॥ प्रागुक्त-
 शिलादर्शनमप्यस्यास्तद्वलादेवेत्याह—अनयेति ॥ ११ ॥ १२ ॥
 भेददृष्टौ व्युत्थानदशायां स्थिता वयं न पश्यामः । समाधिना
 बोधैकतां गतास्तु योगदशा वीक्षणात्पश्याम एव ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥ इयं जगन्माया मिथ्यैव । असौ मिथ्याभ्रान्तिः क्व
 नामास्ति । यद्यस्ति च तर्ह्यधिष्ठानचिद्रूपा अन्यथैवास्ति न
 प्रतीयमानजडरूपेत्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥ 'किमिदं भूतभन्येश
 यदियं मामुपागता' इति यत्स्वसमीपागमनसामर्थ्यकारणं पृष्टं
 तस्योत्तरमाह—अथेति । अथ प्रागुक्तनिर्वेदप्राप्त्यनन्तरं
 स्वविरागवशादुदितमात्मीयं स्वाभिलषितमात्मज्ञानानुकूलं च
 गुरुरूपसदनध्वणमननादर्थं त्वदुपदेशात्साधयन्त्या साधयितु-
 मिच्छन्त्या अनया अन्यासां प्रागुक्तजगत्सर्गदर्शनहेतुधारणा-
 न्यतिरिक्तानां खेचरसिद्धिब्रह्माण्डान्तरसंचारपरमनःकल्पितसू-
 क्ष्मार्थानुप्रवेशसिद्धसंदर्शनसंभाषणादिसिद्धिहेतूनां चूडालोपा-

इति मायेव दुष्पारा चिच्छक्तिः परिजृम्भते ।
 इत्थमाद्यन्तरहिता ब्राह्मी शक्तिरनामया ॥ १८
 प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते नेह कार्याणि कानिचित् ।
 द्रव्यकालक्रियाद्योता चित्तिस्तपति केवलम् ॥ १९
 देशकालक्रियाद्रव्यमनोबुद्ध्यादिकं त्विदम् ।
 चिच्छिलाङ्गकमेवैकं विद्ध्यनस्तमयोदयम् ॥ २०
 चिदेवेयं शिलाकारमवतिष्ठति विभ्रती ।
 अङ्गमस्या जगज्जालं मरुतः स्पन्दनं यथा ॥ २१
 विज्ञानघनमात्मानं जगदित्यवबुध्यते ।
 अनाद्यन्तापि साद्यन्ता चित्त्वादिति गतापि चित् ॥
 चिच्छिलेयमनाद्यन्ता साद्यन्तास्तीति बोधतः ।
 साकारापि निराकारा जगदङ्गेति संस्थिता ॥ २३
 यद्वत्त्वमे चिदेव स्वं रूपं व्योमैव पत्तनम् ।
 वेत्ति तद्वदिदं वेत्ति पाषाणं जगदङ्गकम् ॥ २४
 न सरन्तीह सरितो न चक्रं परिवर्तते ।
 नार्थाः परिणमन्त्यन्तः कचत्येतच्चिदम्बरम् ॥ २५
 न महाकल्पकल्पान्तसंविदः संविदम्बरे ।
 संभवन्ति पृथग्रूपाः पयसीव पयोन्तरम् ॥ २६
 जगन्ति सन्त्येव न सन्ति शान्ते
 चिदम्बरे सर्वगतैकमूर्तौ ।
 नभोन्तराणीव महानभोन्त-
 श्रित्सन्ति सत्तानि पराम्बराणि ॥ २७

ख्यानोपवर्णितधारणाविशेषाणामभ्यासात्त्वत्संकल्पकल्पितं त्व-
 त्समाधिस्थानं परिज्ञाय तत्र गतया अनया अन्तर्हितोऽपि त्वं
 दृष्ट इत्यर्थः ॥ १७ ॥ इति वर्णितप्रकारेण जीवचिच्छक्तिरविद्या
 ऐन्द्रजालिकमायेव परिजृम्भते । ब्राह्मी च मायाशक्तिरित्यमेव
 परिजृम्भते । सा तु विद्या, निरस्तावरणशक्तित्वादनानामयेति
 विशेष इत्यर्थः । अथवा पूर्वार्धेन मायेव मायिकोपाधीननुस-
 रन्ती जीवचिच्छक्तिर्विजृम्भत इत्यङ्गकथा, उत्तरार्धे तु ब्राह्मी-
 शक्तिरविर्भूता ब्रह्मचिदेव सर्वतो विजृम्भत इति तत्त्वज्ञकयेति
 योज्यम् ॥ १८ ॥ प्रवर्तन्ते उत्पद्यन्ते । निवर्तन्ते नश्यन्ति ।
 किंतु केवलं चित्तिरेव द्रव्यमिव काल इव क्रियेव द्योतमाना
 तपति स्फुरति ॥ १९ ॥ अज्ञानां प्रतिकृतिरङ्गकम् । 'इवे प्रति-
 कृतौ' इति क्व ॥ २० ॥ अवतिष्ठत्यवतिष्ठते । छान्दसः पद-
 व्यत्ययः ॥ २१ ॥ चित् एवेदं विपरीतदर्शनं भ्रान्तचित्स्वभा-
 वादेवेत्याह—विज्ञानेति । साद्यन्ता देशकालकृतपरिच्छिन्ना
 इति एवंविधवस्तुकृतपरिच्छेदमपि गता ॥ २२ ॥ निराकारापि
 साकारा सती जगन्ति अज्ञानि यस्यास्तथाविधेति वैपरीत्येन
 संस्थिता ॥ २३ ॥ यद्वत् यथा स्वप्ने चिद्बोमैव स्वरूपं पत्तनं
 वेत्ति तद्वज्जागरेऽपि जगच्चिद्बोमैव जगदङ्गकं गिरिपाषाण-
 मपि वेत्ति पश्यति ॥ २४ ॥ स्वप्नवदेव प्रबोधे बाधसाम्यं
 दर्शयति—न सरन्तीति ॥ २५ ॥ पयसि समुद्रे तरङ्गादि
 पयोन्तरमिव पृथग्रूपाः ॥ २६ ॥ एवं सति अध्यारोपदृष्ट्या दर्शने

वसिष्ठ तद्गच्छ मुने जगत्स्वं
त्वं वासने संप्रति शान्तिमेहि ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजमयणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पा० विलान्तर्जगत्पितामहवाक्यानि नाम सप्ततितमः सर्गः ॥७०॥

बुद्ध्यादिरूपाणि परं व्रजन्तु
वयं बृहद्ब्रह्मपदं प्रयामः ॥

२८

एकसप्ततितमः सर्गः ७१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा भगवान्ब्रह्मा ब्रह्मलोकजनैः सह ।
घटपद्मासनोऽनन्तसमाधानगतोऽभवत् ॥ १
ओंकारार्थोऽर्धमात्रान्तः शान्तनिःशेषमानसः ।
लिपिकर्मर्षिताकार आसीदशान्तवेदनः ॥ २
तमेवानुसरन्ती सा तथैव ध्यानगा सती ।
वासनासीदशेषांशा शान्ता चाकाशरूपिणी ॥ ३
परमेष्ठिन्यसंकल्पे तस्मिन्स्तानवमेयुषि ।
सर्वगानन्तचिद्योमरूपोऽपश्यमहं यदा ॥ ४
यावत्संकल्पनं तस्य विरसीभवति क्षणात् ।
तथैवाशु तथैवोर्व्याः साद्रिद्वीपपयोनिधेः ॥ ५
वृणुगुल्मलताशालिसमुद्भवशकता ।
समस्तैवास्तमागन्तुमारब्धा च शनैःशनैः ॥ ६

किल तस्य विराडात्मरूपस्याङ्गैकदेशताम् ।
सा विभर्ति मही तेन तदसंवेदनोदयात् ॥ ७
विचेतना सा विरसा बभूव परिजर्जरा ।
मार्गशीर्षान्तवल्लीव जराविधुरतां गता ॥ ८
यथासाकमसंविचेरङ्गाली विरसा भवेत् ।
तथा विरचितसंविचेर्धरा वैधुर्यमागता ॥ ९
संपन्ना संवृतानेकमहोत्पातमरावृता ।
दुष्कृताङ्गारनिर्दग्धनरकोन्मुखमानवा ॥ १०
दुर्मिक्षाकाण्डदौस्थित्यदैन्यदारिद्र्यदुर्मगा ।
दुःशीलाशेषवनिता निर्मेयादनरावृता ॥ ११
पांसुप्रमन्दनीद्वारधूलिधूसरसूर्यका ।
द्वन्द्विमूर्खमहादुःखिर्व्यसनिर्व्याधिताकुला ॥ १२
अग्निदाहजलापूरयुद्धप्रोच्छिन्नमण्डला ।
अवृष्टववप्रहोषप्रकष्टचेष्टितपामरा ॥ १३

जगन्त्यनन्तानि सदैव सर्वत्रैव चित्सत्तया सन्त्येव नाशुमात्रमपि
क्वापि किञ्चिदप्यपलपितुं शक्यम् । अपवाददृष्ट्या वर्शनेन
क्वापि किञ्चिदपि चित्स्वरूपव्यतिरेकं समर्थयितुं शक्यमिति
फलितमित्याह—जगन्तीति । यथा महानभोन्तर्घटाकाशादि-
नभोन्तराणि महानभःसत्तया सन्ति पृथङ् न सन्ति तथा तानि
जगन्त्यपि पराम्बराणि शून्यान्यपि चित्सन्ति सद्भवन्तीत्यर्थः
॥ १७ ॥ हे वसिष्ठमुने, त्वं संप्रति तत्त्वं जगद्गच्छ तत्र
चैकान्तकल्पिते प्राक्ते निजासने समाधिना शान्तिं निर्विघ्नोप-
सृखमेहि । इमानि मत्कल्पितानि बुद्ध्यादिजगद्रूपाणि प्रलयेन
परमव्यक्तं व्रजन्तु । वयं तु हैरण्यगर्भोपाधिसहितमूलाज्ञान-
धायेन परं पदं केवल्यार्थं प्रयाम इत्यर्थः ॥ २८ ॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहाराजमयणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विला-
न्तर्जगत्पितामहवाक्यानि नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

कल्पनाहेतुवैधानसंकल्पोपशमक्रमात् ।

सत्कल्पितानां भूतानां वर्ण्यते प्रलयक्रमः ॥ १ ॥

न विद्यते अन्तः अवसानं पुनर्व्युत्थानं यस्मात्तथाविधं
यत्समाधानं समाधिस्तत्परः ॥ १ ॥ ओंकारस्य उत्तरार्धं या
अर्थमात्रा तदन्तर्नादविन्दुशक्तिशान्ताख्यतद्भागेषु क्रमाच्चित्त-
विलापनेनान्ते शान्तनिःशेषवासन इति संप्रहोक्तिः ॥ २ ॥ न
शिष्यन्ते अद्याः स्मृतिधीजमेदा यस्यां तथाविधा भूत्वा शान्ता
सती आकाशरूपिणी शून्यस्वभावा आसीत् ॥ ३ ॥ इदं तदीय-
मान्तरं रहस्यं त्वं कथमब्रवीष्यत्राह—परमेष्ठिनीति । स्थूल-

सूक्ष्मकारणलक्षणार्थसहितप्रणवमात्राप्रविलयक्रमेण स्ववासना-
क्षयात्तानवमुत्तरोत्तरसूक्ष्मभावं आ ईयुषि एयुषि सति अह-
मपि समाधिना सर्वगानन्तचिद्योमरूपः संस्तत्सर्वमपश्यम् ।
मनु ईयुषीति परोक्षे लिटः क्रूरपश्यमित्यपरोक्षोक्तिश्च वि-
ध्यते । नैष दोषः । वसिष्ठस्य समाध्यारम्भात्प्राग्दशामालम्ब्य
पारोक्ष्यम्, समाध्यारूढदशामालम्ब्यापारोक्ष्यमित्युभयो-
पपत्तेः । न चैवं तुल्यकालताद्योचकभावलक्षणसप्तमीविरोधः ।
सामीप्यातिशयेनापि भावस्य भावान्तरलक्षकत्वदर्शनात्तुल्यका-
लत्वोपचारेणापि तदुपपत्तेरिति ॥ ४ ॥ तस्य विधेः संकल्पनं
शनैःशनैस्तत्क्षणादारभ्य यथा यथा भावद्विरसीभवति तावत्तथैव
तथैव साद्रिद्वीपपयोनिधेरुर्व्यास्तृणगुल्मादिसमुद्भवशकता तथा
समस्तैव जलादीनामपि शक्तिरस्ति गन्तुमारब्धेति परेणान्वयः
॥ ५ ॥ ६ ॥ सुमूर्षोर्विदुषः सर्वदेहव्यापिसवेदनस्य तत्सहारे
तद्वैरस्यवद्वा तत्र विराड्देहानयवपृथ्व्यादीनां वैरस्यं बोध्यमि-
त्याशयेनाह—किलेति । तदसंवेदनस्य तत्संवेदनोपसंहारस्य
उदयात्सा विचेतना सती विरसा परिजर्जरा बभूवेति परेण-
ान्वयः ॥ ७ ॥ ८ ॥ आशयस्यं दृष्टान्तं प्रकाशयति—यथेति
॥ ९ ॥ कथं कथं विजर्जरा बभूवेत्येतत्प्रपञ्चयति—संपन्नेला-
दिसार्धपञ्चदशभिः । तत्र मनुष्याणां नासादौ कलिकल्मषमपि
निमित्तमित्याशयेन तत्प्रपञ्चयन्नाह—दुष्कृतेत्यादि ॥ १० ॥
दौस्थित्यैः राजचोराद्युपलब्धैः ॥ ११ ॥ पांसुवत्प्रमन्दनीद्वारेधूलि-
भिश्च धूसरो मात्सरो यस्याम् । शीतोष्णादिद्वन्द्विभिस्त्रिभिश्च आकुल-
पाये मूर्खैरत एव महादुःखिभिर्दुर्व्यसनिभिर्व्याधितैश्च आकुल-

अशङ्कितमहोत्पातपतत्पर्यतपत्तना ।
 शिशुथोत्रियमुन्यार्यगुणिनाशरुदजना ॥ १४
 अशङ्कितस्थलीमध्यसंजातागाधकूपका ।
 वर्णसंकरनारीणामासक्तजनभूमिषा ॥ १५
 अट्टशूलखिलजना शिवशूलचतुष्पथा ।
 केशैकशूलवनिता पात्रशूलजनेश्वरा ॥ १६
 दुःखशूलसमाचारा द्वन्द्वशूलखिलप्रजा ।
 अधर्मशूलवनिता पानशूलजनेश्वरा ॥ १७
 अधर्मशूलवलिता कुशास्त्रशतशूलिनी ।
 दुर्जनाखिलवित्ताढ्या विपद्भिहतसज्जना ॥ १८
 अनार्यवसुधापाला तदनाहतपण्डिता ।
 लोभमोहभयद्वेपरागरोरगजोरता ॥ १९
 अप्यन्यगामिपुरुषा रूपाभिहतसद्विजा ।
 अनारतपराक्रन्दपरापर्यन्तपामरा ॥ २०
 दस्यूत्सन्नपुरग्रामदेवद्विजसमाश्रया ।
 आपातमधुरारम्भदुःखदोदरभङ्गुरा ॥ २१
 आलस्योल्लासविलसत्कार्यवैधुर्यधर्मिणी ।
 सर्वापदुपतापान्ता क्रमेणोत्सन्नदिग्गणा ॥ २२
 भस्मशेषपुरग्रामा निर्जनाखिलमण्डला ।
 रोरुयमाणभस्माभ्रकुण्डलोद्गमराम्बरा ॥ २३
 दुर्भगाडम्बरारम्भरोदनोरुरवोदरी ।
 मुष्टिप्रमाणजनता जनतापानुषङ्गिणी ॥ २४

॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ जलदौर्लभ्यादशङ्कितं स्थलीमध्ये यत्र
 कचन जलाशयाखननात् सर्वतः संजाता अगाधकूपका
 यस्याम् । वर्णसंकराय नारीणां मध्ये गोत्रसापिण्ड्यागम्यादि-
 विचारं विनैव विवाहाद्यासक्ता जना भूमिषाश्च यस्याम् ॥ १५ ॥
 अथत इत्यट्टमोदनादि शूलं विक्रयापहारादिना उपजीव्यं येषां
 तथाविधा अखिलजना यस्याम् । शिवः शूलकं तदेव शूलमुप-
 जीव्यं येषु तथाविधानि चतुष्पथानि यस्याम् । केशो भगः स
 एवैकं शूलमुपजीव्यं यासां तथाविधा वनिता यस्याम् । पात्रं
 शिरः करस्त्वदेव शूलमुपजीव्यं येषां तथाविधा नरेश्वरा राजानो
 यस्यामिति संप्रदायन्याख्या । अथवा 'अट्ट अतिक्रमे' इति धातोः
 अट्टः स्वस्ववर्णाश्रमोचितवृत्त्यतिक्रमः । शिवाः सृगालाः ।
 केशाः प्रसिद्धा एव । पात्रं वैश्यानतं कथादयश्च शूलरोग इव
 व्यसनक्रन्दनहेतवो येषामिति यथायोगं योज्यम् । शेषं प्राग्वत्
 ॥ १६ ॥ एवं दुःखान्येव शूलानीव प्राणिक्रन्दनहेतवो येषां
 तथाविधा जनसमाचारा यस्याम् । एवमग्रेऽपि ॥ १७ ॥
 अधर्मशूलैरधर्माक्रोशपरैर्जनैः सर्वतो वलिता । कुशास्त्रशतैर्वे-
 दबाणैः शूलिनी रोगार्तेव साक्रन्दा । दुर्जनाश्चोरपिशुनाद-
 योऽखिलजना वित्ताढ्या यत्र ॥ १८ ॥ १९ ॥ अन्यगामिनः
 स्वधर्मत्यागेन परधर्मप्रवृत्ताः पुरुषा यत्र । रूपा क्रोधेन अभि-
 हताः सन्तो द्विजाः स्वधर्मोपदेष्टारो यत्र । अनारतं परेषामा-
 क्रन्दे रोदने तत्परा अपर्यन्ताः पामरा यत्र ॥ २० ॥ अन्याया-

नीरसाशेषदेशान्ता सर्वर्तुगुणवर्जिता ।
 इत्यस्य पार्थिवे धातौ ब्रह्मणो गतवेदने ॥ २५
 पृथिवी पृथुवैधुर्या संपन्नासन्ननाशतः ।
 अथ तत्संविदुन्मुक्तो जलधातुः क्षयोन्मुखः ॥ २६
 यदा विभ्रुमितात्मासीत्तदा नियतिलङ्घनात् ।
 समुत्सार्यार्यमर्यादामर्णवा विवृतार्णसः ॥ २७
 प्रवृत्ता विकृतिं गन्तुमुन्मत्ता इव राविणः ।
 वीचिविक्षोभविन्यासैर्वेलाविपिनलावकाः ॥ २८
 कल्लोलवलनावर्तविवर्तोद्वर्तिताश्रयाः ।
 महाभ्रमदुत्तुङ्गतरङ्गात्तनभोदिशः ॥ २९
 बृहद्गुलावर्तगर्जनोद्वक्कन्दराः ।
 सीकरोधमहारम्भधनसंवलितचलाः ॥ ३०
 चलच्चलचलहीरमकराघूर्णितान्तराः ।
 उल्लसन्मकराक्रान्तहुमकाननितोदराः ॥ ३१
 दरीविदारणधर्षसिंहाहतजलेचराः ।
 ऊर्ग्युदस्तमहारत्नभरतारकिताम्बराः ॥ ३२
 उत्फालमकरच्छन्नभश्चरबृहद्वनाः ।
 परस्परौर्मिसंघट्टभांकारकटुटांठताः ॥ ३३
 तरत्तरलमातङ्गफूत्कारा धौतभास्कराः ।
 अन्योन्यवेल्लनव्यग्रप्रविदीर्णाद्रिभिस्तयः ॥ ३४
 तटपर्वतलुण्टाकतरङ्गकरमण्डलाः ।
 गर्जद्विरिदरीगेहविशदुन्मत्तचारयः ॥ ३५

जितवित्तैर्मरणकाले आपातमधुरारम्भं परिणामे परलोके च
 दुःखदं उदरं येषां तथाविधा भङ्गुरा अल्पायुषो यत्र ॥ २१ ॥
 आलस्योल्लासेन विलसत्संभ्यावन्दनादिकार्यवैधुर्यं येषां तथा-
 विधा धर्मिणो धार्मिकजना यत्र । सर्वेषामापद उपतापा
 रोगाश्चान्ते यस्याम् ॥ २२ ॥ रोरुयमाणैर्ध्वनद्भिर्मस्माभ्रोभय-
 कुण्डलैश्चक्रवातैरुद्गमरमिवाम्बरं यस्याम् ॥ २३ ॥ दुर्भगानां
 प्रजानामाडम्बरारम्भै रोदनैश्च उरुरवं ध्रुनिवहुलमुदरं यस्याः ।
 'नासिकोदरोष्ठ-' इति ङीप् । मोपणं मुष्टिश्चौर्यं तत्प्रमाणा
 जनता जनसमूहो यस्याम् ॥ २४ ॥ सर्वैः ऋतुगुणैर्वर्जिता । इति
 वर्णितप्रकारेण अस्य ब्रह्मणो विधातुर्विराड्देहारम्भके पार्थिवे
 धातौ गतवेदने उपसंहृतचैतन्ये सति पृथिवी पृथुवैधुर्या संप-
 जेति परेणान्वयः ॥ २५ ॥ आसन्ननाशतः प्रलयात् । एवं
 जलभागादपि चैतन्योपसंहारारम्भे सप्ताब्धीनां क्षोभेण निर्म-
 र्यादत्वमासीदित्याह—अथेसादिना ॥ २६ ॥ विवृतार्णसो
 विस्तृतजलाः ॥ २७ ॥ वेलाविपिनानां लावकाश्छेदकाः
 ॥ २८ ॥ महाभ्रमद्विरुत्तुङ्गतरङ्गात्तनभो दिशश्च यैः ॥ २९ ॥
 बृहद्गुलुगुलायमानैरावर्तगर्जनेन उद्भवाः कूजन्तः पर्वतक-
 न्दरा येषाम् ॥ ३० ॥ स्वस्ववेगोत्कर्षख्यापनेनेतरजयार्थं चल-
 न्नास्वरजैर्म्योऽग्रे चलद्विस्तेभ्योऽप्यग्रे चलद्विर्वीरमकरैराघू-
 र्णितान्तराः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ उत्फालैश्चलद्विर्मकरैश्छन्ना
 नमध्वरा बृहन्तो घनाश्च येषाम् ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

भूपाः परपुराक्रान्ता लज्जा इव हतारयः ।
 तारारवरणद्वेहविद्रावितनभश्चराः ॥ ३६
 प्रलुण्ठितवनव्यूहलूनकाननिताम्बराः ।
 सपक्षपर्वताकारतरङ्गापूरिताम्बराः ॥ ३७
 मदारवमरुच्छिन्नकल्लोलाचलचालिताः ।
 चञ्चलीरगिरिवातपतसटरटज्जलाः ॥ ३८
 उल्लसद्विपुलावर्तप्रोत्क्षिप्तमकरोत्कराः ।
 विमज्जन्तिस्तलावर्तनिर्गीर्णगिरिकन्दराः ॥ ३९
 दरीदलनसंप्राप्तदृषद्दशनदन्तुराः ।
 शृङ्गलम्बिदरीप्रान्तमग्नवीचिजलेभकाः ॥ ४०
 व्यालोलवलनाक्रान्तविटपिप्रोतकच्छपाः ।
 यमेन्द्रवसुधावाहैरुत्कर्णैर्भयविह्वलैः ॥ ४१
 श्रूयमाणपतच्छैलतटीकटकटारवाः ।
 मत्स्यपुच्छच्छटाच्छिन्नमग्नोन्मग्नदुताद्रयः ॥ ४२
 लीलालूनवनव्यूहशीतलासारवारयः ।
 प्रज्वलद्वडवावह्निज्वालावलिमिलज्जलाः ॥ ४३
 सरसेन विभोर्नाशैर्विशङ्कितमहानलाः ।
 मिलच्छिखरिमालाप्रजलमातङ्गयोधिनः ॥ ४४
 मृत्यन्तीव तरङ्गावैर्जलावलनवेधिनः ।
 जलाचलाचलान्योन्यसंघट्टस्फोटपण्डिताः ॥ ४५

हता भरय खविरोधिदवाग्रयो यैः । तारारवं उच्चैःस्वरं यथा
 स्यात्तथा रणद्विस्तरज्ञैर्हेभ्यो विद्राविता नभश्चरा देवादयो यैः
 ॥ ३६ ॥ प्रलुण्ठितैस्त्वायोश्रीतैर्वनव्यूहैर्लूनकाननमिव कृतसम्बर-
 माकाशं यैः ॥ ३७ ॥ मरुच्छिदिल्लैर्विमलैः कल्लोलैरचला इव
 चालिता । रज्ज्वात्वादिप्रभाभिश्चञ्चलीरैभ्यो गिरिवातेभ्यः पत-
 त्तिर्वपै रटज्जला ॥ ३८ ॥ निस्तलैरगाधैरावर्तैर्निर्गीर्णो गिरयस्त-
 त्कन्दराश्च येषाम् ॥ ३९ ॥ दरीदलनवशात्संप्राप्तैः स्फटिकादि-
 दृषद्दशनैर्दन्तुरा हसन्त इवेति यावत् । शृङ्गेषु लम्बिषु वीचेषु
 दरीप्रान्तेषु मग्नाः प्रविष्टा बीचयो जलेभका आदोगजमेदा
 येषाम् ॥ ४० ॥ यमस्य इन्द्रस्य वसुधायाश्च वाहैर्बाह्वैर्नर्महिषै-
 रावतदिग्गजादिभिः उत्कर्णैर्लुप्यैर्लुप्तकर्णैः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥
 लीलालूनेषु वनव्यूहेषु विश्रान्तानीव शीतलान्यासारवारीणि
 येषाम् ॥ ४३ ॥ स्त्रीयेन रसेन जलेन विभोराश्रयस्येन्धनस्य
 नाशैर्विशङ्कितं भीता इव तिरोभूता महानला येभ्यः । अर्था-
 त्सलमातङ्गैः सह मिलन्तः शिखरिमालाप्रेषु जलमातङ्गा
 योधिना युद्धशील्य येषाम् ॥ ४४ ॥ जलैरचलानामचलैरन्योन्य-
 संघट्टे स्फोटने च पण्डिताः ॥ ४५ ॥ उड्गमराः उल्लवन्त्यो या
 शृतवनगजोत्फुल्लशरीरलक्षणा भैर्यस्तासां तरङ्गाप्रताडनैर्यद्वादनं
 तेन भासुरैः कल्लोलैर्वृहत्तरङ्गैरसुरैः पातालमिव झलमलन्त-

बृहद्विरिचनवातप्राणिमण्डलमण्डिताः ।
 उड्गमरवनेमेन्द्रमेरीवादनभासुरैः ॥ ४६
 असुरैरिव पातालं कल्लोलैरलमाकुलाः ।
 अथोदपतदुग्रासदिङ्गागवदनध्वनिः ॥ ४७
 पातालतलतालवन्तर्विस्फोटाभोटनोद्भटः ।
 चञ्चलाचलकीलोर्वी चचाल क्षणचालिता ॥ ४८
 लोला शैवालवल्लीव व्यालोलाम्भोधिलङ्घिता ।
 अथ दुर्वारनिर्घोषनिर्वाताडम्बरान्विता ॥ ४९
 पुस्फोटेव पतन्ती द्यौर्दिशा पतिरवारवैः ।
 आवर्तवलनाकाराः केतवः पेतुरम्बरात् ॥ ५०
 हेमरत्नमया मुक्ताः सिन्दूरभुजगा इव ।
 ककुब्भ्यो नभसो भूमेरुदगुर्दग्धदिशतटाः ॥ ५१
 चलज्ज्वालाजटाटोपा विविधोत्पातपङ्क्तयः ।
 पृथ्व्यादीन्यसुरादीनि ब्रह्मोन्मुक्तानि सर्वतः ॥ ५२
 द्विविधानि महाभूतान्यलं संक्षोभमाययुः ।
 चन्द्रार्कानिलशक्राग्रियमाः कोलाहलाकुलाः ॥ ५३
 परिपातपरा आसन्ब्रह्मलोकगतेश्वराः ।
 कम्पैः कटकटारावपतत्पादपङ्क्तयः ॥ ५४
 भूमेरन्वमवन्भूरिदोलान्दोलनमद्रयः ।
 भूकम्पलोलकैलासमेरुमन्दरकन्दराः ।
 पेतुः कल्पतरुन्मुक्ता रक्तस्तवकचूटयः ॥ ५५

माकुला इति परेणान्वयः ॥ ४६ ॥ अथ सागरक्षोभानन्तरं
 तत्र श्रवमानत्वाद्युच्चासानामूर्ध्वीकृतपुष्कराणां दिङ्गानां दिग्ग-
 जानां ध्वनिरुदपतत् उद्गतोऽभूत् ॥ ४७ ॥ कीदृशः स ध्वनिः ।
 पातालतललक्षणस्य तालूनः अन्तर्विस्फोटेन विदारणेन आभो-
 टनेन पिण्डीकरणेन चोद्भटो घनतरः । दिग्गजैश्चानुद्गमानां
 उर्वी चञ्चलानि मेर्वाद्यचलकीलानि यस्यास्तथाविधा भूत्वा
 क्षणादेव स्वस्थानाचालिता सती व्यालोलैरम्भोधिमिलङ्घिता च
 सती लोला शैवालवल्लीव चचालेति परेण सहान्वयः ॥ ४८ ॥
 ततः किमासीत्तदाह—अथेति । दुर्वाराणां प्रलयाम्बुदानां
 निर्घोषनिर्वातातामाडम्बरैरन्विता द्यौर्दिशा प्रतिध्वनिलक्षणेरा-
 रवैः पतन्ती पुस्फोटेव ॥ ४९ ॥ केतवः औत्पातिकधूम-
 केतवः पेतुः उत्पेतुः ॥ ५० ॥ वर्णितो हेमरत्नमया
 इव मुक्ता इव सिन्दूरवर्णभुजगा इव चैत्यप्रिमोत्पातपङ्क्तु-
 पमानानि । ककुब्भ्यो दिग्भ्यो नभसो भूमेवोत्पातपङ्क्तयः
 उदगुदिति व्यवहितेनान्वयः ॥ ५१ ॥ ब्रह्मणा प्रागु-
 धात्रा उन्मुक्तानि विधारणसंकल्पोपसंहारादुपेक्षितानि । अङ्गु-
 रादीनि पृथ्व्यादीनि चेति द्विविधान्यपि महान्ति भूतशब्द-
 वाच्यानि संक्षोभमाययुः ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ब्रह्मलोकं गत
 ईश्वरः स्वस्वाधिकारनिर्वाहकः प्रभावो येषां तथाविधाः सन्तः

लोकान्तराद्रिपुरवारिधिकाननान्त-

मुत्पातकल्पपवनेन मिथो हृतानाम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० कल्पक्षोभवर्णनं नामैकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

कोलाहलैर्जगदभूत्प्रविकीर्णशीर्णं

पूर्णार्णवे त्रिपुरपूर इवाभिपाती ॥

५६

द्विसप्ततितमः सर्गः ७२

श्रीवसि उवाच ।

अथाकृष्टवति प्राणान्स्वयंभुवि नभोभवः ।
विराडात्मनि तत्याज वातस्कन्धस्थितः स्थितिम् ॥ १ ॥
ते हि तस्य किल प्राणास्तेन क्रान्तेषु तेष्वपि ।
ऋक्षचक्रे स्थितिं कोऽन्यो धत्ते भूतैकधारिणीम् ॥ २ ॥
वातस्कन्धे समाक्रान्ते ब्रह्मणा प्राणमावृते ।
समं गन्तुं परित्यज्य संस्थितिं क्षोभमागते ॥ ३ ॥
निराधाराः सवाताग्निदाहोलुमुकवदापतन् ।
व्योम्नस्तारास्तरोः पुष्पनिकरा इव भूतले ॥ ४ ॥
कालपाकचलन्मूला जगत्खण्डफलालयाः ।
प्रशान्तपवनाधारा विमानावलयोऽपतन् ॥ ५ ॥
प्रलयोन्मुखतां याते ब्राह्मे संकल्पनेन्धने ।
सिद्धानां गतयः शेमुरिद्धानामर्चिषामिव ॥ ६ ॥
प्रभ्रमन्त्योऽम्बरे कल्पमावृतेस्तनुतूलवत् ।

स्वशक्त्यपचये मूकाः सिद्धसंततयोऽपतन् ॥ ७ ॥

संकल्पद्रुमजालानि सेन्द्रादिनगराणि च ।

पेतुर्भूकम्पलोलस्य शिरांस्यमरभूभृतः ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच ।

चित्ति संकल्पमात्रात्मा विराड् ब्रह्मा जगद्वपुः ।

किमङ्गं तस्य भूलोकः किं स्वर्गः किं रसातलम् ॥ ९ ॥

कथमेतानि चाङ्गानि ब्रह्मस्तस्य स्थितानि च ।

कथं वा सोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः ॥ १० ॥

ब्रह्मा संकल्पमात्रात्मा निराकृतिरिदं स्थितम् ।

जगदित्येव जातो मे निश्चयः कथयेतरत् ॥ ११ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

आदौ तावदिदं नासन्न सदास्ते निरामयम् ।

चिन्मात्रपरमाकाशमाशाकोशैकपूरकम् ॥ १२ ॥

॥ ५४ ॥ ५५ ॥ लोकान्तराण्यद्वयः पुराणि धारिण्यः काननानि
चेत्येतदन्तं सर्वं जगदुत्पातसहितेन कल्पपवनेन मिथोऽन्योन्यं
हृतानां हन्यमानानां जनानां कोलाहलैः रुद्रबाणामिदाहेन
अभिपाती अभितः पतनशीलव्रीणि पुराणि पूरयतीति त्रिपुर-
पूरो दैत्यसंघ इव पूर्णार्णवे प्रविकीर्णं शीर्णमभूदित्यर्थः ॥ ५६ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
कल्पक्षोभवर्णनं नामैकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

धातुः प्राणनिरोधेन वातस्कन्धस्थितिक्षयः ।

तत्प्रसङ्गात्पुनः पृष्ट्वा धर्ष्यतेऽग्रे विराडस्थितिः ॥ १ ॥

विराडात्मनि स्वयंभुवि प्राणानाकृष्टवति स्वहृत्प्रदेशे उपसं-
हृतुमारब्धवति सति वातस्कन्धस्थितो नभोभवो वायुः स्थितिं
ग्रहणक्षत्रविमानादिविधारणमर्यादां तत्याज ॥ १ ॥ ते वात-
स्कन्धास्तस्य स्वयंभुवः प्राणाः । क्रान्तेषु उपसंहृतेषु ॥ २ ॥
स्थितिं प्राशुक्तां त्यक्त्वा समुपसंहारेण साम्यावस्थां गन्तुं क्षो-
भमागते सति ॥ ३ ॥ सवाते अग्निदाहे उद्गीर्णैरुमुकैस्तुल्यं
ताराः भूतले आसमन्तादपतन् ॥ ४ ॥ जगत्खण्डे अर्जितस्य
सुकृतफलस्य आलयाः भोगस्थानभूता विमानावलयः काल-
विपाकेन चलद्विच्छिन्नं भोगमूलं कर्म येषां तथाविधाः
सन्तः अपतन् ॥ ५ ॥ इद्धानां वीक्षानाम् ॥ ६ ॥
खेचरादिसिद्धीनां क्षयिष्णुतां तुच्छतां च सूचयन्नाह—
प्रभ्रमन्त्य इति । मूका वागव्यापारेऽप्यसमर्थाः ॥ ७ ॥
इन्द्रादिनगरैः सहितानि सेन्द्रादिनगराणि अमरभूभृतो मेरोः
शिरांसि शिखराणि च पेतुः ॥ ८ ॥ ननु ब्रह्मणः स्थूलदेहो

ब्रह्माण्डरूपो विराड् तदन्तर्गतः सत्यलोकनिवासी चतुर्मुखदे-
हस्तु तन्मनःकल्पितः प्रातिभासिक एव । न च सोऽपि तस्य
स्थूलदेह एवेति युक्तम् । विराड्देहान्तःस्थित्ययोगात् । न हि
कस्यचिदपि स्थूलदेहान्तःस्थूलदेहान्तरं दृष्टं श्रुतं वा संभाव-
यितुं वा शक्यम् । एवं सति मानसे चतुर्मुखदेहे प्रातिभासिके
स्वाप्नदेहप्राये प्राणोपसंहारसंकल्पेन कथं विराड्देहविष्टम्भकप्रा-
णस्थानीयवातस्कन्धादिकथः । न हि स्वप्नदेहे प्राणाद्युपसंहारेण
मरणदर्शने जाग्रत्प्रसिद्धस्थूलदेहक्षयो दृश्यत इत्याशयेन रामः
पाङ्कते—चित्ति संकल्पमात्रात्मेत्यादिना । ब्रह्मा चतुर्मुख-
स्थिति संकल्पमात्रं मनस्तदात्मा जगद्वपुर्ब्रह्माण्डशरीरकः प्रसिद्धः ।
तस्य संकल्पमात्रात्मनश्चतुर्मुखस्य भूलोकादयो लोका अङ्गं
अवयवाः किम् । न ह्यमूर्तस्य मनसो मूर्तान्यङ्गानि संभवन्ति ।
यदापि संभवति तदा भूलोकः किमङ्गं, पादा अन्यो वा स्वर्गश्च
किमङ्गं, रसातलं च किमङ्गं कोऽवयव इति विभागप्रश्नः ॥ ९ ॥
अस्तु वा चतुर्मुखदेहोऽपि मूर्तस्तथाप्यल्पपरिमाणस्यैतत्तान्य-
तिविस्तृतानि भूरादीन्यङ्गानि कथं स्थितानि । तस्यापि विस्तृ-
तत्वकल्पनेन ब्रह्माण्डात्मता यद्युच्येत तर्हि स स्वस्यैव वपुष
एतस्य ब्रह्माण्डस्यान्तः सत्यलोके कथं स्थितः ॥ १० ॥ किंच
ब्रह्मा संकल्पमात्रात्मा निराकृतिरमूर्त एव, इदं तु जगत्साकारं
स्थितमिति मे निश्चयो जातः । अत इतरत्प्रकारान्तरमस्ति
चेत्कथय ॥ ११ ॥ तत्र प्रथमं पृष्टं स्थूलदेहस्य मनोमयदे-
हानन्यत्वं तदवयवानां तदवयवत्वं चानुभावयितुं भूमिकां
मूलोद्घाटनेन रचयति—आदावित्यादिना । आशानां सर्वाभि-

१ नभोभवः इति मुद्रितपुस्तके पाठः ।

यो० पा० १५४

तत्सामाकाशतां चैतच्चैत्यमित्यवबुध्यते ।
 स्वरूपमत्यजन्नित्यं चित्त्वाद्भवति चेतनम् ॥ १३
 विद्धि तच्चैतनं जीवं सधनत्वान्मनः स्थितम् ।
 एतावति स्थितिजाले न किञ्चित्साकृति स्थितम् ॥ १४
 शुद्धं व्योमैव चिद्बोम स्थितमात्मनि पूर्ववत् ।
 यदेतत्प्रतिभातं तु तदन्यन्न शिवात्ततः ॥ १५
 अथ तन्मन आभोगि भाविताहंकृति स्फुरत् ।
 संकल्पात्मकमाकाशमास्ते स्तिमितमक्षयम् ॥ १६
 तत्संकल्पचिदाभासनभोऽहमिति भावितम् ।
 असत्तमेवानुभवत्संनिवेशं खमेव खे ॥ १७
 वेत्ति भावितमाकारं पश्यत्यनुभवत्यपि ।
 संकल्पकात्मकं शून्यमेव देह इति स्थितम् ॥ १८
 शून्यमेव यथाकारि संकल्पनगरं भवान् ।
 पश्यत्येवमजो देहं खे खमेवानुभूतवान् ॥ १९
 संविदो निर्मलत्वात्स यावदित्थं तथाविधम् ।
 अनुभूयानुभवनं स्वेच्छयैवोपशाम्यति ॥ २०
 यदा तत्त्वपरिज्ञानमस्सदादेस्तदाऽऽततम् ।
 इदं संसरणं विद्धि शून्यं सत्यमिव स्थितम् ॥ २१
 यथाभूतपरिज्ञानादत्र शाम्यति वासना ।
 अद्वैताभिरहंकारात्ततो मोक्षोऽवशिष्यते ॥ २२
 एवमेष स यो ब्रह्मा स एवेदं जगत्स्थितम् ।

विराजो ब्रह्मणो राम देहो यस्तदिदं जगत् ॥ २३
 संकल्पाकाशरूपस्य तस्य या भ्रान्तिरुत्थिता ।
 तदिदं जगदाभाति तद्ब्रह्माण्डमुदाहृतम् ॥ २४
 सर्वमाकाशमेवेदं संकल्पकलनात्मकम् ।
 वस्तुतस्त्वस्ति न जगत्त्वचामत्ते न च क्वचित् ॥ २५
 कचिन्मात्रेऽमले व्योम्नि कथं वा केन वा जगत् ।
 किं जायते किमत्रास्ति कारणं सदकारि यत् ॥ २६
 अतोऽलीकमिदं जातमलीकं परिदृश्यते ।
 अलीकं स्वदत्तेऽलोकमेवं पश्यति शून्यकम् ॥ २७
 जगदादिकया भासा चिन्मात्रं स्वदत्ते स्वतः ।
 आत्मनात्माभ्वरे द्वैते स्पन्दनेनेव मारुतः ॥ २८
 इदं किञ्चिन्न किञ्चिद्वा द्वैताद्वैतविवर्जितम् ।
 चिदाकाशं जगद्विद्धि शून्यमच्छं निरामयम् ॥ २९
 शान्ताशेषविशेषोऽहं तेन राघव संस्थितः ।
 सन्नेवासन्निघातस्त्वमेवमेवास्व निर्ममः ॥ ३०
 निर्वासनः शान्तमना मौनी विगतचापलः ।
 सर्वं कुरु यथाप्राप्तं कुरु मा वात्र किं ग्रहः ॥ ३१
 अनादिनित्यानुभवो य एकः
 स एव दृश्यं न तु दृश्यमन्यत् ।
 सत्यानुभूतेऽननुभूतयो याः
 सुविस्तृता दृश्यमहादृशताः ॥ ३२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० निर्वाणवर्णनं नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

स्वावर्णां दिशां च कोशानां भूमानन्दात्मकत्वादेकमेव पूरकम् ॥ १२ ॥ तदेतत्परमाकाशं स्वरूपमत्यजद्विकारमनापद्यमानमेव सामाकाशतां चन्द्रो द्वितीयचन्द्रमिव कल्पयत् परं स्वातिरिक्तवस्त्विति अवबुध्यते ॥ १३ ॥ तत्र बोध्यबोधवोद्भवलक्षणत्रिपुटीमननेन सधनत्वाद्बोधाभावान्मनोवेषेण स्थितं तथाभूतं चेतनं जीवं विद्धि । स्वरूपमत्यजद्विकारं यदुक्तं तदुपपादयति—एतावतीति । एतावति त्रिपुटीजीवभावपर्यन्ते स्थितिजाले अभ्यासेन संप्रज्ञेऽपि तेषु न किञ्चिदपि साकृति परस्परव्याघाताकारसहितं रूपं परमार्थतः स्थितं किंतु शुद्धं व्योमैव शून्यमेवेति परेण संबन्धः ॥ १४ ॥ किं तर्हि स्थितं तदाह—चिद्बोमेति ॥ १५ ॥ एवमभिमाणाकारभावनादसतैव तद्भावेनापि स्फुरतीत्याह—अथेति ॥ १६ ॥ अहंकारकल्पनोत्तरं स्थूलदेहकल्पनापि तस्यावस्तुभूतैवेत्याह—तदित्यादिना ॥ १७ ॥ १८ ॥ यदि देहं शून्यमेव तर्हि कथं साकारमनुभूयते तत्राह—शून्यमेवेति ॥ १९ ॥ प्रलयमोक्षादिकल्पनाप्येवमेवेत्याह—संविदिति ॥ २० ॥ कदोपशाम्यति तदाह—यदेति । तदा आतत्तमिति च्छेदः ॥ २१ ॥ यथाभूतं परमार्थसत्यं ब्रह्म तत्परिज्ञानान्निभ्यावासना अत्रास्तिज्ञेव जन्मनि शाम्यति ॥ २२ ॥ अस्त्येवं तथाप्येतदुच्यते यत्पुष्टं किं समाहितं तत्राह—एवमिति ॥ २३ ॥ तथा च ब्रह्माण्डस्यापि भ्रान्त्यैव स्थूलदेहत्वम्, निवारतस्तु तदीयमनोमात्रत्वमिति । तदज्ञोपसंहारेणोपसंहारः

सिद्ध इति भावः ॥ २४ ॥ जाग्रदुन्मुखतायां स्वाप्नदेहाज्ञोपसंहारेण स्वाप्नभूरादिलोकोपसंहारवद्वा तदुपसंहारः । द्वयोरपि संकल्पाकाशमात्रत्वादित्याशयेनाह—सर्वमिति ॥ २५ ॥ अवास्वत्वं कथं हेयमिति चेदसंभाव्यत्वादित्याशयेनाह—केति । किंवृत्तपञ्चकं देशकालादिसर्वप्रकारैरप्यसंभाव्यत्वस्य समर्थनार्थम् ॥ २६ ॥ स्वदत्ते प्रियाप्रियभावेन प्रथते । अलोकं निष्प्रपञ्चं ब्रह्मैव भ्रान्त्या शून्यकं जगच्छून्यं खमेव एवं जगद्भावेन पश्यति ॥ २७ ॥ तदेव स्पष्टमाह—जगदादिकथेति । आदिपदात्तद्धर्मा उत्पत्त्यादिभावविकारा गृह्यन्ते ॥ २८ ॥ द्वैतविवर्जनात्किञ्चित् । अद्वैतस्यापि वर्जनात् किञ्चिद्वा ॥ २९ ॥ तस्मादहमिव त्वमपि एवं परमार्थतः सन्नेव व्यवहारे असन् देहादिरिव आस्व किंतु निर्मम इत्यर्थः ॥ ३० ॥ व्युत्थितः सर्वं व्यवहारं कुरु समाहितः सन् मा वा कुर्व किं ग्रहः किमर्थमेकत्राग्रह इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ तस्मात्सर्वं दृश्यं ब्रह्मैव तदज्ञानान्येव भ्रान्त्याकारपरिणतानि दृश्यानुभवा इति निष्कर्ष इत्युपसंहरति—अनादीति । सत्ये अनुभूते । भावे च । अनुभवैकरते ब्रह्मणि या अननुभूतयः अज्ञानानि सा एव भ्रान्तिवैचित्र्यैः सुविस्तृता दृश्यमहादृश इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

१ चैतत्परमित्यवबुध्यते इति श्रीकान्तगुणः पाठः०

त्रिसप्ततितमः सर्गः ७३

श्रीराम उवाच ।
 बन्धमोक्षजगद्बुद्धिर्न शून्या नापि सन्मयी ।
 नास्तमेति न नोदेति किमप्याद्यमसौ किल ॥ १
 उपदिष्टमिदं ब्रह्मस्त्वया बुद्धमलं मया ।
 भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ २
 सर्गादिसंभ्रमदशः शून्यतादिदशस्तथा ।
 न काश्चन विभो सत्या असत्याश्च न काश्चन ॥ ३
 एवंस्थिते तु यत्सत्यं तत्सर्वं बुद्धवानहम् ।
 तथापि भूयोबोधाय सर्गानुभव उच्यताम् ॥ ४
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 यदिदं दृश्यते किञ्चिजगत्स्थावरजङ्गमम् ।
 सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं देशकालक्रियादिमत् ॥ ५
 तस्य नाशो महानाशो महाप्रलयनामनि ।
 ब्रह्मोपेन्द्रमरुद्रमहेन्द्रपरिणामिनि ॥ ६
 शिष्यते शान्तमत्यच्छं किमप्यजमनादि सत् ।
 यतो वाचो निवर्तन्ते किमन्यदवगम्यते ॥ ७
 सर्षपापेक्षया मेरुर्यथातिवितताकृतिः ।
 तथाकाशमपि स्थूलं शून्यं सद्यदपेक्षया ॥ ८
 शैलेन्द्रापेक्षया सूक्ष्मा यथेमे त्रसरेणवः ।

तथा सूक्ष्मतरं स्थूलं ब्रह्माण्डं यदपेक्षया ॥ ९
 अमानकलिते सौम्ये काले परिणते चिरम् ।
 शान्ते तस्मिन्परे व्योमन्याद्ये ह्यनुभवात्मनि ॥ १०
 असंकल्पो महाशान्तो दिक्कालैरमिताकृतिः ।
 अन्तर्महाश्रिदाकाशो वेत्तीव परमाणुताम् ॥ ११
 असत्यामेव तामन्तर्भावयन्स्वप्नवत्स्वतः ।
 ततः स ब्रह्मशब्दार्थं वेत्ति चिद्रूपतां तताम् ॥ १२
 चिद्भावोऽनुभवत्यन्तश्चिरवाचिदणुतां निजाम् ।
 तामेव पश्यतीवाथ ततो द्रष्टेव तिष्ठति ॥ १३
 यथा स्वप्ने मृतं पश्यत्येक एवात्मनात्मनि ।
 मृत एव मृतेर्द्रष्टा तथा चिदणुरात्मनि ॥ १४
 ततश्चिद्भाव एषोऽन्तरेक एव द्वितामिव ।
 पश्यन्स्वरूप एवास्ते द्रष्टृदृश्यमिव स्थितः ॥ १५
 चिद्भावशून्य एवातिनिराकारोऽप्यणुं तनुम् ।
 पश्यन्दृश्यमिवोदेति द्रष्टेव च तदा द्विताम् ॥ १६
 प्रकाशमणुमात्मानं पश्यंस्तदनुभावतः ।
 उच्छूनतां चेतयते बीजमङ्कुरतामिव ॥ १७
 देशकालक्रियाद्रव्यद्रष्टृदर्शनदृग्दशः ।
 अर्थान्तरस्वभावेन तिष्ठन्त्यनुदिताभिधाः ॥ १८

इहारोपक्रमो भूयो बोधदाह्याय वर्ण्यते ।
 कथमेतस्य चाङ्गानीत्यादिप्रश्नोत्तरं ततः ॥ १ ॥
 'किमज्ञ तस्य भूलोकः, कथमेतानि चाङ्गानि, कथं वासोन्तरे
 तस्य' इति प्रस्तुतप्रश्नत्रयोत्तरोपोद्घातत्वेन वर्णितं शुद्धे ब्रह्मणि जग-
 दध्यारोपप्रकारं पुनः क्रमशः तात्पर्यतश्च सम्यग्निज्ञासमानो राम-
 स्तत्र तात्पर्यतः स्वज्ञातांशं दर्शयितुं सिद्धावलोकनन्यायेन व्यवहि-
 तोक्तनिष्कर्षं स्मारयति—बन्धेत्यादिना । सन्मयी सत्यार्थविषया ।
 सर्वसाक्षित्वादेव स्वयं नास्तमेति नोदेति च । अतः असौ सर्व-
 साक्षिणी बुद्धिरेव विषयमार्जने किमपि बाह्यज्ञानसागम्यमार्थं ब्रह्मेति
 त्वया तात्पर्यगत्या उपदिष्टम् । किलेति शुरुबुद्धिविसंवादशङ्का-
 परिहाराय । इदं मया बुद्धमिति परेणान्वयः ॥ १ ॥ तर्हि
 किमुपदेशोपरमोऽस्तु नेत्याह—भूय इति ॥ २ ॥ सत्या अवा-
 धितार्थाः असत्या बाधितार्था अपि न । तत्तदववर्तुदशा ब्रह्मण
 एव तथास्थितेरर्थक्रियाऽविसंवादादसत्कार्यपक्षानभ्युपगमात्स-
 र्वशक्तिमति ब्रह्मणि सर्वशून्यतापादनशक्तेरपि संभवान्मायया
 सर्वविरोधपरिहाराच्चेति भावः ॥ ३ ॥ मायाशबलब्रह्ममाहात्म्य-
 मिव तदधिष्ठाननिर्विशेषनित्यमुक्तब्रह्मतत्त्वमप्यहं बुद्धवानि-
 त्याह—एवमिति । सर्गानुभवः प्रपञ्चाध्यासक्रमो भूय उच्य-
 ताम् । भूयसां श्रोतॄणां बोधाय, बोधबाहुल्यायेति वा ॥ ४ ॥
 ॥ ५ ॥ स्थूलस्य भूतभौतिकस्य सूक्ष्मभूतेषु नाशो भूतसूक्ष्मैः
 सह अव्याकृतानुप्रवेशो । महानाशो प्राकृते प्रलये इति यावत् ।
 ब्रह्मोपेन्द्रादिदेहानां परिणामश्चरमो भावविकारस्तद्वति तच्छीले

वा ॥ ६ ॥ तदा यच्छिष्यते तद्वर्णयति—शिष्यत इत्यादिना
 ॥ ७ ॥ अन्यापेक्षया शून्यं परमसूक्ष्मं सद्यप्याकाशं यदपेक्षया
 स्थूलम् ॥ ८ ॥ तथा अन्यापेक्षया स्थूलं विशालतममपि ब्र-
 ह्माण्डं यदपेक्षया सूक्ष्मतरमणुतरम् ॥ ९ ॥ मानहेतुसूर्यस्प-
 न्दाद्युपाधिप्रलयादमानकलिते तादृशप्रलयकाले चिरं द्विपर-
 र्धपरिमितब्रह्माद्युःकालतुल्यप्रमाणपरिणते अतिवाहिते सति
 ॥ १० ॥ मायावरणान्तःसुषुप्तप्रायश्चिदाकाशः स्वप्नोन्मुख इव
 स्वान्तर्लोकजगत्संस्काररूपां परमाणुतां वेत्ति पर्यालोचयतीव
 ॥ ११ ॥ भावयन्पर्यालोचयन् । तत्पर्यालोचनेनेषदुचितभाव-
 प्राप्तेर्ब्रह्माद्भवेति प्रसिद्धं ब्रह्मशब्दार्थम् । तथा च श्रुतिः 'तपसा
 चीयते ब्रह्म' इति ॥ १२ ॥ तद्गोचरतालक्षणे तद्वेदने चिरस्व-
 भावातिरिक्तो हेतुर्दुर्निरूप इत्याह—चिद्भाव इति । तेनैव द्रष्टृ-
 तासंपत्तिं दर्शयति—तामेवेति ॥ १३ ॥ नन्वेकत्र दृश्यद्रष्टृ-
 भावो विरुद्धः कथं संपद्यते इति चेत्स्वप्नवद्विरोधापर्यालोच-
 नादित्याह—यथेति ॥ १४ ॥ तथा कल्पनेऽपि न वास्तवैक्यशक्ति-
 रित्याह—तत इति ॥ १५ ॥ शून्य एवेत्यस्य व्याख्या—अति-
 निराकार इति । दृश्यमिव द्रष्टेव च द्वितां तदा उदेति उद्वहति
 ॥ १६ ॥ स च द्रष्टा मायाबलेन प्रकाशस्वभावमणुं परिच्छिन्न-
 मात्मानं पश्यन्सत्तदनुभावत उच्छूनतामुपचर्य चेतयते कल्प-
 यति ॥ १७ ॥ तदैव तस्य तन्मान्तरीयकतया देशकालादिवि-
 भागकल्पना अपि भवन्ति परंतु ता वागाद्यभिन्नचयभावाद-

इदणुर्यत्र भातोऽसौ देशो मितिमुपागतः ।
 श भातस्तदा कालो यद्भानं तत्क्रिया स्मृता ॥ १९ ॥
 पलब्धं विदुर्द्रव्यं द्रष्टृताप्युपलब्धता ।
 लोकनं दर्शनता दृगलोकनकारणम् ॥ २० ॥
 प्रमुच्छ्रनता भाति मितानन्ताथ वा क्रमात् ।
 सत्यैव नभस्येव नभोरूपैव निष्क्रमा ॥ २१ ॥
 इवणोर्भासनं भातं तत्प्रदेशेन देहगम् ।
 न पश्यति तच्चक्षुः संप्रहोऽक्षदृशमिति ॥ २२ ॥
 इदणुप्रतिभासेऽन्तः प्रथमं नामवर्जितम् ।
 न्मात्रशब्दमेतेषामेतदाकाशरूपि तत् ॥ २३ ॥
 इदणुप्रतिभाकाशपिण्ड एव घनस्थितिः ।
 नुसंधानविषयश्चेततीन्द्रियपञ्चकम् ॥ २४ ॥
 वं चिदणुसंधानं दृश्यपोषमुपैत्यलम् ।
 देव ज्ञानमित्युक्तं बुद्धिरित्यभिधीयते ॥ २५ ॥
 तो मनस्तदाकृदमहंकारपदं गतम् ।
 शकालपरिच्छेद इत्यङ्गीकृत आत्मना ॥ २६ ॥
 इदणोरस्य भावस्य प्रत्यग्रं यत्र वेदनम् ।
 तन्नोत्तरकालेन पूर्वाभिर्यां करिष्यति ॥ २७ ॥
 न्यसिन्नेकदेशे सा ऊर्ध्वाभिर्यां करिष्यति ।

देताभिधा इत्याह—देशेति ॥ १८ ॥ तद्विभागकल्पनाप्र-
 तं निशदयति—चिदणुरिति । परिच्छिन्नस्य देशकालानवगा-
 प्रतीत्यप्रसिद्धेरिति भावः ॥ १९ ॥ तदैव त्रिपुटीविभाजको-
 धिमेदानां साक्षिणस्तदात्येकनविमित्तभावस्य च कल्पना भ-
 गीत्याह—उपलब्धमिति । द्रव्यगुणक्रियादिकल्पनाधारत्वाद्भ-
 यम् ॥ २० ॥ एवमेव कर्ता कार्य कारणं, भोक्ता भोग्यं भोग
 प्रादित्रिपुटीभेदानां तत्साक्षिणस्तन्निमित्ततायाश्च कल्पनं सर्वत्र
 भ्यमित्याशयेनाह—एवमिति । देशकालवस्तुपरिच्छेदैर्मिता,
 इमेयत्तादिना धनन्ता वा ॥ २१ ॥ तत्र रूपादित्रिपुटीलिङ्गौ
 भ्रादिकरणविभागकल्पनादि नान्तरीयकी भवतीति संक्षेपेण
 यति—चिदणोरिति । चिदणोर्जीवस्य भातं भासनं सौरा-
 लोकं येन गोलकप्रदेशेन चिच्छेदेन येन चातीन्द्रियेण करणेन
 यति तदुभयं चक्षुः । सर्वासा श्रोत्राद्यक्षदृष्टीनामप्ययं न्यायः
 इति सप्रहः संक्षेपः ॥ २२ ॥ श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकविषये-
 व नामरूपभेदकल्पनात्प्रागवस्था तन्मात्रशब्देनोच्यत इ-
 ह—चिदण्विति । एतेषा श्रोत्रादिपञ्चकविषयाणां प्रथमं प्रा-
 तं यत्रावर्जितं स्वरूपं तत्तन्मात्रमिति शब्दो यस्य तथाविधं
 तदेतदाकाशरूपि सूक्ष्मतममित्यर्थः ॥ २३ ॥ एवं क्रमेण
 दणोः प्रतिभालक्षण आकाश एव घनस्थितिः सन् पिण्डः
 लुहेहो भवति तत्र रूपाद्यनुसंधानवशादिन्द्रियपञ्चकं चेतती-
 पसहारः ॥ २४ ॥ अन्तःकरणचतुष्टयकल्पनाप्रकारमाह—
 त्रिमिति । दृश्येषु शब्दादिषु पुनःपुनरनुभवात्पोषमुपचयमुपैति
 इन्द्रियगृहीतविषयाणां स्मृतिदशायां ज्ञानं चित्तमिति अध-
 गायदशायां बुद्धिरिति चाभिधीयते ॥ २५ ॥ ततः संकल्प-

एवं दिगभिधानादि कल्पयिष्यति स क्रमात् ॥ २६ ॥
 देशकालक्रियाद्रव्यशब्दानामर्थवेदनम् ।
 भविष्यति स्वयमसावाकाशविशदोऽपि सन् ॥ २९ ॥
 इत्थं स्वातुभवेनैव व्योम्नैव व्योमरूपंभृत् ।
 आतिबाहिकनामान्तर्देहः संपद्यते चित्तेः ॥ ३० ॥
 एष एव चिरं कालं तत्र भावनया तथा ।
 गृह्णाति निश्चयं पूर्णमाधिभौतिकमात्मनः ॥ ३१ ॥
 व्योम्ना व्योम्नयेव रचितो निर्मलेनेति विभ्रमः ।
 असता सत्समास्तीर्णस्तापनद्या जलं यथा ॥ ३२ ॥
 संकल्पनामुपादत्ते स्वदेहे गगनाकृतिः ।
 शिरःशब्दार्थदां कांचित्पादशब्दार्थदां कचित् ॥ ३३ ॥
 उरःपाश्चादिशब्दार्थमयीं कचिदनाविलाम् ।
 भावाभावग्रहोत्सर्गशब्दार्थमयीमपि ॥ ३४ ॥
 नियताकारकलनां देशकालादियन्त्रिताम् ।
 विषयोन्मुखतां यातामिन्द्रियत्रातवेधिताम् ॥ ३५ ॥
 सोणुः पश्यत्यथाकारमात्मनः स्वात्मकल्पितम् ।
 हस्तपादादिकलितं चित्तादिकलनान्वितम् ॥ ३६ ॥
 एवं संपद्यते ब्रह्मा तथा संपद्यते हरिः ।
 एवं संपद्यते रुद्र एवं संपद्यते कृमिः ॥ ३७ ॥

विकल्पदशायां मनोऽभिमानेनाहंममतया तदारूढं तदभि-
 निविष्टं सत् अहंकारपदं गतम् । देशकालविभागकल्पनां वर्ण-
 यितुं प्रस्तौति—देशेति । इति वक्ष्यमाणरीत्या ॥ २६ ॥ तत्र
 काले देशे च पूर्ववत्कल्पना उत्तरकालकल्पनामपेक्षयैव प्रवर्तत
 इत्याह—चिदणोरिति । अस्य प्रसिद्धस्य भावस्य शब्दादिवि-
 षयस्य प्रत्यग्रं नवम् । आद्यमिति यावत् । यत्र देशरूपे काल-
 रूपे वा आधारे वेदनं यस्य चिदणोर्जीवस्य भवति स चिदणु-
 स्तस्य देशकालस्य चोत्तरकालेन व्यावर्त्येन निमित्तेन पूर्वं इत्य-
 भिर्यां नाम करिष्यति कल्पयिष्यतीति प्रतिजीवं प्रतिवस्तु
 चेदमनियतमेवेति भावः ॥ २७ ॥ तां कल्पनामपेक्ष्य ऊर्ध्वा-
 भिर्यां ततोऽन्यसिन्काले एकामेव करिष्यति । दिशि तूर्णद-
 क्षिणपश्चिमाद्यभिधानानि बहूनीति विशेष इति भावः ॥ २८ ॥
 एवं देशकालवस्तुभेदांस्तन्नामानि च कल्पयित्वा गृहीतसंके-
 तानां पुरुषाणां शब्दश्रवणे तत्तदर्थवेदनात्मनापि स्वयमेव सं-
 पत्स्यत इत्याह—देशेति ॥ २९ ॥ एवं स्वयमेव प्रथममातिबा-
 हिकदेहस्ततो देशकालक्रियावस्तुविभागस्तत्तत्तन्नामभेद इति
 क्रमेण नामान्तं सर्वजगच्छरीरं संपद्यत इत्यर्थः ॥ ३० ॥ एवं
 सर्वजगतो मनःकल्पनामात्रत्वेनातिबाहिकदेहावयवत्वे कथ-
 नाधिभौतिकताप्रत्ययस्तत्राह—एष एवेति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
 स गगनाकृतिश्चिदणुः स्वदेहेऽपि कल्पनीये वक्ष्यमाणप्रपञ्चां
 संकल्पनामुपादत्ते ॥ ३३ ॥ एवं बाह्यार्थहानोपादानादिव्यव-
 हारकल्पनापि बोध्येत्याह—भावेति ॥ ३४ ॥ इत्यमाकारो
 गोः, इत्थमश्च इत्यादिनियताकारकलनाम् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ईध-
 राणामपि देहादिकल्पना संकल्पवशादेव किं पुनरन्येषां

न च किञ्चन संपन्नं यथास्थितमवस्थितम् ।
 शून्यं शून्ये विलसितं हृत्तिर्ज्ञेयौ विजृम्भिता ॥ ३८
 प्रतिकन्दः शरीराणां बीजं त्रैलोक्यवीरुधाम् ।
 सर्गार्गलप्रदो मुक्तेः संसारसारवारिदः ॥ ३९
 कारणं सर्वकार्याणां नेता कालक्रियादिषु ।
 सर्वाद्यः पुरुषः स्वैरमित्यनुत्थित उत्थितः ॥ ४०
 नास्य भूतमयो देहो नास्यास्थीनि शरीरके ।
 अवष्टब्धुमसौ मुष्ट्या शक्यते न तु केनचित् ॥ ४१
 तेनाब्धिमेघसंग्रामसिंहगर्जार्जितात्मना ।
 अपि सुप्तनरेणेव नूनं मौनवता स्थितम् ॥ ४२
 जाग्रतः स्वप्नसंदृष्टयोद्धारमटिवेदनम् ।
 यथा स्मृतिगतं नासन्न सत्तद्दसौ स्थितः ॥ ४३
 बहुयोजनलक्षौघप्रमाणोऽपि बृहद्वपुः ।
 परमाण्वन्तरे भाति लोमान्तस्थजगत्रयः ॥ ४४
 कुलशैलगुणौघात्मा जगद्गन्दात्मकोऽपि सन् ।
 कुलार्थं धानकामात्रमपि नो पूरयत्यजः ॥ ४५
 जगत्कोटिशताभोगविस्तीर्णोऽप्यणुमात्रकम् ।
 वस्तुतो व्याप्तवानेष न देशं स्वप्नशैलवत् ॥ ४६
 स्वयंभूरेष कथितो विराडेष स उच्यते ।
 ब्रह्माण्डात्मा जगद्देहो वस्तुतस्तु नभोमयः ॥ ४७
 सनातन इति प्रोक्तो रुद्र इत्यपि संज्ञितः ।
 इन्द्रोपेन्द्रमरुन्मेघशैलजालादिदेहकः ॥ ४८
 तेजोऽणुमात्रं प्रथितं चेतित्वात्प्रथमं वपुः ।

क्रमेण स्फारसंवित्तिर्महानहमिति स्थितः ॥ ४९
 स्पन्दसंवेदनात्तेन स्पन्द इत्यनुभूयते ।
 यः स एवानिलाभिख्यो वातस्कन्धात्मना स्थितः ॥ ५०
 प्राणापानपरिस्पन्दो वेदनादनुभूयते ।
 तेन यः सोऽयमाकाशो वातस्कन्ध उदाहृतः ॥ ५१
 चित्ताद्ये कल्पितास्तेन बालेनेव पिशाचिकाः ।
 तेजःकणा असन्तोऽपि त एते धिष्यता गताः ॥ ५२
 प्राणापानपरावर्तदोला तदुदरोदिता ।
 वातस्कन्धाभिधां धत्ते जगत्तद्दुदयं महत् ॥ ५३
 प्रतिच्छन्दशरीराणां प्रथमं बीजमेष सः ।
 जगद्गतानां सर्वेषामाकल्पव्यवहारिणाम् ॥ ५४
 प्रतिच्छन्दाद्यदेतस्मादुत्थिता जगदात्मना ।
 देहास्तदा यथा बाह्यमन्तरेषां तथा स्थितम् ॥ ५५
 चित्तिस्तस्याद्यबीजस्य पूर्वमेव यथोदिता ।
 तथैवाद्यापि जीवेऽन्तस्तथोदेति तदीहिता ॥ ५६
 श्लेष्मपित्तानिलास्तस्य चन्द्रार्कपवनास्त्रयः ।
 ग्रहा ऋक्षगणास्तस्य प्राणाष्ठीवनसीकराः ॥ ५७
 तस्यास्थीन्यद्रिजालानि मेदसो जातिका घनाः ।
 शिरः पादौ त्वचं देहान्पश्यामस्तस्य नो वयम् ॥ ५८
 वपुर्विराजो जगदङ्ग विद्धि
 संकल्परूपस्य हि कल्पनात्म ।
 आकाशशैलावनिसागरादि
 सर्वं चिदाकाशमतः प्रशान्तम् ॥ ५९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणो० विराडात्मवर्णनं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥७३॥

मित्याह—एवमिति ॥३७॥ सर्वापीयं कल्पना अनृतैवेत्याह—
 न चेति ॥३८॥ व्यष्टिवत्समध्यात्मा विराडप्येवमेव कल्पनयो-
 त्थित इत्याह—प्रतिकन्द इति । व्यष्टिशरीराणां प्रतिनियतः
 कन्दः प्रतिकन्दः । तदाधारत्रैलोक्यवलीनामपि स एव बीजम् ।
 मुक्तेर्द्वारेषु प्रतिबन्धकविषयसर्गार्गलप्रदः ॥ ३९ ॥ ४० ॥
 भूतमयदेहाद्यभावादेव मुष्ट्या अवष्टब्धुं न शक्यते ॥ ४१ ॥
 यथा स्वप्ने अन्धीनां मेघानां संग्रामाणां सिंहानां च गर्जाभिर्म-
 हाध्वनिभिश्चोर्जितात्मनापि सुप्तनरेण वस्तुतो मौनवता निःश-
 ब्दमेव स्थितं तथा तेनापि विराजा निष्प्रपञ्चे स्वरूपे स्थितमि-
 त्यर्थः ॥ ४२ ॥ स्वप्नसंदृष्टानां योद्धूणामारमटी कोलहलस्तद्वे-
 दनं जाग्रतः स्मृतिपथं गतं सद्यथा नात्यन्तासन्नापि सत्तथा
 प्रपञ्चोऽयं स्थितः ॥ ४३ ॥ मायामात्रत्वादेवासंभावितसहस्रम-
 प्यत्र संभवत्येवेत्याशयेनाह—बद्धिति ॥ ४४ ॥ धानका वट-
 बीजादयस्तावन्मात्रमपि कुलार्थं नीडच्छिन्नं न पूरयति ॥ ४५ ॥
 ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ उक्तं सर्वं संक्षिप्याह—तेज इति ।
 अणुमात्रं तेजः परमसूक्ष्मा चित् प्रथमं चेतित्वाच्चित्तवपुः संप-
 न्नम् । स एव चित्तात्मा वर्णितक्रमेण स्फारसंवित्तिः सत् महान्-
 न्ब्रह्माण्डात्मैवाहमिति स्थित इति संग्रह इत्यर्थः ॥ ४९ ॥ अत-
 एव तदीयाः प्राणा वातस्कन्धास्तदुपसंहारेण वातस्कन्ध-

भक्तोऽस्माभिर्वर्णित इत्याशयेनाह—स्पन्देति ॥ ५० ॥ स्पन्दसं-
 वेदनात्तेन प्राणस्पन्द इत्यनुभूयते इति यदुक्तं तत्सर्वानुभवप्र-
 सिद्धा समर्थयति—प्राणेति । सोऽयं तदीयप्राणस्पन्दस्तद्ब्रह्मा-
 ण्डाकाशो वातस्कन्धोऽस्माभिरुदाहृतः प्राणित्यर्थः ॥ ५१ ॥
 धिष्यतां सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्रादिस्थानताम् ॥ ५२ ॥ इदं उद-
 रान्तर्गतमांसास्थ्यादीति यावत् ॥ ५३ ॥ प्रतिच्छन्दाः प्रति-
 जीवभेदमिच्छास्तत्कल्पितव्यष्टिशरीराणाम् ॥ ५४ ॥ परेच्छा-
 कल्पिता देहाः कथमेतस्य व्यष्टिर्गतास्तत्राह—प्रतिच्छन्दा-
 दिति । प्रतिच्छन्दं भवः प्रतिच्छन्दः । दिगादित्वाद्यत् । यद्य-
 स्माद्धेतोस्तथाविधादस्मादुत्थिताः प्रतिपुरुषदेहं तत्तद्वासनामया
 ब्रह्माण्डा एवमेव बोध्या इत्याह—देहा इति ॥ ५५ ॥ तत्रैक-
 बीजान्तरन्तर्यथा वृक्षबीजपरम्परा क्रमेणोद्भवदर्शनादस्तीति
 संभाव्यते तद्वदत्रापि संभाव्यतामित्यभिप्रेत्याह—चित्तिरिति ।
 तदीहिता तेन हिरण्यगर्भेण वाञ्छिता ॥ ५६ ॥ तस्य हिरण्य-
 गर्भस्य श्लेष्मपित्तादयः । अत एवान्येऽपि ग्रहा ऋक्षगणा नक्ष-
 त्रसमूहाश्च प्राणेन यदा छीवनं निष्ठीवनं तत्सीकराः श्लेष्मवि-
 न्दव इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ मेदसो जातय इव जातिकाः । घना
 मेघाः । तस्य शिरः ऊर्ध्वकपालं पादौ अधःकपालं त्वचं ब्रह्मा-
 ण्डावरणानि च वयं दूरस्थत्वात् पश्यामः ॥ ५८ ॥ हे अङ्ग,

चतुःसप्ततितमः सर्गः ७४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

तस्मिन्कल्पे तु संकल्पे तस्य यद्वपुरास्थितम् ।
 शृणु तत्र व्यवस्थेयं विचित्राचारहारिणी ॥ १
 परमं यच्चिदाकाशं तद्विराडात्मनो वपुः ।
 आद्यन्तमध्यरहितं लघु त्वस्य वपुर्जगत् ॥ २
 संकल्परहितो ब्रह्मा स्वाण्डं संकल्पनात्मकम् ।
 वपुषः परितो भास्वत्पश्यत्याकाशमेव तत् ॥ ३
 ब्रह्मात्मैव स्वसंकल्पं स्वमण्डमकरोद्विधा ।
 तैजसं तैजसाकारः पुष्टः पुष्टं विहंगवत् ॥ ४
 अण्डस्यैकं नभो दूरं गतं संबुद्धवानसौ ।
 भुवोऽधःसंस्थितं भागं व्यतिरिक्तं च नात्मना ॥ ५
 ब्रह्माण्डभाग ऊर्ध्वस्थो विराजः शिर उच्यते ।
 अधोभागोऽस्य पादाख्यो नितम्बो मध्यमात्रखम् ॥ ६
 दूरं विमुक्तयोः संधिः खण्डयोरिति विस्तृता ।
 अनन्ता व्योमलेखा सा श्यामा शून्येति दृश्यते ॥ ७
 द्यौस्तालु विपुलं तस्य ताराधिराविन्दवः ।
 संविद्वातलवा देहे सुरासुरनरादयः ॥ ८
 देहान्तः कृमयस्तस्य भूतप्रेतपिशाचकाः ।

इदं जगद्विराजो वपुर्विद्धि । तच्च संकल्परूपस्य कल्पनात्मनः
 कल्पनामात्रं न बाह्यसाधनसाध्यं न च मनःकल्पनात्मकं किञ्चिद्वा-
 स्तवं संभवति । अतो हेतोरुकाशशैलदि सर्वं प्रशान्तं चिदाकाश-
 मेवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ इति श्रीवातिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे उत्तरार्धे विराडात्मवर्णनं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

यान्यङ्गान्मस्य ये लोका ये चास्यावयवाः पृथक् ।

यथा चान्तःस्थितोऽस्यैव तत्सर्वमिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

इदानीं 'किमङ्गं तस्य भूलोकं किं स्वर्गः किं रसातलम्' इति
 विभागप्रश्नस्य 'कथं वा सोऽन्तरे तस्य' इति प्रश्नस्य, 'कथं वा
 तन्मनोमात्रं निराकृतिरिदं स्थितम्' इति प्रश्नस्य च विस्तरेणो-
 त्तरं वक्तुं श्रोतारमवधापयति—तस्मिन्निति । तस्मिन्विशालोदर-
 दृष्टे ब्रह्मकल्पात्मके तस्य विराजः संकल्पे यद्ब्रह्माण्डात्मकं वपुः
 स्थितं तस्य इयं वक्ष्यमाणा जन्मकर्मावयवादिविभागव्यवस्था
 चां शृण्वित्यर्थः ॥ १ ॥ तत्रास्य ब्रह्मैव वास्तवं स्वरूपं प्राथमि-
 कमकल्पितं वपुर्विराटशरीरं तु कारुणिकं तदृष्ट्या अतिलघुत-
 रमित्याह—परममिति ॥ २ ॥ चिदाकाशमाद्यन्तमध्यरहितं
 तस्य स्वरूपमिति कथं ज्ञायते तत्राह—संकल्परहित इति ।
 यतः स ब्रह्मा स्वसंकल्पवपुषो ब्रह्माण्डाद्विहः संकल्परहितो
 निःसंकल्पसाक्षिचिदाकाशमात्रः सन् संकल्पनात्मकं स्वाण्डं
 पश्यति तच्च परमार्थदशा आकाशमेवेत्यर्थः ॥ ३ ॥ तत्रादौ
 तस्य शिरः पादौ नितम्बं च वक्तुं ब्रह्माण्डस्योर्ध्वःकपालद्वय-
 विभागमाह—द्वेति । तैजसं हिरण्यम् । तैजसाकारो लिङ्ग-
 समष्ट्यभिमानिचिदाकारः ॥ ४ ॥ दूरमूर्ध्वं गतमिति संबुद्धवान्

लोकान्तराणि रन्ध्राणि सुपिराण्यस्य देहके ॥ ९
 ब्रह्माण्डखण्डमस्याधो विस्तृतं पादयोस्तलम् ।
 जानुमण्डलरन्ध्राणि पातालकुहराण्यधः ॥ १०
 जलैश्चलचलायन्ती सुपिरानेकरन्ध्रिका ।
 भूरन्तर्मण्डली लोला समुद्रद्वीपवेष्टना ॥ ११
 जलैर्गुण्डगुडायन्त्यो नद्यो नाड्यः सरिद्रसः ।
 जम्बूद्वीपं हृदम्भोजमस्य हेमाद्रिकर्णिकम् ॥ १२
 कुक्षयः ककुभः शून्या यकृत्प्लीहादयोऽचलाः ।
 शृङ्गाः स्निग्धाः पटाकारा मेदसो जालिका घनाः ॥ १३
 चन्द्रार्कौ लोचने तस्य ब्रह्मलोको मुखं स्मृतम् ।
 तेजः सोमोऽस्य कथितः श्लेष्मा प्रालेयपर्वतः ॥ १४
 अग्निलोकस्तथैर्वाग्निः पिचमस्यातिदुःसहम् ।
 वातस्कन्धमहावाताः प्राणापाना हृदि स्थिताः ॥ १५
 कल्पद्रुमवनान्यस्य सर्पवृन्दानि च कचिन् ।
 लोमजालान्यनन्तानि वनान्युपवनानि च ॥ १६
 ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डखण्डं तु समस्तमुक्रमस्तकम् ।
 ब्रह्माण्डप्रान्तरन्ध्रार्चिरस्य दीप्ता शिखोत्थिता ॥ १७
 स्वयमेव मनस्तेन मनो नास्योपयुज्यते ।

संकल्पितवान् एवमात्मना न व्यतिरिक्तमभिन्नं च संकल्पित-
 वान् । मध्यमात्रखं आन्तराकाशमध्यमिति यावत् ॥ ५ ॥ ६ ॥
 खण्डयोः कपालयोः सधिरन्तरालं शून्या श्यामा व्योमलेखेति
 दृश्यते जनैः ॥ ७ ॥ तालु काकुदम् । संविद्वातयोर्द्विप्राणयो-
 र्त्वा वृत्तिभेदाः ॥ ८ ॥ भूतप्रेतपिशाचका रजसांसाद्यशुचिलो-
 लपलात्कृमयः । लोकान्तराणि सूर्यचन्द्रादिलोकाश्चक्षुरादिर-
 न्ध्राणि । याम्यादिनारकलोकान्तराण्यधःसुपिराणि ॥ ९ ॥
 १० ॥ चलचलायन्ती चञ्चलायमाना । अन्तर्मण्डली मध्य-
 स्थवस्तिजघननितम्बमण्डली । लोला कामरोगजराभरणादि-
 व्याकुला । समुद्रा द्वीपाश्च वेष्टनान्यन्तरीयकाश्चोदिसूत्रप्राणाणि
 यस्याः ॥ ११ ॥ नाड्यः शिराः । सरित्पदेन सजलं लक्ष्यते ।
 तच्छिरान्तर्गतो रसः ॥ १२ ॥ कुक्षयः कुक्षिभागाः । ककुभो
 दिशः । यकृत्प्लीहादयो मासभेदाः । मेदसो धातुविशेषस्य
 जालिकाः पटल्यः । घना मेघाः ॥ १३ ॥ तेजो रेतः ॥ १४ ॥
 वातस्कन्धेषु प्रसिद्धा आवहनिवहप्रवहादयो महावाताः ॥ १५ ॥
 कल्पद्रुमवनान्यन्यानि वनान्युपवनानि च कचित्पातालवै-
 प्रसिद्धानि सर्पवृन्दानि चास्य लोमजालानि ॥ १६ ॥ ब्रह्माण्ड-
 स्योर्ध्वप्रान्ते रन्ध्रे प्रसिद्धं दीप्तार्चिः 'अथ यदतः परो दिवो-
 ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुसमेधूतमेषु लोकेषु'
 इति श्रुतिप्रसिद्धमर्चिर्ज्योतिरस्य दीप्ता शिखा चूडा ॥ १७ ॥
 एवंविधविराट्देहकल्पनाकर्तृत्वस्य किं मनः कानीन्द्रियाणि
 तत्राह—स्वयमिति । यतः सर्वमनःसमष्ट्यात्मा एष विधाता
 स्वयं मन एव । अतोऽस्य सर्वकल्पनासु अन्यन्मनो नोपयुज्यते

आत्मैव भोक्तृतामेति किल कस्य कथं कुतः ॥ १८
 स्वयमेवेन्द्रियाण्येष तेनान्यत्रास्तिता कृता ।
 यतस्तत्कल्पनामात्रमेवेन्द्रियगणः किल ॥ १९
 अवयवावयविनोरिवेहेन्द्रियचित्तयोः ।
 न मनागपि भेदोऽस्ति चैक्यमेकशरीरयोः ॥ २०
 तस्य तान्येव कार्याणि जगतां यानि कानिचित् ।
 संकल्पा एव पुंश्रुत्या चलन्त्यारूपितद्विताः ॥ २१
 जागते तस्य विज्ञेये नान्येऽस्य मृतिजन्मनी ।
 स एवेदं जगत्सत्संकल्पात्मास्य नेतरत् ॥ २२
 तत्सत्तया जगत्सत्ता तन्मृत्यैव जगन्मृतम् ।
 यादृशी स्पन्दमरुतोः सत्तैका तादृशी तयोः ॥ २३
 जगद्विराजोः सत्तैका पवनस्पन्दयोरिव ।
 जगद्यत्स विराडेव यो विराट् तज्जगत्स्मृतम् ॥ २४
 जगद्ब्रह्मा विराट् चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः ।
 संकल्पमात्रमेवैते शुद्धचिद्योमरूपिणः ॥ २५

अनवस्थाप्रसङ्गात् । यदि तु आत्मैव स्वभोगाय भोग्यवर्गं कल्प-
 यतीति मन्येथास्तत्र । तस्य कूटस्थाद्वयस्वभावत्वादित्याह—
 आत्मैवेति । किंवृत्तानि प्राग्वत् ॥ १८ ॥ एवमिन्द्रियाण्यप्यस्य
 नोपयुज्यन्ते । यतस्तेनान्यत्र अस्मदादिषु इन्द्रियाणामस्तिता
 कृता कल्पिता । न चेन्द्रियकल्पनायामिन्द्रियाणां निमित्तत्वमन-
 वस्थाप्रसङ्गादिति भावः ॥ १९ ॥ कथं तर्हि इन्द्रियमनसोर्भेद-
 व्यवहारस्तत्राह—अवयवेति । अस्ति चैक्यं मनःप्रवृत्त्यन्वय-
 व्यतिरेकदर्शनादिन्द्रियप्रवृत्तेः स्वप्ने मनसैव सर्वेन्द्रियकार्यनिर्वाह-
 दर्शनाच्चेति भावः ॥ २० ॥ अत एव च सर्वजगत्क्रियास्त-
 क्रिया एवेति न क्रियापि पृथक् प्रष्टव्येत्याह—तस्येति । यत-
 स्स्वरीयसंकल्प एव पुंश्रुत्या व्यष्टिसर्वपुरुषवेषेण आरूपितद्विता
 आरोपितभेदाः सर्वव्यवहारात्मना चलन्ति ॥ २१ ॥ तर्ह्यस्म-
 दादिमरणजन्मनी तस्यैव मरणं जन्म च स्याताम् । तथा च
 द्विपरार्धकालजीवनप्रसिद्धिविरोधस्तत्राह—जागते इति । सम-
 ष्टिजगन्मृतिजन्मनी एव तस्य मरणजन्मनी विज्ञेये । अन्ये
 अस्मदादिव्यष्टिमात्रप्रसिद्धे तु अस्य न । यत इदं जगति सम-
 ष्टिरूपं स एव अस्मत्संकल्पात्मापि स एव नेतरनेतर इत्यर्थः ।
 अथवा तस्य विधातुः सह सिद्धं चतुष्टयमिति पुराणदर्शितन्या-
 येन तत्त्वज्ञतया जीवन्मुक्तस्य द्विपरार्धान्तादिकालप्रसिद्धे अस्म-
 दादिव्यष्टिषु प्रसिद्धे च मृतिजन्मनी जागते जगदन्तर्गतास्मदु-
 ष्टिकल्पिते एव नान्ये । स्वदृष्टिसिद्धे इत्यर्थः । यतः स एवेदं
 जगति प्रसिद्धः । अस्मत्संकल्पात्मा व्यवहारोऽप्यस्यैव रूपं नेत-
 रदित्यर्थः । अथवा इन्द्रियमनसीव तस्य मृतिजन्मनी अपि
 जागते अस्मदादिप्रसिद्धे विज्ञेये नान्ये । पृथक्कल्पे तस्य संक-
 ल्पात्मापि जगति प्रसिद्धः अस्मत्संकल्पात्मैव । यतः स एवेदं
 सर्वं नेतरत्किंचिदस्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥ कुतः स एवेदं तत्राह—

श्रीराम उवाच ।

संकल्पात्स विराडेव खमेवाकृतिमागतम् ।
 अस्तु नाम स्वदेहान्तः कथं ब्रह्मैव तिष्ठति ॥ २६
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 यथा ध्यानेन देहान्तस्तिष्ठसि त्वं यथा स्थितम् ।
 तथास्ते निजदेहेऽन्तः संकल्पात्मा पितामहः ॥ २७
 नृणां तथा च मुख्यानां जीवो ब्रह्मपुरोदरे ।
 उत्पत्तिपुत्रिकादेहः प्रतिबिम्बोपमोऽस्ति सः ॥ २८
 यत्र त्वमपि देहान्तः कर्तुं शक्तोऽस्यलं स्थितम् ।
 संकल्पात्मा विभुस्तत्र ब्रह्मा किं न करिष्यति ॥ २९
 बीजान्तः स्थावरं ह्यास्ते पदार्थे यत्र जंगमः ।
 किं नास्ते तत्र देहेऽन्तर्निजचित्कल्पनात्मिका ॥ ३०
 साकारो गगनात्मास्तु निराकारं खमस्तु वा ।
 आस्ते बहिरथान्तश्च भिन्ने बाह्यान्तरे बहिः ॥ ३१
 आत्मारामः काष्ठमौनी न जडोऽपि दृषज्जडः ।
 अहंत्वमित्यादिमयो विराडात्मनि तिष्ठति ॥ ३२

तत्सत्तयेति । तस्य च जगतश्च तयोः ॥ २३ ॥ २४ ॥ एते
 विराड्जगती शुद्धचिन्मात्ररूपिणः परमात्मनो 'बहु स्यां प्रजा-
 येय' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं संकल्पमात्रं तच्च निःस्वरूपमिति ब्रह्मैव
 परिशिष्टमिति निष्कर्षः ॥ २५ ॥ अस्तु नामेत्यन्तेन उक्तम-
 भ्युपगम्य श्रीरामः शिष्टं प्रश्नं स्मारयति—स्वदेहान्तरिति ।
 'कथं वा सोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः' इति प्रश्नस्योत्तरं
 वदेत्यर्थः ॥ २६ ॥ ध्यानेनेति । मानसपूजायां हि हृदि क-
 ल्पिते रत्नमण्डपे देवमुपवेश्य स्वं तत्समीपस्थं छत्रचामरव्यज-
 नदर्पणताम्बूलादिभिर्देवं परिचरन्तं यथानुभवसि तद्वदित्यर्थः
 ॥ २७ ॥ किं च स्थूलदेहात्मकस्य स्वस्यान्तर्हृदयपुण्डरीके लिङ्ग-
 देहात्मकस्य स्वस्यावस्थानं सर्वेषां विवेकिनामनुभवसिद्धमि-
 त्याह—नृणामिति । मुख्यानां विवेकिनाम् । ब्रह्मपुरे शरीरे ।
 उत्पत्तिपुत्रिका औत्पत्तिकतत्तदेहप्रतिमाकारः । अत एव दर्प-
 णान्तर्गतप्रतिबिम्बोपमः ॥ २८ ॥ कैमुतिकन्यायेन धातुः
 स्वदेहान्तःस्थितिरित्याह—यत्रेति ॥ २९ ॥ यत्र स्थावराणा-
 मपि स्वबीजदेहान्तरवस्थानसामर्थ्यं तत्राविर्भूतसर्वशक्तिकचि-
 त्कल्पनात्मिकायाश्चतुर्मुखमूर्तेः किं तद्वान्यमित्याह—बीजेति
 ॥ ३० ॥ तथा च ब्रह्मा ब्रह्माण्डाकारेण साकारः संश्लिङ्गनात्मा
 वाऽस्तु मनःसमष्टिरूपेण निराकारं खमस्तु वा पक्षद्वयेऽपि बहि-
 रन्तश्चास्ते बाह्यान्तरभावकल्पने एव परं स्वरूपाद्बहिः स्थिते
 भिन्ने न त्वत्कल्पितमान्तरं सद्रूपं भिद्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ स
 तर्हि बहिरन्तश्च कीदृशः कीदृशे स्वभावे परमार्थतस्तिष्ठति
 तदाह—आत्माराम इति । स बहिर्विराड् ब्रह्माण्डात्मा अन्तस्तु
 अहंत्वमित्यादिव्यष्टिसमष्टिभूतभौतिकमयः । आत्मनि तु आत्मा-
 रामः सन् काष्ठमौनी निर्वाक्यो दृषदिव जडः स्थितः

आवेष्टितोज्झितलतातृणदारुपुंव-
दुच्छन्दमम्बुरयवञ्च विरोपिताङ्गः ।

नानाविधेऽपि विहरणपि कार्यजाले

तज्ज्ञः शिलाजठरशान्तमनस्क एव ॥ ३३

इत्यपि श्रीवासिष्ठमहाराभायणे धा० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे स० पाषा० विराडात्मवर्णनं नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥७४॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः ७५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथाग्रस्थब्रह्मलोको ब्रह्मणि ध्यानशालिनि ।

निक्षिप्ताक्षः शनैर्दिक्षु दृष्टवानहमग्रतः ॥

द्वितीयमर्कं मध्याह्ने पश्चादभ्युदितं स्फुटम् ।

दिग्दाहमिव दिग्बक्त्रे घनदाहमिवाचले ॥

बहिलोकमिव व्योम्नि बडवाग्निमिवार्णवे ।

ततोऽपश्यमहं दीप्तं सूर्यं नैर्ऋतदिक्षुखे ॥

सूर्यं याम्ये ककुब्भागे सूर्यमग्निककुम्बुखे ।

सूर्यमैन्द्रककुब्भागे सूर्यमीशानदिक्षुखे ॥

कुबेरककुम्भि सूर्यं सूर्यं वायव्यदिक्षुतटे ।

सूर्यं वरुणदिग्भागे तेन विस्मयवानहम् ॥

यावद्विचारयाम्याशु विधिवैधुर्यमाकुलम् ।

उदभूद्भूतलात्ताचदकं और्ध्वं इवार्णवात् ॥

एकादशेऽखिलार्काणां प्रतिविम्बमिवोत्थितम् ।

उदभूद्वयमर्काणामन्तरे दिग्गणाम्बरे ॥

सोऽपि चिदेकरसत्वात् जलस्तिष्ठति ॥ ३२ ॥ न केवलं विराज एवेदृशी स्थितिः किन्तु तत्त्वज्ञानां सर्वेषामिति दर्शयितुं तामेव दृष्टान्तैर्विशदयति—आवेष्टितेति । तज्ज्ञस्त्ववित् परापराध-सहिष्णुताविषये यथा लता तृणं कक्षः दारु पुमान्प्रतिमा वा पूर्वं रज्ज्वादिना आवेष्टिता बद्धा पश्चादुज्झिता मुक्ता अपि न कुप्यन्ति किन्तु निःशब्दं तूष्णीमेवास्ते । यथा अम्बुरयो जल-प्रवाहो निरुद्धो विरोपिताङ्गः शातितावयवोऽपि प्राकनस्थितिं न जहाति तथा नानाविधे कार्यजाले विहरणपि शिलाजठरमिव शान्तमनस्कः पूर्वस्थित्यैवास्ते न मनागपि क्रोधहर्षविषादादिना विक्रियत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराभायणे तात्पर्य-प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विराडात्मवर्णनं नाम चतुःसप्त-तितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

विधातरि ध्यानपरे द्वादशादित्यसंभवः ।

दृढजत्र जगात्सर्वं वर्णयते प्रलयानलः ॥ १ ॥

अग्रप्रासङ्गिकं समाप्य प्रत्युताख्यायिकामेवानुसंधत्ते—अथे-त्यादिना । अथ सेन्द्रादिनगरमेरुशिखरपत्तनदर्शनानन्तरं शनैर्दिक्षु निक्षिप्ताक्षोऽहं द्वितीयमर्कं दृष्टवानिति परेणान्वयः ॥ १ ॥ मध्याह्न इत्यनेन मध्यदिश्यर्कं सतीति गम्यते । दिक्षु दिशां मध्ये । अग्रतः पुरोगते पश्चादिग्बक्त्रे पश्चिमदिक्षुखे म-ध्यस्थादर्कोद्वितीयमर्कमहं दृष्टवानिति सचन्धः ॥ २ ॥ दिग्दा-हमिवेत्यादीनि सर्वेषामर्काणामुपमानानि प्रत्येकं योज्यानि

तद्धि रौद्रं वपुस्तत्र तन्मध्ये लोचनत्रयम् ।

तद्वादशपरीमाणं दीप्तं वृन्दं विवस्वताम् ॥

सर्वदिकं ददाहोच्चैः शुष्कं वनमिवाचलः ।

अथोदभूजगत्खण्डशोषणग्रीष्मवासरः ॥

अनग्निरग्निदाहो द्रागहृदयोल्मुकगुल्मकः ।

अनग्निनाग्निदाहेन तेन तामरसेक्षण ॥

अङ्गानि दावदग्धानि खिचानीव ममाभवन् ।

प्रदेशं तमथ त्यक्त्वा दूरमारुढवानहम् ॥

दृढहस्ततलाघातहतकन्दुकघञ्जभः ।

अपश्यं गगनस्थोऽहमुदितं चण्डतेजसम् ॥

तपन्तं द्वादशादित्यगणं दिक्षु दशस्यपि ।

वृद्धजत्र सतारावज्ज्वालेव भगणं चलम् ॥

महाकुहकुहाशब्दं कथत्सत्तावधिडम्बरम् ।

सज्ज्वालोल्मुकनीरन्ध्रलोकान्तरपुरान्तरम् ॥

ज्वालाघनपटाटोपसिन्दुरीकृतपर्वतम् ।

दीप्यमानमहानगरस्थिरविद्युत्ककुत्पटम् ॥

॥ ३ ॥ ४ ॥ वरुणदिग्भागे इति प्रागुपक्रान्तानुवादः

॥ ५ ॥ विधिवैधुर्यं देवप्रातिकूल्यम् ॥ ६ ॥ दिग्गणानामन्तरे

आन्तरालिके मध्यमाम्बरे । असमर्थसमासदृष्टान्दसः । मध्य-

मर्कैकादशत्वोक्तेरुर्ध्वमप्यन्योऽर्क उदित इति गम्यते । तेषु

मध्यमे एकादशोऽर्कं दर्पणोदरे प्रतिविम्बमिवान्यदर्काणां त्रयमुद-

भूत् । तद्धि मध्यतनादित्यान्तरुदितमर्कत्रयात्मकमेकं ब्रह्मविष्णु-

शिवात्मकस्यैकस्य रुद्रस्यैवं रौद्रं वपुः । तदेव 'तत्सवितुर्वरेण्यं

मर्गः' इति गायत्र्या प्रकाश्यते । अत एव हि तच्चतुर्विंशलक्षरप्र-

सूतचतुर्विंशतिसहस्रश्लोकात्मकस्य पूर्वराभायणस्य सारसंग्रह-

त्मके आदित्यहृदये 'महेशानाच्युतेशाय रौद्राय वपुषे नमः'

इति त्रिमूर्तिमूलपरशिष्यत्वेन नमस्कृतमिति तदेव सर्वोत्कृष्टमु-

पास्यमित्याहुः ॥ ७ ॥ तत्र तस्मिन्नर्के तन्मध्ये रौद्रवपुर्मध्ये

लोचनत्रयं तद्वीरं वपुरेव द्वादशादित्याकारपरिमाणं विवस्वतं

वृन्दं भूत्वा ददाहेति परेणान्वयः ॥ ८ ॥ ९ ॥ अहृदयोल्मुक-

गुल्मकत्वादेव प्रसिद्धाभिरहितः सौरामिदाह उदभूत् ॥ १० ॥

दूरमूर्ध्वं नम आरुढवान् ॥ ११ ॥ १२ ॥ तत्र तासु दिक्षु

सतारं भभः भवति व्याप्नोतीति सतारावा ज्वालेवावर्तकारेण

चलं भगणं नक्षत्रचक्रमपश्यमित्यर्थः ॥ १३ ॥ इत ऊर्ध्वं

सार्धद्वादशश्लोकेषु स्थितानि सर्वाणि द्वितीयान्तपदानि प्रस्तुत-

द्वादशादित्यगणविशेषणत्वेन योज्यानि । कुहकुहेति कथनशब्दा-

नुकरणम् ॥ १४ ॥ ज्वालाक्षणैर्धनैः पटाटोपैः रक्तवस्त्रा-

स्फुरत्कटकटाटोपचटत्पत्तनमण्डलम् ।
 विदधद्भूतलोद्भूतधूमदण्डैः शिलाघनैः ॥ १६
 काचस्तम्भसहस्राढ्यं भुवनस्थानमण्डपम् ।
 कथद्भूतमहाभूतताराक्रन्दातिघर्घरम् ॥ १७
 भूतलोकपुरापातस्फुटच्चटचटोद्भटम् ।
 ताराविशरणोद्धातघृष्टरत्नधरातलम् ॥ १८
 सर्वस्थलालयचलहृद्यमानजनवजम् ।
 क्षीणाक्रन्दकथद्भूतगणदुर्वासदिकतटम् ॥ १९
 उत्तसाम्बूदराखिन्नजलेचरमहार्णवम् ।
 सर्वदिक्कानललोषक्षीणाक्रन्दपुरान्तरम् ॥ २०
 विदलद्गन्धदिगन्तिदन्तोत्तम्भितभूधरम् ।
 घराधरदरीरन्ध्रधूममण्डलकुण्डलम् ॥ २१
 पतत्पर्वतनिष्पिष्टपृष्ठपत्तनमण्डलम् ।
 पचत्पचपचाशब्दशब्दिताद्रीन्द्रकुञ्जरम् ॥ २२
 तापतप्तोन्नमद्भूतज्वरितार्णवपर्वतम् ।
 हृदयस्फोटनिःसारपतद्दिघाधराङ्गनम् ॥ २३
 आक्रन्दरोदनश्रान्तमूर्धनिःसरणामरम् ।
 नागलोकज्वलज्वालापातालोत्तप्तभूतलम् ॥ २४
 शुष्कार्णवसदापकविवर्तोन्नजलेचरम् ।
 और्वेणाबिन्धनाभावात्प्रोद्गीयेव सहस्रधा ॥ २५
 गतेन नृत्यतोत्थाय गृहीतगगनाङ्गनम् ।

अथोदभूज्वलज्वालाकिंशुकांशुकशोभितः ॥ २६
 ताण्डवायेव कल्पाश्लिस्तरलोल्मुकमाल्यवान् ।
 तारं पटपटाटोपी रटद्भट इवोद्भटः ॥ २७
 ज्वालोल्लुजो धूमकचो जगज्जीर्णकुटीनटः ।
 जज्वलुर्वनजालानि पुराणि नगराणि च ॥ २८
 मण्डलद्वीपदुर्गाणि जङ्गलानि स्थलानि च ।
 सर्वखानि महाकाशमाशा दश दिवः शिरः ॥ २९
 श्वभ्ररूपारघट्टापट्टनोदारदिकतटः ।
 शृङ्गाणि सिद्धवृन्दानि गिरयः सागरार्णवाः ॥ ३०
 सरः सरस्यः सरितो देवासुरनरोरगाः ।
 आशाः शनशनाशब्दैः पुरुषैश्च शिवाचिषाम् ॥ ३१
 आसन्ध्वेडाकुराक्षस्यो ज्वालाजालोज्ज्वलोर्ध्वजाः ।
 भमद्भूमिति भांकारैर्भीषणैर्भूरिभस्मभिः ॥ ३२
 ज्वालाः श्वभ्राद्रिभूमीनां गुहाभ्यः परिनिर्ययुः ।
 ज्वालोदरस्था अरुणाः समस्ता भूतजातयः ॥ ३३
 स्थलपद्मोदरालीनामाजहुः श्रियमश्रियः ।
 सद्यो निःसृतरक्ताभैः सिन्दूराम्भोदसुन्दरैः ॥ ३४
 धगद्धगिति गायद्भिर्ज्वालाजालैर्जगद्भूतैः ।
 आसीद्रकांशुकैः कीर्णं संध्याधैरिव वा नभः ॥ ३५
 उत्फुल्लकिंशुकवनैरुद्गीनैरिव वाऽऽवृतम् ।
 और्वेण चावृता आसन्फुल्लाशोकवना इव ॥ ३६

हम्बरैः सिन्दूरवर्णाः कृताः पर्वता येन । दीप्यमानेषु महतां
 लोकपालानामगारेषु स्थिरविद्युत इव ककुत्पटा येन ॥ १५ ॥
 धूमदण्डैर्दण्डाकारैर्धूमैः । काचस्तम्भसहस्राढ्यं भुवनस्थानलक्षणं
 मण्डपं विदधत् कुर्वाणमिवेति संबन्धः ॥ १६ ॥ भूतानां प्रा-
 णिनां महाभूतानां पृथिव्यादीनां च तारैः आक्रन्दै रोदनैरति-
 घर्घरम् ॥ १७ ॥ भूतानां प्राणिनां लोकानां भुवनानां तदन्त-
 र्गतपुराणां च आसमन्तात्पातैः स्फुटतां पदार्थानां चटचटाश-
 ब्दैरुद्भटम् । ताराणामश्विन्यादीनां विशरणैः पतनैर्ये उद्धाता
 अभिघातास्तैर्घृष्टरत्नं धरातलं येन ॥ १८ ॥ सर्वेषु स्थलेषु
 आलयेषु स्वस्वगृहेषु चलन्तो धावन्तो दह्यमाना जनव्रजा येन ।
 क्षीणैर्मृतैराक्रन्दपूर्वकं कथद्भिः पच्यमानैश्च भूतगणैः प्राणिनि-
 कायैर्दुर्वासानि दुर्गेन्धीनि वासायोग्यानि च दिक्तटानि येन
 ॥ १९ ॥ सर्वदिग्व्यापिना अनलेन लोषो दाहस्तेन क्षीणाक्रन्दं
 शान्तरोदनं पुरान्तरमन्यजगरं येन ॥ २० ॥ विदलतां विशी-
 र्यमाणानां दग्धानां च दिग्दन्तिनां दन्तैरेव स्तम्भप्रायैस्त-
 म्भिता अधोभागे धारिता दिगन्तभूधरा येन ॥ २१ ॥ २२ ॥
 तापतप्तैरुन्नमद्भिस्तच्छलद्भिश्च भूतैर्ज्वरिताः संजातज्वरा इवा-
 र्णवाः पर्वताश्च येन ॥ २३ ॥ केचिदाक्रन्दै रोदनैश्च श्रान्ताः
 केचियोगबलेन ब्रह्मरन्ध्रं विदार्य मूर्धनिःसरणा अत एवामराश्च
 योगिनो यत्र ॥ २४ ॥ शुष्केष्वर्णवेषु सदा पकाश्चिरकथिता
 विवर्तैः परिवर्तनैरुप्रा भीषणाश्च नकादिजलेचरा येन ॥ २५ ॥

गृहीता गगनाङ्गना अप्सरसो येन । एवं द्वादशादित्यगणमुप-
 वर्ण्य तदुद्भवं प्रक्यामि नटत्वेन वर्णयति—अथेत्यादिना नट
 इत्यन्तेन । ज्वलज्वालारूपैः किंशुकपुष्पवर्णैरंशुकैर्वर्णैः शोभितः
 ॥ २६ ॥ तरलैरुल्मुकैर्माल्यवान् । तारं विस्फुटद्भिर्वेष्वादिभिः
 पटपटाटोपी नानावाद्याहम्बरवान् ॥ २७ ॥ २८ ॥ सर्वाणि
 खानि पातालादिभूच्छिद्राणि । भूमेरूर्ध्वं महाकाशम् । दिवो
 ध्रुलोकस्य शिर ऊर्ध्वभागः ॥ २९ ॥ तथा क्वचित् श्वभ्ररूपः
 क्वचिदारघट्टयन्त्रैरटैः सौधैश्च युक्तैः पट्टनैश्चोदारो रम्यो दिक्तटः ।
 तथा पर्वतशृङ्गाणि तत्रत्यसिद्धवृन्दानि तद्युक्ता गिरयः सागरा-
 र्णवाः ॥ ३० ॥ आशा दिशश्च तदन्तर्गतपुरुषैः सह शिवा-
 चिषां रुद्रनेत्रज्वालानां शनशनाशब्दैर्जज्वलुरिति पूर्वत्रान्वयः
 ॥ ३१ ॥ किंचेता आशाः ज्वालाजालैरुज्ज्वला ऊर्ध्वजाः केशा
 यासां तथाविधाः सत्यो भमद्भूमिति प्रसिद्धैर्भीषणैर्भांकारध्वनि-
 मिर्भूरिभस्मभिश्च परस्परं विक्षिपन्त्यः । ध्वेडा परस्परधूलिज-
 लादिप्रक्षेपैः क्रोडातत्पराः कुराक्षस्य इव आसन् ॥ ३२ ॥
 ॥ ३३ ॥ किंचाश्रियः संप्रहृतास्ता दिशः सद्यो निःसृतरक्ता-
 भैर्ज्वालाजालैः स्थलपद्मोदरालीनां श्रियमाजहुर्जगद्भूतैः ॥ ३४ ॥
 वेत्युत्प्रेक्षयोर्विकल्पः ॥ ३५ ॥ आवृतं नभ इत्यनुषजते । वा-
 शब्दः प्राग्वत् । एवमौर्वेणाग्निना संवृता अर्णवाश्च फुल्लान्यशो-
 कवनानि येषु तथाविधा इव स्थलान्ज्वैरलिता इव राविराः
 बालरविनिकरव्याप्ता इव वा आसन्निति परेण सहान्वयः ।

इव स्थलाब्जवलिता राविरा इव चार्णवाः ।
 नानावर्णज्वलज्वालाधूमविन्यासबन्धवान् ॥ ३७
 रुढं वह्निमिवाधातुं चित्रसौघलताश्रयम् ।
 अनन्त इव विन्यास वनयौवनपावकः ॥ ३८
 उदयास्तमयादिभ्यो विन्ध्यो विधुरतामगात् ।
 अङ्गारकल्पविटपैर्ज्वालावनविचलनैः ॥ ३९
 शनैरीषदिव क्षुब्धैः सद्योऽसह्यत्वमाययौ ।
 मध्यमध्यकचत्कार्ण्यभ्रमद्मालिमालितम् ॥ ४०
 चलज्वालाब्जमलिनं दृष्टं सर इवाम्बरम् ।
 खेऽद्रीणां शिखरे न्योसि शिखाशिखरशेखराः ॥ ४१
 ननृतुर्नारसा नाशनर्तक्यः केतुकुन्तलाः ।
 तलाहितानलज्वाला ब्रह्माण्डोर्ध्वकपाटभूः ॥ ४२
 तर्जनप्रोत्पतद्भूतधानौघा भ्राष्ट्रभूमिका ।
 कणच्छेपी मृज्जलाग्निर्नानावर्णाननारुणा ॥ ४३
 हृत्प्रकोष्ठे जगलक्ष्म्याः सौवर्णीवामवत्तदा ।
 शैलाश्चटचटास्फोटैर्वृक्षाः कटकटारवैः ॥ ४४
 देशा हलहलोल्लासैरलं विदलनं ययुः ।
 अब्धयः कथिताकाराः फेनिलोल्लासमांसलाः ॥ ४५
 बीचीकरतलाघातांश्चकुरर्कमुखे मुखे ।

रवीन् सन्ति स्त्रीकुर्वन्तीति रविराः त एव राविरा इति स्वार्थि-
 कोऽण् कल्प्यः ॥ ३६ ॥ तथा वनेषु यौवनं युवभावो यस्य
 तथाविधः पावको दवाभिध्वित्रलिखितं सौघतत्त्वश्रयं मिथ्या-
 वह्निं प्रौढं यथार्थमूतमाधातुं संपादयितुमिव नानावर्णानां ज्व-
 लज्वालानां धूमविन्यासानां च बन्धः प्रबन्धः श्रेणिरिति
 यावत्, तद्वन्मन्त्र फणासहस्रप्रबन्धवाननन्तः सर्पराडिव विनि-
 आस विस्तृतो नितरामासीदित्युत्तरेण सहान्वयः ॥ ३७ ॥
 ॥ ३८ ॥ किंच सूर्योदयास्तमयादिवैधुर्गाकाङ्क्षिणो विन्ध्यस्य
 मनोरथस्तदा फलित इत्याशयेनाह—उदयास्तमयादिभ्य
 इत्यर्थेन । अङ्गारैरुत्तरान्वयि ॥ ३९ ॥ सद्यो दक्षिणदेशे
 प्रसिद्धो गिरिः । मध्ये मध्ये कचत्प्रकाशमानं कार्ण्यं येषां तथा-
 विधैर्धूमलक्षणैरलिभिर्मालितम् । बलद्विधूमसंवलितैर्ज्वाला-
 क्षणैरब्जैर्मलिनं चेति नभसः सरःसाम्योपपत्तिः ॥ ४० ॥
 शिखाशिखरशेखरा ज्वालाप्रोत्संसाः । केतुर्धूमावर्तो धूमकेलारूप्य
 सत्पातविशेषश्च कुन्तलस्थानीयो घासां तथाविधा नाशा मृज्ज-
 वस्तलक्षणा नर्तक्यः अद्रीणां खे विवराकाष्ठे शिखरे मृज्जदेशे
 न्योसि अश्यादिशून्यशुद्धाकाशप्रदेशे च नीरसाः करुणादिरस-
 शून्या सद्यो ननृतुः ॥ ४१ ॥ ब्रह्माण्डस्य ऊर्ध्वभाग एव
 कपाटं पिधानं यस्यास्तथाविधा भूः पृथिवीतले अधोभागे आ-
 हिता अनलज्वाला यस्यास्तथाविधा सती तर्जनैर्व्यथनैः प्रोत्प-
 तन्ति भूतानि प्राणिनिकाया एव धानौघा मज्ज्यमानवीजस्था-
 भीया यस्या तथाविधा भ्राष्ट्रभूमिका अम्बरीषखर्परमभूदिति
 शेषः ॥ ४२ ॥ किंचैव पृथिवी तदा प्रलयकाले सौरस्तावर्न
 रुदन्त्या जगलक्ष्म्या इति प्रसक्ते प्रकोष्ठे द्वीपमेदभिर्भाभिर्मुद्भिः

अन्योन्यवेलितोल्लोलभूतलाकारपर्वतम् ॥ ४३
 जहुर्वीचीकरैर्देहे जडाः प्रकुपिता इव ।
 आशाकाशाशिनामेषां गुहागुहगुहारवान् ॥ ४४
 पपाठ शब्द आश्रेयो ज्वालातटतटोद्भवः ।
 लोकपालपुरापाततत्ताङ्गाराद्रिमित्तयः ॥ ४५
 दिशो दशापि वैवश्यं ययुरुन्मत्तवृत्तयः ।
 काञ्चनद्रवसाद्दीन्द्रहुमागारगुहागृहः ॥ ४६
 शनैश्चार्वाकृतिर्मैकरासीदिम इवातपे ।
 क्षणेनैवानलात्तत्साक्षिमवाज्जतुवहुतः ॥ ४७
 सर्वान्तःशीतलः शुद्धो दुर्जनदिव सज्जनः ।
 तस्यामपि दशार्था तु मलयोऽमलसौरमः ॥ ४८
 आसीत्त्यजत्युदारात्मा न नाशेऽप्युत्तमं गुणम् ।
 नश्यन्नपि महान् ह्रावं न खेदं संप्रयच्छति ॥ ४९
 चन्दनं दग्धमप्यासीदानन्दायैव जीवताम् ।
 न कदाचन संयाति वस्तुत्तममवस्तुताम् ॥ ५०
 प्रलयानलनिर्दग्धमपि हेम न नष्टवत् ।
 द्वे हेमनमसी तस्मिन्न नष्टे प्रलयानले ॥ ५१
 तयोरेव वपुः श्लाघ्यं सर्वनाशेऽप्यनाशयोः ।
 नभो धिभुतयाऽनाशि हेमाकृष्टतयाक्षयम् ॥ ५२

सप्तसमुद्रादिलक्षणैर्जलेस्तथातैरभिभिश्च काचतत्त्वान्तिकावन
 स्थानीयेर्नानावर्णैराननैर्मुखैर्मणिभिश्च अरुणा सौवर्णा कणत्कह
 णश्रेणीवामवत् ॥ ४३ ॥ विदलनं विशीर्णताम् ॥ ४४ ॥ एवम
 ऋषयोऽपि परस्परं मुखमाहृत्य रुदुरिवेत्युत्प्रेक्षते—अब्धय
 इति । अर्कमुखे सूर्यप्रतिविम्बतिलके स्तमुखे ॥ ४५ ॥ किंच
 तेऽब्धयः अन्योन्यं वेलितं सचसं तरङ्गास्फालनैरल्लोलमत एव
 क्रमेण मृत्पाषाणावीनां समीकरणाद्भूतलाकारतां प्राप्तं पर्वतं
 जहुः आजहुः । आहारतां निम्नुरग्रसन्निति यावत् । प्रकुपिता
 जडा मूर्खा मृत्तिकाशिलादि प्रसन्तीति प्रसिद्धम् ॥ ४६ ॥ क-
 चिच्च एषामब्धीनां गुहामुखनिर्गतान् गुहागुहेष्वेकैरुपानारवान्
 प्रदेशान्तरे ज्वालातटस्य गिरितटस्य संघट्टनादुद्भूत आमेयः
 शब्दः पपाठ । शुरुकान् शब्दान् शिष्यभवनिरिव अनुचकार-
 लर्थः ॥ ४७ ॥ किंच तदा प्रलयाम्बुदानां निवृत्तेरुन्मुक्तवृक्षो
 दशापि दिशो लोकपालपुराणां दशानामप्यापातैर्दाहे प्रताप्रा-
 रभरिताद्रिमित्तयः सत्य उन्मत्तवृत्तयो भूला वैवश्यं व्याकुलतां
 ययुः ॥ ४८ ॥ काञ्चनद्रवभूतः अद्रिभिः प्रत्यन्तपर्वतैरिन्द्रेण
 हुमैरागारैर्गुहागृहैश्च सहितश्चार्वाकृतिर्मैरुपर्वतः शनैः आतपे हिम
 इव विलीन आसीत् ॥ ४९ ॥ जतुवल्गाकावहुतो विलीनः
 ॥ ५० ॥ अमलसौरमः शुगन्धिरिति यावत् ॥ ५१ ॥ महाउ-
 त्तमपुरुषः ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ दग्धं दह्यमानमपि । न नष्टवत्
 न ननाश ॥ ५४ ॥ अविनाशिवस्तवेव सार इति श्लाघ्यमित्या-
 शयेनाह—तयोरेवेति । आकृष्टतया दोषेभ्यो निष्कृष्य शोषित-

सत्त्वमेकं सुखं मन्ये न रजो न च वा तमः ।
 चलदुच्चवनानीव विकीर्णाङ्गारवर्षणः ॥ ५६
 दग्धाब्दादिर्महाधूमज्वालोऽभूद्वहिवारिदः ।
 रसविस्मरणार्तानां शून्यानां स्फारदेहिनाम् ॥ ५७
 शुष्काणां व्योमविटपिपत्राणां पात्ररूपिणाम् ।
 वारिदानां सवारीणां दग्धानां प्रलयार्चिषा ॥ ५८
 हस्येवाङ्ग न दोषाणां दृष्टं भस्मापि न क्वचित् ।
 न लङ्घयति कैलासं यावदुल्लसितोऽनलः ॥ ५९
 तावत्तं कल्पकुपितो रुद्रो नेत्राग्निनादहत् ।
 दाहस्फुटद्भूमस्थूलशिलाचटचटारवाः ॥ ६०
 लकुटोपललोष्टौघैर्युध्यन्तेव भूमृतः ।
 ज्वालाघनघटाटोपसावतंसचलान्तिमाः ॥ ६१
 बभूवुर्व्योमविकसत्स्थूलपद्मवना इव ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० महाकल्पान्तामिवर्णनं नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः ७६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ कल्पान्तमसृति बह्व्यवधुताचले ।
 चलेनाम्भोधिकलोलैर्नभस्यावर्तकारिणि ॥ १
 समुद्रेषु विमुद्रेषु मर्यादोलङ्घने घने ।
 अधनेषु धनिष्वम्बुदारिद्र्योपद्रवद्रुते ॥ २

तथा ॥ ५५ ॥ अत एव रजस्तमोनिष्कृष्टं शुद्धं सत्त्वमेव ब्रह्म-
 सुखाभिव्यक्त्या सुखसारं मन्ये । दग्धा अब्दा अम्बुदलक्षणा
 अद्रयो येन तथाविधो महाधूमज्वालः प्रलयबहिलक्षणो वारिदः ।
 चलन्ति उच्चानि वनानीव नमसि स्फुरन् विकीर्णाङ्गारवर्ष-
 णोऽभूदित्यन्वयः ॥ ५६ ॥ रसानां जलानामालम्बिकशेषे
 संस्कारमात्रस्याप्यनवशेषाद्विस्मरणेनार्तानां शून्यानां स्फारदे-
 हिनां अण्डजादिचतुर्विधभूतानाम् ॥ ५७ ॥ तथा शुष्काणां
 दग्धानामत एव व्योमविटपिपत्रपात्रप्रायाणां शून्यतां गताना-
 मिति यावत् । अथवा सवारीणामार्द्राणामेव प्रलयार्चिषा बलाह-
 ३धानां वारिदानां हे अङ्ग, ज्ञानाग्निदग्धानां हस्य तत्त्वविदो दो-
 षाणामिव भस्मापि क्वचित् दृष्टमित्यन्वयः ॥ ५८ ॥ न लङ्घ-
 यति नाभिमवति । कैलासं रजतगिरिम् ॥ ५९ ॥ तं कैला-
 सम् । कल्पार्थं कुपितः । तदाहमपि वर्णयति—दाहेत्यादिना
 ॥ ६० ॥ भूमृतस्तत्पादपर्वताः । किंच ते भूमृतो ज्वालाघन-
 घटाटोपैः सावतंसानि चलानि अन्तिमानि अग्रशिखराणि येषां
 तथाविधाः सन्तो व्योम्नि विकसन्ति स्थूलानां पद्मानां वनानि येषां
 तथाविधा इव बभूवुः ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ असरणीयतां प्रत्य-
 क्षतामिति यावत् । मूर्खान् स्मारयन् जगदसारतामिति
 शेषः । असतामलीकानां शशशृङ्गादीनामिवापहवमत्यन्तास-
 र्वम् ॥ ६३ ॥ लये तस्मिन्प्रलये प्रवृत्ते अशनिनिपातैः पीडि-
 तानि प्राण्यङ्गानि यैः कचद्भिरनलोल्मुकैर्गुल्मानि क्षुद्रवृक्षास्त-

सर्गः कदाचिदेवासीदित्यगात्सरणीयताम् ॥ ६२
 कल्पान्तः स्मारयन्मूर्खानगादसरणीयताम् ।
 तापोपतापपरमाः परमारणतत्पराः ।
 बह्व्योऽपह्वं चक्रुर्जगतामसतामिव ॥ ६३
 बभुरशनिनिपातपीडिताङ्गाः
 कचदनलोल्मुकगुल्ममण्डलाभाः ।
 प्रलयसमयवायवोऽनलान्ता-
 हलदमरावलयो लये लिहन्तः ॥ ६४
 व्यालोलस्फुटदानलद्रुमवनप्रोद्भूतभस्मोष्मणा
 दत्ताभ्राभ्रमदुल्मुकादतिवहत्साङ्गारगौरार्चिषः ।
 अश्रयत्पावकशृङ्गमध्यविलसज्वालावलीश्यामला
 निःशेषाग्निनिकाशसुस्तवजवा वेगेन वाता ववुः ॥

भूतले भूतलेशांशवर्जिते वह्निभर्जिते ।

पातालमपि पाताले गते किमपि कालतः ॥ ३
 दिवि वा विद्यमानायां विशीर्णे सर्गवर्गके ।
 लोके व्योमगतालोके शोकौकसि ककुब्गणे ॥ ४

न्मण्डलाभाः दलन्त्यो विशीर्यमाणा अमरावलयो यैस्तथाविधाः
 प्रलयसमयवायवः अनलान्ताद्वह्निमध्याग्निर्गत्य दिशो लिहन्त
 इव ववुः ॥ ६४ ॥ पुनः कीदृशास्ते वाता ववुस्तदाह—व्यालो-
 लेति । व्यालोल ज्वालापल्लवकोटिभिः स्फुटन्तो विकसन्तश्च ये
 आनला वह्निमया द्रुमास्तेषां वनेषूद्भूतेन भस्मसहितेनोष्मणा
 दत्ताभ्रा व्याप्ताकाशा उत्पादितमेघा वा । तथा भ्रमतामुल्मुका-
 नामाहतिभिरभिधातैर्वहन्त्यो निःसरन्त्यः साङ्गारा गौराः
 पीता अर्चिषो येभ्यः । तथा अश्रयन्तीभिः कजलात्मना
 स्खलन्तीभिः पावकशृङ्गप्रायशिखामध्ये विलसन्तीभिः स-
 कजलज्वालावलीभिः श्यामलाः । तथा निःशेषे जगत्समीनां
 निकाशेन प्रदीपनेन सुस्तवः स्तुतियोग्यो जवो येषां
 तथाविधा वाता वेगेन ववुरित्यर्थः ॥ ६५ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महाकल्पा-
 न्तामिवर्णनं नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

ऊर्ध्ववारुणदिग्भागे पुष्करावर्तकोदयः ।

वर्णयतेऽत्रोपसंहारोऽप्यग्रेराश्रेयदिद्युखे ॥ १ ॥

अवधूताचले कम्पितशैले ॥ १ ॥ विमुद्रेषु विगतचिह्नेषु
 धनिष्वधनेषु सत्सु । अम्बुदारिद्र्योपद्रवेण जलाभावदुःखेन द्रुते
 पलायिते इति घनेन भूतलेन वा संबन्धः ॥ २ ॥ किमपि
 प्रसिद्धविलक्षणं पातालं विनाशमिति यावत् ॥ ३ ॥ दिवि
 द्युलोके व्योमगत आलोकः सौरोऽग्निस्तद्भावापने ॥ ४ ॥

कुतोऽप्याकाशकुहरादुत्पद्यमाना इव ।
 पुष्करावर्तका मेघाश्चकुर्गुलुगुलारवम् ॥ ५ ॥
 ब्रह्मविस्फोटितस्वाण्डकुड्यविस्फोटनोद्भूतम् ।
 अन्योन्यास्फालनोत्फालमत्तार्णवरवाविलम् ॥ ६ ॥
 लोकार्णवपुरोद्गीर्णघनकोलाहलोलम् ।
 एतत्कुलाचलस्कन्धबद्धोत्तरवध्वरम् ॥ ७ ॥
 ब्रह्माण्डशङ्खजठरपूरणावर्तमन्थरम् ।
 स्वर्लोकोदःपातालतलतोऽतिसगुलमकम् ॥ ८ ॥
 समस्तदूरदिग्भित्तिहेलाहेलनघर्षुलम् ।
 महाप्रलयसंपन्नापानकापानतर्षुलम् ॥ ९ ॥
 प्रसृतप्रलयाख्येन्द्रमत्तैरावतवृद्धितम् ।
 आकल्पक्षुब्धमेघाब्धिनिर्हादमिव संभृतम् ॥ १० ॥
 महाप्रलयसंक्षुब्धक्षीरोदमथनारवम् ।
 ब्रह्माण्डोत्तरवध्वेऽसिन्धवार्यन्त्रमिव सारवम् ॥ ११ ॥
 यथासिन्धवति कल्पाशौ स्थितिमेति कथं घनः ।
 इति विस्मितवानसि दृशं दिग्भवकेऽत्यजम् ॥ १२ ॥
 यावच्च कचिदेवात्र पश्याम्याशासु केवलम् ।
 तरन्ति तरलास्फालमुल्लुकाशनिवृष्टयः ॥ १३ ॥
 तेन ज्वलनतापेन बहुयोजनकोटिषु ।
 पदार्था मस्मतां यान्ति दूरे दिक्षु दशस्वपि ॥ १४ ॥
 अनन्तरं क्षणाद्योस्मि दूरेऽहमनुभूतवान् ।
 ऊर्ध्वतः शीतलं वातमधस्तादनलोपमम् ॥ १५ ॥

गुलुगुलेति आरवानुकरणं प्रथमं दूरादतारध्वनाभिप्रायम् ॥ ५ ॥
 सामीप्यक्रमेण तस्यैव तारतां दर्शयति—ब्रह्मेति । ब्रह्मणा
 विस्फोटिते स्वाण्डे कुड्यस्य ब्रह्माण्डभित्तेर्विस्फोटन इव उद्भूतं
 तारतमम् । अन्योन्यास्फालनैरुत्फाला उच्छलन्तो ये मत्तः
 अर्णवास्तदीयरववदाविलम् । शब्दसमकालप्रसृतस्य दिग्जल-
 मालिन्यस्योपमेयोपमानयोः शब्देऽप्यारोपादाविलम्बोक्तिः ॥ ६ ॥
 लोकेष्वर्णवेषु पुरेषु च प्रतिध्वन्यात्मना उद्गीर्णैर्घनैः कोला-
 हलैरतितारैरुल्लङ्घनं दुःसहम् । एतैः प्राभ्वर्णितैः कुलाचलस्कन्ध-
 संवद्धैर्दाहोत्तरवैर्मिश्रणाद्धर्षम् ॥ ७ ॥ ब्रह्माण्डशङ्खजठरपूरणे
 सति तद्वित्तिप्रतिरोधप्रयुक्तैः परावर्तनैर्मन्थरं निविडतरमत एव
 स्वर्लोकात् रोदोभ्यां पातालतलतश्च अतिशयेन सगुलमकं शाखा-
 प्रकरसहितमिव ॥ ८ ॥ समस्तदूराणामपाराणां दिग्भित्तीनां
 हेल्या हेलनेन विलेखनेन घर्षुलं कषणशीलमिव । महाप्रलये
 सप्ताब्दीनां मिश्रणेन कथनात्संपन्नस्य पानकस्य आपाने
 आस्वादने तर्षुलं पिपासितमिव ॥ ९ ॥ प्रसृतस्य
 विजयार्थं निर्गतस्य अलयाख्यस्य इन्द्रस्य मत्तैरावतगर्जितमिव
 स्थितम् । आकल्पं प्रलयपर्यन्तं चिरनिरोधेन क्षुब्धानां
 मेघलक्षणाणामब्धीनां संभृतं चिरसंविर्तं युगपदिःसृतं निर्हाद-
 मिव स्थितम् ॥ १० ॥ आरवध्वे घटीयन्त्रस्थाने प्रसिद्धं
 वार्यन्त्रं जलधारायन्त्रमिव ॥ ११ ॥ अथ घर्णितमेघध्वनिप्रवणा-

एतावति नभोमार्गे दूरे कल्पाम्बुदाः स्थिताः ।
 यस्तेषामग्नितापानां विषयो न च सद्दृशम् ॥ १६ ॥
 अथ चारुणदिग्भागादाययौ कल्पमावतः ।
 यस्मिंस्तृणवदुद्भान्ते विन्ध्यमेरुहिमालयाः ॥ १७ ॥
 तेन ज्वालाचलाः प्रान्तोद्गीनाङ्गारविहंगमाः ।
 लोलोत्सुकवनाक्रान्ता जग्मुरग्निदिशं द्रुतम् ॥ १८ ॥
 संध्याभ्रसदृशाकारास्तेरुरङ्गारवारिदाः ।
 भ्रेमुर्भ्रसभराभ्राणि पूताङ्गाररजांसि खे ॥ १९ ॥
 स ज्वालाविलसद्भातो दुष्टोऽनलदृशं व्रजन् ।
 हेमाद्रीणां सपक्षाणामनीकं द्रवतामिव ॥ २० ॥
 घराद्रिमण्डलाभोगे सौम्याङ्गारभरात्मनि ।
 ज्वालावलिगणे जाते भाते तेजसि भास्वताम् ॥ २१ ॥
 अर्णवेष्वनलार्णवसु कथनोत्फालवारिषु ।
 वनेष्वस्मृतपर्णेषु दीप्ताग्नितरुधारिषु ॥ २२ ॥
 ब्रह्मलोकस्थनाथेषु ब्रह्मलोकपुरेषु च ।
 साङ्गनावालवृद्धेषु दग्धेषु निपतत्सु खम् ॥ २३ ॥
 कल्पान्तानलपद्मिन्या ब्रह्माग्रावसरोवरे ।
 ज्वालापल्लवशालिन्याः सर्वाजायाः सटोल्लुकाः ॥ २४ ॥
 अनिलात्मसु मूलेषु नागेषु च नगेषु च ।
 आपातालं निमग्नेषु महत्यङ्गारकर्दमे ॥ २५ ॥
 उष्ट्रसैन्यमिवालय गतिमन्निकटं नमः ।
 आययावज्जनश्यामः कल्पास्बुदगणः कणन् ॥ २६ ॥

नन्तरं विस्मितमाश्चर्यवृद्धिस्त्वद्वानहं संजातोऽस्मि ततः अधोदिग्-
 तिरिक्ते दिग्बुके दृशं दृष्टिं मेवान्वेषणाय अत्यजं विमुक्तवान् ।
 व्यापारितवानस्मीति यावत् ॥ १२ ॥ न पश्यामि । मेघानिति
 शेषः । किं तर्हि दृष्टवानसि तत्राह—केवलमिति । तरन्ति
 आकाशे लवन्ते ॥ १३ ॥ १४ ॥ अनुभूतवान् स्वगिन्द्रियेण
 ॥ १५ ॥ एतावति दूरे यो यावान् दूरप्रदेशेऽप्येवमभ्र-
 नामग्नितापानां सतां तत्र जीवतां प्राणिनां दृष्ट्वा च विषयो न
 ॥ १६ ॥ १७ ॥ ज्वालाचलाः अचलाः पर्वताः । पर्वतलो-
 पपादके द्वे विशेषणे ॥ १८ ॥ मस्मभरलक्षणाव्यवधारणाद-
 भ्राणि पूताणां वायुशोधितानामङ्गाराणां रजांसि ॥ १९ ॥ २० ॥
 सौम्या निर्ज्वाला येऽङ्गारस्तद्भरात्मके जाते सतीति शेषः ।
 भास्वता द्वादशादिखानां तेजसि रजोपगमाङ्गाते स्फुटे सति
 ॥ २१ ॥ कचिदनला एवार्णसि येषां तथाविधेषु कचित्कयनो-
 त्फालवारिषु । सर्वेषां सप्तम्यन्तानां कल्पाम्बुदगण आयायविल-
 श्रेणान्वयः ॥ २२ ॥ २३ ॥ सटाः केसरसदृशाः स्फुलिङ्गास्तद्भित्तेर-
 ल्लुकाः सर्वाजायाः ज्वालापल्लवशालिन्याः ब्रह्मलक्षणे अग्रावे नि-
 रूपले सरोवरे प्रवृद्धायाः कल्पान्तानलरूपायाः पद्मिन्याः अनि-
 लात्मसु विष्टम्भकवायुप्रधानेषु नागेषु नगेषु च सर्वपर्वतरूपेषु
 मूलेषु आपातालमङ्गारकर्दमे निमग्नेषु सत्सु इति द्वयोरन्वयः
 ॥ २४ ॥ २५ ॥ चर्ममन्त्राभिरुद्राणां पश्चिमदेशे जलवाहकत्वप्रसिद्धे-

स्थिरकल्पानलज्वालातुल्यविद्युन्मयाचलः ।
 एककोणकविश्रान्तसप्तार्णवपयोभरः ॥ २७
 भित्तिभासुरनीहारभारनिर्वारदिकतटः ।
 ब्रह्माण्डकुड्यनिविडमण्डलास्फोटपण्डितः ॥ २८
 कल्पान्तक्षुमिताम्भोधिर्वर्तुलावर्तवृत्तिमान् ।
 तडिज्जलचरः सारनिर्हादः खमिवागतः ॥ २९
 मृतो दग्धो निशानाथस्ततो द्विगुणशीतलः ।
 अन्यमाकारमाश्रित्य परं लोकमिवागतः ॥ ३०
 हेमसंभाररूपेण हिमालयमिवाखिलम् ।
 जाड्यस्तम्भितनिःशेषजलकाष्ठाचलं दधत् ॥ ३१
 अथ ब्रह्माण्डविस्फोटकठिनं घटिताम्बरम् ।
 प्राग्द्रुतोद्भूतौषारकाष्ठा वृष्टिः पपात ह ॥ ३२
 अग्निदाहवनाकाशविद्युदुन्मेषमीषणा ।
 चटद्भिर्गडास्फोटस्फुटद्ब्रह्माण्डमण्डला ॥ ३३
 प्रथितोत्थितसीत्कारशतक्ष्वेडाक्षयारवा ।

शीतसीकरनीहारभित्तिबन्धमयाम्बरा ॥ ३४
 रोदोमण्डपवैदूर्यस्तम्भसंभारभासुरैः ।
 धारासारैर्धराधुर्यशैलशातकशालिनी ॥ ३५
 धराचटचटास्फोटस्फुटदङ्गारपत्तना ।
 गर्जितोर्जितसंपातपतल्लोकान्तराकुला ॥ ३६
 सा बभूवाथ साङ्गारजगद्देहविलासिनी ।
 कृतप्रत्युद्गमा बाष्पश्रियाऽज्वलनया भुवः ॥ ३७
 ज्वालालबोलुलनडम्बरमम्बरं त-
 द्ब्रूढस्थलाब्जदलजालमिवालमासीत् ।
 ज्वालाभ्रमङ्गमरपङ्क्तिनिभास्तदासं-
 स्तत्र स्फुरच्छिशिरसीकरपक्षपुञ्जाः ॥ ३८
 उद्यद्बृहच्चटचटारवपूरिताशो
 भीमोऽभवत्सलिलदानलसंनिपातः ।
 दुर्वारवैरिविषमो महतां बलानां
 संग्राम उग्र इव हेतिहतोऽग्रहेतिः ॥ ३९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रक० उत्तरार्धे पाषा० पुष्करावर्तडम्बरवर्णनं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥७६॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः ७७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथावनिपयस्तेजःपवनानां युगक्षये ।
 जाते परमसंक्षोभे बभूवासिजगत्रयम् ॥ १

स्तत्सैन्यमिव ॥२६॥ तमेव वर्णयति—स्थिरेत्यादिना ॥२७॥
 भित्तिवत् भासुरैर्नीहारभारैर्निर्वाराणि निरवकाशानि दिक्कटानि
 यस्य । ब्रह्माण्डकुड्यपर्यन्तं निविडस्य भूमण्डलस्यास्फोटे विद-
 लने पण्डितः । ब्रह्माण्डकुड्यपर्यन्तं स्वयं निविडः सन् नभो-
 मण्डलास्फोटनप्राये ध्वनौ पण्डित इति वा ॥ २८ ॥ कल्पान्त-
 क्षुमिताम्भोधिरेव खमायातोऽधिरूढ इवेत्युत्प्रेक्षा । वर्तुलाव-
 र्तस्थानीयद्वादशादित्यपरिवेषवृत्तिमानित्यादिविशेषणान्युत्प्रेक्षोप-
 पादकानि ॥ २९ ॥ उत्प्रेक्षान्तरं दर्शयति—मृत इति । परम-
 त्यूर्ध्वदेशरूपं परलोकमाश्रित्यान्यमाकारमम्बुदगणलक्षणं शरी-
 रान्तरमागत इव ॥ ३० ॥ हेमसंभारसदृशविद्युद्गुणरूपेण
 जाड्येन स्तम्भितानि निःशेषाणि समस्तानि जलानि काष्ठमिवा-
 चलानि येन तथाविधं हिमालयं दधत् धारयन्निव ॥३१॥ अथ
 मेघागमनानन्तरं वृष्टिः पपात । कथम् । ब्रह्माण्डस्य विस्फो-
 टवत्कठिनवज्रनिर्घातेन घटितमम्बरं यस्मिन्कर्मणि तथाविधा
 प्राक् प्रथमं हता उद्भूतनीहारः काष्ठा दिशो यस्याम् ॥ ३२ ॥
 तां वृष्टिमेव वर्णयति—अग्निदाहेत्यादिना । अग्निदाहसदृशेन
 वनाकाशयोर्विद्युदुन्मेषेण मीषणा । चटद्भिर्गडास्फोटैः स्फुट-
 द्ब्रह्माण्डमण्डला ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ रोदसी यावाभूमी तल्लक्षणम-
 ण्डपस्य वैदूर्यस्तम्भानां संभार इव भासुरैः स्थूलतरैर्धाराणामा-
 सारैः संपातैर्धराधूर्वहाणां शैलानां शातका ये टंकप्रहारा-

तापिच्छविपिनोद्गीतिनिभमस्माभ्रभासुरम् ।
 महार्णवमहावर्तवृत्ति धूमविवर्तनम् ॥ २
 नीलज्वालालबोलासहेलाटिमिटिमारटि ।

स्तच्छालिनी ॥ ३५ ॥ स्फुटन्ति अङ्गारपत्तनान्यङ्गारसमूहा यया
 ॥ ३६ ॥ साङ्गारजगद्देहविलासिनी सा वृष्टिः । अथ अज्वल-
 नया भुवो बाष्पश्रिया संखीव कृतप्रत्युद्गमा बभूव ॥ ३७ ॥
 तदा तत्तादृशमम्बरमाकाशं ज्वालालवानामुल्लनं विलासस्तदा-
 डम्बरं यस्मिंस्तथाविधं सद्भूतानि प्ररूढानि स्थलाब्जदलजालानि
 यस्मिंस्तथाविधमिव आसीत् । तत्र तस्मिन्मन्बरे स्फुरन्तः
 शिशिराः शीकरपक्षपुञ्जा जलधरास्तु ज्वालासु भ्रमन्ती या भ्रमर-
 पङ्क्तिस्तन्निभा आसन् ॥ ३८ ॥ किञ्च तदा सलिलदानां मेघा-
 नामनलानां च संनिपातः समागमः उद्यद्बृहच्चटचटारवैः
 पूरिता आशा दिशो येन तथाविधः सन् दुर्वारवैरिविषमः अत
 एवोग्रो महतां बलानां सेनानां हेतिभिर्हताः उग्रा हेतयो यत्र
 तथाविधः संग्राम इव भीमो भयानकः अभवत् ॥ ३९ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पुष्क-
 रावर्तडम्बरवर्णनं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

पुष्करावर्तकोत्सृष्टवृष्टिधाराविसंघुलम् ।

सप्तान्निक्षोभनिर्भूतं जगद्भूयोऽत्र वर्णयते ॥ १ ॥

अवनिश्च पयश्च तेजश्च पवनश्चेत्येतेषां चतुर्णां महाभूतानां
 परमसंक्षोभे जाते सति जगत्रयं यादृशं बभूव तद्वर्णयामि
 शृण्वित्यर्थः ॥ १ ॥ तापिच्छविपिनं तमालवनम् ॥ २ ॥ सा-
 र्वेषु दाक्षिण्येषु धूमनीलज्वालालबोलासलक्षणाभिर्हेलाभिर्मिटिमे-

१ मूलसत्तापारपदसंवायमर्थः । अथवा पतदनुरोधेन मूले

उद्भूतनीहारेति पाठो वा कल्प्यः.

| | | | |
|---|----|--|----|
| कृतभस्माभ्रसंभारपूर्णलोकान्तरान्तरम् ॥ | ३ | ऊर्ध्वद्यदुपलच्छिन्नघनैर्घसरमावृतैः । | |
| उच्छलद्दीर्घस्त्कारैश्छमच्छममयात्मकैः । | | समुद्रघोषैर्निर्घातगम्भीरैर्भस्मदिकृतम् ॥ | १६ |
| तूर्यमुन्नमदासारविसारिजयघोषणम् ॥ | ४ | ब्रह्माण्डकुड्यकोडाप्रकुट्टकैः कटुटांकृतैः । | |
| भ्रमद्भस्माभ्रधूमाभ्रं बृहत्कल्पाभ्रसंभ्रमम् । | | कल्पाभ्रविटपास्फोटैर्घटितैर्कार्णवारटि ॥ | १७ |
| वाष्पाभ्रविभ्रमोद्भ्रान्तसीकरोग्राभ्रवृन्दवत् ॥ | ५ | स्वर्गपातालभूलोकखण्डखण्डैर्विमिश्रितैः । | |
| ब्रह्माण्डमिच्छिमांकारभीषणैर्मातरिभ्वनः । | | यथास्वभावं तिष्ठद्भिर्मरुवुधैर्वृताम्बरम् ॥ | १८ |
| प्रसरैरम्बरोद्गीनदग्धेन्द्रादिपुरोत्करम् ॥ | ६ | मृतार्धमृतदग्धार्धदग्धाङ्गैर्देवदानवैः । | |
| जलानलानिलोल्लासस्फुटकोटिगताश्मनाम् । | | अन्योन्यदर्शनाद्वातवैल्लितैर्भ्रीमितायुधम् ॥ | १९ |
| प्रविघट्टनटंकारैर्जडीभूताक्षकश्रुति ॥ | ७ | कल्पान्तपवनोद्भ्रान्तैर्लोकान्तरजरत्तुणैः । | |
| नभःस्तम्भनिभावन्धधारानीरन्ध्रवर्षणैः । | | आरब्धार्जुनवाताख्यास्तम्भमुद्भूतभस्मभिः ॥ | २० |
| कर्षणैः कल्पवद्दीनां छमच्छमघनध्वनि ॥ | ८ | उद्यमानशिलाजालप्रहारविलुठत्तटैः । | |
| गङ्गा तरङ्गिका येषां तादृशैः सरितां गणैः । | | पतल्लोकान्तरैः स्फारदुष्कालकटुटांकृतम् ॥ | २१ |
| अधैरिच नभोभीमैः पूर्यमाणाखिलार्णवम् ॥ | ९ | वातोद्बृहगिरिवातगुहाभांकारभासुरम् । | |
| तापिच्छपत्रवृन्दस्थपुष्पगुच्छसमोपमैः । | | पतद्भिर्विहितावर्तलोकपालपुरीषुरैः ॥ | २२ |
| तपद्भिरकैरालीढपीठकल्पाभ्रमण्डलम् ॥ | १० | कृतकर्कशनिर्हादैरसुरैरिच मारुतैः । | |
| बहद्भिरसरिबृहद्विशिखरिद्वीपपत्तनम् । | | उद्यमानवनव्यूहप्रोतवातायनैर्वृतम् ॥ | २३ |
| कल्पानिलघनक्षोभकृतपर्वतकुट्टनम् ॥ | ११ | पुरमण्डलदैत्याशिसुरतागविवस्वताम् । | |
| ग्रहतारागणैरुग्रैर्व्यग्रैर्विग्रहदुर्ग्रहैः । | | निकुरम्बं दधद्योमि मशकानामिवोच्चयम् ॥ | २४ |
| पतद्भिर्द्विगुणालातलताभावर्तपात्तिभिः ॥ | १२ | नश्यन्नगवराभोगैर्भागैर्भस्मसुपलभैः । | |
| आवहोत्थजलाद्रीन्द्रसंघट्टास्फोटघट्टितम् । | | आवर्तधर्धरागवैर्जलमूर्ध्वमधोनलम् ॥ | २५ |
| महाप्रलयपर्यस्तपर्वतप्रान्तकुट्टिमम् ॥ | १३ | कुर्वज्जलाद्रिनिष्पेषैर्विकपालपुरकुट्टनम् । | |
| घनसीकृतवाष्पाभ्रैः कल्पाभ्रैरपि मेदुरैः । | | निपतद्देवदैत्येन्द्रसिद्धगन्धर्वपत्तनम् ॥ | २६ |
| अन्धीकृतार्कजालांशुतमोनिविडमन्थरम् ॥ | १४ | कुट्टनं पर्वतादीनां प्रशान्ताङ्गाररूपिणाम् । | |
| विशीर्णचसुधापीठखण्डखण्डैर्गलत्तटैः । | | घातैः कुर्वत्पदार्थानामसारं रजसामिव ॥ | २७ |
| उद्यमानैर्लुठच्छैलपतनैः संकटार्णवम् ॥ | १५ | | |

स्वारदनशीलम् ॥ ३ ॥ दीर्घा स्तु ध्वनिस्तत्कारैः सार्धेन्यनैः ।
 आसाराणा विसारिजयघोषणं तूर्यमुन्नमदुच्छदित्युत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥
 पञ्चविधाभ्रवृन्दवदित्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ प्रविघट्टनैर्जडीभूतत्वगा-
 धक्षकम् । टंकारैर्जडीभूतश्रुति वधिरीकृतभोजम् ॥ ७ ॥ कल्प-
 वद्दीना कर्षणैर्विलेखनैर्विदारणैरिति यावत् ॥ ८ ॥ तरङ्गिका
 एकैकतरङ्गप्राया ॥ ९ ॥ तमालपत्राघस्थानां पुष्पगुच्छानां या
 उपमा सैवार्कानामिति तत्समोपमैः । आलीढपीठं आस्त्रादिता-
 धारप्रायं कल्पाभ्रमण्डलं यत्र । अविन्धनानामर्कानां तदास्त्रा-
 दकत्वादिति ॥ १० ॥ ११ ॥ विग्रहेण परस्परप्रहारेण दुर्ग्रहै-
 र्दुर्निरोधैः अत एव आवर्तपातिभिरन्ते पतद्भिश्च द्विगुणां भूमिष्ठा-
 लातेभ्यो द्विगुणामलातलतां नमस्यपि कुर्वदिति शेषः ॥ १२ ॥
 आसमन्ताद्ब्रह्मतीत्यावहः प्रचण्डपवनस्तदुत्थानां जलाद्रीन्द्रप्रायाणां
 बृहत्तरङ्गाणां संघट्टैः स्फुटन्तीति स्फोटाः पर्वता यत्र ॥ १३ ॥
 घनानि सीकृतानि सीकरा येषु तथाविधैर्वाष्पाभ्रैः ॥ १४ ॥
 ॥ १५ ॥ कर्मिभ्यः सदाद्भिरुर्मिभिरुर्वप्रक्षिप्तैरुपलैर्दिष्टा घना
 मेवा यैस्तथाविधैर्घसरमावृतैः प्रलयवायुभिर्भस्मदिकृतम् ॥ १६ ॥
 ब्रह्माण्डकुड्यलक्षणस्य कोडाप्रस्य उरोदेशस्य कुट्टकैरस्फालकैः
 अत एव कटुटांकृतैः कल्पाभ्रकल्पविटपलक्षणकरवाद्वास्फोटैः

परस्परघट्टितैर्कार्णवैर् आरटि सोरस्ताडं रुददिति यावत् ॥ १७ ॥
 किचोद्गीनैः स्वर्गादिलोकत्रयखण्डखण्डैर्गुप्तारतम्यकमेण यथा-
 स्वभावमन्तरिक्षे तिष्ठद्भिः अधोभागे दृष्टिजलसंस्पर्शात्संभावि-
 तजलभागस्य वायुना शोषणाच्च मरुवन्निर्जलं शुभ्रं मूलमधो-
 भागे येषां तैः ॥ १८ ॥ समानविपत्तत्वेऽपि परस्परवैरिद्वै-
 वान्योन्यं दर्शनात्परस्परवधाद्य भ्रामितयायुधम् । तथा च विनाशार्थं
 विपत्तद्वैरपि न वैरद्विद्विद्वानां शाम्यतीति सैव विपद्भ्योऽपि महा-
 विपदिति ध्वनितम् ॥ १९ ॥ अर्जुनवात इति वातरोगविशेषस्य
 नाम । तेन हि रोगेण रोगिणो नमस्युद्गीय आत्म्यन्ते, न तु तस्य
 रोगस्यार्जुनवर्गेतास्तीति तज्जाम विरालम्बनं मा भूदिति लोकान्तर-
 जरत्तुणैः खोद्भूतभस्मभिर्वातं धवलीकृत्य आरब्धः अर्जुनवाता-
 ख्यायाः स्तम्भः प्रतिष्ठा सालम्बनता यस्मिन्नित्युत्प्रेक्षा ॥ २० ॥
 स्फारं दुष्कालप्रयुक्तं कटुटांकृतं यस्मिन् ॥ २१ ॥ वातस्योद्बृहेन
 सघट्टनेन गिरिवातगुहानां भांकारैर्भाङ्गुरम् ॥ २२ ॥ २३ ॥
 ॥ २४ ॥ आवर्तः परावर्तनं उत्पाद्य द्रोणवद्वैपरीत्येन घातं
 तेन घर्धरागवैरुर्वं दृष्टिजलमधो निराबाध दधानलं दधदिति
 शेषः ॥ २५ ॥ २६ ॥ पर्वतादीनां पदार्थानां रजसामिव

पुराण्यमरदैत्यानां भ्रमद्भिस्तीनि शातयत् ।
 रत्नैः खणखणायन्ति पयांसीव पयस्वताम् ॥
 पूर्णाम्बरं पतल्लोकलोकसप्तकमन्दिरैः ।
 चक्रावृत्या भ्रमद्रूपैरमरैः सागरैरिव ॥
 डीनोडीनैः परिवृतं विचलद्वातवेल्लितैः ।
 दग्धादग्धैः पदार्यैः खे शीर्णपर्णगणैरिव ॥
 हेमस्फटिकवैदूर्यसुसारमणिमन्दिरैः ।
 दिवः पतद्गिराकीर्णमुद्यद्गण्डण्डणस्वनैः ॥
 उत्पेतुर्धूममस्मान्दाः पेतुर्वारा पुरोत्कराः ।
 उन्ममज्जुस्तरङ्गौघा ममज्जुर्भूतलाद्रयः ॥
 आवर्तघर्घरावा मिथो विदलनोद्यताः ।
 जुघूर्णुरणवाकीर्णपर्णवत्प्रादपर्वताः ॥
 क्रन्दच्छिष्टामरणं चलत्सजीवभूतकम् ।
 भ्रमत्केतुशतोत्पातं दुष्प्रेक्ष्यमभवज्जगत् ॥
 मृतार्धमृतया भूतसंतत्यानिललोलया ।
 अभून्नीरन्ध्रमाकाशं जीर्णपर्णसवर्णया ॥
 जगदासीत्पतच्छृङ्गस्थूलधारौघनिर्भरम् ।
 वहद्बहद्गिरिपुरवातपूर्णसरिच्छतम् ॥
 शाम्यच्छमशमाशब्दशतशाखहुताशनम् ।
 चलाब्धिवलनान्दोललोलशैलसत्तटम् ॥
 तृणराशिसरिभ्यायमिश्रद्वीपार्णवोत्कटम् ।
 अत्यन्तदूरचिद्योमक्षणज्वालासद्वावनम् ॥
 वर्षशाम्यद्गुताशोत्थमस्मामोदपतत्सुरम् ।

भूतपूर्वजगद्भूतं परिविस्मृतसर्गकम् ॥ ३९
 निर्गलोल्लसन्नादं सर्गलोपशमक्रमम् ।
 सर्गलोपोल्लसच्छेषं सर्गलोपविवर्जितम् ॥ ४०
 अनारतविपर्यासकारिमारुतनिर्वृतम् ।
 बीजराशिरिवाजस्रं पूर्यमाणं पुनःपुनः ॥ ४१
 उल्मुकान्योन्यनिष्पेषवह्निचूर्णसुवर्णजैः ।
 रजोभिर्विवृतैर्हमकुट्टिमाकाशकोटरम् ॥ ४२
 भूमण्डलबृहत्खण्डैर्भ्रष्टैः सद्दीपसागरैः ।
 पूर्णसप्तमपातालं लुठत्पातालमण्डलैः ॥ ४३
 आसप्तमसुतालान्तमामहीतलपर्वतम् ।
 आव्योमैकार्णवीभूतं पूर्णं प्रलयवायुभिः ॥ ४४
 एकार्णवोऽथ ववृधे शनैः शीघ्रं सरिच्छतैः ।
 भुवने जलकल्लोलैः कोपो मूर्खाशये यथा ॥ ४५
 मुसलोपमया पूर्वं ततः स्तम्भनिभाङ्गया ।
 ततस्तालद्रुमाकारधारयासारसारया ॥ ४६
 ततो नदीप्रवाहोऽग्रजलपातैकपातया ।
 सप्तद्वीपमहीपीठसममेदुरमेघया ॥ ४७
 वह्निर्विदाहकृद्दृष्ट्या शममभ्याययौ तथा ।
 शास्त्रसज्जनसंगत्या गाढमापत्पदं यथा ॥ ४८
 ऊर्ध्वाधरस्यपरिवृत्तपदार्थजात-
 मन्तःकणैः खणखणायितशैलमज्जम् ।
 ब्रह्माण्डकोटरमभूद्विधुरं कुबाल-
 लीलाविलोलमिव विल्वफलं विशुद्धम् ॥ ४९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० सो० नि० उ० पाषा० पुष्करावर्तवृष्टिविसंभ्रूलजगद्गर्जनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

कुट्टनं कुर्वत् ॥ २७ ॥ पयस्वतां मेघानां पयांसीव रत्नैः खणख-
 णायन्ति अमरदैत्यानां पुराणि शातयत् ॥ २८ ॥ पतन्तो
 लोका जना येभ्यस्तथाविधैर्लोकसप्तकमन्दिरैः पूर्णाम्बरम्
 ॥ २९ ॥ ३० ॥ आकीर्णमित्यन्तानां सर्वेषां पदानां सर्गाद्य-
 श्लोकस्थे 'बभूवासिजगन्नयम्' इत्यत्रान्वयः ॥ ३१ ॥ वारा
 वृष्टिजलेन ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ चलन्तः सजीवा ईषजीवनयुक्ता
 भूतकाः प्राणिनो यत्र । अनुकम्पायां कन् ॥ ३४ ॥ ३५ ॥
 पतन्तः गिरिशृङ्गाणीव स्थूलानां धारौघाणां निर्भरा यस्मिन्
 ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ तत्त्वज्ञानेद्विद्योमक्षणदाहस्यास्य जगतः
 प्रलये चिरेण नाशो नाश्चर्यपदमित्याशयेनाह—अत्यन्तेति ।
 तत्त्वज्ञानदौर्लभ्यद्योतनायात्यन्तदूरेत्युक्तिः । चिद्योमि क्षण-
 ज्वालां न सहते तथाविधमवनं स्थितिर्यस्य ॥ ३८ ॥ पूर्वं भूतं
 भूतपूर्वं जगद्भूतं चराचरं यत्र । सांप्रतं तु परिविस्मृतसर्गकम्
 ॥ ३९ ॥ सर्गस्य लोपेन शमक्रमो यत्र । परमार्थतः सर्गलोपे
 उल्लसति शेषः परमात्मा यत्र । सर्गलोपाभ्यां वस्तुतो विवर्जितम्

॥ ४० ॥ सदैव वा सर्गतलोपविशिष्टमित्याशयेनाह—
 अनारतेति ॥ ४१ ॥ हेमकुट्टिमिव आकाशकोटरं यत्र ॥ ४२ ॥
 लुठन्त्यन्यपातालमण्डलानि येषु तथाविधैर्भूमण्डलबृहत्खण्डैः
 ॥ ४३ ॥ अभिव्याप्तावाढः । सप्तमं सुतलमेव सुतालं पाता-
 लम् । छान्दसो धीर्घः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ आसारः संपातस्तत्सा-
 रया ॥ ४६ ॥ ततस्तालपरिमाणधारापातानन्तरं नदीप्रवाहस्य
 ताम्रपर्ण्यादौ प्रसिद्धो मल्यायग्राह उग्रो जलपातस्तदेकपातया ।
 एकशब्दः सदृशपरः । सप्तद्वीपविशिष्टसप्तममहीपीठसमा मेदुरा
 मेघा यस्या उत्सृष्टारस्तया ॥ ४७ ॥ गाढं दुःखकोटिनि-
 निडमापत्पदं सर्वविपत्स्थानमज्ञानं यथा ॥ ४८ ॥ कुरितता-
 मिर्बालस्य विस्फोटनलीलाभिर्विलोलं विल्वफलमिव विधुरं
 विनष्टमभूदित्यर्थः ॥ ४९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पुष्करावर्तवृष्टिविसंभ्रूल-
 जगद्गर्जनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

स्वैर्नृत्यन्निव चोग्राद्रिकटकैर्वीचिदोर्ध्वैः ॥ २२
 नदीधाराधरैरूर्ध्वे मध्ये दग्धैर्धराधरैः ।
 अधो धराधरैर्नागैरधरः पङ्क्तैर्धृतः ॥ २३
 धारात्रिपथगापूरैर्निपतद्भिर्निरन्तरम् ।
 मग्नोन्मग्नो ह्यमानाद्रिशृङ्गडिण्डीरबुद्बुदः ॥ २४
 उह्यमानदलत्स्वर्गखण्डक्रन्दन्नभश्चरः ।
 वहद्विद्याधरीवृन्दपद्मिनीसुन्दरान्तरः ॥ २५
 पकार्णवपयःपूरैर्धराधराधरंहसि ।

त्रैलोक्यखण्डसंहारे प्रोह्यमाणे महाम्भसि ॥ २६
 नासीत्कश्चित्परित्राता हन्ताऽवीचिवशोऽपि च ।
 शक्नोति कः परित्रातुं कालेन कवलीकृतम् ॥ २७
 नाकाशमासीन्न दिगन्त आसी-
 दधोऽपि नासीन्न तदूर्ध्वमासीत् ।
 भूतं न आसीन्न च सर्ग आसी-
 दासीत्परं केवलमेव धारि ॥ २८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० पा० एकार्णववर्णनं नामाष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमः सर्गः ७९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 एतस्मिन्नन्तरे चक्षुर्व्योमस्थोऽहमथात्यजम् ।
 ब्रह्मलोके महालोके प्रभातेऽर्कप्रभामिव ॥ १
 यावद्दृष्टो मया तत्र शैलादिव विनिर्मितः ।
 परमेष्ठी समाधिस्थः प्रधानपरिवारवान् ॥ २
 समूहश्चैव देवानां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
 शुक्रो बृहस्पतिश्चैव शक्रो वैश्रवणो यमः ॥ ३
 सोमोऽथ वरुणोऽग्निश्च तथान्येऽपि सुरर्षयः ।
 देवगन्धर्वसिद्धानां साध्यानां च विनायकाः ॥ ४
 लिपिकर्मार्पिताकाराः सर्वे ध्यानपरायणाः ।
 बद्धपद्मासनास्तत्र निर्जीवा इव संस्थिताः ॥ ५
 अथ ते द्वादशादित्यास्तमेवोद्देशमागताः ।

बद्धपद्मासनास्तस्थुस्तथैवाशु यथैव ते ॥ ६
 ततो मुहूर्तमात्रेण दृष्टवानहमब्रजम् ।
 पुरो विनिद्रतां यातः स्वप्नदृष्टमिवाग्रगम् ॥ ७
 ब्रह्मलोकजनं सर्वं महतामिव वासनाम् ।
 नापश्यं स्वप्ननगरं बुध्यमान इवाग्रगम् ॥ ८
 अरण्यशून्यमेवासीत्तद्ब्रह्ममननं तदा ।
 कठिनाकाण्डविध्वस्तं पृथिव्यामिव पतनम् ॥ ९
 सर्व एव न च क्वापि ते तथा तादृशास्तदा ।
 ऋषयो मुनयो देवा वेदा विद्याधरादयः ॥ १०
 ज्ञातं ततोऽवधानेन मया नभसि तिष्ठता ।
 यावन्निर्वाणमापन्ना ब्रह्मवत्सर्व एव ते ॥ ११
 वासनायां विलीनायामदर्शनमुपागताः ।

कटकैरिति वार्थः । श्वमुखः खरमुख इतिवद्वृत्तिविषयेऽत्रिपदस्य
 तत्कटकपरत्वात् ॥ २२ ॥ न विद्यते धरा यस्य ॥ २३ ॥
 ॥ २४ ॥ दलति विशरणशीले स्वर्गखण्डे क्रन्दन्तो नभश्चर देव-
 तालक्षणा हंसादयो यस्य अत एव पद्मिनीसुन्दरान्तरः ॥ २५ ॥
 ॥ २६ ॥ वीचीनां वशो न भवतीत्यवीचिवशोऽपि कश्चिन्ना-
 सीत् । हन्तेति खेदे ॥ २७ ॥ स्पष्टम् ॥ २८ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे एकार्णव-
 वर्णनं नामाष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

सर्षिदेवगणस्यात्र धातुनिर्वाणमीर्यते ।

स्वप्नस्येव प्रबोधेन बाधस्तच्च समर्थ्यते ॥ १ ॥

अथ एतस्मिन्नन्तरे तपोलोकपर्यन्तमेकार्णववारिपूरणोत्तरकालं
 सत्यलोकसंनिहितव्योमस्थोऽहं महालोके प्रकाशबहुले ब्रह्मलोके
 चक्षुः अत्यजम् । दर्शनाय प्रेरितवानिति यावत् ॥ १ ॥ प्रधानः
 परिवारः प्राणाद्युपासनाभिः सालोक्यादिमुक्तिं प्राप्तो ब्रह्मणा
 सह विदेहकैवल्यं विविक्षुर्जीवन्मुक्तपरिवारस्तद्वान् । तथा चो-
 क्तम् 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृता-
 त्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति ॥ २ ॥ देवानां शक्रादीना-
 माधिकारिकदेवानां तादृशशुक्रादिमुनीनां च समूहस्तत्र मया
 दृष्ट इत्यन्वयः । तानेव कांश्चिदवगुत्याह—शुक्र इत्यादिना

यो० वा० १५६

॥ ३ ॥ विनायका नियन्तारः । स्वामिन इति यावत् ॥ ४ ॥
 सर्वे निर्जीवा इव संस्थिता मया दृष्टा इति विपरिणामेनानुपपन्नः
 ॥ ५ ॥ तदनन्तरं यदुक्तं तदाह—अथेत्यादिना ॥ ६ ॥ तस्य
 धातुर्द्वितीयपरार्धान्त्यमुहूर्तो मीर्यते येन चरमक्षणेन स मुहूर्त-
 मात्रस्तेन तदीयचरमसाक्षात्कारबोधेन ब्रह्मचैतन्येन तदविद्याक-
 ल्पिततद्देहसहिततदीयसर्वप्रपञ्चबाधादिनिद्रतां प्रबोधं प्राप्तः
 पुरुषः स्वप्नदृष्टं स्वप्नं स्वप्नप्रदार्थजातमिव बाधितमात्ममात्र-
 परिशेषमपश्यं तदेवास्य विदेहकैवल्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥ प्रागुक्त-
 त्परिवारजनेष्वप्येवमेव कैवल्यं वृत्तमित्याह—ब्रह्मलोकजन-
 मिति । महतां तत्त्वज्ञानां ज्ञानबाधितां पूर्ववासनामिवेत्यपरो
 दृष्टान्तः । शिष्टं प्राग्वत् ॥ ८ ॥ तदा तदीयचरमसाक्षात्कार-
 क्षणे तद्ब्रह्मनगरं ब्रह्माण्डं वा अरण्यमिव शून्यं गृहजनादिर-
 हितमेवासीत् । कठिनेनाकाण्डेनाकस्मिकेन नाशहेतुना विध्व-
 स्तम् ॥ ९ ॥ ते मुनिदेवादयोऽपि सर्वे तथा तादृशाः शून्य-
 मेवासन्निति विपरिणामेनान्वयः । यतस्ते न क्वापि गता इति
 शेषः ॥ १० ॥ नामरूपात्मना शून्यभावेऽपि स्वरूपेण तु
 निर्वाणात्मतया स्थिता एवेत्यात्मानुभवेन दर्शयति—ज्ञात-
 मिति । अवधानेन प्रणिधानेन ॥ ११ ॥ 'सर्व तेषां वासना-

१ ब्रह्मसंकल्पसिद्धम्, २ सिद्धा इति पाठः.

स्वप्नलोकाः प्रबुद्धानामिव स्वं रूपमागताः ॥ १२
 आकाशात्मैव देहोऽयं भाति चासनया स्फुटः ।
 तदभावाच्च नो भाति स्वप्नो बोधवतो यथा ॥ १३
 अन्तरिक्षगतो देहो यथा स्वप्ने विलोक्यते ।
 बोधे तद्भासनाशान्तौ न किञ्चिदपि लक्ष्यते ॥ १४
 जाग्रत्यपि तथैवायं चासनायाः परिक्षये ।
 नैवातिबाहिको नैव लक्ष्यतेऽत्राधिभौतिकः ॥ १५
 स्वप्नानुभव एषोऽत्र दृष्टान्तत्वेन लक्ष्यते ।
 आबालमेतत्संसिद्धमनुभूतं श्रुतं स्मृतम् ॥ १६
 अपहृते च वा योऽपि स्वमेवानुभवं शठः ।
 स त्याज्यः को ह्यलीकेन सुप्तमुद्रोधयेत्किल ॥ १७
 देहकारणकः स्वप्नो देहाभावाच्च दृश्यते ।
 इति चेत्तददेहानां परलोकोऽपि नास्ति च ॥ १८

इत्येतदभविष्यच्चेत्तच्छरीरकसंक्षये ।
 नाभविष्यद्यं सर्गः स चास्त्येव च सर्वदा ॥ १९
 अवयवविभागात्मन्यवश्यंभाविनि क्षये ।
 न कदाचिदनित्यं तज्जगदित्यप्यसंस्थितम् ॥ २०
 न कदाचिज्जगन्नाशो देहोद्भूतगुणादिकम् ।
 मदशक्तिरिव श्रुतिसदेतीति च वक्षि चेत् ॥ २१
 तत्पुराणेतिहासानां सर्वसंक्षयवादिनाम् ।
 स्मृत्यादीनां सवेदानां वैयर्थ्यमुपजायते ॥ २२
 अप्रमाणतयैतस्मिन्नर्थे तेषां महामते ।
 अन्यत्रापि प्रमाणत्वं बन्ध्यादावपि किं भवेत् ॥ २३
 न चैतद्विष्यते लोके जगदुच्छेदकारणात् ।
 अन्यच्चास्तामेतदङ्गं ममेदमपरं शृणु ॥ २४

कल्पितरूपापमनेन वास्तवस्वरूपावसिरीत्याशयेनाह—चासना-
 यामिति ॥ १२ ॥ तदेवोपपादयति—आकाशात्मैवेत्यादिना ।
 बोधवतः प्रबोधशालिनः ॥ १३ ॥ अन्तरिक्षगतः आकाशग-
 मनवान् ॥ १४ ॥ स्वप्नाज्ञागरे स्वाप्नाधिसौतिकमात्रवाधः, तत्त्व-
 बोधे त्वाधिभौतिकादिदेहजस्यस्यापि बाध इति विशेष इत्याशये-
 नाह—जाग्रत्यपीति । नासनाक्षयहेतुतत्त्वप्रबोधस्य प्रमाणजस्य
 आप्त्येव संभवाज्जाग्रत्प्राप्त्युक्तिः ॥ १५ ॥ तथा च स्वप्नवाधा-
 नुभव एकांशमात्रसदृशोऽप्याबालप्रसिद्धत्वादृष्टान्तत्वेनोदाहिय-
 त इत्याह—स्वप्नेति । 'तस्य त्रय आवसथात्रयः स्वप्नाः' इति
 श्रुतं पुराणादिषु च स्मृतम् ॥ १६ ॥ एवं स्वप्नानुभवसिद्धि-
 मपि स्वप्नबाधं योऽपहृते स्वप्नादिसर्वदृश्यसत्यतावादी स न
 प्रबोधनीय एवेत्याह—अपहृते इति । अलीकेन निषेधेन सुप्तं
 स्वापं विडम्बयन्तम् ॥ १७ ॥ ननु तथापि न स्वप्नदृष्टान्तो
 युज्यते, पित्रादिदेहकारणको ह्ययं देहः स्वप्नदेहस्तु न तथेति
 स्वप्नदेहस्यात्यन्तासत्त्वेन वैषम्यादिति चेत्तर्हि यथादिना जाय-
 मानस्वर्गिदेहस्यापि देहकारणकत्वाभावेनात्यन्तासत्त्वप्रसङ्गाभा-
 स्तिकत्वमेव प्रतिवादिनां प्रसज्येतेत्याह—देहेति ॥ १८ ॥ किंच
 देहकारणकस्य देहस्यात्यन्तासत्त्वे आतिबाहिकदेहसमव्यात्मनो
 हिरण्यगर्भस्याप्यत्यन्तासत्त्वप्रसङ्गः, तथा सति सर्गाद्यर्थक्रियाप्य-
 लौकिकेन स्थितित्याह—इत्येतदिति । इति एवरीत्या त्वदुक्तमेतद-
 सत्त्वमभविष्यच्चेत् तत्तर्हि पूर्वसर्गप्रलयान्ते सर्वशरीरसंक्षये एत-
 त्सर्गादिकाले शरीरहेतुकशरीराभावादयं सर्गोऽपि नाभविष्यत् ।
 स चायं परिदृश्यमानोऽस्त्येव । एवं पूर्वपूर्वसर्गोऽप्येवमापादयितुं
 शक्यमित्याशयेनाह—सर्वदेति ॥ १९ ॥ ननु तर्हि मास्तु
 कदापि प्रलयः, अनादौ संसारे अविच्छिन्नप्रवाहाः सर्वे देह-
 कारणका एव देहा अर्थक्रियासमर्था भविष्यन्ति । हिरण्यगर्भ-
 देहस्य वा पूर्वपूर्वनारायणादिदेहादुत्पत्तिः कल्पविष्यते । तथा
 च न कदाचिदनीदृशं जगदिति जैमिनीयमतं दूषयति—
 अवयवेति । श्रित्यादिभूतानां हि साधयवत्त्वादेव संयोगस्य
 निभागावसानत्वादिनाशो दुर्वारः । तथा च न कदाचिद-

नीदृशं जगदिति मतमसंस्थितमप्रतिष्ठितमेव । भूम्यादि-
 नाशे चतुर्विधभूतग्रामशरीराणामाधाराभावेनावस्थानायोगाभा-
 रायणवेदस्यापि सावयवत्वादिनाशित्वावरणादप्युपायानत्वप्रसि-
 ष्ठेरजन्मविनाशत्वे देहकारणकत्वेनात्यन्तासत्त्वप्रसङ्गाभावेति भावः
 ॥ २० ॥ अत्र प्रसङ्गाभावाकमतमपि निरसितुमनुवदति—
 न कदाचिदिति । पृथिव्यादिभूतचतुष्टयमेव हि चतुर्विध-
 देहकारेण घटपटाद्याकारेण च संमिलजगत् । तस्य च पृथि-
 व्यादिभूतात्मना कदाचिदपि नाशो नास्ति । देहस्तु भूतानां
 मेलने उद्भूतजनैच्छादिगुणा हस्तपादाद्यवयवसंस्थानतत्तदभि-
 व्यक्त्या जातिरित्येवमादिकमेव तदीयो धर्मसंघातः । तत्र यद्यपि
 शक्तिर्नैकैकत्र भूते दृश्यते तथापि सुरारम्भकेषु पिष्टतोरशरकिं-
 ष्वादिद्रव्येषु मिलितेषु कालपाकादिना मदशक्तिरिव देहकारण-
 रिणेषु चतुर्षु भूतेषु शक्तिगुण उदेति तेन तद्गुणो देह एवा-
 स्मेति हे चार्वाक, त्वं वक्षि चेत् शृणु । तस्योत्तरमिति शेषः
 ॥ २१ ॥ तत्तर्हि सर्ववस्तूनां संक्षयो नित्यनैमित्तिकप्रकृतवै-
 ज्ञानिकाख्यातचतुर्विधाः प्रलयास्तद्वादिनामष्टादशपुराणानां भार-
 तावीतिहासानां पारलौकिकात्महिताहितधर्माधर्मबोधकमन्वा-
 दिस्मृतीनां सदाचारणां च वैयर्थ्यं प्रसज्येतेत्यर्थः ॥ २२ ॥
 नन्वस्तु वेदपुराणादीनामप्रामाण्यमभिमतमेव चार्वाकाणामिदं
 त्वया आपादितमिति चेत्तत्राह—अप्रमाणतयेति । निर्दोषा-
 णामेतेषां वेदपुराणादीनामेतस्मिन्प्रलयधर्माधर्मात्मतत्त्वलक्षणे
 अर्थे अप्रामाण्ये सति भोगलम्पट्यलोभद्वेषादिदोषसहस्रदुष्टे
 अन्यत्र त्वद्वाक्येऽपि इयं बन्ध्या शतं पुत्रानसृतेत्यादिवाक्य-
 तुल्ये किं प्रामाण्यं भवेत् । संभावनायां छिद् । तत्संभावनापि
 दुर्लभेत्यर्थः ॥ २३ ॥ न चैतत्स्वदुक्तं वेदपुराणादीनामप्रामाण्यं
 लोके प्रेक्षावद्भिरिष्यते अप्रीक्रियते । कृतहानाकृताभ्यागमादि-
 क्षेपेण निर्वाजप्रयोजनसर्गाद्यसंभवेन च जगदुच्छेदप्रसङ्गाद ।
 किंच देहात्मवादे किमवयवाः सर्वेऽप्यात्मानं लप्तावयवमेव ।
 आद्ये बहूनां चेतनानां सदैकमस्वनियमाभावेन वैमल्ये देहोन्म-
 यनप्रसङ्गः । द्वितीये दृक्के हस्ताद्येकावयवे अवयवविनाशाज्जीवना-

मदशक्त्यात्मनि ज्ञाने दृष्टा देशान्तरेषु या ।
 प्रमृतानां पिशाचादिदेहता सा न सिध्यति ॥ २५
 अथ सापि मुधा भ्रान्तिर्यावद्देहं प्रदृश्यते ।
 इति चेत्तन्मुधा नाम सत्यमित्येव वो भवेत् ॥ २६
 एवं चेत्तत्परो लोकः सत्स्वर्गनरकादिकम् ।
 इत्येषापि न संवित्किं सत्यतामुपगच्छति ॥ २७
 न पिशाचप्रमा सत्या मदशक्तिमतोऽपि हि ।
 प्रतिभास्य न सत्या स्यात्परलोकात्मिका कथम् ॥ २८

भावप्रसङ्ग इत्याद्यन्यच्च दूषणसहस्रमस्त्येवेत्यास्तामेतत् । एतेन
 हे अङ्ग, त्वया किञ्चपिष्ठजलादिसंघाते मदिरायां मदशक्ति-
 रिव कायाकारपरिणतभूतसंघाते ज्ञप्तिगुण उत्पद्यत इति यदुक्तं
 तदपि दत्तोत्तरमेव । तत्र इदमपरं दूषणं वक्ष्यमाणं शृण्वित्यर्थः
 ॥ २४ ॥ ज्ञाने ज्ञानगुणे मदशक्त्यात्मनि मदशक्तिरिव आत्मा
 स्वभावो यस्य तथाविधे अभ्युपगम्यमाने गुणिनो देहस्य नाशे
 गुणस्याप्यवश्यनाशादेशान्तरेषु प्रमृतानां जीवानां देहस्योच्छेदा-
 त्पिशाचादिदेहान्तरेण स्वदेशागमनं परशरीरावेशेन प्राप्तन-
 स्वजनादिप्रत्यभिज्ञासंभाषणाद्यर्थक्रिया च या लोके प्रसिद्धा सा
 न सिध्यति ॥ २५ ॥ अथ यदि ब्रूयाः सा पिशाचादिकल्प-
 नापि मुधा भ्रान्तिरेव, पिशाचानामप्रत्यक्षत्वाच्चावार्कमतो
 प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणभावात् । न हि प्रत्यक्षातिरिक्तं प्रमाणं
 संभवति । शतशो दृष्टसहस्रारेष्वपि पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वादिषु
 षष्ठमण्णादौ व्यभिचारदर्शनात् । उत्पातादिकालान्तरे गवादौ
 खरादिप्रसूतिदर्शनादेवताप्रतिमादिभ्यश्च विनापि वह्निं धूमोद्गम-
 दर्शनात्सर्वत्र लिङ्गेषु देशान्तरे कालान्तरे च व्यभिचारशङ्काया
 वारयितुमशक्यत्वेनानुमानप्रामाण्यायोगात् । कृत्स्नैकदेशसादृश्य-
 विकल्पने उपमानप्रामाण्यासिद्धेर्मानान्तरामूलकशब्देषु लोके अ-
 र्थसिद्धिनियमादर्शनादन्यशब्दानामनुवादित्वाच्च शब्दप्रामाण्या-
 योगादर्थपत्त्यनुपलब्ध्योश्च व्यतिरेकव्याप्त्युपजीविन्योरनुमानस-
 मानयोगक्षेमत्वासंभवैतिष्टायोः संभावनामात्रत्वादनुमानादौ च
 संभावनास्वेव प्रामाण्याभिमानात्प्रवृत्तिसिद्धेः । संदिग्धेऽपि
 फले अर्थातुराणां प्रवृत्तिनियमदर्शनेनार्थनिश्चयस्य प्रवृत्त्यनङ्ग-
 त्वाच्च सर्वव्यवहारोपपत्तेः । किञ्च पिशाचप्रस्तस्य पिशाचवागव्य-
 वहारोऽपि यावद्देहमेव दृश्यते न तु तन्मरणे । अतस्तेदेहस्यैव
 साक्षिपातिकभ्रान्तिरिव पिशाचप्रस्तोऽहमिति वृथा भ्रान्तिरिति
 चेत्, तत्त्वदुक्तं सर्वं नाम शब्दजातं मुधा व्यर्थमेव । श्रोतयैव
 व्याहृतत्वात् । न हि प्रत्यक्षातिरिक्तस्य सर्वस्याप्रमाणत्वे चावार्-
 कानां वाक्यं प्रमाणं भवति । तस्यापि प्रत्यक्षातिरिक्तत्वात् ।
 न चानुमानादीनामप्रामाण्ये त्वया श्रोत्रोऽर्थो युक्तिभिः समर्थ-
 यितुं शक्यः । युक्तीनामनुमानतया तत्प्रामाण्यापत्तेः । न च ते
 दृष्टान्तोऽस्ति सादृश्यस्योपमानगम्यत्वात्तदप्रामाण्ये तदसिद्धेः ।
 नापि स्वपक्षे अनुकूलः परपक्षे प्रतिकूलो वा तर्कस्त्वयोद्भाव-
 यितुं शक्यः । तर्कस्यान्वयव्यतिरेकव्याप्तिघटितत्वेन तदपला-
 पिनस्ते तदप्रसिद्धेः । आपत्तिव्यतिरेकयोरनुपपत्त्यनुपलब्ध्य-

पिशाचोऽस्तीति चेत्संवित्सत्यार्था तेन संविदः ।
 मृतस्यास्ति परो लोक इत्यस्यां किं न सत्यता ॥ २९
 काकतालीयवद्देहात्पैशाची ज्ञप्तिरस्ति चेत् ।
 परलोकार्थसंवित्तिः कथं नास्ति सकारणा ॥ ३०
 यान्तर्वेत्ति यथा संवित्सा तथानुभवत्यलम् ।
 अस्तु सत्यमसत्यं वा सिद्धमित्यनुभूतितः ॥ ३१
 मृतस्यास्ति परो लोको विदित्येवंमयी भवेत् ।
 सति वाऽसति देहेऽस्मिन्नेन किं सदसच्च किम् ॥ ३२

धीनत्वेन तदभ्युपगमे अर्थापत्त्यनुपलब्धिप्रामाण्याभ्युपगमा-
 पत्तेः । प्रमाणषट्कमपि सत्यमित्येव वक्षार्वाकाणामभ्युपगमन्तव्यं
 भवेदित्यर्थः ॥ २६ ॥ अस्त्येवं तेन कस्ते लाभस्तमाह—
 एवं चेदिति । एवं शब्दादीनां प्रामाण्यमभ्युपगतं चेत्तत्तस्मा-
 क्षिदोषशब्दरूपायाः श्रुतेः प्रामाण्यावश्यंभावादेतोः श्रुतिजन्या-
 परो लोकः स्वर्गनरकादिकं च सत् इत्येषापि संवित् सत्यतां
 प्रामाण्यं किं नोपगच्छति । ज्ञानानां हि स्वत एव प्रामाण्यं
 कारणदोषबाधकज्ञानाभ्यां क्वचिदपोद्यते । न चात्र कारणे-
 दोषोऽस्ति, नापि स्वर्गनरकादयो न सन्तीति बाधकं प्रमाणजं
 ज्ञानमस्तीति भावः ॥ २७ ॥ अथ सापि मुधा भ्रान्तिरिति
 यदुक्तं तद्दूषयति—नेति । पिशाचप्रस्तस्य पिशाचविषयिणी
 प्रमा पिशाचस्य परदेहे स्थितस्य तदनुभवसिद्धा दर्शनश्रवणादि-
 प्रमा द्रष्टृणामसदादीनां परदेहेन पिशाचव्यवहारप्रमा च ज्ञानानां
 स्वतःप्रामाण्यादेव लोके सत्या प्रसिद्धा । सापि यदि न सत्या
 तर्हि अस्य क्षीबस्य मदिरादेर्मदशक्तिमतो द्रव्यस्य मदश-
 क्तिप्रतिभापि न सत्या स्यात् । न ह्यमत्तानुभवसिद्धार्थापलापि-
 नस्ते प्रमत्तप्रतीतिसिद्धमदशक्तिः परेणापलपनीया । तथा च तव
 दृष्टान्तासिद्ध्या ज्ञानस्य भूतगुणत्वासिद्धेः परलोकात्मिका स्वर्ग-
 नरकादिस्थितिः कथं त्वया निरसितुं शक्येति शेषः ॥ २८ ॥
 तेन सर्वजनप्रसिद्धेन ज्ञानानां स्वतःप्रामाण्येन पिशाचोऽस्तीति
 संवित् सत्यार्था चेदनुभवबलात्प्रसिद्धा, मृतस्यापि परलोकोऽस्तीति
 श्रुतिजन्यायां प्रतीतौ तद्बलादेव किं न सत्यता ॥ २९ ॥ किञ्च
 पिशाचप्रस्तस्य पैशाची ज्ञप्तिर्न श्रुतिसदृशदृढतरप्रमाणजा किंतु
 काकतालीयवदाकस्मिकी । तथाविधापि सा स्वानुभवापलपा-
 योगादस्ति प्रमा चेत्सकारणा दृढतरश्रुत्यादिकारणसहिता पर-
 लोकार्थसंवित्तिः कथं नास्ति, कुतो न प्रमेत्यर्थः ॥ ३० ॥ ननु
 नानुभवबलादेवार्थसत्त्वमवधारयितुं शक्यम्, शुक्तिरजतानुभ-
 वेऽपि तदर्थसत्त्वाददर्शनादित्याशङ्काह—येति । या संवित्
 अन्तर्यदर्थसत्त्वं यथा वेत्ति तदर्थसत्त्वं तथानुभवति तत्र
 शुक्तिरजतसंवित् स्वप्रतिभासकालिकमर्थसत्त्वमवगाहते । नेदं
 रजतमित्यौत्तरकालिकी बाधसंवित्तु त्रैकालिकं रजतासत्त्वम् ।
 तत्राव्यसंविद्बलात्प्रतिभासिकं रजतादेः सत्त्वमस्तु । द्वितीयसंवि-
 द्बलादसत्त्वं वा अनुभूतितः सिद्धम् । अर्थरूपं नानुभवमन्त-
 रेणापलपितुं शक्यमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ तत्र यदि जीवतः सति
 देहे श्रुत्यादिप्रमाणवशाद्वा मृतस्य असति देहे स्वप्नवत् प्रतिभा-

तस्मात्स्वभावः प्रथमं प्रस्फुरन्वेति संविदम् ।
 वासनाकारणं पश्चाद्बुद्धा संपश्यति भ्रमम् ॥ ३३
 तत्क्षयाच्छ्रममायाति द्रष्टृदृश्यद्वयगमयः ।
 तत्सत्तायामुदेतीयं संसृत्याख्या पिशाचिका ॥ ३४
 उपलम्भ उदेत्यादौ ब्रह्मणो वासना ततः ।
 तच्छान्तिं विद्धि निर्वाणं तत्सत्तां संसृतिभ्रमम् ॥ ३५
 उत्पन्नैव च सानादौ परब्रह्मण्यसंभवात् ।
 उत्पन्ना समयाद्यासौ ब्रह्मैव परमेव सत् ॥ ३६
 एतावद्यत्परिज्ञानं तन्निर्वाणं विदुर्बुधाः ।
 यदनैवापरिज्ञानं तं बन्धं विद्धि राघव ॥ ३७
 विज्ञानघन एवायं कचनाकचनात्मकः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० गो० निर्वा० उ० पा० वासनाभावप्रतिपादनं नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

स्वयमेव कचत्यन्तर्न कचत्येव वा स्वयम् ॥ ३८
 संविदंशपरावृत्तिमात्रे पेलवरूपिणि ।
 बन्धद्वन्द्वोक्षद्वक् चेति क्लेशस्तत्साधनं कियत् ॥ ३९
 संविदुद्धोधने बन्धस्तदुद्धोधने शिबम् ।
 असत्सद्ब्रजगद्भाति संविदुद्धोधनोदरम् ॥ ४०
 अजडं वेदनं सुप्तं मोक्ष इत्यभिधीयते ।
 प्रबुद्धं बन्ध इत्याहुर्नदिच्छसि तदाहर ॥ ४१
 निर्वाणवासनमनन्तमनाद्यमच्छ-
 योधैकतानमप्यन्नणमस्तशङ्कम् ।
 अद्वैतमैकपरहितं च निरस्तशून्य-
 माकाशकोशविशदाशयशान्तमात्र ॥ ४२

मात्रवलाद्वा यदि परो लोकोऽस्तीत्येवंमयी एवमनुभवरूपा
 संविदवश्यं भवेदेव, तर्हि तेन मरणेन किं जीवदनुभवसिद्धं
 धन्यतानुभवसिद्धमसदित्यपलप्येत किं वा वैपरीत्येन । नोभयम-
 प्यपलपितुं शक्यमिति सिद्धं श्रुत्यादिप्रामाण्यमित्यर्थः ॥ ३२ ॥ स
 यदि मूयात्कायाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यः संविदुद्धवाचं मृतस्य
 कायनाशे पारलौकिकी संविदुद्धविष्यतीति तर्हि स संविदः
 धातुतत्वात्स्वतः सिद्धत्वात्प्रत्युत तत्सिद्धिवलेनैव वासनामय-
 स्यातिवाहिकदेहस्य तत्कल्पितस्यूलदेहस्य वाद्यप्रपञ्चस्य च
 पश्चात्सिद्धेस्तदन्यस्य दृश्यसिद्धिहेतोरप्रसिद्धेर्न देहाधीनं संवि-
 ज्जन्मेति प्रतिवक्तव्य इति सूचयन्तत्प्रतिवचनमुपसंहृत्य 'वास-
 नार्यां विलोनायामदर्शनमुपागता' इत्यादिना प्रागनुकान्तं वास-
 नाक्षयादेव सर्वदृश्योच्छेदं समर्थयितुं प्रसीति—तस्मादित्या-
 दिना । तस्माद्वेदादिप्रमाणस्य ज्ञानानां स्वतःप्रामाण्यस्य च
 सिद्धत्वाज्ज्ञानस्वभावः परमात्मा स्वप्रकाशत्वात्सर्वव्यवहारात्प्र-
 थमं स्वरूपां संविदं स्वत एव निवृत्तसिद्धां वेति न तद्वेदनफल-
 मन्यतोऽपेक्षते स्वीकृत्यप्रकाशात्मतामिव बहिरित्यर्थः । वासनाना
 कारणमुद्धवोपादानं सर्वजगद्वासनामयम्, आतिवाहिकदेहं तु
 ततः पश्चात्सृष्टिजगद्वारम्भक्षणे स्वरूपचित्स्वभाववलादेव दुद्धा
 ततो देहादिभ्रमं संपश्यतीति न सर्वतः पूर्वसिद्धसंविदसिद्धिर्दे-
 हाधीनेति भावः ॥ ३३ ॥ अत एव वासनाक्षयादेवातिवाहिकदेह-
 क्षयद्वारा सर्वानर्थक्षयः सिद्ध इत्याह—तत्क्षयादिति ॥ ३४ ॥
 तत्र सर्गादौ ब्रह्मण आदौ वासनान्तर्गतप्रपञ्चपर्यालोचनात्मा
 उपलम्भ उदेति 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' इति श्रुतेः ।
 तत्तत्स्वात्माकनजगद्वासनानां जगदात्मना उद्धवो भवति ।
 वासनाशान्तौ तु श्रीजाभावादेव जगदुद्धवादर्थसिद्धिं निर्वाणमि-
 त्याह—तदिति ॥ ३५ ॥ ननु वासना कुत उत्पन्ना । न ताव-
 द्ब्रह्मणः । तस्य 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इत्यादिश्रु-
 तिभिः कारणत्वप्रतिषेधादसङ्गकृताद्वयत्वश्रुतेः । नापि पूर्व-
 कल्पीयजगतः । तस्य प्रलये स्वयं विनश्यतः अन्योत्पादनाशकः ।
 ननु न विनश्यति स्वयमेव चरमभावविकारेण सूक्ष्मीभूय
 तिष्ठति तथास्तिरिरेवास्य प्रलयो वासनात्मेति चेन्न । तथा-

स्थितिरस्य किं प्रलये स्वसत्तया उत ब्रह्मसत्तया । आये 'सदैव
 सोम्येदमप्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिश्रुतिविरोधात् ।
 द्वितीये स्वतोऽसत्परसत्तया तिष्ठतीति प्रलापस्थालीकेऽप्यतिप्रस-
 क्त्वात्पक्षद्वयेऽपि सृष्टिप्रलययोरविशेषापत्तेरभासमानसत्ताऽप्र-
 सिद्धेर्नष्टं तिष्ठतीति च व्याघातादिति चेत्सत्यम् । सा वापना
 आदौ प्रलये पूर्वसर्गे वा उत्पन्नैव । न । असङ्गाद्वये परब्रह्मण्यसंभ-
 वस्य त्वयैवोक्तत्वात् । तथाप्यद्वितीयब्रह्मबोधनोपायतया शास्त्र-
 कल्पितात्सर्गादिसमयाभिर्वाजजगदुत्पत्त्ययोगात्सा वासनापि
 प्राक् केनचिन्निमित्तेनोत्पन्नेति यावद्वोधोदयं स्वीक्रियताम् ।
 बोधोदये तु सर्वं जगद्ब्रह्मैव सा वासनापि परं ब्रह्मैवेति पर्यव-
 स्यतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ न च श्रुतिभ्यः असङ्गाद्वयं ब्रह्मपरिज्ञाय
 तत्र वासनायसंभवस्त्वयोज्ञानयितुं शक्यः । तत्परिज्ञाने तु
 सर्वसंशयवीजाज्ञानोच्छेदाच्चिर्वाणमेव संपन्नमिति न वासनोत्प-
 त्वाद्यनुपपत्तिशङ्काप्रसक्तिरित्याशयेनाह—एतावदिति ॥ ३७ ॥
 यौक्तिकदृष्ट्या निष्कर्षे तु अज्ञातं ब्रह्मैव जगत्तद्वासना तदविद्या
 चाज्ञातं ब्रह्मैव तच्चिह्मिर्विद्या तत्फलं निर्वाणं चेति पर्यवस्य-
 तीत्याशयेनाह—विज्ञानेति । श्रुत्यादिप्रमाणान्मात्रात् न
 कचत्येव ॥ ३८ ॥ बद्धास्मीति स्वभावतः स्वां मन्यमानां
 स्वयमेव स्वबन्धो नित्यमुचास्मीति प्रमाणतः सा प्रबुद्धा सा
 स्वयमेव मोक्ष इति निष्कर्षेऽवगाते न कश्चिन्मोक्षसाधने क्लेश
 इत्याह—संविदंशेति ॥ ३९ ॥ तदिदं परीक्षकेर्व्युत्पानसमा-
 धिभ्यां व्युत्पानमुपुत्तिभ्यां च स्पष्टं ब्रह्मं शक्यमित्याशयेनाह—
 संविदुद्धोधने इति । संविद उद्धोधने बहिर्मुखत्वापादने । शिबं
 निर्वाणम् । संविदुद्धोधनोदरमेव असज्जगत्सद्ब्रह्माति ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ एवमैच्छिकयोर्बन्धमोक्षयोर्मोक्षस्वभावाहरणमेव निर्वि-
 क्षेपपरमानन्दरूपत्वाद्युक्तमित्याशयेनोपसंहरति—निर्वाणवा-
 सनमिति । हे राम, स्वमच्छयोधैकतानं ब्रह्मैव सज्जप्यन्नणं निर्मुक्त-
 बन्धमात्र । विशेषणान्यन्यानि ब्रह्मणि वा क्रियाया वा योज्यानि
 ॥ ४२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे वासनाभावप्रतिपादनं नामैकोनाशीतितमः 'सर्गः' ॥ ७९ ॥

अशीतितमः सर्गः ८०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति ते सर्व आयाता ब्रह्मलोकनिवासिनः ।

अदृश्यतामेव गता दीपाः क्षीणदशा इव ॥ १

अथ ते द्वादशादित्या ब्रह्मणि ब्रह्मतां गते ।

जगद्ब्रह्मलोकं तमदहन्मास्वरचिषः ॥ २

वैरिञ्चनगरं दग्ध्वा ध्यानं कृत्वा विरञ्चिवत् ।

तेऽपि निर्वाणमाजग्मुर्निःक्षेददशदीपवत् ॥ ३

तत एकार्णवापूरो विरिञ्चनगरान्तरम् ।

रात्रौ भुवमिव ध्वान्तं पूरयामास सूर्मिमान् ॥ ४

आब्रह्मलोकमभवज्जगदापूर्णमर्णसा ।

तुल्यं रसैकपूर्णेन पक्वद्राक्षाफलेन तत् ॥ ५

तत्तदूर्मिगिरिवातखगैरावलिताः खिलाः ।

विच्छिन्नाः कल्पजलदा जल एव निलिल्यिरे ॥ ६

एतस्मिन्नन्तरे तत्र दृष्टवानहमम्बरात् ।

यावदभ्युदितं भीमं भीतः किञ्चिन्नभोन्तरात् ॥ ७

कल्पान्तजगदाकारं कृष्णमापूरिताम्बरम् ।

आकल्पं संभृतं नैशं देहेनेवोत्थितं तमः ॥ ८

तरुणादित्यलक्षाणां तेज आभास्वरं दधत् ।

आदित्यत्रयसंकाशैः स्थिरविद्युच्चयोर्वर्णैः ॥ ९

वैज्ञानिकस्तत्त्वदशा वर्णितः प्रलयक्रमः ।

प्राकृतो योगिनाम्योऽन्यो वर्ण्यते प्रलयक्रमः ॥ १ ॥

धातुर्वासनाकल्पितस्य तल्लोकदेवभुवनादिसर्वप्रपञ्चस्य तत्प्रा-
रब्धक्षयक्षणोत्पत्तेन साक्षात्कारेण यो बाधस्तल्लक्षणो वैज्ञानिकः
प्रलयः 'नापश्यं स्वप्ननगरं बुध्यमान इवाग्रगम्' इत्यादिना स्वप्न-
बाधसदृशः सोपपत्तिकं मुक्तदशा उपवर्णितः । बद्धदशा तु धा-
तुर्देहस्य तदारम्भकोपाधीनां तदिन्द्रियादीनां च स्वस्वकारणे
लयद्वारा मायाशबले ब्रह्मणि लयलक्षणं प्रलयमुपवर्णयितुमुप-
क्रमते—इतीति ॥ १ ॥ ब्रह्मणि विधातृदेहे । मायाशबलब्रह्म-
ताम् । जगद्ब्रह्म्यादिवत् ॥ २ ॥ आदित्यायधिकारिजीवानाम-
प्यधिकारप्रारब्धसमाप्तेष्वरमसाक्षात्कारेण समस्तस्वस्वप्रपञ्चवा-
धात्तद्वदेव विदेहकैवल्यमासीदित्याह—वैरिञ्चेति ॥ ३ ॥ तदु-
त्तरं किमासीत्तदाह—तत इति । प्राक्प्रक्रान्त एवैकार्णवापूरः ।
'सूर्तिमान्' इति पाठे पञ्चीकृतजलात्मा ॥ ४ ॥ अर्णसा जलेन ।
तद्ब्रह्माण्डम् ॥ ५ ॥ तैस्तैर्ूर्मिभिः ह्रवमानैर्गिरिवातैः खगैर्देव-
शरीरैश्चावलिता विघटिता अत एव खिला विशीर्णा विच्छि-
न्नाश्च कल्पजलदाः प्रागुक्ताः पुष्करावर्तकादयः ॥ ६ ॥ एत-
स्मिन्नन्तरे अहमम्बरादभ्युदितं भीमं भयानकं किञ्चिद्रूपं दृष्ट-
वान् न तु विशिष्य रुद्रोऽयमिति परिचितवान् । तावद्भीत इ-
त्यर्थः ॥ ७ ॥ तदेव रूपं भीतिहेतुभिरद्भुतैर्विशेषणैर्वर्णयति—
कल्पान्तेत्याद्यदिभिः । आकल्पं द्विपरार्थावसानकालपर्यन्तं प्रति-
निशं जातं तत्र एकत्र संभृतमुपचितं सदेहेनोत्थितमिवेति ।

नेत्रैराभास्वरमुखं ज्वालापुञ्जसमुद्गिरम् ।

पञ्चाननं दशभुजं त्रिनेत्रं शूलपाणिकम् ॥ १०

आयान्तमन्तमुक्तेऽपि व्योम्नीव वितताकृतिम् ।

खमिवासि घनश्यामं देहमासाद्य संस्थितम् ॥ ११

स्थितमेकार्णवापूर्णाब्रह्माण्डाद्वहिरम्बरे ।

व्योमेव हस्तपादादिसंनिवेशेन लक्षितम् ॥ १२

घोणानिलपरावृत्तिविधूतैकमहार्णवम् ।

गोविन्दमिव दोर्दण्डक्षोभितक्षीरसागरम् ॥ १३

कल्पाणवजलापूरं पुंस्त्वेनेव समुत्थितम् ।

मूर्तियुक्तमहंकारमस्तकारणमागतम् ॥ १४

कुलाचलबृहद्बृन्दमिबोड्डयनडम्बरैः ।

पक्षौघैरुत्थितं व्योम समस्तमभिपूरयत् ॥ १५

ततस्त्रिशूलनयनैर्मया रुद्रोऽयमित्यसौ ।

दूरादेव परिज्ञाय परमेशो नमस्कृतः ॥ १६

श्रीराम उवाच ।

किं स तादृग्विधो रुद्रः किं कृष्णः किं महाकृतिः ।

किं पञ्चवदनः कस्यादृशबाहुः स तिष्ठति ॥ १७

किं त्रिनेत्रः किमुग्रात्मा किमेकः किंप्रयोजनः ।

केनेरितः किमकरोच्छायासीद्वद का मुने ॥ १८

संहारमूर्तेरघोररुद्रस्य कृष्णवर्णोत्कर्षाद्बुद्धेः ॥ ८ ॥ वर्णेन कृष्ण-
त्वेऽपि तेजसा भास्वरत्वमपीत्याह—तरुणेति । दधदित्येतद्भुत-
रश्लोकेऽप्याभास्वरं मुखं दधदिति संबध्यते ॥ ९ ॥ ज्वाला-
पुञ्जं समुद्गिरतीति ज्वालापुञ्जसमुद्गिरम् ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥
घोणा नासा तदनिलस्य श्वासवायोः परावृत्तिभिर्भ्रमणैः ॥ १३ ॥
पुंस्त्वेन पुरुषाकारेण समुत्थितमिव । सर्वाहंकारसमष्टिरूपं मूर्ति-
युक्तं भूत्वा आगतमिव । सर्वकारणत्वात्स्वयमस्तकारणम् ॥ १४ ॥
॥ १५ ॥ ततस्तादृशरूपदर्शनानन्तरं मया त्रिशूलेन त्रिभिर्नय-
नैश्च प्रसिद्धैर्लक्षणैरसौ रुद्रः परमेशो जगदीश्वर इति परिज्ञाय
नमस्कृतः ॥ १६ ॥ ननु परमेश्वरः 'मायां तु प्रकृतिं विद्या-
न्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादिश्रुतिषु मायाशबलं ब्रह्मैवामूर्तं
महेश्वर इति प्रसिद्धं, तत्किमर्थं कैशोपाधिभिः पञ्चवदनादिवि-
शिष्टां मूर्तिं धत्ते, सर्वात्मनो वा कथं परिच्छिन्नमूर्तिभाव इति
विशिष्य जिज्ञासमानो रामः पृच्छति—किं स इति । स सर्व-
श्रुतिप्रसिद्धः परमेशस्तादृग्विधस्त्वद्वर्णितरीत्या भयानकस्वरूपः
किमिति केनोपाधिना स्थित इति प्रश्नस्य प्रपञ्चभूता दशप्र-
श्नाश्चतस्रः स्वतन्त्राः । स तिष्ठतीत्यत्रापि केल्यध्याहृत्याधारप्रश्नो
बोध्यः । एवं किमुग्रः किमात्मेति किमः प्रत्येकं संबन्धादौ प्रश्नौ
॥ १७ ॥ स किं स्वतन्त्र उत परतन्त्रः । यदि स्वतन्त्रस्तर्हि पूर्णकाम-
स्यास्य किमर्थं संहारे प्रवृत्तिः । यदि परतन्त्रस्तर्हि केनेरितः ।
तस्मिन्नीश्वरे रुद्ररूपे सति तदीयच्छायारूपा मायापि का आ-
सीत्तद्वदेत्यर्थः ॥ १८ ॥ हे काकुत्स्थ, असौ परमेश्वरः सर्वसर्ग-

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

काकुत्स्थ रुद्रनामासावहंकारतथोत्थितः ।
विषमैकाभिमानात्मा मूर्तिरस्यामलं नमः ॥ १९
व्योमाकृतिः स भगवान्व्योमवर्णो महाद्युतिः ।
चिद्योममात्रसारत्वादाकाशात्मा स उच्यते ॥ २०
सर्वभूतात्मभूतत्वात्सर्वगतत्वान्महाकृतिः ।
यानि तस्यानुबक्तानि पञ्च खानीन्द्रियाण्यलम् ॥ २१
तानि तस्य मुखान्याहुस्तपद्रूपाणि सर्वतः ।
कर्मेन्द्रियाणि विषयास्ते हि तस्य भुजा दश ॥ २२
सर्वभूतनरैः सार्धं ब्रह्मणा परमेयुषा ।
यदासौ संपरित्यक्तस्तदा स्वां मूर्तिमागतः ॥ २३
स चैकांशैकरूपात्मा नास्ति तस्य हि साकृतिः ।
तथा दृश्यत एवासौ आन्तिमात्रेण मूर्तिमान् ॥ २४
चिदाकाशगते स्फारे भूताकाशे स तिष्ठति ।
देहे च सर्वभूतानां नित्यं वायुरिवेश्वरः ॥ २५

स्थितिसंहारादिगोचरसंकल्पाध्यवसायादिवीजभूतसर्वाभिमाना-
त्मकमायावृत्तिरूपया अहंकारतया सर्वजगदप्यासमूलस्तम्भभू-
तया सर्वप्राणिरोदने सर्वशरणागतरुद्रावणे च निमित्तभूतया
रुद्रनामा सञ्चरितः । तत्र रोदने विषमभिमानात्मा रुद्रावणे
सु एकाभिमानात्मा संपद्यते । अस्य सा मया दृष्टा मूर्तिस्त्व-
मलं नमः आकाशमेव ॥ १९ ॥ अनेन किं स तादृग्विषयः किं
कृष्णः किं महाकृतिरिति प्रश्नत्रयं समाहितमित्याह—व्योमेति
॥ २० ॥ 'किं पञ्चवदन' इति प्रश्नस्योत्तरमाह—यानीति । त-
स्याहंकारस्य प्रतिशरीरमुपबक्तानि यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि तानि
तस्य रुद्रस्य मुखान्याहुस्तत्त्वविदः ॥ २१ ॥ अत एव हि ज्ञानेन्द्रि-
याणि सर्वतस्तपद्रूपाणि प्रकाशस्वभावानि ॥ २२ ॥ कस्माद्दशबाहुः
स इति प्रश्नं समाधत्ते—कर्मेन्द्रियाणीति । वाक्पाणिपादपायूप-
स्थाह्यानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि दक्षिणतः, वचनादानविहरणोत्सर्गा-
तन्दाक्याः पञ्च तद्विषयाश्च नामत इति क्रमात्तस्य दशभुजा इत्य-
र्थः । तर्ह्यसौ प्रागपि तादृशमूर्त्या कृतो न दृष्ट इति चेच्चरचरानाम-
रूपकार्याकाराभ्यारोपन्यामूहदृष्टिभिस्तदन्तर्गतकारणस्वभावस्य
दुर्बलत्वादेवेत्याशयेनाह—सर्वेति । सर्वभूतैश्चतुर्विधशरीरैर्नरैस्त-
त्तज्जीवैश्च सार्धं परं कारणं मायाशबलं ब्रह्म वा ईयुषा प्रलयेन
प्राप्तवता ब्रह्मणा चतुर्मुखेन स्वाध्यारोपितकार्येण पटेन तन्तु-
रिव यदासौ परित्यक्तस्तदा स्वां प्रागुक्ताकाशमात्रपरिशेषरूपां
वर्णितां मूर्तिमागतः । कारणरूपेण स्फुटीभूत इति यावत् ॥ २३ ॥
यद्यसावाकाशमात्रात्मा तर्ह्यमूर्तस्य तस्य प्राग्वर्णिता देहाकृतिः
कथं दृष्टा तत्राह—स चेति । स च रुद्रः सर्वकार्यविशेषप्रवि-
लयावशिष्टो यः कारणैकांशस्तदेकरूपात्मा तस्य सा मया
वर्णिता देहाकृतिर्नास्ति । तथा उपासकैः स्ववासनया असौ
दृश्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥ प्रश्नेषु स तिष्ठदीत्यत्र केत्यप्याहस्य
आधारप्रश्नो यो वर्णितस्तस्योत्तरमाह—चिदाकाशगते इति ।

सर्वभूतपरित्यक्तस्तस्मिन्काले स्वमूर्तिमान् ।
क्षोभयन्स क्षणं क्षीणः परमां शान्तिमेत्यति ॥ २६
ये गुणाकृतयः कालाश्चित्ताहंकारबुद्ध्यः ।
प्रणवस्य च ये वर्णा ये च वेदास्तथा त्रयः ॥ २७
रुद्रस्य तस्य ते नेत्रसंनिवेशेन संस्थिताः ।
त्रिशूलं तेन त्रैलोक्यं गृहीतं करकोटरे ॥ २८
यस्मात्तद्व्यतिरेकेण सर्वभूतगणेष्वपि ।
अन्यथ विद्यते किञ्चिद्देहात्मैव ततः स्थितः ॥ २९
सर्वसत्त्वोपलम्भात्मा स्वभावोऽस्य प्रयोजनम् ।
ईरितः शिवरूपेण चिन्मात्राकाशरूपिणा ॥ ३०
तेनैव च निगीर्णः सन्परमां शान्तिमेत्यसौ ।
निर्मलाकाशरूपात्मा कृष्ण इत्येष ईश्वरः ॥ ३१
कृत्वा कल्पं जगत्सर्वं तत्पीत्वैकार्णवं तदा ।
स प्रयाति परां शान्तिमभूयःसंनिवृत्तये ॥ ३२

इदं चावस्थानं तत्तदन्तर्यामिभावेनेति सूचनाय वायुरिवेति
॥ २५ ॥ २६ ॥ किं त्रिनेत्र इति प्रश्नस्योत्तरमाह—ये इति
॥ २७ ॥ ये गुणादिपञ्चत्रिका रुद्रस्य पञ्चसु वक्त्रेषु क्रमाग्निने-
त्रपञ्चकसंनिवेशेन संस्थिता इत्यर्थः । किमुप्राप्तेत्यत्र किञ्चिदस्य
प्रत्येकमन्वयात् किमुप्राप्तिः किमात्मेति द्वौ प्रश्नौ वर्णिता । तत्रा-
द्यस्य केन त्रिशूलाद्युपेतोऽप्र इति गूढार्थस्य रामाभिप्रेतस्य सर्व-
ज्ञतां ख्यापयन्मुनिरुत्तरमाह—त्रिशूलमिति । करकोटरे मुष्टि-
च्छिदे ॥ २८ ॥ किमात्मेति द्वितीयस्योत्तरमाह—यस्मा-
दिति । सर्वभूतगणदेहात्मैत्यर्थः । अत एव हि सर्वभूतानामहं-
कारात्मकरुद्राभिध्यानादेव देहात्मत्वाभिमानः । तथा च भगवतो
वादरायणस्य सूत्रम् 'परमिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध-
विपर्ययो' इति ॥ २९ ॥ 'किं प्रयोजन' इत्यस्योत्तरमाह—सर्वेति ।
स्वसृष्टानां सर्वेषां सत्त्वानां स्वस्वकर्मानुरूपविषयमोगात्मको य
उपलम्भः क्रमाज्ज्ञानसाधनप्राप्तवान्ते सः स्वात्मतत्त्वोपलम्भश्च
तदात्मा यः शास्त्रीयविहितनिषिद्धकर्मज्ञानफलदानस्वभावः स
एवास्य सर्गादौ प्रयोजकत्वात्प्रयोजनम् । तथा श्लोके गौड-
पादैः 'देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का सृष्टा' इति । केनेति
इति प्रश्नं समाधत्ते—ईरित इति । चिन्मात्राकाशरूपिणा
शिवं वाक्यनसागोचरनिरतिशयभूमानन्दात्मकं परमकल्याणं
स्वरूपं यस्य तथाविवेन परमात्मनैव 'बहु स्यां प्रजायेये'ति सं-
कल्पात्मकमायावृत्त्या ईरितः सर्गाद्युत्पन्नतया प्रेरितः सृजति
॥ ३० ॥ प्रलयार्थमीरितश्च सर्गक्रमविपरीतक्रमेण जगन्नि-
गीर्णकाशभावेन स्थितः स्वयमपि तेनैव शिवरूपेण स्वा-
त्मना निगीर्णः सन् आकाशभावमपि विहाय परमां
भूमानन्दस्वरूपप्रतिष्ठाक्षणां शान्तिमेतीत्यर्थः । 'किं कृष्ण'
इत्यादिप्रश्नानां सर्वेषां सोपपत्तिकं समाधानमुक्तं सा-
युक्तपसंहरति—निर्मलेति सार्धेन ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

अनन्तरं मया दृष्टस्तत्रासौ यावदुद्यमात् ।
 प्रवृत्तः प्राणवेगेन तमाकृष्टं महार्णवम् ॥ ३३
 अथ तस्य मुखं स्फारं ज्वालामालाकुलान्तरम् ।
 प्राणाकृष्टो महाम्भोधिर्वाडवाग्निमिवाविशत् ॥ ३४
 स एव वाडवो भूत्वा बहिराकल्पमर्णवे ।
 अहंकारः पिवत्यम्बु रुद्रः सर्वं तु तत्तदा ॥ ३५
 पातालमिव पानीयं सर्पो विलमिव क्षणात् ।
 पञ्चवायुरिवाकाशमविशत्तन्मुखं जवात् ॥ ३६
 समुपेत्यापिबदुद्रः स मुहूर्तेन तत्पयः ।
 कृष्णाङ्गोऽर्क इव ध्वान्तं सत्संपर्क इवागुणम् ॥ ३७
 आब्रह्मलोकपातालं शान्तं शून्यमथाभवत् ।
 रजोधूमानिलाम्भोधिभूतमुक्तं समं नभः ॥ ३८
 केवलं तत्र दृश्यन्ते चत्वारो व्योमनिर्मलाः ।
 इमे पदार्था निस्पन्दाः शृणु तावद्गुणन्दन ॥ ३९
 एकस्तावदसौ मध्ये रुद्रः कृष्णाम्बराकृतिः ।
 निराधारः स्थितो व्योम्नि निस्पन्दामोदविम्बवत् ॥ ४०
 द्वितीयोऽवस्थितो दूरे पृथ्व्याकाशतलोपमः ।
 भागो ब्रह्माण्डसदनस्याधः पातालसप्तकात् ॥ ४१
 पातालभूतलदिवां सशैलेन्द्रदिबौकसाम् ।
 व्याप्तः पार्थिवभागेन पङ्कमात्रात्मनात्मभाक् ॥ ४२
 तृतीयोऽत्र पदार्थोऽभूदूर्ध्वं ब्रह्माण्डभागभूः ।
 दृष्टिक्षयात्सुदूरत्वादुर्लक्ष्यगगनासितः ॥ ४३

किमकरोदित्युपान्त्यप्रश्नस्य कथाशेषश्रूषाविषयत्वमभिप्रेतं ज्ञात्वो-
 त्तरमाह—अनन्तरमित्यादिना । प्राणवेगेन श्वासानिलवेगेन ।
 आकृष्टम् । पातुमिति यावत् ॥ ३३ ॥ जलस्य तेजस्युप-
 संहारद्योतनाय ज्वालामालासमाकुलमित्युक्तम् ॥ ३४ ॥
 इतरकालेऽपि जलशोषे तेजसेवोपसंहारः प्रसिद्ध इत्याशये-
 नाह—स एवेति ॥ ३५ ॥ पञ्चवायुः पञ्चवृत्तिः प्राणः प्राणिनां
 मुखाकाशमिव । अपानस्यापि प्राणात्मकत्वात्पञ्चवृत्तिकत्वव्यप-
 देशः ॥ ३६ ॥ अगुणं दोषजातम् ॥ ३७ ॥ समं सर्ववैषम्य-
 निर्मुक्तम् ॥ ३८ ॥ इमे वक्ष्यमाणाः पदार्थाः ॥ ३९ ॥ आमोदः
 सौरभं तद्विम्बं तत्स्वरूपं तद्वत् ॥ ४० ॥ ४१ ॥ त्रयाणां
 लोकानां तद्वत्पदार्थानां च मस्मीभावात्पुनर्जलक्रेदनेन पङ्कमा-
 त्मना पार्थिवभागेन व्याप्तः सत्रात्मभाक् ऊर्ध्वभागापेक्षया
 किञ्चिदुपचितात्मा ॥ ४२ ॥ दृष्टिक्षयात्प्रयनरश्मीनां तत्रा-
 प्रसरत् । तत्र हेतुः—सुदूरत्वादिति ॥ ४३ ॥ चतुर्थः
 पदार्थस्तदुभयान्तरालाकाशमेवेत्याह—दूरेति । ब्रह्मेव निर्मलम्
 ॥ ४४ ॥ असौ अन्तरालाकाशः । अत्र मत्पुनरुपगतपदार्थमध्ये
 एतस्माच्चतुष्टयादन्यत्किञ्चन नैवासीदित्यन्वयः ॥ ४५ ॥ सावर-
 णाभ्यां ब्रह्मसन्नकटाहौ ब्रह्माण्डखर्परे ताभ्यां बहिः किं विद्यते ।
 तत्र तयोः का आवरणाः । ताश्च कियत्यः । निराधाराश्च कथं
 संस्थिता इति चत्वारः प्रश्नाः ॥ ४६ ॥ तत्र मध्यमप्रश्नयोः प्रथम-
 मुत्तरमाह—ब्रह्माण्डखण्डयोरिति । तच्च जलमनन्तमिति-

दूरविशिष्टयोर्मध्यं यत्तद्ब्रह्माण्डखण्डयोः ।
 तदाकाशमनाद्यन्तं ब्रह्म निर्मलमाततम् ॥ ४४
 चतुर्थोऽसौ पदार्थस्तु तदा संलक्षितो मया ।
 चतुष्टयादत्र नान्यदेतस्मादेव किञ्चन ॥ ४५
 श्रीराम उवाच ।
 बहिः किं विद्यते ब्रह्मन्ब्रह्मसन्नकटाहतः ।
 कास्तत्रावरणा ब्रूहि कियत्यः संस्थिताः कथम् ॥ ४६
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 ब्रह्माण्डखण्डयोः पारे ततो दशगुणं जलम् ।
 संध्याकाशमनन्तं तद्वर्जयित्वा ततः स्थितम् ॥ ४७
 ततस्तथैव ज्वालात्म तेजो दशगुणं स्थितम् ।
 ततस्तथैव पवनः पवनो निर्मलः स्थितः ॥ ४८
 ततस्तथैव विमलं नभो दशगुणं स्मृतम् ।
 ततः परममत्यच्छं ब्रह्माकाशमनन्तकम् ॥ ४९
 अन्यत्रान्यत्र तस्याथ दृष्टयोऽन्यास्तथैव खे ।
 कचन्त्यनन्ता दूरस्था मिथो दृष्टात्मसृष्टयः ॥ ५०
 श्रीराम उवाच ।
 ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डखण्डस्य तथाधस्तान्मुनीश्वर ।
 तज्जलादिमहाकारं क्व कथं केन धार्यते ॥ ५१
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 स पार्थिवपदार्थानां स्थितः पुष्करपत्रवत् ।
 भागस्तमेवाधावन्ति ते सुता मातरं यथा ॥ ५२

विस्तृतं खण्डद्वयसंध्याकाशमन्तर्वर्जयित्वा बहिरेवाततं स्थितम् ।
 यद्यपि खण्डद्वयसंध्याकाशो बृहदारण्यके 'तथावती क्षुरस्य
 धारा थावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशः' इति क्षुरधा-
 रामक्षिकापक्षपरिमितोऽत्यन्तसूक्ष्मः प्रतिपादितस्तथापि प्रागत्र
 चतुर्मुखो ब्रह्माण्डखण्डद्वयं विभेद तच्च भिन्नं दूरतरं गतमिति
 वर्णितत्वात्तदनुसारेण संध्याकाशस्यानन्तत्वोक्तिरिति बोध्यम्
 ॥ ४७ ॥ तथैव जलवदेव पवनस्तज्जलपवित्रीकरणः स्वयं च रजो-
 मालिन्यरहितः पवनो वायुः स्थितः ॥ ४८ ॥ नभ आकाशम् ।
 प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह—तत इति । अतिसूक्ष्मत्वादत्यच्छं
 मायाशबलब्रह्माकाशं स्थितम् ॥ ४९ ॥ ननु पुराणादौ आकाशा-
 त्परतो दशगुणमहंकारतत्त्वं ततः परं तद्दशगुणं महत्तरत्वं तदग्रे
 अनन्ता प्रकृतिश्च वर्णिता तदत्र कथं परित्यक्तं तत्राह—अन्य-
 त्रेति । तस्य मायाशबलब्रह्मणः खे आवृते स्वरूपाकाशे अन्यत्रा-
 न्यत्र योगिमाहेश्वरपाद्भरात्रकापिलादितन्त्रेषु अन्या अन्या महद-
 हंकारादितत्त्वभेदावरणकल्पनादृष्टयः, अनन्ताः कचन्ति, ताश्च
 मिथः परस्परं संवादेन दृष्टात्मकल्पनासृष्टयः पुराणेषु कीर्त्यन्ते न
 श्रुतिषु, ताः प्रक्रियाः सन्तीत्यस्माभिरुपेक्षिता इत्यर्थः । ब्रह्मा-
 ण्डभेददृष्टिपरतया वा श्लोको व्याख्येयः ॥ ५० ॥ चतुर्थं प्रश्नं
 परिशिष्टं स्मारयन् रामः पृच्छति—ऊर्ध्वं इति । ब्रह्माण्डाद-
 प्युत्तरोत्तरं दशदशगुणविस्तारान्महाकारम् ॥ ५१ ॥ तं
 पार्थिवं ब्रह्माण्डखर्परभागमेव आधावन्ति आधारादिभावेना-

अतो यदेव नदीयो ब्रह्माण्डाख्यं महावपुः ।
 तत्पदार्थाः प्रभावन्ति तृषिताः सलिलं यथा ॥ ५३
 अवलम्ब्य तदेवान्तः संस्थितास्तैजसादयः ।
 न स्थितिं प्रविमुञ्चन्ति स्वां यथावयवा इव ॥ ५४
 श्रीराम उवाच ।
 ब्रह्मब्रह्माण्डखण्डे ते तिष्ठतः कथमुच्यताम् ।
 किमाकृती घृते केन कथं वा परिनश्यतः ॥ ५५
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अधृतं घृतमेवोच्चैरपतच्चैव वा पतत् ।
 अनाकृत्येव साकारं जगत्त्वग्रपुरं यथा ॥ ५६
 किमस्य नाम पतति किंवा केनास्य धार्यते ।
 यथा संवित्ति कचनं तथैतदवतिष्ठते ॥ ५७
 यथा केशोष्णकं ज्योमि यथा च ज्योमि शून्यता ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मी० दे० सो० निर्वाणप्रकरणे उ० पा० ॥

यथा वा पवने स्पन्दो जगच्चिद्भगने तथा ॥
 चित्तौ संकल्पनगरं ब्रह्माण्डाख्यं जगद्ब्रह्म ।
 खे खमेवाप्यनाकारं प्रत्याकारमिव स्थितम् ॥
 पातसंवित्समुद्भूतं पतदास्ते दिवानिशम् ।
 गच्छन्त्या संविदोद्भूतं गच्छदास्ते दिवानिशम् ॥
 स्थितसंवित्समुद्भूतं तिष्ठदास्ते दिवानिशम् ।
 उत्पतन्त्या चित्तोद्भूतमुत्पतच्चैव तिष्ठति ॥
 पति नाशविदा नाशं महाकल्पादिवेदने ।
 जायते जन्मसंविद्या ज्योमि सर्वादिवेदने ॥
 आभाति मौक्तिकगणः शरदम्बरान्तः ।
 दृष्टावसत्य उदितोऽप्यतिसत्यरूपः ।
 भ्रान्त्या यथा नभसि च स्फुरतां तथैषां ।
 संख्यां विधातुमिह को जगतां समर्थः ॥
 अन्तिमात्रत्वप्रतिपादनं नामाशीतितमः सर्गः ॥ ६०

एकाशीतितमः सर्गः ८१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अथ राघव रुद्रं तं तदा तस्मिन्महाम्बरे ।
 प्रवृत्तं नर्तितुं मत्तमपश्यं वितताकृतिम् ॥
 व्योमेवाकृतिमापन्नमजहृद्यापितां निजाम् ।
 महाकारं घनश्यामं दशाशापरिपूरकम् ॥
 अर्केन्दुवहिनयनं चलदशदिगम्बरम् ।
 घनदीर्घप्रमाजालमालानं श्यामलाचिषाम् ॥
 षडवाग्निदशं लोलभुजोर्मिभरमासुरम् ।

अन्यन्ति । यथा सुता वानरीविशवो मातरसुदरे इहं गृहीत्वा
 श्वनेऽपि न पतन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ ५९ ॥ ऊर्ध्वखर्परौपरित-
 नजलस्याप्यपतने अयमेव न्यायः सामीप्यानुगृहीतो बोध्य
 इत्याशयेनाह—अत इति । नेदीयः संनिहिततरम् । 'अन्ति-
 क्वावयोर्नेदसाधौ' इति ईयसुनि नेदादेशः ॥ ५३ ॥ यथा शरी-
 रसंयुक्ता हस्तपादाद्यवयवा हृत्तरसंयोगस्थितिं न प्रतिमु-
 षन्ति तद्वत् ॥ ५४ ॥ इतरावरणाधारयोर्ब्रह्माण्डखर्परस्योरति-
 शुक्तादवश्यं पिपतिषतोः कस्तर्वाधार इति रामः पृच्छति—
 ब्रह्मन्निति । कथं केनाधारेण तिष्ठतः ॥ ५५ ॥ सत्यतादृष्टान्ति-
 यमापारादिचिन्ता । सिध्यादृष्टौ तु न श्रुतराणामप्याधारादि-
 भनाकृति अमूर्तम् ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ प्रत्याकारं प्रति-
 नियताकारमिव ॥ ५९ ॥ सर्वपदार्थानां यथा संवेदनमेव स्वभावो
 नियतोऽनियतो वा सिध्यादीत्याह—पातेति । गच्छन्त्या गमना-
 ध्यासंबन्धा ॥ ६० ॥ तथा च 'किमाकृती घृते केन' इति प्रश्ना-
 यपि स्वसंवित्कल्पितनियतानियताकृती संवेदेन घृते इत्यर्थो-
 क्यं वा परिनश्यत इत्यस्योत्तरमाह—

एकार्णवाणो द्रग्देहबन्धनेन समुत्थितम् ॥
 पश्याम्यनन्तरं महं यौवचस्य शरीरतः ।
 छायेव परिनिर्याति नर्तनानुविधायिनी ॥
 सूर्येष्वविद्यमानेषु महातमसि चाम्बरे ।
 स्थिता कथमियं छाया भवेदिति प्रतिभम् ॥
 यावद्विचारयाम्याशु तावच्चस्य तवा पुरः ।
 सा स्थिता परिनृत्यन्ती विस्तीर्णा श्रीत्रिलोचना ॥ ७
 कृष्णा कृशा शिरालाङ्गी जर्जरा वितताकृतिः ।
 ज्वालाकुलानलालोलवनसंभारशेखरा ॥

पतीति ॥ ६२ ॥ यथा शरदम्बरान्तर्विलोक्यतो दृष्टे पतद्दरका-
 कारो मौक्तिकगण आभाति, तथा विजगमसि भ्रान्त्या स्फुरतामेव
 जगतां संख्यामाधारादितत्त्वपरिगणनं कर्तुं को समर्थः न कोचित्
 लर्थः ॥ ६३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराभायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्र-
 रणे उत्तरार्धे अन्तिमात्रत्वप्रतिपादनं नामाशीतितमः सर्गः ॥ ६० ॥
 रुद्रः स नृत्यप्रलये मैरवोऽत्रोपवर्णयते ।
 चञ्चलायाकालरात्रिश्च नृत्यन्ती जगद्वहिका ॥ ५१ ॥
 'किमकरोत्' इति प्रश्नोत्तरशेषं 'प्रलयोकाश्च सद्रूपं छायाती-
 ब्रव का मुने' इति प्रश्नोत्तरं 'नृत्यं तावद्वर्णयति—व्योमेवलो-
 गुपक्रमते—अथेति ॥ ५१ ॥ नृत्यं तावद्वर्णयति—व्योमेवलो-
 दिना ॥ ५२ ॥ श्यामलाचिषां । नीलप्रमाज्वालानामालनं बन्धन-
 स्तम्भमिव ॥ ५३ ॥ षडवाग्नय इव दशोऽयस्य । देहबन्ध-
 शरीरग्रहणेन । समुत्थितसिधेरुत्प्रेक्षा ॥ ५४ ॥ नर्तनानुविधा-
 यिनी सदनवर्तनमुकुर्वाणा ॥ ५५ ॥ 'इति यम' मतिपरा-
 आसीदिति शेषः ॥ ५६ ॥ 'श्रीमन्ति श्रीमि' लोचनानि यस्या-
 ॥ ५७ ॥ तां वर्णयति—कृष्णोलादिना । जर्जरा विधिलासा-
 ॥ ५८ ॥ ज्वालाकुलाननां इति पाठो युक्तः ॥

मिश्राञ्जनतमः श्यामा यामिनीवाकृतिं गता ।
 तमः श्रीर्देहयुक्तेव साकारेवाम्बरधृतिः ॥ ९
 अतिदीर्घा करालास्या नभो मातुमिवोद्यता ।
 दीर्घजानुभुजभ्रान्त्या मातुकामेव दिङ्मुखम् ॥ १०
 कृशा बहूपवासेव परिनिम्नमहातनुः ।
 कज्जलश्यामला मेघमालेव पवनाकुला ॥ ११
 कृशाशक्ता यदा स्थातुं सुदीर्घा विधिना तदा ।
 ग्रथितेव शिरारूपैर्दामभिर्दैर्घ्यशालिभिः ॥ १२
 तथा नाम सुदीर्घा सा यथा तस्याः शिरःखुरम् ।
 मया दृष्टं प्रयत्नेन चिरोर्ध्वाधोगमागमैः ॥ १३
 अन्त्रात्रतन्त्रीग्रथितशिरःकरखुरोत्करा ।
 आमूलात्सूत्रवलिता कण्टकानामिव स्थली ॥ १४
 विश्वरूपमयार्कादिशिरःकमलजालकैः ।
 कृतमालामलालोकवातवह्निमयाञ्चला ॥ १५
 प्रलम्बकर्णालुलितनागा नृशचकुण्डला ।
 शुष्कतुम्बीलताष्ठीलादीर्घालोलासितस्तनी ॥ १६
 कुमारवर्हिपिच्छौघैर्ब्रह्ममूर्धजमण्डलैः ।
 लाञ्छितोच्चसुराधीशशिरःखट्वाङ्गमण्डला ॥ १७
 दन्तेन्दुमालाविमला विमलोद्द्योतपाततः ।
 तमोर्णवोर्द्धलेखेव वृत्तावर्तविवर्तिनी ॥ १८
 शुष्कतुम्बीलतेवोच्चैराकाशतरुसंस्थिता ।

लोलो वनसंभारो वनसमृद्धिरिव पुष्पपलवादिभूषितः श्यामलः
 शेखरो यस्याः ॥ ८ ॥ तिष्ठ उत्प्रेक्षाः ॥ ९ ॥ मातुं स्वदैर्घ्य-
 साम्येन परिमातुमुपमातुं च ॥ १० ॥ परितो निम्ना सगर्ता
 महती तनुर्यस्याः ॥ ११ ॥ सुदीर्घा कृशा च सा यदा स्थातु-
 मशक्ता विधात्रा लक्षिता तदा शिरारूपैर्दामभिर्दैर्घ्याय ग्रथिते-
 वेत्युत्प्रेक्षा ॥ १२ ॥ सा तथा सुदीर्घा यथा मया प्रयत्नेन
 योगबलान्मनोवेगेन चिरमनेकसहस्रवर्षकालमूर्ध्वमधश्च गमा-
 गमैर्धौवनैस्तस्याः शिरःखुराः पादनखाश्च तेषां समाहारः शिरः-
 खुरम् । 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य' इत्येकवद्भावः । दृष्टं नान्येन दृष्टं
 शक्यमिति भावः ॥ १३ ॥ अन्त्रैः शिराजालैरात्रतन्त्रीभिश्च
 ग्रथिताः शिरःप्रभृतिरपादनखान्ता अङ्गोत्करा यस्याः । आमूला-
 न्मूलमारभ्य शाखाप्रपर्यन्तं सूत्रैर्वलिता कण्टकानां स्थली
 निवासभूमिः खदिरादिलेखेव स्थिता ॥ १४ ॥ विश्वरूपमयैर्ना-
 नावर्णैरर्कादिदेवदानवशिरःकमलजालकैः कण्ठे कृतमाला भू-
 षिता । अमल आलोको यस्य तथाविधो वातप्रवीणो यो वह्नि-
 स्तन्मयान्यञ्चलानि पटञ्चराणि यस्याः ॥ १५ ॥ प्रलम्बयोः
 कर्णयोराल्ललिता नागा यस्याः । तथा नृशचे कुण्डले यस्याः ।
 शुष्का लम्बफला तुम्बीलतेव आष्ठीलं ऊरुपर्वग्रन्थिपर्यन्तमा-
 दीर्घालोलावसितौ स्तनौ यस्याः ॥ १६ ॥ कुमारवर्हिणां
 पिच्छौघैर्ब्रह्ममूर्धजानां केशानां मण्डलैश्च लाञ्छितान्युच्चानि
 सुराधीशानामिन्द्रादीनां शिरांसि यस्मिन्स्तथाविधं खट्वाङ्गमण्डलं
 यस्याः ॥ १७ ॥ दन्तलक्षणया इन्दुमालया विमला । अत एव
 यो० ना० १५७

विलोलावयवाष्ठीला घातैः पटपटारवा ॥ १९
 बृहत्तरङ्गोर्ध्वभुजा श्यामलोद्भासशालिनी ।
 एकार्णवोर्मिमालेव नृत्तावृत्तिविवर्तिनी ॥ २०
 क्षणमेकभुजाकारा क्षणं बहुभुजाकुला ।
 अनन्तोग्रभुजाक्षिप्तजगन्नर्तनमण्डपा ॥ २१
 क्षिप्रमेकमुखाकारा क्षिप्रं बहुमुखाकृतिः ।
 अनन्तोग्रमुखी क्षिप्रं निर्मुखी चापि च क्षणम् ॥ २२
 एकपादान्विता क्षिप्रं क्षिप्रं पादशतान्विता ।
 क्षणं चानन्तपादाढ्या निष्पादाकारिणी क्षणम् ॥ २३
 कालरात्रिरियं सेति मयानुमितदेहिका ।
 काली भगवती सेयमिति निर्णीतसज्जना ॥ २४
 ज्वालापूर्णारघट्टोग्रखाताभनयनत्रया ।
 ज्वलन्द्वरेन्द्रनीलाद्रिसानूपमललाटभूः ॥ २५
 लोकालोकेन्द्रनीलोग्रश्वभ्रभीमहनुद्वया ।
 वातस्कन्धगुणप्रोततारामुक्ताकलापिनी ॥ २६
 इन्द्रनीलाद्रितुल्योच्चतोरणोच्चैः प्रभाम्बरे ।
 विश्रान्तकाचशैलाभभगभीषणवायसी ॥ २७
 नृत्यद्भुजलतापुष्पैर्नखशुभ्राभ्रमण्डलैः ।
 पूर्णचन्द्रशतानीव भ्रमयन्ती नभस्तले ॥ २८
 भ्रमद्भिर्व्याप्तदिक्चक्रा भुजैः कल्पागबुदैरिव ।
 वर्षद्भिः प्राणिजप्रान्ततारालेखाबृहत्प्रभाः ॥ २९
 नखपुष्पाङ्गुलीचल्लीजालैर्ध्रान्तभुजद्रुमैः ।

तदीयविमलोद्द्योतपातवशादभिवृद्धा । वृत्तैरावर्तैर्विवर्तिनी व्या-
 लोला तमोलक्षणस्यार्णवस्य ऊर्ध्वलेखा उपरिभाग इव स्थिता
 ॥ १८ ॥ आकाशलक्षणमाकाशप्रसूतं च तरुं संस्थिता । एव-
 मग्रेऽपि विशेषणे उभयत्र योज्ये ॥ १९ ॥ २० ॥ अनन्तैरुग्र-
 भुजैराक्षिप्तो व्याकुलितो जगन्मूलमण्डपो यया ॥ २१ ॥ २२ ॥
 ॥ २३ ॥ इति निर्णीताः सज्जनाः याम् । निपूर्वस्य नयतेरवग-
 त्यर्थत्वात् 'गत्यर्थाकर्मक-' इति कर्तरि क्तः ॥ २४ ॥ पुनस्तां
 मुखादिपादान्तं वर्णयितुमारभते—ज्वालेत्यादिना । आरघट-
 यन्त्रस्य शिरःकाष्ठे प्रसिद्धं खातत्रयं ज्वालाभिः पूर्णं स्यात्तदा
 नेत्रत्रयोपमा बोध्या । ज्वलन्ती घरा यस्मिन्स्तथाविधो य इन्द्र-
 नीलाद्रिप्रस्थस्तदुपमा ललाटभूर्यस्याः ॥ २५ ॥ लोकालोका-
 चलस्य प्रसिद्धमिन्द्रनीलश्वभ्रमिवाधोनिम्नत्वात्कुण्डलकान्तिप्रका-
 शाप्रकाशमत एव भीमं हनुद्वयं यस्याः ॥ २६ ॥ इन्द्र-
 नीलाद्रौ तुल्ये तुलनादौ उपमायोग्ये तच्चे तोरणे नगरवहिर्द्वारे
 पद्मरागादिप्रभारजिते अम्बरे द्वारान्तश्छिद्रे विश्रान्तः प्रति-
 ष्ठितः अधोमुखः कृत्रिमः काचशैल इव भगवायसी भगनामा
 काको यस्याः ॥ २७ ॥ २८ ॥ कल्पागबुदपक्षे स्फुरत्प्रभाः
 प्राणिजा गजप्रभवा दन्ता इव प्रान्तेषु ताराः बृहत्प्रमाळेखा-
 धाराश्रेणीवर्षद्भिः । भुजपक्षे प्राणिजा गजादिप्रभवा मुक्ता इव
 प्रान्ते प्रलये निपतन्त्यस्ताराश्रेणीव च भास्यमाना नखपङ्क्ति-
 बृहत्प्रभाः वर्षद्भिः ॥ २९ ॥ कृष्णैरत एवोग्रमूर्तिभिः । नखा

कृष्णोः काननिताशेषगगनाग्रोऽग्रमूर्तिभिः ॥ ३०
 तमालतालतः स्थूलां भुवं दग्धमहावनैः ।
 विडम्बयन्ती वलितां जङ्घासङ्घेन लोलता ॥ ३१
 ध्वन्यन्ते महाव्योम्नि पारं प्रातैः शिरोरुहैः ।
 कुर्वाणेवाततं वासं चरत्तिमिरदन्तिनः ॥ ३२
 उह्यन्ते मेरवो येन तेन निश्वासवायुना ।
 घनघुंघुमदिक्चक्रगगनग्रामघोषिणा ॥ ३३
 घनमारुतफूत्कारक्ष्वेडगेयं प्रगायता ।
 नियतानुनयेनैव चलिता सानुवृत्तिना ॥ ३४
 ततो नृत्तवशावेशाद्धर्मानशरीरिणी ।
 मया दृष्टावधानेन गगनाभोगभूरिणा ॥ ३५
 यावत्तयाऽऽवृता देहे हेलालनसारया ।
 माला मलयकैलाससह्यमन्दरमेरुभिः ॥ ३६
 आसीत्तस्या युगान्ताभ्रमालिका पट्टपट्टिका ।
 आदर्शमण्डलान्यङ्गे ग्रीणि लोकान्तराणि च ॥ ३७
 कर्णयोर्हिमवन्मेरु रूप्यकाञ्चनमुद्रिके ।
 ब्रह्माण्डघुंघुमैर्माला मदती कटिमेखला ॥ ३८
 स्रजः कुलाचलाः शृङ्गवनपत्तनगुच्छकाः ।
 जरत्पुरवनद्वीपग्रामपेलवपल्लवाः ॥ ३९
 तस्या अङ्गेषु दृष्टानि पुराणि नगराणि च ।
 ऋतवश्च त्रयो लोका मासाहोरात्रमालिकाः ॥ ४०
 मुक्तालतादिकं नयः कालिन्दीत्रिपथादिकाः ।
 धर्माधर्मावुभौ कर्णभूषणे चान्यकर्णयोः ॥ ४१

एव पुष्पाणि येषु तथाविधान्यङ्गुलीवल्लीजालानि येषां तथाविधै-
 र्भ्रान्तभुजङ्गमैः काननितं वनमिव कृतमशेषं गगनाग्रमाकाश-
 ग्रान्तो यथा ॥ ३० ॥ लोलता सर्वतश्चलितेन जङ्घासङ्घेन
 दग्धैः खर्जुरादिमहावनैर्वलिता दग्धशिष्टतमालतालतल्लक्षमात्रतः
 स्थूलां प्रोन्नता भुवं विडम्बयन्ती अनुकुर्वाणा ॥ ३१ ॥ शिरो-
 रुहैः चरत्तिमिरलक्षणस्य दन्तिनो व्योम्नि वासं कुर्वाणा संपाद-
 यन्तीव ॥ ३२ ॥ प्रतिध्वनिभिर्घनघुंघुमं दिक्चक्रं यस्य तथा-
 विधे गगनग्रामे सङ्घोषणशीलेन निश्वासवायुना नियतानुनयेन
 अत एव सानुवृत्तिना नटेन सह चलितेवासीदित्युत्तरेणान्वयः
 ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ कथं दृष्टा तदाह—यावदिति । हे-
 लया विलासेन चलनं नृत्यमेव सारोऽभिप्रेतार्थो यस्यास्तथावि-
 धया तथा मलयकैलाससह्यादिगिरिभिर्गोवत्साकल्येन रचिता
 माला देहे आवृता भूषणत्वेन सनिवेशिता । 'वृता' इति वा पाठः
 ॥ ३६ ॥ किञ्च जगत्सर्वं तस्या भूषणादिनित्यसामग्री बभूवे-
 त्याशयेनाह—आसीदित्यादिना । युगान्ते प्रसिद्धा पुष्करवर्ता-
 यभ्रमालिका वक्षति इन्द्रनीलपट्टपट्टिका आसीत् । ग्रीणि
 लोकान्तराणि अङ्गे जघनोदरादौ भगिण्यादर्शमण्डलान्यास-
 न्नित्यादिः सर्वत्र यथायोगं विपरिणामेनानुषङ्गः कार्यः ॥ ३७ ॥
 ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ दृष्टानीति 'नपुंसकमनपुंसकेन-' इति नपुंसक-

स्तनास्तस्यास्तु चत्वारः स्ववर्द्धमपयोलवाः ।
 वेदाः सकलशास्त्रार्थचतुःसंस्थानचूचुकाः ॥ ४२
 विशूलैः पट्टिशैः प्रासैः शरशक्त्युद्दिमुद्गरैः ।
 निर्यदायुधजालानि स्रग्दामानि विभर्ति सा ॥ ४३
 चतुर्विधविधा भूतजातयो याः सुरादिकाः ।
 तस्याः शरीरशालिन्यास्ता लोमावलयः स्थिताः ॥ ४४
 तस्याश्च नगरग्रामनिरयो देहशायिनः ।
 नृत्यन्त्या सह नृत्यन्ति पुनर्जन्म मुदेव ते ॥ ४५
 जङ्गमात्मैकमेवैतज्जगदस्थारं तदा ।
 नृत्यतीति मया हातं परलोके सुखं स्थितम् ॥ ४६
 निर्गीर्णं जगदङ्गस्थं कृत्वा पृथिव्यागतम् ।
 परिनृत्यति सा मत्ता जगज्जीर्णाहिचातकी ॥ ४७
 आदर्शप्रतिबिम्बस्थमिवाभात्यखिलं जगत् ।
 तस्या वपुषि विस्तीर्णं स्वरूपिणि सरूपधृक् ॥ ४८
 सा न नृत्यति तत्सर्वं सशैलवनकाननम् ।
 जगन्नृत्यति नानात्म मृत्वा पुनरुपागतम् ॥ ४९
 तज्जगन्नर्तनं चारु तदेहादर्शसंस्थितम् ।
 चिरं मया तदा दृष्टमविनष्टं पुनः स्थितम् ॥ ५०
 विचलत्तारकाजालं भ्रमत्पर्वतमण्डलम् ।
 मशकव्यूहवद्वातव्याधूतामरदानवम् ॥ ५१
 संग्रामोन्मुक्तचक्रभद्रीपार्णववृताम्बरम् ।
 हेलालविलनावर्तप्रौढशैलधरातृणम् ॥ ५२
 नीलमेघांशुकावृत्तिचातघुंघुमिताम्बरम् ।
 काष्ठास्थ्यादिस्फुटास्फोटपटपटपटारवम् ॥ ५३

शेषः ॥ ४० ॥ अन्यकर्णयोः हिमवन्मेरुकण्डलप्रागुक्तकर्णा-
 त्रिरिक्तकर्णयोः ॥ ४१ ॥ सकलशास्त्रार्थक्षीराणि ऋग्यजुःसामा-
 थर्वाख्यचतुःसंस्थानानि चूचुकानि कुचाग्राणि येषाम् ॥ ४२ ॥
 ॥ ४३ ॥ ताः प्रसिद्धा लोमावलयो रोमावलयः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥
 सर्वस्यापि नृत्ये चलनावस्थावरात्मकम् । पूर्व मृतत्वात्तदेहलक्षणे
 परलोके सुखं स्थितम् ॥ ४६ ॥ जगदङ्गणो जीर्णः अहिः सर्पो
 यया तथाविधा चातकी पक्षिणी । अत्र चातकीशब्देन मयूरी
 लक्ष्यते मेघप्रियत्वसाम्यात् । अहिजरणनृत्ययोस्तस्या प्रसिद्धेव
 ॥ ४७ ॥ सरूपधृक् प्राक्तनजगत्सदृशरूपधृक् ॥ ४८ ॥ कदापि-
 दनृत्यन्त्यामपि तस्या तदन्तर्गतं जगन्नृत्यतीति मया दृष्टमि-
 त्याह—सेति ॥ ४९ ॥ ५० ॥ तदेव जगन्नर्तनं वर्णयति—
 विचलदित्यादिना ॥ ५१ ॥ संग्रामे उन्मुक्तचक्राणांमिव आग्रा
 भ्रमणसादृश्यश्रीर्षेणां द्वीपादीनां तथाविधैस्तेजस्ताम्बरम् । हेलया
 विवल्नैर्भ्रमणैरावर्तवार्तैरिव प्रकर्षणैर्द्वानि शैलधरातृणानि
 यस्मिन् । 'प्राद्वोढो-' इति वृद्धिः ॥ ५२ ॥ नीलमेघलक्षणा-
 नामंशुकानां वज्राणामावृत्तिषु परिवर्तनेषु चातैर्घुंघुमितम्बर-
 माकाशं यस्मिन् । अभस्तु परस्परसदृशितानां काष्ठास्थ्यादीनां
 स्फुटास्फोटैः संधिविघटनेः । पटपटपटपटपटारवविशिष्टम्

जगत्पदार्थैर्व्यामिश्रैर्मिश्रैर्मुकुरैर्यथा ।
 व्याप्तमाभोगिमांकारैरङ्गैरङ्गभ्रमस्तथा ॥ ५४
 मेरुर्नृत्यति लोलोच्चकुलाचलबृहद्भुजः ।
 भ्रमदभ्रपटोपेतनमत्तनुतनूरुहः ॥ ५५
 अत्यजन्तः समुद्राश्च मर्यादामुद्रणं द्रुमाः ।
 भूमेर्नभस्तलं यान्ति नभसो यान्ति भूतलम् ॥ ५६
 पुराणि घर्घरावैर्दृश्यन्ते लुठितान्यधः ।
 सगृहाट्टालवास्तव्यं न च किञ्चिल्लुठत्यधः ॥ ५७
 तस्यां भ्रमन्त्यां चतुरं चन्द्रार्कदिनरात्रयः ।
 नखाप्रलेखालोकान्तर्भ्रान्तिकाञ्चनसूत्रवत् ॥ ५८
 विभान्ति सृष्टयस्तस्या घर्माणि जलजालिकाः ।
 इव नीहारहारिण्या नीलवारिदवाससः ॥ ५९
 खमेव तस्याः संपन्नं कबरीमण्डलं बृहत् ।
 पातालं चरणौ भूमिरुदरं बाहवो दिशः ॥ ६०
 द्वीपाब्धयोऽन्ध्रवलयः पार्श्वकाः सर्वपर्वताः ।
 प्राणापानावलीदोलाः पवनस्कन्धशालिकाः ॥ ६१
 तदानुभूतं नृत्यन्त्यास्तस्या वपुषि विस्तृते ।
 हिमवन्मेरुसहायैर्दोलनभ्रममद्रिभिः ॥ ६२
 तरदद्रिगुलुच्छास्ता वलयन्त्या तया खजः ।
 पुनः कल्पान्त आरब्ध इव ताण्डवहेलया ॥ ६३
 सुरासुरोरगानीकरोमशाङ्गः शरीरकः ।

॥५१॥ अन्योन्यसंघट्टनाद्विषेष्वाच्च प्रतिक्षणं व्यामिश्रैर्मिश्रैश्च ज-
 गत्पदार्थैस्तद्विभ्रैस्तद्विभ्रमणैश्च आभोगिमांकारैर्मूर्तिमद्भिर्मयैरिव
 व्याप्तम् ॥५४॥ तदेव जगद्भूतं प्रत्येकं वर्णयति—मेरुरित्यादिना ।
 भ्रमद्विरभ्रपटोरुपेताश्च नमन्त्यस्तनवस्तनूरुहाः कल्पवृक्षाश्च
 यस्य ॥ ५५ ॥ मर्यादामुद्रणं वेलाभ्यामनियमम् ॥५६॥ वास्तुषु
 वैश्वभूमिषु भवा वास्तव्यास्तदन्तैः सहितं यथा स्यात्तथा लुठि-
 तानि ॥ ५७ ॥ तस्यां कालरात्र्यां भ्रमन्त्यां सत्यां चन्द्रार्का-
 दयस्तन्नामरेखास्तु ये आलोकः प्रभाविशेषास्तदन्तर्भावेण
 भ्रमन्तः काञ्चनसूत्रवद्दीर्घाकारा भान्ति । भ्रमदलातवह्निप्राया
 इत्यर्थः ॥ ५८ ॥ नीहारैर्हारिण्या हारवत्या नीलवारिदवस्त्राया-
 स्तस्याः सृष्टयो मेघविसृष्टा जलजालिका घर्माणि खेदविन्दव इव
 विमान्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥ इदानीं जगत्सर्वं तस्या अङ्गत्वेन
 संपन्नमिति वर्णयति—खमेवेत्यादिना ॥ ६० ॥ द्वीपा अन्ध-
 यथ अन्धसहिता वलयः संपन्नाः । आवहोद्बृहत्प्रवहादयः पवन-
 स्कन्धलक्षणा नभःसौधशालिकास्तस्याः प्राणापानावलीदोलाः
 संपन्नाः ॥ ६१ ॥ अत एव तदङ्गत्वेन संपन्नैर्हिमवदाद्यद्रिभिस्त-
 द्दपुषि देलनप्रयुक्ता भ्रमा यस्मिंस्तथाविधं प्रेङ्खोलिकाकीडन-
 सुखमनुभूतमित्युत्प्रेक्षा ॥ ६२ ॥ तरन्तः लवमाना अद्रि-
 लक्षणा गुलुच्छा मज्ज्यो गस्तु तथाविधाः प्राग्दर्शितसजो वल-
 यन्त्या परिवर्तयन्त्या तया ताण्डवलीलया पुनः प्रलय आरब्ध
 इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥ असौ तस्याः शरीरमेव शरीरको

निस्पन्दं स्थातुमशकन्नसौ भ्रमति चक्रवत् ॥ ६४
 नानाविभवविज्ञानयज्ञयज्ञोपवीतिनी ।
 सा सरन्ती नभस्यासीद्वनघूत्कारघोषिणी ॥ ६५
 तत्र भूतलमाकाशमाकाशमपि भूतलम् ।
 प्रतिकृति भवत्यन्तर्न च किञ्चिद्विवर्तते ॥ ६६
 बृहन्नासागुहागेहनिर्गता घनघुंघुमाः ।
 तत्रोग्रा वायवो वान्ति घोरघूत्कारकारिणः ॥ ६७
 नमःकरशतैस्तस्याश्चतुरावृत्तिवर्तिभिः ।
 भाति चण्डानिलोद्धूतैराकीर्णमिव पल्लवैः ॥ ६८
 तदङ्गजगद्वस्तुजातभ्रमणसंभवात् ।
 दृष्टिर्धौरापि मे मोहे सन्ना सेनेव संगरे ॥ ६९
 प्रोह्यन्ते यन्त्रवच्छैला निपतन्ति नभश्चराः ।
 लुठन्त्यमरगेहानि वलिते देहदर्पणे ॥ ७०
 मेरवः पर्णवद्बृहदा मलयाः पल्लवा इव ।
 हिमाद्रयो हिमकणा इवौर्व्याऽञ्जलता इव ॥ ७१
 सहा मह्यामिव खगा विन्ध्या विद्याधरा इव ।
 वृक्षावर्ते भ्रमन्तोऽन्ता राजहंसा इवाम्बरे ॥ ७२
 द्वीपान्यपि तृणानीव समुद्रा वलया इव ।
 सुरलोकालयः पद्मा आसंस्तद्देहवारिणि ॥ ७३
 विशदाकाशसंकाशे स्वप्राञ्जनपुरोपमे ।
 अङ्गे तस्या बृहज्जङ्घे पिण्डादित्यसमत्विषि ॥ ७४

निस्पन्दं स्थातुमशकन् अशक्नुवन्सन् भ्रमतीत्युत्प्रेक्षा । शके-
 श्छान्दसो विकरणव्यत्ययः ॥ ६४ ॥ कर्मफलभूता विभवास्तद-
 नुष्ठानहेतुविज्ञानानि तदनुष्ठानरूपा यज्ञाश्चेति त्रिसूत्रयज्ञोपवी-
 तिनी नभसि सरन्ती नृत्यन्ती सा देवी घनघूत्कारा मेघध्व-
 नयसौघोषिणी वेदघोषणवती ब्रह्मचारिणीवासीत् ॥ ६५ ॥
 अथवा तत्र तन्मूलेन च किञ्चिदपि विवर्तते चलति किंतु
 भूतलमाकाशं चक्रमिषेण परस्परस्मिन् प्रतिविम्बनेन
 प्रतिकृति परस्परसदृशं सत् पर्यायेण भूतलमाकाशं भवति
 आकाशं च भूतलं भवति । तत्र पश्यतां द्वे अपि सह स्वस्व-
 गतैः पदार्थैरूर्ध्वाधो विवर्तते इति भ्रान्तिमात्रमित्यर्थः ॥ ६६ ॥
 तच्छ्वासवायून्वर्णयति—बृहदिति ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ धीरा
 धैर्यवती स्थैर्यवती च मे दृष्टिः संगरे सेनेव तदङ्गजग-
 द्ब्रह्मभिः सह जातानि यानि भ्रमणानि तत्संभवाच्छ्रमात्सजा
 कुण्ठितशक्तिरासीदित्यर्थः ॥ ६९ ॥ तस्या देहदर्पणे वलिते परि-
 वर्तते सति ॥ ७० ॥ उर्व्या भवा और्व्यः अञ्जलता इव
 व्यूढा विशकलिताः ॥ ७१ ॥ अम्बरे राजहंसा इव वृक्षा-
 वर्ते अन्तर्भ्रमन्तः । अन्ता इति द्रुलोपेऽणो दीर्घः ॥ ७२ ॥
 तद्देहलक्षणे वारिणि सरति सुग्लोकानामालयः पङ्क्तयः पद्मा
 इवेत्यनुषज्यते । उत्प्रेक्षापङ्क्तिनिवेशात्ताभित्तेद्देहं सरूपकस-
 मर्थनात् ॥ ७३ ॥ पिण्डीमूर्तैरादित्यैः समत्विषि तस्या अङ्गे
 विन्ध्यादयः सर्वे जङ्गमतां गता इति परेणान्वयः ॥ ७४ ॥

विन्ध्यो नृत्यति काञ्चनाचलवने सहस्रं सहस्रं गिरिः
कैलासो मलयो महेन्द्रशिखरी कौञ्चाचलो मन्दरः ।
शोकणो गगनाङ्गणे वसुमती विद्याधराणां पुरं
सर्वे जंगमतां गता घनभुवस्तस्याः शरीरे सदा ॥ ७५ ॥
अग्निर्नृत्यति पर्वते गिरिरपि प्रोचैर्नभःकोटरे
व्योमापीन्दुदिवाकरैः क्व चलितं भूमेरधस्ताद्वतम् ।
सद्वीपाचलपत्तनो वनगणः प्रोत्कीर्णपुष्पो दिवि
व्यालोलं जगदम्बुधाविच तृणं दिक्चक्रके भ्राम्यति ॥

व्योम्नि भ्रमन्ति गिरयोऽम्बुधयो दिगन्ते
लोकान्तराणि पुरपत्तनमण्डलानि ।

नद्यः सरांसि मुकुरान्तरिव प्रवृद्ध-
घातावकीर्णतृणविक्रमणक्रमेण ॥ ७६ ॥

मत्स्याश्चरन्ति च मरौ वरवारिणीव
व्योम्नि स्थिराणि नगराणि भुवीव भ्रान्ति ।

खे भूधरा गगनसंक्षयवारिवाह-
मुत्पातघातपरिवृत्तगिरिस्थितं तत् ॥ ७८ ॥

ऋक्षोत्करो भ्रमति दीपसहस्रयन्त्र-
चक्रक्रमेण मणिवर्षणवेगचारुः ।

अन्तर्बहिश्च परितः प्रणयेन मुक्तं
विद्याधरामरणैरिव पुष्पवर्षम् ॥ ७९ ॥

काञ्चनाचलस्य शिरोरुहे वने विन्ध्यश्चिरन्तर्न वैरं निर्यातयन्निव
नृत्यति तदसह्यः सहस्रं गिरिः कैलासादयश्च गगनाङ्गणे
कोपादिव नृत्यन्ति । तत्पक्षपाताद्वसुमती विद्याधराणां पुरं च
नृत्यतः । इत्थं सर्वे स्थावरा जङ्गमतां गता इत्यर्थः ॥ ७५ ॥
किंचेदमपरमाश्चर्यम्—अग्निः पर्वते नृत्यति । स च गिरिः
प्रोचैर्नभःकोटरे नृत्यति । तद्योमापि इन्दुदिवाकरैः सह भूमेर-
धस्ताच्चलितं सत् क्व गतं न ज्ञायते । प्रोत्कीर्णानि पुष्पाणि
यस्यैस्त्रयाविधः सद्वीपाचलपर्वतौ वनगणो दिवि घुलोके सूर्या-
दिस्थाने नृत्यति । इत्थं व्यालोलं जगदम्बुधौ तृणमिव दिक्चक्रके
भ्राम्यतीत्यर्थः ॥ ७६ ॥ तथा गिरयो व्योम्नि भ्रमन्ति ।
अम्बुधयश्च दिगन्ते भ्रमन्ति । पुरपत्तनमण्डलानि नद्यः सरांसि
च स्वाध्रम्यलोकाल्लोकान्तराणि मुकुरान्तरिव प्रविश्य प्रवृद्धेन
घातेनावकीर्णानां तृणानां यानि विक्रमणानि उडुयनानि लोके
प्रसिद्धानि तत्क्रमेण भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ ७७ ॥ किंच मत्स्या वर-
वारिणि समुद्र इव मरौ चरन्ति । नगराणि च भुवीव व्योम्नि
स्थिराणि भ्रान्ति । भूधराः खे भ्रान्ति । गगनं च संक्षयवारि-
वाहः प्रलयमेघाश्च तेषां समाहारो गगनसंक्षयवारिवाहमुत्पा-
तघातपरिवृत्तगिरिषु स्थितं तत्परमाश्चर्यमित्यर्थः ॥ ७८ ॥
किंच ऋक्षोत्करो नक्षत्रसमूहो मणीना वर्षणवेग इव धारुर्मनो-
हरः सन् दीपसहस्राणां भ्रमन्ति यानि यन्त्रचक्राणि तत्क्रमेण
भूमेरन्तर्बहिश्च भ्रमति । यथा विद्याधरामरणैः प्रणयेन त्वत्स-
भाया मुक्तं पुष्पवर्षमन्तर्बहिश्च भ्रमति तद्वत् ॥ ७९ ॥ किंच

१ पत्तनः इति पाठः समीचीनः.

संहारसर्गनिचया दिनरात्रिभागे

विन्दूपमा रजतयोर्विचसोत्कराश्च ।

कृष्णाः सिताश्च परितोऽमलशुक्लकृष्ण-
स्वादशमण्डलवदाकुलमुल्लसन्ति ॥ ८० ॥

रत्नानि भास्करनिशाकरमण्डलानि
तारोत्करास्तरलमण्डलकान्तिद्वाराः ।

स्वच्छाम्बराणि चलितानि महाम्बराणि
कुर्वन्त्यनारतमनल्पमलातलेखाः ॥ ८१ ॥

कल्पान्तकालविलुठञ्जिजगन्मणीनि
व्यावर्तनेर्द्दगिति जातव्रणजङ्घणानि ।

तेजांसि संकृततयोर्ध्वमधश्च यान्ति
नानाविधानि गुणवन्ति विभूषणानि ॥ ८२ ॥

संश्रामसत्तभटखड्गमरीचिवीचि-
श्यामायमानसकलातपवासराणाम् ।

व्यावृत्तिभिर्विलुठतामपि सुस्थिराणां
माकर्ण्यते कलकलो जनमण्डलानाम् ॥ ८३ ॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुहरवह्निरधीन्दुपूर्वा
देवासुराः परिविवृत्तिभिरापतन्तः ।

अन्येऽन्य एव विविधा उपयान्ति यान्ति
घातावधूतमशकाशनिविभ्रमेण ॥ ८४ ॥

तद्देहे संहाराः प्रलयाः सर्गनिचयाश्च दिनरात्र्योर्भागे पक्षे वल-
सन्ति । दिनरात्रिप्राया अल्पा इति यावत् । तथा दिवसोत्करा
दिनरात्रिसमूहाश्च मलिनमलिनयो रजतयोर्विन्दूपमा अत्यल्पा
वल्लसन्ति । कृष्णाः सिताश्च पक्षाः परितः अमल ये शुक्लाः
कृष्णाश्च ब्रह्मेन्द्रनीलादिनिर्मिताः शोभना आदर्शास्त्रमण्डल-
वदुल्लसन्तीत्यर्थः ॥ ८० ॥ तथा तद्देहे भास्करनिशाकरमण्डलानि
रत्नानि संपन्नानि । तारोत्करा नक्षत्रसमूहास्तु तरल मण्ड-
लाकार कान्तिर्येषां तथाविधा हाराः संपन्नाः । स्वच्छाम्ब-
राण्याकाशास्तु चलितानि वेष्टितानि महान्धाम्बराणि वज्राणि
संपन्नानि । तेषु भ्रमद्द्वैयुताभ्यादयः अलातलेखा अनारतमनल्पं
प्रकाशं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ८१ ॥ तन्मुले कल्पान्तकाले विलुठ-
ञ्जिजगद्भ्रान्तनेर्द्दगिति शटिति जातव्रणजङ्घणानि मणीनि संप-
न्नानि । तथा संकृततया संकारेण 'ऊर्ध्वमधश्च यान्ति सूर्य-
दितेजांसि नानाविधानि गुणवन्ति नूपुरवल्यादिविभूषणानि
संपन्नानीत्यर्थः ॥ ८२ ॥ किंचापरमलाश्चर्यम्—संप्रामेषु मत्तानां
भटानां खड्गप्रभावीचिभिः श्यामायमानसकलातपा वासरा
येषाम् । तथा देवीताण्डवे व्यावृत्तिभिर्मग्नैर्विलुठतामप्यधि-
ष्ठानवृक्षस्थैर्यान्सुस्थिराणां धीरजनमण्डलानां कलकलो महापुण्ड-
कोल्लहल आकर्ण्यते ॥ ८३ ॥ किंचेदमपरमाश्चर्यम् । अनन्तकोट्य-
तीतानागतसर्गप्रलयघटितशरीराया अस्यास्ताण्डवे ब्रह्मेन्द्रादयो
देवाः सुरा अधिकारप्रवृत्तिभिरन्येऽन्य एव आपतन्त आपद्यमानाः
सन्तो घातावधूतमशकनामशनीनां विधुतामिव च प्रतिदेन

संहारसर्गसुखदुःखभवाभवेहा-
नीहानिवेधविधिजन्ममृतिभ्रमाद्याः ।
सार्धं पृथक् च विलसन्ति सदैव सर्गे
व्यामिश्रतामुपगता अपि तत्र भावाः ॥ ८५
भावोद्भवस्थितिविपत्करणभ्रमाणां
संहारसर्गभुवनानिविभ्रमाणाम् ।
मिथ्यैव खे प्रकचतां खशरीरकाणां
संलक्ष्यतेऽत्र न मनागपि नाम संख्या ॥ ८६
उत्पातशान्तिमरणोत्सवयुद्धसाम्य-
विद्वेषरागभयविश्वसनादि तत्र ।
एकत्र कोश इव रत्नचयो विभाति
नानारसाप्रतिघसर्गपरम्परं तत् ॥ ८७
तस्याश्चिदम्बरमये वपुषि स्वभाव-
भूतास्फुटानुभवभावजगद्व्यवस्थाः ।
सर्वक्षया मलिनदक्कलिताम्बरस्थ-
केशोण्डकस्फुरणवत्परितः स्फुरन्ति ॥ ८८
जगत्संक्षुब्धमक्षुब्धं दृश्यते स्थितिसंस्थिति ।
संचाल्यमानमुकुरप्रतिबिम्ब इवास्थितम् ॥ ८९
नृत्यस्फुरत्प्रतापान्तर्जगदर्थः प्रतिक्षणम् ।
स्थितिं त्यजन्ति गृह्णन्ति बालसंकल्पसर्गवत् ॥ ९०

विभ्रमेण अस्थिरताविलसेन आयान्ति यान्ति च ॥ ८४ ॥
किंचापरमाश्चर्यम्—तत्र तस्याः शरीरे प्रतीयमाने सर्गे संहार-
सर्गादयः परस्परविरुद्धा अपि सर्वभावाः परस्परासंस्पर्शेन सदा
सार्धं पृथक् च विलसन्ति । व्यामिश्रतामुपगता अपि विलसन्ती-
त्यर्थः ॥ ८५ ॥ किंचात्र तच्छरीरे खे चिदाकाशे मिथ्यैव प्रक-
चतामत एव खशरीरकाणां शून्यानां संहारसर्गभुवनानिविभ्र-
माणां भावादधिष्ठानाद्भवः स्थितिर्विपदपक्षयः करणमर्थक्रिया-
भ्रमाः परिवर्ताश्चेत्येतेषां संख्या इयत्ता मनागपि न संलक्ष्यते
॥ ८६ ॥ किंच तत्र तद्वपुषि उत्पाततच्छान्त्यादिविरुद्धद्वन्द्व-
जातमेकत्र कोशे रत्नचय इव विभाति । यतस्तद्वपुर्नानारसा
अपि परस्परमप्रतिघाः सर्गपरम्परा यस्मिंस्तथाविधमित्यर्थः
॥ ८७ ॥ किंच तस्याः परमार्थतश्चिदम्बरमये वपुषि स्वभाव-
भूतः अशास्त्रीयप्रतीतिसिद्धो यो मायावरणलक्षणेऽस्फुटानुभ-
वभावस्तरप्रयुक्ता जगद्व्यवस्थाः सर्वक्षयाश्च परितस्तिमिररोगम-
लिनदशा कलितानि अम्बरस्थकेशोण्डकस्फुरणानीव स्फुरन्ति
॥ ८८ ॥ अचलायामधिष्ठानसन्मात्रस्थितौ संस्थितिर्यस्य तथा-
विधं जगदक्षुब्धमेव मायाशोभदृष्ट्या संक्षुब्धं दृश्यते, यतस्तद्वि-
म्बात्मना अचल एव गिरिः संचाल्यमानमुकुरप्रतिबिम्बः सं-
स्थल इव भवति तद्वदास्थितमित्यर्थः ॥ ८९ ॥ नृत्येन स्फुरत्प्र-
तापाया मायाया अन्तर्निविष्टाः सर्वे जगदर्थः प्रतिक्षणं परि-
णामेन पूर्वस्थितिं त्यजन्ति अन्या च स्थितिं गृह्णन्ति । तत्र
बालसंकल्पसर्ग एव प्रसिद्धो दृष्टान्त इत्यर्थः । तथा चाहुः
सांख्याः 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावाः' इति ॥ ९० ॥

क्रियाशक्तिः शरीरेऽन्तः पूर्यमाणा अनारतम् ।
राशीभूय विशीर्यन्ते जगन्मुद्गकणोत्कराः ॥ ९१
क्षणमालक्ष्यते किञ्चिन्न किञ्चिदपि सा क्षणम् ।
क्षणमद्भुष्टमात्रैव क्षणमाकाशपूरिणी ॥ ९२
यस्मात्सा सकला देवी संविच्छक्तिर्जगन्मयी ।
अनन्ता परमाकाशकोशशुद्धशरीरिणी ॥ ९३
कालत्रयस्थितजगत्रितयान्तरी हि
चित्सा तथा कचति तेन यथास्थितेन ।
रूपेण चित्रकृदुदारमनःस्थचित्र-
संसारजालसदृशेन कचज्जवेन ॥ ९४
सर्वात्मकैकवपुरेकचिदात्मकत्वा-
त्संशान्तखैकवपुरेकचिदात्मतत्त्वात् ।
एवं निमेषणसमुन्मिवितैकरूपं
सा बिभ्रती वपुरनन्तमनादि भाति ॥ ९५
तस्यां विभाति तदनन्तशिलात्मकोशे
लेखालचकरचनादिवदेव दृश्यम् ।
व्योमात्मकं गगनमात्रशरीरवत्यां
चिरवाद्भवज्जलधिकोश इवोर्मिलेखा ॥ ९६
महती भैरवी देवी नृत्यन्त्यापूरिताम्बरा ।
तस्य कल्पान्तरुद्रस्य सा पुरो भैरवाकृतेः ॥ ९७

सर्वपदार्थानामुत्पादनार्थमेव कारकक्रियाशक्त्य उपयुज्यन्ते ।
उत्तरे तु भावविकाराः स्वत एव काले प्रवर्तन्ते । यथा मु-
द्गानां राशीकरणे कारकक्रियाशक्तिरुपयुज्यते, विशीर्यप्रसरणे तु
खः क्षिप्रतास्वभाव एव हेतुर्न कारकान्तरक्रियाशक्तिस्तद्व-
दित्याह—क्रियाशक्तीति ॥ ९१ ॥ परिणामिस्वभावजजगन्म-
यीत्वादेव सा देवी प्रतिक्षणमन्यथान्यथा लक्ष्यत इत्याह—क्ष-
णमिति ॥ ९२ ॥ ९३ ॥ सा हि देवी कालत्रयस्थितस्य सर्व-
तत्त्वपरिणामवैचित्र्यशालिनो जगत्रितयस्यान्तर्भावा आन्तरी-
चित् । अतः कारणयथास्थितेन पर्यायवर्तिना तत्तत्कामकर्म-
वासनापरिपाकानुसारेण कचज्जवेन चित्रकृतः पुरुषस्य उदारे
मनसि स्थितं यच्चित्रसंसारजालं तत्सदृशेन यथास्थितेन तेन
तेन विचित्रेण रूपेण तथा कचतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥ तर्हि किं
सा सप्रपञ्चैव, नेत्याह—सर्वात्मकैति । सा देवी अविद्यावृत्तैक-
चिदात्मकत्वात्सर्वसंसारमात्मकैकवपुश्चित्रमित्तिरिवास्ते । विद्या-
निरस्ता विद्यैकचिदात्मकत्वात्तु संशान्तं यत् खमाकाशं तद्वपु-
र्निष्प्रपञ्चैवास्ते । एवं वदद्दशा मुक्तदशा च गम्यं निमेषणेन
समुन्मिवितेन चाविद्याविद्याभ्यां पर्यायव्यञ्जितेनोपलक्षितं पर-
मार्थतश्चिदेकरूपमनाद्यनन्तं वपुर्विभ्रती सा भातीत्यर्थः ॥ ९५ ॥
विवर्तदशा परिणामदशा च जीवन्मुक्तानां यौक्तिकानां च तस्या
जगद्भाने दृष्टान्तद्वयमाह—तस्यामिति । शिलात्ररुटिकशिला ।
गगनमात्रशरीरवत्यामित्यन्तमाद्यदृष्टान्तस्य विवरणं, शिष्टं द्विती-
यस्य ॥ ९६ ॥ इत्थं तस्यास्तभृत्यस्य च तत्त्वमुपवर्ण्य
पुनस्तन्नत्यमुत्प्रेक्षादिभिर्वर्णयति—महतीत्यादिना ॥ ९७ ॥

शिरोमन्दाश्रितोऽग्राभिर्दग्धस्थानुवनानिः ।
 कल्पान्तवातव्याधता वनमालेव नृत्यति ॥ ९८
 कुहालोत्सलवृत्तीफलकुम्भकरण्डकैः ।
 मुसलोदञ्चनस्थालीस्तम्भैः स्रग्दामधारिणी ॥ ९९
 एवंविधानां स्रग्दामजालानां कुसुमोत्करम् ।
 किरन्ती संसृजन्तीव नृत्तक्षुब्धं क्षयक्षतम् ॥ १००
 वन्द्यमानस्तथा सोऽपि तथैवाकाशभैरवः ।

तथैव वितताकारस्तदोच्चैः परिनृत्यति ॥ १०१
 डिबं डिबं सुडिबं पच पच सहस्राक्षस्य ह्यस्य प्रहस्यं
 नृत्यन्ती शब्दवाद्यैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं तार्क्ष्यप-
 क्षैः । पूर्णं रक्तासवानां यममहिषमहाभृङ्गमादाय
 पाणौ पायाद्भौ वन्द्यमानः प्रलयमुदितया भैरवः
 कालरात्र्या ॥ १०२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० सो० निर्वाणप्रकरणे उ० पा० कालरात्रिवर्णनं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

द्वशीतितमः सर्गः ८२

श्रीराम उवाच ।
 किमेतद्भगवन्सर्वनाशो नृत्यति केन सा ।
 किं शूर्पफलकुम्भाद्यैस्तस्याः स्रग्दामधारणम् ॥ १
 किं नष्टं त्रिजगद्भूयः किं काल्या देहसंस्थितम् ।
 परिनृत्यति निर्वाणं कथं पुनरुपागतम् ॥ २
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 नासौ पुमाश्च नासौ स्त्री न तद्भूतं न तावुभौ ।

कल्पान्तकृदस्य शिरो ललाटस्थानममन्दमाश्रितेन उभ्रेण तृतीय-
 नेत्राग्निना दग्धानि अत एव स्थाणुपरिशेषाणि वनानि यस्यां त-
 थाविधा अवतिर्भूमिर्यस्यास्तथाविधा कल्पान्तवातेर्व्याधूता वन-
 माला वनपङ्क्तिरिव सा नृत्यतीत्युत्प्रेषा उपमा वा ॥ ९८ ॥ न केवलं
 तस्याः प्रावर्णिताभ्येव स्रग्दामानि किन्तु खनित्रमुसलोल्लुखला-
 दपीत्याह—कुहालेति ॥ ९९ ॥ नृत्ते क्षुब्धं व्याधूतं क्षयेण
 भङ्गेन क्षतं किरन्ती नव नवं संसृजन्तीव ॥ १०० ॥ १०१ ॥
 रक्तासवाना पूर्णं यममहिषस्य महाभृङ्गं पाणावादाय डिम्बं
 डिम्बमिल्यादिभिस्तालव्यञ्जकैः शब्दवाद्यैर्नृत्यन्त्या उरसि शिरः
 शिरास्येव स्रजं कृत्वा त्रिजगत्ता तार्क्ष्यपक्षैः शेखरं भूषितवत्या
 प्रलये जगद्भुक्त्वा मुदितया कालरात्र्या वन्द्यमानः स्तूयमानो
 भैरवो वः पायात् ज्ञानप्रतिबन्धकदोषनिरासेन रक्षरिवलाक्षीः ॥
 डिम्बं डिम्बमिल्यादिश्चायमर्थः—हे भैरव, त्वं सर्वप्राणिनां डिम्ब-
 मनर्थभोगोपाधि स्थूलशरीरादिप्रपञ्चं आज्ञस्य । इमुं भदने ।
 मरुयित्वा ततो डिम्बं सूक्ष्मशरीरादिप्रपञ्चमपि ह्यस्यं मर्ष्यं
 कृत्वा ततोपि सुडिम्बं मूलोपाधिभूतं कारणशरीरमपि चरमसा-
 सात्कारे तत्त्वत आविर्भूय प्रहस्यं सम्यग्मर्ष्यं कृत्वा पञ्चमा-
 दियोगभूमिकारोपणेन सहसा शीघ्रमेव पच पच सप्तमभूमिका-
 पर्यन्तं सम्यक्परिपाच्य विदेहकैवल्येन जरयेति स्तूयमान इति ।
 इति नृत्यन्त्या कालरात्र्या सह युष्माभिः स्तूयमानो भैरवो वः
 पायादिति वाऽन्वयः ॥ १०२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणता-
 त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कालरात्रिवर्णनं नामैका-
 शीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

चिद्रूपस्य निश्चयात् तत्त्वं निष्कृष्य वर्ण्यते ।

सकल भावदृष्टांतं परिज्ञातं तु निष्कलम् ॥ १ ॥

सर्वस्य प्रपञ्चस्य विस्तारेण प्राक् प्रलयो वर्णितः । प्रलीनस्य

तथाभूते तथाचारे आकृती न च ते तयोः ॥ ३
 अनादिचिन्मात्रतमो यत्तत्कारणकारणम् ।
 अनन्तं शान्तमाभासमात्रमव्ययमाततम् ॥ ४
 शिवं तत्सन्धिबवं साक्षालक्ष्यते भैरवाकृतिः ।
 तथास्थितो जगच्छान्तो परमाकाश एव सः ॥ ५
 चेतनत्वात्तथाभूतस्वभावविमवाहते ।
 स्थातुं न युज्यते तस्य यथा हेनो निराकृतिः ॥ ६

च तस्य नृत्यन्त्याः कालरात्र्या भूषणादिभावेनात्र सद्भावो
 नृत्तप्रवर्णादि च वर्णितमिति नष्टस्य पुनरुन्मज्जनमुक्तमसंभा-
 वितं मन्यमानो रामः पृच्छति—किमेतदिति । सर्वनाशे सति
 सा देवी केनाङ्गेन नृत्यति । शूर्पफलकुम्भाद्यैर्नृत्यन्त्याः स्रग्दाम-
 धारणं च त्वयोक्तं किं, कथं संभावनीयमित्यर्थः ॥ १ ॥ तदेव
 स्पष्टमाह—किमिति । नष्टं स्थितं चेत्कथं निर्वाणमुपरतं जग-
 द्पुनरुपागतं सत् कथं परिनृत्यतीति व्याहृतं प्रतिभावीत्यर्थः
 ॥ २ ॥ यदि परमार्थदृष्ट्या मनुक्तं व्याहृतं मन्यते तर्ह्यस्तु
 नाम परमार्थतश्चिन्मात्रैकरसपूर्णानन्दसन्मात्रातिरिक्तोपुंसा-
 दिजगद्रूपस्य रुद्रेव्यादिविभागस्य चात्यन्तासंभावितत्वात् ।
 अन्तदृशा तु न किञ्चिद्व्याहृतम् । ब्रह्मसत्तया सदा सतां सर्व-
 वस्तूनां नाशानाशयोर्विशेषस्य दुर्निरूपत्वादित्यसकृदावेदितत्वा-
 चक्षणांमपि स्वप्नोन्मादयोऽरुन्मज्जनप्रसिद्धैर्भूतानामपि विराड्-
 स्मीभूतानां मुनिसिद्धेश्वरदिवरप्रभावात्पुनरागमनप्रसिद्धेर्वद-
 ज्ञानं जगदाकारस्य चित्ते संस्कारात्मना सर्वेषां सद्भावेनात्यन्त-
 आन्तैः केवलजगद्रूपेण सर्वजगद्भूतैकमूर्त्यात्मना रुद्रेव्याधु-
 पासकैस्तादृशरूपेण च योगसिद्धिबलाद्भृष्टं शक्यत्वादित्याद्येन
 वक्षिष्ठ उत्तरमाह—नास्त्वित्यादिना ॥ ३ ॥ ४ ॥ शिवं
 निरतिशयावन्देकरसं तत्सद्ब्रह्मैव शिवं नीलकण्ठत्रिनेत्रतादिशि-
 वरूपं सत्प्रलयकाले भैरवाकृतिं लक्ष्यते उपासकैरिति शेषः ।
 यतस्तद्भासनानुसारेण स परमाकाश एव तथा तथा आकृत्या
 स्थित इत्यर्थः ॥ ५ ॥ किञ्च चेतने ब्रह्मणि जगदुपसहारा-
 श्रुतिषु प्रसिद्धः । न च निराकारचेतनो लोके केनचिदुपसह-
 रति भौतो हि सहर्तेश्वर उपासहार्य परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोक-
 नीलकण्ठं प्रशान्तमित्यादिश्रुतिप्रसिद्धरूपेण संभावनीय इत्याशये-
 नाह—चेतनत्वादिति । तृतीयार्धे वक्ष्यौ । यथा हेनो निरा-

कथमास्तां वद प्राज्ञ चिन्मात्रं चेतनं विना ।
 कथमास्तां वद प्राज्ञ मरिचं तिक्ततां विना ॥ ७
 कटकादि विना हेम कथमास्तां विलोच्यताम् ।
 कथं स्वभावेन विना पदार्थस्य भवेत्स्थितिः ॥ ८
 विना तिष्ठति माधुर्यं कथयेश्वरसः कथम् ।
 निर्माधुर्यश्च यस्त्विश्वरसो न हि स तद्रसः ॥ ९
 अचेतनं यच्चिन्मात्रं न तच्चिन्मात्रमुच्यते ।
 न च चिन्मात्रनभसो नष्टं कचन युज्यते ॥ १०
 स्वसत्तामात्रकादन्यत्किञ्चित्तस्य न युज्यते ।
 अन्यत्वमुररीकर्तुं व्योमानन्यमसौ किल ॥ ११
 तस्मात्तस्य यदक्षुब्धं सत्तामात्रं स्वभासनम् ।
 अनादिमध्यपर्यन्तं सर्वशक्तिमयात्मकम् ॥ १२
 तदेतन्निजगत्सर्गकल्पान्तौ व्योम भूर्दिशः ।
 नाश उत्पादनं नाम विनानाभासनं नभः ॥ १३
 जननं मरणं मायामोहं मान्द्यमवस्तुता ।
 वस्तुता च विवेकश्च बन्धो मोक्षः शुभाशुभे ॥ १४
 विद्याऽविद्या विदेहत्वं सदेहत्वं क्षणश्चिरम् ।
 चञ्चलत्वं स्थिरत्वं वा त्वं चाहं चैतरश्च तत् ॥ १५

कृति यथा स्यात्तथा स्थातुं न युज्यते तथा तेनापीत्यर्थः ॥ ६ ॥
 यथा हेमो हेमादिद्रव्यस्य पिण्डकुण्डलाद्यन्यतमाकारावश्यंभाव-
 नियमस्तथा चितोऽप्यवश्यं चेत्याकारावलम्बननियमो लोके प्र-
 सिद्ध इति निराकारपरिशेषपक्ष एव प्रत्युतासंभावित इति प्रौढि-
 वादेनाह—कथमिति ॥ ७ ॥ अज्ञातचितः सविषयतास्वभाव-
 त्वादप्याकारो दुस्त्यज इत्याशयेनाह—कथं स्वभावेनेत्या-
 दिना ॥ ८ ॥ ९ ॥ अपि च नष्टानामपि स्मृतौ भानदर्शनाधि-
 दृष्ट्या कस्यापि निरन्वयनाश एवाप्रसिद्ध इत्याह—न चेति
 ॥ १० ॥ किञ्च ब्रह्मानन्यस्य जगतो ब्रह्मसत्तामात्रकातिरिक्क-
 पाप्रसिद्धेर्न कस्यचिन्नाशः प्रसिध्यतीत्याह—स्वेति । ननु 'निरुक्तं
 चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं
 चानृतं च सत्यमभवत्' इति ब्रह्मसत्तातिरिक्तं रूपं श्रूयते,
 अनुभवन्ति च पामरास्तत्राह—अन्यत्वमिति । असौ ब्रह्मात्मा
 'बहु स्यां प्रजायेय' इति जगदाकारेण अन्यत्वमुररीकर्तुं 'त-
 स्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इति श्रुतेः प्रथमं
 व्योमानन्यमाकाशाभिज्ञं स्वात्मानं करोति किल । यदि खानन्यं
 व्योम करोति तर्हि अन्यत्वं कथमुररीकृतं स्यात् । सद्रूपान-
 न्यत्वासपादने वा कथं व्योम कृतं स्यात् । सदात्मतालम एव
 हि व्योमादेरुत्पत्तिरिति न 'निरुक्तं चानिरुक्तं च' इत्यादिश्रुत्युक्तस्य
 मूर्तामूर्तरूपस्य सद्रूपान्यतासिद्धिरित्यर्थः ॥ ११ ॥ किं तर्हि
 जगद्रूपमिति चेद्ब्रह्मसत्तैव । सा हि तत्त्वावबोधकमानं विना
 लौकिकदृशा जगत्तत्प्रलयाद्याकारेण सर्पात्मनेव रज्जुर्भासते ।
 तत्त्वावबोधकमानेन तु यथार्थरूपेणेति निष्कर्ष इत्युपसहरति—
 तस्मादिति ॥ १२ ॥ विनानाभासनं तत्त्वावेदकमानं विनैवा-
 विद्याद्रूपितदृशा भासनं तैमिरिकदृशा चन्द्रव्योमादिभासन-

सदसच्चाथ सदसन्मौख्यं पाण्डित्यमेव च ।
 देशकालक्रियाद्रव्यकलनाकेलिकल्पनम् ॥ १६
 रूपालोकमनस्कारकर्मबुद्धीन्द्रियात्मकम् ।
 तेजोवार्थनिलाकाशपृथ्व्यादिकमिदं ततम् ॥ १७
 एतत्सर्वमसौ शुद्धचिदाकाशो निरामयः ।
 अजहद्योमतामेव सर्वात्मैवैवमास्थितः ॥ १८
 एतत्सर्वं च विमलं स्वमेवात्र न संशयः ।
 अस्मादनन्यत्वमादिर्दृष्टान्तोऽत्राविखण्डितः ॥ १९
 चिन्मयः परमाकाशो य एव कथितो मया ।
 एषोऽसौ शिव इत्युक्तो भवत्येष सनातनः ॥ २०
 स एष हरिरित्यास्ते भवत्येष पितामहः ।
 चन्द्रोऽर्क इन्द्रो वरुणो यमो वैश्रवणोऽनलः ॥ २१
 अनिलो जलदोम्भोधिर्ह्यो यद्वस्त्वस्ति नास्ति च ।
 इत्येते चिन्मयाकाशकोशलेशाः स्फुरन्त्यलम् ॥ २२
 एवंविधाभिः संज्ञाभिर्मुधाभावनयेदृशाः ।
 स्वभावमात्रबोधेन भवन्त्येते तु तादृशाः ॥ २३
 अबोधो बोध इत्येवं चिद्योमैवात्मनि स्थितम् ।
 तस्माद्भेदो द्वैतमैक्यं नास्त्येवेति प्रशाम्यताम् ॥ २४

मिव नभः शुद्धसत्तातिरिक्तार्थशून्यमेवेत्यर्थः ॥ १३ ॥
 परमार्थतस्तु जननादि एतत्सर्वं शुद्धचिदाकाशो निरामय
 इति पञ्चमे संबन्धः । माया विक्षेपः, मोह आवरणं
 तयोः समाहारः ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥
 सदनन्यत्वमिव चिदनन्यत्वमप्यस्य स्वप्नदृष्टान्तेन संभावनीय-
 मित्याशयेनाह—एतत्सर्वमिति ॥ १९ ॥ स सच्चिदेकस्वभावः
 परमात्मा । 'शिव एको ज्येयः शिवंकरः सर्वमन्यत्परित्य-
 ज्य' इत्यादिश्रुतिषु शिव इत्युक्त एष सनातनः शिवो भवत्येवेति
 मया रुद्रमूर्तिरूपन्यस्त इत्यर्थः ॥ २० ॥ स एव विष्णुवाक्का-
 रेणोपासितवतां हरिरिति वेषेणास्ते । एवं पितामहोऽप्यन्येषां
 भवति । किं बहुना । चन्द्रार्कादिवासनावासितधियां तत्तद्रूपो-
 ऽपि भवतीत्याह—चन्द्र इति । तथा च श्रुतिः 'इन्द्रं मित्रं वरुण-
 मग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा
 वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' इति ॥ २१ ॥ स एवानिलो
 वायुः । ह्यः अतीतं दिनम् । कालमात्रोपलक्षणमेतत् । तत्र
 यद्वस्त्वस्ति नास्ति चेति विकल्प्यते तत्तत्सर्वेषु एवेत्यर्थः । तथा च
 श्रुतिः 'स ब्रह्मा स हरिः सेन्द्रः सोऽश्वरः परमः स्वरुद्र । स
 एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः । स एव
 सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् । ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः
 पन्था विमुक्तये' इति । इति वर्णिता एते हरिपितामहादयो
 भावाश्चिन्मयस्य ब्रह्माकाशकोशस्य गुणाद्युपाधिप्रयुक्ता लेशा
 अंशाः ॥ २२ ॥ सुधाभावनया अन्यथाग्रहणकारिण्या अवि-
 धया परमार्थस्वभावमात्रबोधेन तु एते तादृशाश्चिन्मात्रस्वभावा
 भवन्ति ॥ २३ ॥ तथा च ब्रह्मैव कंचित्कालमज्ञदृशा अबोध
 इति जीवजगद्वेषेण स्थितम् । ततो विद्वद्दृष्ट्या बोधे इति वेषेण

तावत्तरङ्गत्वमयं करोति
जीवः स्वसंसारमहासमुद्रे ।
यावन्न जानाति परं स्वभावं
निरामयं तन्मयतामुपेतः ॥

२५

क्षाने तु शान्तिं स तथोपयाति
यथा न सोऽन्धिर्न तरङ्गकोऽसौ ।
यथास्थितं सर्वमिदं च शान्तं
भवत्यनन्तं परमेव तस्य ॥

२६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० शिवस्वरूपवर्णनं नाम अशीतितमः सर्गः ॥८२॥

अशीतितमः सर्गः ८३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चिन्मात्रपरमाकाश एव यः कथितो मया ।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तस्तदा रुद्रः प्रवृत्त्यति ॥ १
यासौ तस्याकृतिर्नासावाकृतिः कृतिनां वर ।
तच्चिन्मात्रधनं व्योम तथा कचति तादृशम् ॥ २
मया दृष्टा तदाकाशमेव शान्तं तदाकृतिः ।
मयेव तत्परिक्षातं नान्यः पश्यति तत्तथा ॥ ३
यथा नाम स कल्पान्तः स रुद्रः सा च भैरवी ।
मायामात्रं तथा सर्वं परिक्षातमलं मया ॥ ४
चिद्व्योमैव परं शून्यं संनिवेशेन तेन तत् ।
तथा संलक्ष्यते नाम भैरवाकारतां गतम् ॥ ५
वाच्यवाचकसंयन्धं विना धोधो न जायते ।
यस्मात्तस्मात्त्वयि मया दृष्टमेव प्रवर्णितम् ॥ ६
यदेव वाच्युपाखण्डमेतद्राम सदैव ते ।
रुद्राधिभौतिकदृशः क्षणान्मायात्मतां गतम् ॥ ७
न भैरवी सा नैवासौ भैरवो नैव संक्षयः ।
समस्तमेव तद्भ्रान्तिमात्रं चिद्व्योम भासते ॥ ८

स्वरूपे स्थितमिति फलितम् । न तदन्यात्किञ्चित्कदाचिदपी-
त्याह—अबोध इति ॥ २४ ॥ तथा च जीवः अज्ञातस्वात्म-
स्वरूपे संसारमहासमुद्रे तावत्कालं जन्ममरणभ्रमणादिनातातर-
ङ्गत्वं करोति, यावत्परब्रह्मात्मकं स्वस्वभावं न जानाति । यदा
तु जानाति तदा तन्मयतामुपेतः सन् निरामयं तदेवास्ते
इत्यर्थः ॥ २५ ॥ तदेवाह—ज्ञाते त्विति ॥ २६ ॥ इति श्री-
वासिष्ठमहारामायणे उत्तरार्धप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शिव-
स्वरूपवर्णनं नाम अशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

चिन्मात्रमेव स शिवो न काली भैरवाकृतिः ।

बोधाय कल्पनादृष्ट्या तथा भातीति वर्ण्यते ॥ १ ॥

अत एव तव मया अविद्याभ्रान्तिनिरासेन तात्त्विकशिवस्व-
भावदृष्ट्युद्घाटनाय जगत्प्रलयरुद्रवृत्त्यादि स्त्रानुभूतं वर्णितं न
तदेव परमार्थ इति अमितव्यभिज्ञाह—चिन्मात्रेत्यादिना
॥ १ ॥ २ ॥ तत्त्वदृशा तु मया तदाकृतिधियाका-
शमात्रमेव दृष्टा । अन्यस्वरूपदृष्टिहीनः ॥ ३ ॥ तत्त्वदृष्ट्यैव
मया कल्पान्तादिसर्वं मायामात्रमिति परिज्ञातम् ॥ ४ ॥ ५ ॥
कल्पनादृष्टिदृष्ट्यापि तव पुरतो वर्णनं तु वाच्यवाचकशब्दा-
र्थसम्बन्धकल्पनं विना निर्विशेषस्य व्युत्पादनायोगात्तत्कल्पनेन

स्वप्ननिर्माणपुरवत्संकल्पपरणवेगवत् ।

कथार्थसार्थैरसवन्मनोराज्यविलासवत् ॥ ९

यथा स्वप्नपुरं स्वच्छे व्योम्नि मौक्तिकधीर्यथा ।

यथा केशोण्डूकं व्योम्नि तथाऽचिद्व्याति चिद्वने ॥ १०

चिन्मात्राकाशमेवाच्छं कचति स्वात्मनात्मनि ।

तथा नाम यदाभाति तदात्मैव जगत्तथा ॥ ११

यथा चिद्व्योम्नि कचति स्व एवात्मा तथा पटे ।

तथा कचति तत्तत्र कल्पान्तानलनर्तने ॥ १२

शिवयोरेवमाकारो निराकारोऽङ्गवर्णितः ।

अधुना शृणु ते वक्ष्ये नृत्यस्यानृत्ततास्थितिम् ॥ १३

चेतनं चेतनाधातोः किञ्चित्संस्पदनं विना ।

कचित्स्थातुं न शक्नोति वस्तुवस्तुतया यथा ॥ १४

स्वभावाच्चेतनं तस्माद्बुद्धत्वेन तथा स्थितम् ।

हेमेव रूपकत्वेन संनिवेशविलासिना ॥ १५

यन्नाम चेतनं यत्र तदवश्यं स्वभावतः ।

स्पन्दधर्मि भवत्येव वस्तुता हि स्वभावजा ॥ १६

त्वव्युत्पादनार्थमिलाह—वाच्येति ॥ ६ ॥ तन्निरसनं तु कल्पित-
प्रक्रियार्था सत्यतावुद्दिग्मा भूदित्येतदर्थमिलाह—यदेवेति । हे
राम, सदैव चिराभ्यासाज्जगति रुद्राधिभौतिकदृशस्ते यदेव
वाच्युपाखण्डं तदेव क्षणान्मायात्मतां सत्यताभ्रान्तिं गतम् ॥ ७ ॥
न भैरवीत्यादिना पुनर्निषेधेन तत्समस्तमेव भ्रान्तिमात्रं
परमार्थतत्त्वव्योमैवेति भासते ॥ ८ ॥ ९ ॥ तथा अचित् चिद्वने
भाति भ्रान्त्या ॥ १० ॥ प्रबोधेन तर्हि कथं भाति तदाह—
चिन्मात्रेति ॥ ११ ॥ तर्हि किं स्वप्रकाशचिदात्मनः स्वपरकत्वे
विशेषोऽस्ति नेत्याह—यथेति ॥ १२ ॥ तथा च कचनैकस्वभावं
निर्विशेषं चिद्व्योमैव शिवयोस्तात्त्विको निराकार एवाकारः परि-
शिष्ट इत्युपसंहृत्य नृत्यस्य स्थितिस्तु मायामात्रवादवृत्ततास्थि-
तिरेवेत्यं व्युत्पाद्यमानं शृणुत्याह—शिवयोरिति ॥ १३ ॥
यथा भ्रान्त्या दृश्यमानं शुक्यादि वस्तु रजताद्यवस्तुतया विना
स्थातुं न शक्नोति तथा चेतनाधातोश्चेतनमपि किञ्चित्संस्पन्दं
विना स्थातुं न शक्नोति । भ्रान्तेः स्वभावविपर्ययात्कवनिवृ-
त्तान्यादित्यर्थः ॥ १४ ॥ अत एव सत्त्वं ब्रह्म सर्वजगद्वदितदेव-
रुद्रदेव्याकारविपर्ययेन अधिष्ठानतास्वभावेन स्थितमिलाह—
स्वभावादित्यादिना ॥ १५ ॥ वस्तुता अधिष्ठानता ॥ १६ ॥

यः स्पन्दश्चिद्धनस्यास्य शिवस्यास्य स एव नः ।
स्ववासनावेशवशाभृत्यमेव विराजते ॥ १७
अतः स कल्पान्तशिवो रुद्रो रौद्राकृतिर्द्रुतम् ।
यन्नृत्यति हि तद्विद्धि चिद्धनस्पन्दनं निजम् ॥ १८

श्रीराम उवाच ।

प्रामाणिकदृशा दृश्यमिदं नास्त्येव वस्तुतः ।
यदेवास्तीव तत्सर्वं कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ १९
तत्कल्पान्तमहाशून्ये एतस्मिन्परमाम्बरे ।
कथं चित्राम वाऽचेत्यं चेता चेतति चिद्धनः ॥ २०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एतदेव तदाप्यङ्ग द्वैतैक्याम्भोधिशान्तये ।
यदि चिन्मात्रनभसश्चेत्यमस्ति न किञ्चन ॥ २१
न किञ्चिच्चेतति ततः क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
सर्वं शान्तं दृषन्मौनं विज्ञानघनमम्बरम् ॥ २२
यच्चेदं चेत्यते नाम तत्स्वभावोऽस्य वलगति ।
चित्स्वभावस्य शान्तस्य स्वसत्तायामवस्थितेः ॥ २३
यथा स्वप्ने चिदेवान्तः पुरपत्तनवद्भवेत् ।

पुरादि न तु तर्त्तिकचिद्विज्ञानाकाशमेव तत् ॥ २४
आत्मनात्मनि चिच्छून्यं ज्ञात्वा च ज्ञेयमप्यलम् ।
तथा च सर्गादारभ्य वेत्ति स्वं कचनं च तत् ॥ २५
स्वयमन्तः कचन्ती चित्स्वभावाकाशकोटरे ।
क्षणकल्पजगद्भ्रान्तिं घत्ते कल्पनया स्वया ॥ २६
स्वयमन्तः कचत्कान्तिश्चिदाकाशः स्वभावखे ।
अयं सोहमयं च त्वं करोतीत्यादिकल्पनम् ॥ २७
तस्मान्न द्वैतमस्तीह न चैक्यं न च शून्यता ।
न चेतनाचेतनं वै मौनमेव न तच्च वा ॥ २८
न चेतति क्वचित्किञ्चित्कश्चिच्चेत्यात्मभावतः ।
तेन चेतापि नास्तीव मौनमेवावशिष्यते ॥ २९
निर्विकल्पसमाधिर्हि सिद्धान्तः सर्ववाङ्मये ।
तच्च जीवदृषन्मौनं तूष्णीमेवात आस्यताम् ॥ ३०
कुर्वन्निजं प्रकृतमेव यथाप्रवाह-
माचारजालमचलः परमार्थमौनात् ।
निर्मानमोहमदभेदमनङ्गजीव-
माकाशकोशविशदाशयशान्तमास्त्र ॥ ३१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मोक्षो० निर्वाणप्रक० उत्तरार्धे पाषा० विश्वरूपदर्शनं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

॥ १७ ॥ १८ ॥ प्रामाणिकदृशा नास्त्येवेति न तस्मिन्कल्पे
प्रश्नः । अप्रामाणिकदृष्टिकल्पे पृच्छामि । यदेव किञ्चिदस्तीव
तत्सर्वं कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ १९ ॥ तत्तथा सति चितः
अचेत्यं चेत्यरहितं चित्राम वा कथम् । तथा आश्रयाभावे
चेता चेतयिता वा कथम् । स्वातिरिक्तचित्तिक्रियाभावे
चिद्धनश्चेतति वा कथम् । त्रिपुटी नोपपद्यत इत्यर्थः ।
यदि चाविद्या तदानीमसदपि दृश्यं दर्शयतीति तत एव
त्रिपुटीसिद्धिरुच्येत तर्हि सर्गप्रलययोरविशेषः । न ह्यचेतिते
सर्वजगद्भटिते रुद्रदेवीशरीरे तन्नृत्यं वा संभवति । न हि
युगपद्भैतमैक्यं च भावयितुं शक्यमिति भावः ॥ २० ॥ हे अङ्ग,
यद्येवं शङ्कसे तदापि तव द्वैतैक्यसंदेहाम्भोधिशान्तये एत-
देवोत्तरं शृणु । तदेवाह—यदीति । यदि सर्वप्रलये परिशि-
ष्टस्य चिन्मात्रनभसः किञ्चन चेत्यमस्ति तदा ततो द्वितीयास-
त्त्वादेव क्वचिद्देशे कदाचन काले किञ्चिदपि वस्तु कश्चिदपि न
चेतति । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि-
श्रुतेरिति भावः ॥ २१ ॥ तथा चायं प्रामाणिकदृष्टिसिद्धो नित्य-
मुक्तात्मस्वभाव एव प्रलय इति त्वयोपन्यस्त इति प्रथमकल्प
एव संपन्न इत्याह—सर्वमिति । तथा चाप्रामाणिकदृशा द्विती-
यकल्पमाश्रित्य प्रश्नो नोचित इति भावः ॥ २२ ॥ यदि तु
प्रथमकल्पवैलक्षण्याय प्रलये अविद्यादि किञ्चिच्चेत्यमभ्युपगच्छति
तर्हि तेनैव त्रिपुटीजगद्भटितरुद्रदेवीशरीरे तन्नृत्यं च सेत्स्यतीति
नासंभावितं किञ्चिन्मयोक्तमित्याशयेनाह—यच्चेदमित्यादिना ।

१ स्वयमेव इति पाठः.

यो० वा० १५८

स्वभावः अविज्ञातात्मस्वरूपस्य ब्रह्मणः प्रलयेऽपि रुद्रदेवी
तन्नृत्यरूपेण वलगति प्रयते । न चैतावता वास्तवकूटस्थचित्स्व-
भावहानिरित्याह—चित्स्वभावस्येति ॥ २३ ॥ आन्त्या अन्यथ
त्वप्रतिभासेऽपि वास्तवस्वभावाप्रच्युतौ दृष्टान्तमाह—यथेति
॥ २४ ॥ तथा च सर्वं ज्ञेयं ज्ञात्वापि चित् आत्मना आत्मनि सदैव
ज्ञेयं शून्यम् । तथा च प्रलयकालेऽपि सर्गारम्भक्षणादारभ्य याव-
त्प्रलयक्षणं यद्यथा संपन्नं तत्सर्वं स्वं कचनं वेत्तीति सदा सर्वज्ञं
तद्ब्रह्म प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ २५ ॥ अत एव तत्सर्गकालेऽपि प्रलय-
मतीतानागतसर्वप्रलयसहस्रैः सह पश्यत्येवेत्यपि संभाव-
नीयमित्याशयेनाह—स्वयमित्यादिना ॥ २६ ॥ २७ ॥ अत
एव हि सर्वदृश्यस्य तदभावस्य च परस्परबाधितत्वात्परमार्थव-
स्तुनो भावाभावोभयनिषेधावधितेत्याशयेनोपसंहरति—तस्मा-
दित्यादिना । सर्गप्रलययोर्विशेषोऽपि स्वानुभवैर्नैव सिद्धो न
युगपत्प्रलयेनापलपितुं शक्य इति भावः ॥ २८ ॥ २९ ॥
॥ ३० ॥ हे राम, त्वमपि ईश्वर इव लोकदृशा निजं प्रकृतमेव
राज्यपरिपालनायाचारजालं यथाप्रवाहं पितृपितामहप्राप्तक्रमेण
कुर्वन्नेव स्वदृशा परमार्थमौनाभिर्मानं निर्मोहमपगतमदभेद-
मद्वैतदभिमानीजीवेन च रहितमाकाशकोशवद्विशदाशयं च
यथा स्यात्तथा शान्तं निर्विकल्पमास्त्र ॥ ३१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्वरूपदर्शनं
नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमः सर्गः ८४

श्रीराम उवाच ।

अनन्तरं मुने ब्रूहि काली किमिव नृत्यति ।

किं शूर्पफलकुङ्कुमादिस्त्रजः ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

स भैरवश्चिदाकाशः शिव इत्यभिधीयते ।

अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् ॥ २ ॥

यथैकं पवनस्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा ।

चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म्यं सर्वदा ॥ ३ ॥

स्पन्देन लक्ष्यते वायुर्वह्निरौष्ण्येन लक्ष्यते ।

चिन्मात्रममलं शान्तं शिव इत्यभिधीयते ॥ ४ ॥

तत्स्पन्दमायाशक्त्यैव लक्ष्यते नान्यथा किल ।

शिवं ब्रह्म विदुः शान्तमवाच्यं वाग्विदामपि ॥ ५ ॥

स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा ।

साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पनापुरम् ॥ ६ ॥

शिवशक्त्योर्निजं रूपं विविध्याप्रोपवर्ण्यते ।

शूर्पादिमालारूपं च सत्यासत्याविमर्शतः ॥ १ ॥

या काली नृत्यतीति त्वया वर्णिता सा किमिव । किस्वरूपे-
त्यर्थः । सा च किमात्मकशूर्पफलकुङ्कुमादिस्त्रजा आवृता तदुभयं
ब्रूहीत्यर्थः । 'कालः किमिव नृत्यति' इति पाठेऽपि कालात्म-
ककालीस्वरूपस्यैव प्रश्नस्तस्या एव पूर्वोत्तरप्रत्ययोरुत्तरस्य
शूर्पमुसलादिस्त्रधारणस्य च वर्णनात् ॥ १ ॥ शिवस्य
स्वरूपमनिरूप्य तच्छक्तिस्वरूपनिरूपणयोगादुभयरूपं सहैव
निरूपयितुमुपक्रमते—सा इति । चलनस्मावरजोगुणप्राधा-
न्येन स्पन्दशक्तिं सत्त्वगुणस्वच्छताप्राधान्येन सर्वतश्चित्प्रति-

विम्बव्याप्त्या जगत्संस्कारघटितत्वेन च सर्गादिसंकल्पविकल्प-
हेतुत्वेन मनःसाम्यान्मनोमयीम् । शिवे तादात्म्येनाभ्यासा-
त्तदधीनसत्तास्फूर्तिकत्वाच्च तदनन्यां माया ता विदीत्यर्थः
॥ २ ॥ अनन्यत्वं दृष्टान्ताभ्यां समर्थयति—यथेति । मोक्षा-
त्प्रागेव सर्वकालव्यवहारसमाप्तेः सर्वकालव्याप्तिरस्त्येवेत्याशयेन
सर्वदेत्युक्तिः ॥ ३ ॥ 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन
जातानि जीवन्ति' इत्यादिश्रुतिषु जगत्सर्वप्राणस्पन्दादितत्किय-
थैव शिवस्य ब्रह्मणो लक्षणादपि तदनन्यत्वमित्याह—स्पन्दे-
नेति द्वाभ्याम् ॥ ४ ॥ ननु श्रुतौ सर्गादिब्रह्मलक्षणं तच्छि-
वस्य कथमुच्यते तत्राह—शिवमिति । यतः सर्वाः श्रुतयो
ब्रह्मविदश्च शिवमेव ब्रह्म विदुरतो नाशिवं ब्रह्मान्यदस्तीत्यर्थः
॥ ५ ॥ 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादिषु सा स्पन्दश-
क्तिरेव शिवस्येच्छेत्युक्ता सैव सत्यकामस्य तस्य मनोराज्यमिव
जगत्तनोतीत्याह—स्पन्दशक्तिरिति ॥ ६ ॥ सैवा स्वान्तर्गत-

चिदाभासप्रदीप्तत्वाविति शक्तिर्जीववैतन्यमिति प्रोक्ता ॥ ७ ॥
प्रकृतित्वेन जगदाकारपरिणामित्वेन । तथा च श्रुतिः 'मायां
तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति । दृश्याभासेष्वनु-

करोत्येव शिवस्येच्छा करोतीदमनाकृतेः ।

सैषा चित्तिरिति प्रोक्ता जीवनाब्जीवितैषिणाम् ॥ ७ ॥

प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता ।

दृश्याभासानुभूतानां करणात्सोच्यते क्रिया ॥ ८ ॥

वडवाग्निशिखाकाराच्छोष्याच्छुष्केति कथ्यते ।

चण्डित्वाच्चण्डिका प्रोक्ता सोत्पलोत्पलवर्णतः ॥ ९ ॥

जया जयैकनिष्ठत्वात्सिद्धा सिद्धिसमाधयात् ।

जयन्ती च जया प्रोक्ता विजया विजयाश्रयात् ॥ १० ॥

प्रोक्ता पराजिता वीर्यादुर्गा दुर्ग्रहरूपतः ।

अकारसारशक्तित्वादुमेति परिकीर्तिता ॥ ११ ॥

गायत्री गायनात्मत्वात्सावित्री प्रसवस्थितेः ।

सरणात्सर्वदृष्टीनां कथितैषा सरस्वती ॥ १२ ॥

गौरी गौराङ्गदेहत्वाद्भवदेहानुषङ्गिणी ।

सुतानामथ बुद्धानाममात्रोच्चारणाद्बुद्धिः ॥ १३ ॥

भूतानामुत्पत्त्यासिद्धिसंस्कारलक्षणानां चतुर्विधफलना कर-
णात् ॥ ८ ॥ 'द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा' इत्यादि-

पुराणेषु तस्याः शुष्कताप्रसिद्धेरपि निमित्तमाह—वडवेति ।
यतः समुद्रादिजलाद्ब्रह्माण्डदेहा सा वडवाग्निशिखाकाराद्रेष्वा-
दित्यादिज्योतिषः सकाशाच्छोष्या अतः शुष्केति कथ्यते इति
॥ ९ ॥ यतो जया अतो जयन्ती च प्रोक्ता । तथा च नामद्वय-

स्याद्येकमेव प्रवृत्तिनिमित्तम् । विशिष्टो जयस्तु विजयापदस्य ।
एवमग्रेऽप्युक्तम् ॥ १० ॥ उमेति परिकीर्तिता अकारघटका-

नामकारोकारमकाराणां उ म ण इति व्यत्यासेन घटने द्यपि
उमाशब्दनिष्पत्तेरिति भावः । 'समेति परिकीर्तिते'ति पाठे तु
अकारलक्ष्यतुरीयस्वरूपस्थूलसूक्ष्मादिसर्वप्रपञ्चसारविच्छक्ति-

त्वात्सर्ववैषम्यरहितेत्यर्थः ॥ ११ ॥ गायना जापकास्तेषां
परमपुरुषार्थात्मत्वात् । स्वर्गापवर्गदाधनसर्वकर्मोपासनज्ञान-

दृष्टीनां सरणात्प्रसरात् ॥ १२ ॥ भवत्यस्मादिश्वमिति भव ईश्वरस्त-
देहानुषङ्गिणी । समानाम पुनः प्रकारान्तरेण व्याचष्टे—सुता-

नामिति । चार्थे अयशब्दः । सुतानां प्रबुद्धानां च त्रैलोक्यस्य-
सर्वप्राणिनां हृदि अनाहतनादात्मना अकारादिमात्रात्रयशून्यस्य

प्रणवनादभागस्य शब्दब्रह्माख्यस्य नित्यं सर्वदेवोच्चारणादङ्ग-
परिमितहृत्पुण्डरीकच्छिद्रे लिङ्गाकारेण स्थितस्य दहराभा-

शाख्यस्य शिवस्य मूर्ध्नि भूषणभूता बिन्दुरुपा इन्दुकला उमे-
त्युच्यते । तथा 'ओं' वायवीयसंहितायाम्—'ओमित्येकार्धं

ब्रह्म ब्रह्मणः प्रतिपादकम् । अउमेति त्रिसात्राभिः परसाद-
र्धमात्रया । तत्राकारः स्थितो भागे ज्वालालिङ्गस्य दक्षिणे ।

उकारश्चोत्तरे तद्वन्मकारस्तस्य मध्यतः । अर्धमात्रात्मको नादः
श्रूयते लिङ्गमूर्ध्वेति' इति । हंसोपनिषदि च 'पूर्वं दले पुण्यमतिः'

इत्यादिहृदयपुण्डरीकदलेषु जीवस्य मतिभेदमुक्त्वा लिङ्गे बुद्धिः
पद्मलागे दुरीयं यदा हंसो नादे मिलीनो भवति तत्तुरीयातीत-

नित्यं त्रैलोक्यभूतानामुमेतीन्दुकलोच्यते ।
 शिवयोर्व्योमरूपत्वादसितं लक्ष्यते वपुः ॥ १४
 नभो हि मांसमेताभ्यां दृष्टिदृष्टं विलोक्यते ।
 अस्ति नभो नभस्येव तौ नभोनभसि स्थितौ ॥ १५
 नभोनिभावभूताङ्गावच्छौ व्योम इवाग्रजौ ।
 हस्तपादास्यमूर्धो यद्बहुत्वात्पत्वभेदतः ॥ १६
 नानात्वं हलशूर्पादिस्त्रघरत्वं च तच्छृणु ।
 सा हि क्रिया भगवती परिस्पन्दैकरूपिणी ॥ १७
 दद्यात्स्त्रायाञ्च जुहुयादित्याद्यग्रशरीरिणी ।
 चितिशक्तिरनाद्यन्ता तथा भातात्मनात्मनि ॥ १८
 साकाशरूपिणी कान्ता दृश्यश्रीः स्पन्दधर्मिणी ।
 देव्यास्तस्या हि याः काल्या नानाभिनयनर्तनाः ॥ १९
 ता इमा ब्रह्मणः सर्गजराभरणरीतयः ।
 क्रियासौ ग्रामनगरद्वीपमण्डलमालिकाः ॥ २०
 स्पन्दान्करोति धत्तेऽन्तः कल्पितावयवात्मिका ।
 काली कमलिनी काली क्रिया ब्रह्माण्डकालिका ॥ २१
 धत्ते स्वावयवीभूतां दृश्यलक्ष्मीमिमां हृदि ।
 न कदाचन चिदेवी निर्देश्यावयवा क्वचित् ॥ २२

शिवत्वाव्यतिरेकेण शिवतैवं विदृश्यताम् ।
 यथाङ्गं शून्यता व्योमः स्पन्दनं मातरिभवनः ॥ २३
 ज्योत्स्नायाश्चेत्यमेवं हि दृश्यमङ्गं चितेः क्रिया ।
 शिवं शान्तमनायासमव्ययं विद्धि निर्मलम् ॥ २४
 न मनागपि तत्रास्ति स्तैमित्यं स्पन्दधर्मता ।
 सा क्रियैव तथारूपा सती बोधवशाद्यदा ॥ २५
 व्यावृत्त्यैव तथैवास्ते शिव इत्युच्यते तदा ।
 चितिशक्तेः क्रिया देव्याः प्रतिस्थानं यदात्मनि ॥ २६
 यथाभूतस्थितेरेव तदेव शिव उच्यते ।
 देव्याः क्रियायाश्चिच्छक्तेः स्वरूपिण्या महाकृतेः ॥ २७
 कल्पिताकारधारिण्या अनन्यावयवा इमे ।
 सर्गाः सज्जनतावर्गा लोका आलोकभास्वराः ॥ २८
 सद्दीपसागराः पृथ्वयः सवनावनयोऽद्रयः ।
 साङ्गोपाङ्गाख्यो वेदाः सविद्यास्थानगीतयः ॥ २९
 सविधिप्रतिषेधार्थाः सशुभाशुभकल्पनाः ।
 सदक्षिणाग्रयो यज्ञाः पुरोडाशाद्यशंसिनः ॥ ३०
 भूपालोलूखलवृषीशूर्पयूपादिसंयुताः ।
 संग्रामाः सायुधग्रामाः सशूलशरशक्तयः ॥ ३१

मिति लिङ्गमूर्धस्थे नादे सर्वोपाधिविलयेन ब्रह्मप्रतिष्ठा तुरी-
 यातीतावस्थेत्युक्तमिति भावः ॥ १३ ॥ 'काली किमिति नृत्य-
 ति' इति प्रश्ने किमिति कालीति वर्णनिमित्तप्रश्नमभिप्रेत्योत्तर-
 माह—शिवयोरिति ॥ १४ ॥ ननु चिद्रूपयोः शिवयोर्योर्जडव्यो-
 मरूपता कथं तत्राह—नभ इति । चिद्रूपाभ्यामेवैताभ्यां
 मांसमयं स्वशरीरमिव इयामं सर्गसंकल्पदृष्ट्या दृष्टमतः इयाम-
 मिव जडमिव च विलोक्यते । निराधारस्थितिरपि तयोर्नभो-
 वदेवानुमेयेत्याह—अस्तीति ॥ १५ ॥ अमूर्तत्वस्वच्छत्वे अपि
 तयोर्व्योमवदेव बोध्ये इत्याह—नभोनिभाविति । अग्रजौ ज्येष्ठ-
 भ्रातराविवेत्युपमादाव्याय संभावना । अमूर्तत्वे हस्तपादादि-
 मत्त्वं हलशूर्पादिस्त्रघरत्वं च कथमिति चेत्तत्रोत्तरं श्रावयति—
 हस्तेत्यादिना । हस्तपादास्यमूर्ध इति समाहारद्वन्द्वैकवद्भावः ।
 हस्तादेर्यद्बहुत्वात्पत्वभेदतो नानात्वं वैचित्र्यं यच्च हलशूर्पादि-
 स्त्रघरत्वं तच्छृण्वति परेणान्वयः ॥ १६ ॥ हि यस्मात्सा
 भगवती अनाद्यन्ता चितिशक्तिरपि आत्मना स्वेच्छयैव स्वात्मनि
 सर्ववैदिकक्रियारूपा भूत्वा दद्यात्स्त्रायाञ्जुहुयादित्यादिवेदविहित-
 दानज्ञानयागादिश्रेष्ठशरीरिणी संपन्ना तस्मात्तस्या देव्या य
 नानाविधाभिनयसहिता नर्तनास्ता इमा ब्रह्मणः कर्मफलरूपाः
 सर्वप्राणिसर्गस्थितिजराभरणरीतयो बोध्या इति परेणान्वयः
 ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ यतः असौ देवी क्रिया अतो निरव-
 यवायाः क्रियाया अप्रतिद्वेः स्वरूपप्रतिषेधार्थमेव कल्पितहस्तपा-
 दावयवात्मिका ग्रामनगरद्वीपमण्डलमालिकाः शरीरान्तर्धत्ते
 तैः स्पन्दान्करोति । सा क्रियारूपतां प्रकटयतीति यावत् ॥ २० ॥
 कालीनामनिर्वचनेऽपि तस्याः क्रियैकस्वभावत्वं ब्रह्माण्डशरीर-
 तया सर्वल्लोकवयवधारिणीत्वं च प्रतिष्ठयतीत्याशयेनाह—

कालीति । 'कल गतौ संख्याने च' इति धातोर्हि कालशब्दः
 कालीशब्दश्च निष्पद्यते । कलिः कामधेनुरिति च वैयाकरणा धारणा-
 दिसर्वक्रियावाची कलघातुरित्याहुः । तथा चेयं ब्रह्माण्डलक्षणानां
 बीजकोशानां कालिका कल्पित्री निर्मात्री धारयित्री परिणामा-
 दिविकारप्रापयित्री च क्रिया स्वयं सती कमलिनी पद्मिनीलतेव
 काली इयामला संपन्ना । अत एव हि स्वपुष्पाद्यवयवीभूतामिमां
 पृथ्व्यादिदृश्यलक्ष्मीं हृदि धत्ते इत्यर्थः । एवं जगद्गृहधारणेऽपि
 तस्या असङ्गोदासीनचिद्रूपशिवस्वभावत्वाच्चिरवयवत्वमेवेत्याह—
 न कदाचनेति ॥ २१ ॥ २२ ॥ अङ्गामावेऽप्यङ्गव्यपदेशे दृष्टा-
 न्तानाह—यथेति ॥ २३ ॥ ज्योत्स्नायाश्चन्द्रिकायाश्चेलं प्रबो-
 धनीयं कुमुदायङ्गम् । 'ज्योत्स्नाङ्गमिन्दोः' इति पाठे तु स्पष्टम् ।
 एवं तस्याः कालात्मकं जगद्गङ्गकं क्रियास्वरूपमुपवर्ण्य वास्तवं
 स्वरूपं वर्णयति—शिवमिति ॥ २४ ॥ तत्र क्रियास्वरूपं
 तस्या अवोधदशमात्रदृश्यमवास्तवं, शिवरूपं तु बोधदृश्यं वास्त-
 वमित्याह—सेति ॥ २५ ॥ यदा बोधवशात्क्रियास्वभावाद्यावृत्त्य
 तथैव वास्तवस्वभावेनास्ते तदैव शिव इत्युच्यते । कूटस्थस्य
 चितिशक्त्यात्मिकाया देव्या आत्मनि स्वस्या अविद्यावशाद्य-
 त्प्रतिस्थानं प्रतिकूलस्पन्दजडभावेनावस्थानं तदेव क्रियेत्यु-
 च्यते ॥ २६ ॥ विद्यया यथाभूतचिन्मात्रस्वभावस्थितेरेव
 हेतोः शिव इत्युच्यते ॥ २७ ॥ तथा च कल्पितजगद्देहा-
 रिण्या नृत्ये कल्पिता गीतय इव तादृशशूर्पमुसलादिस्त्रग्दामभू-
 षणमेवोचितमिति नक्तुं भूमिकां रचयति—कल्पिताकारेति ।
 सन्तो विद्यमाना जनतावर्गा येषु । इमे वक्ष्यमाणाः सर्वे ॥ २८ ॥
 ॥ २९ ॥ पुरोडाशरूपं यदाद्यमदनीयं तच्छंतिनस्तन्निरूप्याः ।
 यज्ञानां द्रव्यदेवतानिरूप्यत्वादिति भावः ॥ ३० ॥ युद्धानामपि

समुत्पुण्डीगदाप्रासद्वयेभभटभासुराः ।
ज्ञातयो भूतसंधानां चतुर्दश सुरादिकाः ।
चतुर्दशान्विद्भीपोर्व्यस्तथा लोकाश्चतुर्दश ॥ ३२
श्रीराम उवाच ।

चित्तेः कल्पाः शरीरिण्याः सर्गा येऽङ्के स्थितास्तथा ।
ते किमात्मनि तिष्ठन्ति उतासत्या वदेति भो ॥ ३३
श्रीवासिष्ठ उवाच ।

रामासौ किल चिच्छक्तिस्तथा यच्चोदितं तथा ।
तत्प्रचेतितमेवातः सत्यं चेदमिवाखिलम् ॥ ३४
तत्प्रतिबिम्बितं बाह्यान्मुकुरप्रतिबिम्बवत् ।
सत्यं तदन्तरेवास्ति चित्तैर्नासत्यमर्थतः ॥ ३५
चिद्रूपस्य तथाप्यन्तः सत्संकल्पपुरं भवेत् ।
दृढध्यानाद्विशुद्धायाश्चित्तैर्भवतु सा कथम् ॥ ३६
आदर्शेष्वथवा स्वप्ने सर्गाः संकल्पनेऽस्तु वा ।
स आत्मन्यर्थकारित्वात्सत्य इत्येव मे मतिः ॥ ३७

योद्धृत्सर्गसंपत्त्यादिहेतुविहितकर्मत्वेन यज्ञसाम्यात्तदङ्गैः सह
निर्देशः । भूपालोद्धखलवृत्त्यादिषट्पदितस्यदामसंयुताः ॥ ३१ ॥
लोकाश्चतुर्दशैत्यन्तानां सर्वेषामिमे कल्पिताकारधारिण्या देव्या
धनन्यावयवा इति पूर्वत्र संबन्धः ॥ ३२ ॥ एवं प्रश्नद्वये
त्वया समाहितेऽपि मम प्राक्सर्गकृतद्वैतेत्ययौगपथासंभवश-
ङ्कायाः सम्यक् समाधानं न श्रुतम् । नष्टस्यासतोऽर्थक्रियाका-
रित्वासंभवात् । स्वसत्ताबलेन कार्यसत्तासपादनमेव हि कार-
णानां कार्यार्थक्रिया । उपादानेन कार्यस्य तत्तापहारश्च नाशः,
न चैकस्मिन्नेव काले कारणेन स्वकार्ये सत्ता संपाद्यते अपहियते
चेति शिष्यते । न वा सर्वकारणसदात्मप्रवृत्तसत्ताकैः पदार्थैः
प्रलये स्वस्वार्थक्रिया संभावयितुं शक्येत्याक्षयेन रामः पृ-
च्छति—चित्तेरिति । रुद्रकालीशरीरिण्याश्चित्तेरे प्रलयका-
लेऽप्यतीतानागताः सर्वे सर्गाः कल्पाः प्रलयाश्च स्थिता इति
यत्त्वया वर्णितं तत्र पृच्छामि । ये स्थिताः सर्गास्ते
किमात्मन्यर्थक्रियासमर्थे सत्त्वभावे तिष्ठन्ति उत असत्यास्ता-
दृशसत्त्वभावशून्या मृगतृष्णान्नुप्राया इति वदेत्यर्थः ॥ ३३ ॥
जगतः प्रलयस्य च कदाचिदपि नात्यन्तिकं सर्वं नाप्यसत्त्वं
किंतु सत्यसंकल्पानुसारिचिता सत्यमिति चेति तं सत्यमसदिति
चेतितमसत्त्वं न स्ततोऽस्य किंचिदप्यदेशार्हं रूपमस्ति । तथा च
प्रलयकालेऽप्येवमसर्गाः स्थिता अर्थक्रियासमर्थान् सत्संकल्प-
चितो दृष्ट्या । इतरसंकल्पदृष्ट्या तु ते न स्थिता न प्रलीनावेति
प्राग्वर्णितमेवेत्याक्षयेन वसिष्ठ उत्तरमाह—रामेत्यादिना ।
यद्वस्तुतया सत्यसंकल्पचिता तत्तद्भोक्तृवासनाकर्मबीजोद्भेदेन
सर्गाय वा प्रलयाय वा चोदितं तथा तैर्भोक्तृभिः प्रचेतितमनु-
भूतमेव । अतस्तदनुभविषुदृष्ट्या इदमखिलं सत्यमिव । चाद-
न्यदृशा अत्यन्ताप्रसिद्धेरसत्यमिव ॥ ३४ ॥ कृतः सत्यमिव त-
प्राह—तदिति । यतस्तद बाह्यान्मुखावेर्विम्बाविमित्तान्मुकुर-
प्रतिबिम्बवत् पूर्वानुभववासनादिनिमित्तात्तत्साक्षिचित्ति प्रति-

मम नार्थाय स इति वक्षि चेत्तत्कथं भवेत् ।
देशान्तरगताः सर्वे भवन्त्यर्थाय संप्रति ॥ ३८
यथा देशान्तरग्रामस्तत्रतस्यार्थकृद्भवेत् ।
सर्वे तथैव तद्भावं गतस्यार्थविनिश्चयात् ॥ ३९
यद्यथाभूतसर्वार्थक्रियाकारि प्रदृश्यते ।
तत्सत्यमात्मनोऽन्यस्य नैवातत्तामुपेयुषः ॥ ४०
तस्माच्चिच्छक्तिकोशस्याः सर्वाः सर्गपरम्पराः ।
सत्य आत्मेति तद्भावं गतस्यान्यस्य नाखिलाः ॥ ४१
भूतभव्यभविष्यस्थाः संकल्पस्रग्पूर्णगाः ।
सर्वे सत्याः परं तत्त्वं सर्वात्मा कथमन्यथा ॥ ४२
प्राप्यन्ते योगसिद्धेन तद्भावं तु गतेन ते ।
अन्येन पर्वता ग्रामा गत्या देशान्तरे यथा ॥ ४३
चालितस्य यथा गाढनिद्रस्य स्वप्नपत्तनम् ।
न लुठत्येव लुडितमित्यप्यनुमतं स्फुटम् ॥ ४४

विम्बितं तदन्तरेवास्ति अतोऽर्थतत्त्वं प्रति सत्यमेव ॥ ३५ ॥
कथं सर्वसत्त्वं तत्राह—चिद्रूपस्येति । तथा तदनुभवबलात्स-
त्यत्वेऽपि चिद्रूपस्यान्तरचिद्रूपस्य प्रवेशायोगात्तत्संकल्पनगर-
वन्मिथ्यैव भवेत् । अत एव ध्यानदाक्षेण वासनाक्षये तत्प्रस-
क्तिरेव नास्तीत्याह—दृढेति ॥ ३६ ॥ प्रतीतिमात्रेणादृश-
सत्यत्वं तु प्रतिबिम्बस्वप्नाद्यर्थानामपि सुबलं तेषामपि तदन्तः
स्वानुरूपार्थक्रियाकारित्वदर्शनादित्याह—आदर्शेष्विति ॥ ३७ ॥
स आदर्शान्तर्गतो घटादिर्मम बाह्यजलाहरणाद्यर्थाय समर्थो
नेति चेत् त्वं वक्षि वदसि तर्हि शृणु । तदादर्शान्तर्गतं बहिर-
र्थाय कथं भवेत् । न ह्यन्यत्र विद्यमानमन्यत्र जलाहरणाद्यसमर्थ-
मित्येतावता असद्भवति । किं तव देशान्तरगताः सर्वे घटा-
दयः संप्रति ते गृहे जलाहरणाद्यर्थाय समर्था भवन्तीति काकुः ।
देशान्तरे तेषामर्थक्रियाकारित्वमिव दर्पणस्वप्नाद्यन्तरार्थक्रिया तु
प्रतिबिम्बादेरप्यस्त्येवेत्याह—यथेति । सद्भावं स्वप्नादिदृष्टभा-
वम् ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ अत एव तत्तदर्थक्रियादृष्टदृष्टैव तत्सत्त्वं नान्यद-
ध्येति अथवस्थितं तस्य सत्यत्वमित्याह—यदिति । आत्मनस्तद-
प्राप्तमनः सत्यम् । अतस्तां अतद्गृहतामुपेयुषः अन्यस्य पुष्पस्य
दृशा नैव सत्यम् ॥ ४० ॥ तद्वदेव प्रकृतेऽपि योन्यमित्युप-
हरति—तस्मादिति ॥ ४१ ॥ अन्यथा तेषामसत्यत्वे सर्वात्मा
परं तत्त्वं कथं स्यात् । न ह्यत्यन्तासत्त्वत्वमात्मा वा प्रसिद्ध-
इति भावः ॥ ४२ ॥ अत एव परस्वप्नाद्यर्थो अपि योगिभिः
प्राप्यन्ते, इच्छया तपमुज्यन्ते चेत्याह—प्राप्यन्त इति । अन्ये-
न तत्स्वाप्रपुरुषातिरिक्तेनापि परकायप्रवेशेन तद्गृह्यं प्रविश्य
तन्मनोभावं गतेन यथा देशान्तरे विद्यमानाः पर्वतग्रामास्त्र-
गत्या प्राप्यन्ते तद्वत् ॥ ४३ ॥ दृष्टेन काल्यावलनेऽपि तद्गृह-
गतभूत्याद्यचलने दृष्टान्तमाह—चालितस्येति । मनैः पर्यङ्क-
स्थान्यत्र नयनेन शयनस्थलादन्यत्र चालितस्यापि ॥ ४४ ॥

तथा चलन्त्या लुठितं तस्या देहगतं जगत् ।
 न लुठत्येव मुकुरप्रतिविम्बमिव स्थितम् ॥ ४५
 स त्रैलोक्यमहारम्भः सत्योऽपि भ्रान्तिमात्रकम् ।
 भ्रान्तिमात्रस्य के नाम लुठनालुठने वद ॥ ४६
 कदा स्वप्नपुरं सत्यं कदा स्वप्नपुरं मुधा ।
 कदा स्वप्नपुरं भ्रमं कदा स्वप्नपुरं स्थितम् ॥ ४७
 भ्रान्तित्वं केवलं सैव दृश्यश्रियावदग्रगा ।

त्वं विद्धीमामपि भ्रान्तिं जगल्लक्ष्मीमवास्तवीम् ॥४८
 संकल्पने मनोराज्ये स्वप्ने संकथने भ्रमे ।
 यथापुरानुभवनं त्रैलोक्यानुभवं तथा ॥ ४९
 अहमिति जगदिति नान्त-
 भ्रान्तिरियं प्रकचतीव चितः ।
 परमाकाशकृशाख्या
 शाम्यति निपुणं परिज्ञाता ॥ ५०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० शिवशक्तिवर्णनं नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमः सर्गः ८५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 इति नृत्यति सा देवी दीर्घदोर्दण्डमण्डलैः ।
 परिस्पन्दात्मकैर्व्योम कुर्वाणा धनकाननम् ॥ १
 क्रियासौ नृत्यति तथा चित्तिशक्तिरनामया ।
 अस्या विभूषणं शूर्पकुहालपटलादिकम् ॥ २
 शरशक्तिगदाप्रासमुखलादि शिलादि च ।
 भावाभावपदार्थौघकलाकालक्रममादि च ॥ ३
 चित्स्पन्दोऽन्तर्जगद्धत्ते कल्पनेव पुरं हृदि ।
 सैव वा जगदित्येव कल्पनैव यथा पुरम् ॥ ४
 पवनस्य यथा स्पन्दस्तथैवेच्छा शिवस्य सा ।
 यथा स्पन्दोऽनिलस्यान्तः प्रशान्तेच्छस्तथा शिवः ॥५
 अमूर्तो मूर्तमाकाशे शब्दाडस्वरमानिलः ।
 यथा स्पन्दस्तनोत्येवं शिवेच्छा कुरुते जगत् ॥ ६
 नृत्यन्त्याथ यदा तत्र तथा तस्मिन्परास्वरे ।

काकतालीययोगेन संरम्भवशतः स्वयम् ॥ ७
 निकटस्थः शिवः स्पृष्टः स मनागभ्रमन्तिकम् ।
 वाडवोऽग्निः खनाशाय वह्नत्येवाम्बुलेखया ॥ ८
 स्पृष्टमात्रे शिवे तस्मिन्ततः परमकारणे ।
 प्रवृत्ता प्रकृतिं गन्तुं सा शनैस्तनुतां तथा ॥ ९
 अनन्ताकारतां त्यक्त्वा संपन्ना गिरिमात्रिका ।
 ततो नगरमात्रासौ ततश्च द्रुमसुन्दरी ॥ १०
 ततो ज्योमसमाकारा शिवस्यैवाकृतिं ततः ।
 सा प्रविष्टा सरिच्छान्तसंरम्भेव महार्णवम् ॥ ११
 एक एवाभवदथो शिवया परिवर्जितः ।
 शिव एव शिवः शान्त आकाशे शमनोऽभितः ॥१२
 श्रीराम उवाच ।
 भगवज्जिह्वसंस्पृष्टा सा शिवा परमेश्वरी ।
 किमर्थमागता शान्तिमिति मे ब्रूहि तत्त्वतः ॥ १३

दार्ष्टान्तिके योजयति—तथेति ॥ ४५ ॥ तदचलने युक्त्यन्तर-
 माह—स इति ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ इमां इदानीं तनीमपि ॥ ४८ ॥
 तथा त्रैलोक्यानुभवं विद्धीत्यनुषज्यते ॥ ४९ ॥ चितः अन्तः
 अहमिति जगदिति च वस्तुतो नास्ति । परंतु इयं आकाशः
 कृश इतीव आख्यायत इत्याख्या भ्रान्तिः क्वचि । न ह्यकाशे
 काश्यं काष्ण्यं वास्ति । सा ह्यज्ञानाद्भ्रान्तिः । अत एव निपुणं
 परिज्ञाता शाम्यतीत्यर्थः ॥ ५० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शिवशक्तिवर्णनं नाम
 चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

देवास्तथा प्रनृत्यन्त्या इष्टा स्पृष्टा च तं शिवम् ।

प्रेम्णा सदग्ने विलयादेकीभावोऽत्र धर्ष्यते ॥ १ ॥

परिस्पन्दात्मकैर्दीर्घदोर्दण्डमण्डलैर्व्योम धनं काननं कुर्वाणा
 सा देवी इति प्रागुक्तीत्या नृत्यति ॥ १ ॥ अज्ञातस्वतत्त्वा
 चित्तिशक्तिरेवासौ क्रिया । सा च तथा नृत्यति स्वभावादेवेत्यर्थः
 ॥ २ ॥ ३ ॥ अज्ञातस्पन्दश्चक्राकारमिव स चित्स्पन्द एव
 जगदाकारं धत्ते इत्याह—चित्स्पन्द इति । यथा मनोराज्यक-
 ल्पनैव हृदि पुराकारं धत्ते तद्वत् । अथवा जगदेव सा न भेद

इत्याह—सैवेति ॥ ४ ॥ अथ शिवेच्छा सा शिवाभिज्ञेत्याह—
 पवनस्येति । इच्छात्मिकायास्तस्याः कथं पूर्णकामशिवाभेदस्त-
 त्राह—यथेति । यथा अनिलस्यान्तः स्पन्दो नानिलस्वरूपा-
 दन्य इत्यस्पन्द एव । एवं शिवेच्छापि शिवादनन्येत्यनिच्छैव तद्व-
 द्येति भावः ॥ ५ ॥ कथममूर्ताया इच्छया मूर्तजगदाकारस्त-
 त्राह—अमूर्त इति । आनिलः अनिलाश्रितः स्पन्दः ॥ ६ ॥
 संरम्भः प्रेमनिर्भरस्तद्वशतो यदा शिवः स्पृष्टस्तदा प्रकृतिं गन्तुं
 प्रवृत्तेति व्यवहितेनान्वयः ॥ ७ ॥ अन्तिकं अभ्रमिव तिरोधा-
 यकं स्वावरणशक्त्यंशं मनाक् अपनीयेति शेषः । यथा वह्न्या
 समुद्राम्बुलेखया वाडवोऽग्निः खनाशाय स्पृश्यते तद्वत् ॥ ८ ॥
 प्रकृतिं अव्यक्तभावम् ॥ ९ ॥ तत्रादौ भौतिकानन्ताकारत्यागेन
 भूतमात्रभावमाह—अनन्तेति । ततः पञ्चीकरणत्यागेन सूक्ष्म-
 भूतात्मना नगरमात्रा । ततो विचित्रवासनामात्रपल्लवशाखाशा-
 लित्वात् द्रुम इव सुन्दरी ॥ १० ॥ अव्याकृतज्योमसमाकारा
 ॥११॥ आकाशे प्रागवर्णिते शमनः सर्वसंहर्ता सर्वोपश्रवशान्त्या
 शिव एक एवाभितोऽभवत् ॥१२॥ किमर्थं किंनिमित्तम् ॥१३॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सा राम प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी ।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरुचिमा ॥ १४
स परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पवनाकृतिः ।
शिवरूपधरः शान्तः शरदाकाशशान्तिमान् ॥ १५
भ्रमति प्रकृतिस्तावत्संसारे भ्रमरुषिणी ।
स्पन्दमात्रात्मिका सेच्छा चिच्छक्तिः पारमेश्वरी ॥ १६
यावन्न पश्यति शिवं नित्यवृत्तमनामयम् ।
अजरं परमाद्यन्तवर्जितं वर्जितद्वयम् ॥ १७
संविन्मात्रैकधर्मित्वात्काकतालीययोगतः ।
संविद्देवी शिवं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम् ॥ १८
प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्जति ।
तदन्तरेकतां गत्वा नदीरूपमिवार्णवे ॥ १९
आपगा हि पयोमात्रं सङ्गे अणैव एव सा ।
यदा तदा तमेवाशु प्राप्य तत्रैव लीयते ॥ २०
चित्तिः शिवेच्छा सा देवं तमेवासाद्य शाम्यति ।
जन्मस्थानशिल्पा प्राप्य तीक्ष्णधारा यथायसी ॥ २१
पुंसदृष्ट्या निजच्छाया प्रविष्टस्य शरीरकम् ।

यथाशु प्रविश्यत्येव प्रकृतिः पुरुषं तथा ॥ २२
चेतित्वा चित्रिजं भावं पुरुषाख्यं सनातनम् ।
भूयो भ्रमति संसारे नेह तप्तां प्रयाति हि ॥ २३
साधुर्वसति चोरोधे तावदावदसौ नतम् ।
परिजानाति विज्ञाय न तत्र रमते पुनः ॥ २४
द्वैते तावदसद्रूपे रमते भ्रमते चित्तिः ।
परं पश्यति नो यावत्तं दृष्ट्वा तन्मयी भवेत् ॥ २५
चित्तिनिर्वाणरूपं यत्प्रकृतिः परमं पदम् ।
प्राप्य तत्तामवाप्नोति सरिदब्धाविवाग्धिताम् ॥ २६
तावद्विमोहवशतश्चित्तिराकुलेषु
सर्गेषु संसरति जन्मदशासु तासु ।
यावन्न पश्यति परं तमथाशु दृष्ट्वा
तत्रैव मज्जति यनं मधुनीव भृङ्गी ॥ २७
संप्राप्य कस्यजतिं नाम तदात्मतत्त्वं
प्राप्यानुभूय च जहाति रसायनं कः ।
शाम्यन्ति येन सकलानि निरन्तराणि
दुःखानि जन्ममृतिमोहमयानि राम ॥ २८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वा० दे० सो० निर्वाणप्रकरणे स० पाष्ठा० प्रकृतिपुरुषक्रमवर्णनं नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

षडशीतितमः सर्गः ८६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

शृणु राम कथं तत्र महाकाशे तथा स्थितः ।
देहे भ्रान्तिं तु तां त्यक्त्वा स रुद्रोऽप्युपशाम्यति ॥ १
स रुद्रस्तौ जगत्खण्डौ तदा चित्रं द्वार्षिताः ।
निरुपन्दा एव तत्रासन्प्रेक्षमाणे स्थिते मयि ॥ २
ततो मुहूर्तमात्रेण स रुद्रस्तौ नभोन्तरे ।

॥ १४ ॥ १५ ॥ सा पारमेश्वरी इच्छा ॥ १६ ॥ तथा श्वेच्छाया इष्टप्रा-
प्तिपर्यन्तमेव स्पन्दसत्तामसौ तु शान्तिरेवोचितेति भावः ॥ १७ ॥
॥ १८ ॥ प्रकृतित्वं कार्यकारपरिणामम् ॥ १९ ॥ अत्रोपप-
त्तिमाह—आपगोत्यादि ॥ २० ॥ आयसी अयोविकारधुरादि-
संविन्धनी धारेव ॥ २१ ॥ वनादिच्छायां प्रविष्टस्य पुंसो
निजच्छाया यथा तच्छरीरकं प्रविशति तद्वत् ॥ २२ ॥ तर्हि
वनाद्वहिर्निर्गमने पुनश्चायेव ब्रह्मप्राप्तस्यापि पुनः संसृतिः
स्यात्तत्राह—चेतित्वेति । पुनरागमने निमित्तस्याज्ञानस्य बाधा-
दिति भावः ॥ २३ ॥ पुनः संसारेच्छायां हि पुनरागमः
संभाव्येत तत्त्वबोधे सैव दुर्लभेत्याह—साधुरिति । चोरोधे
आन्त्या यावत्संहितं परिजानाति । चोरोऽयं ममाहित इति वि-
ज्ञाय तु तत्र न रमते ॥ २४ ॥ २५ ॥ यद्यस्माच्चित्तिनिर्वाणं
प्रशान्तं रूपमेव परमं निरतिशयानन्दं पदं तत्तस्मात्प्रकृतिरह-
चिदपि ज्ञानेन तत्प्राप्य तत्तामवाप्नोति ॥ २६ ॥ उक्तमेवार्थं

खण्डौ विलोकयामास दशार्कणेव रोदसी ॥ ३
ततो निमेषमात्रेण घोणाश्वासेन खण्डकौ ।
तौ समानीय चिक्षेप पातालान्तरिवानने ॥ ४
अतिष्ठदेक एवासावेकं खे खमिवाखिले ।
भुक्तब्रह्माण्डखण्डोऽग्रमण्डमण्डकमण्डलः ॥ ५

इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
प्रकृतिपुरुषक्रमवर्णनं नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

ब्रह्माण्डखण्डोऽग्रमण्डमण्डकमण्डलः ।

चिदाकाशे तिरोभावः शिलायामत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

तत्प्रदेशान्तरेष्वन्यशिलावृक्षवृणादिषु ।

सर्वत्र सर्गवैचित्र्यदर्शनं ब्रह्मणीयते ॥ २ ॥

तत्रादौ रुद्रदेहोपसंहारकर्मं श्रावयति—शृण्विति । यथा इत्यर्थे
कथंशब्दः । स प्राग्वर्णितप्रभावः ॥ १ ॥ तौ जगत्खण्डौ ऊर्ध्वपक्षा
नब्रह्माण्डखण्डे चेति त्रयोऽपि चित्रे अर्पिता लिखिता इव निरुप-
एव तत्राकाशे तदा आसन् ॥ २ ॥ अर्केण सूर्यात्मिकया दृशा रोदसी
यावाभूमी इव । 'कोणेन' इति पाठे कटाक्षेण रोदसी यावाभूमीभूतौ
तौ जगत्खण्डाविति व्याख्येयम् ॥ ३ ॥ घोणा नासिका तदुप-
लक्षितमुखाकृष्टेन श्वासेन ॥ ४ ॥ भुक्ते ब्रह्माण्डखण्डलक्षणे
उभे क्षीरमण्डं च मण्डकं मण्डलं चेत्येते द्वे येन । जलया-

ततो मुहूर्तमात्रेण लघुः सोऽभ्रमिवाभवत् ।
 ततोऽभवद्यष्टिसमस्ततः प्रादेशमात्रकः ॥ ६ ॥
 ततः काचकणाकारो मया दृष्टः स तादृशः ।
 ततः सोऽणुभवन्दृष्टो मया खाद्विव्यदृष्टिना ॥ ७ ॥
 परमाणुरथो भूत्वा ततस्त्वन्तर्द्धिमाययौ ।
 इत्यसौ शममायातः शरदम्बुदखण्डवत् ॥ ८ ॥
 तादृशोऽपि महारम्भः पुरः पश्यत एव मे ।
 इति सावरणे तेन ते ब्रह्माण्डकवाटके ॥ ९ ॥
 विनिर्णीते ध्रुवार्तेन हरिणेनेव पर्णके ।
 अथाभ्रमिर्मलं व्योम शान्तं ब्रह्मैव केवलम् ॥ १० ॥
 अनादिमध्यपर्यन्तं संविदाकाशमात्रकम् ।
 इत्यहं दृष्ट्वास्तत्र कल्पान्तमुखविभ्रमम् ॥ ११ ॥
 दर्पणप्रतिविम्बाभं शिलाशकलकोटरे ।
 अथ तामङ्गनां स्मृत्वा तां शिलां तच्च विभ्रमम् ॥ १२ ॥
 राजद्वारगतो ग्राम्य इवाहं विस्रयं गतः ।
 तामालोकितवान्भूयः कलधौतशिलामहम् ॥ १३ ॥
 यावत्सर्वत्र सन्त्यत्र सर्गाः काल्या इवाङ्गके ।
 बुद्धिनेत्रेण दृश्यन्ते दिव्याक्षणा वा न ते यथा ॥ १४ ॥
 सर्वत्र सर्वदा सर्वं यदस्येव तदा तथा ।
 दूरवत्प्रेक्ष्यते मांसदृशा यद्येव सा शिला ॥ १५ ॥
 दृश्यते तच्छिलैवैका न तु सर्गादि किञ्चन ।
 सावस्थिता शिलैवैकरूपा निविडमण्डला ॥ १६ ॥
 कलधौतमयी स्फारा संध्याजलदसुन्दरी ।
 ततोऽहं विस्रयाविष्टः प्रविचारितवान्पुनः ॥ १७ ॥
 शिलायामपरं भागं तथैव परया दृशा ।
 यावत्तमपि पश्यामि जगदारम्भमन्धरम् ॥ १८ ॥

तथैव सुषिराकार इव नानार्थसुन्दरम् ।
 पुनरन्यं तथैवाहं प्रदेशं परिदृष्टवान् ॥ १९ ॥
 सर्गसंरम्भवलितं यावत्तमपि तादृशम् ।
 यं यं प्रदेशं पश्यामि शिलायास्तत्र तत्र वै ॥ २० ॥
 जगत्पश्यामि विमलमादर्श इव विम्बितम् ।
 मयातिकौतुकेनाथ सर्वास्तस्य गिरेः शिलाः ॥ २१ ॥
 अन्विष्टा भूतिभागाश्च तृणगुल्मादयस्तथा ।
 यावत्सर्वत्र तत्तादृजगदस्ति यथास्थितम् ॥ २२ ॥
 बुद्धयैव दृश्यते नाक्षणा परया विविधाकृति ।
 क्वचित्प्रथमसर्गात्म जायमानप्रजापति ॥ २३ ॥
 कल्प्यमानर्क्षचन्द्रार्कदिनरात्र्युत्पत्सरम् ।
 क्वचित्क्वचिन्महीपीठसंपन्नजनमण्डलम् ॥ २४ ॥
 क्वचित्क्वचिदखातोग्रचतुःसागरखातकम् ।
 क्वचित्क्वचिदसंजातसुरसंजातदानवम् ॥ २५ ॥
 क्वचित्क्वचित्कृतयुगाचारसज्जनभूतकम् ।
 क्वचित्क्वचित्कलियुगाचारदुर्जनभूतकम् ॥ २६ ॥
 क्वचित्क्वचित्पुरव्यूहदैत्यसंगरदुस्तरम् ॥ २७ ॥
 क्वचित्क्वचिन्महाशैलजालनिर्विवरावनि ।
 क्वचित्क्वचिदसंपन्नसर्गमेकाम्बुजोद्भवम् ॥ २८ ॥
 क्वचित्क्वचिज्जरामृत्युन्मुक्तभूतलमानवम् ।
 क्वचित्क्वचिदसंजातचन्द्रशून्यशिरःशिवम् ॥ २९ ॥
 अनिर्मथितदुग्धाब्धिमृत्युमत्सुरपूरितम् ।
 असंजातामृताश्वेभवैद्यगोकमलाविषम् ॥ ३० ॥
 शुक्रामरमहाविद्यानाशनोत्कसुरव्रजम् ।
 क्वचित्क्वचिच्च गर्भाङ्गकर्तनोत्कसुरेश्वरम् ॥ ३१ ॥
 अपरिम्लानधर्मत्वात्स्वप्रकाशाखिलव्रजम् ।

वरणलक्षणक्षीरमण्डसहिते वा ब्रह्माण्डखण्डमण्डकमण्डले द्वे व्या-
 ख्येये । क्षीरमण्डेन सह हि मण्डकमण्डलं तद्भुजां रोचते ॥ ५ ॥
 अभ्रमिव लघुरभवत् । यष्टिर्दण्डस्तत्समः ॥ ६ ॥ काच-
 कणः सूक्ष्मं काचशकलम् । खादाकाशादप्यणुभवत् ॥ ७ ॥
 ॥ ८ ॥ ९ ॥ अल्पे पर्णे पर्णके । निर्मलं दृश्यकालुष्यरहितम्
 ॥ १० ॥ पापाणोदरसंसारकयासमाप्तिं सूचयन्नपसंहरति—
 इत्यहमिति । कल्पान्तं महाप्रलयम् ॥ ११ ॥ तामङ्गनां
 विद्याधरीम् ॥ १२ ॥ ग्रामे भवो ग्राम्यः कदाप्यदृष्टनगरो
 जन इव । तां शिलां पूर्वदृष्टप्रदेशात् प्रदेशान्तरेष्वप्यालोकित-
 वान् ॥ १३ ॥ यावदिति साकल्ये यत इत्यर्थे वा । प्राग्दृष्टे
 काल्या अभ्रके शरीरे इव सर्वत्र सर्गाः सन्ति । 'कल्पा इव' इति
 पाठे कल्पाः सर्गा इवेति मिथ्यात्वसूचक इवशब्दो व्याख्येयः ।
 ते सर्गाः ॥ १४ ॥ यदि सा शिला मांसदृशैव दूरस्थवस्तुवदा-
 पाततः प्रेक्ष्यते तत्तर्हि एका शिलैवेत्यन्वयः ॥ १५ ॥
 ॥ १६ ॥ संध्याजलदस्य काचनवर्णप्रविद्धेः स इव सुन्दरी
 ॥ १७ ॥ जगदारम्भमन्धरं संक्लिष्टम् । 'अन्धरम्' इति पाठे तु

१ शिलान्तर्गतं ब्रह्मवृत्तं लयपर्यन्तं तद्विलास चेत्यर्थः.

जगतामारम्भा यत्र तथाविधमन्धरं यस्मिन् ॥ १८ ॥ तथा पूर्व-
 दृष्टप्रदेशवदेव सुषिराकारे नानार्थसुन्दरम् । इवशब्दो मिथ्यात्व-
 द्योतकः ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ परया आधिभौतिक-
 देहभावभ्रान्तिशून्यया सर्वसाक्ष्यहंभावबुद्धौ । तत्र तत्र दृष्टा-
 न्विशेषान्प्रपञ्चयति—क्वचिदित्यादिना । प्रायशो बहुव्रीहयः
 सर्वत्र । जायमानः प्रजापतिर्यस्मिन् । जायमानप्रजापतिना
 कल्प्यमानर्क्षेत्याद्युत्तरश्लोकार्धेन सह तत्पुरुषघटितबहुव्रीहिर्वा
 ॥ २३ ॥ महीपीठे संपन्नं जनमण्डलं यत्र ॥ २४ ॥ सागरपुत्रै-
 रद्याप्यखातमुग्रं चतुःसागरखातकं यत्र । अजातसुरं च तत्सं-
 जातदानवं च ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ एकं अम्बुजोद्भवो
 दृष्टिण एव यस्मिन् ॥ २८ ॥ असंजातचन्द्रत्वाद्भूषणशून्य-
 शिराः शिवो यस्मिन् ॥ २९ ॥ वैद्यो घन्वन्तरिः । गावः का-
 मधेनवः । कमला लक्ष्मीः । विषं कालकूटम् ॥ ३० ॥ शुकेण
 तपसा साध्यमानाया अमरमहाविद्यायाः मृतसंजीवनाख्याया-
 स्तपोविघ्नावरणेन नाशने उत्क उत्कण्ठितमनाः सुरव्रजो यत्र ।
 किञ्चित् भाविस्वशत्रुविनाशमुद्दिश्य दितेरुदरं प्रविश्य तद्गर्भ-
 स्थापानां कर्तने उत्कः सुरेश्वर इन्द्रो यत्र ॥ ३१ ॥ पूर्वस्मात्प्र-

कचित्किञ्चिच्च पूर्वान्यसंनिवेशक्रमस्थिति ॥ ३२
 अपूर्ववेदशास्त्रार्थसमाचारविचारणम् ।
 कचित्किञ्चिच्च कल्पान्तसंक्षोभमिव संस्थितम् ॥ ३३
 कचित्किञ्चिच्च दैत्यौघविलुण्ठितसुरालयम् ।
 कचित्किञ्चित्सुरोद्यानगायद्गन्धर्वकिन्नरम् ॥ ३४
 कचित्किञ्चित्समारब्धगीर्वाणासुरसौहृदम् ।
 भूतभज्यभविष्यत्स्थजगदाडम्बरं मया ॥ ३५
 तदानुभूतं वपुषि महाविश्वगणात्मनि ।
 एकत्र कल्पविश्रुब्धपुष्करावर्तमन्थरम् ॥ ३६
 एकत्र सौम्यसकलभूतसंततिसंस्थितम् ।
 एकत्र समनुक्षुब्धसुरासुरनरेश्वरम् ॥ ३७
 एकत्रासंभवद्भानुनित्याभिन्नतमोघनम् ।
 एकत्रासंभवद्भान्तं कान्तं ज्वालोदरोपमम् ॥ ३८
 एकत्र नलिनीनालनिलीनमधुकैटभम् ।
 एकत्र पद्ममङ्गुषासुप्तबालनवाकजम् ॥ ३९
 एकत्रैकार्णवोदग्रवृक्षविश्रान्तमाधवम् ।
 एकत्र कल्परजनीनिःशून्यतिमिराकुलम् ॥ ४०
 शिलाजठरनिस्पन्दं व्योमैव वितताकृति ।
 सुषुप्तजठरकारमप्रज्ञातमलक्षणम् ॥ ४१
 अप्रतर्क्यमविज्ञेयं सुषुप्तमिव सर्वतः ।
 एकत्र पक्षविश्रुब्धशैलकाकाकुलाम्बरम् ॥ ४२
 एकत्र वज्रनिष्पेषद्रवद्रुधरभासुरम् ।
 एकत्रोद्धतमत्ताग्विद्विषमाणधराचलम् ॥ ४३
 एकत्र पुरवृत्रान्धबलिसंगरसंकुलम् ।
 एकत्र भक्तपातालजकम्पिवसुन्धरम् ॥ ४४
 एकत्र शेषशिरसः कल्पान्तलुठितावनि ।
 क्वचिदल्पेन रामेण हतरावणराक्षसम् ॥ ४५
 रक्षसा रावणेनैव क्वचिद्विहतराधवम् ।

तिस्रसंनिवेशक्रमाद्व्यसंनिवेशक्रमा पदार्थस्थितिर्यस्मिन् ॥ ३२ ॥
 ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ अमृतमन्यनार्थं समारब्धं गीर्वाणानामसुराणां
 च परस्परसौहृदं यत्र ॥ ३५ ॥ महाविश्वगणात्मनि मायाश-
 बलचिद्वपुषि तदा मया एवं विविन्नजगदाडम्बरमनुभूतमित्य-
 न्वयः । तमेव जगदाडम्बरं पुनः प्रपञ्चयति—एकत्रेत्यादिना
 ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ नित्यमभिज्ञेन अविनाशितेन तमसा चनम्
 ॥ ३८ ॥ भगवन्नाभिनलिनीनाले निलीनौ मधुकैटमौ यत्र
 ॥ ३९ ॥ एकत्रैव प्रलये उदये उन्नताग्रे अक्षयवटवृक्षे पत्रपुटे
 विश्रान्तौ माधवौ यत्र । आलोकनिःशून्येन गाढेन तिमिरेणा-
 कुलम् ॥ ४० ॥ भूत्याद्यनुत्पत्तेर्व्योममात्रोत्पत्तेर्व्योमैव एकत्रे-
 त्यनुषज्यते ॥ ४१ ॥ पक्षच्छेदामावात्पक्षैर्विश्रुब्धः शैला एव
 काका इव काकास्तैराकुलाम्बरम् ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ पुराणां
 त्रिपुराणां दृत्रस्य अन्धकस्य धलेय संगरैः संकुलम् । मत्तैः पा-
 तालगजैर्दिग्गजैः कम्पिनी वसुन्धरा यत्र ॥ ४४ ॥ अल्पेन

भूस्थपादेन देवादृशिरस्यशिरस्ता परम् ॥ ४६
 पद्माम्बुम्बरमाक्रान्तं क्वचिद्वै कालनेमिना ।
 क्वचिच्चापसुरैर्नित्यं दानवैरेव पालितम् ॥ ४७
 क्वचिच्च अष्टदनुजैरमरैरेव पालितम् ।
 जिष्णुयुक्तेन गुप्तेन विष्णुपाण्डवकौरवैः ॥ ४८
 क्वचिद्भारतयुद्धेन निहताक्षौहिणीगणम् ।
 श्रीराम उवाच ।
 किमहं भगवन्पूर्वमभवं कथयेति मे ॥ ४९
 अभवं चेदनेनैव संनिवेशेन तत्कथम् ।
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 सर्वं एव विवर्तन्ते राम भावाः पुनःपुनः ॥ ५०
 पूर्यमाणा यथा माषाः क्रमेणान्येन तेन वा ।
 सर्वक्रमसमाः केचित्तथैवान्येन वा मिथः ॥ ५१
 स्फुरन्त्यर्थसमा भावाः केचिद्विधतरङ्गवत् ।
 पुनस्त्वं पुनरेवाहं पुनः पुनरिमे जनाः ॥ ५२
 न कदाचन नैवान्ये संभवन्त्यखिलं परे ।
 त एवान्येऽथवाम्भोघौ तरङ्गा इव निर्णयः ॥ ५३
 यद्वन्न जायते तद्वद्भूतानां भ्रमतां भवेत् ।
 आयान्ति यान्त्यनन्तानि भूतानीह भवद्भूमैः ॥ ५४
 तान्येवान्यानि चान्यानि समानि विषमाणि च ।
 आवृत्तिमन्ति तान्येव तथैवान्यानि चाभितः ॥ ५५
 विद्धि सीकरजालानि भूतानि जगदम्बुधेः ।
 विचयन्ध्रुवयःकर्मविद्याविज्ञानचेष्टितैः ॥ ५६
 तैरेव केचिज्जायन्ते भूयोभूयः शरीरिणः ।
 अर्धैस्तैः सदृशाः केचित्केचित्पादेन तैः समाः ॥ ५७
 तज्जीवास्तैर्विसदृशा भवन्त्यन्यशरीरिणः ।
 सर्वैरेभिः समाः केचित्कालेनैव विलक्षणाः ।
 कालेन सदृशाः केचिदनेन च विलक्षणाः ॥ ५८

कालेनैव रामेण ॥ ४५ ॥ निहतः सीताहरणेन वधितो
 राघवो यत्र ॥ ४६ ॥ अपसुरैरपसारितदेवैः ॥ ४७ ॥
 जिष्णुरर्जुनस्तद्युक्तेन । विष्णुना कृष्णेन । गुप्तेन पालितसजनेन
 ॥ ४८ ॥ 'क्वचिदल्पेन रामेण' इत्यादि श्रुत्वा साधर्यो रामः पृ-
 च्छति—किमहमिति ॥ ४९ ॥ अनेन इदानीं दृश्यमानेना-
 वयवाकृतिसंनिवेशेनाभवं किंवा अन्यादृशेनेत्यर्थः ॥ ५० ॥
 पूर्यमाणाः कुम्भकुण्डलादौ पुनःपुनस्तेनान्येन च क्रमेण संनिवे-
 शेन यथा विवर्तन्ते तद्वदित्यर्थः । तथा प्राक्नयाकुला भ-
 न्येन वा आकारेण ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ तद्वदृशा त्वाह—न
 कदाचनेति । मायादृशा त एव जायन्ते अन्ये वा जायन्ते
 इत्यनिर्णय एवेत्याह—त एवेति । निर्णयो यद्वन्न जायते इत्य-
 न्वयः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ इदं च प्राक्पुनश्चान्यवहासक-
 रणे उक्तमेवेति स्मारयत्यदेवाह—विनेति ॥ ५६ ॥ ५७ ॥
 जीवैक्ये सदृशान्येव शरीराणि भवन्तीत्यन्यनियम इत्याह—
 छान्दसः समासः ।

कालेनाकुलचेष्टयान्य इव ते गच्छन्त्यधोर्ध्वं पुन-
र्देहालेखनखेदितान्यगणितान्यन्यानि चान्यान्यलम्
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाण० उ० पाषा० जगदन्यायत्ववर्णनं नाम षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

भूताम्बूनि वहन्ति संसृतिमये तान्यम्बुधौ चञ्चले
चक्रावृत्तिमयानि संकलयितुं शक्नोति कस्तान्यलम्

सप्ताशीतितमः सर्गः ८७

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ततश्चिदाकाशवपुर्व्याप्यनन्तो निरामयः ।
दत्तावधानो वपुषि तदा पश्याम्यहं क्वचित् ॥ १
यावदन्तर्गतः सर्गः संस्थितोऽङ्कुरितोपमः ।
कुसूलस्येव बीजस्य सिक्तस्येवाङ्कुरो हृदि ॥ २
ऊर्ध्वमुच्छ्रूयन् एवान्तःसेकाद्बीजे यथाङ्कुरः ।
आकारवत्यनाकारे चित्त्वाचित्त्वे तथा जगत् ॥ ३
यथोन्मिषति हृदयश्रीः सुपुष्पाद्बोधमेयुषः ।
जाग्रद्वा विगते स्वप्ने चिन्मात्रस्य स्वचेतनात् ॥ ४
तथैवात्मनि सर्गादावनुभूतस्वरूपिणि ।
हृदि सर्गोदयो नान्यरूप आकाशरूपतः ॥ ५

श्रीराम उवाच ।

आकाशरूप आकाशे परमाकाश कथ्यताम् ।

भूयो निपुणबोधाय कथं सर्गः प्रवर्तते ॥ ६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

शृणु राम यथापूर्वं स्वयंभूत्वं मया तदा ।
अनुभूतमस्तत्सद्विदं स्वप्नपुरोपमम् ॥ ७
तमालोक्य महाकल्पसंभ्रमं व्योमरूपिणा ।
भागेऽन्यत्र शरीरस्य संविदुन्मेषिता मया ॥ ८
यदैव सामला संवित्किंचिदुन्मेषिता स्थिता ।
तदैवाहं क्वचित्तत्र पश्याम्याकाशतामिव ॥ ९
गतं स्वभावं चिद्व्योम यथा त्वं राम निद्रया ।
जाग्रद्वा स्वप्नलोकं वा विशन्वेत्सि समं धनम् ॥ १०
दिङ्मात्राकाशमेवादौ ततोऽस्मीत्येव वेदनम् ।
तद्धनं कथ्यते बुद्धिः सा घना मन उच्यते ॥ ११

तज्जीवा इति । एवं जीवभेदे विसदृशान्येव तानीत्यप्यनियम
इत्याशयेनाह—सर्वैरिति । अनेन शरीरेण ॥ ५८ ॥ यस्मा-
त्कारणात् जीवा रागद्वेषभोगलम्पट्यादिदोषाकुल्या विचित्र-
धर्माधर्मचेष्टया । कालेन विचित्रनानादेहधारणादन्येऽन्ये इव
भूत्वा अधोलोकेपूर्वं स्वर्गादिषु च पुनः पुनर्गच्छन्ति । अधो-
र्ध्वमिति यलोपासिद्धेः संधिरार्षः । तस्मात्कारणाच्चञ्चले संसृति-
मये अम्बुधौ चक्रावर्तत्रयाणि यानि भूताम्बूनि वहन्ति तानि
सदृशानि विसदृशानीति वा तान्येवान्यानीति वा अलं सम्यक्
संकलयितुं निर्धारयितुं कः पुरुषः शक्नोतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
जगदन्यायत्ववर्णनं नाम षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

वसिष्ठेन स्वदेहेऽत्र वर्ण्यते विश्वकल्पनम् ।

स्वस्यैव हि स्वयंभूत्वं तन्वक्षाद्युद्भवक्रमात् ॥ १ ॥

कलधौतशिलावृक्षतृणगुल्मलतादिष्विव मया स्वशरीरावयवे-
ष्वप्यवहितदशा सर्गा दृष्टा इत्याह—तत इति । ततः शिलातृ-
णगुल्मादिषु विचित्रसर्गदर्शनानन्तरम् ॥ १ ॥ कथमङ्कुरितोप-
मस्तदाह—कुसूलस्येति । कुसूलस्य हृदि वृष्टिसिक्तस्य बीज-
स्येव ॥ २ ॥ आकारवति मूर्ते अनाकारे अमूर्ते चित्त्वाचित्त्वे
चेतनाचेतने सर्ववस्तुनि अन्तःसेकादूर्ध्वमुच्छ्रूयन् बीजेऽङ्कुर इव
जगदस्तीति शेषः ॥ ३ ॥ स त्वया समाधौ कथमनुभूतस्त-
त्राह—यथेति । यथा सुपुष्पात्सकाशाद्बोधं स्वप्नदर्शनमेयुषधि-
न्मात्रस्य पुंसः स्वचेतनात्स्वाप्रदृश्यधोरुन्मिषति । विगते वा
स्वप्ने बोधमेयुषो जाग्रत्प्रपद्य उन्मिषति तथैवेत्यत्रेऽन्वयः ॥ ४ ॥

यो० बा० १५९

॥ ५ ॥ हृदि सर्गोदय इति लया हृत्पदेन हृदयाकाश उक्तः,
आकाशरूपत इति च चिदाकाश इति मया त्वदभिप्रायोऽवगत
इति संबोधनेन सूचयन् रामः स्फुटपरिज्ञानाय विस्तरात्पुनः
कथयेति प्रार्थयते—आकाशेति । हृदयाकाश परमाकाशरूप हे
वसिष्ठ, चिदाकाशरूपे त्वयि कथं सर्गः प्रवर्तते तत्पुनः कथ्य-
तामित्यर्थः ॥ ६ ॥ पृष्ठमर्थं विस्तरादङ्कुरं प्रतिजानीते—शृ-
ण्विति । स्वयंभूत्वं शरीरे सर्वजगत्सर्गकल्पनात्परमेष्ठित्वम् ॥ ७ ॥
तं प्राग्विस्तराद्वर्णितं कलधौतशिलादौ महाकल्पसंभ्रममालोक्य
चिद्व्योमरूपिणा मया शरीरस्यान्यत्र भागे स्थिता संवित् सर्ग-
दर्शनसंकल्पेन कौतुकादुन्मेषितेत्यर्थः ॥ ८ ॥ तत्रादौ 'त-
स्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इति श्रुत्युक्तक्रमोपलक्ष-
णमाकाशकल्पनमाह—यदैवेति । 'यथैव' इति पाठे तथैवेति
पाठ्यम् ॥ ९ ॥ इयं आकाशता न चिद्वनस्यान्तःशून्यभाव-
प्राप्तिलक्षणसौक्ष्म्याधिक्यं किंतु चिरसौक्ष्म्यापेक्षया जाड्याधि-
क्यात्स्थौल्यमेवेत्याशयेन दृष्टान्तेन संभावयति—गतमिति ।
हे राम, यथा त्वं निद्रया प्राग्वर्णितस्वप्नजाग्रदलोकं वा स्वप्नं
स्वप्नलोकं वा विशन् स्वात्मन एव समं धनं तदाधारस्वभावं
वेत्सि तद्वत्संभावयेत्यर्थः ॥ १० ॥ आकाशकल्पनयैव तद्बोचर-
चित्ताद्यन्तःकरणचतुष्टयसिद्धिमाह—दिङ्मात्रेति । दिशो मि-
मीते स्वचलनानुकूलतया स्वात्मनि पर्यालोचयतीति दिङ्मात्रं
तथाविधमाकाशमेवादौ चेतनाचित्तं भवति । तत आकाशमह-
मस्मीत्येव वेदनं सोऽहंकारः । तदेव घनमाकाशमेवेत्यवधारणा-
त्पूर्वभावविसरणाच्च बुद्धिः कथ्यते । सैव संकल्पविकल्पकाम-

तद्वेत्ति शब्दतन्मात्रं तन्मात्राणीतराण्यथ ।
 पञ्चेन्द्रियाणि तत्स्थौल्यादितीन्द्रियगणोदयः ॥ १२
 सुषुप्ताद्विशतः स्वप्नं जगद्दृश्यघनोदयम् ।
 यथा तथैव सर्गादौ दुःखं भाति निमेषतः ॥ १३
 तुल्यकालमनन्तेऽस्मिन्दृश्यजालावभासने ।
 कथयन्ति क्रमं केचित्केचिन्न कथयन्ति च ॥ १४
 परमाणुकणेषु कान्ते संपन्नमनुभूतवान् ।
 अहं चेतनमात्मानं वस्तुतोऽमलमेव स्वम् ॥ १५
 यथा स्वभावतो व्योम्नि चलत्येवानिशं मरुत् ।
 तथा स्वभावात्सर्वत्र पश्यत्येव चपुस्त्विति ॥ १६
 यादृशं चेतितं रूपं शक्त्या परमया तथा ।
 तच्छक्तोत्पन्नयथाकर्तुं नैषा यत्नेन भूयसा ॥ १७
 ततः पश्याम्यहं यावत्संपन्नोऽप्यणुरूपकः ।
 चित्त्वाच्चेतस्तदेवाशु तथाभूतोऽस्मि संस्थितः ॥ १८
 ततोऽहं बुद्धवात्रूपं तनु तेजःकणाकृति ।
 तदेव भावयन्पश्चाद्गतोऽहं स्थूलतामिव ॥ १९
 प्रेक्षे तावदहं किञ्चिदिति बोधाल्लघोस्ततः ।
 मनागालोकनायैव संप्रवृत्तोऽनुभूतवान् ॥ २०
 यन्नाम तत्र तत्किञ्चित्तस्येद्वायु रघुद्रह ।
 शृणु नामानि मुख्यानि कल्पितानि भवादृशैः ॥ २१
 द्रष्टुं प्रवृत्तो रन्ध्रेण येन तच्चक्षुरुच्यते ।
 यच्च पश्यामि तद्दृश्यं दर्शनं तु फलं ततः ॥ २२

यदा पश्यामि कालोऽसौ यथा पश्यामि स क्रमः ।
 प्रौढा नियतिरित्यस्य यत्र पश्यामि तन्नभः ॥ २३
 स्थितोऽस्मि यत्र देशोऽसावित्यधैषा प्रकल्पता ।
 तदा त्वहं चिदुन्मेषमात्रात्तन्मात्रकारणम् ॥ २४
 पश्यामीति ततस्तत्र मनाग्वोधो ममोदभूत् ।
 ततो रन्ध्रद्वयेनाहमपश्यं यत्तदप्यसम् ॥ २५
 याभ्यामपश्यं रन्ध्राभ्यां त इमे लोचने स्थिते ।
 ततः किञ्चिच्छृणोमीति संविदित्युदिता मम ॥ २६
 ततः किञ्चिन्मनाज्जात्रं शंकारं श्रुतवानहम् ।
 प्रध्मातस्येव शङ्कस्य शब्दं व्योम्नः स्वभावजम् ॥ २७
 याभ्यामहमथाश्रौषं त इमे श्रवणव्रणे ।
 प्रदेशाभ्यां विचरता मरुता विततस्वनम् ॥ २८
 स्पर्शसंवेदनं किञ्चिदहमत्रानुभूतवान् ।
 येन नाम प्रदेशेन तेन सा त्वक्च कथ्यते ॥ २९
 येन स्पृष्टमिवाङ्गं तत्तदाहमनुभूतवान् ।
 सत्संवेदनमात्रात्मा सोऽयं वायुरिति स्मृतः ॥ ३०
 स्पर्शनेन्द्रियतन्मात्रमिति वेदिनि संस्थितम् ।
 आस्वादसंविद्याभून्मे तदास्वाद्यरसेन्द्रियम् ॥ ३१
 प्राणान्मे प्राणतन्मात्रमुदितं व्योमरूपिणः ।
 इत्थं न किञ्चित्संपन्नं सर्वं संपन्नमत्र मे ॥ ३२
 एवमिन्द्रियतन्मात्रजालं चेतत्र संस्थितः ।
 यावत्तावद्विदः पञ्च बलादेव ममोदिताः ॥ ३३

विचिकित्सादिकल्पनघना मन उच्यते इत्यर्थः ॥ ११ ॥ तदेवं
 विषयान्कल्पयित्वा तद्वाहकानीन्द्रियाण्यपि कल्पयतीत्याह—त-
 दिति ॥ १२ ॥ तद्वाहादेव प्राङ्निर्गुःखस्यात्मनः रूप इव व्यव-
 हारदुःखावाप्तिरित्याह—सुषुप्तादिति ॥ १३ ॥ ननु स्वप्ने नाका-
 शादिकमेव सर्गः किंतु तुल्यकालमेव सहसा सर्वजगद्दर्शनमिति
 वैषम्यं तत्राह—तुल्यकालेति । 'स ऐक्षत लोकांस्तु सृजा इति
 स इमाल्लोकानसृजत । स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत' इत्यादि-
 श्रुतिषु तुल्यकालमपि सर्गश्रवणात् क्षणोदरेऽपि कालदैर्घ्यकल्प-
 नेन क्रमोपपत्तेरिति भावः ॥ १४ ॥ क्षणोदरे कालदैर्घ्यमिव
 परमाणूदरेऽपि देशदैर्घ्यकल्पनया तत्र ब्रह्माण्डात्मकं चेतनमा-
 त्मानमहमेव कल्पनया दृष्टवानित्याह—परमाण्विति ॥ १५ ॥
 मरुतश्चलनमिव मनसः शरीरादिकल्पनं स्वभाव इत्याह—
 यथेति ॥ १६ ॥ तथा प्राथमिकमनःकल्पनाशक्त्या एषा शक्तिः
 स्वयमप्यन्यथाकर्तुं न शक्नोतीत्युत्तरकल्पनासु सैव स्थिरा निय-
 तिरित्यर्थः ॥ १७ ॥ अत एवाहमपरिच्छिन्नोऽपि तत्कृतपरि-
 छेदकल्पनया अणुरूपकः परिच्छिन्नः संपन्न इत्याह—तत इति
 ॥ १८ ॥ तनु सूक्ष्मं लिङ्गशरीरं चित्प्रतिबिम्बव्याप्त्य तेजःकणा-
 कृति । स्थूलतां स्थूलदेहतामिव ॥ १९ ॥ तत्र चक्षुरादिद्वारकल्प-
 नया दृष्टादिद्रष्टृता स्वस्य संपत्तेत्याह—प्रेक्षे इत्यादिना ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ तद्दृश्यं रूपम् ॥ २२ ॥ तदनु निष्पादिनी नान्त-

रीयकी देशकालादिनियतिरपि संपत्तेत्याह—यदेति ॥ २३ ॥
 अथ कल्पनादार्ढ्यकाले । तदा तर्हि त्वं कीदृक्तयाह—तदेति ।
 तदानींतनदृष्ट्या सर्वं चिदुन्मेष एवेति तन्मात्रकारणमहमि-
 त्यर्थः ॥ २४ ॥ देहे चक्षुरादिरन्ध्रकल्पनादिदर्शनादिकौतुक-
 तदाभूदित्याह—पश्यामीति ॥ २५ ॥ २६ ॥ सहैव विषय-
 कल्पनामाह—तत इति ॥ २७ ॥ याभ्यां प्रदेशाभ्यां वितत-
 स्वनमश्रौषं ते इमे । प्रगृह्यात्वे संशिरार्थः । श्रवणव्रणे कर्ण-
 छिद्रे । विचरता मरुतेति श्रोत्रादिव्यापारस्यापि प्राणाधीनत-
 शोतनार्थम् ॥ २८ ॥ एवं त्वकल्पनेत्याह—स्पर्शेति ॥ २९ ॥
 सहैव तद्विषयकल्पनामाह—येनेति । वायुमहर्षं त्वविषयमा-
 ओपलक्षणम् । सत्संवेदनं सत्यसंकल्पस्तन्मात्रात्मा ॥ ३० ॥
 इति उक्तरीत्या वेदिनि मयि स्पर्शनेन्द्रियतन्मात्रं संस्थितं
 संपन्नमिति पूर्वानुवादः । रसनेन्द्रियकल्पनामाह—आस्वादेति ।
 तत् आस्वाद्यरसभेदसहितं रसनेन्द्रियं संस्थितमित्यनुगृह्यते
 ॥ ३१ ॥ प्राणात् प्राणान्संकल्पाकृतप्राणभेदादपानात् । प्राणं
 च तद्विषयगन्धतन्मात्रा च तयोः समाहारो प्राणतन्मात्रम् ।
 सेयं देहेन्द्रियविषयसंपत्तिः कल्पनामात्रत्वान्मिध्यैवेति दर्शय-
 न्नूपसंदरति—इत्थमिति ॥ ३२ ॥ ततो बलादेव पञ्चभोगस-
 विद उदिता इत्याह—एवमिति । विदः शब्दादिप्रयासशून्या
 भोगसंविदो मिथ्यात्वादेव अनाकारा भ्रान्तिमात्रेण तथा भ्रान्त-

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धमात्रशरीरिकाः ।
 अनाकारास्तथा भातस्वरूपिण्यो भ्रमात्मिकाः ॥ ३४
 एवंरूपमहं जालं भावयन्त्युत्तदास्थितः ।
 तदहंकार इत्यद्य कथ्यते त्वादशैर्जनैः ॥ ३५
 एष एव घनीभूतो बुद्धिरित्यभिधीयते ।
 साथ बुद्धिर्घनीभूता मन इत्यभिधीयते ॥ ३६
 अन्तःकरणरूपत्वमेवमत्राहमास्थितः ।
 आतिवाहिकदेहात्मा चिन्मयव्योमरूपवान् ॥ ३७
 पचनाद्यप्यहं शून्यः केवलाकाशमात्रकः ।
 सर्वेषामेव भावानां शून्याकृतिररोधकः ॥ ३८
 अथैवंभावनाच्चाहं यदा तत्र चिरं स्थितः ।
 तदाहं देहवान्दृष्ट इति मे प्रत्ययोऽभवत् ॥ ३९
 तेनाहंप्रत्ययेनाथ शब्दं कर्तुं प्रवृत्तवान् ।
 शून्य एव यथा सुप्तः स्वप्नोऽङ्गीनरो रवम् ॥ ४०
 अथ पूर्वं कृतः शब्दो बालेनेव तदोमिति ।
 ततः स एष अकार इति नीतः पुनः प्रथाम् ॥ ४१
 ततः स्वप्ननरेणेव यत्किञ्चिद्वदितं मया ।
 तदेतद्विद्धि वाचं त्वं पञ्चाशीतां प्रथामिह ॥ ४२
 ब्रह्मैव सोऽस्मि संपन्नः सृष्टेः कर्ता जगद्गुरुः ।
 ततो मनोमयेनैव कल्पिताः सृष्टयो मया ॥ ४३
 एवमस्मि समुत्पन्नो न तु जातोऽस्मि किञ्चन ।
 दृष्टवानस्मि ब्रह्माण्डं ब्रह्माण्डान्तं न किञ्चन ॥ ४४
 एवं जगति संपन्ने ममैतस्मिन्मनोमये ।
 न किञ्चित्तत्र संपन्नं तच्छून्यं व्योम केवलम् ॥ ४५
 इत्थं संशून्यमेवेदं सर्वं वेदनमात्रकम् ।

स्वरूपिण्यः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ भावयन् अभिमन्यमानः । तेनै-
 वाहंकारकल्पनाभूदित्याह—तदिति ॥ ३५ ॥ घनीभूतो दृढा-
 ध्यवसायेन बहलीभूतः । मनोऽपि पुनःपुनर्विषयान्स्मरचित्तं
 संपन्नमित्यपि बोध्यम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ यतोऽहं शून्याकृतिरत
 एव सर्वेषामेव कल्प्यमानभावानामरोधकः अनिरोधकोऽनिवा-
 रकश्च ॥ ३८ ॥ तत्र तस्मिन्पूर्वकल्पिते ब्रह्मात्मकदेहे चिरं
 यदा स्थितस्तदा तदन्तः अहं स्वेनैव चतुर्मुखदेहवान्दृष्टः ॥ ३९ ॥
 तेन तादृशदेहप्रत्ययेन स्वप्ने उष्टीनो नभसि संचरन्नरो यथा रवं
 करोति तथा शब्दं कर्तुं प्रवृत्तवान् ॥ ४० ॥ तत्र विशेषाभि-
 लाषे विनिगमकाभावात्सर्वसाधारणार्थकः शब्दसमस्यात्मा
 अकार एव प्रथममुच्चारित इत्याह—अथेति ॥ ४१ ॥ यत्कि-
 ञ्चिद्याहतिगायत्रीवेदादि प्रागभ्यस्तं गदितम् ॥ ४२ ॥
 ब्रह्मा चतुर्मुख एव । मनोमयेनैव चतुर्मुखदेहेन मया ॥ ४३ ॥
 स्त्रीयस्थूलदेहभूतं ब्रह्माण्डं साधारणम् । ब्रह्माण्डान्तं ब्रह्माण्डव-
 दिर्भूतम् ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ अयमेव न्यायः सर्वसर्गेषु बोध्य
 इत्याशयेनाह—इत्थमिति ॥ ४६ ॥ तद्योम ब्रह्माकाशमेव
 तथा स्थितम् ॥ ४७ ॥ निर्मूलं निष्कारणमेवान्तःसंतप्तैव

मनागपि न सन्त्येते भावाः पृथ्व्यादयः किल ॥ ४६
 जगन्मृगतृडम्बूनि भान्ति संविदि संविदः ।
 न बाह्यमस्ति नो बाह्ये खे तद्योम तथा स्थितम् ॥ ४७
 मरौ नास्त्येव सलिलं संवित्पश्यति तत्तथा ।
 निर्मूलमन्तःसंतप्ता स्वसंभ्रमवती भ्रमम् ॥ ४८
 नास्त्येव ब्रह्मणि जगत् संवित्पश्यति तत्तथा ।
 निर्मूलमेव संवित्त्वादेवं आन्तेश्च संभ्रमम् ॥ ४९
 असदेवेदमाभाति हृद्येव जगदाततम् ।
 संकल्पनमनोराज्यं यथा स्वप्नपुरादिबत् ॥ ५०
 पार्श्वसुप्तजनस्वप्नस्तच्चित्तावेशनं विना ।
 यथा न किञ्चित्तच्चित्तावेशनादनुभूयते ॥ ५१
 तथा जगत्तद्वृषदं संप्रविश्यानुभूयते ।
 आदर्शविम्बिताकारं दृष्टमप्यन्यथाप्यसत् ॥ ५२
 आधिभौतिकभावेन नेत्रेण यदि लक्ष्यते ।
 तत्तत्र दृश्यते किञ्चिद्विरिरेव प्रदृश्यते ॥ ५३
 आतिवाहिकदेहेन परं बोधदृशा यदि ।
 प्रेक्ष्यते दृश्यते सर्गः परमात्मैव चामलः ॥ ५४
 सर्वत्र सर्गनिर्वाणं ब्रह्मालोकेन लक्ष्यते ।
 ब्रह्मात्मैवान्यथा चेत्तत्र किञ्चिदभिलक्ष्यते ॥ ५५
 यत्पश्यत्यवदाता धीः सोपपत्तिविचारणा ।
 न तन्नेत्रैस्त्रिभिः शर्वो नेन्द्रो नेत्रशतैरपि ॥ ५६
 यथा खमावृतं सर्गैस्तथा भूरिति बुद्धवान् ।
 तदाहमभवं ध्याता धराधारणयान्वितः ॥ ५७
 तथा धराधारणया धरारूपधरोऽभवम् ।
 अत्यजन्नेव चिद्योमवपुः सम्राडिवाचिरात् ॥ ५८

क्षुब्धा ॥ ४८ ॥ संवित्त्वादज्ञानादृतसंवित्स्वभावात् ॥ ४९ ॥
 संकल्पनप्रयुक्तं मनोराज्यं यथा तथेति पृथग्योज्यम् । 'नृमनो-
 राज्यम्' इति पाठे संकल्पे स्थितस्य नुः पुरुषस्य मनोराज्यं
 यथेति ॥ ५० ॥ परकायप्रवेशेन स्वप्नद्रष्टृचित्तावेशनाद्योगिभिर-
 नुभूयते ॥ ५१ ॥ तद्वृषदं तत्कल्पनाधिष्ठानचिच्छिलाम् ।
 अन्यथा न तथा किलसदपि ॥ ५२ ॥ अत एव प्रागाधिभौ-
 तिकदृशा दर्शने लोकालोकगिरिरेव दृश्यते न शिलान्तर्गतं
 ब्रह्माण्डमित्युक्तमित्याह—आधिभौतिकेति ॥ ५३ ॥ सर्गो
 दृश्यते स च परमात्मैव लक्ष्यते योगिभिरित्यर्थः ॥ ५४ ॥
 तत्त्वदृशा दर्शने त्वाह—सर्वत्रेति ॥ ५५ ॥ तत्त्वदृष्टिं योगि-
 दृष्टिं च सर्वोत्कर्षेण प्रशंसति—यदिति ॥ ५६ ॥ तत्र स्वस्य
 तत्त्वज्ञस्य यदा जीवन्मुक्तयोगिदृशा पश्यत आकाशमिव भूरपि
 सर्वतः सर्गैर्व्याप्तेति बुद्धिरुत्पन्ना तदा क्रमाद्भूम्यादेकैकभूताहं-
 भावधारणया यद्यत्कौतुकं स्वेन दृष्टं तत्सर्वं विस्तराद्वर्णयिष्यन्प्र-
 थमं धराधारणादृष्टं तद्वक्तुमुपक्रमते—यथेति । यदा बुद्धवांस्तदा
 धराधारणया अन्वितः अभवमित्यर्थः ॥ ५७ ॥ यथा सम्राट्
 चक्रवर्ती स्वदेहनात्राहंभावमत्यजन्नेव समस्तभूमण्डले ममता-

| | | | |
|--|----|---|----|
| धराधारणया चैव धराधातुदरं गतः । | | अलंकृतं पुष्पवनैः समारंभं रजोघनैः ॥ | ६६ |
| द्वीपाद्रितृणवृक्षादिदेहोऽहमनुभूतवान् ॥ | ५९ | नित्यं कृषीवलैः कृष्टं बीजितं शिशिरानिलैः । | |
| संपन्नोऽस्म्यथ भूपीठं नानावनतनूरुहम् । | | तापितं तपनैस्तैरक्षितं प्रावृडम्बुभिः ॥ | ६७ |
| नानारक्षावलीव्याप्तं नानानगरभूषणम् ॥ | ६० | विपुलाग्रस्थलोरस्कं पद्माकरकृतेक्षणम् । | |
| ग्रामगह्वरपर्वाढ्यं पातालसुषिरोदरम् । | | सितासितघनोष्णीषं दशाशोदरमन्दिरम् ॥ | ६८ |
| कुलाचलभुजाश्लिष्टद्वीपाधिबलवान्वितम् ॥ | ६१ | लोकालोकमहाखातबलयोग्रास्यभीषणम् । | |
| तृणौघतनुरोमाढ्यं गिरिखण्डकगुल्मकम् । | | अनन्तभूतसंघातपरिस्पन्दैकचेतनम् ॥ | ६९ |
| दिग्धारणकटव्यूहधृतं शेषशिरःशतैः ॥ | ६२ | व्याप्तमन्तर्बहिश्चैव नानाभूतगणैः पृथक् । | |
| ह्रियमाणं महीपालैः शोभमानेभतन्तुभिः । | | देवदानवगन्धर्वैर्बहिरन्तस्तु कीटकैः ॥ | ७० |
| प्राणिभिर्भुज्यमानाङ्गं वर्धमानं व्यवस्थया ॥ | ६३ | पातालेन्द्रियरन्ध्रेषु नागासुरकुसिञ्जयैः । | |
| हिमवद्विन्ध्यसुस्कन्धं सुमेरुदारकन्धरम् । | | सप्तस्वर्णवकोशेषु नानाजातिजलेचरैः ॥ | ७१ |
| गङ्गादिसरिदापूरमुक्ताहाररणत्तनुम् ॥ | ६४ | व्याप्तं नदीवनसमुद्रदिगन्तशैल- | |
| शुहागहनकच्छादि सागरादर्शमण्डलम् । | | द्वीपाख्यजन्तुविषयस्थलजङ्गलौघैः । | |
| मरुत्तरस्थलश्वेतसुवराम्बरसुन्दरम् ॥ | ६५ | नानावलीवलितमण्डलकोशखण्डं | |
| भूतपूर्वैः परापूर्णे परिपूतं महार्णवैः । | | बल्लीसरःसरिदरातिगणाङ्गखण्डैः ॥ | ७२ |
| इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० वि० उ० पा० पार्थिवधालन्तर्गतजगदानन्त्यप्रतिपादनं नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥ | | | |

अष्टाशीतितमः सर्गः ८८

| | | | |
|--|---|---|---|
| श्रीवासिष्ठ उवाच । | | कचित्सकलसस्यौघसंपन्नघनसौहृदम् ॥ | ३ |
| भूपीठेन सता तत्र मया तदनु मानव । | | कचिदग्निमहादाहदग्धदेहोऽश्रवेदनम् । | |
| अनुभूतं नदनदीस्वसंवेदनसंस्थितैः ॥ | १ | कचिज्जलप्लुवातूनपुरपत्तनखण्डकम् ॥ | ४ |
| कचिन्मरणसाक्रन्दनारीकरुणवेदनम् । | | कचिश्चपलसामन्तकृतलुण्ठनमण्डलम् । | |
| कचिदुत्साण्डबलैर्णमहोत्सवमहासुखम् ॥ | २ | कचिदुद्दामदौरात्म्यरक्षःपैशाचमण्डलम् ॥ | ५ |
| कचिदुर्वारदुर्भिक्षदुराक्रन्दं दुरीहितम् । | | | |
| मावं धत्ते तथा अहमपि चिद्योभवपुर्नद्वाहंभावमत्यजेव | | त्ययुत्सानुवादः ॥ ७० ॥ ७१ ॥ उक्तमेव संक्षिप्योपसहर- | |
| धराहंभावेन धरारूपधरोऽभवमित्यर्थः ॥ ५८ ॥ धराधातुर्भू- | | न्विशिनष्टि—व्याप्तमिति । नयादिद्वीपान्तैर्जन्तुविषयैः प्राणि- | |
| म्यभिमानीजीवस्तदुदरं तद्बुद्धितादात्म्यं गतः सन् ॥ ५९ ॥ | | भोग्यैः स्थलजङ्गलौघैश्च व्याप्तम् । नानाविधमिर्गिरिनीपर्व- | |
| यदनुभूतं तदाह—संपन्न इत्यादिना । इत आरभ्य आसर्ग- | | तायावलिभिर्जनावलिभिश्च वलिता मण्डलकोशानां खण्डा य- | |
| समाप्तेभूपीठमेव देहाधारणं वर्ण्यते ॥ ६० ॥ ६१ ॥ गिरि- | | सिन् । तथा बल्लीभिः सरोभिः सरिद्रिररातिगणैरज्जखण्डैश्च | |
| खण्डका गिरिकदम्बा गुल्मरोगग्रन्थय इव यस्य । कटपत्रेण | | व्याप्तमित्यनुपज्यते ॥ ७२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य- | |
| शिरासि लक्ष्यन्ते तद्व्यूहैर्धृतम् । तथा शेषस्य शिरसां शतैर्देश- | | प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पार्थिवधालन्तर्गतजगदानन्त्य- | |
| शतैर्धृतम् ॥ ६२ ॥ शोभमाना इमास्तन्तवः सेनाजालतन्तु- | | प्रतिपादनं नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥ | |
| ग्रन्थय इव येषां तथाविधैर्महीपालैः परस्परं युद्धैर्ह्रियमाणम् । | | स्वदेहभूते भूपीठे तत्र तत्र व्यवस्थिताः । | |
| उत्करनगरादिप्रदेशव्यवस्थया ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ शुहागहनाः | | विशेषा इह वर्ण्यन्ते कौतुकात्स्नेन वीक्षिताः ॥ १ ॥ | |
| कच्छादयो देशा यस्मिन् । सागरा आदर्शमण्डला इव य- | | हे मानव अनुवंशोद्भव, धर्णितीरला भूपीठभूतेन मया तदनु | |
| स्मिन् । मरुदेशलक्षणे मरुत्तरस्थललक्षणे च श्वेतैः सुवराम्बरैः सु- | | प्राग्दर्शितसाधारणसर्वभूधर्मघटितस्वदेहदर्शनानन्तरं प्रत्येकं न- | |
| न्दरम् ॥ ६५ ॥ पूर्वं भूतैर्भूतपूर्वैर्महार्णवैः प्रलयकाले परापूर्णे- | | दनदीसमुद्रादिविशेषाकारप्रातिस्निकसंवेदनेच्छावशाद्यथा यथातु- | |
| मत एव सांप्रतं स्नातवोद्भूतमिव परितः पूतं पवित्रम् । पुष्पवनै- | | भूतं तच्छृण्वति शेषः ॥ १ ॥ कचित्प्रदेशे भर्तृपुत्रभ्रात्रादि- | |
| र्माल्यैरिवालंकृतम् । चन्दनस्थानीयै रजोघनैः समालम्ब्य लिप्तम् | | सरणेन साक्रन्दानां नारीणां करुणवेदना यत्र तथाविधम् । | |
| ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ अग्रस्थले समम्प्रदेशः ॥ ६८ ॥ लोकालोकस- | | अत्रापि प्रायेण सर्वत्र भूपीठमेव विशेष्यम् । स्त्रैणानां स्त्रीभ्यः | |
| मीपे प्राग्वर्णितो यो महाखातबलयस्तल्लक्षणोभेणास्येन भीषणम् | | हादीनां महोत्सवैर्महानुखं यत्र ॥ २ ॥ सुवृद्ध्या कलितैः सकल | |
| भूतानां परिस्पन्द एव परिस्पन्द एकीभूतं चेतनमेव चेतन यस्य | | सस्योघैः सुभिक्षत्वात्सपन्नावि घनसौहृदानि यत्र ॥ ३ ॥ जलेन | |
| ॥ ६९ ॥ नानाभूतगणलक्षणैः कीटकैर्व्याप्तम् । तेषु देवदानवै- | | ल्लवनमाप्लावनं तेनाप्लावनाः । पुरपत्तनयोर्गोभयगणिकप्रकर्षाभ्यां | |
| १ समारंभः इति मूलटीकायाः पाठवैयर्थ्यं सर्वादशेषं दृश्यते । | | | |

कचिज्जलाशयोह्लासवेह्नोत्पुलकाग्रकम् ।
 कन्दरोदरनिष्क्रान्तवातवेह्नितवारिदम् ॥ ६ ॥
 संविद्वोद्योन्नमत्स्वाङ्गकेशोत्थाङ्कुरलोमकम् ।
 वारिवाहनविक्षोभनतोन्नतलसत्तलम् ॥ ७ ॥
 सशृङ्गभैरवश्वभ्रपुराद्रिवनपत्तनम् ।
 संविन्मण्डलसंचाललेखाङ्कमृदुकम्पनम् ॥ ८ ॥
 कचित्सामन्तसंक्षुब्धसैन्यसंहरणं रणे ।
 कचित्सौम्यसुखासीनसर्वसामन्तमण्डलम् ॥ ९ ॥
 अरण्यं कचिदाशून्यमुल्लसद्वातझंरुति ।
 जंगलं कचिदालूनव्युत्ससंपन्नसस्यकम् ॥ १० ॥
 हंसकारण्डवाकीर्णसरः फुल्लाम्बुजं कचित् ।
 कचिन्मरुस्थलस्थूलस्तम्भनार्जुनमारुतम् ॥ ११ ॥
 कचिन्नदनदीवाहहेलानिकषधर्धरम् ।
 कचिदङ्कुरकार्याङ्गसिक्कबीजस्य जृम्भणम् ॥ १२ ॥
 कचिदन्तस्तु फीटास्यमृदुस्पन्दनवेदनम् ।
 मां त्वमेवाशु बुद्धेह त्रायस्वेतीव बोधनम् ॥ १३ ॥
 शाखापरिकरामोहं मृद्गागाङ्गनिपीडनैः ।

मूलजालमवष्टभ्य कचिद्विटपधारिणम् ॥ १४ ॥
 अन्योन्यमलमाक्रम्य दिक्कटाङ्गनिपीडनैः ।
 कचिदद्यस्थिनिविडैरण्वोह्लासवेह्नितम् ॥ १५ ॥
 शुष्कपल्लवसंकोचनिविडाङ्गनिपीडनम् ।
 अमर्षणैः करैराकैः स्वरसाकर्षणं कचित् ॥ १६ ॥
 शृङ्गमन्दिरमातङ्गप्रहाराशनिभूरुहाम् ।
 निविडाङ्गोत्कटस्थैर्यपरुषापतनं कचित् ॥ १७ ॥
 निमीलितेक्षणानन्दतनूनामसमाक्रमम् ।
 कचित्सूक्ष्मतरोल्लेखमङ्कुरोह्लासनं नवम् ॥ १८ ॥
 मक्षिकायौकमशकनिवाससदृशं कचित् ।
 कुड्यलेशकुभृङ्गारिहलहेलानिकर्षणम् ॥ १९ ॥
 शीतं शीतविशीर्णाङ्गजर्जरत्वग्विकीर्णवत् ।
 पाषाणीभूतसलिलं कचित्परुषमारुतम् ॥ २० ॥
 उद्दालीभूतमृद्वङ्गमज्जदन्तःकृमित्रजम् ।
 कचिदुद्भवदङ्गादिमूलं जलनिमज्जनम् ॥ २१ ॥
 शनैरन्तर्निनीनाम्बुक्रुताह्लादं वहिश्च रं-
 सोन्नामाङ्कुरोमौघं कचिद्वर्षविजृम्भितम् ॥ २२ ॥

भेदः ॥ ४ ॥ ५ ॥ जलाशयानामुल्लासेन पूर्या केदारारामादीनां वे-
 ह्नैः सेकैरुत्पुलकसस्यगुल्माग्रकम् । कन्दरोदरेति तत्रोपपत्तिः
 ॥ ६ ॥ संविद्वोद्येन प्रहर्षेण उन्नमन्तः पुलकिताः स्वाङ्गकेशा
 इव उत्थान्यङ्कुरलोमानि यत्र । वारीणां वहनमेव वाहनं प्रवाह-
 स्तद्विक्षोभेण ॥ ७ ॥ नतोन्नतत्वमेव भूतलानां दर्शयति—
 सशृङ्गेति । अन्तर्यतवृहच्छिलादिभिः सशृङ्गाणीव भैरवाणि
 भीषणानि श्वभ्राणि येषु तथाविधानि पुराणीनि यत्र । अत एव
 संविदन्तीति संविदो नागरादिजनास्तन्मण्डलस्य संचाले तत्पद-
 लेखाङ्गनिपतनादिशङ्कया मृदु कम्पनं च यत्र ॥ ८ ॥ ९ ॥ पूर्व-
 भादनं पश्चाद्युत्तं ततः संपन्नं सस्यं यत्र ॥ १० ॥ मरुस्थलेषु
 वायोद्गीनधूलिभिः स्थूलान्स्तम्भान्कुर्वन्तीति स्थूलस्तम्भना अ-
 र्जुनाः पांडुधवला मारुता यस्मिन् ॥ ११ ॥ अङ्कुरकार्यार्थं कु-
 ल्याघटीयन्त्रायङ्गैः सिक्तस्य क्षेत्रगतबीजादिवीजस्याङ्कुरादिभा-
 वेन जृम्भणम् ॥ १२ ॥ शिलादिसंकटनिविष्टं मां हे वसिष्ठ,
 त्वमेव आशु बुद्ध्या त्रायस्वेति कीटेन मां प्रति बोध्यते यत्र
 तादृशमिव स्थितम् ॥ १३ ॥ कचिद्वटादिबने शिखानां भूसं-
 लग्नत्वान्मृद्गागाङ्गनिपीडनैरुपलक्षितः शाखापरिकरणामाकारो
 यत्र । कचिच्च मूलजालमवष्टभ्य विटपानां धारणशीलम् ॥ १४ ॥
 कचिदद्रोणामस्थीनि शिला इव निविडैर्वृक्षैरन्योन्यमलमत्यन्त-
 माक्रम्य संश्लिष्य दिक्कटाङ्गानां निरवकाशीकरणानिपीडनैः अ-
 र्णव ह्लासेनैव वेह्नितं वेह्नितम् ॥ १५ ॥ कचित्तु गाढवृक्षैर्भुवि
 स्वप्रसरनिरोधापराधादमर्षणैः कुदैराकैः करैरातपैः स्वरसाकर्षणं

प्राप्य शुष्कपल्लवसंकोचं निविडाङ्गनिपीडनं वनं यत्र ॥ १६ ॥
 कचित्तु गिरिशृङ्गमन्दिराणां मातङ्गानां दन्तप्रहाराशनेः भूरुहां
 वृक्षाणां निविडाङ्गोत्कटस्थैर्य प्रति परुषाण्यापतनानि यत्र ।
 सापेक्षसमासश्छान्दसः । 'परुषं पतनं कचित्' इति पाठे अश-
 निभिर्भूरुहां निविडाङ्गोत्कटस्थैर्येण परुषं पतनमेव कचिन्मया-
 नुभूतमिति योज्यम् ॥ १७ ॥ कचित्तु निमीलितानीक्षणानि
 येन तथाविधानन्दोपलक्षिततनूनां समाधिनिष्ठानां सूक्ष्मनरं
 तत्त्वमुल्लिखत्यनुभूयमानं सूचयति तथाविधमत एवासमाक्रमं
 नवमपूर्वं रोमाङ्कुरोह्लासनमनुभूतमित्यर्थः । अथवा कचित्क्षेत्रप्र-
 देशे निमीलितेक्षणानामानन्दोपलक्षिततनूनां विषयभोगिनामि-
 व असममक्रमं च सूक्ष्मतरान्तरानन्दाविर्भावोल्लेखं बीजेभ्योऽ-
 ङ्कुरोह्लासनं नवं चमत्कृतमनुभूतमित्यर्थः ॥ १८ ॥ यूकानां स-
 मूहो यौकं तन्निवोसमलिनाम्बरसदृशम् । कुड्यलेशानामल्प-
 कुड्यखण्डानां प्रमादात्पद्मकोशशायिनां कुभृङ्गाणां चोपमर्दक-
 त्वादरयो ये दन्तिनस्तैर्हलैरिव हेलाभिर्वप्रादेर्निकर्षणं दृष्टम् ।
 'कुड्यलेश' इति पाठे कुड्यलश्रेष्ठे पद्मकुड्याले सुप्तानां कुभृङ्गाणां ये
 अरय इति व्याख्येयम् ॥ १९ ॥ कचित्कचिद्विनवप्रदेशे शीतं
 शीतविशीर्णाङ्गानां देहिनां जर्जरत्वग्व्याप्तवत्स्थितम् ॥ २० ॥
 उद्दालनमुद्दालो विदलनं तथाभूतेषु मृदुध्वजेषु मज्जन्तः अन्तः
 कृमित्रजा यत्र । कचिज्जलनिमज्जनमनुभूतमिति पृथक्संबन्धः
 ॥ २१ ॥ कचिद्वीजेषु वर्षविजृम्भितमत एव शनैरन्तर्निविष्टैर-
 म्बुभिः क्रुताह्लादं ततो वहिश्च रसोन्नामाङ्कुरोमौघम् ॥ २२ ॥

१ °खलं इति पाठः. २ वहिश्चरेलारम्य रोमौघमित्यन्तं समलं पदम्.

(अत्र 'वहिश्च रसो' इति पदद्वये पदार्थस्वारस्यमिति वयम् ।)

तनुतरपवनविकम्पित-

कोमलनलिनीदलास्तरणैः ।

विहरणमिव मे विहितं

सरोभिरङ्गेषु निर्वाणम् ॥

२३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० बाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाष्ठा० भूमण्डलगतविशेषवर्णनं नामाष्टाशीतितमः सर्गः ॥८८॥

एकोनवतितमः सर्गः ८९

श्रीराम उवाच ।

पार्थिवीं धारणां वद्धा जगन्ति समवेक्षितुम् ।

संपन्नस्त्वमसौ भूमिलोकः किमुत मानसः ॥

१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इदं च मानसं चाहं संपन्नः पृथुभूतलम् ।

नेदं न मानसं नैव संपन्नो वस्तुतस्त्वहम् ॥

२

अमानसं महीपीठं न संभवति किञ्चन ।

यदसद्वेत्ति यत्सद्वा मनोमात्रकमेव तत् ॥

३

चिदाकाशमहं शुद्धं तस्य मे तत्पदात्मनः ।

यच्चिन्मात्रात्मकचनं तत्संकल्पाभिदं स्मृतम् ॥

४

तन्मनस्तन्महीपृष्ठं तज्जगत्स पितामहः ।

संकल्पपुरवद्भोऽस्मि कचत्येतन्मनोतमः ॥

५

एवं संकल्पमात्रं मे मनोमात्रं तदाततम् ।

धारणाभ्याससंपुष्टं भूमण्डलमिति स्थितम् ॥

६

नेदं भूमण्डलं तद्वै तदन्यद्दि मनोमयम् ।

आकाशमात्रकचनमचैत्यं कचनं चित्तेः ॥

७

तदेवाकाशमात्रात्म तथामूर्तं चिरं स्थितम् ।

इदंप्रत्ययलब्धत्वान्मानसत्वं समुज्जति ॥

८

इदं स्थिरं सुकठिनं विततं भूमिमण्डलम् ।

अस्तीति जायते बुद्धिर्व्योम्नीव चिरवेदनात् ॥

९

न्यायेनेदमिवावेन न स्थितं वस्तुधातलम् ।

इदं चैवैकमेवाद्यसर्गस्याद्यमुपागतम् ॥

१०

यथा स्वप्ने पुरत्वेन चिदेव व्योम्नि भासते ।

तथा चिदेव सर्गादाविदं जगदिति स्थितम् ॥

११

विद्धि चिद्रूपबालस्य मनोरज्यं जगत्रयम् ।

महीतलादिकं दृश्यमिदं सर्वं च सर्वदा ॥

१२

चिद्रूपस्यात्मनो नान्यः संकल्पस्तन्मयं जगत् ।

वस्तुतस्तु न सत्यात्म न पिण्डात्म न भासुरम् ॥

१३

दृश्यमस्त्यपरिज्ञातं परिज्ञातं न विद्यते ।

परिज्ञातं तदेवास्य शृणोषि यदिदं चिरम् ॥

१४

सर्वं चिन्मात्रमाशान्तं प्रकचत्यात्मनात्मनि ।

भूमण्डलात्म दृश्यात्म द्वैतैक्याभ्यां विवर्जितम् ॥

१५

मणिर्यथा स्वभावेन शुक्लपीतादिकास्तिवः ।

अकुर्वन्नेव कुरुते चिदाकाशस्तथा जगत् ॥

१६

यतो न किञ्चित्कुरुते न च रूपं समुज्जति ।

तस्मान्न मानसं नेदं किञ्चिदस्ति महीतलम् ॥

१७

किञ्च मे अङ्गेषु सरोभिरनुतरपवनविकम्पितकोमलनलिनीदलानामास्तरणैर्निर्वाणं निरतिशयानन्दरूपं विहरणं क्रीडनमिव विहितमित्यर्थः ॥ २३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्य-प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भूमण्डलगतविशेषवर्णनं नामाष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

अत्र तद्धारणादृष्टं भूमण्डलमिदं तथा ।

जगत्सर्वं च चिद्योम्नि मनोमात्रमितीर्यते ॥ १ ॥

हे शुरो, कौतुकात्स्वहमनि जगन्ति समवेक्षितुं प्रवृत्तस्त्वं पार्थिवीं धारणा वद्धा किमसावस्मदादिदृश्यो मृत्पाषाणादिमयो लोकः संपन्न उत मानसो मनोमात्रमयो मनोरज्यकलो मृदा-याधटितः स्वप्नमयो लोकः संपन्न इति प्रश्नः ॥ १ ॥ कल्पना-दृशा तत्त्वदृशा वा विमर्शे कोटिद्वयभेदाप्रतिदेः सशयातुपपत्तिं सूचयन्विष्ठ उतरमाह—इदं चेति । यदि कल्पनादृशा पृ-च्छसि तर्हि इदं मृत्पाषाणमयत्वेन त्वत्प्रसिद्धं च तदेव मनो-मात्रविकारत्वान्मांस चेति समुच्चयः संपन्नः । यदि तु तत्त्वदृशा पृच्छसि तर्हि नोभयमपि संपन्न इत्यर्थः ॥ २ ॥ पूर्वार्धोक्त प्र-तिज्ञापूर्वकं समर्थयति—अमानसमित्यादिना । सत्येव मनसि तस्मिन्नेवास्तिन स्तीति विकल्पदर्शनादिति भावः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ अङ्गप्रसिद्धमृदाकपाषाणादिमयत्वस्य 'अपागादमेधित्वं' त्रीणि

रूपाणीत्येव सत्यम्' इत्यादिश्रुतिनिषिद्धत्वात्त्वज्ञस्य धारणाया दृष्टं नाज्ञदृष्टिप्रसिद्धेदंरूपमित्यसमुच्चयो वास्त्वित्याशयेनाह—नेदमिति ॥ ७ ॥ यथाकाशमात्रस्यामूर्तस्यैवेयं कचनं तर्हि कथं मूर्तेदंप्रत्ययमाधत्ते तत्राह—तदेवेति । तर्हि किं दधित्वे दुग्ध-त्वमिव मानसत्वं भवति नेत्याह—इदंप्रत्ययेति । संप्रादान-स्थूलस्य केवलमातसस्य पृथ्यादेर्जाग्रद्विदंप्रत्ययेनोपलब्धत्वश-दुग्धत्वसान्यं किंतु तरङ्गकटकशादिकदिभावेऽपि जलकनकक-पांसमयत्ववदिदं बोध्यमिति भावः ॥ ८ ॥ व्योम्नि नैत्यादि-बुद्धिरिव चिरवेदनाज्जायते ॥ ९ ॥ वाचारम्भणश्रुतिदर्शितन्या-येन तु दर्शने इदमिवाङ्गप्रसिद्धरूपेण वस्तुधातलं न स्थितं किंत्वा-द्यसर्वस्य मनोरूपस्य आद्यं सूक्ष्मं यदेकमेव रूपं तदेवोपागतं स्थितम् । 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इति श्रुत्योपदर्शितमित्यर्थः ॥ १० ॥ 'इदंप्रत्ययलब्धत्वात्' इत्युक्तिं विशदयति—यथेति ॥ ११ ॥ चिद्रूपबालस्य चतुर्मुखस्य ॥ १२ ॥ १३ ॥ अज्ञदृष्टिनिर्कषे-अज्ञातचिन्मात्रं जगत् । तत्त्वनिष्कर्षे तु चिन्मात्रमेवेत्याशये-नाह—इदमिति । यदिदं चिरं मयोपदिश्यमानं शृणोषि कथं न प्रबुध्यसे इत्यर्थः ॥ १४ ॥ कीदृशं परिज्ञातं तत्राह—सर्व-मिति ॥ १५ ॥ मणिर्यथादिः । अकुर्वन् अव्याप्रियमाण- ॥ १६ ॥ नेतिनेत्यादिश्रुतिपर्यालोचनेनोपसहरति—यत इति ।

महीतलमिवाभाति चिद्योमैव निरन्तरम् ।
 आत्मन्येवातलं व्योम यथामलतलं स्थितम् ॥ १८
 स्वभावमात्रकचनं तत्तदेव यथास्थितम् ।
 भूमण्डलमिवात्यच्छं खमेव विशतान्तरम् ॥ १९
 इदं भूमण्डलं तच्च द्वयमेतन्महाचितेः ।
 स्वरूपमेव कचति तव स्वप्नपुरं यथा ॥ २०
 इदमाकाशमात्रात्म तदप्याकाशमात्रकम् ।
 अज्ञानात्मपरिज्ञानाज्ञानाच्चेदं न तत्कचित् ॥ २१
 त्रैलोक्यभूतजालानां कालत्रितयभाविनाम् ।

संभ्रमः स्वप्नसंकल्पो मनोराज्यदशास्थितौ ॥ २२
 भूतान्यथ भविष्यन्ति वर्तमानानि यानि च ।
 भूमण्डलानि तान्यङ्ग सत्ता सामान्यतां गता ॥ २३
 अहमेव समग्राणि तेषामन्तर्गतान्यपि ।
 तेन तान्यनुभूतानि तथा दृष्टानि चाखिलम् ॥ २४
 चिन्मात्रमेतदजरं परमात्मतत्त्वं
 शुद्धात्मतामजहदङ्गगतं विभर्ति ।
 सर्वं यथास्थितमिदं जगदात्तमेदं
 बुद्धं सदङ्गं न विभर्ति तु किञ्चनापि ॥ २५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० सो० निर्वाणप्रकरणे उ० पा० दृश्यमनोमात्रत्वप्रतिपादनं नामैकोनवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

नवतितमः सर्गः ९०

श्रीराम उवाच ।
 अनन्तरं वद ब्रह्मजगन्ति भवता तदा ।
 भूमण्डलानां हृदये कचिद्दृष्टानि नैव वा ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 परात्मजाग्रत्स्वप्नोर्वीमण्डलौघात्मना मया ।
 ततोऽनुभूतं हृदये दृष्टं च परया दशा ॥ २
 यावत्तथैव सर्वत्र जगज्जालमवस्थितम् ।
 सर्वं दृश्यमयं शान्तमपि द्वैतमयात्मकम् ॥ ३
 जगन्ति सन्ति सर्वत्र सर्वत्र ब्रह्म संस्थितम् ।
 सर्वं शून्यं परं शान्तं सर्वमारम्भमन्थरम् ॥ ४
 सर्वत्रैवास्ति पृथ्व्यादि स्थूलं तच्च न किञ्चन ।

चिद्योमैव यथा स्वप्नपुरं परमजातवत् ॥ ५
 नेह नानास्ति नो नाना न नास्तित्वं न चास्तित्ता ।
 अहमित्येव नैवास्ति यत्र तत्र कुतोऽस्ति किम् ॥ ६
 अनुभूतमपीदं सदहमित्यादिरूपकम् ।
 नास्त्येव यदि चाप्यस्ति तद्ब्रह्माजमनामयम् ॥ ७
 यत्स्वप्नपुरमेवेदं सर्गादावेव चित्रभः ।
 अस्तितानास्तिते तत्र कीदृशे क कुतः स्थिते ॥ ८
 यथाहं दृष्ट्वांस्तानि जगन्त्यवनिरूपधृक् ।
 तथा मया जलीभूय दृष्टं तादृशमेव तत् ॥ ९
 वारिधारणया वारि भूत्वा जडमिवाजडम् ।
 समुद्रमन्दिरेष्वन्तश्चिरं गुलगुलायितम् ॥ १०

॥ १७ ॥ अतलं तलभावशून्यम् ॥ १८ ॥ अन्तरं मेदं
 अन्तर्दि वा विशता स्वभावेन भूमण्डलमिव दृश्यत इत्यर्थः
 ॥ १९ ॥ तत्र धारणाकल्पितभूमण्डलमिदं भूमण्डलं च तुल्य-
 मेव चिद्विवर्तत्वे इत्याह—इदमिति ॥ २० ॥ अज्ञानोपहिता-
 त्मपरिज्ञानाद्भाति । ज्ञानात्तु न इदं नापि तत् धारणास्थम्
 ॥ २१ ॥ संभ्रमो भ्रान्तिरेव । स च मनोराज्यदशायाः स्थितौ
 मर्यादायां तत्साम्ये बोध्य इति यावत् ॥ २२ ॥ सामान्यतां
 सर्वाधिष्ठानत्वात्साधारणतां गता आत्मसत्तैव तानि सर्वाणि
 सत्तासामान्यमेव तेन हेतुना तानि तदन्तर्गतानि च सर्ववस्तु-
 न्यहमेवेति धारणायां मया मनसा अनुभूतानि साक्षिदशा च
 अखिलं निःशेषं यथा स्यात्तथा दृष्टनीत्यर्थः ॥ २३ ॥ २४ ॥
 हे राम, परमात्मतत्त्वमेवाबोधदशायां स्वशुद्धात्मतामजहदत्य-
 जदेव यथास्थितं सर्वं जगदात्मगतं स्वात्मतामिव प्राप्तं सद्रूपं
 कृत्वा विभर्ति, बुद्धं तु सत् किञ्चनापि न विभर्ति सैवास्य
 मुक्तिरित्यर्थः ॥ २५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्यमनोमात्रत्वप्रतिपादनं नामैकोनव-
 तितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

पृथिवीहृदयेऽनन्तजगद्दृष्टिरिहोच्यते ।

जलधारणया सर्वजललीला च पूर्ववत् ॥ १ ॥

यथा प्रतिदे जगति कलघातशिलादिप्रदेशमेदेष्वनेकानि

ब्रह्माण्डानि सन्ति तथा धारणादृष्टेष्वपि भूमण्डलेषु प्रतिवस्तु
 तानि सन्ति न वेति संदिहानो रामः पृच्छति—अनन्तरमिति ।
 मण्डलशब्दः प्रदेशमेदपरः ॥ १ ॥ उर्वीधारणया परमात्मनो
 जाग्रदुर्वीमण्डलात्मना स्वप्नोर्वीमण्डलात्मना च मया तत्तदुर्वी-
 प्रदेशमेदलक्षणे तद्दृश्ये परया ईश्वरसाक्षिदशा साक्षाद्दृष्टं
 मनसा च विमृश्यानुभूतम् । स्वप्नप्रहणं स्वाप्नोर्व्यादिप्रदेशमेदे-
 प्यनन्तजगत्संभवप्रदर्शनाय ॥ २ ॥ किं दृष्टमनुभूतं च
 तदाह—यावदिति । तथा प्राग्दृष्टकलघातशिलादिवदेव ।
 यावदिति साकल्ये । शान्तमद्वैतं द्वैतमयात्मकमपि ॥ ३ ॥
 कुतो द्वैतमयं कुतो वा शान्तं तत्राह—जगन्तीति ॥ ४ ॥
 ॥ ५ ॥ नाना अनाना वा सत्यमिति प्रसिद्धे तद्दर्शनाभिमा-
 निनि सिध्येत्स एव तावन्नास्तीत्याह—अहमित्येवेति ॥ ६ ॥
 ॥ ७ ॥ यद्यस्मात्सर्गादां सृष्टेः प्राक् चित्रभ एव तत्तस्मात्तदु-
 त्तरं चित्रमसि दृष्टमपीदं स्वप्नपुरसममेव । इत्थं प्रतियोगिन्या
 अस्तित्वाया अव्यवस्थितौ तदभावो नास्तित्ताम्यव्यवस्थितैवेत्याह
 —अस्तित्तेति ॥ ८ ॥ पृष्टस्योत्तरं समाप्य जलधारणया यद्यत्कौतुकं
 दृष्टं तद्बहुनारभते—यथेत्यादिना ॥ ९ ॥ गुलगुलायितम् ।
 अव्यक्तानुकरणादिवार्यगर्भादाचारे क्यदिभावे क्तः ॥ १० ॥

१ दृश्यकं इति पाठः.

तृणवृक्षलतागुल्मवल्लीनां स्तम्भनाडिषु ।
 मृद्वलक्षितमारुढं तच्चाङ्गेष्विव यूकया ॥ ११
 सर्वोत्थानोपमास्तम्भे तच्छेदे बलयोपमा ।
 मृद्व्या कर्णाहिगत्येव रचना प्रकृतोदरे ॥ १२
 बल्लीतमालतालादिपल्लवेषु फलेषु च ।
 विश्रम्य पुष्ट्याऽऽकृत्या रेखाविरचनं कृतम् ॥ १३
 मुखेनाविश्य हृदयमृतुवैधुर्यधारिणा ।
 हता विधुरिता भुक्ता लूना देहेषु धातवः ॥ १४
 सुप्तं पल्लवतल्पेषु प्रालेयकरणरूपिणा ।
 तुल्यकालमशेषेषु दिक्षु सर्वास्वखेदिना ॥ १५
 नानाहृदनदीनेहश्राहिणाऽविरताध्वना ।
 विश्रान्तं सेतुसुहृदः प्रसादेन क्वचित्क्वचित् ॥ १६
 विदाऽविदनुसंधानाज्जडेन तदनाश्रयात् ।
 जडाशयेषुलक्षितं जलेनावर्तवर्तिना ॥ १७
 मया दुष्कृतिनेवोर्ध्वशिलास्येन भूभृताम् ।
 स्वावर्तवर्तिना श्वभ्रपातेषु शतधा गतम् ॥ १८
 धूमरूपेण निर्गत्य दारुभ्यो गगनार्णवे ।

मृदुमन्दमलक्षितं च यथा स्यात्तथा आरुढम् ॥ ११ ॥ यथा
 कर्णाहिः सूक्ष्मतनुनिभः कीटकविशेषो मृद्व्या गत्या अलक्षितः
 कर्णे लीन इव प्रविशति तद्वत्तेषां तृणगुल्मादीनां छेदे भेदे
 पर्वभेदे तदुदरे छिद्रभेदे च गतिरचना प्रकृतेत्यर्थः ॥ १२ ॥
 बल्लीनां कृतानां तमालतालादिशृङ्गाणां च पल्लवेषु फलेषु च रस-
 रूपेण विश्रम्य पर्णादिभावेन कालतः पुष्ट्या तत्तत्पर्णाद्याकृत्या
 अन्तःशिरारेखाविरचनं कृतम् ॥ १३ ॥ तथा प्राणिनां देहेषु
 पानकाले मुखेन हृदयमाविश्य वसन्तादिकृतुप्रयुक्तवैषम्यधा-
 रिणा मया वातपित्तकफाख्या धातवः क्वचिद्वृताः कदाचिद्विधु-
 रिताः केचिद्भुक्ता जठराग्निना परिपाचिताः केचिद्भूनाः खण्डिता
 इत्यर्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥ हृदरुक्षणा ये नदीनां गेहाः पद्मावा-
 सास्तद्वाहिणा नित्यं प्रवाहादविरताध्वना ॥ १६ ॥ विदा चैत-
 न्येनाविदंशस्य विषयतया अनुसंधानात्तत्र विषयांशमाश्रयतया
 तस्य चित्स्वभावस्यानाश्रयाज्जडेन अत एव लढयोरभेदाज्जडेन
 मया जडाशयेषु जडाशयप्रायेषु भ्रान्तिसहस्रेरावर्तवर्तिना स-
 लक्षितम् ॥ १७ ॥ प्रायश्चित्तार्थं शृगुपाते प्रवृत्तेन दुष्कृतिना
 पापकारिणेव मया भूभृता पर्वतानामूर्ध्वशिलाभ्यः अस्वस्येन
 चलितेन निर्दारेण श्वभ्रपातेषु विशीर्णेन शतधा गतम् ॥ १८ ॥
 गगनलक्षणे अर्णवे समुद्रे नीलवर्णा ये ऋक्षमणयो नक्षत्ररत्नानि
 तदन्तर्वर्तिना कणरत्नेन रत्नकरणेन भूत्वा स्थितम् । वसिष्ठवचन-
 प्रामाण्याद्गर्भस्थैरदृश्यानि नीलवर्णान्यपि नक्षत्राणि दिवि सन्तीति

कणरत्नेन नीलर्क्षमण्यन्तर्वर्तिना स्थितम् ॥ १९
 विश्रान्तमभ्रपीठेषु विद्युद्भनितया सह ।
 भिन्नेन्द्रनीलनीलेन शेषाङ्गेष्विव शौरिणा ॥ २०
 परमाणुमये सर्गे पिण्डरूपेष्वलक्षितम् ।
 स्थितमन्तःपदार्थेषु ब्रह्मणेवाखिलात्मना ॥ २१
 प्राप्य जिह्वाणुभिः सङ्गमनुभूतिः कृतोत्तमा ।
 यामात्मनो न देहस्य मन्ये ज्ञानस्य केवलम् ॥ २२
 न मया न च देहेन नान्येनास्वादितात्म यत् ।
 तदन्तर्विबृतं चेत्यमज्ञानाय तदप्यसत् ॥ २३
 सर्वतुरसरूपेण नानामोदानि दिक्ष्वलम् ।
 भुक्तानि पुष्पजालानि प्रोच्छिष्टं ददतालये ॥ २४
 चतुर्दशप्रकाराणां भूतानामङ्गसन्धिषु ।
 उषितं चेतनेनेव जडेनाप्यजडात्मना ॥ २५
 सीकरोत्कररूपेण रथमारुह्य मारुतम् ।
 आमोदेनेव विहितं विमलव्योमवीथिषु ॥ २६
 राम तस्यामवस्थायां परमाणुकणं प्रति ।
 अनुभूतमशेषेण यथास्थितमिदं जगत् ॥ २७

गम्यते ॥ १९ ॥ २० ॥ विद्युत्पुत्तिकादिपरमसूक्ष्मदेहात्मकेऽपि
 सर्गे तत्तत्प्राणिपिण्डरूपेष्वन्तर्गतेषु परमसूक्ष्मेषु तन्मात्रादिप-
 दार्थेषु ब्रह्मणेव परमसूक्ष्मजलात्मना मया स्थितम् ॥ २१ ॥
 किंच मधुरादिरसात्मना मया तवीयजिह्वालक्षणेणुभिः सह
 सङ्गं प्राप्य तेषां रसास्वादलक्षणा उत्तमा अनुभूतिः कृता । या-
 मनुभूतिं न देहस्य मन्ये किंतु केवलं ज्ञानस्वरूपस्य आत्मन
 एव विषयानन्दाकारविभूतं स्वरूपं मन्ये । 'एतस्यैवानन्दस्या-
 न्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेरिति भावः ॥ २२ ॥
 तत्र पृथग्जना विषयमेवानन्दरूपमास्वाद्यमानं मन्यन्ते तत्र
 तथा विद्यात्, किंत्वसद्दुःस्वरूपमनास्वादनीयमेवेति तं पृथक्कृत्य
 दर्शयति—न मन्येति । यच्चैवं विषयरूपं तत्र मया सदविज्ञान-
 चित्ता नाप्यास्वादकपुरुषदेहेन नाप्यन्येन तज्जीवेनास्वादितात्म-
 सुखलेशस्याप्यभावेनास्वादानायोग्यत्वात्तत्तथाविधं चैवं चित्त
 यदन्तर्विबृतं प्रकाशितं तत्केवलं जीवानामज्ञानाय व्यामोहायैव
 यतस्त्वचैवं तदज्ञानमप्यसदेव । असतः असदर्थत्वस्यैवैवि-
 ल्यादित्यर्थः ॥ २३ ॥ आस्वाद्यलक्षणेऽपि 'विषयाधिष्ठानविदा-
 स्वादितानेव विषयास्तदुच्छिष्टप्रायानन्ये आस्वादयन्तीति वा रु-
 ल्पनास्त्वस्याशयेनाह—सर्वैर्विविचि । अलये भ्रमराय ॥ २४ ॥
 कल्पनया जडेनापि वस्तुतोऽजडात्मना ॥ २५ ॥ मारुतरूपं
 रथमारुह्य विहितं कीडन जनाह्वयनं चेति शेषः ॥ २६ ॥
 तत्रापि परमाणुपर्यन्तसर्ववस्तुषु प्रतिवस्त्वन्तः कलधौत-
 शिलयामिव सर्गा अनुभूता इत्याह—रमेति ॥ २७ ॥

१ मया कर्णाहिः स्य मृद्व्या गत्या तृणादीनां स्तम्भे प्रकाण्डे
 सर्वोत्थानोपमा सर्वेषां तृणादीनामुत्थानमूर्ध्वस्थितिसदृशमा तत्स-
 दृशी यथा ऊर्ध्वस्थितिः स्याच्चेत्यर्थः । तेषां तृणादीनां छेदे भेदे
 पर्वभेदे तदुदरे छिद्रभेदे च बलयोपमा ब्रह्माकारवती रचना

प्रकृता संपादितेत्यर्थ इति योजना कार्या । पूर्वश्लोके यूकोपमया
 ह्यारोहणमात्रं प्रतिपादितं कर्णाहीनत्वाद्युपमया त्याकारविशेषप्रति-
 पादनपूर्वकं तत्प्रतिपादितमिति शेषः ।

अजडेन जडेनेव समया जालया तथा ।
अन्तःसर्वपदार्थानां ज्ञाताज्ञातेन संस्थितम् ॥ २८
जगतां तत्र लक्ष्याणि नाशोत्पातशतानि च ।
मया दृष्टानि रुढानि कदलीदलपीठवत् ॥ २९
एवं जगच्चाजगद्वा साकारं वा निराकृति ।

चिन्मात्रगगनं सर्वमाकाशाधिकनिर्मलम् ॥ ३०
न किञ्चन त्वं च न किञ्चनेदं
शुद्धः परो बोध इदं विभाति ।
स चापि नो किञ्चन नापि शून्य-
माकाशमेवासि विकासमास्व ॥ ३१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० जलजगद्वर्णनं नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

एकनवतितमः सर्गः ९१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
ततोऽहमभवं तेजस्तेजोधारणयेद्धया ।
चन्द्रार्कतारकाश्यादिविचित्रावयवान्वितम् ॥ १
नित्यं सत्त्वप्रधानत्वात्प्रकाशाकृतिराजगत् ।
सर्वं दृश्यमृते सर्वचौरध्वान्तप्रतापयुक् ॥ २
दीपादिभिः शनैः स्निग्धैर्दशाशतविहारिभिः ।
प्रत्यक्षीकृतसर्वार्थं प्रतिगेहं सुराजवत् ॥ ३
लोकालोके च हृषितैश्चन्द्रार्काद्यंशुरोमभिः ।
परप्रकाशैकरतैर्दूरोत्क्षिप्ताम्बराम्बरम् ॥ ४
अन्धकारस्य दैन्यस्य समस्तगुणनाशिनः ।

दृश्यं सदृश्यमनिशं सर्वस्य गुणशालिनः ॥ ५
तमस्तमालपरशुः परशुद्धिकरं पदम् ।
सुवर्णमणिमाणिक्यमुक्तादिजनजीवितम् ॥ ६
शुक्लकृष्णारुणादीनां नित्यं ज्योत्स्नाङ्गशायिनाम् ।
पुत्राणामिव वर्णानां सर्वेषां देहदः पिता ॥ ७
घनस्नेहसं पृथ्व्या रक्षितानलवेधनम् ।
गृहं प्रति घनानन्दैर्वृतदीपकपुत्रकम् ॥ ८
दृष्टं पातालकेष्वीषत्तमोरूपेषु पावकम् ।
अर्धदृष्टं रजोरूपे भूतले भूतमालिते ॥ ९
सत्त्वात्मसु महासत्त्वं नित्यत्वं देवसदृशम् ।

जालया जलविषयिण्या समया तुल्यरूपया तथा धारणया ॥ २८ ॥
प्रतिवस्त्वन्तर्दृष्टजगद्वत्प्रतिवस्त्वन्तरेऽपि तथाविधजगदन्तराण्य-
नवस्थितान्यन्तरन्तर्दृष्टानीत्याह—जगतामिति । कदलीदलपी-
ठवदन्तरन्तः प्ररुढान्यनन्तानीत्यर्थः ॥ २९ ॥ एवं कल्पितानन्तज-
गद्व्याप्तत्वेऽपि नाधिष्ठानचिति किञ्चिन्मालिन्यमस्तीत्याह—एवमिति
॥ ३० ॥ उक्तं न्यायं रामदृश्यजगत्स्यपि योजयन्सर्वाधिष्ठानशुद्ध-
चिन्मात्रे रामं प्रतिष्ठापयति—न किञ्चनेति । न किञ्चन त्वमित्य-
वस्थात्रयेण सह देहेन्द्रियादिप्रतिषेधः । न च किञ्चनेदमिति
वियदादिबाह्यप्रपञ्चप्रतिषेधः । स च शोधिततत्त्वपदार्थलक्षणो
बोधः नो किञ्चन दृश्यस्वभावो नाप्यदृश्यस्वभावो नाप्यदृश्यश्च-
न्यस्वभावः किंत्वखण्डाकाशरूपः स एव त्वमसि, अतो विकासम-
खण्डवाक्यार्थबोधस्तत्सर्वद्वैतसंकोचं यथा स्यात्तथा आस्ते-
त्यर्थः ॥ ३१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वा-
णप्रकरणे उत्तरार्धे जलजगद्वर्णनं नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

तेजोधारणया तेजोभावमासाद्य वीक्षिताः ।

सूर्यचन्द्राग्निरक्षादिचमत्कारा इहोदिताः ॥ १ ॥

ततो जलधारणाकौतुकदर्शनानन्तरम् ॥ १ ॥ आजगत्
सर्वं जगदभिव्याप्य प्रकाशाकृतिः । 'राजवत्' इति । पाठे
सर्वं दृश्यं चक्षुर्विषयं स्वापहृतं ऋते विहाय सर्वतश्चौरेष्विव
पलायमानेषु ध्वान्तेषु राजवत्प्रतापयुगिति संबन्धः ॥ २ ॥
यथा सुराजा दशाशतेर्नानावेषैर्विहारिभिः स्निग्धैश्चरैः प्रतिगे-
हं प्रत्यक्षीकृतसर्ववृत्तान्तार्थस्तद्वद्वर्तिकाशतविहारिभिर्दीपादिभिः

प्रत्यक्षीकृतसर्वार्थम् । तेज एव सर्वत्र विशेष्यमनुवर्तते ॥ ३ ॥
परप्रकाशैकरतैरत एव लोकानां जनानां भुवनानां च आलोके
अतिसंतुष्टैः पुलकितैश्च चन्द्रार्काद्यंशुलक्षणै रोमभिर्दूरे उत् ऊर्ध्वं
क्षिप्तमस्तमम्बरं सर्वावरकतमोवल्लमिव दृश्यमानमम्बरमाकाशं
येनेत्युत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥ किमर्थमन्धकारं दूरे उत्क्षिपतीति चेत्त-
त्राह—अन्धकारस्येति । यतः सत् विद्यमानं जगत्सर्वं सम-
त्मानं गुणान् रूपादीनाशयत्यदर्शनं नयति तथाविधस्यान्धकार-
लक्षणस्य दैन्यस्य दृश्यं विषयः । सर्वस्य च गुणशालिनः पर-
दैर्न्यनिवर्तनसमर्थस्य सत् उत्तममपगतदैर्न्यं जगद्दृश्यं दर्शनार्ह-
मतस्तदपनयनं युक्तमेवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ पुनः कीदृशं तेजः ।
तमोलक्षणां तमालवृक्षाणां परशुः खण्डकम् । परमुत्कृष्टं
शुद्धिकरं पश्यते अनेनेति पदम् । निस्तेजस्कानां सुवर्णादीनाम-
नादरात्तल्लक्षणां जनानां जीवितमादरहेतुः । सुवर्णादिरूपेण
जनानां जीवनसाधनमिति वा ॥ ६ ॥ ज्योत्स्ना आलोकस्तद-
ङ्गशायिनाम् । रूपमात्रस्यालोकांशगुणत्वादिति भावः ॥ ७ ॥
इदं च तेजः पृथ्व्या सह घनः स्नेहसः ग्रीत्यतिशयो यस्य
तथाविधम् । कुतः । यतो रक्षितमनलाद्वेधनं दहनं येन ।
सर्वदाहकोऽप्यमलो मृदं न दहति तदस्य स्नेहलक्षणमित्यर्थः ।
एवं पृथ्व्यापि स्नेहेहलक्षणप्रकटनाय गृहं प्रति प्रतिगृहं घनान-
न्दैः ग्रीत्यतिशयैर्मित्तिप्रासादादिभावेन वृतो वाय्वभिघाताद-
क्षितो दीपकपुत्रको यस्य ॥ ८ ॥ तमोरजःसत्त्वबहलेषु पाताला-
दिषु लोकेषु तेजसः प्रकाशतारतम्यमाह—दृष्टमिति सार्धेन ।
ईषत्पावकं ईषत्प्रकाशकम् । अर्धदृष्टमर्धप्रकाशम् ॥ ९ ॥
महासत्त्वं महाप्रकाशम् । नित्यत्वं नित्यता । अम्भस्तमसोर्महान्

१ दूरोत्क्षिप्तासिताम्बरम् इति पाठः.

यो० वा० १६०

२ अत्र दीकाकृता ईषत्पावक इति पाठोऽभिप्रेत इति दृश्यते.

जगज्जीर्णकुटीदीपः कूपोऽभस्तमसोर्महान् ॥ १० ॥
 दिग्बधूविमलदशो निशानीहारमारुतः ।
 सत्त्वं चन्द्रार्कवहीनां कुङ्कुमालेपनं दिवः ॥ ११ ॥
 केदारं दिनसस्यानां तमोच्छ्रानामनुग्रहः ।
 नभःकाचवृहत्पात्रक्षालनायु समुल्लसत् ॥ १२ ॥
 सत्ताप्रदतयार्थानां प्रकाशकतयापि च ।
 चिन्मात्रपरमार्थस्य सहोदर इवानुजः ॥ १३ ॥
 क्रियाकमलिनीभानुभूतलोदरजीवितम् ।
 रूपालोकमनस्कारचमत्कारश्चितेर्यथा ॥ १४ ॥
 नभस्तलगतासंख्यनक्षत्रमणिमालितः ।
 दिनर्तुवत्सरावृंह्यावाडवाड्यादिफेनिलः ॥ १५ ॥
 चन्द्रार्कादितरङ्गान्तरजडं पङ्क्तिर्लो महान् ।
 वृहद्ब्रह्माण्डखातस्थो नित्यमेकार्णवोऽक्षयः ॥ १६ ॥
 हेमादिषु सुवर्णत्वं नरादिषु पराक्रमः ।
 काचकच्यं च रत्नादौ वर्षादिष्ववभासनम् ॥ १७ ॥
 ज्योत्स्ना मुखेन्दुविम्बेषु पद्मलेक्षणलक्ष्मसु ।
 स्ववस्त्रेहामृतापूरो हाससौहार्दभासनम् ॥ १८ ॥
 कपोलवाहुनेत्राक्षिभूकरालकलासकः ।
 निजोऽजेयतया जातो विलासः कामिनीजने ॥ १९ ॥

अगाधः कूप इवान्तर्भासि ॥ १० ॥ दिग्बधूनां विमल आदर्श
 इव विविच्य प्रकाशकम् । निशानीहारस्य मारुत इव अपनेतु
 सत्त्वं जीवितसर्वस्वम् ॥ ११ ॥ तमसा उच्छ्रान्तमुच्छ्रानानां
 रूपाणामनुग्रहः । नभोलक्षणस्य काचमयवृहत्पात्रस्य क्षालनार्थ-
 मयु ॥ १२ ॥ चिन्मात्रलक्षणस्य परमार्थस्य आरम्भमात्रेण
 जयन्यत्वादनुज इव ॥ १३ ॥ रूपालोकस्य चाक्षुषस्य तत्प्रयु-
 क्तमनस्कारस्य च धृत्या रुढचित्तेरिव विषयावरणतमोनिवर्तन-
 लक्षणश्चमत्कारः ॥ १४ ॥ किंचेद् तेजो वृहद्ब्रह्माण्डखातस्थो
 महार्णव एवेत्युत्प्रेक्षणाय रूपककल्पितैरण्वधर्मैर्विशिनष्टि—न-
 भस्तलेति । दिनर्तुवत्सरादिकालभेदलक्षणैरावृंह्यैः सर्वतः प्रवृद्धै-
 र्वाडवाड्यादिभिर्विक्षोभात्फेनिलः ॥ १५ ॥ चन्द्रार्कादिलक्षण-
 तरङ्गान्तःप्रसृतै रजोभिः अजडं विनैव जलं कदाचित्पङ्क्तिः
 ॥ १६ ॥ किंचेद् तेजः सन् अहं हेमादिषु सुवर्णत्वं संपन्नः ।
 नरादिषु पराक्रमः, सपन्न इति योज्यम् । काचकच्यं कान्तिवि-
 शेषः । अवभासनं विद्युत्प्रकाशः ॥ १७ ॥ मुखसदृशेन्द्रि-
 विम्बेषु तु ज्योत्स्ना संपन्नः । पद्मलेक्षणलक्ष्मसु मुखलक्षणेन्दु-
 विम्बेषु तु ज्योत्स्नासदृशः स्ववस्त्रेहामृतापूरो हाससौहार्दयुक्तं
 भासनं च सपन्न इत्यर्थः ॥ १८ ॥ कामिनीजने त्वहमजेयतया
 प्रसिद्धो निजः स्वामाविकः कामविलासो जातः । स कीदृक् ।
 कपोलदीनां लासको लावण्यातिशयेन प्रकाशकः । 'लक्ष्मकः'
 इति पाठे चलनादिविकारहेतुः ॥ १९ ॥ किंचाहं तृणीकृतत्रि-
 भुवनानां चपेटाभिरास्फोटिता द्विषो येस्तथाविधानामपि परा-
 क्रमिणां वृत्रादीनां शिरःसु वज्रीकरणं वज्रप्रहारः संपन्नः ।
 सिंहादिचेतसि वीर्यं च संपन्न इति प्रत्येकं विशेषणविशेष्य-

तृणीकृतत्रिभुवनचपेटास्फोटितद्विषाम् ।
 शिरःसु वज्रीकरणं वीर्यं सिंहादिचेतसि ॥ २० ॥
 कटुककटुककुट्टाकखड्गसंघट्टांकृतैः ।
 पटुस्फुटाटोपरदि भटेष्वाटनमुद्धटम् ॥ २१ ॥
 देवेषु दानवारित्वं सुरारित्वं सुरारिषु ।
 सर्वभूतेषु सोजस्त्वमुन्नामः स्थावरादिषु ॥ २२ ॥
 अथ ते सखचङ्गास्वास्तवाहमनुभूतवान् ।
 जगदाकाशकोशेषु तेषु तामरसेक्षण ॥ २३ ॥
 दिगन्तदशनिस्तीर्णैः करजालैर्जगत्खगम् ।
 गृह्णदय्यङ्गमर्कत्वं ग्रामवदृष्टभूतलम् ॥ २४ ॥
 कामोत्पले कोशचक्रं वाडवं तिमिरार्णवे ।
 ब्रह्माण्डसदने दीपं वृक्षं दिनफलावलेः ॥ २५ ॥
 रसायनहृदाकारमिन्दुत्वं वदनं दिवः ।
 निशानिशाचरीहासं विकासं रजनीविशाम् ॥ २६ ॥
 जगद्धावण्यलक्ष्मीणां सर्वासामुपमास्पदम् ।
 रजनीरोहिणीनारीकैरचाणां परं प्रियम् ॥ २७ ॥
 नेत्रवृन्दस्य चक्रस्य ध्रुवतापुष्पजालकम् ।
 खगौघमशकव्यूहं तारकापटलं मृदु ॥ २८ ॥

भावेन वा योज्यम् ॥ २० ॥ किंचाहं भटेषु उद्धटं रणाङ्गणेष्वाटनं
 लक्षणया तत्प्रयोजकं वीर्यं संपन्नः । तत्कीदृशम् । कटुभिः क-
 टुककुटुककुट्टाकखड्गसंघट्टांकृतैः ।
 पटु स्फुटाटोपं च यथा स्यात्तथा रटि रटनशीलम् ॥ २१ ॥ उन्नामः
 औन्नत्यम् । चायवादिबलेनाप्यनान्यत्वप्रयोजकं बलं च ॥ २२ ॥
 अथ तेषु स्वधारणाकल्पितेषु जगदाकाशकोशेषु ते तव प्रसिद्धा
 भरुस्थली यथा स्वान्तर्नद्यादिकल्पनमनुभवति तद्वदहमपि भा-
 खान्सन् वक्ष्यमाणं सर्वं स्वान्तरनुभूतवानित्यर्थः ॥ २३ ॥ तदे-
 वाह—दिगन्तैत्यादिना । अहमर्कत्वमनुभूतवान् । कीदृशं तत् ।
 दिगन्तेषु दशसु निस्तीर्णैः प्रसृतैः करजालैः । अद्वयः अज्ञान्य-
 वयवा यस्य तथाविधं जगद्धक्षणं खगं पक्षिणं गृह्णत् । पुनः
 कीदृशम् । ग्रामवदल्पपरिमाणं दृष्टं भूतलं यत्र ॥ २४ ॥ पुनः
 त्कीदृशमर्कत्वम् । चन्द्रकामवद्युत्पले कोशबन्धनहेतुभूतं च-
 क्रम् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २५ ॥ तथा इन्दुत्वं चन्द्रभावमप्यनुभू-
 तवान् । तदपि कीदृशम् । रसायनस्यामृतस्य हृद इवाकारो
 यस्य । दिवो वदनमिव वदनम् । निशाचरणाया निशाचर्या
 अभिसारिकाया हासमिव हासम् । तथा रजन्या विशन्ति प्र-
 वेशादिव्यवहारं ये कुर्वन्ति ते रजनीविशस्तेषां विकास प्रकाश-
 कम् ॥ २६ ॥ ॥ २७ ॥ तथा सर्वप्राणिनां नेत्रवृन्दस्य वक्रस्य ध्रुवस्य
 च आह्लादविकासहेतुत्वात्परमं प्रियमित्यनुगृह्यान्वयः । तथा
 अहं मृदु तारकापटलम् । भावप्रधानो निर्देशः । तारकासमूहत्वं
 चानुभूतवान् । तदपि कीदृशम् । द्यौराकाशस्तल्लक्षणाया रु-
 तायाः पुष्पजालकमिव स्थितम् । खगोमुखलक्षणे बोधे तन्म-
 करन्दप्रवाहे आसक्तं मशकव्यूहमिव मृदु क्षुद्रम् ॥ २८ ॥

घणिघ्नात्रे घणिग्धस्तुलातोलनदोलितम् ।
 रत्नत्वं जलकल्लोलहस्तान्दोलनमब्धिमिः ॥ २९
 अब्धाऽब्धौ शफरावर्तमब्धा गोमञ्जरीगणः ।
 अब्धादौ दावदहनं वैद्युतं द्योतनं तनौ ॥ ३०
 दारुदारणदुर्वारदीप्तं ज्वलनमाततम् ।
 यज्ञाग्निदाहकल्याणं विस्फोटकठिनारवम् ॥ ३१
 कचत्काञ्चनमाणिक्यमुक्तामणिमयं महः ।
 तपस्तां नीतमाक्षिप्य पाण्डित्यमिव पामरैः ॥ ३२
 विश्रान्तं स्तनभृङ्गेषु मुक्ताहारतया तथा ।
 असुरोरगगन्धर्वनरनायकयोषिताम् ॥ ३३
 पादाहतिं गतं मार्गे तिलकत्वं वधूमुखे ।
 खद्योतेन मया लब्धं पश्यावस्थासु चापलम् ॥ ३४
 कचिद्विद्युत्तया तेषु शफर्या चार्णवेष्विव ।
 खस्थेषु विकृतं चारु वार्यावर्तविराविषु ॥ ३५
 कचिद्दीपतयानीय कलिकाकोमलाङ्गया ।
 अन्तःपुरेषु कान्तानां सुरतालोकनं कृतम् ॥ ३६
 कचित्कज्जलजालस्य ज्वालाकनकदाहते ।
 खेदिना घनकूर्माभं सङ्गेनैव स्वकोटरे ॥ ३७

तथा अहं रत्नलमप्यनुभूतवान् । तच्च घणिजो मिमीते इति
 घणिघ्नात्रो विपणिसखिन् घणिजां हस्तैस्तुलासु तोलनैश्च दोलि-
 तमान्दोलितम् । प्राक् अभिभिर्जलकल्लोलहस्तैरान्दोलनं प्राप्त-
 मिति शेषः । बाहुलकात्कर्मणि वा ल्युट् ॥ २९ ॥ किंचाह-
 मब्धौ समुद्रे अपो धयति पिवतीत्यब्धा वडवानलः सन् शफराणां
 क्षुद्रमत्स्यानां मङ्गीतानामावर्तं परिभ्रमणकौतुकमनुभूतवान् ।
 तथा सर्वत्र अपः धयति शोषयतीत्यब्धा गोमञ्जरीगणः सूर्य-
 किरणमञ्जरीसमूहात्मकः संस्वनौ खशरीरे द्योतनमनुभूतवान् ।
 अब्धादौ मेघपर्वतादौ प्रविश्य दावदहनवैद्युतं च तत्तच्छरीरे
 द्योतनं स्वमनुभूतवानित्यर्थः ॥ ३० ॥ किंचाहमभिभावं प्राप्य
 दारूणां दारणं विदारणनिमित्तं दुर्वारं यथा स्यात्तथा दीप्तमत
 एव दारुविस्फोटैः कठिनारवमाततं सर्वतोविस्तृतं ज्वलनमनुभू-
 तवान् । तथा यज्ञाग्निः सन्नाहविर्दाहकल्याणं चानुभूतवानि-
 त्यर्थः ॥ ३१ ॥ किंच तस्मिन्निभावे कचत्कावण्यातिशयेन धी-
 प्यमानं काञ्चनादिमयं महो ज्योतिः कोशागारदाहेन आक्षिप्य प-
 रिभूय भस्मादिभावं नीत्वा तत्स्वामिनां तपस्तां संतापविषयतां
 नीतम् । यथा बलवद्भिः पामरैर्बहुभिरेकस्य पण्डितस्य पाण्डित्यं
 वितण्डावादैरभिभूय संतापविषयतां नीयते तद्वत् । तथा चामा-
 णकमाहुः—‘पलाशं पण्डितः प्राह मूर्खा जल्पन्ति पाडलम् ।
 मुष्टिप्रहारैः संक्लिष्टः पण्डितोऽप्याह पाडलम्’ इति ॥ ३२ ॥ असं-
 गोपात्ते मुक्ताभावेऽपि यदनुभूतं तदाह—विश्रान्तमिति ॥ ३३ ॥
 खद्योतभावे यदनुभूतं तदाह—पादाहतिमिति । खद्योतभूतेन
 मया तत्खद्योतत्वं मार्गे संचरतां जनानां पादाहतिं गतं लब्धम् ।
 वधूमुखे तु तिलकत्वं गतं लब्धम् । स्थानमेदप्रयुक्तासूक्तर्षाप-

कल्पान्तेषु कचित्सर्वजगद्भ्रमघनश्रमात् ।
 खे कज्जलासिते लीनं रुद्रेभ इव विद्युता ॥ ३८
 कचिदाकल्पमापीय वाडवाग्निताया जलम् ।
 जगत्सु गगनेष्वन्ते ननृते जलराशिषु ॥ ३९
 कचिदुल्मुकदन्तेन मया ज्वालाभुजात्मना ।
 विलोलधूमावर्तोऽप्रकुन्तलेनाकुलौजसा ॥ ४०
 पुरपल्वलदाहेषु कवलीकृतजन्तुना ।
 कृताः कृताष्ट काष्ठादिपदार्थाः खादनोचिताः ॥ ४१
 हतेन शस्त्रपाषाणैरयःपिण्डादिवासिना ।
 हन्तुदाहार्थमुद्गीर्णाः कणकोपलताः कचित् ॥ ४२
 कचिन्महाशिलाकोशे पाषाणमणिना मया ।
 समस्तभूतादश्येन स्थितं युगशतान्यपि ॥ ४३
 श्रीराम उवाच ।
 मुने तस्यामवस्थायामनुभूतं त्वया सुखम् ।
 उत दुःखमिति ब्रूहि बोधाय मम मानद ॥ ४४
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 यथा याति नरः सुप्तो जडतां चेतनोऽपि सन् ।
 चिद्योम गच्छेद्दृश्यत्वं तथा जाड्यं प्रचेतति ॥ ४५

कर्षावस्थासु चापलमनैयत्यं पश्य ॥ ३४ ॥ खस्थेषु मेघेषु मया
 कचिद्विद्युत्तयार्णवेषु शफर्यैव चारु यथा स्यात्तथा विकृतं चेष्टि-
 तम् । वार्यावर्तविराविष्विति द्वयोरपि विशेषणम् ॥ ३५ ॥
 अन्तःपुरेषु आनीय स्थापितेनेति शेषः ॥ ३६ ॥ ज्वालालक्षणं
 कनकं दाति खण्डयति तथाविधैकृते स्वकोटरे वर्तिकाग्रे प्ररु-
 ढकज्जलजालस्य सङ्गेनैव खेदिना मन्दप्रभेण दीपेन मया ज्वाला-
 यवयवसंकोचाद्वनकूर्माभं रूपं कृतमित्यर्थः । कल्पान्ताभिभूतेन
 मया कल्पान्तेषु सर्वेषु जगत्सु भ्रमणप्रयुक्ताद्दहतः श्रमात्कज-
 लेनासिते इयमे कचित्खे आकाशे लीनम् । यथा मेघवाहनस्य
 रुद्रस्य इमे वाहनभूते मेघे विद्युता लीनं तद्वत् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥
 गगनेषु क्षून्यतां प्राप्तेषु जलराशिषु मया अन्ते गगने ननृते ।
 गात्रविक्षेपार्थस्य नृतेर्धात्वर्थोपसंगृहीतकर्मकत्वेनाकर्मकत्वाद्भावे
 लिट् ॥ ३९ ॥ कचिदुल्मुकदन्तेन ज्वालाभुजात्मना विलोला-
 वर्तधूमाम्राण्येव कुन्तलाः केशा यस्य तथाविधेनौजसाग्निना
 मया पुराणां प्ररुढकक्षपल्वलानां च दाहेषु क्रियमाणेषु काष्ठा-
 दिपदार्थाः खादनोचिता भक्षणयोग्याः कृता इति परेणान्वयः
 ॥ ४० ॥ हे कृताष्ट । कृताः स्थिरीकृता दयाद्यस्पृहान्ता
 गौतमोक्ता अष्टौ गुणा येनेति व्युत्पत्तेः ॥ ४१ ॥ कचित्कर्मा-
 रशालादौ शस्त्रैरयोमुद्गैः पाषाणैश्च हतेन लोहाभिघाता-
 दमिहतेन कणका विस्फुलिङ्गा उपलताः पाषाणखण्डाश्चोद्गीर्णाः
 ॥ ४२ ॥ पाषाणमणिना वज्रवैदूर्यादिरूपेण स्थितम् ॥ ४३ ॥
 तस्यां पाषाणमण्यावस्थायाम् ॥ ४४ ॥ चिदानन्दैकर-
 सपूर्णब्रह्मभूतस्य भम कौतुकाज्जगद्भावारोपवीक्षणे न दुःखले-
 शस्यापि प्रसक्तिः किंतु सुखमेवेत्युत्तरं वक्तुं वसिष्ठो भूमिकां

आत्मानं चेतति ब्रह्म पृथ्व्यादीव यदा तदा ।
 सुप्तं जडमिवास्तेऽन्तः स्यादस्य न तदन्यथा ॥ ४६
 चस्तुतस्तस्य खोर्व्यादि नासद्रूपं न सन्मयम् ।
 द्रष्टृदृश्यमिवाभाति ब्रह्म चैतत्समं स्थितम् ॥ ४७
 एतत्सत्यपरिज्ञानं यस्योत्पन्नमखण्डितम् ।
 न तस्य पञ्चभूतानि न दृश्यद्रष्टृविभ्रमः ॥ ४८
 तदा मयैवं शुद्धेन तत्कृतं ब्रह्मरूपिणा ।
 ब्रह्मरूपावृते किञ्चिदेतत्कर्तुर्न युज्यते ॥ ४९
 यदा सर्वमिव दृश्यं जातं ब्रह्म निरामयम् ।
 तदा ब्रह्मपदस्येन मयात्मैवैवमीक्षितः ॥ ५०
 यदा पुनरहं पञ्चभूतानीत्येव भासयन् ।
 भवामि जड एवाहं तदा चेतामि किं किल ॥ ५१
 सुप्तोऽस्मीति दृढं भावं बुद्धवाञ्छेतनोऽपि सन् ।
 नैद्रमेवैत्यलं जाड्यं लसच्चेतति किञ्चन ॥ ५२
 यस्तु ज्ञानप्रबुद्धात्मा देहस्तस्याधिभौतिकः ।
 शाम्यत्युदेति विमलो बोधात्मैवातिवाहिकः ॥ ५३
 आतिवाहिकदेहेन तेन बोधात्मनाणुना ।
 बृहता वा यथाकामं निर्वाणात्मावतिष्ठते ॥ ५४
 बोधदेहेन हृदयं शिलानामप्यभेदिनाम् ।
 प्रविश्याशु विनिर्याति याति पातालमम्वरम् ॥ ५५

रचयति—यथेति ॥ ४५ ॥ अस्य ब्रह्मणस्तद्वास्त्वं सधिदान-
 न्द्रूपमन्यथा न स्यादेवेति न दुःखप्रसक्तिरिति भावः ॥ ४६ ॥
 कुतो न स्यात्तत्राह—चस्तुत इति । सममविकृतमेव स्थितम्
 ॥ ४७ ॥ अज्ञाने हि दुःखप्रसक्तिः स्यात् च तदस्तीत्याह—
 एतदिति ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ यदि मम पापाणमप्यादि-
 भावे चेतन्यमेव न स्यात्तर्हि तदनुभवोऽयं स्मरणं च न स्यादि-
 त्याशयेनाह—यदेति । किं चेतामि कथमनुभवामि ॥ ५१ ॥
 सुप्तसौ कथं तर्हि न किञ्चिदवेदिममित्यवेदनप्रत्ययस्तत्राह—सु-
 प्तोऽस्मीति । तत्र नैद्रं निद्रोपस्थापितमज्ञानमेव नावेदिमिति
 प्रतीतिप्रापितं जाड्यं अलं एति । लसत्प्रकाशं किञ्चन वस्तु
 चेतत्येव । अन्यथा सुप्तिकालमनुभूतस्य स्वापाज्ञानादि स्मरणं
 कथं स्यादिति भावः ॥ ५२ ॥ ज्ञानोदयेन स्थूलव्यष्टिसमष्टिदे-
 हस्याधिभौतिकभावापगमादपि न जाड्यदुःखप्रसक्तिरित्याशये-
 नाह—यस्त्विति ॥ ५३ ॥ निर्वाणात्मा जीवन्मुक्तः ॥ ५४ ॥
 ॥ ५५ ॥ तथाच न मे दुःखप्रसक्तिरित्युपसंहरति—तस्मा-
 दिति ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ स्वेच्छानिर्मितकौतुकत्वादपि न
 दुःखप्रसक्तिरित्याशयेनाह—स्वेच्छयैवेति । स्वेच्छयैवान्यत्र
 प्रयाति चेद्यथा न दुःखं तथैव तत्तत्रैव स्थितिं याति चेदपि
 यथा पुनरागतिस्त्वयैव तत्र स्थितिरपि इष्टैव नानिष्टैत्यर्थः
 ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ एवापि तत्त्वज्ञानितया आतिवाहिकदेहत्वं

तस्मान्मया पुरा राम बोधदेहेन तत्तदा ।
 तथा कृतमनन्तेन चिन्मयव्योमरूपिणा ॥ ५६
 चञ्जपापाणपातालनभोम्वरगमागमान् ।
 कुर्वतस्तादृशस्याशु न विघ्न उपजायते ॥ ५७
 बोधमात्रशरीरेण यावदास्ते जडेष्वसौ ।
 पदार्थेषु तथाभूतस्तावत्तत्रावतिष्ठते ॥ ५८
 स्वेच्छयैव चलित्वाथ ततोऽन्यत्र प्रयाति चेत् ।
 तत्तत्रैव स्थितिं याति तत्तथैवागतिर्यथा ॥ ५९
 बोधमात्रं विदुर्देहमातिवाहिकमव्ययम् ।
 इदानीं त्वं तमेवेह बुधोऽनुभवसि स्वयम् ॥ ६०
 चिन्मात्रव्योमरूपोऽस्मीत्यर्कादाविति बोधतः ।
 आत्मैवास्तमुपानीतः सन्नेवासन्निधात्मना ॥ ६१
 स्थितं स्वप्नादिजगति तमसेवासतेव च ।
 आवृतेनेव चान्यासामलभ्येन सता दृशम् ॥ ६२
 तरङ्गलेखयाङ्गारसरितः स्याद्गलप्रया ।
 मनोराज्यश्रियेवाशुक् प्रोत्पन्नस्तद्वदेहया ॥ ६३
 कज्जलालिकया वहिविपिनं पुष्पशोभया ।
 फुल्लस्थलाम्बुजाकारं किंशुकाशोकरूपया ॥ ६४
 विततारम्भयाप्युच्चैर्ज्वालज्वलतयेदया ।
 उपोत्थायाद्गलितं खललक्ष्म्येव लोलया ॥ ६५

धारणानेर्देर्जगद्भावकौतुकदर्शने च सुलभमेवेति मदुक्तं परी-
 क्षस्वेत्याशयेनाह—बोधमात्रमिति । तमेवातिवाहिकदेहं धार-
 णया जगद्भावं चानुभवसि, यदीच्छसीति शेषः ॥ ६० ॥
 तत्त्वज्ञैरिच्छयैव अर्कादिसर्वं जगदस्त्वं नीत्वा आत्ममात्रतया
 स्थापयितुं शक्यमित्याह—चिन्मात्रेति । आत्मना आत्मरूपेण
 सन्नेव जगद्गुणवाधादसन्निव भवतीत्यर्थः ॥ ६१ ॥ ननु अस्म-
 दादिदृशा सता जगता कथमसतेव स्थितमिति चेत्स्वप्नादि-
 जगति जाग्रजगतेवेत्याह—स्थितमिति । यथा दृशं जाग्रत्पुष्प
 दृष्टिं प्रति सता विद्यमानेनैव जगता सुप्तपुरुषप्रसिद्धस्वप्नादिज-
 गति वमसा अज्ञानभावेनेव असता शून्यभावेनेव आवृतेनेव
 वा अन्यासा सुप्तदृशमलभ्येन स्थितं तद्वदित्यर्थः ॥ ६२ ॥
 किञ्च यथा कश्चिन्मनोराज्यश्रिया कल्पिताया अङ्गारसरितस्त-
 रङ्गलेखया स्याद्गलप्रयापि अशुक् निर्दुःख एव कौतुकी प्रोत्पन्न-
 स्तद्वदेहमपि आ इदया ईषदिच्छया पापाणमप्यादिभावेन
 प्रोत्पन्न इति न शुक्लप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ ६३ ॥ इत्थं रामप्र-
 त्योत्तरमभिधाय प्रस्तुतमेवानुवर्तमान आह—कज्जलेति । व-
 हिमूतेनैव मया कज्जलमेवालिकं अलिसमूहो यथा तथाविधया
 अत एव पुष्पशोभया किंशुकाशोकरूपया इदया वीतया ज्वा-
 लाज्वलतया वहिव्याप्तं विपिनं फुल्लस्थलाम्बुजाकारं कृतमिति
 शेषः ॥ ६४ ॥ हे अह, मया इदया वीतया खललक्ष्म्येव लोलया
 ना पुरयः । अमेदीति हृदयविशेषणमित्यनुमीयते ।

तेजस्तथापि परमाणुकणोदरेऽपि

दृष्टेऽथमेवमिह राम मया जगच्छ्रीः ।

अन्या च सा न च चिदम्बरतः परसा-

स्त्वमे पुराचलगणोऽत्र निदर्शनं घः ॥ ६६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० तैजसजगद्वर्णनं नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमः सर्गः ९२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ घातमयीं कृत्वा जगत्प्रेक्षणकौतुकात् ।

धारणां धीरया वृत्त्या विततामहमागतः ॥

संपन्नोऽस्म्यनिलो वल्लीललनालोकलासकः ।

कमलोत्पलकुन्दादिजालकामोदपालकः ॥

सीकरोत्करनीहारहेलाहरणतत्परः ।

सुरतश्चान्तसर्वाङ्गसमाह्लादनतर्पुलः ॥

तृणगुल्मलतावल्लीदलताण्डवपण्डितः ।

लतौषधिफलोद्भासकुसुमामोदमण्डितः ॥

मृदुर्मङ्गलकालेषु ललनालोकलालकः ।

भीम उत्पातकालेषु पर्णवत्प्रौढपर्वतः ॥

नन्दने कुन्दमन्दारमकरन्दरजोरुणः ।

नरकेऽङ्गारसंभारभूरिनीहारभासुरः ॥

सागरे सरलावर्तलेखानुमितसर्पणः ।

दिवि वारिदसंचारमृष्टामृष्टेन्दुदर्पणः ॥

नक्षत्रक्षत्रसैन्यस्य रथो रंहोविबुद्धितः ।

त्रैलोक्यसिद्धसंचारविमानधरणे हितः ॥

सहोदर इव क्षिप्रगामित्वादस्य चेतसः ।

अनङ्गोऽपि समस्ताङ्गः स्पन्दानन्दनचन्दनः ॥ ९

तुषारसीकरासारजररोमविजर्जरः ।

आमोदयौवनोन्मादो मौनमार्दवशैशवः ॥ १०

नन्दनामोदमधुरो मधुरोदारसंसृतिः ।

चारुचैत्ररथोन्मुक्तो हृतकान्तारतश्रमः ॥ ११

चिरं गङ्गातरङ्गाङ्गदोलान्दोलनसश्रमः ।

श्रमस्वरूपावृतया निवारितततश्रमः ॥ १२

पुष्पभारानताः स्पशैर्वसन्तवनितालताः ।

चिरं चपलयँलोलदलहस्तालिलोचनाः ॥ १३

चिरं भुक्त्वेन्दुबिम्बाग्रं सुप्ता पूर्णाश्रतल्पके ।

विधूय कमलानीकमपनीतरतश्रमः ॥ १४

समस्तरजसामेको व्योमगामी तुरंगमः ।

आमोदमदमातङ्गसमुल्लासमहासुहृत् ॥ १५

धीरेणाप्य तडिच्छृङ्गं पयोदपशुपालकः ।

तन्तुः सीकरमुक्तानामरिधर्मा रजोरुजाम् ॥ १६

आकाशकुसुमामोदः सर्वशब्दसहोदरः ।

नाडीप्रणालीसलिलं भूताङ्गोपाङ्गवर्तकः ॥ १७

ज्वालाज्वलतया उपोत्थाय झटित्येवोत्कर्षं प्राप्य सहस्रैव गलितम् ॥ ६५ ॥ हे राम, मया तेजस्तथापि परमाणुकणानामुदरेऽपि प्रत्येकं इत्यमेवं जगच्छ्रीर्दृष्टा सा जगच्छ्रीर्भवदादिप्रसिद्धा च जगच्छ्रीः परसाच्चिदम्बरतः अन्या न । अत्रास्मिन्नर्थे वः युष्माकं स्वप्ने प्रसिद्धः पुराणः अचलगणश्च निदर्शनं दृष्टान्त इत्यर्थः ॥ ६६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे तैजसजगद्वर्णनं नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

वायुधारणया वायुभावे तत्कर्मविस्तरः ।

ततः साकाशसार्वात्म्यस्थितिश्चात्रोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

विततां वायुभावप्रतिष्ठापर्यन्तं विस्तीर्णां तामागतः प्राप्तः सन्ननिलः संपन्नोऽस्मीत्यन्वयः ॥ १ ॥ प्रसिद्धैरनिलधर्मैरात्मानं विशिनष्टि—वल्लीत्यादिना । आमोदान्पालयति स्वाधीनीकृत्य रक्षतीत्यामोदपालकः ॥ २ ॥ ३ ॥ फलोद्भासानां कुसुमानां चामोदैर्मण्डितः संपन्नोऽस्मीति सर्वत्रानुषङ्गः ॥ ४ ॥ मृदुलकालेषु भाविकल्याणसूचनाय मृदुशैत्यमान्यसौरभयुक्तः । उत्पातकालेषु तु भीमस्तद्विपरीतत्वात्खरोष्णपरुषः । प्रलयकालेषु तु पर्णवत्प्रौढा उद्वायिताः पर्वता येन तथाविधः ॥ ५ ॥ नन्दने स्वर्गे ॥ ६ ॥ सरलाभिरावर्तलेखाभिस्तरङ्गलेखाभिरनुमितं सर्पणं प्रचलनं यस्य । मेघापसारणे मृष्ट इव तदाच्छादने

नामृष्टो भलिनीकृत इवेन्दुदर्पणो येन ॥ ७ ॥ नक्षत्रलक्षणस्य क्षत्रसैन्यस्य राजसेनाया रंहोभिर्विबुद्धितो विबुद्धो रथः । प्रवहाख्यो मरुद्देवो नक्षत्रचक्रं अमयतीति ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धेः । तथा त्रैलोक्येऽपि सिद्धानां संचारे देवानां विमानधारणे च हितोऽनुकूलः ॥ ८ ॥ ९ ॥ तुषारादिलक्षणेर्जराधवलरोमभिर्विजर्जरो वृद्ध इव । कुसुमाद्यामोदैर्यौवनोन्मादवानिवं । मौनमार्दवे शैशवमिव यस्य ॥ १० ॥ नन्दने इन्द्रोद्याने उदारो मधुरश्च । चैत्ररथात्कुबेरोद्यानादुन्मुक्तः प्रसृतः ॥ ११ ॥ गङ्गातरङ्गाङ्गदोलसु आन्दोलनेन सश्रम इव परश्रमनिवारणौत्सुक्येन स्वश्रमानभिज्ञतया निवारितास्तता विस्तीर्णाः परश्रमा येन ॥ १२ ॥ वसन्तस्य वनिता इव स्थिता लता नर्मस्पर्शैरिव चिरं चपलयन् । लोलदलहस्ताश्च ता भलिलोचनाश्चेति कर्मधारयः ॥ १३ ॥ इन्दुबिम्बे अग्रं श्रेष्ठममृतं चिरं भुक्त्वा । रतश्रमः स्वीयः परकीयो वा ॥ १४ ॥ १५ ॥ तडिल्लक्षणं शृङ्गं गोपचालानां प्रसिद्धं बाणमाप्य धीरेण तस्मादेन पयोदलक्षणानां पशूनां गोमहिष्यादीनां पालकः । रजोरुजां धूलिविनाशकानां जलभागानामरिधर्मा । शोषक इति यावत् ॥ १६ ॥ आकाशलक्षणस्य कुसुमस्यामोदो गन्धभूतः अतएव तद्गुणानां सर्वशब्दानां

१ नन्दनोदारमधुरः इति पाठो व्याख्यानुगुणः ।

मर्मैकर्मैकैकात्मा हृद्द्वयोदकेसरी ।
 नित्यमेकान्तपथिकः सारविजातवेदसः ॥ १८ ॥
 आमोदरत्नलुण्टाको विमाननगरावनिः ।
 दाहान्धकारशीतांशुः शैत्येन्दुक्षीरसागरः ॥ १९ ॥
 प्राणापानकलरज्ज्वा प्राणिनां यन्त्रयाहकः ।
 अरिमित्रं च द्वीपानां द्वीपसंचारणे रतः ॥ २० ॥
 पुरोगतोऽप्यदृश्यात्मा मनोराज्यपुरोपमः ।
 तालवृन्ततिलैतैलमालानं स्पन्ददन्तिनः ॥ २१ ॥
 एकक्षणलवेनैव चालिताखिलभूधरः ।
 वर्णावलितरङ्गणां गङ्गावाह इवैककृत् ॥ २२ ॥
 धूमाम्बुवाहरजसां महावर्तकदम्भसाम् ।
 धुनदीवाहवार्यो घनभोनीलोत्पलालिकः ॥ २३ ॥
 शरीरावेष्टितोन्मुक्तपुराणतृणचोपनः ।
 स्पन्दपञ्चवनादित्यः शब्दवर्षैकधारिदः ॥ २४ ॥
 व्योमकाननमातङ्गः शरीरगृहगर्गटः ।
 धूलीकदम्बविपिनमालालिङ्गननायकः ॥ २५ ॥
 स्त्यानीकरणसंशोपधृतिस्पन्दनसौरभैः ।
 सशैत्यैः कर्मभिः पङ्क्तिरलब्धक्षण आक्षयम् ॥ २६ ॥
 रसाकर्षणसव्यग्रो नित्यं धातेव तेजसः ।
 हरणादानकर्तृणामङ्गानां विनियोगकृत् ॥ २७ ॥
 शरीरनगरे नाडीमार्गैर्गतिनिरर्गलः ।

सहोदरः । भूतानां प्राणिनामेषु लपानेषु च वर्तकः संस्तु-
 यनाबीलक्षणप्रणालीनां सलिलमिव संपन्न इत्यर्थः ॥ १७ ॥ एवं-
 भूतानां प्राणभूतत्वादुदयादिमर्मस्थानत्वान्मर्मैकर्मैकराणां सर्व-
 पामेक आत्मा । एकान्तं नियतं पथिकः संचरणशीलः । जात-
 वेदसः सारं वलं वेत्तीति सारयित् । यतो दुर्बलं दीपादिभावे नाश-
 यति प्रबलं च मिश्रभावेन वर्धयति ॥ १८ ॥ आमोदलक्षणरज्ज्वा-
 लुण्टाको बलात्कलिकाग्रन्थिमुन्मोच्य हर्ता । विमानगणलक्षण-
 नगरस्य अवनिर्विधारकः । दाहस्तापस्तापक्षणाब्धकारस्य शी-
 तांशुः । शैत्येन्दोः क्षीरसागर इव जन्मभूमिः ॥ १९ ॥ द्वीप-
 नां तरङ्गैः खण्डकत्वादितः पांसुभिरुपचेतृत्वाभिमित्रं च ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ प्रलयकाले एकक्षणलवेनैव चालिता चत्वाता
 अखिला भूधरा येन । वर्णावलितानां वर्णास्तारक्षणाणां तर-
 ङ्गणां गङ्गाप्रवाह इव धूलिमिश्रणेनैकत्वकृत् ॥ २२ ॥
 पुनः कीदृश्यायुः । धूमानामम्बुवाहानां रजसामम्भसां च महा-
 वर्तकृत् । धुनवीप्रवाह एव मकरन्दवार्यो यो यत्र तथाविधस्य
 नभोलक्षणनीलोत्पलस्य अलिको भ्रमरः ॥ २३ ॥ चाल्याशरी-
 रावेष्टनेनोन्मुक्तानां जीर्णतृणानां चोपनो मन्दगतिहेतुः । स्पन्दः
 क्रियासामान्यं तलक्षणस्य पञ्चवनस्य आदित्यो विक्रमहेतुः ।
 शब्दलक्षणस्य वर्षस्य वृष्टेरेको सुहृदो धारिदः ॥ २४ ॥ शरीरगृहे
 गर्गटो यन्त्रविशेष इव सदैव शब्दायमानः । धूलीलक्षणना-
 यिकाकदम्बस्य विपिनमालालक्षणनायिकानां चालिप्रणे नायकः
 ॥ २५ ॥ स्त्यानीकरणं हिमवतादेः पिण्डीकरणं कर्दमादेः संशोषो

रसभाण्डे परावर्तादायुर्मणिमहाचणिक ॥ २८ ॥
 शरीरनगरीनाशनिर्माणैकपरायणः ।
 रसकिट्टकलाधालुपृथकरणकोविदः ॥ २९ ॥
 प्रतिस्सूक्ष्माणुकं देहे ततो दृष्टं मया जगत् ।
 तत्रेत्यं रूपवानसि स्फुटमाभोगि सुस्थिरम् ॥ ३० ॥
 परमाणुप्रति त्वत्र प्रोहन्त इव सर्गकाः ।
 न च किञ्चित्किलोहन्ते स्थाकृते किमिवोहते ॥ ३१ ॥
 सचन्द्रार्कानिलाग्नीन्द्रपद्मवैश्रवणेश्वराः ।
 सप्रह्लाहरिगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ॥ ३२ ॥
 ससागरगिरिद्वीपदिगन्तरमहार्णवाः ।
 सलोकान्तरलोके शकियाकालकलाफमाः ॥ ३३ ॥
 ससर्गभूमिपातालततलोकान्तरान्तराः ।
 सभावामावयैधुर्यजरामरणसंश्रमाः ॥ ३४ ॥
 एवं नाम तदा राम भूतपञ्चकरूपिणा ।
 मया प्रविहृतं तत्र त्रैलोक्यनलिनोदरे ॥ ३५ ॥
 रसः पीतोऽनुभूतश्च क्षमाजलानिलतेजसाम् ।
 मूलजालेन वृक्षाणां प्राणिनां वसता मया ॥ ३६ ॥
 रसायनघनाङ्गेषु चन्दनद्रवशोभिषु ।
 लुठितं चन्द्रविम्बेषु तुषारशयनेष्विव ॥ ३७ ॥
 सर्वर्तुवनजालेषु नानामोदानि दिक्ष्वलम् ।
 भुक्तानि पुष्पजालानि प्रोच्छिष्टं ददताऽलये ॥ ३८ ॥

मेषादेश्चेति धारणं तृणादेः स्पन्दनं सौरभानि गन्धाहरणानि शैत्यं
 तापहरणं चेति पङ्क्तिः कर्मभिः आक्षयं प्रलयपर्यन्तमलम्बः
 क्षणो विधामो येन ॥ २६ ॥ हरणादानकर्तृणां हस्ताश्रानां
 विनियोगकृत्, चालक इति यावत् ॥ २७ ॥ गतिविषये निरर्गलो
 निरन्तरायः । अजरसमये देहभाण्डे प्राणापानादिभावेन परा-
 वर्तादायुर्मणिपैरक्षणव्ययविषये महावथिक ॥ २८ ॥ अवर-
 रानां किट्टस्य मलस्य कलानां सूक्ष्मतरसारभागानां वर्णा ल-
 गच्छन्नासमेदोस्थिमज्जाशुकाद्यानां वातपित्तकफाद्यानां वा
 भूतानां च पृथकरणे कोविदः कुशलः ॥ २९ ॥ तत्र वक्षु-
 भावेऽपि प्रतिस्सूक्ष्माणुकं परमाणुपर्यन्तं प्रतिद्रव्यं देहे तत्तदुदरे
 मया कलयौतशिलावदेव जगद्गृहम् । तत्र तेष्वपि जगत्सु इत्थं
 पृथिव्यादिलग्नपवानहमेवासि ॥ ३० ॥ परमार्थदृष्टा तु न च
 किञ्चित्किलोहन्ते । स्थाकृते शून्याकारे ॥ ३१ ॥ प्रतिप्राण-
 किञ्चित्सहिताः सर्गकाः प्रोहन्त इव तदाह—सचन्द्रार्कैलादि-
 त्रिभिः । सर्वत्र 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । सहस्य
 सः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ एवमाकाशधारणया आकाशभावे
 सद्रिलासमेदानुभवा अप्यूषा इत्याशयेनोपसंहरति—एवं ना-
 मेति ॥ ३५ ॥ कथं कथं प्रविहृतं तत्प्रपद्यति—रसः पीत-
 इत्यादिना । प्राणिनां भूजलानिलतेजःसमवायरूपाणां वृक्षाणां
 देहे वसता मया मूलजालेन भूमौ रसः पीतः ॥ ३६ ॥ रस-
 यनमसृतं तद्वनाङ्गेषु चन्दनद्रवचक्षुःशैल्यपिण्डगोभिषु
 ॥ ३७ ॥ नानामोदानि पुष्पजालानि भुक्तान्यनुभूतानि । च-

ततोन्नतासु मृद्वीषु स्वास्तीर्णास्वम्बराजिरे ।
 सुप्तं शुभ्राभ्रमालासु नवनीतस्थलीष्विव ॥ ३९
 सुमनःपत्रमृदुषु नीललक्ष्मीविलासिषु ।
 सुरसिद्धाङ्गनाङ्गेषु दूरास्तस्मिन्वासनम् ॥ ४०
 कृतः कुमुदकह्वारकमले नलिनीवने ।
 कोमलः कलहंसीभिर्लीलाकलकलारवः ॥ ४१
 सरत्सरिच्छिरासारा मूलभूमण्डलान्विताः ।
 अङ्गैरुद्धाः स्फुरद्भूता लोमालय इवाद्रयः ॥ ४२
 खाद्रयः प्रथिता दीर्घसरित्सूत्रैः समुद्रकैः ।
 आदर्शैरिव विश्रान्तमङ्गेषु प्रतिबिम्बिभिः ॥ ४३
 भूतसर्गेण विश्रान्तं सिद्धविद्याधरादिना ।
 मद्देहे चेतितेनेव मक्षिकायौकरूपिणा ॥ ४४
 मत्प्रसादेन मुदितैर्लब्धमर्कादिभिर्वपुः ।
 कृष्णरक्तसितापीतहरितैर्हरितैरिव ॥ ४५
 समुद्रमुद्रया सप्तद्वीपसप्तात्मरूपया ।
 संस्थया स्थापिता भूमिः प्रकोष्ठे बलयोपमा ॥ ४६
 विद्याधरपुरन्धीणां परामृष्टाङ्गयष्टिना ।
 अदृष्टेनैव विहितः पुलकोल्लास आत्मना ॥ ४७
 सरिच्छिरामलस्फाररसानि सुषिराणि च ।
 जगन्त्येवास्थिजालानि ममासन्संस्थितानि च ॥ ४८
 असंख्यैर्व्योममातङ्गैश्चन्द्रार्कचलचामरैः ।
 उदुम्बरान्तर्मशकैरिव मद्बुदये स्थितम् ॥ ४९
 सर्वपातालपादेन भूतलोदरधारिणा ।

खमूर्धापि तदा राम न त्यक्ताथ पराणुता ॥ ५०
 दिक्षु सर्वासु सर्वत्र सर्वदा सर्वकारिणा ।
 सर्वात्मनाप्यसर्वेण शून्यरूपेण संस्थितम् ॥ ५१
 किञ्चित्त्वं सदकिञ्चित्त्वं साकृतित्वं निराकृति ।
 अनुभूतं सजाड्यं च चेतनत्वमलं मया ॥ ५२
 मैनाकमुग्धपीनस्य सागरस्यावर्णिं प्रति ।
 सन्ति सर्गसहस्राणि स्थाणुभूतान्यथो मया ॥ ५३
 जगन्त्यङ्गे मयोद्धानि गूढानि प्रकटान्यपि ।
 प्रतिबिम्बपुष्पणीव मुकुरेणाजडात्मना ॥ ५४
 एवं जलानिलाश्रित्वं भूमित्वं खात्मना मया ।
 कृतं चित्तेव स्वप्नेषु बत मायाविजृम्भितम् ॥ ५५
 अपि तस्यामवस्थार्यां जगन्त्याकाशकोशके ।
 मया दृष्टान्यसंख्यानि परमाणुकणं प्रति ॥ ५६
 परमाणु प्रति व्योम परमाणु प्रति स्थितम् ।
 सर्गवृन्दं यथा स्वप्ने स्वप्नान्तरयुतं पुरम् ॥ ५७
 स्वमेवादमभूवं भूमण्डलं द्वीपकुण्डलम् ।
 सर्वात्मनापि न व्याप्तं किञ्चनापि मया क्वचित् ॥ ५८
 समुत्पादयताशेषं लतातरुतृणाङ्कुरम् ।
 भूतलेन रसाः कृष्टा मयार्थेनैव पुंभूताम् ॥ ५९
 अवदाततमे युद्धबोधकालमुपेयुषि ।
 जगल्लक्ष्णाणि तिष्ठन्ति न तिष्ठन्ति च कानिचित् ॥ ६०
 चिति यास्तु चमत्कारं चमत्कुर्वन्ति यत्स्वतः ।
 स्वचमत्कृतयोऽन्तस्थास्तदेताः सृष्टिदृष्टयः ॥ ६१

भोगप्रोच्छिष्टं मकरन्दं अलये दत्ता मया ॥ ३८ ॥ अम्बरा-
 जिरे आकाशचत्वरे स्वास्तीर्णासु शुभ्राभ्रशय्यासु सुप्तम् ॥ ३९ ॥
 सुमनसां शिरीषादिपुष्पाणां पत्रमिव मृदुषु सुरसिद्धाङ्गनाङ्गेषु ।
 किं कामुकेन त्वया सुप्तं, नेत्याह—दूरास्तेति ॥ ४० ॥ ४१ ॥
 किञ्च ब्रह्माण्डभूतेन मया सरन्तीनां सरिच्छिरासाराणां मूलभू-
 तभूमण्डलेनान्विताः स्फुरद्भूता भुवनावलयः अङ्गैरुद्धाः
 अद्रयो लोत्रामालयः पङ्क्तय इवाङ्गैरुद्धाः ॥ ४२ ॥ ये खाद्रयो
 जगति प्रथितास्तैर्दीर्घसरित्सूत्रैः समुद्रकैश्च सह मम अङ्गेषु
 प्रतिबिम्बसहितैरादर्शैरिव विश्रान्तं स्थितमित्यर्थः ॥ ४३ ॥
 सिद्धविद्याधरादिना भूतसर्गेण प्राणिनिकायेन तु मद्देहे चेतिते-
 न परिज्ञातेन मक्षिकायौकरूपिणेन विश्रान्तम् ॥ ४४ ॥ तर्हि
 किं तैर्मक्षिकायौकावद्भूतैः प्रतिक्षणं निवार्यमाणैरुद्विग्नैरवस्थास्थितं,
 नेत्याह—मत्प्रसादेनेति । वपुःकृष्णेत्यादिसमस्तपदं बोध्यम् ।
 वपुषा कृष्णरक्तादिवर्णैर्हरितैः क्षिग्धैर्वैरिव स्थिरैः पेपीयमानै-
 र्मोदमानैश्चैत्यर्थः ॥ ४५ ॥ सप्तद्वीपैः सप्तविधात्मरूपया सं-
 स्थया संनिवेशेन प्रसिद्धा भूमिर्मया प्रकोष्ठे बलयोपमा स्थापि-
 ता ॥ ४६ ॥ ताभिरदृष्टेनैवात्मना मया तासां खानन्देन पुल-
 कोल्लासो विहितः ॥ ४७ ॥ सरिल्लक्षणशिराभिरमलस्फारान्त-
 र्गतसरानि सुषिराणि च्छिद्रवन्ति च पर्वतादिजगन्ति मम देहे
 अस्थिजालानि चान्मांसादीनि च संस्थितानि ॥ ४८ ॥

व्योममातङ्गैरैरावतादिभिः । मद्बुदये हृदयाकाशे ॥ ४९ ॥
 एवमतिविस्तृतब्रह्माण्डरूपेणापि मया परमसूक्ष्मचिन्मात्रस्वभा-
 वता न हापितेत्याह—सर्वेति ॥ ५० ॥ शून्यरूपेण सर्वद्वैतशू-
 न्यचिन्मात्ररूपेण ॥ ५१ ॥ तदा परिच्छेदापरिच्छेदादिसर्ववि-
 रुद्धधर्माणां स्वात्मनि समुच्चयोऽनुभूत इत्याह—किञ्चित्त्व-
 मिति ॥ ५२ ॥ समुद्रादिकुक्षिदेशेष्वपि कलधौतशिलायामिवा-
 नन्तानि जगन्ति सन्ति तान्यपि मयानुभूतानीत्याह—मैना-
 केति । मैनाकवदन्तर्निनीनैः पर्वतशिलादिभिर्मुग्धस्य पीनस्या-
 तिविस्तृतस्य च सागरस्य अवर्णिं प्रति प्रतिदेशं स्थाणुभूतानि
 सर्गसहस्राणि सन्ति तानि च मया अथो अनुभूतानीति विप-
 रिणामेनानुषज्यते ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ स्वप्नेषु प्रसिद्धया चित्तेव
 कृतम् ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ प्रतिपरमाणु एवं विस्तृतं व्योम स्थितं
 तत्र संचरत् प्रतिपरमाणु सर्गवृन्दं स्थितम् ॥ ५७ ॥ स्वं आध्या-
 सिकमात्मरूपमेवाभूवम् । एवं सर्वजगदात्मभूतेनापि मया
 क्वचित्किञ्चनापि न व्याप्तं न स्पृष्टम् । असङ्गाद्वयत्वादित्यर्थः
 ॥ ५८ ॥ पुंभूतां पुरुषादिशरीरभूतामर्थेनैवाशेषं लतातरुतृणा-
 ङ्कुरं समुत्पादयता मया वृष्टिनिपतिता रसा भूतलेन कृष्टा नि-
 पीताः ॥ ५९ ॥ युद्धसदृशं सर्वद्वैतसंहारकं बोधकालं उपेयुषि मयि
 जगल्लक्ष्णाणि तिष्ठन्ति न तिष्ठन्ति च ॥ ६० ॥ केन रूपेण तिष्ठन्ति

अनुभूतं कृतं कष्टं यावत्कचन किञ्चन ।
परमार्थचमत्कारादृते नेहोपलभ्यते ॥ ६२
प्रत्येकं विश्वरूपात्मा सर्वकर्ता निरामयः ।
प्रबुद्धः शुद्धबोधात्मा सर्वं ब्रह्मात्मकं यतः ॥ ६३
सर्वः सर्वत्र सर्वात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ।

एतत्प्रबुद्धविषयमप्रबुद्धं न वेदयद्दम् ॥ ६४
आकाशकोशविशदात्मनि चित्स्वरूपे
येयं सदा कचति सर्गपरम्परेति ।
सान्तस्तदेव किल ताप इवान्तरुष्मा
भेदोपलम्भ इति नास्ति सदस्त्यनन्तम् ॥ ६५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० परमार्थसर्गोत्तरैक्यप्रतिपादनं नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमः सर्गः ९३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
अथैवंरूपसंविन्देः परावृत्त्य प्रयत्नतः ।
तमम्बरकुटीकोशदेशमागतवानहम् ॥ १
यावत्तत्र न पश्यामि स्वदेहं कचन स्थितम् ।
पश्यामि केवलं सिद्धं कमप्यन्यं पुरः स्थितम् ॥ २
उपविष्टं समाधाननिष्ठमिष्टं पदं गतम् ।
सौम्योदयमिवादित्यं दग्धेन्धनमिवाग्नयम् ॥ ३
बद्धपद्मासनं शान्तं समाधाननिरिङ्गनम् ।
गुल्फद्वितयमध्यस्थवृषणं विषयातिगम् ॥ ४
मृष्टसौम्यसमाभोगस्कन्धबन्धुरकन्धरम् ।
सुस्थिरोदारविश्रान्तस्फारकस्थितिसुन्दरम् ॥ ५
नाभीनिकटगोचानपाणिद्वितयदीप्तिभिः ।
हृदयाम्भोजतेजोभिर्बहिष्पैरिव भासितम् ॥ ६
निःशृण्वपक्षेक्षणं क्षीणसर्वेक्षं स्वच्छतां गतम् ।

सरो निमीलिताम्भोजमिव सुप्तं दिनालये ॥ ७
अविश्रुभितमाशान्तमन्तःकरणकोटरम् ।
दधानं धीरया वृत्त्या शान्तोत्पातमिवाम्बरम् ॥ ८
अपश्यता निजं देहं तं मुनिं पश्यता पुरः ।
इदं मया तदा तत्र चिन्तितं वादचेतसा ॥ ९
अयं कश्चिन्महासिद्धः संप्राप्तोऽस्मिन्दिगन्तरे ।
विचार्याहमिवाकान्तं विश्रामार्थं महाम्बरम् ॥ १०
समाधियोग्यमेकान्तं लभेयेतीह चिन्तया ।
कुटीं दृष्ट्वेयमेतेन सत्यसंकल्पशालिना ॥ ११
मदागमनमेतेन ततोऽचिन्तयता चिरम् ।
तं स्वदेहं शवीभूतमपास्येह कृता स्थितिः ॥ १२
तदिहास्तमहं यामि खं लोकमिति निश्चयम् ।
यावद्भक्तुं प्रवृत्तोऽसि तावत्संकल्पनक्षयात् ॥ १३

केन च न तिष्ठन्तीति चेच्चिन्मत्कारमात्ररूपेण तिष्ठन्ति तदन्यत्क-
रणेन न तिष्ठन्तीत्याह—चिन्तीति ह्यभ्याम् । चिति या अन्तस्थाः
स्वचमत्कृतयः स्वसत्तास्फूर्तिलक्षणं चमत्कारं यत्स्वतश्चमत्कुर्वन्ति
जगत्सारोप्य प्रकटयन्ति तत्तेन रूपेण एताः सर्गदृष्टयः सन्ती-
त्यर्थः ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ अत एवाध्यारोपे अत्येकं स्वसत्तार्पणादि-
श्वरूपात्मापवादेन प्रबुद्धत्वं शुद्धबोधात्मैवेत्यर्थः ॥ ६३ ॥ अत
एव एकैकवस्तुन्तरे ब्रह्मणि सर्वजगदध्यासात्सर्वः सर्वत्र
सर्वात्मा च सर्वगः सर्वसंश्रय इत्येतत्प्रबुद्धविषयं जगद्रूपं पर्य-
पश्यति । अप्रबुद्धगम्यं तु रूपं न प्रबुद्धैर्देहेषु शक्यमित्याह—
अप्रबुद्धमिति ॥ ६४ ॥ तथा चाद्वये विदात्मनि विदुषां सर्वत्र
सर्वात्मताकल्पना विकल्पमात्रं न चिद्यतिरिक्तं वस्तु किञ्चिद-
स्तीत्याह—आकाशेति । सा अन्तस्तदेव । यथा तापस्यान्त-
रुष्मेति प्रयोगे तापपदस्य तदन्तःपदस्योष्मपदस्य च न पृथग-
र्थोऽस्ति किन्तु वाक्याद्विकल्पमात्रं तद्वद्भेदोपलम्भोऽपीति न जग-
दस्ति किन्तु नन्तं सदस्तीत्यर्थः ॥ ६५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारा-
जायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थसर्गोत्तरैक्य-
प्रतिपादनं नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

वासिष्ठकुर्व्या भ्यानस्थसिद्धस्येह तिरीक्षणम् ।

पातः कुट्युपसंहारात्स्वोदन्तोक्तिश्च वर्णयते ॥ १ ॥

अथ धारणासिद्धजगद्देहदर्शनानन्तरमेवंरूपाया उक्तरूपायाः

कौतुकदर्शनसंविन्देः सकाशात्परावृत्त्याहं तत्प्राक्तनं स्वसमाधि-
स्थानमम्बरकुटीकोशदेशमागतवान् ॥ १ ॥ यावत्साकल्येना-
न्विष्टमपि कचन स्वदेहं न पश्यामि ॥ २ ॥ इष्टं परमप्रेमास्पदं
निरतिशयानन्दब्रह्मपदं गतम् । तं वर्णयति—सौम्योदयमि-
वेत्यादिना ॥ ३ ॥ -समाधानेनेष्टविषये चित्तस्थैर्येण निरिङ्गनं
निश्चलम् ॥ ४ ॥ 'समं कायशिशोमीवं धारयन्' इति मगध-
कथ्यानाद्देहस्थितिलक्षणागम्याह—मृष्टेति । मस्तत्रिपुण्ड्रे-
खामृष्टान्यां सौम्याभ्यां गाम्भीर्यरम्याभ्यां समाभोग्याभ्यां
स्कन्धाभ्यां बन्धुरा कन्धरा ग्रीवा यस्य । सुस्थिरस्य तदारे
वस्तुनि विश्रान्तेन मनसा स्फारस्य प्रसन्नवदनस्य कस्य शिरसः
स्थित्या सुन्दरम् ॥ ५ ॥ पाणिद्वितयस्य दीप्तिभिः कुलपद्म-
थसदृशशोभाभिः । हृदयाम्भोजेति तासामेवोत्प्रेक्षा ॥ ६ ॥
क्षीणः सर्वा ईक्षा बाह्येन्द्रियव्यापारा यस्य । दिनालये रात्रौ
॥ ७ ॥ ८ ॥ इदं वक्ष्यमाणं चिन्तितम् ॥ ९ ॥ पूर्वमहमिवा-
कान्तविश्रामार्थं ॥ १० ॥ समाधियोग्यमेकान्तं स्थलं लभेय
इति चिन्तया इह संप्राप्तः । एतेन इयं कुटी स्वध्यानयोग्या
दृष्टा ॥ ११ ॥ तत एतेन चिरं बहुपेक्षणाच्छवीभूतं तत्र
स्थितं स्वदेहं वसिष्ठदेहं दृष्ट्वा तत्र पुनर्मदागमनमचिन्तयता अ-
ज्ञानता तं देहमपास्य अन्यतः क्षिप्त्वा इह कुट्या स्थितिः
कृता ॥ १२ ॥ तन्मम शरीरमिह अर्त्तं नष्टमतोऽस्मादि-

सा निवृत्ता कुटी तत्र संपन्नं व्योम केवलम् ।
 स सिद्धोऽपि निराधारः पतितोधः समाधिमान् ॥ १४ ॥
 स्वप्नसंकल्पसंशान्तौ स्वप्नसंकल्पपत्तनम् ।
 यदा सा सुकुटी नष्टा मत्संकल्पोपशान्तिरतः ॥ १५ ॥
 स पपात ततो ध्यानी जलोत्पीड इवाम्बुदात् ।
 खादिवानिलनुन्नोऽब्द इन्दुबिम्बमिव क्षये ॥ १६ ॥
 वैमानिक इवापुण्यश्लिघ्नमूल इव द्रुमः ।
 खान्त्यक्त इव पाषाणः स पपात ततोऽवनौ ॥ १७ ॥
 अहं यावदियं तावत्कुटिकास्त्विति कल्पने ।
 क्षीणे कुटीक्षये जाते स सिद्धः पतितः क्षणात् ॥ १८ ॥
 पतता तेन सिद्धेन ततः सौजन्यकौतुकः ।
 मनसैवाहमगमं नमसो वसुधातलम् ॥ १९ ॥
 सोऽपतत्पवनस्कन्धवलनावर्तवृत्तिभिः ।
 सप्तद्वीपसमुद्रान्ते गीर्वाणरमणावनौ ॥ २० ॥
 प्राणापानोर्ध्वगामित्वात्खाद्यथास्थितमेव सः ।
 सृष्टपूर्वोर्ध्वमूर्ध्वोर्व्या बद्धपद्मासनोऽपतत् ॥ २१ ॥
 न प्रबुद्धो बभूवासौ विचरं तमचेतनः ।
 पाषाणदेह इव वा तूलात्मेवैव वा लघुः ॥ २२ ॥
 मया तदवबोधार्थमथ यत्नवता तदा ।
 कृत्वा जलदतां व्योम्नि घृष्टं गर्जितमूर्जितम् ॥ २३ ॥
 करकाशनिपातेन तेन तस्मिन्दिगन्तरे ।
 मयूरं प्रावृषेवामुं बुद्ध्या बोधितवानसौ ॥ २४ ॥
 बभूवाभासिताङ्गश्रीर्विकासितविलोचनः ।
 धारानिकरकुलात्मा प्रावृषीवाम्बुजाकरः ॥ २५ ॥

वाहिकदेहेनैव खं सप्तर्षिलोकं यामि इति निश्चयं कृत्वा यावद्-
 न्नुमहं प्रवृत्तोऽसि तावदित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥ पत्तनम्,
 इवेति शेषः । पूर्वस्य परस्य चायं कुटीनाशस्य दृष्टान्तः ॥ १५ ॥
 जलोत्पीडो जलासारः । क्षये प्रलयकाले इन्दुबिम्बमिव ॥ १६ ॥
 अपुण्यः क्षीणपुण्यः । अवनौ वक्ष्यमाणकाञ्चनावनौ ॥ १७ ॥
 अहं यावदिह स्थास्यामि तावदियं 'कुटिका अस्तु तिष्ठतु' इति
 एवंरूपे मदीयसत्यसंकल्पने गमनसंकल्पने क्षीणे सति ॥ १८ ॥
 तेन सिद्धेन सह अहं मनसा तेनातिवाहिकदेहेनैव वसुधातल-
 मगमम् ॥ १९ ॥ प्रवहादिपवनस्कन्धानां चलनं परिवर्तनं
 तत्प्रयुक्ताभिरावर्तसदृशवृत्तिभिर्नृणां आवर्तं भ्रमजलमधः प्र-
 विशति तद्वदित्यर्थः । गीर्वाणानां रमणाधिकरणे काञ्चनावनौ
 ॥ २० ॥ उर्व्या सृष्टः प्रथमं निवेशितः पूर्वः पदभागो येन
 तथाविधश्चासावूर्ध्वमूर्धा च तथाविधः सन् । तत्कुतः । प्राणेना-
 पानस्थोर्ध्वं आकर्षणेनोर्ध्वगामित्वात्कूपेऽवतरतः कुम्भस्य र-
 ल्वेव तुम्बस्य घृन्तेनेव चोर्ध्वं प्राणापानाभ्यां विष्टब्धत्वेनाधः-
 शिरस्कलाघटनादित्यर्थः ॥ २१ ॥ तं तथाविधं विचरं चलनं
 प्राप्याप्यसौ समाधेर्न प्रबुद्धो बभूव । यतश्चित्तस्यान्यत्र दृढास-
 केरचेतनप्रायः । तर्हि अतिदूरात्पतनेन भ्रमगात्रः कुतो नाम-
 तत्राह—पाषाणेति । वज्रपाषाणदेह इव योगबलाद्बहुस्तूल-
 यो० वा० १६१

प्रबुद्धं संप्रशान्तायां दृष्टौ तमहमग्रतः ।
 अपृच्छं स्वच्छया वृत्त्या निवृत्तं परमार्थतः ॥ २६ ॥
 क स्थितोऽसि करोषीदं किं च भो मुनिनायक ।
 कस्त्वं कस्मादलं दूरान्न भ्रंशमपि चेतसि ॥ २७ ॥
 इत्युक्तो मामसौ प्रेक्ष्य संस्मृत्य प्राक्कर्णी गतिम् ।
 उवाच वचनं चारु चातको जलदं यथा ॥ २८ ॥
 सिद्ध उवाच ।
 प्रतिपालय मे यावत्स्ववृत्तान्तं सराम्यहम् ।
 कथयिष्यामि ते पश्चात्पाश्चात्यं वृत्तमात्मनः ॥ २९ ॥
 इत्युक्त्वा चिन्तयित्वाशु स यथा वृत्तमक्षतम् ।
 स्मृतवान्सायमहीव समाचरितमात्मनः ॥ ३० ॥
 मामथोवाच वचनं चारु चन्द्रांशुशीतलम् ।
 आह्लादनमनिन्द्यं च निरवयं सुखोदयम् ॥ ३१ ॥
 सिद्ध उवाच ।
 अधुना त्वं मया ब्रह्मन्परिज्ञातोऽभिवादये ।
 अतिक्रमोऽयं क्षन्तव्यः स्वभावो हि सतां क्षमा ॥ ३२ ॥
 मुने चिरमहं भ्रान्तो देवोपवनभूमिषु ।
 भोगामोदविमोहेषु षट्पदः पद्मिनीष्विव ॥ ३३ ॥
 दृश्यनधामथो चित्तजलकल्लोलहेलया ।
 चक्रावर्तोह्यमानेन मयोद्विग्नेन चिन्तितम् ॥ ३४ ॥
 संसारसागरे दृश्यकल्लोलैरहमाकुलः ।
 कालेनोद्वेगमायातश्चातकोऽवग्रहे यथा ॥ ३५ ॥
 संविन्मात्रैकसारेषु रम्यं भोगेषु नाम किम् ।
 अवतिष्ठे गतोद्वेगसंविद्योद्भवेव केवलम् ॥ ३६ ॥

पिण्ड इव लघुरेव वा ॥ २२ ॥ बोधार्थं समाधेर्युत्थापनार्थम् ।
 जलदतां मेघतां कृत्वा घृष्टम् । गर्जितं बलवत्तरं च गर्जितम्
 ॥ २३ ॥ असौ मेघभूतोऽहं प्रावृषा मयूरमिवामुं सिद्धं बुद्ध्या
 खबुद्धिकौशलेन बहिराकृष्टया तद्बुद्ध्या वा बोधितवान् समाधे-
 र्युत्थापितवान् ॥ २४ ॥ २५ ॥ परमार्थतः परमार्थस्थिति-
 हेतोः समाधेः ॥ २६ ॥ किमपृच्छस्तदाह—केति । दूराङ्ग-
 मधःपातमपि कस्माच्च चेतसि न संजानासि ॥ २७ ॥ २८ ॥
 प्रतिपालय प्रतीक्षस्व ॥ २९ ॥ वृत्तं पूर्वस्ववृत्तान्तं जन्मान्तर-
 वृत्तान्तैः सह । अकृतं समग्रम् । अहि वृत्तमात्मनश्चरितं
 यथा जनः सायं स्मरति तद्वत् ॥ ३० ॥ वक्ष्यमाणवचनस्य
 विवेकवैराग्यप्रधानत्वाच्चावित्यादिविशेषणैः प्रशंसा ॥ ३१ ॥
 अतिक्रमः प्रथमदर्शनेऽनभिवादनलक्षणोऽपराधः ॥ ३२ ॥
 तत्र क स्थितोऽसीति प्रश्नस्य प्रत्यक्षदृष्टप्रमाधिस्थानकुटी-
 विषयत्वायोगात्तत्पूर्वतनाधारभेदान् । जातिसारत्वं । ख्याप-
 यन् जन्मान्तरसाधारणानाह—मुने इति ॥ ३३ ॥ चित्त-
 जलकल्लोलहेलया स्वप्रवृत्त्यनयामुद्यमानेन अत एव चिरका-
 लेन विचारोदये संसारादुद्विग्नेन वक्ष्यमाणं चिन्तितम् ॥ ३४ ॥
 अवग्रहे दृष्टिप्रतिबन्धे ॥ ३५ ॥ किं चिन्तितं तदाह—संवि-
 न्मात्रेति । भोगेषु किं नाम रम्यम् । यदि तत्र संविदात्मना

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धमात्रादृते परम् ।
 नेह किञ्चन नामास्ति किमेतावत्यहं रमे ॥ ३७
 चिन्मात्राकाशमेवैतत्सर्वं चिन्मात्रमेव वा ।
 तत्किमत्रासदाकारे रमे नष्टमतिर्यथा ॥ ३८
 विषया विषवैषम्या धामाः कामविमोहदाः ।
 रसाः सरसवैरस्या लुठनेषु न को हतः ॥ ३९
 जीर्णा जीवितजम्बालजरच्छफरिकामतिः ।
 कार्यं हृतगताऽऽदातुं जरेच्छति बृहद्वकी ॥ ४०
 कायोऽयमचिरापायो बुद्धदोऽम्बुनिधाविच ।
 स्फुरन्नेव पुरोन्तर्द्धं याति दीपशिखा यथा ॥ ४१
 विविधाकुलकल्लोला चक्रावर्तविधायिनी ।
 मृत्तिजन्मवृहत्कूला सुखदुःखतरङ्गिणी ॥ ४२
 यौवनोल्लासकलिला जराधवलफेनिला ।
 काकतालीययोगेन संपन्नसुखबुद्धदा ॥ ४३
 व्यवहारमहाबाहलेषाजडरवाकुला ।
 रागद्वेषघनोल्लासा भूतलालोलदेहिका ॥ ४४
 लोभमोहमहावर्ता पातोत्पातविवर्तनी ।
 हा तता जीविताख्येयं नदी नदनशीतला ॥ ४५
 अपूर्वाण्युपगच्छन्ति तथा पूर्वाणि यान्त्यलम् ।
 संसारसरिदम्बुनि संगतानि धनानि च ॥ ४६
 प्रवृत्ता ये निवर्तन्ते तैरलं हतभावकैः ।
 अपूर्वा ये प्रवर्तन्ते तेष्वथास्थेह कीदृशी ॥ ४७
 सर्वस्याः सरितो वारि प्रयात्यायाति चाकरात् ।
 देहवद्याः पयस्त्वायुर्यात्येवायाति नो पुनः ॥ ४८

शतशः परिवर्तन्ते प्रतिपिण्डं क्षणं प्रति ।
 कुलालचक्रकभावा इव भावा भवाम्बुधौ ॥ ४९
 चरन्ति चतुराश्चौरा विषमा विषयारयः ।
 हरन्ति भावसर्वस्वं जागर्मि स्वपिमीह किम् ॥ ५०
 आयुषः क्षण्डखण्डाश्च निपतन्तः पुनःपुनः ।
 न कश्चिद्वेचि कालेन क्षतानि दिवसान्यहो ॥ ५१
 इदमद्य तथेदं च तथेदमिदमस्य मे ।
 एवं कलनया लोको गतं प्राप्तं न वेत्यहो ॥ ५२
 भुक्तं पीतमनन्तासु भ्रान्तं च वनभूमिषु ।
 दृष्टानि सुखदुःखानि किमन्यदिह साध्यते ॥ ५३
 सुखदुःखानुभवनाद्भूयोभूयो विवर्तनात् ।
 अनित्यत्वाच्च भावानां स्थिता निष्कौतुका वयम् ॥ ५४
 भुक्तानि भोगवृन्दानि दृष्टा चानित्यता भृशम् ।
 नोपलभ्यत एवाति विश्रान्तिरिह कुत्रचित् ॥ ५५
 भ्रान्तमुत्सृज्य शृङ्गासु मेरुपवनभूमिषु ।
 लोकपालपुरीषैः संप्राप्तं किमकृत्रिमम् ॥ ५६
 सर्वत्र दारुभिर्वृक्षा मांसैर्भूतानि भूर्भुवा ।
 दुःखान्यनित्यता चेति कथमाश्वास्यते वद ॥ ५७
 न धनानि न मित्राणि न सुखानि न चान्धवाः ।
 शत्रुवन्ति परित्रातुं कालेनाकलितं जनम् ॥ ५८
 जनो जीमूतजठरजलवद्गिरिकुक्षिषु ।
 यात्यन्तःशून्य एवास्तं पांसूपचयपेलवः ॥ ५९
 न मे मनोरमाः कामा न च रम्या विभूतयः ।
 इदं मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं च जीवितम् ॥ ६०

प्रथमानं सुखमेव रम्यं तदतिरिक्तानां तत्साधनानां दुःखस्वरूप-
 त्वेन तन्मात्रसारत्वात्तर्हि दुःखांशं सर्वं विहाय सारभूते सुख-
 संविद्योऽग्रेव केवलमवतिष्ठे, किमन्येनासारेणेत्यर्थः ॥ ३६ ॥
 न अपरिच्छिन्नं सुखं विहाय परिगणिते परिच्छिन्ने अशुखे स्म-
 णमुचितमिहाह—शब्देति । एतावत्यल्पे ॥ ३७ ॥ एतत् शब्दा-
 दित्तत्वं चिन्मात्रे स्ततः सति तद्यतिरेकेण विभाव्यमानमाकाशं
 शून्यमेव तदव्यतिरेकदर्शने चिन्मात्रमेव पर्यवस्यति । तदेवमु-
 मयथाप्यसदाकारे अत्र शब्दादौ किं रमे । नष्टमतिरुन्मत्तो
 यथा तथेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ विषयाः शब्दादयो विषयन्मरणो-
 न्मादादिवैषम्यहेतवः । धामाः स्त्रियः । रसाः रागाः सरस-
 स्थापि पुंसो वैरस्यहेतवः । एषु लुठन् को न हतः । कुरङ्गमात-
 ङ्गादीनामेकैकासक्त्यापि वधवन्धनादिदर्शनादित्यर्थः ॥ ३९ ॥
 एवं कायेऽप्यासक्तिर्नोचितेत्याह—जीर्णेति । हृतगता जरा बृह-
 द्द्वकी जीवितजम्बाले बृहतीयं शफरिका लब्धेति मतिर्यस्यास्त-
 यादिषा सती कायमादातुं प्रसितुमिच्छति ॥ ४० ॥ ४१ ॥
 एवं जीवितेऽप्याशा नोचितेति तज्जरीत्वेन वर्णयति—विविधे-
 त्यादिना । विविधा आकुला विक्षेपा एव कल्लोला यस्याः ॥ ४२ ॥
 कलिला पङ्काविल ॥ ४३ ॥ व्यवहारलक्षणया महाप्रवाह-

लेखया जडरवेर्मूर्खप्रलपैः लड्योरमेदात्तल्लक्षणैर्जलरवैरकुला ।
 रागद्वेषलक्षणैर्धनैर्मैधैरुत्सति वर्धते तथाविधा ॥ ४४ ॥ हा
 इति खेदे । नदनं नदनः शब्दमात्रं तेन शीतला वस्तुतत्त्वात्
 त्रयतमा बहतीति संबन्धः ॥ ४५ ॥ संसारसरिदम्बुभूतानि
 संगतानि इष्टपुत्रमित्रादिसंगमाः । धनानि च पूर्वाण्यप्यानि
 अपूर्वाणि लोपगच्छन्ति ॥ ४६ ॥ तत्र गच्छत्सागच्छत्सु न
 न शोकहर्षावुचिताविलाह—प्रवृत्ता इति ॥ ४७ ॥ आपु-
 णादिवैलक्षण्यमाह—सर्वस्या इति । आकराद्विरिगेषादेः ॥ ४८ ॥
 प्रतिपिण्डं प्रतिदेहं प्रतिक्षणं च भोग्या भावाः कुलालचक्रकभा-
 वल्ला घटशरावादिभावा इव ॥ ४९ ॥ भावो विवेकलक्षणं
 सर्वस्वम् ॥ ५० ॥ ५१ ॥ गतमायुः प्राप्तं मृत्युं च न वेति
 ॥ ५२ ॥ अन्यत् अपूर्वम् ॥ ५३ ॥ निष्कौतुका भोगेषु निर-
 लक्षणाः ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ अकृत्रिमं शाश्वतं किं संप्राप्तम् । न कि-
 चिदित्यर्थः ॥ ५६ ॥ सर्वभोगेष्वसारतां विविच्य दर्शयति—
 सर्वत्रेति ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ पांसूपचयः पांसुराशिरिव पेलवः
 अस्थिरः अदृढश्च जनो गिरिकुक्षिषु पतितजीमूतजठरजन्मदि-
 पयान्तः आसक्तः सन् क्षणे क्षणे हीयमानः अन्तःपुरुषवैराग्य-
 एव अस्त्वं मरणं याति । 'जरठजीमूत' इति पाठे शरान्येवमव-

केव कस्य कथं नाम कुत आश्वासना मुने ।
 अद्य श्वो वाऽऽपदं पापो मृत्युर्मूर्ध्नि नियच्छति ॥ ६१ ॥
 शरीरं पर्णवद्भृशं जीवितं जीर्णसंस्थितिः ।
 धीरधीरतया प्रस्ता रसा नीरसतां गताः ॥ ६२ ॥
 नीतं मनोरथैरेव नीरसैर्वाऽऽयुराततम् ।
 न मम स्वं चमत्कारकारि किञ्चिदपीहितम् ॥ ६३ ॥
 मोहोऽद्य भान्द्यभायातो देहो नेहोपयुज्यते ।
 अनास्थैवोत्तमावस्था स्थानास्थैवाधमा स्थितिः ॥ ६४ ॥
 आपदापतितैवेयमहो मोहविधायिनी ।
 नित्यमित्येव मन्तव्यं सक्तव्यं नेह संसृतौ ॥ ६५ ॥
 विधिभिः प्रतिषेधैश्च शाश्वतैरप्यशाश्वतैः ।
 यथेष्टं नीयते लोको जलं निम्नोन्नतैरिव ॥ ६६ ॥
 विवेकामोदसर्वस्वं चेतः कुसुमकोशतः ।
 हत्वा मूर्च्छां प्रयच्छन्ति विषया विषवायवः ॥ ६७ ॥
 असदेव तथा नाम दृष्टं सत्तामुपागतम् ।
 यथाऽसदेव सद्रूपं संपन्नमसदेव सत् ॥ ६८ ॥
 दोलायन्त्योऽवनौ देहं सागरान्सागराङ्गनाः ।
 यथा धावन्ति धावन्ति जनता विषयांस्तथा ॥ ६९ ॥
 धावन्ति विषयाँलक्ष्यमुन्मुक्ताश्चित्तसायकाः ।
 स्पृशन्ति न गुणान्मूयः कृतज्ञाः सौहृदं यथा ॥ ७० ॥
 उत्पातवायुरेवायुर्मित्राण्येवातिशत्रवः ।
 बन्धवो बन्धनान्येव धनान्येवाति नैधनम् ॥ ७१ ॥
 सुखान्येवातिदुःखानि संपदः परमापदः ।
 भोगा भवमहारोगा रतिरेव परारतिः ॥ ७२ ॥
 आपदः संपदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम् ।
 जीवितं मरणायैव धृत मायाविजृम्भितम् ॥ ७३ ॥

॥ ५९ ॥ ६० ॥ किञ्चित्तानि कालकर्तृप्रकारनिमित्ताक्षेपकाणि ।
 पापः क्रूरो मृत्युर्यस्मादयं श्वो वा मूर्ध्नि आपदं यच्छति प्रापय-
 तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ नीरसैर्भोगैस्तन्मनोरथैरेव वा आत-
 तमायुर्नीतम् । चमत्कारकारि किञ्चित् स्वं पुरुषार्थरूपं मम नेहितं
 न संपादितम् ॥ ६३ ॥ अनास्था विषयेषु । स्थानं
 जीवनं तदास्थैव अधमा स्थितिः ॥ ६४ ॥ विवेकिनां
 संपदादिप्राप्तौ इयं आपदेवापतितेति मन्तव्यम् ॥ ६५ ॥
 विवेकिनः कर्मशास्त्राण्यपि व्यामोहकान्येव भान्तीत्याह—
 विधिभिरिति ॥ ६६ ॥ यतः कर्मिणामेहिकामुष्मिकविष-
 याविवेकं हत्वा अनर्थमेव प्रापयन्तीत्याह—विवेकामोदस-
 र्वस्वमिति ॥ ६७ ॥ वस्तुतस्तु विषयरूपमसदेव तथा सद्रूप-
 दृष्टं सत्तामुपागतं न वस्तुतः । यथा सद्रूपमावरणेनासदेव
 संपन्नं तथा असदेव विक्षेपेण सत्संपन्नम् । मायाशक्तेरघटित-
 घटनपटीयस्त्वादित्यर्थः ॥ ६८ ॥ तत्र परादृष्टीनां विषयो-
 न्मुखी प्रवृत्तिः स्वाभाविकीत्याह—दोलायन्त्य इति । कूलद्वया-
 वनो देहं प्रवाहं दोलावदान्दोलायन्त्यः सागराङ्गना नयो यथा
 सागरान् धावन्ति ॥ ६९ ॥ गुणान् विवेकवैराग्यादीन्मौर्वींश्च

बहुन्कालपरावर्तानिष्ठानिष्ठान्सुखं मनाक् ।
 पश्यन्प्रियवियोगांश्च याति जर्जरतां जनः ॥ ७४ ॥
 भोगा विषयसंभोगा भोगा एव फणावताम् ।
 दशन्येव मनाक् स्पृष्टा दृष्टा नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥ ७५ ॥
 आयुर्याति निरायासपदप्राप्तिविवर्जितैः ।
 उदर्कमङ्कुराकारैः करालैः कष्टचैष्टितैः ॥ ७६ ॥
 भोगाशाबद्धतृष्णानामपमानः पदे पदे ।
 आलानमवलीनानां चन्यानामिव दन्तिनाम् ॥ ७७ ॥
 संपदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गमङ्कुराः ।
 कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥ ७८ ॥
 सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
 किंतु मत्ताङ्गनापाङ्गमङ्गलोलं हि जीवितम् ॥ ७९ ॥
 आपातरमणीयेषु रमन्ते विषयेषु ये ।
 अत्यन्तविरसान्तेषु पतन्ति निरयेषु ते ॥ ८० ॥
 द्वन्द्वदोषोपरुद्धानि दुःसाध्यान्यस्थिराणि च ।
 धनान्यमव्यसेव्यानि मम जातु न तुष्टये ॥ ८१ ॥
 आपातमात्रमधुरा दुःखपर्यवसायिनी ।
 मोहनायैव लोकस्य लक्ष्मीः क्षणविलासिनी ॥ ८२ ॥
 आपातरमणीयानि विमर्दविसराण्यति ।
 दुःखान्यापत्प्रदातृणि संगतानि खलैरिव ॥ ८३ ॥
 शरदम्बुधरच्छायागत्वर्थो यौवनश्रियः ।
 आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ ८४ ॥
 अन्तकः पर्यवस्थाता जीविते महतामपि ।
 चलन्त्यायूषि शाखाग्रलम्बाम्बुनीव देहिनाम् ॥ ८५ ॥
 जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
 क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवैका न जीर्यते ॥ ८६ ॥

॥ ७० ॥ अतितरो जेहाससया शातयन्तीति शत्रवः । नैधने
 निधनसाधनम् ॥ ७१ ॥ आसक्तिजननेनातिदुःखानि । रति-
 रासकिरेव परा अरतिरुद्वेगः ॥ ७२ ॥ प्राशुक्तमेव विवृण्व-
 चाह—आपद इत्यादिना ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ फणावतां सर्पाणां
 भोगाः फणा एव । तदुपपादयति—दशन्येवेति ॥ ७५ ॥
 ॥ ७६ ॥ अवलीनानां खानपानोपवासादिना, कश्चित्तानाम्
 ॥ ७७ ॥ न केवलं मङ्कुरा अपि तु सद्यो मृत्युदाक्षेत्याह—
 अहिफणेति ॥ ७८ ॥ सत्यशब्दावभ्युपगमनादद्योतकौ । सन्तु
 नाम मनोरमा इत्यर्थः ॥ ७९ ॥ आपात इन्द्रियसंयोगक्षणः
 अविचारो वा । पतन्तीति । विषयव्यसनिनामधर्मावश्यंभावा-
 दिति भावः ॥ ८० ॥ तदुपायधनदोषमाह—द्वन्द्वेति । अर्जन-
 काले शीतोष्णक्षुत्पिपासादिद्वन्द्वदोषोपरुद्धानि दुःसाध्यानि च ।
 कष्टेनार्जितान्यपि राजचोरदुर्व्यसनप्रमादादिभिर्विनाशादस्थि-
 राणि च ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ संगतानि धनादिसंवन्धाः खलैः
 संगतानि मैत्र्य इवेत्यावृत्त्या योज्यम् ॥ ८३ ॥ अयं श्लोकः
 किरातार्जुनीये अत्रत्य एव पठितो बोध्यः ॥ ८४ ॥ पर्यवस्थाता
 अवश्यं प्रत्यवस्थाता । चलन्ति स्खलन्ति ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

भोगाभोगातिगहने सर्वसिन्कायकानने ।
 परमुल्लासमायाति वृष्णैका विषमजरी ॥ ८७
 बाल्यं यौवनवद्याति यौवनं याति बाल्यवत् ।
 उपमानोपमेयत्वं भङ्गुत्वं मिथोऽनयोः ॥ ८८
 जीवितं गलति क्षिप्रं जलमञ्जलिना यथा ।
 प्रवाह इव बाहिन्या गतं न विनिवर्तते ॥ ८९
 श्रुतित्येवागतो देहः कुतोऽप्यर्जुनवातवत् ।
 याति पश्यत एवास्तं तरङ्गाम्बुददीपवत् ॥ ९०
 रम्येष्वरम्यता दृष्टा स्थिरेष्वस्थिरतापि च ।
 सत्येष्वसत्यतार्थेषु तेनेह विरसा वयम् ॥ ९१
 सुखं यदात्मविश्रान्तौ गते मनसि सत्त्वताम् ।
 पाताले भूतले स्वर्गे तत्र भोगेषु केषुचित् ॥ ९२
 अपि संपूर्णदृष्टार्थाः पञ्चापीन्द्रियवृत्तयः ।
 तावज्जयन्ति मामेता भृङ्गं चित्रलता इव ॥ ९३

अथ दीर्घेण कालेन निरहंकृतिना मया ।
 स्वर्गापवर्गवैतुष्यमिदमासादितं धिया ॥ ९४
 चिरमेकान्तविश्रान्त्यै तेनैतन्नभसः पदम् ।
 त्वमिवागतवानत्र दृष्टवानसि तां कुटीम् ॥ ९५
 अद्यैतत्संपरिज्ञातं यदेषा भवतः कुटी ।
 आगन्ता त्वं पुनश्चेति मया तत्र विचारितम् ॥ ९६
 तदा त्वत्र मया ज्ञातं कश्चित्सिद्धोऽयमात्मना ।
 देहं त्यक्त्वेह निर्वाणं गत इत्यनुमानतः ॥ ९७
 एतन्मे भगवन्वृत्तमेपोऽस्मीति यथास्थितम् ।
 मया ते कथितं सर्वं यथा जानासि तत्कुरु ॥ ९८
 सिद्धैर्न यावदवधानपरैर्विचार्य
 निर्णीतमुत्तमधियान्तरशेषवस्तु ।
 तावन्निकालकलनं न विदन्ति किञ्चि-
 दित्यज्जजादिमनसोऽपि मुने स्वभावः ॥ ९९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० सो० नि० उ० पा० आकाशमण्डपसिद्धसमागमगाथावर्णनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्नवतितमः सर्गः ९४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ हेममयाकाशविस्तीर्णायां महाभुवि ।
 सौहार्दादेव सिद्धस्य तस्येदमहमुक्तवान् ॥ १
 त्वया न केवलं तावन्मयापि न विचारितम् ।
 आव्याप्तिरहिता नाम न संभवति देहिनाम् ॥ २

इदानीं भोगान्भुक्त्वा जन्मान्तरे विवेकवैराग्यादि प्राप्स्यामीति
 प्रत्याशा तु न कार्यवैत्याह—भोगैति । सर्वसिन्माविदेह-
 परम्परारूपेऽपि कायकानने ॥ ८७ ॥ तत्रापि बाल्यादिषु
 न वैतुष्यप्रत्याशेत्याशयेनाह—बाल्यमिति ॥ ८८ ॥ कुतो
 याति तत्राह—जीवितमिति । जीवितं आयुः । बाहिन्या
 नयाः ॥ ८९ ॥ यो यो देह आगतः स कुतोपि निमित्ता-
 प्लवित्येव पश्यत एव अस्तं नाशं याति । तरङ्गदम्बुद-
 दीपवत् ॥ ९० ॥ सत्येषु सत्यतया ज्ञातेषु । विरसा
 विरगाः ॥ ९१ ॥ सत्त्वतां निर्वासनताम् ॥ ९२ ॥ सांप्रतं
 दृढवैराग्यं मा संपूर्णसर्वविषयसहिता अपि सर्वेन्द्रियवृत्तयः
 संभूयापि न जेतुं शक्नुवन्तीत्याह—अपीति । तावज्जयन्तीति
 काकुत्स्तेन न अयन्त्येवेत्यर्थः ॥ ९३ ॥ ९४ ॥ एतत् त्वत्कुटी-
 कपनास्पदम् ॥ ९५ ॥ त्वत्कुटीयं त्वं च पुनस्तस्यामागतेति
 न तदा विचारितम् । एतत्सर्वमद्य परिज्ञातमित्यर्थः ॥ ९६ ॥
 किं तर्हि तदा ज्ञातं तदाह—तदेति ॥ ९७ ॥ क्व स्थितोऽसी-
 त्यादि त्वया पृष्ठं यन्मे वृत्तं तदेतन्मयोक्तमित्यर्थः । अतः परं त्वं
 यथास्मिन्नपराधे दण्डमनुग्रहं वा जानासि तत्कुर्वित्यर्थः ॥ ९८ ॥ हे
 मुने, सिद्धैरपि युष्मदादिभिर्भावपर्यन्तमवधानपरैर्भूत्वा अन्तः
 भ्रमेष्वस्तु उत्तमया धिया विचार्य न निर्णीतं तावत्ते त्रिकालस्थ-
 वृत्तान्तस्य कलनं सम्मन्त्रानं किञ्चिदपि न विदन्ति । अयमज्ज-

कस्मान्मया तवोदन्तं विचार्यासौ स्थिरीकृता ।
 न कुटी न्योम्नि तेन त्वमभविष्यः स्थिरस्थितिः ॥ ३
 उत्तिष्ठ सिद्धलोकेषु निवसावो यथास्थितम् ।
 स्वास्पदस्थितयः सौम्याः स्वात्मसिद्धौ सुसाधनम् ॥ ४
 इति निर्णयं तावुच्चैरुत्सृतौ तारकोपमौ ।

जादिमनसोऽपीदृश एव स्वभावः किं पुनर्मादृशयेति तद्वृत्तान्ता-
 परिज्ञानदेहनिरासाद्यपराधं क्षमस्वेत्यर्थः ॥ ९९ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे आकाश-
 मण्डपसिद्धसमागमगाथावर्णनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ १३ ॥

सिद्धलोके द्वयोर्नानं पिशाचानां च संस्थितिः ।

वर्ण्यते देवतानां च मनोमात्रानुसारिणी ॥ १ ॥

हेममयाकाशमिव विस्तीर्णायां सप्तदीपसमुद्रबहिःसि-
 तायां महाभुवि । सौहार्दात् सुहृद्भावात् ॥ १ ॥ अयमविचार-
 पराधो न केवलं त्वेन किंतु ममापि दुष्य इत्याह—स्वयेति ।
 तत्र सिद्धैर्न यावदवधानपरैरिति यस्त्वयोक्तं तत्सत्यमेवेत्याह—
 आव्याप्तीति । देहिनां देहवतां योगिनामपि आव्याप्तिः प्र-
 यत्नेन सर्वविषये मनोव्याप्तिस्तद्वहिता अतीतानागतार्थवि-
 तिर्न संभवत्येव ॥ २ ॥ यदि संभवति तर्हि तव पतनं मा भू-
 दिति सा संकल्पकुटी स्थिरीकृता स्यादित्याह—कस्मादिति ।
 स्थिरस्थितिः पतनरहितः । तथा च परस्परप्रमादो द्वाभ्यामपि
 सन्तव्य इति भावः ॥ ३ ॥ सं स्वीयं मया सप्तापलोके त्वया
 जन्मनवने च प्राक्ने निवसितव्यमिति भावः । तस्मिन्मये
 तत्राह—स्वास्पदेति । स्वात्मानं—सिद्धौ निर्विघ्नोपस्थितौ ॥ ४ ॥
 स च अहं च तौ । 'त्यदादीनि सर्वनिर्लयम्' इति तच्छब्दशेषः ।
 ननु 'त्यदादीनां सिद्धः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' इत्यस्य

सममेकपुटोद्गीनौ व्योम यन्त्रोपलाविव ॥ ५
 प्रणामपूर्वमन्योन्यमथ कृत्वा विसर्जनम् ।
 गतः सोऽभिमतं देशमहं चाभिमतं गतः ॥ ६
 इति वृत्तान्तमखिलमुक्तवानस्मि राघव ।
 तवाश्चर्यमयीं पश्य संसृतीनां विचित्रताम् ॥ ७
 श्रीराम उवाच ।
 भगवंस्तव देहोऽसौ पृथिव्यामणुतां गतः ।
 भ्रान्तः केन शरीरेण सिद्धलोकांस्ततो भवान् ॥ ८
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 आ स्मृतं शृणु वृत्तान्तं ततो मम जगद्गृहे ।
 भ्रमतः सिद्धसेनासु लोकपालपुरीषु च ॥ ९
 अहमिन्द्रपुरं प्राप्नो न कश्चित्तत्र दृष्टवान् ।
 मामिमं देहरहितमातिवाहिकदेहिनम् ॥ १०
 अहं किल तदा राम संपन्नो गगनाकृतिः ।
 न चाधारो न चाधेयश्चिदाकाशमयात्मकः ॥ ११
 न ग्रहीता न च ग्राह्यस्त्वादशार्थावबोधिनाम् ।
 न चैव देशकालानां क्वचिदावृत्तिकारकः ॥ १२
 मनोमननमात्रात्मा पृथ्व्यादिपरिवर्जितः ।
 संकल्पपुरुषाकारः पदार्थानामरोधकः ॥ १३
 अरुद्धश्च पदार्थैः स्वयं स्वानुभवोन्मुखः ।

व्यवहर्ता तथाभूतैरेवं पुंभिर्मनोमयैः ॥ १४
 स्वप्नानुभूतयो राम दृष्टान्तोऽत्राविखण्डितः ।
 अनुभूत्यपलापं तु यः कुर्यात्तेन तेऽस्त्वलम् ॥ १५
 यथा स्वप्नचरो गेहे व्यवहर्ता न दृश्यते ।
 तथा तदा न दृष्टोऽसि पुरस्थोऽपि नभोगतैः ॥ १६
 अहमन्यान्प्रपश्यामि पार्थिवाकारभासुरान् ।
 मामातिवाहिकात्मानं न कश्चिदपि पश्यति ॥ १७

श्रीराम उवाच ।

न दृश्यते विदेहत्वान्भवान्व्योमवपुर्यदि ।
 तत्कथं तेन सिद्धेन दृष्टोऽसि कनकावनौ ॥ १८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अस्मदादिर्जनो नाम यथा संकल्पकल्पितान् ।
 नासंकल्पितमाप्नोति सत्यकामवपुर्यतः ॥ १९
 व्यवहारेषु मग्नेन लौकिकेष्वमलात्मना ।
 क्षणाद्विस्मर्यते पुंसा आतिवाहिकमात्मनः ॥ २०
 मया पश्यतु मामेष इति संकल्पितं तदा ।
 तेन मां दृष्टवानेष स्वसंकल्पार्थभाजनम् ॥ २१
 जनो जरठभेदत्वाच्च संकल्पार्थभाजनम् ।
 स एष जीर्णभेदत्वात्सत्यकामत्वभाजनम् ॥ २२

शेषे आवामिति भाव्यम् । सत्यम् । छान्दसत्वात्तथाश्रितम् ॥ ४ ॥
 उच्चैर्व्योम । उत्प्लुतौ उद्गीनौ । एकयन्त्रपुटादुद्गीनौ यन्त्रोपलाविव
 ॥ ५ ॥ उद्गीय व्योम्नि किं चक्रशुस्तत्राह—प्रणामपूर्वमिति ।
 सः नन्दनं अहं सप्तर्षिलोकादीन् गतः ॥ ६ ॥ इति वर्णितपा-
 षाणाख्यायिकालक्षणं वृत्तान्तं स्वानुभूतमखिलं सिद्धवृत्तान्तं च
 तवाहमुक्तवानस्मि । तं वृत्तान्तं प्रस्तुते योजयति—आश्चर्य-
 मयीमिति ॥ ७ ॥ कुटीसंस्थस्त्वदीयस्थूलदेहः सिद्धेनापास्त
 इति त्वयैव स्वयमूहितमित्युक्तम् । निरस्तश्च पार्थिवो देहः पृ-
 थिव्यां कालेन पांशुभावमापद्यत इति परिशेषादेव ज्ञातम् । एवं
 सति मनोमात्रदेहेन सिद्धलोकान्गतो भवान्कथं तत्रत्यजनैः
 सह व्यवहृतवान् । न हि मनोमात्रात्मा अन्यैः सह व्यवहर्तुं
 शक्नोत्यन्ये वा तेन सह व्यवहर्तुं शक्नुवन्तीत्याशयेन रामः पृ-
 च्छति—भगवन्निति । अणुतां पांशुताम् । भ्रान्तः संचरितवान-
 स ॥ ८ ॥ आ इति स्मरणद्योतको निपातः । आन्ति ॥ ९ ॥
 ॥ १० ॥ गगनाकृतिराकाशवदस्थूलः । चिदाकाशप्रचुरं यन्म-
 नस्तदात्मकः ॥ ११ ॥ त्वादशा ये स्थूलार्थावबोधिनेषां ननु
 सूक्ष्मार्थदर्शिनां योगिनाम् । प्रेषणप्रतीक्षणादिनान्येषां देशका-
 लपरिवर्तनकारकश्च न संपन्नः ॥ १२ ॥ पदार्थानां स्वम्भकु-
 म्भादीनामसंस्पर्शादरोधकः ॥ १३ ॥ स्वप्नमनोराज्यवत्स्वमनो-
 मयैर्भूतैर्व्यवहर्ता ॥ १४ ॥ स्वप्नानुभूतयः—स्वप्नानुभवाः अत्र
 ईदृशार्थसंभावने अविखण्डितः—समस्तो दृष्टान्तोऽनुसंधेय
 इत्यर्थः । यस्तु नैयायिको ज्ञानमात्रे अवच्छेदकतासंबन्धेन
 देहस्य कारणता त्वदन्योन्ययोगस्यापि कारणता—सुषुप्तौ तदभावे

ज्ञानाभावोपपत्तेरित्यादि प्रलपति स मूर्खस्त्वया न संभाष्य
 एवेत्याह—अनुभूतीति । तेन सह ते अलमस्तु संभाषणादिना
 प्रयोजनं नास्ति । सुषुप्तावपि सुखमहमस्नाप्समित्यादिस्मृति-
 दर्शनेन सुखस्वापादिज्ञानसत्त्वात् 'स्वप्नेन शारीरमभिप्रहस्यासुप्तः'
 सुप्तानभिचाकशीति । शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्यमयः
 पुरुष एकहंसः' इत्यादिश्रुतिविरोधाभिमिश्रापात्त्यक्तशरीरेण
 मया दुःस्वानुभवात्तन्निवारणाय ब्रह्माज्ञया मित्रावरुणोद्भवशरी-
 रपरिग्रहाच्चेति भावः ॥ १५ ॥ गेहे सुप्तः स्वप्ने स्मरतीति
 स्वप्नचरः पुरुषः स्वप्ने व्यवहर्ताप्यन्यैस्तद्देहस्थैर्न दृश्यते तथा
 अहमपि नभोगतैर्देवैर्न दृष्ट इत्यर्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥ मां न
 कश्चिदपि पश्यतीत्येतत्ते स्मोक्तिविरुद्धम् । प्राक् सिद्धेन दृष्टोऽह-
 मिति त्वयैवोक्तत्वात् । अहमन्यान्प्रपश्यामीत्यप्यसंगतम् । म-
 नसो बहिरस्तात्तद्व्यात्स्वमे स्वमनोमयानामेव दर्शनादित्याशयेन
 रामः पृच्छति—न दृश्यत इति ॥ १८ ॥ सत्यसंकल्पानुसा-
 रिदर्शनव्यवस्थया उभयं वसिष्ठः परिहरति—अस्मदादिरिति ।
 अस्मदादिर्जनयोगसिद्धो जनः ॥ १९ ॥ ननु ज्ञानसिद्धानां
 सदैवातिवाहिकदेह एवास्ति न स्थूल इति त्वयैवासकृदुक्तं
 तत्कथं तेषां स्थूलदेहबुद्ध्या परदर्शनसंवादादिसत्यसंकल्पनं
 घटते तत्राह—व्यवहारेष्विति । सत्यम् । समाधिविवेककाल-
 योस्तथैव व्युत्थानव्यवहारकाले आतिवाहिकभावविसरणमप्य-
 स्तीति तत्संकल्पनसंभव इत्यर्थः ॥ २० ॥ एष सिद्धः सोऽपि
 सत्यसंकल्पः सिद्धश्चेति वा मां द्रष्टुं शक्नोतीत्याशयेन तं विधि-
 नष्टि—स्वसंकल्पार्थभाजनमिति ॥ २१ ॥ सिद्धस्येतरजनेभ्यो

द्वयोस्तु सिद्धयोः सिद्धविरुद्धेऽस्ति तयोर्मिथः ।
 अधिकैकावदात्मा जयी पुरुषयत्नवान् ॥ २३
 भ्रमतः सिद्धसेनासु लोकपालपुरीषु मे ।
 विस्मृता व्यवहारौघैः सातिवाहिकतात्मनः ॥ २४
 यदा तदाहमपरैर्व्यवहर्तुं महाम्बरे ।
 प्रवृत्तो न च मां कश्चित्तत्र पश्यति चञ्चलम् ॥ २५
 अत्यन्तमप्यारटतः शब्दो न श्रूयते मम ।
 केनचित्सुरलोकेषु स्वप्नपुंस इवानघ ॥ २६
 अवष्टब्धं प्रवृत्तस्य नान्यावष्टब्धये मम ।
 संपद्यते किञ्चिदपि मनोमननदेहिनः ॥ २७
 एवं व्योमपिशाचोऽहं संपन्नो रघुनन्दन ।
 मयानुभूता कान्येषा देवाणामपिशाचता ॥ २८
 श्रीराम उवाच ।

पिशाचाः सन्ति लोकेऽसिन्धुमाकाराः किमास्पदाः ।
 किंजातीयाः किमाक्षराः कीदृशाः कीदृशाशयाः ॥
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 पिशाचाः सन्ति लोकेऽसिन्धुमाकाराः किमास्पदाः ।
 न सन्त्योऽसौ न यो वक्ति प्रसङ्गापतितं वचः ॥ ३०
 पिशाचाः केचिदाकाशसदृशाः सूक्ष्मदेहकाः ।

विशेषमाह—जन इति । जरठश्चिरवासनादहीकृतो मेदः स्व-
 स्यान्नृणां यो न तथाविधत्वात् जीर्णमेदत्वाद्वाधितमेदवासन-
 त्वात्स एष सिद्धः सत्यकामत्वस्य भाजनं योग्यः ॥ २२ ॥
 ननु तर्हि यत्र द्वौ सिद्धौ परस्परविरुद्धं संकल्पयतः । यथा
 एकः अहमेति पश्यामीति संकल्पयति, अपरस्तु मामयं न
 पश्यत्विति । तत्र कथं व्यवस्था तत्राह—द्वयोरिति । यस्यैवा-
 त्मज्ञानवैश्याधिक्यं तत्संकल्पः प्रबलः । यथैकराज्यसिद्धयर्थं
 यत्मानयो राजपुत्रयोर्यस्यैव शौर्याद्याधिक्यं तस्य जयस्तद्वि-
 लयः । तुल्यबलत्वे द्वयसंपत्तिवैरक्षापाविरोधसंगे वक्ष्यते
 ॥ २३ ॥ अस्त्वेवं तथापि प्रकृते किं तत्राह—भ्रमत इति ।
 व्यवहारौघैर्दुर्भिर्यदा विस्मृता तदा व्यवहर्तुं प्रवृत्त इति परे-
 णाम्बयः ॥ २४ ॥ २५ ॥ आरटतः कूजतः ॥ २६ ॥ अव-
 ष्टब्धं अन्यस्य पतनारोहणादिप्रसङ्गे कटावबलम्बनं दातुं प्रवृ-
 त्तस्य मम किञ्चिदपि हस्ताद्यन्यस्य अवष्टब्धये अवलम्बनाय
 न संपद्यते ॥ २७ ॥ एवमनया रीत्या । देवाणामपि पिशाचता
 अनुभूता ॥ २८ ॥ प्रासङ्गिको रामप्रश्नः ॥ २९ ॥ सन्धः
 समाहितः । 'सत्यः' इति पाठे यथार्थवक्ता । श्रोतुः प्रमया हि
 अर्थयाथार्थ्यग्रहः । न च श्रोतुः प्रासङ्गिकार्थजिज्ञासायामजिज्ञासि-
 त्तेऽर्थान्तरे वाक्यात्प्रमोक्षयत इत्यनवधेयवचनोऽसावुन्मत्तवदुपे-
 क्ष्येतेति । तथा बाहुर्वचस्पतिमिश्राः—'प्रतिपित्तितमर्थं प्रति-
 पादयन्प्रतिपादयिता अवधेयवचनो भवति । अप्रतिपित्तितं
 तु प्रतिपादयन्नसौ न लौकिको न परीक्षक इत्युन्मत्तवदुपे-
 क्ष्येत' इति ॥ ३० ॥ सूक्ष्मदेहका मनोमयदेहकाः । स्वप्न-
 न्ननःकल्पितहस्तपादादिसंयुक्ताः ॥ ३१ ॥ यदि ते मनोमान-

हस्तपादादिसंयुक्ताः पश्यन्ति त्वमिवाकृतिम् ॥ ३१
 छायाया मयदायिन्या त्वन्यत्र भ्रमरूपया ।
 ते चित्ताक्रमणं कृत्वा बोधयन्ति नराशयम् ॥ ३२
 इत्यदन्ति पिवन्त्याशु लघुसत्त्वबलं जनम् ।
 बलं सत्त्वमयो जीवान्हिसन्त्याक्रम्य चित्तकम् ॥ ३३
 आकाशसदृशाः केचित्केचिन्नीहारसंनिभाः ।
 केचित्स्वप्ननराकाराः साकारा अपि स्वात्मकाः ॥ ३४
 केचिदभ्रदलप्रख्याः केचित्पवनदेहकाः ।
 केचिद्भ्रमात्मका एव सर्वे बुद्धिमनोमयाः ॥ ३५
 ग्रहीतुं नैव युज्यन्ते ग्रहीतुं शक्नुवन्ति नो ।
 आकाशशून्यवपुषः पश्यन्त्याकृतिमात्मनः ॥ ३६
 शीतातपादिविहितं सुखं दुःखं विदन्ति च ।
 पातुमनुभवष्टुमीहितुं शक्नुवन्ति नो ॥ ३७
 इच्छादेषमयक्रोधलोभमोहसमन्विताः ।
 मन्त्रौषधतपोदानधैर्यधर्मवशीकृताः ॥ ३८
 सत्त्वावष्टम्भयन्नेन मन्त्रेणाराधितेन वा ।
 दृश्यन्तेऽपि च गृह्यन्ते कदाचित्केनचित्कचित् ॥ ३९
 देवयोनिर्हि सा तेन केचिदेवोपमादयः ।
 केचिन्नरसमश्रीकाः केचिन्नागसमन्वयाः ॥ ४०

मयदेहास्तर्हि अन्येषामाक्रमणं कथं कुर्वन्ति । मनसो नहिरा-
 क्रमणाद्यसामर्थ्यादित्यत आह—छाययेति । ते पिशाचा अ-
 न्यत्र नरान्तरे तवीयचित्तभ्रमरूपया अत एव नानामयदा-
 यिन्या स्वच्छायाया प्रतिबिम्बेनानुप्रविश्य तवीयचित्ते तादात्म्य-
 भिवापय तस्य नरस्याशयं दुःखमोगप्रदं कर्मकामवासनादिकं
 नानाभ्रान्तिचेष्टाशुलुपतया उद्बोधयन्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ तन्म-
 रणानुकूले कर्माशये सति घ्नन्ति स्वयं च स्वीकृणानुबन्धातु-
 सारेण तवीयदेहधातूनदन्ति रुधिरादि पिवन्ति । बलं सत्त्वं च
 अपयन्तीति शेषः ॥ ३३ ॥ एतेन किमाक्षरा इति प्रश्नः
 समाहितः । किमाकाराः किंजातीया इति प्रश्नौ समाधत्ते—
 आकाशेति । विचित्रकर्मानुसारेण तेषां स्वीकृत्यतारतम्येन
 देहारम्भादन्तर्धानादिशक्तितारतम्येन नानावासनानुसारिरूप-
 भेदेन चावस्थानमिति भावः ॥ ३४ ॥ अभ्रदलं मेघसङ्गः ।
 भ्रमात्मकाः आक्रमणीयपुरुषभ्रान्त्यनुसारिदेहा इति भावः
 ॥ ३५ ॥ पश्यन्ति स्वयमनुभवन्ति । परस्परं च पश्यन्ति ॥ ३६ ॥
 बाह्यबलं पातुम् । अन्नाद्यस्तु भोक्षुम् । ईहितुं यदेष्टं पाना-
 दानादिना व्यवहर्तुम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ केनोपायेन तर्हि ते
 दृश्यन्ते मनुष्यैस्त्वमाह—सत्त्वेति । सत्त्वावष्टम्भो योगधारणा-
 मेदः । यच्च भूतदर्शनानुकूलजीवाक्षरघटितं रजसादिपञ्च-
 खितं कण्ठादौ धार्यमाणं तेन । गृह्यन्ते वशीकृत्य सेवादौ नि-
 युज्यन्ते । केनचिद्भूतविद्यावता पुरुषेण । कचिद्देशे प्रसिद्धमेत-
 दित्यर्थः ॥ ३९ ॥ एकादशदेवयोनिभेदान्तर्गतत्वादिगणितैर्धर्म-
 तारतम्येन सुखमोगोऽपि तेष्वस्तीति सूचयंस्त्वान्माकृतिभेदा-
 न्प्रपद्यति—देवयोनिर्हीति । नागैः सर्वैः सन्नम्यः सादर्यं

श्वश्रुमालोपमाः केचिद्भ्रामजङ्गलवासिनः ।
 कुल्यावकररथ्यास्तु वसन्ति निरयेषु च ॥ ४१
 एतदास्पदमेतेषामित्याकाराः प्रकीर्तिताः ।
 पिशाचा एवमाचारा जन्मैषां श्रूयतामिदम् ॥ ४२
 अचेत्यचिन्मयं ब्रह्म सर्वशक्तिस्वभावतः ।
 यत्स्थितं बुद्धमेवान्तश्चेत्यं संकल्पयन्निव ॥ ४३
 तं जीवं विद्धि स प्रौढस्त्वहंकार इति स्मृतः ।
 सोऽहंकारः स्मृतः पुष्टो मन इत्युदितात्मभिः ॥ ४४
 स एव कथ्यते ब्रह्मा संकल्पाकाशरूपवान् ।
 असदेवासतो बीजं जगतो विगताकृतिः ॥ ४५
 एवं मनःस्थितो ब्रह्मा सदेहोऽप्यमलं नमः ।
 तत्स्वप्नपुरुषाकारः सन्नेवासद्रूपः सदा ॥ ४६
 पृथ्व्यादिमूर्तिरहितस्त्वातिवाहिकदेहवान् ।
 पृथ्व्यादयः किल कुतः संकल्पपुरुषस्य खे ॥ ४७
 भवन्मनो यथाकाशपुरं पश्यति कल्पितम् ।
 तथा मनोविरञ्चित्वं पश्यत्यात्मनि कल्पितम् ॥ ४८
 यद्वेत्ति कल्पितं तत्सत्पश्यत्यनुभवत्यपि ।
 यो यावन्मात्रकस्तत्स कस्मात्किल न पश्यति ॥ ४९
 स यत्पश्यति तत्तादृक् शून्यात्मा शून्यमम्बरे ।
 ब्रह्म ब्रह्मणि वा ब्रह्मा तदिदं जगदुच्यते ॥ ५०
 तथा संप्रति भासोऽस्य चिरकालैकभावनात् ।
 घनीभूतः स्थितः पुष्टः सुदीर्घस्वप्नसुन्दरः ॥ ५१
 आतिवाहिकदेहस्य तस्य तच्चिरभावनात् ।
 सर्गानुभवनं भूरि ब्रह्मणो ब्रह्मरूप्यपि ॥ ५२
 गतं प्रकटतोत्कर्षादाधिभौतिकदेहताम् ।

येषाम् ॥ ४० ॥ निरयेषु नरकप्रायेष्वशुचिदेशेषु ॥ ४१ ॥
 एतेन किमाकाराः किमास्पदाः किमाचारा इति प्रश्नाः समा-
 हिता इत्याह—एतदिति । किजातीया इति प्रश्नो यदि जन्म-
 परस्तथाप्युत्तरं मूलत आरभ्य सर्गादिना जगत्तत्त्वं व्युत्पादय-
 न्भावयति—जन्मैत्यादिना ॥ ४२ ॥ तत्र प्रथमं मायाशब्-
 लस्य ब्रह्मणो जीवभावप्राप्तिं मनआद्युपाध्युद्भवं क्रमेण दर्श-
 यति—अचेत्येति । चेत्यचिन्मयं कार्यब्रह्म तद्विलक्षणमचेत्यचि-
 न्मयम् । चेत्यं संकल्पयन् मनः पुरुष इव बुद्धं सत्तद्रूपेण य-
 त्स्थितं तदेव जीवं प्रथमाङ्कुरं विद्धि ॥ ४३ ॥ प्रौढः अभि-
 मानोर्जितः । अज्ञानतिमिरनाशाय तत्त्वसाक्षात्कारवृत्त्यारूढ-
 तया उदित आविर्भूत आत्मा येषां तैः ॥ ४४ ॥ स मनो-
 रूपो जीव एव समष्ट्यात्मना ब्रह्मा कथ्यते । असतो जगतः
 असन्मन एव बीजम् ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ अत
 एव स विरिद्यो यद्यत्संकल्पनं वेत्ति तत्तद्व्याकरणे पश्यत्य-
 नुभवत्यपि । यो यावन्मात्रको जीवः प्रसिद्धः स सर्वोऽपि त-
 च्चिद्रूपं सदेव अतो ज्ञानशक्तिमत्तत्कस्मादेतोर्न पश्यति ॥ ४९ ॥
 शून्यात्मा निराकारमनोरूपः स ब्रह्म अम्बरे चिदाकाशे शून्य-
 मेव यद्ब्रह्माण्डाकारं पश्यति तदिदं जगदित्यर्थः ॥ ५० ॥ ५१ ॥

तेनैव सर्ग इत्युक्तो भेदसंततिभासुरः ॥ ५३
 स ब्रह्मा ब्रह्ममात्रात्मा ब्रह्ममात्रात्मनोस्तयोः ।
 अजातयोरेव सदा तदात्मजगतोर्द्वयोः ॥ ५४
 अभिन्नयोरेव भृशं शून्यत्वाम्बरयोरिव ।
 ऐकात्म्येनैव वसतोः पवनस्पन्दयोरिव ॥ ५५
 वेत्ति भूतमयत्वं तन्मिथ्यैव न तु वास्तवम् ।
 तथा यथा त्वं संकल्पपुरुषस्य सतोऽसतः ॥ ५६
 ततः शरीरधातूनां तेन पृथ्व्यादिकाः कृताः ।
 अभिधाः पञ्च चित्पुष्टा जगदित्येव ताः स्थिताः ॥ ५७
 यथा त्वसत्य एवायं संकल्पः सत्य एव ते ।
 तथासावात्मसंकल्पं सत्यमेवानुभूतवान् ॥ ५८
 स स्वयं चिन्मयाकाशः स संकल्पश्चिदम्बरम् ।
 अतः स्वप्नो जगत्सर्वं कृतौ नाशोद्भवौ स्थितौ ॥ ५९
 यथैवेतन्मनः सत्त्वं तदंशोः सत्यमेव ते ।
 तथैव तत्कृताश्चन्द्ररुद्रार्कैन्दुमरीचयः ॥ ६०
 एवं स्थिते जगज्जालं तन्मनोराज्यमुच्यते ।
 तच्च शून्यं निरालम्बमाकाशकचनं चिति ॥ ६१
 यथा स्वप्नपुरं व्योम संकल्पाद्रिर्यथा नमः ।
 तथा ब्रह्म जगच्चैव खमेवाच्छमनाकृति ॥ ६२
 एवमाभासमात्रस्य कचतोऽनिशमव्ययम् ।
 सर्गादिमध्यान्तदृशो मुधैवात्रोदिताः स्थिताः ॥ ६३
 किञ्चिदाकाशकोशस्य तव वा मम वानघ ।
 जगतो वापि जायेत किं वा नश्यति मे घट ॥ ६४
 तत्किमर्थमनर्थाय निरर्थकमपार्थकाः ।
 कस्मादभ्युदिता ब्रूहि रागद्वेषभयादयः ॥ ६५

॥ ५२ ॥ ५३ ॥ तदात्मा जीवो जगच्च तयोर्द्वयोः ॥ ५४ ॥
 ॥ ५५ ॥ पृथ्व्यादिभूतमयत्वं वेत्ति । यथा त्वं स्वसंकल्पपुरु-
 षस्य असत एव सतो नगरादेर्भूतमयत्वं वेत्सि तद्वत् ॥ ५६ ॥
 ब्रह्माण्डात्मकस्वशरीरधातूनां कठिनद्रवादिमागानां तेन ब्रह्मणा
 पृथ्व्यादिका अभिधाः संज्ञाः कृताः । ताः समुदितरूपेण जग-
 दित्येव स्थिताः ॥ ५७ ॥ यथा असत्योऽपि ते संकल्पो मनो-
 राज्यकौतुकाद्यर्थक्रियाकारित्वात् सत्य एवानुभूयते त्वया तथा
 असौ ब्रह्मापि आत्मनः संकल्पं सत्यमित्येवानुभूतवान् । तस्य
 समष्ट्यात्मत्वात् तत्संकल्पजस्य सर्वजनसाधारणार्थक्रियेति
 विशेष इति भावः ॥ ५८ ॥ तमेव स्फुटयति—स इत्या-
 दिना । स ब्रह्मा स्वयं चिन्मयाकाश एव परमार्थतः तत्सं-
 कल्पोऽपि चिदम्बरमेव ॥ ५९ ॥ कथं तर्हि तत्कृताश्चन्द्ररा-
 दयः सर्वार्थक्रियाहेतवस्तत्राह—यथैवेति । तदंशास्तद्वत्तयस्ते
 सत्त्वं प्रवृत्त्याद्यर्थक्रियासमर्था एव ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥
 सर्गस्य आदिमध्यान्तदृशो जन्मस्थितिभङ्गप्रत्ययाः ॥ ६३ ॥
 अत एवात्मनश्चिदाकाशरूपतानुसंधाने तव वा मम वान्यस्य
 वा न कस्यचित्सर्गादयः सन्तीत्याह—किमिति । जगतो जड-
 त्वादेव सुतरां न जन्मादिप्रत्ययप्रसक्तिरिति धोतनाय प्रहृष्टं

वस्तुतोऽङ्गं न सर्गादिर्न सर्गो नाप्यसर्गता ।
 विद्यते सकृदाभातमिदमित्थं सदैव तत् ॥ ६६
 आशून्ये विपुलाभोगे खच्छचिज्जलपूरिते ।
 कलनापङ्ककलिले भविष्यति चिदम्बरे ॥ ६७
 अन्तरिक्षाक्षयक्षेत्रे खात्मनो गगनात्मिका ।
 तस्माद्बीजादियं जाता भूरिभूतशिलावलिः ॥ ६८
 नास्ति किञ्चिदिह क्षेत्रं व्युत्सं नाम न किञ्चन ।
 न बीजमस्ति नो जातं किञ्चित्सर्वं च संस्थितम् ॥ ६९
 याः शिलावलयस्तत्र पुष्टास्ता विबुधादयः ।
 यास्तु वर्षोऽज्वला एताः स्वास्थिता बुद्धबुद्ध्यः ॥ ७०
 यास्त्वर्धपक्वास्ता एता नरनागादिजातयः ।
 यास्त्वादयाना रजोनष्टास्ताः कृमिस्थावरादयः ॥ ७१
 यास्तु शुन्यैः फलैर्हीनाः शून्याकाराः क्षयक्षताः ।
 अशरीराः शरीरिण्यस्ताः पिशाचादिकाः स्मृताः ॥ ७२
 न हि संकल्पितुः खेच्छा क्वचित्पर्यनुयुज्यते ।
 तस्तथेच्छा विरिञ्चस्य तथा नाम तथोदिताः ॥ ७३
 सर्वा एव चिदाकाशरूपिण्यो भूतजातयः ।
 आतिबाहिकदेहिन्यः पृथ्व्यादिरहितात्मिकाः ॥ ७४
 ताश्चिराभ्यासवशतस्त्वाधिभौतिकसंविदम् ।
 प्राप्ता दीर्घानुभवनात्त्वमजाग्रदृशामिव ॥ ७५
 पिशाचाद्यास्तथा एते तथाभूताधिभौतिकाः ।

तिष्ठन्ति तुष्टमनसः स्वसंसारविहारिणः ॥ ७६
 पश्यन्ति काश्चिदन्योन्यं ग्राम्या ग्राम्येयकानिव ।
 स्वप्रेकलोकवास्तव्या इवेता भूतजातयः ॥ ७७
 काश्चिद्बहुनरप्राप्तस्वप्रनिर्माणलोकवत् ।
 नान्योन्यमपि पश्यन्ति नानासंस्थानसंस्थिताः ॥ ७८
 स्थिता यथैता जगति पिशाचाद्याः कुजातयः ।
 प्रायस्तथैताः कुम्भाण्डयक्षप्रेतादयः स्थिताः ॥ ७९
 यथा यत्रेह वै निम्ना जलं तत्रावतिष्ठते ।
 तथा यत्र पिशाचाद्यास्तमस्तत्रावतिष्ठते ॥ ८०
 मध्याह्नेपि पिशाचश्चेदजिरे तिष्ठति स्वयम् ।
 तत्तस्यान्धं तमस्तत्र संनिधानं करोत्यलम् ॥ ८१
 न निहन्ति च तद्भानुर्न चान्यस्तत्प्रपश्यति ।
 स एव चानुभवति पश्य मायाविजृम्भितम् ॥ ८२
 अग्नेरादित्यचन्द्रादेस्तैजसं मण्डलं यथा ।
 पिशाचादेरजन्मात्म तामसं मण्डलं तथा ॥ ८३
 याति तेजस्यनोजस्त्वं तमस्योजःप्रधानताम् ।
 उलूकवत्पिशाचाद्या आश्चर्यं तत्स्वभावतः ॥ ८४
 एषा पिशाचाजनितस्य जातिः
 प्रोक्ता मया ते समयानपेता ।
 पिशाचतुल्यः सुरलोकपाल-
 लोकेषु जातोऽहमिति प्रसङ्गात् ॥ ८५

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मोक्षो० नि० उ० पा० पिशाचवर्णनप्रसङ्गेन जगद्भ्रमणोरैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ १४ ॥

पुरुषान्तराभिप्रायेण ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ वस्तुतः परमार्थदृशा ।
 सर्गस्य आदिः कारणम् । सकृदाभातं अपुनरावरणतया
 प्रथो गतम् । इदं प्रत्यग्रूपं सदैव तद्वत् ॥ ६६ ॥ तथाविधेऽपि
 चिदम्बरे क्षेत्रे अज्ञानकल्पनापद्धेन कलिले सति खात्मनस्त-
 स्मादेव बीजादियं भूरिभूतशिलावलिर्भविष्यति प्रारजाता चेति
 परेणान्वयः ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ कलनापङ्कनिरासे त्वाह—ना-
 स्तीति ॥ ६९ ॥ एवं पिशाचजातिवर्णनप्रसङ्गेन 'सर्गतत्वं
 व्युत्साद्य प्रस्तुतानुसृलतया वर्णितभूतशिलाया अवयवादिभेद-
 तथा जातिभेदान्दर्शयति—या इति । तत्र तस्मिन्कलनापङ्क-
 कलिले आत्मक्षेत्रे याः शिलावलयः पुष्टाः संरुद्धास्ता विबुधादयो
 जातय इति सामान्योक्तिः । विशिष्य विभजते—या इत्यादिना ।
 तत्र यास्तु वर्षेन कान्त्यतिशयेनोज्वला रत्नरूपा बुद्धबुद्ध्यो
 देवर्ष्यादिजातयः ॥ ७० ॥ अर्धपक्वा अर्धवर्णोज्वलाः शिलाः ।
 आद्याना म्लानाः शिलाः ॥ ७१ ॥ शुन्यो बृहत्सो भारभूताः क-
 न्तिप्रकाशादिफलैर्हीना वृथापाषाणा इति यावत् । अशरीरा अ-
 देहाकाराः शरीरिण्यो देहाकाराश्च शिलाः ॥ ७२ ॥ ननु हिरण्य-
 गर्भसोत्तमदेवादिरत्नान्येव तत्र क्षेत्रे उत्पद्यन्तामिषेव सकल्पः
 कुतो नाभूत्किमर्थं वृथापाषाणरूपपिशाचजात्युत्पादनसंक-
 ल्पोऽभूत्तत्राह—न हीति । संकल्पितुः संकल्पयितुर्घातुरिच्छा
 न हि पर्यनुयुज्यते आक्षिप्यते । तत्तत्त्वज्यजीवप्राक्तनकर्माद्यनु-

सारित्वादिति भावः । विरिञ्चस्य ता इच्छास्तथा जातास्तथैव
 पिशाचजातय उदिताः ॥ ७३ ॥ शिलात्वोत्प्रेक्षणात्प्रसक्तं
 भौतिकत्वं भूतजातीनां धारयति—सर्वा एवेति ॥ ७४ ॥ कथं
 तर्ह्येसाकं देहे भौतिकत्वानुभवस्तत्राह—ता इति ॥ ७५ ॥
 तथाभूतं विराभ्यासप्राप्तमाधिभौतिकमाधिभौतिकत्वं येषाम् ।
 स्वयोनिभोग्यभोगैस्तुष्टमनसः । तथा च तेषां पिशाचदेहः कुत्सि-
 तभोगश्च प्रिय एव न विभक्तो भातीति भावः ॥ ७६ ॥ अन्योन्यं
 पश्यन्ति दर्शनादिना व्यवहरन्ति । ग्राम्येयकान् ग्रामीणानिव ।
 ग्राम्यशब्दात्सार्थे ढकच्छान्दसः ॥ ७७ ॥ बहु प्रायेण ॥ ७८ ॥
 पिशाचजातिवदेव कुम्भाण्डादिजातीनां प्रायशस्तामसी । आदि-
 बाहिकदेहचेष्टादिस्थितिरित्याह—स्थिता इति ॥ ७९ ॥ निम्न-
 तातारतम्येन जलस्थितितारतम्यवत्पापतारतम्येन तेषु तम-
 स्तारतम्यमित्याह—यथेति ॥ ८० ॥ तत्रेति दर्शनाद्यनेस-
 ध्याहार्यम् । अजिरे सातपचत्वेरेऽपि तिष्ठति चेत् ॥ ८१ ॥
 भानुः सूर्यस्तत्तमो न निहन्ति । स पिशाच एव ॥ ८२ ॥
 अस्मादीनीनां प्रकाशसिद्धये अस्यादित्यादितेजोमण्डलमिव
 पिशाचादेर्न्यवहारसिद्धये तामसं मण्डलमस्तीत्याह—अग्ने-
 रिति । इन्धनाद्यजन्मात्म ॥ ८३ ॥ अनोजस्त्वं नैवत्वम् ।
 तदेतदाश्चर्यम् ॥ ८४ ॥ हे राम, मया ते पिशाचयोर्नो भाव-
 नितस्य जीवस्य एषा जातिर्यथाप्रश्रं प्रोक्ता । समयः पृष्ट-

पञ्चनवतितमः सर्गः ९५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

ततश्चिदाकाशवपुर्भूतपञ्चकवर्जितः ।
 विहरन्नहमाकाशे पिशाच इव संस्थितः ॥ १
 न मां पश्यन्ति चन्द्रार्कशक्रा हरिहरादयः ।
 न देवसिद्धगन्धर्वकिंनरा नाप्सरोगणाः ॥ २
 नाक्रामन्ति मयाक्रान्ता न च शृण्वन्ति मद्रवः ।
 इत्यहं मोहमापन्नो विक्रीत इव सज्जनः ॥ ३
 अथ चिन्तितवानस्मि सत्यकामा इमे वयम् ।
 पश्यन्तु मां सुरगणास्तेन तस्मिन्सुरालये ॥ ४
 द्रष्टुं प्रवृत्ता मामग्रे वास्तव्याः सर्व एव ते ।
 झटित्येव पुरं प्राप्तमिन्द्रजालद्रुमं यथा ॥ ५
 अथ गीर्वाणगेहेषु संपन्नो व्यवहार्यहम् ।
 यथास्थितसमाचारः स्थितो निःशङ्कचेष्टितः ॥ ६
 यैरविज्ञातवृत्तान्तैर्दृष्टोऽहमजिरोत्थितः ।
 वसिष्ठः पार्थिव इति लोकेषु प्रथितोऽस्मि तैः ॥ ७
 व्योमन्यादित्यरश्मिभ्यो दृष्टोऽहं यैर्नभोगतैः ।
 वसिष्ठस्तैजस इति लोकेषु प्रथितोऽस्मि तैः ॥ ८
 वातात्समुदितो दृष्टो यैरहं गगनास्पदैः ।
 सिद्धैर्वातवसिष्ठाख्यस्तैरहं समुदाहृतः ॥ ९
 यैरहं सलिलादृष्टः प्रोत्थितस्तैर्मुनीश्वरैः ।
 उक्तो वारिवसिष्ठोऽहमिति मे जन्मसंततिः ॥ १०
 ततःप्रभृति लोकेऽहं पार्थिवः प्रथितः क्वचित् ।

अम्मयः क्वचिदन्येषां तैजसो मारुतः क्वचित् ॥ ११
 अथ कालेन मे तत्र तस्मिन्नेवातिवाहिके ।
 आधिभौतिकता देहे रुढा रुढान्तरेरिता ॥ १२
 यदेतदातिवाहित्वमाधिभौतिकता च खम् ।
 द्वयमप्येकदेहात्म ततः कचति मे चितिः ॥ १३
 एवमात्म क्वचिद्योम कचनात्माप्यहं नभः ।
 परमेव निराकारं युष्मास्वाकारवानपि ॥ १४
 जीवन्मुक्तो व्यवहरंस्तथास्ते ब्रह्मात्मात्मकः ।
 तथैवादेहमुक्तोऽपि तिष्ठति ब्रह्ममात्रकः ॥ १५
 मम न ब्रह्मतापेता तादृग्व्यवहृतेरपि ।
 असंभवादन्यदृशो युष्मदादिष्वहं त्वहम् ॥ १६
 यथाऽहस्य स्वप्नरे निर्जन्मनि निराकृतौ ।
 आधिभौतिकताबुद्धिस्तथा मे जगतोपि च ॥ १७
 एवमेवावभासन्ते सर्व एव स्वयंभुवः ।
 सर्गाश्च न तु जायन्ते प्रयाता इव चोदिताः ॥ १८
 एष सोहमिहाकाशवसिष्ठः पुष्टतामिव ।
 गतोऽद्य स्वात्मनाभ्यासाद्भवतां वा भवत्स्थितिः ॥ १९
 आकाशात्मान एवैते सर्व एव स्वयंभुवः ।
 यथा त्वेतन्मनोमात्रमिमे सर्गास्तथैव हि ॥ २०
 अहमादिरयं सर्गस्त्वपरिज्ञानदोषतः ।
 वेताल इव बालानां गतो वो वज्रसारताम् ॥ २१
 परिज्ञातस्तु कालेन स्वल्पेनैवोपशम्यति ।

मवश्यं वक्तव्यमिति व्याख्यातुसंप्रदायस्तदनपेता । तद्वशादिति या-
 वत् । सुरलोकपाललोकेष्वहं पिशाचतुल्यो जातोऽस्मीति यद्वोचं
 तत्प्रसङ्गात्त्वया पृष्ठे सतीत्यर्थः ॥ ८५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारा-
 मायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पिशाचवर्णनप्रसङ्गेन
 जगद्ब्रह्मणोरैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ ९४ ॥

सत्यसंकल्पतास्मृत्या व्यवहारः पुनर्जनैः ।

स्वस्याकाशवसिष्ठादिनामासिधेर्ह वष्यते ॥ १ ॥

विहरन् संचरन् ॥ १ ॥ २ ॥ मया पादन्यासारोहणाध्या-
 सनादिना आक्रान्ता अपि मां न प्रत्याक्रामन्ति । मोहं पूर्वा-
 परकर्तव्याप्रतिसंधानम् ॥ ३ ॥ चिन्तितवान् चिन्तया स्मृत-
 वान् । सत्यकामा इमे वयमिति स्मृत्यभिन्नयः । पश्यन्तु मां
 सुरगणा इति च संकल्पितवानिति शेषः ॥ ४ ॥ अग्रे वस-
 न्तीति वास्तव्याः । 'वसेस्तव्यकर्तारि णिच' इत्युपसंख्यानत्
 ॥ ५ ॥ व्यवहारी संभाषणादिव्यवहरणशीलः संपन्नः ॥ ६ ॥
 अजिरे चत्वरभूमौ प्रथममाविर्भूतो दृष्टस्तैस्तपृथिवीत एव
 मदुत्पत्ति कल्पयद्भिः पृथिव्या जातः पार्थिवोऽयं वसिष्ठ इति
 लोकेषु प्रथितः प्रख्यातिं नीतोऽस्मि । एवमग्रेऽपि योज्यम्
 ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ इति एवरीत्या परकल्पनयैव मे पृथिव्या-
 दिभ्यो जन्मनां संततिः परम्परा ॥ १० ॥ मारुतो महन्मय-
 यो वा १६२

देहः ॥ ११ ॥ तस्मिन्नेवातिवाहिके देहे आधिभौतिकता रुढा
 प्रादुर्भूता रुढेन विराभ्यासपरिणतेन आन्तरेण मनसा ईरिता
 गमिता । आरुढान्तरेरन्यैः सिद्धैरीरिता गदितेति वा ॥ १२ ॥
 तर्हि किमज्ञवद्भौतिकदेहात्मैवाभून्त्याह—यदेतदिति । यत
 इदं द्वयमपि खमाकाशमेव तद्रूपेणैकदेहात्मैवेतत्तत्त्वतः परि-
 ज्ञातं ततो मे चित्तिरेवात्मभावेन कचति न देहात्मभावेन देहा-
 त्मभाव इत्यर्थः ॥ १३ ॥ क्वचिद्योमादिभूतरूपेण कचनात्मा-
 प्यहम् । एवमात्म चिदेकस्वभावं परं नभ एव न भूताकाशा-
 दिस्वभावः । कथं तर्ह्यकारवान् दृश्यसे तत्राह—युष्मा-
 स्त्विति । युष्मदुपदेशादिव्यवहारसिद्ध्यर्थमित्यर्थः ॥ १४ ॥
 वस्तुतस्तु सदेहविदेहमुक्तयोरैकरूप्यमेवेत्याह—जीवन्मुक्त
 इति ॥ १५ ॥ युष्मदादिषु उपदेशार्थमहं वसिष्ठदेहः संपन्न
 इत्यर्थः ॥ १६ ॥ शून्ये देहे कथं तर्हि आधिभौतिकता रुढेत्यु-
 क्तिस्तत्राह—यथेति । जगतो जनान्तरस्य च ॥ १७ ॥ ब्रह्मादि-
 शरीराणि तत्कृतसर्गाश्चैवमेव परदृष्ट्यैवाधिभौतिका इत्याह—
 एवमेवेति ॥ १८ ॥ भवत्स्थितिर्भवद्बुद्ध्यनुसारिभौतिकदेहस्थितिः
 ॥ १९ ॥ ममेव हिरण्यगर्भस्यापि स्वदृष्ट्या जगद्ब्रह्माकाशात्म-
 कमेवेत्याह—आकाशेति । परीक्षकदृशा एतन्मनोमात्रम् ॥ २० ॥
 वः अज्ञजनानाम् ॥ २१ ॥ दूरगते वन्द्यौ जेहो यथा कालेनोप-

१ जन्यन्तरस्य इत्यपि पाठः.

वासनातानवात्त्रेहो बन्धौ दूरगते यथा ॥ २२ ॥
 घनत्वमद्वमासाद्य तथा सर्गस्य शाम्यति ।
 परिज्ञाता यथा स्वप्ननिधेरादेयभावना ॥ २३ ॥
 शाम्यन्ति संपरिज्ञाताः सकला दृश्यदृष्टयः ।
 यथा मरुतदीवेगवारिग्रहणबुद्धयः ॥ २४ ॥
 महारामायणप्रायशास्त्रप्रेक्षणमात्रतः ।
 एतदासाद्यते नित्यं किमेतावति दुष्करम् ॥ २५ ॥
 संसारवासनाभावरूपे सक्ता नु यस्य धीः ।
 मन्दो मोक्षे निराकाङ्क्षी स श्वा कीटोऽथवा जनः २६ ॥
 भोगाभोगः किलायं यः स जीवन्मुक्तबुद्धिना ।
 कीदृशो भुज्यमानः स्यात्कीदृक्स्यान्मौख्यसेविना २७ ॥
 महारामायणप्रायशास्त्रप्रेक्षणमात्रतः ।

अन्तःशीतलतोदेति परार्थेषु हिमोपमा ॥ २८ ॥
 मोक्षः शीतलचित्तत्वं बन्धः संतप्तचित्तता ।
 एतस्मिन्नपि नार्थित्वमहो लोकस्य मूढता ॥ २९ ॥
 अयं प्रकृत्या विषयैर्वशीकृतः
 परस्परं स्त्रीधनलोलुपो जनः ।
 यथार्थसंदर्शनतः सुखी भवे-
 न्मुमुक्षुशास्त्रार्थविचारणादितः ॥ ३० ॥
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
 सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
 स्नातुं समा कृतनमस्करणा जगाम
 श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाजगाम ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० पाषा० वसिष्ठशरीरवर्णनं नाम पञ्चमवतितमः सर्गः ॥ १५ ॥

॥ दिवसः १७ ॥ पाषाणोपाख्यानं समाप्तम् ॥

षण्णवतितमः सर्गः ९६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

पाषाणाख्यानमेतत्ते कथितं कार्यकोविद ।
 अनयेमाः स्फुरद्दृष्ट्या सृष्टयो नभसि स्थिताः ॥ १ ॥
 न च स्थितं किंचनापि क्वचनापि कदाचन ।
 स्थितं ब्रह्मघने ब्रह्म यथास्थितमखण्डितम् ॥ २ ॥
 ब्रह्म चिन्मात्रकं विद्धि तद्यथा स्वप्नदृष्टिषु ।

शाम्यति तद्वत् ॥ २२ ॥ अहंकाररूपं घनत्वं स्थूलं तथा
 शाम्यति । आदेयभावना उपादेयतावासना ॥ २३ ॥ २४ ॥
 प्रायपदं सदृशपरम् । एतत् उक्तरूपं जीवन्मुक्तत्वम् ॥ २५ ॥
 संसारस्यासक्त्या अध्यात्मशास्त्रपराश्रुतं निन्दति—संसारेति ।
 यस्य जनस्य धीः संसारवासनावशात् अभावधूपे अवस्तु-
 भावे देहेन्द्रियमोग्यादिरूपे सक्ता मोक्षविषये निराकाङ्क्षी स
 जनोऽशुचिभोगासक्तिसाम्याच्छ्वा अथवा कीटो न तु मनुष्यः ।
 ज्ञानाधिकारयोग्यमनुष्यदेहस्यायोग्य इत्यर्थः ॥ २६ ॥ यथैक-
 मेवाहं हविःपुरोडाशादिशुचितमरूपं देवद्विजादिभिर्भुज्यते
 उच्छिष्टपुरीषाद्यशुचिरूपं तु भकीटादिभिस्तथा जीवन्मुक्तैः
 शब्दादिर्भोगः शुद्धचिन्मात्रानन्दस्वरूपो भुज्यते । मूर्खस्तु
 अशुचितमविषयरूप इत्याशयेनाह—भोगोति । जीवन्मुक्तबु-
 द्धिना भुज्यमानो भोगस्याभोगः कलापः कीदृशः स्यात् ।
 मौख्यमन्यथावस्तुवेदनं सेवते तच्छीलेन मूर्खेण च भुज्यमानः
 कीदृक् स्यात्तद्विदुष्यमित्यर्थः ॥ २७ ॥ किंचाशाना भोगयार्थ-
 एवमिदं दुष्णाक्रोधलोभादिलक्षणः संताप एवेति शास्त्रपरि-
 शीलिनां बुद्धानां सर्वार्थेषु परा अन्तःशीतलतोदेतीत्यपरो वि-
 शेष इत्याह—महारामायणेति ॥ २८ ॥ एतस्मिन्कीदृशेऽपि
 मोक्षे लोकस्य नार्थित्वम् । अहो आश्चर्यम् ॥ २९ ॥ अयं
 जनः प्रकृत्या स्वभावेनैव विषयैर्वशीकृतः अत एव परस्परं

पुरं भवन्निजाद्रूपात् कदाचन भिद्यते ॥ ३ ॥
 स्वयंभूत्वसमापत्तौ तथा दृश्यव्यवस्थितौ ।
 स्वरूपमजहत्त्वेव चिदाकाशमजं स्थितम् ॥ ४ ॥
 न स्वयंभूर्न च जगन्न स्वप्नपुरमस्त्यलम् ।
 स्थितं संचिन्महादृष्ट्या ब्रह्म चिन्मात्रमेतया ॥ ५ ॥
 यथा पुरं भवत्स्वप्ने चिद्रूपं स्वात्मनि स्थितम् ।

बुद्धयौर्ध्वहरणादिनापि स्त्रीधनदिसंपादनात्तल्लोपः । एवं भ्रान्ति-
 संतापैः सदा दंदह्यमानोऽयं मुमुक्षुशास्त्राणामर्थविचारणानिदि-
 ध्यासनाद्युपायतो यथार्थवस्तुसंदर्शनत एव सुखी भवत्यतः
 पूर्णानन्दो भवेन्नोपायान्तरेणेत्यर्थः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ इति श्रीवाल्मी-
 छमहारामायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वसिष्ठशरीर-
 वर्णनं नाम पञ्चमवतितमः सर्गः ॥ १५ ॥

पाषाणाख्यानतात्पर्यं चिद्विवर्तो जगद्भ्रमः ।

वर्ण्यतेऽत्र चिदेवात्मा ब्रह्मानन्दोऽजरामरः ।

विस्तरेण वर्णितं पाषाणाख्यानं परमप्रकृते योजयति—पा-
 षाणाख्यानमिति । अनया आख्यायिकया स्फुरन्त्या चिन्मात्र-
 पूर्णतादृष्ट्या सर्वाः सृष्टयो नभसि चिदाकाशे शून्यभावे च
 स्थिता इति निश्चिन्वित्यर्थः ॥ १ ॥ ब्रह्मघने सैन्धवघनवदेक-
 रसे स्वभावे ॥ २ ॥ जगत्तच्चिन्मात्रविवर्तत्वं स्मरे सवांनुभव-
 सिद्धमित्याह—ब्रह्मेति । निजाचिद्रूपात्कदापि न भिद्यते न
 प्रच्यवते । तथाच स्वरूपादप्रच्युतस्य रूपान्तरप्रतिभासो विवर्त
 इति तद्वक्ष्यं जगति प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ३ ॥ स्वप्नवत्सर्गेऽपि विवर्तता
 बोध्येत्याह—स्वयंभूत्वसमापत्ताविति । स्वयंभूः समष्टिजीवत्स-
 र्वेन सूक्ष्मोपाधिसमापत्तौ दृश्यस्थूलव्यवस्थितौ च । अजं निर्वि-
 कारम् ॥ ४ ॥ जगच्चेद्विवर्तस्त्विह परमार्थदृष्ट्या किं स्थितं
 तदाह—नेति ॥ ५ ॥ दृष्टान्तेऽपि तत्सममित्याह—यथेति ।

अखण्डमेवमासृष्टेरामहाप्रलयस्थितेः ॥ ६ ॥
 हेमहेमाश्मनोः स्वप्नपुरचेतनयोर्यथा ।
 भेदो न संभवत्येव न भेदश्चित्तिसर्गयोः ॥ ७ ॥
 चित्तिरेकास्ति नो सर्गो हेमास्ति न तदूर्मिका ।
 स्वप्नाचले चिदेवास्ति न तु काचन शैलता ॥ ८ ॥
 चिदेव शैलवद्भाति यथा स्वप्ने निरामया ।
 तथा ब्रह्म निराकारं सर्गवद्भाति नेतरत् ॥ ९ ॥
 चिन्मात्रमिदमाकाशमनन्तमजमव्ययम् ।
 महाकल्पसहस्रेषु नोदेति न च शाम्यति ॥ १० ॥
 चिदाकाशो हि पुरुषश्चिदाकाशो भवानयम् ।
 चिदाकाशोऽहमजरश्चिदाकाशो जगत्रयम् ॥ ११ ॥
 चिदाकाशं वर्जयित्वा शवमेव शरीरकम् ।
 अच्छेद्योऽसावदाहोऽसौ चिदाकाशो न शाम्यति ॥ १२ ॥
 अतो न किञ्चिन्म्रियते न च किञ्चन जायते ।
 चित्त्वात्ततश्चित्कचनं जगदित्यनुभूयते ॥ १३ ॥
 चिन्मात्रपुरुषो जन्तुर्प्रियते यदि नाम वा ।
 ततो मरिष्यत्तत्पुत्रो निःसंदेहं पितुर्मृतौ ॥ १४ ॥
 एकस्मिन्प्रमृते जन्तावमरिष्यन्स्तु सर्वदा ।
 सर्व एव जनाः शून्यमभविष्यन्महीतलम् ॥ १५ ॥
 न चाद्यापि मृतं राम चिन्मात्रं कस्यचित्कचित् ।
 न च शून्या स्थिता भूमिस्तस्माच्चित्पुरुषोऽक्षयः ॥ १६ ॥
 एकं चिन्मात्रमेवाहं न शरीरादयो मम ।
 इति सत्यनुसंधाने क्व जन्ममरणादयः ॥ १७ ॥
 अहं चिन्मात्रममलमित्यात्मानुभवं स्वयम् ।
 अपहन्त्यात्महन्तारो निमज्जन्त्यापदर्शने ॥ १८ ॥
 चिदहं गगनादच्छा नित्यानन्ता निरामया ।

किं जीवितं मे किं वापि मरणं वा सुखासुखे ॥ १९ ॥
 व्योमात्मचेतनमहं के शरीरादयो मम ।
 इत्यात्महापहुतेऽन्तर्योऽनुभूतं धिगस्तु तम् ॥ २० ॥
 चिदाकाशमहं स्वच्छमनुभूतिरिति स्फुटा ।
 यस्यास्तमागता मूढं तं जीवन्तं शवं विदुः ॥ २१ ॥
 अहं वेदनमात्रात्मा कानि देहेन्द्रियाणि मे ।
 लब्धात्मानमिति स्वच्छं प्रविलुम्पन्ति नापदः ॥ २२ ॥
 चिन्मात्रं शुद्धमात्मानं योऽवलम्ब्य स्थिरः स्थितः ।
 नाधयस्तं विलुम्पन्ति महोपलम्बिवेषवः ॥ २३ ॥
 चित्त्वं स्वभावं विस्मृत्य बद्धास्था ये शरीरके ।
 तैः सुवर्णं परित्यज्य गृहीतं भस्म वस्तुतः ॥ २४ ॥
 बलं बुद्धिश्च तेजश्च देहोऽहमिति भावनात् ।
 नश्यत्युदेत्येतदेव चिदेवाहमिति स्थितेः ॥ २५ ॥
 चिदाकाशमहं शुद्धं के मे मरणजन्मनी ।
 एवं स्थिते स्युः किंनिष्ठा लोभमोहमदादयः ॥ २६ ॥
 चिदाकाशादते देहान्योऽन्यत्सारमवाप्नुयात् ।
 तस्मै तद्युज्यते वक्तुं सन्ति लोभादयस्त्विति ॥ २७ ॥
 न च्छिद्ये न च दह्येऽहं चिन्मात्रं वज्रवच्चिति ।
 न देही निश्चयो यस्य तं प्रत्यन्तकरस्तृणम् ॥ २८ ॥
 अहो नु मुग्धता ज्ञानदृष्टीनां यद्विदन्त्यलम् ।
 शरीरशकलाभावे नश्याम इति मोहिताः ॥ २९ ॥
 अहं चिन्नम एवेति सत्ये भावे स्थिरे सति ।
 वज्रपातयुगान्ताग्निदाहाः पुष्पोत्करोपमाः ॥ ३० ॥
 चिन्मात्रममरं नाहं यन्नश्यामीति रोदिति ।
 अनष्ट एव तद्देहो जातापूर्वा खरोलिका ॥ ३१ ॥

अखण्डचिद्रूपं यथास्थितमेवमासृष्टेरामहाप्रलयाजगद्रूपं भव-
 त्तदेव स्थितमित्यर्थः ॥ ६ ॥ चिदनुविद्धतया सर्वसर्गानुभवा-
 दपि सैव तथा स्थितेति निश्चय इत्याह—हेमेति । हेमाश्म-
 मेर्वादौ प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ आकाशं स्वच्छं सर्वगत-
 मलेपकं च ॥ १० ॥ पुरुषो जीवः । भवानित्यादिरुक्तस्य
 प्रपञ्चः ॥ ११ ॥ शवं निर्जिवमेव स्यात् ॥ १२ ॥ १३ ॥
 चित्तो मरणे तद्देवे प्रमाणभावात्सर्वमरणं स्यादित्याह—चिन्मा-
 त्रेति । ‘आत्मा वै पुत्रनामासि’ इति पुत्रस्य पित्रात्माऽभेद-
 श्रुतेरिति भावः ॥ १४ ॥ ‘एक एव हि मृतात्मा भूते भूते व्यव-
 स्थितः’ इति श्रुतेरेकमरणे सर्वमरणप्रसङ्ग इत्याह—एकस्मि-
 न्निति । एकैकमरणानधिकरणक्षणाप्रसिद्धेः सर्वदेत्युक्तिः । मही-
 तलप्रहणं जगन्मात्रोपलक्षणम् ॥ १५ ॥ तर्कस्य विपर्ययप-
 र्यवसानं दर्शयति—न चेति ॥ १६ ॥ तथाच चिदात्मपरिज्ञाना-
 देव जननमरणाद्यनर्थनिवृत्तिः सिद्धेत्याह—एकमिति ॥ १७ ॥
 चिन्मात्रमहमित्येवंरूपमात्मानुभवं ये अपहन्ति कुतर्कैः खण्ड-
 यन्ति त एवात्महन्तारः । वचनव्यत्ययश्छान्दसः । ‘अप-

हृत्य’ इति वा पाठः ॥ १८ ॥ १९ ॥ इति विद्वद्भिरन्तरनुभू-
 तमनुभवं यः कुतर्कैरपहुते स आत्महा तं धिगस्तु ॥ २० ॥
 यस्य चिदात्माहमित्यनुभूतिरस्तं नाशमागता तं मूढं जीवन्त-
 मपि शवं विदुस्तत्त्वविदः ॥ २१ ॥ इति बोधेन लब्धात्मानं
 अविद्यादिमालिन्यापगमात्स्वच्छं पुरुषं मरणाद्यापदो न प्रवि-
 लुम्पन्ति ॥ २२ ॥ २३ ॥ वस्तुतः सुवर्णं परित्यज्य भस्म
 स्वर्णमुद्धा गृहीतम् ॥ २४ ॥ एतदेव बलबुद्ध्यादि ॥ २५ ॥
 किंनिष्ठाः स्युः । न ह्यात्मनिष्ठास्ते तदा येन तैरात्मा दुष्येदि-
 त्यर्थः ॥ २६ ॥ देहान् स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यानं । सारमात्मान-
 मवाप्नुयात्प्रश्येत् । तस्मै मूढाय ॥ २७ ॥ अन्तकरो मृत्युः
 ॥ २८ ॥ ज्ञानदृष्टीनां पण्डितानामपि मुग्धता व्यामोहो दृश्यते ।
 यत् शरीरलक्षणशकलस्य जडवर्णैकदेशस्याभावे नाशो उपास्थिते
 नश्याम इति मोहिता भीता जायन्त इति शेषः ॥ २९ ॥
 ॥ ३० ॥ अमरं चिन्मात्रमहं न अतो नश्यामीति यद्रोदिति
 तदनष्टे एवात्मनि रोदिति । सेयं विवेकिदृशा नटस्येव रोदन-
 विदम्बना अपूर्वा खरोलिका परिहासकीर्तय जाता ॥ ३१ ॥

इष्टं चेतनमेवाहं नाहं देहादिदृश्यः ।
 इति निश्चयवान्योऽन्तर्न स मुह्यति किञ्चित् ॥३२॥
 जहं चेतनमाशयो नाशो मे नोपपद्यते ।
 चेतनेन जगत्पूर्णं कैव संदेहितात्र वः ॥ ३३ ॥
 चेतनं यज्ञायैव्यान्यार्किचिद्व्यं जना यदि ।
 यदुच्यतां महामूढाः स्वान्मा किमपलप्यते ॥ ३४ ॥
 तच्चेतनं चेन्निप्रयते तज्जनाः प्रत्यहं मृताः ।
 मृतं किं न मृता मृतं तन्मृतं किल चेतनम् ॥ ३५ ॥
 तस्मात्त्रियते किञ्चिन्न च जीवति किञ्चन ।
 जीवामीति मृतोऽस्मीति चिचेतति न नश्यति ॥३६॥
 चिचेतति यथा वा यत्तत्तथा साशु पश्यति ।
 आवात्तमेवोऽनुभवो न कचिरसा च नश्यति ॥ ३७ ॥

परिपश्यति संसारं परिपश्यति मुक्तताम् ।
 सुसदुःखानि जानाति स्वरूपात्तन्न भिद्यते ॥ ३८ ॥
 अपरिज्ञातदेहात्तु धत्ते मोक्षामिधां सयम् ।
 परिज्ञातस्वरूपात्तु धत्ते मोक्षामिधां सयम् ॥ ३९ ॥
 नास्तमेति न चोदेति न कदाचन किञ्चन ।
 सर्वमेव च चिन्मात्रमाकाशविशदं यतः ॥ ४० ॥
 न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ।
 यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तं प्रति स्थितम् ॥ ४१ ॥
 यद्यद्यथा जगति चेतति चेतनात्मा
 तत्तत्तथाभुवतीत्यनुभूतिसिद्धम् ।
 दृष्टं विषामृतदृष्टेय पदार्थजातं
 नातोस्ति संविदविधेयमिति प्रसिद्धम् ॥ ४२ ॥

इत्यर्थे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वात्सीकीये दे० गो० निर्वाणप्रकरणे उ० अमरत्वप्रतिपादनं नाम पण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

ससनवतितमः सर्गः ९७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

संविन्मयत्वाजगतः स्वप्नस्य परमात्मनः ।
 ज्ञानाकृतातया सर्वं ब्रह्मैवेत्यनुभूयते ॥ १ ॥
 भ्रमस्य चातिदृश्यत्वाददृश्यत्वान्महाचिते ।

इदं भिलापरोक्तं चेतनं चिन्मात्रमेवाहम् ॥ ३२ ॥ संदेहिता
 जगत्परमात्मनः ॥ ३३ ॥ चेतनाद्वयद्वयमिति हि चेत-
 नद्विरुद्धेयं अचेतनद्विरुद्धं । नाशः । चेतनद्विरुद्धेयनाशभावं
 रास्यानुभूयद्विरुद्धाया वस्तुनाशत्वात् । न द्वितीयः । अचे-
 तनद्विरुद्धेयमचेतना इत्यनुभवितुमभिलषितुं किञ्चिदपलपितुं
 वा शक्यमित्याशयेनाह—चेतनमिति ॥ ३४ ॥ किञ्च चेतन्यं
 सारणं चेतनमिति तर्हि सदेव पश्येत् । तदा सर्वदा सर्वेषां
 जीवता मरणानुभवः स्यादित्याह—तदिति ॥ ३५ ॥ एवं मरणा-
 प्रसिद्धी तत्प्राप्तं जीवनमित्यपि कल्पना श्रुत्वेत्याशयेनाह—त-
 स्मादिति । चेतति भ्रान्तिमनुभवति । स्वयं न कदापि न नश्यति ।
 तथाच श्रुतिः 'न हि द्रष्टृर्द्रष्टारिणो भिद्यतेऽविनाशित्वात्'
 इति ॥ ३६ ॥ सर्वेषामपि नास्ति चेतनानुसारेणैवार्थानुभव-
 प्रसिद्धो न तत्परित्यजेत्याह—चिदिति ॥ ३७ ॥ स्वरूपाणि-
 त्वाभावात्तु चेतनमेवे देहाभेदे कालभेदे न न भिद्यते ॥ ३८ ॥
 तर्हि पश्यमोक्षयोः किञ्चन को वा विशेषनमाह—अपरिज्ञा-
 तेति ॥ ३९ ॥ ४० ॥ तथाच जगद्रूपेषु सत्यत्वनिन्द्यान्व सत्य-
 निषेकानुसारमिदं न गन्तव्यं इत्याह—न तदस्तीति ॥ ४१ ॥
 उपलक्षणं निगमनप्रसरणं—यद्यदिति । पदार्थजातं विषा-
 मृतदृष्टेय कालभेदज्ञानानुभूतानन्दकारिभेदयानिगमविपरीत-
 स्वभावितार्थनिपातेन निर्गुणारेण व्याप्तिं दृष्टमित्यतो
 हेतुः सुविदितोऽयं संविदनुभूतिरिति विदपि यन्मु नान्तीति
 स्वरूपं तत्प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ४२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणे

मदशक्तिवदात्मेति सत्यतास्यापि युज्यते ॥ १ ॥
 असत्त्वादृश्यविश्रान्तेरलभ्यत्वान्महाचितेः ।
 उपलब्धधुरभावाच्च शून्यनाम्नीय सत्यपि ॥ ३ ॥

तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अमरत्वप्रतिपादनं नाम
 पण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

यज्यते सर्वशक्तिवत्सर्वबाधुक्तिसत्यता ।

भोगासक्तिश्च सर्वेषां तत्त्वज्ञविरलस्थितिः ॥ १ ॥

ब्रह्मणः सर्वशक्तिवत्सर्वबाधुक्तीनां सत्यवेति यद्यप्यमा-
 धोपयोगितया 'न तदस्ति न यत्सत्यम्' इति शर्तोपान्तराश्रयेण
 समर्थयितुं भूमिकां रचयति—संविन्मयत्वादिति । परमात्मनः
 स्वप्नभूतस्य जगतः परमाण्वसत्यत्वाकाशतया सर्वं प्रसिद्धं
 सत्यमेव जगत्सर्वमनुभूयत इति नासत्यं किञ्चिदसत्यमुक्तमि-
 त्यर्थः ॥ १ ॥ एवं ब्रह्मरूपेण सत्यत्वेऽपि कथं प्रतीकानाम-
 पेण सत्यता । न हि स्वरूपं गत्यमिति नदध्यत्मः गर्भः यस्य
 भवति सप्राह—भ्रमस्येति । तत्र हि सर्वोऽपि दृश्यो रज्जुरपि
 दृश्या । उभयोर्दृश्यत्वे रज्जुदर्शने सर्पवादादसत्यता, उद्गुत्प-
 ष्णान्तिर्दृश्या तदधिष्ठानं महाचितिरदृश्येति धैर्यमाविशन्
 मदमाकिरिव स्वप्नमदृश्यो दृश्यब्रह्मेतुः कर्मरूपेण गतः
 प्रकटयतीत्यस्य जगद्रूपस्य गत्यता युज्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥
 तर्हि न तदस्ति न गन्तव्येत्युक्तिः कथं यदानीं प्रसङ्गो यथा
 योगात्प्राह—असत्त्वादिति । पश्यमृतदृष्टेयविश्रान्तेः श-
 र्त्तोपपन्नसत्यमुक्तमसत्त्वात्पदवादादनुपपन्नं । तस्मात्प्रसिद्धी-
 तीत्यनिदात्मनः अमरत्वस्यानुक्तिरालोकेऽपि उपलब्धः । ब्रह्म-
 रत्नः परमोपदिष्टोऽस्मिन्मरणात्पदवादात्पदवादात्पदवादात्पदवादात्
 तन्ताप्रतिपत्तिरयतना यति परमाण्वसत्यमिति शून्यत्वम्

चिन्मात्रं पुरुषोऽकर्ता समेत्यव्यक्ततो जगत् ।
 एवंदृष्टेः सत्यमेतदेवमर्थानुभूतितः ॥ ४
 विवर्तो ब्रह्मणो दृश्यमित्येवंवादिनोऽपि सत् ।
 मतमेवंस्वरूपाणामर्थानामनुभूतितः ॥ ५
 परमाणुसमूहात्म जगदित्यपि सत्यतः ।
 संवेद्यते यथा यद्यत्तत्तथैवानुभूतितः ॥ ६
 यथा दृष्टं तथैवेदमिह लोके परत्र च ।
 नासन्न सदिति प्रौढा सत्यमाध्यात्मिकी गतिः ॥ ७
 बाह्यमेवास्ति नास्त्यन्यदित्यन्ये सत्यवादिनः ।
 स्वात्मन्यक्षगणातीतं प्राप्नुवन्ति न ते यतः ॥ ८
 अनारतविपर्यासदर्शनात्क्षणभङ्गधीः ।
 युक्तैव तद्विदामाद्यं सर्वशक्ति हि तत्पदम् ॥ ९
 कलविद्वद्धटन्यायो धर्म इत्यपि तद्विदाम् ।
 तथात्मसिद्धेर्ल्लेच्छानां तद्देशेषु न दुष्यति ॥ १०

सुवचमित्यर्थः ॥ ३ ॥ एवं सति सर्वेषां वादिनां वाक्यं स्व-
 खानुभवसिद्धार्थप्रतिपादनात्सत्यमेवेति प्रपञ्चयिष्यन् प्रथमं
 सांख्योक्तेः सत्यतां दर्शयति—चिन्मात्रमिति । इदं जगत् सुख-
 दुःखमोहात्मतया भन्वीयमानं तथाविधसामान्यपरम्परावधि-
 भूतगुणत्रयसाम्यावस्थालक्षणादव्यक्ततः प्रधानाख्यान्मूलकार-
 णान्महदहंकारादिकमेण समेति आविर्भवति । पुरुषस्तु चि-
 न्मात्रमकर्ता च । तस्य भोगमोक्षसिद्धये सर्गः प्रवर्तत इत्येवं
 दृष्टिर्यस्य कपिलस्य तस्य तथैव तत्सत्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥ यस्तु
 वेदान्ती ब्रह्मणो विवर्तो जगदिति वादी तस्यापि मतं सत् ।
 तथा पर्यालोचने एवंप्रमाणामेवार्थानामनुभवादित्यर्थः ॥ ५ ॥
 एवं कणादगौतमसौत्रान्तिकवैशेषिकाहर्तानां परमाणुसमूहात्म-
 कमेव जगदिति कल्पनापि तदनुभवानुसारित्वात्सत्यैवेत्याह—
 परमाण्विति ॥ ६ ॥ एवं दृष्टसृष्टिवादिनामनिर्वचनीयमेवेह
 लोके परत्र च जगत्तु सदसदन्यतरकोटिप्रतिष्ठितमित्याध्या-
 त्मिकी मनःकल्पनामात्ररूपा जगतो गतिरवगतिरपि सत्यम् ।
 तैस्तथैवानुभवादित्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं ये अन्ये चार्वाका बाह्यं
 पृथिव्यादिभूतचतुष्टयमेवास्ति अन्यदान्तरमात्मरूपं नास्तीति
 वदन्ति तेऽपि सत्यवादिन एव । यतस्ते अक्षगणेभ्यश्चक्षुरादि-
 भ्योऽतीतं स्वात्मनि देहे विमृशन्तो न प्राप्नुवन्ति ॥ ८ ॥ एवं
 क्षणिकवादिनां क्षणभङ्गधीरपि युक्तैव । प्रतिक्षणपरिणामिनां
 सर्वभावानामनारतं विपर्यासदर्शनादित्यर्थः ॥ ९ ॥ यथा घटे-
 ऽवरुद्धः कलविद्वद्धस्त्रमुखापावरणे वहिरुद्गीय गच्छति एवं
 देहान्तःपरिच्छिन्नो धर्मो जीवः कर्मक्षये परलोके उद्गीय
 गच्छतीत्यार्हतकल्पनापि सत्या । तथा म्लेच्छानां यवनादीना-
 मीश्वरोत्पादितो देहाकार एव जीवो देहनिखननदेशेषु तिष्ठति
 स ततः कालान्तरे ईश्वरेण पराभृष्टादिच्छया मुच्यते उच्छि-
 द्यते । शाश्वतं स्वर्गं नरके वा निवेश्यत इति कल्पनापि तदनु-
 भवानुसारादेव न दुष्यति ॥ १० ॥ एवं सर्वत्र समबुद्धीनां

समाः सन्तश्च विप्राग्निविषामृतमृतिष्वपि ।
 भान्त्येवं तद्विदां सर्वमिदं सर्वात्मकं यतः ॥ ११
 स्वभावसिद्धमेवेदं युक्तमित्येव तद्विदाम् ।
 अन्विष्टा याति नो प्राप्तिं बुद्धिमत्सर्वकर्तृता ॥ १२
 एकः सर्वत्र कर्तेति सत्यं तन्मयचेतसाम् ।
 सोऽयं निश्चयवान्सोऽत्र तदाप्नोतीत्यबाधितम् ॥ १३
 अयं लोकः परश्चास्ति स्नानाश्रयादि च नेतरत् ।
 एतदेतादृशं सत्यं विद्धि भावितभावनम् ॥ १४
 अशेषं शून्यमेवेति बौद्धानामेतदेव सत् ।
 लभ्यते तद्विचारेण यत्र किञ्चन नैव हि ॥ १५
 चित्तिश्चिन्तामणिरिव कल्पद्रुम इवेप्सितम् ।
 आशु संपादयत्यन्तरात्मनात्मनि स्वात्मिका ॥ १६
 नेदं शून्यं न चाशून्यमित्यवस्तु न तद्विदाम् ।
 सर्वशक्तिर्हि सा शक्तिर्न तद्विद्यत एव तत् ॥ १७

सन्मात्रवस्तुनि दत्तदृष्टीनां विषामृतमृतिजन्मादिषु विषमत्वेन
 कादाचित्कत्वेन च प्रसिद्धेष्वपि सर्वत्र समाः सदा सन्तश्च
 भान्ति । यत इदं ब्रह्मैव सर्वं सर्वात्मकं चातो न किञ्चिदत्र
 दुर्लभमिति सर्ववादिनामपि सर्वाभिलषितसिद्धिरित्यर्थः ॥ ११ ॥
 एवं स्वभावादेव स्वयमेव सर्वं जगदुत्पद्यते स्वभावादेव नश्यति
 न जगतः कर्ता कश्चिदस्तीति तद्विदां स्वभाववादिनां चार्वा-
 काणां मतमपि युक्तमेव । यतो घटपटादौ दृष्टापि बुद्धिमत्सर्व-
 कर्तृता वृष्टिवातवृणाङ्कुरादौ सम्यगन्विष्टापि प्राप्तिं नो याति ।
 न ह्यकालवृष्टिसुक्षेत्रतृणादयः कृषीवलानां सत्यकर्तृणामनिष्टा
 विनैव कर्तारं स्वभावादेव जायमानाः कर्तृकल्पनां सहन्ते ।
 न हि सर्वानिष्टकर्ता कश्चिदस्ति, तस्य चाकालवृष्टिपरक्षेत्रतृणा-
 दिना प्रयोजनमस्तीति कल्पना संभवतीति भावः ॥ १२ ॥
 क्षिप्रङ्कुरादौ सर्वत्र कार्यमात्रे एकः कर्ता इति यत्कल्पनं तदपि
 सत्यम् । तथा निश्चयवतामीश्वरोपासकानां तत्प्राप्त्यनुग्रहवरदा-
 नाद्यर्थक्रियादर्शनादित्याह—एक इति । तन्मयं तदासक्तं
 चेतो येषाम् । सोऽयमुपासको यतस्तथा निश्चयवांस्ततः
 सोऽन्तस्तत्त्वोपास्यं सर्वकर्तारं प्राप्नोति । न ह्यसौ पूर्ववादीव तं
 बाधितं मन्यते । अकालवृष्टिसुक्षेत्रतृणादीनामपि सर्वानिष्टत्वा-
 सिद्धेः सर्वकर्मफलप्रदस्येश्वरस्य दुष्कर्मफलानिष्टकर्तृत्वे दोषा-
 भावाच्चेति ॥ १३ ॥ आस्तिकानामयं लोक इव परोऽपि
 लोकोऽस्ति । अतः परलोकार्थिनां तीर्थस्नानाग्निहोत्रादि इतरत्
 निष्फलं न । एतादृशं तेषामेतद्भावितभावनं सत्यमेव ॥ १४ ॥
 एतत्तद्भावनमपि सत्यमेव । यत्र शून्यवादे तत्प्रमाणशून्ये प्रमे-
 यशून्यत्वं कल्पनसंभवादिति भावः ॥ १५ ॥ सर्ववादिनां स्व-
 खाभिलषितसिद्धानुपपत्तिमाह—चित्तिरिति ॥ १६ ॥ एवं
 शून्याशून्यविलक्षणानिर्वचनीयतृतीयविधावादिनामपि तत्स्वाभि-
 मतमवस्त्वसत्यं न । यतः सर्वशक्तेर्ब्रह्मणः सा अनिर्वचनीया
 मायाशक्तिः । हि यस्मात्तच्छून्यं न । यद्विद्यते ब्रह्म तदेव च

तस्मात्स्वनिश्चये यस्मिन् स्थितः स तथा ततः ।
 अवश्यं फलमाप्नोति न चेद्वाल्यान्निवर्तते ॥ १८
 विचार्य पण्डितैः सार्धं श्रेष्ठवस्तुनि धीमता ।
 स कठो निश्चयो ग्राह्यो नेतरत्र यथा तथा ॥ १९
 संभवत्युत्तमप्रज्ञः शास्त्रतो व्यवहारतः ।
 यो यत्र नाम तत्रासौ पण्डितस्तं समाश्रयेत् ॥ २०
 सतां विवदमानानां सच्छास्त्रव्यवहारिणाम् ।
 यः समाह्लादकोऽनिन्द्यः स श्रेष्ठस्तं समाश्रयेत् ॥ २१
 सर्वे एवानिशं श्रेयो धावन्ति प्राणिनो बलात् ।
 परिनिम्नं पयांसीव तद्विचार्य समाश्रयेत् ॥ २२
 कल्लोलैरुद्वहमानानां नृणां संसारसागरे ।
 अज्ञाता दिवसा यान्ति तृणानामिव विन्दवः ॥ २३
 श्रीराम उवाच ।
 जगत्पूर्वं लतेवापि विश्रान्ता वितते पदे ।
 पूर्वापरविचारेण के पराभावदर्शिनः ॥ २४
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 जातौ जातौ कतिपये व्यपदेश्या भवन्ति ते ।
 येषां यान्ति प्रकाशेन दिवसा भास्वतामिव ॥ २५

अधश्चोर्ध्वं च धावन्तश्चक्रावर्तविवर्तनैः ।
 सर्वे तृणवदुद्वहन्ते मूढा मोहभवाम्बुधौ ॥ २६
 नष्टात्मस्थितयो भोगवद्भिषु प्रज्वलन्त्यलम् ।
 देवा दिवि दवेनाद्रौ दह्यमाना द्रुमा इव ॥ २७
 पातिता मदसंपन्ना दानवा दानचारिभिः ।
 गजा इव निरालाना घोरे नारायणावटे ॥ २८
 न गन्धमपि गन्धर्वा दर्शयन्ति विवेकजम् ।
 गीतपीतपरामर्शाः सरन्ति हरिणा इव ॥ २९
 विद्याधराश्च विद्यानामाधारत्वेन मोहिताः ।
 स्फुरितानामुदाराणामपि कुर्वन्ति नादरम् ॥ ३०
 यक्षा विक्षोभितभुवो दक्षतामक्षता इव ।
 दर्शयन्त्यसहायेषु बालवृद्धातुरेषु च ॥ ३१
 दन्तिनामिव मत्तानां रंहसा हरिणारिणा ।
 कृतः करिष्यसि त्वं च राक्षसानां परिक्षयम् ॥ ३२
 भृशं पिशाचाः पश्यन्ति भूतभोजनचिन्तया ।
 धूमान्धकारानिलया ज्वालयद्भुतयो यथा ॥ ३३
 नागजालमृणालानि मग्नानि धरणीतले ।
 नगानामिव मूलानि जडानीव स्थितान्यलम् ॥ ३४

इति वसिष्ठ उत्तरमाह—जातौ जातौविति । 'तयो यो देवानां प्रत्यवुष्यत स एव तदभवत्तथर्षाणां तथा यतुष्याणाम्' इत्यादिश्रुतिव्यपदेश्या भवन्ति संभवन्त्येव ॥ २५ ॥ अन्ये तु सर्वे मूढा मोहमहाम्बुधौ भोगतृष्णाकल्लोलैस्तृणवदुद्वहन्ते ॥ २६ ॥ तदेव देवादिजातिभेदेषु प्रपञ्चयति—नष्टात्मस्थितय इत्यादिना । दवेन वनहुताशनेन ॥ २७ ॥ दानचारिभिर्देवैर्नारायणलक्षणे अवटे महागते पातिताः ॥ २८ ॥ गन्धं लेशमपि । गीतलक्षणं यत्पीतं मदिरा तद्वशात्परैरिष्यद्भिः परामृश्यन्त इति परामर्शा हरिणा इव भृत्यव्याघसनिधिं सरन्ति गच्छन्ति ॥ २९ ॥ जडविद्याया अपि विद्यात्वात्तद्योग्यताबलेन स्फुरितानामुदाराणां विवेकानामादरं न कुर्वन्ति । भोगसाधनविद्यास्यैव रमन्त इत्यर्थः ॥ ३० ॥ भयज्वरोन्मादादिदोषोत्पादनेन विक्षोभिता भूर्जनावातो यैः । स्वयमक्षता इव खदेहं स्थिर मन्यमाना इति यावत् । असहायेष्वेकान्युमणिसन्नादिवलशून्येषु च बालादिषु खदक्षता दर्शयन्ति ॥ ३१ ॥ राक्षसानां तु कामबलशौर्यादिना दन्तिवन्मसानामरिणा शत्रुभूतेन हरिणा सिंहभूतेन विष्णुना प्राग्बहुश परिक्षयः कृतः अग्रे च त्वं करिष्यसीति तत्प्रमादफलं तेषां प्रसक्तमेवेत्याह—दन्तिनामिति ॥ ३२ ॥ पिशाचानां तु दरा कुधातुरत्वात्प्राणिवधभोजनचिन्तैव सदेति न कदाचिदपि विवेकप्रसक्तिरित्याह—पिशाचा इति । अज्ञानधूमान्धकारस्थानिलवल्कोषहिंसादिज्वालात्संपादिकया भूतभोजनचिन्तया । यथा अग्नौ पतिता आहुतयः सदैव सधूमज्वाला दंदद्यमानं स्वं पश्यन्ति तथा पिशाचा अपीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ एवं नागजातावपि विवेको दुर्लभ इत्याह—नागजालेति ।

न उभयविलक्षणैर्लथः ॥ १७ ॥ वाल्यादविश्वासलक्षणाच्चाप-
 लक्षितोः पूर्वनिश्चयान् निवर्तते चेदित्यर्थः । अथवा वाल्याद-
 ज्ञानान् निवर्तते चेत् । तथा च यावदात्मज्ञानं नास्ति ताव-
 देव तत्तत्सिद्धान्ताः सत्याः । आत्मज्ञाने तु आत्मैव सत्यो
 नान्यदिति भावः ॥ १८ ॥ अत एवाविचाराद्यस्य कस्यचि-
 त्सिद्धान्तो न ग्राह्य इत्याह—विचार्येति ॥ १९ ॥ पण्डितश्रे-
 ष्ठलक्षणमाह—संभवतीति द्वाभ्याम् । शास्त्रतः अध्ययनतः ।
 व्यवहारतः आचरणतः । यत्र देशे । नामेति तस्य दुर्लभ्या-
 न्वेष्यत्वद्योतनाय ॥ २० ॥ अनिन्द्यो निन्दायोग्यनिषिद्धा-
 चरणहीनः ॥ २१ ॥ तर्हि किं निश्चयान्तरनिष्ठा विफला एव,
 नेत्याह—सर्वे एवेति । श्रेयः स्वस्वनिश्चयानुरूपमभिलषितम् ।
 धावन्ति प्राप्नुवन्ति । तत्तेषु परमपुरुषार्थसाधनं किं स्यादिति
 विचार्य सच्छास्त्रसद्गुरु एव समाश्रयेत् ॥ २२ ॥ तौ च शीघ्रं
 समाश्रयेन्न विलम्बेन, आयुषि विश्वासायोगादिलाशयेनाह—
 कल्लोलैरिति । कल्लोलैर्मनोरथपरम्परतरङ्गैः । अज्ञाता अल-
 क्षिताः तृणानामग्रे लम्बा विन्दव इव ॥ २३ ॥ भोगतृष्णा-
 प्रायल्यात्तद्विरक्षा मुमुक्षु एव दुर्लभास्तेष्वपि परमात्मतत्त्व-
 साक्षात्कारवन्तस्त्वदुक्कलक्षणाः पण्डितश्रेष्ठा अतिदुर्लभा इत्य-
 मुमेवार्थं विस्तरेण श्रोतुकामो रामः पृच्छति—जगदिति ।
 वितते पदे ब्रह्माकाशे जगद्विदपसहस्रवितानजालप्रसारपूर्वक-
 मतिविस्तारेण विश्रान्ता प्राणिनां भोगतृष्णेति शेषः । एवं
 सति पूर्वापरजगत्स्वरूपानर्थविचारेण सारासारविचारेण च
 भावः परमार्थस्वदर्शिनः परास्त्वदुक्तश्रेष्ठपण्डिताः के या स्युः ।
 ते अतिदुर्लभा इत्यर्थः ॥ २४ ॥ सत्यमतिदुर्लभास्तथापि
 देवासुरमनुष्यगन्धर्वादजातिभेदेषु ते सन्त्येवेति प्रयत्नेनान्वेष्या

विवरं शरणं येषां कीटानामिव भूतले ।
 तेषामसुरवालानां विवेकेषु कथैव का ॥ ३५
 अल्पमात्रकरणार्थेन संचरन्ति दिवानिशम् ।
 पिपीलिकासधर्माणः प्रायेण पुरुषा अपि ॥ ३६
 सर्वासां भूतजार्तानां व्यग्राणां व्यर्थदीर्घया ।
 क्षीवाणामिव गच्छन्ति दिवसानि दुरीहया ॥ ३७
 न कंचित्संस्पृशत्यन्तर्विवेको विमलो जनम् ।
 जलेऽगाधे निपतितं निमज्जन्तं रजो यथा ॥ ३८
 नीयन्ते नियमाधूता मानवा मानवायुभिः ।
 काम्पिकैः स्फुटतापूताः किरारुनिकरा इव ॥ ३९
 पानभोजनजम्बाले गहने योगिनीगणाः ।
 दुर्गन्धपल्लवलोद्वारे पतिताः पामरा इव ॥ ४०
 केवलं यमचन्द्रेन्द्ररुद्रार्कवरुणानिलाः ।
 जीवनमुक्ता हरिग्रहगुरुशुकानलादयः ॥ ४१

प्रजापतीनां सप्तर्षिदक्षाद्याः कश्यपादयः ।
 नारदाद्याः कुमाराद्याः सनकाद्याः सुरात्मजाः ॥ ४२
 दानवानां हिरण्याक्षवलिप्रह्लादशम्बराः ।
 मयवृत्रान्धनमुचिकेशिपुत्रमुरादयः ॥ ४३
 विभीषणाद्या रक्षस्तु प्रहस्तेन्द्रजिदादयः ।
 शेषतश्चकककोटमहापद्मादयोऽहिषु ॥ ४४
 ब्रह्मविष्ण्वन्द्रलोकेषु वास्तव्या मुक्तदेहिनः ।
 मुक्तस्वभावास्तुषिताः सिद्धाः साध्याश्च केचन ॥ ४५
 मानुषेषु च राजानो मुनयो ब्राह्मणोत्तमाः ।
 जीवनमुक्ताः संभवन्ति विरलास्तु रघूद्वह ॥ ४६
 भूतानि सन्ति सकलानि बहूनि दिक्षु
 बोधान्वितानि विरलानि भवन्ति किंतु ।
 वृक्षा भवन्ति फलपल्लवजालयुक्ताः
 कल्पद्रुमास्तु विरलाः खलु संभवन्ति ॥ ४७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मोक्षो० निर्वाणप्रकरणे उ० विवेकिविरलत्ववर्णनं नाम सप्तनवतितमः सर्गः ॥९७॥

अष्टनवतितमः सर्गः ९८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

विवेकिनो विरक्ता ये विश्रान्ता ये परे पदे ।
 तेषां तनुत्वमायान्ति लोभमोहादयोऽरयः ॥ १
 न हृष्यन्ति न कुप्यन्ति नाविशन्त्याहरन्ति च ।
 उद्विजन्तेऽपि नो लोकाल्लोकान्नोद्वेजयन्ति च ॥ २
 न नास्तिक्यान् चास्तिक्यात्कष्टानुष्ठानवैदिकाः ।
 मनोह्रमधुराचाराः प्रियपेशलवादिनः ॥ ३

सङ्गादाहादयन्त्यन्तः शशाङ्ककिरणा इव ।
 विवेचितारः कार्याणां निर्णेतारः क्षणादपि ॥ ४
 अनुद्वेगकराचारा वान्धवा नागरा इव ।
 वहिः सर्वसमाचारा अन्तः सर्वार्थशीतलाः ॥ ५
 शास्त्रार्थरसिकास्तज्ज्ञा ज्ञातलोकपरावराः ।
 हेयोपादेयवेत्तारो यथाप्राप्ताभिपातिनः ॥ ६
 विरुद्धकार्यविरता रसिकाः सज्जनस्थितौ ।
 अनावरणसौगन्ध्यैः परास्पदसुखाशनैः ॥ ७

धरणीतले पाताले । नगानां वृक्षाणां मूलानीव जडान्यचेतना-
 नीव विवेकहीनानि स्थितानि ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ एवं बलवीर्य-
 प्रभावादिसंपन्नानां देवाद्यसुरान्तानां विवेकदौर्लभ्ये अन्येषां
 तर्कित्वाच्यमित्याशयेनाह—अल्पमात्रेत्यादि । पुरुषा मनुष्याः
 ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ यथा जले निमज्जन्तं रजः शुष्कपांसुर्न
 स्पृशति तद्वत् ॥ ३८ ॥ मानो देहाद्यभिमानस्तद्वत्क्षणैर्वायुभिः
 अक्रोधादिनियमेभ्य आधूताधालिताः क्रोधादिवश्यतां नीयन्ते ।
 यथा काम्पिकैः शूर्पकम्पकर्तृभिः कृषीवलैर्धानास्फुटतासिज्यर्थ
 रालेषु पूता चट्टयिताः किरारुनिकरा निःसारधान्याभासस-
 गृहा वायुभिर्नीयन्ते तद्वदित्यर्थः ॥ ३९ ॥ सुरारुधिरपानमां-
 सादिभोजनलक्षणो जम्बालः पद्मे यस्मिंस्तथाविधे ताम्रधर्म-
 फलभोगासक्तिलक्षणदुर्गन्धपल्लवलोद्वारे पतिताः । अविवेकेने-
 त्यर्थः ॥ ४० ॥ एवं देयादिजातिषु विवेकज्ञानदौर्लभ्यं प्रपश्य
 तेषु ये प्रबुद्धास्तान्परिगणितानिव कतिपयान्दर्शयति—केवल-
 मित्यादिना ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ अहिषु नागेषु ॥ ४४ ॥
 यरान्तीति वास्तव्याः । मुक्तदेहिनो जीवनमुक्ताः । तुषितादयो
 देवयोगिनेदः । केचन न तु सर्वे ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ सर्व-

जातिष्वपि जीवनमुक्ताः सन्ति किंतु ते विरला इत्येतद्वृथान्तेनो-
 पपादयति—भूतानीति । स्पष्टम् ॥ ४७ ॥ इति श्रीवासिष्ठम-
 हारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विवेकिविरलत्व-
 वर्णनं नाम सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

लक्षणान्युपवर्ण्यन्ते सतां तत्त्वविदामिह ।

परीक्ष्योपेक्ष्य तद्वेषान् कर्तव्यश्च तदाश्रयः ॥ १ ॥

तनुत्वमल्पताम् । तथाच लोभादिदोषाल्पतापि तद्वत्क्षणं
 चेन्निर्दोषत्वं किं वाच्यमिति भावः ॥ १ ॥ नाविशन्ति कापि
 विषये नाभिनिविशन्ते । एवं नाहरन्ति न संस्पृहन्ति भोग्य-
 जातम् ॥ २ ॥ एवं पारलौकिककर्मस्यपि नात्यन्तकायकेशाव-
 हेषु शुष्कवैदिकवद्धात्किञ्चिद्व्यन्तीत्याह—नेति । अस्ति परलोक
 इति मतिर्यस्य स आस्तिकः, नास्ति स इति मतिर्यस्य स
 नास्तिकः, तदन्यतरभावाभिमानप्रयुक्तादृढादित्यर्थः ॥ ३ ॥ का-
 र्याणां कर्तुमुचितानां लौकिकवैदिककर्मणां परस्परविरोधादनु-
 ष्ठानसंकटे अकार्येभ्यो विवेचयितारः संदेहनिर्णेतारः ॥ ४ ॥
 नागराश्चतुराः । सर्वेः समः साधारण आचारो येषाम् ॥ ५ ॥
 ॥ ६ ॥ सज्जनस्थितौ सदाचारे । अनावरणमुपदेशेन हृदयकोशो-

पूजयन्त्यागतं फुल्लं भृङ्गं पद्मा इवार्थिनम् ।
 आवर्जयन्ति जनतां जनतापापहारिणः ॥
 शीतलास्पदवत्स्निग्धाः प्रावृषीव पयोधराः ।
 भृशभृङ्गकरं घीरा देशभङ्गदमाकुलम् ॥
 रोधयन्त्यागतं क्षोभं भूकम्पसिव पर्वताः ।
 उत्साहयन्ति विपदि सुखयन्ति च संपदि ॥
 चन्द्रविम्बोपमाकारा दारा इव गुणाकराः ।
 यशःपुष्पामलदिशो भाविसत्फलहेतवः ॥
 पुंस्कोकिलसमालापा माधवा इव साधवः ।
 कल्लोलबहुलावर्तं व्यामोहमकरालयम् ॥
 लुठन्तमिव हेमन्तं लोडयन्तं जनास्पदम् ।
 वीचिविक्षोभचपलं परचित्तमहार्णवम् ॥
 तच्च रोधयितुं शक्तास्तदस्थाः साधुपर्वताः ।
 आपत्सु बुद्धिनारोषु कल्लोलेष्वाकुलेषु च ॥
 संकटेषु दुरन्तेषु सन्त एव गतिः सताम् ।
 एभिश्चिद्वैरथान्यैश्च ज्ञात्वा तानुचिताशयान् ॥
 आश्रयेतैकविश्रान्त्यै श्रान्तः संसारवर्त्मना ।
 यस्यादत्यन्तविषमः संसारोरगसागरः ॥
 विना सत्सङ्गमन्येन पोतकेन न तीर्यते ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० सज्जनसमागमप्रशंसा नामाष्टनवतितमः सर्गः ॥ १८ ॥

आस्तां किं मे विचारेण यद्भवेदस्तु तन्मम ॥ १७ ॥
 इत्यन्तः कल्कमासाद्य न स्थेयं गर्तकीटवत् ।
 एकोऽपि विद्यते यस्य गुणस्तं सर्वमुत्सृजन् ॥ १८ ॥
 अनाहतान्यतद्वेषं तावन्मात्रं समाश्रयेत् ।
 गुणान्दोषांश्च विशातुमावाद्यात्सर्वप्रयत्नतः ॥ १९ ॥
 यथासंभवसत्सङ्गशालैः प्राग्निधयमेधयेत् ।
 दोषलेशमनादृत्य नित्यं सेवेत सज्जनम् ॥ २० ॥
 स्थूलदोषं त्वनिर्वाणं शनैः परिहरेत्कृत्वा ।
 याति रम्यमरम्यत्वं स्थिरमस्थिरतामपि ॥ २१ ॥
 यथा दृष्टं तथा मन्ये याति साधुरसाधुताम् ।
 एष सोऽत्यन्त उत्पातो यः साधुर्याति दुष्टताम् ॥ २२ ॥
 देशकालवशात्पापैर्महोत्पातोऽपि दृश्यते ।
 सर्वकर्मणि संत्यज्य कुर्यात्सज्जनसंगमम् ।
 एतत्कर्म निराबाधं लोकहितयसाधनम् ॥ २३ ॥
 न सज्जनादुरतरः कचिद्भवे-
 द्भजेत साधुग्विनयक्रियान्वितः ।
 स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपं
 विसारिणस्तद्गतपुष्परेणवः ॥ २४ ॥

झाटनं तत्प्रयुक्तैर्ज्ञानोदयसौगन्धैः परैः आस्पदैः आश्रयदानैः
 सुखैरशनैरक्षैश्च आगतमार्थिनं पूजयन्तीति परेणान्वयः ॥ ७ ॥
 पद्मपक्षे अनावरणेत्यादि स्पष्टम् । आवर्जयन्ति गुणैर्वशीकुर्वन्ति
 ॥ ८ ॥ शीतलमास्पदमुद्यानादि तद्वत्स्निग्धाः । भृशतां राज्ञां
 भङ्गकरं देशभङ्गदं च आकुलं दुर्मिक्षमारीपरचक्रादिप्रयुक्तं
 जनक्षोभं तपःप्रभावसत्कर्माद्युपपन्नसामाद्युपायैः रोधयन्ति
 विष्टम्य निवारयन्तीति परेणान्वयः ॥ ९ ॥ १० ॥ रूपमाधु-
 र्यप्रेमादिगुणाकरा दाराः पतिव्रता इव । यश इत्यादिविशेषणैः
 साधून् वसन्तत्वेनोत्प्रेक्षते ॥ ११ ॥ माधवा वसन्ताः । कल्लो-
 लेष्यादीनि परचित्तमहार्णवविशेषणानि ॥ १२ ॥ पद्माकरेषु
 अतिशिशिरतरपवनविक्षिप्ततरङ्गच्छलेन लुठन्तं हेमन्तमिव
 जनास्पदं जनपदं भृङ्गहंसादिजनास्पदं पद्मवनं च लोडयन्तम् ।
 वीचयः पद्ममयस्तद्विक्षोभैश्चपलं तत्प्रसिद्धलोभद्वेषादिमोहितम् ।
 चोऽन्यथै । ईदृशमपि परेषां राजाकीनां चित्तमहार्णवं सामदा-
 नादिना विवेकोपदेशैश्च रोधयितुं शक्ताः ॥ १३ ॥ तदस्था
 उदासीना चेत्यसिद्धिताश्च । साधुपर्वता इति रूपकं नोपमि-
 तसमासः । सामान्यधर्माणां प्रयोगात् । अत एव सता विवे-
 किनामपदादिषु प्राप्तेषु सन्त एव गतिः । कल्लोलेषु अशनाया-
 पिपासाशोकमोहजरासृष्ट्युलक्षणपद्मभिषु आकुलेषु देशविच-
 रादिषु च ॥ १४ ॥ एभिर्दिदानीमुक्तैः । अथशब्दचशब्दौ
 समुच्चये । अन्यैः प्रागुक्तैश्च ॥ १५ ॥ एकस्मिन्नद्वये ब्रह्मणि
 विश्रान्त्यै । उरगमीषण. सागर उरगसागरः ॥ १६ ॥ १७ ॥
 कल्कं प्रमादम् । उक्तगुणानां मध्ये एकोऽपि गुणो यस्य

विद्यते तमपि तावन्मात्रमुद्दिश्य सर्वं कार्यान्तरमुत्सृजन्तं जना-
 दृतान्यतद्वेषं यथा स्यात्तथा आश्रयेदिति परेणान्वयः ॥ १८ ॥
 १९ ॥ २० ॥ स्थूला दोषा यस्य तथाविधं त्वनिर्वाणं पूर्वपरिजनं
 शनैः परिहरेत्त्यजेत् । तदपरिहारे के दोषास्तानाह—यातीति ।
 रम्य शोधितमपि चित्तमरम्यत्वं रगादिकल्लपतां याति । स्थिर-
 मपि विश्रान्तिमुखं विच्छेदादस्थिरतां याति ॥ २१ ॥ कुत एत-
 म्मन्यसे इति चेन्नोके तथैव दर्शनादित्याह—यथेति । अस्त्वेवं
 ततोऽपि को दोषस्तत्राह—पक्ष इति । उत्पातो जगदनिष्टम-
 चक्रः ॥ २२ ॥ पापैर्जनानां दुरदृष्टैः दृश्यते । यथा विश्वामित्रश्च
 लुब्धामात्यादिसङ्घाद्वसिष्ठकामधेनुहरणे प्रभृत्तिसया च परस्पा-
 रैरवृद्ध्या बहुतरमाडीवकयुद्धान्तं जगदनिष्टम् । एवं कश्यपविभ्र-
 मप्रभृतीनां भार्यासंगत्या जगदनिष्टनिमित्तदैत्यराक्षसाद्युत्पादने प्रा-
 त्तिरपि देशकालवशाद्भूमकेत्यादिप्रसिद्धमहोत्पातवद्दृश्यत इत्यर्थः ।
 उत्तमनूयोपसंहरति—सर्वेति ॥ २३ ॥ स च सज्जनसमागमो
 गुणार्जनकमेण ज्ञानप्रतिष्ठासिद्धिपर्यन्तं न विच्छेदनीय इत्याह—
 नेति । कचिदपि काले सज्जनादुरोर्दूरतरो न भवेत् । विनय-
 सेवादिक्रियान्वितः सन् सदैव भजेत । किं तत्तत्राह—स्पृ-
 शन्तीति । तेषां साधूनां समीपगमेवं अयनेनैव विसारिणस्तेषां
 शान्तिदान्यादिगुणलक्षणाः पुष्परेणवः सौगन्ध्यविशेषा अभि-
 वासनभिप्रीकृततिलानिव स्पृशन्ति । अवश्यं सकाममन्तीत्यर्थः
 ॥ २४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वा-
 णप्रकरणे उत्तरार्धे सज्जनसमागमप्रशंसा नामाष्टनवतितमः
 सर्गः ॥ १८ ॥

नवनवतितमः सर्गः ९९

श्रीराम उवाच ।

सन्ति दुःखक्षयेऽस्माकं शास्त्रसत्सङ्गयुक्तयः ।
 मन्त्रौषधितपोदानतीर्थपुण्याश्रमाश्रयाः ॥ १
 कृमिकीटपतङ्गाद्यास्तिर्यक्स्थावरजातयः ।
 कथं स्थिताः किमारम्भास्तेषां दुःखक्षयः कथम् ॥ २
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 सर्वाण्येवेह भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
 आत्मोचितायां सत्तायां विश्रान्तानि स्थितान्यलम् ॥ ३
 भूतानामणुमात्राणामप्यस्माकमिवैषणाः ।
 किंत्वल्पास्था वयं विघ्नास्तेषां त्वंचलसंनिभाः ॥ ४
 यथा विराट् प्रयतते बालखिल्यास्तथैव खे ।
 बालमुष्ट्यल्पकायेऽपि पश्याहंकृतिजृम्भितम् ॥ ५
 जायन्ते च म्रियन्ते च निराधारेऽम्बरे खगाः ।
 शून्यैकविषयास्तेषां स्वास्थ्यं न भवति क्षणम् ॥ ६
 पिपीलिकायाश्चेष्टाभिर्ग्रासावासात्मबन्धुभिः ।
 अस्मद्विवसकल्पोऽपि न पर्याप्तः क्षणो यथा ॥ ७
 संसरेणुप्रमाणात्मा कृम्यणुस्तिमिनामकः ।

कृमिकीटपतङ्गानां तिर्यक्स्थावरजन्मनाम् ।

संसारे यादृशो भोगस्तत्सर्वमिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

कृमिकीटपतङ्गादीनामतिमूढजन्तूनां तात्कालिकदुःखोपशमो-
 पायाभावे जीवनमेव दुर्लभम् । उपायं च ते ज्ञातुं न शक्नु-
 वन्ति । तथा सति कथं जीवन्तीति तेषां संसरणस्थितिं जाति-
 प्रसङ्गाजिज्ञासमानो रामः पृच्छति—सन्तीत्यादिना । अस्माकं
 मनुष्यजातीनामैहिकामुष्मिकदुःखक्षये शास्त्रादय उपायाः
 सन्ति । ये कृम्यादयस्तेषां दुःखक्षयः कथं केनोपायेन,
 तदभावे च ते कथं स्थिता जीवन्तीत्यन्वयः ॥ १ ॥ २ ॥
 आत्मोचितायां तत्तद्योग्यभोगोचितायां सुखसत्तायाम् । तथा च
 तत्तद्योग्यविषयसुखलव एव तेषां महान्पुरुषार्थ इव भाति ।
 तावन्मात्रेण विश्रान्तास्तदाशयैव बहुतरदुःखान्यपि सहमाना
 जीवन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥ एषणाः स्वस्वोन्मुचितसुखभोगेच्छाः
 सन्तीति शेषः । किंतु वयं तेषु भोगेन्वल्पास्था अल्पविघ्नाश्च ।
 तेषां तु मोहकामादिदोषप्रावल्यादिवेकाभावाच्च बह्वी आस्था ।
 अचलसंनिभाः महान्तो बहवश्च विघ्नाः ॥ ४ ॥ भोगेषु
 बद्धास्था इति कुतो ज्ञायते इति चेत्प्रयत्नाधिक्यलिङ्गादित्याशये-
 नाह—यथेति । विराट् ब्रह्माण्डशरीरो जीवो यथा स्वाधिकार-
 निर्वाहचेष्टाभिः स्वभोगाय प्रयतते तथा बालानां केशानां
 खिलैरग्रभागैः संमितदेहाः कृमिकीटमशकमत्कुणादयोपि तथैव
 बालमुष्टिच्छिद्रापेक्षया अल्पकायेऽपि खे स्वावकाशे प्रयतन्ते
 ॥ ५ ॥ खगाः प्रागुक्ता आकाशपक्षिणः । स्वास्थ्यं स्थैर्यम् । प्रय-
 त्तविच्छित्तिरिति यावत् ॥ ६ ॥ पिपीलिकादीनां कणावर्जनप्रय-
 त्तबाहुल्यदर्शनादपि तेषां भोगास्थानाहुल्यमनुमीयत इत्या-

यो० ना० १६३

गमने व्यग्रता तस्य गरुडस्येव लक्ष्यते ॥ ८
 अयं सोहमिदं तन्म इत्याकल्पितकल्पनम् ।
 जगद्यथा नृणां स्फारं तथैवोच्चैर्गुणैः कृमेः ॥ ९
 देशकालक्रियाद्रव्यव्यग्रया जर्जरीकृतम् ।
 क्षीयते व्रणकीटानामस्माकमिव जीवितम् ॥ १०
 पादपाः किंचिदुन्निद्रा घननिद्राः खलूपलाः ।
 कृमिकीटादयः कार्ये नरवत्स्वप्नबोधिनः ॥ ११
 शरीरनाश एवैषां सुखं संप्रति दुःखकृत् ।
 अस्माकमिव तेषां तज्जीवितं तु सुखायते ॥ १२
 जनो द्वीपान्तरं यादग्निक्रीतः परिपश्यति ।
 पदार्थजालं पश्यन्ति तादृक्पशुमृगादयः ॥ १३
 अस्माकमिव संसारस्तिरश्चां सुखदुःखदः ।
 पदार्थप्रविभागेन केवलं ते विवर्जिताः ॥ १४
 हृदयात्सुखदुःखाभ्यां नासातो रशनागुणैः ।
 पशवः परिकृष्यन्ते विक्रीताः पामरा अपि ॥ १५
 सुप्तानां यादगस्माकं वेदनं स्पष्टसुत्वचाम् ।
 वृक्षगुल्माङ्कुरादीनां तादृगुद्दामवेदनम् ॥ १६

यथैनाह—पिपीलिकाया इति । ग्रासावासपदाभ्यां तत्संपादन-
 प्रयत्ना लक्ष्यन्ते । आत्मबन्धुपदेन च कुटुम्बपोषणप्रयत्नः ।
 अस्मद्विवसकल्पोऽपि दीर्घः कालस्त्रासां कणार्जनादिप्रयत्ने क्षण-
 वच्च पर्याप्तो नालमित्यर्थः ॥ ७ ॥ तिमिनामकः कृम्यणुरणु-
 तमः कृमिरस्ति ॥ ८ ॥ देहे तद्भोग्येषु चाहंममतालक्षणा-
 ध्यासश्च नृणां कृमेश्व समान इत्याह—अयमिति । उच्चैर्गुणै-
 र्गुणातिशयैः स्फारं बाहुतरास्थायोग्यं तथैव कृमेरपि ॥ ९ ॥
 विषयास्थया व्यर्थमायुषः क्षयोऽपि कीटादीनामस्माकं च समान
 इत्याह—देशेति ॥ १० ॥ किंचिदुन्निद्रा ईषज्जागरुकाः ।
 कार्ये स्वस्वोचितविषयभोगे स्वप्नश्च बोधो जागरश्च येषां स्व
 इति स्वप्नबोधिनः ॥ ११ ॥ एषां कृमिकीटस्थावराणां संप्रति
 शरीरकाले सुखं स्थितानामस्माकमिव शरीरनाश एव दुःख-
 कृत् । तज्जीवनं शरीरे प्राणावस्थानम् ॥ १२ ॥ अस्मद्भोग्य-
 गृहप्रासादधनरत्नादिकं ते कथं पश्यन्ति तदाह—जन इति ।
 स्वाभोग्यं पदार्थजालमुदासीनतया संमुग्धदृशा पश्यन्तीत्यर्थः
 ॥ १३ ॥ पदार्थानामुत्कर्षोपकर्षादिबुद्धिहेतुना गुणक्रियोपयोगादि-
 प्रविभागेन ॥ १४ ॥ विक्रीतजनसाम्यं पशूनामुपपादयति—
 हृदयादिति । पशवो हि बलीवर्दादयो नाथहरयो हृदयान्मनसः
 सकाशादन्तः सुखदुःखाभ्यां परिकृष्यन्ते । नासातो नासिका-
 प्रदेशाच्च नाथेन रशनागुणैर्बहिः परिकृष्यन्ते । एवमुभयतः परा-
 धीनतया कृष्यमाणा अपि किंचिदपि स्वदुःखं परिहर्तुं निवेद-
 यितुं वा न शक्नुवन्ति तथा द्वीपान्तरे विक्रीताः पामरा अपीति
 तयोः साम्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥ वृक्षादीनां सुखदुःखानुभवप्रकार-
 मप्यसदनुभवानुकूल्येनोपपादयति—सुप्तानामिति । स्पष्ट-

यादृगस्माकमीत्यर्थक्रमसंसारपातिनाम् ।
 पदार्थवेदनं तादृक्स्तिरश्चां भ्रान्तमभ्रमम् ॥ १७
 आह्लादमात्रे सौम्यत्वं सुखतश्चेन्द्रकीटयोः ।
 समं विकल्पविन्मुक्तं विकल्पस्त्वनतिक्रमः ॥ १८
 रागद्वेषभयाहारमैशुनोत्थं सुखासुखम् ।
 तिरश्चां जन्ममृत्यादिखेदः कश्चिन्न भिद्यते ॥ १९
 ऋते पदार्थभूतार्थभविष्यद्भस्तुवोधतः ।
 शेषं च भवहिमोमायुगजादीनां वृभिः समम् ॥ २०
 निद्रामयानां वृक्षाणां स्वसत्तामचलादयः ।
 स्थिता अनुभवन्तोऽन्ये चिदाकाशमखण्डितम् ॥ २१
 आपीननिद्रा वृक्षाद्याः स्वसत्तास्यास्तथाद्रयः ।
 जङ्गमानि चिदाकाशं नाम किञ्चित्कदाचन ॥ २२
 अखण्डचित्ता शैलादिसत्ता निद्रा च भूखदाम् ।
 द्वैतोपलम्भमुक्तत्वात्त्वमेवैकमतो जगत् ॥ २३
 परिज्ञातं जगद्यावदपरिज्ञानसंयुतम् ।
 न त्वं नाहं न चैवास्तिनास्ती न च भविष्यति ॥ २४
 यथास्थितं सदैवेदं मौनमेव शिलाघनम् ।

सुत्वचां सुकुमारत्वचां सुप्तानां निद्रापरवशचेतसामस्माकं बहुत-
 रशीतोष्णमशकमत्कुणादिभिर्वाध्यमानानामसुखनिद्राया आदृक्
 उद्दामं दुःखवेदनं तादृगित्यर्थः । अङ्कुरग्रहणं सौकुमार्यात्तत्र
 कृमिकीटादिदंशने दुःखातिशययोनितार्थम् ॥ १६ ॥ तिरश्चां
 पदार्थप्रविभागेन विवर्जितं वेदनं यदुक्तं तदप्युपपादनेनानुभव-
 गारोहयति—यादृगिति । इतिर्वैश्वक्षोभपलायनेन धावनादि-
 गतिस्त्रयं कुशकण्टकतप्तबालकाक्रमणभारोद्धवनादिकमससारे
 पतनशीलानामस्माकं यादृशं सर्वतो भयाशङ्कि पदार्थवेदनं तादृक्
 पक्षिस्पर्पादितिरश्चामपि सदैवत्यर्थः ॥ १७ ॥ विकल्पविद्विर्विक्षे-
 पाजुसर्वमुक्तं चेत् आह्लादमात्रे सामान्यभूते स्वरूपानन्दे सु-
 खतः आहारनिद्रामैशुनादिसुखेषु च इन्द्रस्य कीटस्य च सौ-
 म्यत्वं मनःप्रसादलक्षणं समम् । विकल्पो विक्षेप एव तु द्वयो-
 रप्यनतिक्रमो दुरतिक्रम इत्यर्थः ॥ १८ ॥ तिरश्चां इन्द्रस्य
 चेति शेषः । न भिद्यते न विविष्यते ॥ १९ ॥ पदार्थाः
 शास्त्रगम्याः पुण्यपापत्रयात्त्वादयः । भूतार्था अतीतपदार्थाः
 भविष्यद्भस्तुनि भाविष्यद्विफलादिपदार्थाः एतेषां बोधतः ऋते
 एतद्बोधान्विहाय शेषं ज्ञानं बभ्रुर्नकुलः अहिः सर्पः गोमायुः
 शृगालः गजादिश्च ये पञ्चवस्तेषां सर्वेषां वृभिः समं तुल्यमि-
 त्यर्थः ॥ २० ॥ पर्वतादयस्तर्हि कथमनुभवन्ति तत्राह—नि-
 द्रेति । निद्राप्रजुराणां सुषुप्तिस्थानां वृक्षाणां या गाढमूढतया
 स्वसत्ता तां अचलाः पाषाणादयोऽनुभवन्तः स्थिताः, अन्ये हिम-
 वन्मेर्वादयस्तत्पर्वतास्त्वखण्डितं चिदाकाशमनुभवन्तः सदा
 समधौ स्थिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥ इत्थं च न वृक्षादिजीव-
 दृशा जगत्कल्पनाः । तेषामपीननिद्रात् । नाप्यद्यादिजीव-

अनाद्यन्तमविच्छिद्रमनिद्रं च सनिद्रकम् ॥ २५
 पूर्वं सर्गाद्यैवासीत्तथैवैकं समस्थितम् ।
 भविष्यत्यधुनानन्तकालमेवं तथैव च ॥ २६
 नैवात्मता न परता न जगत्ता न शून्यता ।
 न मौनता न मौनित्वं किञ्चिन्नेहोपपद्यते ॥ २७
 त्वं यथास्थितमेवास्व यथास्थितमहं स्थितः ।
 सुखासुखे पराकाशे शान्ते नेहास्ति किञ्चन ॥ २८
 परमाकाशतां मुक्त्वा किं स्वप्ननगरे च द ।
 विद्यते किल तच्छान्तं चिद्योमाच्छमनामयम् ॥ २९
 अपरिज्ञातिरेवैका तत्र संभ्रमकारिणी ।
 परिज्ञातमिदं यावद्विद्यते सापि न कश्चित् ॥ ३०
 परिज्ञाते जगत्स्वप्ने यावत्सत्यं न किञ्चन ।
 ग्रहस्तदेनं प्रति किं खेदो चन्द्यासुते तु कः ॥ ३१
 स्वप्नकाले परिज्ञाते जगत्स्वप्नमणावणौ ।
 किमुपादेयता कास्या प्रबोधेऽसौ न किञ्चन ॥ ३२
 यत्र किञ्चित्प्रबोधोऽस्ति नाप्रबोधोऽस्ति तत्कश्चित् ।
 यस्तूपलम्भस्तत्काले पूर्वावस्थैव सा तथा ॥ ३३

जातिदृशा । तेषां स्वसत्तास्थत्वात् । जङ्गमजातिष्वपि न तत्त्वज्ञ-
 दृशा । तेषां चिदाकाशमात्रत्वात्किमु कतिपयाज्ञजङ्गमजातिदृशा ।
 सा च दृष्टिर्न बहुतरदृष्टिविद्धां जगरत्ता साधयितुं क्षमत
 इत्याशयेनाह—आपीनेति । यानि जंगमानि जीवजातानि
 तान्यपि सुषुप्तिमरणमूर्च्छामोक्षायवस्थासु चिदाकाशमेव नाम ।
 तत्र केषांचित्कदाचन स्वप्ने अर्धविकासेन जागरे सर्वविका-
 सेन भासमानं किञ्चिज्जगद्बहुतरदृष्ट्यनुरोधादिदाकाशमेवेति
 युक्तमित्यर्थः ॥ २२ ॥ तत्र या शैलादिसत्ता या च भूखद
 निद्रा सा द्वैतोपलम्भमुक्तत्वात्, त्वमेव । अतस्तद्दृशा जगदेक-
 ज्ञानोपहितचिन्मात्रमेव ॥ २३ ॥ अन्यदृशापि स्वतरवं यावद-
 परिज्ञानसंयुतं तावदेव जगत् । परिज्ञातं तु न त्वं नाहं नाप्य-
 स्तिनास्ती सत्तासत्ते नापि भविष्यतीति कश्चित्कोटौ व्य-
 तिष्ठत इत्यर्थः ॥ २४ ॥ एवमव्यवस्थित्या जगद्भावनिरासे
 ब्रह्मैव परिशिष्टमिति दर्शयति—यथास्थितमिति । अद्भुत
 सनिद्रकं निद्रयेव स्वात्मन्येव जगद्वैचित्र्यं कल्पयदित्यर्थः ॥ २५ ॥
 परमार्थतस्तु सदैवैकरूपमित्याह—पूर्वमिति । अधुना वर्तमा-
 नकाले तथैवास्ति । अनन्तकालमप्येव तथैव भविष्यतीत्य-
 न्वयः ॥ २६ ॥ तस्य च आत्मत्वादयोऽपि विशेषा व्याख्या-
 भावाज्ज सन्ति किं पुनरन्ये इत्याह—नैवेति ॥ २७ ॥
 ॥ २८ ॥ २९ ॥ सा अपरिज्ञातिरपि परिज्ञातमिति हेतोर्न
 विद्यते ॥ ३० ॥ एवं जगत्स्वप्नं प्रति किं किमर्थं ग्रहः अभि-
 निवेशः ॥ ३१ ॥ अणौ अणौ संभाव्यत इति शेषः ॥ ३२ ॥
 प्रबोधकाले असदप्यप्रबोधकाले सदस्तु तत्राह—यदिति ।
 पूर्वावस्था अस्तैव—। सा तथा तदुपलम्भात्मना प्रपते इत्यर्थः

विद्यते वर्तमानत्वं भविष्यद्भूतता तथा ।
 बोधाबोधश्च नो सत्यं वस्तु शान्तं किलाखिलम् ३४
 यथोर्मिणोर्मौ निहते न काचित्पयसां क्षतिः ।
 तथा देहेन निहते देहे नास्ति चित्तेः क्षतिः ॥ ३५
 चितावाकाश एवाहं देह इत्युपजायते ।
 संविदेव ततो देहे नष्टे किं नाम नश्यति ॥ ३६
 प्रबुद्धस्यैव चिद्योमः स्वप्नो जगदिति स्थितम् ।
 पृथ्यादिरहितं यस्मात्तस्मात्स्वप्नात्मकं जगत् ॥ ३७
 सर्गादौ पूर्वचित्स्वप्नाज्जाता पृथ्यादिवस्तुधीः ।
 स्वप्नार्थं सत्यताभ्रान्तिः कल्पनामात्ररूपिणी ॥ ३८
 पूर्वात्पूर्वतरस्यास्य स्वप्नस्यावयवस्थितौ ।
 सत्येवासत्यरूपायां पृथ्यादिकलना कृता ॥ ३९
 सा च भ्रान्तिस्तथा रूढा यथासत्यैव सत्यताम् ।
 परमागता तच्च सत्यमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ४०
 वस्तुतस्तु यथाभूतं चिद्ब्रह्मैवाततं स्थितम् ।
 न च तत्संस्थितं किञ्चित्सर्ताऽसर्ता किमात्मकः ४१
 एवं मात्रापरिज्ञानमेवात्र प्रतिबोधकम् ।
 अत्रैव तु परिज्ञानं कवाटप्रविघाटनम् ॥ ४२
 पारिशेष्यान्न पृथ्यादि किञ्चित्संभवति क्वचित् ।

॥ ३३ ॥ तर्हि कालत्रयमज्ञानं तज्ज्ञानं च किं सत्यं, नेत्याह—
 विद्यत इति ॥ ३४ ॥ तथाच मिथ्याभूतदेहादौ मिथ्याभूतैः
 शत्रुभिर्हतेऽपि न तदुभयाधिष्ठानात्मनः क्षतिरित्याह—
 यथेति ॥ ३५ ॥ आकाशभूतायां चित्तावेव देह इति भ्रान्ति-
 संविदेव उपजायते । तथाच भ्रान्तिसंविद्रूपे देहे नष्टे किं नाम
 नश्यति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ पूर्वपूर्वचित्स्वप्नसंस्कारात् ॥ ३८ ॥
 एवं पूर्वात्पूर्वतरस्यानादिप्रवाहरूपस्य स्वप्नस्यावयवस्थितौ इदा-
 नीतन्यामसत्यरूपायामेव सत्येव कलना मूढैः कृता ॥ ३९ ॥
 तत् परमार्थसत्यं त्वत्यन्तनिर्मलं न जाड्यकलुषमित्यर्थः ॥ ४० ॥
 असत्यरूपायां सत्येव कलना कृतेति इवकारेणोपमित्वा तेन
 भ्रान्तिकलनायां सत्यार्थकलनासादृश्यं दर्शितम् । तच्च सत्सु
 प्राक्सत्यार्थेषु तदनुभवे सांप्रतं च तत्सर्तारि युज्यते नान्यथे-
 त्याशङ्क्याह—वस्तुत इति । तत् सत्यरूपं पृथ्यादि किञ्चित्प्रा-
 गपि न च संस्थितम् । एवं च तदनुभवस्यात्यन्ताप्रसिद्धौ
 सर्ता असर्ता विस्मर्ता वा किमात्मकः ॥ ४१ ॥ तर्ह्यसत्ये
 अत्यन्ताप्रसिद्धसत्यतायाः सादृश्यस्य च किं प्रतिबोधकमिति
 चेत् स्वप्रकाशसत्यस्वरूपाऽपरिज्ञानमेवेत्याह—एवं मात्रेति ।
 यथाधर्मभूतचिद्ब्रह्मात्रगोचरमपरिज्ञानमज्ञानमेव जगति सत्यता-
 प्रतिबोधकम् । अत एव तत्त्वपरिज्ञानमेवाज्ञानावरणकवाटस्य ज-
 गत्सत्यता भ्रान्त्यादिविक्षेपकपाटस्य च प्रविघाटनमपावरणमि-
 त्यर्थः ॥ ४२ ॥ सकार्याज्ञानबाधे चिन्मात्रपारिशेष्यात्तत्परि-
 शिष्टं चिन्मात्रं शिवमेव ॥ ४३ ॥ बाह्याद्विम्बाजिमित्ताद्विम्बं

यो द्रष्टा यच्च वा दृश्यं विमलं शिवमेव तत् ॥ ४३
 मुकुरेऽन्तर्यथा विम्बाद्विम्बं भाति जगत्तथा ।
 चिद्योमनि स्वतो भातमविम्बादेव विम्बितम् ॥ ४४
 मुकुरेऽन्तर्यथा विम्बं न दृष्टमपि किञ्चन ।
 तथा चिद्योमगं विम्बं न दृष्टमपि किञ्चन ॥ ४५
 लभ्यते यद्विचारेण यत्सकारणकं स्थितम् ।
 तत्सच्छेषं तु भामात्रमभूतं सत्कथं भवेत् ॥ ४६
 भवेद्भ्रमात्मकमपि किञ्चिदर्थक्रियाकरम् ।
 स्वप्नाङ्गनापि कुरुते सत्यामर्थक्रियां नृणाम् ॥ ४७
 यत्तद्ज्ञानं तु सा चिद्भा परमं तच्चिदम्बरम् ।
 इति क्वाहं क विश्वश्रीः क त्वं दृश्यदृशश्च काः ॥ ४८
 मृत्वा पुनर्भवन्मस्ति किमङ्ग नष्टं
 मृत्वा न चेद्भवन्मस्ति तथापि शान्तिः ।
 विज्ञानदृष्टिस्तदोऽस्त्यथ चेद्विमोक्ष-
 स्तन्नेह किञ्चिदपि दुःखमुदारबुद्धेः ॥ ४९
 मूर्खस्य यादृशमिदं तु तदज्ञ एव
 जानात्यसौ न हि वयं किल तत्र तज्ज्ञाः ।
 मत्स्यो हि यो मृगनदीसलिले स एव
 जानाति तच्चपलवीचिविवर्तनानि ॥ ५०

प्रतिविम्बम् । अविम्बात् विनैव बाह्यं विम्बमिति मुकुरापे-
 क्षया विशेषः ॥ ४४ ॥ कस्तर्हि मुकुरदृष्टान्ते विवक्षितोऽशस्त-
 माह—मुकुरे इति ॥ ४५ ॥ विचारेण शास्त्रीयविचारेण ।
 सकारणक सप्रमाणकं तदेव सत् परमार्थसत्यम् । शेषमितरस्तु
 भामात्रं प्रतिभामात्रं कालत्रयेऽप्यभूतम् ॥ ४६ ॥ असचेत्कथं
 व्यवहारार्थक्रियाक्षमं जगत्तत्राह—भवेदिति । सत्यां स्वाधि-
 कसत्तायां चरमधातुविसर्जनलक्षणामर्थक्रियाम् ॥ ४७ ॥ अह-
 मादिविश्वश्रीर्हि मासमाना सिद्धा नान्यथा । तत्र यत्तद्ज्ञानं
 सा चिद्भा आत्मस्वरूपचित्प्रकाश एव नान्या । तद्ज्ञानव्या-
 वर्तकं दृश्यरूपं तु भानात् पृथक्कारे शून्यत्वान्ज्ञानात्मकत्वे तद्या-
 वर्तकत्वायोगाच्चिदम्बरमेव । इति विमर्शेन किञ्चिज्जगद्रूपं प्रसि-
 ध्यतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ हे अङ्ग, उदारबुद्धेस्त्वव दर्शितप्रकारा या
 विज्ञानदृष्टिस्तद्विशतश्चिन्मात्रभूतस्य देहापगमेन मृत्वा पुनर्देहा-
 न्तरोत्पत्त्या भवन् चेदस्ति । मोक्षो नास्तीति यावत् । तथापि
 किं नष्टं का क्षतिः । निर्दुःखनिरतिशयानन्दचिदात्मनो नाशो-
 त्पत्तिभ्यामस्पर्शात् । अथ चेन्मृत्वा पुनर्भवनं नास्ति । विमो-
 क्षोऽस्ति चेदिति यावत् । तथापि सर्वप्रपञ्चशान्तिरेव ।
 तत्तस्मादिह दुःखं किञ्चिदपि पक्षद्वयेऽपि न प्रसज्यत इत्यर्थः
 ॥ ४९ ॥ मूर्खस्य तर्हि कथं मरणजन्मनोर्दुःखप्रसक्तिरिति
 चेत्तां स एव जानातीत्याह—मूर्खस्येति । यो मृगनदीसलिले
 मत्स्योऽहमिति मत्स्यभावमनुभवति स एव तस्याध्वपलवीचिवि-
 वर्तनानि जानाति न तु मृगनदीभ्रान्तिशून्यः कश्चिदित्यर्थः

अन्तर्वहिस्रमहमित्यपि चैवमादि
सर्वात्मकं तपति चिन्म एकमेव ।

इत्यपि श्रीवासिष्ठमहाराजायमे वा० दे० मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उ० परमार्थनिरूपणं नाम नवनवतितमः सर्गः ॥ १९ ॥

शततमः सर्गः १००

श्रीराम उवाच ।

युक्तिः स्यात्कीदृशी ब्रह्मन्संसारे दुःखशान्तये ।

तेषां येषामयं पक्षः श्रूयतामुच्यतां ततः ॥ १

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्युरगोचरः ।

भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः ॥ २

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम् ।

तत्तथैवानुभवति प्रत्यक्षमिति सर्वगम् ॥ ३

यथा खं सर्वगं शान्तं तथा चिद्योम सर्वगम् ।

तदेवैक्यमथ द्वैतमन्यार्थस्यात्यसंभवात् ॥ ४

सर्गादौ तद्वत्तेऽन्योऽर्थो महाप्रलयरूपिणि ।

अकारणत्वाभास्त्येव ब्रह्मैवेदमतस्ततम् ॥ ५

समस्तवेदशास्त्रार्थे ये महाप्रलयादि च ।

नेच्छन्ति ते महामूढा निःशास्त्रा नो मृता इव ॥ ६

सर्वशास्त्राविरुद्धेन सर्वं ब्रह्मेदमित्यलम् ।

स्थितं सानुभवं योक्तुं येषां तैर्न कथाक्रमः ॥ ७

नित्या निरन्तरोदेति यादृशी संविदाशये ।

भूयते तन्मयेनैव पुंसां देहोऽस्तु मायवा ॥ ८

बोधाच्चेत्संविदो जातः स दुःखी पुरुषो भवेत् ।

विरुद्धं वेदनं यावत्तावज्जीवोऽङ्ग तन्मयः ॥ ९

जगच्चिद्योमकचनमात्रमेवेति भाविते ।

तत्कथं वेदनं व्योम्ना बोधः कस्य कुतो भवेत् ॥ १०

॥ ५० ॥ तत्त्वविदृष्ट्या त्वन्तर्वहिस्र तच्चिन्मः त्वं अहमपि
चैवमादि जगच्चेति सर्वात्मकं भूत्वा एकमेव तपति स्फुरति । यथा
बोधखमात्रसार आत्मैव शास्त्रा तच्छिन्ना तद्विदपास्तपत्रफलानि
चेत्साधेकदेहः संकल्पवृक्षः सन् मनोराज्ये स्फुरति तद्वदित्यर्थः

॥ ५१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थनिरूपणं नाम नवनवतितमः सर्गः ॥ १९ ॥

देहात्मवाद्यादिमते निविष्टानां मतेरपि ।

यथा तत्त्वेऽवतारः स्यात्तथा युक्तिरिहोच्यते ॥ १ ॥

प्राक्सर्गवाद्युक्तिसत्यतावर्णनक्रमे 'समावसिद्धमेवेदं युक्त-
मित्येव तद्विदाम्' इति यथावार्ताकोत्तीनां युक्तत्वं वर्णितं तत्तेषां
देहात्मवादविषये सर्वास्तिकपक्षप्रतिपक्षभूते कथं युक्तम्,
तेषां कथं वा पुत्रवार्थसिद्धिः स्यादित्येतज्जिज्ञासमानो रामः
पृच्छति—युक्तिरिति । अयं वक्ष्यमाणो मत्प्रश्नो मनो वत्त्वा
श्रूयतां तत् उत्तरमुच्यताम् ॥ १ ॥ अगोचरः अप्रत्यक्षः ।
न तावज्जीवतः स्वस्य मृत्युः प्रत्यक्षः । परेषां मृत्युदर्शनादि
स्वस्यापि मृत्युस्तद्वदनुमीयते । न चानुमानं चार्वाकाणां प्रमा-
णम् । प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणानभ्युपगमादिति भावः । अस्तु
वा देहनाश एव मृत्युस्तथापि पुनर्जन्मानभ्युपगमात्स एव
सर्वदेहः खनिवृत्तिलक्षणो मोक्ष एवेति स्पृहणीय एव तेषामित्या-
शयेनाह—भस्मीभूतस्येति । शान्तस्य सर्वदुःखोपशमं प्राप्तस्य ।
अयं येषां पक्षस्तेषामिति पूर्वत्रान्वयः ॥ २ ॥ संविदा खनि-
श्चयानुसारिविवर्तानुभवनिगम एव देहात्मभावेऽप्युपपत्तिस्त-
न्मोक्षेऽपीत्याशयेन वसिष्ठस्तं समर्थयितुमुपक्रमते—यं यमिति ।
इति इदं सर्वगं सर्वजनीनं प्रत्यक्षं खानुभवसिद्धम् ॥ ३ ॥
तत्तद्वादिपामरजनकल्पितदेहादिद्वैतं वेदान्तविद्वदनुभवादिसिद्ध-
मैक्यं च तच्चिद्योमैव । सद्यतिरिक्तस्यात्यन्तमसंभवादित्यर्थः

॥ ४ ॥ अन्यस्यासंभवे 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिशु-
खनुग्रहीतां युक्तिमाह—सर्गादाविति । सर्गस्य आदौ पूर्वव-
स्थायामद्वितीयब्रह्मरूपे महाप्रलये । तर्हि ब्रह्मणः कारणं
ततोऽन्यत्पूर्वमस्तु तत्राह—अकारणत्वादिति ॥ ५ ॥ ननु
ब्रह्मरूपो महाप्रलय एव नाभ्युपगम्यते बीजाङ्कुरादिपरंपरानादि-
त्वेन पृथिव्यादिभूतानां प्रवाहानादित्वात् कदाचिदनीदृशं जग-
दिति कर्मजज्ञाना पूर्वमीमांसकादीनां पक्षं दूषयति—सम-
स्तेति । 'सर्वे वेदा यपदमामनन्ति' 'तमेतं वेदानुवचनेन शा-
स्त्राणां विविदिषन्ति' इत्यादिश्रुतेः समस्तवेदशास्त्रार्थ आदिपदा-
जीवानां ब्रह्मप्राप्तिलक्षणं मोक्षं तत्साधनानि च ये नेच्छन्ति ते
मोक्षशास्त्रवैयर्थ्ये नुस्यन्यायेन कर्मशास्त्रस्याप्यप्राभाष्याभा-
वाच्चिःशास्त्रा नोऽस्माकं तत्त्वविदां हवा मृता इव । न तत्त्वो-
पदेशकथायोग्या इत्यर्थः ॥ ६ ॥ येषां योक्तुं देहेन्द्रियादीनां
सर्वव्यवहारेषु निश्चोक्तुं प्रत्यगात्मचैतन्यं मनो वा सर्वशास्त्रा-
रुद्धेन सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति दर्शनेन सानुभवमलं पर्याप्तं पूर्ण-
कर्म स्थितम् । कृतकलैसैः सहापि नोपदेशकथाक्रम इति
जिज्ञासून्प्रत्येवोपदेशकथाप्रस्ताव इत्यर्थः ॥ ७ ॥ प्रासङ्गिकं
समाप्य प्रस्तुतमनुसंधत्ते—नित्येति । तथाच चार्वाकमिमं
देहात्मभावेऽपि तादृशदृढनिश्चयात्मकसंविदुदय एवान्वयव्यति-
रेकभ्यां हेतुर्न देहो व्यभिचारदिति भावः ॥ ८ ॥ अत एवा-
नन्दैकरसस्याप्यात्मनो विरुद्धदुःखित्ववेदनदार्ढ्येन दुःखमयत्वं
सर्वानुभवसिद्धेत्याह—बोधादिति । अत्रेति संबोधने ॥ ९ ॥
एवं दुःखमयस्यापि जगतो निरतिषायानन्दचिद्योमकचनमा-
त्रमेवेति भावनाद्वास्तवतद्भावदर्शने आन्तिकल्पितदुःखरूपता
तद्ब्रह्मप्राहकादयश्च शाम्यन्तीति देहात्मवादिनामपि तन्मा-
धने निस्तारसिद्धिरित्याशयेनाह—जगदिति । तद्व प्राक्स-

न कानिचित्प्रधावन्ति एकनिश्चयसंविदाम् ।
 पुंसां सुखानि दुःखानि रजांसि नमसामिव ॥ ११
 संवित्सत्यास्त्वसत्या वा निश्चयस्तावदीदृशः ।
 आयालमेतत्संसिद्धं केनापद्ध्यते कथम् ॥ १२
 न देहः पुरुषो वापि जीवोऽन्य उपलभ्यते ।
 संवित्सर्वमिदं सा तु यथा वेत्ति तथा जगत् ॥ १३
 सा सत्याप्यथवासत्या तथा देहोऽनुभूयते ।
 स्वातन्त्र्येण यथा स्वप्ने पाताले खे जले दिवि ॥ १४
 संवित्सत्यास्त्वसत्या वा तावन्मात्रः स्मृतः पुमान् ।
 स यथानिश्चयो नूनं तत्सत्यमिति निश्चयः ॥ १५
 प्रामाण्यं सर्वशास्त्राणामेतेनैव प्रसिद्ध्यति ।
 सर्वसिद्धान्तसिद्धान्त एष एवेति मे मतिः ॥ १६
 तस्मादबोधता यास्ते यथा संवित्तथैव सा ।
 भवत्यकलुषाकारा तथैव फलभाणिनी ॥ १७
 देशकालक्रियाद्रव्यवेदशालैषणाभ्रमैः ।
 अबोधता तु या संवित्कदाचित्सा न नश्यति ॥ १८

सिद्धं दुःखादिवेदनं कथं न्योम्रा कूटस्थाद्वयचिदाकाशेन दुःखा-
 देवोषः कस्य भवेत् कुतो वा निमित्तादित्यर्थः ॥ १० ॥ उक्तेऽर्थे
 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति श्रुतिमर्थत
 उदाहरति—न कानिचिदिति । प्रधावन्ति प्राप्नुवन्ति ।
 लिम्पन्तीति यावत् ॥ ११ ॥ स्वस्वदृढनिश्चयानुसार्यर्थानुभवे
 संविदः प्रामाण्यं चित्तवृत्तेः सत्यत्वं वा नोपयुज्यते देहात्मभा-
 वाद्यनुभवे आद्याभावाद्ब्रह्मसाक्षात्कारवृत्तौ द्वितीयाभावादित्या-
 शयेनाह—संविदिति । संवेदनं संवित् सत्या प्रमा, संवेद्यते
 यथा सा संवित् सत्या अबाधिता वेत्युभयनियमाभावोक्तिः ।
 ईदृश एतादृशसदसदर्थानुभवहेतुर्भवत्येवेत्यर्थः । कथमपद्ध्यते ।
 न ह्यनुभवविरुद्धमवलम्ब्यानुभवोऽपहोतुं शक्य इत्यर्थः ॥ १२ ॥
 अत एव सर्ववाद्यभिप्रेततत्तद्वैकल्पनासमर्था संविदेवात्मेति सर्वे
 वादिनो बोधयित्वा कृतार्थकर्तुं शक्या इत्याशयेनाह—न
 देह इति । देहश्चार्वाकभिमतः पुरुषः सांख्याभिमतो जीवो
 मीमांसकाभिमतो वापि भोक्ता अन्यः संवित्पृथक्कृतो नोप-
 लभ्यते । अतः सर्वमिदं वादिनां कल्पनापदं देहादिसंविदेव
 ॥ १३ ॥ स्वातन्त्र्येण स्वकल्पनामात्रेण न पृथिव्यादिकारण-
 सापेक्षतयेत्यर्थः ॥ १४ ॥ पुमान् आत्मा । तत् सत्यं तदर्थ-
 क्रियासमर्थम् ॥ १५ ॥ संविद एव सर्ववाद्यभिमततात्मादि-
 भावेनावस्थाने तस्याः परमार्थसत्यत्वात्तत्कल्पितार्थानां तत्तद-
 भिमतार्थक्रियासमर्थत्वाच्च सर्वशास्त्रप्रामाण्यं प्रागुक्तं प्रतिष्ठित-
 मित्याह—प्रामाण्यमिति । तथा चार्यं संविदद्वैतात्मवादसि-
 द्धान्तः सर्ववादिनामुपजीव्यत्वात्पुरुषार्थहेतुत्वाच्च सर्वसिद्धान्त-
 शिरोमणिः सिद्धान्त इत्याह—सर्वेति ॥ १६ ॥ तर्हि किं
 संविदेव तत्तद्वाद्यभिमतदेहाद्याकारेण तत्तन्निश्चयानुरोधेन परि-
 णमते नेत्याह—तस्मादिति । या संविदि अबोधता अविद्या
 यास्ते सैव यथा तत्तद्वादिनां संवित्तथैव परिणामेन प्रवृत्त्यादि-

आविर्भवति सा भूयः क्षीणाशङ्का क्षणेन चेत् ।
 तत्केन संविदो दुःखं कदा नामोपशाम्यति ॥ १९
 संविदेव नृणां जीवः स यथा दृढभावनः ।
 तथा सुखी वा दुःखी वा भवेदित्येष निश्चयः ॥ २०
 संविच्चेदस्ति तज्ज्ञानां शरणं भवभेदने ।
 नास्ति चेत्तच्छिलामूकमान्ध्यमेवावशिष्यते ॥ २१
 यत्तथैव च संवित्या वेदनेनैव लभ्यते ।
 अयं स्वभावज्ञस्यान्तर्जाड्यं पुंसेव निद्रया ॥ २२

श्रीराम उवाच ।

दिक्ष्वधस्ताच्च नान्तोऽस्या भावी नापि जगत्क्षयः ।
 अस्तीति भावितं येन संत्यक्ताऽभावबुद्धिना ॥ २३
 विज्ञानघनमेवेदमिति नूनमपश्यता ।
 पश्यता च यथादृष्टं सर्वक्षयमपश्यता ॥ २४
 तस्य स्यात्कीदृशी ब्रह्मन्युक्तिराधिविनाशने ।
 इति मे संशयं छिन्धि भूयो बोधाभिवृद्धये ॥ २५

काले भवति । सैव तत्त्वबोधात्मना परिणामे अकलुषशुद्धचिदा-
 कारा तथैव मोक्षफलभाणिनीत्यर्थः ॥ १७ ॥ अत एव पुण्य-
 देशकालादौ ज्ञानदानादिक्रियाभिः रसायनमन्त्रौषधादिद्रव्यैः कर्म-
 शास्त्रशोधितैः स्वर्गपशुपुत्राद्येषणाभ्रमैश्च सा अबोधता तत्प्र-
 युक्ता या विक्षेपसंवित्सा च कदाचिदपि न विनश्यति ॥ १८ ॥
 बोधे बाधिताया अविद्यायाः पुनराविर्भावस्तु न शङ्क्यो बीजा-
 भावादनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्चेत्याह—आविर्भवतीति । आत्यन्तिक-
 बाधेन क्षीणा पुनः प्रसक्त्याशङ्कापि । सा अविद्या भूयः
 क्षणादाविर्भवति चेत्तत्तर्हि संविदो जीवस्य दुःखं कदा केन
 वा नामोपशाम्यति—न कदाचिच्च केनचिदपीत्यर्थः ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ प्रत्यगात्मरूपसंविदेव तत्त्वतो ज्ञाता स्वकार्यं बन्धं हर-
 तीति सैव मुमुक्षुणां शरणम्, तदभावे तु जगदान्ध्यमेव स्यादूरे
 मोक्षं प्रत्याशेत्याह—संविदिति । अवशिष्यते परिशेषात्प्र-
 सज्जते ॥ २१ ॥ कुत आन्ध्यमेवावशिष्यते तत्राह—यदिति ।
 यद्यस्माद्धेतोः स्वभावज्ञस्या स्वप्रकाशया तथैव प्रत्यगात्मसं-
 वित्या पुंसा निद्रया स्वजाड्यमिव आन्ध्यकल्पेन अवेदनेनैवायं
 प्रपन्नो लभ्यते तत्र संवित्यपलापे असाक्षिकस्यान्ध्यस्यैव परि-
 शेषादित्यर्थः ॥ २२ ॥ न कदाचिदनीदृशं जगदित्यभ्युपगम्य
 ये महाप्रलयादि नेच्छन्ति ते निःशास्त्रा मृता इवेति चे त्वया
 निन्दितास्तन्मतानुसारिदृढनिश्चयवतां तत्त्वज्ञानावतारादौ युक्ति-
 रस्ति न वेति संदिहानो रामः पृच्छति—दिक्ष्विति ।
 अस्याः संसृतेः प्राच्याधूर्वान्तनवदिक्षु अधस्तादघोदिशि
 च अन्त एव नास्ति । एवं जगतः क्षयो नाशोऽपि नास्तीति
 येन संत्यक्तप्रागभावाद्यभावत्रयबुद्धिना पुंसा भावितम्
 ॥ २३ ॥ पुनः कीदृशेन तेन पुंसा इदं सर्वं विज्ञानघनमे-
 वेति परमार्थतत्त्वमपश्यतेति पूर्वोक्तान्वयः । यथादृष्टं जगदेव

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

तावदुचितं पूर्वमेव तथोत्तरम् ।
 १ मुत्तरं न्याय्यं वक्ष्यमाणमिदं शृणु ॥ २६
 त्वस्त्वया प्रोक्तो यः पुमान्पुरुषोत्तम ।
 २ इचेतनामात्रं भवतीत्यनुभूयते ॥ २७
 कारविनाशेन युज्यते नान संशयः ।
 ३ रेनाशो देहश्चेत्तदुःखस्यात्र कः क्रमः ॥ २८
 गविभागात्मविनाशस्त्वविचारितः ।
 ४ तस्य भवति किलेति ननु निश्चयः ॥ २९
 स संविदात्मत्वाद्भूयो नो वेत्ति संसृतिम् ।
 ५ ता न या संविद्य सा तिष्ठत्यसंसृतिः ॥ ३०
 नास्ति संवित्तिरिति निश्चयवान्यदि ।
 ६ इदमेव नतो भवत्येव दृषज्जडः ॥ ३१

ते पश्यता ॥ २४ ॥ २५ ॥ पूर्व प्रागुक्तं निःशास्त्रा
 । इव तैर्न कथाक्रम इत्येवोत्तरम् । अथवा पूर्वपूर्ववादिनं
 कृत्वा 'यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम्' इत्याद्यु-
 त्तोक्तम् । तथाच चैतन्याननुविद्धतादृशनिश्चयाप्रसिद्धेः
 मन्दचैतन्यं व्युत्पाद्य पूर्वनिश्चयस्य तद्विवर्तताव्युत्पादनेन
 कैकरस्यानुभवे अवतारयितुं शक्य इति भावः ॥ २६ ॥
 १ तम, ईदृग्भावस्तदुक्तनिश्चयवान् यः पुमास्त्वया प्रोक्तः
 देहातिरिक्तेतनात्मदर्शी उत नित्यातिवाहिकदेहात्म-
 तस्थूलदेहात्मदर्शी उत शुद्धसंविदात्मदर्शी उताज्ञाना-
 दात्मदर्शी उत सविदपलापी । तत्राद्यकल्पे तावदाह—
 इदिति । स यदि चेतनाः रूपादिसंविदो भीयन्ते यत्र
 मात्रं विदाभासरूपं भवतीत्यभ्युपगच्छति तर्ह्यनुभूयत
 मातेनात्मतत्त्वमित्यर्थः ॥ २७ ॥ तत्कृतस्तत्राह—स
 ह्यर्थेऽयं चः पठितः । अस्मात्स देहाद्याभरोपाधिनाशेन
 ना सह युज्यते एकीभवति । द्वितीये त्वाह—अथेति ।
 न्यग्रमये देहे आत्मताबुद्धौ सर्वतो विनाशास्तद्व्या-
 । अविनाशिन्यात्मतानिश्चये तु न देहाकारत्वदर्शन-
 ३ चेन तु सप्रसक्तिरिति क्रमात्सोऽपि बोध्यमानस्तत्त्वं
 यत इति भावः । तत् तर्हि । क्रमः प्रसङ्गः ॥ २८ ॥
 कल्पे तावदाह—अथेदिति । भागविभागोऽवयवभेद-
 तः स्थूलात्मा तस्यात्मत्वदर्शिना तद्विनाशः सन्नपि न
 तः । अवश्यं च सावयवस्य विनाशो भवति । किलेति
 वने । तस्यापि तदतिरिक्तात्मनिश्चयः सिद्ध्यतीत्यर्थः
 ॥ चतुर्थकल्पेऽप्याह—मृत इति । स शुद्धसंविदात्म-
 जीवन्मुक्तः सर्वदा सर्वत्र लीलया जगत्पश्यन्नपि मृतो
 ामात्रेण कैवल्यं प्राप्तः सन्भूयः संसृतिं नो वेत्ति । न
 त्यर्थः । पञ्चमकल्पेऽप्याह—ज्ञानेति । या संविद तत्त्व-
 न थोता सा संसृतिबीजभावाविनाशादसंसृतिर्न तिष्ठति ।
 संसरत्येवेत्यर्थः । तथा च तस्या अपि कचिज्जन्मनि ज्ञानो-

यथावेदनमर्थेषु चित्त्वे देहक्षयात्क्षते ।
 मृतिरेव परं श्रेयो दृष्टं नानुभवमिति ॥ ३२
 असंभवाच्छुद्धविदो निःशरीरा भवन्ति ये ।
 जडभावा जडीभूय दुर्भेदान्ध्या भवन्ति ते ॥ ३३
 ये चापि स्वप्नपुरवत्सर्वं पश्यन्ति चिन्मयाः ।
 तेषामिदमिवाशेषं जगज्जालं प्रवर्तते ॥ ३४
 स्थैर्यास्थैर्येण भूतानां किमपूर्वमतौ भवेत् ।
 भूतस्थैर्यं तथास्थैर्यं सुखं चैवासुखं समम् ॥ ३५
 स्थिरमस्त्वस्थिरं चापि मद्यादिमहतामपि ।
 चिज्ज्ञानात्रमिदं भाति यावदज्ञानमाततम् ॥ ३६
 संविदा संविदोऽसत्तामिहाव्याप्य विनष्टया ।
 निर्णोयाद्गीकृतं यैर्वा जाड्यं तद्दालकैरलम् ॥ ३७
 येषां विद्वान् शरीराणि ते वन्द्याः पुरुषोत्तमाः ।
 शरीरेभ्यो विदो येषां तैरलं पुरुषाधमैः ॥ ३८

दयाजिस्तार इति भावः ॥ ३० ॥ षष्ठकल्पेऽप्याह—अथवेति ।
 दृषदिव जडो विशेषज्ञानशून्यो भवत्येव निरमित्यर्थः ॥ ३१ ॥
 तेन तत्र किं कथं वा श्रेयो दृष्टं तत्राह—यथावेदनमिति ।
 आमरणं दृढीकृततादृग्देवानुसारेणैव देहपातादनन्तरं चित्त्वे
 विशेषविज्ञाने क्षते नष्टे सति गाढसुषुप्तिकल्पा सा मृतिरेव
 नैवायिकमोक्षकल्पा निर्दुःखतात्परं श्रेय इति तेन दृष्टं न तु
 निरतिशयानन्दानुभवाच्छ्रेयस्तेन मूर्खेण दृष्टमित्यर्थः ॥ ३२ ॥ ये
 तु शून्यवादिनो नैरात्म्यदृढनिश्चयास्तेषां भूतानां का गतिस्ता-
 माह—असंभवादिति । निःशरीरा मृताः । तथाच श्रुतिः
 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा धृताः । तांते प्रेत्या-
 भिमगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः' इति ॥ ३३ ॥ येऽपि
 विज्ञानवादिनः क्षणिकविज्ञानमयं स्वप्नतुल्यं जगदिति पश्यन्ति
 तेषामपि व्यवहारसिद्धितुल्येत्याह—ये चापीति । चिन्मयाः
 क्षणिकविकारिचिदात्मभूताः ॥ ३४ ॥ ये जगतः स्थैर्यवादिनो
 ये च क्षणिकत्ववादिनस्तेषामुभयेषामपि सुखदुःखभोगान्तव्य-
 वहारसिद्धिः समेत्याह—स्थैर्येति । अपूर्वमतौ जगद्व्यवहारै-
 चिन्म्यबुद्धौ किमन्तरं भवेत् । असुखं दुःखम् ॥ ३५ ॥ तस्य
 विदां तु मूल्यादिभूतानां क्षणिकत्वाक्षणिकत्वयोर्नाशः । अथ-
 स्तस्याधिष्ठानब्रह्मात्रसत्त्वकत्वेन शुक्तिरजतमूल्यविचारता-
 द्विचारस्य व्यर्थत्वादित्याशयेनाह—स्थिरमिति । मद्यादीनां
 महतां भूतानामपि ॥ ३६ ॥ संविदस्तु न क्षणिकत्वं तथा
 स्वासत्तालक्षणस्य स्वनाशस्य जाड्यस्य च व्याप्तुमशक्यतया
 संविद्याप्तिमन्तरेण तदुभयसिद्ध्ययोगाच्च तदुक्तिसमवाभावादित्य-
 त्याह—संविदेति । सविदः कालतोऽसत्ता क्षणिकत्वं देशतः
 असत्ता तु जाड्यं द्विविधमपि तां अव्याप्य अस्पृष्टा विनष्टा
 क्षणिकत्वाभिमतसंविदा जाड्यम् । क्षणिकदस्याप्युपलक्षणमे-
 सत् । निर्णोयाद्गीकृतं तैस्तथाविधैर्बालकैर्मूर्खैरलं संभाषणेने-
 त्यर्थः ॥ ३७ ॥ अत एव हि कूटस्थचित्तो विवर्तभावेन सत्ता-
 तदेहान्तजडप्रपञ्चोत्पत्तिवादिनो धन्याः । वाचारम्भणव्यायेन

चिद्रूपो जीवबीजौघ आकाशकृमिजालवत् ।
 ऊर्ध्वं तिर्यग्धो याति पूर्यमाण इव स्वयम् ॥ ३९
 चेत्यते येन कर्तान्यो बीजौघेन स तत्परः ।
 तथैवानुभवत्यन्तः स्वयमेव विचलति ॥ ४०
 यद्यथा चेत्यते येन तज्जीवेनाशु तेन तत् ।
 चिद्रूपेणाप्यते सिद्धमेतदाबालमक्षतम् ॥ ४१
 यथा धूमस्य नभसि यथाम्भोघौ महाम्भसः ।
 आवर्तवृत्तयश्चित्रास्तथा चिद्बोधि संसृतेः ॥ ४२
 पुरी भवति चिद्बोम यथा स्वप्ने नरं प्रति ।
 तथादिसर्गात्प्रभृति तदेवेदं जगत्स्थितम् ॥ ४३
 सहकारिनिमित्तानि यथा स्वप्ने न सन्ति वै ।
 पृथिव्यादीनि भूतानि तथैवादौ जगत्स्थितेः ॥ ४४
 अज्ञानां स्वप्ननगरे वसुधा विविधाः कृताः ।
 यास्ता एव जगत्स्वप्ननगरे पुष्टतां गताः ॥ ४५

चिन्मात्राकाशमेवेमाः प्रजा द्वैतैक्यवर्जिताः ।
 के वात्र रक्षनान्या खे यद्वाभाति स्वमेव तत् ॥ ४६
 चिच्चन्द्रिका चतुर्दिकं शीतलाह्लादकारिणी ।
 तनोति चेतनालोकं तस्येदं कचनं जगत् ॥ ४७
 अद्यैवाद्यन्तयोर्व्योम्नि चिन्मये सर्गदर्शनम् ।
 चिदुन्मेषनिमेषाभ्यां स्वात्मोदेत्यस्तमेति च ॥ ४८
 यद्यथा वेत्ति यत्तत्सत्तथैवानुभवत्यलम् ।
 यस्मात्समस्तं चिन्मात्रं किमिवात्र न विद्यते ॥ ४९
 शरदाकाशविशदं संविदः सौम्यमानसाः ।
 असन्त एव तिष्ठन्ति सन्तोऽधिगततत्पदाः ॥ ५०
 निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः
 प्रवाहसंप्राप्तनिजार्थभाजः ।
 तिष्ठन्ति कार्यव्यवहारदृष्टौ
 निरामया यन्त्रमया इवैते ॥ ५१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे धार्वमीकीये दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे नास्तिक्यनिराकरणं नाम शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

एकाधिकशततमः सर्गः १०१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चिन्मात्रमेव पुरुषस्तदेवेत्थमवस्थितम् ।

विकारानृतत्वदर्शने चित्परिशेषलाभात् । अचितो देहादेश्चिदु-
 त्पत्तिवादिनश्चार्वाककणभक्षादयो मूर्खाः चिद्विनाशेन जडपरिशे-
 षस्यापुरुषार्थत्वात्साधकाभावाच्चेत्याशयेनाह—येषामिति । विज्ञ-
 इति बहुत्वमविवक्षितम् ॥ ३८ ॥ जीवसमष्टिरूपहिरण्यगर्भे
 चिदाभासबहुत्वाद्वा बहुवचननिर्देशः । तथा च समष्ट्यात्मा
 हिरण्यगर्भे एक एव नानाजीवात्मना ऊर्ध्वाधोलोकगमनादिना
 संसरतीति कल्पनापि साध्वीत्याह—चिद्रूप इति । आकाशकृ-
 मयो मक्षकादयस्तज्जालवत् । यथा मणिकमलिकादौ पूर्यमाणो
 जलौघस्तिर्यग्धूर्ध्वमधो याति तद्वत् ॥ ३९ ॥ सा नानाकर्तृजीव-
 समष्टितापि हिरण्यगर्भचितः स्वकल्पनाभिनिवेशवशादेवे-
 त्याह—चेत्यत इति । बीजौघेनेतीत्यभावे तृतीया । येन हिर-
 ण्यगर्भचिदाभासेन बीजौघभावेन समष्टितां स्वसोपास्यतद्वा-
 सनानुसारात्कल्पादौ अन्यः बहुधा भिन्नो व्यष्टिरूपः कर्ता
 स्वान्तश्चेत्यते स तत्परस्तदासक्तः संस्तथैव नानाकर्तृरूपं स्वान्तः
 स्वयमेवानुभवति तथैव विचलति संसरति चेत्यर्थः ॥ ४० ॥ अनेन
 प्रकारेणापि प्राग्यदस्माभिः प्रतिज्ञातं तदेव सिद्धमित्याह—
 यदिति । आबालं आशुद्धं च । अक्षतमव्याहतसिद्धम् ॥ ४१ ॥
 अत एव हि तज्जीवचितां धासनावैचित्र्यानु रूपतत्तत्संघतिचेत-
 नवैचित्र्यात्संघतिवैचित्र्यमनन्तमित्याह—यथेति ॥ ४२ ॥ त-
 देव चिद्बोमैवेदं जगद्भूला स्थितम् ॥ ४३ ॥ सहकारिकारणानि
 विनैव स्वर्गादौ प्रतिभामात्रेण सिद्धत्वादपि स्वप्नसाम्यमेवे-
 त्याह—सहकारीति । आदौ सर्गादौ ॥ ४४ ॥ अज्ञानां नग-
 रावयवभूतगृहाणां वसुधा उत्तरोत्तरभूमिकाभेदाः । आ अर्ध-

चिन्मात्रव्यतिरेकेण किमन्यदुपपद्यते ॥

१

विकासेन पेलवाः कृतास्ता एव सम्यग्विकासेन घनीभावात्पु-
 ष्टतां गताः ॥ ४५ ॥ यत् उ आभातीति च्छेदः ॥ ४६ ॥
 त्रिविधतापोपशमनाच्छीतला चेतना अर्थप्रधा तलक्षणमालो-
 कम् । तस्य चेतनालोकस्यार्थरूपेण कचनम् ॥ ४७ ॥ आदौ
 सर्गात्प्रागन्ते प्रलये च व्योम्नि सर्गश्चन्यस्वभावे चिन्मये
 व्योम्नि अद्य वर्तमानक्षण एव सर्गदर्शनं प्रसिद्धं, तच्च स्वात्म-
 ब्रह्मैव स्वचितः परिच्छिन्नरूपेणोन्मेषादपरिच्छिन्नरूपेण निमेषाच्च
 स्वयमेव स्वप्रवदुदेत्यस्तमेति चेति निष्कर्ष इत्यर्थः ॥ ४८ ॥
 चिचेत्स्वसत्ताबलेन सत्कृत्य जगत्पश्यति तदा न किंचिदसदिति
 वक्तुं शक्यमित्याह—यदिति । यत्तच्छ्रुतिप्रसिद्धं सद्रस्तु यस्मा-
 देतोः यद्यद्यथा यथा वेत्ति सर्गादौ तदद्यापि तथैवानुभवति ।
 तस्मात्समस्तमपि चिन्मात्रं तत्र किं न विद्यते यदसत्स्यादि-
 त्यर्थः ॥ ४९ ॥ विद्यतिरिक्तरूपेणासन्तः, चिदात्मना तु सन्तः
 ॥ ५० ॥ तेषां तादृशीं स्थितिं लक्षणेनानुभावयति—निर्मा-
 नमोहा इति । यन्त्रमयाः पुरुषप्रतिमा इव । तत्पक्षे जलादि-
 प्रवाहवशात्संप्राप्तनिजचेष्टाद्यर्थभाजः पश्यतामन्येषां कार्यव्यव-
 हारदृष्टौ तिष्ठन्तीति योज्यम् ॥ ५१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामा-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे नास्तिक्यनिराकरणं
 नाम शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

संविदैकात्म्यममलं सदा सर्वत्र पश्यतः ।

अप्राप्तेर्भयहेतूनामभयस्थितिरीर्यते ॥ १ ॥

सर्ववादिनामपि चिन्मात्रमेव तत्त्वमित्यवगमे यथा अभय-
 प्रतिष्ठाप्राप्तिस्तथा वर्णयितुं पीठिकां रचयति—चिन्मात्रमेव

तच्चावदातमाकाशं तन्मये द्रष्टुं दृश्यते ।
 तावन्मात्रं जगदतो हेयोपादेयधीः कुतः ॥ २
 न विद्यते परो लोको बार्हस्पत्यस्य यस्य तु ।
 विदोऽन्यत्तस्य किं सारं रागद्वेषावतः कुतः ॥ ३
 इष्टानिष्टदृशो रागद्वेषदोषाः किमात्मकाः ।
 संविद्योममये स्वप्ने जगदाख्येऽङ्ग कथ्यताम् ॥ ४
 इदं हेयमुपादेयं वेति संवित्त्वमात्मनि ।
 निर्मले निर्मलं भाति केवात्र तदतद्दृशौ ॥ ५
 संविन्नरोऽमरो नागः संवित्स्थावरजंगमम् ।
 भावाभावादयोऽस्याध्वेस्तरङ्गावर्तवृत्तयः ॥ ६
 संविदाकाशमेवाहं भवानपि जना अपि ।
 प्रियामहे नो कदाचित्संवित्किल कदा मृता ॥ ७
 संविदो नास्ति संवेद्यं स्वयं संवेद्यतामिता ।
 चित्त्वादतो विशालाक्ष द्वितैकत्वे क वा स्थिते ॥ ८
 संविन्मात्रादृते तस्माद्भूतं किमिव कथ्यताम् ।
 कथ्यतां प्रियते तच्चेत्तदद्यमे कुतो वयम् ॥ ९
 वादिनः सौगताद्या ये ये लोकायतिकादयः ।
 संविदाकाशमुत्सृज्य येन्यन्ते तदुच्यताम् ॥ १०

स्यादिना । इत्थमनेन नानावादिपरिकल्पितस्यायिक्षणिकादि-
 रूपेण जन्ममरणभयशोकादिरूपेण च ॥ १ ॥ तदेवोपादेय-
 स्तत्फलमाह—तच्चेति । तच्चिन्मात्रं चावदातं निर्मलमाकाश-
 मेव । तन्मये तद्विवर्तमूले ॥ २ ॥ हेयोपादेयामावेन राग-
 द्वेषप्रसञ्जिरिति विज्ञानैकस्त्वन्यवादिनो बौद्धस्यापि संमतं किंतु
 क्षणिकविज्ञानमसारमित्येव तन्मतमुपेक्षितव्यमित्याह—न वि-
 द्यत इति । बार्हस्पत्यस्य बृहस्पतिप्रणीतबुद्धशास्त्रानुसारिणो
 यस्य वादिनः क्षणिकविज्ञानात्परोऽन्यो लोक्यत इति लोको
 जगज्ज विद्यते तस्य । अतो निर्विषयत्वादेव रागद्वेषौ कुतः न
 प्रसज्येते एव किंतु विदः अन्यत् किं सारं नित्यं पुत्रपार्यरूपं
 यत्संभावनया विदः शाश्वतत्वं स नेच्छतीत्यर्थः । रजिपुत्रा-
 णामसुराणां च विमोहनाय बृहस्पतिनापि बुद्धशास्त्रं प्रणीत-
 मिति मत्स्यपुराणादौ प्रसिद्धम् ॥ ३ ॥ कूटस्थसंविद् एव
 विवर्तरूपः सप्तो जगदित्यसत्सिद्धान्ते तु सुतरां न रागद्वेषप्रस-
 ङ्गिरित्याह—इष्टानिष्टेति ॥ ४ ॥ अस्तु वा हेयोपादेयविक-
 ल्पाप्यासस्तथापि संविदाकाशे न कश्चिद्विशेष इत्याशयेनाह—
 इदमिति । तदतद्दृशौ इष्टानिष्टादिदृष्टौ ॥ ५ ॥ सर्वस्या-
 विनाशिसंविन्मात्रत्वे जन्ममरणादयोऽपि न संभावयितुं
 शक्या इत्याह—संविदिति द्वाभ्याम् ॥ ६ ॥ ७ ॥ सर्वस्य
 संविद्वे सवैद्यमन्यन्न परिशिष्यते । स्वस्याः स्वसंवेद्यताफलपना
 तु स्वस्य स्वस्त्वन्यारोहणकल्पनाकल्पेत्याह—संविद् इति ।
 स्वयमेव वेत्तुंवेद्यतां इता प्राप्ता अतश्चित्त्वादित्यसंवेद्यतालक्ष-
 णक्रियाकर्मेवद्वैतं द्वित्वं तद्व्यावृत्तमेकत्वं वा क स्थिते ॥ ८ ॥

संविदाकाशमेवैतत्केनचिद्ब्रह्म कथ्यते ।
 केनचित्प्रोच्यते ज्ञानं केनचित्छून्यमुच्यते ॥ ११
 केनचिन्मदशक्त्याभं केनचित्पुरुषाभिधम् ।
 केनचित्चिदाकाशं शिव आत्मा च केनचित् ॥ १२
 चिन्मात्रमेवमप्युक्तं याति न कचिदन्यताम् ।
 यस्मात्स्वयं तदेवैवमात्मानं वेत्ति नैतरत् ॥ १३
 चूर्णतां यान्तु मेऽङ्गानि सन्तु मेरूपमानि च ।
 का क्षतिः का च वा वृद्धिश्चिद्रूपवपुषो मम ॥ १४
 मृताः पितामहाद्याश्चिन्न मृता सा प्रियेत चेत् ।
 तज्जन्म नैव नाम स्यादस्माकं मृतसंविदाम् ॥ १५
 न जायते न प्रियते संविदाकाशमक्षयम् ।
 भवेत्कथं कथय किं किलाकाशस्य संक्षयः ॥ १६
 जगद्रूपैककचनमविनाशि चिदम्बरम् ।
 उदयास्तमयोन्मुक्तं स्थितमात्मनि केवलम् ॥ १७
 जगद्भानं दधद्वाहं चिन्नमःस्फटिकाचलः ।
 अनादिमध्यपर्यन्तः स्वच्छ आत्मनि तिष्ठति ॥ १८
 यथा यथान्धकारेण प्रेक्ष्यमाणं प्रणश्यति ।
 किमप्यङ्गाध्रवक्राभं तथेदं विश्वमात्मनि ॥ १९

भूतं नित्यं सद्रूपं । कुतो वयं जीवाम इति शेषः ॥ ९ ॥
 एवं सति संविदाकाश एव सर्ववादिनां स्वस्वाभिमतार्थाकारेण
 प्रथत इति फलितम् । ता विना गलन्तरामावादित्याशयेनाह—
 वादिन इति ॥ १० ॥ उक्तमर्थं ब्रह्मवादिनं पुरस्कृत्य प्रपञ्च-
 यति—संविदाकाशमिति द्वाभ्याम् । ज्ञानं विज्ञानम् ॥ ११ ॥
 केनचित्देहात्मवादिना । सदिरामदशक्त्याभं देहाकारपरिणत-
 भूतधर्मभूतम् । पुरुषाभिधं सांख्येन । विदाकाशं योगिना ।
 शिव ईश्वर आत्मा अणुर्जोवश्चेति शैवेन ॥ १२ ॥ एवं वादि-
 भिर्बहुधा विकल्पनेऽपि चित्तो न काचित्क्षतिः । स्वस्याः
 सर्वविकल्पसाक्षिणीत्वेन निर्विकल्पत्वादित्याह—चिन्मात्रमिति
 ॥ १३ ॥ चिद्रूपमेव वपुः स्वरूपं यस्य तथाविषय मम ॥ १४ ॥
 अस्माकं पितामहाद्या देहा मृतास्तेषां चित्तु न मृता । सापि
 प्रियेत चेन्मृतसंविदां तेषां पुनर्जन्मैव न स्यादित्यर्थः । अस्मा-
 कमिति अस्मास्वपि तस्यायसाम्यप्रदर्शनपरतया वा गोज्यम्
 ॥ १५ ॥ आकाशस्य संक्षयः किं भवेत्कथं वा भवेत्कथय-
 ॥ १६ ॥ एवं संक्षयासंभवे जगद्रूपस्य कचनं प्रथारूपं तच्चि-
 देवाम्बरमविनाशि स्थितम् ॥ १७ ॥ चिन्नभोलक्षणः स्फटि-
 काचलः स्वान्तः स्वयमेव जगद्भानं दधत् स्वतः स्वसाक्षात्कार-
 बहिना तदाहं विधाय स्वच्छ आत्मनि तिष्ठति । यथा स्वच्छः
 स्फटिकाचलः स्वान्तः प्रतिबिम्बवदनं प्राग्दर्भकदाचित्प्रतिबि-
 म्बवह्निभावमिव प्राप्तेन स्वेनैव तद्वर्तनं दग्ध्वा स्वरूपमात्रे अव-
 तिष्ठते तद्वदित्याशयः ॥ १८ ॥ यथा यथा ज्ञानप्राप्त्यं तथा
 तथा साज्ञानस्य जगतो नाशे इष्टान्तामाह—यथेति । अन्य-
 कारेण निशि संपादितं किमपि अत्रवक्राभं जगदावर्णमुपति-
 प्रेक्ष्यमाणं यथा यथा अन्नाग्निःशेषं प्रपश्यति तथा अज्ञानान्ध-

यथाम्बुधिः स्वयं याति तोयाद्यावर्तकादिकम् ।
 स्थितो दधत्तथैवेदं चिदाकाशोऽङ्गमात्मनि ॥ २०
 चिन्मात्रमेव पुरुषः खवत्स च न नश्यति ।
 कदाचनापि तद्वर्धं यन्नश्यामीति शोकिता ॥ २१
 देहादेहान्तरप्राप्तौ नव एव महोत्सवः ।
 मरणात्मनि किं मूढा हर्षस्थाने विषीदथ ॥ २२
 मृतश्चेन्न भवेद्भूयः सोऽत्राप्युपचयो महान् ।
 भावाभावग्रहोत्सर्गज्वरः प्रशममागतः ॥ २३
 मरणं जीवितं तस्मान्न दुःखं न सुखं यतः ।
 नास्त्येवैतच्चिदाकाशः किलेत्थमभिजृम्भते ॥ २४
 मृतस्य देहलाभश्चेन्नव एव तदुत्सवः ।
 मृतिर्नाशो हि देहस्य सा मृतिः परमं सुखम् ॥ २५
 मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तद्वामयसंक्षयः ।
 भूयः शरीरलाभश्चेन्नव एव तदुत्सवः ॥ २६
 कुकर्मभ्योऽथ भीतिश्चेत्सा समेह परत्र च ।
 तानि मा कार्ष भोस्तस्माद्भोक्तव्यमसिद्धये ॥ २७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० भो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमोपदेशो नामैकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

अधिकशततमः सर्गः १०२

श्रीराम उवाच ।
 परिज्ञाते परे वस्तुन्यनादिनिधनात्मनि ।
 संपद्यते वद ब्रह्मन्कीदृशः पुरुषोत्तमः ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 शृणु संपद्यते कीदृग्ज्ञातज्ञेयो नरोत्तमः ।
 कारणे कृतमिदं विश्वमपीत्यर्थः ॥ १९ ॥ यथा स्वयमेव तोय-
 प्रवाहस्तरङ्गादिष्वावर्तकफेनबुद्बुदादिकमङ्गं दधत्स्थितस्तथैव चि-
 दाकाशोऽप्यात्मनि जगदङ्गं दधत्स्थित इत्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥
 जीर्णदेहत्यागेन नवतरदेहप्राप्तिनिमित्ते मरणे उपस्थिते हर्षे
 एवोचितो न शोक इत्याह—देहादिति ॥ २२ ॥ यदि पुन-
 र्जन्म नास्त्येवेति वो भ्रमस्तथापि विषादो नोचितः । मरणा-
 देव सर्वानर्थप्राप्तिनिवारणादित्याह—मृत इति । उपचयः पुरु-
 षार्थोत्कर्षः ॥ २३ ॥ इत्थं जन्ममरणयोः सतोरपि यत्र न
 दुःखप्रसक्तिस्त्रात्यन्तमसतोस्त्वयोर्दूरे तत्प्रसक्तिरित्याशयेनोप-
 संहरति—मरणमिति ॥ २४ ॥ मृतस्य देहलाभोऽस्ति वा
 न वेति संदेहादेव मरणाद्भयमिति मन्वानं प्रति उक्तमेवार्थं
 भयान्तरेणाह—मृतस्येति । हि यस्मान्मृतिर्ज्वरारोगादिप्रसक्तस्य
 काराण्डकल्पस्य पूर्वदेहस्य नाशः ॥ २५ ॥ अत एव कोट्यन्त-
 रेऽपि सा तथैवेत्याह—मृतिरिति ॥ २६ ॥ मरणोत्तरं कुक-
 र्मिणां नरकादिश्रवणाद्भयमिति चेज्जीवतामपि तेषां राजदण्डा-
 दिवशादत्युत्कटानामिहैव फलदर्शनात् भयं तुल्यमिति कु-
 कर्मण्येव मा कुर्वित्याह—कुकर्मभ्य इति । मा कार्ष मा कार्षाः ।
 लिप्यद्वान्दसोऽकारादेशः ॥ २७ ॥ २८ ॥ परमार्थदृशा तु
 जन्ममरणादिप्रसक्तिरेव नास्तीत्याह—केति ॥ २९ ॥ ज्ञान-
 पूर्णाना निरेच्छश्रवणाराज कदापि दुःखप्रसक्तिरित्याह—संवि-

यो० वा० १६४

मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति भाषसे ।
 भविष्यामि भविष्यामि भविष्यामीति नेक्षसे ॥ २८
 क्व नाम जन्ममरणे क्व भवाभवभूमयः ।
 संविदात्मकमेवेदं व्योम व्योम्नि विवर्तते ॥ २९
 संविदाकाशमात्रात्मा पिव भुङ्क्वास्व निर्ममः ।
 आकाशकोशकान्तस्य कुत इच्छोदयस्तव ॥ ३०
 स्वप्रवाहबलोद्युक्तदेशकालवशादितान् ।
 भावान्मुञ्चेऽभयो भव्यः पावनान्पावनादपि ॥ ३१
 मध्यमध्यगतान्दोषान्देशकालवशोदितान् ।
 अनादृत्यान्तरेवास्ते सुप्तधीरवहेलयन् ॥ ३२
 न दुःखमेति मरणात्सुखमेति न जीचितात् ।
 नाभिवाञ्छति न द्वेष्टि स तदास्ते विवासनः ॥ ३३
 मरणजीवितजन्मजरचृणा-
 न्यविमृशन्विगतेच्छमवासनः ।
 विदितवेद्य इहाज्ञ इवोदितो
 वसति वीतभयस्त्वचलो यथा ॥ ३४

यावज्जीवं कथं चैष किमाचारोऽवतिष्ठते ॥ २
 उपला अपि मित्राणि बन्धवो वनपादपाः ।
 वनमध्ये स्थितस्यापि खजना मृगपोतकाः ॥ ३
 आकीर्णं शून्यमेवास्य विपदश्चातिसंपदः ।
 स्थितस्यापि महाराज्ये व्यसनान्येव सूतसवाः ॥ ४
 दाकाशेति ॥ ३० ॥ स्वीयप्रवाहबलेन प्रसक्तादुद्युक्तात्प्रयत्नाद्देश-
 कालवशाच्च इतान्प्राप्तान् भावान्शब्दादिविषयांस्तेष्वपि पावनान्पावनादपि
 पावनान्मुञ्चे न मनोमालिन्यविक्षेपहेतुनित्यर्थः । 'पावनान्पादपो
 यथा' इति पाठे स्पष्टम् ॥ ३१ ॥ मध्ये मध्ये देशक्षोभदुर्भिक्षादि-
 कालेऽप्यस्य न दुःखप्रसक्तिस्तदा क्वचिदेकान्तपर्वतगुहादौ
 समाधिसुखानुभवेन तत्कालावहेलनसंभवादित्याह—मध्येति ।
 अन्तर्निर्विकल्पसमाधौ सुप्तधीः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ सर्गोक्तमर्थं
 संक्षिप्योपसंहरति—मरणेति । मरणादिलक्षणानि जरत्तृणानि
 अविमृशन्विदितवेद्योऽप्यज्ञोऽतिमूढ इव वीतभयः सन्नचलो
 यथा तथा वसतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमोपदेशो नामैकाधि-
 कशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

भूयोऽपि शुद्धतत्त्वस्य वर्णयते लक्षणावलिः ।

तदभ्यासदृढत्वेन बोधदाल्यं भवेदिति ॥ १ ॥

कीदृशः किलक्षणविशिष्टः संपद्यते ॥ १ ॥ कथंस्वभावः
 किमाचारश्चावतिष्ठते तच्छृणु ॥ २ ॥ तत्र स्वभावभूतान्यान्त-
 राणि लक्षणानि प्रथमं वक्तुमुपक्रमते—उपला अपीत्यादिना ।
 मित्रादिपूषलादिषु च संयोगवियोगादिषु तुल्यान्तःस्थितिरि-
 त्यर्थः ॥ ३ ॥ आकीर्णं जनसंकुलं स्थानम् । विपदो धनव-
 न्वादिनाशाः । व्यसनानि वधवन्धनपारवश्यादिदुःखानि ।

असमाधिः समाधानं दुःखमेव महत्सुखम् ।
 व्यवहारोऽपि सन्मौनं कर्माण्येवात्यकर्मता ॥ ५
 जाग्रदेव सुषुप्तस्थो जीवन्नेव मृतोपमः ।
 करोति सर्वमाचारं न करोति च किञ्चन ॥ ६
 रसिकोऽत्यन्तविरसो निर्द्वणो बन्धुवत्सलः ।
 निर्दयोऽत्यन्तकरुणो वितृष्णस्तृष्णयान्वितः ॥ ७
 सर्वाभिनन्दिताचारः सर्वाचारवहिष्कृतः ।
 वीतशोकभयायासः सशोक इव लक्ष्यते ॥ ८
 तस्माद्भोद्विजते लोको लोकाद्भोद्विजते तु सः ।
 परमुद्वेगमापन्नः संसृतौ रसिकोऽपि सन् ॥ ९
 नाभिनन्दति संप्राप्तं नाप्राप्तमभिवाञ्छति ।
 आस्तेऽनुभूयमानेऽर्थे न च हर्षविषादयोः ॥ १०
 दुःखिते दुःखितकथः सुखिते सुखसंकथः ।
 आस्ते सर्वास्वस्थास्तु हृदयेनापराजितः ॥ ११
 कर्मणः सुकृतादन्यदसौ किञ्चिन्न रोचते ।
 स्वभाव एव महतां ननु यन्न विचेष्टितम् ॥ १२
 नालम्बते रसिकतां न च नीरसतां क्वचित् ।
 नार्थेषु विचरत्यर्थी वीतरागः सरागवत् ॥ १३
 यथा शास्त्रव्यवहृतेः सुखदुःखैः क्रमागतैः ।

सत्सवा महोत्सवसमाः ॥ ४ ॥ व्यवहारो वाचिकः । कर्माणि
 कायिकानि ॥ ५ ॥ सुषुप्तसदृशे निर्विकल्पात्मनि तिष्ठतीति
 सुषुप्तस्थः । अशरीरात्मभावस्थितेर्मृतोपमः । अकर्त्रात्मप्रतिष्ठ-
 त्वाच्च करोति ॥ ६ ॥ विषयसुखेष्वप्यात्मसुखमात्रतादृशा
 रसिकः । विषयदृशा त्वत्यन्तविरसः । स्वीयताबुद्ध्याभावाच्चि-
 र्द्वणः । स्वात्मताबुद्ध्या तु निरुपाधिप्रेम्णा बन्धुषु वत्सलः ।
 दयाविषयद्वितीयादर्शनाच्चिर्दयः । स्वदेहोपम्येन परशरीरेऽपि
 सुखदुःखदर्शनादत्यन्तकरुणः । एवं पूर्णत्वात्स्वयं वितृष्णः ।
 अज्ञजनोद्धारस्वभावात्तद्वितृष्णयान्वितः ॥ ७ ॥ किमाचा-
 रोऽवतिष्ठते इति पृष्ठानि बाह्यलक्षणाभ्याह—सर्वेति । अज्ञज-
 नदुःखदर्शनात्ताननुशोचन् सशोक इव लक्ष्यते ॥ ८ ॥ नोद्विजते
 न विमेति । सद्देगं भयम् ॥ ९ ॥ अनुभूयमानेऽपि हर्षविषा-
 दहेतावर्थं तयोर्नास्ते ॥ १० ॥ सुखदुःखाभ्यामपराजितः
 अनभिभूतः । सहिष्णुरिति यावत् ॥ ११ ॥ नन्विति संवोधने ।
 न विचेष्टितमशास्त्रीयचेष्टावर्जनं यत् तन्महता स्वभाव एव ।
 'यन्नविचेष्टितम्' इति पाठे शास्त्रीयज्ञमात्रप्रयुक्तं विचेष्टितम्
 ॥ १२ ॥ रसिकताभासकम् । नीरसतां निष्प्रणयताम् । अ-
 र्थेषु धनेषु अर्थोपयाचको भूत्वा न विचरति ॥ १३ ॥
 सुखदुःखैरनागतोऽसस्पृष्टोऽप्यायाति स्पृशतीव । ततो हर्ष
 विषादितां वा नायासेव ॥ १४ ॥ सुखदुःखाभ्यां स्पृश्यत
 इवेति यदुक्तं तद्विद्वोपदर्शनेन विद्वणोति—संप्रहृष्टाश्चेति ।
 'न हर्षं न विषादिताम्' इत्युक्तिमपि हेतूपदर्शनेन विद्वणोति—
 न स्वभावमिति । स्वभावं निरतिशयानन्दप्रतिष्ठाप्रयुक्तं धैर्यम् ।
 तथा च संप्रहृष्टादिलिङ्गविदम्बनं तेषां नटविदम्बनतुल्यं फलित-

अनागतोऽपि चायाति न हर्षं न विषादिताम् ॥ १४
 संप्रहृष्टाश्च लक्ष्यन्ते लक्ष्यन्ते दुःखितास्तथा ।
 न स्वभावं त्यजन्त्यन्तः संसारारमदीनताः ॥ १५
 आत्मीयेष्वर्थजातेषु मिथ्यात्मसु सुतादिषु ।
 बुद्बुदेष्विव तोयानां न ह्येदस्त्वत्त्वदर्शिनाम् ॥ १६
 अनेह एव सुघनमेहार्द्रहृदयो यथा ।
 वत्सलां दर्शयन्वृत्तिं हस्तिष्ठति यथाक्रमम् ॥ १७
 वायूनिव प्रचाहस्थाः स्पृशन्ति विषयान्मुधा ।
 वेदसत्ताविषान्मूढा लीयन्ते विषयोदरे ॥ १८
 बहिः सर्वसमाचारमन्तः सर्वार्थशीतलम् ।
 नित्यमन्तरनाविष्ट आविष्ट इव तिष्ठति ॥ १९
 श्रीराम उवाच ।
 स्वरूपमीदृशं तस्य को वेत्ति मुनिनायक ।
 वद सत्यमसत्यं वा भवत्यज्ञो ह्यपीदृशः ॥ २०
 अश्ववद्गह्वर्येण चरन्तोऽचारुचेतसः ।
 मिथ्यातपस्विदार्ढ्याय भवन्त्येवंविधा मुने ॥ २१
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 असत्यं वास्तु सत्यं वा स्वरूपं वरमीदृशम् ।
 विद्धि वेदविदां त्वेष स्वभावानुभवस्थितः ॥ २२

मिथ्याशयेन विशिनष्टि—संसारारमदीनता इति ॥ १५ ॥
 ॥ १६ ॥ १७ ॥ अज्ञास्तु न सुखवदनासक्त्या विषयान्मोक्तुं
 जानन्तीत्याह—वायूनिवेति । ते हि देहात्मनैव या स्वसता
 तल्लक्षणाद्विषान्मूढाः संतापमूर्च्छिता इव कामादिदंतापशान्तये
 अस्यासक्त्या विषयोदरे लीयन्ते । तथा लीना अपि प्रतापैत-
 रणीनदीप्रवाहस्था नारकिपुरुषा उपरिभागेन वायूनिव विषयान्
 किञ्चिदेव मुधा स्पृशन्ति न तत्त्वतः कास्त्वेन विषयमनुभूय
 विश्रमितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥ सर्वैः शिष्टैः सम आ-
 चारो यस्यां स्थितौ, सर्वे अर्थाश्च शीतला यस्यामिति हे
 अपि स्थितिक्रियानिशेषणे । तिष्ठति तत्त्वविदिति शेषः ॥ १९ ॥
 सकैलक्षणेस्त्वत्त्वज्ञपरिचयो दुर्घटः मूर्खदाम्भिकवक्तृतापसे-
 ष्वपि हठात्संपादितानामेषां लक्षणाणां दर्शनादिति रामः
 शङ्कते—स्वरूपमिति । ईदृशमुक्तलक्षणपरिचयं स्वरूपं सत्यम-
 यवा असत्यं दम्भादिपरिकल्पितं वेत्ति को वेदितुं शक्नोति ।
 हि यतः अज्ञोऽपि दाम्भिक ईदृशस्त्वदुक्तलक्षणवान्भवति
 लोके इत्यन्वयः ॥ २० ॥ अचारुचेतसो विद्वत्साहस्यविदम्ब-
 नेन तादृशमानपूजादितापेक्षचित्ताः । तपस्विशब्देन तथा
 ख्यातिर्लक्ष्यते । मिथ्यापरिकल्पितस्वतपस्विताप्रख्यातिवार्त्ताये-
 त्यर्थः ॥ २१ ॥ दम्भार्थमपि दृढीकृतान्येतानि लक्षणानि
 शुभोदकाण्येवेति न तल्लक्षणवतामुपेक्षा कार्या । यतस्तादृशानाम-
 नुसरणे स्वभावसिद्धलक्षणसंपन्नस्त्वत्त्वविदपि दैवालम्ब्यत इत्या-
 शयेन श्रीवासिष्ठ उत्तरमाह—असत्यं वेति । ईदृशमुक्तलक्षण-
 संपन्नं स्वरूपं वरं दुर्लभत्वाच्छ्रेष्ठम् । वेदविदां वेदार्थतरवविदां
 तु एष लक्षणकलापः स्वभावानुभवबलादेव स्थितः प्रतिष्ठितो-

अनाविष्टा विचेष्टन्ते वीतरागाः सरागवत् ।
 गतहासा हसन्त्यज्ञानसहसा करुणाकुलाः ॥ २३
 चित्तादर्शगतं दृश्यं सर्वं कपटकुट्टिमम् ।
 पश्यन्त्यसत्परिज्ञातं स्वप्ने हेमेव हस्तगम् ॥ २४
 अन्तःशीतलतामेषां तां न जानन्ति केचन ।
 दूराच्चन्दनदारुणामामोदमिव जन्तवः ॥ २५
 ये तु विज्ञातविक्षेयास्तादृशाः पावनाशयाः ।
 जानन्ति तांस्तथैवान्तरहेः पादानिवाहयः ॥ २६
 भावं निगूहयन्त्येते तमुत्तममनुत्तमाः ।
 ग्राम्यैर्धनैः किलानर्घ्यः कश्चिन्तामणिरापणे ॥ २७
 तस्मिन्निगूहने भावो यतस्तेषां न दर्शने ।
 निर्वासना गतद्वैता गतमानाः किलाङ्ग ते ॥ २८
 एकान्तामानदौर्गत्यजनावज्ञप्तयस्तु तान् ।
 सुखयन्ति यथा राम न तथैव महर्द्धयः ॥ २९
 स्वसंवेदनसंवेद्यसारा विदितवेद्यता ।
 नैषा दर्शयितुं शक्या दृश्यते न च तद्विदा ॥ ३०
 गुणं ममेमं जानातु जनः पूजां करोतु मे ।
 इत्यहंकारिणामीहा न तु तन्मुक्तचेतसाम् ॥ ३१
 क्रियाफलानि चिद्धोमगमनादीनि राघव ।
 अज्ञानामपि सिध्यन्ति मन्त्रौषधिवशादिह ॥ ३२
 यो यादृक् क्लेशमाधातुं समर्थस्तादृगेव सः ।
 अवश्यं फलमाप्नोति प्रबुद्धोऽस्त्वज्ञ एव वा ॥ ३३

आमोदश्चन्दनस्येव स्पन्दनस्य फलं हृदि ।
 सर्वस्यैवास्ति तन्नूनं तद्वता समवाप्यते ॥ ३४
 अहंतावासनाद्वैतं वस्तुता दृश्यवस्तुषु ।
 यस्यास्त्यसौ साधयति खगमादिक्रियाफलम् ॥ ३५
 इदं न किञ्चिद्भ्रान्तिर्वा खं चेति हस्तु वेत्ति यः ।
 सोऽवासनः कर्मवात्याः कथं साधयति क्रियाः ॥ ३६
 नैव तस्य कृतेनार्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
 न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३७
 न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा कचित् ।
 यदुदारमनोवृत्तेर्लोभाय विदितात्मनः ॥ ३८
 जगदेव तृणं यस्य न किञ्चिद्रज एव वा ।
 किं नाम तस्य भवतु अन्यदादेयतां गतम् ॥ ३९
 निर्वाहितजगद्यात्रः परिपूर्णमना मुनिः ।
 यथास्थितमसावास्ते संप्रयाति यथागतम् ॥ ४०
 नित्यान्तःशीतलो मौनी सत्त्वीभूतमनोवनिः ।
 परिपूर्णार्णवाकारो गम्भीरप्रकटाशयः ॥ ४१
 रसायनपरापूर्णहृदवत् ह्लादमात्मनि ।
 धत्ते करोति चान्यस्य सकलेन्दुरिवामलः ॥ ४२
 मन्दारमञ्जरीकुञ्जपिञ्जरा देवभूमयः ।
 न तथा ह्लादयन्त्येता यथा पण्डितबुद्धयः ॥ ४३
 चन्द्रबिम्बैर्वसन्तैश्च महतामहताशयैः ।
 सारं सौभाग्यसौगन्ध्यसौरभालोकभोगिषु ॥ ४४

न हठात्संपादित इत्यर्थः ॥ २३ ॥ अनाविष्टाः क्रियाफलेष्वन-
 मिनिविष्टाः ॥ २३ ॥ सर्वं दृश्यं चित्तादर्शगतं कपटकुट्टिमक-
 ल्पमसत्पश्यन्ति ॥ २४ ॥ २५ ॥ यद्यपि तत्त्ववित्स्वरूपमज्ञा ज्ञातुं
 न शक्नुवन्ति तथापि तत्त्वविदो जानन्त्येवेत्याह—ये त्विति ।
 पादान् पदानि ॥ २६ ॥ दाम्भिकास्तु लक्षणानि प्रख्यापयन्ति ।
 तत्त्वज्ञास्तु निगूहयन्तीत्यनेन विशेषेण वा ते परिचेया इत्याशये-
 नाह—भावमिति । किमर्थं निगूहयन्ति तत्राह—ग्राम्यैरिति ।
 ग्राम्यैर्ग्रामनगरादिषु भवैर्धनैरनर्घ्यः केतुमशक्यश्चिन्तामणिः
 आपणे कः प्रसार्यते । न कश्चिदित्यर्थः ॥ २७ ॥ आपणप्रसार-
 णलिङ्गेन नायं चिन्तामणिरिति वद्वलात्स्वगुणप्रख्यापनलिङ्गेन
 दाम्भिकोऽयं न तत्त्वविदिति ज्ञेयमित्याशयेनाह—तस्मिन्निति ।
 तेषां तत्त्वविदां तस्मिन्स्वगुणादौ विषये निगूहने एव भाव-
 स्तात्पर्यं न तु दर्शनपरेभ्यः प्रख्यापने । यतस्ते निर्वासनाः
 ख्यातिमानादिरागवासनाशून्याः । अज्ञेत्यामन्त्रणे ॥ २८ ॥
 किमर्थं ते ख्यात्यादि नेच्छन्ति तत्राह—एकान्तेति । ख्याति-
 मानघनादिसमृद्धौ जनसमाजामिमानाद्यनर्थसहसैर्विक्षेपे आ-
 त्मसुखानुभवविच्छेदापत्तेरिति भावः । अमानं पूजावर्जनम् ।
 दौर्गन्धमकिंचनता । जनैरवज्ञप्तयोऽवज्ञाः ॥ २९ ॥ या विदि-
 तवेद्यता सा स्वसंवेदनेन स्वानुभवेनैव संवेद्यः सारो निरतिश-
 यानन्दो यस्यां सा । एषा अन्यं प्रति दर्शयितुं न शक्या ।
 यतस्तद्विदापि सा न दृश्यते न दृग्निषयीक्रियते किंतु स्वप्रकाश-

तयैव स्वयं प्रथत इत्यर्थः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ व्योमगमना-
 दीनि मन्त्रजपादिक्रियाफलानि अज्ञानामपि सिध्यन्ति । चि-
 दिति निपातो बाहुल्यद्योतनार्थः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ स्पन्दनस्य
 विहितनिविद्धकर्मणां फलं स्वहृदेव सर्वस्यापि जन्तोरपूर्वात्मना
 अस्ति । तच्च कालेनाविर्भूतं समवाप्यते ॥ ३४ ॥ सिद्धिलक्षण-
 दृश्यवस्तुषु अहं भोक्ता स्यामित्यहंतावासनालक्षणं द्वैतं परि-
 चिद्धात्मकल्पनं यस्यास्ति स खेचरसिद्ध्यादिक्रियाफलं साधय-
 तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ इदं सिद्धिजातं न किञ्चित्तुच्छं भ्रान्तिर्मेनो-
 भ्रममात्रं स्वमधिष्ठानचिदाकाशमात्रं वेति यस्तु ज्ञो वेत्ति अवा-
 सनः स तत्त्वज्ञः कर्मवात्या भ्रमणप्रायखेचरादिसिद्धिफला मन्त्रौ-
 षधादिक्रियाः कथं साधयति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ का-
 र्त्तर्यपर एवकारः । कृत्स्नं जगद्यस्य तृणं रजो न किञ्चिदेव वा
 तस्य धीरस्यान्यदनात्मभूतं किमादेयतां गतमुपादेयमस्तु । न
 किञ्चिदित्यर्थः ॥ ३९ ॥ निर्वाहिता जगद्यात्रा लोकसंप्रहार्थप्र-
 वृत्तिर्यस्य । यथा आगतं यथाप्राप्तं शिष्टाचारे संप्रयाति अनु-
 सरति ॥ ४० ॥ ४१ ॥ स्वयं ह्लादं धत्ते अन्यस्य च करोति
 ॥ ४२ ॥ ह्लादकारित्वं तस्य विशदयति—मन्दारेति । देवभू-
 मयो नन्दनादयः । पण्डितबुद्धयो बोधनैरित्यर्थः ॥ ४३ ॥
 सारग्राही हि विवेकी सुरभिर्गोष्पतुस्तत्संवन्ध्यालोकभोगिषु
 चन्द्रबिम्बैः सारमादत्ते, सौगन्ध्यभोगिषु वसन्तैः सारमादत्ते,
 सौभाग्यभोगिषु महतां तरुविदां अहतैः रामायणपहतैः

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वमिन्द्रजालमसन्मयम् ।
 त्यजतीति विनिश्चित्य दिनानुदिनमेषणाः ॥ ४५ ॥
 शीतातपादिदुःखानि निजदेहगतान्यपि ।
 अन्यदेहगतानीव ज्ञाः पश्यत्यवहेलया ॥ ४६ ॥
 करुणोदारया वृत्त्या वृत्त्या व्रततिधीरया ।
 नीरसो नीरसारं तु सारतां सरति स्थितिम् ॥ ४७ ॥
 व्यवहारं यथाप्राप्तं लोकसामान्यमाचरन् ।
 चराचराणां भूतानामुपर्येवावतिष्ठते ॥ ४८ ॥
 प्रज्ञाप्राप्तादमारुढस्त्वशोच्यः शोचते जनान् ।
 भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्रज्ञोऽनुपश्यति ॥ ४९ ॥
 चिरं कल्लोलवलितः सुमना जलधौ भ्रमे ।
 परं पारमुपागत्य परां विश्रान्तिमेति सः ॥ ५० ॥
 हसन्स शान्तया वृत्त्या प्राक्कनीर्जगतीर्गतीः ।
 समयमान इवास्तेऽन्तर्जनताश्च यनभ्रमाः ॥ ५१ ॥
 यताः कान्तारनिर्मगमिताः संसारदृष्टयः ।
 असत्यो हृतवत्यो मामित्यन्तर्याति विस्मयम् ॥ ५२ ॥
 दृष्ट्याष्टगुणमैश्वर्यमनिष्टं मे लुणायते ।
 इत्युपैत्युपशान्तत्वात्सयमानोऽपि न स्मयम् ॥ ५३ ॥
 कश्चिद्विरिगुहागेहः कश्चित्पुण्याश्रमाश्रयः ।

कश्चिद्दृष्ट्याश्रमवान्कश्चिद्दुरदन्त्यतः ॥ ५४ ॥
 कश्चिद्विद्याचराचारः कश्चिदेकान्ततापसः ।
 कश्चिन्मौनव्रतधरः कश्चिद्भयानपरायणः ॥ ५५ ॥
 कश्चिद्विपश्चिद्विख्यातः कश्चिच्छ्रोता श्रुतेः स्मृतेः ।
 कश्चिद्राजा द्विजः कश्चित्कश्चिदज्ञ इव स्थितः ॥ ५६ ॥
 गुटिकाञ्जनसङ्गादिसिद्धः कश्चिन्नभोगतः ।
 कश्चिच्छिल्पकलाजीवी कश्चित्पामररूपभृत् ॥ ५७ ॥
 कश्चित्यक्तसमाचारः कश्चिच्छ्रोत्रियनायकः ।
 कश्चिदुन्मत्तचरितः प्रवर्ज्या कश्चिदाश्रितः ॥ ५८ ॥
 पुरुषो न शरीरादि न च चित्तादि किञ्चन ।
 पुरुषश्चेतनं नाम न स नश्यति कर्हिचित् ॥ ५९ ॥
 अच्छेद्योऽसावदाह्योऽसावक्छेद्योऽशोष्य एव च ।
 नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽसौ सनातनः ॥ ६० ॥
 इति सम्यक्प्रबुद्धो यः स यथा यत्र तिष्ठति ।
 तथा तिष्ठतु तत्रात्र स्थानास्थानियमेन किम् ॥ ६१ ॥
 पातालमाविशतु यातु नभो विलङ्घ्य
 दिङ्मण्डलं भ्रमतु पेवणमेव येन ।
 चिन्मात्रमेतदजरं न तु यातु नाश-
 माकाशकोश इव शान्तमजं शिवं तत् ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० भो० निर्वाणप्रकरणे उ० भरणाद्यभावोपदेशो नाम द्युत्तरश्चतुर्तमः सर्गः ॥ १०२ ॥

आशयैः सारमादत्त इति द्वन्द्वनिर्विघ्नानां व्युत्क्रमेण संबन्धः ।
 तैरेव हि तत्सारो लभ्यो नान्यत्रान्यैरुपायैरित्यर्थः ॥ ४४ ॥
 महतामाशयैः कं सारमादत्त इति चेत्प्रथमं जगन्मिथ्यात्वदर्श-
 नात्कमात्सर्वेषणालागमित्याह—भ्रान्तिमात्रमिति ॥ ४५ ॥
 ततः शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुतालक्षणं सारमादत्ते इत्याह—शी-
 तेति ॥ ४६ ॥ तदनन्तरं सर्वभूतानुकम्पास्वरूपदृढावलम्बनं
 यथाप्राप्तेन जरुमात्रेणापि संतोष इत्यादिगुणसारमादत्ते
 इत्याह—करुणेति । इत्थं नीरसो विरक्तः सः करुणया उदार-
 वृत्तिः सर्वस्वव्ययेनाप्यार्तपरिपालनव्रतं तथा । व्रततिर्लता तद्व-
 क्षीरया वृत्त्या परार्थैकप्रयोजनच्छायाफलपुष्पादिसग्रहः स्वत-
 रुदृढावलम्बो जलमात्रेणापि यथाप्राप्तेन संतोष इत्येवंरूपया
 वृत्त्या नीरमात्रमपि सारः संतोषहेतुर्यस्यां स्थितौ तादृशस्थि-
 तिरूपां सारतां सरति ॥ ४७ ॥ उपरि उक्तं कर्ध्वमूलभूते
 प्रज्ञाणि वा ॥ ४८ ॥ उपरिस्थितिमेव दर्शयति—प्रज्ञेति ॥ ४९ ॥
 तदैवाप्तौ चिरप्रवृत्तरागादिभिस्तेषु ज्ञेभ्यो मुक्तः सम्यग्विश्रा-
 म्यतीत्याह—चिरमिति । कल्लोलेः षड्भिर्भिर्वलितो विक्षिप्तः
 ॥ ५० ॥ ५१ ॥ कान्तारे मार्गभ्रंशेन निर्ममो योऽन्वस्तेन
 मिता उपमिताः । हृतवत्यो मोहितवत्यः ॥ ५२ ॥ इति एवं
 ज्ञात्वा समयमान ईषद्वसन्नपि स्मरं गर्वं नोपैति ॥ ५३ ॥
 तस्य स्थानादनियमोऽपि नास्तीत्याह—कश्चिदिति । अदन्

रदन् इति वा छेदः ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥
 रामप्रश्नवाक्ये कीदृशः पुरुषोत्तम इति पदं श्रुत्वा तदर्थं जिज्ञा-
 सामपि संभावयन्पुरुषं वर्णयंस्तदुत्तमतां दर्शयति—पुरुष
 इति । न स नश्यतीत्यविनाशित्वात् एवोत्तम इत्यर्थः ॥ ५९ ॥
 छेदभेदादिविनाशहेत्वसंस्पर्शादिभिरपि स एवोत्तम इत्याह—
 अच्छेद्य इति ॥ ६० ॥ एतादृशपुरुषोत्तमतत्त्वपरिज्ञानादेव
 तत्त्ववित्पुरुषोत्तमो न तु वर्णाश्रममर्यादापालनमात्रेण । तदस-
 नोऽपि तस्य पुरुषोत्तमत्वानुपायादित्याशयेनाह—इतीति ।
 स्थानं वर्णाश्रममर्यादास्थितिस्तदास्थानियमेन तस्य किं साध्य-
 मिति विद्याप्रभावोक्तिरनुमान्यतीन्तालावृकेभ्यः प्रायच्छमि-
 तिवत् ॥ ६१ ॥ तस्याविनाशिपुरुषत्वमेव द्रव्यशुपसंहरति—
 पातालमिति । तत्त्वविद्वलात्सनाशचिकीर्षया पातालमाविशतु
 नभो विलङ्घ्योर्चं वा यातु दिङ्मण्डलं वा भ्रमतु येन भ्रमणेन
 मानसोत्तरलोकाकादिगिरिशिलासहस्रधर्षणात्पेवणं संचूर्णन-
 मेव संभाव्यते । 'पेवणमेव यातु' इति पाठे गिरिशिलासहस्र-
 स्वस्य पेवणं कारयतु वेत्यर्थः । तथाप्येतत्तत्त्ववित्स्वरूपमज्ञा-
 दयं चिन्मात्रमजरमेवेति नाशं न तु याति । यतस्तदाकाशकोश
 इव शिवं निरुपलब्धनित्यनिरतिशयानन्दरूपमेवेत्यर्थः ॥ ६२ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
 रार्धे भरणाद्यभावोपदेशो नाम द्युत्तरश्चतुर्तमः सर्गः ॥ १०२ ॥

अधिकशततमः सर्गः १०३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

भामात्रं भानमात्रं वा शान्तं भासत एव च ।
चिन्मात्रं यदनाद्यन्तं तस्य नाशः कथं कदा ॥ १
तावन्मात्रं च पुरुषः कदाचित्स न नश्यति ।
यदि नश्यति चिन्मात्रं भूयो जायेत किं कथम् ॥ २
न चान्यदन्यच्चिन्मात्रं कचिर्तिकचन कस्यचित् ।
सर्वानुभवसादृश्ये कीदृशी नाम सान्यता ॥ ३
सर्वस्यैव हिमं शीतमुष्णोऽग्निर्मधुरं पयः ।
चिन्मात्रस्यावदातस्य कीदृगन्यत्वमत्र तु ॥ ४
शरीरनाशे नाशश्चेच्चिन्मात्रस्य तदुच्यताम् ।
हर्षस्थाने विषादः किं मरणे संसृतिक्षये ॥ ५
न च नाम शरीरस्य नाशे नश्यति चिन्मभः ।
देहे नष्टेऽपि बन्धूनां म्लेच्छैर्दृष्टा पिशाचता ॥ ६

चितो नित्यत्वमेकत्वं स्वातन्त्र्यमपि साध्यते ।

सच्छास्त्रस्यास्य माहात्म्यं हितं चात्रोपदिश्यते ॥ १ ॥

तत्र चित्सामान्यस्याविनाशित्वं सर्वानुभवबलेन प्रथमं सा-
धयति—भामात्रमिति । जाग्रत्स्वप्नयोरन्तःकरणसाक्षितया सु-
षुप्तावज्ञानस्वापादिसाक्षितया च प्रत्यगात्मभामात्रं विषयभा-
नमात्रं वा सर्वेषां भासत एवेति प्रत्यक्षेण चकाराद्यवधारस्मृ-
त्यादिलिङ्गेन च यदनाद्यन्तं चिन्मात्रं तत्सिद्धं तस्य कथं केन
निमित्तेन नाशो भवेत् तदसाधितस्य निमित्तस्याप्रसिद्धेस्तत्सा-
धितस्य च तदुपजीवकतया तत्राशनिमित्तत्वायोगादेवं कदा
वा नाशो भवेत् । तादृशकालस्यापि तदधीनसिद्धिकस्य तदुप-
जीवकत्वादिति भावः ॥ १ ॥ भवतु चिन्मात्रमविनाशि पुरु-
षस्य किमायातं तत्राह—तावन्मात्रमिति । तत्राशे अग्रे सृष्टि-
रेव न स्यादसाक्षिकसर्गासिद्धेरित्याह—यदीति ॥ २ ॥ ननु
चिदन्तरमुत्पत्स्यते ततः सर्गः प्रवर्त्यते तत्राह—न चेति ।
औत्तरकालिकयाक्षितः पूर्वचितो भेदः किं मध्ये विच्छेदानुभ-
वात्कल्प्येत उत वैलक्षण्यात् । न तावद्विच्छेदानुभवादनुभवस्यैव
चित्त्वात्तत्सद्भावे विच्छेदासिद्धेः । नापि वैलक्षण्यम् । अचि-
त्त्वापत्तेः । सर्वांशे अनुभवस्य पूर्वोत्तरकालयोः सादृश्ये सा
अन्यता भिन्नता कीदृशी नाम । अलीकेत्यर्थः ॥ ३ ॥ काल-
भेदादिव पुरुषभेदादपि चितो न भेदः । हिमशैत्यादिविषये-
ष्विव नित्यपि वैलक्षण्याननुभवादेवेत्याह—सर्वस्यैवेति ॥ ४ ॥
ननु सुखदुःखानुभवलक्षणविशेषज्ञानातिरिक्तं न चित्सामान्य-
मभ्युपगच्छामः । विशेषविज्ञानेषु चावच्छेदकतासंबन्धेन श-
रीरं कारणं तत्राशाद्य ज्ञाननाश इत्यभ्युपगच्छतां चार्वाकवैशेषि-
कादीनां शङ्कामुद्भाव्य निरस्यति—शरीरेति । हर्षस्थाने इति ।
दुःखप्रागभावासमानकालिकदुःखध्वंस एव हि वो मुक्तिः,
सा च देहनाशाच्चित्सामान्यनाशे उत्तरत्र देहदुःखादिसाधका-
भावादेव सिध्यति । न हि चिदतिरिक्तं तत्साधकमस्ति । न च

यावच्छरीरसत्ता चेच्चेतनस्य तदुच्यताम् ।

शवः कस्मान्न चलति सत्यखण्डे शरीरके ॥ ७

पिशाचानुभवो जीवधर्मश्चेत्तत्स सर्वदा ।

किं न पश्यति किं बन्धौ मृते पश्यति तत्तथा ॥ ८

जीवधर्मो विशिष्टश्चेत्तादृशस्तं नरः कथम् ।

मिथ्या देशान्तरमृते पिशाचत्वं न पश्यति ॥ ९

तस्मात्सर्वात्मकत्वे तच्चिन्मात्रं न नियन्त्रितम् ।

यद्यद्यत्र यथा वेत्ति तत्तत्तत्रावगच्छति ॥ १०

अबाधितैवैकघना संविद्भवति यादृशी ।

तादृश्यवानुभूतिर्हि तत्स्वभावोऽत्र कारणम् ॥ ११

अन्यन्न संभवत्यत्र सर्गादावेव कारणम् ।

यन्नाम तदिदानीं स्यात्कथ्यतां कीदृशं कथम् ॥ १२

सर्गादावेव नोत्पन्ना न चैवाद्यावभासते ।

विकल्पश्रीर्जगद्भासा केवलं भाति चिन्मभः ॥ १३

निःसाधकोऽग्निमदेहः सिध्यति । न च तं विना तत्साधिका
चित्सिध्यतीति मुक्तिहेतोर्मरणाद्वर्ष एव स्यान्न विषाद इत्यर्थः ।
॥ ५ ॥ तर्ह्यस्तु तथेत्याशया मुखं व्याददानस्याशां छिनत्ति—
न चेति । प्रायेण हि पिशाचा बन्धूनेव बाधन्ते । प्रत्यन्तदेशे-
ष्वेव बहुधा पिशाचा दृश्यन्त इति द्योतनाय बन्धुम्लेच्छग्रहणम्
॥ ६ ॥ किञ्च शरीरनाशाच्चिन्मात्र इत्यसंगतमेव, सत्येव मृतश-
रीरे चिन्निवृत्तिदर्शनविरोधादित्याह—यावदिति । न चलति
न चेतति ॥ ७ ॥ यदि कश्चिच्चार्वाको ब्रूयाजीवन्
म्लेच्छजीवधर्म एव पिशाचदर्शनं न मृतम्लेच्छचिद्वशेषप्र-
युक्तः पिशाचस्तत्रास्तीति तदाशङ्कामुद्बल्य परिहरति—पिशा-
चानुभव इति । सर्वदा बन्धुमरणं विना स पिशाचं किं न
पश्यति मृते सत्येव कस्मात्पश्यतीति वक्तव्यो नियमद्वये त्वया
हेतुरित्यर्थः ॥ ८ ॥ स जीवो बन्धुमरणज्ञानविशिष्टश्चेत्तद्धर्मः
पिशाचदर्शनमिति तादृशो नियमश्चेत्तत्तथापि जीवस्यैव मिथ्या
देशान्तरमृतेऽन्येन कल्पिते सति तत्पिशाचत्वं नरः कथं न
पश्यति ॥ ९ ॥ तस्माच्चितो भेदविनाशयोरयोगात्सर्वात्मकत्वे
सिद्धे सति वस्तुकृतपरिच्छेदेनापि तत्र नियन्त्रितम् । तथाच
यद्यद्वस्तु यत्र देशे काले वा वेत्ति स्वात्मानमेव तत्तद्वस्त्वात्म-
नावगच्छतीति न तद्वैद्यं पृथगस्तीत्यर्थः ॥ १० ॥ एवं च स-
र्गादौ सत्यकामत्वादबाधिता संवित्स्वसंकल्पात्मना यादृश्येव
भवति तादृश्येवेदानीं सर्वजनानामनुभूतिः ॥ ११ ॥ सत्यसं-
कल्पब्रह्मसंविदोऽन्यत्प्रधानपरमाणादिकं सर्गादौ कारणं न
संभवत्येव, यत्कारणं ब्रह्मातिरिक्तं स्यात्तत्कीदृशं कथं च तत्का-
रणं इदानीं मत्पुरतो वादिभिः कथ्यतां श्रुतियुक्तिभ्यां सद्य एव
निरसिष्यामीत्यर्थः ॥ १२ ॥ तव तर्हि कीदृशः सिद्धान्तस्त-
माह—सर्गादावेवेति ॥ १३ ॥ यदि केवलं चिन्मभ एव
भाति तर्हि दृश्यमिति सर्वैर्जनैः किमवबुध्यते तत्राह—आभास-

१ तादृशत्वं इति पाठः ।

आभासमात्रमेवेदं दृश्यमित्यवबुध्यते ।
 दृश्यमित्यवबोधेन तद्वत्ते स्यात्क दृश्यता ॥ १४
 स्वस्वमत्कारचातुर्यं चाह चित्रमसा रसात् ।
 बोधेन बुध्यते दृश्यमित्यवबोधान्न बुध्यते ॥ १५
 बोधोऽबोधश्च तद्रूपमेवमेव निरामयम् ।
 मेदोऽत्र चाचि न त्वर्थे तस्मान्नास्त्येव दृश्यता ॥ १६
 या चासीद्दृश्यतैषां तां विद्धि त्वमविचारणाम् ।
 सा चेदानीं विचारेण विनष्टातः क दृश्यते ॥ १७
 अस्मिन्नेव धियो यत्न आत्मज्ञानविचारणे ।
 यत्नेन परमोऽभ्यासः स लोकद्वयसिद्धिदः ॥ १८
 अविद्योपशमस्त्वेष जातोऽपि भवतामिह ।
 अभ्यासेन विना साधो न सिद्धिमुपगच्छति ॥ १९
 बोद्धेयं संपरित्यज्य गृहीत्वानुदिनं क्षणम् ।
 लोकद्वयहितं पथ्यमिदं शास्त्रं विचार्यताम् ॥ २०
 विज्ञातमप्यविज्ञातमात्मज्ञानमिदं भवेत् ।
 भवतां भूरिमागानां संभूयाभ्यसनं विना ॥ २१
 योऽयमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा ।
 सोऽवश्यं तमवाप्नोति न चेच्छान्तो निवर्तते ॥ २२
 तस्मादसांनिवर्तस्वमसच्छास्त्रविचारणात् ।
 शान्तिं प्राप्स्यथ सच्छास्त्राज्जयलक्ष्मीं यथा रणात् ॥

विवेके चाविवेके च बह्व्येषा मनोनदी ।
 यत्रैव बाह्यते यत्नाच्चत्रैव स्थितिमुच्छति ॥ २४
 अस्माच्छास्त्रादते श्रेयो न भूतं न भविष्यति ।
 ततः परमबोधार्थमिदमेव विचार्यताम् ॥ २५
 स्वयमेव विचार्येदं परो बोधोऽनुभूयते ।
 संसाराध्वश्चमहरो न त्वेतद्वरशापवत् ॥ २६
 यन्न पित्रा न वा मात्रा न चापि सुकृतैः कृतम् ।
 श्रेयस्तद्वः परिज्ञातमिदमाशु करिष्यति ॥ २७
 भवबन्धमयी साधो विषमेयं विबुद्धिका ।
 आत्मज्ञानादते दीर्घा न कदाचन शाम्यति ॥ २८
 महामोहमयी माया मिथ्यैवाहमिति स्थिता ।
 शास्त्रार्थभावेनेनाशु मुच्यतां परशोच्यता ॥ २९
 यात माऽऽपातमधुरं व्योम व्योमैकरूपिणीम् ।
 शून्यं वायुं लिहन्तोऽन्तर्लेलिहाना इवाहयः ॥ ३०
 यान्ति वो दिवसाः कष्टमविज्ञातगमागमाः ।
 व्यवहारे हि तैरेव प्रतिपालयतां मृतिम् ॥ ३१
 तावदाश्वासनैषास्ति भवतां भयभागिनाम् ।
 दिनानि कतिचिद्यावद्यायाति मरणावधिः ॥ ३२
 आगच्छन्त्यां मृतौ कष्टं परितापमवाप्स्यथ ।
 तं यत्राङ्गाङ्गविच्छेदः शीतचन्दनलेपनम् ॥ ३३
 क्रीणन्ति प्राणपण्येन धनं मानं धनभ्रमाः ।

मात्रमेवेति । निवर्तमानमेवेत्यर्थः । दृश्यमित्यवबोधेन गृह्य-
 माणस्यास्य शुक्तिरजतमरुनदीकेशोष्णकादेस्तच्चित्रमः ऋते क
 सत्यता दृष्टेत्यर्थः ॥ १४ ॥ तथा च चित्रमसा स्वस्वमत्कारचा-
 तुर्यमेव दृश्यमिति रसाज्जाग्रत्स्वप्नबोधेन बुध्यते सुषुप्तौ चाबो-
 धान्न बुध्यत इति निष्कर्ष इत्यर्थः ॥ १५ ॥ तर्हि तौ बोधा-
 बोधौ कौ तत्राह—बोध इति । तस्य चित्रमस एव रूपं न
 जडस्य । अतस्त्वदात्मना एकमेव । न हि बोधमन्तरेणाबोधस्य
 रूपं प्रसिध्यति । सति च बोधे तत्र नभोर्यो दुर्लभ इति राहोः
 शिरः शिर एव राहुपतिवद्वाङ्मात्रकृतो मेदो न त्वर्थेऽस्तीत्यर्थः
 ॥ १६ ॥ अथवा स्वतत्त्वाविचारणेन चित्तो दृश्यता विचार-
 नष्टेत्याह—या चेति ॥ १७ ॥ अत एव विचारे एव महा-
 न्यूनः कार्य इति बहुशो मयोक्तमित्याह—अस्मिन्नेवेति ।
 यत्नेन विचारस्य किं स्यात्तदाह—यत्नेनैति । लोकद्वये इह वा
 अमुत्र वा ज्ञानसिद्धिदः । तथा च सूत्रे 'आवृत्तिरसङ्कटपदे-
 शात्' । 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धेन तद्दर्शनात्' इति ॥ १८ ॥
 ननु नित्यापरोक्षे वस्तुनि प्रवृत्तमुपदेशवाक्यं सकृत्प्रवृत्त्यैवा-
 वित्यां शमयित्वा वस्तु प्रकटयिष्यति किमभ्यासेन तत्राह—
 अविद्योपशम इति । सिद्धिं जीवन्मुक्तिप्रतिष्ठाम् ॥ १९ ॥ तर्हि
 कं ग्रन्थमुपादाय विचारोऽभ्यसनीयः केन वा शीघ्रं प्रबोधः
 सिध्येत्तत्राह—प्रेति । त्रा शमादिसाधनसंपन्नपुरुषेण आलसा-
 रसाद्युद्वेगं तदेतुयवेद्यशनदुःसहादि च परित्यज्य क्षणं गुरुत्यु-
 श्रूपादिवियमं गृहीत्वा इदं महाराभायणाख्यं शासनाच्छास्त्रम-
 नुदिनं विचार्यताम् ॥ २० ॥ तत्र च बहुभिः सतीर्थैः संभूया-

भ्यसनं परस्परानुभवसंवादेन सद्यो ज्ञानप्रतिष्ठाहेतुरित्याह—
 विज्ञातमिति । अविज्ञातं विस्मरणादविज्ञातप्रायम् । भूरिभा-
 गानां बहुविधासंसाधनादिशालिनाम् ॥ २१ ॥ ज्ञानं दुर्ल-
 भमित्युद्देशाच्चक्षणं न स्याज्यमित्याह—य इति ॥ २२ ॥
 अनात्मशास्त्राभ्यासाजिवृत्तैरेतच्छास्त्राभ्यासः कार्य इत्याह—
 तस्मादिति । जयलक्ष्मीं भूजयलक्ष्मीं स्वर्जयलक्ष्मीं वा ॥ २३ ॥
 यज्ञाद्विरोधिलोतोन्तरनिरोधप्रयत्नात् ॥ २४ ॥ श्रेयः प्रशस्य-
 तं विवेकसाधनम् ॥ २५ ॥ तच्छास्त्रं विचार्य स्थितेन स्वयं
 प्रत्यक्षतया आत्मतत्त्वबोधोऽनुभूयते च नु वरवत् शापवद्वा
 कालान्तरमिलम्बनेत्यर्थः ॥ २६ ॥ पितृमात्रावपेक्षयापि शास्त्र-
 मेतद्विदितकृतममित्याह—यदिति । विचारेण शास्त्रं परिज्ञातं
 सत् । परिज्ञातं प्रत्यक्षं श्रेय इति वा ॥ २७ ॥ २८ ॥ बह-
 मिति मिथ्यैव स्थिता महामोहमयी माया तत्प्रयुक्ता पण-
 शोच्यता च मुच्यताम् ॥ २९ ॥ आपातमधुरं व्योम शून्यं
 विषयजातं लिहन्तः सन्तो व्योमैकरूपिणीमनन्तां संसृतिं मा
 यात लेलिहानाः क्षुधिता रसशून्यं वायुं लिहन्तः अहयः सर्पा
 इव ॥ ३० ॥ ३१ ॥ मरणरूप आद्युपोऽनवधिर्यावद्यायाति तावदेव
 भवतां सच्छास्त्रावल्म्बनयोग्यतया आश्वासना अस्ति ॥ ३२ ॥
 तदुत्तरं किं भविष्यति तत्राह—आगच्छन्त्यामिति । तं तादृशं
 परितापमवाप्स्यथ यत्र अज्ञानामज्ञाना निच्छेदोऽपि शीतचन्द-
 नलेपनवदवश्यं भोज्य इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ धनभ्रमा मूर्ख
 जना युद्धादौ प्राणपण्येनापि धनं जयाभिमानं च क्रीणन्ति ।

यथाशास्त्रैः कथं बुद्ध्या न क्रीणन्त्यजरं पदम् ॥ ३४
 पदं परमयत्नेन क्रियते यैश्चिदम्बरे ।
 कथं तैः सद्यतेऽज्ञानशत्रुपादः स्वमूर्धनि ॥ ३५
 निर्मानमोहमापन्ना गतिं गच्छत माधमाम् ।
 क्रियते स्वात्मबोधेन मूलकाशो महापदाम् ॥ ३६
 प्रलपन्तमहोरात्रं युष्मदर्थेन मामिमम् ।
 यं प्रदृश्येदमाकर्ण्य स्वात्मनैवात्मतापर्यताम् ॥ ३७
 अथैव न चिकित्सां यः करोति मरणापदः ।
 संप्राप्तायां मृतौ मूढः करिष्यति किमातुरः ॥ ३८
 अस्माद्ग्रन्थाद्वेत्ते ग्रन्थो नान्यः स्वात्मावबोधने ।
 नूनमर्थकरो ग्राह्यस्तिलस्तैलार्थिनामिव ॥ ३९
 आत्मज्ञानमिदं शास्त्रं प्रकाशयति दीपवत् ।
 पितेव बोधयत्याशु कान्तेव रमयत्यलम् ॥ ४०
 विद्यमानमपि ज्ञानं क्षातं शास्त्रगणाक्ष यत् ।
 दुर्बोधं मधुरं तत्तु ज्ञास्यन्तीतो न संशयः ॥ ४१
 इदमुत्तममाख्यानं मुख्यानां शास्त्रदृष्टिषु ।

यथाशास्त्रैर्विवेकवैराग्यश्रवणाद्युपायैः प्राप्तया तत्त्वबुद्ध्या अ-
 जरं मोक्षपदं कथं न क्रीणन्त्याध्वमेतदित्यर्थः ॥ ३४ ॥ यै-
 र्विवेकिभिः अयत्नेन स्वतत्त्वज्ञानमात्रेण चिदम्बरे ब्रह्माकाशे
 पदं स्थानं क्रियते परं सर्वोत्कृष्टैस्त्वादृशैरज्ञानशत्रुवधसमर्थैः
 सच्छास्त्राद्युपेक्षया स्वमूर्धनि अज्ञानशत्रुपादः कथं सद्यते
 ॥ ३५ ॥ हे जनाः, यूयं निर्गतौ मानमोहौ यस्मात्तथाविधं
 दृढविवेकमापन्नाः सन्तस्तत्त्वं बुद्ध्या मोक्षगतिं गच्छत अधमां
 संसारगतिं मा गच्छत ॥ ३६ ॥ बहुकालं बहुप्रकारैरस्मद्बो-
 धने प्रवृत्तोऽयं वसिष्ठः कण्ठशोषदुःखादिमुच्यतामिति मयि
 दयया वा मद्वचनं सम्यगाकर्ण्य स्वात्मा युष्मासिर्बुध्यतामिति
 वात्सल्यातिशयेनाह—प्रलपन्तमिति । यं जगत्प्रसिद्धमिमं
 युष्मद्बोधनायोद्युक्तं युष्मदर्थेन अहोरात्रं प्रलपन्तं कण्ठशोषश्र-
 मादिना नित्यं क्लिश्यमानं मां प्रदृश्य सम्यग्दृष्ट्वा दयया इदं
 मद्वचनमादरेणाकर्ण्य प्रबुद्धेनात्मनैव देहेन्द्रियादिपरिच्छिन्नात्म-
 भावं विहाय यथाभूतब्रह्मात्मता अर्प्यतां प्राप्यतामिति प्रार्थ-
 नायां लोद ॥ ३७ ॥ किमथैवात्मज्ञानेन अग्रे कदाचित्करि-
 ष्याम इति मन्वानान्प्रत्याह—अथैवेति ॥ ३८ ॥ नान्यः
 विद्यते इति शेषः । नूनं निश्चयेन अर्थकरः अभिलषितार्थका-
 रीति बुद्ध्या ग्राह्यः ॥ ३९ ॥ इतराभ्यात्मग्रन्थेभ्योऽस्य कोऽति-
 शयस्तमाह—आत्मज्ञानमिति । आत्मरूपं ज्ञानम् ॥ ४० ॥
 विद्यमानं नित्यप्राप्तमपि यत् आत्मरूपं ज्ञानं शास्त्रान्तरात्र
 ज्ञातं तत् इतः अस्माच्छास्त्राज्ज्ञास्यन्ति ॥ ४१ ॥ शास्त्रदृष्टिषु
 मुख्यानामाख्यानानां मध्ये इदमाख्यानमुत्तमम् । अस्मिन्ना-
 ख्याने अपूर्वमनादितत्त्ववित्संप्रदायप्रसिद्धव्यतिरिक्तं स्वकपोल-
 कल्पितं किञ्चन न तु नास्त्येव ॥ ४२ ॥ विनोदेन कौतूहले-
 नापि विचारयन्पुमान्परमात्मबोधं याति प्राप्नोति ॥ ४३ ॥
 पण्डितैः सर्वशास्त्रज्ञैरपि यो बोधोऽद्यापि न संप्राप्तः स इतः

सुखेन बोधदं हृद्यमपूर्वं न तु किञ्चन ॥ ४२
 नानाख्यानकथाचित्रं विनोदेन विचारयेत् ।
 इदं शास्त्रं परं याति पुमाश्चास्त्यत्र संशयः ॥ ४३
 यो ह्यद्यापि न संप्राप्तः पण्डितैरविखण्डितैः ।
 स इतः प्राप्यते बोधः सुवर्णमिव सैकतात् ॥ ४४
 शास्त्रकर्तरि मङ्गल्यं न कदाचन कुत्रचित् ।
 शास्त्रार्थ एव तन्नित्यं युक्तियुक्तानुभूतिदे ॥ ४५
 अज्ञानान्मत्सरान्मोहादविचारिभिरेकता ।
 अवहेलितशास्त्रार्थैः कर्तव्या नात्मद्वन्द्वभिः ॥ ४६
 जानाम्येव यथैवेमा यदहं त्वं यथा धियः ।
 तथा बोधितकारुण्यात्स्वभावो हि ममेदृशः ॥ ४७
 युष्मत्संविद्भवः शुद्ध एव वक्तुमिह स्थितः ।
 अहं नरो न गन्धर्वो नामरो न च राक्षसः ॥ ४८
 संविन्मात्रा भवन्तो हि तद्भावोऽस्त्यतिनिर्मलः ।
 स्थितोऽस्मीति भवत्पुण्यैर्ननु नास्मि न चापरः ॥ ४९

अस्माच्छास्त्रात्प्राप्यते । यथा सुवर्णाकरे क्षालनेन विवेचिता-
 त्सैकतात्सुवर्णं प्राप्यते तद्वत् ॥ ४४ ॥ ननु अस्माच्छास्त्रादेव
 ज्ञानं चेदेतच्छास्त्रकर्ता कस्माच्छास्त्राज्ज्ञातवान् । यत एव स
 ज्ञातवांस्तत एव वयमपि ज्ञास्यामः । यथज्ञात्वैवेतच्छास्त्रं प्रणी-
 तवांस्तद्वत्सामाच्छास्त्राज्ज्ञानोदये का प्रत्याशेति शङ्कमानान्प्र-
 त्याह—शास्त्रकर्तरीति । यदेतच्छास्त्रं युक्तियुक्तमनुभवपर्यव-
 सितं च न स्यात्तदा एतत्कर्तृबोधमूलकप्रामाण्यमेतच्छास्त्र-
 मिति तत्कर्तरि बोधहेतुचिन्तया मङ्गल्यं स्यात् । अस्मिन्नु
 शास्त्रे स्वतो युक्तिसहस्रयुक्ते अनुभूतिदे च सति स्वानुभवेनैव
 सर्वशङ्कानिवृत्तेस्तत्रैव तन्मज्जनं नित्यं युक्तमिति न शास्त्रकर्तरि
 बोधशङ्कया कदाचिन्मङ्गल्यमित्यर्थः ॥ ४५ ॥ अत एवेतच्छा-
 स्त्रावहेलनपरैः सह मैत्री न कार्येत्याह—अज्ञानादिति । ए-
 कता मैत्री । अभ्यात्मशास्त्रावहेलने आत्मज्ञानानवाप्तिरेवात्म-
 हत्येत्याशयः ॥ ४६ ॥ त्वं तर्ह्यस्माभिरन्यैश्चाज्ञैः सह कथं
 मैत्रीं भजसे यतो दयया उपदेशे प्रवृत्तोऽसि तत्राह—जाना-
 मीति । हे राम, इमाः श्रोतृश्रेणयो यथा यादृशाधिकारिविशेष-
 णसंपन्नाः । त्वं च यथा यादृगधिकारिविशेषणसंपन्नः । यथा च
 वो धियः भवणधारणाभ्यासपद्धयः । अहं च यत् यादृशं भवदा-
 द्युपदेशाय पितुराज्ञापनं प्राप्तस्तत्सर्वं जानाम्येव । अतस्तथा-
 विधमवद्वाग्योदयोद्बोधितात्कारुण्याद्युष्मदुपदेशोऽहं प्रवृत्त इति
 शेषः । हि यस्मान्मम स्वभाव ईदृशः सदा दीनेषूद्बुद्धकारुण्य
 एव न निष्ठुर इति युष्मद्विद्वेषिणो दयालोर्मम वचनमाद्रियध्व-
 मिति भावः ॥ ४७ ॥ अथवा भवतामात्मैवाहं भवत्पुण्यव-
 शाच्छुद्धं युष्मत्तत्त्वं युष्मभ्यमुपदेष्टुमागतः । मम च भवन्तः
 परमप्रेमास्पदमात्मैवेति युष्मन्मित्रतामिव प्राप्त इत्याह—यु-
 ष्मदिति द्वाभ्याम् । संविद्रूपो लवः शोधितः सूक्ष्मार्थो न तु
 नरगन्धर्वादिशरीरमित्यर्थः ॥ ४८ ॥ अपरो भवदात्मव्यति-

श्यामायमाना नायान्ति यावन्मरणवासराः ।
 सारः संहियतां तावद्वैरस्यं वस्तुदृष्टिषु ॥ ५०
 इहैव नरकव्याधेऽधिकित्सां न करोति यः ।
 गत्वा निरौषधं स्थानं स रुजः किं करिष्यति ॥ ५१
 सर्वभावेषु वैरस्यं न यावत्समुपागतम् ।
 भावानां भावना तावत्तानवं नोपगच्छति ॥ ५२
 आत्मानमलमुद्धर्तुं वासनातानवाहते ।
 नास्त्युपायो महाबुद्धे कश्चनापि कदाचन ॥ ५३
 भावास्तु यदि विद्यन्ते तद्धिते वस्तुभावना ।
 किं त्वेते नैव सन्तीह शशशृङ्गादयो यथा ॥ ५४
 सर्वे एव जगद्भावा अविचारितचारवः ।
 अविद्यमानसद्भावा विचाराद्विशारवः ॥ ५५
 प्रामाणिकविचारेषु न विद्यन्ते कृतेषु ये ।
 कथं सन्ति जगद्भावास्ते के सन्ति सदैव वा ॥ ५६
 सर्वे एव जगद्भावाः कारणाभावतो भ्रुशम् ।
 सर्गादावेव नोत्पन्ना यच्चेदं भाति तत्परम् ॥ ५७
 पदे सर्वेन्द्रियातीते मनःषष्ठेन्द्रियात्मनाम् ।
 भावानां कारणं नास्ति मनःषष्ठेन्द्रियात्मकम् ॥ ५८
 भावानां विविधाख्यानामनाख्यं कारणं कुतः ।

कुतो वस्तुन्यवस्तुत्वं व्योमन्यव्योमता कुतः ॥ ५९
 साकारस्य हि साकारं वदधानादिवद्भवेत् ।
 बीजं तद्वस्तु साकारं जायतेऽन्यत्कुतोऽन्यथा ॥ ६०
 न किञ्चिदपि यत्रास्ति बीजमाकृतिमन्मनाक् ।
 तत् आकृतिमद्विभवं भवतीति विडम्बनम् ॥ ६१
 कार्यकारणभावादि तस्मिन्नहि परे पदे ।
 वाचालत्वेन यन्नाम कल्प्यते मौर्ख्यमेव तत् ॥ ६२
 सहकारिनिमित्तानामभावे हि न कारणात् ।
 कार्यं भवेदन्यदेति वालैरप्यनुभूयते ॥ ६३
 तन्मात्रवेदनं भूयः पृथ्व्यादीनां च कारणम् ।
 किमस्ति कथ्यतां छाया कथमास्ते वदातपे ॥ ६४
 परमाणुसमूहा ये जगदित्यप्यवास्तवम् ।
 शशशृङ्गं घनुः प्रस्यमहानादभिधीयते ॥ ६५
 परमाणुसमूहश्चेत्संभूय कुर्वते जगत् ।
 यदृच्छयैव तमसि शीर्यते च यदृच्छया ॥ ६६
 तदङ्गमिहते नित्यं देशे देशे गृहे गृहे ।
 अपूर्वात्म रजः शृङ्गं स्वातं वा स्याद्दिने दिने ॥ ६७
 न च तद्गृह्यते किञ्चित्कस्य तत्कर्म तादृशम् ।
 भवेद्व्यर्थमभव्यस्य जडास्तु परमाणवः ॥ ६८

रिक्तो नास्ति । नन्विति सवोधने ॥ ४९ ॥ अतः परमाप्त-
 मोहमिति अदुक्तः प्रथमः सारः सर्ववस्तुदृष्टिषु वैराग्यलक्षणः
 संहियतां सृष्टताम् ॥ ५० ॥ स रुजः नरकरुजाभिः पीड्य-
 मानः ॥ ५१ ॥ वैराग्यमेव परमः सार इति कुत इति चेत्-
 द्विना वासनातानवासिदेरित्याह—सर्वेति ॥ ५२ ॥ वासनाता-
 नवे वा किमर्थमादरस्तत्राह—आत्मानमिति ॥ ५३ ॥ ननु
 भावेषु सत्सु कथं सद्वासनातानवं प्रसिद्धेति तत्राह—भावा-
 स्त्विति । यदि सत्यतया विद्यन्ते तर्हि तेषु भावेषु हिते
 स्वातृकूले वस्तुनि वस्तु भवेदमाश्रयकं सपाथमित्यादिभावना
 भवेत् ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ नन्वेते भावा वेदान्तिनां विचारेषु
 न सन्ति चेदपि कापिलकाणादादिविचारेषु सन्त्येवेति कुतोऽस-
 त्वावधारणं तत्राह—प्रामाणिकेति । प्रामाणिकविचारेषु कृतेषु
 ये न विद्यन्ते ते के सन्ति किरूपाः । एकैकवस्तुरूपा
 उत सर्ववस्तुरूपाः । सदैव वा ते सन्त्युत कदाचिदेव वा ।
 सर्वथापि प्राक् शतशः खण्डितमेवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥ ५७ ॥
 कारणाभावः कुतस्तत्राह—पदे इति । न हीन्द्रियावेद्ये स्वप्रका-
 शविदेकरसे ग्राह्याणि इन्द्रियवेद्याः प्रलयकाले संभावयितुमपि
 शक्या इति भावः ॥ ५८ ॥ सनामरूपकस्य जगतः अनामरूप-
 कमपि कारणं न संभवतीति युक्त्यन्तरमप्याह—भावानामिति ।
 एवं वस्तुवस्तुनः कारणं शून्यमशून्यस्येति तदपि दुर्वचम्, तदा-
 त्पतापत्ययोगादित्याह—कुत इति ॥ ५९ ॥ एवं निराकारं
 साकारस्य कारणमित्यप्युक्तमित्याह—साकारस्येति । बीजं
 भवेत् ॥ ६० ॥ विडम्बनं विडम्बनवाक्यवदर्थशून्यमिति

यावत् ॥ ६१ ॥ वाचालत्वेन बहुभाषित्वेन ॥ ६२ ॥ ६३ ॥
 जगद्वेदनत्वादपि चितो न जगत्कारणत्वं घटवेदने घटकारण-
 त्वाभावदर्शनादित्याह—तन्मात्रेति । तत्र कुतलवेदनस्य
 घटकारणत्वदर्शनाद्यभिचारमाशङ्क्य मात्रपदम् । चित्तचिदव-
 स्थानायोगादपि चितो न कारणतेत्याशयेनाह—छायेति
 ॥ ६४ ॥ अत एव परमाणुकारणवादिनो बौद्धादयोऽप्यपास्ताः ।
 अतीन्द्रियसमूहस्यैन्द्रियकत्वाददर्शनादित्याशयेनाह—परमाण्विति
 ॥ ६५ ॥ यदि परमाणवः समूय जगत्कुर्युस्तर्हि तेषां सदा न-
 भसि सृज्यनपतनवर्धनाप्रतिगृहं दिने दिने गिरेरिव शृङ्गं कृपा-
 दिवत्खातो वा स्यादित्याह—परमाण्विति द्वाभ्याम् ॥ ६६ ॥
 तस्य जगतः अङ्गमवयवभूतं रजो देशे देशे गृहे गृहे च अपूर्वं
 नव नवमिहते चकल्येवेति शृङ्गं स्वातं वा स्यादित्यर्थः ॥ ६७ ॥
 न च परमाण्वाख्यं निरवयवं किञ्चिद्गर्वं केनचिद्गृह्यते । जालान्त-
 रमरीचिषु सावयवानामेव रजसा दर्शनात् । तदवयवपरम्पर-
 वधिर्निरवयवोऽनुमीयत इति चेन्न । तस्य संयोगानर्हत्वेनाद्वय-
 त्वापत्तेः । न हि निरवयवोऽन्येन संयोगमर्हति । संयोगस्यैकदेश-
 वच्छिन्नवृत्तिकत्वनियमात् । न च तदभावे अणुकादिसिद्धिरिति
 व्याघातः । किञ्चातीन्द्रियाणां खण्डकल्पानां परमाणूनां संयो-
 जनेन जगद्वचनं कस्य कर्म । किमसंसारिण उत संसारिणः ।
 तत्र संसारिणस्तावत्परमाणुभिर्जगत्तिर्भागे असामर्थ्यं स्पष्टमेवे-
 त्यभव्यस्य भवानर्हस्येश्वरस्य जडस्य वा तद्वाच्यम् । तत्र का-
 यस्य व्यर्थं निष्प्रयोजनं जगद्वचनं भवेत् । न हि नित्यमुक्तस्य
 श्वरस्य प्रयोजनापेक्षा प्रयोजनं वा सर्वस्योपपादयितुं शक्यते ।

नाबुद्धिपूर्वं तत्कर्म संभवत्यङ्गं कस्यचित् ।
 बुद्धिपूर्वं तु यद्यर्थं कुर्यादुन्मत्तको हि कः ॥ ६९
 जडस्य बुद्धिपूर्वेहा मरुतो नास्ति तां विना ।
 न संभवत्यणुचयो नान्यत्कर्तोपपद्यते ॥ ७०
 वयमात्मान एवेमे खात्मानः खात्मका जनाः ।
 तथा स्थिता यथा स्वप्ने भवतां स्वप्नमानवाः ॥ ७१
 तस्मान्न जायते किञ्चिद्विश्वं नापि च विद्यते ।
 इत्थं चिन्नम एवाच्छं प्रकचत्यात्मनात्मनि ॥ ७२
 विश्वाकाशं चिदाकाशे विष्वग्विश्रान्तिमागतम् ।
 स्पन्दो द्रवत्वं शून्यत्वमनिलेऽम्भसि खे यथा ॥ ७३
 देशादेशान्तरप्राप्तौ निमेषेणातिदूरतः ।
 संविदो यद्वपुर्मध्ये चिद्योमो विद्धि तद्वपुः ॥ ७४
 स स्वभावो हि सर्वेषामर्थानां ते च तन्मयाः ।
 तादृशास्तन्नभोरूपास्तेन विश्वमतो नमः ॥ ७५
 स्वभावस्य परा वृत्तिर्मनागेवाशु तस्य सा ।
 स्वभावादविभिन्नैव सेदं जगदिति स्थिता ॥ ७६
 जगच्चिन्नमसोस्तस्मान्न कदाचन भिन्नता ।
 एकमेव द्वयो रूपं पवनस्पन्दयोरिव ॥ ७७
 देशादेशान्तरप्राप्तौ विदो मध्ये हि यद्वपुः ।
 शान्ताशेषविशेषात्म तन्मुख्यं नेतरद्विदुः ॥ ७८
 स स्वभावोऽङ्गं भूतानां तत्र तिष्ठन्ति पण्डिताः ।
 तस्मान्न विचलन्त्येते नित्यध्यानाद्धरादयः ॥ ७९

न च जडाः परमाणवः स्वतः सर्गे प्रवर्तितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ६८ ॥ ननु चेतनस्य बुद्धिपूर्वके रचने प्रयोजनापेक्षा, अबुद्धिपूर्वके तु न सा तत्राह—नेति । हे अङ्ग, तत् मनसाप्यचिन्त्यरचनात्मकं भूतभुवनं चतुर्विधभूतग्रामसंभृतं सर्गकर्म अबुद्धिपूर्वं कस्यचित् संभवति । बुद्धिपूर्वकं तु व्यर्थं कर्म क उन्मत्तकः कुर्यात् ॥ ६९ ॥ एतेन वायुरेवाणुचर्यं करिष्यति बुद्धिपूर्वव्यापारं विनैवाणुचयो भविष्यतीति प्रत्याशापि निरस्तेत्याह—जडस्येति । जडस्य मरुतो बुद्धिपूर्वा ईहा चेष्टा नास्ति । तां विना तु अणुचयो न संभवति । जडसर्वज्ञाभ्यामन्यज्जीवजातं तु प्रलये देहाद्यभावादसमर्थमेवेति न सर्गादौ कश्चित्कर्तोपपद्यत इत्युपसंहारः ॥ ७० ॥ ननु यदि कर्त्रभावादनुत्पन्नमेव जगत्तर्हि वयं किमात्मकाः कथं वा जगति स्थितास्त्राह—वयमिति । इमे वयं खात्मानो देहादिमूर्तताशून्याश्चिदात्मान एव । एवं जना अपि खात्मका एव । तथापि स्वप्ने यथा भवतां स्वप्नमानवाः स्थितास्तथा अस्मत्कल्पनयैव स्थिता इत्यर्थः ॥ ७१ ॥ इत्थं सर्वोपपत्तेर्ब्रह्माद्वैतसिद्धान्तो निष्प्रत्यूह इत्याह—तस्मादिति ॥ ७२ ॥ अनिलादौ स्पन्दादि यथा अभिन्नमेव विष्वग्विश्रान्तिमागतं तथा चिदाकाशे विश्वाकाशमपीत्यर्थः ॥ ७३ ॥ जगच्छून्यस्य चिद्योमो यद्वपुं तत्प्राग्बहुशो दृष्टान्तेनानुभावितं स्मारयति—देशादिति ॥ ७४ ॥ सर्वेषां पदार्थानां संविदाकाश एव परमार्थस्वभावः । अतो हेतोर्विश्वं तेन तद्भावेनैव यो० वा० १६५

आभासाकाशमेवेदं भामात्रमवभासनम् ।
 विश्वमाकाररहितं स्वभावं विदुरव्ययम् ॥ ८०
 न जायते न म्रियते न भूत्वा भावि कुत्रचित् ।
 अनन्यदेव चिद्योमः शून्यत्वमिव खाज्जगत् ॥ ८१
 न विश्वमस्ति नैवासीन्न च नाम भविष्यति ।
 इदमाभासते शान्तं चिद्योम परमात्मनि ॥ ८२
 चिन्मात्रमेव कचति स्वप्ने पुरतया यथा ।
 तथैव जाग्रदाख्येऽस्मिन्स स्वप्ने कचति स्वयम् ॥ ८३
 सर्गादावेव भावानामसत्तेत्यस्ति देहकः ।
 कुतस्तस्माच्छरीरत्वं स्वप्न एव नमश्चिते ॥ ८४
 स्वयंश्चाख्यं शरीरं स्वं पूर्वः स्वप्नो महाचितेः ।
 इत उत्थानास्तदनु स्वप्नात्स्वप्नान्तरं वयम् ॥ ८५
 गण्डस्योपरि जातानां स्फोटानामत एव नः ।
 परमेण प्रयत्नेन न मनो नाम यास्यति ॥ ८६
 ब्रह्मैवासत्यपुरुषः सत्यवच्चानुभूयते ।
 स्थितं ततः प्रभृत्येव न त्वलीकमिदं ततम् ॥ ८७
 आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमलीकं जायते जगत् ।
 यथा स्वप्ने तथालीकमेवमाशु विनश्यति ॥ ८८
 चिद्योमैवैत्य विश्वत्वं यथा स्वप्ने विनश्यति ।
 अनुदित्वैव विश्वत्वं जाग्रदाख्ये तथैव च ॥ ८९
 अनुभूतमलीकं चाप्यलीकं सत्यवत्स्थितम् ।
 संविदेव यथा स्वप्ने नगरादितयोदिता ॥ ९०

नमो न शून्यभावेनेत्यर्थः ॥ ७५ ॥ तस्य चिदाकाशस्य स्वभावादविभिन्नैव या विवर्तभावेन स्वभावस्य परा वृत्तिः सैवेदं जगदिति आपातदर्शिनां स्थिता ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ तन्मुख्यं अनुभवस्य संपन्नं निदर्शनं नेतरदित्यर्थः ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ इदं विश्वं चिदर्पणे आभासाकाशमेव । तदवभासनं च भामात्रम् ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ सर्गादौ पृथिव्यादिभावानामेवासत्तेति हेतोरयं पार्थिवादिदेहकः कुतः अस्ति । तस्मादिदं भासमानं शरीरत्वं नभोरूपस्य चितेः स्वप्न एव ॥ ८४ ॥ पूर्वः प्राथमिकः । इतः स्वयंभूशरीरादुत्थानं येषां ते वयं तदनु स्वप्नात्स्वप्नान्तरमिवेत्यर्थः ॥ ८५ ॥ अत एव नो मनः परमेणापि प्रयत्नेन प्रवर्तमानं ब्रह्मणि क्षाटिति न यास्यति । गलगण्डोत्थितस्य स्फोटस्य गलेनैव व्यवहितसंबन्धभ्रान्तिदाढ्यादित्याह—गण्डस्येति ॥ ८६ ॥ यथा गलमेव गण्डात्मना स्थित्वा तद्गतस्फोटात्मनापि स्थितमपृथग्भूतमपि पृथक्सत्यमिवानुभूयते, तथा ब्रह्मैव हिरण्यगर्भव्यष्टिजीवलक्षणाऽसत्यपुरुषो भूत्वा तद्भावेनैव सत्यवच्चानुभूयत इत्यर्थः । यदाप्रमृति ब्रह्म जीवभूतं ततः प्रभृत्येव अलीकमिदं जगत्ततं स्थितम् ॥ ८७ ॥ अलीकमनृतम् । एवं स्वप्नवदेव आशु विनश्यति तदप्यलीकमेव ॥ ८८ ॥ अनुदित्वा उदयं जन्म अप्राप्यैव ॥ ८९ ॥ यथालीकमेव तर्हि कथमनुभूतं कथं वा सत्यवत्स्थितम् । शशशृङ्गादावुभयादर्शनात्त्राह—अनुभूतमिति । अलीकमप्यनुभूत-

साकारेव निराकारा स्थिता तद्वज्रगत्तया ।
 संविदाकाशमाकाशादणु मेरोरणुर्यथा ॥ ९१
 किल यत्तस्य नाम स्यादाकाशादणुता कुतः ।
 कारणाभावतोऽन्यस्य नाकार उपपद्यते ॥ ९२
 सर्गादावेव योऽजातो जातोऽयं जगतः कुतः ।
 यदेव वेदनाकाशे पुरं स्वप्ने तदेव नः ॥ ९३
 भेदः स्वप्नाद्विचिद्ध्योन्नोर्न शून्याम्बरयोरिव ।
 यदेव चित्रभो नाम तदेव स्वप्नपत्तनम् ॥ ९४
 यदेव स्पन्दनं नाम स एव पवनो यथा ।
 स्पन्दस्पर्शैकरूपात्मा वायुर्व्योमोपमो यथा ॥ ९५
 इत्यार्षे श्रीवा० वाल्मी० दे० मो० निर्वा० उ० सकलभावभावोपदेशेन परमार्थैकताप्रतिपादनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

तस्माच्चित्रम एवेदं जगदाकृति लक्ष्यते ।
 सर्वं शून्यं निरालम्बं मासनं चिद्विवस्वतः ॥ ९६
 शान्तमेवेदमखिलं निरस्तास्तमयोदयम् ।
 सकृद्विभातममलं दृषन्मौनमनामयम् ॥ ९७
 तस्माद्वद कथं भावाः कुतो भावाः क भावधीः ।
 क द्वैतं कैकता काहं क भावाः क च भावनाः ॥ ९८
 नित्योदितो व्यवहरन्नपि निर्विकारो
 द्वित्वैक्यमुक्तमतिरुत्तमशीतलोऽन्तः ।
 निर्वाण आस्व विगतामयशुद्धबोध-
 बोधैकतामुपगतोऽङ्ग न सन्ति भावाः ॥ ९९

चतुरधिकशततमः सर्गः १०४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 आकाशः शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रकोऽनिलः ।
 तत्सङ्कोत्कर्षजं तेजस्तच्छान्तिश्चेत्यर्पा स्थितिः ॥ १

मलीकमपि सत्यवस्थितम् । यतस्तदसन्मते संविदेव न
 शून्यमित्यर्थः ॥ ९० ॥ आकाशादप्यणु । तत्र द-
 दान्तः—मेरोः अणुः परमाणुर्यथा अणुस्तद्वत् ॥ ९१ ॥ तर्हि
 किमाकाशादप्यणुता तस्य धर्मो नैत्याह—किलेति । आ-
 काशादणुताख्यो धर्मः कुतः क वा प्रसिद्धो यत्किल तस्य ब्रह्मणो
 धर्मो नाम स्यात् । अणुतोकेस्तर्हि कोऽभिप्रायस्तस्माद्—कार-
 णेति । अन्यस्य जगतः स्थूल आकारो नोपपद्यते तादृश-
 कारणाभावादिति वक्तुं तस्य तथात्वोक्तिरित्यर्थः ॥ ९२ ॥ न-
 निवृत्तानीमिष्टकादे. पुरादिजन्मदर्शनाजगत एव जगज्जायतां न
 ब्रह्मणस्तत्राह—सर्गादावेवेति । यः पुरादिः सर्गादावेव अ-
 जातः स जगतः कुतो जातः । किंच स्वप्ने विनैवेष्टकादिभ्यः पुरा-
 दयो दृश्यन्ते । जाग्रद्वेदनाकाशे यदेव पुरं तदेव नः सिद्धान्ते
 स्वप्नेऽपि पुरं तत्र न व्यभिचारः स्फुट इत्यर्थः ॥ ९३ ॥ एवं
 स्वप्नाप्रदर्थयोर्मेदाभावे स्वाप्नार्थानां विद्योममेदाभावाज्जाग्रद-
 र्थानामपि तदभेदः सिद्ध इत्याशयेनाह—भेद इति ॥ ९४ ॥
 उक्ते अभेदे स्पन्दनपवनौ वाय्वाकाशौ च दृष्टान्तावित्याह—
 यदेवेति । व्योमोपमो व्योमाभिन्नः ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ सकृद्वि-
 भातमखण्डस्फुरणरूपम् ॥ ९७ ॥ एवं च चितो निष्प्रपञ्चता
 सिद्धेत्याह—तस्मादिति ॥ ९८ ॥ हे अङ्ग, त्वं विगतामयशु-
 द्धबोधरूपस्य तत्त्वस्य बोधेन तदेकतामुपगतः सन् नित्योदितो
 व्यवहरन्नपि तदभिनिवेशाभावाच्चिर्विकारो द्वित्वैक्याभ्यां पर-
 स्परविरुद्धाभ्यां सुखा मतिर्यस्य तथाविधः सन् अन्तः उत्तम-
 शीतलो भूत्वा निर्वाणो निरतिशयानन्दनिर्गुत आस्व । यतस्ते
 विक्षेपहेतवो भावा न सन्तीत्यर्थः ॥ ९९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थैकताप्रति-
 पादनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

भूरेषां सङ्गः स्वप्नामे जगद्भाने क्रमस्त्विति ।
 कथं नाम किलासूर्ताद्वयोन्नो मूर्तिः प्रवर्तते ॥ २
 गत्वा सुदूरमप्येतज्जसेध्वेतपरिकल्प्यते ।

आकाशादेर्हि वाय्वादिभावोऽनुभवतो यथा ।

चित एव जगद्भाषोऽनुभवादेव साध्यते ॥ १ ॥

चिन्मात्रमेव जगदाकारेण स्वप्नवद्भातीति श्रुत्वा तदेवा-
 भवालम्बने प्रमाणतः पदार्थतत्त्वं जिज्ञासमानैः सर्वैरकाशा-
 दिक्रमसृष्टिकल्पनापरम्पराभिः सुदूरमपि गत्वा अन्ततः क्षणी-
 करणीयमिति वर्णयिष्यन्नाकाशादीनां तैर्थिकप्रसिद्धां स्वरूपसि-
 त्तिमाह—आकाश इत्यादिना । तयोर्यः सङ्कोत्कर्षः संवर्षाति-
 शयस्तस्माज्जातं रूपतन्मात्रं तेजस्तस्य तेजसः शान्तिः औ-
 ष्यरौक्ष्यप्रशमनेन शैत्यद्रवत्वावलम्बनलक्षणं रसतन्मात्रमि-
 त्यर्पा स्वभावस्थितिरित्यर्थः ॥ १ ॥ भूस्तु एषां संहन्तीति
 संघो मेलने धनीभावहेतुर्गन्धतन्मात्रमिति चित एव स्वप्नामे
 जगद्भाने इयं क्रमस्थितिः । तत्रेदं पृच्छामः—अमूर्ताद्योऽ-
 पृथिव्यन्ता मूर्तिः कथं प्रवर्तत इति । यदि कश्चिद्भूयाद्वायुरेव
 प्रथममाकाशात्क्रियास्पर्शप्रधानं उत्पद्यते स च रूपाभावात्कि-
 दाकाशवत्स्पर्शक्रियाशालित्वात्किंचिन्मूर्तवदपीति रूपतन्मात्र-
 धानं मूर्तं तैजो जनयिष्यतीति । तच्च । निरवयवकूटस्थेनाश-
 नेन वायोरेवासिद्धेः । न साव्याप्रियमाणं निरवयवं च कि-
 दाकारवत् विकर्तुं वा शक्नोति । किंच यदि कृत्स्नं विक्रियेत तर्षा-
 काशाभावाग्निरवकाशा वाय्वादयः स्युः । यद्यर्थं ततोऽयं वा
 तर्षाकाशस्यापि सावयवत्वप्रसङ्गः । अस्तु सावयवमपीति चेत्-
 देव स्पर्शवत्क्रियावच्च स्यादिति वाय्वादिजननवैयर्थ्यं निरवय-
 वात्ता च तस्य तदवयवानां च स्यात् । एवं वायोरपि नीरुपा-
 द्रूपतन्मात्रोत्पत्तिरारम्भेण परिणामेन वा दुर्विरूपेव । कार-
 गुणा हि कार्यगुणानारम्भन्ते । न च रूपं वायावस्ति । परैर-
 केन हि परिणामः स्थानं च विना तेजः परिपाकोऽस्ति । एव-
 सुत्तरभूतयोरप्युत्थमिति ॥ २ ॥ नन्वनुभवबलदेव कूटस्थाद-

तदादावेव सत्यर्थे दोषोऽस्मिन्क इवामले ॥ ३
 इतिरेवातिविमला स्वरूपात्मनि भाति यत् ।
 तदेव जगदित्युक्तं सत्यमित्येव सत्यतः ॥ ४
 न कचित्सन्ति भूतानि पञ्च कुट्यादयो न वा ।
 असन्त्यप्यनुभूतानि ननु स्वप्नदशास्त्रिव ॥ ५
 स्वभाव एव विमलो यथा स्वप्ने पुरादिवत् ।
 कचत्येवं जाग्रतीदं जगद्ब्रह्मस्तुतस्तु खम् ॥ ६
 चेतनाकाश एवाहं तदेवेदं जगत्स्थितम् ।

इत्यहं जगदित्येकं खमेवैकं शिलाघनम् ॥ ७
 यदादिसर्गजननं यत्कल्पान्तविवर्तनम् ।
 यद्वा भुवनसंस्थानं तद्धि व्योम निराकृति ॥ ८
 सति वाऽसति वा देहे
 निर्दुःखसुखत्वमक्षयं मोक्षः ।
 बुद्धेऽमले स्वभावे
 निर्भरविश्रान्तिरस्तु सर्वेद ॥ ९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० जगदसत्ताप्रतिपादनं नाम चतुरधिकशततमः सर्गः ॥१०४॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः १०५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 स्वभावं जगदाकारं चिद्भावोऽनुभवन्स्थितः ।
 स्वतः स्वप्नमिवानन्यमात्मनः कल्पनाभिधम् ॥ १
 जाग्रत्सुषुप्तमेवेदं शिलाजठरमेव वा ।
 आकाशमेव वा शून्यं जगत्त्वेन च नोज्झितम् ॥ २
 स्वप्न एवात्र दृष्टान्तः पुरमण्डलमण्डितः ।
 स्वप्ने जगन्न किंचित्सदित्यमाभाति भासुरम् ॥ ३
 त्रैलोक्यमसदेवेदं यथा स्वप्नेऽवभासते ।
 जाग्रत्यास्मिन्स्तथैवेदं मनागप्यत्र नान्यथा ॥ ४
 न जाग्रति न च स्वप्ने जगच्छब्दार्थसंभवः ।
 खं वस्तुतस्तु चिद्बोम्नो भानं बुद्धं जगत्तया ॥ ५

चिद्बोम्ना स्वचमत्कारो व्योमन्यद्यादिरूपभृत् ।
 जगदित्येव बुद्धोऽन्तर्जाग्रत्स्वप्ने स्वयंभुवा ॥ ६
 जगन्न किंचिदेवेदं चिद्रूपं च न किंचन ।
 एते किंचिदिवाभातो नभश्चिज्जगती मुधा ॥ ७
 आभातमेव त्रैलोक्यं यथा स्वप्ने न किंचन ।
 शून्यमेव भवेदेवमेवं जाग्रति निर्वपुः ॥ ८
 स्वप्ने किल महाबुद्धे नानानिर्माणशालिनि ।
 आरम्भा एव नारम्भा असत्सदिव चाततम् ॥ ९
 अव्योमैवातिविततं व्योमान्तपरिवर्जितम् ।
 व्योमैवाचलसंघातो नानापुरगणोत्करः ॥ १०

प्याकाशाच्चलनात्मकं वायुं नीरूपाच्च वायो रूपवत्तेजो नीरसाच्च तस्माद्रसात्मकं वारि अगन्धाच्च तस्माद्गन्धवतीं पृथ्वीमुत्पन्नां कल्पयिष्यामः । अनुभवात्मिका इतिरेव भगवती नः सर्वं विरोधमुत्सार्य यथानुभवमर्थान्समर्थयिष्यतीति चेत्तत्राह—
 गत्वेति । यदि सुदूरमपि गत्वा इतिरेव शरणीक्रियते तर्हि सैव स्वप्नादाविव विवर्तमात्रेण सर्वं जगद्वेषं निर्वह्मिष्यतीति आदौ ब्रह्मण्येव सर्वार्थस्वरूपे सति अमले सर्वदोषनिर्मुक्तं सिद्धान्ते को दोष इत्यर्थः ॥ ३ ॥ कोऽसौ सिद्धान्तस्वमाह—
 इतिरेवेति । तदेव जगदिति सत्यतः परमार्थसत्याधिष्ठानबलात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादि यथार्थवादिश्रुतिबलाच्च सत्यमित्येव सिद्धान्तरहस्यमुक्तमित्यर्थः ॥ ४ ॥ भूतभौतिकशून्यैव चिद्यतः स्वप्ने भूतभौतिकवत्सर्वानुभवसिद्धेत्याह—न कचिदिति ॥ ५ ॥ तद्वज्राप्रत्ययपि चित्स्वभाव एव जगद्वत्कचतीत्याह—स्वभाव इति ॥ ६ ॥ 'वस्तुतस्तु खम्' इत्येतद्विशदयति—चेतनाकाश इति ॥ ७ ॥ अस्त्वयं सर्ग एवमादिसर्गो ब्रह्माण्डान्तरादिसर्गः कल्पान्तविवर्तनं वा अन्यथापि स्यादिति शङ्कां निरस्यति—यदिति ॥ ८ ॥ एवं सति जीवन्मुक्तिविदेहमुत्तयोर्न कश्चिद्विशेष इत्याह—सतीति । अमले स्वभावे बुद्धे सति यच्चिर्दुःखसुखत्वं भूसानन्दरूपत्वमक्षयं स एव मोक्षः स च देहे सति वा असति वा समान एवेति तत्र सर्वा पूर्णा निर्भरविश्रान्तिस्तैस्तेऽस्तु तावतैव

त्वं कृतार्थ इत्यर्थः ॥ ९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणता-
 त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगदसत्ताप्रतिपादनं नाम
 चतुरश्रशततमः सर्गः ॥ १०४ ॥

चिदेवाभाति जाग्रद्बुद्धिदेव स्वप्नवत्तथा ।

न जाग्रत्स्वप्नयोर्भेदः स्वभावेनेति वर्ण्यते ॥ २ ॥

उक्तं स्वप्नसाम्यं जगतः प्रपञ्चयितुं पीठिकां रचयति—
 स्वभावमिति । चिद्भावश्चित्स्वभाव आत्मा ॥ १ ॥ इदं
 जाग्रजगत्त्वेन नोज्झितमेव सत् सुषुप्तमज्ञानमेव मूलतः शिला-
 जठरमेवाधिष्ठानतः शून्यं खमेव स्वत इत्यर्थः ॥ २ ॥ स्वप्नो-
 ऽप्येतादृश एवेति स एवात्र दृष्टान्त इत्याह—स्वप्न इति ॥ ३ ॥
 तत्र तृतीयकल्पे स्वप्नसाम्यं स्फुटमित्याह—त्रैलोक्यमिति ॥ ४ ॥
 द्वितीयकल्पेऽपि तत्साम्यं विवेकिनां सुगममित्याशयेनाह—ने-
 ति ॥ ५ ॥ प्रथमकल्पेऽपि तं दर्शयति—चिद्बोम्नेति । स्वयमेव
 भवति अस्तीति स्वयंभुवा चिद्बोम्ना तमोवृतात्मरूपे व्योमनि अद्या-
 दिरूपभृत्स्वचमत्कारस्तम एव जाग्रत्स्वप्ने जगदित्यन्तर्बुद्धः ॥ ६ ॥
 पुनस्तृतीयकल्पमेव समर्थयति—जगदिति । भास्यजगतः शू-
 न्यत्वे चित्स्वप्नासकं रूपं च न किंचन । नभः अत्यन्तासती
 एते चिज्जगती प्राह्वग्राहकरूपे ब्रह्मणि मुधा भातः ॥ ७ ॥ तत्र
 दृष्टान्तं योजयति—आभातमेवेति । एवं जाग्रत्सपि आभातं
 त्रैलोक्यमेवं निर्वपुः शून्यमेव ॥ ८ ॥ ९ ॥ अव्योम ब्रह्मैव
 अतिविततं शून्यात्मकं व्योम प्रथमं संपन्नम् । व्योमैव च वायवा-

अप्यब्दाब्ध्यद्रिनिर्घोषो मौनमेव यथा तथा ।
 न शृणोत्येव पार्श्वस्थः संप्रबुध्यापि किञ्चन ॥ ११
 प्रजायते वाऽजातोऽपि वन्ध्यायास्तनयो यथा ।
 जातोऽप्यजात एवास्ते यथात्ममृतिविस्मृतौ ॥ १२
 सदसद्भवति क्षिप्रं भुवोऽननुभवो यथा ।
 विपर्यस्यति सर्वं न रात्रिरेव यथा दिनम् ॥ १३
 असंभवः संभवति यथा स्वमृतिदर्शनम् ॥ १४
 असंभवः संभवति जगद्भानमिवाम्बरे ।
 तम एव महालोको यः सनिद्रः सवासरः ॥ १५
 आलोक एवैति तमो यन्निद्रा स्वमवासरा ।
 वसुधैव भवेद्ब्रह्मोम श्वभ्रादिपतने यथा ॥ १६
 असत्यरूपमेवेति भाति स्वप्ने जगद्यथा ।
 तथैव जाग्रदाभाति मनागप्यत्र नान्यता ॥ १७
 यथा द्वौ सदृशौ सूर्यौ यथा द्वौ सदृशौ नरौ ।
 जाग्रत्स्वप्नौ तथैवैतौ मनागप्यत्र नान्यता ॥ १८

श्रीराम उवाच ।

नैतदेवमपि क्षिप्रात्प्रत्ययो यत्र बाधकः ।
 स्वप्ने तद्दर्शनेनान्तः कथं जाग्रत्समं भवेत् ॥ १९

दिक्मेणाचलसंघातो नानापुरगणोत्करश्च संपन्नमित्युभयमप्या-
 धर्ममित्यर्थः । अथवा अन्योम गिरिमहीपुरादि व्योम भवति एवं
 व्योमेवाचलसंघातादि भवतीति यथाश्रुतं प्रतिज्ञापरम् ॥ १० ॥
 तत्राद्यं दृष्टान्तेन साधयति—अपीति । अन्दाश्च अन्वयश्च अ-
 द्रयश्च तेषां निर्घोषश्च स्वप्ने एकं सुप्तं प्रति प्रसिद्धोऽप्यपरं प्रति
 मौनं शून्यमेव यथा तथा जाग्रदब्दादयोऽपीत्यर्थः । दृष्टान्ते
 मौनमेवेत्येतत्कृतस्वप्नाह—न शृणोत्येवेति । यतः पार्श्वस्थः
 अपरः सुप्तनरः संप्रबुध्यापि किञ्चन अन्दाब्ध्यादि तद्गोषं वा
 न शृणोत्येव ॥ ११ ॥ द्वितीयमपि तथा साधयति—प्रजायत
 इति । अजातोऽपि वन्ध्यायास्तनयः स्वप्ने प्रजायते तथात्रापि
 बोध्यमित्यर्थः । एवं मृत्वा जातोऽपि पुरुष आत्मन स्वस्य मृते-
 विस्मृतौ सत्यामजातोऽनुत्पन्न एवाहमित्यास्ते यथा तथैत्यर्थः
 ॥ १२ ॥ सुप्तस्य स्वप्ने स्वशयनभुवोऽननुभवो यथा तदसत्त्व-
 भापादयति तथैत्यर्थः ॥ १३ ॥ एवमन्येऽपि विपर्योसाः
 प्रसाध्या इत्याह—असदित्यादिना ॥ १४ ॥ १५ ॥ यद्यस्मा-
 द्देतोः स्वप्नेतुर्वासरो यस्यां तथाविधा चन्द्रकाशीनां निद्रा
 दृश्यते । स्वप्ने श्वभ्रादिपतनेऽनुभूयमाने शयनवसुधैव श्वभ्रव्योम
 भवेत् ॥ १६ ॥ १७ ॥ द्वौ सूर्यौ पूर्वेद्युस्त्वानागतौ । अत्र
 अनयोः ॥ १८ ॥ वर्णितं जाग्रत्स्वप्नयोः साम्यमाक्षिप्य वैषम्यं
 दर्शयन् रामः शङ्कते—नैतदिति । मनागप्यत्र नान्यतेति
 यत्त्वयोक्तमेतन्न । कुतः । यत्र यस्मिन्स्वप्ने क्षिप्राज्जायमानो
 बाधको यो जाग्रत्प्रत्ययस्तद्दर्शनेनान्तः स्वयमेव तस्यामासता-

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

विहृत्य स्वप्नजगति स्वप्नवन्धुजनैः समम् ।
 मृतिमाप्नोति तत्रासौ द्रष्टा स्वप्नस्य राघव ॥ २०
 मृतः सन्स्वप्नजगति स्वप्नजन्तुवियोगवान् ।
 इह प्रबुध्यते जन्तुर्निद्रामुक्तश्च कथ्यते ॥ २१
 सुखदुःखदशामोहान्दिनरात्रिविपर्ययान् ।
 अनुभूय बहून्द्रष्टा म्रियते स्वप्नसंसृता ॥ २२
 गतनिद्रतया पश्चान्निद्रान्त इह जायते ।
 न सत्यमेतदित्येवं ततः प्रत्ययवान्भवेत् ॥ २३
 स्वप्नद्रष्टा यथा स्वप्नसंसारे मृतिमाप्तवान् ।
 अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः प्रजायते ॥ २४
 जाग्रद्द्रष्टा तथा जाग्रत्संसारे मृतिमाप्तवान् ।
 अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः स जायते ॥ २५
 न स्वप्नमसदित्येवं पूर्वस्मिन्जाग्रदात्मनि ।
 पुनः प्रत्ययमादत्ते स्वप्नात्स्वप्नान्तरं गतः ॥ २६
 स जाग्रत्प्रत्ययं तत्र पुनर्गृह्णाति मुग्धधीः ।
 स्वप्नसंदर्शनं त्वन्यत्तत्राप्यनुभवत्यथ ॥ २७
 स्वप्नं जाग्रत्तया जाग्रत्स्वप्नत्वं चेति नामनि ।
 न जायते न म्रियते जायते म्रियतेऽपि च ॥ २८
 स्वप्नद्रष्टा स्वप्नमृतः प्रबुद्ध इह कथ्यते ।

नुमवात् । अतः कथं जाग्रत्तत्समं भवेदित्यर्थः ॥ १९ ॥
 नैतावता वैषम्यसिद्धिः । मित्रदेशस्य जाग्रत्प्रत्ययस्य स्वाप्नप्रत्यय-
 बाधकत्वासिद्धेः । स्वाप्नदेशे हि सनिद्रः स्वाप्नदेहस्थो द्रष्टा स्वाप्न-
 वन्ध्यादीन्पश्यति । अपगतस्वप्नदेशो विनिद्रो जाग्रदेहस्थश्च
 स्वप्नद्रष्टवन्ध्यायसत्त्वं पश्यति । न च देशान्तरे देहान्तरदृष्टनां
 देहान्तरे देशान्तरे चान्यदर्शने तददर्शनं तद्बाधः । पूर्वजन्मव-
 न्ध्यादीनामिह जन्मन्यदर्शनस्यापि तद्बाधत्वापत्तेरिति साम्या-
 नपायादित्याशयेन वसिष्ठः समाधत्ते—विहृत्येत्यादिसामि ।
 मृतिं स्वप्नदेहापगमम् ॥ २० ॥ जन्तुर्जीवः ॥ २१ ॥ म्रियते
 स्वाप्नदेहं जहाति ॥ २२ ॥ इहास्मिन्शयनदेशे जायते अनेन
 देहेन संबध्यते । तत्स्वप्नदन्तरमेतत्स्वप्नद्रष्टवन्धादि न सत्य-
 मिलेवं प्रत्ययवान्भवेत् । स च प्रत्ययो न स्वाप्नार्थबाधनसमर्थ
 इति शोतनाय समावनायां लिङ् ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥
 जाग्रति मृत्वा जाग्रदन्तरे जातः सन् । पूर्वस्मिन् जाग्रदात्मनि
 प्रपञ्चेन स्वप्नमसदित्येवं पुनः प्रत्ययं यथा आदत्ते तथा स्वाप्न-
 त्वप्रान्तरं गत उत्तरस्वप्ने जाग्रत्प्रत्ययं पुनर्गृह्णाति । तत् उत्त-
 रस्वप्ने जाग्रत्प्रत्ययो यथा मुग्धताप्रयुक्तस्तद्द्वत्पूर्वजाग्रति स्वाप्न-
 त्वास्वत्त्वयोरग्रहणमपि मुग्धताप्रयुक्तमेवेति भावः ॥ २६ ॥
 ॥ २७ ॥ अथ तत्रापि स्वप्ने स्वप्नसंदर्शनानन्तरमनुभवत्स्वप्नमेव
 जाग्रत्तया अनुभवतीति पूर्वोक्तान्वयः । एवंसीत्यां जाग्रत्स्वप्नत्वं
 चेत्येवं नामनि अवस्थाद्वयेऽयं जीवः स्वतो न जायते
 न म्रियते । तत्तद्देहाभिमानोपादानत्यागान्यां तु जाय-
 ते म्रियतेऽपि च ॥ २८ ॥ तथा च स्वप्नद्रष्टा स्वप्ने मृतः सद्य-

इह जाग्रन्मृतो जन्तुः प्रबुद्धोऽन्यत्र कथ्यते ॥ २९
 स्वप्नात्स्वप्नस्थितौ जाग्रज्जाग्रत्स्वप्नप्रदर्शनम् ।
 मृत्वान्यत्र प्रबुद्धस्य जाग्रत्स्वप्नो भवत्यलम् ॥ ३०
 इतिहासमयावेव जाग्रत्स्वप्नावुभावपि ।
 परस्परं गतावेतावुपमानोपमेयताम् ॥ ३१
 स्वप्नो जाग्रदिवामाति जाग्रत्स्वप्नमिवोदितम् ।
 वस्तुतस्तु द्वयमसच्चित्तं कचति केवलम् ॥ ३२
 स्थावरं जंगमं चैव भूतजातमशेषतः ।
 चिन्मात्रव्यतिरेकेण किमन्यदुपपद्यते ॥ ३३
 मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छन्न्यं नोपलभ्यते ।
 चिच्चमत्कारमात्रात्म तथा काष्ठोपलाद्यपि ॥ ३४
 वस्तुजातमिदं स्वप्ने जाग्रत्यपि तथैव नः ।
 दृष्टो य उपलः स्वप्ने चिच्चमत्करणादते ॥ ३५
 किमन्यत्संवादं प्राज्ञ किलावश्यं चिदेव सा ।
 ननु यादृग्वपुः स्वप्ने जाग्रत्तादृगखण्डितम् ॥ ३६
 जगज्जातमतः सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्मखण्डितम् ।
 जगज्जातमतः सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्मकुट्टिमम् ॥ ३७
 मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छन्न्यं नोपलभ्यते ।

चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छन्न्यं नोपलभ्यते ॥ ३८
 शैलात्मकं यथा भाण्डं शैलशून्यं न लभ्यते ।
 चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छन्न्यं नोपलभ्यते ॥ ३९
 द्रवरूपं यथा वारि द्रवरिकं न लभ्यते ।
 चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छन्न्यं नोपलभ्यते ॥ ४०
 ऊष्मरूपो यथा वह्निर्निरूष्मा नोपलभ्यते ।
 चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छन्न्यं नोपलभ्यते ॥ ४१
 यथा स्पन्दमयो वायुरस्पन्दो नोपलभ्यते ।
 चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छन्न्यं नोपलभ्यते ॥ ४२
 यद्यन्मयं तद्विना तु तत्कथं किल लभ्यते ।
 काशून्यं लभ्यते व्योम काघना लभ्यते मही ॥ ४३
 चिद्व्योममयमेवेदं यथा घटपटादिकम् ।
 स्वप्ने तथेदं शैलादि चिद्व्योमाभासमात्रकम् ॥ ४४
 स्वप्ने यथा गगनमेव पुराचलादि
 संविन्मयं सुभग जाग्रति तद्वदेव ।
 स्वप्नोऽथ जाग्रदिति शान्तमनन्तमेकं
 चिन्मात्रमत्र ननु नाम विनास्तु घादः ॥ ४५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे धा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उ० जाग्रत्स्वप्नैक्यप्रतिपादनं नाम पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमः सर्गः १०६

श्रीराम उवाच ।

कीदृशं स्याच्चिदाकाशं तद्ब्रह्मन्ब्रह्म यत्परम् ।
 भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १

इह जागरे प्रबुद्धः कथ्यते, इह जाग्रति मृतस्तु अन्यत्र
 स्वप्ने प्रबुद्धः कथ्यत इति तयोः साम्यमेवेत्यर्थः ॥ २९ ॥
 एवं च स्वप्नात्स्वप्नान्तरस्थितौ द्वितीयं स्वप्नरूपमेव पूर्वापेक्षया वर्तमानत्वात्प्रकृष्टं दर्शनं जाग्रद्भवति । एवं जाग्रति मृत्ता अन्यत्र स्वप्ने जाग्रदन्तरे वा प्रबुद्धस्य पुंसः पूर्वजाग्रत्स्वप्न एवालमवश्यं भवति ॥ ३० ॥ इतिहासः कीर्त्यमानपूर्ववृत्तकथार्थस्तन्मयौ सत्सदृशावेव न यथार्थाविति हेतोः परस्परमुपमानोपमेयतां गतावित्यर्थः । 'इतीहासमयौ' इति दीर्घपाठे तु इति इह असमं विषमं यात इत्यसमयौ, किञ्चिद्विलक्षणावपीत्यर्थः । 'इतीहासन्मयौ' इति पाठः साधुः ॥ ३१ ॥ किञ्च वर्तमानदशायां स्वप्नोऽपि जाग्रदिव प्रत्यक्षमाभाति । अतीतं तु जाग्रदपि प्रसिद्ध-स्वप्नमिव उदितम् ॥ ३२ ॥ 'चित्तं कचति केवलम्' इत्युक्तिमुपपादयति—स्थायवरमित्यादिना ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ चिच्चमत्करणादते अन्यत् किं स्यात् । हे प्राज्ञ, अस्मिन्नर्थे विद्वद्भिः सह युक्त्या संवादं संवादेनावधारय । विचारोत्पन्नतत्त्वदर्शने सा प्रसिद्धा चिदेव स्वप्नोपल इति परेणान्वयः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ चिन्मात्रं ब्रह्मैव जगदाकारेण खण्डितं विभक्तमधारोपे । अपवादे तु जगत्सर्वं ब्रह्मकुट्टिमं जातमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

समयोर्यमयोर्भात्रोर्व्यवहाराय नामनी ।
 यद्वत्क्रियेते द्वे तद्वज्जाग्रत्स्वप्नशिलामये ॥ २

विद्यतिरेकेण जगदनुपलम्भादपि चिन्मात्रत्वमेवेत्याह—मृन्मयमित्यादिना ॥ ३८ ॥ शिलाया अवयवः शैलस्तदात्मकम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ स्पन्दमयः स्पन्दस्वभावः ॥ ४२ ॥ अघना अमूर्ता ॥ ४३ ॥ तथा इदं जाग्रच्छैलाद्यपि ॥ ४४ ॥ उक्तमेव स्फुटयन्नुपसंहरति—स्वप्ने इति । स्वप्ने प्रसिद्धं पुराचलादि यथा संविन्मयं गगनमेव हे सुभग, जाग्रति प्रसिद्धं पुराचलाद्यपि तद्वदेव संविन्मयं गगनमेव । एवं च स्वप्नोऽथ जाग्रदिति विकल्पनशान्तमेकं चिन्मात्रमेव परिशिष्टम् । अत्र ईदृशे तत्त्वे वादिनां विषयं विना वृथा विवाद इत्यर्थः ॥ ४५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जाग्रत्स्वप्नैक्यप्रतिपादनं नाम पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

लक्षणौघैश्चिदाकाशमिह भूयः प्रदर्श्यते ।

तदेव जगदित्येतदपि भूयः प्रपद्यते ॥ १ ॥

प्रपद्यितेन जगतः स्वप्नसाम्येन यादृशचिदाकाशमात्रं तत्त्वमिति प्रतिपत्तव्यं तत्स्वरूपं प्राक् शतशो निरूपितमपि मन्दमतिभिः कश्चित्सम्यग्वायधारितं स्यादिति संभावनया तदनुकम्पया पुनस्तस्यैव स्वरूपतटस्थलक्षणभेदैः सम्यक्शुल्पादनं श्रोतुः कामो रामः पृच्छति—कीदृशमिति ॥ १ ॥ पृष्ठं वर्णयिष्यन्वसिष्ठः प्रस्तुतं जाग्रत्स्वप्नसाम्यमेव तद्दर्शनपीठिकात्वेनानुवदति—

वस्तुतस्त्वनयोर्भेदो न द्वयोः पयसोरिव ।
 द्रव्यमप्येकमेवैतच्चिन्मात्रं व्योम निर्मलम् ॥ ३
 देशादेशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदो वपुः ।
 निमिषेणैव तन्मध्ये चिदाकाशं तदुच्यते ॥ ४
 यादृशस्तिष्ठतः स्वच्छं रसमाकर्षतस्तरोः ।
 भवेद्भावं नभःस्वच्छस्तादृशं चित्रमः स्मृतम् ॥ ५
 विनिवृत्ताखिलेच्छस्य पुंसः संशान्तचेतसः ।
 यादृशः स्यात्समो भावस्तादृशं चित्रमः स्मृतम् ॥ ६
 अनागतायां निद्रायां मनोविषयसंक्षये ।
 पुंसः स्वस्थस्य यो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ ७
 तृणगुल्मलतादीनां वृद्धिमागच्छतामृतौ ।
 यः स्यादुन्ममतो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ ८
 रूपालोकमनस्कारविमुक्तस्यामृतस्य यः ।
 भावः पुंसः शरद्द्रव्योमविशदस्ताच्चिदम्बरम् ॥ ९
 यदेतदासनं सृष्टं काष्ठपाषाणभूभृताम् ।
 चेतनानां च सत्तात्म चिदाकाशः स उच्यते ॥ १०
 द्रष्टृदर्शनदृश्यानां त्रयाणामुदयो यतः ।
 यत्र वास्तमयश्चित्तं तद्विद्धि विगतामयम् ॥ ११
 यत उद्यन्ति यस्मिंश्च चित्राः परिणमन्त्यलम् ।
 पदार्थानुभवाः सर्वे चिदाकाशः स उच्यते ॥ १२
 यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
 यश्च सर्वमयो नित्यं स चिदाकाश उच्यते ॥ १३
 दिवि भूमौ बहिश्चान्तस्तथान्यस्य समाभिधः ।

समयोरिति । यमयोर्यमलजातयोर्नामनी यद्वेदे भिन्ने क्रियेते
 तद्वज्राप्रत्यक्षमलक्षणाखण्डचित्स्फटिकशिलामये तत्प्रतिबिम्बप्राये
 सदृशे अप्रपञ्चद्वये द्वे नामनी क्रियेते इत्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ तस्य
 चिदोक्तो लक्षणं प्राणुक्तमेव सारवन्प्रथममाह—देशादिति ।
 मध्ये यत्किञ्चिदयं संविदो वपुः प्रसिद्धं तदित्यर्थः ॥ ४ ॥
 मूलेन भौमं रस जलमाकर्षतस्तरोः 'पैपीयसाजो मोदमानस्तिष्ठ-
 ती'ति श्रुतिप्रसिद्धो यादृशो वृद्धिहासश्चन्य आह्लादभावः प्रसिद्ध-
 स्तादृशमित्यर्थः ॥ ५ ॥ सम. सर्ववैषम्यशून्यो भावः सहजसुख-
 स्वरूपानुभवः । निर्विक्षेपदशायामहं सुखं तिष्ठातीति सर्वानुभ-
 वात् ॥ ६ ॥ अनागतायामिति । यथाहुः 'निद्रादौ जागर-
 स्यान्ते यो भाव उपजायते । तं भावं धारयन्त्योपी न दुःखै-
 रभिभूयते ॥' इति ॥ ७ ॥ ऋतौ प्रावृषि शरदि वा । उ-
 न्मुक्ता ममता यस्मिन्स्थायिचो य आनन्दभावः ॥ ८ ॥ अ-
 मृतस्य जीवतः पुंसः ॥ ९ ॥ आसनं निष्क्रियमवस्थानं चात्र
 स्वभावतया सृष्टं तदेव चेतनानां जीवानां सत्तात्म स्थितिस्वरूपं
 चेत्स्यात्तदा स चिदाकाश उच्यते । तत्र मनोनाशे सत्येव
 सिद्ध्यतीति भावः ॥ १० ॥ यतो यस्मात्सुषुप्तिसाक्षिणः स्वप्न-
 जागरयोर्दृष्टादिप्रपुष्ट्या उदयो यस्मिन्नेव चास्तमयः ॥ ११ ॥
 विचित्रा. सर्वे पदार्थानुभवा यत उद्यन्ति उदयं प्राप्नुवन्ति

यो विभात्यवभासात्मा चिदाकाशः स उच्यते ॥ १४
 यस्मिन्नित्ये तते तन्तौ दृष्टे सगिव तिष्ठति ।
 सदसदुत्थितं विश्वं विश्वाङ्गे तच्चिदम्बरम् ॥ १५
 यस्मात्सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
 यस्मिन्नेव प्रलीयन्ते यन्मयास्तच्चिदम्बरम् ॥ १६
 निद्रायां विनिवृत्तायां यतो विश्वं प्रवर्तते ।
 निवर्तते च यच्छान्तौ तच्चिदम्बरमुच्यते ॥ १७
 यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत्सत्तालयोदयो ।
 स्वानुभूत्यात्मकं स्वान्तः स्थितं तद्विद्धि चित्रमः ॥ १८
 नेदं नेदं तदित्येवं सर्वं निर्णय सर्वथा ।
 यत्र किञ्चित्सदा सर्वं तच्चिद्व्योमेति कथ्यते ॥ १९
 देशादेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
 दूरतोऽर्धनिमेषेण तच्चिन्मात्रवपुः स्मृतम् ॥ २०
 विश्वं तन्मयमेवेदं यथा भूतं यथा स्थितम् ।
 रूपालोकमनस्कारैर्युक्तमप्येवमीदृशम् ॥ २१
 ईषदुन्मेषणादेतदन्यतामिव गच्छति ।
 अनन्यरूपमपि सच्चिद्व्योम निमलकृति ॥ २२
 पश्यन्नेवेन्द्रियैरर्थान् नूनं निर्वासनाशयः ।
 प्रबुद्ध एवैकघनः सुषुप्तावस्थितो भव ॥ २३
 निर्वासनः शान्तभना वद भज पिबाहर ।
 पाषाण इव संजीवो नित्यं सुघनमौनवान् ॥ २४
 इदं न संभवत्येव दृश्यं पश्यसि यत्पुरः ।
 मृगतृष्णाजलमिव द्वैतमिन्दाविबोधितम् ॥ २५

यस्मिन् आलोचनविमर्शनाध्यवसायहानोपादानादिभावोत्तरो-
 त्तरं परिणमन्ति ॥ १२ ॥ द्वौ श्लोकौ प्राग्व्याख्यातौ ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥ विश्वाङ्गे यस्मिन्नुत्थितं सन्मूर्तेमसदमूर्तं च विश्वं
 तन्तौ सगिव तिष्ठति तत् ॥ १५ ॥ 'यतो वा' इमानि भूतानि
 जायन्ते' इति श्रुत्युक्तं तदस्थलक्षणमाह—यस्मादिति ॥ १६ ॥
 सुषुप्तिप्रलयलक्षणाया निद्रायां विनिवृत्तायां सत्यां यतो यस्मा-
 त्प्रतीचो विक्षेपशक्तिवशाद्वास्तवप्रलक्षणं नियदादिलक्षणं च
 विश्वं प्रवर्तते आविर्भवति । यस्य शान्तौ विक्षेपशक्तिशान्तौ च
 निवर्तते ॥ १७ ॥ उन्मेषश्चरमसाक्षात्कारवृत्तावाविर्भावलो-
 जगत्सत्ताया लयः । निमेषः स्वरूपावरणं तेन च उदयः ॥ १८ ॥
 एवं सर्वनिमेषावपि सर्वात्मत्वमपि तल्लक्षणमित्याह—नेदमिति ।
 सदा सर्वमपि यत्र किञ्चित् ॥ १९ ॥ अर्धनिमेषेण अविल-
 म्बेन देशान्तरप्राप्तौ । विलम्बे हि वृत्तिविच्छेदादिवयान्तरा-
 नुप्रवेशाद्वा न शुद्धचिदम्बरं परिचेतुं शक्यमिति । उपक्रमोक्तस्य
 पुनः कीर्तनमुपसंहारयोतनार्थम् ॥ २० ॥ लक्षणान्युक्त्वा तद-
 द्वैतसिद्धये विश्वस्य तन्मयतामाह—विश्वमित्यादिना ॥ २१ ॥
 नाह कथं प्रख्यावस्थातः सर्गावस्थाया भेदविभाजनं तत्राह—
 ईषदिति ॥ २२ ॥ सेयमन्यताप्राप्तिर्वासनावशादेवेति न
 निर्वासनस्येत्याह—पश्यन्नेवेति ॥ २३ ॥ १४ ॥ अन्यतामि-
 चेति इवकारेणान्यताया मिथ्यात्वमुक्तं तत्कृत इति चेदसम्भवा-

इदमादावनुत्पन्नं कारणाभावतः किल ।
कारणेन विना कार्यं न हि नामोपपद्यते ॥ २६
यद्वोपपद्यते किञ्चित्तदकारणकोद्भवम् ।
यथास्थितं परं रूपमुद्भूतमिव लक्ष्यते ॥ २७
तद्यथास्थितमेवाङ्गं पूर्वरूपमवस्थितम् ।
भवत्यद्वयमेवाच्छं द्वयेनाप्युपलक्षितम् ॥ २८
तत्रेदंप्रत्ययः प्रौढो भवत्यनुभवो हि यः ।
समायातमिदं भ्रान्तं तत्त्वप्रसूतिसमं विदुः ॥ २९
तस्माद्दृश्यं न चोत्पन्नं नैवास्ति न भविष्यति ।
न च नश्यति यन्नास्ति तस्य किं नाम नश्यति ॥ ३०
तत्तदेव परं शान्तं चिद्योमैव तथा स्थितम् ।
स्वरूपादच्युतं स्वस्थं सौम्यं जगदिबोदितम् ॥ ३१
न हीदमग्रे यद्दृष्टं दृश्यं तत्सत्कदाचन ।
न चापि द्रष्टा दृष्टार्थाभावे क्व द्रष्टृता किल ॥ ३२
श्रीराम उवाच ।
एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्द्रष्टृदृश्यावभासनम् ।
किमिदं कथमाभाति भूयोऽपि वदतांवर ॥ ३३
श्रीवसिष्ठ उवाच ।
असद्रूपस्य दृश्यस्य कारणाभावतः सदा ।
दृश्यतास्येत्यपि प्रौढिनिर्देशस्यात्यसंभवात् ॥ ३४
यदिदं भासते किञ्चिद्द्रष्टृदृश्यभ्रमात्मकम् ।

जगदादि परं रूपं तद्विद्धि परमात्मनः ॥ ३५
स्वप्ने चिन्मात्र एवास्ते यथा गगनकाननम् ।
तथा जगत्तथा भाति स्वयं चिन्मात्रमात्मनि ॥ ३६
इहादिसर्गात्प्रभृति नास्त्युपादानकारणम् ।
किञ्चनापि क्वचिदपि भातीत्यं ब्रह्म केवलम् ॥ ३७
यच्चिदाकाशकचनं स्वयमात्मनि जृम्भते ।
तदिदं भाति तस्यैव जगदित्युदितं वपुः ॥ ३८
यथा भावस्य भावत्वं यथा शून्यस्य शून्यता ।
आकारिणो यथाकारस्तथा चित्रभसो जगत् ॥ ३९
इदं विद्धि चिदाभासं परमार्थघनं घनम् ।
इत्थं स्थितं स्वयं भातं द्रष्टृदृश्यद्वगात्मकम् ॥ ४०
वस्तुतस्तु द्वयाभावान्नाभासि न च भासनम् ।
किमपीदमनिर्देश्यं सद्भाऽसद्वेति वेत्ति कः ॥ ४१
श्रीराम उवाच ।
एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्कार्यकारणतादिकः ।
कथं भेदः किमायातः कथं सत्यत्वमागतः ॥ ४२
श्रीवसिष्ठ उवाच ।
चित्प्रकाशो यथाभानं यदा भावयति स्वयम् ।
स्वात्मा तथा तदेवाशु पश्यसीत्यसि दृष्टवान् ॥ ४३
चिद्योमैवायमाकारः स्वे व्योम्येव न मुह्यति ।
स्वयमेव यथा स्वप्ने कोऽस्य पर्यनुयोगकृत् ॥ ४४

देवेत्याह—इदमिति ॥ २५ ॥ २६ ॥ यद्वा किञ्चिद्बीजादङ्क-
रादि अन्वयव्यतिरेकदर्शनादुपपद्यते तदप्यकारणकादद्वयाद्ब्रह्मण
एवोद्भवो यस्य तथाविधम् । ननु निर्विकारात्तस्मात्कथमङ्कुराद्यु-
द्भवस्तत्राह—यथास्थितमिति ॥ २७ ॥ यथा अद्वयमपि
चन्द्रबिम्बभ्रान्तौ द्वयेनाप्युपलक्षितं तद्वदिति भावः ॥ २८ ॥
तदेव चेत्कथमन्यथाग्रहत्वं तत्राह—तत्रेति ॥ २९ ॥ माया-
मात्रत्वे किं सिद्धं तदाह—तस्मादिति ॥ ३० ॥ तद्विष्यं परं
शान्तं चिद्योमैव तथा विश्ववेषेण स्थितम् । किं परिणामेन
नेत्याह—स्वरूपादिति ॥ ३१ ॥ कृतो न परिणामेनेति चेत्त-
त्समसत्ताकत्वाभावादित्याह—न हीति । अत एव तद्द्रष्टृतापि
न परिणामः । दृश्यनिरूप्यया तत्समत्वादित्याह—न चेति
॥ ३२ ॥ यदि द्रष्टृदृश्ये अत्यन्तासतो तर्हि तयोः कथमवभा-
सनम्, अत्यन्तासतो भानादर्शनादिति रामः शङ्कते—एवं
चेदिति । तत्प्रागुक्तमपि भूयोऽपि वद । हे वदतांवर ॥ ३३ ॥
तत्रासतो भानासंभवं प्रथमश्लोकेनाभ्युपेत्य अत एव सतः पर-
मात्मन एव मायया तथा भानमित्युत्तरं द्वितीयेनाह—असद्रू-
पस्येति । कारणाभावतः असद्रूपस्योत्पत्तेरेवासंभवादस्य दृश्य-
तापीति प्रौढ्या निर्देशः प्रौढिवादस्तस्य अत्यसंभवात्सुतराम-
संभवादित्यर्थः ॥ ३४ ॥ अत एवेदं द्रष्टृदृश्यं न असतो रूपं
किं तु परमार्थसतो ब्रह्मण इत्याह—यदिदमिति ॥ ३५ ॥
परमात्मन एवेदं रूपमिति कथं ज्ञातमिति चेत्स्वप्ननिर्देशना-
दित्याह—स्वप्ने इति ॥ ३६ ॥ स्वप्नसाम्यमस्य कृत इति

चेत्सर्वकारणकलापशून्यसुषुप्तिसदृशात्प्रलयादुद्भूतत्वादित्याह-
येनाह—इहेति ॥ ३७ ॥ चिदाकाशकचनाधीनकचनत्वादपि
स्वप्नसाम्यमित्याशयेनाह—यदिति ॥ ३८ ॥ निर्धर्मकस्य
चित्रभसः कथं जगद्धर्मकतेति चेन्मायिकविकल्पवशादेवेति
दृष्टान्तरूपपादयन्नाह—यथेति । आकारिणो मूर्तस्य ॥ ३९ ॥
घनं सैन्धवघनवदेकरसं परमार्थघनमेव मायायां चिदाभासं
इत्थं त्रिपुटीभूय स्थितं विद्धि ॥ ४० ॥ मायात्यागे तु
द्वयाभावात्सद्भा असद्वेति को वेत्ति, बाधितस्य विमर्शायोग्यत्वा-
दिति भावः ॥ ४१ ॥ एवं 'नाभासि न च भासनम्' इति त्वदु-
क्तरीत्या द्रष्टृदृश्योभयशून्यं चेत्परमार्थतत्त्वं तर्हि कार्यकारणता-
दिको भेदः कथम् । न ह्यद्रष्टृकः कश्चित्सेद्गुर्महति कस्मादुपादा-
नाजिमित्ताद्वा आयातः । यद्यसत्य एवेति ब्रूये तर्हि कथं सत्य-
त्वमागतः, सर्वजनानां सत्यत्वेन कथं भातीत्यर्थः ॥ ४२ ॥ तत्र
प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह—चित्प्रकाश इति । वस्तुतः स्वात्मापि
चित्प्रकाश ईश्वरः स्वयं यदा यथाभानं यथाप्राणिकामकर्मवा-
सनोद्बोधं यद्यथा सत्यसंकल्पतया भावयति तत्तदा त्वं तथैवाशु
पश्यसि त्वदात्मना च स एव इति प्रागुक्तं द्रष्टृदृश्यभावमनुभू-
तवान् । तेनास्य सिद्धिरित्यर्थः ॥ ४३ ॥ द्वितीयस्योत्तरमाह—
चिद्योमैवेति । अयं कार्यकारणभावाद्याकारश्चिद्योमैव, यथा घटो
मृदेवेति चिद्योमैवोपादानं मोहं एवास्य निमित्तम् । कथमिदं
ज्ञायते । यतोऽयं स्वे व्योम्येव परिज्ञाते न मुह्यति अन्यथा तु
मुह्यत्येव । यथा स्वप्ने स्वयमेव मुह्यति स्वात्मप्रबोधादेव मोहं

भावाद्भावान्तरप्राप्तौ मध्ये यत्संविदो वपुः ।
 तच्चिद्योम तदेवेदं सर्वं च स्थिति नेतरत् ॥ ४५
 कार्यकारणभावादिदृशोऽविद्याविजृम्भिकाः ।
 जगद्वत्कल्पयत्येष कोऽस्य पर्यनुयोगकृत् ॥ ४६
 द्रष्टा भोक्ताथ कर्ता वा कश्चित्स्यादितरो यदि ।
 तत्कथं किमिव दृश्यमिति युज्येत नान्यथा ॥ ४७
 यत्र स्वप्ने निराभासं चिद्योमैव विराजते ।
 शुद्धमेकमनेकात्म तत्र किं क्व विकल्प्यते ॥ ४८
 आख्यंभुव एवेयं चिन्मात्रे भाति सर्गभाः ।
 परिज्ञाता सती सा तु ब्रह्मैव भवति क्षणात् ॥ ४९
 एषैव त्वपरिज्ञाता भ्रान्तिर्मायेति कथ्यते ।
 जगदित्युच्यते विद्या दृश्यमित्युपवर्ण्यते ॥ ५०
 चिदाकाशप्रकाशेन चित्ता दृश्यपिशाचकः ।
 वेतालो वालकेनेव बुद्धोऽसन्नेव सन्निव ॥ ५१
 जगत्तात्मन्यसत्यापि चिद्योमैवानुभूयते ।
 सत्येव साङ्गलेखेव स्वप्नेऽद्रिपुरता यथा ॥ ५२
 अहमद्रिरहं रुद्रः समुद्रोऽहमहं विराट् ।
 चेत्यते खे चित्तैवेति स्वप्नेऽद्रिपुरता यथा ॥ ५३

जहाति तद्वत् । ननु स्वात्मबोधे समर्थ ईश्वर स्वयमेव जीवो भूत्वा किमर्थं मुह्यति कुतो वा न प्रबुध्यते तत्राह—कोऽस्येति । स्वतन्त्रेश्वरस्य किमर्थं जीवो भूत्वा मुह्यसीति पर्यनुयोगमाक्षेपं करोतीति पर्यनुयोगकृत्को वा स्यान्न कश्चिदित्यर्थः ॥ ४४ ॥ तृतीयस्योत्तरमाह—भावादिति । दुग्धभावाद्भिमावप्राप्तौ पिण्डभावाद्दण्डभावाप्राप्तौ पूर्वभावनिवृत्ताचुत्तरभावानुपजने च मध्ये क्षणमात्रं सन्मानरूपं प्रसिद्धं तत्परमार्थसत्याः सविदो वपु स्वरूपं तदेव चिद्योम मया प्रागुक्तं तदेवेदं सर्वं च स्थिति वस्तु विभाव्यत इति सर्वं सत्यत्वमागतमित्यर्थः ॥ ४५ ॥ ईश्वरस्य जीव-भावकल्पनायामिव जीवस्य स्वाविद्यया कार्यकारणरूपावस्थात्रय-कल्पनायामपि न पर्यनुयोगो युक्त इत्याह—कार्यकारणेति । न हि स्वात्मानं प्रति कश्चित्किमर्थमेवं करोमीति पर्यनुयोगं कर्तुं समर्थ इति भावः ॥ ४६ ॥ आत्मान्यस्य कर्तृत्वे भोक्तृत्वे वा स्यादेव पर्यनुयोग इत्याह—द्रष्टेति । इति पर्यनुयोगो युज्येत ॥ ४७ ॥ विकल्प्यते पर्यनुयुज्यते ॥ ४८ ॥ ख्यंभुवः आ ख्यंभुवमभिव्याप्येव सर्गभाः सर्गभ्रान्तिर्भाति तत्त्वापरिज्ञाना-दित्यर्थः ॥ ४९ ॥ एषा सर्वभ्रान्तिरेव तत्त्वतः अपरिज्ञाता मायेति शास्त्रेषु कथ्यते, लोके जगदित्युच्यते, अज्ञैरभिद्येत्युच्यते, दृग्विवेकिभिर्दृश्यमित्युपवर्ण्यते ॥ ५० ॥ स्त्रीया चित्ता चित्स्व-भावः पृथगसन्नेव सन्निव दृश्यपिशाचको बुद्धः ॥ ५१ ॥ असतो निरवयवस्यापि सन् सावयव इत्यनुभवः स्वप्नवद्भ्रोप-

आकारि कारणाभावाज्जातं कार्यं न किञ्चन ।
 महाप्रलयचिद्योमि चित्स्थितेत्यमिदन्तया ॥ ५४
 अकारणकमेवेदं व्योम व्योसानुभूयते ।
 जगदित्येव शून्याङ्गं चिन्मात्रात्म चिदात्मनि ॥ ५५
 सर्व एव जडा जीर्णा दर्पणा इव जन्तवः ।
 समीपगत एवान्तः कुर्वतस्तु विचारणम् ॥ ५६
 तत्तत्स्वरूपमुत्सृज्य बुद्धा चिन्मात्रखं जगत् ।
 अश्मना चेतनेनैव स्थेयं नास्थेतरोत्तमा ॥ ५७
 यथास्ते चलयेद्देहं वार्यावर्तजगद्भवः ।
 चेततीति तथा चित्तं स्थिता चित्तजगद्दृशा ॥ ५८
 यथा कल्पद्रुमोऽभीष्टं कुर्याच्चिन्तामणिर्यथा ।
 तथा यद्भावितं स्वान्तस्तत्पूरयति चित्क्षणात् ॥ ५९
 चित्तिश्चिन्तामणिरिव कल्पद्रुम इवेप्सितम् ।
 आशु संपादयत्यन्तरात्मनात्मनि स्वात्मिका ॥ ६०
 देशाद्देशान्तरप्राप्तौ मध्यदेशे चित्तेर्वपुः ।
 यत्तन्मयमिदं दृश्यं कुतो द्वैतैक्यविभ्रमः ॥ ६१
 चिच्छायैवं कचल्यच्छमनन्ता भास्वरोदरा ।
 अङ्गरिकापि दृश्यान्तःशून्यता नीलतेव खे ॥ ६२

पादनीय इत्याह—जगत्तेति । साङ्गलेखा सावयवेव च ॥ ५२ ॥ तत्राहंताभ्यासेनानुभवं प्रपश्यति—अद्वैतमिति । अद्वैतैक्य-मवदादिः ॥ ५३ ॥ चिदनुभव एव सर्ग इति किमर्थं वर्ण्यते, प्रधानपरमाणाविकारणान्तरादेवायं जात इति कुतो न वर्ण्यते तत्राह—आकारीति ॥ ५४ ॥ शून्याङ्गं निरवयवम् ॥ ५५ ॥ सर्व एव जन्तवो दर्पणा इव स्वान्तःपरिकल्पितजगद्देवा अपि विचाराभावात्स्वरूपदर्शनासामर्थ्याज्जडा सन्तो वृथा जीर्णाः । विचारणं कुर्वतः पुरुषधारेयस्य तु परमपुरुषार्थोऽन्तः प्रत्यगात्म-रूपत्वात्समीपगत एवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥ विचारेण स्वरूपं बुद्धा कथं स्थेयं तत्राह—तत्तदिति । तत्तत्प्रामरूपस्वरूपमुत्सृज्य परिशिष्टं चिन्मात्रं खमेवेति जगद्बुद्धा चेतनेन विदेकघनेनाश्म-नेव अवलेन स्थेयं, इतरा मायिकी देहावास्था नोत्तमा ॥ ५७ ॥ चित्कथं जगदात्मना स्थिता तत्राह—यथेति । यथा वारि खदे-हं चलयेत्तत् आवर्तादि जगद्भवो भूत्वा आस्ते तथा निदपि चेततीति व्यापाररूपं चित्तं स्वात्मानि परिकल्प्य स्थिता सती तत्कर्म जगद्दृशा आस्ते ॥ ५८ ॥ यत्र कल्पशक्तीनां कल्पद्रुम-ादीनामपि संकल्पितार्थकल्पनसामर्थ्यं तत्र सर्वशक्तेः परमात्मन-स्तत्किं वाच्यमित्याशयेनाह—यथेति ॥ ५९ ॥ ६० ॥ स्वात्मि-केत्येतद्विषयाकर्षणेनोपपादयजगतस्तन्मयत्वमाह—देशादिति ॥ ६१ ॥ चित्तदृश्या कान्तिरेव जगद्वेषेण कचति । अज्ञैरवयव-

विसदृशकार्यानुभवो

न भवति सहकारिकारणाभावात् ।

सर्गादावत आद्या

चिदेव दृश्यं यथा स्वप्ने ॥

६३

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वा० उत्तरार्धे कार्यकारणनिरासो नाम षडधिकशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमः सर्गः १०७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अचेत्यचिन्मयं विश्वं विष्वगाभाति चिन्नमः ।
 अत्र चिच्चेतनं चेदं चेत्यमप्येवमात्मकम् ॥ १
 अतो जीवन्नपि मृत इव सर्वोऽवतिष्ठते ।
 असावहं च त्वं चेति जीवन्तोऽपि मृता इव ॥ २
 काष्ठमौनमृता एव व्यवहारगता अपि ।
 खगमा एव वा सर्वे भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥ ३
 आकाशकाचकच्यात्म यदिदं किञ्चिदाततम् ।
 न किञ्चिदेव तद्विद्धि किञ्चिद्योस्मि कुतो भवेत् ॥ ४
 केशोण्ड्रकनदीवाहधूमालीमौक्तिकादिवत् ।
 यत्त्वं कचति तत्रास्ति नानुभूतेऽपि वस्तुता ॥ ५
 तथैवासिज्जगन्नास्ति चिद्योस्मि कचने चित्ते ।
 अनुभूतेऽपि निःशून्ये कास्यास्याभावकश्च कः ॥ ६
 चिद्बालकल्पनाजाले शून्यात्मनि निरर्थके ।
 अवस्तुभूते पृथ्व्यादौ भ्रान्तिमात्राम्बरोदये ॥ ७

किमास्था बालका वृत ममेदमहमित्यलम् ।
 आ ज्ञातं रमते बालसंकल्पे बाल एव च ॥ ८
 पृथ्व्याद्यसद्विचारैर्वा व्यर्थं यास्यति जीवितम् ।
 किञ्चिच्च न ह्यास्यति भोराकाशक्षालनोद्यतः ॥ ९
 सहकार्यादिपूर्वाणां कारणानामभावतः ।
 यदादावेव नोत्पन्नं तन्नामाद्य भवेत्कुतः ॥ १०
 अजातेनासतार्थेन खेन व्यवहरन्ति ये ।
 मूढा मृतमजातं वा तनयं पालयन्ति ते ॥ ११
 कुतः पृथ्व्यादयः केन के नाम कथमुत्थिताः ।
 चिद्योमेत्यमिदं शान्तं प्रकचत्यात्मनात्मनि ॥ १२
 कार्यकारणकालादिकल्पनाकुलचेतसाम् ।
 एवं पृथ्व्यादयः सन्ति तैर्बालैरलमस्तु नः ॥ १३
 अपृथ्व्यादि जगन्नाम सपृथ्व्यादि च खात्मकम् ।
 कचतीत्यं नभोरूपं स्वप्नादिष्विव चिन्मणिः ॥ १४

रिका शून्यापि ॥ ६२ ॥ विस्तरेण व्यवस्थापितमर्थं संग्र-
 हेणोपसंहरति—विसदृशेति । सर्गादौ चितो विसदृशं जडं
 यत्कार्यं तस्यानुभव उद्भवो न संभवति । वैसादृश्ये निमित्तभूतानां
 सहकारिकारणानामभावात् । सुसदृशे तु मेदकाभावात्कार्यत्वा-
 सिद्धिरित्याशयः । अतः आद्या चिदेवेदं दृश्यं न तद्यतिरिक्त-
 मणुमात्रमप्यस्तीति स्वप्नदृष्टान्तेन सिद्धमित्यर्थः ॥ ६३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणे तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 कार्यकारणनिरासो नाम षडधिकशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

इहोपपाद्यते चेत्यपृथ्व्यादीनामवस्तुता ।

चिन्मणेरेव कचनं स्वप्नवज्जगदित्यपि ॥ १ ॥

विश्वस्य चेत्यभावमपलप्य चिन्मात्रभावं परिशेषयितुं प्रति-
 जानीते—अचेत्येति । यतश्चिन्नम एव विष्वगाभाति । तथा च
 चिन्नभोमात्राधीनसिद्धिकलादित्यनुमानं दर्शितम् । अत्र चेतय-
 तीति चित् चेतनं क्रिया चेत्यं चेति त्रिपुटी चिन्मयीति प्रतिज्ञार्थं
 इत्याह—अत्रेति । अत्रास्या प्रतिज्ञायामेवमात्मकं शुद्धचिदात्मकं
 प्रतिज्ञार्थत्वेनाभिप्रेतमिति शेषः ॥ १॥ प्रतिज्ञासिद्धेः फलद्वयम् ।
 स्थितस्यैव जगतो जगद्भावनिवृत्तिर्जीवतामेवास्माकं जीवभाव-
 निवृत्तिश्चेत्याह—अत इति ॥ २॥ सर्वभावानां कौटस्थ्यामूर्त-
 तासिद्धिर्वा तत्फलमित्याह—काष्ठेति । काष्ठमौनमात्यन्तिक-
 निष्क्रियतालक्षणं कौटस्थ्यं ऋताः प्राप्ताः । खे गमनं गमः
 आत्यन्तिकामूर्तभावप्राप्तिर्येषाम् ॥ ३ ॥ नभोनैल्यादिवद्भास-
 यो० वा० १६६

मानस्याप्यसत्त्वावधारणं वा तत्फलं विद्धीत्याह—आकाशेति ।
 काचकर्ष्यं काचवत्कचवन्नैत्यम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ तथा च नभो-
 मौक्तिकालिष्विव जगति भोगास्था न युक्त्येव फलितमि-
 त्याह—तथैवेति । आस्थाया भावक उत्पादकश्च कः पदा-
 योऽस्ति ॥ ६ ॥ ७ ॥ यद्यास्था अनुचितैव तर्हि को हेतुर्यज-
 नास्तत्रास्थां कुर्वन्ति तत्राह—आ ज्ञातमिति । हेतुस्मरणेऽय-
 माकारो निपातः । ज्ञातं स्मृतम् । तेषां बाल्यमेव तदास्थाहेतु-
 रिति स्मृतमित्यर्थः ॥ ८ ॥ अत एवेष्टसंजातविवेकैः पृथ्व्या-
 दीनामसत्तां लभादिहेतुं व्यर्थजन्मनाशकरं विचारं त्यक्त्वा
 जन्मसार्थक्यापादकं वैराग्यादिसाधनजातमवलम्बनीयमित्या-
 शयेनाह—पृथ्व्यादीति । यथा स्वर्णरत्नादिलोमेच्छया प्रवृत्त-
 स्तदाकरस्थानक्षालनं विहाय आकाशक्षालनोद्यतश्चेन्महतापि
 श्रमेण न किञ्चिच्च फलं ज्ञास्यति द्रक्ष्यति तद्वदित्यर्थः ॥ ९ ॥
 पृथ्व्यादीनामसत्त्वं तु अकारणत्वादजातत्वादिना प्राक्साधि-
 तमित्याह—सहकारीति ॥ १० ॥ अत एव व्यवहारेऽभिनि-
 विष्टता विदुषां ह्यास्यास्पदमित्याह—अजातेनेति ॥ ११ ॥
 तत्त्वदृष्टौ पृथ्व्यादीनामत्यन्तासंभवमनुभवमवलम्ब्याह—कुत
 इति ॥ १२ ॥ मूढदृष्टिस्तु नास्माकं प्रमाणमित्याह—कार्येति
 ॥ १३ ॥ एवं च प्रतिज्ञार्थः सिद्ध इत्याह—अपृथ्व्यादीति ।
 नामेति प्रसिद्धम् । स्वाप्नमपृथ्व्यादि जगज्जाग्रत्प्रसिद्धं सपृथ्व्यादि
 जगच्चेत्युभयमपि खात्मकं चिदाकाशात्मकम् । किं तर्हि

अङ्गं यदेतस्य चिदम्बरस्य

निराकृति स्नानुभवानुमानम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उत्तरार्धे अविद्याभावप्रतिपादनं नाम सप्ताधिकशततमः सर्गः ॥१०७॥

अष्टाधिकशततमः सर्गः १०८

श्रीराम उवाच ।

अविद्या दृश्यरूपेयं कचन्ती यस्य विद्यते ।

चित्रमःस्वप्ननगरी दृश्यमानापि शून्यकम् ॥ १

तस्याज्ञस्य कियत्कालं किरूपा स्यात्किमात्मिका ।

क्रियती सा च वेत्येवं मुने मे कथ्यतां पुनः ॥ २

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अविद्या विद्यते येषामज्ञानां भूतलादिका ।

तेषामस्यां ब्रह्मणीव नास्त्यन्तोऽत्र कथां शृणु ॥ ३

सदृशं जगतोऽस्यास्ति कचिदम्बरकोणके ।

कस्मिंश्चित्रजगत्किंचिदनयैव व्यवस्थया ॥ ४

अस्ति कश्चिद्भूवो भागो भूषणं तत्र भूस्थितेः ।

पुरी ततमितिर्नासा सुव्यक्तकलनाऽवनौ ॥ ५

जगदिति कचति तदाह—कचतीति ॥१४॥ स्नानुभव एवा-
नुसृतं मानं यत्र तथाविधं यदेतस्य चिदम्बरस्य निराकृति
निराकारमङ्गं शरीरम् । स्वरूपमिति भावत् । तदेतदेव महीतला-
दिरूपेण वेद्यदृश्य इति प्रातिपदिकरूपं कृतमभिधानं येन
तथाविधं सदा भाति प्रथते न वस्त्वन्तरमवस्तु वेत्यर्थः ॥१५॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
अविद्याभावप्रतिपादनं नाम सप्ताधिकशततमः सर्गः ॥१०७॥

अनष्टायामविद्यायां जगदन्तो न कर्हिचित् ।

अत्रार्थे विस्तराच्चित्रमविद्याख्यानमीर्यते ॥ १ ॥

तस्मिन्विपश्चिद्विरते चतुर्दिक्षु विपश्चितः ।

इह द्विपरसमुत्थानोदन्तश्रुत्यन्तमुच्यते ॥ २ ॥

वर्णितायाः सदृशिरूपाया अविद्यायास्तत्त्वज्ञानेन त्रैकालिका
सत्त्वापत्तिलक्षणं बाधं विनापि देशतः कालतो वा अन्तः संम-
वति न वेति सद्विद्वानो रामः पृच्छति—अविद्येति । इयं चित्रमः-
स्वप्ननगरी विद्यमानापि शून्यभूता दृश्यरूपा अविद्या यस्य पुंस-
अवाधात्कचन्ती विद्यते तस्याज्ञस्य सा कियत्कालं स्यात् किरूपा
स्यात्किमात्मिका च स्यात् देशतश्च क्रियती वा स्यादित्येवं पुनर्मे
त्वया कथ्यतामिति द्वयोरन्वयः ॥१॥२॥ तत्र संशयद्वितीयफोटि
परिगृह्य वसिष्ठस्तरप्रतिप्रापनाय प्रथमं विपश्चित्कथां धावयितुं
राममवधापयति—अविद्येति । ब्रह्मणि यथा देशतः कालतो
वा अन्तो नास्ति तद्वदस्यामपि नास्ति । अत्रास्मिन्नर्थे उपपादिका
वक्ष्यमाणकथां शृण्वित्यर्थः ॥ ३ ॥ तामेव प्रस्तौति—सदृश-
मिति । लोकलोककलधौतशिल्पप्राये कस्मिंश्चिद्वस्तुनि स्थिते
चिदम्बरस्य कोणके तत्रापि क्वचित्प्रवेशे अस्य जगतल्लो-
कस्य सदृशं किंचिन्निजगदन्तयैवैतजगत्प्रसिद्धया भुवनद्वीपदेश-

तदेतदाभाति महीतलादि-

रूपेण वेद्येति कृतमभिधानम् ॥

१५

तत्रासीत्पार्थिवः कश्चिद्विपश्चिदिति विश्रुतः ।

यः सभायां सुसभ्यायां विपश्चित्त्वाद्विराजते ॥ ६

राजहंस इवाब्जिन्यामृक्षचक्र इवोडुराद् ।

सुमेरुरिव शैलीध्रे यः सभायामराजत ॥ ७

निवर्तते यतोऽक्षय्या वचनं गुणवर्णनात् ।

कवीनामचलाकारा भवेद्भा भूधरो यथा ॥ ८

प्रातःप्रातर्विकसितात्सर्वाशाभासनोद्यतात् ।

यतः प्रतापजनितश्रीरुदेत्यम्बुजादिव ॥ ९

स ब्रह्मण्यमतिर्मानी धद्धिमेवाधिदैवतम् ।

अपूजयत्समं भक्त्या देवं वेत्ति स नेतरम् ॥ १०

समत्स्यमकरव्यूहा गजवाजिगणान्विताः ।

आवर्तचक्रव्यूहाद्याः कल्लोलवलमालिताः ॥ ११

कालादिव्यवस्थया मर्यादया अस्ति ॥ ४ ॥ तत्र जम्बूद्वीपलक्ष-
णाया भूस्थितेर्भूषणभूतः कश्चिद्भूवो भागोऽस्ति । तत्रापि
गिरिवप्रवालकादिदृष्टतर्पण्याभावान्नरगजतुरगरवादीनां सुव्यक्ता
संचारादिव्यवहारकलना यस्यां संभवति तथाविधायामनौ
समभूयो नात्रा ततमितिरिति प्रतिष्ठा पुरी अस्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥
तत्र तस्यां पुर्यां शोभना सभ्या यस्या तथाविधायो
सभाया विपश्चित्त्वात्सर्वशास्त्रेषु विद्वत्त्वाद्विराजते ॥ ६ ॥
वैभवसौन्दर्यादिनापि तस्य तत्र विराजमानतामाह—राजहंस
इति । अब्जिन्यामब्जवत्सा सरस्याम् । ऋक्षचक्रे ऋक्षत्रणे
उडुराद् चन्द्र इव ॥ ७ ॥ सर्वत्रोत्तरोत्तरगुणोत्कर्षवर्णने प्रवृत्तं
कवीना वचनं यतो यस्माद्विपश्चितोऽवधेः सकाशाद्गुणान्वयेन
निरुपमत्वेन च वर्णनाशक्त्या वर्णनाश्रितवर्तते तथापि कवयस्तं
मजन्त एव । यतो यस्माद्विपश्चितः सकाशात्कवीनामचलाकारा
स्थिरा संपत्ख्यातिगुणोत्कर्षप्रयुक्ता सा शोभा भवेत् । स हि
भूधरो मेरुर्ध्वया स्वाधितनरसृगतृणगुल्मादीन्स्वभासां स्वर्णिकरोति
तादृश इत्यर्थः ॥ ८ ॥ श्रीः सपत् । अम्बुजपक्षे प्रतापादातर्प-
ज्जनिता श्रीः शोभा ॥ ९ ॥ ब्रह्मण्या ब्राह्मणद्विधा मतिर्यस्य
अत एव देवेषु बहेर्ब्राह्मणत्वाद्विभेदाधिदैवतं देवेषु अपूजयत् ।
तथा वाङ्मयुपस्थाने मन्त्रः 'त्वं देवेषु ब्राह्मणोऽस्यैव मनुजेषु
ब्राह्मणो हि ब्राह्मणमुपधावत्युप त्वा धावामीति । तदप्रितैव
देवेषु ब्रह्माभवत्' इति धाजसनेयके ॥ १० ॥ अस्य मन्त्रिण
मध्ये अकम्पना धीरा बाहुवलेन आधिका अकम्पनेन निर्भयेन
बलेन सैन्येन आधिकाध्वतारो मन्त्रिणध्वतारः सत्सागरा इव
चतस्रु दिक्षु परचक्रनिरोधेन देशमर्यादापालने युक्ता नियुक्ता
इति द्वयोरन्वयः । तत्र सागराः समत्स्यमकरव्यूहाः, मन्त्रिणसु

मर्यादापालने युक्ता अकम्पनबलाधिकाः ।
 मन्त्रिष्वप्यस्य चत्वारो दिक्षु सत्सागरा इव ॥ १२
 तैरशेषककुप्चक्रनाभिराभासितावनिः ।
 आसीत्सुदुर्जयो जेता स सुदर्शनचक्रवत् ॥ १३
 तमेकदा ययौ पूर्वदिक्षुखाच्चतुरश्वरः ।
 स उवाच रहो रंहोगतिधोराक्षरं वचः ॥ १४
 देव दोर्दुमविश्रान्तधरागोबन्धनाच्युत ।
 श्रूयतां मन्मुखात्पश्चाद्यथाप्राप्तं विधीयताम् ॥ १५
 पूर्वदिक्षुखसामन्तो ज्वरेणास्तमुपागतः ।
 मन्ये जेतुं यमं यातस्त्वयारब्धो जितारिणा ॥ १६
 तस्मिन्समन्ततो जेतुं दक्षिणापथनायकः ।
 पूर्वापराभ्यामाक्रम्य बलाभ्यामरिणाऽऽहतः ॥ १७
 तस्मिन्मृते समागम्य यावद्धारुणदिक्पतिः ।
 बलेनायाति ककुभौ ते समादातुमाहतः ॥ १८
 पूर्वदेशनृपैः सार्धं दक्षिणापथपार्थिवैः ।
 तावदेवारिभिरसावर्धमार्गे रणे हतः ॥ १९

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अथास्मिन्कथयत्येवं त्वरार्तमपरश्वरः ।
 उपप्लवजडोत्पीड इव हर्म्यं विवेश ह ॥ २०
 चर उवाच ।

उत्तराशाबलाध्यक्षो देवारिभिरुपद्रुतः ।
 इत आयाति सबलो भग्नसेत्वम्बुपूरवत् ॥ २१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इति श्रुत्वा महीपालः कालक्षेपमवास्तवम् ।

गजवाजिगणान्विताः । समुद्रा आवर्तव्यूहाढ्याः, मन्त्रिणश्चक्रव्यू-
 हाढ्याः । समुद्राः कलोलमालिताः । मन्त्रिणो बलमालिताः ॥ ११ ॥
 समुद्राः अकम्पनानां पर्वतानां बलेनाधिकाः ॥ १२ ॥ तैर्मन्त्रिभिः
 स राजा अशेषाणां ककुप्चक्राणां दिक्चक्राणां नाभिरिव आधा-
 रभूतः सन् सुदर्शनचक्रवत्सुदुर्जयः शत्रुभिरपरिमवनीयः स्वयं
 जेता च आसीत् ॥ १३ ॥ चरश्वरः आययौ । रंहः कालरय
 इव दुर्निवारत्वाद्वोराण्यक्षराणि यस्मिन् ॥ १४ ॥ दोर्दुमयोर्वि-
 श्रान्तेन धरागोबन्धनेन अच्युत अविच्युत । सदैव भूस्त्वङ्ग-
 जावष्टब्धेति यावत् । अत्राच्युतपदश्लेषाद्विष्णुत्वारीपोऽपि
 गम्यते ॥ १५ ॥ पूर्वदिक्षुखे त्वया मर्यादापालनाय नियुक्तो यः
 सामन्तः प्रागुक्तमन्त्री स ज्वरेणास्तं मरणमुपागतः । तत्रोत्प्रे-
 क्षते—मन्ये इति । जितारिणा त्वया दिग्विजयाय आरब्धः
 उपक्रम्य नियुक्तः स दक्षिणदिक्पतिं यमं जेतुं यात इति मन्ये
 ॥ १६ ॥ तस्मिन्मृते सति दक्षिणापथनायकस्त्वत्सामन्तः सम-
 न्ततः पूर्वा दक्षिणां च दिशं जेतुं प्रवृत्तः सोऽप्यरिणा पूर्वापराभ्यां
 बलाभ्यामाक्रम्य हतः ॥ १७ ॥ तस्मिन्मृते सति चारुणदिशः
 पतिस्ते सामन्तो यावद्बलेन समागम्य ते पूर्वदक्षिणे ककुभौ दिशौ
 समादातुमाहतः सप्तायाति तावदेव अरिभिः पूर्वदेशनृपैः सार्धं
 दक्षिणापथपार्थिवैः असौ अर्धमार्गे रणे हत इति द्वयोः संबन्धः

मन्यमान उवाचेदं निर्गच्छन्वरमन्दिरात् ॥ २२
 राज्ञः सन्नह्य सामन्तानानीयन्तां च मन्त्रिणः ।
 उद्धाट्यन्तां हेतिशाला दीयन्तां धोरहेतयः ॥ २३
 श्लेष्मन्तां कंकटा देहेष्वागच्छन्तु पदातयः ।
 गण्यन्तामाशु सैन्यानि क्रियन्तां वरकल्पनाः ॥ २४
 कल्प्यन्तां च बलाध्यक्षाः प्रेष्यन्तामभितश्वराः ।

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

वदत्येवं त्वरायुक्तं संरम्भवति राजनि ॥ २५
 प्रतीहार उवाचेदं प्रविश्याकुलमानतः ।

प्रतीहार उवाच ।

उत्तराशाबलाध्यक्षो देव द्वार्यवतिष्ठति ।
 काङ्क्षत्यल्लमिवार्कस्य देवदेवस्य दर्शनम् ॥ २६

राजोवाच ।

गच्छाविलम्बितं तावदेनमेव प्रवेशय ।
 जानीमः किं दिगन्तेषु वृत्तं वृत्तान्तसंश्रवात् ॥ २७

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त उत्तराशेशं प्रतिहारप्रवेशितम् ।
 प्रणामपरमग्रेऽसौ राजाऽपश्यद्वलाधिपम् ॥ २८
 क्षतविक्षतसर्वाङ्गमङ्गमङ्गेषु संततम् ।

श्वासाकुलं धमद्रक्तं धैर्येणाबलनिर्जितम् ॥ २९
 स प्रणम्य त्वरायुक्तमुवाचेदमुपक्रमम् ।

संस्तभ्याङ्गव्यथामाशु संततोच्छ्वासमुच्छ्वसन् ॥ ३०
 बलाध्यक्ष उवाच ।

देव त्रयोऽपि दिक्पाला बलेन बहुना सह ।

॥ १८ ॥ १९ ॥ अपरश्वरस्त्वरया आर्तं पीडितं यथा स्यात्तथा
 हर्म्यं विवेश ह किल । उपप्लवे प्रलये प्रसिद्धो जडोत्पीडो जल-
 प्रवाह इव ॥ २० ॥ हे देव ॥ २१ ॥ वस्तूनां वास्तूनां चाहि-
 तमवास्तवं मन्यमानः सन् वरमन्दिराजिर्गच्छन्नेव उवाच ।
 संनिहितान्पुरुषान्प्रतीत्यर्थः ॥ २२ ॥ किमुवाच । राज्ञस्तथा
 सामन्तान्मन्त्रिणश्च सन्नह्य युद्धसज्जाहयुक्तान्कृत्वा सर्वेऽप्यानी-
 यन्ताम् । ल्यबन्तक्रियाकर्मणोऽनभिहितत्वात्पक्त्वौदनं भुज्यत
 इतिवद्वितीया । पक्त्वौदनो भुज्यत इति प्रयोगे लभिमहिते प्रधा-
 नक्रियाकर्मणि प्रथमेव । क्तवान्तक्रियायां त्वार्थिकोऽन्वयो न
 शाब्दः । हेतीनामायुधानां शालाः कोशगृहा उद्धाट्यन्ताम्
 ॥ २३ ॥ वरकल्पनाः भटश्रेष्ठसमर्थनाः ॥ २४ ॥ २५ ॥ देवदेवस्य
 राजाधिराजस्य तव ॥ २६ ॥ वृत्तान्तस्य संश्रवात्सम्यक्श्रवणात्
 दिगन्तेषु किं वृत्तमिति जानीमो ज्ञास्यामः ॥ २७ ॥ इति राजा
 उक्ते सति प्रतिहारप्रवेशितमुत्तराशेशमग्रे प्रणामपरं राजा
 अपश्यत् ॥ २८ ॥ अङ्गमङ्गं प्रत्यङ्गं इषुभिः संततम् । अबल-
 मत एव निर्जितम् । धैर्येणेति पदस्योत्तरत्र संबन्धः ॥ २९ ॥
 स धैर्येण अङ्गव्यथां संस्तभ्य प्रणम्य अयं वक्ष्यमाण
 उपक्रमो यस्मिंस्तदिदमुपक्रमं वाक्यमुवाच ॥ ३० ॥ त्रयोऽपि

१ उपप्लवो जडोत्पीड इति पाठश्चिन्त्यः.

त्वदाद्येव निर्जेतुं यमं यमपुरं गताः ॥ ३१ ॥
 तद्देशपालनाद्यर्थमशक्तं मामिमं ततः ।
 अनुद्रवन्तो बहवो भूपाः प्राप्ता बलादिह ॥ ३२ ॥
 महत्परवलं प्राप्तमिदं देवस्य मण्डलम् ।
 विधीयतां तथाप्राप्तं न देवस्यास्ति दुर्जेयम् ॥ ३३ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 अथ तस्मिन्वदत्येवमार्तिमत्याजिविश्वे ।
 सहसैवाभ्युवाचेदं प्रविश्य पुरुषोऽपरः ॥ ३४ ॥
 पुरुषा मण्डलस्यास्य विपुला दललीलया ।
 स्थितान्यरिवलान्युच्चैश्चतुर्दिक् नरेश्वर ॥ ३५ ॥
 कचच्चक्रगदाप्रासकुन्तकाननकान्तिभिः ।
 वलिता नोऽरिभिर्भूमिलोकालोकतटैरिव ॥ ३६ ॥
 पताकायुधयोध्रङ्गाश्चलत्परिकराकुलाः ।
 विसरन्ति रथास्तत्र प्रोड्डीनत्रिपुरौघवत् ॥ ३७ ॥
 करानुग्रामयन्तः स्वे मांसवृक्षवनोपमाः ।
 बृंहन्ति वारणव्यूहा वर्षावारिद्वन्द्ववत् ॥ ३८ ॥
 नलोज्ज्वलानि कुर्वन्तः स्पन्देनोर्वानतोन्नतैः ।
 हेषन्ते ह्यसंघाता घातस्पन्दमहाब्धिवत् ॥ ३९ ॥
 रसन्ति तुरगापुराः फेनिलावर्तपातिनः ।
 सर्वतो बलयाकारा लवणार्णववारिवत् ॥ ४० ॥
 इत्यार्षे श्रीचा० वा० दे० मो० नि० उ० अविशोपाख्यानान्तर्गतविपश्चिदुपा० अविद्याक्षेपणे पार्थिवसंरम्भवर्णनं नामाष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥

आकाशकान्तिसन्नाहैर्दिशं प्रति बलं बलम् ।
 उदेत्यलघुकल्लोलैः प्रलयार्णवपूरवत् ॥ ३१ ॥
 शरास्त्रशस्त्रसन्नाहमुकुटाभरणत्विषः ।
 कचन्ति त्वत्प्रतापाग्नेर्ज्वाला इव तदङ्गगाः ॥ ३२ ॥
 समत्स्यमकरव्यूहाः सचक्रावर्तवृत्तयः ।
 उद्यन्ति सैन्यसंघट्टैः कल्लोला जलधेरिव ॥ ३३ ॥
 परस्परपरामर्शात्कुन्ताद्यायुधपङ्क्तयः ।
 कोपादिवोग्रदुर्कारैर्ज्वलन्ति विरटन्ति च ॥ ३४ ॥
 इति कर्तुमहं देव विव्रसिं स्वामिनेरितः ।
 तस्मान्मण्डलसीमान्तगुल्माद्युद्धाय गच्छता ॥ ३५ ॥
 तमहं देव गच्छामि शक्त्युष्टिशरसंगतः ।
 मयेहावेदितं सर्वं देवो जानात्यतः परम् ॥ ३६ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 इत्युक्त्वाथ प्रणामं च स कृत्वा त्वरया ययौ ।
 कृत्वा गुलुगुलारावं शान्तो वीचित्रिचान्मुखे ॥ ३७ ॥
 संभ्रान्तमन्त्रिनृपयोधनियोगिनाम्-
 नारीरथाश्वपरिचारकनागरौघम् ।
 राज्ञो गृहं स्वभयतोलितहेतिसार्थं
 चण्डानिलाकुलमहावनतुल्यमासीत् ॥ ४८ ॥

नवाधिकशततमः सर्गः १०९

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एतस्मिन्नन्तरे सर्वे मन्त्रिणो नृपमाययुः ।

मुनयो वासवमिव दैत्याक्रान्तनभोभुवम् ॥ १ ॥

प्रागुक्तास्ते दिक्पालाः सामन्ता यमपुरं गताः । मृता इति
 यावत् । त्वदाज्ञया यमं निर्जेतुमिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
 प्राप्तं परवलं तथा तच्चिर्जितासहस्रबहुर्देशप्राप्तं विधीय-
 ताम् ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ हे नरेश्वर, अस्य मण्डलस्य पुरुषा
 दलानामश्वत्थादिपर्णानां प्रसिद्धया कम्पलीलया विपुला
 विस्तीर्णाः संपन्नाः । चतुर्दिक्कमरिवलान्युच्चैः स्थितानि ॥ ३५ ॥
 नः भूमिररिभिर्वलिता वेष्टिता ॥ ३६ ॥ पताका आयुधाति
 थोद्धारश्चाङ्गे येषाम् ॥ ३७ ॥ करान् छण्डाग्राणि । वर्षासु
 प्रसिद्धवारिद्वन्द्ववत् बृंहन्ति गर्जन्ति ॥ ३८ ॥ स्पन्देन गतिक्र-
 मेण उर्वानतोन्नतैः सहस्रानि नतोन्नतानि कुर्वन्तः । वातेन
 स्पन्दन्त इति वातस्पन्दैर्महाब्धिमिस्तुल्यं हेषन्ते ॥ ३९ ॥
 रसन्ति घ्नन्ति । फेनिलाश्च ते आवर्तवत्पातिनो भ्रमन्त इति
 यावत् ॥ ४० ॥ आकाशवत्सच्छकान्तिभिः कचचशस्त्रादि-
 सन्नाहैरुपलक्षितं बलं दिशं दिशं प्रति उदेति । वीष्णाव्यस्यास-
 श्छान्दसः ॥ ४१ ॥ तेषां बलानामङ्गगाः शरास्त्रशस्त्रादित्विष-
 स्त्वत्प्रतापाग्नेर्ज्वाला इव कचन्ति ॥ ४२ ॥ मत्स्यमकराद्या-
 कारैर्व्यूहैः सहिताः । उदधिपङ्के स्पष्टम् । कल्लोला बृहत्तरङ्गाः

सैन्यप्रसरमेदाश्च ॥ ४३ ॥ उग्रैर्दुर्कारैर्दुर्कारप्रायैर्दण्डकारैः ॥ ४४ ॥
 स्वामिना त्वत्सामन्तेन त्वत्समीपे ईरितः प्रेषितः ॥ ४५ ॥
 तं प्रेषयितारमहं शक्त्युष्टिशरैः संगतः सनद्धः सन् गच्छामि ।
 तदीयवचनं सर्वमिह त्वत्पुरो मया आवेदितं विज्ञापि-
 तम् । अतः परं यत्कर्तव्यं तद्देवो जानाति, नाहमिच्छामि ।
 ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ संभ्रान्ता मन्त्रिणो नृपा योधा नियोगिनो
 राजनियोगानुष्ठितारो नागा गजा नायौ रथा अश्वाः परिचा-
 रकाः परिवर्याकारिणो नागरौघा यस्मिन् । स्वभयेन तोलिता
 उद्यता हेतयो यैस्तथाविधाः सार्था जन्तुसंघा यत्र । 'अलिह-
 तेतिसार्थम्' इति पाठे अल्य इव हता उपगता ईतिसार्था
 ईतिसमूहा यस्मिन्स्तथाविधं राज्ञो गृहं चण्डानिलाकुलेन महा-
 वनेन तुल्यं तुलनाहर्ममल्यन्तव्याकुलमासीदित्यर्थः ॥ ४८ ॥ इति
 श्रीनासिष्ठमहाराजमायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 पार्थिवसंरम्भवर्णनं नामाष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०८ ॥

इह मन्त्रिवचः श्रुत्वा ह्रस्वदेहस्य पावकात् ।

राज्ञश्चतुर्भिर्देहावसमुत्थानमुदीरयेत् ॥ १ ॥

दैत्यैराक्रान्ते नमश्च भूमेत्येवे अस्य । नमसि भवतीति

मन्त्रिण ऊचुः ।

देव निर्णीतमस्माभिर्यावन्न विषयोऽरयः ।
 प्रयाणामप्युपायानां दण्डस्तेषु विधीयताम् ॥ २
 प्रणयोऽनुप्रवेशो वा न कदाचन यः कृतः ।
 अधुना तेषु तं देव कुर्यात्तेषु कथैव का ॥ ३
 पापा म्लेच्छा घनाढ्याश्च नानादेश्याः सुसंहताः ।
 बहवो लब्धरन्ध्राश्च सामादेर्नास्पदं द्विषः ॥ ४
 तत्सुसाहसमेवेदं वर्जयित्वा प्रतिक्रिया ।
 नान्यास्ति शीघ्रमेवातो रणोद्योगो विधीयताम् ॥ ५
 वीराणां दीयतामाज्ञा पूज्यन्तामिष्टदेवताः ।
 आह्वयन्तां च सामन्ता इत्यन्तां रणदुन्दुभिः ॥ ६
 सन्नहन्तामशेषेण निर्गच्छन्तु रणे भटाः ।
 क्रियन्तां कालकम्पाध्रमेदुरा राजिता दिशः ॥ ७
 आस्फाल्यन्तां धनूंष्युच्चैः कणन्तु गुणपङ्क्तयः ।
 भवन्तु जलदश्यामाः ककुभः खण्डमण्डलैः ॥ ८
 स्फुरज्याविद्युतः शूरवारिदा घनगर्जिताः ।
 नाराचधारा मुञ्चन्तु कचत्कोदण्डकुण्डलाः ॥ ९

राजोवाच ।

गम्यतां सङ्गरायाशु संविधानं विधीयताम् ।
 ज्ञात्वाहं पूजयित्वाग्निं निर्गच्छामि रणाजिरम् ॥ १०
 इत्युक्त्वा नृपतिः ज्ञातो महारम्भोऽपि स क्षणात् ।
 प्रावृषीव नवोद्यानं गङ्गाजलधरैर्घटैः ॥ ११
 अथ प्रविष्टोऽग्निगृहं पूजयित्वा हुताशनम् ।

नभोभूः स्वर्गलोको यस्य तथाविधं वासवं मुनय इव ॥ १ ॥
 यावदिति साकल्ये । विचार्य सकलं निर्णीतमित्यर्थः । किं
 निर्णीतम् । अरयस्त्रयाणामप्युपायानां सामदानभेदानां विषयो
 न ॥ २ ॥ प्रणयो दानमानादिना स्नेहः । अनुप्रवेशः स्वपक्षी-
 याणामेव केषांचिच्छरणागतिच्छलेन काकोल्लङ्घन्यायेन तद्वधा-
 यान्तःप्रवेशः । तेषु शत्रुषु तेषु तादृशेषु यशोहरेषुपायेषु कर्तव्य-
 ताकथैव का ॥ ३ ॥ किंचिद्विश्वासाहंषु अनाढ्येषु सामदानो-
 पायप्रवृत्तिरेते तु न तादृश इत्याह—पापा इति । म्लेच्छाः
 प्रत्यन्तदेशवासिनः । लब्धरन्ध्रा ज्ञातास्सच्छिद्राः ॥ ४ ॥ ५ ॥
 ॥ ६ ॥ भटाः सन्नहन्ताम् । ततो रणे निर्गच्छन्तु । दिशः
 अर्थाद्गजघटाभिः कालवर्णैः कल्पाग्रैरिव राजिताः क्रियन्ताम्
 ॥ ७ ॥ गुणपङ्क्तयो मौर्वीश्रेणयः । खण्डमण्डलैर्धर्ममण्डलसदृशै-
 र्धनुर्भिः ॥ ८ ॥ घनं गर्जितं सिंहनादो येषां तथाविधाः शूर-
 वारिदा नाराचलक्षणा जलधारा मुञ्चन्तु । कचन्ति कोदण्डकु-
 ण्डलानि येषाम् ॥ ९ ॥ संविधानं नगरगुप्तिव्यूहरचनादि
 ॥ १० ॥ प्रावृषि नवोद्यानमिव क्षणात्ज्ञातः । महारम्भोऽपी-
 त्यनेनावश्यकान्यप्यन्यानि कार्याणि त्यक्त्वेति गम्यते ॥ ११ ॥
 चिन्तयामास बह्व्यमाणार्थमित्यर्थः ॥ १२ ॥ समुद्रितं शास-
 नमुद्रासहितम् ॥ १३ ॥ दशापि ककुभो दिशः करादिफल-
 भरेण लता इव नमिताः कृताः ॥ १४ ॥ प्रजाचित्तलक्षणे-

आदरेण यथाशास्त्रं चिन्तयामास भूमिपः ॥ १२
 नीतमायुरनायासविलासविभवश्रिया ।
 प्रजाभ्यो दत्तमभयमासमुद्रसमुद्रितम् ॥ १३
 आक्रान्तवसुधापीडाः पादपीठे कृता द्विषः ।
 लताः फलभरेणैव नमिताः ककुभो दश ॥ १४
 प्रजाचित्तेन्दुबिम्बेषु लिखितं धवलं यशः ।
 भूमावारोपिता कीर्तिलता त्रिपथगामिनी ॥ १५
 कोशवद्भरिता रत्नैः सुहृन्मित्रार्थबन्धवः ।
 निपीतोऽर्णवतीरेषु नालिकेररसासवः ॥ १६
 द्विषामाकम्पिता मेकगलाङ्गत्वगिवासवः ।
 मच्छासनाङ्किता जाता द्वीपान्तरकुलाचलाः ॥ १७
 विहृतं सिद्धसेनासु दिगन्तनवभूमिषु ।
 भूम्यन्तभूमृतां मूर्ध्नि विश्रान्तं मेघलीलया ॥ १८
 धियेवोच्चैःपदे ज्ञानपूर्णयैकान्तशीलया ।
 विलब्धान्यविनष्टानि राष्ट्राणीष्टार्थकारिणा ॥ १९
 रक्षांस्यप्यविनीतानि बद्धानि निगडैर्धनैः ।
 धर्मार्थकामैरन्योन्यं चयापचयवर्जितैः ॥ २०
 अखण्डितैर्मया नीतं पीतातियशसा वयः ।
 इदानीं शष्पविश्रान्तप्रालेयभरभासुरम् ॥ २१
 आगतं वार्धकं सर्वभोगसंरम्भमार्जनम् ।
 तस्योपर्यरयो रौद्रा बलवन्तो रणैषिणः ॥ २२
 संभूय सर्वतः प्राप्ताः संदिग्धो वर्तते जयः ।
 तदिहैवानलायासै देवाय जयदायिने ॥ २३

प्विन्दुबिम्बेषु लिखितं विन्यस्तम् । पूरितमिति यावत् । यशसः
 कलासाम्यमनुक्रमपि गम्यते । कीर्तिलतालक्षणा त्रिपथगा-
 मिनी गङ्गा । त्रिपथगामिनीति रूपणात्कीर्तिलताया ऊर्ध्वाधो-
 लोकयोरपि वृद्ध्या प्रतानव्याप्तिर्गम्यते ॥ १५ ॥ आर्याः पूज्या
 ब्राह्मणाः । अर्णवतीरेष्वित्युक्त्या चतुःसमुद्रान्तं दिग्विजयो
 गम्यते ॥ १६ ॥ द्विषां असवः प्राणाः मेकानां रटनकाले
 गललक्षणे अङ्गे प्रसिद्धा त्वगिव आकम्पिताः ॥ १७ ॥
 दिगन्ते प्रसिद्धासु नवासु अपूर्वासु काञ्चनादिभूमिषु । भूम्यन्तभू-
 मृतां लोकालोकान्तानां प्रत्यन्तदेशराजानां च ॥ १८ ॥ दृष्टा-
 न्तान्तरमाह—धियेवेति । यथा ज्ञानपूर्णया धिया एकान्तस-
 माविशीलया उच्चैःपदे ब्रह्मणि विश्रान्तं तद्वत् प्रजानामिष्टार्थ-
 कारिणा मया राष्ट्राण्यविनष्टानि विवृद्धानि लब्धानि ॥ १९ ॥
 अविनीतान्यविनययुक्तानि लब्धानिनिलयानि रक्षांस्यपि धनैर्नि-
 गडैर्बद्धानि ॥ २० ॥ अन्योन्यमखण्डितैः चयेन उपचयेन
 अपचयेन च वर्जितैः । समसंचितैरिति यावत् । धर्मार्थकामैर्वयो
 नीतम् । पीतातियशसेव सांप्रतं जराधवलेन मया क्षणेषु
 तृणाङ्कुरेषु विश्रान्तप्रालेयातिशय इव भासुरं धवलं वार्धकमा-
 गतमिति परेणान्वयः । 'शक्यविश्रान्त' इति पाठे घनीभवितुं
 शक्येषु पललादिषु विश्रान्तेति व्याख्येयम् ॥ २१ ॥
 तस्य वार्धकस्योपरि । तस्मिन्सतीति यावत् ॥ २२ ॥ २३ ॥

मस्तकाहुतिमेवेमां समुद्यम्य ददामि वै ।
राजोवाच ।

कृशानो देव मूर्धोऽयं तुभ्यमाहुतितां गतः ॥ २४ ॥
मया पूर्वं पुरोडाश इव देवेश दीयते ।
यदि तुष्टोऽसि भगवंस्तदनेन कृतेन मे ॥ २५ ॥
चत्वारो भवतः कुण्डात्स्वदेहाः प्रोद्भवन्तु मे ।
बलवन्तः श्रिया दीप्ता नारायणभुजा इव ॥ २६ ॥
तैश्चतुर्दिक्मेवारीन्वध्यामहमविघ्नतः ।
त्वया च दर्शनं देयं मह्यं मतिमते विमो ॥ २७ ॥
ध्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्युक्त्वा स महीपालः खड्गमादाय चिच्छिदे ।
शिरः कमलमालोलं लीलयेवाशु बालकः ॥ २८ ॥
छिन्नमेष शिरो यावज्जुहोत्यसितवर्त्मने ।
तावच्छरीरेण सह पपातामौ स पार्थिवः ॥ २९ ॥
भुक्त्वाथ बहिस्तं देहं ददावस्ये चतुर्गुणम् ।
मद्वतामुपयुक्तं हि सद्य एवामिवर्धते ॥ ३० ॥
चतुर्मूर्तिरथोत्तम्यौ पावकाद्वसुधाधिपः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठं बाल्मीकिं मो० निर्वा० उ० अवि० वि० अग्निप्रवेशोद्देहलभो नाम नवाधिकशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमः सर्गः ११०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।
पुरोपकण्ठसंप्राप्तैश्चतुर्दिक् सहारिभिः ।
एतस्मिन्नन्तरे तत्र प्रवृत्तं दारुणं रणम् ॥
लुण्ठितग्रामनगरं प्रजाकुलमहाकुलम् ।
अग्निदाहज्वलदेहं धूमाग्नपटलावृतम् ॥

॥ २४ ॥ पूर्वमिष्टिषु पुरोडाश इव इदानीमयं मूर्धो दीयते । यदि
मे तुष्टोऽसि तर्तार्हं अनेन कृतेन कर्मणा ॥ २५ ॥ चत्वारो भवतः
कुण्डात्स्वदेहा मे प्रोद्भवन्तु ॥ २६ ॥ वध्यां वध्यासम् । सलो-
पखण्डसः । मतिमते त्वदर्शनेच्छया त्वत्सुखमते ॥ २७ ॥
लीलया बालकः कमलसिख स महीपालः शिरश्चिच्छिदे ॥ २८ ॥
असितवर्त्मने कृष्णवर्त्मने । शरीरेण कवच्येन सह ॥ २९ ॥ भुक्त्वा
हविष्वेनोपयुज्य । महानुपयुक्तम्, महद्भिः स्वीकृतमित्यर्थः
॥ ३० ॥ ३१ ॥ सहैव जातानि उत्तमान्युत्तंसमूषणायुधवा-
सांसि येषाम् ॥ ३२ ॥ मौलिपदेन तद्गुणानि शिरोरक्षादीनि
लक्ष्यन्ते । सर्वान् अवन्ति रक्षन्तीति सर्वाः । वेरपृक्लोपाद-
लिलोपः पूर्वविश्रुतिषेधेनेति बलिलोपे पूर्वसवर्णदीर्घः ॥ ३३ ॥
अवस्थिता अधिरुढाः ॥ ३४ ॥ सद्युषणपदं धारैस्तूणीरैश्च
संवध्यते ॥ ३५ ॥ अपरमसाधारणं गुणमाह—समारोह-
न्तीति । ते देहा यस्मिन्पुंसि शिविकावाह्ये नागे गजे रथे हये
वा समारोहन्ति । असौ नरो नागादिश्च सर्वेषामरिप्रयुक्तमन्त्र-
यन्त्रकृत्वाद्याद्यादिदोषाणां नैव गम्यः प्राप्यो भवतीति ॥ ३६ ॥

शरजालमहाधूमच्छन्नार्कविलसत्तमः ।

क्षिप्रदृष्टरवि क्षिप्रमदृष्टरविमण्डलम् ॥

अग्निदाहमहातापप्रतपत्पूर्णकाननम् ।

लोलालातलताशूलमुसलोपलपूर्णखम् ॥

किञ्च ते देहाश्चत्वारः सागराः वडवार्चिषा माना प्रथमं पीत्वा
ततो गर्भे चिरं कालं धृत्वा पुरुषता पुरुषाकारे आपिताः प्रापिताः
ततस्तत्रामिच्छुण्डवेद्यामाहिताः प्रसृता इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३७ ॥
किञ्च रजभूषितेषु रजभूषितेषु च अश्वदेहेषु कुङ्कुमोत्कैः पूर्ण-
देहा इन्दुसदृशैर्हसितैर्दिशोऽवभासयन्तस्ते चत्वारो विपश्चित
आहुतिभिर्हुतादनलाश्चत्वारो हरयो विष्णव एव यथा सन्मूर्तयो
मूर्तिमन्तः । अन्धयो वा यथा तथा मूर्तिमन्तो वेदा इव वा
प्रसृजनिर्जग्मुः ॥ ३८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजमायनता-
त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अग्निप्रवेशोद्देहलभो नाम
नवाधिकशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

पुरोपकण्ठं संप्राप्तैश्चतुर्दिक् सहारिभिः ।

प्रवृत्तं दारुणं युद्धं विस्तरेणात्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

पुरोपकण्ठे समीपे संप्राप्तैरिभिः सह रणं युद्धं प्रवृत्तम्
॥ १ ॥ प्रजानां कुलं महाव्याकुलं यत्र ॥ २ ॥ शरजालमहाधूमैश्च
च्छन्नेनाकैश्च विलसत्तमो यत्र ॥ ३ ॥ प्रतपत्पर्णानि शुष्यन्त-
प्राणि काननानि यत्र । लोलैरलातकृतादिभिः पूर्णं खं यत्र ॥ ४ ॥

अनलप्रतिबिम्बौघैर्द्विगुणज्वलनायुधम् ।
 रणभग्नमहाशूरप्राप्तेन्द्रवनितासुधम् ॥
 उद्दामवारणारावै रणलम्पटहर्षदम् ।
 भुशुण्डीमण्डलप्रासशूलतोमरवर्षदम् ॥
 भटकोलाहलोलासहङ्गमृतपामरम् ।
 रजःपटलशुभ्राभ्रकृतद्युपथवारणम् ॥
 मरणव्यग्रसामन्तमुक्तनादवज्रजम् ।
 इतश्चेतश्च निपतद्वैद्युतोपहतप्रजम् ॥
 अग्निदग्धपतद्देहप्रोज्झिताग्निमयाम्बुदम् ।
 मरणाह्लाददासंख्यशरधारामयाम्बुदम् ॥
 जितसागरकलोलं तुरङ्गमतरङ्गकैः ।
 दन्तिदन्तविनिष्पेषतारकैकारककेशम् ॥
 कोटकोटिकुटीकुड्यकण्टकोद्भटसद्भटम् ।
 चटकुण्ठितकोटाट्टकूटाटननटच्छटम् ॥
 लुठत्पटनकुट्टाकसाटोपस्फुटपट्टिशम् ।
 खे वटकेतुपट्टाट्टपटपटारवम् ॥
 दन्तिदन्तगुणोद्गीर्णैर्हेतिपाषाणधर्षणैः ।
 तारकैकारहुंकारैराहृतसुरवारणम् ॥
 वहच्छरनदीपूरपूर्णाम्बरमहार्णवम् ।
 विचलच्चक्रकुन्तासिधारामंकरककेशम् ॥
 उन्नादयोधसंघट्टकंकटोत्कटटांकृतैः ।
 लसज्जणझणारावैर्घटितद्वीपमण्डलम् ॥
 पादपातपरापिष्टशरसंजातकर्दमम् ।

वहद्वक्त्रनदीरंहःप्रोह्यमाणरथद्विपम् ॥ १६
 सुपर्णहेलानिपतत्प्रोत्पतत्पट्टपट्टिशम् ।
 शरवारितरङ्गार्तभग्नयुधजलेचरम् ॥ १७
 हेतिसंघट्टनिष्क्रान्तज्वालाप्रज्वलिताम्बरम् ।
 बलीपलितनिर्मुक्तशूराक्रान्तत्रिविष्टपम् ॥ १८
 पाण्डुपांसुपयोवाहकचक्राचिरद्युति ।
 हेतिनिर्विवराकाशयुधानाधारभूतलम् ॥ १९
 कटङ्कटभटाटोपरदत्प्रतिभटोत्कटम् ।
 चटच्छकटसंघट्टपिष्टकाष्ठलुठद्रथम् ॥ २०
 कबन्धभटवेतालमिश्रकण्टकसंकटम् ।
 वेतालभुज्यमानाग्र्यशवमांसहृदम्बुजम् ॥ २१
 शूरशातितशीरार्धशिरःकरखुरोरुकम् ।
 कबन्धदोर्ध्वमस्पन्दवनीकृतनभस्तलम् ॥ २२
 तरल्लोलास्यवेतालहासघट्टितपेटकम् ।
 कंकटोत्कटसाटोपभटभुकुटिभीषणम् ॥ २३
 एकान्तमारणैकान्तमरणैकान्तभूषणम् ।
 प्रहारदानग्रहणकार्पण्यापारदूषणम् ॥ २४
 शूरवारणसामन्तमदवारिविशोषणम् ।
 मारणैकान्तरसिककृतान्तानन्दपोषणम् ॥ २५
 अविकत्थनगुप्तानां शूराणां जयघोषणम् ।
 अशूराणां च गुप्तानां प्रभावद्वोषणं परम् ॥ २६
 शौर्यादीनां प्रसुप्तानां स्वगुणानां प्रबोधनम् ।
 धनमाधारभूतानां राष्ट्रेषु भुजशालिनाम् ॥ २७

द्विगुणज्वलनानि द्विगुणदीप्तानि आयुधानि यत्र । रणभग्नम-
 हाशूरैः प्राप्ता इन्द्रवनिता अप्सरसः सुधा च यत्र ॥ ५ ॥
 रणलम्पटानां रणोत्सुकानां शूराणां हर्षदम् ॥ ६ ॥ भटानां
 कोलाहलोलासश्रवणमात्रेण हृद्भङ्गान्मृताः पामराः कतरा यत्र ।
 द्युपथवारणं अन्तरिक्षमार्गनिरोधः ॥ ७ ॥ मरणे व्यग्राणां
 सामन्तानां मुक्तनादं यथा स्यात्तथा व्रजन्तो व्रजाः स्तोमा यत्र ।
 वैद्युतेनोत्पातामिना उपहताः प्रजा यत्र ॥ ८ ॥ अग्निदग्धैः पतद्भि-
 र्गैर्हेः प्रोज्झिता निर्मुक्ता अग्निमया अग्निवर्षिणो धूमांमुदा यत्र
 ॥ ९ ॥ १० ॥ कोटानां दुर्गाणां कोटिषु संक्रमेषु याः कुट्य-
 स्तदीयकुड्येषु कण्टकवच्छरावापे उद्भटाः सद्भटा यत्र । 'कंकटो-
 द्भट' इति पाठे वारणाणैरुद्भासमानाः सद्भटा यत्र । चटत्सु वहिना
 वेद्यमानेष्वत एव कुण्ठितेषु कोटाट्टकूटेषु संक्रमाद्यलशिखरेषु
 अटनैर्नटन्तो वहिच्छटा यत्र ॥ ११ ॥ लुठन्ति पटनकुट्टाकानि
 गमनविच्छेदकानि साटोपस्फुटानि पट्टिशानि यत्र । खे वटन्तो
 वेष्टन्तः केतुपट्टा येषु तथाविधेष्वट्टेषु पटपटपटारवा यत्र ॥ १२ ॥
 दन्तिनां दन्तगुणानां शौक्यादीनामुद्गीर्णैर्द्वीपरणैर्हेतीनामायुधानां
 पाषाणेषु धर्षणैर्घटनैस्तारैः कैंकारैर्हुंकारैश्च युद्धोत्साहजन-
 नादाहृता इव सुरवारणा दिग्गजा यत्र ॥ १३ ॥ वहङ्गिः शर-
 नदीपूरैः पूर्णः अम्बरलक्षणो महार्णवो यत्र ॥ १४ ॥ उन्नादानां
 योधानां संघट्टेषु कंकटानां वारवाणानामुत्कटैर्घटैर्लसद्भिर्घण-

झणारावैश्च घटितानि व्याप्तानि द्वीपमण्डलानि यत्र ॥ १५ ॥
 ॥ १६ ॥ शरलक्षणेर्वारितरङ्गैरार्तानां भग्ना आयुधजलेचरा यत्र
 ॥ १७ ॥ देवभावप्राप्त्या बलीपलितनिर्मुक्तैः शूरैराक्रान्तं त्रिवि-
 ष्टं यत्र ॥ १८ ॥ पाण्डुषु पांसुलक्षणेऽपि पयोवाहेषु कचचक्र-
 लक्षणा अविरद्युतयो विद्युतो यत्र । हेतिभिर्निर्विवरं निरवकाशं
 युधानां संप्रहाराणामनाधारं भूतलं यत्र ॥ १९ ॥ कटन्तः
 शरान्वर्षन्तो ये भटैर्भ्योऽपि भटास्तेषामाटोपैः रटङ्गिस्तत्प्रति-
 भटैरुत्कटम् । तथा चटतां भुवमावृण्वानानां शकटानां संघट्टैः
 पिष्टेषु रथान्तरकाष्ठेषु लुठन्तो रथा यत्र ॥ २० ॥ कबन्धादि-
 भिरमिश्रा ये कण्टकाः शत्रवस्तैः संकटं दुरवगाहम् ॥ २१ ॥ शूरैः
 शातितं शीरार्धं शिरार्धम् । छान्दसो वीर्षः । शिरांसि करादिकं
 च यत्र ॥ २२ ॥ तरङ्गिः लवङ्गिल्लोलास्यैर्वेतालैः प्रहर्षाद्वासैर्घ-
 टितानि शवैः पूरितानि पेटकानि स्वकरणानि यत्र कंकटै-
 रुत्कटानां साटोपानां भटानां भुकुटिभिर्भीषणम् ॥ २३ ॥
 एकान्तेन नियमेन मारणं मरणं चेत्युभयमपि शूराणामेकान्त-
 भूषणं यत्र । प्रहाराणां दाने ग्रहणे च कार्पण्यमसामर्थ्यमेवा-
 पारं दूषणं निन्दा यत्र ॥ २४ ॥ २५ ॥ अविकत्थनेन स्वमु-
 खेन स्वशौर्यानिभिलापेन गुप्तानां प्रच्छन्नानां शूराणां किययैव
 रणे तच्छौर्यदर्शिनजनमुखेन प्रभौ जयघोषणं तथा गुप्तानामशू-
 राणां च प्रभौ अशौर्यद्वोषणं यत्र ॥ २६ ॥ भुजशालिनामत

| | | | |
|---|----|---|----|
| दन्त्यारूढरथास्फोटप्रभप्रकटवारणम् । | | नारीहलहलाद्यवरणप्रगरमन्दिरम् ॥ | ३७ |
| समस्तमत्तगन्धेभदानवारिनिवारणम् ॥ | २८ | मन्दरावानलाकारनभोभातायुधप्रजम् । | |
| सारसारवसामन्तमुक्तमत्तमतङ्गजम् । | | परित्यज्य धनं गेहं दूरोर्वीविद्रुतप्रजम् ॥ | ३८ |
| जरजितकरानीककल्पितालीकवेदनम् ॥ | २९ | सर्वतोहेतिवहनात्समक्षप्रेक्षकोज्झितम् । | |
| दिनं दिनकरस्येव नृपस्य शरणं गतम् । | | वर्जितं भीरुभिः पक्षिराजवृन्दमिवाहिभिः ॥ | ३९ |
| अनागतभटवातपिष्टार्धमृतमानवम् ॥ | ३० | दन्तिदन्तविनिष्पिष्टशिष्टसङ्कटसंकटम् । | |
| मानवायुबलोन्मत्तनतप्रारब्धकुट्टनम् । | | कटे मृत्योरिव नरदाक्षापीडनयन्त्रके ॥ | ४० |
| धनानां प्राणपण्यानां नवमापणपत्तनम् ॥ | ३१ | यन्त्रपाषाणसंघट्टपिष्टाम्बरगतायुधम् । | |
| पटनद्वपताकौघजातसंचारिदोर्द्धमम् । | | योधनादनददन्तिवृन्दबन्धुरकन्दरम् ॥ | ४१ |
| रक्तोज्ज्वलत्वाञ्जेलोक्यलक्ष्म्या भूषणविद्रुमम् ॥ | ३२ | धराधरदरीरन्तःप्रतिश्रुत्प्रोतगर्जितम् । | |
| मन्दराहननोद्भूतक्षीरोदजलसुन्दरैः । | | अर्जितं प्राणसर्वस्वमर्जयन्निरुपार्जितम् ॥ | ४२ |
| छत्रैश्छादितहेत्योद्युधपुष्पाढ्यगगनाङ्गनम् ॥ | ३३ | भर्जितं हेतिदहनैरग्निदाहैश्च संततैः । | |
| गणगीर्वाणगन्धर्वगीतशूराशयं कृतम् । | | तैरेवान्यैरथान्यैश्च द्वन्द्वयुद्धैरनिष्ठितम् ॥ | ४३ |
| तद्भातरलतालाग्रहेतिहालाहलायुधम् ॥ | ३४ | वेष्टितं मृतशिष्टैश्च सारैः सुभटपेटकैः । | |
| संघप्रहरणासंख्ययातुघानाज्ञणज्ज्ञणम् । | | कैलासैरिव संशुद्धैरीश्वराधारतां गतैः ॥ | ४४ |
| भुक्त्वा चाद्रिगुहागेहपूरितापूर्वदुर्द्धमम् ॥ | ३५ | तैरुदारैः समाक्रान्तं ये मृत्योरपि मृत्यवः । | |
| कचत्कुन्तवनव्यस्तशिरःकरवृताम्बरम् । | | मरणं जीवितं येषां जीवितं मरणं रणे ॥ | ४५ |
| क्षेपणोन्मुक्तपाषाणपूरप्लुतककुब्जतम् ॥ | ३६ | रणे नभसि निर्दूनवरवारणवारिजे । | |
| महाचटचटाराब्दस्फुटद्रववृहद्भुमम् । | | सारसाः सरसीवान् रेजुरत्युद्भटा भटाः ॥ | ४६ |

एव रात्रेषु दुर्बलाभाधारभूतानां शूराणाम् । धनं धनवरिप्र-
यम् ॥ २७ ॥ दन्त्यारूढानां रथानां च परस्परमास्फोटे युद्धे
प्रभप्रकटा वारणा यत्र । समस्तानां मत्तगन्धेभानां दानवारिणां
मदजलानां निवारणं विशोषणम् ॥ २८ ॥ मत्तमतङ्गजेषु
सारसि प्रविष्टेषु सारसैरिव आरवेणाकोटिन सामन्तैस्सुरैरपि
पलायमानैर्मुक्ता मत्तमतङ्गजा यत्र । ततो जरझिरपि खड्गवि-
द्याया जितकराणामनीकैः कल्पितं समर्थितं असिः प्रहरणं
येषां ते आसीकास्तद्देवनं तद्भावनप्रकटनं यत्र । क्षणिकयोर्वि-
हित ईकक् छान्दसत्वादसेः कृतः ॥ २९ ॥ कचित् अनागते-
ष्वेव भटवातेषु तदागमनभ्रान्त्या पलायने परस्परपादतल-
पिष्टा अर्धमृतप्राया मानवा यत्र । अत एव दिनं दिनकरस्येव
नृपस्य पादौ शरणं गतम् ॥ ३० ॥ मानोऽभिमानस्तल्लक्षणो-
न्मादवायुबलेनोन्मत्तैर्नतेष्वपि प्रारब्धं कुट्टनं यत्र । प्राणै-
पण्यानां धनानां नवमापणस्थानभूतं पत्तनम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
॥ ३३ ॥ गणैः प्रमथैर्गन्धर्वगीर्वाणैश्च, गीताः शूराणांमाशया
छत्साहादयो यत्र । तेषां गणानां गन्धर्वादीनां भाभिस्तरलै-
स्तालाग्रैर्वज्राग्रैर्विहालाभिश्च सोन्मादत्वाहलायुधभूता भटा
यत्र ॥ ३४ ॥ संघं समूय लीलया प्रहरणं येषां तथाविधैरसंख्यै-
र्यातुधानैरज्ञणज्ज्ञण निःशब्दं स्वयं भुक्त्वा चकाराच्छवादिभारा-
शीत्वा, अद्रिगुहालक्षणे खगेहे पूरिता भोजिता, अन्येऽप्येषा

दुर्द्धमा विषष्टप्रया यातुधाना यत्र ॥ ३५ ॥ कचद्रि कुन्त-
धनैः कुन्तारण्यप्रायैः कुन्तधैर्व्यस्तैर्दिष्टत्वा क्षिप्तैः शिरोभिः
करैश्च वृताम्बरम् ॥ ३६ ॥ भुजास्फोटनजैर्महाचटचटाशब्दै-
स्फुटतामिव रवो येषां तथाविधा बृहद्भुमा यत्र ॥ ३७ ॥ ३८ ॥
हेतीनामायुधानां सर्वतोवहनात्प्रवहणात्सर्वतः प्रेक्षकैर्मयाकु-
ज्झितम् ॥ ३९ ॥ मृत्योर्नरलक्षणानां द्राक्षाणां निर्भीडनयन्त्र-
मिव विद्यमाने कटे गण्डस्थले दन्तिभिर्दन्तैर्विनिष्पिष्टशिष्टान्
सङ्कटानां संकटं यत्र ॥ ४० ॥ ४१ ॥ धराधरदरी- प्राण
प्रतिश्रुद्धिः । अतिश्वनिभिः प्रोतानि गर्जितानि यत्र । तत्र
महता यत्नेन जन्मप्रभृत्यर्जितं प्राणसर्वस्वं बलसर्वस्वं अर्जयन्नि-
र्गमयन्निः प्रकटयन्निः शरैरुपार्जितं रणं अब्रुतमित्यन्वयः
॥ ४२ ॥ पुनः कीदृशं तद्रणं प्रवृत्तं तदाह—भर्जितमित्यादि ।
निष्ठां समाप्तिमप्राप्तमनिष्ठितम् ॥ ४३ ॥ सारतामेव हृदयान्तेन
व्यनक्ति—कैलासैरिवेति । संशुद्धैः साम्यवयवैः अत एव हवि-
ईश्वराधारता गतैः सुभटपेटकैः । कैलासपक्षे स्पष्टे द्वे ॥ ४४ ॥
येषां भटानां रणे मरणं जीवितमिव त्रियं पलायनेन जीवितं जीवितं
तु मरणमिव द्वेभ्यम् । उदारैस्तैः पुरुषैश्चैलोक्यमपि समाक्रान्तं
जितमित्यर्थः । ये मृत्योरपि मृत्यवः परमपदप्राप्ताः सप्तमन्ते ।
यथाहुः 'द्वावेतौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलमेदिनौ । परिप्राह
योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥' इति ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

१. पटनद्वः पताकौषा एव संचारिणो दोर्द्धमा अभूवन्.
२. जरझिरपि खड्गविशारदैरावेशवशात्स्वविभाकीशकं प्रकटितमित्यर्थः.

३. हलायुधो बलरामः. ४. अजोर्गलधैर्यस्येदं रूपम्.

यन्त्राश्मक्षेपणानां प्रसरणसरितां
घूकृतैः फूत्कृतैर्द्राक्
क्रान्तानां व्योम्नि मूर्ध्ना शरसलिलमुचां
सैनिकानां च नादैः ।

टांकारैरायुधानां नभसि विसरता-
मश्वचक्रेभशब्दै-
रासीन्निःसंधिवन्धोपलजठरजडं
जीर्णकर्णे गतं तत् ॥ ४७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० भो० निर्वा० उ० अविद्यो० विप० संग्रामवर्णनं नाम दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमः सर्गः १११

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति कल्पान्तसदृशे यत्ते समरसंभ्रमे ।
पतन्तीषूत्पतन्तीषु सेनासु समरेजिरे ॥
तूर्यभेरीमहाशङ्खखड्गेषु खे नदत्सु च ।
धनुर्ध्वनिषु वीराणां तारक्रेकारकारिषु ॥
अन्योन्यकठिनास्फोटविकटे भटपेटके ।
कवत्कटकटाटोपे कटुकुडितकड्डटे ॥
किञ्चित्प्रभञ्ज्यमानासु विशत्कदमासु संगरे ।
विपश्चित्पक्षसेनासु लूयमानलतास्त्रिव ॥
उदभूत्पूरयन्नाशा नृपनिर्याणदुन्दुभिः ।
चतुर्धाशनिसंपूर्णकल्पाभ्ररवमांसलः ॥
स्फुटतां कुलशैलानां तुल्यकालमिवोत्कटः ।
स्फुटच्चटचटास्फोटैर्जडिताखिलदिक्कटः ॥
लोकपालैरिवाकारैर्नारायणभुजैरिव ।
स चतुर्भिश्चतुर्दिक् निर्जगाम महीपतिः ॥
चतुरङ्गेण महता सैन्येन परिवारितः ।
अट्टालवलयान्कृच्छ्राभिर्गत्य नगराद्बहिः ॥
ददर्शात्मबलं रिक्तं बलवद्रिपुमण्डलम् ।

गर्जन्तं च लयाकृत्या भीमं युद्धोद्धतार्णवम् ॥ ९
शरसीकरनीरन्ध्रं मकरव्यूहसंकुलम् ।
वारणव्यूहवलितं तरङ्गव्यूहविस्तृतम् ॥ १०
चक्रावर्तवद्बहुहकल्लोलकलितान्तरम् ।
चलद्रथशतावर्तं पताकालहरीगणम् ॥ ११
प्रस्फुरच्छत्रफेनाढ्यं हयहेषितफीत्कृतम् ।
समुल्लसद्देतिजलं कचन्द्वाराकरं परम् ॥ १२
तरत्तरलमातङ्गतुरङ्गौघतरङ्गकम् ।
हेत्यम्भसि कचत्पापमुद्यद्गुलुगुलोदरम् ॥ १३
दरीदलनसंक्षुब्धमरुज्जनितधुंघुमम् ।
नतोन्नतकृताद्रीन्द्रमहास्पन्दशरीरकम् ॥ १४
मज्जनमातङ्गतुरगहेलाहतमहीधरम् ।
अपारविचरत्पूरकल्लोलालमहाजलम् ॥ १५
अकालकल्पान्तदशासमुत्थानघनाकृतिम् ।
आक्रान्तरोदसीरन्ध्रधिरैकमहार्णवम् ॥ १६
कचदायुधखण्डौघडीनरत्नावृतोदरम् ।
चलद्बहुचलद्भ्यस्तयन्त्राश्मक्षेपणाश्मकम् ॥ १७

तदेव युद्धं वर्णयन्नुपसंहरति—यन्त्रेति । यन्त्राश्मनां क्षेपणानां
यानि प्रसरणानि प्रवाहास्तल्लक्षणानां सरितां घूकृतैर्ध्वनि-
विशेषैस्तथा द्राक् सद्य एव लिङ्गोद्गीनानां व्योम्नि क्रान्तानां
चलितानां मूर्ध्ना फूत्कृतैः फूत्कारशब्दैस्तथा शरसलिलमुचां
सैनिकानां च नादैस्तथा नभसि विसरतामायुधानां नादैस्त-
थाऽश्वचक्राणामिभानां च हेषावृंहितशब्दैश्च गतं व्याप्तं तद्युद्धं
जीर्णं बधिरिकृताः कर्णा यस्मिंस्तथाविधं सन्निःसंधिवन्धुपल-
जठरमिव जडमासीत् ॥ ४७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे संग्रामवर्णनं नाम दशा-
धिकशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

स्वसैन्ये ह्रीयमानेऽत्र निर्गतेन महीभृता ।

वायव्याश्चतुर्दिक्षु वर्ण्यते द्विषतां क्षयः ॥ १ ॥

यत्ते प्रवृत्ते । सर्वेषां भावलक्षणसप्तम्यन्तानां पञ्चमश्लोके
उदभूदित्यत्रान्वयः ॥ १ ॥ तूर्यादिषु त्रिषु प्रतिध्वनिभिः खे तत्र
खड्गेषु च नदत्सु । वीराणां तारक्रेकारानुकारिषु ॥ २ ॥ भटपेटके
योधकदम्बे कटु यथा स्यात्तथा कुडितकड्डटे कवत्कटकटाटोपे
सति । कुशब्दे शत्रुप्रत्ययः ॥ ३ ॥ विशन्ती कश्मा मूर्च्छा यावु
यो० वा० १६७

॥ ४ ॥ ५ ॥ तुल्यकालं स्फुटताम् । जडितानि जडीकृतानि ॥ ६ ॥
आकारैर्मूर्तिधरैर्नारायणभुजैरिव चतुर्भिर्देहैः ॥ ७ ॥ ८ ॥ आत्मबलं
रिक्तं ददर्श । रिपुमण्डलं तु बलवत् ऊर्जितं ददर्श । तदेव
रिपुमण्डलमर्णवलेन वर्णयति—गर्जन्तमित्यादिना ॥ ९ ॥
प्रायेण रूपकाणि सर्वत्र ॥ १० ॥ चक्रावर्तवद्बहुहविर्व्यूहैः सेना-
रचनामेदैर्जनकालैश्च कलितान्तरम् ॥ ११ ॥ हयानां हेषितमेव
यादसां फीत्कारशब्दो यत्र । कचन्तीनां धाराणामाकरम्
॥ १२ ॥ हेतिलक्षणे अम्भसि कचन्तः प्रकाशमानाः पापाः
कृष्णसर्पायमाणा म्लेच्छा यत्र । इविडादिभटवार्ताभिरुद्यद्गुलु-
लोदरम् ॥ १३ ॥ नतरुन्नतैश्च मातङ्गैः कृता अद्रीन्द्राणां
मज्जनोन्मज्जनलक्षणमहास्पन्दा यस्मिंस्तथाविधविपुलशरीरकम्
॥ १४ ॥ अपारं विकचन् यः सेनापूरस्तदेव कल्लोलैरलं भूषितं
महाजलं यस्य ॥ १५ ॥ अकाले कल्पान्तदशासमुत्थानमिव
घना आकृतिर्यस्य । रोदसीरन्ध्रेत्यल्लुक् छान्दसः ॥ १६ ॥
कचद्भिरायुधखण्डौघलक्षणैर्जनैरुच्छलद्भी रत्नैरावृतोदरम् ।
चलत्सु सेनाव्यूहेषु चलन्तो व्यस्ता यन्त्राश्मक्षेपणाश्मका यत्र ।
समुदेऽपि पोतेषु सामुद्रजनानां यन्त्राश्मक्षेपणाश्मनां प्रसिद्धेरिति

रक्तसीकरनीहारसंभ्याभ्रपटलानतम् ।
 कचित्पांसुपयोवाहपीतद्वेतिपयोधरम् ॥ १८
 तमालोक्य रणाम्भोधिमगस्त्योऽस्य भवाम्यहम् ।
 इति संचिन्त्य मनसा स पातुं तं रणार्णवम् ॥ १९
 अस्त्रं सस्मार वायव्यं चतुर्दिक् च संदधे ।
 धनुषि शिखराधारे त्रिपुरान्त इवोद्यतः ॥ २०
 आत्मीयदेशसैन्यानां श्रेयोर्थं शान्तयेऽनलम् ।
 नमस्कृत्याथ जप्त्वाशु स तत्तत्याज दारुणम् ॥ २१
 यथा तथैव तस्याज तस्य साहायकाय सः ।
 पर्जन्यास्त्रं महास्त्रेशं द्विषदातपशान्तये ॥ २२
 तस्मादस्त्रजुषो घोरास्त्रजुषः परिनिर्गताः ।
 अष्टमूर्तेश्चतुर्दिक्कमाशाकुहरपूरकाः ॥ २३
 निर्ययुर्बाणसरितस्त्रिशूलसरितस्तथा ।
 शक्तीनामुग्रसरितो भुशुण्डीसरितस्तथा ॥ २४
 मुद्राणां च सरितः प्रासानां सरितो रयात् ।
 चक्राणां चैव सरितः परश्वधनदीरयाः ॥ २५
 तोमराणां च सरितो मिन्दपालमहापगाः ।
 पाषाणानां च सरितो वाताः कल्पान्तशंसिनः ॥ २६
 अशनीनां च सरितो विद्युतां सरितस्तथा ।
 जलधारासरित्पूराः खड्गवर्षसमन्विताः ॥ २७
 सनाराचा महावर्षहर्षलोत्पातपीवराः ।
 नागाश्च युगपर्यन्तस्फुटिताद्भीन्द्वा इव ॥ २८
 तेनास्त्रवर्षवेगेन धुतः सोऽरिबलार्णवः ।
 झटित्येव न कालेन पांसुराशिरिवामितः ॥ २९
 सलिलाशनिशस्त्राणामासारैश्चण्डमारुतैः ।

भावः ॥ १७ ॥ १८ ॥ तं वर्णितप्रकारे रणहेतुं रिपुबलाम्भो-
 धिमालोक्यास्य पाने अहमगस्त्यो भवामीति सचिन्त्य स विप-
 श्रितं बलार्णवं पातुं वायव्यमस्त्रं सस्मार ॥ १९ ॥ यथा शिखरा-
 णामाधारे मेरुलक्षणे धनुषि त्रिपुराणां अन्ते वधे उद्यतः शिव-
 अस्त्रं संदधे तद्वत् ॥ २० ॥ 'शत्रुशान्तये' इति पाठे नमस्कृत्या
 अनलमिति शेषः । सः तदस्त्रं तस्याज ॥ २१ ॥ यथा वायव्य-
 मस्त्रं तस्याज तथैव तस्य साहायकाय पर्जन्यास्त्रमपि तस्याजे-
 स्तर्यः ॥ २२ ॥ चतुर्दिक् अस्त्रद्वयजुषः अत एवाष्टमूर्तेस्तस्माद-
 जुषो बाणादिसरितो निर्ययुरिति परेणान्वयः ॥ २३ ॥ २४ ॥
 ॥ २५ ॥ वाताश्चण्डबायवः ॥ २६ ॥ २७ ॥ महावातेर्ध्वलाः
 प्रवृक्षा उत्पाता इव पीवराः पुष्टा नागाः सर्पाश्च निर्ययुः । युग-
 पर्यन्ते स्फुटितेभ्योऽभीन्द्वाभ्यो जाता इव ॥ २८ ॥ तेन अस्त्रव-
 र्षवेगेन सः अरिवलार्णवः कालेन बिलम्बेन न किंतु झटित्येव
 पासुराशिरिव अमितो धुत उद्धामितः ॥ २९ ॥ ३० ॥ द्रुतः
 पलायमानः संश्रुर्दिक् ययौ ॥ ३१ ॥ तमेव पलायमानं बलीं च
 गिरिणीसाम्योपपादनादिना वर्णयति—वहदित्यादिना । वायु-
 प्रवाहेन बहन्तः स्त्रिणाः स्वेदाद् बृहन्तश्छिन्नाश्च पताका केतव

सरांसीव विसेतुनि सैन्यानि परिदुदुधुः ॥ ३०
 चतुरङ्गश्चतुर्दिक् बलीधः स परादुस्रः ।
 ययौ प्रावृद्धिगिरिणीमहाबाह इव द्रुतः ॥ ३१
 बहत्स्त्रिभृहच्छिन्नपताकाकेतुपादपः ।
 मरीचिपुष्पशबलविलोलासिलतावनः ॥ ३२
 विलुठत्पुष्पापाणपृषद्रक्षद्रवावचः ।
 घोरैर्घुरघुरारावैरलं हृदयभङ्गदः ॥ ३३
 उद्धमानवृहदन्तिदन्तद्रुमविघट्टनैः ।
 स्फूर्जच्चटचटारावतर्जितोर्द्रुजिताम्बुदः ॥ ३४
 हेतिवृत्तोऽसंघट्टपुष्पजातझणझणः ।
 तरत्तरलसारावतुरङ्गमतरङ्गकः ॥ ३५
 रथादिभटचक्रौघशिलाकैकारपीवरः ।
 पदातिरथहस्त्यश्वशिलासंघट्टसंकटः ॥ ३६
 कट्टुचंकारचीत्कारकैकारपरिपीवरः ।
 मृता मृता वयमिति घनकोलाहलाकुलः ॥ ३७
 सेनावारिमहावर्तचलहुलुगुलारवः ।
 रक्तसीकरनीहारसंभ्याम्बुदवितानकः ॥ ३८
 हेतिवीचिवटाच्छिन्नवारिवामनवारिदः ।
 वर्षपङ्क्तिभूमीठतटखण्डनमण्डितः ॥ ३९
 कुन्तशूलगदाप्रासबहत्तालतलाद्भुतः ।
 साक्रन्दभीरुजनताप्रतपन्मुगपोतकः ॥ ४०
 मृतहस्त्यश्वयोधौघजीर्णपर्णनिरन्तरः ।
 पिष्टदेहवसामांसपङ्कसंजातकर्दमः ॥ ४१
 चूर्णीकृतखुरापिष्टमहास्थिघनसैकतः ।
 उद्धमानशिलापूरकाष्टकोटिकटङ्कटः ॥ ४२

एव पादपा यत्र । मरीचिपुष्पैः शबलानि विलोलासिलता-
 वनानि येन ॥ ३२ ॥ पलायनाशक्त्या विलुठन्तः पुष्टज-
 लक्षणा ये पाषाणास्तेषां पृषद्विर्बिन्दुभूते रक्तवैरवचो कुर्वचः ।
 तत्र पातमूर्च्छितानां घोरैर्घुरघुरारावैर्हृदयभङ्गदो भीषण इति
 यावत् ॥ ३३ ॥ गिरिण्याः प्रावृद्धिः शेषणमस्तुदकल्पनेनोप-
 दयति—उद्धमानेति ॥ ३४ ॥ हेतिषु द्रुतो य लजः शिला-
 संघट्टः स एव नदीतीरतटपुष्पेषु जातो अमरझणझणधनि-
 र्यत्र ॥ ३५ ॥ रथादीना भटचक्रौघाना च यच्छिलासंकटे
 कूजितं तलक्षणेन मेकपङ्क्यादिकैकारेण पीवरः पुष्टः ॥ ३६ ॥
 तदेवाह—कट्टिति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ हेतिमिवानिर्विघटा
 इव आच्छिन्ना वारिणा धामना नद्या वारिदा यत्र । पङ्क्ति-
 भूमीठतटस्य मार्गनिष्पादनाय खण्डनेन मण्डितः ॥ ३९ ॥
 पलायमानैः कुन्तादिधरैर्वहत्तालतलं तालवनमिवाद्भुतः ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ चूर्णीकृतान्यस्थिनि ईषत्स्थूलसैकतानि, खुरैरपिष्ठानि
 तु सूक्ष्मतमसैकतानीति भेदः । उद्धमानैः शिलापूरैः काष्ठकोटि-
 मिश्च परस्परघटनात्कटङ्कट इति ध्वन्यभेदारोपोक्तिः ॥ ४२ ॥

उद्भ्रजत्प्रलयाम्भोदैर्घहत्प्रलयचायुभिः ।
 प्रपतत्प्रलयासारः प्रलयाशनिसंकटैः ॥ ४३
 पङ्क्तिखिलभूर्पीठैः सलिलोपप्लुतस्यलैः ।
 सितशैत्यवशाद्यानधाराकृतग्रपञ्जरैः ॥ ४४
 समग्रनगरग्रामगृहज्वलितवह्निभिः ।
 प्रजाश्वेभपदातीनामाक्रन्देनापि घर्घरैः ॥ ४५
 रथाम्भोधरनिर्हृदैर्दिवि भूमौ घनारचैः ।
 चतुर्दिक्षं यनं तारककारस्य चतुष्टयैः ॥ ४६
 इत्यायं श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वा० उ० वि० चतुर्दिग्गतवलद्रवणं नामकादशाधिकशततमः सर्गः ॥ १११ ॥

विद्युद्वलयविस्तारकारिसंघट्टघर्षणैः ।
 शरशक्तिगदाप्रासभिन्दिपालादिवर्षणैः ॥ ४७
 सर्वदिक्कमसंख्यानि चलानि चलशालिनाम् ।
 भूभृतां विद्रवन्त्याशु विनेशुर्मशकौघवत् ॥ ४८
 उद्दामपावकवनोपमहेतिसार्ध-
 मेघानलाकुलजनाशनिवर्षपातैः ।
 आसन्वलानि चपलाग्निजलावलानि
 पर्याकुलानि चडवाग्निमिवाविशन्ति ॥ ४९

द्वादशाधिकशततमः सर्गः ११२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

लोकहाराम्बरव्यालं चेदिचन्दनकाननम् ।
 छिन्नं परशुधाराभिः पतितं दक्षिणार्णवे ॥ १
 पर्णवत्प्रोक्ष्य पूरेण पारसीकाः परस्परम् ।
 प्रहरन्तो विमोहेन विनष्टा वज्रुलावने ॥ २
 दर्दुराद्रौ दुरन्तेषु दरदीर्णहृदन्तराः ।
 दरीरन्ध्रेषु संलीना दरदा दानवा इव ॥ ३
 चतुरायुधधाराग्रचूर्णनीहारधारिणः ।
 विद्युद्वलयिनो वाता वेह्यितायुधवारिदाः ॥ ४
 दन्तिनोऽन्योन्यमाभग्नदन्तदेहौघपीडिताः ।
 मृत्यूदरोम्भकप्रासपिण्डपिण्डा इवाभवन् ॥ ५
 तज्जा रैवतिका रात्रौ रौद्रतोमरताडिताः ।

उद्भ्रजत्प्रलयाम्भोदैर्घहत्प्रलयादीनां तृतीयान्तानां पञ्चमश्लोके इत्थं
 विद्रवन्ति भूभृतां चलानि मशकौघवह्निनेशुरेल्यन्तान्वयः ॥ ४३ ॥
 सितं तीक्ष्णं चच्छेद्यं तद्दशादद्यानैरशुयद्भिर्जलधाराकृतैः स्ने-
 पशरैः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ भुवि रथनिर्हृदैः, दिवि अम्भोधरनिर्हृदैः ।
 चतुर्दिक्षं तारस्य विपश्चिदनुःककारस्य चतुष्टयैः ॥ ४६ ॥ विद्यु-
 द्वलयविस्तारकारिणां मेघानां सघट्टघर्षणैश्च ॥ ४७ ॥ ४८ ॥
 प्रवन्तभूभृतां चलानि उद्दामपावकवनोपमहेतिसार्धमेघानामन-
 लैराकुला जना रैनन्धाविधेरशनिवर्षपातैश्च पर्याकुलानि सन्ति
 पञ्चवाग्निमाविशन्ति चपले अग्निजले कट्यमानान्यवलानि
 नादांसीव आगन् ॥ ४९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणे
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे चतुर्दिग्गतवलद्रवणं
 नामकादशाधिकशततमः सर्गः ॥ १११ ॥

यत्र यत्र यथा नष्टा यद्यदेष्टाः पलायिताः ।

पर्यवन्तेऽत्र तथा सर्वे चतुर्दिक्षु टिपन्नताः ॥ १ ॥

तत्र प्रथमं चेदिचन्दनकाननां नाशप्रकारमाह—लोकेति ।

चेदिचन्दनकाननं परशुनिर्दिष्टं दक्षिणार्णवे
 पतितम् । तत्र चन्दनवृक्षाणां म्यालेष्टिनत्वप्रतीतिमन्थनाय
 शिर्षिणः—लोकेति । लोच्यन्ता इति लोका दर्शनीया हारा
 अम्बरवर्णि वा आताः सन्ति । यत्र यत्र देवानां च भट-

रूपिकाभिः पिशाचीभिर्भुक्ता भागीकृताङ्गकाः ॥ ६
 तालीतमालगहने दशार्णा जीर्णजङ्गले ।
 गले पादं निधायान्तः कृत्ताः सिंहैर्गतासवः ॥ ७
 पश्चिमार्णवतीरस्था नालिकेरधरावनौ ।
 यवना विगतप्राणा निगीर्णा मकरोत्करैः ॥ ८
 नाराचनिकरं नीलं निमेषं नासहञ्छकाः ।
 रमठा नलिनीपण्डा इव ताण्डवितासवः ॥ ९
 श्रवणाभोगशृङ्गाग्रो महेन्द्रोऽद्रिर्दिवि व्रजैः ।
 विद्रुतैर्वलितो नीलैर्जालैर्जलमुचाभिच ॥ १०
 चामीकरवराकारा भग्ना तद्गणवाहिनी ।
 मृता हताम्बरा चोरैर्भुक्तैकान्ते निशाचरैः ॥ ११
 द्यौरिवर्क्षभरैरासीत्तदासारं भुवस्तलम् ।

निर्देशो बोध्यः ॥ १ ॥ पारसीका भटा अस्त्रपूरेण पर्णवत्प्रोक्ष्य-
 माणा विमोहेन परस्परं प्रहरन्तः सन्तो वज्रुलावने देशे
 विनष्टाः ॥ २ ॥ तथा दरदा भटा दर्दुराद्रौ दुरन्तेषु दरीरन्ध्रेषु
 संलीनाः ॥ ३ ॥ शरप्राप्तातिपरशुलक्षणां चतुर्णामायुधानां
 धाराग्रप्रयुक्ताशिलाकवचादिचूर्णलक्षणनीहारधारिणो विद्युद्भिर्व-
 लयिनो वेष्टिता वेह्यितायुधा वायुनास्त्रप्रयुक्ता वारिदा वाता-
 श्लिताः ॥ ४ ॥ तेषु चलितेषु किमासीत्तदाह—दन्तिन
 इति । अन्योन्यं प्रहारराभग्नदन्ता देहेषु रुधिराघेण पीडि-
 ताश्च दन्तिनो मृलोरुदरस्य उम्भकाः पूरका प्रासपरिमिताः
 पिण्डपिण्डा इव अभवन् । द्विरुक्तिरनेकत्वद्योतनाय ॥ ५ ॥
 तज्जा दरददेशजा एव केचिद्रैवतिका रैवतकपर्वते निलीनाः ।
 रूपिकाभिः स्वरूपेण पुरुषवशिकाभिः पिशाचीभिः ॥ ६ ॥
 दशार्णास्त्वदेशजा भटाः ॥ ७ ॥ नालिकेरधरायां चेलावनौ
 ॥ ८ ॥ नीलं कर्णाचसं नाराचनिकरं शका नासहन् ।
 एवं रमठा अपि वाताहता नलिनीपण्डा इव ताण्डवितासव
 आगन् ॥ ९ ॥ श्रवणभोगशृङ्गाग्रो महेन्द्रोऽद्रिर्विद्रुतैर्वलितो
 मृतप्राणि यन्म तथाविधो महेन्द्रोऽद्रिर्विद्रुतैर्वलितो मृतम-
 र्दयलितः सन् जलमुचां जालैर्वलित इवासीन् ॥ १० ॥
 तज्जनानां भटानां वाहिनी पूर्वं चोरैर्हताम्बरा पश्चादेकान्ते
 निशाचरैर्भुक्ता मृता ॥ ११ ॥ तदा तद्गणसंज्ञाभक्षणकाले

१ दन्त्यक्षेत्रैः एव-उम्भः प्रहृतं प्राप्तेत्येवमने कतिचित्तिदम् ।

विवर्तमानैरभितः कचद्भिर्ज्वलनायुधैः ॥ १२ ॥
 धाराधरधरान्ध्रप्रतिश्रुद्धनघुंघुमा ।
 जगद्देहगुहासीद्दधौर्धनं गातुमिचोद्यता ॥ १३ ॥
 द्विपान्तरजनाश्चक्रेर्जजरा जीवितं जहुः ।
 मीनजङ्गलजम्बाले जीर्णमत्स्या इवाजले ॥ १४ ॥
 यावद्भीषा जिताः कुक्षौ सद्माद्रौ सममूर्तयः ।
 आश्वस्य दिवसान्सप्त ययुरायासमन्धरम् ॥ १५ ॥
 गन्धमादनपुत्रागवतकुक्षेषु पुजिताः ।
 विद्याधरकुमारीभिर्गान्धाराः परिरक्षिताः ॥ १६ ॥
 हूणचीनकिरातानां मुकैस्तैश्चक्रवर्षणैः ।
 कमलानीव लूनानि शिरांस्यभिमुखानिलैः ॥ १७ ॥
 निलीपा नलिनीनाले कण्टका इव निश्चलाः ।
 हुमे हुमे हुममया भयास्त्वस्यावसंश्रिरम् ॥ १८ ॥
 चारुसारङ्गरङ्गासु शैलकाननभूमिषु ।
 चतुर्दिक् तदापातैः संपन्नं क्षोभणं घनम् ॥ १९ ॥
 कण्टकस्थलनामानः कण्टकस्थलकर्कशाः ।
 कण्टकस्थलगा आसन्कण्टकस्थलमण्डले ॥ २० ॥
 पारसीकाः परं पूरैः पारं प्राप्य पयोनिधेः ।
 निपेतुः पवनैः पूताः प्रलये तारका इव ॥ २१ ॥
 बबुरम्भोधिकुट्टाका दृषदां कटकाङ्किताः ।
 सर्वदिग्बलपुण्ड्राका घाताः प्रलयशङ्किताः ॥ २२ ॥
 आसारसाराः पङ्काम्बुधुताः सघनघुंघुमाः ।

तत्रसं भुवस्तलमभितो विवर्तमानैः संचरद्भिर्ज्वलनायुधैरुत्सु-
 कधरैरस एव कचद्भिर्निश्चानरैः ऋक्षभरैर्नक्षत्रसमूहैर्धौरिव सार
 शोभमानमासीत् ॥ १२ ॥ किंच तस्मिन्विपश्चिद्विजये जगदेव
 गेहगुहा यस्यास्तथाविधा धौर्धाराधराणा धरान्ध्रेषु गर्जनप्र-
 तिध्वनिमिर्वनघुंघुमा बहलमृदङ्गध्वनिः सती घनं तदशो गातु-
 मुद्यतेवासीत् ॥ १३ ॥ मीनविहारजंगलभूते जम्बाले शैवलप-
 ल्वले दैवादजले सति मत्स्या इव अशरणाः ॥ १४ ॥ याव-
 द्भीषाः यावद्भीषाभिजना भटाः सद्माद्रौ निलीय सप्तरात्रमा-
 श्वस्य चिकित्सादिना त्रणोपशमात्सममूर्तयः सन्त आसारैः
 क्रियमाता आयासेन मन्धरं मन्दं स्वदेशं ययुः ॥ १५ ॥ १६ ॥
 हूणानां चीनानां किरातानां च शिरासि अभिमुखानिलैरत एव
 वेगवद्भिर्विपश्चिन्मुकैश्चक्रवर्षणैः कमलानीव लूनानि ॥ १७ ॥
 निलीपास्तन्नामकदेशजा भटा हुममया वृक्षप्रायाः सन्तोऽव-
 सन् ॥ १८ ॥ सारङ्गाणां मृगाणां पक्षिणा च विहारे रजभूमि-
 भूतासु शैलकाननभूमिषु तस्य विपश्चित आपातैर्धनमतिशयितं
 क्षोभणं संपन्नम् ॥ १९ ॥ कण्टकस्थलं करञ्जवनमिव कर्कशाः
 कण्टकानां दस्यूनां स्थले मण्डले देशे कण्टकस्थलगाः करञ्ज-
 दिववनिलीना आसन् ॥ २० ॥ २१ ॥ दृषदां प्रहारैः पर्वत-
 कटकेषु अङ्किताः कृतचिह्नाः । प्रलयशङ्किताः प्रलयशङ्काविषयी-
 कृताः ॥ २२ ॥ दशदिशो बहुधुब्धैरायुधैरनिलैश्च आसार-
 सारा भूत्वा पङ्काम्बुधुता अदृश्या आसन् ॥ २३ ॥ जातैर्नीहारा

आसन्दशदिशोऽदृश्या बहुधुब्धायुधानिलैः ॥ २३ ॥
 निर्हादकारिभिर्वीतैर्वैहच्छपछपारवम् ।
 प्रसस्युर्भुवि नीहारा महार्णवरया इव ॥ २४ ॥
 विदूरस्था रथेभ्यश्च वीचिचीत्कारकारिणः ।
 सरोम्भस्यनिलैः पेतुः पञ्चेभ्य इव षट्पदाः ॥ २५ ॥
 आयुधौघेऽपि चक्रौघात्पादातं बलमाविलम् ।
 रजोराशिरिवासारै न समर्थं पलायने ॥ २६ ॥
 हूणा आमस्तकं मग्ना उत्तरार्णवसैकते ।
 क्लिप्तास्तत्रैव पङ्कान्तः पूरणाविलशूलवत् ॥ २७ ॥
 तीरैलावनलेखासु शकाः पूर्वपयोनिधेः ।
 नीता धक्का दिनं मुक्ता न गता यमसादनम् ॥ २८ ॥
 मन्दं मन्द्रा महेन्द्राद्रौ क्रन्दन्तः पतिता दिवः ।
 आश्वासिता मुनिवरैर्निजाश्रममृगा इव ॥ २९ ॥
 प्रविष्टा याचनं सहे लब्धाः सुरबिलाद्वयम् ।
 अनर्थेनाऽर्थं आयाति काकतालीयतः कचित् ॥ ३० ॥
 पतिता दर्दुरारण्ये दशार्णा जीर्णपर्णवत् ।
 भुक्त्वा विषफलान्यज्ञा मृतास्तत्रैव ते स्वयम् ॥ ३१ ॥
 विशल्यकरणीं भुक्त्वा काकतालीययोगतः ।
 हिमाद्रौ हैहया याता गृहं विद्याधरा इव ॥ ३२ ॥
 पृष्ठमृगानकुसुमा धनुर्भिर्गृहमागताः ।
 चङ्गा नाद्यापि दृश्यन्ते पिशाचत्वमिवागताः ॥ ३३ ॥

वहच्छपछपारवं यथा स्यात्तथा प्रसस्युः । छपछपेयव्यक्तीहारा-
 भिघातध्वन्यनुकरणम् । महार्णवरया अपि वातप्रयुक्ता वहच्छ-
 पछपारवाश्च तदनुभविनां प्रसिद्धाः ॥ २४ ॥ अनिलैः प्रोक्ष-
 माणाः विदूरदेशस्था रथिका वीचय इव चीत्कारकारिणः सन्तः
 सरोम्भसि पेतुः ॥ २५ ॥ तेषां पादातं बलं तु आयुधौघे
 सत्यपि विपश्चिन्मौघादाविलमश्रुकल्लासं सद आसारै घारा-
 पातै रजोराशिः पासुजालमिव पलायने न समर्थममृत ॥ २६ ॥
 भुवि पूरणेन आविलं मृन्मालिन्यमापद्यमानं लोहशूलं वया
 क्रियते तद्वत्क्लिप्ताः ॥ २७ ॥ शका भटाः पूर्वपयोनिधेस्तैरै-
 वनलेखासु नीताः सन्तो दिनमात्रं विपश्चिता बद्धा पञ्चादयवा
 मुक्ता यमसादनं न गताः । न मृता इत्यर्थः ॥ २८ ॥ दिवो
 धुवद्भुवताद्विरिदिखरात् ॥ २९ ॥ सहे गिरौ प्रविष्टा भटासु
 मृकाम्बिकासत्रिधौ कुटजाङ्गाख्ये तच्छिखरै दैवात्प्रविष्टासु-
 बिलात् द्वयं ऐहिकामुष्मिकं याचनं अभिलषितसिद्धिफलं
 लब्धाः प्राप्तवन्तः । तथा हि । माग्योदयकाले क्वचित्काकता-
 लीयन्यायतः अनर्थेनापि अर्थः पुरुषार्थं आयाति । यतो भर्-
 णार्हं सुरबिलं प्रविष्टैः सिद्धयो लब्धा इत्यर्थः ॥ ३० ॥
 दशार्णा भटा दर्दुरनिरेरण्ये पतिताः प्रविष्टाः सन्तः ॥ ३१ ॥
 हैहयदेशीया भटा हिमाद्रौ विशल्यकरणीमोषधिं भुक्त्वा विद्या-
 धरा इव खेचराः सन्तो गृहं याताः ॥ ३२ ॥ एवं वशी अपि
 हैमवतीरोषधीभुक्त्वा पृष्ठलमा नरा इव मृगानि उत्तंस-

अङ्गा वनफलैर्भुक्तैर्विद्याधरपदप्रदैः ।
 विद्याधरीभिः क्रीडन्ति दिवि विद्याधराः स्थिताः ॥ ३४
 तालीतमालखण्डेषु पतिताः पातिताङ्गकाः ।
 पारसीका गता मोहं भ्रमाद्वैमानिका इव ॥ ३५
 तरलासारमातङ्गं पतितं तङ्गणाङ्गणे ।
 अङ्गैरङ्ग कलिङ्गानां चतुरङ्गं बलं हतम् ॥ ३६
 क्रमत्यरिबले साल्वाः शरशैलोदकोदरे ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० अवि० वि० बलपरिभ्रंशो नाम द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

पतिताः प्रभुणा सार्धमद्याप्येवोपलाः स्थिताः ॥ ३७
 असंख्याः प्रपलायन्तः ककुभं ककुभं प्रति ।
 नराः सरत्तरङ्गेषु सागरेषु लयं गताः ॥ ३८
 क्षेत्राटवीपुरजलस्थलशैलकूल-
 कुल्याग्रहारसरिदब्धिभृगुदुमेषु ।
 ग्रामारपट्टिगिरिकूपगुहागृहेषु
 भ्रष्टानि कः कलयितुं कुबलानि शक्तः ॥ ३९

त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ११३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

बलान्यनुतरन्तोऽथ तदित्थं द्रवतां द्विषाम् ।
 दूरादूरतरं प्राप्ताश्चत्वारस्ते विपश्चितः ॥ १
 सर्वशक्तिमयैकेन चेतनेनेश्वरेण ते ।
 प्रहिता दिग्जयं चक्रुः सर्वे एव समाशयाः ॥ २
 दूरात्तावदविच्छिन्नमनुसम्बलानि ते ।
 यावत्तीरं समुद्राणां प्रवाहाः सरितामिव ॥ ३
 दूराविश्रान्तयानेन तेषां तत्सर्वसाधनम् ।
 आत्मीयं परकीयं च क्षीणं कुसरिदम्बुवत् ॥ ४
 आत्मीयान्यन्यदीयानि तेषां वीक्ष्यबलान्यलम् ।
 क्षीणानीव मुमुक्षूणां पुण्यपापानि धावताम् ॥ ५
 स्वयमस्त्राणि शान्तानि कृतकृत्यान्यथाम्वरे ।

ज्वालाजालानि वह्नीनां दाह्यस्यासंभवादिव ॥ ६
 आलयेषु रथाश्वेभ्यश्चौघादिषु हेतयः ।
 आसन्निद्रालवो लीना दिनान्ते विहगा इव ॥ ७
 तरङ्गा इव तोयेऽन्तर्नीहारा इव वारिदे ।
 मेघा वायाविवामोदा व्योमनीव निलिल्यरे ॥ ८
 धारापङ्क्तलालीनशान्तहेतिजलेचरः ।
 नाराचसीकरासारनीहारपरिवर्जितः ॥ ९
 चक्रावर्तशतोन्मुक्तो युक्तः सौम्यतयाच्छया ।
 प्रशान्तमेघसंरम्भतरङ्गोत्तुङ्गवर्षणः ॥ १०
 अन्तर्लीनक्षरत्नौघकोणसंस्थार्कवाडवः ।
 शून्यतावारिरमलो व्योमैकाब्धिरभूत्पृथुः ॥ ११
 लम्बप्रकाशगम्भीरं प्रसन्नं कान्तिमत्ततम् ।

कुसुमानि येषां तथाविधाः सन्तः शरव्ययात्केवलं धनुर्भिरुपल-
 क्षिता गृहमागताः सन्तो भयादद्यापि बहिर्निःसरणाभावाच्च
 दृश्यन्ते ॥ ३३ ॥ दिवि विद्याधरा भूत्वा स्थिताः ॥ ३४ ॥
 पारसीकास्तालीतमालखण्डेषु पतिताः प्रविष्टमात्राः शत्रुभिः
 पातिताङ्गकाः सन्तो मोहं मूर्च्छां गताः । तत्र च भ्रमाद्वैमानिका
 इवामवन् ॥ ३५ ॥ हे अङ्ग, कलिङ्गानां तरलासारमातङ्गं चतु-
 रङ्गं बलं अङ्गैर्हतं सत् पलायमानं तङ्गणाङ्गणे पतितम् ॥ ३६ ॥
 साल्वा भटाः शराः शैलाः शिलासमूहा उदकानि चोदरे यस्य
 तथाविधे अरिबले क्रमति आक्रमति सति प्रभुणा सार्धं पति-
 तास्ते चाद्यापि तद्देशग्रामदेवताभूता उपलाः प्रतिमा भूत्वा
 स्थिताः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ न केवलं सागरेष्वेव किन्तु क्षेत्रेष्व-
 टवीषु पुरेषु जलेषु स्थलेषु शैलेषु कूलेषु कुल्यासु अग्रहारेषु
 सरित्सु अब्धिषु भृगुषु दुमेषु तथा ग्रामेषु आरपट्टिषु शुल्कस्था-
 नेषु गिरिषु कूपेषु गुहासु गृहेषु च भ्रष्टानि भूतानि तेषां कुब-
 लानि कलयितुं गणयितुं कः शक्तः । न कश्चिदपीत्यर्थः ॥ ३९ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
 बलपरिभ्रंशो नाम द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

अस्त्राणामरिसंज्ञान्ता साधनानां च संक्षयः ।

अर्णवानां च विभवो वर्ण्यते विस्तरादिह ॥ १ ॥

द्रवतां द्विषां बलान्यनुतरन्तोऽनुधावमानाः ॥ १ ॥ सर्व-

शक्तिमयेन सर्वशक्तिसंभूतेन सर्वदेहेष्वेकेन चेतनेनेश्वरेण प्रहिता
 दिग्बिजयाय प्रवर्तिताः । समाशयास्तुल्याभिप्रायाः ॥ २ ॥
 अविच्छिन्नमरिचलैरनुस्यूतं यथा स्यात्तथा अनुससुः ॥ ३ ॥
 दूरमविश्रान्तेन यानेन गमनेन तेषां विपश्चित्सैन्यानां तत्प्र-
 सिद्धं सर्वं जीवनयुद्धादिसाधनं धनास्त्रशस्त्रादि प्रत्यहं व्ययेन
 क्षीणम् । कुसरितां कुल्यानामम्बुवत् ॥ ४ ॥ धावतां तेषां
 विपश्चितामात्मीयान्यन्यदीयानि च वीक्षणार्हाणि बलानि
 सैन्यानि मुमुक्षूणां पुण्यपापानीव अलं निःशेषं क्षीणानि ॥ ५ ॥
 ॥ ६ ॥ आलयेषु निषङ्गकोशादिस्थानेषु रथादिषु च लीनाः
 सन्तो निद्रालव इव निश्चेष्टा आसन् ॥ ७ ॥ ८ ॥ वर्षधाराप्रयुक्ते
 पङ्क्तले आलीना अत एव शान्ता हेतिलक्षणा जलेचरा मीन-
 मकरादयो यस्य । तथा नाराचलक्षणैः सीकरासारनीहारैः परि-
 वर्जित इत्याद्यब्धिरूपकोपपादकविशेषणानां चतुर्थश्लोकस्थे
 व्योमैकाब्धिरभूदित्यन्वयः ॥ ९ ॥ प्रशान्तानि मेघसंरम्भ-
 प्रयुक्तानि तरङ्गेभ्योऽप्युत्तुङ्गानि वर्षणानि यस्मिन् ॥ १० ॥ अन्त-
 र्लीना ऋक्षलक्षणा रत्नौघा यस्मिन् । कोणे एकदेशे संस्थः अर्क-
 लक्षणो वाडवो बडवानलो यस्मिन् । शून्यतैव वारि यस्मिन् ।
 ईदृशो व्योमलक्षण एकाब्धिः प्रलये प्रसिद्ध एकार्णवः पृथु-
 विस्तृतः अभूत् ॥ ११ ॥ खं महतां मन इव रेजे । लम्बेन

रजोविरहितं रेजे खं मनो महतामिव ॥ १२
 अथार्णवांस्ते ददशुराकाशस्थानुजानिव ।
 विस्तीर्णान्विमलाकारान्पूरिताखिलदिवतान् ॥ १३
 तरङ्गकणकलोलमहाशुलुगुलाकुलान् ।
 भूरितीकरनीहारहारिहारिशरीरिणः ॥ १४
 स्थितानात्मानमास्तीर्य भूमौ व्याध्यातुरानिव ।
 श्वसनार्ताश्चलद्देहान्विवर्तौर्मिमहाभुजान् ॥ १५
 जडानपि स्पन्दमयान्कलोलकोटकोटरान् ।
 संसारानिव विस्तीर्णाश्चक्रवर्तदशाकुलान् ॥ १६
 रत्नराशितटोद्भूतपीवरीकृतभास्करान् ।
 शङ्कराशिविशद्वातशब्दतर्जितधुंधुमान् ॥ १७
 मांसलोर्मिघटाघोषधर्षणम्बरडम्बरान् ।
 वर्तुलावर्तविस्तारप्रभमद्भिद्रुमद्रुमान् ॥ १८
 मकरव्यूहनिर्द्वादधर्षरोदरधुंधुमान् ।
 मत्स्यपुच्छच्छटाच्छिन्नमज्जत्पोतकृतारवान् ॥ १९
 उद्गीवकूर्ममकरनिगीर्णौर्णनरोत्करान् ।
 ऊर्मिविम्बितसप्ताश्वसहस्रार्कनभोनिभान् ॥ २०
 भांकारकारिपवनपतङ्गुल्यततोद्भटान् ।
 ऊर्म्युदस्तमणिजातबलाज्जणझणध्वनीन् ॥ २१
 नानाजालैर्बलभुजैर्दलास्पृष्टार्कमण्डलान् ।
 नमद्रुमद्रुद्रशिखरत्नमाणिक्यमण्डलान् ॥ २२
 उत्फालफेनिलावर्तविवर्तमकरोत्करान् ।
 कच्चित्करिकरोन्नामैः क्षणं वंशवनीकृतान् ॥ २३

विस्तीर्णेनात्मप्रकाशेन सूर्यालोकेन च गम्भीरम् । रजोगुणैर्धू-
 लिभिश्च विरहितम् ॥ १२ ॥ आसर्गसमाप्तेरर्णवान्वर्णयितुमु-
 पक्रमते—अथेति ॥ १३ ॥ भूरिभिः सीकरनीहारहारिभिर्मै-
 वैर्हारि मनोहरं शरीरं येषाम् । निखमोगाशयार्थविक्रयविवक्षया
 कर्मधारयादपि मत्वर्थायः समर्थनीयः ॥ १४ ॥ आत्मानं
 स्वदेहं भूमौ आस्तीर्य प्रसार्य । विचरन्त इति विवर्ता चलि-
 प्यमाणा ऊर्मिमहाभुजा येषाम् ॥ १५ ॥ संसारपक्षे कलोलः
 बहुमयसौरकोटा कुटिला कोटरा जलाशया येषु ॥ १६ ॥
 रत्नराशिधरेस्तटोद्भूतैरुदयकाले पीवरीकृतः स्थूलीकृत इव
 भास्करो यैः । शङ्कराशिषु विश्रुतो वातस्य शब्द एव तर्जितधुंधु-
 मस्तर्जनध्वनिर्येषाम् ॥ १७ ॥ मांसलानां पुष्टानामूर्मिघटानां
 घोषैर्मेषधर्षणम्बरडम्बरयुक्तान् ॥ १८ ॥ पुच्छच्छटा पुच्छाग्रं
 तेन छिन्नैर्द्वाकृतैरत एव मज्जद्भि- पोतैः कृतारवान् ॥ १९ ॥
 उद्गोवैः कूर्मैर्मकरैश्च निगीर्णौर्णा ऊर्णम्बरा नरोत्करा येषु ।
 सामुद्राणां नराणां प्रायेणौर्णम्बरत्वद्योतनायौर्णेति विशेषणम्
 ॥ २० ॥ विस्तीर्णपटे भांकारकारिभिः पवनैः पतन्तो
 गच्छन्तो भूत्या भूतिसमृतास्त्रताः उद् ऊर्ध्वं घटन्ते चेषन्त
 श्युद्धटाः पोताः येषु । बलात् पतनाभिधातवलात् ॥ २१ ॥
 ॥ २२ ॥ करिणां कराणां शुण्डानामुन्नामैरुन्नमनैर्वंशवनमिव

लहरीवल्लरीवालान्पृष्ठताल्लिषु माधवान् ।
 कच्चिदन्तरविश्रान्तसपरिच्छदमाधवान् ॥ २४
 एकदेशस्थितासंख्यनानासुरसुरालयान् ।
 तारानवतरङ्गौघपरिदन्तुरिताम्बरान् ॥ २५
 गुह्यमशकवद्रतभीतशास्त्रायिताचलान् ।
 नयतोन्मुतरङ्गौघैर्वेलाद्रीनतिसर्वताम् ॥ २६
 खक्षेत्रारोपितानक्षरक्षरश्मिपथाङ्कुरान् ।
 शुद्धशुक्तिमुखोन्मुक्तमुक्तान्तरितसैकतान् ॥ २७
 नानारत्नांशुकौशेयसूत्रचित्रांस्तरङ्गितान् ।
 विशन्नदीन्दशादिग्भिः समाकीर्णान्पटानिव ॥ २८
 इन्द्रनीलतटैर्व्युत्समुक्ताशुक्तिशताङ्कितैः ।
 कच्चिदृश्यतः कान्तशतेन्दुकनखश्रियम् ॥ २९
 रत्नांशुजालसंदिग्धास्तरङ्गादेशविम्बिताः ।
 परिवर्तयतः फुल्लास्तीरतालीवनावलीः ॥ ३०
 पलालवङ्गकङ्कोलफलमालां जिघृक्षुभिः ।
 वेलावनलताभ्रष्टामात्तावृत्तीजलेचरैः ॥ ३१
 चूतनीपकदम्बाग्रविहगान्प्रतिबिम्बितान् ।
 मुञ्जानैर्विप्रलम्भेन कृताच्छोटाजलेचरैः ॥ ३२
 खेचरप्रतिबिम्बेन विद्रवद्भिरितस्ततः ।
 भग्नबन्धवृहत्सैतूक्ष्णं प्रति जलेचरैः ॥ ३३
 अमूर्तान्प्रतिबिम्बेन हृदयस्थजगत्रयान् ।
 चतुरो व्योमविपुलान्दिक्षु नारायणानिव ॥ ३४

कृतान् ॥ २३ ॥ लहरीषु वल्लर्य इव करिणां बालः पुच्छावि-
 येषु तान् । करिणां पृष्ठसमूहः पृष्ठता तल्लगणास्त्रालिषु पङ्क्तिषु
 माधवान्वसन्तानिव फेनपुल्लैः पुष्पितान् । कच्चिद् भेदहीपादौ
 ॥ २४ ॥ नानाविधानामसुराणां सुराणां चालयभूतान् । इन्द्र-
 गर्भघटीतत्पुरुषान्तचतुष्पदवहुनीहिर्वा । प्रतिबिम्बफेनादिता-
 वद्भिन्नवतरङ्गौघैः परिदन्तुरितं परिहसितम्बरं यैः ॥ २५ ॥
 गुह्यस्थमशकवत्पातालगतं निविष्टा वह्निर्निर्गमनभीता अत एव
 मूलस्थशास्त्रायिता अचला येषाम् । खर्वता नयत इति वेला-
 पेक्षया । तरङ्गौघाणामौजसपादनादिति भावः ॥ २६ ॥
 रश्मिपथाः रश्मिप्रसराः । खक्षेत्रे आरोपितास्तल्लक्षणा अङ्कुरा
 यैस्तान् ॥ २७ ॥ नानारत्नांशुलक्षणैः कौशेयसूत्रैश्चित्राः ।
 विशन्नो नय एव तुरीप्रवेक्ष्यमानतन्तवो येषा तान् । दशाग्र-
 ताभिर्दिग्भिः परितः समाकीर्णान् अत एव ऊयमानपटानिव
 स्थितान् ॥ २८ ॥ कान्तशतेन्दुकाशिव नखश्रियं कच्चिदृश्यतः
 ॥ २९ ॥ तरङ्गाणामादेशेषु प्रदेशेषु प्रतिबिम्बितास्तीरताली-
 वनावलीस्तरङ्गपरिपुण्या परिवर्तयतः ॥ ३० ॥ वेलावनलताभ्यो
 भ्रष्टामेलादिकलमाला जिघृक्षुभिर्जलेचरैः आत्ता आवृत्तयस्तीरे
 संचारा येषु तान् ॥ ३१ ॥ मक्ष्योपदर्शनादिच्छन्ना तरङ्गनि-
 धावाङ्गुल्य मुञ्जानैर्जलेचरैः कृता आच्छोटा अङ्गुलीध्वनय-
 त्प्राया ध्वनयो येषु ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ अमूर्तत्वादिसाधर्म्येण दिक्षु

अतिगाम्भीर्यनैर्मल्यविस्तारविभवैर्नभः ।
 निगीर्य संदर्शयतो हृदयादिव बिम्बितम् ॥ ३५
 जलचारिविहङ्गानां साकाशं प्रतिबिम्बितम् ।
 आशयैर्दधतः सारैः पद्मान्भृङ्गमिवात्मगम् ॥ ३६
 तरङ्गतरलास्फालमारुतैराहताम्बरान् ।
 कन्दरोद्गारगम्भीरैः कल्पान्तजलदालयान् ॥ ३७
 गुहागुलुगुलावर्तनिर्घोषाशनिभीषणान् ।
 भृशं भावयतो ग्रस्तानगस्त्यौर्वानलानिव ॥ ३८

भूरिसीकरपुष्पाणि तरङ्गौघतरूणि च ।
 प्राप्तान्यम्बुवनानीव लहरीमञ्जरीणि खम् ॥ ३९
 सरत्तरङ्गजालानि प्रोङ्गीनप्राणिमन्त्यधः ।
 आकाशखण्डखण्डत्वात्पतितानीव विभ्रमात् ॥ ४०
 एलालवङ्गबकुलामलकीतमाल-
 हिंतालतालदलताण्डवखण्डिताग्रे ।
 प्राप्ते पतल्लवणवारिधिदीर्घतीरं
 रेखा वभावलिनिभाम्बरशैलमूर्ध्नि ॥ ४१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० निर्वा० उ० अवि० विप० समुद्रवर्णनं नाम त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ११४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अथ तेषां तदा तत्र ततस्तांस्तानदर्शयन् ।
 पार्श्वगा वनवृक्षाब्धिशैलमेघवनेचरान् ॥ १
 देव पश्यास्य शैलस्य येयमभ्रंकषाग्रभूः ।
 समरुन्मध्यदेशादेरश्मदेशमुपेयुषः ॥ २
 इमा बकुलपुष्पागनालिकेरकुलाकुलाः ।
 विपिनावलयो वान्तविविधामोदमारुताः ॥ ३
 लुनात्युपत्यकां वार्धिः शैलशालिशिलावलीः ।
 वनालीर्लहरीदात्रैरापादफलपल्लवाः ॥ ४

अधित्यकासु मेघालीर्नृत्यतां स्वाम्बुभूभृताम् ।
 धुनोति जलधिर्बालो गृहधूमावलीमिव ॥ ५
 राकाब्धिपूरसंप्रोतशङ्खाखास्तटद्रुमाः ।
 चन्द्रबिम्बफलाः कल्पवृक्षा इव विभ्रान्त्यमी ॥ ६
 रत्नपुष्पभरापूर्णरक्तपल्लवपाणयः ।
 भवन्तं पूजयन्तीव लतादारान्विता द्रुमाः ॥ ७
 प्रोतोर्मिमकरप्रासैर्दृषदन्तैर्गुहामुखैः ।
 ऋक्षवानृक्षवद्भृङ्गच्छे घुरघुरारवम् ॥ ८

चतुरो नारायणानिव स्थितान् ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ आशयैर्हृदयै-
 र्दधतः । आत्मगं कोशगर्भस्थम् ॥ ३६ ॥ गम्भीरैरिति भाव-
 प्रधानो निर्देशः । अन्तर्गतगिरिकन्दरासु पवनप्रवेशनिर्गम-
 लक्षणो य उद्गारस्तदनुमेयकन्दरागाम्भीर्यैः कल्पान्तजलदाना-
 मालयभूतान् ॥ ३७ ॥ गुहासु गुलुगुलुरूपैरावर्तनिर्घोषैः अश-
 नय इव भीषणान् । स्वप्रासिनः अगस्त्यानौर्वानलांश्च गुहोदरेषु
 भृशं ग्रस्तान्संभावयत इव ॥ ३८ ॥ तथा खं प्राप्तान्यम्बुवनानि
 भावयत इव स्थितान् । कीदृशान्यम्बुवनानि । भूरिसीकरा एव
 पुष्पाणि येषु तानि । तरङ्गौघास्तरवो येषु । लहर्यो मञ्जरी येषु
 ॥ ३९ ॥ तथा प्रोङ्गीनप्राणिमन्ति मत्स्यादियुक्तानि सरन्ति तरङ्ग-
 जालानि आकाशस्य खण्डे शङ्खैः खण्डने कृते खण्डत्वादेव अधः
 पतितानीव विभ्रमाद्भावयतश्चतुरोऽर्णवांस्ते ददृशुरिति पूर्वत्रा-
 न्वयः ॥ ४० ॥ वर्णितप्रकारैः पततां तरङ्गैः प्रत्युद्गच्छतां लवण-
 वारिधीनां दीर्घतीरं विपश्चित्सैन्ये प्राप्ते सति परितो दीर्घे तीराग्रे
 अम्बरसप्तकानां शैलानां मूर्ध्नि एलालवङ्गादिवृक्षाणां दलता-
 ण्डवैः खण्डिता विभक्ता अलिनिभा श्यामला वनरेखा वभौ
 अशोभतेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे समुद्रवर्णनं नाम त्रयोदशा-
 धिकशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

इत आरभ्य वर्णयन्ते विपश्चित्यः प्रदर्शिताः ।

पार्श्वगैर्वनवृक्षाब्धिशैलमेघवनेचराः ॥ १ ॥

अथेति वनादिवर्णनविस्तारारम्भभ्योतनाय । तेषां विपश्चितां
 पार्श्वगा मन्त्र्यादयस्ततः समुद्रसंनिधिप्राप्त्यनन्तरं तांस्तान्वि-

चित्रान् वनवृक्षादीन् अदर्शयन् । कौतुकार्थमित्यर्थः ॥ १ ॥ हे देव,
 मध्यदेशादेरुपत्यकाधित्यकाप्रस्थादिप्रदेशात्क्रमेणाग्रे अश्मदेशं
 शिलाप्रचुरमागतामुपेयुषः अस्य शैलस्य येयमभ्रंकषा अत्यु-
 चिता अत एव समरुत् प्रचुरवायुयुक्ता, विहरदेवगन्धर्वादि-
 युक्ता वा अग्रभूः शिखरभूमिस्तां पश्येत्यर्थः ॥ २ ॥ वान्तः
 उद्गीर्णो विविधामोदो मारुतो याभिः । या इमा विपि-
 नावलयस्ता अपि पश्य ॥ ३ ॥ वार्धिर्लहरीलक्षणैर्दात्रै-
 रुपत्यकामदेरासनां भूमिं लुनाति । तथा शैले शालन्ते
 शोभन्ते याः शिलावलयस्ताश्च लुनाति । तथा आपादं
 फलपल्लवव्याप्ता वनालीश्च लुनाति पश्येत्यर्थः ॥ ४ ॥
 जलधिः पवनकम्पिततरुलताभुजाद्यभिनयैर्नृत्यतां खेदबिन्दु-
 प्रायस्वाम्बुकणाश्रितानां भूभृतामधित्यकासु विश्रान्ता मेघालीः
 पवनेन धुनोति । यथा बालः स्वगृहधूमावलीं व्यजन-
 पवनेन धुनोति तद्वत्पश्य ॥ ५ ॥ राकासु पूर्णेन्दूदयकाले
 प्रवृद्धस्याब्धेः पूरैः संप्रोतशङ्खाः शाखा येषां तथाविधा
 अमी तटद्रुमाश्चन्द्रबिम्बानीवामृतरसपूर्णानि शुभ्राणि च
 फलानि येषां तथाविधाः कल्पवृक्षा इव विभ्रान्ति । पश्येति
 सर्वत्रानुषङ्गः ॥ ६ ॥ लतारूपैर्दारैरन्विता द्रुमा रत्नसदृशैः
 पुष्पभरैः आपूर्णा रक्तपल्लवलक्षणाः पाणयो येषां तथाविधाः
 सन्तः स्वगृहं प्राप्तमतिथिं भवन्तं पूजयन्तीव किरन्तीत्यर्थः
 ॥ ७ ॥ प्रोतोर्मिन्मकरान्प्रसन्ति तथाविधैः शुक्लादिवर्णदृषदन्तै-
 र्गुहालक्षणैर्मुखैः ऋक्षवानाम भूभृद् ऋक्षवद्भृङ्गवद्घुरघुरारवं

महेन्द्रो मन्दगर्जाभिरभिक्षिपति गर्जतः ।
 पर्जन्यानूर्जितो जन्यः प्रतिजन्यान्यथा जडैः ॥ ९
 चन्दनारूपितः श्रीमाजेतुं जलधिवेल्लनाः ।
 समुद्यत इवोच्चोऽसौ मल्लो मलयपर्वतः ॥ १०
 सर्वतः कचितोऽजस्रं रत्नवीचिभिरम्बुधिः ।
 भूरत्नवलयभ्रान्त्या प्रेक्ष्यते सूर्यमार्गनैः ॥ ११
 सरन्ति रत्नमूर्धानश्चलकानिलपायिनः ।
 वानपुराः पर्वतकाः सर्पा इव नतोन्नतैः ॥ १२
 भ्रमन्तो वीचिशृङ्गेषु मकरेभ्यः करोत्कटैः ।
 हरन्ति सीकराम्भोदा मेघानुद्राविता इव ॥ १३
 आवर्तचलिताकारः सीकरोत्करकीर्णदिक् ।
 पूर्णत्वात्तु शिरोऽशक्तो म्रियतेऽत्युत्करः करी ॥ १४
 विविधप्राणिसंपूर्णाः सजलाद्रिनतोन्नताः ।
 यथैवाम्भोधयः सर्वास्तथैव द्वीपभूमयः ॥ १५
 आवर्तानात्मनोऽनन्यानप्यन्यानिव भास्वरान् ।
 गृह्यमाणानसद्रूपान्दृश्यमानानपि स्फुटान् ॥ १६
 तरङ्गतरलानन्तर्जडानप्यम्बुधिश्चलान् ।
 धत्ते ग्रहजगन्तीव सान्तानप्यन्तवर्जितान् ॥ १७
 यानन्तरिन्द्रवज्रानुमणीन्धत्तेऽम्बुधिर्वहून् ।

धत्ते ॥ ८ ॥ अयं महेन्द्रो गिरिहर्षं गर्जतः पर्जन्यानघो
 मन्दगर्जाभिरभिक्षिपति भर्त्सयति । यथा कर्जितो जन्यो
 युद्धकुशलः प्रतिजन्यान्निपूजकैर्वाक्यैः क्षिपति तद्वत् ॥ ९ ॥
 असौ मलयपर्वतलक्षणो मल्लो जलधेः प्रतिमल्लस्य लहरीभुजवे-
 ल्लनाः जेतुं समुद्यत इव ॥ १० ॥ सर्वतो रत्नयुक्तवीचिभिः
 कचितोऽयमम्बुधिः सूर्यमार्गनैर्भस्वरैरजस्रं भूरत्नवलयभ्रान्त्या
 प्रेक्ष्यते । 'कचितौजस्त्रम्' इति पाठे ऐक्ये क्रियाविशेषणं
 योज्यम् ॥ ११ ॥ वानं वनसमूहास्तैः पूर्यन्त इति वानपुरा-
 पर्वतकाः सूक्ष्माः पर्वताः वायुना वने कम्प्यमाने । चलकाः
 सन्तः सर्पा इव सरन्ति । रत्नमूर्धानः अनिलपायिन इति
 साधारणे विशेषणे । नतोन्नतैर्गतिभेदैः ॥ १२ ॥ वीचिशृङ्गेषु
 भ्रमन्तः सामुद्रा मकरा आरण्या इमाश्च वीचिशृङ्गेषु निर्गच्छत्सु
 प्रविशत्सु च परस्परप्रहणाय । करैस्तकटैर्व्याप्तैर्मुखैश्च भ्रमन्तो
 मेघैरनुद्राविता अनुद्रताः सीकरमुचोऽम्भोदा इव हरन्ति, कौतु-
 कदर्शिता मन इति शेषः ॥ १३ ॥ तत्रैकः करी देवादगवे
 जले आवर्तनं कलितः परिवर्तित आकारो यस्य तथाविधः सन्
 सीकरोत्करैः कीर्णो दिशो येन तथाविधो भूत्वा मज्जनजलपूर्ण-
 त्वात्तु शिर उच्चैर्मुद्रात् ऊर्ध्वाकृतकरः सन् म्रियते पश्य ॥ १४ ॥
 सजलाश्च ते अग्निभिर्नतोन्नता विषमाश्च अम्भोधयो यथा
 सन्ति तथा सर्वा द्वीपभूमयोऽपि सन्तीति बोध्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥
 अम्बुधिर्वहून् जगन्तीव आवर्तान् धत्ते इति द्वयोरन्वयः । आत्म-
 नोऽनन्यानप्यन्यानिवेल्यादिविशेषणानि आवर्तजगताः साधा-
 रण्येन योज्यानि ॥ १६ ॥ १७ ॥ मन्यने देवासुरैरपहत-

मन्थापहतसर्वस्वो देवेभ्यः परिरक्षितान् ॥ १८
 दृश्यमानान्महातेजस्तथा पातालतोऽप्यलम् ।
 प्रतिबिम्बविभङ्गान्तरसत्यानिव गोपितान् ॥ १९
 तेषां मध्यादेकमेकं प्रत्यहं पश्चिमार्णवे ।
 निक्षेपाय क्षिपति यं तेन मन्ये दिनं भवेत् ॥ २०
 नानादिग्देशपयसामन्धौ साधुसमागमः ।
 यात्रायामिव लोकानां मिथः कलकलान्विताः ॥ २१
 जलेचराचरा नूनं सागरार्णवसंगमे ।
 अन्योन्यवेल्लनाद्युद्धं न कदाचन शाम्यति ॥ २२
 ताम्यसिमितरङ्गाग्रनर्तनावर्तविभ्रमम् ।
 वलयन्वायुरायाति वान्तसीकरमौक्तिकैः ॥ २३
 सरिम्मुक्तालतामध्यमध्यस्थान्दमणीश्वराः ।
 दीर्घाः खणखणायन्ते चञ्चलाः सर्वतोऽम्बुधेः ॥ २४
 महेन्द्राद्रेर्गुहागोहपरावृत्तार्णवाध्वनाम् ।
 भ्रांकारिण्यो भुवः सिद्धसाध्यानां सुसुखावहः ॥ २५
 मन्दरः कन्दरोद्गीर्णैः प्रसरैर्मार्तारिश्वनः ।
 कम्पाकुलवनाभोगः पुष्पमेघास्तनोति खे ॥ २६
 चूतनीपकदम्बाद्यगन्धमादनकन्दरान् ।
 विशन्ति मेघहरिणास्तडितरललोचनाः ॥ २७

सर्वस्वोऽम्बुधिसिन्धुना कले देवेभ्यः परिरक्षितान्गोपितान् वा
 बहून्भानुमणीनन्तर्धत्ते । इन्द्रवत् यथा इन्द्रः असुरेभ्यो योष-
 यन्मणीनन्तर्धत्ते तद्वत् ॥ १८ ॥ तथा महातेजोरूपानत एव
 पातालतोऽपि अलं दृश्यमानान् यन्मणीन् प्रतिबिम्बविभङ्गा
 असत्यानिव कृत्वा अन्तर्गोपितान्धत्ते ॥ १९ ॥ तेषां मणीनां
 मध्यात्प्रत्यहमेकं यं मार्गं पश्चिमार्णवे निक्षेपायान्तरिक्षे क्षिपति
 तेन तद्दिनं भवेदिति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा ॥ २० ॥ अन्धकल-
 कले हेतुमुत्प्रेक्षमाण आह—नानेति ॥ २१ ॥ युद्धोत्साहवता
 मध्ये जलेचरा एव वराः । नूनमिति वितर्कः । कुतः । यतः
 सागरार्णवयोः पूर्वापरसमुद्रयोः संगमे येषां सदैवान्योन्यवेल्ल-
 नाच्च कदाचन युद्धं शाम्यति ॥ २२ ॥ ताम्यतां श्लाघतां
 विमीनां मत्स्यमेदानां तरङ्गायेषु नर्तने च आवर्तविभ्रमस्य
 दान्तैर्द्वीर्णैः सीकरलक्षणैः सीकरसहितैर्वा मौक्तिकैः पारितोषि-
 कैर्बलयन्वेष्टयन्प्रभुरिव वायुरायाति पश्य ॥ २३ ॥ सरिम्भ-
 णानां मुक्तालतानां मध्ये मध्ये स्थिता अन्दलक्षणा मणीश्वरा
 भग्निश्रेष्ठा अम्बुधेः कण्ठे सर्वतो दीर्घा लम्बमानाः परस्पर-
 मिघातात्खणखणायन्त इत्युत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥ पुनः कीदृशो
 वायुः । महेन्द्राद्रेर्भांकारिण्यः अरतिकारिणीः । विमक्तिव्यस-
 यच्छान्दसः । भुवः प्राप्य तत्रारुच्या गुहागोहेषु रत्नस्य परा-
 वृत्तार्णवाध्वनां सिद्धानां साध्यानां च देवयोनिमेदानां रति-
 भ्रमापनोदेन सुसुखावह ॥ २५ ॥ अपरो मन्दरं वर्णम-
 न्दर्शयति—मन्दर इति । कन्दरेभ्य उद्गीर्णैर्मार्तारिश्वरो
 वायोः प्रसरैः खे पुष्पवर्षिणो मेघास्तनोति विस्तारयति ।
 प्रस्थारुढान् मेघान् पुष्पैः पूरयतीति यावत् ॥ २६ ॥ २७ ॥

हिमवत्कन्दोद्गीर्णा वल्लीवलयताण्डवम् ।
 तन्वाना वायवो यान्ति विमिश्राब्दाब्धिबीचयः ॥ २८
 तात चूतकदम्बाग्रपरामर्शसुगन्धयः ।
 वलयन्त्यब्धिकल्लोलान्गन्धमादनवायवः ॥ २९
 जलदान्वलयन्वायुरलकालकतां गतान् ।
 इत आयाति पुष्पाभ्रं रचयन्वनवीधिषु ॥ ३०
 कुन्दमन्दारसंदोहमधुरामोदमन्थरान् ।
 तुषारसीकरोन्मिश्रानिवात्र कलयानिलान् ॥ ३१
 नालिकेरलतालास्यलब्धतिक्तसुगन्धयः ।
 पतन्ति पवनाः पश्य पारसीकपुरीः पुरा ॥ ३२
 धुन्वानाः पुष्पितेशानवनकर्पूरवारिदान् ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० विप० दिग्दर्शनं नाम चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

चालयन्तोऽनिला वान्ति कैलासकमलाकरान् ॥ ३३
 करीन्द्रकुम्भनिष्क्रान्तमदमन्थरमूर्तयः ।
 इमे शुक्लशुकायन्ते विन्ध्यकन्दरवायवः ॥ ३४
 शबरीणां शरीरेषु शीर्णपर्णोत्करे गिरौ ।
 नाराचैः पर्णशबरैर्वनाली नगरायते ॥ ३५
 अन्धद्रिसरिदम्भोदवनलेखाङ्गिका दिशः ।
 त्वत्प्रतापबलैरेता हसन्तीवार्करश्मिभिः ॥ ३६
 अत्रोपशैलवनवीधिषु पुष्पशय्या
 विद्याधरीविरचिताः परिवर्णयन्ति ।
 पार्श्वद्वयस्थपरिवृत्तपदात्समुद्रा-
 द्वावृत्तमुग्धवनितापुरुषायितानि ॥ ३७

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ११५

पार्श्वगा ऊचुः ।

अत्रोत्तमाशय लतावलयालयेषु
 लीलाविलोलललनाः कलयन्ति गीतम् ।
 उद्दामभावरसविस्मृतवासरेहा
 विश्रम्य किन्नरगणाः कलकाकलीकम् ॥ १
 एते हिमाद्रिमलयाचलविन्ध्यसह्य-
 क्रौञ्चा महेन्द्रमधुमन्दरदर्दुराद्याः ।
 दूरस्थिता दृशि सिताभ्रपटा वहन्ति
 संशुष्कपर्णलवलाञ्छितलोष्टलीलाम् ॥ २

विभिन्ना अब्दाः अब्धिबीचयश्च यैः । शैत्यमान्यसौरभ्योपपाद-
 कानि विशेषणानि ॥ २८ ॥ २९ ॥ अलकायाः कुबेरपुर्या अलकतां
 कुन्तलतां गतान्प्राप्तान् ॥ ३० ॥ अत्रास्मिन्गन्धमादने अनि-
 लान्कलय स्पृष्ट ॥ ३१ ॥ नालिकेरतरुणां मल्लिकादिलतानां
 च लासेन क्रमालब्धस्तन्मयतिक्तगन्धः सुगन्धश्च यैः । पुरा
 पश्य ॥ ३२ ॥ पुष्पितं यद्वीशानस्य प्रमदवनं तत्रत्यकदली-
 कर्पूरसुरमीन्वारिदान्धुन्वानाः ॥ ३३ ॥ शुक्लशुकायन्ते इति
 वीरणस्तम्बोद्भूताव्यक्तध्वन्यनुकरणम् । अथवा विन्ध्यशुकैः
 सह निर्गमनात्तद्वर्णैः शुकायन्ते हरितायन्ते ॥ ३४ ॥ शबरीणां
 शरीरेषु परिधानकल्पनया शीर्णपर्णोत्करे मलयगिरौ पर्णपरि-
 धानैः शबरैस्तन्नाराचैश्च पूर्णा अल्पावशेषमृगपक्षिगणा मलय-
 वनाली नगरमिवाचरति नगरायते ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ अत्रा-
 स्मिन्प्रदेशे उपशैलवनवीधिषु रत्नार्थं विद्याधरीभिर्विरचिताः
 पुष्पशय्याः परिवर्णयन्ति सूचयन्ति । कस्माल्लिङ्गात्किं सूचयन्ति
 तदाह—पार्श्वेति । समुद्रात् अलक्तकमुद्रासहितात्पार्श्वद्वयस्था-
 त्परिवृत्तात्सम्यक्लिष्यन्नात्पदाल्लिङ्गात् । पुंसि रतिश्रान्ते सति
 अधोदेशाव्यावृत्तायाः मुग्धवनितायाः उपरि सुरतलक्षणानि
 पुरुषायितानि पुरुषवदाचरणानि सूचयन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 दिग्दर्शनं नाम चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

यो० वा० १६८

अमी दूरालोकव्यवहितमहावर्त्मनिचयाः
 पुरःप्राकाराणां कुलशिखरिणो बिभ्रति वपुः ।
 विशन्तीरम्भोधिं कलय लुलिता भान्ति सरितः
 पटस्यान्तः सक्ताः प्रतनुसितसूत्रा इव दशाः ३
 दशाशाः शैलानामुपरि परितः प्रावृत्तघना
 घनश्यामाकाराः खगकलकलालापलपिताः ।
 लतामुक्तैः पुष्पैर्ललितवनलेखाभुजलता
 हसन्त्यस्ते राजन्भवन्वनिता भान्ति पुरतः ४

वर्णयन्तेऽत्र चतुर्दिक्षु घनानि गिरयो नगाः ।

नद्यः समुद्राः पवनपक्षिग्रामघनादयः ॥ १ ॥

हे उत्तमाशय, अत्रास्मिन् गिरौ लीलासु विलोला आसक्ता
 ललना येषां तथाविधाः किन्नरगणा उद्दामैर्भावैः संचारिभावैः
 रसैः संभोगशृङ्गाररसैश्च विस्मृता वासरेहा दिनचेष्टालक्षणः
 कालो यैस्तथाविधाः सन्तो विश्रम्य कलाः काकल्यो यस्मिंस्त-
 थाविधं गीतं कलयन्ति गायन्ति शृण्वन्ति च ॥ १ ॥ अत्यु-
 ज्जता अपि गिरयो दूराद्दृश्यमाना अल्पवद्भ्रान्तीत्याह—एते
 इति । एते हिमाद्रिमलयाद्याः सिताभ्रपटाः शैला दूरस्थिताः
 सन्तो दृशि प्रेक्षकदृष्टौ संशुष्कपर्णलवलाञ्छितानां लोष्ठानां
 लीलां साम्यं वहन्ति पश्य ॥ २ ॥ किंचामी कुलशिखरिणो
 दूरादालोकनमालोकस्तस्मिन् अपारे परेषां व्यवहिता अन्तरा-
 लदेशवर्त्मनिचया येषां तथाविधाः सन्तः परस्परसंलग्नतया
 परितो दृश्यमानाः पुरःप्राकाराणां वपुर्विभ्रति । तथा अम्भोधिं
 विशन्तीः प्रवेशत्वरया च लुलिताः सरितः पटस्यान्तः सक्ताः
 प्रतनुसितसूत्रा दशा इव भान्ति ॥ ३ ॥ हे राजन्, परितः
 शैलानामुपरि प्रावृत्ता घना मेघा याभिस्ताः घना इव श्यामा-
 काराः । खगानां कलकलालापा एव लपितानि यासां ताः ।
 तथा लताभिर्मुक्तैः पुष्पैरुपलक्षिताः । ललिताः शोभमाना

तालीतमालवकुलाकुलतुङ्गशृङ्ग-
मेकीकृताकृति वनं तरलं विभाति ।
अभ्याहतं जलनिधेस्तरलैस्तरङ्गै-
स्तीरान्तलग्नघनशैवलजालकल्पम् ॥ ५
इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितोऽपि शरणार्थिनः शिखरिपत्रिणः शेरते ।
इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥ ६
एते जम्बुनदीतटा रविकरैराभान्ति हेमाखिल-
ग्रामारण्यपुरस्थलीगिरितरुस्थान्वग्रहरोचयाः ।
ज्वालालीवलितावरांतरलिहो मुञ्चन्ति भासोमित-
स्सर्वा भूमिषु भूरिहैवममरासेव्यास्ति नो मानुषैः ७
एते कदम्बवनकम्बलमम्बुदाभ-
माभान्ति भास्करपथानुगता वहन्तः ।
अस्याचलस्य वसुधेव तटं तवास्तु
मा सूर्यरोधकनभस्थघनौघशङ्का ॥ ८
एषोऽसौ मलयो लयोमलवलीवल्लीलसच्चन्दन-
स्फीतामोदमदाद्रसेन तरवो वक्त्रे क्रियन्ते त्रिभिः ।

घनलेखालक्षणा भुजलता यासां तथाविधा दश आशा
दिशस्ते भवनवलिता राशीर्हसन्त्य इव पुरतो भान्ति ॥ ४ ॥
ताल्यादिभिरकुलानि तुङ्गानि गिरिशृङ्गाणि यस्मिंस्तथाविधम् ।
द्वाराद्वप्रवद्भासमानेषु शैलेष्वेकीकृताकृति । पवनतरलं वनं
जलनिधेस्तरलैस्तरङ्गैरभ्याहतं तीरान्तलग्नघनशैवलजालकल्पं
विभाति । ईषदसमाप्तिद्योतकेन कल्पपा सादृश्यस्य गम्यमान-
त्वाद्वन्मनोपमा ॥ ५ ॥ शिखरिणः पर्वतास्तलक्षणाः पत्रिणः
पक्षिणः शेरते स्वपन्ति । शीलो रुद्र । सिन्धोः समुद्रस्य वपु-
र्विततं विस्तीर्णं ऊर्जितं वलवद्भरसहं बहुभारसहिष्णु अहो
आश्चर्यमनुपममित्यर्थः ॥ ६ ॥ कश्चिदुत्तरदिशि प्रस्थितं विप-
श्चितं प्रति मेरुमूले सौवर्णान् जम्बुनदीतटान्प्रदर्शयन्नाह—
एते इति । हेमभूताः अखिला ग्रामादयो येषु तथाविधा एते
जम्बुनदीतटा रविकरैर्व्याप्ताः सन्तः अभितः आभान्ति ।
ज्वालालीवलिताम्वरान्तरलिहः सन्तः अभितो भासो मुञ्चन्ति ।
हे भूमिषु, इह एवंभूता सर्वा भूः अमरैर्देवैरासेव्या उपभोक्तुं
योग्यास्ति मानुषैर्नो आसेव्येत्यर्थः ॥ ७ ॥ अस्याचलस्य अम्बु-
दाभं कदम्बवनकम्बलं वहन्तो भास्करपथानुगता एते अधि-
त्यकाप्रदेशा आभान्ति । अतः एषु प्रदेशेषु तव वसुधेव इद-
मपि तटमिति बुद्धिरस्तु । सूर्यरोधका नमस्या घनौघा एते
इति शङ्का मास्तित्यर्थः ॥ ८ ॥ अपरो दक्षिणदिक्प्रस्थिताय
विपश्चिते मलयाद्रिं वर्णयन्दर्शयति—एष इति । एष समीपे
दृश्यमानो मलयोऽसावेवंप्रभावः । यस्य अधाभिः श्रेष्ठाभिल-
षलीवल्लीभिर्लसतां चन्दनानां स्फीतामोदमदादन्येऽपि तरवो
रसेन चन्दनीभूतास्त्रिभिरपि देवैर्मेनुजैरसुरैश्च वक्त्रे मुखपत्रे
अलय इव तिलकीक्रियन्ते । किंचासादामोदमदात्सज्वाल

सज्वालोदहनाक्षसंस्थितकपोलोन्मोदयोत्ताण्डवे
अङ्गुष्ठाङ्गुलिभिर्यथोष्णककणास्तप्ता यथा योषिताम्
एषोऽन्विधौतकलधौततटाधिरूढ-
भोगीन्द्रभोगपरिवेष्टितचन्दनोऽगः ।
विद्याधरीवदनपङ्कजदीप्तिपुञ्ज-
हेमीकृताखिलशिलो मलयाभिधानः ॥ १०
कूजत्कुजकठोरगह्वरनदीकत्कारवत्कीचक-
स्तम्भादम्बरमूकमौकुलिकुलः कौञ्चाचलोयं गिरिः ।
एतस्मिन्प्रबलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-
रुद्वेलन्ति पुराणरोहणतरुस्तम्भेषु कुम्भीनसाः ॥ ११
कोमलकनकलतालय-
विलसितललनाविलोलवलयकृतम् ।
अधणरसायनपानं
विततमिहाकर्णयास्य तटे ॥ १२
करिकरटगलितमदजल-
वलितश्चलवीचिचञ्चरीकचयैः ।
चर्वित एष कदर्थित
इव कणनिकरो विरीति वारिनिधौ ॥ १३

ऊर्ध्वो ज्वलनः अक्षे तृतीयनेत्रे संस्थितो यस्य तथाविधस्य
रुद्रस्य कपोलयोन्मोदयो यस्मिंस्तथाविधे लङ्कटे ताण्डवे प्रस-
त्तास्तप्ताः यथोपपन्ना तष्णककणाः स्वेदविन्दवो यथा योषिता
रतिश्रमजाः स्वेदविन्दवः शिथिरतरास्तथा क्रियन्ते एवं-
प्रभावोऽयमित्यर्थः ॥ ९ ॥ अन्विधतरङ्गौतेषु कलधौतं सुवर्णं
तन्मयेषु तटेष्वधिरूढाः प्रादुर्भूता भोगीन्द्राणां भोगैः कायैः
परिवेष्टिताश्चन्दनवृक्षा यस्मिंस्तथाविधः । तथा विद्याधरीणां
वदनपङ्कजदीप्तिपुञ्जैर्हेमीकृता अन्या अप्यखिलाः शिला यस्य
तथाविध एष पुरोवर्ती अगो मलयाभिधानः । मा लक्ष्मीर्मे-
यते अस्मिन्नित्यन्वर्थनामेत्यर्थः । 'क्यापोः' इति ह्रस्वः ॥ १० ॥
कूजन्तः कूजानां कठोरानां शिलाकटकादिप्रदेशानां गह्वराणां
नदीनां कत्कारास्तालध्वनिमेवास्तद्वन्तो ये कीचकस्तम्भास्तेषां
गीतादम्बरेण तच्छ्रवणासक्त्या मूकं निःशब्दं मौकुलिनां मुकु-
लनिवासिनां भ्रमराणां कुलं यस्मिंस्तथाविधः कौञ्चाचलनामपि
गिरिः । एतस्मिन् गिरौ प्रचलतां प्रकृष्टाः बलाकिनो बलाका-
वन्तो नीलमेघाः प्रिया वेषां मयूराणां तेषां कूजितैरुद्वेजिताः
कुम्भीनसाः सर्पजातिमेवाः पुराणां चिरंतनं रोहणं प्रादुर्भावो
येषां तथाविधानां सकोटरजीर्णतरुणां स्तम्भेषु मध्यकाष्ठेषु
उद्वेलन्ति अधिरूढा भोगसंकोचेन तिलीयन्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥
हे राजन्, इहास्य कौञ्चस्य तटे कोमलकनकलतारचिते आत्मै-
रिगुञ्जे कान्तेन सह विलसितानां ललनानां रतिविलोलैर्वलयैः
कृतं रागि भ्रवणयो रसायनपानप्रायं विततं सिञ्जितमाकर्ण्य
॥ १२ ॥ करिणां करटेभ्यो गण्डस्थलेभ्यो गलितैर्मदजलैर्दे-
लितो मिश्रित इति हेतोश्चलवीचिषु चञ्चरीकचयैर्भ्रमरसमूहैश्च-
र्वित इव वारिनिधौ कणनिकरो विरीति रोदितित्युत्प्रेक्षा ॥ १३ ॥

पद्मामलेन्दुरामृत-

नवनीतशरीरसुन्दरीवलितः ।

पितुरुत्सङ्गे कुरुते

जललीलां क्षीरवारिनिधौ ॥ १४

नृत्यन्ति मत्तकलकोकिलकाकलीकाः

पद्मामले मलयसानुनि बालवल्लयः ।

लोलालिजालनयनारुणपत्रपाणि-

पुष्पा मधूत्सवविलासविशेषवत्यः ॥ १५

वंशानां हृदि पर्वतेषु जलधौ तोयार्थिनीनां तु ये
शुक्तीनां हृदये विशन्ति समये वर्षाभसां बिन्दवः ।
ते मुक्ताफलतां व्रजन्ति करिणां कुम्भेषु धान्यद्रवेत्
शुद्धौ मौक्तिकवत्स्युरुत्तमगुणा पतास्त्रिधा जा-
तयः ॥ १६

शैलेऽब्धौ पुरुषेऽवनौ जलधरे मेके शिलायां गजे
नानाकारधरा भवन्ति मणयः कर्माणि तेषां विभो ।

ह्लादोच्चाटनमारणज्वरभयभ्रान्तिप्रकाशान्धता-

खेदोत्तापनभूनभोगतिदृशो नाशो विधानं तथा ॥ १७

वातायनोदरगवाक्षकवाटकक्षा-

द्वाराननैरिह पुराण्युदिते पठन्ति ।

श्वभ्राभ्रकन्दरदरीवनवेणुरन्ध्र-

वर्गेण मन्दर इवामृतसिन्धुमिन्दुम् ॥ १८

अब्धेऽक्षलं प्रतिबिम्बचन्द्रं दर्शयन्नुत्प्रेक्षते—पश्येति । हे
राजन्, अमलेन्दुः अमृतं अमृतमयनजं यज्ञवनीतं तादृशशरी-
रस्तादृशशरीराभिर्नक्षत्रसुन्दरीभिर्वलितः सन् क्षीरवारिनिधौ
प्रतिबिम्बितः पितुरुत्सङ्गे जललीलां जलक्रीडां कुरुते । पश्येदं
कौस्तुभमित्यर्थः ॥ १४ ॥ अपरः कश्चिन्मलये लतानृत्यं दर्श-
यति—नृत्यन्तीति । लोलालिजालनयना अरुणपत्रपाणिषु
पुष्पाणि यासां ताः । मधूत्सवविलासैः परानैर्विशेषवल्लो विशे-
षकवत्यः ॥ १५ ॥ कश्चिन्नीनुत्तमान्मुक्ताकरांस्तेषूत्तमगुणमुक्ता-
फलोत्पत्तिं च वर्णयति—वंशानामिति । पर्वतेषु वंशानां
वेषुमेदानां हृदि काण्डच्छिद्रे । तथा जलधौ तोयार्थिनीनां
शुक्तीनां हृदये च स्वातिसमये ये वर्षाभसां बिन्दवो विशन्ति
ते मुक्ताफलतां व्रजन्ति । अन्यत्तृतीयं तु मुक्ताफलं करिणां
गन्धहस्तिनां कुम्भेषु भवेत् । एषामुक्तरूपाणां मुक्ताफलानां
एतास्त्रिधा प्रसिद्धा जातयः स्थानशुद्धौ मौक्तिकस्थौल्यप्रकर्षव-
द्गुणतोऽप्युत्तमगुणा भवन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥ एवं रत्नानामप्याक-
रमेदेनोत्पत्तिं गुणक्रियावैचित्र्यं च रत्नशास्त्रे प्रसिद्धमित्याह—
शैले इति । तेषां यथायोगं कर्माणि शृणु । ह्लादस्तापशान्तिः
शत्रूणामुच्चाटनं मारणम् । ज्वरः भयं भ्रान्तिः अन्धता खेदः
उत्तापनं चेति । रत्नस्वामिनो व्यवहितविप्रकृष्टार्थप्रकाशो भूग-
तिर्दूरगमनशक्तिर्भूमौ निमज्ज्य गमनशक्तिर्वा नभोगतिः प्रसिद्धा
अतीतानागतदर्शनं व्याधिदुर्भिक्षादिनाशः परप्रयुक्तविषकृत्या

एतच्छृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-

र्दष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।

प्रालेयाद्रेः प्रतितटवनं प्रोत्पतत्यभ्रमूर्ध्वं

घञ्जस्तम्भो गगनसुतलोत्तोलनायेव भूमेः ॥ १९

गङ्गातरङ्गहिमसीकरशीतलानि

विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।

पुष्पाभ्रसंवलितपुष्पितकाननानि

राजन्विलोकय महेन्द्रगिरेस्तटानि ॥ २०

देशान्तरेषु विततानि वनान्तराणि

पुष्पस्थलान्युपवनान्यथ पत्तनानि ।

तीर्थेषु पूतभुवनानि जलानि दृष्ट्वा

दौर्भाग्यभीतिरपयाति जवानुविद्धा ॥ २१

शृङ्गाणि पूरितदिगन्तरमण्डलानि

श्वभ्राभ्रकन्दरनिकुञ्जकुलाकुलानि ।

व्योमोपमान्यपि च वारिधिकुण्डलानि

दृष्ट्वा गलन्ति कुकृतानि बृहत्तराणि ॥ २२

रम्याश्चन्दनवीथयो हि मलये विन्ध्ये मदान्धा गजाः

कैलासे नृप पादजाति कनकं चन्द्रं महेन्द्राचले ।

दिव्याश्चौषधयस्तुषारशिखरे सर्वत्र रत्नानि वै

सन्त्यन्धाखुवदेष जीर्णसदने व्यर्थं जनो जीर्यते ॥ २३

यन्त्रादिप्रतिविधानं चेत्यर्थः । चार्थे तथाशब्दः ॥ १७ ॥

अपरः कश्चिदिन्द्रद्वये प्रहर्षप्रवृत्तं नगरे वातायनादिजनघोषं

मन्दरे श्वभ्रादिघोषं चोपमेयोपमानभावेनोत्प्रेक्षमाणश्चन्द्रस्तव-

पाठत्वेनोत्प्रेक्षते—वातायनेति । इहासिन्देशे पुराणि कर्तृणि

इन्द्रौ उदिते सति वातायनोदरादिलक्षणैराननैर्मन्दरो गिरिः

श्वभ्राभ्रकन्दरदरीवनवेणूनां रन्ध्रवर्गेणैव अमृतसमुद्रभूतमिन्दुं

पठन्ति स्तुवन्तीत्युत्प्रेक्षा ॥ १८ ॥ हिमाद्रितटेभ्योऽभ्रोत्पत्तनं

पवनकृतशृङ्गहरणत्वेन भूम्युत्थिताकाशपातालोत्तोलनस्त्वम्भत्वेन

चोत्प्रेक्षमाणः कश्चिदाह—एतदिति । गगनस्य सुतलस्य च

शुक्त्वाधिक्यपरीक्षार्थमुत्तोलनायेव ॥ १९ ॥ २० ॥ पुण्यतम-

देशवनतीर्थादिदर्शनस्य दौर्भाग्यनिवृत्तिर्महाफलमस्तीत्याह—

देशान्तरेष्विति । जवानुविद्धा घटिता द्रुतमपयातीति यावत्

॥ २१ ॥ श्रीशैलादिशृङ्गाणि । साधुजनपूरितानि दिगन्तराणि ।

तीर्थकूपवाप्यादिश्वभ्राणि । हिमवदादीनामभ्रयुक्तानि कन्दराणि

चम्पकारण्यादीनि । निकुञ्जकुलैराकुलानि । व्योमोपमानि

निर्मलानि वारिधिकुण्डलानि सेतुबन्धादितीर्थानि दृष्ट्वा प्राणिनां

कुकृतानि पापानि बृहत्तराणि ब्रह्महत्यादीन्यपि गलन्ति

नश्यन्ति ॥ २२ ॥ तत्तदुत्तमवस्तुशालिनां कुलशैलानामदर्शने

नृणां नेत्राणां वैयर्थ्यमेवेत्याशयेनाह—रम्या इति । हे नृप,

पादजाति श्रेष्ठं कनकम् । चन्द्रं गिरिधातुविशेषः । तुषारशिखरे

हिमवति । सर्वत्रान्येष्वेतेषु च रत्नानि सन्ति । एवं सत्यप्येष

भाग्यहीनो जनस्तान्यपश्यन्नन्धश्चासावाखुर्मूषकश्च तद्वज्जीर्णै-

सोन्नतं जगदिवोरुतटाकं
चारिणा विवर्लितं तिमिरेण ।
प्रस्फुरन्ति च युगान्त इवैता
विद्युतः शफरिका इव लोलाः ॥ २४
साधद्यायाद्याननीहारधारा
धारोद्गारान्वारिदान्मादयन्तः ।
शीतानीतोद्दामरोमाश्चर्चाः
प्रोद्यच्छब्दं धान्त्यहो वर्षवाताः ॥ २५
हा वाति नीलजलदप्रसरानुसारी
वातः किरन्विटपिपल्लवपुष्पगुच्छान् ।
धीरोत्करद्रुमवनान्तरचारचारु-
रासारसीकरकदम्बकसारसारः ॥ २६
मारुताः सुरतक्रान्तक्रान्तानिःश्वसितैरिमे ।
बहन्ति वृद्धिं गन्धं च लवं स्वर्गादिव व्युताः ॥ २७
कुवलयकुवलयविकचन-
कुसुमलताविदलनोद्यता मृदवः ।
घनपटपाटनपटवो
विधुतोपवना बहन्त्यमी पवनाः ॥ २८
संध्याभ्रलेशानुपयन्ति वाता
नभस्तले कोमलकम्पनेन ।
नृपाङ्गणे पुष्पविचित्रलेखा-
नुवासिते भृत्यवरा इवैते ॥ २९

रादने व्यर्थ जीर्यते । आश्चर्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥ सजलदास्ति-
मिराष्टता दिशः कश्चिद्गन्धयति—सोन्नतमिति । मेघतिमिरेणा-
ष्टता एता दिशो युगान्ते चारिणा विवर्लितं सोन्नतमन्तरिक्ष-
लोकपर्यन्तं पूर्णं जगदेव एकतटाकभूतमिव प्रस्फुरन्ति । तत्र
लोला विद्युतस्तस्मिन्तटाके शफरिकाः क्षुद्रमत्स्या इव प्रस्फुरन्ति
॥ २४ ॥ स्वयं सावद्यायाः सहिमाः भूम्यादौ च इयानाः शोष-
णेन तनूकता नीहारधारा यैः धाराः उद्गिरन्तीति धारोद्गारा-
स्तथाविधान्वारिदान्मादयन्तो मत्तान्कुर्वाणाः । शीतस्पर्शेन
आनीता जनानामुद्दामरोमाश्चर्चा यैस्तथाविधा वर्षवाताः
प्रोद्यच्छब्दं यथा स्यात्तथा वान्ति । अहो इत्याश्चर्यं ॥ २५ ॥
नीलजलदप्रसरानुसारी अक्षुरद्रुमवनान्तरचारणं चारुः सौग-
न्ध्यादिगुणवान् आसारसीकराणां कदम्बकैर्निकुरन्त्यैः सारादपि
सारो धीरो वातो विटपिनां पल्लवपुष्पगुच्छान्किरन्सन् वाति ।
हा इति शीतार्तस्य विरहिणो वा खेदोक्तिः ॥ २६ ॥ स्वर्गा-
व्युताः जीवाः पूर्वपुण्यवासनालवमिव ॥ २७ ॥ कुवलये भूम-
ण्डले यानि कुवलयान्युत्पलानि तेषां विकचने विकासे । तथा
कुसुमलतानां विदलने मुकुलपुटमेदने च उद्यता इति
सुगन्धयः । घनलक्षणां पटानां पाटने पटव इति शीताः
क्षमी पवना बहन्ति ॥ २८ ॥ एते वाता नभस्तले संध्याभ्रले-
शान् कोमलकम्पनेन मन्दचालनेनोपयन्ति । यथा पुष्पाणां
विविधलेखाभिरनुवासिते नृपाङ्गणे भृत्यवराः पुष्पाण्यनुपम-
न्तः संचरन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ २९ ॥ कुसुमानामिव गन्धो

कचित्कुसुमगन्धयः कमलवर्गगन्धाः कचि-
त्कचित्कुसुमवर्षिणो ललितकैसरासारिणः ।
कचिच्च हिमपाण्डवो हरितपीतलक्ष्यामला
बहन्ति शिखरानिलाः सुरतमन्दघर्मेच्छिदः ॥ ३०
कचिद्गुंकारकांकारैरङ्गारनिकरान्करैः ।
किंकरैर्विकिरत्यको मुखसंसर्गवानिव ॥ ३१
नररसायनतृप्तिविमुक्तया
प्रमदया मदयापितलजया ।
उपगते वपुषा न विषह्यते
विषविमूर्च्छितयेव समायता ॥ ३२
वलिततामरसा मृदुशीकराः
शशिकरोत्करवीचिविमेदिनः ।
सदहना इव तापमयाः पुरो
विरहिणीषु वनावनिवायवः ॥ ३३
इह हि पूर्वपयोधितटावटे
विकटपत्रपटाः कटकीतटाः ।
नवमदासवयौवनसंश्रयाः
कलय यान्ति कथं शबरस्त्रियः ॥ ३४
नवरसासवसारनिशागम-
क्षयभयातुरचित्ततयाङ्गना ।
त्यजति क्रान्तमियं न मनागपि
हुतमितो चलितेव पुरोऽहिभिः ॥ ३५

वेषाम् । उपमानपूर्वपदत्वादित् । कचित्कमलवर्गाणां गन्ध
इव गन्धो वेषाम् । हिमैः पाण्डवः हरितपीतलक्ष्यामलैर्गिरि-
धातुभिस्तद्वर्णाः शिखरसंयन्निधोऽनिलाः सुरते मन्दानां
भ्रान्तानां धर्माभ्युच्छिदो बहन्ति ॥ ३० ॥ किंकरैः सैवकव-
दाज्ञाकारिभिः सूर्यक्रान्तमणिभिर्गुहादौ दत्तमानानां प्राणिनां
गुंकारैः कांकारैराक्रन्दनञ्जद्वैद्योपलक्षितानङ्गारनिकरान्करै-
रिति प्रक्षिपति ॥ ३१ ॥ नरः पुरुषस्तल्लक्षणं यत्तत्साक्षात्
रसायनं तद्विषये तृप्तिविमुक्तया अतृप्तया अत एव भवेन यापि-
तलजया अपनीतत्रपया प्रमदया वपुषा उपगते आलिङ्गिते
पुरुषे सुरतोपरमाय । आबन्धककार्यान्तरोपवर्णनलक्षणा समा-
यता वचनोक्तिर्विषविमूर्च्छनया प्रयुक्ता स्वमृतिरिव न नि-
रुपते इत्यर्थः ॥ ३२ ॥ तामरसवलनादिप्रयुक्तसर्वगुणसंपन्ना अपि
वनावनिवायवो विरहिणीषु सदहना इव दाहकारिण इत्यर्थः
॥ ३३ ॥ हे राजन्, इह पूर्वपयोधितटलक्षणे अवटे नि-
रुदेशे कटक्यः शबरजातिप्रसिद्धकांस्यादिकटकास्तदन्वितप्रकोष्ठ-
तटाः । विकटानि निर्गुण्डीपत्राण्येव परिधानपटो यासाम् । नवो
मदासवो यस्मात्तथाविधस्य यौवनस्य संश्रयाः शबरस्त्रियः
कथं यान्ति तद्रूपमविलास कलय पदय ॥ ३४ ॥ इयमङ्गना
नवः सुरतरसो यस्मात्तथाविध आगवसारः समदसंभोगो
यस्मिन्तथाविधस्य निशागमस्य क्षयाद्यद्वयं तदानुरचिततया
हुतं सार्द्रभावं क्रान्तं मनागपि न त्यजति । इतः पुरो

प्रभाततूर्यमुखैर्दिवसैरिव तर्जिता ।
 हृद्येव स्फुटिता नारी निलीना दयितोरसि ॥ ३६
 प्रोत्फुल्लकिंशुकैषा
 दक्षिणजलधेस्तटेऽत्र वनराजी ।
 ज्वलितेव जलतरङ्गैः
 पौनःपुन्येन सिच्यतेऽम्बुधिना ॥ ३७
 अस्या निर्यान्त्यनिलै-
 धूमा इव कृष्णकेसराम्बुधराः ।
 अङ्गारा इव कुसुमा-
 न्युपशान्ताङ्गारवच्च खगभृङ्गाः ॥ ३८
 ईदृश्येव विलोक्य
 धनराजी सत्यवह्निना ज्वलिता ।
 गिरिशिरसि तूत्तरस्यां
 दिशि दूरे धूयते च खे पवनैः ॥ ३९
 कौञ्चाचलस्य भुवि मन्थरमेघचक्र-
 गम्भीरताररवनर्तितबर्हिणीयम् ।
 पश्योत्थितं तुमुलमाकुलवर्षवात-
 व्याधूतपुष्पफलपल्लवकाननीयम् ॥ ४०
 अस्ताचले विकटकाञ्चनकूटकोटि-
 संघट्टनस्फुटितजर्जरचारुसंधिः ।
 खर्वं रथः पतति स स्म रवेः सचक्र-
 चीत्कारतारतरकूबररास एषः ॥ ४१

दृश्यमाना अहिमिर्वलिता चन्दनलतेषु सेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
 ज्वलितेवेति पुनःपुनः सेके हेतुप्रेक्षा ॥ ३७ ॥ अस्याः
 प्रफुल्लकिंशुकवनराजेः सकाशाद्धूमा इव कृष्णाः केसरा ऊर्ध्व-
 भागा येषां तथाविधा अम्बुधरा धूमा इव निर्यान्ति । एवं
 किंशुककुसुमान्यङ्गारा इव निर्यान्ति । खगाश्च भृङ्गाश्च उपशा-
 न्ताङ्गारवच्च निर्यान्ति । पश्येति पूर्वोक्तार्थे उपपत्तिः ॥ ३८ ॥
 कल्पितज्वलनां वनराजिं दर्शयित्वा यथार्थज्वलनां तामुत्तरतो
 दर्शयति—ईदृश्येवेति । पवनैः खे धूयते कम्प्यते च
 ॥ ३९ ॥ हे राजन्, कौञ्चाचलस्य भुवि मन्थरस्य मन्दगतेर्मेघ-
 चक्रस्य गम्भीरैस्ताररवैर्नर्तितं बर्हिणीयं बर्हिसमूहो यस्मिंस्तथा-
 विधमाकुलवर्षवातव्याधूतपुष्पफलपल्लवमुत्थितमुन्नतं काननीयं
 वनसमूहं पश्य ॥ ४० ॥ स एष रवेः रथः अस्ताचले विकटो
 विषमो यः काञ्चनमयः कूटः शृङ्गं तत्कोटौ संघट्टनेन स्फुटिता
 जर्जराश्चारुसंधयो यस्य तथाविधः सन् सचक्रचीत्कारस्तार-
 तरः कूबरस्य रासो ध्वनिर्न्यस्य तथाविधः सन् खर्वं निम्नदेशं
 पतति स्म अवतरति किलेयौजस्यातिशयोक्तिः ॥ ४१ ॥
 भुवनलक्षणस्य भवनस्य गृहस्य प्राकारभूते अद्वौ मानसोत्त-
 रपर्वते उदयगिरिशिखरे निशाकरश्चन्द्रस्तलक्षणं मेरुकं माङ्ग-
 लिकं तरुविशेषजं पुष्पं देशविशेषे प्रसिद्धं तच्च मङ्गलसूचकत्वा-
 दमङ्गलान्मालिन्याद्धीतं परितो भासा विकसितमभूत् । तथा-
 विधमप्यदःपुष्पममङ्गलकारिणा विधिना प्रेरितो मलं कलङ्क-

भुवनभवनप्राकारेऽद्वौ निशाकरमेरुकं
 परिविकसितं भीतं भासा मलालिरुपाश्रितः ।
 तदिह जगतां वस्तु श्रेष्ठं न किञ्चन विद्यते
 विधिरुपहतः कुर्यान्नो यत्क्षणेन कलङ्कितम् ४२
 त्रिभुवनहराद्दहासो
 भुवनमहाभवन एष मङ्गोलः ।
 क्षीरसलिलावपुरो
 गगनाब्धेश्चान्द्र आलोकः ॥ ४३
 स्पृष्टप्रदोषमयमन्दरमध्यमान-
 चन्द्रार्णवोल्लसितदुग्धतरङ्गभङ्गैः ।
 पश्य प्रभापटलकैः परिपूरिताङ्गीः
 पूरैरिवोग्रसरितः प्रसरद्भिराशाः ॥ ४४
 एते पतन्त्यतुल तालकराललोल-
 वेतालबालवलिता निशि गुह्यकौघाः ।
 हूणेश्वरस्य नगराणि निरस्तशान्ति
 स्वस्तिश्रवादिविकलानि बलेन भोक्तुम् ॥ ४५
 तावद्विभाति गगने परिपूर्णचन्द्रो
 यावद्वधूवदनमेति न सन्न बाह्यम् ।
 अभ्युद्वतेऽङ्गणनभस्यबलाननेन्दा-
 विन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः ४६
 वृद्धानि चन्द्रांशुनवाम्बराणि
 गङ्गौघनिर्धूतशिलान्यमूनि ।

स्तलक्षणः अलिरुपस्थित एव । तदेवं सति इह भुवने तत्तादृशं
 जगतां मध्ये श्रेष्ठं वस्तु किञ्चन न विद्यते यद्वस्तु उपहतो विधिः
 क्षणेन कलङ्कितं न कुर्यात् । भुवनस्पृष्टातो गिरिशिखरनभःस्थस्य
 चन्द्रस्यापि यत्रेदृशी दशा तत्र किं वाच्यमन्यसेत्यर्थः ॥ ४२ ॥
 चन्द्रप्रकाशं सर्वतः प्रद्युतं त्रेधा उत्प्रेक्षते—त्रिभुवनेति ।
 एष गगनाब्धेश्चान्द्र आलोकः प्रदोषकाले नृत्यतस्त्रिभुवनहरस्य
 त्रैलोक्यसंहारिणो रुद्रस्याद्दहासः । अथवा भुवनलक्षणे महाभवने
 मङ्गोलः सुधातेजः । अथवा क्षीरलक्षणस्य सलिलस्यावदातः
 पुरोऽवपुरः ॥ ४३ ॥ संध्याधातुरागैः स्पृष्टेन प्रदोषमयेन
 मन्दरेण मध्यमानो यश्चन्द्रलक्षणः क्षीरार्णवस्तुल्लसितैर्दुग्धत-
 रङ्गभङ्गप्रायैः प्रसरद्भिः प्रभापटलकैः उग्रः शिवस्तद्विसृष्टाया
 गङ्गासरितः प्रसरद्भिः पूरैरिव परिपूरिताङ्गीः आशा दिशः पश्य
 ॥ ४४ ॥ हे अतुल निरुपम, तालवत्करालैर्वेतालबालैर्वलिताः
 सहिता एते गुह्यकौघा निशि निरस्तशान्तिकर्मस्वस्तिवाचन-
 मङ्गलाचरणानि अत एवोत्पातैर्विकलानि हूणेश्वरस्य त्वद्विपोर्नग-
 राणि तत्स्थानं जनान् भोक्तुं पतन्ति गच्छन्ति ॥ ४५ ॥
 सङ्गनो बाह्यमनावरणमङ्गणदेशं वधूवदनं न एति । बाह्याङ्गण-
 नभसि अवलाननेन्दौ निर्गमनेनाभ्युदयते सति तत्सौन्दर्यनिर-
 स्तशोभस्येन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः । न कश्चिदिति
 कामुकोक्तिः ॥ ४६ ॥ चन्द्रकरव्याप्तानि हिमवच्छिखराणि
 कश्चिद्वर्णयति—वृद्धानीति । वृद्धिरत्र दैर्घ्यम् । तुषारशैलेश्वरो

हिमाततान्युग्रलताजटानि
तुषारशैलेश्वरमस्तकानि ॥ ४७
स एष मन्दारचनावतंसो
दोलाप्सरोगेयविसारिवातः ।
कचिन्मणिद्योतविचित्रविभ्रः
संहस्यते व्योमनि मन्दराद्रिः ॥ ४८
प्रोचिद्रनीरन्ध्रशिलीन्ध्रसान्द्र-
पुष्पाध्वपात्रध्रमहामहीध्राः ।
सान्द्राभ्रनिर्हादगभीरकुक्षौ
सर्क्षान्तरिक्षभियमुद्रहन्ति ॥ ४९
इतः स कैलासगिरिर्गरीयसा
प्रभाप्रवाहेण मितेन यस्य खम् ।
शंभोरिवाभाति सुतस्य कुट्टिमं
चन्द्रोऽपि च क्षीरसमुद्रगो यथा ॥ ५०
स्थाणूनां छिन्नशाखानां मृन्मयानां च वासवः ।
संधत्ते पदय दूराणां वातैर्मुक्तशिखा इव ॥ ५१
एते कदम्बकुलकुन्दसुगन्धिवाता
लिम्पन्ति मांसलतया मकरन्दवृष्टेः ।

घ्राणं घनैः परिमलैरलिजालनीला
व्यालोढ्य मेघपटलैः खमिवाभ्रकायाः ॥ ५२
उन्निद्रकुङ्कुलदलासु वनस्थलीषु
सच्छायशादलघनेषु च जङ्गलेषु ।
ग्रामेषु संततफलद्रुमसंकुलेषु
लक्ष्मीः स्वयं निवसतीव निवासहेतोः ॥ ५३
वातायनागतलतावृतसौधकोश-
कोशातकीकुसुमकेसरमाहरद्भिः ।
आगुल्फकीर्णमुकुलाजिर एष वातै-
र्ग्रामो विभाति नगरं वनदेवतानाम् ॥ ५४
उन्निद्रामलचम्पकद्रुमलतादोलाविलोलाङ्गनाः
कूजनिर्झरवारयः परिसरप्रोचिद्रतालद्रुमाः ।
उत्फुल्लोज्ज्वलमञ्जरीसितलतागेहोल्लसद्भिः
पर्यन्तोन्नतसाललम्बजलदा रम्या गिरिग्रामकाः
वातालोलविचित्रपत्रलतिकासंपूर्णनीलस्थलाः
कूजल्लावककोककुटुधटागायत्पुलिन्दाङ्गनाः ।
पालाव्याकुलतर्णका दधिमधुक्षीराज्यपानोज्ज्वलाः
कस्येवामृतमण्डपा विरचिता रम्या गिरिग्रामकाः

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायण्ये वा० दे० सो० नि० उ० अवि० वि० विपश्चिदनुकृतपदार्थवर्णनं नाम पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ११५

हिमवांसस्य मस्तकानि शिखराणि ॥ ४७ ॥ दोलाः प्रेङ्गास्त-
दारुढानामप्सरसां गीतानि विसारयति तच्छीलो वातो यस्य ।
अत्युन्नतत्वाव्योमनि संहस्यते ॥ ४८ ॥ प्रोचिद्राणि नीरन्ध्राणि
पुष्पभरितानि यानि शिलीन्ध्राणि तान्येव सान्द्रपुष्पाध्वपा-
त्राणि धारयन्ति तथाविधा ये महान्तो महीध्राः पर्वताः सान्द्रै-
रभ्रनिर्हादगभीरायां कुक्षौ द्रोणीप्रवेशे सर्क्षं कुक्षैर्नक्षत्रैः सह
वर्तमानं यदन्तरिक्षं तच्छिष्यमुद्रहन्ति धारयन्ति ॥ ४९ ॥ इत
उत्तरतः स प्रसिद्धः कैलासगिरिर्दृश्यताम् । कीदृशः । यस्य
गरीयसा प्रभाप्रवाहेण मितेन व्याप्तेन खमाकाशमयोभागे
शंभोः सुतस्य स्कन्दस्य सुकाचूर्णनिर्मितं क्रीडागृहकुट्टिममिव
आभाति । ऊर्ध्वभागे तु चन्द्रोऽपि क्षीरसमुद्रगस्तन्ममो यथा
तथा आभाति ॥ ५० ॥ हे राजन्, कौतुकी वासवः कुठरै-
श्छिन्नशाखानां स्थाणूनामभिना छिन्नच्छादिशाखानां मृन्म-
यानां कुञ्जादीनां च परस्परदूराणामपि वृष्टिसेकेनोभयत्राप्य-
ङ्कुरोपजननान्मुक्तशिखा इव निर्माय वातैः परस्परप्रयनायेव
संधत्ते पश्य ॥ ५१ ॥ तथा एते कदम्बकुलैः कुन्दैश्च सुगन्धयो
वाता मकरन्दवृष्टेर्हेतोस्तत्पानेन मांसलतया अलिजालनीला
अभ्रकायाश्च भूत्वा सर्वाणि परिमलानि व्यालोढ्य मेघपटल-
लक्षणैः खमिव घनैः परिमलैर्जनानां घ्राणच्छिद्रमपि लिम्पन्ति
पश्येत्सर्वः ॥ ५२ ॥ वर्षतीं वनस्थत्यादिषु चतुर्षु स्थानेषु
स्थानिवासहेतोः शोभातिशयस्य दर्शनादिव निवसति ॥ ५३ ॥

एष पुरोवर्ती ग्रामो वातायनद्वारा आगताभिरन्तःप्रविष्टभि-
रर्थाकोशातकीलताभिरावृतेषु सौधकोशेषु कोशातकीकुसुमानि
तत्केसरांश्चाहरद्भिर्वर्तते । आगुल्फं कीर्णानि कुसुमानि यत्र तथा-
विधान्यजिराण्यङ्गणानि यस्मिंस्तथाविधः सन् वनदेवतानां नगरं
विभाति ॥ ५४ ॥ उन्निद्राणां पुष्पितानाममलचम्पकद्रुमाणां
लतादोलासु विलोलाः क्रीडन्त्यः अङ्गना येषु । तथा कूजन्ति
निर्झरवारीणि येषु । परिसरेषु परितः प्रोचिद्राः पुष्पितासालद्रुमा
येषु । उत्फुल्लमिहज्ज्वलमञ्जरीभिः सितेष्वलंकृतेषु लतागेहेषु
उल्लसन्तो वृक्षन्तो बहिष्णो मयूरा येषु । पर्यन्तेवृक्षतेषु सालेषु
प्राकारेषु वृक्षेषु वा लम्बा जलदा भेषा येषु । सालवृक्षा एव
लम्बा लोला जलदा येभ्यो वा । ईदृशा गिरिग्रामका रम्याः
॥ ५५ ॥ तथा वातेरालोलाभिः पल्लवादिदशाविचित्रपत्राभिर-
लतिकाभिः संपूर्णानि शाद्वलनीलानि स्थलानि येषाम् । लवका
मधुरस्वराः क्षुद्रपक्षिमेदाः । गायन्त्याः पुलिन्दानां म्लेच्छजाति-
मेदानामङ्गना येषु । बालैः पालन्नादभ्याकुलस्वर्णका वत्सा येषु ।
तथा त एव बाला अव्याकुलस्वर्णकाश्च यथायोगं दधिमधुक्षी-
राज्यानां पानेन उज्ज्वलाः पुष्टा येषु । ईदृशा गिरिग्रामकाः कस्य
वातुर्विश्रान्तये रम्या अमृतपूर्णा विरचिता मण्डपा इव भा-
न्तीत्यर्थः ॥ ५६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायण्ये उत्तरार्धे निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे विपश्चिदनुकृतपदार्थवर्णनं नाम पञ्च-
दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमः सर्गः ११६

अनुचरा ऊचुः ।

देव पश्यात्र संग्रामलघ्नीमान्तभूभृताम् ।
 कचन्ति हेतिसंघाता विसरन्ति बलानि च ॥ १
 हतान्हतानभिमुखान्वीरान्वीरैः सहस्रशः ।
 आरोप्यारोप्य खं यान्ति पश्य पश्याङ्गनारथैः ॥ २
 विजिगीषोः पुनः प्राप्ते संकटे प्रकटे रणे ।
 धर्म्यं विराजते युद्धं यौवने सुरतं यथा ॥ ३
 लोकैरनिन्दिता लक्ष्मीरारोग्यं श्रीसमन्वितम् ।
 धर्म्यं युद्धं परार्थेन जीवितस्योत्तमं फलम् ॥ ४
 अविरोधेन धर्मस्य युद्धे संमुखमागतम् ।
 योधानुरूपं यो हन्ति शूरः स्वर्ग्यः स नेतरः ॥ ५

हस्तस्थितासिवरनीलसरोजदाम-
 श्यामो हयोत्थघनरेणुनिशागमोऽत्र ।
 आलोक्य क्रमणमेष कथं करोति
 प्रोक्षामहेतिभरभूषणभाजि लक्ष्म्याः ॥ ६
 एते कचन्ति शरशक्तिगदाभुशुण्डी-
 शूलासिकुन्तपटुतोमरचक्रपूर्णाः ।
 तापाः सताण्डवकचप्रचले चलेऽन्धौ
 देहेन वल्गति भुवीव फणीन्द्रसंघाः ॥ ७

संग्रामव्योमविरहिशिरिग्रामदम्बराः ।

गिरिगह्वरमेघाश्च मूर्खकाकाश्च वर्णिताः ॥ १ ॥

तत्रादौ सप्तभिः संग्रामं वर्णयितुं प्रसूति-देवेति । बलानि
 चतुर्विधानि सेनाङ्गानि ॥ १ ॥ अङ्गना अप्सरसः । रथैर्विमानैः
 ॥ २ ॥ विजिगीषोर्बलवतः शत्रूणां रणे प्रकटे संकटे प्राप्ते विना-
 धर्मेण तेषां बधो न शोभते किंतु धर्म्यं धर्मादनपेतं युद्धं विराजते
 इत्यर्थः ॥ ३ ॥ तत्कृतस्तत्राह—लोकैरिति । यत एतानीदृशा-
 न्येव जीवनस्योत्तमफलानि न तु निन्दितसंपदादय इत्यर्थः ॥ ४ ॥
 योधानुरूपमिति । तद्यथा एकस्मिन्योधे एक एव सः सवाहने
 सवाहनः सधनुषि सधनुः सखड्गे सखड्गो निरायुधे निरायुध
 एव बाहुयुद्धं चरन्त्यो हन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥ हे राजन्, प्रोक्षामा-
 उद्यता हेतिभरा एव भूषणानि तद्भाजि अस्मिन् शूर-
 पुरुषे एष संग्रामलक्ष्म्या हस्तस्थितासिवरलक्षणेन नीलसरोज-
 दाम्ना श्यामो हयोत्थघनरेणुकृतोऽन्धकारलक्षणो निशाग-
 मोऽत्रास्यां संग्रामभूमौ कथं क्रमणं करोति । किं लक्ष्मीरेन-
 मस्या निशि स्वर्ग्यवरे धृणीते उत नेति कौतुकं पश्येत्यर्थः
 ॥ ६ ॥ शरशक्त्याद्यायुधैः पूर्णा एते योधाः सताण्डवकचप्रा-
 यतृणदारुप्रचले अचले पर्वते प्रज्वलितास्तापा दवामय इव
 कचन्ति । तेषु च शरशक्त्यादिसंघाः अन्धौ देहेन वल्गति

पश्याम्बरं बलवदम्बुधराब्धिपूर्णं

पश्याम्बरं तरलतारकतारहारम् ।

पश्याम्बरं सुघनसक्तमसैकसारं

पश्याम्बरं विशदचन्द्रकरावसिक्तम् ॥ ८

यत्रानेकसुरासुरास्पदघटा तारापदेशं गता
 ऋक्षाणां च यदास्पदं विसरतां सर्वोन्नतानां च यत् ।
 तस्मिन्नुन्यमिति प्रतीतिरधुनाप्यस्तं गता नाम्बरे
 कोऽन्यो मार्जयितुं जनोऽङ्गरचितं लोकापवादं क्षमः
 मेघादोपैः प्रलयदहनैरद्रिपक्षाभिघातै-
 स्तारापूरैरमरदितिजधुग्धसंग्रामसंघैः ।
 व्योमाद्यापि प्रकृतिविकृतिं नाम नायात्यसंख्यै-
 रन्तः साराशयगुणवतां लक्ष्यते नो महिम्नः ॥ १०

आन्दोलयस्यविरलं गगनार्कमङ्गे

नारायणं च शशिनं च तथेतराणि ।

तेजांसि भासुरतडित्प्रभृतीनि साधो

चित्रं तथापि न जहासि यदान्ध्यमन्तः ॥ ११

आकाश काशसि तु यत्र शशाङ्कबिम्बं

त्वत्कीर्णकज्जलतमो मलिनोऽसितत्वम् ।

सङ्गात्र यन्नयसि तत्त्वलु चित्रमुच्चैः

को नाम वान्तरमलं मलिनीकरोति ॥ १२

सति तत्रत्याः फणीन्द्रसङ्घा भुवि प्रसूता इव कचन्ति ॥ ७ ॥ इतः-
 प्रमृत्वाकाशं चतुर्विधं वर्णयति—पश्येत्यादिना । सुघनं सज्जत
 इति सुघनसक् तथाविधेन तमसा एकसारं तुल्यसारं नील-
 मिति यावत् ॥ ८ ॥ यत्र यस्मिन्नाम्बरे अनेकेषां सुरासुरास्पदानां
 विमानादीनां घटा तारा इत्यपदेशं व्याजं गता । ऋक्षाणाम-
 श्विन्यादीनां यदास्पदं यद्विसरतां सर्वोन्नतानां चन्द्रसूर्यादीनां
 चास्पन्दं तस्मिन्नाम्बरे सर्वतः पूर्णेऽपि अज्ञानां शून्यमिति प्रती-
 तिरधुनापि नास्तं गता । यत्रैवं महान्समर्थोऽप्याकाशः अङ्गर-
 चितं शून्यतापवादं मार्जयितुं न क्षमस्तत्र कोऽन्यः क्षमः
 स्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥ साराशयगुणवतां महिम्नः अन्तो न
 दृश्यते ॥ १० ॥ हे साधो, गगनत्वमविरतमर्कं नारायणं चका-
 रात्तत्परिजनान्सर्वान्देवान् शशिनं चकारादन्यान् ग्रहांस्तथा
 इतराणि भासुरतडित्प्रभृतीनि तेजांसि च अङ्गे आन्दोलयसि
 तथाप्यन्तर्यदान्ध्यं तमः श्यामिकालक्षणं तत्र जहासि चित्रमा-
 श्वर्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥ हे आकाश, त्वं मलिनोऽसि । यत्र
 शशाङ्कबिम्बं त्वया छिद्रात्मना कीर्णं कज्जलतमः प्रायं संपन्नं तत्र
 कलङ्कच्छलेन मलिनः प्रत्यक्षं काशसि तु दृश्यसे खल्वित्यर्थः ।
 एवं सति स्वसङ्घातसंपूर्णं शशाङ्कबिम्बं यत् असितत्वं न नयसि
 तत् उच्चैर्महच्चित्रम् । वा अथवा मलिनसङ्घादन्तर्मलिन एव

पूर्णस्यापि जगद्बोः सर्वदैवाविकारिणः ।
 खस्य मन्ये बुधस्येव सुखं सर्वार्थशून्यता ॥ १३
 कल्पाभ्रद्रुमवीरुदुश्चतिदृशां कर्तासि धर्तासि च
 आकाशेन्दुघनार्ककिन्नरमरुत्स्कन्धामराणामपि ।
 सर्वे रम्यमसंकुलाशय समस्वच्छस्वभावस्य ते
 यत्त्वेतद्दहनत्वमङ्ग तदहो मुख्याय खेदाय नः ॥ १४

आकाश काशमसि निर्मलमच्छमुच्चै-
 राधार उन्नततयोत्तममुत्तमानाम् ।
 त्वामेत्य किंतु विरलं करकाघनोऽयं
 लोकं विमर्दयति तेन परोऽसि नीचैः ॥ १५
 आकाश कर्षक एव निकर्षणं ते
 मन्ये चिरं समचितं न तु किञ्चिदन्यत् ।
 शून्योऽसि यज्जलधरक्षविमानचन्द्र-
 सूर्यानिलान्वहसि भासि न चार्थशून्यः ॥ १६
 अहि प्रकाशमसि रक्तवपुर्दिनान्ते
 यामासु कृष्णमथ चाखिलवस्तुरिकम् ।
 नित्यं न किञ्चिदपि सद्ब्रह्मीति मायां
 न व्योम वेत्ति विदुषोऽपि विचेष्टितं ते ॥ १७

बहिरपि मालिन्यमापद्यते । अन्तरमलं तु को नाम मलिनी-
 करोति न कश्चिदित्यर्थः ॥ १२ ॥ अथवा सन्तु मालिन्यादयः
 सर्वेऽपि दोषास्तथापि निर्विकारताबलेनैव तत्प्रयुक्तसर्वानर्थशू-
 न्यतासुखं सुलभमित्याशयेनाह—पूर्णस्यापीति । बुधस्य तत्त्व-
 विद इव ॥ १३ ॥ हे अङ्ग, असंकुलाशय उदारबुद्धे हे आकाश,
 त्वं कल्पाभ्राणां प्रलयाम्बुदानां द्रुमाणां वीरुधां रतानां
 चोन्नतिं पश्यन्त्यभिलषन्तीत्युन्नतिदशस्तेषामवकाशदानेनोन्नतेः
 कर्तासि । इन्बुध घनाश्च अर्कश्च किन्नराश्च मरुत्स्कन्धाश्च अम-
 राश्चेत्येषामपि धर्ता आधारश्चासीति समस्वच्छस्वभावस्य ते
 सर्वे कर्म रम्यमेव । यत्त्वमेः सूर्यस्य च प्रज्वलनावकाशदानेन
 दहनत्वं संतापकत्वं एतत्कर्म नः मुख्याय खेदाय न तु सुखा-
 येति दावाभ्यातपादिसंतप्तस्योक्तिः ॥ १४ ॥ हे आकाश, त्वं
 निर्मलमच्छं काशं भास्वरं उन्नततया उत्तमानां देवादीनामु-
 त्तममाधारश्चासि किंतु विरलं सावकाशं त्वामेत्य आश्रित्य अयं
 करकावर्षा घनो लोकं जगं विमर्दयति तेन तद्दोषेण परः नीचैः
 अत्यन्तमपकृष्टोऽसीत्यर्थः ॥ १५ ॥ हे आकाश, ते तत् स्वर्ण-
 वत्कर्षकषे कर्षकषणस्थाने निकषोपल एव निघर्षणं चिरमु-
 चितम् । न त्वन्यत्किञ्चित्त्वत्परीक्षास्थानमित्यर्थः । यथंस्मात्त्वं
 शून्योऽसि तथापि जलधरान् ऋक्षाणि विमानानि चन्द्रं सूर्यमनि-
 लांश्च बहसि भासि अर्थशून्यो निष्प्रयोजनश्च न चासीति तव
 सकलकनकगुणशालिनो गुणपरीक्षार्थमपि तद्गुणपरीक्षास्थानस्यै-
 वौचित्यादिति भावः ॥ १६ ॥ हे व्योम,—“न हि संबुद्धो” इति

अकिञ्चनोऽपि कार्याणि साधयत्यातताशयः ।
 अन्तःशून्यमपि व्योम सर्वस्योन्नतिकारणम् ॥ १८
 न तुणसलिलं नैव ग्रामो न नाम च पत्तनं
 न च दलभरस्निग्धच्छायस्तरुनं च सत्प्रपा ।
 तदपि गगनाध्वानं सूर्यः प्रयाति दिने दिने
 विषममपि यत्प्रारब्धं तत्त्यजन्ति न सात्त्विकाः १९
 यामा ध्वान्तपटेन शीतलवचिः कर्पूरपूरैः करै-
 रर्कालोकनवांशुकेन दिवसस्तारौघपुष्पोत्करैः ।
 द्यौरम्भोदतुषारवारिकुसुमैः सर्वर्तवो भूषय-
 न्त्येते कालकलात्मनोस्त्रिभुवने व्योमाङ्गणं नाथयोः
 धूमाभरेणुतिमिरार्कनिशेशसंध्या
 ताराविमानगरुडाद्रिसुरासुराणाम् ।
 क्षोभैरपि प्रकृतिमुज्झति नान्तरिक्षं
 चित्रोत्थिता स्थितिरहो नु महाशयस्य ॥ २१
 दिग्भित्तिवद्भूमिदमूर्ध्वतलान्तरिक्ष-
 मुर्वीतलं घनपुराचलभूरिभाण्डम् ।
 विद्याधरामरमहोरगजालकारं
 लोकौघसंस्तरणसंघपिपीलिकाढ्यम् ॥ २२

नलोपनिषेधश्छान्दसत्वादनित्यत्वाद्वा नाभितः । त्वं अहि प्रकाशं
 भास्वरवर्णमसि । विनान्ते संध्यारागेण रक्तवपुर्सि । यामासु
 नामैकदेशे नामग्रहणाभ्रियामासु कृष्णमसि । अथ च नित्यं न कि-
 ञ्चिदपि सद्ब्रह्म ब्रह्मीति हेतोरखिलवस्तुरिक्तमसि इति तव मायां
 विदुषस्तत्त्वविदो विचेष्टितमपि न कश्चिदपि वेत्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥
 आतताशयः अतिविपुलबुद्धिस्तत्त्ववित् ॥ १८ ॥ गगनाध्वनि
 अध्वगविश्रान्तिसाधनं तृणं सलिलं च नास्ति । ग्रामस्तु वैवास्ति ।
 पत्तनं नगरं च न नाम अत्यन्तासंभाव्यमित्यर्थः । दलभरैः
 स्निग्धच्छायस्तरुश्च नास्ति । सती रम्या प्रपा पानीयशालां
 च नास्ति । तत्तथापि सूर्यो गगनाध्वानं दिने दिने प्रयाति ।
 सात्त्विकाः सत्त्ववन्तो विषममन्येषामसाध्यमपि यत्प्रारब्धं
 तप्त त्यजन्ति स्वसामर्थ्येनावश्यं साधयन्त्येवेत्यर्थः ॥ १९ ॥
 दिवसः अर्कालोकलक्षणेन नवांशुकेन स्वं भूषयति । द्यौः
 रात्रितारौघपुष्पोत्करैः स्वं भूषयति । सर्वर्तवो वसन्तादयः
 अम्भोदतुषारलक्षणेर्वारिकुसुमैः स्वं भूषयन्ति । एते सर्वेऽपि
 मिलित्वा कालकलात्मनोस्त्रिभुवने नाथयोः स्वामिनोश्चन्द्रसूर्ययोः
 क्रीडास्थानं व्योमाङ्गणं भूषयन्तीत्यर्थः ॥ २० ॥ महाशयस्य
 स्थितिश्चित्रा आश्चर्यरूपा उत्थिता उन्नता दृश्यते यतोऽन्तरिक्षं
 धूमादीनां त्रयोदशानां क्षोभैरपि प्रकृतिं पूर्वावस्थां नोत्ति
 ॥ २१ ॥ अपरः कश्चिन्निभुवनमेकजीर्णगृहत्वेन वर्णयति—दि-
 ग्भिन्तीति । दिश एव भित्तयस्ताभिर्बद्धमूर्ध्वतलं उपरितलसौ-
 भूतमन्तरिक्षं यस्य । उर्वी भूमिरेव अधस्तलं यस्य । घनं पुराणव-
 लाश्च भूरिभाण्डं गृहोपस्करो यस्मिन् । विद्याधरदयो जालका
 ऊर्णान्तिभिकीटा यस्मिन् । तथा लोकौघाश्चतुर्विधभूतप्रासाद-

कालः क्रिया च भुवनं भवनं चिराय
नामाधितिष्ठत इवोपवनं विकासि ।

आशङ्क्यते प्रतिदिनं ननु नष्टमेव
नाद्यापि नश्यति च केयमहो नु माया ॥ २३
[युगलकम् ।]

खं मन्ये पादपादीनां रोधयत्यधिकोन्नतिम् ।
अकर्तुरेव महतो महिम्नोदेति कर्तृता ॥ २४
जगतां यत्र लक्षणाणि न भवन्त्युद्भवन्ति च ।
तच्छून्यमुच्यते व्योमधिकपाण्डित्यमखण्डितम् २५
व्योमन्येव प्रलीयन्ते व्योमतः प्रोद्भवन्ति च ।
गच्छतोन्मत्ततामेतामीश्वरान्यभिदा कृता ॥ २६

आयान्ति यान्ति निपतन्ति तथोत्पतन्ति
सर्गधियः कणघटा इव पावकोत्थाः ।

यत्रामलं तदहमेकमनादिमध्यं
मन्ये खमेव न तु कारणमीश्वराख्यम् ॥ २७
आधारमायततरं त्रिजगन्मणीना-
मङ्गे विभर्त्यमितमन्तरशेषवस्तु ।

लक्षणाभिः संघपिपीलिकाभिराढ्यम् ॥ २२ ॥ ईदृशमिदं भुवनं
भवनं कालः क्रिया चेति दम्पती चिराय नाम अधितिष्ठतः पाल-
यतः । यथा मालाकारदम्पती विकासि उपवनमधितिष्ठतस्तद्वत् ।
यद्यपि कालक्रियाभ्यां नाधिष्ठीयते प्रतिदिनं ननु नष्टमेवाशङ्क्यते
तथापि नाद्यापि नश्यति चकाराचश्यति च तथापि प्रवाहेणा-
नुवर्तत एव । एवं नश्यदपि न नश्यतीति विरुद्धधर्मकत्वादहो
नु माया । इन्द्रजालसदृशमेतदित्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'कस्मा-
त्तानि न क्षीयन्ते अद्यमानानि सर्वदा' इति । 'पुरुषो वा
अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिः' इति ॥ २३ ॥
मन्ये इत्युत्प्रेक्षायाम् । आदिपदाद्बुद्धिमतां सर्ववस्तूनाम् । ननु
निरोधकव्यापारश्चन्यस्य खस्य निरोधे अकर्तृत्वैव तत्कथं तद्वि-
रुद्धा कर्तृत्वोत्प्रेक्ष्यते तत्राह—अकर्तुरेवेति । 'रन्धन्ति मार्गं
गिरयोऽध्वगानाम्' इतिवदिति भावः ॥ २४ ॥ कश्चिद्व्योमशून्य-
तावादिनो युक्त्या सण्डयन्निन्दति—जगत्तामिति । न भवन्ति
लीयन्ते, उद्भवन्ति जायन्ते च ॥ २५ ॥ अपरो व्योमन्येवेश्वर-
लक्षणानि पदयन्तदन्यतावादिनं निन्दति—व्योमन्येवेति ।
ईश्वरादन्यतोमेति भिदा उन्मत्ततां गच्छता प्राप्तेन वादिना
कृता । यतः सर्वाणि जगन्ति व्योमन्येव प्रलीयन्ते व्योमत एव
प्रोद्भवन्ति चकाराद्योमन्येव तिष्ठन्तीति 'जन्माद्यस्य यतः' इति
गात्रसिद्धनीश्वरलक्षणं व्योमन्येव दृश्यत इति तदेवेश्वर इत्यर्थः ।
'ईश्वरायभिधाः कृताः' इति पाठे एतां उक्तार्थबोधप्रयुक्तां उन्म-
त्ततां भ्रान्ति गच्छता वादिना अन्यताभ्रमेण व्योम एवेश्वराय-
भिधाः कृताः ॥ २६ ॥ यदि व्योमत्रः सकाशादेवाभिनिष्फु-
ल्लिङ्गन्यायेन जगत्सन्नादि मन्यसे तर्हि न जडं व्योम तत् किन्तु
चिद्व्योमरूपोऽहमेव । 'नन्येव सकलं जातं नयि सर्वं प्रति-
गो० वा० १६९

व्योमैव चिद्वपुरहं परमेव मन्ये
यत्रोदयास्तमयमेति जगद्भ्रमोऽयम् ॥ २८
वनावनौ वनचरचारुकामिना
मनोहरद्रुमगहनेषु गीयते ।
इतो गिरेः शिरसि विलोक्यतेऽमुना
वियोगिना पथि वहता रसाकुलम् ॥ २९

गीतं शृङ्गतच्छपलवपुटे निःश्वस्य सोत्कण्ठया
कंठाश्लिष्टगिरा वियोगहतया विद्याधराणां स्त्रिया ।
यन्नामात्र तदेष नाथ पथिकः सोच्छ्वासमाकर्णयन्
दोलान्दोलनयेव चञ्चलधिया नो याति नोनूच्यते ॥
गायत्यद्रिशिरस्तरौ दलपुटे निःश्वस्य विद्याधरी
कांकल्याऽतिलकं वियोगविधुरा वाष्पाकुलैषा पुरः ।
नाथोत्सङ्गगृहे गृहीतचिबुकं स्मेरं भवन्मुम्बनं
स्मृत्वास्वाद्य रसायनं हतसमा नीता मयैता इति ॥
अस्याः प्राग्भवसत्पतिः स मुनिना शापेन वृक्षीकृतो
वर्षद्वादशकं तदेव गणयन्त्येषैव सात्र स्थिता ।
गायत्युत्कलिता तदेव दयितं तं पादपं संश्रिता
मार्गे मार्गविहारिणां वदनतो राजन्ममैतच्छ्रुतम् ॥ ३२

ष्ठितम् । मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्' इति श्रुतेरह-
मेव स ईश्वर इति तदस्थेश्वरपक्ष एव निरसनार्ह इति
तत्र कश्चित्तत्त्वविदाह—आयान्तीति । ईश्वराख्यं तदस्थं
नैयायिकाद्यभिमतं न तु ॥ २७ ॥ अमितं यदशेषवस्तु
अङ्गे विभर्ति त्रिजगन्मणीनामायततरमाधारं तद्योमैव
चिद्वपुः परं ब्रह्मैवेत्यहं मन्ये ॥ २८ ॥ कश्चिद्रिरौ कौतुक-
विशेषं दर्शयन्नाह—वनावनाविति । गिरेः शिरसि वनावनौ
वनचरेण चारुणा कामिना मनोहरद्रुमगहनेषु गीतं गीयते ।
अधःपथि वहता गच्छता अमुना वियोगिना पुरुषेण तद्गीतं श्रुत्वा
रसाकुलं यथा स्यात्तथा स गाता ऊर्ध्वं विलोक्यते ॥ २९ ॥
अपरस्तथाविधमपरं कौतुकं दर्शयन्नाह—गीतमित्यादिना ।
हे नाथ, गिरिशृङ्गवने उच्चो यस्तरुस्तदीयपल्लवपुटप्राये कुञ्जे
वियोगहतया सोत्कण्ठया विद्याधराणां स्त्रिया निःश्वस्य कंठा-
श्लिष्टगिरा यन्नाम गीतं तदत्राधस्ताद्गच्छन्नेव पथिकः सोच्छ्वा-
समाकर्णयन्सन् दोलायामान्दोलनयेव चञ्चलया धिया अग्रे
नो याति । अनुगैरपि याहीति नोऽनूच्यते चित्रमित्यर्थः
॥ ३० ॥ सा विद्याधरी वाष्पाकुला सती अतिलकं विमृष्ट-
विशेषकं यथा स्यात्तथा गायति । किं गायति तदाह—हे
नाथ, त्वद्रुत्सङ्गलक्षणे गृहे गृहीतचिबुकं स्मेरमीषद्वास्यसहितं
भवन्मुम्बनलक्षणं रसायनं स्मृत्वा पुनःपुनरास्वाद्य इह मया
एता हतसमा निन्धाः संवत्सरकाला नीता इति गायति ॥ ३१ ॥
किमर्थं तत्रैव सा स्थिता गायति तत्राह—अस्या इति । सः
गीयमानः प्राग्भवतीति प्राग्भवः सन् युवा पतिर्विद्याधरो
मुनिना केनचिदपराधेन निमित्तेन शापेन वर्षद्वादशकं वृक्षी-
कृतस्तदेव गणयन्ती संपा अत्रैव स्थिता उत्कलिता उत्कण्ठिता

पश्यैष सोऽस्मदवलोकनशान्तशापो
विद्याधरो विटपितामवमुच्य बालाम् ।
कण्ठेकरोति विटपाकृतिविप्रलम्भै-
स्तैरेव बाहुभिरलं स्फुटपुष्पहासः ॥ ३३
शिखरिणां करिणां कुसुमोत्करो
विटपिषु स्फुटरोमसु राजते ।
गगनविच्युततारकलीलया
शिखरमेव तुषारसमानया ॥ ३४
मीनावलीसरमसप्लुतिघटिताम्बु-
वीचीविलोलविरुवत्कुररीकराला ।
कावेर्यहो कुसुमशृङ्गपटाऽवभाति
निःशङ्करङ्गकुलसंकुलकूलकच्छा ॥ ३५
भात्यत्र पश्य रविणा कटके सुबेल-
शैलस्य काञ्चनशिला सकलामलध्रीः ।
वेलावलोलवरुणालयवीचिभङ्ग-
पर्यस्तवाडवकुशानुकणोपमाना ॥ ३६
आसन्नपीनजलदावलितालयाणां
गेहोपशल्यपरिफुल्लवनद्गुमाणाम् ।

तमेव स्वदयितं पादपं सञ्चिता सती सा गायति । हे राजन्,
मार्गविहारीणां वदनतो मया एतन्मार्गे श्रुतम् ॥ ३२ ॥ स
च मुनिरस्मददर्शनमेव शापान्तमकरोदतः स एष वृक्षभूतो
विद्याधरोऽस्मदवलोकनादेव शान्तशाप- सन् विटपितामव-
मुच्य आला सां विद्याधरो विटपाकृतिव्याजैस्तैरेव बाहुभिः
स्फुटपुष्पाण्येव हासत्वेन संपन्नानि यस्य तथाविधः सन्
आलिङ्ग्य कण्ठेकरोति पश्य ॥ ३३ ॥ अपर शिखरिणो
वर्णयति—शिखरिणामिति । शिखरिलक्षणानां करिणां विट-
पिलक्षणेऽस्फुटरोमसु कुसुमोत्कर. शिखरेषु मेषतुषारो वास-
न्तिकहिमकणस्तत्समानया गगनविच्युततारकलीलया राजते
॥ ३४ ॥ अपरः कावेरी वर्णयति—मीनेति । मीनावलीनां
सरमसप्लुतिभिर्घटितास्वम्बुवीचिषु विलोलाभिः क्रीडन्ती-
भिर्विरुवतीभिः कुररीभिः कराला कुसुमशृङ्गपटा निःशङ्क-
रङ्गभिर्मृगमेदैः संकुला- कूलानि कच्छा जलप्रायदेशाश्च यस्या-
स्तथाविधा कावेरी अवभाति । अहो इत्याश्चर्यं ॥ ३५ ॥
हे राजन्, अत्र सुबेलशैलस्य कटके सकला काञ्चनशिला
रविणा प्रद्योत्यमाना वेलावलोलस्य वरुणालयस्य वीचि-
भङ्गैः पर्यस्तस्य वाडवकुशानोर्वडवामैः कणा एवोपमानं
यस्यास्तथाविधा भाति ॥ ३६ ॥ तथा पर्वतेषु आसन्नैः
पीनैर्जलदैरावलितालयाणां गेहोपशल्येषु शृङ्गीमान्तेषु परि-
फुल्लवनद्गुमाणा तथा पलाशपटलैरावलिताम्बराणां घोषौकसा-
माभीरपल्लीगुहाणां लक्ष्मीः समवलोकय ॥ ३७ ॥ तथा उन्निद्रैः
पुष्पैः पटुपाण्डुरा अतिशुभ्राः पुष्पखण्डाः पुष्पवाटिका येषु ।
तथा मन्दारवृक्षा एव भाण्डानीव बहुतरपुष्पमाजनानि येषु
तथाविधा- विविधशिखण्डिनां नृत्यस्थानत्वात्तत्करणप्रयाः

लक्ष्मीः पलाशपटलावलिताम्बराणां
घोषौकसां समवलोकय पर्वतेषु ॥ ३७
उन्निद्रपुष्पपटुपाण्डुरपुष्पखण्डा
मन्दारभाण्डविशिखण्डिकरणकच्छाः ।
ग्रामाः प्रपातजलजालविलासवाद्या
वल्गाहुहागहनगीतजना जयन्ति ॥ ३८
उन्निद्रकन्दलदलान्तरलीयमान-
कूजन्मदान्धमधुपोन्मदपामराणाम् ।
मन्ये न सा भवति तुष्टिरिहामराणां
या गोकुलेषु गिरिगह्वरेषु नराणाम् ॥ ३९
शृङ्गावदोलिततलताकुलकाननान्त-
र्गायत्पुलिन्ददयिताननदत्तनेत्रम् ।
लीलाकुला गतघृणं गिरिगह्वरेषु
किं भवन्ति शत्रुमिव मुग्धमृगं किराताः ॥ ४०
नानाविकासिकुसुमोत्करसारलब्ध-
वल्लीदलावलनशीतलिताध्वगाङ्गाः ।
साम्भःप्रथमसरणेन तरत्तरङ्गा
ग्रामा गिरिन्द्रगहनेषु जयन्ति चन्द्रम् ॥ ४१

कच्छा जलप्रायाः शिखिरप्रदेशा येषु । तथा प्रपातेषु ऊर्ध्व-
देशात्पततो जलजालस्य विलासा एव शिखण्डिना दृश्ये वाद्यानि
येषु । तथा प्रतिध्वनिभिर्वल्गन्त्यो गुहा यत्र तथाविधेषु गह-
नेषु गीतानि येषां तथाविधा जना येषु एवंविधा गिरिग्रामा
जयन्ति स्वर्गमिति शेषः ॥ ३८ ॥ तदेव स्फुटयति—उन्नि-
द्रेति । इह गिरिग्रामगोकुलेषु उन्निद्राणां सद्योविकसितानां
कन्दलानां मुकुलानां दलान्तरेषु गर्भेषु लीयमानैः कूजद्भिर्-
दान्धैर्मधुपैर्निरीक्षितैरुन्मदानामुद्गीपितकामानां पामराणामपि
गिरिगह्वरेषु नराणां घोषमिथुनानां या तुष्टिर्भवति सा तुष्टि-
र्नन्दने क्रीडतामप्यमराणां न भवतीति मन्ये ॥ ३९ ॥ शृ-
ङ्गावदोलिताभिर्दौलात्वेन कल्पिताभिर्लताभिराकुलकाननस्यन्त-
र्गिरिगह्वरेषु गायन्तीनां पुलिन्ददयितानामाननेषु दत्तनेत्रं
यथा स्यात्तथा लीलसु शृङ्गारचेष्टाभिराकुलाः किराता
मुग्धमृगं शत्रुमिव गतघृणं निर्दयं क किं कथं भवति ।
अहो येषामन्यत्र दत्तहृदीनामन्यमनसां चलक्ष्यवेधनपादव-
मीदृशसमयेऽप्यतिनिर्दयत्वं चेत्यर्थः । अथवा शृङ्गावदो-
लिततलतासदृशपुलिन्दलनानामाननेषु दत्तनेत्रत्वान्मुग्धमृगाणां
पुलिन्दलनानेत्रसौन्दर्यपहारित्वत्तापङ्गवाशित्वप्रतिबंधात्-
च्छत्रुमिव मन्यमाना दयायोग्यसमयेऽपि निर्दयं भवन्ति किमि-
त्युत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥ किंच नानाविधेभ्यः कुसुमोत्करेभ्यो लब्धः
शैलसौगन्ध्यपरागादिसारो येन तथाविधस्य वायोवैल्लीदलना
चावलनैः शीतलितानि अध्वगानामङ्गानि यैः । अम्मोभिः
सह तद्गुणेन शैत्येन प्रथन्त इति साम्भःप्रधास्तथावि-
धानां वायूनां प्रसरेण तरत्तरङ्गा जलशया येषु तथा-
विधा ग्रामाः सौरभ्यगुणाधिक्येन चन्द्रं जयन्ति । तथा च

कृजन्निर्जरवारयः परिसरत्प्रोचिद्रतालद्रुमा
हेलोल्लासितपुष्पपल्लववलद्वल्लीवितानाम्बराः ।
पर्यन्तोन्नतसाललम्बिजलदा रम्या गिरिग्रामका-
श्चन्द्राश्वत्थमितावर्नि शशिपुरस्योद्यानभागा इव ॥

आसन्नपीतघनघर्घरमेघनाद-

नृत्यच्छिखण्डिनवताण्डवविप्रकीर्णैः ।

ग्रामाः कलापिकुलकोमलवर्हखण्डैः

प्रोद्वीनचन्द्रकमणिप्रकरा जयन्ति ॥ ४३

पार्श्वस्थचारुशशिमण्डलमण्डनेषु

विश्रान्तवारिगुरुवारिदवारणेषु ।

ग्रामेषु या गिरितटेषु विलासलक्ष्मी

राज्येषु सा विभववत्सु कुतो विरिचैः ॥ ४४

स्वामोदनन्दनवनान्तरसुन्दरेषु

संतानकस्तवकहासिनिकुञ्जकेषु ।

उन्निद्रमन्द्रमधुपाकुलपारिभद्र-

सान्द्रद्रुमेष्वभिरमे गिरिगह्वरेषु ॥ ४५

हरिणीरावरम्येषु हारिहारीतहारिषु ।

गिरिग्रामेषु पुष्पेषुपुरेष्विव रतिर्नृणाम् ॥ ४६

चन्द्रमण्डलस्थेभ्यो देवेभ्योऽपि ग्रामवासिनां सुखाधिक्यमिति भावः ॥ ४१ ॥ पादत्रयं व्याख्यातम् । ईदृशा गिरिग्रामकाः शशिपुरस्य स्वर्गस्थचन्द्रनगरस्य यान्युद्यानानि तद्भागा इव 'सोश्वत्थः सोमसवनः' इति श्रुतेश्चान्द्रामृतस्त्राविणा अश्वत्थेन मितां ब्रह्मलोकावनि च जयन्तीत्यनुषज्यते ॥ ४२ ॥ किंचैते गिरिग्रामा आसन्नाः पीता विद्युतो येषां तथाविधाना घन-घर्घराणां मेघानां नादैर्चल्यता शिखण्डिनां भवताण्डवेषु विप्र-कीर्णैः कलापिकुलानां कोमलैर्वर्हखण्डैः प्रोद्वीनाश्चन्द्रकलक्षणा मणिप्रकरा येषु तथाविधाः सन्तो जयन्ति प्रागुक्तमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ किंचैकपार्श्वस्थं यच्चारुशशिमण्डलं तदेव मण्डनं येषाम् । एकपार्श्वं च विश्रान्ता वारिगुरुवो वारिदवारणा येषु तथाविधेषु गिरितटेषु स्थितेषु ग्रामेषु या विलासलक्ष्मीः सा विभववत्सु विरिचैः राज्येष्वपि कुतः । दुर्लभेत्यर्थः ॥ ४४ ॥ स्वामोदनन्दनवनान्तरमिव सुन्दरेषु । संतानकस्य कल्पवृक्षमे-दस्य स्तवकान्दहसन्ति तच्छीला निकुञ्जका येषु । उन्निद्राः पुष्पिता मन्द्रध्वनिमधुपाकुलाः पारिभद्रा निम्बतरुस्थाः सान्द्रा द्रुमाः येषु तथाविधेषु गिरिगह्वरेष्वहं अभिरमे ॥ ४५ ॥ पुष्पे-षुर्मन्मथस्तपुरेष्विव ॥ ४६ ॥ स्फाटिकस्तम्भानां संभारा इव रम्याणि धारापातीनि निर्झरवारीणि येषु ॥ ४७ ॥ रणन्ति ध्वनन्ति निर्झरपुष्कराणि निर्झरजलानि यस्मिंस्तथाविधे अत्र ग्रामगह्वरे ॥ ४८ ॥ हारीतैः पक्षिमेदैर्हारिणो मनोहरा हरिता उपवनद्रुमा यासु । तथा वापीप्रमाणेन हंससारसादिरणित-लक्षणा अनलाः काकल्यो यासु । गिरिगह्वरैर्गोपितासु व्यव-

स्फाटिकस्तम्भसंभाररम्यनिर्झरवारिणि ।

नृत्यन्त्येताः शिखण्डिन्यः पश्यास्मिन्ग्रामगह्वरे ॥ ४७

शिखण्डिन्यो विलासिन्यः पुष्पभारनता लताः ।

अत्र नृत्यन्ति कुञ्जेषु रणनिर्झरपुष्करे ॥ ४८

हारीतहारिहरितोपवनद्रुमासु

वापीप्रमाणरणितामलकाकलीषु ।

ग्रामस्थलीषु गिरिगह्वरगोपितासु

मन्ये मुदैष रमते स्वरसेन कामः ॥ ४९

श्रीमद्वृत्तमहाशयातपहरप्रोचैर्गभीराकृते

भूभृन्मूर्धसु भूषणं भवसि भो भूमे रसैकास्पदम् ।

एतत्तु क्षपयेन्मनांसि यदिदं मेघ त्वया वर्षता

हर्षादुषरपल्वलस्थलतरुष्वम्भोविभागक्रमः ॥ ५०

नित्यं स्नासि सुतीर्थवारिविसरैरुच्चैः पदस्थोऽम्बुदः

शुद्धः सन्विपिनावनौ निवससि प्रारब्धमौनव्रतः ।

रिक्तस्याप्यतिकान्तिरेव भवतः कायाश्रया लक्ष्यते

प्रोत्थायाशनिमातनोषि किमिदं तुच्छं तवाचेष्टितम्

वस्त्वस्थानगतं सर्वं शुभमप्यशुभं भवेत् ।

दुर्मेघं स्थानमासाद्य वारि त्वसिततां गतम् ॥ ५२

हितासु ग्रामस्थलीषु एष सर्वजगत्प्रसिद्धः कामो मुदा स्वरसेन रमते इति मन्ये ॥ ४९ ॥ आसर्गसमाप्तेरित आरभ्य प्राये-णान्यापदेशा बोध्याः । हे श्रीमतां वृत्तमिव वृत्तं महौदार्य यस्य तथाविध जगत्परिपालनेषुलान्महाशय, आतपहरा प्रोचैरुन्नता गभीरा च आकृतिः शरीरं यस्य तथाविध भो मेघ, त्वं भूभृतां पर्वतानां मूर्धसु भूषणं भवसि । तथा भूमेः क्षेत्रारामादिसंपत्तिहेतोः रसस्य जलसैकास्पदमसि । एवं सद्गु-णसहस्रवतापि हर्षाद्वर्षता त्वया यदपात्रभूतेषु ऊपरस्थलेषु पल्वलस्थलेषु तत्रत्यकण्टकादितरुषु च सुक्षेत्रसाम्येन अम्भो-विभागक्रम आस्थित एतत्ते सदसत्पात्रविभागापरिज्ञानं तु सतां मनः क्षपयेत्सीडयेत् । यदि भवादृशा महान्तोऽपि सुपात्र-शुणोत्कर्षं न मानयन्ति तर्ह्यन्ये के मानयिष्यन्तीति भावः ॥ ५० ॥ दानप्रारम्भादिकाले रुक्मकटु कर्णकठोरजल्पनं तु दातृणां महान्दुःसहो दोष इत्याशयेनाह—नित्यमिति । हे मेघ, त्वं सुतीर्थानां समुद्रगङ्गादीनां वारिविसरैर्नित्यं स्नासि । तथा उच्चैः पदस्थः सर्वप्राणिनामम्बु ददासीत्यम्बुदः । किंच शुद्धः सन् विपिनावनौ प्रारब्धं मौनं मुनिसंबन्धिं व्रतं येन तथाविधो निवससि । किंच शरदि रिक्तस्यापि भवतः अतिश-यिता धवलकान्तिरेव कायाश्रया दृश्यते । ईदृशोऽपि त्वं दानार्थमुत्थाय अशानि विद्युदग्निपुरःसरं कटुध्वनिमातनोषि । इदं तुच्छं क्षुद्रोचितं तव आचेष्टितं किम् । सर्वथा अनुचित-मेवेत्यर्थः ॥ ५१ ॥ तदस्य आह—वस्त्विति । शुभमपि वस्तु अयोग्यस्थानगतं सदशुभं भवेत् । वारि तु इति च्छेदः ॥ ५२ ॥

अहो नु मेघेन जलं विमुक्त-
महो नु तोयेन विपूरिता भूः ।

अहो नु भूमौ परिपोषितश्च
जलैर्धनाढ्यैः प्रणयीव दीनः ॥ ५३

नैर्घृण्यमस्मैर्यमथाशुचित्वं
रथ्याचरत्वं परिकुत्सितत्वम् ।

श्वभ्यो गृहीतं किमु नाम मूर्खै-
र्मूर्खेभ्य एवाथ शुना न जाने ॥ ५४

गुणैः कतिपयैरेव बहुदोषोऽपि कस्यचित् ।

उपादेयो भवत्येव शौर्यसंतोषमक्तिभिः ॥ ५५

उन्मत्तमत्तपतनोन्मुखधावमान-

मानाधिकान्विषयवीथिषु देहमूर्तिः ।

यन्मन्यते तृणलवाग्र विलोकयेच्छा-

सत्त्वं जडत्वमुत वास्य विचार्यतां तत् ॥ ५६

कोलाहलः समानोऽपि तिर्यक्त्वे क्षुब्धमानसैः ।

अन्यथा सद्यते सिंहैर्मौलितैरन्यथा श्वभिः ॥ ५७

नित्याशुचे प्रियजने भषणैकनिष्ठ

रथ्यान्तरभ्रमगनीतसमस्तकाल ।

धीनो दत्तेः प्रणयी सुहृदिव भूमौ म्लानसस्यादिः परितोषितश्च ॥ ५३ ॥ दयौदार्यादिगुणवर्णनप्रसङ्गात्तद्विपरीतनैर्घृण्यादिशालिनो मूर्खान् कश्चिच्छुगुणविनिमयसदेहप्रदर्शनेन निन्दति—नैर्घृ-
ण्यमिति ॥ ५४ ॥ यदि मूर्खो निन्द्य एव तर्हि कथं महीपास्तं संगृह्णन्ति तत्राह—गुणैरिति । श्वेव मूर्खोऽपि शौर्यादिगुणैः कस्यचित्कृपादेरुपादेयो भवति ॥ ५५ ॥ विषयवीथिषु भोग-
परम्परासु दत्तमूर्तिः प्रसजितशरीरो विषयलम्पटो मूर्खो धत्तू-
रादिमक्षणेनोन्मत्तान्मदिरादिना मत्तान्प्रमादकोधावेशादिना कृपादिपतनोन्मुखात्पिशाचाद्यावेशेन धावमानांस्तत्त्वज्ञानप्रक-
र्षेण देहादिपरिच्छेदविस्मरणादहं ब्रह्मेति सर्वोत्कृष्टप्रमाणप्रतिष्ठा-
नाच्च मानाधिकान्वष्टादिभूमिकाल्हांश्च स्वाभिज्ञतारोपेण अतृणं
मन्यते । हे तृणलवाग्र, तत् त्वमेव विलोकय । अस्य विषयलम्प-
टस्य इच्छासत्त्वमुत वा जडत्वमिति तद्वहस्यं विचार्यताम् । यवी-
च्छासत्त्वं तर्हि स एव श्वमिस्तुल्यः । यदि जडत्वं तर्हि तृणल-
वाग्रादपि विषयलम्पट्यादिदोषाधिक्यास्ततोऽपि स्वयं नीच
इति तृणलम्पटमपि तस्य दुर्लभतरमिति विचारे फलिष्यतीति
उन्मत्तादिभ्यो नीचत्वं तस्य किं वाच्यमित्यर्थः ॥ ५६ ॥ घर्नग-
र्जितादिकोलाहलः सिंहैरक्षुब्धमानसैरनादरात्नीलिताक्षैः सद्यते
श्वमिस्तु क्षुब्धमानसैर्मयान्नीलिताक्षैः सद्यते इत्युभयत्रान्यथा-
त्वमिति भावः ॥ ५७ ॥ हे कौलेयक श्वन्, आशयश्चित्तवृत्तिस्तेन
समानतया स्वगुणशिक्षायोग्यं त्वां मन्यमानेन केनचिन्मूर्खेण
निर्लाशुचित्वादीन्स्वगुणास्त्वं शिक्षितोऽसि । मन्ये इति पूर्वोक्ते
संदेहे निर्णयः । तथा हि सति शिष्याद्गुरुगुणाधिक्यदर्शनमुप-

कौलेयकाशयसमानतयैव मन्ये

मूर्खेण केनचिदहो बत शिक्षितोसि ॥ ५८

नित्यं सर्वं जगदसदृशं कुर्वतोच्चैर्विधात्रा

दौहित्रेऽस्मिच्छुनि समदृशे निर्मितं सर्वमेव ।

वासोऽमेध्यावकरकुहरे भोजनं गूथपूर्यं

सर्वालोके कुरतिकुरतिः सर्वेनिन्द्यं शरीरम् ॥ ५९

त्वत्तः कोऽधम इत्युदीरितवते श्वोवाच हासान्वितं

मत्तो मौर्ख्यममेध्यामान्धमशुभं यः सेवते सोधिकः

शौर्यं भक्तिरकृत्रिमा धृतिरिति धीमान्गुणो योस्ति मे

मूर्खादेष गुणः प्रयत्ननिचयैरन्विष्य नो लभ्यते ॥ ६०

भुङ्क्तेऽमेध्याममेध्या एव रमते नित्यं महावस्करे

तूष्णीमत्ति सचेतनं कृतरतिर्निश्चेतनं कृन्तति ।

सर्वैरेव रते शुनीविचलिते लोष्टैर्जनैस्ताड्यते

धात्रा खेलसमन्वितस्थितिरलं लोके कृतो नेश्वरः ॥

लिङ्गस्योर्ध्वं रटत्काक आत्मानं दर्शयत्ययम् ।

सर्वाधःपातकोत्तुङ्गगतं पश्यत मामिति ॥ ६२

पश्यत इति भावः ॥ ५८ ॥ असदृशं कर्म वैषम्याद्विषमं जगत्कु-
र्वता विधात्रा दौहित्रे दुहितुः सरमाख्याया देवशुन्या अपल-
भूतेऽस्मिच्छुनि समानामनुवृत्त्याणां सर्वधर्माणां दृष्टे दर्शनाय
सर्वमेव बध्यमाणं समं निर्मितम् । किं तत्सर्वं तदाह—वास
इति । अमेध्या अवकरस्य खनिर्मिते कुहरे गतकुलये । गूथं
पुरीषं पूर्य च भोजनम् । सर्वैर्जनैरालोक्यत इति सर्वालोको रथ्या-
मार्गस्तस्मिन्कुत्सितः । विरप्रान्विता या रतिर्नैशुनं तद्विषये कुर-
तिर्दुरिच्छा तथा सर्वैर्निन्द्यं शरीरं चेति सर्वमित्यर्थः ॥ ५९ ॥
उदीरितवते पृष्ठवते पुरुषाय श्वो हासान्वितं यथा स्यात्तथा
उवाच । मौर्ख्यमज्ञानम् । अमेध्यामपवित्रं देहाद्यभिमानम् ।
आन्ध्यं विचारनेत्ररहित्यम् । तर्हि तव मूर्खापेक्षया केगुणैर-
धिक्यं तानाह—शौर्यमिति । धृतिरल्पसंतोषः । एषं गुणकं
दम्बधिरमन्विष्यापि दर्शने मूर्खानो लभ्यते अतः स मत्तोऽधम
इत्यर्थः ॥ ६० ॥ अवस्करे पुरीषे । 'वर्चस्केवस्करः' इति
सुद । सचेतनं सजीवमपि नकुलमूषकादि देवाह्वान्वा तूष्णीं
निरपराधमेवास्ति । निश्चेतनं निर्वलं च छागवत्तादि तूष्णीं
निरपराधमेव कृन्तति दशति । शुनीविचलिते रते प्रसक्तः
सर्वैर्जनैरेव लोष्टैस्ताड्यते । एवमलमत्यन्तं नेश्वरः असमर्थः
श्वा धात्रा खेलनं खेलो दुर्विलासकौतुकं तेन समन्विता यावशु-
स्थितिर्यस्य तथाविधः कृत इत्यर्थः । 'श्वेव समन्वितस्थितिः'
इति पाठे नेश्वरः सेवकः ॥ ६१ ॥ कश्चिज्जदीतीरे निर्माल्या-
सतभक्षणाय शिवलिङ्गस्योर्ध्वं रटन्तं काकं दृष्ट्वा कश्चित्तद्वदन-
तात्पर्यमुत्प्रेक्षते—लिङ्गस्येति । आत्मानं सं दर्शयति निदर्श-
यति । किमिति निदर्शयति तदाह—सर्वेषामधः पातकानामधो-
गतिहेतूनां मध्ये यदुत्तुङ्गं शिवसमक्षणागं शिवलिङ्गाप्रयणं

काकः कटुकलकारव
 कवलितगुणकर्मभ्रमन्सरसि ।
 अन्तरयसि मधुपरवं
 यदतो मे शिरसि फलभूतः ॥ ६३
 कवलयति नरकनिकरं
 परिहरति मृणालिकां ध्वाङ्गः ।
 यदतोऽस्तु मा स्मयस्ते
 स्वभ्यस्तं सर्वदा खदते ॥ ६४
 विविधवनकुसुमकेसर-
 धवलवपुर्हंस इव दृष्टः ।
 काकः कृमिकुलकवलं
 क्लिप्तमथो कवलयन् क्षातः ॥ ६५
 तुल्यवर्णच्छदैः कृष्णः संगतैः किल कोकिलैः ।
 केन विज्ञायते काकः स्वयं यदि न भाषते ॥ ६६
 अरण्यान्या मृदः स्थाणौ स्थितः काको निरीक्षते ।
 चैत्यादशदिशश्चोरो निशि सुप्ते जने यथा ॥ ६७
 सरभससारसविदल-
 त्पुष्करमकरन्दसुन्दरे सरसि ।

तद्वत् मां प्रत्यक्षं काकभूतं पश्यतेति ॥ ६२ ॥ अपरः सरसि रटन्तं
 भ्रमन्तं काकमपदिश्याह—काकः केति । हे कुत्सितकाक
 काकः, कटुभिः कल्कारवैदम्भध्वनिभिः कवलितः हंससारसां-
 दिगुणा येन तथाविधः, त्वं सरसि कर्मभ्रमन्सन् मधुपानां रव-
 मन्तरयसि स्वकटुकस्वैर्यदन्तर्धत्से अतो हेतोर्मे शिरसि वेदना-
 हेतुत्वात्फलभूतः शल्यभूतोऽसि ॥ ६३ ॥ सखायं प्रति कथि-
 दाह—कवलयतीति । ध्वाङ्गः काको नरकनिकरं नानाविध-
 ममेध्यं कवलयति मृणालिकां प्राप्तामपि परिहरतीति यत् अतस्ते
 स्मयो विस्मयो मास्तु । यतः कुत्सितमपि स्वार्थं व्यसनितया
 स्वभ्यस्तं चेत्तदेव सर्वदा खदते । यथा लज्जनोपस्कृतं व्यजनं
 तद्भुजामित्यर्थः ॥ ६४ ॥ विविधानां वनकुसुमानां केसरैः
 केसरस्थैः परागैर्धवलवपुः काको भ्रान्त्या हंस इति दृष्टः ।
 इत्यर्थे इवशब्दः । अथो अनन्तरं क्लिप्तं कृमिकुलकवलं कवल-
 यन् काको क्षातः ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ अरण्यान्या महारण्यस्य
 मृदः स्थाणौ मृन्मयजीर्णमिति स्वस्मिन् स्थितोऽयं काको यथा
 निशि सुप्ते जने चोरैश्चैव वृक्षमारुह्य दशदिशो निरीक्षते तद्व-
 त्निरीक्षत इत्यर्थः ॥ ६७ ॥ सरभसैः सारसैर्विदलतां पुष्क-
 राणां पद्मानां मकरन्दैश्च सुन्दरे इह सरसि स्फुरता वायुनो-
 द्यमानधूलिना अवकरेण धूसरः स्कन्धो यस्य तथाविधः
 काकः कर्म विहरति । अनुचितमिदमित्यर्थः ॥ ६८ ॥ स्फुटानां
 विकसितानां पुण्डरीकाणां कोशे इष्टवपुषि अभिमतस्वरूपे
 सरसि स्थितं राजहंसैः सह एषः कषण्णीति कषाः शिलास्ता-
 भिराहननयोग्यं मुखं यस्य तथाविधः काकः पिशाचः

कथमिह विहरति काकः
 स्फुरदवकरनिकरधूसरस्कन्धः ॥ ६८
 हा कष्टमिष्टवपुषि स्फुटपुण्डरीक-
 कोशे कषाहननयोग्यमुखः पिशाचः ।
 पश्यैष काक उपविश्य कुपल्वलेऽस्मिन्
 लीलाः करोति विविधाः सह राजहंसैः ॥ ६९
 हे काक कर्कशरवः कर्कचैकचिह्नं
 तादृक्स्वशङ्कनमपि क्व नु तेऽद्य यातम् ।
 कस्मादनर्थकमिदं पिकपाकमेक-
 पुत्राशया तदपि ते ह्युपहाससिद्धौ ॥ ७०
 आलोक्य पङ्कजवने सविलासवन्तं
 काकं कलङ्कसदृशं भृशमारटन्तम् ।
 हा कष्टशब्दशतनष्टविचेष्टितो यो
 नो रोदिति क्वकचकेन विदार्यतां सः ॥ ७१
 विशरारुशरारुमये
 वक्त्रमधुघने च पल्वले चपलाः ।
 स्युर्यदि कौशिककाका-
 स्तत्स्यादेषा समन्विता गोष्ठी ॥ ७२

अस्मिन् कुपल्वले उपविश्य राजहंसविडम्बनाय विविधा
 लीलाः करोति हा कष्टं हे राजन्, त्वं पश्य ॥ ६९ ॥ वञ्चनाप-
 हारादिना स्वलभ्यधनादिभागं न्याय्येनोपायेन साधुर्मा प्राप-
 दिति शङ्कया तजिरासाय राजसभासु कटु रटन्तं खलं प्रत्यन्या-
 पदेशेन कथिदाह—हे काकेति । कर्कशरवलक्षणो यः श्रोतृ-
 कर्णविदारणः क्वकचः स एवैकं चिह्नं यस्य तथाविधः हे काक,
 स्वभागमकाको मा भुङ्गामिति शङ्कया सदा काकानेवाह्वयंस्त्वं
 रटसि तत्ते तादृक् स्वशङ्कनमपि क्व नु यातम् । त्वमेकः पुत्रो
 मे जीवत्वित्याशया पिकस्य कोकिलस्य पाकमर्मकं कस्मादनर्थकं
 व्यर्थं पुष्पासि । हि यस्माद्धेतोः कटुभाषणैकशीलस्य तद्भ्रान्त्या
 क्रियमाणमपि सुखरपिकपोषणं न मनोरथसिद्धौ किंतु उपहास-
 सिद्धौ भविष्यतीत्यर्थः ॥ ७० ॥ काकमालोक्य कथिदाहेति
 शेषः । किमाह तदाह—हा इति । हे काक, यः पुरुषस्त्व
 खलानां वा कष्टैः क्रूरैः शब्दशतैः श्रुतैः खेदाद्यष्टविचेष्टितः सन्
 नो रोदिति स पुरुषस्त्वया कटुरवक्त्रकचकेन विदार्यताम् । अहं
 तु न तथेति किमर्थं रटसीत्यर्थः ॥ ७१ ॥ खलसभायाम-
 न्येऽपि खला एव योग्या नैकोऽपि साधुरित्यन्यापदेशेनाह—
 विशरार्विति । विशरारुभिः संचरद्भिः शरारुभिर्हिंस्रैः प्रचुरे
 वक्त्रैर्मधुभिर्जलकाकैश्च घने पल्वले यदि चपलाः कौशिका
 उल्लाः काकाश्च स्युस्तर्हि एषा पल्वलरूपा गोष्ठी सभा
 तद्योग्यैः समन्विता स्यात् । कौशिककाका इत्यत्र सतोपि विरो-
 धस्याविवक्षितत्वात् 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इति द्वन्द्वैक-
 वद्भावो न कृतः । शकुनिद्वन्द्वैकवद्भावस्तु वैकल्पिकः ॥ ७२ ॥

कोकिलः काकसंघातैः समसंवरणाकृतिः ।
गदितैर्व्यक्ततामेति सभायामिव पण्डितः ॥ ७३

मृदुकुसुमाङ्कुरदलनं

सोदुमलं कोकिलस्य कुसुमलता ।

न तु कङ्कगृध्रमङ्कुर-

वककुङ्कुटवायसादीनाम् ॥ ७४

श्रोत्रोत्सवं तव कलं कलकण्ठ कोऽव

नादं शृणोति रतिविग्रहसंधिदूतम् ।

काकैरुलूककलहैरिह गुल्मकेषु

क्रैकारधर्धररवैः श्रुतिरागतास्तम् ॥ ७५

वाचाकोमलया सुकोकिलशिशुः कल्याणकल्पां कथां
सर्वावर्जनमार्जवेन कुरुते यावत्पुरो रागिणाम् ।

तावन्मत्तनयोऽयमित्यविरतं द्रांकारभीमारवै-

ध्वाङ्गेणोपवने निपत्य नभसः सर्वे कृता नीरसाः ७६

किं किं कोकिल कूजति द्रुतरवं हर्षात्समुल्लासितं

ग्रीवाकोटरतः प्रवेश्य पुनर्मा भूच्चिरं ते भ्रमः ।

उद्दामैः कुसुमैर्निरन्तरतरं नेदं मधोर्जृम्भितं

हेमन्तेन कृतास्तुषारनिकरैः शुष्का अमी पादपाः

इत्यार्षे श्रीवा० बा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० निपथि० श्रुत्वाकोकिलन्योक्तिवर्णनं नाम षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥११६॥

वर्णतः समा. संवरणा. शरीराच्छादकाः पक्षा आकृतिः संस्थानं
च यस्य । गदितैर्व्यक्ततामिव ॥ ७३ ॥ साधूनामपराधोऽपि
सोढुं शक्यः खलानां तु सवन्ध एव दुःसह इत्याशयेनाह—
मृद्विति । वायसादीनां सस्पर्शमपीति शेषः ॥ ७४ ॥ खल-
सभाया सद्विद्योपन्यासोत्सुकं जनं प्रति कथिदाह—श्रोत्रेति ।
हे कलकण्ठ कोकिल, अत्र दंपत्यो रतिविग्रहे मानादिनिमित्ते
प्रणयकलहे संधौ सधाने दूतभूतं कलं मधुरमत एव श्रोत्रोत्स-
वभूतं तव नादः कः शृणोति । यतः इह पिशुमन्दगुल्मकेषु
उलूकैः सह सदैव कलहो येषां तथाविधैः काकैः क्रैकारधर्धररवैः
सर्वेषां श्रुतिः श्रोत्रेन्द्रियमस्तमागतां बधिरतां गतेति यावत्
॥ ७५ ॥ उपवने रागिणां श्रवणानुरागवत्ता पुरः सु कोकिल-
शिशुः कोमलया वाचा कल्याणं महोत्सवस्तत्कल्पा कथा कृत्वा
यावदार्जवेन सर्वेषां श्रोतृणामावर्जनं मनोरञ्जनं कुरुते तावद्वा-
ङ्गेणोपनिपत्य अयं कोकिलशिशुर्मत्तनयो मम पुत्रो मया पुष्टो
मयोष्णीवित इत्यादिभिर्द्वारो न्यक्कारस्तद्रूपैर्मिरारवैः सर्वे
श्रोतारो नीरसा निरुत्साहाः कृताः ॥ ७६ ॥ अयोध्येषु श्रोतृष्व-
समये योग्यतादिभ्रमेण स्वगुणप्रदर्शनोत्सुकं केचित्प्रत्यपर आह—
किं किमिति । हे कोकिल, त्वं श्रोतृणां, योग्यतादिकमविचा-
र्यैव स्वगुणप्रख्यापनीत्युक्त्यप्रयुक्ताद्वर्णनं द्रुतरवं किं किं कूजति ।
अवाधे द्विवचनम् । ग्रीवाकोटरतो हर्षात्प्रवृत्तं समुल्लासितं
कूजनसमुल्लासं पुनरन्तः प्रवेश्य । ते विरमवं गुणोपन्या-
सकाल एते च श्रवणयोग्या इति भ्रमो मा भूत् । इदं उद्दामैः

कूजत्कोकिल कोमलं कलरवैर्नित्यं प्रशस्ताकृते
केनेदं वत शिक्षितोसि वचनं दुःखप्रदं दुर्मगम् ।
चैत्रे चित्रनवाङ्कुरे विरहिणी वक्ति त्वया यात्मनः
कस्यायं मधुरित्यतस्तव तवेत्युक्तं त्वरोच्चेत्सरोः ॥ ७८
मौनस्पन्दविहारवर्णवपुषां साम्येऽपि काकव्रजेऽ-
काकः कोकिल एव कान्तिरुचिरो दूरात्परिहायते
मध्ये मूर्खजनस्य पण्डित इव स्वाकारभ्रमव्यक्रियः
सर्वो हि प्रथिमानमेति सदृशस्वान्तश्चमत्कारतः ॥
भ्रातः कोकिल कूजितैरलमलं नायात्यन्यो गुण-
स्तृष्णीमाख विशीर्णपर्णपटलच्छत्रे कचित्कोटरे ।
उद्दामदुर्मगन्दरे कदुरदत्ताकावलीसंकुलः
कालोयं शिशिरस्य संप्रति सखे नायं वसन्तोत्सवः ।
चित्रं मातरमेष कोकिलशिशुः संत्यज्य काकीं गतः
सैवैनं तुदतीति यावदहमप्याचिन्तयामि क्षणम् ।
तावत्सोऽपि तथाशु मातृसदृशं शिष्यो रसाद्वर्धितुं
यामायाति दिशं स्वभावसुभगः सैवास्य माहा-
त्म्यदा ॥ ८१

कुसुमैर्निरन्तरतरं मधोर्वसन्तस्य जृम्भितं न किंतु हेमन्तेन
अमी पादपास्तुषारनिकरैः शुष्काः कृताः । तथा च नेतेषु तद्विरा
साफल्यमित्यर्थः ॥ ७७ ॥ चित्रा नवा अङ्कुरा यस्मिन्सखामिव
चैत्रे माति या विरहिणी सा वक्ति । किं वक्ति । नित्यं प्रवृत्ता-
कृते हे कूजत्कोकिल, अयं मधुचैत्रो मासः कस्येत्यतः अस्मा-
न्मत्प्रभ्रातृव्या आत्मनः स्वस्य मधुस्तरोः सकाशात्त्वरोच्चेत्सव
तवेति कलरवैः कोमलं यदुक्तमिदं दुःखप्रदं दुर्मगमनृतं वचनं
केन शिक्षितोऽसि । वतेति खेदे । न हि विरहदुःखिताया मम
मधुः किंतु प्रियया सह कलं गायतस्त्वैव, एवं च मम भमेति
वक्तव्ये तव तवेत्युक्तोक्तिर्मत्पीडनायैव तवेत्यर्थः ॥ ७८ ॥
काकव्रजे काकसमूहे मौनस्पन्दस्य पक्षादिचलनस्य विहारस्य
वर्णस्य वपुषो गात्रस्य च साम्येऽपि कान्तिरुचिर एव कोकिलो
मूर्खजनस्य मध्ये पण्डित इव दूरादेव अकाक परिहायते
परिचीयते । तथा हि । सर्वोऽपि स्वाकारसूचितमव्यक्रियः
पुरुषः सदृशाद्युक्तास्त्वान्तश्चमत्कारतो निगूढोऽपि प्रथिमानं
प्रख्यातिं एति ॥ ७९ ॥ हे सखे भ्रातः कोकिल, अयं कदुरदत्ता-
कावलीसंकुलः शिशिरस्य कालो वसन्तोत्सवो न । संप्रति
कूजितैरन्यो गुणो नायाति अतः कूजितैरलमलम् । क्वचि-
दुद्दामदुर्मगन्दरे विशीर्णैः पर्णपटलैश्छत्रे कोटरे तृष्णीमाख
॥ ८० ॥ तत्राश्चर्याणि दर्शयति—चित्रमेति । एष कोकि-
लशिशुः काकीं मातरं संत्यज्य यद्गतस्तदेकं चित्रम् ।
तदुत्तरं सैवा काकी माता एनं कोकिलशिशुं नमुचरणेन
तुदति इत्यपरं चित्रमित्यहं क्षणं यावदाचिन्तयामि तावत्स-

सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ११७

सहचरा ऊचुः ।

पश्यादिसानाविव विम्बितं खं

पुरःसरो मारपुरःसरो यः ।

कह्लारपद्मोत्पलजालनाल-

ललद्विचित्रारवपक्षिवीतम् ॥ १

विकासितोद्दण्डसहस्रपत्र-

कोशस्थलस्थोद्दुरराजहंसम् ।

पीठद्विरेफद्विजलोकजुष्टं

भुवीव गेहं कमलासनस्य ॥ २

आकीर्णसीकरकरालदिगन्तराले

फुल्लोत्पलालपटलोदरेणुगौरम् ।

आमोदमत्तमधुपद्विजगीतिगीतं

यातं वितानकमिवाम्बरगं वहन्तम् ॥ ३

क्वचित्तरत्नारतरङ्गभङ्गं

क्वचिद्विषदूरिविराविभृङ्गम् ।

क्वचिद्गभीरामलवारिसुप्तं

क्वचित्सरोजोज्ज्वलपुष्पगुप्तम् ॥ ४

कोकिलशिशुरपि रसादुत्साहान्मातृसदृशं वर्धितुं श्लिष्ट उद्यु-
क्तोऽभूदित्यपरं चित्रम् । तथा हि । स्वभावसुभगो भाग्यवान्
जनो या दिशमायाति सैव दिगस्य माहात्म्यदा संपद्यत इत्यर्थः
॥ ८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे श्रृङ्गाककोकिलान्योक्तिवर्णनं नाम षोडशाधिकश-
ततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

वर्णयन्तेऽत्र सरः पद्मकुमुदोत्पलमण्डितम् ।

पद्मभ्रमरहंसाद्यास्तत्पसङ्गेन वर्णिताः ॥ १ ॥

तत्रादौ त्रयोदशभिः सर एव आधान्येन वर्णयितुं प्रस्तौति—
पश्येति । हे राजन्, इह पुरः अद्रिसानौ कह्लारपद्मोत्पलजालानां
नालेषु मृणालार्थं ललद्विः क्रीडद्विचित्रारवैः पक्षिभिर्वीतं
व्याप्तम् । अत एव सनक्षत्रपक्षिकं प्रतिविम्बितं खमिव स्थितं सरः
पश्य । यः अद्रिसानुः सरः शोभातिशयेन मारस्योद्दीपकत्वात्पुरः-
सरः प्रधानमृत्स इवास्तीत्यर्थः ॥ १ ॥ तदेव सरो विशिनष्टि—
विकासितेत्यादिद्वादशभिः । विकासितेषूद्दण्डेषु सहस्रपत्राणां
पद्ममेदानां कोशस्थलेषु स्थिता उद्दुरास्तच्छोभाधुरन्धरा राज-
हंसा यत्र तथेन्द्रनीलपीठस्थानीयैर्द्विरेफेर्द्विजैः सारसकौञ्चादि-
पक्षिभिर्ब्राह्मणैर्लोकैर्जनैश्च जुष्टं सेवितं भुवि कमलासनस्य गेह-
मिव स्थितम् ॥ २ ॥ आकीर्णैः सीकरैः करालानि सहमानि
दिगन्तरालानि येन । फुल्लानामुत्पलज्जादीनां पटलस्य समूह-
स्योदरस्थे रेणुभिर्गौरम् । आमोदमत्तानां मधुपानां द्विजानां च
गीतिभिर्गीतम् । ऊर्ध्वं यातं वितानकमिवाम्बरगं मेघनीहारादि-
प्रतिविम्बच्छलेन वहन्तं वहत् । पुंस्त्वं छान्दसम् ॥ ३ ॥ क्वचित्
तरन्तत्तारास्तरङ्गभङ्गा यस्मिन् । क्वचिन्मदोत्कर्षात्परस्परं
द्विपन्तः अत एव भूरिविराविणो मृज्जा यत्र । गभीरेणामल-

कणाणुमुक्ताजलतापटालं

तीरेषु सिंहे सुलतासुटालम् ।

तरङ्गनिर्धूतशिलोप्रकच्छं

महीतलाकाशमनन्तकच्छम् ॥ ५

तडित्प्रकाशोदरमस्यमेघ-

नुबालजतोत्थरजःप्रभाभिः ।

पृषद्भ्रमन्तमयैकदेशं

संध्याम्बराभोगमिवाप्रकाशम् ॥ ६

वातावकीर्णशरदम्बुदखण्डखण्डं

व्योमेव केवलसमीरणमावृताङ्गम् ।

हंसैर्लसद्विसलताकवलालसांसैः

कालेन संचयकृतैरिव चन्द्रबिम्बैः ॥ ७

आमोदमन्दमकरन्दकरालवात-

व्याधूतपङ्कपुटपाटनपाटवेन ।

उद्यन्महापटपटा वयतीव लेखा

धुभ्यत्खगाश्रितलतोद्भिन्नतपुष्पवर्षम् ॥ ८

वारिणा निश्चलत्वात्सुप्तमिव । सरोजैरुज्ज्वलपुष्पैः कुमुदैश्च गुप्तं
शोषितमिव च्छन्नम् ॥ ४ ॥ कणाणुभिः सीकरीभूतैर्मुक्ता-
प्रायैर्जलैस्तापं टालयति अपसारयतीति तापटालम् । तीरेषु
सिंहे प्रतिविम्बसिंहान्तरशङ्कया जलपानाप्रगल्भतां क्वचिद्वृक्षा-
आदारभ्य जलपर्यन्तं प्रलम्बिताभिः सुलताभिः प्रतिविम्बदर्शन-
निरोधेन सुष्ठु टालयतीति तत्तथा । तथा तरङ्गैर्निर्धूतशिलाः
पङ्कोप्राः कच्छा जलप्रायप्रदेशा यस्य । तथा अनन्तैर्मैघैरनन्त-
कच्छं महीतले अवतीर्णमाकाशमिव स्थितम् ॥ ५ ॥ अस्याः
निरसनीया मेघा यस्य तथाविधेन वायुना नुनं कम्पितं यद-
ब्जजातं पद्मसमूहस्तदुत्थरजःप्रभाभिस्ताडित्प्रकाशमिव उदरं
यस्य । अत एव एकतः पृषद्भ्रमयो जलविन्दुप्रचुरः अन्यतश्च
ध्वान्तमयोऽन्धकारप्रचुर एकदेशो यस्य तथाविधं सध्याकालिक-
म्बराभोगमाकाशसंस्थानमिव आसमन्तात्प्रकाशत इत्याप्रकाशं
ईषत्प्रकाशमिति वा ॥ ६ ॥ विसलतामृणालानि तल्लक्षणानि
यानि कवलानि शिशूनां पोषणाय नीडं प्रति नीयमानानि
तद्दारेण अलसा अंसाः स्कन्धा येषां तथाविधैर्हंसैः कालेन
एकत्र संचयरूपेण कृतैश्चन्द्रबिम्बैरिव स्थितैः आवृताङ्गं सत्
वातावकीर्णः शरदम्बुदानां खण्डखण्डा वहवः खण्डा यस्मिन्
स्तथाविधं व्योमेव केवलसमीरणमपि लसत् किं पुनः सर्वेणुणो-
पपन्नसमीरणमित्यर्थः ॥ ७ ॥ अस्य सरसः आमोदभरादिव
मन्दैर्मकरन्दसंपर्कात्करालैर्द्रवैर्वीर्याधूतस्य पङ्कपुटस्य जल-
संमिश्रितपङ्कभागस्य यत्पाटनं पङ्कस्याधोनयनेन जलाद्विभजनं
तद्विषये पाटवेन त्वरया उद्यन्महापटपटा इति शब्दोऽयस्या-
स्तथाविधा लेखा तरङ्गपङ्क्तिः खध्वनिः धुभ्यत्खगैराश्रिताभिस्तीर-
लताभिरुद्भिन्नतं पुष्पवर्षं वृथानि पुष्पाणि सरःपटवृक्षै वयतीव

वेल्लन्महाकमलपल्लवतालवृन्त-
 संवीजितं वलितचामरचारुकेनम् ।
 राजायमानमलिकोकिलगीतगीतं
 सङ्घत्तपङ्कजलताललिताङ्गनौघम् ॥ ९
 भृङ्गाग्रभाजनमनोहरहारिगीतं
 राजीवरेणुरणकीर्णपिशङ्गतोयम् ।
 डिण्डीरपिण्डपरिपाण्डुरपुण्डरीक-
 खण्डोपमण्डिततटोपवनावतंसम् ॥ १०
 विविक्कहृदयाम्भोजं हृदयाह्लादनं परम् ।
 रसवत्स्नादु भातीदं सरः सत्संगमोपमम् ॥ ११
 बिम्बितेन मरुव्योसा भातीदं सौम्य निर्मलम् ।
 शास्त्रार्थपरिणामेन महतामिव मानसम् ॥ १२
 किञ्चिल्लक्ष्यमपश्यामं पृषत्परुषमारुतम् ।
 हिमाभ्रमिव भातीदं सरः सरससारसम् ॥ १३
 यथेदं ब्रह्मणो दृश्यमविकारादि नेतरत् ।
 यथाम्भसि तरङ्गादि राजन्यृथगिव स्थितम् ॥ १४
 आत्मनैवोद्यमानानां चक्रावर्तविधायिनाम् ।
 जडाशयानां विषमा हा कल्लोलपरम्परा ॥ १५

संतनोतीवैलथः । छुभ्यदिसादिवहुमीद्याभ्रयणेन विच्छिन्नं
 खतन्त्रं सरोविशेषणं वा ॥ ८ ॥ तदेव सरो राजसाम्येन वर्ण-
 यति—वेल्लदिति । वेल्लद्विध्वलङ्गिर्महाकमलपल्लवक्षणैस्ता-
 लवृन्तैः संवीजितम् । वलितानि चामराणीव चारुकेना यस्य ।
 अलीनां कोकिलानां च गीतिभिर्गीतम् । सङ्घत्तः चारुवर्तुलः
 सच्चरितश्च पङ्कजलतालक्षणो ललितः अङ्गनौघो यस्य । अत एव
 राजायमानम् ॥ ९ ॥ भृङ्गलक्षणानामग्रभाजनानां श्रेष्ठपा-
 श्राणां मनोहराणां हारि मनोहरं गीतं यस्मिन् । तथा राजी-
 वरेणूनां पद्मपरागाणां रणेन विमर्देन कीर्णं व्याप्तम् । अत
 एव पिशङ्गं पीतवर्णं तोयं यस्मिन् । डिण्डीरपिण्डा इव परि-
 पाण्डुरैः पुण्डरीकखण्डैरुप सन्धीपे मण्डितमलंकृतम् । तटवन-
 स्यावतंसं शिरोभूषणं पुष्पजालं येन ॥ १० ॥ एवंविधमिदं
 सरः सत्संगमोपमं भाति । विशेषणान्युभयत्र योज्यानि
 ॥ ११ ॥ मरुदेशवर्जितेन व्योम्ना शरदाकाशेनेति यावत् ।
 हे सौम्य, शास्त्रार्थो ब्रह्म तदाकारेण चरमसाक्षात्कारवृत्ति-
 रूपेण परिणामेन ॥ १२ ॥ हेमन्ते तर्हि इदं सरः कीदृशं
 तत्राह—किञ्चिदिति । सर्वतो नीहारावृत्तत्वात्किञ्चिल्लक्ष्यम् ।
 नीहारैः स्ववर्णसाम्यापादनापगतस्यामम् ॥ १३ ॥ न विद्यते
 विकारः परिणामः । आदिपदादारम्भसंघातविवर्ता गृह्यन्ते ।
 न इतरत् कूटस्थं किंतु ब्रह्ममात्रं तथास्य सरसोऽम्भसि तरङ्गादि
 अम्भोमात्रमित्यर्थः ॥ १४ ॥ आत्मना स्वेनैवाम्भसा उद्यमा-
 नानाम् । हा इत्याश्चर्यं । छाद्ययेदं ब्रह्मण्यपि योज्यम् ॥ १५ ॥
 कूपवाप्याधुपाभिमेदेनाम्भसि तारतम्यमिव नारीपुरुषादिशरी-
 रोत्कर्षात्तदात्मन्यपि तारतम्यविभावनमित्याह—कूपेति ।

कूपवापीसरोब्धीनां दृश्यते यादृगन्तरम् ।
 नारीपुरुषतोयानां विज्ञेयं तादृगन्तरम् ॥ १६
 जन्तोरिवास्य मनसो जलजातिबन्ध-
 जीर्णस्य जर्जरदशालहरीभ्रमेण ।
 आवर्तवृत्तिचलितान्यतिसंततानि
 को नाम संकलयितुं कमलानि शक्नुः ॥ १७
 चित्रं विजृम्भितमहो जडसंगमस्य
 पद्मोपि यन्निजगुणानगुणानिवेषः ।
 अन्तः प्रगोपयति कण्ठतले निवेश्य
 सर्वस्य दर्शयति दुर्भगकण्ठकौघम् ॥ १८
 सच्छिद्रैरदृष्टैः सूक्ष्मैर्गोपितैर्जाड्यसंयुतैः ।
 अनल्पैरपि निःसारैः पद्मस्येव गुणैरलम् ॥ १९
 महतां कुलपद्मानां गुणसौन्दर्यशालिनाम् ।
 प्रभावं नास्ति संख्यातुं वासुकेरपि शक्नुता ॥ २०
 हरिचक्षोगता लक्ष्मीरपि शोभार्थमेव यत् ।
 विभर्ति कमलं हस्ते कान्याशंसाधिका भवेत् ॥ २१
 सितासिताभ्यां रूपाभ्यां कमलोत्पलखण्डयोः ।
 वैसादृश्यं भवेत्किंतु समा जडजडैतयोः ॥ २२

अन्तरं उत्कर्षापकर्षतारतम्यम् ॥ १६ ॥ जले जातिर्जन्म येषां
 पद्मोत्पलादीनाम् । लज्जोरमेदाब्जजातयो नानायोगिभेदाश्च
 तेषां बन्धेन संबन्धेन जीर्णस्य जन्तोर्मनस इवास्य सरसः
 पद्मादीनां तत्तद्देहानां च जर्जरदशान्ता या लहरीस्तरङ्गा भोगो-
 त्सादृश्यं तद्भ्रमेणातिशयेन संततानि आवर्ततुल्यानि इच्छा-
 द्वेषादिवृत्तीनां वलितानि परिवर्तनानीवासंख्यातानि कमलानि
 संकलयितुं को नाम शक्नुः । न कश्चिदित्यर्थः ॥ १७ ॥ पद्मानि
 वर्णयितुं प्रसूति—चित्रमित्यादिना । इतः परं प्रायेणान्या-
 पदेशाः । जडसंगमस्य जलसंबन्धस्य मूर्खसमागमस्य च विजृ-
 म्भितं चित्रमाश्चर्यभूतं अहो । तत्कृतः । यद्यत एषं सङ्ग-
 निधित्वेन प्रसिद्धतमः पद्मोऽपि निजान् सौरभ्यसौन्दर्यमकर-
 न्दादीन् गुणानगुणान् दोषानिव मुकुलितः सन् कण्ठतले
 निवेश्य अन्तः प्रगोपयति । दुर्भगं कण्ठकौघं च बहिः सर्वस्य
 जनस्य दर्शयति ॥ १८ ॥ ये तु पद्मस्य गुणशब्दवाच्यास्तन्त-
 वस्तत्सादृशाः सदोषा गुणास्तु सर्वत्रोपेक्ष्या एवेति प्रसङ्गादाह—
 सच्छिद्रैरिति । सच्छिद्रत्वादित्योषुष्टत्वात् अलं उपादेयता
 नास्तीत्युपेक्ष्या इत्यर्थः ॥ १९ ॥ कुलपद्मानां यथासौरभेण
 कुलप्रख्यापकानाम् । वासुकेः शेषस्यापि ॥ २० ॥ तस्य
 पद्मस्य सर्वसौन्दर्याभिदेवताया लक्ष्म्या अपि शोभासंपादक-
 त्वापेक्षया अन्याशंसा प्रशंसा सर्वसौन्दर्योत्कर्षोक्तिरधिका
 का भवेत् । 'तत्त्वान्यं कस्य वा भवेत्' इति पाठे तु स्पष्टम् ।
 ॥ २१ ॥ एतयोः कमलोत्पलखण्डयोरजडेन जलेन जडा
 अचेतना चन्द्रसूर्यद्वेषरूपमौर्ख्यलक्षणा च वृत्तिः समा
 किंतु सितासिताभ्यां रूपाभ्यामेव वैसादृश्यं वैलक्षण्यं भवेत्

साम्यं न फुल्लविपिनेन सरःसु याति
 व्योम्ना न तारकयुतेन न चेन्दुवृन्दैः ।
 नृत्यद्वधूविहसिताननशोभयैति
 फुल्लस्य पङ्कजवनस्य नवोदिता श्रीः ॥ २३
 येषां पुष्पलतास्वादैरनन्यमनसां गतम् ।
 भृङ्गाणामायुरायामि त एव सुभगोत्तमाः ॥ २४
 चूतचारुचमत्कारं चञ्चरीकाश्चरन्ति ये ।
 त एव सचमत्कारा इतरे जातिपूरणम् ॥ २५
 मत्ता मधुमदामोदैः पुष्करेषु रणन्ति ये ।
 तुष्टानामितरस्वादैर्भ्रमराणां हसन्ति ते ॥ २६
 येनोषितं विरुतमुल्लसितं प्रसुप्तं
 पद्मोदरेषु शशिकोटरकोमलेषु ।
 भृङ्गः स एव शिशिरे विरसेषु भावं
 कष्टं करिष्यति कथं तरुपुष्पकेषु ॥ २७
 अफुल्लमल्लिकोद्दाममुकुलोपरि पटपदः ।
 दृश्यते कालरुद्रेण शूले प्रोत इवान्धकः ॥ २८
 आस्वादयन्विविधपुष्पमधूनि भृङ्ग
 नित्यं भ्रमन्सकलशैललतागृहेषु ।
 नाद्यापि तुष्यसि किमङ्ग दुराशयोऽसि
 मन्ये न सारमुपगच्छसि वा वनेभ्यः ॥ २९

इति योज्यम् ॥ २२ ॥ सरःसु फुल्लस्य पङ्कजवनस्य नवोदिता
 श्रीः शोभा फुल्लेन मन्दारादिविपिनेन साम्यं न याति । तारकयु-
 तेन व्योम्नापि साम्यं न याति । एवमिन्दुबिम्बैरप्येकत्र मिलितैः
 साम्यं न याति । किंतु नृत्यन्तीनां वधूनां विहसितयुक्तया
 आननशोभया साम्यमेति लभते इत्येतद्विध्यर्थपूर्वोपमाननिरा-
 क्रिया ॥ २३ ॥ प्रसङ्गाद्भृङ्गान्वर्णयति—येषामिति । येषां
 भृङ्गाणां पुष्पलतास्वादैरायामि दीर्घमायुर्गतं ते भृङ्गा एव सुभ-
 गोत्तमाः । हे सुभगेति पृथक्पदं वा ॥ २४ ॥ चूतस्य चारुचम-
 त्कारं सुगन्धि मकरन्दरसं नवाङ्कुरकषायरसं च चरन्ति
 आस्वादयन्ति ये भृङ्गाः कोकिलाश्च ॥ २५ ॥ पद्ममकरन्दास्वा-
 दिनां भृङ्गा वनान्तरासक्तान् भृङ्गान् हसन्तीवेत्याह—मत्ता
 इति । ये भृङ्गाः भ्रमराणां हसन्ति । जन्मेति शेषः । कर्मणः
 शेषत्वविवक्षा वा ॥ २६ ॥ येन भृङ्गेण पद्मोदरेषु उषितं विहृतं
 उल्लसितं प्रसुप्तं च स एष भृङ्गः शिशिरे विरसेषु तरुपुष्पकेषु
 भावं प्रीतिं कथं करिष्यति ॥ २७ ॥ मुकुलपदेनैवाफुल्लत्वे
 लब्धे अफुल्लपदं विकासोन्मुखव्यावृत्त्या शूलसाम्योपपादनार्थम्
 ॥ २८ ॥ अङ्ग हे भृङ्ग, त्वं विविधपुष्पमधूनि आस्वादयन्सन्
 सकलशैललतागृहेषु नित्यं भ्रमन्नाद्यापि किं न तुष्यसि । मधुल-
 म्पटत्वादुराशयोऽसि अद्यापि वनेभ्यः सारं नोपगच्छसि वा ।
 कष्टमिति खेदे । मन्ये इति वितर्कः । न हि सारलामे अपरितोषो
 भ्रमणं वा संभावयितुमपि शक्यमिति भावः ॥ २९ ॥ कमल-
 कुले पद्मवने कवलनं कवलो मकरन्दास्वादनं तत्र कोविद हे

कमलकुलकवलकोविद
 गच्छ सरो मधुप मा रुढम् ।
 वदरदरीषु विदीर्णं
 देहं कुरु कण्टककचैः ॥ ३०
 अतसीकुसुमे कुवलय-
 दलवलये विकसिते च तापिच्छे ।
 परभागमेहि मधुना
 तासु विसदृशीव पण्डितः पुरुषः ॥ ३१
 पश्यैषा नाभिनलिनीकेसरैः पालिता श्रिया ।
 हंसमालामलावल्ली सामगायनकूजिता ॥ ३२
 दोलाकमलनीडस्थां दृष्ट्वा खे प्रतिबिम्बिताम् ।
 हंसो हंसीमनुसरन्मण्डले नेह चेतति ॥ ३३
 मा भूत्कस्यचिदेवैषा राजन्यसनिता भृशम् ।
 पश्यैतां बिम्बितां हंसो हंसीमनुसरन्मृतः ॥ ३४
 हेलया राजहंसेन यत्कृतं कलकूजितम् ।
 न तद्वर्षशतेनापि जानात्याशिक्षितुं वकः ॥ ३५
 समानेष्वकाराकारजातिचेष्टाशनादिषु ।
 हंसस्य राजहंसस्य दूरमत्यन्तमन्तरम् ॥ ३६
 शुक्लपक्षस्थितो व्योम्नि कुमुदाकरभासकः ।
 आह्लादयति चेतांसि हंसश्चन्द्र इवोत्थितः ॥ ३७

मधुप, त्वं सरः पद्माकरं गच्छ । रुढं मकरन्दपुष्टं स्वदेहं
 वदरदरीषु कण्टककचैर्विदीर्णं मा कुरु ॥ ३० ॥ हे मधुप,
 यासु हेमन्तशिशिरादिकालकलासु कमलानि न लभसे तासुपि
 त्वद्वर्णसदृशे अतसीकुसुमे तथा कुवलयदलवलये तथा विक-
 सिते तापिच्छे तमाले च यथायोगं प्राप्तेन मधुना आयुषः पर-
 भागं एहि यापय । यथा पण्डितः पुरुषः स्नानुरूपप्रभुसमाजा-
 यलामे विसदृशि प्रभौ वसन्नपि विद्वत्प्राप्तये वसति न किरात-
 कुले तद्वदित्यर्थः ॥ ३१ ॥ तत्र हंसमाला वर्णयन्दर्शयति—
 पश्येति । हे राजन्, सरोनाभिनलिनीनां केसरैरुपभुक्तैस्तत्स-
 मानवर्णरूपया श्रिया शोभया पालिता हंसमालालक्षणा अमला
 वल्ली सामगायनमिव गम्भीरं कूजितं यस्यास्तथाविधास्ति तां
 पश्येत्यर्थः । गायनमित्यश्लेषात्वाभावश्छान्दसः । अथवा मग-
 वन्नाभिनलिनीकेसरैः श्रिया लक्ष्म्या पालिता यथार्थसामगान-
 मेव कूजितं यस्यास्तथाविधेति दैवाद्दृष्ट्वाहंसमालापरतया
 व्याख्येयम् ॥ ३२ ॥ इह सरोमण्डले खे हंसीमनुसरन् हंसः
 प्रतिबिम्बितां दोलासदृशे कमलनीडे स्थितां हंसीं दृष्ट्वा तत्पत-
 नमज्जनशङ्कया न चेतति । मूर्च्छितोऽभूदित्यर्थः ॥ ३३ ॥ तादृशीं
 स्त्रीव्यसनितां निन्दति—मा भूदिति । अप्यर्थे एवकारः ॥ ३४ ॥
 ॥ ३५ ॥ आकरो जन्मस्थानम् । आकारः संस्थानम् । अशन-
 माहारः । आदिपदाक्षामवर्णादयो गृह्यन्ते । इतरहंसस्य राजहं-
 सस्य चात्यन्तमन्तरं तारतम्यं दूरं विप्रकृष्टम् । यतस्ते मानसे
 स्वर्णपद्मवने क्रीडन्ति समुद्रे च निमज्ज्य मुक्ताः खादन्ति सर्व-
 पक्ष्यगम्ये ऊर्ध्वभागे नभसः संचरन्ति नान्ये इति भावः ।
 'राजहंसास्तु ते चञ्चुरणैर्लोहितैः सिताः' ॥ ३६ ॥ शुक्रेण पक्षेण

उन्नालनलिनीनालकदलीस्तम्भसंकुले ।
वने विहरतां लक्ष्मीं हंसानामेति कः खगः ॥ ३८
तरङ्गवल्या लोलसीकरोत्करहारिणी ।
कुमुदोत्पलकङ्कारपुष्पसंभारसुन्दरी ॥ ३९
भृङ्गलोलालकलता रणत्सारसनुपुरा ।
वर्तुलावर्तनाभीका चलङ्घीचिविलोचना ॥ ४०
प्रतीक्षमाणा दयितं रसपूरकरं धरम् ।
नारीव सरसी चारुहंसकाभ्यां विराजते ॥ ४१
हे हंस महुषककाकशरावसारे
मा त्वं सरस्यविरतं कुरु वासमेकः ।
आपद्यपीह समशीलवयोवचोभिः
श्रेयःफला भवति संगतिरात्मवर्णैः ॥ ४२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामा० वा० दे० मो० नि० उ० भविष्यो० विप० पद्मभ्रमरहंसवर्णनं नाम सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः ११८

सहचरसहचर्यः क्रमेणोचुः ।

निर्गुणस्य वक्रस्यास्य गुण एकोऽस्ति दृश्यताम् ।
यत्प्रावृषं स्मारयति प्रावृद् प्रावृडिति ब्रुवन् ॥ १

चन्द्रः शुक्लाभ्या पक्षाभ्यां हंसो व्योम्नि स्थितः । कुमुदाना-
माकरस्य मासको विकासकचन्द्रः शोभाहेतुर्हंस इति तयोः
साम्यम् ॥ ३७ ॥ उन्नाला या नलिन्यस्तन्नाललक्षणैः कदली-
स्तम्भैः संकुले कदलीवनप्राये पद्मवने विहरतां हंसानां लक्ष्मीं
शोभामित्युक्तानोऽर्थः । तात्पर्यतस्तु योगेन ऊर्ध्वाकृतनाल
या हृदयपद्मलक्षणा नलिनी तस्याः प्राणायामाभ्यासाद्विकासेन
कदलीवधः स्तम्भनं स्तम्भस्तत्संकुले प्रागुक्तहृत्पद्मत्रयलक्षणे
वने निरस्तत्रिविधतापनिरतिशयानन्दास्वादेन सदा विहरतां
हंसानां यतीनां जीवन्मुक्तिमुखसाम्राज्यलक्षणां लक्ष्मीं संपदं
खगो देवोऽपि क एति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ इदानीं तां सरसीं
नारीसाम्येन रूपयन्नुत्प्रेक्षते—तरङ्गैत्यादिना । तरङ्गा एव वल्या
यस्याः । लोलैः सीकरोत्करैर्हारिणी हारवती ॥ ३९ ॥ भृङ्गा एव
लोला अलकलता यस्याः ॥ ४० ॥ रसो मनोरथो जलं च तस्य
पूरतिः पूरस्तत्कर धरं पर्वतं प्रतीक्षमाणा प्रतिमुखमीक्षमाणा ।
हंसकाभ्यां मञ्जीराभ्यां हंसपोताभ्यां च ॥ ४१ ॥ प्रसङ्गात्कश्चि-
दन्यापदेशेन कंचित्प्रत्याह—हे हंसैति । हे हंस, त्वं महुषक-
काको वक्रः प्रसिद्धकाकश्च एतद्रूपा ये शरारवो हिंसास्तसारे
तत्प्रधाने सरसि एको वास मा कुरु । यतः इह आपद्यपि
समशीलवयोवचोभिरात्मवर्णैर्हंसैरेव सह संगतिः श्रेयःफला
सुखोदका भवति नान्यैरित्यर्थः ॥ ४२ ॥ अन्यः प्रसङ्गादाह—
पादेति । पादैराकान्ता महेभाना मल्लकतटा येन तथा पद्मा-
कर एवैक आलयो यस्य तथा कङ्कारादिलतावधूना संभोग-
शृङ्गारवान् एष ईदृशप्रभावोऽपि, भृङ्गो विधेर्देवस्य वशेन

पादाक्रान्तमहेभमस्तकतटः पद्माकरैकालयः
कङ्कारोत्पलकुन्दचम्पकलतासंभोगसौभाग्यवान् ।
भृङ्गोऽप्येष विधेर्वशेन शिशिरे लोष्टं तृणं स्वादयन्
शीते शुष्कवकल्यहो नु विपदा दैन्ये मनो दीयते ॥ ४३ ॥
पुत्रस्येह दलोदरे द्युति तरचारं चिरं संस्मृतं
हंसस्यांसविनुन्ननालगहने संचारिणा भो मया ।
शुक्लासारमिवाब्जिनी विकिरति स्वं चारिचिन्दूकरं
मध्याह्ने शिशिरं विकासि सहसा मूर्ध्नि स्फुटं
दृश्यताम् ॥ ४४ ॥
व्योम्नीन्दोरिव सौम्यवारिणि चिरं निःशब्दकं सर्पतो
हंसस्यांसहताङ्गनालवलनानिष्कम्पटङ्कतैः ।
गङ्गावारिवदत्र पुष्करपुटाद्वाह्यादिवास्योपरि
अष्टा ये जलविन्दवो जलचरा दृष्टाः पिबन्त्याशु तान्

वक्र हंस इवाभासि सरःस्थो महुसौहृदम् ।
वृशंसत्वं च वाणीं च त्यक्त्वा हंसो भव स्फुटम् २

विधिरतीं लोष्टं तृणं च स्वादयन्नास्वादयन्सन् शुष्को वक्र
इवाचरति वकति । 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्तिव्वकन्वः'
इति क्तिप् । अहो इति सस्वेदाश्चर्यं । विपदा महद्भिरपि मनो
दैन्ये दीयते ॥ ४३ ॥ भो राजन्, हंसस्यांसाभ्यां पक्षाभ्यां विनुन्नं
नालगहने नालवने प्रविष्टेन मया द्युति द्योतमाने पद्मदलोदरे
निविष्टस्य पुत्रस्य हंसपोतस्य तरङ्गिः सरत् तारमुच्चैः स्वर स्फितर
प्रति यद्वचनं तत्सदृशदर्शोद्बोधकसमवधानात्संस्मृतम् । किं
तद्वचनं तदाह—शुक्लेति । हे तात, अब्जिनी शुक्लं शुक्लाम-
भासारमिव स्वं चारिचिन्दूकरं विकिरति । मूर्ध्नि शिरोभागे
मध्याह्नाह्नेऽपि सहसा विकासि शिशिरं हिमं स्फुटं प्रलम्बं
दृश्यतामिति ॥ ४४ ॥ हे राजन्, इह सरसि व्योम्न्याकाशे इन्दोरिव
चन्द्रवत् सौम्ये प्रसजे वारिणि निःशब्दकं सर्पतो गच्छतो हंसस्य
अंसाभ्यां पक्षाभ्यां इतानि आन्यज्जनालानि तत्संवलनलक्षणै-
र्निष्कम्पटङ्काघातैः पुष्करपुटाद्वाह्यात् हिरण्यगर्भासनपुष्करपुटा-
दिव ये जलविन्दवः अस्योपरि अष्टास्तान् जलचरा मत्स्यादयो
दृष्टाः सन्तो गङ्गावारिवदाशु पिबन्ति ॥ ४५ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पद्मभ्रमर-
हंसवर्णनं नाम सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

वक्रमहुषमयूराणां पान्थानां च विद्योगिनाम् ।

मत्स्यानां चातकानां च चरिवमिह वर्ण्यते ॥ १ ॥

प्रावृद् प्रावृडिति वक्रशब्दस्यान्यकस्य व्यक्तवर्णैरनुकूलोक्तिः
॥ १ ॥ अत्राप्यन्यापदेशोक्तयः प्राग्वत् । हे वक्र, त्वं वर्णतो हंस
इवाभासि । महुसौहृदादिदोषत्रयं त्यक्त्वा हंसो भवेत्यर्थः ॥ २ ॥

गम्भीरं वारिगर्भं प्रसृतजलचरं ये प्रविश्य प्रविश्य
 प्राद्वत्स्यान्प्रोतचञ्चवश्चतुरतर परं जग्धवन्तो विद-
 ग्धाः
 ते केनाप्यद्य दिष्ट्या मृततिमिगमिताः कालयुक्ते
 महिम्ना
 नाक्रामन्ति क्रमस्थाः सुहरमपि पुरः पङ्क्तवो मद्भवो-
 ऽमी ॥ ३
 एवं विहन्यते लोकः स्वार्थेनेति प्रदर्शयन् ।
 मद्भुर्मद्भुस्तां यात इत्येवं स्तौति दुर्जनः ॥ ४
 उत्कन्धरो विततनिर्मलचारुपक्षो
 हंसोऽयमत्र नभसीति जनैः प्रतीतः ।
 गृह्णाति पल्वलजलाच्छफरीं यदासौ
 हातस्तदा खलु वकोऽयमितीह लोकैः ॥ ५
 अतिबहुकालविलोला-
 नवलोक्य वकांस्तपोदम्भान् ।
 अत्रैवातिमिरस्थां-
 स्तटवनिता विस्मिता धूर्तान् ॥ ६
 अत्र जले हिमहेलाः
 पश्येता अपहरन्ति सितपद्मान् ।
 इच्छसि ता अनुगन्तुं
 नाहं ते वल्लभा व्रजामीति ॥ ७

हे चतुरतर, मत्स्यवधे विदग्धाः पण्डिता ये मद्भवः प्रसृता
 जलचरा यस्मिंस्तथाविधं वारिगर्भं प्रविश्य प्रविश्य । पुनः पुनः
 प्रविश्येत्यर्थः । प्राक् गिलनसमये मत्स्यैः प्रोताश्चञ्चवो येषां
 तथाविधाः सन्तो मत्स्यान् जग्धवन्तो भक्षितवन्तस्तेऽमी मद्भवो
 दिष्ट्या दैववशात्केनापि महिम्ना मृतैस्तिमिभिर्मत्स्यजातिभेदैर्गल-
 रुजं गमिताः सन्तः क्षुधाविशयकालयुक्ते आक्रमणे तीरे क्रमेण
 पङ्क्तिबन्धेन स्थिताः सन्तोऽपि पुरस्तीरप्रदेशागतं सुहरमपि
 मत्स्यं पङ्क्तवः सन्तो नाक्रामन्ति । आश्चर्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥
 दुर्जनैर्लोकहिंसनेन स्वार्थसंपादनं मद्भुभ्यः शिक्षितमिति भङ्ग्य-
 न्तरेणाह—एवमिति । एवं मद्भुवदेव स्वार्थेन वाञ्छितेन लोको
 विहन्यते हन्तुं युज्यते इति इममर्थं प्रदर्शयन् मद्भुर्मम गुरु-
 र्मद्भुस्तद्भावं प्राप्त इति एवं दुर्जनेन मद्भुं स्तौति प्रशंसति ॥ ४ ॥
 अत्र नभसि उत्कन्धर ऊर्ध्वीकृतकण्ठो विततौ निर्मलौ चारु
 पक्षौ यस्य तथाविधोऽयं पुरोवर्ती हंस एवेति प्राग्जनैः प्रतीतो
 निश्चितो वको यदा असौ इह भूमौ पल्वलजलाच्छफरी गृह्णाति
 तदा वकोऽयमिति लोकैर्ज्ञातः ॥ ५ ॥ पल्वलादौ मत्स्यार्थ-
 मतिबहुकालं विलोलान् अत्रैव सरति तपोदम्भान् वकान्वि-
 लोक्य हातधूर्तचरित्रा काचित्तटवनिता तथैवान्यत्रातिबहुकालं
 विपयलाम्पट्येन विलोलानत्रैव तपोदम्भान् आतिमिरस्थान्
 तिमिरोदयपर्यन्तं प्रतीक्षमाणान्धूर्तान्विलोक्य विस्मिताभूदि-
 त्यर्थः ॥ ६ ॥ पान्थस्त्री पद्महारिणीः पश्यन्तं पान्थं प्रत्याह ।
 हे कान्त, अत्रास्मिजले हिमं शीतं हेलयन्ति न गणयन्ति तथा-
 विधा एता प्रामीणवध्वः । हीति पृथक्पदम्, महिला एव

कुपितां तामनुनेतुं
 यत्नपरः पान्थ एष पथि कान्ताम् ।
 अवलोकय नरनायक
 कुसुमलताकुहरकेलितीरवने ॥ ८
 इति हावभावविलसित-
 विवलनकोपार्धदृष्टिहसितानि ।
 कुर्वाणा वरवनिता
 कथयति ते दृश्यतां राजन् ॥ ९
 वकमद्भुशरारूणां नित्यमेकौकसामपि ।
 संकरोऽस्ति मिथो बुद्धेर्न मूर्खविदुषामिव ॥ १०
 चञ्चव्रे खञ्जरीटस्य कीटः किटिकिटायते ।
 दौर्भाग्यस्य पुराणस्य पताकेवोच्छ्रितोन्नते ॥ ११
 तारं तीरतरौ स रौति तरलो यावद्वकः प्रोल्लसं-
 स्तावत्पल्वलगोष्पदेऽम्बुकलिले यावद्वलादेहकम् ।
 मज्जन्त्या प्रियवक्षसीव निपुणं त्रातं शफर्या भया-
 ङ्गङ्गङ्गेन महापदीह हि मृतेर्नान्यद्भवेत्सौख्यदम् ॥ १२
 वकाजगरमद्भुनां हृदि या प्राणिनां धृतिः ।
 अचर्वितनिगीर्णानां मन्ये निद्रोपमैव सा ॥ १३
 आसन्नमद्भुवकगृध्रबिडालसर्प-
 दृष्ट्या भयं भवति यत्सलिलाशयानाम् ।

महेला इति वा । सितपद्मानपहरन्ति त्वं ता अनुगन्तुमिच्छसि ।
 तेन अहं ते वल्लभा प्रिया न इति हेतोरहं व्रजामीति ॥ ७ ॥
 एवंवादिनीं कुपितां तां कान्तामनुनेतुमेष पथिकः पथि कुसुम-
 लताकुहरे केलितीरवने यत्नपरः प्रार्थयते । हे नरनायक, त्वम-
 वलोकयेति द्वयोरन्वयः ॥ ८ ॥ इममेव पथिकं मिथुनचरित्रं
 प्रागल्भ्यात्कथयन्तीं वाराहनां रात्रे दर्शयति—इतीति ॥ ९ ॥
 शरारूणां हिंसाणां निषादादीनाम् । बुद्धेः संकरो मेलनं प्रीति-
 रिति यावत् ॥ १० ॥ कीटोऽत्र पतङ्गः । किटिकिटीति रौति
 किटिकिटायते । वज्रन्तादिवार्यनिष्ठात्करोत्यर्थं क्यद् । 'स्फिटि
 किटायते' इति पाठे स्फेटयति विमोचयति पक्षाविति स्फिटि
 चञ्चव्रे किटायते केटीति किटः कम्पमानः स इवाचरति ।
 पुराणस्य प्राक्संचितस्य दौर्भाग्यस्य पापस्य उन्नते ऊर्ध्वभागे
 उच्छ्रिता पताकेव ॥ ११ ॥ पल्वलतीरतरौ प्रोल्लसन् स वको
 यावद्वौति कूजति तावदम्बुकलिले ईषज्जलादे पल्वलगोष्पदे
 यावद्वलात् । यावदिति साकल्ये । सर्वप्राणेनेत्यर्थः । प्रिय-
 वक्षसि रागादिव भयान्मज्जन्त्या शफर्या मृत्वापि स्वदेहकं
 त्रातम् । इह संसारे महापदि प्राप्तायां हृद्भङ्गेन मृतेर्मरणा-
 दन्यत्सौख्यदं शरणं न भवेत् । तथा च मृत्वापि तथा कृतं
 स्वदेहरक्षणमुचितमेवेत्यर्थः ॥ १२ ॥ वकादीनां हृदि उदरे
 प्रविष्टानामचर्वितं निगीर्णानां मत्स्यादिप्राणिनां या धृतिश्चित्त-
 स्थितिः सा निद्रोपमा सुषुप्तिसदृशी मूर्च्छेवेति मन्ये ॥ १३ ॥
 सलिलाशयानां मत्स्यादीनां आसन्नमद्भुवकादिदर्शनेन यद्भयं
 भवति तस्य भयस्याप्रतः अशनिपातप्रयुक्तो भङ्गो भयं तृण-

तस्याग्रतस्तृणमिवाशनिपातभङ्गो
जातिस्मरेण विदुषोक्तमदः पुरा मे ॥ १४
इह सरोवरतीरतरोस्तले
कुसुमशालिनि मुग्धमृगान्पुरः ।
समवलोकय लोकमलौ बला-
त्समवकीर्णनवोत्पलकेतकान् ॥ १५
वह्नीं प्रोक्षतचित्तत्वात्तोयमिन्द्रं प्रयाचते ।
स पूरयति तेनास्य महात्मा निखिलां महीम् ॥ १६
मेघाननुसरन्त्येते मयूरास्तनपा इव ।
मलिनो मलिनस्यैव पुत्र इत्यनुमीयते ॥ १७
मृगानालोक्य पथिकश्चिन्तयन्दयितेक्षणे ।
पुरःस्थेषु पदार्थेषु यन्त्रपुत्रिकतां गतः ॥ १८
शिखी वार्यपि नादत्ते भूमेर्मुक्ते बलादहिम् ।
दौरात्म्यं तत्र जाने किं सर्पस्य शिखिनोऽथवा ॥ १९
सज्जनाशयनीकाशं त्यक्त्वा वह्नीं महत्सरः ।
पिबत्यम्बुध्रनिष्ठुतं मन्ये तन्नतिभीतितः ॥ २०
लसत्कलापजलदाः पश्य नृत्यन्ति बर्हिणः ।
धुन्वानाः पिच्छकान्तीन्दुं प्रावृषः पोतका इव ॥ २१
वरवने वनवातविचारिणां
चपलचन्द्रकचारुतरङ्गिणाम् ।
इह पयोनिधिरेव कलापिनां
विस्तृतमुक्तयेव विलासतः ॥ २२

चर तृणानि पिबाम्बु वनान्वनौ
कलय विश्रमणं कदलीवने ।
चकितचातक पावकदूषिता
न हि सुखाय भवत्यतिमानिता ॥ २३
नार्यं मयूर मकरालयवारिपूर-
पूर्णोदरो जलधरोऽम्बरमारुह्युः ।
दाषाग्निदग्धवनपादपकोटराग्र-
धूमावलीवलयं उत्थित एष शैलात् ॥ २४
येनाब्देन शरद्विधावपि शिखी संतर्पितो वारिभि-
नौ वर्षास्यपि पूरयेद्यदि सरस्तद्बाललोकोचितम् ।
आरब्धं समवेक्ष्य सज्जनजनो हासेन दुःस्थो भवे-
द्दह्नीत्यात्मदूषैव नेतुमखिलं कालं समभ्युद्यतः ॥ २५
स्फटिकविमलं पीत्वा तोयं घनोदरनिर्गतं
पिबति न पुनर्मार्गे क्षुब्धं स्तृषापि शिखी जलम् ।
स्फुरति च घनं स्मृत्वा स्मृत्वा न चापि विषद्यते
गुणवति जने बद्धाशानां श्रमोऽपि सुखावहः ॥ २६
इहातिवाहयन्त्येते मार्गदौस्थ्यं घनागमे ।
कथाभिः पथिकाः प्रायो विमूढा जीवितं यथा ॥ २७
पश्यान् नाथ सरसः
कमलोत्पलकुमुदविसमृणालानाम् ।
कह्लारपत्रपयसां
भारानादाय बालिकाश्चलिताः ॥ २८

मिवाल्पमेव । अदः रहस्यं मे पुरा जातिस्मरेण मत्स्यादियोनि-
दुःखानि स्मरता विदुषास्त्रासुभूतमुक्तम्, नासत्यमिति मन्तव्य-
मित्यर्थः ॥ १४ ॥ नेत्रभ्रोत्रशोभावलात् अलौ प्रमरे सति सम्य-
गवकीर्णानि नवोत्पलानि केतकानि च यैस्तथाविधानुसन्धमृगान्
लोकं प्रियाजनं समवलोकय दर्शय ॥ १५ ॥ वह्नीं मयूरः प्रोक्ष-
तचित्तत्वादक्षुद्राशयत्वादिन्द्रं तोयं प्रयाचते । याचेद्विकर्मकत्वा-
दिन्द्रोऽप्यकथितं कर्म । स इन्द्रस्तेन प्रोक्षतचित्तत्वगुणेन संतुष्टः
सम् अस्य प्रीत्यै निखिलां महीं तोयेन पूरयति । यतो महात्मा
अत्युदार इत्यर्थः ॥ १६ ॥ स्तनं पिबन्तीति स्तनपा वत्सा इव
॥ १७ ॥ यन्त्रनिर्मितपुत्रिकातुल्यताम् । निषेधतामिति यावत्
॥ १८ ॥ किं सर्पस्य दौरात्म्यमथवा शिखिनो दौरात्म्यं तत्र जाने
॥ १९ ॥ तत्तस्मै सरसे या नतिः शिरोनमनं तद्भीतितः ॥ २० ॥
॥ २१ ॥ निष्ठता विश्रान्तिता मुक्ता येन तद्भावेनेव इह वने पयो-
निधिरेव कलापिना मयूराणां विलासनो नर्तयिता न मेघः पश्ये-
त्यर्थः ॥ २२ ॥ हे चकितचातक, ते वनान्वनौ ग्रीष्मे पावकदूषिता
संभावितपावकां शुष्कतरुकोटरवासनिर्वन्धसूचिता अतिमानिता
सुखाय न हि भवति । कदलीवनसनिहितानि शीतलहरिततृ-
णानि चर । कुल्यादिष्वम्बु पिव । कदलीवने विश्रमणं कलयेत्य-
न्यापदेशः ॥ २३ ॥ हे मयूर, असमग्रे प्रदक्ष्यमानः अम्बर-
मारुह्युः पदार्थो मकरालयस्य समुद्रस्य वारिभिः पूर्णोदरो

जलधर इति ते भ्रान्तिर्मा भूत् कित्वेव दावाग्निना दग्धानां वन-
पादपासां कोटराग्नेर्धूमावलीवलयः, शैलादुत्थितस्तथा चास्थाने
ते नृत्तारम्भसंभ्रम इत्यर्थः ॥ २४ ॥ अनावृष्टौ भूमिं वार्यपिबतो
मयूरस्याशयं कश्चिद्वर्णयति—येनेति । येन आब्देन मेघेन शर-
त्कालेऽपि शिखी मयूरो वारिभिः संतर्पितः स वर्षासु वर्षा-
वपि सरो न पूरयेदिति यच्चरित्रं तद्बाललोकानां क्षुद्राणामेवोचितं
न महत्तत्त्वम् । औदार्ययोग्ये समयेऽप्यारब्धमिदमनौदार्यं सम-
वेक्ष्य पामरैः कृतेन हासेन सज्जनजनो दुःस्थो दुःखितो भवेत् ।
इति एवं विचिन्त्य वह्नीं मयूरः आत्मनस्तृषैव निखिलं कालं
नेतुं समभ्युद्यतः, उद्युक्त इत्यर्थः, ॥ २५ ॥ तर्हि स मयूरः
किमनुचितकारी, नेत्याह—स्फटिकविमलमिति । शिखी वृषा
क्षुब्धश्चपि प्राक् स्फटिकविमलं घनोदरनिर्गतं तोयं पीत्वा पुन-
र्मार्गे सकर्दमं जलं न पिबति । तर्हि स कुतो न वृषा प्रियते
तत्राह—स्फुरतीति । स घनं मेघं स्मृत्वा स्मृत्वा स्फुरत्यु-
रति नापि च विषद्यते प्रियते । यतो गुणवति जने बद्धा आगा
यैस्तेषां श्रमोऽपि सुखावह एव न दुःखद इत्यर्थः ॥ २६ ॥
कान्तावियोगिनां पथिकानां वर्षासु क्वचित् कथालापदिना
कथेन कालयापनं यथा आत्मज्ञानहीनानां मूर्खानां जन्मशपनं
तथेत्याह—इहेति । एते पथिकाः ॥ २७ ॥ कह्लारपत्रविव-
पयसां च भारानादाय बालिकास्तरुभ्यश्चलिताः । हे नाथ,

किमिदं नयथेति ततः

पृष्ठाभिस्ताभिरुक्तमेतस्य ।

व्यसनज्वरतप्तायाः

पथिक वयं बालसख्य इति ॥ २९

अथ रागरक्तहृदयाः

स्तनभरवितता विलासललिताङ्ग्यः ।

पथिकानां स्मरणपथं

भूयोऽप्यनयन्प्रियाः खगेहस्थाः ॥ ३०

सा नूनं मम कान्ता

दृष्ट्वा सुस्निग्धघनतमःश्यामम् ।

गगनं च शून्यगहनं

प्रलपति भुवि पतति विस्खलति ॥ ३१

भृङ्गावलीकुवल्यावलितालपात्र-

संप्रेर्यमाणनलिनीमधुपानमत्तः ।

हा वाति तीरतरुपलवलास्यलब्ध-

संमुग्धशब्दगणगीतगुणो नभस्वान् ॥ ३२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० हरिणमयूरवकमुग्धादिवर्णनं नामाष्टादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

एकोविंशाधिकशततमः सर्गः ११९

सहचरा ऊचुः ।

कथयत्येव पथिकः पश्य मन्दरगुल्मके ।

प्रियायाश्चिरलब्धाया वृत्तां विरहसंकथाम् ॥ १

एकत्र शृणु किंवृत्तमाश्चर्यमिदमुत्तमम् ।

दातुं त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम् ॥ २

अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे

यो मां तयेह मम याति गृहं स कः स्यात् ।

नैवास्त्यसौ जगति यः परदुःखशान्त्यै

प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत ॥ ३

आ एष शिखरे मेघः सराश्व इव संयुतः ।

विद्युलताविलासिन्या वलितो रसिकः स्थितः ॥ ४

भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुचितं व्यालम्ब्य कण्ठेगुणं

नीचैर्गर्ज मुहूर्तकं कुरु दयां सा बाष्पपूर्णेक्षणा ।

बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं क्षमा

तां गत्वा सुगते गलज्जललवैराश्वासयात्मानिलैः ॥ ५

चिचतूलिकया व्योम्नि लिखित्वालिङ्गिता सती ।

न जाने काधुनैवेतः पयोद दयिता गता ॥ ६

पश्य ॥ २८ ॥ इदं भारजातं किं किमर्थं नयथ इति पृष्ठाभि-
स्ताभिर्बालिकाभिरेतस्य प्रष्टुर्मम उत्तरमुक्तम् । हे पथिक, वयं
वियोगव्यसनज्वरतप्तायाः बालसख्यः, तथा च तदुपचाराय
कमलोत्पलादिभाराजयाम इत्यर्थः ॥ २९ ॥ अथ तदुत्तरं स्वका-
न्तेषु रागरक्तहृदयास्ताः स्वाः पश्यतां पथिकानां खगेहस्थाः
प्रियाः स्मरणपथमनयन् । सहस्रदर्शनस्य संस्कारोद्बोधकत्वा-
दिति भावः ॥ ३० ॥ तत्र कश्चित्पथिकः स्वप्रियां स्मरन्नाह—
स्मेति । सुस्निग्धा ये घना मेघास्तल्लक्षणैस्तमोभिः श्यामं गगनं
सुस्निग्धं घन इव तम इव च श्यामं गहनं वनं च दृष्ट्वा मम
कान्ता प्रलपति भुवि पतति गच्छन्ती च विस्खलति । नून-
मिति संभावनायाम् ॥ ३१ ॥ भृङ्गावल्या कुवलयैश्च आवलिते-
नाब्जलक्षणेन पानपात्रेण संप्रेर्यमाणं यज्ञलिनीमधु तत्पानेन
मत्तस्तथा तीररुहाणां तरुवल्लीनां पल्लवलास्येन लब्धो यः
संमुग्धो मृदुमन्द्रः शब्दगणस्तेन गीतः ख्यापितः शैत्यमान्दसौ-
रभ्यादिर्गुणो यस्य तथाविधो नभस्वान्वायुर्वाति । हा इति विर-
होद्दीपनप्रयुक्तखेदे ॥ ३२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे हरिणमयूरवकमुग्धादिवर्णनं
नामाष्टादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

पथिकः स्वां प्रियां प्राप्य वदप्रे तद्वियोगजाम् ।

प्राक्तनीं स्वां दशमत्र श्मशानान्तामवर्णयत् ॥ १ ॥

हे राजन्, मन्दरगिरेः कुञ्जगुल्मके एष पथिकश्चिरलब्धायाः

प्रियायाः पुरतः प्राग्वृत्तां स्वां विरहसंकथां कथयति तं पश्य
॥ १ ॥ प्रियाप्रे तेन वर्णितां विरहसंकथां वर्णयितुमुपक्रमते—
एकत्रेत्यादिना । हे प्रिये, त्वद्वियोगदशायां मम एकत्र एकस्मि-
न्दिने जातं किंवृत्तं वृत्तान्तमाश्चर्यमिदं वक्ष्यमाणं त्वं शृणु ।
त्वन्निकटे स्ववृत्तान्तं दातुं प्रेषयितुं दूतं विचारयन्चिन्तान्वितो-
ऽहमिदमवदम् ॥ २ ॥ किमवदत्तदाह—अस्मिन्निति । अस्मि-
न्महाप्रलयकालसमे वियोगे वियोगलक्षणार्थो महापदि इहस्थं
मां वृत्तान्तप्रापणेन तथा समाजयितुं यो मम गृहं याति स
तादृशो दयालुर्दूतः कः स्यात् । यः परदुःखशान्त्यै प्रीत्या सरलं
यथा स्यात्तथा निरन्तरं यतेत । असौ तादृशः पुरुषो जगति
नैवास्ति ॥ ३ ॥ आ इदानीं स्मृतः पुरोवर्तिगिरिशिखरे एष
परिदृश्यमानो मेघः प्रीत्या सततं परदुःखोपशमनादिगुणैः संयुतः
स्मरस्याश्व इव शीघ्रं मद्गृहगमनसमर्थः । परोपकाररसिको
विद्युलतालक्षणया विलासिन्या वलितः स्थितोऽस्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥
अतोऽहमेनमेव प्रार्थयिष्यामीत्यभिप्रेत्याह—भ्रातरिति । हे
भ्रातर्मेघ, त्वं कण्ठे गुणो यस्य स कण्ठेगुणस्तथाविधं गुणव-
त्तस्तव उचितं महेन्द्रचापं व्यालम्ब्य गृहीत्वा सुगते हे शोभन-
नभोमार्गगामिन्, तां मत्प्रियां गत्वा गलज्जललवैरात्मानिलैः
प्रथममाश्वासय । ततो मत्संदेशं प्रापयितुं नीचैर्मन्दं गर्ज मुहूर्तकं
दयां कुरु । यतस्ते गाढगर्जितं मद्विरहदुःखाद्वाष्पपूर्णेक्षणा
बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी बाला सा सोढुं न क्षमा ॥ ५ ॥

इत्थं चिन्तापरवशमतेस्तन्वि सार्धं त्वयाऽसा-
 वन्तर्लीनप्रसरमनसः कापि याता स्मृतिर्मे ।
 संपन्नोऽहं परवशवपुः काष्ठकुड्योपमाङ्गो
 भङ्गं सोढुं क इव विरहक्लेशजं नाम शक्तः ॥ ७
 पश्चाज्जातः कलकलरवः संवते पान्थसार्धे
 दीनालापैर्व्यसनविधुरैरालपन्ते च मेघम् ।
 कष्टं पान्थो मृत इति महारम्भसंपन्नहाहा-
 शब्दः प्रोद्यत्पथिकवनिताविसृत्तोरःप्रहारः ॥ ८
 लोकेनायं मृत इति ततो बाष्पसंपूरिताक्षं
 शवीं पूजां विरचितवता संवयीकृत्य दारु ।
 दग्धुं नीतोऽस्म्यतिभयमहं प्रज्वलच्चित्तनन्त-
 प्रोद्यत्स्फोटस्फुटपटपटारावरौद्रं श्मशानम् ॥ ९
 तत्राहं तैः कमलवदने बाष्पपूर्णाक्षिपक्षै-
 र्यस्तः कैश्चिच्चित्तिशयनके घट्टलोकालिलेखे ।
 धूमोद्गाराविरलजटिले मस्तके मत्तमृत्यो-
 र्धूजारजोत्तम इव कलामात्रदृश्येऽग्निहेम्नि ॥ १०
 अस्मिन्काले कुवलयलताकोमला धूमलेखा
 नासारन्ध्रं मृदुगलविलं मे प्रवृत्ता नियातुम् ।

हे पयोद, सा दयिता मया हृद्योन्नि चित्ततूलिकया लिखित्वा
 आलिङ्गिता सती अधुना इतः केव गता न जाने ॥ ६ ॥ हे तन्वि,
 इत्थं मेघं प्रायुक्त्वा त्वच्चिन्तापरवशमतेः अन्तरेव लीनप्रसरं
 मनो यस्य तथाविधस्य मे सा प्रसिद्धा स्मृतिः पूर्वापरप्रति-
 संधानसमर्थं बुद्धिस्त्वया सार्धं कापि याता । तव स्मृतिलो-
 पादहं परवशवपुः सन् काष्ठकुड्योपमान्यज्ञानि यस्य तथाविधः
 संपन्नः । तथा हि । विरहक्लेशजं भङ्गं परिभवं सोढुं क इव शक्तो
 नाम । न कश्चिदित्यर्थः ॥ ७ ॥ ततः पश्चान्मां तथाविधं पश्यति
 संवते मिलिते पान्थसार्धे पान्थजनसमूहे महारम्भेण संपन्ना
 हाहाशब्दा यस्मिंस्तथाविधः प्रोद्यन्तीनामागच्छन्तीना पथिक-
 वनितानां विस्तृता उरःप्रहाराश्च यस्मिंस्तथाविधश्च पान्थो मृत
 इति कलकलरवः कोलाहलज्वनिर्जातः । तत्र केचिद्व्यसनेन
 विधुरैर्ब्रह्मस्वरदीनालापैर्मैघं च आलपन्ते अधिक्षिपन्ति ॥ ८ ॥
 ततः किमभूत्तत्राह—लोकेनेति । ततस्तेन पान्थलोकेन अयं
 मृत इति निश्चित्य बाष्पैः संपूरिताक्षं यथा स्यात्तथा शवीं
 शवोचिता गन्धमात्यादिभिरलंकरणरूपां पूजां विरचितवता
 दारु काष्ठं संवयीकृत्य संगृह्य दग्धुमहमतिशयितं भयं यत्र
 तथाविधं प्रज्वलन्तीभिश्चित्तिभिरनन्तैः प्रोद्यद्भिः स्फोटस्फुट-
 पटपटारावै रौद्रसुद्रेगदं श्मशानं नीतोऽस्मि ॥ ९ ॥ हे कमल-
 वदने, तत्र अहं कैश्चिद्बाष्पपूर्णाक्षिपक्षैस्तैः पान्थैश्चित्तिशयनके
 प्यस्तः । तत्र बद्धा परितो लोकालिरिव लेखा पङ्क्तिर्यस्य तथा-
 विधे धूमोद्गारैरविरलं जटिले मत्तस्य मृत्योर्मस्तके प्रसिद्धधू-
 रजोत्तमे इव शीतमाने अग्निलक्षणे हेम्नि कलामात्रेण दृश्ये
 जाते सति ॥ १० ॥ तस्मिन् काले कुवलयलतेव कोमला

उष्णा कृष्णा नकुलकलिता सत्वरं बालसर्पी
 भूमे रन्ध्रं तनुमिव दरादैर्ध्वसंकोचकुक्ता ॥ ११
 त्वत्संकल्पासृतकवचितो नापविद्धस्तयाहं
 कुन्तश्रेण्या दृढपतनया वज्रकायो यथाजः ।
 त्वामासन्नां मदनसरितं दृष्ट्वे गाहमानो
 मर्मच्छेदेष्वपि विलसिता नाविदं वेदनास्ताः ॥ १२
 पतावन्तं समयमुचितं तन्वि सार्धं त्वयान्त-
 र्लीलालोलं हृदि चिरतरं तन्मयात्रानुभूतम् ।
 यस्मिन्दृष्टेऽमृतहृद इवोन्मज्जनौघैर्यथासौ
 राज्याभोगो विशसनमिवाल्पाल्पमेवेति बुद्धिः ॥ १३
 सा लीला ते विलासा वचनमपि च तत्संसितं ते
 कटाक्षाः
 सानन्दानन्तरस्य प्रसरसमुचिता दूरमण्येकभूषा ।
 तानीहारावसारवहसनचलनावेगविक्षोभितानि
 किंवा तत्तत्र यत्संस्मृतममृतरसाह्लादमन्तः करोति
 त्वत्संगमे सुरतसौख्यरसायनेन
 बाले ततोऽहमतिवृत्ततया धमार्तः ।
 तत्र स्थितो मृदुनि तल्पतले शशाङ्क-
 बिम्बे शरच्छिशिरनिर्मलशोचिषीव ॥ १५

मृद्वी तथा उष्णा कृष्णा दैर्घ्यसंकोचाकुक्ता धूमलेखा मे ध्रु-
 गलविलं नासारन्ध्रं नकुलेन कलिता भीषिता पूर्वोक्तप्रियेणक-
 दम्बवती बालसर्पी तनुं सूक्ष्मं भूमे रन्ध्रमिव नियातुं निश्चितं
 प्रवेष्टुं प्रवृत्ता ॥ ११ ॥ हे प्रिये, अहं त्वदाकारेणामृतेन कवचितः
 कवचेनावृतः सस्तया धूमलेख्या नापविद्धो न पीडितः । यथा
 वज्रकायः अजो ब्रह्मा मृत्योर्दृढपतनया कुन्तश्रेण्या नापविद्धस्त-
 द्वात् । किंच दृष्ट्वे आसन्नां मदनसरितं त्वां गाहमानोऽहमग्नि-
 दाहेन मर्मच्छेदेषु क्रियमाणेष्वपि विलसिता उद्भूतास्ता वेदना
 नाविदं कि पुनर्धूममात्रमित्यर्थः ॥ १२ ॥ हे तन्वि, एतावन्तं समयं
 मया हृदि अन्तस्त्वया सार्धं विरचितमत्रास्या मूर्च्छायां तत्तादृशं
 सुखमनुभूतम् । कीदृशं तदाह—यस्मिन्निति । अमृतहृदे
 उन्मज्जनौघैर्यथा तथा यस्मिन् बुद्धे दृष्टे सति असौ प्रसिद्धो
 राज्यस्याभोगल्लोक्यराज्याधिपत्यसुखमपि प्राशुकं मर्मविशसनं
 दुःखमिव अल्पादल्पत्वं तुच्छमेवेति बुद्धिर्भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ हे
 प्रिये, तव सा अनुभवैकगम्यनिरतिशयानन्दरूपा अनुपमा लीला
 ते तादृशा एव भूविक्षेपादिविलासास्तत्तादृशमेव वचनमपि
 तत्तादृशमेव संसितं ते च कटाक्षास्तथा दूरे मणिमयी एकभूषा-
 प्रधानभूषणभूता एकावली यस्या तथाविधा सा आनन्दसा-
 नन्तरस्य सुरतस्य प्रसरे समुचिता अर्थादालिङ्गनक्रिया तानि
 तादृशानि इहा नखक्षतादिचेष्टा रतिकृजितायाराधास्तत्पाराव-
 वहसनानि चलनावेगेन चित्तविक्षोभितानि चेत्येतेषु यत्संस्मृत-
 मन्तरमृताह्लादं न करोति तत्तत्किं वास्ति । न किंचित्, सर्वमपि
 अमृतरसाह्लादं करोत्येवेत्यर्थः ॥ १४ ॥ हे बाले, तत्तत्प्रदानन्तरमहं
 त्वत्संगमे सुरतसौख्यमेव रसायनं यस्मिंस्तथाविधे अतिवृत्ततया

अत्रान्तरे झटिति चन्दनपङ्कशीता-
 दीर्घादिवेन्दुशकलादशनिः सशब्दः ।
 दृष्टो मया चितितलज्वलितो हुताशः
 क्षीराब्धिवाडवनिभोज्जगतः स्वतल्पात् ॥ १६
 सहचरा ऊचुः ।
 इत्युक्तवति कान्तेऽस्मिन् हा हुतासीति वादिनी ।
 मुग्धा मौग्ध्याद्वरावर्तशङ्कया मूर्च्छिता स्थिता ॥ १७
 तामेनामेष नलिनीदलबीजेन वारिभिः ।
 आश्वासयंस्तथावस्थां कण्ठेकृत्वात्र संस्थितः ॥ १८
 पुनः पृष्टोऽनया वक्ति पश्य तामेव संकथाम् ।
 एष पार्श्वगतामेनां गृहीत्वा चिबुके प्रियाम् ॥ १९
 हा हा हुताश इति किञ्चिद्वोपजात-
 खेदो वदामि खलु यावदहं त्वरावान् ।
 तावच्चितिश्रुतिरिति तैरवलुण्ठिता सा
 पान्थैः क्षणात्खरखराकुलिता लसद्भिः ॥ २०
 पान्थास्ततस्तरलतालविलासवाद्य-
 मालिङ्ग्य मामतनुशेखरपूरिताङ्गम् ।
 उत्थापितस्थितिमलं परिवार्य सर्वे
 नेदुर्जगुर्जहसुराननृतुर्वचल्गुः ॥ २१
 विपमविनायकसुखदं
 वलितं भस्माहिशवशिरःप्रकरैः ।
 शशिधवलास्थिकपालं
 घपुरिव रौद्रं श्मशानमथ दृष्टम् ॥ २२
 इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० अवि० विप० पथिकविरहवृत्तवर्णनं नामैकोनविंशधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

पार्श्वच्छायां हरन्तो विचलितविदलक्लिन्नकङ्काल-
 गन्धा-
 स्तन्वन्तो भूरिभस्मप्रविततमिहिकामाधुनानाः
 शवानाम् ।
 केशानाकाशकोशे शशिशलितशराकारिणः
 शांकराणा-
 मस्थीनां टांकुतेनारचितखरगिरस्तत्र वाता
 वहन्ति ॥ २३ ॥
 ज्वलदनलचितिप्रवाहनिर्य-
 त्पवनहतोष्मविशुष्कपर्णवृक्षा ।
 ज्वलनपवनभास्करात्मजानां
 रमणगृहानुकृतिं विभर्ति सा भूः ॥ २४
 दृष्टं श्मशानं तदनन्तभीम-
 करङ्ककंकालघनामगन्धिं ।
 माद्यच्छिवावायसकङ्कगृध्र-
 पिशाचवेतालविरावरौद्रम् ॥ २५
 आनीतनानाशवचन्धुसार्थ-
 संरोदनाह्लादिदिगन्तकुञ्जम् ।
 खगाचक्रुष्टार्द्रशिरान्नतन्त्री-
 निबद्धदग्धद्रुमखण्डजालम् ॥ २६
 कचिच्चितिक्षोभकृतप्रकाशं
 कचिन्महाकेशकृताब्दवृन्दम् ।
 कचिच्च रक्ताक्तधरावितानं
 नक्तं स्तनत्त्वभ्रमिवास्तशैलम् ॥ २७

धमेणार्तो मन्थरः सस्तत्र मृदुनि तल्पतले शरदि शिशिराणि
 शोचीषि यस्मिन्स्थायविधे शशाङ्कविम्ब इव स्थितः ॥ १५ ॥
 अत्रान्तरे अस्मिन्नवसरे चन्दनपङ्कशीतादीर्घादिवेन्दुशकलादश-
 निरिवाख्यन्तमसमान्यः स्वतल्पादुत्थितः स्वाङ्गगतः सशब्दश्चि-
 तितले ज्वलितो हुतागः क्षीराब्धिसवन्धिवाडवो वडवानलस्त-
 त्रिमो दृष्टः ॥ १६ ॥ कान्ते इति इमां कथामुक्तवति सति
 तच्छ्रुत्वा मुग्धा सा स्त्री मौग्ध्यादेव वरः श्रेष्ठ आवर्तः संवर्त-
 स्तच्छङ्कया मूर्च्छिता भूत्वा स्थिता ॥ १७ ॥ तां तथाविधा-
 मेनां फान्तामेप कान्तो नलिनीदलबीजनं बीजस्तेन शीतैर्वारि-
 भिश्च आश्वासयंस्तन्मूर्च्छामपनयन्सन् तथावस्था तां कण्ठेकृत्वा
 अत्र मन्दरकुञ्जे संस्थितः ॥ १८ ॥ तां प्रागुक्तामेव संकथाम् ।
 कथाशेषमिति यावत् । वक्ति पश्य ॥ १९ ॥ तमेवाह—
 हाहेति । हे प्रिये, अहं किञ्चिद्वोपजातखेदः सन् हा हा
 हुताश इति यावद्वदामि तावज्ज्ञटिति तैरलसद्भिः प्रहृष्टैः पान्थैः
 खरखरध्वनिभिराकुलिता सा चितिः सर्वोत्सुकपहारेणावलु-
 ण्ठिता ॥ २० ॥ मृतस्य पुनरुज्जीवनहर्षात्पान्थास्तरलतालविला-
 सवाद्यं यथा स्यात्तथोत्थापितचितास्थितिमतनुभिर्वहुभिर्मङ्गलार्थैः
 शेरैस्तत्तमशरीरगणोत्तंसैः पूरिताङ्गं मामालिङ्ग्य सर्वे परिवार्य
 हर्षाज्जगुर्जहसुरासमन्ताज्जनुर्वचल्गुरुचेलुधेत्यर्थः ॥ २१ ॥
 अध नया श्मशानं रौद्रं संहाररुदसंवन्धवपुरिव भीषणं दृष्टम् ।

विशेषणान्युभयत्र तुल्यतया योज्यानि ॥ २२ ॥ तत्र तस्मिन्
 श्मशाने वाता वायवो वहन्ति । कीदृशास्ते । पार्श्वे वनस्य हरित-
 छायां भस्मक्षेपैर्हरन्तो विचलिताः प्रसृता विदलत् क्लिन्नकं-
 कालानां गन्धा यैर्भूरिभस्मभिः प्रविततां मिहिकां नीहारपटलीं
 तन्वन्तः शवानां केशान् आधुनाना आकाशलक्षणे कोशे
 निषङ्गे शशिनः सकाशाद्गलिता ये शरास्तदाकारिणस्तथा शांक्-
 राणां शंकरभूषायोग्यानामस्थीनां टांकुतेनाभिघातशब्देन
 आरचिताः खरा रुक्षा गिरः शब्दा यैस्तथाविधा इत्यर्थः
 ॥ २३ ॥ ज्वलन्तः अनला यासु तथाविधाभ्यश्चि-
 तिभ्यः प्रवाहेण निर्यता सधूमस्फुलिङ्गेन पवनेन हता अत एवो-
 ष्मणा विशुष्कपर्णा वृक्षा यस्यां तथाविधा सा श्मशानभूर्ज्वलन-
 स्यामेः पवनस्य भास्करात्मजस्य शनैश्चरस्य च रमणयोग्यं
 यद्गृहं तदनुकृतिं तत्सदृशलक्षणानि विभर्ति ॥ २४ ॥ तत्ता-
 दृशं श्मशानं दृष्टं यत् अनन्तैर्भीमैः करैर्करधर्दगवैः कङ्कालैः
 शवैर्धनमत्यन्तमामगन्धिं दुर्गन्धिं ॥ २५ ॥ पुनः कीदृशं तच्छ-
 शानम् । आनीतानां नानाशवानां यो बन्धुसार्थस्तदीयसंरोद-
 नैरासमन्ताद् हादिनो दिगन्ताः कुञ्जाश्च यस्मिन् । खगैरव-
 क्रुष्टा या आर्द्रा शिरा आन्नतन्मयश्च तामिर्निबद्धं दग्धप्रायं
 द्रुमखण्डं लताजालं च यस्मिन् ॥ २६ ॥ चितेः क्षोभः संचलनं

विंशाधिकशततमः सर्गः १२०

सहचरा ऊचुः ।

एवंप्रायाः कथाः कुर्वन्त्येनन्मिथुनं महत् ।
 पानं प्रवृत्तवत्सारं पातुं पशुनिमेषण ॥ १
 कदलीकन्दलीस्रच्छगुच्छाच्छोटनपण्डिताः ।
 विविधा वायवो वान्ति पुष्पकेसरमण्डिताः ॥ २
 वान्ति चाता वनोद्धान्तविविधामोदमांसलाः ।
 पीतधर्मकणाः क्रान्तललनालकलालकाः ॥ ३
 कुलाचलगुहागेहवलनोद्यन्मृगाधिपाः ।
 सरन्त्यसुरसंरम्भैर्लवणार्णवमारुताः ॥ ४
 तमालतालतरललीलान्दोलनलालिताः ।
 अनिलाजलकलोलोत्क्रान्तकोमलपल्लवाः ॥ ५
 ललन्नवलतावान्तपुष्पधूलिविधूसराः ।
 सरन्ति मरुतो मन्दमुद्यानेषु नृपा इव ॥ ६
 मधुरं वंशविश्रान्तोऽगातुमेष वनानिलः ।
 प्रवृत्तः पाण्डुनगरनारीभिरिव शिक्षितः ॥ ७
 निकारः कर्णिकारेण पवनस्य यदा कृतः ।
 तदा परिहरन्त्येनं भ्रमरा अपि दूरतः ॥ ८
 न ददाति फलं किञ्चिदर्थिने न च पल्लवम् ।
 तालः स्तम्भतयाऽऽरम्भं ह्यरूपैव विनाऽऽकृतिः १
 राग एव हि शोभायै निर्गुणानां जडात्मनाम् ।

तेन ज्वालोद्दीपनात्कृतप्रकाशम् । महाकेशैः कृतमन्दवृन्दं
 मेघसमूह इव यत्र । क्वचित्तु अस्तस्यक्तः शैलो येन तथाविधं
 रक्तैः अर्कं धराया वितानमिव स्थितम् । नक्तं स्तनत् गर्जद-
 भ्रमिव स्थितम् ॥ २७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पथिकशतविरहवर्णनं नामैको-
 नविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

अप्यन्ते वायवो वृक्षा भ्रमरा वनपङ्क्तयः ।

देवस्त्रियोऽधिधीन्यश्च हेमचूडखगादयः ॥ १ ॥

हे पथनिमेषण, एवं प्रागुक्तप्रायाः कथाः कुर्वन्त्येनं प्रागुक्तं
 मिथुनं स्त्रीपुंसशुभं संप्रति सारमुत्तमं सीधुवानं पातुं प्रवृत्तवत्
 पश्येति मिथुनकथोपसंहारः । 'अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः'
 इत्येनदादेशः ॥ १ ॥ वायून्कश्चिद्वर्णयति—कदलीत्यादिना ।
 गुच्छानामाच्छोटने विकासने पण्डिताः ॥ २ ॥ क्रान्तानां
 विक्षिप्तानां ललनालकानां लालक्य विलासकाः ॥ ३ ॥ कुला-
 चलानां गुहागेहेषु चलने प्रविश्य भ्रमणे उद्यन्त उद्युक्ता मृगा-
 धिपाः सिंह इव । असुराणामिव संरम्भैर्मैरुक्षितराकमणोद्योगैः
 सरन्ति ॥ ४ ॥ तमालेषु तालेषु च तरलशिशुवत् लीलान्दो-
 लनैर्दोलिताः । जलकलोलैश्च सल्लस्य क्रान्ता वृक्षाग्रकोमलप-
 ल्लवा यैः ॥ ५ ॥ ललन्त्यो या नवा लतास्ताभिर्वान्ता याः
 पुष्पधूलयस्ताभिर्विधूसराः ॥ ६ ॥ वंशेषु कीचकवनेषु विश्रान्तः ।
 पाण्डुनगरे हस्तिनापुरे नार्यो गानविद्याकुशला इति प्रसिद्धिः
 ॥ ७ ॥ भ्रमरैः कर्णिकारवृक्षस्य दूरतस्यागे हेतुसुप्तैश्चो-

राजैव राजते राजन्मरणैवैष किंशुकः । १०
 आगच्छ कर्णिकारोऽयं विकारस्यैव भाजनम् ।
 निरामोदः किमेतेन निर्गुणेनेव जन्तुना ॥ ११
 विलोलमञ्जरीजालतडित्सद्गस्थितोऽसितः ।
 चातकस्याम्बुदभ्रान्ति तमालः कुरुते मुधा ॥ १२
 पत्राला घनसंघाताः सच्छायावृतभूभृतः ।
 गुणानां महतां योग्या वंशा वंशा इवोद्यताः ॥ १३
 हेमसान्वासनस्थोऽप्यो वातव्याधितटोऽम्बुदः ।
 तडित्पीताम्बरं धत्ते क्षुब्धं हरिरिवोद्भवः ॥ १४
 प्रवेशनिर्गमव्यग्रतरत्नगशिनीमुखः ।
 प्रफुल्लकिंशुको भाति वीरो रक्त इवासृजा ॥ १५
 मन्दारमञ्जरीपुञ्जपिञ्जराभ्योदमन्दिरे ।
 महेन्द्रमस्तके मत्ताः सुप्ता गन्धर्वकामिनः ॥ १६
 कल्पद्रुमवनच्छाया विश्रान्ता विततान्विताः ।
 पश्य पार्थिव गायन्ति सिद्धविद्याधराध्वजाः ॥ १७
 पश्य कल्पद्रुमस्यास्य पल्लवे पल्लवे वने ।
 विश्रान्ताः सुरसुन्दर्यो गायन्ति च हसन्ति च ॥ १८
 मन्दिरं मन्दपालस्य मन्दरे मृदुमन्दिरे ।
 मुनेरिदमुदारस्य भार्या सा यस्य पक्षिणी ॥ १९

निकार इति । निकारो गन्धपरागाद्यनर्पणेन तिरस्कारः ॥ ८ ॥
 अयं तालः स्तम्भप्रायतया दुरारोहत्वादर्थिने फलं न ददाति
 पल्लवं च न ददाति । हि यस्मात्कारणादुज्जताप्याकृतिरस्य अर्थ्य
 भिलापपूरणारम्भं विना अरुणं न शोभत इत्यर्थः ॥ ९ ॥
 औदार्यादिगुणशून्यानां जडात्मनां मूर्खाणां वस्त्रालंकाराद्य-
 म्बरेण रागः शरीररञ्जनमेव शोभायै नान्यदित्यर्थः । किंशुकः
 पुष्पितः पलाशः ॥ १० ॥ विकारस्य वृषाऽयमनुसृत इति विषाद-
 लक्षणस्य चित्तविकारस्यैव ॥ ११ ॥ मञ्जरीजाललक्षणतडित्सद्गेन
 स्थितः असितश्च तमालश्चातकस्याम्बुदभ्रान्ति कुरुते । मुधा
 वृषा ॥ १२ ॥ पत्रैः पर्णैर्वाहनैश्च अलाः भूयिताः । घनो दुर्मेघः
 संघातो येपाम् । सतीभिश्छायाभिर्वृता भूभृतो गिरयो यैः ।
 सता छायायै धृताः स्त्रोक्ता भूभृतो राजानो यैः । गुणानां धृ-
 र्भावे मौर्वीणां सन्मानाधीना च ॥ १३ ॥ हेममयसानुलक्षणे आ-
 सने तिष्ठत्यम्बुदः, हेमसानुसदृशे हरिः । अत एवाग्रे भवोऽप्यः ।
 वातलक्षणो व्याधिस्रटेषु यस्याम्बुदस्य वातव्याधिरुद्धवस्त्रटे
 सजिघी यस्य हरेः । तडिद्विः पीतमम्बरमाकाशं धत्तेऽम्बुदः,
 तडिद्विपीतमम्बरं वस्त्रं धत्ते हरिः ॥ १४ ॥ प्रवेशनिर्गमयोग्यं प्रा-
 सरन्तः खगा इव शिलीमुखा बाणाः अलव्यश्च यस्य । वीरो
 योधः असृजा रक्तप्रवाहेण रक्तो रञ्जित इव ॥ १५ ॥ महेन्द्रस्य
 गिरेर्मस्तके शिखरे । पानमत्ताः सन्तः सुप्ताः ॥ १६ ॥ विशिष्टै-
 स्तत्तैर्वीणादिवाद्यैरन्विताः ॥ १७ ॥ १८ ॥ मन्दपालस्य मुनेर्महामा-
 रतादौ प्रसिद्धस्य सा प्रसिद्धा पक्षिणी जरितास्या गृध्री ॥ १९ ॥

२ क्षुब्धमित्यत्र ॥ आर्काशंपक्षे तडिद्विरेव क्षुब्धम् । वक्षपक्षे

सचलितं स्फुरत् २ उद्भव ऊर्ध्वभवः, पक्षे उत्कृष्टैर्ध्वजैः,

अन्योन्यामतसिंहेभनकुलोरगकेलिकाम् ।
 पश्य मुन्याश्रमश्रेणिं सर्वतुङ्गसुमद्रुमाम् ॥ २०
 विद्रुमद्रुमसिंश्रानामम्भोधितटवीरुधाम् ।
 विम्बिताकाः कचन्त्येते पल्लवेषूदविन्दवः ॥ २१
 धीचयो रत्नमाणिक्यपदेष्वावर्तवृत्तिभिः ।
 विलसन्ति विलासिन्यो वक्षःस्त्रिव विलासिनाम् ॥ २२
 नागलोकेन्द्रलोकस्त्रीगमनागमनोद्भवः ।
 दिव्यो भूषणझांकारः श्रूयते नभसः शृणु ॥ २३
 श्रवणोपान्तविभ्रष्टमदमत्तालिनीस्वरैः ।
 ऐरावणस्नानभुवो गायन्तीव शुद्धा गिरेः ॥ २४
 हसतोऽनुदिनं कृष्णपक्षे कृष्णान्तलेखिकाः ।
 दृश्यन्ते कृशगात्रस्य वास्तुकावलयोऽम्बुधेः ॥ २५
 आमोदगन्धश्वसना सच्छाया शीतलाङ्गिका ।
 एकान्तदर्शिताकारा नानाकुसुमपूरिता ॥ २६
 वनविन्यासवसना निर्झरामलहासिनी ।
 आस्तीर्णपुष्पास्तरणा धन्या वनविलासिनी ॥ २७
 रमन्ते नन्दनोद्याने न तथोदारबुद्धयः ।
 यथोपशान्तशब्दास्तु शुद्धास्तु वनभूमिषु ॥ २८

सुविरक्तं मुनेश्चेतो रक्तं च विषयार्थिनः ।
 रमयन्ति समं रम्या विजना वनभूमयः ॥ २९
 सलिलाघौतवप्राणामम्भोधितटभूमृताम् ।
 नूपुरैरिव रत्नौघैः पादा भान्ति ध्वनन्ति च ॥ ३०
 पुंनागनगविश्रान्ताः कान्तकाञ्चनकान्तयः ।
 हेमचूडाः खगा भान्ति दिवि देवगणा इव ॥ ३१
 भ्रमराम्भोदधूमाढ्याः फुल्लचम्पककानताः ।
 कम्पन्ते पश्य वातेन ज्वलिता इव पर्वताः ॥ ३२
 कुर्वन्तं करवीराग्रलतान्दोलावदोलकम् ।
 कोकिलं कोकिलालिङ्ग्य लोलालापयति प्रियम् ॥ ३३
 लसत्कलकलारावमेता लावणसैन्धवीः ।
 पूर्णास्तटभुवो भूपैः पश्योपायनपाणिभिः ॥ ३४
 आ पूर्वादाऽपरस्माल्लवणजलनिधेरोत्तराक्षिणाद्वा
 देवोदग्राजिशिष्टा इह नरपतयः पादपीठीक्रियन्तां
 दीयन्तां मण्डलानां दिशि दिशि च यथाशास्त्रमन्त्रा-
 ग्यवन्त्या
 रक्षायै क्षान्तिपूर्वं चिरमतुलबलं शान्तया शास-
 नानि ॥ ३५

इत्यार्षे श्रीवासि० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अविद्यो० विप० दिगन्तरवृत्तिवाग्यादिवर्णनं नाम विशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अथ तेष्वर्णवतटेष्वेते भूमौ विपश्चितः ।

अन्योन्यममतानां सिंहेभादीनां जातिवैरपरित्यागेन प्रीतिके-
 लिका यस्यां तथाविधां मुन्याश्रमश्रेणिम् ॥ २० ॥ विद्रुमद्रुमसिं-
 श्रानां संवलितानामम्भोधितटस्थानां वीरुधां लतानां पल्लवेषु
 विम्बितः अकों येषु तथाविधा एते उदविन्दवः उदकविन्दवः
 कचन्ति । 'मन्योदनसक्तुविन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च' इत्यु-
 दकस्योदादेशः ॥ २१ ॥ रत्नमाणिक्यानां पदेष्वाकरस्थानेषु वीचय
 आवर्तवृत्तिभिर्मुहुर्मुहुः परिवर्तनैर्विलसन्ति क्रीडन्ति । विलासि-
 न्यस्तरुण्यो विलासिना स्वकान्तानां वक्षःस्त्रिव ॥ २२ ॥ २३ ॥ श्रव-
 णोपान्ताद्गण्डस्थलाद्भिष्ट्रैर्मदैर्मत्तानामलिनीनां स्वरैरैरावणस्यैरा-
 वतस्य स्नानभूमेर्गिरेरिमा शुद्धा गायन्तीव पश्य ॥ २४ ॥ कृष्ण-
 पक्षे चन्द्रमसु हसतः अम्बुधेः कृष्णान्तरेखारूपा वास्तुके निवा-
 सभूमिभूते वेलतटे पङ्क्तयो दृश्यन्ते ॥ २५ ॥ वनान्येव कश्चित्स्त्री-
 रूपेण वर्णयति—आमोदेति द्वाभ्याम् । विशेषणानि सर्वाणि
 श्लेषादिनाथं द्वयपराण्येकीकृत्य योज्यानि । वनामोद एव गन्धयुक्तं
 श्वसनं श्वासो यस्याः ॥ २६ ॥ वनलक्षणा विलासिनी स्त्री ॥ २७ ॥
 उदारबुद्धयो देवादयः ॥ २८ ॥ मुनेर्विरक्तं चेतो विषयार्थिनः
 कामिनो रक्तं च चेतः समं तुल्यतया रमयन्ति ॥ २९ ॥ पादाः
 प्रत्यन्तपर्यतास्तल्लक्षणाधरणाश्च ॥ ३० ॥ ३१ ॥ भ्रमरैरम्भोदैश्च
 धूमाढ्याः । यतः कम्पन्ते अतो ज्वलिता इव ॥ ३२ ॥ करवी-
 रस्य अग्रलता ऊर्ध्वशाखा तल्लक्षणदोलाया अवदोलकमान्दो-
 यो० वा० १७१

उपविश्यैतदखिलं चक्रुः राज्यप्रयोजनम् ॥ १

लनं कुर्वन्तं कोकिलं तत्प्रिया कोकिला आलिङ्ग्य मधुरगीतमा-
 लापयति ॥ ३३ ॥ हे राजन्, एता लवणसिन्धोरिमा लावण-
 सैन्धवीः 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः ।
 लसत्कलकलं यथा स्यात्तथा उपायनपाणिभिर्भूपैः पूर्णास्तटभुवः
 पश्य ॥ ३४ ॥ हे देव, आ पूर्वाल्लवणजलनिधेः आऽपरस्मात्प-
 श्चिमास्त्रलवणजलनिधेश्च तथा आ उत्तराक्षिणाद्वा लवणजल-
 निधेः । मर्यादायामाहः । इहासिन् जम्बूद्वीपे उदग्रे आजौ
 शिष्टा अवशिष्टा ये यावन्तो नरपतयस्ते सर्वे पादपीठीक्रिय-
 न्ताम् । शिरसि पादार्पणेनानुगृह्यन्तामिति यावत् । किंच तत्त-
 न्मण्डलानामवन्त्या दिशि दिशि चिरं रक्षायै यथाशास्त्रं नीति-
 शास्त्रोक्तप्रकारेण क्षान्तिपूर्वं समाधानपुरःसरं शान्तया धिया
 शासनानि दीयन्ताम् । तदन्वक्षाणि दीयन्तां तदनु च बलं
 स्वसैन्यं दीयताम् ॥ ३५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दिगन्तरवृत्तिवाग्यादिवर्णनं नाम
 विशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२० ॥

अत्र मण्डलमर्यादां संस्थाप्याग्निमुपेयुषाम् ।

वरादग्नेर्दिगन्तानां दर्शनोद्योग ईर्यते ॥ १ ॥

अथ एते प्रागुक्ता विपश्चितेस्तेष्वर्णवतटेषु उपविश्य एत-
 त्प्राज्ञाभिभिर्निवेदितं मण्डलमर्यादास्थापनरूपं प्रयोजनं चक्रुः

| | |
|---|---|
| तदा तत्रैव ते वासभूमिं कृत्वा यथाक्रमम् । तत्स्थुर्मण्डलमर्यादां स्थापयामासुरक्षताम् ॥ २ | वभूव भगवानेषामथ दृश्यो हुताशनः । आकारवान्वरं पुत्राः प्रगृहीतेत्युवाच ह ॥ ११ |
| अथ वर्णयितुं श्रीमांस्तत्प्रतापसिवागमत् । संप्रविश्य समुद्रान्तरन्यलोकान्तरं रविः ॥ ३ | विपश्चित ऊचुः । पञ्चभूतात्मकस्यास्य दृश्यस्यान्तं सुरेश्वर । देहेन मन्त्रदेहेन तदन्ते मनसापि च ॥ १२ |
| आययौ यामिनीश्यामा मेघलेखेव तानवम् । संपादिताहर्व्यापारास्तस्थुः स्वशयनेषु ते ॥ ४ | यावत्संवेदनं यावत्संभवं यावदात्मकम् । पश्येम इति नो देव दीयतामुत्तमो वरः ॥ १३ |
| आसमुद्रं नदीवाहा इव दूरादुपागताः । इदं संपादयामासुर्विसयाकुलचेतसः ॥ ५ | आसिद्धगम्यमध्वानं पश्येम वपुषा वयम् । तदन्ते मनसैवाथ दृश्यं पश्येम भो प्रभो ॥ १४ |
| अहो नु दूरमध्वानं प्राप्ता वयमयत्नतः । प्रभावाद्देवदेवस्य बह्वेर्दिव्यैः स्ववाहनैः ॥ ६ | आसिद्धगम्यमध्वानं मृत्युरस्माकमस्तु मा । अध्वन्यसंभवदेहे मन एव प्रयातु नः ॥ १५ |
| क्रियती स्यात्प्रविस्तीर्णा दृश्यश्रीरियमातता । इतः समुद्रस्तदनु द्वीपभूरम्बुधिः प्रभुः ॥ ७ | श्रीवसिष्ठ उवाच । अथैवमस्त्विति प्रोच्य पावकः सहसागमत् । क्षणादौर्वेतया यातुं समुद्र इव सत्वरः ॥ १६ |
| इतो द्वीपं ततोऽम्भोधिः किमन्ते स्यात्ततोऽपि च । क्रियती कीदृशी वा स्यान्मायेयं चेत्यरूपिणी ॥ ८ | अग्निर्जगामाथ समाजगाम निशा विलम्ब्याथ जगाम सापि । समाजगामापि रविर्जगाम तेषां च धीरार्णवलङ्घनेहा ॥ १७ |
| तत्प्रार्थयामहे देवं हुताशं तद्वरादिमाः । प्रेक्षामहे दिशः सर्वा आपर्यन्तमखेदिनः ॥ ९ | तेषां च धीरार्णवलङ्घनेहा ॥ १७ |
| इति संचिन्त्य ते सर्वे यथास्थानमवस्थिताः । सममेवाह्वयामासुर्भगवन्तं हुताशनम् ॥ १० | इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० भो० नि० उ० अदि० विप० विपश्चिन्त्रिण्यो नामैकविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२१ ॥ |

द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।
ततः प्रभाते प्रसभं पृथिव्याः
कृत्वा यथाशास्त्रमलं व्यवस्थाम् ।

॥ १ ॥ स्वयं तत्र तत्स्थुर्मण्डलमर्यादां च स्थापयामासुः ॥ २ ॥
तेषां विपश्चितां प्रतापम् । लोकान्तरं ज्योतिषमते पाताललो-
कम् । पौराणिकमते मेरुत्तरभागस्थं वर्षान्तरम् । समुद्रान्त-
रप्रविश्येति समुद्रतीरस्थजनदृष्ट्योक्तिः ॥ ३ ॥ तानवं विस्तारम् ।
ते विपश्चित ॥ ४ ॥ इदं दृश्यमाणं मनसि संपादयामासुर्वि-
न्तयामासुः ॥ ५ ॥ ६ ॥ तदेवाह—क्रियती स्यादित्यादिना ।
इतः अस्माज्जम्बूद्वीपात् परतो लवणसमुद्रस्तदनु लसद्द्वीपभूस्तत-
श्छुरसांम्बुधिः प्रभुर्महान् लवणसमुद्राद्विगुणायाम इति यावत् ॥ ७ ॥ इतः इक्षुसमुद्रात्परतः कुशद्वीपं ततः परतः सुरोदो-
ऽम्भोधिः । एवं क्रमेण सप्तद्वीपसमुद्राणामन्ते किं स्यात् ।
ततोऽपि च परतः किं स्यात् । इयं चेत्यरूपिणी माया क्रियती
स्यादस्तुवैचित्र्येण कीदृशी वा स्यात् ॥ ८ ॥ तत्सर्वं द्रष्टुं हुताशं
देवं प्रार्थयामहे प्रार्थयेमहि ॥ ९ ॥ यथास्थानं चतुःसागर-
कुलेष्ववस्थितास्ते सभं युगपदेव ॥ १० ॥ ११ ॥ यावद-
नेन देहेन गन्तुं शक्यं तावदनेन देहेन । एतदगम्ये वैदिक-
मन्त्रप्रभावसंस्कृतेनानेनैव देहेन । तदगम्ये मनसा ॥ १२ ॥
यावत्संवेदनमिति प्रत्यक्षयोग्यसर्वाद्योक्तिर्यावत्संभवमित्यनुमा-
नगम्यसर्वाद्योक्तिर्यावदात्मकमिति श्रुत्यादिगम्यतदुक्तिः । अथवा

आविष्टदेहा इव ते रसेन
निषेध्यमाना इव मन्त्रिसुख्यैः ॥ १

आधेन यावत्स्थूलोक्तिः, द्वितीयेन यावत्सूक्ष्मोक्तिः, तृतीयेन
यावत्कारणप्रपञ्चोक्तिः । इति नः अस्मभ्यं वरो दीयताम् ॥ १३ ॥
सिद्धा योगिनस्तेषां योगप्रभावगम्यमभिव्याप्येत्सासिद्ध-
गम्यम् । वपुषा अनेनैव देहेन । अथ तदन्ते तदगम्यमिति
यावत् ॥ १४ ॥ अध्वानं गच्छतामिति शेषः । असंभवदेहे
अध्वनि दक्षिणोत्तरायणादिमार्गरूपे मृत्यैव गन्तुं शक्ये अध्वनि
॥ १५ ॥ अथ तद्वरप्रार्थनानन्तरम् । और्वेतया वडवामिभावेन
समुद्रे यातुं सत्वर इव ॥ १६ ॥ एवं वर दत्त्वा अग्निर्ज-
गाम । अथ निशा समाजगाम । सा निशापि यामनदुष्टं
विलम्ब्य जगाम । अथ रविः समाजगाम । तेषां विपश्चितां
धीरार्णवलङ्घनेहा च समाजगाम ॥ १७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विपश्चिन्त्रिण्यो
नामैकविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२१ ॥

पदैरन्विष्टतरङ्गेषु गच्छन्तोऽत्र विपश्चितः ।
विद्वान्वावर्तमकरान्निर्याताः साधुवर्जिताः ॥ १ ॥
यथाशास्त्रं नीतिशास्त्रमनतिक्रम्य राज्यविभागपरिपालनो-
पायोपदेशमर्यादास्थापनादिव्यवस्थां कृत्वा । रसेन दिगन्तदर्श-
नोत्कण्ठातिशयेन ग्रहाद्याविष्टदेहा इव साक्षानिवेदुमशकुवन्नि-

निवार्य सर्वं परिवारमात्र-
 माक्रन्दमानं घदनै रुदद्भिः ।
 निरस्य चास्नेहतयाभिमान-
 मात्सर्यलोभाभिभवैषणादि ॥ २
 दिगन्तमालोक्य समुद्रपारे
 क्षणात्समायाम इति ब्रुवन्तः ।
 स्वमन्त्रशक्त्योत्तमतां गतैस्तै-
 रब्धिः पदैरेव तदा प्रविष्टः ॥ ३
 विपश्चितस्ते दिशि दिश्यन्त्वै-
 र्भृत्यैः समुद्रं प्रविशद्भिरेव ।
 भृत्यैश्च कैश्चित्त्वनुगम्यमाना
 ययुर्यथा वारिणि पद्भिरेव ॥ ४
 तरङ्गजालेषु पदानि कृत्वा
 पृष्ठे स्थलस्येव जलस्य चान्तः ।
 चत्वार एकैकतयैव युक्ता
 भृशं वियुक्ता निजसेनया ते ॥ ५
 पदक्रमेणैव महार्णवान्त-
 स्तावत्प्रविष्टा अवलोकितास्ते ।
 तटस्थितैर्यावददृश्यभावं
 शरन्नभोमेघलवा इवापुः ॥ ६
 तमध्वानमथोदुस्ते जलधौ पादचारिणः ।
 वितताध्यवसायेन वद्धकक्षाहरा इव ॥ ७
 उन्नतावनतामद्रिसमारोहावरोहणैः ।

मन्त्रिमुखैरिद्वितैर्निषेध्यमानत्वादिवकारः ॥ १ ॥ परिवारमात्रं
 कृत्वां परिजनं निवार्य । अभिभवः शत्रुपराभवस्तदेषणा ।
 आदिपदाद्राज्यस्त्रीपुत्रालेषणापरिग्रहः । अथवा अभिभवः शत्रु-
 भिरुपहसद्भिस्तैरस्कारः, एषणाश्च प्रायुक्ताः । आदिपदाद्राज्य-
 धनादीश्च निरस्य हित्वा ॥ २ ॥ वयं समुद्रपारे दिगन्तमालोक्य
 क्षणाच्छीघ्रमेव समायाम इति परिजनसमाधानाय ब्रुवन्तः
 सन्तो जग्मुरेत्यध्याहारः । अग्निप्रसादहेतुमन्त्रशक्त्यैव भूमि-
 जलादिभूतजयेनोत्तमतां सिद्धतां गतैस्तैस्तदा अब्धिः पदैरेव
 प्रविष्टो न तु पोताद्युपायेनेत्यर्थः ॥ ३ ॥ जेहातिशयात्समुद्रं
 प्रविशद्भिः कैश्चिद्भृत्यैरनुगम्यमानाः पद्भिरेव ययुः ॥ ४ ॥ कथं
 ययुस्तदाह—तरङ्गेति । स्थलस्य भूमेः पृष्ठ इव तरङ्गजालेषु
 पदानि कृत्वा विन्यस्य । युक्ता उच्युक्ताः ॥ ५ ॥ तटस्थितै-
 र्भृत्यजनैस्ते तावत्कालमवलोकित्वा यावच्छरन्नभोमेघलवा इव
 अदृश्यभावमापुः ॥ ६ ॥ विततेनाध्यवसायेन दृढनिश्चयेन ।
 हस्तिपक्षस्थानीयेन प्रेर्यमाणस्ते विपश्चितो वद्धां कक्षां हरन्ति
 तथाविधा गजा इव तं जलाध्वानं ऊहुः अतिवाहयामासुः
 ॥ ७ ॥ अद्रिसमैः आरोहावरोहणैर्निब्रोञ्जतीभावैः उन्न-
 तावनता वारितरङ्गाणां श्रियं शोभां स्वयमपि तत्स्वीकारा-

१ अद्भिः इति मुद्रितपाठश्चिन्त्यः.

श्रियं वारितरङ्गाणां हरन्तो हरिमूर्तयः ॥ ८
 आवर्तेषु तृणानीव भ्रान्ता विगतसंभ्रमम् ।
 चिरं चञ्चलमत्ताभ्रचन्द्रमण्डलशोभिषु ॥ ९
 मन्त्रविद्यावलौजोभिर्दुर्जयाः शस्त्रपाणयः ।
 कचित्प्रमत्तैर्मकरैर्निगीर्णोद्गीर्णदेहकाः ॥ १०
 जलकल्लोलविभ्रान्तवातोत्सारितमूर्तयः ।
 नीतानीताः क्षणेनैव योजनानां शतं शतम् ॥ ११
 जलकल्लोलमातङ्गतुङ्गिताङ्गतया तथा ।
 दधाना निजराज्येभपृष्ठरोहस्थितिश्रियम् ॥ १२
 विस्तीर्णोर्मिघटापट्टपाटपट्टनपाटवैः ।
 दर्शयन्तो जलाम्भोदनिष्कान्तिं मारुता इव ॥ १३
 तरत्तरलमातङ्गतरङ्गौघविघट्टिताः ।
 अत्यजन्तो निजं धैर्यं वेलावरतटा इव ॥ १४
 महोर्मिमुक्तामाणिक्यमण्डलप्रतिबिम्बिताः ।
 एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥ १५
 पाण्डुडिण्डीरपिण्डेषु कुर्वन्तो लाघवात्पदम् ।
 श्वेतपद्मपरिक्रान्तराजहंसश्रियं दधुः ॥ १६
 घननिर्घातनिर्घोषभीषणार्णवधुंघुमात् ।
 न भीता भूभृतस्तत्र वेलावलनजृम्भितात् ॥ १७
 अभ्रंलिहजलाद्गीन्द्रपातोत्पातविघट्टिताः ।
 क्षणं पातालमाजग्मुः क्षणमर्कास्पदं ययुः ॥ १८
 अशङ्कितोत्पतद्धारिपूरपातपटावृताः ।
 उत्पातपातनिपतद्वितानकवृता इव ॥ १९

हरन्तः । अत एव हरेर्मूर्तिरिव मूर्तिर्येषाम् । हरिमूर्तिरपि
 हि मन्त्राद्रेमैन्धनकाले वारितरङ्गाणां समारोहावरोहणैरुन्नताव-
 नतां श्रियं लक्ष्मीं जहारेति प्रसिद्धमिति भावः ॥ ८ ॥ मत्ता-
 भ्रप्रविष्टेन चन्द्रमण्डलेनैव स्वप्रवेशाच्छोभमानेष्वारवर्तेषु तृणा-
 नीव चिरं भ्रान्ताः ॥ ९ ॥ पूर्व निगीर्णाः पश्चाज्जराशक्त्या
 उद्गीर्णा देहा येषाम् ॥ १० ॥ ११ ॥ जलकल्लोलक्षणेर्मार्तगै-
 स्तुङ्गिताङ्गतया आरोहिताङ्गतया अपूर्वचमत्कारिण्या ॥ १२ ॥
 विस्तीर्णानामूर्मिघटालक्षणाणां शिलापट्टानां यः पाटनं पाटो
 विदारणं यच्च पट्टनमधोमुखीकरणं तत्र पाटवैः कौशलैः
 जललक्षणादम्भोदनिष्कान्तिं मारुता मरुदीपिता विद्युत इव
 दर्शयन्तः ॥ १३ ॥ तरलमातङ्गैरेव तरङ्गौघैर्विघट्टिता अपि
 वेलासु प्रसिद्धा वरतटाः शिलावप्रा इव निजं धैर्यं अत्यजन्तः
 ॥ १४ ॥ महोर्मिषु मुक्तामाणिक्यमण्डलेषु च प्रतिबिम्बिताः
 सन्तः पुरुषाणां समूहः पौरुषेयं तेन परिवृता इव भासमानाः
 ॥ १५ ॥ श्वेतपद्मेषु परिक्रान्तस्यारूढस्य राजहंसस्य श्रियम्
 ॥ १६ ॥ निर्घातः स्फूर्जधुः । भूभृत इति छिद्यम् । यतो
 भूभृतस्ततो न भीताः ॥ १७ ॥ अभ्रंलिहेभ्यो जलमयेभ्योऽ-
 द्रीन्द्रेभ्यः पातैरुत्पातैश्च विघट्टिताः सन्तः ॥ १८ ॥ उत्पातस्य
 पाते प्राप्तौ निपतन्तो ये मेघवितानकास्तैर्हता इव ॥ १९ ॥

प्रक्रान्तास्तेभ्युराशौ सहचरमकराः शूरनकैः कुलीरैः
व्यासावर्ताविवृत्ताः सलिलतरुलतासीकरैरन्तरालैः

कुर्वन्तः कान्तियुक्तं वपुरिव कुसुमैर्भ्रातृमाणिक्यमुक्तैः
व्यक्तान्यकांशुजालैः प्रतिपदमितरैरभ्ररूपैरदभैः २०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० बलपरिभ्रंशो नाम द्वाविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२२ ॥

त्रयोविंशाधिकशततमः सर्गः १२३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इत्येते हृदयरूपाया अविद्याया विचारणे ।
प्रवृत्ताः पादचारेण समुद्रद्वीपगामिनः ॥ १ ॥
अन्धेद्वीपं पुनर्द्वीपादधि द्वीपं गिरिं वनम् ।
लाघवाल्लङ्घयामासुर्द्वेदमेदविचर्जिताः ॥ २ ॥
पीतो विपश्चित्पाश्चात्यो मीनेनामरमानिना ।
विष्णुमीनकुलोत्थेन वितस्तावाहनौजसा ॥ ३ ॥
क्षीरोदं प्राप्य मत्स्येन तेनोद्वीर्णः सुदुर्जरः ।
तेन क्षीरोदमुल्लङ्घ्य गतो दूरं दिगन्तरम् ॥ ४ ॥
दक्षिणो यक्षनगरे संप्रेक्ष्येक्षुरसारणवे ।
शिक्षादक्षिण्याक्षिप्य यक्षिण्या कामुकीकृतः ॥ ५ ॥
पूर्वो मकरमाक्रम्य यदा गङ्गां निकृत्तवान् ।
गङ्गाया स तदानीय कान्यकुब्जे समुज्झितः ॥ ६ ॥
उत्तरस्तत्तरकुलनाराभ्य प्राप्तवाञ्छिश्रयम् ।
तं तयैनं न बाधन्ते दिगन्ते मृतभीतयः ॥ ७ ॥

अद्वैतैर्वहलैरभ्ररूपैर्व्याकांशुजालैर्भ्रातृमाणिक्यमुक्तासमूहैः
अन्तरालैः सलिलमयतरुलताप्रायाणां तरङ्गाणां सीकरैश्च कुसु-
मैरिव वपुः कान्तियुक्तं भूषितं कुर्वन्तः तथा शूरैर्नकैः कुलीरैः
कर्कटकैश्च व्यातेष्वावर्तेषु आसमन्ताद्विबुलाः सहचरा मकरा
येषा तथाविधास्ते विपश्चितः अम्बुराशौ समुद्रे प्रक्रान्ताः
चलिता इत्यर्थः ॥ २० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे बलपरिभ्रंशो नाम द्वाविंशाधि-
कशततमः सर्गः ॥ १२२ ॥

इह द्वीपसमुद्रेषु प्रयासानां विपश्चिताम् ।

पाश्चात्यादिक्रमात्प्राप्ता वर्ण्यन्ते विविधा दशाः ॥ १ ॥

इति अनया रीत्या एते विपश्चितः पादचारेण हृदयरूपाया
अविद्याया अन्तर्पर्यन्तं विचारणे प्रवृत्ताः ॥ १ ॥ लाघवान्छै-
ष्यात् ॥ २ ॥ तत्र पाश्चात्यः पश्चिमदिगन्तदर्शनाय प्रवृत्तो विप-
श्चिदमरोऽहमित्यभिमानवता मीनेन पीतो निर्गीर्णः । वितस्ता
नदी सा ह्यत्यन्तशीघ्रगा असिद्धा तद्वाहनस्य नौकादेरोज इव
शीघ्रतरमोजो यस्य तथाविधेन ॥ ३ ॥ सुदुर्जरो जरयितुमशक्यः
॥ ४ ॥ द्वितीयस्योदन्तमाह—दक्षिण इत्यादिना । इक्षुरसा-
र्णवे स्थिते यक्षनगरे । वक्षीकरणविद्याशिक्षाविषये, दक्षिण्या
कुशलया यक्षिण्या प्रेक्ष्य विद्यावलेनाक्षिप्य स्वकामुकीकृतः ॥ ५ ॥
तृतीयस्योदन्तमाह—पूर्व इति । पूर्वदिशि प्रवृत्तो विपश्चित् गङ्गा-
सहस्रमुखसंसेदान् क्रमेण पश्यन् यदा कचिन्मकरं प्रतिपुकारं

तथा मकरमातङ्गनिर्गीर्णोद्वीर्णमूर्तिमान् ।

अतिचक्राम सुवह्वन्दीपान्तरकुलाचलान् ॥ ८

पश्चिमः पृष्ठमारोप्य हेमचूडेन पक्षिणा ।

कुशद्वीपे कुशाङ्गश्रीस्तरसा तारतोऽर्णवान् ॥ ९

क्रौञ्चद्वीपाचले पूर्वो निर्गीर्णो रक्षसा वने ।

तद्रक्षः पाटितं तेन हृदयेऽभ्रविकर्तनैः ॥ १०

दक्षिणो दक्षशापेन यक्षतामागतः क्षणात् ।

शाकद्वीपे शतेनासौ वर्षाणां मोक्षमागतः ॥ ११

उत्तरस्तरसोत्तीर्णतारावरतरङ्गिणः ।

महार्णवसुवर्णोर्व्या सिद्धशापाच्छिलां गतः ॥ १२

ततो वर्षशतेनासौ प्रसादाज्जातघेदसः ।

तेनैवोन्मोचितस्तत्र सिद्धेन रतिमाप्तवान् ॥ १३

वर्षाण्यष्टावभूद्राजा नालिकेरनिवासिनाम् ।

पूर्वः परमधर्मिष्ठः प्राप्तवान्प्राक्समूर्तिं ततः ॥ १४

बलादाक्रम्य तस्योद्धाराय गङ्गामानीय निकृत्तवान् विदारितवान्
तदा स विपश्चित् गङ्गाया परावृत्तानीय कान्यकुब्जे नगरे समु-
ज्झितस्तस्य ॥ ६ ॥ चतुर्थस्योदन्तमाह—उत्तरस्त्विति ।
उत्तरकुलं लक्षणया उत्तरकुलं देव्या सह क्रीडन्तमीश्वरमा-
राभ्य श्रियमणिमाद्यैश्च प्राप्तवान् । अत एव तमेन विपश्चितं
तयैव श्रिया दिगन्ते प्रपुष्टमपि मृतं मरणं तत्प्रयुक्ता भीतयो
न बाधन्ते । अमरोऽभूदित्यर्थः ॥ ७ ॥ तथा श्रियैव तत्प्रभावे-
णैवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ पुनः पश्चिमस्योदन्तमाह—पश्चिम इति ।
हेमचूडेन गरुडेनेति यावत् । कुशद्वीपे हि कुशाख्ये स्थितो
गरुडः पूजादिना प्रसादितस्त्र्यम्बकपमर्णवाश्च तारयतीति प्रसिद्धिः ।
स्वर्णमयकुशाख्येव अत्र श्रीदेहकान्तिर्यस्य ॥ ९ ॥ पुनः पूर्वस्यो-
दन्तमाह—क्रौञ्चेति । क्रौञ्चद्वीपे प्रसिद्धे वर्षसीमाचले रक्षसा
निर्गीर्णः । अथ तद्रक्षसेन विपश्चिता अन्त्राणा विकर्तनैः पाटितं
विदारितम् ॥ १० ॥ पुनर्दक्षिणस्योदन्तमाह—दक्षिण
इति । मोक्षं शापमोक्षम् ॥ ११ ॥ तरसा जवेनैव उत्तीर्ण-
स्तारा महान्तः अवराः क्षुद्राश्च तरङ्गिण्यश्च तरङ्गिणः समुद्राश्च
तरङ्गिणो येन । महार्णवस्य स्वादूदस्य परतः प्रसिद्धाया सुव-
र्णोर्व्या शिलां शिलालं गतः ॥ १२ ॥ येन सिद्धेन शापो
दत्तस्तेनैव शापादुन्मोचितः सन् रतिं मनःप्रीतिमाप्तवान्
॥ १३ ॥ पुनः पूर्वस्योदन्तमाह—वर्षाणीति । कान्यकुब्ज-

कल्पवृक्षवने मेरोरुचरेऽप्सरसा सह ।
 उवास दशवर्षाणि नालिकेरफलाशनः ॥ १५
 विहगाश्वासतत्त्वज्ञः शाल्मलिद्वीपशाल्मलौ ।
 पश्चिमः पक्षिणीनीडे क्रीडया न्यवसत्समाः ॥ १६
 मन्दराद्रौ मृदुतले मन्दारतरुमन्दिरे ।

किन्नरी मन्दरीनाम्नी दिनमेकमसेवत ॥ १७
 क्षीरोदवेलावनकल्पवृक्ष-
 वनावलीनन्दनदेवताभिः ।
 सार्धं समाः सप्ततिमप्सरोग्भि-
 निनाथ कामाकुलितोऽथ पूर्वः ॥ १८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० दिग्विहरणं नाम त्रयोविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः १२४

श्रीराम उवाच ।
 एकसंविन्मयाः सर्वे एवैकवपुषोऽपि ते ।
 विविधेच्छाः कथं ब्रह्मसंपन्ना एकदेहिनः ॥ १
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 एकसंविद्वनाकाशमप्यनानैव सर्वगम् ।
 स्वयं नानेव संपन्नं सुप्ते चित्तमिवात्मनि ॥ २
 तस्याच्छत्वात्तथाभूतमात्मैवात्मनि विम्बति ।
 तादृशस्य तथाभूतौ मुकुरस्येव निर्मला ॥ ३
 एकलोहमया एव यथादर्शाः परस्परम् ।
 तथैते प्रतिबिम्बन्ति पदार्थाः पारमार्थिकाः ॥ ४

देशादुत्तरां दिशं गतस्तत्र नालिकेरप्रधानदेशनिवासिनां राजा-
 ऽभवदित्यर्थः । प्राक्स्मृतिं पूर्वोदन्तस्मरणम् ॥ १४ ॥ १५ ॥ पुनः
 पश्चिमस्योदन्तमाह—विहगेति । विहगानामाश्वासे वशीकरण-
 विषये तत्त्वज्ञो रहस्यज्ञः । अत एव प्राग्गच्छेन पृष्ठमारोप्यार्ण-
 वांस्तारित इत्युक्तम् । पक्षिण्या नीडे तथा सह क्रीडया दशसमाः
 न्यवसदित्यर्थः ॥ १६ ॥ तदनन्तरं मन्दराद्रौ गतं तं पश्चिमविप-
 क्षितं मन्दराद्रौ किन्नरी दिनमेकमसेवत ॥ १७ ॥ अथ पूर्वो नालि-
 केरवनात्क्षीरोदवेलां गतः संस्तत्रत्यकल्पवृक्षवनावलीषु नन्दन-
 देवताभिरप्सरोग्भिः सार्धं कामाकुलितः सन् सप्ततिसमाः निनाय
 ॥ १८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे दिग्विहरणं नाम त्रयोविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

एकस्यापि चतुर्देहैर्व्यवहारः समर्थ्यते ।

द्वीपेषु नानाशैलेषु विहारश्च विपश्चित्ताम् ॥ १ ॥

चतुर्णामेकदेहत्वे एकजीवकत्वे च भिन्नेच्छत्वमनुपपन्नमिति
 रामः शङ्कते—एकेति । एकसंविदेकं साक्षिचैतन्यं तन्मया
 एकस्यैव वपुषश्चतुर्धाभावादिकवपुषश्च ते विपश्चितः । एकः
 देही जीवो येषाम् । तथाच जीवमेदं विना युगपदिच्छाभे-
 दोऽनुपपन्न इत्यर्थः ॥ १ ॥ एकस्यापि जीवस्याविद्यया स्वप्ने
 नानादेहादिकल्पनदर्शनात्तेषु च शत्रुमित्रोदासीनभावकल्पने
 नानेच्छत्वदर्शनाच्च सर्गादौ ब्रह्मणि जीवे जाग्रत्स्य तादृशकर्म-
 सत्त्वे सर्वसंभव इत्याशयेन वसिष्ठ उत्तरमाह—एकसंविदिति
 ॥ २ ॥ तस्य संविद्वनाकाशस्याच्छत्वात्पणवदतिस्वच्छत्वात्तथा-
 भूतं नानात्मतामिवापन्नं आत्मा स्वमेवात्मनि विम्बति दर्पणो-
 दराकाशे गिरिनद्यादिसहितं महाकाशमिवेत्यर्थः । तादृशस्य

तेन यस्य यदा यद्यत्पुरो भवति वस्तुवसौ ।
 यदर्थं युज्यते तेन चिद्वनैकस्वभावतः ॥ ५
 इत्यनानैव नानेदं नानानाना च वस्तुतः ।
 न च नाना न चानाना नानानानात्मकं ततः ॥ ६
 तेन यस्य यदायातं पुरो वस्तु विपश्चितः ।
 स तेन संविन्मयतामेत्य तद्वशमागतः ॥ ७
 एकदेशगता विष्वग्व्याप्य कर्माणि कुर्वते ।
 योगिनस्त्रिषु कालेषु सर्वाण्यनुभवन्त्यपि ॥ ८
 अब्दोऽपि व्याप्तिमानेकस्तुल्यकालं पृथक्क्रियाः ।
 आह्लादस्तेन पादेन करोत्यनुभवत्यपि ॥ ९

स्वच्छस्यापि तथाभूतौ नानाजगदाकारभवने मुकुरस्येव निर्मला
 स्वच्छतैव हेतुरिति शेषः ॥ ३ ॥ ननु जगदपि वस्तुतश्चिदेव ।
 तथा सति चित एव चिति कथं प्रतिबिम्बनमिति चेच्छृणु
 दृष्टान्तमित्याह—एकेति । पारमार्थिकाः परमार्थतश्चिद्रूपा
 अपीत्यर्थः । मायोपाधेरचिन्त्यशक्तित्वाद्बन्धवर्नगरस्फटिककुक्ष्य-
 रूपे नभसि सचन्द्रार्काभ्रमहानभःप्रतिबिम्बनदर्शनाच्चेति भावः
 ॥ ४ ॥ अत एवाध्यस्तभोग्यजगदाकारं ब्रह्म विषयेन्द्रियसंयोगे
 बुद्ध्यवच्छिन्नजीवचिति प्रियाप्रियविषयभोगाकारेण प्रतिबिम्ब-
 तीत्याह—तेनेति । यद्यद्भोग्यवस्तु पुरो भवति सन्निकर्षमा-
 पद्यते तेन वस्तुना असौ तदर्थं तद्भोगार्थं युज्यते उपपद्यते ।
 यदि भोग्यं वस्तु बुद्धौ न प्रतिबिम्बेत भोग एव न युज्येते-
 त्यर्थः ॥ ५ ॥ तर्हि कस्य नानाऽनानात्मकत्वं विरुद्धं माययापि
 कथं स्यात्तत्र युक्तिर्वाच्येति चेत्तत्राह—न चेति । यदि नाना-
 त्वमात्रनिषेधः स्यात्तदा नियतैकरूपमेव स्यात् । अनानात्वधर्म-
 स्यापि निषेधाच्चानात्वेनापि तत्संभावयितुं शक्यमित्यविरोधे
 युक्तिरित्यर्थः ॥ ६ ॥ अत एव विपश्चितो नानादिगतभोग्यानां
 युगपद्भोगप्रदकर्मपरिपाके एकस्यैव देहादेश्चातुर्विध्यं तत्तद्देशस्य
 विषयाणां तत्र तत्र बुद्धौ युगपत्प्रतिबिम्बनं च संपन्नमित्याशये-
 नाह—तेनेति ॥ ७ ॥ यदा योगिनामगस्त्यादीनां मलयादि-
 नियतैकदेशे नित्यं स्थितानामपि नानादेशेष्वतीतानागतादिका-
 लेषु योगबलात्संनिधानेन सर्वानुभवितृत्वं प्रतिद्वम्, तदा भिन्न-
 देशं प्रयातानां विपश्चितां तर्हि वाच्यमित्याशयेनाह—एकदे-
 शेति ॥ ८ ॥ नानादेशेषु युगपदेकस्य भिन्नक्रियाकारित्वे

१ तदर्थ इति टीकानुगुणः पाठः.

तुल्यकालमसंख्यातमीश्वरप्रतियोगिनः ।
 कर्मजालं जगज्जातं कुर्वन्त्यनुभवन्ति च ॥ १०
 एको विष्णुश्चतुर्भिः स्वैर्बाहुभिर्वा शरीरकैः ।
 पृथक्कुर्वन्क्रियाः पाति जगद्भुक्ते वराङ्गनाः ॥ ११
 बहुबाहुर्व्यदा द्वाभ्यां हस्ताभ्यां ध्यर्थसंग्रहम् ।
 करोति बहुभिर्भूयः संग्रामं सततं करैः ॥ १२
 तथैव तैर्विपश्चिद्भिः सर्वदिक्कं तथा स्थितैः ।
 तथा व्यवहृतं प्राप्तमेकसंविन्मयैरपि ॥ १३
 सुप्तं तैर्भूमिशय्यासु भुक्तं द्वीपान्तरेषु च ।
 विहृतं वनलेखासु प्रकान्तं मरुभूमिषु ॥ १४
 उषितं गिरिमालासु भ्रान्तं सागरकुक्षिषु ।
 विश्रान्तं द्वीपलेखासु निलीनं घनमालिषु ॥ १५
 रुद्धमर्णवमालासु चाल्यासु जलवीचिषु ।
 क्रीडितं मूधुदन्धीनां तदीषु नगरीषु च ॥ १६
 शाकद्वीपोदयगिरितटे सप्तवर्षाणि सुप्तं
 पूर्वेणान्तर्विदलगहने यक्षसंमोहितेन ।
 पाषाणाम्बु प्रसभमसुनैवात्र पीत्वा दृषत्ता-
 मागत्यान्तः स्थितमथ समाः सप्त जात्येन भूमेः

शाकद्वीपेऽस्तशैलस्य शिरस्यभ्रगुहागृहे ।
 पिशाचाप्सरसा मासं पाश्चात्यः कामुकीकृतः ॥ १८
 यत्र शान्तभये वर्षे जलधारे महागिरौ ।
 हरीतकीवने वर्षे पूर्वोऽन्तर्धानमाययौ ॥ १९
 अत्र रैवतके शैले वर्षे शिशिरनामनि ।
 दशरात्रमभूर्त्तिहः पूर्वो यक्षवशीकृतः ॥ २०
 अत्र काञ्चनशैलादिदरीददुर्गतां गतः ।
 पिशाचमायाछलितो दशवर्षाण्युवास सः ॥ २१
 कौमारं वर्षमासाद्य श्यामाद्रेरुत्तरस्तटम् ।
 शाकद्वीपेऽन्धकूपेऽन्धो न्यवसच्छरदां शतम् ॥ २२
 मरीचकेऽकरोद्धर्षे वर्षाण्यत्र चतुर्दश ।
 विद्याधरत्वं पाश्चात्यः स विद्याधरविद्यया ॥ २३
 रतकुमहान्तपुरारिणश्च-
 चलाङ्गलेखाक्रमशीकराक्रमम् ।
 एलालतालिलङ्गनलब्धगन्ध-
 मालम्ब्य वेलावनगन्धवाहम् ॥ २४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायण्ये षा० दे० भो० निर्वा० उ० अवि० वि० द्वीपान्तरवर्णनं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

पञ्चविंशत्यधिकशततमः सर्गः १२५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

वर्षे शान्तभयाभिख्ये जलधारे गिरौ तरौ ।

तत्तद्देशव्याप्तिरेवोपयुज्यते न जीवमेद इत्याह—अब्द इति ।
 यथा घर्मातान् आह्लादयतीत्याह्लादः अब्दो मेघोऽपि महत्त्वा-
 देव नानानगरगिरिनदीक्षेत्रादिव्याप्तिमास्तुल्यकाल सौध-
 क्षालनकूटमेदनजलवर्धनसस्यपोषणदिपृथक्क्रिया तुल्यकालं
 तेन तेन पादेनाशेन करोति तदभिमानो जीवश्च मयेमाः
 क्रियाः कृता इत्यनुभवत्यपि तद्द्वान्नोपपत्तिर्बोध्येत्यर्थः ॥ ९ ॥
 अणिमायैर्धर्मलाभादीश्वरप्रतिमाः योगिनः ॥ १० ॥ चतुर्भिः
 शरीरकैः क्वचियोगनिष्ठं क्वचित्पः क्वचिदिन्द्रानुजतया तत्सा-
 ह्यर्थं क्वचिद्वैकुण्ठे भोगजातमिति पृथक् क्रिया कुर्वन् जगत्पाति
 वराङ्गना भुक्ते अनुभवति ॥ ११ ॥ यदा द्वाभ्यां बाहुभ्यां द्वयो-
 रर्थयोः संग्रहप्रसक्तिस्तदा तं सभूय सर्वैः करैः संग्रामप्रसक्तौ
 तं च करोति ॥ १२ ॥ दृष्टान्तान्प्रकृते योजयति—तथैवेति ।
 प्राप्तं सुखदुःखादिकमिति शेषः ॥ १३ ॥ प्रकान्तं चलितम्
 ॥ १४ ॥ घनमालिषु मेघमालावत्सु पर्वताग्रेषु निलीय
 स्थितम् ॥ १५ ॥ रुद्धं आदुर्भूतम् ॥ १६ ॥ तथा पूर्वेण
 विपश्चिता शाकद्वीपे प्रसिद्धस्योदयगिरेस्तटे विदलस्य दलर-
 हितस्य जुहीपृष्ठस्य गहने अन्तर्यक्षेण संमोहनविद्यया संमो-
 हितेन सप्तवर्षाणि सुप्तम् । असुनैव पूर्वविपश्चिता पाषाणकरं
 अम्बु अग्रास्मिन् गिरौ क्वचित्पीत्वा प्रसभं चलादुषत्तां पाषाण-

तादृकर्तरिपानीयं शाकद्वीपे पिबन् स्थितः ॥ १

भावमागस्य भूमेरन्तस्त्वज्जालेन भूत्वा सप्त समाः स्थितम् ॥ १७ ॥
 अभ्रसंनिहिते शुद्भागृहे ॥ १८ ॥ शान्तभयाख्ये वर्षे भूमिमेदे
 कस्यचिन्मुनेः शापाद्वरीतकीद्वक्षतां प्राप्याऽन्तर्धानं जनैरदृश्य-
 ताम् । वर्षे सप्ततिवर्षम् ॥ १९ ॥ २० ॥ दरीषु ददुर्गता
 मेकताम् ॥ २१ ॥ उत्तरस्योदन्तं पुनराह—कौमारमिति ।
 श्यामोद्रेर्नलगिरेः । अन्धो ददुर्गः सजिसर्थः ॥ २२ ॥ पाश्चात्य-
 स्योदन्तमाह—मरीचक इति । विद्याधरत्वप्राप्तिकया मन्त्र-
 विद्यया ॥ २३ ॥ किमालम्ब्य विद्याधरत्वमकरोत्तदाह—
 रतेति । रतं सुरतं तत्रत्येन क्लमेन क्लान्तस्य पुरारेलक्ष्म्या
 शोभातिशयेन चलानामङ्गलेखानां क्रमेणोद्धृतैः शीकरैः आर्कं
 सपृक्तम् । तथा एलालतानामालिङ्गनेर्लब्धगन्धं वेलावनस्य
 गन्धवाहं वायुमालम्ब्य आनन्दहेतुत्वेनाश्रित्येत्यर्थः ॥ २४ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 द्वीपान्तरवर्णनं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

परस्परपकारित्वं विपश्चित्र विपश्चिताम् ।

विष्वगर्थक्रिया जीवन्मुक्तानां चोपवर्णयते ॥ १ ॥

तत्र विपश्चिता भिन्नदिक्षु प्रमत्ता परस्परानुसन्धानं विपक्ष
 परस्परानुग्राहकत्वं चास्ति न वेति रामस्य संशयं लिङ्गैरुपलब्धं
 तं निराचिकीर्षुर्वसिष्ठः प्रथमं पूर्वस्य शान्तभयवर्षे हरीतकी-

पूर्वोऽथ वर्षसप्तत्या पाश्चात्येनैत्य मोक्षितः ।
 विद्यया क्रकचेनेव छित्त्वा वृक्षत्वमक्षतः ॥ २
 पाश्चात्यः शिशिरे वर्षे पाषाणत्वमुपागतः ।
 मोक्षितो दक्षिणेनाशु गोमांसादिप्रयोगतः ॥ ३
 शिवेऽस्ताचलपारस्थे वर्षे वर्षेण पश्चिमः ।
 मोक्षितो दक्षिणेनैत्य गोपिशाच्या वृषीकृतः ॥ ४
 अत्रैव क्षेमके वर्षे आम्बिकेयगिरौ तरौ ।
 दक्षिणो यक्षतां यातो मोक्षं यक्षेण लब्धवान् ॥ ५
 अत्रैव वृषके वर्षे शैले केसरनामनि ।
 केसरित्वं गतः पूर्वः पाश्चात्येनैव मोक्षितः ॥ ६

श्रीराम उवाच ।

एकदेशगता विष्वग्व्याप्य कर्माणि कुर्वते ।
 योगिनस्त्रिषु कालेषु सर्वाणि भगवन्कथम् ॥ ७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इह रामाप्रबुद्धानां यदस्त्यस्त्वलमेव नः ।
 तेन यत्तु प्रबुद्धानां तदिदं शृणु कथ्यते ॥ ८
 चिन्मात्रसत्तासामान्यादृतेऽन्यत्तात्म तद्विदाम् ।
 दृश्यात्यन्ताभावबोधे सर्गासर्गदृशोः क्षये ॥ ९
 चिन्मात्रसत्तासामान्ये विश्रान्तस्य निरन्तरम् ।

तदभावसंकटे पश्चिमकृतमनुग्रहमाह—वर्षे इति । शान्तभय-
 मित्यभिरुह्या प्रसिद्धिर्यस्य तस्मिन् वर्षे । अत्र शान्तभये वर्षे
 जलधारे महागिराविति प्राक्सर्गोक्ते गिरौ हरीतकीवने हरीतकी-
 वृक्षभूतस्तादृकदबस्थः कर्तरीयन्त्रसदृशभूम्यन्तःशिलासंवन्धि
 पानीयं मूलैः पिवन् स्थितः पूर्वो विपश्चित् पाश्चात्येन विपश्चिता
 तद्दृष्टान्तं ज्ञात्वा तत्र एव आगत्य शापप्रदं मुनिं प्रसाद्य तद्-
 क्षया विद्यया क्रकचेन वृक्षत्वं छित्त्वेव वृक्षभावान्मोक्षित इति
 परेणान्वयः ॥ १ ॥ २ ॥ एवं पाश्चात्योऽपि शिशिराक्षये वर्षे
 पिशाचपतिशापात्पाषाणत्वमुपागतो दक्षिणेन एव गोमांसादि-
 प्रयोगतः पिशाचपतिं प्रसाद्य मोक्षितः ॥ ३ ॥ गोरूपया
 पिशाच्या पिशाचविद्यया वृषीकृतो वृषपिशाचीकृतः पश्चिमो
 दक्षिणेन मोक्षितः ॥ ४ ॥ यक्षतां पिशाचमेदताम् । देवता-
 यक्षभावस्य मोक्षणे प्रयोजनाभावात् । यक्षेण पश्चिमप्रसादितेन
 यक्षपतिना निमित्तेन ॥ ५ ॥ अत्रास्मिन्नेव शाकद्वीपे ॥ ६ ॥
 विष्वक् सर्वतो व्याप्य विविधं आप्य । कर्माणि अनुग्रहादीनि
 कथं कुर्वते तत्रोपपत्तिर्वाच्येत्यर्थः ॥ ७ ॥ योगिनां दशा सर्वप्र-
 पञ्चस्य मनोमात्रत्वान्मानसक्रियासु च मनसः सर्वत्र युगपद्यव-
 हारेऽपि निरङ्कुशत्वात्तन्मात्रविधातात्सर्वक्रियोपपत्तिरित्याशयेन
 वलिष्ठ उत्तरमाह—इहेत्यादिना । हे राम, इह जगति अप्रबु-
 द्धानां दशा यद्भूतभौतिकादिस्थूलं वस्त्वस्ति तेन नः प्रबुद्धाना-
 मुपपत्तिचिन्तया अलम् । प्रबुद्धानां दशा यत्तु चिन्मात्रं मनो-
 मात्रं वस्तु तत् सर्वत्रार्थक्रियासमर्थं यथोपपद्यते तथा कथ्यते

१ क्षेमके वर्षे इति पाठः.

सर्वेशस्येह सर्वत्वं सर्वात्मत्वं च सर्वदा ॥ १०
 वद केन कथं कुत्र कदा किमिव रोध्यते ।
 सर्वगस्त्वथ सर्वात्मा यत्र भाति यदा यथा ॥ ११
 तथा भाति तदा तत्र सर्वात्मनि किमस्ति नो ।
 अतीतं वर्तमानं च भविष्यत्स्थूलमप्यणु ॥ १२
 तथा दूरमदूरं च निमेषः कल्प एव च ।
 स्वरूपमजहत्येव सामान्ये तानि सर्वदा ॥ १३
 सर्वात्मनि स्थितान्येव पश्य मायाविजृम्भितम् ।
 अजातमनिरुद्धं च यथास्थितमवस्थितम् ॥ १४
 विज्ञानघनमेवेदमत एव जगत्रयम् ।
 नभस्त्वमत्यजंश्चैव सर्वात्मैव नभः स्थितम् ॥ १५
 जगदात्मा जगद्रूपं द्रष्टृदृश्यतयोदितम् ।
 विश्वात्मदृग्बुधैर्पुन्यत्स्यात्तर्किकेन कथं कदा ॥ १६
 दुःसाध्यं ब्रूहि तत्त्वज्ञ साध्यासाध्यस्वरूपिणः ।
 तस्मादस्याः सदैकस्या विपश्चिद्राजसंविदः ॥ १७
 प्रबोधमनुगच्छन्त्या अप्राप्तायाः परं पदम् ।
 एकस्या अप्यनेकस्याः सर्वं सर्वत्र युज्यते ॥ १८
 बोधाबोधात्मरूपे हि किं नामास्ति परात्मनि ।
 अप्राप्तायाः परं बोधं पदार्थाकुलतोचिता ॥ १९

शृण्वित्यर्थः ॥ ८ ॥ तत्र चिन्मात्रमेव वस्त्विति कल्पे सर्वेश्वरस्येव
 सर्वत्र सर्वार्थक्रियोपपत्तिरित्याह—चिन्मात्रेति । तद्विदां
 तत्त्वविदां दशा चिन्मात्रसत्तासामान्यादृते अन्यत् जगद्रूपं
 न विद्यते आत्मा स्वरूपं यस्य तन्मात्रम् । नशब्दोऽयं न तु नञ् ।
 निःस्वरूपमिति यावत् ॥ ९ ॥ १० ॥ किं कृतानि प्राग्वत् ।
 रोध्यते सर्वत्र सर्वार्थक्रियाविषये निवार्यते । दृष्टदृष्टिपक्षमा-
 लम्ब्यापि तदनिरोधमाह—सर्वग इति । अथेति पक्षान्तर-
 द्योतनाय ॥ ११ ॥ किं नो अस्ति किं तद्यत्ततः सत्तां न लभत
 इत्यर्थः । अतीतमित्यादिस्तत्प्रपञ्चः ॥ १२ ॥ सामान्ये सत्ता-
 सामान्ये । तान्यतीतादीनि ॥ १३ ॥ अनिरुद्धमनष्टम् ॥ १४ ॥
 अत एव सत्तासामान्याधीनस्थितिकत्वादेव । अविकृतस्य सदा-
 त्मन एव नमआदिरूपेण स्थितिं प्रपञ्चयति—नभस्त्वमिति ।
 अत्यजन् स्वसत्तया अनुगृह्येव ॥ १५ ॥ मायाशबलो हि
 जगदात्मा तदेव द्रष्टृदृश्यतया जगद्रूपमुदितम् । यत्तु विश्वा-
 त्मनः शबलस्य दृष्टाग्ररूपं वपुस्तत्केन कथं कदा किं स्यात् ।
 शुद्धे परिणामविवर्ताद्यद्यटनादित्यर्थः ॥ १६ ॥ साध्यासाध्यस्व-
 रूपिणः शबलस्य दुःसाध्यं किम्, न किंचिदिति सर्वदा सर्वत्र
 सर्वार्थक्रियोपपत्तिरित्यर्थः ॥ १७ ॥ रामप्रश्नसमाधानं प्रकृते
 योजयन्नुपसंहरति—तस्मादिति । ईश्वरचित्त एवोपाधिमेदे
 विपश्चिदादिजीवत्वादेकस्या अप्युपाधिनानात्वेनानेकभावाप-
 न्नाया अभ्यादिप्रसादात्सर्वं सर्वत्र कार्यं युज्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥
 बोधाबोधात्मरूपे शबले किं नामास्ति । असाध्यमिति
 शेषः । तत्रैव युज्यन्तरमाह—अप्राप्ताया इति ॥ १९ ॥

किञ्चिद्वोधं प्रविष्टायाः सिद्धताप्युचितैव सा ।
एवं ते सर्वदिक्संस्थाः सर्वमेव परस्परम् ॥ २०
पश्यन्त्यनुभवन्त्याशु चिकित्सन्ते च संकटम् ।
बोधाकाशः स्वकाद्रूपादीषड्युत इवाशु चेत् ॥ २१
तदन्यतामिवादत्ते सुस्थितोऽपि यथास्थितम् ।

श्रीराम उवाच ।

विपश्चितः प्रबुद्धाश्चेत्कथं सिंहवृषादिताम् ॥ २२
दिक्षु यान्तीति मे ब्रह्मन्बोधाय कथयाश्वलम् ।

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

प्रबुद्धाः कथिता ये ते योगिनस्ते मयानघ ॥ २३
प्रसङ्गरूपान्तरतो न प्रबुद्धा विपश्चितः ।
विपश्चितो महाबाहो प्रबुद्धा निपुणं न ते ॥ २४
बोधाबोधदृशोर्मध्ये ते हि दोलायिताः स्थिताः ।
मोक्षचिह्नानि हृदयन्ते बन्धचिह्नानि चामितः ॥ २५
नित्यधर्मप्रबुद्धानां तथाभूततया तथा ।
विपश्चितो धारणया योगिनो न परं गताः ॥ २६
धारणायोगिनस्ते हि धारणाप्राप्तसिद्धयः ।

योगिनामैच्छिकार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसिद्धतायामप्युपपत्तिमाह—
किञ्चिदिति । बोधप्रकर्षक्रमेण अकामहतत्वप्रकर्षसंभवात्तत्प्र-
युक्तानन्दोत्कर्षप्रयोजकैश्वर्यप्रकर्षकमस्याप्युपपत्तेरिति भावः ।
ते विपश्चितः संकटं विपद्गोचं चिकित्सन्ते प्रतिवृत्तिं ॥ २० ॥
प्रबुद्धानां मनोमात्रमेव सर्ववस्तुत्विति कल्पे तु सर्वत्र सर्वार्थ-
क्रिया मनोराज्यवदुपपत्तरेवैत्याशयेनाह—बोधाकाश इति ।
ईषत्स्वरूपात्प्रच्युतिरेव मनोभाव इत्युत्पत्तिप्रकरणे बहुशो
व्युत्पादितत्वादिति भावः ॥ २१ ॥ यथास्थितं सुस्थितोऽपि
तत्तत्स्थानमनोभावलक्षणादीषड्यवनदोषादन्यतां जगद्रूपतां युग-
पदावृत्ते । विपश्चितप्रसङ्गे योगिनां प्रबुद्धानां युगपत्सर्वार्थ-
क्रियोपपत्तौ वर्णिताया विपश्चितोऽपि प्रबुद्धा इति मन्यमानो
रामः शङ्कते—विपश्चित इति । प्रबुद्धानां सर्वार्थक्रियास्वा-
तन्त्र्येण पारतन्त्र्येण सिंहवृषादिदेहसंकटाप्रसक्तेः परस्परानुग्रहो-
क्तिरसंगतेति भावः ॥ २२ ॥ त्वया योगिनः कथं व्याप्य
कर्माणि कुर्वते इति पृष्ठमिति मयात्र योगिनः प्रबुद्धा वर्णिता
न तु विपश्चितोऽपि प्रबुद्धा योगिन इतीति वसिष्ठः समाधत्ते—
प्रबुद्धा इति ॥ २३ ॥ त्वत्प्रश्नसमाधानार्थं विपश्चितप्रसङ्गरूप-
स्यान्तरतः अन्तरेण योगिनस्ते कथिता न तु विपश्चितोऽपि
प्रबुद्धा इत्याशयेनेत्यर्थः ॥ २४ ॥ तर्हि ते किमत्यन्तमूढा नेत्याह—
बोधेति । द्वितीयभूमिकास्या इत्यर्थः । भाविमोक्षचिह्नानि
निवेकादीनि । बन्धचिह्नानि रागादीनि ॥ २५ ॥ तथा उक्त्या
तथाभूतया दोलायिततया धारणया योगिनो न तु परं गता
योगिन इत्यर्थः ॥ २६ ॥ हृदयादिप्रदेशेष्वभिदेवतायां चित्त-
निरोधेन तत्प्रसादप्राप्तसिद्धित्वाद्धारणायोगिनो न तु ज्ञानयोगिनो
येष्वविद्या नष्टेत्यर्थः ॥ २७ ॥ ते ज्ञानयोगिनश्चेदविद्या किं
किमर्थमवेक्षन्ते । तद्दर्शनेच्छैवैवामविद्यानुच्छेदे छिन्नमित्यर्थः ।

ये परं बोधमायाता येष्वविद्या न विद्यते ॥ २७
किमविद्यामवेक्षन्ते ते तामरसलोचन ।
धारणायोगिनो ह्येते धरेण प्राप्तसिद्धयः ॥ २८
अविद्या विद्यते तेषां तेन तेऽतद्विचारिणः ।
अन्यच्च शृणु हे राम जीवन्मुक्तशरीरिणाम् ॥ २९
भवेद्यवहतावेव पदार्थान्तरवेदनम् ।
मोक्षोऽपि चेतसो धर्मश्चेतस्येव स तिष्ठति ॥ ३०
न देहे देहधर्मस्तु न देहाद्विनिवर्तते ।
न कदाचन निर्मुक्तं चेतो भूयो निबध्यते ॥ ३१
यत्नेनापि पुनर्वद्धं केन वृन्तच्युतं फलम् ।
देहस्तु देहधर्मेण जीवन्मुक्तिमतामपि ॥ ३२
गृह्यते तद्गतं तेषां चेतस्त्वचलमेव तत् ।
मोक्षो हि न परश्चेद्यो धारणादिप्रयोगवत् ॥ ३३
आत्मसंवेद्य एवासौ मध्वाद्यास्वादसौख्यवत् ।
सुखदुःखैर्युतो योऽसौ स्वयं बन्धानुभूतिमान् ॥ ३४
तन्मुक्तौ मुक्त इत्युक्तः स्वानुभूतिप्रदस्त्वसौ ।
अन्तःशीतलचित्तो हि मुक्त इत्यभिधीयते ॥ ३५

धारणापरिपाकान्ते देवताप्रसादजेन वरेण प्राप्तसिद्धयस्ते ॥ २८ ॥
ते विपश्चितः अतद्विचारिण आत्मविचारशून्याः । जीव-
न्मुक्तानां व्यवहारकाल एव देहादिभानम्, समाधौ तु विदेह-
कैवल्यसाम्यमेवेति विपश्चित्यो विशेषान्तरं आवयति—अन्य-
चेत्यादिना ॥ २९ ॥ व्यवहृती व्युत्थानकाले एव । कुतस्तेषां
समाधावेव तथात्वं तत्राह—मोक्ष इति । यो हि बद्धस्तु
बन्धनिवृत्तिर्मोक्षः । चित्तमेव बध्यते नात्मेति मोक्षोऽपि तद्वत्
एव । अतः समाहिते चेतस्येव स मोक्षस्तिष्ठति न देहे देह-
भावापन्ने व्युत्पद्यते इत्यर्थः ॥ ३० ॥ न देहे इति पूर्वान्वयि ।
यस्तु देहधर्मो देहभावाधीनो व्यवहारः स जीवन्मुक्तस्यापि
देहात् निवर्तते इति पदार्थान्तरवेदनोपपत्तिरित्यर्थः । तर्हि
जीवन्मुक्तेतोऽपि देहभावे बध्येतेति चेत्तेत्याह—न कदाच-
नेति ॥ ३१ ॥ वृन्ताच्युतं पतितं फलं पुनः केन समर्थेनापि
वृन्ते पूर्ववद्धम् । न केनापीत्यर्थः । अत एव मुक्तावाममुक्तानां
न देहधर्मोऽनुवृत्तिस्तुल्या न चित्तधर्मोऽनुवृत्तिरित्याह—देह-
स्त्विति ॥ ३२ ॥ अत एव ते परं जीवन्मुक्ता इमे इति न शङ्कं
शक्यन्ते धारणादिसिद्धास्तु ज्ञातुं शक्यन्त इत्यपरो विशेष
इत्याह—मोक्ष इति ॥ ३३ ॥ मनोधर्मो मोक्षः कथमात्म-
संवेद्य इत्युच्यते तत्राह—आत्मसंवेद्य इति । बन्धबन्धो-
स्यापि मनोगतस्य साक्षिस्वानुभूत्यैव सिद्धेति भावः । यदि
बन्धमोक्षौ मनोधर्मौ तर्हि कथमात्मा बद्धो मुक्त इति न शङ्कं
व्यवहियते तत्राह—सुखदुःखैरिति । स्वानुभूतिप्रदः असौ
आत्मा तु मनोधर्मः सुखदुःखैर्युतः सन् यो जीवः सर्व
बन्धानुभूतिमान् भवति स तस्य मनसो मुक्तो मुक्त इति
शास्त्रे उक्तं इत्यन्वयः ॥ ३४ ॥ नन्वेवं सति देहादयोऽपि
मनोधर्मोभ्यां ताभ्यां नद्धा मुक्ताश्चेति व्यवहियेरत्तत्राह—

बन्धः संतप्तचित्तेति देहादेस्तत्र दृश्यते ।
 शरीरे कणशः कृत्ते राज्ये वा विनियोजिते ॥ ३६
 रुदतो हसतश्चैव जीवन्मुक्तमतेरिह ।
 न दुःखं न सुखं किञ्चिदन्तर्भवति तत्स्थितम् ॥ ३७
 गृह्यतोऽप्यनुभूतिस्तु तत्रैवैवास्ति नापरे ।
 दृश्यन्ते पण्डिता भग्ना रूपान्तरमुपागताः ॥ ३८
 देहादिजीवन्मुक्तानां स्वभावाच्च कदाचन ।
 मृतोऽपि नैव म्रियते रुदन्नपि न रोदिति ॥ ३९
 विहसन्न हसत्येव जीवन्मुक्तो महोदयः ।
 वीतरागाः सरागाभा अक्रोधाः कोपसंयुताः ॥ ४०
 भ्रमोहा मोहबलिता दृश्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ।
 इदं सुखमिदं दुःखमित्यादिकलनास्तु ताः ॥ ४१
 अलं दूरगतास्तेषामङ्कुरा नभसो यथा ।
 जगदात्मा च नास्त्येव यस्यैकं सर्वमस्ति च ॥ ४२
 सुखदुःखादि तस्येति वाग्व्योमविटपोपमा ।
 अशोका एव शोचन्ते जीवन्मुक्ता जयान्विताः ॥ ४३
 अच्छिन्ना एकतद्भावा दृश्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ।
 शिरः कमलजस्योच्चैः सामगायनतत्परम् ॥ ४४
 हरो नखेन चिच्छेद सुकुमारसिवाम्बुजम् ।
 शक्तोऽपि न पुनर्ब्रह्मा जनयामास तच्छिरः ॥ ४५

अन्तरिति । आन्तरयोराहादसंतापयोरान्तरे एव चिदात्मन्य-
 ध्यासोऽनुभवसिद्धोऽभ्युपगन्तुं व्यवहर्तुं च युक्तो न बाह्ये देहा-
 धाविति भावः ॥ ३५ ॥ संतप्तचित्तेति संधिरार्थः । युक्ते मनसि
 शरीरधर्माणामिव मनोधर्मस्य मोक्षस्य शरीरे प्रतीतिप्रस-
 क्तिरित्याशयेनाह—शरीरे इति । कृत्ते छिन्ने ॥ ३६ ॥
 तत्स्थितं देहप्रयुक्तम् ॥ ३७ ॥ ननु पादे मे कण्टकदुःखं देहे मे
 चन्दनसुखमिति देहेऽपि जनो मनोधर्मसुखदुःखादीन् गृह्णाति
 तत्कथमात्मन्येव तदध्यासस्तत्राह—गृह्यत इति । अवच्छेद-
 कतासंबन्धेन देहे सुखदुःखादीन् गृह्यतोऽपि जनस्य अहं सुखी
 अहं दुःखीत्यात्मन्येव तदनुभवपर्यवसानात्तत्रैवैवा कल्पनास्ति
 न अपरे बाह्ये देहादौ । अत एव हि आत्मन्यध्यासमनभ्युप-
 गच्छन्तो देहाद्यात्मताभिमानाद्रूपान्तरमुपागताश्चार्वाकनैयायि-
 कसांख्यबौद्धकाणादादयः पण्डिता मोक्षोपायालाभाद्भग्नाः परा-
 भूता दृश्यन्ते, वेदान्तिभिर्वा जल्पकथाया भग्नाः पराजिता
 दृश्यन्त इति योज्यम् ॥ ३८ ॥ अस्तु वा बन्धस्य सुखदुःखा-
 वेदेहेऽपि कथंचिदनुभवः, मोक्षस्य तु स नास्त्येव । जीवन्मुक्तैः
 समाधां देहाभाने स्फुटं तदनुभवादेहभाने व्युत्थानकाले मन्द-
 मध्यमज्ञानिभिस्तदनुभवाचेत्याशयेनाह—देहादीति । स्वभा-
 वाजित्याशरीरात्मस्वभावात् । तथा च श्रुतिः ‘अशरीरं शरीरे-
 ष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न
 शोचति’ इति । अत एव स मरणादिदेहधर्मेन युज्यत
 इत्याह—मृतोऽपीति ॥ ३९ ॥ मनोधर्मरपि तेषामसंबन्ध-
 नाह—वीतरागा इति ॥ ४० ॥ ४१ ॥ जगदात्मा जगत्स्व-

व्योमैकतास्य चिद्योक्तो मुधा मूर्ध्नेतरेण किम् ।
 नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ॥ ४६
 यद्यथा नाम संपन्नं तत्तथास्त्वितरेण किम् ।
 हरो हरिणशावाक्षीमक्षीणशरतोऽश्व च ।
 धत्ते वपुषि दुग्धाब्धिर्गुप्तामृतकलामिव ॥ ४७
 शक्तोऽपि रागितामेष न त्यजत्युत्तमाशयः ।
 पञ्चेषुदाहसमये दृष्टा नीरागतागुणाः ॥ ४८
 नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
 न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ४९
 रागितैषास्तु मा वास्य किमरागितयान्यया ।
 यद्यथा नाम संपन्नं तत्तथास्त्वितरेण किम् ॥ ५०
 करोति कारयत्युच्चैर्म्रियते मार्यतेऽपि च ।
 जायते वर्धतेऽजस्रं जीवन्मुक्तो जनार्दनः ॥ ५१
 न चाजवं जवीभावं त्यक्तुं शक्तोऽप्यसौ न तम् ।
 तेन त्यक्तेन नैवार्थस्तस्य नैवाश्रितेन च ॥ ५२
 तद्यथास्थितमेवास्तु इह इत्यस्तवासनम् ।
 हरिर्निरिच्छ एवास्ते शुद्धचिन्मात्ररूपभृत् ॥ ५३
 आत्मानमान्दोलयति कालकन्दुकतां गतम् ।
 अजस्रं नित्यमादित्यो जगद्ब्रह्मनभोक्षणे ॥ ५४
 न च रोधयितुं देहं न समर्थो दिनेश्वरः ।

रूपं चकारात्तन्मूलमज्ञानं च यस्य नास्त्येव । यस्य सर्वमैक-
 मेकरसं सदस्ति च तस्य जीवन्मुक्तस्य सुखदुःखाद्यस्तीति
 वाग्व्योक्तो विटपाः शाखाः सन्तीति वागुपमेत्यन्वयः ॥ ४२ ॥
 ‘तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः’ इति श्रुतेः शोक-
 मोहजयान्विताः ॥ ४३ ॥ शिराद्यच्छेदेऽप्यच्छिन्ना एकत-
 द्भावा अद्वितीयात्मभावाः । क्व तद्दृष्टं तदुदाहरति—शिर
 इति । गायनमित्यशिरात्वाभावश्छान्दसः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ अस्य
 कमलजस्य व्योमैकता आकाशसमता अतो मुधा मिथ्याभूतेने-
 तरेण पञ्चमेन मूर्ध्ना किं प्रयोजनमित्यर्थः । तर्हि तस्य चतुर्भिः
 शिरोभिर्वा किमर्थं वेदोपदेशकरणं तत्राह—नैवेति ॥ ४६ ॥
 संपन्नं प्राणिकर्मवशादिति शेषः । ईश्वरस्यापि प्राणिकर्मानुसारे-
 णैव व्यवहारो न स्वार्थ इत्याह—हर इति । अनुगृहीतादक्षी-
 णशरतो मन्मथादरिणशावाक्षीमर्धाङ्गे धत्ते । निगृहीतास्तु निरु-
 पल्लवसमाधिप्रवृत्तेरानन्दाश्रु च वपुषि धत्ते । गुप्तामृतकलामिवे-
 त्युभयदृष्टान्तः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ अर्थव्यपाश्रयः प्रयोजनलाभः
 ॥ ४९ ॥ अरागितया अन्यया रागितया वा किं को लाभः
 का वा क्षतिरित्यर्थः ॥ ५० ॥ स्वयमसुरनिग्रहादि करोति इन्द्रादि-
 द्वारा कारयति । म्रियते अवतारसमाप्तिपु मरणमङ्गीकरोति ।
 तदनुकूलः शरमल्लब्धकादिभिर्मर्यतेऽपि च ॥ ५१ ॥ तं
 प्राणिकर्मवशोपगतं आजवं जवीभावं व्यवहारव्यग्रतां न च
 त्यक्तुं शक्नोति ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ सूर्यादीनामपि निरिच्छानामेव
 प्राणिकर्मानुसारादेव स्वस्वाधिकारपालनमित्याह—आत्मान-
 मिति । आन्दोलयति अमयति ॥ ५४ ॥ निर्वाणो जीवन्मुक्तः

निरिच्छ एव निर्वाणस्तथाप्यास्ते यथास्थितम् ॥ ५५ ॥
 चन्द्रोऽनुभवति व्यर्थमाकर्षणं क्षयमक्षयम् ।
 जीवन्मुक्ततया खिन्नो यथास्थितमवस्थितः ॥ ५६ ॥
 मरुत्तहव्यगौरीशवीर्यप्रासादिखेदिताम् ।
 जीवन्मुक्तो बह्व्यग्रिर्था स्थित्या समस्थितिः ॥ ५७ ॥
 बह्वीभिर्विजिगीषाभिः कृपणाविव तिष्ठतः ।
 जीवन्मुक्तावपि गुरु लोके शुक्रवृहस्पती ॥ ५८ ॥
 करोति जनको राज्यं जीवन्मुक्तमना मुनिः ।
 जगत्यामाजिषूग्रासु देहं जर्जरतां नयन् ॥ ५९ ॥
 नलमान्धातुसगरदिलीपनहुषादयः ।
 जीवन्मुक्ताश्चिरं राज्यं चक्रुराकुलिता इव ॥ ६० ॥
 व्यवहारे यथैवाक्षस्तथैव खलु पण्डितः ।
 वासनावासने एव कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ ६१ ॥
 यलिग्रह्णादनमुचिषूत्रान्धकमुपादयः ।
 जीवन्मुक्ताः स्थितिं चक्रुर्वीतरागाः सरागवत् ॥ ६२ ॥
 तस्मादसत्त्वे सत्त्वे च रागद्वेषक्षयोदये ।
 न मनागपि भेदोऽस्ति ज्ञत्वं प्रति स्वरूपिणि ॥ ६३ ॥
 ज्ञानेनाकाशशुद्धेन धर्मान्ये गगनोपमान् ।
 विन्दन्ति जीवन्मुक्तानां तेषां भेदमतिः कुतः ॥ ६४ ॥

भास्वरं शक्रकोदण्डं यथा नानेव शून्यकम् ।
 आभासमात्रमेवायं तथा दृश्यात्मको भ्रमः ॥ ६५ ॥
 शक्रचापे यथा भान्ति नानावर्णा नभोक्लृप्ते ।
 तथा शून्यात्मका एव ब्रह्माण्डपरमाणवः ॥ ६६ ॥
 इदं जगदसद्भाति सदिव व्यक्तिमागतम् ।
 अजातमनिरुद्धं च यथा शून्यत्वमन्वरे ॥ ६७ ॥
 साद्यन्तमप्यनाद्यन्तमशून्यमपि शून्यकम् ।
 जगज्जातं तथाऽजातमरुद्धं रुद्धमेव च ॥ ६८ ॥
 जातं निरुद्धमस्त्येवं ब्रह्म व्योमैव भासते ।
 यथा दारुमयः स्तम्भस्तथा तच्छालभञ्जिका ॥ ६९ ॥
 समस्तकलनोन्मुक्तं समं निर्निद्रमासनम् ।
 यदेकान्तचिदाकाशं तद्विद्यात्तन्मयं जगत् ॥ ७० ॥
 देशादेशान्तरप्राप्तौ तन्मध्ये संविदो वपुः ।
 अनुन्मेषं चिदाकाशं तद्विद्यात्तन्मयं जगत् ॥ ७१ ॥
 तत्र यद्वैतमैक्यं तन्मन्ये तदपि नैव च ।
 तद्योम केवलं भाति मन्ये तदपि नैव वा ॥ ७२ ॥
 जगदाकाशमेवेदमात्मैवात्मनि वा स्थितम् ।
 भविष्यत्पुरवद्दृष्टमपि स्फारमपि स्फुटम् ॥ ७३ ॥

॥ ५५ ॥ आकर्षणं कल्पान्तावधि । सर्वं राजयक्ष्माणम् ॥ ५६ ॥
 मरुत्तस्य भक्ते द्वादशवर्षपर्यन्तं गजशृङ्गाग्रमाणाजलनिपतद्भुत-
 भारादिहव्यप्रासप्रयुक्ताऽजीर्णेन स्कन्दोत्पत्तिप्रसङ्गे गौरीशस्य
 गौरीसंगमे देवैर्विघ्नान्तरणे स्थानात्पुनितस्य वीर्यस्य ब्रह्मणो
 नियोगाग्रासः पानं तत्प्रयुक्तेनान्तर्दाहेन, आदिपदादेवानां
 दिवानिशं हव्यवहनदेवस्वापहरणाप्सुनिलयनादिना खेदिताम्
 ॥ ५७ ॥ विजिगीषाभिः परस्परजयेच्छाभिः ॥ ५८ ॥
 आजिषु युद्धेषु ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ एतेन जीव-
 न्मुक्तानां रागद्वेषाभासदर्शनेऽपि मुक्तिसंदेहो निरस्त इति
 दर्शयन्नुपसंहरति—तस्मादिति । ज्ञत्वं जीवन्मुक्तचिदाकाशं
 प्रति लक्ष्मीकृत्य रागद्वेषयोः कये उदये वा चरिते न च सत्त्वे
 सुचरित्रत्वे असत्त्वे दुश्चरित्रत्वे वा स्वरूपिणि आविर्भूतस्वरूप-
 वति मोक्षे मनागपि भेदः संशयो नास्ति ॥ ६३ ॥ नाहं ब्रह्मेति
 भेदमतौ सत्यां हि मुक्तौ संशयः स्यात् सैव तेषां नास्ती-
 त्याह—ज्ञानेनेति । आकाशो ब्रह्माकाशस्तद्वन्नुद्धेन चरम-
 साक्षात्कारवृत्त्यात्मकज्ञानेन ये धारयन्ति देहमनःप्राणादीनि
 धर्मा जीवास्मान् गगनोपमान् असद्भाद्वयपूर्णब्रह्मभावेनाकाशसद-
 शान्विन्दन्ति लभन्ते तेषां जीवन्मुक्तानां भेदभ्रमहेत्वज्ञानस्य
 नष्टत्वात्पुनर्भेदमतिः कुतः । कस्माजिमित्तात्समाव्येतेत्यर्थः
 ॥ ६४ ॥ तत्त्वसाक्षात्कारेण जीवजगद्भेदः कुतो बाध्यत इति
 चेद् भान्तिमात्रसिद्धत्वादित्याशयेन तस्यावस्तुतां दृष्टान्तेन
 साधयति—भास्वरमिति । शक्रकोदण्डमिन्द्रचापः । मेघपटल-

स्थाः सूर्यरश्मय एवेन्द्रनापात्मना दृश्यन्त इति प्रसिद्धम् ॥ ६५ ॥
 ब्रह्माण्डलक्षणाः परमाणवः ॥ ६६ ॥ व्यक्तिं प्रकटताम् । अज-
 तमनुत्पन्नम् । अनिरुद्धमनष्टम् ॥ ६७ ॥ अप्यर्थे तथाशब्दः ।
 जातमप्यजातमेव रुद्धं नष्टं च अरुद्धमनष्टमेव । जगत्तयापि
 गृहीते नित्यकूटस्वासद्भाद्वये वस्तुनि आद्यन्ताद्यग्रसत्केरिति
 भावः ॥ ६८ ॥ जगद्भावं इव तज्जन्मनिरोधभावोऽपि प्रज्ञाणि
 कल्पनयोपपाद्यते इति चेद्विद्यापत्तिः, कल्पनामात्रेण कौटस्थ-
 कर्तारित्याशयेनाह—जातमिति । यथा स्तम्भो दारुमयो दार्वेव
 तथा तस्य स्तम्भस्यैकदेशस्था शालभञ्जिका प्रतिमापि दार्वेव-
 त्यर्थः ॥ ६९ ॥ अकल्पनं तु जगद्ब्रह्मेति समाधिदृष्ट्या अनुभव-
 मारोपयेदित्याह—समस्तेति । समाधिना समस्तकलनोन्मुक्तं
 निर्निद्रं च समं यदासत्तमात्ममात्रतयावस्थानं तन्मयं तन्मात्र-
 मेव तज्जगद्विद्यात् ॥ ७० ॥ असमाधावपि शास्त्राचन्द्रदर्शने
 बुद्धिवृत्तेः शास्त्रादेशाचन्द्रदेशप्राप्तौ मध्ये यन्निर्विषयं वृत्तमि-
 व्यक्तं संविदः स्वरूपं तन्मयं जगद्विद्यादित्याह—देशादिति
 ॥ ७१ ॥ तत्र तादृशे चिदात्मनि यद्वैतं विशेषरूपमैक्यं सामा-
 न्यरूपं चाभाति तदपि तत्तस्याचिदाकाशस्वभावादेव नैव नास्ते-
 वेति मन्ये मननेन निधिनोमि । सत् केवलं व्योम शून्यमिति
 च यद्भाति तदपि नैव । पूर्णानन्दैकरसे शून्यत्वस्याप्ययो-
 गादित्यर्थः ॥ ७२ ॥ शून्यता पूर्णता च सप्रतियोगिका लोके
 यादृशी प्रसिद्धा । यथा जलेन शून्यो घटो जलेन पूर्ण इति वा ।
 सा आत्मनि न संभवति किंतु जगदिदं जगद्भावनस्यासन्ताप्रसिद्ध्या
 आकाशमेवेदमिति शून्यत्वम् । एवमात्मैवात्मनि संस्थितमित्य-
 न्यनिरपेक्षं पूर्णत्वम् । यथा भविष्यत्पुरमिदानीं प्रतिबोधि-

आकाशकोशविशदाशय दृश्यजातं
मौनात्म तिष्ठति शिलाघनमेव शान्तम् ।

यन्नाम तस्य जगदित्यभिधां विधाय
स्वात्मैव मोहित इवायमहो नु माया ॥ ७४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे धा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० जीवन्मुक्तकलनं नाम पञ्चविंशधिकशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

षड्विंशधिकशततमः सर्गः १२६

श्रीराम उवाच ।

अनन्तरं मुनिश्रेष्ठ कुर्वन्तः किं विपश्चितः ।
आसंस्तेषु दिगन्तेषु सद्दीपाब्धिवनाद्रिषु ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

शृणु किंवृत्तमेतेषां तात तत्र विपश्चिताम् ।

तालीतमालमालाढ्यद्दीपाद्रिवनचारिणाम् ॥

क्रौञ्चद्दीपगिरेरेको विपश्चित्पश्चिमे तटे ।

कटेनाद्रितटे पिष्टः करिणा कमलं यथा ॥

द्वितीयो नभसा नीतो रक्षसा विक्षताङ्गकः ।

निक्षिप्तो वाडवे वह्नौ तत्र भस्मत्वमागतः ॥

तृतीयस्त्रैदशं देशं नीतो विद्याधरेण वै ।

गतोऽप्रणामकुपितशक्रशापेन भस्मताम् ॥

चतुर्थश्चतुरं गच्छन्कुशद्दीपगिरेस्तटे ।

दुर्वारेण नदीकच्छे मकरेणाष्टधा कृतः ॥

इति ते पञ्चतां प्राप्ता दिङ्मुखेष्वकुलाशयाः ।

क्षये चतुर्षु चत्वारो भूपाला लोकपालवत् ॥

अथ तेषां ददर्शासौ व्योम्येव व्योमरूपिणाम् ।

निरपेक्षज्ञानतया दृष्टं स्फारं दिक्कालादि यथा प्रतियोगिनिरपेक्ष-
पूर्णतया स्फुटं दृष्टं तद्वदित्यर्थः ॥ ७३ ॥ हे आकाशकोशमिव
विशदाशय राम, यहृदयजातं शिलाघनप्रायमेव शान्तं ब्रह्मैव
मौनं तिष्ठति नाम तस्य स्वात्मैव जगदित्यभिधां विधायायं
मोहित इव तिष्ठति, अहो नु माया अत्यार्थ्यभूतेत्यर्थः ॥ ७४ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
रार्षे जीवन्मुक्तकलनं नाम पञ्चविंशधिकशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

मृगानामिह सर्वेषां स्वान्तः संसृतिविभ्रमः ।

उत्तरस्य तमः स्वातदर्शनान्तोऽनुवर्ण्यते ॥ १ ॥

तेषु पूर्वादिषु दिगन्तेषु गतास्ते विपश्चितः किं कुर्वन्त
आसन् ॥ १ ॥ एतेषां किंवृत्तं वृत्तान्तम् ॥ २ ॥ तेषां मध्ये एको
विपश्चित् क्रौञ्चद्दीपे प्रसिद्धस्य वर्षसीमगिरेः पश्चिमे तटे भागे
करिणा अद्रितटे वप्रशिलायां कटेन गण्डेन दन्ताभ्यां पिष्टः
संचूर्णितो मृत इत्यर्थः । वरप्रार्थनकाले 'आसिद्धगम्यमध्वानं
मृत्युरस्माकमस्तु मा' इत्यवधिकरणात्तदुत्तरं सिद्धागम्योऽध्वेय-
नुक्तमपि गम्यते । एवमग्रेऽपि बोध्यम् ॥ ३ ॥ द्वितीयो विपक्षि-
रक्षसा युद्धे विक्षताङ्गको नभसा नभोमार्गेण नीतो वाडवे वह्नौ
सामुद्रे निक्षिप्तस्तत्र भस्मत्वं चागतः ॥ ४ ॥ त्रैदशं देशमिन्द्रसभां
गतः । तत्र च अप्रणामात्मस्काराकरणात्कुपितस्य शक्रस्य

संवित्प्राक्तनसंस्काराद्ब्योमात्मावनिमण्डलम् ॥ ८

सप्तद्दीपाब्धिवलयं पुरपत्तनभूषणम् ।

सुरशैलशिरःपीठं ब्रह्मलोकं शिरोमणिम् ॥ ९

चन्द्रार्कबिम्बनयनं तारामुक्तांकलापकम् ।

विलोलमेघवसनं नानावनतनूरुहम् ॥ १०

देहान्विपश्चितां संविद्दर्शं चतुरोऽपि सा ।

प्राग्वत्कल्पपरावृत्तौ द्यौर्दिगन्तानिवाततान् ॥ ११

आतिवाहिकसंविच्छेस्तेऽव्योम्नि व्योमतात्मकाः ।

आधिभौतिकदेहत्वभावान्ददृशुरग्रतः ॥ १२

अस्यात्मकत्वेऽविद्येयं कियती स्यादिति क्षितुम् ।

चत्वारोऽपि प्रवृत्तास्ते संस्कारवशतः पुरः ॥ १३

दृश्यदर्शनयोरुर्वीमण्डलानुभवाकृतेः ।

निष्ठां द्रष्टुमविद्याया भ्रेमुर्द्वापान्तराणि ते ॥ १४

द्दीपसप्तकमुलङ्घय समहार्णवसप्तकम् ।

विपश्चित्पश्चिमः प्राप घनभूमौ जनार्दनम् ॥ १५

तस्मादनुपमं ज्ञानं समासाद्य दिगन्तरे ।

तस्मिन्नेव समाधाने सोऽतिष्ठद्वर्षपञ्चकम् ॥ १६

शापेन भस्मतां गतः ॥ ५ ॥ चतुर्थो विपश्चित्कुशद्दीपगिरेस्तटे
नदीकच्छे मकरेण अष्टधा शकलीकृतो मृत इत्यर्थः ॥ ६ ॥ इति
अनया रीत्या ते चत्वारो भूपाला विपश्चितः पञ्चतां मरणं प्राप्ता
यथा क्षये कल्पान्ते चत्वारो लोकपालाः पञ्चतां यान्ति तद्वत्
॥ ७ ॥ अथ मरणानन्तरं तेषां संविद्योमात्मा भूत्वा तस्मिन्व्यो-
म्येव अवनिमण्डलं पूर्ववद्दर्श ॥ ८ ॥ अवनिमण्डलं कीदृशं ददर्श
तदाह—सप्तद्दीपेत्यादि । सुरशैलो मेरुः स एव शिरःपीठमि-
वोन्नतो यस्य । ब्रह्मलोकोऽत्र मेरुस्थं ब्रह्मगृहम् ॥ ९ ॥ १० ॥ कल्पः
प्रलयस्तत्परावृत्तौ सर्गारम्भकाले । द्यौरिति तत्र प्रथमसृष्ट्याः
प्रजापतयो गृह्यन्ते ॥ ११ ॥ अव्योम्येव चिदात्मनि व्योमता-
प्रतीतिस्तदात्मकास्ते विपश्चितः आतिवाहिकसंविच्छेर्मानसप्रति-
भासमात्रस्य विषये प्रातिभासिकदेहे आधिभौतिकदेहत्वप्रयुक्त-
स्थौल्यजाड्यादिभावान् अप्रतो ददृशुः ॥ १२ ॥ अस्यैवं निश्चितस्य
देहस्य अज्ञात आत्मा आत्मकस्तद्भावे सति इयं दृश्यपृथ्व्यादि-
रूपा अविद्या कियती किंपरिमाणा स्यादिति क्षितुं पूर्वसंस्कारव-
शात्प्रवृत्ताः ॥ १३ ॥ दृश्यदर्शनयोर्मध्ये उर्वीमण्डलरूपाया अनु-
भवाकृतेरविद्याया निष्ठामियत्तया परिच्छित्तिं द्रष्टुम् ॥ १४ ॥ तेषु
पश्चिमो विपश्चित् घनभूमौ प्रागुक्तस्वर्णघनायां भूमौ कीडन्तं
जनार्दनं भाग्योदयवशात्प्राप ददर्श ॥ १५ ॥ तस्माज्जनार्दनाद-

ततो देहं परित्यज्य चित्ते सत्तामुपागते ।
स तत्प्राण इवाकाशं परं निर्वाणमाययौ ॥

१७

रूपमं ज्ञानं ब्रह्मविद्यां समासाद्य तस्मिन्नेव दिगन्तरे सः समा-
धाने समाधौ वर्षपञ्चकमतिष्ठत् ॥ १६ ॥ देहं देहभावं परि-
त्यज्य वीतद्व्योपाख्यानोक्तरीत्या चित्ते सत्तां सन्मात्ररूपताम् ।
असत्तामिति वा न्छेदः । स विपश्चित् परं निर्वाणं कैवल्य-
माययौ, यथा तस्य श्रण आकाशभावमाययौ तद्वत् ।
उपलक्षणमेतत् षोडशकलानाम् । 'गताः कलाः पञ्चदश प्रति-
ष्ठाम्' इति श्रुतेः ॥ १७ ॥ पूर्वः पूर्वदिवप्रवृत्तो विपश्चित्
पर्वणि राकायां शीतांशोः पूर्णचन्द्रस्य बिम्बपार्श्वे चन्द्रसन्निधा-
निति यावत् । स्थितं स्वं वपुश्चिरमैन्दववत् आतद्भावोदयं चिन्त-
यन्नुत्तरेदेहो भूत्वा चन्द्रपुरे स्थितः । नन्विदमयुक्तम् । चतुर्ध्वपि
शरीरेणैको हि विपश्चित्जीवो योगिकायव्यूहेष्विव विभक्तं
स्थितः । तस्य पश्चिमशरीरे विष्णुप्रसादाज्ज्ञानेन निर्वाणप्राप्तौ
कोऽन्यः पुनः पूर्वविपश्चित्शरीरे चन्द्रोपासनया चन्द्रलोकं
यायात् । न ह्येकस्यैव जीवस्य क्वचिन्मुक्तिः क्वचिद्वन्धश्च युगपत्स-
मञ्जसौ । मुक्तिफलस्य पाक्षिकत्वपरिच्छिन्नत्वयोरपत्तेः । न
चैकस्य देहचतुष्टयधारणेन जीवचतुष्टयभावो जीवान्तरोत्पत्तिर्वा
युक्तः । आद्ये चतुर्धा विभागे पूर्वजीवस्य नाशपत्तेः । द्विती-
येऽप्यभिनवोत्पन्नानां कामकर्मवासनादिबीजाभावेन संसाराना-
पत्तेः । न च भोगवैचित्र्यमिव बन्धमोक्षवैचित्र्यं कर्मभिर्मायया
वा अविरोधेन निर्बोद्धं शक्यम्, मोक्षस्याकर्मतत्त्वाद्विश्वमाया-
निवृत्तिश्रुतिविरोधाच्चेति चेत् । सत्यम् । अयमत्राचार्यो भगवतो
वसिष्ठस्य लक्ष्यते—न जीवो नाम ब्रह्माकाशादतिरिक्तः कश्चि-
दस्ति । ब्रह्मैव ह्यन्तःकरणोपाधिषु मायया विभक्तं तद्गतकाम-
कर्मवासनानुसारेण संसरदिव विभाज्यमानं जीव इत्युच्यते ।
तत्रान्तःकरणानां दीपबद्धूना मेलने एकत्वमुपचयश्च भवति ।
एकस्य च योगदेवताप्रसादादिनिमित्तवशाद्युगपद्विरुद्धानेकदेश-
भोग्यकर्मोद्भवाच्चानेकभावोऽपि भवति । तत्र यदा बहूनां
जीवानां तुल्यदेशकालभोग्यसमानकामकर्मवासनोद्भवस्तदा
तद्भोगस्य मेलने एकजीवत्वमेव भवति यावद्विरुद्देशभोगहेतु-
कर्मोद्भवं लाघवादेकमेव भोगायतनं शरीरं सपद्यते । यथा
शुद्धिष्ठिरजीवो धर्मस्य इन्द्रस्य च मेलनेनैको जीवः, यथा वा
भीमस्य वाग्विन्द्रयोर्मेलनेनैको जीवः, यथा वा अर्जुनजीवो
द्वयोरिन्द्रयोर्नरस्य च मेलनेनैकः, यथा वा नकुलसहदेवयो-
रिन्द्रस्याश्विनोश्च मेलनेनैको जीवः । द्रौपद्याश्च नारायणी-
लक्ष्मीगौर्यश्चमेलनेनैको जीवः पञ्चन्द्रोपाख्यानादिपर्यालोचने
प्रसिद्धः । यथा वा अर्धेर्वायोश्चन्द्रशापादगस्त्यावतारे मेलनेनैको
जीव इत्याद्युक्तम् । एकस्य जीवस्यानेकधोपाधिर्विभागे अनेक-
जीवतापि । इन्द्रहन्तारं पुत्रं कश्यपादूर्ध्वं प्राप्य अशुचित्वेन
सुप्ताया दितेरेकजीवैकशरीरकस्य गर्भेऽन्तरेण प्रथमं सप्तधा
छेदने सप्त जीवास्तत् एकैकस्य सप्तधा छेदने जातानामेकोनप-
ञ्चाशन्मरुतामेकोनपञ्चाशज्जीवाः संपन्नाः । षट्छुद्धादीनां च

पूर्वः पर्वणि शीतांशुबिम्बपार्श्वे स्थितं वपुः ।
चिन्तयन्श्चिरमुत्तरेदेहश्चन्द्रपुरे स्थितः ॥

१८

काण्डशाखारुहां प्रतिशाखं प्रतिकण्डं च प्ररोहेण जीवन्दर्श-
नादेकस्य नानाजीवात्मनौपाधिको विभागश्च प्रसिद्धतर एव ।
इत्थं च प्रकृतेऽपि चतुर्णां जीवानां यावत्समानकामकर्मोद्भवे
एकदेहतया राज्यपरिपालनम्, विरुद्धभिन्नदेशभोग्यकर्मोद्भवे
च देहादिभिभागेन दिगन्तरप्रसर्पणमिति कल्पने वा एकस्यैव
विपश्चित्जीवस्योपाधिर्विभागेन मरुदचतुर्जीवभावोभूदिति कल्पने
वा एकमुक्तौ न सर्वमुक्तिप्रसङ्गः । न च बहूनां मेलनेनैक-
जीवारम्भे तस्याभिववस्य कर्माभावात्संसारानुपपत्तिः । आरम्भ-
वादेनाभिनवजीवोत्पत्त्यनभ्युपगमात् । शङ्गायमुनयोर्मेलने-
क्यापतावप्यभिनवगहोत्पत्तिषुष्यभावेन सैवेयं गङ्गेति ब्रह्मभि-
क्षया द्वयोरप्येकगङ्गात्मनावस्थानवद्वनादिजीवयोरेवैक्येनावस्थाने
बाधकाभावात् । उपाधिद्वयस्य मेलनेनैक्ये उपहितेऽपि मेल-
नैक्यस्य सर्वप्रत्ययसिद्धत्वात् । एकत्वेनापि प्राक्तनकर्मभोग-
समवात् । एवमेकस्य षडुर्जीवभावे प्रत्यभिज्ञया चतुर्णामपि
प्राक्तनजीवादेमेदेन तद्गतकामकर्मवासनाराशीनां चतुर्धा विभा-
गेन व्यवस्थिते संसरणोपपत्तिस्तत्रैकस्य मुक्तावप्यपरस्य ज्ञाना-
भावात्संसरणोपपत्तिश्च । न चैवं मुक्तिफलस्य पाक्षिकत्वपरि-
च्छिन्नत्वयोः प्रसङ्गः । व्यष्टिजीवानां मुक्तावपि समष्टिहिरण्य-
गर्भजीवस्याधिकारान्ते मुक्तिवदुपपत्तेः । न हि समष्ट्यात्मनो
हिरण्यगर्भस्य तत्त्वज्ञानं व्यष्टीनां मुक्त्यभावे पाक्षिकपरिच्छिन्न-
मोक्षफलम् । यत्र वर्तमानेऽपि व्यष्टिसमष्ट्यभेदेन मुक्तिसंकर-
स्तत्र तांप्रतिके जीवभेदे सति प्राक्तनतदभेदमात्रेण मुक्तिसंकर-
रापादनस्यानवसरः एव । 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इति
श्रुतिरपि तत्तज्जीवोपाधिकृत्सर्वजीवनिवृत्तिपरा । अन्यथा एक-
मुक्त्यैव ज्ञानशून्यानामपि सर्वजीवानां मुक्त्यापत्तेः । 'तयो यो
देवानां प्रत्यवृथ्यत स एव तदभवत्तथर्षाणां तथा मनुष्याणाम्',
'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' इत्याद्यनेकश्रुतिस्मृति-
वैयर्थ्यापत्तेश्च । न चेदानींतनमन्दाधिकारिणो भाविबहुतरजन्म-
लभ्यमोक्षप्रत्याशया साधनानुष्ठानं न स्यान्ममैकस्यानेकजीव-
भावे क्वचिन्मोक्षेऽपि क्वचिद्वन्धानुवृत्त्यनिवृत्तिः स्यादिति
शङ्कया अनिमोक्षशङ्कानपनयादिति वाच्यम् । मोक्षसाधनानुष्ठान-
प्रवृत्तेः 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य प्राप्यते महतो मयात्', 'न हि
कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति', 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो
याति परां गतिम्' इति स्मृतिप्रामाण्याजुरोधेनोत्तरजन्मसु
नानाजीवात्मना अविभागस्य विभागे वा सदैव साधनसंस्कार-
विभागात्सर्वत्र क्रमेणावश्यं ज्ञानोदयस्य वानुमानेन साधनानु-
ष्ठाने प्रवृत्त्युपपत्तेः । वर्णिता हि तथैव भिक्षुजीवदोषाल्याने
भिक्षोः साधनानुष्ठानवतः प्रामादिकसकल्पप्राप्तनानाजीवभाव-
स्यान्ते शतकृद्भावे सर्वेषां तद्विभागजीवानां ज्ञानावाप्तिर्मुक्ति-
श्चेति । न चैवं सर्वजीवमुत्पत्त्यापत्तिरिष्टापत्तेः । मायावशा
मायानन्त्यस्य 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च

दक्षिणः शास्मलिद्वीपे राज्यमुत्सन्नशात्रवः ।
 करोत्यद्यापि न सतो विस्मृतान्यविनिश्चयः ॥ १९
 उत्तरस्तरलास्फालकल्लोले सप्तमाम्बुधौ ।
 सहस्रमेकं वर्षाणामुवास मकरोदरे । २०
 मकरोदरमांसाशी मृते मकरनायके ।
 मकरोदरतोऽवधेश्च निर्गतो मकरो यथा ॥ २१
 ततोऽशीतिसहस्राणि योजनानां घनावनिम् ।
 हिमकल्पजलाम्भोधेरुल्लङ्घ्य सुवनोदरीम् ॥ २२
 प्राप्तो दशसहस्राणि योजनानां महामहीम् ।
 सौवर्णीं सुरसंचारसरणिं मृतवानसौ ॥ २३
 तस्यां भूमौ च मध्ये च विपश्चिन्नाकितामगात् ।
 उत्तमामग्निमध्यस्थं क्षणात्काष्ठमिवाग्निताम् ॥ २४
 प्रधानदेवो भूत्वासौ लोकालोकगिरिं गतः ।
 इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० विप० विपश्चिन्मन्त्रान्तराचरणं नाम षड्विंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२६ ॥

अस्य भूमण्डलतरोरालवालमिव स्थितम् ॥ २५
 स पञ्चाशत्सहस्राणि योजनानां समुन्नतः ।
 आलोकलोकाचाराढ्यो भाग एकोऽस्य नेतरः ॥ २६
 लोकालोकशिरःप्राप्तं तारकामार्गसंस्थितम् ।
 अधःस्थिता अपश्यंस्तमुच्चनक्षत्रशङ्कया ॥ २७
 तस्मात्प्रदेशात्तत्पारे तमस्तस्य महागिरेः ।
 चतुर्दिक् महाखातं नभः शून्यमनन्तकम् ॥ २८
 ततो भूगोलकोऽयं हि समाप्तो वर्तुलाकृतिः ।
 नभःशून्यं महाखातं ततस्तिमिरपूरितम् ॥ २९
 तत्रालिकज्जलतमालनभोन्तराल-
 नीलं तमो न च मही न च जंगमादि ।
 नालम्बनं न च मनागपि वस्तुजातं
 किञ्चित्कदाचिदपि संभवतीति विद्धि ॥ ३०

सप्तविंशाधिकशततमः सर्गः १२७

श्रीराम उवाच ।
 भगवन्कथयैतन्मे कथं भूगोलकं स्थितम् ।
 कथमृक्षगणो याति लोकालोकः कथं गिरिः ॥ १
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 यथा संकल्पपरचिता शिशोर्व्यामनि तिष्ठति ।

संप्रतिष्ठा' 'नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तथा सर्वमिदं ततम्' इत्यादि-
 स्मृतिसिद्धत्वात् । तत्त्वदृष्ट्या तु जीव एव नास्तिकस्य मुक्त्य-
 नापत्तिः । न च 'अतोऽन्यदार्तम्' इति श्रुतिविरोधः । तस्याः
 श्रुतेर्व्यक्त्यार्तिमात्रेणाप्युपपत्तेः प्रवाहानन्त्येऽयमविरोधात् । चर-
 मव्यक्तिनाशस्यैव प्रवाहनाशतया सर्वजीवसंसारचरमव्यक्त्य-
 प्रसिद्धौ तन्नाशस्याप्रसिद्धेः । प्रकृते तु पश्चिमविपश्चित एकस्यैव
 भगवद्भक्तिपरिपाकोदितात्तदनुग्रहाज्ज्ञानलाभो नान्येषामिति
 तस्यैकस्यैव मुक्त्युपपत्तिरिति ॥ १८ ॥ अथ दक्षिणो विपश्चि-
 त्किमकरोत्तत्राह—दक्षिण इति । उत्तञ्चा० शात्रवा येन
 तथाविधः सन् । सतः पारमार्थिकतत्त्वस्य लामाद्विस्मृतः
 अन्यविनिश्चयो वात्सार्थनिश्चयो येन तथाविधस्तु न ॥ १९ ॥
 सप्तमाम्बुधौ स्वादूदे मकरेण निगीर्णः सन् मकरोदरे वर्षाणां
 सहस्रमेकमुवास ॥ २० ॥ तत्र किमाहारोऽभूत्तत्राह—मक-
 रोदरेति ॥ २१ ॥ ततः हिमकल्पजलस्य स्वादूदाम्भोधेर-
 वशिष्ठान्यशीतिसहस्राणि योजनान्युल्लङ्घ्य सुघनं विशालमुदरं
 यस्यास्तत्राविधां सौवर्णीं महामहीं प्राप्त इत्युत्तरेणान्वयः ॥ २२ ॥
 ॥ २३ ॥ अथ तस्या भूमौ स विपश्चिन्मृतः सन्नुत्तमां नाकितां
 देवमावमगात् । यथाग्निमध्यस्थं काष्ठं क्षणादग्नितां गच्छति
 तद्वत् ॥ २४ ॥ अस्यां विपश्चित्प्रधानदेवो देवश्रेष्ठो भूत्वा
 प्राक्तनदिनन्तोपसर्पणवासनया ततो लोकालोकगिरिं गतः ।
 कीदृशं लोकालोकगिरिम् । उत्तरे आमेरुशृङ्गमुन्नतत्वात्तत्प्राय-
 स्यास्य भूमण्डलस्य मूले आलवालं, सेतुमिव स्थितम् ॥ २५ ॥

वीटा चिन्मात्रबालेन कल्पिता भूस्तथाम्बरे ॥ २
 यथा तिमिरिकाक्षाणां केशचन्द्रादिदर्शनम् ।
 चिदाकाशस्य सर्गादौ तथा पृथ्व्यादिदर्शनम् ॥ ३
 यथा संकल्पनगरं धार्यमाणं न दृश्यते ।
 धार्यते धार्यते मा च तथोर्व्यनुभवश्चितेः ॥ ४

अस्य लोकालोकगिरेः एकः प्रथमो भागः सूर्यालोकेन लोकानां
 जनानामाचारेण व्यवहारेण चाढ्यः, इतरस्तु न ॥ २६ ॥ लोका-
 लोकगिरेरारोहणेन तच्छिरःप्राप्तं तं देवविपश्चितं अधःस्था जना
 नक्षत्रशङ्कया अपश्यन् ॥ २७ ॥ तस्य महागिरेः पारे परमाणो
 तमः । चतुर्दिक् परितः महत् खातं परिखाकारो गर्तः । नभ
 इव सर्वप्राणिशून्यमनन्तकमनेकयोजनविस्तृतम् ॥ २८ ॥ २९ ॥
 हे राम, तत्र तस्मिन् खाते अलिखितं कज्जलमिव तमाल इव
 नभोन्तराले नीलं तम एवास्ति । न च मही न च जंगमादि प्राणि-
 जातमस्ति । आलम्बनमाश्रयश्च नास्ति । न च किञ्चिद्वस्तुजातं
 कदाचिदपि संभवतीति त्वं विद्धीत्यर्थः ॥ ३० ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विपश्चिन्मन्त्रा-
 न्तराचरणं नाम षड्विंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२६ ॥

भूमिनक्षत्रचक्रादेः स्थितिस्तात्परतो नभः ।

ग्रहण्डस्वर्परद्वन्द्वस्थितिश्चात्रोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

प्रासङ्गिको रामप्रश्नः । निराधारं भूगोलकं कथं स्थितम् ।
 नक्षगणो नक्षत्रचक्रं च निराधारं कथं याति भ्रमति । त्वदुक्तो
 गिरिश्च कथं लोकालोकः । तत्संज्ञानिमित्तं किमित्यर्थः ॥ १ ॥
 तत्राद्यप्रश्नस्य वसिष्ठः प्रथममुत्तरमाह—यथेति । वीटा
 कन्दुकः । चिन्मात्रबालेन हिरण्यगर्भेण कल्पिता भूरपि तथा
 अम्बरे आकाशे तिष्ठति न पततीत्यर्थः ॥ २ ॥ मिथ्यात्वाद्वा
 पतनसंभावना वारणीयेत्याह—यथेति । तिमिरमस्यास्तीति
 तिमिरिकम् । मत्वर्थोऽयच्छब्दः ॥ ३ ॥ धार्यमाणं केनचिदाधारेणा-

यद्यथा यावदाभाति चिति चित्त्वात्स्वभावतः ।
 तत्तथा तावदाभाति तत्र तत्र तदात्मकम् ॥ ५
 तिमिराक्रान्तनेत्रस्य केशोण्डूकमिवाम्यरे ।
 चिन्मात्रस्य महीगोलो यो भातः स तथा स्थितः ॥ ६
 ऊर्ध्वं वह्न्यः सरितस्तदधस्ताद्भुताशनः ।
 चिति चेत्स्वप्नवद्भाति तत्तथा तत्स्थितं भवेत् ॥ ७
 तस्मात्पतन्ती भूर्भाता पतत्येवानिशं जगत् ।
 उत्पतन्ती तु विज्ञाता तथा नानात्मिका भवेत् ॥ ८
 स्तब्धभाता स्थिता स्तब्धा सालोका तु प्रकाशिनी ।
 निरालोका निरालोकलोकानामात्मनि स्थिता ॥ ९
 विज्ञानैकानुसारेण ताराचक्रं तथा मही ।
 असदेव सदैवेदं भातीदमखण्डितम् ॥ १०

प्रियमाणं न दृश्यते नानुभूयते । सांकल्पिकैरेव स्वप्नकुड्यादि-
 भिर्यते यद्यपि तथापि सांकल्पिकस्वप्नादेवस्तुत्वान्मा धार्यते
 न धार्यते च, तयोर्व्यपीत्यर्थः ॥ ५ ॥ सर्ववस्तुस्वभावानां चिद-
 धीनसिद्धिक्त्वादधृतगोलकाकारेण चिता सिद्धाया भूमेस्तादृश
 एव स्वभावो वाऽनुमीयतामित्याशयेनाह—यद्यथेति । तदात्म-
 कमिति वस्तुस्वभावस्तथेति तत्प्रकारस्वभावस्तावदिति तदाद्युनि-
 यतिस्वभावः परिगृह्यते ॥ ५ ॥ केशचन्द्रादिदर्शनमित्यत्र केश-
 दर्शनं स्पष्टयति—तिमिरेति । तथा भ्रान्त्यैव स्थितः ॥ ६ ॥
 नद्यादीनां निप्रवाहित्वस्वभावादिविपरीतस्वभावोऽपि चेत्
 क्वचिचिता भास्येत तर्ह्यस्तीत्येव प्रतिपत्तिः । स्यान्न नास्तीति यथा
 स्वप्ने इत्याह—ऊर्ध्वमिति । तासामधस्तादधोमुखज्वालो हुता-
 शनश्चिति चेत्सर्गादौ भाति तत्प्रतीतं वैपरीत्यमिदानीमपि
 स्थितमेव भवेत्तास्थितम् ॥ ७ ॥ अत एव वादिना भूमेरजस-
 पतनोर्ध्वगमनभ्रमणप्लवनादिकल्पनादि तत्तदुच्यवच्छिन्नचित्स-
 त्तया सत्यैवेत्याशयेनोपसंहरति—तस्मादिति । तथाहि—वादिनः
 केचिदुत्त्वादजसं महाकाशे पतत्येव भू, आकाशस्याधोदेशा-
 वध्यभावाच्च न क्वचिदस्याः पतनं विश्राम्यति, विपुलतरत्वाच्च
 तत्पतनमस्माभिर्न विभाव्यते । ज्योतिष्वकं चोभयतो मेरुसलमे
 भ्रुवद्वये बद्धं सदैव पतति । तच्च लघुतरत्वात्पतनवशादेवानादि-
 कालाद्भ्रमतीति मन्यन्ते । अन्ये तु 'योऽस्तु नावं प्रतिष्ठितां
 वेद प्रत्येव तिष्ठति' इति श्रुतेर्भूम्याधारोऽर्णवोऽस्ति तत्रानिबद्धा
 नौरिव भ्रमन्त्येवास्ते भूः प्रलये च तत्रैव निमज्जति सर्गकाले
 च जलतुम्बिकान्यायेनोर्ध्वमायातीति । अन्ये तु मन्यन्ते । उप-
 र्यधस्तात्परितश्च भूमेरपरिच्छिन्नं जलमेवास्ति । तत्रान्तर्दि-
 श्तेषु भूमेः सप्तलोकाः पवनपूर्णान्तरालाः सन्ति । तत्रान्तरस्य
 वायोर्लोपवातिशयबलाज्जलमध्रुम्बीफलमिव सततमूर्ध्वं गच्छ-
 तीति । अपरे तु मन्यन्ते भूगोलात्परित आकाश एव । तस्य
 चानन्याद्भ्रुवत्वात्मेरुसलमदेवदृशा दक्षिणभागास्यैवाधोभागत्वा-
 दक्षिणत एव सदा पततीति । अन्ये त्वाधुरा वादिनः पाताल-
 मेवोर्ध्वदेशं मन्यमाना देवाभिमतामूर्ध्वदिशमथ इति कल्पयन्त-
 उत्तरत एव गुरुत्वाद्भूः पततीति मन्यन्ते । अनयैव रीत्या

आलोकालोकमेवाथ नभःखातं ततो महत् ।
 तम एकार्णवाकारं स्थितं तत्र क्वचित्क्वचित् ॥ ११
 दूरत्वादक्षचक्रस्य करालत्वान्महागिरेः ।
 क्वचित्तमः क्वचित्तेजस्तत्रैवाचत्वरेऽपि च ॥ १२
 लोकालोकगिरेः पारे स्थितादाकाशमण्डलात् ।
 दशदिक्कं सुदुरेण कक्षचक्रं विवर्तते ॥ १३
 आपातालदिवो नदमृक्षचक्रं तदम्बरे ।
 दशदिक्कं प्रसरति पतवूर्ध्वाहतेऽभितः ॥ १४
 भूलोकमेव पातालयुतं नक्षत्रमण्डलम् ।
 पर्येति लोकालोकान्ते नान्यच्चित्कल्पनाच्च तत् ॥ १५
 सलोकालोकभूलोकद्विगुणात्खादनन्तरम् ।
 पकाक्षोटस्य भिस्सेव स्थितं नक्षत्रमण्डलम् ॥ १६

प्राच्यपाश्चात्या अपि स्वस्वदेशमेवोर्ध्वं मन्यमानाः प्राचीप्रती-
 च्योरपि पतनं मन्यन्ते । अन्ये तु ज्योतिष्वकं न भ्रमसि किं
 भूरेव स्वस्थाने भ्रमति तद्वयमविभावयन्तो नैस्यास्तत्फलमिव
 ज्योतिष्वकं भ्रमत्यस्याम इति । अपरे तु भूमिरेव सर्वतोऽध-
 स्तस्याः परितः स्थितानां जनानां दृष्ट्या तत्तच्छिरोदेशोपल-
 क्षिताः सर्वा एवोर्ध्वदिशः । तत्र गुरुत्वाद्यस्यामधोदिशि पृथिव्या-
 पतनं संभाव्येत सैव निर्धारितरूपा नास्तीति विनिगमना-
 विरहात्कापि न पततीति स्वस्थाने स्थिरैवास्ते इति । तेषां
 तेषां वादिनां स्वस्वबुद्ध्यवच्छिन्नचित्सत्तया सर्वं सर्वं स्वतस्तु
 न किंचिदपि सत्यमिति भावः । तथा तत्तद्भ्रानुसारेण विरुद्ध-
 नानात्मिकैव भवेत् ॥ ८ ॥ स्तब्धा निश्चलेति माता स्तब्धेव ।
 दिवारात्रं ये प्राणिनोऽप्रतिहतचक्षुषस्तद्दृष्ट्या सदैव सलोक
 प्रकाशयती । एवं निरालोकलोकानां जात्यन्धानां दृशा
 सदैव निरालोक । आत्मनि बुद्ध्यवच्छिन्नचिति ॥ ९ ॥ एवं
 सदसद्वादिनां विज्ञानानुसारेण तथापि ताराचक्रं मही च तथैव
 भवतीत्याह—चिद्भ्रानेति । ॥ १० ॥ प्रश्नद्वयोत्तरे समाधे
 तृतीयप्रश्नोत्तरमारभते—आलोकालोकमिति । इयं भू
 आलोकालोकं लोकालोकमभिव्याप्य स्थिता तावत्येव । अप
 तदनन्तरं नभोरुपं खातं गतो बलयाकारस्तत्र च महत्तमस्तत्रै-
 कार्णवाकारम् । क्वचित्क्वचिदित्युक्त्या तच्छृङ्खलान्तराल ईष-
 त्सीरालोकप्रवेशोऽप्यस्तीति गम्यते ॥ ११ ॥ तस्य लोकालोकान-
 मप्रवृत्तौ निमित्तमाह—दूरत्वादिति । कक्षचक्रस्य नक्षत्रचक्रस्य
 खातात्परतः परिवर्तनः अतिदूरत्वात् गिरेश्च करालत्वात्
 चिदेकभागे तमः । चत्वरशब्देनाधिलक्षणा गौण्या वृत्त्योच्यते ।
 आचत्वरेऽधिलक्षणापर्यन्ते क्वचिद्भ्रानो तेजोपि चेति स लोकालो-
 काख्य इत्यर्थः ॥ १२ ॥ दूरत्वमेव दर्शयति—लोकालो-
 केति । विवर्तते परिभ्रमति ॥ १३ ॥ अप ऊर्ध्वं च कियद्विस्तृतं
 तत्राह—आपातालदिव इति । सर्वोर्ध्वाधुराहते अन्यत्सर्वं
 पतन्नमत् ॥ १४ ॥ इदं नक्षत्रमण्डलं पातालसहितं कृत्वा भूलोकं
 पर्येति प्रदक्षिणीकरोति । तच्च चित्कल्पनादन्यत् ॥ १५ ॥
 पकाक्षोटफलस्य भिस्सा बीजसारावरणभाग इव ॥ १६ ॥

द्विगुणा नभसस्तस्मादक्षचक्रस्य पुष्टता ।
 दशदिक् विसरतो विव्वत्त्वक्सदंशस्थितेः ॥ १७
 संविद्धनस्य कचनं यादृशं कल्पनात्मकम् ।
 यदित्थं संनिवेशेन नन्विद्यं जागती स्थितिः ॥ १८
 नक्षत्रचक्राद्विगुणं ततोऽन्यद्विद्यते नभः ।
 तच्च कचित्प्रकाशादयं कचित्सान्द्रतमोमयम् ॥ १९
 पर्यन्ते तस्य नभसः स्थितं ब्रह्माण्डखर्परम् ।
 एकमूर्ध्वं परमधो गगनं मध्यमेतयोः ॥ २०
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० भूगोलनिर्णयो नाम सप्तविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२७ ॥

योजनानां कोटिशतं पुष्टं वज्रदृढं च तत् ।
 स्थितं संवेदनमयं व्योम्नि व्योममयात्मकम् ॥ २१
 सर्वदिक् महागोले नभसि स्वर्कतारकम् ।
 किमत्रोर्ध्वमधः किं स्यात्सर्वमूर्ध्वमधश्च वा ॥ २२
 पतनमुत्पतनं गमनं स्थितं
 चित इति स्फुरितं न तु वस्तु तत् ।
 पतनमस्ति न चोत्पतनं न वा
 गमनमागमनं स्थितमित्यपि ॥ २३

अष्टाविंशाधिकशततमः सर्गः १२८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 अस्मदादेर्जनस्यैतत्प्रत्यक्षं नानुमानिकम् ।
 शुद्धबोधशरीरेण नाधिभौतिकरूपिणा ॥ १
 एतदस्मज्जगत्स्वप्ने नान्येषु कथितं मया ।
 अन्येष्वस्ति जगत्स्वप्नेष्वेवमन्यापि च स्थितिः ॥ २
 जगत्स्वप्नेषु चान्येषु संस्थानकथनेन किम् ।
 न ह्यौपयोगिकादन्या कथा भवति धीमताम् ॥ ३
 सर्वेषामुत्तरे मेरुर्लोकालोकश्च दक्षिणे ।
 येषामित्यनुमाऽशेषभूतौघे तेन पण्डिताः ॥ ४
 प्रत्यक्षमेतदन्येषां यत्र तेऽन्ये जगद्भूमाः ।

नास्माकं विषये ते हि तथा संस्थानशोभिनः ॥ ५
 सर्वेषामुत्तरे मेरुर्लोकालोकश्च दक्षिणे ।
 सप्तद्वीपनिवासानां नान्येषामिति निश्चयः ॥ ६
 प्रकृतं शृणु हे राम तद्ब्रह्माण्डकवाटकम् ।
 यत्प्रमाणं ततो वारि बाह्ये दशगुणं स्थितम् ॥ ७
 तद्ब्रह्माण्डकवाटं तु तृणं तृणमणिर्यथा ।
 घृते वारि स्वभावेन नित्यं कल्पकरत्नवत् ॥ ८
 सर्वेषामेव भावानां स्थितः कल्पकरत्नवत् ।
 सर्वदा पार्थिवो भागस्तेनात्रैते पतन्त्यलम् ॥ ९

तस्माद्भूलोकद्विगुणाभसः ऋक्षचक्रस्य द्विगुणा पुष्टता अन्तर्द-
 लविस्तारः ॥ १७ ॥ संविद्धनस्य शुबलब्रह्मणः सत्यसंकल्पा-
 त्मकं यादृशं कचनं तदेवेत्थं सन्निवेशेन ब्रह्माण्डतदवयवरूपेण
 जागती स्थितिरित्यर्थः ॥ १८ ॥ ततः परतः पूर्वोक्तनभसोऽन्य-
 भूतो विद्यते ॥ १९ ॥ २० ॥ तदन्तर्दलपरिमाणमाह—योज-
 नानामिति । संवेदनमयं कल्पनामात्ररूपं परमार्थतो व्योमवि-
 कारपञ्चीकृतभूतकार्यभूतं व्योम चिदाकाशमेव ॥ २१ ॥ महा-
 गोलाकारे नभसि स्वर्कतारकं ज्योतिश्चक्रं सर्वदिक् तिष्ठति ।
 एवं सति किमत्र अस्मिन् ज्योतिश्चक्रे किमूर्ध्वं किमधः स्यात्,
 यदि स्यात्तर्हि सर्वमूर्ध्वं सर्वं चाधः । चशब्दात्सर्वं दक्षिणोत्तर-
 पूर्वपश्चात्तोऽपि वा स्यादित्यर्थः ॥ २२ ॥ सर्ववस्तूनां पतनं
 उत्पतनं तिर्यग्गमनं स्थितम् । एकत्रावस्थानं यद्वाति तच्चितः
 प्रत्यगात्मनः स्फुरितं प्रतिभानमात्रमेव । वस्तुतस्तु न पतन-
 मस्ति न चोत्पतनमस्ति न वा गमनमागमनं स्थितमवस्थितं
 किंचिदित्यप्यस्ति । अद्वयत्वविरोधादित्यर्थः ॥ २३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
 भूगोलनिर्णयो नाम सप्तविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२७ ॥

शोधितत्वाच्छुद्धो यस्तत्त्वबोधः सर्वजगत्तत्त्वसाक्षात्कारस्तत्प्र-
 धानेनातिवाहिकशरीरेण न त्वाधिभौतिकस्थूलरूपेणेत्यर्थः ॥ १ ॥
 एतद्यन्मया लोकालोकज्योतिश्चक्रादिसंस्थानं कथितं तदस्म-
 द्दृष्टे जगत्स्वप्ने प्रसिद्धं कथितमन्येषु तु न कथितम् । अन्येषु
 ब्रह्माण्डान्तरलक्षणे जगत्स्वप्नेष्वेवमेवोत्सर्गतः स्थितिः क्वचि-
 दन्यादृश्यपीत्यर्थः ॥ २ ॥ तर्हि तदपि वद तत्राह—जग-
 दिति ॥ ३ ॥ हे पण्डिताः, तेन उत्सर्गेण तु सर्वेषां ब्रह्माण्डानां
 मध्ये सर्वद्वीपसमुद्राणामुत्तरे मेरुर्लोकालोकस्तु दक्षिणे इति
 अशेषभूतौघे येषां जिज्ञासा तेषामनुमानमनुमा प्रवर्ततामित्यर्थः
 ॥ ४ ॥ ये त्ववान्तरविशेषास्ते तत्रत्यानामेव प्रत्यक्षा नात्रत्या-
 नामित्याह—प्रत्यक्षमिति ॥ ५ ॥ अन्येषां ब्रह्माण्डाद्बहिर्गता-
 नाम् ॥ ६ ॥ ब्रह्माण्डस्य कवाटकं प्रागुक्तखर्परद्वयं यत्प्रमाणं
 प्रागुक्तशतकोटियोजनप्रमाणं ततः परं बाह्ये दशगुणं वारि
 जलावरणं स्थितम् ॥ ७ ॥ ननु तस्य क आधारस्तत्राह—
 तदिति । तद्ब्रह्माण्डकवाटमेव पार्थिवभागतया आकर्षणशक्त्या
 तद्वारि धत्ते । यथा तृणमणिस्तृणचुम्बकमणिविशेषस्तृणमाकर्ष-
 णशक्तिरूपस्वभावेन धत्ते । यथा वा कल्पवृक्षोऽर्थिवाञ्छितानि
 रत्नानि धत्ते तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥ तर्हि मेघनिर्मुक्तजलकरका-
 दयः समुद्रनद्यादिषु न पतेयुर्जले आकर्षणशक्त्यभावात्किंतु
 दूरदपि तीरभूमिमेवोपसृत्य तत्र पतेयुस्तत्राह—सर्वेषामिति ।

जलादशगुणं बाह्ये स्थितं तेजो निरिन्धनम् ।
 आकाशविशदं शान्तस्तन्धज्वालोदरोपमम् ॥ १०
 तस्मादशगुणो बाह्ये संस्थितो वायुरायतः ।
 वायोर्दशगुणं बाह्ये व्योम तिष्ठति निर्मलम् ॥ ११
 ततः परतरं शान्तं ब्रह्माकाशमनन्तकम् ।
 न प्रकाशं न च तमो महाचिद्धनमव्ययम् ॥ १२
 अनादिमध्यपर्यन्ते तस्मिन्ब्रह्ममहाम्वरे ।
 महाचिन्नास्ति सर्वात्मन्ययोर्निर्वाणरूपिणि ॥ १३
 ब्रह्माण्डानां तादृशानां दूरे दूरे पुनःपुनः ।
 मिथोलक्षाणि लक्षाणि कचन्त्युपरमन्ति च ॥ १४
 न किञ्चित्कचयत्यत्र समे कचनरूपिणि ।
 तादृक्यं तथारूपं तदात्मन्येव संस्थितम् ॥ १५
 एष ते कथितः सर्वो हृदयानुभवनक्रमः ।
 अधुना शृणु किञ्चुत्तं लोकालोके विपश्चितः ॥ १६
 स्वभ्यस्तपूर्वसंस्कारो विलसन्निश्चयेरितः ।
 लोकालोकगिरेर्मूर्ध्नस्तमःश्वधं पपात सः ॥ १७
 ददर्श तत्र शिखरप्रतिमैर्विहगैर्वपुः ।
 विकर्तितं मनोदेहं प्रसृतं च स्वचिन्तिते ॥ १८
 देशस्य तस्य पुण्यत्वादेहं तच्चातिवाहिकम् ।
 आधिभौतिकताबोधं नानयन्निर्मलाशयः ॥ १९
 तावन्मात्रप्रबोधोऽसौ नाधिकं बोधमागतः ।

एते वृष्टिजलादयः ॥ १ ॥ प्रागुक्ताद्ब्रह्माण्डावरणजलाद्बाह्ये
 ॥ १० ॥ ११ ॥ ब्रह्माकाशमविद्याचक्रब्रह्माकाशम् । चिद्धनं
 प्रज्ञानघनं सुषुप्तिकल्पम् ॥ १२ ॥ अयोधनवदच्छिन्ननिर्वाणरू-
 पिणि ॥ १३ ॥ कचन्त्युद्भवन्ति । उपरमन्ति प्रलीयन्ते ॥ १४ ॥
 किं तत्कारणं यद्ब्रह्माण्डलक्षाणि कचयति तत्राह—न किञ्चि-
 दिति । किन्तु तद्ब्रह्मैवात्मनि अविद्याया तादृक्यमेवावस्थितम्
 ॥ १५ ॥ प्रश्नोत्तरमुपसहस्रं प्रकृतं श्रावयति—एष इति
 ॥ १६ ॥ सुष्ठु अन्त्यस्तः पूर्वो दिगन्तदर्शनोयोगसंस्कारो येन
 तथाविधनिश्चयेनेरितो विपश्चितस्य लोकालोकगिरेर्मूर्ध्नः शिख-
 रात्परतः प्रागुक्तं तमाश्वधं पपात विवेश ॥ १७ ॥ तत्र
 च निजं स्वं देववपुः पर्वतशिखरप्रतिमैर्महत्तैर्विहगैर्गृध्रादिभिर्वि-
 कर्तितं विच्छिद्य भक्षितं ददर्श । तदनन्तरं च स्वचिन्तिते
 दिगन्तदर्शने मनोदेहमेव प्रवृत्तं ददर्श ॥ १८ ॥ तस्य मरणप्र-
 देशस्य पुण्यत्वात्स्थूलदेहमावगोचरसंस्कारोद्बोधकचतुर्विधभूत-
 ग्रामादिशून्यत्वादिति यावत् । तस्मिन्निद्रा तदातिवाहिकं देहमा-
 धिभौतिकताबोधं न अनवत् । आतिवाहिकमात्रं न विसंसा-
 रेति यावत् ॥ १९ ॥ तावन्मात्रः स्थूलदेहातिरिक्तात्ममात्रगो-
 चरः प्रबोधो यस्य तथाविधोऽसौ विपश्चित् ततोऽधिकं देहप्र-
 यातिरिक्तशुद्धचिन्मात्रात्ममात्रगोचरं बोधं नागतः । ततो
 दिगन्तदर्शनलक्षणं कार्यमसितमपर्यवसितं चिन्तयित्वा प्रकृते-
 रपसर्पणस्वभावस्य हितः अनुकूलो बभूव नोपरत इत्यर्थः
 ॥ २० ॥ नन्वेहं चित्तं बहिः कथं प्रसरति गच्छति । तद-

चिन्तयित्वाऽसितं कार्यं बभूव प्रकृतेर्हितः ॥ २०
 श्रीराम उवाच ।
 अदेहं प्रसरत्येतच्चित्तं कार्यं कथं मुने ।
 आतिवाहिकसंविद्येर्बोधः स्यात्कीदृशोऽधिकः ॥ २१
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 संकल्पपर्ययकत्वेन यथान्तःपुरवासिनः ।
 इदं मनः प्रसरति तथास्य प्रसृतं मनः ॥ २२
 भ्रमे स्वप्ने मनोराज्ये मिथ्याज्ञाने कथाश्रुतौ ।
 यथा मनः प्रसरति तथा तत्प्रसृतं मनः ॥ २३
 पतन्ति तु शरीरं तदातिवाहिकमुच्यते ।
 आधिभौतिकधीर्भाति विस्मृत्यात्रैव कालतः ॥ २४
 ते तदान्तर्धिमायाते सर्परज्जुध्रमोपमे ।
 आधिभौतिकदेहेऽस्ति जिह्वयते त्वातिवाहिकः ॥ २५
 आतिवाहिकं यपोऽङ्गं निपुणं प्रविचार्यताम् ।
 चिन्मात्रव्यतिरेकेण यायद्वात्रान्यदस्ति नो ॥ २६
 देशादेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
 चिन्मात्रस्यास्य तद्रूपमनन्तस्यैकरूपिणः ॥ २७
 क द्वैतं क च वा द्वेषः क रागादि तु कथ्यताम् ।
 सर्वं शिवमनाद्यन्तं परो बोध इति स्मृतः ॥ २८
 निर्मनोमननं शान्तमासितं बोध उत्तमः ।
 आतिवाहिकदेहस्यो न तं बोधमुपागतः ॥ २९

भ्युपगमेपि पूर्वं देवशरीरेणापि नभोवर्त्मन्यप्रतिहतगतिः स
 आसीत्तत्तत्तत्राक्षोऽपि मनोदेहेन नभोमार्गे गच्छतस्वस्य पूर्वदे-
 हान्मनोमात्रमयदेहस्य को विशेषोऽभूदिति रामः पृच्छति—
 अदेहमिति ॥ २१ ॥ तत्राद्यप्रश्नस्योत्तरमाह—संकल्पेत्यादिना ।
 न हि संकल्पस्य पथि प्रसरो देहप्रसरमपेक्षते इत्यर्थः ॥ २२ ॥
 ॥ २३ ॥ द्वितीयस्योत्तरमाह—पतन्तीति । तुल्यं च आधिभौ-
 तिकापेक्षया विशेषयोनार्थः । यस्मिन्सु देहे ते अमस्यप्रमो-
 राण्यादयः पतन्ति प्रसरन्ति तच्छरीरमातिवाहिकमिष्यते ।
 अत्रातिवाहिके देह एव तद्भावविस्मृत्या आधिभौतिकतावृद्धि-
 रुदेतीति प्रागुक्तस्यानुवादो विशेषप्रदर्शनार्थः ॥ २४ ॥ कदा
 तर्हि आधिभौतिकभावनिवृत्त्या आतिवाहिकपरिशेषस्तत्राह—
 ते तदेति । ते इति पदं पूर्वश्लोकान्वयि । विचारेण आधि-
 भौतिकविभ्रमे अन्तर्धिमायाते सति तदा आतिवाहिकः शिष्यते
 ॥ २५ ॥ आतिवाहिकदेहस्यैव चिन्मात्रपरिशेषेऽपि विचार
 एवोपाय इत्याशयेनाह—आतिवाहिक इति । निपुणं 'तेजसा
 सोम्य शुंगेन सम्मूलमन्विच्छ' इति श्रुतिदर्शिततत्त्वदर्शनोपायेन
 ॥ २६ ॥ निर्विषयचिन्मात्रा प्रसिद्धिस्तु प्राग्वदुक्तो धार्तिवे-
 त्याशयेन प्रारब्धदुःखः पठितमेव श्लोकार्थं पुनः पठति—देशा-
 दिति । तद्रूपं प्रसिद्धमेवेति शेषः ॥ २७ ॥ तत्र च द्वैतरूपस्य
 विषयस्य तत्प्रयुक्तरागद्वेषादेव प्रसक्तिरेव नास्तीत्याह—केति
 ॥ २८ ॥ यन्निर्गतमनोमननमासितमवस्थानं स एवोत्तमो
 बोधः । आतिवाहिकदेहस्यो विपश्चित् तं बोधं नोपागतः किन्तु

विपश्चित्तद्विबोधोऽसौ ददर्श विसरन्मनः ।
 आतिवाहिकबोधेन गर्भवासोपमं तमः ॥ ३०
 तमसोऽन्ते विरिञ्चाण्डकवाटच्छेदभूतलम् ।
 वज्रसारं हेममयं कोटियोजनविस्तृतम् ॥ ३१
 तदन्ते प्राप सलिलं तस्मादष्टगुणं ततः ।
 कपाटभूम्यैव समं स्थितमर्णवपृष्ठवत् ॥ ३२
 तमतीत्य ततः प्राप तेजोऽर्कगणभीषणम् ।
 प्रलयाग्निघनज्वालापिण्डकोटरभास्वरम् ॥ ३३
 शहशोकादिमुकेन वपुषा मानसेन तत् ।
 तत्र गच्छन्स बुबुधे वहनं पूर्ववासितम् ॥ ३४
 उद्यमानो विवेदासावात्मानं त्वातिवाहिकम् ।
 चित्तमात्रात्मनः स्वस्य किमिवोद्यत इत्यपि ॥ ३५
 इति बोधेन धीरात्मा तं तताराऽनिलार्णवम् ।
 प्राप तद्विततं व्योम तस्मादष्टगुणं स्थितम् ॥ ३६
 तदतिक्रम्य स प्राप ब्रह्माकाशमनन्तकम् ।
 यत्र सर्वं यतः सर्वं यच्च किञ्चिच्च किञ्चन ॥ ३७
 मनसा प्रभ्रमंस्तत्र दूरादूर्तरं ययौ ।
 तेन दृष्टं च पृथ्व्यापस्तेजो वायुस्तथा जगत् ॥ ३८
 पुनः संसाररचनाः पुनः सर्गाः पुनर्दिशः ।

पुनर्महीधरा व्योम पुनर्देवाः पुनर्नराः ॥ ३९
 पुनः पञ्चमहाभूतपर्यन्ते ब्रह्म निर्धनम् ।
 पुनस्तत्र जगन्त्युच्चैः पुनः सर्गाः पुनर्दिशः ॥ ४०
 ब्रह्माकाशस्ततः सर्गाः पुनरन्ये त्वनिष्ठिताः ।
 इत्यसौ विहरन्दीर्घकालमद्यापि संस्थितः ॥ ४१
 खनिश्चयाच्चिराभ्यस्तान्नासौ विरतिमेति हि ।
 अन्तो नैवास्त्यविद्यायाः सा हि ब्रह्मैव सत्यता ॥ ४२
 वस्तुतो नास्त्यविद्येह ब्रह्मण्यविकलात्मनि ।
 इदं दृश्यमविद्येयमित्यात्मैष विकासितः ॥ ४३
 यद्यथा जायति स्वप्ने दृष्टं द्रक्ष्यसि पश्यसि ।
 तत्तथा ब्रह्म सच्छान्तमासीदस्ति भविष्यति ॥ ४४
 घनतमःप्रविलोकनचक्रकं
 क्रमजगत्प्रतिभानमिदं महत् ।
 परतया प्रतिभात्मतयानया
 न च सदङ्ग न चाप्यसदाकृति ॥ ४५
 तेष्वेव तेष्विव च तेषु तनूतरेषु
 ब्रह्मोदरेषु चिरदूर्तरं जगत्सु ।
 सोऽद्याप्यसंविदिततत्त्वतया तयोच्चैः
 खण्डेषु रङ्गुरिव राघव बंध्रमीति ॥ ४६

इ० श्रीवा० वा० दे० सो० नि० उ० अ० वि० ब्रह्मगीतासु ब्रह्माकाशविपश्चित्तजगच्चन्द्रदर्शनं नामाष्टाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२८ ॥

एकोनविंशदधिकशततमः सर्गः १२९

श्रीराम उवाच ।

तयोर्द्वयोर्मुनिश्रेष्ठ संपन्नं किमतः परम् ।

तद्विबोधः आतिवाहिकदेहमात्रात्मबोधवान् । अत एवाग्रे
 विसरन्मनो ददर्शेति परेणान्वयः ॥ २९ ॥ गर्भवासोपमं तमश्च
 ददर्श ॥ ३० ॥ विरिञ्चाण्डस्य कपाटप्रायो यश्छेदः खण्डस्तद्रूपं
 भूतलं, संपुटविभागसंधिभूतमिति यावत् ॥ ३१ ॥ तदुत्तरं तदा-
 वरणप्राप्तिमाह—तदन्ते इति । कपाटभूम्यैव समं तुल्यतया
 द्वीपान्ते अर्णवपृष्ठवत्स्थितम् । जलस्य निराधारावस्थानायोगा-
 दण्डकपालखण्डमाश्रित्य तद्वदेव विभज्य स्थितमिति भावः
 ॥ ३२ ॥ तैजसाद्यावरणस्य तु न जलवदाधारापेक्षेति संधिविभागा-
 भावात्पिण्डकोटरमिव भास्वरमित्युक्तिः ॥ ३३ ॥ तत्र तैजसावरणे
 गच्छन् स विपश्चित्तदुत्तरं वाय्नावरणे वहनं बुबुधे ॥ ३४ ॥ तच्च
 तस्य स्वप्नकल्पनाप्रायं न वास्तवमिति बुबुधे इति पदस्य तात्पर्य-
 मित्याह—उद्यमान इति ॥ ३५ ॥ तादृशवेदनबलादेव वाय्ना-
 वरणतरणं तस्येत्याह—इतीति ॥ ३६ ॥ ब्रह्माकाशमविद्याशबल-
 ब्रह्माकाशम् ॥ ३७ ॥ दृष्टं संस्कारवशादिति भावः ॥ ३८ ॥ पुन-
 र्नरा दृष्टा इति विपरिणामेनानुपजते ॥ ३९ ॥ निष्ठितं घनं निर्ध-
 नम् ॥ ४० ॥ अनिष्ठिता अव्यवस्थिताः ॥ ४१ ॥ निश्चयाजगत्स-
 ल्यतानिधयात् । सत्यता सत्यस्वभावः पर्यालोचितश्चेत्ता ब्रह्मैव
 ॥ ४२ ॥ तत्कृतस्तत्राह—वस्तुत इति ॥ ४३ ॥ यद्ब्रह्म जायति
 स्वप्ने च यथा यादृशवासनोद्भवेन प्राग्दृष्टं सांप्रतं पश्यस्यग्रेऽपि
 यो० वा० १७३

पश्चाद्विपश्चितोस्तस्य रुद्धयोर्वै विपश्चितोः ॥ १

द्रक्ष्यसि तद्ब्रह्म तथैवासीदस्ति भविष्यति च ॥ ४४ ॥ अत एवेदं
 जगत्सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयमेवेत्याह—घनतम इति । इदं
 आसीदस्ति भविष्यतीति कमयुक्तं जगत्प्रतिभानं घनं तमः
 अविद्यामात्रमेव प्रमीलितयोर्विलोचनयोस्तैमिरिकं चक्रकमिव
 महद्भाति । तच्च परश्चिन्मात्रात्मा तत्तया न सत् प्रतिभात्मतया
 अनया अज्ञदृष्टिप्रसिद्धया तु न असदाकृति । अत उभयदृष्टि-
 प्रामाण्ये अनिर्वचनीयमेवेत्यर्थः ॥ ४५ ॥ हे राघव, स विप-
 श्चित् अद्यापि असंविदिततत्त्वतया तेषु पूर्वदृष्टेष्वेव तेष्विव
 तत्सदृशेष्वन्येषु च वासनामात्रत्वात्तनूतरेषु ब्रह्मणा विरा-
 जासुदरेषु प्रसिद्धेषु जगत्सु वनखण्डेषु रङ्गमृगविशेष इव उच्चैः
 स्ववासनान्नलेन बंध्रमीति पुनःपुनर्भवति । अमेर्यबलुकि अभ्या-
 सस्य नुक् ॥ ४६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्माकाशविपश्चित्तजगच्चन्द्रदर्शनं नामा-
 ष्टाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १२८ ॥

विपश्चितोरुदन्तोऽत्र वर्ण्यते ह्यवशिष्टयोः ।

तत्रैकस्य मृगत्वेऽन्ते तथा रामसमागमः ॥ १ ॥

एको विपश्चित्द्विष्णुप्रसादाज्ज्ञानं प्राप्य मुक्तो द्वितीयस्त्वद्याप्य-
 विद्यायां बंध्रमीतीति श्रुत्वा अवशिष्टयोर्द्वयोः समाचारं रामः
 पृच्छति—तयोरिति । चन्द्रलोके शात्मलिङ्गीपराज्ये च भोगै-

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

तयोरेकश्चिराभ्यस्तवासनाविवशीकृतः ।
भ्रमन्द्दीपेषु देहौघैस्तामेव पदवीं गतः ॥
तथैवावरणांस्त्यक्त्वा परमाकाशकोटरे ।
पश्यन्संसारलक्षणां तथैवाद्यापि संस्थितः ॥
तयोर्द्वितीयः स्वाभ्यस्तादादावासंगतेर्वशात् ।
त्यक्तवान्भ्रमदेहैरद्य शैले मृगः स्थितः ॥

श्रीराम उवाच ।

एकैव वासना ब्रह्मण्या चतुर्णां सदोदिता ।
नानातां सा कथं प्राप्ता हीनोत्तमफलप्रदाम् ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

स्वभ्यस्ता वासना जन्तोर्देशकालक्रियावशात् ।
तनुदाढ्यान्वयतामेति धनदाढ्यैति नान्यताम् ॥
देशकालक्रियाद्येतदेकता वासनैकता ।
तयोर्यदेव बलवत्तदेव जयति क्षणात् ॥
एवं विभागेनैतेऽत्र चत्वारः समवस्थिताः ।
कृष्यन्ते द्वावविद्यार्थमन्यो मुक्तो मृगोऽपरः ॥
नाद्यापि तैरविद्याया लब्धोऽन्तो भ्रान्तिबुद्धिभिः ।
अनन्तेयमविद्येयमज्ञानपरिवृंहिता ॥

क्षिप्रेण शान्ता भवति विज्ञानालोक आगते ।
अमूलमेव गलति तिमिरश्रीरिवोदये ॥ १०
कालेनान्यजगज्जातं शृणु वृत्तं विपश्चितः ।
तस्मिन्दूरतरे देशे कस्मिंश्चित्संसृतिभ्रमे ॥ ११
कचिद्ब्रह्ममहान्योऽत्रि कस्मिंश्चिद्दृश्यमण्डले ।
तस्य दृश्यात्मना प्राप्ते वस्तुतो ब्रह्मरूपिणि ॥ १२
स एकः शुभसंगत्या विदुषां मध्यमागतः ।
दृश्यं यथावद्विज्ञाय ब्रह्मतामलमागतः ॥ १३
तत्रैवाशु परिज्ञानात्साऽविद्या स च देहकः ।
मृगतृष्णास्त्रिवाशान्तिमागतौ रागतत्रितौ ॥ १४
इति ते सर्वमाख्यातं विपश्चिचेष्टितं स्फुटम् ।
अनन्तैवमविद्येयं ब्रह्मवत्तन्मयी यतः ॥ १५
येन यत्रैव वर्षाणां लक्षलक्षणि गम्यते ।
तत्र तत्र स्वभावेन चिता किमपि लक्ष्यते ॥ १६
तदेवाश्वपरिज्ञातं सिध्या विद्येति कथ्यते ।
परिज्ञातं तु तच्छान्तं तथा ब्रह्मेति कथ्यते ॥ १७
मेदो न मेदस्तत्रायं मेदोऽयं यन्मयः किल ।
तद्ब्रह्मैव त्रिदाभासं चिद्रूपैव हि भिन्नता ॥ १८

विरुद्धयोर्विपश्चितोभोगसारत्वामिज्ञयोस्तयोर्द्वयोः पूर्वदक्षिणवि-
पश्चितो पश्चादनन्तरं अतः प्रागुक्तापरमन्यतस्य दिगन्तदर्श-
नवरस्य संवन्धि किं चरित्रं संपन्नमिति प्रश्नः ॥ १ ॥ तामुत्त-
रविपश्चितः पदवीं ब्रह्माण्ण्डावरणलङ्घनेन शबले ब्रह्मणि संसार-
लक्षकोटिषु भ्रमणलक्षणामेव पदवीं दक्षिणो विपश्चित इत्यर्थः
॥ २ ॥ तथैवेत्यादिरुक्तस्यैव प्रपञ्चः ॥ ३ ॥ द्वितीयः पूर्वो विपश्चित
स्तेन चन्द्रसंनिधावभ्यस्ताचन्द्रमृगस्तेष्टातिशयलक्षणात् आसंग-
तेरासङ्गस्य वशात् चन्द्रेण सह प्रतिमासमुद्भूतैः प्रभ्रमदेहैरुप-
लक्षितत्वानि त्यक्तवान्सन् अद्य शैले मृगो भूत्वा स्थितः ॥ ४ ॥
एकरूपाया वासनाया अन्तःकरणस्य देहस्य च चतुर्धाभावेऽपि
वासनाविभागस्य हीनोत्तमफलमेदस्य बाऽसंभवं रामः शङ्कते-
एकैवेति ॥ ५ ॥ तत्रायप्रश्नस्योत्तरमाह—स्वभ्यस्तेति ।
तनुदाढ्यां कोमला । धनदाढ्यां अतिपरिपाकदृढीभूता । अन्यतां
विभागम् ॥ ६ ॥ वासनानामेकीभावे विभागे वा को हेतुस्तत्राह—
देशेति । यदा भोग्यफलानुकूलानां देशकालकर्मप्रयत्नसामग्री-
णामेकता तदा तदनुकूलसमानविषयवासनानामप्येकता संप-
द्यते । यदा तु मेदस्तदा विभागः । यदा तु समानदेशकाल-
क्रियाफला काचिद्वासना तद्विज्ञानदेशकालक्रियाफला चापरा
वासना द्वे सद्भूते तदा तयोर्मध्ये यदेव बलवत्तदेव जयति । बल-
वत्ता च फलानुमेयेति भावः ॥ ७ ॥ एवमनया रीत्या एते विपश्चितो
शुभपदुद्भूतविरुद्धदेशादिभोग्यवासनाविभागप्रयुक्तेनाश्रयविभागेन
चत्वारः सन्तः समवस्थिताः । तत्राद्यावविद्यार्थमपरो मृग इति
प्रयोऽपि कृष्यन्ते वासनाभिः । अन्य एकस्तु मुक्तः ॥ ८ ॥

तैस्त्रिभिः । अज्ञानैर्भ्रान्तिसहसैः परितो वृंहिता वर्धिता ॥ १ ॥
अमूलं निःशेषमेव गलति ॥ १० ॥ क्षिप्रेण कालेनेति पूर्वश्लोक-
न्वयि । इदानीं पश्चिमविपश्चितो येन वृत्तेन मुक्तिर्जाता तद्युग-
भावयति—अन्येति । अन्यस्मिन्स्ववासनाकल्पिते जगति
ब्रह्माण्डे जातम् । तस्मिन् ब्रह्माण्डे । दूरतरे सादृधिपरमाण्व-
वर्णभूदेशे ॥ ११ ॥ ब्रह्ममहान्योऽत्रि कचिदध्यस्ते कस्मिंश्चिद्दृ-
श्यमण्डले । किं वास्तवेनेत्याह—तस्येति ॥ १२ ॥ शुभस्य शान्ति-
दान्तिभगवद्भक्त्यादिगुणौघस्य संगत्या स पश्चिमो विपश्चिदेको
विदुषा जीवन्मुक्तानाम् ॥ १३ ॥ तस्य सा जगदाकार
अविद्या स देहश्च मोक्षोत्तरं क्व गतौ तत्राह—तत्रैवेति ।
आशान्ति बाधमागतौ यतस्तौ रागः कामस्त्वत्त्रितौ तदधीन-
स्थितिकौ । तथा च श्रुतिः 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य
हृदि भ्रिता । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' इति
॥ १४ ॥ प्रकृतकथामुपसंहरति—इतीति । इयमविद्या कार्या-
विद्या सर्वदिक्ष्वद्यापि तैरन्तादर्शनादनन्ता कारणब्रह्मवत् ॥ १५ ॥
तत्कल्पकाज्ञातचित्त आनन्त्यादेव तदानन्त्यमिति ब्रह्मवदिति
दृष्टान्तोक्तैस्तात्पर्यमित्याह—येनेति ॥ १६ ॥ तन्मयीत्युक्ते-
रपि तात्पर्यमाह—तदेवेति । तद्ब्रह्मैव ॥ १७ ॥ नन्वविद्येति
प्रज्ञेति च मेदे सति कथं तदेव तत्राह—मेद इति । अयं
मेदो न मेदो यतोऽयं तन्मयः अविद्यामय एव सा च ब्रह्मैवेति ।
निःज्ञासत्त्वादपि मेदो न चितोऽन्य इत्याह—तदिति ॥ १८ ॥

ब्रह्माण्डमण्डपस्यास्य भ्रमतेत्यविपश्चिता ।
 लब्धो युगशतैरन्तो नाविद्याया विपश्चिता ॥ १९
 श्रीराम उवाच ।
 स ब्रह्माण्डकपाटः किं न संप्राप्तो विपश्चिता ।
 त्वयैतत्कथितं ब्रह्मज्ञ कथं वदतां वर ॥ २०
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 जातेनैव विरिञ्चेन पुरा ब्रह्माण्डमण्डलम् ।
 द्वाभ्यामधस्तादूर्ध्वात्स्वभुजाभ्यां प्रविदारितम् ॥ २१
 भागस्तेनोर्ध्वतस्तस्मादतिदूरतरं गतः ।
 अतो भागो गतोऽधस्तादतिदूरतरान्तरम् ॥ २२
 ताविवाश्रित्य तिष्ठन्ति जलाद्यावरणास्ततः ।
 त एव च तदाधारा लम्बन्ते संस्थितास्तयोः ॥ २३
 एतयोर्मध्यमाकाशं विदुरण्डकपाटयोः ।
 अपारावारमानीलमिदमालक्ष्यते तु यत् ॥ २४
 जलाद्यावरणास्तत्र न लगन्ति न सन्ति च ।
 तद्धि निर्मलमाशून्यमालानं कल्पकृतिभिः ॥ २५
 तेन मार्गेण यातोऽसौ विपश्चिदक्षचक्रवत् ।
 अविद्यायाः परीक्षार्थमामोक्षमतिदीक्षितः ॥ २६
 ब्रह्मैवानन्तरूपेयमविद्या तन्मयी यतः ।
 अतोऽस्ति साऽपरिज्ञाता परिज्ञाता न विद्यते ॥ २७
 विपश्चित इति प्राप्य दूरादूरं परेऽम्बरे ।
 जगद्रूपेष्वविद्याया भ्रमन्त्यन्येषु केषुचित् ॥ २८
 कश्चिन्मुक्तो मृगः कश्चित्कौचिदद्यापि तौ कश्चित् ।
 भ्रमतः प्राक्तनानल्पसंस्कारविवशीकृतौ ॥ २९
 श्रीराम उवाच ।
 कीदृशेषु क दूरेषु ते जगत्सु विपश्चितः ।

ज्ञानशून्येनोत्तरविपश्चिता तु युगशतेनाप्यविद्याया अन्तो न
 लब्ध इत्याह—ब्रह्माण्डेति । इति उक्तीत्या भ्रमता अविप-
 चिता अविदुषा, विपश्चिता तु अविद्याया अन्तो युगशतैरपि
 न लब्धः ॥ १९ ॥ उत्तरविपश्चितो ब्रह्माण्डकपाटसंध्याकाश-
 मार्गेण निर्गमनं कथं ब्रह्माण्डमज्ञे कारणानुक्त्या संध्याकाशस्यै-
 वासंभावनादित्याशयेन रामः शङ्कते—स इति । ब्रह्माण्डकपाट
 एव किं न संप्राप्तः, तथा च तं भित्त्वा यथा स बहिर्गतः एतत्
 त्वया कथं न कथितम् ॥ २० ॥ वसिष्ठो ब्रह्माण्डकपाटद्वयविभागे
 कारणं प्राक् पाषाणाख्याने उक्तमेव स्मारयति—जातेनैति
 ॥ २१ ॥ अन्यदतिदूरतरं अतिदूरतरान्तरम् । अतिदूरतरम-
 न्तरमवधिं गत इति वा ॥ २२ ॥ जलाद्यावरणास्तौ भागा-
 विव विभक्तास्तावेवाश्रित्य तिष्ठन्ति । आश्रित्य स्थितिः साधा-
 रणी विभक्ता तु जलावरणमात्रस्येति प्रागुपपादितमेव ॥ २३ ॥
 ॥ २४ ॥ तत्र आकाशे अपारत्वोक्तिरितरभूतापेक्षया वैपुल्य-
 ख्यापनाय । अन्यथा बाह्याकाशावरणस्य पूर्वावरणदशगुणपरि-
 माणत्वानुपपत्तेः । तदग्रे ब्रह्माकाशवर्णनायोगाच्च । आलान-
 मितरभूतानामाधारः । यावत्प्रलयं कल्पकालकल्पनैः ॥ २५ ॥
 अविद्यायाः परित ईक्षार्थमतिशयेन दीक्षितो गृहीतदीक्ष इव
 ॥ २६ ॥ तर्हि स दृढतरपुरुषप्रयत्नाविच्छेदादविद्यान्तं कुतो

१ अन्य इति पाठः.

भ्रमन्तीति मुने ब्रूहि मयि चेज्जायते कृपा ॥
 कियत्यध्वनि संसारास्ते जाता येषु ते मुने ।
 महदेतदिहाश्चर्यमस्माकं कथितं त्वया ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 स्थितौ विपश्चितौ राम तावुभौ जगतोर्ययोः ।
 तेऽस्माकं गोचरं याते जगती यत्नतोऽपि नो ॥ १
 तृतीयो मृगतां यातो विपश्चिद्यत्र तिष्ठति ।
 स कदाचित्संससारो गोचरे नोऽवतिष्ठते ॥ २
 श्रीराम उवाच ।
 विपश्चिन्मृगतां यातो यस्मिञ्जगति संस्थितः ।
 तज्जगत्क महाबुद्धे यथावत्कथयेति मे ॥ ३
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 दूरादूरतरं गत्वा परब्रह्ममहाम्बरे ।
 मृगो विपश्चिज्जगति स यस्मिस्तज्जगच्छृणु ॥ ४
 तदिदं विद्धि त्रिजगदिहासौ संस्थितो मृगः ।
 इदं तत्परमाकाशं दूरादूरे जगत्स्थितम् ॥ ५
 श्रीराम उवाच ।
 विपश्चिदस्मादेवासौ जगतस्तां गतिं गतः ।
 इहैवाद्य मृगो जातः कथमेतत्समञ्जसम् ॥ ६
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 अवयवानवयवी नित्यं वेत्ति यथाखिलान् ।
 तथा सर्वानहं वेद्मि ब्रह्मण्यात्मन्यवस्थितान् ॥ ७
 अनिष्ठितान्ससंहाराज्ञानाकारांस्तु तान्वहन् ।
 मिथः प्रोतान्मिथोदृश्यान्स्वरूपानिव पार्थिवान् ॥ ८

न ददर्शेति चेत्तस्यावस्तुतोऽनन्तब्रह्मात्मकत्वादेवेत्याह-
 ब्रह्मैवेति । तर्हि तत्त्वज्ञैस्त्वदन्तः कथं दृश्यते तत्राह-
 परिज्ञातेति ॥ १७ ॥ अविद्याया जगद्वक्षणेऽप्यु रूपेषु केषुचि
 ॥ २८ ॥ २९ ॥ रामप्रश्नाः स्पष्टाः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ स्वप्नदृष्टोऽप्य-
 आम इतः कियदूरेऽस्तीति प्रश्नवद्रामप्रश्नोऽयं योजनसंख्योक्त-
 न समाधातुं योग्य इति मत्वा वसिष्ठस्तदपरिज्ञानोकिच्छले
 स्वाशयं सूचयन्नुत्तरमाह—स्थिताविति । यत्नतः पर्यालो-
 नेऽप्यस्माकं ते जगती गोचरं बुद्धिविषयतां नो याते ॥ ३२
 स ब्रह्माण्डस्तदन्तर्गतसंसारैः सहितः संसारो नो गोच-
 बुद्धिविषयभावेऽवतिष्ठते ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ पूर्वतनविपश्चि-
 जन्मदेशादूरादूरे व्यवस्थितम् ॥ ३६ ॥ तां दिगन्तदर्शनगा-
 गतः सन् इहैव मृगो जात इति कथं समञ्जसम् । परावृत्त-
 गमनं विना इह मृगजन्मासंभवादित्यर्थः ॥ ३७ ॥ दूरं दूरत-
 चेत्यादिसर्वं परिच्छिन्नात्मदर्शिनामेव भवति । अपरिच्छि-
 न्नात्मदर्शिनां त्ववयविनामवयवा इव सर्वं संनिहिततरमेवो-
 खानुभवेनेयमुक्तिरित्याशयेनोत्तरमाह—अवयवानिति । सर्व-
 ब्रह्माण्डानिति शेषः ॥ ३८ ॥ अन्यदृशा अतीततराणामा-
 ब्रह्मदृशा सांप्रतं संनिहिततरत्वमेवेति कालतोऽपि न कस्-
 चिदूरात्स्वीत्याशयेन तान्विनिनष्टि—अनिष्ठितानिति । नि-

तत्र कस्मिंश्चिदन्यस्मिन्मार्गेऽस्मिन्निव तिष्ठति ।
यद्वत्तं कथितं राम तदेतद्भवते मया ॥ ४०
विपश्चितोऽन्यसंसारे देहैर्भ्रान्ता दिगन्तरान् ।
ताननन्ताम्बरे व्योम्नि तावत्कालमखिन्नधीः ॥ ४१
इहैव हरिणो जातः कस्मिंश्चिद्विरिकन्दरे ।
काकतालीययोगेन भ्रान्त्वा भूरिजगद्भ्रमम् ॥ ४२
स जगन्ति भ्रमन्दूरे यसिन्सर्गे मृगः स्थितः ।
ससर्गोऽयमिति व्योम्नि काकतालीयवत्स्थितम् ॥ ४३

श्रीराम उवाच ।

एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्कस्यां ककुभि मण्डले ।
कस्मिन्कस्मिन् शैलेऽसौ घने कस्मिन्मृगः स्थितः ॥ ४४
किं करोति कथं दूर्वाश्चर्वयत्युर्वरास्पदः ।
जातिं तां जरठज्ञानी कदोदारां स्मरिष्यति ॥ ४५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

योऽसौ त्रिगर्तनाथेन दत्तः क्रीडामृगस्तव ।
स्थितः क्रीडामृगागारे विद्धि तं त्वं विपश्चितम् ॥ ४६

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० विप० विपश्चिन्मृगलामो नामैकोनत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १२९ ॥

त्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३०

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

अथ राम उवाचास्य मुने केन विपश्चितः ।
स्यादुपायेन दुःखान्तः प्राक्तनात्मोदयादिति ॥ १

कालोत्तरमावित्वात्संप्रतमनिष्ठितान् असंजातान् तथा ससंहा-
रात् पूर्वकालनिष्यन्नसंहारसंहितान् नानाकारान्विचित्रान् मिथः
परस्परमदृश्यावपि एकत्र चित्तव्यासात्परस्परप्रोतान् पार्थि-
वान् पृथ्वीविकारभूतपटतन्त्वादिस्ररूपानिव स्थितान् ॥ ३९ ॥

तत्र ब्रह्माण्डेषु कस्मिंश्चिदन्यस्मिन्मार्गे अस्मिन्नेतद्ब्रह्माण्डस्थे मार्गे
इव तिष्ठति सति यद्वत्तं तन्मया भवत एतद्ब्रह्माण्ड इव कृत्वा
अत्रैव विपश्चिज्जन्मराज्यावीति कथितं तत्त्वतः प्रकारतश्च
भेदाभावादित्यर्थः ॥ ४० ॥ तान् पूर्वोक्तान् दिगन्तरान्
स्वस्ववासनाकल्पिते अभ्यान्त्यसंसारे तादृशैरेव देहैर्वस्तुतो
भ्रान्ताः नैकस्मिन्नत्र पूर्वो विपश्चिदिहैव हरिणो जात इत्युत्त-
रत्रान्वयः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ व्योम्नि ब्रह्माकाशे ॥ ४३ ॥
ककुभि दिशि ॥ ४४ ॥ उर्वरा सस्याव्या भूमिस्तदास्पदः
जरठं जरयेव शिथिलं ज्ञानमस्यास्तीति जरठज्ञानी स मृगस्तां
प्राक्तनीं जातिं विपश्चिज्जन्म कदा संस्मरिष्यति ॥ ४५ ॥
त्रिगर्ता देशविशेषास्तेषां नाथेन राज्ञा तव उपायनत्वेन यः
क्रीडामृगो दत्तः स इदानीं क्रीडामृगबन्धनागारे स्थितोऽस्ति
तं मृगं त्वं विपश्चितं विद्धि ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ देहगतै-
र्विन्दुभिः पृषद्भिस्ताराविन्दुयुतं खं विडम्बयन्ननुकुर्वन् ॥ ४९ ॥
आदता दर्शनादरवत्यपि अनादता समा दैत्ययाविधैश्चकित-

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

श्रुत्वेति राघवस्तस्यां सभायां विस्मयान्वितः ।
चालकान्मृगमानेतुं प्रेषयामास भूरिशः ॥ ४०
अथानीतो मृगो मुग्धः सभां स्फारां विवेश सः ।
सर्वैः सभ्यगणैर्दृष्टः पुष्टिमांस्तुष्टिमानपि ॥ ४८
ताराविन्दुयुतं देहविन्दुभिः खं विडम्बयन् ।
दृष्टिपातोत्पलासारैः सुन्दरीः परितर्जयन् ॥ ४९
आदतानादतसमैर्नीला मरकतत्विषः ।
धावंस्तणेच्छया लोलं मुग्धैश्चकितवीक्षितैः ॥ ५०
उत्कर्णोभयनोद्गीवं क्षणभङ्गावलस्थितैः ।
उत्कर्णनयनोद्गीवैः सम्यानाकुलयञ्चकैः ॥ ५१
मृगमालोक्य तं लोकाः सराजमुनिमन्त्रिणः ।
अनन्ता यत मायेति चिरमासन्सयाकुलाः ॥ ५२

आश्चर्यचर्वणसुविस्मितसर्वलोका

सर्वावलोकनघनोत्पलवर्षकृष्णम् ।

रत्नांशुजालकचितं मृगमीक्षमाणा

सासीत्सभा कमलिनी लिपिनिर्मितेव ॥ ५३

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

येनैवाभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः ।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला ॥ २

वीक्षणैः समयकटाक्षैर्नीलवर्णाः सभास्तम्भादिखचितमरकत-
त्विषो हरिततृणभ्रान्तिप्रयुक्त्या इच्छया आदातुं धावन् ॥ ५० ॥
ऊर्ध्वोक्तकर्णनयनघ्रीवं यथा सात्तथा क्षणभङ्गैरस्थिरैरवलै-
निवार्यैः स्थितैरवस्थानैस्तथाविधैर्जवैश्च सभ्यान्समागतान्
जनान् दर्शनोत्कण्ठया आस्कन्दनशक्त्या च आकुलयन् ॥ ५१ ॥
सगो विस्मयस्तदाकुला आसन् ॥ ५२ ॥ सर्वेषां सभासदाम-
वलोकनलक्षणैर्धनैर्निविडैरुत्पलवर्षैः कृष्णं नीलवर्णोक्तमिव
स्थितं नानाविधरत्नानामंशुजालैः कान्तिसमूहै रचितं परिकुर्व
तं मृगमीक्षमाणा सभा आश्चर्यसाहचरसस्य यन्वर्णं विगठित-
वेद्यान्तरतया अन्तरास्त्रादनं तेन सुविस्मिता विस्मयजदीकृता
सर्वे लोका यस्यां तथाविधा सती लिपिनिर्मिता चित्रलिखिता
कमलिनी पद्मवतीव आसीत् ॥ ५३ ॥ इति श्रीवाल्मीकिरुवा-
रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विपश्चिन्म-
गलामो नामैकोनत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १२९ ॥

वसिष्ठध्यानजे बह्वौ मृगस्यात्र प्रवेशनम् ।

विपश्चिदेहलाभेन प्राक्स्मृतिश्चात्र ध्वन्यते ॥ १ ॥

प्राक्तन आत्मा विपश्चिदेहस्तस्योदयात्पुनराविर्भावाज्ज्ञानेन
वास्तवात्माविर्भावाच्च इति राम उवाचेत्यन्वयः ॥ १ ॥ यस्य
पुरुषस्य येनैव चितोपासितेन देवतेन गतिः पुनः पुनरभिलषित-
सिद्धिः प्राग्भ्युदिता तस्य पुरुषस्य तेन देवतेन विनाऽपि अमे

विपश्चितोऽग्निः शरणं तत्प्रवेशादयं मृगः ।
 पूर्वरूपमवाप्नोति निर्मलं कनकं यथा ॥ ३
 करोम्येतदहं सर्वं दृश्यतां दर्शयामि वः ।
 अग्निप्रवेशं हरिणः करोत्येषोऽधुना पुरः ॥ ४
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्युक्त्वा स मुनिस्तत्र वसिष्ठः श्रेष्ठचेष्टितः ।
 उपस्पृश्य यथान्यायं स्वकमण्डलुवारिणा ॥ ५
 दध्याचनिन्धनं वह्निं ज्वालापुञ्जमयात्मकम् ।
 तज्ज्वानेन सभामध्याज्ज्वालाजालं समुद्ययौ ॥ ६
 अङ्गाररहिताकारमिन्धनेन विवर्जितम् ।
 स्वच्छं धमधमायन्तमधूममपकज्जलम् ॥ ७
 मुग्धमुग्धकचत्कान्तिं हेममन्दिरसुन्दरम् ।
 उत्फुल्लकिंशुकाकारं संध्याम्बुद्वदुत्थितम् ॥ ८
 दूरपसृतसभ्यं तज्ज्वालाजालं विलोकयन् ।
 मृगः प्राग्भक्तिभावेन प्रोल्लास विलोकितैः ॥ ९
 तं समालोकयन्वह्निं विविधुः क्षीणदुष्कृतः ।
 पश्चादुपससाराशु दूरं सिंह इवोत्पतन् ॥ १०
 एतस्मिन्नन्तरे ध्याने विचार्य मुनिपुङ्गवः ।
 मृगं विलोकितैः क्षीणपापं कुर्वन्नुवाच ह ॥ ११
 संस्मृत्य प्राक्तनीं भक्तिं भगवन्हव्यवाहन ।
 कुरु कारुण्यतः कान्तं मृगमेनं विपश्चितम् ॥ १२
 वदत्येवं मुनौ दूराद्भावित्वा नृपसंसदि ।
 मृगोऽग्निं वेगनिर्मुक्तः शरो लक्ष्यमिवाविशत् ॥ १३
 ज्वालाजालं प्रविष्टोऽसावादृश इव बिम्बितः ।
 संध्याभ्र इव विश्रान्तो दृष्टः स्पष्टशरीरकः ॥ १४
 स पश्यत्स्वेव सभ्येषु मृगोऽथ नरतामगात् ।

गतिरभिलषितसिद्धिर्न जायते जातापि न शोभते शोभितापि परिणामे न सुखदा कथंचित्सुखप्राप्तावपि परलोकहिता कदाचन न भवति । तथा च श्रुतिः 'यः स्वां देवतामतिथजति प्रस्त्रायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान्भवती'ति । अभियुक्ताश्चाहुः 'त्वामतिथजेत भगवन्त्यः कुलदैवं द्विजाति-कुलजातः । उभयभ्रष्टो नश्येदभ्युदयोपांशुयाजवत्स जडः ॥' इति ॥ २ ॥ शरणं इष्टार्थप्रदानेन रक्षिता । पूर्वरूपं प्राक्तनविपश्चिद्देहम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ उपस्पृश्य आचम्य । यथान्यायं 'शिर-श्चक्षुषी नासिके श्रोत्रे हृदयमालम्ब्य' इति श्रुत्युक्तन्यायमनतिक्रम्य ॥ ५ ॥ दशरथसभामध्यप्रदेशात् ॥ ६ ॥ धमधमा-यन्तमित्यव्यक्तानुरागाद्वाचि 'वाचि बहुलं द्वे भवतः' इति द्वित्वे 'लोहितादिद्वाज्यः क्यप्' इति क्यपन्ताल्लटः शत्रा-देशः । अपकज्वलमकज्वलमिति यावत् ॥ ७ ॥ मुग्धमुग्धं कचन्ती कान्तिर्यस्य तथाविधं हेममन्दिरमिव सुन्दरम् ॥ ८ ॥ दूरपगताः सभ्या यस्मात्तथाविधं तज्ज्वालाजालं विलोकयन्सन् स मृगः प्राक्नेन भक्तिभावेन विलोकितैः सादरदर्शनैः प्रोल्लास जहर्ष ॥ ९ ॥ १० ॥ उवाच । वह्निं प्रतीति शेषः ॥ ११ ॥ १२ ॥

ज्वालोदरे नभस्यभ्रलवो रूपान्तरं यथा ॥ १ ॥
 अदृश्यताथ ज्वालायामन्तःकनककान्तिमान् ।
 पुरुषः पावनाकारः कान्तावयवसुन्दरः ॥ २ ॥
 अर्कबिम्ब इवादित्यश्चन्द्रबिम्ब इवोद्भुपः ।
 महाम्भसीव वरुणः संध्याभ्र इव वा शशी ॥ ३ ॥
 चक्षुःकनीनिकाकोशे मुकुरे सलिले मणौ ।
 प्रतिबिम्ब इवार्कभो भक्तिनाधारपावकः ॥ ४ ॥
 अनन्तरं सभामध्याद्वातैर्दीप इवाहतः ।
 ज्वालाजालं ययौ कापि संध्याम्बुद इवाम्बरात् ॥ ५ ॥
 कुटीकुल्येषु भग्नेषु प्रतिबिम्ब इवामरः ।
 अतिष्ठत्पुरुषस्तत्र पटान्नट इवोद्भुतः ॥ ६ ॥
 अक्षमालाधरः शान्तो हेमयज्ञोपवीतवान् ।
 अग्निशौचाम्बरच्छन्नः सद्यश्चन्द्र इवोदितः ॥ ७ ॥
 अहो भा इति सभ्योक्त्या तस्य वेषस्य भासनात् ।
 भास्वानिव विशालाभो भास इत्येष शब्दितः ॥ ८ ॥
 असौ मूर्त इवाभासो भासनात्मा भविष्यति ।
 सभास्यैः कैश्चिदित्युक्तं तेन भासः स उच्यते ॥ ९ ॥
 अथोपविश्य तत्रैव स भासो ध्यानसंस्थितः ।
 आत्मोदन्तमशेषेण सस्मर प्राक्तनं तनौ ॥ १० ॥
 समालोके गतरूपन्दे सस्येनात्मनि तिष्ठति ।
 भासो मुहूर्तमात्रेण दृष्ट्वा स्वोदन्तमक्षतम् ॥ ११ ॥
 आययौ पूर्वजन्मभ्यो ध्यानालोकाद्भवुध्यत ।
 सभामालोकयामास समुत्थाय यथाक्रमम् ॥ १२ ॥
 स चागत्य वसिष्ठाय प्रणाममकरोन्मुदा ।
 ज्ञानार्कप्राणदं ब्रह्मन्मस्तेऽस्त्वित्युदाहरत् ॥ १३ ॥
 तमुवाच वसिष्ठोऽपि हस्तेन शिरसि स्पृशन् ।

॥ १३ ॥ दृष्टो जनैरिति शेषः ॥ १४ ॥ नरतां मनुष्याकारम् नभसि मृगरूपोऽभ्रलवः । रूपान्तरं मनुष्यरूपं यथा तथ ॥ १५ ॥ कान्तैः कान्तिमद्भिरवयवैः सुन्दरः ॥ १६ ॥ अर्क-बिम्ब इवेत्याद्युपमामाला ॥ १७ ॥ चक्षुरित्यादिमालितोपमा चक्षुःकनीनिकाकोशादौ प्रतिबिम्ब इव आधारः पावको यस् तथाविधो भक्तिरेव ना पुरुषभूतेव स्थितः । अर्कभः पुरुष-अदृश्यतेति पूर्वज्ञानवयः ॥ १८ ॥ अनन्तरं तज्ज्वालाजालं वातै-राहतो दीप इव कापि ययौ । उपशंशामेति यावत् ॥ १९ ॥ देवालयकुल्याः कुल्येषु भग्नेषु सत्सु तदन्तर्गत आमरः विष्णवा-द्यमराकारः प्रतिबिम्बः प्रतिमेव । पटान्तिरस्करणीवत्त्वादुद्भुतं नट इव ॥ २० ॥ अग्निदाहेनैव शौचं नैर्मल्यं यस्य तथाविधै-रम्बरैश्छन्नः ॥ २१ ॥ एष भास इति नाम्ना शब्दितो जनै-रुक्तः ॥ २२ ॥ २३ ॥ आत्मनः स्वस्य प्राक्तनमुदन्तं वृत्तान्तम् ॥ २४ ॥ सस्येन विसस्येन । दृष्ट्वा स्मृत्वा ॥ २५ ॥ आययौ इत्यस्य ध्यानालोकाद्भवुध्यतेति विवरणम् । यथाक्रमं मुनिराज-सामन्तादिक्रमेण ॥ २६ ॥ स भासाख्यो विपश्चित् । उदाहर-दुक्तवान् ॥ २७ ॥ सुचिराद्दृश्यमानायास्ते अविद्याया अद-

अथ ते सुचिराद्राजन्नविद्यायाः क्षयोऽस्त्विति ॥ २८
 रामं जयेति जल्पन्तं नतं दशरथोऽथ तम् ।
 आसनात्किंचिदुत्तिष्ठन्समुवाच हसन्निव ॥ २९
 दशरथ उवाच ।
 स्वागतं तेऽस्तु भो राजन्निदमासनमास्यताम् ।
 अनेकभवसंभारभ्रान्त विश्रम्यतामिह ॥ ३०
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 वदत्येवं दशरथे विपश्चिद्भासनामभृत् ।
 विवेश विष्टरे विश्वामित्रादीन्प्रणमन्मुनीन् ॥ ३१
 दशरथ उवाच ।
 अहो वत चिरं कालमालानेनेव दग्धिना ।

वन्येनाविद्यया दुःखमनुभूतं विपश्चिता ॥ ३२
 असम्यग्बोधदुर्दृष्टेरहो नु विषमा गतिः ।
 व्योम्येव दर्शयत्येषा सर्गाडम्बरसंभ्रमम् ॥ ३३
 कियन्त्याश्चर्यमेतानि जगन्ति विततात्मनि ।
 संततानि चिरं तानि विश्रान्तानि विपश्चिता ॥ ३४
 व्योमात्मनोऽपि महिमायमहो नु कीदृ-
 गस्य स्वभावविभवस्य चिदात्मवृत्तेः ।
 यः शून्य एव परमात्मघनेऽम्बरेऽन्त-
 रेवंविधानि विविधानि जगन्ति भान्ति ॥ ३५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वाल्मीकीये दे० मो० निर्वाण० उ० अ० वि० भृगवदिप्रवेशो नाम त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३० ॥

एकत्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३१

दशरथ उवाच ।
 क्लिष्टोऽयं यदविद्यार्थं विपश्चिदविपश्चितः ।
 तदहं चेष्टितं मन्ये कष्टोऽवस्तुनि किंग्रहः ॥ १
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 अस्मिन्नवसरे तत्र राज्ञः पार्श्वे व्यवस्थितः ।
 प्रसङ्गपतितं चाक्यं विश्वामित्रोऽभ्युवाच ह ॥ २
 अप्राप्तोत्तमबोधानां बोधवेद्या विलक्षणाः ।
 भवन्त्येवंविधा राजन्बहूनां बहवो भृशम् ॥ ३

क्षयोऽस्त्विति ॥ २८ ॥ रामं प्रति जयेति जल्पन्तं व्यक्तं वद-
 न्तम् । नतं नमस्कुर्वाणं तं आसम् ॥ २९ ॥ ३० ॥ विष्टरे
 आसने । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम् ॥ ३१ ॥ आलानेन
 बन्धनस्त्वमेनेव ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ विपश्चिता विततात्मनि कियन्ति
 विश्रान्तानि । इदमाश्चर्यम् ॥ ३४ ॥ चिदात्मवृत्तेर्मायास्वभाव-
 रूपस्यास्य विभवस्य वस्तुतो व्योमात्मनः शून्यस्याप्ययं महिमा
 कीदृक् । अहो इत्याश्चर्यं । नु इति वितर्के । यो महिमा शून्य
 एव सङ्गम्बरवदसङ्गे शून्ये एव परमात्मघने अन्तः एवंविधानि
 प्रागुक्तप्रकाराणि विविधानि निचित्राणि जगन्ति भूत्वा भान्ति ।
 इदमस्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ ३५ ॥ इति श्रीवासिष्ठम० तात्पर्यप्रकाशे
 नि० उ० भृगवदिप्रवेशो नाम त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३० ॥

चटधानाराजपुत्रकथासुक्त्वा प्रचोदितः ।

कौशिकेन विपश्चित्स्त्वा आर्भिव विस्तरतोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

अयं विपश्चिदविद्यार्थं दिगन्तदर्शनलक्षणामपुरुषार्थरूपाम-
 विद्यामुद्दिश्य यत्किञ्चिद्वृक्षाननुभूतवस्तुसर्वमहमविपश्चितः
 अज्ञस्य आत्मज्ञानशून्यस्यास्य भ्रान्तिरूपं वृथा चेष्टितं मन्ये ।
 यतः अवस्तुनि सिध्याभूते दिगन्तदर्शनादिकौतुके कुरिततो
 ग्रहः किंग्रहोऽवश्यं साधयामीति दुराग्रहः कष्टः क्लेशफल इत्यर्थः
 ॥ १ ॥ राज्ञाक्यश्रवणादुद्वुद्धवटधाना राजपुत्रकथासंस्कारो

अथ सप्तदशं वर्षलक्षमक्षीणनिश्चयाः ।
 एवमेव भ्रमन्तोऽस्यां चटधाना भुवि स्थिताः ॥ ४
 भूमेरन्तावलोकार्थमद्याप्युद्वेगवर्जितम् ।
 प्रवृत्ता न निवर्तन्ते बहूनात्सरितो यथा ॥ ५
 अयं खलु महालोको वर्तुलो व्योम्नि संस्थितः ।
 बालसंकल्पतरुवद्वाहसंकल्पनिश्चयः ॥ ६
 कन्दुके व्योम्नि संरुद्धे दशदिक् पिपीलिकाः ।
 इत्थं भ्रमन्ति भूतानि तदाधाराणि नित्यदा ॥ ७

विश्वामित्रः प्रस्तुतविपश्चिद्वृत्तान्तवर्णनप्रयोजनदार्ढ्यहेतुना दु-
 पेक्षानर्हं तां कथामाहेति वाल्मीकिराह—अस्मिन्निति ॥ २ ॥
 हे राजन्, त्वया सम्यग्बोक्तं यतो न प्राप्त उत्तमबो-
 धस्तत्त्वज्ञानं येस्तथाविधानां बहूनामेवंविधा विलक्षणा विचित्रा
 बहवो भ्रान्तिरूपा बोधास्तत्वेद्या वासनामया अनन्तकोटिजग-
 द्रूपा अर्थाश्च भृशं भवन्तीति वक्ष्यमाणकथापीठिकारवणम्
 ॥ ३ ॥ तत्र कथां प्रस्तौति—अद्येत्यादिना । वक्ष्यमाणाया
 भुवि चटधानाख्या राजपुत्रा अपि एवं विपश्चिद्वेदाद्यपर्यन्तं
 सप्तदशं वर्षलक्षं भ्रमन्तः स्थिता वर्तन्ते ॥ ४ ॥ ५ ॥ तमेव
 भुवं वर्णयितुं प्रस्तौति—अयमिति । अयं प्रसिद्धः पाताल-
 भूम्यादिचतुर्दशलोकघटितत्वान्महान् लोको भुवनसमष्टिः
 भूवदेव वर्तुलैरन्तरिक्षलोकेर्वर्तुलः सन् भूमेः परितो व्योम्नि
 संस्थितः । स च ब्राह्मो हैरण्यगर्भः संकल्पनिश्चय एव नान्यो
 निरूपयितुं शक्यः । अयं भूगोललक्षणो महान्तो लोकाश्चतुर्दश-
 भुवनाश्रिता जना यसिन् यदाधारास्तथाविधः खलु ज्योतिः-
 शास्त्रप्रसिद्धो व्योम्नि आकाशे बालसंकल्पतरुवत्संस्थितो यतोऽय-
 मपि ब्राह्मः संकल्पनिश्चय एवेत्यर्थः ॥ ६ ॥ तस्य निराधारस्य
 कथं जनाधारत्वं तत्राह—कन्दुके इति । यथा मध्वके कन्दुके
 दशदिक् पिपीलिका भ्रमन्ति इत्थमेवं तस्मिन्परितस्तदुपजीवीनि

भूगोलकाधोभागानि तदङ्गान्यूर्ध्ववन्ति च ।
तदा भूतानि तिष्ठन्ति तान्याविश्य भ्रमन्ति च ॥ ८
तमेवाविश्य दूरेण सरितश्चर्मण्डलम् ।
असंस्पर्शा भ्रमन्त्युच्चैः सचन्द्रार्कादि संततम् ॥ ९
इहैव सर्वदिक् द्यौस्तामावेष्ट्य व्यवस्थिता ।
सर्वदिक् खमत्यूर्ध्वं तस्याधस्तान्महीतलम् ॥ १०
भावाः पतन्तो धावन्ति तस्याधः सर्वतोऽङ्गकम् ।
यत्रोत्पतन्तो गच्छन्ति तदूर्ध्वमिति शब्दितम् ॥ ११
तत्रैकदेशे विद्यन्ते वटधानाभिधानकाः ।
जातास्तेषां त्रयो राजन् राजपुत्राः पुराभवन् ॥ १२
ते ह्येवमेकसंकल्पा भूम्यादेर्दृश्यवर्त्मनः ।
कोऽन्तः स्यादिति निर्याता विहर्तुं दृढनिश्चयाः ॥ १३
पुनर्वारि पुनर्भूमिस्तेषामाक्रमतां चिरम् ।
नवलब्धशरीराणां दीर्घकालो व्यवर्तत ॥ १४
स्वच्छकन्दुकवध्रीकन्यायेनानिश्मत्र ते ।
भ्रमन्तो नायुवन्त्यन्तमन्यत्वं संविदन्ति च ॥ १५
व्योमस्थकन्दुकभ्रान्तपिपीलिकवदाकुलम् ।
अद्यापि संस्थिता राजन् च खेदं व्रजन्ति ते ॥ १६
देशं भूगोलकस्यास्य यं यमासादयन्ति च ।

भूतानि दशदिक् भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥ यानि भूगोलकस्याधो-
भागगतानि यानि च ऊर्ध्ववन्त्युपरितनानि तदङ्गानि तान्या-
विश्य यदा यत्र यानि भूतानि तिष्ठन्ति तदा तानि तत्र भ्रमन्ति
च ॥ ८ ॥ अन्तरिक्षवहा मन्दाकिन्यादिसरितो ज्योतिश्चक्र-
रूपसूक्ष्मण्डलं च तं भूगोलमेव दूरेण वायुवन्धनवशादा-
श्रित्य असंस्पर्शा उच्चैर्भ्रमन्ति । स्त्रीशेषश्छान्दसः ॥ ९ ॥ तां
सज्योतिश्चक्रां भुवमावेष्ट्य द्यौरिह अस्यामेव भुवि व्यवस्थिता ।
तत्र च खं सर्वांश्च दिक्षु ऊर्ध्वमेव महीतलं च सर्वाधस्तादेवे-
त्यर्थः ॥ १० ॥ ननु भूगोलधस्तनस्य खस्य कथमूर्ध्वत्वं तद-
पेक्षया महीतलस्य कथमधस्तात्त्वं तत्राह—भावा इति । तस्य
महीतलस्याधो ये भावाः पदार्थाः संचरन्ति ते तस्य सर्वतोऽङ्ग-
कमवयवं तत्तत्प्रदेशे पतन्तः प्रायुवन्त एव गच्छन्ति संच-
रन्ति । यत्र यस्मिन्नभसि पक्ष्यादय उत्पतन्तो गच्छन्ति तत्तत्र
ऊर्ध्वमित्येव शब्दितं न त्वथ इति तिर्यगिति वेल्यर्थः ॥ ११ ॥
तत्र तस्मिन्भूगोलके एकदेशे क्वचिद्वटधानाभिधानका देशा वा
तदधीश्वराः क्षत्रियाश्च विद्यन्ते । तेषां कुले त्रयो राजपुत्राः
पुरा जाता अभवन् ॥ १२ ॥ ते राजपुत्रा एवं विपश्चिद्वदेव
दृश्यवर्त्मनो भूम्यादेर्जगतः कोऽन्तः स्यात्तं द्रक्ष्याम इत्येक-
संकल्पा दृढनिश्चयाश्च सन्तस्तद्दर्शनाय निर्याताः ॥ १३ ॥ द्वीप-
समुद्रमेदेषु पुनःपुनर्वारि पुनर्भूमिरिति क्रमेण आक्रमतां मध्ये
मध्ये मरणेन नवानि लब्धानि शरीराणि यैस्तथाविधानां तेषां
दीर्घकालो व्यवर्ततेत्यर्थः ॥ १४ ॥ स्वच्छे कन्दुके संलम्भा ये
वध्रीकीटास्तन्यायेन भ्रमन्तस्ते । 'वल्मीकन्यायेन' इति पाठे

इहैव तत्र तत्रोच्चैरधोर्ध्वं तथा दिशः ॥ १७
ते वदन्ति महाराज यद्यस्माभिरितोद्यतैः ।
न तावदन्तः संप्राप्तः संचराम इतः परम् ॥ १८
इत्थं न किञ्चिदेवेदं ब्रह्मसंकल्पडम्बरम् ।
किञ्चित्संकल्पमज्ञानमनन्तं स्वप्नदृश्यवत् ॥ १९
कल्पनं तत्परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव कल्पनम् ।
चिद्रूपं नानयोर्भेदः शून्यत्वाकाशयोरिव ॥ २०
चिन्मात्रं यद्यदाभातं जलवाहविवर्तवत् ।
तत्तादृक्कथमन्याभमन्यस्यासंभवाद्भवेत् ॥ २१
अभावः खे च खमिदं सर्गादौ परमाम्बरम् ।
स्वयं जगदिवाभाति नान्यत्प्रलयसर्गकौ ॥ २२
यथा कषति चिद्रूपं तथैव रतिमेत्य तत् ।
दृष्टादृष्टैः स्वसंसारैश्चिरमास्ते यथा चिरम् ॥ २३
दृश्यात्मकं रूपमेकमेकमस्यैवमक्षयम् ।
स्वयमेवमजं भाति यत्र भातीव किञ्चन ॥ २४
चिदणोरुदरे सन्ति समस्तानुभवाणवः ।
शिलाः शैलोदर इव स्वच्छाः खात्मनि खात्मिकाः ॥
स्वभावनिष्ठास्तिष्ठन्ति ते यदव्याकृतात्मनि ।
मा तिष्ठन्ति तु वै ते यदव्यावृत्ताः परे पदे ॥ २६

वल्मीकपदेन तन्निर्मातारो वध्रीकीटा एव लक्ष्यन्ते । अन्यत्वं
देशान्तरत्वम् ॥ १५ ॥ १६ ॥ यं यमधस्तनं पार्श्वगतं वा
आसादयन्ति । दिशः पश्यन्तीति शेषः ॥ १७ ॥ इतोद्यतैः
प्राप्तोयोगैः ॥ १८ ॥ कथामुपसंहृत्य प्रकृते योजयति—इत्थ-
मिति ॥ १९ ॥ संकल्पकल्पनस्य चिदधिष्ठानकत्वाच्चिन्मात्रं
तत्त्वमिति व्यतिहारेण द्रवयति—कल्पनमिति ॥ २० ॥ जलस्य
वाहः प्रवाहस्तत्रत्यावर्ततरङ्गबुद्बुदादिविवर्तवत् । आवर्तादौ
नामीकुहरादिसादृश्यात्कथंचिदन्याभतापि भवेत्, इह तु सह-
शस्य विसहशस्य चान्यस्याल्यन्तासंभवादन्याभमपि कथं भवेदि-
त्यर्थः ॥ २१ ॥ इदं जगत्सर्गस्यादौ अभावः अतः खं शून्यमेवेति
तदा परमाम्बरं ब्रह्माकाश एवेति तावदविवादम् । तथा च
तदेव स्वयमिदानीमपि जगदिवाभातीति दृष्टौ प्रलयसर्गकौ
अन्यत्र ॥ २२ ॥ तच्च चिद्रूपं कामकर्मवासनानुसारेण यथा
यथा कषति कल्पनामालिङ्गति तथैव तत्र रतिमासक्तिमेत्य
दृष्टादृष्टैर्वैद्यावेद्यैर्जडचिद्रूपैरन्योन्यतादात्म्याध्यस्तैः स्वसंसारैर्यथा
प्राक्चिरमासीत्तथाप्रेऽपि चिरमास्ते ॥ २३ ॥ दृष्टादृष्टरूपे
तयोर्विवृण्वन् द्वितीयस्याक्षयत्वं दर्शयति—दृश्यात्मकमिति
॥ २४ ॥ चिदणोरुदरे तत्तदाकारवासनावच्छिन्ना जगदनुभवा-
णवस्तिष्ठन्तीत्याह—चिदणोरिति ॥ २५ ॥ किं शुद्धचिदणो-
रुदरे नेत्याह—स्वभावेति । स्वभाव आकृतात्मस्वरूपं तद्भूताः ।
परे पदे निरविद्ये चैतन्ये तु मा तिष्ठन्ति न सन्त्येव । यतस्तत्र
व्यावर्त्यरूपान्तरा प्रसिद्धैरव्यावृत्ता अल्यन्ताभिन्ना एव स्यु-

१ अनुभवाणवा इति पाठश्चिन्त्यः. २ अत्र स्वभावभूता इति
पाठो व्याख्यानकुलः स्यात्.

तदेव जगदित्युक्तं ब्रह्मभारूपमाततम् ।
 पूर्वापरपरामर्शाभिपुणं निपुणाशयाः ॥ २७
 अत्याश्चर्यमनष्टोऽयं परमात्सदनात्स्वयम् ।
 नानात्वबुद्ध्या नानैव जीवोऽहमिति ताम्यति ॥ २८
 उच्यतां भास भो राजन्विपश्चिदपराख्य हे ।
 कियद्दृष्टं कियद्भ्रान्तं दृश्यं स्मरसि किंच वा ॥ २९
 भास उवाच ।
 बहु दृष्टं मया दृश्यं बहु भ्रान्तमखेदिना ।
 बह्वेव बहुधा नूनमनुभूतं सारम्यहम् ॥ ३०
 मयानुभूतानि महान्ति राज-
 श्विरं सुदूरे विविधैः शरीरैः ।
 सुखानि दुःखानि जगन्त्यनन्ता-
 न्यनन्तमासाद्य महाम्बरं तत् ॥ ३१
 विचित्रदेहैर्धरशापयोगा-
 दृश्यान्त्यनन्तानि मया महात्मन् ।
 जन्मान्तरावर्तविवर्तनानि
 दृष्टैकचित्तेन वरात्कृशानोः ॥ ३२
 दृश्यात्मकोर्वीवपुषस्त्वविद्या-
 दृशो जवेनान्तपरीक्षणाय ।
 देहेन देहेन जगत्प्रति प्राक्
 स्मृतेः सदाहं धनयत्नमासम् ॥ ३३
 समाः सहस्रं विटपोऽहमास-
 मन्तर्मनाश्चेतनभुक्तदुःखः ।
 चित्तं विना पुष्पफलप्रदाने
 वा कन्दवत्तत्तरसाङ्गरागः ॥ ३४

रित्यर्थः ॥ २६ ॥ यतस्तत्राव्यावृत्तास्तत्तदेव जगत्तेतरदिति
 निपुणं पूर्वापरपरामर्शान्मयोक्तम् । हे निपुणाशयाः ॥ २७ ॥
 एवं बुद्धयिदैक्ये परमात्सदनात् नष्टः अप्रच्युतोऽप्ययं जीवो
 नानात्वबुद्ध्या जीवोऽहमिति यत्ताम्यति ग्लायते तदत्याश्चर्य-
 मित्यन्वयः ॥ २८ ॥ इत्थं वसिष्ठोक्तं विपश्चिद्विरतं स्मृत्या
 संवाद्य भासमुखोक्त्यापि संवादयितुं विश्वामित्र उवाच—उच्य-
 तामिति । हे विपश्चिदपराख्य, हे भास, स्वया कियद्दृश्यं दृष्टं
 कियच्च भ्रान्तं तत्र किंच वा स्मरसि तत्किंचित्संक्षिप्य उच्य-
 ताम् ॥ २९ ॥ ३० ॥ तन्महाम्बरमव्याकृताकाशमासाद्य
 ॥ ३१ ॥ मया कृशानोर्वरादिगन्तदर्शवविषये दृष्टैकचित्तेन
 जन्मान्तरावर्तेषु विवर्तनानि तत्रानन्तानि दृश्यान्त्यनुभूतानी-
 त्यनुपज्जते ॥ ३२ ॥ अहं जगत्प्रति प्रतिब्रह्माण्डं देहेन देहेन
 नात्तादेहमेवेन प्रमथयि प्राक्तनदृढनिश्चयस्मृतेर्हेतोर्दृश्यात्मको-
 र्ध्यादिस्वरूपाया अविद्यादृशः अन्तपरीक्षणाय जवेन धनयत्नं
 यथा स्यात्तथा आसं अभवमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ ततः अहं तस्य
 चित्तस्य तरसा मृत्तिकाये तरुदर्शनप्रयुक्तसंस्कारवेगेन अङ्गे
 देहप्रवृत्ते रागो यस्य तथाविध सन् सहस्रं समाः विटपः ।
 अकारो मत्वर्थायः । विटपी आसम् । स कीदृशः । बहिः-

समाः शतं मेरुमृगोऽहमासं
 सुवर्णवर्णस्तरुपर्णकर्णः ।
 दूर्वाङ्कुरास्वादनगीतिनिष्ठ
 अहन्कनिष्ठो धनवासिमध्ये ॥ ३५
 पादाष्टकैरावलितात्मपृष्ठो
 मृतेऽम्भसः क्लेशकृतात्ममृत्युः ।
 समाः शतार्धं शरभोऽहमासं
 क्रौञ्चाचले काञ्चनकन्दरासु ॥ ३६
 कालागुरुद्रुमलतावलितातिलेन
 विद्याधरीसुरतधर्मकलामृतानि ।
 पीतानि मे मलयसानुनि मन्दरे च
 मन्दारचन्दनकदम्बलतामृदेषु ॥ ३७
 हेमारविन्दमकरन्दपिशङ्गितानि
 पीतानि पञ्चदशवर्षशतानि मेरौ ।
 वैरिञ्चहंसतनयेन मया पर्यासि
 तीरान्तरेषु रमतोपरि निर्झरिण्याः ॥ ३८
 क्षीरोदवेलावनगन्धवाह-
 विलोलनीलालकवल्लरीणाम् ।
 समाः शतं शोकजरापहारि
 गीतं श्रुतं माधवसुन्दरीणाम् ॥ ३९
 कालजरे मञ्जरिते करज-
 गुञ्जावने जम्बुकतां गतोऽहम् ।
 गजेन पिष्टे हरिणा हतोऽसौ
 हस्ती मयात्रार्थमृतेन दष्टः ॥ ४०

प्रवृत्तिनिमित्तप्राणचेष्टानाविष्करणादन्तरेव मनो यस्य । चेतनेन
 वृक्षदेहाभिमानीजीवेन भुक्तं दुःखं यत्र । तथा पूर्वापरपर-
 मर्शहेतुं चित्तं विना पुष्पफलदीर्घां प्रदाने जननविस्तारे वा
 कन्दः कन्दविशेषस्तद्ब्रह्मरसकालादितश्च इत्यर्थः ॥ ३४ ॥
 दूर्वाङ्कुराणामास्वादने पीतिषु च निष्ठा दृढासक्तिर्यस्य । वन-
 जातानां मृगाणां मध्ये कनिष्ठः अल्पदेहोऽल्पबलश्च । अत एव
 कमपि अहन् अहिंसन् ॥ ३५ ॥ शरभजातेः पृष्ठतोऽपि पाद-
 यतुष्टयेन संचारादिसामर्थ्ये उदरप्रदेशस्थापि पृष्ठत्वसंभवात्मा-
 दाष्टकैरावलिते आत्मनः पृष्ठे यस्य । मृते मरणे प्रसक्ते दुर्ग-
 न्मेघनिर्गतात्करकाम्भसो निमित्तान्मेघेन सह योर्दुं गिरिशि-
 खरादुत्पतनपतनादिक्लेशेनैव कृत आत्ममृत्युर्यस्य ॥ ३६ ॥
 ततो मे इति कर्तुं शेषत्वे षष्ठी । विद्याधरजन्म प्राप्तेन मया
 मलयसानुनि मन्दरे च कालागुरुद्रुमाणां लताभिर्वलितेनालि-
 ङ्गितेन अत एव शीतमन्दसुरभिणा अनिलेन सह विद्याध-
 रीणां सुरतधर्मेषु तदीयकललक्षणान्यमृतानि पीतान्यनुभूतानि
 ॥ ३७ ॥ विरिञ्चहंसस्य तनयेन पुत्रजन्मप्राप्तेन मया मेरु-
 परि निर्झरिण्या मन्दाकिन्यास्तीरान्तरेषु रमता हेमारविन्दानां
 मकरन्दैः पिशङ्गितानि पिङ्गलवर्णीकृतानि पर्यासि पीतानि
 ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ततोऽहं कालजरे गिरौ करजगुञ्जाप्रवृत्ते

संतानकप्रकरहासिनि सहस्रानौ
 कस्मिंश्चिदन्यजगतीन्दुमुखी सुरली ।
 एकाकिनी कृतयुगार्धमथाहमासं
 कल्पद्रुमस्तवकसन्नानि सिद्धशापात् ॥ ४१
 अद्रीन्द्रकच्छकरवीरलतालयेषु
 नीतं समाशतमशङ्कधिया मयान्यत् ।
 अन्यत्र दूरजगतीन्द्रगिरौ विरावि-
 वाल्मीकपक्षिवपुषाऽनिशमेककेन ॥ ४२
 अन्यत्र सानुनि मया परिलम्बमानाः
 सच्छायचन्दनवनावलिते लतानाम् ।
 दृष्टाः स्त्रियः फलमिवावलिता विलासै-
 भुक्ताश्च ता अपहृता अपि सिद्धपान्थैः ४३
 अन्यत्र पर्वतनितम्बकदम्बकच्छे
 नीतानि तापसतयोत्तमया दिनानि ।
 प्राप्यैकवस्त्वभिनिवेशविपूचिकात्-
 चित्तेन तान्तमतिनाऽमतिना मयान्तः ४४
 ब्रह्माण्डसंपूरितमन्यदस्ति
 जलेचराशेषदिगन्तभूतम् ।

वने जम्बुकतां सृगालजन्म गतः प्राप्तः । तत्रापि गजेन पिष्टे
 संचूर्णिते स्वदेहे सत्यर्धमृतेन मया असौ मत्पेष्टा हस्ती हरिणा
 सिंहेन हतो दृष्टः ॥ ४० ॥ अथ संतानकानां कल्पवृक्षमेदानां
 प्रकरैर्होसिनि हासवतीव शोभमाने सहस्रगिरेः सानौ अहमिन्दु-
 मुखी सुरली कृतयुगस्थार्धं सिद्धशापादासम् ॥ ४१ ॥ ततो
 मया अद्रीन्द्रस्य संनिधानात्सहस्रस्य कच्छे जलप्राये प्ररूढानां
 करवीराणां लताः शाखास्तदन्तरप्रदेशेषु विरावी सदैव रवण-
 शीलो वाल्मीकनामा पक्षिजातिमेदस्तद्वपुषा समानां शतं
 नीतम् । ततः करवीरवने सहस्रार्यापुत्रादिभिरुच्छिजे सति
 अन्यत्र दूरस्थे जगति इन्द्रगिरौ महेन्द्रपर्वते शृशं वियोगार्तेनै-
 ककेन शेषं वयो नीतम् ॥ ४२ ॥ एवं जन्मद्वयेन सिद्धशाप-
 मोक्षानन्तरं सिद्धानुग्रहादेव सिद्धभूतेन मया महेन्द्रगिरेरेव
 सच्छायचन्दनवनावलिते अन्यत्र सानुनि लतानां दोलासु
 तत्फलमिव परिलम्बनाविलासैरावलिताः स्त्रियो दृष्टाः, सिद्धपा-
 न्थैरपहृता अपि ता भुक्ताश्च ॥ ४३ ॥ तदनन्तरममतिना
 अविवेकेन एकवस्तुनि अविवान्तदर्शनलक्षणे योऽभिनिवेश-
 स्तलक्षणया विपूचिकया आत्तं वशीकृतं चित्तं यस्य तथाविधेन
 अत एव तान्ता रत्नानां मतिर्यस्य तथाविधेन मया अन्तर्निर्वेदं
 प्राप्य अन्यत्र पर्वतनितम्बकदम्बकच्छे तापसतया दिनानि
 नीतानि ॥ ४४ ॥ इत्थं स्वजन्मपरम्परावर्णनान्तराले बल-
 त्समृतान्यत्याश्चर्याणि कानिचिदुत्कण्ठया वक्तुमारभते—ब्रह्मा-
 ण्डेत्यादिना । हे मुने, अन्यदेकमत्याश्चर्यमस्ति तच्छृणु ।
 कीदृशं तत् । ब्रह्माण्डरन्तैः संपूरितम् । जलेचरा इवाशेषदि-
 गन्तस्थितानि भूतानि यत्र तथाविधम् । जलेचरा इवेति
 दृष्टान्ततात्पर्यं विवृण्वन्विशिनष्टि—संदिग्धेति । संदिग्धा
 यो० वा० १५४

संदिग्धतेजोम्बरवातसत्तं
 जलस्थभूताकृतिमात्रभूमि ॥ ४५
 एकत्र दृष्टा वनिता मयैका
 तस्याः शरीरे त्रिजगन्ति भान्ति ।
 प्रतिविम्बितानीव सुदर्पणेऽन्त-
 राकाशशैलादिदिगादिमन्ति ॥ ४६
 पृष्टा मयासौ वरगात्रि कासि
 शरीरमेतच्च किमीदृशं ते ।
 तयोक्तमङ्गेह चिदसि शुद्धा
 ममाङ्गमेतानि महाजगन्ति ॥ ४७
 यथाहमेवं सयदेहिकेयं
 सर्वं तथैवाङ्गं न चित्रमेतत् ।
 अन्यैः स्वभावो विदितो न शुद्धो
 यदा न पश्यन्ति तदेत्यमङ्ग ॥ ४८
 अवेदशास्त्रेण जगत्प्रशेषै-
 भूतैः स्वदेहालयभित्तिभागात् ।
 एतद्विधेयं न विधेयमेत-
 द्भूनिः स्वतः श्रूयत एव नित्यम् ॥ ४९

तेजोम्बरवाताख्यानां त्रयाणां महाभूतानां सत्ता यस्मिन् ।
 जलस्थं जले प्रतिविम्बितं भूतमिवाकृत्यस्यास्वथाविधाकृति-
 मात्रा भूमिर्यस्मिन् । तदिदमीषद्याकृतनामरूपावस्थं ब्रह्मैवा-
 त्याश्चर्यमस्तीत्यर्थः ॥ ४५ ॥ तच्चाश्चर्यं कलघौतशिलान्यायेन,
 वनिताशरीरादिसर्वपदार्थेष्वपि सर्वजगद्भर्मं प्रत्येकं पर्याप्तमस्ती-
 त्येतत्तत्राश्चर्यान्तरं मया दृष्टमिति वक्तुं कांचिद्वनितामुदाह-
 रति—एकत्रेति । तस्या वनितायाः शरीरे सुदर्पणे अन्तः
 प्रतिविम्बितानीव, आकाशशैलादिसहितदिक्कालप्राण्यादिमन्ति
 त्रिजगन्ति भान्ति तदत्यन्तमाश्चर्यमित्यर्थः ॥ ४६ ॥ अथ सा
 वनिता मया पृष्टा । हे वरगात्रि, त्वं कासि । ते एत-
 च्छरीरमीदृशं त्रिजगद्भटितं किमिति । ततस्तया मां प्रत्यु-
 क्तम् । हे अङ्ग, इहास्मिन्वस्तुजाते या शुद्धा चित् सर्वावभा-
 सिका साहमसि । इमानि च महाजगन्ति मम अङ्गं मूर्ता-
 मूर्तात्मकं शरीरम् । 'हे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च',
 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ४७ ॥
 हे अङ्ग, इत्थं त्वदृष्टा अहं यथा जगद्भटितत्वात्सम्यो विस्मय
 आश्चर्यं तद्योग्यदेहवती तथा इदं सर्वमेतत्सम्भकुम्भादिव-
 स्तुजातमपि सर्वजगद्भटितत्वाद्विचित्रमत्याश्चर्यभूतमेव । तर्हि
 अन्यैः पृथग्जनैरपि सर्वं वस्तु इत्थं कुतो न दृश्यते तत्राह—
 अन्यैरिति । यदा इत्थं स्वभावः प्रतिवस्तु न विदितस्तदा
 इत्थं न पश्यन्ति । यदा त्वातिवाहिकमात्रभावदृढीकारे
 विदितो भविष्यति तदा द्रक्ष्यन्त्येव तेऽपीति भावः ॥ ४८ ॥
 नन्विदमसमञ्जसम् । मया स्वदेहस्य सर्वजगद्भटितत्वेनाननु-
 भवादेहान्तश्चक्षुरायप्रवेशेन यदि तत्र जगददर्शनं ब्रूये तर्हि
 तत्रत्यवेदशास्त्रादेः श्रोत्रेण श्रवणं न स्यादेवेति ममासंभावनां

ईदृक्स्वभावैव पदार्थसत्ता
सा तेऽत्र यद्विच्यवलादयोऽपि ।
स्वप्नादिमायास्विव मे वदन्ति
वाचं न युष्मास्वसमञ्जसं तत् ॥ ५०
अस्त्रीकसंसारगतेन दृष्टं
मया कचिदावदनन्यकामम् ।
भूतानि निर्यान्ति बहूनि भूता-
द्विशन्ति भूतानि बहूनि भूतम् ॥ ५१
एकानि दृष्टानि मयाऽज्ञसानि
खेऽध्याप्यदभ्राङ्ग क्षणज्ज्ञानानि ।
वृष्ट्या समन्ताक्षिपतन्ति खण्डै-
र्भवन्ति तीक्ष्णानि जनायुधानि ॥ ५२
अन्यत्र दृष्टं गगनेन याव-
दिहान्धया ग्रामगृहाणि यान्ति ।
विशन्त्यमुत्रान्त इहाभवद्गो-
ग्रामः स एवान्यत एव लब्धः ॥ ५३
नरामराऽहिप्रविभागमुक्ता-
न्यन्यत्र भूतानि समानि सन्ति ।

खादेव सर्वाणि समुद्भवन्ति
तत्रैव काले न लयं प्रयान्ति ॥ ५४
अचन्द्रतारार्कमनन्धकारं
स्वयंप्रकाशाखिलभूतजातम् ।
स्मरामि किञ्चिज्जगदेककान्तं
ज्वालोदरभं दिनरात्रिमुक्तम् ॥ ५५
अपूर्वदैत्याहिनरामरादि-
भूतान्यपूर्वद्रुमपत्तनानि ।
अपूर्वैलोकान्तरकार्यवन्ति
स्मराम्यनन्तानि महाजगन्ति ॥ ५६
दिगस्ति सा नो विहृतं न यस्यां
न सोऽस्ति देशः खलु यो न दृष्टः ।
यत्रानुभूतं न तदस्ति कार्य-
मन्याश्रयं नापरमस्ति मर्शात् ॥ ५७
क्षीरोदकभ्रसितमन्दररत्नशृङ्ग-
धाराग्रनिर्दलनजातक्षणज्ज्ञानानाम् ।
एकत्र संयुतमुपेन्द्रभुजाङ्गदानां
शब्दं स्मरामि घनगर्जितशङ्कितेन ॥ ५८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वात्मीकीये दे० सो० नि० उ० अ० वि० भाससंसारवर्णेन नामैकत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १२१ ॥

लिङ्गैरुपलक्ष्य तत्संभावनार्थं सा मामाह—अवेदेति द्वाभ्याम् ।
त्वदादिभिरशेषैरपि भूतैः प्राणिभिः अवेदशास्त्रत्वेनाभिमतैऽपि
बाह्यादन्यस्मिन् देहान्तर्गते जगति स्वदेहालयमित्तेर्भागात्
एकदेशभूतास्त्वस्वकर्णशृङ्गुलीप्रदेशाश्रित्यमनाहतध्वनिः सर्ववे-
दशास्त्रादिशब्दसामान्यरूपनादात्मकः स्वतः श्रूयत एव । स
एव हि एतच्छ्रित्यनैमित्तिकं कर्म शमदसादिज्ञानसाधनं च विधे-
यमवश्यमनुष्ठेयमिति सर्वविधिगर्भः । एतत्कलत्रमक्षणादि न
विधेयमिति सर्वनिषेधवेदशास्त्रगर्भश्चेति तच्छ्रवणेनैव तदन्तर्गतं
विधिनिषेधशास्त्रमिव तदर्थभूतं जगदपि देहेऽस्तीति संभाव-
येति भावः ॥ ४९ ॥ उक्तन्यायेन स्तम्भकुम्भादिष्वपि सर्व-
जगत्सद्भावः संभावनीय इत्याशयेनाह—ईदृगिति । सर्वपदा-
र्भेज्जुगता सत्तापि यादृक् शब्दसामान्यस्वभावोऽनाहतध्वनिः
ईदृक्स्वभावैव सर्वजगद्धटितसामान्यस्वभावैव । यथास्मात्कार-
णादत्र जगति प्रसिद्धा भित्तिचलादयोऽपि सा ब्रह्मसत्तैव ।
न च भित्त्यादयो वाचं न वदन्तीत्यचेतना एवेति भ्रमितव्यम् ।
यतस्ते स्वप्नादिप्रसिद्धमायास्विव इदानीमपि मे पुरतः वाचं
वदन्ति । यदा अत्यन्तजडत्वेन प्रसिद्धेष्वपि कुष्ठ्यादिषु सर्व-
जगद्धटितचेतनत्वं नासमञ्जसं तदा चेतनप्रायेषु युष्मासु
युष्मदादिदेहेषु सुतरां तत्रासमञ्जसमित्यर्थः ॥ ५० ॥ धनिता-
संवादलक्षणमाश्चर्यं स्वदृष्टमुपवर्ण्यार्थान्तरं तादृशं वर्णयति—
अस्त्रीकेति । कचिदेशे काले च न विद्यन्ते स्त्रियो यत्र तथा-
विधो यः संसारो जगत्तद्गतेन मया यावत्सकलं प्राणिजातं न
विद्यते अन्यथाः कामो व्यक्तिकराभिलाषो यस्य तथाविधं

दृष्टम् । तर्हि तत्र कथं पुत्रपौत्रादिसगतिः पूर्वेषां मरणं वा
तत्राह—भूतानीति ॥ ५१ ॥ आश्चर्यान्तरमाह—एकानीति ।
आज्ञसानि उत्पातादिनिमित्तनिरपेक्षाणि । एकानि अन्यानि
अग्राणि खे दृष्टानि । तानि च गर्जनैः शस्त्रसंघटनध्वनिसाम्येन
संजातक्षणज्ज्ञानानि । तेभ्यो वृष्ट्या यानि विद्युदादीनि जल-
वक्षिपतन्ति तानि खण्डैः स्वशकलैर्जनानामायुधानि भवन्ति
॥ ५२ ॥ अन्यत्र आश्चर्यान्तरं दृष्टम् । किं तत् । इहासि-
जगति यावत् यावन्ति ग्रामगृहाणि सन्ति तावन्ति अन्यथा
तिमिरायुपहतदृष्ट्यैव गगनेन आकाशमार्गेण यान्ति अमुत्र दूरे
दिगन्ते विशन्ति स च वो ग्रामः इह अभवत् । स एव मया
अन्यतोऽन्यत्रैव लब्ध इत्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ ५३ ॥ अन्यत्र दृष्ट-
माश्चर्यान्तरमाह—नरेति । एते नरा एते अमरा एते अहव
इति लोकत्रयवासिनां ये अवान्तरप्रविभागास्तैर्मुक्तानि जत
एव समानि ॥ ५४ ॥ अन्यत्राश्चर्यान्तरमाह—अचन्द्रेति ।
अनन्धकारत्वे हेतु—स्वयंप्रकाशेति ॥ ५५ ॥ आश्चर्या-
न्तरमाह—अपूर्वेति । प्रसिद्धसंस्थानव्यवहारवैलक्षण्यमपूर्वता
॥ ५६ ॥ किं बहुना । मया यस्यां दिशि न विहृतं सा
दिङ्मास्ति । यो देशो न दृष्टः सोऽपि नास्ति । यत्कार्यं कौतुकं
नानुभूतं तदपि नास्ति । मदीयान्मर्शाद्विमर्शादनुभवरूपात्सर्व-
साक्षिणः सकाशादन्याश्रयमन्याधिष्ठानकमपरं तद्यतिरिक्तं च
यत्स्यात्तदपि नास्ति ॥ ५७ ॥ क्षीरोदके समुद्रे मन्यार्थं भ्रमितो
यो मन्दरगिरिस्तदीयरत्नमयश्चक्राणां तीक्ष्णैः शानप्रार्थैर्ग-
ग्रैर्निर्दलने निशातने जातक्षणज्ज्ञानानां सिञ्चितानामुपेन्द्रस्य

द्वात्रिंशाधिकशततमः सर्गः १३२

भास उवाच ।

मन्दरे मृदुमन्दारमन्दिरे मन्दराभिधाम् ।
 आलिङ्ग्याप्सरसं सुप्तं सरित्पुणमिवानयत् ॥ १
 मामथासौ मया पृष्टा समाश्वास्य जलाकुला ।
 बाले किसिदमित्युक्तं तथा चपलनेत्रया ॥ २
 इह चन्द्रोदयेष्वेताश्चन्द्रकान्तकटप्रजाः ।
 नद्यो माद्यन्ति वनिताः सेष्टा इव निशागमे ॥ ३
 त्वत्संगमरसावेशवशात्तन्ननु विस्मृतम् ।
 इत्युक्त्वा मामुपादाय सोड्डीना विहगीव खम् ॥ ४
 भृङ्गं शृङ्गवतः शृङ्गे गङ्गाकनकपङ्कजे ।
 अहमासं समाः सप्त तत्क्लिन्नोऽकर्ममाप्नुते ॥ ५
 अन्यन्मया जगद्भृष्टमृक्षचक्रविवर्जितम् ।
 गर्भगर्भस्थैकजातिस्वप्रकाशजनावृतम् ॥ ६
 न दिग्विभागो न दिनानि यत्र
 न चैव शास्त्राणि न वेदवादाः ।
 न चैव दैत्यादिसुरादिभेदो
 जगन्मया तादृगथात्मदीप्तम् ॥ ७
 विद्याधरामरविहारविमानभूमा-
 वभ्रंलिहाचलनितम्बकदम्बकच्छे ।

भगवतो भुजाङ्गदानां धनगर्जितशङ्कितेन मेघगर्जनशङ्कया जनैः
 श्रुतमत्याश्चर्यभूतं शब्दं स्मरामीत्याश्चर्योक्तीनामुपसंहारः ॥ ५८ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्त-
 राधे भाससंसारवर्णनं नामैकत्रिंशदुत्तरशततमः सर्गः ॥ १३१ ॥

वर्णयन्तेऽत्रापि भासेन भूयो जन्मपरिभ्रमाः ।

आश्चर्याणि च भूरीणि निःसारत्वं च संसृतेः ॥ १ ॥

आश्चर्योपवर्णनैरन्तरितां स्वजन्मपरम्परावर्णनकथां पुनरनु-
 संघत्ते—मन्दरे इत्यादिना । पर्वतनितम्बकदम्बकच्छे तापस-
 भावानुभवेन बहुदिनयापनेन प्राप्तसिद्धिं अत एव मन्दरपर्वते
 मृदुनि मन्दारकुञ्जमन्दिरे मन्दराभिधामप्सरसमालिङ्ग्य सुप्तं
 मां वक्ष्यमाणा सरित् स्वप्रवाहपतितं तृणमिवानयत् । प्रवाहि-
 तवतीत्यर्थः ॥ १ ॥ मामिति पूर्वान्वयि । अथानन्तरं जलेन
 आकुला व्याकुला असौ अप्सराः मया समाश्वास्य पृष्टा । हे
 बाले, इदमाकस्मिकं नद्याभावयोः प्रवहणं किंनिमित्तमिति ।
 ततो भयाच्चपलनेत्रया तथा उक्तम् ॥ २ ॥ किमुक्तं तदाह—
 इहेति । हे कान्त, इहास्मिन्प्रदेशे चन्द्रोदये सति चन्द्रकान्त-
 शिलामयानां कटानामद्रिकटकानां प्रजाः संतानभूता एता नद्यो
 माद्यन्ति प्रस्रवजलैर्वर्धन्ते । यथा निशागमे सेष्टाः इष्टेन प्रियत-
 मागमनेन सहिता वनिताः कामेन माद्यन्ति तद्वत् ॥ ३ ॥ तर्हि
 निद्रागमात्प्रागेवायमर्थस्त्वया मया कुतो न निवेदितस्तत्राह—
 त्वत्सङ्गमेति । ननु इति कोमलामन्त्रणे । विस्मृतं मयेति
 शेषः । यथा गङ्गाकनकपङ्कजे स्थिता विहगी सहचरं मृदुमुपा-

आसं समाः समरसोऽमरसोमनामा
 सप्तान्यसप्त ससमुद्रतटे तपस्वी ॥ ८
 पवनवहनसंनिवेशनाना-
 सुहयपयोधरदेहकैरनेकैः ।
 गजहरिणमृगेन्द्रवृक्षवल्ली-
 मृगनगपन्नगपक्षिभिः परीतम् ॥ ९
 गगनमवनितः समेत्य बहे-
 र्वरविभवेन जगत्यनन्तकोशम् ।
 कचिदहमभितो दिदृक्षुरग्रे
 स्रुत उरगाशनवद्वलादविद्याम् ॥ १०
 कचिदहं जगतः परिनिर्गतः
 पतित एकमहार्णवविस्तृते ।
 नभसि तत्र निवासिनिभे सिंतः
 समयमन्वभवं पतनं तथा ॥ ११
 आकाशकोशपतनानुभवैकवृत्तेः
 भ्रान्तस्य मे पदमकार्यथ निद्रयान्तः ।
 तादृक्सुषुप्तवपुषाथ मयोपलब्धं
 स्वमात्मजाप्रति तदात्मनि तत्र विश्वम् ॥ १२

दाय खमुड्डीना तथा सा मामुपादाय खमुड्डीनेति परेण सहा-
 न्वयः ॥ ४ ॥ तेन जलेन क्लिन्नोऽहं तदनन्तरमकर्ममाप्नुते निर्मले
 मन्दरशृङ्गे सप्त समास्तया सह आसम् ॥ ५ ॥ ततो जन्मान्तरे
 साश्चर्यजगदन्तरदर्शनमाह—अन्यदिति । ऋक्षचक्रेण ज्योति-
 श्चक्रेण विवर्जितम् । कदलीत्वच इव गर्भस्य गर्भे स्थिता एक-
 जातयः स्वप्रकाशाश्च ये जनास्तैरावृतम् ॥ ६ ॥ तर्हि तत्र कथं
 लौकिकवैदिकव्यवहारप्रवृत्तिस्तत्राह—नेति । आत्मनैव दीप्तं
 प्रकाशमानम् ॥ ७ ॥ ततो जन्मान्तरमाह—विद्याधरेति ।
 ससमुद्रतटे समुद्रतटसंनिहिते अंलिहानामत्युन्नतानामचलानां
 नितम्बकदम्बकच्छे अहं अमरसोमनामा विद्याधरः सप्त अन्यत्
 सप्त चतुर्दशसमास्तपस्वी आसम् ॥ ८ ॥ ततोऽहं बहेर्वरविभवेन
 जगति अभितः अविद्यां दिदृक्षुः सन् कचिद् पवनवहनं
 प्रवाहरूपेण गमनं तद्युक्तक्रमसंनिवेशैर्नानाविधा ये सुहया
 जात्यश्वाः पयोधरा मेघा इव च देहा येषां तथाविधैर्जनेर्गजैर्हरि-
 णैर्मृगेन्द्रैर्वृक्षैर्वल्लीभिरन्यैश्च मृगैर्नगैः पर्वतैः पन्नगैः पक्षिभिश्च
 परीतमनन्तकोशं गगनमवनितः समेत्य उरगाशनो गरुडस्तद्व-
 द्बल्यत् वेगेनाग्रे स्रुतः प्रस्रुत इति द्वयोरन्वयः ॥ ९ ॥ १० ॥
 तस्माज्जगतः परिनिर्गतोऽहं कचिदेकमहार्णवविस्तृते नभसि
 पतितः । तत्र निवासिनिभे नक्षत्रगणे सिंतो बद्धः सन् दिनरात्रि-
 मासर्त्वादिसमयमन्वभवम् । तथा दिक्षु पतनं गमनं चान्वभवम्
 ॥ ११ ॥ वर्णितेन प्रकारेण आकाशकोशे पतनस्य गमनस्यानु-
 भवनमेवैका मुख्या धृतिर्यस्य तथा चिरपतनेन भ्रान्तस्य मे

भूयो दिगन्तभुवनामरमन्दराद्रि-
संसारचञ्चलतया लतयेव पक्षी ।
अक्षीणवातवलयो परिचात्यमान-
स्तन्मासु तासु पतितो हि जगद्गुहासु ॥ १३
विषयाद्या दृशो यावत्तावदातः क्षणादहम् ।
पुनस्तथैव पश्यंस्तु दृश्यं यातः पुनःपुनः ॥ १४
इति दृश्यमदृश्यं च गम्यं चागम्यमेव च ।
वेगाद्ब्रह्मयतो देशं मम वर्षगणा गताः ॥ १५
दृश्यादृश्याया अविद्याया न स्वन्तं प्राप्तवानहम् ।
मिथ्यैव हृदि रूढायाः पिशान्या इव बालकः ॥ १६
नेदं नेदं सदित्येव विचारानुभवे स्थितम् ।
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० ना० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० भासवर्णितस्वजन्मपरम्परा नाम द्वात्रिंशधिकशततमः सर्गः ॥ १३१ ॥

तथापीदमिदं चेति दुर्दृष्टिर्न निवर्तते ॥ १७
प्रतिक्षणं सुखैर्दुःखैर्देशकालैः समागमैः ।
सरिद्वारिवदालोला नवमायान्ति यान्ति च ॥ १८
तालीतमालबकुलातुलतुङ्गशृङ्ग-
मुन्नादवातजवमेकमहं स्मरामि ।
सूर्यादिभिर्विरहितं प्रकटं स्वकान्त्या
सस्थावराद्रितटजङ्गममेव विश्वम् ॥ १९
यदेतदेकान्तविहारहारि
स्वच्छन्दमेकामितमस्तशङ्कम् ।
कचिन्मया चारुजगत्सु दृष्टं
तुल्या न तस्यामरराजलक्ष्मीः ॥ २०

त्रयस्त्रिंशधिकशततमः सर्गः १३३

विपश्चिदुवाच ।
कस्मिंश्चिदन्यत्र जगत्पूवं
दृष्टं मयेदं शृणु किं विचित्रम् ।
महाधनुस्तान्तदशासमान-
मविद्ययान्धेन वलात्कृतं यत् ॥ १
अस्ति कचित्स्थे भवतामगम्ये
जगद्बलहीप्तिविचित्रसर्गः ।

अथानन्तरं निद्रया अन्तर्हृदि पदं स्थानमकारि । तादृश सर्व-
जनप्रसिद्धेन सुपुत्रवपुषा स्थितेन मया अथ अनन्तरं प्रवृत्ते
स्वप्राप्तके जाग्रति तदा तत्र अन्तरेव आत्मनि स्वस्मिन्विश्व-
मुपलब्धं दृष्टम् ॥ १२ ॥ तत्रापि भूयो दिगन्तभुवनादिसंसारेण
चञ्चलतया अक्षीणवातवलयो लतया पक्षीव परिचात्यमानोऽहं
तासु पूर्वसंकल्पितासु तेषां दृश्यानां मानानि माः इत्यतया परि-
च्छेदात्तलक्षणासु जगद्गुहासु पतितः ॥ १३ ॥ दृशश्चक्षुषो
यावत्पर्यन्तं विषयाशा प्रसृता अहं तावत्प्रदेशपर्यन्तं क्षणादातः
पुनरपि तथैव पश्यन् सन् तद्दर्शनकौतुकेन पुनःपुनर्दृश्यं
यातोऽस्मीत्यर्थः ॥ १४ ॥ इति एवरीत्या जागरेषु स्मरेषु च दृष्टं
शक्यं दृश्यं तद्विजमदृश्यं च विषयमुद्दिश्य गम्यमगम्यं च देशं
वेगाद्ब्रह्मयतो मम वर्षगणा बहवो गताः ॥ १५ ॥ १६ ॥ यद्यपि
मया नेदं सत् नेदं सदिति विचारानुभवे स्थितं तथापि इदं
सत्यमिदं च सत्यमिति प्रतिविषयं दुर्दृष्टिर्न निवर्तते विराभ्यस्त-
द्वैतसत्यतासंस्कारस्य प्रयत्नत्वादिति भावः ॥ १७ ॥ विचारेण
निरस्ता अपि दुर्दृष्टयः प्रतिक्षणं प्रसक्तैः सुखैर्दुःखैर्देशकालमेदै-
रिष्टानिष्टजनसमागमैश्च सरिद्वारिवत् नवं नवमायान्ति ॥ १८ ॥
तत्रैकमाश्वर्थं स्मृतमाह—तालीति । तच्च शृङ्गं सूर्यादिभिर्वि-
रहितमपि स्वकान्त्या प्रकटं भासमानम् । विश्वं तु तस्य शृङ्गस्य
स्थावरैरद्वितटैर्जङ्गमैश्च सहितं यत्सातु तत्स्थानीयमिति सर्वाधि-
ष्ठानं ब्रह्मैवात्राश्वर्थं शृङ्गं निर्दिष्टम् ॥ १९ ॥ यदेतच्छृङ्गमेकान्ते

एतादृगप्यस्वरतस्तदन्यत्
स्वाप्तं पुरं जाग्रति चेतसीव ॥ २
तस्मिन्मया विहरता हृदयस्थमर्थ-
मन्वेष्टुमक्षि निहितं ककुभां मुखेषु ।
पश्यामि यावदचलप्रतिभा घरायां
छायालिजालमलिना परिवन्धमीति ॥ ३

विहारो येषां तत्त्वविदां तेषां हारि मनोहरं स्वच्छन्दयेकममित-
मस्तविकारशङ्कं चेति त्रिविधपरिच्छेदशून्यं तच्च कचिच्चारुजगत्सु
ब्रह्मविन्मण्डलीषु दृष्टम् । अमरराजस्येन्द्रस्य हिरण्यगर्भस्य च
लक्ष्मीस्तस्य तुल्या समिता तुल्या न । हिरण्यगर्भान्तानन्दानां
परिमितत्वादिति भावः ॥ २० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणता-
त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भासवर्णितस्वजन्मपरम्परा
नाम द्वात्रिंशधिकशततमः सर्गः ॥ १३२ ॥

अस्याश्वर्थं कचिद्दृष्टं भासेनात्रोपवर्ण्यते ।
सप्तद्वीपप्रमाणस्य शवस्य पतनं दिवः ॥ १ ॥
अविद्याख्यानेऽस्मिन्नस्याश्वर्थवर्णनप्रसङ्गेन शवोपाख्याने
भासमुखेन वर्णयितुं प्रसूति—कस्मिंश्चिदिति । हे मुने,
अस्माज्जगतोऽन्यत्र कस्मिंश्चिदपूर्वं जगति मया इदं वक्ष्यमाणं
विचित्रमस्याश्वर्थं दृष्टं तच्छृणु । यन्महायानां ब्रह्मद्वयादीनां
फलभूतरौरवादिनरकवृत्तान्तदशासमानमतिभीमत्समप्यविद्यया
अन्धेन मया बह्विरप्रार्थनावलात् कृतं संपादितम् । अनुभूत-
मिति यावत् ॥ १ ॥ भवतामगम्ये मन्तुमशक्ये कचिद्योत्रि
जगत् तत्र च पञ्चलन्त्या चन्द्रसूर्यादीर्विद्या विचित्रः
सर्गोऽस्ति । तच्च सन्निवेशत एतादृगेतद्ब्रह्माण्डसदृशमप्यम्बरत
एतद्दृष्ट्वा शून्यत्वतो हेतोरेस्मादन्यदेव । तत्र दृष्टान्तः—यथा
स्वाप्तं स्वप्रदृष्टं पुरं जाग्रदृष्टपुरसदृशमपि जाग्रदृष्ट्वा शून्यत्वा-
दन्यदेव चेतति भातं तद्वदित्यर्थः ॥ २ ॥ तस्मिन् जगति
निवसता मया हृदयस्थं स्वामिलयितमर्थं दिगन्तेष्वन्वेष्टुं ककुभां

आश्चर्यमात्रमुचितं किमिदं निमेषा-
 दित्यक्षि वै जगति यावदहं त्यजामि ।
 खात्तावदद्रिमतुलं पुरुषाकृतिं द्रा-
 गावर्तवृत्तिभिरपश्यमहं पतन्तम् ॥ ४
 कः स्यादयं गिरिगुरुः पुरुषो विराड्वा
 पर्यस्तपर्वतवदाशु पतच्छरीरः ।
 आकाशपूरकवपुः परमाम्बरोऽपि
 यो नैव भाति पिहिताखिलवासरश्रीः ॥ ५
 एवंविधां हृदि मनाक्कलयामि याव-
 तावत्पपात सहसा नभसो विवस्वान् ।
 कल्पान्तवातपरिवृत्तपितामहाण्ड-
 पृष्ठावपातघनघोषजुषा जवेन ॥ ६
 तस्मिन्पतति भीमात्मन्यपारावारदेहिनि ।
 सप्तद्वीपां वसुमतीं परिपूरयति क्षणात् ॥ ७
 स्वात्मनो नाशमाशङ्क्य सद्भीपभुवनैः सह ।
 अवश्यभाविपार्श्वस्थमहमग्निमथाविशम् ॥ ८
 स जातवेदा भगवान्जन्मान्तरशतार्चितः ।
 मा भैषीरिति देहेन मामुवाचेन्दुशीतलः ॥ ९
 जय देव त्वमस्माकं प्रतिजन्म परायणम् ।
 अकाल एव कल्पान्तो जातोऽतः पाहि मां प्रभो ॥ १०
 इत्युक्तेनाग्निना प्रोक्तं मा भैषीरिति तत्पुनः ।

मुखेषु अक्षि निहितम् । प्रेरितमिति यावत् । तेषु यावत्कौतुकं
 पश्यामि तावद्दरायां अलिजालमलिना अचलप्रतिमा महती
 छाया बन्धमीति मृशं भ्रमति ॥ ३ ॥ ततः अतिमहत्त्वादा-
 श्वर्यमात्रमिदं छायाकारं किमुचितमिति विमृश्यन् यावदक्षि
 जगति कूर्ध्वभागे त्यजामि प्रेरयामि तावद्वीपां मानं परिमाणं
 अद्रिमा सा तुला यस्य तथाविधं खादावर्तवृत्तिभिः पतन्तं
 पुरुषाकृतिमहं द्रागपश्यम् ॥ ४ ॥ गिरिरिव गुरुः आकाशपूरक-
 वपुः पतच्छरीरोऽयं पुरुषः को ब्रह्मा वा स्याद्विराट् ब्रह्माण्डश-
 रीरो वा स्यादिति वितर्कः । येन परमाम्बरोऽपि यः प्रतिद्धः सूर्यः
 पिहिताखिलवासरश्रीः सन् नैव भाति ॥ ५ ॥ अहमेवंविधां
 चिन्तां यावन्मनाक्कलयामि तावत् सहसा नभसो विवस्वान्
 सूर्यः कल्पान्तवातैः परिवृत्तस्य परावर्तितस्य पितामहाण्डपृष्ठस्य
 ब्रह्माण्डोर्ध्वकपालस्य अवपात इव घनघोषवता जवेन वेगेन
 पपात ॥ ६ ॥ तदा त्वं किमकार्षीस्तत्राह—तस्मिन्निति
 द्वाभ्याम् । भीमात्मनि भयानकस्वरूपे पुरुषाकारे वस्तुनि पतति
 सति अहं स्वात्मनः शरीरस्य तदुपमर्दादवश्यमाविनाश-
 माशङ्क्य अथ पार्श्वस्थमग्निमविशमिति द्वयोरन्वयः ॥ ७ ॥ ८ ॥
 स भगवान् जन्मान्तरशतार्चितो जातवेदा इन्दुशीतलः सन्
 मां मा भैषीरित्याह ॥ ९ ॥ तदानीं स्वकृतामग्निस्रार्थनामाह—
 जयेति । जातः प्रसक्तः ॥ १० ॥ हे अनघ, मल्लोकमग्निलोकं
 गच्छावस्त्वमागच्छ इति च प्रोक्तम् ॥ ११ ॥ स्ववाहनशुकपृष्ठे
 मामारोप्य तत् प्रागुक्तं पातोऽस्यास्तीति पाति भूतं शवं देहै-

उत्तिष्ठागच्छ गच्छावो मल्लोकमिति चानघ ॥ ११
 इत्युक्त्वा शुकपृष्ठेऽसावारोप्य भगवांस्ततः ।
 देहैकदेशे तत्पाति भूतं दग्ध्वा नभः स्तुतः ॥ १२
 अनन्तरं नभः प्राप्य दृष्टः कष्टाकृतिर्मया ।
 स तादृग्भूतसंपातमहोत्पातो भयप्रदः ॥ १३
 तस्मिन्जवेन पतिते वसुधा चचाल
 साम्भोधिशैलवनपत्तनजङ्गलौघा ।
 चक्रे भृगुद्वयमयानजलस्रवन्ती
 भीमाकृतीन्व्यधुरदेहविमेदगर्तान् ॥ १४
 उर्वी ररास ककुबुत्तरतो ररास
 पूर्वा ररास विररास च दक्षिणा दिक् ।
 द्यौराररास विररास सशैलभूतं
 सर्वं जगत्प्रलयसंभ्रमभीतमुच्चैः ॥ १५
 उर्वी ररास धरणे सविरावरंहः-
 संरम्भतर्जितसमस्तदिगन्तरांसा ।
 व्योमापि घुंघुममलङ्घ्यमलं चकार
 नागारिचन्द्रभयविद्रवणप्रचण्डम् ॥ १६
 निर्घातशब्द उदभूदमितो भयाय
 भीमाय भूधरदरीदृढदारणोत्थः ।
 उत्पातभीमजवजालयुगान्तवात-
 संरन्धकल्पघनघोषवितीर्णतर्जः ॥ १७

कदेशे दग्ध्वा छिद्रीकृत्य नभः स्तुतः ॥ १२ ॥ १३ ॥ तस्मि-
 न्महाशवे जवेन पतिते सति अम्भोध्यादिसहिता वसुधा
 चचाल । अयानजलाः निरुद्धोदकप्रवाहाः स्रवन्त्यो नद्यो यस्यां
 तथाविधा सती गिरिनदीनां कूलद्वये मार्गान्तरेण जलस्रवणात्
 भृगुद्वयं जलप्रपातद्वयं चक्रे । पतन्ति जलानि भीमाकृतीन् मय-
 कराकारान् अदेहविमेदान् मनुष्यादिदेहकृतभूविदारणजन्य-
 बापीकूपादिविलक्षणान्गर्तान्व्यधुश्चक्रुः । 'विधुरदेहविमेदकर्तान्'
 इति पाठे वसुधाविधुरेण विसंघुलेन स्वदेहविमेदेन कर्तान्
 वप्रादिकर्तनानि चक्रे इत्यर्थः ॥ १४ ॥ पुनः किमासीत्तदाह—
 उर्वीति । उर्वी भूः उत्तरतः ककुप् उत्तरा दिक् तथा पूर्वा
 दक्षिणा चकारात्पश्चिमा च ककुप् द्यौः शैलैर्भूतैश्च सहितं सर्वं
 जगच्च प्रलयसंभ्रमेण भीतं सत् उच्चैः ररास दग्ध्वा नभोद च ।
 धात्वावृत्तिस्तत्तच्छब्दवैलक्षण्यद्योतनाय ॥ १५ ॥ उक्तमेव स्पष्टं
 पुनराह—उर्वीति । धरणे पतितस्य शवस्य धरणे । तारत्वाधि-
 क्येन शब्दान्तरैरलङ्घ्यं घुंघुमं ध्वनिमलमत्यर्थं चकार । नागा-
 रीणां गरुडानां भयेन विद्रवण इव प्रचण्डं दुःसहम् ॥ १६ ॥
 भूधरदरीणां दृढदारणादुत्थ उत्थितो निर्घात आस्फालनं तन्नि-
 मित्तः शब्दो भयाय भीमाय भयहेतवे श्रोत्रहृदयादिमेदनाय
 च उदभूत् । स कीदृक् । उत्पातैर्भीमजवजालवदाकर्षिणो ये
 युगान्तवातास्तैः संरन्धा ये कल्पघनाः प्रलयाम्बुदास्तद्वोषेभ्यो
 वितीर्णा विश्राणिता तर्जा भर्त्सना येन तथाविधः ॥ १७ ॥

तस्मिन्नेव पतिते वसुधा ररास
सारावदिदुःखतया शतवेधमागात् ।
तत्रास्फुटन्कुलगिरीन्द्रमहातटानि
पातालदेशमविशन्निमवच्छिरांसि ॥ १८

आसीत्तत्पतनं तस्य मेरुशैलशिलाकृतेः ।
दलनं शैलशृङ्गाणां विदारणकरं भुवः ॥ १९
क्षोभणं जलराशीनामद्रीणां भूतलार्पणम् ।
पीडनं सर्वभूतानां फीडनं प्रलयार्थिनाम् ॥ २०
पातनं भूतले भानोः स्थगनं द्वीपपद्धतेः ।
धूर्णीकरणमद्रीणां दलनं मण्डलावनेः ॥ २१
द्वितीयमिव भूमीठं ब्रह्माण्डार्धमिवापरम् ।
पतितं खमिवाकृत्या तदपश्यन्नभश्चराः ॥ २२
अथ पश्याम्यहं यावदसौ मांसमयोऽचलः ।
न माति सप्तद्वीपायां भुवि तस्याङ्गमेककम् ॥ २३
तमालोक्य मया देवः प्रसादे समग्रस्थितः ।
संपृष्टो भगवान्बद्धिः प्रभो किमिदमित्यथ ॥ २४
कथं मांसमयः सार्धं स चार्कः पतितो दिवः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजा०वा० दे०मो०नि०उ० अ० वि० शवोपाख्याने महाशिववर्णनं नाम त्रयविंशतिश्लोकशततमः सर्गः ॥ १३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३४

विपश्चिदुवाच ।

एतस्मिन्नन्तरे ज्योत्सः स पतन्पुरुषो मया ।
स्थगिताखिलभूमीठः शवरूपो विलोकितः ॥ १
स यावदुदराभिर्यो देहमागोऽस्य येन भूः ।
सप्तद्वीपापि पिहिताऽमातुः शैलोपमो महान् ॥ २

तस्मिन्नेव । शतशृणं वेधमभिधातमागात्प्राप । तत्र तस्मिन्वेधे
॥ १८ ॥ तस्य शवस्य तत्तादृशं पतनमासीत् । कीदृशं तदाह—
दलनमित्यादि ॥ १९ ॥ भूतले अर्पणं समीकरणसाधनमिति
यावत् । प्रलयार्थिनां रुद्रगणानाम् ॥ २० ॥ स्थगनमाच्छादनम्
॥ २१ ॥ आकृत्या मूर्ताकारेण ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ मांसमयो देहः
कथं पतितः । तेन सार्धं स अस्तिदोऽर्कश्च कथं पतित इत्यावृत्त्या
योज्यम् ॥ २५ ॥ प्रतिपालय प्रतीक्षस्व । अयमेतत्पतनदोषो
यावत्साकल्येन क्षाम्यतु ॥ २६ ॥ गगनजमखिलं वस्त्रभूषण-
मात्यादि येषाम् ॥ २७ ॥ ते नभश्चराः के के तानाह—
सिद्धेति ॥ २८ ॥ २९ ॥ या देवी महाकल्पान्ते संवृतस्य पद्म-
योनेः कपिलमुखजटामण्डलं खट्वाङ्गश्रेष्ठे बद्धा तथा दैत्याना-
मुत्तमाङ्गैः शिरोमिः उरसि ह्रजं कृत्वा संवृतस्य तार्क्ष्यस्य गरु-
डस्य पक्षैः शिरःशेखरमवतंसं च कृत्वा मुक्तं विश्वं प्राणिजातं
मया तथाविधा सती साद्रिभूमीठभूतमिदं जगत्पिबति । एवं
सर्वजगत्संहारेऽपि दोषलेशेनाप्यलितत्वाभिष्कलङ्का शुद्ध-

स न माति हि भूमीठे सपर्वतवनाम्बुधौ ॥ २५
अशिरुवाच ।

प्रतिपालय पुत्र त्वं क्षणमेकं गतत्वरः ।
यावच्छाम्यतु दोषोऽयं कथयिष्यामि ते ततः ॥ २६
अथ तस्मिन्वेदत्येवं समाजगमुर्नभश्चराः ।
तज्जगज्जालजातीया दिग्भ्यो गगनजाखिलाः ॥ २७
सिद्धसाध्याप्सररोदैत्यगन्धर्वोरगकिञ्चराः ।
ऋषयो मुनयो यक्षाः पितरो मातरोऽमराः ॥ २८
अथ सर्वेश्वरीं देवीं शरण्यां ते नभश्चराः ।
भक्तिनम्रशिरःकायाः कालरात्रिं प्रतुष्टुः ॥ २९
नभश्चरा उचुः ।

बद्धा खट्वाङ्गश्रेष्ठे कपिलमुखजटामण्डलं पद्मयोनेः
कृत्वा दैत्योत्तमाङ्गैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं
तार्क्ष्यपक्षैः ।
या देवी भुक्तविश्वा पिबति जगदिदं साद्रिभूमीठभूतं
सा देवी निष्कलङ्का कलिततनुलता पातु नः
पालनीयान् ॥ ३०

बहिनोक्तमनन्तं तत्तद्भुजोरुशिरश्च मे ।
लोकालोकात्परं पारं प्राप्तं ह्यविषये नृणाम् ॥ ३
ज्योमवासिचये देवीमथ स्तुवति सादरम् ।
ज्योत्सः प्रकटतामागाच्छुष्का नु भवति स्वयम् ॥ ४
प्रेतवृन्दैरनुगता मातृमण्डललालिता ।
कुम्भाण्डयक्षवेतालजालतारकिताम्बरा ॥ ५

चिन्मात्रस्वभावाप्यस्सदनुग्रहाय कलिततनुलता स्वीकृतशरीरं
सती शवदयपालनीयात्रः अस्मान्पातु रक्षतु ॥ ३० ॥ इति
श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
महाशिववर्णनं नाम त्रयविंशतिश्लोकशततमः सर्गः ॥ १३३ ॥

देव्यास्तदाविर्भूतायाः शरीरमिह वर्ण्यते ।
तत्पीतृककुणपखादनं च गणैरथ ॥ १ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवारब्धदेवीस्तुतिकाले स प्रावर्णितः पत-
न्पुरुषो मया स्थगितमाच्छादितमखिलं भूमीठं येन तथानिष
शवरूपो निर्जोवो विलोकितः परिज्ञातः ॥ १ ॥ येन शवभागेन
सप्तद्वीपापि भूः पिहिता सोऽस्य संपूर्णभूमौ यावत् साकल्येन
अमातुर्मानसप्राप्तवतः शवस्य शैलोपमो महानुदराभिर्यो
कुक्षिसंज्ञको भागः स एव मया दृष्ट इत्यर्थः ॥ २ ॥ तर्हि तद्भुजो-
रुशिरस्त्वया दूरस्थं कथं शातं तत्राह—बहिनेति । तत्तर्हि क
पतितं तत्राह—लोकालोकादिति ॥ ३ ॥ सा स्वयं शुष्का नीर-
कैव भवति । नु इति वितर्कः ॥ ४ ॥ कीदृशी सा तदाह—प्रेत-
वृन्दैरित्यादिना । तारकितं संजाततारकमिव कृतमम्बर यथा

शिरालदीर्घदोर्दण्डवनीकृतनभस्तला ।
 किरन्ती कीर्णदिग्दाहैर्दृष्टिपातैर्दिवाकरान् ॥ ६ ॥
 स्फुरन्नानायुधाकारकचज्जणझणध्वनि ।
 शतखण्डं खगानीकं कुर्वाणा व्योमकोटरे ॥ ७ ॥
 देहज्वालेक्षणोष्माद्वैः शरीरावयवैस्त्वयः ।
 दीर्घवेणुवनाकाराः किरन्ती कोटियोजनाः ॥ ८ ॥
 दन्तकान्तीन्दुविद्योतदुग्धमपितदिच्छुखा ।
 कृशातिदीर्घविस्तीर्णशरीरापूरिताम्बरा ॥ ९ ॥
 निरालम्बास्पदा सांध्या विततेवाभ्रमालिका ।
 प्रेतासनसमारूढा सुरूढा परमे पदे ॥ १० ॥
 स्फुरन्ती प्रज्वलद्रूपा संध्या जलधरावृणा ।
 दधाना गगनाम्भोधौ वाडवज्ज्वलनश्रियम् ॥ ११ ॥
 शवैः शवाङ्गैर्मुसलैः प्रासतोमरमुद्गरैः ।
 वृसिकोलूखलहलैः किरन्ती चञ्चला स्रजः ॥ १२ ॥
 प्रजां कटकटाटोपैर्वहन्ती गगनाङ्गणे ।
 दृपदां धर्घरावैः प्रावृद्धिरिवाचले ॥ १३ ॥
 देवा ऊचुरयं देवि उपहारीकृतोऽम्बिके ।
 सार्धं स्वपरिवारेण शीघ्रमाह्वयतामिति ॥ १४ ॥
 वदत्येवं सुरानीके तं शवं प्राणवायुना ।
 देवी प्रववृते रक्तसारमाकट्टमञ्जसा ॥ १५ ॥
 प्राणेनाकृष्यमाणं तद्रक्तं भगवतीमुखे ।
 अविशत्सांध्यमेघौघ इव मेरोर्गुहान्तरम् ॥ १६ ॥
 तावद्रक्तं तथा पीतं प्राणाकृष्टं नभःस्थया ।
 यावच्छुष्का सती तृप्ता पीना सा चंडिका स्थिता ॥ १७ ॥
 ततो बभूव सा रक्तपरिपीनशरीरिणी ।
 रक्ता धर्षाभ्रमालेव तडित्तरललोचना ॥ १८ ॥

॥ ५ ॥ शिरालैः शिरावद्भिर्दीर्घदोर्दण्डैर्वनमिव संपद्यमानं कृतं
 नभस्तलं यथा । दृष्टिपातैर्दिवाकरान्किरन्ती विक्षिपन्ती ॥ ६ ॥
 स्फुरतां नानायुधानामाकारैः कचज्जणझणध्वनि यथा स्यात्तथा
 व्योमकोटरे खगानीकं पक्षिसमूहं शतखण्डं कुर्वाणा ॥ ७ ॥
 देहज्वालाभिरीक्षणोष्मभिर्नेत्राभ्यौष्ण्यैश्चाद्वैः सपन्नैः शरीराव-
 यवैर्दीर्घवेणुवनाकाराः कोटियोजनपरिमितास्त्वयः किरन्ती
 विक्षिपन्ती ॥ ८ ॥ ९ ॥ निर्गते आलम्बास्पदे यस्याः । अभ्र-
 मालिकापक्षे निरालम्बमम्बरमास्पदं यस्याः । परमे पदे ब्रह्मणि
 सुष्ठु रूढा प्रादुर्भूता ॥ १० ॥ वाडवज्ज्वलनो वडवानलस्तच्छ्रियं
 दधाना ॥ ११ ॥ वृसिकाः आसनानि ॥ १२ ॥ कटकटेति
 दन्तध्वन्यनुकरणं तदाटोपैस्तदाडम्बरैः प्रजां जनशरीरमालां
 गगनाङ्गणे वहन्ती । यथा प्रावृद्धिरिदं पदां मालां धर्घरावैर्नि-
 र्जैरचले खदेहे वहति तद्वत् ॥ १३ ॥ देवास्तां देवीमूचुः ।
 किन्तुचुः । हे अम्बिके, अयं शयस्ते उपहारीकृतोऽस्माभिः
 स्वपरिवारेण सार्धं शीघ्रमाह्वयतां भुज्यतामित्यूचुः ॥ १४ ॥
 देवी स्वयं सर्वप्राणशक्तित्वात्प्राणानां रक्ताधारत्वात्प्राणवायुनेव
 तद्रक्तसारमाकट्टं प्रववृते ॥ १५ ॥ १६ ॥ प्राक् शुष्का सती तृप्ता

लम्बोदरा भगवती विपमाहिविभूषणा ।
 रक्तासवमदक्षीवा समस्तायुधधारिणी ॥ १९ ॥
 व्योम्नि नर्तनमारेमे स्वशरीरार्धपूरिते ।
 पर्यन्तगिरिमालाग्रस्थितामरनिरीक्षिता ॥ २० ॥
 ततः पिशाचकुम्भाण्डरूपिकादिमहागणाः ।
 शवमावारयांचकुर्महाचलमिवाम्बुदाः ॥ २१ ॥
 शवशैलो गृहीतोऽसौ कुम्भाण्डैः कटिभागतः ।
 उदराद्रूपिकावृन्दैर्यक्षैः कुञ्जरविक्षतैः ॥ २२ ॥
 भुजोरुकन्धराद्यास्ते तस्यान्येऽवयवा यतः ।
 ब्रह्माण्डस्य परं पारं प्राप्ताः परमविस्तृताः ॥ २३ ॥
 ततस्तैर्भूतसंघातैः स्थिता दूरे दिगन्तरे ।
 न प्राप्ता वै हि तत्रैव कालेन कलिताः स्वयम् ॥ २४ ॥
 नृत्यन्त्यां चण्डिकायां खे भूतवृन्दे शवाकुले ।
 देवेष्वद्रिषु तिष्ठत्सु बभूव भुवनं तदा ॥ २५ ॥
 पिण्डाहार्यामदुर्गन्धिगुण्ठीकृतककुब्जाणम् ।
 रक्तगर्भाभ्रनिर्व्यूहैः खादिरज्ज्वलनोज्ज्वलम् ॥ २६ ॥
 मांसचर्वणसंरम्भप्रोद्यच्छवशवस्वनम् ।
 लतास्थिखण्डनोद्गीनवृहत्कटकटारवम् ॥ २७ ॥
 भूतसंघट्टविश्लेषवशाद्भीषणनिःस्वनम् ।
 हिमवद्विन्ध्यशैलाद्रिप्रमाणास्थ्यचलावृतम् ॥ २८ ॥
 देवीमुखानलज्वालापकमांसाक्तभूतलम् ।
 रक्तसीकरनीहारसिन्दूरितककुब्जाणम् ॥ २९ ॥
 सर्वतः प्रेक्षकैर्देवैः सप्राकारदिगन्तरम् ।
 रुधिरैर्कार्णवीभूतसप्तद्वीपवसुन्धरम् ॥ ३० ॥
 अत्यन्तान्तर्हिताशेषसमस्ताचलमण्डलम् ।
 रक्तप्रभाभ्रसंभारवखावृतदिगङ्गनम् ॥ ३१ ॥

भूत्वा पश्चात्पीना पुष्टा भूत्वा स्थिता ॥ १७ ॥ यथा वर्षाकाले
 तडित्तरललोचना रक्तवर्णा अभ्रमाला स्थिता तद्वत् ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ स्वशरीरेणार्धपूरिते व्योम्नि नर्तनमारेमे उपचक्रमे ।
 पर्यन्तगिरिलोकालोकपर्वतस्तवीयशिखरमालाग्रेषु स्थितैरमरैर्नि-
 रीक्षिता ॥ २० ॥ २१ ॥ उदरात् उदरमारभ्य । यक्षैस्तु स्त्रीय-
 कुञ्जरदन्तविक्षतैः परिशिष्टैः पार्श्वपृष्ठभागैर्गृहीतः ॥ २२ ॥ ननु
 भुजोरुकन्धरादिभागे कुतो न गृहीतस्तत्राह—भुजोर्विति ।
 यतस्ते ब्रह्माण्डखर्परस्य परं पारं जलाद्यावरणदेशं प्राप्तास्ततो
 हेतोस्तैर्भूतसंघातैर्दूरे दिगन्तरे स्थितास्तेन प्राप्ताः किंतु
 तत्रैव कालेन स्वयमेव कलिता इति द्वयोरन्वयः ॥ २३ ॥
 ॥ २४ ॥ २५ ॥ कीदृशं बभूव तदाह—पिण्डेल्लादिना । पिण्डश्च
 आहार्यैर्भक्ष्यमाणैर्नीयमानैश्च आमदुर्गन्धिभिर्मांसवसादिभिर्गु-
 ण्ठीकृता अवगुण्ठिता व्याप्ताः ककुब्जाणां यत्र तथाविधम्
 ॥ २६ ॥ शवशवेति चर्वणध्वन्यनुकरणम् । वीभत्सो रसः ।
 लतानामिव शिराणामस्थीनां च खण्डनादुद्गीन आकाशे प्रसृतो
 वृहत्कटकटारवो यत्र ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ सप्राकारं
 वरणवेष्टितमिव दिगन्तरं यत्र ॥ ३० ॥ अत्यन्तमन्तर्हितं

वृत्तालोलभुजभ्रान्तहेतिच्छन्नमस्तलम् ।
 दूरस्मृतिपथप्राप्तपुरपत्तनमण्डलम् ॥ ३२
 अत्यन्तासंभवद्रूपसर्वस्थावरजंगमम् ।
 संपन्नान्तकुम्भाण्डरूपिकाद्येकसंगमम् ॥ ३३
 मृत्तलोककराकारखगावलनजालकैः ।
 मानसत्रैरिव विधेरन्यद्रचयतो जगत् ॥ ३४
 भूमेरार्कगतं नीतैः पिशाचैराश्रतनुभिः ।
 मिमानमिव दिक्कुक्षैस्तिर्यगूर्ध्वमधो जगत् ॥ ३५
 जगदालोक्य तत्तादृग्दक्षोपप्लवाहृतम् ।
 भूतपूर्वमहीपीठस्थितिरकार्णवीकृतम् ॥ ३६
 द्वीपसप्तकर्पयन्ते लोकालोकाद्रिमूर्धनि ।
 तदङ्गकैरनाक्रान्ते स्थिताः खिन्नतराः सुराः ॥ ३७
 श्रीराम उवाच ।
 ब्रह्माण्डादपि निर्गम्य यस्य तेऽवयवा गताः ।
 लोकालोकाचलस्तेन ब्रह्मन्न स्थगितः कथम् ॥ ३८
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 द्वीपसप्तकमध्येऽस्मिन्पाम तस्योदरं स्थितम् ।
 शिरःखुरभुजाद्यङ्गं ब्रह्माण्डात्परतः स्थितम् ॥ ३९
 पार्श्वाभ्यामूर्ध्वमध्याच्च कटिपार्श्वद्वयात्तथा ।
 शिरोऽसद्वयमध्याभ्यां लोकालोकः स लक्ष्यते ॥ ४०
 तत्रोपविष्टास्ते देवा लक्ष्यन्ते शृङ्गमूर्धसु ।

भूतप्रवेशादस्थ्याद्याच्छादनाच्च तिरोधानं प्राप्तमशेषं समस्तं
 शिखरसहितमचलमण्डलं यत्र । रक्तप्रभारजितैरप्रसंगैः
 रक्तवस्त्रावृता इव दिग्गङ्गा यत्र ॥ ३१ ॥ हेतिमिदं वीतद्रणाद्युधै-
 श्छन्नं नभस्तलं यत्र ॥ ३२ ॥ सपन्नः अनन्तानां कुम्भाण्डरू-
 पिकादीनामेवैकः संगमः समाजो यत्र ॥ ३३ ॥ वृत्ते प्रसक्ता
 ये लोका भूतगणास्तेषां ये अभिनयककारास्तल्लक्षणानां खगा-
 नामावलनाय बन्धनाय प्रसारितैर्जालकैरिव नभसि अन्यज-
 गद्रचयतो विधेरानसूत्रैरिव च स्थितैर्भूमेरारभ्य आ अर्कगतं
 सूर्यमार्गपर्यन्तमूर्ध्वमधश्च दशदिगलक्षणैः कुक्षैस्तिर्यक् च पिशा-
 चैराश्रितानवितानाभ्यां नीतैराम्बलक्षणैस्तनुभिर्मिर्जगद्ब्रह्माण्डोदर
 मिमानमिव तदा भुवनं त्रैलोक्यं बभूवेति ह्ययोरन्वयेनोपक्रमेण
 संबन्धः ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ पूर्वं भूते भूतपूर्वं महीपीठे स्थिति-
 र्येषां तथाविधे रक्षैरण्वीकृतम् । अत एव उदक्तेन उद्वेतेनो-
 पप्लवेनाहृतमास्कन्दितं जगदालोक्य द्वीपसप्तकर्पयन्ते तस्य
 शवसाङ्गकैः कुत्सितैरङ्गैरनाक्रान्ते लोकालोकाद्रिमूर्धनि स्थिताः
 सुराः खिन्नतरा आसन्निति ह्ययोरन्वयः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ यस्य
 शवस्य ते अतिदीर्घा हस्तपादाश्वयवा ब्रह्माण्डादपि बहि-
 निर्गम्य गतास्तेन तादृशेन महाश्वेन लोकालोकाचलः कथं न
 स्थगितो नाच्छादित इति रामेण सर्वज्ञो वसिष्ठ एव वृष्टो न
 भासः । तस्य लोकालोकपर्यन्तं दृष्ट्यप्रसरेण तदनभिज्ञत्वनिश्च-
 यादिति भावः ॥ ३८ ॥ अत एव वसिष्ठ एव तदुत्तरमाह—
 द्वीपेत्यादिना । हे राम, तस्य उदरं उदरोपलक्षितं मध्यशरीरं

सुशुद्धकान्तयस्तापादजला जलदा इव ॥ ४१
 प्रसारिताङ्गकमधो ब्रह्मं तत्पतितं शवम् ।
 संभक्षयति भूतौघे प्रचलन्तीषु मातृषु ॥ ४२
 बहत्स्वसृक्प्रवाहेषु मेदोगन्धे विजृम्भिते ।
 दुःखिताश्विन्तयामासुः प्रत्येकममरा इदम् ॥ ४३
 हा कष्टं क्व गता पृथ्वी क्व गता जलराशयः ।
 क्व गता जनसंघाताः क्व गता धरणीधराः ॥ ४४
 तादृक्चन्दनमन्दारकदम्बवनमण्डितः ।
 मण्डपः पुष्पराशीनां कष्टं क्व मलयो गताः ॥ ४५
 उच्चावदाता विपुला हिमवद्भूमयोऽपि ताः ।
 नीताः शौक्ल्यरूपेवाशु रुधिरणात्मपङ्कताम् ॥ ४६
 कौञ्चद्वीपतले कौञ्चे योऽभूत्कल्पद्रुमो महान् ।
 ब्रह्मलोकलसच्छाखः सोऽपि चूर्णत्वमागतः ॥ ४७
 हा क्षीरार्णव पारिजातकमलाचन्द्रामृतानां पते
 हा दध्यर्णव नावनीतशिखरिप्रोज्ज्वलवेलावन ।
 हा मध्यर्णव नालिकेरगिरिके योगेश्वरीसेवित
 केदानीं समुपैष्यथ क्व घनिता दिग्दर्पणत्वं गताः ॥ ४८
 हा कल्पद्रुमकाञ्चनामललतानिःसंघिवन्धाचल
 कौञ्चद्वीपविरिञ्चदंसनलिनीनीरन्ध्रदिग्जालक ।
 यातः केह कदम्बकाननदरीविश्रान्तविद्याधरी-
 क्रीडाकोविदनागरामरगृह त्वं पुष्करद्वीपक ॥ ४९

द्वीपसप्तकमध्ये स्थितम् । शिरःखुरोपलक्षितौ पादौ भुजाद्यङ्गं
 च ब्रह्माण्डात्परतः स्थितमिति भासोक्तं सत्यमेव ॥ ३९ ॥
 तथापि शवस्य पार्श्वाभ्यां ऊर्वोर्मध्यात्कटिपार्श्वद्वयात् तथा
 शिरोऽसद्वयमध्याभ्यां च शृङ्गाणामनाच्छादनात्स लोकालोकपर्य-
 त ऊर्ध्वं लक्ष्यते इत्यत एवेत्यर्थः ॥ ४० ॥ एवं प्रश्नो-
 त्तमुक्त्वा कथाशेषमपि भासनापरिज्ञातं वसिष्ठ एवाह—
 तत्रेत्यादिना । तापादन्तःसंतापाच्छरद्वर्जतपाच्च ॥ ४१ ॥
 अधोवर्कं तच्छब्दं भूतौघे संभक्षयति सति ॥ ४२ ॥
 इदं वक्ष्यमाणं चिन्तयामासुः ॥ ४३ ॥ तदेवाह—हा कष्ट-
 मित्यादिना ॥ ४४ ॥ पुष्पराशीनां मण्डप इव स्थितो मलयः
 ॥ ४५ ॥ रुधिरं कर्त्रा हिमकृते शौक्ल्ये विषये रुपा कोपेनैव
 तदभिभवाय आत्मपङ्कतां स्त्रीयकर्मभावम् ॥ ४६ ॥ कौञ्च-
 नात्रो द्वीपस्य तले कौञ्चे गिरौ यः कल्पद्रुमोऽभूत् ॥ ४७ ॥
 पारिजातानां कमलायाश्चन्द्रस्यामृतस्य चोत्पादकत्वात्पते
 स्वामिन् हे क्षीरार्णव । नावनीता नवनीतभरिता ये शिखरिणस्तेषु
 प्रोज्ज्वलं वेलावनं यस्य तथाविधं हे दध्यर्णव, वेलास्ये नालिकेर-
 प्रधाने अनुक्रम्ये गिरौ गिरिके योगेश्वर्यां सेवितं हे मध्यर्णव,
 हा भवतां प्रलोकं शोच्यता इत्यर्थः । इदानीं क्व समुपैष्यथ
 स्फटिकादिरत्नखिलाभिर्वनितानां देवद्वीणां दिशां च दर्पणत्वं क्व
 वा गताः ॥ ४८ ॥ कल्पद्रुमेण काञ्चनीभिरमलभिर्लताभिश्च
 नि संघिनिरुपाधिर्वन्धः संबन्धो यस्य तथाविधः कौञ्चाचलो
 यस्मिन्तथाविधं हे कौञ्चद्वीप, त्वम् । तथा विरिञ्चिदंसनलिनी-

खादूदप्रतापावलकुसुममहीपावनानां वनानां
 गोमेघद्वीपकल्पद्रुमकनकलतासुन्दरीणां दरीणाम् ।
 शाकद्वीपाचलानाममरतरुवनैर्दशितानां सितानां
 स्मृत्यैवोदेति पुण्यं सुरपदसुखदं मानवानां नवानां
 मन्दानिलावलितपल्लवबालवल्ली-
 संतानभासितसमस्तदिगन्तराणि ।
 ध्वस्तानि तानि सकलानि वनानि कष्ट-
 माश्वासमेव्यति कथं जनता न जाने ॥ ५१
 कदा नु तानीक्षुरसाब्धितीरे
 घनानि खण्डाचलभूमिकासु ।
 द्रक्ष्येम भूयो गुडमोदकानि
 तथा कुमाराण्यपि शर्करायाः ॥ ५२
 कदम्बकल्पद्रुमशीतलेषु
 तालीतमालीसवनाचलस्य ।
 कदा नु तच्चन्दनसुन्दरीणां
 पश्येम नृत्तं कनकालयेषु ॥ ५३

गतानि कष्टं स्मरणीयरूपतां
 जम्बूद्रुमस्याग्रफलानि तान्यपि ।
 येषां नदीं द्वीपसमुद्रमेखला
 वहत्यसौ जम्बुमती रसाम्बुभिः ॥ ५४
 शिलीन्ध्रनीरन्ध्रमहीधरन्ध्र-
 क्षीवामरलीकृतगीतनृत्यम् ।
 संस्मृत्य संस्मृत्य सुरोदतीरं
 प्रागलमुर्वीव हृदावदीर्ये ॥ ५५
 पश्यासृगम्मसि नवार्णवमूर्ध्नि भासा
 सौवर्णपर्वतशताग्रशिखाः कचन्ति ।
 संध्यारुणा उदयनास्तमयावनीनां
 स्तोकोदितेन्दुकलिका इव दिङ्मुखेषु ॥ ५६
 तादृक्सागरवारिराशिवलया द्वीपान्तरालंकृता
 प्रोच्चाद्रीन्द्रनिविष्टवारिदघटानीलोत्पलानां स्थली ।
 स्रोतोजङ्गलकाननोग्रनगरग्रामाग्रहाराम्बरा
 नो जाने तरुपल्लवाङ्कुरवती कष्टं क याता मही ॥ ५७

इत्यार्षे श्रीवा० वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० शवोपाख्याने देवपरिदेवनवर्णनं नाम चतुर्विंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३४ ॥

मिश्र नीरन्ध्रं निविडितं दिग्जालं यस्य तथाविधः । तथा कद-
 म्बकाननदरीषु विश्रान्तानां विद्याधरीणां रतिक्रीडासु कोवि-
 दानां नागराणाममराणां च गृहभूत हे पुष्करद्वीपक, त्वं चेति
 युवां इह क यातः क्व गतौ ॥ ४९ ॥ खादूदस्य समुद्रस्य तदी-
 यानां उदग्रतार्प आवल्यन्ति निरुन्धन्ति तथाविधानां कुसु-
 मच्छजमहीपावनानां वनानाम् । तथा गोमेघद्वीपस्य तदीय-
 कल्पद्रुमाणां तत्रत्यकनकलतानां ताभिः सुन्दरीणां दरीणां ।
 तथा अमरतरुणां कल्पवृक्षाणां वनैर्दशितानां कञ्चुकितानां
 तत्पुष्पैः सितानां कौशद्वीपसहितानां तदचलानां चेति नवानां
 पदार्थानां स्मृत्यैव मानवानां सुरपदं स्वर्गस्तत्सुखदं पुण्यमुदेति
 ॥ ५० ॥ मन्दानिलैरावलितपल्लवा या बालवह्नयस्तद्युक्तैः संतानैः
 कल्पवृक्षमेदैर्मासितानि समस्तदिगन्तराणि येषां तानि तादृ-
 शानि सकलानि वनानि ध्वस्तानि भ्रमरानि । कष्टमिति खेदे ।
 अतः परमसमदादिजनता आश्वासं विश्रामं चित्तसमाधानं च
 कथमेव्यति न जाने इति तत्र कस्यचिदुक्तिः ॥ ५१ ॥ इक्षुरसा-
 ष्वेस्तीरे खण्डः शिलीभूतशर्करा तन्मयैरचलैर्भूषितासु महीषु
 तानि प्रतिद्रुमाधुर्याणि गुडमोदकानि कदा नु द्रक्ष्येम पश्येम
 द्रक्ष्याम इति वा । छान्दसो विकरणव्यत्ययः । तथा शर्करायाः
 कुमाराणि क्रीडार्याः पुत्रिका अपि कदा द्रक्ष्यामः ॥ ५२ ॥ ताली-
 तमालीभिः सवनस्य तदचलस्य कदम्बैः कल्पद्रुमैश्च शीतलेषु
 कनकालयेषूपविष्टाः सन्तस्तत्प्राग्बहुशोऽनुभूतं चन्दनलिसानां
 सुन्दरीणामप्सरसां नृत्तं चन्दनलतालक्षणानां सुन्दरीणां नृत्तं
 वा कदा नु पश्येम । आशंसायां लिङ् ॥ ५३ ॥ जम्बूद्रुमस्य
 यो० वा० १७५

तानि गजप्रमाणत्वेनामृतरसत्वेन जाम्बूनदस्पर्शहेतुत्वेन च
 प्रसिद्धान्यग्रफलानि स्मरणीयरूपतां गतानि । कष्टमिति खेदे ।
 येषां फलानां रसाम्बुभिः प्रभवां नदीं द्वीपाः समुद्राश्च मेखला
 यस्यास्तथाविधा असौ जम्बुमती जम्बूद्वीपरूपा मही वहति
 ॥ ५४ ॥ तथा शिलीन्ध्रनीरन्ध्राणां निरवकाशीकृतानां महीध्राणां
 रन्ध्रेषु गुहासु क्षीवाभिर्मधुमत्ताभिरमरलीभिः कृतं गीतसहितं
 नृत्यं यस्मिंस्तथाविधं सुरोदस्य समुद्रस्य तीरे पुनः पुनः संस्मृत्य
 प्राक् प्रातःकाले अञ्जं पद्ममिव संप्रति उर्वीव च अहं हृदा
 अवदीर्ये । विदारणं प्राप्नोमीत्यर्थः ॥ ५५ ॥ हे मित्र, असृग-
 मम्मो यस्य तथाविधे नवस्य अभिनवस्यार्णवस्य मूर्ध्नि उपरि-
 भागे सौवर्णानां मेर्वादीनां पर्वतशतानामग्रशिखाः शृङ्गाणि
 उत्तरादिदिङ्मुखेषु उदयास्तमयावनीनां सूर्योदयास्तमयसंनिहि-
 तभूमीनां संध्याभ्यामरुणाः स्तोकोदिता इन्दुकलिका इव भासा
 कचन्ति दीप्यन्ते त्वं पश्य ॥ ५६ ॥ तादृशा वर्णितप्रकाराः
 सागररूपा ये वारिराशयो जलसमूहास्ते वलया इव यस्याः ।
 द्वीपान्तरैर्द्वीपमेदैरलंकृता । प्रोच्चेष्वद्रीन्द्रेषु अर्थास्तनप्रायेषु
 निविष्टानामम्बुदघटालक्षणां नीलोत्पलमालानां स्थली आधा-
 रभूता तद्भूषितेति यावत् । स्रोतांसि नद्यो जङ्गलानि काननानि
 भटैरुग्राणि नगराणि ग्रामा अग्रहारा ब्राह्मणग्रामाध्वाम्बराणि
 यस्याः । तरुपल्लवाङ्कुरादिभूषणवती मही संप्रति क याता नो
 जाने । कष्टमिति खेदे ॥ ५७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे देवपरिदेवनवर्णनं नाम चतुर्विं-
 शदधिकशततमः सर्गः ॥ १३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

मत्तेन भूतवृन्देन किञ्चिच्छेषीकृते शवे ।
 इदमूचुः पुनर्दिक्षु गिरौ देवाः सवासवाः ॥ १ ॥
 विद्याधरामरविहारविमानभूमा-
 वप्यास्तृतान्यशिशिरीकरणाय भूतैः ।
 मेदोमयानि पवनप्रसृतामलाभ्र-
 खण्डाञ्चिताम्बरसमान्युरुजालकानि ॥ २ ॥
 द्वीपेषु सतस्वपि पश्य मेदो-
 जलानि भूतैः प्रविसारितानि ।
 भुक्तं च मांसं रुधिरं च पीतं
 किञ्चिद्भूता संप्रति दृश्यतां भूः ॥ ३ ॥
 मेदःपटैरावलिताखिलाङ्गी
 कष्टं स्थिता संप्रति मोदना भूः ।
 मेदोमयैः शारदमेघजालैः
 सकम्बलानीव वनानि भान्ति ॥ ४ ॥
 पश्यैतानि तदस्थीनि संपन्नानि महाद्रयः ।
 हिमाद्रिशिखराणीव स्थितान्यावार्य दिक्ततटम् ॥ ५ ॥
 इत्यार्षे श्रीवासि० वाल्मीकीये दे० मो० निर्वा० उ० अ० विप० शबो० शबोपशमो नाम पञ्चत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३५ ॥

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

देवेषु कथयत्स्वेवं कृत्वेमां मेदिनीं घराम् ।
 मेदोजालैः स भूतौघो मत्तो व्योम्नि ननर्त ह ॥ ६ ॥
 नृत्यत्सु भूतवृन्देषु शिष्टं रक्तं सुरैर्भुवः ।
 एकप्रवाहेणैकसिन्धुक्षितं मकरालये ॥ ७ ॥
 सुरार्णवं तमेवैनं संकल्पं विदधुः सुराः ।
 ततःप्रभृति सोऽद्यापि संपन्नो मदिरार्णवः ॥ ८ ॥
 भूतानि नृत्तमाकाशे तानि कृत्वा पिवन्ति ताम् ।
 मदिरां पुनराकाशे नृत्यन्त्यानन्दमन्दिरे ॥ ९ ॥
 पिवन्त्यद्यापि तानीव मदिरां मदिरार्णवात् ।
 खे नृत्यन्ति च भूतानि सह योरोध्वरीनणैः ॥ १० ॥
 तेषां तान्यथ भूतानां मेदोजालानि भूतले ।
 विस्तृतान्यवशुष्काणि स्थितातो मेदिनी मही ॥ ११ ॥
 इति कमाच्छान्तिमुपागते शवे
 पुनः प्रवृत्ते दिनयामिनीक्रमे ।
 प्रजाः ससर्जाश्च नवाः प्रजापतिः
 पुनः स सर्गोऽभवदत्र पूर्ववत् ॥ १२ ॥

पट्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३६

भास उवाच ।

अथाहं तं महादेवं पावकं पृष्ट्वानिदम् ।
 शुक्लपक्षतिकोणस्थः श्रूयतामवनीश्वर ॥ १ ॥
 भगवन्सर्वयज्ञेश स्वाहाधिप हुताशन ।
 किमिदं नाम संपन्नं कथ्यतां किमिदं शवम् ॥ २ ॥

भुक्ते मांसेऽत्र भूतौघैः पीते रक्ते च भूः कृता ।

मेदसा मेदिनी रक्तशेषेण भविरार्णवः ॥ १ ॥

दिक्षु स्थिते लोकालोकगिरौ स्थिता देवा इदं वक्ष्यमाणमूचुः
 ॥ १ ॥ विद्याधराणाममराणां च विहारार्थानां विमानानां संचार-
 भूमौ नभस्यप्यशिशिरीकरणाय भूतैर्देवीगणैर्मेदःप्रचुराणि पवन-
 प्रसृतैरमलैरभ्रखण्डैरचितेनाम्बरेण समानि उरुणि आभ्रजा-
 लकानि आस्तृतानि ॥ २ ॥ दृश्यतां दर्शनयोग्यताम् ॥ ३ ॥
 मोदनासर्वप्राणिप्रमोदप्रदा भूः संप्रति मेदःपटैरावलिताखिलाङ्गी
 सती स्थिता कष्टम् । वनानि च मेदोमयैः शारदमेघजालैः
 सकम्बलानि घूसरकम्बलसंवीतानीव भान्ति ॥ ४ ॥ तस्य शव-
 स्थास्थीनि ॥ ५ ॥ स भूतौघो देवीगणस्तुतः सन् इमां पीत-
 शिष्टमेदोजालैर्मेदिनीं मेदोलिप्तां कृत्वा मत्तः सन् व्योम्नि ननर्त ।
 हेति प्रसिद्धौ ॥ ६ ॥ एकप्रवाहेण संकल्पकृतेन सप्तानां मध्ये
 एकसिन्धुमकरालये समुद्रे निक्षिप्तम् ॥ ७ ॥ तमेवैनं समुद्रं
 संकल्पं विधाय सुरार्णवं विदधुः ॥ ८ ॥ तां तत्रत्यां मदिरां पिवन्ति
 ॥ ९ ॥ तानि भूतानीव अद्यापि इदानींतनान्यपि भूतानि

वह्निरुवाच ।

श्रूयतामखिलं राजन्यथावहर्णयामि ते ।
 त्रैलोक्यभासुपान्तशववृत्तान्तमक्षतम् ॥ ३ ॥
 अस्त्यनन्तमनाकारं परमं व्योम चिन्मयम् ।
 यत्रेमान्यर्पणस्थानि जगन्ति परमाणवः ॥ ४ ॥

तस्यान्मदिरार्णवैर्वान्मदिरां पिवन्ति खे नृत्यन्ति च ॥ १० ॥
 तेषां भूतानां तानि पीतशिष्टानि मेदोजालानि भूतले शुष्काणि
 अतो हेतोर्मेदी मेदिनीनाम्ना स्थिता ॥ ११ ॥ एवमादिलोऽपि
 देवैः पूर्ववत्स्वपदमारोपितः पर्वतादयश्च पूर्ववत्कृता इति सूच-
 यन्नाह—इतीति । इति उच्चात्कमाच्छवे शान्तिं क्वमुपागते
 सति सूर्यस्य स्वस्थानारोपणान्मेर्वादीनां चोद्धरणाद्दिनयामिनी-
 क्रमे पुनः प्रवृत्ते सति अथ प्रजापतिर्नवाः प्रजाः ससर्जा । अत्र
 भूतले सः सर्गः पूर्ववदभवत् ॥ १२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शबोपशमो नाम
 पञ्चत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३५ ॥

अग्निर्भासेन पृष्टोऽत्र शववृत्तान्तमादितः ।

असुरो मशकत्रैणो व्याधश्चेत्याद्यवर्णयत् ॥ १ ॥

अग्निवाहनस्य शुक्लस्य पक्षतिः पक्षमूलं तत्कोणस्थः । हे अव-
 नीश्वर दशरथ ॥ १ ॥ यदिदमिदानीं शवं नाम संपन्नं तत्पूर्वं
 किं किनिमित्तं च तथा संपन्नमिति द्वौ प्रश्नौ ॥ २ ॥ तत्राद्यभ्र-
 खोत्तरं वह्निः भावयति—श्रूयतामित्यादिना ॥ ३ ॥ तत्रादौ

शुद्धचिन्मात्रनभसि तस्मिन्सर्वगते कश्चित् ।
 सर्वात्मन्युदभूत्संवित्संवेदनमयी स्वयम् ॥ ५
 सा तेजःपरमाणुत्वमपश्यद्वेदनावशात् ।
 भावितार्थात्मकतया स्वप्ने त्वमिव पान्थताम् ॥ ६
 परमाणुरसंवित्त्वादपश्यदणुतां स्वयम् ।
 भास्वतीं पद्मजरजस्तुल्यां संकल्पनात्मिकाम् ॥ ७
 सोच्छूनतां भावयन्ती पुनरप्यभवत्स्वयम् ।
 चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वपुष्यन्वभवत्स्वतः ॥ ८
 अपश्यदग्रे च जगच्चक्षुरादि स्वभावतः ।
 आधाराधेयवद्भूतमयं स्वप्नपुरं यथा ॥ ९
 असुरो नाम तत्रासीत्प्राणी मानी बभूव ह ।
 असत्यप्रतिभासात्म पितृमातृपितामहः ॥ १०
 दर्पोत्सिक्ततया तत्र कस्यचित्स महामुनेः ।
 यदा मृदितवानासीदाश्रमं शर्मभाजनम् ॥ ११
 मुनिः शापमदात्तस्य महाकारतयाश्रमः ।
 त्वया यन्नाशितो मृत्वा भव त्वं मशकोऽधमः ॥ १२
 स तच्छापहुताशोऽथ तस्मिन्नेव तदा क्षणे ।
 असुरं भस्मसाच्चक्रे जलमौर्वं इवानलः ॥ १३
 निराकारं निराधारमाकाशवलयोपमम् ।
 चित्तं किञ्चिदिवाचेत्यमासीच्चेतनमासुरम् ॥ १४
 तदेकत्वं ययौ साम्याद्भूताकाशेन चेतनम् ।

वक्ष्यमाणसंवेदनभावाद्यध्यासानां परममूलं ब्रह्मैवेति दर्शयति—
 अस्तीति । अपसंख्यान्यपगतसंख्यानि ॥ ४ ॥ संवेदनं विषया-
 कारं ज्ञानं तन्मयी ॥ ५ ॥ सा च स्वविषयतया तेजःपरमाणु-
 भावं स्वस्य वेदनास्वभाववशादेवापश्यत् । यथा त्वं पान्थं भावय-
 न्मुक्तः स्वस्यैव पान्थतां पश्यसि तद्वत् ॥ ६ ॥ असंवित्त्वादज्ञाना-
 वृतचित्त्वात्परमाणुः पद्मोत्पजरजस्तुल्यां भास्वतीं स्फुटं भास-
 मानाम् ॥ ७ ॥ सा च भास्वत्यणुतां वृद्ध्या सोच्छूनतां भावयन्ती
 सती अन्यचक्षुरादीनीन्द्रियाणि अन्वभवदनुभूतवती । ततस्त्वानि
 वपुषि संलग्नानीत्यन्वभवत् ॥ ८ ॥ चक्षुरादि च अग्रे शब्दस्पर्श-
 आदिगुणाधाराधेयवद्भूतमयं जगदपश्यत् ॥ ९ ॥ द्वितीयप्रश्न-
 विषयं निमित्तपरम्परं वर्णयितुमुपक्रमते—असुर इति । तत्र
 वेदनादिविषयान्ताध्यारोपरूपकार्यकरणसंघातानां मध्ये असुरो
 नाम जातिविशेषवान् कश्चित्प्राणी आसीत् । स च असुरस्व-
 भावादेव मानी अभिमानवान् बभूव ह किल । तस्य पितृमातृ-
 पितामहाः किं नासन् । आसन्नेव किंतु ते विदूरयपित्रादिवद-
 सत्यप्रतिभासात्मानो यस्य तयाविध इत्यर्थः ॥ १० ॥ असुरत्वा-
 देव दर्पेणोत्सिक्ततया आर्दीकृतचणकवदुच्छूनतया ॥ ११ ॥ महा-
 कारतया अतिस्थूलशरीरतया । अधमः अतिक्षुद्रः ॥ १२ ॥ १३ ॥
 तदा तदासुरं चेतनं किमासीत्तत्राह—निराकारमिति । अचेत्यं
 चित्तं सुषुप्तमूर्च्छितमिवासीत् ॥ १४ ॥ तदव्याकृतरूपं चेतनं
 भूताकाशेनैकत्वं ययौ । तद्भूताकाशं च स्वास्पदेन वायुनैकतां
 ययौ ॥ १५ ॥ चेतनवातः प्राणस्तदात्मा स एव देहलामे प्राणि-

तदास्पदेन तत्राथ वायुना चैकतां ययौ ॥ १५
 आसीच्चेतनवातात्माऽभविष्यत्प्राणिनामकः ।
 रजसा पयसा व्याप्तस्तेजसा नभसाणुना ॥ १६
 स पञ्चतन्मात्रमयश्चिन्मात्रलवकोऽणुकः ।
 स्पन्दमाप स्वभावेन व्योम्नि वातलवो यथा ॥ १७
 अथ तस्यानिलान्तस्थं चेतनं तद्वबुध्यत ।
 कालानिलजलैर्भूमौ बीजमङ्कुरकृद्यथा ॥ १८
 शुद्धशापविदन्तस्था मशकत्वविदास्य चित् ।
 वेधिता मशकाङ्गानि विदित्वा मशकोऽभवत् ॥ १९
 स्वेदजस्याल्पदेहस्य निःश्वासनिपतत्तनोः ।
 द्वे तस्य मशकस्येह दिने भवति जीवितम् ॥ २०
 श्रीराम उवाच ।
 प्राणिनासिह सर्वेषां योन्यन्तरज एव किम् ।
 समुद्भवः संभवति किमुतान्योऽपि वा प्रभो ॥ २१
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 ब्रह्मादीनां तृणान्तानां द्विधा भवति संभवः ।
 एको ब्रह्ममयोऽन्यस्तु भ्रान्तिजस्ताविमौ शृणु ॥ २२
 पूर्वरूढजगद्भ्रान्तिभूततन्मात्ररज्जनात् ।
 भूतानां संभवः प्रोक्तो भ्रान्तिजो हृदयसङ्गतः ॥ २३
 अमातायां जगद्भ्रान्तौ भूतभावः स्वयं भवन् ।
 यः स ब्रह्ममयः प्रोक्तः संभवो न स योनिजः ॥ २४

नामकोऽभविष्यत् । रजः पार्थिवो भागस्तदादिभूतचतुष्टयव्याप्तः ।
 अणुना अपञ्चीकृतेन ॥ १६ ॥ तत्र क्रियाशक्त्याविर्भावमाह—
 स इति ॥ १७ ॥ स्पन्देन लिङ्गदेहे ज्ञानशक्त्याविर्भावमाह—
 अथेति । वर्षादिकालः प्राच्योऽनिलो वर्षादिजलं चेत्येतैरङ्कुर-
 कृद्बीजं यथा उच्छूनभावेन व्यबुध्यत तद्वत् ॥ १८ ॥ शुद्धस्य
 मुनेः शापं वेत्तीति शुद्धशापवित् प्राणान्तं स्थिता स्वमशकत्व-
 विदारूपा अस्यासुरस्य चित् तत्संस्कारवेधिता सती मशका-
 ङ्गानि पक्षपादादीनि विदित्वा स्वयमेव मशकोऽभवत् ॥ १९ ॥
 कियोनिः कियत्कालं तस्य जीवनं तदाह—स्वेदजस्येति ।
 निःश्वासमात्रेणापि निपतत्युद्गीयते तनुर्यस्य । द्वे दिने जीवितं
 परमायुरभवदित्यनुषङ्गः ॥ २० ॥ स्वप्नवदेव जाग्रदित्यसकृ-
 द्भगवतोक्तम् । स्वप्नदेहस्य च न योनित उद्भवो दृश्यते, जाग्रदे-
 हस्य तु दृश्यते तद्दृष्टान्तेन जाग्रदेहवदेव सर्वत्र योनित एवोद्भ-
 वोऽस्तु उतान्यथापीति संदिहानो रामः प्रसङ्गादसिद्धं पृच्छति—
 प्राणिनामिति । विवर्तोपादानांशे ब्रह्ममयः । परिणाम्युपादा-
 नांशे योनिजः ॥ २१ ॥ २२ ॥ तत्र द्वितीयं लक्षयति—
 पूर्वैति । पूर्वं तद्योन्यनुभवरूढया तद्देहतादात्म्यदृढभ्रान्त्या तत्त-
 द्भूततन्मात्राणां रज्जनात्तदाकारेण भूतानां प्राणिनां यः संभवः
 स भ्रान्तिजः । 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविन-
 श्यति । यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ २३ ॥
 नित्यमुक्तब्रह्मणः कदाप्यभातायामेव जगद्भ्रान्तौ स्वयमेव
 विवर्ततया सर्गादौ जीवभावेन भवन् यश्चतुर्विधभूतभावः स

एवं स्थिते स मशको जगद्भ्रान्तिवशोत्थितः ।
 न तु ब्रह्मोत्थितस्तस्य राम चेष्टाक्रमं शृणु ॥ २५
 क्षमेक्षुशष्पकक्षादिपुञ्जगुञ्जेषु गुञ्जता ।
 स्त्रायुषोऽर्धं दिनं तेन सर्वं भुक्तं विवल्गता ॥ २६
 शाद्वलोदरदोलायां दोलनं बाललीलया ।
 चिरमारब्धमेतेन सार्धं मशिकया स्वयम् ॥ २७
 दोलाश्रमार्तस्तत्रासौ यावद्विश्राम्यति क्वचित् ।
 तावद्धरिणपादाग्रगिरिपातेन चूर्णितः ॥ २८
 हरिणाननसंदर्शत्यक्तप्राणतया तया ।
 पूर्वक्रमगृहीताक्षः स जातो हरिणस्ततः ॥ २९
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० अ० वि० श० मशकव्याधबोधनं नाम षट्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ ११३६ ॥

विहरन्हरिणोऽरण्ये व्याधेन धनुषा हतः ।
 व्याधाननगद्विष्टत्वात्संजातो व्याध एव सः ॥ ३०
 व्याधो घनेषु विहरन्संजातो मुनिकाननम् ।
 तत्र विश्रान्तवान्सङ्गान्मुनिना प्रतिबोधितः ॥ ३१
 भ्रान्तः किमिदमादीर्घदुःखाय धनुषा मृगान् ।
 हंसि पासि न कस्मात्त्वं तन्नं जगति मङ्गुरे ॥ ३२
 आयुर्वायुविषद्विताभ्रपटलीलम्याम्बुवद्भुजं
 भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामनीचञ्चलाः ।
 लोला यौवनलालना जलरयः कायः क्षणापायवा-
 न्पुत्र त्रासमुपेत्य संसृतिवशात्निर्वाणमन्विष्यतां ॥ ३३

सप्तत्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३७

व्याध उवाच ।

एवं चेत्तन्मुने ब्रूहि कीदृग्दुःखपरिक्षये ।
 न कर्कशो न च मुदुर्व्यवहारक्रमो भवेत् ॥ १
 मुनिरुवाच ।

इदानीमेव संत्यज्य धनुषा सह सायकान् ।
 मौनमाचारमाश्रित्य शान्तदुःखमिदोष्यताम् ॥ २

ब्रह्ममय इत्यर्थः ॥ २४ ॥ स च आजानसिद्धैः कपिलसनकादि-
 भिरैवानुभूयते नास्मैशकादिभिरिति भ्रान्तिज एव प्रकृतो
 मशकसंभव इत्याशयेनाह—एवमिति । भासोपक्रान्तकथाशेषं
 वसिष्ठः स्वयमेवोत्साहाच्छावयति—तस्येति ॥ २५ ॥ क्षमाया
 भूमौ इक्षुगुल्मेषु शष्पेषु बालतृणेषु काशमुञ्जादिकक्षादिपुञ्जेषु
 च गुञ्जन्ति अव्यक्तध्वनिं कुर्वन्ति ये मशकास्तेषु स्वयमपि गुञ्जता
 तथा ध्वनता विवल्गता क्रीडता तेन मशकेन दिनद्वयात्मकस्य
 स्त्रायुषोऽर्धमेकं दिनं सर्वं भुक्तम् ॥ २६ ॥ ततो द्वितीयदिन-
 चेष्टामाह—शाद्वलेति । मशिकया भार्यया सार्धम् ॥ २७ ॥
 हरिणपादाग्रमेव मशकद्वारा गिरिस्तत्पातेन ॥ २८ ॥ आनन-
 ग्रहणेन संपूर्णो हरिणाकारो लक्ष्यते । तस्य यः सदृशः सम्य-
 क्करणकाले भावनं तेन त्यक्तः प्राणो येन ततया । पूर्वं मशक-
 देहग्रहणे उक्तो यः क्रमस्तेनैव क्रमेण गृहीतान्यक्षाणि बाह्या-
 न्तःकरणानि येन ॥ २९ ॥ ३० ॥ सञ्ज्ञात् सत्सङ्गलसभाभ्यात्
 ॥ ३१ ॥ किं प्रतिबोधितस्तदाह—भ्रान्त इत्यादिना । तन्नं
 महाफलमहिंसाभयदानादिशालमर्यादा कस्मात् पासि ॥ ३२ ॥
 व्याधकुलाचारप्राप्ता जीविका मृगवधस्तत्प्रागे कथं जीवनं कथं
 वा भोगसिद्धिस्तत्राह—आयुरिति । न जीवन भोगा वा पुरु-
 षार्थः । हिंसादिना तत्संपादने अनन्तकालभोग्यस्य पारलौकि-
 कानर्थस्यावश्यंभावात् । आयुषो न ह्यमङ्गुरत्वमस्ति येन तदप्र-
 सक्तिः । यत् आयुर्वायुविषद्विताभ्रपटलीषु लोलं यदम्बु तद्व-
 द्भ्रमम् । तत्र भोगास्तु मेघवितानस्य मध्ये विलसन्ती या सौदा-

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

इति संबोधितस्तेन परित्यज्य धनुःशरान् ।
 आसीन्मुनिसमाचारस्तत्रैवायाचित्ताशनः ॥ ३
 विवेश मनसा मौनी ततः शालविवेकिताम् ।
 दिनैरेव यथा पुष्पमामोदेन नराशयम् ॥ ४
 अपृच्छन्मुनिशार्दूलं कदाचित्तमरिन्दम ।
 भगवन्द्दश्यते स्वप्नः कथमन्तर्दहिः स्थितः ॥ ५

मनी विद्युत्तद्वच्चञ्चलाः । तद्योग्या यौवनलालना यौवनविल-
 सास्तु जलस्य रयो वेग इव लोलाः । कायो भोगायतनं च क्षणे
 अपायवान् संभावितापायः । हे पुत्र, व्यतो हेतोः पारलौकिक-
 भाग्यनर्थपरम्परालक्षणसंसृतिवशात् त्रासमुपेत्य भयभयदानाहिं-
 सायुपायैरात्यन्तिकानर्थविवृत्त्युपलक्षितमित्यनिरतिशयानन्दरूपं
 निर्वाणं ब्रह्म अन्विष्यतां गुरुशास्त्रोपायेनेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 मशकव्याधबोधनं नाम षट्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ ११३६ ॥

व्याधेन पृष्टोऽत्र मुनिर्धारणाभ्यासतः स्वयम् ।

परकायप्रवेशेन तत्स्वप्नं दृष्टमवधीत् ॥ १ ॥

एवं हिंसादिव्यवहारो दुःखहेतुश्चेत्तर्हि दुःखपरिक्षये हेतु-
 भूतो व्यवहारक्रमः कीदृग्मवेत्तद्ब्रूहि ॥ १ ॥ मुनीनामाचार-
 क्रम एव दुःखक्षयहेतुस्तत्सहवासेन शिक्षणीय इत्याशयेनो-
 त्तरं मुनिराह—इदानीमेवेति । मौनं मुनिषु प्रसिद्धं यम-
 नियमविचाराद्याचारमाश्रित्य ॥ २ ॥ तत्र वसिञ्जाश्रम एव ॥ ३ ॥
 ततः सत्सङ्गाच्छात्रप्रसिद्धां सारासारविवेकशीलतां विवेश ।
 यथा पुष्पं मुकुलपरिपाकविकासविक्रमोद्भवेनामोदेन नराणामा-
 शयं हृदयं ह्लादयद्विशति तद्वत् ॥ ४ ॥ एवं सजातविवेकः स
 व्याधः कदाचित् मुनिशार्दूलमपृच्छत् । हे अरिन्दमेति दशर-
 थसंबोधनम् । किमपृच्छत्तदाह—भगवन्निति । हे भगवन्,
 प्राणिनामन्तःस्थितः स्वप्नो जाग्रदिव बहिः कथं दृश्यते । बहिः
 स्थितश्च प्रपञ्चः स्वप्नः सन्, कथमन्तर्दृश्यते । प्राण्यन्त-

मुनिरुवाच ।

ममपि साधो प्रथममेष एव विवेकिनः ।
 पुरा चित्ते वितर्कोऽभूत्कुतोऽप्यभ्रमिवाम्बरे ॥ ६
 तत एतद्दिदृक्षार्थमहमभ्यस्तधारणः ।
 बद्धपद्मासनस्तस्यां संविद्येवाभवं स्थिरः ॥ ७
 तत्रस्थो दूरविक्षिप्तं तयैवाहृतवानहम् ।
 चेतः खट्वदयं सायं रुचेव रविरातपम् ॥ ८
 वेदनेरणया प्राणस्ततश्चित्तान्वितो मया ।
 शरीराद्रेचितो बाह्ये सौरभं कुसुमादिव ॥ ९
 व्योमस्थचित्तबलितः स प्राणपवनो मया ।
 अग्रस्थस्य मुखाग्रस्थे जन्तोः प्राणे नियोजितः ॥ १०
 यः प्राणबलितः प्राणस्तेन नीतो हृदन्तरम् ।
 स्नेहया स्वं स्वकः सर्पः करभेणेव हिंसितः ॥ ११
 ततोऽहं हृदयं तस्य प्रविष्टः प्राणवाजिना ।
 संकटस्थः स्वया बुद्ध्या तावेवानुसरोन्तरम् ॥ १२
 चरद्द्रुसामिर्बद्धीभिर्नाडीभिरमितो वृतम् ।
 कुल्याभिः स्थूलतन्वीभिर्बाह्यदेशमिवाखिलम् ॥ १३

गतः स्वप्नः कथं केनोपायेन दृश्यते । एवमन्तर्बहिः स्थितः प्रपन्नः स्वप्नः कथं दृश्यते । स्वप्न एव चेतप्रपन्नस्तर्हि अन्तर्बहिरिति द्विधा स्थितः कथं दृश्यते । इत्यनेकसंदेहसंपिण्डिताः पञ्च तन्त्रेण प्रश्नाः ॥ ५ ॥ बहुतरवितर्कगर्भितं प्रश्नं श्रुत्वा मुनिः स्वस्याप्येतादृशो वितर्कः कोमलविवेकदशायामभूत्स च मया धारणाभ्यासेन स्वयमेव परकायप्रवेशेन तदीयस्वप्नादि पुनः पुनरवलोक्यानव्यव्यतिरेकाभ्यां चिरं परीक्षणेन तत्त्वमवगम्य समाहित इति कथां विस्तरेण तृतीयप्रश्नोत्तरमुखेन वक्तुं मुनिरुपक्रमते—ममापीत्यादिना ॥ ६ ॥ अभ्यस्ता परकायप्रवेशानुकूला बहिःकुम्भकधारणा येन । तस्यां सर्वजनानामात्मत्वेन प्रसिद्धायां संविद्येव स्थिरोऽभवम् ॥ ७ ॥ तत्र तस्यां संविदि स्थितोऽहं दूरविक्षिप्तं चेतस्तयैव संविदा प्रत्याहृतवान् । यथा सायं रविः खरुचा मण्डलकान्त्यैवातपं प्रत्याहरति तद्वत् ॥ ८ ॥ वेदनं प्राणान्तर्गता चित्तदीरणया जीवस्य प्राणेन सह बहिर्निर्गमनानुकूलेन योगशास्त्रप्रसिद्धप्रयत्नेन चित्तं जीवोपाधिस्तदन्वितः प्राणः शरीराद्बाह्ये देशे रेचितो रेचकेन निःसारितः ॥ ९ ॥ ततः परकायप्रवेशोपायं खट्वतमाह—व्योमस्थेति । बाह्यव्योमस्थेन चित्तेन जीवोपाधिना संवलितः स प्राणपवनो मया अग्रे पुरोभागे स्थितस्य कस्यचिज्जन्तोश्छात्रस्य प्राणे नियोजितो मेलितः ॥ १० ॥ मदीयप्राणबलितो यस्तस्य जन्तोः प्राणस्तेन तदीयं हृदन्तरमहं नीतः । यथा करभेण मल्लकेन बिले मुखं निवेश्य बलान्मुखवायुना आकर्षणलक्षणेन स्नेहया स्वचेष्टया स्वकः स्वाहारभूतः सर्पः स्वमुखं प्रवेश्य हिंसितः सन् खट्वदयं नीतस्तद्वत् ॥ ११ ॥ तदीयप्राणलक्षणेन वाजिना अश्वेन तौ परस्परसंवलितौ प्राणावेवानुसरतीत्यनुसरोऽहमन्तरं तद्देहमध्यं

पशुकापञ्जरप्लीहयकृद्रक्तादिडिम्बकैः ।
 संकटं जीवसदनं भाण्डोपस्करणैरिव ॥ १४
 सर्वैः शलशलायद्भिरुष्णैरवयवैर्वृतम् ।
 निदाघतापसंतप्तैरुर्मिजालैरिवार्णवम् ॥ १५
 नवं नवं बहिःशैलं नासाग्राच्चेतनात्मकम् ।
 जीवनायानिशं चेतो वातोन्नीतमनारतम् ॥ १६
 रक्तकुट्टरसंश्लेषमवसानिःस्त्रावपिच्छिलम् ।
 घनान्धकारमुष्णं च संकटं नरकोपमम् ॥ १७
 उदयावयवाश्लेषस्पष्टास्पष्टमरुद्रतैः ।
 स्थित्यन्तानां तु वैषम्यादागामिगदसूचकम् ॥ १८
 दरत्सरभसच्छिद्रावातवातेन शब्दितम् ।
 पद्मनालप्रणालान्तर्ज्वलदर्णववाडवम् ॥ १९
 मिलत्पदार्थनीरन्ध्रं सितमच्छं सवायुभिः ।
 क्वचित्सौम्यं क्वचित्क्षुब्धं चोरैरिव पुरं निशि ॥ २०
 रसनादपरैर्नाडीमार्गविद्याधराध्वगैः ।
 संचरद्भिर्वृतं वातैराकारार्धाधर्मीतिभिः ॥ २१

प्रविश्य स्वया बुद्ध्या वक्ष्यमाणसंकटस्थः अभवमिति शेषः ॥ १२ ॥ १३ ॥ संकटतां प्रपन्नयति—पशुकैल्यादिना । पशुकाः पार्श्वस्थीनि तल्लक्षणे पञ्जरे प्लीहयकृती मांसविशेषौ । डिम्बकैः पिण्डकैः । जीवस्य सदनं गृहभूतं तच्छरीरम् ॥ १४ ॥ शलशलेति जाठरानलकथनध्वन्यनुकरणम् ॥ १५ ॥ पुनः क्रीदशं तज्जीवसदनम् । जीवनाय चेतसा प्राणादिवातैश्चानारतमुन्नीतम् । तत्र बहिष्ठस्य सोमात्मकस्यापानस्य नासाग्रादन्तःप्रवेशे नवं नवमन्तःप्रविशद्बहिःशैलं यस्य । अत एव चेतनात्मकम् ॥ १६ ॥ रक्तं कुट्टन्ति नाडीमार्गैर्भ्यो विच्छिन्दन्ति तथाविधा येऽन्नरसाः श्लेष्मादयश्च तेषां निःस्त्रावैः पिच्छिलम् ॥ १७ ॥ रक्तसंश्लेषपित्तानां द्वासप्ततिसहस्रनाडीमेदेषु क्वचिदुदयैः क्वचिदवयवेषु आश्लेषैश्च क्वचित्संचारसौकर्यात्स्पष्टानां क्वचिन्मार्गनिरोधादस्पष्टानां च प्राणादिमस्तां रतैः क्रीडितैः सप्तधातुस्थितानामन्तानां तन्नाशानां च वैषम्यादागामिनां गदानां रोगाणां स्वप्नादिषु सूचकम् ॥ १८ ॥ दरन्ति सरभसानि यान्यपानादिच्छिद्राणि तेषावातेन निर्गतेन वातेन शब्दितं संजातशब्दं हृदयपद्मनालस्य प्रणालं छिद्रं तदन्तर्ज्वलन् अर्णववाडव इव जाठराभिर्यस्मिन् । तथा चोक्तं महोपनिषदि—‘पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्’ इत्युपक्रम्य ‘तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्य मध्ये बहिर्बहिः अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता’ इति ॥ १९ ॥ मिलद्भिर्वासनामयैः पदार्थैर्नारन्ध्रं निबिडितम् । सवायुभिरिन्द्रियैः सितं बद्धम् । साक्ष्यात्मस्वभावेन तु अच्छम् । चित्तवृत्तिभेदैः प्रदेशभेदैश्च क्वचित्सौम्यं क्वचित्क्षुब्धम् ॥ २० ॥ कोष्ठगतानामन्नरसानां नादे ध्वनने तत्परैरत एव नाडीमार्गेषु गायद्विद्याधराध्वगप्रायैः संचरद्भिर्वर्तितम् ।

तदहं हृदयं जन्तोराविशं विपमान्तरम् ।
 नरोऽवयवसंवाधं नरवृन्दमिवाधिकः ॥ २२
 अनन्तरमहं प्रातस्तेजोधातुं हृदन्तरे ।
 दूरस्थमिव यत्नेन रात्राविन्दुमिवाकर्षकम् ॥ २३
 यस्मात्त्रिभुवनादर्शो दीपस्त्रैलोक्यवस्तुषु ।
 सत्ता सर्वपदार्थानां जीवस्तत्रावतिष्ठते ॥ २४
 काये सर्वगतो जीवः स्वामोदः कुसुमे यथा ।
 तथाप्योजसि किञ्जल्कैर्मुखे शैत्यं विवस्वता ॥ २५
 तज्जीवाधारमोजस्तु प्रविष्टोऽहमलक्षितम् ।
 रक्षितं परितः प्राणैर्वातैः प्रच्छादनं यथा ॥ २६
 ततोऽञ्जः संप्रविष्टोऽहमामोद इव मारुतम् ।
 उष्णांशुरिव शीतांशुं मृत्पात्रमिव वा पयः ॥ २७
 द्वितीयेन्द्रशुसंकाशे शुक्लाभ्रलवपेलवे ।
 नवनीतगुडप्रख्ये क्षीरबुद्बुदसुन्दरे ॥ २८
 तत्र पश्याम्यहं तिष्ठन्प्रवेशव्यग्रयोज्झितः ।
 स्रौजसीव वसनस्वप्न इव विश्वमखण्डितम् ॥ २९
 सार्कं सपर्वतं साग्धि ससुरासुरमानवम् ।
 सपत्नवनाभोगं सलोकान्तरदिबुधम् ॥ ३०

द्विमात्र आकारस्तदर्थमेकमात्रस्तदर्थोर्ध्वमात्रश्च गीतिषु घेषाम् ।
 गीतिमात्रस्य वातसाध्यत्वादिति भावः ॥ २१ ॥ यथा अधिक-
 श्रेष्ठो नरो नरावयवैः संवाधं निरवकाशं नरवृन्दं विशति तद्वत् ॥ २२ ॥ तेजोधातुं जठरामिलक्षणस्य तेजसः सार तेजोबुधोऽहं
 यत्नेन प्राप्तः । यतः समीपस्थमपि बहुतरनादीनार्गप्राप्यत्वाद्दूर-
 स्थमिव । यथेन्द्ररात्रौ अर्कः कुसुमं प्राप्नोति तद्वत् । तथा च श्रुतिः —
 'एतद्वि ब्रह्म दीप्यते यदादित्यो दृश्यते । अथैतन्निव्रियते यत्र
 दृश्यते । तस्य चन्द्रमसमेव तेजो गच्छति' इति ॥ २३ ॥ तस्य
 तेजःसारत्वं कुतस्त्राह—यस्मादिति । यस्मादेतौ त्रिभुवन-
 स्याप्यन्तर्भानादादर्शभूतत्रैलोक्यवस्तुषु दीपवत्प्रकाशको जीव-
 स्तद्वेपः परमात्मा तत्र तस्मिन्नेजस्यवतिष्ठते । तथा च श्रुतिः
 'तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता । तस्या शिखाया
 मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः । स ब्रह्म स शिवः सोऽजः सोऽक्षरः
 परम खराट्' इति ॥ २४ ॥ ननु 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः'
 इत्यादिश्रुतिषु सर्वदेहगतो जीवः श्रूयते, तत्कथं तेजोघातावेव
 सोऽवतिष्ठते तत्राह—काये इति । यद्यपि सर्वगत आत्मा
 जीवः सन्काये आनखाग्रं प्रविष्टस्तथापि ओजसि तेजोधातो
 विशेषतोऽवतिष्ठते । यथा विवस्वता विकासिते कुसुमे सर्वग-
 तोऽपि स्वामोदः शैत्यं च किञ्जल्कैरुपलक्षिते तन्मुखे विशेषतोऽ-
 वतिष्ठते तद्वद्विषयः ॥ २५ ॥ परितः प्राणैः करणाभिमानिभिर्देवैः
 परितश्चतुर्ष्वपि द्वापु रक्षितम् । यथा घटादिप्रच्छादनं दीप-
 प्योतिः सूदनघटच्छिद्रप्रविष्टैर्वै रक्ष्यते तद्वत् । आलम्बि-
 तच्छिद्रमपि वाने दीपनासादर्शनादिति भावः ॥ २६ ॥ ततोऽहं अञ्जः
 साक्षात्तजीवोपाधिभूतं मनोमयविज्ञानमयकोशसवलितमानन्द-
 मयकोशं संप्रविष्टः । तद्व्याप्तानाह—आमोद इवेत्यादिना

सद्दीपसागराम्भोधि सकालकरणक्रमम् ।
 सकल्पक्षणसर्वतु सहस्रावरजंगमम् ॥ ३१
 तत्सम्प्रदर्शनं तत्र स्थिरमेव समं स्थितम् ।
 वसाम्यत्येव निद्रान्ते निद्राऽन्ते नागता यतः ॥ ३२
 अनिद्र एव किं स्वप्नं पश्यामीति मया ततः ।
 परिचिन्तयता ज्ञातमिदं व्याध विबोधिना ॥ ३३
 ननु नामास्य चिद्धातोः स्वरूपमिदमैश्वरम् ।
 खं यद्यपदिशत्येव जगन्नाम्नामवरात्मकम् ॥ ३४
 चिद्धातुर्यत्र यत्रास्ते तत्र तत्र निजं वपुः ।
 पश्यत्येव जगद्रूपं व्योमतामेव चात्यजत् ॥ ३५
 अहो त्वद्येदमाज्ञातं यदित्थं दृश्यते जगत् ।
 तत्कथ्यते स्वप्न इति स्वचित्कचनमात्रकम् ॥ ३६
 चिद्धातोर्यत्प्रकचनं तर्कितित्स्वप्न उच्यते ।
 किञ्चिच्च जाग्रदित्युक्तं जाग्रत्स्वप्नौ तु न द्विधा ॥ ३७
 स्वप्नः स्वप्नो जागरयामेव स्वप्ने तु जागरा ।
 स्वप्नस्तु जागरैवेति जागरैव स्थिता द्विधा ॥ ३८
 चेतनं नाम पुरुषः स मृतेषु शतेष्वपि ।
 शरीरेषु महाबुद्धे कथं कस्य कदा मृतः ॥ ३९

॥ २७ ॥ तत्र स्वप्न एव स्नेहानन्दयोर्दर्शनावननीतगुडप्रख्ये
 ॥ २८ ॥ पूर्वस्थानेष्विव प्रवेशयुक्त्या व्यग्रया धान्स्या उज्झितः
 सन् स्वस्य हृदि स्थिते ओजसीव स्वस्थो वसन् स्वीयस्वप्न इव
 तदीयस्वरूपमखण्डितं विश्वं पश्यामि ॥ २९ ॥ तद्विषयेव
 विशिनिष्टि—सार्कमित्यादिना ॥ ३० ॥ ३१ ॥ स्थिरमनादिप्रवाह-
 स्थितमेव प्रसिद्धजगत्समं स्थितम् । अहं निद्रान्ते जागरे अति-
 शयेन वसाम्येव । यतो निद्रा अन्ते जाग्रदवसाने नागतैव
 ॥ ३२ ॥ तथापि स्वप्नं किं पश्यामि इति परिचिन्तयता हे
 व्याध, ततस्तदनन्तरं विबोधिना प्रबोधवता मया इदं वक्ष्य-
 माणं ज्ञातम् ॥ ३३ ॥ किं ज्ञातं तदाह—नन्विमि । नामेति
 विवेकिप्रसिद्धौ । अस्य चिद्धातोः प्रलगात्मन इदमैश्वर रूपम् ।
 कीदृशम् । एष ईश्वरः अम्बरात्मकं खं घट इति वा पट इति
 वा जगदिति वा जीव इति वा यदाहशनामरूपं व्यपदिशति
 स्वयं तत्तज्जगन्नाम्ना भवति ॥ ३४ ॥ किं तात्त्विकं रूपं विहाय
 नेत्याह—व्योमतामिति । अत्यजदेव ॥ ३५ ॥ इदमेव स्वप्न
 इति जनैः कथ्यत इति अथ आ ज्ञातं अहो । आ इति सारणे
 अटित् ॥ ३६ ॥ जाग्रदपि तत्त्वतो विमृष्टमिदमेव पर्ववत्-
 तीत्याह—चिद्धातोरिति ॥ ३७ ॥ अनयोः परस्परदृशा स्वप्न-
 त्वमेव स्वप्नदृशा तु जागरत्वमेवेत्याह—स्वप्न इति । स्वप्ने तु
 जागरा एषः स्वप्न एव । स्वप्नस्तु स्वदृश्या जागरैवेति यदा
 स्वदृश्या दृश्यते तदा जागरैव द्विधा स्थितेति पर्यवसन्नमित्यर्थः
 ॥ ३८ ॥ ननु मरणं तर्हि स्वप्नजागराभ्यामतिरिक्तं किं स्यात्-
 त्नाह—चेतनमिति । नास्त्येव मरणं नाम किञ्चित् । यत्
 पुरुषचेतनम् । भावे त्सुद् । चिन्मात्रमेव । स चानेकशतेषु

तच्चेतनं खमेवास्ति स्थितं तद्देहवत्कचत् ।
 अनन्तमविभागात्म प्रतिधाप्रतिधात्मकम् ॥ ४०
 स्वभावस्याप्रतिघस्य नित्यानन्तोदितात्मनः ।
 परमाणोश्चिदाख्यस्य मज्जा जगदिति स्मृतः ॥ ४१
 चिद्योऽस्य उदरे भान्ति समस्तानुभवाणवः ।
 तथा यथावयविनो विचित्रावयवाणवः ॥ ४२
 निवृत्तो बाह्यतो जीवो जीवाधारे हृदि स्थितः ।
 रूपं स्वं स्वप्नसर्गोऽयमिति वेत्ति चिदाकचान् ॥ ४३
 बाह्योन्मुखं बहिर्जाग्रच्छब्दितं कचित्तं स्वकम् ।
 रूपं पश्यति जीवोऽयमन्तस्थं स्वप्न इत्यपि ॥ ४४
 द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
 प्रसृतो जीव इत्यन्तर्बहिश्चैकात्मकः स्थितः ॥ ४५
 अर्कोऽर्कबिम्बसंस्थोऽपि यथेहापि स्थितस्त्विषा ।
 तथा जीवो जगद्रूपो बहिरन्तश्च संस्थितः ॥ ४६
 अन्तःस्वप्नो बहिर्जाग्रदहमेवेति वेत्ति चेत् ।
 चिदात्मको यथाभूतं मुच्यते तदवासनः ॥ ४७
 अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमपि जीवोऽन्यथा वदन् ।
 द्वैतसंकल्पयक्षेण मुह्यत्येव शिशुर्यथा ॥ ४८
 अन्तर्मुखोऽन्तरात्मानं बहिः पश्यन्बहिर्मुखः ।
 आस्ते जीवो जगद्रूपं यत्स्वन्ते स्वप्नजाग्रती ॥ ४९
 इति चिन्तयतः किं स्यात्सुषुप्तमिति मे मतिः ।

शरीरेषु मृतेष्वपि कदा मृतः कस्य मृतः कथं मृतस्त्रेधापि
 तदप्रसिद्धेरित्यर्थः ॥ ३९ ॥ अभ्युपेत्य शरीरं तन्मरणं चेदमु-
 क्षम् । वस्तुतस्तु तदुभयमपि नास्तीत्याह—तदिति । प्रतिह-
 न्यत इति प्रतिधा मूर्ताकारस्तद्विलक्षणस्त्वप्रतिधा तदात्मकं च
 भ्रान्त्येवेत्यर्थः ॥ ४० ॥ तत्र अप्रतिधात्मता स्वभावस्तादृगा-
 त्मनश्चिदाख्यस्य परमाणोर्मज्जा सार एव भ्रान्त्या देहवज्जग-
 दित्यपि स्मृतः ॥ ४१ ॥ मज्जालमेवोपपादयति—चिद्योऽस्य
 इति । जगद्भ्रान्त्यनुभवलक्षणा अणवः ॥ ४२ ॥ प्रथमतृतीयप्रश्नौ
 समाहितौ, द्वितीयं प्रश्नं समाधत्ते—निवृत्त इति । बाह्यतो
 जाग्रतो जाग्रद्भोगप्रदकर्मोपरमे निवृत्तः सन् स्वं रूपमेव बाह्य-
 संस्कारानुरोधेन बाह्यः स्वप्नसर्गोऽयमिति चिदाकचान् चिद्वि-
 वर्तनेव वेत्ति ॥ ४३ ॥ यदा चित्तं बाह्योन्मुखं तदा स्वकं
 रूपं जाग्रच्छब्दितं कचित्तम् । यदा अन्तस्थं चित्तं तदा अयं
 जीवः स्वकं रूपं स्वप्न इत्यपि पश्यति ॥ ४४ ॥ चतुर्थपञ्चमप्रश्नयो-
 रन्तरमाह—द्यौरिति । एकात्मक एव जीवो बहिरन्तश्च द्यौः
 क्षमेत्यायात्मकः प्रसृतः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ अत एव सर्वात्म-
 ताया एव तात्त्विकत्वात्तथा परिज्ञानादेव मुच्यत इत्याह—
 अन्तरिति । यथाभूतं यथार्थम् । भूमिकामेदपरिपाकक्रमेणा-
 वासनः सन् मुच्यते ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ अन्तरात्मानं स्वमन्तर्ज-
 गद्रूपं पश्यन् स्वप्न एवं बहिर्जगद्रूपं पश्यन् जाग्रच्च स्वयमे-
 वास्ते ते एवास्व स्वप्नजाग्रती ॥ ४९ ॥ प्रसृज्जात्सुषुप्तिपुरीय-

जाता तेन सुषुप्तांशमन्वेष्टुमहमुद्यतः ॥ ५०
 यावर्त्तिकं दृश्यदृष्ट्यान्तस्तूर्णीं तिष्ठाम्यहं चिरम् ।
 निश्चित इति संवित्तिः शमा नान्यत्सुषुप्तकम् ॥ ५१
 नखकेशादि देहेऽस्मिन्विदिताविदितं यथा ।
 न जडं च जडं चैव सुषुप्तं चेतनात्मनि ॥ ५२
 संवित्त्वा किं श्रमातोऽस्मि शान्तमासेवि मानसम् ।
 इत्येकपरिणामत्वाच्चान्यदस्ति सुषुप्तकम् ॥ ५३
 एतन्निद्राघनं जाग्रत्यपि संभवति स्वतः ।
 न किञ्चिच्चिन्तयाम्यासे शान्त इत्येकरूपकम् ॥ ५४
 एषावस्था यदा याति घनता मुच्यते तदा ।
 निद्राशब्देन तन्वी तु स्वप्नशब्देन कथ्यते ॥ ५५
 सुषुप्तमिति निश्चित्य तुरीयान्वेषणामहम् ।
 प्रवृत्तः कर्तुमुद्युक्तो युक्तः परमया धिया ॥ ५६
 यावद्रूपं तुरीयस्य किञ्चनापि न लभ्यते ।
 सम्यग्बोधादते शुद्धात्प्रकाशस्तमसो यथा ॥ ५७
 यथास्थितमिदं विश्वं सम्यग्बोधाद्विलीयते ।
 यथास्थितं च भवति न च किञ्चिद्विलीयते ॥ ५८
 अतः स्वप्नो जागरा च सुषुप्तं च तुरीयके ।
 सयथास्थितमस्तीदं नूनं नास्ति च किञ्चन ॥ ५९
 कारणाज्जगदुत्पन्नं न ब्रह्मेत्यमवस्थितम् ।
 जगत्तया शान्तमजं बोध इत्येव तुर्यता ॥ ६०

तत्त्वमष्टमप्याह—इतीति । इति जाग्रत्स्वप्ने तत्त्वतश्चिन्त-
 यतो मे सुषुप्तं किं स्यादिति चिन्तालक्षणा मतिर्जाता ॥ ५० ॥
 दृश्यदृष्ट्या मम किं अहं चिरं तूर्णीं निश्चितस्तिष्ठामि । इति
 अन्तर्यावत्संवित्तिः शमाशमरूपा तावत्सुषुप्तकं तदन्यत्रेत्यर्थः
 ॥ ५१ ॥ चित्तव्याप्त्यभावे विदनमिव्यक्तौ घटादिवज्जडल-
 माशङ्क्य विशेषतोऽहन्तया अविदितत्वेऽपि नखकेशादिवत्सा-
 मान्यतो विदितत्वाद्विदिताविदितात्मकम् । तत्सुषुप्तं न जडं
 जडं चैव चेतनात्मनि तत्साक्षिणि स्फुरतीत्याह—नखेति
 ॥ ५२ ॥ जाग्रत्स्वप्नभ्रमणेन श्रमातोऽस्मि । मम विशेष-
 संवित्त्वा किं कञ्चित्कालं शान्तमासे इति संकल्पेऽवगाढनिद्रा-
 कारैकपरिणामत्वमेव सुषुप्तकं नान्यदस्तीत्यर्थः ॥ ५३ ॥ जाग्रत्यपि
 पुरुषे एतत्सुषुप्तकं चिन्तापरित्यागदशायां संभवतीत्याह—
 एतदिति ॥ ५४ ॥ नितरां दृढा निद्रेति श्रुत्युत्पत्त्या सुषुप्तिरेव
 निद्राशब्देनोच्यते । तन्वी ईषद्विक्षेपाकारेण शिथिला तु स्वप्न-
 शब्देनेत्यर्थः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ तुरीयस्य यावत्पूर्णं रूपं तु सम्य-
 ग्बोधादते न लभ्यते ॥ ५७ ॥ अतः सम्यग्बोध एव तुरीयम् ।
 तत्र हि विलीनस्य विश्वस्य आत्यन्तिकमविलीनत्वं यथा स्थितं
 भवतीत्याह—यथास्थितमिति ॥ ५८ ॥ अत एवावस्थात्रयं
 तत्रान्तर्भूतमित्याह—अत इति । यथास्थितेन जगता सहितं
 सयथास्थितम् ॥ ५९ ॥ जगत्कारणादुत्पन्नं किंतु ब्रह्मैवेत्यं
 जगत्तयावस्थितमिति बोध एव सदा तुर्यतेत्यर्थः ॥ ६० ॥

असंभवात्संभवकारणानां

न जायते किञ्चन नाम सर्गः ।

चिद्येतेनैव हि सर्गसंविद्

स्वयं गृहीता द्रवताम्बुनेव ॥

६१

इत्यापि श्रीवा० वा० दे० मो० निर्वा० ड० अवि० वि० जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तदुरीयवर्णनं नाम सप्तत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३७ ॥

अष्टत्रिंशदधिकशततमः सर्गः १३८

तापस उवाच ।

गन्तुमेवं विचार्याहं ततस्तत्संविदैकताम् ।

प्रवृत्तश्चोत्तमाब्देन सौरभेणेव सौरभम् ॥

यावत्तच्चेतनं तस्य तमोजोधातुमव्यजम् ।

प्रवृत्तं बाह्यसंविद्यौ समस्तेन्द्रियसंविदा ॥

संविदं संविदा गृह्णन्त्याहोऽन्तरपि क्षणात् ।

अहं प्रसृतवांस्तत्र तैलविन्दुरिवाम्बुसि ॥

तत्संविदि तथैवाथ यावत्परिणमाम्यहम् ।

भुवनं दृष्टवांस्तावत्सर्वं द्विगुणितं स्थितम् ॥

दिशो द्विगुणतां यातास्तपस्तपनानुभौ ।

भूमण्डले द्वे संपन्ने द्वे वै द्यावौ समुत्थिते ॥

वदनप्रतिविम्बे द्वे दर्पणप्रतिविम्बिते ।

यथा भातस्तथा भाते मिश्रिते ते जगच्चितम् ॥

तैलवद्भाति कोशस्थं यच्चेतनतिलद्वये ।

तस्मिञ्जगद्वयं तत्तत्तथा भाति विमिश्रितम् ॥

संविद्धितयकोशस्थे मिश्रिते अप्यमिश्रिते ।

ते उभे जगती भाते समे क्षीरजले यथा ॥

निमेषाद्दृष्टमात्रेण सा तत्संविन्मया ततः ।

तदेव पुनर्वर्णयन्नुपसहरति—असंभवादिति । सभवो जन्म तत्कारणानामद्वये ब्रह्मण्यसंभवात्सर्गः किञ्चन द्वितीयं न जायते किन्तु चितो जगदाकारचेतनेनैव सर्गसंविद्यमेव गृहीता । यथा अम्बुना इवता गृहीता तद्वदित्यर्थः ॥ ६१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तदुरीयवर्णनं नाम सप्तत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३७ ॥

मेलने द्विगुणं विश्वं प्राणिजीवस्वजीवयोः ।

ऐक्ये त्वेकं मया दृष्टमित्यादि मुनिनोच्यते ॥ १ ॥

एवं जाग्रदादितुर्यान्तावस्थातत्त्वं विचार्य ततस्तदनन्तरमहं तस्य प्राणिनः संविदा चिदाभासलक्षणजीवेन सहैकतासेकीभावं गन्तुं प्रवृत्तः यथा नीतं पुष्पितसहकारसवन्धि सौरभं वायुना पद्माकरे नीतं आब्जेन अब्जोद्भवेन वायुस्थसौरभेणैकतां गन्तुं प्रवर्तते तद्वदित्यर्थः ॥ १ ॥ अहं तस्य प्राणिनश्चेतनं चिदाभासं प्रवेष्टुं तं प्रागुक्तमोजोधातुं यावदत्यजं तावन्मध्ये मदीयया समस्तेन्द्रियलक्षणया संविदा बाह्यसंविद्यौ बहिर्मुखव्यापारे बलात्प्रवृत्तमित्यर्थः ॥ २ ॥ ततोऽहं ताः बाह्ये प्रवृत्ता इन्द्रियसंविदः अन्तःप्रवणया प्रयत्नसंविदा बलान्निगृह्यन्सन् क्षणादन्तरपि प्रसृतवान् । कथं प्रसृतवांस्तत्र दृष्टान्तमाह—तैलविन्दुरिति ॥ ३ ॥ एवमुपाधिव्याप्तिद्वारा अहं यावत्तस्य प्राणिनश्चिदाभाससंविदि मेलनेन परिणमामि तावत्कालमध्ये

सकलैवात्मतां नीता परिमित्येव संविदा ॥

९

ऋतुर्कत्वन्तरेणेव सरित्तेवाल्लिपिका सरित् ।

वातेनामोदलेखेव धूमलेखेव धारुचा ॥

१०

एकत्वेनाशु संवित्तेर्ययौ मे जगदेकताम् ।

दुर्दृष्टेर्द्विवपुश्चन्द्रः सुदृष्टेरेकतामिव ॥

११

ततो मे तच्चित्तिस्थस्य स्वं विवेकमनुज्झतः ।

अल्पीभूतः स्वसंकल्पस्तत्संकल्पस्थितिं गतः ॥

१२

तच्चित्तवृत्त्यैव ततो बाह्यमालोक्यंस्ततः ।

अभुञ्जि तद्दिनाचारं तत्तद्बुद्धयमत्यजम् ॥

१३

ततो यदृच्छयैवासौ शनैर्निद्राकुलोऽभवत् ।

पद्मः सायमिवापीय पयो भुक्त्वान्नमुच्छ्रमः ॥

१४

प्रसृतं दिशिकुक्षेपु रूपालोकक्रियाकरम् ।

संजहार बहिश्चित्तं सायमर्को रुचिं यथा ॥

१५

सह चित्तेन तास्तस्य समस्तेन्द्रियवृत्तयः ।

हृत्कोशमविशञ्छन्नाः कूर्मस्येवाङ्गसंघयः ॥

१६

मुद्रिता हृदयाकारास्त आसंश्चक्षुरादयः ।

लोष्टरूपा मृतावेव लिपिकर्मापिता इव ॥

१७

सर्वं भुवनं तद्वासनामद्वासनोभयान्तःप्रतिभासा द्विगुणितं स्थितं दृष्टवान् ॥ ४ ॥ द्विगुणितत्वमेव अप्रच्ययति—दिश इत्यादिना ॥ ५ ॥ ते च मिश्रिते तेन जगत् चितं द्वैगुण्येनोपचितम् ॥ ६ ॥ यच्चेतनतिलद्वये तैलवद्बुद्धिकोशस्थं भाति तस्मिन्संवलितोपाधिस्थचिदाभासद्वये द्विगुणीभूतं तत्तज्जगत्तथा विमिश्रितं भाति ॥ ७ ॥ वासनानाममिश्रणादमिश्रिते ॥ ८ ॥ सा तत्प्राणिचिदाभाससंविद् स्वसंविदा परिमित्य परिच्छेद्येव आत्मतामेकात्मतां नीता उपाधिद्वयैक्यापादनेनेत्यर्थः ॥ ९ ॥ आत्मतानयने दृष्टान्तानाह—ऋतुरिति ॥ १० ॥ तत्र वासनानामप्येकीकारेण संवित्तेरात्यन्तिकैकत्वेन प्राग् द्विगुणीभूतं जगदप्येकता ययौ ॥ ११ ॥ स्वं विवेकं पूर्वापरविमर्शम् । तस्य प्राणिनः सकल्पावसारीणी स्थितिं गतः प्राप्तः ॥ १२ ॥ अहं तत्र तच्चित्तवृत्त्यैव तद्बोध्यं बाह्यं शब्दादिविषयमालोक्यंस्तदुद्बुद्धयमत्यजत्वेन तस्य जाग्रदव्यवहारलक्षणं दिनाचारं अभुञ्जि अभुनजम् । अन्वभवमिति यावत् । कर्तारि विष्णु छान्दस ॥ १३ ॥ ततो असौ प्राणी अर्धं भुक्त्वा पय आपीय उद्भूतश्रमः तत्र यदृच्छयैव निद्राकुलोऽभवत् ॥ १४ ॥ निद्रारम्भे तत्प्राणः किमकरोत्तत्राह—प्रसृतमिति ॥ १५ ॥ ततः किमासीत्तदाह—सहेति ॥ १६ ॥ चक्षुरादयो मुद्रिताः सन्तो हृदयपद्माकारा आसन् । मृता मरणे आ ईपदिव लोष्टरूपा लिपिकर्मापिता इव

अहं तच्चित्तवृत्त्यैव सहसोन्नम्य तत्स्थितः ।
 तच्चित्तानुविधायित्वा तत्तद्दुदयमाविशम् ॥ १८
 संहृत्य याह्यानुभवमन्तरेव तदोजसि ।
 क्षणमन्वभवं शून्यं सुषुप्तं तल्पकोमले ॥ १९
 क्लृमाघ्नपानबहुलैर्निविडास्वपि नाडिषु ।
 सुषिरास्वेव वा वायुर्न निर्यात्येव याति च ॥ २०
 यदा तदात्मकात्मैकपरो हृदि सहस्थितम् ।
 अप्रधानीकरोत्येतच्चित्तं स्वार्थस्वभावतः ॥ २१
 स्वार्थमात्रोऽद्य तस्यान्तः परकृत्यं न कस्यचित् ।
 कचति स्वार्थसत्तायामेतदेव वपुर्यतः ॥ २२

श्रीराम उवाच ।

मनः प्राणवशादेव मनुते किं महामुने ।
 स्वरूपं मनसो नास्ति तस्मात्तत्केवलं च किम् ॥ २३

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

देह एवेह नास्त्येव खानुभूतोऽप्ययं निजः ।
 मनसः कल्पनात्मेदं वपुः स्वप्ने निरिर्यथा ॥ २४
 तच्चित्तमपि नास्त्येव चेत्यार्थाभावयोगतः ।
 सर्गादौ कारणाभावाद्दृश्यानुत्पत्तिहेतुतः ॥ २५
 अतः सर्वमिदं ब्रह्म तच्च सर्वात्मकं यदा ।
 तदा विश्वमिदं विश्वगस्त्येव च यथास्थितम् ॥ २६

च निर्व्यापारा आसन् ॥१७॥ अहमपि तच्चित्तानुविधायित्वा-
 तच्चित्तवृत्त्यैव सह तदिन्द्रियगोलकानि त्यक्त्वा तत्तन्नाडीमार्गेण
 तद्दुदयमाविशम् ॥ १८ ॥ तल्पवत्कोमले ओजसि प्रागुक्त-
 तेजोन्तस्थे आनन्दमयकोशे ॥१९॥ तदानीं यदा समानाख्यो
 वायुः सुषिरासु सच्छिद्रास्वपि नाडिषु क्लृमेनाघ्नपानरसविकारै-
 र्वहुलैस्तत्र तत्र निरुध्यमानो बहिर्न निर्यात्येव तथापि सूक्ष्मत-
 रया गत्या याति संचरति च ॥ २० ॥ यदैवं सुषुप्तिर्भवति
 तदायं प्राणः सेन्द्रियं चित्तं किं करोति तदाह—यदेति ।
 यदैवं भवति तदा प्राणस्तदात्मको य एकः अद्वैतः संप्रसन्न
 आत्मा तन्मात्रपरः सन् हृदि पुरीतति प्रविश्य सहस्थितमे-
 तच्चित्तं प्रसित्वा अप्रधानीकरोति स्वाधीनीकरोति । तत्कृतः ।
 स्वार्थस्वभावतः स्वः प्रत्यगात्मा स एवार्थः परमार्थः पुरुषार्थश्च
 तत्स्वभावतः । तत्स्वभावमात्रेण परिशेषलक्षणसुखविश्रान्तौ
 प्रसक्तत्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥ अस्तु स्वार्थप्रसक्तस्तथापि मन इन्द्रि-
 यादिपरकार्यमपि कुतो न करोति तत्राह—स्वार्थेति । यतो
 निरतिशयानन्दरूपस्वार्थसत्तारूपायां सुषुप्तौ एतदेव निरतिशया-
 नन्दवपुः कचति न विक्षेपदुःखलेशोऽपीत्यर्थः ॥ २२ ॥ प्राण-
 चित्तं प्रसित्वा अप्रधानीकरोतीति यदुक्तं तत्र रामः शङ्कते—
 मन इति । मनश्चित्तमित्येकमेव । हे महामुने, मन इदानीमपि
 प्राणवशादेव मननादिव्यापारान्करोति । तथा च तदादि प्राणे-
 नाप्रधानीकृतं न मनुते तर्हि इदानीमपि किं मनुते । यस्मा-
 यो० वा० १५६

अस्ति चित्तादि देहादि तद्ब्रह्मैव च तद्विदाम् ।
 यादृक्तत्तद्विदामेतदस्माकं विषये न तत् ॥ २७
 यथेदं त्रिजगद्ब्रह्म यथेति विविधात्मकम् ।
 अत्रेमं राजपुत्र त्वं वर्ण्यमानं क्रमं शृणु ॥ २८
 अस्ति चिन्मात्रममलमनन्ताकाशरूपि यत् ।
 सर्वदा सर्वरूपात्म न जगन्न च दृश्यता ॥ २९
 सर्ववित्त्वात् तेनेदं मनस्त्वं चेत्तितं स्वतः ।
 रूपमत्यजता शुद्धं बुद्धमाधिविवर्जितम् ॥ ३०
 मनसा कल्पितं तेन यद्वै सरणमात्मनः ।
 तदेतत्प्राणपवनं विद्धि वेद्यविदां घर ॥ ३१
 प्राणतैषा यथा तेन कल्पितेवानुभूयते ।
 तथैवेन्द्रियदेहादि दिक्कालकलनादि च ॥ ३२
 इति विश्वमिदं विश्वक चित्तमात्रमखण्डितम् ।
 चित्तं तु चित्परं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मेदमाततम् ॥ ३३
 अनाकारमनाद्यन्तमनाभासमनामयम् ।
 शान्तं चिन्मात्रसन्मात्रं ब्रह्मैवेदं जगद्गुणः ॥ ३४
 सर्वशक्ति परं ब्रह्म मनःशक्त्या यथा स्थितम् ।
 यत्र तत्र तथा रूपं स्वमेवानुभवत्यलम् ॥ ३५
 संकल्पात्म मनो ब्रह्म संकल्पयति यद्यथा ।
 तत्तथैवानुभवति सिद्धमाबालमीदृशम् ॥ ३६

प्राणात्पृथक्कृतं मनसः स्वरूपं नास्ति तस्मात्केवलं प्राणविनिर्मुक्तं
 किम् । न किंचिदित्यर्थः । चकारः पूर्वप्रश्नसमुच्चयार्थः ॥ २३ ॥
 अधिष्ठानसन्मात्रात्पृथक्करणे देहप्राणादिजगद्रूपं किमपि नास्ति ।
 तदपृथक्करणे तु तत्सत्तया सर्वमस्त्येव । तत्र प्राणपृथक्कृतं मन
 एकं नास्तीत्यल्पमिदं त्वया धाद्वितमित्याशयेन वसिष्ठ उत्तर-
 माह—देह इत्यादिना । यतो मनसः कल्पनात्मेदं वपुः अतो
 मनःपृथक्कृतं वपुर्नास्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥ एवं चित्तस्यापि चेत्यर्थ-
 निरूप्यत्वाच्चेत्यार्थाभावे तत्पृथक्कृतं स्वरूपं नास्तीत्यपि सुवचमि-
 त्याह—तदिति । पूर्वपूर्वचेत्यं तन्निरूपकमिति चेत्तत्राप्याह—
 सर्गादाविति ॥ २५ ॥ ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वात्तत्सत्तया सत्त्वोक्तौ
 तु मनआदिसर्ववस्तु अस्त्येवेत्याह—अत इति ॥ २६ ॥
 चित्तदेहादि सर्वमस्ति यतस्तत्तद्विदां तद्ब्रह्मैव । अत्रह्यविदां तु
 एतच्चित्तदेहादि यादृक् तदस्माकं तत्त्वविदां विषये न ॥ २७ ॥
 हे राजपुत्र राम, यथा इदं त्रिजगद्ब्रह्मैव तथा वर्ण्यमानमध्या-
 रोपादिक्रमं शृण्वित्यर्थः ॥ २८ ॥ तत्राधिष्ठानमादौ निर्दिशति—
 अस्तीति ॥ २९ ॥ तेनेदं मनस्त्वं प्रथमं चेत्तितमध्यारोपितम् ।
 तेन चाधिष्ठानस्य नान्यथाभाव इत्याह—रूपमिति ॥ ३० ॥
 सरणं संचरणम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ यतः सर्वशक्ति अतः
 प्राथमिक्या मनःशक्त्या यथा स्थितं पूर्वसिद्धमेवेति यत्र तत्र
 जागरे स्वप्ने वा स्वमेव तथा स्वरूपं जगद्भूतमनुभवति ॥ ३५ ॥
 संकल्पात्मकं मन एव कार्यब्रह्म तद्यथा भूरादिलोकानन्यत्र

प्राणीकृतः स्वयमयं ननु चेतसात्मा

देहीकृतस्त्रिभुवनीकृत एव नायः ।

इत्यार्षे श्रीवा० धा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० चित्तसर्वात्मकताप्रतिपादनं नामाष्टत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १३९

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

चित्तमेव जगत्कर्तुं संकल्पयति यद्यथा ।
असत्सत्सदसञ्चैव तत्तथा तस्य तिष्ठति ॥ १
तेन संकल्पितः प्राणः प्राणो मे गतिरित्यपि ।
न भवामि विनानेन तेन तत्तत्परायणम् ॥ २
अहं कतिपयं कालं ननु प्राणविनाकृतः ।
न भवामि पुनर्नूनं भवाम्येवेति कल्पितम् ॥ ३
यत्र तेनाङ्ग तत्रैतत्प्राणेनाशु क्षणाद्वपुः ।
उदितं पश्यति मनो मायापुरमिवाततम् ॥ ४
न भवाम्येव भूयोऽहं प्राणदेहविनाकृतः ।
दृढनिश्चयभागित्थं चित्तो भवति नो पुनः ॥ ५
दोलायितं तु संदेहाद्दुःखमास्ते कुनिश्चयम् ।
विकल्पेनैवमस्यैतज्ज्ञानादल्पेन यास्यति ॥ ६
यस्यायमहमित्यस्ति तस्य तन्नोपशम्यति ।
वर्जयित्वात्मविज्ञानं केनचिन्नाम हेतुना ॥ ७
नान्यत्र प्रथते ज्ञानं मोक्षोपायविचारणात् ।

संकल्पयति तथैवानुभवति । इदं चावालं बालानभिध्याप्य ईदृशं सिद्धम् ॥ ३६ ॥ ननु हे राम, खवपुरेव चेतनात्मा आद्यो नापुरुषः प्रथमं प्राणी प्राणवान् चेतसैव कृतस्तथा देहीकृतस्तथा त्रिभुवनीकृत एव । एतत्सर्वं कल्पितपुरीषु स्वस्वदेहेषु सर्वैरपि स्वप्नेष्वभूतं तदेव निदर्शनीकार्यमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे चित्तसर्वात्मकताप्रतिपादनं नामाष्टत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३८ ॥

प्राणादपि हि चित्तस्य आधान्वमिह कथ्यते ।

मुनेः सुषुप्तास्त्वमासौ मलयेशा च विस्तरात् ॥ १ ॥

चित्तस्य सदैव प्राणाधीनत्वमभ्युपेत्याप्यारोपक्रमे प्राथम्यमात्रेण जाग्रत्स्वप्नयोक्तमयप्राधान्यं, सुषुप्ती तु प्राणस्यैवेत्याशयेन रामप्रश्नः समाहितः, इदानीं प्राणादिसर्वजगन्निर्माणे चित्तस्यैव सातन्त्र्यात्प्राधान्यं सुषुप्त्यारम्भकाले तु धान्तत्वाद्यापारितुमसमर्थमिति स्वविधान्तर्यमेव चित्तं प्राणप्राधान्यमप्रीकरोतीत्याशयेन तत्समाधानमुपक्रमते—चित्तमेवेत्यादिना । असत् अलीकम् । सत् व्यावहारिकम् । सवसत् प्रातिभासिकम् । तस्य चित्तात्मनः ॥ १ ॥ गतिर्मदीयसर्वव्यवहारनिर्वाहकः । तेन प्राणेन विना न भवामि न तिष्ठामि इत्यपि कल्पितं तेन हेतुना तच्चित्तं तत्परायणं प्राणाधीनमुच्यते ॥ २ ॥ स्वप्नमनोराज्यादिप्रसिद्धदेहे प्राणाभावेऽपि मनोऽप्रापारदर्शनाद्विना तेन न भवामीति संकल्पस्य अभिचारसाक्षात्साह—अहमिति ॥ ३ ॥ यत्र यत्र तेन

देहीकृतः खवपुरेव गिरीकृतश्च

स्वप्नेषु कल्पितपुरीष्वनुभूतमेतत् ॥ ३७

कृते तस्मात्प्रयत्नेन मोक्षोपायो विचार्यताम् ॥ ८
किलाहमिदमित्येव नाविद्या विद्यते कचित् ।
मोक्षोपायादते नैतत्कुतश्चिदयतेऽन्यतः ॥ ९
एवं यन्मनसाभ्यस्तनुपलब्धं तथैव तत् ।
तेन मे जीवितं प्राणा इति प्राणे मनः स्थितम् ॥ १०
देहे सौम्ये स्थिते प्राणे मनो मननवद्भवेत् ।
शुब्धे प्राणगतं क्षोभं पश्यन्नान्यत्प्रपश्यति ॥ ११
यदा स्वकर्मणि स्पन्दे व्यग्रः प्राणो भृशं भवेत् ।
तदा तदीहितव्यग्रः प्राणो नात्मोद्यमी भवेत् ॥ १२
एते हि प्राणमनसी त्वन्योन्यं रथसारथी ।
के नाम नानुवर्तन्ते रथसारथिनौ मिथः ॥ १३
इत्यादिसर्गे स्वात्मैव चेत्तितः परमात्मना ।
तेनैषाद्यापि नियतिर्नाबुधानां निवर्तते ॥ १४
देशकालक्रियाद्रव्यैर्मनःप्राणशरीरिणाम् ।
प्रयान्त्यधिगता देहेष्वरूढानां परे पदे ॥ १५

मनसा प्राणेन सह वपुः कल्पितं तत्रैतत् क्षणादुदितं पश्यति ॥ ४ ॥ प्राणदेहकल्पनानन्तरमहं भूयः कदापि प्राणदेहान्यां विनाकृतो न भवाम्येवेत्यत्यन्तदृढनिश्चयवान् जीवो भवति । चित्तिन्मात्रस्वभावस्य तु दृढनिश्चयवाचो भवति ॥ ५ ॥ अत एवात्मविचारजात्सदेहप्रायाज्ञानाच्च निस्तारः । विपरीतदृढनिश्चयस्य यथार्थदृढनिश्चयं विना अनिवृत्तेरित्याह—दोलायितमिति । एवं दृढतरमेतज्ज्ञानं तत्त्वज्ञानादल्पेन विकल्पेन न यास्यति ॥ ६ ॥ ७ ॥ दृढतरतत्त्वज्ञाने त्वयं ग्रन्थ एवोपाय इत्याह—नान्यत्रेति ॥ ८ ॥ अहमिदमिति द्विवैचाविद्या विद्यते । अन्येति शेषः । अयते अपगच्छति ॥ ९ ॥ मे मन प्राणा एव जीवितं परमप्रेमविषयं रूपमित्येवं यन्मनसा दृढमभ्यस्तमित्येतस्माद्वेतोः प्राणे प्राणाधीनतया मनः स्थितम् ॥ १० ॥ एवं देहाधीनता मनसोऽस्तीत्याह—देहे इति । देहे शुब्धे तु तत् क्षोभं प्राणगतं प्रपश्यन्मनः अन्यदात्मतत्त्वविवेकं वा न प्रपश्यति ॥ ११ ॥ अत एव प्राणो निरोधाभ्यासं विना नामज्ञानोन्मुखीभवतीत्याह—यदेति । तस्य मनस ईहिषेण व्यग्रः ॥ १२ ॥ तत्कुतस्तत्राह—एते इति ॥ १३ ॥ तदपि कुतस्तत्राह—इतीति । इति एवं परस्परानुवृत्तिस्वभावे प्राणमनोरूपेण परमात्मना आदिसर्गे आत्मा चेत्तितः संकल्पितः ॥ १४ ॥ परे पदे अरूढानामव्युत्पन्नानां मनःप्राणशरीरिणां देहेषु देशकालक्रियाद्रव्यैरधिगता व्यवहाराः प्रयान्ति प्रवर्तन्ते ॥ १५ ॥

स्वं प्राणमनसी साम्यात्कुर्वती कर्म तिष्ठतः ।
 वैषम्याद्विषमं चैकं शान्ते शान्ता सुषुप्तता ॥ १६
 यदाहारादिरुद्धासु नाडीषु कापि पिण्डितः ।
 शान्तमास्ते जडः प्राणस्तदोदेति सुषुप्तता ॥ १७
 नाडीष्वन्नावपूर्णासु तथा क्षीणासु वा क्लृप्ताः ।
 निःस्पन्दस्तिष्ठति प्राणस्तदोदेति सुषुप्तता ॥ १८
 नाडीनां मृदुरूपत्वात्पूर्णत्वाद्वा घणोदरे ।
 कापि प्राणे स्थिते लीने निःस्पन्दास्ते सुषुप्तता ॥ १९
 तापस उवाच ।

अथ यस्य प्रविष्टोऽहं हृदये सोऽभवन्निशि ।
 सुषुप्तघननिद्रालुराहारपरितृप्तिमान् ॥ २०
 तेन सार्धमहं तत्र तच्चित्तेनैकतां गतः ।
 सुषुप्तनिद्रां सुघनां गुणीभूतोऽनुभूतवान् ॥ २१
 ततोऽन्धस्यस्य जीर्णेऽन्तर्नाडीमार्गे स्फुटे स्थिते ।
 प्राकृते स्पन्दिते प्राणे सुषुप्तं तनुतां ययौ ॥ २२
 सुषुप्ते तनुतां याते हृदयादिव निर्गतम् ।
 अपश्यमहमत्रैव भुवनं भास्करादिमत् ॥ २३
 तच्च क्षुब्धार्णवोत्थेन पूर्यमाणं महाम्भसा ।
 विमुक्तेनेव कल्पाभ्रैरभ्रकषतरंगिणा ॥ २४
 प्रोह्यत्पर्वतपूरेण महावर्तविराविणा ।
 वहद्वनालीतृण्याद्वैर्व्याप्तेनोन्मूलितागया ॥ २५
 पूर्वमेवावदग्धायास्त्रिलोक्याः खण्डखण्डकैः ।
 पूर्णेन परितः प्रौढैः खपुराद्रिमहीमयैः ॥ २६

तत्र प्राणमनसी यावत्कालं साम्यात्स्वं कर्म कुर्वती तिष्ठतस्ताव-
 त्समो व्यवहारो जाग्रदाख्यः प्रवर्तते । यदा प्राण इन्द्रियप्रवर्त-
 नादुपरतो वैषम्यं भजते तदा विषमं स्वप्राण्यमेकं केवलमानसं
 व्यवहरणं प्रवर्तते । शान्ते च मनसि सर्वविक्षेपशान्त्युपलक्षिता
 सुषुप्तता प्रवर्तत इत्यर्थः ॥ १६ ॥ कदा पुनर्मनः शान्तं भवति
 तदाह—यदेति । आहारैरन्नरसैरादिपदात्पित्तादिभिश्च नाडीषु
 रुद्धासु सतीषु पिण्डितः प्राणो यदा जडो मन्दसंचारो भूत्वा
 क्लृप्तास्ते तदा मनःशान्त्या सुषुप्ततोदेति ॥ १७ ॥ क्षुधिता-
 दीनामपि श्रमात्सुषुप्तौ निमित्तमाह—क्षीणासु वेति ॥ १८ ॥
 मर्दनादिना नाडीमार्दवमपि सुषुप्तिनिमित्तमित्याह—नाडीना-
 मिति । एवं शरक्षतव्रणरुधिरादिपूर्णतापि तन्निमित्तमित्याह—
 पूर्णत्वादिति ॥ १९ ॥ एवं रामप्रश्नोत्तरप्रासङ्गिकं समाप्य
 वसिष्ठः प्रस्तुततापसोक्तिमेवावलम्बते—अथेत्यादिना । स प्राणी
 आहारपरितृप्तिमान्सन् सुषुप्तघननिद्रालुरभवदिति प्राशक्त्यानुवादः
 ॥ २० ॥ गुणीभूतस्त्यक्त्वातन्त्र्यः ॥ २१ ॥ ततः अस्य प्राणिन
 उदरस्थे अन्धसि अज्ञे जीर्णे जाते सति प्राकृते नैसर्गिके नाडी-
 मार्गे प्राणे स्पन्दिते स्पन्दमाने सति । ‘गल्यार्थाकर्मक—’ इति
 कर्तरि कः । तनुतामल्पताम् ॥ २२ ॥ ततस्तदीयस्वप्नप्रपञ्चो
 मया दृष्ट इत्याह—सुषुप्ते इति ॥ २३ ॥ तच्च भुवनं प्रलय-

अहं तत्रैव पश्यामि यावत्कस्मिंश्चिदास्पदे ।
 कस्यांचित्पुरि कस्मिंश्चिद्गृहे बध्वा पुरे स्थितः ॥ २७
 सदारः सहभृत्योऽहं सपुत्रः सहबान्धवः ।
 सहभाण्डोपस्करणः सगृहोऽपहतोऽम्भसा ॥ २८
 उह्यमानं क्षयाम्भोभिस्तद्गृहं तच्च पत्तनम् ।
 लङ्घ्यमानं हुमाकारैः पूर्यमाणं च वारिभिः ॥ २९
 बृहत्कलकलारावं जेतुमब्धिमिवोद्यतम् ।
 अतिक्षुभितवास्तव्यमनपेक्षितपुत्रकम् ॥ ३०
 आवर्ततरलाढ्याभिर्वृत्तिभिर्व्यूढमाकुलम् ।
 साक्रन्दोरस्ताडनोत्कजनजम्बालभीषणम् ॥ ३१
 स्फुटत्कुड्यत्रुटत्काष्ठरटच्छङ्कुक्रतोद्रटम् ।
 प्रपतच्छादनच्छत्रगवाक्षस्थाङ्गनामुखम् ॥ ३२
 इति यावत्क्षणं पश्यन्नहं तद्भावमागतः ।
 परिरोदिमि दीनात्मा तावत्तत्सकलं गृहम् ॥ ३३
 चतुर्धा भित्तिमेदेन वृद्धवालाङ्गनान्वितम् ।
 जगाम शतधा वीच्यां शिलायामिव निर्झरः ॥ ३४
 उह्यमानोऽहमभवं ततः प्रलयवारिणि ।
 त्यक्तसर्वकलत्रादिचित्तः प्राणपरायणः ॥ ३५
 क्षिप्तस्तरङ्गजालेन योजनाद्योजनव्रजे ।
 उह्यमानहुमशिखाज्वालान्तरितजर्जरः ॥ ३६
 काष्ठकुड्यतटीपीठकटुसंघट्टघट्टितः ।
 आवर्तनृत्यपातालतले गत्वोत्थितश्चिरात् ॥ ३७

कालक्षुब्धार्णवेभ्य उदितेन महाम्भसा पूर्यमाणमपश्यम् ।
 तदम्भ एव विशिनष्टि—विमुक्तेनेवेति । कल्पाभ्रैर्मुसलप्रमाण-
 धारावृष्ट्या विमुक्तेन अधस्त्यक्तेन । इवशब्दो मिथ्यात्वद्योतीं सर्व-
 त्रानुवर्तनीयः ॥ २४ ॥ वहन्ती या वनाली तल्लक्षणां या तृण्या
 तृणसमूहस्तदाढ्यैः पर्वतैर्व्याप्तेन । ‘तृणाद्वैर्व्याप्तेन’ इति पाठे
 स्पष्टम् । उन्मूलिता अगा वृक्षाः पर्वताश्च यया तथाविधया वात्ययां
 वह्निज्वालाया पूर्वमेवावदग्धायास्त्रिलोक्याः खण्डखण्डकैः पूर्ण-
 नेत्युत्तरत्रान्वयः ॥ २५ ॥ खे प्रसिद्धानि देवापुरादिपुराणि तदा-
 दिमयैः ॥ २६ ॥ तदा च अहं कस्मिंश्चिदास्पदे देशे तत्र कस्यां-
 चित्पुरि तत्रापि कस्मिंश्चिद्गृहे बध्वा भार्यया सह स्थितोऽस्मीति
 स्वं पश्यामीत्यर्थः ॥ २७ ॥ ईदृशश्चाहं तेन प्रलयाम्भसापहतः
 प्रवाहितः ॥ २८ ॥ तदवस्थं तद्गृहं तन्नगरं च वर्णयति—उह्य-
 मानमिति । क्षयाम्भोभिः प्रलयजलैः । हुमाकारैस्तरङ्गैः ॥ २९ ॥
 वास्तुनि वैश्मभूमौ भवा वास्तव्या जनाः ॥ ३० ॥ वृत्तिभिर्जल-
 प्रवृत्तिभिर्व्यूढं प्रवाहितम् । जम्बालैः पद्मैश्च भीषणम् ॥ ३१ ॥
 त्रुटद्भिः शङ्कुभिः कृत उत्कृष्टो रटो ध्वनिर्यत्र ॥ ३२ ॥ ३३ ॥
 भित्तीनां मेदेन विदारणेन ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ उह्यमाना ये
 हुमास्तत्रत्यप्रलयवह्निशिखा ज्वाला तदन्तः इतैर्गमनैर्जर्जरः ।
 अन्तरितैरन्तरायैरिति वा ॥ ३६ ॥ काष्ठादीनां कटुभिर्दुःसहैः

चलाचलागमापायबलहलुगुलारवे ।
 जले बहुलकल्लोले भग्नोन्मथः पुनः पुनः ॥ ३८
 संघट्टभग्नशैलेन्द्रपङ्क्तिं सलिले क्षणम् ।
 पल्लवे वारण इव भग्नः सत्पयसोद्धृतः ॥ ३९
 यावदाश्वसिमि क्षिप्रं द्विण्डीरे चाद्रिखण्डके ।
 तावदेव हतो वेगाद्वैरिणेवातिवारिणा ॥ ४०
 नानाचलनकल्लोलजलजालजुषा तदा ।
 न तदस्ति न यद्वृष्टं दुःखं दुःखात्मना मया ॥ ४१
 एतस्मिन्नन्तरे तत्र तदा तत्तामसेक्षण ।
 यावज्जीवचिराभ्यासाद्विषादित्वात्सचेतसः ॥ ४२
 प्राक्तनं संस्मृतं रूपं स्वं समाधिभयं मया ।
 आ अहो नु जगत्पन्न्यरूपेऽहं तापसः स्थितः ॥ ४३
 अहं कस्यचिदन्यस्य स्वप्रदृष्टिदिदृक्षया ।
 प्रविष्टोऽहमयं स्वप्ने पश्यामीमं भ्रमं त्विति ॥ ४४
 वर्तमानदृढाभ्यासमिथ्याज्ञानमयात्मनि ।
 कल्लोलैरुद्यमानोऽपि ततोऽहं सुखितः स्थितः ॥ ४५
 इदं वारितयापश्यं प्रलयाब्धिबिवर्तनाः ।
 उद्यमानाद्रिनगरग्रामोर्वीखण्डपादपाः ॥ ४६
 उद्यमानामराहीन्द्रनारीनरनभश्चराः ।
 उद्यमानमहारम्भलोकपालपुरालयाः ॥ ४७
 मन्थाहमद्रिमिश्राभ्युक्लोल्लाद्रिविघट्टनाः ।
 मुहुः पश्यजगन्नाशमनन्तरमचिन्तयम् ॥ ४८
 चित्रमेष त्रिनेत्रोऽपि जीर्णं तृणमिवार्णवे ।

संघट्टेष्टित आस्फलितः । आवर्तन्त्येषु भ्रमणेषु पातालतले
 गत्वा चिरादुत्थितः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ भग्नोऽभूवम् । तत्र देवा-
 शगतेन सत्पयसा पुनरुद्धृतः ॥ ३९ ॥ द्विण्डीरे फेनपुजे
 अद्रिखण्डके च यावदाश्वसिमि विप्रान्ति लभे तावदतिवारिणा
 महातरङ्गेण हतः ॥ ४० ॥ किं बहुना तदा सर्वं दुःखं मयातु-
 भूतमित्याह—नानेति ॥ ४१ ॥ एतस्मिन्नन्तरे मया तत्प्राक्तनं
 स्वं समाधिभयं रूपं संस्मृतमिति परेण संबन्धः । 'तामरसेक्षण'
 इति पाठे मुनिवाक्यमनुवदतो वसिष्ठस्य रामसंबोधनम् ॥ ४२ ॥
 स्मृतिमेव विदम्वयन्त्याह—आ अहो इत्यादिना । स्मृतावनाह-
 त्वात् 'निपात एकाजनाह' इति प्रगृह्यता ॥ ४३ ॥ अयमहमिति
 प्रत्यभिज्ञायाम् ॥ ४४ ॥ वर्तमानो यः स्वप्रपञ्चदृढाभ्यासस्त-
 त्रयुक्तमिथ्याज्ञानमये आत्मनि देहे कल्लोलैरुद्यमानोऽप्यहं तत-
 स्तत्स्मरणानन्तरम् ॥ ४५ ॥ वक्ष्यमाणविशेषणाः प्रलयाब्धि-
 बिवर्तना इदं प्रसिद्धं यन्महमरीचिवारि तत्तया । मिथ्यात्वे-
 नेति यावत् ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ किमचिन्तयं तदाह—
 चित्रमिति । अत्र मायामहार्णवे शीण्यवस्थात्रयलक्षणानि
 नेत्राणि यस्य तथाविध ईश्वरोऽपि जीवो भूत्वा जीर्णतृणमिवो-
 द्यते । चित्रमाश्चर्यम् । हतस्य विषेदैवस्य ॥ ४९ ॥ यथा
 प्रातरप्सु रवेः प्रभाः विकसन्ति पद्मानि दर्शयन्ति तथा गृहाण्यपि

उद्यते हा हतविषेर्नाऽकार्यं नाम विद्यते ॥ ४९
 चतुर्था भित्तिभेदेन प्रकटाशयतामहम् ।
 पद्मानीव गृहाण्यप्सु दर्शयन्ति रवेः प्रभाः ॥ ५०
 चित्रं तरङ्गचलनासु समुल्लसन्ति
 गन्धर्वकिन्नरनरामरनागनार्यः ।
 भूरिभ्रमैर्भ्रमरहारमिव हृदिन्यः
 पद्मिन्य एव सकलामलजङ्गमाख्याः ॥ ५१
 विद्याधरीभुजलतावलितेन्दुकान्त-
 कक्ष्याविभागमणिजालगवाक्षलक्ष्यः ।
 देवासुरोरगमहागृहभित्तिभागाः
 सौवर्णनौकागणवद्भुमरे भ्रमन्ति ॥ ५२
 मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुक्कुमाङ्गे
 शङ्क्याः पयोधरभरे रतिखेदखिन्नः ।
 लभः सुखादिव करोति तरङ्गदोलाः
 संशीर्यमाणमणिरोहगतोऽत्र शक्रः ॥ ५३
 हा वान्ति चारिचलनावलितान्तरिक्ष-
 मृक्षावधूतकुसुमप्रकरान्किरन्तः ।
 घाताः पतद्विबुधमन्दिररत्नसाना-
 बुधानकोटरगता इव साक्षतेन ॥ ५४
 यत्रोत्थहेमदृषदा सदृशाम्बुरुपं
 क्षुब्धाद्रिभीमजलवीचिशिखेरितं खे ।
 व्यावर्तते दिवि दलावृतकर्णिकास्थ-
 ध्यानैकनिष्ठपरमेष्ठिसरोजमेतत् ॥ ५५

चतुर्था भित्तिविदारणेन प्रकटाशयतामहम् यथा सातथा दर्श-
 यन्ति ॥ ५० ॥ एताश्च भूरिभ्रमैर्भ्रमरवर्तैर्विभ्रमैश्चोपलक्षिताः पर-
 गधवलभ्रमरपङ्क्तिक्षणं हारे बहन्त्यः पद्मिन्यः सुलकरपादादिप-
 द्यवस्यो हृदिन्यो नद्य एव प्रसिद्धा हृदिन्यो न सकला अमला नापि
 जङ्गमाख्याः । एतास्तु तद्विपरीताः । अत एव तरङ्गचलनासु चित्रं
 समुल्लसन्तीवेत्यन्वयः ॥ ५१ ॥ विद्याधरीणां भुजलतावलितेषु
 इन्दुकान्तेषु कक्ष्याविभागा इव आसमाना मणिजालगवाक्ष-
 लक्ष्यो येषु तथाविधा देवासुरोरगमहागृहाणां भित्तिभागाः प्रल-
 याभ्युमरे सौवर्णनौकागणवद्भ्रमन्ति ॥ ५२ ॥ संशीर्यमाणमणिरो-
 हगतः शक्रः अत्रास्मिन्प्रलयाम्बुमरे लभः सन् कुक्कुमाङ्गे मत्तेभकु-
 म्भवत्परिणाहिनि विशाले शङ्क्याः पौलोम्याः पयोधरभरे रतिप्र-
 युक्तेन खेदेन खिन्नः श्रान्तः संस्तदपनयनाय जलकीडासुसाद ।
 त्यन्लोपे पद्ममी । जलकीडासुसुमुद्दिश्येव तरङ्गदोलाः करोति
 ॥ ५३ ॥ वारीणां चलनैर्वैष्टनैरावलितमन्तरिक्षं यस्मिन्कर्मणि तथा ।
 तथा कक्ष्याणि नक्षत्राणि तल्लक्षणवधूतान्कुसुमप्रकरान्किरन्तो
 विक्षिपन्तो वाताः । पतन्ति विबुधमन्दिराणि विमानानि यत्र
 तथाविधे रत्नसाना मेराबुधानस्य कोटरे गताः प्रविष्टा मह-
 कार्थ साक्षतेन कुसुमवर्षेण किरन्तो जना इव वान्ति । हा
 इति खेदे ॥ ५४ ॥ खे आकाशे क्षुब्धानामद्रिवद्भीमानां भग्न-

मेघा इवातिघनधुंधुमघोषभीमा
 वीचीचयाः कनकपत्तनविद्युतोऽमी ।
 व्योम्नि भ्रमन्ति गजवाजिमृगेन्द्रनाग-
 वृक्षाद्रिकाननमहीतलतुल्यदेहाः ॥ ५६
 उद्यमानोदभूवीच्यामतसीकुसुमश्रियाम् ।
 यमोऽप्ययं यमेनेव वारिपूरेण नीयते ॥ ५७
 एते ब्रुवन्ति सलिलेऽखिललोकपाला
 नागा नगैश्च नगरैः सह लक्षसंख्याः ।
 लक्ष्म्याकरोदरगुहागतवारिपूर-
 व्यावर्तनागुडगुडैरभिलक्ष्यपूराः ॥ ५८
 दुर्वारवारिवलनापरिपूरितेषु
 पातालभूतलनभस्तलदिकतटेषु ।
 मत्स्या इवेन्द्रयमयक्षसुरासुरौघाः
 सग्राहपत्तनविमाननगा भ्रमन्ति ॥ ५९
 उद्यमानस्य कृष्णस्य तनुरेवाम्बुरुपिणी ।
 मातृजङ्घेव वत्सस्य कष्टं बन्धनतां गता ॥ ६०
 अन्योन्यमावलयतामहो बुडबुडारवः ।
 श्रूयते देवदैत्यानां स्वस्त्रीहलहलाकुलः ॥ ६१
 कोलाहलाकुलपुरोत्तमवेगपात-
 विधुब्धवारिपटलीवलिताम्बरासु ।
 दिक्षु भ्रमज्जलदजालघनाखिवैष
 संलक्ष्यते जलमयः स्फुटकुड्यबन्धः ॥ ६२

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० वि० श० जगन्नाशवर्णनं नामैकोनचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १३९ ॥

हा कष्टमेष तरसा पयसापनीत
 आवर्तवृत्तिपरिवर्तनया स्वधस्तात् ।
 एते कुबेरयमनारदवासवाद्याः
 प्राणान्पयोभ्रपटलैर्विधुरास्त्यजन्ति ॥ ६३
 प्राज्ञाः प्रशान्तजडदेहमिहोद्यमानं
 मानोजिज्ञताः शवतयैव च तद्वहन्ति ।
 ब्रह्मेन्द्रविष्णुपुरखण्डकसंकटाम्बु-
 संघट्टनेन कटुकुट्टनदंक्षु तेन ॥ ६४
 स्त्रीणां गणोऽर्धपरिपिष्ट इहैति कष्टं
 कक्षातुमेनमपरः कुजडं समर्थः ।
 न ह्यन्तकस्य दशनैरभिचर्व्यमाणा
 त्रातुं परस्परमियं जनता समर्था ॥ ६५
 पर्वतप्रतिघसर्पसर्पणाः
 संसरन्ति विपुला जलोच्चयाः ।
 तेषु नाव इव देवपत्तना-
 न्युन्नमय्य वपुराशु यान्त्यधः ॥ ६६
 द्वीपाद्रीन्द्रसुरासुरोरगनरैर्नागाप्सरश्चारणै-
 र्व्याप्तं वारिविलोलितैः सरसिजैरालूनमूलैरिव ।
 एकाम्भोधिसरः स्थितं त्रिभुवनं कालेन निर्मूलितं
 कष्टं ते क्व गता महर्द्धिविभवा देवा जगन्नायकाः ॥ ६७

नकानां जलवीचीनां शिखाभिरीरितमुत्क्षिप्तमेतत् । यन्त्रोत्क्षि-
 सेन हेमदृषदा सदृशमम्बुनो रूपं दिवि ब्रह्मलोके दलैः पत्रैरावृतं
 कर्णिकोस्थस्य ध्यानैकनिष्ठस्य परमेष्ठिन आसनभूतं सरोजं आप्य
 व्यावर्तते परावर्तते नान्तराले इत्यर्थः ॥ ५५ ॥ गजवाज्यादितुल्य-
 देहाः । अतिघनधुंधुमघोषभीमाः कनकमयदेवासुरपत्तनान्येव
 विद्युतो येषु तथाविधा अमी वीचीचया मेघा इव व्योम्नि भ्रमन्ति
 ॥ ५६ ॥ अतसीकुसुमसदृशश्रियां उद्यमानोदे प्रलयार्णवे भव-
 तीत्युद्यमानोदभूतथाविधायां वीच्यां वारिपूरेणायं यमोऽपि
 यमान्तरेण नीयत इव लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ अखिला
 लोकपाला नागाश्च स्वाश्रयैर्मेवादिनगैर्नगरैश्च सह ब्रुवन्ति
 मज्जन्ति । तत्र निधानादिलक्ष्म्याकरेषु पर्वतोदरगुहासु गतस्य
 प्रविष्टस्य वारिपूरस्य व्यावर्तनार्थं निर्गच्छतो वायोर्गुडगुडश-
 ङ्खरभिलक्ष्यः पूरः पूरणं येषां तथाविधाः सन्तः ॥ ५८ ॥ स्पष्टम्
 ॥ ५९ ॥ दोहनकाले वत्सानामाभीरैर्मातृजङ्घायां बन्धना-
 दिति भावः ॥ ६० ॥ स्तार्य इव छयर्थ इव वा हलहलाध्वनि-
 भिराकुलः ॥ ६१ ॥ कोलाहलैराकुलानां देवदानवपुरोत्तमानां
 वेगेन पातैर्विधुब्धभिर्वारिपटलीभिर्वलितान्तरासु दिक्षु भ्रमज्जि-
 जलदजालैर्घनाखिव जलमयः स्फुटकुड्यबन्धः संलक्ष्यते ॥ ६२ ॥

एष सर्वजनप्रसिद्धः सूर्य आवर्तवृत्तिपरिवर्तनया सुष्ठु अधस्ता-
 दपनीतः । विधुरा जीवनासमर्थाः ॥ ६३ ॥ तेन तादृशेन ब्रह्मेन्द्रादि-
 पुराणां खण्डकैः संकटस्याम्बुनः संघट्टनेन कटुकुट्टनं पर्यवन्तीति
 कटुकुट्टनदंक्षुस्तेषु मध्ये ये प्राज्ञास्तत्त्वविदस्ते प्रशान्तं मृतं
 अत एव जडं स्वदेहमिह जले उद्यमानं मानस्तदहंभावस्तदु-
 जिज्ञताः सन्तः शवतयैव वहन्ति । अतो न ते छेदमेदाभिधातादि-
 दुःखैर्लिप्यन्त इति भावः ॥ ६४ ॥ कुजडं कौ पृथ्व्यां जडमतिमूर्ख-
 त्वेन प्रसिद्धमेनं स्त्रीगणं त्रातुं कः समर्थः । जनता जनसमूहः
 ॥ ६५ ॥ पर्वतान् प्रतिघ्नन्ति विदारयन्तीति पर्वतप्रतिघातः सर्पवत्स-
 र्पणं गमनं येषां तथाविधा विपुला जलोच्चयाः कल्लोलाः संस-
 रन्ति । तेषु कल्लोलेषु देवपत्तनानि प्रथमं स्ववपुर्नाव इव उन्न-
 मय्य तदनन्तरमाशु अधो यान्ति । मज्जन्तीति यावत् ॥ ६६ ॥
 त्रिभुवनं कालेन निर्मूलितं सद्वारिविलोडितैर्द्वैपैरद्रीन्द्रैः सुरैरसुरैर-
 र्गैर्नरैर्नागैर्गैरप्सरभिश्चारणैश्च आलूनमूलैः सरसिजैरिव व्याप्त-
 मेकाम्भोधिलक्षणं सरो भूत्वा स्थितम् । कष्टमिति खेदे । महान्तः
 ऋद्धिविभवा येषां ते जगन्नायका इन्द्रादिदेवाः क्व गताः ॥ ६७ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 जगन्नाशवर्णनं नामैकोनचत्वारिंशदुत्तरशततमः सर्गः ॥ १३९ ॥

चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४०

व्याध उवाच ।

भगवंस्त्वादृशस्तां तामवस्थां च कथं गतः ।

कथं ध्यानप्रयोगेण तदा नोपशमं गतः ॥

मुनिरुवाच ।

कल्पान्तेषु विनश्यन्ति नाशैर्नानाविधात्मभिः ।

जगन्ति भ्रान्तिरूपाणि नभस्याभासरूपिभिः ॥ २

कदाचित्कमशो नाशः कल्पान्ते संप्रवर्तते ।

अशङ्कितं कदाचिद्वागोकधादिविकारतः ॥ ३

तदा द्रागित्येव यदा विकृतं वारि तत्तथा ।

तेन यावत्सरन्याद्यं तावधीता जलैः सुराः ॥ ४

अन्यच्च विपिनाधीश कालः सर्वेकषो ह्ययम् ।

यत्र काले ततस्तस्मिन्स्त्ववश्यं भावि तत्तथा ॥ ५

बलं बुद्धिश्च तेजश्च क्षयकाल उपस्थिते ।

विपर्यस्यति सर्वत्र सर्वथा महतामपि ॥ ६

अन्यच्च विपिनाधीश मयैतत्तव वर्णितम् ।

स्वप्नदृष्टं किल स्वप्ने किं न संभवतीह कम् ॥ ७

व्याध उवाच ।

असदेतद्यदि विभो स्वप्नसंभ्रममात्रकम् ।

कथितेन तदैतेन कोऽर्थः कल्याणकोविद ॥ ८

मुनिरुवाच ।

त्वद्बोधनात्मकं कार्यं महदस्यत्र बुद्धिमन् ।

प्रलयाब्धेरपगमो आसे द्विजतया स्थितिः ।

मुनेः प्राणितनोर्बाह्यनिर्गमाच्चत्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

अप्यर्थे चकार । त्वादृशो ज्ञानयोगसिद्धोऽपि तां तां प्राप्नोति तव ह्युपकारं प्रलयजलध्वनादिनानाभ्रान्त्यवस्थां कथं गतः ।

ध्यानलक्षणयोगाद्वा प्रयोगेणातीतानागतसर्वदर्शनोपायेन तदा सर्वभ्रान्त्युपशमं कथं न गतो न प्राप्तः ॥ १ ॥ २ ॥ कसिके प्रलये योगेन भूतभाव्यर्थपर्यालोचनावकाशः स्यात् । आक-

सिके तु न तदवकाशो मया लब्ध इत्युत्तरमभिप्रेत्य प्रलयद्वै-

विष्यं दर्शयति—कदाचिदिति । सप्तानां समुद्राणां युगपदे-

कथाभावादिलक्षणाद्विकारतः ॥ ३ ॥ आद्यं हिरण्यगर्भं प्रति

निवेदयितुं सुरा यावत्सरन्ति जिगमिषन्ति तावज्जलैर्नीताः ।

तथा च सुराणामपि यत्र प्रमादस्तत्र मम का कथेल्यर्थः ॥ ४ ॥

कालप्रावल्याद्वा तदा मम ध्यानधारणा न स्फूर्तस्याह—अन्य-

चेति । विपिनाधीश हे व्याध, सर्वं कथति नाशयतीति सर्व-

कथः । यत्र काले यदवश्यं भावि तत्तथा भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

तदेव प्रपञ्चयति—बलमिति ॥ ६ ॥ किंचेदं स्वप्ने परचित्तानुव-

र्तिना भया दृष्टम्, तत्र च विवेकाप्रसरो महतामपि असिद्ध इति

परिहारान्तरमाह—अन्यचेति । इह सर्वजने किमप्रतिबुद्धिद-

मित्यर्थः ॥ ७ ॥ स्वप्नसंभ्रमो मात्रा उपमानं यस्य तत्स्वप्नसंभ्रम-

एतद्भ्रमात्मकं वेत्ति भवान्सत्यं तु मे शृणु ॥ ९

अनन्तरमहं तस्मिन्मत्तैकार्णवमहसि ।

जन्तोरोजः स्थितः स्वप्ने भ्रान्तं भ्रान्तो व्यलोकय ॥ १०

यावत्ससकलं वारि कापि निर्गन्तुमुद्यतम् ।

विधुब्धवज्रविजस्तसपक्षाद्रीन्द्रवृन्दवत् ॥ ११

लब्धवानुह्यमानोऽहं कंचिदैववशात्तटम् ।

अवसं तमवष्टभ्य शिखरप्रान्तसंनिभम् ॥ १२

अथ क्षणेन सलिलं तदशेषेण निर्ययौ ।

वीच्यग्रस्फुटिताकारैर्देवैस्तारकिताम्बरम् ॥ १३

तारागणैश्च पातालगतैर्मणिमयोदरम् ।

आवर्तेषु परावृत्तैः स्फारमद्विजरत्नैः ॥ १४

हेमद्वीपोपमैर्व्याप्तं गीर्वाणपुरमन्दिरैः ।

भ्रमत्सुराङ्गनालीननलिनीजालमालितम् ॥ १५

मध्योह्यमानकल्पाभ्रनीलशैवालजालकम् ।

विधुद्वोरोचनाम्भोदनीलनीरजनिर्भरम् ॥ १६

स्फुरत्सीकरनीहारमेधाद्रिकृतदिव्यतटम् ।

उल्लोलद्वीचिसंदिग्धवहत्कल्पद्रुमव्रजम् ॥ १७

अथैकार्णवखातोऽसावभवच्छुष्ककोटरः ।

कचिद्वलितसह्याद्रि कचित्संशीकमन्दरः ॥ १८

कचित्कङ्कनिमग्नेन्दुयमवासवतक्षकः ।

कचित्पङ्कनिमग्नाद्यःशाखकल्पद्रुमोत्करः ॥ १९

मात्रकम् । तत्तर्हि एतेन मां प्रति कथितेन किं प्रयोजनम् । हे

कल्याणकोविदेति निरर्थकवाक्यवक्तृता त्वयि न संभाव्येति शो-

नाय सन्बोधनम् ॥ ८ ॥ कल्याणकोविदत्वं प्रकटयन्मुनिरुत्तरमाह—

त्वद्बोधनात्मकमिति । मोक्षपर्यवसायित्वान्महत् । यतो

भवान् वर्णितप्रपञ्चसाम्यावगमादेतत्परिदृश्यमानमपि अमात्मके

वेत्ति । इदममात्रस्य अमात्मकत्वे सत्यं तु दृष्टुपो भवानेवं परि-

शिष्यते । अत इममन्वयव्यतिरेकाभ्यामन्वशोधनोपायं कथाशेषं

मे मत्तः शृण्वित्यर्थः ॥ ९ ॥ १० ॥ कियत्कालं भ्रान्तिं त्वं व्यलोक-

यस्तत्राह—यावदिति । सकलैरावर्तकल्लोलादिभिः सह वर्तमानं

ससकलम् ॥ ११ ॥ तं तटमवष्टभ्य आश्रित्य अवसम् ॥ १२ ॥

तत्सलिलं वर्णयति—वीच्यग्रेत्यादिना । वीच्यग्रस्फुटितजल-

पाकारैर्ब्रह्मनक्षत्रादिदेवैस्तारकितं संजाततारकम्बरं येन ॥ १३ ॥

कैश्चित्तरागणैः पातालगतैर्मणिमयोदरमिव ॥ १४ ॥ सुराङ्गना-

लक्षणैर्लीनैर्नलिनीजालैर्मालितम् ॥ १५ ॥ कल्पाववलीलं शैवाल-

जालकं यत्र, विधुत एव शोरोचनातुल्याः परागा यत्र तथाविधै-

रम्भोदलक्षणैर्नालीनीरजैर्निर्भरमतिशयितम् ॥ १६ ॥ स्फुरत्सीकर-

नीहारैर्मैघैर्द्रुमिभ्यः कृतं दिक्षु तटं यस्य ॥ १७ ॥ एकैकार्णवखात-

मपि वर्णयति—शुष्केत्यादिना । संशीकः शीर्णत्वादयं

मन्दरोऽन्यो वेति संशययोग्यो मन्दरो यत्र ॥ १८ ॥ १९ ॥

कचित्कमलवत्कीर्णलोकपालशिरःकरः ।
 कचित्पङ्कजविश्रान्तरुधिरहृदपाटलः ॥ २०
 कचिदाकण्ठनिर्मग्नकणद्विधाधरीगणः ।
 कचित्स्वप्नमृतेभामयाम्योग्रमहिषावृतः ॥ २१
 कचित्सन्नमहाकायगरुडामरपर्वतः ।
 कचिन्मत्तमहासेतुर्यमदण्डेन भूजुषा ॥ २२
 कचित्प्रमृतवैरिञ्चहंसससितपङ्कभूः ।
 कचित्पङ्कविनिर्मग्नदेहार्धामरवारणः ॥ २३
 एतस्मिन्नन्तरे तत्र सानुं प्राप्याश्रमे श्रमात् ।
 विश्रान्तोऽसि यदा तेन भृशं निद्राजगाम माम् ॥ २४
 ततः सुषुप्तनिद्रान्तस्तया वासनयान्वितः ।
 तं तादृगेव कल्पान्तमपश्यं स्वौजसि स्थितः ॥ २५
 दृष्ट्वा तद्विगुणं दुःखं चिरेणात्राहमाकुलः ।
 प्रबुद्धो दृष्टवान्सानुं तमेवास्य हृदि स्थितम् ॥ २६
 अथ तत्र द्वितीयेऽहि मास्करोदयसुन्दरम् ।
 सलोकाकाशभूशैलं भुवनं दृष्टवानहम् ॥ २७
 धौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
 इति मे चेतसो जातं पत्रादि विटपादिव ॥ २८
 ततस्तस्मिंस्तथा दृष्टे भूतले तैः पदार्थकैः ।
 व्यवहारं प्रवृत्तोऽहं किञ्चिद्विस्मृतधीरितः ॥ २९
 जातस्य मेऽद्य वर्षाणि षोडशैव पिता मम ।
 इयं मातास्पदं चेदमिति मे प्रतिमोदभूत् ॥ ३०
 अपश्यं ग्रामकं कंचित्कंचिच्च ब्राह्मणाश्रमम् ।
 किञ्चिद्देहं तथा कश्चिद्बन्धुः कस्मिंश्चिदाश्रमे ॥ ३१
 अथ मे तिष्ठतः सार्धं बन्धुभिर्ग्राममन्दिरे ।
 अहोरात्रेषु गच्छत्सु जाग्रदादींस्तदेव सत् ॥ ३२
 ततः कालवशात्तत्र प्राक्तनी बोधधीर्मम ।

विस्मृता तादृशाभ्यासादहो तस्येव मत्स्यता ॥ ३३
 इत्यहं ग्रामवास्तव्यः संपन्नो ब्राह्मणस्तदा ।
 देहमात्रकबद्धास्थो दूरीकृतविवेकभूः ॥ ३४
 शरीरमात्रात्मवपुर्दारमात्रानुरञ्जितः ।
 वासनामात्रसारात्मा धनमात्रैकतत्परः ॥ ३५
 जीर्णगोमात्रकधनः संरोपितलतावृत्तिः ।
 संचिताग्र्यवनिप्राणिरुपाजितकमण्डलुः ॥ ३६
 चलवृक्षकबद्धास्थो लोकाचाररतः सदा ।
 गृहपार्श्वगतानीलशाद्वलस्थलिकास्थितिः ॥ ३७
 शाकशाकायतारामरचनानीतवासरः ।
 सरिद्धदनदीतीर्थसरसि स्नानतत्परः ॥ ३८
 गोमयान्नजलाम्बुत्रिकाष्ठेष्टा कष्टसंचयी ।
 इदं कार्यमिदं नेति पाशाभ्यां विवशीकृतः ॥ ३९
 इति मे जीवतस्तत्र संवत्सरशतं गतम् ।
 एकदाभ्यागतो दूरात्तापसोऽतिथिरात्मवान् ॥ ४०
 पूजितोऽसौ विश्राम मद्देहं स्नानपूर्वकम् ।
 भुक्तवान्छयने स्थित्वा रात्रौ वर्णितवान्कथाम् ॥ ४१
 नानादिग्देशशैलोर्वीव्यवहारमनोहरे ।
 कथाप्रसङ्गे कस्मिंश्चिन्नानाविधरसाश्रये ॥ ४२
 सर्वं चिन्मात्रमेवेदमनन्तमविकारि च ।
 जगत्तयेव कचति यथास्थितमपि स्थितम् ॥ ४३
 इत्यहं बोधितस्तेन बोधैकधनतां गतः ।
 स्मृतवांस्तमशेषेण वृत्तान्तं धारणावशात् ॥ ४४
 स्मृतवानात्मवृत्तान्तं यस्याहमुदरे स्थितः ।
 तं विराडूपमाशङ्क्य तस्मात्तिर्गन्तुमुद्यतः ॥ ४५
 तदास्यं निर्गमद्वारमथ जानामि नो यदा ।
 विस्तीर्णे भुवने यस्मिन्भूम्यब्धद्विसरिद्धते ॥ ४६

पङ्कजैरिव विश्रान्तै रुधिरहृदैः पाटलः ॥ २० ॥ स्वप्न इव मृतै-
 रिभामैर्याम्यैर्यमवाहनैरुग्रमहिषैरावृतः ॥ २१ ॥ सन्नो महा-
 कायगरुडलक्षणोऽमरपर्वतो यत्र । भूजुषा भूमौ पतितेन यम-
 दण्डेन मत्त इव जलनिरोधाक्षमो महासेतुर्यत्र ॥ २२ ॥ २३ ॥
 सानुं तदगिरेः प्रस्थदेशम् । कस्यचिन्मुनेराश्रमे यदा विश्रा-
 न्तोऽसि तदा मां भृशं निद्रा आजगाम ॥ २४ ॥ सुषुप्तोत्तर-
 कालप्रवृत्तिनिद्रान्तस्तादृक्प्राण्योजोन्तर्दृष्टसदृशमेव स्वौजसि
 स्थितोऽहमपश्यम् ॥ २५ ॥ अस्य प्राणिनो हृदि स्थितं सानुमहं
 दृष्टवान् ॥ २६ ॥ २७ ॥ चेतसो मनसः सकाशादेव विटपा-
 च्छाखातः पत्रादीव जातमुत्पन्नम् ॥ २८ ॥ प्रवृत्तः कर्तुमिति
 शेषः । इतः पूर्वानुभूतविषये किञ्चिद्विस्मृतधीः, विस्मृतधिया
 ईरित इति वा ॥ २९ ॥ तत्र चापूर्वा कचिद्विस्मृतवत्कारेण
 व्यवहारप्रतिभा स्वसोदभूदित्याह—जातस्येति । आस्पदं
 गृहम् ॥ ३० ॥ तत्र कश्चिद्बन्धुरभूदिति शेषः ॥ ३१ ॥
 जाग्रदादीनवस्थामेदानुभवत इति शेषः । तदेव ग्रामादि ।
 सत् यथार्थमिवाभवत् ॥ ३२ ॥ तस्य प्राग्दामव्यालकटाख्याने

उक्तस्य निर्वासनस्यापि कटस्य मत्स्यसहवासभ्यासात्पूर्वबोध-
 विस्मरणेन मत्स्यतेव ग्रामवास्तव्यता मम संपन्नैत्यर्थः ॥ ३३ ॥
 तामेव प्रपश्यति—इतीत्यादिना ॥ ३४ ॥ वासनामात्रसारः
 आत्मा स्वभावो देहो वा यस्य ॥ ३५ ॥ गृहाङ्गणे संरोपिता
 निष्पावादिलतावृत्तिर्येन । संचिताः अग्निश्च अवनिः क्षेत्रादिभूश्च
 पद्मादिप्राणिनश्च येन । नलोपदृच्छान्दसः ॥ ३६ ॥ चलेष्वल्प-
 कालजीविषु तुलस्यादिवृक्षकेषु बद्धास्थः । लोकानामाचारेषु
 जनपदग्रामधर्मेषु रतः । गृहपार्श्वगतासु आनीलशाद्वलासु
 स्थलिकासु स्थितिर्यस्य ॥ ३७ ॥ शाकानां शाकैरायतानामारा-
 मणां च रचना परिष्कारस्तया नीता वासरा येन । सरोन्तानां
 द्वन्द्वैकवद्भावः ॥ ३८ ॥ इष्टा इष्टकाः । गोमयादीनां कष्टेन
 संचयनशीलः ॥ ३९ ॥ आत्मवानात्मज्ञः ॥ ४० ॥ ४१ ॥
 कस्मिंश्चित्कथाप्रसंगे तेनाहं इति बोधित इति व्यवहितेन संबन्धः
 ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ तं प्राक्तनप्राणिशरीरप्रवेशादिवृत्तान्तम्
 ॥ ४४ ॥ तं प्राणिनं सर्वजगज्जठरत्वादिवाडूपमाशङ्क्य तस्मात्त-
 दुदरात् ॥ ४५ ॥ यस्मिन् प्राण्युदरे विस्तीर्णे भुवने भ्रमचहं यदा

तदा तमत्यजन्नेव देशं यन्धुजनावृतम् ।
 तस्य प्राणं प्रविष्टोऽहं निर्गन्तुं पवनं वहिः ॥ ४७
 इहस्थस्य विराजोऽस्य बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
 अन्यजं सर्वमीक्षेऽहमिति निर्णीय तादृशम् ॥ ४८
 धारणां संविदा बद्धा प्रदेशं स्वं तमत्यजम् ।
 तत्प्राणैः सह निर्यात आमोदः कुसुमादिव ॥ ४९
 पवनस्कन्धमासाद्य प्राप्य तन्मुखकोटरम् ।
 वहिर्वातरथेनाहं निर्गतो दृष्टवान्पुरः ॥ ५०
 यावत्तथैव महेहो बद्धपद्मासनः स्थितः ।
 कापि मुन्याश्रमः शिष्यैः पालितो गिरिकन्दरे ॥ ५१
 पुरो मे तिष्ठतां तेषां मत्संरक्षणकर्मणाम् ।
 मुहूर्तमात्रं च गतः कालश्चान्ते निवासिताम् ॥ ५२
 हृदयं संप्रविष्टोऽसौ यस्याहं स पुमानपि ।
 पृष्ठेनोत्सवलब्धेन शेते ततोऽन्धसा सुखम् ॥ ५३
 तदाक्षर्यं मया दृष्ट्वा नोक्तं किञ्च न कस्यचित् ।
 पुनस्तस्यैव हृदयं प्रविष्टः कौतुकादहम् ॥ ५४
 प्राप्तोऽस्म्योजःप्रदेशं तं तस्य तस्मिन् हृदन्तरे ।
 अवेशितुं स्वबन्धूस्तान्व्याप्तो वासनया तया ॥ ५५
 यावत्तत्र युगस्यान्तः संप्रवृत्तोऽतिदारुणः ।
 भुवनं तद्विपर्यासमागतं सह संस्थया ॥ ५६
 अन्य एवावलास्तत्र वसुधान्या च संस्थिता ।
 अन्य एव ककुब्मेदस्तथान्या भुवनस्थितिः ॥ ५७
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० सो० नि० उ० अ० वि० हृदयकल्पनावर्णनं नाम चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४० ॥

ते बन्धवः स च ग्रामः स भूभागः स दिक्तराः ।
 न जाने कं गतं सर्वं व्यूह नीतमिवानिलैः ॥ ५८
 तदा पश्यामि भुवनं यावदन्धवदस्थितम् ।
 अपूर्वसंनिवेशं तज्जगदन्यदिवोदितम् ॥ ५९
 तपन्ति द्वादशादित्याः प्रज्वलन्ति दिशो दश ।
 शीताश्यानाम्बुवच्छैलाः प्रवृत्ता गलितुं बलात् ॥ ६०
 अद्रावद्रौ दिशिदिशि ज्वलन्ति वनपङ्क्तयः ।
 दग्धाः स्मृतिपदं याताः समस्ता रक्षभूतयः ॥ ६१
 सर्वे एवाब्धयः शुष्का महावाताः पुरःस्थिताः ।
 अङ्गारराशितां यातं भूमण्डलमशेषतः ॥ ६२
 पातालतो भूतलतोऽथ दिग्भ्यो
 ज्वाला विनिर्गन्तुमनुप्रवृत्ताः ।
 संख्याभ्रवच्चाशु बभूव विश्वं
 ज्वालामये मण्डलमेकमेव ॥ ६३
 ज्वालामये सन्नानि हेमपद्म-
 कोशे भ्रमद्भृङ्ग इव प्रविष्टाः ।
 ततोऽहमाराच्छलभक्रमेण
 न वासवान्दाहविकारदुःखम् ॥ ६४
 ज्वालामये साधु महाम्बुवाहे
 भ्रमाम्यहं विद्युदिवानिलात्मा ।
 ज्वालापरिस्पन्दविलोलवर्ष्मा
 स्थलाब्जखण्डभ्रमरोपमश्रीः ॥ ६५

एकचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४१

मुनिस्त्वाच ।

तत्र दंदह्यमानोऽपि नाभवं दुःखभागहम् ।

निर्गमद्वारं तदास्यं न जानामि तदा तं देशमत्यजन्नेव तस्य
 प्राणं पवनं वहिर्निर्गन्तुं प्रविष्ट इति परेण सहान्वयः ॥ ४६ ॥
 ॥ ४७ ॥ इहस्थस्य विराजोऽस्य प्राणिनो बाह्यमन्यजं विराज-
 न्तरोत्पन्नमाभ्यन्तरं चेति सर्वमीक्षे इति बुद्ध्या तादृशं तदनु-
 कूलं तत्प्राणाहंभावधारणां बद्धा तं प्रदेशमत्यजमिति परेणा-
 न्वयः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ वातलक्षणेन रथेन वहिर्निर्गतः सन्
 पुरो बक्ष्यमाणं दृष्टवान् ॥ ५० ॥ कापि गिरिकन्दरे
 मुन्याश्रमोऽस्ति तत्र महेहो यावत्सकलस्तथा प्रागनुभूतवदेव
 बद्धपद्मासनः स्थितः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ स प्राणी अन्तेवासी
 पुमान् ग्रामे कचिदुत्सवे लब्धेन अन्धसा मृष्टाजेन तृप्तः सन्
 उत्तानः पृष्ठेन सुखं शेते ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ तं प्रागनुभूतमोजः-
 प्रदेशमानन्दमयादिकोशत्रयप्रदेशं यावत्प्राप्तोऽस्मि तावत्तत्र
 युगस्यान्तः संप्रवृत्त इति परेणान्वयः ॥ ५५ ॥ संस्थया वर्मा-
 धर्मव्यवस्थया सह विपर्यासमागतं प्राप्तम् ॥ ५६ ॥ भुवनविपर्या-
 समेव प्रपद्यति—अन्य इति ॥ ५७ ॥ व्यूह संकल्प ॥ ५८ ॥
 यावत्कृष्णम् ॥ ५९ ॥ शीतेन आश्यानं घनीभूतं यदम्बु तद्वत्

स्वप्ने स्वप्नोऽयमित्येष जानन्नज्ञावपि च्युतः ॥ १
 ज्वालाजालनवोद्गीतिमण्डलैरखिलैर्नभः ।

गलितुं प्रवृत्ताः ॥ ६० ॥ ६१ ॥ पुरोदिशि स्थिता उत्थिताः
 ॥ ६२ ॥ प्रथमं पातालस्ततो भूतलतोऽनान्तरं दिग्भ्यो
 ज्वाला विनिर्गन्तुं प्रवृत्ताः । विश्वमाशु एकमेव ज्वालामयं
 मण्डलं सत् संख्याभ्रवदारकं बभूव ॥ ६३ ॥ तस्मिन् ज्वाल-
 मये सन्नानि हेमपद्मकोशे भ्रमद्भृङ्ग इव प्रविष्टोऽहं शलभक्रमेण
 असक्तमपि दाहविकारदुःखं नैवातवान् । आतिवाहिकदेहमात्र-
 निश्चयादिति भावः ॥ ६४ ॥ अनिलधारण्या अनिलत्मा वायु-
 आयोऽहं तस्मिन् ज्वालामये महाम्बुवाहे विद्युदिव साधु
 भ्रमामि । ज्वालापरिस्पन्देषु विलोले वर्ष्म यस्य तथाविधः सन्
 स्थलाब्जखण्डेषु भ्रमन्तो ये भ्रमरास्तदुपमश्रीः संपृता इत्यर्थः
 ॥ ६५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे उत्तरार्धे हृदयकल्पनावर्णनं नाम चत्वारिंशदधिकशत-
 तमः सर्गः ॥ १४० ॥

बह्विज्वालाकुले लोके वायोऽश्वदस्य निर्गमः ।

विक्षिताद्गारवर्षाब्जज्वालामेघोऽत्र वर्णयते ॥ १ ॥

दन्दह्यमानः सर्वतो दहनव्याप्तोऽपि ॥ १ ॥ ज्वालाजालो

अलातचक्रवच्चारु केवलं भ्रान्तवानहम् ॥ २
 तं दवाग्निमहं यावत्तत्त्ववित्यादखिन्नधीः ।
 विचारयाम्यखिन्नात्मा मारुतस्तावदाययौ ॥ ३
 सीत्कारमतिगम्भीरं दधन्मेघरवोपमम् ।
 जगत्पदार्यैरावृत्तैरुह्यमानैः परावृतः ॥ ४
 बृहद्भिर्घुघुमावेगैर्वने द्विगुणिताम्बुदः ।
 सूर्यैरावृत्तिभिर्व्यूढैर्विमिश्रालातचक्रकः ॥ ५
 ज्वालासंध्याभ्रनिवहैर्बृहदग्निदीशतः ।
 शैलद्विगुणभूखण्डदानवामरपत्तनः ॥ ६
 भूतैर्द्विगुणपात्रौघो भ्रान्तैरम्बरकुक्षिषु ।
 दग्धादग्धाभिरप्यर्धदग्धाभिरितरेतरम् ॥ ७
 पतन्तीभिः सुरस्त्रीभिर्द्विगुणाग्निशिखालवः ।
 पतदङ्गारधारौघकणसीकरदन्तुरः ॥ ८

अलातविद्युतो धुन्वन्पूताङ्गारोग्रमण्डलीः ।
 धूमान्धकारैः स्थगयन्मलानमूर्ध्वदिशोमुखम् ॥ ९
 भूमेर्व्योम्नो दिङ्मुखेभ्यः समन्ता-
 ज्वालासंध्यावारिदा निर्गतास्ते ।
 यैस्तैर्ज्वालाशैलसंपिण्डमात्रं
 सव्योमौकाः संस्थिता सप्तलोकी ॥ १०
 कापि प्रोत्फालकीर्णानलकणकपिलप्रोल्लसन्मूर्ध-
 जालिः
 कापि प्रोद्गीनकुड्यः कटुरटनपटुर्मससंपिण्डपाण्डुः ।
 कापि ज्वालापटालीं परिदधदभितः संपतन्तीं
 गृहीतां
 रौद्रः कर्तुं प्रवृत्तो हर इव स तदा मारुतो
 नृत्यलीलाः ॥ ११ ॥

इत्यार्षे श्रीवासि० वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श० कल्पान्तवर्णनं नामैकचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४२

मुनिरुवाच ।

वर्तमाने तदा तस्मिन्कष्टे संभ्रान्तसंभ्रमे ।
 उद्यमानोऽहमत्यन्तं खेदमभ्यागतोऽभवम् ॥ १
 अचिन्तयं तत्स्वप्नोऽयं परस्य हृदये मम ।
 तदतः परिनिर्वासि दुःखं पश्यामि किं मुधा ॥ २
 व्याध उवाच ।
 किंस्वित्स्यात्स्वप्न इत्येव किल संदेहशान्तये ।

नवैः उड्ढितीनामुड्ढयनाना मण्डलैरहमखिलं नभः अलातच-
 क्रवद्भ्रान्तवान् ॥२॥ अमणैराखिन्नात्मा ईषच्छ्रान्तमनाः ॥३॥
 तमेव मारुतं वर्णयति—सीत्कारेत्यादिना । सीत्कारमग्नि-
 फूत्कारोपमं ध्वनिविशेषम् । उद्यमानैः षिलोत्सुकरजोभस्मा-
 दिमिर्जगत्पदार्यैः परावृतो व्याप्तः ॥ ४ ॥ व्यूढैः प्रवाहितै-
 रावृत्तिभिः परिवर्तमानैः सूर्यैर्द्वादशादित्यैः सह विमिश्राणि
 अलातचक्राणि येन ॥ ५ ॥ ज्वालालक्षणैः संध्याभ्रनिवहैः
 प्रवर्तितानि बृहन्मग्निदीशतानि येन । शैलेभ्योऽपि द्विगुणानि
 भूखण्डा लोष्ठानि दानवामराणां पत्तनानि च यस्मिन् ॥ ६ ॥
 अम्बरकुक्षिषु भ्रान्तैर्भूतैर्द्विगुणिताः प्रागुक्तनदीशतपात्रौघा येन
 ॥ ७ ॥ द्विगुणा अभिशिखा एव ज्वाला संध्याभ्रजललवा
 यस्मिन् । पतदङ्गारलक्षणैस्तदीयैर्जलधारौघैरभिकणलक्षणसी-
 करैश्च दन्तुर उन्नतदन्त इव स्थितः ॥ ८ ॥ पूतानां निरस्त-
 मस्मनामङ्गाराणामुग्रा मण्डल्यो यासु तथाविधास्तदीया अला-
 तविद्युतो धुन्वन् कम्पयन् । स्थगयन्नाच्छादयन् ॥ ९ ॥ भूमेः
 सकाशात्तथा व्योम्नो दिङ्मुखेभ्यश्च ते वर्णितप्रकारा ज्वालाल-
 क्षणाः संध्यावारिदा निर्गताः । यैरारिदैर्व्योमौकोमिर्देवादिभिः
 सहिता सव्योमौकाः सप्तानां लोकानां समाहारः सप्तलोकी
 ज्वालाशैलसंपिण्डमात्रं भूत्वा संस्थिता ॥ १० ॥ स प्राग्वर्णित-
 यो० वा० १७७

प्रविष्टो हृदयं तस्य किं तं निर्णीतवानसि ॥ ३
 किमेतद्भवतां दृष्टं हृदये क महार्णवः ।
 जठरे कल्पवातः किं हृदि कल्पानलः कथम् ॥ ४
 द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
 कथं हृदि जगन्नाम कथयेति यथास्थितम् ॥ ५

खण्डमारुतस्तदा हरः कालाभिरुद्रवृक्षललीलाः कर्तुं प्रवृत्तः ।
 कीदृशः सन् । कापि ऊर्ध्वदेशे प्रोत्फालैरुच्छलनैः कीर्णानल-
 कणा एव कपिलाः प्रोल्लसन्त्यो मूर्धजानामालयो यस्य । काप्य-
 धोभागे पादाघातेनेव प्रोद्गीनानि कुड्यानि येन । कटु दुःसहं
 यद्रटनं तत्र पटुः । मसमभिः संपिण्डितान्यवशुण्डितान्यङ्गानि
 यस्य । कापि मध्यभागे अभितः संपतन्तीं ज्वालापटालीमुप-
 संगृहीतां परिदधत् वसान इत्येवंविधः सन्नित्यर्थः । विशेषणा-
 न्युभयत्र योज्यानि ॥ ११ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराामायणता-
 त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कल्पान्तवर्णनं नामैकचत्वा-
 रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४१ ॥

इह स्वप्नादिजगत्स्वप्नं ब्रह्मेति कीर्त्यते ।

तत्त्वदृष्ट्या जगद्बीजकर्माभावश्च साध्यते ॥ १ ॥

खेदं भ्रमप्रयुक्तं दैन्यम् ॥ १ ॥ तत्ततः खेदादचिन्तयम् ।
 मुधा दुःखप्रदुःखं किं पश्यामि । अतः परित्यज्यैतद्दर्शनं
 जागरणेन निर्वासि निर्वृत्तिं लभेयेत्यर्थः ॥२॥ स्वप्नस्य तत्त्वं किं
 स्यादिति निर्णयाय परस्वप्नं द्रष्टुं परकाये प्रविष्टस्त्वं किं निर्णीय
 तद्दर्शनाजिज्ञृत्तोऽभूरिति व्याधः पृच्छति—किंस्वित्दिति । तं
 स्वप्नं तत्त्वतः किं निर्णीतवानसि ॥ ३ ॥ परहृदये दृष्टा महा-
 र्णवादयः किम् ॥ ४ ॥ हृदि जगन्नाम कथं संभवतीत्येतस्य

मुनिरुवाच ।

अकारणत्वात्सर्गादवेवानुत्पादतः स्फुटत्वात् ।
 अज्ञातौ सर्गशब्दार्थावेव न स्तो मनागपि ॥ ६
 तच्चैतौ सर्वशब्दार्थौ त्वज्ञातौ परमात्मनि ।
 यतस्तत्पदमज्ञानज्ञानात्मकमनामयम् ॥ ७
 अतः सुभग सिद्धान्ते त्वत्पक्षे बोधमागते ।
 मौख्यशान्तावनाद्यन्ते पदे परमपावने ॥ ८
 वच्मीदं मूढसंविता यद्विदं तत्र वेदयहम् ।
 वस्त्ववस्तुजमाभातं बोधमात्रमिदं ततम् ॥ ९
 क शरीरं क हृदयं क स्वप्नः क जलादि च ।
 क बोधो बोधविच्छित्तिः क जन्ममरणादि च ॥ १०
 स्वच्छं चिन्मात्रमस्तीह तन्नाम यदपेक्षया ।
 स्थूलमेव खमध्यद्विरणूनां निकटे यथा ॥ ११
 स्वभावात्स चिदाकाशः किञ्चिच्चेतति चिन्तया ।
 स्वमेव वपुराकाशं यत्तद्वेत्ति जगत्तया ॥ १२

यथास्थितं तत्त्वं स्वनिर्णीतं कथयेत्यर्थः ॥ ५ ॥ एवं स्वपर-
 स्वप्रादिदर्शनेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां परीक्षितस्य शब्दार्थरूपस्य
 जगतो बाधदशा त्रैकालिकासत्त्वमेव तत्त्वम् । परिशिष्टाधिष्ठा-
 नब्रह्मदशा तु तदेव तत्त्वमित्याशयेन मुनिरुत्तरमाह—अका-
 रणत्वादित्यादिना । अकारणत्वादसंभवत्कारणकत्वात् ।
 तथा हि । कूटस्थं वा कारणं विकारि वा । न तावत्कूटस्थम् ।
 अकुर्वतः कारकत्वायोगेन कार्यसंज्ञानर्हत्वेन तदासीनव्यावृत्त-
 रूपानिरूपणेन स्वभावान्तरानुपजनेन च कारणत्वासंभवात् ।
 विकारिणश्चानिर्णीतनानांशघटितस्य कौडशः कारणं स्यात् ।
 मृत्पिण्डे हि घटादिविकारिणि किमप्यन्विषण्डाकारः कारणमुतो-
 पयन् घटाकार उत्तमयानुगतो मृदायाकारः । नायः । स्वप्राणे-
 ऽप्यसमर्थस्य कार्यकालास्थायिनः कार्यार्थव्यापारनाधारस्य च
 तस्य कारणत्वसंभावनाऽयोगात् । न द्वितीयः । कार्यस्या-
 न्यस्यानिरूपणात् । न तृतीयः । तस्याकुर्वद्रूपत्वे कौटस्थ्याकु-
 र्वद्रूपत्वे घटानन्यप्रसङ्गात्समर्थस्य क्षेपायोगेन युगपत्सर्व-
 कार्यप्रसङ्गात्पिण्डघटकपालचूर्णादियोगपद्यापत्तेः । सहकार्य-
 न्तरसंबन्धव्यवस्थया व्यवस्थेति चेन्न । तत्संबन्धस्य
 मृत्कार्यत्वे तदानीमेवापाद्यमानत्वादन्यकार्यत्वे तत्रापि सर्व-
 तत्कार्ययौगपद्यापदाने संबन्धस्यापि तदा आपादनात्तृतीय-
 सहाकार्ययुक्तौ तत्राप्येतद्दोषानिमोक्षाद्विनिगमनाविरहेण युगपत्स-
 र्वोत्पादस्य परस्परप्रतिबन्धेन कस्याप्यनुत्पादस्य वा प्रसङ्गात् ।
 तस्मात्सर्गादेरकारणपक्षस्यैव परिशेषात्सर्गशब्दार्थौ मनागपि न
 स एवेति तत्त्वं निर्णीतमित्यर्थः ॥ ६ ॥ कथं तर्हि लोके सर्गशब्दार्थौ
 प्रसिद्धौ तत्राह—तच्चैताविति । एतौ सर्गशब्दार्थौ परमात्मनि
 तत्त्वतो ज्ञातावेव प्रसिद्धौ । तदज्ञातं परमात्मरूपं हेतौ ।
 नन्वज्ञातौ चेदप्रसिद्धावेवेति स्यान्न तु प्रसिद्धाविति तत्राह—

यथा स्वप्ने पुरतया चिदेवाभाति केवला ।
 न तु किञ्चित्पुराद्येवं जगच्चिन्मात्रमेव खे ॥ १३
 इदं शान्तमनाभातमनन्यनैतदात्मनि ।
 चित्ति इशौ तमसि खे चक्रकादीव भाति ते ॥ १४
 अस्माकं तु न चाभानं न चासन्नं च सन्नं सन् ।
 अनाकारमनाद्यन्तमेकं चिद्बोम केवलम् ॥ १५
 भात्यकारणकं स्वप्ने शुद्धो द्रष्टृव केवलः ।
 तेनात्र कारणाभावो न द्रष्टास्ति न दर्शनम् ॥ १६
 शुद्धं किमपि तद्भाति स्वातुभूतमपि स्फुटम् ।
 यदवाच्यमनाद्यन्तमेकं द्वैतैक्यवर्जितम् ॥ १७
 एकः कालो यथा कल्पः प्रकाशश्चोभयात्मकः ।
 बीजं वा फलपुष्पान्तं ब्रह्म सर्वात्मकं तथा ॥ १८
 यदन्यस्य महत्कुड्यं तदन्यस्यामलं नयः ।
 दृष्टमेतत्स्थिरस्वप्नसंकल्पभ्रमभूमिषु ॥ १९
 स्वच्छं तदा तदात्मैकं भाति चिन्मात्रखं यथा ।

यत इति । सवेदेतदेवं यद्यज्ञानमात्रं जगत्स्यात् । यतस्तु तद-
 ज्ञातमात्मपदं शबलत्वादज्ञानज्ञानात्मकम् । तत्राज्ञानांशमादा-
 याज्ञातौ ज्ञानांशमादाय प्रसिद्धौ च सुवचनमित्यर्थः ॥ ७ ॥ यदि
 प्रसिद्धौ तर्हि सर्गशब्दार्थावेव न स इति कथं वक्षि तत्राह—
 अत इति । हे सुभग, त्वत्पक्षे त्वदभिप्रेते स्वप्रादिजगत्तत्त्वे
 बोधमागते सति मौख्यसाक्षानस्य शान्तौ सत्यां परमसिद्धान्ते
 परमपावने पदे स्थिला । इदं सर्गशब्दार्थावेव न स इति वाक्यं
 वच्मि । मूढानां संविता यद्विदं शब्दार्थसत्त्वं तदहमखन्ता-
 संभवाच्च वेद्रीत्युत्तरत्रान्वयः ॥ ८ ॥ ९ ॥ सिद्धान्ते तु शरी-
 रादिप्रसिद्धिरेव नास्तीत्याह—केति ॥ १० ॥ किं तर्ह्यस्ति
 तदाह—स्वच्छमिति ॥ ११ ॥ ईश्वरस्य तत्त्वविदा च अगदर्शनं
 कीदृशं तत्राह—स्वभावादिति ॥ १२ ॥ १३ ॥ व्यायदशा तर्हि
 कथं भाति तदाह—चित्तीति । चित्ति विद्रूपायां दृशौ चक्षुषि
 तमसि अज्ञानलक्षणतिमिररोगे सति खे चक्रकादि यथा भातते
 तद्वत्ते भातीत्यर्थः ॥ १४ ॥ स्वदशा त्वाह—अस्माकमिति ।
 असत् प्रातिभासिकं सत् व्यावहारिकं खं शून्यं केवलं विद्योम
 भातीत्यनुवर्तते ॥ १५ ॥ येन हेतुना अकारणकवद्भाति तत्केव-
 लक्षिपुटीशून्यः शुद्धो द्रष्टृवेति स्वप्ने निर्णीतं तेन कारणेन अत्र
 जाग्रत्यपि कारणभावः प्रागुपपादित इति द्रष्टादिनिपुटी
 नास्त्येवेत्यर्थः ॥ १६ ॥ स्वेनानुभूतमपि कुमारीमुखवदवाच्यं
 वक्तुमशक्यम् ॥ १७ ॥ द्वैतैक्यवर्जितस्य द्वैतैक्यात्मना स्थितिः
 क दृष्टा तत्राह—एक इति । कल्पः प्रलयः प्रकाशः सर्गवैत्यु-
 भयात्मकोयथा । यथा वा बीजमङ्कुरकाण्डवृक्षशाखापङ्कज-
 पुष्पान्तं स्वयमेवावतिष्ठते तथा ब्रह्म सर्वात्मकमित्यर्थः ॥ १८ ॥
 तर्हि ब्रह्म द्वैतैक्यवदेव न तु तद्वर्जितं तत्राह—यदिति । यदि
 परमार्थतो द्वैतैक्यवत्स्यात्तर्हि सर्वान्प्रति तथा स्यान्न तु तथा
 सर्वैर्देवत इति भावः ॥ १९ ॥ यथा आत्मा चिन्मात्रस्वमेव सन्

स्वप्ने जाग्रदिव च तद्वज्राग्रत्स्वप्नेऽपि नान्यथा ॥ २०
अदृश्ये पवने यददृश्यं सौरभं स्थितम् ।
चिन्मात्रेऽप्रतिघे तद्वज्राग्रदप्रतिघं स्थितम् ॥ २१
समस्तमननत्यागे योऽसि सोऽसि निरामयः ।
बहिरन्तरनन्तात्मा सुस्थितोऽपि निरन्तरम् ॥ २२

व्याघ उवाच ।

भगवन्प्राक्तनं कर्म केषामिह हि विद्यते ।
केषां न विद्यते तद्वद्विनापि भवतः कथम् ॥ २३
मुनिरुवाच ।

सर्गादिषु स्वयं भान्ति ब्रह्माद्या ये स्वयंभुवः ।
विहसिमात्रदेहास्ते न तेषां जन्मकर्मणी ॥ २४
तेषामस्ति न संसारो न द्वैतं न च कल्पनाः ।
विशुद्धज्ञानदेहास्ते सर्वात्मानः सदा स्थिताः ॥ २५
सर्गादौ प्राक्तनं कर्म विद्यते नेह कस्यचित् ।
सर्गादौ सर्गरूपेण ब्रह्मैवेत्यं विजृम्भते ॥ २६
यथा ब्रह्मादयो भान्ति सर्गादौ ब्रह्मरूपिणः ।
भान्ति जीवास्तथान्येऽपि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २७
किंतु ये ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुध्यन्ते सात्त्विकोद्भवाः ।
अबोधा ये त्वचिदाख्यं बुद्ध्वा द्वैतमिदं स्वयम् ॥ २८
तेषामुत्तरकालं तत्कर्मभिर्जन्म दृश्यते ।
स्वयमेव तथा भूतैस्तैरवस्तुत्वमाश्रितम् ॥ २९
यैस्तु न ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुद्धं बोधमहात्मनि ।

स्वप्ने जाग्रदिव भाति तथा जाग्रन्मध्ये स्वप्नेऽपि भाति न त्वणुमा-
त्रमपि स्वप्नाज्जाग्रद्व्यन्यथा भातीति तदेवेदानीमपि तस्याद्वयत्व-
मेवेत्यर्थः ॥ २० ॥ ननु प्रलयसुषुप्त्योरस्य जगज्ज स्थितमिति कथं
सदैकस्वभावोऽयमित्याशङ्क्य नादर्शनमात्रेण जगत्तदा न स्थित-
मिति निर्णेतुं शक्यमित्याशयेनाह—अदृश्ये इति । चक्षुरद-
ृश्येऽपि पवने तादृशं सौरभं स्थितमिति यथा घ्राणजानुभवेन
निर्णयते तथा सुषुप्तप्रलयानुभविपुरुषादृश्यमपि जगत्पुरुषान्त-
रदृशा स्थितमेवेत्यर्थः ॥ २१ ॥ मनोमननत्यागेन दर्शने तु
कदापि क्वापि जगन्नासीदस्ति भविष्यतीति निरन्तरमेवात्मा
अद्वयः सुस्थिर इत्याह—समस्तेति ॥ २२ ॥ तर्हि प्राक्तनकर्मा-
नुसारेणैव मनो मनुते नान्यथेति कर्मैव संसृतिबन्धबीजं पर्य-
वसत्वं तयोषां निःशेषं नष्टं तेषां समस्तमननत्यागः सिध्यतीति
मन्यमानो व्याघस्तत्केषामस्ति केषां नास्तीति पृच्छति—भग-
वन्निति । तेषां नास्ति तेषां तत्कर्म विनापि मननतत्यागे कथं
भवतः ॥ २३ ॥ येषामधिकारप्रापकोपासनाफलान्तर्भावैणैव सह
सिद्धं चतुष्टयमिति न्यायेनौत्पत्तिकं तत्त्वज्ञानं तेषां कर्म नास्तीति
मुनिरुत्तरमाह—सर्गादिष्विति । आदिपदात्सनककपिला-
दयः । जन्मग्रहणं दग्धपटन्यायेन देहस्थितिप्रदर्शनार्थम् ॥ २४ ॥
आत्मत्वादेव सर्वात्मानः ॥ २५ ॥ कर्मशून्यास्ते कथं कर्मवता-
मात्मान इत्याशङ्क्य तद्वशा कर्म कस्यापि नास्तीत्याह—सर्गा-
दाविति ॥ २६ ॥ २७ ॥ केषां दृशा तर्हि कर्म विद्यते तानाह—

निरवद्यास्त एतेऽत्र ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥ ३०
सर्वात्म संविदोऽच्छत्वं ब्रह्मात्मन्येव संस्थितम् ।
तत्कचिज्जीववद्भानं स्वयमात्मनि पश्यति ॥ ३१
यत्र वेत्ति तु जीवत्वं तत्राविद्येति तिष्ठति ।
तत्र संसृतिनाम्नात्मा धत्ते रूपं तथास्थितम् ॥ ३२
स्वयमेव हि कालेन बुद्ध्वा स्वं रूपमात्मनः ।
स्वयमेव स्वरूपस्थं ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ ३३
यथा द्रवत्वादम्बन्तरेति चावर्ततामिव ।
ब्रह्म चित्त्वात्तथैतीव सर्गतामस्य सर्गकम् ॥ ३४
ब्रह्मभानमयं सर्गो न स्वप्नो न च जागरः ।
कस्य कान्यत्र कर्माणि कीदृशानि कियन्ति वा ॥ ३५
वस्तुतः कर्म नास्त्येव नाविद्यास्ति न सर्गधीः ।
स्वसंवेदनतः सर्वमसदेव प्रवर्तते ॥ ३६
ब्रह्मैव सर्गो भूतात्मा कर्म जन्मेति कल्पनाः ।
स्वयं कुर्वेदिदं भाति विभुत्वात्कल्पितार्थभाक् ॥ ३७
न संभवति जीवस्य सर्गादौ कर्म कस्यचित् ।
पश्चात्स्वकर्म निर्माय भुङ्क्ते कल्पनया स चित् ॥ ३८
जलावर्तस्थ को देहः कानि कर्माणि चोच्यताम् ।
यथाम्बुमात्रमावर्तो ब्रह्ममात्रं तथा जगत् ॥ ३९
यथा स्वप्नेषु दृष्टानां न प्राक्कर्म नृणां भवेत् ।
आदिसर्गेषु जीवानां तथा चिन्मात्ररूपिणाम् ॥ ४०
सर्गे सर्गतया रूढे भवेत्प्राक्कर्मकल्पना ।

किंत्विति । ये तु अबोधा अज्ञानावृताः सन्तः स्वस्य ब्रह्मत्वं
न बुध्यन्ते किंतु नाहं ब्रह्मेति ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुध्यन्ते असा-
त्त्विकात्केवलसत्त्वपरिणामविलक्षणरजस्तमोमिश्रसत्त्वपरिणामा-
दुद्भवो येषां तथाविधा जीवास्ते अचिदाख्यमिदं द्वैतं सत्यमिति
बुद्ध्वा तद्वासनावासिता एव प्राप्नुतास्तेषां कर्मभिः सहितं जन्म
उत्तरकालं दृश्यत इति परेणान्वयः ॥ २८ ॥ यतस्तैः स्वयमेव
तथा अचिदेहाद्यात्मभूतैः परमार्थधस्तु विस्मृत्य अवस्तुत्वमा-
श्रितमित्यर्थः ॥ २९ ॥ यैस्तु कदापि न बुद्धं ते निरवद्याः कर्म-
बन्धलक्षणावधरहिताः ॥ ३० ॥ अच्छत्वं स्वाभाविकमिति
शेषः । यतो ब्रह्म आत्मानि स्वस्वभावे एव संस्थितम् ।
क्वचिन्मलिनोपाधौ ॥ ३१ ॥ अविद्यापि जीवोपाध्यवच्छेदेनै-
वास्ते न शुद्ध इत्याह—यत्रेति ॥ ३२ ॥ स्वयमेवेति । 'ब्रह्म
वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवाऽवेदहं ब्रह्मासीति तस्मात्त-
त्सर्वमभवत्', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः
॥ ३३ ॥ अज्ञातब्रह्मणः सर्गताभ्रान्तिः स्वभाव एवेत्याह—
यथेति । अस्य सर्गकं स्वभाव इति शेषः ॥ ३४ ॥ का अस्य
सर्गतेति शेषः ॥ ३५ ॥ प्रवर्तते प्रयते ॥ ३६ ॥ विभुत्वात्सर्व-
शक्तिमत्त्वात्सत्यसंकल्पत्वात् ॥ ३७ ॥ पश्चात् अविद्यान्तः-
स्थितिकल्पनोत्तरम् । निर्माय देहादिना निष्पाद्य ॥ ३८ ॥
ब्रह्मभावदर्शने तु न कर्मसंभावनापीत्याह—जलेति ॥ ३९ ॥
आदिसर्गेषु शुद्धसात्त्विकदेहेषु ॥ ४० ॥ कुतो न तत्राह—

पञ्चाङ्गीवा भ्रमन्तीमे कर्मपाशवशीकृताः ॥ ४१
 सर्ग एव न सर्गोऽयं ब्रह्मेतत् किल तिष्ठति ।
 यत्र तत्र क कर्माणि कानि वा कस्य तानि वा ॥ ४२
 अपरिज्ञानमात्रं यत्स्वयं वै परमात्मनः ।
 तदेतत्कर्म बन्धाय तत्तज्ज्ञस्योपशम्यति ॥ ४३
 यावद्यावत्परिज्ञानं पण्डितस्य प्रवर्तते ।
 तावत्तावत्तदैवास्य कर्म शाम्यति बन्धनम् ॥ ४४
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० वे० मो० नि० उ० अ० वि० श्रवो० कर्मनिर्णयो नाम द्विचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४२ ॥

यन्नाम किल नास्त्येव तच्छान्तौ का कदर्थना ।
 परमार्थाद्वते बन्धः किञ्चिन्नाम न विद्यते ॥ ४५
 तावन्माया भवभयकरी पण्डितत्वं न याव-
 त्त्तत्पाण्डित्यं पतसि न पुनर्येन संसारचक्रे ।
 यत्नं कुर्यादविरतमतः पण्डितत्वेऽमलात्म-
 ज्ञानोदारे भयमितरथा नैव च शान्तिमेति ॥ ४६
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० वे० मो० नि० उ० अ० वि० श्रवो० कर्मनिर्णयो नाम द्विचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४३

मुनिरुवाच ।

सर्वेषामेव धर्माणां कर्मणां शर्मणामपि ।
 पण्डितः पुण्डरीकाणां भार्तेण्ड इव मण्डनम् ॥ १
 आत्मज्ञानविदो यान्ति यां गतिं गतिकोविदाः ।
 पण्डितास्तत्र शक्रश्रीर्जरचुणलवायते ॥ २
 पाताले भूतले स्वर्गे सुखमैश्वर्यमेव वा ।
 न तत्पश्यामि यन्नाम पाण्डित्यादतिरिच्यते ॥ ३
 पण्डितस्य यथाभूता वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ।
 दृग्निर्देवौ निरम्भोदे सकलामलमण्डले ॥ ४
 इदं दृश्यमविद्यात्म ब्रह्म संपद्यते क्षणात् ।
 बुधस्य योधात्सङ्गदाम सर्पत्वमिव शाम्यति ॥ ५

सर्ग इति । तेषां सर्गतया रूढ्यभावादेवेति भावः ॥ ४१ ॥
 ॥ ४२ ॥ तथा च न कर्मप्रयुक्तो बन्धः कित्वज्ञानप्रयुक्त एवेति
 तदेव कर्मबीजमिति कामं व्यपदिश्यतां नान्यदित्याह—अप-
 रिज्ञानमात्रमिति ॥ ४३ ॥ अत एव कर्माप्यविद्यात्वादेव यथा
 यथा ज्ञानप्रकर्षस्तथा तथा अपक्षीयत इत्याह—यावदिति
 ॥ ४४ ॥ ननु ज्ञानमात्रात्कथं वस्तुनाश इत्याशङ्क्य वस्तुत्वमेव
 कर्मणो नास्तीत्याह—यन्नामेति ॥ ४५ ॥ अत एव पाण्डित्यार्थ-
 मेव यत्नः कार्यत्वाद्भिना भयान्तेरित्युपसहरति—तावदिति ।
 यावत्पण्डितत्वं नास्ति तावत्कालमेव माया भवभयकरी ।
 'मेवार्तिमेषु कृज' इति खशो निषयोऽयं न । ग्रहणवत्ता
 प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधात् । तदेव पाण्डित्यं येन
 पुनः संसारचक्रे न पतसि । न तु शुष्कतर्कादिपाण्डित्यमत्रोपयु-
 ज्यत इत्यर्थः । अतः कारणादविरतममलज्ञानोदारे पण्डितत्वे
 श्रवणादियत्नं कुर्यात् । इतरथा उपायान्तरेण वो भयं शान्ति
 नैति । 'स एनमविदितो न मुनक्ति', 'उदरमन्तरं कुरुते अथ
 तस्य भयं भवति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ४६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारासायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कर्मनिर्णयो
 नाम द्विचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४२ ॥

पाण्डित्यस्य प्रशंसात्र तच्च चिन्मात्रदर्शनम् ।

चिदेव जगदित्येतद्भूयो पुनरुक्त्या समर्थ्यते ॥ १ ॥

सर्वेषामेव धर्माणां निर्णये धर्माविरुद्धलौकिककर्मणां निर्णये

यत्स्थितं ब्रह्मणि ब्रह्म कृतास्तेनैव सत्यता ।
 स्वभावैकात्मिकाः संज्ञा देहसर्गक्षयादिकाः ॥ ६
 सर्गो विद्यत एवायं न यत्र किल किञ्चन ।
 तस्य धर्माणि कर्माणि न चैवाक्षरमालिका ॥ ७
 पृथ्व्यादि संभवति चेत्तत्सकारणमस्तु तत् ।
 तदेव यत्र नास्त्येव तत्र किं तस्य कारणम् ॥ ८
 ब्रह्मणः प्रतिभातं यत्तदिदं जगदुच्यते ।
 तेनैव कुत एतानि पृथ्व्यादीनि क कारणम् ॥ ९
 स्वप्नद्रष्टुर्दृश्यनृणामस्ति काल्पनिकं यथा ।
 न वास्तवं पूर्वकामं जाग्रत्स्वप्ने तथा नृणाम् ॥ १०

तदुभयफलैहिकामुष्मिककर्मणां तारतम्यनिर्णये च सदेहप्रपन्थि-
 मेदनेन श्रोतॄणां बुद्धिविकासनः पण्डित एव सभामण्डनम् ।
 यथा पुण्डरीकाणां विकासे भार्तेण्डो नमोमण्डनं तद्वदित्यर्थः
 ॥ १ ॥ आमुष्मिकसुखमपि सर्वं पण्डितप्राप्यात्मसुखवारिष्ठ्ये
 सीकरादपि लघुतरमित्याह—आत्मज्ञानेति ॥ २ ॥ पाण्डित्या-
 त्पाण्डित्यफलादानन्दात् । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि
 मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेरिति भावः ॥ ३ ॥ पण्डितस्य
 मच्छास्त्रविचारजन्यज्ञानवत् परमार्थवस्तुत्पा दृष्टिः स्वात्म-
 न्येव प्रसीदति आह्लादते । सकलामलमण्डले शरत्पूर्णेन्दौ दृक्
 चक्षुरिव ॥ ४ ॥ बुधस्य पण्डितस्य सङ्गदामनि कल्पितं सर्पत्वमिव
 देहसर्गादिदृश्यजातं नोवाच्छाम्यति ॥ ५ ॥ तर्हि देहसर्गादि
 शान्तिर्ब्रह्मस्वभावादगत्या उत्पद्यते नेत्याह—यदिति । ब्रह्म
 स्वतत्त्वज्ञानेन ब्रह्मणि स्वस्वभावे यत्स्थितं तस्यैव तेनैव स्वभावे-
 कात्मिका देहसर्गक्षयादिकाः संज्ञाः कृता इति सत्यता परमार्थ-
 इत्यर्थः ॥ ६ ॥ कुत एवमिति चेत्परिनिष्ठब्रह्मणो दृश्यक्षया-
 ख्यधर्मकर्मशून्यत्वादित्याह—सर्ग इति । अक्षरमालिका तद्गो-
 धकपद्वाक्यादिरूपा च नैव ॥ ७ ॥ त्रैकालिकासत्त्वादेव
 दृश्यस्य सकारणकत्वं निरस्तमित्याह—पृथ्व्यादीति ॥ ८ ॥
 प्रतिभातं प्रतिभासः । न हि प्रातिभासिके धटे दण्डचक्रादि-
 कारणापेक्षास्तीति भावः ॥ ९ ॥ पूर्वं कामयते इति पूर्वकामं
 पित्रादिकारणं काल्पनिकमस्ति न वास्तवं यथा तथा जाग्रद्वे

यथा प्राक्कर्म पुंस्त्वे च स्वप्ने पुंसां न विद्यते ।
 इह जाग्रत्स्वप्नवृणां भातानामपि नो तथा ॥ ११
 जीवः सर्वेषु सर्गेषु स्वप्रार्थान्निखिलान्मिथः ।
 प्राक्कर्मसत्त्वं मिथ्यात्म यथावासनमेषु च ॥ १२
 सर्गादावथ देहान्ते भान्ति स्वप्रार्थवन्मिथः ।
 यथासंवेदनं जीवाः सन्तोऽसन्तश्च तेन ते ॥ १३
 यथासंवेदनं सर्वे भान्ति भावयतस्ततः ।
 ते सन्त्यात्मन्यपि स्वप्ने जाग्रतीवार्थदा मिथः ॥ १४
 संकल्पसंविदग्रस्थवस्तुनिष्ठतयाऽस्फुटम् ।
 फलं चाप्नोति ते स्वप्ने लोकनिष्ठतयाऽस्फुटः ॥ १५
 शुद्धा संवित्स्वभावस्था यत्स्वयं भाति भास्वरा ।
 तस्या भानस्य तस्यास्य जाग्रत्स्वप्नाभिधाः कृताः ॥ १६
 सर्गादावथ देहान्ते भातं यद्वेदनं यथा ।
 तत्तथाऽऽमोक्षमेवास्ते तदिदं सर्ग उच्यते ॥ १७
 जाग्रत्स्वप्नार्थसार्थस्य संविदश्च न भिन्नता ।
 अस्त्यप्रतिघरूपायाः प्रकाशालोकयोरिव ॥ १८
 अग्र्यौष्ण्ययोरिव तथा वातस्पन्दनयोरिव ।
 द्रवाम्भसोरिवाऽऽवीचि वा शैत्यानिलयोरिव ॥ १९
 सर्वमप्रतिघं शान्तं जगज्जातमसन्मयम् ।
 इत्थं सन्मयमेवास्ति नास्त्यर्थेन च संयुतम् ॥ २०

स्वप्नेऽपीत्यर्थः ॥ १० ॥ पित्रादिवत्कर्माप्यवास्तवमेवेत्याह—
 यथेति । पुंस्त्वे पुरुषादिभावे ॥ ११ ॥ मिथः पश्यतीति शेषः ।
 एषु च सर्गेषु यथावासनं मिथ्याभूतसर्वव्यवहारे प्राक्कर्मसत्त्व-
 मपि यथावासनं मिथ्यात्मैवेत्यर्थः ॥ १२ ॥ जीवाः सर्गो
 भूतभुवनादिसर्गस्तत्प्रसृतिर्देहसिद्ध्यन्ते संसारे स्वप्रार्थवदेव
 यथासंवेदनं स्वस्वसंवेदनान्यनतिक्रम्य भान्ति तेन स्वप्रार्थ
 इव संवेदनांशे सन्तो विद्यमाना इतरांशे असन्तश्चेत्यर्थः ॥ १३ ॥
 यतो यथाभावनं भान्ति अतः स्वप्नेऽपि सन्ति । मिथः परस्पर-
 मर्थदा अर्थक्रियासमर्थाः ॥ १४ ॥ ते तव स्वप्ने यथा विनापि
 बाह्यार्थं भोजनादिसंकल्पसंविदेव पाकादिसंविद्विक्रमेणाग्रस्थप्रासा-
 दिवस्तुनिष्ठा यस्यास्तयाविधात्वेन तृप्त्यादिफलं प्राप्नोति तथा
 जाग्रत्संकल्पसंविदपि । अस्फुटं स्वप्नः स्फुटा जाग्रदित्येतावानेव
 विशेष इत्यर्थः ॥ १५ ॥ स्फुटमस्फुटं वा यदेव भूत्वा स्वयं भाति
 तस्यास्तस्यास्य भानस्य जाग्रत्स्वप्नौ इत्यभिधा लोके कृताः ॥ १६ ॥
 आमोक्षं मोक्षपर्यन्तं तत्तथैवास्ते प्रवाहरूपेणेत्यर्थः ॥ १७ ॥
 जाग्रत्स्वप्नयोर्ये अर्थाः प्रसिद्धास्तेषामप्रतिरूपायास्तत्संविद-
 द्वातो न भिन्नतेत्यर्थः ॥ १८ ॥ आवीचि वीचीनमिव्याप्य
 स्थितयोर्द्रवाम्भसोरिव वा ॥ १९ ॥ अग्रतिघममूर्तचिद्रूपत्वा-
 त्प्रतिघातासहम् । इत्यमधिष्ठानचित्त्वभावत्वप्रकारेण तु सन्म-
 यमेवास्ति । नेतिनेतीतिश्रुत्या निविध्यमानत्वान्नास्त्यर्थेन नञा
 तदर्थेन वा प्रतियोगिभावेन संयुतं च ॥ २० ॥ ब्रह्म जगदा-
 त्मना प्रोद्भूय प्रलयात्मना मृत्वा च दृश्यानुभवरूपित्वात्तदन-
 नुभवरूपं च सार्वत्रिकव्यवहारे । परमार्थे तु एकमेवाचलं

ब्रह्म प्रोद्भूय मृत्वा च दृश्यानुभवरूपि च ।
 चिन्मात्रमजरं शान्तमेकमेवामलं स्थितम् ॥ २१
 कार्यकारणतार्थानां या यथा हृदि कल्पिता ।
 ब्रह्मणा पुरुषेणेव नगर्गन्तस्तथैव सा ॥ २२
 ब्रह्मणो हृदि सर्गोऽयं हृदि ते स्वप्नपूर्वथा ।
 कार्यकारणता तत्र तथास्तेऽभिहिता यथा ॥ २३
 संविद्वनोदरे सर्गे कार्यकारणता स्थिता ।
 तथा यथोहिता तेन त्वया वा कल्पनापुरम् ॥ २४
 चिता संकल्परूपिण्या सर्गे संकल्पपत्तने ।
 त्वयैव स्थापिता संस्था कार्यकारणरूपिणी ॥ २५
 आकाश एव कचनं यच्चित्ते स्वात्मरूपिणी ।
 नियतं संनिवेशत्वात्तदन्तः सर्ग उच्यते ॥ २६
 या संविद्रव्यवस्थास्ते हृदि संकल्पपत्तने ।
 सैषा स्वभावसंसिद्धिः कार्यकारणतार्थजा ॥ २७
 प्रथमं यद्यथा भाति चित्त्वमस्ति तथेह तत् ।
 तस्यैव नियतिः कालो देशादीत्यभिधा कृता ॥ २८
 या नामाशु यथा भाति चेतनाकाशशून्यता ।
 तथा तथा वस्तुतया कार्यकारणताश्रिता ॥ २९
 चिच्चमत्कारमात्रेऽस्मिन्सर्गमे भावरूपिणि ।
 पूर्वं भावाः प्रवर्तन्ते पश्चात्सर्गाभिधा विदः ॥ ३०

स्थितम् ॥ २१ ॥ नगर्गन्तर्मृत्कुब्जादीनामर्थानां पुरुषेणेव गगन-
 पवनादीनां कार्यकारणता ब्रह्मणा या यथा कल्पिता सा तथै-
 वास्ते । न नियतिभङ्गायेदं शास्त्रं किंतु तत्सत्यतामेदादिभङ्गा-
 येत्यर्थः ॥ २२ ॥ तत्सत्यतामग्रे स्वाप्नवस्तुनियतिवचिन्मात्रमेव
 पर्यवस्यतीत्याह—ब्रह्मण इति । अभिहिता स्वाप्नी यथा तथा
 ॥ २३ ॥ यथा ऊहिता सर्गादौ संकल्पिता ॥ २४ ॥ त्वयापि
 स्वकीयसंकल्पपत्तने स्वेच्छानुसारिकार्यकारणरूपिणी व्यवस्था
 सुस्थापेति सिद्धवत्कृत्याह—चित्तेति ॥ २५ ॥ संकल्पनगरत-
 दन्तर्गतव्यवस्थयोश्च चिदाकाशमात्रकचनत्वं खानुभवसिद्धम् ।
 अयं दृश्यमानसर्गोऽपि हिरण्यगर्भसंकल्पजत्वात्संकल्पसर्गान्त-
 र्गत एवोच्यते श्रुतिपुराणादौ न तद्वहिर्भूत इत्यर्थः ॥ २६ ॥ ते
 हृदि संकल्पपत्तने या संविद्रवेष्टिदादित्यस्य स्वप्रकाशतालक्षणा
 अवस्था सदैव आस्ते सैषैव कार्यकारणतार्थजा स्वभावसंसिद्धेति
 न ततोऽणुमात्रमप्यन्येत्यर्थः ॥ २७ ॥ तदेवोपपादयति—
 प्रथममिति । ‘स भूरिति व्याहरत्स भुवमसृजत’ इत्यादिश्रुते-
 र्हिरण्यगर्भहार्दचित्ति सर्गारम्भे यत्पृथिव्यादिपथा गन्धकाठि-
 न्यादिप्रकारेण चित्त्वं भाति स्फुरति तदिदानीमपि तथैवास्ति ।
 तस्यैव तथा स्थितस्य पृथिव्या गन्धकाठिन्यनियतिरिपां द्रवत्व-
 नियतिस्तेजस उष्णप्रकाशनियतिर्वायोः स्पन्दसौक्ष्म्यनियतिरि-
 त्यादिरूपेण अतीतानागतादिकालरूपेण प्राचीप्रतीच्यादिदेशादि-
 रूपेण च स्थितस्य तथा तथा अभिधा कृतेत्यर्थः ॥ २८ ॥ एवं
 गोघटादिषु सर्वत्र बोध्यमित्याह—या नामेति । यथा गौः
 पयसः कारणं घटस्तद्धारणस्य ॥ २९ ॥ ‘यद्धि मनसा ध्यायति
 तद्वाचा वदति’ इति श्रुतेर्मनसि प्रथमं रूपकल्पना पश्चाज्जाम-

शून्यतास्त्रिजगद्रूपास्तथा चिद्योमनि स्थिताः ।
 अनन्याः पवने सौम्ये स्पन्दसत्ता यथा निजाः ॥ ३१
 व्योम्नि सौषिर्यनैविड्यं यथा नीलमिति स्थितम् ।
 चित्ति चेतननैविड्यं तथा सर्ग उपस्थितम् ॥ ३२
 आभात एव भातेऽस्मिन्कृच्छ्रात्सर्गे विसर्गता ।
 बुध्यते रज्जुभुजगे रज्जुरूपं यथा पुनः ॥ ३३
 मृतः स स्वप्रवत्सर्वः संपद्यति पृथग्जगत् ।
 तच्चान्यदिदमन्यच्च नित्याप्रतिघमम्बरम् ॥ ३४
 व्याघ्र उवाच ।
 परतः सुखदुःखार्थं देहः संपद्यते कथम् ।
 किमस्य हेतुः के वास्य हेतवः सहकारिणः ॥ ३५
 कुर्वन्ति धर्माधर्माश्चेत्तेन प्रतिघरूपिणा ।
 तदस्याप्रतिघं रूपं कुर्वन्तीत्यसमञ्जसम् ॥ ३६
 मुनिरुवाच ।
 धर्माधर्मौ वासना च कर्मात्मा जीव इत्यपि ।
 पर्यायशब्दभारोऽत्र कल्प्यते न तु वास्तवः ॥ ३७
 चित्त्वात्कल्पितचित्त्वेन स्वयं चिन्नमसात्मनि ।
 कृतानि नामान्येतानि कश्चिदस्तीति चेतसा ॥ ३८

कल्पनेत्याह—चित्त्वमत्कारेति । भावो भावना सकल्पस्तद्रूपिणि ॥ ३० ॥ यत्र या कल्पना सा शून्यापि तन्मात्ररूपेति दृष्टान्तेन दर्शयति—शून्यता इति । यथा पवनस्य स्पन्दनत्ता तथ्यातिरिक्तस्वरूपशून्या तदनन्या तथा चिद्योमनि त्रिजगद्रूपाः शून्यता अपोत्यर्थः ॥ ३१ ॥ तथा च चिद्वनतैव ध्रुवतद्गता जगदात्मना स्फुरतीत्याह—व्योम्नीति । सौषिर्यनैविड्यमिति । धूमधूत्यादिग्याप्ते नमसि नैत्यादर्शनादिति भावः ॥ ३२ ॥ कदा पुनर्वर्त्तन्ति विसर्गता बुध्यते तदाह—आभात इति । सर्गे आभाते त्रिविधपरिच्छेदशून्यचिन्मात्रसमावृतो भाते सतीत्यर्थः । कृच्छ्रात्साधनाभ्यासकेशात् ॥ ३३ ॥ ऐहलौकिक इव पारलौकिकः सर्गोऽप्येतादृशेवेत्याह—मृत इति । तद्य तदन्यत्तदुत्तरपारलौकिकं च इदं च एतदन्यदैहिकं च सर्वमप्रतिघममूर्तं चिदम्बरमेव ॥ ३४ ॥ एतदेहपातात्परतः अन्यो देहः कथं संपद्यते । हेतुरपावानम् । हेतवो निमित्तानि ॥ ३५ ॥ ये धर्माधर्मा एव स्वभोगार्थं सर्वं कुर्वन्तीति मन्यन्ते तेषां कर्मनिर्मितस्य ज्ञानेन निवृत्त्यदर्शनादनिर्माक्षप्रसङ्ग इत्याह—कुर्वन्तीति । प्रतिघरूपिणा तेन देहादिभावेन स्थितस्यास्याप्रतिघं तन्मोक्षार्थं रूपं कर्माणि कुर्वन्तीत्यसमञ्जसम् । कृतकस्यानित्यत्वावर्जनादिति भावः ॥ ३६ ॥ विहितनिषिद्धाचरणे संस्काररूपेण स्थिते धर्माधर्मावित्युच्येते तादृशसंस्कारपुजात्मकमेव मनस्त्वदेव चिदाभासव्याप्तं जीवः स च प्राणादिचेष्टाप्रधानत्वात्कर्मात्मा स एव स्वावासनानुसारिदेहादि सकल्पयन्स्तदात्मा संपद्यत इवेति चित एवेति सर्वे प्रतिभासविशेषास्तत्र कामं यथेच्छं कल्पयन्तु फलतो न भेद इत्याशयेन द्वितीयप्रश्नस्य

संविदात्मा स्वयं चित्त्वादेहं वेत्ति स्वमेव खे ।
 मृत्वा सन्तं सन्तमिव संकल्पस्वप्नयोरिव ॥ ३९
 स्वयं स्वप्न इवाभाति मृतस्य परलोकधीः ।
 तमेव पश्यति चिरं न तत्राप्यस्ति सत्यता ॥ ४०
 मृतं निर्माति चेदन्यः कथं वास्य स्मृतिर्भवेत् ।
 कथं वा स्यात्स एवासौ चेतनत्वं तमेव खम् ॥ ४१
 मृतौ न जायते तस्माच्चेतसैव स केवलम् ।
 इहायमित्यमित्येव वेत्ति खे वासनात्मकम् ॥ ४२
 स्वमेव भावमभ्यस्तमास्ते सोऽनुभवंश्चिरम् ।
 स्फुटप्रत्ययवांस्त्वत्र सत्यमित्येव चेत्यलम् ॥ ४३
 सात्मा स्वमेव तत्रैव स्वप्नाभं दृश्यमाहरन् ।
 पुनः स्वमरणं वेत्ति पुनर्जन्म पुनर्जगत् ॥ ४४
 अलीकजालमेवं खे पश्यन्प्रत्येकमास्थितः ।
 पश्यत्याचारयत्यस्ति किञ्चित्कश्चिन्न कस्यचित् ॥ ४५
 इत्येवं जगतां सन्ति कोटीनां कोटिकोटयः ।
 परिग्रातास्तु ता ब्रह्म केवलं दृश्यमन्यथा ॥ ४६
 ताभिर्न कस्यचित्किञ्चिदावृतं न च सन्ति ताः ।
 तासां च वेत्ति प्रत्येकमिदमेव जगत्त्विति ॥ ४७

प्रथमं मुनिरुत्तरमाह—धर्माधर्मावित्यादिना । शब्दभाः शब्दराशिः । वास्तवोऽयमेदस्तु न त्वस्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥ कथि-
 दृश्यदेहादिप्रपञ्चोऽयस्तीति चेतसा कल्पितेन चित्त्वेन विदामा-
 सरूपेण चिन्नमःस्वरूपे आत्मनि स्वयं सौर्नैव एतानि धर्माधर्मा-
 दीनि तत्फलमुत्पद्यमानानि च नामानि कृतानि । 'सर्वाणि रूपानि
 विनित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवन्द्यदास्ते' इत्यादिश्रुतेरिति
 भावः ॥ ३८ ॥ प्रथमप्रश्नं समाप्तो—संविदात्मेति ॥ ३९ ॥
 मरणोत्तरकालं देहादिकल्पनमपि स्वप्नदेवेत्याह—स्वयमिति
 ॥ ४० ॥ पित्रादिरीश्वरो वा मृतं पुनर्निर्मातीति भ्रमं वार-
 यति—मृतमिति । अन्यथेति निर्माति तदा स एवासौ कथं स्यात् ।
 'तत्सृष्टा तदेवानुप्राविशत्' इति निर्मातुरेव प्रवेशश्रवणात् ।
 तस्य च सात्मात्वात् । इष्टपक्षावस्य सन्न्यपानादिप्रवृत्त्यनुकूल
 स्मृतिः कथं वा भवेत् । तमेव पूर्वसिद्धमात्मानमाश्रित्य जातस्य
 चेतनत्वं यत्किञ्चिदं तदपि खं शून्यमेव स्यादित्यर्थः ॥ ४१ ॥
 प्रथमप्रश्नोत्तरमुक्तमनुवदक्षुपसंहरति—मृताविति । न जायते
 जन्म न लभते किंतु चेतसैव केवलमिहायमित्यं जातोऽस्मीति
 मृपैव खे जन्मादिविक्रियाशून्ये आत्मनि कल्पनया वेत्ति ॥ ४२ ॥
 तस्यैव भावस्याभासात्स्फुटप्रत्ययतया जन्मादिव्यवहारो लोक-
 वेदयोर्न वस्तुत इत्याह—स्वमेवेति ॥ ४३ ॥ आहरणव्यस्य
 ॥ ४४ ॥ प्रत्येकं व्यष्टिभावमास्थितः सन् पश्यति स्वसंनिधि-
 मात्रेण स्वाध्यस्तकार्यकारणानि विशेषेष्वचारायति प्रवर्तयति ।
 जाग्रत्स्वप्नयोः सुषुप्तिप्रलयमोक्षेष्वस्ति च । परमार्थस्तु न
 किञ्चित्कस्यचिददनीयं नापि कश्चिदस्तीत्यर्थः ॥ ४५ ॥ अन्यथा
 अपरिज्ञातास्तु केवलं दृश्यमेव 'स एनमविदितो न मुनकीर्ति
 श्रुतेरिति भावः ॥ ४६ ॥ ताभिर्जगत्कोटिकोटिभिः । कि

भूतानि तासां प्रत्येकं तथैवान्योन्यमास्थिते ।
 सत्यान्येवासत्यदृष्ट्या सत्यदृष्ट्या त्वजं पदम् ॥ ४८
 सद्यद्विदितवेद्यस्य तदज्ञस्यासदक्षयम् ।
 असद्यत्संप्रबुद्धस्य तत्सदज्ञस्य सुस्फुटम् ॥ ४९
 चित्तेर्यद्यथा भानं तत्तत्सत्यं यथा यतः ।
 सद्रूपाणि समग्राणि भूतानीमान्यतो मिथः ॥ ५०
 नित्यमन्योन्यसत्यानि तानि तान्येव वाप्यतः ।
 किल संविद्धिनिर्णयं रूपमप्रतिघं यतः ॥ ५१
 संविन्मात्रविनिर्णयं कान्यता नान्यता कथा ।
 यथासंवेदनं भाते वस्तुवौघे क द्वितैकते ॥ ५२
 तदेवेदमिदं ज्ञप्तेस्तदेवेदं भवत्यलम् ।
 तदेवेतत्तदेवेति भवेज्ज्ञप्तेरसत्यतः ॥ ५३
 तच्चेदर्थस्ततो ज्ञप्तेर्नायं तस्याः पृथक् स्थितः ।
 स्थिते ज्ञप्त्यात्मनि त्वर्थे त्वज्ञप्त्यायं ततो व्रजेत् ॥ ५४
 ज्ञानं यदेव तज्ज्ञेयं ज्ञेयस्यासंभवात्पृथक् ।
 यथा ज्ञानमतो ज्ञेयं तनोत्यात्मानमात्मना ॥ ५५
 पश्यन्तोऽपि मिलन्तोऽपि पृथक्सर्गा न किञ्चन ।
 सत एवासतो ज्ञस्य मूर्खज्ञातास्तु वेद्मि नो ॥ ५६
 एकं प्रबोधतः सर्वं चिन्मात्रं तावदात्मखम् ।

तदेवानेकसंविद्या सहस्रं विज्जडात्मनाम् ॥ ५७
 एकं तथा च चिन्मात्रं स्वप्ने लक्षात्म तिष्ठति ।
 पुनर्लक्षात्म तत्स्वप्नादेकमास्ते सुषुप्तके ॥ ५८
 चिद्योमि स्वप्नसंविच्चिरां सैव जगदुच्यते ।
 सुषुप्तं प्रलयः प्रोक्तस्तस्माद्व्यायोऽयमेव सन् ॥ ५९
 एकैव संविधानात्वं नृलक्षत्वं च गच्छति ।
 शून्यत्वं च तथार्थत्वं स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥ ६०
 इदमप्रतिघं सर्वं किल वेदनमात्रकम् ।
 शुद्धं तद्वद्यथा यत्र भाति तत्र तथा भवेत् ॥ ६१
 एकैव संवित्सर्गादौ भवत्यग्न्यम्बुखादिकम् ।
 पृथ्व्यादि तावत्सर्गार्थं स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥ ६२
 संविदाकाशरूपैव भाति पृथ्व्यादिनामिका ।
 यत्तदेव खमेवेदं जगदित्येव भासते ॥ ६३
 संवित्सप्रतिघं भाति भाति चाप्रतिघं तथा ।
 न वस्तुतस्तु प्रतिघा संवित्सान्ते निवर्तते ॥ ६४
 यासि पूर्वा पश्चिमां च दिशं वेत्सि चिरं विदन् ।
 प्रतिघं नाम ते नास्ति न च सप्रतिघा क्वचित् ॥ ६५
 दृष्टं संकल्पितं धार्थं सद्भाभ्यस्यति यश्चिरम् ।
 सोऽवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छान्तो निवर्तते ॥ ६६

त्वयमात्मा तासां मध्ये प्रत्येकमेकैको जीव एकं जगदिदमेव
 जगज्ज्ञान्यदिति वेत्ति ॥ ४७ ॥ तासां जगत्कोटीनां पृथिव्या-
 दिपञ्चभूतानि चतुर्विधभूतग्रामाश्च प्रत्येकमास्थिते तत्तज्जीवा-
 भिमते जगति तथैव न विसदृशानीत्यर्थः । तानि चाऽसत्यया
 व्यवहारदृष्ट्या सत्यानि । सत्यया परमार्थदृष्ट्या त्वजं ब्रह्मपद-
 मेवेत्यर्थः ॥ ४८ ॥ अत एव ज्ञाज्ञयोः सत्यासत्ये परस्परविप-
 रीते इत्याह—सद्यदिति ॥ ४९ ॥ अथवा परमार्थसत्यचित्ति
 मानरूपत्वात्सर्वं सत्यमेवेत्यवैपरीत्यमेवेत्याह—चित्तेरिति ॥ ५० ॥
 अथवा यं प्रति यदा यज्जगद्भाति तं प्रति तदा तत्सत्यमिति व्यव-
 स्थितं सत्यत्वमित्याह—नित्यमिति । यतो जगद्रूपं सत्यमसत्य-
 मिति वा सत्यसंविदैव विनिर्णयं सा चेद्भगवती संवित्सत्यमेवेति
 निर्णयति कस्तद्वैपरीत्यं तदन्यः साधयेदिति भावः । अप्रतिघं
 केनापि प्रतिहन्तुमशक्यम् ॥ ५१ ॥ अन्यतानान्यते अत-
 थावतथात्वे तयोः कथा का । अयं न्यायो वस्तुमेदामेद-
 द्वित्वैकत्वादौ योज्य इत्याह—यथासंवेदनमिति ॥ ५२ ॥
 अस्तुवेवं किं ततो भवति तत्राह—तदेवेति । इदं ज्ञेयं तत्
 ज्ञानमेवेति ज्ञानज्ञेयामेदज्ञप्तेर्वशादिदं दृश्यजातं तज्ज्ञानमेव
 भवति । तावत्तैव सर्वदृश्यग्रासाच्चिदद्वैतं सिद्धमिति भावः । ननु
 ज्ञानापलापेनेत्यं ज्ञेयमात्रपरिशेष एव किं न स्यात्तत्राह—तदे-
 वैतदिति । तज्ज्ञानमेतज्ज्ञेयमेव । तथा च तद्दृश्यमेव परिशि-
 ष्टमित्येतच्च ज्ञप्तेरसत्यत्वाद्भवेत्संभान्येत । तथा सति निर्ज्ञप्तिका
 ज्ञेयसिद्धिरेव न स्यादिति भावः ॥ ५३ ॥ अतः परिशेषाज्ज्ञा-
 नमेवार्थवेदयं प्रपञ्चस्वस्या ज्ञप्तेः पृथक् न स्थितः । एवं सर्व-
 स्मिन्नर्थे ज्ञप्त्यात्मनि स्थिते सति अयं द्रष्टा अज्ञप्त्या तदज्ञानेनैव

ततो ज्ञप्तिस्वभावाद्भजेत्प्रच्यवेत न वस्तुत इत्यर्थः ॥ ५४
 तथा चाज्ञानज्ञानमेव ज्ञेयजगदात्मतामात्मनैव तनोतीति फलि
 तमित्याह—ज्ञानमिति ॥ ५५ ॥ तथा च पृथगसतो ज्ञप्त्यात्म-
 सत एव सर्गान्पश्यतो ज्ञस्य तत्त्वविदः पश्यन्तो गृह्णन्तश्च
 छुरादिसर्गास्तौर्मिलन्तो रूपादिसर्गा अपि ज्ञप्तिव्यतिरिक्ता
 किञ्चनेति तत्त्वम् । मूर्खज्ञातास्तु सर्गानहं नो वेद्मि ॥ ५६
 विज्जडात्मनामज्ञजीवानाम् ॥ ५७ ॥ एकस्यैव विदात्मन
 स्वप्ने लक्षकोट्यात्मत्वं सुषुप्तावेकात्मत्वं च प्रसिद्धमित्याह—
 एकमिति ॥ ५८ ॥ स्वप्नसुषुप्तयोरुक्तो न्यायः सर्गप्रलययोरा
 समानस्तयोस्तदमेदादित्याह—चिद्योमितीति ॥ ५९ ॥ भोग्यात्
 ना नानात्वं भोक्तात्मना नृलक्षत्वं च ॥ ६० ॥ ६१ ॥ सर्गा
 सर्गसिद्ध्यर्थं पृथ्व्यादि तावद्भवति । वत्करणमविकारिताद्योत
 नार्थम् ॥ ६२ ॥ तदेव स्पष्टमाह—संविदिति ॥ ६३ ॥ स
 तिघं नश्वरं मूर्तमिव, अप्रतिघं नित्यममूर्तमिव च । वस्तुतस्तु
 प्रतिघा नाश एव नास्ति । यतः सा प्रतिघाप्यन्ते निवर्त-
 नितृता च संविदेव परिशिष्यते ॥ ६४ ॥ अप्रतिघत्वमेव संविद
 समर्थयति—यासीति । त्वं मनसा पूर्वा पश्चिमां च दिशं चि
 यासि तत्र तत्र च दृष्टश्रुतानुमितादीनर्थान्विदन्स्वं वेत्सि । तः
 संविद्रूपस्य ते प्रतिघं नाम नास्त्येवाऽतः क्वचिदपि संवित्सप्रतिघ
 नेति सिद्धमित्यर्थः ॥ ६५ ॥ ननु जीवचित्संकल्पानां बहूना
 भोगता दृश्यते सैव तस्याः प्रतिघात इति सप्रतिघत्वमिति
 चेत्तत्राह—दृष्टमिति । दृष्टं प्रमाणसिद्धं संकल्पितमर्थं यः पुरुष
 सह नैरन्तर्येण चिरमभ्यसति सोऽवश्यं तदवाप्नोति । तथा च
 संकल्पस्यादाव्यादेव भोगता । न ह्यदृढः कार्याक्षम इत्येतावत्

यासि पूर्वा पश्चिमां च दिशं वेति चिरं विदन् ।
 य आस्ते यात्यसौ तत्तामन्यस्त्यक्त्वा तु नेतराम् ६७
 दृष्टः संकल्पितश्चार्थः स्यामित्यचलसंविदः ।
 द्वयं भवेद्द्वयं नश्यत्यन्यस्याचलसंविदः ॥ ६८
 दक्षिणादुत्तरां वाशां यामीत्यचलसंविदः ।
 द्वयं भवेद्द्वयं नश्यत्यन्यस्याचलसंविदः ॥ ६९
 खे पुरं स्यां भुवि मृगः स्यामित्यचलसंविदः ।
 द्वयं भवेद्द्वयं नश्यत्यन्यदन्यस्तु तज्जगत् ॥ ७०
 एकं प्रबोधतः सर्वं चिन्मात्रं तावदात्मखम् ।
 तदेवानेकसंविन्त्या सहस्रं चिज्जडात्मनाम् ॥ ७१
 शरीरमस्त्वप्रतिग्रमथ सप्रतिघं च वा ।
 स्वप्नात्मकोऽयं संसारो जीवस्येह परत्र च ॥ ७२
 एतन्मलेच्छादिदेशेषु मृतानां दर्शनात्पुनः ।
 स्मृतिपूर्वं च कथनात्प्रत्यक्षमनुभूयते ॥ ७३
 ये मृता भस्मसाज्जाता म्लेच्छदेशेषु ते पुनः ।
 आगत्य कथयित्वा गच्छन्त्यप्रतिघात्मकाः ॥ ७४

चितः सप्रतिघलम् । सर्वत्र तत्प्रसङ्गादिति भावः ॥ ६६ ॥
 अथवा अदृष्ट सकल्पः अदृष्टमेव मानोरथिकं दिगन्तरगमनं
 तत्रत्यपदार्थदर्शनादि करोति । दृष्टस्तु दृष्टमिति न तस्यापि
 भोक्षलमित्याशयेनाह—यासीति । त्वं मनसा पूर्वा पश्चिमा च
 दिशं यासि । तत्र तास्तान्पदार्थांश्चिरं विदन् यः संकल्पयित्वा
 आस्ते स तत्तां स्वसंकल्पितदिगन्तरगमनतत्रत्यपदार्थायात्मता
 स्वसंकल्पानुसारेण याति । यतः अन्यः पुरुषस्तु संकल्पं त्यक्त्वा
 इतरां दिशं मनसापि न याति । अनेनैव विशेषेण तत्र चिद-
 प्रतिघेयार्थः ॥ ६७ ॥ ऐन्द्रवादेः सकल्पितार्थोऽहं स्यामिति
 संकल्पादचलसंविदो द्वयं प्रथमं प्रातिभासिकं संकल्पदाढ्यं
 व्यावहारिकत्वेति द्वयं भवेदित्ययमर्थो दृष्टः । अन्यस्यासंकल्प-
 यितुः पुरुषान्तरस्य स्वात्मनि विषयान्तरे वा अवलसंविदोऽपि
 तद्वयमपि नश्यति न दृश्यत इत्यर्थः ॥ ६८ ॥ एवं दक्षिणादेशा-
 दुत्तरामन्यां वा आशा यामीत्यचलसंविदो मानसं शरीरे चेति
 द्वयं भवेत् । पूर्वपश्चिमगमनद्वयं च नश्यति ॥ ६९ ॥ ७० ॥ तत्त्व-
 प्रबोधतः सर्वमेकमेव चिन्मात्रं तदेवाप्रबोधतोऽनेकसंविन्त्या
 सहस्रं चिज्जडात्मनां जीवानां भवतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥ ननु चिदेव
 चेच्छरीराकारेणास्ते तर्हि तस्य सप्रतिघत्वाच्चितोऽपि सप्रति-
 घता प्रसक्ता तत्राह—शरीरमिति । चिद्रूपेण शरीरमप्रतिघ-
 मेवास्तु अथवा अन्यरूपेण सप्रतिघं वास्तु नैतावता कश्चिदोषो
 मित्यर्थगतगुणदोषैरधिष्ठानादूषणादिति भावः ॥ ७२ ॥ शरीर-
 नाशे तेन सह जीवो न नष्ट इत्येतत्कथं ज्ञायत इति चेत्प्रत्य-
 क्षाच्छब्दाधेनाह—एतदिति । म्लेच्छादिदेशेषु मृतानां
 पिशाचदेहेनेह्यगतानां भूतविशेषैः प्रत्यक्षं दर्शनात्पूर्वतनस्वीय-
 गृहभ्यापारादीनां तैः स्मृतिपूर्वकं कथनान्न जीवचित्सत्त्वं प्रत्यक्ष-

एष चेज्जीवतो धर्मस्तद्देशान्तरगे जने ।
 मृत इत्येव बुद्धेऽर्थे कस्माच्चैव प्रवर्तते ॥ ७५
 जीवधर्मः सोऽपि संश्रेण्मृतधर्मोऽपि किं न सन् ।
 यादृगनुभवस्त्वस्मिन्समे न्यायद्वये स्थिते ॥ ७६
 स्वप्नवज्जगदाभानमित्येवं सत्यखण्डितम् ।
 आर्यानुभवशास्त्राणामनेनास्त्येकवाक्यता ॥ ७७
 दृष्टिजालं जनौघानां पश्यतामिन्दुमन्दिरे ।
 यादृगप्रतिघं तादृगजगत्सदसदात्मकम् ॥ ७८
 सन्मात्रमात्रानुविधमच्छानुभवमात्रकम् ।
 चिन्मात्रं भानमात्रात्म सर्वार्थात्मार्थवर्जितम् ॥ ७९
 सर्वमप्रतिघं शान्तं जगदेकं चिदम्बरे ।
 अनिङ्गनमनाभासमात्मन्येवात्मनास्यताम् ॥ ८०
 अचला संविदेवास्ते स्थिरं कृत्वा यथा यथा ।
 तथा तथा भवत्याशु किमसर्तिकं च वापि सत् ॥ ८१
 शरीराण्यथ कर्माणि दुःखानि च सुखानि च ।
 यथा स्थितान्युपायान्तु यान्तु वा कस्य किं ग्रहः ॥ ८२

मनुभूयते ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ जीवतो भूतवैद्यादेरेवैष पिशाचदर्श-
 नसंभाषणादिभ्रमो धर्मो न भूतस्यागमनं सभाषणं वेति चार्वा-
 ककल्पना प्रत्याचष्टे—एष इति । वस्तुतोऽमृते मृत इति
 भ्रान्त्या बुद्धेऽर्थेऽपि एवं दर्शनसंभाषणादिव्यवहारः कस्माच्च
 प्रवर्तते ॥ ७५ ॥ किंच जीवधर्मः सोऽपि भ्रमः संश्रेण्मृतस्य
 सभाषणादिः किं न सन् । अर्थसिद्धावनुभवशरणाभसि-
 न्जीवति यादृगनुभवः स मृतेऽपि समः । एवं न्यायद्वये समे
 सति को विशेष इत्यर्थः ॥ ७६ ॥ एवमनुभवस्यार्थसाधकत्वे
 जाग्रत्स्वप्नानुभवयोरपि यावद्बाधं तुल्यमर्थसाधकत्वं प्रबोधेना-
 नुभवमात्रपरिशेषत्वेति स्वप्नवदेव जगदाभानमिति यत्प्रतिज्ञात-
 मेतदखण्डितं दृढीभूतम् । अनेन च विद्वदनुभवानाम् । 'तस्य
 त्रय आवाससाधकः स्वप्नाः', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'
 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादिशास्त्राणां चानेनैकवाक्यता पर-
 स्परसंवादेनैकार्थनिष्ठता अस्ति । उपपद्येति यावत् ॥ ७७ ॥
 इन्दुमन्दिरे चन्द्रविम्बे पश्यतां जनौघानां दृष्टिजालं यादृग-
 प्रतिघं परस्परप्रतिघातशून्यं सदसदात्मकं कस्यचित्सत्कस्य
 चिदसदित्येवमात्मकं जगदपि तादृगप्रतिघमित्यर्थः ॥ ७८ ॥
 ग्राह्यं सर्वं सत्त्वेन गृह्यमाणं सन्मात्रस्यैव मात्राः अंशनेदाननु-
 विधते । ग्राहकं च अच्छानुभवमात्रकम् । न च सन्मात्रमात्रा-
 समानं तिष्ठतीति तत्सदेव । तदेव चार्थवर्जितमपि सर्वार्था-
 त्मकं स्फुरतीति सर्वमप्रतिघं शान्तं चेत्यर्थः ॥ ७९ ॥ उत्तम-
 र्थमनुभावयितुमुपायमुपदिशति—अनिङ्गनमिति ॥ ८० ॥
 यथा यथा मनः स्थिरं कृत्वा आस्ते तथा तथा आशु भवतीति
 परेणान्वयः ॥ ८१ ॥ कस्य किमिषयो ग्रह उपादानम् ॥ ८२ ॥

१ परेणेत्यधिकं वा पूर्वमेकमर्थं पतितमिति वा मन्तव्यम् ।

इत्थमस्तु सदधान्यथास्तु वा
मेव भूद्वचतु कोऽत्र संभ्रमः ।

मुञ्च फल्गुनि फले फलावहं
बुद्धवानसि कृतं परिभ्रमैः ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० निर्वाणबोधोपदेशो नाम त्रिचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४४

मुनिरुवाच ।

सर्वथाभावभावेषु स्वप्नसंवेदनात्मसु ।
नित्याप्रतिघरूपेषु किं बद्धं किं विमुच्यते ॥ १ ॥
खे दृष्टिभासां स्फुरणं यादृशं तादृशं जगत् ।
विपर्यस्यत्यविरतमबोधाक्षयते स्थिरम् ॥ २ ॥
यद्यथा पुरसंस्थानं चिरैरेति तदन्यताम् ।
जगदप्येवमनिशं वार्यावर्तविवर्तवत् ॥ ३ ॥
भूम्यम्बुम्बरशैलादि भवत्यसदिदं क्षणात् ।
तस्मिन्नेव क्षणोदन्तैर्युगकल्पाभिधाः कृताः ॥ ४ ॥
जगत्स्वप्न इवाशेषमसदप्यनुभूयते ।
यन्नास्ति चेत्तन्निःशेषं चिदेवेत्यं कचत्यलम् ॥ ५ ॥
यथेदं नो जगत्तद्वच्छतानां खे शतानि हि ।
नृणां पश्यन्तु तेषां तु नान्योन्यमनुभूतयः ॥ ६ ॥
सरोन्धिकूपमेकानां दृष्टाः प्रत्येकमास्पदे ।
न तेऽन्योन्यं विदन्यन्यां दृश्यादिनियतिं कश्चित् ॥ ७ ॥

यथा जनशतस्वप्ननगराण्येकमन्दिरे ।
तथा जगन्ति खे भान्ति खानि नो सन्त्यसन्ति नो ॥ ८ ॥
कचन्ति नृशतस्वाप्नपुराण्येकगृहे यथा ।
न च नाम कचन्त्येवं सन्त्यसन्ति जगन्ति खे ॥ ९ ॥
चिच्चमत्कारमात्रं स्वं स्वात्माङ्गं दृश्यमद्वयम् ।
सरूपमेव नीरूपं सकारणमकारणम् ॥ १० ॥
दधत्याश्चित्स्वभावायाः संस्काराद्यभिधाः कृताः ।
प्रतिमायाः प्रभाविन्या न संस्कारादयः पृथक् ॥ ११ ॥
अपूर्वत्वात्स्मृतिः स्वप्नः संकल्पार्थानुभूतिषु ।
स्मृत्यनुभवाद्यास्तु दृष्टार्थसदृशीषु च ॥ १२ ॥
इदं सर्गात्म सर्गादौ प्रतिमेव विजृम्भते ।
चिद्भामात्रात्मिका स्वच्छा नान्यन्नामोपपद्यते ॥ १३ ॥
ब्रह्मैव भाति जगदित्युक्तमुक्त्यानया भवेत् ।
न च भातं नवं तच्च ब्रह्मैवेदमतः स्थितम् ॥ १४ ॥
कारणं कार्यमित्युक्तः स पूर्वः स विशिष्यते ।
संस्कार इति तेनैव संस्कारः कृतिरुच्यते ॥ १५ ॥

फलावहमवश्यफलदं यज्ञं मुञ्च ॥ ८३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणबोधो-
पदेशो नाम त्रिचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४३ ॥

चिदेव जगदभाति जगदेव च चिद्यथा ।

युक्तयोऽत्र तथा ब्रह्म सर्वशक्ति समर्थ्यते ॥ १ ॥

दृश्यस्य चिन्मात्रत्वे बन्धमोक्षचिन्ताप्यपगतैवेत्याह—
सर्वथेति ॥ १ ॥ दृष्टिभासां दृक्किरणानां खे यादृशं संपतद्वटकर-
कमुक्ताकेशोद्भूतायात्मना स्फुरणं तादृशं जगदविरतं परिणामेन
विपर्यस्यति अधिष्ठानविवेकाबोधात्तत्स्थैर्येण स्थिरं लक्ष्यते ॥ २ ॥
विपर्यासमेवानुभावयति—यदिति । यत् प्रसिद्धं पुरसंस्थानं
यथा चिरैरन्यतां संस्थानान्तरताम् ॥ ३ ॥ यस्मिन्नेव काले
भवति तस्मिन्नेव क्षणलवत्रुव्याद्यवयवोदन्तैर्युगकल्पाद्यभिधा
विद्वद्भिः कृताः ॥ ४ ॥ यज्जगज्जास्तीत्यपलप्यते चेदशेषं चिदेव
कचति ॥ ५ ॥ नः अस्माकं प्रसिद्धमिदं जगद्यथास्ति तद्वत्खे
जगतां शतानां शतान्ययुतानि अन्येषां नृणां सन्तीति पश्यन्तु
संभावयन्तु । तेषां प्रत्यक्षमन्योन्यमनुभूतयस्तु न । अयोग्य-
त्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥ सरादिशब्दैस्तद्गता जन्तवो गृह्यन्ते ।
अन्यां स्वस्वास्पदातिरिक्ताम् ॥ ७ ॥ एकेनानुभूयमानत्वाद-
सन्ति नो । अन्यैरननुभूयमानत्वात्सन्ति नो ॥ ८ ॥ तदेव स्फुट-
माह—कचन्तीति ॥ ९ ॥ स्वात्मनः अङ्गमवयवभूतमिव ।
एकस्य सरूपमेवापरस्य नीरूपम् । एकस्याप्येकदा सरूपमेवा-
यो० वा० १४८

न्यदा नीरूपम् । तत्त्वदृशा तु सर्वदैव नीरूपमित्यर्थः । एवं
सकारणमप्यकारणम् ॥ १० ॥ तत्रैते जीवानां जगत्संस्काराः
किं देहे सन्ति उत चिति । यदि चिति तर्हि सर्वेषां दृश्याः
स्युः । यदि देहे तर्हि देहापगमे उच्छिद्येरजित्याशङ्क्याह—
दधत्या इति । न केवलचितो नापि देहप्रतिमायाः किंतु
तत्तद्दृश्याकारपरिणामं दधत्याश्चिदाभासव्याप्त्या चित्स्वभावाया
बुद्धेरेव संस्काराद्यभिधाः कृताः । प्रभाविन्या बुद्धिप्रभावेणैव
प्रभाववत्याः ॥ ११ ॥ यदि जगत्संस्कारधारिण्या बुद्धेरेव
परिणामो जगत्तर्हि संकल्पार्थानुभूतिषु स्मृतित्वमेव स्यात्त-
त्राह—अपूर्वत्वादिति । पूर्वदृष्टार्थसदृशीष्वपि संकल्पार्थानुभू-
तिषु स्मृतिरेव अपूर्वत्वात्पूर्वानुभूततत्तांशप्रमोषात्स्वप्नो भवति ।
तत्र स्वप्नानुभवाद्यास्तु इह जन्मन्यननुभूता अपि जन्मा-
न्तरे अनुभूता एवेति तत्संस्कारवत्येवाभ्यस्यन्ते इति विशेष
इत्यर्थः ॥ १२ ॥ इदं जाग्रत्सर्गात्म जगदपि स्वप्नप्रतिमेव
सर्गादौ विजृम्भते ॥ १३ ॥ 'सर्वथाभावभावेषु' इत्याद्युक्तिमङ्गी-
मेदानां पर्यवसितं तात्पर्यं पिण्डीकृत्याह—ब्रह्मैवेति । तच्च
नवं भातं न प्राग्भातमिति न किंत्वनादिभारूपं तदैक्यापन्नं चेदं
जगदनादि ब्रह्मैवेति तात्पर्यं स्थितं पर्यवसन्नमित्यर्थः ॥ १४ ॥
स परमात्मैव कारणं कार्यमिति चोक्तः । यतः स एव पूर्वः
पूर्वं च कारणं सामान्यरूपम् । स एव विशिष्यते विशेषरूपं च
कार्यम् । कार्यसंस्काराधारो हि बीजं कारणं सम्यक् करोति

तत्समादावपूर्वोऽर्थो दृष्टान्त इति भाति यः ।
 स संस्कारादिनामोक्तो न बाह्योऽर्थोऽस्ति चेत्तसि ॥ १६ ॥
 वस्तु दृष्टं न दृष्टं च सच्चास्ते चेतनेव स्ते ।
 स्वभावाद्भाति स्वात्मापि दृष्टवद्भातिजृम्भते ॥ १७ ॥
 वेदान्तार्थात्मकं पूर्वसर्गाभावं प्रवर्तते ।
 ततो वेद्यव्यवस्था ज्ञैः क्रियते स्वार्थसिद्धये ॥ १८ ॥
 स्वप्ने तु जाग्रत्संस्कारो यस्तज्जाग्रत्कृतं नवम् ।
 अजाग्रज्जाग्रदाभासं कृतमित्येव तद्विदः ॥ १९ ॥
 ततो वायाविवास्पन्दाश्रिते भावाः स्थिताः स्वतः ।
 ते स्वतः संप्रवर्तन्ते कात्र संस्कारकर्तृता ॥ २० ॥
 एकं तथा च चिन्मात्रं स्वप्ने लक्षात्म तिष्ठति ।
 पुनर्लक्षाद्यतः स्वप्न एकमास्ते सुषुप्तकम् ॥ २१ ॥
 चिद्भोसि स्वप्नसंविचिर्या सैव जगदुच्यते ।
 सुषुप्तं प्रलयः प्रोक्तस्तस्माद्यायोऽयमेव सन् ॥ २२ ॥
 एकमेव चिदाकाशं साकारत्वमनेककम् ।
 स्वरूपमजद्वन्द्वं यत्स्वप्न इव तज्जागत् ॥ २३ ॥
 एवं चित्परमाण्वन्तर्जगद्भावमिव स्थितम् ।
 तदनन्यात्म चामोनि स्वप्नादर्शतलेष्विव ॥ २४ ॥
 चिद्भोम संविन्मात्रं यत्परमाणुवदाततम् ।
 अनादिमध्यपर्यन्तं तदेव जगदुच्यते ॥ २५ ॥

कार्यमिति व्युत्पत्तेस्तेनैव आत्मैव संस्कार इत्युक्तः । तत्र कृतिः
 कार्यानुकूलो यमः कृपात्वर्थः । सम्यक् करणं संस्कार इति
 व्युत्पत्त्या कृतिलक्षणः संस्कारोऽप्येव आत्मैवोच्यते ॥ १५ ॥
 तत्र स्वप्नादौ अपूर्वो जाग्रदर्थविलक्षणो योऽर्थो जाग्रदर्थ-
 दृष्टान्त इति भाति, स एव सूक्ष्मार्थत्वासंस्कारो वासना रागो
 द्वेष इच्छेत्यादिनाम्ना सक्तो न कश्चिद्बाह्योऽर्थोऽन्यथेतसि
 संस्कारनामा निविष्टोऽस्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥ तच्च संस्काराख्यं
 वस्तु स्वप्ने दृष्टं जागरे अदृष्टम् । न चादर्शनमात्रेण नास्तीति
 मन्तव्यम् । यत्चित्ताकाशे चेतनेव सदैवास्ते । तच्च स्वात्मापि
 साक्षिस्वभावात्स्वप्ने भाति जाग्रदृष्टपदार्थवद्भातितरां जृम्भते
 विस्तीर्यते ॥ १७ ॥ तदेव साधनसंपत्तिसहितश्रवणावधारि-
 ताद्वितीयप्रत्यग्रक्षालकणवेदान्तार्थात्म सत् । पूर्वं प्रसिद्धैतस-
 र्गवाचकात्मकं सत् यथास्थिते स्वभावे प्रवर्तते एतादृशं तत्स्व-
 भावं निश्चित्य ज्ञैः पण्डितैः स्वार्थस्य परमपुरुषार्थस्य शिष्ये-
 ष्वपि सिद्धये प्रागज्ञात आत्मैव जगत्संसारः । सम्यग्विचार्य
 ज्ञातस्तु अद्वयं ब्रह्मैव मोक्षश्चेति न्यवस्था शास्त्रेषु क्रियत इत्यर्थः
 ॥ १८ ॥ इदानीमन्यकृतं स्वप्नदर्शनप्रकारमनूय वृषयति—
 स्वप्ने त्वित्यादिना । स्वप्ने यो जाग्रत्संस्कारस्तज्जाग्रत्कृतं नवमपूर्व-
 रूपं तच्च अजाग्रदेव जाग्रदाभासं जाग्रदनुभवेन कृतमिति
 तद्विदः केचिन्मन्यन्त इत्यर्थः ॥ १९ ॥ तत्र । यतो वायावा-
 स्पन्दा इव स्वप्नाद्यात्मताभावाः स्वत एव स्थिताः । ते च स्वत
 एव स्वप्नाकारेण प्रवर्तन्ते तत्र जाग्रतः संस्कारकर्तृता केल्यर्थः
 ॥ २० ॥ चित्ते सर्वे भावाः स्थिता इति कृतो ज्ञायते तत्राह—

तस्माद्यत्र चिदाकाशमनन्तं सततं स्थितम् ।
 तत्रास्तीति जगद्भानं तदज्ञानन्यरूपि यत् ॥ २६ ॥
 चिन्मात्र एव भुवनं त्वमहं चिन्मयं जगत् ।
 इति न्यायाज्जगदाति परमाणूदरेऽप्यजम् ॥ २७ ॥
 तस्मादहं पराण्वात्मा समस्तजगदाकृतिः ।
 सर्वत्रैव च तिष्ठामि परमाणूदरेऽपि च ॥ २८ ॥
 चिन्मात्रपरमाणुः सज्जगदात्माप्ययं नभः ।
 यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र पश्यामि भुवनत्रयम् ॥ २९ ॥
 अहं चित्परमाण्वात्मा तेन चित्परमाणुना ।
 एकतामागतो चारि वारिणेव तदीक्षणात् ॥ ३० ॥
 तदोजः संप्रविश्याहं स्थितस्तदनुभूतिवत् ।
 अन्तस्थत्रिजगद्रूपो यथाक्षे बीजमङ्कुरे ॥ ३१ ॥
 तत्र मे त्रिजगद्रूपमन्तः कचितमात्मनि ।
 तथा तत्र तु तद्बाह्ये विद्यते केनचित्कचित् ॥ ३२ ॥
 यत्र यत्र यदा भाति स्वप्ने जाग्रदितीह वा ।
 सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं निर्जं चिद्भानमेव तत् ॥ ३३ ॥
 भाति स्वप्ने यदा जन्तोर्जगदानन्दमाततम् ।
 चिदणोरेव तद्भानमात्मनस्तत्पदात्मना ॥ ३४ ॥
 व्याध उवाच ।
 अकारणं चेद्दृश्यं तत्कथमेतत्प्रसिध्यति ।

एकमिति ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ एवमुक्तयोपपत्त्या तच्च चित्
 अनन्यात्म यथा स्वप्नेषु यथा वा आदर्शतलेषु दृष्टं सुखवनपर्व-
 तादि अनन्यात्म तद्वदित्यर्थः ॥ २४ ॥ परमाणुवत्परमसूक्ष्ममा-
 ततं विस्तीर्य च कालतोऽप्यनादिमध्यपर्यन्तम् ॥ २५ ॥ तस्माज्-
 मिव अनन्यरूपि । अद्वेति संबोधनं वा ॥ २६ ॥ न्यायादु-
 च्याह्योक्तयुक्तिकलापात्परिज्ञानात् जगत्परमाणूदरेऽपि याति ।
 स्थूलतां परिलख्य परमसूक्ष्मचिन्मात्रतामापद्यत इति यावत्
 ॥ २७ ॥ कीदृशं तद्गुहालोकोन्यायैः परिज्ञानं तत्त्वानुभवाभि-
 लापेन दर्शयति—तस्मादिति ॥ २८ ॥ २९ ॥ चित्परमाण्वात्मा
 शोधितत्वंपदार्थरूपोऽहं तेन चित्परमाणुना शोधिततत्त्वार्थेन
 ब्रह्मण सह तदीक्षणादेकतामागतः । तथा च श्रुतिः—‘यथा
 जलं जले क्षिप्तं क्षीरे क्षीरे घृते घृतम् । अविशेषो भवेत्तदजी-
 वात्मा परमात्मनि ॥’ इति ॥ ३० ॥ एवं प्रश्नोत्तरप्रसङ्गेनात्म-
 ज्ञानरहस्यमुक्त्वा प्रस्तुतकथामवलम्ब्याप्याह—तदोज इत्या-
 दिना । तदनुभूतिस्तत्प्राप्त्योजोन्तर्गतवासनामवजगदनुभवस्तद्व-
 दिति प्राक्तनकथाशेषानुसंधानोक्तिः । यथा आन्त्रे अङ्कुरे सूक्ष्म-
 रूपेण स्थितं भावि बीजमन्तस्थभावविवेचित्र्यसहस्रगर्भं तद्वदि-
 त्यर्थः ॥ ३१ ॥ तत्र मे अन्तरेवात्मनि तदीयं मयी-
 यमन्यदीयं च सर्वं वासनामयं त्रिजगद्रूपमात्मनि प्रत्यक्ष-
 चैतन्ये कथितम् । तज्जगद्रूपं किञ्चिदपि बाह्ये न विद्यते ।
 तद्वहिर्देशस्यैवात्यन्ताप्रसिद्धेरिति भावः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ तत्प-
 दात्मना स्वप्नस्यानात्मना ॥ ३४ ॥ कथं प्रसिध्यति । अकारण-

सकारणं चेद्दृश्यं तत्स्वप्ने सर्गादिधीः कुतः ॥ ३५

मुनिरुवाच ।

अकारणक एवायं सर्ग आदौ प्रवर्तते ।

समस्तकारणाभावाद्यतः सर्गात्मचिन्मभः ॥ ३६

अकारणानां भावानामत्यन्तासंभवादिह ।

कचित्सप्रतिघः सर्गो न संभवति कश्चन ॥ ३७

ब्रह्मेदमित्यभाति भास्वरं चित्स्वभावतः ।

सर्गादिशब्दपर्यायमाद्यन्तपरिवर्जितम् ॥ ३८

इत्यकारणके सर्गे कचति ब्रह्मरूपिणि ।

परस्यावयवाभासे नित्यात्मावयवात्मना ॥ ३९

अनानात्वेऽपि नानात्वे ब्रह्मण्यब्रह्मरूपिणि ।

अनाकारेऽपि साकारे कचत्यप्रतिघं प्रति ॥ ४०

तद्ब्रह्मैव निराकारं चिद्रूपत्वात्स्फुरद्वपुः ।

साकारमिव भातात्म भूत्वा स्थावरजंगमम् ॥ ४१

देवर्षिमुनिभारूपं करोति नियतिं क्रमात् ।

विधींश्च प्रतिषेधांश्च देशकालक्रियादिकान् ॥ ४२

भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ।

अर्था व्यभिचरन्त्येते नियतिर्नाखिलास्ततः ॥ ४३

कस्य दृशश्चक्षुः स्वरूपसिद्ध्यदर्शनात् । यदि सकारणं तर्हि स्वप्ने घटादिसर्गकारणदण्डचक्रादीनामभावात्सर्गादिधीः कुतः कारणादिति संदिहानस्य प्रश्नः ॥ ३५ ॥ अकारणकपक्षमेव ब्रह्माद्वैतपर्यवसानेन समर्थयन्मुनिरुत्तरमाह—अकारणक एवेति ॥ ३६ ॥ अकारणकः सप्रतिघः स्थूलसर्गो न संभवति । प्रातिभासिके तु मिथ्याभूते न सकारणकत्वनियम इति भावः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ इति उक्तरीत्या सर्गे अकारणके अत्यन्तमसंभाविते सति ब्रह्मरूपिणि परस्य अवयवाभासे मायाप्रतिबिम्बचैतन्ये नित्यस्यात्मन औपाधिकावयवात्मना अनानात्वेऽपि नानात्वे अत्यन्तमयुक्ते ब्रह्मण्यब्रह्मरूपिणि अनाकारेऽपि साकारे अप्रतिघं प्रति कचति प्रतिभासे सति निराकारं तद्ब्रह्मैव चिद्रूपत्वात्स्फुरद्वपुः साकारमिव भातात्म भूत्वा देवर्षिमुनिभारूपं स्थावरं जंगमं क्रमात्सर्वा नियतिं विधिप्रतिषेधादींश्च करोतीति फलितमिति चतुर्णामन्वयः ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ब्रह्मकृतत्वादेव भावाभावाद्यर्थव्यभिचारेऽपि न तन्नियतेर्व्यभिचार इत्याह—भावेति । आ अखिलास्ततः सर्वास्त्वयलक्षणं मोक्षं भयार्थीकृत्येत्यर्थः ॥ ४३ ॥ ततो नियतिकल्पनातः प्रभृति नियतिविशेषरूपां कार्यकारणतां विना भावानां संभवो नास्ति ॥ ४४ ॥ तस्य ब्रह्मणो नियतिस्तत्कल्पको नायको भोक्ता जीवश्चेति करद्वयसदृशमङ्गं ब्रह्मत आत्मना स्वेनैव प्रवृत्तम् । तद्ब्रह्म तेनैकेन स्वाङ्गेनापरं करेणापरं करमिव संयमयति नियच्छति ॥ ४५ ॥ अत एव जीवस्यैवमेव जाग्रत्स्वप्नलक्षणः सर्गः अनुद्धिपूर्वमनिच्छं च काकतालीयवत्प्रवर्तते ॥ ४६ ॥

ततः प्रभृति भावानां सकारणकतां विना ।

सैकतादिव तैलानां न संभवति संभवः ॥ ४४

नियतिर्नायकश्चैव ब्रह्मतश्चाङ्गमात्मना ।

स्वाङ्गेन संयमयति करेणेव निजं करम् ॥ ४५

अनुद्धिपूर्वं चानिच्छमेवमेव प्रवर्तते ।

काकतालीयवत्स्पर्शदावर्ता इव धारिणि ॥ ४६

संनिवेशो हि नियतिस्तां विना प्रतिघोदयम् ।

ब्रह्म स्यातुं न शक्नोति तच्च सर्वात्मताक्षयम् ॥ ४७

एवं सकारणं सर्वं सर्वदा दृश्यमण्डलम् ।

यस्य सर्गे यतः कालात्ततः प्रभृति तं प्रति ॥ ४८

भात्यकारणकं ब्रह्म सर्गात्माप्यधुधं प्रति ।

तं प्रत्येव च भात्येष कार्यकारणद्वन्द्वमभः ॥ ४९

काकतालीयवत्सर्गे स्थिते त्वावृत्तिवृत्तिवत् ।

इदमित्यमिदं नेत्यमितीयं नियतिः स्थिता ॥ ५०

सकारणत्वं भावानामवश्यंभाविनि क्रमे ।

जाग्रत्स्वप्नदृशो नेह संभवन्त्यपकारणाः ॥ ५१

यथा स्वप्नेऽखिलामम्बुसंक्षोभात्प्रलयभ्रमाः ।

दृश्यते कारणं तत्र श्रूयतामनुभूयताम् ॥ ५२

कारणप्रयुक्तः कार्ये संनिवेशविशेषनियम एव नियतिस्तां संनिवेशनियतिं विना क्षणमप्यज्ञातं ब्रह्म स्यातुं न शक्नोति । यथा मृच्छूर्णपिण्डघटकपालाद्यन्यतमसंनिवेशं विना न तिष्ठति तद्वदिति भावः । तच्च संनिवेशधारणं ज्ञानेन सर्वात्मनैवात्यन्तिकः क्षयो यस्य तथाविधमामोक्षमनुवर्तते इत्यर्थः ॥ ४७ ॥ एवं नियतिकल्पनातः सर्वं सकारणं यं प्रति यतः कालात्प्रभृति नियतिर्यस्य सर्गे प्रवृत्ता तं प्रत्येव न पुरुषान्तरं कालान्तरभाविपदार्थं च प्रतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ अकारणकं ब्रह्म अनुधममङ्गं प्रति सर्गात्मापि भाति ॥ ४९ ॥ विवेकिदृशा काकतालीयवत्सर्गे स्थिते सति पूर्वापरीभावनियममात्रदर्शनादिदं घटादि इत्थं दण्डचक्रमृदादिसामग्रीतो जातं, इदं पटादि तुरीयेमादित इत्थंविधं जातमिति पर्यालोचनेन नित्यवेदस्य पदवाक्यव्याकरणनियतिरिव स्थितेत्यर्थः ॥ ५० ॥ जन्यभावानामवश्यंभाविनि पौर्वापर्यक्रमे सकारणकत्वमेवेति यो मन्यते तस्य जाग्रत्स्वप्नदृशः अकारणा न संभवन्ति । न हि स्वप्नसुषुप्त्यन्यतरानन्तरं जाग्रत्प्रपञ्चोत्पत्तौ कारणानि सन्ति । एवं जाग्रत्सुषुप्त्यन्यतरानन्तरं स्वप्नप्रपञ्चोत्पत्तावपि कारणानि निरूपयितुं न शक्यन्ते इति सोऽपि न संभवति । न च जाग्रदन्तरितः स्वप्नप्रपञ्चस्तथैवास्ते येन सृष्टिं नापेक्षेत । एवं स्वप्नसुषुप्त्यन्तरितो जाग्रत्प्रपञ्चोऽपीत्यर्थः ॥ ५१ ॥ यथा मयैव प्राण्योजसि स्वप्ने दृष्टाः अखिलां भुवमभिव्याप्याम्बुसंक्षोभात्प्रलयभ्रमास्तत्र किं कारणं त्वया दृश्यते किं वा तत्र श्रुतितोऽपि श्रूयतां भ्रमाणान्तरेण वानुभूयताम् । संभावनायां लोद्धा न किञ्चित्संभावितमित्यर्थः

सर्ववस्तुषु कचन्ति सर्वदा ।

युक्तयः स्फटिकशुक्तयोः तथा ।

भावनानुभव एव स स्वयं

शक्तिमाजयति जीवितात्मकः ।

इत्यादि श्रीवासिष्ठमहाराजायने भा० वे० मो० नि० उ० अवि० शं० पदार्थविचारो नाम चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४५ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४५

मुनिर्वाच ।

यदिष्टैर्बाह्यमेवान्तरन्तस्यैः स्वप्नमिन्द्रियैः ।

जीवो वेत्ति द्वयस्यातितीव्रसंवेगमिर्द्वयम् ॥ १ ॥

यदेन्द्रियाणि तिष्ठन्ति बाह्यतश्च समाकुलम् ।

तदा म्लानानुभवनः संकल्पार्थोऽनुभूयते ॥ २ ॥

यदा त्वन्तर्मुखाभ्येव सन्त्यक्षाणि तदा जगत् ।

अणुमात्रं स्वपुषि जीवस्तेनातिवेत्ति तत् ॥ ३ ॥

जगत्सप्रतिषं नास्ति किञ्चिदेव कदाचन ।

जीवेक्षणानामक्षाणां दृष्टिरप्रतिष्ठा जगत् ॥ ४ ॥

जीवनेत्रापीन्द्रियाणि यदा बाह्यमयान्यलम् ।

तदा बाह्यात्मकं वेत्ति चित्ति जीवो जगद्वपुः ॥ ५ ॥

धोत्रं त्वगीक्षणं घ्राणं जिह्वा चेतीहितात्मकः ।

संघातः प्रोच्यते जीवश्चिद्रूपोऽनिलमूर्तिमान् ॥ ६ ॥

सर्वत्र सर्वदा जीवः सर्वेन्द्रियमयः स्थितः ।

चिच्चिद्व्योमाव्ययस्तेन सर्वं सर्वत्र पश्यति ॥ ७ ॥

॥ ५२ ॥ उक्तप्रकाराद्वाप्रपञ्चैक्यप्रतिपादिका युक्तयोऽनुभूतेष्वपि सर्ववस्तुषु बुद्धिमतां स्वत एव कचन्ति स्फुरन्ति । यथा स्फटिकमणयः शुक्तयो या सति प्रकाशे स्वचाकचक्येन स्वत एव कचन्ति तद्वत् । तत्सत्तात्सर्वत्र निर्णये बाह्यानुसारियुक्तिमावनानुभव एव स प्रसिद्धः स्वयं सर्वतत्त्वनिर्णयशक्तिमान्सर्वप्रमाणजीवितात्मको जयति । सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायने पदार्थप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे चत्वारिंशोऽध्यायः पदार्थविचारो नाम चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४५ ॥

श्रेष्ठात्मना रसेनात्तर्ज्ज्व आपूयते यदा ।

स्वप्नमेदा इहोच्यन्ते तथाक्षैर्बाह्यविभ्रमाः ॥ १ ॥

अयं जीवो यदिष्टैरिन्द्रियैर्बाह्यमेव स्वप्नं वेत्ति । अन्तस्थैरिन्द्रियैरन्तः स्वप्नं वेत्ति । बाह्यान्तरद्वयस्यैवमयत्र व्यापारविध्यमतितीव्रसंवेगितैरिन्द्रियैस्तु द्वयमपि वेत्ति ॥ १ ॥ तर्हि यदिष्टैरिन्द्रियैर्यदा बहिर्व्यवहरति तदा किमान्तरव्यवहारो नास्त्येव, नेत्याह—यदेति । अस्त्येव, किंतु मनोराज्यकल्पसुसंकल्पार्थो म्लानमनुभवनं यस्य तथाविधोऽनुभूयते न स्वप्नवत्स्फुटानुभवन इत्यर्थः ॥ २ ॥ अणुमात्रं बासनामात्रत्वादिस्वप्नमपि स्वप्नं जगदतिवेत्ति स्थूलमिव पश्यति स एव तस्य अम्लानानुभव इत्यर्थः ॥ ३ ॥ बाह्यान्तरं वा जगत्सप्रतिषं स्थूलं वस्तुतो नास्ति । जीवस्य ईक्षणानां दर्शनकरणभूतानामक्षाणांमिन्द्रियाणां श्रोत्र्यकल्पने अप्रतिष्ठा निष्प्रतिष्ठाताः बा-

श्रेष्ठात्मना रसेनात्तर्ज्ज्व आपूयते यदा ।

तेऽक्षाणुकेऽणुरूपात्मा तदा तत्रैव विन्दति ॥

क्षीरार्णवे इवोद्गीतो नमश्चन्द्रोदयान्वितम् ।

सरांसि फुल्लपद्मानि कङ्कणवलिदानि च ॥

पुष्पाभ्रप्रतिधानानि परिगीतानि वदपदैः ।

वसन्तान्तःपुराण्यन्तरुचानान्युदितानि खे ॥

उत्सवान्मङ्गलाकीर्णालीलालोलाङ्गनागणान् ।

भक्ष्यभोज्यान्पानश्रीपरिपूर्णगृहाजिरान् ॥

सपुष्पाः केनहसनास्तरलातरलेक्षणाः ।

विलासेनाम्बुधिं यान्ति सरितो मत्तयौवनाः ॥

हिमवच्छुभ्रशृङ्गाणि सौधानि शिशिराण्यलम् ।

सुधावधौतमिच्छीनि कृतानीन्दुतलैरिव ॥

शिशिरासारहेमन्तप्रावृण्मेघवृत्तानि च ।

स्थलानि नीलनलिनीलताशाद्वलवन्ति च ॥

पुष्पप्रकरसंछन्ना विश्रान्तहरिणाञ्चगाः ।

किङ्कणपत्रतरुच्छायाः पुरोपवनभूमिकाः ॥

वेन्द्रियप्रसरस्तत्रैव स्थूलवज्रगर्शनमित्याह—जीवेति ॥

भोज्यादिग्रहणं नागादीनामप्युपलक्षणम् । अनिलमूर्तिमान् प-

णघटितः । इदितमिच्छाप्रधानमन्तःकरणचतुष्टयं यदा

संघात आतिबाहिकदेहः स एव कूटस्थविदाभाससंवलनादि

जीवः प्रोच्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥ तादृशो जीवः स्वासनामयः

दन्तः पश्यतु नाम । बहिस्तु बासनाभावात्कथं तन्मयं ज-

यति सप्ताह—सर्वत्रेति । तत्र कूटस्थविदेव विदाभासः

दिव्योममयः सन् सर्वत्र सर्वदा सर्वेन्द्रियमयः स्थितस्त्वस्मि

बासनाधिष्ठाने बाह्यजगदध्यास उपपन्न एवेति भावः ॥

श्रान्तः सप्रविशेषवैचित्र्यदर्शने ओजसि प्रविष्टस्य जीवस्य

बाह्यरसविशेषपूर्णनाडीप्रवेश एव निमित्तमिषेतत्प्रपञ्चयति

श्रेष्ठात्मनेत्यादिना । यदा उपसंहृतकरणविक्षारः सञ्चल्य

सहस्रधा विविर्णकेषांभागप्रमाणसंमनान्मन्तःसंचारस्यो

तव जीवो नाज्यन्तर्गतेन श्रेष्ठात्मना अचरसेन आपूयते

तत्तदक्षाणुके तत्रैव नाज्यन्तर्वक्ष्यमाणप्रकारान्स्वाप्नमपि

तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ स्वयं क्षीरार्णवे उद्गीत इव भूत्वा चन्द्रोदया

नमो विन्दतीति सर्वत्रानुपपन्नः ॥ ७ ॥ पुष्पमयानां दिव्या

प्रतिधानानि प्रतिनिधिभूतानि सरांसि वसन्तराजस्थाना

भूतान्युद्यानानि खे जीवाकाशे उदितानि ॥ ५ ॥ १४५ ॥

कदम्बकुन्दमन्दारमकरन्देन्दुकान्तिभिः ।
 भासमानासनस्थानसंस्थानाः कुसुमस्थलीः ॥ १६
 नलिनीजालिनीनीलाः पुष्पकस्थलधारिणीः ।
 वनावलीर्विलीनाभ्रनिर्मलाकाशकोमलाः ॥ १७
 कदलीकन्दलीकुन्दकदम्बकृतशेखराः ।
 गिरिमालाश्चलचारुलीलापल्लवपेलवाः ॥ १८
 हेलालितधम्मिल्लमुकमालतिकालताः ।
 इव बालाङ्गना नृत्यं तन्वानास्तनुगात्रिकाः ॥ १९
 उत्फुल्लश्वेतनलिनीनिभा नरपतेः सभाः ।
 चारुचामरभृङ्गारवितानकशतावृताः ॥ २०
 वल्लीवलयविन्यासविलासवलितार्ङ्गिकाः ।
 वनमाला विलोलाम्बुप्रणालीकाकलीकलाः ॥ २१
 धराभरकरालाङ्गधाराधरधराधराः ।
 दिशः सीकरनीहारहारोदरधरा दश ॥ २२
 पिप्तात्मना रसेनान्तर्जीव आपूर्यते यदा ।
 ओजोन्तरणुमात्रात्मा तदा तत्रैव विन्दति ॥ २३
 पवनस्पन्दसंशुष्ककिंशुकद्रुमशोभनाः ।
 ज्वालालीरुज्ज्वलाम्भोजदलपल्लवपेलवाः ॥ २४
 संतप्तसिकतासेकसनीहारसरिच्छिराः ।
 दावानलशिखाश्यामधूमश्यामलदिङ्मुखः ॥ २५
 कुशानुकर्कशानर्काश्चक्रधाराशितत्विषः ।
 दावदाहविषावेशविपरीतरसाकरान् ॥ २६
 खेदमुष्णीकृतार्द्धि वा खिन्नं त्रैलोक्यमण्डलम् ।
 क्षरत्क्षाराण्यरण्यानि प्रतर्दगहनान्यपि ॥ २७

प्रतरन्मृगतृष्णाम्बुसरत्सारसरूपि च ।
 स्थलान्यदृष्टपूर्वाणि भूतपूर्वतरूणि च ॥ २८
 अध्वगं संभ्रमवशात्तप्तधूलिविधूसरम् ।
 दूरादमृतवद्दृष्टं स्निग्धच्छायाध्वपादपम् ॥ २९
 ज्वरज्वालितमाकारं भुवनं तप्तमश्विवत् ।
 पांसूपहतदेशानि दिङ्मुखानि च खानि च ॥ ३०
 ग्रहग्रामार्णवाद्यधिवनव्योमाश्रिका दिशः ।
 तुहिनाहारहानन्तासंख्याम्बुदधटोद्भटान् ॥ ३१
 शरद्रीष्मवसन्ताश्च तापानातपदायिनः ।
 तृणपत्रलतौघाभराश्यूष्मपिहितावनीः ॥ ३२
 सौवर्णमम्बरतलं भूतलं दिक्तटानि च ।
 तप्तान्यदभ्रसरसीहिमशैलस्थलानि च ॥ ३३
 रसानुरिक्ते वातेन जीव आपूर्यते यदा ।
 ओजोन्तरणुमात्रात्मा तदा तत्रैव विन्दते ॥ ३४
 वातविशुब्धसंवित्वादपूर्वं वसुधातलम् ।
 अपूर्वा नगरग्रामशैलाधिवनमण्डलीः ॥ ३५
 उड्डीयमानमात्मानं शिलाः शैलस्थलानिव ।
 घनघुंघुमसारावानचक्रभ्रमणादि च ॥ ३६
 हयोद्गृगुरुडाम्भोदहंसयानावरोहणम् ।
 यक्षविद्याधरादीनां गत्यागमनसंचरम् ॥ ३७
 साद्रिद्यूर्वा नदीशानां वनभूग्रामपूर्दिशाम् ।
 कम्पं भयोन्मुखाङ्गानां बुद्बुदानामिवाणवे ॥ ३८
 अन्धकूपे निपतितं निपुले संकटेऽथवा ।
 अथवा रुढमात्मानं खमाभं पादपं गिरिम् ॥ ३९

यत्र ॥ १५ ॥ भासमानमासनस्थानस्येव संस्थानं यासां ताः
 ॥ १६ ॥ विलीनाभ्रो निर्मलः शरदाकाश इव कोमलाः
 त्रिधाः ॥ १७ ॥ कदली कन्दली च मृगमेदास्तृणुल्ममे-
 दाश्च । गिरिमालाः पर्वतपङ्क्तीः ॥ १८ ॥ हेलालितैर्धम्मि-
 ल्लैर्मुक्ताः प्रसृतसंवलितशाखा मालतिकालता इव स्थिता नृत्यं
 तन्वाना बालाङ्गनाः विन्दति ॥ १९ ॥ २० ॥ वनमाला वनपङ्क्तीः ।
 विलोलाम्बूनां प्रणालीषु कुल्यासु पक्षिकाकलीभिः कला
 गम्भीराः ॥ २१ ॥ धराया भरे भरणे वर्षैः पूरणविषये करा-
 लाङ्गा ये धाराधरास्तद्युक्ता धराधराः पर्वताः यासु तथाविधा दश
 दिशः ॥ २२ ॥ श्लेष्मपूर्णनाडीदृश्यान्स्त्रप्रविशेषान्प्रपश्य पित्तरस-
 पूर्णनाडीदृश्यांस्तानाह—पित्तात्मनेत्यादिना ॥ २३ ॥ ज्वाला-
 लीर्विन्दति पश्यतीति यावत् ॥ २४ ॥ ज्वालालीरेव विशि-
 नष्टि—संतप्तेति । संतप्तसिकतानां सेकैः सनीहाराः सबाष्पाः
 सरिलक्षणाः शिरा याभ्यः ॥ २५ ॥ चक्रधारा इव शिता निशिता-
 स्त्विषो येषाम् । विपरीता विशेषतो व्याप्ता रसाकरा जलाशया
 येभ्यः ॥ २६ ॥ खेदं सार्द्धोष्माणम् । खिन्नं खेदनार्द्रम् । प्रतर्दो
 वृक्षयुल्मतृणादीनामतिनैविड्यं तद्युक्तानि गहनान्यरण्यान्यपि
 ॥ २७ ॥ - प्रतरत्सु प्रवहतसु मृगतृष्णाम्बुषु सरत्सारसै रूपि
 शोभमानम् ॥ २८ ॥ संभ्रमो भयं तद्वशादध्वगमण्यसु धावन्तं

खं पश्यति । अमृतवद्दृष्टं दर्शनात्संभावितम् ॥ २९ ॥ ३० ॥
 गृहादिव्योमान्तेषु अश्रिकाः ज्वलदग्निमत्यो दिशः पश्यति ।
 तुहिनां शीतं आहरति भक्षयतीति तुहिनाहारोऽस्मिन् जहति
 मुच्यन्ति वर्षन्ति तथाविधा अनन्तसंख्या ये अम्बुदास्तद्भटो-
 द्भटान्शरद्रीष्मवसन्तानिति परेणान्वयः ॥ ३१ ॥ तृणैः पत्रै-
 र्लतौघैरभराशिमिरुष्मभिश्च पिहिता आच्छादिता अवनीर्भू-
 तप्रदेशान् ॥ ३२ ॥ अदभ्रा बहुलाः सरसीः हिमशैलस्य
 स्थलानि प्रदेशमेदाश्च तप्तान् पश्यति ॥ ३३ ॥ रसैरन्नरसैः
 श्लेष्मपित्तादिभिरनुसृत्य रिक्ते केवलवायुनैव पूर्णं नाडीप्रदेशे
 प्रविष्टोऽणुमात्रात्मा जीवो यदा वातेन आपूर्यते तदा तत्रै-
 व प्राशुक्ते ओजोन्तरे वक्ष्यमाणं स्वप्नं विन्दते ॥ ३४ ॥ अपूर्वं
 पूर्वदृष्टविलक्षणम् ॥ ३५ ॥ घनानां घुंघुमैर्गर्जनैः सारावान्स-
 शब्दान् देशान् । विनैव कुलालचक्रं घटीनां भ्रमणादि च ॥ ३६ ॥
 हंसान्तैर्यानि गमनं तदवरोहणं च । गतयश्च आगमनानि च दूरतः
 स्वस्थाने संचरणं च । गत्येति पृथक्पदं वा ॥ ३७ ॥ अद्रि-
 मिर्दिवा उर्व्या नदीशैलैश्च सहितानां वने भवन्तीति वनमुवो
 वृक्षादयस्तेषां ग्रामाणां पुरां दिशां च भयोन्मुखाङ्गानां मनु-
 ष्यादीनां च कम्पम् ॥ ३८ ॥ खं मिनोति परिच्छिन्नव्यामा
 संस्थानशोभा यस्य तथाविधं पादपं गिरि च ॥ ३९ ॥ श्लेष्मा-

वातपित्तश्लेष्मयुक्तो जीव आपूर्यते यदा ।
 भागेर्वातवशं प्राप्तेरतोऽसौ विन्दते तदा ॥ ४०
 पतन्तीं पार्वतीं वृष्टिं सुशिलावृष्टिसंकटम् ।
 स्फुटाङ्कटकारावभ्रमत्पादपमण्डलम् ॥ ४१
 अमद्भिर्वनविन्यासैः संदिग्धाम्भोधरोत्कटम् ।
 सिंहवारणवर्षाभ्रनिरन्तरदिगन्तरम् ॥ ४२
 तालीतमालहितालमालाञ्जलनसंकुलम् ।
 शुद्धाधुमनिर्द्वादभाकारघनघर्घरम् ॥ ४३
 मन्दमन्दरमन्थानशब्दसंदर्भसुन्दरीम् ।
 दरीं दलनदुर्वारमिथःसंघट्टघट्टिताम् ॥ ४४
 शृङ्गसंघट्टसदृशाः कैंकारोत्करकर्कशाः ।
 नदीमुक्तालतापातसंलग्नदामनभस्तलाः ॥ ४५
 शिलाशकलपूर्णार्णपूर्णम्बरमहार्णवम् ।
 बहदनधनोद्धातघट्टितब्रह्ममण्डलम् ॥ ४६
 परस्परविनिर्मुष्टदशदर्शनदन्तुरम् ।
 चटत्कटकटारावस्फुटत्कटकटङ्कितम् ॥ ४७
 खपातपवनाधूतवनवातलतोदयम् ।
 एणदात्मदषचूर्णकर्तुरास्वजधारिणम् ॥ ४८
 प्राग्भट्टोद्भटमेदोत्थैर्मन्दैर्मरमरारवैः ।
 क्रूराक्रन्दैरिवाभाति विराजितजगत्रयम् ॥ ४९

येकैकपूरितनाडीभागद्वयान्स्वप्राप्तुक्त्वा तत्रितयपूरितनाडी-
 दृश्यांस्तानाह—वातेत्यादिना ॥ ४० ॥ स्फुटतामद्भानां सौधानां
 निरिक्तकानां चारावैः सह भ्रमत्पादपमण्डलम् ॥ ४१ ॥
 सिंहवारणैर्वर्षाभ्रैश्च निरन्तरं दिग्भाष्यम् ॥ ४२ ॥ तदेव दिग-
 न्तरं निशिनष्टि—तालीति ॥ ४३ ॥ दलने दुर्वारो यो मिथः
 संघट्टेन घट्टिता दरीं पश्यति ॥ ४४ ॥ निरिशृङ्गद्वयमध्ये
 प्रवाहध्वनिभिः शृङ्गद्वयसंघट्टनसदृशाः । चक्रवाकादिकैंकारो-
 त्करैः कर्कशाः । मुक्तालतावदापतनैः लग्नदामसहितमिव नभ-
 स्खलं यामिस्ता नदीः पश्यति ॥ ४५ ॥ खट्ट. प्रलयार्णवा-
 दिदर्शनखण्डोऽप्येतस्मादेव निमित्तादिति सूचयन्नाह—शिला-
 शकलेति । शिलाशकलपूर्णैर्णैर्मिर्जलेः पूर्णम्बरं महार्णवं
 मयति । तमेव वर्णयति—बहदित्यादिना । बहतीं वनानां
 वनानां चोद्धातैर्घट्टितमास्फाळितं ब्रह्ममण्डलं सप्तर्षिलोको येन
 ॥ ४६ ॥ परस्परं तरङ्गस्यैकैर्विनिर्मुष्टानां श्रोतानां दशानां दिशां
 दर्शनेन दन्तुरं हसन्तमिव स्थितम् । चटन् दिश आवृण्वन् यः
 कटकटारावस्तेन स्फुटद्भिरद्रिक्तकैश्चङ्कितं संजातदङ्गावातध्वनि-
 मिव स्थितम् ॥ ४७ ॥ खं पततीति खपातो यः पवनस्तेना-
 धूतं कम्पितं यद्भनं तत्र वातानुसारिलतोदयो क्लतालासं
 यस्मिन् । एणद्विरात्मकृतेर्हवषूणैः कर्तुरवर्णानि यान्यम्बुजा-
 तानि शैवालादीनि धारयति तच्छीलम् ॥ ४८ ॥ समुद्राक-
 मणात्प्रागुगान्ते प्रवृत्तैर्मटोद्भटानां शूराणां मेदेषु परस्परवि-
 दारणेज्जिवोत्थितैर्मन्दैस्तालीवनादिमरमरारवैः क्रूराणां प्राणि-
 नामाक्रन्दैरिव विराजितं जगत्रयं तदाभातीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

इति तैः काष्ठपाषाणमृद्युग्वातमटैर्वृतः ।
 परिपीडित एवास्ते यदा जीवो जडीकृतः ॥ ५०
 मृदन्तःकीटकणवच्छिलान्तर्गतमेकवत् ।
 गर्भस्थापकशिशुवत्फलान्तर्गतबीजवत् ॥ ५१
 बीजोदरस्थाङ्कुरवद्ब्यपिण्डोदराणुवत् ।
 अन्तस्तम्बकोशस्थदाकपुत्रकदेहवत् ॥ ५२
 सौषिर्यासंभवात्प्राणपवनस्पन्दवर्जितः ।
 प्रोक्षमत्पशुपूरेण शिलापूरेण तर्जितः ॥ ५३
 तदा निविडतेजोन्तरेवानुभवति स्वयम् ।
 सुषुप्तं शैलकोशाभमन्धकूपोदरोपमम् ॥ ५४
 यदा परिणतं यत्नं पुनः सौषिर्यमागतम् ।
 पुनर्वेत्ति तदा जीवः स्वप्नं प्राणावबोधितः ॥ ५५
 यदा तस्मिन्प्रदेशेऽन्तर्भागभागान्पतन्ति ते ।
 देहे परिणमन्तोऽन्तस्तदेवात्यद्विवर्षणम् ॥ ५६
 बह्वेव बह्विबहुना स्वल्पेनाल्पं प्रपश्यति ।
 वातपित्तादियोगेन बहिरन्तश्च संभ्रमम् ॥ ५७
 पश्यत्येतद्यथैवान्तरेण जीवो वशीकृतः ।
 वातपित्तादिवलितो बह्विर्वैत्येवमेति वा ॥ ५८
 ध्रुवैरन्तर्बहिश्चैव स्वल्पैः स्वल्पं प्रपश्यति ।
 समैः समसिद्धं दृश्यं वातपित्तकफादिना ॥ ५९

त्रिधातुपूर्णनाडीषु इति वर्णितप्रकारैस्तैः सर्वजनप्रसिद्धैः काष्ठैः
 पाषाणैर्मृद्युतैर्वीतैर्मटैर्वा वृतः सन् स्वप्ने जडीकृतो जीवः परिपी-
 डित एवास्ते ॥ ५० ॥ मृदन्तर्गतकीटादिबसादृशपाषाणादिक-
 वन्नानुभवतीति तृतीये सर्वेषां संबन्धः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ सुषुप्तं
 तर्हि कदा केव निमित्तेनानुभवति तदाह—सौषिर्येति ।
 यदायं जीवः पुरीतति नाडीपञ्चरे सर्वपार्श्वस्थप्रघटितदृश्याः
 स्थिप्रन्ध्युपलक्षिते प्रविष्टो भवति तदा अग्रे संचारार्थं सौषिर्याः
 संभवाद्यस्मिन्प्रदेशे प्राणपवनप्रयुक्तेन स्पन्देन वर्जितः सन्प्रो-
 क्षमतां पश्यतां पार्श्वस्थानां पूरेण प्रनियता शिलापूरेण मित्रे
 निरुद्ध इव तर्जितो व्यापारासमर्थः कृतो भवति तदा प्राणुक्त-
 निविडतरौजःशान्दिततेजोन्तरेव शैलकोशाः शिलाजठरं तदा
 भमन्तानगादत्तादन्धकूपोदरोपमं सुषुप्तमनुभवतीति द्वयोरन्वयः
 ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ततः पुनः स्वप्ने कथमायाति तत्राह—यदेति ।
 भुक्तमजं यदा पाकेन परिणतं यदा चाक्षरसकृतप्रवेशमार्गानि-
 रोधापगमात्पुनः सौषिर्यमागतं तदा ततो निर्गमनयत्नं प्राण-
 संचारेण प्राप्य पुनर्जीवः प्राणेनावबोधितः सन्स्वप्नं वेति ॥ ५५ ॥
 यदा देहे परिणमन्तस्तेऽक्षरसा यस्मिन्प्रदेशे जीवेन सह नाडी-
 भागेभ्यो सागान्तराणि पतन्ति तदा ओजोन्तरद्विवर्षणं वेति
 ॥ ५६ ॥ बह्विबहुना बहुतरजाठराभिन्यासेन वातपित्तादिवो-
 गेन बहिरन्तश्च बह्वेव संभ्रमं पश्यतीति बहिरपि आन्तिदर्शनं
 वर्णयितुं पीठिकारचनम् ॥ ५७ ॥ तदेव वर्णयितुमुपक्रमते—
 पश्यतीति । शानेभ्यैवेति कर्मेन्द्रियैरेति वा ॥ ५८ ॥ वात-

बहिः पश्यत्ययं जीवः कुपितैरेभिरावृतः ।
 स्पन्दं भूम्यद्रिनभसां ज्वलनं वानलोच्चयैः ॥ ६०
 आकाशगमनं चैव चन्द्रोदयहिमाचलान् ।
 गहनं धृक्षशैलानां नभःप्लवनमर्णसाम् ॥ ६१
 मज्जनोन्मज्जनं वाय्वौ सुरतं सुरसञ्जसु ।
 शैलोपवनशुभ्राभ्रपीठविभ्रमणोच्चयम् ॥ ६२
 बृहत्ककचनिष्पेषं नरकानुभवभ्रमम् ।
 तालीतमालहितालमालावलनमम्बरे ॥ ६३
 चक्रवृत्तैश्च पतनं शनित्युत्पतनं दिवि ।
 शून्येऽपि जनतावृन्दं स्थलेऽप्यब्धिनिमज्जनम् ॥ ६४
 विचित्रं विपरीतं च व्यवहारं महानिधि ।
 अहीव भास्करालोकं दुर्भेद्यं चाहि वा तमः ॥ ६५
 साद्रिभूतलमाकाशे कुड्यबन्धे घने स्थलम् ।
 कुड्यबन्धांश्च गगने मित्रभावं च विद्विषि ॥ ६६
 खजने परतावुद्धिं सुजनत्वं च दुर्जने ।
 सुसमस्थलतां श्वभ्रे श्वभ्रत्वं सुसमे स्थले ॥ ६७
 उद्रीतालापमसृणान्सुधाधौतान्सुचित्रितान् ।
 अद्रीज्ज्येष्ठमयान्वापि नवनीतमयांश्च वा ॥ ६८
 कदम्बनीपजम्बीरपत्रस्तबकसञ्जसु ।

सुखविभ्रमणं स्त्रीभिः नाकं पद्मेष्विवालिनः ॥ ६९
 अन्तर्निमीलिता ह्येताः पश्यन्त्युन्मीलिता बहिः ।
 धातूनामिति वैषम्याद्भ्रान्तिमिन्द्रियवृत्तयः ॥ ७०
 एवंविधान्यनेकानि पश्यन्त्यनुभवन्ति च ।
 बहिरेव यथा स्वप्ने वस्तुन्यसमधातवः ॥ ७१
 बहिश्चान्तश्च दृश्यन्ते विपरीतान्यनेकशः ।
 कार्याण्यतिकरालानि जीवैरसमधातुभिः ॥ ७२
 समेषु धातुष्वेषोऽन्तर्जोऽनुभवति स्वयम् ।
 तेजोन्तर्गत एवेमां व्यवहारस्थितिं समाम् ॥ ७३
 यथास्थितां पुरग्रामपत्तनारण्यसंततिम् ।
 सौम्यचारितरुच्छायादेशाध्वगगमांगमम् ॥ ७४
 सुखातपमयेन्द्रकंठाराहोरात्रमण्डितम् ।
 एवमेतदसद्भूतं सद्भूतमिव भासते ॥ ७५
 दृश्योपलम्भं चित्तत्वे स्पन्दनं पवने यथा ।
 असदेव सदाभासमभिन्नं भिन्नवत्स्थितम् ॥ ७६
 शान्तादुदेति सकलं जगदम्बरात्म
 शान्तं न किञ्चन न नाम सदित्युदेति ।
 तद्योमनीदृशमनन्तचित्तेः शरीरे
 भामात्रमाततमनन्तवपुर्विभाति ॥ ७७

६० वा० महारामा० वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श० जाग्रत्स्वप्रसुषुप्तिवर्णनं नाम पञ्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४६

व्याध उवाच ।
 अनन्तरं मुनिश्रेष्ठ तस्मिन्हृदि तदोजसि ।
 स्थितस्य तव किं वृत्तं नामतो भ्रान्तिरूपिणि ॥ १
 मुनिरुवाच ।
 अनन्तरं तदा तत्र शृणु किंवृत्तमङ्ग मे ।
 तेजोधातुनिषण्णस्य तज्जीवावलिताकृतेः ॥ २

पित्तकफादिना छुब्धैः स्वल्पैरजरसैरन्तर्बहिश्चैव स्वल्पं दृश्यं
 आन्त्या प्रपश्यति समैः समं दृश्यं प्रपश्यति । अतिछुब्धैस्त्व-
 तिशयितभ्रान्तिदृश्यानि प्रपश्यतीत्यर्थाद्रम्यते ॥ ५९ ॥ कुपि-
 तैरेभिः संनिपातमदमणिमन्त्रौषधादिनिमित्तेषु ॥ ६० ॥ बहि-
 र्भ्रान्तिदृश्यानि प्रपश्यति—आकाशगमनमित्यादिना ॥ ६१ ॥
 शुभ्राभ्राणां पीठेषु विभ्रमणमुपवेशनं शुभ्राभ्रोच्चयं च ॥ ६२ ॥
 ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ निधि अहीव भास्करालोकम् ॥ ६५ ॥
 घने कुड्यबन्धे विकुड्यं विशालं स्थलम् ॥ ६६ ॥ ६७ ॥
 श्वेतस्फटिकरजतादिमयान् ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ एता आन्तीरन्त-
 र्निद्रानिमीलिता इन्द्रियवृत्तयः पश्यन्ति । जागरोन्मीलितास्तु
 बहिरिन्द्रजालादौ पश्यन्ति ॥ ७० ॥ असमा वातादिधातवो
 येषां पुरुषाणां ते ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ इमां प्रसिद्धां लौकिकशालीय-
 व्यवहारस्थितिम् ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ शान्ताभि-
 प्रपञ्चादेव ब्रह्मणः सैकाशात्सकलं जगदुदेति शान्तं च न

तस्मिंस्तदा वर्तमाने घोरे कल्पान्तसंभ्रमे ।
 तृणवत्प्रौढशैलेन्द्रे वहति प्रलयानिले ॥ ३
 गिरिवृष्टिर्दृष्टित्येव कुतोऽपि समुपाययौ ।
 उद्यमानवनाभोगशिखरग्रामपत्तना ॥ ४
 तस्यान्तस्तत्र संप्राप्तं तदा परिणतं यदा ।
 तदा तदेव सूक्ष्मोऽहमपश्यं शैलवर्षणम् ॥ ५

किञ्चनान्यद्भवति । यतः सदिति परिदृश्यमानजन्यरूपेण नोदेति
 नाम न हि समुत्पद्यते । तत्तस्मादेतोर्व्योमन्याकाशकल्पे अन-
 न्तायाधितेः शरीरे भामात्रं प्रतिभासमात्रं जगदित्यनन्तवपुर्वि-
 भाति न वस्तुन्यदित्यर्थः ॥ ७७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायण-
 तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जाग्रत्स्वप्रसुषुप्तिवर्णनं नाम
 पञ्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४५ ॥

प्रस्तुतस्वप्नवीक्षान्ते सुषुप्तिः स्वस्य चर्यते ।

पुनः स्वप्नप्रसङ्गेन ब्रह्माद्वैतं च विस्तारम् ॥ १ ॥

आसन्निकं श्रुत्वा पुनः पूर्वकथाशेषमेव व्याधः पृच्छति—
 अनन्तरमिति । भ्रान्तिरूपिणि नामतस्तस्य प्राणिन ओजसि
 स्थितस्य तवाग्रे किं कीदृशं स्वप्नदर्शनादिवृत्तं संपन्नम् ॥ १ ॥
 तज्जीवेन आवलिता मिश्रिता आकृतिर्लिङ्गदेहो यस्य मे ॥ २ ॥
 ॥ ३ ॥ ४ ॥ यदा मया तस्य प्राण्योजसोन्तस्तज्जीवात्मना
 परिणतं तदा तत्र संप्राप्तं तदेव शैलवर्षणमहमपश्यम् ॥ ५ ॥

तेनाल्लवशैलोच्चपूरेण प्रतिपिण्डितः ।
 सुषुप्तमन्धतामिश्रमहमन्धभवं घनम् ॥ ६
 अथ कंचित्तदा कालमनुभूय सुषुप्तताम् ।
 तदा पश्चाद्वर इव शनैर्बोधोन्मुखोऽभवम् ॥ ७
 यथा दृष्टिश्चिराद्धान्ते भाति चक्रकरूपिणी ।
 सुषुप्तमेव तत्रासीत्तथा स्वप्नत्वमागतम् ॥ ८
 तथा सुषुप्तविश्रान्तेः स्वप्ने निद्रामहं विशम् ।
 अपश्यं दृश्यमोजोऽन्तः स्वमूर्मित्वसिघर्षणवः ॥ ९
 संवित्कोशात्मकं दृश्यं तत्तथा मामुपागतम् ।
 अस्पन्दस्यानिलस्यान्तरन्यत्स्पन्दनं यथा ॥ १०
 अय्यादौ च यथोष्णत्वं जलादौ द्रवता यथा ।
 मरीचादौ यथा तैक्ष्ण्यं चिद्योस्त्रश्च जगत्तथा ॥ ११
 चित्स्वभावैकरूपत्वाज्जगद्दृश्यं तदाततम् ।
 तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यात्प्रसूतं बालपुत्रवत् ॥ १२
 व्याध उवाच ।
 तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यादिति तद्व्यपदेशतः ।
 सुषुप्तदृश्यं किं वक्षि वद मे वदतां वर ॥ १३
 तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यात्स्वत्सुषुप्तात्मनोऽपि च ।
 किमन्यज्जायते जन्यमथवान्यसुषुप्तता ॥ १४

तेन तत्प्राणिनाल्लवशैलोच्चपूरेण प्रतिपिण्डितः पिण्डीकृताकृतिर्निबध्नेः संपन्नः सज्जहमज्ञान-
 लक्षणया अन्धतया मिश्रं संवलितं सुषुप्तमन्धभवम् ॥ ६ ॥ यदा
 निर्गमनमार्गनिरोधकोऽन्तरसो जीर्णस्तादा उपसि पश्चाद्वर इव
 बोधोन्मुखोऽभवम् ॥ ७ ॥ ध्वान्ते निमीलिता दृष्टिर्यथा चिरात्ते-
 जश्चक्रभासरूपिणी भाति तथा सुषुप्तमेवात्मरूपं स्वप्नत्वमाग-
 तमासीदित्यर्थः ॥ ८ ॥ सुषुप्तिविश्रान्तेः सकाशादहं स्वप्ननिद्रा-
 मविशम् । अडभावश्चान्दसः । यथा अर्णवः स्वमूर्मित्वं
 तरङ्गादिसहस्रविक्षेपसंकुलां स्वमूर्तिं पश्यति तथाहमपि तदो-
 जोन्तर्विक्षेपसहस्रमपश्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ तत्स्वाप्नं
 जगत् तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यान्मातृरुदराद्बालपुत्रवत्प्रसूतम् ॥ १२ ॥
 सर्वदृश्यविलये हि सुषुप्तिः प्रतिष्ठा तत्र तत्सुषुप्तात्मनो दृश्या-
 दिति सुषुप्तावपि दृश्यसद्भावमुक्तं श्रुत्वा तदसंभावयन्व्याधः
 पृच्छति—तदिति । तत्सुषुप्तात्मन इति तच्छब्देन दृश्यपदेन
 च व्यपदेशात्सुषुप्तदृश्यं किंचिदस्तीत्यभिप्रेत्य त्वं वक्षि तन्मे वदे-
 त्यर्थः ॥ १३ ॥ किंच तस्य प्राणिनः सुषुप्तात्मनः तत्सुषुप्तात्मन-
 श्चापि सकाशाज्जन्यं जगद्रूपं दृश्यमन्यत्किं जायते । अन्यता-
 प्रयोजकं जन्म किं, अथ सर्वदृश्यलये अन्यसुषुप्तता वा किम्
 ॥ १४ ॥ किं दृश्यतज्जन्मादि परमार्थतः किमिति पृच्छति
 उक्त व्यवहारतः । आद्ये अवस्तरूपत्वाच्च किंचिदित्युत्तरं मुनि-
 राह—जायत इत्यादिना । द्वैतोपपत्तानां मूर्खाणां कल्पनात्मकः
 प्रलपो मयामुदितो न तत्त्ववादोऽयमित्यर्थः ॥ १५ ॥ पण्डित-
 विचारे तु जातादिशब्दानां सन्मात्रमेवार्थो नान्य इत्याह—
 जातशब्द इति । कथं सन्मात्रपर्यायस्तच्छ्रूयतामुपपादयामी-

मुनिरुवाच ।

जायते भाति कचति घंटादि जगदादि च ।
 इति द्वैतोपपत्तानां प्रलापः कल्पनात्मकः ॥ १५
 जातशब्दो हि सन्मात्रपर्यायः श्रूयतां कथम् ।
 प्रादुर्भावे जनिस्तूक्तः प्रादुर्भावस्य भूर्वपुः ॥ १६
 सत्तार्थ एव भूः प्रोक्तस्तस्मात्संजातमुच्यते ।
 सर्गतो जात इत्युक्ते सन्सर्ग इति शब्दितम् ॥ १७
 बुधानामसदादीनां न किंचिन्नाम जायते ।
 न च नश्यति वा किंचित्सर्वं शान्तमजं च सत् ॥ १८
 सर्वसत्तात्मकं ब्रह्म सर्वसत्तात्मकं जगत् ।
 विधयः प्रतिषेधाश्च वद तत्र लगन्ति के ॥ १९
 या नाम शक्तिः काचित्सा तत्रैवास्ति च नास्ति च
 यस्मात्तदात्म तद्ब्रह्म तथैवात्म तदात्मकम् ॥ २०
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादिपरमार्थविदां विदाम् ।
 न विद्यते किंचिदपि यथास्थितमवस्थितम् ॥ २१
 स्वप्नसंकल्पपुरयोर्नास्त्यप्यनुभवस्थयोः ।
 मनागपि यथा रूपं सर्गादौ जगतस्तथा ॥ २२
 दृष्टास्याः स्वप्नदृष्टेस्तु जीवः संभवतीह हि ।
 चिदचेत्या तु सर्गादौ भात्यच्छा गगनादपि ॥ २३

त्यर्थः । जनिर्धातुः 'जनी प्रादुर्भावे' इति पाणिन्यादिभिः प्रादु-
 र्भावार्थे उक्तः । तत्र प्रादुरित्यव्ययं प्रकटतां धात्वर्थस्य द्योतय-
 प्रधानं, भूधातुरेव तु तस्य वपुः प्रधानं शरीरमित्यर्थः ॥ १६ ॥
 अस्तवेवं किं ततस्तत्राह—सत्तार्थ इति । भूर्धातुस्तु 'भू सत्ता-
 याम्' इति पाणिन्यादिभिः प्रोक्तस्तस्मात्प्रादुर्भावेऽसंजातत्वाद्वा-
 शब्दात्संजातः प्रकटः सन्नर्थ उच्यते । स च नित्यसिद्धसप्रका-
 शचिदात्मैवेत्यर्थः । यदि प्रादुःशब्दस्य सर्गत इत्यर्थस्तदापि न
 काचित्कतिः । यतः सर्गशब्दस्यापि सृज्यधातोर्भावे घञि घञर्थे
 सत्तारूपे भावे सृज्यर्थस्यामेदेनान्वये सन्नेव सर्ग इति शब्दितं
 नान्यदित्यर्थः ॥ १७ ॥ एवं सति पण्डितदशा नाज्ञजनप्रसिद्ध-
 जन्मादि कस्यचित्प्रसिद्धतीत्याह—बुधानामिति ॥ १८ ॥
 एवं सर्वसत्तात्मके ब्रह्मणि अस्तिनास्तीति वा वस्तुनां विधि-
 प्रतिषेधयोरप्यनवकाश इत्याह—सर्वेति ॥ १९ ॥ तर्ह्यस्ति-
 नास्तीति लोकप्रसिद्धव्यवहारस्य को विषयस्तं दर्शयन् द्वितीये
 प्राह—या नामेति । या मायाशक्तिः । यस्मात्तद्ब्रह्म तच्छ-
 बलत्वादज्ञानां तदात्म । तदात्मेति पदं न्याचष्टे—तथैवेति ।
 यथा यथा मायाशक्तिर्विजृम्भते तथैवात्मा सर्वशक्तिघटितं
 स्वरूपं यस्य तत्तदात्मकं, तदात्मशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ २० ॥
 तत्त्वविदां तु सदा तुरीयपदे प्रतिष्ठितानां जाग्रदाद्यवस्था एव
 न सन्ति, हरे विधिप्रतिषेधा इत्याह—जाग्रदिति । विदां
 पण्डितानाम् ॥ २१ ॥ प्रत्यक्षमनुभवस्थानामपलापो दुर्घट
 इति शब्दां दृष्टान्ताभ्यां वारयति—स्वप्नेति ॥ २२ ॥ तर्हि
 स्वप्नमनोरथयोर्दृष्टा प्राणादिमान् जीव इव सर्गादावपि प्राणादि-

१ स्वमूर्तित्वं इति पाठः । २ स्वप्नसर्गसादृश्यादुपसर्गत्वमस्तीति नेपथ्यः ।

नेह द्रष्टास्ति नो भोक्ता सर्वमस्तीह तादृशम् ।
यन्न किञ्चिच्च किञ्चिच्च मौनमेवातिवागपि ॥ २४
सर्गादौ कारणाभावाद्यथा कञ्चितं चित्तौ ।
तत्तथास्ते चिरं रूपं स्वप्नसंकल्पपूर्यथा ॥ २५
तथास्माच्चेतनाद्वैताद्विभेति न विभेति वा ।
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारा० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अ० वि० श० सुषुप्तविचारो नाम षट्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४६ ॥

अङ्गसंस्थाद्यथा चित्रात्स्वरूपात्पुरुषः स्वयम् ॥ २६
अनादिमध्यान्तमनन्तमेक-
मत्यच्छमेवातिविकारि नाना ।
यथास्थितं भास्वरमप्यशान्त-
मिदं समस्तं परिशान्तमेव ॥ २७

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४७

मुनिरुवाच ।

अनन्तरं महाबाहो सुषुप्तान्निर्गतस्य मे ।
स्वप्ने जगद्दृश्यमिदं सागरादिव निर्गतम् ॥ १
आकाशाद्भावादित्कीर्णमुत्कीर्णमवनेरिव ।
उत्कीर्णमिव वा चित्तादुत्कीर्णमिव वा दशः ॥ २
प्रफुल्लमिव वृक्षेभ्यः सर्गः पूर्वमिवोत्थितः ।
तरङ्गजालं रोधोऽब्धेरिव वा कचनं दशाम् ॥ ३
नभस्तलादिवायातं ककुब्ध इव चागतम् ।
पर्वतेभ्य इवोत्कीर्णं भूमेरिव समुत्थितम् ॥ ४
हृदयादिव निष्क्रान्तं संप्रविष्टमिवाम्बुदैः ।
प्रसूतमिव वृक्षेभ्यो जातं वा संस्यवद्भुवः ॥ ५
अङ्गेभ्य इव निर्यातं समुत्कीर्णमिवेन्द्रियैः ।
पटादिव प्रकटितं मन्दिरादिव निर्गतम् ॥ ६
कुतोऽप्यागत्य पतितमुद्गीय गगनादिव ।

उपायनं परे लोके गृहीतमिव वा भुवः ॥ ७
प्रसूनं ब्रह्मवृक्षस्य तरङ्गमिव वाम्बुधेः ।
अनुत्कीर्णप्रकटनाच्चित्तम्भे चारुपुत्रिका ॥ ८
आकाशमृन्मयानन्तकुड्यमाकाशपत्तनम् ।
मनो मत्तो गजमयो मिथ्या जीवस्य जीवितम् ॥ ९
अभिचित्कमरङ्गं च विचित्रं चित्रमम्बरे ।
शम्बरेशस्य सर्वस्वमविद्याख्यस्य कस्यचित् ॥ १०
महारम्भं स्थिरमपि देशकालविवर्जितम् ।
नानाढ्यमपि चाद्वैतं नानात्मापि न किञ्चन ॥ ११
गन्धर्वपुरदृष्टान्तस्याप्यवस्तुतया समम् ।
जागरायां हि किल तद्भ्रान्तमप्युपलभ्यते ॥ १२
चिद्भ्रामात्रमनारब्धमप्यारब्धमिव स्थितम् ।
देशकालक्रियाद्रव्यसर्गसंहारसंयुतम् ॥ १३
सुरासुरनराधारगर्भगर्भमनोहरम् ।
पृथक्कोष्ठस्थवीजौघसंपूर्णमिव दाडिमम् ॥ १४

अदेव ब्रह्म सिद्ध्येन्न निर्विशेषं तत्राह—द्रष्टेति । जीवोपा-
यिसर्गोत्तरकालत्वात्तयोः प्राणादिमान् जीवस्तद्द्रष्टा प्राणाद्युत्पत्तेः
प्राक् तु शुद्ध एव तत्सर्गादिद्रष्टा स्थित इति संभावयेत्यर्थः ॥ २३ ॥
अभ्युपेत्य सर्गं तद्गुह्यः शुद्धत्वमुक्तम् । वस्तुतस्तु त्रिपुटी सर्वापी-
दैव शुद्धे निवर्तत इत्याह—नेहेति । तादृशं चिदेकरसम् ॥ २४ ॥
सर्गादावपि चिदेव सर्गात्मना कचिता यावत्प्रलयं तथैवास्त-
द्वेत्याह—सर्गादाविति ॥ २५ ॥ तथा उक्तप्रकारेण चेतनादा-
त्ममूलादेव द्वैतादशतायामन्यताभ्रान्त्या विभेति । तत्त्वबोधे न
विभेति । वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पार्थः । यथा जालः स्वाङ्गे
लिखिताद्याप्रसर्पादिचित्राद्विभेति प्रौढस्तु न विभेति तद्वदित्यर्थः
॥ २६ ॥ तत्त्वतोऽनादिमध्यान्तमत्यच्छं ब्रह्मैव भ्रान्त्या अतिवि-
कारि नाना च भूला भाति यथास्थितम् । अशान्तमपीदं जग-
त्तत्त्वतः परिशान्तमेव प्रबोधेनेत्यर्थः ॥ २७ ॥ इति श्रीवासिष्ठम-
हारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सुषुप्तविचारो
नाम षट्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४६ ॥

सुषुप्तादत्र दृष्टान्तैः स्वप्ननिर्गमनक्रमः ।

तत्र पूर्वकुटुम्बादिवीक्षातरुं च वर्णयते ॥ १ ॥

सागरात्तरङ्गमणिमुक्तादिकमिव निर्गतम् । अत्र सर्वत्र संभवे
रूपमा अ संभवे उत्प्रेक्षा बोध्याः ॥ १ ॥ उत्कीर्णं दृष्टच्छेदा-
यो० वा० १७५

दिना शिलाप्रतिमावत्प्रकटितम् ॥ २ ॥ पूर्वमुत्थितः पूर्वसिद्ध
एव न तदानीमुत्पन्न इति भात इत्यर्थः । रोधः कूलं तत्सं-
निहितादब्धेस्तरङ्गजालमिव । दशां नेत्राणां केशोण्डकद्विचन्द्रा-
दिभावेन कचनमिव वा ॥ ३ ॥ भूमेः समुत्थितं कुड्यवल्मी-
कादीव ॥ ४ ॥ अम्बुदैर्नभसि संप्रविष्टमिव संस्यवद्विरूपप-
रिणामेन ॥ ५ ॥ दृक्स्थानीयैरिन्द्रियैर्दिक्षु समुत्कीर्णं उल्लेख-
नेन निष्पादितमिव प्रसारितमिव वा । पटात्प्रकटितं चित्रमिव
॥ ६ ॥ राशां प्रजामिरादृतमुपायनमिव । इह लोके संचितं
पुण्यं परे लोके फलभावेनोपस्थितमिव । भुवः खननाद्युपायैर्गृ-
हीतं निधानमिव वा ॥ ७ ॥ ब्रह्मलक्षणस्य वृक्षस्य प्रसूनमिव काले-
नोपनीतम् । उत्किरणं विनैव प्रकटनं यस्यास्तथाविधा शाल-
भजिका ॥ ८ ॥ आकाशलक्षणमृद्विकारभूतमनन्तमसंख्यातं
कुड्यम् । मनसो मत्तगजमयो विलासः । जीवितं सर्वस्वम् ॥ ९ ॥
शम्बरं माया तत्र ईशस्य समर्थस्य अविद्याख्यस्य कस्यचि-
दैन्द्रजालिकस्य मायासर्वस्वम् ॥ १० ॥ देशकालसौक्ष्म्येऽपि
विस्तारचिरत्वदर्शनादेशकालविवर्जितम् ॥ ११ ॥ यद्भ्रान्तमपि
जागरायामुपलभ्यते रज्जुसर्पमृगतृणोदकादि तेनापि सममि-
त्यनुषज्यते ॥ १२ ॥ १३ ॥ सुरासुराद्युपलक्षितत्रैलोक्याधारै-
र्गर्भैस्तद्गर्भैश्च कद्रलीस्तम्भवन्मनोहरम् । तत्राप्यवान्तरगर्भै-

नदीशैलवनादिस्थव्योमताराभ्रसंकुलम् ।
 गीताब्धिरणपाठाढ्यपवनारावधरम् ॥ १५
 सतो विलोकितं तत्र तन्मया दृश्यमण्डलम् ।
 यावत्तमेव पश्यामि ग्रामं प्राक्तनमास्पदम् ॥ १६
 तानेव सकलान्ध्रंस्तथासंस्थानसंस्थितान् ।
 सान्पुत्रांस्तां महेलां च तदेव च तदा गृहम् ॥ १७
 तां दृष्ट्वा प्राक्तनीं ग्राम्यामाहरद्वासनां बलात् ।
 तदस्थं मुह्यमानाङ्गमिव धीचिर्महार्णवे ॥ १८
 अथाहमभवं तत्र तदालिङ्गननिर्वृतः ।
 गृहीतवासनो नूनं विस्मृतप्राक्तनस्मृतिः ॥ १९
 बिम्बं तत्तदुपादत्ते यद्यदग्रेऽवतिष्ठति ।
 यथादर्शश्चिदादर्शस्तथैवायं स्वभावतः ॥ २०
 यस्तु चिन्मात्रगगनं सर्वमित्येव बोधवान् ।
 द्वैतेन बोध्यते नेह सोऽङ्ग तिष्ठति केवलः ॥ २१
 न तदयति स्मृतिर्यस्य विमला बोधशालिनी ।
 अयं द्वैतपिशाचस्तं मनागपि न बाधते ॥ २२
 येषामभ्यासयोगेन साधुसच्छास्त्रसंगमैः ।

इत्यार्षे श्रीवा० वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अ० वि० शबोपाख्याने स्वप्नोपलम्भनं नाम सप्तचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४५ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः १४८

व्याध उवाच ।

एवं वेत्तन्मुनिश्रेष्ठ सत्यतासत्यता कथम् ।

ध्वनन्तज्जगद्गण्डकल्पनसत्त्वात्पृथक्कोष्ठस्थवीजौघैः संपूर्णं दाडिम-
 फलमिव स्थितम् ॥ १४ ॥ तदेव प्रपद्यति—नदीति । कल-
 यौतशिलान्यायेनेति भावः ॥ १५ ॥ तं पूर्वप्रवेशस्तत्प्रदृष्टं ग्रामं
 तत्र प्राक्तनमास्पदं गृहं च पश्यामि अपश्यम् । ‘यावत्पुरा-
 निपातयोर्लट्’ ॥ १६ ॥ तथासंस्थानं प्रागनुभूतवयोवस्थासं-
 निवेशस्तेन संस्थिताम् । महेलां भार्याम् ॥ १७ ॥ महार्णवे
 वीचिः प्राक्तनं तदस्थं मुह्यमानं व्याकुलं स्वाङ्गमिव स्थितां
 प्राक्तनीं ग्राम्यां गृहक्षेत्रपुत्रबन्धाद्यभिमानवासना बलादाहरत्
 आनयदिति बन्धुपुत्रमहेलागृहविशेषणम् । तत्र ‘नपुंसकमन-
 पुंसकेन’ इति नपुंसकशेषे एकवद्भावः ॥ १८ ॥ तेषां बन्धु-
 पुत्रमहेलानामालिङ्गनेन निर्वृतः सुखितः ॥ १९ ॥ प्रसङ्गा-
 दविमृष्टविमृष्टचितोः स्वभावान्प्रपद्यति—बिम्बमित्यादिना ।
 यथा प्रसिद्ध आदर्शो यद्यदग्रेऽवतिष्ठते तत्तत्प्रतिबिम्बं स्वयम-
 प्युपादत्ते तथा चिदादर्शो वासनोपस्थापितं यद्यत्पूर्वमवतिष्ठते
 तत्तदाकाराभासमुत्तरत्र गृह्णातीत्यर्थः ॥ २० ॥ विमृष्टचितस्तु
 नायं स्वभाव इत्याह—यस्त्विति । सः वासनामयेन द्वैतेन
 प्रतिबिम्बग्रहणादिना नैव बोध्यते । ‘यस्यां जाग्रति भूतानि
 सा निशा पश्यतो मुनेः ।’ इति भगवदुक्तमायादिति भावः ।
 ‘बाध्यते’ इति वा पाठः ॥ २१ ॥ तदेवाह—नेति ॥ २२ ॥
 या बोधधीरुदिता चेतुनः स्वोदयं न विस्मरत्येव । सदैव ब्रह्म-

उदेति बोधधीर्भूयो या विस्मरति नोदयम् ॥ २३
 अप्रौढा मे तदा सासीद्वोबोधधीर्या तथा हता ।
 अद्य शक्नोति मे बुद्धिं हन्तुं क इव दुर्ग्रहः ॥ २४
 तत्रापि व्याध विद्धीदं बुद्धिः सत्सङ्गवर्जिता ।
 द्वैतबोधेन कष्टेन कृच्छ्राच्छान्तिमुपैष्यति ॥ २५
 व्याध उवाच ।

एवमेतन्मुने सत्यं पावनैस्त्वद्विबोधनैः ।
 ईदृशैरपि मे बुद्धिर्न विश्राम्यति सत्पदे ॥ २६
 स्यादीदृशमथो न स्यादिति संदेहजालिका ।
 नैतस्मिन्स्वानुभूतेऽपि वस्तुन्यद्यापि शाम्यति ॥ २७
 अहो बत दुरन्तेयमभ्याससुदृढीकृता ।
 अविद्या विद्यमानैव या शान्तैव न शाम्यति ॥ २८
 सत्सङ्गतैः पदपदार्थविवुद्धबुद्धैः
 सच्छास्त्रसत्क्रमविचारमनोहराङ्गैः ।
 अभ्यासतः प्रशममेति जगद्भ्रमोऽयं
 नान्येन केनचिदपीति विनिश्चितिर्मे ॥ २९

स्थितः स्वप्रदृशा नैव सुमहान्संशयो मम ॥ १

सुसंधानात्मना आस्ते इत्यर्थः ॥ २१ ॥ तर्हि तत्त्ववित्त्वं कथं
 तदा व्यामूढस्त्राह—अप्रौढेति । या अप्रौढा धीस्तया बन्धा-
 दिवासनया हता, तर्हीदानीमपि ते बोधधीरप्रौढैव नेत्याह—
 अद्येति । दुर्ग्रहो दुर्वासनाप्रचयः ॥ २४ ॥ हे व्याध, तव
 बुद्धिरपि सत्सङ्गवर्जितेति हेतोर्नेदानीमेव शान्तिमेति किंतु
 वक्ष्यमाणतपःकायबुद्धिमरणजन्मान्तरराज्यादिना कष्टेन द्वैत-
 बोधेन कृच्छ्रात्साधनाभ्यासपरिश्रमाज्ज्ञानमासाद्य शान्तिमुपै-
 ष्यति ॥ २५ ॥ मुन्युक्तमनुमोदमानो व्याध उवाच—एव-
 मेतदिति ॥ २६ ॥ २७ ॥ अविद्यमानैवेति सदा शान्तैव न
 शाम्यति ॥ २८ ॥ सत्सङ्गवर्जितेति यदुक्तं तदप्यनुमोदमान
 आह—सत्सङ्गतैरेति । सच्छास्त्रं सत् क्रमो शुक्संप्रदायो
 विचारश्चेत्यादिना मनोहराङ्गैः सत्सङ्गैः प्रसूता या पदपदार्थ-
 वेकबुद्धिस्तदभ्यासतत्त्वोत्पत्तात्त्वबोधाङ्गमिकाक्रमेणायं जग-
 द्भ्रमः प्रशममेति । अन्येन केनचिदपि न प्रशममेतीति मे विनि-
 श्चितिर्निश्चय इत्यर्थः ॥ २९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्प-
 र्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे स्वप्नोपलम्भनं नाम सप्तच-
 त्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४७ ॥

स्वप्नसत्यत्वसत्यत्वहेतुरत्र निरूप्यते ।

जाग्रदवस्थासुषुप्त्यैक्यं चित्तावात्यैक्यबुद्धियुक् ॥ १ ॥

यदि वासनानुसारि विद्वेदनमेव स्वप्नो जाग्रत स्वप्नविशेष

मुनिरुवाच ।

देशकालक्रियाद्रव्यैर्या संविज्ञिश्चितोदिता ।
 काकतालीयवद्भाति सा सत्यस्वप्ननामिका ॥ २
 मणिमन्त्रौषधिद्रव्यैः क्वचिदव्यभिचारिणी ।
 क्वचित्सव्यभिचारा चित्सत्यस्वप्नाभिधा स्मृता ॥ ३
 सत्यस्वप्नस्थितिलोकेष्पीडग्रूपा यदा स्थिता ।
 तदैषा काकतालीयन्यायादन्या न लभ्यते ॥ ४
 यं यं निश्चयमादत्ते संवित्सदृढनिश्चया ।
 तथा तथा भवत्येषा फलयुक्तस्वभावतः ॥ ५
 तमेव निश्चयं त्वस्या अन्यः प्रतिनिहन्ति चेत् ।
 तत्रासौ निश्चयः प्रौढः स कथं लक्ष्यभाग्भवेत् ॥ ६
 न बहिर्नान्तरे सन्ति पदार्थाः केचन क्वचित् ।
 संविदेका जगद्रूपैर्यथेच्छति तथा स्थिता ॥ ७
 स्वप्नोऽयं सत्य इत्यन्तर्निश्चयेन तथोदिता ।
 तथैवाशु भवत्येषा संशयात्संशयं वजेत् ॥ ८
 अन्यतोऽपि फलं प्राप्तं स्वप्नसत्यत्वकल्पनात् ।
 स्वप्नेन सूचितमिदं फलमित्येव वेत्त्ययम् ॥ ९
 सर्व एव निजया जगन्त्रये
 संविदातिशयिता दृढा अपि ।

एवेत्येवं चेत्सिद्धान्तस्तर्हि कश्चित्स्वप्न उषति दृष्टगजारोहणादि-
 र्क्षाभादिफलसूचकत्वात्सत्यः । अन्यस्तु अरण्यगमनभ्रमणादिः
 फलादर्शनादसत्य इति स्वप्नदशौ सत्यतासत्यते कथमुपपद्येते ।
 एवं हिरण्यगर्भमानोरथिकः सर्गोऽर्थक्रियासमर्थत्वात्सत्यः अस्म-
 दीयस्त्वसत्य इति जाग्रजगत्स्यपि एष संशयः सुमहान्मम
 स्थितः । अधिष्ठानचित्सत्यतयाभ्यस्ते सत्यता स्वतस्त्वसत्यता
 चोभयत्रापि तुल्यैव चेद्वैषम्ये को हेतुरिति भावः ॥ १ ॥
 या स्वप्नसंवित् स्वप्नेश्वरीसाक्षिण्यादिदेशे प्रत्यूषादिकाले देवतारा-
 धनतपोव्रतादिक्रियाभिर्हविष्यकुशास्तरणादिद्रव्यैश्च शास्त्रादि-
 प्रमाणैरवश्यमीदृशस्वप्नस्येदृशं फलं भवत्येवेति निश्चिता उदेति
 सा संवित् काकतालीयफलकशकुनादिवदवश्यमुत्तरकाले फल-
 काभात्सत्यस्वप्ननामिका भवति ॥ २ ॥ मणिमन्त्रादिनिमित्तैर्जा-
 यमाना तु तद्योग्ये पुरुषे अव्यभिचारिणी अयोग्ये तु सव्य-
 भिचारापि शास्त्रमर्यादानतिलङ्घनादुभयत्रापि सत्यस्वप्नाभिधैव
 स्मृतेत्यर्थः ॥ ३ ॥ तत्रोभयत्रापि काकतालीयन्याय एव शरणं
 न दृष्टं नियामकं किञ्चिन्निरूपयितुं शक्यमित्याशयेनाह—स-
 त्येति ॥ ४ ॥ हिरण्यगर्भादिसंवित्तु प्राक्तनोपासनापरिपाकजत्वा-
 त्सत्यसंकल्परूपदृढनिश्चया सती यं यं निश्चयमादत्ते तथा तथा
 भवत्येवेत्याह—यं यमिति । प्राक्तनोपासनफलप्रयुक्तस्वभावतः
 ॥ ५ ॥ सापि अन्यदीयतद्विरुद्धसत्यसंकल्पेन कुतो न प्रतिहन्यते
 तत्राह—तमेवेति । तस्यास्तं सर्गादिनिश्चयमन्यः प्रतिनिहन्ति
 चेत्तत्र प्राक्तनोपासनाकाले प्रौढो जगत्स्रष्टा इति निश्चयः
 प्रयाणकाल उद्भूतः 'तदैतद्वोकजिदेव' इत्यादिश्रुतिसिद्धस्वल्प-
 फलभाक् कथं भवेत् । अतस्तद्विरोधेनैवान्येषां सिद्धानां

कालतो व्यभिचरन्ति देशतो

यत्ततश्च चिरतोऽचिरेण वा ॥ १०
 सर्गादावेव चिद्व्योम भानमप्रतिधं जगत् ।
 वस्तुसत्तां चिदेवातो यथेष्टं तनुते तनुः ॥ ११
 चिन्मात्रं वर्जयित्वैकं ब्रह्मान्यत्सर्वदाखिलम् ।
 विद्धि सत्यमसत्यं च नियतानियतं स्थितम् ॥ १२
 यस्माद्ब्रह्मैव सर्वात्म सदेकमेव नेतरत् ।
 तस्मात्किं नाम तत्सत्यं किमसत्यं च वा भवेत् ॥ १३
 अतः स्वप्नः क्वचित्सत्यः क्वचिच्चासत्य एव वा ।
 अबुद्धानां प्रबुद्धानां नासद्रूपो न सन्मयः ॥ १४
 संविद्भ्रान्तिरियं भाति जगन्नाम्नी स्वरूपिणी ।
 स्वयं च भ्रान्तिरस्मीति वादिनी कात्र निश्चिता ॥ १५
 चित्तिरेव चिरायेदं चित्तं चिमचिमायते ।
 यदात्मन्येव सलिलं द्रववत्तदिदं जगत् ॥ १६
 यथा स्वप्नं समालोक्य सुषुप्तमनुभूयते ।
 तथा जाग्रत्समालोक्य निद्रा समनुभूयते ॥ १७
 अतस्त्वं जाग्रदेवेदं स्वप्नं विद्धि महामते ।
 स्वप्नं च विद्धि जाग्रत्त्वमेकमेतदजं द्वयम् ॥ १८
 व्योमैवाचेत्यचिन्मात्रभानमेकमिदं ततम् ।

संकल्प उदेति न तद्विरुद्ध इति भावः ॥ ६ ॥ तथा च संवि-
 स्वातन्त्र्यमप्रतिहतमेवेत्याह—नेति ॥ ७ ॥ शास्त्रादिप्रमाण-
 कृतनिश्चयेन । शास्त्रादिप्रमाणसंशयान्तु फलसंशयं प्राप्नुयात्
 ॥ ८ ॥ काकतालीयवदिति यदुक्तं तदुपपादयति—अन्यत
 इति ॥ ९ ॥ एवं जाग्रत्प्रसिद्धघटादिसंविदोऽपि काकतालीया
 एव, तद्विषयेष्वपि देशकालमेदेनान्यथाभावदर्शनादित्याह—
 सर्व एवेति । निजया तत्तत्पुरुषसंविदा अतिशयिताक्षिरपरि-
 शीलिता अर्थक्रियादिना दृढीकृतघटादिस्वभावा अपि सर्व एव
 भावा देशतः कालतश्च सुद्रप्रहारादियजतश्चान्यथाभावमापद्य-
 मानाः पूर्वनिश्चितं स्वभावं व्यभिचरन्ति ॥ १० ॥ चित्तु स्वस्व-
 भावं न व्यभिचरतीत्यव्यभिचार्यप्रतिष्वस्वभावा सैव सत्या अस-
 त्यसप्रतिष्वजगद्वेषं घत्त इति राक्षन्त इत्याह—सर्गादाविति
 ॥ ११ ॥ अत एव चिन्मात्रं सलैकनियतमन्यत्त्वनियतसत्त्व-
 मित्याह—चिन्मात्रमिति ॥ १२ ॥ यस्मात्सद्ब्रह्मैकमेव सर्वा-
 त्मकं तस्मात्तदतिरिक्तं सत्यमसत्यं वा किं भावयेत् । न किञ्चिदि-
 त्यर्थः ॥ १३ ॥ एवं विचारे स्वप्नोऽपि क्वचित्कदाचित्सत्यः क्वचि-
 त्कदाचिदसत्योऽपि संविदात्मना सत्यस्वदन्यरूपेणासत्यश्चे-
 त्याह—अत इति ॥ १४ ॥ स्वरूपिणी आकारवती । निश्चिता
 यथार्था ॥ १५ ॥ चित्तं भूत्वेति शेषः । यच्चिमचिमायते सामासं
 स्पन्दते तदेवेदं जगत् ॥ १६ ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयो घनेषु तद्वृत्त-
 वदभिज्ञा एवेत्युपपादयितुं भूमिकां रचयति—यथेति । निद्रा
 स्वप्नः ॥ १७ ॥ अस्त्वेवं किं ततस्तत्राह—अत इति । यथा
 घनं घृतमेवेषद्विलीनमीषद्विलीनमेव पुनर्घनतामापद्यत इति
 घृतामेदः प्रत्यभिज्ञानात्तदित्यर्थः ॥ १८ ॥ एवं चाविद्यावृत्त-

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याः पर्यायरचना इह ॥ १९ ॥
 नेह नामास्ति नियतिर्न चानियतिरस्ति च ।
 नियत्यनियती ब्रूहि कीदृशे स्वप्नसंविदि ॥ २० ॥
 यावद्भानं किल स्वप्ने तावत्सैव नियन्त्रणा ।
 स एव संविद्भानस्य कुर्यान्नियमनं मुनिः ॥ २१ ॥
 स्वच्छन्दं वातलेखायाः स्फुरन्त्याः संविदस्तथा ।
 अकारणकमेवाङ्ग नियतिः केव कीदृशी ॥ २२ ॥
 अथाकारादि यन्नाम कल्प्यते कारणं विदः ।
 तदकारणकं सर्गः स्यादनन्यत्र वै चित्ते ॥ २३ ॥
 एतावत्येव नियतिरत्र यन्नाम यद्यथा ।
 यावत्प्रस्फुरितं भानं तत्तथा न तदन्यथा ॥ २४ ॥
 कदाचित्सत्यता स्वप्ने कदाचिच्चाप्यसत्यता ।
 अभावाजिनियतेरेव काकतालीयमेव तत् ॥ २५ ॥
 यत्स्थेनैवात्मना भाति मणिमन्त्रौषधात्मना ।
 यन्नाम नियतं तत्तु जाग्रत्यपि हि दृश्यते ॥ २६ ॥
 जाग्रत्स्वप्नश्च चिद्भानमात्रमेवान्यतात्र का ।
 जाग्रति स्वप्ननगरे वेदनात्सदृशात्मकम् ॥ २७ ॥
 जाग्रन्न संभवत्येव यज्जाग्रदिति शब्दितम् ।

स्वप्न एव जगद्रूपं निर्निद्रस्यैव चात्मनः ॥ २८ ॥
 स्वप्नो वा नाम नास्त्येव यः स्वप्न इव शब्दितः ।
 सुप्तासुप्तैकरूपस्य ब्रह्मणो बोधरूपता ॥ २९ ॥
 जाग्रत्स्वप्नादयो वृत्ते न केचन कदाचन ।
 दृश्यं पश्यति सत्ताशु मृतिभ्रान्तेरनन्तरम् ॥ ३० ॥
 यथानवरतं कालमनन्तं सीकरोर्मयः ।
 त एवान्यचदभ्राशावदनन्याः स्फुरन्त्यलम् ॥ ३१ ॥
 यथानन्ये परे सर्गाः स्फुरन्त्यस्फुरिता अपि ।
 शिलाकोशान्तलेखावज्जाग्रत्स्वापादि तत्र किम् ॥ ३२ ॥
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुर्यकवपुः साकारतावर्जितं
 सर्वाकारमपि व्यतीतकलनं सर्गं शरीरं दधत् ।
 व्याप्तं चिद्वपुषा तथापि सुषिरं शून्येन दृश्यात्मना
 चिन्मात्रं खमिदं मनागपि नभोमात्राक्ष मित्रं पुनः
 साकाशानिलवद्विवारिधरणीलोकान्तराम्बोधरं
 सर्गादावपि कारणाननुभवाच्चित्तात्मकं केवलम् ।
 नाम्ना वर्जितमेव बोधवपुषा संयुक्तमेवान्ततः
 शुद्धं वेदनमात्रमेव सकलं दृश्यं न वस्त्वन्तरम् ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवा० वाल्मी० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० वि० सः ॥ स्वप्ननिर्णयो नामाष्टचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४८ ॥

चिन्मात्ररूपा सुषुप्तिरेवैका धृतवत्सर्वदा ब्रष्टव्या । तस्या एव
 सर्वे नामरूपमेदाः पर्यायरचना इति फलितमित्याह—व्योमै-
 वेति ॥ १९ ॥ स्वप्नादेः फलनियत्यनियती अपि न तत् पृथक्
 स्त इत्याह—नेहेति । मिथ्यात्वादपि ते पृथङ् न स्त इत्याह—
 नियत्यनियती इति ॥ २० ॥ अज्ञानादृता चिदनियन्त्रिता
 जाग्रत्स्वप्नौ । श्रमादिनिमित्तनियन्त्रिता सुषुप्तिः । प्रयत्ननियन्त्रिता
 तु समाधिः । अज्ञाननाशे सैव मुक्तिः । एवं सति जाग्रजिरोधेन
 मनोव्यापारमात्ररूपे स्वप्ने यावत्कालं भानं तावत्सैव चित्तो
 बाह्यप्रवृत्तिनियन्त्रणाशोकान्तरम् । यावच्च संविद्भानस्य निय-
 त्रणा तावत्सुषुप्तौ स आत्मैव सर्वशोकान्तरम् । एवं ज्ञात्वा
 मुनिर्विशोकसमाधिसुखविभ्रान्त्यर्थी नियमनमेव कुर्यादित्यर्थः
 ॥ २१ ॥ ननु न सविजियन्तुं शक्या तस्य वातलेखाया इव
 स्वप्नायाकारस्फुरणनियतेरित्याशङ्क्याह—स्वच्छन्दमिति । न
 तावद्विषयाकारस्फुरणं संविदः स्वभावः । सुषुप्तावदर्शनात् ।
 न च स्वप्ने तथा स्फुरणे कारणान्तरं निरूपयितुं शक्यम्, यक्षि-
 वन्धना नियतिः स्यादिति का नियतिः कीदृशी वैत्यर्थः ॥ २२ ॥
 ननु बाह्यघटपटाद्याकार एव स्वसंबन्धे संविदः स्वाकारतायां
 कारणं कल्प्यते तत्राह—अथेति । भवेदेवं यदि सर्गे किञ्चि-
 दन्यत्कारणं निरूपयितुं शक्येत । यदा तु प्रागुक्तयुक्तेः सर्ग-
 अकारणकस्तदा चिदेरनन्यदाकारादि चित्तेः कारणं न स्यादे-
 वेत्यर्थः ॥ २३ ॥ तर्हि किं सर्वापि नियतिर्भमा, नेत्याह—
 एतावत्येवेति । या चित्तिर्यदा यथा स्फुरति तद्वत्तु तदा तथा
 प्रारम्भार्थिकं व्यावहारिकं प्रातिभासिकं चेति नियतियावद्यव-
 हारमस्त्येवेत्यर्थः ॥ २४ ॥ स्वप्नसत्यतानियतिस्तु यथाशास्त्र-

त्वेन सर्वत्रेति काकतालीयवदित्युक्तमेवेत्याह—कदाचिदिति
 ॥ २५ ॥ मणिमन्त्रौषधात्मना प्रयुक्तसत्यतानियतिस्तु आभ-
 तप्रत्ययेऽपि समेत्याह—यदिति ॥ २६ ॥ अत एव जाग्रत्स्व-
 प्नयोश्चिन्मात्रत्वादमेद उक्ता इत्याह—जाग्रदिति । तयोर्वैश-
 स्वरूपं वेदनस्वरूपं वानुभवतस्तुल्यमेवेत्याह—जाग्रतीति
 ॥ २७ ॥ अत एव निर्निद्र आत्मनि द्वयोरपि व्यभिचारादसत्त्वमे-
 वेत्याह—जाग्रदिति द्वाभ्याम् ॥ २८ ॥ २९ ॥ एवं सति निर्नि-
 दस्य सुषुप्तिरपि नास्त्येवेत्याशयेनाह—जाग्रदिति । एवमास-
 न्तिकदृश्यादर्शनरूपा आत्मोच्छेदादिरूपा वा मृतिरपि नास्त्ये-
 वेत्याह—दृश्यमिति । सत्ता अविपरिलुप्तचित्सत्ता ॥ ३० ॥
 अभवत् दिग्भ्रमे आशा दिशस्तद्वच्च अनन्यास्त एव अन्यव-
 त्सफुरन्ति । अनन्या इति बहुव्रीहिः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ इदमात्म-
 स्वरूपं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तवपुस्तद्विरुद्धतुर्यकवपुश्च तथा साकार-
 तावर्जितं सर्वाकारमपि व्यतीतकालकलनं सर्गात्मककालपरि-
 च्छिन्नशरीरं दधदपि शून्येनैवानेन चिद्वपुषा शून्येनैव दृश्या-
 त्मना स्वात्मकमेव सुषिरं शून्यं व्याप्तं तथापि पुनरिदं चिन्मात्रं
 समाकाशात्मकं नभोमात्राद्रूपान्मनागपि भिन्नं नेत्यर्थः ॥ ३३ ॥
 किंच सकलमाकाशादिभूतभौतिकसहितं दृश्यं जगत्सर्गादावपि
 कारणस्यान्यस्य प्रमाणैरननुभवात्केवलं हैरण्यगर्भचित्तात्मकम् ।
 तथा च चित्तात्मकस्य मनोराज्यगतस्य नामरूपाभावाभावा
 वर्जितमेव । बोधवपुषा मनःसाक्षिणा संयुक्तमेव । अन्तर्तो
 मनोविलये शुद्धं वेदनमात्रमेव न वस्त्वन्तरमित्यर्थः ॥ ३४ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 स्वप्ननिर्णयो नामाष्टचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४८ ॥

व्याध उवाच ।

अनन्तरं मुने ब्रूहि तत्तत्त्वं जागतस्य ते ।
किं वृत्तमुखवृत्तान्तशतनिर्वाणसंसृतेः ॥ १
मुनिरुवाच ।
ततः शृणु तदा साधो तस्मिन्स्तद्द्वयौजसि ।
अपूर्वं एव वृत्तान्तः को वृत्तो वृत्तसस्पृह ॥ २
तथा मम च तत्रस्थविस्मृतात्मचमत्कृतेः ।
अभ्यवर्तत वै कालो ऋतुसंवत्सरात्मकः ॥ ३
कलत्ररञ्जितमतेर्मम वर्षाणि षोडश ।
तत्र तानि व्यतीतानि गृहस्थाश्रमतोऽमतेः ॥ ४
कदाचिच्चाजगामाथ गृहमुग्रतपा मम ।
मुनिर्मान्यो महाबोधो बुधोऽतिथितया तथा ॥ ५
सोऽत्र संपूजितस्तुष्टः सुप्तवान्भुक्तवांस्ततः ।
इदमङ्ग मया पृष्ठो विमृश्य जनताक्रमम् ॥ ६
भगवन्भूरिवोधोऽसि जानासि जगतो गतीः ।
यस्माददृष्टक्रोधोऽसि सुखे गृह्णासि नो रतिम् ॥ ७
सुखदुःखान्युपायान्ति कर्मभिः कर्मशालिनाम् ।
शुभाशुभैः शरत्काले सस्यानीव फलार्थिनाम् ॥ ८
सममेवाशुभं कर्म किमिमाः सकलाः प्रजाः ।
कुर्वन्त्यासां यदा यान्ति दोषाः सर्वादयः समम् ॥ ९
दुर्भिक्षावग्रहोत्पातं सर्वादि सममेव किम् ।

इह तत्स्वप्नवृत्तान्ते गृहागतमुनेर्मुखात् ।

बहूनां तुल्यदुःखादिनिमित्तं श्रुतमीर्यते ॥ १ ॥

हे मुने, प्राणिदेहे प्रलयादिभिरुत्तान्तशतैः सह निर्वाणाः संसृतयो यस्य तथाविधस्य ते गृहे भार्यावन्धादिसहवासानन्तरं तत्रानुभूयमानस्य जागतस्य वृत्तान्तस्य संबन्धि किं वृत्तं तत्तत्त्वं ब्रूहीत्यन्वयः ॥ १ ॥ हे वृत्तसस्पृह हे साधो, ततः परं तस्य प्राणिनो हृदयौजसि अपूर्वं एव यो वृत्तान्तो वृत्तस्तं शृणु । य इत्यर्थे क इति प्रयोगः प्रश्नानुवादार्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ अमतेः आत्ममननशून्यस्य ॥ ४ ॥ कदाचिद्बुधो मुनिरतिथितया मम गृहमाजगाम । तथेत्युत्तरान्वयि ॥ ५ ॥ आर्यात् क्रमात्पूर्वं भुक्तवांस्ततः सुप्तवान् । जनता जनसमूहस्तस्याः समानसुखदुःखागमक्रमं विमृश्य विचिन्त्य ॥ ६ ॥ सुखे विषयसुखलवे रतिमासक्तिम् ॥ ७ ॥ ८ ॥ आसां जनतानां सर्वान्मह्याभक्ष्यान् आदयन्ति भोजयन्तीति सर्वादयो दुर्भिक्षादिदोषाः सममेव यदा यान्ति तत्र निमित्तभूतमशुभं कर्म किं सममेव कुर्वन्ति ॥ ९ ॥ यत्सममेव प्रवर्तते तत्किं कस्य दुष्क्रिया समाना । सर्वेषां युगपत्सदनुकूलदुष्कर्माचरणप्रसिद्धेरित्यर्थः ॥ १० ॥ समयमानो विस्मयवानिवोन्मना ईषद्वसन्निति वा ॥ ११ ॥ नास्य संशयः सर्वसंशयबीजमज्ञानमनिरस्य समाधातुं शक्य इत्यभिप्रेत्य तदर्थमात्मतत्त्वं दृश्यमिध्यात्वं च

जनजालस्य फलति समाना कस्य दुष्क्रिया ॥ १०
इत्याकर्ण्य समालोक्य स्मयमान इवोन्मनाः ।
स उवाच वचो बन्धममृतस्यन्दसुन्दरम् ॥ ११

अन्यमुनिरुवाच ।

साधो साधु विविक्तान्तःकरणे यत्तु कारणम् ।
सद्वासद्वास्य दृश्यस्य कस्माज्जानासि कथ्यताम् ॥ १२
संस्मरात्मानमखिलं कस्त्वं केह स्थितोऽसि च ।
काहं वा किमिदं दृश्यं किं सारं किञ्चिदेव च ॥ १३
स्वप्नमात्रमिदं भाति किल कस्माच्च वेत्ति भो ।
अहं स्वप्ननरो यत्ते त्वं स्वप्नपुरुषोपमः ॥ १४
अनाकारमनाख्येयमनाद्यमपकल्पनम् ।
इदं चिन्मात्रकाचस्य काचकच्यं जगत्स्थितम् ॥ १५
रूपमीदृशमेवास्य चिन्मात्रस्यास्त्यकृत्रिमम् ।
सर्वगस्य यदेतद्यद्यत्र वेत्यस्ति तत्र तत् ॥ १६
सकारणत्वकलनात्सर्वमस्य सकारणम् ।
अकारणत्वकलनादस्य सर्वमकारणम् ॥ १७
आसां प्रजानां त्वस्माकं विराडात्मा स आततः ।
वयं हृदि स्थिता यस्य स चासच्चिद्वशादितः ॥ १८
भविष्यत्यपरोऽन्यासां विराडात्मा स एव च ।
कारणं सुखदुःखानां भावाभावात्मकर्मणाम् ॥ १९

व्युत्पादयितुं स मुनिर्मा पप्रच्छ—साधो इति । हे साधो, विविक्तेचिदविद्विवेकवत्यन्तःकरणे सति अस्य दृश्यस्य तु यत्कारणं सद्वा असद्वा साधु जानासि तत्कस्माज्जानासि कथ्यताम् । त्वया जानासीति निर्दिष्टात्प्रमातुः पृथक्कृत्य साक्षिणः शृद्धस्य प्रश्नविषयत्वद्योतनार्थं कस्मादिति हेतुपञ्चम्या निर्देशः ॥ १२ ॥ तत्र विवेकासामर्थ्यात्तूष्णींभूतं मां निरीक्ष्य सः प्राक्तनसर्ववृत्तान्तैः सह तत्साक्षिणमात्मानं स्मरेत्याह—संस्मरेति । किञ्चित्तुच्छमसारमेव च किम् ॥ १३ ॥ असारतामेव प्रकटयति—स्वप्नमात्रमिति । यद्यस्माद्धेतोः ॥ १४ ॥ काचकच्यं कान्तिविशेषः ॥ १५ ॥ तत्राकृत्रिमं चिन्मात्ररूपं स्वाध्यस्ते यथावेदनं सत्त्वादि निर्वाहयतीत्याह—रूपमिति ॥ १६ ॥ अत एव सर्ववस्तूनां सकारणकत्वादिवादा अपि तत्कल्पनानुसारेण व्यवस्थिता इत्याह—सकारणत्वेति ॥ १७ ॥ समष्टि-व्यष्टिभावकल्पनाप्यस्माकमस्मच्चिदधीनैवेत्याह—आसामिति । यस्य प्राणिनो हृदि ओजसि वयं स्थिताः सोऽस्माकं विराडात्मा । स च अस्मच्चित्कल्पनावशादेव विराड्भावमितः । स्वकल्पनया सन्यसाधारणो व्यष्टिरेवेत्यर्थः ॥ १८ ॥ एतत्प्राणिवदपरोऽपि प्राणी अन्यासां प्रजानां विराडात्मा भविष्यतीति संभाव्यते । तस्मिन्नु देहे स एव सुखदुःखादीनां भोक्तृतया कारणं

विराड्धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना ।
 तदङ्गावयवस्यास्य जनजालस्य वै समम् ॥ २०
 दुर्भिक्षावग्रहातीतमायाति शममेति वा ।
 यस्माद्विराजो या सत्ता सा सर्गस्यास्य सर्गता ॥ २१
 काकतालीयवत्साधो केषुचिदुष्टकर्मसु ।
 समं पतति दुःखादि पादपेष्वशनिर्यथा ॥ २२
 कर्मकल्पनया संवित् स्वकर्मफलभागिनी ।
 कर्मकल्पनयोन्मुक्ता न कर्मफलभागिनी ॥ २३
 या या यत्र यथोदेति कल्पनाल्पाथवाधिका ।
 सा सा तत्र तथैवास्ते सहेतुकमहेतुकम् ॥ २४
 नास्त्येव स्वप्नमये
 कारणसहकारि कारणादिपुरे ।
 तस्मात्तदनादि शिवं
 चेतनमजरं परं ब्रह्म ॥ २५
 एष स्वप्नधर्मो नाम भाति कश्चिदकारणम् ।
 कश्चित्सकारणो भाति शून्यः सदसदात्मकः ॥ २६
 काकतालीयवद्भ्रान्ति स्वप्नाः सकलसंविदः ।
 ताभ्यस्तुल्योपलम्भत्वान्नान्यजगदिदं ततम् ॥ २७
 सकारणतया रूढमिदं यत्तत्सकारणम् ।
 अकारणतया रूढमिदं यत्तदकारणम् ॥ २८
 कार्यकारणमयक्रमोदितं
 स्वप्न एष चित्तिभानमात्रकम् ।

नान्योन्यत्रेति व्यवस्थितमित्यर्थः । भावाः संपदः । अभावा
 विपदः । कर्माणि मुकृतदुष्कृतानि तेषाम् ॥ १९ ॥ जनानां दुर्भिक्षा-
 वग्रहादिसाधारणदुःखे तु यो यस्य स्थूलसमष्टिरूपो विरादतदी-
 यधातुविकारभेद एव निमित्तमित्याह—विराडिति द्वाभ्याम्
 ॥ २० ॥ दुर्भिक्षं च अवग्रहश्च अतीतमखयः प्रलयश्च एतेषां
 समाहारो यथायोगमायाति शममेति वा । तत्कुतस्तत्राह—
 यस्मादिति ॥ २१ ॥ तेषां प्राणिनां समानकालपरिपक्वदुष्टकर्माणि
 तत्रास्त्येवेत्याह—काकतालीयेति ॥ २२ ॥ तादृशं कर्माणि
 चित्तैव प्राकल्पितं चेत्ता तत्फलभागिनी नान्यथेत्याह—कर्मैति
 ॥ २३ ॥ सहेतुककल्पना सहेतुकमेवास्ते । अहेतुककल्पना त्वहे-
 तुकमेवास्ते ॥ २४ ॥ स च सहेतुकत्वकल्पनामात्रेण स्वप्ने सहेतुकता
 घटावेरस्तीति निर्हेतुकजगदसिद्धेऽस्मिन्मात्रमेव ब्रह्म परमार्थतो-
 ऽस्तीत्याह—नास्त्येवेति ॥ २५ ॥ यतः सदसदात्मकः अत एव
 शून्यो मिथ्याभूतः ॥ २६ ॥ स्वप्नोक्तो न्यायो जाग्रजगत्पि
 तुल्योपलम्भत्वादेव बोध्य इत्याह—काकातालीयेति । चितः
 स्वप्नाद्वा अन्यत्र ॥ २७ ॥ सकारणत्वाकारणत्वप्रसिद्धिरप्यत्र स्वप्न-
 वदेव व्यवस्थितेत्याह—सकारणतयेति ॥ २८ ॥ स्वप्ने कार्य-
 कारणमयक्रमोदितं यत्स्वभावकं चित्तिभानमात्रकमेवेति एष
 निर्णयो जाग्रदाख्यस्य महतः स्थूलप्रपञ्चस्यापि तुल्य इति शेषः ।
 तेन हेतुना अखिलं शान्तं परमेवेति विदुर्ब्रह्मविद इत्यर्थः ॥ २९ ॥
 ननु सर्वभावानां सत्यं ब्रह्मैव कारणमस्तु । सत्यकारणकत्वाच्च

जाग्रदाख्यमहतः स्वभावकं

तेन शान्तमखिलं परं विदुः ॥ २९

सत्यकारणका भावाः के ते शृणु महामते ।
 कारणं किं स्वभावानां किमिहाकाशकारणम् ॥ ३०
 पृथग्यादेर्धनपिण्डत्वसर्गादेः किं च कारणम् ।
 किं कारणमविद्यायाः कारणं किं स्वयंभुवः ॥ ३१
 सर्गादौ कारणं किं स्याद्वायूनां तेजसां च किम् ।
 किमेषां वेदनामात्ररूपाणां गगनात्मकम् ॥ ३२
 पिण्डग्रहे देहलामे मृतानां किं च कारणम् ।
 एवमेव प्रवर्तन्ते सर्गाः प्रथमतोऽखिलाः ॥ ३३
 एवमेव प्रवर्तन्ते जगत्यावलथन्ति च ।
 चक्रकाणीव नभसि चिरसंप्रेक्षणादृशा ॥ ३४
 एवमेव प्रवृत्तेन सर्गेण ब्रह्मरूपिणा ।
 पश्चात्स्वस्यैव रूपस्य संज्ञाः पृथग्यादिकाः कृताः ॥ ३५
 वातस्पन्दवदाभान्ति सर्गाः पूर्वं चिदम्बरे ।
 स्वयमेव च कुर्वन्ति देहकारणकल्पनाः ॥ ३६
 यद्यथा कल्प्यते धत्ते तत्तथा नियतिर्वपुः ।
 कल्पितायाश्चित्तेर्यसादेवमेतन्निजं वपुः ॥ ३७
 यद्यद्भ्रानात्मकं रूपं प्रथमं चेतितं चित्ता ।
 स्वतोऽहमेव चित्येव तदद्यापि तथा स्थितम् ॥ ३८

तेऽपि सत्याः सन्तु । तथा च कथं सर्वं ब्रह्मैव कथं वा सत्या-
 द्वैतं तत्राह—सत्यकारणका इति । हे महामते, अस्यां
 शङ्कयामुत्तरं तेऽहं वदामि । त्वं शृणु । के ते भावा आशुभतः
 सत्यकारणका अभिमताः । किं स्वभावानां सत्यं कारणम् । किं
 सत्यस्वभावानां सत्यं कारणमुत मिथ्यास्वभावानाम् । किं
 सजातीयानामुत विजातीयानाम् । आशुयोर्ब्रह्मणो ब्रह्मैवैत-
 येत न जगत् । द्वितीययोर्न ब्रह्मजस्य सत्यतासिद्धिरित्यकार-
 णत्वमेव फलत इति किं त्वया साधितं स्यात् । किंच सर्वेषु
 कल्पेषु पृच्छामः । किमिहाकाशस्य कारणम् । आद्यकल्पयोरका-
 शपदवाच्यतावच्छेदकवैलक्षण्यसिद्धिर्द्वितीययोस्तत्सत्यासिद्धि-
 रित्यर्थः ॥ ३० ॥ अयं न्यायः पृथग्यादावपि योज्य इत्याह—
 पृथग्यादेरिति ॥ ३१ ॥ वेदनातिरेकेण तत्स्वरूपानिरूपणादेदना-
 मात्ररूपाणां साधकाभावादेवासिद्धेर्गगनात्मकं शून्यम् ॥ ३२ ॥
 ॥ ३३ ॥ तस्मात्परिषेपादकारणका भ्रान्तिमात्ररूपा इति सिद्ध-
 मित्याह—एवमेवेति । चिरसंप्रेक्षणा चिरकालमनुभवस्तत्पु-
 ष्कभ्रान्तिदृशा ॥ ३४ ॥ ब्रह्मरूपिणा हिरण्यगर्भाकृतिना पृथग्या-
 दिरूपस्य स्वस्यैव पृथग्यादिसंज्ञाः कृताः ॥ ३५ ॥ अत एव प्रथमं
 मनोराज्यवदतिसूक्ष्माश्विराभ्यासेन स्थूलीभूता देहकर्मादिकार-
 णकल्पनाः कुर्वन्ति ॥ ३६ ॥ तत्राद्यकल्पने यद्यथा कल्प्यते
 तत्तथा वपुर्निगतिः संपद्यते । इदं च खेन संकल्पितपदार्थोऽ-
 स्तानुभवसिद्धमित्याह—कल्पिताया इति ॥ ३७ ॥ चित्ता सर्गा

पुनरन्येन यत्नेन तदुत्कृष्टेन सैव चित् ।
शक्ता तदन्यथाकर्तुं यत्नेन महता पुनः ॥ ३९
कल्प्यते कारणं यत्र तत्र कारणसारता ।
न कल्प्यते विदा यत्र कारणं तदकारणम् ॥ ४०
घात्यावर्तवदाभातमिदं प्रथममाततम् ।

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० श० कारणविचारो नामैकोनपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४९ ॥

पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५०

मुनिरुवाच ।

एवंप्रकारया युक्तया तेनायं मुनिना तदा ।
तथाहं बोधितो येन गतो विदितवेद्यताम् ॥ १
ततोऽसौ न मया त्यक्तश्चिरप्रार्थनया तथा ।
अवसत्तेन तत्रासौ मृतस्यापि तथैव च ॥ २
येनैतन्मुनिना प्रोक्तमिन्दूदयशुभं वचः ।
सोऽयं पश्य मुनिश्रेष्ठस्तव पार्श्वे व्यवस्थितः ॥ ३
अनेनोक्तमनुकेन ममैतन्मोहघातिना ।
हृदयपूर्वापरक्षेपेन यज्ञेनेवात्तमूर्तिना ॥ ४

अग्निरुवाच ।

तदाकर्ण्य वचस्तस्य मुनेर्व्याधोऽभवत्तदा ।
प्रत्यक्षः स्वप्नसर्गः किमिति खिन्न इव स्मयात् ॥ ५
व्याध उवाच ।
अहो महश्चित्रमिदं मुने मनसि दुःसहम् ।
कथितं मेऽद्य भवता भवतापापहारिणा ॥ ६

असदेव यथा भातं तथैवाद्यापि संस्थितम् ॥ ४१
संभूय केचन शुभाशुभमात्मकर्म
कुर्वन्ति तस्य सदृशं फलमाप्नुवन्ति ।
संप्राप्नुवन्ति च शिलाशनिवन्ध केचि-
दुःखं त्वकारणकमेव सहस्रसंख्याः ॥ ४२

यत्स्वप्नकथितस्येयं जाग्रत्प्रत्यक्षतोच्यते ।
लभ्यतेऽपि च तन्नाम वेद चित्रमिदं मुने ॥ ७
कथमेष महान्स्वप्नपुरुषः स मुनीश्वर ।
जाग्रत्यपि स्थिरीभूतो भूतो बालमतेरिव ॥ ८
एवमाश्चर्यमाख्यानमुच्यतां मे यथाक्रमम् ।
कुतः कस्य किमेतद्वा परमो हि स विस्मयः ॥ ९

मुनिरुवाच ।

ततः शृणु महाभाग वृत्तं चित्रं किमत्र मे ।
कथयामि समासेन सहसा मां कुरु त्वराम् ॥ १०
अनेनैतत्तदा तत्र वर्णितं बोधनाय मे ।
बुधोऽहमभवं चाशु महतोऽस्य तथा गिरा ॥ ११
तत एतन्निरा पूर्वः स्वस्वभावः स्मृतो मया ।
अवदातोऽवदातेन नमसेव तपात्यये ॥ १२
अहो नु सोऽहमभवं मुनिरित्युदिताशयम् ।
अहमासं हृदा स्फीतात्कातोऽवस्थितविस्मयात् ॥ १३

मुकूलहैरण्यगर्भचिता ॥ ३८ ॥ आद्यकल्पनाया अन्यथाभावस्तु
महतामपि महद्भिर्त्यक्तैः कदाचिदेव भवतीत्याह—पुनरिति ।
यथा नन्दिनहुषादेः सुरसर्पादिभावमिति भावः ॥ ३९ ॥
क्वचिदुग्राहौ दध्यादिभावायातश्चनकालोष्मादिकारणं कल्प्यते ।
वाय्वादेर्धनद्रवादिभावाय तत्कल्पनमप्यशक्यमित्याह—क-
ल्प्यत इति ॥ ४० ॥ तत्र चितः अचित्प्रतिभासो न कार्यं किंतु
होयं प्रायमिकत्वात्तु इदानीमप्यनुवर्तत इत्याह—घात्यावर्त-
वदिति ॥ ४१ ॥ यत्तु मया पृष्टं 'सममेवाशुभं कर्म किमिमाः
सकलाः प्रजाः । कुर्वन्ति किम्' इति तस्योत्तरं वदन्नुपसंहरति—
संभूयेति । केचन जीवाः संभूयापि शुभाशुभं कर्म कुर्वन्ति तस्य
फलमपि संभूयैव प्राप्नुवन्ति । केचित्तु कर्तृत्वाभिमानरहितत्वाद-
कर्तारोऽपि सहस्रसंख्या अकारणकमेव दुःखं संप्राप्नुवन्ति जीव-
न्मुक्ताः । यथा गिरिशिखरशिला दुष्कृतमकुर्वाणाप्यशनिपातमनु-
भवति तद्वदित्यर्थः ॥ ४२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कारणविचारो नामैकोनपञ्चा-
शदधिकशततमः सर्गः ॥ १४९ ॥

तद्वाक्यैः स्वात्मबोधोऽत्र तत्सहस्रस्थितिरात्मनः ।

प्राग्देह्यमनाशक्तेः प्रश्ने दाहादि चोच्यते ॥ १ ॥

अयमहं तेन मुनिना एवं प्रायुक्तप्रकारया युक्तया तथा बोधितो

यथा तेन बोधनेन तदैव विदितवेद्यतां तत्त्वज्ञतां गतः ॥ १ ॥
चिरप्रार्थनया तथा मक्त्या अनुवृत्त्या सेवया तेन विनयादिगुण-
कदम्बेन च वशीकृतोऽसौ मृतस्य आत्मविचारशून्यत्वात्प्राकृत-
प्रायस्यापि मम तत्र गृहे तथैव अवसत् । तथा चोक्तं बृद्धैः—
'गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा । न विचारपरं चेतो
यस्यासौ मृत उच्यते ॥' इति ॥ २ ॥ तथाविधो दयालुर्महोपदेष्टा
मुनिरिदानीं त्वत्पार्श्वे एवास्तीति तं दर्शयति—येनेति ॥ ३ ॥
आत्तमूर्तिना घृतशरीरेण यज्ञेन मदीययज्ञादिमुकृतेनेव स्थितेन
॥ ४ ॥ तन्मुनेर्वच आकर्ण्य व्याधः स्वप्नसर्गस्तदुपदेष्टा मुनिरिदानीं
मत्प्रत्यक्षः किं संभावित इति असंभावनया विस्मयात्खिन्न इव
अभवत् ॥ ५ ॥ असंभावनामेव सस्पष्टमाह—अहो इति ॥ ६ ॥
किं तच्चित्रं मया कथितं तदाह—यदिति । स्वप्ने स्वोपदेष्टृत्वेन
कथितस्य मुनेरिदानीं जाग्रत्प्रत्यक्षता यदुच्यते मया च प्रत्यक्ष-
मुपलभ्यते तदहं चित्रं वेदेत्यर्थः ॥ ७ ॥ भूतो वेतालः
॥ ८ ॥ एवंविधमाश्चर्यमिदमाख्यानं मे यथाक्रमं संपूर्णमुच्य-
ताम् । इदं स्वाप्नपुरुषस्येदानीं दर्शनं कृतो निमित्तात्कस्य वेदं
दर्शनं किं वा स्वप्नो जाग्रद्वा ॥ ९ ॥ १० ॥ अनेन त्वत्पार्श्वस्थेन
मुनिना ॥ ११ ॥ पूर्वः अनादिसिद्धसन्मात्रस्वभावः । तपात्यये
माघमासात्यये । हिमात्यय इति यावत् ॥ १२ ॥ ततो मे पूर्व-

इमां भोगस्थयावस्थां प्राप्नोऽस्म्यक्ष इवाध्वगः ।
 धावन्मार्तिरम्बवर्था व्यर्थया मृगतृणया ॥ १४
 कष्टं द्रव्योपलम्भेन भ्रान्तिमात्रात्मना सता ।
 बालो वेतालकेनेव प्राप्नोऽपि क्लृप्तो ह्यहो ॥ १५
 अहो नु चित्रमेतेन मिथ्याज्ञानेन बलता ।
 भीतः सर्वार्थशून्येन पदवीं कामिमामहम् ॥ १६
 अथवा यः सोऽहमपि भ्रान्तिमात्रं न सन्मयः ।
 तथापि चित्रशतता यन्मामासद्विडम्ब्यते ॥ १७
 नाहमसि न चैवेयमिदं नायमपि भ्रमः ।
 चित्रं सर्वमिदं मिथ्या सर्वं च सदिब स्थितम् ॥ १८
 किमिदानीं मया कार्यमिह बन्धभिदान्तरः ।
 विद्यते मेऽङ्कुरच्छेद्यं तत्तावत्संस्त्यजाम्यहम् ॥ १९
 आस्तामेतद्विधेया व्यर्थरूपा किमेतया ।
 भ्रान्त्या भ्रान्तिरसद्रूपा त्यक्तैवैषा मयाधुना ॥ २०
 उपदेशं मुनिरयमेवोऽत्र भ्रान्तिमात्रकम् ।
 ब्रह्मैवाहमिवाभाति रूपमेतद्विवाध्रवत् ॥ २१
 तदेवं तावदुदितज्ञानं वक्ष्ये महामुनिम् ।
 इति संचिन्त्य स मुनिस्तत्र प्रोक्त इदं मया ॥ २२
 मुनिनायक गच्छामि तच्छरीरमिदं निजम् ।
 द्रष्टुं यच्च प्रवृत्तोऽसि शरीरं तदपीक्षितुम् ॥ २३
 इत्याकर्ण्य स मामाह हसन्मुनिवरस्तदा ।
 कुतस्तौ भवतो देहौ तौ सुदूरतरं गतौ ॥ २४
 गच्छात्मनैव वा पश्य वृत्तान्तं वृत्तकोविद ।

मुनिभावोऽपि स्मृतिमागत इत्याह—अहो इति । अवस्थिता-
 द्विस्मयाद्गुदा स्नात इवादीकृत आसम् ॥ १३ ॥ तामवस्था-
 मनुशोचति—इमामिल्यादिना । धर्मप्रयुक्ता आर्तिर्यस्य तथा-
 विधोऽध्वगः पुष्पोऽम्बवर्था सन् व्यर्थया मृगतृणयेव भोगा-
 स्थया अहमिमामवस्थां प्राप्नोऽसि ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥
 अथवा यः सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञाविषयस्तत्ताहंतादिः सोपि
 भ्रान्तिमात्रम् । तथा च कस्य चित्रमिति नो वाच्यम् । तथापि
 यत्साक्षिणा असद्रूपं विडम्ब्यते तत्र चित्रशतता अस्त्येवैत्यर्थः
 ॥ १७ ॥ १८ ॥ बन्धं भिनत्तीति बन्धभित् भ्रान्तरो यो
 ब्रह्माकारवृत्तिविशेषः सोऽङ्कुरो विद्यते तदपि छेद्यमेवेति तत्ता-
 वत्संस्त्यजामि ॥ १९ ॥ जगन्भ्रान्तिस्तु अविद्यात्यादिव्यावृत्त्यै-
 वोच्छिन्नैवेति न सेदानीं त्याज्येत्याह—आस्तामिति ॥ २० ॥
 अयमुपदेशं मुनिरपि अहं शिष्य इव ब्रह्मैव तथा आभातीति न
 त्यक्तव्यान्तरमस्तीत्यर्थः । दिवा वा दृष्टाप्रपुरुषवत् ॥ २१ ॥ उदितं
 ज्ञानं अस्मात्तं शुभं महामुनिं एवं वक्ष्यमाणं स्वाभिप्रायं ज्ञानं वक्ष्ये
 ॥ २२ ॥ तत् आश्रमस्थं निजं मुनिशरीरं यत्नेदं प्राणिशरीरं
 द्रष्टुं प्रवृत्तोऽसि तदपि ईक्षितुं बहिर्गच्छामीत्यर्थः ॥ २३ ॥ तौ
 देहौ कुतो भवतः स्तः । यतस्तौ दाहेन भस्मीभावात्सुदूरतरं

पश्य तावद्यथावृत्तं दृष्टान्तं क्षास्यति स्वयम् ॥ २५
 इति संचिन्त्य तं देहं विदं भूसत्तयाऽऽसिकम् ।
 त्यक्त्वा चिदात्मा तत्प्राणात्पवने योजितो मया ॥ २६
 प्राक्तनं देहमालोक्य यावदायाम्यहं मुने ।
 इहैव तावत्स्थातव्यमित्युक्त्वाहं गतोऽनिलम् ॥ २७
 अथ वातरथाकूटो गगनं भ्रान्तवानहम् ।
 पुष्पामोद इवानन्तं गत्वा च त्वरया चिरम् ॥ २८
 ततश्चिरमपि भ्रान्त्वा यदा गलविलं चलन् ।
 अहं न प्रातर्वास्तस्य किञ्चिदस्याशयस्थितः ॥ २९
 तदा खेदमुपायातः परमं पुनरागतः ।
 इदमेव जगज्जालमहमालानमात्मनः ॥ ३०
 इहेमं लब्धवानग्रे ततो मुनिमनुत्तमम् ।
 पृष्टवानहमेकाग्रस्तत एवमिदं गृहे ॥ ३१
 किमेतद्भगवन्ब्रूहि पूर्वापरविदांवर ।
 त्वं पश्यसि यथावृत्तमुत्तमज्ञानचक्षुषा ॥ ३२
 यस्य देहं प्रविष्टोऽहं स च मद्रपुरेव च ।
 क तावुभौ गतौ देहौ न लब्धौ केन हेतुना ॥ ३३
 मयातिचिरमाभोगि भ्रान्तं संसारमण्डलम् ।
 स्थावरादाऽऽत्मनः कस्मात्प्राप्तं गलविलं न तत् ॥ ३४
 गत्वेति पृष्टः स मुनिः समुवाच महाशयः ।
 जानासि तत्स्वयं कस्मादिति तामरसेक्षण ॥ ३५
 एतदालोकयसि चेत्स्वयं योगैकसंविदा ।
 तत्पश्यस्येव निःशेषं यथा करतलान्बुजम् ॥ ३६

गताविति भावः ॥ २४ ॥ आत्मना स्वयमेव गत्वा तद्वृत्तान्तं
 पश्य वा ॥ २५ ॥ इति तेनोक्ते सतीति शेषः । अहं तं प्राक्तनं
 देहं संचिन्त्य तत्र गन्तुकामेन मया स्वसंविदं स्वाभूततया
 आसिकं पार्थिवशरीरमेवाहमस्मीति कल्पितं रूपं त्यक्त्वा प्राप्नो-
 पहितचिदात्मा स्वजीवस्तत्प्राणात् द्वारभूतात्पवनस्कन्धे योजितः
 ॥ २६ ॥ मुनिं प्रति किमुक्त्वा त्वमनिलं प्रविष्टस्तदाह—प्राक्तन-
 मिति । गतः प्रविष्टः ॥ २७ ॥ २८ ॥ ततोऽहं चिरमपि भ्रान्त्वा
 बहिर्निर्गमनद्वारं तस्य प्राणिनो गलविलं किञ्चिदन्यदपि द्वा-
 न प्रातर्वास्तदा वाताशयस्थितोऽहं खेदमुपायात इति परेषा-
 न्वयः ॥ २९ ॥ ततः परममिदमेवात्मन आलानं बन्धनस्तम्भ-
 भूतं स्वगृहं पुनरागतः सजिह्व इममनुत्तमं मुनिं स्वगुरुमग्रे उप-
 लब्धवानिति परेषांन्वयः ॥ ३० ॥ इदं वक्ष्यमाणम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥
 स च प्राणी ॥ ३३ ॥ आ आत्मन इति च्छेदः । आ स्थावरादात्मन
 आभोगि विशालं संसारमण्डलं भ्रान्तमित्यन्वयः ॥ ३४ ॥ किमु-
 वाच तदाह—जानासीति । तत्पूर्वस्वशरीरादिदृष्टं मद्रूपो-
 पायं विना स्वयं स्वबुद्धैव कस्माज्जानासि । तामरसेक्षणेति सरो-
 धनाक्षाक्षितौन्दर्यमात्रेण तद्द्रष्टुं शक्यमिति सूच्यते ॥ ३५ ॥ तदि-
 ददर्शने क उपायस्तत्राह—एतदिति । योगैकप्रभा संविदा
 आलोकयसि चेत्तत्तर्हि ज्ञानचक्षुषा एतन्निःशेषं समग्रं पश्यसेव

तथापि यदि शुश्रूषा तवास्ति वचसा मम ।
 तदिदं शृणु वक्ष्यामि यथावृत्तमखण्डितम् ॥ ३७
 तपस्तामरसोष्णांशुः कल्याणकमलाकरः ।
 ज्ञानाब्जस्य हरेर्नाभिर्नास्ति तावदयं भवान् ॥ ३८
 सत्त्वं कदाचित्तपसि स्थितः स्वप्नदिदक्षया ।
 कस्यचिद्दृढं जन्तोः प्रविष्टः पुष्टसंविदा ॥ ३९
 यत्त्वं प्रविष्टो हृदयं तत्रेदं भुवनत्रयम् ।
 दृष्टवानसि विस्तीर्णं रोदसी विपुलोदरम् ॥ ४०
 इति त्वयि चिरं व्यग्रे देहस्तस्य तथापि च ।
 स संसृताकृतिर्यत्र स्थितस्तत्र महावने ॥ ४१
 लघोऽग्निधूमधूमाभ्रसास्वराम्बरडम्बरः ।
 बलद्वलचलालातचक्रसूर्येन्दुमण्डलः ॥ ४२
 दग्धाभ्रभस्मसंपूर्णधूमाभ्रासितकम्बलैः ।
 आनीलाकाशदलपैरिव संछादिताम्बरः ॥ ४३
 दरीगृहविनिष्क्रान्तसिंहनिर्हातजितैः ।
 स्फुटैश्चटचटास्फोटैर्जडीकृतदिगन्तरः ॥ ४४
 तालीतमालमालानां गतानामग्निवृक्षताम् ।
 पातैरुत्पातवह्नयभ्रकवत्करकरैर्धनः ॥ ४५
 दूरदेशगतैर्दृष्टस्थिरसौदामनीधिया ।
 द्रवत्कनकनिष्यन्दकुट्टिमं व्योम दर्शयन् ॥ ४६
 कणैस्तारागणं कान्तैर्व्योम्नि द्विगुणतां नयन् ।

॥ ३६ ॥ यदि महत्वेनैव श्रोतुमिच्छा न द्रष्टुमिच्छा तर्हि
 यथावृत्तं वक्ष्यामि शृणु ॥ ३७ ॥ तत्र स्वजीवतत्त्वं प्रथमं
 बुध्यस्व ततस्ते पूर्वदेहवृत्तान्तं कथयिष्यामीति मन्यमानो व्यष्टि-
 जीवभावमिष्ट्यात्वं समष्टिभावस्यैव सत्यत्वं 'त्रीणि रूपाणीत्येव
 सत्यम्' इति श्रुतिदर्शितन्यायमाश्रित्याह—तप इति । भवान्
 अयं त्वयानुभूयमानव्यष्टिजीवविशेषरूपो नास्ति । किंतु सर्वप्रा-
 णितपस्तामरसानां सुकृताब्जानां फलदानेन विकासनेनोष्णांशुः
 सूर्यभूतः सर्वकल्याणानां मोनुषानन्दादिप्राजापत्यानन्दान्तानां
 सुखानां कमलाकर इव समष्टिभूतो हरेर्ज्ञानस्वरूपस्य नाभ्यब्जस्य
 नाभिः कर्णिका तदधिरूढसर्वजीवसमष्ट्यात्मा हिरण्यगर्भ
 एवासि ॥ ३८ ॥ तर्हि मम कथं व्यष्टिभावस्तत्रैते आन्तिविशेषा-
 ध्यागतास्तत्राह—स त्वमिति । व्यष्टिभावस्वप्नदिदक्षया तपसि
 संनोराज्यरूपे आलोचने स्थित आश्रमे तापसोऽभूः । तत्र
 पुष्टया व्यष्टिभावसंविदा परशरीरान्तःस्वप्नादिकौतुकदिदक्षया
 कस्यचिज्जन्तोर्हृदयं प्रविष्टः ॥ ३९ ॥ ४० ॥ इत्यनया रीत्या त्वयि
 चिरं परशरीरान्तर्गतस्वप्नदर्शनव्यग्रे सति तव देहस्तथा तत्र
 महावने सुप्ताकृतिस्त्वत्प्रविष्टः स प्राणी स्थितस्तस्य देहोऽपि च
 स युष्मदाश्रमो युष्मदाश्रमकुटीसहितस्तेनाभिना दग्ध इति दश-
 मश्लोकेनान्वयः ॥ ४१ ॥ तत्र महावने अमिलेनः । तमेवार्ति
 वर्णयति—धूमधूमाभ्रेलादिना । स्फुरद्भिर्बलाधलद्भिरलात-
 चकैः संपादितानि सूर्यमण्डलानीन्दुमण्डलानि च येन ॥ ४२ ॥

वक्षःस्थबालवनितानयनानन्दनन्दनः ॥ ४७
 ज्वालाधमधमाशब्दप्रध्मातगगनोदरः ।
 दरीगृहविनिष्क्रान्तभ्रान्तोन्निद्रवनेचरः ॥ ४८
 अर्धदग्धद्रवत्सिद्धमृगव्याधविहंगमः ।
 कथत्सरःसरित्स्रोतोरन्धितोग्रवनेचरः ॥ ४९
 बलज्वालाज्वलद्बालचमरीचारुचञ्चुरः ।
 दह्यमानवनप्राणिमेदोगन्धावृताम्बुदः ॥ ५०
 तेन कल्पाग्निकल्पेन वल्लगता वनवह्निना ।
 सयुष्मदाश्रमो दग्धः सर्पेणैव प्रसर्पता ॥ ५१
 इत्याद्य उवाच ।
 तत्र तस्याग्निदाहस्य हेतुः कः प्राकृतो मुने ।
 तद्वनं ते बटुवराः सर्वं नष्टं कथं सह ॥ ५२
 मुनिरुवाच ।
 संकल्पकमनस्पन्दः संकल्पादिक्षयोदये ।
 यथा हेतुर्निरस्पन्दोऽचिराद्धि त्रिजगत्तथा ॥ ५३
 हृदये च वनान्ते च क्षोभाक्षोभेषु कारणम् ।
 यथा स्पन्दोऽचिरात्स्पन्दस्तथा त्रिजगतामिह ॥ ५४
 धातुः संकल्पनगरं जगत्तत्स्पन्दनं त्विह ।
 प्रजोदयक्षयक्षोभवर्षावर्षादिकारणम् ॥ ५५
 ब्रह्मादिमानसोऽप्यस्य सोऽप्यन्यत्र चिदम्बरे ।
 इत्यपर्यवसानेयं शान्तैका चिन्नभोगतिः ॥ ५६

दग्धाभ्रेषु भस्मसंपूर्णधूमाभ्रलक्षणैरसितकम्बलैरानीलान्याकाश
 दलानि दिश आवरणेन पान्ति तथाविधैः संछादिताम्बरः ॥ ४३ ॥
 जडीकृतदिगन्तरो बधिरीकृतदिगन्तरालजनः ॥ ४४ ॥ सर्वतोऽ-
 भिव्याख्या अभिवृक्षतां गतानां तालीतमालमालानां पातैः स्फुट
 तासुत्पातवह्नियुत्पाताभ्रवच्च कवतां ध्वनतां करकरैः कलकलै-
 र्धनो निबिडितः ॥ ४५ ॥ व्योमद्रवत्कनकनिष्यन्दलितं कुट्टिमि-
 कृत्वा प्रदर्शयन् ॥ ४६ ॥ कणैर्विस्फुलिङ्गैस्तारागणं द्विगुणत
 नयन्सैरेव कणैर्व्योम्नि वक्षःस्थाया ज्वालालक्षणाया बालवनिताय
 नयनानन्दनैः कटाक्षैर्नन्दन आनन्दयन् ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ रन्धिता
 पाचिता उग्रा वनेचरा व्याधव्याघ्रादयो जलचराश्च येन ॥ ४९ ॥
 ॥ ५० ॥ तेन वर्णितप्रकारेण वनवह्निना सयुष्मदाश्रमो युष्मदा-
 श्रमसहितः स ते देहस्तस्य प्राणिनो देहश्च दग्धः ॥ ५१ ॥ कं
 हेतुः प्राकृतः प्रसक्तः । ते बटुवरास्त्वत्प्रविष्टब्रह्मचार्यादिदेहाः
 सह युगपत् सर्वं कथं नष्टम् ॥ ५२ ॥ संकल्पादिक्षयोदये यथा
 संकल्पकपुरुषमनःस्पन्दो हेतुस्तथा त्रिजगत्संकल्पकस्य विधा
 तुरचिरात्प्रवृत्तो मनःस्पन्द एव त्रिजगदिति तत्क्षयोदयेऽपि
 तथा तन्मनःस्पन्द एव हेतुरित्यर्थः ॥ ५३ ॥ यथा हृदं
 मयादिना क्षोभाक्षोभेषु अचिरात्स्पन्दो हेतुस्तथा त्रिजगत्
 वनान्ते च क्षोभाक्षोभेषु स एव हेतुरित्यर्थः ॥ ५४ ॥ ५५ ॥
 अस्य जगतो ब्रह्मादिमानसो मनःसमष्टिहेतुः सोऽप्यन्यत्रान्य
 मानसे चिदम्बरे कल्पितः सोऽप्यन्यत्र सोऽप्यन्यत्रेषा माया
 शबलस्य चिन्नमसो गतिः कल्पनापरम्परा अपर्यवसाना

चितिनमसि चित्रभःश्रीः

कचतीति निरामया विदुषाम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे बाल्मी० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श० परमोपदेशो नाम पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५० ॥

एकपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५१

अन्यमुनिरुवाच ।

तत्र ते नगरं तानि गृहाणि तरवश्च ते ।
क्षिप्रेण शुष्कतृणवत्सर्वं भस्मत्वमागतम् ॥ १ ॥
तत्रैवं भस्मतां प्राप्ते सुप्ते ते भवतस्तत्र ।
तनू तथातिसंतापविदारितमहाशिले ॥ २ ॥
स शशाम शनैर्यद्विनिःशेषीकृतकाननः ।
परिपीतार्णवोऽगस्त्य इवास्तं समुपाययौ ॥ ३ ॥
तस्मिन्नस्तं गते बहौ तद्भस्मेष्टं सुशीतलम् ।
दुधाव कणशो वायुरशेषं पुष्परशिवत् ॥ ४ ॥
ततो न ज्ञायते नासीत्काश्रमः क तनू तथा ।
क पेटकं बहूनां तत्स्वप्नपूर्जाग्रतो यथा ॥ ५ ॥
अभावमुपयाते ते यदैवं भवतस्तनू ।
स्वपतस्ते भ्रमवतः संविदेव विजृम्भते ॥ ६ ॥
तस्मात्क तद्गलविलं विराडात्मा स च क ते ।
दग्धो दग्धस्य सौजस्कः सौजस्कस्यैव देहकः ॥ ७ ॥

मूर्खाणां तु यथैषा

यादृग्वा तन्मयीह न सत् ॥

५७

लब्धवानसि नो तस्मादेतोर्देहद्वयं मुने ।
अन्ते स्वप्नसंसारजाग्रतीहावतिष्ठसे ॥ ८ ॥
तदेवं स्वप्न एवायं जाग्रद्भावमुपागतः ।
सर्वं वयमिह स्वप्नपुरुषास्तत्र सुव्रत ॥ ९ ॥
अस्माकं त्वं स्वप्ननरस्तत्र स्वप्ननरा वयम् ।
अयमेव चिदाकाशः सर्वदात्मात्मनि स्थितः ॥ १० ॥
ततः प्रभृति संपन्नो भवान्स्वप्ननरो भवन् ।
जाग्रत्प्रत्ययवाजाग्रत्तरो गार्हस्थ्यसुस्थितः ॥ ११ ॥
पतत्ते कथितं सर्वं यथावृत्तमशेषतः ।
अनुभूतं सुदृश्यं च ध्यानेनैतच्च पश्यसि ॥ १२ ॥
इत्यादिमध्यरहितोऽयमनन्तरूपः
संविद्धनः कचति काञ्चनतापवत्से ।
तत्फाललोलवपुरात्मनि चिन्मयात्मा
सर्गात्मभिर्विकसितैरसितैः सितैश्च ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठः बाल्मी० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श० अभावदर्शनं नामैकपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५२

मुनिरुवाच ।

इत्युक्त्वा स मुनिस्तत्र तूष्णीं स्वशयने निशि ।

अनवस्थितैवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥ निष्कृष्टदर्शने तु चितिनमसि चित्र-
भःश्रीरेव कचतीति निरामया विदुषां दृष्टिः । मूर्खाणां त्वापात-
दर्शनरूपा एषा दृष्टिर्यादृग्वा भासते तन्मध्येव इह परमार्थे तु
न सत् । अलीकैव सेत्यर्थः ॥ ५७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायण-
तात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमोपदेशो नाम पञ्चा-
शदधिकशततमः सर्गः ॥ १५० ॥

दग्धाश्रमतनोर्वह्नेः प्रशमो मस्मनोऽनिलैः ।

वर्ण्यतेऽयं नयस्तस्मात्स्वप्ने जागरितस्थितिः ॥ १ ॥

न केवलमाश्रमाधिकमेव किंतु नगरादि सर्वं भस्मत्वमागतम्
॥ १ ॥ तथा अतिसंतापविदारितमहाशिले तत्राश्रमे भवतो
वर्तमानस्य तत्र सुप्ते वे द्वे तनू शरीरे एवमुक्तप्रकारेण भस्मतां
प्राप्ते इत्यन्वयः ॥ २ ॥ परिपीतार्णवोऽगस्त्य इव आदावन्ना-
रमाप्रशेषेण शशाम । ततोऽस्तमदर्शनं समाययौ ॥ ३ ॥
आदौ इष्टं पश्चात्सुशीतलम् । वायुर्दुधाव व्यधूनयत् ॥ ४ ॥
बहूनां जनानां पेटकं करण्डभूतं तन्नगरम् ॥ ५ ॥ ६ ॥ देह-
तादेरपि महोलः पवित्रोऽपमात्रहृद्गद—सौजस्क इति । ओजः-

आसीद्विषयतश्चाहमन्थाऽऽसं प्रोह्यमानवत् ॥ १ ॥
ततश्चिरेण कालेन मयोक्तं तस्य सन्मुने ।

सहितस्यैव तस्य सुप्तस्य सौजस्क एव देहको दग्धः ॥ ७ ॥
स्वप्नसंसारान्मके जाग्रत्प्रवतिष्ठसे ॥ ८ ॥ तथा च जाग्रत्स्वप्नयो-
र्भेदो नास्तीति यत्प्रागुक्तं तदिदं दर्शितमित्याशयेनाह—
तदेवमिति ॥ ९ ॥ सर्वदा अवस्थात्रयैऽप्यात्मनि अद्वयस्वस्व-
भावे ॥ १० ॥ प्राक् स्वप्ननरो भवन्नपि भवान्स्ततः प्रभृति
जाग्रत्तरोः संपन्नो गार्हस्थ्ये सुसंस्थितः ॥ ११ ॥ संदेहे त्वमपि
ध्यानेन एतन्मदुक्तं सर्वं पश्यसि द्रश्यसि । वर्तमानसानीप्ये
वर्तमानवत् ॥ १२ ॥ ये काञ्चनमयस्याप आतपस्वदत् यः
कचति तत्फालः स्वकचनशक्त्युत्फालस्तेन लोलवपुः संवि-
न्मयात्मा आत्मनि दुष्कर्मफलभूतैरसितैः सत्कर्मफलभूतैः सितै-
श्चान्मिभ्रकर्मफलभूतैर्मिश्रैश्च विकसितैः सर्गात्मभिर्भावैः संविद्धन
एव कचति नान्य इत्यर्थः ॥ १३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणता-
त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धेऽभावदर्शनं नामैकपञ्चाशद-
धिकशततमः सर्गः ॥ १५१ ॥

स्वप्नार्थसत्यताशङ्कां निवारयान्यमुनिर्मुनेः ।

इह व्याधगुरुत्वस्य हेतुकिमुपचक्रमे ॥ १ ॥

अथ अहं बाल्यया प्रोह्यमानवदासम् ॥ १ ॥ सद्रूपो यथार्थः

एवं स्वप्नो विभो सर्वः सद्रूप इति मे मतिः ॥ २

अन्यमुनिरुवाच ।

सत्संभवति यत्रान्यत्तत्रेदं सदिति सत्यः ।

युक्तो यत्र त्वेतदेव सत्तत्त्वं तत्र का प्रमा ॥ ३

यथा स्वप्नस्तथैवार्थमादौ सर्गोऽवभासते ।

पृथ्यादिरहितोऽप्येष पृथ्यादिभिरवस्थितः ॥ ४

इत्थमद्यतनात्स्वप्नात्सर्गस्वप्नोऽमलात्मकः ।

शृणु पुष्करपत्राक्ष मुने व्याध महागुरो ॥ ५

अद्य दृष्टपदार्थाभ्यां स्वप्नं स्वप्नवतोऽभवत् ।

सर्गस्वप्नस्तु दृष्टार्थ एवादौ खे विराजते ॥ ६

एवं सत्स्वप्न इत्येव संदिग्धमिव वक्षि किम् ।

स्फुटमप्यनुभूतं सत्स्वप्नध्यानोद्यमः कथम् ॥ ७

इदमित्थं यदाभोगि स्फुटं स्वप्नजगन्मुने ।

सदेवानुभवत्येव तत्र संदिग्धता कथम् ॥ ८

अथैवंवादिनस्तस्य वाक्यमाक्षिप्तवानहम् ।

पृष्टवान्व्याधगुरुता कासौ मे कथ्यतामिति ॥ ९

अन्यमुनिरुवाच ।

श्रूयतामिदमाख्यानमपरं कथयामि ते ।

संक्षेपेण महाप्राज्ञ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श० मुनिरात्रिसंकथावर्णनं नाम द्विपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५२ ॥

मे मतिरित्युक्त्या असंभावनया विस्मयो धोतितः ॥ २ ॥ यत्र यदि अन्यज्जाग्रदस्तु सत् संभवति संभवेत् तत्र तर्हि इदं स्वप्नादि सदिति सत्यो विस्मयो युक्तः स्यात् । यत्र तु एतज्जाग्रदृश्यमेव सत्तया अल्पं सत्तत्त्वं मिथ्याभूतं तत्र स्वप्ने सत्यतायाः का प्रमा । सुतरां मिथ्यात्वमेवेत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥ इत्थं परिदृश्यमानादद्यतनादसदीयस्वप्नादपि जाग्रत्त्वेन प्रसिद्धः सर्गस्वप्नः अमलचेतन्यमात्रात्मकः । इयत्पि सत्ता तस्य दुर्लभेत्यर्थः । हे व्याध महागुरो, हे पुष्करपत्राक्ष मुने, अत्रोपपत्तिं शृणु । त्वदपेक्षयापि मन्दमतेर्व्याधस्य बोधनकाले त्वया उपपादनश्रमो ज्ञास्यते इति धोतनाय तथा संबोधनम् । पुष्करपत्राक्षेति संबोधनतात्पर्यं प्रागुक्तमेव ॥ ५ ॥ वक्तुं प्रतिज्ञातामुपपत्तिमाह—अद्येति । अद्य जाग्रति दृष्टार्थां पदतदर्थार्थां बुद्धौ स्वसंस्काराधानात्स्वप्नवतस्त्व रात्रौ स्वप्ने शब्दोऽर्थश्चाभवदिति संस्कारादिसामग्रीसत्त्वात्सत्यः संभाव्येतापि । दृष्ट्यादिकाले प्रसिद्धः सर्गस्वप्नस्तु प्राग्दृष्टः अर्थो यस्य तथाविध एव खे चिदाकाशे विराजते । तत्र च चिरप्रलयकालेन व्यवधाने पूर्वानुभवसंस्कारादेरुच्छिन्नत्वादद्यतनस्वप्नापेक्षयापि तुच्छ एव संभाव्यते न समसत्ताकोऽपीत्युपपत्तिरित्यर्थः ॥ ६ ॥ एवं जाग्रत्प्रपञ्चस्याधिकमिथ्यात्वे सति 'स्वप्नो विभो सर्वः सद्रूप इति मे मतिः'

अस्म्यहं तावदादीर्घतपास्त्वमतिधार्मिकः ।

श्रुत्वेदं मद्ब्रुचः सत्यमिहैव रतिमेष्यसि ॥ ११

इहस्थं मासिमं त्वं च न त्यक्ष्यसि सपर्यया ।

अहं भवद्भिः सहितो निवत्स्यामीति निश्चयः ॥ १२

साधो यातेषु वर्षेषु ततः कतिपयेष्विह ।

सर्वबन्धुविनाशस्ते दुर्भिक्षेण भविष्यति ॥ १३

मत्तसीमान्तसामन्तविग्रहेण तदैव च ।

सर्वो गृहात्तनुप्राणिर्ग्रामकोऽयं विनश्यति ॥ १४

ततो दुःखमजानन्तौ चिरमाश्वसितौ मिथः ।

शान्तौ विदितवेद्यत्वात्समौ सर्वार्थनिरूपहौ ॥ १५

इहैवैकत्र कस्मिंश्चित्तरुण्डकजालके ।

समाचारौ निवत्स्यावः शून्ये चन्द्ररवी यथा ॥ १६

उत्पत्स्यते त्वरण्येऽस्मिन्कालेन वनमुत्तमम् ।

शालताललताजालवलिताखिलभूतलम् ॥ १७

तालीतमालदलताण्डवमण्डिताशं

व्याकोशपद्मवनवन्द्यविकासिवृक्षम् ।

कूजचकोरचयचारुलतानिकुञ्ज-

मुद्गासि नन्दनमिवागतमन्तरिक्षात् ॥ १८

इति मतिपदेन संदिग्धमिव सूचयन् किं वक्षि । स्फुटमप्यनुभूतं सदितं स्वगृहं मनुपदेशायमुभूय पुनः स्वप्नध्याने तवोद्यमः कथं जातः । न हि स्वप्नदर्शी कश्चित्स्वप्नोऽयं मिथ्येति तदानीं पश्यतीति भावः ॥ ७ ॥ किंच सदेव जगदनुभवतस्ते असत्त्वसंदेहे बीजमपि नास्तीत्याह—इदमिति ॥ ८ ॥ आक्षिप्तवान् प्रश्नान्तरकरणेन निरुद्धवान् ॥ ९ ॥ १० ॥ अहं यावत्त्वं व्याधगुरुर्भविता तावदिहैवासि । हे मुनिनायक, त्वमपि इदं मद्ब्रुचः श्रुत्वा इहैव त्वद्गृहे रतिमेष्यसि ॥ ११ ॥ इहस्थं मां च त्वं न त्यक्ष्यसि ॥ १२ ॥ १३ ॥ वैरबलादिना मत्तानां सीमान्तस्थानां सामन्तानां क्षुद्रभूपानां विग्रहेण परस्परयुद्धप्रसङ्गेन तनवोऽल्पीभूताः प्राणिनो यत्र तथाविधः सन्नयं ग्रामको गृहादिनश्यति पलायिष्यति ॥ १४ ॥ तदा आवां किं करिष्यावस्तदाह—तत इति द्वाभ्याम् ॥ १५ ॥ १६ ॥ अस्मन्निवासादरण्ये उत्तमं वनं वृक्षनिकुरम्बमुत्पत्स्यते । उत्तमत्वमेव प्रपद्यति—शालेत्यादिसार्धेन ॥ १७ ॥ व्याकोशैः पद्मवनैरघश्वरणाश्रयणाद्वन्द्या वन्द्यमाना इव पुष्पैर्विकासिनो वृक्षा यत्र । अन्तरिक्षात्सर्गादागतं नन्दनमिव स्थालु वनमुत्पत्स्यत इति पूर्वत्रान्वयः ॥ १८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुनिरात्रिसंकथावर्णनं नाम द्विपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५३

अन्यमुनिरुवाच ।

आवयोश्चरतोस्तस्मिन्वने चिरतरं तपः ।
 मृगानुसरणथान्तो मृगव्याध उपैष्यति ॥ १
 तं त्वं स्वभाषपुण्याभिः कथाभिर्बोधयिष्यसि ।
 तपस्तत्रैव विपिने स विरक्तश्चरिष्यति ॥ २
 ततस्तपस्विचर्याणामात्मज्ञानबुभुत्सया ।
 मध्ये स स्वप्रजिज्ञासुः प्रक्षयति स्वप्नसंकथाम् ॥ ३
 कथयिष्यसि तस्मै त्वमात्मज्ञानमखण्डितम् ।
 स्वप्नाख्येन प्रसङ्गेन सोऽतो योग्यो भविष्यति ॥ ४
 इत्यनेन प्रकारेण गुरुस्तस्य भविष्यसि ।
 तेन तात मयोक्तोऽसि गिरा व्याधगुरो इति ॥ ५
 इति ते सर्वमाख्यातं यथायं संसृतिध्रुवः ।
 यथाहं यादृशश्च त्वमिह यत्ते भविष्यति ॥ ६
 इति तेनाहमुक्तः सन्विसयाकुलया धिया ।
 तेन सार्धं विमृश्यैतत्परं विस्रयमागतः ॥ ७
 अथ रात्र्यां व्यतीतायां स प्रभाते महासुनिः ।
 तथा संपूजितो येन तत्रैव रतिमाप्तवान् ॥ ८
 अनन्तरं गृहे तस्मिन्स्तिन्ग्रामगृहे तथा ।
 स्थितावावां स्थिरमती कृतभावौ परस्परम् ॥ ९
 ततो बहति कालोऽयमृतुसंवत्सरात्मकः ।
 स्थितोऽहमागतान्भावस्त्यजन्गृह्णन्निरियथा ॥ १०
 नाभिवाञ्छामि मरणं नाभिवाञ्छामि जीवितम् ।
 यथा स्थितोऽसि तिष्ठामि तथैव विगतज्वरम् ॥ ११
 ततो विचारितं तत्र तन्मया दृश्यमण्डलम् ।
 किं कारणमिदं तु स्यात्किमयं चेत्ति चेतसा ॥ १२

इह व्याधानामाद्युक्त्या बहुकृतसमर्थनम् ।

काले विवेकाद्विज्ञानं सर्वकालम् च वर्ण्यते ॥ १ ॥

तस्मिन् वर्णितगुणे वने ॥ १ ॥ २ ॥ तपस्विचर्याणामभ्या-
 साच्छान्तिदान्त्यादिसाधनसंपत्त्यनन्तरं स व्याध आत्मज्ञान-
 बुभुत्सया मध्ये तदुपोद्घाततया स्वप्रजिज्ञासुः सन् स्वप्नसंकथां
 प्रक्षयति ॥ ३ ॥ ततस्तत्त्वं स्वप्नाख्येन प्रसङ्गेन आत्मज्ञानं कथयि-
 ष्यति ॥ ४ ॥ तेन हेतुना ॥ ५ ॥ गृहस्थोत्तरं समाप्त्य प्राक्त-
 नमुपसंहरति—इतीति ॥ ६ ॥ एतत् दृश्यजातम् ॥ ७ ॥ रतिं
 प्रीतिम् ॥ ८ ॥ तस्मिन्वने गृहे तथा तस्मिन्प्राक्तने ग्रामगृहे
 च ॥ ९ ॥ कृतभावौ बद्धप्रीती ॥ ९ ॥ भावान् अनिष्टेष्टमिभान् ।
 निरिपक्षे दवाभिष्टयावीन् ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ एतस्य
 कारणं निमित्तं किमस्ति ॥ १३ ॥ आत्मनि चिदेकधनसभावे
 अवस्थितं चिन्मात्रनभ एव ॥ १४ ॥ चे विदाकाशो अत्रिधात्म

कोऽयं पदार्थसंघातः किं नामैतस्य कारणम् ।
 अस्यस्मिन्स्वप्नसंदर्शं चिद्योमैकस्वरूपिणि ॥ १३
 द्यौः क्षमा धायुराकाशं पर्यताः सरितो दिशः ।
 चिन्मात्रनभ एवैते कचन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥ १४
 चिच्चन्द्रिकाचतुर्दिक्कमवभासं तनोति यत् ।
 तं दिवं जगदाभाति चित्रमप्रतिघातम् खे ॥ १५
 नेमेऽद्रयो न चेयं भूर्नेदं खं नायमप्यहम् ।
 चिन्मात्रव्योमकचनमिदमाभाति केवलम् ॥ १६
 पदार्थजातस्यास्य स्यात्किं नाम बत कारणम् ।
 पिण्डग्रहे हेतुना तु विना कोऽप्यर्थसंभवः ॥ १७
 भ्रान्तिमात्रमिदं चेत्स्याद्भ्रान्तेः किं नाम कारणम् ।
 द्रष्टा मन्तां च को भ्रान्तेः कारणं वा क कीदृशम् ॥ १८
 यस्याहमवसं संविन्मात्रकं हृदयौजसि ।
 असौ मया सह गतः किलाशेषेण भस्मसात् ॥ १९
 तस्मादिदमनाद्यन्तं चिदाभामात्रमम्बरम् ।
 अकर्तृकर्मकरणं रूपं चिद्भ्रनमकमम् ॥ २०
 इदं चिद्योमकचनं घटावटपटादिकम् ।
 स्फुटं कुत इवाकारि घटावटपटाद्यतः ॥ २१
 नापि चिन्मात्रकचनं चिन्मात्रं व्योम केवलम् ।
 तस्य किं कचनं कीदृक् कथं कचति किं नभः ॥ २२
 अयं केनश्चिदम्भोधेः किमस्य कचनं नवम् ।
 कचत्स्वभाव एवायमनन्तश्चिद्भ्रनः स्थितः ॥ २३
 चिन्मात्रकचनं शुद्धं ब्रह्म वृद्धितचिद्भ्रनम् ।
 इदं जगदिवाभाति क इदं द्रष्टुं कुतः ॥ २४

स्थौल्याभावात्प्रतिघाताऽयोग्यस्वभावम् ॥ १५ ॥ नन्वधादयं
 सप्रतिघातः कथमप्रतिघातः स्युस्तत्राह—नेम इति ॥ १६ ॥
 यदा चिन्मात्रकचनं तर्हि कारणमेव नास्ति पिण्डग्रहतद्वेत्तोर-
 प्रसिद्धेरित्याह—पदार्थेति ॥ १७ ॥ तर्हि भ्रान्तिरेवैवमस्त्वित्या-
 शङ्क्य तत्रापि निमित्तद्रष्टादिदुर्वचमित्याह—भ्रान्तीति ॥ १८ ॥
 संविन्मात्रकमहं यस्य देहे प्रविष्टः सन् हृदयौजस्यवसम् अर्था
 प्राणी मया मदेहेन सह भस्मसाद्भ्रतः ॥ १९ ॥ तस्मात्तदेहमदे-
 हादीनामसत्त्वादिदं सर्वं चिदाभामात्रमम्बरमेव ॥ २० ॥
 घटावटपटाद्यत आकारतो भवितुं स्फुटं रूपं कुत इव अकारि
 न कुतश्चिदित्यर्थः ॥ २१ ॥ चिन्मात्रकचनमिति शुद्धिरपि
 राहोः गिर इतिबद्विकल्पमात्रम् । पट्टीतत्पुरुषप्रयोजकयोर्भेद-
 सवन्धयोरप्रसिद्धेरित्याशयेनाह—नयीति ॥ २२ ॥ केन
 इव केनः ॥ २३ ॥ सदैव वृद्धितचिद्भ्रनं ब्रह्म ॥ २४ ॥

आद्यन्तवर्जितममेयमनादिमध्य-

मेकं विभुं विगतकारणकार्यसत्त्वम् ।

इति श्रीवासिष्ठ० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० श० सर्वैकात्म्यप्रतिपादनं नाम त्रिपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५३ ॥

चतुःपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५४

मुनिरुवाच ।

इति निर्णय दृश्येऽस्मिन्स्थितोऽस्मि विगतज्वरः ।
वीतरागो निराशङ्को निर्वाणो निरहंकृतिः ॥ १
निराधारो निराधेयो निर्मानो निरुपाश्रयः ।
स्वभावस्थः स्वयं शान्तः सर्गात्मा सर्वथोदितः ॥ २
यथाप्राप्तस्य कर्तास्मि न कर्तास्मि कदाचन ।
स्वयमेव हि यो व्योम कर्तृता तस्य कीदृशी ॥ ३
धौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
इत्येकात्म नभः सर्वं भूतजालैकचिद्वपुः ॥ ४
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम् ।
न विधिप्रतिषेधौ मे न मे बाह्यं न मेऽन्तरम् ॥ ५
इति मे तिष्ठत इह यथासंस्थानसंस्थितेः ।
अद्यायं त्वमनुप्राप्तः काकतालीयवत्पुरः ॥ ६
इति ते सर्वमाख्यातं यथा स्वप्नो यथा वयम् ।
यथा जगद्यथा च त्वं यथा दृश्यमिदं तथा ॥ ७
त्वं च यादृग्दृश्यमिदं यथा दृश्यमिदं पुरः ।
यथा भावा यथा ब्रह्म यथेमा जनताः पुरः ॥ ८
एतद्बुद्ध्वा भवाञ्छान्तो मिथ्या लुब्धक लुब्धक ।

कालत आद्यन्तवर्जितं देशतोऽप्यनादिमध्यं वस्तुत एकमत
एव विगतकारणं विगतकार्यं विगततद्भीनसत्त्वकं च स्वतः-
सत्ताप्रधानं स्वसत्तयैव भुवनान्तिसत्तानिर्वाहकत्वाच्चानाऽनानात्म-
कमिव किमपि वाङ्मनसागोचरं यच्चेतनं तदेव सर्वं न तद्यति-
रिक्तमणुमात्रमप्यस्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराज-
मुनितात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्वैकात्म्यप्रतिपादनं
नाम त्रिपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५३ ॥

विचारजा निजा जीवन्मुक्तस्थितिरिहोदिता ।

मुनिनाम्यासहीनस्य व्याधस्य त्वनवस्थितिः ॥ १ ॥

स्वकृतविचारफलं स्वजीवन्मुक्तिस्थितिं मुनिः प्रपद्यति—
इतीत्यादिना ॥ १ ॥ निर्मानो विगताभिमानः ॥ २ ॥ यः स्वयमेव
व्योम निष्क्रियं तस्य ॥ ३ ॥ एकात्म सत् न भविष्यदाकाशमेव
॥ ४ ॥ ५ ॥ हे व्याध, अयं त्वमद्यानुप्राप्तः ॥ ६ ॥ एवमनुप्राप्ताय
पृच्छते ते इति यथावर्णितप्रकारं सर्वम् । तदेव प्रपद्यति—
यथा स्वप्न इत्यादिना । सर्वत्र तथा व्याख्यातमिति संबध्यते
॥ ७ ॥ त्वं द्रष्टा च यादृक् । इदं देहेन्द्रियाद्याध्यात्मिकमान्तरं
दृश्यं यथा । इदं पुरोदृश्यमाधिभौतिकं च दृश्यं यथा । तेषु च
रागद्वेषहानोपादानादिभावा यथा ॥ ८ ॥ हे लुब्धक लुब्धकेत्या-

सत्तामयं भुवनशैलदिगन्तनाना-

ऽनानात्मकं किमपि चेतनमेव सर्वम् २५

शान्तैवैवमियं सत्ता चिन्मात्रव्योमरूपिणी ॥ ९
स्वयमाभाति निर्वाणा नैव वाभाति किञ्चन ।

लुब्धक उवाच ।

एवं चेत्तदहं त्वं च सर्वे वा विबुधादयः ॥ १०
सर्वे एव मिथः स्वप्नपुरुषाः सदसन्मयाः ।

मुनिरुवाच ।

एवमेतदिदं सर्वमन्योन्यं स्वप्नवत्स्थितम् ॥ ११
अन्योन्यमात्मनि तथा सदसच्चानुभूयते ।
दृश्यं येन यथा बुद्धं तथा तेनानुभूयते ॥ १२
नानैकं वस्त्वतोऽनेकं न सञ्चासन्न मध्यगम् ।
जाग्रति स्वप्ननगरमिव वेदनमात्रकम् ॥ १३
अदृष्टपूर्वदूरस्थदृश्यमानपुरोपमम् ।
इति ते सर्वमाख्यातं बोधितोऽसि निरन्तरम् ॥ १४
स्वयं प्राज्ञोऽसि जानासि यथेच्छसि तथा कुरु ।
एवं प्रबोधितस्यापि तव व्याध मते मतिः ॥ १५
क्षणं प्रबोधविश्रान्ता न विश्रान्ता परे पदे ।
नाभ्यासेन विना बोध एष याति मनोहृदि ॥ १६

दराद्विचनम् । भवानेतत्सर्वं मिथ्या इति बुद्ध्वा शान्तो भवतु ।
यत इयमात्मसत्ता शान्तैव स्वयं निर्वाणा आभाति नाशान्ता
॥ १५ ॥ शान्तिस्वरूपमेव दर्शयति—नैवेति । आत्यन्तिकदृश्या-
भानमेव तच्छान्तिरित्यर्थः । स्फुटतरस्य नरदेवतिर्यक्स्थावरदे-
स्वप्नप्रायत्वमसंभावितमिति काका ध्वनयंलुब्धक आह—एवं
चेदिति ॥ १० ॥ सन्त एवासन्मयाः स्युरिति शेषः । इष्टापत्त्या
मुनिरुत्तरमाह—एवमेतदिति ॥ ११ ॥ आत्मनि सत् अन्येष्व-
सत् । तथैव सर्वानुभवादित्यर्थः । बोधानुसारिव्यवस्थत्वादपि
तत्तथेत्याह—दृश्यमिति ॥ १२ ॥ यतो नानैकं वस्तु । यथैको
घटो नानाकपालकपालिकातदवयवपरम्परपरमाण्वन्तनानाव-
स्त्वात्मक एकत्वप्रतीतेरेकवस्त्वात्मकश्च । तत्र नानात्वदर्शनामे-
कमसत् । एकत्वदर्शनां नानात्वमसत् । उभयदर्शनामुभयं सद-
सत्त्व पाक्षिकम् । तत्त्वविदां तु वेदनमात्रकमिति नैकमपीत्यनुभव-
सिद्धमिति भावः । मध्यगं सदसत् ॥ १३ ॥ १४ ॥ मते स्वात्मिने
जगत्सत्यत्वग्रमे एव मतिर्विश्रान्ता परे पदे तु न विश्रान्तेति
परेणान्वयः ॥ १५ ॥ तत्कृतस्वप्नाह—नेति । एष बोधोऽभ्या-
सेन परां परिणतिं विना मनोहृदि मनोन्तर्न याति न प्रवि-
शति । यथा अम्बुधारणे कार्ये दारुणि परा कमण्डल्याकारां
कर्तृनादिनिर्मितां परिणतिं विना तदन्तरम्बु न प्रविशति तद्वदिति

परां परिणतिं प्राह्य दारुणीवाम्बुधारणे ।

अभ्यासाद्बोधविभ्रान्तौ गुरुशास्त्रैकसेवनात् ।

द्वैताद्वैतदशोः शान्त्या निर्वाणं चित्तमुच्यते ॥ १७ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-

र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० निर्वा० उ० अवि० वि० स० यथाभूतार्थवर्णनं नाम चतुःपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५५

अग्निरुवाच ।

इत्याकर्ण्यार्थं स व्याधस्तदा तस्मिन्वचनान्तरे ।

आसीच्चित्रकृताकार इव विस्मयमन्थरः ॥ १ ॥

न विश्राम्य चेतोऽस्य स्वाभ्यासेन विना पदे ।

आसीदुद्भ्रान्त इव स प्रोह्यमान इवार्णवे ॥ २ ॥

आरूढ इव वा चक्रे चक्रेण तपसा हतः ।

नक्रेणैव समाक्रान्तः पराक्रमविवर्जितः ॥ ३ ॥

किमेतत्स्यादुत्तान्यत्स्यान्निर्वाणमिति संशयात् ।

माध्यगच्छदसौ शान्तिं मूर्खो यौवनवानिव ॥ ४ ॥

अविद्याकृतमेवेदं दृश्यमित्येव चिन्तयन् ।

अविद्या जगदित्येषा नायाति निपुणं हृदि ॥ ५ ॥

कियदन्तमिदं दृश्यं स्यात्पश्याम्येतदादितः ।

दूरतोर्ध्वप्रमाणेन तपोलब्धशरीरकः ॥ ६ ॥

भावाभावात्मनो नित्यमस्यान्ते स्थीयते सुखम् ।

तस्मादाकाशमप्यस्ति यत्र नो तत्र याम्यहम् ॥ ७ ॥

इति निर्णयं हृदये मूर्खे एव बभूव सः ।

गतं तादृशमप्युक्तं विनाभ्यासेन भस्मनि ॥ ८ ॥

ततस्ततः प्रसृत्यैव तेनैव मुनिभिः सह ।

परेणान्वयः ॥ १६ ॥ अभ्यासेन बोधस्यान्तर्विभ्रान्तौ सिद्धयौ

तद्विस्तमेव निर्वाणमिति तदनुभविमिरुच्यत इत्याह—अभ्या-

सादिति ॥ १७ ॥ उक्तेऽर्थे भगवद्वचनसंमतिं दर्शयति—

निर्मानेति । अन्तर्निर्मानमोहाः । बहिर्वर्जितसङ्गदोषाः । अन्त-

र्गद्विश्वाध्यात्मनित्याः । सर्वतः पूर्णानन्दात्मलाभादिनिवृत्त-

कामाः । सुखदुःखयोः सम्यग्ज्ञानं संज्ञा यैश्चस्तथाविधैः प्रियादि-

द्वन्द्वैर्विमुक्ता अमूढास्तत्त्वविदस्त्रिद्विष्योः परमं पदं निर्वाणाख्यं

गच्छन्ति । अनुभवन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारा-

भायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे यथाभूतार्थवर्णनं

नाम चतुःपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५४ ॥

व्याधस्तदा निरुद्धेवाग्निघोषेवराट् ।

नमोगतिः कार्यवृद्धिर्दृष्टीश्च मुनिनोच्यते ॥ १ ॥

चित्रकृत आकारः प्रतिमेव विस्मयेन मन्थरौ जडीकृतः

॥ १ ॥ न विश्राम्य विश्रान्तिं न लेने ॥ २ ॥ केनचित्तिदेन

तपसा स्वीयतपोनलेन चक्रेण चक्रवातेन हत इव ॥ ३ ॥ ४ ॥

यत इदं जगदसिद्धैवेत्यर्थो हृदि नायाति अत इदं जगदविद्या-

लुब्धकत्वं परित्यज्य तपश्चरितुमुद्यतः ॥ ९ ॥

तस्मिन्लगतिं तैर्भावैस्तैः समं निवसन्सदा ।

बहून्यब्दसहस्राणि चकार सुमहत्तपः ॥ १० ॥

तपः कुर्वन्कदाचित्स पुनः प्रपच्छ तं मुनिम् ।

कदा स्यादात्मविश्रान्तिर्ममेत्याह मुनिस्ततः ॥ ११ ॥

मुनिरुवाच ।

ज्ञानं तदुपदिष्टं ते जीर्णदार्ढ्यलपकाशिवत् ।

संस्थितं हृदये किंतु दाह्यमाक्रम्य नोचितम् ॥ १२ ॥

नाभ्यासेन विना ज्ञाने शिवे विश्रान्तवानसि ।

अभ्यासेन तु कालेन भृशं विश्रान्तिमेष्यसि ॥ १३ ॥

भविष्यदिदमात्मीयमथाकर्ण्य निर्णयम् ।

मम वर्णयतः कर्णभूषणं भूतलाद्भुतम् ॥ १४ ॥

संस्तुतानवबुद्धात्मा ज्ञानसारतंयानया ।

दोलायमानसंवित्त्वं न मूर्खो न च पण्डितः ॥ १५ ॥

अविद्यारूपमाभोगि किंप्रमाणमिदं जगत् ।

स्यादित्यात्मविकल्पेन तपस्त्वं कर्तुमुद्यतः ॥ १६ ॥

इत्थं तपस्त्वया घोरं कार्यं युगशतं पृथु ।

परमेष्ठी ततस्तुष्टस्त्वामुपैष्यति सामरा ॥ १७ ॥

व्यया प्रह्लाशक्त्या कृतमुत्पादितं सत्यमेवेति चिन्तयन्सन् ॥ १५ ॥

इदं दृश्यं कियदन्तं कियदूरावधिकं स्यादेतत्तपोलब्धशरीरकं

सत्त्वादितः पृथिवीमारभ्य दूरतया ऊर्ध्वप्रमाणेन दैर्घ्येन गत्वा

पश्यामि इत्यामि ॥ ६ ॥ भावाभावात्मनोऽस्य दृश्यस्यान्ते

असंसारप्रदेशे नित्यं सुखं स्थीयते स्थास्यते मया ॥ ७ ॥ तादृशमति-

विस्तीर्णं सदृष्टान्तोपपत्तिकमपि सुन्युकमभ्यासेन विना भस्मनि

भुतमिव वृथा गतमित्यर्थः ॥ ८ ॥ तेनैव निर्णयेन ॥ ९ ॥ तैस्तपसिषु

प्रसिद्धैर्भावैर्लक्षणैः ॥ १० ॥ मम, निरुपप्लवे आत्मनि विश्रान्तिः

कदा स्यादिति प्रपच्छ । ततो मुनिस्तं प्रत्याह ॥ ११ ॥ जीर्णदार्ढ्य-

काशिवत् संस्थितमित्युक्त्या जन्मान्तरे उद्बोधमेष्यतीति सूचि-

तम् । सांप्रतं परधुमुचितं दाह्यं दग्धं शक्यमपि दृष्टयानर्थमा

क्रम्य न संस्थितम् ॥ १२ ॥ कालेन विरेण ॥ १३ ॥ भूतले केनापि

मनसाप्यसंभावनादत्यद्भुतम् ॥ १४ ॥ संस्तुतो ज्ञातुं प्रसूतः तथा

निद्वत्प्रसिद्धया ज्ञानसारतया अनवबुद्धात्मा येन तथाविधोऽत

एव दोलायमानसंवित्त्वं । असमर्थसमासदृष्टान्दसः ॥ १५ ॥

आत्मविकल्पेन स्वमनोरथकल्पनामात्रेण ॥ १६ ॥ इत्यमनेनैव

मार्गयिष्यसि तस्य त्वं वरदस्य वरं वर ।
 इमुद्दामदौरात्म्यान्निजं संदेहसंशयम् ॥ १८
 त्वार्यं दृश्यरूपेऽस्मिन्दृष्टेऽविद्याभ्रमे सति ।
 अचिदादर्शवन्नास्ति प्रतिबिम्बमलोज्झितः ॥ १९
 चेद्योमदर्पणस्यास्य परमाण्वाकृतेरपि ।
 अन्तस्थस्यैव वा यत्र तत्रेदं प्रतिबिम्बति ॥ २०
 अस्मात्किंयदनन्तं स्यादिदं दृश्यमनर्थकम् ।
 अस्य पारे कियद्वा स्यादाकाशं दृश्यमेव तत् ॥ २१
 त्वमर्थमहं ज्ञातुमिमं संप्रार्थये वरम् ।
 एषु देवेश्वराविघ्नं तच्चैवाशु प्रयच्छ मे ॥ २२
 त्वं स्वच्छन्दमृत्युर्मे नीरोगाऽस्तु तनुश्चिरम् ।
 गारुडेन च वेगेन संयुता व्योमगामिनी ॥ २३
 गतिनाडीकमेषा तु वृद्धिं गच्छतु योजनम् ।
 क्रमेण जगतो बाह्ये भवत्वाकाशरूपिणी ॥ २४
 आकाशस्यास्य दृश्यस्य लभेय परमेश्वर ।
 अन्तमित्थमनन्तस्य परमोऽस्त्विति मे वरः ॥ २५
 इति साधो त्वया प्रोक्ते देवदेवो वरं प्रभुः ।
 एवमस्तु तवेत्युक्त्वा यास्यत्यन्तर्धिमीश्वरः ॥ २६
 गते तस्मिन्महादेवे देवैः सह दिवस्पतौ ।
 तपसा ते कृशो देहश्चन्द्रकान्तिर्भविष्यति ॥ २७

मामापृच्छन्नमस्कृत्य तस्मिन्नेव क्षणे ततः ।
 स्तुतिमेयति स व्योम्नि चित्तस्थार्थदिदक्षया ॥ २८
 द्वितीय इव शीतांशुर्द्वितीय इव भास्करः ।
 द्वितीय इव वीर्वाग्निश्चन्द्रार्कस्पर्धयोत्थितः ॥ २९
 ततो गरुडवेगेन दृश्यस्य नभसस्तथा ।
 अन्तं प्राप्तुं बहन्वेगाज्जगतः सरितामिव ॥ ३०
 जगतोन्ते ततोऽजस्रं ततो वर्धिष्यते वपुः ।
 कल्पान्तमत्तार्णववन्निष्पाराम्बरपूरणम् ॥ ३१
 द्रक्ष्यस्यथ महाव्योम्नि वर्धमानो बृहद्वपुः ।
 सर्गान्निरर्गलाधारनिरन्तगगनक्रमात् ॥ ३२
 परमार्थमहाकाशशून्यतावातचक्रकान् ।
 स्वभावद्रवतोद्देशाच्चिदर्णवतरङ्गकान् ॥ ३३
 संविद्धने यथा स्वप्ने पुराद्या भान्ति खात्मकाः ।
 तथा तदा तवैष्यन्ति सर्गवर्गा निरर्गलाः ॥ ३४
 विस्फुरन्ति महाव्योम्नि पर्णौघाः क्षुभितानिलैः ।
 तथा सर्गाननन्तास्त्वं द्रक्ष्यस्यक्षीणनिश्चयः ॥ ३५
 सभासलेक्षणरुचां यथा जालं सदप्यसत् ।
 जगदात्म तथाकाशसंविदां खे सदप्यसत् ॥ ३६
 सर्वोर्वीजनदृष्टानां लग्नानामिन्दुमण्डले ।
 यादृग्जालं जगत्तादृक्स्थितेऽनन्यत्वमात्मनः ॥ ३७

सांप्रतं कियमाणप्रकारेण । युगशतं व्याधस्य जीवनासंभवाद-
 र्थादनेकजन्मभिः ॥ १७ ॥ वरदस्य तस्य विधेः सन्निधौ चेद्दाम-
 दौरात्म्यान्निजं मनोरथकल्पितं वरं मार्गयिष्यसि । प्रार्थयिष्य-
 सीति यावत् ॥ १८ ॥ यत्प्रार्थयिष्यसि तच्छृण्वित्याह—देवेति ।
 हे देव विधे, अस्मिन् दृश्यरूपे दृष्टे अविद्याभ्रमे सति आदर्श-
 वत्स्थिते ब्रह्मणि प्रतिबिम्बमलेनोज्झितः प्रदेशो नास्ति यत्र
 गतस्य मे निर्विकेपस्थितिः स्यादित्यर्थः ॥ १९ ॥ कुतो नास्ति
 तत्राह—चिद्योमदर्पणस्येति । यतः परमाण्वाकृतेरप्यन्तः-
 स्थितस्यास्य चिद्योमदर्पणस्य यत्र तत्र इदं जगद्रूपं प्रतिबिम्बति
 ॥ २० ॥ हे विधे, यस्मात्साविद्यचितेरियं स्थितिस्त्वस्मादिदम-
 विद्याप्रयुक्तं दृश्यं कियद्दूरमिदमनर्थकदृश्यं स्यात् । तस्य दृश्यस्य
 पारे अनन्तं निरविद्यं ब्रह्म कियद्दूरं वा स्यादाकाशवत् संसार-
 शून्यं ब्रह्म तन्मया दृश्यमवश्यं गत्वा द्रष्टव्यमेव । आवश्यके
 कृत्यः ॥ २१ ॥ एवंरूपमर्थं ज्ञातुं प्रत्यक्षमनुभवितुमिमं वक्ष्य-
 माणं वरं संप्रार्थये ॥ २२ ॥ इयं मे तनुः स्वच्छन्दमृत्युर्नीरोगा
 गारुडेन गरुडवेगसदृशेन वेगेन संयुता व्योमगामिनी चास्तु
 ॥ २३ ॥ तु पुनः प्रतिनाडीकं प्रतिक्षणं प्रत्यवयवं च योजन-
 मेषा मे तनुर्वृद्धिं गच्छतु । कालक्रमेण जगतो लोकत्रयाद्बाह्ये
 भवतु बहिर्गच्छतु । आकाशवद्विशालरूपिणी ॥ २४ ॥ अहं

साकाशस्यास्य दृश्यवर्गस्यान्तं लभेय ॥ २५ ॥ २६ ॥ महति देवे
 वेधसि । त्रिमूर्तीनामभेदाद्वा महादेवे । चन्द्रस्य कान्तिरिव
 कान्तिर्यस्य तथाविधो भविष्यति ॥ २७ ॥ स भवान्व्योम्नि
 तस्मिन्वरप्राप्त्युत्तरक्षण एव ततो मदाश्रमात्स्तुतिमूर्ध्वमुड्डयनमे-
 ष्यति ॥ २८ ॥ २९ ॥ बहन्गच्छन्सन् सरितामन्त इव जगत-
 स्त्रैलोक्यस्यान्ते ते वपुर्वर्धिष्यते इति परेणान्वयः ॥ ३० ॥
 निष्पारस्याप्यम्बरस्य पूरणं निरवकाशतासंपादकम् ॥ ३१ ॥
 निरर्गलमप्रतिबन्धमेवाधारभूतं यदनन्तं गगनं तस्य क्रमादाक-
 मणात् ॥ ३२ ॥ सर्गानेव विशिनष्टि—परमार्थेत्यादिना । पर-
 मार्थमहाकाशस्य शून्यताप्रयुक्तान्वातचक्रकान्वात्सा इव स्थितान् ।
 स्वभावः अज्ञाततास्वभावस्तल्लक्षणद्रवताया उद्देशादुत्सेकादावि-
 भूतांश्चिदर्णवतरङ्गकान् ॥ ३३ ॥ एष्यन्ति दृष्टिपथमिति शेषः
 ॥ ३४ ॥ यथा विस्फुरन्ति तथा विस्फुरितानिति शेषः ॥ ३५ ॥
 यथा सौधस्थस्त्रीजनानां विचित्रवातायनजालेन बहिष्ठन्त-
 सभासलेक्षणं रोचते नान्येषां तथाविधानां विचित्रं वाता-
 यनजालं सदप्यसत्प्रायं तथा चिदाकाशसंविदां तत्त्वविदां जग-
 दात्मकं वैचित्र्यं तत्र सदप्यसत्प्रायमेवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥ सर्वैरु-
 र्वीस्यैर्जनैरिन्दुमण्डलसंलग्नतया दृष्टानां धूमनीहारधूल्यादीनां
 जालमिन्दुमण्डलस्थजनदृशा यादृग्यन्तासत् जगदपि आत्मनः

१ स्वजातिसिद्धिदिसादिपरित्यागेन तपःप्रवृत्तत्वालुब्धकस्यैव वरेति
 संशोधनं. २ नपुंसकत्वमार्थ इममिति वा पाठः. ३ संदेहस्य अविद्या-

रूपमित्यादिनानुपदोक्तस्य सम्यक् शयः शयनं निवृत्तिरिति यावत् ।
 स यस्मिन्निति संदेहसंशयस्तथाविधमिति वरविशेषणम्.

पुनः सर्गः पुनर्व्याम पुनः सर्गः पुनर्नमः ।
 इत्येवं पश्यतस्तेऽत्र दीर्घकालः प्रयास्यति ॥ ३८
 अथ दीर्घेण कालेन प्रस्फुरन्सर्गपर्वके ।
 उद्वेगमेज्यसि व्योम्नि महामहिमनि स्वयम् ॥ ३९
 उद्वेगमेज्यसि ततस्तपसोऽनुभवत्फलम् ।
 निर्देक्ष्यसि तदा देहमनन्ताम्बरपूरकम् ॥ ४०
 किमिदं कुशरीरं मे भारभूतमिव स्थितम् ।
 मेवादिभूभृतां लक्ष्मपि यस्मिंस्तृणायते ॥ ४१
 देहो ममाप्रमाणोऽयं व्याप्तं व्योम मयाखिलम् ।
 पूरयामि खमद्यापि भावि नैवोपगम्यते ॥ ४२
 अविद्या बत घोरेयमनन्ता च प्रमीयते ।
 मीयते न च केनापि ब्रह्मज्ञानं समं विना ॥ ४३
 तस्मिन् संत्यजाम्येव देहमाविवृतान्तरम् ।
 नानेन किञ्चिदामोसि साधुसच्छास्त्रसंगमम् ॥ ४४
 अनन्तापारपर्यन्तं निरालम्बाम्बरास्पदम् ।
 किं नामेदं शरीरं मे सुदुष्प्रापार्थसंगमम् ॥ ४५
 इति संचिन्त्य तं देहं धारणां प्राणरेचनीम् ।
 कृत्वा त्यक्त्यसि संभुक्तात्फलाच्छुष्कं यथा खगः ॥ ४६
 कृत्वा देहपरित्यागं जीवः प्राणसमन्वितः ।
 व्योम्नि स्थास्यति ते तस्मिन्वातात्सूक्ष्मोऽपि वातवत्
 छिन्नपक्षो महामेखरिव देहः पतिष्यति ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० धा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श० भाविसंपत्तिवर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५५ ॥

षट्पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५६

व्याध उवाच ।

अनन्तरं हे भगवन्वितताकाशवासिनः ।

अनन्यत्वं प्राप्य स्थिते तत्त्वविदि तादृक् अत्यन्तासदेवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ प्रस्फुरन् संवरन् । व्योम्न्यन्यकाशे ॥ ३९ ॥ निर्देक्ष्यसि द्रक्ष्यसि वक्ष्यसि च ॥ ४० ॥ तदेवाह—किमिदं मित्यादिना ॥ ४१ ॥ अप्रमाणः अपरिमितः । यद्भावि तत्रैव उपगम्यते ज्ञायते ॥ ४२ ॥ इयं दृश्यरूपा । प्रमीयते अनुभूयते । मीयते ह्यस्तया परिच्छिद्यते हिंस्यते वा ॥ ४३ ॥ अनेनातिप्रवृद्धदेहेन साधुसच्छास्त्रसंगममन्यद्वा मोक्षसाधनं किञ्चिदामोसि ॥ ४४ ॥ सुदुष्प्रापः आर्याणां तत्त्वविदां संगमो येन ॥ ४५ ॥ प्राणं रेचयति शरीराद्बहिर्नेयति तच्छरीरां धारणां कृत्वा । यथा खगः पक्षी संभुक्तात्फलाद्द्विमादेः शुष्कं नीरसं बीजत्वगादिभागं त्यजति तद्वत् ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ तत्र तस्मिन् जगति ॥ ४८ ॥ शुष्का नीरसा प्राग्वर्णिता समातृमण्डला भगवती, काली तदेहं प्राग्वर्णितप्रकारेण गणैः सह भक्षयिष्यति ॥ ४९ ॥ ५० ॥ इदं भाविस्वहृदसंकल्पफलं श्रुत्वा ततो निर्दिष्टो व्याधस्त्वपरिहारोपायोऽस्ति वा न वेति पृच्छति— अहो इत्यादिना । यद्यस्मादेतोः अर्थेन पुरुषार्थभ्रमेण दुःखमेवार्थितं संकल्पेन समर्थितम् ॥ ५१ ॥ हे वर श्रेष्ठ भगवन्, सैषा भाव्यर्थस्थितिस्त्वयोक्ता । अयं भवितव्योऽर्थो यथा युक्त्यान्वया

तत्र भूलोकशैलादि सर्वं चूर्णीकरिष्यति ॥ ४८
 शुष्का भगवती देहं तत्तदा भक्षयिष्यति ।
 समातृमण्डला तेन निर्दोषा भूभविष्यति ॥ ४९
 इत्यात्मोदन्तमखिलं श्रुतवानसि सुमत ।
 तपस्तालीवने कृत्वा यथेच्छसि तथा क्रुद्ध ॥ ५०
 व्याध उवाच ।
 अहो नु भगवन्दुःखं परिभोक्तव्यमक्षयम् ।
 मया व्यर्थमनर्थाय यदर्थेन दुरर्थितम् ॥ ५१
 विद्यते किं विभो कान्तिद्युक्तिः सैषा स्थितिर्वर ।
 अन्यथा भवितव्योऽर्थो यदि नास्ति तदुच्यताम् ॥ ५२
 मुनिरुवाच ।
 अवश्यं भवितव्योऽर्थो न कदाचन केनचित् ।
 विधातुमन्यथा शक्यस्तत्र क्षरति यत्नतः ॥ ५३
 वामावामक्षिरःपादविपर्ययविधौ यथा ।
 पुंसो न विद्यते शक्तिस्तथा भाव्यन्यथास्थितौ ॥ ५४
 ज्योतिःशास्त्रार्थविज्ञानैरिह भाव्यर्थवेदनम् ।
 भवत्यन्यदपूर्वं तु न किञ्चन कदाचन ॥ ५५
 जयन्ति कर्माणि हि वेदनानि
 यैः प्राकृतैरद्यतनान्युपेत्य ।
 शरीरदाहैरपि निर्विकार-
 संविज्रयैर्ब्रह्मतयैव सुप्तम् ॥ ५६

किं भविष्यति मे तत्र देहेऽधःपातिनि क्षितौ ॥ १

स्वात्तयाविधा कान्तिद्युक्तिर्विद्यते यदि वा नास्ति तत्त्वया उच्यताम् ॥ ५१ ॥ यतस्त्वत् देहानीतनयनतो न क्षरति न नश्यति ॥ ५२ ॥ यथा पुंसः स्वदेहेऽपि वामावामभागयोः क्षिरःपादयोर्वा विपर्ययविधौ म्यत्यासकरणे शक्तिर्न विद्यते तथा भाव्यर्थोनामप्यन्यथास्थितौ स्थापने ॥ ५४ ॥ तस्य परिज्ञानमात्रं तु शास्त्रीयोपायैर्भवति नान्यथात्वमित्याह—ज्योतिःशास्त्रेति ॥ ५५ ॥ तर्हि प्राक्तनदृढसंकल्पकर्मणामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसाद इत्याशङ्क्याह—जयन्तीति । यैः पुरुषधौरेयैः प्राकृतैः सुकृतैरद्यतनानि शमदमादिसाधनान्युपेत्य संविज्रयैर्ब्रह्मसंवित्रापकैः श्रवणाद्युपायैस्त्वत्त्वज्ञानं प्राप्य ब्रह्मतयैव सुप्तं न जगद्दृष्टेन जागरितं ते पुरुषश्रेष्ठाः प्राक्तनानि सर्वकर्माणि दुःसंकल्पवेदनानि चात्यन्तदृढतराण्यपि मूलोच्छेदेन जयन्ति नान्ये इत्यर्थः ॥ ५६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भाविसंपत्तिवर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५५ ॥

“वायौ स्थितो न्याधजीवः सिंधुभूत्वा विदूथम् ।

“हत्वा मन्निमुखाच्छ्रोता स्वतन्महिह वप्यते ॥ १ ॥

“कृत्वा देहपरित्यागं जीवः प्राणसमन्वितः । व्योम्नि स्थास्यति

मुनिरुवाच ।

शृणुष्ववहितस्तस्मिन्देहे तव परिक्षते ।
किं भविष्यति भव्यात्मिस्तस्मिन्परमकाम्बरे ॥ २
देहे तस्मिन्परिभ्रष्टे जीवस्तु प्राणसंयुतः ।
भविष्यत्यम्बरे वातलवो व्याततरूपिणि ॥ ३
तस्मिन्वातलवे चेतो दृश्यं हृत्स्थं स्थितं पुरः ।
स्फारं द्रक्ष्यति भूपीठं भवान्स्वमे जगद्यथा ॥ ४
महर्वाच्चित्तवृत्तेस्तु जीवो द्रक्ष्यति ते ततः ।
राजाहमसि भूपीठ इति संकल्पितार्थभाक् ॥ ५
तत्रास्य सहसैवाशु प्रतिभोदेष्यति स्वयम् ।
अहमसि नृपः श्रीमान्सिन्धुर्नाम्नातिमानितः ॥ ६
अष्टवर्षाय मे सज्यं गते पितरि काननम् ।
भुवश्चतुःसमुद्रायाः पित्रा दत्तमुपागतम् ॥ ७
सीमान्ते भूपतिः शत्रुर्विदूरथ इति श्रुतः ।
विद्यते यः प्रयत्नेन विना नाम न जीयते ॥ ८
इदं मे कुर्वतो राज्यं संवत्सरशतं गतम् ।
अहो भृत्यकलत्राद्यैः सह भुक्तं मया सुखम् ॥ ९
कष्टमेष प्रवृद्धो मे सीमान्तवसुधाधिपः ।
अनेन सह संग्रामो दाहणः समुपस्थितः ॥ १०
इति चिन्तयतस्तत्र विदूरथमहीभुजा ।
भविष्यति महद्युद्धं चतुरङ्गबलक्षयि ॥ ११
सहता तेन युद्धेन हनिष्यसि विदूरथम् ।
करवाललतालूनजङ्गं त्वं विरथोऽपि सन् ॥ १२
चतुःसागरपर्यन्ते भूतले भूपतिस्ततः ।
भविष्यसि भयाक्रान्तदिक्पालादृतशासनः ॥ १३
स त्वं सिन्धुर्भवन्प्राप्तसकलावनिमण्डलः ।
पण्डितैर्मन्त्रिभिः सार्धं करिष्यसि कथा इमाः ॥ १४
मन्त्री वदिष्यति ।
अत्याश्चर्यमिदं देवं यदेवं स विदूरथः ।

ते तस्मिन्वातात्सुक्ष्मोपि वातवत् इति यदुक्तं तत् श्रुत्वा व्याधस्त-
दुत्तरं स्वभविष्यं पृच्छति—अनन्तरमिति ॥ १ ॥ परिक्षते नष्टे
सति । परमकाम्बरे भव्याकृताकाशे ॥ २ ॥ ३ ॥ तस्मिन्नेव
वातलवे ते चेतो हृत्स्थं स्थितं वायव्यामयं भूपीठं तदु-
पलक्षितं स्फारं जगत् द्रक्ष्यति ॥ ४ ॥ चित्तवृत्तेरेव जगदाकारेण
महत्त्वात्ते जीवस्तत्र राजाहमस्योति द्रक्ष्यति ॥ ५ ॥ अतिशयेन
सामन्तैर्मानितः पूजितः ॥ ६ ॥ चतुःसमुद्रान्ताया भुवो राज्यं
मे पित्रा दत्तमुपागतम् ॥ ७ ॥ यः शत्रुर्विद्यते स प्रयत्नेन विना
न जीयते ॥ ८ ॥ १० ॥ विदूरथमहीभुजा सह युद्धं भविष्यति
॥ ११ ॥ त्वं विदूरथं हनिष्यसि ॥ १२ ॥ भयाक्रान्तदिक्पालै-
रप्यादृतं शासनं यस्य ॥ १३ ॥ पण्डितैः शास्त्रतत्त्वविद्भिः ।
इमा वक्ष्यमाणाः ॥ १४ ॥ तत्र तत्त्ववित्कश्चिन्मन्त्री वदि-
ष्यति—अत्याश्चर्यमिति ॥ १५ ॥ सधनत्वादेव सेनया स्वबाहु-
यो० वा० १८ ॥

देवेन विजितो युद्धे नीतश्च यमसादनम् ॥ १५
त्वं वक्ष्यसि ।
भोः साधो सधनस्यास्य कल्पान्तार्णवरंहसः ।
वैरी विदूरथो राजा किमर्थं वद दुःसहः ॥ १६
मन्त्री वदिष्यति ।
लीला नामास्य भार्यास्ति तयातितपसार्जिता ।
माता सरस्वतीदेवी जगद्धात्री निरञ्जना ॥ १७
गृहीतायाः सुतात्वेन सास्या भुवनभाविनी ।
संसाधयति कार्याणि मोक्षादीन्यपि हेलया ॥ १८
घरेण शब्दमात्रेण जगदप्यजगत्क्षणात् ।
करोति सा भवन्नाशे तस्याः कैव कदर्थना ॥ १९
सिन्धुर्वदिष्यति ।
त्वया वै युक्तं कथितं यद्येवं तद्विदूरथः ।
अशक्यो जेतुमाश्चर्य एतस्य समरे वधः ॥ २०
तदेवं संप्रसादेन भगवत्या समन्वितः ।
किमित्यसिन्धुर्णे तस्मिज्यं राजा न लब्धवान् ॥ २१
मन्त्री वदिष्यति ।
तेन संप्रार्थिता देवी सर्वकालमखेदिना ।
मोक्षोऽस्तु मम संसारादिति तामरसेक्षण ॥ २२
तया तेनै विभो तस्य स एवावन्ध्यसंविदा ।
संपादितस्तेन तदाश्रित आजौ पराजयः ॥ २३
सिन्धुर्वदिष्यति ।
यद्येवं तन्मया देवी सदैवैषा प्रपूज्यते ।
मोक्षं किमिति मे नैषा ददाति परमेश्वरी ॥ २४
मन्त्री वदिष्यति ।
एषा हि शक्तिरास्तेऽन्तः सर्वस्य हृदये सदा ।
संविद्रूपा भगवती सैव प्रोक्ता सरस्वती ॥ २५
येन येन यथात्मीया प्रार्थ्यते स्वयमेव सा ।
प्रयच्छति तथैवाशु तस्माच्चिदनुभूयते ॥ २६
बलेन च कल्पान्तार्णवरंहसो मम विदूरथो राजा किमर्थं केन
बलेन दुःसहो जातस्तद्वदेल्यर्थः ॥ १६ ॥ माता - अर्जिता मातु-
भावेन स्वाधीनीकृतेत्यर्थः ॥ १७ ॥ तदेवाह—गृहीताया इति ।
सा सरस्वती सुतात्वेन गृहीताया अस्या लीलाया मोक्षादीन्यपि
कार्याणि संसाधयति ॥ १८ ॥ तस्या भवता नाशे परिमवे क-
दर्थना क्लेशरूपा अशक्तिः कैव ॥ १९ ॥ युक्तमुपपन्नं कथितम् ।
यद्येवं तर्हि स विदूरथो जेतुमशक्य एवात एतस्य समरे वधो
यो जातः - स आश्चर्यः असंभाव्य इत्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥
॥ २२ ॥ अवन्ध्यसंविदा - सत्यसंकल्पया तया देव्या स मोक्ष
एव संपादितः । तेन स्वतः एव पराजय आश्रितः ॥ २३ ॥
॥ २४ ॥ शक्तिः पराख्याः वैखर्यन्तसर्वशब्दबीजभूता ॥ २५ ॥
आत्मीया स्वात्महिता । तस्मात्प्रदानात्तद्वीयसत्यसंकल्पचिदेव
१ तस्मिन्नासिन्धुर्णे इति सम्बन्धः २ हेतुना ३ राजा विदूरथेन

न प्रार्थितैषा भवता मोक्षार्थमरिमर्दन ।
 प्रार्थितैव त्वया संविदात्मीया शत्रुशान्तये ॥ २७
 सिन्धुर्वदिष्यति ।
 न प्रार्थिता मया कस्मादनेनैषा सरस्वती ।
 संविच्छुद्धा मया कस्मात्प्रार्थिता नेह मुक्तये ॥ २८
 मदाशयगताप्येषा हसि दत्त्वा सरस्वती ।
 मन्मोक्षाय किमित्यङ्क सद्रूपापि न चेष्टते ॥ २९
 मन्त्री वदिष्यति ।

अशुभः प्राक्तनोऽभ्यासस्तवास्ति रिपुघातिनः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अ० शा० सिन्धुसंबोधनं नाम षट्पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५७

अथ सिन्धुर्वदिष्यति ।

आर्यानार्यवपुः कोऽहमभवं विमतिः पुरा ।
 यद्वशान्मे कुसंस्कारः प्राक्तनोऽस्ति भवप्रदः ॥ १
 मन्त्री वदिष्यति ।
 रहस्यं शृणु भो राजन्सावधानपरः क्षणम् ।
 चोदितः संदधासीदमद्य मान्द्यविनाशनम् ॥ २
 किमप्याद्यन्तरहितमस्तीह सदनामयम् ।
 स्थितं त्वमहमित्यादिरूपेण ब्रह्मशब्दितम् ॥ ३
 तद्ब्रह्म स्वयमेवाहं चिन्वेतामीति संविदम् ।
 जीवतामिव गत्वास्ते चित्तीभूयात्यजह्वपुः ॥ ४

परफलात्मना अनुभूयते ॥ २६ ॥ २७ ॥ मयेव अनेन विदूरयेन राज्यार्थं कस्माच्च संप्रार्थिता । मया वा अनेनेव मुक्तये कस्माच्च प्रार्थितेति - इवशब्दाध्याहारेण योज्यम् ॥ २८ ॥ तव स्वेच्छानुसारिप्रवृत्तौ मां प्रति प्रश्नोऽयमयुक्त इत्याशङ्क्य तत्तात्पर्यं प्रकाशयति - मदाशयेति । आशयश्चित्तं तद्गता मदात्मभूताप्येषा मम मोक्षेच्छालक्षणा हसि दत्त्वा साधनसंपत्तिद्वारेण मन्मोक्षाय कुतो न चेष्टत इत्याशय इत्यर्थः ॥ २९ ॥ नत्वा नमस्कृत्य ॥ ३० ॥ न स्वातन्त्र्येण देवा अनुगृह्णन्ति किन्तु अक्षचित्तानुसारेणैवेत्यर्थः यच्चित्तस्तन्मयो भवति 'शुद्धमेतत्सनातनम्' इति श्रुतिः प्रमाणमित्याशयेनाह - यच्चित्त इति । न चैतद्वेकेऽप्यप्रसिद्धमित्याह - आवालयमिति ॥ ३१ ॥ येन पुरुषेण अमलया विदा ज्ञाया अन्तः स्वचित्ते अमलात्मरूपं यदेव राज्यं मोक्षोऽन्यद्वा अभ्यासमयं दृढाभ्यासप्रचुरं यदेव कृत्वा संवेद्यते तद सप्तदानीं विद्यमानमसत्तद्विलक्षणं वास्तु तदेव सर्वेतरवासनोपमर्देन स पुरुषः अविभ्रं स्वयमेवावश्यं भवति, नान्यः कश्चित्फलभूतोऽस्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सिन्धुसंबोधनं नाम षट्पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५६ ॥

तेनैषा मुक्तये नत्वा त्वया न प्रार्थिता विमो ॥ ३०
 यच्चित्तस्तन्मयो जन्तुर्भवतीत्याजगत्स्थिते ।
 आवालयमेव संसिद्धं कर्तुं शक्नोति कोऽन्यथा ॥ ३१
 यदेव येनामलयामलात्मः
 संवेद्यतेऽभ्यासमयं विदान्तः ।
 सर्वोपमर्देन तदेव सोऽङ्कः
 सदस्त्वसद्वास्तु भवत्यविभ्रम् ॥ ३२

चित्तं तु गगनाच्छातम् वपुर्विद्व्यातिवाहिकम् ।
 तदेव वास्ति नेहान्यदाधिभौतिकतादिकम् ॥ ५
 चित्तमेतदनाकारमपि साकारवत्स्थितम् ।
 संकल्पैः परलोकाद्यैः स्वप्नाद्यैरेतदेव सत् ॥ ६
 अनाकारमपि स्फारं चित्तं जगदिदं विदुः ।
 य एव पद्मनो नाम स एव स्पन्दनं यथा ॥ ७
 यथा गगनशून्यत्वे जगच्चित्ते तथैककम् ।
 अनाप्रतिधरूपेऽस्ति न भनागपि भिन्नता ॥ ८
 हृदयस्थं जगज्जालं न किञ्चित्किञ्चिदास्थितम् ।
 जगद्विद्धि निराकारं चित्तमेव न वास्तवम् ॥ ९
 सत्त्वमेव वपुः पूर्वमुदितं ब्रह्मणः पदात् ।
 अयमेव स संपन्नो योऽद्य तामसतामसः ॥ १०

वर्ण्यते सिन्धुजीवस्य जातिस्त्वामसतामसी ।

सिन्धोश्च स्रजतो राज्यं विवेकान्मुक्तिरन्ततः ॥ १ ॥

हे आर्येति मन्त्रिसंबोधनम् ॥ १ ॥ अवधामपरेण चित्तेन सहितः सावधानपरः । अथ मया त्वं चोदितः प्रेरितः सन् मान्द्यस्य अज्ञानस्य विनाशनमिदं भद्रचर्चनं हृदि दधासि धारयिष्यसि ॥ २ ॥ पृष्टां सिन्धुजीवप्राक्तनस्थितिं वक्तुं ब्रह्मण एवोपाधिसंबन्धाज्जीवभावविवक्षया आद्यां ब्रह्मस्वरूपस्थितिं दर्शयति - किमपीति । तस्यैव सार्वार्थ्यमाह - स्थितमिति ॥ ३ ॥ अहं चित् अतश्चेतामीति संकल्पसंविदं प्राप्य समष्टि-व्यष्टिचित्तीभूय तदुपाधौ जीवतामिव गत्वा आस्ते । वपुस्त्वं धिमलजन्तु ॥ ४ ॥ किं तद्वर्ण्यदत्यजजीवतां गतं तदेवाह - चित्तं त्विति । स्थूलमिदं वपुस्सर्हि किं तत्राह - तदेवेति ॥ ५ ॥ तच्चित्तमेव परलोकेहलोकाद्यैः स्वप्नाद्यैरेतदेव सत् ॥ ६ ॥ इदं रहस्यं तत्त्वविदो विदुर्नान्ये इत्याह - अनाकारमिति ॥ ७ ॥ अप्रति-धरूपे जगदाकारकल्पने निरङ्कुशसामर्थ्ये । अत्र चित्ते ॥ ८ ॥ मिथ्यात्वान्न किञ्चिद्दृढसंस्थं वासनारूपमेव जगज्जालं बहिरिव किञ्चिद्विवास्थितम् ॥ ९ ॥ पूर्वं प्राथमिकसर्गे सार्विकदेवता-

सिन्धुर्वदिष्यति ।

किमुच्यते महाभाग-वद तामसतामसः ।
क्रियन्ते पूर्वमेवैताः केन संज्ञाः परे पदे ॥ ११
मन्त्री वदिष्यति ।
जन्तोः सावयवस्येह हस्ताद्यवयवा यथा ।
तथानवयवस्यैवमातिवाहिकतात्मनः ॥ १२
पश्चादात्मनि सैवात्मा नानासंज्ञाः करिष्यति ।
आधिभौतिकतानास्मि पृथ्व्याद्या आतिवाहिके ॥ १३
स्वप्नामेऽस्मिन्नगद्गाने-संकल्पेनात्मरूपिणा ।
संज्ञात्मनात्मरूपेण स्वयं व्यवहरिष्यति ॥ १४
त्वामातिवाहिकाकारा यत्तत्स्फुरितवान्नवम् ।
जातिर्महातमस्कोऽयमिति तन्नाभिधा कृता ॥ १५
ब्रह्मणो निर्विकारस्य विकारिण-इव प्रभो ।
जातयो जीवतापत्तौ-कलिता-विविधाभिधाः ॥ १६
प्राथम्येनैव यद्ब्रह्म जीवतामिव गच्छति ।
तदैव बुद्ध्या भोक्ता तज्जातिः सात्त्विकसात्त्विकी ॥ १७
वर्तमाने भवे भव्यगुणैर्युक्तां तु मानद ।
केवला सात्त्विकी प्रोक्ता जातिर्जातिविदां वरैः ॥ १८
नवा भवैश्चेद्बहुभिर्भोगमोक्षैकभागिनी ।
जातिस्तत्प्रोच्यते तज्ज्ञैः सद्गी राजंसराजसी ॥ १९
वर्तमाने भवे भव्यगुणैर्युक्तां तु मानद ।
केवला राजसी प्रोक्ता जातिः स्वल्पभवे भवेत् ॥ २०

घटितरूपत्वात्सत्त्वमेव हिरण्यगर्भाख्यं समष्टिपुद्गलः पदादुदि-
तम् । अयं समष्टिरेव व्यष्टिभावे-तामसविषयासङ्गेनोत्पत्तिप्रक-
रणोक्तरीत्या राजससात्त्विकादित्रयोदशधाविभागक्रमेण स ते
जीवोऽयं तामसतामसः-संपन्नः ॥ १० ॥ प्रश्नः स्पष्टः ॥ ११ ॥
अपरिच्छिन्नसैवात्मनो-हिरण्यगर्भभावेन परिच्छिन्नत्वे-मायया
कृते-हिरण्यगर्भ-एव-सर्वाः-संज्ञाः-करोतीत्याशयेनोत्तरमाह—
जन्तोरेति । एवं-तथा ॥ १२ ॥ आत्मनि-स्वव्यष्टिजीवेषु-स
समष्ट्यात्मैव-संज्ञाः-करिष्यति । सैवात्मेति-‘सोचि लोपे चेत्पाद-
पूरणम्’ इति सलोपः । तथा-आतिवाहिके समष्टिस्वदेहे पञ्ची-
करणेन आधिभौतिकतानास्मि कृते तदवयवेषु-पृथ्व्याद्याः-संज्ञाः
करिष्यति ॥ १३ ॥ एवं नामरूपे कल्पयित्वा-व्यष्टिभावेन स्व-
यमेव व्यवहरिष्यति ॥ १४ ॥ तत्र नवं व्यष्टिभावकल्पने त्वा-
मुद्दिश्य यत्-सृष्टिसंकल्पेन व्यष्टिभावेन हिरण्यगर्भो यत् महा-
तमस्कोऽयमिति-स्फुरितवान् । तत्तस्मादेतोस्तवातिवाहिकाकारा
जातिस्तामसतामसी महातमस्केत्यभिधा-कृतैत्यर्थः ॥ १५ ॥
नेयमेकैवाभिधा किंतु ब्रह्मणो जीवभावे तत्तदुपाधिगुणानुसारेण
राजससात्त्विकादयस्त्रयोदशाभिधाः कृता इत्याह—ब्रह्मण इति
॥ १६ ॥ तत्र मोक्षशैल्यविलम्बप्रयोजकचित्तगुणदोषैरेव जी-
वानां जातिभेदकल्पनेति दर्शयंस्तान् पञ्चजातीर्विभज्य लक्षय-
ति—प्राथम्येनेत्यादिना । यद्यदि-कल्पादौ प्राथम्येनैव-जीवता-
मिव गच्छति ब्रह्मणि तदा तस्मिन्नेव जन्मनि औत्पत्तिकज्ञाने-

प्रथमात्यन्तबहुभिर्भवैश्चेन्मोक्षभागिनी ।
जातिस्तत्प्रोच्यते तज्ज्ञैः सद्भिस्तामसतामसी ॥ २१
सामान्येनैव बहुभिर्जन्मभिर्मोक्षभागिनी ।
केवला तामसी प्रोक्ता जातिर्जातिविशारदैः ॥ २२
क्रमेणानेन जातीनां विविधा भेदकल्पना ।
तासां तामसतामस्यां जातौ जातोऽसि मानद ॥ २३
बहूनि तवं जन्मानि समतीतानि तान्यहम् ।
विविधानि विचित्राणि वीर जानामि नो भवान् ॥ २४
विशेषेण त्वेनैष व्यर्थ कालोऽतिवाहितः ।
महाशवशरीरेण त्वयानन्तखगामिना ॥ २५
एवं तामसतामस्यां जात्यासि जनितो यदा ।
तदा दुर्लभमोक्षस्त्वं संसारकुहरादिति ॥ २६
सिन्धुर्वदिष्यति ।
आर्योदाहर केनैषा प्राग्जातिर्जीयतेऽधमा ।
यावत्तथैव तिष्ठामि स्याच्चेत्तद्वद-पावनम् ॥ २७
मन्त्री वदिष्यति ।
न किञ्चन महाबुद्धे तदस्तीह जगत्रये ।
यदनुद्देहिना नाम पौरुषेण न लभ्यते ॥ २८
ह्यस्तनी दुष्क्रियाभ्येति शोभां सत्क्रियया यथा ।
अद्यैव प्राक्तनीं तस्माद्यत्नात्सत्कार्यवान् भव ॥ २९
यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा ।
सोऽवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो-निवर्तते ॥ ३०

श्वर्ययुक्त्या बुद्ध्या विषयभोक्ता तस्मिन्नेव जन्मनि मुच्यते इति
यावत्तज्जातिः सात्त्विकसात्त्विकी यथा सनकादीनाम् ॥ १७ ॥
कंचित्कालं भवे भवहेतावज्ञाने वर्तमाने सति तस्मिन्नेव जन्मनि
ज्ञानैश्वर्यादिभिर्मह्यगुणैर्युक्ता चेद्ब्रह्मा मुच्यते तदा केवलसात्त्वि-
की प्रोक्तैत्यर्थः ॥ १८ ॥ यां जातिः-कल्पादौ नवा अभिनवतयां-
भिव्यक्तापि-बहुभिर्जन्मभिर्भोगेषु भुक्तेषु क्रमेण मोक्षैकभागिनी
चेद्भवति तदा राजसराजसीत्यर्थः ॥ १९ ॥ स्वल्पभवे दशपञ्च
जन्मोत्तरकालमपि तस्मिन्कल्पे भव्यैर्विवेकादिगुणैर्युक्ता रहिता
बहुतरज्जन्मपरंपरोत्तरं भव्यगुणान् लभते चेत्केवलराजसीत्यर्थः
॥ २० ॥ प्रथमा कल्पादिमारभ्य अत्यन्तबहुभिः-स्थावरकीटक-
रातादिमिरन्ते मोक्षभागिनी-चेतामसतामसीत्यर्थः ॥ २१ ॥
सामान्येनानुत्कृष्टेन-रक्षःपिशाचशृङ्गादिजन्मभिर्बहुभिर्मोक्षभा-
गिनी चेत्केवलतामसी ॥ २२ ॥ तासां जातीनां मध्ये त्वं-ता-
मसतामस्यां जातौ-जातोऽसि ॥ २३ ॥ भवान् नो-जानाति
॥ २४ ॥ २५ ॥ इतिशब्दः-प्रश्नोत्तरसमाप्तौ ॥ २६ ॥ प्रा-
क्तनी अधमा तामसतामसी जीवजातिः केनोपायेन जीयते
अभिभूयते । हे-आर्य, तमुपायमुदाहर । तत्तादृशं पावनं शोचनं
स्याच्चेद्यावदेहं तथैव तेनैव त्वदुक्तप्रकारेण तिष्ठामि स्थास्यामि
तद्वद ॥ २७ ॥ पौरुषेण पुरुषप्रयत्नेन ॥ २८ ॥ अद्यैव सत्क्रि-
यया ह्यस्तनी दुष्क्रिया यथा शोभा शोभनतामभ्येति-तथा-त-
स्मादेव यत्नात्प्राक्तनीं जित्वा सत्कार्यवान् भव ॥ २९ ॥ ३० ॥

ना यथा यतते नित्यं यद्भावयति यन्मयः ।
 यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति नान्यथा ॥ ३१
 मुनिरुवाच ।
 एवमुक्तः स तेनाथ सिन्धुरुद्धुरया धिया ।
 तदा तत्र तथा नाम राष्ट्रं त्यक्ष्यत्यशेषतः ॥ ३२
 ममिष्यति चतुर्ं दूरं प्रार्थितोऽपि हि मन्त्रिभिः ।
 नाश्रयिष्यति तद्भूयो राज्यमुच्छिन्नशात्रवम् ॥ ३३
 तिष्ठतः साधुमध्येऽस्य तद्विवेककथावशात् ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० दे० भो० नि० उ० अ० वि० शबोपाख्याने सिन्धुनिर्वाणं नाम सप्तपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः १५८

मुनिरुवाच ।
 एतत्ते कथितं सर्वं भविष्यद्भूतवत्तत् ।
 यथेच्छसि तथेदानीं व्याध साधु विधीयताम् ॥ १
 अग्रिरुवाच ।
 इति तस्य वचः श्रुत्वा विस्मयाकुलचेतनः ।
 क्षीणं स्थित्वा जगामाशु स्नातुं व्याधस्तथा मुनिः ॥ २
 इति तौ चैरतुस्तत्र तपः शास्त्रविचारणैः ।
 अकारणसुहृद्भूताबुभौ व्याधमहामुनी ॥ ३
 अथाल्पेनैव कालेन मुनिर्निर्वाणमाययौ ।
 देहं त्यक्त्वाऽपदेशान्ते परे परिणतिं गतः ॥ ४
 कालेन बहुनान्येन ततो युगशतात्मना ।
 व्याधस्य कामनां दातुं पद्मजन्मा समाययौ ॥ ५
 व्याधः स्ववासनावेशं निवारयितुमक्षमः ।
 जानन्नपि वरं पूर्वं वर्णितं समयाचत ॥ ६
 ब्रह्मैवमस्त्विति श्रोत्र्य यथावमिमतां दिशम् ।
 व्याधस्तपःफलं भोक्तुं खगवद्योम पुष्टुवे ॥ ७

भा पुरुषः ॥ ३१ ॥ तेन मन्त्रिणा एवमुक्तः सन् । उद्धुरया
 उत्सृष्टराज्यमारया ॥ ३२ ॥ नाश्रयिष्यति न स्वीकरीष्यति
 ॥ ३३ ॥ पुष्पसङ्गादिबामोदो इव विवेकः समुदेभ्यति
 ॥ ३४ ॥ विमुक्ततां जीवन्मुक्तताम् ॥ ३५ ॥ स सिन्धुः राजा
 सत्सङ्गमेन नित्यं विचारणपरः सन् अथ पावनं सत्तादृशं भो-
 क्षार्थं पदमेभ्यति । यत्र मोक्षपदे काचन हिरण्यगर्भैश्चर्यपर्य-
 न्तापि लक्ष्मीर्वातविधूयमानं शुष्कपत्रमिव वस्तुतामुपादेयता नो
 भजति किंतु तुच्छैव भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महाराजमायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सिन्धुनिर्वाणं
 नाम सप्तपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५७ ॥

श्रुत्वा मुनिवचो व्याधस्तपः कृत्वा वरादिधेः ।
 खमाहुतः शवीभूतः पपातेत्यादि वर्ण्यते ॥ १ ॥
 भूतवद् अतीतकथावत् ॥ १ ॥ क्षणं स्थित्वा विमुदयेति
 यावत् ॥ २ ॥ ३ ॥ अल्पेनैव कालेनेति मुनेः समाधौ बहुतर-

पुष्पासङ्गादिबामोदो विवेकः समुदेभ्यति ॥ ३४
 ततः कथमिदं जन्म कुतः संसार आगतः ।
 इत्थं विचारसांतत्यात्स यास्यति विमुक्तताम् ॥ ३५
 नित्यं विचारणपरोऽथ भवन्स सिन्धुः
 सत्सङ्गमेन पदमाप्स्यति पावनं सः ।
 तद्यत्र पत्रमिव वातविधूयमानं
 नो वस्तुतां भजति काचन नाम लक्ष्मीः ॥ ३६
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा० वा० दे० भो० नि० उ० अ० वि० शबोपाख्याने सिन्धुनिर्वाणं नाम सप्तपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५७ ॥

वर्धमानेन देहेन जगत्पारे महानमः ।
 वेगादगणितं कालं पूरयामास शैलवत् ॥ ८
 महानगरुडवेगेन तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
 व्योम पूरयतस्तस्य कालो बहुतरो ययौ ॥ ९
 अथ दीर्घेण कालेन यदा विद्याभ्रमस्य सः ।
 अन्तं न समवाप्नोति तत्रोद्वेगमुपाययौ ॥ १०
 उद्वेगादथ बद्धासौ प्राणरेचनधारणाम् ।
 प्राणांस्तत्याज नभसि शवीभूतमघोर्वपुः ॥ ११
 चित्तं प्राणान्वितं व्योम्नि ययौ तत्रैव सिन्धुताम् ।
 विदूरथारिरूपां तामखिलावनिपालिनीम् ॥ १२
 देहो मेरुशताकारमहाशव इवामवत् ।
 द्वितीयोर्वानिभो व्योम्नः पपाताशनवज्रवत् ॥ १३
 पिधानमिव कस्योर्वीवीथी कस्मिंश्चिदम्बरे ।
 केशोण्डूकवदाभाते कस्मिंश्चिज्जागते भ्रमे ॥ १४
 आकारपूरिताशेषवसुधाचलमण्डलः ।
 विपश्चिच्छ्रेष्ठ कथितमेतत्ते तन्महाशवम् ॥ १५

स्यापि कालस्याल्पताप्रतीतेरित्याशयः । यद्यप्यत्र यथाश्रुतम-
 न्यापूर्वं मुनेर्देहत्यागः पश्चाद्विरकालोत्तरं व्याधस्य कामना दातुं
 पद्मजागमनं प्रतीयते तथापि पूर्वं मुनेर्भविष्यत्कथनमन्ये व्याधस्य
 वरलाभानन्तरं 'मामापृच्छन्नमस्कृत्य तस्मिन्नेव क्षणे ततः ।
 क्षुतिमेभ्यसि स व्योम्नि चित्तस्थायिदिदृक्षया ॥' इति मुनिनोक्त्वा-
 व्याधस्योर्ध्वगमनकाले मुनेर्जीवनं स्थितमेवेति पश्चादेव देहत्याग
 इति बोध्यम् । अपदेशस्य निर्दिष्टस्य आयुषोऽन्ते ॥ ४ ॥ ५ ॥
 पूर्वं मुनिना व्यर्थत्वेन वर्णितं वरं जानन्नपि समयाचत ॥ ६ ॥
 ॥ ७ ॥ जगत्पारे त्रैलोक्यादूर्ध्वम् । महानमः अव्याकृताका-
 शम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ उद्वेगं तत्प्रयुक्तनिर्वेदम् ॥ १० ॥ ११ ॥
 सिन्धुतां सिन्धुदेशराजताम् । विदूरथस्य अरिः शत्रुतादूषाम्
 ॥ १२ ॥ त्यक्तदेहस्तु व्योममार्गे पपात ॥ १३ ॥ कस्य ब्रह्मणः
 कस्मिंश्चिज्जागते भ्रमे केशोण्डूकवदाभाते तत्र कस्मिंश्चिदम्बरे
 उर्वीवीथी विशालं पिधानमिव स्थितः ॥ १४ ॥ हे श्रेष्ठ हे
 पृथ्व्यवतरणमार्ग इव पतनोत्तरं च विशालं पिधानमिव स्थित इत्यर्थः

यस्मिच्छवं संपतितं जगत्पवनिमण्डले ।
तदिदं जगदाभातमस्माकं स्वप्नपूर्वथा ॥ १६
तदेतच्छ्रवमास्वाद्य शुष्का पूर्णा महोदरी ।
संपन्ना चण्डिका देवी रक्ता रक्तान्नपूरिता ॥ १७
मेदिनी मेदिनी जाता शवस्यैतस्य मेदसा ।
पूरिताऽपूर्वरूपेण हिमवद्विरूपिणा ॥ १८
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० अवि० विय० श० शवनिर्णयो नामाष्टपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५८॥

तदैवैतन्महामेदो मृदातुत्वमुपागतम् ।
कालेन वसुधा भूयो भूत्वा मृन्मयतां गता ॥ १९
भूयः प्रजातानि घनानि भूमौ
ग्रामाः कृताः पत्तनसंयुताश्च ।
पातालतः साधुसमुत्थितास्ते
शैलाः प्रवृत्ता व्यवहारलक्ष्मीः ॥ २०

एकोनषष्ट्यधिकशततमः सर्गः १५९

अग्निरुवाच ।
विपश्चिच्छ्रेष्ठ भो साधो त्वं गच्छामिमतां दिशम् ।
स्थिरं भूमण्डलं भूयः प्रकृतव्यवहारवत् ॥ १
यत्नं यष्टुं प्रजौघस्य शक्रः शततमं दिवि ।
तत्राहूतोऽस्मि मन्त्रेण गच्छामि गतिकोविद ॥ २
भास उवाच ।
इत्युक्त्वा भगवानग्निस्तत्रैवान्तरधीयत ।
गगने निर्मले याति अनलो वैद्युतो यथा ॥ ३
तथाहमपि चित्तेन प्राक्तनांश्च स्वयं वहन् ।
पुनः स्वकर्म निर्णेतुं भ्रमन्व्योमनि संस्थितः ॥ ४
भूयोऽपि दृष्टवानस्मि जगन्त्यगणितानि खे ।
नानाचारविचाराणि नानासंस्थानवन्ति च ॥ ५
क्वचिच्छ्रमयाङ्गानि एकीभूतानि भूपते ।
भान्ति चेतन्ति चोपन्ति हृदयानि हरन्ति च ॥ ६
क्वचिन्मृन्मयदेहानि सर्वभूतानि राघव ।

भान्ति चेतन्ति चोपन्ति पर्वतप्रतिमानि च ॥
क्वचिद्वायुमयाङ्गानि भान्ति भूतानि कुत्रचित् ।
क्वचित्पाषाणदेहानि सन्ति भूतानि भूरिशः ॥ ८
क्वचिदाजीवमेकत्र स्थितान्युपलदेहवत् ।
वाङ्मात्रव्यवहाराणि भूतान्यालोकितानि खे ॥ ९
इत्यहं सुचिरं कालं पश्यन्मनस्तया ।
अविद्यान्तमपश्यंश्च तत्रोद्दिशोऽभवं दृशाम् ॥ १०
तपः कर्तुं समुद्युक्तः कस्मिंश्चिन्मोक्षसिद्धये ।
प्राहेन्द्रो मम चैवेदं मृगयोन्यन्तरं हि खे ॥ ११
प्रवृत्तः स्वर्गसंमोहे पूर्वाभ्यासवशीकृतः ।
मन्दारकानने तत्र भ्रमतो वै ममाम्बरे ॥ १२
तेनेत्युक्ते मया प्रोक्तं देव खिन्नोऽस्मि संसृतेः ।
मुच्येयं शीघ्रमित्युक्तं श्रुत्वोवाच ततो मम ॥ १३
विशुद्धात्मा त्वरूपोऽहमिति चैव हुताशनात् ।
वरं पृहाणेत्युक्ते स ततोऽन्यं याचितो मया ॥ १४

विपश्चित्, ते एतन्महाशवं सृष्टान्तं यथाज्ञमया कथितम् ॥ १५ ॥ अस्माकं चित्ते आभातं प्रत्यक्षं स्फुरितम् ॥ १६ ॥ रक्तेन आन्त्रैश्च पूरिता सती रक्ता रक्तवर्णा संपन्ना ॥ १७ ॥ अपूर्वरूपेण आश्चर्यभूतेन ॥ १८ ॥ १९ ॥ पूर्व वनादीनां शवेन नाशनाद्भूयो घनानि प्रजातानि । ग्रामाश्च भूयः कृताः । ते चूर्णिताः शैलाश्च भूयः पातालतः साधु यथापूर्वं समुत्थिताः । ततो जनानां व्यवहारलक्ष्मीः प्रवृत्तेत्यर्थः ॥ २० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शवनिर्णयो नामाष्टपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥ १५८ ॥

इहाग्नेरिन्द्रगमनमुपदिश्य विपश्चिते ।

आश्चर्याणि बहून्यन्ते ब्रह्मत्वं च वर्ण्यते ॥ १ ॥

श्रेष्ठ भो विपश्चित्, त्वं स्थिरं भूयः प्रकृतव्यवहारवद्भूमण्डलं प्राप्य अभिमतां दिशं गच्छ ॥ १ ॥ शक्रो दिवि यत्नं यष्टुं प्रवृत्तः । अहं तत्राहूतोऽस्मि गच्छामि ॥ २ ॥ मूर्त्याकारेणान्तरधीयत । अभ्याकारेण तु वैद्युतामिवद्गगने याति ॥ ३ ॥ प्राक्तनानविद्यान्तदर्शनविषयकसंस्कारान्वहन्सन् स्वं दिगन्तोपसर्पणकर्म निर्णेतुं निष्पादयिषुम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ तान्येव स्वदृष्टानि

जगन्ति वर्णयति—क्वचिदित्यादिना । एकीभूतानि परस्परसंलभानि । भूपते इति दशरथसंबोधनम् । चोपन्ति मन्दं गच्छन्ति द्रष्टृणां हृदयानि मनांसि हरन्ति च ॥ ६ ॥ ७ ॥ कुत्रचिज्जगति ॥ ८ ॥ आजीवं यावज्जीवम् । उपलदेहवत् प्रतिमावत् । परस्परं संभाषणादिना वाङ्मात्रव्यवहाराणि न गमनादानादिव्यवहारवन्ति । खे स्वचित्ताकाशे ॥ ९ ॥ मनस्तया स्वप्न इव मनोमात्रदेहतया । तत्र अविद्यायां दृशां दृश्यवर्णाणां विषये उद्दिप्तः अभवम् ॥ १० ॥ एवं समुद्दिमोऽहं कस्मिंश्चिद्रहसि उपविश्य मोक्षसिद्धये तप आत्मतत्त्वालोचनं कर्तुं समुद्युक्तोऽभवम् । ततो मामिन्द्रः प्राह । किं प्राह । हे विपश्चित्, खे चित्ताकाशे मम च तव च इदं मृगयोन्यन्तरमुपस्थितमस्ति ततो नायमात्मतत्त्वालोचनकाल इत्यर्थः ॥ ११ ॥ ननु ममाल्पपुण्यस्य कदाचिन्मृगयोनिप्रापकं दुष्कृतादि संभाव्येत, तव तु महापुण्यस्य कुतस्तत्संभावना तत्राह—प्रवृत्त इति । अहमपि स्वर्गभोगयुक्ते संमोहे दुर्वासोपराधे प्रवृत्तः । क ते तत्प्रवृत्तिस्तत्राह—मन्दारेति ॥ १२ ॥ तेन इन्द्रेण इत्युक्ते सति ॥ १३ ॥ किमुवाच तदाह—विशुद्धेति । शीघ्रं मुक्तिस्तु अरूपः अवस्थात्रयरूपेण मूर्तामूर्तरूपेण च रहितो विशुद्ध आत्मैवाहमिति

इन्द्र उवाच ।

तदेवं भृगयोन्यन्तश्चिरं संसरते चितिः ।
अवश्यं भवितव्योऽर्थ इति दृष्टो मया तव ॥ १५ ॥
मृगो भूत्वा महापुण्यां तां समां समवाप्तवान् ।
यस्यां तदहतं ज्ञानं मदुक्तं बोधमेव्यति ॥ १६ ॥
तदेवं तत्र हरिणो भवार्तस्त्वं भवावतौ ।
आत्मोदन्तमिदं बन्ध्यं सकलं संस्परिप्यसि ॥ १७ ॥
स्वप्नभ्रममिवाशेषसंकल्पपरचितोपमम् ।
परलोकानुभूतार्थकथायातार्थसंनिभम् ॥ १८ ॥
यदा तु मृगतोन्मुक्तः पुरुषस्त्वं भविष्यसि ।
ज्ञानाग्निदग्धदेहान्ते तदा हृत्स्थं स्फुरिष्यसि ॥ १९ ॥
तेन तां त्वमविद्यारूपां भ्रान्तिं त्यक्त्वा चिरं स्थिताम्
भविष्यसि विनिर्वाणो गतरूपन्दृश्वानिलः ॥ २० ॥
इत्युक्ते तेन देवेन तदैव प्रतिभोदभूत् ।
भमाय हरिणोऽस्मीति वनेऽस्मिन्निति निश्चिता ॥ २१ ॥
सतः प्रभृति संपन्नस्तत्रैवान्तरकोणके ।
हरिणोऽहं गिरिवरे दृणदूर्वाङ्कुराशनः ॥ २२ ॥
सतः सीमान्तसामन्तमागतं मृगयार्थिनम् ।
हृष्टाहमेकदा भीतः पलायनपरोऽभवम् ॥ २३ ॥
ततस्तेन समाक्रम्य गृहं नीत्वा दिनत्रयम् ।
संस्थाप्य तव लीलार्थमिदानीतो रघूद्वह ॥ २४ ॥
एष ते कथितः सर्व आत्मोदन्तो मयानघ ।
संसारमायाप्रतिभो नानाश्चर्यरसान्वितः ॥ २५ ॥
अविद्यैवमतन्तेयं शाखाप्रसरशालिनी ।

तत्त्वज्ञानादेव भवति । तनु त्वया प्राग्व्याभमुनिसंवादनं प्र-
सङ्गेन हुताशनाश्रुतमेवेति शेषः । ततस्त्वमन्यं वरं गृह्णती-
न्द्रेणोक्ते सति मया सः अन्यं मृगत्वे स्वस्य किमपि भविष्यती-
त्येतत्पिज्ञानरूपं वरं याचितः ॥ १४ ॥ संसारदे उच्यते मिच्छति
॥ १५ ॥ तां दाशरथीं सभाम् । मदुक्तं विदुःश्रुतात्मा त्वरूपोऽह-
मित्येवंरूपम् ॥ १६ ॥ हरिणः सस्तदेवं क्रमेण समां प्राप्य ब-
लिप्रसादात्सकलमात्मोदन्तं स्वशृत्तान्तम् ॥ १७ ॥ बन्ध्यत्व-
मेव दृष्टान्तैर्विशृणोति—स्वप्नेति ॥ १८ ॥ किं मृगदेहेनैव सं-
स्परिप्यामि नेत्याह—यदेति ॥ १९ ॥ तेन आत्मतत्त्वस्फुर-
णेन । विनिर्वाणो मुक्तः ॥ २० ॥ इति तेन देवेनेन्द्रेणोक्ते सति
सा पूर्वा मानवी हरिणोऽस्मीति प्रतिभा निश्चिता व्यवहारार्थकि-
यासमर्था उदभूत् ॥ २१ ॥ तत्रैव मन्दारवनान्तरकोणके
॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ संसारप्रसिद्धेन्द्रजालिकमायाप्रतिमः
॥ २५ ॥ २६ ॥ इदं वक्ष्यमाणम् ॥ २७ ॥ अन्यसंकल्परूपोऽयं
मृगश्चेदस्माकं दृश्यतां यातः । एवं सति असंकल्पोपि पुरुषोऽ-
न्यसंकल्पसमं स्थितं वस्तुजातं पश्यतीति कलितम् । इदं तु कथ-
मुपपद्यते वदेत्यर्थः ॥ २८ ॥ महामुनिदेवतादिवरशापादिना
अन्यसंकल्पकल्पितोऽर्थोऽन्येषामसंकल्पानामपि दर्शनादिव्यव-

आत्मज्ञानादृते नैव केनचिन्नाम शास्यति ॥ २६ ॥
थीवाल्मीकिरुवाच ।
यदा विपश्चिदित्युक्त्वा तत्र तूर्णो न्यतः धणात् ।
समवोचत्तदा रामस्तमनिन्द्यमतिस्त्विदम् ॥ २७ ॥
थीराम उवाच ।
एवं पश्यत्यसंकल्पो योऽन्यसंकल्प आत्मनि ।
मृगश्चेद्दृश्यतां यातः कथं समं वद प्रभो ॥ २८ ॥
विपश्चिदुवाच ।
महाशयं यत्पतितं यस्मिजगति भूतले ।
तां भुवं पूर्वमिन्द्रेण यत्नगर्वेण गच्छता ॥ २९ ॥
पादेनाभिहतो व्योम्नि दुर्वासा ध्यानसंस्थितः ।
गतासुरित्यभिमानात्तेनासौ कुपितोऽज्ञपत् ॥ ३० ॥
शक्र शक्राघनितलं द्रष्टाण्डप्रतिमं शयम् ।
अचिरेण महाघोरं तव चूर्णाकरिष्यति ॥ ३१ ॥
मामिमं शत्रुबुद्ध्या दवं यदनिक्रान्तवानतः ।
शापेन ममतां पृथ्वीं शीघ्रमासादयिष्यसि ॥ ३२ ॥
मृगार्थं तेन मुनिना तथा देवेति सद्यथा ।
तत्तथा कथयाऽऽयातं सदैव विषयं दशाम् ॥ ३३ ॥
यस्तुतस्तु न चैकं सप्त द्वितीयं न चाप्यसत् ।
सा तथा प्रतिभोदेति किं सत्किमश्रवाप्यसत् ॥ ३४ ॥
अन्यच्च राघवे मां तां युक्तिं त्वमपरां शृणु ।
एतस्मिन्प्रसङ्गे मुस्फुटप्रतिपत्तये ॥ ३५ ॥
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सवेतश्च यत् ।
ब्रह्म तस्मिन्महाभाग किं न संभवतीह हि ॥ ३६ ॥

द्वारयोग्यो भवतीत्युत्तरं वस्तुं प्रागुक्तशत्रुपतनमेव निमित्तान्तरेण
वर्णयितुं विपश्चित्प्रस्ताति—महाशयं मित्यादिना । पूर्वं शत्रु-
तनात्पूर्वकाले तां भुवं प्रति मन्दारवने स्वकृतयज्ञप्रयुक्तयजमा-
नतागर्वेणाप्यद्वन्द्वच्छता इन्द्रेण मुनिरयमित्यविज्ञानाद्गतासुरमित्य-
वश्या च दुर्वासाः पादेनाभिहतः ॥ २९ ॥ ३० ॥ शक्र शक्रेति
'वाक्यादेरामश्चित्तस्यासूयासंमतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु' इति को-
पादिषु दिव्येचनम् । तव मन्तुमिष्टमवतितलं चूर्णाकरिष्यति
॥ ३१ ॥ ३२ ॥ तेन मुनिना दुर्वासा विपश्चिता सह शक्रस्य
मृगभावार्थमपि 'तथा देवमृगत्वं त्वं तुल्यकालं विपश्चिते'ति
वाक्येन यथा विपश्चितो मनःसंकल्पितमपि मृगत्वं सत् अन्य-
दर्शनाद्यर्थक्रियासमर्थं भवति तथा स शप्त इति शेषः । तत्-
स्यात्तया इन्द्रशापकथयैव मुनिवाक्यबलार्त्ताकल्पिकमपि विप-
श्चितो मृगत्वं भवदादिदृशा सदैव विषयं विषयत्वमायातम्
॥ ३३ ॥ एवं जगत्प्रसिद्धदृशा रामप्रभं समाधाय तत्प्रदृशा
समाधत्ते—यस्तुतस्त्विति । वस्तुतो निचारे एकं व्यावहारिकं
जगत् सत् इत्यपि न । द्वितीयं साकल्पिकं वा असदित्यपि न ।
द्वयोरपि तुल्यत्वादित्याह—सेति ॥ ३४ ॥ ब्रह्मणः सर्वशक्ति-
सर्वोत्पत्त्यादपि न कोऽपि विरोध इत्याह—अन्यकोत्यादिना ।

संकल्पजातं नान्योन्यं मिलतीत्युपपद्यते ।
 संकल्पजातमन्योन्यं मिलतीत्युपपद्यते ॥ ३७
 संकल्पजातमन्योन्यं मिलतीत्यवगम्यते ।
 सर्वात्मनि हि यत्रैव च्छाया तत्रैव चातपः ॥ ३८
 न संभवति चेत्तत्तत्कथं सर्वात्मतामियात् ।
 कस्मात्संकल्पनगरं न मिथः श्रिष्यतीति सत् ॥ ३९
 मिथश्च श्रिष्यतीत्येवमपि सत्सर्वरूपिणि ।
 न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ॥ ४०
 सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा सर्वरूपिणि ।
 अहो नु विषमा माया मनोमोहविधायिनी ॥ ४१
 विधयः प्रतिषेधाश्च यदेकत्र स्थिति गताः ।
 ईदृशी ब्रह्मसत्तया यदेवात्मानमात्मना ॥ ४२
 तथा अनादिः सादिश्वेत्यविद्येत्यनुभूयते ।
 न ज्ञप्तिमात्रकचनं यदि स्याद्बुधनत्रयम् ॥ ४३
 तन्महाकल्पनघानां सृष्टिः स्यात्कथमञ्जसा ।
 कथमग्रेः कथं धायोः सत्ता भूमेः कथं भवेत् ॥ ४४
 तस्मात्स्वभावकचनमात्राच्चान्येदृते जगत् ॥
 शास्त्राण्यनुभवो लोका आमहाकल्पवादिनाम् ॥ ४५
 येषां प्रमाणं नो सर्वं प्रशस्तैस्तैरलं सताम् ।
 ज्ञप्तिदृष्ट्या नया सर्वं प्रमाणीभवति क्षणात् ॥ ४६
 नान्यया तनु तेनैवमेव सारं विदुर्बुधाः ।
 शुद्धा ज्ञप्तिर्ब्रह्मसत्ता त्वविद्यासीति चेतनात् ॥ ४७
 स्फुरतीयं जगद्रूपा वातश्रीः स्पन्दनादिषु ।
 न कश्चनेह म्रियते जायते न च कश्चन ॥ ४८
 मृतोऽहमिदमस्तीति प्रतिभैव चिदात्मिका ।

मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तत्सा निद्रा सुखोपमा ॥ ४९
 पुनर्दृश्योपलम्भश्चेन्ननु जीवितमेव तत् ।
 तस्मात्त्रेहास्ति मरणं तत्रैवेहास्ति जीवितम् ॥ ५०
 कस्मिंश्चिन्मात्रकचने द्वयं चाप्यस्ति नैव धा ।
 चेत्तितं द्वयमप्यस्ति नास्ति द्वयमचेत्तितम् ॥ ५१
 चेत्तितं चैकमेवास्ति स्वस्त्यनन्तमतश्चितः ।
 चिन्मात्रव्यतिरेकेण किं नाम चद् जीवनम् ॥ ५२
 अदुःखमक्षयत्वात्तदतो दुःखं क्व कस्यचित् ।
 वाच्यं सवाचकं सर्वं यत्र चिद्योममात्रकम् ॥ ५३
 तदन्यत्तदनन्यच्च के ते तत्रैकताद्विते ।
 आवर्तादि यथा तोये शरीरादि तथा परे ॥ ५४
 तत्सत्तासंनिवेशात्म कारणानन्यखात्म च ।
 चिद्भानमात्रमव्यग्रं खमेवाप्रतिघं जगत् ॥ ५५
 आश्चर्यं सुघनं व्यग्रं द्रव्यं सप्रतिघं स्थितम् ।
 तथेते भूतिभूर्नास्ति वर्तमानानुभूतिभूः ॥ ५६
 तत्र भ्रान्त्या पिशाचोऽयं भूति खात्मेति बुध्यताम् ।
 यथैतत्त्वं तथैतत्त्वमेतत्त्वमिति खं स्थितम् ॥ ५७
 तथेतो भूरितो भूतमितोऽन्यदिति खं परम् ।
 यैव चिद्भा जगत्सैव नैकतात्र न च द्विता ॥ ५८
 न च प्रतिघता काचिन्न चाप्रतिघरूपता ।
 सर्वमप्रतिघं दृश्यं यथा भूतार्थदर्शिनः ॥ ५९
 तज्ज्ञातातज्ज्ञते चेह न सती नाप्यसरिस्थती ।
 सत्ये सदसती चैकं काष्ठमौनमतोऽखिलम् ॥ ६०
 यद्दृश्यं ब्रह्मतानन्तं तदेव परमं पदम् ।
 इदं सर्वं परं ब्रह्ममात्रमित्येव संस्थितम् ॥ ६१

नया युक्तयेस्तासां संदर्भे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ संकल्पजातं पर-
 स्परं न मिलति मिलतीति च द्वयमपि सर्वशक्तानुपपद्यते इत्यर्थः
 ॥ ३७ ॥ अवगम्यते प्रत्यक्षं मृगदर्शनादौ । उपपत्तिश्चात्रा-
 स्तीत्याह—सर्वात्मनीति ॥ ३८ ॥ यदि विरुद्धमेकत्र न संभ-
 वति तदा सर्वात्मत्वमेव ब्रह्मणो व्याहन्येतेत्याह—नेति । इदं
 च सर्वं प्राग्बुद्धो व्याख्याताप्रायम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥ मायाया
 अघटितघटनासमर्थत्वेनात्याश्चर्यरूपत्वादपि सर्वं घटत इत्याह
 —अहो इति ॥ ४१ ॥ न मायाया एव, ब्रह्मसत्ताया अप्येवं
 माहात्म्यमित्याह—ईदृशीति ॥ ४२ ॥ तथा ब्रह्मसत्तया ॥ ४३ ॥
 ॥ ४४ ॥ स्वभावकचनमात्रादृते जगन्नान्यत् । वेदान्तादिशा-
 स्त्राणि विद्वदनुभवो लोकप्रसिद्धदृष्टान्ताश्च येषां मूर्खाणां प्रमाणं
 न तैः सतां अलं संभाषणेनेत्यर्थः ॥ ४५ ॥ प्रशस्तैर्विरोधि-
 लक्षणया निन्द्यैः । ज्ञप्तिदृष्ट्या चिद्विलसदृष्ट्या ॥ ४६ ॥ अन्यया
 दृष्ट्या तु न प्रमाणीभवति किन्तु तनु फल्गु भवति । तेन हेतुना
 बुधा एवमेव ज्ञानदृष्टिस्त्वमेव सारं विदुः । कथं विदुस्तदाह
 —शुद्धेति ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ अत्यन्तं नाशो दृश्यादर्शनं चेत्
 सा निद्रा सुषुप्तिस्तसुखोपमा ॥ ४९ ॥ ५० ॥ कस्मिन् एक-

स्मिन् । एकारलोपशब्दान्दसः । नैव वेत्यत्रोपपत्तिमाह—चेत्ति-
 तमिति ॥ ५१ ॥ अतश्चितो द्वैतसत्त्वांसर्वसाक्षिण्याः स्वस्तिक्षेमः
 सदैवेत्यर्थः । अदुःखं जीवनं हि सर्वाभिलषितं सुखं तच्च
 चिन्मात्रमेवेति तदेव परंपुरुषार्थ इत्याह—चिन्मात्रेति ॥ ५२ ॥
 वाच्यं रूपं वाचकनामसहितं सर्वं यत्र यस्यां तत्त्वेदृशी ॥ ५३ ॥
 ननु शरीराद्येव दुःखमस्तीत्याशङ्क्याह—आवर्तादीति ॥ ५४ ॥
 कारणानन्यत्वात्सर्वकारणखात्मकमेव । अप्रतिघमनधम् ॥ ५५ ॥
 यासुघनं व्यग्रं द्रव्यं सप्रतिघं च स्थितं तदेवाश्चर्यम् । यथा
 इते अतीते भूतेः प्रतीतेः भूः विषयो नास्ति तथा वर्तमानेऽपि
 अनुभूतो भवतीत्यनुभूतिभूर्विषयो नास्ति ॥ ५६ ॥ तत्र भूतं
 मानानुभूतो अयं खात्मा शून्यात्मैव दृश्यपिशाचो भूत्वा भ्रा-
 तीति बुध्यताम् । यथा एतत्परिदृश्यमानं खं तथा एतच्चिदाका-
 शरूपं खम् । यत एतच्चिदाकाशमेव खमिति प्रतीतं खं शून्यं
 भूत्वा स्थितम् ॥ ५७ ॥ तथा इतः अधःप्रदेशे भूः इतः प्रदे-
 शान्तरे वाय्वाकाशादिभूतं इतः दिक्षु विदिक्षु चान्यदित्य-
 नेकाकारः परं खमेव भाति नान्यदित्यर्थः ॥ ५८ ॥ ५९ ॥
 पूर्णदृष्टौ ज्ञाताज्ञताभेदोपपत्तीत्याह—तज्ज्ञतेति ॥ ६० ॥ एवं च

एवं नामैष चिदातुः कचत्येवं यदात्मनि ।
 यस्येदं कचनं व्योम्नो रूपमप्रतिघं जगत् ॥ ६२
 सर्गाद्या मृतजीवानां सर्वत्रैवाङ्गुलेङ्गुले ।
 असंख्याः सन्त्यसंख्यानामदृश्याप्रतिघामिथः ॥ ६३
 अन्योन्यं सिद्धलोकास्ते स्वं यत्र प्राप्य संगताः ।
 परस्परं न पश्यन्ति मिथः प्रोता अपि स्थिताः ॥ ६४
 भवत्याकाश एवैषा दृश्यश्रीर्गगनात्मिका ।
 अनन्यदृष्टा चिद्रूपा स्वप्नवत्त्वात्मद्रष्टृका ॥ ६५
 एषा हि संपरिज्ञाता तिष्ठत्यपि यथास्थितम् ।
 भामात्ररूपनिर्वाणा निशान्ताऽप्रतिमाकृतिः ॥ ६६
 इ० वा० महाराजायणे वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० श० विपश्चिंससारप्रमवर्णनं नामैकोनपद्यधिकशततमः सर्गः ॥ १५९ ॥

शान्ताशेषविशेषात्म यथास्थितमवस्थितम् ।
 सदसद्वा जगज्जालं परिज्ञानेन शास्यति ॥ ६७
 यथान्धिजलविन्दूनां क्षणविशेषसंगमम् ।
 चिदणूनां तथा ग्रह वारिधौ स्फुरतां मिथः ॥ ६८
 स्वप्नवद्भाति सर्गश्रीः सर्गादौ चित्रभोमयी ।
 अतः सर्वमिदं ब्रह्म शान्तमित्युपपद्यते ॥ ६९
 दृष्टान्यनन्तविभवानि मया जगन्ति
 भुक्तानि कार्यपरिणामविजृम्भितानि ।
 भ्रान्ता दिशो दश बहूनि युगानि याव-
 ज्ञानादृते क्षयमुपैति न दृश्यदोषः ॥ ७०
 इति सारप्रमवर्णनं नामैकोनपद्यधिकशततमः सर्गः ॥ १५९ ॥

षष्ठ्यधिकशततमः सर्गः १६०

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 विपश्चिति घटत्येवं तद्वृत्तान्तमवैक्षितुम् ।
 इव लोकान्तरं भानुः पादैर्दूरायतैर्ययौ ॥ १
 उदभूतपूर्यन्नाशा दिनपर्यन्तदुन्दुभिः ।
 तुष्टाभिरिव निर्मुक्तो दिग्भिर्जयजयारवः ॥ २
 विपश्चिते दशरथो गृहदारधनादिकम् ।
 राज्यानुरूपं विभवं प्रोक्तस्थौ कल्पयन्क्रमात् ॥ ३
 राजरामवसिष्ठाद्या मिथः कृत्वा विस्तर्जनम् ।
 यथाक्रमं पूजनं च प्रययुः स्वास्पदानि ते ॥ ४
 स्नात्वा भुक्त्वा निशां नीत्वा प्रभाते पुनराययुः ।
 तेनैव संनिवेशेन सा सभा संस्थिताऽभवत् ॥ ५

इदं सर्वं प्रवृत्तमैव संपन्नमित्याह—यदिति ॥ ६१ ॥ ६२ ॥
 सर्वत्र सर्गाः सन्तीत्याह—सर्गाद्या इति । इदं च प्राग्वसिष्ठेन
 विस्तरेणोपपादितम् ॥ ६३ ॥ उत्तरोत्तरं सूक्ष्मतराः सिद्धलोकाः
 स्वं स्वरूपं प्राप्य यत्र ब्रह्मणि संगताः । एतच्च गृहदारण्यके
 गार्गीप्रश्ने वर्णितम् 'यदिदं सर्वमप्सोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्
 खल्वप्यप्रोताश्च प्रोताश्चेति वायी गार्गीति कस्मिन् खलु वा-
 युरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति' इत्यादिना ॥ ६४ ॥
 वस्तुतस्तु आत्मातिरिक्तद्रष्टृकत्वमेवाप्रतिदृष्टमित्याशयेनाह—भ-
 वतीति । यत इयं दृश्यश्रीरात्माकाशा एव भवति ततः अनन्य-
 दृष्टा ॥ ६५ ॥ चिद्रूपनात्मकत्वादेव परिज्ञातमात्रा तदाकृतिः
 संप्रत्यय इत्याह—एषा हीति । निशाया अन्ते प्रभाते अप्र-
 तिभायाः अन्नप्रकारस्याकृतिरिवाकृतिर्यस्याः ॥ ६६ ॥ यथास्थितं
 चेच्छान्ताशेषविशेषात्मकमवस्थितं तदाज्ञानबाध्यं जगत् सद-
 सद्वाऽस्तु नः काङ्क्षितव्यमित्याह—शान्तेति ॥ ६७ ॥ अ-
 स्त्वित्यर्थं जगज्जालं तत्रिषदजीवानां ब्रह्मणि कीदृशी स्थितिस्ता-
 माह—यथेति । यावदज्ञानमंशाविभावेनेत्यर्थः ॥ ६८ ॥ तेषां
 सर्गादौ सर्गश्रीः कथं भाति तदाह—स्वप्नवदिति ॥ ६९ ॥ मया
 अनन्तविभवानि जगन्ति दृष्टानि । कार्याणां स्वकर्माणां परिणाम-

क्रमान्मुनिरुवाचाथ तां यथाप्रस्तुतां कथाम् ।
 शशीवामृतमाह्लादमुद्रिरन्मुखदीप्तिभिः ॥ ६
 राजभेयमविद्येयमसत्येव सती स्थिता ।
 नेदशेनापि यत्नेन निर्णतैषा विपश्चिता ॥ ७
 अविद्येयमविज्ञाता चिरानन्तावभासते ।
 परिज्ञाता तु नास्त्येव मृगतृष्णानदी यथा ॥ ८
 मन्त्रिणस्ते महाबुद्धे भासस्यास्य विपश्चितः ।
 इतिवृत्तं त्वमित्यस्य स्वयमेव हि दृष्टवान् ॥ ९
 सदृशोऽयमितस्तत्वाभिः कथाभिर्ज्ञाततत्पदः ।
 अविद्यायां प्रशान्तायां जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥ १०

विजृम्भितानि सुखदुःखफलानि भुक्तानि । बहूनि युगानि दिशो
 भ्रान्ताः । यावत् साकत्येन । ज्ञानादृते दृश्यदोषः क्षयं नोपैतीत्यर्थः
 ॥ ७० ॥ इति श्रीवासि० ता० प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विप-
 श्चिंससारप्रमवर्णनं नामैकोनपद्यधिकशततमः सर्गः ॥ १५९ ॥
 इह सायं सभोत्थानं परेद्युः पुनरागमः ।
 भासस्य जीवन्मुक्तत्वमविद्या शेषवर्णने ॥ १ ॥
 श्रुतं तस्य भासस्य पूर्ववृत्तान्तं प्रत्यक्षमवैक्षितुमिव पादः
 किरणचरणः ॥ १ ॥ आशा दिशः । दिनपर्यन्तः सायंकाल-
 स्तत्सूचको दुन्दुभिः । तुष्टाभिरिति तत्रोत्प्रेक्षा ॥ २ ॥ कल्प-
 यन् समर्थयन् ॥ ३ ॥ स्वास्पदानि स्वखट्वाणि ॥ ४ ॥ तेन
 प्राक्तनेनैव संनिवेशेन क्रमेण ॥ ५ ॥ शशी अमृतमिव सुख-
 सीमिभिराह्लादयतीत्याह्लादं वचनमुद्रिरन् ॥ ६ ॥ एवं विप-
 श्चिदुपवर्णनप्रकारैर्दृश्यभ्रान्तिरूपा अविद्या न निर्णीता अन्तवत्-
 त्वेत्यर्थः ॥ ७ ॥ अधिष्ठानब्रह्मात्रतया अविज्ञाता सती कालत-
 थिरादेशतो वस्तुतश्चानन्ता ॥ ८ ॥ ते मन्त्रिणो दृष्टवन्त इति
 विपरिणामेनापकृत्यते ॥ ९ ॥ इतः परमाभिः कथाभिर्ज्ञाततत्त्वो-
 ऽयमविद्यायां प्रशान्तायां सत्या गुष्माभिः सदृशो जीवन्मुक्तो

॥ १ समाहारद्वन्द्वः ॥

अविद्येति धृता संविद्ब्रह्मणात्मनि सत्तया ।
 तद्भ्रमेणासदप्यस्याः सद्रूपमिव लक्ष्यते ॥ ११ ॥
 यदा ब्रह्मात्मिकैवेयमविद्या नेतरात्मिका ।
 तदास्त्येवाऽपरिज्ञाता परिज्ञाता न भिद्यते ॥ १२ ॥
 अविद्यैवमनन्तेयं नानाप्रसवशालिनी ।
 जडा हृद्या रसमयी मोहमाधवमञ्जरी ॥ १३ ॥
 अन्तश्शून्या ग्रन्थिमती श्लक्ष्णा खङ्कुरकण्टका ।
 जडा रसमयी दीर्घा लतेव वनवैणवी ॥ १४ ॥
 फलाशङ्का मुधैवातिनिष्फला चित्तहारिणी ।
 अकालपुष्पमालेव श्रेयसा नाभिनन्दिता ॥ १५ ॥
 न किञ्चिद्रूपिणी पीना नानाभुवनपुरिणी ।
 भूताकुला निरालोका सुदीर्घेव तमोमयी ॥ १६ ॥
 केशोण्ड्रकभ्रान्तिरिव विचित्रग्रन्थिवेष्टना ।
 मिथ्यैव दृश्यमाना खेऽदृश्यमाना न किञ्चन ॥ १७ ॥
 विचित्रवर्णा विगुणा शून्ये च वितताकृतिः ।
 जडस्पन्दोत्पातमयी शक्रचापलतेव खे ॥ १८ ॥
 जडकलोलबहुला कलुषोल्लासफेनिला ।
 चक्रावर्ताक्षयमयी प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥ १९ ॥
 अनारतवहच्छून्यजगन्मृगनदीशता ।
 रजोराशिमयी रूक्षा शवभूरिव दुर्भगा ॥ २० ॥
 अन्तं प्राप्नोति न यथा चिरं स्वप्नपुरे चरन् ।
 जाग्रदाख्ये स्वप्नपुरे तथैवास्मिंश्चिरं चरन् ॥ २१ ॥
 यानि संकल्पजालानि प्रतिष्ठामागतान्यलम् ।
 त्यक्तैकदृश्यजालस्थदेहानां दृढचेतसाम् ॥ २२ ॥
 स्थितानि तानि चिद्बोम कोशरत्नान्यसंकटम् ।

विमानपुरभूम्यादिरूपेणेत्थं स्थितात्मना ॥ २३ ॥
 तान्येव सिद्धसद्धानि व्योम्नि भ्रान्ति परस्परम् ।
 अदृष्टान्यप्यसंख्यानि सूपलब्धान्यसन्त्यपि ॥ २४ ॥
 सुवर्णमणिमाणिक्यमुक्तावनिमयानि च ।
 भक्ष्यभोज्यान्नपानाढ्यरसायनसरांसि च ॥ २५ ॥
 मधुमद्यदधिकीरघृतकुल्याकुलानि च ।
 रसायनमयाकारवनितावलितानि च ॥ २६ ॥
 सर्वर्तुपुष्पफलपल्लवपूरवन्ति
 लीलाविलोलललनाकुलितालयानि ।
 संकल्पमात्ररचनेन च सर्वकालं
 संपन्नसर्वविभवोत्करसंकुलानि ॥ २७ ॥
 सहस्रचन्द्रविम्बानि शतसूर्याणि कानिचित् ।
 सुवर्णामृतवेषाम्बुमयभूतानि कानिचित् ॥ २८ ॥
 स्वेच्छातमःप्रकाशानि नित्यानन्दमयानि च ।
 कानिचिन्नीयमानानि तनुतूलघूनि च ॥ २९ ॥
 क्षणोत्पत्तिविनाशानि कानिचित्कलनावशात् ।
 अनन्तस्वप्नपानानि निर्जरामरणानि च ॥ ३० ॥
 विचित्रसंनिवेशानि विचित्रविभवानि च ।
 सर्वर्तुगुणरम्याणि सर्वकाममयानि च ॥ ३१ ॥
 तानि संकल्पजालानि किल कल्याणकारतः ।
 स्थिराणां मनसां भित्तिः कथमेवं भवेत्तु सा ॥ ३२ ॥
 नान्यत्किञ्चन नामेह ब्रह्ममात्रमयात्मनि ।
 संभवत्यङ्ग तेनैतदुच्यतामस्तु किमयम् ॥ ३३ ॥
 सर्गादावेव सर्गादि किञ्चनापीदमस्ति नो ।
 कारणाभावतस्तेन जगत्किमयमस्त्विदम् ॥ ३४ ॥

भविष्यति ॥ १० ॥ ब्रह्मणा यद्यस्मादविद्येति संविद्धता
 तत्तस्माद्भ्रमेणास्या असदपि रूपं सद्रूपमिव लक्ष्यते ॥ ११ ॥
 इत्थं चास्या ब्रह्मातिरिक्तस्वरूपाभावाद्यावदपरिज्ञानं सत्ता, परि-
 ज्ञानमात्रेण निवृत्तिश्चोपपद्यत इत्याह—यदेति ॥ १२ ॥ तामे-
 वाविद्यां वर्णयति—अविद्येत्यादिना । सर्वत्र विशेषणान्युभयत्र
 योज्यानि । रसमयी आसक्तिकरी । मोहलक्षणे माधवे वसन्ते
 प्रफुल्ल मञ्जरी ॥ १३ ॥ आपातदृष्ट्या श्लक्ष्णा अनुभवकाले तु
 खङ्कुराः सर्वे कण्टका यस्याः । वनवैणौ जाता वनवैणवी लता
 शाखेव ॥ १४ ॥ मुधैव फलमस्तीत्याशङ्का यस्याम् । श्रेयसा
 प्रशस्यतरेणामिज्ञानेन नाभिनन्दिता औत्पातिकी अकाल-
 पुष्पमालेव ॥ १५ ॥ भूतैः प्राणिभिः पिशाचैश्चाकुला । तमो-
 मयी रात्रिरिव ॥ १६ ॥ १७ ॥ विगुणा शुण्डीना ज्याहीना
 च । शक्रचापलतापक्षे जडस्पन्दो जलस्पन्दो दृष्टिस्तस्योत्पाताः
 सूचका विकृताः सूर्यकिरणास्तन्मयी ॥ १८ ॥ १९ ॥ शवभूः
 श्मशानभूमिरिव ॥ २० ॥ चरन् ब्रमन् ॥ २१ ॥ त्यक्ता
 एकत्र दृश्यजाले प्रपञ्चे स्थिता देहा यैस्तथाविधानां जीवानां
 मरणकाले एतज्जगदाकारदृढचेतसा दृढीभूतानि यानि संक-
 ल्पजालानि तान्येयैतज्जगद्देहायाकारेण प्रतिष्ठां स्थितिमागतानि
 मो० वा० १८२

॥ २२ ॥ २३ ॥ अदृष्टान्यपि सन्ति । सूपलब्धानि
 सम्यग्दृष्टान्यपि असन्ति । सिद्धसद्धानि सिद्धलोकाः ॥ २४ ॥
 तानि सिद्धसद्धान्येव वर्णयति—सुवर्णेत्यादिना ॥ २५ ॥
 रसायनं चन्द्रस्वन्मयाकारवनिताभिर्वलितानि ॥ २६ ॥
 सर्वर्तुषु प्रसिद्धपुष्पफलपल्लवनदीप्रवाहादिमन्ति । संकल्पेति ।
 'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठ-
 न्ते तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते' इत्यादिश्रुतेरिति भावः
 ॥ २७ ॥ सुवर्णमिवामृतमिव वेषा येषां तथाविधान्यम्बुमयानि
 च भूतानि येषु ॥ २८ ॥ धातुना यथाभिलषितदेशं नीयमा-
 नानि ॥ २९ ॥ उत्पत्तिविनाशाविच्छया दर्शनादर्शने ॥ ३० ॥
 ॥ ३१ ॥ कल्याणकारतः शास्त्रीयसत्कर्मोपासनात्तत्फलका-
 राणां तत्तल्लोकतद्भोग्याकारेण स्थिराणां तन्मनसां परिणतिः ।
 सा तु एवंविधा स्थूला भित्तिः कथं भवेत् ॥ ३२ ॥ मनःपरिणा-
 मास्तु मनोरथादौ चिन्मात्रसत्ताका एव दृष्टा इति ब्रह्ममात्रमया-
 त्मनि जगति सति एतन्मदुक्तं सर्वं सोपपत्तिकं संभवति । हे अङ्ग,
 प्रकारान्तरमस्ति चेदिदं जगत्किमयं तदुच्यतां वादिभिरित्यर्थः
 ॥ ३३ ॥ यद्यपीदानीं भूतमयं भौतिकमित्युत्प्रेक्षितुं शक्यं

संकल्प्यन्ते निरन्तानि किल तानि यथा यथा ।
चित्तौ तथा तथा भ्रान्ति केवात्र वद चित्रता ॥ ३५
इदानीमपि हे साधो त्वमप्यन्येऽपि केऽपि वा ।
तीव्रसंवेगसंकल्पनगराण्येवमेव खे ॥ ३६
कुर्वन्त्येकरसाभ्यासाद्यदि नाम यदृच्छया ।
तत्तानीदं वपुस्त्यक्त्वा प्राप्नुवन्त्यचिरेण खे ॥ ३७
यस्त्विदं कल्पितं च द्वे वस्तुनी अनुवर्तते ।
स्वर्गादिचदवाप्नोति प्राप्नोत्येवैकमेकधीः ॥ ३८
सिद्धाः सदा विभान्त्येवं यथान्तःकल्पनावशात् ।
नरकादीनि दुःखानि तथैवाभ्रान्ति कल्पनात् ॥ ३९
यद्यत्संवेद्यते किञ्चित्तत्तथाप्यनुभूयते ।
सति वाऽसति देहेऽस्मिन्देह एव मनोमयः ॥ ४०
जीवस्त्यजति यद्भावे एकां देहमयीं धियम् ।
तद्भावेकमयीमन्यामाशु तत्रैव पश्यति ॥ ४१
शुभा संविच्छुभौलोकान्संपश्यत्यशुभाऽशुभान् ।
खात्मिका खात्मकानेव चिरं चानुभवत्यपि ॥ ४२
शुद्धा सिद्धपुराण्येव पश्यत्यनुभवत्यपि ।
चिदशुद्धानि रूपाणि दुःखानि नरकेऽवति ॥ ४३
घूर्णतपापाण्यमलगिरिचक्रकपेपणम् ।
तत्रान्धकूपपतनं पुनरुद्धारचर्जितम् ॥ ४४

दारुणेनातिदीप्तेन देहं पापाणतां गतम् ।
भूताङ्गारमयानन्तमरुमार्गोऽपदं वपुः ॥ ४५
पूताङ्गारमयाम्भोदसरदङ्गारचर्पणम् ।
तप्तनाराचनिकरपरपासारदारुणम् ॥ ४६
बहत्पापाणचक्रासिसरिदाकाशसंचरम् ।
वक्षोमुक्ताम्बुदाकारकुटाराघातमेदनम् ॥ ४७
तप्तायःपरपाश्लेषच्छमिच्छमितिमज्जनम् ।
वृहत्कटकटाशब्दशस्त्रयन्निपीडनम् ॥ ४८
चक्रवज्रगदाप्रासशूलासिशरवर्षणम् ।
शात्मलीग्रहणं पाशं कुशकिशततोदनम् ॥ ४९
तप्तसैकतसंभारपातपातालमज्जनम् ।
दीपच्छन्नानलभयं वृहद्वायसचर्वणम् ॥ ५०
निर्निर्गमाकृशाङ्गारमहाङ्गारप्रवेशनम् ।
शरशक्तिगदाप्रासभुशुण्डीचक्रवेधनम् ॥ ५१
क्षुत्क्षोभपरुपप्रेतघातान्योन्याङ्गचर्वणम् ।
तालोत्तालातिपरुपशिलातलनिपातनम् ॥ ५२
रुधिरामेध्यपक्वाङ्गपूयनद्यादिसंकटम् ।
शिलाशस्त्रमयाभ्येधपादपापाणपेपणम् ॥ ५३
श्वध्रामोलूकलिखितं जनौघमुसलाहतम् ।
शिरःकरखुरस्कन्धखण्डोत्कटघ्नमण्डलम् ॥ ५४

तथापि सर्गादिकां 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदिकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिश्रुतेर्नान्यत्कारणं सभावयितुं शक्यमित्यकारणं जगद्वन्नस्त्वे अत्यन्तासदेवेत्याह—सर्गादावेवेति ॥ ३४ ॥ यद्यत्यन्तासन्ति तर्हि कथं जगन्ति भ्रान्ति तत्राह—संकल्प्यन्त इति । अत्यन्तासतामपि वाशब्दस्यपुष्पादीनां संकल्पने भानदर्शनादिति भावः ॥ ३५ ॥ तर्ह्यस्मत्संकल्पदेवैर्न्यत्वं कुत इति चेत्तीव्रसंवेगलाभावादेव । तीव्रसंवेगेन तु त्वं वा अन्येऽपि केऽपि वा खेऽपि नगराणि कुर्वन्त्येव । तानि चैकरसाभ्यासादेन्दवन्त्यायेन प्राप्नुवन्ति चेत्याह—इदानीमिति द्वाभ्याम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ इदं पूर्वसिद्धमुपासनादिना स्वकल्पितं चेति द्वे प्रपञ्चे दृढसंकल्पेनावश्यमस्त्येवेति शुद्धा योऽनुवर्तते स पुरुषो यथा यज्ञादिकारी स्वर्गाद्यवश्यमाप्नोति तथा क्रमेण द्वे अप्यवाप्नोति । यस्त्वनयोरेकं सत्यमिति दृढधीः स एकमेवाप्नोतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ सिद्धलोकैषूजो न्यायो नरकादिपापफलकल्पनास्तपि समान इत्याह—सिद्धा इति । एतावांसु विशेषः—उपासनाफलं यत्नेन तत्सत्यतादृष्टाभ्यासे सत्येव भवति । पुण्यफलं त्वास्तिक्यानुष्ठानयोः सत्तौर्विनापि तदभ्यासं सत्यमित्येव दृढं भवति । पापफलं तु आस्तिक्याभ्यासयोरभावेऽपि पापाचरणमात्रेण सत्यमित्येव दृढकल्पनं भवतीति भावः ॥ ३९ ॥ संवेदनानुसारित्वं तु सर्वत्र समानमित्याह—यद्यदिति । देह एव । कात्स्न्ये एवकारः । सर्वोऽपि देह इत्यर्थः ॥ ४० ॥ अत एव

मनोजुसारैर्गर्वकं देहं त्यक्त्वा अपर देहं जीवो गृह्णातीत्याह—जीव इति । तत्रैवाकाशे ॥ ४१ ॥ शुभा कृतपुण्या । अशुभा कृतपापा जीवसंविद् ॥ ४२ ॥ या तु कर्मोपासनशुद्धा सा सहमतमानि सिद्धपुराण्येव परेषां पश्यति स्वान्यनुभवत्यपि । अति दुःखानि पश्यत्यनुभवत्यपि ॥ ४३ ॥ नारके यानि पश्यत्यनुभवति च तानि प्रपद्यति—घूर्णदित्यादिना । घूर्णतपापाये यमलगिरिचक्रके गिरिद्वयचक्रके गोधूमपेपणपापाण्यन्नाकारे ताभ्यां पेपणम् । तत्र नरके ॥ ४४ ॥ भूतैः पिशाचैरक्षरैश्च प्रचुरः अनन्तो यो मरुर्निर्जलो मार्गस्तदात्पदं तत्र पान्थभूतं स्वं परं वपुः ॥ ४५ ॥ पूता निरस्तमस्यानो येऽङ्गारास्तन्मयाम्भोदेभ्यः सरतां पततामङ्गराणां वर्षणम् ॥ ४६ ॥ बहन्त्यः पाषाणादिसरितो यत्र तथाविधे आकाशे संचरं संचारम् । वक्षःसु मुक्तानां पातितानामम्बुदाकारकुटाराणामाघातेन वक्षोमेदनम् । वृष्ट्या आमुक्तानामिति पाठान्तरे विग्रहः ॥ ४७ ॥ तप्तायःसूर्मिशूलादीनामाश्लेषं सशब्दं मज्जनं च ॥ ४८ ॥ शात्मल्याः सकण्टकाया ग्रहणमाश्लेषणम् ॥ ४९ ॥ दीपवेपेण प्रच्छन्नो य सत्त्वानलस्वसाङ्गयम् । वृहद्विर्वायसैश्वर्यं तोदनम् ॥ ५० ॥ ५१ ॥ तालोदप्युत्तालादुन्नतप्रदेशादतिपरुपशिलातलेषु निपातनम् ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ श्वध्रामेषु देशेषूल्कैर्लिखितं देहविवारणम् । शिरःकरपादादीनां खण्डनं खण्डस्तत्रोत्कटमुत्कटितं घ्नमण्डलं

एतस्मात्कुक्कुटादेतत्फलमित्येव भावनात् ।
पश्यत्येवंदेशदृढादविसंवादिविस्तृतः ॥
यन्नाम किञ्चन कदाचन चेतनं खे
भातं न भातमथवा यदपूर्वमेव ।

५५

तत्कल्पनाद्भवति तन्मयमेव तद्धि
तस्माच्चिरं च चलतीति यदृच्छयैव ॥ ५६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठ० वा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० श० स्वर्गनरकोपलम्भवर्णनं नाम षष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६० ॥

एकषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः १६१

श्रीराम उवाच ।

यन्मुनिव्याधयोरेतद्दृष्टं नानादशाशतम् ।
अन्यकारणकं किं स्यादेतत्किं वा स्वभावजम् ॥ १
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
ईदृशाः प्रतिभावर्ताः परमात्ममहाम्बुधौ ।
अनारतं प्रवर्तन्ते स्वतः स्वात्मनि खात्मकाः ॥ २
यथा स्पन्दात्मनो वायोरजस्रं स्पन्दलेखिकाः ।
उद्यन्त्येव सतश्चित्वाचिद्योमि प्रतिभायुताः ॥ ३
या यथा स्वाङ्गभूतास्मादुदिता प्रतिभा प्रभा ।
तावत्सेह तथैवास्ते न हता यावदन्यथा ॥ ४
नानावयववानेक एवेहावयवी यथा ।
चिद्वह्नैकमिदं व्योम तथैवं प्रतिभात्मकम् ॥ ५
ब्रह्म काश्चित्स्थिराः काश्चिदस्थिराः प्रतिभार्थवत् ।
देहावस्था इवात्मस्थाः स्थितमात्मनि खात्मनि ॥ ६
खात्मनि स्वप्नपुरवद्भानं चिति चमत्कृतिः ।

किं सारं किमसारं वा किं सत्किं वाप्यसद्भवेत् ॥ ७
परिज्ञातमिदं यावत्सर्वं चिद्योममात्रकम् ।
दृश्यं जगद्भवद्बुद्धं न सन्नासत्किमुच्यते ॥ ८
चिद्व्योममात्रकचनं संसारे सर्वतः शिवे ।
आस्थानास्थादि किं तज्ज्ञा यथासंस्थानमास्थित ॥ ९
समुद्यन्ति स्वतोऽम्भोधेर्वोचिवत्प्रतिभाकृताः ।
खात्मिकाः खात्मनो देवात्कार्यकारणहक्तया ॥ १०
स्फारं यत्परमं व्योम्नः स्वसंकल्पस्वसर्गवत् ।
तत्तेनैव जगद्बुद्धं कुतः पृथ्व्यादयोऽत्र के ॥ ११
भात्येवमयमाभासो नैव भाति च किञ्चन ।
ब्रह्मण्येव स्थितं ब्रह्म तदविद्याभिधं स्वतः ॥ १२
घनता चिद्वनेनेह चिद्योमैवाखिलं जगत् ।
इत्येव परमो बोध एतत्प्रौढिस्तु मुक्तता ॥ १३
चिद्योमशून्यतारूपमात्रमाभास आततः ।
इदमप्रतिघं शान्तं जगदित्येव भासते ॥ १४

यत्र ॥ ५४ ॥ भावनाच्छास्त्रतो निर्णयात्प्राग्बहुश एवंविधदेशेष्वनुभवेन दृढात् । स्वात्मैव तत्तत्तरकात्मना विस्तृतः सज्जित्यर्थः ॥ ५५ ॥ उक्तं संगृह्योपसंहरति—यन्नामेति । यन्नाम किञ्चन चेतनदेहादि कदाचन खे चित्ताकाशे भातम्, अथवा भाविनोऽपि स्वप्ने दर्शनात् भातम्, वा अपूर्वमेव यत् तदपि संकल्पप्रान्तिरूपात्कल्पनाद्भाति । तत्सर्वं तन्मयं मनोमयमेव । तस्माद्भावाच्च चिरमभूतायदृच्छयैव चलति न प्रयत्नशतैरपीति सिद्धमित्यर्थः ॥ ५६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे स्वर्गनरकोपलम्भवर्णनं नाम षष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६० ॥

अनन्यकारणं चित्रं चिन्मात्रप्रतिभात्मकम् ।

अवोधाजगदाभाति बोधे ब्रह्मेति वर्ण्यते ॥ १ ॥

मुनिव्याधयोरेतद्भासवर्णितं सुखदुःखादिदशाशतं यद्दृष्टं सत्किं प्रत्यहं दृश्यमानस्वप्नादिवदनन्यकारणकं किं वा लवणगाधिप्रभृतीनां चण्डालभावादिकर्मैन्द्रजालिकमगवद्वरादिनिमित्तादिव निमित्तान्तरस्वभावजमिति रामप्रश्नार्थः ॥ १ ॥ तत्र निमित्तान्तरमस्तु मा वा । अज्ञातात्मनि यावन्मोक्षमीदृशाभ्रमाः सदैव प्रवर्तन्ते इति वसिष्ठ उत्तरमाह—ईदृशा इत्यादिना ॥ २ ॥ यथा व्यजनादिनिमित्तान्तरे सत्यसति च घाया-

वल्पाल्पतराः स्पन्दलेखिकाः स्पन्दलवाः सदैवोद्यन्ति तद्वदित्यर्थः । प्रतिभा अर्थाकारप्रथा ॥ ३ ॥ अन्यथा आकारान्तरप्रतिभया यावन्न हता न विनाशिता । यथा मृदः पिण्डाद्याकारो घटाद्याकारान्तरपरिणतिविनाश्यस्तद्वदिति भावः ॥ ४ ॥ तेषु चानन्तेषु प्रतिभासेष्वविद्यानसन्मात्रात्मकं ब्रह्म शाखादिषु वृक्ष इवानुगतं तिष्ठतीत्याह—नानेति ॥ ५ ॥ तत्र काश्चिद्भूम्यन्तरिक्षदिगाद्यवस्थाश्चिरकालवस्थानातिस्थिराः । अन्या अस्थिराः अल्पकालस्थायिन्यः । यथा देहस्य पिण्डहस्तपादाद्याकारवस्थानिमेपोन्मेषाद्यवस्थाश्चेत्यर्थः ॥ ६ ॥ तासु सारासारत्वादिग्रहो वृथैव मूढानामित्याह—स्वात्मनीति ॥ ७ ॥ यावद्यदा भवद्विरज्ञैर्बुद्धं दु ॥ ८ ॥ यथासंस्थानं यथास्थितं स्वरूपमालम्ब्य आस्थित तिष्ठत । छान्दसस्तिद्व्यत्ययः ॥ ९ ॥ स्वतः स्वात्मनः सकाशात् कार्यकारणहक्तया प्रतिभाकृताः प्रतिभाकाराः समुद्यन्ति ॥ १० ॥ यत्स्वसंकल्पवत्स्वसर्गवच्च स्फारं प्रतिभानं तदेव तेन जगदिति बुद्धम् ॥ ११ ॥ तज्जगत् । स्वतः न कारणान्तरतः ॥ १२ ॥ इह चिद्वनेनैव घनता नान्येन पृथ्व्यादिरूपेण । प्रौढिर्भूमिकाभ्यासेन दृढीभावः ॥ १३ ॥ शून्यताया आकाशताया रूपं नैत्यमिव स्थितमज्ञानमालम्ब्येति

१ शोतमानात्.

ध्यायिनः क्षीणदेहस्य ध्याने दृक्त्वे क्षणं स्थिते ।
 चिन्मात्रव्यतिरेकेण शक्तत्वं स्यात्किमुच्यताम् ॥ १५ ॥
 चिदातुव्योमभागो यो भाति यत्र यथा यथा ।
 तथा तथा स तत्रास्ते यावदित्यं स्वभावतः ॥ १६ ॥
 अविचारवतो दृश्यभ्रान्तिर्गगनमव्यपि ।
 जातितैमिरिकद्दीन्दुदोषवन्नोपशाम्यति ॥ १७ ॥
 यदिदं दृश्यते किञ्चित्तद्ब्रह्मैव निरामयम् ।
 चिदाकाशमनाद्यन्तं तत्कथं किं प्रशाम्यति ॥ १८ ॥
 स्वमसन्त्यजतो रूपं स्वच्छसंवेदनात्मकम् ।
 स्वमवत्कचनं स्वस्य यन्नाम तदिदं जगत् ॥ १९ ॥
 शास्त्रार्थैस्तीक्ष्णया बुद्ध्या मिथो यन्न विकल्पनैः ।
 कृत्वा सुप्तमिवात्मानं किञ्चिद्बुद्धेन बोध्यते ॥ २० ॥
 रुढा येयमविद्येति संविदव्यभिचारिणी ।
 भवतां ननु नास्त्येव सा सरित्स्विव पांसुभूः ॥ २१ ॥
 यथा स्वप्नेऽवनिर्नास्ति खानुभूतापि कुत्रचित् ।
 तथेयं दृश्यता नास्ति खानुभूताप्यसन्मयी ॥ २२ ॥
 चिद्योममात्रमेवार्थाऽनलवद्भासते यथा ।
 स्वप्ने तथैव जाग्रद्वेऽनलं स्वस्यैव लक्ष्यते ॥ २३ ॥
 इदं जाग्रदयं स्वप्न इति नास्त्येव भिन्नता ।
 सत्ये वस्तुनि निःशेषसमयोर्यानुभूतितः ॥ २४ ॥
 नैतदेवमिति स्वप्नप्रबोधात्प्रत्ययो यथा ।
 मृत्वामुत्र प्रबुद्धस्य जाग्रति प्रत्ययस्तथा ॥ २५ ॥
 कालमल्पमनल्पं च स्वप्नजाग्रदितीह धीः ।

वर्तमानानुभवसाम्यानुल्लेखे तयोर्द्वयोः ॥ २६ ॥
 बाधे तदेवमित्यादिगुणसाम्यादशेषतः ।
 न जाग्रत्स्वप्नयोर्यायानेकोऽपि यमयोरिव ॥ २७ ॥
 यदेव जाग्रत्स्वप्नोऽयं यः स्वप्नो जाग्रदेव तत् ।
 नैतदेवं किलेत्यस्ति धीः कालेनोभयोरपि ॥ २८ ॥
 आजीवितान्तं स्वप्नानां शतान्यनियतं यथा ।
 अनिर्वाणमहाबोधे तथा जाग्रच्छतान्यपि ॥ २९ ॥
 उत्पन्नध्वंसिनः स्वप्नाः स्मर्यन्ते बहवो यथा ।
 तथैव बुद्धेः स्मर्यन्ते सिद्धैर्जन्मशतान्यपि ॥ ३० ॥
 एवं समस्तसाधर्म्यं समस्तानुभवात्मनि ।
 कचति स्वप्नवज्जाग्रज्जाग्रद्वत्स्वप्नवेदनम् ॥ ३१ ॥
 यथा दृश्यं जगद्येति नित्यमेकार्थतां गतौ ।
 उभौ शब्दौ तथैवैतज्जाग्रत्स्वप्नात्मकौ स्मृतौ ॥ ३२ ॥
 एवं स्वप्नपुरं स्फारं यथा व्योमैव चिन्मयम् ।
 तथैवेदं जगदतः काविद्या दृश्यते कुतः ॥ ३३ ॥
 तदेवाकाशमात्रात्म यद्यविद्येति कथ्यते ।
 तद्यदास्ते तदेवाहं बन्धः स्वकलनात्मकः ॥ ३४ ॥
 तन्मैवं क्रियतामेतदबन्धस्यैव बन्धनम् ।
 कान्यता अमलव्योम्नाश्चिन्मयस्य निराकृतेः ॥ ३५ ॥
 चिन्मयाकाशकचने कास्मिन्किल निराकृतेः ।
 दृश्यनामन्यविद्याख्ये बन्धो मोक्षोऽथवा कुतः ॥ ३६ ॥
 नाविद्या विद्यते नाम बन्धो बन्धो न कस्यचित् ।
 मोक्षो न कस्यचिन्मोक्षश्चास्तिनास्तीति नास्त्यलम् ॥

शेषः । आभासो भ्रमः ॥ १४ ॥ एतच्च ध्यायिनामनुभवसि-
 द्धमित्याह—ध्यायिन इति । निर्विकल्पसमाधिप्रतिष्ठया क्षीणदे-
 हस्य उच्छिन्नदेहभावस्य । दृक्त्वे साक्षिचिन्मात्ररूपत्वे । शक्त-
 त्वं जगद्दर्शनसामर्थ्यं किं स्यात् । तस्मादज्ञानदृशैव तत्सामर्थ्यं
 परिशेषादिति भावः ॥ १५ ॥ तथा च ब्रह्मवाञ्छितोपाधौ
 जगदात्मना भात्यन्यत्र चिन्मात्रस्वभावेनेति व्यवस्थेत्याह—
 चिदात्त्विति । बोधाद्येवस्वभावतः ॥ १६ ॥ जातितैमिरिकस्य
 जन्मप्रभृति तिमिररोगदुष्टचक्षुषः पुरुषस्य ॥ १७ ॥ ब्रह्मभा-
 वापन्नं तु जगन्न दृश्यतीत्याह—यदिदमिति ॥ १८ ॥ तथा
 चाह दशायामपि स्वप्नचिद्विवर्तमात्रं जगदित्याह—स्वमिति ।
 अविकृतस्यान्यथा प्रतिभासो विवर्त इति तल्लक्षणयोगादिति
 भावः ॥ १९ ॥ २० ॥ या भवतां जगदाकारेण रुढा सा-
 स्माकं नास्त्येव ॥ २१ ॥ नन्वनुभवः कथमुपलभ्यते तत्राह—
 यथेति ॥ २२ ॥ रूपाद्यर्थवत्तत्प्रकाशकानलवच्च यथा स्वप्ने
 चिद्योमैव भासते । स्वस्य जाग्रत्साक्षिणः अनलमपूर्णं स्वप्न-
 काशरूपमेव तथा लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥ या भिन्नता भासते
 अनुभूतितः समयोक्तयोः सा नास्त्येवेत्यर्थः ॥ २४ ॥ अमुत्र
 शरीरान्तरे प्रबुद्धस्य गर्भस्थस्य जातिस्मरस्य जाग्रति प्रसिद्धः
 प्रत्ययोऽपि तथा नैतदेवमिति वाचितो भवतीत्यर्थः ॥ २५ ॥
 कथं तर्ह्यसाम्यप्रत्ययो जनानामिति चेत्कालल्पत्वमदृष्टत्वाभ्यां

नानुभवत इत्याह—कालेति ॥ २६ ॥ न च बाधे जाग्रदन्तः
 स्वप्न इति भेदः । स्वप्नोऽपि बाधे । तत्स्वाप्नमेव जाग्रददेव सर्व-
 मिति सर्ववस्तुभूयत्र गुणसाम्यानुभवेन नैकतरज्यायस्त्वमि-
 त्यर्थः ॥ २७ ॥ धीर्वाधधीः ॥ २८ ॥ अनिर्वाणस्य जीवस्य
 मह्यबोधे स्वापे ॥ २९ ॥ बुद्धेः प्रबुद्धेः सिद्धैर्जातिस्मरणा-
 नुकूलयोगसिद्धिमद्भिः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ कथं तर्हि नामभेद-
 स्त्राह—यथेति ॥ ३२ ॥ स्वप्नसाम्यप्रतिपादनस्य प्रयोजनं
 दर्शयति—एवमिति ॥ ३३ ॥ 'स हि स्वप्नो भूत्वा' इत्यादिश्रुतौ
 स्वप्नशब्देनेवाविद्याशब्देनापि तद्ब्रह्मैव यदि कथ्यते तर्हि न शब्दे
 वयं विषदामहे किंतु सर्वभ्रमशान्तौ यदेवास्ते तदेवाहम् ।
 प्राक् स्वकल्पनात्मक एव बन्ध इत्येतावदसदभिमतं तच्च सिद्ध-
 मेवेति भावः ॥ ३४ ॥ यदेवं तदा नित्यमुक्तस्यात्मनो बन्ध-
 नभ्रान्तिरेव न कार्येत्याह—तदिति । अमलस्य व्योम्नो नित्य-
 कृतेचिन्मयस्य च का अन्यता किं वैलक्षण्यं येन व्योम न बध्यते
 चिदात्मा तु बध्यत इति वाचो युक्तिः प्रसरेत् । दृशोरप्यमूर्त-
 त्वालोककत्वसूक्ष्मतत्त्वादिना अत्यन्तसाम्यादिति भावः ॥ ३५ ॥
 अस्मिन् दृश्यनामन्यविद्याख्ये चिन्मयाकाशकचने सति बन्धो
 वा मोक्षो वा कुतो हेतोः स्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥ यदा अविद्या
 नाम न विद्यते तदा बन्धो बन्धो न । तथा मोक्षोपि मोक्षो
 न । यतो ब्रह्मास्तिरिक्तं अस्तिनास्तीति अव्यवहारयोग्यमेव दुर्लभ-

नास्त्येव विद्याऽविद्या वा चिदेवेयं कचत्यजा ।
 ख एव खाकृतिः स्वप्न इव सर्गस्वदेहिनी ॥ ३८
 देशदेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
 तज्जाग्रत्स्वप्नदृश्यस्य रूपमित्येव निश्चयः ॥ ३९
 सबाह्याभ्यन्तरे दृश्ये शान्तनिद्रस्य यद्रूपः ।
 एकस्य निशि तद्रूपं जाग्रत्स्वप्नदृशामिह ॥ ४०
 विद्धि तद्रूपमेवेदं भेदवेदनमित्यपि ।
 चित्यन्तमागतः कोऽन्यो नाम स्याद्भेदवेदने ॥ ४१
 चिद्योमैवाभेदबुद्धिश्चिद्योमैव च भेदधीः ।
 द्वैताद्वैते चैकमेव तथा शान्तमखण्डितम् ॥ ४२
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे धाल्मीकीये दे० मो० निर्वा० उ० अ० वि० श० निर्वाणवर्णनं नामैकषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६१ ॥

सदंशो बोधतद्वाह्यमय एव यथा तथा ।
 दृष्टा य एव दृश्यं तद्वैतवेदनमेककम् ॥ ४३
 तद्ब्रह्म खं विदुर्द्वैतमद्वैताद्वैतमेव च ।
 सर्ग एव परं ब्रह्म द्वैतमद्वैतमेव सत् ॥ ४४
 नेति नेति विनिर्णीय सर्वतोऽभिभवत्यपि ।
 पञ्चात्यक्त्वा चिदाकाशे शिलां कृत्वास्त्यतामिह ॥ ४५
 यथाक्रमं सुभग यथास्थितस्थिति
 यथोदयं व्रज पिब भुंक्व भोजय ।
 अभीप्सितं गतमननो निरिङ्गनः
 सुचिन्मये परमपदोपलो भवान् ॥ ४६

द्विषष्ट्यधिकशततमः सर्गः १६२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 चिद्योमार्थतयार्थानां यथास्थितमिदं जगत् ।
 सरूपालोकमननमपि चिद्योम केवलम् ॥ १
 स्वप्नचित्पुररूपत्वादप्यद्यस्मान्न विद्यते ।
 जगत्तस्मान्नभः शान्तं नेह नानास्ति किञ्चन ॥ २
 चिदाभानमनानैव नानेव परिलक्ष्यते ।

मित्यर्थः ॥ ३७ ॥ स्वप्न इव चिदेव सर्गाकारस्वदेहिनी भूत्वा
 कचति ॥ ३८ ॥ मध्ये यन्निर्विषयं संविदः स्वरूपं प्रसिद्धं
 तदेव जाग्रत्स्वप्नप्रसिद्धदृश्यस्य पारमार्थिकं रूपमित्येव निश्चयः
 कार्यः ॥ ३९ ॥ बाह्ये दृश्ये आभ्यन्तरे च दृश्ये इन्द्रियमन-
 स्तद्विकारादौ प्रकाशनाय सदा जागरूकस्य स्वयंज्योतिरात्मनो
 यद्रूपः स्वरूपम् । 'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' इति श्रुतेः ।
 तदेव जाग्रत्स्वप्नदृशां तात्त्विकं रूपमित्यर्थः ॥ ४० ॥ अत एव
 जाग्रत्स्वप्नभेदवेदनमित्यपि कल्पनं तद्रूपं तदुभयसाक्षिरूपमेव
 विद्धि न चिद्भेदवेदनम् । यतः अवस्थात्रयानुगतायाः साक्षि-
 चित्तेरन्तमन्यः क आगतो दृष्टवान् यश्चिति भेदं पश्येदित्यर्थः
 ॥ ४१ ॥ तथा सतीति शेषः ॥ ४२ ॥ यथा ब्रह्मणः सच्चिदा-
 नन्दांशेषु सदंशो बोधमयो बोधप्राह्यमयश्चेत्युभयत्राभिन्नस्तथा
 द्वैतं तद्भेदनं चैककमिति चिदंशोऽप्यभिन्नः । यतो य एव दृष्टा
 दृशां विषयीकृतास्त एव दृश्यमित्युच्यन्ते । न च विषयविषयि-
 भावक्षित्तादात्म्यातिरिक्तः केनचिन्निरूपयितुं शक्यस्तत्तस्मा-
 द्भेदो रित्यर्थः ॥ ४३ ॥ एकस्य सद्वस्तुन एव सर्वद्वैतात्मना
 यदा प्रतिभासस्तदा ब्रह्मैव द्वैताद्वैतमद्वैताभिन्नं च । न तद्यति-
 रिक्तं किञ्चित्प्रसिद्धतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ तर्हि किं द्वैताद्वैतसमुच्चया-
 त्मकमेव ब्रह्म बोद्धव्यं नेत्याह—नेतीति । पूर्व 'सर्ग एव परं ब्रह्म
 द्वैतमद्वैतमेव च' इति मूर्तामूर्तप्रपञ्चस्य ब्रह्मरूपतां विनिर्णीय पञ्चात्
 'नेति नेति' इति सर्वद्वैतनिषेधेन सर्वतः कृत्वा द्वैतं त्यक्त्वा अभितो
 भवत्याविर्भूतेऽपि इह प्रत्यगात्मनि चिदाकाशे उत्तरोत्तरभूमि-
 काभ्यासेन सैन्धवधनवदानन्दैकरसघनां शिलां कृत्वा आस्त्यताम्

अनात्मैवात्मनात्मानं स्वप्नाकाशपुरेष्विव ॥ ३
 सर्गादाविव चिद्योम स्वप्नाकाशपुरं जगत् ।
 आभातमेवासत्यं च नूनं सत्यमिव स्थितम् ॥ ४
 तज्ज्ञाज्ञातो न मूर्खाणामज्ञाज्ञातो न तद्विदाम् ।
 विद्यते सर्गशब्दार्थः सत्यासत्यमयात्मकः ॥ ५

॥ ४५ ॥ हे सुभग, एवं सुचिन्मये ब्रह्मणि परमपदोपलभ्यतो भ-
 वान् यथाक्रमं स्ववर्णाश्रमोचितक्रममनतिक्रम्य यथास्थितं लोक-
 स्थितिं चानतिक्रम्य यथोदयं स्वविभवानुसारेणामीप्सितं देशं
 विषयं च व्रज विहर पिब भुंक्व द्विजसुहृद्गर्भभोजय च ।
 'अनीप्सितम्' इति पाठे निरिच्छं यथा स्यात्तथा ॥ ४६ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
 निर्वाणवर्णनं नामैकषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६१ ॥

इह द्वैतस्य कृत्स्नस्य ब्रह्ममात्रत्ववर्णनैः ।

हितोक्तिभिरविद्याया निरास उपपाद्यते ॥ १ ॥

सर्वस्य दृश्यस्य चिद्योमार्थमेव स्फुरणादपि तन्मात्रतापरि-
 शेष इत्याह—चिद्योमेति । अर्थानां विषयाणां बाह्यरूपालो-
 कनेन आन्तरमननेन च सहितं बाह्यमाभ्यन्तरं च दृश्यजातं
 गवायर्थतृणादि गवाद्यात्मने चिद्योमोपभोग्यं चिद्योमैव केवलं
 परिशिष्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥ चिद्भोग्यस्य चिन्मात्रपरिशेषत्वं
 केन दृष्टान्तेन साध्यते तत्राह—स्वप्नेति । यस्माद्भेदतोः स्वप्ने
 पुरभोक्तव्याश्रित एव पुररूपत्वादप्यत्र विद्यते तस्माज्जाग्रजग-
 दपि नभ इव शान्तम् । उक्तानुमाने श्रुतिसंमतिं दर्शयति—
 नेह नानास्ति किञ्चनेति ॥ २ ॥ यदि नाना नास्ति तर्हि किं
 तद्यज्ञानेव परिलक्ष्यते तत्राह—चिदाभानमिति । यन्नाना तद-
 नात्मैव निःस्वरूपमेव स्वसाक्षिणा आत्मनात्मानं खं दर्शयति ।
 यथा स्वप्नपुरेष्वकाशपुरेषु गन्धर्वनगरेषु च पदार्थस्तद्वदित्यर्थः
 ॥ ३ ॥ तत्साम्यमेव स्फुटयति—सर्गादाविति । सर्गस्य आदौ
 प्रलयकाल इवेदानीमपि जगत् स्वप्नाकाशपुरवत् आभातमेवासत्यं
 चेति साम्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥ चन्द्रप्रादेशिकत्ववत्तज्ज्ञानानुभव-
 तत्वात् 'च' इति तत्पूर्वार्थान्तेन भ्रान्तिः सुमभाष्या ।

तज्ज्ञाद्योस्तयोरन्तःप्रतिपत्तौ तु यत्स्थितम् ।
 न चोदुं न च वक्तुं ते जानीतस्तौ परस्परम् ॥ ६
 स्वबुद्धौ स्वर्गशब्दार्थो मिथोन्तस्तत्किलानयोः ।
 स्थैर्यास्थैर्ये जाग्रतो द्वे अक्षीवक्षीवयोरिव ॥ ७
 द्रवस्थितिमिता यद्वत्सरिद्वारिणि वीचयः ।
 चित्तौ स्थितिमितास्तद्वच्चेतनात्सर्गवीचयः ॥ ८
 चिद्रूपं यन्न किञ्चित्चिदिदं किञ्चिदवस्थितम् ।
 भाति दृश्यमिवादृश्यमपि स्वप्नपुरेष्विव ॥ ९
 चिच्छायेयं प्रकचति जगदित्यभिप्रेक्षिता ।
 नन्वमूर्तैव मूर्तैव द्रव्यच्छायेव वै तता ॥ १०
 कायमात्रकमेवेदं भ्रान्तिमात्रमसन्मयम् ।
 पिशाचविभ्रमालोकप्रायमायासनं दृढम् ॥ ११
 मनोराज्यमिवासत्यं लोलं लम्बाम्बुविन्दुवत् ।
 द्वाभ्यामित्यनुभूतिभ्यां यदसत्तत्र कात्मता ॥ १२
 विदार्यदारुववत्तरङ्गानिलशब्दवत् ।
 खे शब्दाः पवनस्फोटो मान्तर्या चासनोदयाः ॥ १३
 सर्गादितः स्वपरिभा कचति स्वप्नशैलवत् ।
 वस्तुतस्तु न शब्दोस्ति नार्थोऽस्ति न च दृश्यता ॥ १४
 यदिदं चास्ति चाभाति तत्सर्वं परमार्थसत् ।
 अन्यादकारणाभावात्सर्गादावेव नोदितम् ॥ १५

विसवादादपि जगत्तथेत्याह—तज्ज्ञेति । उभयत्र अज्ञात इति
 च्छेदः । अथवा न मूर्खाणां तद्विदां वा अनुभवमनुसृत्य
 प्रपञ्चो व्यवस्थापयितुं शक्यः परस्परविरुद्धादुभाभ्यामप्य-
 ज्ञातत्वादित्यर्थः ॥ ५ ॥ तत्कृतस्तत्राह—तज्ज्ञाद्योरिति । यतः
 केवलान्तर्दृश्यस्तज्ज्ञाः केवलवाद्यदृष्टयोऽज्ञाः, प्रपञ्चरूपं लन्तः-
 प्रतिपत्तौ बुद्धिदृष्टौ अन्तराले स्थितमुभापि चोदुं ते तुभ्यं
 परस्परं वा वक्तुं न न जानीतो न शक्नुतः ॥ ६ ॥ उक्तमेवोप-
 पादयति—स्वबुद्ध्याविति । स्वर्गशब्दार्थस्त्वावत्स्वबुद्धौ स्थित
 एव स्फुरति नान्य इत्यविवादं, तत्राक्षीवक्षीययोरिवाभ्रान्त-
 न्तयोरनयोर्मिथः परस्परं तत्तत्प्रपञ्चरूपमान्तरबुद्धिस्थित्वान्तः-
 स्थम् । किलेति यौक्तिकप्रसिद्धौ । तत्र विदुषो बुद्धिः सदैव
 स्थैर्ये जागतीति स स्थिरमात्मतत्त्वमेव पश्यति । अविद्वद्बुद्धिर-
 स्थैर्ये जागतीति सोऽस्थिरं बाह्यमेव पश्यति । बुद्धिगतं तु प्रपञ्च-
 स्वरूपं नात्यन्तमान्तरं नात्यन्तं बाह्यमिति नोभयोरपि तत्परि-
 ज्ञानमस्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥ यद्युभाभ्यामपि द्रष्टुमशक्यः प्रपञ्चस्तर्हि
 कथं स्थितिं प्राप्तस्तत्राह—द्रवेति । अज्ञातचित्स्वभावमेवावलम्ब्य
 अलक्षवतया तरङ्गा इवात्मसत्तयैवान्तराले स्थितिं प्राप्ता इत्यर्थः
 ॥ ८ ॥ अत एव चिन्मत्कारमात्रं जगदित्याह—चिद्रूपमिति ॥ ९ ॥
 अथवा मायायां यच्चित्प्रतिबिम्बः स एव जगदाकारेण स्फुर-
 तीत्याह—चिच्छायेति । दर्पणे घटपटादिद्रव्यच्छायेव ॥ १० ॥
 तत्र देहात्मताभ्रान्तिरेव सर्वायासमूलमित्याह—कायेति ॥ ११ ॥
 देह एवात्मास्त्विति भ्रमं वारयति—द्वाभ्यामिति । प्राग्बर्णि-

निरस्तशब्दमेदार्थमनिरस्ताखिलार्थकम् ।
 शाश्वत्यामि परिनिर्वामि व्योमैवास्मीति बुद्ध्यताम् ॥ १६
 त्यज्यतामात्मविश्रान्त्या शुद्धबोधैकरूपया ।
 जीवेऽजवं जवीभावस्त्वसदुत्थित आत्मना ॥ १७
 आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
 आत्मात्मना न चेन्नातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ १८
 तर तारुण्यमस्तीदं यावत्ते तावदम्बुधेः ।
 ननु संसारनाम्नोऽसाहृज्या नावा विशुद्धया ॥ १९
 अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन्निक करिष्यसि ।
 स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये ॥ २०
 शैशवं वार्धकं हेयं तिर्यक्त्वं मृतिरेव च ।
 तारुण्यमेव जीवस्य जीवितं तद्विवेकि चेत् ॥ २१
 संसारमिममासाद्य विधुत्संपातचञ्चलम् ।
 सच्छास्त्रसाधुसंपर्कः कर्दमात्सारमुद्धरेत् ॥ २२
 अहो वत नराः कूरा गतिः कैषां भविष्यति ।
 कुर्वन्ति कर्दमोन्मत्ते नात्मन्यपि निजोदयम् ॥ २३
 यथा मृन्मयवेतालसभा ग्राम्यस्य भङ्गदा ।
 यथा भूतार्थविज्ञानान्मृन्मयेव न भङ्गदा ॥ २४
 तथा ब्रह्ममयी दृश्यलक्ष्मीरञ्जस्य भङ्गदा ।
 यथा भूतार्थविज्ञाने ब्रह्मैवास्ते न भङ्गदा ॥ २५

ताभ्यां द्वाभ्यां विद्वद्विद्वदनुभूतिभ्यामपि विमृश्यमानं यदसत्
 तत्र का आत्मताप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ १२ ॥ कथं तर्हि रामोऽहं
 नसिष्ठस्त्वमित्यादिदेहात्मव्यवहारशब्दार्थस्तत्राह—विदार्येति ।
 यथा पृथिव्या स्थूलवंशदारुविदारणे तदन्तःस्थितः शब्दो
 बहिर्निःसरतीव प्रतिभाति न न तदन्तःशब्दः स्थितो निःसृतो
 वा तथा, जले तरङ्गेभ्यः अग्नौ ज्वालादिभ्यः खे प्रतिपत्ति-
 शब्दाः पवनाच्च कण्ठतात्वादिप्रदेशे वर्णपदवाक्यस्फोटो निर्गता
 इव भ्रान्ति न न ते प्राक् तदन्तः सन्ति तद्वद्वासनमया अप्यर्थो
 अभिविस्फुल्लिवज्जाग्रत्स्वप्नयोरात्मनो निर्गता इव भ्रान्ति न न
 तत्र सन्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥ स्वपरिभा स्वात्मचित् ॥ १४ ॥
 अन्यादहं सद्यतिरिक्तं रूपं तु सर्गादावेव कारणाभावाच्चोदितं
 नोत्पन्नमेव ॥ १५ ॥ अतः सदैवैकरूपं सद्योमैवाहमिति परम-
 शान्तनिर्द्वैतिरूपं बुद्ध्यतामित्याह—निरस्तेति ॥ १६ ॥ जीवे
 प्रसिद्धोऽजवं जवीभावो मनोविक्षेपः ॥ १७ ॥ अत एव स्ववि-
 वेकैर्नैवात्मानमुद्धरेत्याह—आत्मैवेति ॥ १८ ॥ यावत्तारुण्य-
 मस्ति तावदेव बुद्ध्या नावा संसारनाम्नोऽम्बुधेस्तरं परतीरं व्रज
 ॥ १९ ॥ वयसो विपर्यये वृद्धत्वे ॥ २० ॥ शैशवं वार्धकं च
 तिर्यक्त्ववज्ञानासाधकं हेयम् । विवेकि चेदिति । अविवेकित्वे
 तु तत्तिर्यक्त्वादप्यवज्ञमिति भावः ॥ २१ ॥ कर्दमात् मोह-
 कर्दमात् । सारमात्मानम् ॥ २२ ॥ ये कर्दमोन्मत्तेऽप्यात्मनि
 काष्णोपायैर्निजोदयमुद्धारोपायं न कुर्वन्ति एषां का गतिर्भवि-
 ष्यतीत्यनुशोचति वसिष्ठः ॥ २३ ॥ ग्राम्यस्य मृन्मयत्वानभि-
 ज्ञस्य सत्यवेताला सभा मया दृष्टेति भ्रान्तिमत इति यावत् ।
 भङ्गदा भयज्वरादिदुःखदा ॥ २४ ॥ २५ ॥ कुतो न भङ्गद-

शाम्यत्यशान्तमेवेदं स्थितमेव विलीयते ।
दृश्यं तत्त्वपरिज्ञानाद्दृश्यमानं न दृश्यते ॥ २६
स्फुटानुभवनस्यापि स्वप्नकाले निजे यथा ।
परिज्ञानादसत्यत्वमेव सत्यपदं गता ॥ २७
तथानुभूयमानापि सर्गसंवेदनाम्बरे ।

चिन्मये तत्त्वविज्ञानाच्छून्यतैवावशिष्यते ॥ २८
जातिज्वरज्वलितजीवितजङ्गलेषु
जीर्णानि वातहरिणाहरणक्रमेण ।
माद्यन्मनःपवनपातयुतान्यमूनि
जित्वेन्द्रियाणि जयमेहि जहीहि जन्म ॥ २९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये पा० दे० मो० नि० उ० अ० वि० अविद्यानिरसनो नाम द्विषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६३ ॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमः सर्गः १६३

श्रीराम उवाच ।
विनेन्द्रियजयेनेदं नाशत्वमुपशाम्यति ।
तदिन्द्रियाणि जीयन्ते कथं कथय मे मुने ॥ १
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
न च प्रभूतभोगेषु न पुंस्त्वे न च जीविते ।
न चेन्द्रियजयोन्मुक्तौ दीपस्तनुदृशो यथा ॥ २
तदिन्द्रियजये युक्तिमिमामविकलां शृणु ।
सिद्धिमेति स्वयत्नेन सुखेन तनुरेतया ॥ ३
चिन्मात्रं पुरुषं विद्धि चेतनाजीवनामकम् ।
यच्चेतति स जीवोऽन्तस्तन्मयो भवति क्षणात् ॥ ४
संविप्रयत्नसंवोधनिशिताङ्कुशकर्षणैः ।
मनोमतङ्गजं मत्तं जित्वा जयति नान्यथा ॥ ५

चित्तमिन्द्रियसेनाया नायकं तज्जयाज्जयः ।
उपानद्रूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ॥ ६
संविदं संविदाकाशे संरोप्य हृदि तिष्ठतः ।
स्वयमेव मनः शाम्येन्नीहार इव शारदः ॥ ७
स्वसंविद्यत्नसंरोधाद्यथा चेतः प्रशाम्यति ।
न तथाङ्ग तपस्तीर्थविधायश्चक्रियागणैः ॥ ८
यच्च संवेद्यते किञ्चित्तत्तत्संविदि संविदा ।
नूनं विस्मर्यते यत्नाद्भोगानामिति तज्जयः ॥ ९
स्वसंवेदनयत्नेन विषयामिषतोऽनिशम् ।
किञ्चित्संरोधिता संवित्प्राप्तं वैबुधं पदम् ॥ १०
स्वधर्मव्यवहारेण यदायाति तदेव मे ।
रोचते नान्यदित्येव पदे वज्रदृढीभव ॥ ११

तत्राह—शाम्यतीति ॥ २६ ॥ ननु स्फुटानुभवनत्वात्सत्यपदं
गतस्य जगतः कथं ज्ञानमात्रादसत्त्वापत्तिस्तत्राह—स्फुटेति ।
यथा स्वप्नकाले स्फुटानुभवनस्यापि स्वाप्नजगतः परिज्ञानात्प्रबो-
धात् । तथा अनुभूयमाना अत एव सत्यपदं गतापि सर्गसं-
वेदनेति परेणान्वयः ॥ २७ ॥ २८ ॥ तच्च ज्ञानं समनस्केन्द्रिय-
जयं विना न लभ्यत इति दर्शयन्नुपसंहरति—जातीति । जाति-
ज्वरैर्जन्मज्वरभूतैः कामक्रोधादिदवाग्निभिर्ज्वलितेषु दीपेषु जीवि-
तजङ्गलेषु वातहरिणानां वातमृगाणां यस्तृणपर्णाद्याहरणक्रमः
कदाचिल्लभ्यते कदाचिन्नेत्येवंरूपस्वेन जीर्णानि शिथिलीभूतानि
माद्यतो मनसः प्राणपवनस्य च यः पातो बहिःसंचारस्तेन युता-
न्यमूनीन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानेनाविद्याजयमेहि प्राप्नुहि । तेन च
मुक्तः सन् पुनर्जन्म जहीहि त्यज । निवारयेति यावत् ॥ २९ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे
अविद्यानिरसनो नाम द्विषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६३ ॥

इहेन्द्रियजयोपायश्चित्तरोधश्चिद्व्यये ।

अभ्यासश्चास्य शास्त्रस्य कीर्तिता बोधहेतवः ॥ १ ॥

“जित्वेन्द्रियाणि जयमेहि जहीहि जन्म” इति यदिन्द्रियजय-
स्यावश्यकत्वं वसिष्ठेनोक्तं तत्रोपायं रामः पृच्छति—विनेति
॥ १ ॥ स्थाने त्वया प्रश्नः कृत इत्यनुमोदमानो वसिष्ठः प्रश्नं
पुष्पाति—नचेति । यथा तनुदृशो मन्दचक्षुषः पुरुषस्य अज्व-
लक्षपि दीपो न सूक्ष्मार्थदर्शने उपयुज्यते तथा न प्रभूतभोगे-

ष्वासकस्य, नापि पुंस्त्वे खोत्कर्षसंपादने आसक्तस्य, नापि
जीविते जीवनोपाये धनार्जनादावासकस्य शास्त्रादिसाधनं ब्रह्म-
दर्शनं उपयुज्यते । तथा इन्द्रियजयोन्मुक्तावपि तत्रोपयुज्यत
इत्यर्थः ॥ २ ॥ तत्तस्मादिन्द्रियजयस्यावश्यकत्वादेतया मदुक्त-
युक्त्या तनुरल्पापि साधनसंपत् स्वयत्नेन सिद्धिः मोक्षफलसि-
द्धिमेति प्राप्नोति ॥ ३ ॥ चेतनाचित्तोपनीतार्थप्रकाशकत्वात् ।
चित्ताधीनत्वादिति यावत् । यच्चेतति चित्तवृत्त्या व्याप्यं प्रथयति
तन्मयो भवति तत्रासज्जते । क्षीमयो जाल्म इतिवत् ॥ ४ ॥
एवं सति चित्तस्य प्रत्याहारप्रयत्नेनान्तराकर्षणेन बाह्याकारतां
निरुध्य ब्रह्माकारताप्रबोधनाभ्यासे स्वतः पङ्गुनीन्द्रियाण्यर्थादेव
जितानि भवन्तीति युक्तिमाह—संविदिति ॥ ५ ॥ तत्कुतस्त-
त्राह—चित्तमिति । नायकं स्वामिभावेन प्रवर्तकं निरोधकं च ।
पादमात्रावरणेन सर्वकण्टकजय इव चित्तमात्रावरणेन सर्वेन्द्रि-
यजय इत्याशयेनाह—उपानदिति ॥ ६ ॥ मनःशान्तौ तर्हि क
उपायस्तमाह—संविदमिति । संविदं चित्तावच्छिन्नसंविदं जीवं
संविदाकाशे ब्रह्मणि संरोप्य एकीकृत्य ॥ ७ ॥ स्वसंविदो जीव-
संविदो यत्नेन ब्रह्मणि संरोधादुत्करूपात् ॥ ८ ॥ संवेद्यते बला-
त्सम्यते तत्तत्तदधिष्ठानब्रह्मसंविदि प्रविलापनसंविदा नूनं निश्च-
येन विस्मर्यते तत्संस्कारोच्छेदेन पुनः स्मरणायोग्यं क्रियते ।
तत्तेनोपायेन भोगानां भोगहेतूनां विषयाणां इति एवं जयः
॥ ९ ॥ संरोधिता संविचेत्तेनोपायेन वैबुधं विबुधानां तत्त्व-
विदामनुभवसिद्धं स्वाराज्यपदं प्राप्तम् ॥ १० ॥ एवं स्वधर्मक-

संविप्रवृत्तिमर्थेषु विरुद्धेषु विवर्जयन् ।
 अर्जयच्छमसंतोषो यः स्थितः स जितेन्द्रियः ॥ १२
 संविद्रसिकतास्वन्तस्तथा नीरसतासु च ।
 यस्य नोद्वेगमायाति मनस्तस्योपशम्यति ॥ १३
 संविप्रयत्नसंरोधान्मनः स्थायनमुज्झति ।
 चेतश्चपलतोन्मुक्तं विवेकमनुधावति ॥ १४
 विवेकवानुदात्तात्मा विजितेन्द्रिय उच्यते ।
 चासनावीचिवेगेन भवान्धौ न स मुह्यते ॥ १५
 साधुसंपर्कसच्छास्त्रसमालोकनतोऽनिशम् ।
 जितेन्द्रियो यथावस्तु जगत्सत्यं प्रपश्यति ॥ १६
 सत्यावलोकनाच्छान्तिमेति संसारसंभ्रमः ।
 मयाविष जलज्ञानं मिथ्यापतनदुःखदम् ॥ १७
 अचेत्यमेव चिन्मात्रमिदं जगदिति स्थितम् ।
 इत्येव सत्यबोधस्य बन्धमोक्षदृशौ कुतः ॥ १८
 अनाकारं यथा वारि क्षीणं वहति नो पुनः ।
 अकारणं तथा दृश्यं ज्ञानच्छिन्नं न रोहति ॥ १९
 वेदनं व्योममात्रं त्वमहमित्यादिरूपधृक् ।
 वर्जयित्वैतदन्यत्स्यादहमित्यादिकं जगत् ॥ २०
 अविद्यामात्रमेवेदमहमित्यादिकं जगत् ।
 चिद्बोद्धयेव स्थितं शान्तं शून्यमात्रशरीरकम् ॥ २१
 इदं चिद्बोद्धिं चिच्छाया जगदित्येव भासते ।
 शून्यशून्यैव चिच्चासौ शून्या चेत्येव निश्चयः ॥ २२
 स्वप्नदर्शनदृष्टान्तः केन नामात्र खण्ड्यते ।

निष्ठतादार्ढ्यमपि वैतृष्यसिद्धिद्वारा इन्द्रियजयहेतुरित्याह—स्वध-
 मेति ॥ ११ ॥ विरुद्धेषु स्वधर्मविरुद्धेष्वर्थेषु देहाद्यानाहेतुष्वन्नादिषु
 संविप्रवृत्तिमिच्छाम् ॥ १२ ॥ यस्य मनः अन्तः संविद्रसिकतासु
 अहिर्निरसतासु चाभ्यस्यमानासु निर्वेदमरतिं नायाति तस्य तदु-
 पशम्यति ॥ १३ ॥ अयनं विषयानुधावनदुर्ब्यसनम् । सैवास्य
 चपलता तदुन्मुक्तं सत् ॥ १४ ॥ १५ ॥ एवं जितेन्द्रियः सन्
 अगद्यथावस्तु सत्यं ब्रह्ममात्रं प्रपश्यति ॥ १६ ॥ मिथ्यावस्तुषु
 पतनेन धावनेन दुःखदम् ॥ १७ ॥ १८ ॥ अनाकारं शोष-
 नेनोच्छिन्नमूर्ताकारम् ॥ १९ ॥ यतो व्योममात्ररूपं वेदनमेव
 स्वाविधया त्वमहमित्यादिरूपधृगतः स्वाभ्यस्तमहमित्यादिकमे-
 तज्जगज्ज्ञानेन वर्जयित्वा विमृष्य अभ्यस्तादन्यदभिज्ञानमात्रं
 स्यात् ॥ २० ॥ शान्तं मिथ्यात्वात्सत् एव शान्तमिति चिद्बो-
 द्येव तात्त्विके रूपे स्थितम् ॥ २१ ॥ असौ विष जगच्छू-
 न्याशून्येनापि शून्येत्येव निश्चयः सिद्धान्तः ॥ २२ ॥ उभय-
 शून्यता क्व प्रसिदेति चेत्स्वप्नदर्शने इत्याह—स्वप्नेति । अस-
 न्मय इति शून्यता अनुभूत इति शून्यशून्यता च । अनुभूतस्या-
 सन्मयत्वेऽपि स एव दृष्टान्त इत्याह—स्वानुभूतोऽपीति ॥ २२ ॥
 हे भग्न, स्वप्नप्रसवितिमात्रमात्मा स्वरूपं यस्य तथाविधो यद्य-
 द्वाज्यं वैभवं भूत्वा महीयते तत्तत्त्वितरेव रूपम् । यतस्तत्कर्तृ-
 कर्मकरणादिकारकनिरपेक्षं रूपम् । तद्वज्राप्रजगदपि बोध्य-

असन्मयोऽनुभूतश्च स्वानुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ २३
 सोऽङ्ग संवित्तिमात्रमात्मा यद्यद्वाज्यं महीयते ।
 तत्कर्तृकर्मकरणं रूपं तद्वज्राप्रजगदिति ॥ २४
 अकर्तृकर्मकरणमहं चिद्वनमात्रकम् ।
 जगच्चेदमनिर्देश्यं स्वसंवेदनलक्षणम् ॥ २५
 यथा स्वप्नेषु मरणमनुभूतं न विद्यते ।
 मयौ जलेच्छाऽविद्येयं विद्यमाना न विद्यते ॥ २६
 चिद्बोद्धा काचकच्यं खं सर्गादौ व्योम्नि चेत्तितम् ।
 जगदित्येव निर्मूलं काकतालीयवत्स्वयम् ॥ २७
 निर्मूलमेव भातीदमभातमपि भातवत् ।
 तस्माद्यद्वास्तुरमिदं तत्तदेव पदं विदुः ॥ २८
 जीवादिकचनं त्वत्र यद्भातीदं तदेव तत् ।
 शून्यतैव भवेद्बोम वार्येवावर्तवृत्तयः ॥ २९
 यथावयविनो रूपमेकं सावयवं भवेत् ।
 एकं जीवाद्यवयवं ब्रह्मानवयवं तथा ॥ ३०
 आभासमात्रं दृष्ट्यात्म चिन्मात्रं शान्तमव्ययम् ।
 स्थितमांस्थाः किमेतसिन्स्वभावे स्वे विचार्यते ॥ ३१
 नाद्यन्तमन्तःकलनाः काश्चित्सन्ति परे पदे ।
 तद्रूपमेवाविद्येयं नाविद्या त्विह विद्यते ॥ ३२
 जीवः स्वप्नादिशङ्काप्रजाग्रतः स्वप्नमाविशन् ।
 प्रबुद्धो वास्त्वबुद्धो वाप्येकरूपतया स्थितः ॥ ३३
 स्थिते सुषुप्ततुर्ये द्वे सदा स्वप्नेऽथ जाग्रति ।
 जाग्रत्स्वप्नावेकमेव तुर्यं वेत्ति तु बुद्धधीः ॥ ३४

मित्यर्थः ॥ २४ ॥ यद्यत्कर्तृकर्मकरणादिनिरपेक्षं तत्तच्चिद्वनमात्र-
 कर्ममेव । इदं जगच्च सर्गादौ कर्तादिमत्तया निर्देष्टुमशक्य-
 मिति प्राप्नुपपादितम् । अतो मदीयस्वप्नकाशात्मस्वरूपमेवेत्यर्थः
 ॥ २५ ॥ तथा च स्वाप्नस्वप्नमरणमजलनत्पतीतितो विद्यमा-
 नापि अविद्या ज्ञानवाधितत्वात् न विद्यत इत्याह—यथेति । जले-
 च्छापदेन जलभ्रान्तिर्लक्ष्यते ॥ २६ ॥ व्योम्नि स्वात्मनि चेत्तत्त्वं
 सकल्पितम् ॥ २७ ॥ इदं जगत्स्वाचित्प्रकाशात्रिमिताद्वा-
 स्तुरमपरोक्षं प्रथमानमात्मे तदेव नित्यापरोक्षं परमं पदं विदुरि-
 त्यर्थः ॥ २८ ॥ २९ ॥ अवयवावयविभावकल्पनद्वारा च
 जीवादेर्ब्रह्मैक्यं प्रतिपत्तव्यमित्याह—यथेति ॥ ३० ॥ स्पष्टि-
 काशिलान्तर्बनगिरिनद्याद्याभासवद्वा ब्रह्मणि जगद्बोध्यमित्याह—
 आभासमात्रमिति । तथा च तत्तच्छ्रुतास्वभाव एव जगदा-
 त्मना भासत इत्याशयेनाह—स्वप्नावे इति । किं विचार्यत
 इत्यन्वयः ॥ ३१ ॥ न आदिरन्तं च नाप्यन्तः मध्यप्रदेशानां
 कलनाः काश्चित्सन्ति ॥ ३२ ॥ स्वप्नजागरणव्यव्यतिरेकेण
 परिकथनेन वा शुद्धं जीवजगत्त्वं होयमित्याह—जीव इति ।
 प्रबोधप्रबोधयोर्भानैकरूपतया ॥ ३३ ॥ सुषुप्तमस्मिन्नावृत आत्मा
 तुर्यः शुद्धात्मा च भ्रान्तिकृतसर्पान्तः अज्ञानरजुकेवलरज्ज् इव

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च सर्वं तुर्यं प्रबोधिनाः ।
 नाविद्या विद्यते तस्य द्वयं स्थोऽप्येव सोऽद्वयः ॥ ३५ ॥
 द्वैतमद्वैतमित्येतदहंत्वमिदमित्यपि ।
 निरविद्यस्य कलना कुतः काप्यिम्बरं कुतः ॥ ३६ ॥
 द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्वाक्यसंदर्भविभ्रमैः ।
 क्रीडन्त्यबुद्धाः शिशवो बोधवृद्धा हसन्ति तान् ॥ ३७ ॥
 द्वैताद्वैतविवादेहा हृदयाकाशमञ्जरी ।
 विनैतयेह नोदेति प्रबोधाकाशमार्जनम् ॥ ३८ ॥
 सुहृद्भूत्वा विवादेन द्वैताद्वैतविचारणा ।
 कृता हृदयगोहेऽन्तरविद्यामस्यमार्जनी ॥ ३९ ॥
 तच्चित्तास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
 कथयन्तश्च तन्नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ४० ॥
 तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
 जायते बुद्धियोगोऽसौ येन ते यान्ति तत्पदम् ॥ ४१ ॥
 किलोपकुरुते यत्प्राणमात्रावगोपने ।
 कथं सिध्यत्ययत्नेन त्रैलोक्यगणगोपनम् ॥ ४२ ॥
 अध्यात्मव्यसनोन्मुक्तं ततं हृत्स्थाऽधमाऽप्रभु ।
 उपहासास्पदं यस्या जगदप्युत्तमस्थितेः ॥ ४३ ॥

संप्रजाप्रतोरन्तः स्थिते ॥ ३४ ॥ प्रबोधिनास्तत्त्वबोधवतः । एव-
 कारो भिन्नक्रमः । स द्वयं स्थोऽप्येव एवेति ॥ ३५ ॥ इत्यपि
 कापि कलना निरविद्यस्य कुतः, तथा अम्बरे शून्यं च कुतः
 ॥ ३६ ॥ अबुद्धा अप्रबुद्धाः शिशवो बालाः क्रीडन्ति ॥ ३७ ॥
 प्रबुद्धा अपि शास्त्रेषु कथं द्वैतविवादानिच्छन्ति तत्राह—द्वैते-
 ति । हृदयाकाशे अध्यारोपिता सिध्यप्रबोधफला मञ्जरी ॥ ३८ ॥
 अत एव मयापि सुहृद्भूत्वा विचारणा कृता
 कृतकार्या गोहमार्जनीव निरसिष्यत इत्याह—सुहृदिति ॥ ३९ ॥
 अविद्यामस्मिन् मार्जिते सति अधिकारिणस्तच्चित्ता ब्रह्मचित्ता ब्र-
 ह्मगतप्राणाः परस्परं बोधयन्तस्तुष्यन्ति रमन्ति च ॥ ४० ॥ एवं
 भजतां तेषां सततं विचारयुक्तानामसौ मदुपदिष्टो बुद्धियोगः
 कालेन हृदो जायते, येनासौ तदात्मा तत्पदं मोक्षाख्यं याति
 ॥ ४१ ॥ सततयुक्तानामिति प्रयत्नातिशयापेक्षोक्तेस्तात्पर्यमु-
 द्घाटयति—किलेति । तृणमात्रस्यापि जलवह्निपश्चादिभ्योऽवगो-
 पने रक्षणे यत्प्राणाधित एवोपाय उपकुरुते न हेल्या साधितः ।
 त्रैलोक्यगणस्य ब्रह्मीमावापादनेन गोपनमालयन्तिकपरिरक्षण-
 रूपं तत्त्वज्ञानमयत्नेन कथं सिध्यति ॥ ४२ ॥ यस्या निरति-
 शयानन्दलक्षणाया उत्तमस्थितेर्मानुषानन्दमारभ्य हैरण्यगर्भा-
 नन्दपर्यन्तमुत्तरोत्तरं शतशतशुणोत्कृष्टसुखोपभोगाय चतुर्दशभु-
 वनभेदेषु ततं विस्तृतं हृत्स्थस्य अधमस्य कामस्य जये अप्रभु अ-
 समर्थम् । कामोपहतमिति यावत् । जगदपि कात्कर्ष्ये अपिशब्दः ।
 कृत्स्नं जगज्जीवजातं तुच्छभोगासक्तत्वादुपहासास्पदं सा तादृशी
 सर्वोत्तमा स्थितिः कथं न यत्नमर्हतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥ भोगानां
 तुच्छतामवयुलोदाहरणेन दर्शयति—किं नामेति ॥ ४४ ॥

किं नामेदं किल सुखं यद्राज्यादिमनोह्वरम् ।
 तत्त्वज्ञानैकविश्रान्तौ देवराजपदं तृणम् ॥ ४४ ॥
 सुखाः प्रबुद्धाः पश्यन्ति दृश्यं दृश्ये रता यथा ।
 तथा दृश्येऽरताः शान्ताः सन्तः पश्यन्ति तत्पदम् ।
 विना यत्नभरणेन न कदाचन सिध्यति ।
 महतोऽभ्यासवृक्षस्य फलं विद्धि परं पदम् ॥ ४५ ॥
 इदं बहुकमेतेन किमेतेनेति दुर्मतिः ।
 न प्राप्नोतावताप्युक्ते नादत्ते नेदमङ्गधीः ॥ ४६ ॥
 भूयोभूयः परावृत्त्या चिरमास्वाद्यते यदि ।
 श्रूयते कथ्यते चेदं तज्ज्ञेनाज्ञेन भूयते ॥ ४७ ॥
 यस्त्वेकवारमालोक्य दृष्टमित्येव संत्यजेत् ।
 इदं स नाम शास्त्रेभ्यो भस्माप्याप्नोति नाधमः ॥ ४८ ॥
 इदमुत्तममाख्यानमध्येयं वेदवत्सदा ।
 व्याख्येयं पूजनीयं च पुरुषार्थफलप्रदम् ॥ ४९ ॥
 यदस्मात्प्राप्यते शास्त्रात्तद्वेदादवाप्यते ।
 अस्मिन्नाते क्रिया ज्ञानं द्वयं याति पवित्रताम् ॥ ५० ॥
 वेदान्ततर्कसिद्धान्तस्त्वस्मिन्नाते च बुध्यते ।
 इदमुत्तममाख्यानं व्याख्यातं शास्त्रदृष्टिषु ॥ ५१ ॥

अज्ञाननिद्रा सुप्ता दृश्ये विषयभोगे रता जना यथा दृश्यमत्या-
 सक्त्या पश्यन्ति तथा शान्ताः सन्तस्तत्त्वविदो दृश्ये अरताः
 प्रसुप्तप्रायास्तच्चिरतिशयानन्दं पदं प्रबुद्धाः पश्यन्तीत्यर्थः ।
 तथा चोक्तं भगवता—‘या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति
 संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥’
 इति ॥ ४५ ॥ ईदृशं नित्यापरोक्षनिरतिशयानन्दरूपं मोक्षपदं
 यत्नभरेण विना कथं सिद्ध्येदित्यभ्यासावश्यकतामाह—विनेति
 ॥ ४६ ॥ अत एव मया भवतामभ्यासदार्ढ्यं भवत्विति पुनः पुनर्भ-
 ज्यन्तरेण युक्त्यन्तरेण कथाख्यानादिविस्तरेण चेदमेव बहुवार-
 मुक्तम् । भवद्विष्व पुनः पुनस्तदेव भगवतोच्यते बहुक्तेन पुनर्भ-
 जसहस्रविस्तारितेनैतेन ग्रन्थेन एतेनाभ्यासश्रमेण च किं प्रयो-
 जनमित्यश्रद्धालक्षणा दुर्मतिर्न प्राप्ता । सुज्ञस्यातिकुशलबुद्धेः कस्य-
 चिदेव नाभ्यासापेक्षा । अश्वीस्तु एतावता विस्तृतेनाप्युक्ते-
 नोपदेशवाक्येन इदमतिदुरुहमात्मतत्त्वं हृदि नादत्ते । अतस्त-
 स्यावृत्त्यादिलक्षणोऽभ्यास आवश्यक इत्यर्थः । तथा च भगवतो
 वादरायणस्य सूत्रम्—‘आवृत्तिरसकृदुपदेशात्’ इति ॥ ४७ ॥
 अत एवायं ग्रन्थो मन्दमध्यमाधिकारिभिर्यावज्ज्ञानोदयं पुनः-
 पुनः श्रवणाद्यावर्तनेनास्वादनीय इत्याह—भूयोभूय इति । इदं
 मदुक्तं शास्त्रम् । अज्ञेनापि एतदावर्तनोपायेनावश्यं तज्ज्ञेन
 भूयते नात्र संदेह इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ अनभ्यासपरस्य तु नैतत्फ-
 लावाप्तिरिति तं निन्दति—यस्त्विति । शास्त्रेभ्यः अनध्या-
 त्मशास्त्रेभ्यः ॥ ४९ ॥ ५० ॥ प्रत्यक्षवेदोपबृंहणत्वादस्य का-
 ण्डद्वयफलसर्वस्वसाधनत्वादतिप्रशस्ततरत्वं दर्शयति—यदिति ।
 क्रिया पूर्वकाण्डार्थः । ज्ञानमुत्तरकाण्डार्थः । द्वयमपि पवित्रता-
 मालयन्तिकाशुद्धिनिरासफलताम् ॥ ५१ ॥ चकारो भिन्नक्रमः ।

कारुण्याद्भवतामेतदहं वच्मि न मायया ।
भवन्तस्त्ववगच्छन्ति मायामेतद्विचार्यताम् ॥ ५३
अस्माच्छास्त्रवराद्बोधा जायन्ते ये विचारितात् ।
लवणैर्वर्जजनानीव भान्ति शास्त्रान्तराणि तैः ॥ ५४
अनार्यमिदमाख्यानमित्यनादृत्य हृदयधीः ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे ब्राह्मी० दे० सो० निर्वा० उ० इन्द्रियजयोपायशास्त्रवर्णनं नाम त्रिषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमः सर्गः १६४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जीवाणवो जगत्पुनश्चिदादित्यांशुमण्डले ।
यत्र तेऽवयवास्तुल्यास्तेनानवयवात्मता ॥ १
सर्वे प्राप्य परं बोधं वस्तु स्वं रूपमुज्जति ।
पुनस्तवेकवाक्यत्वान्न किंचिद्वापरं भवेत् ॥ २
सर्वास्त्रेवास्ववस्थासु तत्त्वज्ञविषयं तु तत् ।

वेदान्तेषु ये यादरायणादिभिर्दिशितास्तात्पर्यनिर्णयानुकूलोपक्रम-
मादिलिङ्गकतर्कालौक्यवस्थापितः सिद्धान्तः स चास्मिन् ज्ञाते शु-
द्ध्यत इति विशेषद्योतनार्थस्तु वाच्यः । शास्त्रदृष्टिषु मध्ये निक्षिप्तवे-
माख्यातं व्याख्यातं श्रेष्ठतया ख्यातमित्यर्थः ॥ ५३ ॥ मायया कैत-
वेन न वच्मि किंतु कारुण्यात् । भवन्तस्त्वस्माच्छास्त्रवराद्विचा-
रितादतद्दृश्यजातं मायां मिथ्येत्यवगच्छन्त्यत एतच्छास्त्रं वि-
चार्यताम् ॥ ५३ ॥ अस्माच्छास्त्रवराद्विचारिताये बोधा जायन्ते
तेर्बोधैः शास्त्रान्तराणि लवणैर्वर्जजनानीव रुचिराणि भान्तीतीदं
सर्वशास्त्रोपजीव्यमित्यर्थः ॥ ५४ ॥ अनार्यं काव्यत्वादपूज्यम् ।
हृदयेषु भोगेष्वप्युक्ता धीर्येषाम् । 'सुपां सुलुक्' इति छान्दसः
पूर्वसवर्णधीर्बः सुव्यत्ययो वा । आत्मनः पुनःपुनर्भूत्युपरम्परा-
प्राप्तिहेतुमोहगतपातिनः । ततश्च पुनःपुनर्भवभागिनो जन्म-
भाजो मा भवन्तु ॥ ५५ ॥ नन्वस्मात्कुले पूर्वजैस्तपःकर्मादि-
निष्ठैवाश्रिता न ब्रह्मनिष्ठा । अस्मदीयाः पूर्वजाः कर्मसीमांसका
अस्मदीयाः पूर्वजास्तार्किका अस्मदीयाः पूर्वजाः सांख्या अस्म-
दीयाः पूर्वजास्तान्त्रिका मन्त्रसिद्धा योगसिद्धा औषधरसायना-
दिसिद्धा वा अभूवन्नतो वयमपि तद्दृश्यास्तत्तदनुसृतमेव मार्ग-
माश्रयिष्यामो नाभ्यात्मशास्त्रमिति श्रुवाणां जनानुपहसन्मुमु-
क्षूणां तन्मार्गप्रवृत्तिं धारयति—तातस्येति । कापुरुषाः दुरभि-
मानेन संनिहितमपि जाह्नवीजलमनादृत्य यथा क्षारं जलं पिब-
न्ति तथा भवन्तोऽप्यज्ञतास्यै पुनःपुनर्जन्मपरम्परासु मौर्ख्यास्यै
मौर्ख्यस्यैव कामाय अनिशं विरुद्धमिविधविचारवन्तो मा भव-
तेत्यर्थः ॥ ५६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे इन्द्रियजयोपायशास्त्रवर्णनं नाम
त्रिषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६३ ॥

ब्रह्मभावोऽवज्जीवज्जाज्ञावविमार्जनैः ।

इह जीवज्जाज्ञासामरसं प्रसाध्यते ॥ १ ॥

तत्रादौ जीवभावं विमार्हमारमते—जीवाणव इत्यादिना ।

१ मूलस्तात्पर्यान्तर इत्यस्यायमर्थः ।

मा भवन्त्वात्महन्तारो भवन्तो भवभागिनः ॥ ५५

तातस्य कूपोऽयमिति श्रुवाणाः

क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ।

यथा भवन्तो विविचारवन्त-

स्तथानिशं मा भवन्ताज्ञतास्यै ॥ ५६

परमेवामलं ब्रह्म नान्यत्किंचित्कदाचन ॥ ३
यच्चातस्त्वज्ञविषयं तज्ज्ञानाति स एव तत् ।
धर्यं तु विज्ञो नाहं त्वं नातस्त्वज्ञं न वस्तु तत् ॥ ४
अयं सोऽहमयं चाज्ञः सत्योऽयमिति बुद्ध्यः ।
संभवन्ति न तत्त्वज्ञे क मेतौ मृगतृणिका ॥ ५
यथैकद्रव्यनिष्ठे हि चित्तेऽन्यद्रव्यसंविदः ।

सर्वतः परिपूर्णस्य चिदादित्यस्य मण्डले अन्तःस्फुरति यत्र
जगति ते प्रसिद्धा जीवाणवस्तेन चिदादित्येन तुल्या अभिविस्तु-
लिङ्गवत्समानप्रकाशस्वभावास्तेन हेतुना अनवयवात्मता चिदा-
दित्यस्य सिद्धा । इत्तपादाद्यवयवानां परस्परविरुद्धाकारादि-
स्वभावत्वदर्शनादवयविनश्च वेभ्यो भिन्नाकारसंस्थानादिदर्शना-
त्तत्र भेदोऽवयवाधयविभावश्च लोके प्रसिद्धो न चात्यन्ततुल्यात्वे
इति भावः ॥ १ ॥ नन्वेवं नक्षत्राणामपि नभसि समानप्रका-
शस्वभावदर्शनात्परस्परभेदो निरवयवत्वं च तेजसः किं न
स्याद्भिन्नदेशात्तेन प्रकाशतारतम्येन च परिहारस्तु जीवेष्वपि
तुल्य इत्याशङ्काह—सर्वमिति । न नक्षत्रभेदवज्जीवानां भेदः
किंतु घटकरकाद्याकाशभेदवदौपाधिकः । तत्र भेदकमन्तः-
करणाद्युपाधिवस्तु सर्वं परमखण्डाकारमपरोक्षमहं ब्रह्मासीति
बोधं प्राप्य स्वमुपाधिरूपं स्वकृतं भेदरूपं चोज्जति उत्पद्यति ।
अपगते चोपाधिभेदे प्रतिज्ञासिद्धिरित्यर्थः । अथवा पूर्वं जीवा-
नामविद्यया परस्परविरुद्धधर्मतां प्रदर्श्य ब्रह्मैकवाक्यताविच्छे-
दाद्भेद इव बन्ध इवानर्थ इवाभूत् । इदानीं विद्यया अविद्यां
निरस्य विरुद्धधर्मनिरासेन 'पुनर्ब्रह्मैकवाक्यतासंपादनादवयव-'
वयविभावादिना भेदकमपरं किं भवेदित्यर्थः ॥ २ ॥ तर्हि
किमविवान्तःकरणदेहभेदाद्यवस्थासु पूर्व जीवा भिन्ना एव इदानीं
विद्यया ब्रह्मैक्यं प्रापिताः, नेत्याह—सर्वास्त्रेवेति । तत्त्वज्ञविषयं
तु यद्ब्रह्म तत् आसु सर्वास्त्रेवावस्थासु भेदादिमलशून्यमेकरस-
मेव । न कदाचिदपि किंचिद्भेदमलं तत्रास्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥ कथं तर्हि
पूर्वमहत्वादिमलदर्शनं तत्राह—यद्येति । तन्मलिनं वस्तु न न
विशः ॥ ४ ॥ कुतो विशस्तत्राह—अयमिति । पिपासितश्रान्तहर्षा
हि शृगतृणाप्रसिद्धिः । न च स्वर्गभूते मेतौ पिपासाप्रमादयः
कस्यचित्सन्तीति तदप्रसिद्धिरिति भावः ॥ ५ ॥ यथा स्यात्पुनरेव
शुक्तिरेवेत्येकद्रव्यनिष्ठे एकरूपद्रव्यतत्त्वनिश्चयवति पुरुषे अन्त्या-
स्तादिरुद्धाः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयसंविद इदं रचयति

न भवन्ति परे तद्वन्नान्यास्तिष्ठन्ति संविदः ॥ ६
 इदं नासीन्न चोत्पन्नं न चास्ति न भविष्यति ।
 जगद्ब्रह्मैव सद्रूपमिदमित्थमवस्थितम् ॥ ७
 चिन्नमः काचकच्यं च स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
 जगदित्येयं तत्तत्र तज्ज्ञानेनैव चेत्यते ॥ ८
 स्वप्नेषु कल्पनपुरेषु यथान्यदस्ति
 चिन्मात्रमच्छगगनं ननु वर्जयित्वा ।
 नो किंचनापि न च रूपमरूपकेषु
 रूपं तथा जगति संप्रति जाग्रदाख्ये ॥ ९

पूर्वं किलोद्भवति किंचन नाम नेदं
 तच्चावभाति तदनादि खमेव चित्त्वात् ।
 नो कारणं न सहकारि किलास्ति यत्र
 तस्मात्स्वयं भवति वस्त्विति केयमुक्तिः ॥ १०
 तस्मात्स्वयं भवति नेह हि कश्चिदादौ
 ब्रह्मादयोऽहविदिता न च नाम सन्ति ।
 व्योमेदमाततमयं स इतः स्वयंभू-
 रित्यादि चिद्गगनमेव चिता विभाति ॥ ११

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० जगत्परमात्मनोरैक्यभोगोपदेशो नाम चतुःषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६४ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकशततमः सर्गः १६५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जाग्रत्स्वप्ने स्वप्न एव जाग्रत्स्वप्नगच्छति ।
 स्वप्नजाग्रति जाग्रत् स्वप्नतामुपगच्छति ॥ १
 स्वप्नो जाग्रत्प्रविशति जाग्रत्स्वप्नात्प्रबुध्यते ।
 जाग्रत्स्वप्नं प्रविशति प्रबुद्धः स्वप्नजाग्रतः ॥ २
 जाग्रत्स्वप्नवता स्वप्नः स्वप्न इत्यभिधीयते ।
 स्वप्नजाग्रद्वता जाग्रज्जाग्रदित्यभिधीयते ॥ ३

तज्जाग्रज्जाग्रतीवेह न तु स्वप्नः कदाचन ।
 स्वप्ने स्वप्नो जाग्रदेव न तु जाग्रत्कदाचन ॥ ४
 लघुकालात्मकः स्वप्नः सर्वदैव हि जाग्रति ।
 लघुकालात्मकं जाग्रत्स्वप्नकाले सदैव च ॥ ५
 न जाग्रत्स्वप्नयोर्भेदः कश्चनास्ति कदाचन ।
 एकस्यावसरोऽन्यत्र द्वयोरपि न सन्मयः ॥ ६
 मृत्तिप्रबोधसमये जाग्रत्स्वप्नः प्रशाम्यति ।

परस्परानुप्रवेशात्परस्परसमुद्भवात् ।

चिन्मात्रत्वं दृढीकर्तुं जाग्रत्स्वप्नैक्यमीर्यते ॥ १ ॥

भ्रान्तिसंविदश्च न भवन्ति तद्वत् परे तत्त्वे निश्चिते अन्या
 नेदध्रमसंविदो न तिष्ठन्ति ॥ ६ ॥ इत्थं जीवभावं विमृज्य
 तथैव जगद्भावमपि विमार्ष्टुमारमते—इदमिति । इत्थं मार्जने
 जगद्ब्रह्मैव भूलावस्थितम् ॥ ७ ॥ एवं मार्जने जगत्त्वेन दृढीतं
 चिन्नमः काचकच्यं स्वात्मन्येव शुद्धब्रह्मभावेऽवतिष्ठते । तत्र
 तस्यां दशायां जीवन्मुक्तैस्त्वदेव जगदिति तज्ज्ञानेनैव चेत्यते न
 जडं किंचिदित्यर्थः ॥ ८ ॥ यथा स्वप्नेषु मनोराज्यकल्पितपुरेषु
 च अमलं चिन्मात्रमेकं वर्जयित्वा अन्यन्नास्ति तथा संप्रति जाग्र-
 दाख्येऽपि जगति चिन्मात्रं विना न किंचनाप्युपाधिस्वरूप-
 मस्ति । एवमुपाधिभारजनेनारूपकेषु जीवेषु न च रूपान्तरम-
 स्तीति चिदैकरस्यं सिद्धमित्यर्थः ॥ ९ ॥ 'सदैव सोम्येदमग्र
 आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतेर्यत्र सर्गात्पूर्वं नो कारणं परि-
 णाम्युपादानं नापि सहकारि निमित्तकारणं च किलास्ति तस्मा-
 ज्जगद्भवतीतीयमुक्तिः का । अतः किंचनेदं नोद्भवति यचोद्भूत-
 मिवावभाति तदनादि ब्रह्म खमेव चित्त्वभावात्स्वयमेव तथाव-
 भातीति सिद्धमित्यर्थः ॥ १० ॥ अमुमेवार्थं दृढीकुर्वन्पुनः
 स्पष्टमाह—तस्मादिति । अज्ञैर्विदिता ब्रह्मादयो व्यष्टिसमष्टि-
 जीवतदुपाधयो नैव सन्ति । किंतु स स्वयंभूरयं प्रपञ्चश्च इतो ब्र-
 ह्मणः सकाशाद्योम शून्यमेवेदमाततं चिद्गगनमेव स्वचिता तथा
 विभातीति सिद्धमित्यर्थः ॥ ११ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणता-
 त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगत्परमात्मनोरैक्यभोगो-
 पदेशो नाम चतुःषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६४ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः परस्परानुप्रवेशेन प्रत्येकं त्रिविधाः ।
 जाग्रज्जाग्रत् जाग्रत्स्वप्नः जाग्रत्सुषुप्तिः, स्वप्नजाग्रत् स्वप्नस्वप्नः
 स्वप्नसुषुप्तिः, सुषुप्तिजाग्रत् सुषुप्तिस्वप्नः सुषुप्तिस्वुप्तिरिति । एते
 हि सुरेश्वरवार्तिके प्रागुत्पत्तिप्रकरणे बोदाहरणमेदैक्यपादिता
 इह सिद्धवदुपाधीयन्ते । तत्र जाग्रत्स्वप्ने मनोराज्ये इन्द्रियव्यापार-
 निरपेक्षत्वात्केवलमनोमयत्वाच्चार्थानां स्वप्नसाम्येन स्वप्न एव जा-
 ग्रत्स्वप्नगच्छति । एवं स्वप्नेऽपि एतावत्कालमहं सुप्त इदानीं
 जागर्मीति प्रतीतिदर्शनात्प्रसिद्धे स्वप्नजाग्रति तु स्वानुभवसिद्धा
 जाग्रदेव स्वप्नत्वमुपगच्छतीत्यर्थः ॥ १ ॥ परस्परानुप्रवेशवदनयोः
 परस्परनिमित्तता वास्तीत्याह—स्वप्न इति । स्वप्नरूपादेव जाग्रतः
 प्रबुद्धः सन् जाग्रद्रूपमेव स्वप्नं प्रविशत्यात्मेति परस्परनिमित्त-
 तापि दृश्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥ अनयोर्व्यपदेशसांकर्यमपि दृश्यत
 इत्याह—जाग्रदिति । स्वप्नस्वप्नो जाग्रज्जाग्रदित्युभयत्र वीप्सया
 द्विवचनम् ॥ ३ ॥ तत्र स्वप्नेऽपि जाग्रत् इह जाग्रतीव अनुभ-
 वतो जाग्रदेव न तु स्वप्नः । एवं जाग्रत्स्वप्ने मनोराज्ये जाग्रत्स्वप्न
 एवानुभवतो न तु जाग्रदित्यर्थः ॥ ४ ॥ स्वप्नस्याल्पकालता
 जाग्रतो दीर्घकालता च परस्परानुप्रवेशे विपरीतेत्याह—लघु-
 कालात्मक इति ॥ ५ ॥ एवं परस्परसांकर्यं यत्सिद्धं तदाह—
 नेति । द्वयोरप्यन्यत्र एकस्यावसरः परस्परानुप्रवेशो युक्त्या
 सन्मयो न ॥ ६ ॥ ननु स्वप्नः प्रबोधे प्रशाम्यति, स्वप्नार्थाव

स्वप्नानुभवबोधे च शून्य एवातिमाखरः ॥ ७
जीवतः स्वप्नसमये मृतिबोधोदयं विना ।
परलोकात्मकं जाग्रत्किञ्चनापि न दृश्यते ॥ ८
स्थिते जीवितबोधेऽस्मिञ्छून्ये नानामयात्मनि ।
परलोकात्मकः स्वप्नः कश्चनापि न दृश्यते ॥ ९
चिच्चमत्कृतिमात्रात्म-यथा स्वप्ने जगन्नयम् ।
हृदि सर्गात्प्रभृत्येव तथैवाभाति जाग्रति ॥ १०
सन्त्येवासत्यभूतानि स्फारापि परमार्थतः ।
नास्त्येवाकारत्रयेयं स्वप्नोऽन्यामिव जाग्रति ॥ ११
नानात्मभासुरमपि स्वप्ने शून्यं यथा जगत् ।
तथैव जाग्रत्यखिलं व्योमैवेदं चिदात्मकम् ॥ १२
चिद्योऽसौ हि स्वभावोऽयं यदिदं जगदम्बरे ।

कचतीत्यमिह स्फारमालोक इव तेजसः ॥ १३
चितेश्वमत्कृतिरियं जगन्नाम्नी चकास्त्वलम् ।
सहजा गगने कुड्ये परमाणौ स्थले जले ॥ १४
भ्रान्तावसत्यरूपायां स्थितायां सत्यवस्तुवत् ।
आकाशमात्रदेहायां क इवैनां प्रति ग्रहः ॥ १५
अहीतुग्रहणग्राह्यरूपमाशून्यमेव च ।
सदस्त्वेवासदेवास्तु जगदनाङ्ग किं ग्रहः ॥ १६
इत्थमस्तिवदमथान्यथास्तु वा
मैवं भूञ्जवतु कोऽत्र संभ्रमः ।
कोऽत्र फल्गुनि फले फलग्रहो
बुद्धमेव तदलं विकल्पनैः ॥ १७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराजायणे वा० त्रे० मो० नि० उ० जाग्रत्स्वप्नयोपदेशो नाम पञ्चषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकशततमः सर्गः १६६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सार्थकेनात्मशब्देन ख्यातिशब्देन चोज्झिताम् ।
आत्मख्यातिमिमां विद्धि शिलाजठरनिर्घनाम् ॥ १
आदिसर्गात्प्रभृत्येव चिद्योमैवेत्थमाततम् ।

जागरे शून्य एवावतिष्ठन्ते, नैवं जाग्रत्प्रशाम्यति, नाप्यर्था
असन्तो दृश्यन्त इति स्वप्नवैधर्म्यशङ्कां निरस्यति—मृतीति ।
अयं जाग्रदवस्थायांऽपि स्वप्नो मृतिक्काळे यः परलोकप्रबोध आल-
म्बितकहेतुमृतिक्षणस्तत्त्वप्रबोधश्च तत्समये प्रशाम्यत्येव । प्रत्यहं
स्वप्नानुभवलक्षणे स्वाप्नार्थबोधकाळे चकारास्तुष्टुसिकाळे च शून्य
एवावतिष्ठत इति साधर्म्यमेव न वैधर्म्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥ नन्व-
यतनस्वाप्नार्थः श्वस्तनस्वप्ने असन्त एव, अयतनजाग्रदवस्थासु
श्वस्तनजाग्रदनुवर्तन्त इति वैधर्म्यमित्याशङ्कां जन्ममेवेज्जननु-
वृत्तिप्रदर्शनेन परिहरति—जीवत इति । मृतिबोधोदयं विना
मरणोत्तरप्रबोधदृश्यानामभावात्परलोकात्मकं जाग्रत्किञ्चनापि न
दृश्यते ॥ ८ ॥ एवं स्थिते अस्मिन्नयतनस्वप्ने जीवनादिसर्व-
स्वाप्नप्रपदार्थशून्ये भ्रान्त्यैव नानामयात्मनि जीवामीति जीवित-
बोधे सति श्वस्तनः पूर्वेषुस्तनश्च स्वप्नः परलोकात्मकप्राय इति
कश्चनापि तत्रत्यपदार्थोऽत्रानुवर्तमानो न दृश्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥
चिच्चमत्कारमात्रात्मत्वं च द्वयोरपि तुल्यमित्याह—चिदिति ।
हृदि अन्तःकरणे ॥ १० ॥ स्वप्नकये जाग्रत्स्वप्नलोव्यादीनां स्वाप्ना-
र्थवभिराकारत्वमसत्यत्वं च स्फुटमित्याह—सन्त्येवेति ॥ ११ ॥
ततश्चिन्मात्रपरिशेषोऽपि सिद्ध इत्याह—नानात्मेति ॥ १२ ॥
तेजसः सूर्यादेरालोकः प्रमेव ॥ १३ ॥ सहजा स्वाभाविकी ॥ १४ ॥
एनां अगङ्गान्ति, प्रति ग्रह आग्रहः कः । अनुचित एवेत्यर्थः
॥ १५ ॥ अहीनादित्रिपुटीजगद्रूपमाशून्यमसदेव । अर्थे, चः ।
अधिष्ठानसत्तया सदस्तु, अथवा असदेवास्तु, अत्रास्तिन्विषये
ग्रह, एकतरपक्षव्यवस्थापनदुराग्रहः, किंप्रयोजन इत्यर्थः ॥ १६ ॥

कचत्यात्मनि यत्तस्य बुद्धा तेनैव सर्गता ॥ २
न वहन्तीह सरितो नेहोन्मज्जनमज्जने ।
व्योम व्योम्येव चिद्रूपं कचत्येषमनिर्झितम् ॥ ३

अबोधोदेकतरपक्षाभिमानसंभ्रमः—स्यात् । इदानीं भवद्विस्त-
र्यतो बुद्धमेवेति अत्रैतदन्तर्गतभोगलक्षणे एतत्सत्यताप्रतिष्ठा-
पनेनेतरलक्षणे च फल्गुनि फले कः फलवग्रहः । अनुचित
एवेत्यर्थः ॥ १७ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतत्पर्यप्रकाशे
निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जाग्रत्स्वप्नयोपदेशो नाम पञ्चषष्ठ्यधि-
कशततमः सर्गः ॥ १६५ ॥

आत्मख्यातिविशेषोऽत्र तथा ख्यात्यन्तरस्थितिः ।

ग्रहणीलशिलाख्यानं चोक्तं प्रश्नोत्तरान्वितम् ॥ १ ॥

‘चितेश्वमत्कृतिरियं जगन्नाम्नी चकास्त्वलम्’ इति यदुक्तं
तत्र अख्यालसत्ख्यालन्याख्यास्यात्मख्यात्याख्यासु चतसृषु
धादिमेदसमतासु ख्यातिषु कया ख्यात्या स विदुषा चकास्तीति
रामस्य जिज्ञासां मुनिर्लिङ्गैरुपलक्ष्य तत्र विद्वद्बुद्ध्या धादिमेदक-
ल्पितानां चतसृणामपि शशशृङ्गप्रायतेति निरसिष्यन्विद्वत्स-
मतां पञ्चमीमलौकिकीमात्मख्यातिं व्युत्पादयितुमारभते—सार्थ-
केनेत्यादिना । सार्थकेन वाच्यायैसहितेन । तथा चाखण्डार्थकप-
दद्वयलक्ष्यामित्यर्थः । वक्ष्यमाणशिलाजठरमिव, निरन्तरं घनाम्
॥ १ ॥ आत्मैव ख्यातिरिति पदद्वयस्य सामानाधिकरण्येनान्वये क,
आत्मा सा च किमपि यिणी ख्यातिरिति जिज्ञासायामाह—आदि-
सर्गादिति । यद्यस्मात्तेनात्मना आत्मन्येव सर्गता बुद्धा स्वै-
तन्यवलेन ख्यापिता तत्तस्मादयमात्मैव सर्गताविषयिणी ख्याति-
रित्यर्थः ॥ २ ॥ तत्रात्मशब्दव्याख्यानपरे चिद्योमशब्दे ।
व्योमशब्दस्य प्रपञ्चशून्यतैवार्थः । अतः प्रपञ्चस्तत्ख्यातिश्च,
मैवेत्येवकारार्थ इति दर्शयति—न, वहन्तीत्यादिना । कचति-

कचनोक्त्या तु रहितां समप्रेणास्तकल्पनाम् ।
 विनोत्तरपदार्थेन त्वात्मख्यातिमिमां विदुः ॥ ४
 आत्मैवेदं जगत्सर्वं ख्यातिर्यत्र न किञ्चन ।
 अख्यातो नाम न ख्यात्या कदाचित्ख्यापितः क्वचित्
 ख्यातिरख्यातिरित्यत्र वाचोयुक्तिरवास्तवी ।
 किं तत्र ख्यापनं नाम स्याद्वाप्यख्यापनं च किम् ॥ ५
 अख्यातिरन्यथाख्यातिरसत्ख्यातिरितीतरा ।
 दृश्याधिन्मात्ररूपस्य भासश्चित्त्वचमत्कृताः ॥ ७
 यथा यथा यदा ये ये चिन्मात्रव्योमभासतः ।
 चिदंशवः कचन्त्यच्छास्तदा ते ते तथा तथा ॥ ८
 आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
 इत्येताश्चिच्चमत्कृत्या आत्मख्यातेर्विभूतयः ॥ ९
 आत्मख्यातिपदस्यार्थ आत्मख्यातिपदोद्दिष्टः ।
 अनाद्यन्तो निरुल्लेखः सोऽयमेकघनः स्थितः ॥ १०
 तत्रेदं महदाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम् ।
 दूषणं द्वैतदृष्टीनां द्योतनं बोधभासतः ॥ ११
 अस्ति योजनकोटीनां सहस्राणि प्रमाणतः ।
 आनीलकुड्यकठिना विमला विपुला शिला ॥ १२

ख्यायते । अनिश्चितं निष्क्रियम् ॥ ३ ॥ कचनोक्त्या कचन-
 वाचकेन ख्यातिशब्देन । उत्तरपदं ख्यातिशब्दत्वेन तदर्थेन च
 विना स्वप्रकाशमात्मानमेव स्वात्मकसर्गप्रख्यानात्मकत्वादात्म-
 ख्यातिं विदुर्विद्वांस इत्यर्थः ॥ ४ ॥ एवं चिन्मात्ररूपे सर्वे
 वाच्यमितार्थानामख्यात्यादिशब्दानामसंगतिरित्याह—आत्मै-
 वेति । यदा इदं जगत्सर्वमात्मैव स च स्वप्रकाशात्मैव स कदापि
 स्वातिरिक्त्या ख्यात्या न ख्यामित इति अख्यात इति वाचो-
 युक्तिस्तत्र स्यात् । न त्वख्यातिरिति भावार्थकचिन्नन्तपदं तत्र
 घटयितुं शक्यमित्यर्थः ॥ ५ ॥ कुतो न शक्यं तत्राह—ख्या-
 तिरिति । ख्याधातोर्हि प्रथा अर्थः । प्रत्ययस्य भावः स त्र सत्ता ।
 तथा च ख्यानात्मिका सत्ता ख्यातिशब्दार्थः । तथाविधश्चा-
 यमात्माख्यातिरेवेति न नवर्थेन संबध्यत इत्यख्यातिरिति परा-
 भिमता वाचोयुक्तिस्तत्रावास्तवीत्यर्थः । अस्तु तर्हि हेतुमण्य-
 न्तोदत्र चिन् । तत्रापि 'गेरनिटि' इति णिलोपे ख्यातिरिति रूप-
 सिद्धेस्तथा च न विद्यते ख्यातिः ख्यापनं यत्र सा अख्याति-
 रिति व्युत्पत्त्या पराभिमतोऽर्थस्तत्र सेत्स्यतीत्याशङ्क्याह—किं
 तत्रेति । अडे हि सर्वेऽभ्युपगते तत्रान्यकृतं ख्यापनमख्यापनं
 चोपयुज्यते । यदा तु स्वप्रकाश आत्मैव सर्गस्तदा दीपे दीपान्तरे-
 णैव तत्र ख्यापनमख्यापनं च किम्, न किंचिदिति सर्वथा पराभिमतं
 न घटत इत्यर्थः । एतेनासत्ख्यात्यान्यथाख्याती अपि वाच्यन्तरा-
 भिमते प्रत्याख्याते । नवर्थेन वदसदन्यथाशब्दार्थयोरपि ख्याति-
 पदार्थेन सह अन्वयायोग्यत्वादिति भावः ॥ ६ ॥ यदि तु स्वप्र-
 मनोराज्यादिदृश्यान्तरतुल्याः कल्पनामात्ररूपा, अख्यात्यादय-
 श्चिच्चमत्कारा एवेत्यभ्युपगच्छन्, तर्हि तथास्तु न कान्तिः
 क्षतिरित्याह—अख्यातिरिति ॥ ७ ॥ चिदंशवः अग्निविस्तु-

नसन्धिवन्धा निबिडा वज्रसारा विसारिणी ।
 अत्यन्तपुष्टकठिनजठराकाशनिर्मला ॥ १३
 असंख्यकल्पनिचयमविनाशा धनाङ्गिका ।
 कान्ताङ्गी निर्मलत्वेन व्योमरूपैव लक्ष्यते ॥ १४
 जातिस्तु ज्ञायते तस्या विशिष्टा नैव केनचित् ।
 कथं कुत्र कदा चेति न विज्ञाता सदैव सा ॥ १५
 अन्तस्तस्यास्तु हृदये भूतधातुविवर्जिते ।
 निबिडानन्तकठिना वज्रसाराऽविनाशिनी ॥ १६
 लेखामयानि विद्यन्ते स्वाङ्गभूतानि भूरिशः ।
 पद्मजालानि शङ्खाश्च गदाश्चक्रादयस्तथा ॥ १७
 खं वायुः सलिलं तेजो वसुधेत्यभिधा कृता ।
 नासीत्तत्र खलेखानां जीव इत्येव वै तथा ॥ १८
 श्रीराम उवाच ।
 शिलासौ चेतनं तस्याः कुत इत्युच्यतां मम ।
 अचेतना शिला नाम कथं नाम करोति च ॥ १९
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 न चेतना न च जडा सा शिला विपुलोद्भवला ।
 जातिं जानाति कस्तस्याः कस्तत्रान्यश्च विद्यते ॥ २०

लिङ्गवत्कल्पितचिद्भागाः ॥ ८ ॥ तथा सति भवदभिमतास्ते
 मदीयात्मख्यातेर्विभूतय एवेत्याह—आत्मख्यातिरिति ॥ ९ ॥
 वर्णितामात्मख्यातिमुपसंहरन् शिलाजठरनिर्धनामिति पदं शिलो-
 पाख्याननेन व्याख्यातुमुपक्रमते—आत्मख्यातिपदस्येति ॥ १० ॥
 तत्र एकघनः स्थित इति पदसूचिते शिलाजठरनिर्धनपदव्या-
 ख्याने विषये ॥ ११ ॥ आसमन्ताङ्गीलमाकाशमेव यदि कुड्यं
 स्यात्तदिव कठिना विमला विपुला च ॥ १२ ॥ न विद्यन्ते
 सन्धिवन्धा अवयवसंश्लेषघटना यस्याम् । नशब्दोऽयं न तु नन् ।
 विसारिणी विस्तारवती ॥ १३ ॥ कल्पनिचयमिति 'कालाध्व-
 नोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया क्रोशं गिरिरिति वत् ॥ १४ ॥
 सजातीयवस्त्वन्तराप्रसिद्धेस्तस्या विशिष्टा विजातीयाद्यावृत्ता
 जातिः केनचिन्नैव ज्ञायते । एवं तस्या देशकालप्रकारा अप्य-
 त्यन्ताप्रसिद्धा इत्याह—कथमिति ॥ १५ ॥ भूतधातुभिर्महा-
 भूतैश्चतुर्विधभूतग्रामैश्च विवर्जिते तस्या अन्तर्जठरे लेखाम-
 यानि स्फटिकविलान्तलैखाप्रायाणि पद्मजालदीनि विद्यन्ते
 इति परेणान्वयः ॥ १६ ॥ आदिपदात्खङ्गखट्वादिपरिग्रहः
 ॥ १७ ॥ तत्र शिलाजठरे खं वायुरित्यादि जगन्नासीदेव, किंतु
 तथा लक्ष्यमाणानां खलेखानामेव खं वायुरित्यादिभिधा कृता,
 शिलया कृता । स्वस्याश्च तथा जीव इत्येवाभिधा देहलेखासु
 कृतेत्यर्थः ॥ १८ ॥ नन्वसौ शिला शिलात्वादेव अचेतना ।
 नामेति लोकप्रसिद्धौ । तस्याश्च चेतनं संज्ञानं, कुतः । यद्यन्ते-
 तनैव सा तर्हि सा खलेखानां खं वायुरित्यादि नाम, कथं करोति ॥
 नामकरणस्य चेतनकर्तृकत्वप्रसिद्धेरिति रामः शङ्कते—शिलेति
 ॥ १९ ॥ 'जातिस्तु ज्ञायते तस्या विशिष्टा नैव केनचित्' इति
 प्राक्नोक्त्यैवायं प्रश्नो दत्तोत्तर इति वसिष्ठः समाधत्ते—नेत्या-

श्रीराम उवाच ।

तस्याः पश्यति ता लेखाः कः कथं जठरस्थिताः ।

कथं वा केन सा भद्रा कदा नामेति मे वद ॥ २१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

न भर्तुं युज्यते सोऽग्रा न च भेत्ता च विद्यते ।

तथैवापारपर्यन्तदेहिन्या सर्वमावृतम् ॥ २२

लेखामयानि विद्यन्ते तत्रानन्तानि कोटरे ।

वृक्षपर्वतजालानि नगराणि पुराणि च ॥ २३

तत्र लेखामयाः सन्ति देवदानवनामकाः ।

सूक्ष्मासूक्ष्मा निराकाराः साकारा इव पुत्रिकाः ॥ २४

आकाशनाम्नी तत्रास्ति लेखा वैपुल्यशालिनी ।

उपलेखाश्च सन्त्यस्या मध्ये चन्द्रार्कनामिकाः ॥ २५

श्रीराम उवाच ।

केन दृष्टा वद ब्रह्मलेखास्तास्तत्र किंविधाः ।

कथं वा वद दृश्यन्ते निपिण्डोपलकोशगाः ॥ २६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

मया राघव ता दृष्टास्तादृश्यस्तत्र लेखिकाः ।

तवापीच्छा यदि भवेत्तत्तास्त्वमपि पश्यसि ॥ २७

श्रीराम उवाच ।

तादृशी वज्रसारा सा शिला भङ्गं न युज्यते ।

तथापि भवता दृष्टा लेखास्तत्कोशगाः कथम् ॥ २८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एतस्या जठरे राम लेखाहं जठरे स्थितः ।

तेन पश्यामि तत्रस्थो लेखाजालं तदक्षतम् ॥ २९

कोऽसौ शक्तोऽन्यथा भङ्गं तां शिलामहमन्तरे ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे धा० दे० मो० नि० उ० शिलोपाख्यानं नाम षट्षष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६६ ॥

तत्सर्वं दृष्ट्वांस्तस्या अहं तत्रान्तरस्थितः ॥ ३०

श्रीराम उवाच ।

कासौ शिलाथ कश्च त्वं वद मे कासि संस्थितः ।

किमेतद्ददसि ब्रूहि किमेतद्दृष्टवानसि ॥ ३१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

परमात्ममहासत्ता कथितैषा मया तव ।

अनयैव वचोभङ्ग्या न त्वेषा विपुला शिला ॥ ३२

परमात्ममहासत्ताशिलाया जठरे वयम् ।

तच्छिलामांसमेवेमे सौभिर्यपरिवर्जिते ॥ ३३

तच्छिलाङ्गं नभो विद्धि तच्छिलाङ्गं सदागतिः ।

तच्छिलाङ्गं क्रियाशब्दा वासना कालकल्पना ॥ ३४

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीदं तत्तच्छिलाङ्गमुदाहृतम् ॥ ३५

परमात्ममहासत्ता शिला मांसमिमे वयम् ।

सर्वं एव ततोऽनन्येऽप्यन्ये त्विति च विद्यहे ॥ ३६

चिन्मात्रैकात्मिका येयं किलातिमहती शिला ।

एतस्या व्यतिरेकेण क तदस्ति किमुच्यताम् ॥ ३७

शुद्धं वेदनमेवेदं घटावटपटादिकम् ।

यथा स्वप्ने तथा भाति जलमूर्मितया यथा ॥ ३८

इदं ब्रह्म घनं सर्वं चिन्मात्रघनमावृतम् ।

परमार्थघनं शान्तं सर्वमेकघनं विदुः ॥ ३९

एकं महाचित्ति शिलोदरमेव सर्वं

सौभिर्यवर्जितमपारमनादिमध्यम् ।

तेनात्मनैव कलिता कलनात्मनेयं

सर्गो जगद्भवनमित्यपि दृश्यनाम्नी ॥ ४०

दिना । अन्यथ को विद्यते यस्त्वज्जातिं जानीयादित्यर्थः ॥ २० ॥

यदि तत्रान्यो न विद्यते तर्हि ताः खं वायुरित्याद्याकारास्त्व-
दुक्तास्तजठरस्थिता लेखाः कः पश्यति । केन वासान्तर्विचित्ररे-

खाकारेण भद्रा दृष्टैर्लिखिता । अन्तर्दृष्टप्रवेशाद्ययोगात्कथं वा
भद्रा । कदा नाम भमेति वदेति रामप्रश्नः स्पष्टः ॥ २१ ॥ पृष्ट-

नामपद्वेनैवोत्तरमाह—येत्यादिना । उग्रा अतिदृढा । आवृतं
व्याप्तम् । 'नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम्' इति श्रुतेरिति

भावः ॥ २२ ॥ २३ ॥ सूक्ष्मा असूक्ष्माश्च पुत्रिकाः प्रतिमाः

॥ २४ ॥ २५ ॥ नितरां पिण्डो निपिण्डः अतिघनो य उपलको-

शस्त्वज्रतः ॥ २६ ॥ पश्यसि समाधिना दृश्यसि ॥ २७ ॥ २८ ॥

अहं वसिष्ठदेहोपि एतस्या जठरे स्थितो देखैव तेन हेतुना ॥ २९ ॥

तस्या अन्तरवस्थितोऽहमन्तरे विद्यमानं तत्सर्वं लेखावृन्दं दृष्ट-

वान् ॥ ३० ॥ इदानीं तत्त्वतस्तां शिलां वसिष्ठं च रामो

जिज्ञासुः पृच्छति—कासाविति । एतद् शिलाख्यं किं वदसि

॥ ३१ ॥ अनया शिलाख्यानवचोभङ्ग्या ॥ ३२ ॥ तच्छि-

लाया मांसमिव मांसं स्वरूपभूता एवेति यावत् । इमे वयम्

॥ ३३ ॥ सर्वं जगत्तच्छिलाङ्गमेवेति प्रपञ्चयति—तच्छिला-

ङ्गमिति । सदागतिर्वायुः । पञ्चभूतोपलक्षणमेतद् । एवं क्रिया-

शब्दग्रहणमपि बाध्याकाशादिसर्वभूतभौतिकषर्मोपलक्षणम् ।

वासना मनोधर्मोपलक्षणम् ॥ ३४ ॥ उक्तमेव पुनः स्पष्ट-

माह—भूमिरिति ॥ ३५ ॥ अन्ये इति तु भ्रान्त्या विद्यहे

॥ ३६ ॥ एतस्या व्यतिरेकेण किन्निदस्ति चेत्तत्कास्ति तत्र

किमस्ति तदुभयमुच्यताम् ॥ ३७ ॥ ननु भूतलघटावटपट-

दिकमेव तद्व्यतिरेकं प्रसिद्धं, नेत्याह—शुद्धमिति । नैतत्कि-

मपि तद्व्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ सर्वं जगदेकं

ब्रह्मशिलोदरमेव । तत्र सौभिर्येण चिद्वद्भावेन वर्जितमपार-

मनन्तं तथा अनादिमध्यं च । तेन तथाविधेन ब्रह्मात्मना

आत्मना स्वेनैव सर्गो जगद्भवनमित्यपि पर्यायनामभिः प्रसिद्धं

दृश्यनाम्नी कलिता कलिता स्वीकृतेत्यर्थः ॥ ४० ॥ इति श्रीवा-

सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शिलो-

पाख्यानं नाम षट्षष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६६ ॥

सप्तषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः १६७

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिः ख्यातिरख्यातिरन्यथा ।
 शब्दार्थदृष्टयस्तज्ज्ञं प्रत्येताः शशशृङ्गवत् ॥ १
 कदाचनापि नामाङ्गं संभवन्ति न काश्चन ।
 शान्तमव्यपदेश्यात्मा ह्य अस्तेऽस्तङ्गतेज्जनः ॥ २
 एता उद्यन्ति चिन्मात्रादात्मख्यात्यादिका दृशः ।
 तच्च शुद्धतरं व्योम तन्मय्येव च दृश्यते ॥ ३
 अयमात्मा त्विर्यं ख्यातिरित्यन्तःकलनाभ्रमः ।
 न संभवत्यतश्चैनं शब्दं त्यक्त्वा भवार्थभाक् ॥ ४
 गच्छंस्तिष्ठन्नदपि सर्वं शान्तमतो जगत् ।
 आकाशमौनमेवाच्छमच्छिन्नं वाऽप्रवृत्तिमत् ॥ ५
 नानामहाशब्दमपि शिलामौनमवस्थितम् ।
 अनारतं गच्छदपि व्योमवच्छैलवत्स्थितम् ॥ ६
 नानाविधारम्भमपि मह्यशून्यमनङ्कितम् ।
 पञ्चभूतात्मकमपि खमिवालब्धपञ्चकम् ॥ ७
 पदार्थसंकुलमपि शून्यं संवित्तिमात्रकम् ।
 स्वप्ने महापुरमिव दृष्टमप्यच्छचिन्मयम् ॥ ८
 सारम्भमप्यनारम्भं संकल्पनगरं यथा ।
 आकाशमात्रं भ्रान्त्यात्म स्वप्नस्त्रीसंगमोपमम् ॥ ९
 अनुभूतमपि व्यर्थं प्रतिविम्बाङ्गनासमम् ।
 नानानुभवनिर्माणं वस्तु शून्यं तु वस्तुतः ॥ १०

श्रीराम उवाच ।

जाग्रत्स्वप्नात्मकमिदं मन्ये स्मृत्यैव दृश्यते ।

इह तज्ज्ञदृशोदस्य वादिक्यातिचतुष्टयम् ।

अवस्थात्रयनिर्मुक्तमात्मतत्त्वं निरूप्यते ॥ १ ॥

अन्यथा ख्यातिरिति व्यवहितपूर्वपदैर्न संबन्धः ॥ १ ॥ जग-
 त्ख्यातिसत्त्वे हि सा किमात्मख्यातिरुतासत्ख्यातिरित्यादिवि-
 कल्पानामवसरः स्यात्, सैव नास्ति चेत्कस्याश्चातुर्विध्यमित्याश-
 येनाह—कदाचनेति । अस्तङ्गतेज्जनः ख्यात्यादिकल्पनामूलचि-
 त्तचेष्टाशून्यः ॥ २ ॥ दृशो भ्रान्तिदृष्टयः । तच्च चिन्मात्रं पर-
 मार्थतः शुद्धतरं सर्वकल्पनाशून्यं व्योम । सर्वापि कल्पना
 तन्मय्येव दृश्यते मया । 'तद्यदिदमयोऽदोमयः सर्वमयः' इति
 श्रुतेरित्यर्थः ॥ ३ ॥ शब्दं त्यक्त्वेति । अत एवास्माभिः सार्थ-
 केनात्मशब्देन ख्यातिशब्देन चोज्झतामित्युक्तमिति भावः ।
 अर्थभाक्, परमार्थभाक् ॥ ४ ॥ गच्छंस्तिष्ठन्निति च्छान्दसो
 लिङ्गव्यत्ययः । अतोऽस्मादर्थदर्शनाद्गच्छत् तिष्ठत् अदद्भक्ष्यदपि
 जगदप्रवृत्तिमत् सर्वप्रवृत्तिशून्यं मातीत्यर्थः ॥ ५ ॥ इदमेव
 विशदयति—नानेत्यादिना ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ आकाशमात्र-
 मतिशून्यम् ॥ ९ ॥ १० ॥ यद्यविद्यमानमेव जाग्रत्स्वप्नात्मकं
 जगद्वासनामात्रादृश्यते तर्हि स्मृत्यैव दृश्यते इति मन्ये । इह

सद्रूपबाह्यार्थकृता स्मृतिरेवेह कारणम् ॥ ११

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यत्तच्चित्काचकच्येन काकतालीयवद्रूपः ।
 व्योमात्माऽऽभाति भावानां सत्तामात्रमभित्तिमत् ॥ १२
 तदेतदविनाशात्म सर्वत्र परमात्मनि ।
 सर्वदा विद्यते शान्ते पयसीव तरङ्गकाः ॥ १३
 निर्निमित्तं स्वरूपात्म तदेतत्परमात्मनि ।
 सर्वात्मन्यपि निर्वाणे व्योमात्मनि निरात्मनि ॥ १४
 यदा यदावभात्यन्तर्येन तेन यथा यथा ।
 सर्वदा न कदाचिद्वा यत्र तत्र न किञ्चन ॥ १५
 तस्यैव ब्रह्मभानस्य तेनैवं ब्रह्मणात्मना ।
 स्वच्छस्यैव स्वभावस्य स्वस्वभावमनुज्झता ॥ १६
 इदं जाग्रदयं स्वप्नः सुषुप्तं तुर्यमित्यपि ।
 कृतं नाम स्वयं चित्त्वाद्ब्रह्म चात्मेति चात्मनि ॥ १७
 वस्तुतस्तवस्ति न स्वप्नो न जाग्रन्न सुषुप्तता ।
 न तुर्यं न ततोऽतीतं सर्वं शान्तं परं नभः ॥ १८
 अथवा सर्वमेवेदं जाग्रद्रूपं सदैव च ।
 सर्वदैव च वा स्वप्नः सुषुप्तं सर्वदैव च ॥ १९
 सर्वदैव च वा तुर्यं तदन्तः सर्वदैव वा ।
 तदिदं वा न यद्विशो वयमाशान्तरूपिणः ॥ २०
 इदं फेनो न किञ्चिद्वा बुद्बुदो वा न काश्चन ।
 शून्यताम्भसि चिद्व्योम महार्णवमहोदरे ॥ २१

जगत्प्रतिभाने स्मृतिरेव कारणं न भ्रान्तिः । यतः सा अधि-
 ष्ठानदोषादृश्यसंप्रयोगादिनिमित्तशून्या सद्रूपबाह्या अविद्य-
 माना ये अर्थास्तत्कृता तन्मात्रगोचरेति रामप्रभृतिः ॥ ११ ॥
 अविद्यानिद्रादिदोषजलात्स्वप्रकाशविति संप्रयोगानुपयोगाच्च तद-
 धिष्ठाना भ्रान्तिरेवेयं न स्मृतिः । पूर्वपूर्वानुमेष्वपि सांप्र-
 तिकतुल्यतया स्मृतित्वापत्त्या तन्मूलानुमवाप्रसिद्धिप्रसङ्गादि-
 त्याशयेन वसिष्ठः समाधत्ते—यत्तदित्यादिना । तत्राधिष्ठानस-
 द्भावं दर्शयति—यत्तदिति । यत्तद्योमात्म सत्तामात्रं काचक-
 च्येनाभाति तदेवेदं जगदित्यर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥
 आविद्यके नियतदोषाद्यपेक्षा नास्ति । अनियतदोषास्तु संम-
 वन्त्येवेत्याशयेन येन तेनेत्याद्युक्तिः ॥ १५ ॥ तर्हि कस्येयं
 भ्रान्तिः केन जगदादिनामानि कृतानि तत्राह—तस्यैवेति
 द्वाभ्याम् ॥ १६ ॥ १७ ॥ ततः अतीतमतिरिक्तम् ॥ १८ ॥
 चितः कदापि स्वाभावात्सर्वदैव जाग्रद्रूपम् । भ्रान्तिमात्रत्वा-
 त्सर्वदैव स्वप्नो वा । अविद्यावरणमात्रत्वात्सर्वदैव सुषुप्तम्
 ॥ १९ ॥ स्वेनैव सदैव चावस्थात्रयान्तिकमणात्सदैव तुर्यमित्येव
 वा वक्तुं शक्यमित्यर्थः । त्रयाप्रसिद्धेस्वस्य तुर्यस्यान्तः असत्त्वं
 वा निर्विकल्पे तदिदं त्रैत्यादिविकल्पं च न विद्यः ॥ २० ॥ २१ ॥

यथा संवेद्यते यद्यत्तथा तदनुभूयते ।
 सद्वासद्वा भवत्स्वप्ने व्योम्नीव सदसच्च तत् ॥ २२ ॥
 संवित्कचनमेवेदं यथा भानं विभासते ।
 व्योम व्योमनि चिद्रूपं चिद्रूपे विततात्मनि ॥ २३ ॥
 संविद्य चिन्नभोमजा सैवरूपैव सर्वदा ।
 नास्त्वमेति न चोदेति तस्याः स्वाङ्गमिदं जगत् ॥ २४ ॥
 महाप्रलयसर्गाद्या महाप्रलयरात्रयः ।
 तस्या एवावयवतां याताः केशनखादिवत् ॥ २५ ॥
 तस्या भानमभानं तद्भास्वरं जिह्वमेव वा ।
 नान्यत्स्वभाववत्स्पन्द इव वायोर्महाचितेः ॥ २६ ॥
 तस्मात्किं नाम जाग्रत्स्यात्कः स्वप्नः का सुषुप्तता ।
 किं तुर्यं का स्मृतिः केच्छा तुच्छा एताः कुदृष्टयः २७ ॥
 अन्तःसंवेदनं भाति स्वं बाह्यार्थतया यतः ।
 क्व द्वैतं क्व च वार्थश्रीः स्मृतिरेवमतः कुतः ॥ २८ ॥
 तदिदं भाति निर्भित्तिं तत्स्वभानं यदात्मना ।
 भानोर्नभसि भारूपमेव भूतविवर्जितम् ॥ २९ ॥
 सद्रूपो यदि बाह्योऽर्थो विद्यते तच्चतुर्धिता ।
 स्मृतिः कारणतामेतु नामाद्यजगतः स्थितेः ॥ ३० ॥
 किंतु नास्त्येव बाह्योऽर्थो भूतानामत्यसंभवात् ।
 पञ्चानामादिसर्गादौ कारणानामभावतः ॥ ३१ ॥
 शशशृङ्गं यथा नास्ति यथा नास्ति खपादपः ।
 यथा घन्ध्यालुतो नास्ति यथा नास्त्यसितः शशी ३२ ॥
 तथाऽज्ञप्रतिभातोऽर्थो जगदाद्यहमादिकः ।
 अपेक्षितोऽस्ति नास्त्येव प्रेक्षितः सन्न कश्चन ॥ ३३ ॥
 यथास्तीदं महाकारं न किंचिद्रूपमेव वा ।

कल्पनावेदनदशा तु येन यथा यदा संवेद्यते तस्य तदा तथेत्येव
 संतोष्यमित्याह—यथेति ॥ २२ ॥ २३ ॥ यतः संविदेव जगदतो
 नास्त्वमेति नोदेति च ॥ २४ ॥ महाप्रलयसर्गाद्याः कालविभा-
 गास्तत्र महाप्रलयलक्षणा रात्रयः सर्गलक्षणदिनानि चेत्युप-
 लक्षणीयम् ॥ २५ ॥ भास्वरं चिद्रूपं जिह्वं मायारूपं वा ॥ २६ ॥
 उपसंहरति—तस्मादिति ॥ २७ ॥ एवं सति स्मृतिश्च कुतः
 ॥ २८ ॥ निर्भित्तिं निर्भेदं यदात्मना भाति तत्स्वभानं स्वात्म-
 कमेव भानं न स्वभिन्नम् । यथा भानोर्नभसि निराश्रये भारू-
 पमेव भानं न भास्वसापेक्षं तद्वदित्यर्थः ॥ २९ ॥ तदुत्थिता
 तदनुभवहेतुका एतु नाम । आद्यायाः सर्गादिकालिक्या जगतः
 स्थितेः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ जगदादौ सर्गादिकाडे अज्ञा-
 नमिति भातोऽहमादिकोऽर्थस्तत्त्वतोऽपेक्षितश्चेदस्ति प्रेक्षितस्तु
 ॥ ३३ ॥ तत्त्वज्ञविषयं न किंचिद्रूपं मूर्तामूर्तरूपरहितं
 तत् तत्त्वण्डितमस्त्येवेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ नित्योदितापि
 उपचारेण कल्पितास्तमयोदया ॥ ३५ ॥ व्योम्ये-
 ष्ययादितया यदा यदा वेत्ति तदा तदा पृथ्व्या-
 ॥ ३६ ॥ महाचित्तिः स्वभानमेव पृथ्व्यादि-
 पञ्चाप्यपदिशति व्यवहरति ॥ ३७ ॥

तत्त्वज्ञविषयं राम तथास्तीदमखण्डितम् ॥ ३४ ॥
 संविद्धननभोमजा यथोदेति यदा यदा ।
 नित्योदितोपचारेण कल्पितास्तमयोदया ॥ ३५ ॥
 मुद्या व्योम्येव पृथ्व्यादितया वेत्ति तदा तदा ।
 स्वस्यैव तस्य भानस्य धत्ते पृथ्व्यादिकल्पनाम् ॥ ३६ ॥
 स्वमेव भानमाकाशमात्रमेव महाचित्तिः ।
 पृथ्व्यादिव्यपदेशेन पञ्चाप्यपदिशत्यजा ॥ ३७ ॥
 आकाश एव पृथ्वीयमिति धत्ते स्वसंविदम् ।
 मनोराज्यपुरं बाल इव चिन्मात्रमव्ययम् ॥ ३८ ॥
 किं भानं किमभानं स्यात्तस्येति न विकल्प्यते ।
 स्पन्दास्पन्दस्वभावं तद्विद्धि धातमिवाश्वरे ॥ ३९ ॥
 यथा भाति चिदाकाशं तथेदमवभासते ।
 व्योम व्योम्येव नीरूपं नेदं पृथ्व्यादि सत्कचित् ४० ॥
 यथा भाति चिदाकाशरूपत्वाद्भातमप्यलम् ।
 न सन्नासदिति किंचित्तत्र किंचिच्च किंचन ॥ ४१ ॥
 इदमित्यमनित्यं च सद्भाऽसद्भा यथास्थितम् ।
 लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ४२ ॥
 स एव हृदयाकाशे कचन्त्या दृश्यसंविदा ।
 बाह्यं ब्रह्माण्डमित्यं च सद्भाऽसद्भा यथास्थितम् ४३ ॥
 किमत्र बाह्यं किं बान्तः किं हृदयं कास्य दृश्यता ।
 शिवं शान्तमशान्तं च सर्वमोमिति शाम्यताम् ॥ ४४ ॥
 नो वाच्यवाचकदृशा रहितो विचारः
 संपद्यते स च विकल्पमयेन सिद्धौ ।
 सिद्धिश्च संभवति तेन विना न काचि-
 द्दीपं विना निशि यथा नयनोपलम्भः ॥ ४५ ॥

अव्ययं चिन्मात्रमाकाशकल्पे स्वात्मन्येव पृथ्वीयमिति स्वसंविदं
 धत्ते ॥ ३८ ॥ चिन्मात्रमेव चेतस्य जगदाकारं भानं किं अभानं
 च किं स्यादिति तु तत्र विकल्प्यते न विकल्पनीयम् । यतस्तत्त्वण-
 शाक्तया स्पन्दस्वभावं विच्छेत्तया अस्पन्दस्वभावमिति विद्धि ॥ ३९ ॥
 यथा यथा वासनोद्भवेन भाति स्फुरति तथा तथा इदं जगदित्यव-
 भासते ॥ ४० ॥ तद्यथा भाति तथा तद्भातु नाम । भातमपि
 तच्चिदाकाशरूपत्वादलं न सत् माप्यसदिति । तत्प्रपञ्चरूपं
 किंचिदपि न किंतु किंचनामिर्वचनीयमेवेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥
 यतः स प्राज्ञ एव सर्वेषां हृदयाकाशे आत्मतया आत्मे अत-
 स्तद्रूपयैव कचन्त्या दृश्यसंविदा इदमान्तरं शरीरमिदं बाह्यं
 ब्रह्माण्डमित्यादिमेदकल्पनया नाम कृतमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ सर्वं
 ओमिति प्रणवमात्राऽमेदकल्पनया प्रविलाप्य शाम्यताम् ।
 'मा मा' इति पाठे मा मा इति निषेधवीक्षया निरस्येत्यर्थः ॥ ४४ ॥
 यावद्विचारं त्वमदपि वाच्यवाचकविकल्पं यथालोक्यमनुपग-
 म्यैव श्रवणादिविषयः प्रवर्तन्त इत्याशयेनाह—नो इति ।
 वाच्यवाचकदृशा रहितः शास्त्रार्थविचारो नो संपद्यते । स च
 विचारो विकल्पमयेन 'विषयो विषयार्थेन पूर्वपक्षस्तयोत्तरम् ।
 प्रयोजनं च पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः ॥' इति प्रसिद्धेन

तस्मादपास्य परयाऽमलया धियान्तः-

संकल्पकल्पनमनल्पविकल्पजालम् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठम० वा० दे० मो० नि० उ० जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यभावप्रतिपादनं नाम सप्तषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः १६८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अबुद्धिपूर्वमेवागो यथा शाखाविचित्रताम् ।

करोत्येवमजश्चित्राः सर्गाभासः ख एव खम् ॥ १

यथा करोत्यबुद्ध्यादिरावर्तादि पयोनिधिः ।

तथा करोति खे स्वात्मा सर्वेशः सर्ववेदनाः ॥ २

तासां स्वसंविदामेव ततः स कुरुते स्वयम् ।

मनो बुद्धिरहंकार इत्याद्या विविधाभिधाः ॥ ३

पञ्चाङ्गेन कृतः सिद्धैर्भवति । तेन विचारेण विना सिद्धिर्न संभवत्येव । यथा दीपं विना चाक्षुषप्रत्यक्षं निशि न भवति तद्वदित्यर्थः ॥ ४५ ॥ तस्मात्सम्यग्विचारामलया धिया अन्तःसंकल्पनलक्षणमनल्पविकल्पजालमपास्य मनः सकलशास्त्रनिष्कर्षसिद्धमहार्थः सच्चिदानन्दाद्यात्मा तज्जिष्ठं कृत्वा तदेकनिष्ठः सन्नस्मात्संसारदुष्टोत्तमं मोक्षाख्यं पदं गच्छेत्त्यर्थः ॥ ४६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराभायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यभावप्रतिपादनं नाम सप्तषष्ठ्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६७ ॥

अबुद्धिपूर्वकः सर्गस्याध्यारोपोऽत्र वर्ण्यते ।

चिन्मात्रात्मा च स चित्तोऽविकारित्वादपोद्यते ॥ १ ॥

मिथ्यात्वसिद्धये सर्गस्याबुद्धिपूर्वकत्वं दृष्टान्तैः समर्थयति—
अबुद्धिपूर्वमित्यादिना । अगो वृक्षो यथा अबुद्धिपूर्वं अहं शाखावैचित्र्यं करोमीति बुद्धिपूर्वकतां विना । अजो जन्मादिविक्रियाशून्यः परमात्मा खे आकाशकल्पे स्वात्मनि खं शून्यात्मिकाश्चित्रा विचित्राः सर्गाभासः अपञ्चाध्यासान्करोति । मनु 'स ऐकत लोकांनु सृजा इति', 'सोऽकामयत बहु स्या प्रजायेयेति', 'स तपोऽतप्यत, सतपस्त्वा, इदं सर्वमसृजत', 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽक्षमुपजायते' इत्यादिश्रुतिषु बुद्धिपूर्वक एव सर्ग उद्बोध्यते तत्कथमत्राबुद्धिपूर्वकः सर्ग इति प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धमुच्यत इति चेत् शृणु । भवेदेतदेवं यदि श्रुतेः सर्गादिप्रतिपादने तात्पर्यं स्यात् । न तु तदस्ति । प्रयोजनाभावात् । न हि सर्गादिज्ञानेन किञ्चित्प्रयोजनं श्रुतम् । अद्वितीयब्रह्मात्मताज्ञानं हि प्रयोजनवदुपक्रान्तं सर्वश्रुतिषु । तस्य फलवतः संनिधौ श्रुतमफलं सर्गादिकैर्मर्थक्याकाङ्क्षायां तदहतां प्रतिपद्यते । सा चास्य शाण्डिल्यविराजशमविधिपरे, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तं उपसीत' इति वाक्ये यत इदं सर्वं जगत्तस्माज्जायत इति तज्जम् । तस्मिन् जीयत इति तज्जम् । तेनानिति प्राणिति जीवतीति तदन्, उत्पत्तिस्थिति-प्रलयेषु तदधीनसत्ताकमतः सर्वं खल्विदं तद्ब्रह्मैवेति ब्रह्माद्वैतव्युत्पादनोपायतया सर्गादर्शनाज्ञाभावस्य श्रुत्यैव सिद्धवत्कीर्तना-
यो० वा० १८४

कृत्वा मनः सकलशास्त्रमहार्थनिष्ठ-

मुद्गीय गच्छ पदमुत्तममेकनिष्ठः ॥ ४६

अबुद्धिपूर्वमारम्भो दृश्यरूपः स्वतश्चित्ते ।

संकल्प्यमानो बुद्ध्यादिस्तरङ्गादिर्द्यथाभुधेः ॥ ४

चिन्मात्रात्संप्रवर्तन्ते मनोबुद्ध्यादयस्तथा ।

आवर्तकणकलोलवीचयो वारिधेर्यथा ॥ ५

भित्तिमात्रं यथा चित्रजगदालोकमात्रकम् ।

चित्ति चिद्योममात्रात्म तथैवाभासमात्रकम् ॥ ६

अबुद्धिपूर्वमारम्भो नियत्या संनिवेशवान् ।

यथा संपद्यते वृत्ते तथा सर्गात्मकश्चित्ति ॥ ७

प्रकारान्तरेण तद्वदनायोगात् 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादिसूत्रभाष्यादिव्युत्पादितयुक्तिसहस्रेभ्यः स्मृतिपुराणाद्युपबृंहणसहस्रेभ्यश्चाध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वव्युत्पादने सर्गश्रुतीनां तात्पर्यं निश्चिते रज्जुसर्पशुक्तिरजतमरुमरीचिकास्त्रप्रायध्यारोपेष्वबुद्धिपूर्वकत्वमेव दृष्टं न क्वचिदारोपे बुद्धिपूर्वकता लोके दृश्यत इति भगवता वसिष्ठेनात्रानारोपितत्वशङ्का कस्यचित्सर्गे मा भूदित्यबुद्धिपूर्वकता प्रसाध्यते । श्रुतिषु ईक्षणादिपूर्वकत्वकीर्तनं तु ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वचिदेकरसत्वादिलभेन सांख्यायमिमता चेतनप्रधानाद्युपादानकत्वनिरासे पर्यवस्यति । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादिसूत्रैस्तथैव श्रुतितात्पर्यवर्णनात् । 'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः', 'यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्' इत्यादिश्रुतिदृष्टान्तानुगुण्यात् । भगवदीक्षणकामसंकल्पादीनां बुद्धितत्त्वोत्पत्तेः पूर्वमाविनां मायावृत्तिमात्रत्वेन तत्पूर्वकत्वेऽपि कामसंकल्पादिधर्मिबुद्धिपूर्वकत्वाभावोपपत्तेः । अध्यारोपस्य त्वपदार्थनिष्ठस्यैव चापवादेन निरासस्य तन्मुक्तिफलत्वोपपत्तेस्तत्पदार्थजगदध्यारोपप्रतिपादने प्रयोजनाभावात्प्रपञ्चस्य स्वनिष्ठाविद्याकार्यत्वे स्वविविधया निरासोपपत्तेः स्वस्मिन्नाबुद्धिपूर्वकस्यैवावस्थात्रयाध्यारोपस्यानुभवाच्चेत्याद्याशयेनेह मुनिना अबुद्धिपूर्वकत्वसमर्थनमिति बोध्यम् ॥ १ ॥ अबुद्ध्यादिः अबुद्धिपूर्वः सन् । सर्ववेदनाः जगत्प्रतिभासान् ॥ २ ॥ तासां जगदाकाराणां स्वसंविदां स्वयमेव मनो बुद्धिरित्याद्यभिधा नामानि सर्गादौ यथाश्रुति कुरुते इत्यर्थः ॥ ३ ॥ चित्तेर्बुद्ध्यादिसिद्धिपर्यन्तमबुद्धिपूर्वं स्वत एवारम्भः । यस्तु बुद्धिसिद्ध्यनन्तरं संकल्प्यमान आरम्भः स बुद्ध्यादिर्बुद्धिपूर्वः । तरङ्गादिरित्युभयत्र दृष्टान्तः ॥ ४ ॥ ५ ॥ आलोक्यत इत्यालोकस्तन्मात्रकं चित्रलिखितं जगद्यथा भित्तिमात्रं तथा चित्ति आभास्यत इत्याभासस्तन्मात्रकमिदं जगच्चिद्योममात्रात्मैव ॥ ६ ॥ वृत्ते आगुक्तवृक्षपयोनिध्यादिचरित्रे यथा अबुद्धिपूर्वं प्रवृत्तोऽपि शाखावर्ताद्यारम्भो नियत्या तुल्यसंनिवेशवान्संपद्यते, तथा चित्ति सर्गाकारोऽध्यारम्भस्तुल्यसंनिवेश-

तस्यैव गुलुच्छकादीनां यथान्यः कुरुतेऽभिधाः ।
 तथा चिद्वसुपुष्पादिपृथ्व्यादिविहितभिधम् ॥ ८ ॥
 अनन्यत्पुष्पपत्रादि यथा नाम महातरोः ।
 तथैवानन्यदेवेदं चिद्योसः परमात्मनः ॥ ९ ॥
 तराववयवेऽन्यः करोति विविधाभिधाः ।
 चिद्योमात्मनि सर्वेषु भूत्वान्य इव खात्मसु ॥ १० ॥
 चित्तरोः पल्लवाः सर्गाश्चित्त्वादेव न सन्त्यलम् ।
 कार्यकारणवद्भाति स एव स्वप्रवत्स्वयम् ॥ ११ ॥
 वक्षि चेत्कथमेतस्मादर्थं तदनुभूयते ।
 सर्गाद्यमुत्र स्वप्नादिष्वेषु कोऽपह्नवं भजेत् ॥ १२ ॥
 तरावाकारवत्पेषा कल्पना रचिता यथा ।
 चित्तेऽकाशमात्रायास्तथैषा कल्पना कृता ॥ १३ ॥
 यथा गन्धादयः पुष्पे गगने शून्यतादयः ।
 यथा स्पन्दादयो वायौ तथा बुद्ध्यादयः परे ॥ १४ ॥
 यथा गन्धादयः पुष्पे गगने शून्यतादयः ।
 यथा स्पन्दादयो वायौ तथेमाः सृष्टयश्चित्ति ॥ १५ ॥
 यथा खानिलपुष्पाणां शून्यतास्पन्दगन्धदृक् ।
 शून्यरूपानुभूता च तथा सर्गस्थितिश्चित्ति ॥ १६ ॥
 न पृथक् शून्यता व्योम्नो न पृथग्द्रवताम्भसः ।
 न पृथक् कुसुमाद्गन्धो नानिलात्स्पन्दनं पृथक् ॥ १७ ॥
 अग्नेर्न पृथगुष्णत्वं पृथक् शैत्यं च नो हिमात् ।
 चिद्योमैकात्मनः स्वच्छान्न जगत्पृथगीश्वरात् ॥ १८ ॥
 सर्गादावेव यद्योसि स्वप्नाद्वि च दृश्यते ।

बान्मविध्यतीति न तदर्थमपि बुद्धिपूर्वकत्वापेक्षेत्यर्थः ॥ ७ ॥
 समष्टिबुद्ध्याद्युत्तरकालिकं चिद्वसुपुष्पादिप्रायपृथ्व्यादि तु चिद-
 न्यबुद्धिसमष्ट्यात्महिरण्यगर्भादिना विहिताभिधं कृतनामधेयं
 बोध्यम् ॥ ८ ॥ अनन्यत् अभिधम् ॥ ९ ॥ अन्यो व्यष्टिजीव इव
 भूत्वा स्वपुत्रादिषु कार्यान्तरेषु च सर्वेषु विविधा अभिधा नामानि
 करोति ॥ १० ॥ एवं नामरूपाध्यारोपं प्रपञ्चेदानीमपवादमारभ-
 ते—चित्तरोरित्यादिना । स चित्तसरेव ॥ ११ ॥ यदि सर्गादि-
 नास्त्येव तर्हि चित्ताभ्युन्न परलोके व्यर्थं तदनुभूयत इत्यापवति ।
 तत्तु न युक्तम् । विहितनिषिद्धकर्मफलत्वायोगप्रसङ्गादिति
 हेतोरेतत्कथं स्यादिति त्वं वक्षि आक्षिपसि चेत्तर्हि स्वप्नादि-
 ष्वेषु प्रसिद्धरज्जुसर्पसृगवृष्णिकाद्यनुभवेषु मध्ये को वैयर्थ्याप-
 ह्नवं भजेत् । तस्यापि स्वाप्नमोगप्रदकर्मफलत्वाविशेषात् । यदि च
 भोगमासमात्रविभावेन तत्र कर्मसाफल्यं ब्रूषे तर्हि प्रकृतेऽपि
 सममिति भावः ॥ १२ ॥ एतावांस्तु साकाराध्यासेषु सर्वा-
 दिभ्यश्चित्तेर्विशेषो यत्साकारे साकाराध्यासास्ते, चित्ति तु नि-
 राकारे जगदध्यास इत्याशयेनाह—तराविति ॥ १३ ॥ १४ ॥
 सृष्टयः पृथ्व्यादयोऽपि ॥ १५ ॥ तस्य शून्यतादृक् अनिलस्य
 स्पन्ददृक् पुष्पाणां गन्धदृक् च यथा अनुभूतापि तद्यतिरैकश-
 न्यरूपा तथा चित्ति सर्गस्थितिरपीत्यर्थः ॥ १६ ॥ तदेव स्पष्ट-
 माह—नेत्यादिना ॥ १७ ॥ १८ ॥ कृतो न पृथक् तत्राह—

अकारणं तच्चिद्योसः कथमन्यद्भवेत्किल ॥ १९ ॥
 स्वप्न एवात्र दृष्टान्तो नित्यदृष्टो विचार्यताम् ।
 चिन्मात्रव्यतिरेकेण सारं किं तत्र कथ्यताम् ॥ २० ॥
 तदिदं बुद्धिसंस्कारद्वयमित्यादिका स्मृतिः ।
 न संभवति यत्तत्त्वं कथयेदं कथं भवेत् ॥ २१ ॥
 यत्तत्र दृष्टं तदिह स्मृतिकाले भवेद्यदि ।
 नानुभूयेत तत्तत्र कैवैकस्य द्विधा स्थितिः ॥ २२ ॥
 तस्मादावर्तवृत्त्येदं काकतालीयवज्रगत् ।
 चित्ति यद्भाति तत्रैषा पश्चात्स्वप्नादिकल्पना ॥ २३ ॥
 अवुद्धिपूर्वं संपन्ने सर्गे वीच्यादयो यथा ।
 संनिवेशः स्थितिः पश्चात्स्वयं संपद्यते तथा ॥ २४ ॥
 जातमेव न तज्जातं जातं यत्कारणं विना ।
 यतोऽजातं तदेवाद्यं तत्समं संस्थितं तथा ॥ २५ ॥
 अवुद्धिपूर्वं संजाता रक्षादीनां यथार्चिषः ।
 सत्तैव संनिवेशेन तथैवासां जगद्दृशाम् ॥ २६ ॥
 यथाकथंचिदेवेदमादौ संपद्यते जगत् ।
 पश्चाद्भाति नियतिमावर्तोऽन्धाविवात्मनि ॥ २७ ॥
 चिद्योसि स्वप्नजालानि विज्जगन्त्यपकारणम् ।
 प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते शून्यशून्यात्मकान्यपि ॥ २८ ॥
 यावत्सर्वमथान्योन्यं याति कारणतां चिरम् ।
 तेषां शून्यात्मका एव पदार्था ईश्वरादयः ॥ २९ ॥
 जायते शून्यमेवेदं शून्यमेव च वर्धते ।
 ननु शून्यतयात्यन्तं शून्यमेव विनश्यति ॥ ३० ॥

सर्गादावेवेति । यतः अकारणं ततो न पृथगित्यर्थः । विना-
 कारणं कूटस्था चित्कथमन्या भवेत् । वदन्त्वित्यर्थः । किलेति
 प्रश्ने ॥ १९ ॥ २० ॥ ननु स्वप्नः स्मृतिरेव । इतरस्मृतिषु
 संस्कारजासु विषयशून्यासु तत्ता भासते । इह तु निद्रादोषवशा-
 दिदंतागोचरत्वांशेऽपि संस्कारोद्बोधात्तत्तांशप्रमोधादिदन्ता भा-
 सत इति तदिदं बुद्धिजन्यसंस्कारद्वयमुभयत्राप्येकं वस्त्वित्यादि-
 का शाङ्का तु न संभवति । यद्यस्मात्तत्त्वं तत्ता इदं इदन्ता कथं भ-
 वेत् । अपरोक्षे हीदन्ता प्रसिद्धा, स्मृतौ त्वसन्निकृष्टं वस्तु परोक्ष-
 मेव । अतः कथमिदं घटते कथयेत्यर्थः ॥ २१ ॥ ननु स्वाप्नस्मृति-
 काले तत्रारण्यादौ दृष्टं व्याघ्रादि इह स्वप्नप्रदेशे निद्रया संनिषा-
 प्यते इति यदि इदन्ता तत्र भवेत्तर्हि तत्रारण्ये तथा व्याघ्रान्यै-
 स्वदा नानुभूयेत । निद्रया एक एव व्याघ्रो द्विधा स्थाप्यत
 इति चेत्तत्राह—कैवेति ॥ २२ ॥ तस्मात्स्वाप्नोद्यमानुभवत्वा-
 नपह्नवादुद्घातोऽस्त्येवेति स्वोक्तं सिद्धमित्युपसंहरति—तस्मा-
 दिति । पश्चात्स्वाप्नानुभवसिद्ध्यनन्तरम् ॥ २३ ॥ २४ ॥
 यतः अजातमिति छेदः ॥ २५ ॥ ब्रह्मसत्तैव जगद्दृशा संनि-
 वेशेन वेपेण स्फुरतीति शेषः ॥ २६ ॥ यथाकथंचित् अनिर्वचनी-
 यमायाकारणजलादेव । नियतिमर्थक्रियानियतिलक्षणां सत्यताम्
 ॥ २७ ॥ २८ ॥ ईश्वरादय इति । ईश्वरत्वस्यापि मायासापेक्ष-
 रूपत्वादिति भावः ॥ २९ ॥ शून्यमविद्यमानम् ॥ ३० ॥

शून्यं कचत्यशून्याभं दृष्टान्तं स्वप्नमत्र यः ।
 अपहृतेऽनुभूतं स पशुभर्तुकुं कुधीः ॥ ३१
 असदेवेदमाभाति भ्रान्तिमात्रं सुकृत्रिमम् ।
 चिन्मत्कारमात्रात्म ज्ञे. सन्मात्रमकृत्रिमम् ॥ ३२
 अयं चिरस्थसंकल्पः सर्गप्रलयविभ्रमः ।
 ज्ञानं स्वभावकचनमज्ञानं भ्रान्तिजृम्भणम् ॥ ३३
 झटित्युदेति ब्रह्मात्म दृश्यं दृष्टमकारणम् ।
 खे सुषुप्तादिव स्वप्नः पश्चान्नियतिमृच्छति ॥ ३४
 काकतालीयवच्चित्वाचिति दृश्यं प्रकाशते ।
 स्वयमेव स्वभावस्थमावर्तादि यथाम्बुधौ ॥ ३५
 ईदृशो नाम चिदातुरयमाकाशमात्रकः ।
 यदित्यं नाम कचति जगद्रूपेण चिद्रूपः ॥ ३६
 तेन चिद्रूपिणा पश्चाद्दृश्येनात्मनि कल्पिताः ।
 संज्ञाः स्मृत्यादिपृथ्व्यादिवुद्ध्यादिकलनात्मिकाः ॥ ३७
 श्रीराम उवाच ।

एवं स्थिते हे भगवन्बुद्धिसंस्कारतः स्मृतिः ।

अत्र असतोऽपि कचने दृष्टान्तभूतस्वप्नं स्वानुभूतं योऽपहृते अप-
 लपति स कुधीर्मेघपालः सन् पशुभर्तुर्महामेषस्य साक्षात्स्वयं दृष्टं
 कुकं कोकं कुकः । 'कुक आदाने' इत्यस्माद्वचने कः । वृककर्तृ-
 कमादानं तमप्यपहृयादित्यर्थः ॥ ३१ ॥ चितो मायाविन्याश्चम-
 त्कार एवात्मा स्वरूपं यस्य तदेव हे अकृत्रिमं सन्मात्रं न
 जगदित्यर्थः ॥ ३२ ॥ अयं प्रपञ्चधातुश्चिरस्थसंकल्पात्मक एव
 सर्गप्रलयविभ्रमो नान्यः । तस्य तात्त्विकस्वभावकचनं तत्त्वज्ञानं
 भ्रान्त्याकारेण जृम्भणं त्वज्ञानमिति बोध्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥
 मायोपहितब्रह्मात्म झटिलेव दृश्यं भूत्वा अकारणमेवोदेतीति दृ-
 ष्टम् । यथा दृश्यशून्ये आत्मनि सुषुप्तादनन्तरं स्वप्नो दृष्टस्तद्वत्पश्चा-
 दर्थक्रियाव्यवस्थया कार्यकारणभावादिनियतिं ऋच्छति गच्छति
 ॥ ३४ ॥ अकस्माद्दृश्यस्फुरणे निमित्तापेक्षा नास्तीत्याह—काक-
 तालीयवदिति । स्वभावस्थं चित्स्वभावमात्रनिबन्धनम् ॥ ३५ ॥
 स्वभावमेव विशदयति—ईदृश इति ॥ ३६ ॥ प्रथममबुद्धिपूर्व-
 दृश्याकारप्रतिभासाद्दृश्यभूतेन तेन चिदात्मना पश्चादात्मनि अ-
 तीतमिति भावे स्मृत्यादिकलनात्मिकाः, वर्तमानमिति भावे च
 पृथ्व्यादितद्बुद्ध्यादिकलनात्मिकाः संज्ञाः कल्पितास्तथा च सर्वो-
 ऽप्ययं तात्कालिकप्रतिभासे आविभक्ते बुद्ध्यादिविभागः कल्पना-
 मात्रमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ यदि तात्कालिकप्रतिभासेष्वेव विभाग-
 संज्ञामेदकल्पनामात्रं जगत्तर्हि प्रतिभासक्षणमात्रस्यापि जगद-
 प्रतिभासकाले नास्त्येवेति फलितम् । तथा च प्रतिभासस्योत्तर-
 क्षणे नाशे जगतोऽपि नाशाक्षणमज्ञादप्रसङ्गः । अस्तु नाम
 तथा मायामये जगति स्थायित्वव्यवस्थापनस्यापि ब्रह्मविदः
 प्रयोजनाभावादिति चेन्न । लोके स्मृतिप्रत्यभिज्ञादेः पूर्वानुभूत-
 गोचरत्वनियमाधीनवेदशास्त्रादिप्रामाण्यभङ्गापत्त्या ब्रह्मवादस्य
 मूलशैथिल्यापत्तेरित्याशयेन रामः शङ्कते—एवं स्थिते इति ।
 एवं त्वदुक्तीत्या तात्कालिककल्पनामात्रत्वे जगतः स्थिते

इति किं प्राप्यते ब्रूहि संबुद्धा यदि न स्मृतिः ॥ ३८
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 शृणु राम भिनन्दयेनं प्रश्नं सिंह इवेभकम् ।
 अमेदं स्थापयाम्येकमालोकमिव भास्करः ॥ ३९
 विद्यते जगदात्मेदं दृश्यं चिन्मात्रकोटरे ।
 अनुत्कीर्णा यथा वृक्षे घनस्था शालभञ्जिका ॥ ४०
 उद्धरेद्दृक्षतस्तक्षा कदाचिच्छालभञ्जिकाम् ।
 अद्वितीयाच्चित्तिस्तम्भादुत्कीर्णा कः करोति ताम् ४१
 स्तम्भे जडेन सा व्यक्तिमनुत्कीर्णैह गच्छति ।
 चित्ति त्वन्तर्गता चित्त्वादेवात्मन्येव भात्यलम् ॥ ४२
 भासमाना त्वनुत्कीर्णदेहैवापि च स्वात्मिका ।
 स्वरूपादच्युता चैव चिन्मात्रादात्मनि स्थिता ॥ ४३
 सर्गादौ सर्गकलनाः करोति कलनावती ।
 सा चित्स्वभावतः स्वप्ने स्वात्मन्यद्योदितामिव ॥ ४४

पूर्वोत्पन्नबुद्धेः प्रामाणिकादनुभवाज्जातात्संस्कारतः स्मृतिः प्रत्य-
 मिज्ञा चेति सर्वशिष्टानुभवसिद्धो नियमः किं प्राप्यते कथं
 लभ्यते । यदि स्मृतिः प्रत्यभिज्ञा च संबुद्धा प्रागनुभूतविष-
 यिणी नाभ्युपगम्यते । अत्रोत्तरं ब्रूहीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ तत्र भ-
 गवान्वसिष्ठ आक्षेपं बहु मन्यमानः समाधानं प्रतिजानीते—
 शृण्विति । प्रश्नमाक्षेपं भिनन्नि युक्त्या विदारयामि । अमेद-
 मद्वैतमात्मतत्त्वम् ॥ ३९ ॥ भवेदयं दोषो यदि प्रागसदेव ज-
 गत्क्षणिकप्रतिभासेन सहोत्पद्यत इति बौद्धराद्धान्ताभ्युपगमे ।
 न तु तथा वयमभ्युपगच्छामः; किंतु नित्यब्रह्मसत्तात्मकमेव जग-
 त्त्रित्यचिदात्मकेनैव प्रतिभासेन सदाभिव्यक्तियोग्यमपि अविद्या-
 वरणविक्षेपशक्तिवैचित्र्यचमत्कारेण कदाचिदाविर्भूतमिव तिरो-
 भूतमिव घटपटाद्याकारविशेष इव च्छिन्नमिव भिन्नमिव कारणै-
 रूपादितमिवापरोक्षमिवैकमिव नानेव भिन्नाभिन्नमिव क्षणिकमिव
 स्थायीवातीतं वर्तमानं भविष्यदिवेत्यादिनानाचमत्कारैर्नियतैश्चा-
 नियतैः सहस्रैर्विसदृशैश्चावभासत इति । तत्र च स्मृतिप्रत्यभि-
 ज्ञादिकं सर्वमुपपद्यत एवेत्याशयेन समाधातुमारभते—विद्यते
 इत्यादिना । घनस्थेत्यानन्यद्योतनाय ॥ ४० ॥ उद्धरेत्तदावरकका-
 ष्ठावयवविरसनेन यथा प्रकटयेत्तथा अद्वितीयात्कर्त्रादिकारकशून्य-
 न्याच्चित्तिस्तम्भात्तां जगच्छालभञ्जिकां सम्यगुत्कीर्णा कः तदन्यः,
 करोतीत्यकारकतन्त्रत्वादावप्रतिभासतदभिव्यक्तिर्न भवतीत्यर्थः
 ॥ ४१ ॥ तर्हि सा कथं व्यक्तिं गच्छति तत्राह—चित्ति त्विति ।
 तदधिष्ठानचित्त्वावरणनिवृत्तौ तादृशचिद्वलादेव चन्द्रान्तर्गतो
 राहुरिव आत्मनि चिदात्मन्येव अलं भाति व्यक्तिं गच्छतीत्यर्थः
 ॥ ४२ ॥ तर्हि सा प्रलयसुषुप्त्योरपि किं न भातीति चेत्सत्तासा-
 मान्यात्मना भात्येवेत्याह—भासमाना त्विति । बुद्धिः सर्ग-
 कालाद्विशेषद्योतनायः ॥ ४३ ॥ सर्गादावपि सा चित् प्रथमं प्रा-
 गुक्तनिर्विकल्पकलनावती सती पश्चाद्भोजकादृष्टानुसारेणोद्भूतै-

आकाश एव हृदये परमाकाशरूपिणी ।
 संकल्पयति चिच्छंलं भजिकाः स्वात्मनात्मनि ॥ ४५ ॥
 इयं ब्रह्मकला सेह चिन्मात्रकलना त्वियम् ।
 इयं चित्तिरियं जीवस्त्वहंकारस्त्वसाविति ॥ ४६ ॥
 इयं बुद्धिरियं चित्तमयं काल इदं नभः ।
 अयं सोऽहं क्रिया चैयमिदं तन्मात्रपञ्चकम् ॥ ४७ ॥
 इन्द्रियाणामिदं वृन्दं पुर्यष्टकमिदं स्मृतम् ।
 इहातिवाहिको देहस्तथायं चाधिभौतिकः ॥ ४८ ॥
 ब्रह्माहं शंकरश्चाहमुपेन्द्रोऽहमहं रविः ।
 इदं बाह्यमिदं चान्तरयं सर्ग इदं जगत् ॥ ४९ ॥
 इत्यादिकलनाजालं चिद्योमैवातिनिर्मलम् ।
 तस्मात्कैते पदार्थोद्याः क स्मृतिः क द्वयैकते ॥ ५० ॥
 अकारणकमेवेति जगदाभोगिखण्डकः ।
 सर्गादौ स्वप्नवद्भाति खे स्वात्मैव विकारिवत् ॥ ५१ ॥
 व्योमयेव कचति व्योम चिन्मये चिन्मयं हि यत् ।
 बुद्धं तदेव तेनैव जगद्बोधात्क तज्जगत् ॥ ५२ ॥
 क स्मृतिः क च वा स्वप्नः क कालाः कलनाश्च काः ।

- इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० शालभजिकोपदेशो नामाष्टपद्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १६९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो ।
 अन्तर्मुखमतेर्नित्यं स मुक्त इति कथ्यते ॥ १ ॥

मनोविकल्पैर्विचित्राः सर्गकलना करोति । यथा स्वप्ने अवोदितां
 कलनामिव हृदये संकल्पयतीति परेण संबन्धः ॥ ४४ ॥
 ॥ ४५ ॥ कथं कथं विशेषविभागान्सर्गादौ संकल्पयति तत्प्र-
 पद्यति—इयमित्यादिना । इयं ब्रह्मकला सत्तासामान्यरूपा
 जगद्बीजभूता । इहास्यां ब्रह्मकलायामेव सेयं चिन्मात्रकलना
 सदा अनावृतस्वभावा तत्प्रतिबिम्बचित्तिरियम् । इयमेव प्राणा-
 दिसंबलिता जीवः । असाधभिमानवृत्तिप्रधानस्तु अहंकारः ।
 अध्यवसानप्रधाना बुद्धिरित्याद्युल्लम् ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ इह
 एतत्संघाते । अयं पञ्चीकृतभूतमयः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ इत्यादि सर्व
 कलनाजालमतिनिर्मलं चिद्योमैव न ततोऽन्यदणुमात्रमपीत्यर्थः ।
 तस्मादशकल्पिता जडपदार्थोद्या एते क तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ५० ॥
 इति अनया रीत्या ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ यदैकमेव चिद्योम तदा प्रपञ्चि-
 तविभाग न सन्त्येवेति फलितमित्याह—केति ॥ ५३ ॥ अन्त-
 र्यदस्ति अन्तर्गता या सत्तेत्यर्थः ॥ ५४ ॥ हे अन्धाः वादिनः,
 अकारणं तद्भूतमुत्पन्नं कथं भवेत् । तत्कूटस्थं च अन्यथा सवि-
 कारं कथम् ॥ ५५ ॥ तस्मात्स्वप्नान्तिगृहीतं जगतो जात्यादिस्वभावं
 परित्यज्य शुद्धचिन्मात्रस्वभावोऽङ्गीक्रियतामित्याह—तस्मादिति
 ॥ ५६ ॥ रजश्चिजलनार्द्रमणुमात्रम् ॥ ५७ ॥ यतः अचेत्यकम-
 तोऽकचत् अप्रकाशयदेव स्वमात्रप्रकाशं सद्यवस्थितम् ॥ ५८ ॥

चिदाभानमिदं भाति शान्तं शून्यमिवाश्वरे ॥ ५३ ॥
 यदन्तश्चिद्वनस्यास्ति तद्वहिर्भूततां गतम् ।
 वस्तुतस्तु न तद्बाह्यं नान्तः सन्मात्रकादते ॥ ५४ ॥
 निरस्तावयवाच्छान्तादनाख्याद्यत्प्रवर्तते ।
 अकारणं भवेद्भूतं तदन्धाः कथमन्यथा ॥ ५५ ॥
 तस्माद्यादकपरं ब्रह्म तादृग्दृश्यमिदं परम् ।
 यदेव चिन्नमः स्वप्ने तदेव स्वप्नपत्तनम् ॥ ५६ ॥
 न किञ्चित्किञ्चनापीदं दृश्यमस्ति मनागपि ।
 क रजः पूर्णजलधौ क दृश्यं परमाश्वरे ॥ ५७ ॥
 तच्चेदं भाति वा किञ्चित्चिन्मात्रमचेत्यकम् ।
 अकचस्वेव संशान्तमात्मनीत्यमवस्थितम् ॥ ५८ ॥
 पूर्णाद्वै ब्रह्मणः पूर्णमप्यनुद्भूतमुद्भूतम् ।
 इवेदं भाति भारूपमाभानं परमात्मकम् ॥ ५९ ॥
 इत्थं मयि प्रकथयत्यनुभूयमान-
 मप्युच्चैर्कथं जनस्य विमूढतान्तः ।
 स्वप्ने जगद्वपुषि जाग्रदिति प्रतीतिं
 नाद्यापि यस्यजति नाम विदन्नापि द्राक् ॥ ६० ॥

यस्य न स्फुरति प्रज्ञा चिद्योमन्यचलस्थितेः ।

प्रसृतेष्विव भोगेषु स मुक्त इति कथ्यते ॥ २ ॥

उक्तेऽर्थे 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इति श्रुतिं सारयति—पूर्णादिति ।
 परमात्मैव परमात्मकम् ॥ ५९ ॥ एतावद्विस्तृतेनान्वहमावर्तिते-
 नाप्युपदेशेन काश्चिन्मन्दाधिकारिजनानप्रदुष्टान् लिङ्गैरुपलक्ष्य
 भगवांस्ताननुशोचन्नाह—इत्थमिति । मयि स्वयमनुभूयमान-
 मात्मतत्त्वमित्थं विशदतरं पुनःपुनरत्युच्चैः प्रकथयति सत्यपि
 मन्दाधिकारिजनस्यान्तर्गता विमूढता स्वप्नप्राये जगद्वपुषि इयं
 जाग्रत्स्वप्नेवेति प्रतीतिमद्यापि न संयजति । वतेति खेदे ।
 विद्वन्प्यधिकारी द्राक् स्रदिति तां न त्यजति । नामेति मोह-
 प्रावत्यप्रसिद्धौ ॥ ६० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शालभजिकोपदेशो नामाष्टपद्यधिकशत-
 तमः सर्गः ॥ १६८ ॥

भूयो विश्रान्तचित्तस्य जीवनमुक्तस्य भूरिशः ।

लक्षणान्यभिधीयन्ते सुप्तिव्यात्मनवः सदा ॥ १ ॥

यद्यवोघो मन्दाधिकारिणां त्वया लिङ्गैरुपलक्षितसार्धबोधा-
 पगमः कैलिङ्गैर्ज्ञायते इति मुक्तलक्षणजिज्ञासून् रामावीन्यप्रति
 तानि भगवान्वसिष्ठ आह—न सुखायेत्यादिना । सुखं सुख-
 साधनविषयजातम् । अन्तर्मुखी प्रत्यगात्मासत्ता मतिर्यस्य
 ॥ १ ॥ न स्फुरति न संबलति । प्रज्ञा बुद्धिः । यथा अज्ञाना
 बुद्धिः प्रसृतेषु भोगेष्वसत्ता ततो न चलति तद्वदित्यर्थः ॥ २ ॥

चिन्मात्रात्मनि विश्रान्तं यस्य चित्तमवञ्चलम् ।
तत्रैव रतिमायातं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
परमात्मनि विश्रान्तं यस्य व्यावृत्त्य नो मनः ।
रमतेऽस्मिन्पुनर्दृश्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
श्रीराम उवाच ।

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो ।
जडमेव मुने मन्ये मानवं तमचेतनम् ॥
श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चिद्बोमैकान्तनिष्ठत्वात्प्रयत्नेन विना सुखम् ।
न वेत्ति शुद्धबोधात्मा यः स विश्रान्त उच्यते ॥ ६
सर्व एव परिक्षीणाः संदेहा यस्य वस्तुतः ।
सर्वार्थेषु विवेकेन स विश्रान्तः परे पदे ॥ ७
यस्य कस्मिंश्चिदप्यर्थे कचिद्रसिकतास्ति नो ।
व्यवहारवतोऽप्यन्तः स विश्रान्त उदाहृतः ॥ ८
यस्य सर्वे सभारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
यथाप्राप्तं विहरतः स विश्रान्त इति स्मृतः ॥ ९
अविश्रामे निरालम्बे दीर्घे संसारवर्त्मनि ।
चित्त्वादात्मनि विश्रान्तिः प्राप्ता येन जयत्यसौ ॥ १०
धावित्वा ये चिरं कालं प्राप्तविश्रान्तयः स्थिताः ।
ते सुप्ता इव लक्ष्यन्ते व्यवहारपरा अपि ॥ ११
ते हि चेत्यचिदाभासनभस्याभान्ति भामयाः ।
भास्करा उदिता नित्यं नेह तिष्ठन्ति ते कचित् ॥ १२
संदेहा व्यवहारस्था अपि सुप्ता इवोत्तमाः ।
प्रक्षीणा इव लक्ष्यन्ते जडाभा न तु ते जडाः ॥ १३

श्लोकद्वयार्थ स्फुटमाह—चिन्मात्रात्मनीति ॥ ३ ॥ तत्रैवेत्ये-
वकारार्थं विवृणोति—परमात्मनीति ॥ ४ ॥ भावश्लोकोक्तल-
क्षणस्य जडोन्मत्तमूर्च्छितेषु रामो व्यभिचारं शङ्कते— न सु-
खायेति ॥ ५ ॥ अन्तर्मुखमतेरिति तत्र विशेषणेनैव व्यभि-
चारस्य निवारितत्वात् कश्चिदोष इत्याशयेन वसिष्ठस्वत्तात्पर्यं
विशदयन्नुत्तरमाह—चिद्बोमेति । न सुखायेत्यत्र वा प्रयत्नेन
विनेति विशेषणीयमित्याशयेनाह—प्रयत्नेनेति ॥ ६ ॥ लक्ष-
णान्तराण्याह—सर्व एवेत्यादिना । सर्वार्थेष्विति । सर्वसं-
हानामज्ञानमूलत्वान्मूलाज्ञानक्षयेण सर्वसंदेहक्षयोपपत्तेरिति
भावः । तथा च श्रुतिः ‘भिद्यते हृदयप्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसं-
क्षयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे’ इति ॥ ७ ॥
रसिकता रागवत्ता ॥ ८ ॥ ९ ॥ चित्त्वाचिन्मात्रत्वदर्शनात्
॥ १० ॥ धावित्वा चिरं भ्रमित्वा धावनभ्रमनिवारणाय सुप्ता
इव लक्ष्यन्ते । तथा च विषयेष्वधावनमेव स्पष्टं तल्लक्षणमिति
भावः ॥ ११ ॥ चेत्यचिदाभासौ दृश्यदृष्टारौ तदुभयश्चान्ये
नमसि स्वचित्ताकाशे भामयाः शुद्धचिद्रूपा भास्करा उदिता
भान्ति । इह संसारे ॥ १२ ॥ प्रक्षीणा विदेहा इव लक्ष्यन्ते ।
जडाभा मुग्धसदृशाः ॥ १३ ॥ सुप्ता इति पदतात्पर्यं विवृ-
णोति—सुप्ता इवेत्यादिना आसर्गसमाप्तेः । जडतां निद्रापर-

सुप्ता इवेह शय्यासु ये स्वप्ननगरावस्यन्ति ।
सुप्ता इति त उच्यन्ते न तु ते जडतां गताः ॥ १४
दीर्घाध्वपरिविश्रान्तो विश्रान्तो न ददाति यः ।
वाक्यं स सुखमौनस्थः प्रोच्यते न जडाकृतिः ॥ १५
या निशा सर्वभूतानामविद्यास्तमयात्मिका ।
परो बोधः परा शान्तिस्तत्रासौ सममास्थितः ॥ १६
यस्मिन्नाप्रति भूतानि दृश्येऽस्मिन्दुःखदायिनि ।
तत्रासौ सततं सुप्तस्तत्र पश्यत्यसौ सुखी ॥ १७
यः कर्मौघमनाहत्य स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
स आत्माराम इत्युक्तो न जडोऽसौ रघूद्वह ॥ १८
दुःखादतिगतः सोऽस्मात्प्राप्तः पारं भवाम्बुधेः ।
तिष्ठत्यनुभवन्भव्यो विश्रान्तिसुखमात्मनि ॥ १९
दीर्घाध्वनि परिविश्रान्तो विषयैश्चतुरैश्चिरम् ।
भोगभावातुरः क्रूरैः प्रोत्थितः पथि डामरैः ॥ २०
जरातुषाराशनिभिर्भूयोभूयो जडीकृतः ।
जन्मजङ्गलसारङ्गो व्यर्थव्यग्रविहारवान् ॥ २१
परमात्मपरिक्रान्तो दुःखकण्टकसंकटे ।
सुदुष्प्रापसुखच्छाये पान्थः संसारवर्त्मनि ॥ २२
दुष्कृतैः कृतपाथेयो लुण्ठक्षीणः पदे पदे ।
अर्थानर्थमयैर्मार्गैः संकटैर्विवर्षीकृतः ॥ २३
संसारजलधेः पारं प्राप्य भूतविवर्जितम् ।
अशय्योऽतिप्रमाबुद्धः स शेते सुखमात्मवान् ॥ २४
अपसर्पे निरस्तेहमस्वप्नमसुषुप्तकम् ।
प्रबुद्धमवहिर्निद्रं हा शेते सुखमात्मवान् ॥ २५

वशताम् ॥ १४ ॥ केनांशेन तर्हि सुप्तसाम्यमिति चेद्विश्रान्ति-
मौनाभ्यामित्याह—दीर्घेति । परिभ्रमणाद्विश्रान्तो निवृत्तः ।
विश्रान्तो गतभ्रमः सन् यो न ददाति नोच्चारयति बहिर्मुखेभ्यः
॥ १५ ॥ लक्षकप्रायाणामविद्यान्धकारे व्यवहरतां सर्वभूतानां
या तदस्तमयात्मिका निशा स परो बोधः । समं एकरसम्
॥ १६ ॥ सुप्त इत्यस्य विवरणं तत्र पश्यतीति । तथा च
भगवता गीतासु—‘या निशा’ इति श्लोके लक्षणद्वयं दर्शितमिति
भावः ॥ १७ ॥ सर्वकर्मसंन्यासोऽपि तल्लक्षणमित्याह—यं
इति ॥ १८ ॥ १९ ॥ ‘धावित्वा ये चिरं कालं’ इति श्लोकार्थं
प्रपञ्चयति—दीर्घाध्वनीत्यादिना । वधनचतुरैर्विषयैश्चिरं डामरै-
र्देशोपलब्धैर्मोगसामग्रीलुण्ठनैरिव प्रोत्थितः प्रस्थितः ॥ २० ॥
जरालक्षणहिमाशनिभिर्जडीकृतो व्यवहाराक्षमः कृतः ॥ २१ ॥
परं आत्मना स्वेनैवासहायेन परिक्रान्तश्चलितः ॥ २२ ॥
दुष्कृतैः पापार्जितधनैः । पदे पदे क्षीणः पतितः सन् लुठन्
॥ २३ ॥ एवं श्रान्तोऽयं दैवात्साधनसंपत्त्या सच्छास्त्रसद्गुरुप्र-
सादादतिप्रमया तत्त्वसाक्षात्कारेण प्रबुद्धः सन् संसारजलधेः
पारं प्राप्य स आत्मवानशय्यः शय्यारहितोऽपि सुखं शेते इति
सर्वेषामन्वयः ॥ २४ ॥ शयनार्यभिः सर्प्यन्ते अपसृप्यन्ते इति स-
र्पाणि गृहापवरकप्रासादपर्यङ्कादीनि । तद्रहितं यथा स्यात्तथा

जात्यश्वदिहोर्जातिरश्वगच्छन्श्वसन्वदन् ।
 लोकमध्ये महारण्ये हा शेते सुखमात्मवान् ॥ २६
 अपूर्वैव घना निद्रा कापि सा तत्त्वदर्शिनाम् ।
 या न शाम्यति कल्पाभ्रवैर्नाङ्गविकर्तनैः ॥ २७
 अपूर्वैव घना निद्रा कापि सा तत्त्वदर्शिनाम् ।
 प्रबुद्धानामपि हि या निमीलयति दृग्दृशौ ॥ २८
 अनिमीलितनेत्रस्य यस्य विश्वं प्रलीयते ।
 स क्षीवः परमार्थेन हा शेते सुखमात्मवान् ॥ २९
 विनिर्गीर्य जगत्सर्वं परमां पूर्णतां गतः ।
 आतृप्तेरमृतं पीत्वा हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३०
 निरानन्दमहानन्दी सुखमद्वैतमक्षयम् ।
 निरालोकमहालोको हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३१
 लोभान्धकारोपरमो लोकलम्पटतां गतः ।
 अधनत्वघनाभोगो हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३२
 अतन्तदुःखमाशान्तमशान्तं जनतास्थितौ ।
 अवहिर्मुखमाभोगि हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३३
 अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
 कृत्वात्मानं नमःशय्यं हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३४
 परमाणौ परमाणौ जगत्कोटिशतान्यपि ।

अणौ स्थूले दधहेहे हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३५
 कुर्वन्संहारसर्गोद्यानकुर्वन् कथंचन ।
 परमालोकशय्यायां हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३६
 संसारनिचयस्त्रयं परिज्ञाय सुषुप्तताम् ।
 नयम्प्रकटदिग्दीर्घां हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३७
 सर्वेषां जगदर्थानां सत्तासामान्यतां गतः ।
 आकाशादधिको व्यापी हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३८
 अच्छाच्छमम्बरं कृत्वा जगदप्यम्बरीकृतम् ।
 शान्तशब्दपरश्वासं हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ३९
 इदमस्यजगत्पदयन्स्वयमाकाशकोणके ।
 विशाकाशकोशात्मा हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ४०
 यथा प्रवाहसंप्राप्तव्यवहारमनोरमे ।
 तृण्यास्तरणविश्रान्तो हा शेते सुखमात्मवान् ॥ ४१
 परमेण स्वयत्नेन परिज्ञानात्स्वरूपिणा ।
 स्वप्नसंदर्शनेनैव जीवन् समिव खेन खे ॥ ४२
 ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् गगनसंनिभान् ।
 ज्ञेन यत्नेन संबुद्धः परमाम्बरतां गतः ॥ ४३
 प्रबुद्धः सुप्तः सुप्तोऽपि प्रबुद्धो रमतेऽनिशम् ।
 सुषुप्तोभूततो जाग्रत्स्वप्नार्थसुहृदा सह ॥ ४४

निरसोहं प्राणादिचेष्टारहितं यथा स्यात्तथा प्रबुद्धमात्मस्वरूपे जा-
 गरुकता यथा स्यात्तथा स्वरूपवर्हिर्भूतनिद्रास्वप्नस्त्वन्तररहितं च
 यथा स्यात्तथा शेते । हा इत्याख्ये ॥ २५ ॥ जात्यश्वो ह्यश्वन् गच्छ-
 स्त्रिष्टं सदैव निद्राति समरे एव केवलं जागर्तीति लोकप्रसि-
 द्देर्जात्यश्वदित्युक्तिः ॥ २६ ॥ अपूर्वां अलौकिकीं । तत्रोप-
 पत्तिर्येति ॥ २७ ॥ दृग्दृशौ विन्मात्रदर्शने प्रबुद्धानामपि या
 प्रमीलयति बाह्येन्द्रियाणीत्यर्थः । अथवा व्यवहारे प्रबुद्धानामपि
 या दृशां बाह्येन्द्रियाणां दृशिः रूपादिदर्शनं तद्विषये प्रमीलयति
 संबुणोति ॥ २८ ॥ परमार्थेन स क्षीवो न तु भदेन क्षीवः
 ॥ २९ ॥ अमृतमपरिच्छिन्नानन्दरसम् ॥ ३० ॥ निरालोके
 आलोकान्तरमास्ये स्वात्मनि महानालोकः प्रकाशो यस्य ॥ ३१ ॥
 अधनत्वे अमूर्तानन्दरसे घन आभोग आस्तादो यस्य ॥ ३२ ॥
 दुःखमा दुःखानुभवस्वद्विषये शान्तमुपरतम् । जनतास्थितौ
 वर्णाश्रमोचितव्यवहारे लोकसुप्रहार्थमशान्तमनुपरतम् । अव-
 हिर्मुखं बाह्यार्थानासक्तम् । आन्तरसुखमाभोगि । क्रियाविशे-
 षणानि सर्वाणि ॥ ३३ ॥ नमश्चिदाकाश एव शय्या यस्य
 तथाविधं कृत्वा ॥ ३४ ॥ सोऽस्यादणौ विभुतया स्थूले
 च विदेहे । प्रतिपरमाणु ज्यत्कोटिशतान्यनन्तानि जगन्ति
 दधद्वारजम् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ पूर्णप्रकाशेन प्रकटा दिश इव
 दीर्घामपरिच्छिन्नामिति यावत् ॥ ३७ ॥ सद्रूपेण सर्वेनानुगमा-
 त्सत्तासामान्यताम् । आकाशादिति । 'व्यापानाकाशात्' इति

श्रुतेरिति भावः ॥ ३८ ॥ आदौ प्रविलापनेनाम्बरीकृतमाका-
 शतां नीतं जगत् अच्छादय्याकृताकाशादप्यच्छं चिदम्बरं कृत्वा
 शान्तौ शब्दश्च परश्वासः प्रश्वासश्च यस्मिन्कर्मणि तथा । अम्ब-
 रमास्तरणवत्प्रच्छादयच्छं कृत्वा अम्बरीकृतं प्रावारीकृतं जगद-
 प्याच्छाद्य शान्तपुष्पराशब्दप्रश्वासं शेते इत्युक्तानार्थः ॥ ३९ ॥
 स्वयं प्रत्यगात्मभूतो यद्विदाकाशस्तत्कोणके स्वप्नमिव इदं जगत्
 स्वप्नाभासमिव पश्यन् ॥ ४० ॥ व्यवहारलक्षणे मनोरमे
 तृणानां समूहस्तृण्या कटस्तदास्तरणे विश्रान्त इत्येतत्पर्यन्तं
 समस्तमेकं पदम् ॥ ४१ ॥ यथा जागरुकस्य निद्रानुभूतस्वप्नस्य
 परमेण प्रयत्नेनानुसंधानात्स्मृतियोग्यस्वरूपता तथा कथंचित्पर-
 मेण प्रयत्नेन स्वप्नप्रयत्नेन चित्तमीषद्विर्मुखीकृत्य बाह्यव्यवहा-
 रपरिज्ञानादापाततः स्वरूपवता देहादिना जीवन् । यथा निर-
 वकाशे स्थातुमशक्यं खं आत्मकेनैव द्वितीयमिव कल्पितेन
 लब्धावकाशं खे आकाशस्वरूपे जीवति सतां लभते तद्वदित्यर्थः
 ॥ ४२ ॥ आकाशकल्पेन स्वरूपज्ञानेन असन्तासत्त्वाद्गगनसं-
 निभान् जीवजगत्क्षणान्धर्मान्यत्नेन ज्ञेन प्रयत्नापादितानुभा-
 वेन स्वयैव यः संबुद्धः सम्यग्बुद्धवान् । 'मतिबुद्धि' इति कर्तरि
 क्तः ॥ ४३ ॥ एवं जीवन्मुक्तस्याज्ञविषये स्थापमुपवर्ण्य परमार्थे
 सदा प्रबुद्धतामाह—प्रबुद्धः सुप्त इति । प्रबुद्धस्वप्नवित् एवं-
 रीत्या धदा सुप्तोऽपि लोकप्रसिद्धयोः प्रबोधस्वापयोर्लोकवदेव
 प्रबुद्धः सुप्तश्च सन् जाग्रत्स्वप्नार्थभोगे सहायभूतेन वक्ष्यमाणेन

जन्मान्तरेकसहवाससमाशयेन

चित्रानुवृत्तिमधुरेण चिरंतनेन ।

इत्यापि श्रीवाल्मीकिरामायणे वाल्मी० दे० मो० नि० उ० अवि० श० विश्रान्तचित्तवर्णनं नामैकोनसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६९ ॥

सप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७०

श्रीराम उवाच ।

ग्रहान्कोऽस्य सुहृद्बुद्धि येनासौ रमते सह ।
रमणं किंस्वभावं स्यादुत रत्यात्म वास्य तत् ॥ १

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

स्वप्रवाहेहितं नाम स्वप्रायेहितनाम च ।
स्वकर्म नाम चास्यास्ते मित्रमेकमकृत्रिमम् ॥ २
पितृवद्विहिताश्वासं दारा इव नियन्त्रणम् ।
संकटेषु दुरन्तेषु नित्यमव्यभिचारि च ॥ ३
अशङ्कितोपचरणं सुसंपादितनिवृत्ति ।
कोपेष्वकोपनतया वितीर्णावर्जनामृतम् ॥ ४
दुर्गदुर्गमदुर्वारदोषोद्धरणतत्परम् ।
सर्वविश्वासरत्नानां कोश आशैशवोषितम् ॥ ५
सहपांसुकृताक्रीडमावाल्यादेव संगतम् ।
विनिवारितदुश्चेष्टं पितृवद्रक्षणोन्मुखम् ॥ ६
वहेरिवौष्ण्यं सौगन्ध्यं कुसुमस्येव सर्वदा ।
अविनाभावि विमलं रवेरिव च वासरम् ॥ ७
लालनैकरतं नित्यं पालनैकपरायणम् ।

सुहृदा सह अनिशं रमते । ततः सुपुत्रस्तु संस्तेन सहैव सुपु-
त्रोऽभूदित्यर्थः ॥ ४४ ॥ यावत्प्रारब्धभोगं तेन सुहृदा सह
क्रीडित्वा तस्य तदन्ते विदेहमुक्तिमाह—जन्मान्तरेति । स
जीवन्मुक्तो जन्मान्तरेषु एकतया चिरसहवासप्रयुक्तेहातिशया-
दिव सर्वं स्ववैषम्यं परित्यज्य समाशयेन समचित्तेन अत एव
चित्राभिः शमदमतितिक्षाज्ञानवैराग्यसंतोषाद्यनुवृत्तिभिर्मधुरेण
उत्तरत्र वक्ष्यमाणेन चिरंतनेन मित्रेण सार्धमखिलान्यायुःशेष-
दिनानि वक्ष्यमाणरमणेन नीत्वा परमे निरतिशयानन्दे विदेह-
कैवल्यपदे विश्रान्तिमेप्स्यति प्राप्स्यति ॥ ४५ ॥ इति श्रीवाल्मी-
किरामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्तचित्त-
वर्णनं नामैकोनसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६९ ॥

सुहृत्स्वकर्मेनामात्र पुत्रस्त्रीभृत्यसंयुतः ।

तद्गुणाश्चोपवर्ष्यन्ते रमणं च सुखोदयम् ॥ १ ॥

अस्य जीवन्मुक्तस्य तेन सुहृदा सह यद्रमणं तर्हि स्वभावः
स्वात्मस्वरूपावस्थितिरेव वा स्यादुत रतिः रम्येषु भोगस्थानेषु
विहारप्रयुक्ता प्रीतिस्तदात्मकमित्यर्थः ॥ १ ॥ प्रवाहेहितं
सहजं कर्म प्रायेहितं लोकसंप्रदार्थं शास्त्रीयं कर्म स्वप्रयत्नाभ्यस्तं
सन्त्याज्याभ्यासविचारसत्संगशमदमतितिक्षोपरमगौचसंतोषेश्वर-
प्रणिधानसंयमादिस्वकर्मेति त्रिविधमनिन्द्यमनिषिद्धं कर्मैकमेव

१ सितसेति शेषः.

मित्रेण सार्धमखिलानि दिनानि नीत्वा

विश्रान्तिमेप्स्यति पदे परमे चिरं सः ॥ ४५

सर्वसंकटसंघट्टरक्षणैकसमुद्यतम् ॥ ८

हेस्रोऽग्निरिव देहस्य सर्वावस्थस्य शुद्धिदम् ।

इदं हेयमुपादेयमिति दर्शनतत्परम् ॥ ९

आह्लादकमनिन्द्याभिः कथाभिरिव नागरम् ।

सच्चेष्टामणिमाणिक्यभाण्डसंभारमन्दिरम् ॥ १०

सूर्यस्तम इवाजस्रमप्रदर्शयदप्रियम् ।

अनुरक्ता महेलेव प्रियमेवाप्रदर्शयत् ॥ ११

जनं प्रियंवदं कुर्वत्प्रियमेव समाचरत् ।

पेशलं मधुरं स्निग्धमधुग्धमुदिताशयम् ॥ १२

लोकोपचारकं पूज्यं सितपूर्वाभिभाषणम् ।

कामोपशान्तं सद्रूपं परमार्थैककारणम् ॥ १३

रणेऽज्ञानसमुद्भूते पूर्वं प्रहरणोद्यतम् ।

अपूर्वनर्मनिर्माणलीलाललनलालकम् ॥ १४

पालकं शीलसाराणां दाराणां च कुलस्य च ।

आधिव्याधिपरीतस्य चेतसोऽमृतमौषधम् ॥ १५

विशेषविद्यावैदग्ध्यवादवन्द्यविनोदनम् ।

समानकुलशीलत्वाद्विधाभाव इव स्थितम् ॥ १६

त्रिभिर्नामभिरुपाधिमेदाद्यपदिश्यते । अत एवैकं मित्रमि-
त्युक्तिः ॥ २ ॥ तस्य सुहृदो गुणानाह—पितृवदित्यादिना ।
अकार्यविषये लज्जानियन्त्रणमव्यभिचारि च ॥ ३ ॥ वितीर्ण-
मावर्जनं साम्रा समाधानं तल्लक्षणममृतं येन ॥ ४ ॥ एवं
दुर्गेषु दुर्गमेषु मार्गेषु दुर्वारवैरकलहादिदोषेषु च मज्जने प्रसक्ते
उद्धरणतत्परम् । अनेकजन्मान्भ्यासानुवृत्तत्वादाशैशवोषितम् ॥ ५ ॥
तदेवाभिप्रेत्याह—सहेत्यादिना ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ सर्वावस्थस्य
अशुचिस्पर्शमक्षणादिना अशुद्ध्याद्यवस्थस्यापि । दर्शने विविच्य
प्रदर्शने तत्परम् ॥ ९ ॥ नागरं नगराभिजनं चतुरस्रिवेति यावत् ।
सच्चेष्टाः शुभा वाङ्मनःकायचेष्टास्तल्लक्षणानां मणिमाणिक्यानां
भाण्डसंभारमन्दिरं कोशगृहम् ॥ १० ॥ अप्रदर्शयत् दूरतो
निरस्यदित्यर्थः । महेला महिलेव ॥ ११ ॥ उदिताशयमप्र-
मादि ॥ १२ ॥ लोकानां संगतसज्जनानामुपचारकं शुश्रूषकम् ।
कामेभ्य उपशान्तमत एव सतां रूपमिव रूपं यस्य सद्रूपम्
॥ १३ ॥ अज्ञानेभ्यो जनेभ्यो दैवात्समुद्भूते रणे संप्रहारे पूर्वं
प्रहरणे उद्यतमतिशूरमिति यावत् । अपूर्वलोकोत्तरेनर्मनिर्माणैः
क्रीडाहास्यादिकौतूहलनिर्माणैर्लीलया ललनैश्च लालकं विलास-
यित् ॥ १४ ॥ अमृतवदुज्जीवनमौषधमिव रोगहरं च ॥ १५ ॥
विशेषतो विद्यावैदग्ध्येन पाण्डित्येन वादैश्च वन्द्यानामुत्कृष्टानां
प्रभुगुरुमान्यादीनां विनोदनं कौतुकावहम् । क्वचित्समानकुल-

| | |
|---|---|
| अनुरक्ताक्षपान्साधून्वदान्यान्कारयत्सदा । यत्नदानतपस्तीर्थन्यायार्थप्रेरणोन्मुखम् ॥ १७ | सास्य धीरस्य धुर्यस्य पुरो घन्यस्य धावति ॥ २६ |
| पुत्रदारद्विजातिस्त्रीभृत्यबन्धुजनैः सह । शुभभोजनपानार्हमुत्तमश्लाघ्यसंगति ॥ १८ | अस्य सन्ना समं स्कन्धे सर्वदैव महौजसः । विषयारिजये राज्ञो मैत्री मन्त्रप्रदायिनी ॥ २७ |
| भोगादियद्धतृष्णत्वं दुःखदं विनिवारयत् । सुस्निग्धसंकथोदारं समाश्वासोत्तमास्पदम् ॥ १९ | कार्याणामार्यमर्यादाचार्या चातुर्यशालिनी । सर्वेषामस्य मान्यस्य सत्यता स्वार्थदायिनी ॥ २८ |
| ईदृशेनात्ममित्रेण स कलत्रेण संयुतः । स्वकर्मनाम्ना रमते स्वभावेनैव नेरितः ॥ २० | इत्येवंपरिवारेण मित्रेण सह मन्त्रिणा । स्वकर्मणा व्यवहरन्न हृष्यति न कुप्यति ॥ २९ |
| श्रीराम उवाच । कलत्रमस्य मित्रस्य तदीयस्य मुनीश्वर । किं तार्त्तिकरूपमेव स्यात्समासेनैव मे वद ॥ २१ | स यथास्थितमेवास्ते विनिर्वाणमना मुनिः । चित्रार्पित इवाजस्रं लोके व्यवहरन्नपि ॥ ३० |
| श्रीवासिष्ठ उवाच । आनदानतपोध्याननामानोऽस्य महामते । सन्ति पुत्रा महात्मानः स्वनुरक्ताखिलप्रजाः ॥ २२ | वस्तुशून्येषु वादेषु मूकः शैलमयो यथा । निष्प्रयोजनशब्देषु परं बाधिर्यमागतः ॥ ३१ |
| चन्द्रलेखेव लोकस्य दृष्ट्यैवाह्लाददायिनी । अविनाभाविनी भार्या मुदितास्यानुरागिणी ॥ २३ | लोकाचारविरुद्धेषु शवं सकलकर्मसु । आर्याचारविचारेषु वासुकिर्वा बृहस्पतिः ॥ ३२ |
| करुणाकारणाकीर्णघना हृदयहारिणी । आनन्दजननी चास्य वयस्याऽव्यभिचारिणी ॥ २४ | प्रवृत्तवाक्पुण्यकथो जिज्ञानां प्रतिभानवान् । निमेषेणैव निर्णेता वक्ताशु बहु वस्तुनः ॥ ३३ |
| समतास्य मता नित्यमास्ते हृदयवल्लभा । प्रतीहारी पुरः प्रह्ला संमुखं सुखदायिनी ॥ २५ | समदृष्टिहृदारात्मा वदन्यः संविभाषवान् । पेशलस्निग्धमधुरः सुन्दरः पुण्यकीर्तनः ॥ ३४ |
| धैर्यं धर्मं च धीः साधो नित्यमाधीचते च या । इत्यर्थे श्रीवासिष्ठमहारामाणे वा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० तत्त्वज्ञव्यवहारवर्णनं नाम सप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७० ॥ | स्वभाव एवैव भवेत्प्रबुद्ध- धियां प्रयत्नेन तु नेदृशास्ते । भवन्ति नेन्द्रर्कहुताशनाद्याः कचित्परप्रेरणया प्रकाशाः ॥ ३५ |

एकसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७१

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
संविदाकाशकचनमिदं भाति जगत्तया ।

शीलत्वादिभागेन द्विधामावे स्थितमिव ॥ १६ ॥ नृपादीन-
नुरक्ताङ्गत्वा वदान्यान्दानशौण्डाद् कारयत् । सदेति देहली-
क्षीपकन्यायेनोभयत्र संवध्यते ॥ १७ ॥ उत्तमैः श्लाघ्यैर्महद्भिः
सह संगतिर्येन ॥ १८ ॥ १९ ॥ स्वभावेन सहजवृत्त्येव न तु
केनचिरीरितः प्रेरितः सन्धिलयः ॥ २० ॥ कलत्रं स्त्रीपुत्रादि-
पोष्यवर्गः । तत्सहितस्य तदीयस्य मित्रस्य तत्कलत्रं किं तस्य
किरूपं कीदृशगुणवदित्यर्थः ॥ २१ ॥ तत्रादौ पुत्रानाह—
स्तानेति । गुणैः स्वनुरक्ता अखिलाः प्रजा येषाम् ॥ २२ ॥
तस्य भार्या गुणैः सह वर्णयति—चन्द्रलेखेवेति । मुदिता
नित्यसंतुष्टा ॥ २३ ॥ करुणा दया तत्कारणाद् आसमन्तात्कीर्णं
विक्षिप्तं विकीर्णं धनं यथा ॥ २४ ॥ समतानात्री हृदयवल्गुभा
त्रिया भार्या । प्रतीहारी द्वारपालिका ॥ २५ ॥ धैर्यं धर्मं च
विषये वा धीः सा ॥ २६ ॥ अस्य राज्ञः सुहृदो विषयारिजये
विषये मन्त्रप्रदायिनी मैत्री नामापरं भार्या समतया समं
सर्वदैव स्कन्धे सन्ना सप्ता ॥ २७ ॥ आर्यमर्यादाकार्याणां विषये
अस्य आचार्या उपदेष्टी । अस्य सत्यता स्वार्थदायिनी धनाध्यक्षा

वस्तुतो न जगन्नाभा न शून्यं न च संविदः ॥ १
यदिदं भाति चिद्भ्योम जगदाख्यं न तत्ततः ।

॥ २८ ॥ एवंविधः परिवारः पोष्यवर्गो यस्य तथाविधेन मन्त्रिणा
सुहृदा स्वकर्मणा सर्वत्र व्यवहरन् जीवन्मुक्तो लामालामयोर्न
हृष्यति न कुप्यति ॥ २९ ॥ चित्रार्पितो योदेव युदादिना
व्यवहरन्नपि यथास्थितमेवास्ते ॥ ३० ॥ शैलमयः शिलाप्र-
तिमारूप इव ॥ ३१ ॥ शवं मृतकल्पः ॥ ३२ ॥ जिज्ञानां
स्वपरकौटिल्यादिदोषाणां प्रतिभानवान् । वस्तुनो दुरुहस्यापि
संदेहपदस्य निर्णीय वक्ता ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ एष वर्णितो गुण-
गणः प्रबुद्धधियां स्वभाव एव भवेत् । ते प्रयत्नेन ईदृशा
ईदृशगुणा न भवन्ति । इन्द्रर्कहुताशनाद्याः परप्रेरणया प्रकाशन्त
इति प्रकाशा न भवन्ति किन्तु स्वभावत एव तद्गदित्यर्थः ॥ ३५ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामाणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
तत्त्वज्ञव्यवहारवर्णनं नाम सप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७० ॥

जीवन्मुक्तिप्रतिष्ठार्थं सर्वसंदेहशान्तये ।

भूयस्तत्त्वोपदेशेन क्रियते हृदयमार्जनम् ॥ १ ॥

वस्तुतस्तु न जगद् नापि जगत् आमाननाभा नापि शून्यं
नापि वृत्तिसंविदः ॥ १ ॥ अहदृष्ट्या अन्यत् स्थितमपि तत्-

आकाशादिव शून्यत्वमन्यदन्यदपि स्थितम् ॥ २ ॥
 देशादेशान्तरप्राप्तौ मध्ये यत्संविदो वपुः ।
 तद्दृश्यमिति भातीदं दृश्यमन्यत्र विद्यते ॥ ३ ॥
 महाप्रलयसंपत्तावादिसर्गः पुनः किल ।
 परस्मात्कारणाभावे कुतो दृश्यस्य संभवः ॥ ४ ॥
 तदाणुमात्रमपि हि दृश्यबीजं न विद्यते ।
 किल यस्मादिदं चक्रं पुनर्मूर्ते प्रवर्तते ॥ ५ ॥
 उत्पन्नमेव नैवातो मूर्ते दृश्यमिदं जगत् ।
 घन्ध्यापुत्र इवात्यन्तमतोऽस्त्येव न दृश्यधीः ॥ ६ ॥
 यच्चेदं किञ्चिदाभाति दृश्यमित्यभितः स्थितम् ।
 तच्चिन्मात्रं खमेवाच्छं परमेव पदं विदुः ॥ ७ ॥
 यथा सुषुप्तात्स्वप्नत्वं गच्छद्यात्यनवस्थितिम् ।
 चिन्मात्रमजहत्स्वच्छं निजं रूपमनामयम् ॥ ८ ॥
 सर्गस्यादौ तथैवेदमात्मैव स्वात्मनात्मनि ।
 व्योमात्मैव चिदाभासं दृश्यमित्यवभासते ॥ ९ ॥
 यथा पुरतया भाति मनः संकल्पमन्थरम् ।
 तथा दृश्यमिवाभाति सर्गादौ चिन्नमः परम् ॥ १० ॥
 यथात्मन्यनिलः स्पन्दश्चक्रावर्तवदीहते ।
 सर्गादौ चिन्नमः स्थित्वा दृश्यमित्येव तिष्ठति ॥ ११ ॥
 अतो ज्ञातमनाभातमेव दृश्यं जगत्त्रयम् ।
 ब्रह्मैवेदं परं भाति स्वात्मनीत्यमवस्थितम् ॥ १२ ॥
 नास्त्येव मूर्ते पृथ्यादि किञ्चनापि कदाचन ।

ध्विद्योन्नोऽन्यत्र । यथा शून्यत्वमाकाशादन्यत्र तद्वत् ॥ २ ॥
 तथा च निर्विषयमेव चैतन्यं यदेकविषयादपरविषयप्राप्तावन्त-
 राले प्रसिद्धं तदेव दृश्यमिति भातीत्यर्थः ॥ ३ ॥ 'सदेव सोम्ये-
 दमग्र आसीत्' । 'यदा तमस्तत्र दिवा न रात्रिर्न सद्य चासन्
 शिव एव केवलः' इत्यादिश्रुतिषु सन्मात्रपरिशेषलक्षणमहाप्रल-
 यसंपत्तौ प्राक्सत्यां तदुत्तरं पुनरादिसर्गः किल भवतीति श्रुतम् ।
 तत्र सदेवेत्यवधारणादविकारात्परस्मादन्यस्य कारणस्याभावे
 कुतोऽस्य दृश्यस्य संभवः ॥ ४ ॥ तत्र श्रुतिविरोधात्परमाणा-
 दिकारणान्तरकल्पनाया अनवकाश इत्याह—तदेति । प्रवर्तते
 प्रवर्तते ॥ ५ ॥ किं तत्तत्तत्राह—उत्पन्नमेवेति । अनुत्पत्ति-
 प्रतिपादने एव सृष्टिश्रुतीनां तात्पर्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥ प्रत्यक्षं
 दृश्यमानस्य का गतिस्तत्राह—यच्चेदमिति । विदुः श्रुतितात्प-
 र्यविद इत्यर्थः ॥ ७ ॥ चिन्मात्रस्य दृश्याकारेण भानं सुषुप्ता-
 त्स्वप्नप्रगमने प्रसिद्धमित्याह—यथेति ॥ ८ ॥ सुषुप्तात्स्वप्न-
 मनवत्प्रलयात्सर्गमनमपि तथा बोध्यमित्याह—सर्गस्येति
 ॥ ९ ॥ १० ॥ यथा अनिलः स्पन्दः सन्नात्मनि स्वस्मिन्नेव चक्राव-
 र्तवद्वात्यावदीहते तथा चिन्नमोऽप्यज्ञातमात्मन्येव दृश्यमित्येव
 तिष्ठति ॥ ११ ॥ अत एव ज्ञातं चेद्दृश्यं जगत्त्रयमनाभातमेव परं
 ब्रह्मैव भाति ॥ १२ ॥ अज्ञदृशा ज्ञदृशा वा मूर्तेममूर्ते वा अस्तु ब्रह्मैव
 तथा विराजत इति तु निष्कर्ष इत्यर्थः ॥ १३ ॥ प्रबोधो जागरणं
 तत्काले । प्रबोधे आत्मप्रबोधे ॥ १४ ॥ धीमन्तश्चिन्तयन्तोऽपि अप्र-
 बो० वा० १८५

अस्तु मूर्तेममूर्ते वा ब्रह्मैवेदं विराजते ॥ १३ ॥
 प्रबोधकाले स्वप्नाद्रिर्यथा व्योमैव निर्वपुः ।
 तथेदं शान्तचिन्मात्रं खं प्रबोधे जगत्त्रयम् ॥ १४ ॥
 प्रबुद्धानां परं ब्रह्म निर्विभागमिदं जगत् ।
 धीमन्तोऽपि न तद्विद्यो यदिदं त्वप्रबोधनम् ॥ १५ ॥
 देशादेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
 स्वस्वभावो हि भूतानां तत्पदं परमात्मकम् ॥ १६ ॥
 देशादेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
 एतत्तत्परमाकाशमत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥
 यादृगेतत्पदं तादृगिदं सदसदात्मकम् ।
 येनार्थपञ्चकादन्यत्किञ्चनापि न विद्यते ॥ १८ ॥
 रूपालोकमनस्कारा एतदेव पदं विदुः ।
 एते ते द्रवतावर्ताः पदस्यास्य महाम्भसः ॥ १९ ॥
 देशादेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
 एतस्याव्यतिरेकेण जगत्ता नास्ति काचन ॥ २० ॥
 रागद्वेषादयो भावा भावाभावदृशस्तथा ।
 एतद्रूपममुञ्चन्त एतस्यावयवाः स्थिताः ॥ २१ ॥
 त्यक्त्वा पूर्वापरे कोट्यौ मध्ये यत्संविदो वपुः ।
 स स्वभावः परो ज्ञेयो जगत्पयसि संज्ञितः ॥ २२ ॥
 देशादेशान्तरप्राप्तौ विद्धि मध्यमसंविदः ।
 जगदित्यपरं नाम स्वरूपादच्युतात्मनः ॥ २३ ॥
 आदिसर्गात्प्रभृत्येव दृश्यमुत्पन्नमेव नो ।

बोधनं कीदृशमिति न विद्यः ॥ १५ ॥ सर्वभूतानां निर्विषयचिन्मा-
 त्रमेव स्वस्वभाव इत्याह—देशादिति ॥ १६ ॥ अत्रेति ।
 सर्वाधिष्ठानमपि निर्विषयचिदेवेत्यर्थः ॥ १७ ॥ अधिष्ठानानुरूपो-
 ऽयमध्यास इत्याह—यादृगिति । केनांशेन सादृश्यं तदाह—
 येनेति । येन हेतुना अर्थपञ्चकात्प्रभूतेभ्योऽन्यत्किञ्चिन्न वि-
 द्यते । तथा च स्वातिरिक्तस्वकार्यशून्यत्वमेवास्मिन् ब्रह्मसादृश्यमि-
 त्यर्थः ॥ १८ ॥ बाह्येन्द्रियजन्यविषयाभासा रूपालोका आभ्य-
 न्तरमनोधीनास्तु मनस्कारा एते सर्वेऽप्येतत्पदमेव ॥ १९ ॥ तथा च
 निर्विषयचिन्मात्रव्यतिरेकेण जगत्ता नास्तीति प्रसिद्धमित्याह—
 देशादिति । जगत्ता जगद्भावः ॥ २० ॥ एतद्रूपं सद्रूपं भानरूपं च
 ॥ २१ ॥ शाखाचन्द्रदर्शने पूर्वा कोटिः शाखा अपरा कोटिश्चन्द्रस्तौ
 त्यक्त्वा मध्ये यत्संविदो निर्विषयं वपुः प्रसिद्धं स तस्याः स्वभावः
 स एव जगत्क्षणमरुमरीचिकापयस्यधिष्ठानसंज्ञित इत्यर्थः ॥ २२ ॥
 एतदेवाभिप्रेत्य मया पुनःपुनर्निर्विषयविस्तृतापरोक्षचैतन्यस्य
 सकलजनसाधारणप्रसिद्धिप्रदर्शको 'देशादेशान्तरम्' इति श्लोक
 उद्धृत्य इत्याशयेनाह—देशादिति । कूटस्थत्वादेव स्वरूपा-
 दप्रच्युतात्मनः । जाग्रदेशात्स्वप्नदेशप्राप्तौ मध्ये सुषुप्तिदेशायां
 यत्संविदो वपुः पूर्वसर्गदेशात्पुनःसर्गप्राप्तौ मध्ये प्रलये यत्सं-
 विदो वपुः इहलोकदेशात्परलोकदेशप्राप्तौ मध्ये मूर्च्छावस्थायां
 यत्संविदो वपुस्तदेव तथैव सर्वदा आस्ते तस्यैव जगदित्यपरं
 नामाज्ञैः कल्पितमित्यर्थः ॥ २३ ॥ तथा सति यत्फलितं

यन्नाम तदिहास्तीति मायाशम्बरदम्बरः ॥ २४
 कष्टं नास्त्येव यदृश्यं तदप्यस्तीति संस्थितम् ।
 यदप्यस्ति परं ब्रह्म कष्टं नास्तीति तत्स्थितम् ॥ २५
 अब्रह्मण्यं कं गच्छामि विपरीतमतो जगत् ।
 असदृश्यं सदित्युक्तं ब्रह्मैवं नावगम्यते ॥ २६
 न द्योत्पन्नं न चाभाति दृश्यं किंचन कुत्रचित् ।
 यदिदं भाति तद्ब्रह्म व्योमैव कचति स्वयम् ॥ २७
 यथा मणिः प्रकचति स्वभासाऽन्यतिरिक्तया ।
 आत्मनोऽनन्यया सृष्ट्या चिद्योम कचितं तथा ॥ २८
 तस्मिन्नेव पदे शान्ते तपत्येव दिवाकरः ।
 तस्यैवावयवश्चैव न नामान्योऽस्ति भास्करः ॥ २९
 स्थितोऽपि तत्र न तपत्यर्को न च निशाकरः ।
 प्रकाशयति देवोऽसावर्कं नार्कस्तमीश्वरम् ॥ ३०
 तस्य भासा विभातीदं तदहो दृश्यमण्डलम् ।
 सर्वचन्द्रार्कवह्नीनां पदार्थानां स दीपकः ॥ ३१
 स साकारो निराकार इति शब्दार्थकल्पना ।
 खपुष्पवदसद्रूपा न संभवति तद्विदाम् ॥ ३२
 साङ्गभूतो यथैकोऽणुर्भाति जीवार्कतेजसि ।
 न भान्ति भान्ति वा तत्र तथा सूर्यादयोऽणवः ॥ ३३
 चिन्मात्राकाशरत्नस्य सृष्टयोऽर्कादिसंयुताः ।
 या भासस्ताः कथं तस्माद्यतिरिक्ताः स्युरुच्यताम् ॥ ३४
 चिन्मात्रेणापि रहितं शून्यत्वेनापि वर्जितम् ।
 पदं सर्वात्मरिक्तं तत्सर्वार्थैश्च समन्वितम् ॥ ३५

तदाह—आदिसर्गादिति । जगन्मायालक्षणस्य शम्बरस्यैन्द्र-
 जालिकस्याडम्बरमात्रमिति फलितमिति भावः ॥ २४ ॥ तथा च
 मूढानामभाग्यवशादेव मणिर्नास्ति कश्चोऽस्तीति आन्तिव-
 द्वैपरीत्यभ्रमः संपन्नोऽयमिदं—कष्टमिति । खेदे कष्टशब्दौ
 ॥ २५ ॥ अहं तु अब्रह्मण्यं ब्रह्मभावशून्यमतो विपरीतं जगत्
 कं गच्छामि कं लभेयम् । सूदैस्तु असदृश्यं सदित्युक्तं तैरपि
 ब्रह्मैवं नाम गम्यते न दृश्यम् । असतो गन्तुमशक्यत्वादित्यर्थः
 ॥ २६ ॥ २७ ॥ अव्यतिरिक्तयेत्यस्य दार्ष्टान्तिके विवरणं
 स्वात्मनोऽनन्ययेति ॥ २८ ॥ कथमिदं प्रलेयमिति चेद्दिवा-
 करादिजगत्सः सद्रूपेणैव सत्सामान्यैकदेशप्रायतया अनुभूयमा-
 नत्वादित्याह—तस्मिन्नेवेत्यादिना ॥ २९ ॥ यथा अर्कादय-
 स्तदधीनप्रकाशा न तथा ब्रह्म अर्कादधीनप्रकाशमित्याह—
 स्थितोऽपीति । तपति प्रकाशयति । तथा च श्रुतिः ‘न तत्र सूर्यो
 भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
 तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति’
 इति ॥ ३० ॥ ३१ ॥ विषयासत्त्वादेवासद्रूपा ॥ ३२ ॥ जीव-
 भूतस्य जगत्पश्यतोऽस्यार्कस्य तेजसि जालान्तरे यथा एकोऽणु-
 र्भाति तथा अपरिच्छिन्नचित्प्रकाशे ब्रह्मणि एते अर्कादयो
 भान्ति न भान्ति वेदानादरोचिः ॥ ३३ ॥ न हि रजात्तद्भासो-

पृथग्यादीन्यपि सन्त्येव तत्र सन्ति न कानिचित् ।
 जीवन्तोऽपि न विद्यन्ते जीवास्तत्र च केचन ॥ ३६
 अत्यजन्तो द्रव्यस्थौल्यं तत्रैते परमाणवः ।
 स्वरूपमत्यजहृतमैक्यं घात्र न किंचन ॥ ३७
 किंचिदत्र न किंचिद्वै न किंचिच्च न किंचन ।
 किंचिच्च किंचिदित्येषा कलनात्रातिदूरगा ॥ ३८
 एका निरन्तरानन्ता नित्यमत्याततात्मना ।
 चिन्मात्रव्योमसत्तैव जगन्नाम्नात्मनि स्थिता ॥ ३९
 एकं चेत्यं त्यक्तवत्या अप्राप्तायाश्चितोऽपरम् ।
 यद्रूपं जगतो रूपमस्य नानात्मनोऽपि तत् ॥ ४०
 नानेवेदमनानैव चिद्योमैवेदमाततम् ।
 भूतपञ्चकरूपेण स्वप्ने चित्तिरिव स्थितम् ॥ ४१
 सुषुप्ताद्विशतः स्वप्नं सुषुप्तस्यैव चिद्यथा ।
 यथा स्थितैव स्वप्नत्वमेत्येवं सर्गतामिमाम् ॥ ४२
 यादृक्सुषुप्तं स्वप्नस्तु तादृगेव तथैव च ।
 जाग्रत्तुर्यं तथैवेदमतो व्योमसमं जगत् ॥ ४३
 जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च तुर्यमेवाखिलं स्थितम् ।
 तत्त्वविद्गोत्रमूढस्तु यद्वै वेत्ति न वेत्ति तत् ॥ ४४
 जडानामजडानां यः सर्वार्थानामनारतम् ।
 दुर्लक्ष्यपरिणामोऽन्तर्मनोबुद्ध्यादिवर्जितः ॥ ४५
 सुषुप्तायाश्चितो रूपं पदार्थास्तन्मयाश्च ते ।
 ते वसन्ति न सदृपास्तदेव हि तथा स्थितम् ॥ ४६
 परिणामादिशन्दार्थदृशामत इहानघ ।
 उपदेशार्थमुक्तीनां गन्धोऽप्येवं न विद्यते ॥ ४७

उतिरिक्ताः ॥ ३४ ॥ अचिदप्रसिद्धौ व्यावर्त्याभावाच्चिन्मा-
 त्रेणापि रहितम् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ अवयवद्वयघटनप्रयुक्तं स्थौ-
 ल्यमत्यजन्त एव तत्र चित्प्रकाशे एते सूर्यादयः परमा निर-
 वयवा अणवः । स्वरूपं सत्ताम् ॥ ३७ ॥ किंचिदिति । अव-
 हारनात्रस्य निरासे विरोधाविरोधयोरपि तत्र निरासादिति भावः
 ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ‘दिशादेशान्तरम्’ इति श्लोकस्य तात्पर्यं तत्र
 साधकत्वेन वर्णयति—एकमिति ॥ ४० ॥ चित्तिर्जीववैतन्यमिव ।
 तथा च बादरायणस्य भगवतः सूत्रम् ‘आत्मनि चैवं विचित्राश्च
 हि’ इति ॥ ४१ ॥ तथा च सुषुप्तात्स्वप्न इव प्रलयात्सर्गात्मना
 चिदेव भातीत्याह—सुषुप्तादिति ॥ ४२ ॥ तदेव स्पष्टयति—
 यादृगिति ॥ ४३ ॥ तत्त्वविदां गोत्रं ब्रह्मविद्यासंप्रदायस्तद्विषये
 मूढस्तु पामरो यद्वेत्ति तदहं न वेत्ति ॥ ४४ ॥ जडानां जगता-
 मजडानां जीवानां चान्तः स्थित्वा योऽन्तर्यामितया दुर्लक्ष्यमेव
 यथा स्यात्तथा जगत्परिणामयतीति दुर्लक्ष्यपरिणाम ईश्वरः स
 एव शोचिताया जीवचित्तेः पारमार्थिकं रूपम् । जगत्पदार्थाश्च
 तन्मया एवेति तदेव जगदाकारेण स्थितमिति निष्कर्ष इति
 द्वयोरर्थः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ननु यदि पृथिव्यादिपदार्थाश्चिद्रूपा
 एव न चिद्रूपात्पृथक् सन्ति तर्ह्यन्तर्यामितया तत्परिणामयितुं
 कथं तज्जाह—परिणामादीति । उपदेशार्थं परिणामं लौकिकमग्नी-

आदिसर्गात्प्रभृत्यैव महासत्तात्मनात्मनि ।
 चिन्मात्रपरमाकाशं स्थितमेकं महात्मनः ॥ ४८
 प्रपूर्णकात्मनि प्रख्या सा सर्वव्यापिनी चित्तिः ।
 स्थिता तयात्मन्येवान्तर्जगदित्यभिधाः कृताः ॥ ४९
 परिज्ञाते यथा स्वप्ने स्वाङ्गीकारात्सुखं सुखम् ।
 अनङ्गीकारतो दुःखं सदुःखं भवति क्षणात् ॥ ५०
 गच्छतस्तिष्ठतश्चैव जाग्रतः स्वपतस्तथा ।
 नित्यमेकं समाधानं स्थितं शान्तस्य तद्विदः ॥ ५१
 भेदेऽप्यभेदनिष्ठस्य दुःखेऽपि हि सुखस्थितेः ।
 सतोऽप्येवासतो ह्यस्य किमन्यदवशिष्यते ॥ ५२

न संत्यजति नादत्ते किञ्चिद्व्यवहरन्नपि ।
 हृदयेन बहिःकार्येऽकार्ये एवावतिष्ठते ॥ ५३
 यथा हिमस्य शीतत्वं बह्वैरौष्ण्यं तथेदृशः ।
 स्वभावोऽस्य भवेन्नित्यं न त्वाहार्यो गुणोऽस्य सः ५४
 यस्य त्वेष स्वभावः स्यान्न नाम न स तत्त्ववित् ।
 एतदेवाशताचिह्नं यदिच्छा प्रकृतेतरा ॥ ५५
 आश्वस्तान्तःकरणः
 क्षीणविकल्पः स्वरूपसारमयः ।
 परमशमामृतवृत्त-
 स्तिष्ठति विद्वान्निरावरणः ॥ ५६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे चा० दे० मो० निर्वा० उ० द्वैतैक्यनिरामययोगोपदेशो नामैकसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवं पृथ्व्यादिरहितः खमेवाद्यः प्रजापतिः ।
 मनोमात्रमहं मन्ये संकल्पविटपी यथा ॥ १
 मन इत्यभिधानेन पश्चादास्था प्रकल्पिता ।
 धार्यावर्तविवर्तेन प्रोत्थायावर्तता यथा ॥ २
 सत्तामात्रात्मनस्तस्य कुतो बुद्ध्यादयः किल ।

अविद्यमाने पृथ्व्यादौ खस्यानन्तस्य किं रजः ॥ ३
 न तस्य देहचित्तादि नेन्द्रियाणि न वासनाः ।
 सदप्येतत्सदा तस्य न किञ्चिदपि विद्यते ॥ ४
 प्राक्तनस्य प्रजेशस्य मुक्तत्वात्कथमेव च ।
 भूयः संभवति प्राज्ञ न स्मृतिर्न च संभवः ॥ ५
 न भवत्येव मुक्तानां स्मृतिर्देहोदयः पुनः ।

कृत्य प्रवृत्तानामुक्तीनां न परमार्थतः परिणामपरतेत्यर्थः ॥ ४७ ॥
 कुत्र तर्हि तात्पर्यं तदाह—आदिसर्गादिति । महात्मनस्तत्त्वविदः
 प्रपूर्णकात्मनि प्रख्या अनुभूतिरत्र प्रमाणमित्युत्तरान्वयि ॥ ४८ ॥
 अभिधाः अज्ञानप्रति कृताः ॥ ४९ ॥ तथा च प्रबोधे यादृश आत्मा प-
 रिशिष्यते तदङ्गीकारायजगत्कौतुकमनुभूतं तत्सर्वं सुखं सुखमेव
 भवति । अप्रबोधे तदनङ्गीकारे तु सदुःखं यद्यदनुभूयते जन्म-
 मरणजरामयादि तत्सर्वं दुःखमेव भवति स्वप्नप्रबोधाप्रबोधवदि-
 त्याह—परिज्ञाते इति ॥ ५० ॥ अत एव तद्विदो दुःखविक्षेपाभावा-
 न्नित्यं समाधानसुखमेवेत्याह—गच्छत इति ॥ ५१ ॥ बहिःसंसारे
 सतोऽप्यन्तर्मुक्तत्वात्तत्रासत् एव । अन्यत्किं सार्धं परिहरणीयं
 वा अवशिष्यते ॥ ५२ ॥ बहिःकार्ये व्यवहरन्नपि हृदयेन कि-
 ञ्चिन्न संत्यजति नादत्ते च कित्वकार्ये ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ५३ ॥
 एवंस्थितिश्चास्य स्वभाव एव न तु यत्नेन आहार्यः संपाद्यो गुणः
 ॥ ५४ ॥ प्रकृतेतरा आत्मातिरिक्तविषयिणी ॥ ५५ ॥ यो नि-
 रावणो विद्वान् स आश्वस्तान्तःकरणः सदा समाहितचित्तः प्र-
 क्षीणशत्रुमित्रादिविकल्पः स्वात्मसुखसारप्रचुरः परमेष्ठ शमामृतेन
 सदैव वृत्तस्तिष्ठति ॥ ५६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे द्वैतैक्यनिरामययोगोपदेशो नामै-
 कसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७१ ॥

मनोमात्रं विधातात्र तत्संकल्पो जगद्धमः ।

न देहोऽस्य स्मृतिर्वेति स्मृतितत्त्वं च कीर्त्यते ॥ १ ॥

ननु विधातृसृष्टं जगच्छ्रूयते 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्व-

मकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो खः' इति, तत्कथं
 चिन्मात्रकचनं स्वप्नवदिति वर्णितमित्याशङ्क्यां वारयितुं तत्सं-
 कल्पानां तन्मयजगतश्च चिन्मात्रत्वमेवेति वर्णयितुमुपक्रमते—
 एवमिति । एवमनादिजीवमुक्तत्वादेव प्रजापतिर्विराडपि पृ-
 थ्व्यादिरहितो निरावरणं खं चिदाकाशमेव । तं च मनःसम-
 ष्ठिहिरण्यगर्भमात्रमहं मन्ये । मनश्च संकल्पविटपीव चित्क-
 चनमात्रं प्रसिद्धमिति चिन्मात्रत्वसिद्धिस्तस्येति भावः ॥ १ ॥
 कथं प्रसिद्धं तत्राह—मन इति । मननाकारकल्पनात्प्राक्तचित्ति-
 न्मात्रमेव पश्चान्नमननाकारकल्पनानन्तरं मन इत्यभिधानेन
 तस्यास्था चित्तादात्म्याध्यासः प्रकल्पिता । यथा वारिण्येव आव-
 र्तेविवर्तकारेण स्वयं प्रोत्थाय आवर्तता तेन कल्पिता तद्वत् ॥ २ ॥
 अत एव तस्य बुद्ध्यादयोऽपि चिद्यतिरेकेण न सन्तीत्याह—सत्तेति
 ॥ ३ ॥ एवं देहादयोऽपि न सन्तीत्याह—न तस्येति । व्यवहारा-
 भासनिर्वाहार्थमापाततः सदपि परमार्थतो न किञ्चिदपि विद्यते
 ॥ ४ ॥ कुतो न विद्यत इति चेदादिसर्गादौ कारणाभावात् । न च
 प्राक्तनः प्रजापतिरेवोत्तरस्य कारणम् । तस्य प्राक्तनद्विपरार्थाव-
 साने मुक्तत्वादित्याह—प्राक्तनस्येति । कारणाभावाद्भूयो देह-
 बुद्ध्यादिग्रहणे कारणाभावात् । तस्मादभिनवस्य प्रजापतेर्ज-
 गद्रचनानुकूला स्मृतिस्तस्य संभव उत्पत्तिश्च यतो न संभवती-
 त्यर्थः ॥ ५ ॥ संसारे सतामावर्तानां परिवृत्तिपराणां जी-
 वानामिव मुक्तानां विदेहमुक्तानां संसारस्मृतिः पुनर्देहो-
 दयश्च न भवत्येव । देशान्तरे कालान्तरे वा पुनरावर्तत्वं

१ कारणाभावादित्यादिष्याख्याभागः केनचित्प्रक्षिप्तः इति

प्रतिभाति मूलन्याख्याविसंवादात्.

न देशकालावर्तत्वमावर्तानां सतामिव ॥ ६
 यदि चापि भवेत्किञ्चित्स्मृत्या वेदादि तस्य तत् ।
 तदपृथ्व्यादिभिः शान्तं संकल्पनगरं तनु ॥ ७
 यथा संकल्पशैलस्य दृश्यमानमपि स्फुटम् ।
 पृथ्व्यादिरहितं रूपं तद्विराड्गुणस्तथा ॥ ८
 स्मृतिश्च संभवत्येव न कदाचन काचन ।
 एषा लौकिकबुद्ध्या या सा सद्बुद्ध्या न विद्यते ॥ ९

श्रीराम उवाच ।

कथं न संभवत्येषां स्मृतिः स्मृतिमतां वर ।
 स्मृतेश्चासंभवे कस्माद्बुद्धो गुणगणाकर ॥ १०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

दृश्ये हि संभवत्येषा कार्यकारणतात्मनि ।
 तद्भावाभावसंपन्ना न तु संभवति स्मृतिः ॥ ११

यतो नास्ति । 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते', 'न स पुनरावर्तते' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ६ ॥ यदि वापि तस्य प्रजापतेः पूर्वकल्पकृतो वासनाजन्यहिरण्यगर्भाहंभावगोचरसंस्कारवज्ज-
 त्तथैव स्मृत्या तदेहादि किञ्चित्संभवेत् तत्केवलोपासना-
 त्मकमन्त्रकल्पनासंस्कारजत्वात् केवलमानसमपृथ्व्यादिभिरुत्पन्नं
 तनु भवितुं च संकल्पनगर्भाय मिथ्याभूतमेव भवेत्तनु सत्य-
 मिलस्मत्सिद्धान्तसिद्धिरित्यर्थः ॥ ७ ॥ ननु पृथ्व्यादिषट्पदितत्वेन
 दृश्यमानस्य ब्रह्माण्डात्मकस्यास्य विराट्शरीरस्य कथं तद्वि-
 त्ता तत्राह—यथेति ॥ ८ ॥ ननु प्रागुदाहृतश्रुतौ 'दिवं च
 पृथिवीं चान्तरिक्षमथो खः' इति पृथ्व्यादिषट्पदितमेव तद्रूपं श्रुतम्,
 तच्च 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति पूर्वतनस्मृतिपूर्वकमेव
 निर्मितं गम्यते तत्राह—स्मृतिश्चेति । अस्य प्रजापतेरादिसर्गे
 पूर्वानुभवाभावात्स्मृतिर्न संभवत्येव । या चैवं श्रुतिबलद्रम्यते
 एषा लौकिकानां जगत्सत्यतादर्शनामज्ञानां बुद्ध्या अनादिसि-
 द्धकर्ममार्गप्रवाहप्रवर्तनार्थं श्रुत्या परबुद्ध्यनुसारेणैव बोधनात् ।
 तस्य तत्त्वविदः प्रजापतेः बुद्ध्या तु सा स्मृतिर्न विद्यते ॥ ९ ॥
 नन्वस्य प्रजापतेः पूर्वकल्पे उपासकतादशायां पृथ्व्याद्यनुभवो-
 ऽस्त्येव, तदभावे पृथ्व्यादिषट्पदितविराट्शरीरोऽहमिति कथमुपा-
 सीव । ततश्चासौ तद्व्यादेतत्कल्पादौ पृथ्व्यादिस्मृतेस्तद्वद्वि-
 राट्शरीरमुपासनवललब्धविरचनसामर्थ्यत्वात्स्मृत्यैव निर्मास्यति,
 अस्मृत्यैव निर्माणे 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति श्रुतिबोधितः
 पूर्वकल्पीयब्रह्माण्डगुणः सर्वोऽस्मिन्ब्रह्माण्डे कथं सिद्ध्येदिति
 रामः शङ्कते—कथमिति । हे गुणगणाकरेति वसिष्ठसंबोधनम्
 ॥ १० ॥ न कथं कल्पनाश्रान्तिसंस्कारजामर्थशून्यां स्मृतिं
 प्रत्याक्ष्महे किन्तु सत्यार्थानुभवजन्यसंस्कारजाम् । तस्या
 हि सत्यां पूर्वानुभवगोचरसत्यार्थजातस्य स्वगोचरानुभवसंस्कार-
 स्मृतिद्वारा एतत्कल्पीयार्थान्प्रत्यन्वयव्यतिरेककल्पनात्कार्यकार-
 णभावसिद्धौ स्वकारकसत्तालब्धसत्ताकस्यास्य जगतः सत्यत्वे
 ब्रह्माद्वैतसिद्धान्तोपरोधः स्यादिति पूर्वकल्पीये पृथ्व्यादिदृश्ये

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यं किञ्चिन्न विद्यते ।
 यत्र तत्र कथं कीदृक् कुतः स्यात्संभवः स्मृतेः ॥ १२
 भूत्वा भावे हि दृश्यस्य स्मरणं स्मृतिरुच्यते ।
 दृश्यमेव न यत्रास्ति तत्रैताः कलनाः कुतः ॥ १३
 अत्यन्ताभाव एवास्य दृश्यस्य किल सर्वदा ।
 सर्वं ब्रह्मेति सत्यार्थास्तत्स्मृतेः कलनाः कुतः ॥ १४
 स्मृतिर्न संभवत्येव तस्मादाद्या प्रजापतेः ।
 आकारवत्त्वमेवास्य शुद्धज्ञानात्मनः कुतः ॥ १५
 स्मर्तव्यं भाववशतः स्मृतिर्नास्त्येव लौकिकी ।
 स्मृत्यर्थस्त्वन्यदीयोऽस्ति सत्यात्मा त्वमिमं शृणु ॥
 भूतस्यान्तः पदार्थस्य स्मरणं स्मृतिरुच्यते ।
 पदार्थस्तु न चैवास्ति न भूतो न भविष्यति ॥ १७

परमार्थतः सति तद्भावाभावौ तदन्वयव्यतिरेकौ तद्व्या-
 त्संपन्ना स्मृतिद्वारिका एषा लौकिकन्यायप्रसिद्धा कार्यकार-
 णता समवति सा द्वारभूता स्मृतिरेव तु न समवति ॥ ११ ॥
 कुतो न संभवति तत्राह—आब्रह्मेति । 'नेह नानास्ति किञ्चन',
 'एकमेवाद्वितीयम्', 'अथात आदेशो नेति नेति', 'यत्र
 नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा',
 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू',
 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादिश्रुतिभिः सर्वदृश्यप्रति-
 षेधात्तथैव विदुषामनुभवाच्च । तथा च 'सह सिद्धं चतुष्टयम्'
 इति स्मृतिदर्शितविद्या सहजतत्त्वविबुधो विराजसत्त्वज्ञान-
 बाधितः प्राक्तनः प्रपन्नो मिथ्यैव संपन्नो न तस्य यथार्थस्मृति-
 माधानुं तद्वारा सत्यसर्गं प्रति कारणीभवेतुं च समर्थ इति
 भावः ॥ १२ ॥ भूत्वा परमार्थतः सत्पद भावे विद्यमानत्वे
 सति अभावेस्तदनुभूय कालान्तरे स्मरणं हि स्मृतिः शास्त्रैरु-
 च्यते । न खसतो आन्तिकलिपतस्य तत्त्वबोधबाधितस्य च
 स्मृतिरस्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥ उक्तमेवाभिप्रायं सूचयन्स-
 माधानमुपसंहरति—स्मृतिरिति ॥ १५ ॥ पूर्वजन्मन्युपास-
 नात्मिका या स्वस्य जगच्छरीरत्वभावना तद्वशात्तु उपासना-
 फलसिद्धये जगच्छरीरोऽहमिति तेनावद्यं स्मर्तव्यम् । या तु
 लोके विदिता सा मे माता सा मे दुहितेत्यादिस्मृतिरैवाव-
 प्रमाजन्या सा तस्य नास्त्येव । अन्यदीयो लौकिकः स्मृत्यर्थस्तु
 मातृदुहित्रादिर्हेऽस्ति । उपासनाविषयस्तु मनोरज्यकलो
 नास्तीति वैधर्म्यमित्यर्थः । कथं नास्ति इममर्थं त्वं शृणु ॥ १६ ॥
 भूतस्यातीतस्यापि पदार्थस्य संस्कारवशादन्तः स्मरणं स्मृतिरिति
 लोके उच्यते । प्रजापतेस्तु कल्पादौ वर्तमानोपि पदार्थो नास्ति
 न भूतोऽस्ति नापि कश्चिद्भविष्यति यत्स्मृतिः स्यादित्यर्थः ।
 तथा चोक्तं सुरेश्वरवार्तिके 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्पत्त्यन्यगोच-
 रन्मात्रतः । अविद्यासहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति' इति ।
 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इति च श्रुतिः ॥ १७ ॥

एवं हि खल्विदं ब्रह्म परमेवाचलं यतः ।
 अनादिमध्यपर्यन्तं कुतः स्मृत्यादयस्ततः ॥ १८
 सर्वात्मत्वात्पदार्थात्म चिद्योमकचनं तु यत् ।
 व्यवहारेऽप्यलं शान्तं स्मृत्या तच्छब्दितं मया ॥ १९
 तदेतत्स्मरणं नाम स्वभावकचनं हि तत् ।
 तेनाभ्यस्तोऽथ बाह्यार्थः सादृश्यादवभासते ॥ २०
 यद्यत्संवेद्यते किञ्चित्स्वभावं स्वभावयत् ।
 तेनावभासते योऽर्थस्तस्य स्मृत्यभिधा कृता ॥ २१
 अविद्यमानं भातीव यथा दृश्यं तथा स्थितिः ।
 भातैवाविद्यमानैव मृगतृष्णा यथोद्यता ॥ २२
 सर्वात्मनि स्थिताः सत्ये याः कचन्ति सुसंविदः ।
 ता एवाभ्यासरूढार्थाः सादृश्यात्स्मृतयः स्मृताः ॥
 काकतालीयवद्भ्रान्ति सर्वात्मनि सुसंविदः ।
 स्वाङ्गभूताः स्वतः स्वस्थास्ता एव स्मृतयः कृताः ॥ २४
 यद्यत्कचति सैद्रूपं स्वाङ्गं सर्वात्मनः स्वतः ।
 तदभ्यस्तार्थसादृश्यात्स्मृतिरित्युच्यते बुधैः ॥ २५
 हेतौ लब्धेऽप्यलब्धे वा पवनस्पन्दवद्विदः ।
 ता एवाभ्यासरूढार्थाः सादृश्यात्स्मृतयः कृताः ॥ २६
 काकतालीयवद्भ्रान्ति यास्ताः स्मृत्यभिधाः कृताः ।
 यथा तवैतेऽवयवाः कचन्ति न कचन्ति च ॥ २७

अचलं कूटस्थम् ॥ १८ ॥ यदि सर्वात्मत्वात्स्मृत्यात्मापि ब्रह्म
 भवतीति सर्वात्मदृशा उच्येत तर्ह्यस्तु नामेत्याह—सर्वात्म-
 त्वादिति । एतदेवाभिप्रेत्य मयापि 'यदि वापि भवेत्किञ्चित्स्मृत्या
 देहादि तस्य तत्' इत्युक्तमित्याह—व्यवहारेऽपीति ॥ १९ ॥
 अज्ञातब्रह्मस्वभावस्य परोक्षतयैव कचनं तेनोपासनात्मना पुनः-
 पुनरभ्यस्तः सन् ब्रह्मात्मैवोपासनाफलीभूतबाह्यार्थ इवोपासना-
 कल्पिताकारसादृश्यादवभासते ॥ २० ॥ अज्ञानोपहितं ब्रह्मजीवेन
 यद्यत्संवेद्यते भ्रान्त्या स्मृतिपरंपरया वा तत्स्वभावमेवावलम्ब्य
 स्वं स्वभावं यत्सत् तेनाकारेण कालान्तरेण यत्तत्कालिङ्गित
 इवाधोऽवभासते तस्य स्मृतिरित्यभिधा स्वसिन्धेव तेन कृतेत्यर्थः
 ॥ २१ ॥ यथा भ्रान्तानुभवे अविद्यमानं दृश्यं भातीव तथा
 स्मृतावपि स्थितिर्विद्यया ॥ २२ ॥ भ्रान्ताभ्यासेन सत्यत एव
 रूढार्था भ्रान्त्यनुभवेन समानविषयत्वलक्षणात्सादृश्यात्स्मृतयः
 स्मृताः ॥ २३ ॥ काकतालीयवदाकस्मिकोद्बोधकवशेन याः संविदो
 भ्रान्ति । स्वाङ्गभूताश्चिदवयवभूता इव विषयतः पारोक्ष्याद-
 स्वस्था अपि स्वतः आपरोक्ष्यास्वस्था अविच्छिन्नाः ॥ २४ ॥ अनु-
 भवे यद्यत्कचति तेनाभ्यस्तार्थेन समानाकारतया सादृश्यात्
 ॥ २५ ॥ हेतौ उद्बोधके लब्धे अलब्धेऽपि वा । यथा पवना-
 स्पन्दो व्यजनादिहेतौ लब्धेऽप्यलब्धेऽपि भवति तद्वत् ।
 ता अनुभववृत्त्युपलक्षिता एव विदः कालान्तरे स्मृतयः कृताः
 ॥ २६ ॥ यदि संविदोऽवयवभूतास्त्वहिं तद्वत्सदैव कुतो न

स्थिता एवात्मनि तथा सर्वाः सर्वात्मिका विदः ।
 मिथ्याज्ञानमया यद्वदार्था घटपटादयः ॥ २८
 तद्वत्स्मृतिपदार्थस्य किं भ्रमस्य विचार्यते ।
 दृश्यस्यासंभवाज्ज्ञस्य स्मृतिर्नास्त्येव तत्त्वतः ॥ २९
 स तथैकघनत्वाच्च चिद्योमत्वाज्जगत्स्थितेः ।
 यथास्थितमिदं दृश्यमस्त्येवाज्ञस्य संप्रति ॥ ३०
 न मोक्षोपायकथनं न च जानामि तत्स्थितिम् ।
 संदेहादिव जिज्ञासुस्तावन्मोक्षकथोच्यते ॥ ३१
 यावद्दृश्यं स्मृतिश्चैव संस्मृतिश्चास्य शाम्यति ।
 अविद्यायास्तु मौर्ख्यस्य विमोहस्यात्यसंभवात् ॥ ३२
 अज्ञस्थो निश्चयोऽस्माकं न कदाचन गोचरः ।
 यच्च यद्विषये नास्ति तन्नैवानुभवत्यसौ ॥ ३३
 रजन्यनुभवो भानोर्भवत्यङ्ग कथं वद ।
 भातं वस्तुस्वरूपात्म चिन्मात्रे किञ्चिदेव यत् ॥ ३४
 तदभ्यस्तार्थसादृश्यात्तत्संस्कार इति स्मृतम् ।
 आत्मस्वभावभूतानामपि चिद्योमरूपिणाम् ॥ ३५
 सर्वेषां परिकल्प्यानामाभासेऽप्यनवस्थितेः ।
 एवं न संभवत्येव जगत्किञ्चित्कदाचन ॥ ३६
 दृष्टं मृगतृषेवास्तु न तु तत्परमार्थतः ।
 यदा त्वयं तदा स्वप्ने सर्गादौ चावभासते ॥ ३७

कचन्ति तत्राह—काकतालीयवदिति । उद्बोधकसमवधानस्य
 कादाचित्कत्वेनेति भावः । अवयवा हस्तपादादयो यथा मनस-
 स्तत्प्रवणत्वे कचन्त्यन्यप्रवणत्वे न कचन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ २७ ॥
 स्वप्नेन्द्रजालादौ यथा घटपटादयो मिथ्याज्ञानमयात्सादृश्यादभ्रमस्य
 स्मृतिपदार्थस्य किं मूलं विचार्यत इत्यन्वयः ॥ २८ ॥ अत
 एवाभ्रान्तस्य ज्ञस्य प्रजापतेः स्मृतिर्नास्त्येव ॥ २९ ॥ स तत्त्व-
 वित्तथैव यथापूर्वं निर्विकार एवास्ते । जगत्स्थितेस्तद्दृशा
 चिद्योममात्रत्वादित्यर्थः । अज्ञस्य तु तद्वैपरीत्यमित्याह—यथा-
 स्थितमिति ॥ ३० ॥ तत्कुतस्त्राह—नेति । तस्य तत्त्व-
 विदः स्थितिम् । अत एव स दैवात्साधनचतुष्टयं प्राप्य संदेहा-
 द्यावज्जिज्ञासुरिव भवति तावन्मोक्षकथा तस्यै गुरुणोच्यते ॥ ३१ ॥
 यथा अज्ञास्तत्त्वज्ञस्थितिं न जानन्ति तथा वयं तत्त्वज्ञा अपि
 अज्ञानिश्चयं न जानीम इत्याह—अविद्याया इति ॥ ३२ ॥ ३३ ॥
 इदानीं स्मृतिहेतुसंस्कारं प्रमार्ष्टुं तत्स्वरूपमाह—भातमिति ।
 भ्रान्त.करणोपहितचिन्मात्रे बाह्यवस्तुस्वरूपात्म यत्किञ्चिदेव
 भातं तद्येत्पुनःपुनर्व्यवहारेणाभ्यस्तं तादृशार्थसादृश्याद्व्यासितं
 चित्तं तत्संस्कार इति स्मृतमित्यर्थः ॥ ३४ ॥ तत्र परिकल्प्यानां
 सर्वेषां बाह्यार्थानां तत्त्वज्ञानेनात्मस्वभावभूतानां बाधितानु-
 वृत्त्या दग्धपटन्यायेनाभासेऽपि वस्तुतोऽनवस्थितेस्तत्सादृश्यस्य
 चित्ते मार्जनान्न संस्कारस्तत्त्वविदां संभवतीति शेषः ॥ ३५ ॥
 तथा च यत्फलितं तदाह—एवमिति ॥ ३६ ॥ तथा च प्रतिज्ञातं

१४७४

चिद्व्योमैव परं सर्गपर्यायं स्वात्मनि स्थितम् । ३८
चिद्व्योमैवेत्यभावात् न व्युत्तं सत्स्वरूपतः ॥
आत्मनात्मनि रूपं वा सद्रूपमिव संस्थितम् । ३९
सर्गादावेव कचित्ते मिथ्या कचदपि स्थितम् ॥
अतः कुतः क्वचिन्नाम हेयादेयादिभासनम् । ४०
नेदमाकारवार्तिकविद्यापि स्मृत्यात्मकं क्वचित् ॥
कारणाभावतो भाति स्वरूपं परमात्मनः । ४१
आकारवत्त्वे यदुःखं भवेत्स्मृत्यां तदेव च ॥
द्रव्यमेतदसत्तत्त्वाद्भूयो नाम न विद्यते । ४२
चिद्व्योमि भूतव्योमाभे शून्य एव यथास्थितम् ॥
स्थितं स्वरूपमजहद्भुवनाकोचलादिकम् । ४३
यथास्थितोऽदिकालं जगत्स्वं रूपमत्यजत् ॥
स्वमेवात्यजतो रूपं चिद्व्योम उदरे स्थितम् ।

स्वानुभूत्येकमात्रात्म प्रमातृस्वाप्नपत्तनम् ॥ ४४
अपृथ्व्यादि कुतस्तत्र किल पृथ्व्यादयो वद ।
तद्भाति केवलं शान्तं चिदाकाशं तथात्मनि ॥ ४५
सर्वादौ स्वप्रकाले च पृथ्व्यादेः संभवः कुतः ।
उद्भूयेव जगद्रूपाद्ब्रह्मसत्तात्मनात्मनि ॥ ४६
करोति पृथ्व्याद्यभिधाः पञ्चात्सत्यार्थदा इव ।
न स्मृत्यात्म न साकारं पृथ्व्यादीनामसंभवात् ।
न भ्रान्तिर्न विवर्तादि जगद्ब्रह्मात्म केवलम् ॥ ४७
ब्रह्मेदमाकचति चारुजगत्स्वरूपं
तच्चैकमेव कचनाकचनात्मनिष्ठम् ।
दृश्याभिमप्यमलमेव नभः प्रशान्तं
नित्योदितं प्रलयसर्गमयोदयात्म ॥ ४८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० जगतो ब्रह्मत्वप्रतिपादनं नाम द्विसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७२ ॥

त्रिसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७३

श्रीराम उवाच ।
सर्वानुभवरूपस्य तथा सर्वात्मनोऽप्ययम् ।
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य देहेऽपि किमहं ग्रहः ॥
चितः पाषाणकाष्ठत्वं स्वप्नादिषु कथं भवेत् ।
इदं पाषाणकाष्ठादि कथं नास्त्यस्ति वा कथम् ॥ २
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
शरीरिणो यथा हस्ते हस्ततायां यथाग्रहः ।

सर्वात्मनस्तथा देहे देहतायां तथाग्रहः ॥
पादपस्य यथा पत्रे पत्रतायां यथाग्रहः ।
सर्वात्मनस्तथा वृक्षे वृक्षतायां तथाग्रहः ॥ ४
आकाशस्य यथा शून्ये शून्यतायां यथाग्रहः ।
सर्वात्मनस्तथा द्रव्ये द्रव्यतायां तथाग्रहः ॥ ५
स्वप्नोचितः स्वप्नपुरे रूपतायां यथाग्रहः ।
सर्वात्मनस्तथा स्वप्नजाग्रदादौ तथाग्रहः ॥

सिद्धमित्याह—यदा त्विति । अयमर्थः सिद्ध इति शेषः ॥ ३७ ॥
॥ ३८ ॥ आत्मना आत्मनि इत्यभावात्तमिति पूर्वत्रान्वयः ।
अथवा मिथ्या कचदिव स्थितं जगद्रूपं चासद्रूपं ब्रह्म भूत्वा
स्थितम् ॥ ३९ ॥ ४० ॥ न तु स्मृत्यात्मकताप्यस्य किमर्थं
प्रत्याख्यायते तत्राह—आकारवत्त्वे इति । स्मृतेनापि भार्या-
पुत्रादिमरणेन दुःखदर्शनादिति भावः ॥ ४१ ॥ यथास्थितं
जीवन्मुक्तानां यावज्जीवं व्यवहारक्षमं स्थितमित्युत्तरत्रान्वयः
॥ ४२ ॥ ४३ ॥ स्वप्नप्रपञ्चदृष्टान्तोऽप्यत्र सुषुप्तश्च इत्याह—
स्वप्नेवेति ॥ ४४ ॥ सान्ध्यमेवोपपादयति—अपृथ्व्यादीति
॥ ४५ ॥ ४६ ॥ इदं ब्रह्मेव चारुजगत्स्वरूपमाकचति
तच्च कचनाकचनयोः सर्गप्रलययोरालम्ब्यविकृतस्वभावनिष्ठं तदे-
करूपमेव दृश्याभं भातमप्यमलं नभ एव नित्यमनादिकालतः
प्रलयसर्गमयोदयात्मकमुदितमज्ञानमित्यर्थः ॥ ४८ ॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मल-
प्रतिपादनं नाम द्विसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७३ ॥
यथा चित्तोऽपि देहादि जडभावक्रियाग्रहः ।
यथा सर्वात्मकत्वं च तथेह प्रतिपाद्यते ॥ १ ॥
यदि स्वप्नकाशचिच्चमत्कार एव जगत्तर्हि चितः सर्वत्र तुल्य-

तथा अहंभावग्रहो युक्तः । ग्रह आग्रहोऽभिनिवेशः । देहे
एवातिशयेनाहंभावाग्रहोऽन्यत्र नेति नियमः कुत इत्येकः प्रश्नः
॥ १ ॥ एवं चितः अविद्रूपपाषाणकाष्ठादिमानाग्रह इव कुतः ।
चिद्रूपास्य हातुमशक्यत्वात् । अविद्रूपस्य स्त्रीकर्तुमशक्यत्वाच्चैति
द्वितीयः । एवं चित एव सर्वात्म्ये इदं पाषाणकाष्ठादि नास्तित्वं
कथमापद्यते । चित्तोऽप्यहवासंभवात् । एवं सर्वात्म्यं सादिति
नविद्रूपं पाषाणकाष्ठाद्यस्ति वा कथम् । येन सर्वात्म्यं सादिति
द्वौ प्रश्नौ ॥ २ ॥ सर्वशरीरस्याहंतया प्रथायां तुल्यायां हस्ते एव
हस्तत्वं पादे एव पादत्वं नैतरत्रेति जातिकर्म संस्थानादीनां यथा
व्यवस्थाग्रहः अनादितत्तदाकारसंस्कारव्यवस्थयैव नान्येन हेतुना
तथा देहे देहतायामहंतादौ चाग्रहो बोध्य इत्याशयेन दृष्टान्त-
प्रपञ्चनेनाद्यो प्रश्नौ समाधत्ते—शरीरिण इत्यादिना । देहतावृक्ष-
तादिशब्दास्तत्तदहंतापराः । अत्र सर्वत्र विषयाध्यासे विषयाध्यासो
ज्ञानाध्यासे ज्ञानाध्यासो दृष्टान्त इति द्वौ द्वौ यथातथाशब्दौ प्रभु-
काविति बोध्यम् ॥ ३ ॥ वृक्षाकाशादावप्यभिमानिजीवसत्ता-
सदृशाध्यासा उदाहृताः ॥ ४ ॥ द्रव्ये मणिमुक्ताखर्गादिषु
द्रव्यतायां प्रयत्नोपाज्यतालक्षणमव्यतायाम् ॥ ५ ॥ अरूपनिष्ठो-
पादानकत्वादरूपत्वेन अविद्रुमुचिते स्वप्नपुरे रूपतायां साकार-

यथागेन्द्रे दृषद्वक्ष्यार्यादौ स तथाग्रहः ।
 तथा सर्वात्मनोऽगेन्द्रपुरतायां तथाग्रहः ॥ ७ ॥
 शरीरस्य यथा केशनखादिषु यथाग्रहः ।
 सर्वात्मनस्तथा काष्ठदृषदादौ तथाग्रहः ॥ ८ ॥
 चित एव यथा स्वप्ने भवेत्काष्ठोपलादिता ।
 चिदाकाशस्य सर्गादौ तथैवावयवादिता ॥ ९ ॥
 चेतनाचेतनात्मैकं पुरुषस्य यथा वपुः ।
 नलकेशजलाकाशधर्ममाकारभासुरम् ॥ १० ॥
 चेतनाचेतनात्मैकं तथा सर्वात्मनो वपुः ।
 जङ्गमं स्थावरमयं किंतु नित्यमनाकृति ॥ ११ ॥
 यथास्थितं शाम्यतीदं सम्यग्ज्ञानवतो जगत् ।
 स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञातुर्यथा दृष्टार्थसंभ्रमः ॥ १२ ॥
 चिन्मात्राकाशमेवेदं न द्रष्टास्ति न दृश्यता ।
 इति मौनमलं स्वप्नद्रष्टृयत्सा प्रबुद्धता ॥ १३ ॥
 कल्पकोटिसहस्राणि सर्गा आयान्ति यान्ति च ।
 त एवान्ये च चिद्योमि जलावर्ता इवार्णवे ॥ १४ ॥
 करोत्यब्धौ यथोर्म्यादौ नाना कचकचं वपुः ।
 चित्करोति तथा संज्ञाः सर्गाद्याश्चेतने निजे ॥ १५ ॥
 यथास्थितमिदं विश्वं ब्रह्मैवानामयं सदा ।
 तत्त्वज्ञं प्रत्यतत्त्वज्ञजनतानिश्चयादृते ॥ १६ ॥
 नाहं तरङ्गः सलिलमहमित्येव युक्तितः ।
 बुद्धं येन तरङ्गेन कुतस्तस्य तरङ्गता ॥ १७ ॥
 ब्रह्मणोऽस्य तरङ्गत्वमिवाभावं यतस्ततः ।

तायां यथा आग्रहः स्वप्नभुजः । स्वप्नजागरादौ अवस्थानये ॥ ६ ॥
 अगेन्द्रे पुरे च विद्यमाने दृषदादौ स तथा प्रसिद्ध आग्रहो
 यथैत्यर्थः । अद्रितायां पुरतायां च तदभिमानिन आग्रहः ॥ ७ ॥
 अन्त्यौ प्रध्रावपि समाधत्ते—शरीरस्थेत्यादिना । यथा चेतन-
 त्वेनाभिमतस्यापि शरीरस्य केशनखादिषु यथा अचेतनत्वा-
 ग्रहस्तथा चिद्रूपस्यापि सर्वात्मनः काष्ठदृषदादौ तथाग्रहः अचे-
 तनत्वाग्रहः । चिता चित्तस्य हातुमशक्यत्वमचित्तस्य स्वीक-
 र्त्तुमशक्यत्वं च मायागतावरणविक्षेपक्षक्तिभ्यामघटितस्यापि घ-
 टनात्परिहर्तव्यमिति भावः ॥ ८ ॥ चित्तत्त्वद्विरुद्धमचित्तत्वमिव नि-
 रयययायाः सावयवत्वमपि स्वप्नानुभववत्त्वादेव भवतीति स्वीका-
 र्यमित्याह—चित एवेति । चितः सकाशादेव ॥ ९ ॥ किंच मा-
 याशब्दस्य चेतनाचेतनोभयात्मकैकवस्तुत्वादप्युभयव्यवहारप्र-
 पत्तकता न विरुद्धेत्याशयेनाह—चेतनेति । न च विरोधः ॥ १० ॥
 ॥ ११ ॥ एत एव तत्त्वतत्त्वज्ञानात्सर्वे विरुद्धधर्माः शाम्यन्ती-
 त्याह—यथास्थितमिति ॥ १२ ॥ स्वप्नद्रष्टृयां ता प्रातः प्रसिद्धा
 प्रबुद्धता संपन्नं न द्रष्टास्ति न दृश्यता कित्तिदं सर्वं चिन्मा-
 त्त्राकाशमेवेति निश्चये जलं सनर्थेत्यर्थः ॥ १३ ॥ सहस्र-
 कोटिदोऽप्तागतीरीरदाप्याधर्मापि धर्मास्त्वेत्येवमित्याह—क-
 ल्पकोटीति ॥ १४ ॥ करोति सलिलमिति शेषः । निजे चेतने

तरङ्गत्वातरङ्गत्वे ब्राह्म्यौ शक्ती स्थितिं गते ॥ १८ ॥
 चिद्योमोऽत्यजतो रूपं स्वप्नवद्व्यस्तवेदनम् ।
 तदिदं हि मनो राम ब्रह्मेत्युक्तः पितामहः ॥ १९ ॥
 एवमाद्यः प्रजानाथो निराकारो निरामयः ।
 चिन्मात्ररूपसंकल्पपुरवत्कारणोज्झितः ॥ २० ॥
 येनाङ्गदत्वं नास्तीति बुद्धं हेमाङ्गदेन वै ।
 अङ्गदत्वं कुतस्तस्य तस्य शुद्धैव हेमता ॥ २१ ॥
 अजे संकल्पमात्रात्म चिन्मात्रव्योमदेहिनि ।
 अहं त्वं जगदित्यादि यद्विभातं तदेव तत् ॥ २२ ॥
 चिच्चमत्कृतयो भान्ति याश्चिद्योमनि शून्यताः ।
 एतास्ताः सर्गसंहारस्थितिसंरम्भसंविदः ॥ २३ ॥
 अच्छं चिन्मात्रनभसः कचनं स्वयमेव तत् ।
 स्वप्नाभं चित्ततामात्रं स एष प्रपितामहः ॥ २४ ॥
 यथा तरङ्गस्तेनैव रूपेणान्येन चाऽनिशम् ।
 स्फुरत्येवमनाद्यन्तः सर्गप्रलयविभ्रमः ॥ २५ ॥
 चिद्योमः कचनं कान्तं यद्विराडिति शब्दितम् ।
 भवेत्संकल्पपुरवत्तस्य कुर्यान्मनोऽपि वै ॥ २६ ॥
 सर्गः स्वप्नः स्वप्न एव जाग्रदेहः स एव च ।
 घनं सुषुप्तं तैमिर्याद्यथा संवेदनं भवेत् ॥ २७ ॥
 तस्य कल्पान्तरजनी शिरोरुहृतयोदिता ।
 प्रकाशतमसी कालक्रियाख्याः स्वाङ्गसंघयः ॥ २८ ॥
 तस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
 चन्द्राकौ दृग् दिशौ श्रोत्रे कल्पनेति विजृम्भिता २९ ॥

मायाशब्दलक्षिते ॥ १५ ॥ १६ ॥ तरङ्गेन । 'प्रातिपदिकान्तनु-
 म्विभक्तिषु च' इत्यत्रापि 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' इति सूत्रादग इ-
 त्यनुवृत्तेर्नणत्वम् । अचेतनस्यापि चेतनत्वरोपादियमुक्तिः ॥ १७ ॥
 तरङ्गशब्दास्तत्सदृशजगत्पराः ॥ १८ ॥ व्यस्तवेदनमन्योन्यध-
 र्मविनिमयेन व्यस्तचेतनभावं मनःसमष्ट्युपहितं यद्रूपं
 तदिदं मनो ब्रह्मेति शब्दैः पितामह उक्तः ॥ १९ ॥ २० ॥
 ॥ २१ ॥ समष्टेचिन्मात्रत्वे तद्यद्येनामसदादीनां तदनुक्रमपि
 चिद्धमित्याह—अजे इति ॥ २२ ॥ २३ ॥ प्रपितामहो हिर-
 ण्यगर्भः ॥ २४ ॥ २५ ॥ विराडपि तादृगेवेत्याह—
 चिद्योम इति । तस्य विराजो मनोहिरण्यगर्भोऽपि यत्कुर्याद्भवन-
 भूतग्रामादि तदपि संकल्पपुरवदित्यर्थः ॥ २६ ॥ तथा च
 स विराडेव सर्गः स एव स्वप्नः स्वप्न एव जाग्रदप्यष्टिसमष्टिदेहः
 संपन्नः । यथा घनं सुषुप्तं निद्रातिशयलक्षणतैमिर्यात्स्वप्नसत्वे-
 दनं भवेत्तथा प्रलये अवियातिमिराशृत आत्मैव जगत्संवेदनं
 भवेदित्यर्थः ॥ २७ ॥ जगत्सर्वं विराजोऽहृतया वर्णयति—
 तस्येत्यादिना । तस्य विराट्पदस्य परनात्मनः कल्पान्ता अवा-
 न्तरप्रलयात्तद्रूपा चतुर्मुखस्य रजनी शिरोरुहृतया केशतया
 उदिता प्रायमिहत्वात् । प्रकाशतमसी दिनरात्री अङ्गसंघयः
 ॥ २८ ॥ दिशां प्राचीप्रतीच्यां श्रोत्रे इत्यनया रीत्या मनःकल्पनं
 विचारणीयम् ।

एवं सम्यग्दृश्यमानो व्योमात्मा वितताकृतिः ।

असत्संकल्पशैलामो विराड् स्वप्नाकृतिस्थितः ॥ ३०

यच्च चेतश्चिदाकाशे स्वयं कचकचायते ।

तदेतज्जगदित्येवं तेनात्मैवानुभूयते ॥ ३१

विराडात्मैवमाकाशं भाति चिन्मयमाततम् ।

स्वभावस्वप्ननगरं नगनागमयात्मकम् ॥ ३२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठ० वा० दे० सो० नि० उ० ब्रह्मगीतासु परमार्थोपदेशो नाम त्रिसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७३ ॥

चतुःसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७४

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

सर्गादौ स्वप्नसंविद्या चिदेवाभाति केवला ।

जगदित्यवभासेव ब्रह्मैवातो जगन्नयम् ॥ १

सर्गास्तरङ्गा ब्रह्माण्डेस्तेषु संवेदनं द्रवः ।

सर्गान्तरं सुखाद्यात्म द्वैतैक्यादीतत्कुतः ॥ २

यथा स्वप्नसुषुप्तात्म निद्रारूपकमेव खम् ।

दृश्यादृश्यांशमेकात्मरूपं चित्रमसस्तथा ॥ ३

जाग्रति स्वप्ननगरं यादृक्तादृशिदं जगत् ।

विराडाकारेण विजृम्भिता ॥ २९ ॥ तथा आसत्स्वप्नतुल्यता तस्य

सिद्धेति निष्प्रपञ्चतैव परमार्थ इत्याह—एवमिति ॥ ३० ॥

यचेतत् चेतनात्मकजीवमात्रापत्रं सत् स्वयं कचकचायते

अतिशयेन धीप्यते । धीर्थात्कचेः पचाद्यचि ङाचि द्वित्वे

ङाजन्तस्यापि भृशादित्यकल्पनात्कच ॥ ३१ ॥ चिन्मयमातत-

माकाशमेव एवंरीत्या विराडात्मा भाति । एवंरीत्या दर्शने

विराडात्म चिन्मयमाकाशमेव भातीति वा ॥ ३२ ॥ अ-

नुमविता चिदात्मैव स्वस्वरूपमनुभवैकरसं सत्यं स्वात्मा-

नमपि मायावरणादसन्तमिव कृत्वा इत्यत्वेन परिच्छिन्न-

प्रपञ्चभावेनानुभवति, यथा स्वप्नप्राप्ते नटः स्वात्मानमेव

स्वातिरिक्त्वाव्यद्रष्टुसमाजपूर्ण स्वप्नदेशं कल्पयित्वा तत्र

स्वनाय्यं स्वयमेवानुभवति तद्वदित्यर्थः ॥ ३३ ॥ अ-

स्मिन्नर्थे सर्ववादिसिद्धान्ताविरोधः सर्वामिलयितफलसिद्धिश्चेत्

एवेत्याह—वेदान्तेति । वेदान्ताः शुद्धब्रह्मपराः सर्वज्ञेश्वर-

परा उपासनापराश्च । आर्हता दिगम्बराः । सांख्याः कापिल-

योगिनश्च । सौगताः सौत्रान्तिकत्रैमाषिकयोगाचारमाध्यमिकाः ।

एतेषां ये गुरवो व्यासार्हत्कपिलपतञ्जलिबुद्धाः । अन्यैः पशु-

पतिर्भैरवो वा आगमशास्त्रमेदनिर्माता । आदिपदाद्वैतवहि-

रण्यगर्भाया आगमनिर्मातारो विष्णवादयो गृह्यन्ते । तैः

शुद्ध उक्ता स्वस्वामेषु प्रतिपादिता या यादृशस्ताः सर्वा

मूर्त्वा असदभिसर्गं ब्रह्मैव तत्तद्वासनालक्षणतदात्मकतया स्फु-

रितम् । तेषां च वादिनामात्मविदः स्वस्वनिश्चयस्यानु रूपं स्वर्ग

पारलौकिकसुखरूपमखिलमैहलौकिकं च सर्वं फलं तद्ब्रह्मैव भवति

अनुभवितैवानुभवं

सत्यं स्वात्मानमप्यसन्तमिव ।

अनुभवतीयत्वेन

स्वप्ननटः स्वप्नदेशमिव ॥ ३३

वेदान्तार्हतसांख्यसौगतशुक्रव्यासादिपुत्रा दृशो ।

ब्रह्मैव स्फुरितं तथात्मकलया स्तादात्मनित्यं यतः ।

तेषां चात्मविदोऽनुरूपमखिलं स्वर्गं फलं तद्भव-

त्यस्य ब्रह्मण ईदृगेव महिमा सर्वात्म यत्तद्वपुः ॥ ३४

परमार्थोपदेशो नाम त्रिसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७३ ॥

परिक्षातं भवेदत्र कथमास्था विवेकिनः ॥ ४

सर्गादौ सर्गसंविचेर्यथाभूतार्थवेदनात् ।

जाग्रति स्वप्ननगरं यादृशं तादृशं जगत् ॥ ५

जाग्रति स्वप्ननगरवासना विविधा यथा ।

सत्या अपि न सत्यास्ता जाग्रत्यो वासनास्तथा ॥ ६

अन्यथोपप्रपद्येह कल्प्यते यदि कारणम् ।

तर्कि नेदीयसी नात्र भ्रान्तता कल्प्यते तथा ॥ ७

यतस्वप्नात्मरूपमेव तैस्त्वैस्तथा तथा फलं स्तादित्याद्यास्यते इत्यर्थः ।

अस्य ब्रह्मण ईदृगेव महिमा प्रसिद्धो यद्यस्माद्ब्रह्म एवंवपुर्माया-

शब्दस्वरूपं सर्वात्मकमित्यर्थः ॥ ३४ ॥ इति श्रीवासिष्ठम-

हाराभाषणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपदेशो

नाम त्रिसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७३ ॥

स्वप्नस्यैव प्रबोधेन कृते इत्यस्य मार्जने ।

परिक्षिप्तश्चिदात्मैको वपर्यतेऽत्र परं पदम् ॥ १ ॥

यतः सर्गादौ केवला चिदेव स्वप्नवित्संविद्या जगदित्यव-

भासेऽवभातीति प्रसाधितमतो जगन्नयं ब्रह्मैवेति प्रबोधे केवलं

सिद्धमित्यर्थः ॥ १ ॥ अत्रप्रसिद्धो दुःखात्मकः सर्गो बोधेन

प्रमार्जितः । यत्तु तदनन्तरमपि जीवन्मुक्ताना व्यवहारव

जगत्प्रसिद्धं तदानन्दसन्निवेशकरसत्त्वात्सर्गान्तरमेव तत्तत्र द्वैत-

क्यादीतरत् असुखरूपं कुतो निमित्तात्स्यादित्यर्थः ॥ २ ॥ तेषां

तादृशसर्गेणैकरस्याविषाते अज्ञदृशा प्रसिद्धतरं दृष्टान्तमाह—

यथेति । यथा स्वप्ने सुषुप्तिस्वप्नमेदाभासेऽपि निद्रैकरसं न वि-

हन्यते तद्वद्विदेहमुक्तिजीवन्मुक्तिमेदप्रतिभासेऽपि कुतैकरसं

न विहन्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥ कुतो न दुःखमिति चेद्वाधिते

विषये विदुष आस्थाभावादित्याह—जाग्रतीति ॥ ४ ॥

यादृशं यथा वाधितम् ॥ ५ ॥ दृग्बपटवद्वासनामात्रेण स्थि-

तिस्तु न दुःखसमर्थेलाशयेनाह—जाग्रतीति । जाग्रत्यो

जाग्रतो योगाभासार्थमाविर्भूताः ॥ ६ ॥ यत्तु जगतो भ्रा-

न्तिमात्रत्वे तत्त्वबोधेन तन्मूलज्ञानोच्छेदाद्वाधः स्यात् ।

अध्यानेपरमाण्वादिकारणान्तरैरन्यथोपपत्त्या भ्रान्तिव्याकल्पने च

स्वानुभूयत एवेयं भ्रान्तिः स्वप्नजगत्स्विव ।
 कारणं त्वनुमासाध्यं कानुमाऽनुभवाधिका ॥ ८
 दृष्टमप्यस्ति यत्रेशे न चात्मनि विचारितम् ।
 अन्यथानुपपत्त्यान्तर्भ्रान्त्यात्म स्वप्नशैलवत् ॥ ९
 निर्विकल्पं परं जाड्यं सविकल्पं तु संसृतिः ।
 ध्यानं तेन समाधानं न संभवति किञ्चन ॥ १०
 संचेत्यं संसृतिर्ध्यानमचेत्यं तूपलक्ष्यति ।
 मोक्षो नोपलवद्भानं न विकल्पात्मकं ततः ॥ ११
 न च नामोपलभेन निर्विकल्पसमाधिना ।
 अन्यदासाद्यते किञ्चिल्लभ्यते किं खनिद्रया ॥ १२
 तस्मात्सम्यक्परिज्ञानाद्भ्रान्तिमात्रं विवेकिनः ।
 सर्गात्यन्तासंभवतो यो जीवन्मुक्ततोदयः ॥ १३
 निर्विकल्पं समाधानं तदनन्तमिहोच्यते ।

न बाधप्रसक्तिरिति ततो दुःखं स्यादेवेत्याशङ्क्याह—अन्यथेति ।
 उपप्रपद्य उपपाद्य । स्वाप्ने जगति प्रसिद्धतरत्वाद्वाधवात् 'वा-
 चारम्भणं विकारो नामधेयम्', 'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः
 स्वप्नाः', 'मायां तु प्रकृतिं विन्यात्', 'भूयधान्ते विश्वमायानि-
 दृष्टिः' इत्यादिश्रुतिबोधितत्वाच्च कल्पनान्तरेभ्यो नेवीयसी
 शीघ्रोपस्थितिकत्वेन संनिहिततरा भ्रान्तिमात्रतैव जगतः किं
 न कल्प्यत इत्यर्थः ॥ ७ ॥ किञ्च वाचारम्भणश्रुतिदर्शितन्यायेन
 पर्यालोचने मृतन्त्वादिव्यतिरिक्तघटपटाद्यदर्शनात्तद्विषये स्वा-
 स्तीया इयं भ्रान्तिरिति प्रत्यक्षमनुभूयत एव प्रत्यक्षानुभ-
 वापेक्षया अधिका बलवत्तरा अनुमा क दृष्ट यद्वलात्प्रधान-
 परमाणवादयः सिद्धेरित्यर्थः ॥ ८ ॥ किञ्च जगत्स्वप्नशैल-
 वदन्तर्भ्रान्त्यात्मेत्यत्र दृष्टं प्रत्यक्षं लिङ्गमप्यस्ति । यद्यस्मात्कार-
 णादयं जन आत्मनि इष्टमेव स्रष्टुमनिष्टं सर्गं निवारयितुं न
 न ईशे नेष्टे । छान्दसः पुरुषव्यत्ययः । अहं न ईशे इत्यनु-
 भवतीति वा अध्याहार्यम् । न च तेन प्राग्विचारितं निश्चितमेव
 दृश्यते अकस्मादेव यत्किञ्चिदर्थदर्शनात् । सर्गस्य कारणान्तराधी-
 नत्वे हि तादृशकारणसंपत्तिसाध्यं जना इष्टमेव सृजेयुरनिष्टं च
 वारयेयुराकस्मिन् च दृश्यं न पश्येयुः । तल्लिङ्गत्रयान्यथानुपपत्त्या
 स्वप्नशैलवद्भ्रान्तिरित्येव सिद्धमित्यर्थः ॥ ९ ॥ अत एव ध्यान-
 मात्रेण निर्विकल्पसमाधिपर्यन्तेन जगद्वाधं विनैव निस्तारं
 मन्यमाना योगिनोऽपि निरस्ता इत्याह—निर्विकल्पमिति । यो-
 गिनां ह्यात्मा अनानन्दचिद्रूपः साक्षादनुभूतोऽप्यपुरुषार्थ इति
 तत्साक्षात्कारकल्पने प्रयोजनाभावाजित्यानुमेये तस्मिन् भाट्ट-
 ज्ञानकल्पे नित्यापरोक्षे जडतैव परिशिष्यते । तत्र चित्तस्य
 निर्विकल्पं समाधानं संपन्नमपि परं जाड्यमेव । सविकल्पं
 तु संपन्नं संसृतिः संसार एव । तेन हेतुना तद्व्याप-
 तेन समाधानं च संपन्नमपि किञ्चन पुरुषार्थरूपं न संभवती-
 त्यर्थः ॥ १० ॥ तदेव स्पष्टयति—संचेत्यमिति । पराभिमतमना-
 नन्दरूपं मोक्षे परिशिष्यमाणं यत् ज्ञानं तन्मोक्षः पुरुषार्थवि-
 क्षेपो न । एतेनात्मनो ज्ञानस्वभावतामनभ्युपगच्छता वैशेषिका-
 यो० ब्रा० १८६

यथास्थितमविश्वधर्मासनं सर्वभासनम् ॥ १४
 तदनन्तसुषुप्ताख्यं तत्तुरीयमिति स्मृतम् ।
 तन्निर्वाणमिति प्रोक्तं तन्मोक्ष इति शब्दितम् ॥ १५
 सम्यग्बोधैकघनता यासौ ध्यानमिति स्मृतम् ।
 दृश्यात्यन्तासंभवात्म बोधमाहुः परं पदम् ॥ १६
 तच्च नोपलवज्जाड्यं न सुषुप्तोपमं भवेत् ।
 न निर्विकल्पं न च वा सविकल्पं न वाऽप्यसत् ॥ १७
 दृश्यात्यन्तासंभवात्म तदेवाद्यं हि वेदनम् ।
 तत्सर्वं तन्न किञ्चिच्च तद्वदेवाङ्ग वेत्ति-तत् ॥ १८
 सम्यक्प्रबोधान्निर्वाणं परं तत्समुदाहृतम् ।
 यथास्थितमिदं विश्वं तत्रालं प्रलयं गतम् ॥ १९
 न तत्र नानाऽनाना न न च किञ्चिन्न किञ्चन ।
 समस्तसदसद्भावसीमान्तः स उदाहृतः ॥ २०

धीनामभिमतोऽपि मोक्षो नितरां निरस्तः । विकल्पात्मकं
 संचेत्यं तु ततोऽपि मोक्षो न धन्धाविशेषादित्यर्थः ॥ ११ ॥
 योगिसंमतसमाध्यभ्यासेन भवदभिमतमोक्ष एव किं न लभ्यते
 तत्राह—न च नामेति । अन्यत्सांख्याभिमतान्यदसदभिमतं
 यदि लभ्येत तर्हि खनिद्रयापि लभ्येत । चित्तचाञ्चल्यनिवृ-
 त्तेरज्ञानावरणानिवृत्तेश्चोभयत्रापि साम्यादिति भावः ॥ १२ ॥
 तस्मात्परोक्षपक्षेऽप्यनिर्मोक्षदोषानिर्मोक्षाद्भ्रान्तिमात्रं जगत् ।
 निरतिशयानन्दसच्चिदेकरस एवात्मा । तत्त्वज्ञानेन भ्रान्ति-
 हेत्वज्ञानावरणक्षयेण भ्रान्तिकक्षये परिशिष्यमाणः परमपु-
 षार्थ इत्यस्तपक्ष एव सर्वेषां शरणमित्युपसंहरति—तस्मादि-
 त्यादिना । यो जीवन्मुक्ततोदयः स एव निर्विकल्पसमाधानं
 तदेव वानन्तं निर्वाणमित्युत्तरेणान्वयः ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥
 आहुः 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स
 भूमा' इत्यादिश्रुतयस्तत्त्वविदधेत्यर्थः ॥ १६ ॥ तच्च गौतम-
 कणादाभ्युपगतमुक्तिरिवोपलवज्जाड्यं न । हैरण्यगर्भोपगत-
 प्रकृतिप्रलयवत्सुषुप्तोपमं न । पातजलोपगतमुक्तिवन्निर्विक-
 ल्पतामात्रं न । पाशुपतपाञ्चरात्राद्यभिमतमुक्तिवत्सविकल्पं न ।
 बौद्धाभिमतमुक्तिवदसन्नैरात्म्यलक्षणं शून्यमपि न ॥ १७ ॥
 किं तर्हि तदाह—दृश्येति । तदेव सर्वम् । 'ब्रह्म वा इदमग्र
 आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मासीति', 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्'
 इति श्रुतेरिति भावः । 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति'
 इत्यादिश्रुतेर्न किञ्चिच्च ॥ १८ ॥ सर्वत्वे न किञ्चित्त्वे चोपपत्ति-
 माह—यथास्थितमिति ॥ १९ ॥ सीमान्त इति । यथा पटः
 सन्नसन्निति च कल्पनायाः सीमा तन्तुः । तन्तुः सन्नसन्निति
 कल्पनायाः सीमा कार्पासम् । कार्पासं सदसदिति कल्पनायाः
 सीमान्तस्तद्बीजम् । बीजं सदसदेति कल्पनायाः सीमा मृदा-
 तिमका पृथिवी । सा सती असती चेति कल्पनायाः सीमा
 आपस्तासां तेजस्तस्य धातुस्तस्याकाशं तस्याव्याकृतं तस्य सद-
 सद्भावकल्पनायाः सीमा केवलश्चिदात्मैवेति स सीमान्त इत्यर्थः

१ तदेवाच्छमिति पाठः.

अत्यन्तासंभवं दृश्यं यद्वै निर्वाणमासितम् ।
 शुद्धबोधोदयं शान्तं तद्विद्धि परमं पदम् ॥ २१
 स च संप्राप्यते शुद्धो बोधो ध्यानमनुत्तमम् ।
 शास्त्रात्पदपदार्थबोधिनोत्पन्नबुद्धिना ॥ २२
 मोक्षोपायाभिधं शास्त्रमिदं वाचयतानिशम् ।
 बुद्ध्युपायेन शुद्धेन पुंसा नान्येन केनचित् ॥ २३
 न तीर्थेन न दानेन न स्नानेन न विद्यया ।
 न ध्यानेन न योगेन न तपोभिर्न चाध्वरैः ॥ २४
 भ्रान्तिमात्रं किलेदं सदसत्सदिव लक्ष्यते ।
 व्योमैव जगदाकारं स्वप्नोऽनिद्रे चिदम्बरे ॥ २५
 न शाम्यति तपस्तीर्थैर्भ्रान्तिर्नाम कदाचन ।

तपस्तीर्थादिना स्वर्गः प्राप्यन्ते न तु मुक्ता ॥ २६
 भ्रान्तिः शाम्यति शास्त्रार्थात्सम्यग्बुद्ध्यावलोकितम् ।
 आत्मज्ञानमयान्मोक्षोपायादेवेह नान्यतः ॥ २७
 आलोककारिणात्यर्थं शास्त्रार्थेनैव शाम्यति ।
 अमलेनाखिला भ्रान्तिः प्रकाशेनैव तामसी ॥ २८
 सर्गसंहारसंस्थानां भासो भ्रान्ति चिदम्बरे ।
 स्पन्दनानीव मरुति द्रवत्वानीव धारिणि ॥ २९
 द्रव्यस्य हृद्येव चमत्कृतिर्निजा
 नभस्ततः स्पन्द इवानिर्गता यथा ।
 यथा स्थिता सृष्टिरियं तथास्तिता
 लयं नभस्तन्तरन्यरूपिणी ॥ ३०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० भो० नि० उ० ब्रह्मगीतासु निर्वाणोपदेशो नाम चतुःसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७५

श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 स्वप्नाभमाद्यं चिद्योम कारणं देहसंविदाम् ।
 दृश्यान्वयताऽसंभवतश्चिद्योमस्तत्कुतो वपुः ॥ १
 सर्गादौ स्वप्नसंविच्चिरूपं सर्वं विनानघ ।
 न सर्गो न परो लोको दृश्यमानोऽपि सिद्ध्यति ॥ २
 असदेवानुभूरित्थमेवेदं भासते जगत् ।
 स्वप्नाङ्गनासङ्ग इव शान्तं चिद्योम केवलम् ॥ ३

॥ २० ॥ यच्चिर्वाणं सर्वविक्षेपरहितं निरतिशयानन्दात्मना
 आसितमवस्थानं तदेव परमं पदं परमपुरुषार्थं विद्धि ॥ २१ ॥
 तत्प्राप्तौ चायं मोक्षोपायाख्यो ग्रन्थ उपाय इत्याह—स चेति
 ॥ २२ ॥ बुद्धिरप्यात्मशास्त्रजन्यज्ञानं तत्तत्क्षणेनोपायेन ।
 अन्येनोपायान्तरेण केनचिदपि न प्राप्यते—‘ज्ञात्वा तं मृत्यु-
 मत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये’ इत्यादिश्रुतेरिति भावः
 ॥ २३ ॥ तदेव प्रपद्यति—नैत्यादिना । विद्यया ब्रह्मवि-
 द्यातिरिक्तविद्यया ॥ २४ ॥ कुतो न तत्राह—भ्रान्तिमात्र-
 मित्यादिना । यतो भ्रान्तिमात्रमतस्तपस्तीर्थैर्न शाम्यतीति
 परेणान्वयः ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ प्रकाशेन सूर्योदयेन ।
 तामसी कृष्णरात्रिरिव ॥ २८ ॥ संस्था स्थितिः । भासः प्रति-
 भासाः ॥ २९ ॥ यथा घटधीजादिद्रव्यस्य इदि घटाकारधार-
 णचमत्कृतिर्नभस्ततो वायोः स्पन्दचमत्कृतिरिव स्थिता तथा
 मायाशबलचित्तमभ्यन्तः इयं यथा स्थिता जगतः सृष्टि-
 स्तस्या अस्तित्वा स्थितिश्च अनन्यरूपिणी आस्ते लयं न गमि-
 ष्यतीति शेषः ॥ ३० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणता-
 त्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणोपदेशो नाम चतुःस-
 प्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७४ ॥

एवंनामास्ति चिद्धातुरनादिनिधनोऽमलः ।
 शून्यात्मैवाच्छरूपोऽपि जगदित्यवभाति यः ॥ ४
 मलस्त्वेषोऽपरिज्ञातः परिज्ञातः परं भवेत् ।
 कुतः किल परे व्योमन्यनादिनिधने मलः ॥ ५
 यदेतद्वेदनं शुद्धं तदेव स्वप्नपत्तनम् ।
 जगत्तदेव सर्गादौ पृथ्व्यादेः संभवः कुतः ॥ ६

यावन्मौल्यं जगदिव चिदेवाभासकारणम् ।
 शास्त्रेण मौल्येऽपहृते सा मुक्तेतीह वर्ण्यते ॥ १ ॥
 इयं सृष्टिस्तदस्तित्वा नानन्यरूपिणीत्युक्ते चितः सर्गः शरी-
 रमेवेत्याद्यं प्रसक्तं निराकरोति—स्वप्नाभमिति । आद्यं हि
 चिद्योम स्वाविद्यया स्वप्नाभं भूत्वा जीवभावेन संसरदेवोऽहं
 मनुष्योऽहमित्यादि तत्तद्देहतादात्म्याध्यासानां कामकर्मवास-
 नादिद्वारा कारणं जीवोपाधिसिद्धेः पूर्वं महाप्रलये स्वप्नाभत्व-
 प्राप्तौ तु दृश्यान्वयताऽसंभवतो निमित्तादिसिद्धेस्तत्सर्गरूपं दृश्यं
 तस्य चिद्योमो वपुः शरीरं कुतो निमित्ताद्भवेदित्यर्थः ॥ १ ॥
 स्वप्नसंविच्चिरूपेणैव जीवभावसमकाला सर्गादिसिद्धिर्न निमि-
 त्तान्तरादित्याह—सर्गादाविति ॥ २ ॥ नापि चिद्योमो वास्तवो
 जीवभावो जगद्भावो वास्ति येन जगत्तस्य शरीरं भवेदि-
 त्याह—असदेवेति । अनुभवतीत्यनुभूतुमवैकरसखिदात्म्या
 इत्यमसदेव जगद्भूत्वा स्वाविद्यया भासते ॥ ३ ॥ तर्हि किम-
 नुभूतिरप्यसती, नैत्याह—एवंनामेति । यो जगदित्यवभाति स
 जगच्छून्यात्मैवाच्छरूपविद्धातुरस्ति ॥ ४ ॥ एष परमात्मैव
 यावदपरिज्ञातस्वावन्मलः अवियैव । तत्र संसरत् जीव इव
 पृथगिव भवति । परिज्ञातस्तु परं निर्मलं ब्रह्मैव भवेत् । ‘स यो
 ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति’ इत्यादिश्रुतेरिति भावः ।
 ब्रह्मभावे तस्य मलप्रसक्तिरेव नास्तीत्याह—कुत इति । प्रबो-
 धेन स्वप्नस्येव माप्तादिति भावः ॥ ५ ॥ स्वप्नस्यं तु कारणा-
 संभवाद्ब्रह्माः प्रसक्तिमेव पुनर्ददीकारायानुबदति—यदि-

चिद्योमात्मावभासस्य नभसः सर्गरूपिणी ।
 कृता पृथ्यादिकलना मनोबुद्ध्यादिता तथा ॥ ७
 वार्यावर्त इवाभाति पवनस्पन्दवच्च यत् ।
 अबुद्धिपूर्वं चिद्योमि जगद्भानमभित्तिमत् ॥ ८
 पश्चात्तस्यैव तेनैव स्वयमैश्वर्यशंसिना ।
 कृतं बुद्ध्यादिपृथ्यादिकल्पनं सदसन्मयम् ॥ ९
 स्वयमेव कचत्यच्छाच्छा येयं स्वा महाचितिः ।
 सर्गाभिधानमस्यैव नभ एवेह नेतरत् ॥ १०
 न च किञ्चन नामाङ्ग कचत्यच्छैव सा स्मृता ।
 चिन्मात्रैकैककलनं ततमेवात्मनात्मनि ॥ ११
 चिदाकाशश्चिदाकाशे तदिदं स्वमलं वपुः ।
 चित्तं दृश्यमिवाभाति यथा स्वप्ने तथा स्थितम् ॥ १२
 अन्यथानुपपत्त्यर्थकारणाभावतः स्वतः ।
 सर्गादावेव स्वात्मैव दृश्यं चिद्योम पश्यति ॥ १३
 स्वप्नवत्तच्च निर्धर्मं मनागपि न भिद्यते ।
 तस्माच्चिद्योम चिद्योम शून्यत्वं गगनादिवत् ॥ १४
 यदेव तत्परं ब्रह्म सर्वरूपविवर्जितम् ।
 तदेवैकं तथारूपमेवं सर्वतया स्थितम् ॥ १५
 स्वप्नेऽनुभूयते चैतत्स्वप्नो ह्यात्मैव भासते ।
 नानाबोधमनानैव ब्रह्मैवामलमेव तत् ॥ १६
 ब्रह्मैवात्मनि चिद्वावाजीवत्वमिव कल्पयत् ।
 रूपमत्यजदेवाच्छं मनस्तामिव गच्छति ॥ १७
 इदं सर्वं तनोतीव तच्च खात्मकमेव खम् ।
 भवन्तीव जगद्रूपं विकारीवाविकार्यपि ॥ १८

मन एव स्वयं ब्रह्मा स सर्गस्य हृदि स्थितः ।
 करोत्यविरतं सर्वमजस्रं संहृत्यपि ॥ १९
 पृथ्यादिरहितो यसिन्मनोद्वयङ्गवर्जिते ।
 अन्यद्वा त्रिजगद्भाति यथा स्वप्ने निराकृति ॥ २०
 देहरूपजगद्रूपैरहमेकमनाकृति ।
 मनस्तिष्ठाम्यनन्तात्म बोधाबोधं पराभवम् ॥ २१
 नेह पृथ्यादि नो देहो न चैवान्यास्ति दृश्यता ।
 जगत्तया केवलं खं मनः कचकचायते ॥ २२
 विचार्यदृष्ट्यैतदपि न किञ्चिदपि विद्यते ।
 केवलं भाति चिन्मात्रमात्मनात्मनि निर्धनम् ॥ २३
 यतो वाचो निवर्तन्ते तूष्णींभावोऽवशिष्यते ।
 व्यवहार्यपि खात्मैव तद्वत्तिष्ठति मूकवत् ॥ २४
 अनन्तापारपर्यन्ता चिन्मात्रपरमेष्ठका ।
 तूष्णींभूत्वा भवत्येष प्रबुद्धः पुरुषोत्तमः ॥ २५
 अबुद्धिपूर्वं ब्रवतो यथावर्तादयोऽम्भसि ।
 क्रियन्ते ब्रह्मणा तद्वच्चित्तबुद्ध्यादयो जडाः ॥ २६
 अबुद्धिपूर्वं वातेन क्रियते स्पन्दनं यथा ।
 अनन्यदेवं बुद्ध्यादि क्रियते परमात्मना ॥ २७
 अनन्यदात्मनो वायोर्यथा स्पन्दनमव्ययम् ।
 अनन्यदात्मनस्तद्वच्चिन्मात्रं परमात्मनः ॥ २८
 चिद्योम ब्रह्मचिन्मात्रमात्मा चिति महानिति ।
 परमात्मेति पर्याया ज्ञेया ज्ञानवतां वर ॥ २९
 ब्रह्मोन्मेषनिमेषात्म स्पन्दास्पन्दात्म वातवत् ।
 निमेषो यादगोवास्य समुन्मेषस्तथा जगत् ॥ ३०

स्यादिना ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ पश्चाज्जगद्भानानन्तरं जीवभावेन
 तदनुप्रविश्य हिरण्यगर्भोऽहं भुवनसृष्ट्यैश्वर्यशंसिना बुद्ध्यादि-
 पृथ्यादिनामरूपव्याकरणलक्षणं कल्पनं कृतम् । सदसन्मयं
 भूर्तामूर्तेप्रचुरम्, सत्यानृतमिदुनीकरणरूपं वा ॥ ९ ॥ अच्छा-
 दप्यच्छा येयं महाचितिः सा स्वयमेव जगद्रूपेण कचतीति
 जगच्चिज्जम एव नेतरत् ॥ १० ॥ अनया पर्यालोचनया हे अङ्ग,
 न किञ्चन कचति । चिन्मात्रलक्षणं यदेकमेवैकं तत्कलनमेव
 वा इत्यमात्मनि ततम् ॥ ११ ॥ खं अलं पूर्णं वपुः स्वरूपम् । अज्ञातं
 तदेव स्वमलं वपुरिति वा । चित्तमिव तदुद्दृश्यमिव च ॥ १२ ॥
 अन्यथानुपपत्त्या प्रकारान्तरेण वादिसहस्रैरपि सर्गोपपादना-
 संभवात्परिशेषात् ॥ १३ ॥ उपपादितं जगद्रूपमुत्तरासमुप-
 संहृत्य शिष्टमवधारयति—तस्मादिति । चिद्योम चिद्योमेति
 अवधारणार्थं वीप्सा ॥ १४ ॥ १५ ॥ उक्तमेव निष्कृष्य पुन-
 रनूय दृष्टान्तरमाह—स्वप्ने इत्यादिना ॥ १६ ॥ १७ ॥ तच्च
 मनःसमाष्टिरूपेण इदं सर्वं तनोतीव ॥ १८ ॥ ब्रह्मा हिरण्य-
 गर्भः ॥ १९ ॥ पृथ्यादिरहितः स मनोरूपो ब्रह्मा अङ्गवर्जिते

स्वहृदेव यस्य जगतो हृदि स्वयं स्थितस्तस्मादन्यद्वा त्रिजग-
 द्भूत्वा स्वयं भाति ॥ २० ॥ स्वाविद्यया पूर्णभावपराभवं प्राप्य
 तन्मन एवाहमाकारेण देहजगद्रूपैरनन्तात्म भूत्वा बोधाबोध-
 रूपं तिष्ठतीत्याह—देहेति ॥ २१ ॥ २२ ॥ वर्णितदृष्ट्यन्तर-
 मुपसंहरन्प्रकृते योजयति—विचार्येति । नितरां धनं निर्धनम्
 ॥ २३ ॥ बाष्पनसागोचरनिरतिशयानन्दलाभेन तूष्णींभावो
 निश्चलता । सा निश्चलता व्यवहारकालेऽपि नापैतीत्याह—
 व्यवहार्यपीति ॥ २४ ॥ चिन्मात्रलक्षणा परमा इष्टैवेष्टका पर-
 मप्रेमास्पदीभूतनिरतिशयानन्दधनता स्वयं भवतीत्यर्थः ।
 ज्ञानाभिपरेपाकेन हृदीभावाद्ब्रह्मभूत एवेष्टकेति वा ॥ २५ ॥
 एवं मुक्तस्य पुनः कालान्तरे सर्गादिना बन्धप्रसक्तिं वारयितुं
 सर्गस्याज्ञानपूर्वकत्वं दर्शयति—अबुद्धिपूर्वमिति । अबुद्धिबोध-
 नाशयमज्ञानं तत्पूर्वम् । अविद्यावृत्तब्रह्मचैतन्यस्यैव जलादिभा-
 वेनावर्तादिविकल्पभावत्वाज्जलादेर्दृष्टान्तता ॥ २६ ॥ २७ ॥
 चिन्मात्रं सर्वं चिदाभासलक्षणा जीवा आत्मनः प्रत्यग्रूपात्पर-
 मात्मनोऽनन्यत् ॥ २८ ॥ अत एव जीवानामपि ब्रह्मपर्याया-
 त्मता मतेत्याशयेनाह—चिद्योमेति ॥ २९ ॥ अविद्यावृत्तं हि ब्रह्म
 चक्षुरिव उन्मेषनिमेषात्म वातवत् स्पन्दास्पन्दात्म मा । अस्य

दृश्यमस्य समुन्मेषो दृश्याभावो निमेषणम् ।
 एकमेतन्निराकारं तद्वयोरप्युपक्षयात् ॥ ३१
 निमेषोन्मेषयोरेकरूपमेव परं मतम् ।
 अतोऽस्ति दृश्यं नास्तीति सदसच्च सदा चितिः ॥ ३२
 निमेषो नान्य उन्मेषाश्चोन्मेषोऽपि निमेषतः ।
 ब्रह्मणः सर्गवपुषो निमेषोन्मेषरूपिणः ॥ ३३
 तद्यथास्थितमेवेदं विद्धि शान्तमशेषतः ।
 अजातमजरं व्योम सौम्यं समसमं जगत् ॥ ३४
 चिदचित्यात्मकं व्योम रूपं कचकचायते ।
 चिन्नाम तदिदं भाति जगदित्येव तद्वपुः ॥ ३५
 न नश्यति न चोत्पन्नं दृश्यं नाप्यनुभूयते ।
 स्वयं चमत्करोत्यन्तः केवलं केवलैव चित् ॥ ३६
 महाचिद्योममणिभा दृश्यनास्ती निजाकरात् ।
 अनन्यान्येव भातापि भानुभास इवोष्णता ॥ ३७
 सुषुप्तं स्वप्नवद्भाति भाति ब्रह्मैव सर्गवत् ।
 सर्वमेकं शिवं शान्तं नानेवापि स्थितं स्फुरत् ॥ ३८
 यद्यत्संवेद्यते यादृक्सद्वाऽसद्वा यथा यदा ।
 तथानुभूयते तादृक्तत्सदस्त्वसदस्तु वा ॥ ३९
 अन्यथानुपपत्त्या चेतकारणं परिकल्प्यते ।
 तत्त्वप्रामो जगद्भावादन्यथा नोपपद्यते ॥ ४०
 प्रमातीतात्पराद्विश्वमनन्यदुदितं यतः ।
 प्रमातीतमिदं चैव किञ्चिन्नाभ्युदितं ततः ॥ ४१
 यस्य यद्रसिकं चित्तं तत्तथा तस्य गच्छति ।
 ब्रह्मैकरसिकं तेन मनस्तत्तां समश्नुते ॥ ४२

यच्चित्तो यद्रतप्राणो जनो भवति सर्वदा ।
 तत्तेन चस्त्विति ज्ञातं जानाति तदसौ स्फुटम् ॥ ४३
 ब्रह्मैकरसिकं यत्स्यान्मनस्तत्तद्भवेत्क्षणात् ।
 यस्य यद्रसिकं चेतो बुद्धं तेन तदेव सत् ॥ ४४
 विश्रान्तं यस्य वै चित्तं जन्तोस्तत्परमार्थसत् ।
 व्यवहृत्यै करोत्यन्यत्सदाचारादतद्रसम् ॥ ४५
 द्वित्वैकत्वादिकलना नेह काचन विद्यते ।
 सत्तामात्रं च इगियमितश्चेदलमीक्ष्यते ॥ ४६
 अदृश्यदृश्यसदसन्मूर्तामूर्तदशमिह ।
 नैवास्ति न च नास्त्येव कर्ता भोक्ताऽथवा कचित् ॥ ४७
 इदमित्थमनाद्यन्तं जगत्पर्यायमात्मनि ।
 ब्रह्मैकघनमाशान्तं स्थितं स्थाणुरिवाध्वनि ॥ ४८
 यदेव ब्रह्म बुद्ध्यादि तदेवैतन्निरञ्जनम् ।
 यदेव गगनं शान्तं शून्यं विद्धि तदेव तद् ॥ ४९
 केशोष्णकादयो व्योम्नि यथा सदसदात्मकाः ।
 द्वितामिवागता भान्ति परे बुद्ध्यादयस्तथा ॥ ५०
 तथा बुद्ध्यादि देहादि वेदनादि परापरे ।
 अनेकान्यप्यनन्यानि शून्यत्वानि यथाम्बरे ॥ ५१
 सुषुप्तादिशतः स्वप्नमेकनिद्रात्मनो यथा ।
 सर्गस्थस्यापि न द्वित्वं नैकत्वं ब्रह्मणस्तथा ॥ ५२
 एवमेव कचत्यच्छा छायेयं स्वा महाचितेः ।
 न च किञ्चन नामाङ्ग कचत्यच्छैवमास्थिता ॥ ५३
 चिद्योस्त्रि हि चिदाकाशमेव स्वममलं वपुः ।
 चेत्यं दृश्यमिवाभाति स्वप्नेष्विव यथास्थितम् ॥ ५४

यादृगेव प्रत्यात्मको निमेषस्तादृगेव सर्गात्मक उन्मेषो जगदि-
 त्यर्थः ॥ ३० ॥ यथा उन्मेषनिमेषयोः साधारणं चक्षुर्गोलक-
 मेकं तत्रैवोन्मेषनिमेषयोरुपक्षयात्तथा ब्रह्मापीत्याह—एकमेत-
 दिति ॥ ३१ ॥ अतश्चित्तेः सकाशादेव दृश्यस्यास्ति नास्तीति
 स्फुरणादृश्यं सदसच्च, चित्तिल्लु सदा सत्तैकरूपैवेत्यर्थः ॥ ३२ ॥
 उन्मेषनिमेषावपि तदेतुपक्षमसहितचक्षुःस्थानीयशबलब्रह्मात्मना
 परस्परमिन्नावेवेत्याह—निमेष इति ॥ ३३ ॥ अनया दृश्या
 यत्सिद्धं तदाह—तदिति । सयेन निमेषोन्मेषसाधारणब्रह्मरूपेण
 सममेकरसम् ॥ ३४ ॥ यथा व्योम स्वाध्वस्तनैत्यरूपं कचकचा-
 यते तथा चिदपि अचिदात्मकमिव कचकचायते ॥ ३५ ॥ ३६ ॥
 महाचिद्योममणेर्भा प्रभा निजाकरान्नमणेः सकाशादनन्या
 ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ सत् सावरूपं वा यद्यचित्ता यथा संवेद्यते
 प्रकाश्यते तथा चिदाभासेनानुभूयते ॥ ३९ ॥ जगतो जड-
 त्वान्यथानुपपत्त्या तदनु रूपं प्रधानपरमाण्वादिकारणं परिक-
 ल्प्यते चेत्तत्तर्हि स्वप्ने आभातीति स्वप्नामः प्रपद्यः प्रधानपर-
 माणादिभिर्निर्वोद्धमशक्यत्वादात्मन एव जगद्भावं विहाय
 नोपपद्यत इत्यर्थः । तत्रात्मन एव जगद्भावाभ्युपगमे तद्व्या-
 येन सर्गादावपि ब्रह्मैव जगद्वेषं करिष्यतीति तेन प्रधानपर-
 माणादिकल्पनं विरुद्धमिति भावः ॥ ४० ॥ एवं च सति-

जगतः प्रमाणाविषये ब्रह्मण्यध्यासात्स्वप्नवदनिर्वचनीयतालक्षणा
 प्रमाणानिर्धार्यरूपतापि सेत्स्यतीत्यद्वैताविरोधादपरमनुकूलसि-
 त्याह—प्रमातीतादिति ॥ ४१ ॥ अत एव ब्रह्मरसिकानां चित्तं
 जगद्ब्रह्मैव पश्यतीति तदनुभवानुसारोऽपि ज्ञात इत्याह—
 यस्येति ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ यस्य जन्तोश्चित्तं दृढनिश्च-
 येन यत्र विश्रान्तं तस्य तदेव परमार्थसत् । अत एव ब्रह्मवि-
 श्रास्तिकश्च स्वनिश्चितान्यथागदानादि करोति तत्केवलं लोक-
 संग्रहार्थव्यवहृत्यै अतद्रसमनिच्छमेव ब्रह्मादिव करोतीत्यर्थः
 ॥ ४५ ॥ इत एतस्मान्मदुक्तोपायतत्त्वेजगदवलोक्यते तदा
 इदं सर्वं सत्तामात्रं, इयं हगेव । द्वित्वैकत्वकलना इह काचन
 न विद्यते ॥ ४६ ॥ अदृश्यं ब्रह्मैव दृश्यं सदसन्मूर्तममूर्तं
 चेति दृश्येषां तेषां इह कर्ता भोक्ता वा जीवो नैवास्ति
 नापि नास्त्येव । तस्यैव ब्रह्मतया परिशेषादित्यर्थः ॥ ४७ ॥
 अज्ञानां पान्थानां चोरसंदेहब्रह्मान्यादियोग्ये अन्ताराध्वनि
 स्थाणुरिव स्थितम् ॥ ४८ ॥ बुद्ध्यादि बुद्धिसमष्टिरिण्य-
 गर्भादि जगत् ॥ ४९ ॥ ५० ॥ परापरे सर्वसामान्यात्मके
 ब्रह्मणि द्रव्यत्वानि घटपटाद्यभावाः सर्वे ॥ ५१ ॥ सर्गस्थस्य
 स्वाप्नसर्गस्थस्यापि स्वस्थ-न द्वित्वं-नान्येकत्वं व्यावर्त्य-
 सिद्धेः- ॥ ५२ ॥ छाया कान्तिरविद्या भा ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

अन्यथानुपपत्त्यर्थकारणाभावतः स्वतः ।
 चिद्योमात्मानमेवादौ दृश्यमित्येव पश्यति ॥ ५५
 सर्गादावेव स्वात्मैव दृश्यं भाति निराकृति ।
 संभ्रमः स्वप्नसंकल्पमिथ्याज्ञानेष्विवाभितः ॥ ५६
 स्वप्नवत्तच्च निर्धर्म मनागपि न भिद्यते ।
 विकार्यपि सधर्मापि चिद्योमो वस्तुनो मलात् ॥ ५७
 तत्स्वप्ननगराकारं सधर्माप्यसधर्मकम् ।
 शिवादनन्यमेवेत्थं स्थितमेव निरन्तरम् ॥ ५८
 दृश्यं स्वप्नाद्रिवत्स्वच्छं मनागपि न भिद्यते ।
 तस्माच्चिद्योमचिद्योमः शून्यत्वं गगनादिव ॥ ५९
 यदेव तत्परं ब्रह्म सर्वरूपविवर्जितम् ।
 तदेवेदं तथाभूतमेव सर्गतया स्थितम् ॥ ६०
 स्वप्नेऽनुभूयते चैतत्स्वप्ने ह्यात्मैव भासते ।
 पुरादित्वेन न तु सत्पुरादिरचितं तदा ॥ ६१
 स्वप्ने च प्रत्यभिज्ञायाः संस्कारस्य स्मृतेस्तथा ।
 न सत्ता तदिदं दृष्टमित्यर्थस्यात्यसंभवात् ॥ ६२

अन्यथानुपपत्त्या वादिसहसैरपि सदस्त्वतिरिक्तस्योपपादयितुम-
 शक्या अर्थस्य सत्यस्य कारणान्तरस्याभावतश्च चिद्योम स्वतः
 आत्मानमेव सर्गादौ दृश्यमिति पश्यतीत्येव पक्षो निरुद्ध इत्यर्थः
 ॥ ५५ ॥ निराकृति मूर्ताकारतद्विशेषशून्यम् । तच्च भानमभितः
 सम्यग्रभ्रमः संभ्रमः ॥ ५६ ॥ तच्च दृश्यं स्वप्नवन्निरधर्म सर्वधर्म-
 शून्यं चिद्योमैव । यतस्तत्र मनागपि धर्मो न विद्यते । वस्तुनः
 परमार्थभूतस्य चिद्योमो विकारी सधर्माप्याकारोऽविद्यामला-
 त्प्रतीयत इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ प्रतीतितः सधर्मापि असधर्मकम् ।
 शिवादधिष्ठानसन्मात्रादनन्यमेव अज्ञदृशा इत्थं जगदाकारेण
 निरन्तरमेव स्थितम् ॥ ५८ ॥ न भिद्यते स्वाधिष्ठानात् ।
 तस्माच्चिद्योममात्रत्वेन परिशिष्टस्य चिद्योमो गगनादपि शून्य-
 त्वमतिस्सुभूतं सिद्धमित्यर्थः ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ननु स्वप्नकाले
 सत्सत्यं पुरादिजीवेन रचितमस्तु । 'अथ रयान् रथयोगा-
 न्पथः सृजते स हि कर्ता' इति श्रुतेरित्याशङ्क्याह—न त्विति ।
 'न तत्र रथा रथयोगाः पन्थानो भवन्ति', 'मायामात्रं तु
 कातर्येनानभिच्यक्षरूपत्वात्' इत्यादिश्रुतिसूत्रैः स्वप्ने सृष्टि-
 प्रतिषेधान्मायामात्रत्वप्रतिपादनाच्चेति भावः ॥ ६१ ॥ ननु
 स एवायं देवदत्तस्तदिदं पूर्वदृष्टमेव मद्ब्रह्ममित्याद्यवाधितप्रत्यभि-
 ज्ञादिना स्वप्नेऽपि पदार्थाः सत्याः सन्तु तत्राह—स्वप्ने चेति ।
 तदिदमिति प्रत्यभिज्ञायमानस्य गृहाद्यर्थस्य हृदयकण्ठनाडीच्छि-
 द्रादिदेशे अत्यन्तमसंभवेन प्रत्यभिज्ञाया असंभवात् । अर्थासं-
 भवे तद्गोचरसंस्कारस्मृत्योरप्यसंभवः स्पष्ट एवेति भावः ॥ ६२ ॥
 तस्मादसंभवादेव प्रसिद्धस्मृत्यादिकं त्यक्त्वा ब्रह्मसंविद एव
 निद्रादोषाद्यदन्यथाभानं तस्यैव जाग्रदुष्टार्थसादृश्यं कल्पयित्वा
 अनुभवव्यवहाराभास इव स्मृत्यादिसादृश्यमपि कल्पयित्वा
 स्मृत्यादितापि मूढैरुहितेभ्योपेयमिति शेषः ॥ ६३ ॥ साद-
 र्यादपि सैवैयं लहरी सैवैयं दीपज्वालेत्यादिप्रत्यभिज्ञाभ्रमा

तस्मादेतन्नयं त्यक्त्वा यद्भानं ब्रह्मसंविदः ।
 तस्य दृष्टार्थसादृश्यान्मूढैः स्मृत्यादितोहिता ॥ ६३
 यथा यत्रैव लहरी वारिण्येति पुनः पुनः ।
 तत्रैवैति तथा तद्वदनन्या खे परे जगत् ॥ ६४
 विधयः प्रतिषेधाश्च सर्वे एव सदैव च ।
 विभक्ताश्च विमिश्राश्च परे सन्ति न सन्ति च ॥ ६५
 तस्मात्सद्ब्रह्म सर्वात्म किमिवात्र न विद्यते ।
 सैव सत्तैव सर्वात्म चैतदप्येतदात्मकम् ॥ ६६
 भ्रान्तस्य भ्रमणं भूमेर्न भूभ्रान्तैव वा गणैः ।
 न शाम्यति ज्ञातुरपि तथाभ्यासं विनात्र दृक् ॥ ६७
 शास्त्रस्यास्य तु यन्नाम धादनं तद्विनापरः ।
 अभ्यासो दृश्यसंशान्त्यै न भूतो न भविष्यति ॥ ६८
 न जीवन्न मृतं चित्तं रोधमायाति संसृतेः ।
 अविनाभाविदेहत्वाद्वोधात्वेतन्न पश्यति ॥ ६९
 सर्वदैवाविनाभावि चित्तं दृश्यशरीरयोः ।
 इह वामुत्र चैतस्य बोधान्ते शाम्यतः स्वयम् ॥ ७०

लोके प्रसिद्धाः सन्तीत्याह—यथेति । कल्पनाधिष्ठाने खे
 चिदाकाशविषये अनन्या न तु कल्पनाविषयेऽपि तथा स्वप्नेऽपि ।
 तद्वत् सर्गादौ जगदपि बोध्यमित्यर्थः ॥ ६४ ॥ कल्पनामात्र-
 त्वादेव ब्रह्मणि 'स दाधार पृथिवीं व्यामुतेमाम्', 'यस्मिन् द्यौः
 पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैस्त्वमेवैकं जानथ
 आत्मानम्' इत्यादिजगद्विधयो 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिज-
 गत्प्रतिषेधाश्चाविरोधेन समावेशं लभन्त इत्याह—विधय इति
 ॥ ६५ ॥ सैव सत्ता ब्रह्मसत्तैव सर्वात्मेत्येतत्सर्वमप्येतदात्मकं
 सदात्मकं सर्वात्मकं च ॥ ६६ ॥ अत एव तत्र सर्वेषां वादिनां
 सर्वकल्पनानामप्यविरोधेन समावेशस्तत्कल्पनस्य मोक्षधो-
 पपद्यत इत्याशयेनाह—भ्रान्तस्येति । कीदृशं भ्रान्तस्य
 भ्रमतो बालस्य वृक्षगिरिनद्यादिगणैः सह भूमेर्भ्रमणमन्येषां
 तु भूर्न भ्रान्तैवेत्युभयमपि सदात्मकम् । भ्रमत्वे बालस्य
 भूर्न भ्रमतीति ज्ञातुरपि स्वैर्याभ्यासं विना उपात्ता भ्रम-
 णदृक् न शाम्यति तद्ब्रह्मजगद्भ्रान्तिदृगपीति भावः ॥ ६७ ॥
 दृश्यभ्रान्तिशान्त्युपयुक्तः प्रकृते कस्य को वाऽभ्यासः कार्यस्त-
 माह—शास्त्रस्येति । अस्य मोक्षोपायस्य शास्त्रस्य यत्तत्त्वज्ञं गुरुं
 सेवादिना वशीकृत्य धादनं व्याख्यापनं तत्पूर्वकश्रवणाभ्यासं
 विना अपरः अन्यः ॥ ६८ ॥ ननु किमेतच्छास्त्राभ्यासेन योग-
 शास्त्रप्रसिद्धचित्तनिरोधादेव दृश्यादर्शनलक्षणेष्टसिद्धिरित्याश-
 ङ्क्याह—नेति । भवेदेतदेवं यदि चित्तनिरोधः सिध्येत्, तच्च
 चित्तं संसृत्यविनाभावस्वरूपत्वाज्जाग्रत्स्वप्नाभ्यां जीवत्सुषुप्तौ
 विलयान्मृतं वा यत्नेनापि निरुध्यमानं रोधं नायाति कित्वेतच्छा-
 स्त्राभ्यासाधीनाद्वोधादेव बाधितमेतत्संसृतिं न पश्यतीत्येतदभ्यास
 एवोपाय इत्यर्थः ॥ ६९ ॥ यथा चित्तं संसृत्यविनाभावि एवं दृश्य-
 रूपा संसृतिरपि चित्तशरीरोभयाविनाभाविनी । ते च दृश्यश-
 रीरे एतच्छास्त्राभ्यासादसति प्रतिबन्धे इहजन्मन्येव तत्त्वबोधा-

चित्तदृश्यशरीराणि त्रीणि शाम्यन्ति बोधतः ।

पवनस्पन्दसैन्यानि कारणाभावतो यथा ॥ ७१

कारणं मौर्ख्यमेवास्य तच्चासादेव शास्त्रतः ।

किञ्चित्संस्कृतबुद्धीनां वाचितादेव शाम्यति ॥ ७२

अबुद्धमुत्तरग्रन्थात्पूर्वं पूर्वं हि बुध्यते ।

ग्रन्थं पदपदार्थज्ञः खेदवान्न निवर्तते ॥ ७३

उपायमिदमेवातो विद्धि शास्त्रं भ्रमक्षये ।

अनन्यसाधारणतां गतमित्यनुभूयते ॥ ७४

तस्मादस्मान्महाशास्त्राद्यथाशक्तिं विचारयेत् ।

भागौ द्वौ भागमेकं वा तेन दुःखक्षयो भवेत् ॥ ७५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे धा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० परमार्थगीताख्यद्वैतयुक्तिर्नाम पञ्चसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७५ ॥

षट्सप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७६

श्रीराम उवाच ।

जगन्ति सन्त्यसंख्यानि भविष्यन्ति गतानि च ।

तत्कथाभिः कथं ब्रह्मप्रबोधयसि मामिमम् ॥ १

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

जगत्स्वप्नेषु शब्दार्थसंबन्धोऽवगतस्त्वया ।

च्छाम्यतः । सति तु प्रतिबन्धे अमुत्र जन्मान्तरे वा प्रतिबन्ध-

क्षये बोधोदयाच्छाम्यतः । तथा च भगवतो वादरायणस्य

सूत्रम् 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' इति ॥ ७० ॥

पवनस्पन्दौ तत्प्रयुक्तमेघसैन्यानि च यथा तत्प्रयोजकक्षुक्ता-

स्तोदयादिकारणापायाच्छाम्यन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ ७१ ॥ किं त-

र्थात्र चित्तादित्रिकलं कारणं तदाह—कारणमिति । मौर्ख्यं

ब्रह्मात्मभावावरिका अविद्या ॥ ७२ ॥ ननु वाचनमात्रेण कथ-

मस्यार्थः सर्वो बुध्यते तत्राह—अबुद्धमिति । न निवर्तते

यदीति शेषः ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ भागमेकमर्धग्रन्थं वा ॥ ७५ ॥

ऋषिणा कृतमिदं शास्त्रं स्मृतिरूपं स्मृतेश्च श्रुतिर्गूलमिति श्रुति-

मेव विचारमिष्याम इति बुद्ध्या प्रमादवच्छादिदं शास्त्रं न रोचते

तत्तर्हि अन्यच्छ्रुतिरूपमुपनिषद्ब्रह्म्यादिरूपमात्मज्ञानशास्त्रमेव वि-

चारयेत् त्वात्मशास्त्रमिच्छते भवेदित्यत्र नस्वात्पर्यं न त्वत्रैवाग्रह-

इत्यर्थः ॥ ७६ ॥ ज्ञानसारेण श्रवणाद्युपायेन यथाकथंचित्त्व-

बोधेन सर्वं दृश्यमात्मानं देयमात्मसात्कर्तव्यम् । बाधमुत्तेनात्म-

ना प्रसन्नार्हं कर्तव्यमिति यावत् । 'देये प्रा च' इति सातिप्रत्ययः ।

प्रादणसादिदमलं कर्तव्यमिति वत् ॥ ७७ ॥ तत्रालसालुद्यो-

जयति—आयुष इति । स्वर्गादिराशिसहितैः सर्वैरज्ञैरपि

प्रमादस्तस्येति शेषः ॥ ७८ ॥ इदं दृश्यं प्रत्यक्षमनुभूतमपि

द्रष्टुं अन्तःकरणोपहितेन जीवेन सहितमपि स्वप्ने दैवादृष्टे निज-

मरणे परितो बान्धवैः कृतं रोदनमिव सदिव कचित्तमपि नो

सत् मिथ्यैवेति ब्रह्माद्वैतदिग्विजयदिण्डिम इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे

आरम्भेयमिदमिति प्रमादाच्चैव रोचते ।

तदन्यदात्मविज्ञानशास्त्रं किञ्चिद्विचारयेत् ॥ ७६

अनर्थेनाविचारेण वयः कुर्यान्न भस्मसात् ।

बोधेन ज्ञानसारेण दृश्यं कर्तव्यमात्मसात् ॥ ७७

आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वैरज्ञैर्न लभ्यते ।

नीयते तद्वथा येन प्रमादः सुमहानहो ॥ ७८

अनुभूतमपि च नो स-

दृश्यमिदं द्रष्टुमसहितमपि ।

स्वप्ननिजमरणवान्धव-

रोदनमिव सदिव कचित्तमपि ॥ ७९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे धा० दे० मो० नि० उ० अवि० वि० परमार्थगीताख्यद्वैतयुक्तिर्नाम पञ्चसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७५ ॥

न नाम न च लोकेन व्यर्थं तत्कथनं ततः ॥ २

या कथावगतात्मभ्यां शब्दार्थाभ्यां निगद्यते ।

बुध्यते सेतरा नान्तः सैवेह व्यवहारिणी ॥ ३

यदा विदितवेषः संखिकालामलदर्शनः ।

भविष्यसि तदा तानि प्रत्यक्षेणैव भोत्स्यसे ॥ ४

उत्तरार्धे अद्वैतयुक्तिर्नाम पञ्चसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७५ ॥

स्वप्नवद्भ्रान्तिवत् स्वर्गादौ ब्रह्माण्डाद्विशिष्टाविति ।

अत्रार्थे ब्रह्मणा प्रोक्तं ब्रह्माण्डाख्यानमीर्यते ॥ १ ॥

यदि दृश्यमसदिति दृश्यबाधेन चिन्मात्रपरिशेष एव पुरु-

षार्थस्तर्हि समूलस्य वर्तमानस्यैव दृश्यस्य जगतो बन्धतया

तन्मार्जनमेवोपयुज्यते न त्वतीतानागतानामप्रतीयमानानामव-

र्तमानजगतामपि । तेषामप्रतीत्यैव बन्धत्वाप्रसक्तैस्तथा च तदु-

पन्यासः शास्त्रे व्यर्थ एवेत्याशयेन रामः शङ्कते—जगन्तीति ॥ १ ॥

वर्तमानदृश्यमात्रमेवोपन्यासार्हं नातीतं भविष्यद्वा किञ्चिदपीति

त्वदाक्षेपो निष्कर्षे फलति । तत्तु न युक्तम्, पदपदार्थसंबन्धस्य

व्याप्तिग्रहस्य च दृष्टान्तसिद्धादीनां नातीतव्यवहाराधीनत्वेन

तदुपन्यासं विना विचाररूपकशास्त्रप्रवृत्त्ययोगात् । तस्मादतीता-

नागतब्रह्माण्डा वर्तमानब्रह्माण्डान्तराणि च शब्दार्थसंबन्धग्रहा-

दावनुपयोगान्नोपन्यसनीया इत्येतावानाक्षेपः कर्तुं युक्त्येदं नो-

मेक्षनास्थया अभ्युपगच्छन्निव भगवान्वसिष्ठ उत्तरमाह—जग-

त्स्वप्नेष्वित्यादिना । लोकेन एतच्छास्त्रार्थश्रवणाधिकृतजनेन ॥ २ ॥

अवगतात्मभ्यां निश्चितवाच्यवाचकभावाभ्यां व्यवहारिणी व्यव-

हारापोपयुक्ता नान्येति । केवललौकिकबुद्ध्यनुसारेण पर्यालोचने

त्वया सम्यगाक्षिप्तमित्यर्थः ॥ ३ ॥ तत्त्वज्ञेषु प्रसिद्धं त्रिका-

लामलदर्शनं यदि पर्यालोचयिष्यसि तदा सर्वत्र स्वसैव द्रष्टृ-

त्वादतीतानागतव्यवहितविप्रकृष्टानन्तब्रह्माण्डानां वर्तमानास्त

ब्रह्माण्डस्य च विशेषलेखास्याप्यभावाकार्यं तदाक्षेप उपायुम-

र्हतीत्याशयेनाह—यदेति । वर्तमानाया अपि तत्त्वदृष्टे-

र्तव्ये समानस्य ।

१ बहुपुस्तकेषु आरम्भेयमिति पाठ उपलभ्यते । उभयब्रह्मणा

स्वप्ने चिन्मात्रमेवाद्यं स्वयं भाति जगत्तया ।
यथा तथैव सर्गादौ नात्रान्यदुपपद्यते ॥ ५ ॥
अणावणावसंख्यानि तेन सन्ति जगन्ति खे ।
तेषां तान्व्यवहारौघान्संख्यातुं क इव क्षमः ॥ ६ ॥
अत्रैव मे पुरा प्रोक्तं मत्पित्रा पद्मजन्मना ।
पद्मरेणुमताख्यानं शृणु तत्कथयामि ते ॥ ७ ॥
पुरा पृष्टो मया ब्रह्मा जगज्जालमिदं कियत् ।
क्व वा भातीति वद मे ब्रह्मोवाच ततः स माम् ॥ ८ ॥
श्रीब्रह्मोवाच ।

ब्रह्मैवेदं मुने सर्वं जगदित्यवभासते ।
संतामनन्तं सत्त्वेन जगत्त्वेनासतामपि ॥ ९ ॥
शुभं ममेदमाख्यानं शृणु ध्रुवणभूषणम् ।
ब्रह्माण्डपिण्ड इत्युक्तं ब्रह्माण्डाख्यानमेव च ॥ १० ॥
अस्ति खे खादनन्यात्मा चिद्योमपरमाणुकः ।
शून्यरूपमिवाकाशे शुद्धः स्पन्द इवानिले ॥ ११ ॥
सोऽपश्यदात्मना स्वप्न इव जीवत्वमात्मनि ।
शून्यरूपमिवाकाशं पवनः स्पन्दनं यथा ॥ १२ ॥
आकाशरूपमजहदेव जीवस्ततः स्वयम् ।
अपश्यदहमित्येव रूपमाकाशरूपकम् ॥ १३ ॥
अहंकारस्त्वहंबुद्धिरित्येवापश्यदात्मनि ।
एकनिश्चयनिर्माणमयी मायानुरूपिणी ॥ १४ ॥
बुद्धिर्मनोहमित्येवं स्वप्ने पश्यदसन्मयम् ।
नमयन्त्यात्मनात्मानमविकल्पं विकल्पनैः ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे द्वा० दे० मो० निर्वा० उ० ब्रह्मगीतासु ब्रह्माण्डोपाख्यानं नाम षट्सप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७६ ॥

अपश्यत्तन्मनः स्वप्ने देहे पञ्चेन्द्रियं ततः ।
अनाकारं घनाकारं स्वप्नाद्रित्वमिवाश्रयीः ॥ १६ ॥
ददर्श स मनोदेहो वंपुच्छिभुवनात्मकम् ।
खात्मा खात्मैव निर्भित्ति भित्तिभासुरमाततम् ॥ १७ ॥
अनेकभूतकलितं नानास्थावरजङ्गमम् ।
कलनाकालकलितं कल्पितान्योन्यसंगमम् ॥ १८ ॥
स्वप्ने प्रत्येकमेवात्र पश्यत्यादर्शविम्बितम् ।
इव त्रैलोक्यनगरं नवरङ्गमनोहरम् ॥ १९ ॥
अथ प्रत्येकमत्रापि नवरङ्गमनोहरम् ।
त्रिजगद्वेत्ति हृदये खादर्श इव विम्बितम् ॥ २० ॥
परमाणोः परमाणोरिति सन्ति तनूदरे ।
अतनूनि जगन्त्युच्चैर्धनानीव च तान्यपि ॥ २१ ॥
अविद्येयमनन्तेयमविद्यात्वेन चेत्तिता ।
ब्रह्मत्वेन परिज्ञाता भवति ब्रह्म निर्मलम् ॥ २२ ॥
एवं द्रष्टापि यः स्वप्नजालं दृष्टे न किञ्चन ।
कोऽत्र द्रष्टा कुतो दृश्यं क इदं क च कारणम् ॥ २३ ॥
सर्वं निःशान्तमाभातं खात्म निर्भित्ति केवलम् ।
ब्रह्मात्मनि स्थितं स्वच्छमाद्यन्तपरिवर्जितम् ॥ २४ ॥
ब्रह्माण्डलक्षणविचयाः परमात्मनीति
नित्यं स्थिता निपुणमन्यवदप्यनन्ये ।
वारिष्यवारितविसारितरङ्गवेगा-
ल्लोलं स्थिताम्बुपरमाणुचया यथैते ॥ २५ ॥

रपर्यालोचनेन वृथात्वापादनात्परिहासेन भविष्यसि भोत्ससे
इति च भविष्यत्त्वारोपेणोक्तिः ॥ ४ ॥ तत्त्वविदो वर्तमान-
ब्रह्माण्डान्तरेषु भविष्यद्ब्रह्माण्डेषु च पुनरावृत्तिशङ्कावारणाय
तेषामपि स्वप्नप्रपञ्चसाम्येन मूलाज्ञानबोधेन बाधप्रतिपादनाय
तेऽपि शास्त्रे अवश्यमुदाहरणीया एवेत्याशयेनाह—स्वप्ने इति ।
सर्गादौ अतीतानागतादिसर्वसर्गादौ इत्येतावानंशस्तत्राप्युप-
युज्यते नान्यत्तद्वैचित्र्यं प्रकृतोपयुक्तमत्रोपपद्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥
तत्कृत इति चेदसंख्यत्वेन तद्वैचित्र्येयत्तायाः शास्त्रे वर्णयितुम-
शक्यत्वादित्याशयेनाह—अणावणाविति ॥ ६ ॥ अत्र
‘अणावणावसंख्यानि’ इत्युक्तेऽर्थे पद्मरेणुमता पद्मपरागकीर्णदेहेन
मत्पित्राऽऽख्यानं मे प्रोक्तं तच्छृणु ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥
तस्य आख्यानस्य द्वे नामनी आह—ब्रह्माण्डपिण्ड इति ।
अन्वर्थनाम्ना उक्तं प्रसिद्धम् ॥ १० ॥ तदेव वक्तुमारभते—
अस्तीत्यादिना । अनिले शुद्धः स्पन्द इव स्वसत्तामात्रेण जग-
चेष्टाहेतुः ॥ ११ ॥ स चिद्योमपरमाणुकः स्वतत्त्वादर्थन-
द्रावशास्त्रप्र इवात्मनो जीवत्वं समष्टिजीवत्वमपश्यत् । यथा
वस्तुभूतमेवाकाशं स्वप्नसदेव शून्यत्वं पश्येत्तद्वत् । यथा वा
पवनः स्वं स्पन्दनं पश्येत्तद्वत् ॥ १२ ॥ तर्हि स किं परिणामी
नेत्याह—आकाशरूपमिति । आकाशरूपमविकारितामसज्ञतां

पूर्णतां सूक्ष्मतां च । आकाशरूपकमाकाशप्रतिममहमित्येव
जीवः स्वं रूपमपश्यत् ॥ १३ ॥ सः अहंकाररूपस्त्वहमात्मनि
बुद्धिरित्येव रूपमपश्यत् । सा च बुद्धिरेकनिश्चयनिर्माणमयी
मायायाश्चानुरूपिणी असदर्थभ्रमदायित्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥
विकल्पनैर्विकल्पाभासारोपणैरात्मना आत्मानं नमयन्ती न्य-
ग्भावयन्ती ॥ १५ ॥ १६ ॥ स चिद्योमपरमाणुक इत्थं
मनोदेहसमष्ट्यात्मा संक्षिभुवनात्मकं विराड्पुर्ददर्श ॥ १७ ॥
विराड्पुर्वर्णयति—अनेकेति ॥ १८ ॥ व्यष्टिजीवमेदकल्पनेन
प्रत्येकं त्रैलोक्यद्रष्टृतायां दृष्टान्तमाह—स्वप्ने इति । नवरङ्गाः
द्रष्टा दृश्यं दृष्टिः, भोक्ता भोग्यं भोगः, कर्ता कार्यं क्रियेति तिस्र-
स्त्रिपुट्यस्त्रैर्मनोहरम् ॥ १९ ॥ तदार्थान्तिकमाह—अथेति ।
प्रत्येकं प्रतिजीवम् ॥ २० ॥ एवं जीवमेदेन विविक्तस्य चित्प-
रमाणोः सर्वस्यापि तनूनि अतिसूक्ष्मेऽप्युदरे इति वर्णित-
रीत्या कल्पितानि अतनूनि महान्ति जगन्ति सन्ति । तान्यपि
उच्चैर्जीवधनैः पृथ्व्यादिधनैश्च घनानीव ॥ २१ ॥ इयं च सर्वा
स्वतत्त्वाज्ञानलक्षणा अविद्यैव । सा ज्ञानेन निवारिता चेद्ब्रह्म
निर्मलम् ॥ २२ ॥ ब्रह्मत्वेन दृष्टे सति यो जगत्स्वप्नजालं द्रष्टा
सोऽपि न किञ्चन ॥ २३ ॥ निर्भित्ति निर्भेदं ब्रह्म आत्मनि
स्वस्वरूपे स्थितम् ॥ २४ ॥ तथा च परमात्मनि यावदज्ञान-

सप्तसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७७

श्रीराम उवाच ।

अकारणकमेवेदं जगद्ब्रह्म परात्पदात् ।
यदि प्रवर्तते नाम स्वप्नसंकल्पनादिवत् ॥ १
तदकारणतः सिद्धेः संभवेऽन्यदकारणम् ।
कथं न जायते वस्तु क्वचित्किञ्चित्कदाचन ॥ २
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
यद्यथा कल्पितं येन स संपश्यति तत्तथा ।
कल्पनैवान्यथा न स्यात्तादृकारणविच्युतेः ॥ ३
यथेवं कल्पितं दृश्यं मनसा येन तत्तथा ।
वैत्यसौ यादृगन्येन कल्पितं वैत्यसौ तथा ॥ ४
कल्पनाकल्पनात्मैकं तच्च ब्रह्म स्वभावतः ।
कल्पनात्मेदं जन्तुर्यथा केशनखादिमान् ॥ ५
अकारणपदार्थत्वं सकारणपदार्थता ।
ब्रह्मणि द्वयमप्यस्ति सर्वशक्त्यात्म तद्यतः ॥ ६
यतः स्याद्ब्रह्मणस्त्वन्यत्कचित्किञ्चित्कदाचन ।
तत्कारणविकल्पेन संयोगस्तस्य युज्यते ॥ ७

निद्रास्ति तावत्परमात्मनि ब्रह्माण्डलक्षणिन्या इति वर्णित-
प्रकारेण नित्यमनन्ये अपि अन्यवदित्यताः । यथा वारिणि
समुदे एते अवारितविसारितरत्नवेगाज्जिमित्प्रालोकं स्थितस्या-
म्बुनः परमाणुचया असंख्याताः स्थितास्तद्वदित्यर्थः ॥ १५ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
ब्रह्मण्डोपाख्यानं नाम षट्सप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७६ ॥

सकारणं कल्पनया वस्तुवृत्त्या त्वकारणम् ।

जगत्स्वप्नसंभवं मोहादोपाद्भवेति वर्ण्यते ॥ १ ॥

अकारणक एव स्वप्नसमोऽयं सर्ग इति बहुशो यद्वर्णितं तत्र
रामः सैख्यान्यादिकार्यस्यापि तर्हि कृषिवृष्ट्यादिकारणं विनैवो-
त्पत्तिः स्यादित्युत्पत्तिप्रसङ्गं शङ्कते—अकारणकमिति द्वाभ्याम्
॥ १ ॥ तत्तर्हि अकारणत एव सर्वाभिलषितसिद्धेः संभवे
अन्यत्संस्थान्यादिकमपि वस्तु कृषीवलानामकारणकं कृषिवृष्टि-
धीजवापादिकारणं विनैव कथं न जायते इत्यर्थः ॥ २ ॥ न वयं
व्यवहारव्यवस्थापकं कारुणिकं कार्यकारणभावं धीजाङ्कुरदेवार्-
रयामः किंतु जगत्सत्त्वप्रसजनेन तत्त्वज्ञानवैयर्थ्यापादकं
ब्रह्मातिरिक्तं प्रधानपरमाण्वाद्यश्रौतं वादिभिः कल्पितं कारणं
निराचक्ष्महे । जगतो ब्रह्मनिवर्तमानत्वप्रसिद्ध्या सत्त्वज्ञानेन
बाधे केवल्यसिद्धिर्यथा स्यादित्युत्पत्तिर्वाच्येन वसिष्ठः समाधत्ते—
यद्यथेति । अनादिव्यवहारे येन यद्यथा दृढाभ्यासेन कल्पितं
स तत्तथा कार्यं कारणं वा सर्वं पश्यति । अन्यथा व्यवहा-
रेऽपि व्यावहारिकनियमापलापे, कापि कल्पना न स्यादित्यन-
भ्यासेनैव सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ३ ॥ अत एव कल्पकबु-
धनुसारेण व्यवस्थितमेव वस्तु अनुभूयत इत्याह—यथेदं-

यत्र सर्वमनाद्यन्तं नानानानात्म भासते ।
ब्रह्मैव शान्तमेकात्म तत्र किं कस्य कारणम् ॥ ८
नेह प्रवर्तते किञ्चिन्न च नाम निवर्तते ।
स्थितमेकमनाद्यन्तं ब्रह्मैव ब्रह्म स्वात्मकम् ॥ ९
किं कस्य कारणं केन किमर्थं भवतु क वा ।
किं कस्य कारणं केन किमर्थं मास्तु वा कचित् ॥ १०
नेह शून्यं न वा शून्यं न सन्नासन्न मध्यता ।
विद्यते न महाशून्ये न नेति न न नेति च ॥ ११
इदं न किञ्चित्किञ्चिद्वा यन्नामास्त्यथ नास्ति वा ।
सर्वं ब्रह्मैव तद्विद्धि यत्तथैवातथैव तत् ॥ १२
श्रीराम उवाच ।

अतज्ज्ञविषये ब्रह्मन्कार्ये कारणसंभवे ।
किमकारणतात्म स्यात्कथं वेति वद प्रभो ॥ १३
श्रीवासिष्ठ उवाच ।

अतज्ज्ञो नाम नास्त्येव तावत्तज्ज्ञजनं प्रति ।
असतो व्योमवृक्षस्य विचारः कीदृशस्ततः ॥ १४

मिति । तथा च निरालम्बनवादिष्वर्के भट्टवार्तिके उदाहृतम्—
'परिमादकामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनौ । कुणपः काशिनी
भक्ष्यमिति तिस्रो निकल्पनाः' इति ॥ ४ ॥ तर्हि किं निरालम्ब-
नैव कल्पना, नेत्याह—कल्पनाकल्पनात्मेति । तत्राचिदंशः
कल्पनात्मा चिदंशस्त्वकल्पनात्मा उभयवदितमिदं जगत् ।
यथा जन्तुचेतनः पुरुषः केशनखाद्यचेतनघटितः प्रतीयते
तद्वदित्यर्थः ॥ ५ ॥ अत एव वस्तुतत्त्वदृशा अकारणपदार्थत्वम्,
कल्पनादृशा सकारणपदार्थतेति ब्रह्मणि द्वयमप्यविरोधेनास्ति
॥ ६ ॥ यदुभयात्मकं ब्रह्म-तर्हि कथमकारणकत्वपक्ष एव
त्वया प्रतिष्ठापितस्तत्राह—यत इति । तत्त्वज्ञानस्यैव सप्रयो-
जनत्वात्तत्त्वदृष्टिमात्रपक्षपातेन स प्रतिष्ठापित इति भावः ॥ ७ ॥
॥ ८ ॥ ९ ॥ वास्तवमकारणकत्वं कल्पितकार्यानुत्पत्तितदुत्प-
त्त्योर्द्वयोप्यविरोधीत्याह—किं कस्येति ॥ १० ॥ शून्याशून्या-
द्युभयविधमात्रशून्यत्वान्महाशून्ये । न नेति न नेति चेति तदु-
ल्लेखः ॥ ११ ॥ सर्वस्यापि ब्रह्मैकरस्यदेव शून्यता न शून्यै-
करस्यादित्याह—इदमिति । यद्यस्मादेतोस्तद्ब्रह्म अभ्यासेनैव
सर्वानुगतत्वात्तथैव अपवादे सर्वतो व्यावृत्तत्वादतथैव च ॥ १२ ॥
नन्वतत्त्वज्ञविषयो यथा अभ्यारोपापवाधौ तत्त्वज्ञैस्त्वद्वोधनाया-
भ्युपगम्यते-तथा प्रधानपरमाण्वादियुक्तकार्यकारणसंभवोऽपि
कुतो नाभ्युपगम्यत इति रामः शङ्कते—अतज्ज्ञेति । पृथि-
व्येत्येजोवायुलक्षणे कार्ये तदवयवपरम्परासौक्ष्म्यावधीनां परमा-
णूनां सत्त्वादियुगानां कारणानां वा संभवे किं जन्यद्वयमका-
रणवत्स्यात् कथं वा अद्वितीयब्रह्मपरिदोष इत्यर्थः ॥ १३ ॥
भवेदेवं यदि ब्रह्मातिरिक्तः प्रधानपरमाण्वादिकल्पकोऽतज्ज्ञः
प्रसिद्धेत् । यदा तु 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तात्मानमेवावेदं

एकबोधमयाः शान्तविज्ञानघनरूपिणः ।
 तज्ज्ञास्तेषामसद्रूपे कथमर्थे विचारणा ॥ १५
 अतज्ज्ञत्वं च बोधेऽन्तरवभाति तदङ्गता ।
 गते स्वप्नसुषुप्तेऽन्तरिव निद्रात्म केवलम् ॥ १६
 तथाप्यभ्युपगम्यापि मूर्खेनिश्चय उच्यते ।
 मयेदमणु सर्वात्म यस्माद्ब्रह्म निरामयम् ॥ १७
 सन्त्यकारणका एव सन्ति कारणजास्तथा ।
 भावाः संविद्यथा यस्मात्कल्प्यते लभ्यते तथा ॥ १८
 सर्वकारणसंशान्तौ सर्वानुभवशालिनाम् ।
 सर्गस्य कारणं नास्ति तेन सर्गस्त्वकारणः ॥ १९
 हृदयंगमतात्त्यक्तमीश्वरादि प्रकल्प्यते ।
 यदत्र किञ्चिद्दुःखादु व्यर्थं वाग्जालमेव तत् ॥ २०
 अन्यथानुपपत्त्यैव स्वप्नाभाकलनादते ।
 स्थूलाकारात्मिका काचिन्नास्ति हृदयस्य हृदयता ॥ २१

ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत् इति श्रुतिदर्शितदिशा ब्रह्मैव
 स्वाज्ञानादतज्ज्ञं तस्यैव तत्त्वज्ञानोपयुक्तं शास्त्रं तदा तदध्या-
 रोपापवादस्यायेनैव तत्त्वज्ञाने उपयुज्यते न प्रधानपरमाण्वा-
 दिकल्पनयेति वैषम्यमित्याशयेन, वसिष्ठः समाधत्ते—अतज्ज्ञ
 इति ॥ १४ ॥ कुतो नास्ति तत्राह—एकबोधमया इति ।
 'तथया सैन्धवधनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव वा अरे
 अयमात्मा विज्ञानघन एव प्रज्ञानघन एव' इति श्रुतेरिति भावः
 ॥ १५ ॥ ननु ब्रह्मातिरिक्तः अतज्ज्ञो नास्तीति कथं संभाव्यते ।
 तार्किकैः पामरैश्च नाहं ब्रह्म नाहं ब्रह्मज्ञश्चेति स्वात्मन्यतत्त्व-
 ज्ञात्वाब्रह्मत्वयोः प्रत्यक्षमनुभववादित्याशङ्क्य तादृशानुभवबले-
 नैव तदात्मनामपि ब्रह्मत्वं समर्थयति—अतज्ज्ञत्वमिति ।
 अज्ञानादिसर्वजगदारोपाधिष्ठानचिन्मात्रत्वं हि ब्रह्मत्वम् । तच्चा-
 ईमज्ञ इत्यनुभवितरि तार्किकात्मनि दुर्वारम् । यतः अज्ञत्वं
 प्रबोधरूपे आत्मन्यन्तरवभाति । यदि च वैशेषिककल्पितो
 जडोऽयमात्मा स्यात् कथमात्मन्यज्ञानमनुभवेत् । अतः अज्ञा-
 नाधिष्ठानचिद्रूपत्वमस्मादेवानुभवात्सिद्धम् । जगच्च केवलमज्ञा-
 नात्मैव अतस्तदङ्गतां गतम् । यथा स्वप्नसुषुप्ते निद्रान्तर्निद्रा-
 ङ्गतां गते केवलं निद्रैव न निद्राव्यतिरिक्तं तथोः स्वरूपमस्ति
 तद्वत् । न च ज्ञानस्वभावे आत्मनि स्वभावविरुद्धमज्ञानमारो-
 पमन्तरेण भवितुमर्हतीत्यज्ञानादिजगदारोपाधिष्ठानत्वस्यास्मादे-
 वानुभवात्सिद्धेरित्यर्थः ॥ १६ ॥ नन्वज्ञानादिजगदधिष्ठानत्व-
 रूपं सर्वात्मत्वं ब्रह्मलक्षणं चेज्ज्ञानेन तदपाये तदब्रह्मैव स्यादि-
 त्याशङ्क्याह—तथापीति । मूर्खप्रतिबोधनार्थं मूर्खबुद्धिमनुसृत्य
 शुद्धब्रह्मन्युत्पादनार्थं मयेदं ब्रह्मणस्तदस्थलक्षणमुच्यते । स्वरूप-
 लक्षणं तु तस्य शुद्धनिरामयानन्दैकरसत्वं नाज्ञानुभवपथमव-
 तरतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ तथा चाज्ञबुद्ध्यानुसारेण जगदन्यदिव
 कृत्वा ब्रह्मकल्पादौ कारणमिति स्वीकारेऽपि यक्षानुरूपो
 बलिरिति न्यायेन मिथ्याभूतस्य प्रपञ्चस्य तादृशी मायैव
 कारणं तथापि न वास्तवाद्वैतक्षतिरित्याशयेनाह—सन्तीति ।

स्वप्नपृथ्व्याद्यनुभवे किमबुद्धस्य कारणम् ।
 चित्स्वभावादते ब्रूहि स्वप्नार्थो नाम कीदृशः ॥ २२
 स्वप्नार्थो ह्यपरिज्ञातो महामोहभरप्रदः ।
 परिज्ञातो न मोहाय यथा सर्गास्तथैव च ॥ २३
 शुष्कतर्कदृष्टावेशाद्यद्व्याप्यनुभवोज्झितम् ।
 कल्प्यते कारणं किञ्चित्सा मौख्याभिनिवेशिता ॥ २४
 अग्रेरौघ्यमपां शैत्यं प्राकाश्यं सर्वतेजसाम् ।
 स्वभावो वाखिलार्थानां किमबुद्धस्य कारणम् ॥ २५
 किं ध्यातृशतलब्धस्य ध्येयस्यैकस्य कारणम् ।
 किं च गन्धर्वनगरे पुरे भित्तिषु कारणम् ॥ २६
 धर्माद्यमुत्रामूर्तत्वान्मूर्ते देहे न कारणम् ।
 देहस्य कारणं किं स्यात्तत्र सर्गादिभोगिनः ॥ २७
 भित्त्यभित्त्यादिरूपाणां ज्ञानस्य ज्ञानवादिनः ।
 किं कारणमनन्तानामुत्पन्नध्वंसिनां मुहुः ॥ २८

अकारणकाः शुक्तिरजतमरुनदीरज्जुसर्पादयः । तत्र संविदा
 कारणजत्वेन कल्पिताः सकारणका अन्यथाकल्पितास्त्वकारणका
 इति मृन्मयगौरीगणपत्योर्मातृपुत्रतावत्कल्पनानुसारेणैव तद्य-
 वस्थेत्याह—संविदिति ॥ १८ ॥ तत्त्वदृशा त्वखण्डाद्व्यवि-
 न्मात्रमेव सदा नाणुमात्रमपि कदाचिद्विपर्यास इति न सर्ग-
 कारणं केनचिदपि निरूपयितुं शक्यमित्याह—सर्वेति । सर्व-
 षामनुभवशालिनां तत्त्वविदाम् ॥ १९ ॥ अत्र ईदृशे स्वप्न-
 गन्धर्वनगरमरुमरीचिकाप्राये जगति सत्यत्वसाधनाभिनिवेशेन
 यद्वैशेषिकादिभिः 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'
 इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धमायोपहितब्रह्मातिरिक्ततटस्थेश्वरप्रधानपरमा-
 ण्वादि किञ्चित्कारणं प्रकल्प्यते तत्प्रत्यक्षश्रुतिविद्वदनुभवविरो-
 धाद्देवान्तशास्त्रप्रसिद्धयुक्तिपरहृतत्वाच्च दुःखादु तिक्तं स्रष्टुरीश्व-
 रस्य भोक्तुर्जीवस्य वा पुरुषार्थापर्यवसायित्वाद्यर्थम् । अत एवा-
 भिज्ञानां हृदयंगमतया त्यक्तमहृदयंगममिति वृथा कण्ठशोषं
 वाग्जालमेव तदित्यर्थः ॥ २० ॥ प्रबोधनाध्यत्वान्यथानुपप-
 त्त्यापि जगत्स्वप्नाममेवेति तदर्थं न कारणकल्पनावकाश
 इत्याह—अन्यथानुपपत्त्येति ॥ २१ ॥ तदेव विशदयति—
 स्वप्नेति । अबुद्धस्य अप्रबुद्धस्य ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥
 यद्यवश्यं कारणमपेक्षितं तर्ह्यज्ञातब्रह्मस्वभाव एव तथास्ति-
 त्याशयेनाह—अग्रेरिति । अबुद्धस्याज्ञानोपहितस्यात्मनः स्वभावो
 वा कारणमिति शेषः ॥ २५ ॥ मनोरथकल्पितनगरव-
 द्यातृभेदेन व्यवस्थिताकारत्वादपि न सर्वसाधारणमेकं कारणं
 सुवचमित्याशयेनाह—किमिति ॥ २६ ॥ धर्माधर्मयोस्तु अमू-
 र्तेत्यदेव मूर्तेदेहाद्युपादानकारणता न संभवतीति कर्ममीमांसक-
 कल्पनमपि निराचष्टे—धर्मादीति । अमुत्र परलोके ॥ २७ ॥
 विज्ञानवादिमतेऽप्यमूर्तस्य क्षणिकस्य च विज्ञानस्य मूर्ता क्षणि-
 कोपादानता दुर्वचेत्याह—भित्तीति । भित्तयः स्थूलकुल्यादयः
 अभित्तयस्तद्विलक्षणाः परमाणवः । उत्पन्नध्वंसिनामित्युक्त्या कार्या-
 नुकूलव्यापारस्य कार्यसंबन्धस्य च क्षणिकेज्जसंभवः सूचितः ॥ २८ ॥

स्वभावस्य स्वभावोऽसौ किल कारणमित्यपि ।
 यदुच्यते स्वभावस्य सा पर्यायोक्तिकल्पना ॥ २९
 तस्मादकारणा भ्रान्तिर्भावा भ्रान्ति च कारणम् ।
 अहे हे त्वखिलं कार्यं कारणाद्भवति स्थितम् ॥ ३०
 यद्वत्स्वप्नपरिज्ञानात्स्वप्ने द्रव्यापहारिभिः ।
 न दुःखाकरणं तद्वज्जीवितं तत्त्वदर्शनात् ॥ ३१
 सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं चिद्गगनं त्विदम् ।
 स्वरूपं स्वप्नवद्भाति नान्यदत्रोपपद्यते ॥ ३२
 अन्या न काचित्कलना दृश्यते सोपपत्तिका ।
 अस्माद्व्यायादहे कस्माद्ब्रह्मैवैषानुभूतिभूः ॥ ३३
 ऊर्म्यावर्तद्रवत्वादि शुद्धे जलघने यथा ।
 तथेदं सर्गपर्यायं ब्रह्मणि ब्रह्म भासते ॥ ३४
 स्पन्दावर्तविवर्तादि निर्मले पवने यथा ।
 तथायं ब्रह्मपवने सर्गस्पन्दोऽवभासते ॥ ३५
 यथानन्तत्वसौषिर्यशून्यत्वादि महाश्वरे ।
 स सन्नासन्नबोधात्म तथा सर्गः परापरः ॥ ३६
 येषु निद्रादिकेष्वेते सुषलब्धा अपि स्फुटम् ।
 भावा असन्मया एवमेतेऽनन्यात्मका यतः ॥ ३७

सर्गप्रलयसंस्थानान्येवमात्मनि चिद्गने ।
 सौम्ये स्वप्नसुषुप्ताभा शुद्धे निद्राघने यथा ॥ ३८
 स्वप्नात्स्वप्नान्तराण्यास्ते निद्रायां मानवो यथा ।
 सर्गात्सर्गान्तरात्मास्ते स्वसत्तायामजस्तथा ॥ ३९
 पृथ्व्यादिरहितोऽन्येष ब्रह्माकाशो निरामयः ।
 अतद्वास्तद्वदाभाति यथा स्वप्नानुभूतिषु ॥ ४०
 स्थिता यथास्यां पश्यन्त्यां शब्दा घटपटादयः ।
 जाताजाताः स्थिताः सर्गास्तथानन्ये महाचिति ॥ ४१
 पश्यन्त्यामेव पश्यन्ती यथा भाति तथैव च ।
 यथा शब्दास्तथा सर्गाश्चितैव चिति चिन्मयाः ॥ ४२
 किं शास्त्रकं तत्रकथाविचारै-
 निर्वासनं जीवितमेव मोक्षः ।
 सर्गे त्वसत्येवमकारणत्वा-
 त्सत्येव नास्त्येव न नाम काचित् ॥ ४३
 एषा च सिद्धेह हि वासनेति
 सा बोधसत्तैव निरन्तरैका ।
 नानात्वनानारहितैव भाति
 स्वप्ने चिदेवेह पुरादिरूपा ॥ ४४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायण्ये वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्मगीतासु सत्यवर्णनं नाम सप्तसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७७ ॥

स्वभाववादिनश्चावाक्यं मतं निरस्यति—स्वभावस्येति ।
 अङ्कुरादिस्वभावस्य कालक्षेत्रजलादिबद्धितबीजादिस्वभावोऽसौ
 कारणमिति चार्वाकैर्यदुच्यते सा उक्तिरपि बीजस्वभावपदयो-
 रर्थभेदानिरूपणादङ्कुरस्वभावस्येत्यत्रत्यस्वभावपदे षष्ठ्यर्थस्यन्ध-
 स्थापि दीर्घभ्यान्नानार्थत्वे नभयत्रापि पर्यायतया सहप्रयोगाना-
 पत्तेः सकलसाधारणस्वभावत्वसामान्याप्रसिद्धेः प्रातिस्विकरूपा-
 परामर्शप्रसङ्गाच्चैकाध्यायघटनाच्च निरर्थकोक्तिः सेत्यर्थः ॥ २९ ॥
 अतः परिशेषात्स्वानिमित्तं सिद्धं दर्शयति—तस्मादिति । तस्मात्
 सर्वे भावास्तत्कारणं चेत्यखिलमहे अकारणा भ्रान्तिरेव, हे तु
 सन्मात्रात्मना स्थितमेव कार्यं कारणात्तस्मादेव चिच्चमत्काररूपे-
 णानिर्भवति तिरोभवति च न तद्वतिरिक्तमणुमात्रमप्यस्तीत्यर्थः
 ॥ ३० ॥ अत एव श्रुत्याश्रकृतैरपराधकोटिभिरप्यन्तर्दुःखं न
 जायत इत्याह—यद्वदिति । स्वप्ने द्रव्यापहारिभिश्चौरैः कृतं
 ताडनबन्धनादिकं प्रबुद्धस्य स्वप्नमिथ्यात्वपरिज्ञानाद्यदुःखाक-
 रणं पीडासंपादकं न तद्वत्तत्त्वदर्शनोत्तरं जीवनमपि दुःखाक-
 रणं नेत्यर्थः । 'सुखं दुःखं तत्त्वित्यायाम्' इति वाच्यं ॥ ३१ ॥
 अन्यदुःखं तच्चिमित्तं च ॥ ३२ ॥ अस्माद्व्यायादहे अन्या कलना
 अन्यादृशी वादिनां कल्पना अत एषा जगत्कलना ब्रह्मानुभूति-
 भूरेवेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ आसन्नो बोधात्मा येन तथाविधं
 सत् स प्रसिद्धः सन् आकाश एव तथेत्यर्थः । 'न सन्' इति पाठे

स्पष्टम् ॥ ३६ ॥ कृतः सजेव तत्राह—एष्विति । यतः सर्वान्या-
 त्मका इत्यर्थः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ अजः जन्मादिशून्यः परमात्मा स्वयं-
 मेव सर्गात्सर्गान्तरात्मना आस्ते ॥ ३९ ॥ ४० ॥ पश्यन्त्यां सां प्रति-
 कसर्वदर्शनात्मनि । जाताः पूर्वतना अजाता भविष्यन्तः ॥ ४१ ॥
 यदा अनन्ये तदा शब्दास्तदर्थभूतसर्गाश्च ब्रह्मणि सन्तीत्युक्तिः
 पश्यन्त्यामेव पश्यन्ती सिद्धतीत्यभिज्ञायामेव भेदोपचारेणैष-
 चारिके आधाराधेयभावे पर्यवस्यतीत्याह—पश्यन्त्यामेवेति
 ॥ ४२ ॥ यदा शब्दाः सर्गाश्च, चिन्मया एव तदा तत्र कृत-
 कार्यं शास्त्रमपि शास्त्राभावात्नोक्तफलस्य पृथगसत्त्वाभिरसनीय-
 प्रपञ्चबन्धाभावाच्च निवर्तत इत्याह—किमिति । शास्त्रमेव
 शास्त्रकं तत्र किम् । तत्रत्यकथाविचारैश्च किम् । यतः शास्त्र-
 फलं निर्वासनं जीवितमेव मोक्षः सिद्धः । एवं वर्णितरीत्या
 अकारणत्वात्सर्गे असति नानाप्रपञ्चरचना प्रत्यक्षं सत्येव कश्चिन्न
 च नास्त्येवेति निःशेषं मार्जितेत्यर्थः ॥ ४३ ॥ या चैषा वासने-
 तीह प्रपञ्चबीजतया भाति सा नानात्वेन नानात्वरहिता बोध-
 सत्तैव भाति । यथा इह प्रत्यक्षे स्वप्ने निदेव पुरादिरूपा भाति
 तद्वदित्यर्थः ॥ ४४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायण्यतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यवर्णनं नाम सप्तसप्तत्यधिकशततमः
 सर्गः ॥ १७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमः सर्गः १७८

श्रीराम उवाच ।

पदार्था द्विविधाः सन्ति मूर्तामूर्ता जगत्रये ।
 यत्र सप्रतिधाः केचित्केचिदप्रतिधा अपि ॥ १
 तानिहाप्रतिधानाहुर्नान्योन्यं वेल्लयन्ति ये ।
 तांश्च सप्रतिधानाहुरन्योन्यं वेल्लयन्ति ये ॥ २
 इह सप्रतिधानां तु दृष्टमन्योन्यवेल्लनम् ।
 न त्वप्रतिधरूपाणां केषांचिदपि किंचन ॥ ३
 तत्र संवेदनं नाम यदिदं चन्द्रमण्डले ।
 इतः पतत्यप्रतिधं तत्सर्वेणानुभूयते ॥ ४
 अर्धप्रबुद्धसंकल्पविकल्पाद्वैतकल्पितम् ।
 वदाम्यभ्युपगम्येदं न तु बोधदशास्थितम् ॥ ५
 कः प्राणमारुतः क्षोभं जनयत्याशयस्थितः ।
 प्रवेशनिर्गममयं कथं वा वद मे प्रभो ॥ ६
 कथमप्रतिधं नाम वेदनं प्रतिधात्मकम् ।
 इमं देहं चालयति भारं भारहरो यथा ॥ ७

इहाऽमूर्तचित्ता मूर्तचालने युक्तिरुच्यते ।

जगच्चाऽमूर्तचिन्मात्रमैन्दवाख्यानतः स्फुटम् ॥ १ ॥

‘धर्माद्यमुत्रामूर्तत्वान्मूर्ते देहे न कारणम्’ इत्युक्तिं श्रुत्वा
 अमूर्तेन चिदात्मना मूर्तस्य देहादेश्चालने उपपत्तिं जिज्ञास-
 मानो रामस्तदनुपपत्तिं दर्शयितुं भूमिकां रचयति—पदार्था
 इत्यादिना । मूर्तामूर्तब्रह्मणा दर्शितो विभाग इह नाभिप्रेतः
 किं तु प्रतिघातयोग्यतातदयोग्यतोपाधिभेदकृत इत्याशयेन वि-
 क्षिणष्टि—यत्रेति ॥ १ ॥ कुसुमकार्पासनवनीतादिमृदुतरप-
 दार्थानां कठिनशिलादिवत्प्रतिघातयोग्यत्वादमूर्तत्वमुक्तं मा भू-
 दिति विशेषणतात्पर्यं लक्षणाभ्यामुद्घाटयति—तानीति ।
 वेल्लयन्ति संश्लिष्यन्ति ॥ २ ॥ तदेव लोकप्रसिद्धा विशद-
 यति—इहेति ॥ ३ ॥ अस्तुवेवं प्रस्तुते किं तत्राह—तत्रेति ।
 तत्र संवेदनं नामेदं यत्प्रसिद्धं तदप्रतिधमेव । ययसाद्धेतो-
 श्चन्द्रं पश्यतः पुरुषस्य इतः अस्मात्प्रदेशान्नयनरश्म्यनुसारि-
 चित्तेन सह तदवच्छिन्नसंवेदनानि चन्द्रमण्डले अप्रतिधं निःसं-
 श्लेषमेव पतन्ति । अतोऽमूर्तानीति सर्वेणापि चन्द्रदर्शना स्वय-
 मनुभूयत इत्यर्थः ॥ ४ ॥ नन्वयमाक्षेपस्ते प्रबुद्धदशा अप्रबु-
 द्धदशा वा । आद्ये मूर्तमेवाप्रसिद्धम् । द्वितीये अमूर्ता चिदेहादि
 प्रवर्तयतीत्यप्रसिद्धम् । देहाद्यहंकारान्तानां संपिण्डितानामेव
 लौकिकैरात्मत्वानुभवादित्याशङ्क्याह—अर्धेति । अर्धप्रबुद्धानां
 मूर्तीयचतुर्थभूमिकान्तरालस्थानां संकल्पविकल्पद्वैतेन कल्पित-
 मिदं जगदभ्युपगम्य वदाम्याक्षिपामि । बोधदशा स्थितं परि-
 शिष्टं चिन्मात्रमभ्युपगम्य तु नाक्षिपामीत्यर्थः ॥ ५ ॥ यद्यपि
 मूर्तः प्राणमारुत एव प्रवेशनिर्गमवृत्तिमेदेन क्षुब्धो देहं प्रव-
 र्त्तयतीति सुवचं, तथापि तस्य प्राणमारुतस्य क्षोभं को जनयति
 ॥ ६ ॥ ननु जीवात्मकश्चिदाभास एव तं जनयिष्यति

यदि सप्रतिधं वस्तु वेल्लयप्रतिधात्मकम् ।
 कथं संवित्तिमात्रेण पुंसः शैलो न वलगति ॥ ८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

विकासमथ संकोचमत्र नाली हृदि स्थिता ।
 यदा याति तदा प्राणश्छेदैरायाति याति च ॥ ९
 बाह्योपस्करभस्त्रायां यथाकाशास्पदात्मकः ।
 वायुर्यात्यपि चायाति तथात्र स्पन्दनं हृदि ॥ १०
 श्रीराम उवाच ।
 बहिर्भस्त्रामयस्कारः संकोचनविकासनैः ।
 योजयत्यान्तरं नाडीं कश्चालयति चालकः ॥ ११
 शतं कथं भवेदेकं कथमेकं शतं भवेत् ।
 कथं स चेतना पते काष्ठलोष्टोपलादयः ॥ १२
 कस्मान्न स्थावरं वस्तु प्रस्पन्द्यपि चमत्कृतम् ।
 वस्तु जङ्गममेवेह स्पन्दि मात्रेव किं वद ॥ १३

तत्राह—कथमिति । देहं प्राणादिदेहान्तम् ॥ ७ ॥ यदि
 अप्रतिधात्मकमपि संवित्तिमात्रं प्राणादिदेहान्तं सप्रतिधं
 वेल्लति विष्टभ्य चालयति तर्हि शैलश्चलत्विति पुंसः संकल्प-
 संवित्तिमात्रेण शैलः कुतो न चाल्यते । बाह्यशैलदेहेहादेश्च
 को विशेष इत्यर्थः ॥ ८ ॥ यथा बाह्यस्य वायोरयस्कारभ-
 स्त्रायां प्रवेशनिर्गमाभ्यां तच्चालकत्वं तथा प्राणवायोरपि कण्ठा-
 दिनालीबिलाकाशसंकोचविकासानुमितप्रवेशनिर्गमाभ्यां देहा-
 दिचालकत्वं प्रत्यक्षमेव हृदयादिप्रवेशेष्वप्येवमेव बोध्यमित्यु-
 त्तानोक्त्या गूढाशयेन वसिष्ठः समाधत्ते—विकासमिति
 ब्रह्म्याम् । छेदैश्छिद्यैः ॥ ९ ॥ आकाशश्छिद्रं तदास्पदः
 तदाश्रयसर्वद्रव्यान्तःसंचारस्वभावो वायुर्यथा बाह्यायामयस्का-
 रोपस्करभस्त्रायां याति प्रविशति आयाति निर्गच्छति ॥ १० ॥
 सखं वायुश्चालयति तथाप्ययस्कारादिचेतनाधिष्ठितभस्त्रायामेव
 तथा चालयति नान्यत्रेति चेतनमेवाचेतनस्य नियतव्यवहार-
 चेष्टानिमित्तमवश्यं वाच्यम् । तत्र नाडीं आन्तरं प्रविश्य
 कश्चेतनश्चालयतीत्यर्थः ॥ ११ ॥ ननु ‘शतं चैका च हृदयस्य
 नाड्यः’ इति श्रुतौ विष्वक्प्रसृताः शतं नाड्यः श्रूयन्ते ।
 तत्रैकशतं नाडीनां तासां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखं नाडी-
 सहस्राणि भवन्त्यासु ध्यानः संचरतीति च । तत्र सर्वनाडीषु
 ध्यानसंचारस्य देहादिचलननिमित्तत्वे सदैव सर्वाङ्गचलनं
 स्यान्नैकैकहस्तपादाद्युद्यमनं नियतम् । यद्युच्येत एकैकाङ्गोद्यमने
 उपस्थिते नाडीनां शतमपि तदङ्गे एकं भवति सर्वाङ्गचलने
 उपस्थिते त्वेकमपि सर्वाङ्गव्यापि नाडीशतं भवतीति तत्रा-
 प्याह—शतमिति । किंचामूर्तचेतनस्य संश्लेषो देहेऽपि
 नास्ति । आध्यासिकसंबन्धस्तु काष्ठलोष्टादिष्वपि तुल्य इति
 तेऽपि सचेतना वाच्यास्तत्र कथमित्यर्थः ॥ १२ ॥ तथा स्थावरं
 वृक्षकृताकाष्ठपाषाणादि वस्तु चेतनं चेत्प्रस्पन्दि कस्मान्न ।

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अन्तःसंवेदनं नाम चालयत्याश्रयेष्टनम् ।
बहिर्मुखामयस्कार इव लोकेऽनुचेष्टनम् ॥ १३

श्रीराम उवाच ।

वाय्वन्नादिशरीरस्थं सर्वं सप्रतिघं मुने ।
कथमप्रतिघा संविच्चालयेदिति मे वद ॥ १४
संविदप्रतिघाकारा यदि सप्रतिघात्मकम् ।
चालयेदचलिष्यत्तद्दूरमम्भो यदिच्छया ॥ १५
सप्रतिघाप्रतिघयोर्मिथो यदि पदार्थयोः ।
वेष्टनं स्यात्तदिच्छैव कर्तृकर्मैन्द्रियैः क किम् ॥ १६
सप्रतिघाप्रतिघयोः श्लेषो नास्ति बहिर्यथा ।
तथैवान्तरहं मन्ये शेषं कथय मे मुने ॥ १७
अन्तः स्वयं योगिना वा यथैतदनुभूयते ।
अमूर्तस्यैव मूर्तेन वेष्टनं तद्वदाशु मे ॥ १८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

सर्वसंदेहवृक्षाणां मूलकावमिदं वचः ।
सर्वैकतानुभूत्यर्थं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ २०
नेह किञ्चिन्न नामास्ति वस्तु सप्रतिघं कचित् ।

देहवद्भोगोपयोगेन अमलकतमपि कस्मात् मात्रा नियन्त्रा
कुलालादिना अधिष्ठितं चक्रादीव नियतकालस्पन्दि किम्
॥ १३ ॥ कार्यकारणस्यामिन्या भोक्तृजीवसंविदो यत्रानादिप्रवा-
होपनीतकर्मकर्मवासनाप्रयुक्तस्तादात्म्याध्यासस्तच्चालने आ-
ध्यासिकस्वतादात्म्यशालिप्राणसंश्लेषद्वारा स्वातन्त्र्यमन्यत्र पार-
तन्त्र्यमिति व्यवस्थेति गूढाभिसन्निभैव वसिष्ठ उत्तरमाह—
अन्तरिति । आन्त्रवेष्टनं नाडीसमूहम् । तदनुसारेणैव लोके
सर्वोऽपि नदिश्लेषनं करोतीति शेषः ॥ १४ ॥ उत्तानार्थेन
गूढाभिसंहितेन च स्वशब्दाधीनेन परिहृतमिति गूढाभिसंधि-
रेव रामः पुनः स्वशब्दमनुवदति—घाटिविति ॥ १५ ॥ विपर्यये
दोषमाह—संविदिति । तत्तुर्हि, दूरं दूरस्थमप्यममः यातीति
यन् तृषितः पान्थस्तदिच्छया अचलिष्यत् स्वयमेवागमिष्यत्
॥ १६ ॥ तथा च बाह्यव्यवहारे सर्वप्राणिनामिच्छयैव सर्वक-
र्मसिद्धेः कर्मैन्द्रियषट्पादुपकरणवैयर्थ्यं च स्यादित्याह—सप्रति-
घेति । तत्तुर्हि इच्छैव बहिर्वचनादानविहरणोत्सर्गादिकं करि-
ष्यतीति शेषः ॥ १७ ॥ बहिः श्लेषाभावेऽप्यन्तः श्लेषोऽस्तु
तद्याह—सप्रतिघेति । एवं त्वत्समाधानयुक्तिषु निरस्तासु
शेषं युक्त्यन्तरं कथय, न तु निरस्तमेव पुनः पुनः कथयेत्यर्थः
॥ १८ ॥ अथवा योगिना त्वया स्वयं यथा एतत् अमूर्तस्यैव
मूर्तेन वेष्टनं लोके अत्यन्ताप्रसिद्धमपि योगबलेनान्तर्गता
येनोपायेनानुभूयते तद्वदेत्यर्थः ॥ १९ ॥ एवमाक्षितो वसिष्ठः

सर्वदा सर्वमेवेदं शान्तमप्रतिघं ततम् ॥ २१
शुद्धं संविन्मयं सर्वं शान्तमप्रतिघात्मकम् ।
पदार्थजातं पृथ्व्यादि स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥ २२
आदावन्ते च नास्तीदं कारणाभावतोऽखिलम् ।
आन्त्यात्मा वर्तमानापि भाति चित्स्वप्नगा यथा ॥ २३
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
महता कारणौघेन बोधमप्रतिघं विदुः ॥ २४
अन्तःकरणमूतादि मृत्काष्ठदृषदादि वा ।
सर्वं शून्यमशून्यं च चेतनं विद्धि नेतरत् ॥ २५
तत्रैवमैन्दवाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम् ।
मया च पूर्वमुक्तं तत्किंचान्यदभिवर्ण्यते ॥ २६
तथापि वर्तमानोक्तप्रश्नबोधाय तच्छृणु ।
यथेदं सर्वमग्रादि चिदित्येव तु भोत्स्यते ॥ २७
कस्मिंश्चित्प्राक्तनेनैव जगज्जालेऽभवद्विजः ।
तपोवेदकियाधारो ब्रह्मन्निन्दुरिति स्मृतः ॥ २८
दश तस्याभवन्पुत्रा जगतो दिक्कटा इव ।
महाशया महात्मानो महतामारुपदं सताम् ॥ २९

प्रागुक्तगूढाभिसंध्युत्तरमपि वासनानां बाह्याध्यात्मिकपरिच्छे-
दभ्रान्तिमात्रमूलत्वादनुवस्थाप्रस्तं निष्कर्षासह रामेण ज्ञातु-
द्वाटितमपि रामः खण्डयिष्यत्येवेति मन्यमानस्तदुपैक्ष्य
सिद्धान्तावलम्बनेनैवैकोत्तया सर्वं समाधत्ते—सर्वेति ।
सर्वेषां संदेहानां तत्त्वाज्ञानमूलकत्वात्सर्वैकतानुभवलक्षण-
तत्त्वसाक्षात्कारानुभूत्यर्थमिदं वक्ष्यमाणं शृण्वित्यर्थः ॥ २० ॥
भवेदयं त्वदाक्षेपनिवहः सर्वोऽपि सप्रतिघप्रार्थप्रपञ्चभ्युप-
गमे । यदा त्वप्रतिघा विदेव, बाह्याध्यात्मिकवस्तुभेदभ्रान्त्या-
त्मना अविद्यावशाद्विवर्तते तदा, यथादर्शनमेव प्राणाविदेहान्त-
संघाते आन्तरचैतन्यमात्राधीनश्चलनाद्यप्यासो बाह्यो घटादौ तु
करावष्टमाद्यधीन इति व्यवस्थित एवाभ्युपगम्यते न संकीर्णं
इति समुदितमिप्रायः ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ अत एव तत्त्वं
विदो महता विवेकवैराग्यज्ञाद्यध्वगमनननिदिध्यासनादिप्रय-
त्नसाध्यकारणोपेतं मूर्ताकारं सवासनं निर्मलं द्यौः क्षमा वायुरि-
त्यादि सर्वं जगदप्रतिघं बोधमात्रमिति विदुरित्यर्थः ॥ २४ ॥
चेतनमिति भावे ल्युट् ॥ २५ ॥ चिन्मात्रमेव सर्वजगत्, मूर्तं
किञ्चिदस्तीत्यर्थं प्रागुक्तमैन्दवाख्यानं पुनः श्रावयितुं प्रतिपा-
नीते—तत्रेति ॥ पूर्वं मनोमात्रं जगदित्युत्पत्तिप्रदर्शनायौक-
मिह त्वन्यचिन्मात्रमेव जगदिति निर्वाणनिष्कर्षार्थमभिवर्ण्यते
इत्यर्थः ॥ २६ ॥ प्रस्तुतप्रश्नसमाधानप्रयोजनमेवादपि, पौन-
रुक्त्यमदोषायेत्याह—तथापीति । अमूर्तां चिदित्येव प्रश्नसमा-
धानं त्वया भोत्स्यते । कर्मणि लुटि स्ये भष्मावः ॥ २७ ॥
प्राक्तनेनोत्पत्तिप्रकरणवर्णितप्रकारेण विविष्टे जगज्जाले ॥ २८ ॥
जगतो, ब्रह्माण्डोदराकाशस्य दश दिक्कटा इव । आरुपदं प्रतिष्ठा

स तेषां कालवशतः पिताऽन्तर्धिमुपाययौ ।
 दशानां भगवान् रुद्र एकादश इव क्षये ॥ ३०
 तस्यानुगमनं चक्रे भार्या वैद्यव्यभीतिभिः ।
 अनुरक्ता दिनस्येव संध्या ताराविलोचना ॥ ३१
 तयोस्ते तनया दुःखकलिता विपिनं गताः ।
 कृतौर्ध्वदेहिकास्त्यक्त्वा व्यवहारं समाधये ॥ ३२
 धारणानां समस्तानां का स्यादुत्तमसिद्धिदा ।
 धारणा यन्मयाः सन्तः स्याम सर्वेश्वरा वयम् ॥ ३३
 इति ते तत्र संचिन्त्य बद्धपद्मासना दश ।
 इदं संचिन्तयामासुर्निर्विघ्ने कन्दरोदरे ॥ ३४
 पद्मजाधिष्ठिताशेषजगद्धारणया स्थिताः ।
 भवामः पद्मजोपेतं जगद्रूपमविघ्नतः ॥ ३५
 इति संचिन्त्य सन्नहजगद्धारणया चिरम् ।
 निमीलितदशस्तस्थुस्ते चित्ररचिता इव ॥ ३६
 अथैतद्धारणाबद्धचित्तास्ते तावदच्युताः ।
 आसन्मासान्दशाष्टौ च यावत्ते तत्र देहकाः ॥ ३७
 शुष्काः कंकालतां याताः क्रव्यादैश्चर्विताङ्गकाः ।
 नाशमभ्याययुस्तत्र च्छायाभागा इवातपैः ॥ ३८
 अहं ब्रह्मा जगच्चेदं सर्गोऽयं भुवनान्वितः ।
 इति संपश्यतां तेषां दीर्घकालोऽभ्यवर्तत ॥ ३९
 तानि चित्तान्यदेहानि दशैकध्यानतस्ततः ।
 संपन्नानि जगन्त्येव दश देहानि वै पृथक् ॥ ४०
 इति तेषां चिदिच्छा सा संपन्ना सकलं जगत् ।

॥ ३९ ॥ क्षये महाप्रलये ॥ ३० ॥ ३१ ॥ दुःखेन वियोग-
 दुःखेन, कल्पिता व्याप्ताः ॥ ३२ ॥ धारणानां विषयविशेषा-
 कारितमनःस्थैर्यलक्षणानां मध्ये क्व किंविषयिणी उत्तमधारणा
 स्यादित्यर्थः । सर्वेश्वरा हिरण्यगर्भभूताः ॥ ३३ ॥ निर्विघ्ने
 श्वापदाद्युपघातरहिते ॥ ३४ ॥ पद्मजेन चतुर्मुखेनाधिष्ठितं यद-
 शेषं जगद्ब्रह्माण्डं तदेवाहमिति स्थिता निश्चलाः सन्तः ॥ ३५ ॥
 ॥ ३६ ॥ अच्युताः मनसो वृत्त्यन्तरधारणेन प्रच्युतिमप्राप्ताः
 ॥ ३७ ॥ कंकालतां श्वताम् ॥ ३८ ॥ जगच्चेदमहम् । संप-
 श्यतां ध्यायताम् ॥ ३९ ॥ दश चित्तानि दश देहानि दश
 ब्रह्माण्डरूपाणि जगन्त्येव ध्यानपरिपाकेन संपन्नानि, तत्कतुन्या-
 येनेत्यर्थः ॥ ४० ॥ चिदेवेच्छा भूत्वा जगत्संपन्ना । किंवि-
 स्खभावहानेन नेत्याह—अत्यन्तेति ॥ ४१ ॥ तथा च प्रतिज्ञातं
 सिद्धमित्याह—संविन्मयत्वादिति ॥ ४२ ॥ नो चेत्तेषां किल
 दशविधं त्रिजगज्जालं तत्किमात्म वा तत्त्वया चक्ष्यतामिति पूर्व-
 ज्ञान्वयः । त्वया किमुच्यते तदाह—संविदिति ॥ ४३ ॥
 चलनादिकं न विद्यत इत्यनुकृत्यान्वयः ॥ ४४ ॥ ऐन्दवजग-
 त्साम्यं प्रसूतेऽपि जगति बोध्यमित्याह—ऐन्दवानीति ॥ ४५ ॥
 तुल्यत्वमेव दर्शयति—यथेति ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ कृत-
 इत्यसंभावनोक्तिर्मिथ्यात्वयोक्त्या ॥ ४९ ॥ एतेन 'कथं सचे-
 तना एते काष्ठलोष्टोपलादयः' इति प्रश्नोऽपि समाहित इत्याश-

अत्यन्तस्वच्छरूपैव स्थिता चाकारवर्जिता ॥ ४१
 संविन्मयत्वाज्जगतां तेषां भूम्यचलादि तत् ।
 सर्वं चिदात्मकं विद्धि नो चेदन्यत्किमुच्यताम् ॥ ४२
 किल यत्रिजगज्जालं तेषां किमात्म तत्तथा ।
 संविदाकाशशून्यत्वमात्रमेवेतरन्न तत् ॥ ४३
 विद्यते न यथा किंचित्तरङ्गः सलिलादते ।
 संवित्त्वादते तद्वद्विद्यते चलनादिकम् ॥ ४४
 ऐन्दवानि यथैतानि चिन्मयानि जगन्ति स्वे ।
 तथा चिन्मयमेतेषु काष्ठलोष्टोपलाद्यपि ॥ ४५
 यथैवैन्दवसंकल्पास्ते जगत्त्वमुपागताः ।
 तथैवाब्जजसंकल्पो जगत्त्वमयमागतः ॥ ४६
 तस्मादिहेमे गिरयो वसुधा पादपा घनाः ।
 महाभूतानि सर्वं च चिन्मात्रमयमाततम् ॥ ४७
 चिह्नैश्चिन्मही चिह्नैश्चिदाकाशं चिदद्रव्यः ।
 नाचित्कचित्संभवति तेष्वैन्दवजगत्स्विव ॥ ४८
 चिन्मात्रखकुलालेन स्वदेहचलचक्रके ।
 स्वशरीरमृदा सर्गः कुतोयं क्रियतेऽनिशम् ॥ ४९
 संकल्पनिर्मिते सर्गे दृषदश्चेन्न चेतनाः ।
 तदत्र लोष्टशैलादि किमेतदिति कथ्यताम् ॥ ५०
 कलनस्मृतिसंस्कारा दधत्यर्थं च नोदरे ।
 प्राङ्मुष्टं कल्पनादीनामन्यैवार्थकलावताम् ॥ ५१
 तद्धाम संविदो धाम्नि मणिराशौ मणिर्यथा ।
 सर्वात्मनि तथा चित्ते कश्चिदर्थ उदेत्यलम् ॥ ५२

येनाह—संकल्पेति ॥ ५० ॥ कलनमनुभवः स्मृतिस्तत्त्वजनक-
 संस्काराः, चकारादिच्छाकृतय इत्येते हि संविद्विशेषा अर्थगोचराः
 एतेषां ह्यन्तरर्थाः प्रथन्ते । एते च खोदरे अभिव्यक्तचि-
 न्मात्रमेव दधति न जडमर्थमतोऽप्यर्थश्चिद्रूपा एवेत्याह—
 कलनेति । तत्कृतस्तत्राह—प्रागिति । यत इदं प्रागेवास्मा-
 भिर्विमृष्टं यत्कल्पनादीनामर्थशून्यानामन्यैव स्थितिः । अर्थ-
 कलावतां तत्त्वावगाहनचमत्कारशालिनामन्यैव चमत्कृतिरिति ।
 अथवा । ननु लोष्टादिकलनस्मृतिसंस्कारैरुप्येण लोष्टयचि-
 द्रूपमेव निश्चितं कथं तत्सचेतनमित्युपवर्ण्यते तत्राह—कल-
 नेति । कलनादयो लोष्टशैलादितरत्वं चिन्मात्रमुदरेण दधति
 नावगाहितुं शक्नुवन्ति यतस्तदर्थकलावतां कल्पनादीनामुत्था-
 नात्प्रागेवास्तीति मृष्टं परामृष्टम् । अज्ञातविषये हि चक्षुरादिना
 कलनं, ज्ञातविषये हि स्मृतिसंस्कारैः ज्ञानसमानविषयौ । अत-
 स्तेभ्यः पूर्वमज्ञातविषयसिद्धिरवश्यं वाच्येति भावः । न चा-
 चिद्रूपं तृणकाष्ठशैलाद्यज्ञातं वक्तुं शक्यम् । जडेष्वाज्ञानावरण-
 प्रयोजनाभावात् । अतो जडेभ्योऽन्यैव ब्रह्मसत्ता तृणादीनां
 तत्त्वं सैवान्यथाकलनस्मृतिसंस्कारैर्जडत्वेन भ्रान्त्या विमृश्यत
 इत्यर्थः ॥ ५१ ॥ इतश्च काष्ठलोष्टादयश्चेतना इत्याह—तदिति ।
 यतस्तत्परमं चिद्वामैव सर्वात्मनि संविदो धाम्नि समष्टिव्यष्टि-
 चित्ते मणिराशौ मणिरिव, देदीप्यमानमन्तः स्थित्वा कश्चित्पुण-

अकार्यकरणस्यार्थो न भिन्नो ब्रह्मणः क्वचित् ।
 स्वभाव इति तेनेदं सर्वं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ५३
 यथा प्रवृत्तं चिद्धारि बह्व्यावर्ततेऽवनौ ।
 स्वयत्नेनातितीव्रेण परात्मीयात्मना विना ॥ ५४
 यद्गलीला जगदिव प्रकचन्ति जगन्ति यत् ।
 चिन्मात्राद्ब्रह्मणः स्वसादन्यानि न मनागपि ॥ ५५
 अजातमनिरुद्धं च सन्मात्रं ब्रह्म स्वात्मकम् ।
 शान्तं सदसतोर्मध्यं चिद्भामात्रमिदं जगत् ॥ ५६
 यत्संविन्मयमद्यादि संकल्पजगति स्थितम् ।
 तदसंविन्मयमिति चक्काऽहो द्वैर्विद्वस्यते ॥ ५७
 जगन्त्यात्मेव संकल्पमयान्येतानि वेत्ति खे ।
 स्वात्मकानि तथेदं च ब्रह्म संकल्पजं जगत् ॥ ५८
 यावद्यावदियं दृष्टिः शीघ्रं शीघ्रं विलोक्यते ।
 तावत्तावदिदं दुःखं शीघ्रं शीघ्रं विलीयते ॥ ५९
 यावद्यावदियं दृष्टिः प्रेक्ष्यते न चिराचिता ।

तावत्तावदिदं दुःखं भवेत्प्रतिघनं घनम् ॥ ६०
 दीर्घदुष्कृतमृढानामिमां दृष्टिमपश्यताम् ।
 संसृतिर्वज्रसारेयं न कदाचित्प्रशम्यति ॥ ६१
 नेहाकृतिर्न च भवाभवजन्मनाशाः
 सत्ता न चैव न च नाम तथास्त्यसत्ता ।
 शान्तं परं कचति केवलमात्मनीत्यं
 ब्रह्माथवा कचनमप्यलमत्र नास्ति ॥ ६२
 आद्यन्तवर्जितमलभ्यलताप्रमूल-
 निर्माणमूलपरिवेशमशेषमच्छम् ।
 अन्तस्थनिर्गगनसर्गकपुत्रकौघं
 नित्यं स्थितं ननु घनं गतजन्मनाशम् ॥ ६३
 सन्मात्रमन्तरहिताखिलहस्तजातं
 पर्यन्तहीनगणनाङ्गममुकरूपम् ।
 आत्मास्वरात्मकमहं त्विदमेव सर्वं
 सुस्तम्भरूपमजमौनमलं विकल्पैः ॥ ६४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्मगीताखैन्दवोपाख्यानं नामाष्टसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकशततमः सर्गः १७९

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

एवं चिन्मात्रमेवैकं शुद्धं सत्त्वं जगद्वयम् ।
 संभवन्तीह भूतानि नाशबुद्धानि कानिचित् ॥ १
 तस्मात्कुतः शरीरादि धस्तु सप्रतिघं कुतः ।

काष्ठशैलादयं इव उदेति । 'तदनुप्रविश्य सच्च त्यजामवत्' इति श्रुतेरिति भावः ॥ ५२ ॥ इत्यथ तृणकाष्ठादिवेतनो यतोऽयमकार्यकरणस्य तस्य सृष्टिः । यथा सूर्यस्य प्रभा तत्स्वभाव एव नाप्रकाशरूपा तद्वदिदं सर्वं चेतनं ब्रह्मैवेत्यर्थः ॥ ५३ ॥ यथा निम्नावनौ प्रवृत्तं धारि परात्मीयात्मना कारणान्तरेण विना स्वयत्नेन स्वत एव आवर्तप्रवाहतरङ्गादिवैचित्र्येणावर्तते तथा चिदपीत्यन्वयः ॥ ५४ ॥ यथा पात्रे कल्पे भगवत्तामिपद्गलीला एव जगदिव कचन्ति तद्वच्चिन्मात्राद्ब्रह्मणः सकृशाजगन्ति प्रकचन्ति यत्ततोऽपि मनागपि ततो नान्यानि ॥ ५५ ॥ अनन्यत्वे यत्फलितं तदाह—अजातमिति । सदसतोर्भावाभावयोर्द्वयोरपि मार्जनान्मथ्यम् ॥ ५६ ॥ अत एव तृणशैलकाष्ठादयः अचेतना इति दृष्टारो मूढा विद्वद्भिस्त्वहस्यन्त इत्याह—यदिति । नक्त्य अज्ञ इति च्छेदः ॥ ५७ ॥ ब्रह्म चतुर्मुखस्तत्संकल्पजत्वादपि स्वमतोराज्यवच्चिन्मात्रत्वमनुमेयमित्याह—जगन्तीति । आत्मा स्वयमेव ॥ ५८ ॥ किमर्थमियमेव दृष्टिर्मध्यन्तरे पुनः पुनः समर्थ्यते तत्राह—यावदिति । इयं प्रपञ्चदृष्टिर्द्वौकृत्या चिदृष्या यावद्यावदिलोक्यते तावत्तावदिदं दुःखं विलीयते ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ अतो महाफलत्वादियमेव दृष्टिर्द्वौकार्येत्युपसंहरति—नेहेति । इह जगत्पादयो विकल्पा न सन्ति । सत्ता द्वितीयो भावः ।

यदिदं दृश्यते किञ्चित्तदप्रतिघमाततम् ॥ २
 स्थितं चिद्योम चिद्योमि शान्ते शान्तं समं स्थितम् ।
 स्थितमाकाशमाकाशो ह्यतिर्ज्ञेयौ विजृम्भते ॥ ३

विकारः । असत्ता तदभावः । आत्मनि परमार्थचित्सत्भावे इत्थं कचति । अथवा ब्रह्मातिरिक्तं कचनमप्यलमन्यन्तं नास्ति । कचधातुप्रवृत्तिनिमित्ताभावादित्यर्थः ॥ ६२ ॥ कचनस्यान्वभावे ब्रह्म कीदृक् स्थितं तदाह—आद्यन्तेति । तद्वद्वा स्फटिकसम्भवदन्तस्थनिर्गगनसर्गकपुत्रिकौघमपि अलभ्या जगद्गतास्तदप्राणि तन्मूलानि सन्निर्माणानि तन्मूलानां मूले भूमौ परिवेशाः प्रवेशाश्च यस्मिंस्तथाविधमाद्यन्तवर्जितं अलतोऽप्यजन्मनाशमशेषमच्छमतिस्वच्छं चिदानन्दैकघनं नित्यं स्थितं केवलमित्यर्थः ॥ ६३ ॥ इदमेवामुकरूपं यदा तदा अन्तरहितमसंख्यमखिलं विश्रुतोन्मत्तं हस्तजातं पर्यन्तेष्वपि हीनगणनान्यसंख्यानि बहुःश्रोत्रशिरःकण्ठोदरपादाद्यङ्गानि न यस्य तथाविधमिदमेव सर्वमासीत् । मुक्तरूपं त्वात्मास्वरात्मकं सुस्तम्भरूपं सन्मात्रं अजमौनं वर्णितस्फटिकसुस्तम्भरूपमिदमहमेव संपन्नमिति पुनर्विकल्पैरलं प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः ॥ ६४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराभायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ऐन्दवोपाख्यानं नामाष्टसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७८ ॥

चिन्मात्रमखिलं विश्वं स्थितमप्रतिघं यतः ।
 सतः प्रागुक्तराङ्गायाः कः मसङ्ग इतीर्यते ॥ १ ॥
 अज्ञैः सप्रतिघत्वेन मूर्तत्वेन च बुद्धानि भूतानि नेह संन्यस्यन्ति ॥ १ ॥ अप्रतिघं ब्रह्मैवाततम् ॥ २ ॥ समं सर्ववैद्यम्

सर्वं संविन्मयं शान्तं सत्स्वप्न इव जाग्रति ।
स्थितमप्रतिधाकारं कासौ सप्रतिधा स्थितिः ॥ ४
क देहावयवाः कान्नवेष्टनी कास्थिपञ्जरम् ।
व्योमेवाप्रतिघं विद्धि देहं सप्रतिघोपमम् ॥ ५
संवित्करौ शिरः संवित्संविदिन्द्रियवृन्दकम् ।
शान्तमप्रतिघं सर्वं न सप्रतिघमस्ति हि ॥ ६
ब्रह्मव्योम्नः स्वप्नरूपस्वभावत्वाजगत्स्थितेः ।
इदं सर्वं संभवति सहेतुकमहेतुकम् ॥ ७
न कारणं विना कार्यं भवतीत्युपपद्यते ।
यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तेन लक्ष्यते ॥ ८
कारणेन विना कार्यं सद्वदित्युपपद्यते ।
यथाभावितमेवार्थं संविदाप्रोत्यसंशयम् ॥ ९
यथा संभवति स्वप्ने सर्वं सर्वत्र सर्वथा ।
चिन्मयत्वात्तथा जाग्रत्यस्ति सर्वात्मरूपता ॥ १०
सर्वात्मनि ब्रह्मपदे नानानानात्मनि स्थिता ।
अस्त्यकारणकार्याणां सत्ता कारणजापि च ॥ ११
एकः सहस्रं भवति यथा ह्येते किलैन्दवाः ।
प्रयाता भूतलक्षत्वं संकल्पजगतां गणैः ॥ १२
सहस्रमेकं भवति संविदां च तथा हि यत् ।
सायुज्ये चक्रपाण्यादेः सर्गैरेकं भवेद्वपुः ॥ १३

एक एव भवत्यब्धिः स्रवन्तीनां शतैरपि ।
एक एव भवेत्काल ऋतुसंवत्सरोत्करैः ॥ १४
संविदाकाश एवायं देहः स्वप्न इवोदितः ।
स्वप्नाद्रिवन्निराकारः स्वानुभूतिस्फुटोऽपि च ॥ १५
संविच्चिरेवानुभवात्सैवानुभवात्मिका ।
द्रष्टृदृश्यदृशा भाति चिद्योमैकमतो जगत् ॥ १६
वेदनावेदनात्मैकं निद्रास्वप्नसुषुप्तवत् ।
वातस्पन्दाविवाभिन्नौ चिद्योमैकमतो जगत् ॥ १७
द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च चिद्भानं परमार्थखम् ।
शून्यस्वप्न इवाभाति चिद्योमैकमतो जगत् ॥ १८
जगत्त्वमसदेवेशे भ्रान्त्या प्रथमसर्गतः ।
स्वप्ने भयमिवाशेषं परिज्ञातं प्रशाम्यति ॥ १९
एकस्याः संविदः स्वप्ने यथा भानमनेकधा ।
नानापदार्थरूपेण सर्गादौ गगने तथा ॥ २०
बहुदीपे गृहे च्छाया बह्व्यो भ्रान्त्येकवद्यथा ।
सर्वशक्तेस्तथैवैका भाति शक्तिरनेकधा ॥ २१
यत्सीकरस्फुरणमम्बुनिधौ शिवाख्ये
व्योम्नीव वृक्षनिकरस्फुरणं स सर्गः ।
व्योम्न्येष वृक्षनिकरो व्यतिरिक्तरूपो
ब्रह्माम्बुधौ न तु मनागपि सर्गविन्दुः ॥ २२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठम० धा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्म० ब्रह्ममयत्वप्रतिपादनं नामैकोनाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७९ ॥

निर्मुक्तम् ॥ ३ ॥ सप्रतिधा असौ त्वदुक्ता स्थितिः कास्ति
यत्र ते शङ्का प्रसरेदित्यर्थः ॥ ४ ॥ देहतद्वय-
वादिकं तु स्वप्नदेहवच्चिन्मात्रमेव प्रबुद्धदृशेति तत्रान-
वशैव शङ्का न तत्त्वदृशेत्याह—केति । सप्रतिघस्वप्न-
देहोपममिति कथंचिद्व्याख्येयं सप्रतिधाप्रसिद्धेः ॥ ५ ॥
॥ ६ ॥ प्रत्यक्षादिसिद्धस्य मूर्तस्य देहादेरपलापः साहसमिति तु
न मन्तव्यमित्याह—ब्रह्मव्योम्न इति । सहेतुकं प्रत्यक्षादिप्र-
माणसिद्धमप्यहेतुकमप्रमाणकं सकारणकमप्यकारणकं च । 'तस्य
त्रय भावसथास्त्रयः स्वप्नाः', 'नेह नानास्ति किंचन', 'यत्र नान्य-
त्पश्यति नान्यच्छृणोति', 'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि-
श्रुत्यैव जगदपलापादिति भावः ॥ ७ ॥ ब्रह्मणो निर्विकाराद्वय-
त्वाजगतः कारणान्तरस्याभावादनुत्पत्तिरेवेत्यपलाप उपपद्यते
तत्त्वदृशा । भ्रान्तिदृशा त्वनादित्वात्कारणपरम्परसंभवाद्ब्र-
ह्माप्रसिद्धेश्चोत्पत्त्यादिसर्वमुपपद्यत इति स्वस्वनिर्णयानुसारेणो-
भयोपपत्तेरित्यर्थः ॥ ८ ॥ यौक्तिकदृशा तु कारणेन विनोत्पन्नं
संविदात्मत्वेन लब्धं चेदं जगत्तात्पर्यमसंज्ञाप्यत्यन्तं सत् किंतु
सद्वदित्युपपद्यते इत्याह—कारणेनेत्यादिना ॥ ९ ॥ १० ॥
मायावादे तु सर्वमविरुद्धमित्याह—सर्वात्मनीति ॥ ११ ॥ १२ ॥
चक्रपाणेरदिपदाद्ब्रह्मस्रेन्द्रचन्द्रसूर्यादेः सायुज्ये त्रिपञ्चदुपा-

ख्याननिष्कर्षोक्तदिशा उपाधिमेलनद्वारैक्यापत्तौ । 'इन्द्रस्यैव
सायुज्यं सलोकतामाप्नोति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ १३ ॥
भिन्नसत्तयोः सत्तैक्यप्राप्तिस्तु लोकेऽपि प्रसिद्धेत्याह—एक
एवेति । ऋतुसंवत्सरोत्करैर्भिन्नोऽपि ॥ १४ ॥ तथा एक एवा-
त्मा भ्रान्त्या देहादिनानात्वं प्राप्त इव भातीत्याह—संविदा-
काश इति ॥ १५ ॥ द्रष्टृदृश्यदृशा भ्रान्तविभागदृशा ॥ १६ ॥
यथा एकैव निद्रा स्वप्ने वेदनात्मा सुषुप्तो भवेदनात्मेति द्वैवि-
ध्येऽप्येका तद्वत् ॥ १७ ॥ १८ ॥ यतो जगत्त्वमसदेवातः
स्वप्ने प्रसक्तं व्याघ्रादिभयमिव परिज्ञातमात्रं प्रशाम्यति ॥ १९ ॥
गगने ब्रह्मणि ॥ २० ॥ अनेकदीपप्रभाणामेकवद्भानमिव एकस्या
अपि मायाशक्तेरनेकधामानं संभावनीयमित्याह—बहुदीपे
इति । छायाः कान्तयः ॥ २१ ॥ व्योम्नि भ्रान्त्या वृक्षनिकर-
स्फुरणमिव शिवाख्ये अम्बुधौ यत्सीकरस्फुरणं स एवायं सर्गः ।
एतावास्तु विशेषः—यद्योत्र वृक्षनिकरो व्योमधर्मश्चान्यतानु-
विद्धत्वेनास्फुरणादत्यन्तव्यतिरिक्तरूपः । ब्रह्माम्बुधौ स्फुरन्सर्ग-
विन्दुस्तु मनागपि व्यतिरिक्तरूपो नेत्यर्थः ॥ २२ ॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्ममय-
त्वप्रतिपादनं नामैकोनाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १७९ ॥

अशीत्यधिकशततमः सर्गः १८०

श्रीराम उवाच ।

इमं मे संशयं छिन्धि भगवन्भास्करं तमः ।
 भुवनस्यैव भावानां सम्यग्रूपानुभूतये ॥
 कदाचिदहमेकाग्रो विद्यारोहे विपश्चिताम् ।
 संसदि स्थितवान्यावत्तापसः कश्चिदागतः ॥
 विद्वान्द्विजवरः श्रीमान्विदेहजनमण्डलात् ।
 महातपाः कान्तियुतो दुर्वासा इव दुःसहः ॥
 स प्रविश्याभिवाद्याशु सभामामास्वरष्टुतिम् ।
 उपविश्यासने तिष्ठन्नस्माभिरभिवादितः ॥
 वेदान्तसांख्यसिद्धान्तवादान्संहत्य सत्तमम् ।
 सुखोपविष्टं विश्रान्तं तमहं पृष्टवानिदम् ॥
 दीर्घाध्वना परिश्रान्तः सयत्न इव लक्ष्यसे ।
 वदाद्य वदतां श्रेष्ठ कुत आगमनं कृतम् ॥

ब्राह्मण उवाच ।

एवमेतन्महामाग सुमहायत्नवानंहम् ।
 यदर्थमागतोऽस्मीह तस्याकर्णय निर्णयम् ॥
 वैदेहो नाम देशोऽस्ति सर्वसौभाग्यसंयुतः ।
 स्वर्गस्याम्बरसंस्थस्य प्रतिबिम्बमिवावनौ ॥
 तत्राहं ब्राह्मणो जातः प्राप्तविद्यश्च संस्थितः ।
 कुन्दावदातदन्तत्वात्कुन्ददन्त इति श्रुतः ॥
 अथाहं जातवैराग्यः प्रविहर्तुं प्रवृत्तवान् ।
 देवद्विजमुनीन्द्राणां संभ्रमाच्छ्रमशान्तये ॥
 श्रीपर्वतमखण्डेहं कदाचित्प्राप्तवानहम् ।
 तत्रावसं चिरं कालं मृदु दीर्घं तपश्चरन् ॥

तत्रास्त्यरण्यं विदितं मुक्तं तृणवनादिभिः ।
 त्यक्तेजस्तमोभ्रादिभूमाविव नमस्तलम् ॥ १२
 तत्रास्ति मध्ये विटपी लघुः पेलवपल्लवः ।
 स्थित एषोऽम्बरे शून्ये मन्दरश्मिरिवांशुमान् ॥ १३
 लम्बते तस्य शाखायां पुरुषः पावनाकृतिः ।
 भौजुर्मानाविव रश्मिगृहीतो ग्रथिताकृतिः ॥ १४
 मौञ्जदामनिबद्धोर्ध्वपादो नित्यमवाकिशराः ।
 अष्टीलत्वं दधदिव महाष्टीलस्य शास्मलेः ॥ १५
 दृष्टः प्राप्तेन तं देशं स कदाचिन्मया पुमान् ।
 विचारितो निकटतो वक्षःस्थाञ्जलिसंपुटः ॥ १६
 यावज्जीवत्यसौ विप्रो निःश्वसित्यहताकृतिः ।
 शीतवातातपस्पर्शान्सर्वान्वेत्ति च कालजान् ॥ १७
 अनन्तरमसावेको नोपचर्य मया बहून् ।
 दिवसातपखेदेन विश्रम्भे पातितः शनैः ॥ १८
 पृष्टश्च कोऽसि भगवन्किमर्थं दारुणं तपः ।
 करोषीदं विशालाक्ष लक्ष्यालक्ष्यात्मजीवितः ॥ १९
 अथ तेनोक्तमर्थस्ते क इवानेन तापस ।
 अर्थे नातिविचित्रा हि भवन्तीच्छाः शरीरिणाम् ॥ २०
 इत्युक्तवान्प्रयत्नेन सोऽनुबन्धेन वै मया ।
 यदा पृष्टस्तदा तेन ममोक्तमिदमुत्तरम् ॥ २१
 मथुरायामहं जातो वृद्धिं यातः पितुर्गृहे ।
 बाल्ययौवनयोर्मध्ये स्थितः पदपदार्थवित् ॥ २२
 समग्रसुखसंभारकोशो भवति भूमिपः ।
 इत्यहं श्रुतवांस्तत्र भोगार्थी नवयौवनः ॥ २३

इह रामोदिते कुन्ददन्ताख्याने गिरौ तसौ ।

प्रलम्बिनस्तापसस्य वरलभान्तमीर्यते ॥ १ ॥

स्वयं प्रयुद्धो रामश्चिरं तत्त्वजिज्ञासया स्वमाश्रितस्य कुन्द-
 दन्ताख्यद्विजस्य प्रस्तुतोपदेशश्रवणात्तत्त्वप्रबोधोऽभूत् । वेति
 स्वसदृशं शुरुमुखेन तं पृष्ट्वा विमर्शकामो वसिष्ठं प्रत्यखाश्वर्यभूतं
 तदाख्यानं वक्तुं भूमिकां रचयन्तं शुरुं प्रार्थयते—इममिति ।
 इममाख्यानान्ते वक्ष्यमाणम् । यथा भास्करं ज्योतिर्भुवनस्य
 जगतः सर्वभावाणां सम्यग्रूपानुभूतये तमश्निनति तद्वदित्यर्थः
 ॥ १ ॥ संशयजीवं दर्शयितुमाख्यानमारमते—कदाचिदि-
 त्यादिना । यावत्स्थितस्तावत्तस्मिन्काले इति यावत् ॥ २ ॥ ३ ॥
 समां द्विजसमाम् ॥ ४ ॥ तत्र अहं स्वाधीयमानान्वेदान्त-
 सांख्यसिद्धान्तवादानुपसंहृत्य तं तापसमिदं वक्ष्यमाणं पृष्टवान्
 ॥ ५ ॥ सयत्नः कंचिदर्थं लब्धुं वोढुं वा यत्नवानिव लक्ष्यसे
 ॥ ६ ॥ निर्णयं त्वत्सदेहनिवारणं मद्वाक्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥
 अवनौ स्फटिकावनौ ॥ ८ ॥ तत्र विदेहेषु ॥ ९ ॥ देव-
 द्विजमुनीन्द्राणां स्थानानीति शेषः ॥ १० ॥ अखण्डेहमिति
 पूर्वान्वयि । अखण्डेहं तत्रावसमिति वा । मृदु अजुगं

दीर्घकालवादीर्घम् ॥ ११ ॥ शून्यत्वांशे नमस्तलद्वयान्तः ॥ १२ ॥
 विटपी बहुशाखो वृक्षः ॥ १३ ॥ मानुः सूर्यः आनौ खर-
 श्माविव रश्मिगृहीतो रज्जुबद्धपादः । पादबन्धनरज्जाधार इति
 यावत् ॥ १४ ॥ तदेव स्पष्टमाह—मौञ्जेति । अष्टीलत्वं प्र-
 लम्बपर्वप्रस्थिभावं दधदिव ॥ १५ ॥ विचारितो मनसा विमृष्टः
 ॥ १६ ॥ तं विचारमेव स्फुटमाह—यावदिति । वितर्कं
 यावच्छब्दः । नूनं जीवति यतो निःश्वसितीत्यर्थः ॥ १७ ॥
 एकोऽसौ लम्बयानो ना पुरुषो मया बहून् दिवसान् दिवसा-
 तपखेदसहनेनोपचर्य शनैर्विस्मन्मे विधाते पातितः ॥ १८ ॥
 चिरेणोच्छ्वसनालक्ष्यालक्ष्यात्मजीवितः ॥ १९ ॥ अनेन मङ्ग-
 लदेशतपःप्रयोजनादिपरिहारेण ते कोऽर्थः किं प्रयोजनम् ।
 न हि निष्प्रयोजनेऽर्थे जिज्ञासा संभवतीत्यर्थः ॥ २० ॥ इत्यु-
 क्तवान् स तापसो मया यदा प्रयत्नेन प्रणयानुबन्धेन च
 पृष्टस्तदा तेन ममेदं वक्ष्यमाणमुक्तम् ॥ २१ ॥ पदानि
 शब्दशाजं पदार्थो अर्थशास्त्राणि च वेत्तीति पदपदार्थवित्
 ॥ २२ ॥ भूमिपो राजा समग्राणां सुखसंभारणां भोगसाम-
 ग्रीणां कोश इवाश्रमो भवतीति अहं तत्र श्रुतवान् ॥ २३ ॥

अथ सप्तमहाद्वीपविस्तीर्णाया भुवः पतिः ।
 स्यामित्यहमुदारत्मा परिविम्बितवांश्चिरम् ॥ २४
 इत्यर्थेन समागत्य देशमित्यमहं स्थितः ।
 अत्र द्वादश वर्षाणि समतीतानि मानद ॥ २५
 तदकारणमित्र त्वं गच्छेष्टं देशमाशुगः ।
 अहं चाभिमतप्राप्तेरित्यमेव दृढस्थितिः ॥ २६
 इति तेनाऽहमुक्तः संस्तमित्यं प्रोक्तवाञ्छुः ।
 आश्चर्यश्रवणे चेतः खेदमेति न धीमतः ॥ २७
 साधो यावत्त्वया प्राप्तो न नामाभिमतो वरः ।
 त्वद्रक्षापरिचर्यार्थमिह तावदहं स्थितः ॥ २८
 मयेत्युक्ते स पाषाणमौनवानभवच्छमी ।
 निमीलितेक्षणः क्षीणरूपस्त्वकलनो बहिः ॥ २९
 तथाहं पुरतस्तस्य काष्ठमौनवतोऽवसम् ।
 षण्मासान्विगतोद्वेगं वेगान्कालकृतान्सहन ॥ ३०
 अर्कविम्बादिनिष्क्रम्य तत्प्रदेशान्तरे स्थितम् ।
 एकदा दृष्टवानस्मि पुरुषं भानुभास्वरम् ॥ ३१
 स तेन पूज्यते यावन्मनसा कर्मणा मया ।
 उवाच तावद्वचनममृतस्यन्दसुन्दरम् ॥ ३२
 शाखाप्रलम्बनपर हे ब्रह्मन्दीर्घतापस ।

तपः संहार संहारि गृहाणामिमं वरम् ॥ ३३
 सप्ताब्धिद्वीपवल्यां पालयिष्यसि मेदिनीम् ।
 सप्तवर्षसहस्राणि देहेनानेन धर्मतः ॥ ३४
 एवं समीहितं दत्त्वा स द्वितीयो दिवाकरः ।
 गन्तुमस्तमथार्काब्धिमविशत्प्रोदितो यतः ॥ ३५
 तस्मिन्पाते मया प्रोक्तं तस्य शाखातपस्विनः ।
 श्रुतदृष्टानुभूताग्र्यवरदस्य विवेकिनः ॥ ३६
 संप्राप्ताभिमतं ब्रह्मं स्तरुशाखावलम्बनम् ।
 तपस्त्यक्त्वा यथाप्राप्तं व्यवहारं समाचर ॥ ३७
 एवमङ्गीकृतवतः पादौ तस्य मया ततः ।
 मुक्तौ विटपिनस्तस्मादालानात्कालमाविव ॥ ३८
 स्नातः पवित्रहस्तोऽसौ चक्रे जप्त्वा धर्मर्षणम् ।
 फलेन पुण्यलब्धेन विटपाद्गतपारणम् ॥ ३९
 तत्पुण्यवशतः प्राप्तैः स्वादुभिस्तैस्तरोः फलैः ।
 समाश्वस्तावसंश्रुन्धावावां तत्र दिनत्रयम् ॥ ४०
 सप्तद्वीपसमुद्रमुद्रितदिशं भोक्तुं समग्रां महीं
 विप्रः पादपलम्बितेन वपुषा तत्त्वोर्ध्वपादस्तपः ।
 संप्राप्याभिमतं वरं दिनकृतो विश्वस्य चाह्नां त्रयं
 सार्धं मत्सुहृदा स्वमेव सदनं गन्तुं प्रवृत्तोऽभवत्

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्मगीतासु तापसोपाख्याने नामाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८० ॥

एकाशीत्यधिकशततमः सर्गः १८१

कुन्ददन्त उवाच ।
 आवासमन्तरे गन्तुं प्रवृत्तौ मुदिताकृती ।

अथ तच्छ्रवणानन्तरमहं सप्तमहाद्वीपविस्तीर्णाया भुवः पतिस्तथा
 उदारत्मा अर्थिनामभिलषितपूरणसमर्थः स्यामिति चिरं परि-
 विम्बितवान् । इच्छां कृतवानिति यावत् ॥ २४ ॥ इति एवं-
 रूपेण अर्थेन प्रयोजनेन इमं श्रीशैलदेशमागत्य स्थितः ॥ २५ ॥
 हे अकारणमित्र, तत्तस्मात्पृष्ठार्थस्य मयोक्तत्वात्त्वमिष्टं देशमा-
 शुगः क्षीप्रगामी भूत्वा गच्छ । मन्दगमने दूरस्थप्रामनग-
 राद्यप्राप्त्या अरण्ये निशाप्रसक्तेरिति भावः । आ अभिमत-
 प्राप्तेरहं तु, इत्यमेव, तपसि दृढस्थितिः ॥ २६ ॥ २७ ॥
 तावत्कालमहमपि तव रक्षार्थं परिचर्या सेवा तदर्थं च स्थितो
 भविष्यामीत्यर्थः ॥ २८ ॥ क्षीणस्य मृतस्य रूपमिव रूपं यस्य ।
 यतो बहिरकलनः ॥ २९ ॥ कालकृतान् शीतोष्णादिवेगान् सह-
 न्त्वन ॥ ३० ॥ तस्मिन्प्रदेशान्तरे तस्य तापसस्य पुरोदेशे
 आगत्य स्थितं भानुभास्वरं पुरुषम् ॥ ३१ ॥ स पुरुषस्तेन
 तापसेन मया सह यावत्पूज्यते तावदुवाच ॥ ३२ ॥ त्वं तपः
 उपसंहारः । सम्यक् हारि मनोहरमभिमतं वरं गृहाण ॥ ३३ ॥
 अनेन देहेन कृतात्तपोधर्मतो न त्वनेन देहेन पालयिष्यसीति ।
 उत्तरप्रस्थविरोधात् ॥ ३४ ॥ यतः स्वयं प्रोदितो निर्गतस्त-
 मेवार्करूपमन्धिमस्त्वमदर्शनं गन्तुमविशत् ॥ ३५ ॥ शास्त्रे यः
 यो० वा० १८८

मथुरानगरीं चन्द्रसूर्याविन्द्रपुरीमिव ॥ १

श्रुतः स एव प्रत्यक्षं दृष्टो वरदानव्यवहारेणानुभूतश्चाम्यः श्रेष्ठो
 वरद आदित्यपुरुषो येन तस्य शाखातपस्विनः ॥ ३६ ॥ हे
 ब्रह्मन्, तव तरुशाखावलम्बनरूपं यत्तपस्तत्संप्रति संप्राप्तमभिमतं
 यस्मात्तथाविधं संपन्नम्, अत इदानीं त्वं तपस्त्यक्त्वा यथाप्राप्तं
 स्वगृहगमनादिव्यवहारं समाचर ॥ ३७ ॥ कालभौ कलभसंब-
 न्धिनौ । आलम्नात्तद्वन्धनस्तम्भादिव ॥ ३८ ॥ पुण्येन तपः-
 सिद्धिबलेन तस्मादेव विटपाद्बन्धेन फलेन मया सह व्रतपारणं
 चक्रे ॥ ३९ ॥ ४० ॥ उक्तामेव कथां संक्षेपोक्तयोपसंहरति—
 सप्तद्वीपेति । दिनकृतः सूर्यपुरुषात्सकाशादभिमतं वरं संप्राप्य
 तदनन्तरं तद्वतले अह्नां त्रयं विश्वस्य विश्रम्य पादपीडानि-
 वृत्त्यनन्तरं मया सुहृदा सार्धं स्वयमेव मथुरास्थं भवनं गन्तुं
 प्रवृत्तोऽभवत् ॥ ४१ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे तापसोपाख्याने नामाशीत्यधिकशत-
 तमः सर्गः ॥ १८० ॥

गच्छतोर्मथुरां मार्गभ्रंशादौरीवनागमः ।

तत्र तापसवृद्धेन संवादश्चात्र धर्ष्यते ॥ १ ॥

यथा चन्द्रसूर्याविन्द्रपुरीं प्राच्यां प्रतिष्ठाभावासे गन्तुं सार्य-
 काले प्रवृत्तौ तद्वदावामपि आसार्यं चलित्वा अन्तरे आवासे

प्राप्य रोधाभिधं ग्रामं विश्रम्यान्नवणाचले ।
 लघितौ द्वे दिने तस्मिन्सालीसे नगरे सुखम् ॥ २
 अध्वानन्दितचित्ताभ्यामावाभ्यामतिवाहितः ।
 द्वितीयेऽहनि शीतान्धुक्त्रिधच्छायावनद्गुमाः ॥ ३
 नदीतीरलतोन्मुक्तपुष्पप्रकरपाण्डुराः ।
 तरत्तरङ्गझांकारगायनानन्दिताध्वगाः ॥ ४
 स्निग्धद्रुमवनच्छायरणन्मृगविहंगमाः ।
 स्थूलशाद्वलशास्त्राप्रोतावश्यायमौक्तिकाः ॥ ५
 जङ्गलाद्रिपुरग्रामश्चभ्रानूपस्थलावनीः ।
 समुल्लङ्घ्य दिने तस्मिन्सरित्क्षोतःसरंसि च ॥ ६
 नीतवन्तौ निशामावां कदलीकानने घने ।
 तुषारशिशिरे भ्रान्तौ कदलीदलतल्पके ॥ ७
 प्राप्तावावां तृतीयेऽहि षण्डषण्डकमण्डितम् ।
 जङ्गलं जनविच्छेदविभक्तं खमिवाकृतम् ॥ ८
 तत्र स प्रकृतं मार्गं परित्यज्य वनान्तरम् ।
 प्रविशन्समुवाचेदमकार्यकरणं वचः ॥ ९
 गच्छावोऽन्नाश्रमे गौर्या मुनिमण्डलमण्डिते ।
 भ्रातरो मे स्थिताः सप्त बनेष्वेवमिवार्थिनः ॥ १०
 भ्रातरोऽष्टौ वयमिमे जातानेकतया तया ।
 एकसंविन्मया जाता एकसंकल्पनिश्चयाः ॥ ११
 तेन तेऽप्यत्र तपसे खनिश्चयसमाधयाः ।
 स्थिता आगत्य विविधैस्तपोभिः क्षपितैनसः ॥ १२
 तैः सार्धं भ्रातृभिः पूर्वमागत्याहमिहावसम् ।
 षण्मासानाश्रमे गौर्यास्तेन दृष्टो मयैष सः ॥ १३
 पुष्पखण्डतरुच्छायासुप्तमुग्धमृगार्भकः ।
 पर्णोदजाग्रविश्रान्तशुकोद्ग्राहितशाखद्वक् ॥ १४
 तद्गृहलोकसंकाशमेहि मुन्याश्रमं श्रिये ।
 गच्छावोऽच्छतरं तत्र चेतः पुण्यैर्भविष्यति ॥ १५

गन्तुं प्रवृत्तौ ॥ १ ॥ आवासस्थानान्येव क्रमेणाह—प्राप्ये-
 त्यादिना । आश्रवणप्रसुरे अचले ॥ १ ॥ द्वितीये अहनि
 आवां शीतान्धुक्त्रिधच्छायावनद्गुमाश्च यासु तथापिधाः
 श्वभ्रानूपस्थलावनीः समुल्लङ्घ्येति चतुर्थे संबन्धः ॥ ३ ॥ ता
 एवावनीर्विशिनष्टि—नदीतीरेत्यादिना । गायत्रिमिति कश्चि-
 त्यात्वाकरणं छन्दसम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ कचिच्चञ्चलभूताः कचिद-
 रिप्रायाः कचित्पुरग्रामभूताः कचिच्छ्वभ्रभूताः कचिदनूपभूत-
 स्तेष्वर्थावनीः ॥ ६ ॥ ७ ॥ अञ्जषण्डैर्गुल्मषण्डकैश्च मण्डितम् ।
 तुषारकादिहारिजनकृतैर्विच्छेदैर्विमक्तम् । मेघविच्छेदैर्विमक्तं
 खमिष आसमन्ताकृतम् ॥ ८ ॥ इदानीं दिहक्षितानां भ्रातृमु-
 निप्रभृतीनां गौर्याश्रमे आभावात् 'न आता भ्रातरं गच्छेदन्वेषण-
 परः कचित्' इति निषिद्धत्वाच्च धृयाकालविलम्बेन प्रकृतस्यष्ट-
 षमनकार्यविच्छेदित्वादकार्यकरणं वचः ॥ ९ ॥ १० ॥ 'एवमिवार्थिनः'
 इत्युक्तिं विशदयति—भ्रातर इत्यादिना । तया प्राप्तिर्गितया
 सप्तवीपराज्यभोगेच्छया जाता अनेके मनोरथा येषां तद्गृहेन

विदुषामपि धीराणामपि तत्त्वविदामपि ।
 त्वरते हि मनः पुंसामलंबुद्धिविलोकने ॥ १६
 तेनेत्युक्ते च तावावां प्रातौ मुन्याश्रमं च तम् ।
 यावत्तत्र महारण्ये पश्यावश्रान्तरूपिणम् ॥ १७
 न वृक्षं नोदृजं किंचिन्न गुह्यं न च मानवम् ।
 न मुनिं नार्भकं नान्यत्र वेदिं न च वा द्विजम् ॥ १८
 केवलं शून्यमेवाति तदरण्यमनन्तकम् ।
 तापोपतप्तममितो भूमौ स्थितमिवाश्वरम् ॥ १९
 हा कष्टं किमिदं जातमिति तस्मिन्वदत्यथ ।
 आवाभ्यां सुचिरं भ्रान्त्वा दृष्ट एकत्र वृक्षकः ॥ २०
 स्निग्धच्छविर्धनच्छायः शीतलोऽम्बुधरोपमः ।
 तले तस्य संमाधाने संस्थितो वृद्धतापसः ॥ २१
 आचामग्रे मुनेस्तस्य च्छायायां शाद्वलस्थले ।
 उपविष्टौ चिरं यावन्नासौ ध्यानान्निवर्तते ॥ २२
 ततश्चिरेण कालेन मयोद्वेगेन चापलात् ।
 उक्तं मुने प्रबुध्यस्व ध्यानादित्युक्तैर्वचः ॥ २३
 शब्देनोच्चैर्मदीयेन संप्रबुद्धोऽभवन्मुनिः ।
 सिंद्धोऽम्बुदरवेणेव जृम्भां कृत्वाभ्युवाच च ॥ २४
 कौ भवन्ताविमौ साधू कासौ गौर्याश्रमो गतः ।
 केन बाहमिहानीतः कालोऽयं कश्च वर्तते ॥ २५
 तेनेत्युक्ते मयाप्युक्तं भगवन्विद्धि ईदृशम् ।
 न किंचिदावां बुद्धोऽपि कस्माज्जानासि न खयम् ॥ २६
 इति श्रुत्वा स भगवान्पुनर्ध्यानमयोऽभवत् ।
 वदशोदन्तमखिलमस्माकं स्वात्मनस्तथा ॥ २७
 मुहूर्तमात्रेणोवाच प्रबुध्य ध्यानतो मुनिः ।
 श्रूयतामिदमाश्चर्यमार्थं हि कार्यवेदिनौ ॥ २८
 यमिमं पश्यथः साधू कदम्बतरुपुत्रकम् ।
 मदास्पदमरण्यान्यां चम्मिल्लमिव पुष्पितम् ॥ २९

वयमद्यावपि भ्रातरस्तपसे एकसंविन्मया एकरूपदृढनिश्चयप्र-
 धाना जाताः ॥ ११ ॥ १२ ॥ इह गौर्याश्रमे । तेन हेतुना
 यः प्रारदष्टः स एवैष पुरो हस्यते इति प्रत्यभिज्ञाभिन्नपः ॥ १३ ॥
 तमेवाश्रमं वर्णयति—पुष्पेति । उदजाग्रेषु विश्रान्तैः कुकैरपि
 उद्ग्राहिता उपेन्यस्ता नानाशास्त्रदृष्टो यत्र ॥ १४ ॥ तत्र आचम्यो-
 क्षेतः सर्वदोषक्षयाच्छतरं भविष्यति ॥ १५ ॥ अलंबुद्धयस्त-
 र्वदर्शनेन पूर्णमनसो ये मुनयस्तेषां विलोकने विदुषामपि
 पुंसां मनस्त्वरते किं पुनरावयोरित्यर्थः ॥ १६ ॥ अन्तः सहा-
 रस्तस्य रूपेणैव रूपिणमाश्रमं शून्यमिति यावत् ॥ १७ ॥ तदे-
 वाह—न वृक्षमिलादिना ॥ १८ ॥ १९ ॥ तस्मिन्मात्सह्ये
 तापसे ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ चापलात् चपलस्वभावात्
 ॥ २३ ॥ २४ ॥ इह शून्यारण्ये ॥ २५ ॥ हे भगवन्, ईदृशं
 त्वरंष्ट्रमात्रं न किंचिज्जानीय इति शेषः । अतस्तमेव विद्धि ।
 बुद्धः सर्वज्ञोऽपि त्वं योगबलात्कस्मात्स्वयं न जानासि ॥ २६ ॥
 ॥ २७ ॥ २८ ॥ इमं मदास्पदं स्वावासभूतम् । अत एवाह-

केनापि कारणेनास्मिन्सती वागीश्वरी सती ।
 अवसदशवर्षाणि समस्तर्तुनिषेविता ॥ ३०
 तदा तेनेह विस्तीर्णमभवद्भनकाननम् ।
 गौरीवनमिति ख्यातं भूषितं कुसुमर्तुभिः ॥ ३१
 भृङ्गाङ्गनाजनमनोहरहारिणीत-
 लीलाविलोलकलकण्ठविहंगमङ्ग ।
 पुष्पाम्बुवाहशतचन्द्रनभोवितानं
 राजीवरेणुकणकीर्णदिगन्तरालम् ॥ ३२
 मन्दारकुन्दमकरन्दसुगन्धिताशं
 संसृज्यसत्कुसुमराशिशशाङ्गनिष्ठम् ।
 संतानकस्तवकहासविकासकान्त-
 मामोदिमारुतसमस्तलताङ्गनौघम् ॥ ३३
 पुष्पाकरस्य नगरं नवगीतभृङ्गं
 भृङ्गाङ्गनाकुसुमखण्डकमण्डपाढ्यम् ।
 चन्द्रांशुजालपरिकोमलपुष्पदोला-
 दोलायमानसुरसिद्धवधूसमूहम् ॥ ३४
 हारीतहंसशुककोकिलकोककाक-
 चक्राढभासकलविङ्गकुलाकुलाङ्गम् ।

मेरुण्डकुङ्कुटकपिञ्जलहेमचूड-
 राढामयूरवककल्पितकेलिरम्यम् ॥ ३५
 गन्धर्वयक्षसुरसिद्धकिरीटघृष्ट-
 पादाब्जकर्णिककदम्बसरस्वतीकम् ।
 घातायनं कनककोमलचम्पकौघ-
 ताराम्बराम्बुधरपूरगृहीतगन्धम् ॥ ३६
 मन्दानिलस्खलितपल्लववालवल्ली-
 विन्यासगुतदिवसाधिपरदिमशीतम् ।
 पीतं कदम्बकरवीरकनालिकेर-
 तालीतमालकुलपुष्पपरागपूरैः ॥ ३७
 कङ्कारकीर्णकुमुदोत्पलपद्मखण्ड-
 वल्गच्चकोरवककोककदम्बहंसम् ।
 तालीसगुगुलकचन्दनपारिभद्र-
 भद्रद्रुमोदरविहारिविचित्रशक्ति ॥ ३८
 तस्मिन्वने चिरमुवास हरार्धदेहा
 केनापि कारणवशेन चिराय गौरी ।
 भूत्वा प्रसन्नशशिविम्बमुखी कदम्ब-
 वागीश्वरी शशिकलेव शिवस्य मूर्ध्नि ॥ ३९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० प्रह्लादीतासु तापसोपा० गौर्याश्रमवर्णनं नामैकाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८१॥

द्व्यशीत्यधिकशततमः सर्गः १८२

वृद्धतापस उवाच ।
 तस्मिन्नेव कदम्बेऽस्मिन्वर्षाणि स्वेच्छया दश ।
 स्थित्वा गौरी जगामाथ हरवामार्धमन्दिरम् ॥ १
 तत्स्पर्शामृतसिक्तोऽयं कदम्बतरुपुत्रकः ।

कम्प्यत्वात्पुत्रकमित्युक्तिः ॥ २९ ॥ सती गौरी वागीश्वरी सती
 सरस्वती भूत्वा अत्र अवसत् ॥ ३० ॥ कुसुमप्रधानैः सर्व-
 त्तुभिर्भूषितमलंकृतम् । तदा तस्मिन्काले । तेन कारणेन ॥ ३१ ॥
 कीदृशमभवत्तदेव वर्णयति—भृङ्गाङ्गनेलादिना । हे अङ्गेल्यु-
 भयोः संबोधनम् । भृङ्गाङ्गनाजनानां मनोहरगीतलीलाभिर्वि-
 लोलाः कलकण्ठविहंगाः कोकिला यत्र । तथा पुष्पवर्षिभिरम्बु-
 वाहप्रायैस्तरुभिः शतचन्द्रं नभोवितानं यत्र ॥ ३२ ॥ मन्दाराणां
 कुन्दानां च मकरन्दैः सुगन्धिता आशा दिशो येन । समन्ता-
 रंशु सृज्यसत्सु विकसत्सु कुसुमराशिलक्षणेषु शशाङ्गविम्बेषु
 निष्ठा शोभा पर्याप्तिर्यत्र ॥ ३३ ॥ पुष्पाकरस्य वसन्तस्य
 नगरमिव स्थितम् । भृङ्गाङ्गनायुक्तैः कुसुमखण्डकमण्डपैराढ्यम् ।
 चन्द्रांशुजालवत्परितः कोमलासु पुष्पदोलासु दोलायमानाः
 सुरसिद्धवधूसमूहा यत्र ॥ ३४ ॥ हारीतादिपक्षिकुलैराकुला-
 न्यङ्गानि यस्य । हेमचूडास्त्रितिरयः । राढाः पक्षिमेदाः
 ॥ ३५ ॥ गन्धर्वयक्षादीनां किरीटघृष्टे, पादाब्जकर्णिके यस्या-
 स्तथात्रिधा कदम्बसरस्वती यस्मिन् । सुरभिवातानामयनमत
 एव कनकमिव कोमलेभ्यश्चम्पकौघेभ्यस्ताराम्बुधराभ्यां गृहीतो

उत्सङ्ग इव चासीनो न यात्येव पुराणताम् ॥ २
 ततो गौर्या प्रयातायां तद्वनं तादृशं महत् ।
 सामान्यवनतां यातं जनवृन्दोपजीवितम् ॥ ३

गन्धो यस्य ॥ ३६ ॥ मन्दानिलास्खलितपल्लवानां बालवल्लीनां
 विन्यासैः प्रसारैर्गुप्तेषु कुलेषु निरुद्धैर्दिवसाधिपरदिमभिरन्तः-
 शीतम् । तथा कदम्बादीनां कुलस्य पुष्पपरागपूरैः पीतं पीत-
 वर्णम् ॥ ३७ ॥ कङ्कारैः पद्मैः कीर्णानि मिश्राणि कुमुदोत्प-
 लानि येषु तथाविधेषु पद्मखण्डेषु पद्माकरेषु वल्गन्तश्चको-
 रादिकदम्बसहिता हंसा यत्र । तालीप्रभृतिद्रुमोदरेषु विहारिणी
 विचित्रा सर्वाभिलषितार्थपूरणशक्तिर्यस्मिन् ॥ ३८ ॥ सक-
 लवनसंपत्तिषु यत्कारणं तदाह—तस्मिन्निति । तस्मिन्वने
 हरार्धदेहा गौरी केनापि कारणवशेन कदम्बवागीश्वरी भूत्वा
 चिरमुवास । तदेव वनसंपदां कारणमित्यर्थः ॥ ३९ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे गौर्या-
 श्रमवर्णनं नामैकाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८१ ॥

कदम्बतापसेनात्र तङ्गावृणां समागमः ।
 गृहेषु वरशापानां हेतुसिद्धिश्च वर्ण्यते ॥ १ ॥
 तस्मिन्वर्णितगुणे अस्मिन्नेव मदास्पदे कदम्बे ॥ १ ॥
 उत्सङ्गे आसीनो बाल इव पुराणतां जरां न यात्येव ॥ २ ॥
 जनवृन्दैस्तृणकाष्ठफलपुष्पाद्युपहारेणोपजीवितं सत् इतरवन-

मालवो नाम देशोऽस्ति तत्राहं पृथिवीप्रतिः ।
 कदाचित्पुत्रराज्यधीर्मुनीनामाश्रमाश्रमम् ॥ ४
 इमं देशमनुप्राप्त इह जीवामवाशिमि ।
 पूजितोऽहं कदाचन ध्यानमिष्टसले स्थितः ॥ ५
 केनचित्त्वथ कालेन आतपः सप्तमिः सह ।
 भवानभ्यागतः पूर्वं तपोर्यमिममाश्रमम् ॥ ६
 तपस्विनोऽष्टाविद्ध ते तथा नाम तदाऽवसन् ।
 यथा तपस्विनोऽन्ये ते तेषां मान्यास्तपस्विनः ॥ ७
 कालेनानन्तरमसावेकः श्रीपर्वत गतः ।
 स्वामिनं कार्तिकेयं च द्वितीयस्तपसे गतः ॥ ८
 धारणसीं तृतीयस्तु चतुर्थोऽगादिमाचलम् ।
 इद्वै ते परे धीराश्चत्वारोऽन्ये परं तपन् ॥ ९
 सर्वेषामेव चैतेषां प्रत्येकं त्वेतदीप्सितम् ।
 यथा समस्तद्वीपाया भुवोऽस्याः स्यां महीपतिः ॥ १०
 अथ संपादितं तेषां सर्वेषामेतदीप्सितम् ।
 तपस्तुष्टाभिरिष्टाभिर्देवताभिर्वैदेवैः ॥ ११
 तपस्ते ततो याता आतपः सदनं निजम् ।
 भूमौ धर्मयुगं भुक्त्वा वेष्टा ब्रह्मपुरीमिव ॥ १२
 तैर्मन्त्राद्यभिर्भव्यं धरदानविधौ तदा ।
 इदं करोयता यन्नात्प्राथिताः सेष्टदेवताः ॥ १३
 देव्यस्माकमिमे सर्वे सप्तद्वीपेश्वरस्थितौ ।
 सत्याः प्रकृतयः सन्तु सर्वे आश्रमवासिनः ॥ १४
 तमिष्टदेवतासार्थमुत्तरीकृत्य सादरम् ।
 तेषामस्वेवमित्युक्त्वा जगामान्तर्दिमीश्वरी ॥ १५
 ते ततः सदनं यातास्तेषामाश्रमवासिनः ।
 सर्वे पञ्च गताः पश्चादेक एवासि नो गतः ॥ १६
 अहं केवलमेकान्तं ध्यानैकगतमानसः ।
 धामीश्वरीकदम्बस्य तले तिष्ठामि शैलवत् ॥ १७

अथ काले षडत्यसिष्टतुल्यत्सपत्ननि ।
 इदं सर्वं वनं छिन्नं जनैः पर्यन्तवासिमि ॥ ४
 इदं कदम्बमल्लानं जनताः पूजयन्त्यलम् ।
 धामीश्वरीगृहमिति मां वैवैकसमाधिगम् ॥ ५
 अथैनं देशमायातौ भवन्तौ दीर्घतापसौ ।
 एतत्तत्कथितं सर्वं ध्यानदृष्टं मयाखिलम् ॥ ६
 तस्मादुत्थाय हे साधू गच्छत गृहमागतौ ।
 तत्र ते आतपः सर्वे संगता दारवन्धुमि ॥ ७
 अष्टानां भवतां भव्यं सदनं स्वे भविष्यति ।
 महात्मनां ब्रह्मलोके वसनामिव संगमः ॥ ८
 इत्युक्ते तेन स मया पृष्टः परमतापसः ।
 संवेदादिदमाश्रयमायास्तद्वर्णयाम्यहम् ॥ ९
 एकैव सप्तद्वीपास्ति भगवन्भूरियं किल ।
 तुल्यकालं भवन्त्यष्टौ सप्तद्वीपेश्वराः कथम् ॥ १०

कदम्बतापस उवाच ।

असमञ्जसमेतावदेव नो यावदुच्यते ।
 इदमन्यदसंबद्धतरं संश्रूयतां मम ॥ ११
 पतेऽष्टौ आतरस्तत्र तापसा देहसंक्षये ।
 सप्तद्वीपेश्वराः सर्वे भविष्यन्ति गृहोदरे ॥ १२
 अष्टौ होतं महीपीठेष्वेतेष्वेतेषु सग्राह ।
 सप्तद्वीपेश्वरा भूषा भविष्यन्तीह मे शृणु ॥ १३
 अस्त्येतेषां किलाष्टानां भार्याष्टकमनिन्दितम् ।
 दिगन्तराणां नियतं तापष्टकमिषोऽञ्जलम् ॥ १४
 तन्भार्याष्टकमेतेषु यातेषु तपसे विसृज ।
 यभूव दुःखितं स्त्रीणां यद्वियोगोऽहिदुःसहः ॥ १५
 दुःखिताः प्रत्यये तेषां चक्रुस्ता दारुणं तपः ।
 शतचान्द्रायणं तासां दुष्टामूचेन पार्वती ॥ १६

साधारणतां यातम् ॥ ३ ॥ इदानीं मुनिः स्वगतान्तमाह—
 मालव इत्यादिना ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ अष्टौ ते तपस्विनस्तदा
 तथा तेन प्रकारेण तपस्विनो भूत्वा अवसन् । यथा अन्ये च
 तपस्विनः तेषामपि मान्याः पूज्यास्तेऽभ्यस्तिस्रस्तपः ॥ ७ ॥
 अनन्तरं केनचित्कालेन तेषां मध्ये असौ त्वमेकः श्रीपर्वतः
 यतः । एवं प्रयोऽन्येषां ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ अष्टौ श्रेष्ठैर्वै
 ॥ ११ ॥ ते तपस्तपस्यसेव तिष्ठतः । 'अष्टौ चानादरे' इति
 भावलक्षणे षष्ठी । धर्मप्रधानं कृत्युगं भूमौ भुक्त्वा अनुभूय
 तदन्तं वैवाच्यमुखौ ब्रह्मपुरीं ब्रह्मलोकमिव ॥ १२ ॥ हे
 भव्य, इदं वक्ष्यमाणं परं प्राथिताः ॥ १३ ॥ सप्तद्वीपेश्वरैः
 भावप्रधानो निर्देशः । प्रकृतयः प्रजामृताः सर्वे जनाः सत्याः
 परित्यक्तानृताः सन्तु । तथा सर्वेऽपि सप्तद्वीपवासिनः स्वास्वा-
 भ्यवसरेण सन्तु । इदं च वर्णधर्मप्राप्त्यायाः कल्पयुक्तं भवम्

॥ १४ ॥ सा इष्टदेवता तं तत्प्राथितं मुत्तरीकृत्य अर्पितम्
 ॥ १५ ॥ एक एवाहं नो गतः ॥ १६ ॥ तत्कृतलनाद—
 अहमिति ॥ १७ ॥ १८ ॥ मां वैवै पूजयन्ति ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ इहागतौ युवाः गृहं गच्छतम् । ते आतपः पूर्वमेव
 दारवन्धुमिः संगता ॥ २१ ॥ भवतामष्टानामपि संगमः
 भविष्यति । वसनामष्टानाम् । ब्रह्मलोके देवलोके ॥ २२ ॥ एता
 हे भार्या इति । रामसमासबोधनम् ॥ २३ ॥ २४ ॥ एता
 भवेदासमञ्जसमेतमिति नो, यावद्यतः इदमन्यदसंबद्धतरं
 मयान्तमसमञ्जसं अर्थोच्यते उदाहरितं । तन्ममः भवतां भूयता
 मिलयः ॥ २५ ॥ लोकद्वयमुत्तरनिबन्धना ॥ २६ ॥ एता
 ॥ २७ ॥ २८ ॥ दिगन्तराणां प्राञ्चादीनां तापष्टकमिषोऽञ्जलम्
 ॥ २९ ॥ ३० ॥ यद्येसादितोः पतिवियोगः अहिदुःसहः
 दुःसहः ॥ ३१ ॥ तेषां पतीनां प्रत्यये पुनः पुनः सारणे
 ॥ ३२ ॥ अथ यातो कदम्बमेति विप्रः ॥ ३३ ॥

अदृश्योवाच सा तासां वचोऽन्तःपुरमन्दिरे ।
देवी सपर्यावसरे प्रत्येकं पृथगीश्वरी ॥ ३१

देव्युवाच ।

भर्त्रर्थमथ चात्मार्यं गृह्यतां चालिके वरः ।
चिरं क्लिष्टासि तपसा निदाघेनेव मञ्जरी ॥ ३२

इत्याकर्ण्य वचो देव्या दत्तपुष्पा चिरंटिका ।
स्ववासनानुसारेण कुर्वाणैवेश्वरीस्तवम् ॥ ३३

आनन्दमन्थरोवाच वचनं मृदुभाषिणी ।
आकाशसंस्थितां देवीं मयूरीवाभ्रमालिकाम् ॥ ३४

चिरंटिकोवाच ।

देवि देवाधिदेवेन यथा ते प्रेम शंभुना ।
भर्त्रा मम तथा प्रेम स भर्तास्तु ममामरः ॥ ३५

देव्युवाच ।

आसृष्टेर्नियतेर्दाढ्यादमरत्वं न लभ्यते ।
तपोदानैरतोऽन्यं त्वं वरं वरय सुव्रते ॥ ३६

चिरंटिकोवाच ।

अलभ्यमेतन्मे देवि तन्मद्भर्तुर्गृहान्तरात् ।
मृतस्य मा विनिर्यातु जीवो बाह्यमपि क्षणात् ॥ ३७

देहपातश्च मे भर्तुर्यदा स्यादात्ममन्दिरे ।
तदेतदस्त्विति वरो दीयतामम्बिके मम ॥ ३८

देव्युवाच ।

एवमस्तु सुते त्वं च पत्यौ लोकान्तरास्थिते ।
भविष्यसि प्रिया भार्या देहान्ते नात्र संशयः ॥ ३९

इत्युक्त्वा विररामासौ गौर्या गीर्गनोदरे ।
मेघमालाध्वनिरिव निरवद्यसमुद्यता ॥ ४०

देव्यां गतायां भर्तारस्तासां कालेन केनचित् ।
इ०श्री० वा० दे० मो० नि० उ० ब्र० तापसोपाख्यानान्तर्गतसप्तद्वीपेश्वरोपा० सप्तद्वीपेश्वरवर्णनं नाम द्वाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८२ ॥

ते ककुब्जः समाजग्मुः सर्वे प्राप्तमहावराः ॥ ४१

अद्यायमपि संयातु भार्याया निकटं पतिः ।
भ्रातॄणां बान्धवानां च भवत्वन्योन्यसंगमः ॥ ४२

इदमन्यदथैतेषामसमञ्जसमाकुलम् ।
शृणु किंवृत्तमाश्चर्यमार्यकार्योपरोधकम् ॥ ४३

तप्यतां तप एतेषां पितरौ तौ वधूयुतौ ।
तीर्थमुन्याश्रमश्रेणीं द्रष्टुं दुःखान्वितौ गतौ ॥ ४४

शरीरनैरपेक्ष्येण पुत्राणां हितकाम्यया ।
गन्तुं कलापग्रामं तं यत्नवन्तौ बभूवतुः ॥ ४५

तौ प्रयातौ मुनिग्राम मार्गे ददृशतुः सितम् ।
पुरुषं कपिलं ह्रस्वं भस्माङ्गं चोर्ध्वमूर्धजम् ॥ ४६

धूलीलवमनादृत्य तं जरत्पान्थशङ्कया ।
यदा तौ जग्मतुस्तेन स उवाचान्वितः क्रुधा ॥ ४७

सवधूक महामूर्ख तीर्थार्थी दारसंयुतः ।
मां दुर्वाससमुल्लङ्घ्य गच्छस्यविहितानतिः ॥ ४८

वधूनां ते सुतानां च गच्छतस्तपसार्जिताः ।
विपरीता भविष्यन्ति लब्धा अपि महावराः ॥ ४९

इत्युक्तवन्तं तं यावत्सदारोऽथ वधूयुतः ।
सन्मानं कुरुते तावन्मुनिरन्तर्धिमाययौ ॥ ५०

अथ तौ पितरौ तेषां सवधूकौ सुदुःखितौ ।
कृशीभूतौ दीनमुखौ निराशौ गृहमागतौ ॥ ५१

अतो वदाम्यहं तेषां नैकं नामासमञ्जसम् ।
असमञ्जसलक्षाणि गण्डे स्फोटाः स्फुटा इव ॥ ५२

चिद्योमसंकल्पमहापुरेऽसि-

त्रित्थं विचित्राण्यसमञ्जसानि ।

निःशून्यरूपेऽपि हि संभवन्ति

दृश्ये यथा व्योमनि दृश्यजुष्माः ॥ ५३

ता दुःखिताः सत्यो दारुणं तपश्चक्रुः । किनामकं तत्तप-
स्तदाह—शतचान्द्रायणमिति ॥ ३० ॥ ३१ ॥ निदाघेन
ग्रीष्मेण ॥ ३२ ॥ दत्तपुष्पा गौरी पादयोः समर्पितपुष्पाञ्जलि-
चिरंटिका सुधासिनी ॥ ३३ ॥ आनन्दमन्थरां गण्डदक्षरा ।
ज्येष्ठाया नामधेयं वा ॥ ३४ ॥ अमरो मृत्युरहितोऽस्तु
॥ ३५ ॥ आसृष्टेरादिसर्गमारम्भ्य प्रवृत्ताया नियतेरीश्वराज्ञायाः
दाढ्यात् भङ्गुमशक्यत्वात् ॥ ३६ ॥ क्षणादपिशब्दाच्चिरादपि
॥ ३७ ॥ ३८ ॥ भूर्खायास्तस्याः समीचीनवरयाचनाकुशलतां
बुद्धा देवी स्वयमेव वरान्तरं ददति—त्वं चेति । लोकान्तरे
सप्तद्वीपाधिपत्ये ॥ ३९ ॥ निरवद्यं निर्दोषं जगदानन्दाय
समुद्यता ॥ ४० ॥ ककुब्जो दिग्भ्यः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥
असमञ्जसान्तरमप्युदाहरति—इदमिति । आर्यकार्याणां सत्क-
र्मफलानामुपरोधकम् ॥ ४३ ॥ वधूभिः लुषाभिर्युतौ सहितौ
॥ ४४ ॥ शरीरपदेन तद्भोग्यसुखं लक्ष्यते तन्नैरपेक्ष्येण ।
तं प्रसिद्धं कलापग्रामाख्यं तीर्थम् ॥ ४५ ॥ वर्णतः कपिलं

ह्रस्वं पुरुषं मार्गे ददृशतुः ॥ ४६ ॥ तावदानां मातापितरौ
जरत्पान्थः कश्चिदसाविति शङ्कया तं मुनिमनादृत्य नमस्कार-
पूजास्त्वनवाद्यादरमकृत्वा प्रत्युत गमनत्वरया तदुपरि धूली-
लवमुदूनयन्तौ सन्तौ यदा जग्मतुस्तदा तेनापराधेन क्रुधा-
ऽन्वितः स मुनिरुवाच ॥ ४७ ॥ किमुवाच तदाह—संवधूकेति ।
अविहितानतिः अकृतनमस्कारः ॥ ४८ ॥ तपसार्जिता वरा विप-
रीता दुःखफला भविष्यन्ति ॥ ४९ ॥ ५० ॥ निराशौ
सन्तौ परावृत्त्य स्वगृहमेवागतौ ॥ ५१ ॥ अतोऽहं वदामि
तेषां नैकमेवासमञ्जसं किन्तु असमञ्जसलक्षाणि गृहमध्ये सप्तद्वी-
पराज्यकल्पने तदन्तर्गतगिरिपर्वताद्यसमञ्जसलक्षाणां कल्पनायां
नान्तरीयकतया प्रसक्तैरिति भावः । यथा गले गण्डस्तत्र
स्फोटास्ते च स्फुटाः स्फुटिताश्चेदनिष्टोपर्यनिष्टं तत्राप्यनिष्टा-
न्तरं तद्वदित्यर्थः ॥ ५२ ॥ एवमन्यत्राप्यसिन्मायामये जग-
त्यसमञ्जसलक्षाणि संभवन्तीत्याह—चिद्योमेति । असिञ्जग-
द्भूमे चिद्योमसंकल्परचिते महापुरे इत्थं विचित्राण्यसमञ्जसानि

अशीत्यधिकशततमः सर्गः १८३

कुन्ददन्त उवाच ।

ततः पृष्ठो मया तेन स गौर्याश्रमतापसः ।
 सापसंशुष्कदर्माग्रजराजर्जरमूर्धजः ॥ १
 एकैव सप्तद्वीपास्ति वसुधा यत्र तत्र ते ।
 सप्तद्वीपेश्वरा अष्टौ भवन्ति कथमुत्तमाः ॥ २
 यस्य जीवस्य सदनान्नास्ति निर्गमनं बहिः ।
 स करोति कथं सप्तद्वीपेशत्वेन दिग्जयम् ॥ ३
 यैर्वरा वरदैर्दत्ताः शापैस्ते तद्विरुद्धताम् ।
 कथं गच्छन्ति गच्छन्ति कथं छाया हि तापताम् ॥ ४
 मिथोऽशक्यां कथं धर्मौ स्थितिमेकत्र गच्छतः ।
 आधार एवाधेयत्वं करोति कथमात्मनि ॥ ५
 गौर्याश्रमतापस उवाच ।
 संपश्यसि किमेतेषां भो साधो शृण्वन्नन्तरम् ।
 अष्टमेऽस्मिन्सुसंप्राप्ते तं प्रदेशं सवान्धवम् ॥ ६
 इतो भवन्तौ तं देशमासाद्य सुखसंस्थितौ ।
 स्वबन्धुसुखसंस्थानौ कंचित्कालं भविष्यतः ॥ ७
 ततस्तेऽष्टौ मरिष्यन्ति भ्रातरः क्रमशो गृहे ।
 बन्धवोऽथ करिष्यन्ति तेषां देहांस्तदग्निसात् ॥ ८
 तेषां ते संविदाकाशाः पृथक्पृथगवस्थिताः ।
 सुहृत्तमानं स्थास्यन्ति सुषुप्तस्था जडा इव ॥ ९
 एतस्मिन्नन्तरे तेषां तानि कर्माणि धर्मतः ।
 एकत्र संघटिष्यन्ति वरशापात्मकानि खे ॥ १०

कोटिषाः संभवन्ति । यथा व्योमनि उत्पातवशाद्बन्धवर्नगर-
 धूमकेतुकवन्धोत्कादिदृश्यजुम्भाः संभवन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ ५३ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 सप्तद्वीपेश्वरवर्णनं नाम अशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८३ ॥

विरुद्धवरशापाणां चतुराननवाक्यतः ।

मिथोऽज्योन्तःसाराणामिह सम्यक्छिन्म्यते ॥ १ ॥

तापेन ग्रीष्मे संशुष्कं परस्परप्रवितं च दर्माप्रमिव जराज-
 र्जरा मूर्धजा यस्य ॥ १ ॥ किं पृष्ठतदाह—एकैवेति ॥ २ ॥
 द्वितीयं पृष्ठमाह—यस्येति ॥ ३ ॥ तृतीयं पृष्ठमाह—यैरिति ।
 शीतलच्छायास्ताप्रतां ग्रीष्मातपतां कथं गच्छन्ति ॥ ४ ॥
 एकस्यैव फलस्य वरशापोभयफलत्वमशक्यत्वाद्बुष्करमित्याह—
 मिथ इति । विरुद्धौ वरशापफलावच्छेदकौ शुभलाशुभत्व-
 धर्मावेकत्रैव धर्मिण्यशक्या स्थिति कथं गच्छतः । एक-
 धर्म्याश्रितत्वासंभवेऽपि तयोर्धर्मयोः परस्परश्रितत्वमस्तु
 तत्राह—आधार एवेति ॥ ५ ॥ सर्वेषां प्रश्नानां कथाशेष-
 वर्णनमुखेनैवोत्तरं कदम्बतापस उवाच—संपश्यसीति । हे
 साधो, एतेषां किं विरुद्धमसमजसं पश्यसि । अनन्तरं यद्वृत्तं
 तच्छृणु । तेनैव ते समाधानं भविष्यतीति भावः । अद्यतन-

कर्माणि तान्यधिष्ठातृदेवरूपाणि पेटकम् ।
 वरशापशरीराणि करिष्यन्ति पृथक् पृथक् ॥ ११
 वरास्तेऽत्र गमिष्यन्ति सुभगाः पद्मपाणयः ।
 ब्रह्मदण्डायुधाश्चन्द्रधवलान्नाश्वतुर्भुजाः ॥ १२
 शापास्तत्र भविष्यन्ति त्रिनेत्राः शूलपाणयः ।
 भीषणाः कृष्णमेघाभा द्विभुजा भुक्कुटीमुखाः ॥ १३
 वरा वदिष्यन्ति ।
 सुदूरं गम्यतां शापाः कालोऽस्माकमुपागतः ।
 कतूनामिव तन्नाम कः समर्थोऽतिवर्तितुम् ॥ १४
 शापा वदिष्यन्ति ।
 गम्यतां हे वरा दूरं कालोऽस्माकमुपागतः ।
 कतूनामिव तन्नाम कः समर्थोऽतिवर्तितुम् ॥ १५
 वरा वदिष्यन्ति ।
 कृता भवन्तो मुनिना वयं दिनकृता कृताः ।
 मुनीनां चाधिको देवो भगवन्तं पुरा यतः ॥ १६
 प्रवदत्सु वरेष्वेवं शापाः क्रुद्धधियो वरान् ।
 विवसता कृता यूयं वयं रुद्रांशतः कृताः ॥ १७
 देवानामधिको रुद्रो रुद्रांशप्रभवो मुनिः ।
 इत्युक्त्वा प्रोद्यता तेषां चक्रुः शृङ्गाण्यगा इव ॥ १८
 शापेषूद्यतशृङ्गेषु वरा इदमरातिषु ।
 विहसन्तः प्रवह्यन्ति प्रमेयीकृतनिश्चयम् ॥ १९

वासरादष्टमे असिजेव वासरे संप्राप्ते सति भवन्तौ तं मधु-
 राप्रदेशं स्वबान्धवसहितं प्राप्स्यत इति शेषः ॥ ६ ॥ ७ ॥
 तदभिसात्तैरहितो येऽप्यस्यदधीनान् । अन्येष्टिभिस्तद-
 मिषु दाहेन संस्करिष्यन्तीति यावत् ॥ ८ ॥ संविदाकाशा
 जीवाः ॥ ९ ॥ कर्मणां विरोधपरिहारः बहुमुपक्रमते—एत-
 स्मिन्निति । धर्मतः बलावश्यभावस्वभावतः । एकत्र खे तत-
 चित्तावच्छिन्नाकाशे ॥ १० ॥ तानि कर्माणि अधिष्ठातारस्व-
 ताफलप्रदा देवास्तद्रूपाणि भूत्वा पेटकं स्वस्वानुकूलसमूहवदितं
 संपुटं पृथक् पृथक् करिष्यन्ति । एवं संपुटीभूता वराः शापाश्च
 पृथक् पृथक् शरीराणि करिष्यन्ति ॥ ११ ॥ तेषां वैषम्येदं
 साह—वरा इति । गमिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति ॥ १२ ॥ इवांसो
 रुद्रांशत्वेन सदीयत्वाहुर्कर्मफलदानोन्मुखत्वेन घोररूपाश्च
 त्रिनेत्राः शूलपाणयः ॥ १३ ॥ कतूनां वसन्तादीनामिव
 ॥ १४ ॥ १५ ॥ तत्र वरा मूलाधिकास्साधिक्यं दर्शयन्ति—
 भवन्तः इति । यतो भगवन्तं सूर्यं मुनिभ्यः पुरा भूता
 भवजदिति शेषः ॥ १६ ॥ १७ ॥ इत्युक्त्वा प्रोद्यता प्रोद्यतानि ।
 घृणां घृण्यगिति च्छान्दसोऽन्वादेशः ता त्व पिण्डानामितिवत् ।
 शृङ्गाणि त्रिशूलप्राणि ॥ १८ ॥ अन्तःप्रमाणपूर्वकं सम्यक्-
 चारेण प्रमेयीकृतसाध्यवसितस्वार्थस्य निश्चयम् ॥ १९ ॥

हे शापाः पापतां त्यक्त्वा कार्यस्यान्तो विचार्यताम् ।
यत्कार्यं कलहस्यान्ते तदेवादौ विचार्यताम् ॥ २०
पितामहपुरीं गत्वा कलहान्ते विनिर्णयः ।
कर्तव्योऽस्माभिरेतत्किमादौ नेह विधीयते ॥ २१
शापैर्वरोक्तमाकर्ण्य बाढमित्युररीकृतम् ।
को न गृह्णाति मूढोऽपि वाक्यं युक्तिसमन्वितम् ॥ २२
ततः शापा वरैः सार्धं यास्यन्ति ब्रह्मणः पुरम् ।
मृदानुभावा हि गतिः सदा संदेहनाशने ॥ २३
प्रणामपूर्वं तत्सर्वं यथावृत्तं परस्परम् ।
ब्रह्मणे कथयिष्यन्ति श्रुत्वा तेषां स वक्ष्यति ॥ २४
ब्रह्मोवाच ।

वरशापाधिपा भो भो येऽन्तःसारा जयन्ति ते ।
केऽन्तःसारा इति मिथो नूनमन्विष्यतां स्वयम् ॥ २५
इति श्रुत्वा प्रविष्टास्ते सारतां समवेक्षितुम् ।
वराणां हृदयं शापाः शापानां हृदयं वराः ॥ २६
ते परस्परमन्विष्य स्वयं हृदयसारताम् ।
ज्ञात्वा च समवायेन प्रवक्ष्यन्ति पितामहम् ॥ २७
शापा वक्ष्यन्ति ।

जिताः प्रजानाथ वयं नान्तःसारा वयं यतः ।
अन्तःसारा वरा एव वज्रस्तम्भा इवाचलाः ॥ २८
वयं किलेमे भगवन्वराः शापाश्च सर्वदा ।
ननु संविन्मया एव देहोऽन्योऽस्माकमस्ति नो ॥ २९

पापतामनुचितकारिताम् । तदेवादौ कर्तव्यमिति शेषः ॥ २० ॥
॥ २१ ॥ २२ ॥ गतिः शरणम् ॥ २३ ॥ २४ ॥ शास्त्रानु-
सारदृढाभ्यासोभयकृतं यदाकारसंविदाद्यं ये अन्तःसारास्ते
जयन्ति । अन्विष्यतां पर्यालोच्यताम् ॥ २५ ॥ उदरं प्रविष्टा
इति कल्पनोक्तिः । परस्परान्तः पर्यालोचितवन्त इति यावत्
॥ २६ ॥ समवायेन परस्परैकमलक्षणनेन मिलनेन ॥ २७ ॥
॥ २८ ॥ तत्र संविदो दृढाभ्यासेन यदाकारदाढ्यं तेषां प्राव-
त्यमिति वक्तुं मूलसंविदं दर्शयन्ति—वयं किलेति । देहः
स्वरूपम् ॥ २९ ॥ तदेवोपपादयन्ति—वरदस्येत्यादिना
॥ ३० ॥ वरस्य हि फलं सुखभोगायतनं देहं तच्च विज्ञप्ति-
मात्रस्य कलनात्मकं कंचनम् । ततः सैव विज्ञप्तिदेहाकारा
भूत्वा देशकालादिकल्पनाशतभ्रमैस्तत्तद्भोग्यान्पश्यति अनु-
भवति तत्रादनीयमस्ति ॥ ३१ ॥ तत्र शास्त्रीयतपःकालिकदृढ-
संकल्पवशीकृताद्वरदासंविदात्मनो गृहीतत्वाद्वरकल्पना चित् काले-
न्तरे फलवस्थायां सम्यक् श्रुता पुष्टा यदा तदा सैवान्तः-
सारा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ तत्कृतस्तत्राह—यदेवेति ॥ ३४ ॥
तत्रापि शास्त्रीयत्वेन शुद्धत्वे प्रावल्याधिक्यमित्याहुः—शुद्धा-
नामिति । संविदामिति निर्धारणे षष्ठी । अतः फलेऽपि साम्यं
न विद्यते ॥ ३५ ॥ ज्येष्ठत्वादपि वरसंविदः प्रावल्यमस्ती-

वरदस्य हि या संविद्धो दत्त इति स्थिता ।
सैवार्थिनि मया लब्धो वरोऽयमिति तिष्ठति ॥ ३०
विज्ञप्तिमात्रकचनं देहं सैव फलं ततः ।
पश्यत्यनुभवत्यपि देशकालशतभ्रमैः ॥ ३१
वरदात्मा गृहीतत्वाच्चित्कालान्तरसंभृता ।
यदा तदान्तःसारासौ दुर्जया न तु शापजा ॥ ३२
वरप्रदानं वरदैर्वरदानां वरार्थिभिः ।
यदा सुचिरमभ्यस्तं वराणां सारता तदा ॥ ३३
यदेव सुचिरं संविदभ्यस्यति तदेव सा ।
सारमेवाशु भवति भवत्याशु च तन्मयी ॥ ३४
शुद्धानामतिशुद्धैव संविज्जयति संविदाम् ।
अशुद्धानां त्वशुद्धैव कालात्साम्यं न विद्यते ॥ ३५
क्षणांशेनापि यो ज्येष्ठो न्यायस्तेनावपूर्यते ।
नार्थं न्यायान्तरं किंचित्कर्तुमुत्सहते मदम् ॥ ३६
समेनोभयकोटिस्थं मिश्रं वस्तु भवेत्समम् ।
वरशापविलासेन क्षीरमिश्रं यथा पयः ॥ ३७
समाभ्यां वरशापाभ्यामथवा चिद्विरूपताम् ।
स्वयमेवानुभवति स्वप्नेष्विव पुरात्मिका ॥ ३८
शिक्षितं त्वत्त एवेति यत्तदेव तव प्रभो ।
पुनः प्रतीपं पठितं शीघ्रं यामो नमोऽस्तु ते ॥ ३९
इत्युक्त्वा स स्वयंशापः कापि शापगणो ययौ ।
प्रशान्ते तिमिरे दृष्टे व्योम्नि केशोण्डकं यथा ॥ ४०

त्याहुः—क्षणांशेनापीति । ज्येष्ठस्यासंजातविरोधित्वेन सम्य-
द्विरुद्धत्वादिति भावः । अप्रमाणजस्य हि ज्येष्ठत्वं बाध्यत्वे
तन्त्रम् । यथा रजतभ्रमस्य प्रमाणदृढीकृते त्वर्थे अनपेक्षितस्य
ज्ञानस्य ज्येष्ठत्वं बाध्यत्वे तन्त्रमिति प्रसिद्धम् । न्यायान्तरं
न किंचिन्मदं शापप्रावल्यं कर्तुमुत्सहते इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ अत एव
यत्र विरुद्धकर्मणोर्वरशापयोर्वा प्रमाणाभ्यासादिसाम्यं तत्रोभयमि-
भ्रमेव फलं भवतीत्याह—समेनेति । शुभाशुभोभयकोटिस्थम् ।
यथा मनुष्यदेहः ॥ ३७ ॥ यत्रैककाले भिन्नदेशभोग्यौ समौ वर-
शापो तत्र विपश्चिदुपाख्यानोक्तन्यायेनोपाधेर्विभागेनैकैव जीव-
विद्युगपद्देहेदेन द्विरूपतोमापद्यत इत्याह—समाभ्यामिति ।
यथा स्वप्नेषु पुरात्मिका चित् पुरवासिजनदेहभेदेन विभाग-
मिवापद्यते तद्वत् ॥ ३८ ॥ याहुः पुरतः स्वेषां तत्त्वोद्धार-
धार्थ्यमनुचितमनुचिन्त्याहुः—शिक्षितमिति । यत्त्वत्त एव
शिक्षितं तत्तवैव पुरः पुनः पठितं धार्थ्यवहत्वात्प्रतीपं प्रति-
कूलमिति नो धार्थ्यापराधं क्षमस्व । अतस्ते नमोऽस्तु वयं शीघ्रं
स्वस्थानं यामः ॥ ३९ ॥ स्वयमेव स्वं वृथा प्रयासकारिणं
स्वमौर्ख्यख्यापकं लज्जया शपसीति स्वयंशापस्तथाविधः
सन् कापि ययौ । यथा दृष्टेस्तिमिररोगे प्रशान्ते सति
व्योम्नि भ्रान्तिकृतं केशोण्डकं कापि याति तद्वत् ॥ ४० ॥

१ पूर्वप्रक्रमानुरोधेनोत्तरत्र च प्रज्ञा वदिष्यतीत्यपेक्षितमिति

भाति. २ येषामाकारदाढ्यम्.

अथान्यो वरपूगोऽत्र गृहनिर्गमरोधकः ।
स्थानिस्थानमिवादेशः समानार्थोऽभ्यपूरयत् ॥ ४१ ॥
शापस्थानका वदिष्यन्ति ।

सप्तद्वीपेशजीवानां निर्वाणं शवसन्नः ।
देवेश विद्यो न घयमन्धकूपादिवाग्भसाम् ॥ ४२ ॥
सप्तद्वीपेश्वरानेतानिमे द्वीपेषु सशसु ।
कारयन्ति घरा वर्या वीरा दिग्विजयं रणे ॥ ४३ ॥
तदेवमनिवार्योऽस्मिन्विरोधे विबुधेश्वर ।
यदनुष्ठेयमस्माभिस्तदादिश शिवाय नः ॥ ४४ ॥

ब्रह्मोवाच ।

सप्तद्वीपेश्वरवरा गृहरोधवराश्च हे ।
कामः संपन्न एवेह भवतां भवतामपि ॥ ४५ ॥
व्रजतेतदपेक्षत्वं यावन्नेष्टावपि क्षणात् ।
चिरं चिराय सद्ने सप्तद्वीपेश्वराः स्थिताः ॥ ४६ ॥
समनन्तरमेवैते देहपातात्स्वसन्नसु ।
सप्तद्वीपेश्वराः सर्वे संपन्नाः परमं वराः ॥ ४७ ॥

सर्वे वरा वदिष्यन्ति ।

कुतो भूमण्डलान्यष्टौ सप्तद्वीपानि भूतयः ।
एकमेवेह भूपीठं श्रुतं दृष्टं च नेतरत् ॥ ४८ ॥
कथं चैतानि तिष्ठन्ति कस्मिंश्चिद्गृहकोशके ।
पञ्चाक्षकोशके सूक्ष्मे कथं भान्ति मतंगजाः ॥ ४९ ॥

ब्रह्मोवाच ।

युक्तं युष्माभिरस्माभिः सर्वे व्योमात्मकं जगत् ।
स्थितं चित्परमाण्वन्तरन्तःस्वप्नोऽनुभूयते ॥ ५० ॥

एवं दुर्वासःशापेषु गतेषु अथ अन्यः सप्तद्वीपाधिपत्यविरुद्धस्तेषां
गृहनिर्गमस्य रोधकः अन्यस्तद्धार्याभ्यो दत्तो गौरीवरपूगो
वैयाकरणप्रक्रियायामादेशः स्थानिस्थानमिव सूर्यवरैः सह विवा-
दायं शापस्थानमभ्यपूरयत् । यतः सोऽपि समानः अर्थस्तु-
ल्यकालं विरुद्धं फलं यस्य तथाविधः ॥ ४१ ॥ शापस्थाने
निविष्टः शापस्थानकाः पञ्जीवरा ब्रह्माणं प्रति वदिष्यन्ति । किं
तदाह—सप्तद्वीपेशेति । हे देवेश, आविसप्तद्वीपेशत्वेना-
भिमतानामेतेषां जीवानां शवसन्नो वहिर्निर्याणं घयं न
विद्मः । अस्माभिस्तद्विरोधादित्यर्थः । अन्धकूपाच्छून्यकूपात्
॥ ४२ ॥ ४३ ॥ नः शिवाय सफलत्वाय यदादेशं तदादिश ।
आज्ञापयेत्यर्थः ॥ ४४ ॥ भवतां सर्वेषां कामः संपन्न एव
॥ ४५ ॥ कथं संपन्नस्तत्राह—व्रजतेति । ब्रूयतेतत्परस्पर-
पेक्षत्वं व्रजत । यावत् यतो भवतां चिरं नेष्टी परस्परेच्छा-
विरहेपि तेऽष्टौ आतरो मरणोत्तरक्षणादेव चिराय स्वसदन
एव सप्तद्वीपेश्वरा भूत्वा स्थिताः ॥ ४६ ॥ तदेव स्पष्टमाह—
समनन्तरमिति ॥ ४७ ॥ भूतयस्तत्तद्वर्याणि च कुतः । श्रुतं
श्रुतिषु प्रसिद्धम् । इहं लोकेपि प्रसिद्धम् ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ स्वप्न-
११ —युक्तमिति । यतो युष्माभि-

भाति यत्परमस्याणोरन्तस्थस्वगृहोदरे ।
स्फुरितं तत्किमाश्चर्यं कः सायः प्रकृतेः क्रमे ॥ ५१ ॥
मृतेरनन्तरं भाति यथास्थितमिदं जगत् ।
शून्यात्मैव घनाकारं तस्मिन्नेव क्षणे चितः ॥ ५२ ॥
अणावपि जगन्भाति यत्र तत्र गृहोदरे ।
सप्तद्वीपा वसुमती कचतीति किमद्भुतम् ॥ ५३ ॥
यद्भातीदं च चित्तत्वं जगत्त्वं न जगत्कचित् ।
चिन्मात्रमेव तद्भाति शून्यत्वेन यथास्वरम् ॥ ५४ ॥
इति ते ब्रह्मणा प्रोक्ता वरदेन वरास्ततः ।
तानाधिभौतिकभ्रान्तिमयान्संलज्य देहकान् ॥ ५५ ॥
प्रणम्याजं समं जग्मुरातिवाहिकदेहितः ।
सप्तद्वीपे च देवानां गृहकोशान्कचज्जनान् ॥ ५६ ॥
यावत्ते तत्र संपन्नाः सप्तद्वीपाधिनायकाः ।
अष्टावपीठापुष्टानां दिनाष्टकमहीभुजाम् ॥ ५७ ॥
ते परस्परमज्ञाता अज्ञाश्चान्योन्यबन्धवः ।
अन्योन्यभूमण्डलगा अन्योन्याभिमते हिताः ॥ ५८ ॥
तेषां कश्चिद्गृहस्यान्तरेव तारुण्यसुन्दरः ।
उज्जयिन्यां महापुर्यां राजधान्यां सुखे स्थितः ॥ ५९ ॥
शाकद्वीपास्पदः कश्चिन्नागलोकजिगीषया ।
विचरत्यधिजठरे सर्वदिग्विजयोद्यतः ॥ ६० ॥
कुशद्वीपराजधान्यां निराधिः सकलप्रजाः ।
कृतदिग्विजयः कश्चित्सुतः कान्तावलम्बितः ॥ ६१ ॥
शान्मलिद्वीपशैलेन्द्रशिरःपुर्याः सरोवरे ।
जललीलारतः कश्चित्सहविद्याधरीगणैः ॥ ६२ ॥

रस्माभिश्च व्यष्टिसमष्टिभिर्युक्तं सर्वं जगद्योमात्मकं सचित्पर-
माण्वन्तः स्थितमन्तःस्वप्न एवानुभूयते अतस्तत् परमाणोर-
प्यन्तस्थे स्वगृहोदरे भातीति परेणान्वयः ॥ ५० ॥ तत्कि-
माश्चर्यमपूर्वम् । कः सायो विसयः ॥ ५१ ॥ स्वप्नसाम्यमेव
दर्शयन्तुं स्फुटयति—मृतेरित्यादिना ॥ ५२ ॥ ५३ ॥
यदिदं जगत्त्वं भाति तत् त्वं चिदेव । यत्तच्चिन्मात्रमेव तद्भाति
अतो न कश्चिज्जगन्मूर्तमस्ति यद्गृहे न भायादित्यर्थः ॥ ५४ ॥
तान्प्राक्कल्पितानाधिभौतिकभ्रान्तिमयान् देहकांस्तत्त्वविचारेण
संलज्य आतिवाहिकदेहितः सन्तः अजं प्रणम्य अविवेका-
त्समं साकं तत्तन्मनःकल्पिते सप्तद्वीपे तत्तद्देवानां गृहको-
शान् जग्मुरिति परेणान्वयः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ यावदिति साकत्वे ।
तेऽष्टौ आतरोस्तत्र गृहे इष्टेयशादिकसत्कर्मभिर्बन्धुजनैश्च आपुष्टानां
जगदष्टकमेदेन अष्टादिनाष्टके षादिमहीभुजां स्वायंभुवमनुनां
कुले इति शेषः । सप्तद्वीपाधिनायकाः संपन्ना इत्यर्थः ॥ ५७ ॥
प्रत्येकं आतृसहितत्वकल्पनादन्योन्यबन्धवः । राज्यभेदेन सर्वे-
षामाधिपत्यांश्च त्वज्ञाः । अत एवान्योन्याभिमते हिता न तु
विरुद्धचेष्टाः ॥ ५८ ॥ तेषां प्रत्येकं चरित्रभेदकल्पनामाह—
तेषामित्यादिना ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ शेकेन्द्रस्य शिरो

क्रौञ्चद्वीपे हेमपुरे सप्तद्वीपविवर्धिते ।
 प्रवृत्तो वाजिमेघेन कश्चिद्यष्टं दिनाष्टकम् ॥ ६३
 उद्यतः शाल्मलिद्वीपे कश्चिद्वीपान्तचारिणा ।
 योद्धुमुद्धुतदिग्दन्तिदन्ताकृष्टकुलाचलः ॥ ६४
 गोमेदद्वीपकः कश्चित्पुष्करद्वीपराट् सुताम् ।
 समानेतुं वशाद्याति कषत्सेनोऽष्टमोऽभवत् ॥ ६५
 पुष्करद्वीपकः कश्चिल्लोकालोकाद्रिभूभुजः ।
 दूतेन सह निर्यातो धनभूमिदिदृक्षया ॥ ६६
 प्रत्येकमित्थमेतेषां द्वीपद्वीपाधिनाथताम् ।

कुर्वतां स्वगृहाकाशे दृष्ट्वा स्वप्रतिभोचिताम् ॥ ६७
 त्यक्ताभिमानिकाकारा द्विविधास्ते वरास्ततः ।
 तत्संविद्धिर्गृहेष्वन्तरेकतां खानि खैरिव ॥ ६८
 यास्यन्ति ते भविष्यन्ति संप्राप्ताभिमतान्धिरम् ।
 सप्तद्वीपेश्वरास्तुष्टा नन्वष्टावपि तुष्टिमत् ॥ ६९
 इत्येते प्रविकसितोदितक्रियार्थाः
 प्राप्स्यन्ति प्रविततबुद्धयस्तपोभिः ।
 अन्तर्यत्स्फुरति विदस्तदेव बाह्ये
 नाप्तं कैस्तदुचितकर्मभिः किलेति ॥ ७०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठ० वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्म० ताप० द्वीपसप्तकाष्टकवर्णनं नाम त्र्यशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८३ ॥

चतुरशीत्यधिकशततमः सर्गः १८४

कुन्ददन्त उवाच ।
 इत्युक्तवानसौ पृष्टः कदम्बतलतापसः ।
 सप्तद्वीपा भुवोऽष्टौ ताः कथं माता गृहेष्विति ॥ १
 कदम्बतापस उवाच ।
 चिद्धातुरीहगेवायं यदेष व्योमरूप्यपि ।
 सर्वगो यत्र यत्रास्ते तत्र तत्रात्मनि स्वयम् ॥ २
 आत्मानमित्थं त्रैलोक्यरूपेणान्येन वा निजम् ।
 परिपश्यति रूपं स्वमत्यजमेव स्वात्मकम् ॥ ३
 कुन्ददन्त उवाच ।
 एकस्मिन्निमले शान्ते शिवे परमकारणे ।
 कथं स्वभावसंसिद्धा नानाता वास्तवी स्थिता ॥ ४
 कदम्बतापस उवाच ।
 सर्वं शान्तं चिदाकाशं नानास्तीह न किञ्चन ।
 दृश्यमानमपि स्फारमावर्तात्मा यथाम्भसि ॥ ५

असत्स्वेषु पदार्थेषु पदार्था इति भान्ति यत् ।
 चित्त्वं स्वप्नसुषुप्तात्म तत्तस्याच्छं निजं वपुः ॥ ६
 सस्पर्न्दोऽपि हि निःस्पर्न्दः पर्वतोऽपि न पर्वतः ।
 यथा स्वप्नेषु चिद्धावः स्वभावोऽर्थगतस्तथा ॥ ७
 न स्वभावा न चैवार्थाः सन्ति सर्वात्मकोचिते ।
 सर्गादौ कचितं रूपं यद्यथा तत्तथा स्थितम् ॥ ८
 न च नाम परं रूपं कचनाकचनात्मकम् ।
 द्रव्यात्मा चिच्च चिद्योम स्थितमित्थं हि केवलम् ॥ ९
 एकैव चिद्यथा स्वप्ने सेनायां जनलक्षताम् ।
 गतेवाच्छैव कचति तथैवास्याः पदार्थता ॥ १०
 यत्स्वतः स्वात्मनि स्वच्छे चित्त्वं कचकचायते ।
 तत्तेनैव तदाकारं जगदित्यनुभूयते ॥ ११
 असत्यपि यथा बह्नावुष्णसंविद्धि भासते ।
 संविन्मात्रात्मके व्योम्नि तथार्थः स्वस्वभासकः ॥ १२

शिखरं तद्वतायाः पुर्याः श्रीडासरोवरे ॥ ६२ ॥ सप्तद्वीपाहृत-
 महर्धिमिर्विवर्धिते ॥ ६२ ॥ द्वीपान्तचारिणा राज्ञा सह योद्धु-
 मुद्यतः । उद्धुतैरुपाटितैर्दिग्दन्तिदन्तैराकृष्टाः कुलाचला वर्ष-
 पर्वता येन तथाविधः सन् ॥ ६४ ॥ गोमेदद्वीपकस्तद्वसतिः ।
 समानेतुं जित्वा परिणेतुम् । वशात्कामवशात् । कषन्ती
 शत्रुदेशान्वाधमाना सेना यस्य । यः प्राग् भ्रातृणामष्टमोऽभवत्
 सः ॥ ६५ ॥ धनभूमिर्निधानस्यानं तदिदृक्षया ॥ ६६ ॥
 ॥ ६७ ॥ त्यक्तः आभिमानिकाकार आतिवाहिकदेहाकारेऽपि
 यैस्तथाविधाः सन्तस्तेषामष्टानां जीवसंविद्धिरेकतां यास्यन्तीति
 परेणान्वयः ॥ ६८ ॥ तुष्टिमत् राज्यं प्राप्स्यत्यर्थः ॥ ६९ ॥
 उक्तं संगृह्योपसंहरति—इतीति । इति उक्तप्रकारं सप्तद्वीपा-
 धिपत्यं तपोभिः प्रविकसितः पूर्वोदितवरः क्रियार्थो येषां
 तथाविधा एतेऽष्टौ भ्रातरः प्राप्स्यन्ति । विदः प्रत्यक्चैतन्यस्य
 अन्तर्दृढनिश्चयात्मना यत्स्फुरति तदेव बाह्ये तदुचिततपोज-
 पादिकर्मभिः कैर्नाप्तम् । किलेति प्रसिद्धौ ॥ ७० ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहाप्रमाणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे द्वीप-
 यो० वा० १८९

सप्तकाष्टकवर्णनं नाम त्र्यशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८३ ॥
 गृहस्यान्तर्जगन्मन्त्रौ संभवन्त्यपि कोटिशः ।
 यतोऽप्रबुद्धचिन्मात्रं तथा भातीति वर्ण्यते ॥ १ ॥
 गृहेषु अल्पावकाशे ताः प्रत्येकं पञ्चाशत्कोटियोजनविस्तीर्णा
 भुवः कथं माता इति मया पृष्टोऽसौ कदम्बतलतापस इति
 वक्ष्यमाणमुत्तरमुक्तवान् ॥ १ ॥ व्योमरूपी प्रपञ्चश्चोऽपि
 आत्मानं त्रैलोक्यरूपेण अन्येन सुषुप्ततुर्यरूपेण वा स्वं रूप-
 मत्यजदेव परिपश्यतीति द्वयोरन्वयः ॥ २ ॥ ३ ॥ एकत्र
 नानाता विरुद्धेति शङ्कार्थः ॥ ४ ॥ न वास्तवीयं नानाता किंतु
 भ्रान्तिकृता । सा चैकस्मिन्नपि चन्द्रे द्वित्ववदविरुद्धेत्याशयेनो-
 त्तरमाह—सर्वमिति ॥ ५ ॥ स्वप्नसुषुप्तवद्विस्मृतयथार्थस्वभा-
 वात्म निजमज्ञातं वपुः स्वरूपमेव ॥ ६ ॥ अतो न विरोध इति
 दर्शयति—सस्पर्न्द इति । स्वभावः सन्मात्रात्मा कल्पितार्थ-
 गतोऽपि तथैव बोध्य इत्यर्थः ॥ ७ ॥ सर्वात्मकस्य उचिते
 वास्तवे रूपे न सर्गादिस्वभावा नापि तत्कृता अर्थाः ॥ ८ ॥
 न च द्रव्यात्मनाप्यचिच्च ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ स्वप्ने असत्यपि

क्षमन्त्यपि यथा स्वप्ने स्वप्ने नो नान्मता विदुः ।
 सर्वेऽसन्ता नानावसनवदपि नान्ययन् ॥ १३
 भविष्यो वयार्थो नन्वाभावाच्छमेय च ।
 निर्लोभा यदथा कृतं नक्तथागपि विन्दते ॥ १४
 कृतं वपे कृते स्वप्ने नकृत्ये यथा ननः ।
 सर्वं सर्वं सर्वान्म सर्वमेव तथाऽपरम् ॥ १५
 श्रमाश्रमश्रमोभावापः सर्वपरंपरा ।
 श्रमार्थमहाकाशे शून्यता सर्वान्विदुः ॥ १६
 श्रमार्थं श्रमं श्रमं पर्याया ननृदवत् ।
 शोभावेतदयोश्चानु कृतं दुःखाय केवलम् ॥ १७
 श्रमाश्रमं जगदोर्मैकमित्येव निश्चयः ।
 यस्यान्मशाश्रमोचनं भवेत्संशय हि मुक्तता ॥ १८
 संकल्पस्य यपुत्राय संकल्पकचिदाकृतेः ।
 तदेव जगतो रूपं तस्याद्रमात्मकं जगत् ॥ १९
 यतो वाचो नियतन्ते न नियतन्त एव वा ।
 विश्वः प्रतिपेथाद्य भावाभावदृशस्तथा ॥ २०
 समानमार्गं जीवान्म यत्पापाणवदासनम् ।
 यन्मदेवासदाभासं तद्ग्राभिधमुच्यते ॥ २१
 सर्वस्मिन्नेकमुच्यते ब्रह्मण्येव निरामये ।
 का प्रकृतिर्निवृत्तिः का भावाभावाद्विस्तृतः ॥ २२
 एतन्नामैव निद्रायां सुषुप्तमप्रविभ्रमाः ।
 यत्र भान्त्यविचित्रायां चित्रा इव निरन्तराः ॥ २३
 पनन्तां चित्तवसत्तायां तथा मूलकसर्गकाः ।

यदयो भान्त्यविचित्रायां चित्रा इव निरन्तराः ॥ २४
 द्रव्यं द्रव्यान्तरं दिष्टं यत्काशान्तरमाभिप्रेत् ।
 तद्वदन्तन्वाभनन्तिस्मरं स्फुरणं मिथः ॥ २५
 सर्वे पदार्थाश्चिन्तास्मात्रमप्रतिभाः सदा ।
 यथा भान्ति तथा भान्ति चिन्मात्रकान्मतावशात् ॥ २६
 चिन्मात्रकान्मसारन्वाश्रयसंवेदनं स्थिताः ।
 निःस्पन्दा निर्मेगस्काराः स्फुरन्ति द्रव्यशक्तयः ॥ २७
 अविद्यमानमेवेतं दृश्यतेऽथानुभूयते ।
 जगत्समं इवाशेषं सरुद्रोपेन्द्रपञ्चजम् ॥ २८
 विचित्राः रालु दृश्यन्ते विजले स्पन्दरीतयः ।
 दर्शामर्षविशदोत्थजह्ममस्थावरात्मनि ॥ २९
 स्वभाववाताधूनस्य जगज्जालचमत्कृतः ।
 हा चिन्मरीचिषांश्चभ्रनीदारस्य विसारिता ॥ ३०
 यथा केशोण्डुकं व्योम्नि भाति व्यामलयन्नुपः ।
 तथैवेयं जगज्जान्तिर्भात्यनात्मविदोऽम्बरे ॥ ३१
 यावत्संकल्पितं तावद्यथा संकल्पितं तथा ।
 यथा संकल्पनगरं कचतीदं जगत्तथा ॥ ३२
 संकल्पनगरे यावत्संकल्पसकटा स्थितिः ।
 भवत्येवाप्यसदृषा सतीवानुभवे स्थिता ॥ ३३
 प्रवहत्येव नियतिर्नियतार्थप्रदायिनी ।
 स्वावरं जह्मं चैव तिष्ठत्येव यथाक्रमम् ॥ ३४
 जायते जह्मं जीवान्स्वावरं स्वावरादपि ।
 नियत्याधो बहत्यस्तु गच्छत्युर्ध्वमथानलः ॥ ३५

वहन्ति देहयन्त्राणि ज्योतींषि प्रतपन्ति च ।
 चायवो नित्यगतयः स्थिताः शैलादयः स्थिराः ॥ ३६
 ज्योतिर्मयं विवृत्तं तु धारासाराम्बरीकृतम् ।
 युगसंवत्सराद्यात्म कालचक्रं प्रवर्तते ॥ ३७
 भूतलैकान्तराब्ध्यद्रिसंनिवेशः स्थितायते ।
 भावाभावग्रहोत्सर्गद्रव्यशक्तिश्च तिष्ठति ॥ ३८
 कुन्ददन्त उवाच ।
 प्राग्दृष्टं स्मृतिमायाति तत्स्वसंकल्पनान्यतः ।
 भाति प्रथमसर्गे तु कस्य प्राग्दृष्टभासनम् ॥ ३९
 तापस उवाच ।
 अपूर्वं दृश्यते सर्वं स्वप्ने स्वमरणं यथा ।
 प्राग्दृष्टं दृष्टमित्येव तत्रैवाभ्यासतः स्मृतिः ॥ ४०
 चित्त्वाचिद्योमि कचति जगत्संकल्पपत्तनम् ।
 न सन्नासदिदं तस्माद्भाताभातं यतः स्वतः ॥ ४१
 चित्प्रसादेन संकल्पस्वप्नाद्यध्यानुभूयते ।

शुद्धं चिद्योम संकल्पपुरं मा सूर्यतां कथम् ॥ ४२
 हर्षामर्षविनिर्मुक्तैर्दुःखेन च सुखेन च ।
 प्रकृतेनैव मार्गेण ज्ञैश्चकैरिव गम्यते ॥ ४३
 निद्राव्यपगमे स्वप्ननगरे यादृशं स्मृतौ ।
 चिद्योमात्म परं विद्धि तादृशं त्रिजगद्भ्रमम् ॥ ४४
 संविदाभासमात्रं यज्जगदित्यभिशब्दितम् ।
 तत्संविद्योम संशान्तं केवलं विद्धि नेतरत् ॥ ४५
 यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
 सर्वं सर्वतया सर्वं तत्सर्वं सर्वदा स्थितम् ॥ ४६
 यथेयं संस्मृतिर्वाही भवतो यद्भविष्यति ।
 यथा भानं च दृश्यस्य तदेतत्कथितं मया ॥ ४७
 उत्तिष्ठतं व्रजतमास्पदमहि पद्मं
 भृङ्गाविवाभिमतमाशु विधीयतां स्वम् ।
 तिष्ठामि दुःखमलमस्तसमाधिसंस्थं
 भूयः समाधिमहमङ्ग चिरं विशामि ॥ ४८

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्म० ता० कुन्ददन्तोपदेशो नाम चतुरशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमः सर्गः १८५

कुन्ददन्त उवाच ।
 जरन्मुनिरपीत्युक्त्वा ध्यानमीलितलोचनः ।
 आसीदस्पन्दितप्राणमनाश्चित्र इवार्पितः ॥ १
 आवाभ्यां प्रणयोदारैः प्रार्थितोऽपि पुनःपुनः ।

जीवात्स्फुटजीवनाज्जमात् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ज्योतिर्मयं
 कालचक्रं दक्षिणायनात्मना विवृत्तं वर्षर्तौ धारासारव्याप्तम्बरी-
 कृतम् । तयैव नियत्या ॥ ३७ ॥ भूतले च द्वीपमेदैरेकान्त-
 राणामब्धीनामद्रीणां च संनिवेशः स्थितवदाचरति स्थितायते
 ॥ ३८ ॥ नन्वस्मदादिसर्वजनव्यवहारो धातुसंकल्परूपनि-
 यत्या व्यवस्थितोऽस्तु । धातुः संकल्पव्यवस्थैव तु पूर्वानुभव-
 जन्यसंस्कारातिरिक्तहेत्वसंभवादादिसर्गे च पूर्वानुभवाप्रसिद्धेः
 कथं सिध्यतीति कुन्ददन्तः शङ्कते—प्राग्दृष्टमिति । तत्त-
 तस्तदनुसारिखसंकल्पनानि भवन्ति । अत एभ्यः स्वसंकल्प-
 नेभ्यो नियतः सर्गो भाति । इदं तु द्वितीयादिकल्पसर्गे
 उपपद्यते । प्रथमसर्गे तु कस्य प्राक्सर्गभासनं प्रसिद्धम् । यं
 पृच्छेत्स्वयं वा स्मरेदित्यर्थः ॥ ३९ ॥ न स्मरणाधीनो धातुः
 संकल्पः किंतु दिव्यज्ञानेनातीतानागतसर्ववस्तुदर्शनाधीनः । 'स
 ऐकत लोकाशु सृजा इति स इमोल्लोकानसृजत' इत्यादि-
 श्रुतेः । तस्मिन् क्षणे सर्वमतीतानागतं जगदपूर्वमेव दृश्यते
 दृष्टानुसारिणी च चिद्विवर्तरूपा सांकल्पिकी सृष्टिः प्रवर्तते ।
 तत्रैवेदं मया प्राग्दृष्टमित्यप्यध्यस्यते कचिदिति तापसः समा-
 धत्ते—अपूर्वमित्यादिना ॥ ४० ॥ यतः कदाचिद्भातं कदा-
 चिदभातम् ॥ ४१ ॥ दर्शनासामर्थ्ये हि स्मृतिः कल्प्येत ।

वाक्यैः संसारमविदन्न वचो दत्तवान्पुनः ॥ २
 आवां प्रदेशतस्तस्माच्चलित्वा मन्दमुत्सुकौ ।
 दिनैः कतिपयैः प्राप्तौ गृहं मुदितबान्धवम् ॥ ३

स्वप्ने कल्पनामात्रेण दर्शनसमर्थायाक्षितः स्मृतिकल्पनादर्शनादि-
 त्याह—चित्प्रसादेनेति ॥ ४२ ॥ अत एव गुणदोषावस-
 रणाद्धर्षामर्षरहितैस्तत्त्वज्ञैः कुलालचक्रवत्प्रारब्धवेगेनैव भ्रम्यत
 इत्याह—हर्षेति ॥ ४३ ॥ बाधितस्मृतेश्च न स्मृतिः किंत्व-
 धिष्ठानमात्रपरिशेषदर्शनमित्याह—निद्रेति ॥ ४४ ॥ तत्
 संशान्तं व्योमेव तादृशं त्वं विद्धि ॥ ४५ ॥ यतश्चिदेव संशान्ता
 सर्वमित्याह—यस्मिन्निति ॥ ४६ ॥ तदेतत्सर्वं मया भवतः
 कथितमित्युपसंहारः ॥ ४७ ॥ अङ्ग हे द्विजौ, युवां उत्तिष्ठ-
 तम् । अहि प्रातः पद्मं भृङ्गाविवा आस्पदं गृहं व्रजतम् ।
 तत्राभिमतं सत्कर्म विधीयताम् । अहमिदानीमस्तसमाधि-
 संस्थमलमल्यन्तं दुःखं यथा स्यात्तथा तिष्ठामि । अतस्तत्परिहा-
 राय भूयः अलं समाधिं विशामीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कुन्द-
 दन्तोपदेशो नाम चतुरशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८४ ॥

तयोर्गृहागमस्तत्र आवृणां क्रमशः क्षयः ।

कुन्ददन्तस्य रामास्या मोहोच्छित्तिश्च वर्ण्यते ॥ १ ॥

अस्पन्दिते प्राणमनसी यस्य ॥ १ ॥ प्रणयोदारैर्वच्यैरा-
 वाभ्यां प्रार्थितोऽपि वचो न दत्तवान् । यतो बाह्यवृत्त्युपरमा-
 त्संसारमविदन्ननुसंदधान इत्यर्थः ॥ २ ॥ मुनिवियोगा-

अथ तत्रोत्सवं कृत्वा कथाः प्रोच्य चिरंतनीः ।
 स्थितास्तावद्वयं यावत्सप्तमि भ्रातरोऽथ ते ॥ ४
 क्रमेण विलयं प्राप्ताः प्रलयेष्वर्णवा इव ।
 मुक्तोऽसौ मे सखैवैक एकार्णव इवाष्टकः ॥ ५
 ततः कालेन सोऽप्यस्तं दिनान्तेऽर्क इवागतः ।
 अहं दुःखपरीतात्मा परं वैधुर्यमागतः ॥ ६
 ततोऽहं दुःखितो भूयः कदम्बतरुतापसम् ।
 गतो दुःखोपघाताय तज्ज्ञानं प्रष्टुमादतः ॥ ७
 तत्र मासत्रयेणासौ समाधिविरतोऽभवत् ।
 प्रणतेन मया पृष्ठः सन्निदं प्रोक्तवानथ ॥
 कदम्बतरापस उवाच ।
 अहं समाधिविरतः स्थातुं शक्नोमि न क्षणम् ।
 समाधिमेव प्रविशाम्यहमाशु कृतत्वरः ॥ ९
 परमार्थोपदेशस्ते नाभ्यासेन विनानथ ।
 लगत्यत्र परां युक्तिमिमां शृणु ततः कुरु ॥ १०
 अयोध्यानाम पूरस्ति तत्रास्ति घसुधाधिपः ।
 नाम्ना दशरथस्तस्य पुत्रो राम इति श्रुतः ॥ ११
 सकाशं तत्र गच्छ त्वं तस्यै कुलगुरुः किल ।
 वसिष्ठाख्यो मुनिश्रेष्ठः कथयिष्यति संसदि ॥ १२
 मोक्षोपायकथां दिव्यां तां श्रुत्वा सुचिरं द्विज ।
 विश्रान्तिमेधसि परे पदेऽहमिव पावने ॥ १३
 इत्युक्त्वा स समाधानरसायनमहार्णवम् ।
 विवेशाहमिमं देशं त्वत्सकाशमुपागतः ॥ १४
 एषोऽहमेतद्वृत्तं मे सर्वं कथितवानहम् ।
 यथावृत्तं यथादृष्टं यथाश्रुतमखण्डितम् ॥ १५
 श्रीराम उवाच ।
 स कुन्ददन्त इत्यादिकथाकथनकोविदः ।
 स्थितस्ततः प्रभृत्येव मत्समीपगतः सदा ॥ १६

स एष कुन्ददन्ताख्यो द्विजः पार्श्वे समास्थितः ।
 श्रुतवान्संहितामेतां मोक्षोपायाभिधामिह ॥ १७
 स एष कुन्ददन्ताख्यो मम पार्श्वगतो द्विजः ।
 अद्य निःसंशयो जातो न वेति परिपृच्छयताम् ॥ १८
 श्रीवाल्मीकिरवाच ।
 इत्युक्ते राघवेणाथ प्रोवाच वदतांवरः ।
 स वसिष्ठो मुनिश्रेष्ठः कुन्ददन्तं विलोकयन् ॥ १९
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 कुन्ददन्त द्विजवर कथ्यतां किं त्वयानघ ।
 बुद्धं श्रुतवता ज्ञेयं मदुक्तं मोक्षदं परम् ॥ २०
 कुन्ददन्त उवाच ।
 सर्वसंशयविच्छेदि चेत एव जयाय मे ।
 सर्वसंशयविच्छेदो ज्ञातं ज्ञेयमखण्डितम् ॥ २१
 ज्ञातं ज्ञातव्यममलं दृष्टं द्रष्टव्यमक्षतम् ।
 प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं विश्रान्तोऽसि परे पदे ॥ २२
 बुद्धेयं त्वदिदं सर्वं परमार्थघनं घनम् ।
 अनन्येनात्मनो व्योम्नि जगद्रूपेण जुम्भितम् ॥ २३
 सर्वात्मकतया सर्वरूपिणः सर्वगात्मनः ।
 सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदा संभवत्यलम् ॥ २४
 संभवन्ति जगन्त्यन्तः सिद्धार्थकणकोटरे ।
 न संभवन्ति च यथा ज्ञातमेतदशेषतः ॥ २५
 गृहेऽन्तः संभवत्येव सप्तद्वीपा वसुंधरा ।
 गेहं च शून्यमेवास्ते सत्यमेतदसंशयम् ॥ २६
 यद्यद्यदा वस्तु यथोदितात्म
 भातीह भूतैरनुभूयते च ।
 तत्तत्तदा सर्वघनस्तथास्ते
 ब्रह्मेत्यमाद्यन्तविमुक्तमस्ति ॥ २७

इत्यार्षे श्रीवालिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्म० ता० कुन्ददन्तप्रबोधो नाम पञ्चाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८५ ॥

इत्युक्तौ ॥ ३ ॥ तत्र गृहे कुलवेवताराधनमुवाचिनीब्राह्मण-
 भोजनाद्युत्सवं कृत्वा ॥ ४ ॥ प्रलयेषु प्रलयारम्भे द्वादशादिस-
 तापात्सप्तमिर्वा इव ॥ ५ ॥ स मत्सखः अष्टमोऽपि । वैधुर्यं
 सखिजनवियोगम् ॥ ६ ॥ तत् प्राप्तेनोक्तमात्मज्ञानम् ॥ ७ ॥
 ॥ ८ ॥ ९ ॥ इदानीं मया कृतोऽपि ते न लगति । परामन्यां
 युक्तिं ज्ञानप्राप्त्युपायम् ॥ १० ॥ ११ ॥ मोक्षोपायकथां कथ-
 यिष्यति ॥ १२ ॥ १३ ॥ त्वत्सकाशमिति रामं प्रत्युक्तिः ॥ १४ ॥
 अखण्डितमखिलम् ॥ १५ ॥ १६ ॥ इह अस्यां सभायाम्
 ॥ १७ ॥ एवं प्रश्नोपोद्घातमुपवर्ण्य प्रष्टव्यांशमाह—स इति
 ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ सर्वसंदेहविच्छेदो जात इति शेषः ।
 यतोऽवश्यज्ञेयमखण्डितं प्रत्यग्भेदलक्षणखण्डितशून्यं ब्रह्मतत्त्वं
 ज्ञातम् ॥ २१ ॥ ज्ञानमात्रेण मोहनिवृत्त्या ज्ञातव्यान्तरस्य ।

द्रष्टव्यान्तरस्य लब्धव्यान्तरस्य चापरिशेषात्कृतकृत्यतामाह—
 ज्ञातमिति ॥ २२ ॥ त्वत् त्वत् इयमात्मचित् मया बुद्धा । कथं
 बुद्धा तदाह—इदं सर्वमित्यादि ॥ २३ ॥ २४ ॥ सिद्धार्थः
 श्वेतसर्पपल्लवीयकणकोटरेऽपि अधिष्ठानचितः सर्वकल्पनाश-
 क्तिसंघतायाः सत्त्वात्तदन्तर्भावाद्दशा अवन्ति संभवन्ति । पर-
 मार्थदशा तु ह्यपि न संभवन्ति च ॥ २५ ॥ २६ ॥ तत्र समर्थं
 ब्रह्मतत्त्वं निष्कृष्योपसंहरति—यद्यदिति । सर्वघन आत्मैव
 सर्वजनसार्वकालिकबोधविषयसर्वभावेनास्ते नाणुमात्रमपि ततो-
 ऽन्यत्केनचित्कदाचिदप्यनुभूयत इति निष्कर्ष इति भावः
 ॥ २७ ॥ इति श्रीवालिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाण-
 प्रकरणे उत्तरार्धे कुन्ददन्तप्रबोधो नाम पञ्चाशीत्यधिकशततमः
 सर्गः ॥ १८५ ॥

षडशीत्यधिकशततमः सर्गः १८६

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

कुन्ददन्ते वदत्येवं वसिष्ठो भगवान्मुनिः ।
उवाचेदमनिन्धात्मा परमार्थोचितं वचः ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

वत विज्ञानविभ्रान्तिरस्य जाता महात्मनः ।
करामलकवद्विश्वं ब्रह्मेति परिपश्यति ॥
क्विलेदं भ्रान्तिमात्रात्म विश्वं ब्रह्मेति भात्यजम् ।
भ्रान्तिर्ब्रह्मैव च ब्रह्म शान्तमेकमनामयम् ॥
यद्यथा येन यत्रास्ति यादृग्यावद्यदा यतः ।
तत्तथा तेन तत्रास्ति तादृकतावत्तदा ततः ॥
शिवं शान्तमजं मौनममौनमजरं ततम् ।
सुशून्याशून्यमभवमनादिनिधनं ध्रुवम् ॥
यस्या यस्यास्त्ववस्थायाः क्रियते संविदा भरः ।
सा सा सहस्रशाखत्वमेति सेकैर्यथा लता ॥
परो ब्रह्माण्डमेवाणुश्चिद्योऽन्तोऽस्थितो यतः ।
परमाणुरेव ब्रह्माण्डमन्तःस्थितजगद्यतः ॥

तस्माच्चिदाकाशमनादिमध्य-

मखण्डितं सौम्यमिदं समस्तम् ।

निर्वाणमस्तंगतजातिवन्धो

यथास्थितं तिष्ठ निरामयात्मा ॥

स्वयं दृश्यं स्वयं द्रष्टुं स्वयं चित्त्वं स्वयं जडम् ।

स्वयं किञ्चिन्न किञ्चिच्च ब्रह्मात्मन्येव संस्थितम् ॥ ९

सर्वं ब्रह्मेति सिद्धान्तो युक्तिभिः क्रियतेऽचलः ।

वरशापार्थसिद्धिश्च धातुः संकल्पतश्चितः ॥ १ ॥

कुन्ददन्तवर्णितं मायाशबलब्रह्मतत्त्वं प्रथमतो दृढीकृत्य
निर्माणं शुद्धं तद्वर्णयितुं श्रीवसिष्ठः प्रवृत्त इत्याह—कुन्ददन्ते
इति ॥ १ ॥ वतेत्यनुकम्पायाम् । 'ज्ञात' इति पाठे ज्ञातेन साक्षा-
त्कारज्ञानफलेन विज्ञानस्य शास्त्रश्रवणजन्यज्ञानस्य विभ्रान्तिः
पूर्णता । करामलकवदिति तस्यैव स्फुटमभिनयः ॥ २ ॥
भ्रान्तिरन्यथाग्रहस्तन्मात्रात्मकं विश्वं ब्रह्मेत्यस्य भाति यतो
भ्रान्तिरपि ब्रह्मैवेत्यस्य भाति ॥ ३ ॥ शबलब्रह्मनिष्कर्षदृशा-
नेन यद्वर्णितं तदपि सम्यगेवेत्याह—यदिति ॥ ४ ॥ तच्च
शुद्धाविरुद्धम् । मायाया विकारं विनैव वैचित्र्यप्रकटनादित्या-
शयेनाह—शिवमिति ॥ ५ ॥ संविदा मायाशबलचिता ।
भरः संकल्पातिशयः ॥ ६ ॥ ब्रह्माण्डमेव परोऽणुः परमाणुः ।
एवं परमाणुरेव ब्रह्माण्डं यतोन्तःस्थितं जगत् ॥ ७ ॥ जग-
द्ब्रह्मैव चेयत्फलितं तदाह—तस्मादिति । अस्तंगतो जातिः
शरीरादिवैचित्र्यं तद्रूपो बन्धो यस्य तथाविधः सन् यथास्थितं
ब्रह्मैव भूत्वा तिष्ठ ॥ ८ ॥ व्यवहारे तु ब्रह्म स्वयमेव दृश्या-
दिवेषेण संस्थितम् । परमार्थतस्तु तत् आत्मन्यद्वितीयस्व-

यथा यत्र जगत्येतत्स्वयं ब्रह्म स्वमात्मनि ।

स्वरूपमजहच्छान्तं यत्र संपद्यते तथा ॥ १०

ब्रह्म दृश्यमिति द्वैतं न कदाचिद्यथास्थितम् ।

एकत्वमेतयोर्विद्धि शून्यत्वाकाशयोरिव ॥ ११

दृश्यमेव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव दृश्यता ।

एतन्न शान्तं नाऽशान्तं नानाकारं न चाकृतिः ॥ १२

यादृग्प्रबोधे स्वप्नादिस्तादृग्देहो निराकृतिः ।

संविन्मात्रात्मा प्रतिघः खानुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ १३

संविन्मयो यथा जन्तुर्निद्रात्मास्ते जडोभवत् ।

जडीभूता तथैषास्ते संवित्स्थावरनामिका ॥ १४

स्थावरत्वाज्जडाच्चित्त्वं जङ्गमात्म प्रयाति चित् ।

जीवः सुषुप्तात्मा स्वप्नं जाग्रच्चैव जगच्छतैः ॥ १५

आमोक्षमेवा जीवस्य भुव्यम्भस्यनिलेऽनले ।

खे स्वात्मभिर्जगल्लक्षैः स्वप्नाभैर्भासते स्थितिः ॥ १६

चिच्चिनोति तथा जाड्यं नरो निद्रास्थितिर्यथा ।

चिनोति जडतां चित्त्वं न नाम जडतावशात् ॥ १७

चिता वेदनवेत्तारं स्थावरं क्रियते वपुः ।

चिता वेदनवेत्तारं जङ्गमं क्रियते वपुः ॥ १८

यथा पुंसो नखाः पादावेकमेव शरीरकम् ।

तथैकमेवाप्रतिघं चितः स्थावरजङ्गमम् ॥ १९

आदिसर्गे स्वप्न इव यत्प्रयामागतं स्थितम् ।

चितो रूपं जगदिति तत्तथैवान्त उच्यते ॥ २०

प्रकाशानन्दैकरसात्मन्येव संस्थितम् ॥ ९ ॥ यत्र यद्वासनया
यथा संपद्यते तत्र तथा स्थितमित्यनुकर्षः ॥ १० ॥ ब्रह्म मायया
दृश्यं जगत्संपन्नमित्येतावता द्वैतं न कदाचिन्मन्तव्यं, यतो यथा-
स्थितमविकृतमेवास्ते ॥ ११ ॥ १२ ॥ प्रतीयमाना देहाद्याकृतिः
कथमपलप्यते तत्राह—यादृगिति ॥ १३ ॥ संविदोऽपि
जडस्थावरमावे दृष्टान्तमाह—संविन्मय इति ॥ १४ ॥
तस्याः स्थावरभावोत्तरं जङ्गमभावे विदुर्भिव्यक्तौ दृष्टान्त-
माह—स्थावरत्वादिति । यथा सुषुप्तात्मा जीवः स्वप्नं जाग्र-
च्चैव जगच्छतकल्पनैर्गच्छति तद्वदित्यर्थः ॥ १५ ॥ क्रियत्कालं
स्थावरजङ्गमादिभावस्थितिस्तत्राह—आमोक्षमिति ॥ १६ ॥
चिनोति अभ्यस्यति । तथाप्यस्याधित्वमव्याहतमित्याह—
चिनोतीति । अभ्यस्तजडतावशाज्जडतां न चिनोति, वस्तुतो
जडतां न नाम भजते ॥ १७ ॥ जाड्यवेदनवेत्तारं जीवं
प्रति स्थावरं वपुः क्रियते तथा जङ्गममपि ॥ १८ ॥ तथा
कृतेऽपि न चिद्भेदः, किंतु महाचितः स्वाध्यत्वं सर्वमचेतनं
चेतनं च नखपादादिवद्रवयवभूतमेवेत्याह—यथेति ॥ १९ ॥
आदिसर्गे हिरण्यगर्भस्य प्राथमिकसर्गदेतौ संकल्पे यथा यद्रूपं
प्रयामागतं, तत्तथैवाधुनापि स्थितम् । एवं त्रिराज्जडरूपेण

तच्चैवाप्रतिघ्नं शान्तं यथास्थितमवस्थितम् ।
 न प्रथामागतं किञ्चिन्नासीदप्रथितं हितम् ॥ २१
 अयमादिरयं चान्तः सर्गस्येत्यवभासते ।
 चितः सुषुप्तनिद्रायाः सुषुप्तस्वप्नकोष्ठतः ॥ २२
 स्थित एको ह्यनाद्यन्तः परमार्थघनो यतः ।
 प्रलयस्थितिसर्गाणां न नामाप्यस्ति मां प्रति ॥ २३
 प्रलयस्थितिसर्गादि दृश्यमानं न विद्यते ।
 एतन्न चात्मनश्चान्यच्चित्रे चित्रवधूर्यथा ॥ २४
 कर्तव्यचित्रसेनास्माद्यथा चित्रान्न मिद्यते ।
 नानाऽनानैव प्रतिधा चित्तत्वे सर्गता तथा ॥ २५
 विभागहीनयाप्येष भागश्चिद्वननिद्रया ।
 सुषुप्तान्मुष्यते मोक्ष इति स्वप्नस्तु चित्तकम् ॥ २६
 प्रलयोऽयमिर्यं सृष्टिर्यं स्वप्नो घनस्त्वयम् ।
 भासोऽप्रतिघ्नरूपस्य चित्सहस्ररुचेरिति ॥ २७
 चिन्निद्रायाः स्वप्नमयो भागश्चित्तमुदाहृतम् ।
 तदेव मुच्यते भूतं जीवो देवासुरादिदृक् ॥ २८
 एष एव परिज्ञातः सुषुप्तिर्भवति स्वयम् ।
 यदा तदा मोक्ष इति प्रोच्यते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २९
 श्रीराम उवाच ।

चित्तं देवासुराद्यात्म चिन्निद्रा स्वात्मदर्शनम् ।
 कियत्प्रमाणं भगवन्कथमस्योदरे जगत् ॥ ३०

स्थितमपि चिन्मयत्वादप्रतिघ्नं शान्तमित्यादि तदपवादेन सर्ग-
 स्थान्त उच्यते इति परेणान्वयः ॥ २० ॥ यतो नासीदतः
 अप्रथितं कदापीत्येव हितम् ॥ २१ ॥ एवं सर्गमात्रस्य
 त्रैकालिकसत्त्वे आद्यन्तकल्पनापि मिथ्यैवेत्याह—अयमिति ।
 यथा स्वप्नप्रपञ्चस्य सुषुप्तादिप्रबोधान्ततापि निद्रा कोष्ठान्तरेव
 कल्प्यते न प्रबोधकोष्ठान्तस्तद्वदित्यर्थः ॥ २२ ॥ तत्कुतस्त-
 त्राह—स्थित इति । मां प्रबुद्धं प्रति नामापि नास्ति दूरे
 रूपमित्यर्थः ॥ २३ ॥ २४ ॥ यथा चित्रकृता कर्तव्या चित्र-
 सेना अस्मात्सद्बुद्धिस्थाचित्राज मिद्यते तथा प्रतिधा मूर्ता सर्ग-
 तापि स्रष्टृक्षिप्तत्वे नाभाप्यनानैव ॥ २५ ॥ विभागहीनयापि
 चिद्वननिद्रया अविविधया सुषुप्तादेवावरणाद्वास्तवस्वरूपभूतोऽपि
 मोक्ष इति प्रतिदो भागो मुच्यते चोर्यते अपलप्यते । तु
 प्रत्युत चित्तकं भूत्वा एष जाग्रद्भागः स्वप्नश्च प्रदर्श्यते इति
 शेषः । 'सुषुप्तात्सोद्यते मोक्षः' इति पाठे तु सोद्यते श्रवणमन-
 नाधुयोगसहिते पुरुषे मोक्ष इति विभागः प्रदर्श्यते । अन्यस्मिन्तु
 चित्तकं भूत्वा द्विविधः स्वप्नः प्रदर्श्यत इति व्याख्येयम् ॥ २६ ॥
 घनो जागरः प्रज्ञानघनतारूपसुषुप्तिकस्य चित्सहस्ररुचेरात्म-
 सूर्यस्य इति एवंप्रकारा भासः प्रकाशमेदाः ॥ २७ ॥ तत्र य
 सद्बुद्धासनात्मा स्वप्नभागः स एव उपार्थ्यशप्राधान्येन चित्तं
 त्रिदंशप्राधान्येन जीवः स एव देवासुरमनुष्याद्यधिकारिश्चरी-
 रदृक् संस्तत्त्वज्ञानेन निद्रा विधूय मुच्यते ॥ २८ ॥ तदेवाह—
 एष एवेति । ननुतुर्थपञ्चभूमिकेयोः परिज्ञातः पञ्चभूमिकाया

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

विद्धि चित्तं नरं देवमसुरं श्यावरं स्त्रियम् ।
 नागं नगं पिशाचादि खगकीटादिराक्षसम् ॥ ३१
 प्रमाणं तस्य चानन्तं विद्धि तद्यत्र रेणुताम् ।
 आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगद्याति सहस्रशः ॥ ३२
 यदेतदादित्यपथादूर्ध्वं संयाति वेदनम् ।
 एतच्चित्तं भूतमेतदपर्यन्तामलाकृति ॥ ३३
 एतदुग्रं चित्तो रूपमस्यान्तर्भुवनर्दयः ।
 यदायान्ति तदा सर्गश्चित्तादागत उच्यते ॥ ३४
 चित्तमेव विदुर्जीवं तदाद्यन्तविवर्जितम् ।
 खं घटेष्विव वेहेषु चास्ते नास्ते तदिच्छया ॥ ३५
 निम्नोन्नतान्भुवो भागान् गृह्णाति च जहाति च ।
 सरित्प्रवाहोऽङ्ग यथा शरीराणि तथा मनः ॥ ३६
 अस्य त्वात्मपरिज्ञानादेव देहादिसंभ्रमः ।
 शाम्यत्याश्रवबोधेन मरुवाः प्रत्ययो यथा ॥ ३७
 जगत्पन्तरणुर्यत्र तत्प्रमाणं हि चेतसः ।
 सदेव च पुमांस्तस्मात्पुंसामन्तःस्थितं जगत् ॥ ३८
 यावार्तिकविदिदं दृश्यं तच्चित्तं स्वप्नभूषिव ।
 तदेव च पुमांस्तस्मात्को भेदो जगदात्मनोः ॥ ३९
 चिदेवायं पदार्थो नास्त्यन्यस्मिन्पदार्थता ।
 व्यतिरिक्ता स्वप्न इव हेम्नीव कटकादिता ॥ ४०

सुषुप्तिर्भवति । सप्तमभूमिकायां मोक्ष इति प्रोच्यते ॥ २९ ॥
 चित्तं देवासुरादिमेदेन कियत्प्रमाणं कियत्स्थानं च भवति
 चिन्निद्रा तस्योदरे जगच्च कियत्प्रमाणं कियत्कालं भवतीति
 प्रश्नार्थः ॥ ३० ॥ तत्रायसोत्तरमाह—विद्धीत्यादिना ॥ ३१ ॥
 रेणुता परमाणुतामवधीकृत्य ॥ ३२ ॥ वैपुल्योत्कर्षमप्यनुभव-
 मारोहयति—यदेतदिति । ऊर्ध्वं चक्षुःप्रेरणे यदेतदादित्य-
 पथादूर्ध्वदेशे ध्रुवान्धकारादिप्रदेशेऽपि चाक्षुषं वेदनं संयाति
 तदेतावत्प्रमाणं भूतं चित्तमपर्यन्तममलाकृति च सर्वोत्तम-
 सिद्धमित्यर्थः ॥ ३३ ॥ दुःसहससारदुःखबहुलत्वादुग्रम् ।
 अस्मैव समध्यात्मनोऽन्तर्भुवनर्दयो यदा मङ्गलान्दिकल्पनया
 आयान्ति तदा सर्गः स चास्माभिश्चित्तादागत इत्युच्यते ॥ ३४ ॥
 आद्यन्तविवर्जितं विभु । अत एव सर्वदेहेषु आस्ते व्यष्टिरूपेण
 देहादुत्कमणाभास्ते च यातुरिच्छयेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ तत्र शरी-
 रग्रहणस्यागयोर्दृष्टान्तमाह—निम्नेति । हे अत्र ॥ ३६ ॥ ३७ ॥
 एवं सर्वजगद्भूमितस्य मनसः परमाणुरूपतैवेत्याह—जगतीति ।
 यत्र जालसूर्यमरीच्यादौ सर्वतः सूर्योऽणुर्यत्प्रमाणः प्रसिद्ध-
 स्तच्चेतसः प्रमाणं परिमाणम् । तदेव च पुमान् जीवः ।
 'वालप्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स
 विज्ञेयः स ज्ञानन्याय कल्पते' इति श्रुतेरिति भावः ॥ ३८ ॥
 एवं च जीवजगद्भेदोऽप्यपमृष्ट इत्याह—यावदिति ॥ ३९ ॥
 जीवजगदभेदे चिन्मात्रतापि जगत् सिद्धेत्याह—चिदेवेति ।
 अन्यस्मिन्निद्रादिभ्योऽभ्युपगम्यमाने सत्तात्पुरुषोऽयं भेदोऽती-

यथैकदेशे सर्वत्र स्फुरन्त्यापोऽम्बुधौ पृथक् ।
 ब्रह्मण्यनन्या नित्यस्थाश्चित्तो दृश्यात्मिकास्तथा ॥४१॥
 यथा द्रवत्वमम्भोधावापो जठरकोशगाः ।
 स्फुरन्त्येवं विदोऽनन्याः पदार्थौघास्तथापरे ॥ ४२॥
 यथास्थितजगच्छालभजिकाकाशरूपधृक् ।
 चित्तस्तम्भोयमपस्पन्दः स्थित आद्यन्तवर्जितः ॥ ४३॥
 यथास्थितमिदं विश्वं संविद्योऽग्नि व्यवस्थितम् ।
 स्वरूपमत्यजच्छान्तं स्वप्नभूमाविवाखिलम् ॥ ४४॥
 समता सत्यता सत्ता चैकता निर्विकारिता ।
 आधाराधेयतान्योन्यं चैतयोर्विश्वसंविदोः ॥ ४५॥
 स्वप्नसंकल्पसंसारवरशापदशासिद्ध ।
 सरोब्धिसरिदम्बूनामिवान्यत्वं न चाथवा ॥ ४६॥

श्रीराम उवाच ।

वरशापार्थसंविद्यौ कार्यकारणता कथम् ।
 उपादानं विना कार्यं नास्त्येव किल कथ्यताम् ॥४७॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

स्वदातन्निदाकाशकचनं जगदुच्यते ।
 स्फुरणे पयसामम्भोधावर्तचलनं यथा ॥ ४८॥
 ध्वनन्तोऽब्धिजलानीव भान्ति भावाश्चिदात्मकाः ।
 संकल्पादीनि नामानि तेषामाहुर्मनीषिणः ॥ ४९॥
 कालेनाभ्यासयोगेन विचारेण समेन च ।

तापत्या व्यतिरिक्ता पदार्थतैव नास्ति न सिध्यतीत्यर्थः ॥४०॥
 यथा अम्बुधिलक्षणे एकदेशे एकीभूय स्थिता एवापः पृथक्
 स्फुरन्ति तद्वद्ब्रह्मण्यपि दृश्यात्मिकास्तथा इत्यर्थः ॥ ४१ ॥
 अनन्यत्वे तद्वत्त्वदृष्टान्तमाह—यथेति ॥ ४२ ॥ एवं च
 यथास्थितजगच्छालभजिकाकाशरूपमात्यन्तिक-
 शून्यता तद्रूपधृक् चित्तस्तम्भ एव निस्पन्दोऽचलः स्थितः
 ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ कथं शान्तं कथं च स्वरूपमत्यजसदाह—
 समतेति । पञ्चभिः प्रकारैर्भेदाविभावनाच्छान्तमाधाराधेय-
 भावेन स्तम्भशालभजिकावध्ववहारे ईषद्वेदप्रतिभासात्स्वरूपम-
 त्यजदित्यर्थः ॥ ४५ ॥ तत्र प्रातिभासिको भेदो वस्तुतस्तु
 तदभाव इत्याह—स्वप्नेति । वरशापाभ्यां नन्दिनहुषयोर्देव-
 सर्पभावप्रतिभासदृशमिव व्यवहारसमर्थमन्यत्वं परमार्थतस्तु
 न वा ॥ ४६ ॥ नन्दिनो मनुष्यशरीरे देवशरीरोपादानं चन्द्रा-
 मृतभागो नास्ति एवं चन्द्रामृतपरिणामे नहुषस्य देव-
 शरीरे सर्पशरीरोपादानं तदण्डादि नास्ति । उपादानं विना
 लोके कार्यं च क्वापि नास्ति तत्रोभयत्र कथं देवसर्पशरी-
 रसिद्धिरिति रामप्रश्नार्थः ॥ ४७ ॥ निरावरणविज्ञानस्य
 भगवतो रुद्रस्यागस्त्यादीनां च सत्यसंकल्पावच्छिन्ना चिदेव
 सुरसर्पशरीरात्मना तत्र विवर्तत इति विवर्तवादेनास्था-
 क्षेपस्य प्रसर इत्युत्तरं वसिष्ठो वक्तुं भूमिकां रचयति—
 स्वदातेत्यादिना । स्वदातस्तत्त्वज्ञानविमृष्टत्वादतिनिर्मलो
 यन्निदाकाशस्तस्य सत्यसंकल्पाजुसारि कचनं तदित्यसकृन्मयो-

जातेर्वा सात्त्विकत्वेन सात्त्विकेनामलात्मना ॥ ५०॥
 सम्यग्ज्ञानवतो ज्ञस्य यथा भूतार्थदर्शिनः ।
 बुद्धिर्भवति चिन्मात्ररूपा द्वैतैक्यवर्जिता ॥ ५१॥
 निरावरणविज्ञानमयी चिद्ब्रह्मरूपिणी ।
 संवित्प्रकाशमात्रैकदेहादेहविवर्जिता ॥ ५२॥
 सोऽयं पश्यत्यशेषेण यावत्संकल्पमात्रकम् ।
 स्वमात्मकचनं शान्तमनन्यत्परमार्थतः ॥ ५३॥
 अस्या इदं हि संकल्पमात्रमेवाखिलं जगत् ।
 यथा संकल्पनगरं यथा स्वप्नमहापुरम् ॥ ५४॥
 आत्मा स्वसंकल्पवरः स्वदातो यथा यथा ।
 यद्यथा संकल्पयति तथा भवति तस्य तत् ॥ ५५॥
 संकल्पनगरे बालः शिलाप्रोड्डयनं यथा ।
 सत्यं वेत्त्यनुभूयाशु स्वविधेयनियन्त्रणम् ॥ ५६॥
 स्वसंकल्पात्मभूतेऽस्मिन्परमात्मा जगद्वये ।
 वरशापादिकं सत्यं वेत्त्यनन्यत्तथात्मनः ॥ ५७॥
 स्वसंकल्पपुरे तैलं यथा सिद्ध्यति सैकतात् ।
 कल्पनात्सर्गसंकल्पैर्वरादीह तथात्मनः ॥ ५८॥
 अनिरावरणज्ञसेर्यतः शान्ता न भेदधीः ।
 ततः संकल्पनाद्वैताद्वराद्यस्य न सिद्ध्यति ॥ ५९॥
 या यथा कलना रुढा तावत्साद्यापि संस्थिता ।
 न परावर्तिता यावद्यज्ञात्कल्पनयान्यया ॥ ६०॥

च्यते ॥ ४८ ॥ विधातुः स्वात्मचित्तिजगद्भावाश्चिदात्मका
 एवाकस्मान्मान्ति तेषां भानानां 'सोऽकामयत', 'तदैक्षत'
 'समल्लुपतां द्यावापृथिवी' इत्यादिश्रुतयो मनीषिणः ऋषयश्च
 संकल्पादीनि नामान्याहुः ॥ ४९ ॥ तत्र निरावरणविज्ञानानां
 यद्भावावर्तस्फुरणं स एव सत्यसंकल्प इति दर्शयितुं तादृशवि-
 ज्ञानकारणान्याह—कालेनेत्यादिना । कालेन कर्कट्यादेः ।
 समेन शत्रुमित्रादिषु समदर्शनेन । देवानां तु जातेः सात्त्विक-
 कत्वेन ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ सोऽयं निरावरणविज्ञानः
 पुरुषो यावत्संकल्पमात्रं पश्यति तत्सर्वं परमार्थतः अनन्य-
 त्वस्यतीति तत्संकल्पस्य सत्यतायामुपपत्तिः ॥ ५३ ॥ अस्य आ-
 इदमिति च्छेदः । अस्यैवंविधस्य हिरण्यगर्भस्य आसमन्ताद्दृश्य-
 मानमिदं जगत् संकल्पमात्रमेवेत्यर्थः ॥ ५४ ॥ एवमन्योऽपि
 स्वसंकल्पवरो निरावरणात्मैवेति यथा यथा यत्संकल्पमात्रं
 पश्यति तत्तथा तथा भवति ॥ ५५ ॥ स्वविधेयं स्वाधीनं नियन्त्रणं
 नियमनं यत्र ॥ ५६ ॥ तत्र वरशापात्मकं यत्फलं तत् हिर-
 ण्यगर्भाद्यनावरणविज्ञानात्मा आत्मनोऽनन्यत्सत्यं वेत्ति ॥ ५७ ॥
 जगत्तत्र तदीयसंकल्पात्मकत्वात्स्वसंकल्पपुरे बालस्य सिकता-
 भ्यस्तैलमिव हिरण्यगर्भाद्यात्मनोऽपि वरशापाद्यर्थो निरुपादा-
 नोऽपि सिद्ध्यति ॥ ५८ ॥ निरावरणेति विशेषणस्य प्रयोजनं
 दर्शयति—अनिरावरणेति । अस्य अज्ञपुरुषस्य वरादिना
 सिद्ध्यति ॥ ५९ ॥ निरावरणज्ञानानां कल्पना तादृशकल्पनान्त-

ब्रह्मण्यवयवोन्मुक्ते द्वितैकत्वे तथा स्थिरे ।
 यथा सावयवे तत्त्वे विचित्रावयवक्रमः ॥ ६१ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 अनिरावरणाज्ञानात्केवलं धर्मचारिणः ।
 शापादीन्संप्रयच्छन्ति यथा ब्रह्मस्तथा वद ॥ ६२ ॥
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 संकल्पयति यन्नाम सर्गादौ ब्रह्म ब्रह्मणि ।
 तत्तदेवानुभवति यस्मात्तत्रास्ति नेतरत् ॥ ६३ ॥
 ब्रह्म वेत्ति यदात्मानं स ब्रह्मायं प्रजापतिः ।
 स ज्ञानो ब्रह्मणो भिन्नं ब्रवत्वसिव वारिणः ॥ ६४ ॥
 संकल्पयति यन्नाम प्रथमोऽसौ प्रजापतिः ।
 तत्तदेवानु भवति तस्येदं कल्पनं जगत् ॥ ६५ ॥
 निराधारं निरालम्बं व्योमात्म व्योम्नि भासते ।
 दुर्दृष्टेरिव केशोण्डं दृष्टमुक्तावलीव च ॥ ६६ ॥
 संकल्पिताः प्रजास्तेन धर्मो दानं तपो गुणाः ।
 वेदाः शास्त्राणि भूतानि पञ्च ज्ञानोपदेशनाः ॥ ६७ ॥
 तपस्विनोऽथ वादैश्च यद्ब्रूयुरविलम्बितम् ।
 यद्यद्वेदविदस्तस्यादिति तेनाथ कल्पितम् ॥ ६८ ॥
 इदं चिद्ब्रह्मच्छिद्रं खं वायुश्चेष्टाश्रितगुणता ।
 द्रवोऽस्मिन् कठिनं भूमिरिति तेनाथ कल्पिताः ॥ ६९ ॥
 चिद्वातुरीहशो वासौ यद्यत्स्वात्मापि चेतति ।

रोदयपर्यन्तं न निवर्तत इत्याह—येति ॥ ६० ॥ निरवयवे
 निरावरणज्ञानात्मनि तद्विरुद्धवरणापादिकल्पना कथं तिष्ठति
 तत्राह—ब्रह्मणीति ॥ ६१ ॥ तर्ह्यनिरावरणज्ञानानां केवलो-
 धतापसानां वरणापादि मोघं स्यादित्याशयेन रामः पृच्छति—
 अनिरावरणेति ॥ ६२ ॥ तथीयवरणापादेरपि सत्यतास्त्विति
 सर्गादौ धातुः संकल्पादेव न तन्मोघतेत्युत्तरं वक्तुं भूमिकां
 वृत्तिष्ठो रचयति—संकल्पेत्यादिना । इतरत् तत्प्रतिबन्धकं
 नास्ति ॥ ६३ ॥ धातुस्तु सत्यसंकल्पता सत्यब्रह्मात्मवेदितु-
 र्त्वादेव सिद्धेत्याशयेनाह—ब्रह्मेति । स प्रजापतिर्घाता यद्य-
 स्मात्कारणाद्ब्रह्म वेत्ति तस्मादेतोरयं ब्रह्मैव । 'तयो यो देवानां
 प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ६४ ॥
 ॥ ६५ ॥ क्रीदृशं तत्कल्पनं तदाह—निराधारमिति ॥ ६६ ॥
 तेन प्रजापतिना । चत्वारो वेदाः स्मृतयश्चेति पञ्च । 'त्रयी
 सांख्यं योगः पञ्चपतिमर्तं वैष्णवम्' इति वा पञ्च । ज्ञानोपदे-
 शनाः । प्यन्ताद्युच् ॥ ६७ ॥ अथ तेन प्रजापतिना इति
 कल्पितं संकल्पितम् । किमिति । वेदविदस्तपस्विनो वादैश्च-
 कारात्सहजवृत्त्या वा यद्यद्ब्रूयुस्तत्तदवश्यं स्यादिति ॥ ६८ ॥
 एवं सर्ववस्तुस्वभावमेवा अपि तेनैव कल्पिता इत्याह—
 इदमिति । इदं ब्रह्म चिज्जडव्यावृत्तस्वभावम् । खं छिद्रस्वभा-
 वम् । वायुश्चेष्टास्वभावः । अग्निदण्डतास्वभाव इत्यादि ॥ ६९ ॥
 एवमियं सर्वा कल्पना प्रजापतिवेषस्य चिद्वातोरेव कल्पने-

तत्तथानुभवत्याशु त्वमहं स इवाखिलम् ॥ ७० ॥
 यद्यथा वेत्ति चिद्बोम तत्तथा तद्भवत्यलम् ।
 स्वप्ने त्वमहमादीव सदात्माप्यसदात्मकम् ॥ ७१ ॥
 शिलानृतं यथा सत्यं संकल्पनगरे तथा ।
 जगत्संकल्पनगरे सत्यं ब्रह्मण ईप्सितम् ॥ ७२ ॥
 चित्स्वभावेन शुद्धेन यद्बुद्धं यच्च यादृशम् ।
 तदशुद्धोऽन्यथा कर्तुं न शक्तः कीटको यथा ॥ ७३ ॥
 अभ्यस्तं बहुलं संवित्पश्यतीतरदल्पकम् ।
 स्वप्ने जाग्रत्स्वरूपे च वर्तमानेऽखिलं च सत् ॥ ७४ ॥
 सदा चिद्बोम चिद्बोम्नि कचदेकमिदं निजम् ।
 द्रष्टृदृश्यात्मकं रूपं पश्यदाभाति नेतरत् ॥ ७५ ॥
 एकं द्रष्टा च दृश्यं च चित्रभः सर्वगं यतः ।
 तस्माद्यथेष्टं यद्यत्र दृष्टं तत्तत्र सत्सदा ॥ ७६ ॥
 वाय्वङ्गस्पर्शपद्मवज्रलाङ्गद्रवभाववत् ।
 यथा ब्रह्मणि ब्रह्मत्वं तथाजस्याङ्गं जगत् ॥ ७७ ॥
 ब्रह्मैवाहं विराडात्मा विराडात्मवपुर्जगत् ।
 भेदो न ब्रह्मजगतोः शून्यत्वाम्बरयोरिव ॥ ७८ ॥
 यथा प्रपाते पयसो विचित्राः कणपङ्क्तयः ।
 विचित्रदेशकालान्ता निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥ ७९ ॥
 निपत्यैवैकयाऽऽकल्पं मनोबुद्ध्यादिवर्जिताः ।
 आत्मन्येवात्मनो भान्ति तथा या ब्रह्मसंविदः ॥ ८० ॥

स्याह—चिद्वातुरिति । अनुभवति सत्यसंकल्पतादिति भावः
 ॥ ७० ॥ ॥ ७१ ॥ तत्र सदात्मतां दृष्टान्तेन स्फुटयति—
 शिलेति । ब्रह्मणः प्रजापदेरधिकारप्रारब्धभोगायेत्यतः
 ॥ ७२ ॥ परसंकल्पजं वरणापादिसंकल्पेन तद्विरुद्धेन जनैः कुतो
 नान्यथा क्रियते तत्राह—चित्स्वभावेनेति ॥ ७३ ॥ अशु-
 द्धानामस्वतन्त्रकल्पनाभ्यासदार्ढ्यादपि न तद्विरुद्धकल्पनस्या-
 तच्छयमित्याशयेनाह—अभ्यस्तमिति । शृङ्खलाबन्धोऽहमिति
 दृढतरजाग्रत्संस्कारवतः स्वप्नेऽपि शृङ्खलाबन्धपारतन्त्र्यसैवा-
 नुभवादिति भावः ॥ ७४ ॥ एवं कल्पितत्रिपुटीवेषेण कचनेऽपि
 चित उदासीनसाक्षिस्वभावेनापि सदैव कचनमस्त्वैत्याह—
 सदेति । द्रष्टृदृश्यग्रहणं त्रिपुष्ट्युपलक्षणम् ॥ ७५ ॥ साक्षि-
 चितत्रिपुटीव्याप्तिबलादेव तत्सत्तासंपादकत्वमित्याह—एक-
 मिति । एकचित्तोपजीवित्वादेकम् ॥ ७६ ॥ धातुसास्थ-
 धीनसत्तास्फूर्तिकत्वासदङ्गतमेवेदं जगदिति सहस्रान्तनाह—
 वाच्यमिति । ब्रह्मत्वं जगदाकारवृंहणहेतुमायाशक्तिमत्त्वं च
 यथा तस्यैतत्स्यः । अजस्य विराजः ॥ ७७ ॥ पूर्वं ब्रह्मण्यथ्यत्वं
 जगदित्यसङ्कटुक्तमिदानीं कथमजस्याङ्गमित्युच्यते तत्राह—
 ब्रह्मैवेति ॥ ७८ ॥ प्रपाते पर्वताग्राद्वज्रादीनामधः पतनस्थाने
 ॥ ७९ ॥ एकयैव धारया आकल्पं निपत्य कणसहस्रकोटिमे-
 दविमक्ताः पुनरेकतात्माप्य आत्मनः स्वसैकप्रवाहात्मन्येव
 भान्ति तथा या विचित्रा ब्रह्मसंविदो जगद्भेदा अपि बोध्या

ताभिः स्वयं स्वदेहेषु बुद्ध्यादिपरिकल्पनाः ।
 कृत्वोरीकृता सर्गश्रीरङ्गिर्द्रवता यथा ॥ ८१
 तदेवं जगदित्यस्ति दुर्बोधेन मम त्विदम् ।
 अकारणकमद्वैतमजातं कर्म केवलम् ॥ ८२
 अस्तस्थितिः शरीरेऽस्मिन्यादृग्रूपानुभूयते ।
 उपलादौ जडा सत्ता तादृशी परमात्मनः ॥ ८३
 यथैकस्यां सुनिद्रायां सुषुप्तस्वप्नकौ स्थितौ ।
 तथैते सर्गसंहारभासौ ब्रह्मणि संस्थिते ॥ ८४
 सुषुप्तस्वप्नयोर्भातः प्रकाशतमसी यथा ।
 एकस्यामेव निद्रायां सर्गसर्गौ तथा परे ॥ ८५
 यथा नरोऽनुभवति निद्रायां दृषदः स्थितिम् ।
 इत्यर्थे श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० ब्रह्मणी० सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रतिपादनयोगोपदेशो नाम षडशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८६ ॥

परमात्मानुभवति तथैतज्जडसंस्थितिम् ॥ ८६
 अङ्गुष्ठस्याथवाङ्गुल्या वाताद्यस्पर्शने सति ।
 योऽन्यच्चित्तस्यानुभवो दृषदादौ स आत्मनः ॥ ८७
 व्योमोपलजलादीनां यथा देहानुभूतयः ।
 तथास्माकमचित्तानामद्य नानानुभूतयः ॥ ८८
 काले कल्पेषु भ्रान्त्येता यथाहोरात्रसंविदः ।
 तथाऽसंख्याः परे भ्रान्ति सर्गसंहारसंविदः ॥ ८९
 आलोकरूपमननानुभवैषणेच्छा-
 मुक्तात्मनि स्फुरति वारिघने स्वभावात् ।
 आवर्तवीचिवलयादि यथा तथायं
 शान्ते परे स्फुरति संहतिसर्गपूगः ॥ ९०

सप्ताशीत्यधिकशततमः सर्गः १८७

श्रीराम उवाच ।

विचित्राणामसंख्यानां भावानां नियतिः कुतः ।
 कथं स्वभावो भावानामेकरूपः स्थितोऽचलः ॥ १
 सत्त्वसंख्येषु देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम् ।
 दीर्घत्वमथ ह्रस्वं दिवसानां तु किंकृतम् ॥ २

इत्यर्थः ॥ ८० ॥ एतावांस्तु विशेषः—यत्कणपङ्क्तयो मनोबुद्ध्यादि-
 वर्जिताः ताभिर्ब्रह्मसंविद्धिस्तु स्वदेहेषु स्वयं मनोबुद्ध्यादि-
 कल्पनाः कृत्वा सर्गश्रीर्भोग्यत्वेनोरीकृतेति ॥ ८१ ॥ मनो-
 बुद्ध्यादिकल्पनात्यागे तु अज्ञानमात्रं जगत्पर्यवस्यतीत्याशये-
 नाह—तदेवमिति । मनोबुद्ध्यादिविक्षिप्ताज्ञानलक्षणेन दुर्बोधेन ।
 मम दुर्बोधरहितस्य दशा त्विदं मनोबुद्ध्यादि सर्वं जगत्कर्म काल-
 त्रयेऽप्यजातमेव ॥ ८२ ॥ अस्मिन् शरीरे अस्तस्थितिर्मृतावस्था
 यादृग्रूपा मनोबुद्ध्यादिरहितानुभूयते । उपलादौ जडा सत्ता च
 यादृग्रूपा तादृशी परमात्मनोपि मनोबुद्ध्यादिरहितैव निर्विक्षेप-
 सत्ता बोध्येत्यर्थः ॥ ८३ ॥ एवं च सृष्टिप्रलयौ द्वावप्यज्ञान-
 निद्रावान्तरविशेषावेवेत्याह—यथेति ॥ ८४ ॥ ननु सर्गं सूर्यादि-
 प्रकाशास्तर्हि तमोरूपप्रलयविलक्षणाः कथं तत्राह—सुषुप्तेति
 ॥ ८५ ॥ चित्तेव जडाजडभेदकल्पनेऽपि स्वप्न एव दृष्टान्त
 इत्याह—यथेति ॥ ८६ ॥ चेतने जाब्जानुभवप्रसिद्धिं वार-
 यति—अङ्गुष्ठस्येति । अन्यत्र विषयान्तरे व्यासक्तचित्तस्य
 पुरुषस्याङ्गुष्ठस्याङ्गुल्यन्तरस्य वा वातातपधूल्यादिस्पर्शने जाते
 सति यो जातोऽप्यजातप्रायोऽनुभवः प्रसिद्धः स तादृश एव
 दृषदादौ विद्यमानोऽप्यविद्यमानप्रायो जाब्जमित्यर्थः ॥ ८७ ॥
 एवं जडस्यापि चेतनभावानुभवप्रसिद्धिमाह—व्योमेति । देहे
 विराड्देहभावे तत्तदधिष्ठातृदेवतादेहभावे वा यथा अनुभूत-
 यस्तथा प्रलये अचित्तानामस्माकमद्य सर्गकाले सचित्तत्वलामेना-
 नुभूतयः । 'तवास्माकम्' इति पाठे 'त्यदादीनि सर्वैर्निर्णय'
 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यत इत्येकशेषभाव-
 मो० मा० ११०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

काकतालीयवद्भानं यत्परे नियतं स्वतः ।
 यथास्थितं यथारूपं स्थिते तज्जगदुच्यते ॥ ३
 सर्वशक्तेर्यथा यद्यद्भाति तत्तत्तथैव सत् ।
 संवित्सारतया यायात्कथं भातमभातताम् ॥ ४

इष्टानन्दसः ॥ ८८ ॥ अखण्डकाले ब्रह्मादिनभेदरूपेषु कल्पेषु
 यथास्माकमहोरात्रसंविदो भ्रान्ति तथा असंख्याः परमात्मनि
 सर्गसंहारसंविदो भ्रान्ति ॥ ८९ ॥ यथा वारिघने उदकैक-
 स्वभावे समुद्रे स्वभावादेव आवर्तवीचिवलयादि स्फुरति तथा
 आलोकनमालोकस्तद्विषयरूपं तन्मननं तस्य भोगलक्षणोऽनु-
 भवस्तदेषणा रागस्ततः पुनस्तत्प्राप्तिच्छेत्त्यादिविक्षेपमिनिर्मुक्ता-
 त्मनि भूत एव शान्ते परे पदे अयं संहतिसर्गपूगः स्वभावत
 एव स्फुरति न प्रमाणतस्तत्त्वदर्शने सतीत्यर्थः ॥ ९० ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रतिपादनयोगोपदेशो नाम षडशीत्यधिक-
 शततमः सर्गः ॥ १८६ ॥

सर्वभावस्वभावोऽत्र नियतिश्चोपवर्ण्यते ।

उत्पत्तिर्जीवताप्राप्तिहेतूनां ब्रह्मशुद्धता ॥ १ ॥

नियतिः कार्यकारणभावादिनियमः, अग्निजलादेरौष्ण्यद्रव-
 त्वादिः स्वभावश्च अचलः अव्यभिचरितः कथं केन हेतुना
 जगति स्थितः । स्वाप्नमानोरथिकादिमिथ्यार्थान्तरेष्वदर्शनादिति
 भावः ॥ १ ॥ केन कृतं किंकृतम् ॥ २ ॥ 'आदिसर्गे यद्यत्का-
 कतालीयन्यायेन धातुर्यथा यथा भातं तत्तथैवार्थक्रियादिना
 नियतं स्थितं तत्र धातुरिच्छैव तदव्यभिचारै हेतुरेवं वस्तु-
 स्वभावेऽपि बोध्यमित्याशयेनाद्यप्रश्नयोर्वसिष्ठ उत्तरमाह—
 काकतालीयेत्यादिना । परे विधातरि यत्काकतालीयवन्नियतं
 सर्गादौ भानं तद्यथारूपं यथा च कार्यकारणभावेन स्थितं तथै-
 वापि जगदुच्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥ नियताया ईश्वरशक्तेर-
 न्ययामावायोगाद्वा नियतिरव्यभिचरितेत्याशयेनाह—सर्व-

यथा स्थितं यथा भाति चित्त्वाद्ब्रह्म चिराय यत् ।
 तस्य भानमभानार्थं नियत्यभिधमेव तत् ॥ ५ ॥
 इदमित्यभिधं चेत्थं स्वयं ब्रह्मेति भाति यत् ।
 तन्नियत्यभिधं प्रोक्तं सर्गसंहाररूपधृक् ॥ ६ ॥
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं यत्स्वतः कचनं चिति ।
 तत्ततोऽनन्यदेकाच्छं द्रवत्वमिव धारिणि ॥ ७ ॥
 यथा शून्यत्वमाकाशे कर्पूरे सौरभं यथा ।
 यथौष्ण्यमातपे नान्यजाग्रदादि तथा चिति ॥ ८ ॥
 सर्गप्रलयनाश्रयेकप्रवाहानन्यसत्तया ।
 चिन्मात्रगगनात्मैकब्रह्मात्मन्येव संस्थितम् ॥ ९ ॥
 सर्गोऽयमिति तद्बुद्धं क्षणं यत्कचनं चितः ।
 कल्पोऽयमिति तद्बुद्धं क्षणं तत्कचनं चितः ॥ १० ॥
 तत्कालस्तत्क्रिया तत्त्वं देशद्रव्योदयादि तत् ।
 यत्स्वप्न इव चिन्मात्रकचनं स्वस्वभावतः ॥ ११ ॥
 रूपालोकमनस्कारदेशकालक्रियादि तत् ।
 चित्त्वं कचति चिद्बोद्धि यन्नामानाकृति स्वतः ॥ १२ ॥
 यद्यथा कचितं कालं यत्किंचित्कल्पितं तथा ।
 तेनैवेयं हि नियतिरित्यप्याकाशरूपकम् ॥ १३ ॥

शक्तेरिति । संवित्सारतया सत्यसंकल्पसंवितः अस्मदादिस्वप्न-
 मनोरथसंनिद्वदसारत्वाभावादित्यर्थः ॥ ४ ॥ मायोदरे स्थितस्यैव
 सर्गकाले भानं प्रलयकाले सौक्ष्म्यापत्त्या तदेवाभानार्थं भव-
 सीत्यनादिरेव सर्ववस्तूनामर्थक्रियाशक्तिरिति तदेव नियति-
 भामकमिति वा बोध्यमित्याह—यथास्थितमिति ॥ ५ ॥
 ब्रह्मैव नियतसर्वार्थक्रियासमर्थं जगदाकारतां धत्ते इति वा
 नियतिप्रतिष्ठासिद्धिरित्याह—इदमिति ॥ ६ ॥ अवस्थात्रयस्या-
 ज्ञातात्मस्वभावत्वाद्वा यथादृष्टनियत्यन्यमिन्धारसिद्धिरित्याह—
 जाग्रदिति ॥ ७ ॥ तस्य तत्स्वभावतां दृष्टान्तैः समर्थयति—
 यथेति ॥ ८ ॥ एकप्रवाहानन्यसत्तया बीजाङ्कुरन्यायेन सर्ग-
 प्रलयप्रवाहानादितया चिन्मात्रगगनात्मके एकब्रह्मात्मन्येव
 यतस्त्रिष्ठितं ततोऽपि नियतार्थक्रियासिद्धिरित्यर्थः ॥ ९ ॥ अत
 एव चित्कचनानुसारेणैव सर्वनियमव्यवस्था । क्षणस्यापि
 कल्पोऽयमिति चित्कचने अकल्पत्वसाधकान्तराभावादित्याश-
 येनाह—सर्गोऽयमिति ॥ १० ॥ अत एव कालक्रियादेश-
 द्रव्यादिवस्तुमेदान्मना चित्कचनमेव सर्ववस्तुस्वभावो नियति-
 श्चेत्याह—तदित्यादिना ॥ ११ ॥ १२ ॥ इत्येवं कचित्तमप्या-
 काशरूपकमेव न सत्यमित्यर्थः ॥ १३ ॥ इदानीं 'कथं स्वभावो
 भावानां' इति प्रश्नं समाधत्ते—आकल्पाख्यमिति । कल्पाख्यं
 ब्रह्मनिमेषमभिव्याप्य भावानां यदेकरूपं कचनं तमेव प्रति-
 पस्तु नियतस्वभावं प्राहुः स्वाभाविकाः स्वभाषतस्त्वविदः
 ॥ १४ ॥ एकस्यैव बहुधादिवस्तुनो देशकालमेवेदानेकधामूत-
 स्थापि स्वरूपमनुज्झतो यदेकमनुगतमौष्ण्यप्रकाशरूपं स एव
 तद्देवैरनुगतस्वभावः । यथा संविदंशस्य जीवस्य सर्वाणुगतं

आकल्पाख्यं निमेषं यत्कचनं चैकरूपकम् ।
 स्वाभाविकाः स्वभावं तं प्राहुः प्रसृतबुद्ध्यः ॥ १४ ॥
 एकस्य संविन्मात्रस्य पदार्थज्ञातता तथा ।
 यथेदं संविदंशस्य रूपं स्वं स्वमनुज्झतः ॥ १५ ॥
 संविन्मये संविदो याः कचन्तीव परे तथा ।
 ताभिस्तेषां स्वदेहानां यासां सा कलना कृता ॥ १६ ॥
 चिदुर्वी सलिलं तेजः स्पन्दः शून्यत्वमेव च ।
 प्रत्येकमाकरस्त्वेषां तानि स्वप्न इवाम्बरम् ॥ १७ ॥
 तत्र सप्रतिघस्यास्य कठिनस्याकरो महान् ।
 भूपीठं जनताधारो राजप्राज्ञेव राजते ॥ १८ ॥
 अपामब्धिः प्रधानानां तेजसामेष भास्करः ।
 स्पन्दस्य पवनो व्योम शून्यतायां जगद्गतम् ॥ १९ ॥
 पञ्चानामिति भूतानामाकरत्वेन संविदः ।
 पञ्च तान्युचिता ब्राह्मणः प्रश्नः किं भास्करं प्रति ॥ २० ॥
 बुधा संविच्चिदित्युक्ता सर्वेणा सर्वरूपिणी ।
 सर्वत्र स्वमहिम्नैषा सर्वेणैवानुभूयते ॥ २१ ॥
 ब्रह्मात्मा ब्रह्मबालोऽयं स्वसंवित्स्फुरणामिमाम् ।
 व्योमात्मक्षौमभूनास्त्री स्फारयत्यम्बराकृतिः ॥ २२ ॥

चित्स्वरूपमेव स्वभावस्तद्वदित्यर्थः ॥ १५ ॥ संवित्प्रचुरे वृत्ति-
 भेदेऽपि माश्विदाभाससंविदः कचन्तीव ताः स्वभावः । परे
 तद्विषये उर्वीसलिलतेजोवाप्यादौ तामिर्दृष्ट्याभाससंविद्धिः स्वदे-
 हप्रायाणां तेषां वृत्तिभेदानां मध्ये यासां यासां वृत्तीनां
 यद्यदाकारकलना या या कृता स आकारः स्वभाव इत्यर्थः
 ॥ १६ ॥ नानाकारभेदानेवोदाहृत्य तेषामधिष्ठानचिदाकाश
 एव पारमार्थिकः स्वभाव इति दर्शयति—चिदिति । तान्यु-
 र्व्यादीनि प्रत्येकं स्वकार्याणामाकरः खनिः । उर्वी पार्थिवानां
 सर्ववस्तूनामनुगतः स्वभाव एवं सलिलादयोऽपि । तेषां च
 चिदम्बरं मायाशबलं ब्रह्मैवाकर इत्यर्थः ॥ १७ ॥ उक्तमेव
 प्रपञ्चयति—तत्रेत्यादिना । राजेव जीवनप्रदः ॥ १८ ॥
 प्रधानानां ब्रह्मादीनामन्यादीनां च जगद्गतं सर्वं स्वस्वविशेषे-
 ष्वनुगतम् । नपुंसकैकशेषे एकवद्भावः ॥ १९ ॥ तेषामम्बर-
 मित्यंशं विशदयति—पञ्चेति । तानि पञ्चमहाभूतानि ब्राह्मणः
 संवित्तय एव तथोदिता इति ब्रह्मैव तदनुगतः सत्स्वभाव
 इत्यर्थः । एतेन 'सत्स्वसंख्येषु देवेषु सूर्य एवोप्रभाः कथम्' इति
 प्रश्नोऽपि समाहित इत्याशयेनाह—प्रश्न इति । स्वभावप्रश्नो-
 तरेणैव समाहितत्वात्पृथक्प्रश्नो न भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥
 बुधा सर्वावभासकत्वात्सर्वज्ञा सैव सर्वरूपिणीति स्वप्रकाशात्
 लक्षणस्वमहिम्नैव सर्वत्र परमः स्वभावपरमाकारः परमा निव-
 तिरिति च सर्वैरेवाभिर्हरवगम्यते ॥ २१ ॥ अयं चतुर्मुखाख्यो
 ब्रह्मबालः स्वात्मभूतसंवित्स्फुरणं व्योमात्मकं क्षौमं प्रवरणं
 यस्यास्तथाविधो भूनास्त्री स्वयं ब्रह्मात्मत्वाद्ब्रह्माम्बराकृतिरेव स
 स्वस्मिन्स्फारां करोति स्फारयति विस्तारयति । नामभाहुः

सा यदैतत्तथैतच्च चिरमन्त्यजसंविदा ।
 तदा तदङ्गस्यार्कादेर्नाऽतो नोत्पादि चञ्चलम् ॥ २३ ॥
 संकल्पपूर्वमशकजालवद्विष्यचक्रकम् ।
 आवर्तवर्तिना भाति चिद्बोमेदं च दृश्यवत् ॥ २४ ॥
 तत्र प्रभास्वराः केचित्केचिदप्यल्पभास्वराः ।
 केचिद्भास्वरा भाताः पदार्थाश्चित्ररूपिणः ॥ २५ ॥
 पदार्थजातं त्वेतावन्न जातं न च दृश्यते ।
 अस्याजातमिदं भाति स्वमात्मा स्वप्नदृश्यवत् ॥ २६ ॥
 चिन्मात्रमात्मा सर्वेशः सर्व एवातिदृश्यवत् ।
 नश्यतीव विदेहे स्वे न च भाति न नश्यति ॥ २७ ॥
 स्वप्नदर्शनवद्भाति यच्चिद्बोम चिदम्बरे ।
 चिद्बोमत्वाद्देहे रूपं तदस्य जगतः कुतः ॥ २८ ॥
 यद्यथा स्फुरितं तस्य यावत्सत्त्वं स्फुरद्गुणः ।
 तत्स्वभावनियत्याख्यैः शब्दैरिह निगद्यते ॥ २९ ॥
 गगनाङ्गस्य सत्तान्तः शब्दतन्मात्रकल्पया ।
 कुसूलबीजाङ्कुरवत्तिष्ठत्याशान्तरूपिणी ॥ ३० ॥
 संपद्यते तत इदमितीयं रचनेहया ।
 कृता सा मुग्धबोधाय मूर्खैर्विरचिता मुधा ॥ ३१ ॥

स्फुरतेर्वा 'विस्फुरोर्णौ' इत्यात्वम् ॥ २२ ॥ यदा सा माया
 शबला सर्पज्ञसंविदजस्य चतुर्मुखस्य संविदा सह तत्स्थूलमे-
 तत्सूक्ष्मं च प्रपञ्चमस्ति स्वात्मन्युपसंहरति तदा तदङ्गस्य
 चतुर्मुखसंविदङ्गस्यार्कादेश्चञ्चलं भ्रमणस्वभावं रूपं नोत्पादि ।
 यतस्तत् अतः अस्मादुपसंहारादस्मा ना पुरुष एव संपद्यत
 इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः 'अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता
 नास्तमेता एकल एव मध्ये स्थाता' इति ॥ २३ ॥ 'दीर्घत्वमथ
 ह्रस्वं दिवसानां तु किंकृतम्' इति प्रश्नस्तु ज्योतिश्चक्रे सूर्यस्य
 दक्षिणोत्तरमार्गगतिभेदप्रसिद्धैव दत्तोत्तर इति सूचयन् ज्योति-
 श्चक्रं दर्शयति—संकल्पेति । कृताकीटेन संकल्पपूर्वकं बाह्य-
 साधननिरपेक्षयैव विरचितमशकबन्धनजालवद्भात्रा संकल्प-
 जालमात्रनिर्मितं ग्रहनक्षत्रादिधिष्यभूतं शिशुमारचक्रकं
 ज्योतिःशास्त्रादौ प्रसिद्धमेव । तदेव दक्षिणोत्तरायणमार्गावर्त-
 वर्तिना सूर्येण निमित्तेनेदं त्वत्पृष्ठं दिवसानां ह्रस्वदीर्घत्वं
 तत्तदावर्तवद्दृश्यवभियतं भातीत्यर्थः ॥ २४ ॥ 'सत्स्वसंख्येषु
 देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम्' इति प्रश्ने ये अनेके देवा उक्ता-
 स्तान् ज्योतिश्चक्रे नक्षत्रादिरूपेण स्थितान्दर्शयति—तत्रेति ।
 अभास्वरा राह्यादयः प्रागुक्ततामसनक्षत्राणि च ॥ २५ ॥ एवं
 प्रश्नान्समाधाय प्रकृतमेवाल्मब्याह—पदार्थजातमिति ॥ २६ ॥
 त्वमहं सर्व एव अतिदृश्यवत्प्रसिद्धो भाति । विदेहे मृते पुरुषे
 नश्यतीव ॥ २७ ॥ रूपं पारमार्थिकस्वरूपम् ॥ २८ ॥
 तत्पारमार्थिकसद्रूपमेवाध्यस्ते यावत्कालं घटादेर्विद्यमानता
 तावत्तत्तादात्म्येन स्फुरद्गुणरास्ते तदेव स्वभावनियत्यादिशब्दै-
 र्निगद्यते ॥ २९ ॥ तत्र सा ब्रह्मसत्ता गगनरूपस्य प्रथमजस्य
 स्वाङ्गस्यान्तः शब्दतन्मात्रकल्पया स्थित्या कुसूलान्तर्गतेषु

नास्तमेतीह नोदेति तत्कदाचन किञ्चन ।
 शिलाजठरवच्छान्तमिदं नित्यं सदप्यसत् ॥ ३२ ॥
 यथावयविनो नान्तः सदैवावयवाणवः ।
 नास्तं यान्ति न चोद्यन्ति जगन्त्यात्मपदे तथा ॥ ३३ ॥
 ब्रह्म व्योम्नि जगद्योम व्योम व्योम्नीव विद्यते ।
 तत्कथं किल संशुद्धमस्तमायात्युदेति वा ॥ ३४ ॥
 तस्यानन्तप्रकाशात्मरूपस्याततचिन्मणेः ।
 सत्तामात्रात्मकचनं यदजन्तं स्वभावतः ॥ ३५ ॥
 तदात्मना स्वयं किञ्चिच्चेत्यतामिव गच्छति ।
 अगृहीतात्मकं संविद्ब्रह्ममर्शनसूचकम् ॥ ३६ ॥
 भाविनामार्थकलनैः किञ्चिद्ब्रह्मरूपकम् ।
 आकाशादणु शुद्धं च सर्वस्मिन्भाविवोधनम् ॥ ३७ ॥
 ततः सा परमा सत्ता सती तच्चेतनोन्मुखी ।
 चिन्नामयोग्या भवति किञ्चिद्ब्रह्मभ्यतया तथा ॥ ३८ ॥
 घनसंवेदनात्पश्चाद्भाविजीवादिनामिका ।
 सा भवत्यात्मकलना यद्भवन्ती परं पदम् ॥ ३९ ॥
 गर्भीकृत्य स्थिताऽनाख्या चिदाकाशापिधानताम् ।
 संप्रति त्वतिशुद्धस्य पदस्यानन्यरूपिणी ॥ ४० ॥

बीजेष्वनाविर्भूताङ्कुरशक्तिवद्भात्रादिजगद्बीजशक्तितया आशा-
 न्तरूपिणी अनाविर्भूता तिष्ठति ॥ ३० ॥ ततस्तस्याः सकाशा-
 दिदं वायुतेजोम्बुधरालक्षणभूतभौतिकात्मकं जगत् क्रमेण संप-
 द्यते इति इयं कल्पना संमुग्धानामज्ञानां तत्त्वबोधाय जग-
 द्विरचनप्रतिपादनेच्छया श्रुतिभिर्मुनिभिश्च कृता न सृष्टिरेव
 तात्त्विकीति प्रतिपादनाय । तथात्वे मूर्खैरेवेयं सृष्टिकथा विर-
 चिता मुधैव स्यात् । न हि बास्वती सृष्टिरिति परिज्ञाने कस्य-
 चित्किञ्चित्प्रयोजनं दृष्टं श्रुतं वास्तीति भावः ॥ ३१ ॥
 यतस्तत्तात्त्विकं ब्रह्मरूपं नास्तमेति नोदेति च । तत् इदं
 प्रपञ्चरूपं परसत्तया सदपि स्वतः असदित्यर्थः ॥ ३२ ॥
 अपृथक्सत्ताकत्वे ब्रह्मान्तर्जगदवयवप्रायमुदयास्तमयरहितमेव
 पर्यवस्यतीत्याह—यथेति । आद्यो नकारः पृथक्सत्तानिरासार्थः
 ॥ ३३ ॥ ब्रह्मसत्तातिरिक्तजगत्सत्तापन्नापे जगच्छुद्धं ब्रह्मैव
 पर्यवस्यतीत्यस्तोदयादिवैचित्र्यमस्य गतमित्याह—ब्रह्म व्यो-
 म्नीति ॥ ३४ ॥ एवं जगतस्तत्त्वपर्यालोचने ब्रह्ममात्रतां प्रति-
 पाद्य ब्रह्मण एव स्वतात्त्विकरूपविस्मरणे जगद्रूपापत्तिं वक्तुमुप-
 क्रमते—तस्येत्यादिना ॥ ३५ ॥ अगृहीतात्मकमज्ञातमत एव
 प्रथममन्यथाभावादब्रह्ममर्शनसूचकम् ॥ ३६ ॥ तव ऊहित-
 रूपकं भाविप्रपञ्चपर्यालोचनात्तस्योद्बोधनम् ॥ ३७ ॥ तस्य
 पर्यालोचितार्थस्य सम्यक्चेतनोन्मुखी सती चेतयतीति चिदिति
 व्युत्पत्त्यवसरलाभाधिज्ञामयोग्या भवति ॥ ३८ ॥ तदुत्तरं
 यद्भवति तदाह—घनेति । यद्भवन्ती सती अधिकारिजन्म-
 लामे पुनः परं पदं भवति ॥ ३९ ॥ ननु सा सदैव परं पदम् ।
 वचनेन तस्या अधिकारिदेहज्ञानलामेन कोऽतिशयस्तत्राह—
 गर्भीकृत्येति । यतः सा जीवत्वे चिदाकाशाच्छादिकामविद्यां

स्वतैकभावनामात्रसारसंस्करणोन्मुखी ।
 तदा विनाभावकृता अनुतिष्ठन्ति तामिमाः ॥ ४१ ॥
 शून्यरूपा स्वसत्तैका शब्दादिगुणगर्भिणी ।
 चिद्भावनाभिसंपन्ना भविष्यदभिधार्थता ॥ ४२ ॥
 अहंतोदेति तदनु सह वै कालसत्तया ।
 भविष्यदभिधार्थं ते बीजं मुख्यं जगत्स्थितेः ॥ ४३ ॥
 चित्तिशक्तेः परायास्तु स्वसंवेदनमात्रकम् ।
 जगज्जालमसद्रूपं चेतनात्सदिव स्थितम् ॥ ४४ ॥
 एवंप्रायात्मिका सा चिद्बीजं संकल्पशाखिनः ।
 अहंतां भावयत्यन्तः सैवेह भवति क्षणात् ॥ ४५ ॥
 जीवाभिधाना सैषाद्य भावाभावप्लवध्रमैः ।
 भ्रमत्यात्मपदे बीचिरूपैर्वारीव वारिणि ॥ ४६ ॥
 चिदेवंभावनवती व्योमतन्मात्रभावनाम् ।
 स्वतो घनीभूय शनैः स्वतन्मात्रं प्रचेतति ॥ ४७ ॥
 भाविनामार्थरूपं तद्बीजं शब्दौघशाखिनः ।
 पदवाक्यप्रमाणाद्यवेदार्थादिविकारि च ॥ ४८ ॥
 तस्मादुदेज्यत्यखिला जगच्छ्रीः शब्दतत्त्वतः ।
 शब्दौघनिर्मितायौघपरिणामविसारिणी ॥ ४९ ॥
 चिदेवंव्यवसाया सा जीवशब्देन कथ्यते ।
 भाविशब्दार्थजालेन बीजं भूतौघशाखिनः ॥ ५० ॥
 चतुर्दशविधं भूतजातमावलिताम्बरम् ।

गर्भीकृत्य स्थिता अतः अनाख्या अग्रह्यायमानपरपदसमावा
 ज्ञानलभे सप्रति शुद्धस्य पदस्यानन्यरूपिणी लब्धाखण्डैक्यैव
 सपद्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥ तदा आवृततादशायां स्वता आत्म-
 तादात्म्याभ्यासस्तदेकभावनामात्रसारेण देहेन्द्रियादिना संस-
 रणोन्मुखी सती विनाभावः स्वरूपवियोगस्ताकृतास्तामिमाः ।
 'तमु ग्लानौ' तमनं तामस्तन्निमित्तकर्माणि तामिमा अनुतिष्ठति ।
 'तामिमा' इति पाठे ताः प्रसिद्धाः अभिमानान्यमिमाः ।
 सधिरार्थः ॥ ४१ ॥ सा स्वसत्ता एकैव वस्तुवन्तरश्न्यरूपैव
 शब्दादिगुणगर्भिणी सविकल्पचिद्भावनाप्रान्त्या अभिसंपन्ना । भ-
 विष्यन्तीनामाकाशादिपञ्चभूताभिधानामर्थता प्रवृत्तिनिमित्तभूता
 सूक्ष्मभूतात्मिकेति यावत् ॥ ४२ ॥ तथा अहंकारप्रधानलिङ्ग-
 वेहकल्पनामाह—अहंसेति । लिङ्गदेहघटकप्राणक्रियाप्रयुक्त-
 कालसत्तया । ते अहन्ताकालसत्ते ॥ ४३ ॥ तत्र जीवचिदभि-
 व्यक्त्या तत्र जगज्जान्तिरित्याह—चित्तिशक्तेरिति ॥ ४४ ॥
 ॥ ४५ ॥ आत्मपदे 'मायाशबलब्रह्मणि' ॥ ४६ ॥ तस्या-
 समष्टिहिरण्यगर्भरूपेण स्थूलपञ्चभूतकल्पनामाह—चिदिति ।
 सूक्ष्मां व्योमतन्मात्रभावना घनीभूय घनीभाव्य । स्वतन्मात्रं
 स्थूलाकाशम् ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ तस्मादिति । 'स भूरिति
 व्यावहरत् भुवमसृजत । एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत ।
 असृजमिति मनुष्यान् । इन्द्रव इति पितॄन्' इत्यादिश्रुतेरिति
 भावः ॥ ४९ ॥ एवंव्यवसाया ईदृशविचित्रसंकल्पवती ब्रह्म-
 चिदेव जीवशब्देन कथ्यते/नान्दोल्यर्थः ॥ ५० ॥ ५१ ॥

जगज्जठरकर्णौघं तस्मात्संप्रसरिष्यति ॥ ५१ ॥
 असंप्राप्ताभिधाचारा जीवत्वाच्चेतनेन चित् ।
 काकतालीयवत्स्पन्दचिन्मात्रं चेतति स्वयम् ॥ ५२ ॥
 पवनस्कन्धरूपस्य बीजं त्वक्स्पर्शशाखिनः ।
 सर्वभूतक्रियास्पन्दस्तस्मात्संप्रसरिष्यति ॥ ५३ ॥
 तत्र यच्चिद्विलासस्य प्रकाशानुभवो भवेत् ।
 रूपतन्मात्रकं तद्वद्भविष्यदभिधार्थदम् ॥ ५४ ॥
 प्रकाशचेतनं तेजो न तेजोऽन्यकृतं भवेत् ।
 स्पर्शसंवेदनं स्पर्शो नेतरस्पर्शसंभवः ॥ ५५ ॥
 शब्दसंवेदनं शब्दः स्वत एवानुभूयते ।
 खं खेनेव स्वयं कोशे नान्यच्छब्दकृदस्ति हि ॥ ५६ ॥
 किल तस्यामवस्थायां कोऽपरः शब्दकृद्भवेत् ।
 यथा तथा तदाद्यापि द्वैतैक्यस्यात्यसंभवात् ॥ ५७ ॥
 एवं हि रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमेव च ।
 असत्यमेव सदिव स्वप्नाभमिव चेत्यते ॥ ५८ ॥
 तेजः सूर्योदिजृम्भाभिर्बीजमालोकशाखिनः ।
 तस्माद्रूपविभेदेन संसारः प्रसरिष्यति ॥ ५९ ॥
 भविष्यदभिधस्याथ स्वतः स्वत इवासतः ।
 स्वदनं तस्य संघस्य रसतन्मात्रमुच्यते ॥ ६० ॥
 भविष्यद्रूपसंकल्पनामासौ सकलो गणः ।
 संकल्पात्माथ तन्मात्रं गन्धाद्यमनुचेतति ॥ ६१ ॥

तस्याः स्वसृष्टभूतभौतिकभोगाय समष्टित्वगादीन्द्रियकल्पनाप्र-
 कारमाह—असंप्राप्तेत्यादिना । न संप्राप्तौ अभिधा शब्दो
 व्यवहारः आचारः शरीरादिना व्यवहारश्च यथा तथाविधा
 सती तदर्थं वक्ष्यमाणं चेतति कल्पयति ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥
 प्रकाशानुभवस्यैव रूपतन्मात्रत्वमुक्तमुपपादयति—प्रकाश-
 चेतनमिति । एवं स्पर्शोद्यपि बोध्यमित्याह—स्पर्शोत्पा-
 दिना ॥ ५५ ॥ यथा खं खेन खेनैव स्वात्मके कोशे अवकाशं
 आप्य तिष्ठति नान्येन तथा सवेदनमपि स्वात्मकेनैव शब्देन
 शब्दकृत् शब्दग्राहकं नान्यदस्तीत्यर्थः ॥ ५६ ॥ सर्गादौ सम-
 ष्टाविबेदानीं व्यष्टावपि तत्तत्सविदेव स्वस्या तत्तदर्थकारमध्यस्य
 जगद्वेषेण भासते नान्यदिति बोध्यमित्याह—किलेति । तथा
 यथा तथा अद्यापि । अवश्यं चेदं सर्वैर्वादिभिरभ्युपगन्त-
 व्यम् । अन्यथा संविदां विषयव्यवस्थासिद्धेः । संवितादहम्य-
 मेव हि विषयाणां विषयता न त्वन्या वादिकोटिसहस्रैरभ्युप-
 पादयितुं शक्या । न च शब्दादीनामसविद्रूपे सविदेक्यलक्षण
 तादात्म्यं घटत इत्याशयेनाह—द्वैतैक्यस्येति ॥ ५७ ॥ शब्दे
 दर्शितो न्यायो रसादिष्वपि बोध्य इत्याह—एवं हीति ॥ ५८ ॥
 प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रस्तुतमेवाह—तेज इति । 'अक्षिणी
 निरभिद्येतां अक्षिभ्या चक्षुश्चक्षुष आदिलः' इत्यादिश्रुतेः
 ॥ ५९ ॥ असतः विकारश्चन्यात्वत आकाशत इव । स्वदनं
 माधुर्यसंविद् । तस्य सहस्य पञ्चीकृतस्याजपानादेः ॥ ६० ॥
 अयं सकलो गणः कार्यकारणसमुदायात्मा जीवः ॥ ६१ ॥

भाविभूगोलकत्वेन बीजमाकृतिशास्त्रिनः ।
 सर्वाधारात्मनस्तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ॥ ६२
 अजात एव संजातस्तन्मात्राणां गणस्त्विति ।
 अनाकारोऽपि साकारः संपन्नः कल्पनावशात् ॥ ६३
 एष तन्मात्रकगणः काकतालीयवत्स्वयम् ।
 रूपं येन प्रदेशेन वेत्त्यक्षीति तदुच्यते ॥ ६४
 शब्दं येन प्रदेशेन वेत्ति श्रोत्रं तदुच्यते ।
 स्पर्शं येन प्रदेशेन वेत्ति तत्तु त्वग्निन्द्रियम् ॥ ६५

रसं येन प्रदेशेन वेत्ति तद्रसनेन्द्रियम् ।
 गन्धं येन प्रदेशेन वेत्ति घ्राणेन्द्रियं तु तत् ॥ ६६
 दिक्कालभेदाजीवोऽयं नियतामाकृतिं गतः ।
 सर्वेणाङ्गेन नो सर्वं वेत्त्यसर्वात्मतावशात् ॥ ६७
 इति कलनमनन्तमात्मनोन्त-
 र्गतमनुमेयमनन्यदात्मभूतम् ।
 न तदुदयमुपैति नास्तमेति
 स्थितमुपलोदरवद्धनं सुमौनम् ॥ ६८

इत्यार्षे श्रीवासि० बाल्मी० दे० मो० नि० उ० जीवत्वसंस्तुतिप्रतिपादनं नाम सप्ताशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८७ ॥

अष्टाशीत्यधिकशततमः सर्गः १८८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

आदिमत्त्वमिदं प्रोक्तमेतस्य कलनस्य यत् ।
 परस्माद्वितीयं तत्त्वद्वोधाय न वास्तवम् ॥ १
 एवंविधं तत्कलनमात्मनोऽङ्गमकृत्रिमम् ।
 चेत्योन्मुखचिदाभासं जीवशब्देन कथ्यते ॥ २
 कलनस्यास्य नामानि बहूनि रघुनन्दन ।
 शृणु तानि विचित्राणि चेत्योन्मुखचिदात्मनः ॥ ३
 जीवनाच्चेतनाजीवो जीव इत्येव कथ्यते ।
 चेत्योन्मुखतया चित्तं चिदित्येव निगद्यते ॥ ४
 इदमित्थमिति स्पष्टबोधाद्बुद्धिरिदोच्यते ।

॥ ६२ ॥ ६३ ॥ चक्षुरादिगोलकस्थानकल्पनामाह—एष
 इत्यादिना ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ द्विविधपरिच्छेदवत्पिण्डाहं-
 भावप्रयुक्तमस्य दिक्कालभेदकल्पनामाह—दिगिति । दिक्काल-
 कलनां करोतीति शेषः । किंच सर्वेणाङ्गेन चक्षुःश्रोत्रादिना
 रसगन्धादि सर्वं न वेत्ति एवं व्यष्टिभूतः सर्वशरीरेण सर्वं भोग्यं
 न वेत्ति । असर्वात्मतादोषादित्यर्थः ॥ ६७ ॥ इति अनया
 रीत्या अनुक्तमप्यनन्तं सांसारिकं कलनं प्रति जीवमात्मनो-
 न्तर्गतमनुमेयमानन्यादेव प्रातिस्विकरूपेण वक्तुमशक्यम् ।
 तच्चानन्तं कलनमात्मनोऽनन्यदात्मभूतमेव । अतस्तत्परमार्थतो
 नोदयमुपैति नाप्यस्त्वं नाशमेति किंतुपलोदरवत्सच्चिदानन्दैक-
 घनं निर्व्यापारमेव स्थितमित्यर्थः ॥ ६८ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्षे जीवत्वसंस्तु-
 तिप्रतिपादनं नाम सप्ताशीत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १८७ ॥

जीवो ब्रह्मैव तस्येयमुत्पत्तिरुपचारतः ।

लिङ्गदेहस्य विभ्रान्त्येस्यत्र स्पष्टं निरूप्यते ॥ १ ॥

‘घनसंवेदनात्पश्चाद्भावी जीवादिनामिका’ इत्यादिना जीवो-
 त्पत्तिरुपपादिता । सा च न युक्ता । अभिनवोत्पन्नजीवस्य
 संसारहेतुकामकर्मवासनाद्यभावेन संसारासिद्धेर्घटपटादिवन्मि-
 थ्यात्मापत्त्या ब्रह्मात्मभावयोगान्मोक्षासिद्धेश्चैत्याशङ्का रामस्य
 भा भूदिति तत्तात्पर्यं भगवान्स्वयमेवाह—आदिमत्त्वमिति ।

१ दिक्कालकलनां जीवो नियतामिति पाठो व्याख्यानसुगुणः स्यात्.

कल्पनान्मननज्ञत्वान्मन इत्यभिधीयते ॥ ५
 अस्मीति प्रत्ययादन्तरहंकारश्च कथ्यते ।
 चेतनाद्व्यभूतं चित्तमिति शास्त्रविचारिभिः ॥ ६
 प्रौढसंकल्पजालात्स पुर्यष्टकमिति स्मृतम् ।
 संसृतेः प्रकृतत्वेन प्राथम्यात्प्रकृतिः स्मृता ॥ ७
 बोधादविद्यमानत्वादविद्येत्युच्यते बुधैः ।
 इत्यादिकलनस्यास्य नामानि कथितानि ते ॥ ८
 एतत्कलनमाद्यन्तमनाकारमनामयम् ।
 आतिवाहिकदेहोक्त्या समुदाह्रियते बुधैः ॥ ९

कलनस्य चिदाभासात्मकजीवस्य । तत्कलनं परस्माद्ब्रह्मणः
 अद्वितीयमभिन्नमिति त्वद्वोधाय न तु वास्तवमुत्पत्त्यादि जीव-
 स्यास्तीत्याशयेनेत्यर्थः ॥ १ ॥ कथा रीत्या परस्माद्वितीयमिति
 बोधनाय तदाह—एवंविधमिति । तत्कलनमात्मनो ब्रह्मण
 एवंविधमौपाधिकमङ्गमवयवः अत एवाकृत्रिमम् । चेत्योन्मु-
 खेति प्रागुक्तस्यानुवादः । तथा औपाधिक एव पृथग्भावस्त-
 त्प्रयुक्तजीवादिनामभेदश्च परस्यैव घटाकाशमठाकाशादिरूपना-
 मभेद आकाशस्यैवेति तदाशय इति भावः ॥ २ ॥ औपाधि-
 कप्रवृत्तिनिमित्ततद्भेदनिमित्ताज्जामभेदान् जीवस्य श्रावयति—
 कलनस्येत्यादिना ॥ ३ ॥ जीवनान्मुख्यप्राणस्य कर्मेन्द्रियाणां
 च धारणात् । चेतनाज्ज्ञानेन्द्रियाणां धारणाच्च जीवः । पूर्वानु-
 भूतातीतानागतचेत्योन्मुखतया हेतुना चित्तमिति, संनिवृष्टचे-
 त्योन्मुखतया चिदिति च निगद्यते ॥ ४ ॥ कल्पनात्संकल्पनात् ।
 मननमूहापोहादि तज्ज्ञत्वाच्च मन इत्यभिधीयते ॥ ५ ॥ अस्मी-
 त्यभिमानोक्तेः । पामरसाधारणव्युत्पत्त्या प्राक्चित्तनाम व्या-
 ख्यातम् । पण्डितप्रसिद्ध्या तु ‘चित्ती संज्ञाने’ इति धातुव्युत्पत्तेः
 स्वतत्त्वचेतनाद्व्यं ऋतं परमार्थवस्तु आत्मैव चित्तपदवाच्यं
 मुख्यमिति शास्त्रविचारिभिरुक्तमित्यर्थः ॥ ६ ॥ स जीवः संकल्पा-
 दिभिः पूर्यन्त इति पुर्यस्तासामष्टकमिति व्युत्पत्तेरिति भावः ।
 प्रकृतत्वेन सर्गादिकाले प्रस्तुतत्वेन ततः प्राथम्यात् ॥ ७ ॥
 बोधात्तत्त्वदर्शनादौपाधिकरूपेणाविद्यमानत्वात् ॥ ८ ॥ ९ ॥

इत्येवं स्वप्नसंकल्पपुरवच्चिजगद्भ्रमः ।
 भात्यर्थकार्यप्यवपुः शून्यमप्रतिघातमकम् ॥ १०
 इत्यातिवाहिकः प्रोक्तो देहो देहभृतां वर ।
 चित्तमश्चित्तदेहोऽसौ शून्य आकाशतोपि च ॥ ११
 नास्तमेति न चोदेति जगत्यामोक्षसंविदः ।
 चतुर्दशविधस्यैका भूतसर्गस्य चित्तभूः ॥ १२
 अत्र संसारलक्षाणि भविष्यन्ति भवन्ति च ।
 भूतानि च फलानीव यथा कालव्यवस्थया ॥ १३
 एष चित्तमयो देहो जगन्त्यन्तर्वहिस्त्वपि ।
 प्रतिबिम्बमिवादृशः शून्य एव नभो यथा ॥ १४
 महाकल्पस्य पर्यन्ते सर्वनाशे स्थिरे स्थिते ।
 महाशून्यपदे प्रौढे ब्रह्मात्मनि निरामये ॥ १५
 स्वतश्चित्तिघ्नोऽचित्त्वाच्चिद्भानमिदमात्मनः ।
 आतिवाहिकदेहभ्रं क्रमेणानेन चेतति ॥ १६
 स आतिवाहिको देहस्तदालोकप्रवर्तितः ।
 कैश्चिद्ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कैश्चिद्विराडिति ॥ १७
 कश्चित्सनातनाभिख्यः कश्चिन्नारायणाभिधः ।
 कश्चिदीश इति ख्यातः कश्चिदुक्तः प्रजापतिः ॥ १८
 काकतालीयवद्भाताः पञ्च स्नेन्द्रियसंविदः ।
 यत्र यत्र यथा तेषां स्थितास्तत्र तथा स्थिताः ॥ १९
 एवमत्यन्तवितते संपन्ने दृश्यविभ्रमे ।

न किञ्चिदपि संपन्नं सर्वशून्यं ततं यतः ॥ २०
 अनादिमत्परं ब्रह्म न सद्यधासदुच्यते ।
 तदेवेदमनाद्यन्तं तथास्थितमवेदनम् ॥ २१
 आतिवाहिकदेहस्य तस्यानुभवतः स्वयम् ।
 याति व्यसनिनः स्वप्नः कान्तेव परिपुष्टताम् ॥ २२
 शून्योऽप्यनाकृतिरपि घटाकारोऽनुभूयते ।
 स्वप्नसंकल्पयोः स्वस्य देहस्य जगतो यथा ॥ २३
 भवत्यर्थकरोऽत्युच्चैस्तच्चित्तस्वप्नवस्तुवत् ।
 आकाशात्मक एवोत्रः पदार्थ इव भासते ॥ २४
 आतिवाहिकदेहोऽसौ स्वतोऽनुभवति क्रमात् ।
 अनाकारोपि शून्योपि स्वप्नाभोऽसन्नपि स्थितः ॥ २५
 चेतस्यस्थिगणः स्थूलं कराद्यवयवावलिम् ।
 त्रिकलोमशिरास्त्रायुसंनिवेशतया स्थितम् ॥ २६
 जन्मकर्मेहितस्थानं परिणामवयःस्थितम् ।
 देशकालक्रमाभोगभावार्थायोद्भवभ्रमम् ॥ २७
 जरामरणमाधानदशदिद्यण्डलक्रमम् ।
 ज्ञानज्ञेयज्ञातभावमादिमध्यान्तवेदनम् ॥ २८

क्षितिजलग्नगनदिवाकर-

जनताव्यवहारनगरशिखरात्मा ।

स्वाधाराधेयमयं

पश्यति वपुषः पुरातनः पुरुषः ॥ २९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे बालीक्रीये दे० मो० नि० उ० जीवरूपवर्णनं नामाष्टाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८८ ॥

अर्थो भोगमोक्षौ तत्कार्यपि अवपुर्निःस्वरूपम् ॥ १० ॥ ११ ॥
 कियत्कालं स तिष्ठति तन्नाह—आमोक्षसंविद इति ।
 भूतसर्गस्य चित्तरूपा भूः प्ररोहस्थानम् ॥ १२ ॥ १३ ॥
 अन्तर्वहिरपि जगन्ति आदर्शः प्रतिबिम्बमिव धत्ते तथापि
 खं शून्य एवेत्यर्थः ॥ १४ ॥ कदाप्रसृत्ययं जगन्ति धत्ते
 इत्यन्नाह—महाकल्पस्येति । प्रकृतप्रलयस्य पर्यन्ते
 चरमक्षणे ॥ १५ ॥ अचित्त्वाच्चिदावरकाज्ञानाक्षिमित्तात् ।
 अनेन प्राशुकेन क्रमेण ॥ १६ ॥ स जीव एवातिवाहिको
 देहस्तस्य यो जगदालोकनात्मक आलोकस्तेन प्रवर्तितः
 कश्चिद्भागो ब्रह्मा चतुर्मुखोऽहमिति कथितः शास्त्रेषु ॥ १७ ॥
 सनातनग्रहणं सनकादीनां ब्रह्मपुत्राणामुपलक्षणम् ॥ १८ ॥
 यत्र भागे पञ्च स्नेन्द्रियसंविदो भातास्तत्र तत्र तथार्थाः स्थिताः
 ॥ १९ ॥ ततं विस्तीर्णमात्मतत्त्वं यतः सर्वदृश्यशून्यम् ॥ २० ॥
 सत् आविर्भूतम् । असत् तिरोभूतम् । यतस्तदेव अवेदनं
 स्वरूपसाक्षात्कारहीनं सत्तथा सदसदाकारेण स्थितम् ॥ २१ ॥
 अयं प्रपञ्चः कान्तानुसंधानव्यसनिनो विधुरस्य स्वप्नकान्तेव
 परिपुष्टतां याति ॥ २२ ॥ जगच्छून्यस्यैव जगदात्मना भावे

दृष्टान्तान्तरमाह—शून्योऽपीति । स्वत एव स्वदेहस्य जगत-
 आसतो भावे यथा दृष्टान्त इत्यर्थः ॥ २३ ॥ तादृशस्याप्यर्थ-
 क्रियासामर्थ्यं तत्रैव प्रसिद्धमित्याह—अवतीति । उग्र. कठिनः
 ॥ २४ ॥ २५ ॥ स आतिवाहिकदेहरूपो जीव. अस्थिगणैः
 स्थूलं त्रिकस्य पृष्ठवंशस्य लोभा आतानवितानत्वभेदान्मासा-
 स्थिवेष्टनत्वोपाधिभेदाद्वा शिरास्त्रायुर्भेदस्तासां सनिवेशात्म-
 तया स्थितं स्थूलशरीरं देशकालक्रमासनशब्दादिविषये भोग-
 र्थाय चेतसीत्यन्वयः ॥ २६ ॥ तस्मिन् देहे उद्भवो जन्म
 तद्धर्मं चेतति ॥ २७ ॥ तथा जरामरणं गुणदोषावाधानं
 दशदिद्यण्डलेषु क्रमणं क्रमो भ्रमणं ज्ञानादित्रिपुटी सर्वभा-
 वानामादिमध्यान्तवेदनं च चेतति ॥ २८ ॥ एवमातिवाहिक-
 देहभूतः पुरातनः पुरुषः स्वकल्पितादेव व्यष्टिसमष्टिस्वरूपवपु-
 निमित्तात्स्वयमेव क्षित्वादिशिखरान्तात्मा सन् स्वस्य पृथग्यादय-
 आधारः स्वयं तु तदाधेय इति भ्रान्तिमयं संसारस्त्राणं पश्य-
 तीत्यर्थः ॥ २९ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणज्ञातपर्यप्रकाशे
 निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवरूपवर्णनं नामाष्टाशीत्यधिकशततमः
 सर्गः ॥ १८८ ॥

एकोनवत्यधिकशततमः सर्गः १८९

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

आतिवाहिकदेहोऽसौ तस्याद्यस्य प्रजापतेः ।
काकतालीयवच्चित्वाद्यद्येत्यादि चेतति ॥ १
तत्तथा स्थितिमायाति चिरं संवित्स्वभावतः ।
वत विश्वमिदं भातमत्रासत्ये कुतः स्वयः ॥ २
द्रष्टाऽसत्यमसत्यं दृग्गत्यं दर्शनं ततम् ।
सत्यमेवाथवा सर्वं ब्रह्मैवात्मतया तथा ॥ ३

श्रीराम उवाच ।

इत्यातिवाहिकालोकः स तस्याद्यप्रजापतेः ।
कठिनत्वं कथं यातः कथं स्वप्नस्य सत्यता ॥ ४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

आतिवाहिक आलोकः स्वत एवानुभूयते ।
सदानवरतं तेन स एवाभाति पुष्टवत् ॥ ५
यथा स्वप्नस्य पुष्टत्वं चिरानुभवनोचितम् ।
अतिसत्यमिवाभाति स्वातिवाहिकता तथा ॥ ६
आतिवाहिकदेहस्य चिरस्वानुभवोदये ।
आधिभौतिकताबुद्धिरुदेति मृगवारिवत् ॥ ७
जगत्स्वप्नभ्रमाभासं मृगतृष्णाभुवत्स्थितम् ।
असदेवेदमाभाति सत्यप्रत्ययकार्यपि ॥ ८
आतिवाहिकरूपाणामाधिभौतिकता स्वयम् ।
असती सत्यवद्भूतमर्वागदशैभिरर्थिता ॥ ९
अयं सोऽहमिदं तन्म इमा गिरिनभोदिशः ।
इति मिथ्याभ्रमो भाति भास्वरस्वप्नशैलवत् ॥ १०
आतिवाहिकदेहोऽसौ स्रष्टुराद्यस्य भावितः ।

आधिभौतिकतां चैतत्पिण्डाकारं प्रपश्यति ॥ ११

चित्रभश्चेतनं त्यक्त्वा ब्रह्माहमिति पश्यति ।

अयं देहोऽयमाधार इति बध्नाति भावनाम् ॥ १२

असत्ये सत्यबुद्धौ बद्धो भवति भावनात् ।

बहुशो भावयत्यन्तर्नानात्वमनुधावति ॥ १३

शब्दान्करोति संकेतं संज्ञाश्च स्पन्दनानि च ।

ओमित्युक्ते ततो वेदान्छब्दराशीन्प्रगायति ॥ १४

तैरेव कल्पयत्याशु व्यवहारमितस्ततः ।

मनो ह्यसौ कल्पयति यच्चेतति तदेव हि ॥ १५

यो हि यन्मय एवासौ स न पश्यति तत्कथम् ।

असत्यैव जगद्भ्रान्तिरेवं प्रौढिमुपागता ॥ १६

आब्रह्मणो मुधा भाति चिरस्वप्नेन्द्रजालवत् ।

इत्यातिवाहिकस्येयमाधिभौतिकतोचिता ॥ १७

आधिभौतिकता नास्ति काचित्किंचिदपि क्वचित् ।

आतिवाहिकतैवैनामभ्यासाद्याति भावनाम् ॥ १८

मूलादेवैवमायातो मिथ्यानुभवनात्मकः ।

मोहो ब्रह्मण एवायमित्यस्येष महात्मनाम् ॥ १९

एवमित्यं दशा राम पिण्डबन्धः क्व विद्यते ।

भ्रान्तिरेवेदमखिलं ब्रह्मैवाभातमेव वा ॥ २०

न शाश्वतादन्यदिहास्ति कारणा-

न कारणं तत्खलु कार्यतां विना ।

न कार्यताकारणतादिसंभवो-

ऽस्त्यनामये तत्किमपीदमाततम् ॥ २१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० ब्रह्मैकताप्रतिपादनं नामैकोनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८९ ॥

आतिवाहिकदेहात्मप्रजापतिमनोरथे ।

आधिभौतिकताभ्रान्तिर्जगत्त्रोपवर्ण्यते ॥ १ ॥

‘कश्चिद्ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कश्चिद्विराडिति’ इत्यादिप्रपञ्चित-
प्रकारेण यद्यद्यथा चेतति तत्तत्तथा स्थितिमायातीति परेणान्वयः
॥ १ ॥ संवित् सत्यसंकल्पसंवित् तत्स्वभावत इदं विश्वं भातम् ।
वतेति खेदे ॥ २ ॥ अतो भ्रान्तिमात्रत्वाद्द्रष्टादित्रिपुटी असत्या
दृश्यत इति दृक् दृश्यम् । दर्शनं वृत्तिः ॥ ३ ॥ इति अनया
रीत्या आतिवाहिक आलोकनमालोको भ्रान्तिदर्शनमात्रं चेत्स
कठिनत्वं शिलादिभावम् । सत्यता पारलौकिकफलाद्यर्थक्रिया-
समर्थता ॥ ४ ॥ सदा नैरन्तर्येण । तथा चिराभ्यासात्पुष्टवत्
घनीभूत इवाभाति ॥ ५ ॥ यथा हरिश्चन्द्रदेः स्वप्नस्य चिरा-
नुभवनोचितं पुष्टत्वं तथेत्यर्थः ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ अर्वागद-
शैभिरविवेकिभिः । अर्थिता आसक्त्या स्वीकृता ॥ ९ ॥
॥ १० ॥ एतत् पृथिवीशरीरादिरूपे पिण्डाकारम् ॥ ११ ॥
ब्रह्माहमिति यथार्थचेतनं त्यक्त्वा अयं देहो मनुष्यादिरहं अयं
पृथ्व्यादिर्ममाधार इति पश्यति तत्र च भावनामास्थां बध्नाति

॥ १२ ॥ अनुधावति अनुसरति ॥ १३ ॥ प्रथमं वैदिकलौकिक-
शब्दान्करोति सृजति । तेषां च तत्तदुपाधिमति अर्थे संकेतं
करोति संकेतेन संज्ञाः करोति । शब्दकरणप्रकारमाह—
ओमित्युक्ते इति ॥ १४ ॥ १५ ॥ यन्मयो यदासक्तः ।
स्त्रीमयो जालम् इतिवत् ॥ १६ ॥ आब्रह्मण आमशकात्
इत्यनया रीत्या आधिभौतिकता काठिन्यादिस्वभावता उचितैव
नानुचिता ॥ १७ ॥ एतामाधिभौतिकभावनाम् ॥ १८ ॥
मूलभूताद्ब्रह्मणः स्रष्टुः सकाशादेव एवरूपो मोहोऽयमायात्
इति हेतोरेष जगद्दर्शनरूपो भ्रमो महात्मनां तत्त्वविदामपि
यावत्प्रारब्धक्षयमस्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥ चिदेकरसस्य ब्रह्मण एव-
रूपा इत्यं दुर्दशा क्व विद्यते किंविदमखिलं संसारदुर्दशादि-
भ्रान्तिरेव । अथवा ब्रह्मैव कौतुकवशाज्जगज्जीवाद्याकारेणो-
भातम् । न हि स्वाकारः स्वस्य दुर्दशेत्यर्थः । अन्ते बन्धमोक्ष-
विभागनिष्कर्षप्रदर्शनं चैतत् ॥ २० ॥ शाश्वताद्ब्रह्मणोऽन्य-
त्कारणं जगतो नास्ति । तच्च कार्यतां विना कारणं न । अना-
मये कूटस्थचिदानन्दाद्वये ब्रह्मणि कार्यताकारणतादिसंभव एव

नवत्यधिकशततमः सर्गः १९०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ज्ञानस्य ज्ञेयतापत्तिर्वन्ध इत्यभिधीयते ।
तस्यैव ज्ञेयताशान्तिर्मोक्ष इत्यभिधीयते ॥

श्रीराम उवाच ।

ज्ञानस्य ज्ञेयताशान्तिः कथं ब्रह्मन्प्रवर्तते ।
सा रूढा बन्धताबुद्धिः कथं वात्र निवर्तते ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

सम्यग्ज्ञानेन बोधेन मन्दबुद्धिर्निवर्तते ।
निराकारा निजा शान्ता मुक्तिरेवं प्रवर्तते ॥

श्रीराम उवाच ।

बोधः केवलतारूपः सम्यग्ज्ञानं किमुच्यते ।
येन बन्धादयं जन्तुरक्षेपेण विमुच्यते ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ज्ञानस्य ज्ञेयता नास्ति केवलं ज्ञानमव्ययम् ।
अवाच्यमिति बोधोन्तः सम्यग्ज्ञानमिति स्मृतम् ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच ।

ज्ञानस्य ज्ञेयता भिन्ना त्वन्तः केति मुने वद ।
उत्पाद्यो ज्ञानशब्दश्च भावे वा करणेऽथ किम् ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

बोधमात्रं भवेज्ज्ञानं भावसाधनमात्रकम् ।

नास्ति । तत्तत्सादेतोरिदं जगदाकारं किमपि भ्रान्तिमात्रमाततं
विस्तृतं न वस्तु सदिति निष्कर्ष इत्यर्थः ॥ २१ ॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्म-
कताप्रतिपादनं नामैकोननवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १८९ ॥

अतीतानागतः शङ्काः सर्वाः संसृज्य शुक्तिभिः ।

ज्ञानस्य ज्ञेयताशान्तिर्मुक्तिरत्रोपपाद्यते ॥ १ ॥

‘भ्रान्तिरेवेदमखिलं ब्रह्मैवाभासमेव वा’ इति बन्धमोक्ष-
निष्कर्षप्रदर्शनमन्ते यत्कृतं तत्परिष्कृत्याह—ज्ञानस्येति ॥ १ ॥
अत्र रामः सर्वेषामुपकाराय प्राक्समाहिता अपि शङ्का प्रश्नो-
त्तरमालिकाक्रमेणोद्घात्य समाधानक्रमप्रख्यापनकामस्तदुपायं
प्रयमं पृच्छति—ज्ञानस्येति । रूढा दृढाभ्यस्ता । कथं केनो-
पायेन ॥ २ ॥ शमदमादिसाधनसहितदृढाभ्यस्तसम्यग्ज्ञानल-
क्षणेन प्रबोधेन मन्दबुद्धिर्भ्रान्तिर्निवर्तते । अपगते च भ्रान्ति-
स्वप्ने एवंविधा ज्ञेयता शान्तिरूपा शुक्तिर्भूमिकापरिपाकक्रमेण
प्रवर्तते ॥ ३ ॥ अनेकविशेषवतो रूढादेः कतिपयविशेषेषु ज्ञाते-
ष्वपि विशेषान्तरज्ञानाय पुनःपुनः पर्यालोचनजन्यं सम्य-
ग्ज्ञानमन्यत्स्यात् । निर्विशेषे तु वस्तुन्यायात्तत्तज्ज्ञानापेक्षया सम्य-
ग्ज्ञानमन्यत्किं स्यादेनास्य बन्धो निवर्तते इति शङ्कार्थः ॥ ४ ॥
अधिष्ठानचिन्मात्ररूपस्य ज्ञेयता कालत्रयेऽपि नास्तीति सर्व-
दृश्यबाधपर्यवसित एव तत्त्वसाक्षात्कारः । आपाततो ज्ञानं

न ज्ञानज्ञेययोर्मैदः पवनस्पन्दयोरिव ॥

७

श्रीराम उवाच ।

एवं चेत्तत्कथमयं ज्ञानज्ञेयादिविभ्रमः ।

सिद्धः शशविपाणाभो भविष्यद्भूतमव्ययः ॥ ८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

बाह्यार्थभ्रान्तितो ज्ञेया भ्रमबुद्धिरिहोदिता ।

बाह्यश्चाभ्यन्तरश्चार्थो न संभवति कश्चन ॥ ९

श्रीराम उवाच ।

योऽयं प्रत्यक्षदृश्योऽर्थो मुने त्वमहमादिकः ।

भूतादिरनुभूतात्मा स कथं नास्ति मे वद ॥ १०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

आदिसर्गविधावेव विराडात्मादिकोऽनघ ।

जातो न कश्चिदेवार्थो ज्ञेयस्यातो न संभवः ॥ ११

श्रीराम उवाच ।

भविष्यद्भूतमव्ययस्या जगदुष्टिरियं मुने ।

नित्यानुभूयमानापि न जातेति किमुच्यते ॥ १२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

स्वप्नार्थमृगतृष्णाम्बुद्वीन्दुसंकल्पितार्थवत् ।

सिथ्या जगदहंत्वं च भाति केशोष्णकं यथा ॥ १३

तु न तथेत्युत्तरार्थः ॥ ५ ॥ निदेकरसस्यात्मनोऽन्तस्त्रिधा
ज्ञेयता का । तथायं ज्ञानशब्दः किं भावे उत्पाद्यो व्युत्पादनीयः
अथ किं करणे व्युत्पादनीय इति प्रश्नार्थः ॥ ६ ॥ भावे एव
ज्ञानशब्दो व्युत्पाद्यः । ज्ञेयजगद्रूपता च ज्ञानस्यैव मायिको
विकल्पो नैकरसविधातक इत्युत्तरार्थः ॥ ७ ॥ एवं चेत्तर्हि स
विकल्पः शशविपाणकल्पः कथं प्रत्यक्षादिभिर्भूतमव्ययमविष्ण-
द्विसागैर्व्यवहाररूपो भासते इति प्रश्नार्थः ॥ ८ ॥ नास्तत्त्वमभावे
अर्थक्रियासामर्थ्ये वा प्रयोजकम् । स्वप्नभ्रान्तिज्ञाने असत्सद-
सस्यापि तद्दर्शनात् । किंतु बाधस्तत्प्रयोजकः । स चात्र विचा-
रवता यौक्तिकस्तत्त्वविदामपरोक्षध्यास्येवेत्युत्तरार्थः ॥ ९ ॥
लौकिकप्रत्यक्षादिमानसिद्धस्य कथमपलाप इति प्रश्नार्थः ॥ १० ॥
आदिसर्गे जगतो मायातिरिक्तसाम्या दुर्वचत्वाद्भ्रान्तिमात्रत्वे
भवश्यं वक्तव्यं संप्रत्यपि तथैव वाच्यमिति व्यवहारमात्रावि-
संवादेन चरितार्थानि लौकिकप्रत्यक्षादीनि तत्त्वगोचरशुक्तिभिः
श्रुतिभिश्च बाध्यन्त इत्युत्तराशयः । तथा च श्रुतिः ‘न निरोधो
न चोत्पत्तिर्न चङ्गो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरि-
त्येषा परमार्थता’ इति ॥ ११ ॥ भूतमविष्यदाद्यनन्तवस्तु-
गोचराणामनन्तानां सर्वजनीनानां प्रत्यक्षादीनामेकेन तत्त्व-
ज्ञानेन कथं बाध इति शङ्कार्थः ॥ १२ ॥ तादृशानामपि स्वप्न-
ज्ञानानामेकेन जागरेण बाधदर्शनादित्युत्तरार्थः ॥ १३ ॥

श्रीराम उवाच ।

अहं त्वमयमित्यादिजगज्जटारमप्यलम् ।

कथं न जातं भगवन्सर्गादावनुभूतिमत् ॥ १४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

कारणाज्जायते कार्यं नान्यथेत्येव निश्चयः ।

सर्वोपशान्तौ जगतामुत्पत्तौ नास्ति कारणम् ॥ १५

श्रीराम उवाच ।

महाप्रलयसंपत्तौ शिष्टं यदजमव्ययम् ।

तत्कथं नाम सर्गस्य न भवेत्कारणं मुने ॥ १६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यदस्ति कारणे कार्यं तत्तस्मात्संप्रवर्तते ।

न त्वसज्जायते राम न घटाज्जायते पटः ॥ १७

श्रीराम उवाच ।

जगत्सूक्ष्मेण रूपेण महाप्रलय आगते ।

आस्ते ब्रह्मणि तत्तस्मात्पुनरेव प्रवर्तते ॥ १८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

महाप्रलयपर्यन्ते केन सर्गास्तितानघ ।

अनुभूता महाबुद्धे तत्रस्था सा च कीदृशी ॥ १९

श्रीराम उवाच ।

ज्ञायात्मिका श्रीस्तत्रस्था तादृशेननुभूयते ।

व्योमात्मिका तु न भवेन्न सत्तामसवेति हि ॥ २०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं चेत्तन्महाबाहो ज्ञप्तिरेव जगन्नयम् ।

विशुद्धज्ञानदेहस्य कुतो भरणजन्मनी ॥ २१

श्रीराम उवाच ।

तदेवमादितो नास्ति सर्गस्तदियमागता ।

कया युक्त्या बाध इति प्रश्नार्थः ॥ १४ ॥ कारणाभावयुक्त्ये-

त्युत्तरार्थः ॥ १५ ॥ ब्रह्मैव कारणं किं न स्यादिति प्रश्नार्थः

॥ १६ ॥ ब्रह्मणश्चिदेकरसत्वेन तत्र जगद्वीजशक्त्ययोगादि-

त्युत्तरार्थः ॥ १७ ॥ तर्हि सांख्याभिमतगुणेष्विव ब्रह्मणि

सूक्ष्मरूपेण तदा जगदस्तु इति प्रश्नार्थः ॥ १८ ॥ तत्सत्तायाः

साधकाभावादैकरस्यश्रुतिबाधितत्वाच्च अभ्युपगन्तुमशक्यत्वादित्युत्तराशयः ॥ १९ ॥ तर्हि ज्ञात्येकरसतयैव तदा स्वप्रकाशा

तत्सत्तास्तु न मायाकाशात्मिका । तस्याः शून्यतापर्यवसानेन

असतः सदात्मना सर्गे आगमनायोगादिति प्रश्नार्थः । हि

अस्मादसत् सत्ता नैति ॥ २० ॥ एवं चेच्चिदेकरसमेव ततो

जगत्स्यात्, तथा च भेदकाभावे को जगच्छब्दार्थ इत्युत्तराशयः

॥ २१ ॥ तर्हि जगद्भ्रान्तेः किं कारणमिति प्रश्नार्थः ॥ २२ ॥

न वास्तवं कारणं तत्कार्यं भावात्मकं जगद्वा अस्ति मायया

तु ब्रह्मैव तत्तन्निपुटीवेषं घटे इत्युत्तरार्थः । यच्चचेत्यते यच्चे-

तितं यच्च चेतति तत्रयमपि स्वात्मैवेत्यर्थः ॥ २३ ॥ नन्विदं

विपरीतम् । यन्मसदृशः कार्यकारणसंघातः अचिद्रूपश्चेतति ताद-

रूपत्वात्सर्वद्रष्टा चेश्वरो जडरूपं दृश्यत्वमेतीति काष्ठं दग्धं भूत्वा

यो० बा० १९१

कुतः कथमिव भ्रान्तिरिति मे भगवन्बुद्धे ॥ २२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

कार्यकारणताभावाद्भावाभावौ स्त एव नो ।

इदं च चेत्यते यद्यत्स्वात्मा चेतति चेतितम् ॥ २३

श्रीराम उवाच ।

चेतिता चेतति यन्नं द्रष्टा दृश्यत्वमीश्वरः ।

कथमेति कथं बहिं दहेत्काष्ठं कदा किल ॥ २४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

द्रष्टा न याति दृश्यत्वं दृश्यस्यासंभवादतः ।

द्रष्टैव केवलो भाति सर्वात्मैकघनाकृतिः ॥ २५

श्रीराम उवाच ।

चिन्मात्रं तदनाद्यन्तं चेत्यं चेतयते तदा ।

तदिदं जगदाभानं कुतः स्याच्चेत्यसंभवः ॥ २६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

चेत्यं हि कारणाभावान्न संभवति किंचन ।

चेत्याभावाच्चेतनस्य मुक्तताऽवाव्यता सदा ॥ २७

श्रीराम उवाच ।

एवं चेत्तदहन्तादि चेत्यं कथमिदं कुतः ।

कथं जगद्वेदनं च कथं स्पन्दादिवेदनम् ॥ २८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

कारणासंभवादादावेवोत्पन्नं न किंचन ।

कुतश्चेत्यमतः शान्तं सर्वं सर्गस्तु विभ्रमः ॥ २९

श्रीराम उवाच ।

अत्र मे विगतोल्लेखे निश्चेत्यचलनादिके ।

सकृद्विभाते विमले विभ्रमः कस्य कीदृशः ॥ ३०

बहिं दाह्यं कृत्वा कदा किल दहेदिति शङ्कायैः ॥ २४ ॥

न द्रष्टा दृश्यत्वं यातीति वयं प्रतिपादयामः, किंतु दृश्यादित्रि-

पुटी द्रष्टृकैवल्यरूपदृष्ट्वाप्रमेवैकघनाकृतिः स्वयं भातीति न

किंचिद्विपरीतं किंतु सर्ववैपरीत्यनिवृत्तिरेवेत्युत्तराशयः ॥ २५ ॥

सर्गादावचेतितजगत्प्रतिभासासिद्धेः शुद्धचिन्मात्रमेव तदा

चेत्यं चेतयते इत्यवश्यं वाच्यम् । तत्र चेत्यस्य कुतः संभव-

स्तद्वेति प्रश्नार्थः ॥ २६ ॥ चेत्यं चेत्सर्गादौ संभूतं स्यात्तदा

तत्कुतः संभूतमिति प्रश्नावसरः स्यात् । अत्यन्तासंभूतस्य

बन्ध्यापुत्रकल्पस्य किमुपपत्तिजिज्ञासयेति नित्यमुक्त एवात्मा

प्रतिपत्तव्य इत्युत्तरार्थः । अवाक्यता वक्तुमनर्हता ॥ २७ ॥ नित्य-

मुक्तत्वं चेदहन्तादिप्रतिभास एव कदापि न स्यादिति शुरुशास्त्रा-

दिवैफल्यामिति शङ्काशयः ॥ २८ ॥ नोत्पन्नमेव किंचिदिति

नित्यमुक्तताप्रतिबोधनेन जगद्वन्धविभ्रमशान्तिरेव शास्त्रादि-

फलमित्युत्तराशयः ॥ २९ ॥ अत्र मे ब्रूयुत्तरमिति शेषः ।

विगतोल्लेखे बागगम्ये सकृद्विभाते सदा स्वप्रकाशे नित्यमुक्ते

ब्रह्मणि विभ्रम एव कस्य कुतो वा निमित्तात्कीदृशः किंप्रका-

रश्च । अद्वयेन द्वैतलेशस्याप्यसहनादिति प्रश्नार्थः ॥ ३० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

कारणाभावतो राम नास्त्येव खलु विभ्रमः ।
सर्वं त्वमहमित्यादि शान्तमेकमनामयम् ॥ ३१

श्रीराम उवाच ।

ब्रह्मन्ध्रममिवापन्नः प्रष्टुं जानामि नाधिकम् ।
नात्यन्तं च प्रबुद्धोऽस्मि पृच्छामि किमिहाधुना ॥ ३२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

कारणस्यैव निकषं पृच्छ माऽऽकारणक्षयात् ।
परे स्वभावेऽनिर्वाच्ये स्वयं विश्रान्तिमेष्यसि ॥ ३३

श्रीराम उवाच ।

मन्येऽहं कारणाभावात्पूर्वमेव न सर्गता ।
उदिता तेन कस्यायं चेत्यचेतनविभ्रमः ॥ ३४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अकारणत्वात्सर्वत्र शान्तत्वान्भ्रान्तिरस्ति नो ।
अनभ्यासवशादेव न विश्राम्यति केवलम् ॥ ३५

श्रीराम उवाच ।

कुतो भवेदनभ्यासो भवेदभ्यसनं कुतः ।
कुतोऽभ्यासात्मिका भ्रान्तिरेषा पुनरुपस्थिता ॥ ३६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अनन्तत्वाद्मन्तस्य भ्रान्तिर्नास्ति च संप्रति ।
अभ्यासभ्रान्तिरखिलं महाचिद्धनमक्षतम् ॥ ३७

अस्तु शास्त्राधिगताद्वितीयब्रह्मतत्त्वदशा विभ्रमोऽप्यनुपपन्नः ।
नैतावता कृतकार्यं शान्तं निफलमित्युत्तराशयः ॥ ३१ ॥ एवं
निरुत्तरीकृतो रामः प्रबोधदार्ढ्याभावादनिरुत्तरीसंशयः प्रश्ना-
शक्तिमेव स्वस्य दर्शयति—ब्रह्मज्ञिति ॥ ३२ ॥ हे राम, न
निरुत्तरीकरणादप्रतिभाभात्रेण प्रश्नादुपरमस्य किंतु प्रश्नकार-
णस्य संशयबीजस्य निकषोपलब्धत्वात्सारासारापरीक्षास्थानं मा
मां आकारणक्षयाद्यावदाशङ्कं पृच्छ । ततः क्रमेण प्रश्नकारण-
संशयानां तत्कारणस्याज्ञानस्य च निःशेषं क्षयात्परे स्वभावे
विश्रान्तिमेष्यसि ॥ ३३ ॥ कारणाभावात्पूर्वं सर्गादेवेव सर्गता
नोदितेति त्वदुक्तं सिद्धान्तमहं मन्ये अवगच्छाम्येव, तथापि
ममार्थं चेत्यचेतनविभ्रमः कथं चेति संशयो नापगच्छति तत्र
को हेतुर्इति प्रश्नाशयः ॥ ३४ ॥ यदि मदुक्तं सिद्धान्तं
जानासि तर्हि अनभ्यासवशात्तज्ज्ञानादार्ढ्यादविश्रान्तिरेव ते
श्रुत्या नानासंशयहेतुरित्युत्तराशयः ॥ ३५ ॥ यत्र जगद्भ्रान्तेरपि
कारणं नास्ति तत्राभ्यासात्मिका भ्रान्तिः कुतो हेतोरुपस्थिता
स्यादिति प्रश्नार्थः ॥ ३६ ॥ नास्तु कपि भ्रान्तिस्तथापि जीवन्मु-
क्तानां चिद्धनात्मकसर्ववस्तुभिर्व्यवहारप्रवृत्तिवत्तत्प्राप्त्यासप्रवृ-
त्तिरस्त्वित्याशयेनोत्तरमाह—अनन्तत्वादिति ॥ ३७ ॥ जीव-
न्मुक्तानां भवदाढीनां सर्वस्मिजगद्भ्रमे शान्ततां गते सति
अनयाऽध्यात्मशास्त्ररूपया शब्दसंपदा उपदेशार्हणामसद-

श्रीराम उवाच ।

उपदेशोपदेशादावनया शब्दसंपदा ।
किमन्यद्ब्रह्म मे ब्रह्मन्सर्वस्मिच्छान्ततां गते ॥ ३८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

उपदेशोपदेशात्म ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ।
बोधोऽस्मिन्नि न मोक्षोऽस्ति न बन्धोऽस्तीति निश्चयः ॥

श्रीराम उवाच ।

देशकालक्रियाद्रव्यमेदवेदनचेतसाम् ।
सर्वस्यासंभवे सर्वसत्ता कथमुपस्थिता ॥ ४०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

देशकालक्रियाद्रव्यमेदवेदनचेतसाम् ।
अज्ञानमात्रादितरा सत्ता नान्यास्ति नो पुरा ॥ ४१

श्रीराम उवाच ।

बोधबोधकतापत्तेरभावाद्बोधता कथम् ।
द्वैतैक्यासंभवे ब्रह्मकारणासंभवे सति ॥ ४२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

बोधेन बोधतामेति बोधशब्दस्तु बोध्यताम् ।
भवद्विषयमेवायमुचितो नासदादिषु ॥ ४३

श्रीराम उवाच ।

बोध एव यदाहंत्वमेति बोधान्यता तदा ।
कुत एषा परेऽनन्ते नासावतिजलेऽमले ॥ ४४

धीनामुपदेशकायप्रवेशशक्तिपातादिना प्रबोधनव्यवहारै किमन्य-
त्कारणं स्यादिति प्रश्नः ॥ ३८ ॥ तेषामुपदेशादिसर्वव्यवहारा-
त्मना ब्रह्मैव ब्रह्मणि संस्थितम् । अन्यादृशानां बन्धबोधतदुपा-
यानां तत्त्वदशा अत्यन्ताप्रसिद्धेरित्युत्तराशयः ॥ ३९ ॥ अहं-
प्रसिद्धा जगत्सत्ता तर्हि केन हेतुनोपस्थितेति प्रश्नः ॥ ४० ॥ अज्ञा-
नहेतुनैवेत्युत्तरम् । यतो जीवन्मुक्तेः पुरा अन्या तदनुभवसिद्धा
जगत्सत्ता नो ॥ ४१ ॥ तत्त्वदशा द्वैतैक्यासंभवे सति बोध्य-
बोधकभावापत्तेरन्यभावात्तत्त्वबोधस्य बोधता वा कथम्, न
ह्यकर्मको बोधशब्दो लोके प्रसिद्धोऽस्तीति प्रश्नार्थः ॥ ४२ ॥
अबुद्धं हि ब्रह्मबोधेन स्वाज्ञानस्य फलाश्रयत्वेन बोध्यता
बोधकर्मतामेति । तेनैव तु बोधशब्दोऽपि बोध्यतां बोधफल-
वत्तांलक्षणसकर्मकतामेति । इदं सर्वमज्ञानवद्भवद्विषयमेव ।
जीवन्मुक्तेष्वसदादिषु त्वज्ञानाभावात् बोधस्य सकर्मकतां
निरूपयितुं शक्येत्यर्थः ॥ ४३ ॥ नासदादिविविधं वदता भवता
जीवन्मुक्तेष्वन्यस्मच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूता अहंता दर्शिता । सा
च नाबोधकार्यम् । तेष्वबोधाप्रसिद्धेः । अतः परिशेषाद्बोध
एव अहंतालक्षणं परिणाममेतीति वाच्यम् । तदा च बोधान्यता
तस्य दुर्वारा असांवहता हि ना जीवाख्यः पुरुषः । एषा च परे
अनन्ते त्रिविधपरिच्छेदशून्ये अत एव जलमतिक्रान्ते अति-
जले जलादप्यतिशयिते अमले चिन्मात्रे त्वयि कुतः ॥ ४४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यत्तद्बोधस्य बोधत्वं तदेवाहंत्वमुच्यते ।
द्वित्वमत्रानिलस्पन्ददृशोरिव निगद्यते ॥ ४५

श्रीराम उवाच ।

सौम्यान्धन्तस्तरङ्गादिर्यथादत्ते यथास्थितम् ।
तथा स्वरूपमात्रात्मं बोध्यं बोधोऽवबुद्धवान् ॥ ४६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं चेत्तत्कथं कः स्यादोषो द्वित्वादिदोषतः ।
अनन्ते स्थित एकस्मिञ्छान्ते पूर्णे परे पदे ॥ ४७

श्रीराम उवाच ।

कोऽत्र कल्पयिताहंत्वं भुङ्क्ते मोक्षा च कश्च वा ।
यन्मूलं यज्जगद्भ्रान्तिरनन्ता प्रविजृम्भते ॥ ४८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

श्रेयसत्तावबोधे हि बन्धनं सच्च नास्त्यलम् ।
ज्ञप्तेः सर्वार्थरूपत्वाद्बन्धमोक्षावतः कुतः ॥ ४९

श्रीराम उवाच ।

ज्ञप्तेर्वाह्यार्थता दीपान्नीलादीव प्रवर्तते ।
बाह्यस्त्वर्थोऽस्ति सद्रूपो ननु दृष्टोपलम्भनः ॥ ५०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अकारणस्य कार्यस्य बाह्यस्यार्थस्य सत्यता ।
येयं सा भ्रान्तिमात्रात्मरूपिणी नेतराङ्गिका ॥ ५१

श्रीराम उवाच ।

स्वप्नः सत्योऽस्त्वसत्यो वा दुःखं तावत्प्रयच्छति ।
तथैवेयं जगद्भ्रान्तिः क उपायोऽत्र कथ्यताम् ॥ ५२

बोधैकरसस्यास्मदादेर्यद्बोधत्वं स्वरूपभूतं तदेवानिलस्पन्दव-
द्वैकल्पिकव्यपदेशेनाहंत्वमस्माभिरुच्यते नाज्ञवदभिमानप्रधा-
नेन जीवपुरुषेणेत्युत्तरार्थः ॥ ४५ ॥ एवं चेत्समुदतरन्नन्यायेन
जीवन्मुक्तानां विन्मयमेवाहंतादिजगत् बोध्यबोधादित्रिपुटी
श्वेति पर्यवसन्नमिति प्रश्नाशयः ॥ ४६ ॥ यथेवं स्थितिरेव
तत्त्वं तर्हि तया द्वैतैक्यासंभवे ब्रह्मकारणासंभवे सति इति
त्वदुद्भाविता द्वित्वादिप्रसक्तितो यः अद्वैतहानिलक्षणो दोषः स
कथं स्यात्, कश्च स्यात्, तस्माच्चैवं मन्तव्यमिति शुद्धाद्वैतमेवा-
वलम्ब्येत्यर्थः ॥ ४७ ॥ तर्हि शुद्धाद्वैतपक्षे अनिलस्पन्दव-
दहंत्वविकल्पं कल्पयिता को व्यवहारं भुङ्क्ते । जगद्भ्रान्ति-
विकल्पस्यापि तथैवावर्जने पुनर्वन्धमोक्षकल्पनापि स्यादिति
प्रश्नार्थः ॥ ४८ ॥ श्रेयार्थसत्यत्वाभिनिवेशे हि पुनर्वन्धनं प्रस-
ज्येत । तत्त्वविदां तु सत् ज्ञेयं अलं अत्यन्तं नास्ति । तत्त्व-
ज्ञानेन बाधात् । ज्ञप्तिरेव हि तेषां आरब्धशेषभोगाय सर्वो-
र्थाकारेव भासते नातः पुनर्वन्धादिकल्पनाप्रसक्तिरित्युत्तरार्थः
॥ ४९ ॥ ननु न ज्ञप्तिः सर्वार्थरूपा । यतो दीपात्प्रकाशाकाङ्गी-
लपीतादिरूपस्थितिरेव ज्ञप्तेर्वाह्यघटपटादयर्थस्थितिः प्रवर्तते

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं तावद्यथा स्वप्नस्तथेयं चेज्जगत्स्थितिः ।
तत्पिण्डग्रहतार्थानां सर्वैव भ्रान्तितोदिता ॥ ५३

श्रीराम उवाच ।

किमेतावति संपन्ने संपन्नं भवति प्रियम् ।
कथं च शाम्यत्यर्थानां स्वप्नादौ पिण्डरूपता ॥ ५४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

पूर्वापरपरामर्शात्पिण्डतार्थेषु शाम्यति ।
स्वप्नेऽप्येवं स्थिते स्थूला भावना विनिवर्तते ॥ ५५

श्रीराम उवाच ।

भावना तनुतां याता यस्यासौ किं प्रपश्यति ।
कथं शाम्यति तस्यायं संसारकुहरभ्रमः ॥ ५६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

उद्धस्तमसदाभासमुत्पन्ननगरोपमम् ।
वर्षप्रोन्मृष्टचित्राभं जगत्पश्यत्यवासनः ॥ ५७

श्रीराम उवाच ।

ततः किं तस्य भवति वासनातानवे स्थिते ।
पिण्डग्रहे गतेऽर्थानां स्वप्नोपमजगत्स्थितेः ॥ ५८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

संकल्परूपजगतः क्रमात्सापि विलीयते ।
वासना तस्य तेनाशु स निर्वाति विवासनः ॥ ५९

श्रीराम उवाच ।

अनेकजन्मसंरूढा शाखा प्रसवशालिनी ।
भवबन्धकरी घोरा कथं शाम्यति वासना ॥ ६०

प्रथां लभते । तथा च दृष्टोपलम्भनः प्रत्यक्षादिसिद्धो बाह्योऽर्थः
सद्रूपो ज्ञप्तिवलादेव सिद्धः कथं तथैवापलपितुं शक्य इति
शङ्कार्थः ॥ ५० ॥ यदा बाह्यार्थस्याकारणकत्वाद्बन्ध्यापुत्र-
सदृशत्वं प्राक्साधितं तदा तस्य येयमापातदर्शनप्रसिद्धा सत्यता
सा शुक्तिरजतसत्यतेव भ्रान्तिमात्रात्मरूपिणी न तु इतरथ-
ार्थवृद्धिरङ्गं साधकं यस्यास्तथाविधा । तत्त्वविदां तु भ्रान्ति-
मूलाज्ञाननाशात्तत्प्रसक्तिरेव नास्तीत्युत्तरार्थः ॥ ५१ ॥ तात्कालि-
कार्थक्रियासामर्थ्यात्सत्योऽस्तु । प्रबोधशब्दत्वादसत्यो वाऽस्तु ।
अत्र तच्चिकित्सायां क उपाय इति प्रश्नः स्पष्टः ॥ ५२ ॥ स्वप्न-
साम्ये सिद्धे तत्त्वबोधेन तत्पिण्डग्रहतावाद्य एव सर्वदुःखशान्त्यु-
पाय इत्युत्तराशयः । तत्तर्हि सर्वैव अर्थानां पिण्डग्रहता-
भ्रान्तितैवेति अर्थादुदितैव ॥ ५३ ॥ आशयमप्रतिपद्य प्रश्नः
स्पष्टः ॥ ५४ ॥ एवं पूर्वापरपरामर्शेन स्थिते अवश्यं प्रबोधो-
दये स्थूला स्वप्नभावना विनिवर्तते ॥ ५५ ॥ यस्य पूर्वापरविम-
र्शेन जगत्स्थौल्यभावना तनुतां याता स जीवन्मुक्तो जगत्किं
कीदृशं प्रपश्यतीति प्रश्नः ॥ ५६ ॥ उत्तरं स्पष्टम् ॥ ५७ ॥
ततस्तदनन्तरम् ॥ ५८ ॥ उत्तरोत्तरभूमिकापरिपाकक्रमात्

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यथाभूतार्थविज्ञानाद्भ्रान्तिमात्रात्मनि स्थिते ।
पिण्डग्रहविमुक्तेऽस्मिन्दृश्यचक्रे क्रमात्क्षयः ॥ ६१

श्रीराम उवाच ।

पिण्डग्रहविमुक्तेऽस्मिन्दृश्यचक्रे क्रमान्मुने ।
संपद्यते किमपरं कथं शान्तिः प्रजायते ॥ ६२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

पिण्डग्रहभ्रमे शान्ते चित्तमात्रात्मतां गते ।
निरोधगौरवोन्मुक्ते जगत्यास्थोपशम्यति ॥ ६३

श्रीराम उवाच ।

बालसंकल्परूपेऽस्मिन्स्थिते जगति भासुरे ।
कथमास्थोपशमनं तादृग्दुःखाय किं नरः ॥ ६४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

संकल्पमात्रसंपन्ने नष्टे दुःखं कथं भवेत् ।
संकल्पचित्तमात्रं यत्तत्तावत्प्रविचार्यताम् ॥ ६५

श्रीराम उवाच ।

कीदृशं भगवंश्चित्तं कथं तत्प्रविचार्यते ।
किं च संपद्यते ब्रूहि तस्मिन्सम्यग्विचारिते ॥ ६६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

चित्तश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तच्चित्तमिति कथ्यते ।
विचार एष एवास्य वासनानेन शाम्यति ॥ ६७

श्रीराम उवाच ।

क्रियन्नाम भवेद्ब्रह्मज्ञ चेत्योन्मुखता चित्तेः ।
चित्तस्याचित्ततोदेति कथं निर्वाणकारिणी ॥ ६८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

चेत्यं न संभवत्येष चित्किं चेतयते कुतः ।
चेत्यासंभवतश्चित्तसत्ता नास्ति ततश्चिरम् ॥ ६९

श्रीराम उवाच ।

कथं न संभवत्येतच्चेत्यं यदनुभूयते ।

अपह्नवश्चानुभवे क्रियते कथमीदृशः ॥ ७०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यादृक्स्यादृक्विषयं जगत्तस्य न सत्यता ।

यादृक् तज्ज्ञविषयं तदनाख्यं यदद्वयम् ॥ ७१

श्रीराम उवाच ।

त्रिजगत्कीदृगज्ञानां कथं तस्य न सत्यता ।

तज्ज्ञानां तु जगदादृक्तद्वङ्गं किं न युज्यते ॥ ७२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

आद्यन्तद्वैतमज्ञानां तज्ज्ञानां तन्न विद्यते ।

जगच्च नो संभवति नित्यानुत्पन्नमादितः ॥ ७३

श्रीराम उवाच ।

आदितो यदनुत्पन्नं न संभवति कर्हिचिद् ।

असद्रूपमनामासं कथं तदनुभूयते ॥ ७४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

असदेव सदाभासमनुत्पन्नमकारणम् ।

जाग्रत्स्वप्नवदुद्भूतमर्थकृद्भानुभूयते ॥ ७५

श्रीराम उवाच ।

स्वप्नादौ कल्पनादौ च यदृश्यमनुभूयते ।

तज्जाग्रद्रूपसंस्कारादनुष्ठानानुभूतितः ॥ ७६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

किं जाग्रद्रूपमाहोस्विदन्यत्स्वप्नेऽनुभूयते ।

संकल्पे च मनोराज्ये इति मे वद राघव ॥ ७७

श्रीराम उवाच ।

स्वप्नेषु कल्पनाद्येषु जाग्रदेवावभासते ।

संस्कारात्मतया नित्यं मनोराज्यभ्रमेषु च ॥ ७८

॥ ५९ ॥ ६० ॥ भ्रान्तिमात्रात्मनि अस्मिन्दृश्यचक्रे यथा-
भूतार्थविज्ञानात्पिण्डग्रहविमुक्ते दग्धपटन्यायेन स्थिते सति
आरब्धशेषभोगक्रमात्तस्यापि क्षय इत्यर्थः ॥ ६१ ॥ अपरं
किं निर्विक्षेपतासाधकं संपद्यते इति प्रश्नः ॥ ६२ ॥ भोगा-
स्थाशान्तिः परवैराग्याख्या संपद्यत इत्युत्तरम् ॥ ६३ ॥ बाल-
संकल्परूपे अतिपेलवतया स्थितेऽपि जगति दुःखहेत्वास्थोप-
शमनं कथम् । तर्हि तादृगत्यन्तपेलवसंकल्पः शिशोरपि नरो
दुःखाय किम् । दुःखमनुभवन् कथं दृश्यते इत्यर्थः ॥ ६४ ॥
अविचारेण पेलवत्वापरिज्ञानादेव शिशोरपि दुःखम् । विचारेण
तत्परिज्ञाने तु न तत्राशादिना दुःखमिति त्वमपि विचारयेत्यु-
त्तरमाह—संकल्पेति ॥ ६५ ॥ प्रश्नः स्पष्टः ॥ ६६ ॥ एषः
सांप्रतं त्वया मां पुरस्कृत्य क्रियमाणो महारासायणश्रवणरूप
एष ॥ ६७ ॥ चित्ते जीवति सति तन्निरोधसाध्या चित्तेर-
चेत्योन्मुखता क्रियत्कालं स्थास्यति । अतश्चित्तनाशोपायमेव

वदेति प्रश्नार्थः ॥ ६८ ॥ चेत्यस्यासंभवदर्शनेन सार्जनमेव चित्त-
नाशोपाय इत्युत्तरार्थः ॥ ६९ ॥ चेत्वं सर्वथा न संभवति
चेत्तदनुभवस्य को विषय इति प्रश्नतात्पर्यार्थः ॥ ७० ॥
अज्ञपरिज्ञातस्यापह्नवे अर्थात्तस्य सत्त्ववित्परिज्ञातानामरूपातीत-
वस्तुत्वेन विषय इत्युत्तरार्थः ॥ ७१ ॥ प्रश्नः स्पष्टः ॥ ७२ ॥
आद्यन्तौ देशकालकृतपरिच्छेदौ द्वैतं वस्तुकृतपरिच्छेदश्च अस्मि-
न्त्याविर्धं तत्तादृशं जगत्तज्ज्ञानां सांप्रतं न विद्यते आदितश्च
न संभवतीति नित्यानुत्पन्नं शशविषाणवन्ध्यापुत्रप्रायमित्यर्थः
॥ ७३ ॥ अत्यन्ताऽसचेत्कथमर्थक्रियासमर्थमनुभूयत इति प्रश्नः
॥ ७४ ॥ एवंविधापि जाग्रत्स्वप्नवदनुभूयत इत्युत्तरम् ॥ ७५ ॥
कल्पनादौ मनोराज्यवितर्कादौ । अनुष्ठानं जाग्रदवधारणस्तदनु-
भवतः प्रसूतात्तद्रूपसंस्कारादित्यर्थः ॥ ७६ ॥ संस्कारात्मने
किं जाग्रत्प्रसिद्ध एवार्थोऽनुभूयते उतान्य इति मे वदेति
प्रश्नार्थः ॥ ७७ ॥ तत्रायकल्पं रामः परिशुष्योत्तरमाह—

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

तदेव जाग्रत्संस्कारात्स्वप्नश्चेदवभासते ।
तत्स्वप्ने लुठितं गेहं कथं प्रातरवाप्यते ॥ ७९

श्रीराम उवाच ।

न जाग्रद्राजते स्वप्ने तद्ब्रह्मान्यत्तदेव हि ।
बुद्धमेतत्कथं त्वन्यदपूर्वमिव भासते ॥ ८०

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

नानुभूतोऽनुभूतश्च चेतस्यर्थोऽवभासते ।
सर्गाद्यन्तादिमध्येषु स्वभ्यस्तस्त्विति भासते ॥ ८१

श्रीराम उवाच ।

एवं स्वप्नात्मकं भाति जगदित्येव बुद्धवान् ।
ग्रहवत्स्वप्नयक्षोऽयं कथं ब्रह्मांश्चिकित्सते ॥ ८२

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

योऽयं संसरणस्वप्नः स किंकारणको भवेत् ।
कार्यान् कारणं भिन्नमिति दृष्टं विचारय ॥ ८३

श्रीराम उवाच ।

चित्तं स्वप्नोपलम्भानां हेतुस्तस्मात्तदेव ते ।
विश्वं चाद्यन्तरहितमनासारमनामयम् ॥ ८४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे धा० दे० मो० नि० उ० रामविश्रान्तिर्नाम नवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं चित्तं महाबुद्धे महाचिद्धनमेव तत् ।
तथास्थितं न स्वप्नादि किंचनास्तीतरात्मकम् ॥ ८५

श्रीराम उवाच ।

अवयवावयविनोर्यथा भिन्नस्तथा स हि ।
तत्रानवयवे ब्रह्मण्येकता जगदादिना ॥ ८६

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

एवं न संभवत्येव नित्यानुत्पन्नमादितः ।
जगत्तेनाजरं शान्तमजं सर्वमवेधितम् ॥ ८७

श्रीराम उवाच ।

काकतालीयवन्मन्ये सर्गाद्यन्तादयो भ्रमाः ।
भ्रान्तिद्रष्टृत्वभोक्तृत्वसहिताः परमे पदे ॥ ८८

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

या व्यापारवती रसाद्रसविदां काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्यां परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।
ते द्वे अवलम्ब्य विश्वमखिलं निर्वर्णितं निर्वृतं
यावद्दृष्टिदृशो न सन्ति कलिता नो शून्यता नो भ्रमः

स्वप्नेष्विति । जाग्रत् जाग्रत्प्रसिद्धोऽर्थ एव ॥ ७८ ॥ लुठितं
पातितं गेहं गृहम् । अर्थाभेदे स्वाप्नपातनस्य जाग्रत्पातनरूप-
त्वादिति भावः ॥ ७९ ॥ आद्यकल्पपरिग्रहे दूषिते रामो
द्वितीयकल्पमवलम्बते—नेति । जाग्रदर्थः स्वप्ने न राजते न
भासते किंत्वन्यत् । तच्च ब्रह्मैवेत्येतत्त्वदभिप्रेतं मया बुद्धम् ।
एतावांस्तु संदेहः परिशिष्टः—तदन्यद्ब्रह्म अपूर्वं जगदिव भासते
इति ॥ ८० ॥ नापूर्वमिव भासत इत्येव नियमः किंतु कश्चि-
दर्थो नानुभूतोऽपूर्वं इति कश्चित् प्रागनुभूतो नापूर्वं इति
चावभासतेऽसौ च येन येनाकारेण सर्गाद्यन्तादिमध्येष्वनु-
भवोऽभ्यस्तः स इति तेन तेनाकारेण भासते । तत्र ब्रह्मा-
कारताभ्यासे स्वभ्यस्ते तथैव भासिष्यत इति भावः ॥ ८१ ॥
एवं त्वया बोधितोऽहं जाग्रज्जगदपि स्वप्नात्मकमेव भातीत्येव
बुद्धवान् । तथाविधोऽप्ययं जगदयक्षो ग्रहवद्बाधते अतः कथं
चिकित्सते ॥ ८२ ॥ कारणपरीक्षणेन स चिकित्सनीय इत्या-
शयेन वसिष्ठस्तत्कारणं पृच्छति—योऽयमिति ॥ ८३ ॥ उत्तरं
स्पष्टम् ॥ ८४ ॥ चित्तं च चेत्योन्मुखी चिदेवेत्यसकृदुक्ते-
वेति तच्चित्तं महाचिद्धनमेव । तथा च तदेव जगदाकारमिव
स्थितमिति सिद्धमित्यर्थः ॥ ८५ ॥ तर्हि वृक्षशाखान्यायेन मेदा-
भेदेन ब्रह्मणि जगत्स्थितमित्येव कुतो नोच्यते न स्वप्नादि किंचन
अस्तीति कुतो निषिध्यते इति रामः शङ्कते—अवयवेति ।
यथा अवयवानां शाखादीनामवयविनो वृक्षस्य च तादात्म्य-
लक्षण एकीभावो भिन्नो मेदसहिष्णुस्तथा चित्तजगतोरप्यस्तु ।
तत्र जगदादिना समष्टिचित्तेन अनवयवे ब्रह्मण्येकतास्त्वित्यर्थः

॥ ८६ ॥ परिहरति—एवमिति । एवं कल्पना न संभवत्येव ।
यत आदितो विमर्शे ब्रह्मणि कारणाभावाज्जगन्नित्यानुत्पन्नम् ।
न हि मायिककल्पनामात्रेणावयवावयविभावो मेदामेदो वा
भवति । मरुतदीगन्धर्वनगरादेरपि मरीचिनभःप्रभृत्यवयवता-
प्रसङ्गादिति भावः । अवेधितमच्छिद्रितमखण्डितमिति यावत्
॥ ८७ ॥ एवं समाहितो रामः परिशिष्टां सैद्धान्तिकीं स्थिति-
मेवावलम्ब्याह—काकतालीयवदिति ॥ ८८ ॥ एवं जगद्भा-
न्तिमात्रमेवेति निश्चितवन्तं रामं प्रति सापि भ्रान्तिर्दृष्टिद्वय-
मूलकेन शास्त्रीयविचारेण मया निराकृतेति वसिष्ठ उपसंह-
रति—येति । त्रिविधा हि प्रसिद्धा दृष्टिः । पामरदृष्टिर्यौक्ति-
कदृष्टिस्तत्त्वदृष्टिश्चेति । तत्रादौ प्रथमा उत्तराभ्यां द्वाभ्यां
निराकार्या, द्वितीया त्वन्ते तृतीययेत्याशयेन उत्तरे द्वे दृष्टी
अवलम्ब्य मयेदमखिलं विश्वं तत्त्वतो निर्वर्णितम् । के ते द्वे ।
रसाद्रसविदां सारादपि सारं निर्मथ्य बोद्धुं समर्थानां कवीनां
प्रमाणप्रमेयतत्त्वपरीक्षाकुशलानां पटुतरविचारव्यापारवती
अतिनिष्कर्षरूपत्वादभिनवा या काचिद्दृष्टिः सैका । या चापरा
सर्वविचारशास्त्रश्रवणमनननिदिध्यासनपरिपाकपरिनिष्ठितो यः
परमतत्त्वरूपोऽर्थस्तन्मात्ररूपस्य विषयस्य उन्मेषः अपरोक्षतया
स्फुरणं यस्यां चरमसाक्षात्कारवृत्तौ तादृशी वैपश्चिती विपश्चित्तु
जीवन्मुक्तेषु प्रसिद्धा सा च । ते द्वे दृष्टी अवलम्ब्यास्मिन् शास्त्रे
कियत्पर्यन्तं विश्वं निर्वर्णितं तदाह—यावदिति । यावद्दृष्ट्यश्च
तद्दृशो जीवाश्च कालत्रयेऽपि न सन्ति । जगतः शून्यतापि
न कलिता, भ्रमश्च न कलितस्तावन्नित्यापरोक्षपरमानन्दब्रह्मा-

एकनवत्यधिकशततमः सर्गः १९१

श्रीराम उवाच ।

एवं चेत्तन्मुनिश्रेष्ठ परमार्थमयं जगत् ।
सर्वदा सर्वभावात्मा नोदेति न च शास्यति ॥ १
आन्तिरेवेयमाभाति जगदाभासरूपिणी ।
आन्तिरेवापि वा नैव ब्रह्मसत्तैव केवला ॥ २

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

काकतालीयवद्ब्रह्म यद्भातीवात्मनात्मनि ।
स तेनैवात्मनात्मैव जगदित्यवबुध्यते ॥ ३

श्रीराम उवाच ।

कथं तपत्यहोऽदिकं सर्गस्यादौ परत्र च ।
कथं भित्त्या विना भाति वद दीपप्रभा मुने ॥ ४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इत्थंरूपमिदं भाति चित्तिरूपप्रभाप्रभा ।
पश्य सैवात्मनाऽऽस्ते यत्प्रकाशादिभिरेव च ॥ ५
भित्तौ प्रकाशो भातीव तत्कुक्ष्यं भासनं च तत् ।
दृश्यस्यासंभवादादौ वक्ता द्रष्टा प्रदृश्यताम् ॥ ६
तस्माद्द्रष्टास्ति नो दृश्यं नैवास्तीदमनामयम् ।
चित्प्रभैवात्मना भित्तिर्भवत्याभासनं तथा ॥ ७
द्रष्टृदृश्यात्मिकैकैव स्वात्मनैव विराजते ।
स्वप्नादिषु यथेष्टाद्य द्रष्टृदृश्यात्मिका सती ॥ ८

स्वैकवस्तुस्थितिपर्यन्तमिति यावत् ॥ ८९ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे रामविभ्रा-
न्तिर्नाम नवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९० ॥

ग्रहैव जगदाकारं यथा भात्यप्रबोधतः ।

प्रबुद्धमात्रनिर्वाणं तत्सम्बन्धिह वक्ष्यते ॥ १ ॥

एवं प्रतिबोधितो रामः सैद्धान्तिकं पक्षं प्रतिपद्याभिल-
षति—एवं चेदित्यादिना । परमार्थमयं परतत्त्वविवर्तः ॥ १ ॥
आन्तिर्विक्षेपशक्तिप्रधाना अविद्या यौक्तिकदृशा, तत्त्वदृशा तु
सापि नैव ॥ २ ॥ श्रीरामोक्तमनुमोदमानो वसिष्ठस्तदेवाह—
काकतालीयवदिति । काकतालीयवदतर्क्या अविद्याया
आत्मना जीवभूतेन तेनैव ब्रह्मणा ॥ ३ ॥ महाप्रलयकाले
स्वात्मन्वनदिग्विभागादिशून्यं अपरिच्छिन्नचित्प्रकाशमसंभावय-
न्निव सविस्मयं रामः पृच्छति—कथमिति । अदिकं दिग्गमं
विना सर्गस्यादौ प्रलयकाले परत्र मोक्षे च कथं तपति प्रका-
शते । अहो इत्याश्चर्ये । भित्त्या आत्मन्वनेन । तथा च विना-
लम्बनं प्रभाया इव चिदात्मनोपि प्रथा असंभाव्येत्यर्थः ॥ ४ ॥
अन्यत्राहृष्टमत्याश्चर्यमप्येतत्प्रमाणानुभववलादेव संभावनीय-
मिति समाधत्ते—इत्थंरूपमिति । इदमित्यंरूपमत्याश्चर्यमेव ।
'विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्' इति श्रुतेः । 'आश्चर्यवत्पश्यति
कश्चिदेनम्' इति भगवद्ब्रह्मनाम् । तथापि नासंभावना कार्या ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां परीक्ष्य त्वं पश्य । यद्यस्यात्सैव चिति-

चिद्भात्येव हि सर्गादौ कचन्ती भाति सर्गवत् ।
भासनीयं च मानं च रूपं यत्र स्वयंप्रभा ॥ ९
एकैव चित्रग्रं भूत्वा सर्गादौ भाति सर्गवत् ।
एष एव स्वभावोऽस्या यदेवं भाति भासुरा ॥ १०
एतत्तु स्वप्नसंकल्पनगरेष्वनुभूयते ।
इत्थं नाम तपत्येषा चिदीतिः प्रथमोदिता ॥ ११
नभस्येव नभोरूपा यदिदं भासते जगत् ।
अनाद्यन्तमिदं तस्याः सर्गाः सर्गात्मभासनम् ॥ १२
स्वभावभूतमस्माकं त्विदं भाति महात्मनाम् ।
भास्यभासकसंविच्छिन्नं दृश्यति प्रतिभामिता ॥ १३
तदा तु नाम सर्गादौ नासीद्भास्यो न भासकः ।
मिथ्याज्ञानवशादेव स्थाणौ पुंस्प्रत्ययो यथा ॥ १४
तथात्मनि द्विताभानाच्चित्ते द्वैतविभासनम् ।
सर्गादौ न च भास्योस्ति न च वा नास्ति भासकः ॥ १५
कारणाभावतोद्वैतं चिद्व्योमाभाति केवलम् ।
किं नाम कारणं ब्रूहि सर्गादौ चितिं वस्तुतः ॥ १६
अभावादर्थदृष्टीनां चिदेवेत्यं प्रकाशते ।
जगद्ज्ञानमिदं यत्तत्र जाग्रच्च सुषुप्तकम् ॥ १७
न स्वप्नोऽसंभवादृश्यं केवलं ब्रह्म भासते ।
चिन्मात्रव्योमसर्गादावित्थं कचकचायते ॥ १८

तथा सूर्यादिप्रभाया अपि प्रभा अन्धकारकाले आत्मनैव
प्रथमाना आस्ते । सूर्योदयाद्यनन्तरं प्रकाशादिभिः सहप्राप्ते
॥ ५ ॥ सूर्यादिप्रकाशोऽपि भित्त्यादिनिरपेक्षप्रकाशस्वभाव एव
सन् भित्तौ भातीव । न हि तस्य प्रकाशता भित्तिप्रयुक्तः ।
प्रत्युत कुक्ष्यं तद्भासनं च तत्प्रकाशताबलादेव संपद्यते ।
प्रकाशैकरस्येनैव कुक्ष्यप्रथनात् । तत्र यथा कुक्ष्यादिसंबन्धा-
त्प्रादुर्भासि प्रकाशो दृश्यते तथा सर्गस्यादौ प्रलयेऽपि वक्ता
श्रोता आयमात्मा निर्विषयो दृश्यतामित्यर्थः ॥ ६ ॥ एवं
निरालम्बनचित्संभावनसिद्धेः सैव सर्गादौ जगदाकारेण संप-
द्यते संभावयेत्याह—तस्यादिति । भित्तिर्मूर्तमालम्बनमा-
भासनं सूर्यादिप्रभा यथा तथैव ॥ ७ ॥ एकस्या एव चित्तत्रिपुटी-
भावः स्वप्नादिष्वपि प्रतिद्व एवेत्याह—द्रष्टृतिः ॥ ८ ॥ यत्र
यस्मिन्सर्गादिकाले ॥ ९ ॥ स्वभावो मायाशक्तिः ॥ १० ॥ तपति
प्रकाशते ॥ ११ ॥ तस्याः सर्गात्मना भासनं मानमेव सर्गाः
॥ १२ ॥ अज्ञानामेवेदमाश्चर्यवद्भाति नास्माकमित्याह—स्वभा-
वभूतमिति । अकस्मात्प्रतिभामितापि स्मृतिलेख तत्त्वानुसंधानेन
नश्यति ॥ १३ ॥ कथं तत्त्वानुसंधानं तदाह—तदा त्विति
॥ १४ ॥ भासकचिदात्मा तु न नास्ति अवश्यमस्येव ।
वाशब्दः समुच्चये ॥ १५ ॥ १६ ॥ सर्गादौ जगद्ज्ञानस्य जाग्रदाद्य-
वस्थात्रयानन्तर्भावादपि तुर्यचिदेवेत्यं प्रकाशत इत्याह—

२ पक्षान्तरे इति शङ्कः ।

यत्स्वमेव वपुर्वेत्ति जगदित्यजगन्मयम् ।
चिन्मात्रव्योमसर्गादावित्थं भाति विकासनम् ॥ १९
यदिदं जगदित्येव शून्यत्वाम्बरयोरिव ॥ २०

बुद्धा च यावत्स्वनुभूतियुक्तं
स्थातव्यमेतेन विकल्पमुक्तम् ।
पाषाणमौनं कुजनेन तूक्तं
न ग्राह्यमज्ञेन हि भुक्तमुक्तम् ॥ २१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठम० वा० दे० मो० नि० उ० महावादबोधनं (तत्त्वानुसंधानं) नामैकनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९१ ॥

द्विनवत्यधिकशततमः सर्गः १९२

श्रीराम उवाच ।

अहो नु सुचिरं कालं संभ्रान्ता वयमन्तरे ।
अपरिज्ञातमात्रेण संसारपरमाम्बरे ॥ १
बुद्धे यावदित्यं नाम जगद्भ्रान्तिर्न किंचन ।
न चाभून्न च वास्तीर्यं न च नाम भविष्यति ॥ २
सर्वं शान्तं निरालम्बं विज्ञानं केवलं स्थितम् ।
अनन्तं चिद्धनं व्योम नीरागमपकल्पनम् ॥ ३
परमाकाशमेवेदमपरिज्ञातमात्रकम् ।
संसारतामिवास्माकं गतं चित्रमहो नु भोः ॥ ४
इत्थं द्वैतमिदं भातमिमे लोका इमेऽद्रयः ।
परमाकाशमित्यच्छमेवानच्छमिव स्थितम् ॥ ५
सर्गादौ परलोकादौ स्वप्नादौ कल्पनादिके ।
चिदेव चेत्यवद्भाति कुतोऽन्या किल दृश्यधीः ॥ ६
स्वर्गे वा नरके वापि स्थितोऽस्मीति मतिर्यदि ।
तत्तस्या नरकस्यान्तो दृश्यं संविन्मयात्मकम् ॥ ७
नेदं दृश्यं न च द्रष्टा न सर्गो न जगन्न चित् ।
न जाग्रत्स्वप्नसिद्धादि किमपीदं तदप्यसत् ॥ ८

कुतोऽस्याः संभवो भ्रान्तेरिति चेद्दृश्यते मुने ।
तदेतदपि नो युक्तं भ्रान्त्यभावानुभूतितः ॥ --- ९
भ्रान्तिर्न संभवत्येव निर्विकारे ज्ञतापदे ।
यत्त्विदं भ्रान्तिताज्ञानं तत्तदेवेतरन्न तत् ॥ १०
निरन्तरे निराद्यन्ते व्योम्नि शैलोदरेऽथवा ।
कुतोऽन्यताकल्पकं स्याज्ज्ञपदे चाविकारिणि ॥ ११
मिथ्यैवानुभवो भ्रान्तेः स्वप्ने स्वमरणोपमः ।
यदनालोकनं नाम शाम्यतीदं विलोकनात् ॥ १२
मृगतृष्णाम्बुगन्धर्वनगरद्वीन्दुविभ्रमः ।
तथाऽविद्याभ्रमश्चायं विचारान्नोपलभ्यते ॥ १३
बालवेतालवद्भ्रान्तिर्न विद्या जाग्रदापि हि ।
अविचारेण संरूढा विचारेणोपशाम्यति ॥ १४
कुत आसीदिति मुने नात्र प्रश्नो विराजते ।
सत एव विचारेण लाभो भवति नासतः ॥ १५
प्रामाणिकविचारेण प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
तदेतदसदेवादि तत्तर्ह्यनुभवो भ्रमः ॥ १६

अभावादिति ॥ १७ ॥ १८ ॥ विकासनमित्युत्तरान्वयि
॥ १९ ॥ शून्यत्वाम्बरयोर्भेदविकल्पविकासनम् ॥ २० ॥ वर्णितं
तत्त्वानुसंधानप्रकारमुपसंहरति—बुद्धेति । एतेन मदुक्ततत्त्वा-
नुसंधानोपायेन तत्त्वं बुद्ध्वा यावद्भूमिकापरिपाकक्रमेणेदं स्वनु-
भूतियुक्तं दृढं भवति तावद्विकल्पमुक्तं यथा स्यात्तथा पाषाण-
मौनं निरुद्धवागादिब्यापारं निर्विकल्पसमाधौ स्थातव्यम् ।
अज्ञेन स्नेन परेण च अनादौ संसारे पुनःपुनर्मुक्तं वैराग्याति-
शयेन सांप्रतं मुक्तं त्यक्तं बाह्यविषयजातं तु कुजनेन मुंक्ष्वेत्यु-
क्तमपि न ग्राह्यम् । विषयग्रहणस्य भोगलाभपत्यहेतुतया
समाधिसुखविधातकत्वादिति भावः ॥ २१ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महाराजायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महावादबो-
धनं नामैकनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९१ ॥

इह प्रबुद्धो रामः स्वं प्रबोधं गुरुसज्जिधौ ।

यथा चिन्मात्रमेवेदं तथा विस्तरतोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

सर्वसंदेहनिवृत्त्या सम्यक्प्रबुद्धो रामः सुप्तोत्थितः स्वप्न-
भ्रान्तिमिव संसारभ्रान्तिमाश्चर्यतया स्मरन्नाह—अहो इत्या-
दिना । संसारलक्षणे परमे निरवधौ अम्बरे तत्राप्यन्तरे
एतद्ग्राह्यमैकदेशे सुचिरं कालं वयमपरिज्ञातमात्रेणात्मतत्त्वेन

संभ्रान्ताः ॥ १ ॥ बुद्धे आत्मतत्त्वे तु यावदिति साकल्ये ।
तथा चोक्तं सुरेश्वरवार्तिके 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धी-
जन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति'
इति ॥ २ ॥ यतः अपकल्पनमत एव तद्रजनाभावाच्चीरागमः
॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ कल्पना काव्यरचना । आदिपदान्मनोराज्य-
परिग्रहः ॥ ६ ॥ मतिर्भ्रान्तिः । तत्तस्या भ्रान्तेर्वशात्तस्य पुंसो
नरकस्य अन्तो बन्धः । 'अति बन्धने' घञ् ॥ ७ ॥ चित् चिदा-
भासः ॥ ८ ॥ भ्रान्तेरसद्रूपत्वात्तत्कारणचिन्ताप्ययुक्तैवेत्याह—
कुत इति । दृश्यते आलोच्यते ॥ ९ ॥ ज्ञता तत्त्वज्ञानं तत्पदे
॥ १० ॥ निरन्तरे अन्तरालशून्ये शैलोदरे स्फटिकशिलागर्भे वा
॥ ११ ॥ १२ ॥ द्वीन्दुविभ्रमो यथेति शेषः ॥ १३ ॥ जागरणं जाग्र-
धनर्थे कः । जागरे प्रत्यक्षदृष्टापि न विद्या न यथार्था ॥ १४ ॥
इयं भ्रान्तिः कुतो निमित्तादासीदिति प्रश्नोऽप्यत्र न विराजते ।
विचारार्थं हि प्रश्नः स चात्र निष्फलः । तन्मूलस्याज्ञानस्यासतो
निर्णयत्वायोगादित्यर्थः ॥ १५ ॥ अज्ञानस्यासत्त्वं प्रमाणपूर्वक-
विचारालभ्यत्वादेवेत्याह—प्रामाणिकेति । आदिजगन्मूलम-
ज्ञानम् । तत्तस्मात्कारणादेव हि तदनुभवाद्भ्रमः ॥ १६ ॥

यन्नास्तीति परिच्छिन्नं प्रमाणैः सुविचारितम् ।
 खपुष्पशशशृङ्गाभं तत्कथं लभ्यते सतः ॥ १७
 सर्वतः प्रेक्ष्यमाणोऽपि यः कुतश्चिन्नं लभ्यते ।
 तस्य स्यात्कीदृशी सत्ता वन्द्यातनयरूपिणः ॥ १८
 भ्रान्तिर्न संभवत्येव तस्मात्काचित्कदाचन ।
 निराचरणविज्ञानघनमेवेदमाततम् ॥ १९
 यत्किञ्चिज्जगदद्यान्न भातीदं परमेव तत् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० भो० नि० उ० विश्रान्त्युपगमवर्णनं नाम द्विनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९२ ॥

त्रिनवत्यधिकशततमः सर्गः १९३

श्रीराम उवाच ।

अनादिमध्यपर्यन्तं न देवा नर्षयो विदुः ।
 यत्पदं तदिदं भाति क्व जगत्क च दृश्यता ॥ १
 द्वैताद्वैतसमुद्भेदवाक्यसंदेहविभ्रमैः ।
 अलमस्माकमाशान्तमाद्यं रूपमनामयम् ॥ २
 व्योमनि व्योमभावानां प्रशान्तं यादृगाक्षितम् ।
 तादृक्चिद्व्योमनि स्फारत्रिजगद्व्योमभासनम् ॥ ३
 यथा व्योमनि व्योमत्वं दृष्टत्वं दृष्टि स्थितम् ।
 जलत्वं च जलस्यान्तर्जगत्त्वं चिद्वने तथा ॥ ४
 साहंतादिजगद्दृश्यमाशाकाशविसार्यपि ।
 महाचिदुदरं विद्धि खं शान्तं शून्यतोदितम् ॥ ५
 जीवस्यास्मिन्विमूढस्य परेऽपरिमितोदये ।
 प्रस्फुरन्नापि संसारपिशाच उपशाम्यति ॥ ६
 भेदोपलब्धिर्गलति व्यवहारवतोऽप्यलम् ।
 जडस्येवाजडस्यैव वीचेरिव जलोदरे ॥ ७

अज्ञानं तत्कार्यं च सन्मूलकमेव किं न स्यात्तत्राह—यदिति ।
 प्रमाणैर्वाच्यैरम्भेत्यादिश्रुतिभिः ॥ १७ ॥ तर्हि जगदपि सदेव
 किं न स्यात्तत्राह—सर्वत इति । कुतश्चित्कारणात् प्रमाणाच्च
 ॥ १८ ॥ १९ ॥ परेण निरतिशयानन्देन आपूर्णे परे ब्रह्मस्वरूपे
 परं तदेव खे महिष्यवतिष्ठते ॥ २० ॥ २१ ॥ कीदृशं तत्पद-
 मवतिष्ठते तदाह—अजमिति । अहार्यं परैरपहर्तृमशक्यम् ।
 आर्यैर्विद्वद्भिर्जुष्टं समन्तात्पूर्णमहमेव निरहं सत् बोधादुदितम् ।
 आवरणपरिच्छेदमहात्सर्वतोविकसि ॥ २२ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
 महारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्त्युप-
 गमवर्णनं नाम द्विनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९२ ॥

इह रामः प्रबोधेनाऽज्ञाननिद्राक्षये क्षणात् ।

निर्मृष्टनिखिलद्वैतनित्यात्मस्थितिमब्रवीत् ॥ १ ॥

देवाः कर्मोपासनसिद्धाः । ऋषयस्तपोयोगसिद्धाः । अथवा
 चक्षुरादिबाह्यान्तःकरणान्येवात्र देवा ऋषयश्च । 'ते ह देवा
 उद्गीथमाजहुः' इत्यावेव गौतमभरद्वाजौ' इत्यादिश्रुतेः ॥ १ ॥
 द्वैताद्वैतयोरनुसंधाने यो मनसि समुद्भेदस्तत्प्रयुक्तैर्वाक्यव्यवहारैः
 संदेहैर्विभ्रमैश्चास्माकं बलम् । प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः । आद्यं

परं परे परापूर्णे पूर्णमेवावतिष्ठते ॥ २०
 न भातं न च नाभातमिह किञ्चित्कदाचन ।
 इदमित्थं स्थितं स्वच्छं शान्तमेव जगद्गुः ॥ २१
 अजममरमहार्यमार्यजुष्टं
 परमविकारि निरामयं समन्तात् ।
 पदमहमुदितं ततं हि शुद्धं
 निरहमनेकमथाद्वयं विकासि ॥ २२

काव्यज्ञानरवौ याते प्रतापाद्याकरे भृशम् ।
 संसारसत्तादिवसो यात्यस्तं स निशागमः ॥ ८
 भावाभावेषु कार्येषु जरामरणजन्मसु ।
 ह आजवं जवीभावे तिष्ठन्नपि न तिष्ठति ॥ ९
 नाविद्यास्ति ह न भ्रान्तिर्न दुःखं न सुखोदयः ।
 विद्याऽविद्या सुखं दुःखमिति ब्रह्मैव निर्मलम् ॥ १०
 परिज्ञातं सदेतत्तु यावद्ब्रह्मैव निर्मलम् ।
 अपरिज्ञातमस्माकमब्रह्मात्म न विद्यते ॥ ११
 प्रबुद्धोऽसि प्रशान्ता मे सर्वा एव कुदृष्टयः ।
 शान्तं समं सोहमिदं खं पश्यामि जगत्त्रयम् ॥ १२
 सम्यग्ज्ञातं यावदिदं जगद्ब्रह्मैव केवलम् ।
 अज्ञातात्माभवद्ब्रह्म ज्ञातात्मन्यधुना स्थितम् ॥ १३
 ज्ञाताज्ञातमनिर्भासं ब्रह्मैकमजरं तथा ।
 शून्यत्वैकत्वनीलत्वरूपमेकं नभो यथा ॥ १४

सर्वादौ 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुति-
 सिद्धं यद्रूपं तदिव सर्वं भातीत्यनुकृष्यते ॥ २ ॥ सप्रति
 जगद्भानं कीदृक्संपन्नं तदाह—व्योमनीति । व्योमभावानां
 केशोष्णकुमुदावलीगन्धर्वनगरादीनाम् ॥ ३ ॥ व्योमादौ
 व्योमत्वादि यथा अमेदेन सामान्यरूपेण तद्भावेन च स्थितं
 तथेत्यर्थः ॥ ४ ॥ आशास्तु दिष्ट आकाशे च विसारि असं-
 ख्येतया विस्तृतमपि शून्यतया उदितं शून्यतोदितम् ॥ ५ ॥
 अपरिमितोदये अस्मिन्परे ब्रह्मणि दृष्टमात्रे जीवस्य संसार-
 पिशाच उपशाम्यति ॥ ६ ॥ कथमुपशाम्यति तदाह—भेदो-
 पलब्धिरिति । लब्धयोरमेदाजलस्यापीत्यपि वीचिपक्षे ॥ ७ ॥
 प्रताप आध्यात्मिकादित्रिविधसत्ताप आदिपदादिष्वयदृणा
 तदाकरे । अस्मददर्शनं याति स मोक्षमुखविश्रान्तिहेतुर्निशा-
 गमः ॥ ८ ॥ आजवं जवीभावे व्यवहारविक्षेपे च ॥ ९ ॥
 ॥ १० ॥ अस्माकं तत्त्वविदाम् ॥ ११ ॥ समं सर्वत्रैतैषम्य-
 रहितम् ॥ १२ ॥ ज्ञातं कश्चिप्रागधुनाप्यन्यः किंतु ब्रह्मैव
 प्रागज्ञात आत्मा येन तथाविधमभवत् । अधुना तु ज्ञाते
 आत्मनि स्वस्वभावे स्थितम् ॥ १३ ॥ अनिर्भासं स्वातिरिक्तज्ञाना-
 ज्ञाननिर्भासशून्यम् । यथा नीलत्वशून्यत्वे नीलत्वे च नम एव

निर्वाणमासे गतशङ्कमासे
निरीहमासे सुसुखेऽहमासे ।
यथास्थितं नित्यमनन्तमासे
तदेवमासे न कथं समासे ॥
सर्वे सदैवाहमनन्तमेकं
न किञ्चिदेवाप्यथवातिशान्तः ।

१५

सर्वे न किञ्चिच्च सदेकमस्मि
न चास्मि चेतीयमहो नु शान्तिः ॥ १६
अधिगतमधिगम्यं प्राप्तमप्राप्तमन्यै-
र्गतमिदमलमस्तं वस्तुजातं समस्तम् ।
उदितमुदितबोधं तादृशं यत्र भूयो-
ऽस्तमयसमुदयानां नाम नामापि नास्ति ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० नि० उ० विश्रान्तिकथनं नाम त्रिनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमः सर्गः १९४

श्रीराम उवाच ।

सर्वात्मसर्वभावेषु येन येन यदा यदा ।
यथा भाति स्वयंबोधस्तथानुभवति स्वयम् ॥ १
स्वभाव एव तिष्ठन्ति सर्गाः संमिलिता अपि ।
अत्रापि स्वीकृता एव नानारत्नांशवो यथा ॥ २
अत्र दृष्टमदृष्टं च मिथो विशति गच्छति ।
जगद्रश्मिघनं रत्नं नानारत्नघनं यथा ॥ ३
दीपानामिव सर्गाणां बहूनां ज्वलतां परम् ।
केषांचिदस्त्यनुभवो मिथः केषांचिदेव नो ॥ ४
अप्स्वप्स्विव रसोऽम्भोधावावर्तरमणावनौ ।
सर्गेऽस्ति प्रत्यणुं तस्मिन्नापि सर्गास्तथा क्रमः ॥ ५

सर्वत्र सर्वतो नित्यं चिद्धनस्याम्बुवेदनम् ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते सर्गाधारपरम्पराः ॥ ६
यथावयविता भिन्ना नैवावयविनः कश्चित् ।
शब्दभेदादहते भिन्ना न तथा सर्गता परे ॥ ७
एकस्यानन्तरूपस्य कारणाभावतः स्वयम् ।
नोदेति न च यात्यस्तं जगदादिः स्वभावतः ॥ ८
तपन्ती क्षतिरेवेयमखण्डज्ञेयतामिमाम् ।
करोत्यकर्तृरूपैव समालोकमिवार्कमाः ॥ ९
वैतृण्यात्सर्वभावानां समाप्त्यैवाक्षयं स्वयम् ।
संपद्यते समाधानं यत्तन्निर्वाणमुच्यते ॥ १०

तद्वदित्यर्थः ॥ १४ ॥ तत्तस्मात्प्रबोधाच्चिर्वाणमेव सन्नहमासे ।
अज्ञाननिवृत्त्यैव सर्वशङ्कानिवृत्तेर्गतशङ्कमासे । सुसुखं निर्विक्ले-
पात्मसुखं तत्रैवेह धारावाहिकचित्तवृत्तिर्यथा स्यात्तथा आसे ।
एवं प्रबुद्धोऽहं समासे समस्तात्मनि ब्रह्मणि न कथमासे ।
तद्भावप्रच्युतिहेतूनां बाधादित्यर्थः ॥ १५ ॥ सदैव सर्वमहं
अथवा अतिशान्तः सर्वोपप्लवरहितो न किञ्चिच्च एकं सदह-
मेयास्मि । अथवा देशकालधाराप्रसिद्धेः क्वापि नास्मि च ।
इति इयं निर्वाणान्या इयं सर्वशान्तिरहो अत्याश्चर्यरूपेत्यर्थः
॥ १६ ॥ अधिगन्तुं ज्ञातुं योग्यमधिगम्यं परमपुरुषार्थरूप-
मधिगतं ज्ञातम् । अन्यैरज्ञैरगम्यं दुष्प्रापं मोक्षसुखं प्राप्तम् ।
इदं संसारानर्थरूपं वस्तुजातं समस्तमस्तं गतम् । चरमसाक्षा-
त्कारोदितप्रबोधं तादृशं निजस्वरूपं मम उदितम् । यत्र
स्वरूपे भूयः अस्तमयसमुदयानां मरणतिरोधानदुःखाद्यनर्थानां
नामापि नास्ति । नामेति विद्वत्प्रसिद्धौ ॥ १७ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
महारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्ति-
कथनं नाम त्रिनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९३ ॥

आत्मतत्त्वं जगत्तत्त्वं यथा निर्वाणसाधनम् ।

इह रामः स्वयं बुद्धं गुरवे प्रत्यवेदयत् ॥ १ ॥

तत्राज्ञातपरमात्मस्वभावमाह—सर्वात्मेति । सर्वेषामा-
त्मनां जीवानां सर्वेषु भावेषु मनोवृत्तिभेदेषु यदा यदा येन येन
भोगनिमित्तेन यथा स्वयंबोधः स्वप्रकाशचिदात्मा भाति विवर्तते
तथा स्वयमेव भोक्तृ नानाजीवभावेन अनुभवति । स्वयमेव
यो० वा० १९३

त्रिपुटीभावेन स्वमायया विवर्तत इत्यर्थः ॥ १ ॥ एकस्मिन्नेव
निरवयवे परमसूक्ष्मे ब्रह्मणि सर्वैर्जैर्वैर्युगपदध्यासात्संमिलिता
अपि अनन्ताः सर्गाः प्रत्येकं ब्रह्माण्डभुवनादिभेदविस्तीर्णै
स्वभावे एव परस्परमसंलग्नास्तिष्ठन्ति । यतस्तै अत्र ईदृशे
निरवयवेऽपि ब्रह्मणि तादात्म्याध्यासेन स्वीकृता आत्मीकृताः
परमसूक्ष्मीकृताः । न स्वात्मनि कस्यचिदनवकाशता अवरोधो
वास्तीत्यर्थः । यथा सूक्ष्मा नानारत्नानामंशवः किरणा एकस्मि-
नृहे मिलिता अप्यसंबन्धा असंकीर्णास्तिष्ठन्ति तद्वदित्यर्थः
॥ २ ॥ तदेव विशदयति—अत्रेति । दृष्टं संनिहितं प्रत्यक्ष-
मदृष्टं देशकालव्यवधानात्परोक्षं च जगद्रश्मिघनमत्रास्मिन्पर-
मात्मनि मिथोऽन्योन्यमसंबाधं समाविशति गच्छति संचरति
च । नानारत्नानां घनं रश्मिजालं यथा तथा ॥ ३ ॥ तत्र येषां
जीवानां समानकर्मवासनानिमित्तोऽध्यासस्तेषां परस्परमनु-
भवोऽस्ति तद्विज्ञानां तु नास्तीत्याशयेनाह—केषांचिदिति ।
वीपक्षे चक्षुष्मतामन्धानां च ॥ ४ ॥ आवर्तानां रमणावनौ
क्रीडास्थाने अम्भोधौ अप्सवपु प्रतिजलावयवं रसो लवणादि-
रस इव । परमार्थतस्तु न सर्गास्तत्कमोऽपि ॥ ५ ॥ अम्बु-
वेदनं जलपरमाणुरस इव ॥ ६ ॥ ७ ॥ एकस्यात्मन एव
माययानन्तरूपस्य जगत आदिरधिष्ठानं तत्स्वभावत्वाद्योदेति
नाप्यस्तमायाति ॥ ८ ॥ तपन्ती स्फुरन्ती । समालोकं घट-
पटादिप्रकाशम् ॥ ९ ॥ कदा तर्हि सा अध्यासव्यसनं जहाति
केनोपायेन च तत्राह—वैतृण्यादिति । सर्वेषां भावानां
तत्त्वज्ञानेन बाधात्समाप्त्यैव स्वयमक्षयं क्षयिष्णु देहादितादात्म्या

न बुद्ध्य बुद्ध्यते बोधो बोधाबुद्धेर्न बोध्यते ।
 न बुद्ध्यते वा तेनापि बोध्यो बोधः कथं भवेत् ॥ ११ ॥
 प्रबुद्ध एव सुप्तामः स्वयंबोधो विबुध्यते ।
 देशकालाद्यभावेऽपि मध्याह्नेऽर्कातपो यथा ॥ १२ ॥
 सर्वकर्मवितृष्णानां शान्तेच्छानां प्रबोधतः ।
 सतामनिच्छतामेव निर्वाणं संप्रवर्तते ॥ १३ ॥
 प्रबुद्धबोधो ध्यानस्थः स्वभावे केवले स्थितः ।
 न किञ्चिदपि गृह्णाति न किञ्चिदपि चोद्गति ॥ १४ ॥
 यो यथास्थित एवास्ते पश्यन्दीप इवाक्रियः ।
 अमनोमानमननो मनोमननवानपि ॥ १५ ॥
 व्युत्थाने विश्वरूपाख्यमन्यत्र ब्रह्मसंज्ञितम् ।
 सर्गासर्गात्म चिन्मात्रं सत्यं सर्वत्र भास्ते ॥ १६ ॥
 अभिन्नबोधसद्रूपस्वरूपानुभवे स्थितः ।
 व्युत्थितः सन्निरुद्धश्च यः पश्यति स शाम्यति ॥ १७ ॥
 जगत्पदार्थसार्थानां बोधमात्रैकनिष्ठताम् ।

ध्यासोन्मुक्त संपद्यते । यत्तत्तादृशं स्वरूपं तदेव सर्वविक्षेप-
 हेतुक्षयात्समाधानं निर्वृतिवृत्तिनिर्वाणमुच्यते इत्यर्थः ॥ १० ॥
 अध्यासपरम्परासमाप्त्यैव स्वयं स्वस्य परमपुरुषार्थः परिशिष्यते
 इति कुतः, बुद्धानुभूयमानस्यैव पुरुषार्थत्वादननुभूयमानस्य
 तस्य पुरुषार्थत्वादर्शनात् । तस्मात्पुरुषार्थताप्रयोजिकां चरम-
 साक्षात्कारबुद्धिर्मुक्तावावश्यकती न सर्वभावानां समाप्तिरभ्यु-
 पगन्तुं युक्तेत्याशङ्क्याह—नेति । परमपुरुषार्थरूपो बोधः परमा-
 त्मबुद्ध्या चरमसाक्षात्कारवृत्त्या न बुद्ध्यते । जडायास्त्वस्या
 बोधशक्त्यभावात्, बोधस्य बुद्धिविषयत्वायोगाच्च । तर्हि बोध-
 शक्तिमान्परमात्मा सुप्तो राजा वन्दिभिरिव प्रबोध्यतां तत्राह—
 बोधाबुद्धेरिति । न बोध्यतेऽपि । कुतः बोधाबुद्धेः । सुप्तं
 राजानं बुद्ध्या तद्बोधनाय वन्दिनः प्रवर्तन्ते । बुद्ध्या तु सुप्तो
 बोधो न बुद्ध इति कथं तद्बोधने सा प्रवर्ततेत्यर्थः । तर्हि
 बोधेनैव बोधो बुद्ध्यतां तत्राह—नेति । तेन बोधेनापि बोधो
 न बुद्ध्यते । कुतस्तत्राह—बोध्य इति । बोधः स्वयंबोध्यो
 बोधकमे कथं भवेत् । क्रियाजन्यातिशयाधारो हि 'कर्म' ।
 न हि 'बोधे' क्रिया तज्जन्यातिशयस्तदाधारता वा संभवति ।
 निष्क्रियत्वाच्चिर्विकारत्वात्स्वात्मनि क्रियाविरोधाच्चेति भावः
 ॥ ११ ॥ तस्मादध्यासपरम्पराचरमसाक्षात्कारबुद्ध्यन्तपरिणाम-
 परम्परया स्वयमेव समाप्यते । तस्यां च समाप्तायां स्वप्रका-
 शत्वात्प्रबुद्धः एवात्मा नीहारागमात्सुप्तप्रायसां प्राप्नोति, मध्याह्ने
 निःशेषनीहारापगमेन सवितेव तदातप इव च प्रबुध्यत इव ।
 स एवास्य नित्यप्राप्तनिरतिशयानन्दामिष्यत्किलक्षणः परम-
 पुत्रार्थ इत्याशयेनाह—प्रबुद्ध एवेति ॥ १२ ॥ कर्मपदेन
 ऐहिकामुष्मिकफलं लक्ष्यते ॥ १३ ॥ मोहनिद्रातः प्रबुद्धो
 बोधबिदात्मा यस्य । ध्यानस्थो निरुद्धबालवृत्तिः ॥ १४ ॥
 व्युत्थानकाले स तर्हि कथमास्ते तदाह—य इति । मनोमन-

विना नास्त्यपरा सत्ता व्योम्नः शून्येतया यथा ॥ १८ ॥
 शिष्यते स्फीतबोधानां केवलानन्तबोधता ।
 सापि स्वपरिणामेन परेणायात्यवाच्यताम् ॥ १९ ॥
 तद्विश्रान्तौ परा सत्ता शिष्यते वा न शिष्यते ।
 या काप्यत्यन्तशान्तानां न वाग्योचरमेति सा ॥ २० ॥
 या समस्य पराकाष्ठा सैव बोधस्य सन्मयी ।
 सर्गस्तन्मय एवातः सकलं शान्तमव्ययम् ॥ २१ ॥
 निर्वाणाय वितृष्णाय स्वच्छशीतलसंविदे ।
 स्पृहयन्ति सदा सत्तां ब्रह्मविष्णुहारा अपि ॥ २२ ॥
 सर्वार्थात्मैव सर्वत्र सर्वदा सर्वथोदितम् ।
 चेतनं शुद्धमेवास्ति नाशो नास्योपपद्यते ॥ २३ ॥
 अत्यन्ततप्तः संसारो निर्वाणमतिशीतलम् ।
 अतिशीतलमेवास्ति तप्तस्त्वेव न विद्यते ॥ २४ ॥
 संचेतन्ति शिलान्तस्था यथा लं शालभक्षिकाः ।
 अनुत्कीर्णास्तथा ब्रह्म चेततीदमखण्डितम् ॥ २५ ॥

नवानपि विषयेष्वासङ्गाभावादमनोमानमननः अत एव शीप-
 वत्प्रकाशयन्नपि अक्रियः ॥ १५ ॥ १६ ॥ यो व्युत्थितो निरुद्धः
 समाध्यारुद्धश्चाभिन्नबोधो यः सद्रूपस्वरूपानुभवस्तत्रैव स्थितः
 सन् निरोधव्युत्थाने तदासीनवृत्त्या पश्यति स एव संसार-
 विक्षेपाच्छाम्यति नान्यः ॥ १७ ॥ कीदृशी सा तादृशसद्रूप-
 अनुभवे स्थितिस्तामाह—जगदिति । बोधमात्रमेव एका निष्ठा
 यथार्थरूपं येषां तद्भावं विना अपरा सत्ता वस्तुस्थितिर्नास्ती-
 त्येवंरूपा सेत्यर्थः ॥ १८ ॥ अपरा सत्ता कुतो नास्तीति
 चेत्तत्त्वसाक्षात्कारेण जगद्रूपभावे तत्साक्षिचिन्मात्रसत्ताया एव
 परिशेषादित्याशयेनाह—शिष्यते इति । स्फीतबोधानामपरे-
 निच्छिन्नब्रह्मवगाहनानुस्फारताशालिप्रबोधवताम् । सा तादृश-
 प्रत्यगात्मरूपा बोधतापि स्वस्याः ब्रह्मसन्मात्रपरिशेषलक्षणा-
 खण्डाकारवाक्यार्थलक्षणेन परेण परिणामेन अवाच्यतामख-
 ण्डार्थकवाक्यलक्ष्यताम् ॥ १९ ॥ तद्विश्रान्तौ तद्भावेन स्थितौ
 सत्यां शिष्यते न शिष्यते वेत्युभयविधा धाचामपि गोचरतां
 सा दंशा नैति ॥ २० ॥ समस्य सत्तासामान्यस्य पराकाष्ठा
 परमावधिः शोधिततत्पदार्थरूपा सैव बोधस्यापि शोधितत्वं
 पदार्थरूपां पराकाष्ठा । वियदादिलक्षणः अवस्थात्रयलक्षणश्च
 सर्गो अस्ति भातीति सर्वानुभवात्सत्ताबोधमय एव । एवं सति
 यत्कलितं तदाह—सकलमिति ॥ २१ ॥ तदेव ब्रह्मवीनामपि
 प्रियस्तमत्वाभिरतिशयानन्दरूपं निर्वाणमित्याह—निर्वाणा-
 येति । सर्वदाहं स्यां मा कदाचिन्माभूवसिति सर्वैव तत्सत्ता स्पृह-
 यन्ति । अपिशब्दात्सर्वप्राणिनोऽपि ॥ २२ ॥ सर्वेषां सर्व-
 कालिकस्पृहास्पदमेव वस्तु सर्वदेशे सर्वकाले सर्ववत्त्वात्मना
 लदितं चेतनं स्वतः स्फुरद्रूपं शुद्धं तदेवेति तस्य नाशः अद-
 र्शनं क्षणमपि नोपपद्यते ॥ २३ ॥ तस्यो निरतिशयदुःखरूपः ।
 अतिशीतलमात्यन्तिकदुःखोपशमः ॥ २४ ॥ यथा शिल्पि-
 मुद्रावनुत्कीर्णाः शिलान्तस्थाः शालभक्षिका यद्येच्छं संचेतन्ति

यथा चेतति सौम्याम्बुकोशस्थं वीचिमण्डलम् ।
 तथा चेतति कोशस्थं मद्वाचिचेत्यमव्ययम् ॥ २६
 अविभक्तो विभागस्थैरिव शान्तैरनन्तकैः ।
 परमार्थाम्बरामोगैस्त्वबोधात्मत्वमन्यरैः ॥ २७
 यैर्यैर्यथास्व आत्मान्तर्भावितश्चेतितश्चिरम् ।
 भोगमोक्षप्रमेदेषु तेषां तेषां तथोदितः ॥ २८
 मृते वाप्यमृते बन्धौ स्वप्ने स्वप्नविबोधिनः ।
 न यथोदेति सत्याख्या तथा दृश्येषु तद्विदः ॥ २९
 यदिदं किल दृश्यादि तच्छान्तमखिलं शिवम् ।
 भावितेऽवगतेऽप्यन्तरिति भ्रान्तेः क उद्भवः ॥ ३०
 सर्वथा देहसंख्येषु वैतृण्यमुपजायते ।
 सम्यग्बोधे सति स्वप्न इवापि स्वार्थकादिषु ॥ ३१
 वैतृण्यार्द्रार्धते बोधो बोधाद्वैतृण्यवर्धनम् ।
 परस्परेण प्रकटे एते कुड्यप्रकाशवत् ॥ ३२
 येन बोधेन वैतृण्यं धनदारसुतादि वा ।
 खनूनमपि संपन्नं जाड्यं तत्संस्थितं तथा ॥ ३३
 एतावदेव बोधस्य बोधत्वं यद्वैतृण्यता ।
 पाण्डित्यं नाम तन्मौख्यं यत्र नास्ति वितृण्यता ॥ ३४
 न तु वैतृण्यबोधाढ्यौ न परस्परवर्धितौ ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मी० दे० मो० निर्वा० उ० रामविभ्रान्त्युपगमो नाम चतुर्नवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९४ ॥

असत्यावेव तौ नाम नष्टौ चित्रहुताशवत् ॥ ३५
 परमा बोधवैतृण्यसंपत्तिर्मोक्ष उच्यते ।
 तत्रानन्ते पदे शान्ते वसता च न शोच्यते ॥ ३६
 गतं गम्यं कृतं कार्यं दृष्टं दृश्यमशेषतः ।
 यावत्सर्वं शिवं शान्तमेकमाद्यमनामयम् ॥ ३७
 आत्मारामस्य शान्तस्य वैतृण्यस्यानहंकृतेः ।
 असंकल्पैव भवति स्थितिः खस्येव निर्मला ॥ ३८
 सहस्रेभ्यः सहस्रेभ्यः कश्चिदुत्थाय वीर्यवान् ।
 भिनत्ति वासनाजालं पञ्जरं केसरी यथा ॥ ३९
 प्राप्तज्योतिर्वोधशुद्धिः परमन्तःप्रकाशवान् ।
 नीहारः शरदीवाशु स्वयमेवोपशाम्यति ॥ ४०
 ज्ञातज्ञेयस्त्वसंकल्पः संकल्पातिशयाशयः ।
 अवासनो व्यवहृतौ वातवत्स्पन्दते न वा ॥ ४१
 आसीद्दीपान्मनस्कारैर्भ्रान्तिमात्रैकनिश्चयात् ।
 यः सर्वत्र खवद्भावस्तदवासनमासितम् ॥ ४२
 निर्वासने भाव उदारसत्त्वे
 ब्रह्माखिलं दृश्यमिति प्रबुद्धे ।
 स्थिरैकनिर्वाणमतावनन्तो
 मोक्षाभिधानः प्रशमोऽभ्युदेति ॥ ४३

संस्फुरन्ति तथा भावोपहितमखण्डितमविच्छिन्नमेव ब्रह्म इदं
 जगद्वेषं चेतति स्फुरतीत्यर्थः ॥ २५ ॥ सौम्याम्बुकोशो जला-
 शयस्तत्स्थम् । कोशोऽन्नमयादिस्तत्स्थं ब्रह्माण्डकोशस्थं च चेत्यं
 खयमेव भूत्वा चेतति स्फुरति ॥ २६ ॥ अबोधः अज्ञानावृत्तो
 य आत्मा तद्भावेन मन्यरैर्जडप्रायैः परमार्थाम्बरस्य सन्मात्रस्य
 आमोगैः कृत्रिमवेषैः । इत्थंभावे तृतीया । यैर्यैर्यथा यथा
 भावितस्तथा चेतित इति परेणान्वयः ॥ २७ ॥ २८ ॥
 स्वप्नाद्विबोधिनः प्रबुद्धस्य पुरुषस्य स्वप्ने स्वबन्धौ मृते अमृते
 जीवत्यपि वा यथा सत्याख्या सत्यताबुद्धिर्नोदेति तथा तत्त्व-
 विदः सर्वेषु दृश्येष्विति न हर्षशोकप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ २९ ॥
 यदृश्यादि त्रिपुटीरूपं तदखिलं शान्तं शिवमित्यन्तर्भाविते
 सम्यगवगतेऽपि सति भ्रान्तेः पश्चात्क उद्भव इत्यन्वयः ॥ ३० ॥
 अवगमे सति केन क्रमेण भ्रान्तेरुद्भवस्तमाह—सर्वथेत्या-
 दिना । देहे सम्यक् ख्यायन्त इति देहसंख्यास्तथाविधेषु
 स्वार्थकादिषु भोगतदुपायेषु ॥ ३१ ॥ अस्तुवेवं ततः किं
 तत्राह—वैतृण्यमिति ॥ ३२ ॥ तत्कृतस्तत्राह—येनेति ।
 येन हेतुना वैतृण्यं वा धनदारादि वा तत्त्वाभिनिवेशलक्षणेन
 बोधेनैव सुष्ठु अनूनं खनूनमुपचितं संपन्नं तद्विरोधिं, तदनुकूलं
 वा जाड्यमपि तथा तत्तदभिनिवेशानुसारेणैव संस्थितमित्यर्थः
 ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ परस्परवर्धितावपि तावत्सत्यावेवेति चित्रहुता-
 शवत्कार्याक्षमावेव नष्टाविति न तु मन्तव्यमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

कुतो न मन्तव्यं तत्राह—परमेति । यतो बोधवैतृण्ययोः परमा
 निरतिशया संपत्तिरेव निरतिशयानन्दरूपत्वादात्यन्तिकदुःख-
 हेतुक्षयरूपत्वाच्च मोक्ष उच्यते । अबोध एव हि बन्धमूलं तृणैव
 च बन्धस्तदुभयक्षयरूपो हि मोक्ष इत्युपपत्तेरित्यर्थः ॥ ३६ ॥
 अतस्ताभ्यामेव वर्धिताभ्यां कृतकृत्योऽहं वृत्त इत्याह—गत-
 मित्यादिना । गम्यं निरसनीयं गतं निरस्तम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥
 तृणामोहबन्धमेतारः शृला विरला इत्याह—सहस्रेभ्य इति ।
 यतमानानां मध्ये इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ प्राप्तः ज्योतिष आत्मनः
 सूर्यादीनां च बोधो ज्ञानं प्रकाशातिशयश्च येन । नीहारो
 जाड्यवासनाभागः प्रसिद्धश्च ॥ ४० ॥ संकल्पानतिशेते अति-
 कामत्याशयो यस्य । अवासनो जीवन्मुक्तः स्पन्दते व्यवहरति
 न वा व्यवहरति । समाधावेव विश्राम्यतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥
 सर्वत्र सर्ववस्तुषु मनस्कारैस्तत्त्वमननैर्धारात्स्थिरीभूताद्भ्रान्ति-
 मात्रैकनिश्चयाद्यः खवद्भाव आसीत्तदेव अवासनमासितमव-
 स्थानमित्यर्थः ॥ ४२ ॥ उदारसत्त्वे शुद्धान्तःकरणे पुंसि वर्णि-
 तरूपे निर्वासने भावे उदिते सति अखिलं दृश्यं ब्रह्मैवेति
 प्रबुद्धे सति स्थिरैकनिर्वाणमतौ तस्मिन् पुंसि अनन्तो मोक्ष इत्य-
 भिधानं यस्य तथाविधः सर्वसंसारप्रशमः अभ्युदेति । स्वयमेव
 प्रकटीभवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे रामविभ्रान्त्युपगमो नाम चतुर्न-
 वत्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकशततमः सर्गः १९५

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अहो नु संप्रबुद्धोऽसि राघवाद्यविधातिनी ।
 वागिर्यं तव संपन्ना प्रबुद्धेष्ववहासिनी ॥ १ ॥
 विभातीवासदेवेदमसंकल्पेन शाम्यति ।
 एतच्छान्तिस्तु निर्वाणमित्येव परमार्थता ॥ २ ॥
 कल्पनाकल्पने रूपं परस्यैवेतरस्य नो ।
 स्पन्दनास्पन्दने वायोर्यथा नात्रैकताद्विते ॥ ३ ॥
 प्रबुद्धस्यैव या पुंसः शिलाजडरवस्थितिः ।
 शान्तौ व्यवहृतौ वापि सामला मुक्तोच्यते ॥ ४ ॥
 वयमस्मिन्पदे स्थित्वा राघवाद्यविधातिनि ।
 शान्तत्वे व्यवहारे च समस्थितमवस्थिताः ॥ ५ ॥
 अस्मिन्नेव पदे नित्यं ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
 तिष्ठन्ति व्यवहारस्था अपि शान्ता हरूपिणः ॥ ६ ॥
 शैलोदरस्थितिमतां प्रबुद्धानामनामयम् ।
 अस्माकं पदमेवं तदालभ्यैतदिहोप्यताम् ॥ ७ ॥

श्रीराम उवाच ।

ब्रह्मण्येवमसद्रूपमनुत्पन्नमभासुरम् ।
 अनात्ममनाकारमेवेदं भासते जगत् ॥ ८ ॥
 सृगृष्णाम्बुसदृशं तरङ्गावर्तिवारिवत् ।
 रुचकादीव कनके स्वप्नसंकल्पशैलवत् ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

बुद्धवानसि चेद्राम तत्स्वधोद्यविबुद्धये ।

शुभाः प्रबुद्धरामोक्तीः प्रशस्य गुरुणा स्वयम् ।

परीक्षार्थं कृताः प्रश्ना रामेणात्र समाहिताः ॥ १ ॥

तत्रादौ यथोपवर्णिताः प्रबुद्धरामोच्चैरनुमोदमानो वसिष्ठः
 प्रशंसति—अहो इत्यादिना । हे राम, इयं तव वाक् अप्रबु-
 द्धानामवधिधातिनी । प्रबुद्धेषु त्वनुभवसिद्धार्थानुवादत्वाद्युक्ति-
 शुक्त्वाच्च अवहासिनी प्रहर्षस्फेखवदनाकारिणी संपन्ना ॥ १ ॥
 असदेवेदं जगत् बोधप्रयुक्तसंकल्पे विभातीवेति बन्धनिष्कर्षः ।
 असंकल्पदार्ढ्यपर्यवसितेन सत्त्वज्ञानेन शाम्यतीति मुक्तिसा-
 धननिष्कर्षः । एतच्छान्तिरेव निर्वाणमिति मोक्षनिष्कर्षः ।
 सैव परमार्थतेत्यर्थः ॥ २ ॥ तथा च कल्पनाकल्पनरूपबन्ध-
 मोक्तौ अप्रबुद्धस्य प्रबुद्धस्य च ब्रह्मण एव रूपमिति निष्कर्षोपि
 फलित इत्याह—कल्पनाकल्पने इति ॥ ३ ॥ शान्तौ समाधौ
 ॥ ४ ॥ एतत्पदस्थितिरेवासदादिजीवन्मुक्तानां समाधिबन्धु-
 त्यानयोस्तुल्यरूपस्थितिरित्याह—वयमिति ॥ ५ ॥ हरूपिणः
 प्रबुद्धाः ॥ ६ ॥ शैलोदरमिव निर्विकल्पस्थितिमतामस्माकमे-
 तत्पदं त्वयाप्येवमसदादिवदेव तदालभ्य इह जीवन्मुक्तौ
 उच्यताम् । अद्यप्रवृत्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं वसिष्ठोक्त्या जीव-
 न्मुक्तिपदे प्रतिष्ठितो रामो जीवन्मुक्तानां यादृशं जगद्भासते
 तदभिलपति—ब्रह्मणीति द्वाभ्याम् । अनुत्पन्नत्वादेवाभासुरं

कुर्व संशयविच्छेदं पृच्छतः प्रच्छकस्य मे ॥ १०

इत्थं नित्यानुभूतोऽपि शिरस्थोऽप्यतिभासुरः ।

जगदाख्योऽयमाभासः कथं नाम न विद्यते ॥ ११

श्रीराम उवाच ।

पूर्वमेवेदमुत्पन्नं न किञ्चन कदाचन ।

तेन बन्ध्यासुतस्यास्य न सत्ता कल्पनादते ॥ १२

किमिवास्या जगद्भ्रान्तेः कारणं प्रोत्थिता यतः ।

न कारणं विना कार्यं किञ्चित्संभवति क्वचित् ॥ १३

न चाविकारमजरं सविकारं क्षयादते ।

कारणं क्वचिदेवेह किञ्चिद्भूतितुमर्हति ॥ १४

ब्रह्मैवेदमनाख्यातम् कारणं प्रविजृम्भते ।

तत्क कस्य कथं नाम जगच्छब्दार्थसंविदः ॥ १५

तदनाख्ये पदे शान्ते चिरत्प्रथमचेतनम् ।

क्वचित्कालत्वं तिष्ठत्यातिवाहिकदेहभृत् ॥ १६

क्षणे वत्सरसंविधिं स्वप्ने त्वमिव चेतति ।

काकतालीयवत्तत्र चन्द्रार्कादींश्च पश्यति ॥ १७

संकल्पैकात्मनस्तस्य देशकालक्रियान्वितम् ।

अत्यन्तमेव व्योम्येव भुवनं भासते स्वयम् ॥ १८

तस्मिन्मिथ्योपसंपन्ने स मिथ्यापुरुषस्ततः ।

मिथ्यैव तत्समाचारं कुर्वन्विपरिवर्तते ॥ १९

अधस्तादूर्ध्वमायाति पुनरूर्ध्वाद्भ्रजत्यधः ।

कल्पितानन्तसंभारपदार्थानर्थसंश्रमः ॥ २०

पृथगप्रथमानम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ इदानीं वसिष्ठो रामं जीवन्मुक्ति-
 प्रतिष्ठाख्यापनाय योगपट्टन्यायेन वक्तृपदे स्थापयित्वा स्वयं
 शिष्यवत्पृच्छामि स्वसंशयविच्छेदं कुर्वित्याह—बुद्धवानसीति
 ॥ १० ॥ प्रत्यक्षादिप्रमाणद्वयोक्तत्वादर्थक्रियाऽविसर्वादाच्च
 सत्यतया शिरःस्थितप्रायोऽपि ॥ ११ ॥ तत्र प्रागुक्तोक्त-
 भिरेव युक्तिभिः श्रीरामः समाधत्ते—पूर्वमेवेत्यादिना ।
 नोत्पन्नं कारणाभावादित्यर्थः । कल्पनात् भ्रमादते विना ॥ १२ ॥
 कारणाभावमेव दर्शयति—किमिवेत्यादिना । यत् प्रोत्थिता
 स्यात् ॥ १३ ॥ ब्रह्मणः कारणताप्रसक्तिरेव नास्तीत्याह—
 न चेति । पूर्वोक्तव्याख्यादते सविकारं न च किञ्चित्प्रसिद्ध-
 मित्यर्थः ॥ १४ ॥ यदि निर्विकारमेव विवर्तोपादानकारणं
 सन्मायया जगदाकारेण विजृम्भत इत्युच्येत तर्हि जगच्छ-
 ब्दार्थः सत्यो न लभ्यत इत्याह—कारणमिति । सविदो यथा-
 र्थप्रत्ययाः ॥ १५ ॥ प्रथमं चेतनं हिरण्यगर्भाख्यं द्विपार्थ-
 परिमितं क्वचित्कालत्वं विवर्तरूपमातिवाहिकदेहभृत् तिष्ठतीति
 जगद्भ्रान्तेः स विषयः पर्यवस्यतीत्यर्थः ॥ १६ ॥ तत्प्रथम-
 चेतनमेव क्षणे वत्सरादिकालविस्तारभ्रमं पश्यति । यथा तं
 स्वप्ने तथा पश्यति ॥ १७ ॥ १८ ॥ तद्भूतभुवनादिसर्गसमावा-
 रम् ॥ १९ ॥ स एव स्वकल्पिते भुवनमेवेदं व्यष्टिजीवात्मना
 दुष्कृतादिकलभोगायाधस्तादूर्ध्वं च आयाति भ्रमतीति ॥ २० ॥

काकतालीयवत्तस्य संकल्पस्य भवेद्यदि ।
यद्यथा तत्तथाद्यापि सुस्थिरामाचवान्स्थितिम् ॥ २१ ॥
शिला बन्ध्यासुतमुखे व्योमचूर्णेन रञ्जनम् ।
करोतीत्यादिवदिदं मिथ्या जगदुपस्थितम् ॥ २२ ॥
सत्यमेवेदमथवा मिथ्यात्वं तु कुतः किल ।
न मिथ्यात्वं न सत्यत्वं किमपीदमजं ततम् ॥ २३ ॥
आकाशकोशवत्स्वच्छं शिलाजठरवद्धनम् ।
पाषाणमौनवच्चेदं शान्तमेवाक्षयं जगत् ॥ २४ ॥
चिन्मात्रसर्वसंकल्पे विराडात्मातिवाहिके ।
देहे संवेदनं व्योम जगदित्यवभासते ॥ २५ ॥
एवं ब्रह्म महाकाशमेवेदं क जगत्कथा ।
शान्तं समसमाभोगमेकमाद्यन्तवर्जितम् ॥ २६ ॥
यथा पयसि वीचीनामुन्मज्जननिमज्जनैः ।
न जलान्यत्वमेवं हि भावाभावैः परैः परे ॥ २७ ॥
परावरविदः केचिदेतस्मिन्परमे पदे ।
शुद्धे परिणमन्त्यन्तर्वारिविन्दुरिवाम्भसि ॥ २८ ॥
परेऽपरमिदं भाति परस्येव परात्मकम् ।
संभवन्त्यमले शान्ते न जगन्ति न तत्क्रियाः ॥ २९ ॥
स्वप्ने स्वप्न इति ज्ञाते दृश्ये ब्रह्मतयापि च ।
मृगाम्बुनि परत्वेन को भावयति भावनाम् ॥ ३० ॥

यदि तस्य संकल्पस्य काकतालीयवद्यथा पूर्वस्थितिस्तथैवाद्यापि स्थितिरभूत्तर्हि तत एव प्रत्यभिज्ञाय जगति सुस्थिरां स्थितिं आत्तवान् भ्रान्त्या गृहीतवान् ॥ २१ ॥ एवं भ्रान्त्या इत्थमुपस्थितमिदं मिथ्या जगत् शिला कामिनी भूत्वा बन्ध्यासुतस्य कान्तस्य मुखे ललाटे व्योमचूर्णेन तिलकं विरच्य रञ्जनं शोभातिशयं करोतीत्यादिवाक्यार्थवद्विकल्पमात्रमित्यर्थः ॥ २२ ॥ यदि त्वत्यन्तासति मिथ्यात्वाख्यधर्मस्याप्यप्रसिद्धिः पर्यालोच्येत तर्ह्यभिष्ठानमात्रत्वासत्यमेवेत्याह—सत्यमेवेति । यदि तु व्यावर्तनीयमिथ्यात्वाप्रसिद्ध्या व्यावर्तकसत्यत्वकल्पनमपि तत्र न घटते इति विचार्यते तदा निर्वचनवागप्रसरात्किमपीदम् ॥ २३ ॥ २४ ॥ चिदात्मनो मायिको यः सर्वाकारसंकल्पस्तद्रूपे विराडात्मन्यातिवाहिके देहे संवेदनरूपं यद्योम तदेव जगदिति भासत इत्यर्थः ॥ २५ ॥ एवं सति यत्फलितं तदाह—एवमिति । समेभ्योऽपि सम आत्यन्तिकवैषम्यज्ञान्य आमोगो यस्य ॥ २६ ॥ परे ब्रह्मणि ॥ २७ ॥ परावरविदः सारासारविवेकिनः परिणमन्त्यैकरसं गच्छन्ति ॥ २८ ॥ परस्य ब्रह्मणो वेष इव कार्यमिव अवयव इव वा अपरमिदं जगत् जीवरूपं भाति । तच्च तत्त्वतो विचारे परमेव संभवति । जगन्ति तत्क्रियाः व्यवहाराश्च न संभवन्ति ॥ २९ ॥ मृगाम्बुनि परत्वेन अन्यत्वेन कषरभूमात्रत्वेन परिज्ञाते सति भावनां पुनस्तत्सत्यताबुद्धिं को भावयति ॥ ३० ॥ अन्यस्या-

परमार्थचमत्कारमन्तःस्थानुभवं विना ।
अन्यस्यान्यं न जानाति सीधुस्वादुमिव द्विजः ॥ ३१ ॥
निर्वाय निज आत्मायं परिवृत्यावलोकितः ।
चेत्योन्मुखत्वमुत्सृज्य संतिष्ठेच्छान्त आत्मनि ॥ ३२ ॥
श्रीवसिष्ठ उवाच ।
दृश्यं बीजाङ्कुर इव स्थितं ब्रह्मणि कारणे ।
इति सर्गादिसद्भावः कस्मान्नेहोपपद्यते ॥ ३३ ॥
श्रीराम उवाच ।
बीजेऽङ्कुरोऽङ्कुरतया संश्रितो नोपलभ्यते ।
बीजोदरे तु या सत्ता बीजमेव हि सा भवेत् ॥ ३४ ॥
ब्रह्मणोऽन्तर्जगत्तैवं जगत्तैवोपलभ्यते ।
अस्ति चेत्तद्भवेन्नित्यं सा ब्रह्मैवाविकारि तत् ॥ ३५ ॥
अविकारादनाकाराद्विकार्याकृतिभासुरम् ।
उदेतीति किलास्माभिर्नैव दृष्टं न च श्रुतम् ॥ ३६ ॥
अनाकृतावाकृतिमत्र चैतत्स्थातुमर्हति ।
परमाणौ न चैवान्तरिव संभान्ति मेखः ॥ ३७ ॥
समुद्रके रत्नमिव जगद्ब्रह्मणि तिष्ठति ।
महाकारं निराकार इत्युन्मत्तवचो भवेत् ॥ ३८ ॥
शान्तं परं च साकारस्याधार इति राजते ।
न वक्तुं राजते केच साकारस्याविनाशिता ॥ ३९ ॥

शुचिप्रपञ्चस्यान्यं भोगरसं न जानाति प्रबुद्धः । यथा द्विजो ब्राह्मणः सीधुस्वादुं मद्यमाधुर्यं न जानाति तद्वदित्यर्थः ॥ ३१ ॥ अयं निज आत्मा बाह्यदृष्टेः परावृत्य चेत्योन्मुखत्वमुत्सृज्य समाधौ निर्वाय चरमसाक्षात्कारवृत्त्या विलोकितः सन् शान्ते शिवे नित्यमुक्ते आत्मनि तिष्ठेत् । 'कश्चिद्बीरं प्रत्यगात्मानमैश्वदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' इति श्रुतेः ॥ ३२ ॥ एवं समाहितो वसिष्ठः पुनर्बीजाङ्कुरन्यायेन ब्रह्मणि जगत्सत्यतां शङ्कते—दृश्यमिति ॥ ३३ ॥ समापत्ते—बीज इति । यद्यङ्कुरः सत्यस्तर्हि बीजोदरे संस्थित एव बहिर्बीजपुटं भित्त्वा निर्गच्छतीति स्यात्, तन्न न । यतो बीजमेदने तदुदरे अङ्कुरतया संश्रितोऽङ्कुरो नोपलभ्यते । या तु बीजोदरे सूक्ष्मभागानां सत्ता सा बीजमेव भवेत्ताङ्कुर इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ ब्रह्मणोऽन्तर्जगत्सत्ता न तथा किंतु जगत्तैवोपलभ्यत इति वैषम्यं प्रलयकाले तथैवास्तीति चेत्तत्तर्हि सा ब्रह्मैव भवेद्यतस्तद्ब्रह्म अविकारीति न बीजाङ्कुरन्यायस्यात्रोपपत्तिरित्यर्थः ॥ ३५ ॥ अस्तु ब्रह्म अविकारं किं ततस्तत्राह—अविकारादिति । अविकाराद्विकार्यमुदेति अनाकारादाकृतिभासुरमुदेतीति च न दृष्टं न श्रुतं च कापील्यन्वयः ॥ ३६ ॥ एवमनाकारे निरवयवे च साकारस्य सावयवस्य च स्थूलस्यावस्थानमपि सर्वप्रमाणविरुद्धमित्याह—अनाकृतादिति ॥ ३७ ॥ समुद्रके संपुटे ॥ ३८ ॥ शान्तं सर्वोपरमरूपं परं ब्रह्म साकारस्य सादात्म्येनाधार इति वक्तुं न राजते ॥ ३९ ॥ एवं सति अपूर्वैः

बोध एवायमाकार इति कल्पनयापि धीः ।
 अपूर्वः स्वप्नवद्बुद्धेः 'संसारेर्नोपलभ्यते ॥ ४०
 अपूर्वं एव स्वप्नोऽयं यद्वै सर्गोऽनुभूयते ।
 स्वप्नः क्लिप्तानुभूतार्थः स्वभ्यस्त इव दृश्यते ॥ ४१
 यदेव जाग्रत्तत्त्वम् इति नात्रोपपद्यते ।
 स्वप्ने प्रदग्धः पुरुषः कथं प्रातर्विलोक्यते ॥ ४२
 अशरीरस्य न स्वप्न इत्येतदपि नोचितम् ।
 संभवन्ति पिशाचाद्यास्तेषां च स्वप्नवत्स्थितिः ॥ ४३
 तस्मात्स्वप्नप्रदाभासः संविदात्मनि संस्थितः ।
 सर्गादिर्नानाकृतिना परमात्मा निराकृतिः ॥ ४४
 स्वप्ने चिदेव शैलादिरूपेणात्मनि तिष्ठति ।
 ब्रह्मात्माखिलमुक्तोऽसावन्येनासौ कृतो यदि ॥ ४५
 नैवास्ति त्वं न नास्तित्वमुपलब्धेऽनुभूयते ।
 नैवानुभवितृत्वं च न चानुभवनक्रमः ॥ ४६
 किमपीदमनाख्येयं बुद्धेर्नैवानुभूयते ।
 स्वसंवेदनसंवेद्यं सत्तासत्ताविजृम्भितम् ॥ ४७
 अभावरूपिणो भावा अभावा भावरूपिणः ।
 सर्वदा सर्वथा सर्वे भान्ति भासुरतां गताः ॥ ४८
 घृह्णति ब्रह्मणि ब्रह्म व्योम व्योमनि वर्धते ।
 न चोपपद्यते किञ्चिद्ब्रह्म व्योम्नि विवृंहणम् ॥ ४९
 द्रष्टुं दृश्यदृग्मायमहं सर्गादिभिर्ममः ।
 शान्तचिद्योमविस्तारो न कुड्याद्युपपद्यते ॥ ५०

यथा न सन्न कुड्यादि स्वसंकल्पनपत्तनम् ।
 तथैवायं जगदिति शान्तमेकमनामयम् ॥ ५१
 पूर्णं हि परमं शान्तमिदं सर्वमखण्डितम् ।
 अनिङ्गनमनाभासमनाद्यन्तमचेतितम् ॥ ५२
 अजन्ममरणं शान्तमनादिनिधनं महत् ।
 अनुपाधि निरुपाकारं स्वपदं बुद्धवानहम् ॥ ५३
 या संविदन्तः स्फुरति सैवोपायाति चाक्यताम् ।
 यद्बीजं लीनमवनौ तद्यात्यङ्कुरतां किल ॥ ५४
 शुद्धज्ञानमयैकात्मा द्वैतैक्यपरिवर्जितः ।
 मनागपि न जानामि द्वैतैक्यकलनाकलाम् ॥ ५५
 सर्वे तूष्णीमया एव जीवन्मुक्ता इमे जनाः ।
 संशान्तसर्वसंरम्भाः स्वे स्वभाव इव स्थिताः ॥ ५६
 जगत्स्पर्शमहारम्भमपि तूष्णीमिदं स्थितम् ।
 चित्रं मित्राविव कृतं मनोराज्य इवोदितम् ॥ ५७
 शैलादिवोत्कीर्णसमं कथायामिव वर्णितम् ।
 शम्बरेणेव रचितं व्योम्नि स्वप्न इवोदितम् ॥ ५८
 किल स्वप्नवदेवेदं सर्गादावेव भाति यत् ।
 अमित्तिकं निष्पत्तिद्यं जगत्केवास्य सत्यता ॥ ५९
 जगद्बुद्धाविदं सत्यं परिज्ञानवतो मृषा ।
 ब्रह्मात्मक इदं ब्रह्म शान्ते शान्तं पराम्बरम् ॥ ६०
 सर्वे एव इमे भावाः सह स्थावरजङ्गमाः ।
 असदादय आकाशं जगज्जविषयं तथा ॥ ६१

स्वप्नवद्बुद्धेराकारैर्वोध एव क्षणिकः साकार उत्पद्यत इति
 बोद्धकल्पनाप्यनुपपद्येत्याह—बोध एवेति ॥ ४० ॥ कृतो
 नोपपद्यत इति तत्राह—अपूर्वं इति । यतोऽयं सर्गः स्वप्नः
 अपूर्वः प्रागननुभूतार्थ एव चक्षुरादिप्रमाणैरनुभूयते । स्वप्नस्तु
 ज्ञानदनुभूतार्थः सस्कारमात्रेण भासमानार्थो जाग्रति स्वभ्यस्त
 एवार्थः स्वप्ने दृश्यते । किलेति सर्वजनप्रसिद्धौ ॥ ४१ ॥ अतः
 एव बोद्धानां जाग्रत्स्वप्नप्रमेदामावोकिरपि तेषामसंगतेत्याह—
 यदेवेति । स्वप्ने मृतः स्मशानं नीत्वा प्रदग्धः पुरुषः । तस्मात्
 चितः साकारत्वक्षणिकत्वादिकल्पनया प्रपञ्चस्य स्वप्नसाम्यं सर्व-
 प्रमाणविरुद्धं सिध्यतीति कूटस्थे ब्रह्मण्यध्यस्तत्वादेव वाध्यत्वेन
 स्वप्नसाम्यं सिद्धमिति भावः ॥ ४२ ॥ तत्र चार्वाककृतभाक्षेपं
 ससाधत्ते—अशरीरस्येति । स्थूलशरीरशून्यस्य स्वप्नो न दृष्ट
 इत्यशरीरे प्रतीच्यवस्थानयस्वप्नारोप इत्युक्तिर्न युक्तेत्याक्षेपा-
 शार्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ४३ ॥ अतः परिशेषाजिर्दोषः स्वप्नस्य
 एव स्थित इत्याह—तस्मादिति साधेन । निराकृतिर्निराकारः
 परमात्मैव विवर्तरूपाभिः सर्गादिनानाकृतिभिः स्थित इति
 सिद्धान्तः प्रतिष्ठित इत्यर्थः ॥ ४४ ॥ प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मैकत्व-
 प्रबोधे स्वप्नवदेव बाधात्सत्त्वासत्त्वाभ्यां वक्तुमयोग्या तुच्छतैव
 परिशिष्यत इत्याह—ब्रह्मात्मेति । असौ प्रत्यगात्मा अखिल-
 बन्धमुक्तो ब्रह्मैव । असौ च प्रपञ्चः अन्येनाज्ञानेनैव स्वप्नवत्

कृत इति सिद्धान्ते तथाविधे ब्रह्मात्मन्युपलब्धे सति इह प्रपञ्चे
 अस्तित्वनास्तित्वादिकं नैवानुभूयत इति तुच्छतैव परिशिष्यत
 इति परेणान्वयः ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ बुद्धे सति नैवानुभूयते । अनुद्धता-
 दशायामप्यनिर्वचनीयमेव जगदित्याह—स्वसंवेदनेत्यादिना
 ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ विवृंहणं जगदाकारेण वर्धनं ब्रह्म व्योम्नि नोपपद्यते
 ॥ ४९ ॥ ५० ॥ यथा स्वसंकल्पनपत्तनं न सत् तत्र च कुड्यादि
 सुतरां न सत् ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ममेदं वाक्यं सत्यमेव नासत्य-
 मनुभवमूलकत्वादिति सद्युक्तिरमाह—येति ॥ ५४ ॥ द्वैतैक्य-
 कलनायाः कलां लेशमपि मनागपि न जानामि ॥ ५५ ॥ सर्वे
 इमे जनाः साज्ञानेन जीवन्तोपि महृषा ब्रह्ममात्रत्वाभिल-
 भुक्ताः स्वे स्वभावः शून्यतेव स्थिताः ॥ ५६ ॥ तथा तद्बोध्यं
 जगदपि स्पर्शमहारम्भत्वात्त्वगादीन्निग्रयवेद्यत्वाच्चित्रं विलक्षण-
 मपि मित्तौ चित्रमिवाभासमात्रं स्थितम् ॥ ५७ ॥ उत्कीर्ण-
 प्रतिमादिसमम् ॥ ५८ ॥ यत्किल सर्गादावेव अमित्तिकं
 निरात्मबन्धं भाति अस्य केव सत्यता ॥ ५९ ॥ तथा च दृष्टि-
 मेदेन चतुर्धा जगत्संपन्नमित्याह—जगदिति । इदं जगज्ज-
 न्मुदावज्जदृष्टौ सत्यम् । परिज्ञानवतो विवेकिनो दृष्टौ मृषा ।
 ब्रह्मात्मकं पश्यतो ब्रह्म । भूमिकामेदारोहणक्रमेण शान्ते
 पुरुषे त्वन्धकारवत् क्रमेण शान्तं सत्परमम्बरे शून्यमेव
 पर्यवस्यतीत्यर्थः ॥ ६० ॥ तत्र चतुर्थरूपं तत्त्वज्ञविषय-

खमहं खं भवांश्चित्खं जगत्खं खं खमेव च ।
 चिदाकाशैकतामेत्य भजैकाकाशरूपताम् ॥ ६२
 ज्ञानेनाकाशकल्पेन सर्वात्म गगनोपमम् ।
 ज्ञेयाभिन्नेन संबोधात्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥ ६३
 चिद्रूपत्वादुदेतीदं जगत्तत्रैव लीयते ।
 अकारणकमेवान्तः परं व्योमैव निर्मलम् ॥ ६४
 एतत्सर्वपदातीतं सर्वशास्त्रकलातिगम् ।
 पदमासाद्य निर्द्वन्द्वं त्वमाकाशात्मकोऽभवः ॥ ६५
 अहं जगच्च नो पादपाण्यादि न घटादि च ।
 सर्वमाकाशमाकाशमेवाच्छं सूक्ष्मचिद्भवेत् ॥ ६६
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० बोधप्रकाशीकरणयोगोपदेशो नाम पञ्चनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९५ ॥

सर्वापहव एवायं मया यो दर्शितस्तव ।
 स निन्द्यो वादिनां वादेष्व्वात्मज्ञानेषु राजते ॥ ६७
 काष्ठमौनात्मको वादे न सर्वापहवो यदा ।
 क्रियते तेन वादेषु नात्मज्ञानं प्रसीदति ॥ ६८
 प्रत्यक्षादिप्रमाणानां यद्गम्यमचिहितम् ।
 स्वानुभूतिभवं ब्रह्म वादैस्तल्लभ्यते कथम् ॥ ६९
 सर्वागमार्थसमतीतमचिह्नमच्छ-
 माकाशमेकमजमाधमनामरूपम् ।
 शुद्धं चिदात्मकमिहास्त्यनुभूतिमात्रं
 शान्ताभिधानकलनं मलशङ्क्यालम् ॥ ७०

षण्णवत्यधिकशततमः सर्गः १९६

श्रीवाल्मीकिरवाच ।

एवमुक्त्वा महाबुद्धे रामो राजीवलोचनः ।
 मुहूर्तमात्रं विश्रम्य तूष्णीं स्थित्वा परे पदे ॥ १
 परमां तृप्तिमापन्नो विश्रान्तः परमात्मनि ।
 मुनिं पुनरपृच्छत्तं जानन्नपि हि लीलया ॥ २
 श्रीराम उवाच ।
 भगवन्संशयाम्भोदशरत्काल मुनीश्वर ।
 इदानीं संशयोऽयं मे जातो मनसि पेलवः ॥ ३
 एवमेतन्महाज्ञानं संसारार्णवतारणम् ।
 समस्तमेव चाग्जालं समतीत्यावतिष्ठते ॥ ४

मित्याह—सर्व एवेति ॥ ६१ ॥ हे गुरो, त्वं मदुक्तपरीक्षा-
 र्थमेकाकाशरूपतां भज ॥ ६२ ॥ तं तादृशं ब्रह्माकाशभावे
 स्थितं द्विपदां वरं त्वामहमाकाशकल्पेन स्वरूपज्ञानेन सर्वात्म
 गगनोपमं ज्ञेयपूर्णानन्दैकब्रह्माभेदेन संबोधाद्वन्दे नमस्करोमि
 ॥ ६३ ॥ सर्वात्म गगनोपमं चेत्तेतद्विप्रतिषिद्धमिति शङ्का
 वारयन्नाह—चिद्रूपत्वादिति ॥ ६४ ॥ सर्वाः शास्त्रकलाः
 शास्त्रयुक्तीरतिक्रम्य गच्छतीति सर्वशास्त्रकलातिगं तत्पदमा-
 साद्य त्वमप्याकाशो ब्रह्माकाशस्तदात्मकः अभवः सदैवासीः ।
 भवशून्य इति वा ॥ ६५ ॥ अहं रामस्तदवयवपादपाण्यादि
 तद्वाद्यघटादि चेति प्रसिद्धं जगच्च नो नास्त्येव । यतः सर्व-
 माकाशमेव ॥ ६६ ॥ अयं च सर्वापहवो यद्यपि मम माता
 वन्द्या मम मुखे जिह्वा नास्तीति वाक्यवद्व्याधातवैतण्डिकत्वा-
 दिदोषापादकत्वाद्वादिनां तार्किकादीनां वादेषु निन्द्य इति
 तत्समायां न राजते तथाप्यात्मज्ञानेषु बहुमिर्वादमिर्बहुयो-
 पन्यस्तेषु मध्ये परमपुरुषार्थपर्यवसितं किं ज्ञानं स्यादिति
 परीक्षकाणां समायां राजते । न हि सर्वापहवमन्तरेणात्यन्ति-
 कानर्थनिवृत्त्युपलक्षितनिरतिशयानन्दप्रतिष्ठा सिध्यतीति भावः
 ॥ ६७ ॥ यत इत्यर्थे यदाशब्दः । यतः काष्ठमौनपर्यवसित-
 त्वात्काष्ठमौनात्मकः सर्वापहवो वादे न संभवत्येवेति न क्रियते ।
 तेन तदकरणेन निर्विशेषात्मा परिचयाद्वादेषु आत्मज्ञानं न

यदिदं किल सद्ब्रह्म स्वसंविन्मात्रनिश्चयम् ।
 तदवाच्यं किल गिरां महतामपि मानद ॥ ५
 एवं स्थिते परं ज्ञेयं सर्वसंकल्पनोज्झितम् ।
 स्वसंवित्तुर्यतन्मात्रलभ्यं दुर्गमतां गतम् ॥ ६
 प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्याभेदैषिणां किल ।
 कथं शास्त्रपदैस्तुच्छैः सविकल्पैरवाप्यते ॥ ७
 विकल्पसारशब्दाद्यैर्ज्ञानं शास्त्रैर्न लभ्यते ।
 तत्किमर्थमनर्थाय गुरुशास्त्रादि कल्पितम् ॥ ८
 गुरुशास्त्रादिविज्ञाने कारणं वास्त्यकारणम् ।
 तदत्र निश्चयं ब्रह्मन्ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ९

प्रसीदति नोदेतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥ कुतो नोदेति तत्राह—प्रत्य-
 क्षेति ॥ ६९ ॥ उक्तं सारतः संक्षिप्योपसंहरति—सर्वेति । सर्वे
 ये आगमाः शास्त्रभेदास्तदर्थेभ्यः समतीम्, अनुभूतिर्मात्रा
 प्रमाणं यत्र तथाविधमचिह्नमत एव शान्ताभिधानकलनं शुद्धं
 चिदात्मकमेकं ब्रह्माकाशमेवास्ति नान्यदणुमात्रमपीति तत्र
 मलशङ्क्या अलं पर्याप्तम् । प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः ॥ ७० ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे बोधप्रकाशीकरणयोगोपदेशो नाम पञ्चनवत्यधिक-
 शततमः सर्गः ॥ १९५ ॥

गुरुशास्त्रालुपायेन यथा ब्रह्मेह लभ्यते ।

दारुवैवधिकाख्यानं तथा संक्षिप्य घण्यते ॥ १ ॥

हे महाबुद्धे, इति भरद्वाजस्यारिष्टनेमेर्वा संबोधनम् ॥ १ ॥
 लीलया गुरुमुखेन श्रवणकौतूहलेन ॥ २ ॥ ३ ॥ करिष्यमाणं प्रश्नं
 पूर्वेण संगमयितुं पूर्वोक्तमनुवदति—एवमिति ॥ ४ ॥ अवाच्यम्
 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेः शब्द-
 प्रवृत्तिनिमित्तधर्मशून्यत्वाच्चेत्यर्थः ॥ ५ ॥ स्वसंविद्रूपं यत्तुर्मव-
 स्थात्रयातीतं स्वप्रकाशवस्तु तन्मात्रलभ्यमत एव जाग्रदवस्थान्त-
 र्गतगुरुशास्त्राद्यगम्यत्वादुर्गमतां गतम् ॥ ६ ॥ तुच्छैः क्षुद्रतर-
 प्रतियोगिव्यवच्छेदादिसापेक्षत्वात्तद्बोधनासमर्थैः ॥ ७ ॥ विकल्प-
 सहस्रानुसंधानभ्रान्तिपरम्परानर्थाय ॥ ८ ॥ तत्तत्सातत्वविज्ञाने

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

मयमेतन्महाबाहो न शायं प्रानकारणम् ।
नानाशब्दमयं शास्त्रमनाम च परं पदम् ॥ १०
तथापि गद्यवशेष्ट यथैतद्धेतुतां गतम् ।
शास्त्राद्युत्तमबोधस्य तत्समासेन मे शृणु ॥ ११
सन्ति कचिद्वैवधिकाः कीरकाश्चिरदुर्भगाः ।
दुःखेताभ्यागताः शोषं ग्रीष्मेणेव जरद्भुमाः ॥ १२
दारिद्र्येण दुरन्तेन कन्थासंस्थानकारिणा ।
दीनाननाशयाः पद्मा निर्गतेनेव चारिणा ॥ १३
दौर्गन्धपरितप्तास्ते जीवितार्थमचिन्तयन् ।
जठरस्य कया युक्तया चयं कुर्मः प्रपूरणम् ॥ १४
इति संचिन्त्य विधिना दिनान्तेन दिनं प्रति ।
दारुभारेण जीवामो विक्रीतेनेति संस्थिताः ॥ १५
इति संचिन्त्य ते जग्मुर्दार्ढ्यं विधिनान्तरम् ।
ययैवाजीव्यते युक्त्या संवापदि विराजते ॥ १६
इति ते प्रत्यहं गत्वा काननं भवचारिणः ।
दारुण्यानीय विक्रीय चकुर्देहस्य धारणम् ॥ १७
यत्प्रयान्ति वनान्तं ते तस्मिन्सन्त्यखिलानि हि ।
गुप्तागुप्तानि रत्नानि दारुणि कनकानि च ॥ १८

रत्नाणि श्रीवासि० वा० दे० मो० नि उ० काष्ठवैवधिकोपाख्याने चिन्तामणिलामो नाम पण्यवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १५६ ॥

सप्तनवत्यधिकशततमः सर्गः १९७

श्रीराम उवाच ।

तथा कुरु मुनिश्रेष्ठ यथा वैवधिकक्रमम् ।
अलं देहसिर्गं सम्यगवगच्छामि मानद ॥ १

गुह्यगतादिकं कारणमस्ति भवति अकारणं वा । अत्रास्मिन्
सगये निधयं ब्रूहीत्यर्थः ॥ ९ ॥ रामशङ्कामनुमोदमानो
वशिष्ठः वनाश्रिते—एवमेतदित्यादिना । अनामेति । शब्द-
प्रयुक्तानि भित्तयर्मशून्यत्वादसंस्पृष्टत्वाच्च परं पदं न पदार्थो न
तान्त्रा विधेयः ॥ १० ॥ यद्यप्येवं तथाप्येतच्छास्त्रादि उत्तम-
बोधस्य तत्फलस्य मोक्षस्य च यथा येन प्रकारेण हेतुता गतं
तन्मुक्तुं वक्ष्यमाणकाष्ठवैवधिकाख्यानेदृशान्तेनेत्यर्थः ॥ ११ ॥
तदेवाह—सन्तीत्यादिना । विवधवैवधशब्दाद्युभयतो बद्धशिक्ष्ये
रत्नगणाणि दारिद्र्येणैव वर्तन्ते तद्वहन्तीति वैवधिकाः कीरकाः
जट्वातिभेदा देशविशेषजा वा । शोषं कार्यम् ॥ १२ ॥ कन्था
पट्यरप्रयिता तयैव प्रावरणसंस्थानकारिणा । 'कयासंस्थान'
इति वाटे पूर्वानुभूताश्रयत्वादिकथामात्रावस्थानकारिणेत्यर्थः ।
तत्राश्रयभूतानिर्गतेन चारिणा पद्मा इव दीनाननाशयाः ॥ १३ ॥
दौर्गन्धेन दारिद्र्येणानिताः ॥ १४ ॥ दिनं प्रति प्रतिदिनम् ।
दिनान्तेन दिनावसानान्तप्रसन्नाप्येनेति यावत् । इति संस्थिता
निधिताः ॥ १५ ॥ १६ ॥ भवचारिणः सतदिनप्राप्तावभास-
पदीनाः ॥ १७ ॥ गुप्तान्यगुप्तानि प्रकृतानि च रत्नादीनि ॥ १८ ॥

तेषां भारभृतां मय्यात्केचित्कतिपयैर्वनात् ।
जातरूपाणि रत्नानि तानि संप्राप्नुवन्ति हि ॥ १९
केचित्चन्दनदारुणि केचित्पुष्पाणि मानद ।
केचित्फलानि विक्रीय जीवन्ति चिरकीरकाः ॥ २०
केचित्सर्वमनासाद्य दुर्दारुण्येव दुर्धियः ।
नीत्वा विक्रीय जीवन्ति वनवीथ्युपजीविनः ॥ २१
दार्ढ्यमुद्यताः सर्वे ते संप्राप्य महावनम् ।
केचित्प्राप्य स्थिताः सर्वे झटित्येवं गतज्वरम् ॥ २२
इति यावदजज्ञं ते सेवन्ते तन्महावनम् ।
प्रदेशात्तावदेकस्यात्प्राप्तश्चिन्तामणिर्मणिः ॥ २३
तस्याश्चिन्तामणेः प्राप्ताः समग्रा विभवश्रियः ।
परमं सुखमायातास्तत्र ते संस्थिताः सुखम् ॥ २४
दार्ढ्यमुद्यताः सन्तः प्राप्य सर्वार्थदं मणिम् ।
सुखं तिष्ठन्ति निर्द्वन्द्वा दिवि देववरा इव ॥ २५
सर्वार्थसारपरिपूर्णतया तया ते
काष्ठोद्यमाधिगतसन्मणयो महान्तः ।
तिष्ठन्ति शान्तभयमोहविषाददुःख-
मानन्दमन्थरधियः समतामुपेताः ॥ २६

रत्नाणि श्रीवासि० वा० दे० मो० नि उ० काष्ठवैवधिकोपाख्याने चिन्तामणिलामो नाम पण्यवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १५६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ये ते वैवधिका राम त एते मानवा भुवि ।
तेषां दारिद्र्यदुःखं यत्तदज्ञानं महातपः ॥ २

केचित् भाग्यवन्तः ॥ १९ ॥ पुष्पाणि केतकीचम्पकादीनि ।
चिरकीरकाः चिराभ्यासदृढीभूतकीरकवृत्तयः ॥ २० ॥ केचि-
द्भाग्यहीना दुर्धियः सारान्वेषणाकुशलबुद्धयो दुर्दारुण्येव
नीत्वा ॥ २१ ॥ केचिद्रत्नादीनि प्राप्य गतदारिद्र्यज्वरं यथा
स्यात्तथा स्थिताः ॥ २२ ॥ चिन्तामण्याख्यो मणिर्देवाप्राप्तः
॥ २३ ॥ २४ ॥ निर्द्वन्द्वा निरस्तशीतोष्णशुष्कादिदुःखाः ॥ २५ ॥
आख्यानमुपसहरति—सर्वार्थेति । ते कीरकाः काष्ठोद्यमैर्नैव
अधिगतः प्राप्ताः सन्मणियिन्तामणिर्यस्यैतथाविधाः सन्तस्तथा
उक्त्या सर्वैरर्थसौरैरुत्तमधनैः परैर्पूर्णतया शान्तभयमोहविषा-
ददुःखं यथा स्यात्तथा आनन्दमन्थरधियो भूत्वा इतरत्नामा-
लमादिषु समतामुपेताः सन्तस्तिष्ठन्ति ॥ २६ ॥ इति श्रीवासिष्ठ-
नारायणतत्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे चिन्तामणि-
लामो नाम पण्यवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १५६ ॥

स्फुटं वैवधिकाख्यानेतात्पर्यविवृतिक्रमात् ।
हेतुत्वं गुरुशान्तादेरात्मज्ञानेऽत्र वक्ष्यते ॥ १ ॥
यथा अहमवगच्छामि तात्पर्यतत्त्वा कुह विवरणमिति
शेषः ॥ १ ॥ ये वैवधिका मयोकास्ते सादृश्यादेते मानवा

यत्तन्महावनं प्रोक्तं गुरुशास्त्रक्रमादि तत् ।
यदुद्यतास्ते आसार्थं जना भोगार्थिनो हि ते ॥ ३
भोगौघाः सिद्धिमायान्तु मम निष्कृपणो जनः ।
अनपेक्षितकार्यार्थः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ॥ ४
भोगार्थं संप्रवृत्तोऽपि प्राप्नोत्यभ्यासतः क्रमात् ।
जन्तुश्चिन्तितमेवाद्यपदं परवशोऽपि सन् ॥ ५
दार्ढ्यमुद्यतो भावी यथा संप्राप्तवान्मणिम् ।
भोगार्थमात्तशास्त्रोऽयं तथाप्नोति जनः पदम् ॥ ६
किं स्याच्छास्त्रविचाराभ्यामिति संदेहलीलया ।
कश्चित्प्रवर्तते पश्चादाप्नोति पदमुत्तमम् ॥ ७
अदृष्टोत्तमतत्त्वार्थः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ।
संदेहेनार्थभोगार्थं जनः प्राप्नोति तत्पदम् ॥ ८
अन्यथा संप्रवर्तन्ते शास्त्रैर्वासनया जनाः ।
अन्यदासादयन्त्याद्यं मणिं वैवधिका इव ॥ ९
परोपकारेऽविरतं स्वभावेन प्रवर्तते ।
यः स साधुरिति प्रोक्तः प्रमाणं त्वस्य चेष्टितम् ॥ १०
साध्वाचारवशाद्धोको भोगसंप्राप्तिशङ्कया ।
संदेहश्चाप्यतस्त्वहः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ॥ ११
भोगार्थं संप्रवृत्तोऽसौ भोगमोक्षावुभावपि ।
तस्मात्प्राप्नोति दार्ढ्यं वनाच्चिन्तामणिं यथा ॥ १२
केचिच्चन्दनदारुणि केचिच्चिन्तामणिं मणिम् ।

बोध्याः । एवमप्येऽपि सर्वत्र । यद्वारिष्यदुःखं मयोक्तं तत्तेषा-
मज्ञानं तत्प्रयुक्तञ्च महान् आतपस्त्रिविधसंतापः । 'तत्तु दानं
महातपः' इति पाठे दानतपःप्रयोजिका ऐहिकामुष्मिकभोगाशा
लक्षणयोच्यते । भोगार्थिनः सन्तस्तदुपायेषूद्यता इत्यत्र तात्पर्य-
मित्यर्थः ॥ २॥३ ॥ मम भोगौघाः सिद्धिमायान्त्विति नितरां
कृपणः कार्पण्यवान् जनो मानवः अनपेक्षितकार्यार्थं येन
तथाविधः सन् । शास्त्रादौ शास्त्रमूलके तदुपाये ॥ ४ ॥ यद्य-
प्ययं भोगेच्छयैव शास्त्रे प्रवृत्तस्तथापि तच्छास्त्रं शुद्धजिह्विका-
न्यायेनेन प्रथमं फलास्वादनेः प्रलोभ्यान्ते स्वतात्पर्यविषये परमे
पदे नयत्येवेत्याह—भोगार्थमिति । शास्त्रतः प्रथमं भोगफल-
लाभेन तद्विश्वासदार्ढ्यक्रमात्तदुक्तसाधनाभ्यासतो भूमिकामेदा-
रोहणक्रमाच्चिन्तितं शास्त्रपरमं तात्पर्यविषयमाद्यपदं मोक्षाख्यं
ब्रह्म ॥ ५ ॥ भावः सारासारविचारान्वेषणादिः सोऽस्यास्तीति
भावी वैवधिकः ॥ ६ ॥ संदेहप्रयुक्तया लीलया कौतूहलेन
॥ ७ ॥ अर्थ्यत इत्यर्थो विषयस्तद्भोगार्थम् ॥ ८ ॥ स्वस्ववासना-
नुसारेणान्यादृशं शास्त्रफलं संभावयन्तो जनास्तत्र प्रवर्तन्ते ।
अन्यद्वाज्ञानसागोचरं निर्विषयनिरतिशयसुखमासादयन्तीलंशे
वैवधिकाख्यानदृष्टान्तोपन्यास इत्यर्थः ॥ ९ ॥ सर्वजनाना-
मुत्सर्गतः सन्मार्गप्रवृत्तौ साध्वाचारदर्शनमेव मूलमिति साधु-
लक्षणप्रदर्शनपूर्वकमाह—परोपकारे इति । प्रमाणं सर्वलोक-
स्येति शेषः ॥ १० ॥ अस्तु प्रमाणं किं तदस्तत्राह—साध्विति ।
अतस्त्वहो लोकः शास्त्रफले संदिग्धे इति संदेहः संदिहानोऽपि
यो० वा० १९३

केचित्सामान्यरत्नानि प्राप्नुवन्ति यथा वनात् ॥ १३
केचित्कामं केचिदर्थं केचिद्धर्मत्रयं तु वा ।
केचिन्मोक्षमशेषं च लभन्ते शास्त्रतस्तथा ॥ १४
वर्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव ।
ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नास्ति तच्छासनेष्वपि ॥ १५
केवलं सर्ववाक्यार्थैर्ध्वन्यमानावगम्यते ।
कालश्रीः प्रसवेनेव स्वयं स्वानुभवेन सा ॥ १६
सर्वार्थातिगतं शास्त्रे विद्यते ब्रह्मवेदनम् ।
सर्वगातिगतं स्वच्छं लावण्यमिव योषिति ॥ १७
न शास्त्रान्न गुरोर्वाक्यान् दानान्नेश्वरार्चनात् ।
एष सर्वपदातीतो बोधः संप्राप्यते परः ॥ १८
एतान्यकरणान्येव कारणत्वं गतान्यलम् ।
परमात्मैकविश्रान्तौ यथा राघव तच्छृणु ॥ १९
शास्त्रादभ्यासयोगेन चित्तं यातं विशुद्धताम् ।
अनिच्छदेवमेवाशु पदं पश्यति पावनम् ॥ २०
एतच्छास्त्रादविद्यायाः सात्त्विको भाग उच्यते ।
तामसः सात्त्विकेनास्याभागेनायाति संक्षयम् ॥ २१
नूनं मलं प्रधानेन क्षालयच्छास्त्ररूपिणा ।
पुरुषः शुद्धतामेति परमां वस्तुशक्तितः ॥ २२
अनिच्छयोरेव यथा सप्तसप्तिसमुद्रयोः ।
प्रागदृश्यं तृतीयत्वं स्वभाववशतः स्वतः ॥ २३

भोगसंप्राप्तिसंभावनया संप्रवर्तते ॥ ११ ॥ १२ ॥ 'शुभाशुभानि'
इत्याद्युक्तेस्तात्पर्यमाह—केचिदित्यादिना ॥ १३ ॥ १४ ॥
वर्गत्रयं धर्मकामार्थास्तस्योपदेशो मुख्यवृत्त्यैवास्ति । तच्छासनेषु
ब्रह्मतत्परेषु शास्त्रेष्वपि पदवाक्यमुख्यवृत्त्या ब्रह्मप्राप्तिर्ब्रह्मबोधः
॥ १५ ॥ वसन्तादिकालश्रीः प्रसवेन तत्तदार्तवफलपुष्पादिजन्म-
नेव ध्वन्यमाना सूच्यमाना । आलंकारिकसमये व्यञ्जकाख्य-
वृत्त्यन्तरेण, इतरसमये लक्षणयेति यावत् ॥ १६ ॥ मुख्यवृत्त्या
बोधने असामर्थ्येऽपि शास्त्रस्य लक्षणाद्युपायैर्बोधने सामर्थ्य-
मस्त्येवेति तेन अधिकारिणां ब्रह्मवेदनमस्त्येवेति न वैयर्थ्य-
मित्याह—सर्वार्थेति । सर्वान् अर्थान् दृश्यवर्गास्त्रिवर्गान्वा
अतिक्रम्य उत्कर्षकाष्ठां गतम् । मणिदर्पणचन्द्रादिसर्वगत-
सौन्दर्याप्यतिगतं लावण्यं योषिति स्त्रीरत्नेऽस्ति तद्वदित्यर्थः
॥ १७ ॥ साक्षात् संप्राप्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥ चित्तशुद्धादिसाधन-
परम्परोपचयद्वारा कारणत्वं गतानि ॥ १९ ॥ अनिच्छत् सर्व-
भोगेच्छानिर्मुक्तं एवमेव प्रतिदिनमन्तर्मुखतया प्रत्यक्प्रवणं
चित्तं तत्पदं ब्रह्म पश्यति ॥ २० ॥ उच्यते उत्कर्षं नीयते । उच्च-
वाब्दात्तत्करोतीति णिचि कर्मणि लटि यकि णिलोपः ॥ २१ ॥
शास्त्ररूपिणा प्रधानेन जलेन क्षालयन् सन् । वस्तुशक्तितः
अचिन्त्याच्छास्त्रादिप्रभावात्तद्बोध्यनित्यशुद्धात्मवस्तुसामर्थ्याच्च
॥ २२ ॥ यथा सप्तसप्तेः सूर्यस्य समुद्रस्य च संनिधाने प्राग-
दृश्यमपि प्रतिबिम्बं स्वच्छप्रकाशस्वभाववशतस्तृतीयं संप्र-

स्वसंनिधानमात्रेण विदितप्रतिभासनम् ।
 सदसन्मयमाभोगि प्रतिबिम्बं प्रवर्तते ॥ २४
 मुमुक्षुशास्त्रयोरेवं मिथः संबन्धमात्रतः ।
 सर्वसंवित्पदातीतमात्मज्ञानं प्रवर्तते ॥ २५
 अनयोः प्रेक्षणादेहे विवेको जायते यथा ।
 तथा स्वभावतः शास्त्रविवेकाज्ज्ञेयवेदनम् ॥ २६
 लोष्टेन लोष्टं सलिले क्षालयन्बालको यथा ।
 क्षयेण लोष्टयोर्हस्तनैर्मल्यं लभते परम् ॥ २७
 तथा शास्त्रविकल्पौघैर्विकल्पांश्चेतनाद्बुधः ।
 क्षालयन्स्वविचारेण परमां याति शुद्धताम् ॥ २८
 महावाक्यार्थनिष्पन्दं स्वात्मज्ञानमवाप्यते ।
 शास्त्रादेरिष्टुरसतः स्वाद्विष्व खानुभूतितः ॥ २९

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० ति० उ० शास्त्रमाहात्म्यं नाम सप्तमव्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९७ ॥

अष्टमव्यधिकशततमः सर्गः १९८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

भूयो निपुणबोधाय शृणु किञ्चिद्ब्रूद्वह ।
 पुनःपुनर्यत्कथितं तद्वहेऽप्यवतिष्ठते ॥ १
 राघव प्रथमं प्रोक्तं स्थितिप्रकरणं मया ।
 येनेदमित्यमुत्पन्नमिति विज्ञायते जगत् ॥ २

वर्तते । एवं मुमुक्षुशास्त्रयोरपि मिथः संबन्धमात्रत आत्मज्ञानं प्रवर्तते इति त्रयाणामन्वयः ॥ २३ ॥ विदितमनुभवसिद्धं प्रतिभासनं सम्यक्स्फुरणं यस्य तथाविधम् ॥ २४ ॥ २५ ॥ अनयोः सवितृसमुद्रयोः प्रेक्षणाद्यथा जल्यन्तवैधर्म्यादिवोध-
 लक्षणो विवेको जायते तथा शास्त्रकृताद्विवेकादपि देहे सर्वोपा-
 ध्यसंसृष्टाद्वितीयज्ञेयवेदनं जायते ॥ २६ ॥ शास्त्रकृतैर्विचारविक-
 ल्पैर्भ्रान्तिकृतविकल्पानां क्षालनेनात्मनैर्मल्यप्राप्तावपि दृष्टान्त-
 माह—लोष्टेनेति ॥ २७ ॥ चेतनात् पुनःपुनरात्मतत्त्वपरीक्षा-
 त्क्षालयन्तम् ॥ २८ ॥ केन प्रमाणेन कथं परीक्षणात्प्राह—
 महावाक्येति । शास्त्रादेः सूत्रभाष्यतद्याख्यासहाराभाषणादि-
 शास्त्राद्बुधवचनादेश्वोपायात्तत्त्वसत्यादिमहावाक्यार्थस्य निष्पन्दं
 तत्त्वपदवाक्यार्थद्वयपरिशोधनलब्धरसभूतमखण्डवाक्यार्थापरो-
 क्षानुभवरूपं स्वात्मज्ञानमवाप्यते । यथा यन्त्रादिनिपीडनोपाया-
 निःसारितेश्चरसतः स्वाद्बु माधुर्यास्वादनं खानुभूतितः अवाप्यते
 तद्वदित्यर्थः ॥ २९ ॥ यथा नमसि प्रयतोऽप्यालोकः प्रभामित्योः
 समासज्ञादभिव्यक्तः स्फुटमनुभूयते तथा नित्यस्वप्रकाशरूपम-
 प्यात्मज्ञानं श्रवणतदधिकारिणोर्मलनात्स्फुटमनुभूयत इत्यर्थः
 ॥ ३० ॥ तत्र शास्त्रान्तरश्रवणं तत्पाण्डित्यं वा नोपयुज्यत एवे-
 त्याह—त्रिवर्गेति । विपुलश्रुता बहुश्रुतास्त्वविदस्तेषां तत्त्वबो-
 धोपायचर्चास्तु तच्छ्रुतमश्रुतं मौढ्यमेव, यतो मिथ्याविषयफल-

प्रभामित्योः समासज्ञाद्यथाऽऽलोकोऽनुभूयते ।
 श्रुतश्रुतवतोः सङ्गादात्मज्ञानं तथा भवेत् ॥ ३०
 त्रिवर्गमात्रसिद्धौ यत्र मोक्षाय च तच्छ्रुतम् ।
 विपुलश्रुतचर्चास्तु तच्छ्रुतमश्रुतमेव तत् ॥ ३१
 तच्छ्रुतं यत्किल दृश्यै सा ज्ञप्तिः समता यया ।
 तत्साम्यं यत्र सौषुप्ती स्थितिर्जाग्रति जायते ॥ ३२
 एवं हि सर्वमेतत्तच्छास्त्रादेः समवाप्यते ।
 तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शास्त्राद्यभ्यासमाहरेत् ॥ ३३
 शास्त्रार्थभावनवशेन गिरा गुरुणां
 सत्सङ्गमेन नियमेन शमेन राम ।
 तत्प्राप्यते सकलविश्वपदादतीतं
 सर्वेश्वरं परममाद्यमनादिशर्म ॥ ३४

ततो जगति जातेन परोपशमशालिना ।
 भवितव्यमिति प्रोक्तं मयोपशमयुक्तिभिः ॥ ३
 उपशान्तिप्रकरणे प्रोक्तेरुपशमक्रमैः ।
 परमोपशमं गत्वा वस्तव्यमिह विज्वरम् ॥ ४
 प्राप्तप्राप्येन तज्ज्ञेन यथा संसारदृष्टिषु ।
 विहर्तव्यं हि नः किञ्चित्स्वल्पं श्रोतव्यमस्ति ते ॥ ५

त्वात्तुच्छं तदित्यर्थः ॥ ३१ ॥ अतो निर्विकल्पस्वरूपस्थितिर्यव-
 सितमेव श्रुतमुपादेयमिलाशयेन अशंसति—तदिति । यत्र
 आमल्यपि सौषुप्ती निर्विकल्पा स्वरूपस्थितिर्जायते ॥ ३२ ॥ इदं सर्वं
 शास्त्राधीनमिति तदावश्यकमिलाह—एवमिति ॥ ३३ ॥ हे
 राम, तत्सकलविश्वपदाद्विद्वद्भ्रान्तेश्वर्यसुखादप्यतीतमतिशयितं
 पावनं सर्वेश्वरं मोक्षाख्यमनादिमुखं गुरुणां गिरा शास्त्रार्थबोध-
 नवशेनैव प्राप्यते तच्च सत्संगसादिनेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शास्त्र-
 माहात्म्यं नाम सप्तमव्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९७ ॥

वर्ण्यतेऽत्र ब्रह्मदानां निर्विद्वेषमुखस्थितौ ।

हेतुः सेतुरिवाम्बुनां सर्वत्र समदर्शनम् ॥ १ ॥

निपुणबोधाय बोधदात्रीहेतुनिर्विद्वेषतासिद्धये किञ्चिद्गर्भ-
 मानं रहस्यमुपशमप्रकरणादौ कथितमेव पुनः किमर्थमुच्यते
 इत्यनास्थावारणायाह—पुनःपुनरिति ॥ १ ॥ उत्पत्तिस्थिति-
 प्रकरणाभ्यामुत्पन्नं जगदित्यं भ्रान्तिमात्रमिति विज्ञाते सति
 समदर्शनप्रतिष्ठया उपशमप्रकरणे समदर्शनं वर्णितं तदेवात्र
 जीवनिर्वाणमुखप्रतिष्ठार्थं पुनर्वर्ण्यत इत्याह—राघवेत्यादिना
 ॥ २ ॥ ३ ॥ इह एतत्प्रकरणप्रतिपाद्ये निर्वाणसुखे ॥ ४ ॥
 संसारदृष्टिषु व्यवहारेषु यथा येन प्रकारेण विहर्तव्यं तर्हि-
 चिद्दृश्यं नः असन्मुखातो श्रोतव्यमस्ति तदुच्यत इत्यर्थः

जन्म संप्राप्य जगति बाल्य एव जगत्स्थितिम् ।
 यथाभूतामिमां बुद्ध्या वस्तव्यमिदं विज्वरम् ॥ ६
 सर्वसौहार्दजननीं सर्वस्याश्वासकारिणीम् ।
 समतामलमाश्रित्य विहर्तव्यमिहानघ ॥ ७
 सर्वसंपत्तिभुगं सर्वसौभाग्यवर्धनम् ।
 समतासुलतायास्तु फलं भवति पावनम् ॥ ८
 समतासुभगेदानां कुर्वतां प्रकृतं क्रमम् ।
 सर्ववैयं जगल्लक्ष्मीर्भूततामेति राघव ॥ ९
 न तदासाद्यते राज्यान्न कान्ताजनसंगमात् ।
 अनपायि सुखं सारं समत्वाद्यदवाप्यते ॥ १०
 द्वन्द्वोपशमसीमान्तं संरम्भज्वरनाशनम् ।
 सर्वदुःखातपाम्भोदं समत्वं विद्धि राघव ॥ ११
 मित्रीभूताखिलरिपुर्यथाभूतार्थदर्शनः ।
 दुर्लभो जगतां मध्ये साम्यामृतमयो जनः ॥ १२
 प्रबुद्धस्य स्वचित्तेन्दोर्निष्पन्दममृताधिकम् ।
 साम्यमास्वाद्य जीवन्ति सर्वे वै जनकादयः ॥ १३
 साम्यमभ्यस्यतो जन्तोः स्वदोषोऽपि गुणायते ।
 दुःखं सुखायते नित्यं मरणं जीवितायते ॥ १४
 साम्यसौन्दर्यसुभगं वनिता मुदितादिकाः ।
 आलिङ्गन्ति महात्मानं नित्यं व्यसनिता इव ॥ १५
 समः समुदितो नित्यं समोऽनुदितधीः सदा ।
 न काश्चिदिह ताः सन्ति याः समस्य हि नर्धयः ॥ १६
 सर्वकार्यसमं साधुं प्रकृतव्यवहारिणम् ।
 चिन्तामणिसिवोदारं प्रवाञ्छन्ति नरामराः ॥ १७

॥ ५ ॥ बाल्ये त्वद्वयस्येव जगत्स्थितिं बुद्ध्या वक्ष्यमाणरीत्या निर्विक्षेपं वस्तव्यम् ॥ ६ ॥ समतां वक्ष्यमाणां सर्वभूतेष्वैकात्म्यदर्शनादुण्णदोषदर्शनलक्षणवैषम्यशून्यतां स्वदेहसमानसुखदुःखदृष्टिं सर्ववैषम्यरहितब्रह्मदृष्टिं च । अलं दृढम् ॥ ७ ॥ फलं सर्वभूतमैत्रीरूपम् । संपदो बाह्याः सौभाग्यानि सुभगभावाः कल्याणगुणा इति मेदः ॥ ८ ॥ तदेव द्विविधं फलं प्रकटयति—समत्तेति द्वाभ्याम् । समतया सुभगा सर्वभूतहिता ईहा चेष्टा येषाम् ॥ ९ ॥ १० ॥ सर्वदुःखतद्धेतुप्रशमोऽपि तथा सिध्यतीत्याह—द्वन्द्वेति ॥ ११ ॥ १२ ॥ 'साम्यामृतमयः' इति पदतात्पर्यं वर्णयन्तादृशजनानुदाहरति—प्रबुद्धस्येति । आस्वाद्य जीवन्ति उपजीवन्ति ॥ १३ ॥ स्वदोषः क्रोधलोभादिः क्रमेण शान्त्यौदार्यादिभावेन परिणम्य गुणवदाचरति गुणायते ॥ १४ ॥ मुदिताया मैत्रीकरुणोपेक्षादयो योगशास्त्रे प्रसिद्धाः । व्यसनिताः कामुकीत्वाद्वर्तसमागमव्यसनवत् इव ॥ १५ ॥ समुदितः कल्याणगुणैः सर्वसंपद्भिश्च सम्यग्भ्युदयं प्राप्तः समुदायतां प्राप्तश्च । न उदिता धीश्चिन्ता यस्य । ऋद्धयः संपदः ॥ १६ ॥ सर्वकार्ये स्वकार्ये परकार्ये च समं पुरुषम् । साधुमपराधिषु क्षमावन्तम् । उदारं त्यागिनम् ।

सम्यक्कारिणमुहाममुदितं समचेतसम् ।
 न दहन्त्यग्नयो राम नापः सिञ्चन्ति मानवम् ॥ १८
 यद्यथा तत्तथा येन क्रियते दृश्यते तथा ।
 आनन्दोद्वेगमुक्तेन कस्तं तोलयितुं क्षमः ॥ १९
 मित्राणि बन्धुरिपवो राजानो व्यवहारिणः ।
 सम्यक्कारिणि तत्त्वज्ञे विश्वसन्ति महाधियः ॥ २०
 नानिष्ठात्प्रपलायन्ते नेष्टादायान्ति तुष्टताम् ।
 प्रकृतक्रमसंप्राप्तास्तत्त्वज्ञाः समदर्शिनः ॥ २१
 त्यक्त्वा सर्वानुपादेयान्राम भावाननिन्दितान् ।
 समतायामदुःखायां दधाना वृत्तिमुत्तमाम् ॥ २२
 विहसन्ति जगज्जालं जीवयन्ति निरामयाः ।
 पूज्यन्ते विबुधैः सर्वैः समतामुदिताशयाः ॥ २३
 प्रकृतक्रमसंप्राप्तं मुखेन्दौ कोपमेव यः ।
 समाशयो धारयति स्यात्सौम्यामृतवज्जनः ॥ २४
 यत्करोति यदश्नाति यदाक्रामति निन्दति ।
 समदृष्टिस्तदस्येयं स्तौति नित्यं जनावलिः ॥ २५
 यच्छुभं वाशुभं यच्च यच्चिरेण यदद्य वा ।
 समदृष्टिकृतं सम्यग्भिनन्दति तज्जनः ॥ २६
 सुखदुःखेषु भीमेषु संततेषु महत्स्वपि ।
 मनागपि न वैरस्यं प्रयान्ति समदृष्टयः ॥ २७
 शिबिर्भूषः कपोताय मांसमङ्गविकर्तनम् ।
 ददौ मुदितया बुद्ध्या समदृष्टितयानया ॥ २८
 प्राणेभ्योऽपि प्रियतमां कान्तामग्रे विकालिताम् ।
 दृष्ट्वाप्यङ्ग महीपालो न मुमोह समाशयः ॥ २९

नरा अमराश्च प्रवाञ्छन्ति ॥ १७ ॥ सम्यक्कारिणं सदाचारसर्वजनहितकर्तारम् । सिञ्चन्ति क्लेददुःखं कुर्वन्ति ॥ १८ ॥ यद्यथा कर्तुमुचितं तत्तथा येन क्रियते आनन्दोद्वेगौ हर्षामर्षौ तन्मुक्तेन सर्वं कृतं समतया येन दृश्यते ॥ १९ ॥ ॥ २० ॥ २१ ॥ कीदृशास्तत्त्वज्ञाः । अनिन्दितानपि सर्वानुपादेयान् परैरुपादानुमिष्टान् गृहक्षेत्रादिभावांस्त्यक्त्वा उत्तमां निर्लोभसंतोषलक्षणां वृत्तिं दधानाः ॥ २२ ॥ जीवयन्ति विवेकोपदेशादिना उज्जीवयन्ति ॥ २३ ॥ समाशयो जनः परहितार्थं प्रकृतक्रमसंप्राप्तं मुखेन्दौ कोपं धारयति चेत्तदप्यमृतवदेव स्यान्नोद्वेगकरं कस्यचिदित्यर्थः ॥ २४ ॥ यत्कर्म अनुचितमिति निन्दति, जनस्तत्परिहरंस्तदस्य सच्चरित्रं सर्वं स्तौति ॥ २५ ॥ अशुभं प्रमादकृतमपराधमपि चिरेण कृतमद्य कृतं वा तदप्यभिनन्दति ॥ २६ ॥ सुखदुःखेषु भीमेषु घोरेषु संततेषु विराजुवृत्तेषु वैरस्यं चित्तोद्वेगम् ॥ २७ ॥ इदानीं महत्स्वपि दुःखेषु समदृष्टिधीरानुदाहरति—शिबिरित्यादिना । कपोताय शरणागतकपोतप्राणरक्षणाय तन्मांसप्रतिनिधितया अङ्गविकर्तनं स्वमांसं ददौ । तच्च महाभारतादौ प्रसिद्धम् । एवमग्रेऽप्युद्धम् ॥ २८ ॥ अग्रे स्वपुरोभागे विकालितां शत्रुभिः

मनोरथशतप्राप्तं तनयं समया धिया ।
 राक्षसाय त्रिमर्तेशो ददौ स्वपणहारितम् ॥ ३०
 नगर्यां दह्यमानायां भूषितायां तथोत्सवे ।
 सम एव महीपालो जनको भूभृतां वरः ॥ ३१
 न्यायतः परिविक्रीतं साल्वराट् समदर्शनः ।
 स्वमेव विचकर्ताशु शिरः पद्मदलं यथा ॥ ३२
 कुन्दप्रकरनिर्भासं यत्ने पाण्डुमिवाचलम् ।
 जहौ जरत्तृणमिव सौवीरः समया धिया ॥ ३३
 समयैव धिया नित्यं निजमभ्याहरन् क्रमम् ।
 मातङ्गः कुण्डपो नाम प्राप वैमानिकस्थितिम् ॥ ३४
 सर्वभूतक्षयकरीं साम्याभ्यासेन भूरिणा ।
 तत्प्राज राक्षसीं वृत्तिं कदम्बवनराक्षसः ॥ ३५
 बालचन्द्राभिजातोऽपि समबुद्धितया जडः ।
 शुद्धमोदकवज्यायप्रातमग्निमभक्षयत् ॥ ३६
 समबुद्धितया क्रूरव्यवहारपरोऽपि सन् ।
 धर्मव्याघस्तनुं त्यक्त्वा जगाम परमं पदम् ॥ ३७

नन्दनोद्यानसंस्थोऽपि पुरुषोऽपि कपर्दनः ।
 लुलुभे न सुरस्त्रीषु नूनं प्रणयिनीष्वपि ॥ ३८
 समचित्ततयाऽस्पन्दः करज्जगद्भनेष्वपि ।
 विन्ध्यकान्तारकच्छेषु राज्यं त्यक्त्वावसञ्चिरम् ॥ ३९
 ऋषयो मुनयश्चैव ये सिद्धाः सुरपूजिताः ।
 समदृष्टितयोद्विग्ना न ते तासु वतार्द्धेषु ॥ ४०
 राजानः प्राकृताश्चैव धर्मव्याधादयोऽपरे ।
 समदृष्टिपदाभ्यासान्महतां पूज्यतां गताः ॥ ४१
 इहामुत्र च सिद्ध्यर्थं पुरुषार्थप्रवृत्तये ।
 समदृष्टितया नित्यं विचरन्ति सुबुद्धयः ॥ ४२
 अभिवाञ्छेन्न मरणमभिवाञ्छेन्न जीवितम् ।
 यथाप्राप्तसमाचारो विचरेदविहिंसकः ॥ ४३
 समकलितगुणागुणैकभावः
 समसुखदुःखपरावरो विलासी ।
 प्रविचरति समावमानमानः
 प्रकृतवरव्यवहारपूतमूर्तिः ॥ ४४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० समदृष्टिप्रशंसा नामाष्टनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९८ ॥

नवनवत्यधिकशततमः सर्गः १९९

श्रीराम उवाच ।

नित्यं ज्ञानैकनिष्ठत्वादात्मारामतया तथा ।
 मुक्तैः कर्मपरित्यागः कस्माच्च क्रियते मुने ॥ १
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।
 हेयोपादेयदृष्टी द्वे यस्य क्षीणे हि तस्य वै ।
 क्रियात्यागेन कोऽर्थः स्यात्क्रियासंश्रयणेन वा ॥ २

क्लेशिताम् ॥ २९ ॥ स्वस्य पणे वामयूते हारितं राक्षसेन जितम् ॥ ३० ॥ ३१ ॥ परिविक्रीतं ऐच्छिकीं दक्षिणां ते दास्या-
 भीतिं प्रतिज्ञया ब्राह्मणाय विक्रीतप्रायम् । विचकर्तुं लिप्त्वा
 ददौ ॥ ३२ ॥ पाण्डुमन्त्रलं कैलासमिव स्थितमैरावतमिन्द्रजयेन
 लब्धं पुनर्यज्ञे ऋषिर्वा वचनादिन्द्राय जहौ ददौ ॥ ३३ ॥
 निजं देहधात्रानिमित्तं क्रमं व्यवहारं समयैव धिया आहरन्
 आचरन् कुण्डपो नाम मातङ्ग एकां गां वैतनीकृत्य ब्राह्मणस्य
 पञ्च पद्ममया गाः समुद्धृत्य स्ववैतनीकृतां गां पुष्करे समया
 धिया तस्मै ब्राह्मणाय दत्त्वा सद्यः समागतं विमानमावृष्ट्य
 वैमानिकस्थितिं देवत्वं प्राप ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ जहौ जडमरतः ।
 न्यायप्राप्तं भिक्षापत्रे भैक्ष्यन्यायेन प्राप्तम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥
 कपर्दननामा राजर्षिः पुरुषः पुंस्त्वात्सुरस्त्रीभोगसमर्थोऽपि प्रण-
 यिनीषु स्वसिन्धालुराणस्त्वपि न लुलुभे । कामवशो नाभूदि-
 त्यर्थः ॥ ३८ ॥ स एव राज्यं त्यक्त्वा विन्ध्यकान्तारकच्छेषु
 करज्जगद्भनेष्वपि अस्पन्दः संचिरमवसत् ॥ ३९ ॥ अतेषु
 तपःक्षेत्रेषु ऋद्धिषु भोगेषु च समदृष्टितया नोद्विग्नाः ॥ ४० ॥
 ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ समतया कलिता गुणा, अगुणा

न तदस्तीह यत्त्याज्यं हस्योद्वेगकरं भवेत् ।
 न वास्ति यदुपादेयं तज्ज्ञसंश्रेयतां गतम् ॥ ३
 हस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः ।
 तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥ ४
 यावदायुरियं राम निश्चितं स्पन्दते तनुः ।
 तद्यथाप्राप्तमव्यग्रं स्पन्दतामपरेण किम् ॥ ५

दोषाश्च एकभावा एकीभूता इव यस्य । 'परोपतापचिन्तः' इति
 पाठे परैः कृता उपतापास्तत्प्रयुक्तचिन्ताश्च समतया कलिता
 येन । तथा समे सुखदुःखे परा उत्कृष्टयोनयोऽवरा निरुद्धयो-
 नयश्च यस्य । तथा समाः अवमाना मानाश्च यस्य तथाविधो
 जीवन्मुक्तः प्रकृतव्यवहारेष्वप्यासत्त्यभावात्पूतमूर्तिरत एव
 विलासी विलसन्शीलः सन् लोकानुग्रहाय देशान् प्रविचरति
 संचरतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतत्पर्य-
 प्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे समदृष्टिप्रशंसा नामाष्टनवत्युत्तर-
 शततमः सर्गः ॥ १९८ ॥

मुक्तानां न कुर्वैरथो नाकृतैः कर्मभिः क्षतिः ।

तथापि तेऽनुवर्तन्ते सत्कर्माणीति वर्ण्यते ॥ १ ॥

मुक्तैर्जीवन्मुक्तैः ॥ १ ॥ स्वभ्यस्तस्य करणे श्रमाभावात्त्यागो
 प्रयोजनाभावाल्लोकानुग्रहवशाच्च तैः कर्मत्यागो न क्रियत इत्यु-
 त्तरार्धे इत्याशयेनोत्तरमाह—हेयेत्यादिना ॥ २ ॥ सश्रेयताम-
 चर्यानुष्ठेयताम् ॥ ३ ॥ यद्यदर्थोऽश्रोमोचितत्वेन यथास्थितं तत्तत्
 तथैव करोति ॥ ४ ॥ जीवद्देहस्य स्पन्दनावश्यभावे स्वभ्यस्तस्य
 दाचाररूपमेव स्पन्दनं तदेव प्रवर्तत इत्याह—यावदायुरिति ।

अन्यथान्यत्र चेत्कार्या क्रिया त्यक्त्वा निजं क्रमम् ।
 समाने हि क्रियास्पन्दे को दोषः सत्क्रमे किल ॥ ६
 समया स्वच्छया बुद्ध्या सततं निर्विकारया ।
 यथा यत्क्रियते राम तददोषाय सर्वदा ॥ ७
 इह मद्यां महाबाहो बहवो बहुदृष्टयः ।
 बहुधा बहुदोषेषु विहरन्ति विचक्षणाः ॥ ८
 गतसङ्गतया बुद्ध्या विहरन्ति यथास्थितेः ।
 गृहस्थारम्भणः केचिज्जीवन्मुक्ताः स्थिता भुवि ॥ ९
 तज्ज्ञा राजर्षयश्चान्ये वीतरागा भवादृशाः ।
 असंसक्तधियो राज्यं कुर्वन्ति विगतज्वराः ॥ १०
 केचित्प्रकृतवेदार्थव्यवहारानुसारिणः ।
 यज्ञशिष्टाशिनो नित्यमग्निहोत्रे व्यवस्थिताः ॥ ११
 केचिच्चतुर्षु वर्णेषु ध्यानदेवार्चनादिकाम् ।
 स्वक्रियामनुतिष्ठन्तः स्थिता विविधयेदया ॥ १२
 केचित्सर्वपरित्यागमन्तः कृत्वा महाशयाः ।
 सर्वकर्मपरा नित्यं तज्ज्ञा एवाश्रयस्थिताः ॥ १३
 स्वप्नेऽप्यदृष्टलोकासु मुग्धमुग्धमृगासु च ।
 वनावनीषु शून्यासु केचिद्व्यानपरायणाः ॥ १४
 पुण्यवद्भिः सदा जुष्टे पुण्योपचयकारिणि ।
 शमशालिसमाचारे केचिदायतने स्थिताः ॥ १५
 रागद्वेषप्रहाणार्थं त्यक्त्वा देशं समाशयाः ।
 केचिदन्यत्र देशे च पदमालम्ब्य संस्थिताः ॥ १६
 वनाद्वनं पुराद्भ्रामं स्थानात्स्थानं गिरेर्गिरिम् ।
 भ्रमन्तः संस्थिताः केचित्संसारोच्छिद्ये बुधाः ॥ १७
 वाराणस्यां महापुर्यां प्रयागे चैव पावने ।
 श्रीपर्वते सिद्धपुरे बदर्याश्रमके तथा ॥ १८

अपरेण स्पन्दत्यागेनान्यथा स्पन्दनेन च ॥ ५ ॥ शास्त्रीया-
 शास्त्रीयक्रिययोः क्रमे समानेऽपि शास्त्रीये सत्क्रमे सदाचारे को
 दोषो येन निजं क्रमं त्यक्त्वा अन्यथाचरणं स्यादित्यर्थः ।
 अन्यत्रेति दृष्टान्तार्थम् । यथा खगृहे निर्दोषे अन्यत्रावस्थाने
 प्रयोजनं नास्ति तद्वदिति ॥ ६ ॥ समया सिद्धसिद्धौस्तुल्यया
 ॥ ७ ॥ यद्यपि कर्मसु प्रवृत्तानां द्रव्यार्जनकृत्स्निकगवर्जनादिषु
 अनुष्ठेयार्थनिर्णयेषु च श्रमसाध्यत्वाद्बहुदोषप्रसक्तिरस्ति तथापि
 सा तैः समदर्शनता विचक्षणता बलादेव सुपरिहरेत्याशये-
 नाह—इहेति । बहुदृष्टयः सर्वशास्त्रलोकरहस्यदर्शिनः प्रपञ्च-
 यिष्यमाणबहुदृष्टयश्च समदर्शनबलालोकसंग्रहेऽपि विचक्षणाः
 ॥ ८ ॥ बहुधेत्युक्तिं प्रपञ्चयति—गतसंगतयेत्यादिना । यथा-
 स्थितेः यथाप्राप्तानुवृत्तेः ॥ ९ ॥ भवादृशा इति भाविनी
 वृत्तिमाश्रित्य रामं प्रत्युक्तिः ॥ १० ॥ ११ ॥ स्वक्रियां स्वस्व-
 वर्णाश्रमोचितं कर्म तत्र ध्यानं चतुर्याश्रमोचितम् । ईदृया
 चेष्टया ॥ १२ ॥ सर्वपरित्यागं फलसङ्गत्यागम् ॥ १३ ॥
 स्वप्नेऽपि न दृष्टा लोका जना यत्रेत्यतिशयोक्तिः ॥ १४ ॥ आय-
 तने पुण्यतीर्थमुन्याश्रमादौ ॥ १५ ॥ चन्द्रजलसमागमे राग-

शालग्रामे महापुण्ये कलापग्रामकोटरे ।
 मथुरायां च पुण्यायां तथा कालञ्जरे गिरौ ॥ १६
 महेन्द्रवनगुल्मेषु गन्धमादनसानुषु ।
 दर्दुराचलवप्रेषु सहाकाचलभूमिषु ॥ २०
 विन्ध्यशैलस्य कच्छेषु मलयस्योदरेषु च ।
 कैलासवनजालेषु ऋक्षवत्कुहरेषु च ॥ २१
 एतेष्वन्येषु चान्येषु वनेष्वायतनेषु च ।
 तपस्विनस्तथा राम बहवो बहुदृष्टयः ॥ २२
 केचित्प्रवृत्तनिजाचाराः केचिच्च क्रमसंस्थिताः ।
 केचित्प्रबुद्धमतयो नित्यमुन्मत्तचेष्टिताः ॥ २३
 केचित्स्वदेशरहिताः केचित्प्रवृत्तनिजास्पदाः ।
 एकस्थानरताः केचिद्भ्रमन्तः केचिदास्थिताः ॥ २४
 एतेषां महतां मध्ये नभस्तलनिवासिनाम् ।
 पातालनिरतानां च दैत्यादीनां महामते ॥ २५
 विज्ञातलोकपर्यायाः सम्यग्दर्शननिर्मलाः ।
 केचित्प्रबुद्धमतयो दृष्टदृश्यपरावराः ॥ २६
 अप्रबुद्धधियः केचिद्दोलान्दोलितचेतसः ।
 निवृत्ताः पापकाचारात्सुजनानुगताः स्थिताः ॥ २७
 अर्धप्रबुद्धमतयः केचिज्ज्ञानावलेपतः ।
 परित्यक्तक्रियाचारा उभयभ्रष्टां गताः ॥ २८
 इत्थमसिञ्जनानीके जन्मसंतरणार्थिनः ।
 बहवः संस्थिता राम बहुधा बहुदृष्टयः ॥ २९
 संसारोत्तरणे तत्र न हेतुर्वनवासिता ।
 नापि स्वदेशवासित्वं न च कष्टतपःक्रियाः ॥ ३०
 न क्रियायाः परित्यागो न क्रियायाः समाश्रयः ।
 नाचारेषु समारम्भविचित्रफलपालयः ॥ ३१

द्वेषादिविक्षेपसहस्रावर्जनात्तत्प्रहाणार्थम् । पदं स्थानम् ॥ १६ ॥
 संसारोच्छिद्ये संग्रहदोषपरिहारार्थम् ॥ १७ ॥ पूर्वोक्तानि
 पुण्यायतनानि प्रपञ्चयति—वाराणस्यामित्यादिना । महापुर्या-
 मित्यनेन तस्याः सर्वपुण्यायतनोत्कृष्टता सूचिता ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥ २० ॥ कच्छेषु जलप्रायदेशेषु । ऋक्षवतः कुहरेषु
 दरीषु ॥ २१ ॥ बहुदृष्टयो बहुविधप्रारब्धभोगानुकूलदृष्टयः
 ॥ २२ ॥ संन्यासविधिना त्यक्तनिजाचाराः । क्रमा ब्रह्मचर्या-
 द्याश्रमधर्मास्तत्संस्थिताः ॥ २३ ॥ एकस्थाने खगृह एव रताः
 प्रीतिमन्तः सर्वजनानुकूल्येन विक्षेपशून्या इति यावत् ॥ २४ ॥
 ऊर्ध्वाधोलोकेष्वपि देवदैत्यादयो जीवन्मुक्ता बहवः सन्ती-
 त्याशयेनाह—एतेषामिति । एतेषां मध्ये केचित्प्रबुद्धमतय
 इत्याद्युत्तरत्रान्वयः ॥ २५ ॥ २६ ॥ अप्रबुद्धधियोऽल्पप्रबुद्ध-
 धियः । अत एव दोलान्दोलितचेतसः ॥ २७ ॥ ज्ञानावलेप-
 स्तत्त्वज्ञोऽहं मम किं निषिद्धाचरणं करिष्यतीति गर्वतः ॥ २८ ॥
 जनानीके जनसमूहे ॥ २९ ॥ तर्हि किं तत्कृता वनवासाद-
 योपि संसारोत्तरणहेतवो नेत्याह—संसारेति ॥ ३० ॥ आचा-
 रेषु सत्कर्माचरणेषु समारम्भन्त इति समारम्भा अनुनिष्पा-

स्वभावः कारणं नाम संसारोत्तरणं प्रति ।
 असंसक्तं मनो यस्य स तीर्णो भवसागरात् ॥ ३२ ॥
 शुभाशुभाः क्रिया नित्यं कुर्वन्परिहरन्नपि ।
 पुनरेति न संसारमसंसक्तमना मुनिः ॥ ३३ ॥
 शुभाशुभाः क्रिया नित्यमकुर्वन्नपि दुर्मतिः ।
 निमज्जत्येव संसारे परित्यक्तमनाः शठः ॥ ३४ ॥
 मक्षिकेवान्तःसारज्ञा दुःखादुःखप्रदायिनी ।
 न निवारयितुं शक्या न च मारयितुं मतिः ॥ ३५ ॥
 काकतालीययोगेन कदाचित्त्वस्य चेतसः ।
 प्रवृत्तिर्जायते सिद्धौ स्वयमात्मावलोकने ॥ ३६ ॥
 अवलोकनतो लब्ध्वा तत्त्वं नैर्मल्यमागतम् ।
 चेतो भवति निर्द्वन्द्वमसंसक्तमनामयम् ॥ ३७ ॥
 अचित्तत्वं प्रयातेन सत्त्वरूपेण चेतसा ।
 समो भूत्वा सुखं तिष्ठ पराकाशांशरूपभृत् ॥ ३८ ॥
 अधिगतपरमार्थस्य करणादिदोषः
 सममतिरुदितात्मा त्वं महात्मा महात्मन् ।

रघुतनय विशोकस्तिष्ठ निःशङ्कमेको
 जननमरणमुक्तं पावनं तत्पदं त्वम् ॥ ३९ ॥
 प्रकृतिमलविकारोपाधिबोधादिरूपं
 जगति विमलरूपे नास्ति किञ्चित्कविञ्च ।
 स्फुटमकृतकमस्ति ब्रह्म चिद्राम तच्च
 स्वयमहमिति मत्वा तिष्ठ निःशङ्कमेकः ॥ ४० ॥
 अधिकवचनगम्यं नान्यदस्त्यङ्ग किञ्चि-
 त्तव शुभमुपदेश्यं ज्ञानसंबोधनाय ।
 उदितमखिलमाद्यं ज्ञानसारं समग्रं
 विदितसकलवेद्यो राघव त्वं हि जातः ॥ ४१ ॥
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्युक्त्वा मुनिनायको व्यपगताशेषैषणे राघवे
 सर्वसिद्धिं समाजने स्थितवति ध्यानैकतानोपमे ।
 प्राप्ते ब्रह्मपदं धिया धवलया तूष्णीमभूत्षड्पदः
 कृत्वेवारणितं सरोजपटले पातुं प्रवृत्तो रसम् ४२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० सो० वि० उ० मुक्तपुरुषस्थितिवर्णनं नाम नवनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९९ ॥

द्विशततमः सर्गः २००

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

निर्वाणवाक्यसंदर्भसमाप्तौ मुनिनायके ।

दिनः ख्यातिलभैर्ध्वजवरशापसामर्थ्यादिरूपा विचित्रफलसन्तूहाः
 ॥ ३९ ॥ स्वभावो यथार्थस्वरूपेणानिष्पत्तिस्तत्त्वज्ञानरूपा
 कारणं स च मनसा आत्यन्तिकसक्तिपरिहारलभ्य इत्याह—
 असंसक्तमिति ॥ ३२ ॥ अत एव जीवन्मुक्तानां शुभाशुभकर्मा-
 चरणेऽप्यसंसक्तिवशादेव तदलेप इत्याह—शुमेति ॥ ३३ ॥
 परित्यक्तं विषयेषु विसृष्टं मनो येन । शठः स्वात्मवशकः
 ॥ ३४ ॥ तर्हि मन एव विषयेभ्यो निवार्यतां मार्यतां च किं
 तत्त्वज्ञानेन तत्राह—मक्षिकेवेति । अन्तःसारज्ञा आस्वादित-
 विषयरसा मतिर्मिथुकुम्भप्रसक्ता मक्षिकेन न निवारयितुं
 मारयितुं वा शक्या ॥ ३५ ॥ कदाचिद्भाग्यवशात्साधनचतु-
 ष्यप्राप्तौ श्रवणाधुपायैरात्मावलोकने स्वयमेव प्रवृत्तिर्जायते
 ॥ ३६ ॥ तत्र नैर्मल्यमागतं चित्तमवलोकनतस्तत्त्वं लब्ध्वा
 निर्द्वन्द्वमत एवानासक्तमनामयं च ब्रह्मैव भवति ॥ ३७ ॥
 पराकाशरूपो यश्चित्तादिसर्वप्रपञ्चाधिष्ठानांशस्वरूपभृत् सन् तिष्ठ
 ॥ ३८ ॥ हे महात्मन् रघुतनय, त्वं अधिगतः परमार्थो येन
 तथाविधस्यैका रणादिदोषा येन उदित आत्मा यस्य तथा-
 विधः सममतिः सजेको विशोको महात्मा भूत्वा निःशङ्कं
 तिष्ठ । यतो जननमरणमुक्तं पावनं तद्ब्रह्मपदं त्वमेवेत्यर्थः ॥ ३९ ॥
 किञ्च विमलब्रह्मरूपे जगति प्रकृतिरूपं मलरूपं विकाररूपमु-
 पाधिरूपं तद्बोधरूपं तदिच्छाप्रयत्नज्ञानोपादानयोगादिरूपं च
 किञ्चिदपि कविञ्च नास्ति किंतु अकृतकं निद्राम ब्रह्मास्ति ।

पाश्चात्यवाक्यविरतिं कुर्वति क्रमपालिताम् ॥ १

तच्च स्वयं स्वानुमतेनैव अहमिति मत्वा एको निःशङ्कस्तिष्ठे-
 त्यर्थः ॥ ४० ॥ अहं हे शुभग, तव ज्ञानसंबोधनाय अन्यदि-
 तो व्यतिरिक्तं अधिकवचनगम्यं शुभमुपदेश्यं नास्ति । यतस्तव
 आद्यं ज्ञानसारमखिलमश्वतं समग्रमुदितम् । हि यस्मात्त्वं
 सांप्रतं विदितसकलवेद्यो जात इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ मुनिनायको
 वसिष्ठः इति एवमन्ते उक्त्वा राघवे धवलया धिया ब्रह्मपदं
 प्राप्ते अत एव व्यपगताशेषैषणे जाते सति तथा सर्वसिद्धि-
 समाजने च ध्यानैकतानोपमे स्थितवति सति तस्यां समायां स्वयं
 ब्रह्मरसायनास्वादपरस्तूष्णीमभूत् । यथा षड्पदः सरोजपटले
 आरणितं शुभाध्वनिं कृत्वा रसं मकरन्दं पातुं प्रवृत्तः संस्तूर्णी
 भवति तद्वदित्यर्थः ॥ ४२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्प-
 र्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुक्तपुरुषस्थितिवर्णनं नाम
 नवनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १९९ ॥

सिद्धानां साधुवादोऽत्र पुष्पवृष्टिः सद्गुन्दुभिः ।

वर्ण्यते प्रकृतः सर्वगुणैर्दृष्टममहोत्सवः ॥ १ ॥

निर्वाणप्रकरणान्तमात्मोपदेशं श्रुत्वा कृतार्थानां सिद्धिर्मा-
 नवाना तस्यां समायां वसिष्ठपूजामहोत्सवं वर्णयिष्यन् श्रीवा-
 ल्मीकिरुवाच—निर्वाणेति । सर्वेषां सप्तम्यन्तानां षष्ठ्यलोके
 कोलाहलः समुदभूदित्यत्रान्वयः । एतत्प्रकरणरूपस्य निर्वाण-
 वाक्यसंदर्भस्य समाप्तौ तस्यां मुनिनायके वसिष्ठे क्रमपालितां
 क्रमप्राप्तां पाश्चात्यवाक्यविरतिं कुर्वति सति ॥ १ ॥

निर्विकल्पसमाधानसमतां समुपागते ।
 शान्तस्वच्छमनोवृत्तौ सर्वसिंश्च सभाजने ॥ २
 सत्त्वकोटिमुपारूढे परां पावनतां गते ।
 संवित्तत्त्वे समग्रस्य जनस्य श्रुतशालिनः ॥ ३
 झटित्येवाम्बरहृता पूर्वमुक्तधियां सुखात् ।
 सिद्धानां साधुवादेन व्योमकोटरवासिनाम् ॥ ४
 तथा सभास्थितानां च मुनीनां भावितात्मनाम् ।
 गाधेयप्रमुखानां च साधुवादगिरोच्चया ॥ ५
 कोलाहलः समुदभूद्भूरिपूरितदिङ्मुखः ।
 मधुरः पवनात्तानां कीचकानामिवारवः ॥ ६
 सिद्धानां साधुवादेन सह वै सहसा ततः ।
 देवदुन्दुभयो नेदुः प्रतिश्रुत्पूरिताचलाः ॥ ७
 देवदुन्दुभिभिः सार्धं तुषारासारसुन्दरी ।
 दिग्भ्यः स्थगितदिक्चक्रा पुष्पवृष्टिः पपात ह ॥ ८
 पुष्पौघपूरितस्थानः शब्दापूरितकन्दरः ।
 रजःसंरञ्जिताकाशो गन्धरञ्जितमासृतः ॥ ९
 स साधुवादशब्दस्य देवतूर्यरवस्य च ।
 कुसुमासारघोषस्य समवायो रराज ह ॥ १०
 उन्मुखाखिलसभ्याक्षिरश्मिदयामलितान्तरः ।
 उत्कर्णमृगमातङ्गद्वयपक्षिपशुश्रुतः ॥ ११
 सविस्मयभयोन्नेत्रवालकान्ताजनेक्षितः ।
 विस्मयस्रोतवदनराजलोकावलोकितः ॥ १२
 कुसुमासारसारेण शब्दशोभातिशायिना ।
 संरम्भेण जगामाशु रोदोरन्ध्रमपूर्वताम् ॥ १३

सर्वसिन्सभागते जने चात्रभोगतदेवादजने च मुनिवाक्यश्रव-
 णान्निर्विकल्पसमाधानेन समतां ब्रह्मैकरसतां समागते सति ॥ २ ॥
 निर्विकल्पसमाधिक्रमेण संवित्तत्त्वे प्रतीचि सत्त्वकोटिं सन्मात्र-
 काष्ठां समारूढे अत एव परां पावनतां गते सति ॥ ३ ॥
 व्योमकोटरवासिनां पूर्वमुक्तधियां सनकादीनां अम्बरं हरति
 व्याप्नोतीत्यम्बरहृत् तथाविधेन साधुवादेन प्रशंसावाक्येन
 ॥ ४ ॥ तथा सभायां स्थितानां गाधेयो विश्वामित्रस्तत्प्रमु-
 खानां मुनीनामुच्चया साधुवादगिरा च झटित्येव भूरिपूरित-
 दिङ्मुखो मधुरः कोलाहलः समुदभूदिति परेण संबन्धः ॥ ५ ॥
 पवने आत्तानां व्याप्तानां पूर्णरन्ध्राणां कीचकानां वेणुमेदाना-
 मारव इव ॥ ६ ॥ प्रतिश्रुद्धिः प्रतिध्वनिभिः पूरिता अचला
 भूरचलाः पर्वताश्च वै ॥ ७ ॥ तुषाराणामासार इव सुन्दरी
 शुभ्रा । स्थगितान्याच्छादितानि दिक्चक्राणि यथा ॥ ८ ॥ पुष्पा-
 षादिभिश्चतुर्भिः पूरितं सभास्थानादिचतुष्टयं यत्र तथाविधः
 साधुवादशब्दादित्रयस्य स समवायः समूहो रराजेति द्वयोरर्थः
 ॥ ९ ॥ १० ॥ तमेव समवायं वर्णयति—उन्मुखेत्यादिद्वाम्याम्
 ॥ ११ ॥ सविस्मयैः समयैश्च अत एव उन्नेत्रैर्बलिः कान्ताजनैश्च
 ईक्षितः ॥ १२ ॥ रोदोरन्ध्रं द्यावाभूम्यन्तरालम् । अपूर्वता-
 मलौकिकचनत्कारिताम् ॥ १३ ॥ पुष्पवर्षेण सुधाभिर्मकरन्दै-

पुष्पवर्षसुधाधौतं रटद्भूतसुधुंशुमम् ।
 समतां सद्नेनागात् ध्मातशङ्खशतेन खम् ॥ १४
 भुवनं भूरिभांकारभासुरं सुरचारणैः ।
 वृत्तं मत्तोत्सवं रेजे समं कुसुममण्डितम् ॥ १५
 शनैर्दुन्दुभिसिद्धौघवाक्यपुष्पभरः समम् ।
 प्रययौ रोदसीरन्ध्रे वेलाचलसिवाम्बुधौ ॥ १६
 तस्मिन्निबुधसंरम्भे क्षणेन समये गते ।
 वाक्यानीमानि सिद्धानामभिव्यक्तिमुपाययुः ॥ १७
 सिद्धा ऊचुः ।

आकल्पं सिद्धसङ्घेषु मोक्षोपायाः सहस्रशः ।
 व्याख्याताश्च श्रुताश्चालमीदृशास्तु न केचन ॥ १८
 तिर्यञ्चो वनिता बाला व्यालाश्चानेन निर्वृतिम् ।
 मुनेर्वाक्यविलासेन यान्ति नास्त्यत्र संशयः ॥ १९
 दृष्टान्तैर्हेतुभिर्युक्त्या यथा रामोऽवबोधितः ।
 तथा चारुन्धती साक्षात्संबोधयति वा न वा ॥ २०
 अनेन मोक्षोपायेन तिर्यञ्चोऽपि गतामयाः ।
 स्थिता मुक्ता भविष्यन्ति के नाम भुवि नो नराः ॥ २१
 श्रवणाखलिभिः पीत्वा ज्ञानामृतमिदं वयम् ।
 परां पूर्णनवीभूतसिद्धयः श्रियमागताः ॥ २२
 इति शृण्वन्सभां लोको विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
 कुसुमासारसंपूर्णां राजीवानां ददर्श ताम् ॥ २३
 मन्दारादिमहापुष्पच्छन्नच्छादनसंचयाम् ।
 पारिमदलतागुच्छनीरन्ध्राजिरभूसिकाम् ॥ २४

धौतं शालितम् । रटद्भिर्भूतैः प्राणिभिः सुधुंशुमं पुण्यशब्दम् ।
 ध्माताः शङ्खा यस्मिंस्तथाविधं खमाकाशं सद्नेन दशरथगृहेण
 समतामगात् ॥ १४ ॥ भुवनं जगदपि मत्त उपचित उत्सवो यत्र
 तथाविधं सत् अर्थादशरथगृहेण समं तुल्यरूपं रेजे ॥ १५ ॥
 दुन्दुभिपदेन तच्छब्दा लक्ष्यन्ते । तेषां सिद्धौघवाक्यानां पुष्पाणां
 च भरः समं तुल्यकालं रोदस्योः रन्ध्रे दिगन्ते शनैः प्रययौ,
 यथा अम्बुधौ कल्लोलो वेलाचलं याति तद्वत् ॥ १६ ॥ विबुधानां
 संरम्भे पुष्पवर्षोद्योगकोलाहले । इमानि वक्ष्यमाणानि ॥ १७ ॥
 अस्माभिरव्याख्याता अन्येभ्यश्च श्रुताः ईदृशा एतद्वन्त्यसदृशाः
 ॥ १८ ॥ अत्र यो गुणातिशयस्तमाहुः—तिर्यञ्च इति ।
 मुनेर्वसिष्ठस्यैतद्वन्त्यरूपेण वाक्यविलासेन श्रुतेन ॥ १९ ॥ भग-
 वतो वसिष्ठस्य श्रीरामे मुख्याधिकारिणि जेहातिशयं प्रशं-
 सन्ति—दृष्टान्तैरिति ॥ २० ॥ तिर्यञ्चः पशुपत्यादयोऽपि ।
 भुवि नराः के नाम मुक्ता नो भविष्यन्ति यदि शृण्वन्तीत्यर्थः
 ॥ २१ ॥ २२ ॥ लोकः अयोध्याजनः इति एवंविधानि सिद्ध-
 वाक्यानि शृण्वन् सन् तां सभां राजीवानां पद्मादीनां कुसुमासारैः
 संपूर्णां ददर्श ॥ २३ ॥ पारिमदलता कल्पलतामेदः । मन्दारा-

पारिजातप्रसूनाढ्यमहीतलविराजिताम् ।
 संतानकमहाम्भोदव्याससभ्यशिरःकराम् ॥ २५
 मौलिरत्नविटंकाग्रविश्रान्तहरिचन्दनाम् ।
 वारिपूरप्रलम्बाश्रवदालम्बिवितानकाम् ॥ २६
 इति पश्यन्सर्भा लोकः साधुवादेन भूरिणा ।
 तत्कालोचितवाक्येन तेन तेन तथोद्यतः ॥ २७
 वसिष्ठं पूजयामास सर्वेन्द्रियगणानतः ।
 कुसुमाञ्जलिमिश्रेण प्रणामसहितेन च ॥ २८
 नृपप्रणाममालासु किञ्चिच्छान्तासु तास्वथ ।
 मुनिमापूजयन्नाह सार्व्यपात्रकरो नृपः ॥ २९
 दशरथ उवाच ।
 क्षयातिशयमुक्तेन परमेणात्मवस्तुना ।
 परान्तः पूर्णतोत्पन्ना बोधेनारुन्धतीपते ॥ ३०
 न तदस्ति महीपीठे दिवि देवेषु चापि च ।
 महत्किञ्चिदप्राप्तं तव पूज्यस्य पूजनम् ॥ ३१
 तथाप्यात्मक्रमं ब्रह्मजिमं नेतुमवन्ध्यताम् ।
 अहं वक्ष्मि यथाप्राप्तं न कोपं कर्तुमर्हसि ॥ ३२
 आत्मना सकलत्रेण लोकद्वयशुभेन च ।
 राज्येनाखिलभृत्येन भवन्तं पूजयाम्यहम् ॥ ३३
 एतत्सर्वं तव विभो स्थायत्तं स्व इवाश्रमः ।
 नियोजय यथादेशं यथाभिमतयेच्छया ॥ ३४
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 प्रणाममात्रसंतुष्टा ब्राह्मणा भूपते वयम् ।

वीनि पञ्चदेवतस्मेदपुष्पाणि ॥ २४ ॥ २५ ॥ वारिपूरैः प्रलम्बैर-
 भ्रैस्तुत्यं प्रलम्बाश्रवपुष्पभारालम्बिनो वितानका यस्याम्
 ॥ २६ ॥ तेन तेन तत्कालोचितप्रशंसानाक्येन तथा । उद्यत
 उद्युक्तः सन् वसिष्ठं पूजयामासेति संवन्धः ॥ २७ ॥ सर्वै-
 रिन्द्रियगणैरानतः प्रह्वीभूतः ॥ २८ ॥ अर्ध्यपात्रेण सहितः
 सार्व्यपात्रः करो यस्य । नृपो दशरथः ॥ २९ ॥ हे अरुन्ध-
 तीपते, त्वदुपदेशलब्धेन बोधेन परमेण निरतिशयानन्दरूपे-
 णात्मवस्तुना अन्तः परा सर्वोत्कृष्टा पूर्णता उत्पन्ना ॥ ३० ॥
 एवमीदृशपरमपुरुषार्थदातुस्तव पूजनं योग्यं यत्स्यात्तत्तादृशं
 वस्तु महीपीठे मनुजेषु दिवि देवेषु अपि च पाताले वा
 नास्ति ॥ ३१ ॥ तथाप्यहमात्मनः स्वस्य अवश्यकर्तव्यमिदं
 शास्त्रलोकप्रसिद्धं यथाप्राप्तं गुरुपूजनक्रममवन्ध्यतां सफलतां
 नेतुं किञ्चिद्वक्ष्मि आर्धयामि ॥ ३२ ॥ लोकद्वये भुवि स्वर्गे
 त्व भोगार्थं यन्नया संवितं शुभं भुक्तं तेन । अखिलः
 सामन्ता मृत्वा मर्षिस्तथाविधेन राज्येन । अखिलभृत्यवर्गेणेति
 पृथग्वा । भवते समर्पितेनेति शेषः ॥ ३३ ॥ मया तुभ्यं
 दत्तमेतत्सर्वं तव स्थायसम् । त्वं नियोजय स्वामी भूत्वा
 आज्ञापय ॥ ३४ ॥ स प्रणामो भवता कृत एवेत्यन्वयः
 ॥ ३५ ॥ पातुं रक्षयितुम् ॥ ३६ ॥ अत्र अस्मिन्परमपुरुषार्थ-

प्रणामेनैव तुष्यामः स एव भवता कृतः ॥ ३५
 पातुं त्वमेव जानासि राज्यं भाति तवैव च ।
 भवत्वेतत्तवैवेह ब्राह्मणाः क महीभृतः ॥ ३६
 दशरथ उवाच ।
 कियन्मात्रं तु राज्यं स्यादिति लज्जामहे मुने ।
 प्रकर्षेणात्र तेनेश यथा जानासि तत्कुरु ॥ ३७
 श्रीचाल्मीकिरुवाच ।
 इत्युक्तवति भूपाले रामः पुष्पाञ्जलिं ददत् ।
 उवाच प्रणतो वाक्यं पुरस्तस्य महागुरोः ॥ ३८
 निरुत्तरीकृतमद्वाराज ब्रह्मन्प्रणौमि ते ।
 प्रणाममात्रसारोऽहं रामः पादाविमौ प्रभो ॥ ३९
 इत्युक्त्वा पादयोस्तस्य शिरोवन्दनपूर्वकम् ।
 तत्याजाञ्जलिपुष्पाणि हिमानीव वनं गिरेः ॥ ४०
 आनन्दबाष्पसंपूर्णनयनो नयकोविदः ।
 गुरुं परमया भक्त्या प्रणताम् पुनःपुनः ॥ ४१
 शत्रुघ्नो लक्ष्मणश्चैव तथान्ये तत्समाश्च ये ।
 निकटस्थास्तथैवाशु ते प्रणेषुर्मुनीश्वरम् ॥ ४२
 दूरप्रणामैर्दूरस्थाः पुष्पाञ्जलिसमीरणैः ।
 राजानो राजपुत्राश्च प्रणेषुर्मुनयश्च तम् ॥ ४३
 अस्मिन्नवसरे तत्र कुसुमाञ्जलिवर्षणैः ।
 हिमैरिव हिमादीन्द्रो मुनिरन्तर्धिमाययौ ॥ ४४
 अथ शान्ते सभाक्षोभे प्रणामनिबहे तथा ।
 संस्मरञ्छासनं किञ्चित्सत्ये कृष्णसिताशयम् ॥ ४५
 मुनिः कुसुमराशिं तं बाहुभ्यां प्रविचास्य सः ।

स्वरूपमोक्षदानोपकारे प्रत्युपकारतया राज्यं प्रकर्षेण किय-
 न्मात्रं स्यात् । मानुषानन्दपरमावधिर्हि निष्कण्टकवितपूर्ण-
 निरामयसप्तद्वीपाधिपत्यम् । तदपेक्षया शतगुणो मनुष्यगन्ध-
 र्वाणामानन्दस्तदपेक्षयापि देवगन्धर्वाणां स शतगुण इत्येवं
 क्रमेणोत्कृष्यमाणविषयानन्दानां हैरण्यगर्भानन्दः परमावधिः
 सोपि यस्मिन् मोक्षानन्दसमुद्रे सीकरप्रायस्त्रेदं कियन्मात्रं
 क गणनाई स्यादित्यर्थः ॥ ३७ ॥ तस्य महागुरोः पादयोः
 पुष्पाञ्जलिं ददत्सन् ॥ ३८ ॥ प्रणामेनैव तुष्याम इति स्व-
 चनात्प्रणाममात्रं सारः सर्वोत्कृष्टतया आवश्यको यस्य ॥ ३९ ॥
 यथा वनं गिरेः पादयोर्हिमानि पल्लवसत्त्वान्ववश्यायजलानि
 त्यजति तद्वत् ॥ ४० ॥ ४१ ॥ तत्समाः शत्रुघ्नलक्ष्मणसदृशा
 रामसखाः ॥ ४२ ॥ दूरस्थयोग्यैः प्रणामैः ॥ ४३ ॥ अन्त-
 र्धिमाच्छादयन् ॥ ४४ ॥ मुनीनां मान्यानां पुरतः सङ्कृतं
 शासनमुपदेशात्मकं शास्त्रं सत्ये वस्तुनि विषये कृष्णार्थं
 बुद्धिमालिन्यप्रयुक्तं सदोषं, सिताशयं स्वच्छबुद्धिप्रयुक्तनिर्दोषं
 वा स्यादिति संदिहान इव स्वचरित्रेण जनस्य विनयं शिक्ष-
 यितुं किञ्चिन्मुनिषु वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रष्टव्यं संस्मरन्सेव शुभं
 संदर्शयामासेति संवन्धः ॥ ४५ ॥ सिताभ्रात् सिताभ्रमि

मुखं संदर्शयामास सिताभ्रादिव चन्द्रमाः ॥ ४६ ॥
 शान्ते सिद्धवचोराशौ तथा दुन्दुभिनिःस्वने ।
 नभःकुसुमवर्षे च सभाकलकले तथा ॥ ४७ ॥
 प्रणामानन्तरं तस्मिन् रामाद्यैः स्वसभाजने ।
 शान्तवात इवाम्भोदे जने सौम्यत्वमागते ॥ ४८ ॥
 आकर्णयन्साधुवादं विश्वामित्रं मृदुस्वनम् ।
 उवाचेद्रमनिन्धात्मा वसिष्ठो मुनिनायकः ॥ ४९ ॥
 मुने गाधिकुलाम्भोज वामदेव निमे क्रतो ।
 भरद्वाज पुलस्त्यात्रे घृष्टे नारद शाण्डिले ॥ ५० ॥
 हे भासभृगुभारण्डवत्सवात्स्यायनादयः ।
 मुनयस्तुच्छमेतन्नु भवद्भिर्मद्वचः श्रुतम् ॥ ५१ ॥
 यदत्रानुचितं किञ्चित्तदनुग्रहतोऽधुना ।
 दुरर्थं विगतार्थं वा भवन्तः कथयन्तु मे ॥ ५२ ॥
 सभ्या ऊचुः ।
 वसिष्ठवचने ब्रह्मन्परमार्थैकशालिनि ।
 दुरर्थो भवतीत्यद्य नवैव खलु गीः श्रुता ॥ ५३ ॥
 यत्संभृतमनन्तेन जन्मदोषेण नो मलम् ।
 तत्प्रमृष्टं त्वयेहाद्य हेस्वामिव हविर्भुजा ॥ ५४ ॥
 ब्रह्मबृंहितया वाचा विभो विकसिता वयम् ।
 कुमुदानीन्दुदीप्तयेव परमामृतशीतया ॥ ५५ ॥
 सर्वसत्त्वमहाबोधदायिनं मुनिनायकम् ।
 भवन्तमेकान्तगुरुं प्रणमाम इमे वयम् ॥ ५६ ॥
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्युक्त्वा मुनिनाथाय नमस्त इति ते पुनः ।

वदन्त एकशब्देन तारेणाब्दरवौजसा ॥ ५७ ॥
 अर्वाकपुष्पाञ्जलिनातैः खात्सिद्धैः सममुज्झितैः ।
 वसिष्ठं पूरयामासुर्हिमैरब्दा इवाचलम् ॥ ५८ ॥
 इत्थं दशरथं भूपं शशंसुश्चाथ राघवम् ।
 माघवं चतुरात्मानं राघवोदन्तकोविदाः ॥ ५९ ॥
 सिद्धा ऊचुः ।
 नमाम चतुरात्मानं नारायणमिवापरम् ।
 रामं सभातरं जीवन्मुक्तं राजकुमारकम् ॥ ६० ॥
 चतुरग्निनिखातान्तधरावलयपालकम् ।
 त्रिकालस्थमहीपालचिह्नं दशरथं नृपम् ॥ ६१ ॥
 मुनिसेनाधिपं भूपं भास्करं भूरितेजसम् ।
 वसिष्ठं सुप्रवादाढ्यं विश्वामित्रं तपोनिधिम् ॥ ६२ ॥
 एषामेव प्रभावेन ज्ञानयुक्तिं परामिमाम् ।
 श्रुतवन्तो वयं सर्वे भ्रान्तिसंरम्भनाशिनीम् ॥ ६३ ॥
 श्रीवाल्मीकिरुवाच ।
 इत्युक्त्वा गगनात्सिद्धा भूयः पुष्पाणि चिक्षिपुः ।
 सभायामथ तूर्णानि च तस्थुर्मुदितचेतसः ॥ ६४ ॥
 तथैव व्योमगाः सिद्धाः शशंसुस्तं जनं पुनः ।
 तथैव सभ्यास्तांस्तत्र समानर्चुर्धनस्तवम् ॥ ६५ ॥
 नमश्चरा धरणिचरा मुनीश्वरा
 महर्षयो विबुधगणा द्विजा नृपाः ।
 अपूजयन्निति जनमोजसैव ते
 गिरोक्षया सह कुसुमार्घ्यदानया ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० निर्वा० २० साधुवादसपर्यादिवर्णनं नाम द्विशततमः सर्गः ॥ २०० ॥

निरस्य । ल्यब्लोपे पञ्चमी । चन्द्रमा इव ॥ ४६ ॥ ४७ ॥
 स्वं सभाजयति पूजयतीति स्वसभाजने जने सौम्यत्वमव्यप्र-
 तामागते सति ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ गाधिकुलस्य यशःसौरभ-
 जनकत्वाद्गाधिकुलाम्भोज हे विश्वामित्र ॥ ५० ॥ भासो विप-
 क्षिदन्त्यो वा । हे मुनयः, भवद्भिर्मन्यैरेतन्मद्वचनं तुच्छं
 सदोषत्वात्क्षुद्रमनुपादेयम् । नु इति वितर्के । एवं संभावया-
 मीत्यर्थः ॥ ५१ ॥ अतोऽत्र यत्किञ्चिदनुचितं दुरर्थं विगतार्थं
 निरर्थकं वा संभावितं तदधुना सशिष्ये मध्यनुग्रहतो मे कथय-
 न्त्विति भगवतो विनयोक्तिलोके विनयशिक्षणार्थं, महर्षिवच-
 नेन ग्रन्थस्य निर्दोषताख्यापनार्थं च ॥ ५२ ॥ सभ्याः संबोधिता
 गाधिपुतायाः मुनय ऊचुः । जगति क्षाप्यप्रसिद्धत्वाज्जैव
 गीर्वाणी श्रुता ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ब्रह्मणि बृंहितया विस्तारि-
 तया । इन्दुदीप्तिपक्षे ब्रह्मसदृशे आकाशे विस्तारितया ॥ ५५ ॥
 एकान्तो नियमः । गुरुमेव न तु कुतश्चिदगुरुमिति अपरविद्या-
 गुरुभ्योऽस्योत्कर्षकाष्टा सूचिता ॥ ५६ ॥ ते पुनर्नमस्ते इति
 वदन्तः सन्तः खात् आकाशात्सिद्धैः समं स्वयमप्युज्झितैरर्वा-
 यो० वा० १९४

कपुष्पाञ्जलिनातैर्वसिष्ठं पुनः पूरयामासुः अचलं हिमवन्तमिव
 ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ अथ दशरथप्रशंसानन्तरं चतुरात्मानं माघवं
 राघवं प्रशशंसुः । यतस्ते राघवंस्य विष्णवतारत्ववृत्तान्तकोविदा
 इत्यर्थः ॥ ५९ ॥ ६० ॥ त्रिकालस्थानि कदाप्यनपायीनि
 महीपालचिह्नानि राजलक्षणानि यस्मिंस्तथाविधं दशरथं नृपं
 श्रीरामजनकत्वात्त्वं धन्यतमोऽसीति पुनः प्रशशंसुः ॥ ६१ ॥
 मुनिसेनायाः अधिपं स्वामिनं भूरितेजसं भास्करमिव स्थितं
 वसिष्ठं तत्संनिहितं विश्वामित्रं च प्रशशंसुः ॥ ६२ ॥ एतेषां
 प्रशंसायां को हेतुस्तमाहुः—एषामेवेति । भ्रान्तिसंरम्भना-
 शिनीं वसिष्ठवाणीमिति शेषः ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ तान्सिद्धा-
 न्वनस्तवं बहुस्त्वसहितं यथा स्यात्तथा समानर्चुः ॥ ६५ ॥
 नमश्चरा महर्षयो विबुधगणा धरणिचरा द्विजा नृपा उभयचरा
 मुनीश्वराश्च ते इति वर्णितप्रकारेण ओजसा स्वस्वसामर्थ्यानु-
 सारेण प्रतिजनं सह कुसुमार्घ्यदानया सध्या गिरा अपूजयन्
 ॥ ६६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे
 उत्तरार्धे साधुवादसपर्यादिवर्णनं नाम द्विशततमः सर्गः ॥ २०० ॥

एकाधिकद्विशततमः सर्गः २०१

श्रीवाल्मीकिस्वाच ।

अथार्वाकसाधुवादेषु प्रशान्तेषु शनैःशनैः ।

ज्ञानोपदेशमासाद्य प्रोह्यसत्स्विव राजसु ॥

प्रशान्तसंयुतिभ्रान्तौ जने चरितमात्मनः ।

स्वयं हसति चित्तेन सत्यं समनुधावता ॥

यलच्चित्तकलं ज्ञानसमाखादनतत्परं ।

विवेकिनि सभालोके शान्ते ध्यानमिवास्थिते ॥

वद्वपद्मासने रामे सभ्रातरि गुरोः पुरः ।

स्थिते कृताञ्जलौ दीप्तगुरुवक्त्रगतेक्षणे ॥

प्रार्थिवे किमपि ध्यानमिवाखादयति स्थितिम् ।

जीवन्मुक्तात्मिकामन्तरादिमध्यान्तपावनीम् ॥

ग्रहीतुमर्चा भक्तानां मानितार्थजनो मुनिः ।

तूष्णीं क्षणमिव स्थित्वा प्रोवाचानाकुलाक्षरम् ॥

स्वकुलाकाशशीतांशो राम राजीवलोचन ।

किमन्यदिच्छसि श्रोतुं कथयामिमतेच्छया ॥

स्थितिं च कीदृशीमेनामद्यानुभवसि स्वयम् ।

किंरूपमिदमाभासं जागतं वद पश्यसि ॥

इत्युक्ते मुनिना तेन प्राह राजकुमारकः ।

अविद्वलं मृदु स्पष्टं गुरोरालोकयन्मुखम् ॥

श्रीराम उवाच ।

त्वत्प्रसादेन यातोऽसि परं निर्मलतां प्रभो ।

शान्ताशेषकलङ्काङ्कं शरदीव नमस्तलम् ॥

अत्र रामेण भूयोऽपि पृष्टेन गुरुणादरात् ।

पूर्णानन्दपदे स्वस्य विश्रान्तिः प्रकटीकृता ॥ १ ॥

अर्वाक् अधःसभाप्रदेशे ॥ १ ॥ आत्मनः स्वस्य चरित-

मज्ञदशाचरित्रं स्वयमेव सत्यं तत्त्वं समनुधावता सम्यक्पश्यता

चित्तेन हसति सति ॥ २ ॥ सभागते लोके जने वलन्ती परा-

कृता प्रत्यक्प्रवणा चित्तकला चित्तवृत्तिर्यसिन्कर्षणि तयया

स्यात्तथा ज्ञानस्य विदेकरसानन्दस्य सम्यग्गत्वादनतत्परं जाते

सति ॥ ३ ॥ शीतं शोभमानं यद्गुह्यकं तद्गतेक्षणे ॥ ४ ॥ पार्थिवे

दशरथे ध्यानमिवात्मन्य जीवन्मुक्तात्मिकां स्थितिमाखादयति

सति ॥ ५ ॥ मुनिर्वैशिष्ट्ये भक्तानां राजादीनामर्चां पूजां ग्रहीतुं

पूर्वोक्तरीत्या क्षणं तूष्णीमिव स्थित्वा तदनन्तरं प्रोवाच ॥ ६ ॥

॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ शान्ताशेषकलङ्कः पूर्णचन्द्रः अद्विष्टः

यस्मिंस्तथाविधं नमस्तलमिव ॥ १० ॥ ११ ॥ स्फटिकाल-

यमध्यस्थस्फटिक इव ब्रह्मभावविशुद्धे जगति तैथाविधा

धीर्यस्य ॥ १२ ॥ आहर्तुं संपादयितुं चेत्सर्थः ॥ १३ ॥

परमार्शो विषयस्पर्शं तद्भोगे कौतुकं तदर्थः संकल्पा इति

भेदः ॥ १४ ॥ अस्त्रप्रं मानसविषयालोचनरहितं अपुनर्वोधं

सर्वा एवोपशान्ता मे भ्रान्तयो भवभङ्गदाः ।

स्वरूपेणावदातेन तिष्ठाम्यच्छमिवाभ्यरम् ॥ ११ ॥

स्थितोऽहं गलितग्रन्थिः शान्ताशेषविशेषणः ।

स्फटिकालयमध्यस्थस्फटिकामलधीरहम् ॥ १२ ॥

अन्यच्छ्रोतुमथाहर्तुं शान्तं नेच्छति मे मनः ।

परं वृत्तिमुपायान्तं सुपुष्टमिव संस्थितम् ॥ १३ ॥

शान्ताशेषपरमार्शो विगताशेषकौतुकम् ।

संस्त्यक्ताशेषसंकल्पं शान्तं मम मुने मनः ॥ १४ ॥

परिनिर्वामि शाश्वत्यामि जाग्रदेव जगत्स्थितौ ।

अस्त्रप्रमपुनर्वोधं स्वपिमीव निरामयम् ॥ १५ ॥

आशाविभुरितामात्मसंस्थितिं प्राक्कर्त्तुं तनौ ।

प्रविहस्य स्फुरत्सूक्तैः स्वस्थस्तिष्ठाम्यसंशयम् ॥ १६ ॥

नोपदेशेन नार्थेन न शास्त्रेण च बन्धुभिः ।

त्यागेन च न चैतेषामधुना मम कारणम् ॥ १७ ॥

साम्राज्यस्याथवा व्योम्नि या स्थितिः क्षोभवर्जिता ।

तामेवानुभवाम्यत्र मच्चित्तमनपायिनीम् ॥ १८ ॥

खादप्यतितरामच्छं चिदाकाशांशमात्रकम् ।

जगदित्येव पश्यामि लोचनाद्यद्गतां गतः ॥ १९ ॥

आकाशमात्रमेवेदं जगदित्येकनिश्चयः ।

दृश्यनास्ति नमस्यस्मिन्क्षये जागर्मि चाक्षयः ॥ २० ॥

यथाकामं यथाप्राप्तं यथास्थितमिव स्थितम् ।

यद्वक्ति तदविघ्नेन करोम्यपगतैषणम् ॥ २१ ॥

जाग्रदैन्द्रियकविषयालोचनरहितं च स्वपिमीव । इवैवाहदः

सुपुष्टमानस्यापि मिथ्यात्वात्तुरीयावस्थितिद्योतनार्थः ॥ १५ ॥

आशाभिर्विभुरितां विद्वलितौ प्राक्कर्त्तुं तनौ देहे आत्मबुद्ध्या

स्थितिं प्रविहस्य स्फुरद्भिर्बलसूक्तरूपदेशवाक्यैः सांप्रतं स्वस्थ-

स्तिष्ठामि ॥ १६ ॥ अधुना मम उपदेशेन अर्थेन तत्प्रयुक्तः

प्रयोजनान्तरेण । एतेषां सर्वेषां त्यागेन च कारणं प्रयोजनं

नास्ति ॥ १७ ॥ मच्चित्तां प्रत्यगात्ममात्रप्रतिष्ठितचित्तामन्-

पायिनीं नित्यां जीवन्मुक्तस्थितिं व्योम्नि स्वर्गे साम्राज्यस्य

असुरादिक्षोभवर्जिता या स्थितिस्तामेवानुभवामीति लोकद-

शोक्तिः ॥ १८ ॥ अहं बहिर्दशालोचनाद्यद्गतां गतोऽपि

जगत् खादप्यतितरामच्छं चिन्मात्रमित्येव पश्यामि नास्तिबन्ध-

मित्यर्थः ॥ १९ ॥ अस्मिन् जगति क्षये मोहनिद्रया सह

बाधिते सति अक्षयोऽहं सदैव जागर्मि ॥ २० ॥ आविकार्य

यथाकामं वर्तमानकार्यं यथाप्राप्तं प्रागवस्थितं कार्यं तु यथा-

स्थितं यद्भवान्वक्ति तदहमपगतैषणं फलभित्तिरहितं गुरु-

शास्त्रानुसारेण करोमि । पौष्ठान्तरे स्वकार्यविषये यथाकामं

यथारम्भम् । परकार्यविषये यथाप्राप्तं यथास्थितम् ॥ २१ ॥

१ बहिर्दशा लोचनादीन्यज्ञानि यस्यां तादृशी स्थितिं गतोऽपी-

त्यर्थः २ ब्रह्मभावविशुद्धेति;

३ 'यथाकामं यथारम्भं यथाप्राप्तं यथास्थितम्' इत्येवंरूपे.

न तुष्यामि न हृष्यामि न पुष्यामि न रोदिमि ।
 कार्यं कार्यं करोम्येको भ्रान्तिर्दूरं गता मम ॥ २२
 अन्यतामेतु सर्गोऽयं वातु वा प्रलयानिलः ।
 सौम्यो भवतु वा देशः स्वस्थोऽहं स्वात्मनि स्थितः ॥ २३
 विश्रान्तोऽसि विलक्ष्योऽसि दुर्लक्ष्योऽसि निरामयः ।
 नाशाभिर्वन्धमाप्नोमि मुने खमिव मुष्टिभिः ॥ २४
 यथा तरुगतात्पुष्पाद्बन्धः प्राप्य नभःपदम् ।
 तिष्ठत्येवमहं देहादतीतः संस्थितः समः ॥ २५
 यथैव सर्वे राजानो विहरन्ति यथासुखम् ।
 अप्रबुद्धाः प्रबुद्धाश्च राज्येषु बहुकर्मसु ॥ २६
 शान्तहर्षविषादाशः स्थिरैकसमदर्शनः ।
 स्थित आत्मनि निःशङ्कं तथैव विहराम्यहम् ॥ २७
 सर्वस्योपर्यपि सुखी सुखं नेहामि मे प्रभो ।
 जनसाम्प्रेन तिष्ठामि यथेच्छं मां नियोजय ॥ २८
 बालो लीलामिव त्यक्तशङ्कं संसारसंस्थितिम् ।
 यावदेहमिमां साधो पालयाम्यमलैकहक् ॥ २९
 भुञ्जे पिबामि तिष्ठामि पालयामि निजक्रियाम् ।
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वा० दे० मो० निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्तिप्रकटीकरणं नामैकाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०१ ॥

जातोऽहं विगताशङ्कः श्रीराम उवाच ।
 अहो बत महापुण्यं पदमासादितं त्वया ।
 अनादिमध्यपर्यन्तमिदं यत्र न शोच्यते ॥ ३१
 सम्यक्समसमाभोगे शीतले स्वात्मनि स्वयम् ।
 नभसीव नभः शान्ते विश्रान्तिमसि लब्धवान् ॥ ३२
 दिष्ट्या जातो विशोकस्त्वं दिष्ट्या सम्यगवस्थितः ।
 दिष्ट्या लोकद्वयेऽनर्थशङ्का ते शममागता ॥ ३३
 दिष्ट्या रघूणां तनय संज्ञः पावितवानसि ।
 भूतभव्यमविष्यस्थां बोधेन कुलसंततिम् ॥ ३४
 अधुना मुनिनाथस्य विश्वामित्रस्य राघव ।
 पूरयित्वार्थितां भुक्त्वा पित्रा सह महीमिमाम् ॥ ३५
 त्वयान्विताः सतनयभृत्यवान्धवाः
 पदातयः सरथगजाश्वमण्डलाः ।
 निरामया विगतभयाः स्थिरधियः
 सदोदयाः सुभग भवन्तु राघवाः ॥ ३६

अधिकद्विशततमः सर्गः २०२

श्रीवाल्मीकिरवाच ।
 एतच्छ्रुत्वा वसिष्ठस्य वचः संसदि पार्थिवाः ।
 सिका इवामृतापूरैरन्तःशीतलतां ययुः ॥ १
 रामः कमलपत्राक्षो रराज वदनेन्दुना ।
 क्षीरोद इव संपूर्णः सुधापूरेण चारुणा ॥ २

वामदेवादयः सर्वे तत्त्वज्ञानविशारदाः ।
 अहो भगवता ज्ञानमुक्तमित्यूचुरादरात् ॥ ३
 शान्तान्तःकरणो राजा मुदा दशरथो बभौ ।
 तुष्ट्यैव संप्रहृष्टाङ्गो नवां द्युतिमुपागतः ॥ ४

न तुष्याम्यन्तर्मेनसि न हृष्यामि । न पुष्यामि बहिर्देहे इष्ट-
 प्राप्त्या । एवमनिष्टप्राप्त्या न रोदिमि । कार्यमवश्यकर्तव्यं
 लौकिकं वैदिकं च कार्यं करोमि ॥ २२ ॥ एवंस्थितस्य
 ममाह्नाभिर्नैर्बन्धुघनराज्यादिनाशैर्देशाविनिमयैर्वा नानर्थ-
 प्राप्तिशङ्कास्तीत्याशयेनाह—अन्यतामिति । सौम्यः सोममा-
 र्गवच्छून्यो वा भवतु । स्वस्थो निर्विकल्पः ॥ २३ ॥ विलक्ष्यो
 बाह्येन्द्रियैरलक्ष्यः । मनसापि दुर्लक्ष्यः । आशाभिस्तृष्णामिः
 ॥ २४ ॥ देहे अभिव्यक्तस्य देहमतीत्यावस्थाने दृष्टान्तमाह—
 यथेति । समः अस्य पुष्पस्य देहस्य घायमिति विशेषयितुम-
 शक्यत्वात्साधारणः ॥ २५ ॥ तर्हि त्वमग्रे कथं क इव
 ध्रुवहरिष्यसि तत्राह—यथैवेति ॥ २६ ॥ अप्रबुद्धेभ्यो विशे-
 षमाह—शान्तेति ॥ २७ ॥ सर्वस्य विषयैश्चर्यानन्दस्योपरि
 ब्रह्मानन्देनाहं सुखी । अत एव मे देहे विषयसुखं नेहामि
 नेच्छामि । नियोजयस्व सेवादिविषये आज्ञापय ॥ २८ ॥ अहं
 यावदेहं बालः स्वयोनोरुपां लीलां क्रीडामिव यथाप्राप्तां संसा-
 रसंस्थितिं पालयामि ॥ २९ ॥ ३० ॥ यत्र पदे स्थितैर्न
 शोच्यते । भावे लः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ लोकद्वये इहलोके पर-

लोके च दृष्टादृष्टश्रुतानर्थशङ्का ॥ ३३ ॥ तनयेति प्रीत्यतिशयेन
 संबोधनम् । सम्यग्जानातीति संज्ञ आत्मतत्त्ववित्सन् रघूणां
 भूतभव्यमविष्यस्थां कुलसंततिं बोधेन पावितवानसि ॥ ३४ ॥
 अर्थितां यज्ञविघ्नपरिहारार्थिताम् । पित्रा सहेति जीवत्येव
 पितरि तदाज्ञया राक्षसवधेन महीं पालयित्वेत्याशयः ॥ ३५ ॥
 हे सुभग, त्वया अन्विताः संगताः सतनयाः पुत्रपौत्रसहिता
 भृत्यवान्धवाश्च सरथगजाश्वमण्डलाः पदातयश्चेति द्विविधा
 अपि जना निरामयाः शरीरे विगतभयाश्चित्ते सदोदया गृहेषु
 भवन्तित्याशीः प्रार्थना वा ॥ ३६ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्तिप्रकटी-
 करणं नामैकाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०१ ॥

प्रबोधहृष्टा राजानो रामश्चात्रोपवर्णिताः ।
 रामेण च स्थितिः स्वीया निर्मृष्टा ज्ञाननिर्मला ॥ १ ॥
 पार्थिवग्रहणं सर्वजनोपलक्षणम् ॥ १ ॥ सुधाभिः पूर्यत
 इति सुधापूरः पूर्णचन्द्रस्तेनोदितेन क्षीरोद इव ॥ २ ॥ अहो
 आश्चर्यभूतमुक्तम् ॥ ३ ॥ तुष्ट्या संतोषातिशयेन संप्रहृष्टाङ्गो

१ तिष्ठेति शेषः. २ रघुकुलसंबन्धिनो भृत्यादयः.

ज्ञातश्चेत्येषु बहुषु साधुवादकथास्तथा ।
 उवाच गलिताशनो रामो धाक्यमिव पुनः ॥ ५ ॥
 श्रीराम उवाच ।
 भगवन्भूतमन्यैश त्वयासाकमलं मलम् ।
 संप्रमृष्टमिव हेमः क्यामत्वमिव बहिना ॥ ६ ॥
 अभूम ध्यमात्मीयकायमाश्रयः पुरा ।
 प्रभो संप्रति संपन्ना विष्वन्विश्वालोकिनः ॥ ७ ॥
 स्थितोऽसि सर्वसंपूर्णः संपन्नोऽसि निरामयः ।
 जातोऽसि विगताशङ्को बुधो जागर्मि संप्रति ॥ ८ ॥
 आनन्दितोऽस्यखेदाय सुखितोसि चिराय च ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे आत्मीकीये दे० मो० नि० उत्तरार्धे आत्मविश्रामाश्रीकरणं नाम द्वाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०३ ॥

अधिकद्विशततमः सर्गः २०३

धीवाल्मीकिरवाच ।
 इत्थं विचारपरयोर्मुनिराद्यवयोस्तयोः ।
 भास्करः श्रवणायेव व्योममध्यमुपाययौ ॥ १ ॥
 तीक्ष्णतामाजगामाशु सर्वदिकमथातपः ।
 पदार्थौघविकासार्थं रामस्येव महामतिः ॥ २ ॥
 उत्फुल्लहृदयाम्भोजस्फाराकारतया तदा ।
 लीलापद्माकरा रेजुस्तत्रस्थाः पार्थिवा इव ॥ ३ ॥
 जालं मुक्ताकलापानन्तरमाक्रान्तभास्करम् ।
 ननर्तैव तरङ्ग्योम विश्रानश्रवणादिव ॥ ४ ॥
 पुरस्कृतः पद्मरागेषु लग्नार्कतरुणात्विषः ।
 भासो व्योमतलोद्गीना धियो ज्ञानकला इव ॥ ५ ॥
 एवं निर्वृतिमायाते रामे स्वकुलकैरिव ।

रीमाश्रितनात्रः ॥ ४ ॥ बहुषु साधुवादकथासु प्रवृत्तासु सतीषु
 ॥ ५ ॥ मलमज्ञानम् ॥ ६ ॥ कायनात्रहसो देहपरिच्छिन्ना-
 त्महृदयः । विश्वालोकिनः सर्वात्मदर्शिनः ॥ ७ ॥ सर्वः सन्
 संपूर्णः ॥ ८ ॥ मम शाश्वतस्यार्थस्य परमपुरुषार्थस्य उदय
 आविर्भावोऽभूदिति शेषः ॥ ९ ॥ पद्मवच्छारदञ्जवत् ॥ १० ॥
 पदवीं साम्राज्यपदवीं ॥ ११ ॥ अन्तः प्रसन्ना मतिर्यस्य ।
 अत एवास्तसमस्तसोकः । यतोऽहं शान्त्या सकार्यमूलज्ञान-
 काशेनामलायाय एवात्मनि आनन्दं गतः । आत्मनैव सम्य-
 क्षपरीक्ष्य दृष्टेन स्वतःसिद्धनैर्मल्यमभ्युपगतोऽसि । अतो
 मग्नमेव नमोऽस्त्विहर्षः ॥ १२ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहाराभा-
 यणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे आत्मविश्रामाश्रीकरणं
 नाम द्वाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०३ ॥

१ । मध्याह्नतूर्यघोषोऽत्र दिनकृत्यं निशाक्रमः ।

प्रातः क्षमायां रामस्य निःसंदेहश्च वर्ण्यते ॥ १ ॥

इत्थं विचारपरयोः सतोः । भावलक्षणे सप्तमीद्विवचनम् ।
 अर्थास्तदुभयविचारश्रवणायेवेत्युपेक्षा ॥ १ ॥ सर्वासु दिदिवति
 सर्वदिकम् । पदार्थौघस्य विकासः स्फुटदर्शकम् ॥ २ ॥

स्थितोऽनस्तमयायैव शाश्वतार्थोदयो मम ॥
 अहो यत पवित्रेण शीतेन ज्ञानधारिणा ।
 त्वया सिक्तोसि हृष्यामि पद्मवद्बुद्धये स्वयम् ॥
 इयमद्य मया लब्धा पदवी त्वत्प्रसादतः ।
 यस्यां स्थितस्य मे सर्वममृतत्वं गतं जगत् ॥
 अन्तःप्रसन्नमतिरस्तसमस्तसोकः
 शोभां गतोऽहममलाशय एव शान्त्या
 आनन्दमात्मनि गतः स्वयमात्मनैव
 नैर्मल्यमभ्युपगतोऽसि नमोस्तु मह्यम् ॥

मुनीन्द्रचदनालोकात्सविकासमिव स्थिते ॥
 रत्नावौर्वोपमे व्योम महाब्धेर्नाभितां गते ।
 तेजःपुञ्जलसङ्गवाले समग्ररसपायिनि ॥
 नभोनीलोत्पले नीले गलद्रजसि राजति ।
 घर्मोऽशुकार्णिकाकान्ते स्फुरत्किरणकेशरे ॥
 अवतंसे जगल्लक्ष्म्याखिलोकीकर्णकुण्डले ।
 अन्तर्लीनस्फुरत्पापरत्नराजिविपण्डिते ॥
 दिग्बधूमिर्बृहच्छृङ्गपाणिभिर्मुकुरेष्विव ।
 धृतेषु तापभिन्नेषु महाभेषु निरस्त्रेषु ॥
 सूर्यकान्तचरोत्थेन बहिनेव समेधिते ।
 द्विगुणं प्रज्वलत्यर्कदृश्ये गगनधामनि ॥

लीलापद्माकरा उद्यानतटकाः । तत्रस्थास्तत्तभासाः ।
 नम्रहणं सर्वजनोपलक्षणम् ॥ ३ ॥ मुक्ताकलापा अन-
 अव्यवधानखचिता यस्मिन्स्थायिषु स्फुटिकृतायानु-
 प्रसिद्धिबिम्बभावेनाक्रान्तः संक्रान्तो भास्को यस्मिन्स्थ-
 पद्मीत्यतिशयेन व्योम तरत्तलवसानमिव सत् ननर्तैव ।
 छोपदिष्टविश्रानश्रवणाद्योम महाकाशं तरदिवेसजुभवन-
 रिणी वत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥ पद्मरागेषु लग्नसार्कस्य तरुणा
 भासः प्रतिबिम्बकान्तयः । यथा स्वच्छाया धिय उपदेश-
 कलाः स्फुरन्ति तद्वत् ॥ ५ ॥ मुनीन्द्रचदनस्य आलोक्य
 कैरवविकासकलात्वात्मुकापि चन्द्रता गम्यते ॥ ६ ॥
 पमे बडवामिसदृशे । तत्साम्यमेव विशेषणरूपपायते ॥
 एवं नमसो नीलोत्पलत्वमपि विशेषणरूपपायते नम-
 दिना । घर्मोऽशुः सूर्यस्तल्लक्षणया कर्णिकया कान्ते ॥
 अवतंसे इत्यन्तमुत्पलोल्लेखा । निलोकीकर्णकुण्डले इत्यु-
 न्तरम् । अन्तर्लीनेति तदुपमादकम् ॥ ९ ॥ दिग्बधूमि-
 रिन्द्रालक्षणेः पाणिभिर्बृहद्भेषु मुकुरेष्विव धृतेषु ताप-
 रातपैभिन्नेषु संभिन्नेषु विभक्तेषु वा ॥ १० ॥ अर्कदृश्ये
 गगनधामनिः सूर्यकान्तभेदेभ्यः उत्पितेनः बहिताः प्रमे

विनेदुर्मैदुरोद्दाममुखमारुतपूरिताः ।
 मध्याह्नशङ्खाः कल्पान्तवातपूर्णा इवार्णवाः ॥ १२
 भालेश्चरिवालोषु घर्मश्रीर्वदनेष्विव ।
 चकार पदमाकीर्णशुद्धमुक्ताफलोपमा ॥ १३
 गृहभित्तिपरावृत्ता सत्त्वसंरम्भमांसला ।
 शब्दश्रीः पूरयामास कर्णमर्ण इवार्णवम् ॥ १४
 पुरन्धीभिर्निदाघौघशान्तये समुदीरिता ।
 उल्लास नवा पाण्डुकर्पूरजलदावलिः ॥ १५
 स राजा सहसामन्तः सभूपः सपरिच्छदः ।
 सवसिष्ठः समुत्तस्थौ सहसामः स संसदः ॥ १६
 राजानो राजपुत्राश्च भञ्जिणो मुनयस्तथा ।
 अन्योन्यं पूजिता जग्मुर्मुदिताः स्वं निवेशनम् ॥ १७
 अन्तःपुरगृहाग्रेषु तालवृन्तानिलाहृतैः ।
 कर्पूरधूलिभिरभूजवैवाम्बुदमालिका ॥ १८
 अथ मध्याह्नतूर्याणां रवे स्फूर्जति भित्तिषु ।
 उवाच वचनं वाक्यकोविदो मुनिनायकः ॥ १९
 सर्वमेव श्रुतं श्राव्यं ज्ञेयं ज्ञातमशेषतः ।
 त्वया राघव भो नास्ति ज्ञातव्यमपरं वरम् ॥ २०
 यथा मयोपदिष्टोऽसि यथा पश्यसि शास्त्रतः ।
 यथानुभवसि श्रेष्ठमेकवाक्यं तथा कुरु ॥ २१
 उत्तिष्ठ तावत्कार्याय वयं स्नातुं महामते ।
 मध्याह्नसमयोऽस्माकमयमङ्गातिवर्तते ॥ २२
 अपरं यत्त्वया भद्र स्वाकाङ्क्षाविनिवृत्तये ।
 प्रष्टव्यं तच्छुभं प्रातः प्रष्टव्यं भवता पुनः ॥ २३
 श्रीवाल्मीकिरवाच ।

इत्युक्ते मुनिनाथेन राजा दशरथः स्वयम् ।
 पूजयामास तान्सभ्यान्सर्वान्साधून्सपर्यया ॥ २४

अर्कापेक्षया द्विगुणमिव प्रज्वलति सति ॥ ११ ॥ १२ ॥
 घर्मश्रीः खेदबिन्दुशोभा जनानां वदनेषु पदं चकार ॥ १३ ॥
 गृहभित्तिष्वभिघातात्प्रतिध्वन्यात्मना परावृत्ता । सत्त्वानां
 प्राणिनां कार्यत्वरशब्दसंरम्भेर्मांसला पुष्टा । अर्णो वृष्टिर्नदीज-
 लमर्णवमिव कर्णं पूरयामास ॥ १४ ॥ सकर्पूरजलसेकलक्षणा
 जलदावलिः ॥ १५ ॥ मण्डलदेशाधिपत्यमेदात्सामन्तभूपयो-
 र्भेदः । संसदः समायाः ॥ १६ ॥ १७ ॥ गृहामेषु गृहमुखेषु
 ॥ १८ ॥ स्फूर्जति अभिघातेन वर्धमाने ॥ १९ ॥ २० ॥
 गुरुपदेशवेदान्तादिशास्त्रस्वानुभवानामविसंवादाय एकार्थनिष्ठता-
 लक्षणा एकवाक्यता कार्येत्याह—यथेति ॥ २१ ॥ २२ ॥
 प्रष्टव्यं प्रश्नार्हमस्ति चेत्तत्प्रातरवश्यं प्रष्टव्यं नोपेक्षितव्यमित्यर्थः
 ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ कांश्चिन्मणिमुक्तागणनिष्क्रियभूतेनार्थे-
 न धनेन । कांश्चित्तु प्रत्यक्षमणिमुक्ताप्रदानेन ॥ २६ ॥ कन्या-
 दिप्रदानेन ॥ २७ ॥ २८ ॥ समया समास्थेन जनेन सह
 ॥ २९ ॥ संसंरम्भः सत्वरः ससमाया उत्थानसमयः सभो-

सह रामेण धर्मात्मा मुनिविप्रावृषांश्च सः ।
 वसिष्ठाद्युपदिष्टेन क्रमेण व्योमगांस्तथा ॥ २५
 मणिमुक्तागणार्थेन दिव्येन कुसुमेन च ।
 मणिरत्नप्रदानेन मुक्ताहारार्पणेन च ॥ २६
 प्रणयेन प्रणामेन प्रदानेनार्थशालिना ।
 घञ्जासनान्नपानेन कनकेन तथा भुवा ॥ २७
 धूपेन गन्धमाल्याभ्यां यथोदितमनिन्दितः ।
 पूर्वान्संपूजयामास सर्वानेव महीपतिः ॥ २८
 अथोत्तस्थौ सभामध्यात्सभया सह मानदः ।
 सवसिष्ठादिदेवर्षिः सायमिन्दुरिवाम्बरात् ॥ २९
 ससभोत्थानसमयः संसंरम्भो व्यराजत ।
 जानुदघ्नसुरोन्मुक्तपुष्पसंजातकर्दमः ॥ ३०
 संघट्टाघट्टकेयूररत्नचूर्णारुणावनिः ।
 छिन्नहारस्फुरन्मुक्ताताराजितनिशाम्बरः ॥ ३१
 देवर्षिमुनिविप्रेन्द्रपार्थिवस्पन्दसंकुलः ।
 व्यग्रभृत्याङ्गनाहस्तकेशचञ्चलचामरः ॥ ३२
 ज्ञानप्रमेयीकरणस्पन्दमानो न दारुणः ।
 शिरःकरत्रिनयनजिह्वेष्वेव विराजितः ॥ ३३
 परस्परमथापृच्छथ पूजिताः पेशलोक्तयः ।
 राजानो मुनयश्चैव सर्वे दशरथादयः ॥ ३४
 स्वाश्रमान्साधवो जग्मुस्तुष्टस्त्रिग्याशया मिथः ।
 लोकसप्तकवास्तव्या देवाः शक्रपुरादिव ॥ ३५
 अन्योन्यं प्रणयात्सर्वे पूजयित्वा यथाक्रमम् ।
 तद्विसृष्टाः स्वमागत्य गृहं चक्रुर्दिनक्रियाम् ॥ ३६
 अथ सर्वे वसिष्ठाद्यास्तथा दशरथादयः ।
 चक्रुर्दिवसकार्याणि राजानो मुनयस्तथा ॥ ३७

त्थानसमयसहितः, स संरम्भ इति वा ॥ ३० ॥ तमेव वर्ण-
 यति—संघट्टेत्यादिना । संघट्टे घर्षणं आघट्टः परस्परमाघात-
 स्ताभ्यां केयूररत्नचूर्णैः अरुणावनिः । छिन्नहारेभ्यः स्फुरन्तीभि-
 र्मुक्ताताराभिर्जितं निशाकालप्रसिद्धं सनक्षत्रमम्बरं येन
 ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ तर्हि किं सर्वजनानां स्वार्थप्रवृत्तित्वरया दुर्बलपरो-
 पमर्दादारुणो नेत्याह—ज्ञानेति । वसिष्ठोपदिष्टस्य दानस्य मन-
 नादिना भूमिकाक्रमेण प्रमेयीकरणार्थमेव स्पन्दमानो नान्य-
 स्वार्थत्वरयेति हेतोर्न दारुणः । किंच कदाचिदीषदङ्गघट्टनेपि
 परस्परक्षमापणार्थं शिरःकराः शिरसि बद्धाञ्जलयो ये पुरतः
 पार्श्वयोश्चेति त्रिषु भागेषु अवलोकनाय क्षमापणाय च प्रवृत्तं
 नयनजिह्वं येषां तथाविधास्तेष्वेव सर्वजनेषु विराजितो न
 प्रमत्तनिष्ठुरंजनविसंभ्रल इति न तत्र परपीडादिदोषलेशस्यापि
 प्रसक्तिरित्यर्थः ॥ ३३ ॥ पेशला सृद्धमधुरा उक्तयो येषाम्
 ॥ ३४ ॥ मिथः परस्परं गुणस्पृहया तुष्टः स्निग्धः स्नेहयुक्तश्च
 आशयो येषाम् । शक्रपुरादेवा इवायोप्यातो लोकसप्तकवा-
 स्तव्या जग्मुः ॥ ३५ ॥ दिनक्रियामाहिकम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

यथाप्राप्तं क्रियां तेषु कृतवत्स्वथ दैवसीम् ।
 क्रमेणाकाशपथिको भास्करोऽस्तमुपाययौ ॥ ३८
 तथैव कथया तेषां रामस्य च महामतेः ।
 प्रबोधवशतः शीघ्रं सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ ३९
 उत्सारिततमःपांसुताराकुसुमनिर्भरम् ।
 भुवनं भवनीकुर्वन्नाजगाम दिवाकरः ॥ ४०
 करवीरकुसुम्भाभैः करैररुणयन् दिशः ।
 विवेश गगनाम्भोधिमथ वालदिवाकरः ॥ ४१
 राजानो राजपुत्राश्च मन्त्रिणो मुनयस्तथा ।
 त्रसिष्ठाद्याः समाजग्मुः पुनर्दाशरथीं सभाम् ॥ ४२
 यथाक्रमं यथासंस्थं यथादेशं यथासनम् ।
 सा विवेश सभा तत्र धिष्यन् श्रीरम्यरे यथा ॥ ४३
 ततो दशरथाद्येषु सुमन्त्रादिषु चाप्यलम् ।
 वसिष्ठं संप्रशंसत्सु मुनिमासनसंस्थितम् ॥ ४४
 वसिष्ठस्य पितुश्चाग्रे राजीवदललोचनः ।
 उवाच राववो धीमान्मृदुवर्णमिदं वचः ॥ ४५
 श्रीराम उवाच ।
 भगवन्सर्वधर्मज्ञ सर्वज्ञानसहार्णव ।

सर्वसंदेहपरशो परशोकभयापह ॥ ४६
 श्रोतव्यमपरं किं मे विद्यते वेद्यमेव वा ।
 श्रोतव्यं विद्यते यद्वा तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ४७
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 राम संप्राप्तबुद्धिस्त्वं श्रोतव्यं ते न विद्यते ।
 कृतकृत्या तवैषा धीः प्राप्तप्राप्या स्थितात्मनि ॥ ४८
 त्वमेव तावत्कथय प्रविचार्य धियात्मना ।
 कीदृशोऽद्य भवानन्तः किं शेषं श्राव्यमस्ति ते ॥ ४९
 श्रीराम उवाच ।
 ब्रह्मब्रह्ममहं मन्ये यथाहं कृतकृत्यधीः ।
 निर्वाणोऽसि प्रशान्तोऽसि नाकाङ्क्ष मम विद्यते ॥ ५०
 वक्तव्यमुक्तं भवता ज्ञातं ज्ञेयं मयाखिलम् ।
 तव विश्रान्तिमायातु कृतकृत्या सरस्वती ॥ ५१
 अधिगतमधिगम्यं ज्ञेयमाप्तुं मयेदं
 विगतमखिलमैक्यं द्वैतमस्तं प्रयातम् ।
 परिगलितमशेषं दृश्यमेवावभानं
 ननु निपुणमपास्ताशेषसंसारितास्था ॥ ५२

इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० निर्वा० उ० निर्वाणवर्णनं नाम अष्टाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०३ ॥

चतुरधिकद्विशततमः सर्गः २०४

श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
 आदर्शो राजतेऽत्यर्थं यौनःपुन्येन मार्जितः ॥ १
 अर्थो वेदनसंकेतः शब्दो जलरवोपमः ।
 दृश्यमेतच्चिदाभानं स्वप्नवत्कामवज्जगत् ॥ २

दैवसी दिवससन्धिनीम् ॥ ३८ ॥ प्रबोधो जागरणं तद्वशतः
 ॥ ३९ ॥ प्रातर्यहसमार्जनेनेव उत्सारितास्तमःपांसवस्ताराकुसुम-
 निर्भराश्च यस्मिंस्तथाविधं भुवनं जगद्भवनं शृद्धमिव परिष्कुर्वन्
 ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ धिष्यन् श्रीदैवधिष्यन्भूतनक्षत्रशोभा
 ॥ ४३ ॥ वसिष्ठं संप्रशंसत्सु स्तुवत्सु ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ परेषां
 शत्रूणामपि शोकमयापह ॥ ४६ ॥ यदि विद्यते तर्हि तद्वक्तु-
 मर्हसि ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ अथ भवान् सानुभवैव कीदृशः । ते
 शिष्यत इति शेषं श्राव्यमवश्यश्रोतव्यं किमस्तीति त्वमेव वदे-
 त्यर्थः ॥ ४९ ॥ ५० ॥ विश्रान्तिमुपरमम् । सरस्वती वाणी
 ॥ ५१ ॥ अखिलं जगदैक्यं ब्रह्मैकरस्यं विशेषेण शतं विग-
 तम् । द्वैतं जीवब्रह्मभेदः । यत्कुरुदुपाधिभूतं दृश्यभेदावभानं
 परिगलितम् । तदपि कृतस्त्राह—नन्विति । यतो मया
 संसारितास्था निपुणं विचार्य अपास्ता त्यक्तेत्यर्थः ॥ ५२ ॥ इति
 श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 निर्वाणवर्णनं नाम अष्टाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०३ ॥

जाग्रद्वै स्वप्नसंदृष्टः स्मरणात्म स्थितं पुरः ।
 संविद्वेदनमात्रं सत्तदन्याकारवत्ततम् ॥ ३
 यथाच्छं संविदाकाशं मयि स्वप्नपुरात्मकम् ।
 स्वरूपमपि नीरूपं तथेदं भुवनत्रयम् ॥ ४

निष्कृष्टयुक्त्या भूयोऽत्र दृश्यं चित्ति विमार्ज्यते ।
 वसिष्ठेन च रामेण चिदात्मपरिशुद्धये ॥ १ ॥
 परमं युक्तिसंक्षेपेण स्फुटं दृश्यमार्जनोपायोपदेशित्वाडुल्भ-
 ष्टम् ॥ १ ॥ रूपं नाम चेति हि द्विविधं दृश्यं, तत्राद्यमार्जतो-
 पायमाह—अर्थ इति । जातिगुणक्रियासंस्थानानि हि चतु-
 र्विधानां शब्दानामर्थः । यथा गौर्नील्यं चपला भद्राख्येति । ते
 चैकस्मिन्नेवार्थे व्यावर्त्यभेदाधीनभेदकल्पनरूपाः शब्दभेदप्रश्लि-
 ष्तिमिच्छतया कल्पिता आन्तिवेदनसंकेता एव न वास्तवाः । न हि
 तत्र वस्तुचतुष्टयमस्तीत्यर्थमार्जनमित्यर्थः । द्वितीयमार्जनोपाय-
 माह—शब्द इति । अर्थे मार्जिते निरर्थकः शब्दो जलवन्नि-
 सृष्टः सञ्ज्ञामता स्वप्नत्रयतामेवापन्नस्तन्मार्जनेनेव मार्जित
 इत्येतद्विविधमपि दृश्यं चिदाभानमात्रं स्वप्नवदिति सिद्धमित्यर्थः
 ॥ २ ॥ यदा जाग्रदेव मिथ्या तदा सैव स्वप्नसंदृष्टार्थः सत्कार-
 मुखेन सपद्यते तच्च स्मरणमिव आत्मार्थशून्यरूपं पुरः
 स्थितमिति संविद्वेदनमात्रमेव सत्तदन्याकारवत्ततं न तत्रापि
 सविद्यतिरिक्तं किंचिदस्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥ तथा चोभयोस्तुल्य-
 तया चिदाकाशमात्रत्वमित्याह—तथेति । मयि प्रत्यविवर्ति

श्रीराम उवाच ।

संपन्नं कथं भूमिः संपन्ना गिरयः कथम् ।
कथं संपन्नमम्भश्च संपन्ना उपलाः कथम् ॥ ५
कथं च तेजः संपन्नं संपन्ना च कथं क्रिया ।
कथं च कालः संपन्नः संपन्नः पवनः कथम् ॥ ६
कथं च शून्यं संपन्नं संपन्नं चित्रमः कथम् ।
इति ज्ञातं मया भूयो बोधाय वद मे प्रभो ॥ ७

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

ब्रूहि राघव तत्त्वेन स्वप्नदृष्टमद्वापुरे ।
संपन्ना भूः कथमिव संपन्नं कथमम्बरम् ॥ ८
कथं वारि च संपन्नं संपन्ना उपलाः कथम् ।
कथं च तेजः संपन्नं संपन्नाश्च कथं दिशः ॥ ९
संपन्नश्च कथं कालः संपन्ना च कथं क्रिया ।
कथमेतन्निमित्तादि सर्वं संपन्नमुच्यताम् ॥ १०
केनेदं निर्मितं दग्धमानीतं रचितं चितम् ।
उत्पादितं प्रकटितं किमाचारं किमात्मकम् ॥ ११

श्रीराम उवाच ।

आत्मास्य केवलं व्योम न सद्रूप्यचलादिकम् ।
जगतः स्वरूपस्य निराकारो निरास्पदः ॥ १२
आत्मैव व्योमरूपोऽस्य निराधारो निराकृतिः ।
विनाकृतेर्वा व्योमोऽस्य किमाधारेण कारणम् ॥ १३
न किंचिदेतत्संपन्नं सद्यैतन्न संविदः ।
एतच्चित्कचनं नाम मन एव तथा स्थितम् ॥ १४
दिक्कालाद्यत्र चिद्भानं चिद्भानमचलादिकम् ।
चिज्जलादि तथा बोधाच्चित्त्वं वाय्वादि तद्विदः ॥ १५
संविदेव किल व्योम तिष्ठति व्योमतामिता ।

॥ ४ ॥ चिति जाड्यं तत्र भूम्यादिवैचित्र्यं च कथं संपन्नमिति प्रश्नः ॥ ५ ॥ ६ ॥ इत्येतत्सर्वं प्राक् त्वद्वचनाज्ज्ञातमपि पुनः संभावनाशान्त्या बोधाभिवृद्धये वद ॥ ७ ॥ स्वप्नवदेव सर्वं संभावनीयमित्याशयेन प्रतिबन्धेन स्वयं प्रश्नव्याजेन वसिष्ठ उत्तरमाह—ब्रूहीत्यादिना ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ दृष्टान्तवदेव दार्ष्टान्तिकेऽपि पृथ्यादिसंपत्तिं संभावयन् रामः स्वयमपि जगतो मिथ्यात्वं प्रपञ्चयति—आत्मास्येत्यादिना । अस्य जगत आत्मा स्वरूपं केवलं व्योमैव ॥ १२ ॥ तर्हि किं शून्यरूपमेव, नेत्याह—आत्मैवेति । कारणं प्रयोजनम् ॥ १३ ॥ अभ्युपेत्य पृथ्याद्याकारसंपत्तिमिदमुक्तं, वस्तुतस्तु तत्संपत्तिरपि नास्त्येवेत्याह—न किंचिदिति । एतज्जगदाकारं चित्कचनं स्वप्नवन्मन एव तथा स्थितं नान्यत् ॥ १४ ॥ मनसश्च

दृष्टयास्ते काठिन्याद्वाज्जलमिव स्थिता ॥ १६
वस्तुतस्तु न भूम्यादि किंचित्तन्न च दृश्यता ।
चिदाकाशमनन्तं तत्सर्वमेकं तदात्मकम् ॥ १७
द्रवत्वादभ्यु दृष्ट्याब्धेर्नानावृत्तितया यथा ।
अनानैव भवेन्नाना चिद्योमात्मनि वै तथा ॥ १८
काठिन्यवेदनादुर्वी गिरितामागतेव चित् ।
शून्यतावेदनाच्छून्यं वेत्ति व्योमेव चिद्वपुः ॥ १९
द्रवत्ववेदनाद्वेत्ति वारि स्पन्दतयानिलम् ।
औष्ण्यसंविन्नतो धृढिमत्यजन्ती निजं वपुः ॥ २०
एवंस्वभाव एवायं चिद्धातुर्गगनात्मकः ।
यदेवं नाम कचति निष्कारणगुणक्रमम् ॥ २१
न चैतद्व्यतिरेकेण किंचिन्नापीह विद्यते ।
अन्यच्छून्यत्ववारिभ्यामृते क्षार्णवयोरिव ॥ २२
न तु चिद्भगनादन्यन्न संभवति किंचन ।
इदं त्वमहमित्यादि तस्मादाशान्तमास्यताम् ॥ २३
त्वं यथास्मिन् गृहे कुर्वन्नग्निशैलादिकां विदम् ।
तदेव पश्यस्यवपुरेवं चिद्भगनं तथा ॥ २४
चिद्योम भाति देहाभं सर्गादौ न तु देहकः ।
अकारणत्वादसतश्चिदुदेतीति चिन्त्यताम् ॥ २५
मनोबुद्धिरहंकारो भूतानि गिरयो दिशः ।
शिलाजठरवन्मौनमयं सर्वं यथास्थितम् ॥ २६
एवं न किंचिदुत्पन्नं नष्टं न च न किंचन ।
यथास्थितं जगद्रूपं चिद्ब्रह्मात्मनि तिष्ठति ॥ २७
चितौ यत्कचनं नाम स्वरूपप्रविजृम्भणम् ।
तदेतज्जगदित्युक्तं द्रव एव यथा जलम् ॥ २८

चित्स्फुरणमात्रत्वात्तदेव सर्वमित्याह—दिक्कालेत्यादिना । तद्विदः सर्वतत्त्वविदः ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ दृष्टस्य प्रसन्नस्याब्धेरभ्यु द्रवत्वादेव यथा तरङ्गफेनावर्तादिनानावृत्त्यात्मना अनानैव नाना संभवेत्तथा चिद्योमापीत्यर्थः ॥ १८ ॥ १९ ॥ चित् आत्मनि द्रवत्ववेदनाद्वारि वेत्ति । एवं स्पन्दतया वेदनादनिलं वेत्ति । निजं वपुरधिष्ठानचिद्रूपमत्यजन्तीति विवर्तता दर्शिता ॥ २० ॥ निष्कारणगुणक्रममिति दृष्टस्यसिद्धान्तः प्रकटितः ॥ २१ ॥ यथा अर्णवस्य वारित्वादेव अन्यतत्त्वं नास्ति । स्वस्य च शून्यत्वादेव, तथा एतस्माच्चिदात्मनो व्यतिरेकेण किंचिज्जगतस्तत्त्वं न विद्यते ॥ २२ ॥ इदं त्वमहमित्यादि जगत् चिद्भगनादन्यन्न तु । यतः किंचन तद्विना न संभवति ॥ २३ ॥ कुर्वन् स्वप्नमनोरथादिना रचयन् ॥ २४ ॥ यदा देहको नास्ति तदा अकारणत्वादसतोऽज्ञानाद्देहाकारं चिदुदेति न तत्त्वत इति चिन्त्यतां विचार्यतामभिज्ञैतित्यर्थः ॥ २५ ॥ मौनमयम-

इदं जगद्भानमभानमेव
चिद्व्योम शून्यं परमार्थ एव ।

यथार्थसंदर्शनबुद्धबुद्धे-
रबुद्धबुद्धेस्तु यथा तथास्तु ॥

२९

इत्याषं श्रीवासिष्ठमहारायायणे वा० दे० मो० ति० उ० विदाकाशैकताप्रतिपादनं नाम चतुरधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०४ ॥

पञ्चाधिकद्विशततमः सर्गः २०५

श्रीराम उवाच ।

एवं यथैतद्भगवन्स्वप्ने दृश्यं परं नभः ।
तथैव जाग्रतीत्यत्र न चेत्संदेहजालिका ॥ १
इदं मे भगवन्ब्रूहि महाप्रज्ञमनुत्तमम् ।
कथं भवत्यदेहा चिज्जाग्रत्स्वप्ने स्वदेहवत् ॥ २
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
दृश्यं जाग्रत्यथ स्वप्ने स्वाधारं स्वात्मकं खजम् ।
खं च नान्यत्परं जातु संदेहोऽस्त्युपपत्तिः ॥ ३
समस्तकारणाकारप्रत्यस्तमयरूपिणि ।
सर्गादावेव भूतानि संभवन्ति न कानिचित् ॥ ४
पृथ्व्यादिनिर्यतस्तेन देहोऽयं नास्ति किंचन ।
भूतान्येव किलैतानि देहस्तानि न सन्त्यलम् ॥ ५
तेन स्वप्रवदाभासमिदं पश्यति चित्रमः ।
स्वरूपमात्रकचनमाकारवदिवाकुलम् ॥ ६
भानमाभानमात्रत्वमिदं यत्तच्चिदात्मना ।
नभसा स्वप्रशब्देन कथ्यते जगदाकृतिः ॥ ७

बृंहणम् ॥ २८ ॥ यथार्थसंदर्शनेन प्रबुद्धदृष्ट्या इदं ज-
गद्भावेन भानमभ्यभानमेव चिद्व्योमेव परमार्थः । अबुद्धबुद्धे-
र्मूर्खस्य तु यथा तथास्तु किं तद्विचारेणेत्यर्थः ॥ २९ ॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहारायायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विदाका-
शैकताप्रतिपादनं नाम चतुरधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०४ ॥

विवर्तमात्ररूपेयं स्वप्नतुल्या जगत्स्थितिः ।

नोद्भूता न स्थिता नास्या चिन्मात्रमिति घण्यते ॥ १ ॥

एवं जगतः स्वप्नवद्विवर्तमात्रत्वं यथोक्तमभ्युपगम्य कूट-
स्थाद्वयचिन्मात्रे विवर्तोऽप्यसंभावित एव हेत्वभावादिति रामः
पृच्छति—एवमिति द्वाभ्याम् ॥ १ ॥ २ ॥ हेत्वभावादि स्वया
विवर्तस्याहुत्पत्तिरनुत्पन्नस्य न स्थितिः स्यादिति शून्यतैव
स्यादित्यापादनीयं तच्चेष्टमेव तस्येति निरुपपत्तिकस्ते प्रश्नहेतुः
संदेह इति भगवानुत्तरमाह—दृश्यमित्यादिना । यतः स्वयं
हेतुशून्याहुत्पन्नमतः शून्याधारं शून्यात्मकमेव स्यादित्यापाद-
नीयम् । खं शून्यं च परं ब्रह्मैव नान्यत् । अत उत्पत्त्यादि-
शून्ये ब्रह्माद्वैताविरोधिनि विवर्ते अनुपपत्तिसंदेहो नोपपद्यत
इत्यर्थः ॥ ३ ॥ अनुत्पत्तिमेवोपपादयति—समस्तेत्यादिना
॥ ४ ॥ 'कथं भवत्यदेहा चिज्जाग्रत्स्वप्ने सदेहवत्' इति प्रश्नोऽ-
प्यनुपपन्नः । पृथ्व्याद्यमावे चतुर्विधभूतप्रामरूपदेहानामप्यस-
त्त्वादित्याह—पृथ्व्यादीति ॥ ५ ॥ अतो विवर्तपक्षो निर्दोषः

यदेतद्वेदनं नाम चिद्व्योमो व्योमनिर्मलम् ।
एतदन्तश्चितो रूपं स्वप्नो जगदिति स्थितम् ॥ ८
एतस्मिन्नेव तेनाथ स्वभावकचने तते ।
चिद्रूपेण कृताः संज्ञाः पृथक्पृथ्व्यादिका इमाः ॥ ९
चिद्भानमेव तत्स्वप्नजगच्छब्दैः प्रकथ्यते ।
भानं चास्याः स्वभावः खं तत्कदाचिन्न शाम्यति ॥ १०
ब्रह्मणः सर्गदृशो भिन्ना ब्रह्मैव ब्रह्मखे च ताः ।
शून्यतानमसी वातस्तिष्ठन्ति च विशन्ति च ॥ ११

श्रीराम उवाच ।

सर्गाणां कोटयः प्रोक्ता भगवन्भवता किल ।
काश्चिद्ब्रह्माण्डकोशस्याः काश्चिदण्डविवर्जिताः ॥ १२
काश्चिन्महीकोशगताः काश्चिदाकाशसंस्थिताः ।
तेजःकोशगताः काश्चित्काश्चित्पवनकोशगाः ॥ १३
काश्चिद्व्योमस्थभूषीठा ऊर्ध्वाधस्यविनिश्चयाः ।
बुधकाशादूर्ध्वं खुरा लम्बमानवनाचलाः ॥ १४

इत्याह—तेनेति । आकुलं मायागुणविधुब्धम् ॥ ६ ॥ यत्-
दाभानमात्रत्वं तदेव स्वप्नभानं सैव जगदाकृतिर्नभसा विदा-
काशरूपेणैव स्वप्नविवर्तजगदादिशब्देन कथ्यते ॥ ७ ॥ तथा च
वेदनान्तर्भासमानं जगद्रूपं सौक्ष्म्ये स्वप्न इति स्यात्वे जगदिति
वेदनमेव तथा स्थितमित्यर्थः ॥ ८ ॥ एवंप्रपञ्चस्य वेदनमा-
त्रत्वे नामप्रपञ्चोपि वेदनस्यैव नाममेव इति पर्यवस्यतीत्याह—
एतस्मिन्नेवेति । तेन रूपभेदकल्पकेन चिद्रूपेण चिदात्मना ।
अथ अनन्तरम् ॥ ९ ॥ अत एव स्वप्नादिशान्तावपि तत्त्वं
भानं कदापि न शाम्यतीत्याह—चिद्भानमेवेति । स्वभावस्व-
प्नम् ॥ १० ॥ तत्स्वप्नभावादेव तत्र बहवो विवर्ताः प्रवृत्ता
इत्याह—ब्राह्म इति ॥ ११ ॥ कौतुकादेतद्ब्रह्माण्डस्वरूपं भोवु-
कामो रामः प्रश्नपीठिकां रचयति—सर्गाणामित्यादिना ।
प्रोक्ताः लीलोपाख्यानमुपुण्ड्राख्यानादौ ता उक्ता एवानुव-
दति—काश्चिदित्यादिना । एते श्लोकाः प्राग्व्याख्याताः ॥ १२ ॥
॥ १३ ॥ व्योमस्थगोलकाकारभूषीठाः । ऊर्ध्वाधस्यानां पिपी-
लिकावद्गोलसंलभाना देवासुरादीनां वयमेवोर्ध्वं वयमेवोर्ध्व-
मिति विविधा निश्चया यत्र । तदेव स्पष्टमाह—बुधकाशा-
दिति । यतः सर्वेषां दृशा भूमेरधोदेसे प्रजाः बुधकाशादूर्ध्व-
मूलकाशादूर्ध्वं खुरा ऊर्ध्वपादाः अधःशीर्षाः । एवमूर्ध्वमूलधः-
शास्त्रशिखरत्वाद्भ्रम्यमानानीव धनान्यचलथ येषु ॥ १४ ॥

काश्चिद्वातात्मभूतौघाः काश्चिन्नित्यं तमोधराः ।
 व्योमसंस्थानकाः काश्चित्काश्चिक्किमिकुलाकुलाः ॥
 काश्चिदाकाशकोशस्थाः काश्चिच्चोपलकोशगाः ।
 काश्चित्सकुण्डकोशस्थाः काश्चित्खगवत्स्थिताः ॥
 तासां मध्ये यथा हीदं ब्रह्माण्डं यादृशं स्थितम् ।
 अस्माकं भगवंस्तन्मे ब्रूहि तत्त्वविदां वर ॥ १७

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यदपूर्वमदृष्टं वा नानुभूतं न वा श्रुतम् ।
 तद्वर्ण्यते सुदृष्टान्तैर्गृह्यते च तदूह्यते ॥ १८
 इदं तु राम ब्रह्माण्डमागमैर्मुनिभिः सुरैः ।
 शतशो वर्णितं तच्च ज्ञातमेतत्त्वयाऽखिलम् ॥ १९
 यथेदं भवता ज्ञातमागमैर्वर्णितं यथा ।
 स्थितं तदेतदखिलं किमन्यदिह वर्ण्यते ॥ २०

श्रीराम उवाच ।

कथमेतद्वद ब्रह्मसंपन्नं चिन्महानभः ।
 कियत्प्रमाणमेतद्वा कियत्कालं च वा स्थितम् ॥ २१

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अनादिनिधनं ब्रह्म नित्यमस्त्येतदव्ययम् ।
 आदिमध्यान्तता नास्ति नाकाराः परमाम्बरे ॥ २२
 ब्रह्माकाशमनाद्यन्तमेतदव्ययमाततम् ।
 एतन्मयमिदं विश्वं विष्वगाद्यन्तवर्जितम् ॥ २३
 परमस्यास्य चिद्बोद्धः स्वयं यद्भानमात्मनि ।
 तदेतद्विश्वमित्युक्तं स्वयं तेनैव तन्मृषा ॥ २४
 पुरुषस्य यथा स्वप्नपुरसंदर्शनं तथा ।

वातात्मानो वायुशरीरा भूतौघाः प्राणिसमूहा आसु तमोधराः
 सान्धकाराः । व्योमेव प्राणिदेहसंस्थानं आसु ॥ १५ ॥ सकुण्डाः
 सभाण्डा ये गृहमण्डपादिकोशास्तस्थाः यथा । मण्डपोपाख्याने
 दर्शिताः ॥ १६ ॥ इदमस्माकमाश्रयभूतमेव ब्रह्माण्डं यादृशं
 स्थितं तन्मे ब्रूहीति प्रश्नः ॥ १७ ॥ नायं तत्त्वविषयस्त्व-
 ज्ञानोपयोगी वा प्रश्नो नापि प्रयोजनवान् प्रकृतोपयुक्तोऽपूर्वो
 वा नापि नियतार्थः । मुनिभिर्ज्योतिषसिद्धान्तमेदेषु भूमिभु-
 वनादिस्थितैरन्यथान्यथावर्णनात् । तच्चोपदर्शितमेव पुरस्तादतो
 मायामये स्वप्नोपमेऽस्मिन्नैकतरपक्षपातेन सिद्धान्तकथने किञ्चि-
 त्प्रयोजनं प्रमाणं वास्तीति मन्यमानो वसिष्ठः शास्त्रान्तरस्य
 विषयोऽयं ततस्त्वया ज्ञात एवेति न प्रश्नार्ह इत्येवोक्त्या समा-
 धत्ते—यदिति । अपूर्वं मानान्तराविषयः । तस्यैव प्रपञ्चो न दृष्टं
 नानुभूतं न वा श्रुतमिति प्रत्यक्षानुमानागमार्थवपरम् । तदेव
 शुरुणा सुदृष्टान्तैर्वर्ण्यते शिष्येण च श्रवणेन गृह्यते मननेनोद्यते
 नेतरदित्यर्थः ॥ १८ ॥ शतशः अनेकधा अनेकप्रकारेण च
 ॥ १९ ॥ त्वज्ज्ञातप्रकारस्यैव त्वां प्रति वर्णनं नापूर्वमिति न
 यो० वा० १९५

तत्तस्य भानं पुरवत्तदिदं विश्वमुच्यते ॥ २५
 कठिना नेह गिरयो न द्रवाणि जलानि च ।
 न शून्यमेतदाकाशं कालो न कलनात्मकः ॥ २६
 यद्यथा चाव्ययं यत्र स्वतः संचेतितं चित्ता ।
 तत्तथा तत्र चित्तत्वे अलं शैलादिवत्स्थितम् ॥ २७
 अशिलैव शिला स्वप्ने नभ एवानभो यथा ।
 भवेत्तथेह सर्गादि स्वप्ने दृश्यस्थितिश्चित्तौ ॥ २८
 अनाकारैव चिच्छान्ता स्वप्नवद्यत्स्वचेतनम् ।
 वेत्ति तज्जगदित्युक्तं तच्चानाकारमेव सत् ॥ २९
 वायोः स्पन्दो यथान्तस्थो वात एव निरन्तरः ।
 तथेदं ब्रह्मणि ब्रह्म न चोदेति न शाम्यति ॥ ३०
 द्रवत्वमम्भसि यथा शून्यत्वं नभसो यथा ।
 यथा वस्तुनि वस्तुत्वं ब्रह्मणीदं जगत्तथा ॥ ३१
 न प्रयातं न वाऽऽयातमकारणमकारणात् ।
 न च नास्ति न वास्तीदं भिन्नं ब्रह्मपदे जगत् ॥ ३२
 न चानादिं निराभासं निराकारं चिदम्बरम् ।
 दृशः कारणमन्यस्याः क्वचिद्भवितुमर्हति ॥ ३३
 तस्माद्यथावयविनोऽवयवाः स्वात्ममात्रकाः ।
 तथानवयवे ब्रह्मव्योम्नि व्योम जगत्स्थितम् ॥ ३४
 सर्वं शान्तं निरालम्बं क्षप्तिमात्रमनामयम् ।
 नेह सत्ता न वासत्ता न च नानास्ति किंचन ॥ ३५
 संकल्पस्वप्नगरनृत्तवत्सर्वमाततम् ।
 स्थितमेव समं शान्तमाकाशमजमव्ययम् ॥ ३६

युक्तमित्याह—यथेति ॥ २० ॥ तर्हि ब्रह्म कथं ब्रह्माण्डाकारं
 संपन्नं कियत्कालं वा एवं स्थास्यति तद्वदेति रामः पृच्छति—
 कथमिति ॥ २१ ॥ न ब्रह्म कदापि साकारं संपन्नम्, नापि तस्य
 कालिकपरिच्छेदोऽस्ति, किंतु यावदप्रबोधं सुप्त इव स्वात्मान-
 मेव जगदाकारमिव पश्यतीत्याशयेनोत्तरमाह—अनादीत्यादिना
 ॥ २२ ॥ २३ ॥ तेन स्वयमेव विश्वमिति उक्तं तच्च मृषा
 ॥ २४ ॥ २५ ॥ चिदेकस्वभावे ब्रह्मणि तद्विरुद्धा गिरिकाठि-
 न्यादिस्वभावाः कथं सत्याः स्युरित्याह—कठिना इति ॥ २६ ॥
 तथा च चिदेव भ्रान्तिचेतनेन तथा तथा स्थितेव न वस्तुत
 इत्याह—यदिति ॥ २७ ॥ एवकारो भिन्नक्रमः । अनभ एव
 यथा नभ इति ॥ २८ ॥ उक्तं शतशो मयेत्यर्थः ॥ २९ ॥
 ॥ ३० ॥ ३१ ॥ प्रयातं प्रलयेन तिरोभूतम् । आयातमावि-
 र्भूतम् ॥ ३२ ॥ ब्रह्म तु कारणत्वादियोग्यं न भवत्येवेत्याह—
 न चेति । अन्यस्याः सर्गदृशः ॥ ३३ ॥ स्वात्ममात्रकाः पृथ-
 गसन्तः ॥ ३४ ॥ सर्वापलापे 'नेह नाना' इति श्रुतिः प्रमाण-
 मिति भावः ॥ ३५ ॥ तथाविधस्यापि प्रतिभासे दृष्टान्तमाह—

१ यद्यथात्मवर्णनं यत्र इत्यपि पाठः.

परमचिदम्बरहृदयं
चित्त्वाद्यत्कचति कान्तममलमलम् ।

तदिदं जगदिति कलितं
तेनैव तदात्मरूपमाकल्पम् ॥

३७

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे पा० दे० मो० नि० उ० सर्गकारणनिरासो नाम पञ्चाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०५ ॥

षडधिकद्विशततमः सर्गः २०६

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

यदकारणकं भाति भानं तन्नैव किंचन ।
तत्तथा परमार्थेन परमार्थः स्थितोऽनघ ॥ १ ॥
अत्रेमं केनचित्पृष्टोऽयमहं तं महामते ।
सम्यग्बोधस्य पुष्ट्यर्थं महाप्रश्नं परं शृणु ॥ २ ॥
अस्त्यब्धिभ्यामुभयतो व्याप्तं ख्यातं जगद्भये ।
कुशद्वीपमिति द्वीपं भूमौ वलयवत्स्थितम् ॥ ३ ॥
तत्रास्तीलावती नाम हैमी पूर्वोत्तरे पुरी ।
दीप्तिज्वालामयस्तम्भप्रोतावनिनमस्तला ॥ ४ ॥
पूर्वं तस्यामभूद्राजा प्रज्ञप्तिरिति विश्रुतः ।
अनुरक्तजगद्भूतः शक्रः स्वर्ग इवापरः ॥ ५ ॥
केनचित्कारणेनाहं कदाचित्तस्य भूपतेः ।
प्राप्तः समीपं नमस्तः प्रलयार्क इव च्युतः ॥ ६ ॥
पुष्पाव्याचमनीयैर्मां पूजयित्वापविश्य सः ।
मध्ये कथायां कस्यांचिदपृच्छत्प्रणयादिदम् ॥ ७ ॥
भगवन्सर्वसंहारे जाते शून्यतते स्थिते ।

अवाच्ये परमे व्योम्नि सर्वकारणसंक्षये ॥ ८ ॥
सर्गारम्भस्य भूयः स्याद्वद किं मूलकारणम् ।
कानि वा सहकारीणि कारणानि कुतः कथम् ॥ ९ ॥
किं जगत्किं च सर्गादि काश्चिन्नित्यं तमोधराः ।
व्योमसंस्थानार्णवाः काश्चित्काश्चित्कमिकुलाकुलाः ॥ १० ॥
काश्चिदाकाशकोशस्थाः काश्चिचोपलकोशगाः ।
किंच वा भूतभूतादि कुतो बुद्ध्यादयः कथम् ॥ ११ ॥
कः कर्ता कोऽथ वा द्रष्टा काधाराधेयता कथम् ।
न कदाचिन्महानाशो जगतामिति निश्चयः ॥ १२ ॥
समस्तवेदशास्त्रार्थाविरोधाय समर्थितः ।
यथा संवेदनं नाम तथा नामानुभूतयः ॥ १३ ॥
यतस्ततो वेदनं स्यात्किमनाशमसन्मयम् ।
अन्यच्च जम्बूद्वीपादौ देशेऽद्य मुनिनायक ॥ १४ ॥
मृतानामग्निदग्धानामिह वा देहनाशिनाम् ।
नरकस्वर्गभोगाय विदेहे देहकारणम् ॥ १५ ॥

संकल्पेति ॥ ३६ ॥ अमलं स्वच्छं कान्तं स्फुरद्रूपं परमस्य
चिदम्बरस्य हृदयं सारभूतं स्वरूपमेव चित्समावाद्ययदाकारं
प्राप्त्या अलं समर्थं कचति तदेव स्वकल्पितमात्मरूपमाकल्प-
माप्रलयं तेनैव जगदिति कलितं बुद्धं नान्यदित्यर्थः ॥ ३७ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
सर्गकारणनिरासो नाम पञ्चाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०५ ॥

अत्रैव सज्जगत्तास्तीत्येतन्निर्णयहेतवः ।

कुशद्वीपेश्वरप्रोक्ताः प्रश्ना इह निरूपिताः ॥ १ ॥

परमार्थो ब्रह्मैव परमार्थेन स्थितः । अकारणकं यज्जगद्भानं
भाति तत्किंचनापि नैवास्ति इति पूर्वप्रत्यक्षफलितार्थः उत्तरप्र-
त्यक्षतारयोपपन्नस्तः ॥ १ ॥ अत्रास्तिजर्थे सम्यग्बोधस्य
पुष्ट्यर्थमिदं वक्ष्यमाणं महाप्रश्नं परमन्यं शृणु ॥ २ ॥ अब्धिभ्यां
सुरोदघृतोदाभ्यामुभयतो वलयवत्स्थितम् ॥ ३ ॥ पूर्वोत्तरयोरन्त-
राले दिग्भाने । 'दिङ्गमान्यन्तराले' इति बहुव्रीहिः । दीप्ति-
ज्वालावलिस्तम्भैः प्रोते अवनिनमस्तले यत्र ॥ ४ ॥
तस्यां पुरि पूर्वं मागे ॥ ५ ॥ ज्योतिष्काच्युतः प्रलयकालेऽर्क
इव ॥ ६ ॥ ७ ॥ शून्यतया तत्ते विस्तीर्णं नामप्रवृत्तिनिमि-
त्तज्वालादिरूपचतुष्टयाभावाद्वाच्ये सर्वकारणानां बीजादीनां
पृथ्यादीनां च संक्षये जाते सति ॥ ८ ॥ मूलकारणमुपादा-
नम् । सहकारीणि निमित्तकारणानि । तानि यदि सन्ति तर्हि
कुत उपादानदेः कथं केनोपायेन जातानि ॥ ९ ॥ उत्पन्नं

जगच्च तत्पतः किम् । तस्य सर्गादिप्रलयान्ता विकाराश्च किम् ।
तत्रापि काश्चिद्भूमयो नित्यं तमोधराः । काश्चिद्भूलोकादयो
व्योमसंस्थानार्णवाः । 'अरख भ्यश्चार्णवौ' इति श्रुतेः । काश्चि-
रकादिभूमयः कृमिकुलैराकुल इत्यादिवैचित्र्यं च किम् ॥ १० ॥
आकाशकोशस्था अन्तरिक्षादिलोकाः । उपलकोशगाः शिलो-
दरगता दैत्यदानवादिनगर्यः । भूतानि पृथिव्यादीनि तद्रत-
चतुर्विधभूतप्रामादि च तत्त्वतः किम् । तेषामाध्यात्मिका
बुद्ध्यादयश्च किं कथं वा ॥ ११ ॥ एतेषां सर्वेषां कर्ता निर्माता
कः । अथ को वा द्रष्टा । यदि तु कर्मब्रह्मोभयकाण्डात्मकसम-
स्तवेदशास्त्रार्थाविरोधाय जगतां कदाचिदपि महानाशः प्रलयो
नास्ति किंतु तत्तत्प्राणिकर्मानुसारेण सदैव व्यवहारः प्रवर्तते
न कदाचिदनीदृशं जगदिति निश्चयः समर्थितस्तर्हि यथा संवे-
दनं तथैवानुभूतय इति प्रसिद्धेः संवेदनं देहादिहेतुरित्युच्येत
उतान्यत् । तत्राद्ये पक्षे तत्संवेदनं किमनाशं शाश्वतं किं न
असन्मयं नश्वरमिति । यद्यनाशं तर्हि कूटस्थमेवेति न देहा-
दिविकारं स्यात् । यदि नश्वरं तर्हि तदुत्पत्तौ कारणं वाच्यम्,
तच्च दुर्वचम्, विना संवेदनं तस्यासिद्धेरिति विरोधादित्युत्तरा-
काभ्यां सहान्वयः ॥ १२ ॥ १३ ॥ द्वितीयेऽपि शङ्कते-
अन्यच्छेत्त्यादिना ॥ १४ ॥ इह कुशद्वीपादौ वा देहनाशवताम् ।
विदेहे देहोत्पादकमातापित्रादिशून्यप्रदेशे देहं प्रति उपादान-
कारणं सहकारीणि निमित्तकारणानि वा कानि ॥ १५ ॥

किं तत्स्यात्सहकारीणि कारणान्यथ कानि वा ।
 धर्माधर्मावमूर्तौ द्वौ तस्यामूर्तस्य मूर्तता ॥ १६
 निर्द्रव्यं कुरुते द्रव्यैर्युक्तिरित्यसमञ्जसा ।
 मातापित्राद्यभावो हि बीजं किं तत्र कारणम् ॥ १७
 अन्ये वा हेतवः के स्युः कथं द्रव्यादिसंभवः ।
 परलोकोऽस्य नास्तीति यथासंवेदनं स्थितेः ॥ १८
 समस्तलोकवेदादिविरोधाच्चासमञ्जसम् ।
 अनिच्छितेहितैर्दूरदेशान्तरगतैः फलम् ॥ १९
 प्रजा प्राप्नोत्यसंबन्धैरमूर्तैरत्र कः क्रमः ।
 स्तम्भो वरेण सौवर्णो विना हेमगमागमैः ॥ २०
 क्षणात्संपद्यते तत्र संपत्तिः कथमुच्यताम् ।
 विधीनां प्रतिषेधानां निर्निमित्तं विवल्गताम् ॥ २१
 रूढानामप्यरूढानां किं प्रयोजनमुच्यताम् ।
 असदासीजगत्पूर्वं सत्संपन्नमनन्तरम् ॥ २२
 इति श्रुतेः कथं ब्रह्मन्कथ्यतां संगतार्थता ।
 अयं भवेत्कथं ब्रह्मा भवेच्चेत्तन्महामुने ॥ २३
 एवंप्रभावान्नभंसः किं सर्वसात्र जायते ।

मनु धर्माधर्माविव देहाद्याकारेण परिणस्येते तत्राह—धर्माधर्मा-
 विति । तस्य अमूर्तस्य द्वयस्य मूर्तता असमञ्जसत्वेपकृष्य संबन्धः
 ॥ १६ ॥ किंच निर्द्रव्यं अद्रव्यं द्रव्यमिदं तदुभयं द्रव्यैः पार्थि-
 वादिभागैर्देहादिनिर्माणं कुरुते इति युक्तिरप्यसमञ्जसा । निर्वा-
 षत्वादप्यसमञ्जसमित्याह—मातापित्रादीति ॥ १७ ॥ तर्ह्यस्तु
 नास्तिकपक्षस्तत्राह—परलोक इति । अस्य धर्माधर्मादिकर्तुः
 परलोको नास्तीति च असमञ्जसम् । अस्यैव जन्मनः पूर्वज-
 न्मापेक्षया परलोकत्वात् । अस्य च यथासंवेदनं स्थितेः
 ॥ १८ ॥ समस्तलोकवेदादिविरोधप्रसङ्गाच्च नास्तिकपक्षो न
 ग्राह्य इत्याह—समस्तेति । किंचेयं प्रजा स्वेच्छाचेष्टाद्यविषयै-
 रपि देशान्तरगतैरत एवासंबन्धैरमूर्तैरपि राजाशादिभिर्विध-
 न्धदण्डादिकलं प्राप्नोति तत्र च कः क्रमः का उपपत्तिः ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥ किंच शिलादिभयः स्तम्भो देवमुन्यादिवरेण हेतुः
 अर्जनार्थं गमनागमनैर्विनापि यत्र सौवर्णः स्तम्भः क्षणात्सं-
 पद्यते तत्रापि सा संपत्तिः कथं कया उपपत्त्या । निर्नि-
 मित्तं अचेतनत्वात्प्रयोजनसिद्धिरूपं निमित्तं विनैव प्रवल्गतां
 प्रवर्तमानानां विधिप्रतिषेधशास्त्राणां लोके प्रचारेण निरूढानां
 कैरप्यनुष्ठानादरूढानामपि किं प्रयोजनम् ॥ २१ ॥ तथा
 'असद्वा इदमत्र आसीत्ततो वै सदजायत', 'असदेवेदमत्र आ-
 सीत्', 'सदेव सोम्येदमत्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्', 'नासदा-
 सीन्नो सदासीत्तदानीम्' इत्यादिश्रुतेः कथं परस्परं संगतार्थता
 ॥ २२ ॥ किंच सर्गादौ शून्यान्नभंसः सकाशादयं ब्रह्मा हिर-
 ष्यगर्भः कथं भवेत् । यदि नभस एवंप्रभावता अस्तीत्युच्येत
 तर्ह्येवंप्रभावात्सर्वस्मात्सर्वप्रदेशमिहात्सर्वत्र ब्रह्मा कुतोऽन्यो न
 जायते ॥ २३ ॥ औषधीनां स्वस्वपूर्वबीजादिजननस्वभावा

औषधीनामथार्थानां सर्वेषां वा स्थितिं गताः ॥ २४
 कथं स्वभावाः कथय यथावोधं मुनीश्वर ।
 एकस्य जीवितं पुंसः सुहृदा मरणं द्विषा ॥ २५
 मृत्युार्थितं प्रयागादौ क्षेत्रे तत्कथमुच्यताम् ।
 खे स्यामक्षयपूर्णन्दुरिति ध्यायिचित्तैः फलैः ॥ २६
 तुल्यकालमनुप्राप्तैः सहसेन्दु न किं नभः ।
 अन्यच्च ध्यायिनां लक्षैर्ध्यातैका स्त्री यथाक्रमम् ॥ २७
 जायात्वेन समं कालं लब्धं ध्यानफलं च तैः ।
 साध्यसाध्वी गृहे भर्तुः संस्थिता तपसा परा ॥ २८
 तेषां च जाया संपन्ना कथमेतन्महामुने ।
 गृहानिर्गच्छमाकल्पं नृपः स द्वीपसप्तके ॥ २९
 वरत्वं वरशापाभ्यामिति अन्तः क तिष्ठति ।
 दानधर्मादितपसामौर्ध्वदेहिककर्मणाम् ॥ ३०
 इहस्थानाममूर्तानां मूर्तं प्रीत्यास्ति सत्फलम् ।
 व्यवहर्ता न मूर्तोऽत्र विद्यते लोकयोर्द्वयोः ॥ ३१
 देशान्तरे भृशं जीवो भृशं कालान्तरेऽपि वा ।
 फलं संभवतीयच्चद्विनानुभवनं मुने ॥ ३२

अथान्येषां ब्रह्मादीनामौष्ण्याविस्वभावाच्च कथं तत्कथय ॥ २४ ॥
 किंचैकस्यैव पुंसः सुहृदा द्विषा च युगपज्जीवितं मरणं च प्रयागादौ
 कामप्रदे क्षेत्रे मृत्युं यदा अर्थितमर्थयित्वा मृतम् । मरणकाले
 तदुत्तरकालं च कामवासनानुवृत्तेर्मुखं व्यादाय स्वपिपीतिवदौ-
 त्तकालिकांशापेक्षया कथंचिन्मरणस्य पूर्वभावं प्रकल्प्य क्त्वाप्र-
 योगः । तत्कथं संपद्यते ॥ २५ ॥ किंच अहं खे नभसि पूर्णेन्दुः
 स्यामिति कामनया चन्द्रभावप्रापकोपासनविध्यनुसारेण ध्यायि-
 मिर्वहुभिरुपासकैश्चितैरवश्यमावित्वेन संवितैस्तुल्यकालमनुप्रा-
 तैश्चन्द्रभावफलैर्नभो युगपत्सहसेन्दु अनेकचन्द्रसहितं किं न
 जायते ॥ २६ ॥ २७ ॥ तेषां सर्वेषां च जाया कथं संपन्ना ।
 सा च तेषां भिन्नदेशे गृहे एका कथं स्थिता । सा च स्वतपसा
 परा ब्रह्मचारिणी तेषां प्रत्येकं तपसा साध्वी बहुभोग्यत्वाद-
 साध्वी च कथं संपन्ना ॥ २८ ॥ अहं गृहादिर्निर्गच्छं निर्गमनं
 विनैव आकल्पं द्वीपसप्तके नृपः स गृहे तिष्ठेयमिति च विरुद्धम् ।
 यत्र वराच्छापाद्वा संपादितं तत्र गृहान्तर्भोग्यं वरस्य वरत्वं
 क तिष्ठति । कथमुपपद्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥ किंच दानधर्मा-
 दितपसामौर्ध्वदेहिकश्राद्धादिकर्मणां चाहृष्टं क्रियोत्पत्तिप्रदेशे
 यद्युत्पद्यते तर्हि इहस्थानां परलोके तच्छून्यदेशे कथं फलम् ।
 किंचाहृष्टं मूर्तदेहादौ प्रीतिजननेन सत्फलं वाच्यम् । न च
 तत्रत्ये मूर्ते देहे तत्सत्त्वमस्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ यदि ज्ञूया व्यव-
 हर्ता जीवस्तत्त्वमवेतं तददृष्टं यत्र तस्य भोगस्तत्रास्तीति ।
 तत्र । यतो द्वयोरपि इहलोकपरलोकयोर्व्यवहर्ता जीवो मूर्तो
 न विद्यते । न चान्नलो देहादिमूर्ता देशान्तरे कालान्तरे च
 विद्यन्ते । यदाश्रयेणास्य मृशं फलं संभवतीयत्यर्थः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

असमञ्जसमेवाति कथं स्यात्समञ्जसम् ।

इत्यादिसंशयगणं निरा शीतावदातया ।

छिन्धि मेऽभ्युदितं भासा सांध्यमान्ध्यमिवोदुपः ॥

इत्यर्थे श्रीवासिष्ठमहारायाणे वा० दे० मो० ति० उ० महाप्रश्नो नाम षडधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०६ ॥

सप्ताधिकद्विशततमः सर्गः २०७

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

शृणु राजन्यथा स्पष्टमेतत्ते कथयाम्यहम् ।

येन ते सर्वसंदेहा यास्यन्त्यलममूलताम् ॥ १

सर्वे तावज्जगद्भावा असद्रूपाः सदैव हि ।

सद्रूपाश्च सदैवमे यथासंवेदनं स्थितेः ॥ २

इदमित्थमिति श्रोता यत्र संवित्तदेव तत् ।

भवत्यवश्यं तत्त्वज्ञ सदेवास्त्वसदेव वा ॥ ३

ईदृक्स्वभावा संवित्तिस्तथा देहो विभाव्यते ।

एक एव स्वरूपेण तस्यास्ते न च तद्विद्वा ॥ ४

विदमेव विदुर्देहं स्वभादावितरेतरा ।

संवित्काचित्संभवति न चान्यास्ति शरीरता ॥ ५

इत्याद्यसमञ्जसं सर्वं कथं समञ्जसं स्यात् । इत्यादिसंशयगणं शीतान्दातया निरा उदुपधन्त्रः संध्यायां भवं सांध्यमान्ध्यं संम हव छिन्धि ॥ १३ ॥ हे भगवन्, परमवस्तुनि परमात्मनि विषये उपदेशेन सर्वसंशयनाशनादुभयलोकहितं विरुद्धसद्वृत्तफलमप्यविरुद्धं स्फुटं भवति । अतस्तत्परमवस्तुबोधनं मे कुरु । ननु महाफलमिव कथं सहसैव मया कार्यं तत्राह—साध्विति । भवत्सदृशमहत्समागमस्तनुफलस्तुच्छफलः कस्यचिन्मादृशस्यापि न भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारायाणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महाप्रश्नो नाम षडधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०६ ॥

कमच्युक्कमतः प्रश्नाः केचिदत्र समाहिताः ।

समाधायत्ययान्यांश्च सर्गेस्त्रिभिरुदारधीः ॥ ३ ॥

तत्रैकविंशानेनैव सर्वविज्ञानात्सर्वसंशयानां मूलोच्छेदेन परिहारात्त्वामान्यतः सर्वप्रश्नसमाधानं करिष्यामीति प्रतिजानीते—शृण्विति । स्पष्टं करतलमलकवत्स्फुटमेतदात्मतत्त्वं कथयामि ॥ १ ॥ तत्रादौ स्वतःप्रमाणस्वसंवेदनानुसारिणामर्थतत्त्वव्यवस्थायां कोऽपि, कापि संशयोऽनुपपन्न इत्याह—सर्वे इति । यत्र यदस्तीति प्रत्ययो यत्र न नास्तीति तत्रोभयत्रापि संविदैव भगवत्त्वा तदुभयवृत्तसमर्थनादिति भावः ॥ २ ॥ यत्र विषये इदं वस्तु नीलं पीतं घटः पटः अस्ति नास्तीति वा इत्यभेदेति अवधारणेन संवित्तिः श्रोता व्याप्ता हे अत्र, तस्य विषयस्य तद्रूपमवश्यं भवत्येव, तस्य सद्वा असदेव वास्तु न तत्राग्रह इत्यर्थः ॥ ३ ॥ तत्स्फुट इति चेतस्वित्तेर्यथाप्रतिभासमर्थसाधकस्वभावादित्याह—ईदृगिति । तथा च नरकसर्गभोग्या

परमवस्तुनि संशयनाशना-

दुभयलोकहितं भवति स्फुटम् ।

तदिह मे कुरु साधुसमागम-

स्तनुफलो भवतीह न कस्यचित् ॥ ३४

आश्रितस्वप्नसंदर्शस्तथैवं भासते जगत् ।

समस्तकारणाभावात्सर्गादावन्यतात्र का ॥ ६

एवं यदेव विमलं वेदनं ब्रह्मसंज्ञितम् ।

तदेवेदं जगद्भाति तत्केव जगतोऽन्यता ॥ ७

एवं पूर्वापरं शुद्धमविकार्यजगत्स्थितेः ।

लोकवैदमहाशास्त्रैरनुभूतमुदाहृतम् ॥ ८

अपलाप्यैव ये मूढा अन्धकूपकमेकवत् ।

समस्तभूतसंवित्तौ रुढपूर्णं महात्मभिः ॥ ९

वर्तमानानुभवनमात्रमोहप्रमाणकाः ।

शरीरकारणा संविदिति मोहमुपागताः ॥ १०

उन्मत्ता एव तेऽज्ञास्ते योग्या नास्तकथासु ते ।

विदेहे देहकारणं किं तत्त्यादिति प्रश्नः समाहित इत्याह—तथेति । तथा संवित्त्वा देह एक एव स्वरूपेण आत्मभावेन प्रथमं विभाव्यते । तेन देहेन तस्याः संविदो विदा अभिव्यक्तित्वं विभाव्यते देहस्यात्मता संविदो देहधर्मता चेति वैपरीलमध्यस्त इति यावत् ॥ ४ ॥ अत एव हि जनाः स्वप्नजाग्रतोर्देहं वेत्तीति वित् तथाविधं चेतयितारमेव विदुरनुभवन्ति । इतरा संविन्तु इतरा चेतयितुर्धर्मो न स्वयं चेतयित्रीति विदुः । अतः काचिद्भ्रान्तिरूपा संविदैव शरीरता संभवति तदन्या शरीरता नास्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥ आद्यप्रश्नत्रयमप्यनयेन दिशा समाधेयं जगतोऽपि संवेदनबलदेव सिद्धेरित्याशयेनाह—आधितेति । सर्गादौ जगदपि समस्तकारणाभावादवश्यमश्रणीयः स्वप्नं संपश्यतीति स्वप्नसंदर्शः संविदात्मैवेत्यं भासते । अत्र जगति अन्यता स्वप्नवैधर्म्यरूपा का । न काचिदपि । अथवा अस्ति नास्तीति प्रत्यगात्मस्वभावेनैव जगदनुभवतत्पन्यता का । न काचिदपीत्यर्थः ॥ ६ ॥ तदेवाह—एवमिति ॥ ७ ॥ एवमविकार्यस्य ब्रह्मण एव जगद्रूपेण स्थितेर्विद्वद्वैदेरप्यात्मशास्त्रैश्च प्रमाणैरेवमेवास्माभिरनुभूतं तदेवोदाहृतं नान्यदित्यर्थः ॥ ८ ॥ समस्तानां भूतानां प्राणिनां संवित्तौ रुढं इहानुभवसिद्धं सत्तात्मना सर्वत्र पूर्णं च महात्मभिरुक्तं जगतो नित्यसंविन्मात्रत्वमपलाप्यैव ये मूढा आपातवर्तमाननामरूपमात्रानुभवनमात्रप्रमाणकाः सन्तः संविन्नं नित्यास्ति किंतु शरीरमेव कारणं यस्यास्तथाविधा जडोपादानिका जडान्नो गुण इति मोहमुपागतास्ते अज्ञा नैयायिकचार्वकादयः सन्मत्ता एवेति त्रयाणामन्वयः ॥ ९ ॥ १० ॥ कुतो न योग्यास्तनाह—

अक्षीवक्षीवयोर्मूढबुद्धयोः कैव संकथा ॥ ११
 यया विपश्चित्कथया सर्वसंशयसंक्षयः ।
 न भवेत्त्रिषु लोकेषु ज्ञेया मूर्खकथैव सा ॥ १२
 प्रत्यक्षमात्रनिष्ठोऽसौ मूढास्थ इति वक्ति यत् ।
 तेन निर्युक्तिनोकेन शिलासदृशवृत्तिना ॥ १३
 प्रोक्तः सर्वविरुद्धेन सोऽज्ञः कूपान्धदुर्दुरः ।
 पूर्वापरधियं त्यक्त्वा वर्तमाने मतिस्थितः ॥ १४
 वेदा लोकादयश्चैते पृष्ठाः स्वानुभवान्विताम् ।
 वदन्तीमां दृशं सर्वं यथा नश्यन्ति संशयाः ॥ १५
 संविदेव शरीरं चेच्छवं कस्मान्न चेतति ।
 इति यस्य मतिस्तस्मै मूढायेदमिहोच्यते ॥ १६
 ब्रह्मणो ब्रह्मरूपस्य संकल्पनगरं ततम् ।
 इदं तावज्जगद्भानं तव स्वप्नपुरं यथा ॥ १७
 तत्समस्तं सदैवेदं चिन्मात्रात्म निरन्तरम् ।
 भवत्यत्र न ते भ्रान्तिः स्वे स्वप्ननगरे यथा ॥ १८
 तत्र तावद्दिशः शैलाः पृथ्व्यादि नगरादि च ।
 सर्वं चिन्मयमाकाशमिति ते स्वानुभूतिमत् ॥ १९
 संविद्योम घनं ब्रह्म तत्संकल्पपुरं विराट् ।
 शुद्धसंविन्मयो ब्रह्मा तदिदं जगदुच्यते ॥ २०
 ब्राह्मे संकल्पनगरे यद्यत्संकल्पितं यथा ।
 तथानुभूयते तत्तत्त्वत्संकल्पपुरे यथा ॥ २१
 संकल्पनगरे यद्यद्यथा संकल्प्यते तथा ।

तत्तथास्त्येव च तदा त्वत्संकल्पपुरे यथा ॥ २२
 तस्माद्देहस्य नियतौ यथेतौ ब्रह्मणा चिता ।
 स्पन्दास्पन्दौ कल्पितौ द्वौ स तथैवानुभूतवान् ॥ २३
 महाप्रलयपर्यन्ते पुनः सर्गः प्रवर्तते ।
 समस्तकारणाभावाद्भव्यं तावन्न विद्यते ॥ २४
 विमुक्तत्वात्प्रजेशस्य न च संभवति स्मृतिः ।
 ब्रह्मैवेयमतो दीप्तिर्जगदित्येव भासते ॥ २५
 तस्मादाद्यात्मना भातं स्वमेव ब्रह्मणा स्वतः ।
 जगत्संकल्पनगरमिति बुद्धं च खेन खम् ॥ २६
 यथा संकल्पनगरं चिन्मात्रं भाति केवलम् ।
 तथैवाकारणं भाति चिन्मात्रोन्मेषणं जगत् ॥ २७
 शरीरमस्तु वा मास्तु यत्र यत्रास्ति चिन्नमः ।
 वेत्यात्मानं तत्र तत्र द्वैताद्वैतमयं जगत् ॥ २८
 तस्माद्यथा स्वप्नपुरं यथा संकल्पपत्तनम् ।
 तथा पश्यति चिद्योम मरणानन्तरं जगत् ॥ २९
 अपृथ्व्यादिमयं भाति पृथ्व्यादिमयवज्जगत् ।
 यथेदमाऽऽप्रथमतो मृतस्याप्यखिलं तथा ॥ ३०
 देशकालौ न सर्गेण प्रबुद्धस्येव तौ यथा ।
 अणुमात्रमपि व्याप्तौ तथैव परलोकिनः ॥ ३१
 इदं प्रबुद्धविषये स्वानुभूतमपि स्फुटम् ।
 जगन्न विद्यते किञ्चित्कारणं गगने यथा ॥ ३२

अक्षीवेति ॥ ११ ॥ यस्तु मूढा आस्था बुद्धिर्यस्य तथाविध-
 श्चार्वाकः असौ प्रपन्नः प्रत्यक्षमात्रं निष्ठा प्रमाणं यस्य तथाविधो
 नाप्रत्यक्षप्रमाणमस्तीति श्रुत्यादिसिद्धं न ब्राह्ममिति वक्ति स
 तेन निर्युक्तिनोकेन सर्वविरुद्धेन अभिज्ञजनकर्णकठोरत्वाच्छि-
 लासदृशवृत्तिना स्वीकेनैव निमित्तेन सर्वैर्विद्वद्भिरज्ञः कूपान्धद-
 दुर्दुर इति प्रोक्तः । यतोऽसौ पूर्वापरविचारधियं त्यक्त्वा वर्तमान-
 मात्रगोचरे प्रत्यक्षे स्वमत्या पशुवस्थित इति द्वयोरन्वयः
 ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ न च चार्वाकाद्युक्त्या संशया नश्यन्ति,
 अनुमानादिप्रमाणानभ्युपगमेन तदुक्तेनिर्युक्तित्वात् । वेदादयस्तु
 गुरुमुखेन पृष्ठाः सर्वसंशयोच्छेदेन पुरुषार्थसिद्धिक्षमाः । यतस्ते
 स्वानुभवान्विता इमां मदुक्तां दृशं वदन्तीत्याह—वेदा इति ।
 लोकास्तत्त्वज्ञजनाः ॥ १५ ॥ यदि प्रत्यगात्मसंविदेव देहादि
 जगत्तर्हि सर्वं मृतशरीरमपि संवित्त्वात्कृतो न चेततीति मतिः
 शङ्का यस्य तस्मै मूढाय शुश्रूषवे इदमुच्यते शृणु ॥ १६ ॥
 ब्रह्मरूपस्य हिरण्यगर्भवेषस्य ब्रह्मण इदं जगद्रूपं भानं संकल्प-
 नगरं ततं विस्तृतम् ॥ १७ ॥ तद्वस्तुतो निरन्तरं चिन्मात्रात्मैव
 तथापि अत्र ते स्वे स्वप्ननगरे चैतनभ्रान्तिर्यथा न तथा शवा-
 दिजडेऽपि नेति बोध्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥ तत्र स्वप्ने स्वानुभूति-
 मत् विचारे स्वानुभवसिद्धम् ॥ १९ ॥ तद्वज्जगत्सपि चिन्मयत्वं
 संभावनीयमित्याह—संविदिति । ब्रह्मा हिरण्यगर्भः । विराट्
 ब्रह्माण्डशरीरम् । तत्तादृशमेवेदं जगच्छुद्धसंविन्मयमित्यर्थः

॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ देहस्य जीवत एव स्पन्दो मृतस्य
 त्वस्पन्द इति नियतौ स्पन्दास्पन्दौ ब्रह्मणा हिरण्यगर्भरूपया
 चिता यथा कल्पितौ तथैव सत्त्वमनुभूतवान्न वैपरीत्येनेति शब्दे
 न चेतनताव्यञ्जकस्पन्दप्रसक्तिरित्यर्थः ॥ २३ ॥ 'निर्द्रव्यं कुर्वते
 द्रव्यैर्युक्तिरित्यसमञ्जसा' इति प्रश्नं समाधातुं तदाशयं परिष्क-
 रोति—महाप्रलयेति सार्धेन ॥ २४ ॥ ननु पूर्वप्रजापतिनि-
 र्मितं द्रव्यमत्रोपयोक्ष्यते तत्राह—विमुक्तत्वादिति । पूर्वप्रल-
 यात्पूर्वमेव पूर्वप्रजेशस्य विमुक्तत्वात्तत्कृतजगतो निःशेषं
 प्रलयादित्यर्थः । अतस्तत्प्रकारस्मृत्यादिनिमित्तकारणान्यपि न
 सन्तीति त्वदाशय इति भावः । अयं च त्वदाशयोऽस्मत्सिद्धा-
 न्तसिद्धावनुकूल एवेति समाधत्ते—ब्रह्मैवेति । दीप्तिः स्वयं-
 ज्योतिर्ब्रह्मैव जगदिति भासते न द्रव्यरूपं जगदन्यदस्तीत्यर्थः
 ॥ २५ ॥ तदेव स्पष्टयनुपसंहरति—तस्मादिति । ब्रह्मणा प्रथमं
 आद्यो हिरण्यगर्भस्त्वदात्मना भातम् । भावे कः । ततस्तेन
 स्वयमेव संकल्पनगरं जगद्बुद्धं च ॥ २६ ॥ २७ ॥ एतेन
 'भातापित्रायभावेऽपि' इति प्रश्नोऽपि समाहित इत्याह—शरीर-
 मिति ॥ २८ ॥ मरणानन्तरं जगद्दर्शनेऽप्ययमेव न्यायो बोध्य
 इत्याह—तस्मादिति ॥ २९ ॥ आप्रथमतः आदिसर्वे ॥ ३० ॥
 यथा प्रबुद्धस्य तत्त्वविदः स्वप्नात्प्रबुद्धस्य वा स्वप्नदेशकालौ
 जाग्रत्सर्गेण अणुमात्रमपि न व्याप्तौ तथा परलोकप्राप्तस्यापि
 नैहिकदेशकालौ तत्र व्याप्तौ इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ एवं सत्त्व-

अप्रबुद्धस्यासदेव यथेदं भाति भासुरम् ।
तथैव सर्गवद्भाति व्योमैव परलोकिनः ॥ ३३
धुधराद्रियमाद्याढ्यं खमेव परलोकिनः ।
अभूतपूर्वमाभाति भूतपूर्ववदाततम् ॥ ३४
मृतोऽयं पुनस्तपन्नो यमलोके शुभाशुभम् ।
भुजेऽहमित्यतिघनं मृतो भ्रान्तिं प्रपश्यति ॥ ३५
मोक्षोपायानादरिणामेष मोहो न शाम्यति ।

बोधादवासनत्वेन मोह एव प्रशाम्यति ॥ ३३
अप्रबुद्धस्य या संवित्सा धर्माधर्मवासना ।
ख एव सारिमिका भाति यत्तदेव जगत्स्थितम् ॥ ३४
न शून्यरूपं न च सत्स्वरूपं
ब्रह्माभिधं भाति जगत्स्वरूपम् ।
तच्चापरिज्ञानवशादनर्थ-
भूतं परिज्ञातवतः शिवात्म ॥ ३५

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० सो० नि० उ० महाप्रश्नोत्तरं नाम सप्ताधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०७ ॥

अष्टाधिकद्विशततमः सर्गः २०८

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

शुभाशुभं यथोदेति प्रजानां गृहसंगमै ।
असंबद्धैरप्रतिघैर्दूरस्थैस्तदिदं शृणु ॥ १
ब्रह्मसंकल्पनगरं जगत्तावदिदं स्थितम् ।
यदृश्यं दृश्यबोधेन ब्रह्मैव ब्रह्मबोधतः ॥ २
यद्यत्संकल्पनगरे यदा संकल्प्यते यथा ।
तथानुभूयते तत्तत्तादृग्विरत्नं तदा ॥ ३
एवमसिन्गृहे याते संपन्नैवमियं प्रजा ।
एवं संकल्पसंपन्ने जगत्त्वेवं भवत्यलम् ॥ ४
एतत्त्वसंकल्पपुरे यादृशं ते तथा स्थितम् ।
यथा संकल्पयसि यत्तत्तथा किल पश्यसि ॥ ५
यथैव वरदापाभ्यां शुद्धसंविदवाप्यते ।

संवित्तथैव भवति ब्राह्ममेवेति कल्पनम् ॥ १
प्रजाविधितिषेधाध्यामेकयाऽऽस्थाव्यवस्थया ।
तथैव फलमाप्नोति ब्राह्ममेवेति कल्पनम् ॥ २
देहिनो ये जगत्संस्तान्प्रत्यनुपलम्भतः ।
असदासीजगत्पूर्वं सत्यमित्युपलभ्यते ॥ ३
चिद्रूपब्रह्मसंकल्पवशादेवैतदङ्ग सत् ।
चिदुन्मेषनिमेषौ यौ तावेतौ प्रलयोदयौ ॥ ४
राजोवाच ।

किं नोपलभ्यते पूर्वं किं पश्चादुपलभ्यते ।
जगच्चलद्वपुरिदं सुस्थिरारम्भमास्वरम् ॥ १०
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
असिन्धिह्योमसंकल्पपुरस्थे भाव ईदृशः ।

निदिध्रये जगदपि न व्याप्नोतीत्याह—इदमिति ॥ ३२ ॥ अप्रबु-
द्धस्य निद्राणस्य । व्योम चिद्वोमैव ॥ ३३ ॥ भूतपूर्ववत्पूर्वसि-
द्धवत् ॥ ३४ ॥ अयमहं मृतः पुनर्नारकिभावेनोत्पन्नो यमलोके
आगतस्त्रयं शुभाशुभं भुजे इत्यादिभ्रान्तिम् ॥ ३५ ॥ सा
भ्रान्तिर्निःशेषं मोक्षोपायसेवनदेव नश्यति नान्यथेत्याह—
मोक्षेति ॥ ३६ ॥ एतेन धर्माधर्मावेव जगदाकारेण परिणमेते
इत्यास्तिकपक्षोऽप्यनुगृहीते इत्याशयेनाह—अप्रबुद्धस्येति ।
संविद्धिहितनिषिद्धाचरणानुभवरूपा ॥ ३७ ॥ जगत्स्वरूपं स्वतः
शून्यरूपमपि न, सत्स्वरूपं च न, किंतु ब्रह्माभिधं नैतन्न्यमेव
जगत्स्वरूपं भाति । तच्च अज्ञानवशादेवानर्थभूतं परिज्ञातवतस्तु
शिवात्म परमकर्त्तार्यनिरतिशयानन्दात्मकमेवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
महाप्रश्नोत्तरं नाम सप्ताधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०७ ॥

दूरदेशगतैर्यत्नैरन्यत्रापि प्रजाफलम् ।

यथा प्राप्नोति सादृशा धातुरिच्छात्र वर्ण्यते ॥ १ ॥

‘अनिच्छतेहितैर्दूरदेशान्तरगतैः फलम् । प्रजा प्राप्नोत्यसंबद्धै-
रमूर्तैरत्र कः क्रमः’ इति अक्षस्योत्तरं श्रावयितुं प्रतिजानीते—
शुभाशुभमिति । अप्रतिघैरमूर्तैः ॥ १ ॥ यद्यस्माद्धेतोर्बोद्धेवा-
ज्ञानादृश्यबोधेन दृश्यं ब्रह्मबोधतश्च ब्रह्मैव भवति तस्मादिदं
जगत् ब्रह्मसंकल्पनगरमिति सावतिस्थितम् ॥ २ ॥ किं तत्-

स्वप्नाह—यद्यदिति ॥ ३ ॥ ततोऽपि किं तत्राह—एवमिति ।
यथा ते तत्र असिन्धुसंकल्पमये गृहे येयं प्रजा एवं त्वत्संक-
ल्पानुसारिणी संपन्ना तथैव ब्रह्मसंकल्पसंपन्ने जगत्स्यपि इयं
प्रजा ब्रह्मसंकल्पानुसारिण्येव भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥ तदेव स्पष्ट-
माह—एतदिति ॥ ५ ॥ यत्तु जगत्सत्संकल्पनगरवैलक्षण्य-
मनुभूयते तत्र वरदापसंकल्पसिद्धवद्बोध्यमित्याशयेनाह—यथै-
वेति । मुनीनां यमनियमादितिषेजगद्व्यासं विद्वद्वापाभ्या-
यथा व्यवहारक्षमा अवाप्यते ब्रह्मसंविदपि तथैव भवतीत्यर्थः ।
यद्वरदापाभ्यां भवति तदपि ब्रह्मणैव तपस्विनां वरदापा-
सिद्धान्तिवति कल्पनाद्वाहमेव सत्यसंकल्पनं बोध्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥
प्रकृते प्रजाविधितिषेधशास्त्राभ्यां बोधितयोर्धर्माधर्मयोर्मध्ये
एकया आस्थाव्यवस्थया तत्फलं यदाप्नोति तदपि ब्राह्ममेवेत्ये-
वंविधं संकल्पनमित्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥ असतो जगतः किंचि-
त्कालं सरवेन भागेमपि ब्रह्मसंकल्पवशादेवेत्याह—चिद्रूपेति ।
हे अत्र, एतज्जगत् ॥ ९ ॥ यदि जगत् ब्रह्मसंकल्पवशात्सर्वं हि
पूर्वं सुषुप्तिप्रलययोः किं कृतो नोपलभ्यते । पश्चाज्जाग्रत्सर्गका-
लयोः किमर्थमुपलभ्यते । चलद्वपुः सदा विक्रियमाणमिदं जग-
त्सुस्थिरारम्भवद्भास्वरं भासमानं किं केयमित्यर्थः ॥ १० ॥
मायिकस्यास्य स्वभावे एवेदं इत्युत्तरमाह—असिन्धिति ।
सर्वे स्वप्नाप्रतोर्भूत्वा प्रलयसुषुप्तिमोक्षेषु न भवत्येवेति ब्रह्म

यद्भूत्वा न भवत्येव पुनर्भवति च क्षणात् ॥ ११ ॥
 बालसंकल्पपुरचन्द्रयोमकेशोण्डकादिवत् ।
 किलैते सदसद्रूपा भान्ति सर्गाश्चिदात्मनि ॥ १२ ॥
 त्वं संकल्पपुरं कृत्वा विनाशयसि तत्क्षणात् ।
 स्वतोऽन्यसंविद्विशतः स्वस्वभावः स ते यथा ॥ १३ ॥
 चिद्योमकल्पनपुरे यदुन्मज्जनमज्जनम् ।
 स्वभावकचनं तस्य तद्विद्धि विमलं तथा ॥ १४ ॥
 संविद्धनस्त्वनाद्यन्तव्योमैव त्रिजगन्नभः ।
 तेनासावद्य यन्नाम करोत्यपि च चेतति ॥ १५ ॥
 तदनावरणस्यास्य योजनानां शतेष्वपि ।
 युगैरपि स्वप्न इव कार्यकृद्भर्तमानवत् ॥ १६ ॥
 किल देशान्तरे नित्यमथ लोकान्तरेऽपि च ।
 निरावृतो य एकात्मा स किं नाम न चेतति ॥ १७ ॥
 यथा मणौ प्रकचति प्रोन्मज्जननिमज्जने ।
 परावर्तः स्वभासास्य चिन्मणौ जगतां तथा ॥ १८ ॥
 विधीनां प्रतिषेधानां लोकसंस्थाप्रयोजनम् ।
 सैव संविदि रुढत्वात्प्रेत्यापि फलदा स्थिता ॥ १९ ॥
 न कदाचन यात्यस्तमुदेति न कदाचन ।
 ब्रह्म ब्रह्मचिदाभानं सर्वदात्मन्यवस्थितम् ॥ २० ॥

सावीदृशो भावः स्वभाव एव ॥ ११ ॥ बालसंकल्पपुरादौ
 यावत्संकल्पान्तिकालमात्रावस्थाननियमदर्शनेन सदसद्रूप-
 त्वावधारणाद्वा तस्य तथात्वमित्याह—बालेति ॥ १२ ॥ जग-
 त्संकल्पसिद्धे तत्प्रलयस्यापि संकल्पनाद्वा तथात्वमित्याह—
 त्वमिति । अन्यसंविद्विशतस्तत्प्रलयसंकल्पवशात् आकारान्तर-
 संकल्पवशात् यथायं ते स्वः स्वभावस्तथा चिद्योमसंकल्पपुरे
 तस्य ब्रह्मणो विमलं स्वभावकचनमिति परेणान्वयः ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥ अतस्त्रिजगन्नभः संविद्धनमात्रं सद्नाद्यन्तं व्योम
 ब्रह्माकाशमेव यतः स्वयमेव जगत्तेन हेतुना असौ परमेश्वरो
 यद्यचेतति करोत्यपि च तत्सर्वमनावरणस्यास्य सत्यसंकल्पव-
 शायोजनानां शतेष्वपि बहुभिर्युगैरपि व्यवहितं पुण्यपापादि-
 कर्म परलोकादिषु समीपे, वर्तमानवत्स्वर्गनरकभोगैश्वर्यादिकार्य-
 कृद्भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥ बहिर्देशकालव्यवधाने कर्मत-
 त्फलोभयाध्यासाधिष्ठानभूतो निरावरणो य एकात्मा तत्रोभयोः
 सदैव सन्निधानात्किं नाम कर्मफलं स जीवो न चेतति । सर्वं चेत-
 त्येवेत्यर्थः ॥ १७ ॥ यथा प्रकचति मणौ स्वभासैव कान्ति-
 विशेषस्य प्रोन्मज्जननिमज्जने अनुभूयेते तथा चिन्मणौ जगतां
 सृष्टिप्रलयात्मको नानाकर्मफलवैचित्र्यभोगात्मकश्च स्वभासास्य
 परावर्तनं परवर्तोऽनुभूयत इत्यर्थः ॥ १८ ॥ विधिप्रतिषेध-
 शास्त्रसाफल्यप्रयोजिका लोकसंस्थैव वा ब्रह्मणि निरुद्धत्वाद्दूर-
 स्थकर्मणामपि फलं कल्पयतीत्याह—विधीनामिति । प्रेत्य
 भूत्वा परलोकं गत्वा स्थितयेति शेषः ॥ १९ ॥ वस्तुतस्तु

यथा तु द्रष्टृदृश्यत्वात्कल्पना कल्पनापुरम् ।
 स्वयं जगदिवाभाति जातमित्युच्यते तथा ॥ २१ ॥
 यदा स्वभावात्कचनं संहत्यात्मनि तिष्ठति ।
 ब्रह्मचिद्गनैकात्मा शान्त इत्युच्यते तथा ॥ २२ ॥
 कचनाकचने यस्य स्वभावो निर्मलोऽक्षयः ।
 यथैतावात्मनो नान्यौ स्पन्दास्पन्दौ नभस्वतः ॥ २३ ॥
 जरामरणहन्तृणि क्षणान्यत्र पृथक्पृथक् ।
 भवन्त्विति यथैतानि सन्ति त्वत्कल्पनापुरे ॥ २४ ॥
 ब्रह्मसंकल्पनगरे स्वभावा उदितास्तथा ।
 ओषधीनां पदार्थानां सर्वेषां च जगन्नये ॥ २५ ॥
 न संकल्पयिता राजन्संकल्पनगरे स्वयम् ।
 तृणं तृणं कल्पयति बालः क्रीडनकानिव ॥ २६ ॥
 स्वयं स्वभाव एवैव चिद्धनस्यास्य सुस्फुटम् ।
 यद्यत्संकल्पयत्याशु तत्र तेऽवयवा अपि ॥ २७ ॥
 चिदात्मकतया भान्ति नानात्मकतयात्मना ।
 अन्येकसारास्तिष्ठन्ति नानाकारस्वभावगाः ॥ २८ ॥
 प्रत्येकं किल तत्रास्ति ब्रह्मचिन्मात्रतात्मनि ।
 सर्वात्मिका सा यत्रास्ते यथान्तर्भाति तत्तथा ॥ २९ ॥

जन्ममरणे एवात्मनो न स्तः कित्वस्य स्वात्मनैव भ्रान्त्य
 तत्कल्पनमित्याह—न कदाचनेति ॥ २० ॥ तथा जातं ज-
 न्मापि उच्यते यात्रा व्यपदिश्यते न तु वस्तुत इत्यर्थः ॥ २१ ॥
 तथा मरणमपि पूर्वदेहादिभ्रान्तिकचनोपसंहार एव नान्
 इत्याह—यदेति । शान्तो मृत इत्युच्यते जीव इत्यर्थः ॥ २२ ॥
 इत्याकारकचनाकचने चाज्ञानोपहितचितः स्वभाव एवेत्याह—
 कचनेति ॥ २३ ॥ मणिमन्त्रौषधीनां अभावविशेषा आ-
 ब्रह्मणः सत्यसंकल्पस्वभावा एव तद्योदिता इति सदृष्टान्तमाह—
 जरेति द्वाभ्याम् ॥ २४ ॥ २५ ॥ तर्हि किमीश्वरः प्रतिक्ष
 प्रतिवस्तु शक्तिकार्यादिभेदान्संकल्पयिता कल्पयते, नेत्याह—
 संकल्पयितेति । प्रतिवस्तु, प्रतिक्षणमीश्वरो न संकल्पयि
 कल्पयते किंतु बालः क्रीडनकान्यन्निशेषानिव सकृदेव सं-
 ल्पयत्येतज्जातीयमेतज्जातीयकार्यकृद्भवतु तच्च तज्जातीयमि-
 मुत्पद्यतामिति । तद्वशादेव बीजाङ्कुरादिकमेण पूर्वपूर्वतृणमु-
 रोत्तरतृणं कल्पयति ॥ २६ ॥ आशु क्षणेनैव यद्यत्संकल्पय
 तत्र ते ते पदार्थाः सदवयवाः शक्तिकार्यादिभेदा अपिशब्द
 त्कार्यपरंपराश्च सकृत्संकल्पादेव सिद्ध्यन्तीत्येष चिद्धनस्य ।
 भावः ॥ २७ ॥ ते संकल्पकल्पितपदार्था आत्मना स्वभा-
 नानात्मकतया स्थिता अपि प्रथमानस्वभावे चिदेकात्मत
 भान्ति एवं स्वतो नानाकारस्वभावा अपि सदृशेण एका-
 स्तिष्ठन्ति ॥ २८ ॥ तत्र तेषु पदार्थेषु प्रत्येकमात्मनि ब्र-
 चिन्मात्रता अस्ति । यतः सैव चित्सर्वात्मिका यत्र यथा आ

20

मन्युपशाम्यति । 'धर्मेण पापमपनुदति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥४॥ विनेयस्य शास्यस्य पुंसः पापमल्पं चेत्ततः क्षेत्रार्जितो धर्मोऽधिकश्चेज्जिःशेषं तत्पापं नाप्रायित्वा तच्छब्दे श्रुत्यादिप्रतिपादिते फले भंशेन विवर्त्तति । काम्यफलमपि किञ्चित्साधयत्येवेत्यर्थः । यत्र तु विनेयस्य शास्यस्य पुंसः क्षेत्रार्जितेन धर्मेण समबलं पापमस्ति तत्र तुल्यबलत्वादेव तेन धर्मेण अपनेतुमशक्यस्यास्य पापस्य पुण्यस्य च भोगाय द्वे धारीरे तयोश्च द्वे विवौ चिदाभासौ भ्रान्तिप्रतिभात्मिके कचतः ॥ ५ ॥ ६ ॥ यद्यद्या ध्रुव संकल्पकचितं तत्तत्तथैव व्यवस्थितमित्यर्थः ॥ ७ ॥ ब्रह्मसंकल्पकचितमित्यत्र किं तद्ब्रह्म कथं वा तत्संकल्पकचितं जगत्—दाह—ब्रह्मेति । स एवाब्जजादिसमष्टिजीवा अहमादिव्यष्टिजीवाश्च स यथा संकल्पयथास्ते व्यष्टिसमष्ट्युपाधौ तस्य संकल्पनं जगदपि तत्तथास्ते इत्यर्थः ॥ ८ ॥ धातुः संकल्पानुसारेणैव विनेयस्य क्षेत्रार्जितपुण्यानुसारेण तत्फलभोगात्मिका प्रतिभैव स्वप्नवदुदेति । यथा पुण्यविपरीतपापवतो नरकादिप्रतिभोदेति तद्वत् ॥ ९ ॥ कीदृशी कीदृशी प्रतिभोदेति तामुल्लिख्य दर्शयति—एकात्मनेति । अहमय एक एवात्मना मृतः अमी मम बन्धवः सर्वे जीवन्ति मदर्थे रुदन्तीमे ॥ १० ॥ एतदीयं भरणमिव दन्धूनामपि अस्य तत्र असिद्धं रोदनमवनिर्हरणमन्धानगमनदाहादिकं सर्वमपि धातुक्षोभवतां सन्निपातशुब्धवाचपित्तादिधातुमतां पुंसामिव तादृशी प्रतिभैवेति बोध्यम् । तादृशा इति कबन्तादापृच्छान्दसः ॥ ११ ॥ यदा स्वत्युक्तानि पुण्यानि पापानि नास्य सन्ति तदा तैः स्वैरेव शुब्धैर्महात्मभिः

अचेतनं शरीरभूतं तेऽपि पश्यन्ति तं मृतम् ।
 रुदन्ति तं च दहने क्षिपन्ति सह बान्धवैः ॥ १३
 विनेयः स यथान्येन संविद्रूपेण देहिना-
 ऽजरामरणमात्मानं वेत्ति स्थितमदुःखितम् ॥ १४
 यथास्थितेन देहेन वेत्त्यसौ जीवितस्थितम् ।
 मृतिं त्वदृश्येनान्येन क्षेत्रपुण्यविदेरितः ॥ १५
 आविला संविदा संविच्छून्यया वेद्यते क्षणात् ।
 न हि सन्नद्धगात्रस्य क्लेशोऽसन्नद्धभेदने ॥ १६
 पश्यन्ति बन्धवोऽप्येनं तथैवामरतां गतम् ।
 द्वयमित्येष लभते जीवितं मरणं समम् ॥ १७
 इदमप्रतिधारम्भं भ्रान्तिमात्रं जगन्नयम् ।
 न संभवति को नाम भ्रान्तौ भ्रान्तिविपर्ययः ॥ १८
 संकल्पस्वप्नपुरयोर्था भ्रान्तिरनुभूयते ।
 ततोऽधिकोऽयं न न्यूनाज्ञाप्रत्यक्षेऽनुभूयते ॥ १९

राजोवाच ।

धर्माधर्मौ कथं ब्रह्मन्कारणं देहसंविदः ।
 तस्यामूर्तौ कथं चैको द्विशरीरत्वमुच्छति ॥ २०
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 संकल्पनगरे ब्राह्मे जगत्सिन्धुमहामते ।
 किं नाम नो संभवति सत्यं चाप्यसमञ्जसम् ॥ २१

निर्ग्रहातुप्रहृष्ट्या ईक्षिते सति वा क्षुब्धैः परैरलक्ष्याणि अन्यथा
 परैरलक्ष्याण्यपि वा तत्फलानि शरीरादीनि चित्कलनावशात्सन्ति
 भवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥ ते जना अपि कचिदत्युत्कटैः पुण्य-
 पापैस्तं विनेयं मृतं पश्यन्ति ॥ १३ ॥ 'एकस्य जीवितं पुंसः
 सुहृदा मरणं द्विषा । मृत्युवर्धितं प्रयागादौ क्षेत्रे तत्कथमुच्यताम्'
 इति प्रश्नं समाधत्ते—विनेय इत्यादिना । देहिना अजरामरण-
 मिति च्छेदः । सः सुहृद्विषोः कर्मभ्यां विनेय एकः पुरुषः
 अन्येन स्नेहसंविद्रूपेण देहिना सुहृदा यथा प्रार्थितं तथा
 स्थितमजरामरणमात्मानमदुःखितं वेत्ति ॥ १४ ॥ किं
 देहान्तरेण, नेत्याह—यथास्थितेनेति । तर्हि कथं तद्विषो
 मनोरथसिद्धिस्तत्राह—मृतिमिति । सुहृदस्वजनैरदृश्येनान्येन
 देहेन मृतिं वेत्ति । क्षेत्रे प्रयागादौ शत्रुमरणानुकूलपुण्यकृता
 द्विषा ईरितः । बलान्मरणाय प्रेरितः सन्नित्यर्थः ॥ १५ ॥ तत्र
 द्विषत्कृताभिचारादिप्रतीकारशून्यया विनेयविदा क्षणात्तत्काल-
 मेव मरणादिकं वेद्यते अनुभूयते । सन्नद्धगात्रस्य द्विषो
 धर्मोद्युधादिना, असन्नद्धगात्रस्य विश्वस्वस्य शरखट्वादिना भेद-
 नेन हि क्लेशः ॥ १६ ॥ १७ ॥ अनेनैव न्यायेन सर्वे विरुद्ध-
 प्रश्नाः समाहिता बोध्या इत्याशयेनाह—इदमिति । भ्रान्तौ
 को वा भ्रान्तिविपर्ययः । एकभ्रमविरुद्धोऽपरो भ्रमः को वा न
 संभवति । स्वप्नसन्निपातादौ विरुद्धसहस्रस्यापि सहभावदर्श-
 नादित्यर्थः ॥ १८ ॥ तदेवाह—संकल्पेति ॥ १९ ॥ धर्मा-

यथैव संकल्पपुरे यन्न संभवतीह हि ॥
 तन्नास्त्येव तदेतस्मिन्किं वाऽस्तु ब्रह्मकल्पने ॥ २२
 स्वप्नसंकल्पपुरयोरेको गच्छति लक्षताम् ।
 तथा चैकैव चित्स्वप्ने सेनात्वमुपगच्छति ॥ २३
 सहस्राण्येकतां यान्ति तथा सैव सुषुप्तकम् ।
 अन्यथा स्वप्नसंकल्पसेनानुभवसंस्मृतौ ॥ २४
 संकल्पस्वप्नपुरयोरिति को नानुभूतवान् ।
 संविदाकाशमात्रेऽसिञ्जगत्यनुभवात्मनि ॥ २५
 तस्मादसिञ्चिदाकाशसंकल्पे जगदात्मनि ।
 न संभवति किं नाम तत्संभवति चापि किम् ॥ २६
 एवमेवमियं भ्रान्तिर्भाति भास्वन्नभोमयम् ।
 नेह किंचन सन्नासन्न वाऽऽसदिह किंचन ॥ २७
 यथानुभूयते यद्यत्तत्तथा तत्त्वदर्शिनः ।
 प्रबुद्धस्यात्र किं नाम तत्स एवाङ्गतेत्यलम् ॥ २८
 इह चेद्विहितो धर्मस्तत्स्वर्गेऽमृतपर्वताः ।
 स्थिता इतीह संकल्पे कस्मान्न प्राप्तवान्गिरीन् ॥ २९
 इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते ।
 इतीह संकल्पपुरे सर्वमेवासमञ्जसम् ॥ ३०
 यदि स्यात्सुस्थिरं किंचिद्वस्तु तद्वृक्षको भवेत् ।
 न्याय एषोऽखिलः किंतु संवित्त्वात्स्वस्वकं स्थितः ३१

धर्माधर्मौ द्वयमिति प्रश्नमेव प्रकृतकथाक्षेपानुगुण्येन परिष्कृत्य
 राजा पुनः पृच्छति—धर्माधर्माविति । तस्य धर्मस्य अध-
 र्मस्य चामूर्तौ मूर्तत्वाभावे द्विशरीरत्वं द्वितीयशरीरभावं ऋच्छति
 प्राप्नोति ॥ २० ॥ धातुः सत्यसंकल्पः अमूर्तस्यापि मूर्ततां घट-
 यितुं समर्थ इत्याशयेनोत्तरमाह—संकल्पनगरे इति ॥ २१ ॥
 ॥ २२ ॥ २३ ॥ सा स्वप्नसेनैवैकं सुषुप्तकं भवति स्वप्नसंक-
 ल्पानुभूतसेनायाः स्मृतौ समूहरूपतया एकाकारे इदमिति
 स्थाने तदिति कल्पनेन चान्यथानुभवनं भवतीति सर्वानुभव-
 सिद्धमित्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥ उपसंहरति—तस्मादिति
 ॥ २६ ॥ न वा आ सत् ईषत्सत् सदसदित्यर्थः ॥ २७ ॥
 प्रबुद्धस्य अत्र किं नाम असमञ्जसमिति शेषः ॥ २८ ॥ धर्मा-
 धर्मानुष्ठायिनोऽपि जनाः शास्त्रकृतस्वस्वनिश्चयानुसारिस्वर्गानेव
 प्राप्नुवन्तीत्याह—इह चेदिति । अमृता देवास्तदुपभोग्याः अमृ-
 तरसनिर्क्षरहृदफलपुष्पादिपूर्णाश्च पर्वताः स्वर्गे स्थिताः सन्तीति
 शास्त्रतोऽवगम्य तदनुसारिसंकल्पे सति तत्र गत्वा तादृशगिरी-
 न्प्राप्तवान् स्वात्मानं कस्मान्नानुभवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥ यदि तु
 मिथ्यात्वादसमञ्जसमिति ते बुद्धिस्तर्क्यं लोकस्तत्र धर्माधनुष्ठानं
 तेन परलोकस्तत्र भोगक्षेपेतत्सर्वमेव जगदसमञ्जसमेवेत्याह—
 इहेति । इह जगति ॥ ३० ॥ यदि जगति किञ्चिदनुभूतानुभवादिदं
 सुस्थिरं सत्यं स्यात् तत्रायं विरोधो दृश्यको भवेत् तदा एष
 इदं समञ्जसमिदमसमञ्जसमित्येष न्यायोऽखिलः अकुण्ठितः
 स्यात् किंतु सर्वोपि द्वयं संवित्त्वात्स्वस्वकं संकल्पनमेव दृश्यकः

१ ततोऽधिकं न न्यूना ज्ञाप्रदिति पाठोऽज्ञापेक्षितः.

इत्येव कथितं न्यायः सिद्धास्वनुभवस्ततः ।

यतो जगन्ति संकल्पश्चितो ब्रह्मस्वरूपतः ॥ ३२ ॥
तव संकल्पनगरे नास्त्येवासंभवो यथा ।
सर्वार्थानां तथा ब्राह्मे संकल्पे नास्त्यसंभवः ॥ ३३ ॥
यद्यथा कल्पितं तत्र यावत्संकल्पमेव तत् ।
स्वभावेन तत्रैवास्ति यतस्तत्संनिवेशवत् ॥ ३४ ॥
ततः संप्रेक्षणमिह संकरो न प्रवर्तते ।
विनान्यचित्प्रयत्नेन भवत्यर्थस्तु नान्यथा ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० गो० निर्वा० उ० महा० सर्वास्तित्वानुभूतिदर्शनं नाम नवाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०९ ॥

दशाधिकद्विशततमः सर्गः २१०

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

फले क्षयेन्दुभारूपे प्राप्ते ध्यातृशतैर्नमः ।
यथा न शतपूर्णेन्दु तथेदं कथनं शृणु ॥ १ ॥
चन्द्रविम्बस्य ध्यातारः प्राप्ताः प्राप्तव्यसुस्थिताः ।
नेदं नभस्तलं प्राप्ता न चेमं शशिनं श्रिताः ॥ २ ॥
केवान्यसंकल्पपुरमन्यः प्राप्नोति कथ्यताम् ।
संकल्पपुर्यामर्थान्तिस्तज्जन्तावेव नापरे ॥ ३ ॥
पृथक्पृथक्स्वसंकल्पसर्गखेष्वेव ते स्थिताः ।
चन्द्रास्तपन्ति तत्रैव कलाक्षयविवर्जिताः ॥ ४ ॥
विशेषमस्मिन्नेवेन्द्राविति ध्याता निशाकरे ।
अस्मिन्नेव विशत्यन्तरात्मबुद्धिसुखोज्झितः ॥ ५ ॥

स्थितो न वास्तवमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ इत्येषोऽस्माभिरासमञ्जस्य-
परिहारन्यायोऽपि स्वप्नसंकल्पसिद्धाद्यु कल्पनाद्यु अनुभवः सर्वा-
नुभवानुसारी स्थितो जगत्स्वपि योज्यः । यतो जगन्त्यपि ब्रह्म-
स्वरूपतः स्थितायाधितः संकल्प एव ॥ ३२ ॥ तदेवाह—
तत्रेति ॥ ३३ ॥ यद्यद्यथा तत्र ब्राह्मसंकल्पे कल्पितं तत् ताद-
शसंनिवेशवत्तथा स्वभावेनास्ति ॥ ३४ ॥ ततस्तादशसंनिवेश-
स्वभावनियमादेव ज्ञानेन्द्रियैः सर्ववस्तूनां सम्यगविसंवादितया
प्रेक्षणं प्रवर्तते । कर्मेन्द्रियव्यवहारे संकरश्च न प्रवर्तते ।
पूर्वचित्प्रयत्नेन कृतनियतसंनिवेशोऽर्थः अन्यचित्प्रयत्नेन विना
अन्यथा च न भवति । चार्थे तुः ॥ ३५ ॥ आक-
ल्पमाप्रलयं यथा अजसंकल्पे भातं तथैव स्थितं पुनः
प्रलयानन्तरमन्यत् ब्रह्माण्डान्तरम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ संकल्प-
पत्तनतनोरस्य जगतो यत्र संभवतीति मन्यसे तच्चास्ति सर्वं
संभवस्यैव तच्च प्रकल्पयितुरस्माच्चिदात्मनो नान्यत् तेन हेतुना
जगद्ब्रह्मैव विद्धील्यर्थः ॥ ३८ ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणता-
दर्थ्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्वास्तित्वानुभूतिदर्शनं नाम
नवाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २०९ ॥

इह वसिष्ठप्रश्नानां समाधानं निरूप्यते ।

तथा देहादिजगतः सुदृष्ट्या ब्रह्ममात्रता ॥ १ ॥

‘जेऽस्यामस्यपूर्णैन्दुरिति ध्यायिचितैः फलैः । तुल्यकाल-
मनुप्राप्तैः सहस्रेन्दु न किं नमः’ इति प्रश्नस्योत्तरं तत्र प्रथमं

आकल्पमजसंकल्पे यथा भातं जगत्स्थितम् ।

पुनरन्येन संकल्परूपेणान्यदुपैष्यति ॥ ३६ ॥

संकल्पात्म स्वयं भाति कल्पे कल्पे जगत्तथा ।

प्रतिजीवं चित्तिस्वप्ने स्वप्ने स्वाप्नपुरं यथा ॥ ३७ ॥

संकल्पपत्तनतनोर्न तदस्ति किञ्चि-

द्यद्यत्र संभवति तच्च चिदात्मनोऽस्मात् ।

नान्यत्प्रकल्पयितुराद्यपरस्वरूपा-

ब्रह्मैव तेन सकलं जगदङ्गं विद्धि ॥ ३८ ॥

अहमिन्दुं प्रविष्टः स्यामिन्दुविम्बसुखान्वितः ।

ध्यातेति तादृक्सुखभागभवतीति विनिश्चयः ॥ १ ॥

यथायमनुसंधत्ते स्वभावं संविद्व्यया ।

तं तथैवानुभवति भवेच्चेदृढनिश्चयः ॥ ७ ॥

यथेन्दुत्वं स्वसंकल्पात्सर्वध्यातुः पृथक्पृथक् ।

भात्येवमेव वनितालाभः काल्पनिकः स्वतः ॥ ८ ॥

या ध्याने ध्यातृलक्षाणां साध्वी भार्यात्वमागता ।

तत्कल्पनानुभवनं तेषां सत्त्वात्मनि स्थितम् ॥ ९ ॥

गृहादनिर्गतो जीवः सप्तद्वीपपरः स्थितः ।

तस्यापि तत्काल्पनिकं राज्यं व्योम्नि स्वमन्दिरे ॥ १० ॥

श्रावयति—फले इत्यादिना ॥ १ ॥ सत्यचन्द्रविम्बस्याहभावेन

ध्यातारः प्राप्तव्ये चन्द्रभावे चिरध्यानेनान्यथावविस्तरणादेन्द्र-

वन्यायेन सुस्थिताः सन्तश्चन्द्रभावं प्राप्ता एव तथापि नेदं

नभस्तलं प्राप्ता नाप्येनं शशिनं श्रिताः । प्रविष्टा इत्यर्थः

॥ २ ॥ कुतो न प्राप्तास्तत्राह—केवेति । अन्यसंकल्पपुरमन्यः

प्राप्नोतीत्येतत्केव कुत्र दृष्टं दृष्टान्तीकृत्य प्रकृते शङ्कते ।

सम्बन्तोऽस्मिन् संकल्पयितृजीवे एव न परे जीवान्तरे दृष्टा

॥ ३ ॥ क तर्हि ते स्थितास्तत्राह—पृथगिति ॥ ४ ॥ ५ ॥

अस्मिन्नेव चन्द्रे ते सर्वे लाघवात्कुतो न प्रविष्टास्तत्राह—

अहमिति । तैस्तु न तथा ध्यातं किंतु तत्प्रश्नानुसाराखे स्याम-

क्षयपूर्णैन्दुरिति कामचया ध्यातमिति भावः ॥ ६ ॥ अन्यथा-

ध्यानेऽन्यथाफलं कुतो न भवति तत्राह—यथेति । यथायं

स्वभावमयमनुसंधत्ते दृढसंकल्पेन ध्यायति तं स्वभावमन्यया

साक्षिसंवित्तथैवानुभवति न वैपरीत्येनेत्यर्थः ॥ ७ ॥ ‘अन्यथा-

ध्यायिनां लक्षैर्ध्यातैश्च जी यथाक्रमम् । जायात्वेन सर्वं

कालम्’ इति प्रश्नोऽप्यनेनैव युक्त्या समाधेय इत्यतिदिशति—

यथेति । स्वतः स्वस्य काल्पनिकः कल्पनासिद्धः ॥ ८ ॥

‘साध्वीसाध्वी गृहे भर्तुः संस्थिता तपसा परा’ इति प्रश्ना-

शोऽप्ययमेव समाधिरित्याह—येति । सत्त्वात्मनि अन्तःकरणो-

पहिते साक्षिणि ॥ ९ ॥ ‘गृहादनिर्गच्छन्नाकलयं शृणुः स द्वीपसप्तके’

समस्तं कल्पनामात्रमिदमाद्यज्ञजन्मनः ।
 शून्यमप्रतिघं शान्तं तेष्वपि स्यात्किमन्यथा ॥ ११
 दानौर्ध्वदेहिकतपोजपादीनां परत्र यत् ।
 अमूर्तानां फलं मूर्तं तदिदं कथ्यते शृणु ॥ १२
 दानादिचिह्नितधियः परत्र स्वप्नवत्फलम् ।
 पश्यन्त्यमूर्तामूर्ताभिमजं चिन्मूर्तिकल्पनात् ॥ १३
 वेदनावेदनाकारा स्पन्दास्पन्दात्म वै पुनः ।
 चिन्मात्रस्यास्य तद्भ्रान्तिशान्तौ शान्तात्म निर्मलम् ॥
 चिन्मात्राभिमितो दानादमुत्रात्तमवाप्नुयात् ।
 संकल्पात्मेति कवयः कथं तन्नोपलभ्यते ॥ १५
 कल्पनात्मनि संसारे संकल्पोऽकृत्रिमं फलम् ।
 चिन्मात्रमभिमितोऽदानादानाद्वाऽस्तु यथोदितः ॥ १६
 एतत्ते कथितं सर्वं यथापृष्टं महीपते ।
 जगदप्रतिघं सर्वमिदं चिन्मात्रकल्पनम् ॥ १७
 राजोवाच ।

सर्गादौ भगवन्देहमिदं चिन्मात्रकल्पनम् ।
 कथं भाति कथं कुड्यं विना दीपः प्रकाशते ॥ १८
 श्रीवासिष्ठ उवाच ।

त्वयार्थो देहशब्दस्य यो बुद्धः स महामते ।
 तत्त्वज्ञं प्रति नास्त्येव शिलानृत्तमिवाम्बरे ॥ १९
 य एव ब्रह्मशब्दार्थो देहशब्दार्थ एव सः ।
 नार्थयोरनयोर्भेदो विद्यतेऽम्बम्भसोरिव ॥ २०

इति प्रश्नोऽप्यनेन समाहित इत्याह—गृहादिति । स्वमन्दिरे
 व्योम्नि स्वचित्ताकाशे ॥ १० ॥ यदा इदमस्मदादिदृश्यं जगदपि
 समस्तमाद्यस्य जन्मन औत्पत्तिकसार्वस्थवतो हिरण्यगर्भस्य
 कल्पनामात्रं तदा तेषु सपासककल्पितजगत्सु किमन्यथा अ-
 न्यादृशं सत्यं स्यायेनासमञ्जसता स्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥ 'दान-
 धर्मादितपसामौर्ध्वदेहिककर्मणाम् । इहस्थानाममूर्तानां मूर्तं
 प्रेत्यास्ति किं फलम्' इति प्रश्नमनूय तत्समाधानं वक्तुं प्रति-
 जानीते—दानेति ॥ १२ ॥ चित्तैव मूर्त्याकारकल्पनात् ॥ १३ ॥
 मनोज्ञानेन्द्रियैर्वेदनावेदनाकारा भ्रान्तिस्तया भ्रान्त्या विषय-
 प्राप्तये तच्चिन्मात्रं समनस्कैः कर्मेन्द्रियैः स्पन्दास्पन्दात्म संप-
 ण्यते । तद्भ्रान्तिशान्तौ तु निर्मलं शान्तात्मैवावतिष्ठते ॥ १४ ॥
 इत इहानुष्ठितादानादमुत्र परलोके चिन्मात्राभं चित्प्रतिभासा-
 र्मकं तत्तत्फलमात्तमुपनीतं तत्संकल्पात्मा जीवः अवाप्नुया-
 दिति कवयो वदन्तीति शेषः ॥ १५ ॥ इतो दानाददानाद्वा
 अकृत्रिमः संकल्प एव दानफलं भोगैश्वर्यादि, अदानफलं दारि-
 द्यादि वा परलोकेऽस्तु न कश्चिद्विरोध इति सर्वासमञ्जसपरि-
 हार इत्यर्थः ॥ १६ ॥ सर्वान्प्रश्नान्कण्ठतोऽर्थाच्च समाधाय
 जगतो ब्रह्मैव तत्त्वमित्युपसंहरति—एतदिति ॥ १७ ॥ देहे
 एव चिदभिव्यक्तिदर्शनादनभिव्यक्तमिति भ्रान्त्याद्यदर्शनात्स-
 र्गादौ भ्रान्तिसिद्धौ देहसिद्धिस्तत्सिद्ध्या च भ्रान्तिसिद्धिरित्य-
 न्योन्याश्रयं मन्यमानो राजा पृच्छति—सर्गादाविति ।

यदेव ब्रह्मदेहोऽसौ स्वप्नाभः स्वप्न एव तु ।
 त्वद्बोधायोच्यते युक्तिर्न तु तत्स्वप्न एव तु ॥ २१
 स्वप्नस्तवानुभूतार्थस्तेनातस्त्वं प्रबोध्यसे ।
 न तु सर्गे चिदाभाते सादृश्यं स्वप्नभस्मना ॥ २२
 कस्तत्र नाम देहोऽयं कस्यैते स्वप्नधीः क वा ।
 स्वप्नेन ज्ञावबुद्धेन भ्रमेणाहोऽवबोध्यते ॥ २३
 तत्र जाग्रन्न च स्वप्नो न सुषुप्तं न चेतरेत् ।
 किमपीत्यमिदं भानं स्वप्नाभं मौनमोमलम् ॥ २४
 अभातमेव भातीव यदचेत्यमिदं तु तत् ।
 प्राग्विभातं तथात्यच्छं जाग्रत्स्वप्नादि नो यथा ॥ २५
 देशादेशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
 तन्मयं सर्वमेवेदं द्वैतमद्वैतमेव च ॥ २६
 अन्यत्र चिन्मयं स्वप्नं द्वैताद्वैतं शुभाशुभम् ।
 निरावरणचिन्मात्रनभसैवोपमीयते ॥ २७
 शून्यमर्थोपलम्भश्च भानं चाभानमेव च ।
 द्वैतमैक्यमसत्सच्च सर्वं चिद्भग्नं परम् ॥ २८
 पूर्णात्पूर्णं प्रसरति पूर्णमेव स्थितं जगत् ।
 न च भातं न चाभातं शिलाबद्धोदरोपमम् ॥ २९
 यतो जगच्चिदुन्मेषो व्योमात्माप्रतिघं ततः ।
 चिन्मात्रं यत्र यत्रास्ति तत्र तत्रोचितं जगत् ॥ ३०
 चिद्योम चास्ति सर्वत्र सर्वं चैतज्जगन्मयम् ।
 सर्वं ब्रह्ममयं शान्तं जगदित्यपि शब्दितम् ॥ ३१

चिन्मात्रं देहशून्यं चैतन्यं तत्कृतं देहकल्पनं कथं भाति । देहं
 विना चित्प्रथाया एवादर्शनात्कुड्याद्यनाश्रितदीपप्रभाप्रायत्वा-
 तदा चैतन्यस्येत्यर्थः ॥ १८ ॥ न जडो देहश्चिदभिव्यक्तक
 इति तत्त्वज्ञपक्षः । तद्दृष्टौ जडस्यैवाप्रसिद्धेः । ब्रह्म तु सर्वज्ञत्वा-
 त्सदैवाभिव्यक्तचैतन्यं देहादि सर्वं कल्पयतीत्याशयेनोत्तर-
 माह—त्वयेत्यादिना ॥ १९ ॥ अम्बम्भसोरिवेति शब्दद्वया-
 नुकरणत्वाच्च 'विरूपाणामपि समानार्थानाम्' इत्येकशेषोऽसह-
 प्रयोगोऽद्वन्द्वो वा ॥ २० ॥ स्वप्नाभोऽसौ देहो यद्ब्रह्म तदेव ।
 ननु स्वप्नेऽप्यस्य न्यायस्य साम्याद्ब्रह्मत्वे स्वप्नाभ इति भेदं
 सिद्धवत्कृत्य दृष्टान्तोक्तिः कथं तत्राह—त्वद्बोधायेति ॥ २१ ॥
 कथमस्य ब्रह्मोद्योपयोगस्तत्राह—स्वप्न इति । स्वप्नलक्षणेन
 भस्मना बाधितार्थेन सह चिदात्मना आभाते सर्गे सादृश्यं
 न स्वस्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥ कस्यैते स्वप्नार्थाः ॥ २३ ॥ ओमिति
 विराडादिपादत्रयप्रतिलयावशिष्टतुरीयोपदेशः । अलमिति तत्र
 सर्वसाधनपुरुषार्थपर्याप्तिदर्शनम् ॥ २४ ॥ यदचेत्यं भातीव
 तदभातमेव । प्राग्विभातमपि तथा । तथा च कदापि जाग्रत्स्व-
 प्नादि यथा नो नास्त्येव तथा अत्यच्छं ब्रह्मास्ति ॥ २५ ॥ देशादिति
 व्याख्यातम् । निर्विषयचिन्मात्रमयमित्यर्थः ॥ २६ ॥ अज्ञदृष्टेरन्यत्र
 जडौ स्वप्नादि सर्वं चिन्मात्रनभसैवोपमीयते ॥ २७ ॥ २८ ॥
 स्फटिकशिलाया आबद्धं धनं यदुदरं मध्यं तदुपमम् ॥ २९ ॥
 उचितं स्थातुमिति शेषः ॥ ३० ॥ ब्रह्मैव ब्रह्ममयम् ॥ ३१ ॥

यथास्थितमिदं विश्वं तथासंस्थमनामयम् ।
 ब्रह्मैव निरवद्यात्म चित्संकरूपपुराकृतिः ॥ ३२
 अस्मिन्वादन्यथुक्तेर्युक्तिरेवैव शोभना ।
 अयुक्त्यनुभवं तूक्तं नार्थिनामिह शोभते ॥ ३३
 लोके शास्त्रेऽथ वेदादौ यत्सिद्धं सिद्धमेव तत् ।
 सदस्त्वसद्वात्मनि तद्भातुं शक्यं न वा क्वचित् ॥ ३४
 तदेवेत्यं परिज्ञातं ब्रह्मतामुपगच्छति ।
 यदा तेन समं विश्वं स्थितमेव विलीयते ॥ ३५
 न्यायेनैतदिहोक्तेन लोकवेदादि सिध्यति ।
 सर्वं स जीवन्मुक्तत्वमेव एवोचितस्ततः ॥ ३६
 परिज्ञातं चिदाकाशमपरिज्ञातपादपे ।
 सोऽहं त्रिजगदित्येव बन्धमोक्षविनिर्णयः ॥ ३७

यथास्थितमिदं दृश्यं परिज्ञानाद्विलीयते ।
 तज्ज्ञस्यास्तंगतस्यैव शिलामौनं तु शिष्यते ॥ ३८
 लोके शास्त्रे च वेदे च यत्सिद्धं सिद्धमेव तत् ।
 संवेद्यते तदेवातस्तदेवं फलति स्फुटम् ॥ ३९
 सकलार्थनिरासेन यद्यत्संवेद्यते चिरम् ।
 तदेव प्राप्यतेऽवश्यं सर्वत्रैवान्यभाषितम् ॥ ४०
 यथानुभूतं यत्तत्तत्तथा नामानुभूयते ।
 तत्सत्यमस्त्वसत्यं वा यावद्भातं तथा तु तत् ॥ ४१
 इत्थं महाप्रश्नविचारणं ते
 मयेदमुक्तं मतिमन्महात्मन् ।
 अनेन गच्छाशु पथा निराधि-
 निरामयो निर्व्यसनो भवोद्यैः ॥ ४२

इत्यार्षे श्रीवा० वा० दे० मो० नि० उ० द्वैतैक्योपलम्भनिरासेन महाप्रश्नोत्तरवाक्यसमाप्तिर्नाम दशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१० ॥

एकादशाधिकद्विशततमः सर्गः २११

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

इति तत्रोपविश्याहं पूजितस्तेन भूभुजा ।
 प्रयोजनं स्वं संपाद्य स्वर्गन्तुं गगनं ह्रुतः ॥ १
 अद्यैतद्भवता प्रोक्तं मया मतिमतां वर ।
 अनया सुदृशा शान्तमनाः स्वात्मा भविष्यसि ॥ २
 ब्रह्मैव तदिदं सर्वं निर्नामैवामलं नमः ।
 किमप्येवाजमाशान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥ ३
 चिद्भानमात्रमित्युक्तं ब्रह्मेति कलिताभिधम् ।

॥ ३२ ॥ अर्थिनां पुरुषार्थेच्छनां श्रोतॄणां पुरत इति शेषः
 ॥ ३३ ॥ मत्प्रमाणयुक्त्यनुभवसिद्धं तत्सिद्धमेव न हातुं शक्यम् ।
 तथा च सदिति वेदादिसिद्धं ब्रह्म तथैवाभ्युपगन्तव्यम्, असदिति
 सिद्धं द्वैतं तथैवाभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥ तत्पूर्वमब्रह्मेति
 गृहीतं विश्वमित्यं परिज्ञातं ब्रह्मतामुपगच्छति । कदा । यदा तेन
 चरमसाक्षात्कारवृत्तिरूपेण ज्ञानेन समं स्थितमेव विलीयते तदा
 ॥ ३५ ॥ स्वयार्थो देहशब्दस्येत्यादिना एतदन्तेन मदुक्तेन
 न्यायेन सजीवन्मुक्तत्वं जीवन्मुक्तिसहितं, लोकवेदादि सर्वं
 जगदेतद्ब्रह्मैव सिध्यति, तस्मादेव एव मदुक्तो न्यायः परमपुरु-
 षार्थोपायत्वादुपादातमुचित इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ अस्मिन् अपरि-
 ज्ञातात्ममात्ररूपसंसारलक्षणे पादपेऽश्वत्थवृक्षे परिज्ञातं चिदा-
 काशमेव न ततोऽन्यदणुमात्रमप्यस्ति सः अपरिज्ञातः परिज्ञा-
 तश्च चिदाकाशोऽहमेव त्रिजगत् बन्धो मोक्षश्च पर्यायेणेति
 विनिर्णय इत्यर्थः ॥ ३७ ॥ परिज्ञातमात्रत्वं कथं मोक्षस्तत्राह—
 यथास्थितमिति । तज्ज्ञस्य स्वरूपमिति शेषः । इदयात्मना अस्मि-
 गतस्य दृष्टान्त्रं वागाद्यगम्यमवशिष्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥ लोके
 जीवन्मुक्तजने यत्सिद्धं विचारशतैः परिनिष्ठितं तदेव खानुभवे-
 नापि संवेद्यते । अतस्तदेवं परमपुरुषार्थभावेन फलति ॥ ३९ ॥
 तत्प्राप्तावितरार्थमात्रस्यागेन, तदेकनिष्ठतैवोपायस्तेन वावश्यं

परात्परमिति प्रोक्तं तच्च निर्नामकं पदम् ॥ ४
 श्रीराम उवाच ।
 सिद्धसाध्ययमब्रह्मविद्याधरदिवौकसाम् ।
 ब्रह्मन्कथय दृश्यन्ते लोका लोकधराः कथम् ॥ ५
 श्रीवसिष्ठ उवाच ।
 सिद्धसाध्ययमब्रह्मविद्याधरदिवौकसाम् ।
 अन्येषामपि भूतानामपूर्वाणां महात्मनाम् ॥ ६
 प्रतिरात्रं प्रतिदिनं पुरः पश्चादुपर्यधः ।

तत्प्राप्यत इत्याह—सकलार्थेति । सर्वत्र लौकिकेऽपि कार्ये
 अन्यदपि भाषितं तथैवेत्यर्थः ॥ ४० ॥ तत्र लौकिककार्यम-
 सत्यं मोक्षाख्यं तु सत्यमित्यवान्तरवैलक्षण्यमस्तु नाम, साधनो-
 योगतत्फलानुभवे च न विशेष इत्याशयेनाह—यथेति ॥ ४१ ॥
 हे मतिमन् हे महात्मन्, इत्थं मया ते महाप्रश्नानां विचारणं
 विचारफलनिर्णयरूपं समाधानमुक्तम् । त्वमनेन पथा गच्छ ।
 तेन आशु मनसि निराधिदेहे निरामय इन्द्रियेषु निर्व्यसनो
 भूत्वा उद्यैः सर्वोत्कृष्टो भवेत्यर्थः ॥ ४२ ॥ इति श्रीवसिष्ठमहा-
 रामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महाप्रश्नोत्तरवाक्य-
 समाप्तिर्नाम दशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१० ॥

सिद्धसाध्यादिलोकौघदर्शनोपायसंयुतम् ।

वर्ण्यतेऽत्र पुनः स्पष्टं ब्रह्मैव सकलं जगत् ॥ १ ॥

तत्र कुशाद्वीपे इलाषत्याख्यायां पुरि । तेन प्रज्ञप्त्याख्येन
 भूभुजा । स्वं प्रयोजनं तदनुग्रहलक्षणम् ॥ १ ॥ अथ एतस्या-
 मयोध्यायां भवता विद्यमानेन मया ॥ २ ॥ निर्नाम निःशब्दं
 नम एव ॥ ३ ॥ ब्रह्मेत्यपि कल्पनया कलिताभिधं न वस्तुतः
 कूटस्थे बृहद्वात्पर्यवृत्त्यादेरयोगादित्यर्थः ॥ ४ ॥ लोकस्वरूप-
 जनालोपां धरा आधारभूताः कथं केनोपायेन दृश्यन्ते
 ॥ ५ ॥ ६ ॥ आलोकयन् चूडालोपाख्यानोपायविशेषैः

पश्यस्यालोकयँलोकानपश्यंश्च न पश्यसि ॥ ७
एते लोकाः किलैतेषां नाभ्यासः स्थानदूरगाः ।
एते संकल्पलोकाख्या व्याप्तमेभिः किलाखिलम् ॥ ८
यथैते कल्पनालोका अयं लोकस्तथैव नः ।
यथा कल्पनिको वातो लोकालोकास्तथैव ते ॥ ९
संकल्पस्वप्नलोका ये तव भान्ति दिवानिशम् ।
त एव तादृशाश्चान्ये संकल्पेन स्थिरीकृताः ॥ १०
ध्यानेन त्वमपीतांश्चेत्स्थिरतां सुस्थिरात्मना ।
नयस्याशु तदेवैते स्थिरतां यान्त्यविघ्नतः ॥ ११
यथाभिमतविस्तारा यथाभिमतसंपदः ।
संकल्पभाववलितो जनः पश्यति सिद्धवत् ॥ १२
किंतु ते स्थिरतां नीताः सिद्धैः स्वर्गानसंपदा ।
अस्थिरैर्ध्यानविश्रान्तौ तैर्दुःखैस्तदमी कृताः ॥ १३
जगदप्रतिघं सर्वं शान्तचिद्व्योम सर्वदा ।
यथा दृढं संविदितं तथैवाभाति नान्यथा ॥ १४
न भात्येवासंविदितमस्ति नास्ति न चोद्यता ।
शून्यं ह्यप्रतिघं चैतत्पराकाशमरोधकम् ॥ १५
चित्स्वभावतया भातं भारूपमिव दृश्यते ।
अस्मिंश्चिदभिमानश्च विद्यते न स्वभावतः ॥ १६
कार्यकारणभावाच्चेत्कथैवात्र न विद्यते ।
व्योमोऽनन्तस्य सिद्धस्य किं कथं किल जायते ॥ १७
यच्च जातमिवाभाति व्योम्नि व्योमैव तत्तथा ।
तत्रैकद्वित्वकलना कीदृशी स्यादरूपिणी ॥ १८

पश्यन्सन् पश्यसि पश्यसि ॥ ७ ॥ द्विविधा हि सिद्धलोका य
एते महर्जनस्वप्नसत्याख्यास्ते स्थानतो दूरगाः । ये त्वेते
सर्वत्र संचरतां सिद्धानाम् 'स यदि पितृलोककामो भवति
संकल्पादेवाय पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो
महीयते' इत्यादिश्रुतिसिद्धाः संकल्पलोकाख्याः एभिरखिलं विश्वं
व्याप्तं सर्वत्र सन्ति (?) । द्विविधानामपि दर्शने धारणाभ्यासः
कारणं स च ते नास्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥ तर्हि किं मया तद्दर्शनाय
धारणाभ्यासः कार्यः, न कार्यस्वेषामसारत्वादिति दर्शयति—
यथेत्यादिना । यथैव तेषां ते कल्पनात्मका लोकास्तथैवायं
नोऽस्माकमयं लोकः कल्पनामात्रसिद्धः । यथा कल्पनि-
कोऽपि वातः सर्वत्र भ्रमति तथा ते भ्रमन्ति अयं तु
न तथैवेतावानेव विशेष इत्यर्थः ॥ ९ ॥ तव संकल्पस्व-
प्नलोका ये भान्ति त एव ते सिद्धलोकाः प्रसिद्धास्तादृशा
अन्ये च लोकास्तैर्निर्माय संकल्पेनैव स्थिरीकृताः ॥ १० ॥
एवं च त्वमपि यदि योगधारणास्थिरीकृतेन ध्यानेन हतान्
स्वसंकल्पप्राप्तान् लोकान् स्थिरतां नयसि तदा एतेऽपि
स्थिरतां यान्ति ॥ ११ ॥ एवमन्योपि दृढतरध्यातृसंकल्पभा-
वेन वलितश्चेत्सोऽपि सिद्धवदेव तान्स्थिरान्पश्यति ॥ १२ ॥
किंवेतावान्विशेषः—तैः सिद्धैः स्वः स्वर्गान् सिद्धलोकान्
यान्ति यथा तथाविधया प्राक्जन्मसंपदा ते लोकाः स्थिरतां

तद्धि यादृशमेवासीत्तादृशोवावतिष्ठते ।
निर्विकारं यथा स्वप्ने व्योमैवाचलवद्भवेत् ॥ १९
संकल्पे चित्तमाकारं यथोदेत्यद्रिलीलया ।
न च सोऽद्रिर्न तद्व्योम तथा ब्रह्म जगत्स्थितिः ॥ २०
काष्ठवन्मौनमास्थाय रटन्तोऽपि महाधियः ।
इह व्यवहरन्त्येते बुधा दारुनरा इव ॥ २१
यथा वारिणि वर्तन्ते तरङ्गावर्तवृत्तयः ।
अनन्याः परिवर्तन्ते तथा ब्रह्मणि सृष्टयः ॥ २२
यथा वायौ परिस्पन्दा यथा व्योमनि शून्यता ।
अनन्याश्चाप्यमूर्ताश्च तथा ब्रह्मणि सृष्टयः ॥ २३
यथा संकल्पनगरं शून्यमेव पुरं स्थितम् ।
साकारमप्यनाकारं ब्रह्मणीदं तथा जगत् ॥ २४
चिरानुभूतमप्यर्थकार्यपीदं जगद्वयम् ।
शून्यमेव निराकारं संकल्पनगरं यथा ॥ २५
यदेव चित्तसंकल्पस्तदेव नगरं यथा ।
तदा तथायं ब्रह्माच्छं तदेव जगदुच्यते ॥ २६
चिरं नित्यानुभूतोऽपि जगदर्थो न किञ्चन ।
विद्यते पुरुषस्येह स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ २७
स्वप्ने पुंसां मृतेनापि स्वदाहो दृश्यते यथा ।
असदेव सदाभासं जगद्गृहं परे तथा ॥ २८
जगत्ता चाजगत्ता च परस्यैवामलं वपुः ।
पराभिधानं च परं न च सत्परमार्थतः ॥ २९

नीता इत्याद्याससिद्धास्तेषाम् । यैस्त्वन्यैरनित्यैरिदानींतन-
धारणाभ्यासैर्ध्यानविश्रान्तौ यत्यते तैर्दुःखैः भ्रमैरमी लोकाः
स्थिरीकृताः स्युरिति ॥ १३ ॥ संविदितं निश्चितम् ॥ १४ ॥
यतस्तत्रासंविदिते अस्ति नास्तीति वा चोद्यता तर्कविषयता
नास्ति ॥ १५ ॥ कुतः शून्यमप्रतिघं च तत्तत्राह—चित्स्व-
भावतयेति । यदृढसंवेदनेन भातं तच्चित्स्वभावतया भारूपमिव
भासमानं दृश्यते । अस्मिंस्त्वसंविदिते स्वभावतश्चिदभिमान-
चित्तसत्तास्फूर्तिव्याप्तिर्यतो न विद्यते इत्यर्थः ॥ १६ ॥ कारण-
सत्ताबलदेव तत्सत्तान्या भविष्यतीति तु न शङ्क्यमेव निरस्त-
त्वादित्याह—कार्येति । सर्गादौ प्रलयत्वाद्योमः ॥ १७ ॥ यच्च
जातमिवाभाति भूतभुवनादि तत्तु व्योम्नि व्योमैव जातमिवा-
भातीति तत्रैकत्वद्वित्वकलनापि दुर्लभा दूरे कार्यकारणभाव
इत्यर्थः ॥ १८ ॥ तर्हि ब्रह्मैव कारणमस्तु तत्राह—तद्धीति । वि-
वर्ताधिष्ठानमेव न विकारीति न कारणमित्यर्थः ॥ १९ ॥ आकारं
कल्पयित्वेति शेषः ॥ २० ॥ अत एव स्वदृष्ट्या निर्व्यापारा एव
जीवन्मुक्ता व्यवहरन्त इव भान्ति न वस्तुत इत्याह—काष्ठ-
वादिति ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ अर्थकारि, लौकिक-
वैदिककार्यसमर्थमपि ॥ २५ ॥ तदा संकल्पनगरव्यवहारकाले ।
तथा अयं परिदृश्यमानः संसारोऽपि ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥
यत्परमन्यद्ब्रह्मवादि पराभिधानं सर्पाद्यभिधानगोचरो भवति

इत्थमस्तु यदि वान्यथास्तु वा
मैव भूद्वत्तु कोऽत्र संभ्रमः ।

मुञ्च फल्युनि फले फलग्रहं
धुद्वानसि कृतं परिश्रमैः ॥

३०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहाराभायणे वाल्मीकीये दे० भो० नि० उ० परमार्थोपदेशो नामैकादशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २११ ॥

द्वादशाधिकद्विशततमः सर्गः २१२

श्रीवासिष्ठ उवाच ।

चित्त्वाद्ब्रह्ममेवाहमिति वेत्तीव यत्स्वयम् ।
तदेव परमेष्ठित्वं तस्योदरमिदं जगत् ॥ १
यत् स्थिते न च ब्रह्मा न च जातं जगत्स्थितम् ।
स्थितं यथास्थितमजं परं ब्रह्मैव पूर्ववत् ॥ २
संविता तु जगद्रूपं भासतेऽप्येवमेव तत् ।
सृगदृष्णेव मिथ्यैव दृश्यमानमपि त्वसत् ॥ ३
अतःप्रभृति शून्येयं भ्रान्तिरभ्युदिता नवा ।
कुतः केव किल भ्रान्तिर्ब्रह्मैव तदनामयम् ॥ ४
जगद्ब्रह्मजलावर्तो द्वित्वैकत्वे किलात्र के ।
कावर्तपयसोर्द्वित्वं द्वित्वाभावात्क चैकता ॥ ५
तद्ब्रह्म घनमाशान्तं चित्त्वाचेतत्यहं विदत् ।
निजं शून्यत्वमन्तस्थं व्योमेव विततान्तरम् ॥ ६
पवनः स्पन्दनमिव हुताशन इवोष्णताम् ।
स्वशैत्यमिव पूर्णेन्दुः सत्तामर्थ इवात्मनः ॥ ७

श्रीराम उवाच ।

एतद्ब्रह्मन्कदा नाम तन्न चेतितवन्मुने ।
निरावृत्तमनाद्यन्तं किमिदानीं प्रचेतति ॥ ८
श्रीवासिष्ठ उवाच ।
एवमेतत्सदैवैतदहमाद्यपि चेतति ।
न ह्यनादेरजस्यास्य काप्यपेक्षा स्वसंविदा ॥ ९
सर्गासर्गनभोरूपं ब्रह्म सर्वत्र सर्वदा ।
न कदाचिदिदं नेदं ज्ञातं नेदं च किंचन ॥ १०
पवनस्पन्दनं चन्द्रशैल्यं शून्यत्वमन्वरम् ।
ब्रह्माहंत्वमनन्यात्म न कदाचिन्न चेतति ॥ ११
सर्वदैवेदृशी सत्ता न कदाचिदनीदृशी ।
जगद्यस्मादनाद्यन्तं ब्रह्मात्मैव निरामयम् ॥ १२
केवलं त्वमबुद्धत्वाच्छब्दध्वणवेधितः ।
अद्वये ब्रह्मबोधेऽसिन्धितामभ्युपगच्छसि ॥ १३

तत्परमार्थतः सन्न ॥ २९ ॥ हे राम, सिद्धलोकभोगादिफल-
मित्यं महर्णितप्रकारेणैव कल्पनामात्रमस्तु । यदि वा अन्यथा
अन्यैर्भूतिभिर्वर्णितप्रकारेणान्यादृशमेव वास्तु । मैवाभूतथापि
ते जीवन्मुक्तस्य अत्र कः संभ्रम आदरः । फल्युनि सिद्ध्यादि-
फले फलग्रहं पुरुषार्थताबुद्धिं मुञ्च । यतस्त्वं ब्रह्मतत्त्वं धुद्वान-
सि अतस्तो मायामात्ररूपसिद्धलोकवैभवपरिज्ञानश्रमैः कृतं
अलम् । सार्थं नास्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारा-
भायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपदेशो
नामैकादशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २११ ॥

ब्रह्माहंभावकलना परमेष्ठो जगन्नयम् ।

तत्संकल्पमयं सस्माद्ब्रह्मैवेत्यत्र चर्षयते ॥ १ ॥

ब्रह्मणि प्रथमं समष्ट्यहंकारात्मा हिरण्यगर्भ इव कल्पना-
सदुदरे च व्यष्टिजीवजगत्कल्पनेति सर्वं ब्रह्मविवर्तमात्रमापात-
दर्शनसिद्धं परमार्थदृष्टो न हिरण्यगर्भो जीवो जगद्वा किंचिदस्ति
ब्रह्मैव केवलं नित्यनिर्मलसच्चिदानन्दैकरसं पूर्णमवतिष्ठत इति
सर्ववेदान्तनिष्कृष्टार्थमन्ते वर्णयितुमुपक्रमते—चित्त्वादिति ।
ब्रह्मत्वं स्वयमेव प्रथममहमित्याहंकारसमष्ट्यात्मानं वेत्तीव तस्मा-
च्छब्देनमेवास्य परमेष्ठित्वं हिरण्यगर्भता ॥ १ ॥ न च मायि-
क्षेत् तावन्मात्रापराधेन ब्रह्म अत्र द्वा भवतीति—हिरण्यगर्भादि
किंचिदन्यथासीद्वेवेत्याह—एवं स्थिते इति ॥ २ ॥ यदि
नासीदेव तर्हि संविता कथं भासते तत्राह—संविताविति ।
एवमेव प्रातिभासिकमेव सत् न परमार्थसत् ॥ ३ ॥ अतः

सर्गकालात्प्रभृति भ्रान्तिरभ्युदिता अथवा सापि नाभ्युदितैव
॥ ४ ॥ अस्तु नाम जगदनिर्वचनीयो ब्रह्मधर्मस्तथापि न कृति-
रित्याह—जगदिति ॥ ५ ॥ चित्त्वात्परमार्थस्वभावात् । अह-
मित्यहंकारसमष्ट्यात्मातं विदत् ॥ ६ ॥ ब्रह्मैवात्मना अर्थ इव
सत्तां चेतति ॥ ७ ॥ यदि स्वरूपचेतन्यमेवाभिप्रेत्य अर्थ इव
चेततीत्युच्यते तर्हि तत्सदैवास्तीतीदानीं प्रचेततीति किमुच्यते
इति रामः पृच्छति—एतदिति । एतदहमादि कदा न चेतित-
वत् । यतः सदैव निरावृत्तं निरावरणमनाद्यन्तं नित्यं न तदि-
दानीं सर्गादिकल्मारभ्य प्रचेततीति किमुच्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥
सत्सम् यौक्तिकदृशा सदैव बाह्यादिस्वतत्त्वं न प्रचेतति, तथा च
सर्गासर्गोभयरूपं ब्रह्मदृष्टिद्वयप्रामाण्ये पर्यवस्यति तथापि दृष्टिद्वये
विषयसत्त्वासत्त्वकृतमन्तरमस्तीति प्रामाण्येन तुल्यमित्याशये-
नाभ्युपगम्येवोत्तरमाह—एवमेतदित्यादिना । स्वसंविदा स्वरूप-
चेतन्येन विषया स्वरूपस्फूर्तावविषया अहमादिस्फूर्ता नान्या-
पेक्षा यतो नास्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥ यतः कदाचिदपि अविद्यादृष्टो नेदं
ज्ञातं विद्यादृष्टो नेदं च किंचन ॥ १० ॥ मिश्रदृष्टौ तर्हि कीदृशी
चेतति तदाह—एवमेति ॥ ११ ॥ सर्वदैवेति । विपश्चिदुपा-
ख्यानोक्त्यायेन 'सर्वजीवसंसारोच्छेदकालप्रसिद्धेति भावः
॥ १२ ॥ इमां मिश्रदृष्टिमपि तव बोधानुवृत्तिपर्यन्तमेव शब्द-
श्रवणादिव्यवहारसिद्धये त्वमभ्युपैषि चेदभ्युपगच्छ न परमार्थत
इत्याह—केवलमिति । त्वमद्वये ब्रह्मबोधे जातेऽप्यबुद्धत्वात्
नोभमभ्युपेय । त्यज्योपे पश्यती । सदुपदेशान्दधवणे वेधित

न कश्चित्किंचिदेवेह न कदाचिन्न चेतति ।
 न कश्चिच्च तदन्यात्मा न कदाचिच्च चेतति ॥ १४
 इदं त्रिभुवनाभासमीदृशं भाति सर्वदा ।
 शान्तं राम समं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ॥ १५
 न कदाचन जायन्ते न भसः पादपादयः ।
 ब्रह्मणश्च जगन्तीति मत्वा शान्तिं परां व्रज ॥ १६
 उपदेश्योपदेशार्थं संदेहावसरेऽल्पधीः ।
 यावन्न बुद्धस्तावत्त्वं भेदमभ्युपगच्छसि ॥ १७
 बोधस्य तु विबुद्धस्य न शास्त्रादि न शब्दधीः ।
 न भेदबुद्धिर्नो भेदः किमप्येष प्रजापतेः ॥ १८
 श्रीराम उवाच ।

बुद्धमेतन्मया ब्रह्मन्प्रकृतं तदुदाहर ।
 वचो मदवबोधार्थं यदुदाहृतवानसि ॥ १९
 किं तस्मिंश्चेतितेऽहंत्वे पदे संपद्यते परे ।
 बुद्धवानसि शुश्रूषुर्नाहं तृप्तिमुपैमि हि ॥ २०

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० उ० परमार्थनिरूपणं नाम द्वादशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१२ ॥

त्रयोदशाधिकद्विशततमः सर्गः २१३

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

यथा यत्पृष्ठवानद्य त्वं मामरिनिषूदन ।

आसक्तचित्तः सन् मिश्रदृष्टिलब्धां द्वितां सप्रपञ्चनिष्प्रपञ्चो-
 मयरूपतामभ्युपगच्छसि न तत्त्वदशेत्यर्थः ॥ १३ ॥ मिश्रदृष्टौ
 हि सर्वात्मकं ब्रह्म तत्र सर्वान्तर्गतः कश्चिज्जीवः किंचिचेत-
 स्तेव चेतब्रह्मैव तदात्मना चेततीति तदात्मना सर्वैः सर्वं
 चेतति । निर्विशेषब्रह्मात्मना च कश्चित्किंचिदपि न कदाचन
 चेतति ॥ १४ ॥ तथा च बद्धदृष्ट्या त्रिभुवनाभासमेव सर्वदा
 ब्रह्म भाति, मुक्तदृष्ट्या नेह नानास्ति किंचनेति न किंचिद्भाती-
 त्यर्थः ॥ १५ ॥ तत्र बद्धदृष्टेर्बाधितार्थत्वान्मुक्तदृष्टिरेव त्वया
 आश्रयणीयेत्याह—न कदाचनेति ॥ १६ ॥ यावदुपदेशप्रवृत्ति-
 मिश्रदृष्टिरभ्यनुज्ञाता मयेत्याह—उपदेश्येति । अभ्युपगच्छसि
 अभ्युपगच्छ ॥ १७ ॥ तदुत्तरकालं त्वहंकारतत्संकल्पजगदा-
 त्मनः प्रजापतेर्भेदबुद्धिस्तदभावबुद्धिश्च तव न भविष्यत्येवेत्यर्थः
 ॥ १८ ॥ 'एतद्ब्रह्मन्कदा नाम' इत्यादि यन्मया पृष्टं एतन्मया
 त्वदुक्त्या बुद्धम् । प्रकृतं समग्र्यहंकाराद्यध्यासं निरूपयितुं
 प्रस्तुतं यन्मदवबोधार्थं वचस्त्वदुदाहर निरूपयेत्यर्थः ॥ १९ ॥
 तदेव स्मारयन्पृच्छति—किमिति । तस्मिन्परे पदे अहंत्वे
 चेतिते सति अग्रे किं संपद्यते । त्वं सर्वज्ञत्वात्सर्वं बुद्धवानसि ।
 अहं च त्वद्वचनशुश्रूषुर्न तृप्तिमुपैमि अतो वदेत्यर्थः ॥ २० ॥
 व्योमसत्ता आकाशाध्यासः । भेदसत्ता त्रिविधपरिच्छेदाध्यासः
 ॥ २१ ॥ अहंकाराध्यासस्य परिच्छेदाध्यासहेतुतामुपपाद-
 यति—यदेति । यदा अस्य इह देहाद्यौ अहमिति भाति तदा
 वेदज्ञानस्थले अत्र नाहमित्यप्यवश्यं भाति स देशकृतपरिच्छेदः ।

श्रीवसिष्ठ उवाच ।

अहंत्वे सत्यथैतस्मिन्व्योमसत्ता प्रवर्तते ।
 दिक्सत्ता कालसत्ता च भेदसत्ताभ्युदेति च ॥ २१
 यदा किलेहाहमिति तदा नात्राहमित्यपि ।
 भातीत्युदेति नाना खे स्वात्मैव द्वैतमक्रमम् ॥ २२
 व्योमात्मिकानामेतासां सत्तातामभिधानधीः ।
 भविष्यत्युत्तरं कालं तदा त्वाकाशमेव तत् ॥ २३
 एतस्मिन्परिसंपन्ने दिक्कालकलनात्मनि ।
 अहंभावे निराकारे व्योम तन्मात्रवेदिनि ॥ २४
 इदमाभाति भारूपं वेदनं दृश्यनाम यत् ।
 भूत्वा ब्रह्मैव निर्बाधमब्रह्मैव विराजते ॥ २५
 ब्रह्मैव शान्तमजमेकमनादिमध्यं
 व्योमैव जीवकलनामिव भावयित्वा ।
 व्योम्येव पश्यति निरावरणे विसारि
 दृश्यं स्वरूपमपि चान्यदिवाऽऽत्मविस्त्वात् ॥ २६

शिष्येणैव सता पूर्वमहं पृष्ठो गुरुस्त्वया ॥ १

इत्यनया रीत्या नानाविधः कालकृतपरिच्छेदो वस्तुकृतपरि-
 च्छेदश्चेति स्वात्मैव अक्रमं द्वैतं भूत्वा उदेति ॥ २१ ॥ ततः
 परस्परव्यावर्तकजातिगुणक्रियादिप्रवृत्तिनिमित्तभेदकल्पनाप्रयुक्तो
 नामभेदाध्यासो भविष्यतीत्याह—व्योमात्मिकानामिति । ए-
 तासामुक्तानां पदार्थभेदसत्तानामभिधानधीर्वाचकशब्दाध्यासः
 ॥ २३ ॥ तत्राहंकारावच्छेदेन जीवसाक्षिभेदेष्वावरणामावा-
 त्स्वाभाविकचिदभिव्यक्तौ तत्राध्यस्तजगदाकारेण ब्रह्मैव अब्र-
 ह्मैव भास्यतीत्याह—एतस्मिन्नित्यादिद्वाभ्याम् ॥ २४ ॥ २५ ॥
 तदेव स्पष्टमाह—ब्रह्मैवेति । व्योमः जीवजगद्भावशून्यं ब्रह्मैव
 जीवकलनामिव भावयित्वा अध्यस्य निरावरणे जीवसाक्षात्कारो
 एव विसारि विस्तृततरं दृश्यं पश्यति स्वरूपमपि ब्रह्म अन्यदिव
 पश्यति आ आत्मविस्त्वात्तत्त्वज्ञानोदयं मर्यादीकृत्येत्यर्थः ॥ २६ ॥
 इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
 परमार्थनिरूपणं नाम द्वादशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१२ ॥

वर्णयते पूर्वसंवाद इह रामवसिष्ठयोः ।

गुरुशिष्याख्यायिकया सर्वं ब्रह्मेति निश्चितः ॥ १ ॥

विस्तरेणोपदेशात्करतलामलकवत्साक्षात्कारितमप्यात्मतत्त्वं रा-
 मस्य जन्मान्तरीयस्वोपदिष्टार्थं एव ते पुनरुपदिष्ट इति
 स्मारणेन स्थूणानिखननन्यायेन हवीचिकीर्षुर्भगवान्वसिष्ठः
 सर्वजगदुपकाराय सर्वशास्त्रार्थसंग्रहरूपं गुरुशिष्याख्यायिकां
 शास्त्रान्ते परममङ्गलरूपमुपदेष्टुमारभते—यथेत्यादिना । हे
 राम, त्वमद्य मां प्रति यज्जगत्तत्त्वमात्मतत्त्वं च यथा पृष्ठवांस्तथा

पुराकल्पे हि कस्मिंश्चित्त्वमात्मादिकात्मिका ।
आसीदियं चित्प्रतिभा गुरुशिष्यात्मना वने ॥ २
गुरुस्तत्राहमभवं शिष्यस्त्वमभवस्तदा ।
पृष्ठवान्मां त्वमग्रस्य इदमुद्दामधीरधीः ॥ ३
शिष्य उवाच ।
सर्वस्य भगवन्निष्ठं ममैवमतिर्लेशयम् ।
किं नश्यति महाकल्पे किं वस्तु न विनश्यति ॥ ४
गुरु उवाच ।
पुत्र शेषमशेषेण दृश्यमाशु विनश्यति ।
यथा तथा स्वप्नपुरं सौपुर्णी स्थितिमीयुषः ॥ ५
निर्विशेषेण नश्यन्ति भुवः शैला दिशो दश ।
क्रिया कालः क्रमश्चैव न किञ्चिदवशिष्यते ॥ ६
नश्यन्ति सर्वभूतानि व्योमापि परिणश्यति ।
स सर्वजगदामासमुपलब्धुरसंभवात् ॥ ७
ब्रह्मविष्णुवन्द्यद्रुद्राद्या ये हि कारणकारणम् ।
तेषामप्यतिकल्पान्ते नामापीह न विद्यते ॥ ८
शिष्यते हि चिदाकाशमव्ययस्यानुमीयते ।
तत्कालशेषतानेन सर्गानुभवहेतुना ॥ ९
शिष्य उवाच ।
नास्ततो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
इदं तत्कथमाभोगि विद्यमानं क्व गच्छति ॥ १०
गुरु उवाच ।
न विनश्यत एवेदं ततः पुत्र न विद्यते ।

पूर्वमन्यस्मिन् रामजन्यमन्यपि अहं गुरुः शिष्येणैव सता त्वया पृष्ठः
॥ १ ॥ सक्षिप्योक्तं विस्तरेणाह—पुरेति । तन्वगतत्र त्वं रामः
आत्मा अहं वसिष्ठः आदिषदात्तत्वं निर्वेदो मदभिगमनं प्रश्रद्धे-
सेवमादिका इयं चित्प्रतिभा कस्मिंश्चित्त्वेन गुरुशिष्यात्मना इदा-
मीमिव आसीदित्यर्थः ॥ २ ॥ इदं वक्ष्यमाणं पृष्ठवानसि ॥ ३ ॥
सर्वस्य अगतो विषये ममेवमुच्यमानमतिशयितं संशयमति-
संशयम् ॥ ४ ॥ हे पुत्र, यथा स्वप्नपुरं सौपुर्णी स्थितिमीयुष
आत्मनस्तन्मात्रशेषमशेषेण विनश्यति तथा जगद्दृश्यमपि
प्रलये विनश्यतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ सर्वजगदामाससहितं
व्योमाप्यव्याकृते लयात्परिणश्यति उपलब्धस्य भोग्यस्य भोक्-
धीनस्थितिकत्वात्प्रलयकाले उपलब्धुर्भोक्तुरसंभवात् ॥ ७ ॥
ब्रह्मादय एव तथा तद्वोकारः स्यात्सन्तीत्याशङ्कान्वावर्णयाह—
ब्रह्मेति । अतिशयिते कल्पान्ते प्राकृते वैज्ञानिके च प्रलये ॥ ८ ॥
आत्मशेषं विनश्यतीति यदुक्तं सदुपपादयति—शिष्यते
हीति । अव्ययस्य चिद्रस्तुनो विवर्ते नष्टे चिदाकाशं शिष्यते
इत्यनुमीयते । हि अस्मात्कारणात्स्वाभ्यस्तसर्गानुभवहेतुना अनेन
चिदात्मनैव सर्वप्रपञ्चन्यतत्कालशेषता सिध्यति । तस्यापि
नाशे निःसाक्षिकः प्रलय एव न सिध्येदित्यर्थः ॥ ९ ॥ सतो
जगतः असत्तालक्षणो नाश एव न सिध्यतीति शिष्यः
शङ्कते—नास्तत इति ॥ १० ॥ श्रुतिप्रत्यक्षानुमानस्पृष्टादिसिद्धो

नास्ततो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ ११
यत्तु वस्तुत एवास्ति न कदाचन किञ्चन ।
तदभावात् तद्राम कथं नाम विनश्यति ॥ १२
क्व स्थितं मृगतृष्णान्धु क्व स्थिरो द्वीन्दुविभ्रमः ।
क्व स्थिरा केशदण्डयोमि क्व भ्रान्त्यनुभवः स्थिरः ॥ १३
सर्वं दृश्यमिदं पुत्र भ्रान्तिमात्रमसन्मयम् ।
स्वप्ने पुरमिवाभाति कथमेतन्न शास्यति ॥ १४
शास्यतीदमशेषेण तथा सर्वत्र सर्वदा ।
यथा जाग्रद्विधौ स्वप्नः स्वप्ने वा जाग्रो यथा ॥ १५
यथा स्वप्नपुरं शान्तं न जाने काशु गच्छति ।
शान्तं तथा जगद्दृश्यं न जाने काशु गच्छति ॥ १६
शिष्य उवाच ।
किमिदं भाति भगवन्न विभाति च किं पुनः ।
कस्येदं वस्तुनो रूपं चिद्वोमो वितताकृतेः ॥ १७
गुरु उवाच ।
चिदाकाशमिदं पुत्र स्वच्छं कचकचायते ।
यन्नाम तज्जगद्भाति जगदन्यत्र विद्यते ॥ १८
अस्यैतद्रस्तुनो रूपं चिद्वोमो वितताकृतेः ।
रूपमत्यजदेवान्छं यदित्थमवभासते ॥ १९
कचकाकचनं सर्गक्षयात्मास्य निजं वपुः ।
व्योमात्स शुक्लरूपं स्याद्यथावयविनो वपुः ॥ २०
यथायं त्वं सितोदान्तरैक एवादितः कचैः ।
तथा ब्रह्मैवमच्छात्म सर्गे सर्गक्षयेऽक्षयम् ॥ २१

जगतो नाशो नापहोतुं शक्य इति तद्वत्त्वेन सत्यमेवापातदर्शन-
प्रसक्तमपठयत इति न दोष इत्याशयेन गुरुः समाधत्ते—
नेति । न त्वदुक्तं युक्तम् । यत इदं जगद्विनश्यत्येव । प्रल-
यादिभिः सावयवेषु नाशप्रसिद्धेः अतो न विद्यत एवेत्य-
तोऽस्य भावो नास्तीत्यनुकूलमेतत्त्वयोकमित्यर्थः ॥ ११ ॥
यद्रस्तुतोऽस्त्येव तत्किञ्चन अभावात् अवसत् न । सद्भावः
सद्भावः कथं नाम विनश्यत्यसत्त्वमापद्यते ॥ १२ ॥ आपात-
दर्शनमात्रेण जगतः सत्ता नावधारयितुं शक्या । महानां तथा
दृष्टानां सत्त्वाददर्शनादित्याह—केति । स्थिरः अयं प्रतिष्ठः ॥ १३ ॥
॥ १४ ॥ बाध्यत्वसाधने जाग्रत्स्वप्नयोः परस्परं दृष्टान्तभावः
प्रसिद्ध इत्याह—शास्यतीति ॥ १५ ॥ नाधितं तु क्व गच्छति
क्व तिष्ठतीति योगिभिरप्यदर्शनादसत्त्वमेव तस्य कारणमित्या-
शयेनाह—यथेति ॥ १६ ॥ यदि नास्त्येव दृश्यं तर्हि दृश्यमे-
षेण कंचित्कालं परमार्थतः किं वस्तु भाति तदेव बोधोत्तरं
पुनस्तथा न विभाति च किमयमित्यर्थः ॥ १७ ॥ कचकचा-
यते श्रुतिरिव स्वनाकचक्येन रजतमिव स्फुरति ॥ १८ ॥
अस्यैतदिति । 'हे नाव ब्रह्माणो रूपे मूर्ते वैवामूर्ते च' इत्यादि-
श्रुतेरिति भावः ॥ १९ ॥ यथा अवयविनो वपुः स्वरूपमवयव-
भेदभिन्नमिव तद्वत्त्वैत्यर्थः ॥ २० ॥ यथा अयं प्रसिद्धत्वं सितो-
दस्य स्वच्छोदकस्य हृदयान्तः प्रविष्टो निम्बप्रतिनिम्बमेव-

यथा स्वप्ने सुषुप्ते च निद्रैकैवाक्षयानिशम् ।
 सर्गेऽस्मिन्प्रलये चैव ब्रह्मैकं चित्तिरव्ययम् ॥ २२
 यथा स्वप्ने जगद्ब्रह्मः शान्तं शाम्यत्यशेषतः ।
 तद्वदस्मज्जगदिदं शान्तं शाम्यत्यशेषतः ॥ २३
 तदन्यत्रास्ति खे खाख्यं तथेत्यङ्गं न विद्महे ।
 अशङ्क्यं परखे त्वेतदसच्चिद्व्योम्नि संभवात् ॥ २४
 यथेहासच्चिदाकाशकचनं सर्गसंक्षये ।
 तथान्यत्संविदाकाशं नैवमित्यत्र का प्रमा ॥ २५
 शिष्य उवाच ।
 एवं चेत्तद्यथा स्वप्ने द्रष्टुरन्यः स दृश्यधीः ।
 विद्यते तद्वदन्यत्र मन्येऽस्ति जगदादिधीः ॥ २६
 गुरु उवाच ।
 एवमेतन्महाप्राज्ञ स्वरूपं तु न तज्जगत् ।
 चिति भाति स्वरूपं तत्तद्वदेव न भाति च ॥ २७
 न भाति न च तत्किञ्चिन्न च तत्किञ्चिदेव सत् ।
 तच्चिदाकाशकचनं के तत्र सदसदृशौ ॥ २८
 विद्यते तद्धि सर्वत्र सर्वं सर्वेण सर्वदा ।
 न विद्यते च तत्किञ्चित्सर्वं सर्वत्र सर्वदा ॥ २९
 तत्सत्तत्सर्वदा सर्वमसच्चासद्धि वाखिलम् ।
 तन्मयं तच्चिदाकाशं न नाशि न च नाशि तत् ॥ ३०
 यन्नाम सच्चिदाकाशं सर्गप्रलयरूपि तत् ।
 तदुःखायापरिज्ञातं परिज्ञातं परः शमः ॥ ३१
 विद्यते सर्वथैवेदं सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।

क्षयादेक एव । आदितो हृदप्रवेशात्पूर्वमपि विम्बप्रतिविम्बभा-
 वादिभेदकचनैरप्येक एवाक्षयोदयस्तथा ब्रह्मापि सर्गे सर्गक्षये
 चाक्षयोदयमेकमेवेत्यर्थः ॥ २१ ॥ चितिः चित्स्वभावमव्ययम-
 विकारि ॥ २२ ॥ यथा स्वप्ने प्रसिद्धं जगज्जाग्रत्सुषुप्त्योः
 शान्तमेव शाम्यति ॥ २३ ॥ बाधितमत एव खाख्यं शून्याख्यं
 तत्स्वाप्नं जगदन्यत्र देशान्तरे तथैव विद्यते इति तु बोधदृष्ट्या
 न विद्महे । परेषां पुरुषान्तराणां खे जीवाकाशे स्थास्यतीति तु
 अशङ्क्यं शाङ्गानर्हम् । कुतः । अस्मच्चिद्व्योम्न्येवासद्वासनामयस्य
 संभवादबाधितदशायामपि परचिद्व्योम्नि प्रसक्त्यभावादित्यर्थः
 ॥ २४ ॥ यद्यसदनुभवसिद्धसर्गः प्रबोधबाधितः परसंविदा-
 काशं विशेषतदा परस्य प्रबोधेन शुद्धचिदाकाशकचनं नास्तीत्येव
 कल्प्यं स्यात्, तत्र च कल्पकं प्रमाणं नास्तीत्याह—यथेति
 ॥ २५ ॥ एवमुक्तरीत्यासत्संविद्विषयः परसंविदि न भाति चेत् स्वप्न-
 द्रष्टुरन्यो जाग्रत्पुरुषो यथा स दृश्यधीर्विद्यते तद्वदन्यत्र प्रलय-
 कालेऽपि अन्यत्र पुरुषान्तरे जगदादिधीरस्तीति मन्ये संभा-
 वये ॥ २६ ॥ अभ्युपगमेन गुरु उत्तरमाह—एवमेतदिति ।
 अत एव प्रलयेऽप्येन्द्रजगत्सद्भावदर्शनं चातुः प्राग्वर्णितमिति
 भावः । यदि जगच्चितः स्वरूपं स्यात्तदा सर्वसाधारणं स्यात्तत्तु
 न, किंतु चित्सध्यस्त्वं भाति तद्द्रष्टृणामन्येषां तद्वदेव न भाति
 चेति तत्तदनुसारेण व्यवस्थितं तत्स्वरूपमित्यर्थः ॥ २७ ॥
 साधारणं न भातीत्यत एव तत्र किञ्चित् तुच्छं न तु किञ्चिदेव

न विद्यते सर्वथा च सर्वं सर्वत्र सर्वदा ॥ ३२
 एष देवो घटः शैलः पटः स्फोटस्तटो घटः ।
 तृणमग्निः स्थावरं च जंगमं सर्वमेव च ॥ ३३
 अस्ति नास्ति च शून्यं च क्रिया कालो नभो मही ।
 भावाभावौ भवो भूतिर्नाशाः पाशाः शुभाशुभाः ॥ ३४
 तन्नास्त्येव न यन्नाम नित्यमेकस्तथा बहिः ।
 आदिमध्यमथान्तं तु कालत्रितयमेव च ॥ ३५
 सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदैवात्र विद्यते ।
 सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदात्र न विद्यते ॥ ३६
 यदैवं राम सर्वात्म सर्वमेवास्ति सर्वदा ।
 ब्रह्मात्मत्वात्स्वप्नसंवित्पुरन्यायेन वै तदा ॥ ३७
 तृणं कर्तुं तृणं भोक्तुं ब्रह्मात्मत्वात्तृणं विभुः ।
 घटः कर्ता घटो भोक्ता घटः सर्वेश्वरेश्वरः ॥ ३८
 पटः कर्ता पटो भोक्ता पटः सर्वेश्वरेश्वरः ।
 दृशिः कर्ता दृशिर्भोक्ता दृशिः सर्वेश्वरेश्वरः ॥ ३९
 गिरिः कर्ता गिरिर्भोक्ता गिरिः सर्वेश्वरेश्वरः ।
 नरः कर्ता नरो भोक्ता नरः सर्वेश्वरेश्वरः ॥ ४०
 प्रत्येकं सर्ववस्तूनां कर्ता भोक्ता परात्परः ।
 अनादिनिधनो धाता सर्वं ब्रह्मात्मकं यतः ॥ ४१
 तृणकुम्भादयस्त्वेते स्वया विभुतया विभुः ।
 एवंरूपा स्थिता रूपं यद्विभातः क्षयोदयौ ॥ ४२
 बाह्योऽर्थोऽस्ति स एवेह कर्ता भोक्ता तथाविधः ।
 विज्ञानमात्रमेवास्ति कर्तुं भोक्तुं तथाविदाम् ॥ ४३

सत् किंतु तत्तज्जीवचिदाकाशकचनमात्रं तत्र सदसदृशौ के
 ॥ २८ ॥ यदि तु चिदाकाशरूपेण विद्यते इत्युच्येत तदा तज्जग-
 त्सर्वेण प्रकारेण सर्वत्र सर्वदा विद्यते । स्वरूपेण तु न किञ्चि-
 त्कुत्रचित्कदाचिदपि विद्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥ यतस्तद्ब्रह्मैव
 सदसच्च अतो जगदपि सदसच्च भाति । यतश्चिदाकाशं न
 नाशि अतस्त्वन्मयं जगच्च न नाशि ॥ ३० ॥ यद्यस्मात्तच्चिदा-
 काशमेव सर्गप्रलयरूपि । तदेवापरिज्ञातं दुःखाय परिज्ञातं तु परः
 शमः । सर्वदुःखक्षय इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ तच्च यथा परिज्ञानं ज्ञानयोः
 सर्वत्र सर्वदा विद्यते न विद्यते च ॥ ३२ ॥ तस्यैव सर्वरूपेण
 सर्वत्र विद्यमानतां प्रपञ्चयति—एष देव इत्यादिना ॥ ३३ ॥
 भवो जन्म ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ब्रह्मभावेन दर्शने तृष्णा-
 दयः सर्वे पदार्थाः प्रत्येकं सर्वकर्तारः सर्वभोक्तारः सर्वेश्वरा-
 थ्येतदपि प्रपञ्चयति—ब्रह्मात्मत्वादित्यादिना ॥ ३७ ॥
 सर्वेषामीश्वराणामिन्द्रादीनामीश्वरः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥
 सर्ववस्तूनां प्रत्येकमेकं वस्तु कर्ता भोक्ता परात्परः श्रेष्ठादपि
 श्रेष्ठः ॥ ४१ ॥ स्वया प्रत्यगात्मरूपया । यद्यस्मिन् रूपे क्षयो-
 दयौ विभातस्तादृशं सर्वं रूपमेवंरूपा विभुतयैव स्थिता ॥ ४२ ॥
 उक्तेऽर्थे वादिनामनुभवं संवादयति—बाह्योऽर्थ इति । येषां
 बाह्यो विज्ञानातिरिक्तोऽर्थोऽस्ति तेषां स एव कर्ता भोक्ता च ।
 यथा वैशेषिकसौत्रान्तिकादीनाम् । येषां तु वादिनां विज्ञान-
 मात्रमेवास्ति तथाविदां तेषां तदेव कर्तुं भोक्तुं च ॥ ४३ ॥

न कश्चिच्चैव कर्तेह न च भोक्ता तथाविदाम् ।
कश्चिदीश्वर पदेह कर्ता भोक्ता तथाविदाम् ॥ ४४
सर्वमेव पदे तस्मिन्समवत्युत्तमोत्तमे ।
विधयः प्रतिषेधाश्च के ते सन्ति न सन्ति के ॥ ४५
शुद्धे द्रष्टे चिद्योम इत्यतामिव भावयत् ।
स्वमात्मानं जगदिति पश्येत्तिष्ठेदनामयम् ॥ ४६

सर्वा दृशो विधिनिषेधदृशश्च सर्वाः
संकल्पवेदतविशेषसशेषपूर्वाः ।
सत्यात्मिकाः सततमेव न चैव सत्या
रूपं यथालुभवमत्र यतः स्वरूपम् ॥ ४७
इति त्वया शिष्यतया मदन्तिका-
च्छ्रुतं पुरा तेन न चासि बुद्धवान् ।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० मो० नि० ४० प्राक्तनरामशिष्यत्वोपाख्यानं नाम त्रयोदशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१४

चतुर्दशाधिकद्विशततमः सर्गः २१४

श्रीवाल्मीकिरवाच ।
इत्युक्तवत्यथ मुनौ नमसो ननाद
वर्षामृताम्रमिव दुन्दुभिरामरो द्राक् ।
शुक्लीकृताखिलकुम्बदना तुषार-
वर्षोपमा भुवि पपात च पुष्पवृष्टिः ॥ १

अन्यवादिनां तु तदेवेत्याह—न कश्चिदिति । पाशुपतादीनां
कश्चित्प्रक्रियाप्रसिद्ध ईश्वर एव कर्ता भोक्ता च ॥ ४४ ॥
एवं मतमेदेषि न वादिनां मध्ये कस्यचिदप्यसंभवदर्शवादित्वं
यत्तत्सिद्धुत्तमोत्तमे सर्वत्र सर्वैशक्तिमति सर्वात्मके पदे
सर्वमपि समवति । तस्मिन्पदे सर्वतत्तद्वाद्यभिमतः परस्पर-
विलक्षणः पदार्थप्रक्रियासाधनानुष्ठानफलादिविधयः परस्पर-
कृतास्तत्प्रतिषेधाश्च सर्वेऽप्यविरोधेनासंकीर्णाः संभवन्ति ।
तत्तद्बुद्ध्यवच्छिन्नचैतन्ये वरशापन्यायेन यथास्वसंकल्पनं व्यव-
स्थितविवर्तसंभवाद ॥ ४५ ॥ तत्र तत्र चिद्योम शुद्धे स्वात्मनि
तत्तद्वासनानुसारिदृशतामिव भावयत्सत् द्रष्टेव भूत्वा स्वमा-
त्मानं तादृशं जगदिति पश्यत्तत्र तत्र वस्तुतोऽनामयमेव तिष्ठेत्,
स्थातुं शक्यमित्यर्थः ॥ ४६ ॥ हे राम, सर्वेषां जीवानां सर्वाः
स्वस्वानुभवसिद्धाः पदार्थादिदृशः सर्वाः परस्परविलक्षणविधि-
निषेधदृशश्च यस्मात्तत्संकल्पतत्तदेवविशेषतत्तदनुभवशेष-
वासनासहिततत्तत्कामकर्मपूर्विकास्तत्तत्तद्व्यवहारे सततमेव
तत्तदर्थक्रियासमर्थत्वात्सत्यात्मिकाः परदृशा तु प्रतीतेरेवामा-
वात्र चैव सत्याः शशरश्मिकल्पाः । यतः प्रत्यगात्मरूपं यथा-
नुभवमेव जगद्रूपं घटे इति शेषः ॥ ४७ ॥ हे राम, पुरा
पूर्वयुगे त्वया शिष्यतया स्थित्वा गुरोर्मम अन्तिकात् इति
एवंवर्णितरूपमुपदेष्टानं श्रुतं तेनोपदेशेन त्वं तदा न चासि
बुद्धवान् । तत्तत्तदन्तरमवधारणार्थे पुनर्मदान् पुनर्म-
दान्यन्यजगदनुभूय अथासिक्तेतायुगे इह दशरथपुत्रे जातोऽसि
तदेव प्राच्याः प्रति पृष्ठमथापि मां पृच्छसि ॥ ४८ ॥ अत्रापि
त्वया, सदुपदिष्टमुत्तमं सत्त्वं परमार्थवस्तुगोचरमति ॥ एव

ततोऽनुभूयान्यजगद्भवद्भव-
निहाय जातोऽसि तदेव पृच्छसि ॥ ४९
ज्ञानं सदेतदखिल श्रुतमुत्तमं चि-
त्संसारदीर्घरजनीलितरश्मिविम्बम् ।
जातस्त्वमभ्युदयवानमलैकबोध-
उत्सार्य मोहमनुतिष्ठ यथागतं त्वम् ॥ ५०
तिष्ठंस्तदात्मनि परे विमलस्वभावे
सर्वात्मके तपसि सर्वपदार्थमुक्तः ।
निर्वाणशान्तमतिरम्बरकोशकान्तो
धर्मेण राज्यमनुपालय तीर्णतृष्णः ॥

किंजल्कजालदिवसान्तधनाङ्गराणां
वातावधूतसितकेसरगौरहाय ।
पुष्पोदरोत्थमृदुसीकरसीतलाङ्गा
प्राप्ता स्वयं सुरपुरादिव पुण्यलक्ष्मीः ॥ ५१

संसारलक्षणया दीर्घरजन्यास्तापतमोनिवर्तकत्वात्सितरश्मेः
चन्द्रस्य विम्बमिव स्थितं ज्ञानमखिलं समग्रं श्रुतं तेन
मोहमज्ञानमुत्सार्य निरतिशयानन्दरूपपरमपुरुषार्थलभ्याभ्यु-
दयान् अमलैकबोधरूपो जातः, एवं कृतकृत्यस्त्वमतः परं य-
गतं व्यवहारपरंपराप्राप्तं स्वराज्यपरिपालनादिमनुतिष्ठ ॥ ४९
हे राम, त्वं विमलस्वभावे तपसि सर्वतः प्रकाशमाने सर्वात्म-
नामनि सर्वैरुदयपदार्थमुक्तस्तिष्ठन्तन् निर्वाणो निरतिशय-
नन्दममोऽत एव शान्ता मतिर्यस्य तथाविधः सचम्बरकोश-
कान्तो मनोहरस्तीर्णतृष्णः सन् धर्मेण राज्यमनुपालयेत्स
मङ्गलार्थमाशीः ॥ ५० ॥ इति श्रीवासिष्ठमहारामायणताप-
प्राक्षे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे प्राक्तनरामशिष्यत्वोपाख-
नानाम त्रयोदशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१४ ॥

उपदेशप्रशंसात्र श्रीचण्डां कृतकृत्यता ।
दिव्यश्च मानुषश्चान्ते वर्ण्यते सुमहोत्सवः ॥ १ ॥
महतः शास्त्रस्यान्ते देवैर्मनुष्यैश्च कृतं गुरोर्द्विजगुरोर्भक्त-
पूजनमहोत्सवलक्षणं मङ्गलं वर्णयिष्यान्वाल्मीकिरवाच—
इत्यदिना । मुनौ वसिष्ठे इति वाक्यमुक्तवति सति अथ आ-
भरसंज्ञंभी दुन्दुभिर्वर्षार्थममृतेन पुष्पमम्रमिव ननाद
द्राक् स्यात् शुक्लीकृतान्यखिलानि कुम्बदनानि दिक्षुल-
यथा अत एव तुषारवर्षोपमा पुष्पवृष्टिश्च भुवि पपात ॥
सा च पुष्पवृष्टिः किंजल्कजालान्येव दिवसान्तधना इव वा
अङ्गरागो यस्याः स्यात् तथा पुष्पोदरोत्था मृदवः सीकरा
सीतलान्यङ्गानि यस्याः वातावधूताः सिताः केसरा
गौराः द्वाराः यस्यास्तथाविधाः सुरपुरास्वयमेवोत्सवदर्श-

कल्पान्तकालकपिकम्पितशुष्कशाखा-
 त्वर्गद्रुमात्पतितमाशु विडम्बयन्ती ।
 तारागणं प्रथितभासमनल्पहास-
 माशामुखप्रसृतभैरवमम्बरस्था ॥ ३
 सा पुष्पवृष्टिरथ दुन्दुभिनादर्गज-
 त्किजल्कपुञ्जलदा शममाजगाम ।
 आपूरिताखिलसभा हिमहारिपुष्प-
 पूरेण कौतुकविकासकरीक्षणेन ॥ ४
 तानि दिव्यानि पुष्पाणि यथास्थानमधःस्थिताः ।
 वसिष्ठाय नमस्कृत्वा सभ्याः संशोकितां जहुः ॥ ५
 दशरथ उवाच ।
 अहोऽनुसुविशात्मानः संसारवितताकृतेः ।
 विश्रान्ताः सश्चिरं भ्रान्ताः शुद्धा मेघा इवाचले ॥ ६
 कर्मणामवधिः पूर्णो दृष्टः सीमान्त आपदाम् ।
 ज्ञातं ज्ञेयमशेषेण विश्रान्ताः स्मः परे पदे ॥ ७
 ध्यानलब्धपरव्योमचिरानुभवनभ्रमैः ।
 धारणाधारविश्रान्त्या देहसंत्यजनक्रमैः ॥ ८
 संकल्पनवनिर्माणैः स्वप्नदृष्टिजगज्ज्वरैः ।
 शुक्तिरूप्यानुभवनैः स्वप्नात्ममृतिदर्शनैः ॥ ९
 अनन्यैः पवनस्पन्दैरनन्यैः सलिलद्रवैः ।

भुवं प्राप्ता पुण्यलक्ष्मीरिव स्थितेत्युत्प्रेक्षा ॥ २ ॥ पुनः कीदृशी
 सा पुष्पवृष्टिः । कल्पान्तकाललक्षणो यः कपिर्मर्कटस्तेन कम्पिताः
 शुष्काः कल्पद्रुमशाखा दिक्पालपुरलोकमेदरूपशाखाश्च यस्य
 तथाविधात्स्वर्गरूपाद्रुमादाशु पतितं आशामुखेषु झटिति पात-
 नाय प्रसृतो भैरवः संहाररुद्रो यस्य तथाविधं प्रथितभासं
 तारागणमम्बरस्था सतीत्यनल्पहासं यथा स्यात्तथा विडम्बयन्ती
 तारागणप्रथितहासं भैरवं च विडम्बयन्तीति वा उत्प्रेक्षा ॥ ३ ॥
 दुन्दुभिनादर्गजन् किजल्कपुञ्जलक्षणो जलदो मेघो यस्यास्त-
 थाविधा हिमवत् हारिणा मनोहरणपुष्पपूरेण पुष्पप्रवाहेण
 आपूरिता अखिला सभा यथा तथाविधा अत एव ईक्षणेन
 दर्शनेन कौतुकविकासस्य आनन्दविस्तारस्य करी सा पुष्पवृष्टिः
 अथ शममाजगाम । ईक्षणेन द्रष्टृजननेत्रेण सह कौतुकविका-
 सकरीति वा, क्षणेन शममाजगामेति वा योज्यम् ॥ ४ ॥
 यथास्थानमिति । सर्वोन्नतस्थाने वसिष्ठस्तत्संनिहिते मुनयस्त-
 त्संनिहिते दशरथरामादयस्तत्संनिहिते मन्त्रिसामन्तास्तदर्वाह-
 नैगमाः प्रजाश्चेत्येवं क्रमेणाधःस्थिताः सभ्यास्तानि दिव्यानि
 पुष्पाण्युपादाय वसिष्ठचरणे पुष्पाङ्गलिं दत्त्वा वसिष्ठाय नम-
 स्कृत्य पुष्पसौरभशैत्यादिसंपर्कात्त्वेददौर्गन्ध्यादिसंशोकितां रोग-
 क्षुत्तृषाभमादिप्रयुक्तशोकवतां जन्ममरणादिसर्वशोकवतां च
 जहुस्तत्पुनः ॥ ५ ॥ संसारलक्षणाद्वितताकृतेरतिदीर्घात्कान्ता-
 राश्चिरं भ्रान्ता वयं त्वदनुग्रहोपदेशात् सुविशः सुखेन प्रवेष्टुं
 शक्य आत्मा येषां तथाविधाः सन्तस्तस्मिन्नेवात्मनि चिरं
 विश्रान्ताः स्मः । अहो इत्याद्यर्थः । यथा शुद्धा जाड्यकाण्ड्यनि-
 र्मुखाः शरन्मेघा अचले हिमवदादौ विश्रान्त्यन्ति तद्वत् ॥ ६ ॥

इन्द्रजालपुरापुरैर्गन्धर्वनगरोत्करैः ॥ १०
 मायापूर्णपुराभोगैर्मृगतृष्णानदीरयैः ।
 आयतौ पवनस्पशैर्द्विचन्द्रानुभवोदयैः ॥ ११
 मदभ्रंशपुरस्पन्दैर्मुग्धा त्ववनिकम्पनैः ।
 बालयक्षाद्यनुभवैः खकेशोण्ड्रकदर्शनैः ॥ १२
 एवमादिभिरन्यैश्च दृष्टान्तैः स्वानुभूतिदैः ।
 अहो नु मार्जिता दृश्यदृष्टिर्भगवता मम ॥ १३
 श्रीराम उवाच ।
 नष्टो मोहः पदं प्राप्तं त्वत्प्रसादान्मुनीश्वर ।
 संपन्नोऽहमहं सत्यमत्यन्तमवदातधीः ॥ १४
 स्थितोऽस्मि गतसंदेहः स्वभावे ब्रह्मरूपिणि ।
 निरावरणविज्ञानः करिष्ये वचनं तव ॥ १५
 स्मृत्वा स्मृत्वाऽमृतासेकसौख्यदं वचनं तव ।
 अर्हितोऽपि च शान्तोपि हृष्यामीव मुहुर्मुहुः ॥ १६
 नैव मेऽद्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
 यथा स्थितोऽस्मि तिष्ठामि तथैव विगतज्वरः ॥ १७
 उपायस्तु तथा तेन दृष्टिर्वास्तीह कीदृशी ।
 अहो नु वितता भूमिः कष्टमेतादृशी दशा ॥ १८
 न शत्रुर्न च मित्रं मे न क्षेत्रं दुर्जनो जनः ।
 दुर्बोधैवा जगत्क्षुब्धा शान्ता सर्वार्थसुन्दरी ॥ १९

किंचास्माकं कर्मणां पुरुषार्थसिद्धये अवश्यकर्तव्यानामवधिः
 पूर्णः । कृतकृत्यतासंपन्न इत्यर्थः । आपदां च सीमान्तः परमाव-
 धिर्दृष्टः । तत्कृतस्तत्राह—ज्ञातमिति ॥ ७ ॥ सर्वेषां तृतीयान्त-
 पदानां षष्ठ्यन्ते एवमादिभिरन्यैश्च दृष्टान्तैर्दृश्यदृष्टिर्मार्जितेत्य-
 त्रान्वयः । ध्यानेन लब्धं कल्पितं परमन्यव्योम तत्र चिरं
 विहारयनुभवनभ्रमैर्ललोपाख्यानादौ प्रदर्शितैः धारणया सर्वा-
 धारे ब्रह्मणि विश्रान्त्या देहसंत्यजनक्रमोऽपि लीलाया वर्णित
 एव ॥ ८ ॥ स्वप्ने आत्मनः स्वस्य मृतिदर्शनैर्हरिश्चन्द्रादौ
 प्रसिद्धैः ॥ ९ ॥ १० ॥ मायया प्रदर्शितजलपूर्णपूराभोगैः ।
 आयतौ सर्वोत्तरकाले प्रलये वर्णितैश्चण्डपवनस्पशैः ॥ ११ ॥
 मदाद्विवेकभ्रंशे प्रतीयमानैः पुरस्पन्दैः । मुग्धा उत्पातादिना
 शुमाशुभसूचनं विनैव भ्रान्त्या प्रतीतैरवनिकम्पनैः । खे-
 केशोण्ड्रकदर्शनैः ॥ १२ ॥ १३ ॥ सत्यं ब्रह्मैव संपन्नः ॥ १४ ॥
 ॥ १५ ॥ अर्हितः पूजितः । अपि चेलनेनापमानितश्च सम-
 दर्शनेन हर्षविषादानुदयाच्छान्तोऽप्यहं हृष्यामीव ॥ १६ ॥
 यथा पूर्वं व्यवहारे स्थितोऽस्मि तथैव सांप्रतं तिष्ठामि । विगत-
 ज्वरो व्यवहारप्रसक्तसंतापशून्यः ॥ १७ ॥ तेन त्वद्वचनेन
 यादृशो विश्रान्त्युपायो लब्धस्तथा उपायस्तु कोऽन्यः स्याद्-
 दृष्टिर्वा अन्या कीदृशी स्यात् । अहो नु वितता अपरिच्छिन्ना
 विश्रान्तिमुखमूर्तिर्मया आसादिता, एतादृशी जन्ममरणा-
 यन्तानर्थसंकुलसंसारदशा अहो नु कष्टं प्राणिनामित्यर्थः
 ॥ १८ ॥ मम तु दुःखनिमित्तानि कान्यपि न सन्तीत्याह—
 न शत्रुरिति । क्षेत्रं शरीरं बाह्यं च । जनः सुजनः । एषा

कथमेतां जनो वेत्ति विना भवदनुग्रहम् ।
विनैव सेतुं पोतं वा बालोऽपि लब्धयेत्कथम् ॥ २०

लक्ष्मण उवाच ।

जन्मान्तरोपचितसंशयनाशनेन

जन्मान्तरोपचितपुण्यशतोदितेन ।

जातोऽद्य मे मुनिवचःपरिवोधनेन

जातोऽद्य मे मनसि चन्द्र इव प्रकाशः ॥ २१

ईदृश्यां दृश्यमानायां दृशि दोषदशाशतैः ।

काष्ठवद्वहते लोकः स्वदुर्भगतया तया ॥ २२

विश्वामित्र उवाच ।

अहो यत महत्पुण्यं श्रुतं ज्ञानं मुनेर्मुखात् ।

येन गङ्गासद्वस्त्रेण क्लृप्ता इव वयं स्थिताः ॥ २३

श्रीराम उवाच ।

संपदामथ दृष्टीनां शास्त्राणामापदां गिराम् ।

देशानामथ दृष्टानां दृष्टः सीमान्त उत्तमः ॥ २४

नारद उवाच ।

यत्र श्रुतं ब्रह्मलोके स्वर्गे भूमितले तथा ।

कर्णौ तज्ज्ञानमाकर्ण्य यातौ मेऽद्य पवित्रताम् ॥ २५

लक्ष्मण उवाच ।

द्वादं बाह्यं च तिमिरमपसृष्टवता त्वया ।

मुने परमभानुत्वं नूनं नः संप्रदर्शितम् ॥ २६

शशुभ्र उवाच ।

निर्वृतोऽसि प्रशान्तोऽसि प्राप्तोसि परमं पदम् ।

चिराय परिपूर्णोऽसि सुखमाप्से च केवलम् ॥ २७

स्वात्मचिदेव यावदुबोधो तावत्सुखं दुःखदा जगदभूत्, इदानीं

तु बाष्पात् शान्ता सर्वार्थसुन्दरी संपन्नैत्यर्थः ॥ १९ ॥ हे

भगवन्, त्वदनुग्रहं विना एतां दृष्टिं जनः कथं वेत्ति ॥ २० ॥

जन्मान्तरेष्वन्तजन्मसूपचितदुर्वासनाप्रयुक्तसंशयानां नाश-

नेन तथा जन्मान्तरोपचितानां पुण्यशतानामुदयो बोधफलो-

न्मुखता येन तथाविधेन मुनिवचःकृतेन प्रतिबोधनेन जातो

विचारोद्यमो यस्मिंस्तथाविधे मे मनसि अद्य चन्द्र इव परमा-

हादकारी परमात्मप्रकाशो जात इत्यर्थः ॥ २१ ॥ ईदृश्यां

निरतिशयानन्दप्रकाशरूपायामात्मदृशि भवाद्यमहाबुभावोप-

देशाद्विज्ञानपरोक्षतया दृश्यमानायामप्ययं लोको जनस्तथा

प्रसिद्धया स्वदुर्भगतया दीर्भाभ्यवशेन महत्सेवाशुश्रूषादिहीनः

सन् रागद्वेषादङ्कारजन्ममरणादिदोषदशाशतैः काष्ठवद्विवानिशं

द्वहते तदाश्रयमित्यर्थः ॥ २२ ॥ वतेति हर्षे । साम नो वते-

तिवत् ॥ २३ ॥ संपदामुत्कर्षे सीमान्त आत्मा निरतिश-

यानन्दरूपत्वात् । दृष्टीनां सीमान्त आत्मदृष्टिः एकविज्ञानेन

सर्वविज्ञानात् । शास्त्राणां सीमान्तोऽध्यात्मशास्त्रं चरमप्रमाण-

त्वात् । पशुपुत्रघनादिनाशलक्षणानामापदां सर्वसंसारनाशः

सीमान्तो यदुत्तरमन्यो नाशो नास्ति । काव्यरसालंकारादिका-

लिनीनां गिरां वसिष्ठोक्तिः सीमान्तः । दृष्टानां सुखविश्रान्ति-

हेतूनां प्रासादाद्यमगिरिनिवीपुलिनादिदेशानां परमात्मदेशः

परमविभ्रान्तिहेतुत्वात्सीमान्तो दृष्ट इत्यर्थः । सर्वत्र परमात्मैव

दशरथ उवाच ।

बहुजन्मोपलब्धेन पुण्येनायं मुनीश्वरः ।

धीरः कथितवान्नस्तथेन पावनतां गताः ॥ २८

श्रीवाल्मीकिरवाच ।

इति तेषु वदत्स्वत्र सभ्येषु सह भूभृता ।

वसिष्ठः स उवाचेदं ज्ञानपावनया गिरा ॥ २९

राजन् रघुकुलैकेन्दो यदहं वक्षिं तत्कुरु ।

इतिहासकथान्ते हि पूजनीया द्विजातयः ॥ ३०

तदद्य ब्राह्मणौघास्त्वं सर्वकामैः प्रपूरय ।

वेदार्थसमनुष्ठानफलं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ३१

मोक्षोपायकथावस्तुसमाप्तौ द्विजपूजनम् ।

शक्तितः क्रीडकेनापि कार्यं किमु महीभृता ॥ ३२

इति मौनं वचः श्रुत्वा सहस्राणि नृपो दश ।

दूतैराकारयामास द्विजानां वेदवादिनाम् ॥ ३३

मथुरायां सुपाट्शेषु गौडेषु च वसन्ति ये ।

तेभ्यः कुलेभ्यः सोऽभ्यर्च्य समानीय द्विजन्मनाम् ॥

अधिकात्यधिकज्ञानप्रकृतद्विजभोजनः ।

तदा दशसहस्राणि भोजयामास भूपतिः ॥ ३५

यथाभिमतभोज्यान्नदानदक्षिण्या तया ।

एवं संपूज्य तान्विप्रांस्तत्तन्वेवावृषास्तथा ॥ ३६

पौरमात्यांस्तथा भृत्यान्दीनान्धकृपणांश्च तान् ।

तस्मिन्दशरथो राजा दिने सह सुहृज्जनैः ॥ ३७

लब्धसंसृतिसीमान्तश्चकारोत्सवमुत्तमम् ।

तथा नृपगृहे तस्मिन्कौशेयमणिकाञ्चने ॥ ३८

वा परमसीमान्त इत्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥ परमं प्रसिद्धमा-

न्वपेक्षया उत्कृष्टं भानुत्वम् ॥ २६ ॥ २७ ॥ नः असाध्यं

तत्परमपावनं वस्तु शास्त्रं वा कथितवान् । येन पावनतां गता

वयमिति शेषः ॥ २८ ॥ २९ ॥ इदानीं श्रीवसिष्ठो 'महत्त्वदीनि

मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि अग्रन्ते वीरपुरुषकाण्डा-

शुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्ति अध्येतारश्च मङ्गल्युक्ता यथा स्युः'

इति महाभाष्ये भगवत्पतञ्जलिनोदाहृतां श्रुतिमनुसृत्य निर्विघ्नं

समाप्तस्य महतः शास्त्रोक्तफलसिद्धये ब्राह्मणदेवपितृपुत्रपूजो-

त्सवादिमङ्गलमौचित्यज्ञापनमुखेनाज्ञापयति--राजत्रिसादिना ।

पूजनीया इति विष्णोर्विषयोः कृत्यः ॥ ३० ॥ वेदार्थः

प्रकृते श्रवणविषयस्तस्य सम्यगनुष्ठानं साङ्गतया निष्पादनम् ।

श्रवणविधेः काम्यविधितया साङ्गानुष्ठानादेव फलसिद्धेरिति

भावः ॥ ३१ ॥ क्रीडकेन क्रीडकवदनादराहेण दृष्टिणापि

कार्यमित्यर्थः ॥ ३२ ॥ मुनिना प्रोक्तं मौनं वचः । सुर्वज्ञायाः

शिरसा धारणीयत्वान्मौनं निस्तरं यथा स्यात्तथा श्रुतेति वा

॥ ३३ ॥ कुलेभ्यः कुलश्रेष्ठेभ्यः पृथक्पृथक्समुदितेभ्यश्च ॥ ३४ ॥

अधिकेभ्योऽप्यस्यधिकं ज्ञानं येषां तत्प्रकृतं तानुपक्रम्य प्रवृत्तं

द्विजभोजनं येन ॥ ३५ ॥ पितृन् श्राद्धादिना । देवा-

न्मातृभोदकोपहारादिना इत्यादिना च । नृपान्यानरजादिना

॥ ३६ ॥ सुहृज्जनैः सह उत्सवं चकारेत्युत्तरप्रान्वयः ॥ ३७ ॥

लब्धः, संसृतिसीमान्तो येन--। अत्रापि सह सुहृज्जनैरिति

भूषिते नगरे चैव गीर्वाणनगसुन्दरे ।
 ननृतुर्मत्तकामिन्यो विलासिन्यो गृहे गृहे ॥ ३९
 लसद्वंशलताकांस्यवीणामुरजमर्दलम् ।
 ताण्डवेनोद्धतारावमन्योन्येतरशेखराः ॥ ४०
 क्षुब्धीकृतापणकरभ्रान्तिपल्लविताम्बराः ।
 मुग्धादृहासविक्षिप्तदन्तेन्दुकिरणच्छटाः ॥ ४१
 मदाकुलितहुंकारा लीलासु तरलस्वराः ।
 एकपादतलाघातहेलाहतधरातलाः ॥ ४२
 स्रग्दामतारविगलत्कुसुमासारपाण्डुराः ।
 धारापातितविच्छिन्नहारमुक्तास्खलत्पदाः ॥ ४३
 लोलाभरणसाकारं कामं ननृतुरङ्गनाः ।
 पेठुः स्फुटपदं विप्रा वन्दिनोऽप्यङ्गनाश्च ताः ॥ ४४
 इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये दे० मो० नि० उ० महोत्सववर्णनं नाम चतुर्दशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१४ ॥

पपुरुत्ताण्डवं पानं पानपा मदशालिनः ।
 भोज्यं बुभुजिरे चित्रं भूषिता भोजनार्थिनः ॥ ४५
 सुधादिपरिलेपेन रञ्जिता गृहभित्तयः ।
 रेजु रामेन्दुमानेन पुष्पधूपविलेपनैः ॥ ४६
 वासांसि वसिताश्चित्राण्युत्तमस्रग्विभूषणाः ।
 चेरुः परिचराश्चेत्यश्वाङ्गन्धा नृपाध्वरे ॥ ४७
 देहयष्टिषु संयोज्य वनिता यक्षकर्ममम् ।
 जग्मुस्ताण्डवनर्तक्यः शृङ्गारात्माङ्गणान्तरम् ॥ ४८
 भवबहुलनिशावसानहर्षा-
 दिति घनमुत्सवमेव सप्तरात्रम् ।
 दशरथनृपतिः सदानभोग-
 श्रियमकरोत्पदमक्षयं समेतः ॥ ४९

पञ्चदशाधिकद्विशततमः सर्गः २१५

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

भरद्वाज महाबुद्धे मम शिष्याधिनायक ।
 इति रामादयो ज्ञातव्येया निःशोकतां गताः ॥ १
 एतामेव दृशं कान्तामवष्टभ्य यथासुखम् ।
 नीरागस्तिष्ठ निःशङ्को जीवन्मुक्तः प्रशान्तधीः ॥ २
 धीरनभ्यस्तसङ्गा हि रामादीनामिवानघ ।
 घनमोहनिमग्नापि विमूढापि न मुह्यति ॥ ३

योजनीयम् ॥ ३८ ॥ गीर्वाणनगो मेरुः कल्पद्रुमश्च तद्वत्सुन्दरे
 ॥ ३९ ॥ वंशलतात्र मुरली । क्रियाविशेषणे द्वे । ता नर्तकीर्व-
 णयति—अन्योन्येत्यादिना । अन्योन्येतरं परस्परविलक्षणं यथा
 स्यात्तथा चिकुरवन्धनालंकारभेदादिना रचिताः शेखरा यासाम्
 ॥ ४० ॥ क्षुब्धीकृतानामितस्तत्स्थालितानामापणानां विविधा-
 भिनयव्यवहारवतां कराणां भ्रान्तिभिः परितः पल्लवितमिवा-
 म्बरमाकाशं वस्त्रं च यासाम् । हास्यरसाभिनये मुखैरदृहासै-
 र्विक्षिप्ताः परितः प्रक्षिप्ता दन्तेन्दुकिरणच्छटा याभिः ॥ ४१ ॥
 वीररसाभिनये मदाकुलितहुंकाराः । करुणाद्भुतादिरसाभिनय-
 लीलासु तरलस्वराः । शृङ्गारमानाद्यभिनये एकपादत-
 लाघातेन हेल्या हतं ताडितं धरातलं यामिस्ताः ॥ ४२ ॥
 शृङ्गारकोपाद्यभिनये स्रग्दामविधूतनेन तारैर्नक्षत्रैरिव विग-
 लङ्घिः कुसुमासारैः पाण्डुरा जलधारा इव पातिता ये विच्छन्ना
 हारास्तेषु दैवात्पदन्यासैः स्खलत्पदाः ॥ ४३ ॥ लोलैराभरणैः
 साकारं कामं दर्शयन्त्य इवेति शेषः । साकारं कृत्रिमाकारस-
 हितं यथा स्यात्तथा कामं यथेच्छं ननृतुरिति वा । पेठुर्यथा-
 क्रमं वेदस्तवगीतानि ॥ ४४ ॥ तेषु पानपा अविप्राः पानं
 मध्वासवं पपुः । विप्रादयस्तु भोजनार्थिनो भोज्यं भोजनाहं
 चित्रं नानाभक्ष्यादिवैचित्र्ययुक्तं चतुर्विधमजं बुभुजिरे ॥ ४५ ॥
 रामलक्षणस्येन्दोर्मानेन देहप्रभावन्द्रिकया पुष्पधूपविलेपनैश्च
 रेजुः ॥ ४६ ॥ नृपस्य अध्वरे उत्सववहे ॥ ४७ ॥ कर्पूरागुरु-

एवमेते महासत्त्वा जीवन्मुक्तपदं गताः ।
 राजपुत्रा राघवाद्या राजा दशरथादयः ॥ ४
 त्वं च पुत्र भरद्वाज स्वयमेवासि मुक्तधीः ।
 सत्यं मुक्ततरोऽस्यद्य श्रुत्वेमां मोक्षसंहिताम् ॥ ५
 मोक्षोपायानिमान्पुण्यान्प्रत्यक्षानुभवार्थदान् ।
 बालोप्याकर्ण्य तज्ज्ञत्वं याति का त्वादृशे कथा ॥ ६

कस्तूरीकङ्कोलैः समं घृष्टं चन्दनं यक्षकर्मस्तं देहयष्टिषु संयोज्य
 विलिप्य ताण्डवनर्तक्यो वनिताः शृङ्गारात्मा अलंकृतमङ्गणा-
 न्तरं राजसमाङ्गणमध्यं जग्मुः ॥ ४८ ॥ दशरथनृपतिः अक्षयं
 ब्रह्मपदं प्रपन्नः सन् भवः संसारस्तल्लक्षणा या बहुलनिशा
 कृष्णपक्षरात्रिस्तस्य अवसानं बोधसूर्योदयेन नाशस्तत्प्रयुक्तात्
 हर्षात् सप्तरात्रं इति वर्णितप्रकारं सदानभोगश्रियं दानभोग-
 शोभासहितं घनमुपचितमुत्सवमेवाकरोत् ॥ ४९ ॥ इति श्रीवा-
 सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महोत्सव-
 वर्णनं नाम चतुर्दशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१४ ॥

रामादिवत्प्रबुद्धस्त्वं जीवन्मुक्तः सुखी वस ।

इति वाल्मीकिना शिष्यो भरद्वाजोऽत्र शिष्यते ॥ १ ॥

इति अनया वर्णितया रीत्या रामादयो निःशोकतां गताः
 प्राप्ताः ॥ १ ॥ त्वमपि एतामेव पूर्णब्रह्मात्मदृशमवष्टभ्य
 दृढमाश्रित्य तिष्ठ ॥ २ ॥ इदं च मदुपदिष्टं ज्ञानं दुःसन्नेन
 भोगासङ्गाभ्यासेन च यथा न नश्यति तथा रक्षेत्याशये-
 नाह—धीरिति ॥ ३ ॥ दशरथादयो राजानः । सुपां सुलुगिति
 जसद्वज्रन्दसो ङादेशः ॥ ४ ॥ स्वयं स्वविचारेणैव रामवत्पूर्वं
 मुक्तधीरसि । अद्य तु इमां मोक्षसंहितां श्रुत्वा मुक्ततरोऽसि ।
 संभावितसर्वशङ्कापङ्कशालनादिति भावः ॥ ५ ॥ दृष्टपरमपु-
 रुषार्थफलत्वादस्य शास्त्रस्य सर्वशास्त्रेभ्योऽभ्यर्हिततमत्वं मन्दा-
 धिकारिष्वप्यभ्यासे फलोपधानसमर्थत्वं च दर्शयति—मोक्षो-
 पायानिति । त्वादृशे मुख्याधिकारिणि फलोपधाने का कथा

यथा पदं पुण्यमनुप्रयाता
महानुभावा रघवो विशोकाः ।
वसिष्ठवाक्यप्रसरेण साधो
गन्तव्यमाद्यं पदमेवमेव ॥ ७
सतां नयेनोत्तमसेवया च
प्रश्नेन चोदारकथागतेन ।
विन्दन्ति वेद्यं सुधियोऽप्रमत्ता
वसिष्ठसङ्गादिव राघवाद्याः ॥ ८
तृष्णावरत्रादृढबन्धबद्धा
ये ग्रन्थयोऽज्ञस्य हृदि प्ररूढाः ।
सर्वे हि ते मोक्षकथाविचारा-
द्वाला ह्यवाला इव यान्त्यमेदम् ॥ ९
मोक्षाभ्युपायान्सुमहानुभावान्
ज्ञास्यन्ति ये तत्त्वविदां वरिष्ठाः ।
पुनः समेप्यन्ति न संसृतिं ते
कोऽर्थः सुताऽन्येन बहूदितेन ॥ १०
बहुश्रुता ये प्रविचार्य सम्य-
क्प्रबोधितार्थे कथया जनाय ।

॥ ६ ॥ हे साधो, यथा वसिष्ठवाक्यानां हृदि प्रसरेण सर्वसं-
शयसंहिताज्ञाननाशान्सहानुभावा रघवो रामादयः पुण्यं जीव-
न्मुक्तपदमनुप्रयाताः सन्तो विशोकाः संपन्ना एवमेव त्वयाप्याद्यं
नित्यसिद्धत्रयभावलक्षणं जीवन्मुक्तपदं गन्तव्यं विशोकेन च
भाव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥ तत्प्राप्तावन्येषामपि सत्सङ्गसेवाप्रश्ना-
दिवोपाय इत्याह—सतामिति । नयेन शिक्षणेन उत्तमया
लोभात्सनिद्रादित्यागसहितया सप्रेमनिरन्तरसेवया । उदा-
रभिर्घोषोपायभूताभिः कथाभिराख्यायिकाभिः संगतेन
तदुपदेशेन सुधियोऽधिकारिणो वेद्यमात्मतत्त्वं विन्दन्ति
लभन्ते । अप्रमत्तास्तदेकासकाश्चेत् । यथा वसिष्ठसङ्गाद्राघवाद्या
अविदस्तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥ तृष्णालक्षणाया वरत्रायाश्चर्मरज्ज्वा
दृढबन्धैर्वद्धा अज्ञस्य हृदि प्ररूढा ये देहेन्द्रियादितादात्म्यसं-
र्गाध्यासरूपा ग्रन्थयो ये च गृहपुत्रदारादिषु मनताभिनिवेशल-
क्षणाः सर्वभूतेष्वैकात्म्यानुभवैकरस्याभावाद्गद्वेषादिहेतवो प्र-
न्थयस्ते सर्वे हि अस्मान्मोक्षकथाविचारात् यथा बालाः स्त्रियः
पूर्वं वात्याक्रीडायाभिनिवेशाद्ज्ञानमिज्ञत्वाच्च भर्तृषु वैरस्य-
युक्ता अपि कालेन अवालाः प्रौढाः सख्यो भर्तृभिरमेदमैकरस्यं
यान्ति तद्वत्सर्वभूतेष्वमेदमैकरस्यं आन्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥ हे सुत
पुत्रवदनुकम्प्य भरद्वाज, मन्दाधिकारिणामपि श्रवणाभ्यासे अ-
ज्ञाननिवर्हणसमर्थत्वात्सुमहानुभावानिमान्मोक्षाभ्युपायान् गुरु-
पूर्वश्रवणेन ये ज्ञास्यन्ति ते तत्त्वविदां वरिष्ठाः सन्तः पुनः
संसृतिं न समेप्यन्ति । इयं मम संक्षिप्तपरमरहस्योक्तिः । अ-
न्येन बहुधा उदितेन उक्तेन कोऽर्थः किं प्रयोजनमित्यर्थः ॥ १० ॥
इदानीं वक्ष्यामपि गुरुमुखादिचार्यैव संप्रदायतोऽर्थं सम्य-
ग्ज्ञात्वा अन्येभ्यः श्रावयतामेव बोधफलावाप्तिर्नान्येषामिति

सन्तो वदिष्यन्ति पुनः शिशुत्वं
न ते प्रयास्यन्ति किमन्यवाक्यैः ॥ ११
ये वाचयिष्यन्त्यनपेक्षितार्था
ये लेखयिष्यन्ति च पुस्तकं वा ।
ये कारयिष्यन्त्यपि वाचकं वा
व्याख्यातयुक्तं शुभमार्यदेशे ॥ १२
ते राजसूयस्य फलेन युक्ता
सुहृर्मुहुः स्वर्गमुदारसत्त्वाः ।
मोक्षं प्रयास्यन्ति तृतीयजन्म-
लाभेन लक्ष्मीमिव पुण्यवन्तः ॥ १३
इमां पुरा मोक्षमयीं विचार्य
सुसंहितां सद्बचनाद्विरिञ्चः ।
प्रयुक्तवानेतदचिन्त्यरूपो
भवन्त्यसत्याश्च न तस्य वाचः ॥ १४
मोक्षाभ्युपायाख्यकथाप्रबन्धे
याते समाप्तिं सुधिया प्रयत्नात् ।
सुवेष्टम दत्त्वाभिमतान्नपान-
दानेन विप्राः परिपूजनीयाः ॥ १५

नियमं सूचयन्नाह—बहुश्रुता ये इति । अमुं ग्रन्थं ये सन्तो
बहुश्रुतानां गुरुणामप्रे स्वयं सम्यक्प्रविचार्य तत्संवादकथया
ग्रन्थे सम्यक्प्रबोधितार्थे सति पुनः पश्चात्स्वयमपि श्रुश्रुपवे
जनाय संप्रदायतो वदिष्यन्ति ते शिशुत्वं मोक्षं पुनर्जन्म वा
न प्रयास्यन्ति । अवश्यं तत्त्वज्ञानफलं प्राप्स्यन्तीत्यर्थः । अन्यैः
संप्रदायतोऽनधिगतैर्वाक्यैः श्रुतैः श्रावितैर्वा किम् । किं प्रयोजन-
मित्यर्थः ॥ ११ ॥ इदानीमर्थवगमं विनापि ग्रन्थपारायणस्य
पुस्तकलेखनस्य वाचककृत्तिकल्पनेन व्याख्यापनस्य च फल-
माह—ये वाचयिष्यन्तीति द्वाभ्याम् । अनपेक्षितार्थाः व्यु-
त्पत्त्यभावादर्थपेक्षारहिता अपि पारायणदक्षिणाद्रव्यानपेक्षा
निर्लोभाश्च ये पुस्तकं वा लेखयिष्यन्ति । ये कृत्तिकल्पनेन
व्याख्यातुपुरुषयुक्तं केवलं वाचकं वा कारयिष्यन्ति ते सका-
माध्वेद्राजसूयस्य यज्ञस्य फलेन युक्ताः सन्तो सुहृर्मुहुः स्वर्गं
प्रयास्यन्ति । उदारसत्त्वा निष्कामास्तत्तमजन्म सद्गुरुसच्छास्त्र-
श्रवणादिकं प्राप्य तृतीयजन्मलाभेन मोक्षं प्रयास्यन्ति ।
लक्ष्मीमिवेत्युभयत्र दृष्टान्तः ॥ १२ ॥ १३ ॥ ईदृशमहाफल-
त्वमस्य ग्रन्थस्य कुतस्तत्राह—इमामिति । मया कृतमिमां
मोक्षमयीं सुसंहितां पुरा पूर्वकाले अचिन्त्यरूपो विरिञ्चः सतां
मुनीनां समाजे आमुलाग्रे स्वयं विचार्य एतद्वाक्यं सर्वान्प्रयु-
क्तवान् । किमेतत् । सत्यवाचो बाल्मीकेर्वसिष्ठस्य स्वस्य च
गिरः असत्या न भवन्तीति । तथा च पूर्वराമായणे मह्यं स्वस्य
वरदानं 'न ते वागवृता कान्ये काचिदत्र भविष्यति' इति सूच-
नार्यैश्चकारः ॥ १४ ॥ एतच्छास्त्रसयाप्तौ गृहाक्षयनादितानं
विप्रादिभ्योऽवश्यं कर्तव्यमित्याह—मोक्षेति । विप्रा वाच-
काद्याः । उपलक्षणमेतन्मित्रसूयदीनान्धकूपणानामपि ॥ १५ ॥

१ सत्यवाच इति पाठटीकावृत्त्युक्तः, स यत्र साधुः.

देयं च तेभ्यः खलु दक्षिणादि
चित्तेषितं स्वस्य धनस्य शक्त्या ।

मत्वानुरूपं कृतमेव सङ्ग-
पुण्यं यथाशास्त्रमुपैत्यसौ तत् ॥ १६

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वा० दे० सो० नि० उ० ग्रन्थप्रशंसातद्वाचनादिविधिर्नाम पञ्चदशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१५ ॥

षोडशाधिकद्विशततमः सर्गः २१६

श्रीवाल्मीकिरुवाच ।

एतत्ते कथितं राजन्कुम्भयोनेः सुभाषितम् ।

अमुना तत्त्वमार्गेण तत्पदं प्राप्स्यसि ध्रुवम् ॥ १

राजोवाच ।

भगवन्भवतो दृष्टिर्भवबन्धविनाशनी ।

आलोकितो यथा चाहमुत्तीर्णोऽसि भवाम्बुधेः ॥ २

देवदूत उवाच ।

इत्युक्त्वासौ ततो राजा विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।

उवाच वचनं मां तु मधुरं शृङ्गण्या गिरा ॥ ३

राजोवाच ।

देवदूत नमस्तुभ्यं कुशलं चास्तु ते विभो ।

सतां साप्तपदं मैत्रमित्युक्तं तत्त्वया कृतम् ॥ ४

इदानीं गच्छ भद्रं ते देवराजनिवेशनम् ।

अनेन श्रवणेनाहं निर्वृतो मुदितोऽपि च ॥ ५

श्रुतार्थं चिन्तयन्नत्र स्थास्यामि विगतज्वरः ।

इत्युक्तोऽहं ततो भद्रे परं विस्मयमागतः ॥ ६

न श्रुतं पूर्वमेवैतज्ज्ञानसारं श्रुतं मया ।

तेनैव मुदितश्चान्तः पीतामृत इवाधुना ॥ ७

स्वधनस्य मध्ये तेषां चित्तेषिता दक्षिणा यथाशक्त्या देया ।
असौ कर्ता तत्त्वकृतमेव अवश्यं सज्जत इति सङ्गं पुण्यं फल-
त्सना यथाशास्त्रमुपैत्येवेति मत्वा विचिन्त्येत्यर्थः ॥ १६ ॥ हे
भरद्वाज, ते तव बुद्धेर्बोधाय कथाक्रमशतैर्बुद्धितं ब्रह्मतत्त्वं
दृष्टान्तयुक्त्या अक्षितमेतच्छास्त्रं मया कथितम् । एतच्छ्रुत्वा
जीवन्नेव विमुक्ताशयः सन् लोकानुग्रहाय ज्ञानतपःक्रियाफल-
युतां प्रारब्धभोगसत्कर्मफलभूतां योगज्ञानसिद्धैश्वर्यलक्ष्मीमक्षयां
चिरस्थायिनीं भुक्त्वा सदेहो विदेहश्च चिरनिर्वृतिं नित्यनिरतिशया-
नन्दरूपां मुक्तिं भृशं भजेत्याशीरन्ते मङ्गलार्थः ॥ १७ ॥ इति श्रीवा-
सिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ग्रन्थप्रशं-
सातद्वाचनादिविधिर्नाम पञ्चदशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१५ ॥

अरिष्टनेमिसुरविकारुण्यादिकृतार्थता ।

वर्ण्यतेऽत्र गुरुभ्यश्च शिष्यैरात्मनिवेदनम् ॥ १ ॥

कुम्भयोनेर्वसिष्ठस्यागस्त्यस्य च रामादीन्मुतीक्ष्णं प्रति च
सुभाषितम् । अमुना एतद्ग्रन्थरूपेण ॥ १ ॥ राजा अरिष्टने-
मिरुवाच वाल्मीकिं प्रति । दृष्टिः कृपाकटाक्षः ॥ २ ॥ ३ ॥
मैत्रं मित्रभावः सप्तभिः पदैरनुगतैर्लभ्यत इति साप्तपदम् ।
शेषिकोऽण् । इति यत्सद्भिरुक्तं तत्त्वया सत्यं कृतमित्यर्थः ॥ ४ ॥
सर्वतापोपशमेन निर्वृतो निरतिशयानन्दलभेन मुदितः ॥ ५ ॥

एतत्ते कथितं कथाक्रमशतैर्बोधाय बुद्धैर्बुद्ध-
च्छास्त्रं बुद्धितब्रह्मतत्त्वममलं दृष्टान्तयुक्त्याञ्जितम् ।
श्रुत्वैतच्चिरनिर्वृतिं भज भृशं जीवद्विमुक्ताशयो
लक्ष्मीं ज्ञानतपःक्रियाक्रमयुतां भुक्त्वाऽक्षयामक्षयः

ततो वाल्मीकिमापृच्छथ आगतोऽसि त्वदन्तिके ।

एतत्ते सर्वमाख्यातं त्वया पृष्टं ममानवे ।

इतः परं गमिष्यामि शक्रस्य सदनं प्रति ॥ ८

अप्सरा उवाच ।

नमोऽस्तु ते महाभाग देवदूत त्वया मम ।

आवितादर्थविज्ञानात्परां निर्वृतिमागता ॥ ९

कृतार्था वीतशोकासि स्थास्यामि विगतज्वरा ।

इदानीं गच्छ भद्रं ते यथेच्छं शक्रसंनिधौ ॥ १०

अग्निवेश उवाच ।

ततः सा सुरचिः श्रेष्ठा तमेवार्थमचिन्तयत् ।

स्थिता सा हिमवत्पृष्ठे समीपे गन्धमादने ॥ ११

कच्चिदेतच्छ्रुतं पुत्र वसिष्ठस्योपदेशनम् ।

तत्सर्वमवधारयथ यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १२

कारुण्य उवाच ।

स्मृतिर्वाग्दृष्टिसत्ता च स्वप्ने बन्ध्यासुतेऽजले ।

मरीचिका यथा तद्वज्ज्ञानात्सांसारिकी स्थितिः ॥ १३

मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः ॥ १४

इति राजा अहमुक्तः संस्तद्विनयादिगुणसंपदा परं विस्मयमा-
गतः ॥ ६ ॥ स्वस्यापि सत्सङ्गवशेन श्रवणलाभात्कृतार्थता
जातेत्याह—न श्रुतमिति । पूर्वं कदापि न श्रुतमपूर्वमेवैतज्ज्ञा-
नसारं सत्सङ्गान्मया श्रुतम् ॥ ७ ॥ त्वदन्तिके त्वामुपदेष्टुमि-
त्यर्थः । अनघे इति संबोधनेन निष्पापत्वादधिकारसंपत्तिं
त्वयि दृष्ट्वा एतत्सर्वं ते तुभ्यमाख्यातमिति सूचितम् ॥ ८ ॥
परां निर्वृतिं सुखविश्रान्तिमागता अहमिति शेषः ॥ ९ ॥ १० ॥
तमुपदिष्टं ब्रह्मात्मैक्यलक्षणमेवार्थम् ॥ ११ ॥ तत्सर्वमिति ।
'मोक्षस्य कारणं कर्म ज्ञानं वा' मोक्षसाधनम्' इति त्वदीयसंदे-
हस्य तदवधारणे मूलापगमादेवोच्छेदसिद्धेरिति भावः ॥ १२ ॥
अत एव स्वस्य समूलसर्वसंशयविषयबाधाद्वाधितानुवृत्तिमात्रेण
यथाप्राप्तानुवर्तनमेव जीवन्मुक्तस्य परिशिष्यत इति कारुण्य-
उवाच—स्मृतिरित्यादिना । अतीतानागते असन्निकृष्टे च
विषये स्मृतिः परोक्षधीर्वागव्यवहारश्च वर्तमानविषये दृष्टिस-
त्ताप्रत्यक्षं च मम सांप्रतं तत्त्वज्ञानात्स्वप्ने प्रतीते बन्ध्यासुत-
विषये यथा निर्विषयास्तथा निर्विषयाः संपन्नाः । सर्वापि च
सांसारिकी स्थितिः अजले मरुदेशे मरीचिका यथा तद्वत्संप-
न्नेति क्वापि विषये न कश्चिदपि संदेहः परिशिष्ट इत्यर्थः
॥ १३ ॥ रामादिवदेव यथाप्राप्तेन वर्णाश्रमोचितव्यवहारेण

अगस्तिरुवाच ।

इत्युक्त्वा नाम कारुण्य अग्निवेश्यसुतः कृती ।
प्राप्तकर्मा यथान्यायं काले काले ह्युपाहरत् ॥ १५ ॥
संदेहोऽत्र न कर्तव्यः सुतीक्ष्ण ज्ञानकर्मणि ।
संशयान्द्रश्यते स्वार्थात्संशयात्मा विनश्यति ॥ १६ ॥
एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यमनेकार्थैक्यबोधनम् ।
नमस्कृत्य गुरुं प्राह अन्तिके विनयान्वितः ॥ १७ ॥
सुतीक्ष्ण उवाच ।
नष्टमज्ञानतत्कार्यं प्राप्तं ज्ञानमनुत्तमम् ।
साक्षिणि स्फुरिताभासे ध्रुवे दीप इव क्रियाः ॥ १८ ॥
सति यस्यिन्प्रवर्तन्ते चित्तेहाः स्पन्दपूर्विकाः ।
कटकाङ्गदकेयूरनूपुरैरिव काञ्चनम् ॥ १९ ॥
पयसीव तरङ्गाली यस्मात्स्फुरति दृश्यभूः ।
तदेवेदं जगत्सर्वं पूर्णं पूर्णं व्यवस्थितम् ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे बालकण्ठे

द्वात्रिंशच्छतसाहस्र्यां संहितायां षोडशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१६ ॥

तिष्ठामि स्थास्यामि । अकर्मणि बलत्कर्मत्यागे ॥ १४ ॥
प्राप्तकर्मा विवाहेन प्राप्तकर्माधिकारः सन् काले काले यथोचि-
तकाले ज्ञानदानाग्निहोत्रातिथिसपर्यादिकर्म उपाहरत् अनुष्ठित-
वानित्यर्थः । नामेति किलार्थे ॥ १५ ॥ हे सुतीक्ष्ण, ज्ञान-
कर्मणि ज्ञानोत्तरं कर्मानुष्ठानविषये कर्म धन्याय भविष्यतीति
संदेहो न कर्तव्यः ॥ १६ ॥ अनेकेषां संदेहविषयविरुद्धानेकको-
ट्यात्मकाणां सांसारिकार्थानां पारमार्थिकब्रह्मतत्त्वात्मना सर्व-
विरोधत्यागेनैक्यबोधनं मुनेरगस्त्यस्यैतद्वाक्यं श्रुत्वा । अन्तिके
समीपे ॥ १७ ॥ यस्मिन् सर्वसाक्षिणि परमात्मनि स्वयंज्यो-
तिष्ठादेव नित्यस्फुरिताभासे ध्रुवे निष्क्रिये स्थिते सति नाव्य-
शाखायां दीपे स्थिते सति तत्प्रकाशमुपजीव्य नदनर्तकादीनां
क्रिया इव सर्वाः स्पन्दमूर्तयश्चित्तेहा लौकिकवैदिकक्रियाः
प्रवर्तन्ते । यस्माच्च कटकादिभेदैः काञ्चनमिव पयसि तरङ्गालीव
दृश्यभूः स्फुरति । इदं जगत्सर्वं तदेव नाणुमात्रमपि तदन्य-
क्रियाकारकफलादिपृथङ्निरूपयितुं शक्यत इति निश्चित्य यथा
यसिन्नाश्रमे प्राप्तस्तथैवहारमनुवर्तमान्यनुवर्ते । छान्दसः पद-
व्यख्यः ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ इदानीं श्रीगुरु-
तस्य परमपुरुषार्थप्रापकज्ञानदानोपकारस्य जगति प्रत्युपकारो-
पायमपश्यंस्त्वनरणयोर्नमस्कृत्यात्मानं यावज्जीवं दास्याय निवेद-
यति—कृतार्थोऽहमित्यादिना ॥ २२ ॥ अन्येन केनापि
कर्मणा गुरोरुपकारादुत्तीर्णता न ॥ २३ ॥ हे स्वामिन्, अहं तव
प्रसादेन भवान्धुवेरुत्तीर्णः सन् पूर्णानन्दभावेन आपूरितजग-
ज्जालं यथा स्यात्तथा स्थितोऽस्मि नात्र संशय इत्यर्थः ॥ २४ ॥

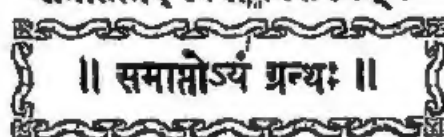
यथाप्राप्तोऽनुवर्तामि को लङ्घयति सद्बचः ।
भगवंस्त्वत्प्रसादेन ज्ञातज्ञेयोऽस्मि संस्थितः ॥ २१ ॥
कृतार्थोऽहं नमस्तेऽस्तु दण्डवत्पतितो भुवि ।
गुरोरुत्तीर्णता केन शिष्याणामस्ति कर्मणा ॥ २२ ॥
कायवाङ्मानसा तस्माच्छिष्यैरात्मनिवेदनम् ।
गुरोरुत्तीर्णता सैव नान्या केनापि कर्मणा ॥ २३ ॥
स्वामिंस्तव प्रसादेन उत्तीर्णोऽहं भवान्धुवेः ।
आपूरितजगज्जालं स्थितोऽस्मि गतसंशयः ॥ २४ ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् ।
श्रुत्वा ह्युदीर्यते सान्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥ २५ ॥
ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रीवासिष्ठं नताः स्मः ॥ २६ ॥

अस्य ग्रन्थस्य सर्वोपनिषत्साराथोपबृंहणत्वान्मुमुक्षुभिरादरणी-
यतमत्वं सूचयन् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपा-
सीत' इति छान्दोग्योपनिषत्प्रदर्शितस्फुटतरोपायसहितज्ञानाधि-
गतसर्वात्मकसच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मतत्त्वमनुसंधायान्ते मन्त्रवर्त्य
नमस्यति—यत्सर्वमिति । यद्ब्रह्म सान्नि सामवेदे 'सर्वं खल्विदं
ब्रह्म तज्जलानिति' श्रुत्वा स्फुटमधिकारिणां करतलामलकवद-
परोक्षं यथा भवति तथा परमतात्पर्येणोदीर्यते तस्मै तद्भावेन
परिशिष्टयात्मने प्रत्यक्षिचदानन्दधनाय नम इत्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥
गजवदनं ह्युसरदनं सज्जनभरणं समस्तगुणसदनम् ।
सच्चित्सुखसारघनं सदयं हृदये सदा बन्दे ॥ १ ॥
निमज्जान्तर्भक्त्यामृततरससिन्धोक्तिजलधौ
सदर्या उन्नीता इह शुक्लदाक्षात्कतिपये ।
निचिन्वानो ह्यन्तर्जलधिजठरं कौ तु कल्यै-
दियतां रत्नानां प्रचुरतरयजैरपि कृती ॥ २ ॥
निरुपमनिजमिस्तारं निःसंसारं नितान्तगम्भीरम् ।
नित्यसुखामृतपूरं पारावारं परं स्वमेव भजे ॥ ३ ॥
ऋतुरसतुरगमही १७६६ शकविकारिभुवत्सरस्य चिशिरतोः ।
फाल्गुनसितसप्तम्यां श्रुगुरौहिणदृषमलप्रके सिद्धम् ॥ ४ ॥
वाक्यपुष्पाञ्जलिः सोऽयं मया भक्त्या समर्पितः ।
धियः प्रेरकयोः श्रीमच्छिवयोः श्रीपदान्जयोः ॥ ५ ॥
इति श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
षोडशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥ २१६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीमत्सर्वज्ञसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
श्रीगङ्गाधरेन्द्रसरस्वत्याख्यभिक्षोः शिष्येण श्रीमदानन्दबोधेन्द्रसरस्वत्याख्यभिक्षुणा विरचितः

श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशः संपूर्णः ॥

समाप्तमिदं निर्वाणप्रकरणम् ।



॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥